हिन्दी साहित्य कोश

सम्पादक-मण्डल

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान)

डॉ० व्रजेश्वर वर्मा डॉ० धर्मवीर भारती

श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी डॉ० रघुवंश (संयोजक)

मूल्य २०)

प्रथम संस्करण, श्रीकृष्णजन्माष्टमी, संवत् २०१७

प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
मुद्रक—ओमप्रकाश कपूर. ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ५१९६-१४

भूमिका

गत पचास वर्षोंमे हिन्दी-साहित्यके अध्ययन, अध्यापन तथा अनुशीलनकी परिधियाँ बहुत व्यापक होती गयी है। आलोचना, अनुसन्धान और इतिहास—साहित्यानुशीलनके सभी क्षेत्रोमे अनेक विद्वानोके अथक परिश्रमसे जो उपलब्धियाँ हुई है, उनसे हमारे अध्ययनमे यथेष्ट सम्पन्नता, गहराई और विस्तार आया है। परन्तु साहित्यके इस अध्ययनसे सम्बन्धित अबतक कोई ऐसा सन्दर्भ-ग्रन्थ नही था जो अध्येताओंके लिए उन उपलब्धियोंका तात्कालिक उपयोग करनेमे सहायक हो सकता। समृद्ध भाषाओंके साहित्योमे ऐसे दर्जनो छोटे-बडे कोश हैं, जिनमे साहित्यका सम्पूर्ण उपयोगी ज्ञान तात्कालिक रूपमें उपलब्ध रहता है। हिन्दी साहित्यके इसी अभावकी पूर्तिके लिए लगभग तीन वर्ष पहले बनायी गयी योजना आज 'हिन्दी साहित्य कोश'के रूपमे साकार हो रही है।

साहित्य कोशमें जिन विषयोंको सम्मिलित करना आवश्यक है उनकी सूची बहुत विस्तृत हो सकती है, परन्तु व्यावहारिकताका दृष्टिकोण ध्यानमे रखते हुए प्रस्तुत 'हिन्दी साहित्य कोश'के विषय-विस्तारको सीमित रखा गया है। हमारे विचारमे सबसे पहले एक ऐसे साहित्य कोशकी आवश्यकता थी जिसमे हिन्दी साहित्यकी प्राचीन और नवीन पारिभाषिक शब्दावलीका प्रामाणिक अर्थ, साहित्यिक गति-विधिको सचालित और प्रभावित करनेवाले विविध वादो और प्रवृत्तियोंका ऐतिहासिक और शास्त्रीय परिचय, शिष्ट तथा लोक-साहित्यके विविध रूपोका विवेचन, साहित्यिक भाषा तथा बोलियोका भाषावैज्ञानिक परिचय तथा हिन्दी भाषा और साहित्यसे सम्बन्धित अन्यान्य भाषाओं और उनके साहित्योका सामान्य ज्ञान प्राप्त हो सके। अत. इस कोशमे हमने केवल निम्नलिखित विषयोकी पारिभाषिक और विशिष्ट शब्दावलीको सम्मिलित किया है—

(१) प्राचीन साहित्यशास्त्र—रस, ध्वनि, अलकार, रीति, छन्द आदि।
(२) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र—प्राचीन तथा नवीन।
(३) साहित्यके विविध वाद तथा प्रवृत्तियाँ—प्राचीन तथा आधुनिक।
(४) साहित्यके विविध रूप—प्राचीन तथा नवीन, प्राच्य तथा पाश्चात्य।
(५) हिन्दी साहित्यके इतिहासके विभिन्न काल, युग तथा धाराएँ।
(६) साहित्यिक सन्दर्भमें प्रयुक्त दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक तथा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त।
(७) लोकसाहित्य—शास्त्रीय विषय तथा प्रचलित रूप।
(८) आधुनिक भारतीय भाषाओ तथा सस्कृत, फारसी और अँग्रेजीके साहित्योंका इतिहास।
(९) हिन्दी भाषा, उसकी जनपदी बोलियो, प्राचीन तथा भारतीय आर्य-भाषाओं और सम्बद्ध आर्य-भाषाओका परिचयात्मक विवरण।

कोशके इतने विषय-विस्तारमें ही हिन्दी साहित्यके अध्ययनका इतना व्यापक सन्दर्भ आ जाता कि प्रस्तुत प्रयासमे हम कुछ अन्य अत्यन्त उपयोगी विषयोको सम्मिलित नहीं कर सके। हिन्दी साहित्यके लेखकों, रचनाओ, प्रधान पात्रों तथा पौराणिक कथा-सन्दर्भोंको सम्मिलित कर लेनेपर यह कोश बहुत-कुछ सर्वांगपूर्ण हो सकता था, परन्तु उस दशामें कोशका आकार अत्यधिक बढ जाता और साथ ही विषयोके विस्तारका कोशकी सामग्रीके स्तरपर भी प्रभाव पडे बिना न रहता। अतः प्रस्तुत कोशकी परिधिको सीमित रखनेका ही निश्चय किया गया। शेष विषयोके लिए एक पृथक् 'हिन्दी साहित्य कोश'की योजना बनानेका विचार है।

हम नहीं कह सकते कि जिन विषयोंको प्रस्तुत कोशमें लिया गया है, उनकी सम्पूर्ण पारिभाषिक और विशिष्ट शब्दावलीको इसमें निःशेष किया जा सका है, किसी भी कार्यके लिए परिपूर्णताका दावा करना कठिन है। साहित्यके क्षेत्रमें नित्य नयी खोजें, नयी व्याख्याएँ और नये प्रयोग होते रहते हैं, नित्य नये प्रश्न और नयी समस्याएँ उठती रहती हैं; अनेक ऐसे वाद, सिद्धान्त और प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके विषयमें अद्यावधि पूर्णतः प्रामाणिक और सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो सके हैं, कहीं प्रामाणिक सामग्रीका अभाव है, तो कहीं विचार अभी अनिश्चय और अस्पष्टताकी अवस्थामें हैं। फिर प्रस्तुत कार्य इस दिशाका प्रथम प्रयास है। इसकी योजना बनाते समय हमारे सामने हिन्दीके किसी सन्दर्भ-ग्रन्थका आदर्श नहीं था। विदेशी भाषाओंके सन्दर्भ-ग्रन्थोंका अनुकरण भी हमारे लिए अधिक उपयोगी नहीं हो सकता था, क्योंकि हमारे साहित्यकी प्रकृति, परम्परा और आवश्यकताएँ भिन्न हैं। ऐसी स्थितिमें हमें अपना मार्ग बहुत-कुछ स्वतः बनाना पड़ा है।

हमारा आदर्श था कि कोशकी प्रत्येक टिप्पणी सम्बन्धित विषयके विशेषज्ञ और अधिकारी विद्वानके द्वारा प्रस्तुत करायी जाय। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए हमने हिन्दी भाषा और साहित्यके विविध क्षेत्रोंके यथासम्भव सभी विद्वानोंको इस योजनामें सहयोग देनेके लिए आमन्त्रित किया था। हमें सन्तोष है कि उन सबने एक स्वरसे इसका स्वागत किया और अधिकांशने अपनी व्यक्तिगत व्यस्तताओं और कठिनाइयोंके होते हुए भी समय निकालकर इसमें सहयोग दिया। हिन्दी भाषा और साहित्यके अतिरिक्त अन्य भाषाओं और विविध विषयोंके अनेक हिन्दी-प्रेमी विद्वानोंने भी हमारी बहुमूल्य सहायता करके कोशको प्रामाणिक बनानेमें योग दिया। जिन ८३ विद्वानों समीक्षकों तथा विचारकोंकी टिप्पणियाँ अथवा लघुलेख प्रस्तुत कोशमें दिये जा रहे हैं उनकी सूचीसे ही यह प्रत्यक्ष है कि इसमें विविध क्षेत्रोंके विद्वानोंका समुचित प्रतिनिधित्व हुआ है। इतने विस्तृत सहयोगसे ही यह सम्भव हो सका है कि हम कोशकी सामग्रीके सम्बन्धमें कह सकें कि वह यथासम्भव प्रामाणिक और उपयोगी है।

किन्तु इस प्रकारके कार्यकी परम्परा और पूर्वनिर्धारित मार्गके अभावकी कठिनाई सम्पादकोंकी तरह सहयोगी लेखकोंके सामने भी थी। कोशकी प्रकृतिगत एकरूपताकी रक्षाके उद्देश्यसे सम्पादक-मण्डलकी ओरसे प्रत्येक शब्द अथवा शब्द-समूहके लिए सामान्य और विशिष्ट रूपरेखाएँ अवश्य प्रस्तुत की गयी थीं, परन्तु प्रत्येक लेखकका विषयगत अपना अध्ययन होता है तथा अपनी रुचि और अपनी दृष्टि, उसीके अनुसार वह निर्धारित रूपरेखाका उपयोग कर सकता है। अतः विभिन्न टिप्पणियोंके आकार-विस्तार तथा प्रस्तुतीकरणकी पद्धति और शैलीमें विविधता होना स्वाभाविक है। वस्तुतः यह विविधता ऐसे बड़े कार्यकी विशेषता भी मानी जा सकती है। फिर भी व्यापक एकरूपताके प्रति सम्पादक निरन्तर सजग और सचेष्ट रहे हैं। इसीलिए टिप्पणियोंमें कहीं-कहीं पर्याप्त संशोधन-परिवर्धन भी करने पड़े हैं। किन्तु इस कार्यकी भी अपनी सीमाएँ हैं। ऐसे सन्दर्भ-ग्रन्थके सम्पादक, जिसमें प्रामाणिकता और विशेषज्ञताकी अपेक्षा हो, कभी भी अपने ज्ञानके प्रति आत्म-सन्तोषी नहीं हो सकते। साथ ही, किसी सन्दर्भ-ग्रन्थमें ऐसी मौलिक खोजों और नूतन व्याख्याओंको भी सहसा सम्मिलित नहीं किया जा सकता, जिनकी प्रामाणिकताकी विद्वन्मण्डलीमें परीक्षा ही न हुई हो। व्यापक उपयोगके उद्देश्यसे प्रस्तुत किये गये कोशमें मान्य और उपलब्ध सामग्रीके ही यथासाध्य पूर्ण रूपमें उपयोग करनेका प्रयत्न किया जा सकता है। समय और साधनोंकी सीमाओंके अन्तर्गत सम्पादकोंने यही किया है।

हिन्दीमें पारिभाषिक शब्दावली भी अभी स्थिर नहीं हो सकी है। हमने प्रयत्न किया है कि साहित्यमें प्रचलित, सम्बद्ध विषयोंका कोई भी पारिभाषिक शब्द छूटने न पाये। परन्तु मुख्य टिप्पणियाँ केवल उन्हीं शब्दोंके आगे दी गयी हैं जिन्हें, हमारे विचारसे, परिनिष्ठित मानना अधिक उपयुक्त है। अन्य पर्यायार्थी शब्दोंके आगे परिनिष्ठित शब्दोंका प्रायः निर्देशमात्र कर दिया गया है। यह स्वाभाविक है कि हमारे द्वारा निर्धारित परिनिष्ठित शब्दावलीके सम्बन्धमें मतभेद हो, किन्तु पारिभाषिक शब्दोंके स्थिरीकरणकी दिशामें हमने इस समस्यापर यथासम्भव व्यापक और व्यावहारिक दृष्टिकोणसे विचार किया है।

हिन्दी साहित्य कोश की योजना तो लगभग तीन वर्ष पहले बन गयी थी, परन्तु वास्तविक कार्य केवल डेढ़ वर्षकी अवधिमें समाप्त किया गया है। इस अवधिको हमने जान-बूझकर बढ़ने नहीं दिया, क्योंकि वह

सामान्य अनुभवकी बात है कि दीर्घ कालतक चलनेवाली योजनाओमे प्रायः शिथिलता आ जाती है, सम्मिलित और सहकारी उद्योगोमे तो इसकी और भी अधिक सम्भावना होती है। हमारे लिए यह सन्तोषका विषय है कि इतनी अल्प अवधिमे हम इस गुरु गम्भीर कार्यमे इतने अधिक विद्वानोका सक्रिय सहयोग प्राप्त कर सके।

कार्यकी गुरुता, समयकी सीमा तथा आदर्श सुविधाओ और परिस्थितियोके अभावको देखते हुए 'हिन्दी साहित्य कोश'मे त्रुटियोका रह जाना स्वाभाविक है। किन्तु वास्तवमे इसके गुण-दोषोके सम्बन्धमे तभी कुछ कहा जा सकेगा जब इसका व्यावहारिक उपयोग होगा। प्रथम प्रयास होनेके नाते यह कोश न केवल स्वय अपने विकासकी आधार-भूमि है, वरन् इस प्रकारके भावी कार्योका दिशा-निर्देशक भी है। अत्यन्त सावधानी रखनेपर भी 'कोश'मे कही-कही छपाईकी भूले हो गयी है, जिनका इस प्रकारके कार्यमे रह जाना चिन्त्य है। परन्तु हम कोई शुद्धिपत्र नही दे रहे है, क्योकि हम जानते है कि उसका साधारणतया उपयोग नही किया जाता।

इस उद्योगकी निर्विघ्न समाप्तिके अवसरपर सबसे पहले हम उन सहयोगी लेखकोके प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करते है, जिनकी अमूल्य सहायतासे ही यह अनुष्ठान पूरा हो सका है। हमे विश्वास है कि साहित्यिक कार्योमे सहकारिताकी यह पद्धति भविष्यमे अधिकाधिक पूर्ण और प्रशस्त होगी, जिससे अपेक्षाकृत अल्प समयमे ही अपने साहित्यके अनेक अभावोकी पूर्ति हो सकेगी। ज्ञानमण्डल लिमिटेड, विशेषतया उसके सुयोग्य सचालक श्री सत्येन्द्रकुमार गुप्त तथा प्रकाशन-विभागके अध्यक्ष पण्डित देवनारायण द्विवेदीको भी धन्यवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते है। उनके पूर्ण सहयोगके बिना यह कार्य इतनी शीघ्रतासे सम्पन्न नही हो सकता था। योजनाको कार्यान्वित करनेके लिए उन्होने हमे यथासम्भव सभी आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करनेमे कभी सकोच नही किया। इस सम्बन्धमे श्री वाचस्पति पाठकका नामस्मरण करना हम नही भूल सकते। वे प्रारम्भसे ही हमारे और ज्ञानमण्डलके बीच एक अनिवार्य कडीके रूपमे रहे है।

'हिन्दी साहित्य कोश'को आज विद्वन्मण्डली तथा विज्ञ पाठकोके समक्ष उपस्थित करते हुए हमे सचमुच हर्षका अनुभव हो रहा है। आशा है, साहित्यके अध्येताओ और जिज्ञासुओकी कठिनाइयोका इसमे कुछ-न-कुछ निवारण अवश्य होगा। वस्तुत. इसीमे हमारे परिश्रमकी सार्थकता है।

प्रयाग

श्रीकृष्णजन्माष्टमी, स० २०१५ वि०

सम्पादक

हिन्दी साहित्य कोशके लेखक

●

अ० कु०	श्री **अजितकुमार**, हिन्दी विभाग, विदेश-मन्त्रालय, केन्द्रीय सचिवालय, नयी दिल्ली
आ, आ० रा० शा०	श्री **आत्माराम शाह**, दर्शन विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद
आ० प्र० दी०	डॉ० **आनन्दप्रकाश दीक्षित**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, गोरखपुर
आ० प्र० मि०	डॉ० **आद्याप्रसाद मिश्र**, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
उ० ना० ति०	डॉ० **उदयनारायण तिवारी**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
उ० शं० शा०	श्री **उदयशंकर शास्त्री**, हिन्दी विद्यापीठ, विश्वविद्यालय, आगरा
उ० शं० शु०	श्री **उमाशंकर शुक्ल**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ए० च०	श्री **ए० चन्द्रहासन**, महराजा कॉलेज, एर्नाकुलम
ओ० प्र०	डॉ० **ओम्प्रकाश**, हंसराज कॉलेज, दिल्ली
क० सिं० दु०	श्री **कर्तारसिंह दुग्गल**, आकाशवाणी, लखनऊ
का० बु०	डॉ० **कामिल बुल्के**, अध्यक्ष, संस्कृत-हिन्दी विभाग, सेण्ट जेवियर्स कालेज, राँची
कुँ० ना०	श्री **कुँवरनारायण**, सम्पादक 'युगचेतना', लखनऊ
कृ० दे० उ०	डॉ० **कृष्णदेव उपाध्याय**, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, ज्ञानपुर (वाराणसी)
गो० चं० सि०	श्री **गोपालचन्द्र सिनहा**, फैजाबाद रोड, लखनऊ
चं० का०	श्री **चन्द्रकान्त**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, प्रेसीडेंसी कॉलेज, मद्रास
ज० कि० ब०	डॉ० **ज० कि० बलबीर**, संस्कृत विभाग, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, नैनीताल
ज० गु०	डॉ० **जगदीश गुप्त**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ज० त्रि०	श्री **जयेन्द्र त्रिवेदी**, निसर्ग, १०६६ अम्बावाड़ी, भावनगर (सौराष्ट्र)
टी० सिं० तो०	डॉ० **टीकम सिंह तोमर**, हिन्दी विभाग, बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा
तो० रा० पा०	श्री **तोत्रराज पाण्डेय** (स्व०), नेपाली विभाग, विश्वविद्यालय, वाराणसी
त्रि० ना० दी०	डॉ० **त्रिलोकीनारायण दीक्षित**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ
द० ओ०	डॉ० **दशरथ ओझा**, हिन्दू कॉलेज, दिल्ली
दे०	डॉ० **देवराज**, दर्शन विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ
दे० उ०	डॉ० **देवराज उपाध्याय**, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर
दे० श० अ०	श्री **देवीशंकर अवस्थी**, हिन्दी विभाग, डी० ए० वी० कॉलेज, कानपुर
ध०ब्र०, ध०ब्र०शा०	डॉ० **धर्मेन्द्रब्रह्मचारी शास्त्री**, टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, भागलपुर
ध० वी० भा०	डॉ० **धर्मवीर भारती**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
धी० व०	डॉ० **धीरेन्द्र वर्मा**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प० च०	श्री **परशुराम चतुर्वेदी**, वकील, बलिया
पा० ना० ति०	डॉ० **पारसनाथ तिवारी**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
पु० शु०	डॉ० **पुत्तूलाल शुक्ल**, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, नैनीताल
प्र० ना० ट०	श्री **प्रतापनारायण टण्डन**, सम्पादक 'युगचेतना', लखनऊ
पृ० पु०	श्री **पृथ्वीनाथ 'पुष्प'**, अमरसिंह कॉलेज, श्रीनगर
प० प्र०	श्री**प्रह्लाद प्रधान**, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, उड़ीसा
प्र० मा०	श्री **प्रभाकर माचवे**, सहायक मन्त्री, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
प्री० अ०	कु० **प्रीति अदावाल**, दर्शन विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रे० श०	डॉ० **प्रेमशंकर**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, सागर
ब० ना० श्री०	डॉ० **बदरीनारायण श्रीवास्तव**, हिन्दी विभाग, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, ज्ञानपुर (वाराणसी)
ब० सिं०	डॉ० **बच्चन सिंह**, सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज, कमच्छा, वाराणसी
बा० रा० स०	डॉ० **बाबूराम सक्सेना**, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
भ० मि०	डॉ० **भगीरथ मिश्र**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ
भ० श० उ०	डॉ० **भगवतशरण उपाध्याय**, सहसम्पादक विश्वकोश, ना० प्र० सभा, वाराणसी
भो० ना० ति०	डॉ० **भोलानाथ तिवारी**, करोड़ीमल डिग्री कॉलेज, दिल्ली

म०, म०आ०	श्री मसीहुज्जमाँ, उर्दू विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
म० प्र० ल०	श्री महावीरप्रसाद लखेरा, ५३ ब्राइट स्ट्रीट, पार्क सर्कस, कलकत्ता
मा० प्र० गु०	डॉ० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
मा० ब० जा०	श्री माताबदल जायसवाल, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
र०	डॉ० रघुवंश, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
र० भ्र०	श्री रवीन्द्र भ्रमर, रिसर्च स्कालर, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, वाराणसी
र० ति०	श्री रमाशंकर तिवारी, सतीशचन्द्र डिग्री कॉलेज, बलिया
रा० अ० द्वि०	डॉ० रामअवध द्विवेदी, अँग्रेजी विभाग, विश्वविद्यालय, वाराणसी
रा० कृ० स०	श्री राधाकृष्ण सहाय, शान्तिनिकेतन, पश्चिमी बंगाल
रा० गु०	डॉ० राकेश गुप्त, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, ज्ञानपुर (वाराणसी)
रा० कृ० त्रि०	श्री रामकृष्णमणि त्रिपाठी, राजनीति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद
रा० खे० पा०	डॉ० रामखेलावन पाण्डेय, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, पटना
रा० पू० ति०	श्री रामपूजन तिवारी, हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, पश्चिमी बंगाल
रा० मू० रे०	श्री वाराणसि राममूर्त्ति रेणु, आकाशवाणी, हैदराबाद
रा०र०भ०,रा०भ०	डॉ० रामरतन भटनागर, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, सागर
रा० बा० चि०	श्री रा० व० चिटणीस, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा समिति, पूना
रा० सिं० तो०	डॉ० रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, शान्तिनिकेतन, पश्चिमी बंगाल
रा० स्व० च०	श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ल० का० व०	श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा, सरयू कुटीर, मधवापुर, इलाहाबाद
ल० ना० ला०	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, हिन्दी विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद
ल० सा० वा०	डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
लो० ना० भ०	श्री लोकनाथ भराली, रिसर्च स्कालर, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, वाराणसी
ब्र० व०	डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
वा० उ०	डॉ० वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन इतिहास विभाग, विश्वविद्यालय, पटना
वि० नि० मि०	श्री विद्यानिवास मिश्र, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, गोरखपुर
वि० रा०	श्री विजयबहादुर सिंह, रिसर्चस्कॉलर, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
वि० स्ना०	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, दिल्ली
वि० मो० श०	डॉ० विनयमोहन शर्मा, प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, रायगढ़ (म० प्र०)
वि० कु० अ०	डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल, फिजिक्स विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
श० ना० सिं०	डॉ० शम्भूनाथ सिंह, काशी विद्यापीठ, वाराणसी
शि० प्र० सिं०	डॉ० शिवप्रसाद सिंह, सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज, कमच्छा, वाराणसी
श्या० प०	डॉ० श्याम परमार, आकाशवाणी, इन्दौर
श्या० मो० श्री०	श्री श्याममोहन श्रीवास्तव, द्वारा श्री प्यारेमोहन श्रीवास्तव, डी० एम० पी०, कानपुर
सं० ला० पा०	श्री संगमलाल पाण्डेय, दर्शन विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
स०	डॉ० सत्येन्द्र, हिन्दी विद्यापीठ, विश्वविद्यालय, आगरा
स० प्र० अ०	डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ
स० व्र० सिं०	डॉ० सत्यव्रत सिंह, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ
सि० कु०	श्री सिद्धनाथ कुमार, आकाशवाणी, पटना
हं० कु० ति०	श्री हंसकुमार तिवारी, मानसरोवर प्रकाशन गया
ह० ना०	श्री हर्षनारायण, २० शिवगढ़ क्वार्टर्स शिवाजी मार्ग, लखनऊ
ह० दे० बा०	डॉ० हरदेव बाहरी, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ह० प्र० द्वि०	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, वाराणसी
ह० मो०	श्री हरिमोहन, रेवेन्शा कालेज, कटक (उड़ीसा)
ह० ला० श०	डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, डिस्ट्रिक्ट इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल्स, फतेहपुर
हि०	डॉ० हिरण्मय, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, मैसूर

जिन टिप्पणियों के नीचे नाम या संकेत नहीं है अथवा केवल स० दिया गया है वे सम्पादकीय हैं।

संकेत-सूची

संक्षिप्त रूप	ग्रन्थ	लेखक
अ० पु०	अग्निपुराण	
अ० मं०	अलंकारमंजरी	कन्हैयालाल पोद्दार
अ० भा०	अभिनवभारती	अभिनव गुप्त
अ० वी० त०	अकुलवीरतन्त्र	मत्स्येन्द्रनाथ
अल० शे०	अलंकारशेखर	केशव मिश्र
अल० स०	अलंकारसर्वस्व	रुय्यक
आ० के०	आलमकेलि	आलम
आ० सा०	आधुनिक साहित्य	नन्ददुलारे वाजपेयी
उ० श०	उद्धवशतक	स० जगन्नाथदास रत्नाकर
क० क०	कविकण्ठाभरण	क्षेमेन्द्र
क० कु० क०	कविकुलकण्ठाभरण	दूलह
क० क० त०, अ० स०, क० कु० क० त०	कविकुलकल्पतरु	चिन्तामणि
क० ग्र०	कबीर-ग्रन्थावली	स० श्यामसुन्दरदास
क० प्रि०	कविप्रिया	केशवदास
कविता०	कवितावली	तुलसीदास
क० सा० सं०	कबीर साखी-संग्रह	कबीर
क० र०	कवित्त रत्नाकर	सेनापति
का० क० द्रु०, का० कल्प०	काव्यकल्पद्रुम	कन्हैयालाल पोद्दार
का० द०	काव्यदर्पण	रामदहिन मिश्र
का० नि०	काव्यनिर्णय	भिखारीदास
का० प्र०	काव्यप्रकाश	मम्मट
का० मी०	काव्यमीमांसा	राजशेखर
का० द०, काव्य०	काव्यादर्श	दण्डी
का० र०	काव्यमें रस	आनन्दप्रकाश दीक्षित
का० वि०	काव्यविलास	प्रतापसाहि
काव्यानु०	काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
काव्या०, काव्याल०, का० अ०	काव्यालंकार	भामह तथा रुद्रट
का० सा० स०	काव्यालंकारसार-संग्रह	उद्भट
का० सू० वृ०	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	वामन
कुवल०	कुवलयानन्द	अप्पयदीक्षित
के० ग्र०	केशव-ग्रन्थावली	
को० स्मा० स	कोशोत्सव स्मारक संग्रह	
गीता०	गीतावली	तुलसीदास

गो० बा०	गोरखबाणी	सं० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
ज्ञा० मं०	ज्ञानमंजरी	नन्ददास
ज्ञा० गू०	ज्ञानगूदड़ी	कबीर
चन्द्रा०	चन्द्रावली	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
चिं० म०	चिंतामणि	रामचन्द्र शुक्ल
चि० मी०	चित्रमीमांसा	अप्पय दीक्षित
छन्दोऽनु० छ०	छन्दोनुशासन	हेमचन्द्र
छन्दो०	छन्दोर्णव	भिखारीदास
छ० प्र०	छन्दप्रभाकर	जगन्नाथप्रसाद भानु
छा०	छान्दोग्योपनिषद्	
जं० ना०	जंगनामा	श्रीधर
जगत० जगद्वि०	जगद्विनोद	पद्माकर
ज० व०	जयद्रथवध	मैथिलीशरण गुप्त
जा० ग्र०	जायसी-ग्रन्थावली	सं० रामचन्द्र शुक्ल
त० दी० नि०	तत्त्वदीपनिबन्ध	वल्लभाचार्य
द० रू० दश०	दशरूपक	धनंजय
न० र० त०	नवरस तरंग	बेनी प्रवीन
ना० द०	नाट्यदर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र
ना० भ० सू०	नारदीय भक्तिसूत्र	
ना० ल० र० को०	नाट्यालंकार रत्नकोश	सागरनन्दी
ना० शा० नाट्य०	नाट्यशास्त्र	भरत
पत्रा०	पत्रावली	मैथिलीशरण गुप्त
पद्मा०	पद्माभरण	पद्माकर
पिं० सू०	पिंगलसूत्र	पिंगलाचार्य
पृ० रा०	पृथ्वीराज रासो	चन्दवरदाई
प्र० वि०	प्रतापसिंह विरुदावली	पद्माकर
प्रा० सं०	प्राण संगली	नानक
प्रि० प्र०	प्रियप्रवास	अयोध्यासिंह उपाध्याय
बरवै० ब० नायिका०	बरवैनायिका भेद	रहीम
बि० र०	बिहारी रत्नाकर	सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
बि० स०	बिहारी सतसई	बिहारी
बृहदा०	बृहदारण्यक	
ब्रजभाषा० ब्र० भा० ना० ब्र० भा० नायिका० ब्र० भा० ना० ना०	ब्रजभाषा साहित्यमें नायिकाभेद	प्रभुदयाल मीतल
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र	
भ० र० सि०	भक्तिरसामृतसिन्धु	रूपगोस्वामी
भ० सू०	भक्तिसूत्र	
भा० ग्र०	भारतेन्दु-ग्रन्थावली	
भा० ना०	भारतेन्दु नाटकावली	

भा० प्र०	भावप्रकाश	शारदातनय
भा० भू०	भारतीभूषण	अर्जुनप्रसाद केडिया
भा० भू०	भाषाभूषण	जसवन्तसिंह
भा० वि०	भावविलास	देव
भाव०		
भ्र० गी० सा०	भ्रमरगीतसार	सं० रामचन्द्र शुक्ल
मानस	रामचरितमानस	तुलसीदास
मी० प०	मीरापदावली	परशुराम चतुर्वेदी
र० क०	रसकलश	अयोध्यासिंह उपाध्याय
र० गं०	रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
र० त०	रसतरंगिणी	भानुदत्त
र० पी० नि०	रसपीयूषनिधि	सोमनाथ
र० प्र०	रसप्रदीप	प्रभाकर
र० प्रि०	रसिकप्रिया	केशवदास
रसिक०		
र० मं०	रसमंजरी	भानुदत्त
र० मी०	रसमीमांसा	रामचन्द्र शुक्ल
र० र०	रसज्ञरंजन	महावीरप्रसाद द्विवेदी
र० र०	रसरहस्य	कुलपति
र० रा०	रसराज	मतिराम
र० वं०	रघुवंश	कालिदास
र० वि०	रसविलास	देव
र० वि०	रसविमर्श (मराठी)	वाटवे
रस० र०	रसरत्नाकर	जगन्नाथप्रसाद भानु
र० सा०	रससारांश	भिखारीदास
रा०	रागकल्पद्रुम	
रा० क०		
रा० च०	रामचन्द्रिका	केशवदास
रा० च० मा०	रामचरितमानस	तुलसीदास
रा० च०		
राम०		
रा० पं०	रासपंचाध्यायी	नन्ददास
रा० भ० सिं०	रायसा भगवन्तसिंह	सदानन्द
रा० वि०	राजविलास	मानकवि
रा० स्व०	रामस्वयंवर	रामचरित उपाध्याय
री० का० भू०	रीतिकाव्यकी भूमिका	नगेन्द्र
ल० ल०	ललितललाम	मतिराम
ललि०		
व० जी०	वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक
वा० भू०	वाणीभूषण	दामोदर मिश्र
वि० प०	विनय-पत्रिका	तुलसीदास
वि० मं०	विरहमंजरी	नन्ददास
वी० च०	वीरसिंहदेवचरित	केशवदास
वृत्त०	वृत्तरत्नाकर	केदार भट्ट
वृ० त०	वृत्ततरंगिनी	रामसहाय

व्य० वि०	व्यक्तिविवेक	महिम भट्ट
श० र०	शब्दरसायन	देव
शि० बा०	शिवा बावनी	भूषण
शि० भू०	शिवराजभूषण	भूषण
शृं० द०	शृंगारदर्पण	अकबरसाहि
शृं० नि०	शृंगारनिर्णय	दास
शृं० प्र०	शृंगारप्रकाश	भोज
सं० सा० इ०	संस्कृत साहित्यका इतिहास	कन्हैयालाल पोद्दार
स० कं०	सरस्वतीकण्ठाभरण	भोज
सा०	साकेत	मैथिलीशरण गुप्त
सा० द०	साहित्यदर्पण	विश्वनाथ
साहित्या० } सा० लो० }	साहित्यालोचन	श्यामसुन्दरदास
सा० पा०	साहित्य पारिजात	मिश्रबन्धु
सु० च०	सुजानचरित	सूदन
सु० नि०	सुधानिधि	तोष
सु० सा०	सुजानसागर	घनानन्द
सू० सा०	सूरसागर	सूरदास
सू० सा० सा०	सूरसागरसार	डा० धीरेन्द्र वर्मा
सौ० शा०	सौन्दर्यशास्त्र	हरद्वारीलाल शर्मा
स्ट० इ० नाय० भेद	स्टडी इन नायक-नायिका भेद	राकेश गुप्त
ह० भ० र० सिं०	हरिभक्तिरसामृतसिन्धु	रूपगोस्वामी
ह० रा०	हम्मीर रासो	जोधराज
हि० ध्व०	हिन्दी ध्वन्यालोक	विश्वेश्वर
हि० वि०	हिम्मतबहादुर विरुदावली	पद्माकर
हि० अ० सा०	हिन्दी अलंकार साहित्य	ओम्प्रकाश
हि० र० गं०	हिन्दी रसगंगाधर	
हि० ना० वि०	हिन्दी नाट्यविमर्श	गुलाबराय
हि० भा० का इ०	हिन्दी भाषाका इतिहास	धीरेन्द्र वर्मा
हि० सा० इ०	हिन्दी साहित्यका इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
हि० सा० सा०	हिन्दी साहित्य साधना	विश्वनाथप्रसाद मिश्र

अन्य संकेत

अ०	अंक
अधि०	अधिकरण
अध्य०	अध्याय
अनु०	अनुवाद
अनु०	अनुच्छेद
अप्र०	अप्रकाशित
ई०	ईसवी सन्
ई० पू०	ईसवी पूर्व सन्
उत्त०	उत्तरार्ध
उदा०	उदाहरण
ख०	खण्ड
ग्रं०	ग्रन्थावली
द० स्क०	दशम स्कन्ध (श्रीमद्भागवत)
दे०	देखिये
ना० प्र० स०	नागरीप्रचारिणी सभा
पं०	पंक्ति
परि०	परिच्छेद
पूर्व० / पूर्वा०	पूर्वार्ध
पृ०	पृष्ठ
प्र०	प्रकाश
प्र० सं०	प्रथम संस्करण
वि० / वि० स०	विक्रमी संवत्
वें० प्रे०	वेंकटेश्वर प्रेस
वृ०	वृत्ति
श०	शताब्दी
स०	सम्पादक
सचारी०	संचारी भाव
स० सं०	सभा संस्करण
हि० सा० स०	हिन्दी साहित्य सम्मेलन

हिन्दी साहित्य कोश

अ

अंक—दे०—'नाटक'।

अंक (उत्सृष्टिकांक)—नाटकोंमें भी अंक होते हैं, अतः उनसे इस रूपक प्रकारकी भिन्नता दिखानेके लिए इसका नाम उत्सृष्टिकांक रखा गया। आचार्य विश्वनाथका मत है कि इसमें सृष्टि उत्क्रान्त अर्थात् विपरीत रहती है, इसलिए इसे उत्सृष्टिकांक कहा जाता है। भरतमुनिका मत है कि अंकका इतिवृत्त **प्रख्यात** अथवा कभी-कभी **अप्रख्यात** होता है। पात्र दिव्यपुरुष नहीं होते। इसमें करुणरसकी प्रधानता होती है और स्त्रियोंका विलाप युद्धोपरान्त पाया जाता है। विलापकर्ताओंकी व्याकुलताभरी चेष्टाओंका नाना प्रकारसे प्रदर्शन होता है जिसमें सात्वती, आरभटी और कैशिकी वृत्तियाँ नहीं होतीं। दिव्यनायकयुक्त दृश्य-काव्य, जिसमें युद्ध, बन्ध और वध पाया जाय, भारत-वर्षमें ही रचने योग्य है। आचार्य भरतमुनिने इसके कारणोंपर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है (नाट्यशास्त्र, निर्णय प्रेस, बम्बई, १८ अध्याय, श्लोक १५०, १५२)।

धनंजयने **प्रख्यात** वृत्तको कल्पना-बलसे विस्तृत कर देना आवश्यक माना है। इसमें नायक एवं अन्य पात्रोंका साधारण व्यक्ति होना अनिवार्य है (दशरूपक, तृतीय प्रकाश, ७०, ७१)। धनंजयके समान विश्वनाथका भी मत है कि इसके नायक साधारण पुरुष होते हैं और इसमें जय-पराजय का वर्णन एवं वाक्कलह तथा निर्वेदके वचन पाये जाते हैं।

उत्सृष्टिकांकका शारदातनयने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उनका कथन है कि भरतमुनि इस रूपकमें एक ही अंक, कोहल दो अंक तथा व्यासाजन आदि तीन अंक मानते हैं। उन्होंने इसका नायक दिव्यपुरुष माना है। सागरनन्दी इसमें दिव्यपुरुष पात्रोंका प्रवेश स्वीकार नहीं करते। शारदातनयने भरतमुनिके मतका आश्रय लेते हुए इस रूपकको केवल भारतवर्षमें उपयुक्त माना है। उन्होंने आचार्य शकुकका नामोल्लेख करके अपने मतकी पुष्टि की है (भावप्रकाश, पृ० २५१-५३)।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने इसमें एक अंक माना है और इसके नायकको गुणी एवं आख्यानको प्रख्यात माना है। बाबू गुलाबराय इसमें करुणरस प्रधान और **मुख** एवं **निर्वहण** सन्धियाँ स्वीकार करते हैं। कीथका मत है कि जब नाटकके अन्तर्गत नाटक आ जाता है तो वह अंक कहलाता है, पर यह मत सर्वमान्य नहीं। संस्कृतमें उत्सृष्टिकांकका उत्तम उदाहरण भासका 'उरुभंग' है। —द० ओ०

अंकावतार—यह **अर्थोपक्षेपक**का एक भेद है। धनंजयके मतानुसार जहाँ प्रथम अंककी वस्तुका विच्छेद किये बिना दूसरे अंककी वस्तुकी योजना हो वहाँ अंकावतार होता है (दशरूपक, १।६२)। धनिकने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जब एक अंकके पात्र उसी अंकके अन्तमें किसी बातकी सूचना दें और वे ही पात्र उसी कथावस्तुको लेकर, उसे बिना विच्छिन्न किये ही, दूसरे अंकमें प्रवृष्ट दिखाई दें तब अंकावतार **अर्थोपक्षेपक** होता है।

धनंजय और धनिककी अपेक्षा विश्वनाथने 'साहित्य-दर्पण'में 'अंकावतार'की परिभाषा अधिक स्पष्ट दी है—'अंकान्ते सूचित पात्रैस्तदंकस्याविभागत। यत्राकोऽवतरत्येषोऽकावतार इति स्मृत ॥' अर्थात् पूर्व अंकके अन्तमें उसी अंकके पात्रों द्वारा सूचित किया गया जो अगला अंक अवतीर्ण होता है उसे अंकावतार कहते हैं, जैसे 'शाकुन्तल'में पंचम अंकके अन्तमें उसके पात्रों द्वारा सूचित किया हुआ षष्ठ अंक पूर्वसे (उसका अंग जैसा) ही अवतीर्ण हुआ है। —ब० सिं०

अंकास्य—यह **अर्थोपक्षेपक**का एक भेद है। एक अंकके पश्चात् उसी अंकमें प्रयुक्त पात्रों द्वारा जब किसी छूटे हुए अर्थकी सूचना दी जाती है तब अंकास्य अर्थोपक्षेपक होता है। कुछ आचार्योंने अंकास्यका अलग भेद न मानकर इसे **अंकावतार**के अन्तर्गत ही रखा है। विश्वनाथने धनिकके मतानुसार अंकास्यकी परिभाषा देते हुए कहा है, 'एतच्च धनिकमतानुसारेणोक्तम्। अन्ये तु अंकावतारेणैवेदं गतार्थम् इत्याहु।' 'अन्ये'के नामपर इसे विश्वनाथका ही मत समझना चाहिये। —ब० सिं०

अंगज अलंकार—सात्त्विक अलंकारोंका एक भेद, भरत द्वारा 'नाट्यशास्त्र' (३ ई० पू०) में सर्वप्रथम उल्लिखित। नायिकाओंके आंगिक विकार या क्रियाव्यापार, जिनमें उनके मनमें तारुण्य प्राप्त करनेपर उद्भव और विकास पानेवाले कामका संकेत मिलता है। भरतके अनुसार 'भाव, हाव तथा हेला एक-दूसरेसे उद्भूत होते हुए 'सत्त्व'-के विभिन्न रूप होनेके कारण शरीरसे सम्बद्ध माने जाते हैं' (ना०, २४।६)। आगे उनका कहना है, 'सत्त्व शरीरसे सम्बद्ध है, 'भाव' सत्त्वसे उत्पन्न होता है, 'हाव' भावसे उत्पन्न होता है और 'हेला' हावसे' (ना०, २४।७)। विशेष दे०—'सात्त्विक अलंकार'।

भाव अलंकार—संस्कृतमें प्राय अंगज अलंकारका भेद माना जाता है और हिन्दीमें सुन्दरने (१६३१ ई०) भावपर हावोंसे अलग विचार किया है। नन्ददासने सर्वप्रथम उसका विवेचन किया है। कुमारमणिने 'रसिक-

सफलता द्वारा विशेष ख्याति अर्जित की। १६४२ ई० से १६६० ई० तक लन्दनके नाट्यगृह प्यूरिटनों द्वारा बन्द कर दिये गये। १६६० ई० के उपरान्त नाटकोंकी रचना और उनका प्रदर्शन फिर आरम्भ हुआ। दुःखान्त नाटकोंका एक नया रूप सामने आया। इसके प्रमुख लेखक थे ड्राइडेन (१६३१-१७०० ई०), आटवे (१६५२-८५ ई०) और ली (१६५३-९२ ई०)। सुखान्त नाटकोंकी १६६० ई० के बाद विशेष प्रगति हुई। परिष्कृत भाषामें उच्च वर्गके जीवनका इसमें चित्रण किया गया। इस वर्गके प्रमुख लेखक थे इथरिज (१६३४-९१ ई०) वाइकरले (१६४०-१७१६ ई०) और कांग्रीव (१६७०-१७२९ ई०)। शताब्दीके प्रथम अर्द्धांशमें स्पेन्सर, शेक्सपीयर और बेन जॉन्सनसे प्रभावित होकर कविता लिखी गयी। आध्यात्मिक काव्यके प्रधान रचयिता थे जॉन डन (१५७२-१६३१ ई०) जिनकी रचनाओंमें धार्मिक विचारों और शृंगारिक भावनाओंकी अभिव्यक्ति दुरूह कल्पनाके आधारपर हुई है। बेन जॉन्सन और उनके अनुयायियोंकी रचनाएँ अपेक्षाकृत सरल हैं। इस शताब्दीके प्रधान कवि जॉन मिल्टन (१६०८-७४ ई०) की गणना संसारके महाकवियोंमें होती है। स्फुट काव्यके अतिरिक्त उन्होंने अपने सुविख्यात महाकाव्य 'दी पैराडाइज लॉस्ट'की रचना करके अपना नाम अमर बना दिया है। शताब्दीके उत्तरार्द्धके प्रधान कवि थे जॉन ड्राइडेन, जिन्होंने वर्णनात्मक और व्यंग्यात्मक काव्य-रचनामें विशेष सफलता प्राप्त की। ड्राइडेनके पूर्व अंग्रेजी गद्य प्राचीन लैटिन गद्यके अनुकरणमें लिखा जाता था। इस प्राचीन विशद शैलीके प्रमुख लेखक थे टामस ब्राउन (१६०५-८२ ई०), जेरेमी टेलर (१६१३-६७ ई०) और मिल्टन। ड्राइडेनकी रचनाओंमें नवीन अंग्रेजी गद्यकी सृष्टि हुई। नवीन गद्यका निर्माण सुसंस्कृत लोगोंकी बोलचालकी भाषाको आधार मानकर हुआ था।

१८वीं शतीका अंग्रेजी साहित्य गद्यदार्शनिक उस नव-शास्त्रीय सिद्धान्तसे प्रभावित था जिसका उद्भव और विकास मुख्य रूपसे फ्रांसमें हुआ था। नियमोंके आग्रह और कठोर नियन्त्रणको मानकर काव्यरचना होती थी। पोप (१६८८-१७४४ ई०) की रचनाओंमें इस बातका स्पष्ट पता लगता है। अनेक अन्य कवियोंके बारेमें भी यही बात सत्य है, किन्तु कुछ ऐसे कवि भी थे जिनकी रचनाएँ प्रकृतिप्रेम और तीव्र भावनाओंसे उद्भूत थीं। १८वीं शताब्दीमें गद्यकी ही प्रमुखता थी। पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित निबन्धोंका प्रचलन शुरू हो गया। प्रमुख निबन्धकार थे स्मिथने भी प्रशंसनीय नाटक लिखे। शताब्दीके पिछले तीस वर्षोंमें परिवर्तनके चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। टॉमस ग्रे (१७१६-७१ ई०), कॉलिन्स (१७२१-५९ ई०), बर्न्स (१७५९-९६ ई०), ब्लेक (१७५७-१८२७ ई०), क्रैब आदिकी काव्यरचनाओंके प्रति अनास्था साफ-साफ दिखाई देती है।

अनेक प्रवृत्तियों और प्रभावोंने मिलकर उन्नीसवीं शती-के प्रारम्भमें ही अंग्रेजी साहित्यको एक नवीन रूमानी स्वरूप दे दिया। अब नियमोंकी अवहेलना तथा स्वाभा-विक प्रेरणाके वशीभूत होकर काव्यरचना होने लगी। कल्पना और भावना उन्मुक्त तथा शैली निर्बन्ध हो गयी। इस नवीन प्रवृत्तिका सर्वोत्तम प्रतिफलन वर्ड्सवर्थ (१७७०-१८५० ई०), कोलरिज (१७७२-१८३४ ई०), स्कॉट (१७७१-१८३२ ई०), शेली (१७९२-१८२२ ई०), कीट्स (१७९५-१८२१ ई०), बायरन (१७८८-१८२४ ई०) आदि-के काव्योंमें हुआ। इस श्रेणीका अधिकांश काव्य मुक्तकोंमें लिखा गया है तथा तीव्र अनुभूतिसे ओतप्रोत है। स्कॉटके उपन्यासों तथा लेब प्रभृति निबन्धकारोंके लेखोंमें भी रूमानी प्रभाव लक्षित हुआ है। सब मिलाकर उन्नीसवीं शतीके ४० वर्षोंका रूमानी साहित्य अत्यन्त रोचक और महत्त्वपूर्ण है।

लगभग १९४० ई० के बाद विक्टोरियन युगका आरम्भ हुआ। इस युगकी अवधि लम्बी थी और इसमें रूमानी और क्लासिकी प्रभावने मिलकर एक सन्तुलित अवस्था उत्पन्न की। विज्ञान, तथा औद्योगिक उन्नति एवं पदार्थवादी दर्शनके विकास द्वारा इस नवीन युगकी विशेषताएँ निधा-रित हुईं। किन्तु साथ-ही-साथ पूर्ववर्ती कल्पनाजन्य और भावनाजन्य प्रवृत्तियाँ भी निर्मूल नहीं हुईं। यदि ब्राउनिंग (१८१२-८९ ई०) के काव्यमें रूमानी प्रवृत्तियाँ अधिक स्पष्ट हैं तो टेनिसन (१८०९-९२ ई०) के काव्यमें क्लासिकी विशेषताओंकी ही प्रमुखता है। आगे चलकर यही मिश्रण मैथ्यू आर्नाल्ड (१८२२-८८ ई०), मेरेडिथ (१८२८-१९०९ ई०), हार्डी (१८४०-१९२८ ई०) प्रभृतिकी रचनाओंमें भी दृष्टिगोचर होता है। गद्य-साहित्यका उत्थान द्रुत गतिसे हो रहा था। उपन्यासोंमें यथार्थ चित्रण डिकेन्स (१८१२-७० ई०), ट्रालोप (१८१५-८० ई०), गिसिंग, थैकरे आदिकी कृतियोंमें काममें लाया गया है। जॉर्ज इलियट (१८१९-८० ई०) आदिने मनोविज्ञानका आधार लिया था। मेरेडिथ और हार्डीने अपना नया जीवन दर्शन अपनी रचनाओंमें प्रस्तुत किया। इस शतीमें निबन्ध और आलोचनाकी भी सन्तोषप्रद उन्नति हुई।

बीसवीं शतीका अंग्रेजी साहित्य वैविध्य तथा नवीनता-

प्रगति की है। टी० एस० इलयट, ऑडेन, स्टीफेन स्पेंडर, क्रिस्टोफर फ्राई आदिने प्रभावोत्पादक काव्य-नाट्य लिखे हैं। उपन्यास पहले तो सामाजिक विषयोंपर लिखे गये, फिर बादमें मनोवैज्ञानिक तथ्योंपर उनकी रचना हुई। पहली श्रेणीके प्रमुख लेखक हैं, एच० जी० वेल्स (१८६६-१९४६ ई०), गाल्सवर्दी, आर्नाल्ड बेनेट (१८६७-१९१३ ई०) और दूसरी श्रेणीके वर्जीनिया वोल्फ (१८८२-१९४१ ई०), जेम्स ज्वाइस (१८८२-१९४१ ई०), आल्डस हक्सले (१८९४ ई०) आदि। इधर पिछले कुछ वर्षोंसे एलिजावेथ वोवेन, काम्प्टन बर्नेट, ग्राहम ग्रीन आदिने ऐसे उपन्यास लिखे हैं, जिनमें कथाकी रोचकताकी ओर विशेष ध्यान दिया गया है। बीसवीं शतीकी अँग्रेजी कविता १९२० ई० के पूर्व परम्परागत थी। यह बात टामस हार्डी, राबर्ट ब्रिजेज (१८४४-१९३० ई०) आदिकी रचनाओंमे विदित है। जार्जियन कवियोंकी रचनाओंमें नवीनता अवश्य थी, किन्तु उन्होंने काव्यके क्षेत्रमें क्रान्ति नहीं उपस्थित की। नवीन कविताका आरम्भ टी० एस० इलियटने किया और उनके बाद ऑडेन, स्पेंडर, लीविस, मैकनीस, डाइलेन टॉमस आदिने उसे निरन्तर अधिकाधिक आधुनिक और चमत्कारपूर्ण बनाया। टी० एस० इलियट और आई० ए० रिचर्ड्सने वर्तमान शतीमें अँग्रेजी आलोचना-शास्त्रको अभूतपूर्व रीतिसे समृद्ध बनाया है। कोलरिज, आर्नाल्ट, वाल्टर पेटर (१८३९-९४ ई०) के साथ-ही-साथ इन दोनों-की भी गणना अँग्रेजीके प्रमुख साहित्यशास्त्रियोंमें की जायगी।

लगभग १९वीं शताब्दीके मध्यमे अँग्रेजी (जो उस समय शासनकी भाषा थी) का प्रचार द्रुत गतिसे भारतवर्षमें बढने लगा, और फलत हिन्दी साहित्य अँग्रेजी साहित्यसे प्रभावित हुआ। तबसे यह प्रभाव (यहाँ प्रभाव शब्द अपने सीमित, शास्त्रीय अर्थमें प्रयुक्त हो रहा है) निरन्तर बढता गया है। हिंदी गद्य बहुत हदतक अँग्रेजी गद्यके आदर्शपर विकसित हुआ। कतिपय लेखकोंने प्राचीन सस्कृत गद्यका आदर्श भी सामने रखा, किन्तु उसकी अपेक्षा आधुनिक अँग्रेजी गद्यको ही अधिक अपनाया गया। हिन्दी गद्यसाहित्यके विविध अंगोंपर अँग्रेजी साहित्यकी छाप है। हिन्दी निबन्धोंने अँग्रेजी निबन्धका बराबर अनुकरण किया है। हिन्दी कथासाहित्यने प्राचीन कथा-आख्यायिकाका मार्ग छोड़कर अँग्रेजी उपन्यासोंकी परम्परा अपनायी है। शैली, निर्माणपद्धति तथा उद्देश्य—सभी दृष्टियोंसे आजका हिन्दी उपन्यास यूरोपीय उपन्यासोंका ऋणी है। यही बात लघु कहानियोंके सम्बन्धमें भी ठीक है। हिन्दी नाटकपर १९वीं शताब्दीमें शेक्सपीयरके नाटकोंका प्रभाव पड़ा। उनका अनुवाद हुआ और उन्हींके ढगपर नाटक लिखे गये। तदनन्तर बराबर अँग्रेजी नाटकोंके प्रभावमें हिन्दी नाटक लिखे गये है। उदाहरणार्थ, 'हिन्दीके समस्यामूलक नाटक ईब्सन, शॉ और गाल्सवर्दीकी रचनाओंमे स्पष्टतया प्रभावित है। जयशकर 'प्रसाद'के नाटकोंमे भारतीय तथा पाश्चात्य प्रणालीका एकीकरण हुआ है। हिन्दी काव्य-नाट्य भी पाश्चात्य काव्य-नाट्यमे प्रभावित है। हिन्दी कवितानें १९वीं शताब्दीके उपरान्त निरन्तर अँग्रेजी कवितासे प्रभाव ग्रहण किया है। सबसे अधिक प्रभाव १९वीं शताब्दीके अँग्रेज रोमानी कवियोंका पडा है। छायावादी कवितामे यह प्रभाव पग-पगपर दिखलाई पडता है। पिछले पचीस वर्षोंमें हिन्दी कवितापर टी० एस० इलियट और उनके परवर्ती अँग्रेजी कवियोंकी कृतियोंका विशेष प्रभाव पड़ा है। —रा० अ० द्वि०

अंतर्बोध—दे०—'अतश्चेतना'।

अंतर्भावना—यह मानव-चित्तकी एक विशेष प्रवृत्तिका नाम है जिसे पाश्चात्य मनोविज्ञान 'इन्फीलिंग' कहता है। किसी वस्तुको देख या सुनकर उसके गति, गुण, विस्तार, वैभव आदि प्रविष्ट रूपोंमें प्रेक्षकका 'स्व'को लय करना, जिसके फल-स्वरूप वह 'स्व'में उन गुणोंका अनुभव पा सके। जैसे, प्रवाहकी तरलता, समुद्रका विस्तार, पर्वतकी विशालता, पुष्पोंका मार्दव, सगीतकी संगति, नृत्यकी सन्तुलित गति आदिके प्रत्यक्ष अनुभवके कालमें, इन गुणोंकी 'स्व'में अनुभूति। 'स्व'का वस्तुके गुणोंमें विलय अतएव वस्तुके गुणोंका 'स्व'में अनुभव—यह अन्तर्भावना है, सौन्दर्यकी अनुभूतिका आधार अन्तर्भावना है, यद्यपि यह प्रवृत्ति साधारण भी है। जैसे, उड़ती हुई पतंगकी चचल क्रीडाका अपनेमें अनुभव करके बालक प्रसन्न होता है। कलात्मक चित्र, मूर्ति आदिमें रेखाओंका विन्यास आदि प्रेक्षकमें अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्तियोंको जाग्रत करते है। जैसे, तूफानी समुद्रके एक जापानी चित्रमें रेखाओंके विन्याससे प्रचण्ड लहरोंकी निगलनेवाली शक्तिका प्रेक्षक अनुभव करता है। —ह० ला० श०

अतःप्रतिरोध–मनोविश्लेषणमे भावनाओंके अचेतन दमन और उनके पुन प्रकाशनके प्रति निर्मित अन्त प्रतिरोधका अत्यधिक महत्त्व है। सभी मानसिक, स्नायविक रोगियोंमें ये तथ्य पाये गये। **इड** या इदम्की सभी वासनाएँ यथार्थ जगत्में पूरी नहीं हो सकतीं अत **अहम्** और **उच्च अहम्** अधिकाश वासनाओंका दमन करते है। इस दमनपर सारा मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन केन्द्रित है, परन्तु केवल दमन ही काफी नहीं है क्योंकि दमित वासनाएँ व्यक्त होनेका सतत प्रयत्न करती रहती है, अत व्यक्तिका अहम् और उच्च अहम् कुछ अन्त प्रतिरोध निर्मित कर लेता है जिन्हें हटाकर इन वासनाओंका चेतन मानसमें प्रवेश असम्भव हो जाता है। अचेतन दमित वासनाएँ जितनी प्रबलतामे व्यक्त होनेका प्रयत्न करती है, अहम् उतना ही दृढ अन्त प्रतिरोध बना लेता है। इस अन्त प्रतिरोधका अस्तित्व रोगीकी चिकित्सा करते समय स्पष्ट ज्ञात होता है। मनोविश्लेषक रोगीके अचेतनको चेतन स्तरपर लाना चाहता है, पर रोगीका अहम् सदा बाधा डालता है। रोगकी मूल उत्पत्तिके निकट आते ही रोगीके विचार-अनुसग (association) अन्य दिशाओंमे चले जाते हैं। स्वय रोगीको ऐसा अनुभव होता है कि वह किसी अतीत अनुभवको चेतनामें लाना चाहता है पर इस क्रियामें उसे अत्यन्त क्लेश होता है। इन सब शक्तियोंको, जो अचेतनको चेतनमें आनेसे यथाशक्ति रोकती है, मनोवैज्ञानिक अंत प्रतिरोध कहते है। उस

अहम् द्वारा निर्मित अन्तःप्रतिरोध अधिक प्रबल होते हैं और उनको हटाना काफी कठिन होता है। दे०—'मनोविश्लेषण'। —प्री० उ०

अंतश्चेतना—साहित्यमें अन्तश्चेतना शब्दका प्रयोग अंग्रेजीके conscience के लिए होता है। इस अर्थमें हिन्दीमें कई शब्द प्रचलित हैं जैसे, अन्तर्ज्ञान, अन्तर्बोध और अन्तःकरण। किन्तु 'अन्तःकरण'का एक विशिष्ट दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक अर्थ है जो conscience से सम्बन्धित नहीं है अतः अन्तश्चेतना, अन्तर्ज्ञान और अन्तर्बोध ही इस अर्थमें रूढ़ हैं। अन्तश्चेतना शुभाशुभ या सदसत्को पहिचाननेकी वह आन्तरिक शक्ति है जो तत्काल बतला देती है कि वांछनीय और उचित क्या है। अन्तश्चेतना मानवकी नैसर्गिक शक्ति है, उसके निर्णय अथवा आदेश तर्क और युक्ति, अथवा सामाजिक या राजनीतिक नियमों द्वारा प्रमाणित हों या न हों। अन्तश्चेतना अपने आपमें स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है, यह एक प्रकारका सहज प्रत्यक्ष अनुभव है। अन्तश्चेतनाकी धारणामें यह निहित है कि यह सदा उचित मार्ग ही बताती है। विभिन्न दार्शनिकों, नैतिक विचारकों और धर्मोपदेशकोंने अन्तश्चेतनाकी अपने-अपने ढंगसे परिभाषा दी है। धर्मके अनुसार अन्तश्चेतना दिव्य ईश्वरीय प्रेरणा मानी जाती है। कुछ नैतिक विचारक अन्तश्चेतनाको एक छठी इन्द्रियकी भाँति मानते हैं, जैसे नासिका द्वारा गन्धका सहज अनुभव होता है उसी प्रकार अन्तश्चेतना द्वारा उचितानुचितका। इन सब मतभेदोंके होते हुए साहित्यमें सामान्य अर्थ यही प्रचलित है कि अन्तश्चेतना वह आन्तरिक अनुभव या बोध है जो कर्मके शुभाशुभका निर्णय देता है और मनुष्यको उचित मार्गपर ले जाता है। इस धारणाके मूलमें यह विश्वास निहित है कि कर्म अपने आपमें शुभ या अशुभ होते हैं, सामाजिक या राजनीतिक नियमों द्वारा नहीं। तथापि यदि अन्तश्चेतनाका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करें तो हम देखते हैं कि यह हमारे **अहम्** द्वारा स्वीकृत सामाजिक और नैतिक आदर्शोंका ही संचयन है, परोक्ष रूपसे समाजमें प्रचलित और प्रमाणित नियम ही हमारा अहम् अपनेपर आरोपित कर लेता है। कुछ इसी प्रकारका विश्लेषण हमें फ्रायडने दिया है। उनका **'सुपर ईगो'** अन्तश्चेतनाका ही दूसरा नाम कहा जा सकता है (दे०—'सुपर ईगो')। अरविन्द दर्शनमें अन्तश्चेतनाका अर्थ—चैत्यपुरुष या psychic being की चेतना है। —प्री० उ०

अंतर्मुखी—दे०—'मनोविश्लेषण'।

अंतर्वादी (काव्य)—दे०—'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

अंत्यानुप्रास—शब्दालंकार, अनुप्रासका भेद जहाँ पदान्तमें एक ही स्वर और एक ही व्यंजनकी आवृत्ति हो, वहाँ 'अन्त्यानुप्रास' अलंकार होता है। सम्भवतः इस अलंकारका विवेचन 'साहित्यदर्पण' में सर्वप्रथम हुआ है। 'आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वात्' (१०।६) अन्तमें आवृत्ति होनेसे यह नाम पड़ा। इसका विशेष विवेचन हिन्दीमें भी नहीं किया गया। वस्तुतः काव्यमें इसका प्रयोग छन्दविचारके अन्तर्गत स्वीकार हो गया था क्योंकि 'अन्त्यानुप्रास' हिन्दी मात्रिक छन्दोंकी विशेषता है। इसका विवेचन अलंकारोंमें प्रायः नहीं हुआ। भिखारीदासने 'तुकों'पर विचार किया है (दे०)। गिरिधरदासने अपने 'भारती भूषण' में उल्लेख किया है। आधुनिक विवेचकोंमें भानु कवि तथा भगवानदीनने इसे 'अनुप्रास'में सम्मिलित किया है। कन्हैयालाल पोद्दारने 'वृत्यानुप्रास'में सम्मिलित किया है। सम्पूर्ण हिन्दी-काव्यकी प्रकृति मात्रिक छन्दोंकी है और 'अन्त्यानुप्रास' उनका आवश्यक तत्त्व रहा है। इसी कारण आदिकालसे लेकर आधुनिक छायावादी काव्यतक इसका रूप पाया जाता है। संस्कृत वर्णवृत्तोंमें इसकी स्वीकृति नहीं थी। आधुनिक कालमें स्थिति कुछ बदली है (दे०—'तुक' और 'अतुकान्त')। —वि० स्ना०

अंशावतार—जगत्को संचालित करनेवाली भगवत्शक्तिमें सोलह कलाओंकी समष्टि मानी गयी है। जब जितनी कलाको लेकर वह शक्ति अवतरित होती है तब उसे उतने कलाविशेषका अवतार कहा जाता है। श्रीकृष्णके अवतारमें उसकी सोलह कलाएँ समाविष्ट कही गयी हैं। —वि० मो० श०

अकांड छेदन—दे०—'रस-दोष,' छठा।

अकांड प्रथन—दे०—'रस-दोष', पाँचवाँ।

अक्रम—दे०—'शब्द-दोष,' सत्तरहवाँ, वाक्य-दोष।

अक्रमातिशयोक्ति—दे०—'अतिशयोक्ति,' पाँचवाँ भेद।

अक़्ल—परमात्माने अपने ही अनुरूप आदिभूतकी सृष्टि की। परमात्मा 'आदिकारण' है। आदिभूतकी सृष्टि ही 'आदिकारण'की प्रथम अभिव्यक्ति है। यह प्रथम अभिव्यक्ति विशुद्ध ज्ञान है। इसे 'अक़्ले अव्वल' अथवा 'अक़्ले कुल' (विश्व-ज्ञान) कहते हैं। अक़्लसे अगर बुद्धिका अर्थ लें जिसके द्वारा मनुष्य अपने जागतिक व्यापारोंकी परिचालना करता है तो उसका स्थान सूफ़ी-साधनामें नहीं है। बुद्धिके द्वारा परमसत्यकी प्राप्ति नहीं होती। बुद्धि तर्क करती है और भटकानेवाली है। वह सत्य तर्कसे परे है। वैसे बुद्धि भी शक्तिसम्पन्न हो सकती है अगर उसपर परमात्माका अनुग्रह हो। कहते हैं कि जब परमात्माने अक़्ल(बुद्धि)का निर्माण किया तब उससे पूछा कि "मैं कौन हूँ?" बुद्धि मौन रह गयी। तब परमात्माने अपने 'एकत्व'का प्रकाश डाला और उसे बतलाया कि "तुम परमात्मा हो।" —रा० पू० ति०

अक्षर धाम—वल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतके अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्मके तीन मुख्य रूप होते हैं—(१) पूर्ण पुरुषोत्तम रस अथवा अभेद रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण, (२) अक्षर ब्रह्म जो गणितानन्द है और जो दो स्वरूपोंवाला है तथा (३) अन्तर्यामी। अक्षर ब्रह्मके ही दो स्वरूपोंमें एक स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तमका **अक्षर धाम** है और दूसरा काल, कर्म, स्वभाव रूपमें प्रकट होनेवाले, प्रकृति, जीव तथा अनेक देवी-देवताओंके रूपमें परिणत होनेवाला रूप है। पूर्ण पुरुषोत्तमका अक्षर धाम ही **गोलोक** कहलाता है जहाँ वे अनवतार दशामें नित्य लीलामें आनन्दमें मग्न रहते हैं। विशेषके लिए दे०—'लीला'। —ब्र० व०

अगूढ़व्यंग्य—गुणीभूत व्यंग्यका वह भेद जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थके समान स्पष्ट रीतिसे जान पड़ता हो अर्थात् जिसे सामान्य जन भी तुरन्त समझ लेते हों। संलक्ष्य-

क्रमध्वनिका शब्दशक्त्युद्भव भेद तथा असंलक्ष्यक्रम-ध्वनिमें व्यंग्यार्थ अगूढ नहीं होता है। अत ये ध्वनियाँ गुणीभूत व्यंग्यके रूपमें नहीं हो सकती हे। 'पानी बाढ़े नावमें, घरमे बाढे दाम। दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।' इस उदाहरणमें सम्पत्तिको दोनों हाथोंमें भरकर फेंकनेमें अर्थबाधा होनेके कारण लक्षणामूला अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि है। इस दोहेका व्यंग्यार्थ (सम्पत्तिको मुक्तहस्त खर्च करना, भले कामोंमें लगाना) सामान्य जनों द्वारा शीघ्रतापूर्वक मनोगत कर लिये जानेके कारण अगूढ है। —उ० श० शु०

अगूढव्यंग्या लक्षणा—मम्मट तथा विश्वनाथ आदि आचार्योंने लक्षणाके गौणा तथा शुद्धा आदिके भेदोंको गूढ तथा अगूढ व्यंग्यके रूपमें स्वीकार किया है। इनके व्यंग्य रूप अर्थको काव्य-मर्मज्ञ तथा सामान्य काव्य-प्रेमी दोनों सहज ही ग्रहण करते है। 'वहाँ न लडती दाढ़ी चोटी, वहाँ नहीं साहूकारी।' (का० द०) इस उदाहरणमें शुद्धा साध्यवसाना उपादान अगूढ व्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा है—'दाढी (वाच्यार्थ) दाढी रखनेवाले मुसलमान (लक्ष्यार्थ)में 'नित्य सम्बन्ध' होनेके कारण शुद्धा, दाढी शब्दमें दाढी रखनेवाले मुसलमानोंका अध्यवसान होनेके कारण साध्यवसाना तथा दाढ़ी शब्दके 'दाढी धारण करनेवाले मुसलमानों' के आक्षेपके कारण उपादान लक्षणा है। 'रूपमें साम्प्रदायिक भावनाका अभाव है', यही व्यंग्य प्रयोजन है और इसके सरलतापूर्वक बोधगम्य होनेके कारण यहाँ व्यंग्य अगूढ है। —उ० श० शु०

अगोचरी—योगशास्त्रके अनुसार एक मुद्रा जिसका स्थान कानमें माना जाता है। इसके द्वारा बाह्य शब्दश्रवणका प्रतिरोध करके अन्तस्थ शब्दोंके सुनने और उन्मनीकी ओर मनको प्रेरित करनेका आभास किया जाता है। 'करण मध्ये अगोचरी मुद्रा सबद कुसबद ले उतपनी। सबद कुसबद समो करवा मुद्रा तौ भई अगोचरी।' (अष्टमुद्रा० गोरखबानी) —उ० शं० शा०

अग्नि—तेजका गोचर रूप। उष्णता। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश आदि पञ्च भूतों या तत्त्वोंमेंसे एक। योगाग्नि। 'अगनि ही जोग अगनि ही भोग, अगनि ही हरे चौसठि रोग'। गीतामें भी ज्ञानाग्निकी चर्चा आयी है। 'ज्ञानाग्नि-दग्धकर्माणं तमाहु पण्डित बुधा'। भक्तकी विरहपीड़ा। विरह या ज्ञान विरहकी अग्नि। 'अग्नि मथन करि नीसरी लकरी सहज सुभाइ।' (कबीर साखी संग्रह)

अग्निचक्र—दे०—'हठयोग'।

अघोरपंथ—जनसाधारणमें प्रचलित नाम 'औघड पन्थ'। कहीं-कहीं 'सरभग', अथवा 'अवधूत' मतके नामसे भी प्रचलित। इस मतके मन्तव्योंका अति प्रारम्भिक रूप अथर्व-वेदमें माना जा सकता है। श्वेताश्वतर-उपनिषद्में 'याते रुद्र शिवातनूरघोरा पापकाशिनी' जैसे मन्त्रोंमें शिवके सम्बन्धमें 'अघोर' शब्दका प्रयोग हुआ है। मार्कोपोलो, प्लीनी, अरिस्टोटल आदि पाश्चात्य विद्वानोंने भी इस 'अघोर' पन्थके विषयमें संकेत किया है। ईरान देशमें भी पुराने समयमें इस प्रकारके एक सम्प्रदायके साधक रहते थे। वर्तमान रूपमें इस पन्थके सिद्धान्तोंका सीधा सम्बन्ध गोरख पन्थ तथा तन्त्रप्रधान शैवमतमें है। क्रुकने 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ एथिक्स एण्ड रिलीजन'में इस पन्थके सम्बन्धमें एक विस्तृत तथा गवेषणापूर्ण टिप्पणी दी है। इस पन्थकी आदि आविर्भाव-भूमि राजपूतानेके अन्तर्गत आबू पहाड मानी जाती है। आजकल इसके अनुयायी समग्र भारतमें अपेक्षाकृत अल्प सख्यामें फैले हुए हैं, बड़ौदामें अघोरेश्वर नामक इनका एक मठ था, जिसमें अघोर स्वामी वास करते थे।

इस पन्थमें सम्बन्धित प्रचुर साहित्य इधर-उधर बिखरा पडा है। किन्तु उसका अध्ययन तथा अनुशीलन नहीं हो पाया है। इसका सिद्धान्तपक्ष निर्गुण अद्वैतवादसे मिलता-जुलता है। साधना-पक्षमें हठयोग तथा ध्यानयोग-(लययोग) की प्रधानता है। इनकी प्रक्रियाए तन्त्र-साहित्य-पर आधारित हैं। गुरुको परम महान् मानकर उनकी पूजा होती है। सन्तोंकी समाधिकी भी पूजा होती है। इस पन्थके अनुयायी मद्य-मांस आदिका सेवन करते है। वे मृत महामाससे भी परहेज नहीं करते। मल-मूत्र आदि भी साधनाका अग समझकर ग्रहण करते है। इस प्रकारके लोक-बाह्य आचरणको वे समबुद्धि तथा घोर साधनाका प्रतीक मानते हैं। वे श्मशानक्रियाके द्वारा असाधारण शक्ति प्राप्त करनेमें विश्वास करते है।

काशीके किनाराम औघड पन्थके सर्वप्रसिद्ध आचार्य थे। चम्पारनमें भिनकराम, भीखनराम, टेकमनराम, सदानन्द बाबा, बालखंडी बाबा आदि प्रसिद्ध औघड सन्त हुए हैं। किनारामके ग्रन्थोंमें 'विवेकसार' मुख्य है। 'भिनक दर्शनमाला'में लगभग दो सौ पदोंका सग्रह है। टेकमनरामकी 'भजन रत्नमाला'में भी बहुसंख्यक पद सगृहीत है।

सभी औघडोंकी वेशभूषा समान नहीं होती। कुछ उजले बहिर्वास पहनते हैं और कुछ रंगीन। ये निर्वाणी तथा गृहस्थ दोनों प्रकारके होते हैं। कहीं-कहीं अघोरिनें दलबद्ध होकर घूमती हे। इनके सिरपर जटा रहती, गलेमें नानाविध प्रस्तर और स्फटिककी माला झूमती, कमरपर घाँघरा लटकता और किसीके हाथमें त्रिशूल दिखाई देता है। इनसे सामान्य जनता भय खाती है। —ध० व०

अचिंत्यभेदाभेदवाद—निम्बार्कके द्वैताद्वैतवादकी भाँति चैतन्यके मतमें भी ईश्वर और जीवका, ईश्वर और जगत्-का, भेदाभेद सम्बन्ध माना जाता है। ईश्वर शक्तिमान् हैं, तो जीव-जगत् उसकी शक्ति। पर निम्बार्कका द्वैताद्वैतवाद यहींतक रुक जाता है। चैतन्य इससे आगे बढ़ते है। उनका कहना है कि यह भेदाभेद सम्बन्ध तर्कत असंगत या व्याघातक है। पर क्योंकि ईश्वरभूत शक्तिमान् और जीव-जगत्-भूत शक्ति दोनों अचिन्त्य हैं, अत उनमें व्याघात नहीं है। इस मतको गौडीय वैष्णव मत भी कहते हैं, क्योंकि इसमें हरि ही परमतत्त्व हे और यह गौड या बग देशमें उत्पन्न तथा प्रचलित हुआ।

अचिन्त्यभेदाभेदवादके प्रवर्तक महाप्रभु चैतन्य हैं। उनका जन्म नवद्वीपमें १४८५ ई० मे हुआ। उनके दीक्षा-गुरु और सन्यासगुरु मध्वमतावलम्बी थे। चैतन्य स्वय समझते थे कि वे मध्वमतको मानते है। वे कीर्तन तथा

दान अधिक करते थे। उनकी कृतियाँ प्राय उपलब्ध नहीं है। केवल 'दशमूल श्लोक' उनकी रचना बतलायी जाती है। उनके शिष्योंने आगे चलकर उनके मतकी पुष्टिके लिए अच्छे ग्रन्थोंकी रचना की। अचिन्त्यभेदाभेद दृष्टि होनेके कारण चैतन्यमत मध्वमतसे भिन्न है। वल्लभ और निम्बार्ककी भाँति चैतन्यने भी परमात्मा तथा उनकी शक्तिको कृष्ण और राधाके रूपमें निश्चित किया, रामानुज और मध्वकी तरह नारायण (विष्णु) और लक्ष्मीके रूपमें नहीं। वे कृष्णको भगवान् मानते थे, भगवान्का अवतार नहीं। वृन्दावनको वे जन्मभूमि समझते थे। वहाँके निवासियोंको वे मुक्त मानते थे। चैतन्यके अनुयायियोंने उनको साक्षात् कृष्ण माना। इस प्रकार स्वयं चैतन्य इस मतमें उपास्यदेव बन गये। ऐसा कम होता है कि उस मतका प्रवर्तक उसके अनुयायियोंका एकमात्र उपास्य बन जाय। कहा जाता है कि चैतन्य श्रीमद्भागवत पुराणको ही ब्रह्मसूत्रका भाष्य समझते थे। मध्व भाष्यके प्रति भी वे आदर-भाव रखते थे। जहाँ उनको उससे असन्तोष था, उन स्थलोंके लिए उन्होंने अपने मत स्थिर कर लिये थे। पर प्रधानता उन्होंने भागवतको ही दी। उनकी शिष्य-परम्परामें जीव गोस्वामी हुए जिन्होंने भागवतकी क्रम-सन्दर्भ टीका लिखी और उनके मतको व्यक्त करनेके लिए षट्-सन्दर्भ लिखा। सर्वसंवादिनी टीकासे मण्डित यह षट्-सन्दर्भ अचिन्त्यभेदाभेदवादका सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। १८वीं शतीमें सभी वैष्णव मतोंके अनुयायियोंके बीच वृन्दावनमें शास्त्रार्थ हुआ। वहाँ चैतन्यमतके बलदेव विद्याभूषणने शास्त्रार्थमें भाग लिया। ब्रह्मसूत्रपर इस मतका कोई भाष्य न होनेके कारण विद्वानोंने उनके मतको हेय समझा। बलदेव विद्याभूषणने इस कमीको दूर करनेके लिए एक मासके अन्दर ही ब्रह्मसूत्रका भाष्य—गोविन्द भाष्य—लिख डाला।

संस्कृत कवि जयदेवके गीतगोविन्दका तथा आधुनिक उत्तरभारतीय भाषाओंके कृष्णपरक काव्यका चैतन्यके मतपर बड़ा प्रभाव पड़ा है। चैतन्यके मतका भी प्रभाव आधुनिक बंगला, मैथिली और हिन्दी-साहित्यपर दिखाई देता है।

दर्शनकी इस पद्धतिमें हरि चरम तत्त्व या परमतत्त्व हैं। वह भगवान् या ईश्वर हैं। उनकी अंगकान्ति निर्विशेष ब्रह्म है। उनका एक अंशमात्र ही परमात्मा है जो संसारमें अन्तर्यामी है। हरि अंशी हैं, परमात्मा उनका अंश है। पूर्ण श्री, पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण वीर्य, पूर्ण यश, पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण वैराग्य—इन षट् ऐश्वर्योंकी एकता हरि ही हैं। इनमें माधुर्य सौन्दर्यादि हैं और अन्य उनके अंगभूत हैं। अपनी पूर्णताके अर्थमें हरि कृष्ण-राधाके ऐक्यमें युगल मूर्ति हैं। कृष्ण राधा परस्पर भक्ति और प्रेमके अपरिहार्य बन्धनसे बँधे हैं।

प्रश्न हो सकता है कि सच्चिदानन्द अनन्त हरि कैसे कृष्ण हो सकते हैं जो कि देशकालसे सीमित हैं? चैतन्यका कहना है कि यह आपत्ति निर्मूल है। भौतिक गुण आध्यात्मिक तत्त्वमें नहीं लग सकते। भौतिक वस्तु जिस रूप में हमको दिखाई पड़ती है। हरि आध्यात्मिक हैं। वह विशुद्ध सत्त्व हैं, तम और रजसे मिश्रित नहीं हैं। वह अनन्त और सान्त, सर्वत्र और एकत्र, सब हो सकता है, क्योंकि यही तो उनकी अचिन्त्य शक्तिका लक्षण है। इस शक्तिके कारण हरि मूर्त होकर भी विभु हैं।

भगवान्की अचिन्त्याकार शक्तियोंमें तीन मुख्य हैं—स्वरूपशक्ति, तटस्थशक्ति और मायाशक्ति। स्वरूपशक्तिको चित् शक्ति या अन्तरंगा शक्ति भी कहते हैं। सत्, चित् और आनन्दके कारण भगवान्की वह स्वरूपशक्ति एकात्मिका होनेपर भी त्रिविध रूपोंमें व्यक्त होती है—सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी। सन्धिनी शक्तिके बलपर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं, दूसरोंको सत्ता प्रदान करते हैं और समस्त देशकाल तथा द्रव्योंमें व्याप्त रहते हैं। संवित् शक्तिसे भगवान् स्वयं अपनेको जानते हैं तथा दूसरोंको ज्ञान प्रदान करते हैं। ह्लादिनी शक्तिसे भगवान् स्वयं आनन्दित होते हैं और दूसरोंको आनन्द प्रदान करते हैं।

जो शक्ति परिच्छिन्न स्वभाववाले अणुस्वरूप जीवोंके आविर्भावका कारण बनती है, वह तटस्थ शक्ति या जीव-शक्ति कहलाती है। मायाशक्तिसे प्रकृति तथा जगत्का आविर्भाव होता है। स्वरूपशक्ति वास्तविक सत् है। मायाशक्ति उसीका विलोम है। दोनोंकी मध्यवर्ती जीव-शक्ति है जिसमें कुछ स्वरूपशक्ति और कुछ मायाशक्ति है। स्वरूपशक्ति होनेके कारण जीव साक्षात् सच्चिदानन्द है और मायाशक्ति होनेके कारण जीव उस सच्चिदानन्दसे भिन्न है।

इन तीनों शक्तियोंको मिलाकर पराशक्ति कहते हैं। भगवान् स्वरूपशक्तिसे जगत्के निमित्त कारण हैं और माया तथा जीवशक्तियोंसे उसके उपादान कारण हैं। इस मतमें निर्विकार मान्य नहीं है, क्योंकि यह वाद जगत्को मिथ्या सिद्ध करता है। चैतन्यके मतमें जगत् सत् है, वह भगवान्की मायाशक्तिका परिणाम है। इस परिणाम-वाद या ब्रह्मपरिणामवादको माननेमें ब्रह्म या हरिको विकारवान् मानना पड़ता है। अतः इसको भी न मानते हुए चैतन्यने शक्ति-परिणामवादका समर्थन किया। जगत् भगवान्की शक्तिका परिणाम है। इस वादमें ब्रह्म या हरि अविकारी भी रहते हैं और जगत् भी सत्य रहता है।

मायाशक्तिके कारण जीवमें अविद्या रहती है। इसीके कारण जीव हरिसे अपने वास्तविक सम्बन्धको भूल जाता है। वस्तुतः जीव हरिके अधीन है, हरिका अंश है। जैसे अग्नि और स्फुलिंग परस्पर सम्बद्ध हैं वैसे हरि और जीव भी। इस सम्बन्धको सिद्ध करना ही जीवकी मुक्ति है।

यह भक्ति द्वारा ही सम्भव हो सकता है। भक्ति संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियोंका सम्मिश्रण है। ये दोनों शक्तियाँ भगवान्की ही स्वरूप हैं, अतः भक्ति भगवद्रूपिणी है। स्वरूपात्मक होनेसे यह भगवान्का अपृथग्विशेषण है। पर भक्तोंका यह पृथग्विशेषण है। भगवान्के दो रूप हैं—ऐश्वर्य रूप और माधुर्य रूप। ऐश्वर्य रूपमें भगवान् परात्पर हैं। इस रूपकी सिद्धि ज्ञानसे होती है। माधुर्य रूपमें भगवान् स्वतनु धारण कर मनुष्यके समान ही चेष्टा करता

है। इस रूपमें सख्य, वात्सल्य, दास्य, दाम्पत्य आदिसे भगवान्की भक्ति की जा सकती है, उनका ध्यान-स्मरण हो सकता है। चैतन्यमतमें इसी माधुर्य रूपमें भगवान्को प्राप्त किया जाता है। इसीके साधनको भक्ति कहते हैं। भक्ति दो प्रकारकी होती है—वैधी और रागात्मिका। वैधी भक्ति भक्तिशास्त्रसे निर्दिष्ट उपायोंका अवलम्बन करनेसे होती है। इससे भक्तोंको देवयान मिलता है। रागात्मिका भक्ति उन आर्तोंकी भक्ति है जो वैधी भक्ति नहीं करते या जानते, जो अपने प्रयत्नपर विश्वास न करके भगवान्की अहेतुकी कृपापर आस्था रखते हैं और भगवान्को अपने प्रियतमके रूपमें ग्रहण करके अलौकिक आनन्दका आस्वादन करते हैं। व्रजकी गोपियोंकी भक्ति ऐसी ही रागात्मिका भक्ति है। चैतन्यके मतसे यह भक्ति वैधी भक्तिसे श्रेयस्कर है। यह भक्ति उपाय न होकर स्वयं उपेय है। भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दकी सेवा करते हुए आनन्दलाभ करना मोक्षसे बढकर है। चैतन्यमतमें इस आनन्दलाभको पंचम पुरुषार्थ कहते हैं। अर्थात् यह काम, अर्थ, धर्म तथा मोक्षसे भिन्न पाँचवाँ पुरुषार्थ है जो अन्य चारों पुरुषार्थोंसे नितान्त श्रेयस्कर है। इस भक्ति रसकी सांगोपांग कल्पना चैतन्यमतकी विशिष्टता है, जिसकी पाण्डित्यपूर्ण विवेचना रूप गोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में की है।

चैतन्यमतमें भावोंका अतिशय उद्रेक है। स्वयं चैतन्य अपनेको कृष्ण समझकर कृष्ण-चरितकी सभी लीलाएँ करते थे। वे कभी बहुत रोते थे, कभी बहुत हँसते थे, कभी भावुकतापूर्ण कीर्तन करते थे, और सबसे अधिक, कभी-कभी प्रेमोन्मत्त होकर रासलीला करते थे। उनका जीवन मानो किसी प्रेमोन्मत्तका जीवन था। किसी भी भक्त या रहस्यवादीके जीवनमें इतना प्रेमोन्माद शायद नहीं पाया जाता।

इस प्रेमोन्मादको अलौकिक रस, दिव्य आनन्द या भक्तिरस कहा जाता है। इसका संस्कृत तथा विविध वर्तमान भाषाओंपर बड़ा प्रभाव पड़ा। रूप गोस्वामीके 'हंसदूत' में इस रसकी सुन्दर अभिव्यक्ति है। इसे जघन्य शृंगार रस न समझना चाहिये। इस रसमें विह्वल होकर पुरुष भक्त स्त्री भक्तोंके साथ वे ही लीलाएँ करता है जो कृष्णने गोपियोंके साथ की थीं, पर इसमें शृंगारकी हेयता नहीं है। यह शुद्ध माधुर्य भावकी अभिव्यक्ति है। इसमें भक्तका जीवन ही मधुरिमा-मय रहता है।

इस मतका प्रभाव हिन्दी तथा बँगलापर विशेष पड़ा है। बंगलाके कई काव्योंके विषय हैं चैतन्य महाप्रभु। चैतन्यके मतानुयायी आज भी बंगाल, वृन्दावन तथा उत्तरप्रदेशके अन्य स्थानोंमें काफी संख्यामें हैं। हिन्दीके रीतिकालीन कवियोंपर चैतन्यके माधुर्य भावका विशेष प्रभाव पड़ा है। कृष्णलीलाका वे वैसे ही वर्णन करते हैं जैसे कि चैतन्यमतमें भक्तिकी कल्पना है। यदि चैतन्यके रस-सिद्धान्तको कसौटी मान लें तो रीतिकालीन कवियोंकी कवितामें उच्च कोटिका साहित्य मिलेगा। उनमें भौतिक शृंगारके स्थानपर दिव्य प्रेमकी मधुरिमा मिलेगी। —सं० ला० पा०

अचेतन (unconscious)–मानसके अचेतन पक्षकी धारणा मनोविश्लेषणकी बड़ी महत्त्वपूर्ण खोज है। मानस केवल चेतन ही नहीं, वरन् अचेतन भी होता है, इसका प्रमाण मानसिक रोगोंके विश्लेषणसे मिलता है। रोगके लक्षणके मूलमें फ्रायड और अन्य मनोविश्लेषकोंने कुछ अचेतन इच्छाएं, भावनाएँ या प्रवृत्तियां पायीं। सामान्य जीवनमें भी भूलों, भ्रान्तियों और खटकोंका विश्लेषण करनेपर उनका मूल कारण ऐसी इच्छाएं या प्रवृत्तियां ज्ञात होती हैं जिनके बारेमें व्यक्तिको स्वयं कोई ज्ञान नहीं होता है। अचेतनके विषयमें बहुतसे सिद्धान्त प्रचलित हैं, इनमें फ्रायडका सिद्धान्त प्रमुख है और साहित्यपर इसका प्रभाव अत्यधिक पड़ा है। इनके अनुसार मानसका अचेतन भाग चेतनसे कहीं अधिक विस्तृत और शक्तिशाली है। काम शक्तिका कोष इस अचेतन मनमें ही है, इसके अतिरिक्त **अहम्** और **सुपरईगो**की बहुत-सी मांगें भी हमारे अचेतन मनका अंश हैं, अर्थात् हमें उनके बारेमें कोई ज्ञान नहीं है और विशेष मनोवैज्ञानिक प्रयत्नोंसे ही वे चेतन मनमें लायी जा सकती हैं। फ्रायडका मनोविज्ञान शैशवकी दमित कामप्रवृत्तिपर केन्द्रित है। इनके अनुसार अचेतनका निर्माण इस प्रवृत्तिजन्य वासनाओंके दमनमें होता है। यह दमन भी अहम् अनजाने ही करता है और दमित वासनाएँ सदा प्रकाशनके लिए प्रयत्नशील रहती हैं। अचेतनकी कामप्रवृत्ति वयस्क दृष्टिसे विकृत कामप्रवृत्ति है जिसकी तृप्ति सामाजिक जीवनमें असम्भव और अनैतिक है। वे दमित वासनाएँ जिनका हमें कोई ज्ञान नहीं होता, स्वप्नोंमें, दैनिक जीवनकी भूलोंमें और अधिक प्रबल होनेपर मानसिक रोगोंमें व्यक्त हुआ करती हैं। इनके कारण व्यक्ति विचित्र, असाधारण व्यवहार करता है, पर कारण वह स्वयं ही समझ नहीं पाता। यदि विश्लेषणके द्वारा यह दमित वासना चेतन मानसमें आ जाये तो व्यवहारकी विचित्रताएँ दूर हो जाती हैं। श्री इलाचन्द्र जोशीके 'प्रेत और छाया' तथा 'निर्वासित' उपन्यासोंके नायक ऐसी ही अचेतन वासनाओं और ग्रन्थियोंसे आक्रान्त हैं। अन्य बहुतसे कलाकार भी मानसिक द्वन्द्वके इस पक्षका उपयोग अपने पात्रोंके चरित्र-चित्रणमें करते हैं। (दे०—'मनोविश्लेषण')।

फ्रायडके शिष्य युंग भी अचेतन मानसमें विश्वास करते हैं, परन्तु फ्रायडके अचेतनकी धारणाको उन्होंने कुछ परिवर्तित और विस्तृत कर दिया है। उनके अनुसार अचेतनमें केवल कामप्रवृत्ति ही नहीं वरन् जीवन-शक्ति रहती है। लिबिडो शब्दका अर्थ वह यही जीवन-शक्ति या जीवनेच्छा करते हैं (दे०—'लिबिडो')। वह यह भी मानते हैं कि अचेतन कुछ अंशोंमें जातिगत और वंशगत होता है। अचेतन मानसमें सोचने और अनुभव करनेके कुछ ऐसे ढंग मिलते हैं जिन्हें प्रागैतिहासिक पूर्वजोंसे आया हुआ मानते हैं। —प्री० अ०

अजपाजाप–वह जप जिसमें किसी प्रकारके स्थूल साधनोंका उपयोग न हो, जैसे, नामोच्चारण, माला फेरना, किंवा अन्य प्रकारसे नामोंको गिनना आदि। सिद्धसाहित्यमें भी इस प्रकारके जपकी चर्चा है। नाथ पंथियोंने इसी प्रकार रात-दिनमें आने-जानेवाली २१,६०० साँसोंके

आवागमनको अजपाजाप कहा है। 'इक्कीस सहस छसै आदू पवन पुरिष जप माली। इला प्यंगुला सुषमन नारी अहनिसि बसै प्रनाली' (गोरखबानी)

कबीरने नाथ पंथियोंकी पद्धतिके अनुसार ही एक श्वासको 'ओहं' और दूसरेको 'सोहं' बनाया तथा इन्हीं आने-जानेवाली साँसोंके द्वारा होनेवाले जपको अजपा-जाप कहा। (दे० 'सोहं') उन्होंने इसे निःअक्षरका ध्यान बनाया है। 'निह अक्षर जाप तहँ जापै। उठत धुन सुन्नसे आपै।' (कबीर ग्रं० ३, ७) —ड० शं० ना०

अज्ञात चेतन–मानसका वह भाग जिसके बारेमें हमें कोई भी ज्ञान या चेतना नहीं है, अर्थात् अचेतन। अंग्रेजीके 'unconscious' शब्दके लिए हिन्दीमें **अचेतन** और **अज्ञात चेतन** दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं। (दे०–'मानस', 'अचेतन', 'मनोविश्लेषण') —प्री० अ०

अज्ञातयौवना (नायिका)–जिस नायिकाको अपने यौवनका आगमन ज्ञात न हो। यह मुग्धा नायिकाका एक भेद है और सर्वप्रथम इसका उल्लेख भानुदत्तने किया है। सम्भवतः इस भेदको प्रायः किसी आचार्यने स्वीकार नहीं किया। हिन्दीमें अधिकांश कवियोंने इसे स्वीकार किया है; विशेष दे० 'नायिका-भेद'। मतिरामने इसे 'निज तनु जोबन आगमन जो नहि जानति' कहा है और पद्माकरने इसी बातको दूसरे प्रकारसे कह दिया है—'जब जोबनको आगमन जानि परत नहिं ताहि' (जगद्विनोद, भा० ११, २७।) वस्तुतः केशव और देवकी नववधू और केशवकी नवयौवना अज्ञातयौवना ही है। **नववधू**–केशवके अनुसार इस नायिकाकी 'दिन-दिन दुति दूनी' बढ़ती है और उनके उदाहरणसे भी स्पष्ट है कि यह अज्ञातयौवना ही है—'नैननिकी गति गूढ़ चलाचल केसवदास अकास चढ़ैंगी। माई कहा यह माइगी दीपति जौ दिन द्वै इहि भाँति बढ़ैंगी।' (रसिकप्रिया ३, १०।) इसमें यौवनकी स्थिति वर्णित है। देवके उदाहरणमें भी नायिकाका सहज प्रश्न इसी बातका संकेत देता है—'काहे तें माई कछू दिनते मनमोहनको मन मोसों सों मानै।' (भावविलास नायक०।) **नवयौवना**–केशवके अनुसार ही—'बालदसा निकसै जहाँ जोबनको प्रवेस।' (वही ३, २०।) वस्तुतः यह मुग्धाका सामान्य लक्षण है, और उदाहरणमें भी यही भाव झलकता है—'केसरि फूलि नची भृकुटी कटि लूटि नितंब लई बहु कारी।' (वही ३, २१।) इन दोनों भेदोंका दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं है और क्योंकि इनमें नायिकाके यौवनका विकास अज्ञात रूपसे हो रहा है, इस कारण इनको यहाँ रखा गया है। देवकी नवयौवना ज्ञातयौवना है, यह उनके उदाहरणसे स्पष्ट है।

परन्तु प्रस्तुत नायिकाके वर्णनमें कवियोंने उसके अंगोंके विकास तथा हृदयके बढ़ते हुए मनोभावका सुन्दर चित्रण किया है। किशोरावस्थामें नारीके शरीरमें परिवर्तन उपस्थित होते हैं और उनके साथ हृदयमें नये मनोभावोंका जागरण भी होता है, पर उनसे वह भली भाँति परिचित नहीं होती। यह अवस्था है जिसमें मुग्धा अज्ञातयौवना कही जाती है। रसलीनी नायिका इस शरीरविकासको सहज आश्चर्यसे ग्रहण करती है—'रतन गोल ह्वै छतिया उपजे गात। इनि उठि उठै करेजवा लगि जनु जाय।' (बरवै० ३।) इस अंजनमें भाव भी व्यंजित है। मतिराम अननुभूत सात्त्विक भावोंसे नायिकाका अज्ञान चित्रित करते हैं—'कंप छुट्यो घनस्वेद बढ्यो तनु रोम उठ्यो अँखियाँ भरि आयी।' (रसराज, १९।) और कभी नायिका अपने तन-मनके परिवर्तनके प्रति चकित है—'हैं धौं कहा को कहा गयो यों दिन द्वै कहि नै कछु ख्याल हमारो।' (पद्माकर जगद्विनोद भाग १ २९।) विद्यापतिकी राधाका चित्रण अज्ञातयौवनाके रूपमें बहुत सर्वांगात्मक हुआ है। सूरने भी राधाकी इस अवस्थाके चित्रणमें सूक्ष्म मनोभावोंका आधार ग्रहण किया है। विशेषके लिए दे०—'वय सन्धि'। —र०

अज्ञेयवाद–यह शब्द टामस हेनरी हक्सले द्वारा गढ़े अंग्रेजी शब्द ऐग्नास्टिसिज्मका हिन्दी रूप है। इस वादके अनुसार भौतिक पदार्थ, आत्मा, परमात्मा आदि जैसे दार्शनिक और धार्मिक परमतत्त्व अज्ञेय हैं, उनके विषयमें निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकना मनुष्यके लिए असम्भव है। विश्वके प्रपंचके पीछे कोई परमतत्त्व, अगोचर सत्ता हो सकती है, किन्तु उसका ज्ञान भूत, भविष्य, वर्तमानमें किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं किया जा सकता। पश्चिममें इस मतके प्रतिपादक काट, हर्बर्ट स्पेंसर, हक्सले और आगस्त कॉम्टे हैं। काट यह मानता था कि जगत्के पीछे कोई स्वाधिष्ठान वस्तु है, किन्तु मनुष्यके लिए वह अज्ञात और अज्ञेय है। उन्नीसवीं शताब्दीमें डा० हे० हक्सलेने अपनी आस्थाका विश्लेषण करते हुए अज्ञेयवादको ही बुद्धिसंगत मार्ग स्वीकार किया।

अज्ञेयवादी जगत् और अनुभूतिके परे सत्ताकी अज्ञेयता स्वीकार करता है, किन्तु वह यह मानता है कि किसी ऐसी सत्ताका अस्तित्व अवश्य है। अतएव वह नितान्त प्रकृतिवादी नहीं होता। इस मतका आधार यह अनुभति है कि दर्शनके क्षेत्रमें वैज्ञानिक पद्धति पर्याप्त नहीं है। बुद्धिकी गति अनुभूतिके क्षेत्रतक सीमित है। दर्शन विज्ञानके साम्राज्यके अन्तर्गत नहीं हो सकता। अज्ञेयवाद सीमित सन्देहवाद है। दे०—'सन्देहवाद'। —आ०

अडिल्ल–मात्रिक सम छन्दका एक भेद, 'प्राकृतपैंगलम्'में अडिल्ला अथवा अरिल्ल इसका नाम दिया गया है और लक्षणके अनुसार इसके १६ मात्राके प्रत्येक चरणके अन्तमें २ ल (॥) रहने चाहिये, जगण (ISI) वर्जित है (१ १२७)। हिन्दीका डिल्ला और अरिल्ल छन्द इसीके रूपान्तर माने जायँगे। यह छन्द पद्धरी तथा पादाकुलकके समान चौकलके आधारपर गठित था, पर अपभ्रंशकालमें ही (भविष्यत कहा) यह नियम शिथिल हो चला था। हिन्दीके कवियोंने इस विषयमें स्वतन्त्रता ली है। उन्होंने मात्रा और अन्तके प्रयोगका ही पालन किया है। सुन्दरदासने अपने 'अडिल्ल छन्द ग्रन्थ'में अन्तमें भी परिवर्तन कर दिया है, ल ग (IS) तथा ग ग (SS) भी। भानुने सम्भवतः इसी कारण अरिल्ल (अन्तमें ॥ या ISS) और डिल्ला (अन्तमें भगण SII) दो भिन्न छन्द ही माने हैं। इसका प्रयोग चन्द (पृ० रा०), सूर (सूरसा०), तुलसी (रा०च०मा०), केशव (रा० च०), सूदन (सु० च०) तथा पद्माकर (हि०वि०) आदिने भी किया है। इस छन्दमें प्रायः वीरोंके युद्धादिका वर्णन

किया गया है, परन्तु वर्णनात्मक स्थलोंपर भी प्रयुक्त हुआ है। उदा०–'उलहत मदनि समुद-मद गारत। गिरिवर गरद मरद करि टारत'–(पद्माकर हि०वि०)। —र०

अतद्गुण–लोकन्यायमूल अर्थालंकार, निकटवर्ती वस्तुके गुण ग्रहण करनेकी सम्भावना होनेपर भी, ग्रहण न किये जानेको 'अतद्गुण' अलंकार कहते हैं। इसका प्रथम प्रयोग मम्मटने किया है–'तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुण' अर्थात् प्रस्तुतके संसर्गमें आकर भी प्रकृतका उसके गुणका अनुकरण न करना तद्गुण है (काव्यप्रकाश १० १३८)। जयदेवने अतद्गुण अलंकारका निम्नोक्त लक्षण दिया है–'सगताऽन्यगुणानगीकारमाहुरतद्गुणम्' अर्थात् सामीप्यसे किसीके गुणको अगीकार न करना अतद्गुण है (चन्द्रालोक १०५)। हिन्दीमें सर्वप्रथम जसवन्त सिंहके 'भाषाभूषण'में उदाहरण दिया गया है। मतिराम और भूषणकी परिभाषा समान है केवल मतिरामने रंगका और भूषणने गुणका उल्लेख किया है–'जहाँ संगमें औरको रंग कछु नहिं लेत' (ल०ल० ३३७) और–'जहँ संगतितें औरको गुन कछुक नहिं लेत' (शि०भू० २९५)। कुलपतिने 'रसरहस्य'मे 'सम्भव हू में नहिं गहै' कहकर अधिक स्पष्ट किया है। दासने 'संगत'से गुण ग्रहण न करनेके साथ ही 'पूर्व रूप गुन नहि मिटै भए मिटनके हेत' (काव्यनिर्णय १४) भी माना है।

संस्कृतमें किसी-किसी आचार्यने इसके दो भेद माने हैं। मम्मटकी कारिकामें 'तत्'का अर्थ अप्रकृत तथा 'अस्य'का प्रकृत लेनेसे जहाँ किसी कारणवश प्रकृतके द्वारा अप्रकृत (अप्रस्तुत)के गुणका अनुहरण न हो, वहाँ भी अतद्गुण माना जायगा। रुय्यकके आधारपर विश्वनाथकी परिभाषा है–'तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुण' (साहित्यदर्पण १० ९१)। कारण होनेपर भी वस्तुके दूसरेके गुणोंको ग्रहण न करनेकी दो स्थितियाँ मानी गयी हैं–(क) जब न्यून गुण अप्रकृत उत्कृष्ट गुण प्रकृतके समीप रहकर भी उसके गुण ग्रहण न करे, (ख) अथवा जब प्रकृत अप्रकृतके समीप रहनेपर भी उसके गुणका ग्रहण नहीं करता।

चिन्तामणिने 'कविकुलकल्पतरु'में इसका उदाहरण सुन्दर दिया है–'गगाजल उज्जल जमुन जल छवि अन्त समेत। दुहूँ मध्य मज्जन करत हस सेतको सेत'। मतिरामके उदाहरणमें भावसौन्दर्य है–'लाल बाल अनुरागसो रँगत रोज सब अङ्ग। तऊ न छोडत रावरो रूप साँवरो रंग' (ल०ल० ३३८)। इन उदाहरणोंके विषयमें कुछका मत है कि ये विशेषोक्तिके भी हो सकते हैं, परन्तु यहाँ मात्र कारण रहते कार्यका अभाव नहीं, वरन् गुण-ग्रहणका प्रश्न है।

रीतिकालीन प्रतिनिधि कवि बिहारीने भी इसका वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग 'सतसई'में किया है। कतिपय आधुनिक कवियोंने भी, विशेष रूपसे मैथलीशरण गुप्तने इसका भावपूर्ण प्रयोग किया है, 'राधा हरि बन गई हाय यदि हरि राधा बन पाते, तो उद्धव मधुबनमे उलट तुम मधुपुर ही जाते' (द्वापर)। अन्य रीतिकालीन आचार्योंमें सोमनाथ, भिखारीदास तथा पद्माकर प्रमुख हैं, जिन्होंने इस अलकारपर विचार किया है। —वि० स्ना०

अतिकरुण–दे०–'करुण रस'।

अतिकल्पना–दे०–'रेटियो फैन्टेसी'।

अतियथार्थवाद (surrealism)– अतियथार्थवादका जन्म, अन्य बहुतसे कला आन्दोलनोंके समान सर्वप्रथम फ्रासमें हुआ। आगे चलकर सबसे अधिक आश्रय भी उसे वहींके कलाकारोंने दिया। प्रथम महायुद्धकी समाप्तिके अवसरपर, सामाजिक तथा राजनीतिक उथल-पुथलके बाद ही अतियथार्थवाद फ्रासीसी साहित्यके लगभग ७० वर्षोंसे चले आनेवाले उस विद्रोहको अपनी चरम सीमातक पहुँचा देता है, जो रोमांटिक लेखकोंके पलायनवाद तथा प्राकृतवादके बाह्य यथार्थसे सम्बद्ध होनेके प्रति परिचालित किया गया था। प्रथम महायुद्धके समय (१९१६ ई०) दादावाद (दे०) का जन्म हुआ, और इसके बाद (१९२० ई०) अतियथार्थवादके आन्दोलनने गति पकडी।

अतियथार्थवादियोंके इस अभियानका नेतृत्व चार्ल्स बोदेलेयर (१८२१–१८६७ ई०) ने किया। उसकी 'वॉयेज'की अन्तिम दो पंक्तियोंमें इसका स्पष्ट निर्देश है। वास्तविकता तथा यथार्थका अर्थ सर्वमान्य भौतिक एव मानवप्रकृति सम्बन्धी सिद्धान्तोंके प्रतिकूल, जानबूझकर जीवनकी विकृतियोंमें खोजा जाने लगा। इस प्रवृत्तिके सर्वप्रथम उल्लेखनीय उदाहरण १८७० ई० के लगभग लॉत्रीमान, रिम्बा तथा मैलार्मके ग्रन्थोंमें मिलते हैं। यहींसे उस रहस्यात्मक अनीश्वरवादका प्रारम्भ होता है, जिसने आगे चलकर अतियथार्थवादको जन्म दिया।

प्रकृतिके सम्बन्धमें मान्य धारणाओंके प्रति यह विद्रोह प्रथम महायुद्धके समय अपनी चरम सीमापर पहुँच गया। कुख्यात 'दादा' मतके अनुयायी उस विद्रोहको आगे बढा रहे थे। परन्तु शीघ्र ही कुछ व्यक्तियोंने 'दादा'की सीमाका अतिक्रमण करके १९२० ई० के लगभग अपने मतकी अलग स्थापना की, जिसे उन्होंने अतियथार्थवाद कहा। उन्होंने अतियथार्थवादका यह प्रयोग अपोलेनियरके अनुकरणपर किया, जो अतियथार्थवादका प्रयोग किसी ऐसी सत्ताके अर्थमें कर चुका था, जो दृश्यमान वास्तविकताके परे हो। आन्द्रे ब्रेतन (१८९६ ई०) इस आन्दोलनका जन्मदाता था और विभिन्न समयोंपर उसे फिलिप सुपोल, लुई आरागों, जार्ज ह्यूने, रेने कैवल, ई० सेमेन्स तथा पाल एलुआरका सहयोग मिलता रहा। इन लेखकोंके प्रमुख पत्र थे 'लितरेत्यारे', अतियथार्थवादकी स्थापनाके एक वर्ष पूर्व १९१९ ई० मे सघटित तथा 'रिवोल्यूशन सुररियलिस्ते' (१९२४-१९३० ई०) जो १९३० ई० में 'सुररियलिज्म और सर्विस देला रिवोल्यूशन'में परिणत हो गया था। अतियथार्थवादियोंके उद्देश्य तथा सिद्धान्त १९२४ ई० तथा १९३० ई० के दो घोषणापत्रोंमें आन्द्रे ब्रेतन द्वारा प्रकाशित किये गये थे। अतियथार्थवादी अनुभव अपनी प्रकृतिमें मुख्यत मानसिक विकृतियोंसे सम्बद्ध थे। १९२८ ई०में अतियथार्थवादी लेखकोंने ला मातिन चार्कोतके उन्माद सम्बन्धी अध्ययनके प्रकाशनकी ५० वीं जयन्ती मनायी और उसे अपने गण्य-मान्य नेताओंमें स्थान दिया। जो भी हो, यह निश्चित है कि आधुनिक फ्रासीसी कविताको उसके वर्तमान रूप देनेमें अतियथार्थवादी प्रवृत्तियोंका बडा हाथ है। आजके सभी प्रसिद्ध फ्रासीसी कवि किसी-न-किसी रूपमें इस आन्दोलनसे

सम्बद्ध रहे हैं।

अतियथार्थवादी प्रवृत्तियाँ यदि एक ओर फ्रान्सीसी कविताम अभिव्यक्त हुई तो दूसरी ओर उन्होंने समकालीन फ्रान्सीसी कलाको भी अछूता नहीं छोड़ा। मुख्यतः चित्रकला और कहीं-कहीं शिल्पकलामें भी इन प्रवृत्तियोंने स्थान पाया। कवियोंके साथ-साथ चित्रकारों द्वारा अतियथार्थवादी प्रवृत्तियोंका ग्रहण नितान्त स्वाभाविक था। उन मानसिक भाव-चित्रोंको चित्रकार बहुत ही सरलताके साथ अंकित कर सकता है, जो उसके मनमें असगत कल्पनाओं, स्वप्नों, दिवा-स्वप्नों तथा फैन्टेसी आदिके रूपमें प्रायः आया करते हैं।

वैसे तो फ्रान्सको केन्द्रस्थल बनाकर अतियथार्थवादी आन्दोलन विश्वव्यापी हो उठा है, अंग्रेज, अमरीकन, जर्मन तथा स्पेनिश कवियों और चित्रकारोंने कलाकी इस प्रवृत्तिसे प्रभावित होकर बहुत-कुछ सर्जन किया है। फिर भी विदेशोंमें इस आन्दोलनको सबसे अधिक सहयोग इंग्लैण्डमें मिला। परन्तु यह भी सच है कि सहयोगके अनुपातसे विरोध भी उसे सबसे अधिक वहीं सहना पड़ा। १९३६ ई० के जूनमें लन्दनमें अतियथार्थवादी कलाकी प्रदर्शनी उद्घाटित हुई। स्वयं हर्बर्ट रीडने, जो इस आन्दोलनके इंग्लैण्डमें प्रमुख समर्थक रहे हैं, इस प्रदर्शनीका परिचयपत्र प्रस्तुत किया था। उन्हींके शब्दोंमें, इतनी अधिक अपरिचित विशेषताओंसे युक्त आन्दोलनका महत्त्व समझनेमें असमर्थ समाचारपत्रोंने मजाक, घृणा तथा अपमानकी सेना लेकर इसका सामना किया। परन्तु जैसे-जैसे लोगोंने अतियथार्थवादी आन्दोलनका उद्देश्य समझना प्रारम्भ किया, वैसे-वैसे यह विरोध कुछ कम होता गया।

अंग्रेजोंके कुछ आलोचक अपने साहित्यके अतियथार्थवादको फ्रान्सीसी प्रभावके रूपमें नहीं ग्रहण करते। उनके मतानुसार अतियथार्थवादकी उत्पत्ति ऐतिहासिक परिस्थितियोंके फलस्वरूप इंग्लैण्डमें हुई। १९ वीं शतीका स्वच्छन्दतावाद ही आगे चलकर, २० वीं शतीमें युगकी आवश्यकताओंके अनुकूल ढलकर अतियथार्थवादके रूपमें परिणत हो गया, ऐसा उनका विश्वास है। इस मतके माननेवालोंमें ह्यू साइक्स डेवीज प्रमुख हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिसे अतियथार्थवादी कृतित्वका सम्बन्ध मुख्य रूपसे स्वप्नों तथा व्यक्तिकी अर्द्धजाग्रत् अवस्थाओंसे है। कविताके उद्गमके सम्बन्धमें **स्वत चालित लेखन**का सिद्धान्त आधुनिक आलोचनामें पर्याप्त रूपसे प्रचलित है। अतियथार्थवादके समर्थकोंने तो कविताका स्वप्नसे अपरिहार्य सम्बन्ध माना है। इसके अतिरिक्त अतियथार्थवादमें स्वत-चालित लेखन (automatic writing) का विशेष महत्त्व है। इस स्वत-चालित लेखनके आधारपर ही मायाकावस्कीने कहा था कि काव्य-रचना सिद्धान्तके रूपमें होना चाहिये, अपवादके रूपमें नहीं।

स्वत-चालित लेखनको लेकर लोगोंके मनमें बहुत-सी भ्रान्तियाँ हैं। इन भ्रान्तियोंका निराकरण करते हुए अपने निबन्ध [illegible] में [illegible] करते हैं, 'स्वत-चालित लेखनके सम्बन्धमें [illegible] अन्वेषण होना चाहिये। [illegible] परिणाम [illegible] लिए अच्छा होगा। कुछ व्यक्तियोंको इससे ऊँची प्रक्रियाओंका भान होता है, जो प्लैंचेट आदि यन्त्रोंका प्रयोग करती हैं, अथवा किसी ऐसे सन्देशका आभास मिलता है, जो सम्मोहनकी अवस्थामें प्राप्त किया गया हो। परन्तु प्रस्तुत प्रसंगमें स्वत-चालित लेखनसे हमारा तात्पर्य मनकी उस अवस्थासे है, जिसमें अभिव्यक्ति तत्काल एवं नैसर्गिक रूपमें होती है, जहाँ कि भावचित्र और उसकी शाब्दिक प्रतिकृतिमें समयका कोई अन्तर नहीं पड़ता।' अतियथार्थवादी आन्दोलनका घोषणापत्र प्रस्तुत करनेवाले प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक आन्द्रे ब्रेतनने भी अतियथार्थवादी कृतित्वमें स्वत-चालित लेखनको सर्वाधिक प्रधानता दी है।

कुछ तो स्वत-चालित लेखनका सहारा लेनेके फलस्वरूप और कुछ लोककथाओं तथा अवदानोंके समावेशके कारण, अतियथार्थवादी कलाका अपने स्वरूपमें अव्यवस्थित होना स्वाभाविक ही था। और जब स्वयं अतियथार्थवादी कलाकार तथा समीक्षकने व्यवस्थासे ऊबकर शास्त्रीय स्तरपर अव्यवस्थाको प्रश्रय दिया तो समस्त अतियथार्थवादी कृतित्वमें एक प्रकारसे अराजकताका प्रवेश हो गया। ब्रेतन, आरागों, क्रेवल तथा एलुआर जैसे लेखकोंकी रचनाओंमें व्यवस्थाके भावका अत्यन्त सशक्त ढंगसे तिरस्कार किया गया है। उनके अनुसार व्यवस्थाका भाव मनुष्यकी उस अन्वेषण-वृत्तिमें बाधा पहुँचाता है, जिसके सहारे वह इस अनन्त पृथ्वीके अनन्त रहस्योंका उद्घाटन करना चाहता है। इसीलिए अनीश्वरवादकी शिलापर अवस्थित अतियथार्थवाद अपने जीवनदर्शन तथा कलात्मक सर्जनमें अव्यवस्थाकी भावनाको ही शत-प्रतिशत प्रश्रय देता आ रहा है। यही कारण है कि अतियथार्थवादी कृतित्वके साथ पाठक या दर्शकका आसानीसे साधारणीकरण नहीं हो पाता और इस परम्पराका अनुसरण करनेवाले चित्रों अथवा कविताओंका स्वरूप एक साधारण रसिकके लिए बहुत दुरूह सिद्ध होता है। सच तो यह है कि अतियथार्थवाद एक प्रकारसे मानव विचारधाराके क्षेत्रमें व्यवस्थाके प्रति, क्रमबद्धताके प्रति विद्रोह करता है तथा उसके स्थानपर अव्यवस्थाको प्रतिष्ठित करनेके लिए आन्दोलन करता है। जो कुछ प्राचीन है, जो कुछ परम्परागत है तथा जो कुछ रूढ़ियों एवं व्यवस्थाओंमें बँधा हुआ है, उन सबको आमूल नष्ट कर देना ही अतियथार्थवादी आन्दोलनका मुख्य ध्येय रहा है।

अतियथार्थवाद कलाको अत्यधिक बौद्धिक बना देनेका विरोध करता है। उसे जीवनका एकान्त काल्पनिक पक्ष ही अधिक प्रिय है। व्यक्तित्वके अन्तर्विरोधोंका चित्रण करना इसका प्रमुख ध्येय है।

अतियथार्थवादके मूल सिद्धान्त प्रचलित नैतिक मान्यताओंके एकदम विरुद्ध हैं। इस मतके अनुयायियोंका दृढ़ विश्वास है कि आधुनिक नैतिकता अपनी प्रकृतिमें एकदम खोखली है। अतियथार्थवादके अपने नैतिक मूल्य स्वतन्त्रता एवं प्रेमपर अवस्थित हैं।

जहाँतक कलात्मक विधानका प्रश्न है, अतियथार्थवादियोंने इस क्षेत्रमें भी प्रचलित सिद्धान्तोंके प्रति विद्रोह किया। वे कलाकारको अपनी अभिव्यक्तिमें पूर्ण स्वच्छन्दता देनेके पक्षमें हैं। उनका [illegible] मत है कि रचनात्मक [illegible]

अतियथार्थवाद स्वप्न तथा अवचेतनसे प्रमुखत सम्बद्ध है, और क्योंकि स्वप्न तथा अवचेतन व्यापारोंके कितने ही रूप हो सकते है, अत अतियथार्थवादी कलामें अभिव्यक्तिके ढंग भी उतने ही प्रकारके हो सकते हैं।

अतियथार्थवादी आन्दोलनका हिन्दी साहित्यपर कोई प्रत्यक्ष उल्लेखनीय प्रभाव नहीं मिलता। प्रयोगवादकालीन कवितामें भावचित्रोंका सयोजन, भावोंके मुक्त साहचर्यका प्रयोग, अवचेतनके प्रतीकों तथा बिम्बोंका चित्रण अपने ढंगसे विकसित हुआ है। इसे अतियथार्थवादी प्रभाव नहीं माना जा सकता। हिन्दीके कुछ समीक्षकोंने कविता और स्वप्न तथा अवचेतनके सम्बन्धोंकी भी चर्चा की है। परन्तु उनका यह ज्ञान भी सीधे फ्रायडवाद (दे०)से प्रसूत है। अतियथार्थवादका प्रत्यक्ष प्रभाव **प्रपद्यवादपर** अवश्य देखा जा सकता है। बिहारके तीन कवियों नलिन विलोचन, केसरीकुमार तथा नरेश (नकेन) द्वारा प्रवर्तित इस काव्य आन्दोलनके बाह्य तथा अन्तर दोनोंपर ही अतियथार्थवादकी छाया स्पष्ट है। प्रपद्यवादके कवियोंने अपना घोषणा-पत्र भी प्रकाशित किया। उनकी रचना-पद्धति उस अव्यवस्थाको ही प्रधान मानकर चलती है, जो अतियथार्थवादका प्रधान उपजीव्य थी। प्रारम्भमें कुछ नवयुवक कवियोंने प्रपद्यवादकी धारामें बहनेका प्रयास किया, परन्तु अन्तत यह काव्यआन्दोलन अपनी कोई स्थायी परम्परा न स्थापित कर सका और इस प्रकार हिन्दी साहित्यके इतिहासका एक अनावश्यक अध्याय समाप्त हो गया।

[सहायक ग्रन्थ (१) 'फ्रॉम क्यूबिज्म टु सुररियलिज्म' जी० ई० लेमात्रे, (२) 'सुररियलिज्म', सं० हर्बर्ट रीड।]

—रा० स्व० च०

अतिराष्ट्रीयतावाद–फासिज्ममें राष्ट्रवाद अपनी पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ है। राष्ट्रसे बढकर दूसरा उपास्य नहीं और राष्ट्र-सेवकसे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं। फासिज्मके लिए राष्ट्र व्यक्तियोंका समूह अथवा व्यापारात्मक समष्टिमात्र नहीं बल्कि एक स्वतन्त्र रहस्यमयी सत्ता है, जिसका अपना एक निश्चित लक्ष्य है और उसकी अपने लक्ष्यकी ओर प्रगतिका नाम ही इतिहास है। स्मरण रहे कि फासिज्मका वह राष्ट्र राष्ट्र नहीं जो ईश्वर या विवेक द्वारा निर्धारित नीति-नियमोंसे अनुशासित हो बल्कि वह जो अपना साध्य स्वयं है और जो सारे नीति-नियमोंसे परे है। राष्ट्रका आचरण कभी अशुभ अथवा असत् हो ही नहीं सकता, राष्ट्र सदा शुभ अथवा सत्कर्म ही किया करता है। बल्कि यूँ कहना चाहिये कि राष्ट्र जो कुछ करता है वही शुभ है और जिसे अशुभ समझता है वही अशुभ है। शुभाशुभकी बस यही पहचान है। व्यक्तिका कर्तव्य है कि राष्ट्र अथवा राज्यमें अपनी सत्ता पूर्णतया खो दे–उसके साथ अपना तादात्म्य कर ले, किन्तु राष्ट्रका व्यक्तिके प्रति कोई कर्तव्य नहीं, क्योंकि राष्ट्र स्वयं ही व्यक्तिकी नैतिकताका स्रोत है। एक नाजी प्रवक्ताने कहा था, 'जर्मन राष्ट्रके लिए जो कुछ भी हितकर है वही शुभ अथवा उचित है, जो कुछ भी हानिकर है वही अशुभ अथवा अनुचित है।' इससे यह भी सकेत मिलता है कि राष्ट्र अपने अंगभूत व्यक्तियोंके साथ तो नीति-नियमोंमें आबद्ध है ही नहीं, अन्य राष्ट्रोंके प्रति भी इसके कोई नैतिक कर्तव्याकर्तव्य नहीं। चूकि राष्ट्र सर्वशक्तिसम्पन्न है अत वह किसी अन्य राष्ट्रको भी अपनेसे बड़ा या अपनेके बराबर नहीं मान सकता। सीमा-विस्तारके रूपमें आत्माभिव्यक्ति ही इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

—ह० ना०

अतिविश्रब्ध–दे०–'मध्या नायिका'।

अतिशयोक्ति–साध्यगर्भ अभेदप्रधान अध्यवसायमूल अर्थालंकारका एक भेद। शब्दार्थ है अतिक्रांत (उल्लघन) करनेवाली उक्ति। अलकारिकोंने अतिशयोक्तिको अलकारके मूलमें मानकर विशेष महत्त्व दिया है। प्राय प्रत्येक अलंकारके मूलमें अतिशयोक्ति (चमत्कार तथा उत्कर्ष) रहती है (दे०–'अलंकार')। वक्रोक्तिके समान इसका कथनशैलीके सौन्दर्यके रूपमें भी प्रयोग हुआ है। प्रथम आचार्य भामहने निमित्तसे लोकसीमाका अतिक्रमण करनेवाली उक्तिके रूपमें इसे माना है (काव्यालकार २ ८१) और दण्डीने 'विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी' (काव्यादर्श ३ २१४) कहा है। इसी प्रकार प्रारम्भमें अतिशयोक्तिकी व्याख्या लोकसीमाको पार करनेवाली प्रशंसात्मक उक्तिके रूपमें की गयी है। वामनका लक्षण इनसे भिन्न है–'सम्भाव्य धर्म और उसके उत्कर्षकी कल्पना अतिशयोक्ति हैं' (का० सू० वृ० ४ ३ १०)। आगे चलकर मम्मटने उद्भटके आधारपर अतिशयोक्तिके विवेचनको विस्तृत आधार प्रदान किया। उनके अनुसार, 'जिसमें १. उपमेयका ऐसा काल्पनिक अभेद (अध्यवसाय) निश्चित किया जाय कि वह उपमानमें अन्तर्मग्न (निगरण) हो जाय, २. वर्ण्यविषयका उससे भिन्न प्रकारसे वर्णन किया जाय, ३. 'यदि' शब्दके अभिप्रायमें किसी असम्भाव्य अर्थकी कल्पना की जाय और ४. कार्य-कारणके पौर्वापर्यका वैपरीत्य प्रकट किया जाय'। मम्मटके प्रथम भेदकी अतिशयोक्ति सम्बन्धी धारणा अवश्य मौलिक है–'निगीर्याध्यवसान तु प्रकृतस्य परेण यत्।' और उनका अनुसरण करते हुए बादके आचार्योंने इसे अतिशयोक्तिका लक्षण ही स्वीकार कर लिया है। विश्वनाथने इसकी व्याख्यामें 'निगरण' और 'अध्यवसाय'का आश्रय 'अलंकार सर्वस्व'के आधारपर लिया है (सा० द० १० ४६ वृ। अलं० स० पृ० ५६)। और जगन्नाथके अनुसार 'विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशय तत्योक्ति' (र० गं० पृ० ३०७)।

अतिशयोक्तिके भेदोंका विकास क्रमिक रूपसे हुआ है। मम्मटके बाद रुय्यकने 'अलकारसर्वस्व'में इसके ५ भेद बताये हैं, जिनको विश्वनाथने भी स्वीकार किया है, १ भेदमें अभेद–जहाँ भेद होनेपर भी भेदका निषेध हो, २. अभेदमें भेद–भेद न होनेपर भी भेदका कथन, ३ सम्बन्ध होनेपर भी उसका निषेध, ४ सम्बन्धमें न होनेपर भी उनका कथन तथा ५ कार्यकारणका विपर्यय (सा० द० १०. ४७)। मम्मटने इनमेंसे ३ और ५ नहीं स्वीकार किये थे और उनका तीसरा भेद भिन्न है। आगे चलकर जयदेवने बिना अतिशयोक्तिकी परिभाषा दिये उसके छ भेदोंके लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—१. अक्रमातिशयोक्ति, २ अत्यन्तातिशयोक्ति, ३ चपलातिशयोक्ति, ४ सम्बन्धातिशयोक्ति, ५ भेदकातिशयोक्ति, ६ रूपकातिशयोक्ति (चन्द्रालोक ५ ४१, ४६) अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'

में इनके क्रमको बदलकर दो नये भेद असम्बन्धा तथा सापह्नवा और जोड दिये हैं।

हिन्दीके आचार्योंने अतिशयोक्तिका स्वतन्त्र लक्षण न देकर उसके विभिन्न भेदोंके लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस दृष्टिसे उन्होंने दो परम्पराओंका अनुसरण किया है। चिन्तामणि तथा कुलपति मिश्रने मम्मटके चार भेद दिये हैं–'अतिशयोक्ति है चारि विधि, मम्मट कथन प्रकार।' (कविकुलकल्पतरु) और–'अति अभेद जिय राखि जहँ, नहिं कहिये उपमेय। उपमानै कहिये जहा, अतिशय उक्ति सो भेद। कहिये औरे भाति पुनि, जो यों तो यों होय। आगे-पीछे बरनिये, कारन कारज सोय।' (रस-रहस्य)। इनमें क्रमश भेदेऽप्यभेद, अभेदभेद सम्बन्धेऽसम्बन्ध तथा पौर्वापर्यविपर्यय देखा जा सकता है। अन्य जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, दास तथा पद्माकर आदिने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके आधारपर ६ से ८ भेदतक किंचित् अन्तरके साथ स्वीकार किये है। इनमें अधिकतरने सम्बन्धातिशयोक्तिके दो उपभेद मान लिये है। दासने अवश्य इसकी स्वतन्त्र परिभाषा दी है— 'जहँ अत्यन्त सराहिये' (का० नि० ११)। आधुनिक विवेचकोंने अधिक संगतरूप देनेका प्रयत्न किया है। कन्हैयालाल पोद्दारने प्रथम ५ भेदोंका उल्लेख किया है रूपक, भेदक, सम्बन्ध, असम्बन्ध तथा कारण, और फिर रूपकके दो उपभेद शुद्धा, सापह्नवा, सम्बन्धके दो उपभेद सम्भाव्यमान, निर्णीयमान और कारणके तीन भेद अक्रम, चपलतथा अत्यन्त स्वीकार किये हैं। रामदहिन मिश्रने केवल कारणके इन तीन भेदोंको माना है।

उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्तिमें, एकमे साध्य अध्यवसाय है तो दूसरेमें उत्पाद्य। पहलेमें विषयकी वास्तविक प्रकृति ज्ञात नहीं होती, भ्रमसे विषय विषयिन (अप्रस्तुत) एक कल्पित कर लिया जाता है। दूसरेमें विषय (प्रस्तुत) और विषयिनके भेदको जानते हुए उपमान उपमेयपर आरोपित किया जाता है।

१ रूपकातिशयोक्ति–जयदेवके अनुसार 'रूप्य रूपकमध्यगम्' (चन्द्रालोक ५ ४६) और इसीके अनुसरणपर हिन्दीके आचार्योंने–'जह केवल उपमान ते प्रगट होत उपमेय।' (ल० ल० १११) अथवा–'उपमेयहिको कहत जहँ तजि सुअर्थ उपमान।' (पद्मा० ६२) आदि लक्षण दिये हैं। दासके अनुसार 'विदित जान उपमानको, कथन काव्यमें देखि।' (का० नि० ११) अर्थात् उपमान प्रसिद्ध होना चाहिये। इसमे उपमान द्वारा उपमेयका निगरण (अन्तर्भूत) किये जानेपर उसके कल्पित अभेदका कथन होता है, अत स्पष्ट ही उपमान द्वारा उपमेयका वर्णन किया जाता है। उदा०–'कनकलतानि इन्दु इन्दु माहिं अरबिंद, झरें अरबिंदन ते बुंद मकरंदके।' (शि० भू० १०९) अथवा–'बाधा है विधुको किसने इन काली जंजीरोंमें। मणिवाले फणियोंका मुख क्यों भरा हुआ हीरोंमें।' (प्रसाद का० ८० से)। दोनों उदाहरणोंमें केवल उपमानोंसे मुख आदि उपमेयोंका कथन है। रूपकमें उपमेय-उपमान दोनोंका कथन होता है, अत आहार्य अभेद होता है, अतिशयोक्तिमें केवल उपमानका, अत अध्यवसान रूप आहार्य अभेद होता है।

२. भेदकातिशयोक्ति–जयदेवके अनुसार 'एकस्यैवान्यतोच्यते।' (चन्द्रालोक ५ ४५), और प्राय इसीके अनुसरणपर हिन्दी आचार्योंके लक्षण हैं–'जेहि थर आनहिं भाँतिकी बरनत बात कछूक।' (शि० भू० ११०) अथवा 'औरै यों करिकै जहाँ, बरनत सोई बात।' (ल० ल० ११६)। दासके लक्षणमें–'जगतसे भिन्न कुछ और ही कहने' (का० नि० ११)को माना गया है जो अव्यापक है। उपमेयके अन्यत्व वर्णनमें–भेद होनेपर भी अभेदकथनमें, भेदकातिशयोक्ति मानी गयी है। उदा०– 'अनियारे दीरघ दृगनु, किती न तरुनि समान। वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान।' (वि० रत्ना० ५८८) अथवा–'औरे भाँति कुञ्जनमें राग रत भौंर भीरि, औरें भाँति झौरनमें बौरनके ह्वै गये।' (पद्माकर)। इस अलकारका बिहारी, पद्माकर, द्विजदेव तथा रत्नाकर आदिने सुन्दर प्रयोग किया है।

३. सम्बन्धातिशयोक्ति–जयदेवके अनुसार लक्षण है, 'अभावेऽपि तद्वच।' (चन्द्रालोक ५ ४४)। उन्होंने केवल असम्बन्धमें सम्बन्धके कथनको माना है, परन्तु हिन्दीके आचार्योंने प्राय इस लक्षणको इसका एक भेद माना और दूसरे भेदमें असम्बन्धातिशयोक्तिका लक्षण दिया है। वस्तुत अप्पय दीक्षितने सम्बन्धके साथ असम्बन्धका भेद स्वीकार किया था जिसको मम्मट आदिने पहले ही स्वीकार किया था, पर जयदेवने इसका उल्लेख नहीं किया था। बादमें हिन्दीमें जयदेवको आधाररूपमें स्वीकार करनेके कारण सम्भवत इसीके दो भेदोंमें असम्बन्धको मान लिया गया। आधुनिक विवेचकोंने मम्मट आदिकी स्वीकृतिके कारण पुन इसे स्वतन्त्र भेद स्वीकार किया। भूषणने इन दोनोंका उल्लेख नहीं किया है। द्वितीय भेदका लक्षण–'जहँ अजोगमे जोग' (ल० ल० ११८) अथवा पद्माकरका प्रथम भेद–'जह अजोगमें जोग बखानो।' (पद्मा० ६६)। और दासने भी यही लक्षण दिया है। इस अलकारमें असम्बन्धमें सम्बन्धकी कल्पना की जाती है–'कोकन अति सब लोकते, सुखप्रद राम-प्रताप। बन्यो रहत जिन दम्पतिन, आठो पहर मिलाप।' (का० नि० ११), यहाँ कोकनके मिलाप और राम-प्रतापका असम्बन्ध है, जो निश्चित होनेके कारण निर्णीयमाना है। अथवा–'करतल परस्पर शोकसे उनके स्वय धर्षित हुए। तब विस्फरित होते हुए भुजदण्ड जो दर्शित हुए। दो पद्म शुण्डोंमें लिये दो शुण्डवाला गज कहीं। मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले समता कहीं।' (जयद्रथवध)। असम्भव सम्बन्धकी कल्पना की गयी है, अत सम्भाव्यमाना है।

४ असम्बन्धातिशयोक्ति–अप्पय दीक्षितने सम्भवत मम्मट आदिके आधारपर इसको स्वतन्त्र भेद माना, पर रीतिकालीन आचार्योंने प्राय इसे सम्बन्धातिशयोक्तिके प्रथम भेदके रूपमें स्वीकार किया है–'जहँ अजोग है जोगमें' (ल० ल० ११८) अथवा–'जहँ जोग ते अजुग है' (का० नि० ११)। इस अलकारमें सम्बन्धमें असम्बन्धकी कल्पना होती है–'अति सुन्दर लखि निय मुख तेरो। आदर हम न करत ससि केरो।' (पद्मा० ६७)।

५ **अक्रमातिशयोक्ति**–जयदेवके अनुसार 'युगपत्कार्य-कारणे' (चन्द्रालोक ५ ४१) और हिन्दीके आचार्योंके लक्षण प्राय इसीपर आधारित है–'जहाँ हेतु और काज मिलि, होत एक ही संग' (ल० ल० १२३), भूषणने 'संग' के स्थान-पर 'साथ' करके ज्योंका त्यों यही लक्षण दिया है। दास तथा पद्माकरने केवल 'कार्यकारणका साथ कथन' कहा है। इसमें कार्यकारणका एक ही कालमें होना वर्णित होता है–'दोऊ बातें छुटी गजराजकी बराबर ही, पाँव ग्राह मुखते पुकार निज मुखते।' (वही १२४) अथवा 'वह शर इधर गाडीव गुणसे भिन्न जैसे ही हुआ, धडसे जयद्रथका उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।' (जयद्रथवध)। आधुनिकों-के अनुसार कारणातिशयोक्तिका प्रथम भेद।

६ **चपला या चंचलातिशयोक्ति**–जयदेवके अनुसार चपलाका लक्षण है–'कार्ये हेतुप्रसक्तिजे।' (चन्द्रालोक ५ ४३) और इसीके अनुकरणपर आचार्योंने लक्षण दिये है–'बरनत हेतु प्रसवितते उपजत है जहँ काज।' (ल० ल० १२५) अथवा 'जहाँ हेतु चरचाहिमें, काज होत ततकाल।' (शि० भू० ११४)। दासने 'जहाँ अत्यन्त उतावलीसे कार्यका वर्णन किया जाय' माना है (का० नि० ११)। कारणसे सम्बद्ध होनेके कारण आधुनिक विवेचकोंने इसे कारणातिशयोक्तिके अन्तर्गत माना है। हिन्दीके रीति कालीन आचार्योंमें भूषण, मतिराम आदिने इसे चचला कहा है। इसमें कारणके ज्ञानमात्रसे कार्यका होना कहा जाता है–'सतराँही भौहनि नहीं दुरत दुराये नेह। होत नाम नन्दलालके नीपपाल सी देह।' (ल० ल० १२७) अथवा 'बोध बुधिके कमण्डल उठावत ही, धाक सुरधुनि की धँसी यों घट-घटमें। लोकपाल दौरन दसौं दिसी हहरि लागे, हरि लागे हेरन सुपात वर वटमें।' (गगावतरण), रत्नाकरको इस अलकारके निर्वाहमें विशेष सफलता मिली है।

७ **अत्यन्तातिशयोक्ति**–जयदेवके अनुसार– 'पौर्वापर्य-व्यतिक्रमे' (चन्द्रालोक ५ ४२) लक्षण है, जिसके आधारपर हिन्दीके आचार्योंने अपने लक्षण दिये है–'होत हेतु पीछे जहाँ, होत प्रथम ही काज।' (ल० ल० १२८) अथवा–'जहँ कारज पहलें भयै, कारन पीछे होय।' (का० नि० ११)। इनमें एक प्रकारसे जयदेवके लक्षणकी व्याख्या है, पर पद्माकरने अनुवाद किया है–'जहँ पूरबपर क्रम विपरीतौ।' (पद्मा ७०)। आधुनिकोंने इसे कारणातिश-योक्तिके अन्तर्गत माना है। इसमें कारणसे प्रथम ही कार्य-के होनेका कथन होना है–'जात भयौ पहिलें तन ताप ओ पीछें मिलाप भयो मनभावते।' (का० नि० ११) अथवा–'शर खींच उसने तूणसे कब किधर सधाना उन्हें। बस विद्ध होकर ही विपक्षी वृन्दने जाना उन्हें।' (जयद्रथ-वध)।

८ **सापह्नवातिशयोक्ति**–अप्पय दीक्षितने 'कुवलया-नन्द'में इसे एक भेद माना है। प्राय हिन्दीके आचार्यों-ने इसे स्वीकार नहीं किया। कन्हैयालाल पोद्दारने इसे रूपकातिशयोक्तिके अन्तर्गत माना है। वस्तुत अपह्नुतिके साथ जहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है वहाँ यह अलकार माना जा सकता है–'मुक्ता खचित विद्रुमोंमें वह भरा मधुर रस अनुपम है। पुष्पभार वाहक केवल हैं वहाँ नहीं पाने हम है। सुधा सुधाकरमे न है वसुधामें यदि सुधा कहीं। तो है वहीं देखिये चलकर रमणीमें प्रत्यक्ष वहीं।' (अल० म० पृ० २०१)। यहाँ नायिकाके अधर आदि उपमेयोंका कथन न करके विद्रुम आदि उपमानोंका कथन है और साथ ही मधुर रस आदिका निषेध है, अत सापह्नव रूपकातिशयोक्ति है। ग्वाल कविने 'अलकार भ्रमभजन-' में इसे 'परिसंख्या'के अन्तर्गत माना है, पर पोद्दार इसे उनका भ्रम कहते है, क्योंकि यहाँ उपमेय निगरण है, केवल कथन नहीं।

अतिशयोक्तिका प्रयोग वीर-काव्योंमे नायकके वीरता-वर्णनमें, जायसी आदिमें 'नायिका'के रूप-सौन्दर्य वर्णनमें और रीति-कवियोंमें नायिकाके सौन्दर्य तथा भावोंके वर्णनमें विशेष रूपसे हुआ है। —र०

अतिशून्य–दे०–'शून्य'।

अतिहसित–दे०–'हास्यरस'।

अतींद्रिय–इन्द्रियातीत अनुभवकी महिमा मर्मियोंने गायी है। यह सच है कि जैसे रिचर्ड्सने अपने 'प्रिंसिपल आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म'में कहा है–उसके अनुसार सगीत-श्रवण या काव्यास्वाद, हमारे टहलने या अच्छे कपडे पहननेके आनन्दसे मूलत भिन्न नहीं है। फिर भी कलाके आस्वादकी अनुभूतिमें इन प्राथमिक इन्द्रियानुभूतियोंसे अधिक निविड और मश्लिष्ट द्वितीय कोटिकी अनुभूति होती है। इसीको रस-शास्त्रियोंने अलौकिक तत्त्व कहा है। अभिनवगुप्तको विशद करते हुए मम्मटने 'अलौकिक-चमत्कारी, अलौकिकानन्दमय, लोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर, अलौकिकी सिद्धि, इत्यादि शब्दोंका प्रयोग किया है। 'ध्वन्यालोकलोचन'में 'अलोकिक भोग' शब्द प्रयोग किया गया है। 'साहित्यदर्पण'कार विश्वनाथ उसे लोकोत्तर कहता है, 'रसगगाधर'कार जगन्नाथने भी उसे अलौकिक कहा है। इसी कारणसे रसको ब्रह्मानन्दसहोदर कहा गया। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान यह मान नहीं सकता कि कविता या कलाका आनन्द सम्पूर्णत इन्द्रियातीत हो सकता है बल्कि जिन रहस्यवादियोंने अतीन्द्रियकी चर्चा की है, वह भी इन्द्रियगोचर उपमानोंके द्वारा ही की है। अत अतीन्द्रिय शब्द साहित्यके क्षेत्रमें केवल एक ज्यामितिक परिकल्पनामात्र है। एक काल्पनिक स्थापनाके नाते उसका उपयोग है। —प्र० मा०

अतुकांत–यह शब्द तुकविहीन छन्दरचनाका बोध कराता है। वैदिक और लौकिक संस्कृत छन्दोंमें तुकान्त-का विधान नहा था, अत उन्हें अतुकान्त कहा जा सकता है। निषेधात्मक प्रणालीसे, तुकान्तयुक्त कविताको दृष्टिमें रखकर, इस शब्दकी रचना हुई है। कदाचित् द्विवेदी-युगमे ही इसका प्रचलन हिन्दीमें विशेष रूपसे आरम्भ हुआ। महावीरप्रसाद द्विवेदीने अपने समयमें अतुकान्त छन्दोंके प्रयोगका पक्ष लेते हुए लिखा था–'पादान्तम अनुप्रासहीन छन्द भी हिन्दीमें लिखे जाने चाहिये। इस प्रकारके छन्द जब संस्कृत, अग्रेजी और बंगलामे विद्यमान हैं, तब कोई कारण नहीं कि हमारी भाषामें वे न लिखे जायँ, संस्कृत ही हिन्दीकी माता है। संस्कृतका ना

कविता साहित्य इस तुकबन्दीके बन्धेमें बहिर्गत-सा है। अतएव इस विषयमें यदि हम संस्कृतका अनुकरण करें, तो सफलताकी पूरी-पूरी आशा है।' (रसज्ञरंजन पृ० १५, १६)। द्विवेदीजीके इस संकेतको ग्रहणकरके अनेक कवियोंने संस्कृत वृत्तोंका हिन्दीमें व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया और अतुकान्त कविताको एक स्वतन्त्र महत्ता हो गयी। 'हरिऔध'का 'प्रियप्रवास' इसका सर्वप्रमुख उदाहरण है। अंग्रेजी अतुकान्त छन्द (blank verse) की शैली भी अपनायी गयी। बंगलामें 'मेघनादवध' जैसे काव्य अतुकान्त छन्दमें ही रचे गये, जिनसे प्रभावित होकर मैथिलीशरण गुप्तने अनेक रचनाओंमें उसीका प्रयोग किया। प्रसादके 'प्रेमपथिक'में भी अतुकान्त छन्द ही प्रयुक्त है। पंत और निरालाके काव्यसंग्रहोंमें अतुकान्त कविताके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। आधुनिक मुक्त छन्दकी बहुत-सी कविता अतुकान्त ही मिलती है। —ज० गु०

अत्यंततिरस्कृत वाच्यध्वनि–लक्षणामूला अविवक्षित-वाच्यध्वनिका दूसरा भेद। इस ध्वनिमें वाच्यार्थ प्रसंगकी दृष्टिसे सर्वथा अनुपयुक्त होनेके कारण पूर्णतया परित्यक्त कर दिया जाता है और वाच्यार्थसे भिन्न अर्थ देने लगता है। यह ध्वनिभेद लक्षित लक्षणापर आधारित है, जिसमें मुख्यार्थ दूसरे अर्थकी सिद्धिके लिए अपना अर्थ छोड़ देता है (परार्थ स्व-समर्पणम्)। अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनिकी भाँति इसके भी दो भेद होते हैं - १ पदगतका उदाहरण–'तुम्हारी आँखोंका आकाश, सरल आँसोंका नीलाकाश। खो गया मेरा खग अनजान, मृगेक्षिणि, इनमें खग अज्ञान' (पन्त)। यहाँ 'खग' शब्दका मुख्यार्थ प्रसंगमें असिद्ध होनेके कारण–सर्वथा परित्यक्त है और मनका अर्थ देता है मनकी चंचलता और अबोधता आदि व्यंजित करना प्रयोजन है। २ 'सकल नेत्रेके हाथ पसार, लूटता इधर लोभ गृह-द्वार' (ज्ञा० द० पृ० ३०५)। इस उदाहरणमें समूचे वाक्यका अर्थ बाधित होनेके कारण परित्यक्त हो जाता है और 'लोभी व्यक्ति प्रत्येक प्रकारसे दूसरेकी सम्पत्तिका अपहरण करता है', यह लक्ष्यार्थ ज्ञात होता है। 'लोभ'-के स्वरूपको बोध कराना प्रयोजन है। —उ० श० शु०

अत्यंतातिशयोक्ति–दे०–'अतिशयोक्ति,' सातवाँ भेद।

अत्युक्ति–अतिशयोक्ति वर्गका अर्थालंकार, शौर्य और औदार्य आदिके अत्यन्त मिथ्या वर्णनको अत्युक्ति अलंकार कहते हैं (अ०म० पृ० ४१४)। 'कुवलयानन्द'के अनुसार जहाँ समृद्धिका अतिशय वर्णन होता है वहाँ 'उदात्त' और जहाँ शौर्यादिका वर्णन होता है वहाँ 'अत्युक्ति' अलंकार होता है। वस्तुतः इस अलंकारको 'उदात्त' अथवा 'अतिशयोक्ति'में अन्तर्भूत समझना चाहिये। 'काव्यप्रकाश'के टीकाकार भट्ट वामनने ऐसा ही माना है। न तो मम्मटने 'काव्यप्रकाश'में न विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इस अलंकारका उल्लेख किया है। किन्तु हिन्दीके अनेक, जसवन्तसिंह, मतिराम भूषण, दास तथा पद्माकर आदि आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें अप्पय दीक्षितके आधारपर इसको स्थान दिया है। मतिरामकी परिभाषा है–'जो सुन्दरता-मित्रता, अधिक सुढारहोय।' (ल०ल० ३८६)। बिहारीमें अत्युक्तिके सुन्दर उदाहरण हैं–'भूषन भार सँभारिहै, क्यों यह तन सुकुमार। सूधे पाय न परत धर, सोभा ही के भार।' (बि० र०), नायिकाके अंगोंकी शोभाका ही भार इतना अधिक है कि वह सीधी चल नहीं सकती, फिर भला आभूषणोंका भार वह कैसे सँभालेगी। यह सौन्दर्यकी अत्युक्ति है। इसी प्रकार प्रेम, औदार्य, विरह आदिकी अत्युक्ति होती है–'बाल बिलोचन बारिके बाँधि बढ़े अपार। जारें जो न वियोगकी बड़वानलकी झार।' (ल० ल० . ३८३)।

'काव्यप्रकाश'के व्याख्याकारका कहना है कि यह अलंकार उदात्तके अन्तर्गत है। सम्भवतः ऐसी आलोचनासे अवगत अप्पय दीक्षितने बताया है कि जहाँपर समृद्धिका अत्यधिक वर्णन होता है वहाँ उदात्त और जहाँ शूरता या उदारताका, वहाँ अत्युक्ति होती है। उन्होंने अत्युक्तिको सम्बन्धातिशयोक्तिसे भिन्न बताया है। कारण, अतिशयोक्तिका कथन कुछ सीमातक सम्भव हो सकता है, पर अत्युक्तिका विषय सर्वथा असम्भव है (कुवलयानन्द पृ० १७८)। —ज० कि० व० तथा ध० ब्र० शा०

अदब–नियम। प्रत्येक वस्तुको निर्दिष्ट सीमामें रखना (प्रज्ञा)। लिट्रेचर अथवा वाङ्मय। अदबी-इल्म, इख़्लाकी अर्थात् नैतिक। अल्-अदब : वह नैतिक प्रवृत्ति जो मनुष्यको असभ्य व्यवहारसे रोकती है। सुरुचि अथवा मनकी प्रसन्नता। इल्मेअदब वह विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य बोलचाल और लेखनकी त्रुटियोंसे बच सके। क्रि० अदब : सभ्य बनाना, अदब सिखलाना। यह स्पष्ट है कि अपने मूलार्थमें अदब वाङ्मय अथवा साहित्यसे कहीं व्यापक वस्तु है, क्योंकि उसमें मनुष्यकी लिपिबद्ध ज्ञान-चेतना ही नहीं उसका लोकव्यवहार भी सम्मिलित है। परन्तु साहित्य संस्कारी जीवनका प्रमुख अंग होनेके नाते अदबका मुख्य प्रकरण बन गया और पश्चात् उसका समानवाची माना जाने लगा। इस सन्दर्भमें सभी प्रकारकी संस्कारी और भावप्रधान रचनाओंके लिए इस शब्दका उपयोग होता है। फ़ारसी और अरबीके साहित्यमें अन्तरंगका उतना महत्त्व नहीं है जितना बहिरंगका, क्योंकि ईरान और अरबमें साहित्यकार 'गढ़िया' नहीं, 'जड़िया' है। 'अदब' शब्दके भीतर जो आलंकारिकता और नियमबद्धता है वह इन देशोंके साहित्योंमें स्पष्ट रूपसे उभरी है। (दे० साहित्य, उपयोगी साहित्य, काव्यकला, ललित साहित्य, सरस साहित्य) —रा० म०

अद्भुत रस–'विस्मयस्य सम्यक्समृद्धिरद्भुत सर्वेन्द्रियाणां ताटस्थ्य वा।' (भानुदत्त : रसतरंगिणी) अर्थात् विस्मयकी सम्यक् समृद्धि अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी तटस्थता अद्भुत रस है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जब किसी रचनामें विस्मय स्थायी भाव इस प्रकार पूर्णतया प्रस्फुट हो कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उससे अभिभावित होकर निश्चेष्ट बन जायँ, तब वहाँ अद्भुत रसकी निष्पत्ति होती है। हिन्दीके आचार्य देवने अद्भुत रसका यह लक्षण किया है–'आहचरज देखे सुने बिस्मै बाढ़त। चित्त अद्भुतरस बिस्मय बढ़ै अचल सचकित निमित्त।' (भवानी विलास)। भरतमुनिने वीररससे अद्भुतकी उत्पत्ति बतायी है तथा इसका वर्ण पीला एवं देवता ब्रह्मा कहा है। विश्वनाथके

अनुसार इसके देवता गन्धर्व हैं।

'विस्मय'की परिभाषा 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में दी गयी है—'विस्मयश्चित्तविस्तार पदार्थातिशयादिभि' किसी अलौकिक पदार्थके गोचरीकरणसे उत्पन्न चित्तका विस्तार विस्मय है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इस परिभाषाको दुहराते हुए विस्मयको 'चमत्कार'का पर्याय बताया है—'चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्याय' (३ ३ वृ०)। अतएव, चित्तकी वह चमत्कृत अवस्था जिसमें वह सामान्यकी परिधिसे वाहर उठकर विस्तारलाभ करता है, 'विस्मय' कहलायेगी। वास्तवमें, यह विस्मय या चमत्कार प्रत्येक गहरी अनुभूतिका आवश्यक अंग है। और इसीलिए यह प्रत्येक रसकी प्रतीतिमें वर्तमान रहता है। भानुदत्तने कहा है कि विस्मय सभी रसोंमें संचार करता है। विश्वनाथ रसास्वादके प्रकारको समझाते हुए कहते हैं कि रसका प्राण 'लोकोत्तर चमत्कार' है (जो चित्तका विस्ताररूप विस्मय ही है) और इस प्रकार सर्वत्र, सम्पूर्ण रसगर्भित स्थानोंमें अद्‌भुत रस माना जाना चाहिये। इस सम्बन्धमें उन्होंने निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—'रसे सारश्चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्‌भुतो रस। तस्माद‌द्‌भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।' (सा० द० ३ ३ वृ०) अर्थात् सब रसोंमें चमत्कार साररूपसे वर्तमान होता है तथा चमत्कार (विस्मय)के साररूप (स्थायी) होनेसे सर्वत्र अद्‌भुत रस ही प्रतीत होता है। अतएव, नारायण पण्डित केवल एक अद्‌भुत रस ही मानते हैं।

मनोविज्ञानियोंने भी विस्मयको प्रधान भावोंमें गृहीत किया है तथा उसकी प्रवृत्ति 'जिज्ञासा' से बतायी है। वास्तवमें आदिम मानवको प्रकृतिकी क्रीडास्थलीके संसर्गमें भय एव आश्चर्य अथवा विस्मय, इन दो भावोंकी ही मुख्यतया प्रतीति हुई होगी। कला एव काव्यके आकर्षणमें विस्मयकी भावना सर्वाधिक महत्त्व रखती है। कवि एव कलाकार जिस वस्तुका सौन्दर्य चित्रित करना चाहते हैं, उसमें कोई लोकको अतिक्रान्त करनेवाला तत्त्व वर्तमान रहता है, जो अपनी असाधारणतासे भावकको अभिभूत कर लेता है। अंग्रेजी साहित्यके रोमाटिक कवियोंने काव्यकी आत्मा विस्मयको ही स्वीकार किया था। अतएव, अद्‌भुत रसका महत्त्व स्वयं सिद्ध है। साहित्यशास्त्रियोंने रसोंके विरोध एव अविरोधका व्याख्यान किया है। पण्डितराजने अद्‌भुतरसको शृंगार एव वीरका अविरोधी बताया है, अर्थात् उनके मतानुसार शृंगार तथा वीरके साथ अद्‌भुतकी अवस्थिति हो सकती है। विश्वनाथने सम्बद्ध प्रसगमें अद्‌भुतके विरोध या अविरोधके विषयमें कोई उल्लेख नहीं किया है। वास्तवमें उन्होंने रसास्वादके निरूपणके प्रकरणमें, जैसा पहले ही कहा गया है, अपने प्रपितामहकी सम्मति उद्धृत करते हुए अपना मत भी व्यक्त कर दिया है कि अद्‌भुतरसकी पहुँच सर्वत्र सम्पूर्ण रसोंमें हो सकती है। भानुदत्तने अत्युक्ति, भ्रमोक्ति, चित्रोक्ति, विरोधाभास इत्यादिको अद्‌भुत रसमें ही अन्तर्भूत कर दिया है। सामान्यतया अद्‌भुत एव हास्य रसमें आपातत साम्य लक्षित होता है, क्योंकि दोनोंमें लोकसे वैपरीत्यका भाव वर्तमान रहता है। लेकिन, अन्तर यह है कि हास्यमें यह वैपरीत्य साधारण होता है और उसका कारण भी यत्किंचित् ज्ञात रहता है, जब कि अद्‌भुतमें वैपरीत्यका परिमाण अपेक्षाकृत अधिक होता है और उसका कारण भी अज्ञान रहता है। वस्तुत दो विपरीत वस्तुओंके सयोगपर विचार करना ही विस्मयका मूल है। सूरदासका 'अद्‌भुत एक अनूपम बाग'वाला प्रसिद्ध पद अद्‌भुत रसका सुन्दर उदाहरण है।

अलौकिकतासे युक्त वाक्य, शील, कर्म एव रूप अद्‌भुत रसके आलम्बन विभाव हैं, अलौकिकताके गुणोंका वर्णन उद्दीपन विभाव है, आँखें फाडना, टकटकी लगाकर देखना, रोमाच, आँसू, स्वेद, हर्ष, साधुवाद देना, उपहार-दान, हा-हा करना, अगोंका घुमाना, कम्पित होना, गद्‌गद वचन बोलना, उत्कण्ठित होना, इत्यादि इसके अनुभाव हैं। और वितर्क, आवेग, हर्ष, भ्रान्ति, चिन्ता, चपलता, जड़ता, औत्सुक्य प्रभृति व्यभिचारी भाव हैं।

हिन्दीके आचार्य कुलपतिने 'रस-रहस्य' नामक ग्रन्थमें अद्‌भुत रसका वर्णन किया है—'जहँ अनहोने देखिये, वचन रचन अनुरूप। अद्‌भुत रसके जानिये, ये विभाव सु अनूप। वचन कम्प अरु रोम तनु, यह कहिये अनुभाव। हर्ष शकित मोह पुनि, यह सचारी भाव। जेहि ठाँ नृत्य कवित्तमे, व्यंग आचरज होय। तीऊ रसमें जानियो, अद्‌भुत रस है सोय।'

अलौकिक पदार्थके गोचरीकरण अर्थात् ज्ञानगम्य होनेसे विस्मय उत्पन्न होता है। शास्त्रोंमें बताया गया है, ज्ञान तीन प्रकारका होता है, यथादृष्ट (देखा हुआ), श्रुत (सुना हुआ) और अनुमानज (अनुमित)। अद्‌भुत रसके विभाव इन त्रिविध रीतियोंसे गोचर होते हैं। लेकिन वैष्णव आचार्योंने एक चौथी रीति भी बतायी है। वह है सकीर्तन अर्थात् किसी वस्तुका प्रभावक वर्णन-विवरण जिससे बोधव्यको उसका सम्यक् ज्ञान हो जाय। इस प्रकार, अद्‌भुत रस चार प्रकारका होता है—दृष्ट, श्रुत, अनुमित एवं सकीर्तित।

(१) उदा०—'ब्रज बछरा निज धाम करि फिरि ब्रज लखि फिरि धाम। फिरि इत लखि फिरि उत लखे ठगि विरचि तिहि ठाम'। (पोद्दार 'रसमंजरी')। वत्सहरणके समय ब्रह्मा द्वारा गोपबालको तथा बछडोंको ब्रह्मधाममें छोड़ आनेपर भी वे ही गोप और बछडे देखकर ब्रह्माको विस्मय हुआ। अतएव यहा दृष्ट अद्‌भुत रसकी प्रतीति हो रही है। (२) उदा०—'चित अलि कत भरमत रहत कहा नहीं है वाम। विकसित कुसुमन मैं अहै काको सरस विकास।' (हरिऔध 'रसकलस')। यहाँ अनुमिति अद्‌भुतकी प्रतीति हो रही है। विकच कुसुमोंमें ईश्वरकी प्रभाके अनुमानज ज्ञानसे उत्पन्न 'विस्मय' पुष्ट होकर अद्‌भुत रसमें व्यक्त हो गया है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि चमत्कारपूर्ण वस्तुके दर्शनसे यदि शृंगारादि रसोंमें 'अगतया' विस्मय भाव प्रतीत हो, तो वहाँ शृंगारादि रस ही होते हैं तथा जहाँ वह विस्मय प्रधानतासे भासित हो, वहाँ अद्‌भुत रस माना जायगा। इसी प्रकार, रसखानिकी प्रसिद्ध पंक्ति 'ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भरि छाछपै नाच नचाव'में विस्मयकी अभिव्यक्ति होनेपर भी अद्‌भुत रस निष्पन्न नहीं

हो सका है, क्योंकि यहाँ भगवान्‌की भक्तवत्सलताकी अभिव्यक्ति होनेके कारण देवविषयक रतिभाव ही प्रधान बन गया है तथा विस्मयका भाव उसीका पोषक बनकर अगभूत हो गया है।

हिन्दी साहित्यमें अद्भुत रसके उत्कृष्ट प्रयोग हुए हैं। नारीके रूपसौन्दर्य तथा वय सन्धिके चित्रण प्रायः अद्भुत रसके माधुर्यमें अभिषिक्त हो गये हैं। विद्यापति तथा सूरदासकी रचनाओंमें ऐसे स्थल प्रचुरतासे उपलब्ध होते हैं। दृष्टिकूटके पदोंमें अद्भुत रसकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। कृष्णलीलाके अनेक प्रसगों, यथा उनका उलूखलमें बाँधा जाना तथा रस्सियोंका छोटा पड़ना, माटी खाना, गोवर्धन धारण करना इत्यादिमें अद्भुतके सुन्दर चित्र अंकित हुए हैं। 'सूरसागर' के ये प्रकरण द्रष्टव्य हैं। 'रामचरित मानस'में जहाँ शिशु रामचन्द्रने माता कौसल्याको अपना विराट रूप दिखलाया है, वहाँ जननीकी मानसिक क्रियाओंके वर्णनमें अद्भुतका मनोरम प्रवाह है। 'विनयपत्रिका'का प्रसिद्ध पद 'केशव कहि न जाय का कहिये' अद्भुत रसका उत्कृष्ट उदाहरण है। कबीरकी उलटबाँसियाँ तथा जायसीकृत 'पद्मावत'में पद्मावतीका नख-शिख वर्णन भी अद्भुत रसकी अभिव्यक्तिके लिए पठनीय है। रीतिकालके मुक्तकों, विशेषतः बिहारी, मतिराम घनानन्द इत्यादिकी रचनाओंमें जहाँ अत्युक्ति, चित्रोक्ति, विरोधाभास, असगति प्रभृति अलकार प्रयुक्त हुए हैं, अद्भुत रसका निर्वाह सुन्दर हुआ है। छायावादी कवियोंने तो सौन्दर्यकी अपरिचित भूमियोंको उद्घाटित कर तथा वक्रिमापूर्ण लाक्षणिक शैलीको अपनाकर, 'विस्मय' अथवा 'चमत्कारको' काव्यके प्रागल्भ्यमें प्रतिष्ठित कर दिया है। वर्तमान युगकी नयी कवितामें इसका तत्त्व प्रधान है।
—र० ति०

अद्वय—दे०—'युगनद्ध।'

अद्वैतवाद—दर्शनमें तत्त्व (सत्ता)की खोज की जाती है। उसको ही तत्त्व या पदार्थ कहते हैं। कभी-कभी इसीको अन्तिम सत्ता या सत्य और परमतत्त्व कहते हैं। यह सत् है कि नहीं? यह भाव है या अभाव? यह एक है या अनेक? आदि प्रश्नोंपर पर्याप्त विचार किया गया है, जिसके फलस्वरूप अनेक 'वाद' उत्पन्न हो गये हैं। जो लोग सत्को एक मानते हैं वे एकत्ववादी और जो अनेक मानते हैं वे अनेकत्ववादी, बहुत्ववादी या बहुतत्त्ववादी कहे जाते हैं। बहुत्ववादियोंको ही द्वैतवादी कहा जाता है। अद्वैतवादी इन सबसे भिन्न हैं। वे सत्को न एक मानते हैं, न अनेक। वे इसे अगम, अगोचर, अचिन्त्य, अलक्षण तथा अनिर्वचनीय मानते हैं। उनको हम अद्वैतवादी इसलिए कहते हैं कि वे द्वैतवादका निराकरण करते हैं। कुछ लोग इस खण्डन प्रवृत्तिका यह अर्थ लगाते हैं कि वे एकत्ववादी हैं। पर दार्शनिक दृष्टिसे अद्वैतवाद जैसे द्वैतवाद या बहुत्ववादसे भिन्न है, वैसे वह एकत्ववादसे भी भिन्न है, यद्यपि एकत्ववाद ऐतिहासिक दृष्टिसे उसका जनक और उसका सहायक है। अद्वैत सत्का न एक, दो, आदि किसी संख्यासे नहीं हो सकता है। अगम सत्को संख्याके ... कहा जा सकता। 'नेति नेति' 'न सत्, न असत्, न सत्-असत् कछु-कछु तैसा', 'न यह न वह', 'अबोल' आदिसे ही उसका वास्तविक वर्णन होता है।

अद्वैत सत् क्या है? इस प्रश्नके भी विविध उत्तर हैं, जिनके कारण विविध तत्त्ववादोंका जन्म हुआ। इसे शून्यवादी (बौद्ध) शून्य, विज्ञानवादी (बौद्ध) विज्ञान, शब्दवादी (वैयाकरण स्फोटवादी) शब्द, शक्तिवादी शक्ति, शिववादी शिव और अद्वैत वेदान्ती आत्मा मानते हैं। हिन्दीके सन्तोंमें कुछ इसे सत् या सत्य कहते हैं, कुछ नाम कहते हैं, तो कुछ सन्तनाम और कुछ हरि। यूरोपके दार्शनिकोंमेंसे फिक्टेने इसे आत्मा, शेलिंगने अनात्मा (प्रकृति), हेगेल्‌ने निरपेक्ष प्रत्यय, ग्रीनने अपरिच्छिन्न चैतन्य तथा ब्रेडलेने अपरोक्षानुभव कहा। इन सब वादोंमें प्रधानता आत्माद्वैतवादकी है, जिसे शंकर और उनके अनुयायी, फिक्टे, ग्रीन तथा हिन्दीके कुछ सन्त मानते हैं। यह सन्ताद्वैत, शून्याद्वय, विज्ञानाद्वय, शब्दाद्वय आदिसे इस बातमें भिन्न है कि इसके अनुसार साक्षात् अनुभूत होनेवाली चैतन्यस्वरूप आत्मा ही तत्त्व है, न कि कोई अन्य भाव या अभाव परमतत्त्व है। सभी अद्वैतवादोंमें यह सिद्ध किया जाता है कि उनके अद्वैत सत्में ही समस्त भूतोंकी सत्ता मायया विद्यमान है। उसीसे वे मायया निकलते हैं और उसीमें उनका मायया लय होता है। इस प्रकार अद्वैतवाद तर्कतः मायावाद या विवर्तवादसे सम्बद्ध है। शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) से लेकर आजतक सामान्यतः उनके आत्माद्वैतवादको ही अद्वैतवादके नामसे पुकारा जाता है, क्योंकि युक्ति और स्वानुभूतिसे यही सबसे प्रबलतम अद्वैतवाद सिद्ध होता है। इसीने अन्य अद्वैतवादों तथा द्वैतवादोंका तर्कसंगत खण्डन किया और फलतः इसीका सबसे अधिक प्रचार हुआ। भारतमें इसे अन्य वेदान्तमतोंसे भिन्न करनेके लिए केवलाद्वैतवाद भी कहा जाता है।

अद्वैतवाद ऋग्वेदमें मिलता है। नासदीय सूक्त इसका सुन्दर वर्णन करता है। उपनिषदोंमें तो अद्वैतवादका घर ही है। छान्दोग्य उपनिषद्‌में एक तथा अद्वितीय सत्का ही वाचारम्भण समस्त प्रपंच कहा गया और उसको आत्मामें अभिन्न माना गया। तत्त्वमसि (वह तू है) उसका सिद्धान्त बना। बृहदारण्यक उपनिषत्‌में आत्माको 'नेति-नेति' कहा गया, नानात्वका खण्डन किया गया और आत्म-लाभको ही मोक्ष समझा गया। माण्डूक्य उपनिषद्‌में आत्मा ब्रह्म है, यह स्पष्ट घोषित किया गया। सूत्रकाल (४०० ई० पू० से २०० ई० तक) में अनेकानेक आचार्योंने उपनिषदोंके सारको ब्रह्मसूत्रोंके रूपमें लिखा। इनमेंसे कुछ अद्वैतवादी थे। दुर्भाग्यवश इस समय केवल बादरायणका ही ब्रह्मसूत्र उपलब्ध है। इसी कालमें या इसके पूर्वसे ही स्मृतियोंकी रचना आरम्भ हुई। इनमें भी उपनिषदोंके सिद्धान्तोंकी विवेचना की गयी। महाभारतके अन्तर्गत भगवद्गीता उपनिषदोंका सारभूत अंश है। वेदान्तने इसीको 'स्मृति' कहते हैं।

उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों तथा गीतापर भाष्य या टीका-टिप्पणी लिखनेसे परवर्ती कालमें उपनिषदोंके सिद्धान्तोंका बड़ा प्रचार हुआ। इन सबको वेदान्त कहा जाता है।

उपलब्ध ग्रन्थोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि ऐसे लोगोंमें शंकराचार्य ही सबसे प्राचीन हैं, जिनके उपनिषद्भाष्य, ब्रह्मसूत्र-भाष्य तथा गीता-भाष्य आज उपलब्ध हैं। शंकराचार्य अपने पूर्वके कुछ लोगोंको अद्वैतवादी बतलाते हैं, पर उनकी कृतियाँ अनुपलब्ध हैं। हाँ, शंकरके परमगुरु गौडपादकी माण्डूक्यकारिका आज भी उपलब्ध है। इसमें अद्वैतवादका सर्वप्रथम न्यायसंगत वर्णन मिलता है। गौडपाद बौद्ध अद्वैतविचारधारासे प्रभावित थे। उनके पूर्व बौद्धग्रन्थोंमें मायावाद या विवर्तवादकी सुन्दर व्याख्या हो गयी थी। उससे लाभ उठाकर उन्होंने अद्वैत वेदान्तको अकाट्य तर्कपर आधारित किया। शंकराचार्यने तो अद्वैतवादका मुख्य प्रवर्तन ही किया। उन्होंने केवल भाष्योंकी ही रचना नहीं की, वरन् अद्वैत-विरोधियोंको शास्त्रार्थमें पराजित किया, बदरिकाश्रम, द्वारकापुरी और शृंगेरीमें अपने मतके प्रचारके लिए मठ स्थापित किये, सन्यासपरम्पराका जीवनोद्धार किया और दशनामी सम्प्रदायकी स्थापना की, जिसके अनुयायी तबसे लेकर आजतक इस देशमें अद्वैतवादका प्रचार कर रहे हैं। शंकराचार्यके साक्षात् शिष्य सुरेश्वराचार्य तथा पद्मपादने शंकरके ग्रन्थोंपर क्रमश वार्तिक और व्याख्या लिखी। पद्मपादकी 'पञ्चपादिका' और सुरेश्वरके 'बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य-वार्तिक' तथा 'नैष्कर्म्यसिद्धि' अद्वैतवादके प्रमाणित ग्रन्थ हैं। पद्मपादकी विचारधाराका विद्यारण्यने अपने 'विवरण-प्रमेयसंग्रह'में अच्छे ढङ्गसे प्रतिपादन किया। यह 'विवरण'-की व्याख्या है। 'विवरण' प्रकाशात्म यति द्वारा लिखित 'पञ्चपादिका'की टीका है। इस ग्रन्थके नामपर अद्वैतमें विवरणप्रस्थान (सम्प्रदाय) चल पड़ा है। शंकराचार्यके ही समकालीन मण्डन मिश्र थे। कुछ लोग सुरेश्वरके ही गृहस्थाश्रमका नाम मण्डन मिश्र बतलाते हैं। पर मण्डन मिश्रके ग्रन्थोंमें, 'ब्रह्मसिद्धि' तथा 'विभ्रमविवेक'में, सुरेश्वरके मतोंसे भिन्न मत मिलते हैं। अत यह सिद्ध हो गया है कि दोनों एक व्यक्ति नहीं थे। मण्डन मिश्रकी विचार-परम्परामें वाचस्पति मिश्र हुए। इन्होंने भामती (जो इनकी स्त्रीका नाम था) नामसे शंकरके 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' (जिसका नाम शारीरक भाष्य है)की विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी। इस ग्रन्थसे अद्वैतवेदान्तमें 'भामतीप्रस्थान' (सम्प्रदाय) चल पड़ा है। आगे चलकर जयचन्द्रके दरबारी पण्डित नैषधीयचरितके प्रणेता श्रीहर्षने 'खण्डनखण्डखाद्य' लिखकर अद्वैतवेदान्तकी तर्कप्रणालीको पूर्ण विकसित किया। उन्होंने बौद्ध तर्कप्रणालीके आधारपर अद्वैतकी सिद्धि की। मधुसूदन सरस्वतीने 'अद्वैतसिद्धि' लिखकर अपने समयके अन्य दार्शनिकोंके मतोंकी कटु आलोचना की और अद्वैतवादके सम्बन्धमें समस्त आपत्तियोंका उत्तर दिया। उन्होंने भक्तिको ज्ञानमार्गसे समुचित किया। काशीमें विरोध होनेपर उन्होंने तुलसीदासका पक्ष लिया। चित्सुखने 'तत्त्वदीपिका' या चित्सुखी लिखकर पर-मतके खण्डनकी प्रणालीका समर्थन किया और नाना सिद्धान्तोंकी पारिभाषिक ढंगसे विवेचना की। 'खण्डनखण्डखाद्य', 'अद्वैतसिद्धि' तथा 'चित्सुखी' वेदान्तके क्लिष्ट तथा श्रेष्ठ ग्रन्थ माने जाते हैं।

अप्पय दीक्षित (१५५० ई०) भारतके सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न एक अद्वितीय विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने प्रत्येक शास्त्र और दर्शनपर कलम चलायी है। इनके समयतक अद्वैतवेदान्तके अगणित ग्रन्थ और मत-मतान्तर हो गये थे। 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' नामसे इन्होंने उन समस्त मत-मतान्तरोंका संग्रह किया। इस ग्रन्थको हम उस समयके अद्वैतवेदान्तका विश्वकोष कह सकते हैं। यह पढ़ने योग्य ग्रन्थ है।

अद्वैतवेदान्तके इस विकासमें अद्वैत और बौद्धोंका विचार-युद्ध स्मरणीय है। एकने दूसरेका खण्डन किया। एक ने दूसरेको प्रभावित किया। दोनोंने तर्कपर ही अपनेको आधारित किया। तर्कशास्त्रके सिद्धान्तोंकी दोनोंने ही सूक्ष्म विवेचना की। ज्ञानमार्गका दोनोंने अवलम्बन किया। बौद्धधर्म तथा दर्शनके १२ वीं शताब्दीमें भारत छोड़ देनेसे यह युद्ध शान्त हो गया। उसके निष्कासनका कुछ श्रेय अद्वैतवेदान्तको भी दिया जाता है। पर उसके तिब्बत और चीन चले जानेसे अद्वैतवेदान्तमे ज्ञानमार्गकी अपेक्षा भक्तिमार्गने अधिक महत्त्व ले लिया। परवर्ती अद्वैतवेदान्तियोंके शुष्क ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिमें आनन्द लेते रहे।

सभी विद्वानोंमें इस बातपर मतैक्य है कि हिन्दीके सन्त साहित्यमें अधिकांश सन्त अद्वैतवादी हैं। कबीर इनमें सबसे प्राचीन तथा प्रधान हैं। कबीरके पास अद्वैतवाद कैसे पहुँचा? इसके दो उत्तर अभीतक दिये गये हैं—पहला, कबीरके गुरु रामानन्दको अद्वैतवादका अच्छा ज्ञान था। उन्हींसे कबीरको यह ज्ञान-रहस्य मिला। दूसरा, कबीरको अपनी साधनासे अद्वैत तत्त्वका अनुभव हुआ। अधिकांश लोगोंके मतसे कबीर ही सबसे पहले हिन्दीके अद्वैतवादी कवि या लेखक हैं। पर यह कथन ऐतिहासिक विवेचनासे निराधार सिद्ध हो जाता है। कबीरके पूर्व भी हिन्दीमें जीवन्त अद्वैतवाद था। सरहपाद (८वीं शताब्दी), तिल्लोपाद (१०वीं शताब्दी) आदि सिद्ध, जिनकी रचनाएं पुरानी हिन्दीमें हैं, वस्तुत अद्वैतवादी ही हैं। गोरखनाथ (११ वीं शताब्दी), जिनकी बानियाँ हिन्दीमें अब प्रकाशित हो गयी हैं, अद्वैतवादी ही थे। सिद्धों और नाथोंने जनताकी बोलीमें कबीरसे पहले अद्वैतवादका प्रचार किया था। कुछ लोग योगमार्गकी इस परम्पराको उतनी ही पुरानी बतलाते हैं जितने कि वेद हैं। कुछ भी हो, इस अद्वैतवादपर योग और बौद्ध विचारधाराका बहुत प्रभाव पड़ा था। बहुत सम्भव है कि अद्वैतवेदान्तियोंने भी लोकभाषामें अपना प्रचार किया हो। फलत योग, बौद्ध और वेदान्त, तीनोंके मिलनेसे शंकरके समयमें ही उत्तरी भारतमें अद्वैतवादका प्रचार था। बौद्धों और औपनिषदोंके बाहर जानेसे जो अद्वैत ईरान, अरब और मिस्रमें गया था, वह मुसलमानोंके आनेपर सूफीमतका रूप धरकर भारतमें वापस आया। इसका भी हिन्दी अद्वैतवादमें योगदान है। सब धाराओंके मिल जानेसे कबीरका अद्वैतवाद १५वीं शतीमें सम्भव हुआ। पर अभी कबीरपूर्व हिन्दीके अद्वैतवादकी ऐतिहासिक खोज करनी है।

कबीरके बाद तो अद्वैतवादी सन्तोंका ताँता बँध गया। रैदास और उनके अनुयायी अद्वैती हैं। कबीरपन्थी सभी

अद्वैतवादी हैं। दादू (१५४४-१६०३ ई०) और दादू पंथके गरीबदास बखना, रज्जब और सुन्दरदास अद्वैतवादी हैं। मलूकदास, भीखा जगजीवनदास, बूला, यारी, गुलाल, पल्टू आदिकी बानियाँ भी अद्वैतवादकी प्रकाशिका हैं। आधुनिक युगमें स्वामी रामतीर्थने अद्वैतवादका साहित्य तथा जनतामें प्रचार किया। इसी समय बंगालमें स्वामी रामकृष्ण परमहंससे प्रबल अद्वैतकी धारा बही। उसके प्रचण्ड समर्थक और प्रतिपादक स्वामी विवेकानन्द हुए। सामान्यत लोग विवेकानन्द और रामतीर्थके ग्रन्थोंसे ही अद्वैतवादका परिचय प्राप्त करते हैं। इनमें शंकराचार्यके अद्वैतवेदान्तकी ही आधुनिक प्रणालीसे पुनरुक्ति है। इनके 'वादों'का प्रचार अमेरिका और यूरोपमें भी है। वहाँ ये विशेष आदरकी दृष्टिसे देखे जाते हैं।

संस्कृत अद्वैतवादको प्राय· अद्वैतवेदान्त कहा जाता है। श्रुति (वेद-उपनिषद्), गीता, और ब्रह्मसूत्र उसके तीन प्रस्थान हैं। इन्हींपर टीका-टिप्पणी या विचार-अनुशीलन करनेपर जो अद्वैत-परक दर्शन उत्पन्न होता है, उसे अद्वैत-वेदान्त कहते हैं। हिन्दी अद्वैतवादको हम अद्वैतवेदान्त नहीं कह सकते। उसमें श्रुतिप्रमाणका महत्त्व कम या बिल्कुल नहीं है, स्वानुभति ही हिन्दी अद्वैतवादका मुख्य प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त संस्कृतके अद्वैतवेदान्ती ज्ञानमार्ग (शंकर) या ज्ञानकर्म-समुच्चयमार्ग या ज्ञान-कर्म-भक्ति-समुच्चयमार्ग (मधुसूदन सरस्वती) को मानते हैं। हिन्दीके अद्वैतवादी इनको नहीं मानते। वे भक्तिमार्ग या ज्ञान-भक्ति-समुच्चयमार्ग या योगमार्ग या योग-भक्ति-समुच्चय-मार्ग मानते हैं। ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर भी वे भक्तिको आवश्यक मानते हैं।

फिर संस्कृत अद्वैतवेदान्तमें परमार्थ और व्यवहार सत्ताका भेद किया जाता है, हिन्दी अद्वैतवादमें नहीं। इसी कारण संस्कृत अद्वैतवेदान्त जाति-पाँति-व्यवस्थाका समर्थन करता है और हिन्दी अद्वैतवाद खण्डन। संस्कृत अद्वैतवेदान्त मूर्तिपूजा तथा सगुणोपासनाको अपनी साधनामें सामंजस्य बैठाता है तो हिन्दी अद्वैतवाद इन्हें अद्वैत साधनाके लिए अनावश्यक मानता है।

संस्कृत अद्वैतवाद अवतारवादका समर्थन करता है और हिन्दी अद्वैतवाद खण्डन। हिन्दी अद्वैतवाद बौद्ध, वैदिक, यौगिक, सूफी, सभी साधनों और विचारधाराओंका फल है। संस्कृत अद्वैतवेदान्त केवल उपनिषदोंका अनुशीलन है। संस्कृत अद्वैतवादमें तर्क या बुद्धिका प्रमाण मान्य है। वह तार्किक है। हिन्दीके अद्वैतवादमें बुद्धिवाद, न्याय, आदिका खण्डन है और प्रेम तथा भक्तिपर अधिक महत्त्व है। वह तार्किक न होकर धार्मिक है। संस्कृतका अद्वैतवेदान्त रहस्यवादके अतिरिक्त विशुद्ध ज्ञान-मीमांसा, नीतिशास्त्र, तत्त्ववाद और तर्कशास्त्र भी देता है तो हिन्दीका अद्वैत केवल रहस्यवाद और उसमें सामंजस्य रखनेवाला नीतिशास्त्र तथा तत्त्ववाद। संस्कृतके अद्वैतवेदान्तमें [illegible] जोर है तो हिन्दी अद्वैतवेदान्तमें [illegible]। संस्कृत अद्वैतवेदान्तमें एकमात्र और अनिर्वचनीय सत्को ब्रह्म या आत्मा या परमात्मा कहा जाता है। हिन्दीके अद्वैतवादमें इसे सत्, नाम, सहजसुन्न, सुन्न, हरि, राम, सत्य, सत्तनाम आदि भी कहा जाता है। तात्त्विक दृष्टिसे हिन्दी सन्तोंमें नाम, अनाम और अबोलको सत्से अधिक महत्त्व दिया जाता है। अबोल तो अद्वैतवेदान्तमें भी मिलता है, क्योंकि उसमें भी 'उपशान्तो ह्ययमात्मा' (उपशान्त यह आत्मा है) कहा गया है। सत्के अनिर्वचनीय होनेके कारण अनाम भी अद्वैत वेदान्तमें है, पर नामका जो सिद्धान्त हिन्दी अद्वैतवादियोंमें है वह संस्कृत अद्वैतवेदान्तमें नहीं है। नामको सगुण तथा निर्गुणसे ऊपर तुलसीदास जैसे सगुणभक्तोंने भी माना। तत्त्ववाद और तर्कशास्त्र जितना संस्कृतमें है उतना हिन्दीमें नहीं है। पर जितना रहस्यवाद हिन्दीमें है उतना संस्कृतमें नहीं है। —सं० ला० पा०

अधमा (नायिका)—गुण अथवा प्रकृतिके अनुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद (विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद')। भरतसे यह विभाजन स्वीकृत होता आया। भानुदत्तके अनुसार 'हितकारिण्यपि प्रियतमेऽहितकारिण्यधमा' अर्थात् प्रियके हित करनेपर भी अहित करनेवाली नायिका अधमा कही गयी है। हिन्दीके कवियोंने प्राय अहितके लिए (मान) करना कहा—'पिय सौं हितहूके किये करे मान जो बाल।' मतिराम (रसराज २३४)। कुछने रोष करनेका उल्लेख भी किया है—'ज्यों ही ज्यों पिय हित करत त्यों-त्यों परति सरोस।' पद्माकर (जगद्विनोद : १.२७७)। रोषका अंकन इस नायिकाके उदाहरणोंकी विशेषता है—'हा हाके निहोरे हू न हेरत हिरननैनी, काहेकों करत हठ हारिलकी लकरी।' मतिराम (रसराज २३५)।' मनानेपर भी वह मानती नहीं—'प्यौ परि पाइ मनायी जऊ तऊ पापिनकों कछु पीर न आयी।' पद्माकर (जगद्विनोद · १ २७८)।

अधिक—अतिशयोक्ति वर्गका अर्थालंकार, यदि आधार अथवा आधेय वस्तुत छोटा हो, पर उसे अपेक्षाकृत बड़ा वर्णित किया जाय तो 'अधिक' अलंकार होता है। सम्भवत रुद्रटने इसे सर्वप्रथम स्वतन्त्र अलंकार माना है और मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने उनके दूसरे प्रकारके आधारपर इसका लक्षण दिया है। 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथने इसकी परिभाषा दी है—'आश्रयाश्रयिणो रेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते।' (सा० द० . १० : ७०) अर्थात् आश्रय (आधार) तथा आश्रयी (आधेय) इनमेंसे एकका अपेक्षाकृत आधिक्य (विशालता या उत्कृष्टता) होनेसे 'अधिक' अलंकार होता है। यह दो प्रकारका होता है—१. जहाँ आधारकी अपेक्षा आधेयकी कल्पित उत्कृष्टता हो, और २ जहाँ आधेयकी अपेक्षा आधारकी कल्पित उत्कृष्टता हो। हिन्दीके आचार्योंने प्राय 'चन्द्रालोक'के लक्षणको दो भिन्न भेदोंके रूपमें (कुवलयानन्दके समान) स्वीकार किया है। मतिरामने प्रथम तथा द्वितीय आधारकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ दी हैं—प्रथम—'जहाँ बड़े आधारतें बरनत बड़ि आधेय।' (ल० ल० : २३६), द्वितीय—'जहाँ बड़े आधेय तें बरनत बड़ि आधार।' (ल०ल० · २३८)। 'भूषण ने इस अलंकारका एक ही प्रकार माना है—'जहाँ बड़े आधारतें बरनत बड़ि आधेय।' (शि० भू० २२०)।

उदा०—प्रथम अधिक—'शिव सरजा तव हाथकी, नहिं बखान करिजात । जाकी वामी सुजस सब, त्रिभुवनमें न समात ।' (शि०भू० २२१) । यहाँ त्रिभुवन आधार है और उसको अभिव्याप्त करनेवाला उससे बड़ा शिवाजीके हाथका यश है । द्वितीय अधिक—'जाके कोस भीतर भुवन करतार ऐसो, जाके नाभिकुण्टमें कमल विकसत है । राव भावसिंह तेरी कहाँ लौं बड़ाई करौं, ऐसो बडो प्रभु तेरे मनमें बसत है ।' (ल० ल० २३९) । यहाँ मनरूपी आधारकी उत्कृष्टता कल्पित की गयी है ।

माघ कविके 'शिशुपालवध'से 'अधिक'का एक सुन्दर उदाहरण—'जिम विष्णुके शरीरमें चौदहों भुवन समाविष्ट हैं उसमें नारदागमनजन्य प्रसन्नता अवकाश नहीं पा सकी ।' 'काव्यादर्श'में दण्डीने इस अलकारको 'अतिशयोक्ति'के अन्तर्गत माना है । मल्लिनाथने भी प्रस्तुत उदाहरणमें 'सम्बन्धासम्बन्धरूपातिशयोक्ति'की ही अवस्थिति मानी है, क्योंकि वस्तुत प्रसन्नता और शरीरमें सम्बन्ध है, किन्तु दोनोंमें असम्बन्धकी कल्पना की गयी है। यह कहा जा सकता है कि अधिक विषमके समान है, क्योंकि उसमें भी दो विरूप वस्तुओंकी संघटना होती है। परन्तु विषममें दो स्वतन्त्र वस्तुएँ विरूप होते हुए भी साथ कही जाती हैं, जब कि अधिकमें आधाराधेयके रूपमें सम्बन्धित होती हैं और सौन्दर्य दोनोंकी विरूपतामें न होकर आश्रय या आश्रयीके एक-दूसरेसे बड़े होनेमें होती है । —ध० ब्र० शा०

अधिक पद—दे०—'शब्द-दोष', चौथा 'वाक्य-दोष' ।

अधिनायकवाद (totalitarianism)—फासिज्मके अनुसार राष्ट्रकी आत्माका अवतार दल तथा, अन्ततोगत्वा, अधिनायकके रूपमें होता है । फासिज्मका सम्बन्ध जार्ज सोरेलके इतिहासदर्शनसे है जिसके अनुसार राष्ट्र, संस्था, तथा वर्गकी आत्मा शिष्ट समुदाय(एलीट)के रूपमें साकार होती है । अधिनायकका अवतरण रहस्यमय शब्दोंमें निरूपित किया गया है। कहा जाता है कि अधिनायक स्वयमेव प्रकट हो जाता है। तिब्बतके लामाओंके समान वह अपने चिह्नोंसे पहचानमें आ जाता है, अन्तर इतना है कि लामाओंमें शारीरिक चिह्न होते हैं जब कि अधिनायकमें मानसिक और आध्यात्मिक । अधिनायक अवतरित होकर अपने सहायक चुनता है । इस प्रकार शक्तिका प्रवाह ऊपरसे नीचेकी ओर है । फासिज्मकी एक शाखा नाजीवादके अनुसार अधिनायक भी राष्ट्र अथवा राज्यके समान शुभाशुभ, नैतिकता-अनैतिकताके परे होता है । 'हिटलर जो निर्णय करता है वही ठीक है और अनन्तकालतक ठीक रहेगा ।' इस प्रकार, व्यवहारमें, व्यक्तिको राष्ट्रके नामपर अधिनायकके प्रति आत्मसमर्पण करना पड़ता है ।

अधिनायकको प्रभुत्वकी अपरिमेय वासना होती है और वह अपनी बलवती इच्छाशक्ति (विल टु पावर) से पहचाना जाता है । फासिज्म बलवान्‌की विजय और 'समरथको नहिं दोस गुसाईं'की नीतिमें पूरा विश्वास करता है । इच्छाशक्तिको वह सर्वश्रेष्ठ मानवगुण माननेके पक्षमें है । उसके अनुसार इच्छाशक्ति ही इतिहासकी दिशाका निर्धारण करती है । इस प्रकार फासिज्मकी नैतिकता बलवान्‌की नैतिकता है ।

फासिज्म बहुमतवादसे घृणा करता है । जनतन्त्रको वह सामूहिक अनुत्तरदायित्वकी अवस्था बतलाता है । वह जाति-जाति, व्यक्ति-व्यक्तिमें दुर्लंघ्य असमानताका दर्शन करता है । वह साम्यभावका सबसे बड़ा शत्रु है । वह यह कदापि नहीं मान सकता कि प्रत्येक व्यक्ति एक गिना जाना चाहिये और कि कोई व्यक्ति एकसे अधिक नहीं । 'कानूनकी दृष्टिमें सभी बराबर हैं, इस सिद्धान्तकी वह कड़ी आलोचना करता है। यहूदियोंकी जो दुर्गति हिटलरके हाथों हुई, उससे सभी परिचित हैं। पिछले ३०० वर्षोंमें मानवताने जो उदारवादी (लिबरल) और लोकतन्त्रीय परम्पराएँ विकसित की हैं, फासिज्म उन सबका सत्यानाश करनेके लिए प्रादुर्भूत हुआ है। फासिज्मके अधिनायक असाधारणयोग्यता-सम्पन्न होते हैं और वे ही सबके वास्तविक हितमें शासन कर सकते हैं, क्योंकि इच्छा-सामान्य(जेनरल विल)का ज्ञान केवल उन्हींको हो सकता है, बहुसंख्या अपनी वास्तविक इच्छा, इच्छा-सामान्यको स्वय नहीं समझ सकती । —ह० ना०

अधीरा—दे०—'प्रौढा नायिका' ।

अध्यांतरिक (काव्य)—दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य) ।

अध्यात्मवाद—अध्यात्मवाद दर्शनका प्रारम्भिक रूप है । सभ्यताके विकासके आदिमतम कालमें भी मनुष्यके पास किसी-न-किसी प्रकारका दर्शन अवश्य रहा है । जीवन और जगत्‌के प्रति कतिपय विश्वास और मान्यताएँ वह रखता आया है । साधनोंके अभाव, ज्ञानकी अल्पता और विकासके प्रथम सोपानके आसपास ही होनेके कारण वह इन समस्याओंपर सम्यक् रूपसे विचार नहीं कर सका । उनपर सम्यक् विचार तो अभी पिछले दो-ढाई हजार वर्षोंमें हुआ है । मनुष्यके आदिम विश्वासोंकी आलोचनात्मक परीक्षा वर्तमान युगमें ही हो सकी है ।

दर्शनका प्रारम्भिक रूप धर्ममें सन्निविष्ट था । सभ्यताके आदिम कालमें धर्म सामाजिक जीवनका एक अविभाज्य अंग था, जिसमें सभी व्यक्ति भाग लेते थे । धर्म लोकोत्तर दिव्य शक्तियोंमें विश्वास करता है । ये शक्तियाँ अदृश्य हैं । किन्तु उनका अस्तित्व अवश्य है । वे अनेक लौकिक घटनाओंकी कर्ता, नियामक और सचालक हैं । वे प्रसन्न होकर मनुष्यको सुख और कुपित होनेपर कष्ट देती हैं । अतएव उनको प्रसन्न रखनेके उपाय करते रहनेमें ही बुद्धिमानी है। इन शक्तियोंको तुष्ट और प्रसन्न रखना व्यावहारिक धर्मका एक प्रमुख अंग है । इसी निमित्त उसने विविध कर्मकाण्डों, संस्कारों, उत्सवों, अनुष्ठानों और यज्ञोंका विधान किया है। सौभाग्य और इष्टफलकी प्राप्ति करनेके लिए जादू और विधान दोनोंका ही प्रयोग वह करता है। अभीष्ट फल पानेके लिए प्रार्थना, बलिदान, यज्ञ आदि करना, अपनी रक्षाके लिए मन्त्र, तन्त्र, कवच, टोटकों आदिका करना उसके कर्मकाण्डके अंग हैं । गर्भाधान, जन्म, मृत्यु, विवाह, राजतिलक, युद्धमें विजय, कैशोरप्राप्ति आदिके अवसरोंके लिए विशेष अनुष्ठानोंकी व्यवस्था है । किन्तु इन बाह्या-

वादके पीछे कुछ विश्वास भी निहित हैं। धार्मिक क्रियाओं, संस्कारों तथा अन्य कर्मकाण्डोंकी रचना इन्हीं विश्वासोंके आधारपर होती है। ये विश्वास भावी दर्शनों की आलोचनाका विषय बनते हैं। इन विश्वासोंको संक्षिप्त रूपसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

इस गोचर जगत्के अतिरिक्त एक संसार और भी है लेकिन ज्ञानेन्द्रियोंके माध्यमसे उसका पता हमें नहीं चलता। वह दूसरा संसार एक पर्देके पीछे है, किन्तु हमारे प्रत्यक्षके जगत्से नितान्त अलग नहीं है, वरन् इससे जुड़ा हुआ है। उसमें प्रवेश पाना कठिन नहीं है। यदि उपयुक्त साधनोंका प्रयोग करके सही रास्तेपर चला जाय तो उस इन्द्रियातीत जगत्में पहुँचा जा सकता है।

वह अदृश्य जगत् दैवी शक्तियोंका निवासस्थल है। वे हमारे पास सहज ही आ सकती हैं, हमारे जीवनमें इष्ट या अनिष्ट घटित कर सकती हैं। किन्तु उनतक पहुँचनेका साधन हम नहीं जानते।

यह दैवी शक्तियोंका जगत् चिरन्तन है। मनुष्यका जगत् इसीपर अवलम्बित है। दैवी शक्तियाँ असीम सामर्थ्ययुक्त हैं, उनकी पूजा करना और आज्ञा पालन करना मनुष्यका कर्तव्य है। जीवन-यापनकी कुछ विधियाँ इन शक्तियोंके अनुकूल और कुछ प्रतिकूल हैं। इन विधियोंका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

मृत्युके उपरान्त मनुष्यकी आत्मा शेष रहती है और वह इस दिव्यलोकको जाती है।

इन और ऐसे ही अन्य विश्वासोंके समूहको अध्यात्मवादकी संज्ञा दी जा सकती है। इन विचारोंकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस विषयपर निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। इनमें सत्य कितना है और कल्पना कितनी, यह भी अनिश्चित है।

इन विचारोंकी उत्पत्तिका कोई अकेला स्रोत नहीं है। सम्भवतः इनकी उत्पत्ति कल्पना, संवेगों और नैतिकतासे हुई है।

आदिम मनुष्यके सम्मुख प्रकृति अपने अनन्त रूपोंमें बिखरी पड़ी थी। सूर्य और चन्द्र, उनका उदित और अस्तमित होना, अनन्त ग्रह-नक्षत्रोंयुक्त आकाश, मेघ, पर्वत, नदी, जंगल, वनस्पतियोंका सूखना और फिर उत्पन्न होना, ऋतु-चक्र, बिजली, आँधी-तूफान आदि सभी उसके लिए रहस्यमय थे। जन्म और मृत्युकी घटनाएँ, परिवेशमें जीवनकी असुरक्षा, आकस्मिक विपत्ति आदि पग-पगपर उसका पीछा करती थीं। अतएव प्रकृतिके विविध व्यापारोंके पीछे दैवी शक्तियों और देवताओंकी कल्पना कर लेना उसके लिए स्वाभाविक था।

वैयक्तिक अनुभूतिने भी इन विचारोंको उत्पन्न करनेमें सहायता दी। देवता शक्तिमान् ही नहीं हैं, पवित्र और पावन भी हैं। देवताओंको प्रसन्न करनेमें मधुर [illegible] भय और [illegible] हो सकता है। किन्तु इनके साथ ही [illegible] प्रति एक विस्मय और आदरकी भावना भी आदिम मनुष्यमें थी। अपनी किसी रहस्यात्मक अनुभूतिके द्वारा मनुष्य दैवी शक्तियोंसे संपर्क और [illegible]।

नैतिकताका आधार भी तत्त्वतः देवताओंसे सम्बद्ध है। दैवी शक्तियाँ शुभ और मैत्रीपूर्ण अवश्य हैं, किन्तु उसके साथ ही नैतिक आचरणके विषयमें कठोर भी हैं। आदिम मनुष्यको अपनी इस धारणाके अनुसार अपने जीवनको विविध निग्रहों, संयमों, हराम और हलालके विचारोंके अनुरूप संघटित करना पड़ता था, अन्यथा देवताओंको प्रसन्न कर सकना असम्भव था। अतएव मनुष्य स्वेच्छाचारी और सुखभोगी नहीं रह सका। देवताओंकी तथाकथित आज्ञाओं, विधि-निषेधोंके कारण मनुष्यको आत्मसंयमका अभ्यास करना पड़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक विचारोंके अनेक स्रोत हैं। आदिम धर्मने जीवनकी सभी उदात्त और प्रेरणादायक अनुभूतियोंको एकत्र कर लिया था। उसने अपने कर्मकाण्डीय उत्साहको अनेक धाराओंमें प्रवाहित करके उसे नैतिक और कलात्मक सर्जन, मूर्ति, चित्र और स्थापत्य, नृत्य और संगीतके उन्नयनमें लगाया, अथवा उन्मादकी दिशामें मोड़कर उसे युद्धलिप्सा, कट्टरता, धर्मान्धता और मानवीय शक्तिके ह्रास एवं अपव्ययमें लगाया।

अध्यात्मवाद इस प्रकार मानवताके बीते हुए कल्पतरुका इतिहास है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अध्यात्मवादमें अनेक भ्रम, मिथ्या धारणाएँ और अन्धविश्वास थे। विज्ञानने अपना प्रकाश डालकर अध्यात्मवादकी अनेक मान्यताओंकी वास्तविकता प्रकट कर दी है। अतएव समकालीन युगमें समग्र अध्यात्मवाद सन्देह, अविश्वास और लगभग तिरस्कारका पात्र बन गया है। उसे अस्वीकार करके मानवता अपनेको जड़से उखड़ी और नैतिक एवं आत्मिक शून्यमें पा रही है। मनुष्यके सम्मुख ऐसा संकट कभी प्रस्तुत नहीं हुआ था।

अध्यात्मवादने मनुष्यके जीवनको व्यापक और घनिष्ठ रूपसे प्रभावित किया है। साहित्य, संगीत, मूर्तिकला, स्थापत्य, चित्रशिल्प—सभी कुछ उससे प्रभावित और प्रेरित हुआ है। सभ्यता और संस्कृतिके विकासके साथ-साथ जैसे-जैसे धर्मका विकास और परिष्कार हुआ उसके प्रभाव और अभिव्यक्तिके विशिष्ट रूप भी प्रकट होते रहे हैं। भारत अब भी किसी सीमातक अध्यात्मप्रधान देश कहा जा सकता है। उसके अतीतका साहित्य, संगीत, नृत्य तथा अन्य ललित-कलाएँ आध्यात्मिक विश्वासोंसे प्रेरित और आध्यात्मिक श्रेयकी सिद्धिके लिए प्रणीत हैं। नितान्त भोगवादी लेखकोंने भी मानवजीवनका ध्येय मोक्ष स्वीकार किया है। इस ध्येयको स्वीकार करनेके उपरान्त जीवनके तृतीय पादकी शिक्षाके निमित्त वात्स्यायनने अपने कामसूत्रकी रचना की है। अर्थशास्त्रका रचयिता कूटनीतिज्ञ चाणक्य भी स्वयं विरक्त था और अध्यात्मके आदर्शको माननेवाला था। इस देशमें अब राजनीतिक और आर्थिक जीवन विज्ञानप्रधान होता जा रहा है, फिर भी यहाँकी जनता अब भी अध्यात्मप्रवण है। एक ओर सुदृढ़ विश्वासोंसे प्रेरित चन्द्र-सूर्यग्रहणके अवसरपर आदिम स्नानभाव, पुण्य-अर्जनके निमित्त विशेष पर्वों और नदियोंमें स्नान, शिलाओंमें

लिए यज्ञोंका आयोजन है, दूसरी ओर कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्त, अहिंसा और धार्मिक सहिष्णुता आदि भी जन-मानसके अंग बन गये हैं।

दार्शनिक क्षेत्रमें अध्यात्मवाद आदर्शवाद (दे०) का रूप लेता है। —आ० रा० शा०

अध्यान्तरण–किसी वस्तुके स्थूल और सीमित स्वरूपको कल्पनाके बलपर त्यागकर उसके सूक्ष्म और असीम रूपका चिन्तन करनेकी प्रवृत्तिको अध्यान्तरण (internalization) कहा जाता है। उदा०–पुष्पके स्थूल गुणोंके अनुभवसे ऊँचे उठकर उसकी पवित्रता, सरलता और सौन्दर्य तथा सत्ताके सम्पूर्ण विधानमें उसके स्थान आदि गुणोंका चिन्तन करना। इसके फल-स्वरूप, पुष्पकी बाह्य सत्ताके अतिरिक्त उसकी आन्तरिक, आध्यात्मिक या मानसिक सत्ताका भी अनुभव होने लगता है। यह पुष्पका अध्यान्तरण है।

चिन्तक, दार्शनिक, विज्ञानविद, अध्यान्तरणकी प्रवृत्ति द्वारा उसके अध्यात्म अथवा आन्तरिक तत्त्वतक पहुँचते हैं। सर्जन और आस्वादनके क्षणमें, जैसे संगीतमें, इसकी गति, लय आदिका मानसिक प्रत्यक्ष ही होता है। 'स्थूल'से 'सूक्ष्म' और आध्यात्मिक रूपकी ओर प्रवृत्त होनेकी क्रियाको 'अध्यान्तरण' कहा जाता है जैसे, वर्ण और विन्यासमे बने हुए चित्रमें शान्ति, ओज, माधुर्य आदि गुणोंके अनुभव करनेकी प्रवृत्ति होती है। —ह० ला० श०

अनग-वर्णन–दे०–'रस-दोष,' दसवाँ।

अनंगशेखर–समान वर्णवाले दण्टक छन्दका एक भेद। प्राय ३२ अक्षरोंके दण्टक अधिक प्रचलित होनेके कारण ही सम्भवत केशवदासने इसका लक्षण लघु-गुरुके क्रमसे ३२ अक्षरों मात्रका दिया है। वैसे इसमें अक्षरोंकी कोई सीमा नहीं, लघु-गुरुके क्रमसे जितने भी चाहे अक्षर रखे जा सकते हैं। सर्वप्रथम हैमचन्द्र (१४ श० ई०) के 'छन्दोऽनुशासन' (अ० २ ३९७) में इसका लक्षण 'लावनगशेखर' दिया है, जिससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत छन्दका प्रचलन बारहवीं शताब्दीसे हुआ है। संस्कृतकालमें इसका प्रयोग नहीं हुआ था। अपभ्रंशकालसे लेकर आधुनिक कालतकके छन्दमें यह प्रयुक्त हुआ है। इस छन्दके दूसरे नाम 'द्विनराचिका' और 'महानराच' भी हैं। रासोमें इसके अनेक रूपों यथा, 'वृद्धनाराच' आदिके प्रयोग मिलते हैं। उत्साह, वीरता और स्तुति आदिके लिए 'अनंगशेखर' छन्द अत्यन्त उपयुक्त है। 'नराच' और 'पचचामर' छन्दकी जातिका होनेके कारण ऐसा प्रतीत होता है कि यह उसीका विकसित दण्टक रूप है। केशवका उदाहरण–"जहाँ-जहाँ विराम लेत राम जू तहाँ-तहा अनेक भाँतिके अनेक भोग भागसों बढ़ौ" (रा० चं० छ० ३६)। जयशंकरप्रसादके 'हिमाद्रि तुग शृंगसे प्रबुद्ध शुद्ध भारती'में इसी छन्दकी गति है। 'अनगशेखर' नाममें ही इस छन्दकी गतिका सकेत लक्षित है, अर्थात्–ISISIS–। भानुने 'छन्दप्रभाकर'में इस छन्दका उपभेद 'महीधर' (पृ० २१४) नामक छन्द दिया है। —ह० मो०

अनतुसंधान–दे०–'रस-दोष', आठवाँ।

अनन्यपूर्वा–दे०–'गोपी'।

अनन्वय–सादृश्यगर्भ भेदाभेदप्रधान शब्दालंकार। शब्दार्थ है, जिसका किसी अन्यसे सम्बन्ध न हो। कुछ आचार्योंने इस अलंकारको स्वतन्त्र स्वीकार किया है, भामह, उद्भट, वामन, मम्मट, रुय्यक तथा विश्वनाथ आदि, और कुछने उपमाके अन्तर्गत–दण्डी, रुद्रट तथा भोज आदि। वामनके अनुसार 'एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वय।' (का० सू० वृ० ४ ३ १४) अर्थात् एक ही वस्तुका उपमेय और उपमानरूपमें वर्णन किया जाना। मम्मट, विश्वनाथने इसी रूपमें लक्षण दिया है–'एक ही वस्तुका एक ही वाक्यमें उपमान और उपमेय दोनों रूपोंमें प्रतीत होना, यह अलंकार है। इसमें उपमेय अपनेसे भिन्न किसी उपमानके साथ साधर्म्यसम्बन्ध नहीं रखता।' (का० प्र० १० ९१। सा० द० १० २६)। हिन्दीके मतिराम, भूषण, पद्माकर आदिने इसीका अनुसरण किया है। जसवन्त सिंहने अनन्वयमें उपमेयका उपमेय बन जाना माना है, जो वास्तवमें उपमानोपमेय नामक अलंकार है। मतिरामके लक्षणमें भाव स्पष्ट नहीं हो सका है–'जहाँ एक ही बातको उपमेयो उपमान।' (ल० ल० ५३)। भूषणके अनुसार–'जहाँ करत उपमेयको, उपमेयै उपमान।' (शि० भू० ३६)। पद्माकरके लक्षणपर संस्कृत आचार्योंकी और भी स्पष्ट छाप है–'इक वस्तु हीं, उपमेय हु उपमान।' (पद्मा० २६)। दासके लक्षणमें इस अलकारका भाव अधिक स्पष्ट हुआ है–'जाकी समता जाहिकों' (का० नि० ८)। उदा०–'आज गरीब नेवाज महीपर तो सो तुही सिवराज बिराजै।' (शि० भू० ४०)। अथवा–'मिली न और प्रभा रती, करी भारती और। सुदर नन्दकिसोरसौ, सुन्दर नन्दकिसोर।' (का० नि० ८)।

इस अलकारमें भी एक वैचित्र्य है जो अन्य उपमानोंसे साधर्म्यसम्बन्धके विच्छेदपर आधारित है। इस अलंकार तथा लाटानुप्रासमें स्पष्ट अन्तर है। लाटानुप्रासमें समान अर्थवाली एक ही शब्दावलीका प्रयोग किया जाता है, पर उनका अन्वय भिन्न रूपोंमें होता है, पर अनन्वयमें एक वस्तुका दो बार उल्लेख होता है, पर वह अपने-आपके समान इस भावनासे कही जाती है कि अन्य समान वस्तुकी सम्भावना नहीं है। अनन्वयमें एक ही शब्दका प्रयोग अनिवार्य नहीं है, पर्याय भी प्रयुक्त हो सकते हैं। —र० ०

अनभिहित सम्बन्ध–दे०–'शब्द-दोष,' ग्यारहवाँ वाक्य-दोष।

अनभौ–१ वह ज्ञान जो साक्षात् करनेसे प्राप्त हो। 'आतम अनुभौ जब भयो तब नहिं हर्ष विषाद। चित्त दीप समर्दै रह्यो तजि करि वाद विषाद'। (कबीर सा० ८१)। २ अनभौ-अचरज। अनहोनी बात– 'तुम घट ही मो स्याम बनाये। हम मतिहीन अजान अरपमति तुम अनभो पद ल्याये'। (सूर–'सूरसागर') —उ० शं० शा०

अनलहक–'अनलहक'का अर्थ 'मैं ही सत्य हूँ' है। मंसूर बिन अल-हल्लाजको 'अनलहक' कहनेके लिए ही सूलीपर

चढ़ा दिया गया था। मंसूर ईसाकी नवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें वर्तमान था तथा दसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धतक रहा। यह ईरानका सुप्रसिद्ध सूफी था। यह कथन सनातन-पन्थी इस्लामकी मान्यताओंके विरुद्ध है। परमात्मा और मनुष्यके एकत्वकी बात इस्लाम स्वीकार नहीं करता। मनुष्य मनुष्य है और परमात्मा परमात्मा और वे दोनों वही थे और वही रहेंगे। वे एक नहीं हो सकते। ऐसा ही इस्लाम-धर्म मानता है।

मंसूरकी मृत्युके बहुत दिनों बाद इस बातको सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी कि वास्तवमें उसके कथनके साथ सनातन-पन्थी इस्लामका सामञ्जस्य है। कहा जाता है कि मंसूरका मतलब यह था कि परमात्माके 'एकत्व'में सभी प्राणी समाहित हैं। अपनी साधना द्वारा जो इस दृश्यमान जगत्से परे हो जाता है वही उसकी वास्तविक अवस्था है और यही अवस्था परमात्मा है। इसमें 'मैं', 'तुम,' 'हम लोग' आदिका स्थान नहीं रह जाता, ये सभी एक ही वस्तु हैं। अतएव हल्लाजने जब अनलहक कहा तब वह 'अहं'से परे था। अतएव उसके मुँहसे जो कुछ निकला वह परमात्माकी ही आवाज थी। —रा० पू० ति०

अनवीकृत—दे०—'अर्थ-दोष,' ग्यारहवाँ।

अनात्मवाद—अनात्मवाद आत्मवाद (दे०) का विरोधी सिद्धान्त है। आत्मवाद ब्राह्मणपरम्परा या श्रौतदर्शन है तो अनात्मवाद श्रमणपरम्परा या बौद्धदर्शन है। अनात्मवादको पालीमें अनात्तवाद कहते हैं। नैरात्म्यवाद और पुद्गल प्रतिषेधवाद या पुद्गल नैरात्म्यवाद भी इसीके अन्य पर्याय हैं।

अनात्मवादका शाब्दिक अर्थ है वह वाद जिसमें आत्माका निषेध हो। इससे कुछ लोग यह समझते हैं कि अनात्मवादमें आत्माका बिलकुल निराकरण किया गया है और यह आत्माका अनस्तित्ववाद या भौतिकवाद है। पर यह सर्वथा दूषित विचार है। बौद्ध-दर्शनमें अनात्मवादको इस अर्थमें नहीं लिया गया है। स्वयं बुद्धने इसे शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, इन दो अन्तोंसे पृथक् मध्यमा प्रतिपद् या बीचका रास्ता कहा है। शाश्वतवादका अर्थ है कि आत्मा नित्य, कूटस्थ, चिरन्तन, एकरूप है। उच्छेदवादका अर्थ है कि आत्मा है ही नहीं। उच्छेदवाद आत्मविनाशका सिद्धान्त है। यह भौतिकवाद है। बुद्धने अपने अनात्मवादको उच्छेदवाद या भौतिकवाद तथा शाश्वतवाद या नित्यात्मवादसे पृथक् करके सिद्ध किया कि उनका सिद्धान्त अभौतिक नैरात्म्यवाद है। बुद्धने निषेधात्मक ढंगसे आत्माका वर्णन यों किया है—रूप आत्मा नहीं है, वेदना आत्मा नहीं है, संज्ञा आत्मा नहीं है, संस्कार आत्मा नहीं है, विज्ञान आत्मा नहीं है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान पाँच स्कन्ध हैं। ये आत्मा नहीं हैं। इससे सिद्ध है कि आत्मा स्कन्धसे भिन्न है; पर फिर भी उसके घटक ये ही स्कन्ध समझे जाते हैं।

अनात्मवादकी व्याख्याएँ कई ढंगसे की गयी हैं। (क) बुद्धसे प्रश्न पूछे गये कि क्या जीव शरीरसे भिन्न है या अभिन्न? क्या तथागत मृत्युके बाद रहते हैं या नहीं रहते हैं, या रहते भी हैं और नहीं भी रहते हैं, या न रहते हैं और न नहीं रहते हैं? बुद्धने इन छओं प्रश्नोंका मौनसे उत्तर दिया। ये 'अव्याकृत' मत हैं। इनका निर्वचन असम्भव है।

बुद्धकी शान्ति या मौनका क्या अर्थ है? आजतक बौद्ध तथा अबौद्ध इसके अनेक अर्थ लगा रहे हैं। इस मौनके अर्थपर ही अनात्मवादकी सही व्याख्या निर्भर है।

(ख) थेरवादी नागसेन (१५० ई० पू०) ने आत्माके विषयमें संघातवाद और सन्तानवादको बुद्धका मन्तव्य निश्चित किया। संघातवादके अनुसार आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंका संघातमात्र है। उसका व्यवहार प्रज्ञप्तिके लिए किया जाता है, वैसे वह अवस्तु है। सन्तानवादके अनुसार आत्माके घटक क्षणिक और विपरिणामधर्मा हैं। जलप्रवाह या दीपकशिखाकी तरह आत्मा केवल स्कन्धकी सन्तान है। आत्मा कोई इकाई नहीं, कूटस्थ और नित्य नहीं, वह नित्य परिवर्तनशील स्कन्ध है।

पर बुद्धके कथनके अनुसार आत्मा न तो स्कन्धोंसे भिन्न है और न अभिन्न। अतः संघातवादको बुद्धकी शिक्षा निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता।

(ग) वात्सीपुत्रीय बौद्ध पुद्गलवादी हैं। पुद्गल आत्मा या द्रव्यका ही पर्याय है।

वसुबन्धुने वात्सीपुत्रीयोंकी 'अभिधर्मकोश'में कटु आलोचना की और सिद्ध किया कि पुद्गलवादसे आत्मग्राह होता है और शाश्वतत्वका दोष आ जाता है, निःसन्देह बुद्ध इसको बचाते हैं। कोई सत्त्व, कोई आत्मा नहीं है। केवल हेतुप्रत्ययसे जनित धर्म हैं, स्कन्ध, आयतन और धातु हैं।

(घ) सर्वास्तिवादी बौद्धोंने अनात्मवादको सन्तानवादके रूपमें लिया। आत्मा अवस्तु नहीं है, किन्तु वस्तु है। पर यह वस्तु स्थिर नहीं, कूटस्थ नहीं। यह नित्य परिवर्तनशील है। किसी जीवसे एक सन्तानविशेष ज्ञापित होता है। जैसे अग्नि सञ्चरण करती है, यद्यपि वह अग्निके क्षणोंका सन्तान है, वैसे स्कन्धसमुदाय निरन्तर नवीन होकर उपचारसे सत्त्वकी आख्या प्राप्त करता है।

(ङ) विज्ञानवादी बौद्धोंने आत्माको आलयविज्ञानके रूपमें लिया। उन्होंने आलयविज्ञानको सन्ततिविज्ञानसे भिन्न किया। उनके अनुसार सुगतका मध्यम मार्ग प्रवाह या सन्तानको सत् मानना है, न कि स्थिरता अथवा उच्छेद या अभावको। सर्वास्तिवादी मतमें यह प्रवाह क्षणिक वस्तु सत्तोंका है। विज्ञानवादी योगाचारके मतसे यह प्रवाह सिर्फ विज्ञानका है। वस्तुएँ प्रज्ञप्तिमात्र हैं, सत् नहीं। सत् है केवल चित्त चैत्र, आलयविज्ञान, सन्ततिविज्ञान। आलयविज्ञान स्रोतके रूपमें अभ्युपन्न प्रवर्तित होता रहता है। स्रोतका अर्थ हेतुफलकी निरन्तर प्रवृत्ति है। इसमें सन्ततिविज्ञानोंकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है।

यहाँ आलयविज्ञान आकर वेदान्तकी आत्माके पास चला गया। इसमें और वेदान्तकी आत्मामें सिर्फ इतना

ही अन्तर रह गया कि यह अपेक्षाकृत चल है जब कि वेदान्तकी आत्मा अचल।

पर स्वतन्त्र योगाचार विज्ञानवादियोंने, दिङ्नाग और धर्मकीर्तिने इस भेदको भी मिटा दिया। उन्होंने आलय-विज्ञानको ही केवल सत् माना और उसे ध्रुव कहा, नित्य नहीं। वेदान्तकी आत्मा नित्य है। अब ध्रुव और नित्य शब्दका साधारण अर्थ एक ही है। यदि शब्दोंपर झगड़ा न करें तो ध्रुव आलयविज्ञान, जिसे वसुबन्धु विज्ञप्तिमात्रता भी कहते हैं, वेदान्तकी नित्य आत्मासे तनिक भी भिन्न नहीं है।

(च) शून्यवादी बौद्धोंने बुद्धके मौनका अर्थ लगाया कि परम सत्का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता है। वह सत् शून्य है अर्थात् सत्, असत्, सत् और असत् उभय तथा न सत् और न असत् अर्थात् अनुभयसे भिन्न है। उसके बारेमें कोई 'वाद' या दृष्टि सम्भव नहीं है प्रत्येक सत्, असत्, उभय या अनुभयके रूपमें ही रहती है। अत वह सदोष है। वह केवल संवृत्ति सत्य ही देती है, परमार्थ सत् नहीं। परमार्थ सत् अभाव नहीं है, वह अनुभवैकगम्य है।

शून्यवादका कुछ लोगोंने अर्थ अभाववाद या प्रतिषेध-वाद लगाया। पर आज बौद्ध-दर्शनके मर्मज्ञोंने सिद्ध कर दिया कि यह भ्रान्त धारणा है।

इस शून्य या परमार्थ सत् और वेदान्तके परमब्रह्म या आत्मामें भी वास्तवमें नाममात्रका भेद रह जाता है।

आत्मवाद द्रव्यमूलक दृष्टि है तो अनात्मवाद पर्याय-मूलक। आत्मवाद स्थिरतावाद है तो अनात्मवाद गति-वाद। वस्तुत दोनों दृष्टियाँ आमूल भिन्न हैं, यद्यपि दोनों सत्का ही निरूपण करती हैं। एक दृष्टिकी आलोचना दूसरी दृष्टिसे की जा सकती है और की गयी है। पर प्रत्येक दृष्टि अपनेमें सुसगत, सुशृंखलित है। इन दोनों दृष्टियोंका भारतीय जीवन तथा साहित्यपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वर्तमान भारतमें यद्यपि ब्राह्मणपरम्पराकी अधिक बातें हैं तो भी इसमें श्रमणपरम्परा इतनी घुल-मिल गयी है कि इसे हम बौद्धपूर्व ब्राह्मणपरम्पराका देश नहीं कह सकते।

अनात्मवाद निर्माणकी अनिवार्य शर्त है। (क) रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार और विज्ञानको आत्मा समझना उचित नहीं है, क्योंकि ये बाधाओंसे ग्रस्त हैं, रोगके अधीन हैं। (ख) रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य हैं, अत दु ख हैं, अत आत्मा नहीं हो सकते। (ग) जब ये आत्मा नहीं तब इनसे निर्वेद प्राप्त करना चाहिये। इस प्रकार विरक्ति या अनासक्ति द्वारा ही मोक्ष या निर्वाणका लाभ हो सकता है। बौद्धोंने देखा कि जब तक आत्मग्रह है तबतक आत्मीयका बोध है, बन्धन है, आसक्ति है। अत आत्माको नित्य सत् मान लेनेसे सच्ची अनासक्ति या विरक्ति नहीं आ सकती। बिना सच्ची अना-सक्तिके मोक्ष या निर्वाण दुर्लभ है। कुछ इन्हीं कारणोंसे बुद्धने अनात्मवादकी देशना की।

जिस समय बुद्धका आविर्भाव हुआ था उस समय वैदिक आत्मवादमें कतिपय दोष घुस गये थे। आत्माको नित्य और कूटस्थ मानकर उसके लिए यज्ञ किये जाते थे, जिनमें कभी-कभी पशुओंकी हिंसा भी की जाती थी। आत्माको सदा एकरूप माननेवाले व्यवहारमें एकरूपता नहीं बरतते थे। व्यवहारमें वे जीवोंको अनेक मानते थे और सबको स्वतन्त्र, नित्य सत् मानते थे। बुद्धने वैदिक हिंसा तथा व्यवहारके द्वैतवाद अर्थात् जाति-पाँतिके विचार, ऊँच-नीचके भावके प्रति आन्दोलन करते हुए अनात्मवाद-के सिद्धान्तकी अवतारणा की, जिसके कारण यज्ञ तथा व्यव-हारके द्वैतवादकी व्यर्थता सिद्ध हो जाती है और अना-सक्ति तथा समचर्याके सिद्धान्तोंको आधारशिला मिलती है।

पुरानी हिन्दीमें अनात्मवादकी देशना देनेवाले चौरासी सिद्ध बौद्ध थे, यद्यपि उनमें तन्त्रका भी प्रचुर प्रभाव था। उनके अनुवर्ती नाथ लोग भी अर्धबौद्ध और अर्धयोगी थे। इनकी रचनाओंमें अनात्मवाद आध्यात्मिक जीवनके प्रेरक तथा आध्यात्मिक चरम अनुभूतिके रूपमें आता है। प्रेरकके रूपमें अनात्मवाद जीवनकी, समारकी, अमारताका सिद्धान्त हो गया और अनुभूतिके रूपमें वह शून्यवाद या सुन्नकी अनुभूति हो गयी। नाथ सम्प्रदायके अनन्तर आनेवाले निर्गुणोपासक सन्तों तथा सूफियोंपर भी अनात्मवादका स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। सगुणोपासक सन्त यद्यपि बौद्धोंकी करुणाके सिद्धान्तसे अधिक प्रभावित थे तथापि वे उनके अनात्मवाद या शून्यवादसे प्रभावित न थे।

हिन्दीके सन्त-साहित्यमें बौद्ध अनात्मवाद और वैदिक आत्मवादका समन्वय मिलता है। बुद्धकी देशनासे सिद्ध है कि अनात्मवाद वस्तुत मौनवाद या रहस्यवाद है, उसको बुद्धि द्वारा समझा नहीं जा सकता है। यह रहस्यवाद हिन्दी साहित्यमें उसी रूपमें मिलता है जिस रूपमें कि बुद्धको अभीष्ट था। कुछ लोगोंका तो यहाँतक मत है कि हिन्दीके निर्गुण सन्तोंकी परम्परा ही वास्तवमें श्रमणपरम्परा है जो समचर्या, जाति-पाँतिके उच्छेद, शून्यता आदिपर जोर देती है। पर यह कथन एकांगी है। उसपर आत्म-वादी परम्पराका भी प्रभाव कम नहीं पड़ा है। आत्मा या ब्रह्म तथा शून्यको इस परम्परामें अभिन्न समझा गया है और मौनमात्र ही या अबोल उसका लक्षण कहा गया है। कबीर, रैदास, दादू आदिने इस अबोलके सिद्धान्तपर विशेष बल दिया है। [सहायक ग्रन्थ—(१) 'बौद्धधर्म-दर्शन' नरेन्द्रदेव। (२) 'बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन', दो भाग भरतसिंह उपाध्याय। (३) 'दर्शन-दिग्दर्शन' राहुल साङ्कृत्यायन।] —सं० ला० पा०

अनाहत—दे०—'हठयोग'।

अनाहत नाद—दे०—'नाद'।

अनियम-परिवृत्त—दे०—'अर्थ-दोष,' उन्नासवा।

अनिश्चयात्मक आलोचना-प्रणाली—यह अंग्रेजीके 'नॉन-जुडीशियल'का समानार्थी है। आलोचनाके तीन प्रमुख प्रयोजन बतलाये गये हैं—रसग्रहण, व्याख्या तथा निर्णय। निर्णय आलोचनाकी अन्तिम परिणति माना जाता है। विश्वके समस्त आलोचकों तथा विद्वानोंने एक स्वरसे इसे स्वीकार किया है। परन्तु इतिहास साक्षी है कि निर्णय-की कसौटी रूढ हो जाती है। प्लेटो, अरस्तू, होरेस आदि ग्रीक आलोचकों द्वारा दी गयी निर्णयकी कसौटियाँ आगे

चलकर रूढ़ और परम्परागत हो गयीं। यहाँतक कि उनकी मान्यताओंके बाह्य स्वरूपको प्रधानता देकर आगेके आलोचकोंने साहित्यकी मूल आत्माको उपेक्षित रखा। उनके निश्चय आवश्यकतासे अधिक साहित्यिक कृतियोंपर लागू किये गये। फलत: प्रतिक्रिया हुई। विद्वानोंने यह सिद्ध किया कि निर्णय कभी भी हमें सत्यतक नहीं ले जा सकता। वह अपने देश-कालतक सीमित रहता है। इन लोगोंने मुख्यत: तीन प्रश्न उठाये—(१) निर्णयका मानदण्ड कौन स्थिर करेगा, (२) निर्णयके मानोंमें विभिन्नता एक नैसर्गिक सत्य है, क्योंकि एक व्यक्तिके लिए नीति अधिक महत्त्वपूर्ण है तो दूसरेके लिए अनुभूति और तीसरेके लिए अभिव्यंजना। इस प्रकार विश्वकी समस्त वस्तुएँ सापेक्षिक हैं। इसीलिए निर्णयके मान स्थिर करना कठिन है, (३) निर्णय देनेवाला निवैयक्तिक होकर एक साहित्यिक कृतिका मूल्यांकन नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी वैयक्तिक रुचि ही निर्णयका आधार होती है। इस प्रकार साहित्यका वैज्ञानिक अध्ययन निर्णयको उसके ऊपर लागू करके, नहीं किया जा सकता, क्योंकि साहित्य अंकगणित नहीं है कि एक ही कायदा-कानून सबपर घटित किया जा सके।

साहित्य वस्तुगत होकर भी आत्मगत है। इसीलिए साहित्यका अध्ययन सहानुभूतिकी अपेक्षा रखता है। किसी भी कृतिकी गहराईमें डूबकर उसका आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए पहलेसे ही पूर्वनिश्चयों या निर्णयोंके आधारपर साहित्यका रस-ग्रहण सम्भव नहीं है। जर्मन तत्त्ववेत्ताओंने इन्हीं तथ्योंके आधारपर निर्णयात्मक आलोचनापद्धतिका विरोध किया। धीरे-धीरे आलोचनापद्धतिको लोगोंने व्यापक बनाया और सबको तथा सब तरहकी कृतियोंको अपनी सहानुभूतिका पात्र बनाया।

प्रस्तुत आलोचनापद्धतिका प्रमुख लक्ष्य होता है—साहित्यका रस-ग्रहण। यह आलोचनापद्धति बहुत बादमें आकर विकसित हुई है। वर्जीनिआ वुल्फ, हर्बर्ट रीड आदि अंग्रेजी आलोचक इस कोटिके सिद्ध आलोचक हैं।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्रमें इस दृष्टिकोणसे विवेचन नहीं हुआ है फिर भी संस्कृत आचार्योंका दृष्टिकोण निर्णयकी ओर झुकावका रहा है। वैसे रसवादियोंका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार और व्यापक रहा है। रस-निष्पत्तिके सिद्धान्तसे निश्चय ही साहित्यमें रस-ग्रहणकी परम्परा स्थापित हुई थी।

हिन्दीमें इस प्रणालीकी आलोचना छायावादके उदयके बाद ही पायी जाती है। छायावादी आलोचकोंका दृष्टिकोण इसी सिद्धान्तका पोषक है। प्रगतिवादी तो निर्णय लेकर ही साहित्यक्षेत्रमें उतरते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, रघुवंश, विजयदेवनारायण साही इस पद्धतिके आलोचक माने जायँगे। —रा० कु० स०

अनीश्वरवाद—संकीर्ण अर्थमें यह शब्द उस विचारधाराके लिए प्रयुक्त होता है, जो ईश्वर या अन्य देवताओंके अस्तित्वको अस्वीकार करता है। व्यापक अर्थमें इसका प्रयोग सन्देहवादियों, भौतिकवादियों, प्रत्यक्षवादियों तथा ऐसे सभी लोगोंके लिए किया जाता है जो ईश्वरवादी धर्मको अस्वीकार करते हैं और यह नहीं मानते कि इस जगत्का स्रष्टा, पालक और संहारक कोई एक देवता या अनेक देवता हैं, जिनमें बुद्धि और संकल्पके मानवीय लक्षण असीम या ससीम रूपसे होते हैं।

भारतीय परंपरामें नास्तिक शब्द भी कुछ इसके समान भावको व्यक्त करता है। किन्तु उसका प्रयोग हिन्दू दार्शनिकोंने एक विशिष्ट अर्थमें किया है : वेद-निन्दक ही असली नास्तिक है। इस प्रकार अनीश्वरवादी सांख्य तो नास्तिक नहीं है, किन्तु हिन्दू दार्शनिकोंकी दृष्टिमें जैन और बौद्ध नास्तिक हैं, क्योंकि वे वेदोंकी आप्तताको स्वीकार नहीं करते। इसी कारण ईश्वरमें विश्वास करनेवाले इतर धर्म भी, जैसे ईसाई मत और इस्लाम तथा ईश्वर जैसे अमिताभ बुद्धमें आस्था रखनेवाले महायानी बौद्ध भी नास्तिक हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि नास्तिकता और अनीश्वरवाद पर्याय नहीं हैं। केवल वेद-निन्दासे बचा रहकर निरीश्वरवादी भी आस्तिक बना रह सकता है।

मनुष्य स्वभावसे ईश्वरवादी या देवतावादी है। आदिम स्तरके मानव-समाजोंसे लेकर उन्नततम समाजों-तकमें किसी-न-किसी प्रकारके देवताओं या ईश्वरमें विश्वास और उनकी पूजा-उपासना मिलती है। नितान्त अनीश्वरवादी समाज मिलना कठिन है। किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि प्राय: सभी देशों और सभ्यताओंमें ऐसे विचारक उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने ईश्वरवाद और देवतावादमें अविश्वास प्रकट किया है और उसे त्याज्य ठहराया है। स्वयं भारत जैसे ईश्वरवादी और अवतारवादी देशमें अनीश्वरवादी विचारकोंकी कमी नहीं रही है। ऋग्वेदमें भी देवताओंके अस्तित्वको अस्वीकार करनेवालोंका वर्णन है। सर्वेश्वरवादी उपनिषदोंमें ईश्वर और देवताओंको एक भ्रम और कल्पनाके समकक्ष बना दिया गया। शंकराचार्यके अद्वैतवेदान्तमें भी ईश्वरकी सत्ता वास्तविक नहीं, मायिक, अयथार्थ मानी गयी है। ब्रह्म अथवा आत्मा विशुद्ध सत् है, निर्गुण है, उसमें कोई भी शुभ या अशुभ गुण किसी भी परिमाणमें व्याप्त नहीं है। ऐसा ब्रह्म निश्चय ही भक्त या ईश्वरवादीका उपास्य ईश्वर नहीं है।

इसके अतिरिक्त दो अन्य आस्तिक दर्शन लगभग निरीश्वरवादी हैं। सांख्य दर्शनका प्राचीन रूप निश्चित रूपसे निरीश्वरवादी है। वह अनेक प्रमाण देकर ईश्वरका खण्डन करता है। जगत्की सृष्टिके लिए वह ईश्वरको आवश्यक नहीं मानता। मोक्षके लिए भी उसकी अपनी साधना-पद्धति है, जिसके अनुसार किसी ईश्वरमें विश्वास करना, उसकी शरणमें जाना, उसकी उपासना आदि करना बिलकुल अनावश्यक और व्यर्थ है। पुरुष अपनेको ज्ञानके द्वारा मूल प्रकृतिके पाशोंसे मुक्त करके मोक्ष स्वयं ही प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्डमें परिपूर्ण आस्था रखते हुए पूर्वमीमांसा दर्शन भी अनीश्वरवादी है। कुमारिल भट्टने विविध तर्क देकर यह सिद्ध किया है कि सर्वशक्तिमत्ता तथा ऐसे अन्य असीम शुभ गुणोंसे युक्त कोई ईश्वर नहीं हो सकता। वह जगत्को स्वाधिष्ठान और अपनेमें पूर्ण मानता है, जिसके लिए किसी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं।

वेदोंमें विश्वास न करनेवाले अन्य भारतीय दर्शनोंने

ईश्वरवादका बौद्धिक तर्कोंके आधारपर खण्डन किया है। इनमें चार्वाक, जैन और बौद्ध-दर्शन प्रमुख हैं। चार्वाक दर्शन तो शत-प्रतिशत प्रकृतिवादी, लोकपरक और ऐहिक सुखवादी है। उसने ईश्वरका खण्डन मुक्त कण्ठसे किया है। वह केवल प्रत्यक्षको प्रमाण मानता है। आत्मा और पुनर्जन्मके अस्तित्वको अस्वीकार करता है। ईश्वरका प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः उसका अस्तित्व नहीं है। जगत् पंचतत्त्वोंके संयोगसे उत्पन्न होता है। उसकी सृष्टिके लिए किसी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है। जगत्में कोई भी चेतन सोद्देश्यता नहीं है। अतः चार्वाक दर्शनको स्वभाववाद और यदृच्छावाद भी कहते हैं।

जैनधर्म बौद्धधर्मकी भाँति अनीश्वरवादी धर्म है। वह ईश्वरके अस्तित्वके विरुद्ध कई तर्क देता है। ईश्वरका प्रत्यक्ष नहीं होता और अनुमानसे भी उसकी सिद्धि नहीं होती। सृष्टिकर्ताकी आवश्यकता तभी हो सकती है जब जगत्को सृष्ट माना जाय। जगत्को सृष्ट माननेका कोई कारण नहीं है। फिर यदि ईश्वर निराकार है, अंगहीन है तो उसने इस जगत्की सृष्टि कैसे कर डाली? ईश्वरके अन्य सब शुभ गुण भी सन्देहास्पद हैं। यदि वह सर्वशक्तिमान् है तो उसे संसारके सभी पदार्थोंका कारण होना चाहिये, लेकिन हम नित्य ही देखते हैं कि घट, पट, गृह आदि अनेक वस्तुएँ दूसरे निमित्तोंसे उत्पन्न होती रहती हैं। ईश्वरके एक होनेकी बात भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि संसारमें देखनेमें आता है कि गृह इत्यादिका निर्माण एक स्थपतिमात्र नहीं करता, वरन् अनेक व्यक्तियोंके सहयोगसे यह कार्य सम्पन्न होता है। इसी प्रकार ईश्वर भी अनेक हो सकते हैं।

भगवान् बुद्धने भी ईश्वरविषयक समस्त जिज्ञासाओंको निरर्थक बतलाया है। उनका अष्टांगिक मार्ग स्वावलम्बनका साधनापथ है। उसमें किसी भी ईश्वरमें विश्वास करनेकी आवश्यकता नहीं है। ईश्वर आदि समस्याओंके विषयमें बुद्धने मौन ही रखा है। उनके अनुचरोंमें हीनयान तो स्पष्ट ही अनीश्वरवादी है।

चीनके ताओवादमें भी व्यक्तितायुक्त ईश्वरके लिए कोई स्थान नहीं है। कनफ्यूशसीय धर्ममें भी ईश्वरमें विश्वास करना आवश्यक नहीं है।

पश्चिममें अनीश्वरवादकी परम्परा काफी पुरानी है। प्राचीन यूनानके आरम्भिक दार्शनिक प्रकृतिवादी थे। उन्होंने लोकप्रिय देवताओंकी सहायता लिये बिना ही जगत्की व्याख्या करनेका प्रयास किया। एम्पीडॉक्लीज और अनेग्जैगौरसके सिद्धान्तोंने प्रकृतिवादी दृष्टिकोणके लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। डेमोक्रिटस तथा उसके सहयोगी अणुवादियोंने अणुकी सहायतासे प्रकृतिको समझनेका यत्न किया। प्लेटो नितान्त प्रकृतिवादी सिद्धान्तके पक्षमें नहीं था। किन्तु अरस्तू और नव्य प्लेटोवादियोंने विश्व और मानवताके जीवनमें देवताओंके हस्तक्षेपको मूर्खतापूर्ण विचार ठहराया। एपीक्यूरसने प्रकृतिवादी दर्शन और सुखवादी नैतिकताका समर्थन किया। प्राचीन ग्रीसमें सन्देहवादी दार्शनिकोंकी भी कमी नहीं थी। रोमका प्रसिद्ध कवि ल्यूक्रीशस प्रकृतिवादमें विश्वास करता था और उसने अपने जीवन-दर्शनको काव्यबद्ध भी किया।

उत्तर-मध्ययुगमें भी विशुद्ध अनीश्वरवादी विचारधारा मिलती है। सर्वेश्वरवादी रहस्यवाद धर्मके ईश्वरको निराकृत कर देता है। इसलिए कट्टर ईसाई तथा यहूदी धर्मानुयायी सर्वेश्वरवादियोंको अनीश्वरवादी और नास्तिक मानते रहे।

अनीश्वरवादका पूर्ण विकास आधुनिक युगमें हुआ है। गणित, ज्योतिष, भौतिकी, रसायन, भूगर्भशास्त्र, प्राणिविज्ञान, नृशास्त्रोंकी प्रगतिके साथ-साथ धर्मग्रन्थोंमें वर्णित अनेक सिद्धान्तों, तथ्यों और प्रचलित धार्मिक विश्वासोंकी जड़में कुठाराघात किया गया। पश्चिमी मनुष्यने पुनरुत्थानके युगमें बौद्धिक परतन्त्रताकी शृंखलाएँ तोड़कर बौद्धिक स्वतन्त्रताके राजमार्गपर कदम रखे। प्रकृतिवाद शनैः-शनैः पश्चिमी मनीषाका मूलाधार हो गया। जगत् और जीवनकी व्याख्या विशुद्ध प्रकृतिवादी ढगमें, यान्त्रिक नियमों द्वारा होने लगी। फ्रॉयडके मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तने धर्मको एक भ्रम और ईश्वरको पिताका स्थानापन्न विचारमात्र सिद्ध कर दिया। नृशास्त्रियोंने आदिम मानव-समाजोंका अध्ययन करके धर्मको लौकिक आवश्यकताका पूरक बतलाया। विकासवादी सिद्धान्तोंके अनुसार भी विकासकी प्रक्रियामें ईश्वर जैसी किसी शक्तिका अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता था। हक्सले और स्पेन्सर जैसे वैज्ञानिक दार्शनिकोंने अज्ञेयवादको एकमात्र बुद्धिसंगत दर्शन ठहराया। इस प्रकार ईश्वरके अस्तित्वमें पारम्परीण विश्वास जर्जर हो गया, अनीश्वरवाद वायुमण्डलमें परिव्याप्त-सा हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यमें अनीश्वरवाद जर्मनीमें विशेषकर लोकप्रिय हुआ। फाएरबाख तथा अन्य दार्शनिकोंके भौतिकवादने आक्रामिक रूपसे अनीश्वरवादका प्रतिपादन किया। इंग्लैण्डमें चार्ल्स ब्रैडले तथा अन्य स्वच्छन्द विचारकोंके बुद्धिवादसे अनीश्वरवादका प्रचार हुआ।

समकालीन युगमें भौतिकवादी वैज्ञानिक विचारणा और मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके विराट् प्रचारके कारण अनीश्वरवादका प्रसार सर्वत्र हो गया है। कला और साहित्यमें उसकी अभिव्यक्ति प्रचुर रूपसे होती रहती है। —आ०

अनुकरण (imitation)—मनुष्यकी पहली कलाकृतियाँ नकलपर आधारित हैं। गुहामानवोंके भित्तिचित्र शिकार किये हुए पशुओंके चित्र हैं। परन्तु यथार्थका निरा फोटोग्राफिक अनुकरण ऊँची कलाकृति नहीं होता—क्योंकि वह यान्त्रिक भी हो सकता है। अनुकरणमें सत्यका आभास भी मिलता रहता है। नाट्यके सन्दर्भमें भरतने 'अनुकृति' को ही अभिनयका आधार माना। अरस्तूने अपने 'काव्यशास्त्र'में 'अनुकरण'को ही कलाकी मूल आत्मा माना था। परन्तु यह विचार बादमें बदलता गया। कई कलाकृतियाँ ऐसी हैं जो केवल कल्पनापर आश्रित हैं और उनमें सौन्दर्य अनुकरणपर आधारित नहीं होता। उदाहरणार्थ, परियोंकी कहानियाँ या अत्याधुनिक चित्रकला। कला वस्तुतः कला तभी बनती है या सार्थकता प्राप्त

करती है, जब वह निरा जीवनका प्रतिबिम्ब न हो, बल्कि जीवनका 'अभिसम्भव' हो। कृति केवल आकृतिकी अनुकृति नहीं वरन् कृतिकारकी प्रकृति-संस्कृतिसे मिली हुई, उसमेंसे उपजी हुई झंकृति होती है। उसमेंका स्वर तोता-रटंत या 'हिज मास्टर्स वायस'का स्वर नहीं होता। इसी कारणसे अधिनायकवादी शासन-तन्त्रोंमें निर्मित कलाकृतियाँ इतनी निर्जीव, रबरस्टैंप जैसी अनुकृतियाँ जान पड़ती हैं।

कला अनुकरण नहीं, नवीकरण है। रोमैंटिक कवियोंने और तत्त्वचिन्तकोंने इस मतको पुनः प्रतिष्ठित किया—कलाकारको ईश्वरके समकक्ष ला बिठाया। वह 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' का चमत्कार कैसे निर्माण करता है! 'न कुछ'से सब-कुछ निर्माण करनेकी यह कीमिया रूढ़िवादी या परम्परावादियोंके लिए अनुकरण-मात्र हो, पर जो नित्य प्रयोगशील है उसके लिए कला गतानुगतिकत्वका अनुकरण हो ही नहीं सकती। —प्र० मा०

अनुकरण, क्रीडात्मक—किसी प्रत्यक्ष-गम्य वस्तुको अन्य माध्यम द्वारा प्रकट करनेकी क्रिया या प्रवृत्तिको अनुकरण कहा जाता है। जैसे, नदी पर्वत, पुष्प आदिका रंग और रेखा द्वारा यथावत् पटपर चित्रण करना। अथवा, मूलके अनुकूल कृति अनुकरणका परिणाम है। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रोंमें भी। आचार्य भरतके अनुसार कलाका केन्द्र नाट्य है और नाट्यका सार अनुकरण है। संस्कृतपरम्पराके अनुसार 'अनुरणनं ध्वनि, अनुकरणं नाट्यम्।' प्लेटोके अनुसार भी कलाका सार अनुकरण है। सर्वमान्य न होते हुए भी इस मतमें इतनी सत्यता है ही कि प्रत्येक कलाकार प्रकृतिके प्रभावशाली रूपोंका स्वक्षेत्रमें अनुकरण करता है, यद्यपि कला प्रकृतिकी पूर्ण अनुकृति नहीं हो सकती। कलाकार प्रकृतिका क्रीडात्मक अनुकरण करता है। जैसे क्रीडा या रस-वृद्धिके प्रयोजनसे कवि द्वारा प्रपात, प्रवाह, आँधी आदिकी गतिका छन्दोंमें अनुकरण। —ह० ला० श०

अनुकरणात्मक लीला—दे०—'लीला'।

अनुकूल—'हेतु' अलंकारकी जातिका अर्थालंकार। जहाँ प्रतिकूल वस्तु अनुकूल कार्यकी जनक बन जाय। प्रतिष्ठापक विश्वनाथके अनुसार लक्षण है—'अनुकूलं प्रातिकूल्य-मनुकूलानुबन्धि चेत्' (सा० द० . १० . ६४)। उदा०—'हे तन्वि! यदि तुम नायकसे कुपित हो तो नखक्षत करके इसके कण्ठको अपने भुजपाशमें बाँध लो' (अनु०)। हिन्दीमें इसका विवेचन प्रायः नहीं हुआ है। —ओ० प्र०

अनुकूल पति—दे०—'नायक' (शृंगार)।

अनुकूला—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भानुने 'छन्दप्रभाकर' (पृ० १४६) में लक्षण दिया है: भगण, तगण, नगण और दो गुरुओंके योगसे यह वृत्त बनता है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'पावक पूज्यो समिध सुधारी। आहुत दीनी सब सुखकारी। दै तब कन्या बहु धन दीन्हों, भाँवरि पारि जगत जस लीन्हों।' (रा० चं० . ६ . ९)। —पु० शु०

अनुगुण—लोकन्यायमूलवर्ग तथा तद्गुणकी जातिका अर्थालंकार। दूसरेके सम्बन्धसे अपने पूर्वसिद्ध गुणका उत्कर्ष अनुगुण है। 'अनु'का अर्थ है 'समान' 'वैसा ही' आदि। तद्गुणमें स्वगुणका त्याग करके परगुणका ग्रहण होता है, पूर्वरूपमें परगुणको दूर करके पुनः स्वगुणको प्रकट किया जाता है, मीलितमें स्वगुण और परगुण अति सादृश्यके कारण मिल जाते हैं, अनुगुणमें परसम्बन्धसे स्वगुणका ही उत्कर्ष होता है। प्रतिष्ठापक जयदेवके अनुसार लक्षण है—'प्राक्सिद्धि स्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः' (चन्द्रालोक ५ : १०६)। अर्थात् दूसरेके सम्बन्धसे अपने पूर्वगुणका उत्कर्ष अनुगुण है। स्पष्टतः यह अलंकार संस्कृतमें बादमें विकसित हुआ है। 'साहित्यदर्पण'में भी नहीं है। हिन्दीमें 'चन्द्रालोक'के आधारपर लिखे गये जसवन्त सिंहके 'भाषा-भूषण'से यह अलंकार मिलता है। भूषणकी परिभाषा—'जहाँ औरके संगतें बढ़ै आपनो रंग' (शि० भू० : २९९) में जयदेवका भावानुवाद है। मतिराममें 'उमगन्ति सगति' कहकर स्पष्ट किया गया है, दास तथा पद्माकरने रंगके स्थानपर 'गुन' शब्दका प्रयोग किया है और दासने 'पूरन गुन सरसाइ' कहकर स्वगुणके उत्कर्षका उल्लेख किया है। और उदाहरण 'चन्द्रालोक'-से लिया है—'नील सरोज कटाच्छ लहि अधिक नील ह्वै जाइ।' (काव्यनिर्णय . १४)। भूषणका उदाहरण वैचित्र्य-पूर्ण है—'कज्जल कलित अँसुवानके उमंग संग, दूनो होत रोज रंग जमुनाके जलमें।' (शि० भू० : ३००)। उक्ति-वैचित्र्यके अनुकूल होनेसे विहारीने सुन्दर प्रयोग किया है। —ओ० प्र०

अनुग्रह—भक्तिधर्मका प्रधान आधार करुणामय भगवान्की असीम अहेतुकी कृपा है। सभी सम्प्रदायों और मतोंकी भक्ति-भावनामें भगवान्की कृपा या उनके अनुग्रहको विशेष मान्यता दी गयी है। परन्तु पुष्टिमार्गमें 'पोषणं तदनुग्रहः' (भागवत २ . १०) के आधारपर पोषण या पुष्टिको ही भगवान्की कृपा कहा गया है और इसे भक्तिके लिए इतना आवश्यक माना गया है कि इसी नामसे भक्ति सम्प्रदायका नाम रखा गया है। (दे०—'पुष्टिमार्ग')

अनुचितार्थ—दे०—'शब्द-दोष', छठा पद-दोष।

अनुत्तर—अनुत्तर बुद्धज्ञान या तत्त्वज्ञान है, जो शून्यता या करुणा, प्रज्ञा तथा उपायके एकात्मज्ञानका ही दूसरा नाम है। अनुत्तर उपलब्धिकी परम्परा सिद्धोंने योगाचार-से ग्रहण की। अनुत्तरका अर्थ है सर्वश्रेष्ठ, जिसके उपरान्त कुछ न हो, जो अशेष हो। योग तथा अनुत्तर उच्च स्तरकी अधिक कठिन साधनाएँ थीं जिनका अधिकार केवल ऐसे साधकोंको था जो स्वभावतः निःस्वभाव हो गये हों या जिन्होंने सहजस्वभाव या वज्रात्मक स्वभावको पूर्णतया आत्मसात् कर लिया हो। अनुत्तरमें आस्था रखनेवाले सिद्ध अन्य पद्धतियोंका तिरस्कार नहीं करते थे, केवल वे सहजस्वभावकी साधना लेनेवालेके लिए मन्त्र-तन्त्र आदिका कोई महत्त्व नहीं मानते थे। —ध० वी० भा०

अनुप्रास—एक शब्दालंकार, जिसमें वर्णों अर्थात् व्यंजनोंका साम्य हो। शब्दार्थ है, अनु—वर्णनीय रसके अनुकूल, प्र—प्रकर्ष या निकटता, आस—बार-बार रखा जाना, अर्थात् वर्णनीय रसकी अनुकूलताके अनुसार वर्णोंका बार-बार और पास-पास प्रयोग। इस अलंकारका सर्वप्रथम निश्चित उल्लेख भामहके 'काव्यालंकार'में मिलता है। रुद्रटने

'अविवक्षित स्वरव्यजनोंके अनेक बारके निरन्तर आवर्तन' को अनुप्रास कहा है (काव्यालंकार २ १८)। मम्मटका लक्षण बहुत सीधा है—'वर्णसाम्यमनुप्रास' (काव्यप्रकाश ९ ७९) अर्थात् वर्ण-साम्य अनुप्रास है। हिन्दीमें जसवन्त सिंहने 'भाषा-भूषण'में शब्दालंकारोंमें ६ अनुप्रास माने हैं, पर अनुप्रासका सामान्य लक्षण नहीं दिया है 'सबदालंकृत बहुत हैं, अच्छरके संजोग। अनुप्रास षट विध कहे, जे हैं भाषा जोग' (२०९)। संस्कृतमें विभिन्न अनुप्रासोंको स्वतन्त्र रूपसे विवेचित करनेकी परम्परा अधिक चली है, हिन्दीमें उसका अनुसरण हुआ। भूषणने अनुप्रासके भेदोंको अलग अलग लिया है। भिखारीदासने 'गुणों'की चर्चा करनेके बाद अनुप्रासका लक्षण दिया है—'गुन भूषन अनुमानिके अनुप्रास उर आनि' (काव्यनिर्णय १९)। अनुप्रास रसोंको विभूषित करनेवाले गुणोंके भूषण है और उनके अनुसार शब्दोंमें आदि अन्तके अक्षरोंकी आवृत्तिसे बनते हैं। आधुनिक विवेचकोंने अनुप्रासकी व्याख्या करके उसके भेदोंपर विचार किया है। प्रमुख स्वीकृत भेद छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, लाटानुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा पुनरुक्तवदाभास हे। (दे०—इन्हीं शब्दोंके अन्तर्गत)।

विभिन्न प्रकारके अनुप्रासोंका प्रयोग हिन्दी साहित्यमें प्राय सर्वमान्य रहा है। आदिकालमें रसकी अनुरूपताके लिए, भक्ति साहित्यमें सहज भावात्मक प्रवाहके साथ और रीतिकालीन परम्परामें चमत्कार और शाब्दिक वैचित्र्यके लिए इस अलंकारका प्रयोग किया गया है। विशेषता प्राप्त करनेवाले कवियोंमें केशव, भूषण, देव, दास, पद्माकर तथा रत्नाकर हैं। देवने अनुप्रासको 'रसपूर' माना है और उनके काव्यमें रसके अनुकूल ही इसका सुन्दर निर्वाह हुआ है। —र०

अनुप्रास जातियाँ—भोज (११ श० ई० पूर्व०) द्वारा निरूपित अनुप्रास जातिया या वृत्तियाँ नाट्यवृत्तियोंसे भिन्न है। वास्तवमें भोजकी अनुप्रास जातियाँ वर्णानुप्रासके भेद है। अनुप्रासका महत्त्व प्रकट करते हुए 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भोजने लिखा है-'यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमस यथा लावण्यमगनाम्। अनुप्रासस्तथा काव्यमलकर्तुमयं क्षम।' (अ० २. १२ २) अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमाको ज्योत्स्ना, कामिनीको लावण्य शोभित करता है, उसी प्रकार अनुप्रास काव्यको। अनुप्रासवृत्तिके सम्बन्धमें उनका विचार है कि अपने वर्गमें आवृत्ति होने और काव्यमें व्याप्त होनेसे वह सन्दर्भवृत्ति कहलाता है (२ १२ ३)। भोजने १२ अनुप्रासवृत्तियोंको माना है जो हैं—कार्णाटी, कौन्तली, कोकी, कौंकणी, वाणवासिका, द्राविडी, माथुरी, मात्सी, मागधी, ताम्रलिप्तिका, औड्री, पौड्री। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—कार्णाटी वर्णानुप्रासयुक्त होती है, इसमें कवर्गकी आवृत्ति रहती है। चवर्गके अनुप्रासयुक्त कौन्तली होती है। टवर्गके अनुप्राससे युक्त कौंकी, तवर्गके अनुप्रास युक्त कोंकणी, पवर्गके अनुप्राससे युक्त वाणवासिका, अन्तस्थ वर्णों अर्थात य र ल व के अनुप्राससे युक्त द्राविडी, ऊष्म वर्णों अर्थात् श ष स के अनुप्राससे युक्त माथुरी, दो-तीन वर्गोंके अनुप्राससे युक्त मात्सी, दो वर्गोंमेसे एक वर्गको विदर्भित अर्थात् विदर्भोंकी शोभासे युक्त करनेवाली वृत्ति मागधी, अपने वर्गके अन्त्यवर्णसे संयुक्त ताम्रलिप्ति, अपने रूपसौन्दर्यमे चित्तको सर्वस्वरूपसे हरण करनेवाली ओड्री तथा असरूप सयोगमे चित्तको ग्रथित करनेवाली पौड्री नामक वृत्ति होती है। —भ० मि०

अनुबोध—कभी-कभी 'अपरसेप्शन' और कभी-कभी 'कन्सेप्शन' के अर्थमें हिन्दीमें प्रयुक्त। ज्ञान-प्रक्रियामे सर्वप्रथम इन्द्रिय-संवेदना (सेन्सेशन) आती है। जैसे मैने लोहेके कवचको छूकर पाया कि यह शीत, कठोर, घन इत्यादि है। परन्तु काँचमें रखे लोहेके कवचसे भी वही इन्द्रिय-सवेदना मुझे क्योंकर हुई ? यह अनुबोध है। हार्नकी आवाज सुनकर मोटरकी उपस्थितिका अनुमान चाक्षुप प्रत्यक्ष नहीं है, वरन् एक प्रकारकी अनुमिति है—लेकिन कोरी कल्पना नहीं है। वास्तवका बोध भी उसमें है। इसे अनुबोध कहा जाता है। लेखक संकेतों द्वारा पाठकोंको यह अनुबोध देता है। नयी कवितामें 'इमेज' (बिम्ब) के सहारे यही 'कन्सेप्ट-पैटर्न्स' निर्मित किये जाते है। कई बार केवल ध्वनियोंसे यह क्रिया की जाती है। शैलीकी विख्यात 'स्काईलार्क', कवितामें उसके अज्ञात, अगम्य, अश्रुत गीतकी तुलना कई रूपायत्त उपमानोंके सहारे की गयी है। इस प्रकारकी ध्वनियों, सकेतपूर्वकी भावदशाको आधुनिक मनोविज्ञान केवल भावनात्मक नहीं मानता, वह निरी 'रागात्मक सवेदना' नहीं है। वह अनुबोध है अर्थात् इन्द्रिय-बोधके साथ-साथ जागनेवाला ज्ञानका प्रथम सोपान। कल्पना, विचार काजिटेशन, तर्क-प्रमेय लाजिकल थिंकिंग आदिके पूर्वकी अवस्था। —प्र० मा०

अनुभाव—भरतके द्वारा रसके तत्त्वोंमें स्वीकृत एक तत्त्व, निष्पत्तिके लिए विभावादिके साथ इसको उल्लेख सर्वमान्य रूपसे किया गया है, ('नाट्यशास्त्र' ६३१)। विश्वनाथने अनुभावोंको 'उद्बुद्ध कारणै स्वै स्वैर्बहिर्भाव प्रकाशयन्' अर्थात् आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणोंसे उत्पन्न भावोंको बाहर प्रकाशित करनेवाले कार्य अनुभाव कहे जाते हैं। (सा० द० ३ १३२)। देव उसीको इस प्रकार कहते है-'जिनको निरखत परस्पर रसको अनुभव होइ। इन्हींको अनुभाव पद कहत सयाने लोइ' (भाव० अनुभाव)। वाणी तथा अंग-संचालन आदिकी जिन क्रियाओंसे आलम्बन तथा उद्दीपन आदिके कारण आश्रयके हृदयमें जाग्रत भावोंका साक्षात्कार होता है, वह व्यापार 'अनुभाव' कहलाते है। इस रूपमे ये विकाररूप तथा भावोंके सूचक हे। भावोंकी सूचना देनेके कारण ये भावोंके अनु अर्थात् पश्चाद्वर्ती एव कार्यरूप माने जाते ह। वास्तविक पात्रके लिए कार्यरूप होनेपर भी सहृदयके विचारसे ये कारणरूप भी ह, क्योंकि इन्हीं अनुभावोंके सहारे ही वह पात्रोंके भावोंको जान पाता है। साहित्यदर्पणकारने कार्यरूप मानकर ही आलम्बन तथा उद्दीपन आदि कारणोंसे हृदयमें जाग्रत् रतिभावनाको बाहर प्रकाशित करनेवाले कार्य कहा है। उदाहरणत, एकान्त स्थलपर प्रियतमको पाकर मनमें रतिका अनुभव करते हुए नायिकाका उसकी ओर कटाक्षपात करना, सकेतमे उसे बुलाना, रोमान्वित

हो जाना, सावधानीके लिए इधर-उधर देखना आदि इसके व्यापार अनुभाव कहलायेंगे। प्रत्येक रसके विचार-से यह अनुभाव भी पृथक्-पृथक् होते हैं।

इनकी संख्या निश्चित नहीं की जा सकती। तथापि इनके कायिक, मानसिक, आहार्य, वाचिक एवं सात्त्विक नामक भेद किये गये हैं। इन्हें शिंगभूपाल तथा शारदातनयने क्रमशः गात्रारम्भानुभाव, मन या चित्तारम्भानुभाव, बुद्ध्यारम्भानुभाव तथा वागारम्भानुभाव नाम दिया है और सात्त्विकोंका भावसे अन्तर्गत पृथक् रूपसे वर्णन किया है। इनमें भी कायिक तथा मानसिक अनुभावों (दे०-'सात्त्विक अलंकार') के अंगज, अयत्नज तथा स्वभावज नामक भेद किये गये हैं। इनका केवल नायिकासे सम्बन्ध बताया गया है। इसी कारण रूपगोस्वामी आदिने इन्हें अलंकारकी संज्ञा दी है। इन अलंकारोंके अतिरिक्त रूपगोस्वामीने उद्भास्वर तथा वाचिक दो अन्य भेदोंका उल्लेख किया है, जिनमें उद्भास्वरके अन्तर्गत नीवी-स्रंसन, उत्तरीय-स्रंसन, धम्मिल-वेणी-स्रंसन, शरीरका ऐंठना या अंगभंगीपूर्वक काम प्रदर्शित करना, जृम्भा तथा नाक फुलाना गिनाये गये। जृम्भाको भानुदत्त तथा हिन्दी आचार्योंने सात्त्विक माना है। वाचिकको वागारम्भानुभाव ही कहना चाहिये। इनके अन्तर्गत आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश तथा व्यपदेश नामक बारह अनुभाव माने गये हैं, जिन्हें भानुदत्त, शिंगभूपाल तथा शारदातनयने स्वीकार किया है। चाटूक्ति आलाप, दुःखमय वचन विलाप, निरर्थक बकना प्रलाप, बार-बार कहना अनुलाप, पहले कहे हुएका अन्य अर्थमें प्रयोग अपलाप, समाचार भेजना सन्देश, प्रस्तुत वस्तुको अन्य अभिधेयसे सूचना देना अतिदेश, अपने सम्बन्धमें 'वह यह मैं हूँ' कहकर समझाना निर्देश, शिक्षा देना उपदेश, 'मैंने या उसने इस प्रकार कहा' ऐसा कहना अपदेश तथा व्याजपूर्वक आत्माभिलाप प्रकट करना व्यपदेश कहलाता है।

हिन्दी-साहित्यमें मुख्यतः रीतिकालमें, शृंगारिक काव्य तथा लक्षणग्रन्थोंमें सभी प्रकारके अनुभावोंका वर्णन करनेकी परिपाटी रही है। पूर्वमध्यकालमें भी विद्यापति, जायसी तथा सूरमें इनका निर्वाह हुआ था, किन्तु आधुनिक कालमें इनका प्रयोग प्राचीन ढंगके भारतेन्दु अथवा रत्नाकर जैसे कवियोंके काव्योंमें ही थोड़ा-बहुत होता रहा और हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, गुरुभक्त सिंह 'भक्त' आदिके प्रबन्ध-काव्योंमें इनमेंसे कतिपय अनुभाव दीख पड़े, किन्तु मुक्तकोंमें यह परम्परा बन्द हो गयी। आधुनिक कालके उक्त सभी कवियोंमें इनका स्वतन्त्र निर्वाह ही विशेष रूपसे हुआ है, परम्परा-मात्रके पालनकी चेष्टा अथवा लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करनेके लिए नहीं। नायिकाके अलंकारोंमें भी कुट्टमित, विब्बोक तथा इस प्रकारके अन्य अलंकारोंका प्रयोग आधुनिक काव्यकी पृष्ठभूमिमें नहीं आ सका।

कायिक अनुभाव-प्रायः 'तनकी कृत्रिम चेष्टा' (भानु रसरत्नाकर पृ० ७८)को 'कायिक' माना गया है। भिन्न-भिन्न मनोभावोंके अनुसार कटाक्षपात, मुट्ठी बाँधना, भृकुटि-भंग आदि आंगिक क्रियाओंको इसके अन्तर्गत माना गया है। तुलसी तथा सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा अंकित निम्न पंक्तियोंमें कायिक अनुभावोंका सुन्दर निर्वाह हुआ है—'बहुरि बदन बिधु अंचल ढाकी, प्रियतन चितै भौंह करि बाँकी। खंजन मंजु तिरीछे नयननि, निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि।' (रा० च० मा० २ । ११७) 'एक पल मेरे प्रियाके दृग पलक, थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे। चपलताने इस विकम्पित पुलकसे, दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।' (ज्योत्स्ना)।

मानसिक अनुभाव-प्रायः 'मन सम्भव मोदादि कहँ' (भानु० रस० पृ० ७८) इसके अन्तर्गत माना गया है। अन्तःकरणकी भावनाके अनुकूल मनमें हर्ष-विषाद आदिके उद्वेलनको मानसिक अनुभाव कहते हैं। पन्तकी इन पंक्तियोंमें इसका निर्वाह है—'नाथ, कह अतिशय मधुरतासे दबे, सरस स्वरमें, सुमुखि थी सकुचा गयी। उस अनूठे सूत्रमें ही हृदयके भाव सारे भर दिये, तावीज-से।' (ज्योत्स्ना)।

आहार्य अनुभाव-मनमें जब जैसा भाव उत्पन्न हो, उसके अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकारकी कृत्रिम वेश-रचना करनेको आहार्य अनुभाव कहते हैं। श्रीधरकी नायिकाकी वेश-रचनाका वर्णन इस प्रकार है—'स्याम रंग धारि पुनि बाँसुरी सुधारि कर, पीन पट धारि बानी मधुर सुनावेगी। जरकसी पाग अनुराग भरि सीस बाँधि, कुण्डल किरीट हरी छवि दरसावेगी।' —आ० प्र० दी०

अनुभूति-अंग्रेजीमें अनुभूतिका व्यापक प्रयोग हुआ है। कभी इसे चेतना (consciousness) के अर्थमें ग्रहण किया है, कभी अनुभव (experience) के। मनोविज्ञानमें 'feeling' या mental experience के रूपमें इसे मानस-अनुभव स्वीकार किया गया है। मनोविज्ञानके अनुसार यह एक आन्तरिक क्रिया है, जो बाह्य परिणाम उत्पन्न नहीं करती। मैक्डूगल तथा भगवान्दास इसके केवल सुखदुःखात्मक नामक दो प्रकार मानते हैं। मैक्डूगलने क्रमशः हर्ष, विषाद, क्लेश, निराशा, विस्मय, खेद, पश्चात्ताप विश्वास, आशा, औत्सुक्य, चिन्ता तथा औदासीन्यको अनुभूतियोंमें रखकर भी इन्हें desived emotion या व्युत्पन्न मनोविकार भी कहा है। वुंटवर्थ सुख-दुःखात्मक श्रेणीभेदको अव्यापक और अपूर्ण मानते हैं, क्योंकि उल्लास और विनोद सुखात्मक होकर भी एक ही मात्राके नहीं हैं, न पर्यायवाची हो सकते हैं। इसी प्रकार भय और अरुचिकी स्थिति है। आवेश सुखात्मक भी हो सकता है और दुःखात्मक भी। अनुभूतियोंकी अत्यन्त सुख या दुःखकर स्थितिसे न्यूनतम सुख या दुःखकर स्थितियोंका विचार करके वुंट महोदयने इनकी तीन सीमाएँ, या आयाम (dimensions) स्वीकार किये हैं—(१) सुखात्मक-दुःखात्मक, (२) अशान्ति-जड़ता, (३) आतति (tenseness) और मुक्ति (release)। वुडवर्थने अजनकंपन और उत्सुकताको भी अनुभूतिकी एक दिशा माना है। मनोविज्ञानीका कथन है कि बाह्यपरिणामहीन होनेपर भी यह बहुधा चेष्टित प्रवृत्ति (motor tend-

ency) से सम्बद्ध रहती है, जैसे—दु:खकर वस्तुसे छुटकारा पानेका कार्य उसे देखते ही आरम्भ हो जाता है या सुखकर अनुभूतिको यथावत् बनाये रखनेका प्रयत्न होता है। बाहरसे शान्त रहकर भी हम आन्तरिक रूपसे अवश्य विचलित हो जाते हैं।

साहित्य-क्षेत्रमें कई प्रकारकी अनुभूतियोंका वर्णन हुआ है। यथा–(१) काव्यानुभूति, (२) रसानुभूति, (३) भावानुभूति, (४) प्रातिभ अनुभूति, (५) विलक्षण अनुभूति, (६) रहस्यानुभूति, (७) दिव्यानुभूति, (८) लौकिक अनुभूति, (९) प्रत्यक्षानुभूति, (१०) समानुभूति, (११) सहानुभूति एवं सौन्दर्यानुभूति। काव्यानुभूति प्रत्यक्ष अथवा लौकिक अनुभूतिसे भिन्न प्रभाववाली वह अनुभूति है जिसमें लोकमें प्रत्यक्ष रूपसे अनुभूत सुख-दु:ख भी काव्यपाठ या श्रवण-दर्शनके समय केवल सुखमय अनुभूति उत्पन्न करते हैं। लोकमें प्रत्यक्ष रूपसे अनुभूत सुख-दु:खात्मक प्रेम, करुणा, क्रोध, घृणा आदिका काव्यमें सुखात्मक या लोक-भिन्न व्यक्ति-सम्बन्ध-शून्य प्रभाव ही काव्यानुभूतिकी पृथक्ताका कारण है। इससे रसानुभूतिसे पृथक् करनेकी ओर कुछ लोग प्रवृत्त हुए हैं और काव्यानुभूतिको केवल कविसे तथा रसानुभूतिको दर्शक, पाठक या श्रोतासे सम्बद्ध मानते हैं। रसानुभूतिको विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भावके संयोगसे निष्पन्न रसकी एक प्रकारकी विलक्षण अनुभूति या प्रतीति माना गया है, जिसमें साधारणीकरण व्यापारके द्वारा ममत्व-परत्वका नाश होकर विघ्न-विनिर्मुक्त दशामें ऐसी आत्म-विश्रान्तिका लाभ होता है, जिसे ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जा सकता है। यह दशा सत्त्व-सम्पन्न अवस्था है और शुद्ध आनन्दात्मक है। इसमें करुण आदि दु:खात्मक स्थिति भी रसरूप या आनन्दात्मक प्रतीत होती है। श्री रामचन्द्र गुणचन्द्रने 'नाट्यदर्पण'में केवल सुखात्मक रसानुभूतिका विरोध किया है और उसे सुख-दु:खात्मक दोनों प्रकारका माना है। रामचद्र शुक्ल भी इसी मतको मानते हैं, तथापि विश्वनाथ कविराज, भोजराज प्रभृति अनेकानेक विद्वानोंने रसज्ञको ही प्रमाण मानकर रसानुभूतिको सुखात्मकमात्र माना है और इसी कारण उसे विलक्षण कहा गया है। रसानुभूतिमें जिस आत्मविश्रान्ति और तल्लीनताका अनुभव होता है उसके स्थानपर काव्य-पाठादिके समय जब हमें केवल किसी भाव-विशेषका ज्ञान या अनुभव होता है और विभावादिके द्वारा उसकी रसात्मक दशामें पुष्टि नहीं होती तब उस दशाको भावानुभूतिकी दशा कहते हैं। काव्यके सम्बन्धमें समानुभूतिका भी प्रयोग होता है जिसे भाव-तादात्म्य कहते हैं। अंग्रेजीमें इसे empathy या टिचनरके शब्दोंमें infeeling कहेंगे। इसीके साथ एक शब्द सहानुभूति या sympathy प्रचलित है। वस्तुत सहानुभूति दूसरे व्यक्तिके साथ उसके दु:ख-सुखमें अपनेको सुखी या दु:खी अनुभव करते हुए भी सहायतार्थ व्यवहारका अनुभव भी बना रहता है, अर्थात् सहानुभूति-कर्ता सुखी या दु:खी व्यक्तिकी आवश्यकतानुसार सहायता करनेकी इच्छा रखता एवं चेष्टा करता है। इसके विपरीत भाव-तादात्म्य या सहानुभूतिकी दशामें किसी व्यक्ति या वस्तुके भावोंसे हमारी अभिन्नता स्थापित हो जाती है, हम उसके अन्तरमें पैठकर वही अनुभव करने लगते हैं जो वह कर रहा है। मनोवैज्ञानिकोंने भी काव्यमें इस भाव-तादात्म्यको स्वीकार किया है। अंग्रेजी लेखकोंमें वुटवर्थ, ए० ई० मेण्डर, फ्रीन्फेल्स, टालस्टाय, टाउने, ऐशले ड्यूक्स आदिने भाव-तादात्म्यको काव्यानुभूतिके लिए आवश्यक माना है। संस्कृतमें सबसे पहले विश्वनाथ कविराजने रसानुभूतिके सम्बन्धमें तादात्म्यका उल्लेख किया है, जिसके आधारपर हिन्दीमें रामचन्द्र शुक्लने आलम्बनका साधारणीकरण तथा आश्रयके साथ सहृदयका तादात्म्यका सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनका विचार था कि सहृदयको आश्रयके साथ भाव-तादात्म्य हो जानेपर ही वास्तविक रसदशा उपस्थित होती है एवं जहाँ आश्रयके साथ तादात्म्य नहीं हो पाता वहाँ कविके भावोंके साथ तादात्म्य होता है। कभी-कभी कवि ही वास्तविक आश्रय होता है। जैसे, प्रकृतिवर्णनके समय। किन्तु आश्रय तो क्रूर और दुश्चरित्र पात्र भी हो सकता है या वह स्त्री-पुरुष आदिमेंसे कोई हो सकता है, ऐसी स्थितिमें सच्चरित्र, विरोधी वय अथवा भिन्न स्तरका सहृदय उनसे कैसे तादात्म्य कर सकेगा, इस प्रश्नको लेकर आश्रयके साथ तादात्म्यका विरोध किया गया है। —आ० प्र० दी०

अनुमान—तर्कन्यायमूलक अर्थालंकार, जिसमें कवि-कल्पित साधन द्वारा साध्यका चमत्कारपूर्वक बोध कराया जाता है। इस अलंकारका उल्लेख रुद्रटसे प्राप्त होता है। मम्मटके अनुसार—'अनुमानं तदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वच' (का०प्र० १० ११७) अर्थात् जिसमें साध्य-साधनके भावरूपमें किसी अर्थका प्रतिपादन किया जाय। विश्वनाथ इसीको अधिक स्पष्ट करते हैं कि यह सौन्दर्यके साथ कहा जाना चाहिये, 'अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्' (सा०द० १० ६३)।

'अनुमान' शब्द 'अनुमिति'का विकसित रूप है। 'अनु'का अर्थ है 'लक्षण', 'मिति'का अर्थ है 'ज्ञान'। अनुमान शब्द न्यायशास्त्रका है, पर काव्यमें इसका भिन्न अर्थमें प्रयोग हुआ है। अत अनुमानसे अभिप्राय है 'चिह्न द्वारा किसी वस्तुका ज्ञान किया जाना'। अनुमान अलंकारमें साधन द्वारा साध्यकी प्रतीति होती है। जो वस्तु सिद्ध की जाय, उसे साध्य और जिसके द्वारा वह सिद्ध की जाती है, उसे 'साधन' कहते हैं। जैसे धुएँसे अग्निके अस्तित्वका ज्ञान होता है। जहाँ धुआँ हो वहाँ अग्नि भी अवश्य होगी। 'धुआँ' यहाँ साधन अथवा 'चिह्न' है और 'अग्नि' साध्य है। अनुमान अलंकारमें साधन 'ज्ञापक कारण' होता है।

हिन्दीमें बहुतसे प्रमुख आचार्योंने इसपर विचार नहीं किया है। विवेचन करनेवालोंमें चिन्तामणि, सोमदेव तथा कुलपति प्रधान हैं। भूषणका 'अनुमान'का लक्षण 'जहाँ काजतें हेतकै जहा हेतत काज' (शि० भू० ३५१) स्पष्ट नहीं है। चिन्तामणिने 'कविकुल-कल्पतरु'में अनुमान अलंकारका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'जुरे साध्य साधन कठिन सो बरनत अनुमान।

तर्क न्यायमूलक सुनो, अलंकार अज्ञान।'

चिन्तामणिका उदाहरण मम्मट और विश्वनाथका भावानुवाद है—'भोह भाव जहँ तिय करैं, तहाँ परनि हैं बान। इनके आगे स्मर मदन, लीन्हें वान कमान।' (कवि-कुल-कल्पतरु) इसमें 'कामदेवका स्त्रियोंके आज्ञाकारी होना' साध्य है जिसकी सिद्धि 'स्त्रियोंका कटाक्षपात जहाँ-जहाँ होता है वहीं कामदेव अपने बाण छोड़ता है' इस बातसे (जो कवि-कल्पित साधनरूपमें प्रस्तुत है) होती है। कन्हैयालाल पोद्दारने ग्वालका उदाहरण प्रस्तुत किया है—'यातें मेरे नैन खरे लोहसे हैं काहेतें कि, खैंचि लेत प्यारी चख चुम्बक तिहारे यों' (अ० म० से)।

यद्यपि उत्प्रेक्षामें भी अनुमानके समान 'मानो', 'जानो' आदि वाचक शब्दों द्वारा साध्यकी सूचना दी जाती है, पर उत्प्रेक्षामें उपमेयमें उपमानके साध्यको सम्भावना अनिश्चित होती है अनुमानमें इस साध्य भावके बिना साध्यको साधन द्वारा निश्चित रूपसे सिद्ध किया जाता है। इसी प्रकार काव्यलिंगमें कारण वास्तविक होता है (कारक) और अनुमानमें सूचक मात्र। —वि० स्ना०

अनुमानवाद—दे०—'रसनिष्पत्ति', दूसरा सिद्धान्त।

अनुमानात्मक आलोचना-प्रणाली—अभिधात्मक अर्थमें इस शब्दका अंग्रेजी समानार्थी शब्द होगा 'हायपाथेटिकल'। परन्तु, प्रस्तुत प्रणाली हिन्दीमें अँग्रेजीके 'इण्डक्टिव क्रिटिसिज्म'की समानार्थीके रूपमें स्वीकृत है।

अँग्रेजीका 'इण्डक्टिव' शब्द 'इण्ड्यूस'से बना है, जिसका अर्थ होता है—आगमन करना, व्याप्ति साधना, उत्पन्न करना आदि।

इस दृष्टिसे प्रस्तुत शब्द वस्तुतः इण्ड्यूसका समानार्थी नहीं दीखता। उपयुक्त शब्द हो सकता है आगमनात्मक, जो कि आगमनसे बना है और जिसका अर्थ होता है, प्राप्ति, उत्पत्ति आदि। अनुमान शब्द निश्चय ही अँग्रेजीके इण्ड्यूस शब्दसे दूर है, किन्तु यह शब्द अपने रूढ़ अर्थको छोड़कर अँग्रेजीके इण्ड्यूसका समानार्थी बन बैठा है। अनेक विद्वानोंने इसके लिए भिन्न-भिन्न शब्दों-का प्रयोग किया है, जैसे व्याख्यात्मक, आगमनात्मक अथवा विग्रहात्मक आदि।

पाश्चात्य आलोचना-शास्त्रियोंने आलोचनाकी रीति-को मुख्यतः दो भागोंमें विभाजित किया है—'इण्डक्टिव क्रिटिसिज्म' तथा 'जुडीशियल क्रिटिसिज्म', जिसको हम अनुमानात्मक आलोचना और निर्णयात्मक आलोचनाके नामसे अभिहित करते हैं। निर्णयात्मक आलोचनापद्धतिमें आलोचक कुछ सूत्रोंका सहारा लेकर अपना निर्णय कायम करता है। वह नियमों तथा तर्कोंके सहारे कुछको श्रेष्ठ तथा कुछको अश्रेष्ठ मानता है, परन्तु अनुमानात्मक पद्धतिका आलोचक कृतिका केवल वैज्ञानिक परीक्षण करता है और अन्ततः उन्हें एक व्यवस्था देता है। इस पद्धतिका आलोचक आलोच्य वस्तुसे ही आलोचनाका मापदण्ड निकालता है। कविकी सफलता किन्हीं बाहरसे आरोपित सिद्धान्तों तथा मानों द्वारा नहीं आँकता, अपितु वह उसके उद्देश्यको समझनेकी चेष्टा करता है।

इस आलोचना-प्रणालीका जन्म रूढ़िवादी आलोचना-के विरुद्ध हुआ। अरस्तू, होरेस आदि ग्रीक आलोचकोंके कथित वाक्योंको ही एक लम्बे अरसेतक आलोचकोंने एक-मात्र सत्यके रूपमें ग्रहण किया। इस बातपर ध्यान नहीं दिया गया कि साहित्य जीवनकी ही तरह गतिशील है। फलतः शेक्सपियर जैसे महान् साहित्यकारतकको पागल करार दिया गया, शेक्सपियरके पात्रोंको अस्वाभाविक उपहास्य सिद्ध किया गया, उसकी भाषा एवं शब्द-योजनाको तुच्छ एवं हेय माना गया।

जर्मनके तत्त्ववेत्ताओंने कलाकी परिभाषा बड़ी सूक्ष्मता और व्यंजनासे की। इंग्लैण्टमें इसका प्रचार कार्लाइलने किया। वाल्टर पेटरने इस पद्धतिका समर्थन करते हुए तीन बातोंपर बल दिया, कवि या चित्रकारकी विशेषतासे परिवर्तन होना, तटस्थ होकर परीक्षण, तब व्यवस्थापन।

कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि संस्कृत साहित्यमें प्रस्तुत आलोचनापद्धतिकी छाया भी नहीं देखी जा सकती। तर्क यह है कि वह युग आदर्शका युग था, प्रयोजनकी सीमाओंमें प्रत्येक कार्यको घेर लिया गया, इसीलिए उस युगमें यथातथ्य रूप गृहीत नहीं होता था। पर लक्ष्य करनेकी बात है कि साहित्य-शास्त्रका निर्माण साहित्यको व्यवस्था देनेके लिए ही होता है। 'काव्य-मीमांसा'के लेखक राजशेखरका कहना है कि कविके सर्जनका भावयित्री प्रतिभा द्वारा रसास्वादन करनेवाला भावक होता है और वही वास्तवमें आलोचक होता है। भरतमुनिसे लेकर राजशेखरतककी समस्त संस्कृत आलोचनाएँ उपर्युक्त कथनको चरितार्थ करती हैं। संस्कृतके आचार्योंने इस दृष्टिसे साहित्य-शास्त्रका निर्माण कभी नहीं किया होगा कि साहित्यकी वेगवती धारा उन्हीं नियमों और व्यवस्थाओंके कगारोंसे होकर बहे। उनका उद्देश्य तो सहज साहित्यका वैज्ञानिक अध्ययन, विश्लेषण और वर्गीकरण तथा व्यवस्थापन था।

हिन्दीमें पूर्वभारतेन्दु-युगसे इस आलोचनापद्धतिकी झलक पायी जा सकेगी, क्योंकि उस युगकी आलोचनाको पुस्तक-परिचयवाली शैली कहा जाता है। भारतेन्दु-युगमें भी व्याख्या ही आलोचनाका मुख्य लक्ष्य था।

द्विवेदी-युग शास्त्रीय युग था। अतः उस युगकी आलोचनाका मुख्य आधार था संस्कृतका रीतिसम्प्रदाय।

अनुमानात्मक आलोचनापद्धतिका स्पष्ट रूप वस्तुतः छायावाद-कालमें देखा जा सकेगा। द्विवेदीजी तथा शुक्लजी जैसे आलोचकोंके समक्ष छायावादको सर्वथा प्रतिकूल परिस्थितियोंमें खड़ा होना पड़ा। फलतः छायावादके समर्थनमें जो कुछ भी लिखा गया वह छायावादके वैज्ञानिक परीक्षण, विश्लेषण, वर्गीकरण तथा व्यवस्थापनकी दृष्टिसे लिखा गया। इनमें नन्ददुलारे वाजपेयी, विश्वम्भर-नाथ मानव तथा गंगाप्रसाद पाण्डेय, महादेवी वर्मा, प्रसाद पन्त, निराला आदिका नाम लिया जा सकेगा।

इन लोगोंका मुख्य उद्देश्य था—छायावादका तात्त्विक तथा साहित्यिक विश्लेषण। इसलिए इन लोगोंने रूढ़ और परम्परा-युक्त शैलीमें रस, अलंकार आदिके उदा-हरण न ढूँढ़कर सूक्ष्म सौन्दर्य और काव्यगत सौष्ठवको देखनेका प्रयत्न किया। नन्ददुलारे वाजपेयी अपनी

पुस्तक 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी'में लिखते है–"काव्यका महत्त्व तो काव्यके अन्तर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तुमें नहीं।"

अति आधुनिक युगमें प्रगतिवादी मान्यताओंके प्रतिष्ठानके लिए लिखी गयी समस्त आलोचनाएँ इसी रीतिके अन्तर्गत आती हैं। शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त और अमृतराय आदि इसी धाराके अन्तर्गत आयेंगे। —रा० कु० सु०

अनुमित अद्भुत–दे०–'अद्भुत रस'।

अनुमितिवाद–दे०–'रसनिष्पत्ति,' पर्याय अनुमानवाद।

अनुवाद अयुक्त–दे०–'अर्थ-दोष,' तेईसवाँ।

अनुशयाना (नायिका)–परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद। विशेषके लिए देखें–'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्तने इसे लिया है। अनुशयका अर्थ है खेद, दुख तथा पश्चात्ताप। अनुशयानाका अर्थ हुआ खेद अथवा दुख करनेवाली अर्थात् जो परकीया अपने प्रियसे मिलन-स्थान अथवा अवसरके नष्ट होनेसे दुखित होती है। **प्रथम अनुशयाना**–भानुदत्तने 'वर्तमानस्थानविघटन' के कारण इस नायिकाको माना है, अर्थात् मिलनस्थानको नष्ट होते देखकर दुखित होनेवाली नायिका। मतिरामने 'केलि करे जेंह कतसौं सो थल मिट्यो निहारि' जो 'सोच करै वर नारि', उसे माना है। (रसराज : ८५)। राधाके मनका अनुताप यमुनाको देखकर बढ रहा है–'नागरिके नैननितें नीरको प्रवाहबढ्यौ, देखत प्रवाह बाढ्यौ जमुनाके नीरको। (रसराज ८७)। ऋतुका प्रभाव ऐसा ही मनको क्लेश पहुँचानेवाला है–'ग्रीषम दवत दवरिया कुज कुटीर। तिमि-तिमि तकत तरुनिअहिं बाढी पीर।' (बरवै० २१)। **द्वितीय अनुशयाना**–भानुदत्तने इसे भावी 'स्थानभावशकया' दुखिता नायिका माना है। मिलनके भावी संकेतस्थलके लिए चिन्ताकुल परकीयाको द्वितीय अनुशयाना कहा गया है। मतिराम उसे ('होन-हार संकेतको जेंह अभाव उर आनि') हृदयमें अत्यन्त दुखित होनेवाली कहते हैं। पद्माकरने भी लगभग इन्हीं शब्दोंका प्रयोग किया है। रहीमने परकीयाको सान्त्वना देनेके बहाने उसकी भविष्योन्मुखी चिन्ताकी व्यजना भी की है–'जनि मरु होय दुलहिया करि मन ऊन। मघन कुज ससुररिया वो घर सून।' (बरवै० : १९)। मतिरामकी नायिकाको भी इसी प्रकारकी सान्त्वना दी जा रही है–'केलि करैं मधुमत्त जेंह घन मधुपनके पुज। सोच न कर तुव आसरे सखी सघन घन कुज।' (रसराज ९०)। **तृतीय अनुशयाना**–भानुदत्तके अनुसार 'स्वानधिष्ठित सकेत' स्थानपर न पहुँच पानेपर दुखी होनवाली नायिका। मतिराम तथा पद्माकर आदिने किंचित् विस्तारमे कहा है 'जो तिय सुरत मकेतको रमन गमन अनुमान' कर (व्याकुल) होती है अथवा पछताती है वह ऐसी नायिका होती है। रहीमने सहज अकन किया है 'मितवा करत बसुरिया सुमन सुपात। फिरि-फिरि करति तरुनियाँ मन पछतात'। (बरवै० २२)। अनुकूल परिस्थितिमें उसकी विवशताका सुन्दर चित्रण रीतिकाव्यमें किया गया है–'साझ समै मतिराम कामवस बंसीधर, बंसीवट तट पै बजायी जाय बाँसुरी। ताप चढि आयो तन पीरी परिआयी मुख, आँखिनके ऊपर उमगि आये आँसु री।' (रसराज ९०)।

अनुष्टुप्–पिंगलाचार्यने अष्टाक्षर चतुष्पादको अनुष्टुप् छन्द माना है (पिं० सू० ३ २३)। इस वर्णिक मुक्त छन्दमें आठ-आठ अक्षरोंके चार खण्ड होते हैं। समस्त अष्टकोंका पंचम अक्षर, दूसरे-चौथे अष्टकका सातवा अक्षर लघु होता है और छठा अक्षर समस्त अष्टकोंका लघु होता है, एव पहले, तीसरे अष्टकका सातवाँ अक्षर दीर्घ होता है। नारायणभट्टने प्रथम और तृतीय अष्टकके आदिमे नगण और सगणका निषेध किया है और प्रथम एव तृतीय अष्टकमें ४ वर्णोंके बाद यगणका विधान किया है और दूसरे-चौथे अष्टकमें पहले अक्षरके बाद, रगणका निषेध किया है। इस छन्दका प्रयोग गुप्तजीने (पत्रावली पृ० ३), साकेत (पृ० २३१, नवम सर्ग पृ० २६७ दशम सर्ग) एव सियारामशरण गुप्तने (गीता-रहस्यमें आद्योपान्त) किया है। उदा०–'भिन्न भी भावभगीमें, भाती है रूप सम्पदा। फूल धूल उडाके भी, आमोदप्रद है सदा' (साकेत, नवम सर्ग पृ० २३१)। —पु० शु०

अनुज्ञा–विरोध-मूलक विशेषालकार। भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट और वामनका परवर्ती है। इनके पश्चात् रुद्रट (काव्यालकार ९।५), मम्मट (का० प्र० १०।१३५-३६) और रुय्यक (अलकारसर्वस्व, पृ० १७१)में इसका उल्लेख है। मम्मटकी 'बालबोधिनी' और 'नागेश्वरी' व्याख्याओंमें बताया गया है कि दोषपूर्ण वस्तुमे भी गुणको देखकर उस दूषित वस्तुकी इच्छा करनेपर भी विशेष अलंकार होता है (नागेश्वरी पृ० २९४) यथा–'विपद सन्तु न शश्वद् यासु सकीर्त्यते हरि' अर्थात् हमारे ऊपर विपत्तियाँ ही आयें, जिसमे हम भगवद्भजन तो करें। पर 'कुवलयानन्द'में इसको विशेषान्तर्गत न मानकर इसको एक नया नाम अनुज्ञा देकर परिभाषा की गयी है। नागेश्वरी टीकाकी परिभाषा एव उदाहरण कारिकामें दिया है (कुवलयानन्द, ७१)। अप्पय दीक्षितने अपनी ओरसे भी दो उदाहरण दिये हैं। यथा–'मय्येव जीर्णता यातु यत्त्वयोपकृतं हरे! नर प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकाक्षति,' अर्थात् 'है तेरो उपकार कपि, जीरन मो तन माँहि। इच्छुक प्रत्युपकारके विपदा चाहत ताहि।' (अ० म०) यहाँ प्रत्युपकार न करने रूप दोषकी इच्छाका वर्णन है।

अनुज्ञा अलकारका उल्लेख 'चन्द्रालोक'में भी नहीं है। हिन्दीके आचार्योंने 'कुवलयानन्द'से इसे ग्रहण किया है–'जहाँ सरस गुन देखि कै, करै दोमकी होस' (शि० भू०, २८३) अथवा–'दोषौमें गुन देखिये' (भा० भि० १४)। उदा०–'मैं तो भई मनमोहनको मुखचन्द लखें बिन मोलकी दासी।' (ल० ल० ३२०) अथवा–'बेपारी जहाजके न राजा भारी राजके, भिखारी हमें कीजे महाराज सिवराजके।' (शि० भू० २८४)। —ज० कि० ब०

अनुसंधानात्मक आलोचना–अनुसन्धानात्मक आलोचना प्रणालीकी दृष्टि साहित्यिककी अपेक्षा ऐतिहासिक और प्रामाणिक होनेमे विश्वास करती है। कृति और

रचनाकारके मन्तव्योंके अतिरिक्त आधारोंपर विशेष आग्रह होनेके कारण भी साहित्यिक और भावात्मक विश्लेषणकी ओर इनका ध्यान न जाकर रचना और रचनाकारके विभिन्न सदर्भोंकी ओर इनका ध्यान अधिक जाता है। इसी सन्दर्भकी खोजमें वे उनके ऐतिहासिक तथ्य और प्रतिपादित सत्य दोनोंकी तुलना करते हुए प्रामाणिकता एवम् ऐतिहासिकतापर विशेष बल देने लगते हैं। रचनाकारके समकालीन प्रकाशित-अप्रकाशित लेखों तथा रचनाके अतिरिक्त उसके जीवनवृत्त एव जीवनघटनाओंके माध्यमसे मूलकी खोज और उनकी विवेचना करना इनका मुख्य उद्देश्य होता है। कभी-कभी ऐतिहासिकताके आधारपर इस पद्धतिके आलोचक साहित्यिक रचनाकी विशेष गतिविधिके जाननेमें पत्रों, वक्तव्यों और अन्य सामग्रीका भी सहारा लेते हैं। जिन आधारोंका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बिम्ब, अथवा जिन विचारोंका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव, अथवा जिन सम्पर्कोंमें रचनाकारकी अनुभूतियाँ पकीं और सिझीं, उन सबका महत्त्व अनुसन्धानात्मक आलोचना-प्रणालीके माननेवालोंके लिए होता है। बहुधा रचनाकारके समकालीन साहित्यकारोंकी रचनाओं एव उद्धरणोंसे भी रचना-विशेषका मूल्याकन करना इस प्रणालीके आलोचकके लिए अवश्यभावी हो जाता है।

अनुसन्धानात्मक प्रणालीकी विशेषताओंको निम्नलिखित वर्गोंमें अकित किया जा सकता है—(१) यह कि पर्याप्त तथ्योंके आधारपर ही किसी भी रचनाके सम्बन्धमें निष्पक्ष होकर विवेचन करनेकी सम्भावनाको प्रोत्साहन मिलता है और अन्यथा रूपमें अतिवादी प्रशसात्मक अथवा अतिवादी विरोधात्मक धारणाएँ बनानेकी सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। दूसरे शब्दोंमें एक वस्तुपरक दृष्टिसे रचनाका विवेचन किया जाना अधिक सम्भव हो जाता है और अनावश्यक पूर्वग्रहोंकी सम्भावना नष्ट होने लगती है। (२) यह कि सन्दर्भके अध्ययनसे रचनाके विभिन्न सकेत-स्थल, बिम्ब, प्रतीक, इत्यादि भी अपना उचित अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। सन्दर्भके अज्ञानमें अनेक व्यजनाएँ केवल अर्थहीन-सी लगने लगती हैं और वह प्रेषणीयता जो एक सगतिविशेषमें महत्त्वपूर्ण अर्थ रखती है, सन्दर्भके अज्ञानके कारण अधिक स्पष्ट नहीं हो पाती, जैसे तुलसीदासकी इस पक्तिका अर्थ 'मॉगिकै खाइबो सोइबो मसीतको'—बिना उनके जीवन-सन्दर्भ और ऐतिहासिक सन्दर्भको जाने ठीक-ठीक समझमें नहीं आ सकता। ठीक उसी प्रकार अन्य रचनाओंमें भी कई स्थल ऐसे होते हैं जिनका मूल्य बिना सन्दर्भ-रूपमें समझे स्पष्ट नहीं हो पाता। (३) यह कि प्रामाणिकतापर आग्रह करनेसे एक प्रकारकी अन्वेषणप्रवृत्ति स्वत जागरित होती है जो अर्थके विभिन्न आयामोंके प्रति हमें जागरूक करती है। प्रत्येक रचना और रचनाकारकी भाव-स्थिति और विचार-पद्धतिके लिए बिना प्रमाणके कुछ भी कहना गलत ही नहीं, अन्यायपूर्ण भी हो सकता है, इसलिए अनुसन्धानात्मक आलोचना-प्रणाली प्रामाणिकतापर आग्रह करके बहुतसे अनावश्यक विवादोंको समाप्त करनेमें सहायक होती है। (४) यह कि ऐतिहासिकताके साथ-साथ भावबोधके विभिन्न स्तरोंका भी ज्ञान इस प्रणालीके माध्यमसे अधिक सुगम और सुलभ हो सकता है। प्रत्येक देशकालमें ऐतिहासिक सीमाओं और विशेषताओंके नाते भावबोधके विभिन्न रूप विकसित होते रहते हैं। इस विकसित भावबोधके स्तरोंको ऐतिहासिक सन्दर्भके बिना समझनेमें कठिनाई पड़ती है। अस्तु, अनुसन्धानात्मक आलोचना-प्रणाली द्वारा यह कठिनाई काफी सीमातक नष्ट हो जाती है। भूषणके कई कवित्त बिना ऐतिहासिक सन्दर्भके वह भावबोध नहीं स्पष्ट करते जो कि उन कवित्तोंके जाननेके लिए नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि अनुसन्धानात्मक प्रणाली 'भारत भारती' जैसी रचनाको साहित्यिक स्तरसे महत्त्वपूर्ण न मानते हुए भी ऐतिहासिक भावबोधकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण मानेगी, क्योंकि उस ग्रन्थको समझनेके लिए उन सन्दर्भोंको जानना आवश्यक है जिनमें उसको लिखनेकी प्रेरणा कविको अनिवार्य रूपमें प्राप्त हुई है।

किन्तु प्रस्तुत विशेषताओंके होते हुए भी इस प्रणालीकी कुछ सीमाएँ भी हैं। जहाँतक सीमाओंका सम्बन्ध है, हम उन्हें निम्नलिखित वर्गोंमें विभाजित करके प्रस्तुत कर सकते हैं। सर्वप्रथम तो यह कि साहित्य वस्तुपरक होते हुए भी रागात्मक अनुभूति है। अनुभूतियोंका विश्लेषण भाव-जगत्से सम्बन्ध रखता है। इसीलिए वस्तुपरक स्थितिके समस्त उपकरण प्रस्तुत होनेपर भी भाव-जगत्से यह दृष्टि अनभिज्ञ रह सकती है। दूसरे यह कि समकालीन सीमाओंसे बँधकर साहित्यकारके व्यक्तित्व, अनुभूति और दृष्टिको आँकनेमें हो सकता है कि पूर्ण न्यायका सन्तुलित निर्णय न दिया जा सके। अस्तु, इन सीमाओंके आधारपर अनुसन्धानात्मक शैलीकी विकृतियोंको हम निम्नलिखित रूपमें इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—(१) यह कि अनुसन्धानात्मक आलोचनाके माध्यम इतने सीमित हैं कि वे भाव एव साहित्यिक सौन्दर्यके प्रति जागरूक करनेके बजाय पाठक या भावकको अन्य दिशाओंमें बहका देते हैं। साहित्यिक सौन्दर्य इनसे गौण हो जाता है और रचनाकी साहित्येतर वस्तुएँ अधिक मूल्यवान् लगने लगती हैं। (२) यह कि रचनाके स्पष्ट रागात्मक सम्बन्धोंकी अपेक्षा कुछ ऐसी दिशाओंकी ओर समस्त जागरूकताको प्रेषित कर देती है कि मूल्योंमें अन्तर पड़ जाता है और साहित्यिक सन्दर्भोंके अतिरिक्त अनावश्यक मूल्योंको अधिक महत्त्व मिल जाता है। (३) यह कि लेखककी नैसर्गिक प्रतिभाके प्रति अनुदार रूपसे व्यवहार करना अनुसन्धानात्मक-प्रणालीकी सम्भावित परिणति है। लेखक अपनी परिस्थितियोंसे उबरनेकी क्षमता रखता है। उसमें यह भी क्षमता होती है कि वह अपनी नैसर्गिक प्रतिभाके बलपर सर्वथा नयी दिशा निर्माण-कर, मानव संवेदनाओंको नया अर्थ दे और तब अनुसन्धानात्मक शैली द्वारा हमें जिस वस्तुस्थितिका परिचय मिलेगा, हो सकता है कि वह केवल बाह्य उपकरणोंके कारण वहाँतक न पहुँच सके। —ल० का० व०

अनूढा (नायिका)—परकीयाका एक भेद, विभाजनके लिए दे०—'नायिका-भेद'। भोजने सर्वप्रथम अनूढा शब्दका

प्रयोग किया है। इसके पहले रुद्रट आदिने कन्यकाका प्रयोग किया है। अविवाहित अवस्थामें किसी पुरुषसे प्रेम करनेवाली स्त्री–'अनब्याही केहु पुरुषसों अनुरागिनी जो होय।' मतिराम रसराज ६२। भानुदत्तने इस अविवाहित नायिकामें परकीया भावके लिए तर्क दिया है–'कन्याया पित्राद्यधीनतया परकीयता।' रसमंजरी पृ० ४९। अर्थात् पिता आदिके अधीन होनेके कारण कन्यकाको परकीया कहते हैं। उदा०–'जबतें दरसे मनमोहन जू तबतें अँखियाँ ए लगी सो लगी। कुल कानि गयी सखि वाही घरी जब प्रेमके फन्द पगी सो पगी।' ठाकुर (मीतल, ब्रजभाषा० २, २४०)। रीतिकाव्यमें इस नायिकाके चित्रणके माध्यमसे प्रेमकी अनेक भावपूर्ण स्थितियोंका अंकन हो सका है। कृष्णकाव्यमें राधाका चित्रण इस रूपमें सुन्दर तथा उद्वेगपूर्ण हुआ है, विशेषकर विद्यापति तथा सूरका।

अन्यपूर्वा–दे०–'गोपी'।

अन्यसंभोगदुःखिता (नायिका)–अवस्थानुसार स्वतंत्र विभाजनका एक भेद। विशेषके लिए दे०–'नायिका-भेद'। यह विभाजन सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अपने प्रियके प्रीति-चिह्न किसी अन्य स्त्रीके शरीरपर देख-देखकर दुःखित होनेवाली नायिका। पद्माकरकी परिभाषामें–'प्रीतम प्रीति प्रतीति जो और तिया तन पाइ' कहा गया है, पर मतिरामने इसके सम्बन्धमें यह और कहा है–'करै पेच रिस तेह', अर्थात्, वह अपने दुःखको व्यंग्य और कटूक्तियोंमें व्यक्त भी करती है। मतिरामके उदाहरणसे यह स्पष्ट भी है–'तूतौ है रसीली रस बातन बनाय जानैं, मेरे जान आयी रस राखि कै रसीले सौं' (रसराज ९९)। रहीमकी नायिका उस अन्य स्त्रीके प्रति गहरा व्यंग्य करती है–'मैं पठयउँ जिहि कमवाँ आयसि साधि। छुटिगो सीसको जुरवा कसिकै बाँधि।' (बरवै० २८)। भक्तिकाव्यमें सीमित और रीतिकाव्यमें व्यापक रूपसे इस नायिकाका चित्रण किया गया है और वस्तुतः उसके माध्यमसे उस रतिचिन्होंसे युक्त नायिकाका भी। इस काव्यमें व्यंग्य, उपालम्भ, उक्तिचातुर्य, खीझ तथा आक्रोश आदिका सुन्दर चित्रण हुआ है।

अन्योन्य–रुद्रट द्वारा वास्तव वर्गका और रुय्यक द्वारा विरोधमूल वर्गका अर्थालंकार, जहाँ एक ही क्रिया द्वारा दो वस्तुओंको अन्योन्य अथवा परस्पर, अर्थात् एक-दूसरेका, कारण वर्णित किया जाय, वहाँ 'अन्योन्य' अलंकार होता है। इस अलंकारका सम्भवतः प्रथम विवेचन रुद्रटने किया है। परन्तु रुद्रटके–'यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया' की अपेक्षा रुय्यक तथा मम्मटके लक्षण अधिक स्पष्ट हैं–'क्रियया तु परस्परम्। वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्' (का० प्र० १० १२०, १२१), अर्थात्, क्रियाके द्वारा पदार्थोंके परस्पर उत्पादक होनेका चमत्कार, जबकि रुद्रटने क्रियाके द्वारा पदार्थोंके कारक भावको माना है। परन्तु हिन्दीके आचार्योंमें 'चन्द्रालोक'के लक्षण–'यत्र स्यादुपकार परस्परम्' का विशेष प्रभाव है। मतिरामने 'ललितललाम'में इसका उल्लेख नहीं किया है, किन्तु भूषणने 'शिवराजभूषण'में परिभाषा दी है–'अन्योन्या उपकार जहँ, यह बरनन ठहराय।' (शि० भू० २२३)। दासका लक्षण किंचित् भिन्न है–'होत परस्पर जुगुल सो' (का० नि० १५)। उदा०–'ज्यों ज्यों तन धारा किये, जल प्यावत रिझिवारि। पियें जात त्यों त्यों पथिक, बिरली ओख सँभारि।' (शि० भू०)। अथवा–'तो कर सों छिति छाजत दानहै, दानहू सों अति तो कर छाजै। तैंही गुनीकी बड़ाई सजै अरु, तेरी बड़ाई गुनी सब साजै।' (शि० भू० २२४)।

भोजदेवके 'सरस्वतीकंठाभरण'में 'अन्योन्य'के तीन भेद बताये गये हैं–अभिधीयमान, प्रतीयमान तथा प्रतीयमानाभिधीयमान। विश्वनाथके लक्षण 'उभयोरेकक्रियाया करणं मिथः' (सा० द० १० ७३) अर्थात् 'जब दो वस्तुएँ परस्पर एक ही क्रिया द्वारा विशेषता उत्पन्न करें'में आगे विकसित होनेवाले भेदोंका आधार है। पद्माकरने तीन भेद दिये हैं–परस्पर उपकार, परस्पर अपकार तथा समान व्यवहार। 'भारती भूषण' में दूसरे ढंगसे तीन भेद वर्णित हैं–परस्पर कारणता, परस्पर उपकार तथा परस्पर समान व्यवहार। किन्तु मम्मटने केवल एक ही प्रकारका 'अन्योन्य' माना है, एक क्रिया द्वारा दो वस्तुओंकी परस्पर कारणता। जगन्नाथके 'रसगंगाधर'में भी इसी मतका समर्थन है। परस्पर उपकारिताके अनेक सुन्दर उदाहरण काव्यग्रन्थोंमें मिलते हैं। —ध० व्र० शा०

अन्वय दोष–दे०–'शब्द-दोष,' उन्नीसवाँ वाक्य-दोष।

अन्विताभिधानवाद–कुमारिलभट्टके शिष्य प्रभाकर मीमांसकका एक सिद्धान्त, जिसमें पदोंसे ही अन्वित अर्थका बोध माना जाता है (दे०–'तात्पर्यावृत्ति')। कहा जाता है कि प्रभाकर अत्यन्त प्रखर बुद्धिके थे। एक बार उन्होंने अपने गुरुकी एक भूलको सुधारा था, तभी दार्शनिक साहित्यमें इनके मतको 'गुरुमत' कहा जाता है (विशेष दे०–हिं० ध्व०, पृ० ३०)। —उ० शं० शु०

अपकर्ष–काव्य-दोषके अन्तर्गत रसका अपकर्ष करनेवाले कारण दोष कहलाते हैं। काव्यके चमत्कार अर्थका अविलम्ब बोध होनेको रसास्वादन कहते हैं। इसके समझनेमें जब विलम्ब उपस्थित हो तो उसे अपकर्ष कहेंगे, अर्थात् जो कारण रस, रसाभास, भाव, भावाभास, सन्धि, शबलता आदि द्वारा काव्यकी आत्मा, चमत्कार और वाक्यार्थको अपने प्रतिबन्ध द्वारा रोकते हैं अथवा हीनता प्रदान करते हैं उन्हें अपकर्ष कहते हैं। यह अपकर्ष तीन प्रकारसे हो सकता है–(१) रस-प्रतीतिमें विलम्ब द्वारा, (२) अवरोध द्वारा और (३) रसके आस्वादमें पूर्ण विनाश या विघात द्वारा। शब्द और अर्थका अपकार करनेवाले तत्त्व भी अप्रत्यक्ष रूपसे रसका ही अपकर्ष करते हैं। रस अलौकिक आनन्दकी अवस्था है, अतः उसका विलम्बन, अवरोधन तथा विघात निश्चय ही उद्वेगजनक होगा। (१) ये दोष या तो रसकी प्रतीतिको रोक देते हैं, या (२) रसकी उत्कृष्टताकी विघातक किसी वस्तुको बीचमें खड़ा कर देते हैं, या (३) रसास्वादमें विलम्ब कर देते हैं। इन अपकर्षोंको दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कह सकते हैं कि वे मूल औचित्यका व्यतिक्रम कर देते हैं।

संस्कृतके आचार्योंमें मम्मट तथा तथा विश्वनाथने ही अपकर्षकी विधिवत् व्याख्या की है। हिन्दीके आचार्योंमें

किनीने अपकर्षका नियमित और स्पष्ट विवेचन नहीं किया है।

काव्यास्वादरोधक–यह अपकर्षका एक भेद है। इसके अन्तर्गत वे समस्त कारण परिगणित किये जाते हैं जिनके उपस्थित होनेसे रसकी अनुभूतिमें रुकावट उपस्थित हो जाय, यथा–'कार्तार्थी तव होहुँगी, मिलिहैं जब प्रिय आय।' कार्तार्थी(कृतार्थी)का प्रयोग रसके आस्वादका अवरोधन करता है। यह विप्रलम्भ शृंगारका वर्णन है। इसमें कठोर वर्णोंकी रचना नियमविरुद्ध है। ऐसे प्रयोग काव्यास्वादरोधक अपकर्ष कहलाते हैं।

काव्योत्कर्षविनाशक–यह रसापकर्ष उस स्थलपर होता है जहाँ ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं जिनसे रसकी अनुभूतिका पूर्णतया विनाश हो जाता है, यथा–'यमुना-शम्बर सो, छूटत कल्मिल कोस'। यहाँ जलके अर्थमें 'शम्बर' शब्दका प्रयोग है। 'शम्बर' पद जलका पर्यायवाची है, किन्तु काव्यमें 'शम्बर'का प्रयोग 'शम्बर' नामके असुरके लिए होता है। अत 'शम्बर' उसी असुरके नाममें रूढ है। जलके अर्थमे वह अप्रसिद्ध है। अत यह रसास्वादविनाशक अपकर्ष है।

काव्यास्वादविलम्बक–यह रसका अपकर्ष उस समय होता है जब ऐसे कारण आकर उपस्थित हो जायँ जिनसे रसकी अनुभूतिमें विलम्ब या देर हो, यथा–'कहत कत परदेसीकी बात। मन्दिर अरध अवधि हरि बदि गये, हरि अहार चलि जात।' उक्त पदमें, मन्दिर अरध = पाख (१५ दिन); हरि अहार = मास = मास (३० दिन)। यहाँपर ऐसे प्रयोग किये गये हैं जिनसे रसकी अनुभूतिमें विलम्ब हो जाता है। अत यह काव्योत्कर्षविलम्बक अपकर्ष है। —टी० सिं० तो०

अपद्युक्त–दे०–'अर्थ-दोष', तेरहवाँ।

अपभ्रंश–लगभग छठीसे बारहवीं शतीतक उत्तर भारतमें साहित्य और बोलचालमें व्यवहृत प्राकृतकी उत्तराधिकारिणी भाषाएँ। पतंजलि(दूसरी शती)ने इसे देवभाषासे भिन्न असाधु भाषाके अर्थमें प्रयुक्त किया है। भरत (तीसरी शती) इसे शाबर, आभीर (और गुर्जर) आदिकी भाषा बताते हैं। दण्डी (सातवीं शती) भी इसे 'आभीरादिगिर' कहते हैं। चण्ड (छठी शती)ने 'प्राकृत-लक्षणम्'में अपभ्रंशको एक विभाषा कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि तबतक यह प्रामाणिक आर्यभाषाके योगमे व्यापक हो गयी थी। वलभीके राजा धरसेनके शिलालेखसे स्पष्ट होता है कि छठी शताब्दीमें संस्कृत और प्राकृतके अतिरिक्त अपभ्रंशमें भी साहित्यरचना होने लगी थी, भले ही इसका आरम्भ सौराष्ट्रमें ही हुआ हो। भामह (सातवीं शती) और रुद्रट (नवीं शती) ने भी अपभ्रंशकाव्यकी चर्चा की है। टीकाकार पुरुषोत्तम (ग्यारहवीं शती) और काव्यमीमांसाकार राजशेखर(दसवीं शती)का कहना है कि मध्यदेश और उसके पश्चिममें अपभ्रंश शिष्टवर्गकी भाषा थी। संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि तीसरी शताब्दीतक अपभ्रंश आभीरादिकी भाषा थी, क्रमश वह लोकभाषा, धीरे-धीरे शिष्टभाषा और बादमें साहित्यिक भाषा हो गयी। पहले यह उत्तरप्रदेश, हिमवत्, सौवीर और सिन्धुदेशतक सीमित थी, बादमें मालवा, राजस्थान, पंजाब, दिल्ली और बुन्देलखण्डतक फैल गयी और बारहवीं शतीमें समस्त उत्तरी भारतमें व्याप्त हो गयी। इसके तीन रूप—नागर, उपनागर और व्राचड (मार्कण्डेयके अनुसार) अथवा नागर, ग्राम्य और उपनागर (नेमिसाधुके अनुसार)—पश्चिमी भारतकी अपभ्रंशके ही थे। समय पाकर एक-एक प्राकृतके विकसित रूपको भी उसका अपभ्रंश कहा जाने लगा–जैसे, शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश, मागधी-अपभ्रंश इत्यादि। इस कालमें इधर-उधर भी जो भारतीय आर्यभाषाएँ थीं और जिनसे आधुनिक आर्यभाषाओंका विकास माना जाता है, उन सबको अपभ्रंश नामसे अभिहित किया गया है, जैसे, केकय, टाक्क, लाट और यहाँतक कि कार्णाट और द्रविट अपभ्रंश भी मानी गयी है।

बोलचालकी अपभ्रंशके विषयमें तो कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु साहित्यिक अपभ्रंशकी विशेषताएँ संक्षेपमें इस प्रकार थीं—

ध्वनि-विकास–१ अपभ्रंशने प्राकृतकी ध्वनिमालामें कोई परिवर्तन नहीं किया, स्वर और व्यंजन वही रहे। २ संस्कृत शब्दोंके आदिस्वरको यथावत् सुरक्षित रखा गया। ३ प्राकृतमें संस्कृतके अन्त्यस्वरोंके लोप अथवा ह्रस्वीकरणकी जो प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी उसका व्यापक और पूर्ण रूपसे निर्वाह हुआ। ४ उपान्त्यस्वर कहीं तो सुरक्षित रहा और कहीं ह्रस्व हो गया। ५ प्राकृतके दीर्घ (द्वित्व) व्यंजनको अपभ्रंशमें ह्रस्व (एक) व्यंजन करके आर्यक्षरमेंके स्वरको दीर्घ कर देनेकी प्रवृत्ति आरम्भ हो गयी, जो हिन्दी बोलियोंमें जारी रही। ६ प्राकृतके बीचमें समीपवर्ती स्वरों (hiatus) को मिलाकर एक स्वर किया गया। ७ आदि व्यंजन यथापूर्व सुरक्षित रहे। प्राकृतकी तरह अपभ्रंशने संस्कृत शब्दोंके अन्त्य व्यंजनोंको लुप्त करनेकी प्रवृत्तिको और आगे बढ़ाया। ९ टवर्गको छोड़कर मध्य अल्पप्राण व्यंजनोंका लोप होता रहा और महाप्राण व्यंजनोंकी जगह ह रह गया। प्राकृतमें अपवाद अधिक थे, अपभ्रंशने अपवाद कम कर दिये। १० मध्य ट् ठके स्थानपर ड् ढ् और तदुपरान्त ड् ढका विकास अधिक होने लगा। ११ संयुक्त अथवा द्वित्व व्यंजनकी जगह अपभ्रंशमें एक व्यंजन रह गया।

व्याकरण–१ संस्कृतके नपुंसकलिंग शब्द पुलिंग हो गये और इस तरह पुलिंग शब्दोंकी संख्या बहुत अधिक हो गयी। २. कारक-चिह्नोंमे सरलता आ गयी, न तो स्त्रीलिंग-पुलिंगके कारक-प्रत्ययोंमें कोई भेद रह गया और न ही एकवचन-बहुवचनके कारक-चिह्नोंमें। ३. कारकोंकी संख्या कम हो गयी और भाषा विश्लेषणात्मक हो गयी। ४ विशेषण प्रत्ययमें लिंगभेद अथवा वचनभेद हटने लगा। ५ क्रियाओंके रूपमे विशेष परिवर्तन हुआ–तिङन्तरूपोंके स्थानपर कृदन्तरूपोंका व्यवहार हुआ। इससे कालरचना अत्यन्त सरल हो गयी।

शब्द-भण्डार–अपभ्रंशमें देशी और तद्भव शब्दोंकी भरमार देखकर इसकी स्वतन्त्र और विद्रोही प्रकृतिका ठीक-ठीक अनुमान होता है। साहित्यिक शब्दोंकी अपेक्षा बोलचालके शब्दोंका अधिक व्यवहार उत्तरकालीन साहित्यमें भी जारी रहा। —ह० दे० बा०

अपभ्रंश, उपनागर–अपभ्रंशका वह रूप जिसे मार्कण्डेय और नेमिसाधु आदि वैयाकरणोंने नागर और ग्राम्य अपभ्रंशका सम्मिश्रित रूप कहा है और जिससे राजस्थानीका विकास हुआ है। नेमिसाधु (रुद्रटके टीकाकार–ग्यारहवी शती) लिखते हैं कि प्राकृत और आभीरीके मेलसे ग्राम्य अपभ्रंशका विकास हुआ और तदुपरान्त आसपासकी भाषाओंके प्रभावोंको ग्रहण करती हुई उपनागर अपभ्रंश विकसित हुई। आधुनिक समयके विद्वानोंका मत है कि यह नागर और व्राचडसे स्वतन्त्र पूर्वी सौराष्ट्रकी भाषाका रूप रहा है। उपनागरका क्षेत्र गुजरात और सिन्धमें पूर्वका प्रदेश माना जाता है। इसका साहित्य प्राप्त नहीं है, पर प्राचीन हिन्दीके चारण-साहित्यके ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विश्लेषणसे उसकी विशेषताओंको जाना जा सकता है। —ह० दे० बा०

अपभ्रंश, केकय–अपभ्रंशका वह रूप जो दक्षिणी कश्मीर और पश्चिमी पंजाब, केयय अथवा कक्का प्रदेशमें प्रचलित रहा। कुछ विद्वानोंने व्यास और सतलजके बीचके प्रदेशको केकय माना है और कुछने चित्राल, स्वात और उसके आसपासके उत्तरी सीमाप्रान्तको। बहुमतने स्वीकार किया है कि लँहदी भाषाका विकास केकय अपभ्रंशसे हुआ है। इसका काल छठीसे दसवीं शतीतक बताया गया है। पश्चिमोत्तर भारतमें राजनीतिक विप्लवोंके कारण केकय अपभ्रंशका सब साहित्य नष्ट हो गया है। अत इसकी भाषागत विशेषताओंके विषयमें कुछ जानकारी उपलब्ध नहीं है। मार्कण्डेयने केकयका उल्लेख अपनी सूचीमें किया है। —ह० दे० बा०

अपभ्रंशधारा–हेमचन्द्र (११४५–१२२९ वि० स०), सोमप्रभाचार्य (१३वीं शती), अब्दुल रहमान (१३वीं शती वि०) जैसे कृतिकारोंकी अपभ्रंशमें निश्चित रूपसे स्वयंभू, पुष्पदन्त आदिकी अपभ्रंशकी अपेक्षा ऐसे शब्द अधिक मिलते हैं जिनको आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओंका लगभग पुराना रूप कहा जा सकता है। यह परिवर्तन-कालीन अपभ्रंश है। विक्रमकी बारहवीं-तेरहवीं शतीमें अपभ्रंशका स्थान उसके क्रमश विकसित रूप ले चुके थे, किन्तु फिर भी अनेक कवि केवल परम्परापालनके लिए अपभ्रंशमें रचना करते रहे। विद्यापतिकी कीर्तिलता भी इसी प्रकारकी एक कृति है, जिसमें अपभ्रंशका परिवर्तित रूप मिलता है। इसके अतिरिक्त जैन कृतिकार तो सोलहवीं-सत्रहवीं शतीतक अपभ्रंशमें ग्रन्थ लिखते रहे। इन कृतिकारोंने धार्मिक परम्परा तथा साहित्यिक परम्पराका पालन करनेके लिए ही ये रचनाएँ की हैं। जैन शास्त्रचर्चा और अध्ययनके कुछ ऐसे केन्द्र थे जहा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यका पठन-पाठन और प्रतिलिपिका कार्य होता रहता था। उदाहरणके लिए, गोवालगिरि (गोपाचलगिरि) भट्टारकोंकी गद्दी थी, जहाँ अपभ्रंशके अनेक ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि की गयी थी और उसका अध्ययन भी वहा होता था। अपभ्रंश कृतियोंकी प्रतिलिपियोंकी पुस्तिकाओंमें प्रतिलिपि-स्थान गोवालगिरि लिखा मिला है। इसी प्रकारके अन्य कई केन्द्र थे। और इस प्रकार परम्पराका परिचय प्राप्त कर उससे प्रेरणा पाकर अनेक अपभ्रंश कृतियोंकी रचना हुई होगी। नरसेन (१४वीं-१५वीं शती)की वर्द्धमानकथा और श्रीपालचरित, सिंह या सिद्धका प्रद्युम्नचरित, धनपाल (१५वीं शती)के बाहुबलिचरित और भविष्यदत्तचरित, रइधूकी पद्मपुराणादि लगभग २५ अपभ्रंश कृतियाँ, यशकीर्ति (१५वीं-१६वीं शती वि०)की हरिवंशपुराण, चन्द्रप्रभाचरित आदि, श्रुतकीर्ति (१६वीं शती वि०)की परमेष्ठिप्रकाशसार और हरिवंश-पुराण, श्रुतकीर्ति (१६वीं शती वि०) कृत नागकुमार-चरितादि, और भगवतीदासकृत मृगाकलेखाचरित (१७०० वि० सं०) आदि इसी प्रकारकी कृतियाँ है जो केवल अपभ्रंशके प्रति आग्रहके कारण लिखी गयी हैं। इनमें बहुत-सी कृतियोंकी भाषामें अपने आप समकालीन साहित्यिक भाषाओंके प्रयोग आ गये हैं। अठारहवी शतीमें यह परम्परा आकर बिल्कुल समाप्त हो गयी। इस परम्पराकी मिश्रित अपभ्रंशका अध्ययन बहुत ही मनोरंजक विषय है। साहित्यिक रूपमें तो कोई नवीनता नहीं है। कडवक (चौपाई-दोहा) शैली चरितकाव्योंमें मिलती है, जहा कहीं-कहीं घत्ताका स्थान दोहेने ले लिया है तथा कथा कहनेका ढंग प्राय परम्पराके अनुकूल ही रखा गया है। —रा० सि० तो०

अपभ्रंश, नागर–अपभ्रंशका वह भेद जो गुजरात और पश्चिमी राजस्थानमें प्रचलित था और जिसमें अधिकाश साहित्य उपलब्ध है। भरतमुनि (तीसरी शती)ने जिसको आभीरादि (गुर्जरकी भी) भाषा बताया है, वह यही है। ११वीं शताब्दीमें नेमिसाधुने भी नागरको आभीर अपभ्रंशका पर्याय माना है। आभीरों और गुर्जर-प्रतिहारोंकी राजसत्ताके कारण इसका व्यापक प्रयोग होने लगा। अपभ्रंशका यही रूप शिष्टवर्ग (नागरिक लोगों) तथा नागर ब्राह्मणोंके प्रोत्साहनसे प्रामाणिक माना गया। मार्कण्डेय (११वीं शती)ने प्रथम बार 'प्राकृतसर्वस्व'में अपभ्रंशके भेदोंमें नागर नामका व्यवहार किया है। साहित्यिक माध्यमके रूपमें यह शौरसेनी प्राकृतकी अनुसारिणी कृत्रिम भाषा है। हेमचन्द्र (१२वीं शती)ने अपने व्याकरणमें इसको आदर्श मानकर इसका विश्लेषण किया है और 'देसी सद्द संगहो' नामसे नागरमें प्रयुक्त देशी शब्दोंका कोश रचा है। गुजराती भाषाका विकास नागर अपभ्रंशसे माना जाता है। —ह० दे० बा०

अपभ्रंश, व्राचड–अपभ्रंशका एक भेद जिसका नाम तो ११वीं शतीसे मिलता है, पर जिसका न तो साहित्य प्राप्त है और न कोई अन्य प्रमाण। सिन्धी भाषाकी व्राचडसे उत्पत्ति मानी जाती है। ८ वी शताब्दीमे सिन्धुपर अरबोंका आधिपत्य रहा और इतिहास साक्षी है कि उनका शासनकार्य तत्कालीन सिन्धुकी प्रचलित भाषामें होता था। अत यदि अरब-शासनकालके सरकारी कागजात उपलब्ध हो सकें और उनसे व्राचडकी भाषागत खोज की जाय तो कुछ तथ्य प्रकाशमें आ सकते है। —ह० दे० बा०

अपभ्रंश (साहित्य)–मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाको तिरस्कारसूचक अपभ्रंश (अर्थात् पतित) नाम संस्कृतके आचार्यों द्वारा प्राप्त हुआ है। संस्कृत शब्दके 'साधु' रूपोंके

अतिरिक्त लोक तथा साहित्यमें प्रचलित भिन्न शब्दरूपोंको महाभाष्यके रचयिता पतञ्जलिने 'अपशब्द' या 'अपभ्रंश' संज्ञा दी और महर्षिके इस नामको बिना आपत्ति किये अनिच्छापूर्वक सभीने स्वीकार किया। इस व्यापक परिभाषाके अनुसार तो प्राकृतें भी अपभ्रंश हैं, किन्तु पीछे चलकर जिस भाषाके लिए अपभ्रंश नामका प्रयोग होने लगा वह प्राकृत (दे०) और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाके बीचकी सीढ़ी है। जिस समयसे अपभ्रंश नामका प्रयोग मिलता है तथा अपभ्रंशके जो प्रयोग मिलते हैं, उससे ऐसा कहा जा सकता है कि प्राकृतें और अपभ्रंश बहुत समयतक साथ साथ पनपती रहीं, प्राकृतोंमें रचना होती रही और अपभ्रंशमें भी। वैसे प्राकृतकी अगली सीढ़ी अपभ्रंश है और उसका काल साधारणतः ६०० ई० से लेकर १३०० ई० तक माना जा सकता है। इस सीमाको भामह, दण्डी द्वारा दिये गये अपभ्रंशमें साहित्यरचना विषयक संकेतोंके आधारपर एक किनारा और विद्यापति आदि कवियोंकी समान रूपसे लोकभाषामें पद अवहट्ट भाषाओंमें रचनाके आधारपर दूसरा किनारा माना जा सकता है।

पतञ्जलि और भरतने सामान्य रूपसे 'अपभ्रंश'का उल्लेख किया है। भामहने 'काव्यालंकार'में अपभ्रंशको साहित्यिक भाषा कहा है और दण्डीके कथनसे इसकी और भी पुष्टि होती है। दण्डीने अपभ्रंशके प्रसंगमें आभीरोंका उल्लेख किया है, जो बहुत संकेतपूर्ण है। उन्होंने अपभ्रंशके 'आसारबन्ध' काव्योंके अस्तित्वका भी संकेत किया है। काव्यालंकारकार रुद्रट और उनके टीकाकार नमिसाधुने अपभ्रंशके तीन भेदों—उपनागर, आभीर और ग्राम्यका उल्लेख किया है किन्तु लक्ष्योंकी चर्चा नहीं की। राजशेखरने राजदरबारोंमें अपभ्रंश काव्यके सम्मानपूर्ण स्थानकी चर्चा की है और उसकी प्रशंसा भी की है। इनके अतिरिक्त आनन्दवर्धन, मम्मट, भोज, वाग्भट, रामचन्द्र गुणचन्द्र, जिनदत्त, अमरचन्द्र, शारदातनय तथा अन्य अनेक कवियों और काव्य-समीक्षकोंने अपभ्रंशका स्मरण किया है।

वैयाकरणोंमें चण्ड (चौथी शती ई०), पुरुषोत्तमदेव (१२वीं शती ई०), क्रमदीश्वर (१३वीं शती ई०) हेमचन्द्र, सिंहराज (१३वीं-१४वीं शती ई०), लक्ष्मीधर (१६वीं शती ई०) रामशर्म तर्कवागीश (१६वीं शती ई०), मार्कण्डेय (१७वीं शती ई०) आदिने अपभ्रंशके व्याकरणपर प्रकाश डाला है। चण्ड, हेमचन्द्र और सिंहराज (पश्चिमी सम्प्रदायके वैयाकरण)ने शौरसेनीको अपभ्रंशका आधार माना है और अन्य भेदोंका उल्लेख नहीं किया है। क्रमदीश्वरने व्राचटको प्रधान अपभ्रंश माना है, जिसे कुछ विद्वान् पश्चिमी अपभ्रंश (शौरसेनीपर आधारित) मानते हैं।

आभीर गुर्जरोंका भी अपभ्रंशके सम्बन्धमें दण्डी, भोज आदिने उल्लेख किया है। विद्वानोंने प्रतापी आभीरोंको व्रात्य (व्राच+स्वार्थे 'ट') भी बताया है और इस प्रकार पश्चिमी प्रदेशोंकी अपभ्रंशको प्रभावित करनेके कारण आभीरोंका उससे सम्बन्ध भी जुड़ गया होगा। अतः व्राचट और आभीरी एक ही अपभ्रंश हो सकती है। नागरक एवं उपनागरके और ग्राम्यके (हेमचन्द्रने इसका उल्लेख किया है) प्रसंगमें यह किसीने नहीं बताया कि ये किस प्रदेश-विशेषमें बोली जाती थीं। क्रमदीश्वरने नागरापभ्रंश और व्राचक छन्दका सम्बन्ध स्थापित किया है और व्राचक रचनाएँ पश्चिमी प्रदेशोंमें ही रचित अभीतक मिली हैं। अतः नागर और व्राचट दोनों ही पश्चिमी प्रदेशोंकी अपभ्रंश सिद्ध होती हैं। उपनागर शब्द सम्भवतः नागरसे अन्तर प्रकट करनेके लिए प्रयुक्त किया गया होगा। अपभ्रंशके बोलचालवाले रूपको 'ग्राम्य' संज्ञा हेमचन्द्रने दी होगी। अपभ्रंशके कवियोंने अवब्भंस (अपभ्रंश), अवहट्ट (अपभ्रष्ट), प्राकृत, पटमंजरी आदि नामोंका भी अपभ्रंशके लिए प्रयोग किया है।

काव्य-समीक्षकों और वैयाकरणों द्वारा अपभ्रंशके जो उल्लेख मिलते हैं, उनके आधारपर यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश प्रारम्भमें आदरकी दृष्टिसे नहीं देखी जाती थी, किन्तु छठी, सातवीं शती ई० (भामह, दण्डीका समय)तक उसमें इतनी और इस प्रकारकी साहित्य रचना हो चुकी थी कि संस्कृतके उत्कृष्ट साहित्यकी चर्चा करनेवालोंने भी अपभ्रंश कृतियोंका उल्लेख करना आवश्यक समझा। आठवीं, नवीं और दसवीं शतियोंमें वह साहित्यिक उत्कर्षको प्राप्त हुई और राजदरबारों, कवि-सभाओंमें उसका समादर होने लगा। आगेकी शतियोंमें भी उसमें साहित्यरचना होती रही, किन्तु वह सामान्य जन-भाषासे दूर पड़ गयी थी और जन भाषामें अपभ्रंशकी तद्भव-प्रधान शब्दावलीसे भिन्न तत्सम-प्रयोग प्रधान रचनाएँ होने लगीं, और धीरे-धीरे उन्होंने अपना उचित स्थान प्राप्त किया और अपभ्रंशकी धारा क्षीण होती चली गयी।

प्राकृत 'धम्मपद'के उपरान्त रूपों ('पउमचरिअ'—विमल सूरिकृत तीसरी शती ई०)के इसी प्रकारके प्रयोग, भरतमुनिकी उकारबहुला भाषा तथा ध्रुवागीतोंमें ऐसे प्रयोग, 'वसुदेव हिण्डि' (छठा शती वि०), 'विक्रमोर्वशीय'के विवादग्रस्त अपभ्रंश पद्य ऐसे संकेत हैं जो अपभ्रंशके विकासकी सूचना देते हैं। अपभ्रंशमें साहित्य-रचनाके निश्चित प्रमाण जिनदास महत्तरकृत 'नन्दिसूत्र'की चूर्णि (६७६ ई०) 'कुवलयमाला' (७७८ ई०), शीलाङ्ककृत 'सूत्रकृताङ्गवृत्ति' (१०वीं शती वि०)में उपलब्ध अपभ्रंश उद्धरणोंसे मिलते हैं। इसके आगे तो चतुर्मुख, द्रोण, स्वयम्भू, पुष्पदन्त, योगीन्द्र जैसे कवियोंके अपभ्रंशभाषा-निबद्ध ग्रन्थ प्राप्त होते हैं और इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त अपभ्रंश दोहोंकी स्वतन्त्र-मुक्त धारा भी मिलती है। ये दोहे नाना ग्रन्थकारों द्वारा उद्धृत किये गये हैं, जिनके रचनाकारोंका कभी पता नहीं लग सकेगा, और इस भाषाकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। समस्त उत्तरी प्रदेशोंमें लगभग सभी मतावलम्बियोंने अपभ्रंशमें रचना की। मुक्तक काव्य, सुभाषित, खण्डकाव्य, महाकाव्य, चम्पू, कथा आदि नाना काव्य-रूपोंके माध्यमके रूपमें अपभ्रंश साहित्य प्रस्फुटित हुआ। काव्य-रूपोंको ध्यानमें रखकर इस साहित्यका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा सकता है।

मुक्तक पद्य दोहा अपभ्रंशका अपना छन्द है। विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अंकमें विक्षिप्त राजा पुरूरवाके उद्गार मानो

अपभ्रंशमें अपने आप फूट पड़ते हैं। ये उद्गार दोहा, अडिल्ल, रासावलय, पज्झटिका आदि छन्दोंमें हैं। मुक्त वातावरणकी सृष्टि करने, तीव्र भावावेगको व्यक्त करनेमें अपभ्रंश बहुत ही शक्तिशाली माध्यम सिद्ध हुई है। चण्ड, आनन्दवर्धन, भोज, हेमचन्द्र, 'प्राकृत पैंगल', 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' (१३०४ ई०), 'प्रबन्धकोश' (१३४८ ई०), 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह'में अनेक अपभ्रंश मुक्तक पद्य बिखरे मिलते हैं। इनमेंसे बहुतसे बदले हुए रूपमें परवर्ती साहित्य-में भी मिलते हैं, क्योंकि अनेक दोहे सुभाषितोंके समान बहुत ही लोकप्रिय हो गये होंगे। भोज और हेमचन्द्रने जिस प्रकार नाना विषयोंसे सम्बन्धित पद्य वचन-विदग्धता, व्यंग्य, व्याकरणके उदाहरणोंके रूपमें उद्धृत किये हैं, वे निश्चित रूपसे किन्हीं संग्रह-ग्रन्थोंसे लिये गये होंगे। इन पद्योंके विषय प्रकृति और जीवनके नाना शाश्वत पक्षोंसे सम्बन्ध रखते हैं, संयोगशृंगार, विरहका अत्यन्त संवेदनात्मक चित्रण और ऊहात्मक वर्णन, भ्रमर, नेत्र, सत्पुरुष, पपीहा, मेघ, स्नेह, बलि, व्यास, कापालिक, दारिद्रय, सेना, स्त्री-जातिकी निन्दा, मुंजकी असह्य वेदना आदि नाना प्रसंगोंके पद्योंमेंसे जीवन झाँकता प्रतीत होता है। दोहा और अपभ्रंश मानो जीवनमें गहरे पैठ गये हैं।

दूसरी ओर वे पद्य हैं जिनमें क्रमबद्ध किसी निश्चित भावधाराका विवेचन किया गया है। इस प्रकारके पद्योंमें भारतीय जीवनका एक दूसरा पक्ष अपनी पूरी गम्भीरता और जटिलताके साथ सामने आया है। वज्रयान (दे०) के साधक-सिद्धों, सरह, भुसुक, कान्ह, कुक्कुरी, लुइ, शबर, शान्ति, विरूपा, गुण्डरी, चाटिल, कामलि, डोम्बी, वीणा, आर्यदेव, ढेंढण, दारिक, भादे, ताड़क, कंकण, धाम, लिलो-पादादिने अपभ्रंशके माध्यमसे वज्रयानके सिद्धान्तोंका विवेचन ८वीं, ९वीं, १०वीं शतीमें किया। लगभग आधी शती हो गयी, स्वर्गीय हरप्रसाद शास्त्रीसे प्रारम्भ करके दर्जनों विद्वानोंने उन महायान पथके अनुयायी पथिकोंके पदों और दोहादि पद्योंकी भाषा और भाव-धाराको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है, तो भी अभी उनका काल अनुमानका विषय ही बना हुआ है। भाषाके आधारपर कृतिकारोंका काल निश्चित करना बहुत ही कमजोर आधार है। वज्रयानसे सम्बन्धित पद्य 'साधनमाला', 'सेकोद्देशटीका', 'डाकार्णव'में भी मिलते हैं।

अत्यन्त सरल शैलीमें रहस्य-वक्तव्य विषयको स्पष्ट करनेका सफल प्रयास मिलता है—योगीन्दु (१०वीं शती ई०) के 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार', मुनि रामसिंह (१०वीं शती ई० अनुमानतः)के 'पाहुड दोहा', सुप्राचार्य (अनुमानतः १००० ई० के आसपास)के 'वैराग्यसार', 'महानंदि' (समय अनिश्चित)के हिंदोला आदि ग्रन्थोंमें। इनमें बाह्याचार, कर्मकाण्ड, तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजाका बहिष्कार करते हुए देह-देवालयमें ही ईश्वरकी स्थिति बतायी है। अपने देह-देवालयमें स्थित परमात्माकी अनुभूति पाकर परम समाधि द्वारा सहज सुख प्राप्त करना इन गूढ़-वादियोंकी साधनाका प्रधान स्वर है। बाह्याडम्बरसे रहित, सहज शैलीमें प्रधान रूपसे दोहेके माध्यमसे मर्मियोंने अपने गूढ़ सिद्धान्त व्यक्त किये हैं। इनके अनुसार आत्मा सर्वगत और जड है, रागरंजित हृदयमें उस परमसुख-रूप शुद्धात्माका दर्शन नहीं होता। समचित्त स्थितिको प्राप्त हुए योगी ही उस अक्षय अनन्त देवको जान सकते हैं। इनकी भावना अत्यन्त उदार है। किसीके प्रति कटुता ये व्यक्त नहीं करते। साधनाके लिए चारित्रिक शुद्धतापर बे बल देते हैं। साधनाका बाधक यदि गृहस्थाश्रम है तो वे उसकी निन्दा करते हैं। आत्मानुभव ही चरम प्राप्तव्य है, उसीको इन्होंने सहजानन्द, परमसमाधि, समरसीभाव कहा है।

दोहादिको उपदेशका भी माध्यम अनेक कवियोंने बनाया है। इस परम्परामें देवसेन (१०वीं शती वि०) का 'सावयधम्म दोहा' (श्रावकधर्म दोहा), जिनदत्त सूरि (१०७५ ई० से ११५३ ई०) कृत 'चर्चरी', 'उपदेशरसायन-रास' और 'कालस्वरूप', महेश्वर सूरि (१६वीं शती वि०) कृत 'संजम मंजरी' जैसी कृतियोंका उल्लेख किया जा सकता है। इन कृतियोंके पद्योंमें गुरुकी श्रेष्ठता, मनुष्य-जन्मकी दुर्लभता और अर्हत् द्वारा प्रतिपादित धर्मकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है। सम्यक्त्वप्राप्तिके लिए गृहस्थोंको नाना प्रकारके शुभकर्म—व्रतादिका पालन आवश्यक बताया गया है। ये उपदेश गृहस्थोंके लिए हैं। धर्मकी परिभाषा करते हुए कहा है कि जो कार्य अपने लिए अहितकर है वह कार्य दूसरोंके लिए न करना ही धर्मका मूल है। विपरीत-बुद्धि शास्त्रोंके अध्ययनसे भी धार्मिक नहीं बन सकता। आदर्श गृहस्थजगत्में ये कवि उपदेशक ऊँच-नीचका भेद स्वीकार नहीं करते। इन कृतियोंमें विषयको स्पष्ट करनेके लिए लोकसामान्य-परिचित वस्तुओं, हल, बैल, जुआ, खारी जल, धतूराको अप्रस्तुत विधानके रूपमें स्वीकार किया गया है। सद्गृहस्थों (श्रावक)को ध्यानमें रखकर दिये गये इन उपदेशोंमें मन्दिर, पूजा, देवताओंका खण्डन नहीं किया गया है। किन्तु रहस्यचर्चा करनेवाले सिद्ध मुनियोंके प्रतिकूल उनको सुचारु रूपसे स्थापित करनेका अनुरोध किया गया है।

प्रबन्धात्मक साहित्य—मानव-जीवनका पूरा चित्र इस प्रकारकी रचनाओंमें मिलता है, अपभ्रंशका निखरा भाषा-स्वरूप, छन्दोंका कलात्मक प्रयोग, अलंकार-सौन्दर्य और युद्ध, प्रेम, वैराग्य, धर्म आदि मानव-जीवनके गम्भीर व्यापारोंका विस्तृत चित्रण अपभ्रंशके पुराण, चरित-काव्य और कथा-काव्योंमें मिलता है। इस काव्य-रूपके प्रमुख प्रतिनिधि कवि हैं—स्वयम्भू (९वीं शती ई० के लगभग), जिन्होंने रामकी कथापर आधारित 'पउमचरिउ' और महा-भारतकी कथा-परम्पराको लेकर 'रिट्ठणेमिचरिउ' जैसी विशाल कृतियोंकी रचना की। पुष्पदन्त (१०वीं शती ई०) ने जैन-परम्पराके महापुरुषोंकी कथाको लेकर 'महापुराण', 'णयकुमारचरिउ' और 'जसहरचरिउ'की रचना की। स्वयंभूके पहले और भी अनेक अपभ्रंश कवि हुए, जिनका उल्लेख उन्होंने अपनी कृतियोंमें किया है, जैसे द्रोण, चतुर्मुख, जटिल आदि। स्वयम्भू और पुष्पदन्तकी कृतियोंमें अपभ्रंशका अत्यन्त परिष्कृत साहित्यिक रूप मिलता है। इसके आगे तीर्थंकर या महापुरुषोंके जीवनको लेकर या

किसी व्रत-कथाके माहात्म्यको प्रकट करनेके लिए इस पज्झटिका, वात्ता, कडवक शैलीमें अनेक कृतियां लिखी जाती रहीं और यह क्रम विक्रमकी १६वीं शतीतक चालू रहा। इस प्रकारकी शैलीकी कृतियां हैं–पद्मकीर्ति (१०वीं शती ई०) का 'पासचरिउ', धवल (१०वीं-११वीं शती ई०) का 'रिट्ठणेमिचरिउ'–धनवाल (१०वीं शती ई०) का 'भविसयत्तकहा', हरिषेण (१०वीं शती ई०) की 'धम्म परिक्खा', वीर कवि (११वीं शती ई०) का जम्बु स्वामीचरिउ', नयनन्दि (११वीं शती ई०) का 'सुदंसणचरिउ' और 'सकल विधि-विधान-काव्य', कनकामर (११वीं शती ई०) कृत 'करकंडुचरिउ,' धाहिल (११वीं शती ई०) का 'पउमसिरीचरिउ', श्रीचन्द्र (११वीं-१२वीं शती ई०) का 'कथा-कोस', श्रीधर (१३वीं शती ई०) के 'सुकुमालचरिउ','पासणाहु-चरिउ' और 'भविसयत्तचरिउ', देवसेन गणिका 'सुलोयणा-चरिउ', सिंहका 'पज्जुण्णकहा', हरिभद्र (१२वीं श० ई०) के 'णेमिणाहचरिउ' और 'चन्दप्पहचरिउ', अमरकीर्ति (१२वीं शती वि०) का 'छक्कमोवएस' तथा सोमप्रभाचार्य (१३वीं शती ई०) का 'कुमारपालप्रतिबोध आदि। रयधू (१५वीं शती ई०) और यशःकीर्तितक यह परम्परा चलती रही। अपभ्रंश साहित्यकी प्रायः सभी विशेषताएँ इन प्रबन्धात्मक कृतियोंमें मिलती हैं। इन कृतियोंके रचयिताओंको बाध्य होकर अपनी कृतियोंको जहाँ-तहाँ धार्मिक रंग देना पड़ा है, किन्तु धार्मिक दैवत्वमें 'अद्भुत' तत्त्व नहीं मिलता, मानव-भूमिमें ही महापुरुष सम्बन्ध रखते दीखते हैं। अपभ्रंश साहित्यका विस्तार तथा उत्कर्ष देखनेके लिए यह धारा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

खंडकाव्य–विशुद्ध साहित्यिक खण्डकाव्य है अद्दहमाण (१३वीं शती ई०)का 'संदेशरासक'। इस सन्देश-काव्यमें ऋतुवर्णन तथा विरहवर्णनका अच्छा विस्तार किया गया है। गद्य-पद्य-मिश्रित कथा-काव्य विद्यापतिकी 'कीर्तिलता' भी है। काव्य-रूपोंकी दृष्टिसे तथा छन्द और विकसित भाषा-रूपोंकी दृष्टिसे इन कृतियोंका विशेष महत्त्व है।

हिन्दी साहित्यमें अपभ्रंशकी विभिन्न काव्य-धाराएँ प्रवाहित होती रहीं और केवल आधुनिक युगमें खड़ी बोलीके साहित्यिक भाषा पदपर आसीन होनेसे लगभग १५०० वर्ष पुरानी काव्यधाराएँ बिल्कुल एक अनजान दिशाकी ओर मुड़ गयीं। नहीं तो अपभ्रंशके छन्द तथा काव्य-के ढाँचे ज्योंके त्यों समयानुसार परिवर्तनोंके साथ आगे बढ़ते चले गये थे। भाषाके विकासकी परम्परा उन्हें रोकनेमें बाधक न हो सकी थी। इस दृष्टिसे हिन्दी भाषाका इतिहास भले ही १३-१४वीं शतीसे प्रारम्भ हुआ हो, किन्तु उसके साहित्यका प्रारम्भ तो लगभग छठी ई० से पहले ही हो चुका था। दोहा, पद्धडिया आदि जबसे मिलने लगते हैं, तभीसे यह प्रारम्भ माना जाना चाहिये।

[सहायक ग्रंथ–अपभ्रंश साहित्य हरिवंश कोछड]

–रा० सिं० तो०

अपरवक्त्र–वर्णिक छन्दोंमें अर्द्ध समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलछन्दःसूत्र'में (५ ४०) इसका लक्षण है। इस वृत्तके प्रथम-तृतीय चरणमें न, न, र, ल, ग, (।।।, ।।।, ऽ।ऽ, ऽ) और द्वितीय-चतुर्थ चरणमें न, ज, ज, र (।।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ) होते हैं। मैथिलीशरण गुप्तने साकेतमें इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०–'रह चिर दिन तू हरी भरा, बढ़ सुखसे बढ़ सृष्टि सुन्दरी। सुध प्रियतमकी मिले मुझे, फल जन जीवन दानका तुझे।' (साकेत सर्ग ९)। –पु० शु०

अपरांगव्यंग्य–गुणीभूत व्यंग्यका एक भेद। जो व्यंग्यार्थ किसी दूसरेका अंग हो जाता है उसे अपरांगव्यंग्य कहते हैं–दूसरेका अंग हो जाने अथवा दूसरेकी पुष्टि करनेके कारण वह स्वभावतः अप्रधान हो ही जाता है। रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य जहाँ किसी दूसरे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य या संलक्ष्यक्रमव्यंग्यके अंग हो जाते हैं अथवा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य जहाँ किसी दूसरे संलक्ष्यक्रमव्यंग्य या असंलक्ष्यव्यंग्यका अंग हो जाता है तो उसे अपरांगव्यंग्य कहते हैं। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भाव-शबलता नामक आठ अपरांगव्यंग्य होते हैं। जहाँ रस किसी दूसरे रस, भाव, रसाभास आदिका अंग बन जाता है तो उसे रसवत् (दे०) और जहाँ भाव गुणीभूतव्यंग्य बन जाता है अर्थात् किसी भाव, रस, रसाभास आदिका अंग बन जाता है तो उसे प्रेयस् अलंकार (दे०) कहा गया है। गुणीभूत भावाभास अथवा रसाभासको ऊर्जस्वी (दे०) तथा गुणीभूत भावशान्तिको समाहित अलंकार (दे०)की संज्ञा दी गयी है। भावोदय, भावसन्धि तथा भाव-शबलता भी दूसरेके अंग होकर आते हैं। ऐसे स्थलोंपर वे भी अलंकार माने जाते हैं, किन्तु उनका पृथक् नाम-करण नहीं किया गया है। इन्हें अलंकारकी संज्ञा प्राचीन अलंकारशास्त्रियों द्वारा दी गयी थी। ध्वनिके आचार्योंने इन अलंकारोंको 'मध्यम काव्य'के अन्तर्गत स्थान दिया है। इन्हें 'अलंकार' माननेका सबसे बड़ा तर्क यह है कि ये दूसरे (अपर)को सुशोभित किया करते हैं। इनके उदा० के लिए दे० रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता। –उ० शं० शु०

अपरिवृत्ति–परिवृत्तिका विपरीत अर्थालंकार। अलंकार-शास्त्रके लोकप्रिय एवं प्रमुख संस्कृत ग्रन्थोंमें परिवृत्ति अलंकारका उल्लेख हुआ है, पर अपरिवृत्ति अलंकारका नहीं। परिवृत्ति अलंकारका इतिहास जगन्नाथ पण्डितके 'रसगंगाधर'से भली भाँति ज्ञात होगा। उन्होंने परिवृत्ति अर्थात् विनिमयके दो भेद–समपरिवृत्ति एवं विषमपरिवृत्ति और फिर इनके भी दो-दो भेद बताये हैं। इनके अनुसार दाता ग्रहण भी करता है। पर अपरिवृत्ति अलंकारमें किसी चमत्कारपूर्ण उक्तिसे यह बताया जाता है कि दाताने दिया तो सही, पर ग्रहण कुछ नहीं किया। उदा०–'घन आनँद प्यारे सुजान सुनो, इत एक ही दूसर आँक नहीं, तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला, मन लेन हो देत छटाँक नहीं।' (घ० म०)। यहाँ मन (चित्त अथवा श्लिष्टार्थ –तौलमें एक मन) देनेके बदले दाताको कुछ भी न प्राप्त हुआ। –ज० कि० च०

अपवारित–नियतश्राव्यके दो भेदोंमेंसे एक। रंगमंचपर कोई पात्र दूसरी ओर मुँह करके दूसरेकी गुप्त बात कहता है तो उसे अपवारित कहते हैं। –व० सिं०

अपस्मार–प्रचलित तेंतीसमे एक सचारी भाव। 'नाट्यशास्त्र'में बताया गया है कि भूत-प्रेत इत्यादिसे आविष्ट होनेके स्मरणसे, छोड़े हुए शून्य स्थानोंमें जानेसे, आघात एवं व्याधि इत्यादिसे अपस्मार (मृगी रोग) होता है। इसके प्रभावमें व्यक्ति पृथ्वीपर लोटने लगता है, उसका शरीर काँपने लगता है, मुखसे फेन निकलने लगता है इत्यादि (नाट्यशास्त्र ७ ७३ ग)। इन सब घृणित चेष्टाओंका वर्णन न करके, रामचन्द्र गुणचन्द्रने केवल 'निन्द्यचेष्टित' शब्दका प्रयोग किया है। 'दशरूप'में धनिकने इसका उदाहरण माघके 'शिशुपालवध'के तृतीय सर्गमें प्रस्तुत समुद्रवर्णनसे लिया है और उसीका अनुकरण 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथने किया है। वास्तवमें वह अपस्मार नामकी व्याधिका उदाहरण हो सकता है, सचारी भावका नहीं। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने लक्षण देनेमें विश्वनाथ आदिका अनुसरण किया है। देवके अनुसार–'अधिक दु ख अति भय असुचि, सूने ठौर निवास। अपस्मार जँह भूतगन, कम्प फैन मुख स्वाँस।' (भाव०—संचारी०)।

इस संचारी भावका देव द्वारा प्रस्तुत उदाहरण–'भूलि गयी गुरु लोगकी लाज गये ग्रह काज गली ग्रह गाढे। भीतनिसौं अभिरैं भहराइ गिरैं फिर धाइ फिरैं मुख काढे।' (भाव०—सचारी०)। परन्तु इस वर्णनमें–'सुनिके आये मधुपुरी हरि जदुकुल अवतंस। वढ्यो स्वास भूतल पर्यो अति कम्पित है कंस।' (रस०मं०, पृ० १४१) 'अपस्मार'की स्पष्ट व्यजना है।

यद्यपि प्रधानत अपस्मार व्याधि है, तथापि जैसा 'मन्दारमरन्द चम्पू'में भी कहा है यह भयादिसे उत्पन्न होता है। अत वीभत्स और भयानक रसमें सचारी माना जा सकता है। वैसे भावातिरेकके कारण यह शारीरिक अवस्था ही है और अलंकार-शास्त्रकी अपेक्षा आयुर्वेदका विषय अधिक है। —ज० कि० व०

अपहसित–दे०–'हास्य रस'।

अपह्नुति–सादृश्यगर्भ भेदाभेद आरोपमूल अर्थालंकारका एक भेद। यह सर्वमान्य अलकार है। शब्दार्थ है गोपन या निषेध। प्रारम्भिक आचार्योंमें दण्डी किसी वस्तुका निषेध करके अन्यके प्रस्तुत करनेको अपह्नुति मानते हैं, इसमें औपम्य आवश्यक नहीं है। पर वामनने उपमानसे उपमेयके निषेधके रूपमें अपह्नुतिको माना है–'समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुति।' (का० सू० वृ० ४ ३ ५) तुल्यसे अन्यका अपलाप करना। रुद्रटने इसको अधिक स्पष्टता प्रदान की है–'जिसमे अति सादृश्यके कारण सत्य होनेपर भी उपमेयको असत्य कहकर उपमानको सत्य सिद्ध किया जाता है।' (काव्यालकार ८ ५७)। मम्मटने बहुत कुछ इसीको सक्षेपमें रखा है—'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुति।' (का० प्र० १० ९६) जहाँ प्रकृतका निषेध करके अप्रकृतकी सिद्धि की जाती है। मम्मटतक इसके भेदोंका स्पष्ट विकास नहीं हुआ है, यद्यपि दण्डीसे ही भेद-विस्तारका निर्देश मिलता है–'इत्यपह्नुतिभेदाना लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तर।' (काव्यादर्श २ ३०९)। विश्वनाथका लक्षण मम्मटसे लिया गया है, पर उन्होंने इसके तीन स्पष्ट भेद स्वीकार किये है–प्रथममें आरोपकी सिद्धि बादमे होती है और सत्यका निषेध पहले, द्वितीयमें सत्यका निषेध बादमें होता है और आरोप पहले। एक तीसरे प्रकारमें गोपनके लिए श्लेष आदिके प्रयोगसे निषेध किया जाता है। रुय्यकने 'अलकारसर्वस्व'में तीन भेद स्वीकार किये थे—'निषेधपूर्वक आरोप, आरोपपूर्वक निषेध तथा छल आदि शब्दसे असत्यके प्रतिपादन द्वारा निषेध' (पृ० ५०)। स्पष्ट ही विश्वनाथके भेद इनपर आधारित है। इसके अन्य भेदोंका विस्तार बादमें नव्य आलकारिकोंने किया है। जयदेवने 'चन्द्रालोक'में अपह्नुतिका लक्षण देकर चार भेदों–पर्यस्त, भ्रान्त, छेक, कैतवकी विवेचना की है। अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में प्रथम भेदको 'शुद्ध' नाम दे दिया है और एक नया भेद 'हेतु' जोड दिया है।

हिन्दीमें केशवने इस अलकारको दण्डीसे ग्रहण किया और भेद नहीं दिये है। जो उदाहरण है वह छेकापह्नुतिका है, यद्यपि दण्डीमें दूसरे भेद भी हैं। अन्य आचार्योंने प्राय जयदेव ओर अप्पय दीक्षितके अनुसरणपर इसके छ भेदोंको यथावत् स्वीकार किया है। आधुनिक विवेचकोंमें कन्हैयालाल पोद्दारने इन भेदोंको शाब्दी, आर्थी तथा निरवयवा, सावयवाके अन्तर्गत स्वीकार किया है (अ०म०, पृ० १७५) तथा रामदहिन मिश्रने विशेषापह्नुतिका एक भेद और माना है (का० द० पृ० ३६९)।

१. शुद्धापह्नुति–एक प्रकारसे जयदेवने अपह्नुतिकी जो सामान्य परिभाषा दी है, 'अतथ्यमारोपयितु तथ्याऽपह्नुति' (चन्द्रालोक ५ २४) उसको अप्पय दीक्षितने शुद्धापह्नुति माना है और इसीको हिन्दीके आचार्योंने लक्षणरूपसे स्वीकार कर लिया है–'औरैको आरोपिये, साँच छिपावत धर्म।' (ल० ल० ८७)। भूषणने धर्मके स्थानपर 'बात'का ही प्रयोग किया है। दासने 'और धरम जहँ थापिये, साँचो धरम दुराइ।' (का० नि० ९) कहकर 'धर्म'पर बल दिया है। इसमें वास्तविक उपमेयका निषेध करके उपमानका आरोप किया जाता है–'धाये धुरवान छाये धूरिके पटल व्योम, गाजिवो न बाजिवो है दुन्दुभि दराजको।' (शि० भू० ८१) अथवा 'वे दो ओठ न थे राधे, था एक फटा उर तेरा।' (द्वापर)। इनमें बादलों तथा ओठका निषेध करके दुन्दुभि तथा उरका आरोप किया गया है। इसे शाब्दी भी कहते है।

२ हेत्वपह्नुति–यह भेद अप्पय दीक्षितके द्वारा उल्लिखित हिन्दीमें अपनाया गया है 'जहाँ जुगुतिसो आनको, कहिये आन छिपाय।' (शि० भू० ८०) अथवा 'जुक्तिसौं, इकको धरम छिपाय। और विषे आरोपिये' (पद्मा० ४७) अर्थात् जहाँ उपमेयके निषेधके कारण दिखलाते हुए उपमान-(और)की स्थापना हो। उदा०–'सिव सरजाके कर लसैं, सोन होय किरवान। भुज भुजगेस भुजगिनी भखति पौन अरि पान।' (शि० भू० ८३) अथवा–'पहले आँखोंमे थे मानसमें कूद मग्न प्रिय अब थे। छींटे वहीं उडे थे बड़े-बड़े अश्रु वे कब थे।' (साकेत)। इनमें निषेधके साथ 'भखति' तथा 'कूदना' आदि कारणोंका उल्लेख भी है।

३ पर्यस्तापह्नुति–पर्यस्तका अर्थ है फेंका हुआ। जयदेवके अनुसार इसका लक्षण है 'यत्र धर्मनात्र निषिध्यते'

(चन्द्रालोक ५।२५)। हिन्दीमें इसी आधारपर लक्षण दिया गया है–'धर्म और म राखिये, धर्मी साँचु छपाय।' (ल० ल० ९१) अथवा 'धर्मी धरम ले थापि और ठाम।' (पद्मा० ४९)। दासने 'मेटि औरको गुन जहाँ करै और को थाप।' (का० नि० ९) माना है। वस्तुतः इसमें किसी वस्तुके धर्मका निषेध दूसरी वस्तुमें उसके आरोपके लिए किया जाता है। उदा०–'कालकूट विष नहिं, विष है केवल इन्दिरा। हर जागत छकि याहि वा नग हरि नींदौं न तजत।' (का० नि० ९) अथवा 'तेरे ही भुजनिपर भूतलको भार, कहिवेकौ सेसनाग दिगनाग हिमाचल हैं।' (शि०भू० ८७)। जगन्नाथ तथा 'अलंकारसर्वस्व'की टीका विमर्शिनीकारने इसे 'दृढारोपरूपक' माना है। उनके अनुसार इसमें उपमेयका निषेध नहीं उपमानका निषेध किया जाता है और इस प्रकार उपमेयमें उसका दृढ आरोप होता है।

४ भ्रान्तापह्नुति–जयदेवके अनुसार 'अनस्य शंकया तथ्य-निर्णये' (चन्द्रालोक ५।२६)। हिन्दीमें इसीके आधारपर–'संक आनकी होत ही, जहँ भ्रम कीजै दूरि।' (शि० भू० ८८) अथवा–'भ्रम काहूको ह्वै गयो, ताको मिटवत आप।' (का० नि० ९) लक्षण दिये गये हैं। इसमें सत्य बात प्रकट करके किसीके भ्रमको दूर किया जाता है–'आनन है अरविंद न फूले अलीगन भूले कहा मँडरात हौ। बोलनी बाल न बाजती बीन कहा सिगरे मृग घेरति जात हौ।' (का० नि० ९)। यहाँ भ्रान्ति कविकल्पित है, पर अन्यत्र सम्भव भी हो सकती है–'मान सरोवर जातु अब, लखि नभ मेघ वितान। तिन हंसनको मधुर रव, नूपुर धुनि जिन जान।' (पोद्दार अ० म०)।

इस अपह्नुतिमें उपमेयके स्थानपर उपमानका निषेध है। इसी कारण विश्वनाथने इसको 'निश्चय' नामक स्वतन्त्र अलंकार माना है। दण्डीने 'तत्त्वाख्यानोपमा' नामक उपमाका ही भेद माना है।

५ छेकापह्नुति–जयदेवके अनुसार 'अनस्य शंकया तथ्य-निह्नवे।' (चन्द्रालोक ५।२७), हिन्दीमें इसीके आधार-पर–'जहाँ औरकी संकतें, साँच छपावत बात।' (ल० ल० ९५) लक्षण दिये गये हैं। दासका लक्षण किंचित् भिन्न है–'काहू बूझ्यो मुकरिकै औरै कही बनाइ।' (का० नि० ९)। और इसीको पद्माकर 'साँच दुरावे जुक्ति सों' (पद्मा० ५१) कहते हैं। इसमें किसी बातके प्रकट होनेपर मिथ्या समाधान द्वारा छिपाया जाता है–'तिमिर वंस हर अरुन कर, आयो सजनी भोर। सिव सुरजा, चुप रहि सखी, सूरज कुल सिर मौर।' (शि० भू० ९०)। खुसरोकी मुकरियाँ (द्र०) इसीके अन्तर्गत आती हैं।

६ कैतवापह्नुति–जयदेवके अनुसार 'व्यज्यमानत्वे व्याजाद्यैर्निह्नुते पदे।'(चन्द्रालोक ५।२८) हिन्दीमें इसीके आधार-पर–'जहँ कैतव छल व्याज मिस, इनसों होत दुराव।' (शि० भू० ९५) अथवा–'जहाँ औरके व्याजतें, करै जु कारज और।' (पद्मा० ५७) लक्षण दिये गये हैं। जिसमें उपमेय (प्रस्तुत)का प्रत्यक्ष निषेध न करके कैतव अर्थात् मिस, व्याज आदि शब्दोंमें निषेध किया जाय–'यों लछिराम छटा नख नौल तरंगनि गंग प्रभा फल पेनी। मैथिलीके चरनाम्बुज व्याज लसै मिथिला मग मंजु त्रिवेनी।' (पोद्दार : अ० म०)। यहाँ चरणोदकका निषेध 'व्याज'से किया गया है। अथवा–'मुख बाल रवि सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ। प्रत्यार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ।' (जयद्रथवध)। इसको आर्थी अपह्नुति भी कहा गया है। —रा०

अपुष्ट–दे०–'अर्थ-दोष', पहला।

अप्रतीति–दे०–'शब्द-दोष', चौदहवा पद-दोष।

अप्रयुक्त–दे०–'शब्द-दोष', तीसरा पद-दोष।

अप्रस्तुत–'उपमान'का एक पर्याय, उपमाके चार प्रमुख अंगोंमेंसे एक अंग। उपमानको 'अप्रस्तुत' कहनेका कारण है कि प्रस्तुत वर्ण्य नहीं है, वरन् कवि द्वारा इसको लाया गया है, जैसे 'हरि पद कोमल कमलसे' इसमें 'कमल' अप्रस्तुत है, क्योंकि प्रस्तुत 'पद'की समताके लिए 'कमल' अप्रस्तुतमें कविने इसका वर्णन किया है।

रामचन्द्र शुक्लने उपमानके लिए 'अप्रस्तुत' शब्दका प्रयोग किया है। इनके अनुसार 'प्रस्तुत वस्तु और आलंकारिक वस्तुमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव हो, अर्थात् अप्रस्तुत (कवि द्वारा लायी हुई) वस्तु प्रस्तुत वस्तुसे रूप-रंग आदिमें मिलती-जुलती हो।' इस कथनसे दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो अप्रस्तुत आलंकारिक वस्तु है और दूसरे वह कवि द्वारा लायी जाती है। इन्होंने 'उपमान' शब्दके स्थानपर अप्रस्तुतविधान और अप्रस्तुतयोजना इन दो शब्दोंका प्रयोग किया है। इनमें दूसरा अधिक युक्तिसंगत है। कारण, 'अप्रस्तुत' शब्द विशेषण है। विश्वनाथने इसी रूपमें इसका प्रयोग किया है–'अप्रस्तुत-प्रस्तुतयोर्दीपकं' (सा० द० । १०।४९)। किन्तु 'अप्रस्तुत-विधान' शब्दमें 'अप्रस्तुत'का प्रयोग विशेष्य रूपमें हुआ है। जहाँ विशेष्य रूपसे इसका प्रयोग होता है, वहाँ अर्थपरिवर्तन हो जाता है। ऐसे प्रसंगोंमें इसका अर्थ होता है विषयविरुद्ध बोलना, अनर्गल प्रलाप करना, आदि। अतः 'अप्रस्तुतविधान' शब्द 'उपमान'के लिए उतना उपयुक्त अर्थबोधक नहीं, जितना कि 'अप्रस्तुत-योजना' है।

आधुनिक कालमें 'उपमेय' और 'उपमान'के स्थानपर 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत'का अधिक प्रचलन हो गया है। अप्रस्तुत या उपमानको अप्रासंगिक, अप्राकरणिक, अप्रकृत तथा अप्रधान भी कहते हैं। किन्तु 'उपमान' शब्द अत्यन्त प्राचीन है और इसीके प्रयोगकी परिपाटी चली आ रही है। 'अप्रस्तुत'के प्रयोगके औचित्यके सम्बन्धमें कतिपय विचारकोंका कथन है कि 'उपमान' शब्द अपने-आपमें जितने व्यापक अर्थका बोधक है, उससे कहीं अधिक व्यापक अर्थकी प्रतीति 'अप्रस्तुतयोजना' शब्दसे होती है। 'उपमान' शब्दसे यह ध्वनित होता है कि इसका प्रयोग केवल औपम्यगर्भ अलंकारोंमें ही हो सकता है, और जहाँ तुलना हो वहीं ही इसके प्रयोगका औचित्य निहित है। परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। सादृश्य-गर्भ अलंकारका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। रामदहिन मिश्रके शब्दोंमें 'अप्रस्तुतयोजना' बाहरसे लायी जानेवाली सारी वस्तुओंकी ग्रहण करती है, चाहे अप्रस्तुतका कैसा

ही रूप क्यों न हो। अप्रस्तुत विशेष्य हो, विशेषण हो, क्रिया हो, मुहावरा हो, चाहे कुछ हो—इसके भीतर सब समा जाते हैं (दे० काव्यमें अप्रस्तुतयोजना)।

आलंकारिक योजनाके 'उपमेय' और 'उपमान' (अथवा अप्रस्तुतयोजना) इन दो उपादानोंमेंसे अप्रस्तुतयोजनाका विशेष महत्त्व है। यह काव्यका प्राणतत्त्व है। इससे काव्यमें रसार्द्रता, प्रभविष्णुता, प्रेषणीयता और मर्मस्पर्शिताका सचार होता है। इसी 'अप्रस्तुतयोजना'के द्वारा काव्यगत भाव प्रमाताके लिए सवेदनीय बनता है। 'अप्रस्तुतयोजना'से प्रकृष्ट रूपमें सयोजित कविता पाठक एव श्रोताको काव्यानन्द प्रदान करनेमें समर्थ होती है। कवि जितना ही भावप्रवण और सहृदय होगा, उतनी ही उसकी अप्रस्तुत योजना मार्मिक एव अखण्ड आनन्दका स्रोत होगी। —वि० स्ना०

अप्रस्तुत प्रशंसा—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्राचीनोंसे स्वीकृत अर्थालंकार। इस अलकारका क्रम-विकास देखा जा सकता है। भामह तथा उद्भट आदिने अप्रस्तुतकी प्रशंसा द्वारा प्रस्तुतके अभिधानमें कारणकी खोज नहीं की है। उद्भटके व्याख्याकार प्रतीहारेन्दुने सम्बन्धका सकेत अवश्य किया है। रुय्यकने 'अलकार-सर्वस्व'में इनका विस्तृत विवेचन किया है और त्रिविध सम्बन्ध स्वीकार किया है—१. सामान्य विशेषरूप सम्बन्ध, (क) सामान्यसे विशेषकी प्रतीति, (ख) विशेषसे सामान्यकी प्रतीति। २ कार्यकारणभाव रूप, (क) कार्यसे कारणकी और (ख) कारणसे कार्यकी प्रतीति। ३. सारूप्य, (क) साधर्म्य, (ख) वैधर्म्यपूर्वक तुल्यसे तुल्यकी प्रतीति। मम्मटने इन भेदोंको स्वीकार करके भी त्रिविध सम्बन्धका उल्लेख नहीं किया है। मम्मटका लक्षण उद्भटके लक्षणका परिष्कृत रूप है—'अप्रस्तुत अथवा अप्रकृतकी ऐसी वर्णना जो प्रस्तुत अर्थकी प्रतीतिका आश्रय हुआ करती है।' (का० प्र० १० ९८)। विश्वनाथने इन्हीं पाँचका उल्लेख करके 'अप्रस्तुतात्प्रस्तुत चेद्गम्यते'को अप्रस्तुतप्रशसा माना है (सा० द० १० ५९)। जयदेवने इन भेदोंको माना है, पर अप्पय दीक्षितने भेद नहीं दिये हैं। हिन्दीके जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण आदि आचार्योंने अप्पय दीक्षितके आधारपर भेद नहीं माने हैं—'प्रस्तुत लीन्हें होत जह अप्रस्तुत परसस।' (शि० भू० १६८)। चिन्तामणि, कुलपति, दूलह और पद्माकर आदिने पाँच भेदोंका वर्णन किया है।

१ कारण निबन्धना—प्रस्तुत कार्यका बोध करानेके लिए अप्रस्तुतके कारणका कथन—'सरद सुधाकर बिंबसों लैकै सारि सुधारि। श्री राधा मुखकौ रच्यौ चतुर बिरचि विचारि।' (अ० म० ३३५)में राधाके मुख-सौन्दर्यके वर्णनके लिए चन्द्रमाका सारभाग विधाता द्वारा निकाला जाना रूप कारण कहा गया है। दासका उदाहरण—'एक ही भागते तीनहूँ लोकनी रूपवती जुवतीन सँवारी।' (का० नि० १२)।

२ कार्य निबन्धना—प्रस्तुत कारणका बोध करानेके लिए अप्रस्तुत कार्यका कथन—'मै लै दयौ लयो सुकर छुवत छिनकि गौ नीरु। लाल तिहारो अरगजा उर ह्वै लग्यौ अबीरु।' (वि० रत्ना० ५३५)। यहा नायकका अनुराग प्रस्तुत (अभीष्ट) है, पर उसको न कहकर नायिकाके विरहजनित अप्रस्तुत तापका आधिक्य कथन है, जो वस्तुत अनुरागका कारण है। अथवा 'ब्रजकी अहीरिनिके असुवा वलित आइ। जमुना जराति मोहि महानल झार मे।' (का० नि० १२)।

३ विशेष निबन्धना—सामान्य प्रस्तुतके लिए अप्रस्तुत-विशेषका कथन—'मृगकौ लै निज अक ससि, मृग लाछन कहि जाय। नित मारत मृग अमित वह, मृगपति सिंह कहाय।' (अ० म० ३३७)। यहा प्रस्तुत (अभीष्ट) है। 'नम्रता दोष है, क्रूरता गौरवकी वस्तु', परन्तु इस सामान्यका कथन न करके चन्द्र-सिंह (अप्रस्तुत)का उल्लेख किया गया है। अथवा—'नीरकी पीर निवारिवेको छीर घरी ही घरी उफनात है।' (का० नि० १२)। वस्तुत अर्थान्तरन्यासमें भी सामान्यविशेष सम्बन्धका कथन होता है, पर वहा दोनों ही प्रस्तुत होते हैं, जब कि अप्रस्तुतप्रशसामें सामान्य-विशेषमें एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत रहता है।

४ सामान्य निबन्धना—विशेष प्रस्तुतके लिए अप्रस्तुत सामान्यका कथन—'बडे प्रबलसों बैर करि, करत न सोच विचार। ते सोवत बारदपर, पटमें बाँधि अंगार।' (पद्मा० ११५)। यहाँ आगत विपत्तिमें निश्चिन्त व्यक्तिका कथन न करके (अप्रस्तुत) सामान्यका वर्णन किया गया है। अथवा—'काज हितूके लगें तन प्रान जो दान ते नेक नहीं मुख मोरें।' (का० नि० १२)। यहाँ विरह-सन्तप्त नायकसे मिलन रूप विशेषकी प्रतीति सामान्य कथन द्वारा की गयी है।

५. सारूप्य निबन्धना—प्रस्तुतको न कहकर उसके समान अप्रस्तुतका कथन—(क) श्लेषहेतुक, जिसमें विशेषण-विशेष्य दोनों श्लिष्ट होते हैं—'यूथप तेरे मान सम, थान न इतै लखाँहिं। क्यों हू काट निदाघ दिन, दीरघ कित इत छाँह।' (अ० म० ३४१)। यहाँ यूथप (हाथी और सामन्त) और मान दोनों ही श्लिष्ट हैं। (ख) श्लिष्ट विशेषण, जिसमें केवल विशेषण श्लिष्ट होता है—'धिक तेली जो चक्रधर, स्नेहिन करत विहाल। पारथिवन विचलित करत, चक्री धन्य चलाइ।' (अ० म० ३४२) यहा 'चक्रधर', 'स्नेही' आदि विशेषणमात्र श्लिष्ट हैं। परन्तु इसमें समासोक्ति अलकार नहीं है, क्योंकि उसमें प्रस्तुतके वर्णनमें अप्रस्तुतकी प्रतीति होती है, यहा अप्रस्तुतके कथनमें प्रस्तुतका वर्णन है। (ग) सादृश्यमात्र, जिसमे केवल समानता द्वारा अप्रस्तुतका वर्णन प्रस्तुतकी प्रतीति कराता है—'रुडि बाँधि किय स्याम तन, नाहीको अनुहार। क्यों रासभ लै चलहिगो, गुरु गयन्दको भार।' (पद्मा० ११३)। इसको अन्योक्ति भी कहते हैं (दे०)।

रूपकातिशयोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशसामें प्रस्तुतका कथन न किया जाकर अप्रस्तुतका वर्णन होता है। परन्तु प्रथमका अप्रस्तुतका वाच्यार्थ असगत होता है और दूसरेका अप्रस्तुतवर्णन सम्भव। इसी प्रकार समासोक्तिमें प्रासगिक-(प्रस्तुत)के वर्णन द्वारा अप्रासगिक(अप्रस्तुत)की प्रतीति करायी जाती है, जब कि इसमे अप्रस्तुतके वर्णन द्वारा प्रस्तुतकी प्रतीति। —रा०

अभवन्मतसम्बन्ध—दे० 'शब्द दोष', 'समस्त', 'वाक्य-दोष'।

अभाववाद–'ध्वन्यालोक'में उल्लिखित तीन सम्भाव्य ध्वनि विरोधी मतोंमें पहला मतवाद। ध्वनि पूर्व प्राचीन काव्यशास्त्रके ग्रन्थोंमें ध्वनिसिद्धान्तके अभावको देखकर ही ध्वनिकारने अभाववाद अथवा अभाववादियोंकी कल्पना की है। इन अभाववादियोंके अन्तर्गत तीन प्रकारके विरोधी हो सकते हैं–(१) कुछ तो यह कह सकते हैं कि शब्द और अर्थ तो काव्यके शरीर हैं ही, काव्यका जो चारुत्व है वह तो उनमें है ही–शब्दका सौन्दर्य शब्दगुण तथा शब्दालंकारमें तथा अर्थका सौन्दर्य अर्थगुण तथा अर्थालंकारोंमें विद्यमान् हैं और इसी प्रकार वर्णसंघटनाके माधुर्यादिक गुण, वृत्तियाँ तथा रीतियाँ आदि प्रतिष्ठित हो ही चुकी हैं। उन तत्त्वसे भिन्न ध्वनि नामक यह कौन-सा पदार्थ है? (तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति–हिं० ध्व० पृ० ७)। (२) दूसरे कहते हैं कि ध्वनि नामकी कोई वस्तु है ही नहीं, क्योंकि पूर्ववर्ती किसी आचार्यने उसका नामोल्लेख नहीं किया है। प्राचीनोंने शब्द-अर्थके चारुत्वको ही काव्यका लक्षण माना है। वे ध्वनिके नये आविष्कारको नहीं स्वीकार करेंगे। (३) कुछ यह भी कह सकते हैं कि ध्वनि नामके नये सिद्धान्तके आविष्कार-का दावा मिथ्या है। प्राचीनोंने गुणालंकारों आदिके अनेक भेदोपभेद निरूपित किये हैं। उन्होंनेसे किसीमें ध्वनिका अन्तर्भाव सम्भव है।

इस प्रकारके सम्भावित विरोधियोंके पक्षको अज्ञान-मूलक कहा गया है, क्योंकि वह ध्वनिको केवल यह कह-कर अस्वीकृत करता है कि प्राचीनोंने उसका कोई उल्लेख नहीं किया है अथवा उसका समाहार प्राचीनों द्वारा प्रवर्तित किसी सिद्धान्तमें हो सकता है। —उ० शं० शु०

अभिजात वर्ग–सामन्तवादी व्यवस्थामें यह वर्ग समाजका उच्चतम वर्ग था। अँग्रेजीमें इसे 'एरिस्टोक्रेसी' कहते हैं। इस वर्गके अन्तर्गत बड़े-बड़े ताल्लुकेदार, नवाब और जमींदार आते हैं, जिनके व्यक्तिगत जीवनमें शारीरिक श्रमका कोई स्थान नहीं होता। —रा० कु० त्रि०

अभिधामूलाध्वनि–दे०–'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि'।

अभिधा शक्ति–मम्मटके अनुसार–'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।' (का० प्र० २ : ८), अर्थात् साक्षात् संकेतित (गुण, जाति, द्रव्य तथा क्रिया-वाचक) अर्थ जिसे मुख्य अर्थ कहा जाता है, उसका बोध करानेवाले व्यापारको अभिधा व्यापार या शक्ति कहते हैं। इस शक्तिके द्वारा तीन प्रकारके शब्दोंका अर्थबोध होता है रूढ शब्द–जिन शब्दोंका अर्थबोध समुदाय-शक्ति द्वारा होता है। ये शब्द समूचे ही अर्थ व्यक्त करते हैं-इनकी व्युत्पत्ति नहीं होती है–जैसे, गढ, घोडा आदि। यौगिक शब्द–जिन शब्दोंका अर्थबोध अवयवों (प्रकृति और प्रत्ययों)की शक्ति द्वारा होता है, जैसे, दिवाकर, सुधांशु, आदि। योगरूढ-शब्द–जिनका अर्थबोध समुदाय तथा अवयवोंकी शक्तिके सहयोगसे होता है। ये शब्द यौगिक होते हुए भी रूढ होते हैं, जैसे, जलज तथा वारिज-का यौगिक अर्थ जलमें उत्पन्न वस्तु है पर योगरूढ अर्थ केवल कमल स्वीकृत है।

अभिधेयार्थ विरोध–दे०–'वर्णन-दोष,' पाँचवाँ।

अभिनय–'अभिनयति हृद्गत भावान् प्रकाशयति।' मनके क्रोधादि भावको प्रकट करनेवाली आंगिक चेष्टाओं द्वारा किसी विषय अथवा व्यक्तिका प्रकृत अनुकरण करके प्रदर्शित करनेको अभिनय कहते हैं। किन्तु अभिनयमें बाह्य कार्य प्रदर्शित करना उतना अभिप्रेत नहीं होता, प्रत्युत प्रकृत मनका भाव व्यक्त करना ही इसका प्रधान उद्देश्य होता है। नाट्यशास्त्रके अनुसार अभिनय चार प्रकारसे सम्पन्न किया जाता है–

१–आंगिक, २–वाचिक, ३–आहार्य और ४–सात्त्विक। नेत्र और मुखके हाव-भाव तथा हस्तपादादि अंगोंके सचालन द्वारा किसी प्रकृत विषयके अनुकरण करनेको आंगिक कहते हैं। वीभत्स, करुण, रौद्र, प्रभृत रसयुक्त वाक्य द्वारा मानसिक भावोंके अनुकरणको वाचिक कहते हैं। वस्त्राभरणको आहार्य कहते हैं, जैसे, लव-कुश-के अभिनयके लिए अभिनेताओंकी अवस्था बारह वर्षके लगभग तथा वेश-भूषा ऋषि-बालकोंकी-सी होनी चाहिये। अतः इन बातोंको ध्यानमें रखकर लव-कुशकी प्रकृत मूर्तिके अनुकरणको आहार्य कहेंगे। स्तंभ, स्वेद, रोमांच, आदिको सात्त्विक भाव कहते हैं। ये भाव मुख, हस्तपाद, आदिकी विशेष भंगी एवं रोमांच और अश्रुपातसे अभिनीत होते हैं। नाट्यशास्त्रने उत्कृष्ट अभिनयके अनेक आवश्यक गुण माने हैं, जैसे, अनुकरण-कुशलता, दृष्टि-सौष्ठव, श्रुति-माधुर्य एवं परिहास, इत्यादि। भारतमें अभिनयका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। संस्कृत भाषामें भासने सर्व-प्रथम नाटक लिखा था। इस पुस्तकका काल-निर्णय करनेसे मालूम होता है कि सवा दो हजार वर्ष पहले इस देशमें अभिनय प्रारम्भ हुआ होगा। नाट्यकलाके उद्भवके सिलसिलेमें प्रायः यूनानी नाटकोंका नाम सबसे प्रथम लिया जाता है। किन्तु अनुकरण, नकल तथा आधुनिक कालमें जिसे अभिनय कहते हैं, इन सबके मूल कारण हमें मनुष्यकी आदिम जातियोंका अध्ययन करनेसे प्राप्त होंगे। अनुकरण करनेकी वृत्ति ही संसारभरके बालकोंमें सबसे अधिक पायी जाती है। यह प्रवृत्ति पशुओंमें भी पायी जाती है। हैवमियर अपनी 'दि ड्रामा आफ सैवेज पीपुल्स'में कहता है कि असंख्य जातियोंकी इस अनुकरण-वृत्तिके पीछे दो प्रयोजन होते हैं–एक तो इनसे वास्तविक अनुभूतिके समान ही आनन्द प्राप्त होता है, दूसरे, मनुष्यको दूसरोंके सम्मुख अनुभूतियोंकी अभिव्यक्ति करनेका अवसर मिलता है। अर्थात्, यह भी अपने-आपमें एक प्रकारकी भाषा है। इस दूसरे उद्देश्यसे हाव-भाव एवं मुद्राओंका विकास हुआ। हमारी संस्कृतिके समान ही नाट्यप्रवृत्तिका उद्भव भी प्राचीनतम है तथा इसका पूर्ण विकास भी सबसे बादमें हुआ है। आधुनिक उन्नत नाटकों एवं प्राचीन अविकसित नाटकोंकी यदि तुलना की जाय तो आधारभूत सिद्धान्त हमें दोनोंमें वही मिलेंगे। रुचि-परिष्कार एवं संस्कृतिके विकासके साथ-साथ हमारी अभिनय कलाका विकास हुआ है। मिस्र, यूनान, जापान तथा इटलीमें अभिनयकलाके क्रमिक विकासके हमें विवरण मिलते हैं। इटलीने इस दिशामें विशेष उन्नति की। इंग्लैण्डमें शेक्स-पियरने अभिनय कलापर बहुत जोर दिया। उसने अपने

नाटकोंमें चरित्रचित्रणमें विशेष कुशलता प्रदर्शित की और मानव-समाजके प्रत्येक प्रकार (टाइप)का उसने अपने दु खान्त एव सुखान्त नाटकोंमें चित्रण किया है। 'हैमलेट' द्वारा उसके अभिनेताओंको दिये जानेवाले भाषणमें शेक्स-पियरने अभिनयकलाके महत्त्वके विषयमें अपने निजी विचार विस्तारसे प्रकट किये हैं और उत्कृष्ट अभिनय-कलाके तत्त्वों एवं महत्त्वपूर्ण अगोंकी विशद् व्याख्या की है।

१८वीं शताब्दीमें अभिनयकलाको लेकर विभिन्न सिद्धान्त एव सुनिश्चित भेद प्रकट होने लगे। फ्रासीसी विश्वकोशकार डेनिस डाइडरॉटने फ्रासीसी परम्परागत शास्त्रीय नाटकोंसे ऊबकर उसके विरोधमें नाटकमें वास्त-विक जीवनके चित्रणका सिद्धान्त स्थापित किया। बीसवीं शताब्दीमें अभिनयकलाके कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये अभिनयकी विभिन्न पाठशालाओं एव परिषदोंमें (उदाहरणत इग्लैण्डमें बर्किंघमका 'रिपेर्टरी थिएटर' तथा लिवरपूल स्थित 'रिपेर्टरी थिएटर', आयर्लैण्डमें डबलिन स्थित ऐबे थिएटर इत्यादि)। १९१० में मास्को आर्ट थिएटरके विख्यात निर्माता एव निर्देशक स्टैनिसलावस्कीने अभिनयमें स्वाभाविकतावादका सिद्धान्त स्थापित किया। उसने अपने अभिनेताओंको यह आदेश दिया कि वे जिन पात्रोंका चरित्र चित्रित करने जा रहे हों उनके वार्तालापों एव कार्योंका मनन करके उन्हें आत्मसात् कर लें और इस प्रकार उन पात्रोंको सजीव कर दें। वे यह न समझें कि वे नाटकमें अभिनय कर रहे हैं, वरन् उन्हें यह समझना चाहिये कि वे वास्तविक जीवनमें कार्य कर रहे हैं। यह मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकतावाद अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और अभिनयमें अस्वाभाविकताको अवाछनीय समझा जाने लगा। लगभग इसी समय स्टैनिसलावस्कीके अभिनय-सिद्धान्तके विरोधमें एक दूसरा सिद्धान्त चला जिसे प्रतीकवादियों, अभिव्यंजकवादियों, इत्यादिने चलाया। इस सिद्धान्तके अनुसार नाटकमें अस्वाभाविकता एव अलौकिकताका समर्थन तथा स्वाभाविकताका विरोध किया गया। यही कारण है कि आधुनिक नाटकोंमें एक ओर जहाँ यथार्थवाद तथा अतियथार्थवादकी झलक देखनेको मिलती है, वहीं दूसरी ओर काल्पनिकता तथा अति-भावात्मकतासे पूर्ण भावनाओंका प्राचुर्य मिलता है। —श्या० मो० श्री०

अभिनेता–अनुकर्ता (अभिनयकर्ता) अभिनेता कहलाते हैं। अभिनेतामें गुणोंके अनुसार धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोदात्त, धीरोद्धत तथा अवस्थानुसार दक्षिण, शठ, धृष्टनायक, पीठमर्द, उपनायक, पतिनायक, नायिका, नायिकाकी दूतियाँ आदि पात्र-पात्रियाँ आती हैं। अभिनेता-के द्वारा ही नाट्यादिकी कथा प्रेक्षकोंके सामने आकर्षक रूपमें आती है और पाठक अध्ययन-कक्षमें जिन चारित्रिक विशेषताओं और भावोंकी गहराइयाँ नहीं समझ पाता उन्हें अभिनेता नाट्य-संकेतोंके अनुकूल अभिनयसे प्रत्यक्ष कर देता है। —वि० रा०

अभिप्राय–दे० –'कथानक-रूढ़ि'।

अभिव्यंजनावाद–अभिव्यजनावादके आदर्शको मानने-वाले अपनेको इतालवी दार्शनिक एवं विचारक बेनेदेतो क्रोचे (१८६६-१९५२ ई०)का अनुयायी कहते हैं। अभिव्यंजना-वादियोंका कहना है कि कवि या कलाकार अपने अन्तरकी भावनाको बाहर प्रकाशित करता है, बाह्य वस्तुको नहीं। यह भावना उसकी अपनी निजकी वस्तु है। अपनी इस भावनाको प्रकाशित करनेमें ही उसकी सार्थकता है। अभिव्यजनावादियोंके मतमे कलाकारका काम यथार्थका प्रतिनिधिमूलक चित्रण करना नहीं है। वह या तो अपने अन्तरकी भावनाके अनुरूप यथार्थको चित्रित करता है या उस यथार्थको स्पर्श ही नहीं करता। वह केवल अपने मनकी एक अवस्थाको अभिव्यंजित करता है और इस अभिव्यक्तिका माध्यम शब्द, रग आदिसे निर्मित ढाँचा होता है। इस प्रकारसे कलाकार जिस रूपकी सृष्टि करता है, वह उसके मनकी अवस्थासे मिलती-जुलती है। लेकिन यह कैसे सम्पन्न होता है इसकी व्याख्या नहीं हो सकती।

क्रोचे इस बातको मानता है कि कला अन्तरकी भावना या सहजज्ञान (intuition) है और किसी प्रकारकी बाह्य वस्तुसे इसका सम्बन्ध नहीं जोडा जा सकता, क्योंकि बाह्य वस्तुमें वास्तविकता (reality) नहीं है। कलात्मक वस्तुका अस्तित्व इस बातपर निर्भर नहीं करता कि वह प्रकाशमें आ गयी है, बल्कि उसका अस्तित्व उसके अभि-व्यजित होनेमें है। किसी भी भावनासे हम तभी परिचित होते हैं जब वह अभिव्यंजित होती है। किसी गान, कविता या सुन्दर प्राकृतिक दृश्य या वस्तुको हम उस समय सुन्दर मानते हैं, जब हमारी भावनाएं उनमें अभिव्यंजित होती हैं। हम उन वस्तुओंमें अपनी भावनाओंकी अभि-व्यजना करते हैं, अगर ऐसा ही कहें तो भी कोई अन्तर नहीं आता। किसी कविताकी भाषा बड़ी बात नहीं है, बल्कि उस भाषाका अपने ढंगसे प्रयोग करनेवाला या समझनेवाला ही उसके मूलमें है। कवि या चित्रकारके समान ही पाठक और चित्रको देखनेवाला कम या बेशी कलाकार है। वास्तवमें कलाकार अपनी कलाकृति द्वारा अपनी भावनाओंको अभिव्यंजित करता है। उसका आनन्द लेनेवाला वही हो सकता है, जिसके भीतर वह भावना वर्तमान है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि कलाकारकी उस कलाकृतिमें वह भी अपनी भावनाओंको अभिव्यंजित करता है। अगर अन्तरमें सौन्दर्यकी अभिव्यंजना न हो तो वह मूर्त रूप नहीं ले सकता। गन्ध या रगके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। हम उसी वस्तुको सुन्दर मानते हैं जिसमें हमारी भावनाए अभिव्यजित हो रही हैं।

इस प्रकारसे क्रोचेके मतानुसार सौन्दर्य, सहजज्ञान (intuition)की अभिव्यक्ति है, और चूँकि सहजज्ञान और अभिव्यंजना अभेदात्मक हैं, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्य सहजज्ञान है, अथवा सौन्दर्य अभिव्यजना है।

क्रोचे सहजज्ञानको अपने आपमें एक प्रतिच्छवि (image) मानता है। लेकिन इस प्रतिच्छविमें उस प्रतिच्छविसे भेद है, जो बाह्य वस्तुको देखनेसे दर्शकके मनमें उत्पन्न होती है। यह सहजज्ञान कलाकारके अन्तरमें रूप लेता है या अभिव्यंजित होता है, और तब उसके

अन्तरमें अभिव्यजना या रूप लेनेकी प्रक्रिया खतम हो जाती है तव सौन्दर्यकी सृष्टि भी समाप्त हो जाती है। इसको जव कलाकार रग, आवाज, शब्द या पत्थरकी सहायतासे रूपायित करना चाहता है तो उसका उद्देश्य यह होता है कि वह उस क्षणको, उस प्रतिच्छविको वाँधकर रखे अथवा दूसरोंतक उसे पहुँचाये। यह भीतरका सहज-ज्ञान है जो सुन्दर होता है, उसका वाहर रूप ग्रहण करना नहीं। वास्तवमें क्रोचे सौन्दर्यको सहजज्ञान या अन्तरका धर्म मानता है, इसीलिए उसकी वाह्य अभिव्यक्तिको सुन्दर माननेमें उसे सकोच है।

क्रोचेके सिद्धान्तोंको देखनेसे यही कहा जा सकता है कि उसके मतानुसार कलाकारके मनके भीतर ही रचना की क्रिया चल रही है और उसकी अभिव्यंजना भी उसके अन्तरमें ही हो रही है। उसके अन्तरमें जो भावतरगें वनती-विगडती है वे केवल उसीके लिए हैं। लेकिन ऐसा मानकर भी वह मानता है कि एक ऐसा क्षण आता है जव कलाकार भीतरकी उन अभिव्यजनाको वाहर प्रकाशित करता है। साथ ही क्रोचेका यह भी कहना है कि इस 'वाहर प्रकाशित करने'की क्रियाको कलाके निर्माणसे कोई मतलव नहीं। कलाकार उन्हीं क्षणोंमें कलाकार है, जव उसके अन्तरमें भावावेग गतिशील रहता है। उस अवस्थामें उसे अपने अन्तरमें महत्वका अनुभव होता रहता है, लेकिन वह कह नहीं सकता कि वैसा क्यों होता है। उसके अन्तरकी अभिव्यक्ति ही सुन्दर हो उठती है।

अभिव्यजनाकी सफलता कलाकारको आनन्द प्रदान करती है। अभिव्यजनाके द्वारा जैसे वह अपने आपसे भी मुक्तिलाभ करता है। मनके भीतर जो कुछ कलात्मक क्रिया सम्पन्न होती है, उसे क्रोचे कलात्मक कृति मानता है। चित्र, काव्य, मूर्ति आदिको केवल वह 'स्मरण दिलानेमें सहायक' अथवा 'उत्तेजना प्रदान करनेवाला' मानता है। इनके द्वारा कलाकार फिरसे उस सहजज्ञानको या उस क्षणकी अनुभूतिको लौटा लाता है। अतएव जव इन कलाकृतियोंको हम सुन्दर कहते हैं तो इसका मतलव यह है वे उन सुन्दर सहजज्ञानों (intuitions)को फिरसे लौटा लानेमें सहायता प्रदान करती हैं।

क्रोचेका कहना है कि जीवनका कोई भी पहलू कलाकारकी कृतिके लिए उपयुक्त हो सकता है। वास्तवमें कलाकारकी श्रेष्ठता उसकी अन्तर्दृष्टिमें है, जिसकी अभिव्यजना वह कल्पनाके द्वारा करता है। उसके इस कथनका कि 'कोई भी वस्तु कलात्मक कृतिके लिए उपयुक्त है, उसके अच्छा या बुरा होनेका प्रश्न नहीं उठता', दुरुपयोग भी कम नहीं हुआ है। इसकी आडमें वहुतोंने मनमानी की है। उनका कहना है कि चूँकि कला सम्पूर्ण रूपसे अनुभूतियोंको अन्तरमें रूपायित करना है, इसलिए उसकी आलोचना नहीं हो सकती। वे यह भी कहते हैं कि उसे किसी सिद्धान्तकी अपेक्षा नहीं, सिवाय इसके कि वह कलाकारकी अपनी प्रकृतिसे प्रभावित होती है।

यहाँपर यह भ्रम हो सकता है कि क्रोचे कलाके क्षेत्रमें स्वेच्छानुसारको प्रश्रय दे रहा है। लेकिन वात ऐसी नहीं है। उसका कहना है कि कलाकार जव कलाको वाह्यरूप देने लगता है तव उसकी कलात्मकताका अन्त हो जाता है और उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। उसका कहना है कि कलाकार अपने अन्तरके सभी भावोंको रूप नहीं देता, वल्कि कुछ सहजभावों (intuitions)को चुन लेता है और उन्हें ही रूप देता है। कलाकार जव 'वस्तु'को वाह्यरूप देने लगता है तो मानो वह अपने उचित दायरेको छोडकर सामाजिक दुनियामें प्रवेश करता है, जहाँ अर्थशास्त्र, सदाचार, प्रचार आदिका प्रभाव है। अतएव उसका चुनाव आर्थिक और नैतिक वातोंसे प्रभावान्वित होगा। इस क्षुद्रजगत्में उसे कलाकारकी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं, अव उसे आचार-विचारको ध्यानमें रखना होगा।

क्रोचेके सिद्धान्तके सम्वन्धमें मनोविज्ञानके पण्डितोंने दो आपत्तियाँ उठायी हैं—(१) क्रोचेके मतानुसार सहजज्ञान (intuition)में किसी प्रकारकी वौद्धिकता या विचारणा नहीं होती। मनोविज्ञानके पण्डितोंका कहना है कि इस प्रकारके सहजज्ञानकी कल्पना नहीं की जा सकती। (२) दूसरी आपत्ति यों की जाती है कि क्रोचेका मत है कि सहजज्ञान रूपायित होता है, लेकिन सहजज्ञानका यह रूप स्थान, काल और धारणासे अतीत होता है। मनोविज्ञानके पण्डितोंका कहना है कि इन्हें छोडकर किसी रूपकी कल्पना मानव-मनके लिए सम्भव नहीं है।

क्रोचेके सिद्धान्तके सम्वन्धमें और भी कुछ आपत्तियाँ उपस्थित की जाती हैं। कहा जाता है कि क्रोचेने इस वातकी ओर ध्यान नहीं दिया है कि कलाका काम कलाकारके भावोंको दूसरोंतक पहुँचाना है और कलात्मक कृतिका प्रभाव दूसरोंपर पडता है। क्रोचेके इस मतपर भी आपत्ति उठायी जाती है कि कलाके प्रेमीसे इस वातकी अपेक्षा रहती है कि दूसरी एक अन्य वस्तुके सहारे जो उससे वाहरकी है, उसकी अन्तश्चेतनाका प्रसार हो। इस मतका खण्डन करते हुए कहा जाता है कि कलाकारकी अन्तश्चेतना उसकी अपनी निजकी अनुभूतियोंसे ही प्रसार पाती है। क्रोचेके मतके विरुद्ध यह भी एक आपत्ति है कि उसमें 'जीवन'की उपेक्षा की गयी है। कहा जाता है कि कलाकार 'जीवन'को देखता है और उस 'देखने'को दूसरोंके लिए चित्रित करता है। इस प्रकार अपनी कलाके द्वारा वह अपनी 'दृष्टिभंगी'को अभिव्यजित करता है, लेकिन इस अभिव्यजनाका माध्यम ऐसा होना चाहिये जो सवका परिचित हो, जो सव समझ सकें। अतएव यह माध्यम भी 'जीवन'से ही लेना पड़ता है।

हिन्दी जगत्में क्रोचेके अभिव्यजनावादको लेकर एक भारी भ्रम फैला हुआ है। इसे 'वक्रोक्तिवाद' कहकर सन्तोष कर लिया जाता है। सम्भवत इसका कारण रामचन्द्र शुक्लका यह कथन है कि क्रोचेके अभिव्यजनावादमें 'अभिव्यंजना अर्थात् किसी वातको कहनेका ढंग ही सव कुछ है, वात चाहे जो या जैसी हो अथवा कुछ ठीक-ठिकानेकी न भी हो। काव्यमें मुख्य वस्तु है वह आकार या साँचा जिसमें वह वस्तु या भाव ढाला जाता है। तात्पर्य यह कि अभिव्यजनाके ढंगका अनूठापन ही सव कुछ है, जिस वस्तु या भावकी अभि-

व्यंजना की जाती है, वह क्या है, कैसा है, यह सब काव्यक्षेत्रके बाहरकी बात है।' इस प्रकार वे इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि 'इस वादमें तथ्य इतना ही है कि उक्ति ही कविता है, उसके भीतर जो छिपा अर्थ रहता वह स्वत कविता नहीं।' रामचन्द्र शुक्लके मतके लिए दे० 'हिन्दी-साहित्यका इतिहास (संशोधित और प्रवर्द्धित सातवाँ संस्करण, पृ० ५७१, ५७२)।

अभिव्यजनावादकी ऊपर जो चर्चा की गयी है उससे यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि आचार्य शुक्लका मत अत्यन्त भ्रामक है। उन्होंने 'अभिव्यजनावाद'को 'वाग्वैचित्र्यवाद' भी कहना चाहा है, और इसे पुराने 'वक्रोक्तिवाद'का 'विलायती उत्थान' कहा है। यह सहज ही देखा जा सकता है कि क्रोचेके अभिव्यजनावादमें उक्ति-वैचित्र्यकी बात कहीं नहीं कही गयी है। इसे 'वक्रोक्तिवाद जैसा' कहना भी गलत है।

[सहायक ग्रन्थ–'काव्यमें अभिव्यजनावाद' लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'] —रा० पू० ति०

अभिव्यंजनावादी आलोचना–अ० एक्सप्रेशनिस्ट। प्रवर्तक–इटली निवासी सीनियॉर बेनेदेतो क्रोचे। ये सत्य तथा यथार्थका केन्द्र मस्तिष्कको मानते हैं और बाह्य संसारमें उसका सम्बन्ध नहीं मानते। यह ज्ञानको सहज-ज्ञान तथा तर्कशक्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान नामसे दो प्रकारका मानते हैं। सहजज्ञान इन्द्रियज्ञान, मानसिक प्रभाव और प्राप्त अनुभवोंसे भिन्न है। सहजज्ञानकी ऐसी शक्ति है कि प्रभावोंकी अभिव्यक्ति सहज रूपमें हो जाती है। मनोभावों या मानसिक अमूर्त रूपोंकी सफलता उनकी अभिव्यक्तिमें ही है। सहजज्ञान ही मनोभावोंको नियन्त्रित करके सफल अभिव्यजनाके लिए बाध्य करता है। क्रोचेका विचार है कि कला केवल सहजज्ञान है अथवा केवल मानसिक क्षेत्रमें प्राप्त प्रभावोंकी अभिव्यजनाका नाम ही कला है। उनका मत है कि अभिव्यक्ति वस्तुत आभ्यन्तर और मानसिक होती है। शब्द अथवा सगीत आदिके माध्यमसे प्रकट होनेवाला इन्द्रियगोचर रूप उसीका बाह्य स्पष्टीकरणमात्र है। यह अभिव्यक्ति ही सुन्दर होती है, उसमें निहित अर्थ नहीं। वस्तु या पदार्थ अभिव्यक्तिकी भिन्नताका कारण है अवश्य, किन्तु सौन्दर्य 'फार्म' या अभिव्यक्तिमें ही होता है। काव्यका उद्देश्य भी नीति-उपयोगिता-निरपेक्ष सौन्दर्यकी सिद्धि ही है। इस आधारपर वस्तुके सौन्दर्यकी उपेक्षा करके केवल अभिव्यक्तिकी सुन्दरता परखनेवाली आलोचना अभिव्यंजनावादी आलोचना कहलाती है। अभिव्यंजनावादी आलोचक वस्तुको सुन्दरता-पूर्वक अभिव्यक्त करनेमें कलाकारकी सफलताको आँकनेके साथ-साथ उसके सौन्दर्य-तत्त्वोंका भी विवेचन करता है। आचार्य कुन्तक द्वारा प्रतिपादित भारतीय 'वक्रोक्तिवाद' कुछ बातोंमें इसके समान है। उक्तिके अनूठेपनकी स्वीकृति और उसमें निहित अर्थकी उपेक्षाके कारण ही आचार्य शुक्ल इसे 'वाग्वैचित्र्यवाद' कहते है। —आ० प्र० दी०

अभिव्यक्तिवाद–दे०–'रसनिष्पत्ति'।

अभिसारिका (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद, विशेषके लिए दे०–'नायिका-भेद'। भरतने सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया है। भानुदत्तके अनुसार 'स्वयमभिसरति प्रियमभिसारयति,' अर्थात् प्रियसे मिलनेके लिए स्वयं संकेत-स्थलपर जाय अथवा प्रियको बुलाये वह अभिसारिका है (रसमंजरी पृ० १३५)। मतिरामका भाव इसके समान है–'पियहि बुलावै आपु कै आपहि पियपै जाय।' (रसराज १९०)। अभिसारका शब्दार्थ है मिलनेके लिए जाना या वादा करना। इस रूपमें स्वकीयाके भेद, परकीया तथा सामान्या सभीमें आ जाते है। पद्माकरने मुग्धा अभिसारिकामें सकोच और लज्जाका सुन्दर भाव प्रदर्शित किया है–'किंकिनी छोरि छपाई कहूँ कहूँ बाजनी पाइल पाँइ तें नाई। लाजहिं तें गड़ि जाति कहूँ अड़ि जाति कहूँ गजकी गति भाई' (जगद्विनोद १ २२९)। मध्यामें लज्जा और प्रेमका उद्वेग समान है–'लोचन मदगज मन्द गति चली बाल तिय गेह। पगन लाज आँदू परी चढ़्यो महावत नेह।' (मतिराम · रसराज १९४)। लज्जाहीन तथा निर्भीक अभिसारिका प्रौढाके रूपमें चित्रित है–'तौ अलबेली अकेली डरो किन क्यों डरौ सहायके लीने। है सखि सग मनोभव सो भट कान लौं बान सरासन ताने।' (पद्माकर, जगद्विनोद १ २३३।) परकीयाके अभिसारिकाके रूपमें तीन भेद हैं–**कृष्णाभिसारिका**–अन्धकारादिमें सचरण करने योग्य वेष बनाकर अभिसार करनेवाली नायिका। **शुक्लाभिसारिका**–चाँदनी रातमें अभिसार करनेवाली नायिका। **दिवाभिसारिका**–दिनमें ही अभिसार करनेवाली नायिका। इनमें छिपनेका भाव प्रधान है, क्योंकि ये परकीया नायिका है। मतिराम बादलोंके घने अन्धकारमें अभिसरण करती हुई नायिकाका वर्णन करते है–'मोहन छबीलेको मिलन चली ऐसी छवि छाह लौं छबीली छवि छाजत अध्यारा मे।' (रसराज १९७)। विहारीकी अभिसारिका छिप नहीं पा रही है–'सघन कुज घन घन तिमिर अधिक अँधेरी राति। तऊ न दुरिहै स्याम यह दीप सिखा-सी जाति।' विहारीकी शुक्ला अभिसारिका चाँदनीमें मिल जाती है–'जुवति जोन्हमें मिल गयी नैंक न परति लखाइ। सौंधेके डोरन लगी अली चली सँग जाइ।' (सतसई)। मतिरामकी दिवाभिसारिका तीक्ष्ण लूकी चिन्ता भी नहीं करती–'ग्रीषम ऋतुकी दुपहरी चली बाल बन कुज। अंग लपटि तीछन लुएँ मलय पवनके पुज।' (रसराज २०२)। परकीयाके अभिसारका वर्णन विद्यापति तथा रीति-कवियों-का प्रिय विषय रहा है। विद्यापति तथा सूरने भावात्मक उद्वेग, उत्तेजना, आकुलता, आदिका वर्णन विशेष रूपमे किया है, पर रीति-कवियोंने भावोंमें अधिक चमत्कारपूर्ण वर्णनको महत्त्व दिया है। सामान्याके अभिसारका विशेष अर्थ क्या हो सकता है, पर कवियोंने उसे प्रेमका आलम्बन माना है, अत इस रूपमें स्वीकार करना पड़ा है–'नागरि सकल सिंगार करि चली प्रानपति पास। त्यादि चली विहसनि मनो सोभा सहज विलास।' (मतिराम रसराज २०४)।

अभिहितान्वयवाद–कुमारिलभट्ट द्वारा प्रवर्त्तित एक विशेष सिद्धान्त, अभिधा द्वारा उपस्थित अर्थोंके अन्वय सम्बन्धको महत्त्वशाली बतलाता है (दे० तात्पर्यावृत्ति)। —उ०ना०शु०

अभेदरूपक–दे०–'रूपक,' पहला प्रकार।

अभ्यास–दे०–'काव्यहेतु', तीसरा हेतु।

अमतपरार्थता–दे०–'शब्द-दोष',अठारहवाँ 'वाक्य-दोष'।

अमनसिकार–दे०–'बोधिचित्त'।

अमर्ष–प्रचलित तेंतीसमें एक संचारी भाव। 'नाट्यशास्त्र'-के अनुसार जब विद्या, ऐश्वर्य या बलमें अधिक व्यक्ति किसीका आपेक्ष और अपमान करते हैं तो इस आक्षिप्त तथा अपमानित व्यक्तिमें यह भाव उद्बुद्ध होता है। और वह इसको शिर कम्पन, स्वेद, अधोमुखचिन्तन, सहायकोंकी खोज द्वारा अभिव्यक्त करता है (७।७८ ग)। सागरनन्दी-ने सम्भवत किसी अन्य परम्पराका अवलम्बन कर यह स्पष्ट किया कि विद्वान् एवं ऐश्वर्ययुक्त (और बलवान्) व्यक्तियोंका आक्षेप होनेपर उपरिलिखित अनुभावों द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है (नाटकलक्षणरत्नकोश पृ० २०७२, २०७३)। अत धनंजय और विश्वनाथने तिरस्कार एवं अपमान न सहनेको अमर्ष कहा (द० रू० ४।१२)। पर रामचन्द्र गुणचन्द्रने सम्भवत' अमर्षके उदाहरणके आधारपर आक्षेपके प्रतीकारकी इच्छाको अमर्ष कहा (नाट्यदर्पण ३ १३७)। और व्याख्यामें अमर्ष एव क्रोधमें भेद बनानेका भी प्रयास किया। वाग्भटने (काव्यानुशासन, पृ० ५८) इसको 'प्रतीकारकी इच्छा' बताया और ऐसे ही शारदातनयने (भा० प्र०, पृ० २२)। निस्सन्देह अमर्षके दो पक्ष हैं, एक तो क्रोधकी पूर्वावस्था और दूसरा उस क्रोधसे अभिभूत प्रतीकारकी इच्छा। वास्तवमें प्रतीकारकी इच्छा इस मनोवेगका परिणाम है और उसको अनुभाव मानना अधिक उचित होगा। संस्कृत नाटक 'वेणीसंहार'में इसके कई उचित उदाहरण हैं। निन्दा या आक्षेप करनेवालोंके वाक्योंको सहन न करना अमर्ष है, पर उनसे प्रतीकार करनेकी उत्कट अभिलाषा क्रोध है, ऐसा कुछ व्याख्याकारोंका मत है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने सामान्यत दूसरेके अभिमान तथा अपने अपमानके कारण 'अमर्ष'को माना है। देवके अनुसार–'अधिक्षेप अपमानते, स्वेद कम्प दृगराग। अहंकार जियमें बढ़ै, क्रोध सुनहु बड़ भाग।' (भाव०, सचारी०)। इसमें यह नहीं कहा गया कि यह अपमान किसका हो अथवा किसके द्वारा, जैसा संस्कृतके आचार्यों द्वारा कहा गया था। पर अन्य आचार्योंने तो केवल 'लखि दुजेको अभिमान' (जगत० ५।२७) मात्रसे 'अमर्ष' मान लिया है। देवने शृंगारके सचारीके रूपमें इसका उदाहरण दिया है–'मानत नाहिं तिरीछेहि तानति बान-सी आँखें कमान-सी भौंहें।' (भाव०, संचारी)। पद्माकरने दोहा उदाहरणमें प्रस्तुत किया है–'गरब सु अंजन ही बिना, कजनको हरि लेनि। खजन मद भजन अरथ, अंजन अँखियन देति।' (जगत० ५।२९) इसमें कजन और खजनपर अमर्ष व्यंजित है। —ज० कि० व०

अमियरस–योगियोंका विश्वास है कि सहस्रदल कमलके मध्य स्थित चन्द्रबिन्दुकी प्रेरणासे एक प्रकारका स्राव होता रहता है जिसे अमृत, अमियरस, सोमरस या रसायन कहा जाता है। यह सहस्रारसे नीचेकी ओर मूलाधारचक्रके पासतक आकर शरीरके अन्य रसोंमें विलीन होता है। इसी रसके अजर गुफासे झरनेकी बात कबीरने कही है–'रसगगन गुफासे अजर झरै।' (कबीर)। नाथपंथियोंकी साधनामें हठयोगकी प्रधानता होनेके कारण कायाशोधन और उसके रक्षणकी बात अधिक कही गयी है–'उनमनि रहिवा भेद न कहिवा पीयवा नींझर पाँणीं। लंका छाडि पलका जाइवा तब गुरमुख लेवा बाणीं' गोरखबानी) अर्थात् उन्मनावस्थामें लीन रहना चाहिये, किसीसे अपना भेद नहीं कहना चाहिये, अमृतके झरनेसे अमृत पीना चाहिये। परन्तु कबीरने हठयोगकी क्रियाओंसे ऊपर उठकर रसायन बनाने और पीनेकी अनेक युक्तियाँ बतायीं–'गगन गरजि बरसै अमी बादल गहरि गम्भीर। चहुँ दिशि चमकै दामिनी भीजै दास कबीर'। (कबीर सा० म० ११७)। —उ० श० शा०

अमृत–मध्यकालीन तान्त्रिक परम्पराओंमें बराबर किसी-न-किसी ऐसे रसकी खोज हुई है जो मनुष्यको अमर बना दे या धातुको स्वर्ण बना दे। बादमें उस रसके मैथुन या हठयोगपरक अर्थ ढूँढ लिये गये। सिद्धोंने उसे महासुख या सहजरस-रूपी अमृत माना। तान्त्रिक अनुष्ठानमें जो वारुणी है वह भी इसी अमृतका प्रतीक है। हठयोग-साधनामें चन्द्रसे जो अमृत झरता है वही वास्तविक अमृत बताया गया है। सन्तोंने तान्त्रिकोंकी वारुणा-का तो निषेध किया, किन्तु हठयोगपद्धतिके अमियरस या सोमरसको स्वीकार किया। किन्तु वास्तविक अमृत उन्होंने माना रामभक्तिको जिसे वे रामरसायन कहते थे। शाक्त उससे अपरिचित हैं, अत वे मरणशील हैं, सन्त अमर हैं। 'साकत मरैं सन्त सभु जीवहिं, राम-रसायन रसना पीवहिं।' (सन्त कबीर–रामकुमार वर्मा)। —ध० वी० भा०

अमृतगति–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, यह वृत्त नगण, जगण, नगण और गुरुके योगसे बनता है (।।।, ।ऽ।, ।।।, ऽ)। 'प्राकृतपैंगलम्'में यही नाम है, पर 'मन्दारमरन्द चम्पू'में कुलटा (१६ ११) और हेमचन्द्रकृत 'छन्दोऽनुशासन', जयकीर्तिकृत 'छन्दोऽनुशासन' (२ ९४), विरहाककृत 'वृत्तजातिसमुच्चय'में (५ १७) त्वरितगति नाम दिया गया है। केशवदासने इसका प्रयोग किया है। उदा०–'निज पति पंथहि चलिये। दुख-सुखका दल दलिये। तन-मन सेवहु पतिको। तब लहिये सुभ गति-को।' (रा० च० ९ १३)। —पु० शु०

अमृतध्वनि–मात्रिक विषम छन्द। इसमें छ दल होते हैं। प्रथम दो दल दोहेके होते हैं जिसमेंसे प्रत्येक दलमें २४ मात्राएँ होती हैं। शेष चार दलोंमेंसे प्रत्येक दलमें ८, ८ मात्राके क्रमसे तीन बार यति, यमक आते हैं जो रोलाके होते हैं। भिखारीदासके 'छन्दार्णव'में कुण्ड-लिया और अमृतध्वनिके लक्षण एक साथ दिये हैं (७ ३७)। वीररसके लिए यह छन्द अधिक उपयुक्त है। 'सुजान-चरित' तथा भूषणकी रचनाओंमें इस छन्दका अच्छा प्रयोग मिलता है। उदा०–प्रथम दोहाका चरण–'गत बलखान हलेल हुव, खान बहादुर मुद्ध' और तीसरा रोलाका चरण–'कद्दद्दरि किय जुद्दद्धुव अरि अद्दद्दरि करि"–(शि०भू० ३५७)। —रा० सिं० तो०

अयत्नज अलंकार–भरतद्वारा 'सात्त्विक अलकारों' (दे०)का

एक विभाजन, जिसे संस्कृतमें एक सीमातक स्वीकार किया गया है, पर हिन्दी रीतिकालमें केवल कुमारमणिने 'भाव'के अन्तर्गत और रसलीनने 'अयत्नज'के रूपमें ही स्वीकार किया है। आधुनिक विवेचकोंमें हरिऔध, श्यामसुन्दर दास तथा कन्हैयालाल पोद्दारने संस्कृतकी परम्पराका अनुसरण किया है। नायिकाके शरीर तथा स्वभावकी मोहकताको बढ़ानेवाले अलंकार जो यत्न-साध्य न होकर स्वाभाविक रूपसे दिखाई देते हैं। ये क्रमशः शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य नामसे सात प्रकारके माने गये हैं।

१ शोभा अलंकार-धनजयका लक्षण भरतके आधारपर (नाट्यशास्त्र २४ २५)-'रूपोपभोगतारुण्यै शोभाङ्गाना विभूषणम्' (दशरूपक २ ३५), रूप-सौन्दर्य, वासना और योवनसे अंगोंकी शोभाका बढ़ना। इस प्रकार रूप, यौवन, लालित्य, सुख तथा भोग आदिसे युक्त शरीरकी सुन्दरताको 'शोभा' कहते हैं। शोभा ही शरीरका आभूषण है, रूपादि उसके अंगमात्र (सा० द० ३ ९५)। बिहारीका यह सौन्दर्यवर्णन इसका उदाहरण है-'भूषन भारु सँभारि है, क्यों इहि तन सुकुमार। सूधे पाइ न धर परैं, शोभा ही के भार' (वि० र० ३२२)। आधुनिक कवि प्रसादका वर्णन-'चचला स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्वमें जैसी। उस पावन तनकी शोभा आलोक मधुर है ऐसी।' (आँसू)।

२ कान्ति अलंकार-भरतके आधारपर (नाट्यशास्त्र २४ २६) धनजयका लक्षण-'मन्मथामापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता' (दश० २ ३५), कामसे बढ़ा हुआ सौन्दर्य। शोभाकी उस सुविकसित अवस्थाको कान्ति कहते हैं, जिसके द्वारा या तो अत्यधिक कामोद्दीपन हो अथवा जो स्वयं काम-विलासके द्वारा अत्यधिक बढ़ी हुई जान पड़ती हो (सा० द० ३ ९६)। यथा-'विलसै नवला अगमें काम कलाकी जोति। चामीकरसे गानकी चमक चोगुनी होति।' (हरिऔध र० क०)।

३ दीप्ति अलंकार-भरत, धनजय तथा विश्वनाथ, सबका मत लगभग समान है-'कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते' (सा० द० ३ ९६) अर्थात् कान्तिका विवर्द्धित रूप ही जब दर्शकको मोहमग्न करनेमें समर्थ हो जाता है, उस स्थितिको दीप्ति अलंकार कहते हैं। प्रसाद द्वारा अंकित 'श्रद्धा'का रूप वर्णन-'नित्य यौवन छविसे ही दीप्त, विश्वकी करुण कामना मूर्ति, स्पर्शके आकर्षणसे पूर्ण, प्रकट करती ज्यों जड़में स्फूर्ति।' (कामायनी)।

४ माधुर्य अलंकार-भरतके अनुसार 'प्रत्येक अवस्थामें, विशेषकर 'दीप्ति' और 'ललित'में नायिकाकी चेष्टाएँ' (नाट्यशास्त्र २४ २७), पर धनजय इसे केवल 'अनुल्बणत्वम्' (दश० २ ३६) अर्थात् कोमलता कहा है। सभी स्थितियोंमें नायिका द्वारा अपनी चेष्टाओंमें मृदुता अथवा रमणीयताकी स्थिति बनाये रखना, माधुर्य अलंकार कहलाता है (सा० द० ३ ९७)। निम्नलिखित दोहेमें मिस्सी लगे दाँत भी नव नीलमके समान प्रतीत होते हुए माधुर्यका विकास कर रहे हैं-'अधर पानकी पीक तें, अधिक ललाम लखात। मिसी मिले नवला दसन, नव नीलम बनि जात।' (हरिऔध र०क०)।

५ प्रगल्भता अलंकार-भरतकी परिभाषामें नाट्यकलाका दृष्टिकोण प्रधान है 'किसी अवस्थाके अभिनय अथवा कथनमें विक्षुब्ध न होना' (नाट्यशास्त्र २४ २९), और धनंजयने इसे 'नि साध्वसत्त्वम्' अर्थात् मानसिक विक्षोभका अभाव कहा है (दश० २ ३६)। वस्तुत नायिकाके व्यवहारमें नि शकताको प्रगल्भता कहते हैं। यह प्रौढ़ा अथवा सामान्या नायिकाओंमें ही सम्भव है। रति प्रीता प्रौढ़ा स्वकीयाकी प्रगल्भताका पद्माकरकृत वर्णन-'फूलत फूल गुलाबनके, चटकाहट चौंकि चली चपला सी। कान्हके काननि आँगुरी नाइ, रही लपटाइ लवग लता सी।' (जगद्विनोद ४९)।

६ औदार्य अलंकार-भरतका अनुसरण करते हुए (नाट्यशास्त्र २४ २९) धनजयने इसे 'प्रश्रय सदा' अर्थात् सभी स्थितियोंमें शालीनताकी अभिव्यक्ति माना है। सभी अवस्थाओंमें विनीतता या प्रेमानुकूलताका नाम ही औदार्य है। यथा प्रसादकी श्रद्धाकी निम्नलिखित उक्तिसे प्रकट है-'समर्पण लो सेवाका सार, सजल संसृतिका यह पतवार। आजसे यह जीवन उत्सर्ग, इसी पदतलमें विगत-विकार। दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो अगाध विश्वास। हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ, तुम्हारे लिए खुला है पास।' (कामायनी)।

७ धैर्य अलंकार-भरत इसे 'चचलतासे हीन, अहकारशून्य सहज मानसिक स्थिति मानते हैं (नाट्यशास्त्र २४ २८) और धनजयका मत इनसे भिन्न नहीं-'चापलाविहिता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना' (दश० २ ३७)। वस्तुत आत्म-श्लाघाहीन स्थिर मनोवृत्तिको धैर्य अलकार कहते हैं (सा० द० ३ ९८)। रत्नाकरकी गोपिकाओंमें यही धैर्य दर्शनीय है-'कहहिं प्रतीति नीति हूँ त्रिवाचा बाँधि, ऊधो साँच मनकी हियेकी अरु जीकी हैं। वे तो हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही, औ हम उनहीकी उनहीकी उनहीकी हैं।' (उ० श०)। -आ० प्र० दी०

अयौथिकी (गोपी)-दे०-'गोपी'।

अरध-उरध-वास्तवमें अध और ऊर्ध्वको सन्तोंने अरध-उरधके रूपमें व्यवहृत किया है। हठयोग साधनामें मेरुदण्डके निम्न भागमें स्थित मूलाधारको अध और सहस्रारको ऊर्ध्वरूपमें परिकल्पित किया गया। दोनोंकी पृथक्ताको विनष्ट कर मूलाधारस्थित कुण्डलिनीको ले जाकर सहस्रारमें स्थिर करना यही प्रमुख साधना थी।

सिद्धोंने अध-ऊर्ध्वका उल्लेख किया है-'अध उध मज्झे सअल भूअ णामी' (दोहाकोष प्रबोधचन्द्र बागची)। 'गोरखबानी'में अध ऊर्ध्वके बीच त्रिकुटी शून्यका उल्लेख है-'अरध उरध बिच धरी उठाइ। मधि सुनमें बैठा जाई॥' सन्तोंने भी अरध उरधके बीच साधककी स्थिति मानी है-'अरध-उरध मुख लागो कासु, सुन मण्डल महँ किये परगासु' (सन्त कबीर रामकुमार वर्मा)। -ध० वी० भा०

अरविंद दर्शन-अरविन्द इस युगकी महानतम विभूतियोंमेंसे एक हैं। वेदों और उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंकी परम्परामें हैं और उनका स्थान विश्वके अग्रगण्य दार्शनिकोंकी प्रथम पंक्तिमें है। उनका दर्शन कोरा बुद्धिविलास, किन्हीं आप्त ग्रन्थोंका भाष्य या किसी मतविशेषका प्रतिपादनमात्र नहीं है, वरन् वह उनकी अपनी गहन

साधनाजन्य आध्यात्मिक अनुभूतिकी साक्षीपर आधारित है।

अरविन्दके दर्शनमें दो बातें प्रमुख हैं। एक तो यह कि ब्रह्म और जगत्, दोनों ही सत्य हैं और दूसरी यह कि मनुष्य और जगत्‌में एक विकासकी प्रक्रिया हो रही है, यह जगत् निवर्तन-विवर्तन अथवा अवरोहण-आरोहणात्मक जगत् है।

अरविन्दका मत है कि जिसे जड द्रव्य—मैटर—कहा जाता है वह तथा चेतन या आत्मा (स्पिरिट), दोनों ही सत्य हैं। 'ब्रह्मसत्य, जगत् मिथ्या'का सिद्धान्त असत्य है। जड द्रव्य और आत्मा, दोनोंमेंसे कोई भी उपेक्षणीय नहीं है। जडतत्त्वका निषेध करनेवाला आत्मवादी और आत्माकी अवज्ञा करनेवाला जडवादी दर्शन, दोनों ही एकांगी हैं। हमें अपने उपनिषदकालीन पूर्वपुरुषोंके स्वरमें कहना चाहिये—'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'—जड और चेतन आत्माका विभेदीकरण करनेमें, उनमेंसे किसी एकको प्रधानता देना अनिवार्य हो जाता है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम होता है एकांगी जीवन-दर्शन। केवल ज्ञानेन्द्रियों और एक सीमातक बुद्धिको ही ज्ञानका एकमात्र साधन स्वीकार करनेके कारण जडवादी आत्माका निषेध कर देता है। किन्तु उसका दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण होनेके कारण त्याज्य है। मन और आत्मामें उच्चतर शक्तियाँ तो हैं ही, ज्ञानके अनन्त क्षेत्र ऐसे हैं जो ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धिकी सीमासे परे हैं। इसी प्रकार आत्मवादी द्वारा भौतिक जगत्का निषेध भी त्याज्य है। अरविन्दके अनुसार तपस्वीकी यह अस्वीकृति जडवादीके निषेधकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण, व्यापक, अतिवादी तथा व्यक्ति एवं समुदायके लिए कहीं अधिक खतरनाक है। जगत्का ऐसा निषेध और केवल आत्माका अंगीकार वेदान्तमें मिलता है। भारतीय विचारधारामें वेदान्तकी प्रमुखता होनेके कारण भारतीय मनीषा अभीतक इस विराट तापस अस्वीकृतिसे आक्रान्त है। यद्यपि इस विचारधारासे हमारे सांस्कृतिक विकासमें बडी सहायता मिली है, वह हमारे नैतिक अधःपतनका भी कारण रही है।

अरविन्दके अनुसार परमतत्त्व सत् चित् आनन्द ब्रह्म है। उनका यह मत उपनिषदोंके सदृश है। विशुद्ध सत् ही मूलतत्त्व है, किन्तु गति, शक्तिप्रक्रिया भी उतनी ही मौलिक और उतनी ही सत्य है। सत् और प्रक्रिया, दोनोंको स्वीकार करना आवश्यक है। वस्तुतः ब्रह्म न सत् है और न प्रक्रिया है, न एक है, न बहु है, वह इन सबसे परे है। स्थिरता, गतिशीलता, एकता, बहुलता आदि ब्रह्मके मनुष्यकृत लक्षण हैं। ब्रह्म निर्गुण और सगुण, एक और अनेक, स्थाणु और गतिशील, सभी कुछ है। अरविन्द कहते हैं, जगत्‌की सत्ता शिवका आनन्दनृत्य है, वह उस अवदात सत्को जैसाका तैसा, जहाँका तहाँ, जैसा वह है और जैसा वह सर्वदा रहेगा, रहने देता है; उसका एकमात्र और निरपेक्ष लक्ष्य केवल नृत्यका आनन्द है। किन्तु चूंकि हमारे लिए गति और स्थिति, एकता और बहुलताके परे ब्रह्मके विषयमें सोच पाना कठिन है, अतः हमें द्विपक्षीय सत्य काली और शिव दोनोंको ही स्वीकार करना चाहिये और यह जाननेका प्रयास करना चाहिये कि उस देशकालातीत विशुद्ध सत्की भूमिकामें देश और कालके मध्य यह असीम गति, असीम शक्ति, क्या है, जो सान्त और अनन्त दोनों ही है।

श्री अरविन्दके अनुसार माता चिच्छक्ति हैं। यह चित्-शक्ति विशुद्ध सत् ब्रह्ममें निहित है। वह स्थिर और गतिशील दोनों ही हो सकती है। स्थिर होनेपर भी उसका अस्तित्व रहता है। विशुद्ध सत्में स्थित समस्त जगत्की कर्त्री इस चिच्छक्तिको अरविन्दने माताका नाम दिया है। वही जगत्का क्रियाशील तत्त्व है। जीवकी अहन्ताके माध्यमसे अपरा प्रकृतिमें कार्य करते समय वह अपनी ही योगमायासे छिपी रहती है। वह तीन रूपोंमें प्रकट होती है—परात्पर, सृष्टि और जीव। इस चराचर जगत्‌में जो कुछ भी है, वह सब माता ही हैं।

ब्रह्म जगत्की सृष्टि क्यों करता है? इसका उत्तर अरविन्द देते हैं कि आनन्दके कारण। केवल सृष्टि करनेका आनन्द लेनेके कारण ही ब्रह्म जगत्की सृष्टि और उसका परिपालन करता है। परमतत्त्व सत् और चित् ही नहीं, आनन्द भी है। इस प्रसंगमें यह शंका उठती है कि तब फिर संसारमें इतनी व्यथा, पीडा और दुःख क्यों है? इसका उत्तर अरविन्द यह देते हैं कि हम एक नैतिक जगत्‌में नहीं रहते हैं। जगत्‌में अपनी नैतिकताका आरोपण और उसकी अपेक्षा मनुष्यकी भूल है। परमतत्त्वका वास्तविक स्वरूप नैतिकताके परे है। नैतिकता विकासका एक सोपानमात्र है। वास्तविक प्रेरणा सच्चिदानन्दकी आत्माभिव्यक्तिकी है। यह प्रेरणा विकासक्रममें पहले नैतिकतारहित, फिर अधोनैतिक और अन्ततः परानैतिक हो जाती है, उसे नैतिकताकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त दुःख हमारी सतही जाग्रत चेतना मनोमय अंशका स्पन्दनमात्र होता है, वह हमारे वास्तविक अंश आनन्दमयको स्पर्श भी नहीं करता।

अरविन्द-दर्शनका दूसरा आधारिक पक्ष उनका विकासका सिद्धान्त है। इस जगत्‌में जड-तत्त्वसे लेकर मनुष्यके प्रस्तुत चेतनास्तरतक एक विकासक्रमको तो आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करता है, किन्तु उसके आदि, अन्त और लक्ष्यकी सम्यक् व्याख्या नहीं कर पाता। अरविन्दका दर्शन इन सब समस्याओंका समाधान कर देता है। जगत् और उसमें विकासकी प्रक्रिया विराट् ब्रह्माण्डमें एक निरा संयोग, किसी मूर्ख द्वारा कही चीत्कार-फूत्कारयुक्त अनर्गल कहानी नहीं है, वरन् वह सार्थक और सोद्देश्य है। विकासके दो पक्ष हैं—निवर्तन-विवर्तन या अवरोहण-आरोहण। जो निवर्तित और अवरोहित है, अपरस्तरोंमें निहित है, विकासकी प्रक्रियामें उसीका विवर्तन-आरोहण, प्रस्फुटन होता है। उस अद्वितीय परब्रह्मने संकल्प किया, 'एकोऽहं बहुस्याम'—मैं एक हूँ, अनेक होऊँ और वह त्रिक सच्चिदानन्दके रूपमें सत् चित् आनन्द होकर प्रकट हुआ। यह गोचर जगत् उसी परमतत्त्वका पार्थिव निवर्तन है। अरविन्दने इस निवर्तन अथवा अवरोहणका सोपानक्रम यह बतलाया है—सत् चित् आनन्द > अतिमानस > मानस > जीव > प्राण > जड-तत्त्व

(मैटर)। विवर्तन अथवा विकासका सोपानक्रम ठीक इसका उलटा है–जड-तत्त्वमें प्राण, प्राणसे जीव, जीवमें मानस, मानससे अतिमानस, अतिमानससे आनन्द, उसमें चित्, उससे परब्रह्म निरपेक्ष सत्। इस प्रकार जड़ भी भौतिकवादीकी जड़तामें युक्त जड नहीं है, सच्चिदानन्द ब्रह्मका ही निवर्तन है।

इस पृथ्वीतलपर इस समय जो विकास हो रहा है वह सोद्देश्य है, और उसके शिखर मानवप्राणीके विकासका एक लक्ष्य है। और वह विकास चेतनाके अधिकाधिक ऊर्ध्वगामी प्रस्फुटनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पार्थिव स्तरपर, प्रारम्भमें केवल जड पदार्थ था। आगे चलकर उससे प्राण उत्पन्न हुआ, वनस्पतिवर्गका जन्म हुआ, जिसमें चेतनाका प्रारम्भिक रूप मिलता है। तदुपरान्त स्वचेतन चेतना, अर्थात् पशुका जन्म हुआ, उसमें वास्तविक मानस अर्थात् विचारका और मनुष्यका आविर्भाव हुआ। अरविन्दके अनुसार यह विकासक्रम यहीं समाप्त नहीं होता, इसे अवचेतनाके अगले सोपानपर पहुँचना है और वह स्तर है अतिमानसका। अतिमानसके प्रस्फुटित होनेपर पृथ्वीपर अतिमानवोंकी दिव्य मानवताका उदय होगा, जो आजकलकी मानवतासे उतनी ही उच्चतर होगी जितना कि प्रस्तुत मानव पशुसे है। इस चेतनाकी क्षीण झलकें मनुष्यकी वर्तमान चेतनाके स्तरपर भी मिल जाती हैं, जैसे सम्बोधि (इनट्यूशन) कवियों और कलाकारोंकी उत्प्रेरणा (इन्स्पिरेशन), सन्तों और महात्माओंकी रहस्यानुभूति। किन्तु अभी यह झलक ही है, बुद्धिकी भाँति मनुष्यका अंग नहीं है। अतिमानस उस चेतनाका स्वरूप है जिसकी यह झलक है। अतिमानव या दिव्य मानवका जन्म तभी होगा जब मनुष्य अपने मन-बुद्धिका अतिक्रमण करके अतिमानसिक चेतनामें प्रवेश करेगा, तब वह शारीरिक मृत्युपर भी विजय प्राप्त कर लेगा।

अतिमानस सच्चिदानन्द और जगत्के मध्य आवश्यक कड़ी है। वह परमतत्त्वके परिपूर्ण सत्यसे युक्त सर्जनात्मक प्रत्यक्ष है। वस्तुत वह स्रष्टा प्रभु और ईश्वर ही है। उसका स्वरूप अद्वैतवेदान्तके मायाच्छन्न ईश्वरसे भिन्न है। अरविन्द ईश्वरके सम्बन्धमें वेद और उपनिषद्के मतको स्वीकार करते हैं–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। अतिमानस मानसकी चरम परिणति है। किन्तु मानस और अतिमानसके मध्य विशाल खाई है। सम्बोधि ही उनके मध्य सेतुका कार्य कर सकती है यद्यपि मनुष्यके प्रस्तुत स्तरकी सम्बोधि यह कार्य पूर्ण रूपसे सम्पन्न नहीं कर पाती।

मानस और अतिमानसके मध्यकी कड़ी है अधिमानस (ओवर माइण्ट)। यद्यपि अतिमानस अधिमानसको अपनी समस्त सत्य सम्पदा दे देता है, अधिमानस ही अविद्याका प्रथम जनक है। अधिमानसमें ही प्रकृति-पुरुष जैसे सांख्य विभेदोंका उदय होता है। अधिमानसिक चेतना विश्वव्यापी है और अपने मध्य अनन्त प्रतीत्यात्मक विभेदोंको अभेदयुक्त एकत्वमें लिये रहती है। किन्तु बहुत बड़ा साधक हुए बिना अधिमानसमें प्रवेश और निवास सम्भव नहीं होता। अत स्फुरणात्मिक (इन्ट्यूटिव) मानस वह स्तर है जहाँ जीवको अपने सत्य स्वरूपकी आन्तरिक झलक मिलती है। फिर सम्बुद्ध मानस (इल्यूमिण्ड माइण्ड) है। इस स्तरमें जीव परमात्मासे पृथक् होते हुए भी सत्यका प्रकाश पाता रहता है।

मनुष्यके भीतर जड तत्त्व, प्राण और मानसके परे एक अन्य आभ्यन्तर तत्त्व है। यह है एक दिव्य मानस, प्राण और पदार्थ जो सत ही मानसकी अपेक्षा बहुत ही नमनशील, शक्तियुक्त और क्षमतायुक्त होता है। प्रकाश प्रेम, आनन्द और सत्ताका यह सूक्ष्म तत्त्व चैत्यपुरुष है। हमारी मनोमय आत्माके परे हमारी सत्ताका यह केन्द्र स्थित है। यही हमारी आत्मा है। अपनी आत्माको पाना ही सच्चे आत्मिक जीवनको पाना है। आध्यात्मिक साधनामें इस चैत्यपुरुषको जाग्रत कर लेना अनिवार्य है

अरविन्दके योग और उनकी साधनाका उद्देश्य अतिमानसके अवतरणके लिए उपयुक्त और वांछित भूमि तैयार करना है, समग्र मानवताको उसके सभी अंगोंमें दिव्य स्तरपर रूपान्तरित कर डालना है। इसीलिए वे कहते हैं कि उनका योग समग्र मानवता या भगवान्के लिए है, व्यक्तिगत सिद्धि या मुक्तिके लिए नहीं। परिपूर्ण आत्मसमर्पण, सर्वत्र भगवद्दर्शन, द्रष्टा-भाव और अपनेमें भागवत प्रक्रियाको अनुमति देना अरविन्दके पूर्ण योगके अंग हैं। उनकी साधनापद्धतिमें भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि सभी मार्गोंका श्रेष्ठ समन्वय है। —आ० रा० शा०

अरविंद सवैया–दे०—'सवैया', ग्यारहवा प्रकार।

अरसात सवैया–दे०—'सवैया', नवाँ प्रकार।

अराजकतावाद–अराजकतावाद अँग्रेजीके 'एनारकिज्म'के अर्थमें गढा हुआ शब्द है। इसका अर्थ सामान्यत सामाजिक या राजनीतिक अव्यवस्था किया जाता है। पर ऐसा अर्थ वे ही करते हैं जो अराजकतावादी नहीं हैं। दूसरे अर्थमें अराजकतावादका प्रधान लक्ष्य राज्य, समाज और परिवारका उन्मूलन करता है, सभी प्रकारके नियमोंका उल्लंघन करता है। नियम मनुष्यकी स्वतन्त्रताका अपहरण करते हैं। अराजकतावाद मनुष्यको ही सत् मानता है, समाज, परिवार, राज्य, धर्म और नीतिको वह काल्पनिक शब्दमात्र मानता है। इनके द्वारा निर्धारित नियमोंके पालनसे, उसके अनुसार, मनुष्यकी 'मनुष्यता'की प्राप्ति नहीं होती है। इन सब नियमोंमें राजनीतिक नियम सबसे दुःखदायी है, राज्य मनुष्यका सबसे भयंकर शत्रु है। अत राज्यका उच्छेद करना ही मनुष्यके लिए हितकर है। मनुष्यका सुखमय जीवन तभी होता है जब कि राज्य, समाज और परिवारके प्रतिभास या भ्रम दूर हो जायँ और वह अपनी स्वेच्छासे जीवनयापन करे। मनुष्य निसर्गत भला है। वह अपने इन भ्रमोंके जालमें पड़कर बुरा हो जाता है।

अराजकतावाद इस तरह पूर्ण व्यक्तिवाद है। यह असमाजवाद है। यह दण्डरहित, राज्यविहीन, वर्गविहीन, धर्मविहीन, नीतिविहीन तथा समाजविहीन नाना मनुष्योंके स्वच्छन्दतापूर्वक जीवन बितानेके आदर्शको प्रस्तुत करता है।

अराजकतावादी विचारकोंमें यूनानके सोफिस्ट तथा

वर्तमान समयमें विलियम गॉडविन (१७५६-१८३६ ई०), मैक्स स्टर्नर (१८०६-१८५६ ई०) और क्रोपाटकिन (१८४२-१९२० ई०) के नाम प्रमुख हैं। हॉब्स और रूसोने प्राकृतिक जीवन बितानेकी शिक्षा दी। उनके कारण वर्तमान समयमें अराजकतावादके विकासमें काफी प्रगति आयी। भारतमें एम० एन० रॉय प्रायः अराजकतावादी माने जाते हैं।

अराजकतावादियोंका यह सिद्धान्त आज सर्वथा सही समझा जाता है कि मनुष्यका आदर्श जीवन वह है जिसपर राज्यका शासन बिलकुल कम हो। साम्यवादी तथा गान्धी-वादी दोनों ही ऐसे आदर्शकी सम्भावनापर विश्वास करते हैं। राजनीतिमें इस सिद्धान्तका उपयोग यह है कि राज्यका कर्तव्य नागरिकोंपर तनिक भी बन्धन न डालना है। यदि राज्य इस आदर्शको सदैव ध्यानमें रखे, तो उसमें सदैव लाभ हो सकता है।

'पूर्ण समाजमें नियम अनावश्यक हैं' इस सही सिद्धान्तसे अराजकतावादी यह गलत निष्कर्ष निकालता है कि 'पूर्ण समाजको प्राप्त करनेके लिए नियमोंका उन्मूलन आवश्यक है'। समाजको कायम रखनेके लिए कुछ-न-कुछ नियमोंका रहना आवश्यक है, भले ही उनका पालन सामाजिकोंके सच्चरित्रके कारण अनावश्यक कर दिया गया हो। अराजकतावादी मनुष्यके स्वभावको समझनेमें दो भूलें करता है। पहली यह कि वह मनुष्यको भला ही मानता है, बुरा नहीं। मनुष्यकी प्रकृति भली और बुरी दोनों ही है। दूसरी बात यह कि वह मनुष्यको सामाजिक नहीं मानता। यदि परिवार या समाज न होता तो मनुष्यकी चेतनाकी उत्पत्ति न होती। इस कारण मनुष्यको सामाजिक मानना उनके स्वभावको समझना है। मनुष्यके स्वभावको न समझनेके कारण अराजकतावाद घोर स्वार्थवाद और यदृच्छावादमें परिणत हो जाता है। —म० ला० पा०

अर्चना गीत–दे०—'स्तुतिगीत', स्तोत्र।

अर्थ-दोष–अर्थ-दोषके वास्तविक अभिप्रायको हृदयंगम करनेके लिए यह आवश्यक है कि दोषोंकी परिभाषा और उनके भेदोंको भली भाँति समझ लिया जाय। इन विषयोंका विस्तृत विवेचन अन्यत्र 'काव्य-दोष', 'अपकर्ष' और 'शब्द-दोष'के अन्तर्गत देखा जा सकता है। भरतने दोषोंको गुणोंका विपर्यय मानकर उनकी स्थिति भावात्मक मानी है। अग्निपुराणने इन्हें उद्वेगजनक माना है। भामहने दोषोंको सामान्य, वाणी-दोष आदिमें विभाजित करके उनके गुणत्व-सापेक्षताका विवेचन किया है। दण्डी-ने भी भामहकी परिपाटीको अपनाया है। वामनने सर्वप्रथम दोषोंके शब्दगत और अर्थगत भेद किये हैं। दोषोंकी आचार्यत्व-परम्पराको सर्वप्रथम इन्होंने अधिक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है। और काव्य-सौन्दर्यकी हानि करनेवाले तत्त्वोंको दोष मानकर शब्द और अर्थ सम्बन्धी दोष माने हैं। काव्यमें प्रयुक्त पदोंमें जो दोष दिखलाई पड़ते हैं वे शब्द-दोष हैं। जिन दोषोंका सम्बन्ध अर्थसे होता है वे अर्थ-दोष होते हैं।

शब्द और अर्थके ये दोष अप्रत्यक्ष रूपसे रस अथवा काव्यके मुख्य प्रतिपादित विषयकी हानि पहुँचाते हैं। इनके अनन्तर उत्तर-ध्वनिकालमें दोषोंका और विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। मम्मटने सभी दोषों, विशेषकर अर्थ दोषोंका सूक्ष्म विश्लेषण किया है। साहित्यदर्पणकारने 'काव्यप्रकाश'में वर्णित अर्थ-दोषकी विस्तृत व्याख्या की है। इन आचार्योंका मत है कि जिससे मुख्य अर्थका अपकर्ष हो वह दोष है। मूल रूपमें रस और गौण रूपमें शब्द और अर्थके अपकर्ष द्वारा काव्यका अपकार करनेवाले तत्त्व दोष कहलाते हैं। इसके अनन्तर अर्थ-दोषोंका विवेचन किया गया है। मम्मटने अर्थ-दोषकी संख्या २३ मानी है। विश्वनाथने भी इसे स्वीकार किया है।

हिन्दीके आचार्योंमें चिन्तामणिके 'कविकुलकल्पतरु'में काव्य प्रकाशके आधारपर अर्थ-दोषका विवेचन है। कुलपति मिश्र कृत 'रसरहस्य', सुरति मिश्रकृत 'काव्यसिद्धान्त', कुमारमणि भट्टकृत 'रसिकरसाल'में 'काव्यप्रकाश'के आधारपर अर्थ-दोषका वर्णन मिलता है। श्रीपतिके 'काव्य-सरोज' तथा 'कविकल्पद्रुम'में विस्तृत तथा स्वतन्त्र रीतिसे अर्थ-दोषका वर्णन किया गया है। सोमनाथकृत 'रसपीयूष', भिखारीदासकृत 'काव्यनिर्णय', जनराजकृत 'कविताल-विनोद', जगतसिंहकृत 'साहित्यसुधानिधि', लछिरामकृत 'रावणेश्वरकल्पतरु' आदि ग्रन्थोंमें प्रधानतः 'काव्यप्रकाश'-के आधारपर अर्थ-दोष-वर्णन मिलता है। इन आचार्योंने मम्मट द्वारा वर्णित विषयका ही उल्लेख किया है और नवीनता तथा मौलिकताका बहुत कम परिचय दिया है। दे०—'काव्य-दोष'।

इस प्रकार मम्मट द्वारा निरूपित अर्थ-दोषकी ही हिन्दीमें प्रधानता रही है। इनके अनुसार शब्द-दोषके निराकरणके उपरान्त भी जहाँ दोष बना रहता है वहाँपर अर्थ-दोष होता है। प्रमुख अर्थ-दोष ये हैं—१ अपुष्ट, २ कष्टार्थ, ३ व्याहत, ४ पुनरुक्त, ५ दुष्क्रम, ६ ग्राम्य, ७ सन्दिग्ध, ८ निर्हेतु, ९ प्रसिद्धि-विरुद्ध, १० विद्या-विरुद्ध, ११ अनवीकृत, १२ साकांक्ष, १३. अपदयुक्त, १४ सहचरभिन्न, १५ प्रकाशित-विरुद्ध, १६ निर्मुक्त पुनरुक्त, १७ अश्लील, १८ नियमपरिवृत्त, १९ अनियम-परिवृत्त, २० विशेषपरिवृत्त, २१ सामान्यपरिवृत्त, २२ विधि अयुक्त तथा २३ अनुवाद अयुक्त।

१ अपुष्ट–कुछ आचार्य इसे अपुष्टार्थ नामसे पुकारते हैं। मम्मटकी दृष्टिसे अपुष्टरूप अर्थ-दोषमें रुद्रट द्वारा कथित 'असम्बद्ध' तथा 'तद्वान' दोनों अर्थ-दोष अन्तर्भूत हो जाते हैं। वस्तुतः रुद्रट निर्दिष्ट इन दोनों दोषोंके विवेकसे ही मम्मटने 'अपुष्टत्व' रूप एक अर्थ-दोषका नामकरण तथा लक्षण-निरूपण किया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है (का० प्र० ७ ५७वृ०)। भिखारीदासका मत है कि जहाँ अर्थका बोध करानेके लिए प्रौढ़ उक्तिसे काम न लिया गया हो वहाँ अपुष्ट अर्थ दोष होता है (का० नि० २२)। साहित्य-दर्पणकारका कथन है कि यह दोष वहाँ होता है जहाँ कोई उक्ति मुख्य अर्थकी उपकारी न हो (सा० द० ७ ११ वृ०) यथा—'उयो अति बड़े गगनमें, उज्ज्वल चारु मयंक।' (भिखारीदास का०नि० २३)। यहाँ आकाश 'अति बड़ा' और 'मयंक उज्ज्वल' है, यह कहना व्यर्थ है। गगनमें मयंक उदय हुआ है, इतना ही पुष्टार्थ है, दोष अपुष्ट। अन्वय

करते समय अधिक पद-दोषकी और अर्थ करते समय अपुष्ट दोषकी व्यर्थता ज्ञात हो जाती है।

२ कष्टार्थ कष्टत्व–श्रीपतिने इस दोषको दुष्टवाक्य कहा है। मम्मटके अनुसार यह दोष वहाँ होता है जहाँ प्रतीत होनेवाला अर्थ उस अर्थसे भिन्न होता है जो प्रयुक्त अक्षरोंसे निकलता हो। जयदेवका कथन है कि जहाँ अर्थ शब्दोंमें रहता हुआ भी न रहते हुएके समान हो और इसी कारण स्पष्ट अर्थकी प्रतीति करानेमें असमर्थ हो, वहाँ कष्टार्थ दोष होता है। यथा–'तोपर वारौं चार मृग, चार विहँग फल चार।' (का० नि० २३)। यहाँपर वास्तविक अर्थ यह है कि 'नयनपर मृग, घूँघटपर हय, गतिपर गज, कटिपर सिंह ये चार मृग, बेनपर कोकिल, ग्रीवापर कपोत, केशपर मोर, नासिकापर शुक ये चार विहँग, दन्तपर दाडिम, कुचपर श्रीफल, अधरपर बिम्बा फल, कपोलपर मधूक ये चार फल हैं। इस प्रकार कष्टसे अर्थ प्रकट होना कष्टार्थ दोष है। क्लिष्टत्व दोषमें शब्दका परिवर्तन कर देनेसे अर्थकी प्रतीतिमें क्लिष्टता नहीं रहती, पर 'कष्टार्थ'में पर्यायवाची शब्द रखनेपर भी यह दोष दूर नहीं होता।

३ व्याहत–मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव तथा श्रीपतिने व्याहत (व्याहतत्व)का वर्णन किया है। भिखारीदासके अनुसार सावधानी न रखनेके कारण जहाँ एक ही उक्तिसे सत्य तथा असत्य दोनों ही बातें एक साथ कही जायँ वहाँ व्याहत दोष होता है (का० नि० २३)। चन्द्रालोककार-का मत है कि जहाँ पूर्व तथा उत्तरकथनमें विरोध हो वहाँ व्याहत दोष होता है। भाव यह है कि किसी वस्तुकी महत्ता दिखाकर फिर उसकी हीनता सूचित करना अथवा पहले हीनता दिखलाकर फिर महत्त्वका सूचित किया जाना व्याहत दोष होता है। यथा–'चन्द्रमुखीके वदन सम, हिमकर कह्यो न जाइ।' (भिखारीदास का० नि० २३)। यहाँपर 'चन्द्रमुखी' कहा है, पर चन्द्रसम वदन न कहना दो विरोधी बातें हैं। अत यहाँपर व्याहत दोष है।

४ पुनरुक्त–विभिन्न आचार्योंने इसके नाम पुनरुक्ति, पुनरुक्तत्व आदि दिये हैं। भरत, भामह, वामन, केशव, श्रीपति आदिने इस दोषको अन्य नामोंसे भी पुकारा है। यह दोष शब्द-दोषके अन्तर्गत भी कथित पदके नामसे उल्लिखित है। उक्त आचार्यों द्वारा दी हुई परिभाषाएँ शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकारसे पुनरुक्तिकी ओर संकेत करती हुई प्रतीत होती हैं, अतएव (दे० 'कथित पद-शब्द-दोष') एक शब्दका वाक्य द्वारा अर्थ-विशेषका बोध हो जानेपर भी उसी अर्थवाले दूसरे शब्द या वाक्य द्वारा उसी अर्थका प्रतिपादन करना पुनरुक्त दोष कहलाता है। यथा–'मृदुबानी मीठी लगे, बात कविनकी उक्ति' (का०नि० २३)। यहाँपर, 'बानी', 'बात' और 'उक्ति' एक ही अर्थके द्योतक हैं। अत पुनरुक्ति दोष है। 'अपुष्ट' दोषमें अर्थकी पुनरावृत्ति नहीं होती है और इस दोषमें होती है, यही दोनोंमें अन्तर है। जहाँ उत्कर्ष सूचित होता है वहाँपर यह दोष नहीं माना जाता।

५ दुष्क्रम : दुष्क्रमत्व–भामह, दण्डी तथा वामनके अपक्रम दोषका एक अंश मम्मटके दुष्क्रम दोषके अन्तर्गत आ जाता है। श्रीपतिने भी 'दुष्क्रम' दोषका उल्लेख किया है। मम्मटके अनुसार दुष्क्रमत्वका अर्थ है अनुचित अर्थक्रम (का० प्र० ७ ५७ वृ०)। अभिप्राय यह है कि जहाँ क्रमके विचारसे क्रम न रखा जाय अथवा लोक या शास्त्रके विरुद्ध क्रम हो वहाँपर दुष्क्रमत्व दोष होता है। यथा–'बर बाजीके बारनै, दैहैं रीझि दयाल।' (का० नि० २३)। यहाँपर 'बाजी' (घोड़ा)के पश्चात् 'बारने' (हाथी)का उल्लेख होना अनुचित है। अत दुष्क्रम दोष है। यह इस प्रकार होना चाहिये–'बारन ही कै बाजि ही दहे।' अथवा–'मारुत नन्दन मारुतको, मनको खगराजको बेग लजायो।' (तुलसी) इसमें सबसे अधिक वेगवान 'मन'को कहनेके उपरान्त खगराजके वेगका उल्लेख करना दुष्क्रम दोष है।

६ ग्राम्य ग्राम्यत्व–ग्राम्यत्व दोष शब्दगत और अर्थगत, दोनों प्रकारका होता है। अत आचार्योंने दोनों प्रकारके ग्राम्य दोषका वर्णन किया है। कुछ लेखक शब्द और अर्थके ग्राम्य-दोषका विभाजन उचित रूपसे नहीं कर पाये हैं। उनके सम्बन्धमें यह बतलाना कठिन है कि उन्होंने शब्द-ग्राम्य-दोषका विवेचन किया है अथवा अर्थ-ग्राम्य-दोषका। इसलिए इसका विवेचन करते समय विभिन्न आचार्योंका उल्लेख ग्राम्य-दोषके शब्द और अर्थगत भेदोंके साथ कर दिया गया है। वामन, मम्मट, विश्वनाथ, सूरति मिश्र और श्रीपति आदिने शब्द-ग्राम्य-दोष और अर्थ-ग्राम्य-दोषका अलग-अलग भेद स्पष्ट कर दिया है। भरतके भिन्नार्थ-दोषका एक अंश इसके अन्तर्गत आ जाता है (नाट्यशास्त्र १७ ९०)। केशवका बधिर दोष इसी दोषमें सम्मिलित है (कविप्रिया ३ ९)। ग्राम्य-दोषका अर्थ है अविदग्धोक्तिरूप अर्थका दोष (का० प्र० ७ ५७ वृ०)। अर्थात् यह दोष वहाँपर होता है जहाँपर चतुर व्यक्तियों-की तरह बात न कही जाय वरन् गँवार भाषाका प्रयोग किया जाय। ऐसे वर्णन सहृदय व्यक्तिके लिए उद्वेगजनक होते हैं। यथा–'अली पास पौढी भले, मोहि किन पौढन देति।' (का० नि० २३)। यहाँ नायिकासे यह कहना कि तेरे पास तेरी सखी सो रही है, तू मुझे क्यों नहीं लेटने देती, गवारपनका द्योतक है। अत ग्राम्य-दोष है।

७ संदिग्ध · सदिग्धत्व–भामह और दण्डीने इस दोषको 'ससंशय' नाम दिया है। यह दोष शब्द-दोषके अन्तर्गत ही आया है। सूरति मिश्र, श्रीपति तथा भिखारीदासने इसका विवेचन किया है। संदिग्धका अर्थ है प्रकरण आदि-के अभावमें दो अर्थोंमें सन्देह उत्पन्न होना (का० प्र० ७ ५७ वृ०)। अर्थात् जहाँपर अनेक अर्थोंमेंसे एक भी निश्चय-पूर्वक न कहा जा सके वहाँपर यह दोष होता है। यथा–'केहि कारन कामिनि लिख्यो, शिवमूरति निज गेह।' (का० नि० २३)। यहाँपर यह कहना कठिन है कि कामिनीने कामके डरसे शिवमूर्ति लिखी अथवा अन्य किसी कारणसे। अत इसमें सदिग्ध दोष है।

८ निर्हेतु : निर्हेतुत्व–भामहने इस दोषका नाम 'प्रतिज्ञा-हेतु दृष्टान्त-हीन' रखा है। मम्मटका कथन है कि बिना हेतुके किसी विवक्षित अर्थके उपादानको निर्हेतु दोष कहते हैं। (का० प्र० ७ ५७ वृ०)। अर्थात् जहाँ बिना हेतुके कोई बात कही जाय वहाँपर निर्हेतु-दोष होता है। यथा–'मदन हन्यो मानो अली मदन दियो मन लागि।'

(का० नि० २३)। यहाँपर यह तो स्पष्ट है कि कामदेवने वाण डाल दिये, पर उसके ऐसा करनेका क्या कारण है इसका पता नहा चलता। अतएव यहाँपर निर्हेतु दोष है। लोकप्रसिद्ध अर्थमें निर्हेतु दोष नहीं होता है।

९ प्रसिद्धिविरुद्ध : प्रसिद्धिविरुद्धत्व—भरतने इसे न्यायापेत कहा है (नाट्यशास्त्र १७ ९३)। वामनने प्रसिद्धि-विरुद्धको 'अलोक' नाम दिया है। भामह और दण्डीके देशकाल-कला-लोक-न्याय-विरोधीका एक अंग इस दोषमें समन्वित होता है और शेष विद्या-विरुद्धके अन्तर्गत। केशवके 'देशविरोध', 'कालविरोध' दोष इस दोषके अन्तर्गत आते हैं। (कविप्रिया ३ ५३-५५) भिखारीदासने इसे 'प्रसिद्धिहतत्व'की संज्ञा दी है (का० नि० २३)। मम्मटका कहना है कि लोकप्रसिद्धि अथवा कविप्रसिद्धि अर्थसे विरुद्ध अर्थके उपनिबन्धन दोषको कहते हैं (का० प्र० ७· ५७ वृ०)। अर्थात् जहाँपर लोकमें अथवा कवियोंमें जो वात प्रसिद्ध हो उनके विपरीत कथन किया जाय वहाँपर यह दोष होता है। यथा—'कंकन जो याकों कहैं, है उनकी अति भूल। मदन दियो निज चक्र यह, मृग लोचनि कर मूल।' यहाँपर हाथके भूषण कंकणको कामदेवका शस्त्र कहा गया है। कामदेवका शस्त्र धनुष ही लोकमें प्रसिद्ध है, न कि चक्र। चक्रका सम्बन्ध तो भगवान् विष्णुके साथ प्रसिद्ध है। अत यहाँपर प्रसिद्धि विरुद्ध दोष है। 'प्रसिद्धिहतत्व'की आशंका वहाँ नहीं की जा सकती जहाँ ऐसे अर्थका निबन्ध किया गया हो जो लोकविरुद्ध होनेपर भी कविप्रसिद्ध हो। मम्मटने यहाँपर 'कविसमय'की ओर सकेत किया है, जिसका वर्णन अन्य आलंकारिक विशद रूपसे कर चुके हैं।

१० विद्याविरुद्ध : विद्याविरुद्धत्व—वामनने विद्याविरुद्धका उल्लेख किया है। भामह और दण्डीने इसे देशकाल-कला-लोक-न्यायविरोधी माना है। इसका एक अंग वामनके अलोक दोषमें आ जाता है। भरतने इसे न्यायादपेत कहा है (नाट्यशास्त्र १७ ९३)। केशवके 'निगम-विरोध' तथा 'न्याय-आगम-विरोध'का समाहार विद्याविरुद्धमें हो जाता है (कविप्रिया ३ ५६, ५७)। मम्मटसम्मत विद्याविरुद्ध दोषमें 'प्रत्यक्ष आदि विरुद्धत्व' -रूप अन्य अनेक अर्थदोष (दिश-विरुद्ध, काल-विरुद्ध, लोक-विरुद्ध, प्रतिज्ञा-विरुद्ध) समन्वित हैं, जिनका निर्देश भोजराजने अपने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' (प्रथम परिच्छेद)में किया है। इस दोषसे अभिप्राय है कि जहाँ शास्त्रविरुद्ध बातोंका वर्णन किया जाता है वहाँपर 'विद्याविरुद्ध' दोष होता है (का० प्र० ७ ५७ वृ०)। यथा—'रद-छद सद नख-पद लसे, कहे देत सब बान।' यहाँपर रद छदोंपर, अधरोंपर नख-क्षतोंका होना काम-शास्त्रके विरुद्ध है। इसी प्रकार जहाँपर धर्म, नीति, आदि शास्त्रविरुद्ध वर्णन होता है वहाँ भी यह दोष होता है। भिखारीदासने एक ही पद्यमें प्रसिद्धि-विरुद्ध और विद्याविरुद्धका उदाहरण दिया है (का० नि० २३)।

११ अनवीकृत : अनवीकृतत्व—मम्मट, विश्वनाथ तथा हिन्दीके भिखारीदास आदिने स्वीकार किया है—जहाँपर पिष्टपेषण अर्थात् अनेक अर्थोंका एक ही प्रकारसे वर्णन किया जाता है और उनमें कोई विलक्षणता नहा होती, वहाँपर अनवीकृत दोष होता है। यथा—'कौन अचम्भो जो पावक जारै तो कौन अचम्भो गरू गिर भाई।' (का० नि० २३)। इसमें 'कौन अचम्भो'के बादके वाक्य वास्तविक अर्थोंके द्योतक हैं, परन्तु इन सबके कहनेके पश्चात् भी कोई नयी बात नहीं ज्ञात होती। अत यहाँ 'अनवीकृत' दोष है। विलक्षणता रहनेपर अनवीकृत दोष दोष नहीं रह जाता है।

१२ साकांक्ष—मम्मट, विश्वनाथ तथा हिन्दीमें भिखारीदास आदिने इसका विवेचन किया है। आचार्योंने इसको भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा है—साकांक्ष्य और साकांक्षत्व। इसका अर्थ है ऐसे अर्थके अभिधानका होना जिसमें किसी अनुपात्त अर्थकी आकांक्षा बनी रहे (का० प्र० ७ ५७ वृ०)। यथा—'परम विरागी चित्त निज, पुनि देवनको काम। जननी रुचि पुनि पितु वचन, क्यों तजि है बन राम।' (का० नि० २३)। यहाँपर ऐसे शब्दोंकी आकांक्षा है जिनसे वनगमनका अर्थ प्रकट हो। अतएव 'क्यों तजिहैं बन राम'के स्थानपर 'क्यों न जायँ बन राम' होना चाहिये। भिखारीदासने इस दोषको साकांक्ष नामसे पुकारा है।

१३ अपदयुक्त—मम्मटके अनुसार अपदयुक्तत्वका अभिप्राय है प्रकृत अर्थके विरुद्ध अर्थ रखनेवाले पदसे युक्त अर्थका वर्णन करना (का० प्र० ७ ५७ वृ०)। अर्थात् जहाँपर अनुचित या अनावश्यक ऐसे पद या वाक्यका प्रयोग हो जिससे कही हुई बातके मण्डनके बदले खण्डन हो जाय, वहाँपर अपदयुक्त दोष होता है। यथा—'आज्ञानुकारि सुरनाथ, पुरारि भक्त, लंकापुरी, विमल वंश, अपार शक्ति। है धन्य, ये यदि न रावणता कहीं हो, एकत्र सर्वगुण किन्तु कहीं नहीं हो।' (मम्मट द्वारा प्रस्तुत उदा० · छायाकार कन्हैयालाल पोद्दार)। यहाँ रावणमें रावणत्वरूप दोष दिखलाना ही प्राकरणिक अर्थ है। चौथे पादके अर्थान्तरन्यासके कारण उस दोषमें लघुता आ गयी है। अर्थात् रावणकी अत्यन्त क्रूरता, यह कह देनेसे कि सब गुण एक स्थानपर नहीं हो सकते, एक साधारण बात हो गयी है। अतएव चौथे पादमें जो बात कही गयी है, उसे नहीं कहना चाहिये था।

१४ सहचर-भिन्न—इस दोषका उल्लेख मम्मट, विश्वनाथ तथा भिखारीदासने किया है। सहचर - भिन्नत्वसे अभिप्राय ऐसे अर्थके अभिधानसे है जो अन्य समभिव्याहृत सजातीय-भूत अर्थोंमें विजातीय रूपसे प्रतीत हो (का० प्र० ७ ५७ वृ०) अर्थात् जहाँ विवेकसे संगतिकी उपयुक्तताका ध्यान रखा गया हो। यथा—'निसि ससि सों जल कमल सों, मूढ़ व्यसन सों मित्त। गज मद सों नृप तेज सों, शोभा पावत नित्त।' (का० नि० २३)। यहाँपर निशिकी शशिसे तथा जलकी कमलसे मैत्री जिस उच्च भावका प्रकाशन करती है वह मूढ़ तथा व्यसनमें उपलब्ध नहीं। अत इसमें सहचर-भिन्न दोष है।

१५ प्रकाशित-विरुद्ध—इस दोषका वर्णन 'काव्यप्रकाश,' 'साहित्यदर्पण,' 'चन्द्रालोक' तथा 'काव्यनिर्णय'में विस्तार-पूर्वक मिलता है। प्रकाशित विरुद्धत्वमें ऐसे अर्थका अभिधान किया जाता है जो एक व्यंग्यार्थका प्रत्यायक हो रहा हो, उस स्थलपर यह दोष होता है (का० प्र० ७ ५७ वृ०)। अर्थात् जहाँ जो लक्षण कहना अपेक्षित हो, पर उससे विरुद्ध अर्थकी प्रतीति हो वहाँपर प्रकाशित-विरुद्ध

दोष होता है। यथा—'हँसनि तकनि बोलनि चलनि सकल सकुचमय जासु। रोप न केहूँ कै सकै, सुकवि कहँ सुकिय सु।' (का० नि० २३)। यहाँपर कवि स्वकीया नायिकाका वर्णन करना चाहता है पर इस अवतरणसे परकीयाका भी अर्थ लगता है। अत प्रकाशित-विरुद्ध दोष है। 'विरुद्ध मतिकृतत्व'-में अर्थकी प्रतीति शब्दशक्तिमूलक रहा करती है और 'प्रकाशित-विरुद्ध'में विरुद्ध अर्थकी प्रतीति अर्थ सामर्थ्यमूलक हुआ करती है। अर्थात् 'विरुद्ध मतिकृत' दोष शब्दके आश्रित है—वहाँ शब्दपरिवर्तनसे दोष नहीं रहता है। 'प्रकाशित-विरुद्ध'में शब्दपरिवर्तन कर देनेपर भी दोष रहता है। इन दोनोंमें यही भेद है।

१६. **निर्मुक्त-पुनरुक्त**—मम्मटने इस दोषको 'त्यक्तपुन -स्वीकृतत्व' नाम दिया है, पर विश्वनाथने यही नाम माना है। जहाँ निराकाङ्क्ष रूपसे समाप्त भी वाक्यांशका पुन किसी अन्य कारकादि प्रयोगसे उपादान किया जाता है वहाँ यह दोष होता है (का० प्र० ७ ५७ वृ०)। अर्थात् यह दोष वहाँपर होता है जहाँ छोड़ी हुई बात फिरसे उठायी जाती है। यथा—'मो सुधि-बुधि हरि-हरि लई, काम करौं डर हेत।' (का० नि० २३)। जब सुधि-बुधि हर जाती है तब काम किस प्रकार कर सकती है? अत यहाँपर त्यक्तपुन -स्वीकृत दोष है।

१७ **अश्लील**—मम्मट, विश्वनाथ तथा हिन्दीमें भिखारीदास आदिने इसे अर्थ-दोष माना है। अश्लीलत्वका अर्थ है अभिहित अर्थमें व्रीडादि समर्पण होना। अर्थात् जहाँ किसी लज्जाजनक अर्थका बोध होता है वहाँपर यह दोष होता है (का० प्र० ७ ५७ वृ०)। यथा—'उन्नत है पर छिद्रको, क्यों न जाइ मुरझाइ।' (का०नि० २३)। इसका अर्थ है कि जो दूसरेका छिद्र (दोष) देखनेपर ही उतारू है, ऐसा खल क्यों न मुरझा जायगा। पर इसके अतिरिक्त ऐसा भी अर्थ निकलता है जो अश्लील और लज्जाजनक है, अत यहाँपर अश्लील अर्थ-दोष है। —टी० सिं० तो०

१८ **नियम-परिवृत्त**—मम्मटने सनियम तथा विश्वनाथने नियम कहा है। मम्मटके अनुसार नियमित रूपसे वर्णन योग्य अर्थका अनियमित रूपसे उपनिबन्ध अर्थात् वर्णन किया जाना, यह दोष है (का० प्र० ७ ५६ वृ०)। यथा—'जाकी सुभदाइक रुचिर, करतै मनि गिरि जाइ। क्यों पायें आभास मनि, होइ तासु चित चाइ।' (का० नि० २३)। यहा मणिका आभास छाया होती है, उसके लिए 'क्या लहि छाया मात्र मनि' कहना नियमानुसार होता। अत यह दोष है। भिखारीदासने 'नियम अनियम प्रवृत्त'को एक ही दोष मान लिया है।

१९ **अनियम-परिवृत्त**—मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार अनियमित रूपसे वर्णनीय अर्थका वर्णन करना, यह दोष है (का० प्र० ७ ५६ वृ०)। भिखारीदासने इसे नियम-परिवृत्तके साथ मिला दिया है। मम्मटका उदाहरण—'जब सरस्वती (नदी) आपके मुख कमलमें निवास कर रही है, जब आपका अधर शोण (लाल तथा नदी) ही है आपको जल पीनेकी अभिलाषा क्यों हो।' इसमें 'आपका अधर शोण है' ऐसा कहनेमें जलपानकी अभिलाषाके अनौचित्यकी कोई सुन्दर प्रतीति नहीं होती, वरन् अनौचित्य वास्तविक हो उठता है, अत यह दोष है।

२० **विशेष-परिवृत्त**—मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार विशेष रूपसे किसी अर्थके अभिधानके बदले सामान्य रूपसे उसका अभिधान होना, यह दोष है (का० प्र० ७ ५६ वृ०)। अर्थात् जहाँ विशेषके स्थानपर सामान्य धर्मका वर्णन किया जाता है। भिखारीदासने विशेष तथा सामान्य प्रवृत्तको विपरीत अर्थमें ग्रहण किया है। उनके अनुसार यह परिभाषा 'सामान्य प्रवृत्त' की है—'जहाँ कहत सामान्य ही, थल बिसेसको देख।' (का० नि० २३)। इसी क्रमसे उनके उदाहरण भी है, जो मम्मटके उद्धरणोंके आधारपर दिये गये हैं—'रैन स्याम रँग पूरि ससि, चूरि कमल करि दूरि। जहाँ तहाँ हौं पिय लखौं, ए भ्रम दाहक भूरि।' रात श्याम है और चन्द्रमा श्वेत है, फिर इन्हें भ्रम उत्पन्न करनेवाला कहना दोष है। मम्मटका उदाहरण अधिक स्पष्ट है—'श्यामा श्यामलिमानम्' कथनमें 'श्याम' शब्दका प्रयोग सामान्य रात्रिके लिए हुआ है जब कि यहाँ चाँदनी रातका विशेष अर्थ ग्रहण कराना अभिप्रेत है, अत दोष स्पष्ट है।

२१ **सामान्य-परिवृत्त**—मम्मट तथा विश्वनाथने इसको 'अविशेष' कहा है, उनके अनुसार किसी अर्थकी सामान्यता रूपसे अभिधान (वर्णन)के बदले विशेषता रूपमें उसका वर्णन करना, यह दोष है (का० प्र० ७ ५६ वृ०)। भिखारीदासने यह परिभाषा 'विशेष-प्रवृत्त'की दी है—'जहाँ ठौर सामान्य कौं, कहै विशेष अयाँन।' (का० नि० २३)। और उदाहरण भी इसीके अन्तर्गत दिया गया है, जो मम्मटके आधारपर है—'कहा सिन्धु लोपत मनिन, बीचिन कीच बहाइ। सक्यो कौस्तुभ जोरि तू, हरि सों हाथ बढ़ाइ।' यहाँ सामान्य रत्नोंके अपमानके अनौचित्यके अर्थको प्रकट करनेके लिए कौस्तुभ (रत्नविशेष) का कथन अनुचित है। उसका सामान्य रूपमें कहनेसे ही अभिप्रेत अर्थ व्यंजित हो सकता है। इन्हीं रत्नोंमें एकने इतना उपकार किया तो सभी रत्न आदरके पात्र हैं।

२२. **विधि-अयुक्त**—मम्मट तथा विश्वनाथके अयुक्तके दो रूप है—विधि तथा अनुवाद। भिखारीदासने इन्हें 'अजुक्तपद'-के अन्तर्गत स्वीकार किया है,पर उनका भाव बहुत स्पष्ट नहीं है। मम्मटके अनुसार अविधेय अर्थका ही विधेय अर्थके रूपमें क्रमहीन ढंगसे अभिधान (कथन) करना यह दोष है। मम्मटका उदाहरण—'आज बाहुबलके अभिमानियोंकी रण-चर्चाका कैसे अन्त करता हूँ, देख लो। आजसे तुम ऐसी नींद ले सकोगे कि वन्दीजनोंके स्तुत-पाठसे ही उठ पाओगे।' यहाँ विधेय अर्थ है 'नि शक नींदसे चारणों द्वारा जगाये जाओगे' पर उसे अविधेय रूपसे प्रतिपादित किया गया है—'चारणों द्वारा जगाये गये सोते रहोगे। इससे अभिप्रेत अर्थ-की व्यंजना सम्भव नहीं, अत विधि-अयुक्त-दोष है। भिखारीदासका उदाहरण स्पष्ट नहीं है—'पौन अहारी ब्याल है, ब्यालै खात मयूर। ब्याध जु खात मयूर कौं, कौन शत्रु बिन कूर।' भिखारीदासने इस उदाहरणमें सर्पको निरा पवन-अहार कहना यह दोष माना है।

२३ **अनुवाद-अयुक्त**—मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार विधेयके प्रतिकूल अनुवाद्य (उद्देश्य)का कथन, यह दोष है (का० प्र० ७ ५७वृ०)। भिखारीदासने मम्मटके आधारपर जो

उदाहरण दिया है वह स्पष्ट नहीं है और न उनकी व्याख्या ही। उसको इस प्रकार रखा जा सकता है–'रे केसवकर आभरन, मोद करन श्रीधान। कमल वियोगी जिउ हरन, कहा प्रिया अभिराम।' (का० नि० ७३)। इसमें कमलने अपनी प्रियाके सम्बन्धमें प्रार्थना करनेवालेका उसे 'जिउहरन' कहना विधेय रूप अभिप्रेत अर्थके लिए उद्देश्य अर्थ अनुकूल नहीं है, अतः यह दोष है। —सं०

अर्थ-प्रकृति–रूपकके समग्र इतिवृत्तको पाँच स्थितियोंमें विभाजित किया गया है–बीज,बिन्दु,पताका,प्रकरी और कार्य। ये ही अर्थ-प्रकृतियाँ हैं। धनिकने अर्थ-प्रकृतियोंको स्पष्ट करते हुए 'प्रयोजनसिद्धि हेतव' लिखा है। धनिकका अनुकरण करते हुए विश्वनाथने भी अर्थप्रकृतियोंका स्पष्टीकरण 'प्रयोजनसिद्धि हेतव' लिखकर किया है। कुछ लोगोंने इस परिभाषाको युक्तियुक्त नहीं माना है। उनका कहना है कि कार्य तो अपने-आपमें प्रयोजन है, फिर इसको 'प्रयोजन-सिद्धिका हेतु' कैसे स्वीकार किया जा सकता है? किसी अवान्तर कार्यको प्रयोजन मानना, जो मुख्य कार्यका सिद्धि हेतु है, तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। फिर तो अनेक अवान्तर कार्योंको प्रयोजन मानना पड़ेगा। वास्तवमें कार्य ही प्रयोजन है। लेकिन यह स्थूल कार्य स्वयं किसी सूक्ष्म कार्यको इंगित करता है। इसीलिए रंगमंचपर घटित होने-वाले कार्यमें किसी और प्रयोजनकी सिद्धिका हेतु निहित रहता है। आजकल नाटकोंका वास्तविक प्रयोजन रंगमंचपर घटित होनेवाला कार्य नहीं है बल्कि उनसे जो लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है वह उसका मुख्य उद्देश्य या प्रयोजन होता है। प्राचीनकालके नाटकोंका मुख्य प्रयो-जन यदि रस-प्रतीति मान ली जाय तो धनिककी परिभाषा-पर उठायी गयी आपत्तिका शमन हो जाता है। –व० सिं०

अर्थलय–अर्थलयका निरूपण प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्रमें नहीं मिलता। हिन्दीमें नयी कविताके नामसे अभिहित होनेवाली आधुनिक काव्यधाराके अन्तर्गत अनेक वाहृत गद्याभास कविताओंका आन्तरिक आधार खोजनेपर अर्थलयका स्पष्ट प्रमाण मिलता है जिसमें इस तत्त्वकी ओर विशेष ध्यान गया है। शब्दार्थमयी कविताका लयतत्त्व (दे०)से जन्मजात सम्बन्ध है जो मूलतः इतना घनीभूत एवं व्यापक है कि लयको कविताका एक अनिवार्य अंग स्वीकार किये बिना उसके सम्पूर्ण स्वरूपकी व्याख्या करना कठिन होता है। आवर्तन-विवर्तन और गहराईसे युक्त गतिशीलता, जो एक सम्बद्ध प्रवाह रूपमें प्रतिभासित होती है, शब्द और अर्थ दोनोंमें लय-रूपमें व्याप्त हो जाती है। अर्थलयका यही तात्त्विक आधार है। शब्दमें लयकी स्थिति तो परम्पराने मान्य रही है, क्योंकि छन्द उसका नियोजित रूप है, परन्तु अर्थलयपर बहुत कम विचार किया गया है।

अंग्रेजीके प्रख्यात आलोचक आई० ए० रिचर्ड्सने इस विषयमें महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। उनकी धारणा है कि 'काव्यमें लय केवल शब्दतक सीमित नहीं है। पढ़नेवालेपर उसका प्रभाव अर्थके साथ संयुक्त होकर पड़ता है, अतएव बिना अर्थका विचार किये अच्छी-बुरी लयका अन्तर कवितामें नहीं किया जा सकता और शब्दकी लय विचार करनेपर अन्तर्भाव और अर्थकी समष्टिमें ही पहचानी जाती है, जिसमें हमारी मानसिक चेतनाकी लय समाहित रहती है।' उनकी यह तथा ऐसी अन्य धारणाएँ 'अर्थलय'की स्थापनाके लिए सम्यक् आधार प्रस्तुत करती हैं (प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म पृष्ठ २२७,२९)। टी०एस० इलियट-ने 'संगीतात्मक कविता की परिभाषा बताते हुए उसमें ध्वनि लयके अतिरिक्त अर्थके भी लयात्मक रूपकी सत्ता मानी है, साथ ही दोनोंकी अभिन्नताका भी प्रतिपादन किया है (सेलेक्टेड प्रोज पृष्ठ ६०)। और भी अनेक विचारकोंने अर्थमें लयात्मकताकी सूक्ष्म स्थिति प्रकारान्तरसे निर्दिष्ट की है। अर्थलय केवल गद्याभास कविताओंतक ही सीमित नहीं है। वह कविताका एक मूलभूत व्यापक तत्त्व है, जो छन्द, गेय छन्द, मुक्त छन्द आदि सभी रूपोंमें उपलब्ध होता है और कहीं-कहीं भावात्मक गद्यमें भी वह परिलक्षित होता है। लोक-गीतोंमें अर्थलय, शब्दलयके साथ मिश्रित होनेपर भी स्पष्टतया उभरकर सामने आती है। भावात्मकतासे अर्थ-लयका घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण श्रेष्ठ काव्यमें वह प्रायः अनिवार्य रूपमें प्राप्त होती है। —ज० गु०

अर्थवक्रोक्ति–अर्थालंकार, जहाँ अर्थश्लेष केवल अन्य अभिप्रायसे कहे हुए वाक्यके अर्थकी कल्पना हो, वहाँ 'अर्थ-वक्रोक्ति' अलंकार होता है। भामहने वक्रोक्तिको व्यापक अर्थमें लिया है और उन सबको वक्रोक्ति माना है जिससे अर्थ शोभित होता है और जिसके बिना किसी अलंकारकी कल्पना नहीं की जा सकती (काव्यालंकार। २।८५)। इसी प्रकार कुन्तकने इसे काव्यसर्वस्वके रूपमें माना है (वक्रोक्ति-सिद्धान्त)। परन्तु शब्दालंकारके रूपमें वक्रोक्तिका जितना महत्त्व है उतना अर्थालंकारके रूपमें नहीं। अतः मम्मट अथवा विश्वनाथने 'वक्रोक्ति' (दे०)को शब्दालंकारमें ही परिगणित किया है और 'श्लेषवक्रोक्ति' तथा 'काकुवक्रोक्ति' नामक दो भेद बताये हैं। अर्थवक्रोक्तिके नामसे स्वतन्त्र अलंकारका प्रतिपादन उन्होंने नहीं किया है। मतिराम आदि आचार्योंने भी वक्रोक्तिको शब्दालंकारमें ही गिना है। यह माना जा सकता है कि जहाँ चमत्कार शब्दशक्ति-मूलक हो वहाँ 'वक्रोक्ति' और जहाँ अर्थशक्तिमूलक हो वहाँ 'अर्थवक्रोक्ति' अलंकार होगा। उदा०–मैथिलीशरण गुप्तके 'साकेत'से–'हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना। सब सजग हो गये, भंग हुआ ज्यों सपना। हे आर्य, रहा क्या भरत अभीप्सित अब भी। मिला अकंटक राज्य उसे जब तब भी।' यहाँ प्रथम पंक्तिमें जिस अर्थमें रामने 'अभीप्सित' शब्दका प्रयोग किया है, उससे भिन्न अर्थमें उसी 'अभीप्सित' शब्दका प्रयोग भरतने तृतीय चतुर्थ पंक्तियोंमें किया है। —व० ब्र० शा०

अर्थ-विरोध–दे०–'वर्णन-दोष', दूसरा।

अर्थ-व्यक्ति गुण–दे०–'गुण', सातवाँ प्रकार।

अर्थ-व्याप्ति–कवि-शिक्षा (दे०)के अन्तर्गत काव्य-विषयके विस्तारक्षेत्रको 'अर्थ-व्याप्ति' कहा गया है। राजशेखरने किसी पूर्वाचार्य द्रौहिणके इस मतका उल्लेख किया है कि अर्थ-व्याप्तिके तीन विभाग हैं– १ दिव्य (स्वर्गीय जनोंके क्रियाकलाप), २ दिव्य मानुष (स्वर्गीय जनोंके मनुष्य-रूपमें अवतरित होकर किये गये कार्यकलाप अथवा मनुष्योंकी स्वर्गमें पहुँचकर अथवा दिव्यभाव प्राप्त कर की हुई चेष्टाएँ),

और ३. मानुष (मनुष्योंके कार्यव्यवहार)। राजशेखरने इन तीन विभागोंमें चार और जोड़कर अर्थ-व्याप्तिके कुल सात विभाग किये हे। ये चार विभाग है–४ पातालीय (पातालवासियोंमे सम्बन्धित), ५ मर्त्यपातालीय (मनुष्य तथा पातालवासियोंके पारस्परिक व्यवहारसे सम्बन्धित, ६. दिव्यपातालीय (स्वर्ग एव पातालवासियोंके परस्पर व्यवहारसे सम्बन्धित) ओर ७ दिव्यमर्त्यपातालीय (स्वर्ग, मर्त्यलोक तथा पातालके वासियोंके परस्पर व्यवहारसे सम्बन्धित)। (का० मी० अ० ९)। हेमचन्द्र तथा वाग्भटने अपने-अपने 'काव्यानुशासन'में अर्थ-व्याप्तिके इन सात विभागोंका उल्लेख काव्यके पात्रोंकी प्रकृतिके रूपमें किया है। —म० प्र० ल०

अर्थ-श्लेप–सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गके विशेषण-वैचित्र्यका अर्थालकार। श्लेपके सम्बन्धमें पर्याप्त मतभेद है (दे०–'श्लेष')। सस्कृतके आचार्योंमें मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेपको अलग-अलग माना हे। जयदेवने शब्द-श्लेपका विवेचन अर्थालकारोंके अन्तर्गत किया है, सम्भवत इसलिए कि यहाँ उन्हें अर्थ-श्लेपपर विचार करना था। वस्तुत हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितकी इसी प्रवृत्तिके कारण प्राय शब्द-श्लेपका परिचय और उदाहरण ही अर्थालकारोंके अन्तर्गत दिया है–'श्लेष कहावत है जहाँ उपजत अर्थ अनेक।' (ल०-ल० १६८)। आधुनिक विवेचकोंने स्पष्टत मम्मट आदिके समान शब्द तथा अर्थ-श्लेपको भिन्न माना है। मम्मटने दोनोंके भेदको स्पष्ट किया है कि 'यदि एक अर्थके बोधक शब्दोंका वैचित्र्यपूर्ण अनेक अर्थ हो तो वहाँ श्लेप अर्थालकार होगा' (का० प्र० १० ९६ वृ०)। विश्वनाथने इसी भावको अपनी परिभाषामें व्यक्त किया है–'शब्दै स्वभावादेकार्थै अनेकार्थवाचनम्।' (सा० द० १०. ५८) जहाँ स्वाभाविक एकार्थ शब्दोंमें अनेक अर्थ व्यक्त हों। उदा०–'साधु चरित शुभ सरिस कपासू। निरस विसद गुनमय फल जासू।' (रा० च० मा० का० ह० से) यहाँ नीरस, विशद और गुणमय एकार्थक शब्द ह, जिनके अनेक अर्थ साधु तथा कपासके विशेषणके रूपमें लगते है। अथवा–'कोमल विमलरु सरस अति, विमल प्रभा अमन्द। है सुवास मय मन हरन, तिय मुख अरु अरविंद।' (अ० म० ३३३) यहाँ 'कोमल' और 'विमल' एकार्थक शब्दोंके भिन्न-भिन्न अर्थ मुख तथा कमलके साथ लगते है। —शि० प्र० सिं०

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि–सलक्ष्य ध्वनिका दूसरा भेद। यह ध्वनि वहाँ होती है जहाँ किसी अथवा किन्हीं शब्दोंके पर्यायवाची शब्द रख देनेपर भी व्यग्यार्थ उद्भूत होता है। इस ध्वनिके सर्वप्रथम तीन भेद किये गये है–स्वत-सम्भवी, प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध, कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध (दे०)। वस्तुसे वस्तु, वस्तुसे अलकार, अलकारसे वस्तु और अलकारसे अलकारकी ध्वनियोंकी दृष्टिसे इन तीनोंके पुन चार-चार भेद ओर होते हैं। पद, वाक्य और प्रबन्धमें व्यग्यार्थकी स्थितिको देखते हुए इन चारोंके तीन-तीन भेद और किये गये हे। इस प्रकार स्वत सम्भवी, कविप्रौढोक्ति-मात्रसिद्ध तथा कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्धमेंसे प्रत्येकके बारह भेद और फलत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके सब मिलाकर ३६ अवान्तर भेद हैं। —उ० ना० शु०

अर्थ-हरण–दे०–'काव्य-हरण'।

अर्थान्तरन्यास–सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालकार। सामान्यत इसकी यह परिभाषा सर्वमान्य रही हे–'इस अलकारमें साधर्म्य और वैधर्म्यकी दृष्टिसे सामान्यका विशेष द्वारा और विशेषका सामान्य द्वारा समर्थन किया जाता है।' (का० प्र० १० १०९)। रुय्यक तथा विश्वनाथने अवश्य ही 'कार्यं च कारणेनेद कार्येण च समर्थ्यते।' (सा० द० १० ६२) अर्थात् कारणसे कार्यका तथा कार्यसे कारणका जहाँ समर्थन हो वहाँ भी इस अलकारको माना है। परन्तु अन्योंने इसम काव्यलिंग ही स्वीकार किया हे। विश्वनाथने जहाँ समर्थक हेतु हो वहाँ अर्थान्तरन्यास तथा जहाँ निष्पादक हेतु हो वहाँ काव्यलिंग माना है। परन्तु इनका मत स्वीकृत नहीं हो सका। हिन्दीके आचार्योंने प्राय सामान्य तथा विशेषके समर्थनके दो भेद दिये है–'कहि विसेस सामान्य पुनि के सामान्य बिसेस।' (ल० ल० २८९), कतिपयने मम्मटके आधारपर साधर्म्य-वैधर्म्यके आधारपर चार भेदोंका उल्लेख भी किया है–'साधरमी वैधरमी हू' (का० नि० ८)। आधुनिक विवेचकोंने चार भेद स्वीकार किये हे—

१. सामान्यका विशेषसे साधर्म्यसे–'रहिमन नीच कुसग सों, लगत कलक न काहि। दूध कलारी कर लखै, को मद जाने नाहि।' (अ० म० से)। यहाँ सामान्यका दूध कलारीके विशेष प्रसगसे समर्थन है और 'लगत' तथा 'जानै' दोनों क्रियाएँ साधर्म्यसे कही गयी है। अथवा–'गुन औगुन का तनकऊ, प्रभु नहिं करत विचार। केतकि कुसुम न आदरत, हर सिर धरत कपार।' (ल० ल० २९१)। २ विशेषका सामान्यसे साधर्म्यसे–'हरि ल्यायो हरि कल्पतरु, जीति इन्द्रके ताहिं। यह न आचरज बड़ेन को, हे दुर्लभ कछु नाहिं।' (पद्मा० २०५)। यहा 'कल्पतरुका हरण' विशेषका 'बड़ोंका आचरण' सामान्यसे समर्थन हे। ३ सामान्यका विशेषसे वैधर्म्यसे–'जीवनमें दु ख-सुख निरन्तर आते-जाते है। सुख तो सभी भोग लेते है, दु ख धीर ही सह पाते ह। मनुज दुग्धसे दनुज रुधिरसे अमर-सुधासे जीते है। किन्तु हलाहल भवसागरका शिवशकर ही पीते हे।' (मे० श० गु० का० द०)। यहाँ हलाहल पीनेकी विशेष बातसे धीरोंके दु ख सहनेकी सामान्य बातका समर्थन है ओर 'सहना' तथा 'पीने'के वैधर्म्य द्वारा समर्थन है। ४. सामान्यसे विशेषका वैधर्म्यसे–'सुकुमार तुमको जानकर भी युद्धमें जाने दिया। फल योग्य ही हे पुत्र! उसका शीघ्र हमने पा लिया। परिणामको सोचे बिना जो लोग करते काम है। वे दु खमें पडकर कभी पाते नहीं विश्राम है।' (वही)। यहा 'फल पाना' और 'विश्राम न पाना' इस वैधर्म्य द्वारा विशेषका सामान्यसे समर्थन ह।

दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यासका अन्तर स्पष्ट है। प्रथमम जिससे समर्थन किया जाता है और जिसका किया जाता है, वे दोनों सामान्य अथवा विशेष होते हे, अर्थात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव प्रधान रहता है। परन्तु दूसरेमे समर्थ्य और समर्थकमें एक सामान्य तथा दूसरा विशेष होता है। उदाहरण अलकारमे 'इव' आदि वाचक शब्दोंका प्रयोग होता है अथात्

समर्थनका भाव प्रधान नहीं रहता। —र०

अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि–लक्षणामूला अविवक्षित-वाच्य ध्वनिका पहला भेद। इस ध्वनिमें वाच्यार्थ बाधित अथवा अनुपपन्न होनेके कारण दूसरे अर्थमें संक्रमण कर जाता है। जहाँ मुख्यार्थ असिद्ध रहता है अर्थात् उसकी संगति नहीं बैठती वहाँ वह दूसरे अर्थमें संक्रमण कर जाता है–दूसरा अर्थ देने लगता है। मुख्यार्थकी अनुपपत्ति प्राय दो कारणोंसे हुआ करती है–१ किसी शब्दकी पुनरुक्तिके कारण–जैसे 'कौआ कौआ ही है', इस उदाहरणमें दूसरे कौआका वाच्य अर्थ असिद्ध होनेके कारण कर्कश स्वरमें बोलनेवाला पक्षीके अर्थान्तरमें संक्रमण कर जाता है, २ वक्ताका मन्तव्य अस्पष्ट होनेके कारण। जैसे 'गगाया घोष' (गगापर गाँव है) द्वारा गगाके तटपर–समीप ही इस अर्थान्तरको ग्रहण करना पडता है।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यकी अभिव्यजना कभी तो किसी पद द्वारा होती है अथवा कभी किसी वाक्य द्वारा। अत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यके दो भेद होते हैं–१ पदगत–गान्धीजीको सम्बोधित करते हुए पन्त कहते हैं–'तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल।' यहाँ आत्मा शब्दमें मुख्यार्थका बाध है; आत्माका अर्थ उपादानलक्षणासे आत्माके समान निर्विकार (अर्थात् अत्यन्त पवित्र) लेना पडता है। इस प्रयोग द्वारा कवि गान्धीजीके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्तिको अभिव्यजित करता है–यही प्रयोजन है। अत आत्मा शब्दमें पदगत अर्थान्तरसंक्रमित-अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। २ वाक्यगत–'कैसे पूजूँ गुमराहीको मैं हूँ एक सिपाही' (का० द०, पृ० ३०४), यहाँ वक्ता सिपाही नहीं है, फिर भी वह कहता है 'मैं हूँ एक सिपाही,' इसीसे पूरे वाक्यका मुख्यार्थ 'मैं सिपाहीके सदृश कर्तव्य-परायण व्यक्ति हूँ', इस अर्थान्तरमें संक्रमण कर जाता है। वक्ताके इस प्रकारके कथनका प्रयोजन यह है कि मैं उच्चादर्शका व्यक्ति हूँ, अप्रतिष्ठित कार्य नहीं कर सकता। अत इस उदाहरणमें वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित-अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। —उ० श० शु०

अर्थापत्ति–वाक्य-न्यायमूल अर्थालंकार, काव्यार्थापत्तिका पर्याय है, जिसमें दण्डपूपिका न्यायसे एक अर्थकी सिद्धिके सामर्थ्यसे अन्य सहजसाध्य अर्थकी स्वत सिद्धिका वर्णन होता है। 'इस अलंकारमें जिसके द्वारा कठिन कार्यकी सिद्धि सम्भव हो उसके द्वारा सुगम कार्यकी सिद्धि क्या कठिन है? ऐसा वर्णन होता है। जैसे 'मूसा दण्डको खा गया' यदि यह कहा जाय तो इस कथनके साथ ही मूसे द्वारा दण्डपर स्थित मालपुओंका खाया जाना भी स्वत सिद्ध हो जाता है। इसीको दण्डपूपिका न्याय कहते हैं। यह विश्वनाथके लक्षणके अनुसार व्याख्या है–'दण्डपूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते'(सा०द० १० ८३)। यह अलंकार प्रथम भोज तथा रुय्यक द्वारा (काव्यार्थापत्ति) स्वीकृत हुआ है। परन्तु हिन्दीमें जयदेवके 'चन्द्रालोक'के लक्षणका अधिक प्रचार हुआ–'अर्थापत्ति स्वय सिध्येत्पदार्थान्तरवर्णनम्' (५.३७) अर्थात् स्वयसिद्ध पदार्थके अन्तरका वर्णन। एक पदमें वर्णित क्रिया द्वारा दूसरे पदका अर्थ बिना कहे जहाँ स्पष्ट हो जाय।

जसवन्तसिंहने 'भाषाभूषण'में इस अलंकारका लक्षण 'कुवलयानन्द'के आधारपर दिया है और उसके लिए 'कैमुत्य' शब्दका प्रयोग किया है जिसका अर्थ है 'उसका क्या' और आगेके अधिकाश आचार्योंने इसीके अनुसरणपर 'जौ पै जीतो यह कहा' (मतिराम), 'वह कीन्हों तो यह कहा' (भूषण), 'वह जू कियो तो यह कहा' (पद्माकर) लक्षण दिये हैं। सोमनाथने 'रस-पीयूष-निधि'के अलंकार प्रकरणमें इसकी परिभाषा अधिक स्पष्ट दी है–'अमुको जीति लियौ जबै, बात औरकी कौन'। दासकी परिभाषा अन्योंके समान ही है।

मतिरामके नायिकाके सौन्दर्यवर्णनमें यह अलंकार है–'कहा दरपन कैसे पावत बदन जोति, चन्द जाको चेरो अरविंद जाको दास है' निरालाके इस सौन्दर्यचित्रमें–'देखो यह कपोत कठ, बाहु वल्ली कर सरोज, उन्नत उरोज पीन क्षीण कटि नितम्ब भार चरण सुकुमार गति मन्द मन्द, छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियोंका, देवों भोगियोंकी तो बात ही निराली है।' (काव्यदर्पण), ऋषि मुनियोंके धैर्य छूट जानेके सामर्थ्यसे भोगियोंका धैर्य छूट जाना अर्थ स्वत सिद्ध है। मैथिलीशरण गुप्तका प्रयोग सहज है–'उसके आशयकी थाह मिलेगी किसको। जनकर जननी भी जान न पायी जिसको।' (साकेत)। काव्यमें इस अलंकारका उक्ति-वैचित्र्यके रूपमें सुन्दर प्रयोग हुआ है। आधुनिक कालमें मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला आदि कतिपय कवियोंने इस अलंकारका आकर्षक प्रयोग किया है। —वि० स्ना०

अर्थार्थी भक्ति–दे०–'गौणी भक्ति'।

अर्थालंकार–अर्थको चमत्कृत या अलंकृत करनेवाले अर्थाश्रित अलंकार। जिस शब्दसे जो अलंकार सिद्ध होता है यदि उस शब्दके स्थानमें उसका समानार्थी शब्द रख देनेसे भी वह अलंकार यथापूर्व बना रहे, तो अर्थालंकार कहलाता है। अर्थनिर्भर, शब्दनिरपेक्ष अलंकार अर्थालंकार कहलाते हैं। अर्थालंकारोंके विषयमें व्यासका कथन है कि जो अर्थोंको अलंकृत करें वे अर्थालंकार हैं। अर्थालंकारोंके अभावमें शब्द-सौन्दर्य भी मनोहर और प्रभावपूर्ण नहीं होता–'अलंकरण-मर्थानामर्थालंकार इष्यते। न विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्' (अ० पु० ३४३)। मम्मटने शब्दालंकारसे अर्थालंकारोंके विभेदका मुख्य आधार 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक'का सिद्धान्त माना है (का० प्र० । ९ ८५ वृ०) जिसके अनुसार अर्थालंकारमें शब्द बदलनेसे चमत्कारमें अन्तर नहीं आता। उदा०–'तनु लता सफलता स्वाद आज ही आया। मेरी कुटियामें राजभवन मनभाया।' (मै० श० गु० साकेत) इसमें तनुमें लताका आरोप होनेके कारण 'रूपक' अलंकार है। इसके दोनों शब्दोंमें परिवर्तन करके यदि तनु लताके स्थानमें 'देह वल्ली'कर दिया जाय, तब भी रूपक अलंकारका चमत्कार यथावत् बना रहता है। इस प्रकार अन्य समानार्थी शब्दोंको रख देनेमें भी किसी अलंकारकी अलंकारिताका यथापूर्व बना रहना अर्थालंकारोंकी प्रवृत्तिकी ओर निर्देश करना है।

अर्थालंकारोंकी निश्चित सख्या निर्धारित करना कुछ कठिन है, क्योंकि उनकी सख्या सदासे वर्द्धमान रही है। उसके प्रकार अनन्त हैं 'अनन्ता हि अलंकारा' (ध्वन्यालोक ३.४३ वृ०)। ध्वनिकारने इसी मतका

उल्लेख दूसरे शब्दोंमें किया है 'वाग्विकल्प' अर्थात् कथनके प्रकार अनन्त हैं और वे ही अलंकार हैं। दण्डीने शब्दभेदसे इसी मतका प्रतिपादन किया था। उनका कथन है कि अलंकारोंकी आज भी सृष्टि हो रही है। अतः सम्पूर्णतः उनकी गणना कोई भी नहीं कर सकता—'ते चाद्यापि विकल्पयन्ते' (काव्यादर्श २ १)। आचार्योंद्वारा जितने अलंकार लक्षणग्रन्थोंमें वर्णित किये गये हैं, उनको किसी एक वर्गमें रखना भी एक दुष्कर कार्य है (दे०—'अलंकारोंका वर्गीकरण')।

अर्थालंकारोंका शास्त्रीय निरूपण एवं काव्यपूर्ण प्रयोग आचार्य भामहसे माना जा सकता है। आचार्य भामह अलंकार-सम्प्रदायके आद्याचार्य माने जाते हैं। हिन्दी साहित्यके आदिकालसे लेकर भक्तियुगतक अर्थालंकारोंका नैसर्गिक रूपमें प्रयोग होता रहा। रीतिकालमें आकर इसका शास्त्रीय एवं कलात्मक विकास विशेष रूपसे हुआ। आधुनिक काव्यमें भी अर्थालंकारोंका समुचित प्रयोग तो है किन्तु इनके प्रयोगमें कवियोंके मन बदल गये हैं। वर्तमानयुगमें प्रयत्नपूर्वक अलंकारोंको कवितामें स्थान देनेकी प्रवृत्ति प्रायः समाप्त हो गयी है। अलंकारविहीन काव्यको भी उत्तम कोटिका काव्य माना जाता है। —वि०स्ना०

विकासकी दृष्टि— अत्यन्त प्राचीनकालसे अर्थालंकारोंका प्रयोग होता आया है। 'उपमा'का उल्लेख ऋग्वेदसे हुआ है, पर अलंकारकी कल्पनाके साथ नहीं (१।३१।१५ तथा ५।३। ३४।९)। निरुक्तिके तीसरे अध्यायमें उपमाकी व्याख्या है तथा इसमें निर्देशन, आशी आदि कुछ और शब्द हैं। भरत (३ श० ई०)ने उपमा, दीपक तथा रूपकको स्वीकार किया है। भामहके 'काव्यालंकार' (६-७ श० ई०) में सर्वप्रचलित तथा स्वस्वीकृत कुल अर्थालंकार ३५ नये हैं, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति (द्वितीय परिच्छेद), प्रेयस्, रसवत्, ओजस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविकत्व, तथा आशी (तृतीय परिच्छेद)। दण्डीने 'काव्यालंकार'में (७०० ई०) कुछ अलंकारोंके नाम बदले हैं—लेशका लव, यथासंख्यका क्रम, उपमेयोपमाका अनन्योपमा, ससन्देहका संशयोपमा, अनन्वयका नियमोपमा तथा उत्प्रेक्षावयवका अचेतोत्प्रेक्षा किया गया है। उद्भटके 'काव्यालंकारसार' (८ श० ई०)में काव्यलिंग तथा दृष्टान्त नये हैं। वामनने काव्यालंकारसूत्र' (९ श० ई०)में कई अलंकारोंको अस्वीकार किया है, पर वक्रोक्ति तथा व्याजोक्ति दो नये अलंकार जोड़े हैं, साथ ही वामनका पहला आक्षेप पहले आचार्योंका प्रतीप है तथा दूसरा समासोक्ति है। रुद्रटने काव्यलंकार (९ श० ई०)में वास्तव वर्गमें १४ नवीन अलंकार स्वीकार किये हैं—भाव, समुच्चय, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, अवसर, मीलित तथा एकावली। औपम्य वर्गमें ८ नवीन हैं—मत, प्रतीप, उभन्यास, भ्रान्तिमत्, प्रत्यनीक, पूर्व, साम्य, तथा स्मरण। अतिशय वर्गमें, ६ नवीन हैं—विशेष, तद्गुण, अधिक, असंगति पीहित तथा व्याघात। श्लेषमें विरोधाभास स्वतन्त्र अलंकार हो गया है। भोजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' (११ श० ई०)में अहेतु, अभाव, अर्थापत्ति, आप्तवचन, उपमान, प्रत्यक्ष, वितर्क, सम्भव, समाधि तथा जाति, नये अलंकारोंका उल्लेख किया है। मम्मटके 'काव्यप्रकाश' (१२श०ई०)में अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य तथा सम शायद नवीन अलंकार हैं। रुय्यकके 'अलंकारसर्वस्व' (१२ श०ई०)में उल्लेख, काव्यार्थापत्ति, परिणाम, विचित्र, विकल्प, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता नवीन प्रयुक्त अलंकार जान पड़ते हैं। जयदेवके 'चन्द्रालोक' (१३ श० ई०)में अलंकारोंकी वृद्धि हुई—अत्युक्ति, अनुगुण, अवज्ञा, असम्भव, उन्मीलित, उल्लास, परिकरांकुर, पूर्वरूप, प्रहर्षण, प्रौढोक्ति, विकस्वर, विषादन, सम्भावना। इसके बाद अर्थालंकारोंमें अभिवृद्धि करनेवाले अप्पय दीक्षित हैं। इनके 'कुवलयानन्द' (१७ श० ई०)में अनुज्ञा, अल्प, कारकदीपक, गूढोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रस्तुतांकुर, प्रतिषेध, मिथ्याध्यवसित, मुद्रा, युक्ति, रत्नावली, ललित, लोकोक्ति, विधि, विवृतोक्ति तथा विशेषक हैं। अप्पय दीक्षिततक अलंकारोंका पूर्ण विकास माना जा सकता है।

हिन्दीमें संस्कृत अलंकारशास्त्र ग्रन्थोंका अनुकरण हुआ है, अतएव अधिक विकासकी सम्भावना नहीं रही है। इन कवि आचार्योंमें केशवने अपनी 'कविप्रिया' (१६०० ई०)में प्राचीनोंका, विशेषकर दण्डीका आदर्श सामने रखा है और ३५ अर्थालंकारोंका विवेचन ६ प्रभावोंमें किया है। एक प्रभावमें उपमाके २२ भेद हैं, जिनमें १५ दण्डीके हैं, ६ नाम बदलकर लिये गये हैं। विपरीतोपमामें उपमाका कोई लक्षण नहीं है। जसवन्तसिंहने अपने 'भाषाभूषण' (१६४३ ई०)में 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'का अनुसरण किया है। जयदेवके आधारपर हिन्दीके आचार्योंने प्रायः रसवत् आदिक तथा आठ प्रमाण अलंकारोंको स्वीकार नहीं किया है। 'भाषाभूषण'में १०१ अर्थालंकार हैं। मतिरामके 'ललितललाम' (१६६१ ई०)में काव्यलिंगके अतिरिक्त संख्या तथा क्रम 'कुवलयानन्द'का है। केवल पिछले १५ अलंकारोंको (रसवत् आदि) इसमें भी नहीं लिया गया। चिन्तामणिके 'कविकुलकल्पतरु' (१६५० ई०)के अर्थालंकारोंका आधार 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' है। भूषणके 'शिवराजभूषण' (१६७७ई०)पर 'चन्द्रालोक'की छाप है। अर्थालंकारोंकी संख्या कविने स्वयं ९९ गिनायी है, पर भेदोंको छोड़ वास्तविक संख्या ९२ है। कुलपति मिश्रके 'रसरहस्य' (१६८९ ई०)के अर्थालंकारोंका आधार 'काव्यप्रकाश' है। देवके 'भावविलास' (१६८९ ई०)में केवल ३९ अर्थालंकार हैं जिनमें रसवत् ऊर्जस्वल, प्रेय तथा आशिष जैसे अलंकार भी सम्मिलित हैं। 'काव्यरसायन' (१७०३ ई०)में ७० अर्थालंकार हैं। उपमाके २० भेद हैं, कुछ नवीन जान पड़ते हैं पर अधिकतरका अन्तर्भाव अन्यत्र हो सकता है। इनपर केशव तथा दण्डीका प्रभाव है। थोड़े परिवर्तनोंमें जो मौलिकता उत्पन्न की गयी है वह भ्रामक ही है (ओमप्रकाश हि० अ० सा०)। दूलहके 'कविकुलकण्ठाभरण' (१७४३ ई०)में 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'के आधारपर ११५ अर्थालंकारोंका विवेचन है। भिखारीदासके 'काव्यनिर्णय'में ८६ अर्थालंकारोंको स्वीकार किया गया है, कुछ प्रमुख भेदरूपमें उल्लिखित

अलंकारोंको गिन लेनेपर यह संख्या ९७ तक हो जाती है। पद्माकरके 'पद्माभरण' (१८१० ई०)में १०० सामान्य अर्थालंकार तथा १५-रसवत–आदिका- वर्णन है। इसपर 'चन्द्रालोक' तथा 'काव्यप्रकाश'का सम्मिलित प्रभाव है और पद्माकरका स्पष्ट आधार 'कुवलयानन्द' है। उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि रीतिकालमें नवीन अलंकारोंका विकास नहीं हुआ, वस्तुतः संस्कृतमें उसकी सीमा पूरी हो चुकी थी।

आधुनिक विवेचकोंमें मुरारिदीनके 'जसवन्त जसोभूषन' (१८९३ ई०)में लगभग १३ अलंकार नये हैं–अतुल्ययोगिता, अनवसर, अपूर्वरूप, अप्रत्यनीक, अभेद, अवसर, आभास, नियम, प्रतिभा, मिष, विकास, संकोच तथा संस्कार। इन अलंकारोंमें चमत्कार न होनेके कारण अलंकारत्व नहीं माना जा सकता। भानु कविने विवेचनके लिए तो अनेक संस्कृत तथा हिन्दी आचार्योंका उल्लेख किया है, पर 'काव्यप्रभाकर' (१९०९ ई०)की अलंकारसंख्या 'कुवलयानन्द'के अनुसार १०० ही है। भगवानदीनकी 'अलंकारमंजूषा' (१९१६ ई०) में १०८ अर्थालंकार हैं। इनमें तिरस्कार नया अलंकार जान पड़ता है, पर अर्जुनदास केडिया इसको 'रसगंगाधर'से लिया गया बतलाते हैं। इन्होंने 'भारतीभूषण' (१९३० ई०) में १०० अर्थालंकारोंका विवेचन किया है जो सभी पहले आचार्योंसे लिये गये हैं। कन्हैयालाल पोद्दारकी 'अलंकार-मंजरी' (१९४५ ई०)में १०० अर्थालंकारोंका विवेचन है, रसवत् आदि तथा ८ प्रमाण अलंकारोंको छोड़ दिया गया है। इन्होंने मुरारिदीनके समान परिवृत्तका विपरीत अपरिवृत्त नामक नवीन अलंकार माना है। रामदहिन मिश्रने अपने 'काव्यदर्पण' (१९४७ ई०)में पाश्चात्य अलंकारोंमें मानवीकरण, ध्वन्यर्थव्यंजना तथा विशेषणविपर्ययको स्वीकार किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'के समयतक अर्थालंकारोंका जो विकास हो चुका था, हिन्दीमें उससे आगे विकासकी सम्भावनाएँ नहींके बराबर रही हैं। —स०

अर्थोपक्षेपक–अर्थोपक्षेपकका अभिप्राय है अर्थका उपक्षेपण (सूचना) देनेवाला। नाटकमें इनके द्वारा वस्तुओंकी केवल सूचना दी जाती है। सूच्य वस्तुओंकी सूचना देना ही अर्थोपक्षेपक है। इस अर्थोपक्षेपकके पाँच प्रकार हैं–विष्कम्भ (विष्कम्भक), चूलिका, अंकास्य, अंकावतार और प्रवेशक (दे०)। —व० सिं०

अर्द्धचेतन–(subconscious) अर्धचेतन शब्दका अर्थ अभी हिन्दीमें स्पष्ट नहीं हो पाया है। कभी-कभी इसका प्रयोग अचेतन या अवचेतनके लिए ही होता है। परन्तु कभी इसका अर्थ स्पष्ट या धूमिल चेतना होता है, जब हम अनुभवों, व्यवहारोंके विषयमें पूर्ण रूपसे चेतन नहीं रहते, पर अस्पष्ट रूपसे हमें उनका अनुभव होता रहता है। जैसे सोनेके पहले तन्द्राकी स्थितिमें हम जो कुछ भी अनुभव करते हैं अस्पष्ट रूपसे ही। अत्यधिक थकान और कुछ विशेष मानसिक रोगोंमें भी हमारी चेतना धूमिल कुहासेसे आच्छन्न-सी हो जाती है। —ग्री० अ०

अर्द्धांतरैक वाचक–दे०–'शब्द-दोष', नवाँ वाक्य-दोष।

अलंकार–'अलंकार' शब्दमें 'अलम्' और 'कार' दो शब्द हैं। 'अलम्'का अर्थ है, भूषण–जो अलंकृत या भूषित करे वह अलंकार है, जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय, इस करण व्युत्पत्तिसे उपमा आदिका ग्रहण हो जाता है। 'अलंकृतिः अलंकारः। करणव्युत्पत्त्या पुनः अलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते।' (वामनवृत्ति: १ १.२)। अलंकार काव्यके बाह्य शोभाकारक धर्म हैं, इस धर्मका फल काव्यका अलंकरण या सजावट है, इसलिए इसका प्राचीनतम अभिधान 'अलंकार' है। जिस प्रकार हारादि अलंकार रमणीके नैसर्गिक सौन्दर्यकी शोभावृद्धिके उपकारक होते हैं, उसी प्रकार उपमादि अलंकार काव्यकी रसात्मकताके उत्कर्षक हैं। वास्तवमें अलंकार वाणीके विभूषण हैं। इनके द्वारा अभिव्यक्तिमें स्पष्टता, भावोंमें प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता तथा भाषामें सौन्दर्यका सम्पादन होता है। स्पष्टता और प्रभावोत्पादनके हेतु वाणी अलंकारका रूप धारण करती है। इसलिए काव्यमें इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्यमें रमणीयता और चमत्कारका उद्रेक करनेके हेतु अलंकारोंकी स्थिति आवश्यक है, अनिवार्य नहीं।

'अलंकार'के सम्बन्धमें विभिन्न आचार्योंने भिन्न-भिन्न लक्षण निरूपित किये हैं, जिनका संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है–यूनानी काव्यशास्त्रके अनुसार 'अलंकार उन विधाओंका नाम है जिनके प्रयोग द्वारा श्रोताओंके मनमें वक्ता अपनी इच्छाके अनुकूल भावना जगाकर उनको अपना समर्थक बना सकता है। 'अलंकार'का लक्षण निरूपित करते हुए अलंकार-सम्प्रदायके आदि आचार्य भामह (७-८ श० ई०) ने वक्रोक्तिको सम्पूर्ण अलंकारोंमें व्यापक बतलाते हुए, इसे अलंकारका एकमात्र आश्रय माना है। आचार्यने 'वक्रोक्ति' नामक विशेष अलंकारके लिए इस शब्दका प्रयोग नहीं किया है, किन्तु व्यापक रूपमें सम्पूर्ण अलंकारोंकी प्राणभूत अतिशय उक्तिके लिए किया है। वस्तुतः 'अलंकार'से भामहका अभिप्राय ऐसी शब्दोक्ति है जो वक्रार्थकी विधायक हो। वक्रोक्तिके बिना कोई अलंकार नहीं है, क्योंकि अर्थको विभामय करनेवाली समस्त विधा वक्रोक्ति ही है –'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना' (काव्यालंकार २.८५) कहकर उन्होंने इसी तथ्यकी ओर स्पष्ट निर्देश किया है और कहा है कि कविको इसीके विषयमें प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि इसके बिना कोई अलंकार नहीं हो सकता। दण्डी (७-८ श० ई०) ने काव्यके शोभाकर धर्मोंको 'अलंकार' कहा है–'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' (काव्यादर्श. २.१) यद्यपि दण्डीने 'अलंकार'को काव्यका शोभाकर धर्म माना था, किन्तु वामन उनका विरोध करते हुए गुणोंको शोभाकर धर्म मानते हैं। उनके अनुसार अलंकार शोभाके कर्ता नहीं, अतिशयिता हैं–'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। (काव्यालंकारसूत्र.३ १ १, २) वामनने अपने 'काव्यालंकारसूत्र'में अलंकार शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें किया है। संकीर्ण अर्थमें 'अलंकार' काव्यके वे धर्म हैं जिनको दण्डीने 'शोभाकर' कहा था, व्यापक अर्थमें सौन्दर्यमात्रको अलंकार कहते हैं, इसके अन्तर्गत वे सभी विधाएँ आ जाती हैं जिनके कारण काव्य हमारे मनको

आकृष्ट करता है। वामन (८ श० ई०) व्यापक अर्थमें अलंकारका प्रयोग करते हुए कहते हैं कि अलंकारके कारण ही काव्य ग्राह्य-उपादेय है और वह अलंकार सौन्दर्य है—'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः'। (का० वृ० १।१ : १, २)।

रुद्रटने (९ श० ई०) लिखा है कि अभिधानके कथनके प्रकारविशेष अर्थात् कविप्रतिभासे प्रादुर्भूत कथनविशेष ही अलंकार है—'अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः' (अ० स० ६)। ध्वनिकार आनन्दवर्धनने (९ श० ई०) भी इसी अभिमतका समर्थन करते हुए वाणीकी अनन्त शैलियोंको 'अलंकार' कहा है—'अनन्ता हि वाग्विकल्पाः। तत्प्रकारा एव चालंकाराः' (ध्वन्यालोक ३ ३७ वृ०)। इनके द्वारा वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तकके (१०-११ ई०) इस अभिमतकी पुष्टि होती है कि विदग्धोंके कहनेके ढंग ही वक्रोक्ति है और वेही अलंकार है—'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी-भणितिरुच्यते।' (वक्रोक्तिजीवित : १ १०) मम्मटने (११ श० ई०) गुणकी नित्य तथा अलंकारकी अनित्य सत्ता मानी है, वामनके आधारपर। बादके आचार्योंने मम्मटका इस विषयमें विरोध भी किया है। मम्मटके अनुसार काव्यमें रस अंगी है, उसका उत्कर्षक नित्य धर्म 'गुण' है, ये उसी प्रकार है जैसे व्यक्तिमें शूरता आदि। 'अलंकार' हार आदि आभूषणोंके समान है, ये कदाचित् रसका उपकार करते हैं, सर्वदा नहीं। जहाँ रस नहीं है वहाँ भी अलंकार रह सकता है (का० प्र० ८ ६६,६७)। बादमें जयदेवने (१३ श० ई०) मम्मटके मतका प्रत्याख्यान किया है। उनके अनुसार रसवती कविता निर्विचार है तथा अलंकारयुक्त कविता विचारको उल्लसित करती है। वस्तुतः जयदेवने पूर्वाचार्योंके मतका खण्डन नहीं किया है, केवल अपने मतका आग्रह प्रकट किया है कि अलंकारके बिना कविता उसी प्रकार है जैसे उष्णताके बिना अग्नि—'असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती' (चन्द्रालोक १ ८)। विश्वनाथ (१४ श० ई०)के अनुसार शब्द और अर्थके जो शोभातिशायी अर्थात् सौन्दर्यकी विभूति बढ़ानेवाले अस्थिर धर्म हैं वे ही अलंकार हैं—'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः' (सा० द० १० १)।

हिन्दीके आचार्योंने भी 'अलंकार'का प्रायः वैसा ही लक्षण निरूपित किया है, जैसा कि संस्कृत आचार्योंने। अधिकांश आचार्योंने लक्षण-निरूपण किया ही नहीं। हिन्दीके अलंकारोंका विवेचन करनेवाले प्रथम आचार्य केशवने (१६-१७ श० ई०) अलंकारहीन कविताको नग्न माना है। वे वामनके समान काव्यप्रतिष्ठाको अलंकारपर निर्भर नहीं मानते और न उन्होंने अलंकारहीन कविताको निष्प्राण ही माना है। एक बार तो ऊपरी शृंगार उनको सौन्दर्यका अपकर्षक जान पड़ता है—'काहेको सिंगार कै बिगारति है मेरी आली, तेरे अंग बिना ही सिंगारके सिंगारे हैं।' (कविप्रिया ९ १२)। देवने (१७ श० ई०) भी केशवके समान 'मृतक काव्य बिनु अर्थको' कहा है। वे भी मानते हैं कि कविता-कामिनी 'अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति।' (काव्यरसायन)। दूलहने (१७-१८ श० ई०) 'बिन भूषन नहिं भूषइ कविता' माना है। इनके अनुसार उसी कविको ख्याति मिलेगी जो अपने काव्यको अलंकारोंसे सुसज्जित करेगा। भिखारीदासके अनुसार अलंकार 'भूषन है भूषन सकल'। पद्माकरका लक्षण सर्वथा विचित्र प्रकारका है—'शब्दहुँ ते कहुँ अर्थ ते कहुँ दुहुँ ते उर आनि। अभिप्राय जिहि भाँति जँह अलंकार सो मानि।' (पद्मा० २)।

आधुनिक काव्यशास्त्रके आचार्योंमें रामचन्द्रके अनुसार अलंकार कथनकी रोचक, सुष्ठु और प्रभावपूर्ण प्रणाली है। 'जायसी ग्रंथावली'की भूमिकामें उन्होंने इस तथ्यकी ओर स्पष्ट निर्देश किया है—'अलंकार है क्या? वर्णन करनेकी अनेक प्रकारकी चमत्कारपूर्ण शैलियाँ, जिन्हें काव्योंमें चुनकर प्राचीन आचार्योंने नाम रखे और लक्षण बनाये। ये शैलियाँ न जाने कितनी हो सकती हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जितने अलंकारोंके नाम ग्रन्थोंमें मिलते हैं, उतने ही अलंकार हो सकते हैं।'

अलंकारगत इन उपर्युक्त परिभाषाओंमें स्पष्ट है कि कतिपय आचार्य काव्यगत सम्पूर्ण सौन्दर्यको 'अलंकार' मानते हैं और कुछ आचार्योंने काव्यके प्राणभूत रस, गुण आदिके प्रभावक एवं उत्कर्षक धर्मको अलंकार कहा है। अलंकारवादी प्राचीन आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदिने काव्यके प्राणभूत तत्त्वको अलंकार कहा है। अलंकार-प्रयोगकी यह विशेषता प्राचीन आचार्योंमें विशेष आग्रहके साथ लक्षित होती है। चन्द्रालोककार जयदेव भी इस मतके प्रबल समर्थक हैं। हिन्दीमें केशवदास भी जयदेवके इस मतका पोषण ही नहीं करते, प्रत्युत् भामह आदि प्राचीन आचार्योंसे सहमत दिखाई पड़ते हैं। भामहके स्वरमें उन्होंने कहा है—'जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त। भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त।' (कविप्रिया ५ १)।

दूसरी ओर ध्वनिकार आनन्दवर्धन और रसवादी आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदिके अनुसार अलंकार हार आदि आभूषणवत् हैं जो रसका उपकार करते हैं। विश्वनाथने सौन्दर्यवर्धक और रसोत्कर्षक अस्थिर धर्मोंको अलंकार कहा है। आधुनिक काव्य-शास्त्रीय सन्दर्भमें अलंकार वर्णनकी सुन्दर और चमत्कारपूर्ण प्रणाली है। रामचन्द्र शुक्लके अनुसार—'भावोंका उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओंके रूप, गुण और क्रियाका अधिक तीव्र अनुभव करानेमें कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति अलंकार है।' सुमित्रानन्दन पन्तकी आलंकारिक भाषामें अलंकारका स्वरूप इस प्रकार है—'अलंकार केवल वाणीकी सजावटके लिए नहीं, वे भावकी अभिव्यक्तिके विशेष द्वार हैं। भाषाकी पुष्टिके लिए, रागकी परिपूर्णताके लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणीके आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियोंके पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओंके भिन्न चित्र हैं। वे वाणीके हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषाकी जाली केवल अलंकारोंके चौखटेमें फिट करनेके लिए बुनी जाती है, वहाँ भावोंकी उदारता शब्दोंकी कृपण जड़तामें बँधकर सेनापतिके दाता और सूमकी तरह 'इकसार' हो जाती है।' ('पल्लव की भूमिका')। यह अलंकारके पारिभाषिक स्वरूपका अद्यावधि विकास है।

अर्थ सौन्दर्यके सम्पादनमें सहायक होनेके कारण काव्यम

अलंकारोंका विशेष महत्त्व है, निस्सन्देह यह महत्त्व रस, ध्वनि और गुण रीतिके बादका ही है। अलंकारोंसे अर्थमें प्रेषणीयता, प्रभविष्णुता और स्पष्टताका सम्पादन होता है। परन्तु काव्यमें अलंकारोंका औचित्य वहींतक है जहाँतक वे साधनरूपमें ही हों, साध्य न बन जायँ; अलंकार काव्यके लिए हों, काव्य अलंकारोंके लिए न हो जाय।

शब्द और अर्थको चमत्कृत करनेके कारण अलंकार दो प्रकारके होते हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार (दे०)। जो अलंकार शब्द और अर्थ, दोनोंके आश्रित रहकर दोनोंको चमत्कृत करते हैं, वे उभयालंकार कहलाते हैं। सभी अवस्थाओंमें अलंकारोंका उद्देश्य भावोंको तीव्रता प्रदान करना ही है। हिन्दीमें मतिराम और पद्माकरके अतिरिक्त प्राय सभी आचार्योंने अलंकारगत तीनों श्रेणियोंका प्रयोग किया है। मतिराम और पद्माकरने क्रमश 'ललितललाम' और 'पद्माभरण'में शब्दालंकारोंका लक्षण-निरूपण नहीं किया है।

इस सम्बन्धमें सर्वप्राचीन ग्रन्थ भरत मुनिका 'नाट्यशास्त्र' (३ श० ई०) है। इसमें केवल उपमा, दीपक, रूपक और यमक—चार अलंकार निरूपित किये हैं। भरतके ये प्राथमिक चार अलंकार रुय्यकतक सैकड़ोंकी संख्यातक पहुँच गये। रुय्यकका समय १२ वी शताब्दीके लगभग है। यह अलंकारोंके क्रमविकासका सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण काल है। फिर 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' तक इनकी संख्यामें कुछ और वृद्धि हुई। तदुपरान्त शोभाकरकृत 'अलंकाररत्नाकर'की अत्यधिक वर्द्धमान संख्याने यह सिद्ध कर दिया कि अलंकारोंकी संख्या अनन्त है। १७ वी शताब्दीमें लिखित पण्डितराज जगन्नाथके 'रसगंगाधर'में अलंकारसंख्या १८० से भी अधिक मिलती है। इनमेंसे कुछ अलंकार ऐसे हैं जो चमत्कार शून्य हैं, कुछका अन्य अलंकारोंमें अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ अमुख्य मानकर छोड दिये गये हैं। अलंकारोंकी इस विस्तृत सूचीमें शब्दालंकार और उभयालंकार तो गिने-चुने ही हैं, अर्थालंकारोंकी संख्या सर्वाधिक है। उन्हें स्थूल रूपसे पाँच वर्गोंमें विभक्त किया गया है - १ सादृश्यगर्भ—उपमा-रूपक आदि २ विरोधगर्भ—विषम, विरोधाभास आदि ३ शृंखलाबन्ध—सार, एकावली आदि ४ न्यायमूल, तर्कन्यायमूल, काव्य-न्याय और लोकन्यायमूल—काव्यलिंग, यथासंख्य आदि ५ गूढार्थप्रतीतिमूल—पर्यायोक्ति आदि। विस्तारके लिए दे०—'अलंकारोंका वर्गीकरण।'

अलंकारोंके स्वरूप और संख्याके विकासके साथ साथ, आचार्योंके मतवैषम्यके कारण, अलंकारोंकी नामावलीमें भी परिवर्तन हुआ है। आचार्य दण्डी उपमेयोपमाको अन्योन्योपमा, सन्देहको संशयोपमा, मीलित और तद्गुणको एक ही मीलनोपमा, समासोक्तिको छायोपमा, व्यतिरेक और प्रतीपको उत्कर्षोपमा कहते हैं। कतिपय आचार्य अतिशयोक्ति और अत्युक्तिको एक ही नाममे अभिहित करते हैं। भामहने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी अलंकारोंमें ही रसका अन्तर्भाव कर लिया है—'रसवत् रसपेशलम्'। दण्डीने भी रसवत् अलंकारमें ही आठों रसोंको समाविष्ट कर दिया है। वामनने रसको कान्ति नामक एक गुण माना है—'दीप्तरसत्व कान्ति'।

—वि० स्ना०

अलंकार (वर्गीकरण)—सामान्यत वक्तव्यकी विशिष्ट चमत्कारपूर्ण विधाओंको अलंकार संज्ञा दी गयी है। कथनके प्रकार अनन्त हैं, अत अलंकारोंकी निश्चित संख्याका निर्धारण अथवा उनका सङ्कलित वर्गविभाजन नहीं किया जा सकता। अभिनवगुप्तके अनुसार किसी वक्तव्यको सामान्य जनताकी साधारण बोलचालसे भिन्न, विचित्र और चमत्कारपूर्ण शैलीसे कहना ही अलंकार है। यह उक्ति-वैचित्र्य अनेक प्रकारका होता है, अतएव उक्तिवैचित्र्यकी अनेकताके आधारपर भिन्न-भिन्न प्रकारके अलंकारोंकी स्थिति सम्भव है। इस उक्तिवैचित्र्यकी विभिन्नताके आधारपर ही आचार्योंने अलंकारोंका नामकरण किया है—'यश्चायमुपमाश्लेषादिरलंकारमार्ग प्रसिद्ध स भणितिवैचित्र्यादुपनिबध्यमान स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुन शतशाखताम्।' (ध्वन्यालोक) अर्थात् यह जो उपमा तथा श्लेष आदिका अलंकारमार्ग प्रसिद्ध है, वह कथनकी विचित्र योजनासे स्वय सैकड़ों असीम शाखाओंमें विस्तृत होता है।

प्रत्येक अलंकारमें उक्तिवैचित्र्यकी विभिन्नता होनेपर भी कुछ अलंकारोंकी कुछ मूलभूत प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जिनके आधारपर अलंकारोंको भिन्न-भिन्न वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है। जैसे उपमा, अनन्वय, प्रतीप आदि अलंकार सादृश्यमूलक तत्त्वोंपर आधारित हैं। इन अलंकारोंमें सादृश्य कहींपर वाच्य रहता है और कहींपर प्रतीयमान (व्यंग्यार्थरूपमें), अत अलंकारोंके पृथक्-पृथक् वर्ग अपने पृथक्-पृथक् मूल तत्त्वोंपर आश्रित हैं।

अलंकारोंके वर्गीकरणका मूल बीज भामहमें था, किन्तु वर्गोंका प्रत्यक्ष निर्देश सर्वप्रथम उद्भटमें प्राप्त होता है। उनके द्वारा निरूपित अलंकारोंका विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार है—प्रथम वर्ग ८ अलंकार—पुनरुक्तवदाभास, छेक, वृत्ति, लाट, अनुप्रास, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा (४ शब्दालंकार और ४ अर्थालंकार)। द्वितीय वर्ग ९ अलंकार—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति। तृतीय वर्ग ३ अलंकार—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति। चतुर्थ वर्ग : ७ अलंकार—प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट। पचम वर्ग ११ अलंकार—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति। षष्ठ वर्ग ६ अलंकार—सन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग, दृष्टान्त।

यद्यपि ये अलंकारवर्ग अलंकारोंके विकासकी विभिन्न अवस्थाओंका द्योतन नहीं करते, किन्तु ये भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियोंका प्रतिनिधित्व करते हैं। भामह (६ श० ई०)के समयमें अलंकारविषयक चार विभिन्न विचारधाराओंका प्रचलन था। भामह और उद्भट (८ श० ई०)के बीचमें दो अन्य वर्ग-मान्यताओंका उद्भव हुआ। इस प्रकार उद्भटका वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टिसे भले ही उपयोगी न हो, इसको तत्कालीन अलंकार-सम्प्रदायोंका व्यापक चित्र अवश्य माना जा सकता है।

वस्तुत रुद्रट अपने 'काव्यालंकार' (९ श० ई०)में सर्वप्रथम अलंकारोंका वैज्ञानिक वर्गीकरण करनेवाले हैं। इनकी

अलकार-सख्या उस समयतकके सभी आचार्योंसे अधिक है। उन्होंने सर्वप्रथम अलकारोंके मूल तत्त्वोंपर विचार करते हुए अपने द्वारा निरूपित अर्थालकारोंको चार वर्गोंमें विभक्त किया है। वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। रुद्रटने नि शेष अलकारोंको इन्हींका विशेष (रूपान्तर) स्वीकार किया है। वस्तुके स्वरूपका कथन **वास्तव** है—'वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनम् यत्' (काव्यालकार ७ १०)। 'वास्तव'के २३ विशेष हे—सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासख्य, भाव, पर्याय, विषय, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, एकावली। इस वर्गको प्रथम स्थान देनेका कारण कदाचित् यही हो सकता है कि इसके भेदोंकी संख्या सर्वाधिक है। **औपम्य**—जहाँ किसी वस्तुके स्वरूपका अधिक स्पष्टताके साथ वर्णन करनेके लिए अप्रस्तुत योजना की जाती है, अर्थात् उसके समान दूसरी वस्तुका वर्णन किया जाता वहाँ औपम्य अलकार होता है। इसमें स्वरूपसाम्य होता है—'सम्यक्प्रतिपादयितु स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति' (वही ८ १)। इसके २१ भेद हैं—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, सशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्वसहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण। **अतिशय**—जहाँ अर्थ और धर्मके नियमोंका विपर्यय हो, वहाँ 'अतिशय' अलंकार होता है। 'यत्रार्थधर्मनियम प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति' (वही ९ १)। पूर्व, असंगति, पिहित, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, व्याघात, अहेतु अतिशयके ये १२ भेद होते हैं। **श्लेष**—जहाँ अनेकार्थ पदोंसे एक ही वाक्य अनेक अर्थोंका बोध कराता है,—'यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्य रचित पदैरनेकस्मिन्। अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेष स विज्ञेय (वही १० १)। अर्थश्लेषके दस भेद ह, अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व, विरोधाभास। रुद्रटका यह वर्गीकरण यथार्थ एव स्पष्ट नहीं है, क्योंकि इसमें अलकारोंके मूल तत्त्वोंका सम्यक् निरूपण नहीं हुआ है।

रुद्रटके उपरान्त रुय्यक (१२ श० ई०) और उनके शिष्य मखकने 'अलकारसर्वस्व'में अलकारोंका जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, वह उनके मूल तत्त्वोंपर आधारित है। उससे अलकारोंके मूल तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान स्पष्टरूपेण हो जाता है। अत यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एव युक्तियुक्त है। रुय्यकने अपने द्वारा निरूपित अर्थालकारोंको पाच वर्गोंमें विभक्त किया है—१ सादृश्यगर्भ, २ विरोधगर्भ, ३ श्रृखलाबद्ध, ४ न्यायमूल (तर्कन्यायमूल, काव्यन्यायमूल अथवा वाक्यन्यायमूल और लोकन्यायमूल), ५ गूढार्थ प्रतीतिमूल। रुय्यकने इनके भी अवान्तर भेद किये हैं, जिनके भीतर अन्य अलकारोंका समाहार होता है।

१ सादृश्यगर्भ—इसमें २८ अलकार आते ह। इनका मूलाधार साधर्म्य है। साधर्म्यका वर्णन तीन प्रकारसे किया जाता है। क भेदाभेदतुल्यप्रधान, ख अभेद प्रधान ग भेद प्रधान। इसके अतिरिक्त यह साधर्म्य कहीं वाच्य रहता है और कहा प्रतीयमान। अतएव इन २८ अलकारोंमे जहाँ जिस प्रकारका साधर्म्य रहता है, तदनुसार इनका अवान्तर वर्गीकरण भी रुय्यकने किया है। इनका विस्तृत विवेचन और विश्लेषण इस प्रकार है। क भेदाभेदतुल्यप्रधानमें चार अलकार आते ह, उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण। इन अलकारोंमें उपमेय और उपमानके साधर्म्यमें भेद नहीं होता, तुल्य साधर्म्यकी स्थिति रहती है। अत इनका मूलाधार भेदाभेदतुल्यप्रधान साधर्म्य ह। ख अभेदप्रधानमें आठ अलकार आते ह, जिनमेंसे ६ आरोपमूल ह और दो अध्यवसायमूल। आरोपमूल अलकार—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपह्नुति हैं। अध्यवसायमूलके अन्तर्गत उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलकार आते हैं। रूपकादि इन आठ अलकारोंमे उपमेय-उपमानके साधर्म्यमें अभेदकथन किया जाता है। अतएव इनका मूलाधार अभेदप्रधान साधर्म्य है। इनमें भी रूपकादि ६ अलकारोंमें उपमेयमें उपमानका आक्षेप किया जाता है अत आरोपका प्राधान्य रहता है और उत्प्रेक्षामे अनिश्चित रूपसे तथा अतिशयोक्तिमें निश्चित रूपसे उपमेयमें उपमानका अध्यवसाय किया जाता है। अत ये दोनो अध्यवसायमूलक है। ग गम्यमान औपम्य—इसके अन्तर्गत १६ अलकार आते हें, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति, समासोक्ति और परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति और आक्षेप। इन तुल्ययोगिता आदि १६ अलकारोंमें उपमेय-उपमानभाव अथवा औपम्य प्रतीयमान अथवा व्यग्य रहता है, वाच्य नहीं। अत इनका मूलाधार गम्यमान औपम्य है। फिर यह तत्त्व (गम्यमान औपम्य) इन अलकारोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंमे निहित रहता है। दीपक और तुल्ययोगितामें उपमेय या उपमानोंका अथवा दोनोंके एक धर्मका कथन एक ही पदमे किया जाता है। अत इनमे पदार्थगत गम्यमान औपम्य रहता है। इसी प्रकार प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शनामें वाक्यार्थगत गम्यमान औपम्य होता है। व्यतिरेक और सहोक्तिमें उपमेय और उपमानके पारस्परिक भेदमें गम्यमान औपम्यकी स्थिति मान्य है। विनोक्तिको सहोक्तिके विरोधी होनेके कारण इस वर्गमें समाविष्ट किया गया है। समासोक्ति और परिकरमें विशेषण वैचित्र्यगत गम्यमान औपम्य और श्लेषमें विशेषण विशेष्य वैचित्र्यगत गम्यमान औपम्य रहता है। अप्रस्तुतप्रशसाको, समासोक्तिके विरोधी होनेके कारण अर्थान्तरन्यासको अप्रस्तुतप्रशसाके सजातीय होनेके कारण और पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति एव आक्षेपको गम्यमानके प्रस्ताव प्रसगके कारण इसी वर्गमें निहित किया गया है।

२ विरोधमूलक अलंकार—इसमें १२ अलकार आते हैं। विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति (कार्यकारण पौर्वापर्य) असगति और विषम। इन अलकारोंका मूलाधार विरोधात्मक वर्णन ह। 'सम' अलकार यद्यपि विरोधमूलक नहा है, किन्तु 'विषम'का विरोधी होनेके कारण इसी वर्गमें रखा गया है।

३ श्रृंखलाबन्ध अलंकार—इस वर्गम चार अलकार ह जिनमे एक पद या वाक्य, श्रृखलावत् दूसरे पद या वाक्यमें

सम्बद्ध रहता है। स्पष्ट इनकी मूल प्रवृत्ति शृंखला-मूलक है- कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार। ४ न्यायमूल अलंकार—इसमें १७ अलंकार आते हैं। ये सभी तर्क आदि विभिन्न न्यायोंपर अवलम्बित हैं। क तर्कन्याय मूलक—इस वर्गमें दो अलंकार हैं काव्यलिंग और अनुमान। ख. काव्यन्यायमूलक—इन्हें वाक्यन्यायमूल भी कहते हैं। ये आठ अलंकार है- यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि। ग लोकन्याय-मूल—इनमें ७ अलंकार आते हैं प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर। ५ गूढार्थप्रतीतिमूल अलंकार—इनमें गूढ अर्थकी प्रतीति होती है। गूढार्थके प्रतिपादक तीन अलंकार हैं—सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति। इनके अतिरिक्त स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संसृष्टि और संकर ये पाँच अलंकार एवं रस और भावसे सम्बन्धित रसवत्, प्रेयन्, उर्जस्वि, समाहित, भावोदय भावसन्धि, भावशबलता, इन सात अलंकारोंको रुय्यकने किसी वर्गमें नहीं रखा है।

विद्याधर (१४ श० ई०)ने 'एकावलीसार'में अलंकारोंका स्थूल और सूक्ष्म—दो दृष्टियोंसे वर्गीकरण किया है। स्थूल रूपसे अलंकारोंको चार वर्गोंमें विभक्त किया है १ **वस्तुप्रतीति**—समासोक्ति, आक्षेप आदि। २ **औपम्यप्रतीति**—रूपक, उत्प्रेक्षा आदि। ३ **रसभावप्रतीति**—रसवत्, प्रेय आदि। ४ **अस्फुटप्रतीति**—उपमा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार आते हैं। सूक्ष्म रूपसे विद्याधरने अलंकारोंको नौ वर्गोंमें विभक्त किया है—१. साधर्म्यमूल, २ अध्यवसाय-मूल, ३ विरोधमूल, ४ वाक्यन्यायमूल, ५ लोकव्यवहार-मूल, ६ तर्कन्यायमूल, ७ शृंखलावैचित्र्यमूल, ८ अपह्नव-मूल और ९ विशेषणवैचित्र्यमूल।

हिन्दी साहित्यशास्त्रके उपलब्ध ग्रन्थोंमें अलंकारोंका जो वर्गीकरण सम्बन्धी विवेचन किया गया है, वह अधिकांशमें संस्कृत साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थोंके आधारपर है। हिन्दीमें केशवदासने 'कविप्रिया' (१६०० ई०)में नवम प्रभावसे लेकर १६ वें प्रभावतक अलंकारोंका विवेचन किया है। इनकी संख्या ३७ है, भेदोंका अलगसे परिगणन नहीं किया। इनके आठ वर्ग बनाकर आठ प्रभावोंमें रखा गया है। इस विषयमें कहा कोई संकेत नहीं मिलता कि इन अलंकारोंका क्रम किसी नियमपर आधारित है अथवा नहीं और इस वर्गीकरणका आधार क्या कोई विशेष सिद्धान्त है? केशवदास 'अलंकार प्रकरण'में अधिकांश रूपसे दण्डीसे प्रभावित हुए हैं। इनके द्वारा निरूपित अलंकारोंका वर्गीकरण और क्रम इस प्रकार है नवम प्रभाव स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष, उत्प्रेक्षा, ६ अलंकार। दशम प्रभाव आक्षेप, १। एकादश प्रभाव: क्रम, गणना, आशिष, प्रेय, श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, ऊर्जस्वित, रसवत्, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपह्नुति, १३। द्वादश प्रभाव उक्ति - वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति (विशेषोक्ति, सहोक्ति), व्याजस्तुति, व्याज-निन्दा, अमित, पर्यायोक्ति, युक्त, ८। त्रयोदश प्रभाव, समाहित, सुसिद्ध प्रसिद्ध विपरीत रूपक, दीपक प्रहेलिका, परिवृत्त, ८। चतुर्दश प्रभाव, उपमा, १। पञ्चदश प्रभाव, यमक, १। षोडश प्रभाव चित्र १। स्पष्ट केशवदासका वर्गीकरण उतना ही अवैज्ञानिक है जितना कि उद्भटका।

हिन्दीमें अलंकारोंके वर्गीकरणका दूसरा प्रयत्न देवने 'काव्य-रसायन' (१७०३ ई०) में किया है। उन्होंने मुख्य (४०) तथा गौण (३०) दो वर्गोंमें विभाजन किया है, पर ये भेद किसी विशेष आधारपर आश्रित नहीं जान पड़ते। किन्तु तीन प्रधान आधार माने जा सकते हैं। १ एक ही आधारके दो अलंकारोंमेंसे एक मुख्य और दूसरा गौण कहा गया है जैसे तद्गुण मुख्य तथा अतद्गुण गौण। २ अनुकरणीयको मुख्य तथा अनुकरणको गौण, रसवत् मुख्य तथा उसका अनुकरण गुणवत् गौण। ३ प्राचीन परम्परा विशेषत दण्डी-केशवके अलंकार मुख्य, 'चन्द्रालोक' और विशेषत 'कुवलयानन्द'के नये अलंकार गौण। इस प्रकार देवने जहाँ सरसता अधिक देखी है वहाँ मुख्यता मान ली है, अन्यत्र गौणता (ओमप्रकाश 'हिन्दी अलंकार साहित्य' - पृ० १३३)।

दासने 'काव्यनिर्णय' (१७४६ ई०) के तीसरे उल्लासमें ४४ अलंकारोंके ११ वर्ग बनाये हैं, परन्तु जब इनपर ८वेंसे लेकर १८वें उल्लासतक विचार किया है तब कविकथित ८६ अलंकारोंको लिया गया है। दासके वर्गीकरणका कोई मनोवैज्ञानिक आधार नहीं है, अन्यथा उनके वर्गोंमें सादृश्यमूलक उपमा, उत्प्रेक्षा तथा व्यतिरेक अलंकार अलग वर्गका प्रतिनिधित्व नहीं करते। पर ओमप्रकाशके अनुसार 'यह मानना उचित है कि दासका उल्लासीकरण निर्मूल नहीं है, उसमें आकारसाम्य तो मनोगत रहता ही है।' आधुनिक युगमें रामदहिन मिश्रने प्राय- रुय्यक तथा विद्याधरके वर्गीकरणको अपनाया है तथा अपेक्षाकृत यह प्रणाली वैज्ञानिक है।

इस प्रकार उपर्युक्त अलंकारोंकी विभिन्न वर्गीकरण-प्रणालियोंके विवेचनसे स्पष्ट होता है कि अलंकारशास्त्रमें समय-समयपर अलंकारोंके वर्गीकरणके प्रयत्न होते रहे, कभी मूलको दृष्टिमें रखकर, कभी फलको और कभी साधकको भौगोलिक, विश्लेषणात्मक वर्गीकरण तो हुए, परन्तु ऐतिहासिक नहीं। भामहसे लेकर रुद्रटपर्यन्त, बल्कि विद्याधरतक आचार्योंके वर्गीकरण सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण हैं। किसीने स्कूलोंको ध्यानमें रखकर अलंकारोंका विभाजन किया तो किसीने उनको वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेषके ही विशेष या भेद कहा, किसीने उनको उपमाका प्रपञ्च कहा, तो किसी आचार्यने भेदप्रधान, भेदाभेद-प्रधान, अभेदप्रधान आदि एक दर्जनसे भी अधिक वर्गोंका निरूपण किया। वर्गीकरणोंकी इस अनेकतामें आचार्य रुय्यकका वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है, क्योंकि उनका वर्गीकरण अलंकारोंके मूल तत्त्वोंके आधारपर अवलम्बित होनेके कारण अधिक स्पष्ट और उपयुक्त है। उसमें एकसूत्रताका भी प्राधान्य है। इसीसे यही वर्गीकरण प्राय सर्वसम्मत दृष्टिसे मान्य है। —वि० स्ना०

अलंकारवाद—अलंकारको ही काव्यका सर्वस्व माननेकी प्रवृत्ति। दे०—'अलंकार-सम्प्रदाय'।

अलंकार-शास्त्र—वाङ्मयके दो अंगों—काव्य और शास्त्र—मेंसे काव्यके शास्त्रीय अध्ययनको काव्य-शास्त्रका संज्ञा दी गयी है। इसीका प्राचीनतम नाम अलंकार-शास्त्र है। राजशेखरने

अपनी 'काव्यमीमांसा'में इस शास्त्रको 'साहित्य-विद्या'के नामसे अभिहित किया है। उनके अनुसार प्रसिद्ध चार विद्याओं—अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीतिके अतिरिक्त कोई पाँचवीं विद्या नहीं है। 'साहित्य-विद्या' इन सब विद्याओंका निष्यन्द (सारभूत) है। यद्यपि 'साहित्य-विद्या' नाम सर्वथा उपादेय प्रतीत होता है, किन्तु साहित्य-शास्त्रमें इसका विशेष प्रचलन न हो सका। वात्स्यायनने 'क्रिया'-का अर्थ 'काव्यग्रन्थ' और 'कल्प'का अर्थ 'विधान' मानकर इसे 'क्रियाकल्प'के नामसे अभिहित किया है। किन्तु 'अलकार-शास्त्र' शब्द ही साहित्य-शास्त्रमें सर्वाधिक प्रचलन और महत्त्व पा सका। इनके अतिरिक्त 'सौन्दर्य-शास्त्र', 'साहित्य-शास्त्र', 'काव्य-शास्त्र' आदि शब्द इसीके (अलकार-शास्त्रके) समानार्थक हैं।

काव्यका वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे अध्ययन करनेवाले आचार्योंने काव्यके उत्कर्षक अथवा प्रभावक धर्मको 'अलकार' सज्ञा दी, क्योंकि उस धर्मकी चरम परिणति अलकरण या सजावटमें थी। कालान्तरमें विकासानुरूप काव्यके उत्कर्षक धर्मके अन्य रूप भी आचार्योंको प्राप्त हुए, किन्तु दीर्घ काल-तक उन धर्मोंका पृथक् उल्लेख न करके, आचार्यवर्ग उनका वर्णन 'अलकार' नामसे ही करता रहा। तदुपरान्त अलकार-का क्षेत्र सकीर्ण बन गया। इस प्रकार 'अलकार'के विकासकी तीन प्रमुख स्थितियाँ हैं। प्रारम्भिक स्थितिमें अध्येताओंको काव्यके उत्कर्षक धर्मके केवल एक ही रूपका ज्ञान था, जिसको वे 'अलकार' कहते थे। विकसित अवस्था-में 'अलकार' शब्दका अर्थ विस्तार हुआ, काव्यगत सम्पूर्ण सौन्दर्यमात्रका नाम 'अलकार पड़' गया। तीसरी अवस्थामें उत्कर्षक धर्मकी अन्य विधाएँ प्रतिष्ठित होकर स्वतन्त्र हुईं और उन्हें भी 'अलकार'के साथ शास्त्रीय अध्ययनकी प्रमुखता प्राप्त हुई। स्पष्ट है कि पहले अलकार-शास्त्र सम्पूर्ण साहित्य-शास्त्र या काव्य-शास्त्रका समानार्थी रहा है, कालान्तरमें प्रचलित 'अलकार-सम्प्रदाय'का पर्याय नहीं, जैसा कि अब माना जाता है।

भारतीय अलकार-शास्त्रके ऐतिहासिक क्रम-विकासके अध्ययन एव अनुशीलनसे स्पष्ट होता है कि इस शास्त्रका गम्भीर अध्ययन एव आलोचन ईसासे बहुत काल पूर्वसे प्रारम्भ हो गया था। निरुक्तकार यास्कने अपने भी पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्यका 'उपमा'का वैज्ञानिक लक्षण देकर ऋग्वेद-के अनेक मन्त्रोंको उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट होता है कि यास्कसे पूर्व उपमाका विश्लेषण गार्ग्य आदि आचार्यों द्वारा हो चुका था और वेदमन्त्रोंके अर्थमें उपमाकी व्याख्या की जाती थी। तदुपरान्त यास्क और भरतके मध्यवर्ती समयमें 'अलकार'के कतिपय शास्त्रीय शब्दोंके उल्लेख पाणिनिके सूत्रों, कात्यायनके वार्तिक तथा पतजलिके भाष्यमें मिलता है। पाणिनिके समयतक उपमाके चारों अग विकसित हो चुके थे। पाणिनि द्वारा 'नटसूत्र'के रचयिता शिलालि और कृशाश्वका उल्लेख भी इस शास्त्रकी प्राचीनताको सूचित करता है। द्वितीय शतकके रुद्रदामन् आदिके शिलालेखोंमें केवल अलकृत भाषाकी ही प्रतिष्ठा नहीं है, उनमें 'अलकार-शास्त्र'के कतिपय सिद्धान्तोंकी ओर भी निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त भरतके नाट्यशास्त्रका मूल अंश भी बहुत प्राचीन है। नाट्य-शास्त्रका षोडश अध्याय 'अलकार-लक्षण' है। यहाँ 'अलकार' शब्द सामान्य अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, शास्त्रीय अर्थमें नहीं। अत इस अध्यायमें उन विशेषताओंका उल्लेख है, जिनसे विभूषित होकर काव्यबन्ध विशेष आकर्षक बन सकते हैं। इस अध्यायमें सर्वप्रथम ३६ काव्य-विभूषण हैं, फिर ४ अलकार, १० काव्य-दोष और १० काव्यार्थ-गुण।

आचार्य भरत (३ श० ई०) और भामहके बीचमें काव्यशास्त्रके अन्य आचार्य भी हुए होंगे, जिनका सकेत 'काव्यालकार'में प्रयुक्त 'अन्ये', 'कैश्चिद', 'केचित्' आदि पदों तथा 'रामशर्माच्युत', 'मेधाविन्', 'राजमित्र' आदि नामोंसे प्राप्त होता है। किन्तु 'काव्यालकार'से पूर्व इस विषयका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। अस्तु, भामह अलकार-शास्त्रके आदि आचार्य हैं (७ श० ई०) और उनके बाद अलकार-शास्त्रके प्रमुख ग्रन्थोंकी रचना क्रमिक रूपसे होती रही। कालक्रमानुसार आचार्य तथा उनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—दण्डीका 'काव्यादर्श' (७ वीं शती), उद्भटका 'काव्या-लकारसारसग्रह' (८वीं शती), वामनका 'काव्यालकार-सूत्र' (९वीं शतीका पूर्वार्द्ध), रुद्रटका 'काव्यालकार' (९वीं शतीका पूर्वार्द्ध), आनन्दवर्धनका 'ध्वन्यालोक' (९वीं शतीका उत्तरार्द्ध), कुन्तकका 'वक्रोक्तिजीवित' (१०वीं शतीका पूर्वार्द्ध), भोजराजका 'सरस्वतीकण्ठाभरण' (११वीं शतीका पूर्वार्द्ध), मम्मटका 'काव्यप्रकाश' (११वीं शती), रुय्यकका 'अलकार-सर्वस्व' (१२वीं शतीका पूर्वार्द्ध), जयदेवका 'चन्द्रालोक' (१३वीं शती), विद्याधरकी 'एकावली' (१४वी शतीका पूर्वार्द्ध), विश्वनाथका 'साहित्यदर्पण' (१४वीं शती), केशव मिश्रका 'अलकारशेखर' (१६वीं शतीका उत्तरार्द्ध), अप्पय्य दीक्षितका 'कुवलयानन्द' (१७वीं शतीका पूर्वार्द्ध) तथा जगन्नाथका 'रसगगाधर' (१७वीं शती)।

इसी प्रकार हिन्दी साहित्यके मध्ययुगके अलकार-ग्रन्थोंका कालक्रम निम्नलिखित है—केशवदासकी 'कविप्रिया' (सन् १६०१), जसवन्तसिंहका 'भाषाभूषण' (सन् १६४३), चिन्तामणिका 'कविकुलकल्पतरु' (सन् १६५०), मतिरामका 'ललितललाम' (सन् १६६१, ६२), भूषणका 'शिवराजभूषण' (सन् १६७३), कुलपति मिश्रका 'रसरहस्य' (सन् १६७०), देवका 'भाव-विलास' तथा 'काव्यरसायन' (सन् १६८९ तथा १७०३), श्रीधरका 'भाषाभूषण' (सन् १७१०), रसिक सुमतिका 'अलकारचन्द्रोदय' (सन् १७२८), रघुनाथका 'रसिकमोहन' (सन् १७३९), गोविन्दका 'कर्णाभरण' (सन् १७५०), दूलहका 'कविकुलकण्ठाभरण' (सन् १६४३), भिखारीदासका 'काव्यनिर्णय' (सन् १७४६), ऋषिनाथकी 'अलकारमणिमजरी' (सन् १७७४), रामसिंह-का 'अलकारदर्पण' (सन् १७७८), सेवादासका 'रघुनाथ-अलकार' (सन् १७८३), पद्माकरका 'पद्माभरण' (सन् १८१०), काशिराजकी 'चित्रचन्द्रिका' (सन् १८३२), गिरधरदासका 'भारतीभूषण' (सन् १८३३), लेखराजका 'गगाभरण' (सन् १८७८), लछिरामका 'रामचन्द्रभूषण' (सन् १८९०), गुलाब सिंहका 'वनिताभूषण' (सन् १८९२) तथा गगाधरका 'महेश्वरभूषण' (सन् १८९७)।

आधुनिक गद्ययुगमें मुरारिदानका 'जसवन्त जसोभूषन' (सन् १८९३) जगन्नाथप्रसाद 'भानु'का 'काव्यप्रभाकर'

(सन् १९०९), भगवानदीनकी 'अलंकारमंजूषा' (सन् १९१६), अर्जुनदास केडियाका 'भारतीभूषण' (सन् १९३०), बिहारीलाल भट्टका 'साहित्यसागर' (सन् १९३७), कन्हैयालाल पोद्दारकी 'अलंकारमंजरी' (सन् १९४५) तथा रामदहिन मिश्रका 'काव्यदर्पण (सन् १९४७)।

'अलंकारशास्त्र'के इस दीर्घकालीन इतिहासको हम तीन कालोंमें विभक्त कर सकते हैं—ध्वनिपूर्वकाल, ध्वनिकाल तथा ध्वन्युत्तरकाल। ध्वनिपूर्वकालके आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, वामन तथा रुद्रट हैं। इस कालमें अलंकारका ही सार्वभौम शासन रहा, काव्यके शेष धर्म अलंकारके ही रूपान्तर माने गये। भामह इसके आदि आचार्य हैं और रुद्रट इस कालके समापवर्त्तक एवं उपसंहारक हैं। हिन्दीके आचार्य केशव इसी युगसे प्रभावित दिखाई देते हैं।

ध्वनिकाल खण्डन और स्थापनाका काल है। आनन्दवर्धन, कुन्तक तथा महिम भट्ट प्रत्यक्षत ध्वनिसे सम्बन्धित हैं। इस युगमें अलंकारका विवेचन न होकर अलंकारका स्थान निर्धारित करनेका प्रयास हुआ। स्वरचित उदाहरणोंकी अपेक्षा वृत्तिका प्रचलन हुआ। प्रत्येक ग्रन्थके तीन अंग हो गये—मूल, वृत्ति तथा उदाहरण। मूल स्वरचित होता था, उदाहरण प्राय परकीय और वृत्ति कुछ स्वकीय और कुछ परकीय। इस शैलीका नाम आचार्यत्व पड़ा, जिसकी धारा जगन्नाथतक मिलती है।

ध्वन्युत्तरकाल अपने पूर्ववर्ती कालोंका ऋणी है। मम्मट, रुय्यक, विद्याधर, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ शैलीकी दृष्टिसे ध्वनिकालसे प्रभावित हैं। जयदेव, केशव मिश्र तथा अप्पय दीक्षित आदि ध्वनिपूर्वकालके सहवर्गी हैं। यह काल पूर्वप्रवृत्तियोंका प्रतिफलनमात्र है। हिन्दी आचार्योंने ध्वनिपूर्वकालसे शैली तथा ध्वन्युत्तरकालसे सिद्धान्त लेकर अपने आचार्यत्व और कवित्वकी उद्भावना की।

हिन्दी साहित्यके रीतिकालीन आचार्य केशव, चिन्तामणि आदि यद्यपि मूलत अलंकार-सम्प्रदायके प्रतिष्ठापक हैं, तथापि अधिकांश आचार्योंने काव्यमें रसके महत्त्वको स्वीकार किया है।

आचार्योंकी गवेषणात्मक प्रवृत्ति और अतिशय अध्यवसायके कारण भारतीय अलंकारशास्त्रको आज विवेचनात्मक साहित्यमें प्रमुख स्थान प्राप्त है। हिन्दीमें केशवदासको अलंकारवादी कवि माना जाता है, किन्तु उनकी काव्य परम्पराका परवर्ती कवियों द्वारा अनुगमन नहीं हुआ, अत हिन्दीकी अलंकार-परम्पराके परवर्ती आचार्योंमें कुलपति आदिका नाम प्रमुख है। विशेषके लिए दे०—'अलंकार'।

—वि० स्ना०

अलंकार सम्प्रदाय—'अलंकार-सम्प्रदाय'से तात्पर्य उन लेखकोंकी परम्परासे है, जिन्होंने रस और ध्वनि-सिद्धान्तोंके प्रतिष्ठित हो जानेके पूर्व अथवा पश्चात् 'अलंकार'को ही काव्यकी उत्कृष्टताका प्रमुख साधन माना है। अलंकारका काव्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है, किन्तु अलंकार ही काव्यका प्रमुख आकर्षण है, इसको कतिपय आचार्योंने माना है। इस मतका पोषक आचार्य-वर्ग अलंकार-सम्प्रदायके नामसे पुकारा जाता है।

उपर्युक्त अलंकार-मतके संस्थापक आचार्य भामह (७ श० ई०) हैं तथा इस मतके पोषक हैं भामहके टीकाकार आचार्य उद्भट (८ श० ई०), दण्डी (७ श० ई०), रुद्रट (९ श० ई०), जयदेव (१३ श० ई०) अप्पय दीक्षित (१७ श० ई०) और प्रतिहारेन्दुराज (१० श० ई०) भी इसी मतके अनुयायी हैं। हिन्दीमें इस रूपमें सम्प्रदायके अन्तर्गत आनेवाले कवि-आचार्य कम हैं। केशव (१६–१७ श० ई०), जसवन्त सिंह (१७ श० ई०), भूषण (१७ श० ई०), दूलह (१७–१८ श० ई०) जैसे कुछ आचार्योंने अलंकारको विशेष महत्त्व दिया है यद्यपि अन्य अनेक रीतिकालके आचार्य-कवियोंने अलंकारोंका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। पर इनमें चिन्तामणि (१७ श० ई०), मतिराम (१७ श० ई०), कुलपति (१७ श० ई०), देव (१७–१८ श० ई०) दास (१८ श० ई०) आदि आचार्योंने अलंकारोंको रसादिकके साथ स्वीकार किया है, यद्यपि रीतिकालीन काव्यकी सामान्य शैली अलंकृत तथा वैचित्र्यपूर्ण है।

भामहके अनुसार अलंकार ही काव्यका अनिवार्य प्राणतत्त्व है। उनका अभिमत है कि प्रकृत कान्त होनेपर भी वनिताके मुखपर भूषणके बिना जिस प्रकार आभा नहीं आती, उसी प्रकार नितान्त प्रकृत रूपसे वाणीमें चारुता नहीं आती, वाणीकी अलंकृतिके लिए वक्राभिधेय शब्दोक्ति इष्ट है। दंडीके मतमें काव्यके पोषक अंगोंको 'अलंकार' शब्दके द्वारा पुकारा जाता है। रुद्रट तथा प्रतिहारेन्दुराजने भी अपने ग्रन्थोंमें अलंकारको प्रधानता दी है। पीयूषवर्ष जयदेवके 'चन्द्रालोक'में अलंकारकी अनिवार्यता बड़े जोरदार शब्दोंमें घोषित की गयी है। इनके अनुसार अलंकार काव्यका प्राणतत्त्व है। प्राचीन आलंकारिकों द्वारा अलंकारको अत्यधिक प्रतिष्ठा देनेकी बात रुद्रटने भी अपने 'अलंकारसर्वस्व'में 'तदेवमलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्' (६) इस कथनके द्वारा प्रमाणित की है।

कालक्रमसे अलंकारोंकी संख्याके समान अलंकारोंके स्वरूपमें भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है। उनमें 'वक्रोक्ति' अलंकारका क्रमश विकसित स्वरूप द्रष्टव्य है। आचार्य भामह वक्रोक्तिको समस्त अलंकारोंका प्राणतत्त्व मानते हैं। उन्होंने ऐसे अलंकारकी कल्पना भी नहीं की, जो वक्रोक्तिसे वियुक्त हो। वक्रार्थकी विधायक शब्दोक्तिको ही उन्होंने अलंकार कहा है और वे इसके बिना अलंकारकी स्थिति स्वीकार नहीं करते—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥' (काव्यालंकार २ ८५)। वामनने इसीको अर्थालंकार कहा है और रुद्रटने इसे शब्दालंकारोंके वर्गमें रखा है। अलंकार-सम्प्रदायके आचार्योंके आलंकारिक विवेचनके अनुशीलनसे स्पष्ट होता है कि यद्यपि इस विवेचनामें मौलिकता है, किन्तु उनमें विकास अधिकांश अलंकारोंकी संख्याका अथवा परिभाषाका ही देखनेमें आता है, अलंकारका काव्यपर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इस विषयपर गम्भीर एवं गवेषणात्मक अध्ययन प्राय किसीने नहीं किया। इस सम्प्रदायके आचार्योंने अलंकारको काव्यका अनिवार्य अंग सिद्ध करनेके निमित्त स्वभावोक्तिको भी अलंकारमें समाविष्ट कर लिया है।

इस सम्प्रदायके अनुवर्ती आचार्योंने अलंकारोंका वर्गी-

करण करते समय उनके मूल तत्त्वोंपर भी विचार किया है। अलकारोंके विभागके लिए कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये हैं। अलंकारोंके वर्गीकरणके वैज्ञानिक स्वरूपका सर्वप्रथम निर्देश हमें रुद्रटके 'काव्यालकार'में मिलता है। इस विषयमें आचार्य रुय्यक और विद्याधरका निरूपण बडा ही युक्ति-संगत, मौलिक और वैज्ञानिक है। इस सम्प्रदायकी प्राचीनताका आभास इसी तथ्यसे मिलता है कि हमारे समस्त आलोचना-शास्त्रका प्राचीनतम नाम इसीके नामानुरूप अलकार-शास्त्र है।

अलकारको ही काव्यका सर्वस्व मानकर चलनेवाले आचार्योंने अपने अलकार-ग्रन्थोंमें रसका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख न कर उसे काव्यके प्राणभूत अलकारका ही एक प्रकार माना है। उन्होंने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित अलकारोंके भीतर रस और भावके समग्र विषयको समाविष्ट कर दिया है। इस तथ्यके प्रमाण भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रटके अलकार-ग्रन्थ हैं, जिनमें उन्होंने प्रेय, रसवत् आदि अलकारोंके द्वारा रसके समग्र विषयका उल्लेख किया है। भामह स्पष्ट रूपसे लिखते हैं कि जहाँ शृंगारादि रसोंकी प्रतीति स्पष्ट रूपसे होती है, वहाँ रसवत् अलकारकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार दण्डी, उद्भट तथा रुद्रटने भी काव्यमें रसका निवेप विशेष यत्नसे करनेका आदेश दिया है। साराश यह कि उपर्युक्त आलकारिक रस-तत्त्वको अलकारका ही एक रूप मानते हैं।

इन आचार्योंने काव्यमें प्रतीयमान अर्थकी महत्ताको भी स्वीकार किया है। रुय्यकने स्पष्ट रूपसे लिखा है कि कि भामह तथा उद्भट आदि अलकारवादी आचार्योंने प्रतीयमान (व्यग्य) अर्थको वाच्यका पोषक मानकर उसे अलंकारके भीतर ही अन्तर्भुक्त किया है। इन आचार्योंने ध्वनि और प्रतीयमान अर्थको काव्यका मूल तत्त्व नहीं माना है और न ही ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यग्य जैसे पदोंका अपने अलकार-ग्रन्थोंमें प्रयोग किया है। इन्होंने समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा, आक्षेपके भीतर प्रतीयमान अर्थके अनेक प्रकारोंका समाहार कर दिया है। भामहने समासोक्ति अलकारके लक्षणमें स्पष्ट रूपसे निर्देश किया है कि यह अलकार वहाँ होता है जहाँ किसी वस्तुका वर्णन होनेपर तत्समान विशेषणवाले अन्य अर्थकी प्रतीति होती है।

इसी प्रकार पर्यायोक्ति अलकारमें वाच्यार्थसे भिन्न अन्य प्रकारके समग्र अर्थोंका ग्रहण भामहको अभीष्ट है। स्पष्टत इन अलकारवादी आचार्योंने प्रतीयमान अर्थकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न कर अलकारविशेषमें ही उसका समाहार कर दिया था।

दण्डी और भामहने अलकारका जो महत्त्व काव्यमें प्रतिपादित किया, वह किसी न किसी रूपमें परवर्ती युगोंतक मान्य रहा है। हिन्दी साहित्यके रीतिग्रन्थोंमें अलकारवादका समर्थ प्रतिपादन तो नहीं है, पर जैसा कहा गया है, यह उसकी शैलीगत विशेषता अवश्य रही है। अधिक विस्तारके लिए दे०–'अलकार' तथा 'अलकार-शास्त्र'।—वि० स्ना०

अलंकार्य—किसी पदार्थ या वस्तुके स्वाभाविक वर्णनको अलकार्य कह सकते है अर्थात् स्वभाववर्णन ही अलकार्य है। अलकार और अलकार्यके प्रभेदका विवादास्पद प्रश्न यद्यपि भारतीय काव्य-शास्त्रका नितान्त नवीन विषय नहीं है, किन्तु यूरोपमें अभिव्यजनावादके प्रवर्तनके उपरान्त यह प्रश्न आधुनिक काव्य-शास्त्रमें विशेष चर्चाका विषय बन गया है। प्राचीन आलकारिक भामह, दण्डी, वामन आदिने अलकार और अलकार्यमें अभेद स्थापित कर सम्पूर्ण काव्य-सौंदर्यको 'अलकार'में समाहित किया है—'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते' (काव्यादर्श २ १) तथा 'सौन्दर्यमलकार' (काव्यालकारसूत्र १ १ २)।

स्पष्ट है कि इन आचार्योंके अनुसार काव्य-शोभाके कारण अथवा पर्याय अलकार हैं। इसीसे इन्होंने सम्पूर्ण रस-प्रपञ्चको रसवत् आदि अलकारोंमें अन्तर्भूत कर दिया है। भामहके अनुसार काव्यका प्रस्तुत पक्ष चमत्काररहित होनेके कारण, काव्य न होकर वार्तामात्र है। 'सूर्यास्त हो गया, चन्द्रोदय हुआ, पक्षिगण अपने-अपने नीडोंको लौट रहे हैं इत्यादि, यह क्या कोई काव्य है? इनको वार्ता कहते हैं।' (काव्यालंकार २ ८७)। काव्यका यह प्रस्तुत पक्ष जब चमत्कृत हो जाता है, तो अलकार बन जाता है। साराश यह कि ये आलकारिक काव्यके प्रस्तुत पक्षका सर्वथा निषेध तो नहीं करते, किन्तु उसमें काव्यत्वका समाहार नहीं करते। इस प्रस्तुत पक्षमें जब किसी भी प्रकारके सौन्दर्यका उन्मेष होता है, तो यह अपनी समग्रतासे अलकारका पर्याय हो जाता है।

किन्तु रस और ध्वनि-सम्प्रदायके अनुयायियोंने शब्द-अर्थको प्रत्यक्षत और रसको मूलत अलकार्य कहा है और उपमा-रूपकादिको अलकारके नामसे अभिहित किया है। उन्होंने उपमा-रूपक आदि अलकारोंको रस-रूप अगीका उत्कर्ष-विधायक कहा है। दूसरे शब्दोंमें, उपमादि अलकार रस-रूप अलकार्यको अलकृत करते हैं। मम्मट और विश्वनाथने प्रकारान्तरसे इसी मतका समर्थन किया है—'उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलकारास्ते ।' (काव्यप्रकाश ८ ६७)। अर्थात् हारादि आभूषण जिस प्रकार स्थूल रूपसे शरीरको शोभित करते हुए मूलत आत्माका उत्कर्ष करते हैं, उसी प्रकार अलकार प्रत्यक्ष रूपसे शब्द-अर्थको अलकृत करते हुए मूलत रसका सवर्द्धन करते हैं। अतएव इस सिद्धान्तके अनुसार उपमादि अलकार है और शब्द प्रत्यक्षत तथा रस मूलत अलकार्य है।

कुन्तकने अलकार और अलकार्यकी पृथक्ताका निर्देश अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें किया है। उनके अनुसार स्वभाव-वर्णन ही अलकार्य है। यदि इसीको अलकार कहें, तो फिर स्वभाववर्णनसे भिन्न कौन-सी वस्तु है, जो अलकार्य है? काव्यमे अलकार्य शरीरस्थानीय है। यह शरीर ही यदि अलकार बन जाय, तो वह उस अलकारसे पृथक् दूसरे किस अलकार्यको अलकृत करेगा? स्वभाववर्णन अलकार्य भी हो और अलकार भी, यह सर्वथा असम्भव कल्पना है। कुन्तकके अनुसार शब्द और अर्थ अलकार्य होते हैं और चतुरतापूर्ण शैलीसे कथनरूप वक्रोक्ति ही उन दोनों (शब्द और अर्थ) का अलकार होती है—'उभावेतावलकार्यो तयो पुनरलकृति । वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभगीभणितिरुच्यते ।' (वक्रोक्तिजीवित १ १०)। हिन्दीमें रामचन्द्र शुक्लने भी काव्यके प्रस्तुत अर्थको अलकार्य कहा है। उनके अनुसार अलकार्य और

अलंकारमें अनिवार्य भेद है, जो सर्वथा अमिट है। प्राचीन-पाश्चात्य काव्य-शास्त्रमें भी इस तथ्यको इसी रूपमें स्वीकृत किया गया है। अरस्तूसे लेकर आर्नल्डतक यह मान्यता प्रायः अक्षुण्ण रही है। उदाहरणके लिए–'नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग; खिला हो ज्यों बिजलीका फूल, मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।' (कामायनी : श्रद्धा)। इसमें श्रद्धाका रक्तिम गौर अंग प्रस्तुत है और यही अलंकार्य है। बिजलीका फूल अप्रस्तुत है। दूसरी ओर नीला उनका परिधान प्रस्तुत है और मेघ-वन अप्रस्तुत। सम्पूर्ण रूपसे, नील परिधानमें झलकता हुआ रक्तिम गौर अंग प्रस्तुत है और मेघ-वनमें खिला हुआ विद्युत्पुष्प अप्रस्तुत। यह अप्रस्तुत विधानरूप अलंकार श्रद्धाके रूप अलंकार्यका उपकारक है। —वि० स्ना०

अलक्षणीयतावाद–'ध्वन्यालोक'में उल्लिखित तीन ध्वनि-विरोधी मतोंमें तीसरा। आनन्दवर्धनका कहना है–'केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः' लक्षण निर्माणमें अप्रगल्भबुद्धि किन्हीं(तीसरे वादी)ने ध्वनिके तत्त्वको ('न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'के समान) केवल सहृदय-हृदयसंवेद्य और वाणीके परे (अलक्षणीय, अनिर्वचनीय) कहा है। (हिं० ध्व० पृ० १४)। इस सम्बन्धमें मुख्य विचारणीय बात यह है कि जो तत्त्व वाणी द्वारा नहीं बाँधा जा सकता, जिसकी सम्यक् परिभाषा नहीं दी जा सकती, वह तो अपने इस लक्षणके कारण स्वतः ही महान् सिद्ध हो जाता है। इसीलिए इस तीसरे पक्षको अज्ञानमूलक कहा गया है। —उ० श० शु०

अलख–नाथपन्थी जोगियोंके वे गीत जो भिक्षाके समय चिकारोंपर गाये जाते हैं। उत्तरभारतके सभी क्षेत्रोंमें 'अलख' उपलब्ध हैं। गोपीचन्द, भरथरी, गोरख और मैनावतीकी कथाएँ अथवा निर्गुणी भावनाओंके द्योतक अलख गीत हैं। राजस्थान और मालवामें प्रायः अलख सुननेको मिल जाते हैं। —श्या० प०

अलख निरंजन–दे०–'निरंजन'।

अलौकिक शृंगार–दे०–'शृंगार'।

अल्प–अधिकमें अन्तर्भूत होनेवाला अर्थालंकार। यदि आधेय छोटा और आधार बड़ा हो, किन्तु फिर भी आधारको अपेक्षाकृत छोटा (अल्प) वर्णित किया जाय तो 'अल्प' अलंकार होता है। इसको सर्वप्रथम अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में स्वीकार किया है और उन्हींके आधारपर हिन्दीके मतिराम, दास, पद्माकर आदि आचार्योंने इसका विवेचन किया है। मतिरामके अनुसार इनकी परिभाषा है–जहँ सुच्छम आधेय तें, अति सूच्छम आधार।' (ल० ल० : २४०) अथवा–'अल्प अल्प आधेय तें, सुच्छम होइ अधार।' (का० नि० ११)। उदा०–'मन जद्यपि अनुरूप है, तऊ न छूटति मंक। टूट परै जनि भार तें, निपट पातरी लंक।' (ल० ल० : २४१)। यहाँ आधेय 'मन' अति अल्प है, उससे भी अल्पतर है आधार 'कटि' अतः यहाँ अल्प अलंकार है। 'काव्यप्रकाश' अथवा 'साहित्यदर्पण'में अल्प अलंकारको स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला है। 'काव्यप्रकाश'में 'अधिक'की परिभाषा यों है–'महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात्। आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत्।' (का० प्र० १० १२८), अर्थात् यदि महान् आधेय एवं आधारके आधार एवं आधेय क्रमशः महत्तर वर्णित हों, यद्यपि वस्तुतः ये दोनों छोटे हों, तो वहाँ 'अधिक' अलंकार होता है। ऊपर दिये हुए उदाहरणमें 'लंक'से 'मन' वस्तुतः छोटा है, पर 'लंक'को बड़ा मानकर 'मन'को उससे भी बड़ा कल्पित किया गया है, अतः इस दृष्टिसे यह 'अधिक' अलंकारका उदाहरण हुआ, और 'अल्प' अलंकार 'अधिक' अलंकारमें अन्तर्भूत हुआ। पद्माकरने इसका दूसरा भेद–'अलप अलप आधार ते, जहँ आधेय बखान।' माना है और उसका उदाहरण दिया है–'अति सूछम जो मन तहाँ, ता हूँ तें लघुमान।' (पद्मा० १५९)। भूषणने 'शिवराजभूषण'में इसका उल्लेख नहीं किया है। —व० प्र० शा०

अवगलित–यह रूपकगत प्रस्तावनाका एक भेद है। यह दो प्रकारका होता है। प्रथम प्रकारका अवगलित वहाँ होता है जहाँ एक ही क्रिया द्वारा एक ही कार्यके समावेशसे दूसरे कार्यकी भी सिद्धि हो जाय। दूसरा अवगलित वहाँ होता है जहाँ एक कार्यके प्रस्तुत होनेपर दूसरा ही कार्य सम्पन्न हो।

प्रथम प्रकारके अवगलितका उदाहरण 'उत्तररामचरित'से दिया जाता है। वनविहारकी दोहद इच्छावाली गर्भवती सीताको वनमें छोड़ दिया जाता है। यहाँ एक कार्यके समावेश(दोहदपूर्ति)से जनापवादके कारण वनत्यागकी भी पूर्ति हो जाती है।

दशरूपककारने दूसरे 'अवगलित'का उदाहरण 'छलितराम' नाटकसे दिया है जो आज अप्राप्य है। राम पिताके वियोगमें विह्वल अयोध्यामें विमानसे न जाकर पैदल चलते हैं। ठीक सामने ही उन्हें जटाजूटधारी भरत दिखाई पड़ जाते हैं। यहाँ प्रस्तुतकी सिद्धि न होकर भरत-दर्शनकी सिद्धि होती है। —व० सिं०

अवचेतन–अवचेतन 'उपचेतन'का समानार्थक है। (दे०–'मानस अवचेतन')

अवज्ञा–विशेषोक्तिमें अन्तर्भूत होनेवाला अर्थालंकार; जहाँ एकके गुण-दोषसे दूसरेको गुण-दोष न होनेका वर्णन हो वहाँ 'अवज्ञा' अलंकार होता है। यह अलंकार 'उल्लास' अलंकारके विपरीत है। 'उल्लास'में अन्यके गुण-दोषोंका अन्यके द्वारा अंगीकरण है, 'अवज्ञा'में उनका अनंगीकरण अथवा व्यर्थता। संस्कृतके प्रमुख आचार्योंने इस अलंकारका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना है। न तो 'काव्यप्रकाश'में, न 'साहित्यदर्पण'में इसका उल्लेख है। 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'में इसे स्वतन्त्र अलंकार माना गया है। मतिराम, भूषण, दास तथा पद्माकर आदि हिन्दीके आचार्योंने भी इसे स्वतन्त्र अस्तित्व दिया है। मतिरामके अनुसार इस अलंकारकी परिभाषा है–'औरेंके गुन दोषते औरेंके गुन दोष।' (ल० ल० : ३१७)। दासने इसके दोनों भेदोंके अलग लक्षण दिये हैं–'औरेंके गुन औरकों गुनन' तथा 'औरें दोष न औरको दोष' (का० नि० १४)। उदा०–'मेरे दृग बारिद वृथा, बरषत बारि प्रवाह। उठत न अंकुर नेहको, तो उर ऊसर माँह।' (ल० ल० : ३१९)। यहाँ एकके प्रेमका प्रभाव दूसरेपर न होना अर्थात् गुणसे गुणका न

होना वर्णित है। तथा–'कहा भयो जो तजत है, मलिन मधुप दुख मानि। सुवरन वरन सुवास जुत, चम्पक लहै न हानि।' (वही · ३२०)। यहाँ मधुपके त्यागमे चम्पकको कोई हानि नहीं होती अर्थात दोपसे दोपका न होना वर्णित है। भूपणने गुण तथा दोप दोनोंकी अवज्ञा एक ही उदाहरण-में प्रदर्शित की है, यथा–'औरनके अनवाढे कहा अरु वाढे कहा नहिं होत चहा है। औरनके अनरीझे कहा अरु रीझे कहा न मिटावत हा है।' (शि० भू० · २८२)।

संस्कृतके प्रमुख आचार्योंने इसका स्वतन्त्र उल्लेख इस कारण नहीं किया है कि वे इसका अन्तर्भाव 'विशेषोक्ति'-में मानते है। कारणके रहते कार्यका न होना विशेपोक्ति है और गुण-दोप(कारण)के रहते गुण-दोप(कार्य) न होना अवज्ञा है। दोनोंमें तात्त्विक अन्तर न होनेसे उद्द्योतकारने 'अवज्ञा'को 'विशेपोक्ति'के अन्तर्गत माना है।–ध० ब्र० गा०

अवतरित लीला–दे०–'लीला'।

अवतार–अवतरणमवतार (उच्च स्थानसे निम्न स्थानपर उतरना ही अवतरण या अवतार है)। भगवान्का वैकुण्ठधामसे भू-लोकपर लीलादिके निमित्त अवतार होता है। 'महाभारत'-के हरिवंशपर्वमें अवतारके स्थानपर आविर्भाव शब्द प्रयुक्त किया गया है (४१ १७–२०)। उनके अवतारका उद्देश्य 'श्रीमद्भगवद्गीता'के शब्दोंमें है–'परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥' (अ० ४ श्लो० ८), उत्पत्ति, स्थिति और लय (महार) सृष्टिके शाश्वत धर्म है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन धर्मोंके प्रतिनिधि देवता हैं। विष्णु सृष्टिपालनके प्रतीक होनेसे अधिक लोकप्रिय हैं अत इन्हींके अवतारोंकी अधिक कल्पना की गयी है। कहा जाता है कि बुद्धकी देवताओंके समान गणना होनेके पश्चात्से ही अवतारवादका प्रचलन हुआ और पुराणोंने इसे पुरस्सर तथा प्रचारित किया। परन्तु अवतारोंके बीज वैदिक साहित्यमें भी खोजे गये हैं। 'शतपथ ब्राह्मण'में मत्स्यावतार (२१९।१।१) तथा कूर्मावतार (७।३।३।५), 'तैत्तिरीय संहिता' (७।१।५।१) और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (१।१।३।५) एव 'शतपथ ब्राह्मण' (१।२।५।१०) मे वामनावतारका उल्लेख ह। 'ऋग्वेद'में विष्णुकी तीन डगोंसे सृष्टि नापनेकी कल्पना है (१।१५४।२)। 'ऐतरेय ब्राह्मण' तथा 'छान्दोग्योपनिषद्' (३।१०) में देवकीपुत्र कृष्ण तथा 'तैत्तिरीय आरण्यक' (१९।१।६) में वासुदेव श्रीकृष्णका उल्लेख है। वैदिक ग्रन्थोंमें इन्हे ब्रह्माका अवतार कहा है, परन्तु पुराणोंमें ये विष्णुके अवतार माने गये ह।

पुराणोंमें विष्णुके अनेक अवतारोंकी कल्पना की गयी है। प्रत्येक पुराणमें उनकी सख्या एक-सी नहीं है। किसीमे ६ है, किसीमें १२ और किसीमें १०। विष्णुके दस अवतार प्रसिद्ध हे–जो क्रमानुसार इस प्रकार ह–(१) मत्स्य, (२) कूर्म, (३) वराह, (४)वामन, (५) नृसिंह, (६) परशुराम, (७) राम, (८) कृष्ण, (९) बुद्ध, (१०) कल्कि। इन दसमे राम और कृष्णके अवतार अति प्रसिद्ध हैं। (दशावतार वर्णनके लिए देखिये, जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' प्रथम सर्ग, प्रबन्ध१।)

पुराणोंमें भगवान्के कुल २४ अवतार वर्णित है। वे हैं (१) नारायण (विराट् पुरुष), (२) ब्रह्मा, (३) सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, (४) नरनारायण, (५) कपिल, (६) दत्तात्रेय, (७) सुयज्ञ, (८) हयग्रीव, (९) ऋषभ, (१०) पृथु, (११) मत्स्य, (१२) कूर्म, (१३) हस, (१४) धन्वन्तरि, (१५) वामन, (१६) परशुराम, (१७)मोहिनी, (१८) नृसिंह, (१९) वेदव्यास, (२०) राम, (२१)बलराम, (२२) कृष्ण, (२३)बुद्ध, (२४) कल्कि। ये लीलावतारके नामसे प्रसिद्ध हैं। सत्त्वावतारके रूपमें काल, स्वभाव, कार्यकारण, मन, पचभूत, अहकार, रज, तम, सत्–त्रिगुण, इन्द्रियाँ, ब्रह्मायुशरीर, स्थावर और जगम जीवकी गणना की जाती है। (श्रीमद्-भागवत ६।२।७)।

निर्गुण सन्त कवियोंने अवतारोंका निषेध किया, उन्हें उसी रूपमे नहीं ग्रहण किया जिस रूपमें सगुण उपासक कवियोंने ग्रहण किया। सगुणोपासकोंके लिए ईश्वरावतार स्थूल प्रतीक है जिसकी उन्होंने मानसिक और सेवामूलक उपासना तथा अर्चना की है। निर्गुणियोंने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतिको जिसे 'गूँगेका गुड' कहते है, लोकसामान्य बनानेकी दृष्टिसे राम, कृष्ण आदि अवतारोंके प्रतीकोंके माध्यमसे व्यक्त किया है। अवतार उनके अव्यक्त ब्रह्मके नाममात्र हैं। उन्होंने अवतार नामोंकी पुराणवर्णित लीलाओंपर आस्था नहा प्रकट की।

कृष्णावतारकी लीलाओंका चित्रण सूरकृत 'सूरसागर' तथा अन्य कृष्ण सम्प्रदायके कवियोंकी कृतियोंमे तथा रामावतारकी लीलाओंका वर्णन मुख्यतया गोस्वामी तुलसीदासके 'रामचरितमानस' तथा अन्य ग्रन्थोंमें मिलता है।

भगवान्के उपर्युक्त अवतारोंकी प्रकट लीलाका चित्रण ही भक्त कवियोंका ध्येय रहा है। लीलाचित्रणमें उन्होंने अवतारविशेषके सौन्दर्य, शील और शक्तिके विविध रूपोंपर ध्यान दिया है। यद्यपि निर्गुणी सन्तोंने अवतारोंका विरोध किया है, यथा–'लोका तुम्ह ज कहत हौ नन्दको नन्दन, नन्द कहौं धू का को रे? धरनि अकाम दोऊ नहिं होते तब यहु नन्द कहाँ थौ रे॥' ('कबीर ग्रन्थावली', का० ना० प्र० स०, पदसख्या ४८)।

तो भी जब ब्रह्मके प्रति प्रेमासक्तिवश उसका बडप्पन सिद्ध करनेकी इच्छा जागरित होती है तब वे उसके अवतारी 'गुणों' या कार्योंका भी स्मरण कर लेते ह। यथा–

'मेरो बापु माधव तू धनु केसव सोवलीउ बिठुलाई।
कर धरे चक्र वैकुण्ठ ते आये गज हस्तीके प्रान उधारीअले।
दुहसासनकी सभा द्रोपती अम्बर लेत उबारीअले।
गौतम नारि अहिलिया तारी पातिकि केतक तारीअले।
ऐसा अधमु अजाति नाम देउ तउ सरनागत आइअले॥'
(नामदेव, पदसख्या ३५)

'बाँधि मारि आव देहि जारि, जेह राम छाडौं तौ मेरे गुरुहि गारि।
तव काढि खड्ग कोप्यो रिसाइ, तोहि राखनहारन तोहि बताइ॥
सम्भामें प्रगट्यो गिलारि, हरनाकस मार्यो नख विदारि।
महापुरुस देवाधिदेव, नरसिंह प्रगट किये भगति भेष॥
कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलादि उबार्यो अनेक वार।'
('कबीर ग्रन्थावली', का० ना० प्र० स०)

भगवान्के अवतारोंके गुण-माहात्म्यका उल्लेख करनेमें निर्गुणियोंको आपत्ति नहीं दिखाई देती पर वे अवतारोंके प्रतिमापूजनका घोर विरोध करते हैं। कबीर कहते हैं–'कौन विचारि करत हो पूजा, आतम राम अवर नहिं दूजा।

बिन प्रतीनै पाती तोडै, ग्यान बिना देवलि सिर फोडै।
लुचरी लपसी आप सँवारै, द्वारै ठाढ़ा राम पुकारै।
पर-आतम जौं तत बिचारे, कहि कबीर ताकै बलिहारे॥
('कबीर ग्रन्थावली', पदसंख्या १३७)। —वि० मो० श०

अवदान–यह शब्द बौद्ध साहित्यमें विशेष प्रयुक्त हुआ है–जैसे दिव्यावदान। हिन्दीमें अवदान अंग्रेजी 'लीजेंड' शब्दके लिए प्रयोगमें आने लगा है। यह बौद्ध प्रयोगके अर्थको भी सुरक्षित किये हुए है। अवदान वह लोक-कहानी है जो किसी यथार्थ व्यक्ति, स्थान अथवा घटनासे सम्बन्ध रखती है और परम्परासे प्राप्त होती है। परम्परा द्वारा यथार्थ तथ्यके चारों ओर अन्य आकर्षक बातें लपेट दी जाती हैं। व्यक्ति सम्बन्धी अवदानोंमें विक्रमादित्य, राजा रसालू, गोपीचन्द जैसे व्यक्तियोंकी प्रचलित कहानियाँ आती हैं। इन अवदानोंमें कभी-कभी तो बहुत थोडा तथ्य ही रीढ़की भाँति होता है। कभी-कभी तो केवल नाम ही ऐतिहासिक रह जाता है, शेष समस्त कहानी लोकवार्तासे बनी होती है। जगदेव पँवारके अवदानमें बहुत-सी सामग्री लोकवार्तासे ली गयी है और विक्रमादित्य सम्बन्धी शतश कहानियोंमें विक्रमको छोड़कर और तथ्य मिलना असम्भव है।

अवदान और धर्मगाथाएँ यद्यपि भिन्न-भिन्न रूपकी लोकवार्ताएँ हैं, फिर भी कभी-कभी उनमें अन्तर करना कठिन हो जाता है। भीम, अर्जुनकी कहानियोंमें अवदान तत्त्व रहते हुए भी वे धर्मगाथाओंमें गिनी जाती हैं। जाहर पीरका ऐतिहासिक अस्तित्व सिद्ध है, पर देवी-देवताओंके संयोगसे वह अवदान कुछ-कुछ धर्मगाथाका रूप ग्रहण करने लगता है और उस सम्प्रदायके लिए तो वह है ही धर्मगाथा, क्योंकि उनके लिए जाहर पीर स्वयं देवता हैं।

स्थानीय अवदान किसी स्थानविशेषकी किसी भौगोलिक विलक्षणता या नामकी विलक्षणता या किसी रिवाजकी विलक्षणताका निरूपण करता है। भारतमें अनेक स्थानोंपर चरण-पहाड़ियाँ हैं। किसी पहाड़ीपर चरणके जैसा चिह्न देखकर, उसके सम्बन्धमें स्थानीय अवदान बन जाता है। भरतपुर राज्यमें चरण-पहाड़ीपर कृष्णके चरण माने जाते हैं, सीलोनमें आदमकी चोटीपर आदमके पैरकी छाप है। स्थानीय अवदानोंमें वे सभी किस्से आते हैं जिनमें दबे खजाने सर्प-रक्षित धनराशि, उजड़े नगरों और गाँवों, किसी योगीके कहनेसे चलनेवाली दीवार, अतल तालाब, देवताओं या विश्वकर्मा द्वारा बने हुए महल, दीवार आदि, वंशके मूल पुरुषकी कहानी आदि होती है। ये बातें भारतमें तो अनेक स्थानोंपर मिलेंगी ही, भारतके बाहर भी मिलेंगी। स्थानीय होते हुए भी जैसे ये व्यापक हों। —स०

अवधी–इस शब्दका अर्थ है अवधकी भाषा। अवध नामका सूबा भारतवर्षके मध्यकालीन शासनमें प्रसिद्ध था, इसके पूर्वके इतिहासमें यही प्रदेश कोशलके नामसे विख्यात था। इस प्रदेशमें प्राचीन कालसे जनसाधारण द्वारा कोसली प्राकृत-बोली जाती होगी और सम्भवतः शौरसेनी और मागधी प्राकृतके बीचकी प्राकृत अर्द्धमागधी भी इसी क्षेत्रकी भाषा रही होगी। भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे हिन्दीकी दो शाखाएँ हैं—(१) पश्चिमी हिन्दी और (२) पूर्वी हिन्दी। पूर्वी हिन्दीके अन्तर्गत अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी आती हैं। इनमें अवधी प्रमुख है। वर्तमान समयमें अवधी उत्तरप्रदेशकी दो कमिश्नरियों (लखनऊ और फैजाबाद)के जिलोंमें तथा फतेहपुर, इलाहाबाद, मीरजापुर और जौनपुरके कुछ भागोंमें बोली जाती है। बाबूराम सक्सेनाने 'अवधी भाषाका विकास' नामक अपने ग्रन्थमें अवधीकी बोलियोंके तीन समूह माने हैं–पश्चिमी अवधी, मध्यवर्ती अवधी और पूर्वी अवधी। हिन्दीके प्रसिद्ध ग्रन्थ गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' और मलिक मुहम्मद जायसीकृत 'पद्मावत' अवधीकी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हैं। वर्तमान समयमें अवधीमें विशेष साहित्य रचना नहीं होती। स्फुट कविताएँ, कहानियाँ और प्रहसन आदि मिलते हैं। ऑल इण्डिया रेडियोके लखनऊ, इलाहाबाद केन्द्रसे देहाती कार्यक्रम अवधी भाषामें प्रसारित किया जाता है।–बा० रा० स०

अवधूतिका–दे०–'हठयोग'।

अवमर्शसंधि–रूपककी पाँच सन्धियोंमें चौथी सन्धि। दशरूपककारने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है–'क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्। गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः॥' (१ ४३)। जहाँ क्रोध, व्यसन या लोभसे फल-प्राप्तिके सम्बन्धमें पर्यालोचन किया जाय और जहाँ गर्भसन्धिके द्वारा बीजको प्रकट कर दिया गया हो, वहाँ अवमर्शसन्धि होती है।

'मृश्' धातुमें 'अव' उपसर्ग तथा 'घञ्' प्रत्यय लगनेसे 'अवमर्श' शब्द बना। 'ल्युट्' प्रत्ययवाले अवमर्शनका जो अर्थ होता है वही अर्थ अवमर्शका भी है। दोनोंका शब्दार्थ है 'पर्यालोचन, विचार या विवेचन।' यहाँ फलप्राप्तिके सम्बन्धमें जो पर्यालोचन और विवेचन होता है उसके मूलमें लोभ, व्यसन या क्रोध होता है। जहाँ फलप्राप्तिके निश्चयका निर्धारण तथा गर्भसन्धि द्वारा प्रस्फुटित बीजसे सम्बन्ध-स्थापन किया जाय वहाँ जो पर्यालोचन होता है वह अवमर्शके नामसे अभिहित होता है। अवमर्शसन्धिको विमर्शसन्धि भी कहा जाता है। इसमें नियताप्ति और प्रकरीका सम्मिश्रण होता है, पर प्रकरीकी योजना वैकल्पिक होती है।

'चन्द्रगुप्त'में अवमर्शसन्धि वहाँसे दिखाई पड़ने लगती है जहाँ चन्द्रगुप्तके माता-पिता चाणक्यकी नीतिसे असन्तुष्ट होकर राज्य छोड़ देते हैं। चन्द्रगुप्तके उत्तर-प्रत्युत्तरसे चाणक्य भी कुपित होकर चला जाता है और पीछे चन्द्रगुप्तका परम मित्र सिंहरण भी गुरुकी खोजमें निकल पड़ता है। चन्द्रगुप्त एकाकी रह जाता है और कहता है—'पिता गये, माता गयी, गुरुदेव गये, कन्धेसे कन्धा भिड़ाकर प्राण देनेवाला सहचर सिंहरण गया तो भी चन्द्रगुप्तको रहना पड़ेगा।' इस प्रकार क्रोध, असन्तोषके कारण यह विपत्ति उत्पन्न हो गयी है। विमर्शसन्धिका यह उत्तम उदाहरण है। (डा० जगन्नाथ शर्मा 'प्रसादके नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन')।

अवमर्शसन्धिके सन्ध्यंग निम्नलिखित हैं–अपवाद, सम्फेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन और आदान।

इन सन्ध्यंगोंका प्रयोग प्रायः नहीं हुआ है। (दे०—'सन्धि') —व० सिं०

अवरोधहीन प्रदर्शनवाद–शैशवके इतिहाससे—क्योंकि

सामने विषमलिंगी वयस्क व्यक्तियोंका नग्न दर्शन प्रमुख महत्त्वका है। बच्चेके काम-विकासपर ऐसे दृश्योंका स्थायी प्रभाव-सा पड़ जाता है, कुछ मानसिक रोगोंके मूल कारण ऐसे अनुभव होते हैं। उदाहरणार्थ, paranoia रोगका रोगी सदा इस भ्रमसे भ्रमित रहता है कि कपड़े बदलते समय लोग उसके नग्न शरीरको देख लेते हैं। इसके विपरीत कुछ व्यक्तियोंमें दूसरे प्रकारकी विकृति हो जाती है और वे इस प्रकारके नग्न प्रदर्शनमें रस लेते हैं, ऐसे व्यक्तियोंको प्रदर्शनवादी कहते हैं। सामान्य व्यक्तियोंमें भी बहुतसे व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपनी विशेषताओंका, अपने गुणोंका अत्यधिक प्रदर्शन करते हैं। साहित्यमें भी बिना किसी अवरोधके प्रवृत्तियोंका प्रदर्शन प्रचलित हो गया है। प्रदर्शनवाद काफी सीमातक मनोविश्लेषणके प्रभावसे उत्पन्न माना जा सकता है। क्योंकि प्रवृत्तियोंके दमनसे स्नायविक, मानसिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं अत उनका अवरोधहीन प्रदर्शन ही व्यक्तिके विकासके लिए उचित है, यह धारणा प्रदर्शनवादके मूलमें है। —प्री० अ०

अवस्था—रूपककी समस्त रचनामें कार्य (दे०) कई अवस्थाओंमें दिखाई देता है। ये अवस्थाएँ पाँच होती हैं— आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। दशरूपककारने अवस्थाओंका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है— 'अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभि । आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमा ॥' (१.१९)। अर्थात् फलकी इच्छावाले नायकादिके द्वारा प्रारब्ध-कार्यकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं। पर अर्थप्रकृति और अवस्थाका भेद क्या है? अर्थप्रकृतिमें वस्तुको ध्यानमें रखते हुए स्थितियोंको विभाजित किया गया है और अवस्थामें नायकके कार्यको दृष्टिमें रखा गया है। —व० सिं०

अवहट्ट—यह एक भाषा-विशेषका नाम है। इस नामका संस्कृत अनुवाद अपभ्रष्ट है। अवहट्ट नाम स्पष्ट रूपसे विद्यापतिकी कीर्तिलताकी नीचे लिखी पंक्तिमें आता है— 'देशिल बयना सब जन मिट्ठा। तें तयसन जम्पओ अवहट्टा ॥' विद्यापतिने स्पष्ट ही यहाँ 'देशिल बयना' (देशी वचन) और अवहट्टको एक ही माना है और अनुमान है कि यह अवहट्ट विद्यापतिके समयमें प्रचलित साहित्यिक भाषा थी, जिसे जनसाधारण आसानीसे समझ सकते थे। यह अपभ्रंशसे भिन्न थी या यह अपभ्रंशका ही दूसरा नाम है, इस विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। कुछ लोग इसे वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाओंका पूर्वरूप तथा अन्य इसे अपभ्रंश ही मानते हैं। —आ० रा० म०

अवहसित—दे०—'हास्यरस'।

अवहित्था—प्रचलित ततीसमें एक सचारी भाव। स्वत विशद न होनेके कारण ही कदाचित् भरतने इस शब्दकी व्याख्या की है। 'अपने मुखकी भावव्यक्तिको छिपानेका नाम अवहित्था है।' अभिनवगुप्तने इसकी व्युत्पत्ति भी बतायी है, जिसका अनुकरण रामचन्द्र गुणचन्द्र एवं हेमचन्द्रने भी किया। इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'न बहिस्थ चित्त येनेति' अथवा चित्तका अन्तर्गत भाव बाहर व्यक्त न होनेसे अवहित्था होती है। भरतने उसके विभाव और अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे बताये हैं—'लज्जा, भय, पराजयकी महत्ता एवं चपलता इत्यादि विभावोंसे यह भाव उद्बुद्ध होता है। किसी दूसरी बातकी चर्चा करना, अन्य दिशामें देखना, बीचमें बात काटना, कृत्रिम धैर्यका प्रदर्शन करना इत्यादि अनुभावोंसे इसकी अभिव्यक्ति होनी है।' (ना० शा० ७ ८० ग)।

स्वभावकी वक्रताकी व्याख्या 'नाट्यदर्पण'में सुन्दर रूपसे हुई है। वहाँ कहा गया है कि प्रगल्भता होनी आवश्यक है, उसके बिना अपने भावोंको छिपाया नहीं जा सकता (ना० द० ३ १४८)। विश्वनाथने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भाव चाहे हर्षका हो चाहे अन्यथा, किसी भी प्रकारके भावका गोपन अवहित्थामें होता है—'भयगोरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्ति ।' (सा० द० .३ १५८)। हिन्दीके आचार्य देवके लक्षणमें इसकी छाया है—'लज्जा गौरव धृष्टता, गोपे आकृति कर्म्म। और कहै औरै करै ' (भाव० सचारी)। अन्योंने प्राय —'जो जहँ करि कछु चातुरी, दशा दुराव आय।' (जगत० ५०६)के अनुसार चतुराईसे स्थितिके छिपानेको महत्त्व दिया है।

'दशरूपक'में धनिकने 'कुमारसम्भव'से निम्नलिखित उदाहरण दिया है— एववादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी। लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।' इसी उदाहरणको अवहित्थाके प्रसगमें हेमचन्द्रने 'काव्यानुशासन'में (२ पृ० १०८) एव विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में दिया है (सा० द० ३ १५८)। इसीका हिन्दी रूपान्तर है—'सुनि नारदकी बात, तात निकट है नमितमुख। उमा कमलके पात, कर उठाय गिनवे लगी।' (र० म० पृ० १४४)। जब पार्वतीने नारद द्वारा शिवके गुणोंका श्रवण किया तो उन्हें हर्ष हुआ, पर उस हर्ष को उन्होंने व्यक्त न होने देनेके लिए अपना मुख नीचा कर लिया और कमलदल गिनने लगीं। यहाँपर अवहित्थाका भाव व्यक्त है। यहाँ लज्जाके कारण यह मनोवेग उद्बुद्ध हुआ है। देवका नायक लज्जावश बात छिपाता है—'पीछे निहारि निहारत नारिन हार हियेके सुधारन लागे।' (भाव० सचारी)। —ज० कि० व०

अवतारवस्तुवक्रता—दे०—'प्रकरणवक्रता', मानवा नियामक।

अवाचक—दे०—'शब्द-दोष', आठवा 'पद-दोष'।

अविकृतपरिणामवाद—अविकृतपरिणामवाद एक प्रकारका ब्रह्मपरिणामवाद है। सांख्यमें प्रकृतिपरिणामवाद है और वैष्णववेदान्तोंमें ब्रह्मपरिणामवाद। परिणामवादका अर्थ यह है कि जगत् और जीव किसी मूलभूत तत्त्वके परिणाम या विकार हैं, अर्थात् उससे ही उत्पन्न या नि सृत है। यह मूलभूत तत्त्व क्या है? सांख्य इस प्रश्नका उत्तर देता है कि यह जड प्रकृति है। वेदान्त उत्तर देता है कि यह ब्रह्म है। इस कारण सांख्यका सिद्धान्त प्रकृतिपरिणामवाद कहा जाता है और वेदान्तका ब्रह्मपरिणामवाद। ब्रह्मपरिणामवादके भी कई प्रकार हैं। शकरका मत है कि ब्रह्मका वस्तुत परिणाम नहीं होता है। परिणाम होनेपर ब्रह्म परिणामी या परिवर्तनशील हो जायगा और तब वह कहा नित्य-पूर्ण सत् रह सकता है? इसलिए उन्होंने ब्रह्मविवर्तवादको माना अर्थात जीव और जगत् ब्रह्मके विवर्त हैं अर्थात् मायामय परिणाम हैं। पर इस मतमें ब्रह्मकी निर्विकारता तो बनी रह गयी लेकिन जीवजगतकी मिथ्यात्वता

सिद्ध हो गया। यह रामानुजको मान्य न हुआ। उन्होंने ब्रह्मकी निर्विकारता और जीवजगत्की सत्यता, दोनोंको मानते हुए ब्रह्ममें ही अचेतन प्रकृति और चेतन जीवोंको गुणभूत माना। बारीकीसे देखनेपर इस मतमें ब्रह्ममें विकार आ गया क्योंकि उसके अन्दर जीवों और जडवस्तुओंकी सत्ता स्वीकार कर ली गयी। इसका परिहार करनेके लिए मध्वाचार्यने ब्रह्मको केवल निमित्त कारण माना और प्रकृतिको जगत्का उपादान कारण माना। इस मतमें यद्यपि ब्रह्मकी निर्विकारता और जीवजगत्की सत्यता, दोनों सुरक्षित हैं, पर ब्रह्ममें एक भारी दोष आ गया है। वह दोष यह है कि ब्रह्म ब्रह्म अर्थात् निरपेक्ष नहीं रह गया, वह प्रकृतिसापेक्ष बन गया, अद्वितीयसे सद्वितीय बन गया। इस दोषको दूर करते हुए निम्बार्कने प्रकृतिको ब्रह्मकी शक्ति ही माना। शक्ति ब्रह्मसे भिन्न-भिन्न है। जगत्की उत्पत्तिसे ब्रह्मकी निर्विकारतामें व्याघात नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् शक्तिका परिणाम (शक्तिविक्षेपलक्षणपरिणाम) है, ब्रह्मका स्वरूपपरिणाम नहीं। इस मतमें भी जगत्की सत्ता वस्तुत ब्रह्मकी सत्ताका विक्षेपमात्र ही रहती है। इस कारण जगत्को वास्तवमें अनित्य और अपदार्थ ही कह दिया गया।

इस प्रकार जीवजगत्की चरम सत्यता और ब्रह्मकी निर्विकारता तथा निरपेक्षता दोनोंको सिद्ध करनेके लिए उक्त सभी मत अपर्याप्त है। वल्लभाचार्यने इन दोनों बातोंकी पर्याप्त प्रामाणिकताको स्वीकार किया। ब्रह्म एक और निरपेक्ष, अद्वीतीय, निर्विकार, अविपरिणामी या कूटस्थ है तो दूसरी ओर जीव भी नित्य सत् है और उसी ब्रह्मके परिणाम है। यह विचित्र परिणाम है, क्योंकि इसमें ब्रह्म विकृत नहीं होता, वह अविकृत अर्थात् सदा निर्विकार रहता है। श्रुतियोंने इसी अविकृतपरिणामवादका समर्थन किया है, क्योंकि उन्होंने बताया है कि जगत् और जीव ब्रह्मके वैसे ही अविकृत परिणाम है जैसे कि स्वर्णके अलकार सोनेके, या मिट्टीके बर्तन मिट्टीके, न कि जैसे दही दूधका विकृत परिणाम है। वल्लभने श्रुतियोंके प्रमाणपर ब्रह्मको सत्, चित्, आनन्द माना और कहा कि जगत् सत्का आविर्भाव है, जीव सत् और चित्का आविर्भाव है और ईश्वर सच्चिदानन्दका आविर्भाव है। इस प्रकार ब्रह्मके ही अविकृत परिणाम ईश्वर, जीव और जगत् है। चैतन्य महाप्रभुने भी इसी अविकृतपरिणामवादका समर्थन किया और कहा कि अपनी अचिन्त्य शक्तिके बलसे ब्रह्म परिणत होता हुआ भी अपरिणामी ही रहता है। अविकृतपरिणामवादके कारण वल्लभने माना कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंमें त्वपदार्थ और तत्पदार्थकी, जीव और ब्रह्मकी, अभिन्नता अभिधा द्वारा ही सिद्ध है, लक्षणा द्वारा नहीं जैसा कि शकराचार्यका मत है। इस प्रकार इस सिद्धान्तसे वल्लभने मायावाद या विवर्तवादको बिलकुल उखाड फेंका और शुद्धाद्वैतवादकी स्थापना की।

यदि केवल श्रुतियोंको ही प्रमाण माना जाय तो वल्लभाचार्यका मत शत-प्रतिशत ठीक है। श्रुतियाँ अविकृतपरिणामवादको ही सिद्ध करती है। पर तर्ककी कसौटीपर अविकृतपरिणामवाद ठहर नहीं सकता है। सत्, चित् और आनन्द तीनोंके पृथक् पृथक् आविर्भाव क्यों होते है? यदि ये इस प्रकार पृथक् है तो ब्रह्मकी शुद्ध अद्वैतता कहाँ रह गयी? फिर परिणामसे परिणामीमें कुछ विकार आ ही जाता है, चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो। यदि विकार नहीं आता, परिवर्तन नहीं होता, तो फिर परिणामका महत्त्व ही क्या रह जाता है? तब तो परिणाम अपरिणाम हो गया। अत अविकृतपरिणामवाद वस्तुत अपरिणामवाद ही है और इस अर्थमें ही शकराचार्यके मतसे तनिक भी भिन्न नहीं प्रतीत होता। पर जहाँ शंकराचार्य इसे तर्कत अपरिणाम या विवर्त कहते हैं, वहाँ वल्लभ इसे परिणामवाद ही कहते हैं। इस तरह अविकृत परिणामवादमें वदतोव्याघात है।

पर वल्लभ और उनके अनुयायी तर्क या बुद्धिकी परवाह नहीं करते। वे श्रुतिप्रमाणको सर्वोपरि प्रमाण मानते हैं, चाहे वह वदतोव्याघात ही क्यों न हो, और इस प्रकार उनका मत दार्शनिक न होकर वास्तवमें धर्मशास्त्रीय ही रह जाता है।

जीव और ब्रह्म तथा जगत् और ब्रह्मके सम्बन्धोंको समझाते हुए हिन्दीके सन्त कवियोंने ऐसे उदाहरण दिये है जो अविकृतपरिणामवादका समर्थन करते प्रतीत होते है, पर उन्होंने प्राय अविकृतपरिणामवाद और विवर्तवादको एकमेक कर दिया है। वल्लभाचार्यकी परम्पराके सूर आदि सन्तोंने अविकृतपरिणामवादको मानते हुए भी जीव या जगत्को ब्रह्मसे भिन्न रखा है। उन्होंने इसको रामानुजीय ब्रह्मपरिणामवादसे जोड दिया है। बुद्धिसे अविकृतपरिणामवादका समर्थन नहीं हो सकता और हृदयसे भी ब्रह्म और साधनमें भेद माननेके लिए अविकृतपरिणामवादके स्थानपर द्वैतवाद मानना पडता है, क्योंकि अविकृतपरिणामवादके अनुसार शुद्ध अद्वैतवादका ही मेल बैठ सकता है। इस प्रकार मानते हुए भी ब्रह्मको कूटस्थ, नित्यनिरंजन या निर्विकार माना गया है। इससे लगता है कि चैतन्यके अचिन्त्य अविकृतपरिणामवादका ही समर्थन प्राय हिन्दीके सन्तोंने अधिक किया है। —स० ला० पा०

अविचल आलोचनाप्रणाली—अँग्रेजीमें इसका समानार्थी शब्द 'स्टैटिक' है, जिसका अर्थ होता है स्थिर, अचल। इसी शब्दसे 'स्टैटिक्स' बना है, जिसका अर्थ उस विज्ञानसे होता है जो गतिमें किसी भी प्रकारके परिवर्तनको रोकता है। इस प्रकार इन दोनों ही समानार्थी शब्दोंकी मूल आत्मा 'स्थिरता' है।

चिन्तनके क्षेत्रमें दो प्रकारकी धाराएँ स्पष्ट दिखाई पडती है। एकका मन्तव्य है कि सृष्टिमें जो कुछ भी घटित होता रहता है, परिवर्तन होता रहता है, जिसे हम नूतनता, नवीनताकी सज्ञा देते है वह सब मूलत सृष्टिके मूल तत्त्वोंका ही प्रतिफल है। इसलिए जो कुछ भी प्राचीन और पुरातन है, वही वस्तुत सत्य, शाश्वत और चिरन्तन है। और हमें उन्हीं मूल तत्त्वोंको पकडे रहना चाहिये। दूसरी कोटिका चिन्तन यह घोषित करता है कि सृष्टि निरन्तर विकसित होनेवाली एक सस्था है। परिवर्तन ही विकासका नियम है इसलिए जो कुछ भी घटित होता रहता है वह सब पुराना है, पिछला है। इसलिए मूलरूपमें कहीं कुछ नहीं है।

साहित्यके क्षेत्रमें चिन्तनकी ये दोनों धाराएँ काम

करती है। साहित्यके सम्बन्धमें कुछ आलोचकोंका ऐसा मत है कि साहित्यके मूल तत्त्व जीवनके मूल तत्त्वकी भाँति एक है तथा चिरन्तन और शाश्वत है। इसलिए साहित्यका रूप-परिवर्तन जितना भी हो, किन्तु आत्माकी भाँति साहित्यके मूल तत्त्व अपरिवर्तनशील है। इनका आग्रह है कि साहित्यका मापदण्ड इन्हीं मूलगत तत्त्वोंको मानना चाहिये। साहित्यका मूल रूप अविचल है और इसीलिए साहित्यकी आलोचनाके मानदण्ड भी स्थिर हैं, अविचल हैं।

यूरोपमें ग्रीक आलोचकोंका चिन्तन युगोंतक 'सत्य'-के रूपमें ग्रहण किया गया। प्लेटो, अरस्तू, हॉरेस आदि चिन्तकोंको अपना आदर्श मानकर लोगोंने साहित्यके मानदण्ड स्थिर किये। नीति, धर्म आदिको सर्वोपरि मानते हुए उस युगमें आलोचकोंने काव्यको मधुर विषके रूपमें तथा बुद्धिको विनाश करनेवाली वस्तुओंमें माना। बोथियस-ने यह माना कि काव्य-देवियाँ मनुष्यको मधुर विष पिलाती हैं। सेण्ट ऑगस्टाइनने साहित्यके सुखको राक्षसी सुख बतलाया। स्पष्टत ये चिन्तन, नीति, मर्यादा, आदर्श, धर्मका अवलम्ब लेते हैं। ऐसे ही आलोचकोंने शेक्सपीयरको पागल करार दिया था। उसके पात्रोंको विकृत, मनुष्यका विघटित-रूप मानते हुए उनकी सर्वथा उपेक्षा की थी, परन्तु ध्यान देनेकी बात है कि पाश्चात्य जगत्में पुनरुत्थान-कालके पहले-पहले ही इस चिन्तनपद्धतिको आश्रय मिला।

संस्कृत-साहित्यकी आलोचनामें यह सिद्धान्त बहुत आसानीसे देखा जा सकता है और इसके मतानुयायी भी प्रचुर मात्रामें पाये जाते हैं। संस्कृतके समस्त चिन्तनोंका धरातल, आधार है—शरीर और आत्मा, रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति। रसको आत्मा मानते हुए आचार्यों-ने उसीको प्रधान माना। इन लोगोंने यह स्वीकार किया कि साहित्यका मूल तत्त्व रस, आत्माकी तरह अखण्डित, अविभाजित है तथा ब्रह्मकी भाँति इसका स्वरूप अविचल है।

हिन्दीमें स्वतन्त्र चिन्तनका सर्वथा अभाव रहा है। फलत संस्कृत अथवा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रका अवलम्बन लिया गया। इसलिए हिन्दी आलोचना-क्षेत्रमें रससिद्धान्तके पोषक तो मिलेंगे, किन्तु उनका अपना स्वतन्त्र चिन्तन नहीं मिलेगा, बल्कि अनुकरण ही उपलब्ध होगा। हिन्दीका पूरा रीति-साहित्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है। केशवदास, चिन्तामणि, दास, देव, बिहारी, आदि इसके अच्छे दृष्टान्त हैं। —रा० कु० स०

अविमृष्ट—दे०—'शब्ददोष', पन्द्रहवाँ 'पद-दोष'।

अविवक्षित वाच्यध्वनि—ध्वनिके दो प्रधान भेदोंमेंसे एक। इस ध्वनिमें वाच्यार्थ अनुपयोगी होनेके कारण अविवक्षित—अवांछनीय—रहता है, क्योंकि यह लक्षणापर आधारित रहता है। इसीलिए इसे लक्षणामूला ध्वनि भी कहते हैं। इस ध्वनिमें केवल प्रयोजनवती लक्षणा रहती है, रूढा नहीं रहती, क्योंकि रूढा लक्षणामें व्यंग्यार्थ अत्यन्त स्पष्ट होनेके कारण महत्त्वहीन हो जाता है और वह होते हुए भी न होनेके बराबर होता है। अविवक्षित वाच्य-ध्वनिके दो भेद होते हैं—१ अर्थान्तरसंक्रमित, २ अत्यन्त तिरस्कृत। पहले भेदका मूलाधार उपादान तथा दूसरेका लक्षितलक्षणा होती है। इन दोनोंके पदगत तथा वाक्यगत भेदोंकी दृष्टिसे अविवक्षित वाच्यध्वनिके कुल चार भेद होते हैं। —उ० ना० शु०

अव्यपेत यमक—दे०—'यमक'।

अशोकी प्राकृत—महाराज प्रियदर्शी अशोकने अपने राज्यकालमें कुछ अभिलेख शिलाओं, स्तम्भों और गुफाओंमें प्रचारार्थ लिखवाये थे। इनकी भाषा प्राकृत है और इस प्राकृतका नाम विद्वानोंने अशोकी प्राकृत रखा है। ये अभिलेख भारतवर्षके सभी कोनोंमें पाये जाते हैं। पूरबमें धौली और जौगढ, उत्तर-पश्चिममें शहबाजगढी और मानसेहरा, उत्तरमें देहरादूनके पास कालसी, पश्चिममें सौराष्ट्रमें गिरनार तथा दक्खिनमें मैसूर प्रदेशमें ये अभिलेख मिलते हैं। विद्वानोंका मत है कि इन लेखोंका मूल पाठ पाटलिपुत्रमें उस समय प्रचलित मागधी भाषाके किसी रूपमें रहा होगा और अभिलेखोंके क्षेत्रकी दृष्टिसे उस भाषामें क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक संशोधन कर लिये गये होंगे। उदाहरणके लिए, गिरनार और धौलीके शिलालेखोंका विषय एक ही है, पर भाषा यथेष्ट भिन्न है। एकाध बातमें अशोकी प्राकृत उपलब्ध पालि भाषासे भी प्राचीन है। उदाहरणके लिए, शहबाजगढी और मानसेहराके अभिलेखोंमें मूर्धन्य ष प्राप्त है, जिसका पालिमें नितान्त अभाव है। इन अभिलेखों-में तिथियाँ पड़ी हुई हैं (यथा—महाराज अशोकके अभिषेकसे बारहवें वर्षमें लिखाया गया)। भारतीय आर्य-भाषाओंकी सामग्रीमें अशोकी प्राकृतका इसीलिए बड़ा महत्त्व है, क्योंकि यही निश्चित तिथिवाली सामग्री है। महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि प्राकृतोंसे अशोकी प्राकृत काफी पुरानी है। —बा० रा० स०

अश्राव्य—संवादके विचारसे कथावस्तुके तीन भेदोंमेंसे यह एक है। यदि कहनेवाले पात्रके अतिरिक्त अन्य कोई पात्र उसकी उक्ति न सुन सके तो वह अश्राव्य (किसी भी अन्य पात्रके सुनने लायक नहीं) है। इसे 'स्वगत' भी कहते हैं। प्रसादके नाटकोंमें बहुत-सी स्वगतोक्तियाँ पायी जाती हैं।

आधुनिक नाटकोंके लिए 'स्वगत' दोष माना जाता है। 'स्वगत' कथनकी कृत्रिमता इसीसे प्रकट है कि रंगमंचपर उपस्थित पात्र सुनी हुई बातको अनसुनी करते हुए मान लिये जाते हैं। लेकिन तारीफ यह है, जब कि रंगमंचपर उपस्थित पात्र अन्य पात्रके स्वगतको नहीं सुन पाते, रंगशालामें बैठे हुए सामाजिक उसे सुन लेते हैं। इसकी अमनोवैज्ञानिकताको देखते हुए आधुनिक नाटककारोंने इसे रंगमंचोपयुक्त नहीं समझा है। स्वयं 'प्रसाद'ने अपने 'विशाख' नाटकमें स्वगतपर व्यंग्य करते हुए महापिंगलसे कहलाया है, 'जैसे नाटकोंके पात्र स्वगत जो कहते हैं वह दर्शक समाज या रंगमंच सुन लेता है, पर पासका खड़ा पात्र नहीं सुन सकता। उनको भरत बाबाकी शपथ है।' फिर भी प्रसादके नाटकोंमें स्वगतोक्तियोंकी भरमार है (दे०—'चन्द्रगुप्त', प्रथम संस्करण, पृ० १७, ३५, ११३)। —द० सि०

अश्रु—दे०—'सात्त्विक अनुभाव', सातवाँ।

अश्लील—दे०—'अर्थ-दोष', सत्रहवाँ तथा 'शब्द-दोष', नवाँ 'पद-दोष'।

अष्टक—दे०—'मुक्तक काव्य'।

अष्टछाप—पुष्टिमार्गके संस्थापक महाप्रभु वल्लभाचार्यके

चार और उनके पुत्र विट्ठलनाथके चार प्रधान शिष्य क्रमश कुम्भनदास (१४६८-१५८२), सूरदास (१४७८-१५८०-८५), कृष्णदास (१४९५-१५७५-८१), परमानन्ददास (१४९१-१५८३) तथा गोविन्ददास (१५०५-१५८५), छीतस्वामी (१४८१-१५८५), नन्ददास (१५३३-१५८६) और चतुर्भुजदास (१५४०-१५८५) 'अष्टछापकवि'के नामसे प्रसिद्ध हैं। सम्प्रदायके इष्टदेव श्रीनाथजीके अत्यन्त निकटवर्ती ये कवि कीर्तनकार सखाभावसे उनकी प्रेमभक्तिमें अनुरक्त थे। ये आठों भक्त कवि इतने सिद्ध, परम 'भगवदीय' माने जाते थे कि वे श्रीनाथजीके अष्टसखा भी कहे गये हैं। इन कवियोंका रचनाकाल सन् १५००से १५८६ तक अनुमान किया गया है।

सन् १४९२ में गोवर्धनपर श्रीनाथजीका प्राकट्य हुआ। तभी महाप्रभु वल्लभाचार्यने व्रजमें पहली बार आकर उन्हें गोवर्धनके एक छोटे मन्दिरमें प्रतिष्ठित किया। उसी समय गोवर्धनके निकट जमुनावतो गाँवके निवासी गोरवा क्षत्रिय कुम्भनदास उनकी शरणमें आये। महाप्रभुने उन्हें दीक्षा देकर श्रीनाथजीकी कीर्तनसेवामें नियुक्त किया। जब वे दूसरी बार व्रज आये तब अम्बालाके सेठ पूरनमलके दानके फलस्वरूप सन् १४९९ ई० में श्रीनाथजीके बडे मन्दिरकी नींव पडी। अपनी तीसरी व्रज-यात्रामें आगरा और मथुराके बीच गऊघाटपर सन्यासी वेशमें रहनेवाले सूरदास नामक भक्तको उन्होंने शरणमें लिया और अपने साथ उन्हें श्रीनाथजीके मन्दिरमें ले जाकर कीर्तनकी सेवामें लगाया। इसी अवसरपर सन् १५०९ मे श्रीनाथजीकी मूर्ति नवीन मन्दिरमें स्थापित की गयी और गुजरातके एक ग्रामीण शूद्र कुनबी परिवारके कृष्णदास भी इसी वर्ष शरणमें आये। नवीन मन्दिरमें स्थापित होनेके बाद भी कीर्तनकी सेवा सबसे पहले कुम्भनदासको ही सौंपी गयी थी। जगन्नाथ-पुरीकी यात्रामें चैतन्य महाप्रभुसे भेंट करनेके बाद जब वल्लभाचार्य अनुमानत १५१९ मे अपने स्थायी निवास-स्थान अडैल पहुँचे तो उन्होंने कान्यकुब्ज परमानन्द स्वामी नामक एक प्रसिद्ध कवि-कीर्तनकारको स्वप्न देकर अपनी ओर आकृष्ट किया और अपने सम्प्रदायमें दीक्षित किया।

महाप्रभु वल्लभाचार्य सन् १५३० में गोलोकवासी हुए। अब उनके बडे पुत्र गोपीनाथ पुष्टिमार्गके आचार्य-पदपर प्रतिष्ठित हुए। परन्तु आठ वर्ष बाद १५३८ में उनका भी गोलोकवास हो गया। उनके पुत्र पुरुषोत्तमका देहावसान पहले ही हो चुका था। अत उनके छोटे भाई विट्ठलनाथ आचार्य-पदके अधिकारी हुए। उन्होंने बडी योग्यतापूर्वक सम्प्रदायका सगठन किया। १५६६ ई०में वे अडैल छोडकर व्रजमें स्थायी रूपसे रहने लगे। इसी वर्ष उन्हें सम्राट् अकबरसे एक फरमान (आज्ञापत्र) प्राप्त हुआ जिसके अनुसार गोकुलकी भूमि उन्हें माफीमें प्रदान की गयी। इसके बाद भी उन्हें सम्राट्की ओरसे निर्भयपूर्वक बसने, गाएँ चराने तथा उनके इलाकेमें पूज्य पशु-पक्षियोंकी हत्याके निषेध-सूचक कई फरमान मिले। श्रीनाथ-जीके मन्दिरमें उन्होंने सेवा-व्यवस्थाकी निश्चित और दृढ परम्परा डाली। दैनिक आठ सेवाओं तथा वार्षिक व्रतोत्सवों-की व्यवस्था करके उन्होंने सम्प्रदायके प्रचार तथा साहित्य, संगीत और प्रसाधन-कलाओंकी उन्नतिमें अपूर्व योग दिया। उन्होंने ही अपने पिता और स्वय अपने सैकडों शिष्योंमेंसे उपर्युक्त आठ 'परम भगवदीय' और काव्यप्रतिभासम्पन्न भक्तोंको छाँटकर उन्हें 'अष्टछाप' नामसे प्रतिष्ठित किया। सम्प्रदायके हितमें विट्ठलनाथकी यह सबसे महत्त्वपूर्ण सेवा कही जा सकती है, क्योंकि इन विशेष रूपसे सम्मानित आठ भक्त कवियोंके द्वारा पुष्टिमार्गीय भक्तिका जितना प्रचार हुआ, उतना किसी अन्य साधनसे सम्भव नहीं था।

अष्टछापके भक्त कवि विभिन्न जातियों और वर्गोंके थे। परमानन्ददास कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तो कृष्णदास शूद्र, कुम्भनदास किसान थे और प्रधान कीर्तनकारके पदपर होते हुए भी वे बराबर खेती करके ही अपने परिवारका भरण-पोषण करते रहे। सूरदासकी जाति क्या थी यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग उन्हें सारस्वत ब्राह्मण और कुछ अन्य ब्रह्मभट्ट सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं। स्वयं वे अपनी जातिके विषयमें पूर्ण रूपसे उदासीन थे। विट्ठलनाथके शिष्योंमें चतुर्भुजदास कुम्भनदासके पुत्र थे जो अपने पिताकी तरह निरन्तर कृषक जीवन बिताते रहे। गोविन्ददास सनाढ्य ब्राह्मण थे, परन्तु पारिवारिक बन्धन छोडकर सन्यासी बन गये थे और इसी रूपमें गोसाईंजी-की शरणमें आये थे। छीतस्वामी पुरोहित-वृत्तिवाले मथुरा-के चौबे थे और जीवनपर्यन्त गृहस्थ बने रहे। नन्ददास सनाढ्य ब्राह्मण जातिके थे, परन्तु उनके जीवनके सम्बन्धमें बहुत कम उल्लेख मिलता है। भक्तिके मार्गमें ऊँच-नीचका भेदभाव नहीं होता यह बात अष्टछापकवियोंसे पूर्णतया प्रमाणित होती है।

'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता'में वर्णित इन भक्त कवियोंकी जीवन-घटनाओंसे सम्प्र-दायकी भक्तिके सम्बन्धमें बडी रोचक और महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। सम्प्रदायमें दीक्षित होनेके पूर्व इनमें कई भक्तोंका जीवन अत्यन्त हीन कोटिका था। सूरदासके विषयमें जो किंवदन्ती है कि वे किसी स्त्रीपर मुग्ध थे और उसीसे उन्होंने अपनी आँखें फोडवा ली थीं, वार्तामें सम-र्थित नहीं है, अत उसे अष्टछापी सूरदासके विषयमें प्रामा-णिक नहीं माना जाता। परन्तु प्रारम्भिक तरुणावस्थामें इस प्रकारका रसिकहृदय होना सूरदासके विषयमें अकल्प-नीय नहीं है। कृष्णदासके चरित्रमें गुणों और अवगुणोंका अद्भुत मिश्रण था। १२, १३ वर्षकी अवस्थामें अपने पिताकी चोरीके अपराधको गाँवके मुखियाके सामने प्रकट कर देनेके कारण ये घरसे निकाल दिये गये थे। इधर-उधर भ्रमण करते हुए वे व्रज पहुँचे और वल्लभाचार्य द्वारा सम्प्रदायमें दीक्षित हुए। अपनी योग्यता और प्रबन्धकुशलताके बलपर उन्नति करते-करते वे श्रीनाथजीके मन्दिरके अधिकारी बन गये। उन्होंने ही अपने कौशल और बलके प्रयोगसे श्रीनाथ-जीके मन्दिरपरसे बगालियोंका प्रभाव दूर किया। एक बार उन्होंने स्वयं विट्ठलनाथसे मन्दिरकी सेवाका अधिकार छीन लिया था। कृष्णदासकी चरित्र सम्बन्धी दुर्बलताओंके भी वार्तामें कुछ उदाहरण दिये गये हैं। उनका अभिप्राय यही है कि भगवानकी शरणमें जाकर उनकी कृपासे पतित और

हीन-चरित्र व्यक्तिका भी उद्धार हो जाता है। नन्ददास भी दीक्षित होनेके पूर्व किसी स्त्रीके अनुचित प्रेममें फसे थे। तात्पर्य यह कि ये 'परम भगवदीय' पद पानेवाले भक्त अत्यन्त साधारण, सहज मानवीय दुर्बलताओंसे युक्त व्यक्ति थे। कृष्णकी भक्ति ऐसे सर्वसाधारण जनके लिए पारस मणिके समान आविष्कृत हुई थी।

इन भक्तोंके सम्प्रदाय-प्रवेशकी घटनाओंसे विदित होता है कि कमसे कम सूरदास, परमानन्ददास, गोविन्दस्वामी और नन्ददासको सम्प्रदायमें सम्मिलित करनेके लिए उनके दीक्षा-गुरु भी उतने ही उत्सुक थे जितने कदाचित् वे स्वय। गऊघाटपर सूरदाससे भेंट होनेपर वल्लभाचार्य उनकी आशु कविप्रतिभा और मधुर पद-गायनपर मुग्ध हो गये थे। उन्होंने सूरदासको भागवतकी सम्पूर्ण अनुक्रमणिका सुनायी। सूरदासने उसे और वल्लभाचार्यकी 'सुबोधिनी'-में प्रदर्शित भागवतके अभिप्रायको तुरन्त समझ लिया। ज्यों-ज्यों वल्लभाचार्य माहात्म्य-ज्ञान-युक्त प्रेमभक्तिका रहस्य बताते गये, त्यों-त्यों सूरदास उसे हृदयगम कर पदोंमें गाकर उन्हें सुनाते गये। उसके बाद सूरने श्रीकृष्णकी लीलाका जो हजारों पदोंमें गायन किया उसे पुष्टिमार्गने शास्त्रके रूपमें प्रमाणकोटिकी मान्यता प्रदान की। कहा जाता है कि 'सूरसागर'के द्वारा पुष्टिमार्गका जितना विशद परिचय प्राप्त होता है उतना अन्य किसी एक स्रोतसे सम्भव नहीं है। आश्चर्य यह है कि सूरदासने प्रत्यक्षत पुष्टिमार्गीय भक्ति-पद्धतिपर कुछ भी नहीं लिखा, यहाँतक कि उन्होंने अपने गुरुकी प्रशसामें भी पदरचना नहीं की, जब कि उनके सहयोगी कुम्भनदास आदिने इस विषयके अनेक पद रचे हैं। वास्तविकता यह जान पड़ती है कि सूरदासके काव्यकी उत्कृष्टता और प्रचुरतासे ही आकर्षित होकर सम्प्रदायने उन्हें इतने आदरसे अपनाया है। परमानन्ददास भी सूरदासकी तरह बाल्यावस्थासे ही विरक्त होकर भगवद्-भजनमें जीवन बिताने लगे थे। इनके अनेक शिष्य हो गये थे और ये भी सूरकी तरह स्वामी कहलाते थे। एक बार जब ये मकरस्नानके लिए प्रयाग गये तो वहाँ इनकी पद-रचना और कीर्तनोंकी धूम मच गयी। वल्लभाचार्यने इनकी ख्याति सुनकर उन्हें स्वप्नमें अडैल जानेको प्रेरित किया और दीक्षा देकर सम्प्रदायकी सेवामें लगाया। परमानन्द-दासको भी वल्लभाचार्यने उसी प्रकार बाललीलाका माहात्म्य समझाया था जिस प्रकार सूरदासको। परमानन्द-दासकी काव्य-रचना परिमाण और गुण, दोनोंमें सूरदासके बाद ही आती है। गोविन्ददास भी गृहस्थीसे विरक्त होकर भक्तिमें रम गये थे। सम्प्रदायमे सम्मिलित होनेके पूर्व भी वे व्रजमें ही आकर रहने लगे थे। उनकी गान-विद्या तथा पद-रचनाकी ख्याति चारों ओर फैल गयी, उनके अनेक सेवक हो गये और वे गोविन्दस्वामी कहलाने लगे। गोसाईं विट्ठलनाथ भी उनके पद सुना करते थे और उनकी इच्छा थी कि वे सम्प्रदायमें सम्मिलित हो जाय। गोविन्दस्वामी-का मन भी धीरे-धीरे गोसाईंजीकी ओर आकृष्ट हुआ। एक दिन यमुना घाटपर उन्होंने गोसाईंजीको सन्ध्या-वन्दन करते हुए देखकर आश्चर्य प्रकट किया कि भक्तिमार्गमें यह कर्मकाण्ड कैसा! गोसाईंजीने कर्म और भक्तिका सम्बन्ध बताकर उनकी शका दूर की तथा उनकी प्रार्थनापर उन्हें सम्प्रदायकी दीक्षा दी। कदाचित् गोविन्दस्वामी पहले मर्यादावादी भक्त थे, गोसाईंजीको कर्मकाण्डका समर्थन करते देख वे उनसे प्रभावित हुए और पक्के वैष्णव बन गये। गोविन्दस्वामीसे वे गोविन्ददास हो गये। नन्ददासको तो गोसाईंजीने स्वय उस क्षत्रीके द्वारा बुलवाकर दीक्षा दी थी जिसकी स्त्रीके रूपपर आसक्त होकर वे कुरुक्षेत्रसे मथुरातक उसके पीछे-पीछे लगे आये थे और नाविक द्वारा यमुना पार न करनेके कारण यमुनाके उसी ओर रुककर यमुना-स्तुति रचने लगे थे। सम्प्रदायमें सम्मिलित होकर नन्ददासका लौकिक प्रेम तो श्रीकृष्णके प्रेममें परिणत हो ही गया, पुष्टिमार्गका भी बहुत उपकार हुआ।

वार्ताओंसे सूचित होता है कि ये भक्त कवि सासारिक जीवनमें पूर्ण निर्द्वन्द्व और निस्पृह थे। सूरदासके विषयमें तो प्रसिद्ध है कि उन्होंने छ वर्षकी अवस्थामें ही घर-बार छोड़ दिया था। पहले एक तालाबके किनारे कुटी बनाकर रहने लगे थे, परन्तु जब वहाँ भी माया जुड़ने लगी तो उसे छोडकर मथुरा आये, मथुरामें भी इसलिए नहीं रहे कि कहीं चौबोंकी वृत्तिहानि न होने लगे। श्रीनाथजीके मन्दिरमें रहते हुए उन्हें यथेष्ट सम्मान मिला होगा, परन्तु उन्हें उसकी कोई चेतना नहीं थी। सम्राट अकबरसे मिले तो कृष्ण-कीर्तन ही किया और उसीके द्वारा सम्राट्को सूचित कर दिया कि वे किसी अन्यका यश गान नहीं कर सकते। कुम्भनदासके जीवनकी निस्पृहता और निरीहता और भी मार्मिक है। वे एक बडे परिवारका भरण-पोषण खेती, करीलके फूल और टेंटी तथा झाड़के बेरोंके सहारे करते थे। एक बार राजा मानसिंहकी भेंट की हुई सोनेकी आरसी तथा हजार मोहरोंकी थैलीको उन्होंने अस्वीकार कर दिया था। जमुनावती गाँवकी माफी भी उन्होंने स्वीकार नहीं की थी। वे श्रीनाथजीकी कृपाके अतिरिक्त किसीका दान नहीं चाहते थे। सम्राट्के बुलानेपर वे सीकरी पैदल ही गये। सम्राट्की भेजी हुई सवारी उन्होंने अस्वीकार कर दी। सम्राट्से मिल कर उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई और अपने मनका क्षोभ उन्होंने उसीके सामने एक पद गाकर सुना दिया, जिसका भाव यह था कि भक्तोंको सीकरीसे क्या सरोकार, यहा आकर श्रम ही हुआ और परिणाम यह मिला कि थोड़ी देरके लिए हरिनामका विस्मरण हो गया जिसका मुख देखनेसे दु ख होता है उसीको प्रणाम करना पडा। कुम्भनदासके लिए श्रीनाथजीका एक क्षणका वियोग भी असह्य था। ऐसी ही निष्ठा इनके पुत्र चतुर्भुजदासकी थी। वियोगको सहन न कर सकनेके कारण कुम्भनदासने गोसाईंजीके साथ द्वारका जानेसे इनकार कर दिया था।

कवि होनेके साथ साथ ये भक्त अच्छे गायक भी थे। सूरदास और परमानन्ददासकी गान विद्यापर तो स्वयं महाप्रभु मुग्ध हुए थे। गोविन्दस्वामी भी ऐसे ही निपुण गायक थे। कहते हैं, प्रसिद्ध गायक तानसेन इनसे सगीत सीखने आता था। छीतस्वामीका संगीत सुननेके लिए कहते है कि स्वय अकबर वेश बदलकर आया करता था। अष्टछाप-कवियोंके काव्य और सगीतके योगसे निश्चय ही पुष्टिमार्ग और उसके माध्यमसे समग्र कृष्ण-भक्ति आन्दोलनको

उत्साह, उमंग और आनन्दसे आप्लावित कर दिया।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अष्टछाप-कवि भक्त और कवि ही अधिक थे, सिद्धान्तवादी नहीं। शुद्धाद्वैत दर्शन तथा पुष्टि-भक्तिके सिद्धान्तोंका सम्यक् विवेचन इन कवियोंने नहीं किया। नन्ददासको छोड़कर किसी अन्य कविको इस बातकी आकांक्षा भी न थी कि पण्डितोंको कविताके माध्यमसे कृष्ण-भक्तिकी ओर आकर्षित किया जाये। फिर भी हम प्रयत्न करके अष्टछाप-कवियोंकी रचनाओंसे ऐसे प्रचुर उदाहरण छाँट सकते हैं जिनमें हम बता सकें कि उन्होंने शुद्धाद्वैत-दर्शन और पुष्टि-भक्तिके मूल सिद्धान्तों-को गहराईके साथ समझा और हृदयंगम किया था तथा अपनी रचनाओंमें उसीको व्यावहारिक रूप दिया था। केवल नन्ददासमें पण्डितोंको तर्कके द्वारा विश्वास दिलाने तथा अपने सिद्धान्तज्ञानको प्रदर्शित करनेकी प्रवृत्ति पायी जाती है। फलतः उनकी 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवर-गीत' जैसी कृष्णलीलासे सम्बन्धित रचनाओंमें भी हमें उनके दार्शनिक एवं तार्किक दृष्टिकोण तथा पुष्टि-भक्तिके सिद्धान्तोंके ज्ञानका परिचय मिल जाता है। किन्तु फिर भी उनका पाण्डित्य उनके कवित्वको आच्छादित नहीं कर पाता। यह द्रष्टव्य है कि पाण्डित्यसे प्रभावित होकर कवित्व-की रसात्मकतामें व्याघात अवश्य पड़ जाता है। दार्शनिक विवेचन न तो कविताका विषय है और न कवियोंका साध्य। अतः नन्ददासने अपनी 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' जैसी रचनातकमें दार्शनिक विवेचन नहीं किया, केवल भक्तिका स्वरूप स्पष्ट किया है। गुरु-महिमा, नाम-महिमा और विनय आदिके स्फुट पदोंमें भी वे भक्ति-भावना ही विशेष प्रदर्शित करते हैं। शेष अष्टछाप-कवियोंकी रचनाओं-को भी पुष्टिमार्गीय भक्तिके विविध अंगोंकी दृष्टिसे वर्गीकृत किया जा सकता है। कृष्णलीलाके कुछ विशिष्ट अंगोंके अतिरिक्त लगभग सभी कवियोंने विनय अथवा मंगलाचरण, गुरु-महिमा, नाम माहात्म्य, यमुना-वर्णन, भक्ति-महिमा आदिसे सम्बन्धित पद रचे हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन विषयोंपर रचना करना प्रत्येक सम्प्रदायी कविके लिए आवश्यक समझा जाता था, जिससे उसके द्वारा सम्प्रदाय-की कीर्ति बढ़े। सम्भवतः यही कारण है कि सूरदासके अन्तिम समयमें चतुर्भुजदासने शंका की थी कि उन्होंने सहस्राधिक पद तो रचे परन्तु आचार्यजीका यश-वर्णन क्यों नहीं किया। सूरदासके अतिरिक्त सभी कवियोंने महाप्रभु और गोसाईंजी, दोनोंकी प्रशस्तिमें पद रचे हैं। यही नहीं, गोस्वामीजीकी सन्तानके प्रति भी उसी प्रकारके पूज्य भावको प्रदर्शित करनेवाले पद भी पर्याप्त संख्यामें रचे गये हैं। अष्टछाप-कवियोंकी रचनाओंमें प्रधानतया यही सैद्धान्तिक या साम्प्रदायिक पक्ष उन्हें अन्य सम्प्रदायों-की रचनाओंसे स्पष्टतया अलग कर देता है।

सूरदासकी रचनामें यह पक्ष न्यूनतम पाया जाता है। अष्टछाप-कवियोंमें सूरदास और परमानन्ददासके सम्बन्धमें बताया जाता है कि उन्हें बाललीलाका निरोध हुआ था। निःसन्देह कृष्णकी बाललीलाके सम्बन्धमें सूरदासकी रचना समस्त कृष्ण-काव्यमें अतुलनीय है। सूरदासके बाद परमा-नन्ददासने ही वात्सल्य भावके चित्रणमें रुचि दिखायी है। परन्तु इन दोनों कवियोंकी रचनामें भी अधिक परिमाण गोपी और राधा भावकी कान्तारति सम्बन्धी रचनाका है। अपने अन्तिम समयमें भी इन दोनों कवियोंने युगल रूपका ही ध्यान करके प्राण विसर्जित किये थे। कुम्भनदास और कृष्णदासके भी अधिक संख्याके पद कान्तारति और युगल-भक्ति सम्बन्धी ही हैं। कुम्भनदासके सम्बन्धमें तो कहा भी जाता है कि उन्हें निकुञ्जलीलाका निरोध हुआ था। नन्ददासकी प्रचुर रचनाओंमें अधिकांश शृंगार और मधुर रति सम्बन्धी ही हैं। शेष कवियोंकी रचनाओंमें भी मधुर भाव और राधाकी भक्ति सम्बन्धी पदोंकी संख्या प्रचुर है। निश्चय ही इन समस्त कवियोंका रचनाकाल वही था जब गोस्वामी विट्ठलनाथके नेतृत्वमें पुष्टि-मार्गीय सेवा-पद्धतिमें शृंगारकी महत्ता अधिक हो गयी थी। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अष्टछाप-काव्य कृष्णकी बाललीलाके वर्णनमें शेष कृष्ण-काव्यसे अपनी किञ्चित् भिन्नता रखते हुए भी अधिकांशमें उससे बहुत भिन्न नहीं है। कुल मिलाकर कृष्ण-भक्ति-काव्य विशेषतया गोपी-वल्लभ और राधावल्लभ, कृष्णकी प्रेमलीलाका ही काव्य है। अष्टछाप-कवियोंने इस काव्यमें न केवल महत्त्वपूर्ण योग दिया है, वरन् समस्त कृष्ण-काव्यका नेतृत्व किया है, क्योंकि सूर, परमानन्द और नन्ददास जैसे मधुर रति और शृंगार रसके पद लिखनेवाले कवि अन्य सम्प्रदायोंमें नहीं मिल सकते।

अष्टछाप-कवियोंमें सूरको छोड़कर अन्य किसीने कृष्णकी पूर्ण लीलाके वर्णन करनेका प्रयत्न नहीं किया। केवल परमानन्ददासके 'परमानन्दसागर'में कृष्णलीलाकी उस प्रकारकी रूप-रेखा दिखाई देती है जैसी सूरसागरमें है। परन्तु 'परमानन्दसागर'की प्रामाणिकता और प्रकाशनकी स्थिति 'सूरसागर'से भी अधिक चिन्त्य है। 'परमानन्दसागर'-के अतिरिक्त परमानन्ददासकृत 'दानलीला' और 'ध्रुव-चरित्र' नामक रचनाएँ और बतलायी गयी हैं। परन्तु यह दोनों अनुपलब्ध और सन्दिग्ध हैं। सम्भवतः 'परमानन्द-सागर'के ही पद सम्प्रदायके कीर्तन-संग्रहों तथा 'राग-कल्पद्रुम' और 'रागरत्नाकर'में मिलते हैं। 'परमानन्द-सागर'में कृष्णकी बाललीलाके अतिरिक्त जन्म, पालना, छठी, स्वामिनीजीका जन्म, गोपी-उपालम्भ, कृष्ण-यशोदा-के उत्तर-प्रत्युत्तर, सखाओंके साथ केलि, हास्य-विनोद, असुरमर्दन, यमुना-विहार, गोदोहन, वनक्रीडा, गोचारण, दानलीला, व्रजमें प्रत्यागमन आदिसे सम्बन्धित सूरवर्णित चिर-परिचित विषयोंके पद हैं। किशोरलीलाके अतिरिक्त गोपियोंकी आसक्ति, राधाकी आसक्ति, कृष्णरूपवर्णन, राधा-रूपवर्णन, युगल-रस-वर्णन, रासक्रीडा, अन्तर्धान, जल-क्रीडा, खण्डिता-समय, मानलीला, मनुहार, फूलोत्सव, दीपमालिका, वसन्तोत्सव, धमार, स्वामिनीजी, उत्कण्ठा, हिण्डोल, यमुना-वर्णन आदि विषयोंके पद हैं। विरहवर्णनमें मथुरा-गमन, गोपी-विरह और उद्धव-प्रसंगके पद हैं। इनके अतिरिक्त मन्दिरशोभा, अक्षय तृतीया, वर्षाऋतु, पवित्रा, दशहरा, रक्षाबन्धन, रथयात्रा आदि विषयोंके भी पद मिलते हैं तथा रामोत्सव, नरसिंह, वामन आदिके सम्बन्धमें भी कुछ ऐसे पद हैं जो 'परमानन्द

सागर'को भी 'सूरसागर'की भाँति भागवतसे किंचित् प्रभावित सिद्ध करते है। काँकरोलीकी 'परमानन्दसागर'की हस्तलिखित प्रतिमें केवल ११०१ पद है। कुम्भनदासके पदोंकी कुल सख्या जो 'रागकल्पद्रुम', 'रागरत्नाकर' तथा सम्प्रदायके कीर्तन-सग्रहमें मिलते है, ५०० के लगभग हैं। इन पदोंमें प्राय आठ पहरकी सेवा तथा वर्षोत्सवोंके सम्बन्धमें रचे गये पद ही अधिक है। जन्माष्टमी, राधाकी बधाई, पालना, धनतेरस, गोवर्धन-पूजा, इन्द्र-मानभग, सक्रान्ति, मल्हार, रथयात्रा, हिण्डोला, पवित्रा, राखी, वसन्त, धमार, होली आदिके पद ऐसे ही है। कृष्णलीलाके अन्य प्रसंगोंमें कुम्भनदासके गोचारण, छाक, भोज, बीरी, राजभोग, घैया, शयन, आदिके पद भी नित्य-सेवासे ही सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त प्रभुरूपवर्णन, स्वामिनीरूपवर्णन, दान, मान, आसक्ति, सुरति, सुरतान्त, खण्डिताविरह, मुरली, रुक्मिणीहरण, आदि विषयोंसे सम्बन्धित शृगारके पद कुम्भनदासने रचे है। इनके शेष पद आचार्यजीकी बधाई, गोसाईंजीकी बधाई, गोसाईंजीके पालना, आदिसे सम्बन्धित हैं। कृष्णदासके 'रागकल्पद्रुम', 'रागरत्नाकर' और सम्प्रदायके कीर्तन-सग्रहोंमें मिलनेवाले पदोंके विषय भी लगभग इसी प्रकारके हैं। अतिरिक्त विषयोंमें ढाढी चन्द्रावलीजीकी बधाई, गोकुलनाथजीकी बधाई और गोसाईंजीके हिण्डोलाके पद विशेष उल्लेख योग्य हैं। कृष्णदासके कुल पदोंकी संख्या २५० से अधिक नहीं है। स्वतन्त्र ग्रन्थोंकी रचना करनेकी दृष्टिसे अष्टछाप-कवियोंमें नन्ददासका स्थान सर्वोपरि है। इनके १४ ग्रन्थ प्रामाणिक माने गये हैं। इनमें 'रासपंचाध्यायी', 'भँवरगीत', 'श्यामसगाई', 'गोवर्धनलीला', 'दशमस्कन्ध भाषा' तथा 'रुक्मिणीमगल' कृष्णलीलासे सम्बन्धित हैं। 'रूपमजरी', 'विरहमजरी' और 'सुदामाचरित्र' कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-लीला सम्बन्धी अन्य व्यक्तियोंसे सम्बन्धित है। 'मानमजरी', 'अनेकार्थमंजरी' और 'रसमजरी' कृष्ण-भक्तिसमन्वित ऐसे विषयोंसे सम्बन्धित रचनाएँ है जिनमें नन्ददासने अपने भाषाज्ञान तथा-काव्यरीतिका परिचय दिया है। उनके 'सिद्धान्त-पंचाध्यायी'में पुष्टि-भक्तिका रूप उपस्थित किया गया है। पदावलीमें उपर्युक्त सभी विषयोंसे सम्बन्धित पद हैं तथा कुछ ऐसे भी पद हैं जिनका विषय गुरु-महिमा, नाम-महिमा, विनय और साधारण भक्ति-भावना है। चतुर्भुज-दासके कुल पद सख्यामें १५०के लगभग मिलते हैं, जिनमें लगभग वे ही विषय है जो कुम्भनदासके पदोंके है। इसी प्रकार गोविन्दस्वामीके लगभग २५० पदों और छीत-स्वामीके ६४ पदोंके विषय भी लगभग वे ही है। इस प्रकार हम देखते है कि अष्टछाप-कवियोंमें केवल नन्ददासने प्रबन्ध-रचना की तथा विविध विषयोंको अपने काव्यमें सम्मिलित किया। उन्होंने कृष्णकी माधुर्यरूप लीलाके अतिरिक्त ऐश्वर्यरूपको भी काव्यका विषय बनाया तथा ऐसी रचनाएँ भी कीं जिनका सीधा सम्बन्ध कृष्ण-लीलासे नहीं और जो कृष्ण-काव्यके ऐहिक विषयोंकी ओर मुड़नेकी सम्भावना उपस्थित करती हैं। परमानन्ददास अष्टछापके भक्त कवियोंमें सूरदासकी कोटिके भक्त कवि जान पड़ते हैं, यद्यपि उन्होंने साम्प्रदायिक विषयोंको अपने काव्यसे उस प्रकार दूर नहीं रखा, जैसा सूरदासने। यद्यपि सूरदासके 'सूरसागर'की भाँति परमानन्दसागरमें सम्भवत इस प्रकारके सम्यक् प्रबन्धात्मक प्रसग नहीं हैं, जिन्हें खण्डकथानक कहा जा सके, फिर भी व्रजवल्लभ कृष्णकी सम्पूर्ण लीलाको सामने रखकर उन्होंने पद-रचना की है। सम्भव है, उनके 'सागर'के वैज्ञानिक सम्पादनके बाद इस सम्बन्धमें कुछ अधिक निश्चित रूपसे कहा जा सके। परमानन्ददासने, जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है, सम्भवत श्रीमद्भागवतकी कथाको अपने लक्ष्यमें रखकर पद-रचना की थी। उनकी कृष्ण-लीलामें जरासध-वधका प्रसग भी आया है। शेष सभी अष्टछाप-कवि स्फुट पद-रचना करनेवाले कीर्तनकार कवि थे, जो श्रीनाथजीकी आठ सेवाओंके लिए तथा वर्ष-भरके त्योहारों, पर्वों तथा कृष्ण और राधा-कृष्णके सम्बन्धमें मनाये जानेवाले विशेष उत्सवोंके लिए पद-रचना करते थे तथा अपने गुरु और गुरु-सन्तानोंके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकाशित करते थे। किन्तु अष्टछाप-काव्यका प्रधान विषय कृष्ण-लीला और कृष्ण-भक्ति ही है। कृष्ण-लीलामें कवियोंका विशेष ध्यान कृष्णके उस चरित्रपर ही है जो रस और आनन्दका प्रतीक है। उनका मर्यादा-पुरुषोत्तम-रूप पुष्टिमार्गी भक्तिका विषय नहीं हो सकता। अत उनके रसेश्वर रूपके वर्णनमें यह स्वाभाविक था कि भावुक और रसिक भक्त कवि उनकी लीलाकी उस स्वाभाविक परिणतिको अपने काव्यका प्रधान विषय बनाते जो उनके गोपियों और राधाके सम्बन्धोंमें व्यक्त होती है। अत सम्प्रदायमें प्रारम्भमें बाललीलापर विशेष अवधान होते हुए भी कवियों-ने विशेष रूपसे किशोरलीला ही अपनायी और स्वामिनी-जीका नित्य-सेवामें कोई स्थान न होते हुए भी काव्यमें उन्हें केन्द्रीय स्थान दिया।

यद्यपि शेष कृष्णकाव्यकी भाँति अष्टछाप-काव्य भी प्रधानतया स्फुट और गीतिकाव्य है, फिर भी नन्ददासके आधारपर हम कह सकते हैं कि कृष्णकाव्यके बृहद् कलेवरमें केवल अष्टछाप-काव्य ही ऐसा है जिसमें हमें सम्यक् प्रबन्ध-रचना मिलती है तथा सूरदास और पर-मानन्दास ही ऐसे दो कृष्ण-भक्त कवि हैं जिन्होंने व्रज-वल्लभ कृष्णकी सम्पूर्ण लीलापर रचना की है। अत अष्टछाप-कवि निःसदेह कृष्णकाव्य (हि०)में सर्वोपरि स्थानके अधिकारी हैं, उन्होंने ही प्रधानतया परवर्ती कृष्णकाव्यके विषय, भावना और रूपके सम्बन्धमें नेतृत्व किया। अष्ट-छापका गीतिकाव्य उन समस्त लक्षणोंसे समन्वित है जो उत्कृष्टतम कृष्णलीला सम्बन्धी गीतिकाव्यमें पाये जाते हैं।

अष्टछाप-कवियोंने भक्तिके क्षेत्रमें जिन परम्पराओंको दृढ किया वे आज भी पुष्टिमार्गके घरानोंमें और ठिकानोंमें श्रद्धा और भक्तिके साथ स्मरण की जाती हैं। कृष्णदासने प्रबन्ध और संघटनके क्षेत्रमें जिस कुशलताका परिचय दिया, उसके लिए सम्प्रदाय आज भी उनका ऋणी है। अन्य कवियोंने श्रीनाथजीके स्वरूपकी सेवापद्धतिके निर्माणमें जो अतुलनीय सहायता दी तथा अपने असख्य कीर्तनोंके रूपमें जो प्रभूत सामग्री छोड़ी, पुष्टि सम्प्रदाय आज भी उसपर गर्व करता है। परन्तु वास्तवमें अष्टछाप-कवियोंका

योगदान सम्प्रदायमें सीमित नहीं माना जा सकता, सम्प्रदायके लिए यह सौभाग्यकी बात अवश्य थी कि उसे ऐसे महान् भक्तों और कवियोंका सहयोग मिल गया। इन भक्त कवियोंका योगदान तो सम्पूर्ण कृष्णभक्ति-आन्दोलनमें था जिसने तत्कालीन समाजको एक नवीन चेतना और नवीन स्फूर्ति दी थी, जिसने समाजके सभी वर्गोंको–उपेक्षित शूद्र और स्त्रीवर्गको भी नवीन आशा और नवीन शक्ति प्रदान की थी। स्वय अष्टछाप-कवियोंमें ऊँच-नीच, कई जातियों और वर्गोंके लोग थे। उनके साथ स्त्रियोंका भी सयोग था जिनमें गृहस्थके साथ वेश्या और पतित स्त्रियाँ भी थीं। इस प्रकार ये कवि न तो ससारसे वैराग्य लेकर समाजसे उदासीन हो गये थे और न केवल नामके कलासेवी, कवि और सगीतकार थे। वरन् उस नवीन सामाजिक शक्तिके महत्त्वपूर्ण अग थे जिसने रूढि-जर्जर समाजको एक नया रूप दिया था। यही कारण है कि उनकी रचना लोक-मनको इतना अधिक प्रभावित कर सकी और जीवनका अग बन सकी। सामान्य जीवनके निर्माण और विकासमें अष्टछाप-कवियोंने जो योगदान किया, वही उनके साहित्यिक महत्त्वको बढा देता है। सम्भवत इन कवियोंको इस बातकी न तो बहुत अधिक चेतना थी और न आकाक्षा कि भावी पीढियाँ उनकी गणना चिरन्तन साहित्यकारोंमें करेंगी। कुछ कवि अपने कविकर्मके दायित्वको समझते अवश्य थे, पर एक बार अपनेको तन, मन, धनसे कृष्णार्पित करनेके बाद उन्होंने अपनी कवित्व और सगीतकी प्रतिभाको एक महान् उद्देश्यमें लगा दिया था। उनकी इसी निष्पक्षता और तटस्थताने उनकी वाणीको अमरता प्रदान कर दी। हम अष्टछाप-कवियोंके साहित्यिक योगदानके सम्बन्धमें व्रजभाषाको सम्पन्न बनाकर काव्यके उपयुक्त ढालने, काव्यको अलकृत करनेवाले विविध प्रसाधनोंको जुटाने, काव्यका भाव-विस्तार करके उसकी रसमयताको शक्ति प्रदान करने, परवर्ती काव्यके लिए भाषा, विषय, भाव तथा कुछ अच्छी-बुरी परम्पराओंको स्थापित करनेकी चर्चा कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्यके रीतिकाल(दे०)की अधिकाश परम्पराए तथा भक्तिकाल(दे०)से लेकर आधुनिक काल(दे०)तक अनाविल रूपमे चली आनेवाली कृष्णकाव्यकी धारा अष्टछाप-कवियों द्वारा ही निर्मित है। किन्तु इन कवियोंका इससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने जीवन और साहित्य, दोनों क्षेत्रोंमें मानवताके नवीन मूल्योंकी स्थापना की तथा मनुष्यका ध्यान पार्थिवता और लौकिकतासे हटाकर नहीं, अपितु उसका उचित उपभोग करके, उसके प्रति एक तटस्थता और निरपेक्षताका दृष्टिकोण बनाकर, उसके परे जो सत्य और सुन्दर है उस ओर लगा दिया। मनुष्यकी सान्दर्यवृत्ति न तो दमनके योग्य है और न उपेक्षणीय, इस सत्यका प्रमाण स्वय अष्टछाप-कवियोंके जीवनकी कथाएँ हैं।

[सहायक ग्रन्थ–(१) चौरासी वैष्णवनकी वार्ता, (२) दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता (३) प्राचीन वार्ता रहस्य- (४) अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय - दीनदयालु गुप्त]–व्र० व०

अष्टयाम–यह हिन्दीका निजी काव्यरूप है जिसका विकास रीतिकालमें विशेष रूपसे हुआ। इसमें कथा-प्रबन्ध नहीं होता, पर किसी व्यक्तिकी, चाहे वह भगवान्‌का अवतार हो या कोई भक्त या नायक-नायिका, दिन-रातकी चर्या-विधि दी जाती है। अत इसे मुक्तक निबन्ध कह सकते है। रामचन्द्र शुक्लने ऐसे मुक्तकोंको वर्णनात्मक प्रबन्ध कहा है, जैसे–दानलीला, मानलीला, जलविहार, वनविहार, मृगया, झूला, होलीवर्णन, जन्मोत्सववर्णन, मगलवर्णन आदि (हिन्दी साहित्यका इतिहास पृष्ठ २०३, आठवाँ सस्करण)। अष्टयाम भी इसी प्रकारका काव्यरूप है, जिसका बीज कालिदासके 'ऋतुसहार'में दिखाई पडता है। 'ऋतुसहार'मे जैसे विभिन्न ऋतुओंके अनुरूप विलासी व्यक्तियोंकी जीवन-चर्याकी ओर सकेत किया गया है, उसी तरह दिन-रातकी जीवन-चर्या बताना ही अष्टयामका उद्देश्य होता है। भक्त कवियोंने इसको भगवान कृष्ण या रामकी दिन-चर्या-वर्णनका माध्यम बनाया। निम्नलिखित अष्टयाम विशेष उल्लेखनीय है–देव कविका 'अष्टयाम', महाराज विश्वनाथ सिंहका 'अष्टयाम आह्निक', चाचा हित वृन्दावन-दासका 'अष्टयाम', सुमानका 'अष्टयाम', रघुराज सिंहका 'अष्टयाम।' –श० ना० सिं०

अष्टसखा–गोपाल कृष्णकी बाल्य और कैशोर लीलाके सगी सखाओंमें उनके समानवय, समानशील और समान-व्यसन सखाओं(दे०–'गोपसखा')मेंसे सर्वाधिक घनिष्ठ और आत्मीय सखा पुष्टिमार्गमें **अष्टसखा** नामसे प्रसिद्ध है। (दे०–'अष्टछाप','पुष्टिमार्ग')। इनके नाम हैं कृष्ण, तोक, अर्जुन, ऋषभ, सुबल, श्रीदामा, विशाल और भोज। अष्टछाप-कवि जो सख्य भावसे श्रीनाथजी(श्रीकृष्णका पुष्टिमार्गीय विग्रह)की भक्ति करते थे, भक्ति-भावकी उच्चताके कारण श्रीकृष्णके **अष्टसखा** मान लिये गये है। इस प्रकार सूरदासको कृष्ण, परमानन्ददासको तोक, कुम्भनदासको अर्जुन, कृष्णदासको ऋषभ, छीतस्वामीको सुबल, गोविन्दस्वामीको श्रीदामा, चतुर्भुजदासको विशाल और नन्ददासको भोजका स्वरूप माना गया है। –व्र० व०

अष्टसखी–दे०–'गोपी'।

अष्टांग योग—दे०–'हठयोग'।

असंगति—विरोधमूलक अर्थालकार। इस अलकारकी गणना मुख्य अलकारोंमें है और इसके तीन भेद है। इस अलकारका विवेचन सम्भवतः सर्वप्रथम रुद्रटने किया–'विस्पष्टे सकाले कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र। यस्यामुपलभ्यते विज्ञेया सगति सेयम्।' (काव्यालंकार ९ . ४८) और इसीके आधारपर मम्मटने इसका विवेचन किया है–'उसे कहते है जिसमें कार्यकारणरूपसे अवस्थित धर्मोंका ऐसा प्रतिपादन किया जाय कि भिन्न देशमें भी, अपने किसी उत्कर्षविशेषके द्वारा, साथ-साथ अवस्थित प्रतीत हों।' (का० प्र० १० · १२५)। आगे 'चन्द्रालोक' तथा 'साहित्य-दर्पण'मे लक्षण–'कार्यकारणकी विभिन्नदेशमें स्थिति' मात्र रह गया। 'कुवलयानन्द'में इसके तीन भेद स्वीकार किये गये है। हिन्दीके प्राय सभी आचार्योंने 'कुवलयानन्द'के आधारपर इनके तीन भेद दिये है।

प्रथम असंगति—यदि कारण कहीं अन्यत्र और उसका कार्य कहीं अन्यत्र वर्णित हो तथा उस वर्णनमे विरोधक।

आभास हो, तो वहाँ प्रथम 'असगति' अलकार होता है। मतिरामके अनुसार—'होत हेतु जह और थल, काज और थल होय।' (ल० ल० २१४)। प्राय इसी शब्दावलीमें अन्योंके लक्षण हैं। इस अलकारमें विरोधका आभास आवश्यक है। यदि कारण तथा कार्यकी तथ्यगत भिन्न-देशीयता हो तो वहाँ यह अलकार नहीं होता है। उदा०—'महाराज सिवराज चढत तुरङ्गपर ग्रीवा जात नैकरि गनीम अतिबलकी।' (शि० भू० २०१)। जन्य-जनक भाव न होनेपर भी इस अलकारकी अवस्थिति होती है। यथा—'दग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति। परत गाँठि दुरजन हियें, दई नई यह रीति।' (वि० र० ३६३)। 'असगति' और 'विरोधाभास'में अन्तर यह है कि प्रथममें एकाधिकरण-वालों (जिनका एक स्थानपर रहना प्रसिद्ध हो) का वैयधिकरण्य (भिन्न-भिन्न स्थानोंपर होना) होता है और द्वितीयमें पृथक् अधिकरणवालोंका समानाधिकरण होता है।

द्वितीय असंगति—जहाँ अन्यत्र किये जाने योग्य कार्यका अन्यत्र किया जाना वर्णित हो, वहा द्वितीय 'असगति' होती है। मतिराम, भूषण, दास आदिके प्राय लक्षण समान हैं—'आन ठौर करनीय सो करै और हीं ठौर।' (शि० भू० २०२)। उदा०—'पिय नेननिके राग कौ, भूषण सजे बनाय। लखें तिहारी छवि सुतौ, सौतु दगन अधिकाय।' (ल० ल० २१८) अथवा 'विहँसि बुलाय बिलोकि उत, प्रौढ़ तिया रस घूमि। पुलकि पसीजत पूतको, पिय चूम्यौ मुहुँ चूमि।' (वि० र० ६१७)। प्रौढाको चूमना चाहिये था पतिका मुख, किन्तु उस मुखसे स्पर्शित मुख चूमकर उसने उतना ही आनन्द माना। जगन्नाथके अनुसार 'असगति' वहीं होनी चाहिये जहाँ एक ही स्थानपर जिनका होना प्रसिद्ध हो, उनका पृथक्-पृथक् स्थानोंपर होना कहा जाय, जहाँ ऐसी स्थिति न हो वहाँ विरोधाभास ही मानना चाहिये।

तृतीय असंगति—यदि किसी कार्यको करनेकी प्रवृत्ति हो, किन्तु उसके विरुद्ध कार्य किया जाना वर्णित हो तो वहाँ तृतीय 'असगति' होती है। जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण आदिके लक्षण प्राय समान हैं—'करन लगे और कछू, करै औरई काज।' (शि० भू० २०४)। दासने इस प्रकार रखा है—'ओर काज करिबे लगत, करे जु औरै काज।' (का० नि० १३)। उदा०—'उदित भयो है जलद तू, जगको जीवन दानि। मेरो जीवन लेत है, कौन बैर मन आनि।' (ल० ल० २२०) अथवा—'राज देन कहँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहिं अपराधा।' (रा० च० मा० २ ५४)। पण्डितराजके अनुसार यहाँ 'विभावना' है, क्योंकि कारणसे विरुद्ध कार्यकी उत्पत्ति कही गयी है। 'रसगगाधर'के अनुसार 'चन्द्रालोक' आदिमें वर्णित दूसरी तथा तीसरी 'असगति'में 'विरोधालकार' है। नागेशभट्टका मत भिन्न है, वे ऐसे स्थलोंमें 'असगति' ही मानते हैं क्योंकि विरोध कल्पना द्वारा चमत्कार सृष्टि है, न कि विरोधकी निवृत्ति द्वारा। —प० ब्र० शा०

असंबंधातिशयोक्ति—दे०—'अतिशयोक्ति', चौथा भेद।

असंभव—विरोध-मूलक अर्थालकार। अलकार-शास्त्रके प्राचीन लेखकोंने इस अलकारको पृथक् न मानकर विरोधके अन्तर्गत माना है। और विरोधका निरूपण भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, मम्मट एव रुय्यक इत्यादि कई लेखकोंने किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'चन्द्रालोक'के लेखक पीयूषवर्ष जयदेवने इसका उल्लेख सर्वप्रथम किया था। उनके अनुसार लक्षण है—'असम्भवोऽर्थनिष्पत्तावसम्भाव्यत्ववर्णनम्।' (चन्द्रालोक ५ ७६)। कार्यसिद्धिको (चमत्काररूपमे) असम्भव बताना। और हिन्दीके आचार्योंने प्राय जयदेव और अप्पय दीक्षितके आधारपर इसकी व्याख्या की है—'जहँ अर्थकी सिद्धिको सम्भव वचन न होइ।' (ल० ल० २१०) अथवा—'अनहुवे बात कछु, प्रगट भई सी जानि।' (शि० भू० १९७)। उदा०—'हरि इच्छा सब ते प्रबल, विक्रम सकल अकाथ। को जानत लुटि जाइँगी, अबला अर्जुन साथ।' (का० नि० १५), यहाँ अर्जुनके साथ अबलाका लुटना असम्भव कल्पना लगती है। कन्हैयालाल पोद्दारने जयदेवके उदाहरणका भाव लिया है—'यों ऐसा गिरिराज आज करसे ऊँचा उठाके अहो। जाना था किसने कि गोपशिशु यह रक्षा करेगा कहो?' (अ० म० ३०१)। —ज० कि० व०

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि—अभिधामूला विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनिका पहला भेद। अभिधामूला ध्वनिमें वाच्यार्थ अपना बोध कराकर व्यग्यार्थकी पुष्टि करने लगता है। जहाँ व्यग्यार्थकी प्रतीतिका क्रम असलक्ष्य (अलक्षित) रहता है अर्थात वाच्यार्थमे व्यग्यार्थ-प्रतीतिके पूर्वापरका क्रम नहीं जाना जाता, वहाँ असलक्ष्य ध्वनि होती है। इस ध्वनिमे पहले वाच्यार्थके रूपमें विभाव, अनुभाव आदि ज्ञात होते हैं, फिर व्यग्यार्थके रूपमें रस, भाव आदिकी व्यजनाएँ होती हैं। विभावानुभावसे रसादिकी प्रतीतिका बोध क्रमपूर्वक तो अवश्य होता है—यदि यह बोध क्रमपूर्वक न होता तो इस ध्वनिका नाम असलक्ष्य अथवा अलक्ष्य न होकर अक्रम होता, किन्तु यह प्रतीति शतपत्र-भेदन-न्यायके सदृश इतनी शीघ्रतासे होती है कि इस क्रमको जान सकना सम्भव नहीं होता।

असलक्ष्यक्रमव्यग्यकी व्यजनाएं आठ रूपोंमे होती है—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता। इनमे भाव और रसकी व्यजना अत्यन्त चमत्कारकारी और रमणीय होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है (रस तथा भावके विशेष विवरणके लिए दे०—'रससिद्धान्त')। रसकी व्यजनामे अनौचित्य होना रसाभास और भावका अनुचित रूपमे वर्णित होना (रसाभासका अंग होना) भावाभास है। अनौचित्यके होते हुए भी रसाभास आदिको ध्वनिके अन्तर्गत कैसे समाविष्ट किया गया है इसका समाधान इस प्रकार किया गया है—'यद्यपि रसका अनौचित्य रूपमे होना रस-दोष है, किन्तु आपातरमणीय होनेके कारण इसके द्वारा भी क्षणभरके लिए रसके आस्वाद्यका आभास हो जाता है। रसाभासस, सीपमें चाँदीकी झलककी तरह (शुक्ता रजताभासवत्), रसकी झलकमात्र रहती है, इसीलिए रसाभासको ध्वनिका एक भेद माना है' (का० कल्प०, भाग १ पृ० ७४)। किसी विरोधी भावके आ जानेके कारण किसी पूर्ववर्ती भावकी चमत्कारपूर्ण शान्तिको भावशान्ति, किसी शान्त

होते हुए भावके बाद ही चमत्कारपूर्ण रीतिसे किसी अन्य भावके उदयको भावोदय, किन्हीं दो समान उत्कर्षवाले भावोंकी एकत्र स्थितिको भावसन्धि तथा समान उत्कर्षवाले अनेक भावोंके एक-दूसरेके बाद आनेको भावशबलताकी संज्ञा दी गयी है। ध्वन्याचार्योंने इन आठोंको ध्वनिके असंलक्ष्यक्रम भेदके साथ ही गुणीभूत व्यंग्यके अपराग भेदके अन्तर्गत भी रखा है। इस विषमताका स्पष्टीकरण करते हुए मम्मटने लिखा है कि ऐसा कोई विषय (दृष्टान्त) न मिलेगा जहाँ ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्यके भेदोंका संकर अथवा संसृष्टि न हो, फिर भी जहाँ जिसकी प्रधानता होती है वहाँ उसका वैसा नामकरण कर दिया जाता है—'यद्यपि न नास्ति कश्चिद्विषय यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यंग्ययो स्वप्रभेदादिभि सह संकर संसृष्टिर्वा नास्ति तथाऽपि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति क्वचित्केनचिद्व्यवहार' (का० प्र० : पृ० १३०)। जहाँ रस, भाव आदि अंगी (प्रधान) बनकर चमत्कार उत्पन्न करते हैं वहाँ ध्वनि तथा जहाँ वे वाच्यार्थकी समकक्षतामें गौण हो जाते हैं और अप्रधान बनकर दूसरेको सुशोभित करते हैं वहाँ गुणीभूत व्यंग्य बन जाते हैं। प्राचीन अलंकारशास्त्रियोंने इन आठोंको रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी (भावाभास तथा रसाभास दोनोंके लिए), समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता नामक अलंकार माना है।

असंलक्ष्यक्रमध्वनिकी व्यंजना पद, पदांश, वाक्य, रचना, वर्ण तथा प्रबन्ध द्वारा होती है। इसीसे इसके छ भेद किये गये हैं—१ पदगत—'सखी सिखावति मान विधि, सैननि बरजति बाल। हरुए कहु मो हिय सदा बसत विहारीलाल।' इस दोहेके 'हरुए' शब्द द्वारा पदगत असंलक्ष्यध्वनि व्यंजित होती है। मान करनेकी विधिकी शिक्षा देनेवाली सखीके प्रति गोपी अपने हृदयके गूढ कृष्ण-प्रेमकी व्यंजना कराना चाहती है। वाच्यार्थमें यह व्यंग्यार्थ ज्ञान होता है कि कृष्ण सदैव हृदयमें स्थित रहते हैं, उनसे मिलना ही श्रेयस्कर है, रूठनेका प्रश्न नहीं उठता। २ पदांशगत—'सिखा दो ना हे मधुपकुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान।' (पन्त)। यहाँ 'ना' पदांश द्वारा कविके हृदयमें स्थित दैन्य भाव व्यंजित होता है। ३ वाक्यगत—'सूरदास जो सरवस दीजै कारो कृतहि न मानै', यह पूरा वाक्य वक्ता गोपीके हृदयकी खीझ व्यंजित करता हुआ विप्रलम्भ शृङ्गारका पुष्टीकरण करता है। ४. रचनागत—इस भेदमें विशिष्ट पद-योजनाके कारण असंलक्ष्यध्वनि व्यंजित होती है। इसमें रीतियों (वैदर्भी, गौडी, पाचाली)-के चमत्कारका बाहुल्य देखा जाता है। ५ वर्णगत—इसके अन्तर्गत गुणों(माधुर्य, ओज, प्रसाद)का समाहार किया गया है। रीतियाँ गुणोंपर अवलम्बित हैं और गुणोंका रसके साथ नित्यसम्बन्ध है, अत रचनागत तथा वर्णगत ध्वनियोंके पृथक्-पृथक् भेद मानना बहुत तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। ध्वन्याचार्य सभी पूर्ववर्ती सिद्धान्तोंको यथास्थान समाहृत करना चाहते थे। कदाचित् इसीलिए उन्होंने इनके पृथक् पृथक् भेद किये थे। ६ प्रबन्धगत—परस्पर एक-दूसरेसे अन्वित विविध वाक्योंके समूहको महावाक्य संज्ञा दी गयी है और जहाँ महावाक्योंसे ध्वनि निकलती हो वहाँ प्रबन्धध्वनि होती है। इसका सम्बन्ध छोटे-छोटे प्रसंगों अथवा समूचे ग्रन्थसे भी माना जा सकता है—'रामायण' करुणरस प्रधान तथा 'महाभारत' शान्तरस प्रधान है। —उ० ना० शु०

असमर्थ—दे०—'शब्ददोष', चौथा पददोष।

असमिया (भाषा तथा साहित्य)—चीनी परिव्राजक ह्वेनत्साग ईसाकी सातवीं शताब्दीमें अपने भारत-भ्रमणके सिलसिलेमें कामरूपके तत्कालीन शासक कुमार भास्करवर्मन-के आमन्त्रणपर आसाममें आया था। उसने अपने भ्रमण-वृत्तान्तमें यह उल्लेख किया है कि उस समय कामरूपमें बोली जानेवाली भाषा मध्य भारतकी भाषासे कुछ भिन्न थी। इस उक्तिका यही आशय होता है कि ईसवी सातवीं शताब्दीमें असमिया अर्धमागधी अपभ्रंशसे भिन्न भाषाके रूपमें बनने लगी थी। कुमार भास्करवर्मनके कालतक कामरूपमें आर्य संस्कृति और प्रभावका सिक्का भली भाँति जम चुका था और आर्येतर जातियोंका आर्यीकरण भी होने लगा था। ईसवी शताब्दी छ सौसे एक हजारके बीच बौद्धोंके महायान-सहजयान सम्प्रदायके सिद्धों द्वारा रचित 'चर्यापद' (दे०)-के दोहोंकी भाषामें आदि असमियाके बहुत सारे निश्चित तत्त्व मिल जाते हैं। इन सिद्धोंमेंसे कई कामरूपके ही थे। दूसरी तरफ 'चर्यापद'की भाषा मध्ययुगकी अर्धमागधी अपभ्रंशसे निकली हुई असमिया, बंगाली, उड़िया और मैथिलीकी सामान्य स्रोत थी। तिब्बतसे प्राप्त 'बाह्यान्तर बोधि चित्तबन्धो प्रदेश' नामके ग्रन्थकी भाषासे प्राचीन असमिया भाषाके साम्यकी बात राहुल सांकृत्यायनने कही है। 'चर्यापद'की भाषा ही ऊपर उल्लिखित भाषाओं-का सामान्य स्रोत समझी जाती है।

असमका प्राचीनतम नाम प्राग्ज्योतिष था। इसके बाद इसका नाम कामरूप पड़ा। असम आधुनिकतम नाम है जो ईसाकी त्रयोदश शताब्दीके बाद पड़ा। कामरूप नामसे जब यह प्रख्यात था तब असम चार टुकड़ोंमें बटा हुआ था। उसी समय ईसाकी त्रयोदश शताब्दीमें निषाद जातिकी एक शाखा टाइ (शान) कबीलेने बर्मासे आकर कामरूपके नितान्त पूर्वांशमें अपना राज्य स्थापित किया। इस कबीलेके शासनके साथ-साथ कामरूपका न केवल नाम ही बदला बल्कि उसके सम्पूर्ण अवयवपर भी स्थायी परिवर्तन हुआ। कामरूपके पश्चिमांशपर उस समय कोच परिवारका शासन था। टाइ कबीलेके शासनकालसे इस राज्यका नाम असम पड़ा और यहाँके लोगोंकी भाषाका असमिया।

भारतके इस पूर्वी राज्यका और इसकी भाषाका नाम असम और असमिया कैसे पड़ा, इसका निर्णय आज भी निर्विवाद रूपसे नहीं हुआ। विद्वान् इसका सम्बन्ध इस टाइ कबीलेसे लगाते हैं। उसके शासनके प्रारम्भिक कालमें कामरूपी इसे 'आहोम' कहा करता था। सुनीतिकुमार चट्टोपाध्यायने वाणीकान्त काकतीके स्मारक भाषणमें उल्लेख किया है कि जब ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीमें शान (आहोम भी इसी कबीलेकी शाखा) कबीलेके सम्पर्कमें आया तो उसने इस कबीलेका नाम अपनी मोन लिपिमें अपने उच्चारणकी विशेषताके कारण 'रहस्म' लिखा और इसी नामसे जब इस कबीलेके लोग कामरूपमें गये तो

वहाके निवासी जो किराती (बोड़ो) और आर्यभाषा बोलते थे, इस शब्दका शुद्ध उच्चारण न कर सके और उसे अशुद्ध समझकर अपने उच्चारणमें ढालकर उन्होंने 'आहोम'को 'अहम, असम' कर लिया। अब 'रहवम' तो 'आहोम' रूपमें रह गया और 'असम' (आहोम, अहम) लोगों द्वारा विजित राज्यका नाम भी 'असम' पड़ा और वहाके लोगोंको असमिया और भाषाको भी असमिया कहा जाने लगा। असमियामें 'इया' प्रत्यय किसी संज्ञासे जोड़कर सम्बन्ध-वाचक विशेष्य या विशेषण निर्माण किया जाता है। इसी प्रकार 'असम' संज्ञामें 'इया' प्रत्यय लगकर भाषा और भाषीका नाम पड़ा। अंग्रेजी कालमें 'ए' (अ) की उच्चारण-भिन्नताके कारण अंग्रेज और उस समयके अंग्रेजी शिक्षित बंगाली कर्मचारियोंके अज्ञानके कारण असमका नाम 'आसाम' पड़ने लगा था।

क्षेत्रफलकी दृष्टिसे आधुनिक असमका इलाका बहुत विस्तृत है जो प्राय पचासी हजार वर्गमीलका है। इसके अन्तर्गत विस्तृत पहाड़ी क्षेत्र भी है जो राज्यके चारों ओर फैला हुआ है। असमिया ब्रह्मपुत्रकी घाटीके छ जिलोंमें ही प्रधानत बोली जाती है, सुरमाकी घाटी और पहाड़ी क्षेत्रमें इसे मातृभाषाके रूपमें बोलनेवालोंकी संख्या बहुत ही कम है। सन् १९५१ ई० की जनगणनाके अनुसार असमके नब्बे लाखकी आबादीमेंसे साढ़े उनचास लाख आदमी असमिया बोलनेवाले हैं और दस लाखके करीब केवल घरेलू व्यवहारके अतिरिक्त सभी दैनन्दिन कार्योंमें इसका व्यवहार करते हैं। जन-जातिकी भाषा बोलनेवाले साढ़े तेरह लाख आदमी भी राज्यके अन्य भाषियोंमें असमियामें ही अपने विचार व्यक्त करते हैं।

साम्प्रतिक असमिया लिपि देवनागरी लिपिका ही अन्यतम रूप है। लिपिका अबतक उपलब्ध प्राचीनतम निदर्शन भास्करवर्मनका सन् ६१० ई० का ताम्र-फलक ही है। तभीसे इस लिपिका विकास होता आया है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंकी लिपि और आधुनिक लिपिके भीतर कुछ अन्तर अवश्य पाया जाता है। वस्तुत मैथिली, बंगला और असमिया लिपिका स्रोत एक है। आधुनिक असमिया लिपिका साम्य मैथिली लिपिमें अधिक है। आधुनिक बँगला लिपिमें इसका भेद 'र' और 'व'में है। अन्तिम वर्ण बंगलामें नहीं है। असमिया लिपि बंगला लिपि ही है, यह धारणा गलत है। दोनों लिपियोंका आधुनिक साम्य ओद्योगिक सभ्यताकी देन है।

यद्यपि असमिया भाषाकी उत्पत्ति और इसकी वर्णमाला और लिपिके विकासमें आर्यभाषाका ही पूर्णत सहयोग रहा, तथापि वह अपनी उद्गम-भूमिकी दूसरी भाषाओंके शब्दों और ध्वनि-रूपोंके प्रभावसे अपनेको मुक्त नहीं रख सकी। इसलिए असमिया वर्णमालाका उच्चारण दूसरी भारतीय भाषाओंकी वर्णमालाके उच्चारणमें भिन्न पड़ जाता है। असमियाकी सभी ध्वनियाँ कोमल हैं। द्वित्ववर्णका भी उतना कठोर उच्चारण नहीं होता। मूर्धन्य और दन्त्य वर्णोंका लिखित रूपमें भेद होनेपर भी उच्चारणमें भेद नहीं होता है। उनका उच्चारण एक-सा होता है और वे वर्त्स्य होते हैं।

रूपतत्त्वमें भी दूसरी भारतीय भाषाओंमें असमिया भेद रखती है। किसी वस्तुके गुणको विशेष रूपसे दर्शानेके लिए शब्द द्वित्व करनेकी प्रवृत्ति इसमें है। यह विशेषता द्राविड़, कोल और खासी भाषाओंमें पायी जाती है। अनार्य भाषाओंकी तरह शब्दके दूसरे अक्षरपर जोर देना भी असमियाकी एक विशेषता है। सम्बन्धवाचक शब्दोंमें व्यक्तिवाचक प्रत्यय लगाकर कौटुम्बिक सम्बन्ध दिखाया जाता है। पुरुष-भेदसे प्रत्ययका भी भेद हो जाता है। दूसरी तरफ आयुके अनुसार अलग-अलग कौटुम्बिक सम्बन्धवाचक शब्द भी होता है, जो हिन्दी आदि भाषाओंमें नहीं होता। समूहका ज्ञान करानेके लिए शब्दके आगे जो प्रत्यय लगाये जाते हैं, वे भी अनार्य-स्रोतके समझे जाते हैं। अर्धमागधीसे निकली हुई भाषाओंमें असमिया, क्रियासे सम्बन्ध रखनेवाले नकारात्मक 'न' प्रत्ययके प्रयोगमें विशेष स्थान रखती है। यह प्रत्यय क्रियाके पहले लगता है और उससे अभिन्न रहता है।

वाक्य-विचार-पद्धति आधुनिक आर्यभाषाओंकी तरह ही है। पहले कर्ता, उसके बाद कर्म और अन्तमें क्रिया। असमिया भाषा संस्कृत व्याकरणका अनुसरण करती है। सन्धि, समास आदिका प्रयोग थोड़ा-बहुत स्थानीय हेर-फेरके साथ होता है। संस्कृतसे उद्भूत प्रत्ययोंके अतिरिक्त अनार्य भाषाओंके भी प्रत्यय इसमें पाये जाते हैं, जो संज्ञा और क्रियामें समान रूपसे व्यवहारमें आते हैं। ये प्रत्यय असमियापर अनार्य-भाषाओंके प्रभावकी मुक्त घोषणा करते हैं।

ईसाकी त्रयोदश शताब्दीके प्रारम्भसे ही असमिया भाषामें लिखित साहित्यिक कृतियाँ क्रमानुसार मिलने लगती हैं। इससे पहले 'चर्यापद'के दोहोंमें असमिया भाषा और साहित्यके प्रारम्भिक रूपका आभास मिल जाता है। 'चर्यापद'के समयसे ईसाकी द्वादश शताब्दीके अन्ततक कामरूपमें विभिन्न प्रकारके मौखिक साहित्यका निर्माण हुआ था। उनमें मणिकोंवर-फुलकोंवर-गीत नामक समाजमें प्रचलित जनप्रिय कहानीका गीतात्मक रूप, डाक-वचन, तन्त्र और मन्त्रके मौखिक साहित्य प्रधानरूपमें थे। यद्यपि इन साहित्यिक गीत और वचनोंके निर्माण-कालकी कल्पना ईसाकी त्रयोदश शताब्दीके भी पहले की जाती है, तथापि लिखित रूपमें वे बादकी सामग्री हैं। इनमें प्राचीन भाषाके तत्त्व अवश्य मिल जाते हैं।

असमियाके लिखित साहित्यके कालको पाँच भागोंमें बाँट सकते हैं—(१) प्राक्-वैष्णवकाल १२००–१४४९ ई०, (२) वैष्णवकाल १४४९–१६५० ई०, (३) गद्य, बुरंजीकाल १६५०–१९२६ ई०, (४) आधुनिक काल १९२६–१९४७ ई०, (५) स्वाधीनता-उत्तरकाल १९४७ ई०।

(१) प्राक्-वैष्णवकाल प्राक्-वैष्णवकालके साहित्य निर्माताओंको हम दो श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं। पहली श्रेणीमें हम उनको रखेंगे जिन्होंने संस्कृत ग्रन्थोंका अनुवाद किया है या उनके आधारपर अपनी नयी कृतियोंका निर्माण किया है। इस श्रेणीके कवियोंकी विचारधारा धर्मप्रधान और भक्तिमूलक थी। दूसरी श्रेणीमें वे कवि

आयेंगे जो बीते हुए युगकी गीत-परम्परामें महाकाव्यके वीरोंकी गाथा लिख गये। साहित्यिक प्रवृत्तिकी दृष्टिसे यह काल प्रभाव-निरपेक्षताका काल था। प्रत्येक कवि स्वतन्त्र रूपसे अपनी रचना किया करता था।

अबतक प्राप्त पहला असमिया लिखित ग्रन्थ 'प्रह्लाद-चरित्र' है जिसका निर्माता कवि हेमसरस्वती था। ईसाकी त्रयोदश शताब्दीमें कमतापुर (पश्चिम कामरूप)का राजा दुर्लभनारायण था। हेमसरस्वती इसी समयका कवि था। इस रचनामें भक्ति-भावका प्रतिपादन किया गया है, जिसमें भक्त प्रह्लादकी अन्तिम सफलताका उल्लेख है।

प्राक्-वैष्णवकालका सबसे बड़ा कवि माधव कन्दली हुआ। उसने रामायणका सरल अनुवाद असमिया छन्दमें किया। यह कार्य उसने कछारी राजा महामाणिक्यके प्रोत्साहनसे किया। कन्दलीको इस कार्यमें दूसरे पण्डितोंने भी सहायता दी। माधव कन्दलीकी रामायणमें असमिया भाषा अपने प्रकृत रूपमें प्रकट हुई और संस्कृतका बोझ उसपरसे उतर गया।

कवियोंके दूसरे समूहमें गीति-कवि आते हैं। दुर्गावर, पीताम्बर और मनकर आदि कवियोंके कई एक गीति-काव्य मिले हैं। दुर्गावरने रामायणको लौकिक वातावरणमें गेय छन्दमें लिखा। पीताम्बरने 'ऊषा-परिणय' नामका एक प्रणय-काव्य और मनकरने 'बेउला लखिन्दर' नामक लौकिक कहानीके आधारपर गेय छन्दमें एक प्रणयकाव्य लिखा। अन्तिम काव्यमें मनसा पूजाकी गरिमा दिखायी गयी है।

पूर्वोल्लिखित मन्त्र-पोथियोंका लिखित रूप इसी समय मिलता है। यद्यपि ये रचनाएँ गद्य जैसी भाषामें मिलती हैं, तथापि उसके स्वरूपको पद्यसे अलग नहीं किया जा सकता। इन रचनाओंकी विषयवस्तु जादू-टोना, रोग-निवारणका मन्त्र, भूत-पिशाचोंका निवारण, सर्पदंशनसे आरोग्यका निदान आदि है।

(२) वैष्णवकाल– हेमसरस्वती और माधव कन्दली आदिने पहले ही भक्तिका महत्त्व प्रचार कर परवर्ती कालके लिए भक्ति-आन्दोलनकी भूमिका प्रस्तुत कर रखी थी। इस युगके प्रमुख कवि और धर्म-प्रचारक शंकरदेवने माधव कन्दलीको 'अप्रमादी' कवि कहकर उसकी प्रशंसा की है। इस कालका साहित्य भक्ति-भावसे सराबोर था और यह भक्ति निस्सन्देह रूपसे वैष्णव-भक्ति ही थी। इस भक्ति-आन्दोलनके ऊपर समय-समयपर शाक्त ब्राह्मण और आहोम और कोच राजाओंकी ओरसे बाधा पड़ती रही। किन्तु धीरे-धीरे यह बाधा कम होती गयी। कोच राजपरिवार वैष्णव होता गया और आहोम राजपरिवार और राज-पुरुषोंमें सहिष्णुताका भाव बढ़ता गया।

इस कालमें पहले और प्रमुख कवि और साहित्यिक शंकरदेव हुए। वे केवल असमिया साहित्यके नवनिर्माता ही नहीं हुए, बल्कि सम्पूर्ण असमिया जीवनका नये प्रकारसे उन्होंने निर्माण भी किया। असमके साहित्य, समाज, संस्कार, धर्म, कला, संगीत और सामाजिक संघटनको उन्होंने अपने सबल हाथोंसे पुनर्निर्मित किया। उन्होंने श्रीमद्भागवत पुराणको अपने वैष्णवमतका प्रधान आधार-ग्रन्थ बनाया। इसलिए उनके चलाये हुए धर्ममतको 'भागवती धर्म' कहा गया। इसे 'एकशरणधर्म' भी कहा जाता है।

शंकरदेवकी प्रधान रचना 'कीर्तनघोषा' है। इसमें भागवत और विभिन्न पुराणोंसे भक्तिपरक आख्यानोंको अनुवाद करके संगृहीत किया गया है। 'भक्ति प्रदीप' अपने धर्म सिद्धान्तोंका सिद्धान्तमूलक ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त 'निमिनव सिद्ध', 'रुक्मिणीहरण काव्य', 'गुण-माला', 'लीलामाला' आदि ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे। उन्होंने संस्कृतमें 'भक्तिरत्नाकर' नामक एक ग्रन्थ लिखा। माधव कन्दली द्वारा अनूदित रामायणका कुछ अंश खो जानेके कारण शंकरदेवने उसके उत्तरकाण्डको भी अनूदित किया। इनके अलावा और कई ग्रन्थ उनके नामसे मिलते हैं।

शंकरदेव आधुनिक भारतीय भाषाओंका सर्वप्रथम नाटककार भी हैं। असमियामें इनके द्वारा लिखे गये नाटकोंको 'अंकीया नाट' कहते हैं। ये नाटक एक अंकके होते हैं। नाटकोंमें भी विष्णुकी श्रेष्ठता दिखायी गयी है। इन नाटकोंमें ब्रजबुलि भाषाका प्रयोग किया गया है। अंकीय नाटकोंके कथोपकथनमें पहले-पहल गद्य भाषाका प्रयोग हुआ। शंकरदेवके नाटकोंमें 'रामविजय', 'कालीदमन' 'पारिजातहरण', 'रुक्मिणीहरण', 'पत्नीप्रसाद' प्रधान हैं। अंकीया नाटोंका एक पद्यांश भी होना है, इसे बरगीत कहते हैं। ब्रजबुलिमें लिखित इन गीतोंमें गम्भीर भक्ति-भावनाके दर्शन होते हैं।

शंकरदेवके बाद दूसरे महान् कवि माधवदेव हुए। माधवदेव एक साथ संस्कृतके विद्वान्, संगीतकार, नाटककार और धर्मप्रचारक थे। भागवती धर्मके प्रचारमें शंकरदेवके बाद ही उनका स्थान है। उनकी महत्त्वपूर्ण रचना 'नामघोषा' है जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वका विवेचन है। इसी कालके दूसरे कवि अनन्त कन्दली थे, जिन्होंने 'कुमर-हरण काव्य' और 'सीतार पताल प्रवेश' नाटक लिखे। श्रीधर कन्दली नामक एक अन्य कविने श्रीकृष्णके बाल्य जीवनकी घटनासे सम्बन्धित 'कानखोवा' नामसे एक मनोरंजक पुस्तक लिखी। असमिया महाभारतका निर्माता रामसरस्वती इसी कालमें हुआ। उसने कोच राजा नरनारायणकी आज्ञासे अपनी स्वतन्त्र वृत्तिसे इसका अनुवाद किया।

यद्यपि शंकरदेवने ही असमिया गद्य साहित्यका प्रारम्भ किया था, तथापि उसका स्पष्ट और स्थायी रूप भट्टदेवके हाथों ही निर्मित हुआ। भट्टदेव सोलहवीं शताब्दीके थे। उन्होंने भागवत पुराण और गीताको असमिया गद्यमें अनूदित किया।

(३) गद्य, बुरंजी और अन्य साहित्य – इस समयतक असममें वैष्णवधर्मकी जड़ जम चुकी थी। दूसरे धर्मका प्रभाव कम हो चुका था। राजपरिवारों और उनके कर्मचारियोंमें वैष्णवधर्मके प्रति आदर बढ़ गया था। अब इस आन्दोलनकी आरम्भिक गतिशीलतामें शिथिलता आ गयी थी और धार्मिक साहित्यके साथ धर्म-निरपेक्ष साहित्यकी भी रचना होने लगी थी।

इस कालकी प्रमुख साहित्यिक देन बुरंजी साहित्य है।

बुरंजी टाइ शब्द है, जिसका अर्थ 'अज्ञात कथाओंका भण्डार' यानी इतिहास है। आहोमोंमें पहलेसे ही इतिहास लिखनेकी परम्परा थी। यह काम साम्प्रदायिक पुरोहित किया करता था। किन्तु शासनके प्रारम्भिक दिनोंमें यह इतिहास वे अपनी टाइ भाषामें ही लिखा करते थे। आहोम जब धीरे-धीरे कामरूपके निवासियोंसे एक हो गया और आर्य-असमिया भाषाको उसने अपना लिया तो असमिया भाषामें भी इतिहास लिखना आरम्भ कर दिया। अब यह काम पुरोहितोंके हाथसे छूटकर राजकर्मचारियोंके हाथमें आया। सरकारी देखरेखमें यह कार्य चालू हो गया। इसलिए असमिया-बुरंजी साहित्यमें तथ्योंका हेर-फेर बहुत कम हुआ। सभी बुरंजियोंके लेखकका नाम नहीं मिलता, क्योंकि विभिन्न समयमें सरकारी अधिकारी उनका संकलन करता था। बुरंजीकी भाषामें बोलचालकी भाषाने अधिक स्थान पाया।

बुरंजी साहित्यके अतिरिक्त इस कालमें राजवंशोंकी वंशावलियाँ भी लिखी गयीं, जिनमें सूर्यखरी बलदेवकी 'दरराजवंशावली' और रतिकान्त द्विजकी 'राजवंशावली' मुख्य हैं। इस कालमें चरित-ग्रन्थोंकी रचना अधिक संख्यामें हुई। यह साहित्य वैष्णवमठोंमें अधिकतर रचा गया।

कविराज चक्रवर्तीने जयदेवके 'गीतगोविन्द'का असमियामें दूसरा अनुवाद किया और धर्मदेवभट्टने तीसरा अनुवाद। कविराज चक्रवर्तीने 'शंखचुर वध' और 'शकुन्तला' नामसे दो काव्य भी लिखे।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त इस कालमें कला, दर्शन, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, नृत्य आदिपर भी ग्रन्थ लिखे गये। सुकुमार बरकाठका 'हस्तीविद्यार्णव,' सागर खरीका 'घोडा निदान', काशीनाथका 'अंकर आर्या', कवि चूड़ामणिका 'ज्योतिष चूडामणि', बकुल कायस्थका 'किताबत', कविरत्न द्विजका 'लीलावती', रत्नखरीका 'कर्मफल', कविराज सरस्वतीका 'भास्वती' और 'श्रीहस्तमुक्तावली' नामक संस्कृत ग्रन्थका सचित्र अनुवाद सहित विविध ग्रन्थ इस कालमें मिलते हैं।

इस कालमें हिन्दी कवि कुतुबनके 'मृगावती' और मझनके 'मधुमालती' नामक सूफी काव्यके कथानकके आधारपर दो काव्य भी लिखे गये।

(४) आधुनिक काल : उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भसे ही आहोम राजशक्ति क्षीण हो गयी थी। ई० १८१७-१८के भीतर असम बर्मी शासनके अधीन आ गया था। बर्माके हाथसे १८२६ ई० में असम अँग्रेजोंके हाथमें चला गया। अँग्रेजी शासनके आरम्भके साथ-साथ असमके सम्पूर्ण जीवनपर परिवर्तन दिखाई पड़ा और पाश्चात्य विचारसे विभिन्न विषयोंको सोचा भी गया।

असममें कोई स्वतन्त्र राजा न रह जानेके कारण असमिया साहित्य राज्याश्रयसे वंचित हुआ और मठ आदिमें भी धार्मिक प्रभाव कम पड गया था। अतः साहित्य-निर्माणके क्षेत्रमें एक प्रकारसे गतिरोधकी अवस्था आ गयी थी। दूसरी तरफ अँग्रेजी शासनके साथ-साथ बंगालसे अँग्रेजी-शिक्षित बंगाली राजकर्मचारी भी आये। उन्होंने अँग्रेजोंको समझा दिया कि असमिया बँगलाकी एक बोली मात्र है, अतः इसे सरकारी कार्य, कचहरी और विद्यालयोंमें स्थान नहीं मिलना चाहिये और उसकी जगह बँगला ही चलानी चाहिये। अतः तत्कालीन अँग्रेज शासकोंने १८३८ ई० में असमियाको हर स्थानसे बहिष्कृत कर दिया। इस परिस्थितिमें असमिया साहित्यकी गतिको चालू रखनेके लिए दूसरे प्रकारके व्यक्तित्वकी आवश्यकता थी। यह व्यक्तित्व अंग्रेजी-शिक्षित असमिया लोगोंमें ही पाया जा सकता था। अतः असमियाको पुनः प्रतिष्ठित करनेके लिए वे अग्रसर हुए।

असमिया साहित्यका पुनर्जागरणका काल अपने अस्तित्वकी पुनः प्रतिष्ठाके साथ प्रारम्भ हुआ। असमिया भाषा और साहित्यका स्वतन्त्र स्वरूप प्रमाणित करनेके लिए असमके सपूतोंने एक होड़-सी लगा दी। इस कार्यमें अमेरिकी पादरियोंने देशी लोगोंसे भी बढकर काम किया। उन्हें देशी भाषाके माध्यमसे अपना धर्मप्रचार करना था। इन पादरियोंने शिवसागर नामक स्थानमें मुद्रण-यन्त्रकी स्थापना करके असमिया ग्रन्थ छापना आरम्भ किया। इन्होंने इसी मुद्रण-यन्त्रसे १८४६ ई० में असमियाका पहला मासिक पत्र अरुणोदइ(अरुणोदय)का प्रकाशन प्रारम्भ किया। देशी-विदेशी विद्वानोंके प्रचार और साहित्यिक उन्नतिको देखकर अँग्रेजी शासकोंने १८७३ ई० में असममें पुनः असमियाको अपने स्थानपर प्रतिष्ठित किया। किन्तु इस अप्रत्याशित बहिष्कारने असमिया भाषा-साहित्यको शोचनीय रूपसे धक्का पहुँचाया। माइल्स ब्रनसन, ब्राउन, केरे, श्रीकाटर आदि पादरियोंने असमिया भाषा सम्बन्धी ग्रन्थ और निबन्ध लिखे। १८१३ ई० में बाइबिलका असमिया अनुवाद छपकर प्रकाशित हुआ। यह असमियाका पहला मुद्रित ग्रन्थ था।

अँग्रेजी शासनके माध्यमसे असममें अंग्रेजी साहित्य और उसके जरिये पाश्चात्य साहित्य आये, और उससे असमियाके नवीन लेखक प्रभावित हुए। बंगला भाषाके जरिये भी पाश्चात्य आदर्श अपनाये गये। अतः पाश्चात्य साहित्यके अनुसार असमियाका नवीन साहित्य निर्मित होने लगा। इस नवीन कालके लेखकोंमें आनन्दराम ढेकियाल फुकनका नाम सबसे पहले आता है। असमिया साहित्य और भाषापर उसने कई पुस्तकें लिखीं। हेमचन्द्र बरुवाने असमिया भाषा-साहित्यको प्रतिष्ठित करनेके लिए अपनी रचनाओंसे इसे पुष्ट किया। वह बहुमुखी लेखक था। उसने नाटक, उपन्यास, पाठ्य पुस्तक, शब्दकोश आदि ग्रन्थ लिखे। 'कानियार कीर्तन', 'बाहिरे रंच भितरे कोवाभातुरी', 'पढाशलीया अभिधान', 'हेमकोष' आदि उसकी मुख्य रचनाएँ हैं। गुणाभिराम बरुवा गद्य लेखक और इतिहासकारके रूपमें आया। उसने 'असम बुरंजी' नामक इतिहास और आनन्दराम ढेकियाल फुकनकी जीवनी लिखी।

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें कलकत्ताके कॉलेजोंमें पढने-वाले विद्यार्थियोंने 'जोनाकी' नामक एक मासिक पत्रिका निकाली। इस पत्रिकाके जरिये उन लोगोंने असमिया साहित्यकी सेवा करना प्रारम्भ किया। इन पत्रिकामें सम्बन्धित उस समय जो असमिया साहित्यिक थे उन्हें एक साथ 'जोनाकी समूह' कहते हैं। उनमें चन्द्रकुमार अगरवाला,

हेमचन्द्र गोस्वामी, चन्द्रकुमार आगरवाला, रजनीकान्त बरदलै आदि थे। इन लोगोंने असमियामें रोमाटिक साहित्यकी सृष्टि की और पाश्चात्य साहित्यके अनुकरणमें कविता, निबन्ध, नाटक कहानी, उपन्यास, जीवनी आदि लिखी। लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा बहुमुखी लेखक था। उसने 'असमिया साहित्येर चानेकी' नामसे सात खण्डोंमें असमिया साहित्यका सङ्कलन किया।

कमलाकान्त भट्टाचार्य दार्शनिक कवि था। उसकी 'चिन्तानल' नामक कविता-पुस्तक विचारप्रधान पुस्तक है। हितेश्वर बरुवाने असमियामें पहले-पहल सॉनेट और मुक्तक छन्दमें कविता लिखी। उसने 'कमतापुर ध्वंस', 'विरहिणी विलाप' आदि कई काव्य लिखे। विहगी कवि रघुनाथ चौधारी प्रकृति-कवि है। उसकी कविताकी पुस्तक 'दहिकतरा', 'केतेकी', 'बहागी' आदि है। दुर्गेश्वर शर्मा दार्शनिक रहस्य-वादी कवि है। उसकी 'अंजली', 'निवेदन' आदि कविताकी पुस्तकें है। अम्बिका गिरिराय चोधुरी और प्रसन्नलाल चाधुरी विद्रोही कवि हैं। राय चौधुरीका 'तुमि' एक काव्य-ग्रन्थ है। मफिजुद्दीन अहमदने सूफी धर्मसाधनासे प्रभावित होकर कविताएँ की। महिला कवियोंमें धर्मेश्वरी देवी और नलिनीबाला देवी मुख्य हे। नलिनी देवीकी 'सन्धियार सुर', 'अमुर्तार्थ' पुस्तक मुख्य है। पद्मावती देवीका 'सुधर्मार उपाख्यान' असमियाका पहला उपन्यास है।

शरच्चन्द्र गोस्वामी भी बहुमुखी लेखक थे। उनकी कहानी विशेष रूपसे प्रसिद्ध है। लक्ष्मीधर शर्मा आधुनिक प्रकारका कहानीकार है। लक्ष्मीकान्त फुकनकी 'ओफाइदाङ्', सैयद अब्दुल मलिककी 'एजनी नतुन छोवाली, 'परशमणि', 'नरहापापरि' आदि कहानीकी अच्छी पुस्तकें हैं। आलोचना-के क्षेत्रमें अम्बिकानाथ बरा, वाणीकान्त काकती, कालीराम मेधी, विरिंचि बरुवा, डिम्बेश्वर नेओग प्रमुख हैं। काकतीके 'पुरणि असमिया साहित्य,' 'साहित्य प्रेम,' 'प्राचीन कामरूपेर वैष्णव साधना', मेधीके 'असमिया व्याकरण, 'अकीया नाट,' बराके 'रुक्मिणीहरणनाट, बरुवाके 'काव्य आर अभिव्यंजना, 'असमिया भाषा', नेओगके 'असमिया भाषा और साहित्य' खोज और आलोचनापूर्ण ग्रन्थ प्रधान हैं।

असमिया साहित्यके विकासमें पत्र-पत्रिकाओंका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इनमें 'अरुणोदइ' 'जोनाकी', 'बाँही, 'आवाहन,' 'जयन्ती,' 'पछोवा' और 'रामधेनु' प्रधान हैं। इन पत्रिकाओंका काल साहित्यका भी एक काल हो गया है। बीसवीं शताब्दीके तृतीय-चतुर्थ दशकमें 'आवाहन' और 'बाँही'ने और पंचम दशकमें 'जयन्ती' और 'रामधेनु'ने यथेष्ट कार्य किया है। 'रामधेनु'-का प्रभाव आज भी अक्षुण्ण हे। 'आवाहन' कालके कहानी-लेखकोंमें सैयद अब्दुल मलिक आज भी उत्तरोत्तर विकसित कलामें कहानी लिख रहा है। 'जयन्ती'ने प्रगतिशील कविताको प्रश्रय दिया। प्रगतिशील कविताका प्रारम्भ दूसरे महायुद्ध और बंगालके अकालके समय अमूल्य बरुवाने किया।

(५) स्वाधीनता उत्तरकाल – नये प्रकारके साहित्य-सर्जनमें 'रामधेनु' काफी सहयोग दे रही है। उसमें ही पहले पहल अँग्रेजी इलियटी कविताके अनुकरणपर असमिया कविता निकलने लगी। आजकी कविताकी इस धाराने असमिया साहित्यमें अपना स्थान बना लिया है। इस प्रकार-की कविताका प्रवर्तक अध्यक्ष हेम बरुवा है। नये कवियोंमें नवकान्त बरुआ, हरिवर काकती, वीरेन्द्र भट्टाचार्य, महेन्द्र बरा, होमेन बरगोहाँइ, वीरेन्द्र बरगोहाँइ मुख्य हैं। नव-कान्त बरुआ इनमें श्रेष्ठ हैं। कहानीके क्षेत्रमें अब्दुल मलिक वीरेन्द्र भट्टाचार्य, होमेन बरगोहाँइ, योगेशदास, चन्द्र-प्रसाद शइकीया आदि आधुनिकतम लेखक हैं। उपन्यास-लेखकोंमें हितेश डेका, तिलकदास, वीरेन्द्र भट्टाचार्य, राधिका-मोहन गोस्वामी, प्रफुल्लदत्त गोस्वामी, मुहम्मद पियार मुख्य हैं। नाटककारोंमें लक्ष्यधर चौधुरी, अतुल हाजरिका, देव तालुकदार, ज्योतिप्रसाद आगरवाला, नकुलचन्द्र भूञा आदि विशेष रूपसे उल्लेख योग्य हैं। आलोचनाके क्षेत्रमें सत्येन्द्रनाथ शर्मा, महेश्वर नेओग, श्रीतीर्थनाथ शर्मा, अध्यक्ष हेम बरुवा, प्रफुल्लदत्त गोस्वामी, विरिंचिकुमार बरुआ आदि गिने-चुने हैं।

प्रचीन कालमें हिन्दी तथा असमी दोनो भाषाओंमें परस्पर आदान-प्रदानका कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। केवल कुतुबन और मझनके काव्योंके कथानकके आधारपर ईसाकी अठारहवीं शताब्दीमें उसी नामसे दो काव्योंकी रचना हुई। ब्रजबुलि नामसे एक कृत्रिम भाषामें अवश्य ही वैष्णव साहित्य लिखा गया था। असमके सर्वश्रेष्ठ वैष्णव कवि शंकरदेवकी रचनापर कबीरदासकी अध्यात्म-भावना-का प्रभाव देखा जाता है।

[सहायक ग्रन्थ–(१) असमिया भाषा (असमिया) विरिंचिकुमार बरुवा, (२) असमिया साहित्यकी रूपरेखा (हिन्दी) डॉ० विरिंचिकुमार बरुआ, (३) आसामीज, इट्स फॉरमेशन एण्ड डेवलपमेण्ट (अंग्रेजी) : वाणीकान्त काकती]
—लो० ना० श०

असुंदर व्यंग्य–गुणीभूत व्यंग्यका एक भेद, जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थकी तुलनामें चमत्कारहीन होता है। 'उस सरसी-सी आभरणरहित सितवसना, सिहरे प्रभु माँको देख हुई जड रसना। (साकेत), इस उदाहरण में 'आभरणरहित' तथा 'सितवसना' पदों द्वारा कवि कौशल्याके वैधव्यकी व्यंजना करा रहा है, किन्तु रामके सिहरने तथा उनकी रसनाके जड होनेके वाच्यार्थ द्वारा व्यक्त वैधव्यका भाव अधिक आकर्षक है।
—उ० श० शु०

असूया–प्रचलित तैंतीसमें एक सचारी है। भरतके आधारपर (नाट्य० ७ . ३६) विश्वनाथने लिखा है—'असूयान्यगुणर्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता । दोषोद्घोषभ्रूवि-भेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादिकृत्।' (सा० द० ३ . १६६)। अर्थात् औद्धत्यके कारण दूसरेकी गुण समृद्धिको सहन न करनेको असूया कहते हैं। दोपकथन, भ्रुकुटिभंग, तिरस्कार तथा क्रोध आदि चिह्न पाये जाते हैं। हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने इन्हीके अनुसरणपर लक्षण दिया है—'सहि न सकै सुख औरको यहै असूया जान। क्रोध गर्व दुग दुष्टता ये सुभाव अनुमान।' (रसराज० : ४८९)।

रामचन्द्र शुक्लने गर्व, लज्जा और असूयाको स्वतन्त्र विषयवाले भाव कहा है। उनके मतानुसार इनके विषय

या आलम्बन भावके कारण नहीं है। जिसे हम ईर्ष्या करते है वह हुआ विषय या आलम्बन, उसके गुण, वैभव, श्रीसम्पन्नता आदि गुण हुए कारण। इनमें आलम्बनकी ओर ध्यान न जाकर कारणोंकी ओर जाता है। अन्य सचारियोंकी भाँति असूयाको भी सचारी पद तभी प्राप्त होगा जब वह किसी स्थायी भावका पोषक होकर आयेगा। पद्माकरके उदाहरणमें गोपियोंका असूयाभाव व्यजित है—'आवत उसासी दुख लगै और हॉसी सुनि, दासी उर लाइ कहो को नहिं दहा कियो। कहै पद्माकर हमारे जान ऊधो उन, तातको मातको न भ्रातको कहा कियो। ककालिनि कूवरी कलकिनि कुरूप तैसी, चेटकिनि चेरी ताके चित्तको कहा कियो। राधिकाकी कहवत कहि दीजौ मोहनसों, रसिक सिरोमनि कहाह धों कहा कियो।' (जगत० • ४८२)। —व० सिं०

अस्तित्ववाद (existentialism)–यूरोपकी एक अपेक्षाकृत आधुनिक दार्शनिक तथा साहित्यिक चिन्तन-पद्धति। अस्तित्ववादी विचारधाराका आरम्भ वस्तुत दर्शनके ही क्षेत्रमें हुआ। इस सम्प्रदायका उद्गम-स्रोत जर्मन दार्शनिक हसरेल तथा हेडेगर और डेनिश चिन्तक कीर्केगार्ड (१८१३-५५ ई०) की विचार-पद्धतियोंमें देखा जा सकता है। इन विभिन्न चिन्तकोंके मतवादोंका सघटन वर्तमान युगमें फ्रासमें हुआ, जहाँ अस्तित्ववादको साहित्यिक ख्याति जॉ पॉल सार्त्र (१९०५ ई०) के माध्यमसे १९४३ ई० के आसपास मिली।

अस्तित्ववादी विचारधारा मानव-जीवनको मूलत निरर्थक मानती है, तर्कको अक्षम समझकर त्याग देती है तथा परम्परागत ईश्वरमें आस्थाको अस्वीकार करती है। अस्तित्ववाद वस्तुत धर्मनिरपेक्ष स्तरपर मानव-जीवनके लिए चिन्तित है। वह जीवनको निरुपाय, अवश तथा निरर्थक समझकर उसे एक मानवीय अर्थ तथा मूल्य देनेकी चेष्टा करता है। इसीलिए अस्तित्ववादी दृष्टिमें प्रत्येक क्षणका अतुलनीय महत्त्व है। किसी भी अतियथार्थका अस्तित्व इस व्यवस्थामें स्वीकार्य नहीं। अपनी समग्र अवशतामें मनुष्य ही अस्तित्ववादी चिन्ताका केन्द्रबिन्दु है। और इस अवशताको नष्ट करनेके लिए अस्तित्ववाद मानवीय स्वातन्त्र्यका प्रबल समर्थक है।

अस्तित्ववादी चिन्तनका सूत्र-वाक्य है–Existence precedes essence अर्थात् अस्तित्वकी स्थिति तत्त्वसे पूर्व है। यहाँ तत्त्वसे भाव मनुष्यकी मौलिक प्रकृतिसे है और अस्तित्वका अर्थ उसका कर्मसमूह है, जिससे उसकी जागतिक स्थिति सिद्ध होती है। इस प्रकार अस्तित्ववादी चिन्तनके धरातलपर मनुष्य जीवनके जीवित सन्दर्भमें सोचता है।

विभिन्न विद्वानोंने अस्तित्ववादकी अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। जूलियन बेन्द्राके अनुसार 'अस्तित्ववाद भाव तथा विचारके प्रति जीवनका विद्रोह है'। एमानुएल मौनियरके शब्दोंमें 'भावों तथा वस्तुओंके अतिवादी दर्शनके विरोधमें मानवीय दर्शन' ही अस्तित्ववाद है। सबसे स्पष्ट तथा उपयुक्त परिभाषा ऐलेनकी है। उनके अनुसार अस्तित्ववाद परम्परागत दर्शककी दृष्टि न होकर अभिनेताकी दृष्टि है। इस विचार-पद्धतिमें जीवनकी समस्याओंपर विचार भुक्तभोगियोंकी ओरसे होता है।

अस्तित्ववादी विचारधाराका प्रारम्भ होता है मनुष्यकी अवश तथा निरुपाय स्थितिसे। मानव-जीवनका सबसे बडा अभिशाप, सबसे बड़ी चुनौती मृत्यु है। जन्मके साथ मृत्यु अनिवार्य रूपसे सम्बद्ध है। मनुष्य इसके लिए कुछ कर नहीं सकता। और यहाँ वह देखता है कि उसे वरण (choose) करनेकी स्वच्छन्दता नहीं है। अत उसे अत्यन्त कम समयमें अपने व्यक्तिगत जीवनको एक अर्थ देना है।

इस सन्दर्भमें अस्तित्ववादी चिन्तकोंके दो वर्ग हो जाते हैं। एक वर्ग मानव-जीवनको ईश्वरसे सयुक्त करके उसे उसका वास्तविक मूल्य देना चाहता है, जब कि दूसरा वर्ग पूर्णत निरीश्वरवादी है। कीर्केगार्ड तथा यास्पर्स प्रथम वर्गसे सम्बद्ध हैं। इन्हें प्राय क्रिश्चियन एक्जिस्टेन्शियलिस्ट कहा जाता है। अस्तित्ववादकी क्रिश्चियन व्याख्या ऐलेनने अपनी पुस्तक 'एक्जिस्टेन्शियलिज्म फ्रॉम विदिन'में बड़े स्पष्ट ढगसे की है। अस्तित्ववादके निरीश्वरवादी पक्षका प्रतिनिधित्व सार्त्र करते हैं।

जीवनसे प्रत्यक्षत सम्बद्ध होनेके कारण अस्तित्ववादका एक राजनीतिक पक्ष भी स्पष्ट रूपसे उभरकर आया है, यद्यपि उसके मुख्य प्रवर्तक सार्त्रका राजनीतिक मत स्वत बहुत निश्चित नहीं रहा है। अस्तित्ववादकी सैद्धान्तिक राजनीतिका प्रामाणिक विवेचन अल्बर्टकेमुअकी प्रसिद्ध कृति 'ल होमे रिवोल्ते'में हुआ है।

अस्तित्ववादी चिन्तनाकी पृष्ठभूमिमें यूरोपकी युद्धकालीन विभीषिकाएँ हैं। मानवजीवनकी क्षुद्रताओंको देखकर इन विचारकोंने अपनी लेखनी तथा अपने कर्मोंसे एक आमूल क्रान्ति लानेका प्रण किया। इन लेखकोंमेंसे अधिकाश युवा थे तथा परम्परागत मूल्योंको निष्प्राण समझकर उनके स्थानपर अधिक सशक्त तथा मानवीय मूल्योंकी स्थापना करना चाहते थे। जीवनकी विवशताओंसे उत्पन्न हुई निराशा तथा वेदनाने इन्हें आगे बढ़नेके लिए प्रेरित किया। यह सचमुच एक विचित्र तथ्य है कि इतने कर्मण्य बौद्धिक आन्दोलनको प्रेरित किया अवसाद तथा निराशाने। इतिहासमें इसकी तुलना किसी हदतक बुद्ध दर्शनकी करुणासे की जा सकती है।

अस्तित्ववादी लेखक काल्पनिक साहित्य-सर्जनमें विश्वास नहीं करते। उनकी दृष्टिमें साहित्य जीवनके दैनन्दिन सघर्षोंसे घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध है। मानवमुक्तिमें उसकी अटूट आस्था है। इस साहित्य-चिन्तनका प्रारम्भ सार्त्रसे होता है, जिसका अनुसरण बादमें बहुतसे लेखकोंने किया। इन लेखकोंमेंसे बहुतोंने एक ओर तो कृति साहित्यकी रचना की और दूसरी ओर शुद्ध दार्शनिक स्तरपर अस्तित्ववादी विचारधाराको स्थापित करनेका प्रयत्न किया।

सार्त्र अपनी उपन्यास त्रयी, कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट नाटकों तथा कहानियोंके लिए कृति साहित्यके क्षेत्रमें प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं। उनकी ये सभी रचनाएँ मूल फ्रेंचसे अंग्रेजीमें अनुवादित हो चुकी हैं। कलाकी दृष्टिमें सार्त्रके नाटक (इन कैमरा, द फ्लाइज, रेस्पेक्टेबल

प्रोमीथ्यूट, लूसीफर एण्ट द लॉर्ट, कीन, इन द मेश) अत्यन्त उत्कृष्ट कोटिके है। अस्तित्ववादी चिन्तनके क्षेत्रमें भी सार्त्रकी कृतियाँ प्रथम पंक्तिमें हे। इस सन्दर्भमें उसकी समीक्षात्मक कृतियाँ (हाट इज लिटरेचर) भी विशेष रूपमे उल्लेखनीय हे।

सार्त्रका अनुयायी, परन्तु बादमें उसका बहुत कुछ विरोधी, नोबुल पुरस्कार विजेता फ्रेंच लेखक एल्बर्ट केमुअ (१९१३ ई०) अस्तित्ववादी चिन्तनके क्षेत्रमें सार्त्रके बराबर ही महत्त्व रखता हे। उपन्यास तथा नाटकोंका माध्यम उसने कृति साहित्यके क्षेत्रमें अपनाया। इसके अतिरिक्त केमुअने अपना दार्शनिक विचारधारा अलगसे कई ग्रन्थोंमें प्रतिपादित की है। उसकी प्रसिद्ध कृति 'ल होमे रिवोल्ते'का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। सार्त्र तथा केमुअके वाद-विवाद पत्रोंमें बडी रुचिके साथ पढे गये थे। 'कम्बैट' नामक पत्रमें समय-समयपर प्रकाशित होनेवाले उसके निबन्ध बुद्धजीवियोंमें अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं।

अस्तित्ववादी वर्गकी एक अन्य प्रसिद्ध लेखिका हैं सिमोन दे ब्युवोइ। अपने उपन्यास 'ल सा दे ओत्रे' (१९४५ ई०)में उसने समाजके प्रति व्यक्तिके दायित्वका चित्रण किया है। अपनी नाट्यकृतिसे उसने अस्तित्ववादी विचारधाराको सामान्य जनतातक पहुँचाया है।

यहाँ स्मरणीय है कि अस्तित्ववादी चिन्तन कृति साहित्यमें सदैव बहुत सफल अभिव्यक्ति नहीं पा सका है। इस वर्गके कुछ लेखकोंकी रचनाएँ बहुत कुछ वादनिरपेक्ष भी हैं। मूल अस्तित्ववादी चिन्तन तो इन लेखकोंकी समीक्षात्मक कृतियोंमें ही द्रष्टव्य है। प्रायः सभी अस्तित्ववादी लेखक कृति साहित्यकार होनेके साथ-साथ गम्भीर दार्शनिक भी हैं।

हिन्दी साहित्यमे अबतक अस्तित्ववादकी प्रायः चर्चा हा हुई हे। इस विचारधाराका कोई उल्लेखनीय प्रभाव हिन्दीमें नहीं दिखाई देता। इसका एक कारण बहुत स्पष्ट है। हिन्दीने लगभग सभी यूरोपीय प्रभाव अँग्रेजीके माध्यमसे आये है और अस्तित्ववाद अपने सारे महत्त्वके साथ भी अँग्रेजी साहित्यमें गहरे नहीं उतर सका।

हिन्दी साहित्यमें कहीं-कहीं सार्त्रके क्षणकी असीमताकी चर्चा मिल जाती है, वेदनाकी अस्तित्ववादी दृष्टि भी कहीं-कहीं द्रष्टव्य हें। इस प्रकारकी चर्चाएँ अज्ञेयके 'नदीके द्वीप'में सुलभ हे। नयी कविताकी समीक्षाके अन्तर्गत भी क्षणके महत्त्वकी विवेचना कभी-कभी उपलब्ध होती है।

[सहायक ग्रन्थ-(१) सिक्स एक्जिस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स : ब्लैखम, (२) एक्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमेनिज्म : सार्त्र, (३) एक्जिस्टेंशियलिज्म फ्रॉम विदिन : एलेन।] —रा० स्व० च०

अस्थानपदता-दे०-'शब्द-दोष', बारहवा वाक्य-दोष।

अस्फुट व्यंग्य-गुणीभूत व्यंग्यका एक भेद, जिसमें व्यंग्यार्थ सहृदय जनों द्वारा भी सरलतासे नहीं समझा जा सकता। 'अनदेखे देखन चहे, देखें बिछुरन भीन। देखें बिन, देखेहु पै, तुमसों सुख नहिं मीत।' (का० कल्प० पृ० ३१०), इस दोहेसे यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि हे मित्र! आप सदैव समीप ही रहें किन्तु इस व्यंग्यार्थकी प्रतीति दिमाग खरोचनेपर ही होती है। —उ० श० शु०

अहंकार-अपनेको देवता समझ लेना वज्रयानी साधनामें अहंकार नामसे अभिहित होता है। अहंकार-पद्धतिमें मन्त्र-जपके उपरान्त साधकमें आवेश जाग्रत् होता है। उस आवेशमें देवता साधकके माध्यमसे स्वयको अभिव्यक्त करता है। काम, क्रोध आदि अनेक आवेश अहंकार-पद्धतिमें आते हैं जिसे उपशमन करनेके बाद साधक मण्डलमें प्रवेश करता है। —व० वी० सा०

अहंता-'अहम्'की अनुभूति। 'अहम्'के भावके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग आधुनिक साहित्यमें होता है। सामान्य भाषामें प्रयुक्त 'अहंकार'से 'अहन्ता'का अर्थ भिन्न है—'अहंकार'में गर्वका बोध होता है, 'अहन्ता'मे केवल 'अहं'के मनोवैज्ञानिक महत्त्वका। —प्री० अ०

अहम्-(ego) दार्शनिक दृष्टिकोणसे 'अहम्' शब्दका अर्थ व्यावहारिक, अविद्यासे सीमित, अनात्मसे एकीकृत आत्मा है जो मै और मेरेकी भावना उत्पन्न करती हैं। यह अर्थ साहित्यमें वेदान्तदर्शनसे लिया गया है। प्राचीन साहित्यमें, विशेषकर सन्त साहित्यमें, इस शब्दका यही अर्थ मिलता है। **अहंकार** और **ममता** इसी शब्दसे विकसित हुए हैं। किन्तु आधुनिक साहित्यमें इस शब्दका, एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थमें प्रयोग होता है, जो कि फ्रायडके मनोविश्लेषणपर आधारित है। फ्रायडके मनोविज्ञानमें कामवृत्ति, संघर्ष, दमन और अवरोध महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार संघर्ष आरम्भमें मानसकी दो सतहोंमें होता है, ऊपरी अथवा बाह्य सतह जो वातावरणके सम्पर्कमें आती है और भीतरी सतह जो इस सम्पर्कमें नहीं आती। पहली सतहको फ्रायड और उनके अनुयायी 'अहम्' संज्ञा देते हैं। **इदम्** या **इडके** विपरीत यह मानसका यथार्थसे समन्वित अंश है, परन्तु इसका विकास 'इड'से ही होता है और इसे हम 'इड'का संघटित भाग मान सकते हैं। अहम् संसार और इडके बीच मध्यस्थका काम करता है, यह 'इड'की मौलिक प्रवृत्तियोंको संसारके यथार्थके अनुरूप और संसारको 'इड'की वासनाओंके अनुकूल बनानेका प्रयास करता है। इस प्रयासमे यह प्रायः 'इड'की वासनाओंका दमन करता है, दमित वासनाएँ 'इड'का ही अंश बन जाती हैं। अहम् अधिकांश रूपमें चेतन माना गया है, लेकिन वासनाओंका दमन और अवरोध अचेतन रूपमे भी होता है इसलिए अहम् इस प्रक्रियामें अचेतन रूपमे काम करता है। इस प्रकार अहम्के चेतन और अचेतन दोनों पक्ष हैं। अचेतन पक्षमें यह 'इड'में ही विलुप्त-सा रहता है परन्तु इसका काम पूर्णतः भिन्न है। अपनी सुरक्षाकी, वासनाओंको न्यूनतम संकट झेलकर अधिकतम सुविधाके साथ तृप्त करनेकी चिन्ताएँ अहम्के ही लिए हैं। अर्थात् अहम् मनुष्यके बौद्धिक और व्यावहारिक पक्षका ही नाम है। स्वस्थ मानसिक स्थितिमें 'इड' और 'अहम्' एक-दूसरेके विरोधी नहीं हैं। इनका अत्यधिक विरोध ही मानसिक संघर्षों और व्यक्तित्वकी समस्याओंका कारण होता है। —प्रा० अ०

अहस्थापन-दे०—'मनोविश्लेषण'।

अहिंसा-साध्यवादको अपने आदर्शकी प्राप्तिमें हिंसाके

प्रयोगमें परहेज नहा, वह माध्यकी सिद्धिके लिए हिंसा और अहिंसामेंसे सुविधानुसार किसीका भी वरण कर सकता है। उसके लिए साध्य ही साधनकी कसौटी है। लेकिन गान्धीवाद (दे०) किसी भी अवस्थामें हिंसात्मक क्रान्तिकी अनुमति नहीं दे सकता। हिंसा द्वारा जिस समाज-रचनाका उदय होगा उसे वह अपना आदर्श माननेमें इनकार करेगा। वह साधनकी पवित्रता किसी भी अवस्थामें नष्ट होते नहीं देख सकता। वह साधनको साध्यकी कसौटी मानता है।

गान्धीवादने संसारमें शायद पहली बार राजनीतिको विश्वजनीन नीति-नियमोंकी आधार-शिलापर प्रतिष्ठित किया है। सत्य और अहिंसाको वह जटिलसे जटिल परिस्थितिमें भी त्यागनेकी अनुज्ञा नहीं देता। वह सत्य और अहिंसाकी रक्षामें बडीसे बडी राजनीतिक लब्धिको ठुकरा सकता है। उसके लिए अहिंसा सामयिक नीतिमात्र नहीं बल्कि देश, काल, परिस्थितिसे अनवच्छिन्न, अटल सिद्धान्त है। —ह० ना०

अहीर—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'-(१ १७७)के अनुसार इसका लक्षण है—११ मात्राका सम छन्द जिसके अन्तमें जगण (ISI)का प्रयोग होता है। सम्भवत यह छन्द प्राकृत अपभ्रंशकालसे प्रचलित रहा है। इसका उल्लेख भिखारीदासने 'छन्दार्णवपिंगल' (पृ०१८)में किया है। इसका प्रयोग केशव (रा० च०) तथा सूदन-(सु० च०)ने किया है। उदा०—'सुरभित मन्द बयार, सरसे सुमन सुडार। गूँज रहे मधुकार, धन्य वसन्त बहार'। (रा० च०)।

अहेरी—विषयासक्त मनके लिए मृगकी उपमा भारतीय धर्म-साधनाओंमें बहुत पहलेसे ग्रहण की जाती रही है। सिद्धोंने भी 'अपणा माँसे हरिणा वैरी' ('चर्यापद' ६) लिखा है। कबीर भी खेत खानेवाले मृगका उल्लेख करते है। इसी मृगको मारनेके लिए अहेरीकी या पारधीकी आवश्यकता पडती है—'सन्तनि एक अहेरा लावा, मिर्गनि खेत सबन्हिका खावा' (क० ग्र०)। इसी अहेरीका संकेत भुसुकु पाने किया है—'जाइ तुम्हें भुसुकु अहेरी जाइबो'—('चर्यापद' २३)। साधक ही वास्तवमें अहेरी है। वह अहेरी गुरु-वचन रूपी बाणका प्रयोग करता है। 'गुरु वाक् पुँछिया विन्ध निअमण वाणे' ('चर्यापद' २८) या 'गुरुके बाण बजर कल छेदी प्रगटिया पदु परगासा' ('सन्त कबीर' रामकुमार वर्मा)। इसी मृगका मास वास्तवमें ज्ञान है जिसका भक्षण अत्यन्त आवश्यक है—'हण विणु मास भुसुकु नलिनिवन पइसहिलि'—('चर्यापद' ३३) या 'सावज न होय भाई सावज न होय। वाको मास भखे सब कोय'—('बीजक' कबीर) —ध० वी० भा०

आँगन—आँगनका अर्थ चर्यापदोंमें उष्णीष कमल है—'आँगन घरपण सुन भो विआती'—('चर्यापद' २)। कबीरने आँगनका प्रयोग अन्त करणके अर्थमें किया है—'उठि अलबेली नार आइ दियो अँगना'—(क० ग्र०)। —उ० ग्र० ग्रा०

आकाशभाषित—जहा रंगमंचपर कोई पात्र 'क्या कहते हो' इस तरह कहता हुआ दूसरे पात्रके बिना ही, बातचीत करे, वह 'आकाशभाषित' होता है। —व० सिं०

आकाशमण्डल—दे०—'हठयोग'।

आक्रामित—दे०—'प्रौढा' नायिका।

आक्षेप—सादृश्यगर्भके गम्योपम्याश्रय वर्गका प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार। इस प्रसंगमें इसका अर्थ निषेध है। भामह तथा उद्भट द्वारा प्रस्तुत लक्षणमें निषेधका भाव स्पष्ट रूपसे विद्यमान है—'प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। आक्षेप इति तं सन्त शंसन्ति कवय सदा।' (का० सा० स० २'२) अर्थात् कवियोंकी एक ऐसी भा वैचित्र्यपूर्ण उक्ति है जिसमें इष्टार्थ एक ऐसे निषेधके व्याजसे वर्णित किया जाता है कि निषेध होनेपर भी अन्तमें विधि-रूपमें परिणत हो जाया करता है। इसीके आधारपर मम्मटने व्याख्या की है—'जिसमें किसी बातकी विवक्षाकी दृष्टिसे उस विषयका वर्णन निषिद्ध किया जाय तो प्राकरणिक होनेके कारण वर्णनके योग्य हो (का० प्र० १० १०६, १०७)। 'काव्यप्रकाश'में इसके दो भेद—वक्ष्यमाण तथा उक्तिविषयक आक्षेप माने गये हे। वृत्तिमें मम्मटने निषेधको वास्तवम निषेधाभास कहा है। विश्वनाथने इसी शब्दका प्रयोग अपने लक्षणमें किया है। 'कुवलयानन्द'में इसके तीन भेद माने गये हैं। इसमें चार तत्त्व स्वीकृत ह—१ कुछ विशेष कथन २ व्यक्त निषेध, ३. प्रतिषेध परिस्थितियोंके कारण वस्तुत अव्यावहारिक पर स्पष्ट तथा ४ विशेष अर्थके प्रतिपादनका प्रयत्न (अल० स० पृ० ११७)। अप्पय दीक्षित आदिका तीसरा आक्षेप निषेधाभास है। हिन्दीके आचार्योंने प्राय इन्हींका आधार लिया है। वस्तुत इस अलंकारका निषेध आभासके रूपमें ही होता हे, क्योंकि वास्तविक होनेपर आलंकारिक चमत्कार नहीं रह जायगा।

प्रथम—'जहाँ कहा निज बातको समुझि करत प्रति-षेध।' (ल० ल० १८७) अथवा 'करव निषेध सुउक्तिको, यहै प्रथम आक्षेप।' (पद्मा० १३२)। दासने इसीको तीसरा भेद माना है 'निज कथनकौ दूषन भूषन' (का० नि० १२)। इसमें अपने कथित अर्थका उत्कर्षसूचक निषेध किया जाता है—'तुव मुख विमल प्रसन्न अति, रह्यो कमल सौ फूलि। नहिं नहिं पूरन चन्द सौ, कमल कह्यो म भूलि।' (वही) अथवा—'सोनेके भूषण अंग रचो मतिराम सबै सम कीबेको घासें। यों ही चले न सिंगार सुभावहि म सखि भूलि कही सब बातें।' (ल० ल० १८८)। यहा निषेध करके 'पूरन चन्द' तथा 'सिगार सुभावहि' कहा गया है।

द्वितीय—'जहाँ न साच निषेध है, है निषेध आभास।' (ल० ल० १८९) अथवा—'झूठ निषेध आक्षेप भन, वाँ निषेधाभास।' (पद्मा० १३३)। दासका यह दूसरा रू आक्षेप है। इसमें विवक्षितार्थका वास्तविक निषेध न होकर निषेधका आभासमात्र होता है—'आज ते नेहको नाता गयो तुम नेम गह्यो हो हू नेम गहागी।' (का० नि० १०) अथवा—'हा न कहत तुम जानिहो, लाल बालकी बान। अँसुवा उडगन परत हे, होन चहत उतपात।' (ल० ल० १९०), यहाँ मुख्य बातका निषेध न होकर मात्र आभास है।

तृतीय—'जह विधि प्रगट बखानिये, छाया निषेध प्रकास।' (ल० ल० १९१) अथवा—'सु आक्षेप जहँ विधि प्रगट, दुर्यो निषेध बखान।' (पद्मा० १३४)। दासने इसे प्रथम भेद माना है। इस व्यक्ताक्षेपमें अनिष्ट अर्थका

ऐसी विधि होती है जो निषेधके तात्पर्यसे गर्भित होती है–'कान्ह पयान करौ तुम्ह ता बिना मोहि लै देव नदी अन्हवावै।' का० नि० १२) अथवा–'कोपनिनै किसलय जवे, होहि कलिनने कौल। तव चलाइये चलनकी, चरचा नायक नौल।' (ल० ल० २९३) यहाँ अनिष्ट-कथनकी स्वीकृतिमें निषेध गर्भित है। —र०

आख्यान–[आ+ख्या+ल्युट् (अन) भावे] (क) सामान्य अर्थ—१ कथन, निवेदन, उक्ति, २ कथा, कहानी, ३ प्रतिवचन, उत्तर (यथा 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः', अष्टाध्यायी ८।२।१०५ में) (ख) विशेष अर्थ—१ भेदक धर्म [इस अर्थमें उपर्युक्त 'ल्युट्' प्रत्यय 'भाव' (क्रियापदसे प्रकट होनेवाला कर्म) अर्थ न होकर 'करण' अर्थमें गृहीत होगा एवं 'आख्यायते अनेनेति आख्यानम्' यह व्युत्पत्ति होगी]। इस शब्दका इस अर्थमें प्रयोग 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' (अष्टाध्यायी १।४।९०) में हुआ है (दे० तारानाथकृत 'वाचस्पत्यम्' नामक कोश)। २ पुरावृत्तकथन ('आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः' अ० को०) ऐतिहासिक कहानी, पौराणिक कथा। वेदोंमें आये हुए ऐसे ही आख्यानोंका संग्रह 'पुराणसंहिता' नामसे अथर्ववेद आदिमें उल्लिखित है जैसे, सुपर्ण और पुरूरवा इत्यादिके आख्यान ऋग्वेदमें मिलते हैं। मनुस्मृति, तृतीय अध्यायमें पितृश्राद्धके अवसरपर किये जानेवाले कर्मोंके विवरणमें 'स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि। आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च (मनु० ३ · २३२) लिखा है, जिसपर व्याख्यान लिखते हुए कुल्लूक भट्टने मन्वर्थमुक्तावलीमें 'आख्यानानि सौपर्णमैत्रावरुणादीनि' लिखा है। ३ महाभारत इत्यादि इतिहास ग्रन्थ। अनेक आख्यानों एवं उपाख्यानोंका 'जय' नामक इतिहास ग्रन्थ (वर्तमान महाभारतके मूल रूप)में संग्रह होनेके कारण ही परिवर्धित महाभारतको आख्यान-काव्यका नाम प्राप्त हुआ होगा। ४ इन महाभारत आदि आर्ष काव्योंके सर्ग। इस अर्थके प्रामाण्यमें तारानाथने स्वकृत 'वाचस्पत्यम्' में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—'नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु। अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः॥' और इनका उदाहरण देते हुए 'यथा भारते रामोपाख्यान, नलोपाख्यानमित्यादि' लिखा है। (ग) हिन्दीमें यह शब्द प्रायः प्राचीन कथानक या वृत्तान्तके ही अर्थमें प्रयुक्त होता है। (घ) पर्याय–कथा, कथानक, आख्यायिका, वृत्तान्त इत्यादि। (ङ) व्यापक अर्थ—कहानी, कथा, और इसी अर्थमें उपर्युक्त पर्याय दिये गये हैं। इसका सीमित अर्थ है ऐतिहासिक कथानक, पूर्ववृत्त-कथन। —आ० प्र० मि०

आख्यानक गीत–दे०–'लोकगाथा' और 'साहित्यिक गाथा'।

आख्यायिका–[आ+ख्या+ण्वुल्]। (क) साधारण अर्थ १ कहानी, वृत्तान्त, किस्सा। (ख) विशेष अर्थ—संस्कृत गद्य काव्योंके दो प्रकारोंमेंसे एक। इसका लक्षण अमरकोशमें 'आख्यायिकोपलब्धार्था' (१।६।५) अर्थात् जिसका विषय ज्ञात या सत्य हो, ऐसा किया गया है। दूसरा प्रकार 'कथा' कहलाता है जिसका लक्षण अमरकोशमें 'प्रबन्धकल्पना कथा' (१।६।६) अर्थात् जिसका विषय काल्पनिक हो, सत्य जिसमें अल्प ही हो, ऐसा किया गया है। गद्य-काव्यके इन दोनों प्रकारोंके उदाहरण क्रमशः 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' माने जाते हैं। 'साहित्यदर्पण' आदि परवर्ती साहित्य-शास्त्रोंमें प्राप्त होनेवाले लक्षण इन्हीं दोनों काव्योंकी रचना-शैलीको दृष्टिमें रखकर दिये गये हैं। 'साहित्यदर्पण'में आख्यायिकाका लक्षण इस प्रकार किया गया है 'आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशादिकीर्तनम्। अस्यामन्यकवीनाञ्च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित्॥ कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते। आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥ अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्॥' कथाका लक्षण इस प्रकार किया गया है 'कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके। आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्॥' परन्तु पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी (छठी या सातवीं शताब्दी) ने इन दोनोंको एक ही माना है, केवल नामसे भिन्न बताया है 'तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता' (काव्यादर्श १ २८)। इतना ही नहीं, 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' जैसे गद्य-काव्य तथा 'पञ्चतन्त्र', 'हितोपदेश' इत्यादि गद्य-पद्यात्मक कहानियोंके संग्रहोंमें भी काव्यादर्शकार कोई भेद करते नहीं जान पड़ते। इन्होंने शैलीकी दृष्टिसे गद्य वाङ्मयके वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय, चूर्णक आदि चार भेद करके इन्हींके अन्तर्गत अन्य समस्त गद्यात्मक ग्रन्थोंको मान लिया है 'अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।' (ग) हिन्दीमें यह शब्द 'कहानी' या कथाके ही अर्थमें प्रयुक्त होता है। (घ) व्यापक अर्थ—कहानी या वृत्तान्त, सीमित अर्थ संस्कृत गद्य-काव्यका एक भेद। (दे०–'आख्यान')। —आ० प्र० मि०

आगतपतिका (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। यह वस्तुतः हिन्दीके आचार्योंका अपना भेद है, कृपारामने इसे स्वागतपतिका कहा है। सूर तथा रहीमने आगतपतिकाको स्वीकार किया है। मतिरामके अनुसार 'जा नियको परदेस तें आयो' प्रिय हो उसे आगतपतिका कहते हैं। पर पद्माकरने इसमें हर्षित होना और जोड़ दिया है–इस प्रकार अपने प्रियके आगमनपर प्रसन्न होनेवाली नायिका। नायिकाकी इस अवस्थाके अन्तर्गत स्वकीयाके मुग्धादिक भेद, परकीया तथा सामान्या सभीको स्वीकार किया गया है। मुग्धा आगतपतिका अपने मनके उल्लासको अभिव्यक्त करनेमें संकुचित है—'बहुत दिवसपर पियवा आयउ आज। पुलकित नवल दुलहिया कर गृह काज। (रहीम : बरवै : ६६)। साथ ही मनके आवेगके कारण वह अस्थिर है—'भीतर भौनके द्वार खरी सुकुमारि तिया तन कंप बिसेखै। घूँघटको पट ओट दिये पट ओट किये पियको मुख देखै।' (मतिराम · रसराज : २१७)। मध्याकी लज्जा और प्रेमका आवेग इस आगतपतिकामें समान रूपसे देखा जा सकता है—'आय गये मतिराम जबै तबै देखत नैन अनंद गये रत। भौनके भीतर भाजि गयी हँसिकै हलवै हरिको फिरि हेरत।' (वही : वही · २१९)। प्रौढ़ा आगतपतिकामें निस्संकोच भावका उल्लास है—'आवत सुनत तिरियवा उठि हरखाय। तलफत मनहुँ मछरिया जनु जल पाय।' (रहीम · बरवै ·

६८) । परकीया आगतपतिकाके रूपमें मिलनके लिए उत्सुक दिखाई पड़ती है—'पूछति चली खबरिया मितवा तीर । हरखित अतिहिं तिरियवा पहिरत चीर ।' (वही वही ६९) । सामान्या मिलनके लिए उत्सुकतामें भी यह नहीं भूलती कि प्रिय क्या लाये हैं—'वे आये ल्याये कहा यह देखनके काज । सखिन पठावति ससिमुखी सजत आपनो साज ।' (पद्माकर : जगद्विनोद १ २६८) । रीतिकालके काव्यमें नायिकाके आवेग, उल्लास तथा मिलनोत्कण्ठाका चित्रण इस नायिकाके रूपमें हुआ है तथा इसके अन्तर्गत आलंकारिक चमत्कृत वर्णनोंको भी अवसर मिला है ।—र०

आज्ञा चक्र–दे०–'हठयोग' ।

आत्मकथा–आत्मकथा लेखकके अपने जीवनका सम्बद्ध वर्णन है । आत्मकथाके द्वारा अपने बीते हुए जीवनका सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमिमें अपने जीवनका महत्त्व दिखलाया जाना सम्भव है ।

डायरी, जर्नल, संस्मरण, (दे०) पत्र आदि रचना-प्रकार भी आत्मकथाके ही स्फुट रूप हैं । इन्हें व्यक्तिगत प्रकाशन—पर्सनल रिलेलेशन—वाले साहित्यके अन्तर्गत रखा जा सकता है, क्योंकि जाने-अनजाने आत्मांकन करना ही इन विविध रचना-प्रकारोंका उद्देश्य होता है । जीवन-चरित्र आत्मकथासे इस अर्थमें भिन्न है कि किसी व्यक्ति द्वारा लिखी गयी किसी अन्य व्यक्तिकी जीवनी जीवन-चरित्र है और किसी व्यक्ति द्वारा लिखी गयी स्वयं अपनी जीवनी आत्मकथा । आत्मचरित और आत्मचरित्र हिन्दीमें आत्मकथाके अर्थमें प्रयुक्त प्रारम्भिक शब्द हैं और तत्त्वतः आत्मकथासे भिन्न नहीं है । एक सूक्ष्म अन्तर कदाचित् यह है कि आत्मचरित कहलानेवाली रचना किंचित् विश्लेषणात्मक और विवेकप्रधान होती थी और अब आत्मकथा कही जानेवाली कृति अपेक्षया अधिक रोचक और सुपाठ्य होती है । आपबीती, अपने साथ बीती हुई सामान्यतः किसी अ-सुखद घटनाका वर्णन है । ' की रामकहानी' और ' की कहानी, उसीकी जबानी' शीर्षकसे लिखी गयी रचनाओंकी शैली तो आत्मकथाकी होती है, पर वे किसी अन्यके जीवनपर प्रकाश डालती हैं । वास्तवमें, ऐसी रचनाएँ प्रथम पुरुष सर्वनाममें लिखित जीवनियाँ हैं और उचित यह है कि इन्हें आत्मकथा या जीवनी शैलीमें लिखी गयी स्फुट गद्य-रचनाओंकी संज्ञा दी जाय । आत्मकथा, जीवनी या पत्र-शैलीमें निबन्ध भी लिखे जा सकते हैं और कहानी-उपन्यास भी, पर स्वतन्त्र विधाकी दृष्टिसे आत्मकथा आदि रूपोंका साहित्यमें अपना अलग स्थान है ।

आत्मकथात्मक साहित्य क्यों लिखा जाता है, यह बड़ा संगत प्रश्न है । सोचनेपर दो भिन्न दृष्टिकोण लक्षित होते हैं । एक प्रकारके आत्मकथात्मक साहित्यका उद्देश्य होता है—आत्म-निर्माण, आत्म-परीक्षण या आत्म-समर्थन, अतीतकी स्मृतियोंको पुनर्जीवित करनेका मोह या जटिल विश्वके उलझावोंमें अपने-आपको अन्वेषित करनेका सात्त्विक प्रयास । इस प्रकारके आत्मकथात्मक साहित्यके पाठकोंमें सर्वप्रमुख स्वतः लेखक होता है, जो आत्मांकन द्वारा आत्म-परिष्कार एवं आत्मोन्नति करना चाहता है । आत्म-सम्बन्धी साहित्य लिखनेका एक दूसरा उद्देश्य यह भी है कि लेखकके अनुभवोंका लाभ अन्य लोग उठा सकें । महान् ऐतिहासिक आन्दोलनों और घटनाओंके सम्पर्कमें रहनेसे डायरी, संस्मरण या आत्मकथा-लेखकको यह आशा होना स्वाभाविक है कि आगामी युगोंमें उसकी रचना उसके युग तथा समयके प्रमाणरूपमें पढ़ी जायगी । यदि धर्म, राजनीति अथवा साहित्यके इतिहास-निर्माणमें किसी व्यक्तिका महत्त्वपूर्ण हाथ रहा हो तो अवश्य ही पाठक उस व्यक्तिके बारेमें स्वयं उसकी लिखी बातोंको पढ़ना पसन्द करेंगे । इन दोनों स्वतःसिद्ध उपयोगोंके अतिरिक्त आत्मकथा-लेखनके मूलमें कलात्मक अभिव्यक्तिकी प्रेरणा भी हो सकती है और अपनी पद-मर्यादा अथवा ख्यातिसे लाभ उठानेकी शुद्ध व्यावसायिक इच्छा भी ।

जैन कवि बनारसीदासकी 'अर्धकथा' हिन्दीकी प्रथम आत्मकथाओंमें गिनी जाती है । हिन्दीके प्राचीन साहित्यमें आत्मकथात्मक सामग्री भी यत्र-तत्र ही मिलती है, सुनिश्चित और व्यवस्थित आत्मकथाओंके लिखे जानेका तो, खैर, प्रचलन ही न था । आधुनिक युगमें, साहित्यके अन्य गद्यरूपोंके साथ, आत्मकथाकी ओर भी लेखकोंका ध्यान गया । स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' नामसे आत्मकथा लिखना प्रारम्भ किया था । जितना अंश वे लिख सके, उसमें उन्होंने जवानीके वातावरण और मुफ्तखोरे सिफारिशी मुसाहिबोंका बहुत सजीव चित्र खींचा है । स्वामी दयानन्दने पूनाके व्याख्यानोंके अन्तर्गत अपने जीवनसे सम्बद्ध विवरण दिये थे । सन् १९०१ में अम्बिकादत्त व्यासने 'निजवृत्तान्त' नामक आत्मकथा लिखी । स्वामी श्रद्धानन्दकी आत्मकथा 'कल्याण पथका पथिक' हिन्दीकी प्रारम्भिक आत्मकथाओंमें है ।

कालान्तरमें अनेक सम्बद्ध और स्फुट आत्मकथाएँ हिन्दीमें लिखी जाती रहीं । सम्बद्ध रूपसे लिखी गयी आत्मकथाओंमें श्यामसुन्दरदासकी 'मेरी आत्मकहानी', और राजेन्द्रप्रसादकी 'आत्मकथा' प्रमुख हैं । राजेन्द्र बाबूकी आत्मकथा उनके जीवनकी कथामात्र न होकर समस्त समकालीन घटनाओं, व्यक्तियों और आन्दोलनोंका भी इतिहास है । स्फुट निबन्धोंके रूपमें लिखी गयी महावीरप्रसाद द्विवेदीकी आत्मकथा, गुलाबरायकी 'मेरी असफलताएँ' या सियारामशरण गुप्तकी 'झूठ-सच', 'बाल्यस्मृति' आदि रचनाओंमें स्वाभाविकता, सत्यहृदयता, और निष्कपट आत्मप्रकाशनके गुण विद्यमान हैं । राष्ट्रभाषाके माध्यमसे इस साहित्यिक रूपके विकासकी अपरिमित सम्भावनाएँ हैं ।

[सहायक ग्रन्थ—'मेरी आत्मकहानी' : श्यामसुन्दरदास, 'आत्मकथा' : राजेन्द्रप्रसाद, 'मेरी जीवन-यात्रा' राहुल सांकृत्यायन, 'सिंहावलोकन' यशपाल, 'प्रवासीकी आत्मकथा' भवानीदयाल संन्यासी, 'मेरा जीवन-प्रवाह' वियोगीहरि, 'हंस' आत्मकथा अंक, सम्पादक प्रेमचन्द, 'सत्यके प्रयोग' महात्मा गान्धी, 'मेरी कहानी' जवाहरलाल नेहरू] । —उ० कु०

आत्मकहानी–दे० 'आत्मकथा' ।

आत्मचेतना–चेतनाका विशेष रूप है आत्मचेतना और यह चिन्तनशील प्राणी मानवकी विशेषता है । चेतना

वस्तु या विषयकी हो सकती है और स्वयं व्यक्ति, विषयी या चेतनाकी भी। दूसरेको ही आत्मचेतना कहते हैं, अर्थात् जब हमें यह चेतना हो कि हमें अमुक अनुभव हो रहा है तो वह आत्मचेतना है। मानवमानसकी यह विशेषता है कि पदार्थकी चेतना होते समय परोक्ष रूपसे वह उस चेतनाको अपनेसे सम्बन्धित करके भी जानता है। हम यदि सुन्दर पुष्पको देखते हैं तो पुष्पकी चेतनाके साथ अस्पष्ट रूपसे यह ज्ञान भी रहता है कि हमें फूलकी चेतना हो रही है। यही सरल अर्थोंमें आत्मचेतना है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे वस्तुचेतना आत्मचेतनासे पहले विकसित होती है। शिशुके अनुभवोंमें आत्मचेतना नहीं होती।

आत्मचेतनाका दार्शनिक महत्त्व बहुत अधिक है। इसीके आधारपर विज्ञानवादी और प्रत्यक्षवादी (idealists) दार्शनिक आत्माके अस्तित्वको सिद्ध करते हैं। इस अर्थमें यह शुद्ध अहम् अथवा आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव है–'मैं हूँ' यह चेतना।

साहित्यमें इस शब्दके मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों अर्थ रूढ़ हैं। —प्री० अ०

आत्मनिष्ठ (काव्य)–दे०–'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

आत्मपीडन–स्वयं मानसिक या शारीरिक कष्ट देकर तृप्ति पाना ही आत्मपीड़न (masochism) है। अत्यन्त सूक्ष्म रूपमें आत्मपीडनकी इच्छा सामान्य व्यवहारमें भी व्यक्त हो सकती है, पर इसकी प्रबलता स्वभावकी विकृति ही है। आत्मपीडन और परपीडनका कुछ मिश्रण सामान्य यौन व्यापारमें रहता है, पर जब कामवृत्तिके अन्य उद्देश्य तो पृष्ठभूमिमें चले जाते हैं और आत्मपीडन स्वयं ही लक्ष्य बन जाता है तो उसे एक प्रकारकी यौन विकृति मानते हैं। फ्रायडके अनुसार आत्मपीडन तीन रूपोंमें व्यक्त होता है–कामवृत्तिविषयक आत्मपीडन, स्त्रैण (feminine) आत्मपीडन और नैतिक आत्मपीडन। प्रथम कुछ स्नायविक विकृतियोंवाले व्यक्तियोंमें कामवृत्तिका लक्ष्य है। ऐसे व्यक्तियोंको अपने-आप अधिकसे अधिक पीडा पहुँचाकर अपने प्रति कठोर व्यवहार करके, अपना ही अपमान करके यौन तृप्ति मिलती है। इस प्रकारका आत्मपीड़न केवल यौन व्यापारमें ही व्यक्त हो यह आवश्यक नहीं, आत्मपीडनके अन्य रूपोंके मूलमें भी काम सम्बन्धित आत्मपीडन अव्यक्त रूपसे रहता है। इस कामविषयक आत्मपीडनका कारण पूर्णतः समझ सकना कठिन है। यही कहा जा सकता है कि जीवशास्त्रीय दृष्टिसे यौन व्यापारमें विषयके प्रतिरोधपर विजय पाना आवश्यक होता है, यह आवश्यकता परपीडनका आधार है और परपीडनकी विकृति आत्मपीडन है। यह विकृति अचेतन दमन, वर्जना और स्वाभाविक प्रकृतियोंमें वियोजन (dissociation) आदिसे बन सकती है। दे०–'मनोविश्लेषण')

आत्मपीडनका दूसरा रूप स्त्रीस्वभावकी विशेषता है। स्त्रीकी स्वाभाविक आक्रमकवृत्ति (agressiveness) पर नैतिक और सामाजिक नियमोंका इतना दबाव पड़ता है कि उसकी पीड़ा पहुँचानेकी प्रवृत्ति आत्ममुखी हो जाती है और स्वयं पीडा पाकर ही उसे सन्तोष मिलता है। उसकी यौन वृत्ति भी पीडा पाकर तृप्त होती है, स्नायविक रोगियोंमें यह अत्यन्त प्रबल रूप ले लेती है। यदि वास्तविक पीडा न मिल सके तो पीडाकी कल्पनासे ही ऐसी स्त्रियाँ सन्तुष्ट रहती हैं। आत्मपीडन अधिकतर स्त्रियोंके ही स्वभावमें मिलता है।

नैतिक आत्मपीड़न अपराधभावनासे व्यक्त होता है, अकारण ही अपनेको अपराधी मानकर व्यक्ति आत्मग्लानिसे पीडा पाता रहता है। इस प्रकारकी पीडामें अप्रत्यक्ष रूपसे उसकी अचेतन वासनाएँ तृप्त होती हैं। मनोविश्लेषकोंने अपने रोगियोंमें तीनों ही प्रकारके आत्मपीडन देखे हैं और उनके अध्ययनसे कथासाहित्यमें पात्रोंका चरित्र-चित्रण काफी प्रभावित हुआ है। —प्री० अ०

आत्मप्रक्षेपण–मानस कई प्रकारसे कार्य करता है, आत्मप्रक्षेपण उनमेंसे एक है। इसमें व्यक्ति अनजाने ही अपनी इच्छाओं, भावनाओं, वासनाओंका आरोपण दूसरे व्यक्तियों या वस्तुओंमें कर देता है। प्रायः यह अचेतन मानसकी आत्मरक्षार्थक क्रिया ही होती है। जिन भावनाओं, वासनाओंको व्यक्ति स्वयं चेतन मानसमें स्वीकार नहीं कर पाता उन्हें वह दूसरेपर आरोपित करके उनसे सम्बन्धित दोष अथवा अपराधसे सहज ही मुक्ति पा लेता है। प्रायः ऐसे व्यक्ति अपने मित्रों, सम्बन्धियोंपर विश्वासघात आदिका दोषारोपण किया करते हैं, जो स्वयं उनके अचेतन मानसका सत्य होता है। 'पारानोइया' (paranoia)के रोगीकी यह विशेषता है।

प्रक्षेपण केवल अनैतिक अथवा अहं द्वारा दमित इच्छाओं, वासनाओंका ही नहीं वरन् आदर्शों, विचारों और सिद्धान्तोंका भी होता है। व्यक्ति बहुत-सी घटनाएँ अपने जीवनमें घटित होनेकी इच्छा करता है, पर यह असम्भव होता है, अतः वह दूसरे व्यक्तियोंमें, जिनके जीवनमें वैसी घटनाएँ घटित होती हैं, आत्मप्रक्षेपण करके सन्तोष पा लेता है। कथा-साहित्यके आनन्दोपभोगके मूलमें पाठकका यही आत्मप्रक्षेपण रहता है, नायक अथवा नायिकामें आत्मप्रक्षेपण करके हम रस ले पाते हैं। इसी प्रकार आदर्शकी कल्पनाका भी प्रक्षेपण होता है। व्यक्ति जो स्वयं होना चाहता है पर हो नहीं पाता, उसे पाकर आत्मप्रक्षेपण द्वारा अपने आदर्श व्यक्तिकी भक्ति करके सन्तोष पा लेता है। जनताकी नेताके प्रति भक्तिके मूलमें ऐसा ही आत्मप्रक्षेपण रहता है। कथाकार अपने पात्रोंका सर्जन भी अपनी इच्छाओं, भावनाओं, आदर्शोंका अन्य व्यक्तियोंमें आरोपण करके करता है। समस्त कलाओंमें कलाकार आत्मप्रक्षेपण करता है, कहीं यह पूर्ण रूपसे स्पष्ट होता है, कहीं अस्पष्ट। —प्री० अ०

आत्मप्रत्यक्ष–दर्शनकी भाषामें, जिस भाँति हम इन्द्रियों द्वारा परिमित घट, पट आदि वस्तुओंका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, उसी भाँति साधना द्वारा हम अपरिमित आत्मतत्त्वका भी प्रत्यक्ष कर सकते हैं। आत्माका स्वरूप सच्चिदानन्द है; सत्ता, चैतन्य और आनन्द उसके गुण हैं। वह अनादि और अनन्त है, काल और दिशासे वह बँधी हुई नहीं है। वह 'स्व'का नित्य और बृहत् रूप है। साधना द्वारा हम जितना 'स्व-रूप'के निकट पहुँचते हैं, उतना ही हम चैतन्य और आनन्दका अनुभव करते हैं।

यह अनुभव इन्द्रिय-जन्य सुखसे विचित्र होता है; इसीका नाम 'ब्रह्मानन्द' है।

साहित्य और कलाके सन्दर्भमें एक सिद्धान्त है जिसके अनुसार कलाका सुख, जिसे 'रस' या 'आनन्द' कहा जाता है, 'आत्म-प्रत्यक्ष'का ही फल होता है। विश्वनाथके अनुसार 'रस' ब्रह्मास्वाद-सहोदर होता है, ब्रह्म अथवा आत्माके बृहत् स्वरूपकी प्रत्यक्ष अनुभूतिके समान होता है। कलाकृतिका प्रभाव जीवनकी प्रवृत्तियोंको अन्तर्मुखी बनाकर 'स्व'के आदि-स्रोत अथवा आत्माकी ओर ले जाता है। यह कलाका आध्यात्मिक सिद्धान्त है। कलाका सर्जन और आस्वादन उसी साधनासे होता है जिससे आत्म-आराधना होती है। इसीलिए कविका अर्थ कवन करनेवाला तथा क्रान्तदर्शी किया गया है। पण्डितराज जगन्नाथके अनुसार साहित्यमें रसास्वादनकी प्रक्रिया 'चिदावरणभग' या आत्म-प्रत्यक्षकी प्रक्रिया है। —ह० ला० श०

आत्मप्रलम्बन—आत्मप्रक्षेपणके ही अधिक उन्नत, उदात्त रूपको हम आत्मप्रलम्बन कह सकते हे। अपने आदर्शकी कल्पना, उसे प्राप्त करनेकी इच्छा हमें अपने अहम्को अधिक व्यापक ओर विस्तृत करनेको विवश करती है। ऊँचे आदर्शोंकी महत्त्वाकाक्षा हमारी आत्माको अहम्की सीमाओंसे ऊपर उठाती है। —प्री० अ०

आत्मवाद—भारतीय दर्शनमें सामान्यत दो धाराएँ हे—आत्मवाद और अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद। आत्मवादके अन्तर्गत समस्त हिन्दू दर्शन हे और अनात्मवादमें बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन है। जैन दर्शन दोनोंका समुच्चय करता है। आत्मवादके अनुसार आत्मा नित्य, अजर-अमर, सभी वस्तुओंकी साक्षी, चेतन ओर अपरिवर्तनशील है। अनात्मवादके अनुसार या तो आत्मा है ही नहीं और या तो वह नश्वर तथा परिवर्तनशील है। जैन मतमें वह परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील दोनों है, जो स्वत विप्रतिषेधक होनेके कारण ठीक नहीं है। अत आत्मवाद और अनात्मवाद, ये ही दो प्रमुख सिद्धान्त आत्माके बारेमें हे।

यास्कने आत्मा, शब्दकी निरुक्ति यों की हे—'आत्मा ततेर्वाप्ति वापि वाप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूत इति', (निरुक्त ३ १३ २), अर्थात् आत्मा—शब्द अत् धातु (सतत चलना) या अप् धातु (व्याप्त होना) से बना है। आत्माको आत्मा इसलिए कहा जाता है कि यह सदा चलती रहती है या सदा समस्त वस्तुओंमें व्याप्त रहती है। शकराचार्य व्युत्पत्ति करते समय एक प्राचीन श्लोक (लिंग पुराण १।७०।९६) का उल्लेख करते हैं, जो यों है—'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥' अर्थात्, क्योंकि यह सबको व्याप्त करती है (आप्नोति), ग्रहण करती है (आदत्ते), इस लोकमें विषयोंको भोगती हे (अत्ति) और इसका सदैव सद्भाव रहता है (अतति), इसलिए इसे आत्मा कहा जाता है। इस व्युत्पत्तिके पूर्व वे कहते है कि आत्मा शब्द इस लोकमें प्रत्यक् (सम्पूर्ण विषयोंको जाननेवाला)के अर्थमें ही रूढ है और किसी अन्य अर्थमें नहीं (कठोपनिषद्भाष्य २ १) इसलिए वे इसे प्राय प्रत्यगात्मा कहते ह। कभी-कभी प्रत्यगात्माकी वे व्याख्या करते हैं कि यह प्रत्यक अर्थात् सम्पूर्ण विषयोंको जाननेवाला और आत्मा दोनों है। यहाँ आत्माका अर्थ उस वस्तुसे हे जिसका सातत्यभाव हो और जो सदैव एकतायुक्त हो।

उपनिषदोंमें आत्माके स्वरूपकी खोज बडी छान-बीनके साथ की गयी है। उनके अध्ययनसे पता चलता है कि सबसे पहले आत्मा शब्दका प्रयोग 'स्वभाव' या किसी वस्तुकी सत्ता (वस्तुत्व) या किसी वस्तुकी एकता (वस्तुका एक होना)-के अर्थमें हुआ। फिर उसमें सातत्यभाव जोड दिया गया और जिसकी 'सतत सत्ता' बनी रहे अर्थात् जो सततगामी हो उसीको आत्मा कहा जाने लगा। एकता और सततगामितासे इस प्रकार 'तत्त्व'का विचार सम्पन्न हुआ। 'तत्त्व'-के अर्थमें आत्मा शब्दका प्रयोग होने लगा। 'छान्दोग्योपनिषद' में आधिदैवतरूपसे आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत, स्तनयित्नु, वायु, आकाश, अग्नि तथा जलको क्रमश आत्मा तत्त्व माना गया। फिर वहीं अध्यात्मरूपसे आदर्श (दर्पण), छाया, प्रतिध्वनि, शब्द, शरीर, दक्षिण नेत्र और सव्य नेत्रको क्रमश आत्मा तत्त्व समझा गया। अध्यात्मपक्षपर चिन्तन बढ जानेसे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन तथा हृदयको विभिन्न औपनिषद दार्शनिकोंने आत्मा या तत्त्व माना। 'ऐतरेयोपनिषद्'में आत्माको मूल तत्त्व या जगतका आदिकारण ही कह दिया गया और आत्मासे ही सृष्टिको उत्पन्न सिद्ध किया गया। क्योंकि जगत्के आदिकारणका अपर पर्याय ब्रह्म है, अत आत्माको ही ब्रह्म समझा गया। 'माण्डूक्योपनिषद' में आत्मा ब्रह्म हे, इसका स्पष्ट उल्लेख है। तत्त्वमसि (वह तू है) 'छान्दोग्योपनिषद्'मे माना गया। अबतक जैसा शकराचार्य कहते हे, आत्मा प्रत्यगात्माके अर्थमें और ब्रह्म जगत्के मूल कारणके अर्थमें रूढ हो चले। 'सोऽहमस्मि' अनुभवमें आत्मा तथा अभेदका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। कुछ लोगोंने इस अभेदमें अरुचि दिखलायी और प्रत्यगात्माको जीवात्मा तथा ब्रह्मको परमात्मा कहकर दोनोंको सदा भिन्न दिखलाया। इसके फलस्वरूप आत्मा जीवात्माके अर्थमें रूढ हो चला। फिर उसे कुछने कर्ता माना तो कुछने भोक्ता और कुछने ज्ञाता। अभेदवादियोंने इसे कर्ता, भोक्ता और ज्ञाता न मानकर सत, चित् या ज्ञान तथा आनन्द माना। आत्मा शब्दके इस वेदोपनिषत्कालीन इतिहासमें आत्मवादी और अनात्मवादीका सघर्ष उल्लेखनीय है। सततगामिता दोनोंको मान्य है, पर आत्मवादी आत्माको सततगामी और एकरूप, दोनों मानता है। अनात्मवादी उसको सततगामी या बहुरूप या अनेकरूप मानता है। उसके मतसे आत्मा प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती हे और वह नित्यनूतन है। यही बौद्ध मत है। एकरूपता और सततगामिताका समन्वय इस मतमें व्याघातक है। पर हिन्दू दर्शनके अनुसार आत्मा सदैव एकरूप रहकर ही सततगामी या अमर है, इस कारण दोनोंका समन्वय सम्भव है। आत्मवाद और अनात्मवादस इस विवादसे स्पष्ट है कि यद्यपि एकता या एकरूपता आत्माका प्रधान अंश है, तथापि बौद्ध नितान्त आत्मवादी नहीं ह, क्योंकि वे सातत्यके अर्थमें आत्माको मानते है।

आत्माको हमने चैतन्यके अर्थमें रूढ सिद्ध किया है। चैतन्य 'जानना' है। हम बहुत सी वस्तुओंको देखते,

सुनते या जानते हैं, इसलिए चैतन्य अवश्य है। अगर चैतन्य या जाननेवाला न होता तो फिर उन वस्तुओंका ज्ञान कैसे होता? ज्ञानके न होनेपर ज्ञेय भी नहीं हो सकता। ज्ञेयके होनेपर ज्ञान और ज्ञाता भी अवश्य है। अतः चैतन्यरूप आत्मा है। इस प्रमाणसे सिद्ध है कि आत्मा सभी ज्ञेय वस्तुओंका आधार है, अतः वह कभी ज्ञेय या विषय नहीं हो सकती।

जो लोग आत्माके नास्तित्वको मानते हैं, वे उसे 'अभाव', 'शून्य' या 'नहीं है' कहते या मानते हैं। पर 'अभाव', 'शून्य', 'नहीं है' आदि ज्ञेय विषय हैं। यदि हम इनको इनके रूपमें मानते हैं तो फिर हमें इनके ज्ञाता और ज्ञानको भी मानना पडेगा, अतः नास्तिक भी वस्तुतः आत्माके अस्तित्वको मानता है। आत्माके अस्तित्वका प्रत्याख्यान करना वदतोव्याघात है। इस प्रमाणसे सिद्ध है कि आत्मा अप्रत्याख्येय या अखण्डनीय है।

यदि कोई आत्माके अस्तित्वपर संशय करता है कि वह है या नहीं, तो वह भी कमसे कम संशयको तो मानता ही है। संशय ज्ञानका विषय है। ज्ञान और ज्ञाताके न होनेपर संशय भी अनुपपन्न है। अतः संशय भी सिद्ध करता है कि आत्मा, जो संशय कर रही है, अवश्य है। इससे सिद्ध है कि आत्मा सन्देहका विषय नहीं है।

अपनी आत्माकी प्रतीति सबको होती है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है, कहता है और अनुभव करता है कि 'मैं हूँ'। कोई यह अनुभव नहीं करता कि 'मैं नहीं हूँ'। 'मैं हूँ'का यह अनुभव ही तो आत्मा है। अतः आत्मा है। इससे सिद्ध है कि आत्मा बिलकुल अज्ञेय भी नहीं है।

यदि कोई कहे कि आत्मा अविषय है, अगोचर है, उसके विषयमें हाँ और नहीं, है और नहीं, कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये सभी प्रमेय या विषय हैं तो कुछ हदतक ठीक है। पर इसका यह आशय नहीं है कि आत्मा नहीं है। वस्तुतः शान्ति द्वारा ही आत्माके अस्तित्वका निरूपण होता है। यही कारण है कि जब गौतम बुद्धसे प्रश्न किये गये कि आत्मा है या नहीं तो वे शान्त या मौन रहे। उपनिषदोंमें भी यही सिद्धान्त बतलाया गया है। 'उपशान्तोहि अयमात्मा' यह मौन या शान्ति ही आत्मा है। ज्ञान-साधनासे आत्माके अस्तित्वका यही प्रमाण मिलता है। आत्माके अस्तित्वके इन प्रमाणोंसे यह बात भी सिद्ध होती है कि आत्मा न तो विषय या प्रमेय पदार्थ है और न अविषय पदार्थ। इसका स्वभाव सर्वविषयवाद या सर्वज्ञेयवाद तथा अज्ञेयवाद इन दोनों दोषोंसे मुक्त है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और पूर्ण ज्ञान, ये आत्माकी चार अवस्थाएँ हैं। कुछ लोग इनके सम्मिश्रणसे कुछ अन्य अवस्थाओंको भी मानते हैं जैसे जाग्रत्-स्वप्न, स्वप्न-सुषुप्ति, जाग्रत्-सुषुप्ति आदि। चौथी अवस्थाको हम पूर्ण ज्ञान कह रहे हैं, इसे पारिभाषिक शब्दावलीमें तुरीय (चौथी) अवस्था ही कहा जाता है, क्योंकि यह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिसे भिन्न है। वस्तुतः यह इसका निषेधात्मक वर्णन है। तुरीय अवस्था अन्य सभी अवस्थाओं-की आधार-शिला है। इसी अवस्थामें आत्माको अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है। अन्य अवस्थाओंमें आत्माका ज्ञान अपूर्ण या सदोष ही रहता है।

जाग्रत् अवस्थामें चैतन्यको विश्व, स्वप्न अवस्थामें तैजस् और सुषुप्तिमें प्राज्ञ कहते हैं। विश्व, तैजस् और प्राज्ञ तीनों एक दूसरेके बाधक और निराकर्ता हैं। वे सतत-गामी नहीं हैं। इन तीनोंकी प्रतिष्ठा आत्मामें है। आत्मा ही इन तीनोंकी गहनतम सत्ता है, ये आत्माके ही आभास हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद्‌ने याज्ञवल्क्यने अपनी पत्नी मैत्रेयीको बतलाया है कि श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनसे आत्माको जाना जा सकता है और आत्माको जान लेनेपर सभी वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है और कुछ शेष नहीं रह जाता। श्रवणका मतलब है उपनिषद्‌के वाक्योंका स्वाध्याय करना। मननका आशय है उनपर युक्तिपूर्वक विचार करना। निदिध्यासन आत्माका अबाध या सतत चिन्तन है। यह ज्ञान-मार्ग है। कर्म-मार्ग तथा भक्ति-मार्गसे भी लोग आत्माका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

अद्वैत-सम्मत आत्मवादका प्रभाव हिन्दी साहित्यपर विशेष पडा है। मध्यकालीन सन्तोंमेंसे प्रायः सभी आत्मज्ञानको विशेष महत्त्व देते हैं। आत्मज्ञानको ही वे मानव-जीवनका निःश्रेयस् समझते हैं। जैसे कस्तूरी-मृग अपनी नाभिमें कस्तूरीको रखे रहनेपर भी उसकी खोजके लिए सर्वत्र घूमता रहता है, वैसे अविवेकी पुरुष आत्माको जाननेके लिए अपनेको छोडकर अन्यत्र उसकी खोज करता है। आत्मज्ञान होनेपर ही परमतत्त्वका ज्ञान सम्भव है। 'नेति-नेति', 'तत्त्वमसि', 'सोऽहमस्मि', 'आत्मा ब्रह्म' इत्यादि पदावलियाँ हिन्दी-संस्कृत-साहित्यमें बहुत प्रयुक्त हुई हैं। आत्मा ब्रह्म है। वह अन्नमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोषसे परे है। वह स्थूल शरीर (पंचभूतोंसे रचित शरीर), सूक्ष्म या लिंगशरीर (इन्द्रियों या अन्तःकरणका संघात) तथा अविद्या शरीर(अज्ञानमात्र)से भिन्न है। वह जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंसे मुक्त है। उसका अनुभव तुरीयावस्था या समाधिमें ही हो सकता है। यह समाधि सहजसमाधि तथा हठसमाधि दो प्रकारकी होती है। जब उसका ज्ञान सहज ढंगसे होता है तब हम उस अवस्थाको सहजसमाधि कहते हैं और जब हम बलपूर्वक हठयोग आदि करके उस अवस्थाको प्राप्त करते हैं तो वह हठसमाधि है। वेदान्तके आत्मवाद सम्बन्धी इन सिद्धान्तोंकी हिन्दी साहित्यमें पर्याप्त विवेचना मिलती है। अधिकांश सन्तोंको इस विषयपर कुछ अपने अनुभव हुए हैं। वे ज्ञान-मार्गकी साधना-पद्धतिपर काफी प्रकाश डालते हैं। कुछ सन्त वेद-सम्मत कर्म-मार्ग या ज्ञान-कर्म-समुच्चय-मार्गका खण्डन करते हैं। पर विशुद्ध ज्ञान-मार्ग और भक्ति-समुचित ज्ञान-मार्गका वे सदैव अनुमोदन करते हैं। अद्वैत-वेदान्तके अतिरिक्त अन्य वेदान्तोंका प्रभाव भी इस प्रसंगमें उल्लेखनीय है। —स० ला० पा०

आत्मविघटन—मनोविश्लेषणके अन्तर्गत आत्मविघटन शब्दका प्रयोग एक विशेष मानसिक दशाके लिए होता है।

व्यक्तिकी अहन्ता अपनेको अन्य किसी भी पदार्थकी भाँति एक विषय मानकर अपना निरीक्षण, अपनी आलोचना तथा अपने साथ और न जाने क्या-क्या कर सकती है। ऐसी दशामें अहन्ताका एक अंश दूसरे अंशका विरोध करने लगता है। उनमें परस्पर द्वन्द्व और संघर्ष चलना रहता है। व्यक्तिके अन्तरालमें एक गृहयुद्ध-सा छिड़ जाता है। साधारणतया यह प्रक्रिया व्यक्तिके स्वस्थ विकासमें सहायक होती है। संघर्ष और उसके विरोधकी चेतना रहनेपर वह उनका सम्यक् समायोजन अथवा उदात्तीकरण कर लेता है। संघर्षके प्रतिद्वन्द्वी पक्ष दमित होकर अचेतनमें नहीं जाने पाते, वरन् उन्हें अभिव्यक्ति पाने और कृतकार्य होनेका अवसर मिलता रहता है। अथवा व्यक्ति किसी जीवनमूल्य, आदर्श अथवा साध्यको स्वीकार करके अन्य प्रतियोगी इच्छाओं, मूल्यों और आदर्शोंकी माँगको अपने जीवन-विधानमें उचित स्थान दे देता है। सन्तोंके आरम्भिक जीवनमें प्राय ऐसा देखनेमें आता है। 'मो सम कौन कुटिल खल कामी', 'मैं पतितनको टीकौ', 'ममता तू न गयी मेरे मनते', 'कबहुँक ऐसी रहनि रहौंगौ', आदि पदोंमें यही वृत्ति लक्षित होती है। श्रीकृष्णके उपदेशसे प्रभावित होकर 'गीता'के अन्तमें अर्जुन कहता है कि अब मेरा मोह नष्ट हो गया, मेरे सन्देह दूर हो गये, अब मैं तुम्हारे वचनोंके अनुसार चलूँगा। अपनी आत्मकथा-'कल्याणमार्गका पथिक'में स्वामी श्रद्धानन्दने अपने पूर्वकालीन आत्मिक संघर्षपर प्रकाश डाला है। टालस्टायके जीवनका अधिकांश ऐसे ही आत्मिक द्वन्द्वमें बीता और अन्तत उन्हें शान्ति तभी मिली जब उन्होंने खिस्तीय श्रेयस् पूर्ण रूपसे अंगीकार कर लिया। यह उदाहरण आत्मविघटन और उसकी उदात्त निष्पत्तिके हैं। किन्तु आत्मविघटनजन्य मानसिक संघर्षके अवांछनीय असामाजिक परिणाम भी हो सकते हैं। यदि संघर्ष जारी रहता है तो उसके एक पक्षका दमन और पृथक्करण हो जाता है और व्यक्तिके चरित्र और व्यवहारमें असाधारणता तथा अनेक मानसिक रोगोंकी सृष्टि कर सकता है। (दे०—'खण्डितव्यक्तित्व', 'मनोग्रन्थियाँ', 'मनोविश्लेषण'।) —आ० रा० शा०

आदर्शवाद—आदर्शवाद हिन्दीमें 'आइडिअलिज्म' (idealism)के पर्यायरूपमें प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु वास्तवमें 'आइडिअलिज्म'का अर्थ आदर्शवादमात्र नहीं है। यह शब्द 'आइडिया' (idea)से सम्बन्धित है, जिसका मूल अर्थ है विचार। इस कारण आदर्शवाद किसी सीमातक विचारवाद भी है।

आदर्शवादका प्रयोग अनेक रूपोंमें किया जाता है। दर्शन, राजनीति, साहित्य और कलाके क्षेत्रमें आदर्शवादकी विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। आदर्शवाद एक प्रकारका दृष्टिकोण है, जिसकी सहायतासे संसारका मूल्यांकन किया जाता है। वह एक विवेचन-प्रणाली है। यथार्थके जो मूल तत्त्व होते हैं, उनसे अतिरिक्त भी कोई चेतन सत्ता है, विचारणा है, इसी आधारपर आदर्शवाद अपने चिन्तनमें अग्रसर होता है। इस विचारधारामें विषयवस्तु तथा भौतिक पदार्थोंकी अपेक्षा मूल सत्यको अधिक महत्ता प्राप्त होती है। आदर्शवादकी दृष्टि बौद्धिक है, किन्तु वह जीवनके सूक्ष्मतर मूल्योंको अधिकतर महत्त्व देता है और इस दृष्टिसे वह आध्यात्मिक है। इसकी धारणा है कि आसपासका जो दृश्यमान जगत है, वह किसी चेतन सत्ताकी सृष्टि है। मस्तिष्कके विचार और आदर्श आदर्शवादमें भौतिक पदार्थों और इन्द्रियोंसे अधिक उच्च स्थानके अधिकारी होते हैं। इस दृष्टिसे आदर्शवादका भौतिकवाद (दे०) अथवा यथार्थवाद(दे०)से मतभेद है। कभी-कभी आदर्शवाद और भौतिकवाद विरोधी विचारधाराओंके रूपमें भी प्रयुक्त किये जाते हैं।

आदर्शवाद शब्द दर्शनशास्त्रमें प्रमुखता प्राप्त करता है। यह एक दार्शनिक विचारधाराके रूपमें पल्लवित-पुष्पित हुआ है। अफलातूँ (Plato)ने एक ऐसे संसारकी कल्पना की, जिसमें शाश्वत और चिरन्तन विचारोंको ही सत्यके रूपमें ग्रहण किया गया। परिवर्तनशील जगतसे इन्हें अलग रखा गया। आदर्शवादका सबसे महान विचारक काण्ट (१७२४-१८०४ ई०) है। उसकी धारणा है कि विचार केवल बुद्धिके क्रियाव्यापार हैं, किन्तु पदार्थका सम्बन्ध मानवके इन्द्रिय अनुभवसे है। बुद्धिके भी दो पक्ष हैं, शुद्ध बुद्धि (pure reason) तथा व्यावहारिक बुद्धि (practical reason)। शुद्ध बुद्धि दृश्य जगत्का उचित ज्ञान प्राप्त करती है, किन्तु इससे आगे जाना उसके लिए सहज नहीं। इसी कारण काण्ट दृश्य जगतके मूल (thing in itself)को भी स्वीकार करता है। उसका कथन है कि यह अगम्य (unknowable) है। इसका बोध केवल व्यावहारिक बुद्धिसे ही सम्भव है, जिसका दूसरा रूप इच्छाशक्ति है। काण्टका आदर्शवाद critical अथवा transcendental कहलाता है। हेगेल (१७७०-१८३१ ई०) इस जड़-चेतन सृष्टिके मूलको विश्वात्मा (universal spirit or reason) रूपमें ग्रहण करता है। बुद्धिको सर्वस्व मानता है। उसका कथन है कि विश्वात्माके विकासकी प्रतिक्रिया द्वन्द्वात्मक (dialectical) है। वाद (thesis), प्रतिवाद (antithesis) तथा संवाद (synthesis)की वक्र रेखाओंमें विकास होता है। हेगेल यद्यपि एक आदर्शवादी चिन्तक है, किन्तु उसकी द्वन्द्वात्मक विचारधाराके सहारे चलकर मार्क्सने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दर्शन (dialectical materialism)का निर्माण किया। हेगेलका दर्शन (absolute idealism) है। इंग्लैण्डके जार्ज बर्कलेका आदर्शवाद subjective idealism कहलाता है। आदर्शवादके प्रमुख चिन्तकोंमें ग्रीन (१८३६-१८८२ ई०), बर्नार्ड बोसांके (१८४८-१९२३ ई०), ब्रेडले (१८४६-१९२४ ई०) आदिके नाम गिनाये जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त शेलिंग, फिश्टे, कजिन, जे० रायस आदिके नाम भी लिये जा सकते हैं।

साहित्यमें आदर्श शब्दका प्रयोग दर्शन अथवा राजनीतिकी भाँति किसी रूढ़िगत अर्थमें नहीं किया जाता। साहित्यका आदर्शवाद मानव-जीवनके आन्तरिक पक्षपर जोर देता है। जीवनके दो पक्ष हैं—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक पक्षमें मानसिक सुख, प्रसन्नता, परितोष, आनन्द आ जाते हैं। बाह्य पक्षमें ऐश्वर्य, वैभव तथा भौतिक उन्नतिका स्थान है। आदर्शवादी साहित्यकारका विश्वास है कि मनुष्य

जबतक आन्तरिक सुख प्राप्त नहीं करता, उसे वास्तविक आनन्दकी उपलब्धि नहीं हो सकती। मानवकी प्रेरणा तबतक भटकती रहेगी, जबतक वह शाश्वत, चिरन्तन सत्य अथवा आनन्द नहीं प्राप्त कर लेता। इस प्रकार आदर्शवाद मानव-जीवनकी आन्तरिक व्याख्या करता है। उसकी उच्च सम्भावनाओंके प्रकाशनमें तत्पर होता है। वह उन मानव-मूल्योंको ग्रहण करता है जो कल्याणकारी हैं, शुभ हैं, सर्जनात्मक हैं। भारतीय साहित्यशास्त्रमें रसकी जो महत्ता है, वह जीवनके आन्तरिक परितोष अथवा आनन्दका ही दूसरा रूप है। इसी दृष्टिसे संस्कृतमें सुखान्त नाटकोंकी अधिक सृष्टि की गयी और महाकाव्यके नायकका 'धीरोदात्त' होना आवश्यक माना गया। आदर्श जीवनदृष्टिके कारण ही 'रामायण' और 'महाभारत' दोनोंमें देवत्वकी दानवत्वपर विजय घोषित की गयी हैं। मिल्टनका 'पैराडाइज लास्ट' यद्यपि साहित्यिक आदर्शवादकी अपेक्षा धार्मिक आदर्शवादका अधिक आश्रय लेता है, फिर भी उसमें मानवके उच्चतर मूल्योंकी स्थापना है। अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें श्रेष्ठ नाटकके लिए श्रेष्ठ गुणोंसे समन्वित चरित्रोंके चित्रणकी आवश्यकता स्वीकार की है। अपने अनुकृति-सिद्धान्तमें उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि तीन प्रकारकी अनुकृतियोंमें, साधारणसे उच्च वस्तुकी अनुकृति श्रेष्ठ कलाको जन्म देती है और इसके लिए उसने होमरका दृष्टान्त भी प्रस्तुत किया है।

आदर्शवादी साहित्यकार भाव और कलाकी महत्तर ऊँचाइयोंपर जानेका प्रयास करता है। अन्तर्मुखी होनेके कारण कभी-कभी उसकी चेतना आध्यात्मिक, यहाँतक कि रहस्यवादी भी हो जाती है। यूरोपका मध्यकालीन रहस्यवादी साहित्य इसका प्रमाण है। चिरन्तन मानव-मूल्योंको महत्त्व देनेके कारण लगभग प्रत्येक महान् साहित्यकार किसी सीमातक आदर्शवादी होता है, क्योंकि महान् साहित्य-सर्जनके लिए शाश्वत मानवमूल्योंके ग्रहणके साथ मानवकी उच्चतम सम्भावनाओंका प्रकाशन आवश्यक है। डब्ल्यू वेबने अपनी पुस्तक 'ए डिसकोर्स आव इंगलिश पोयट्री'में लिखा है—'आदर्श काव्यमें आनन्द और उपदेशका एक सुन्दर समन्वय होना है।' भावना और शिल्पके आधारपर साहित्यमें आदर्शवादके दो पक्ष हो सकते हैं। भावक्षेत्रका आदर्शवाद साहित्यकारको जीवनकी महत्, चिरन्तन सम्भावनाओंकी ओर ले जाता है। इस दृष्टिसे वाल्मीकि, शेक्सपियर, दाँते, गेटे, टाल्स्टाय आदि आदर्शवादी लेखक हैं। भावक्षेत्रमें आदर्शवादके विभिन्न रूप दिखाई देते हैं। दाँते आदर्शवादी होते हुए भी ईसाई धर्मके उस आदर्शवादका समर्थक नहीं है जो मध्यकालीन युगमें प्रचलित था और जिसे मिल्टनके 'पैराडाइज़ लास्ट'में देखा जा सकता है। यूरोपके अधिकांश स्वच्छन्दतावादी (Romantic) लेखक आदर्शवादी ही कहे जायेंगे, क्योंकि वे अपनी कल्पनाके सहारे किसी आदर्श जगत् अथवा स्वप्नलोककी खोज करते दिखाई देते हैं। जे० ग्रानोविस्कीने अपनी पुस्तक 'द पोएट्स डिफेन्स'में रोमाण्टिक कवियोंके आदर्शवादी दृष्टिकोणपर विचार किया है। शैली सम्बन्धी आदर्शवादको अभिव्यंजना-का आदर्श कहा जा सकता है। इसे क्लासिज़मकी परम्पराके नामसे सम्बोधित किया जाता है।

साहित्यमें आदर्शवादके विरोधमें यथार्थवादी (दे०—'यथार्थवाद') जीवनदृष्टि है, जो जीवनके भौतिक मूल्योंको प्रमुखता देती है। वैज्ञानिक सभ्यताके विकासके साथ ही साथ यथार्थवादी प्रवृत्तियोंका विकास होता गया। किसी सीमातक यह आदर्शवादकी उस दृष्टिके प्रतिक्रियास्वरूप है, जिसमें अतिशय कल्पनाको प्राधान्य प्राप्त होता है। इस प्रकारका साहित्य वायवी हो जाता है। यूरोपमें पर्याप्त कालतक 'कला कलाके लिए' और 'कला जीवनके लिए'का संघर्ष चलता रहा है। यथार्थवादी साहित्य वस्तुजगत्को नग्न रूपमें प्रस्तुत करनेका पक्षपाती है। उसका वर्ण्य विषय है धरती, जो कुछ भी वह है। आदर्शवादीका वर्ण्य विषय है धरती, जो कुछ उसे होना चाहिये। साहित्यके इतिहाससे ज्ञात होता है कि वैज्ञानिक युगमें गद्यका अधिक प्रचार हुआ। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यथार्थवादी प्रवृत्तियों-की पूर्ण अभिव्यक्ति गद्यके माध्यमसे की गयी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादको लेकर चलनेवाला मार्क्सवादी साहित्य आदर्शवादी विचारधाराका विरोधी है, वह वर्ग-संघर्षके इतिहास-सम्बद्ध विकासक्रमके विवेचनका पक्षपाती है। मनोविज्ञान भी यथार्थवादको स्वीकार करता है। मानव-मनका विश्लेषण यथावत् कर देना वह उचित समझता है। अन्तश्चेतनावाद व्यक्ति-मानसकी अन्तर्मुखी यथार्थ प्रवृत्तियोंको प्रकाशमें लाता है। नन्ददुलारे वाजपेयीने अपने लेख 'आदर्श और यथार्थ' ('आधुनिक साहित्य' पृष्ठ ३९३)में आदर्शवादी लेखकोंकी शैली कल्पना-प्रधान और भावुकतापूर्ण स्वीकार की है। यथार्थवादी शैली मनोरंजक, विनोदात्मक एवं तार्किक होती है।

हिन्दी साहित्यका अधिकांश आरम्भिक स्वरूप आदर्शवादी है, क्योंकि वह परम्पराविमुक्त नहीं है। वीरगाथा-कालमें जो साहित्य-सृष्टि हुई, उसमें यथार्थका अंश है, क्योंकि वह स्तुति और विनयकी भावनासे प्रेरित है। भक्तिकालका अधिकांश काव्य आदर्शवादी ही कहा जायगा, क्योंकि उसमें आध्यात्मिकताका पुट है। तुलसीका आदर्शवाद मर्यादासमन्वित आदर्शवाद है। उसमें एक सहज समर्पणका भाव है। सूरदासका आदर्शवाद अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द प्रकृतिका है। कबीरका साहित्य यद्यपि यथार्थसे अनुप्राणित है, फिर भी उसकी दृष्टि आदर्शवादी ही है। रीतिकालमें आकर आदर्शवादका स्वरूप छिन्न-भिन्न हो जाता है। सामन्तवादी प्रवृत्तियोंसे प्रभावित होनेके कारण उसमें आदर्शवादका पोषण न हो सका। वे ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें यथार्थवादी श्रेणीमें भी रखना उचित नहीं। वास्तवमें साहित्यमें यथार्थवादका आरम्भिक स्वरूप भारतेन्दु-युगके गद्यमें देखा जा सकता है, जिसका स्पष्ट स्वरूप उत्तर-छायावादकालमें प्रगतिवादी रचनाकारोंमें मिलता है। नगेन्द्रने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी कविताकी मुख्य प्रवृत्तियाँ'में आदर्शवादी विचारधाराके अन्तर्गत छायावाद तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविताको रखा है। गान्धीवादके दार्शनिक-नैतिक पक्षकी अभिव्यक्ति देने-वाला सियारामशरण गुप्तका साहित्य भी इसीके अन्तर्गत है। यथार्थवादी अथवा भौतिकवादी चिन्ताधाराके अन्तर्गत है—प्रगतिवाद और प्रयोगवाद।

छायावादकी जीवनदृष्टि आदर्शवादिनी है। उसमें अध्यात्मकी अपेक्षा सौन्दर्य, दर्शन, राष्ट्रीयता आदिके तत्त्व अधिक मुखर है। जयशंकर 'प्रसाद'में छायावादकी आदर्श भावनाका चरमोत्कर्ष है। उनका काव्य इसी कारण कल्पनाको अधिक अंगीकार करता है। सुमित्रानन्दन पन्तमें आगे चलकर यथार्थवादी प्रवृत्तियोंका प्रवेश हुआ ('युगवाणी' और 'ग्राम्या')। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'में भी यथार्थवादके स्वर है ('वह तोड़ती पत्थर ', 'वह आता, दो टूक कलेजेके करता,' पछताता पथपर आता')। प्रेमचन्दके उपन्यासोंमें यथार्थका चित्रण है, किन्तु उनकी जीवनदृष्टिके कारण उन्हें आदर्शवादी ही कहना अधिक संगत होगा। समीक्षाके क्षेत्रमें रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्यकी आदर्शवादी प्रवृत्तिपर जोर देते हैं। —प्रे० ना०

आदर्शवाद (प्रत्ययवाद)–हिन्दीमे आदर्शवाद अँग्रेजी भाषाके शब्द 'आइडिअलिज्म'के लिए प्रयुक्त होता है। मूल शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें किया जाता है—एक तो नैतिक आदर्शवादके लिए और दूसरे एक दार्शनिक दृष्टिकोण-विशेषके निमित्त। आदर्शवाद शब्द इनमेंसे केवल पहले अर्थको व्यक्त करनेके लिए उपयुक्त है। दूसरे अर्थके लिए अब प्रत्ययवाद तथा बौद्धदर्शनके प्राचीन शब्द विज्ञानवाद (जिसका प्रचलित विज्ञान—साइन्स—से कोई सम्बन्ध नहीं है)का प्रयोग हिन्दीमें होने लगा है।

सामान्यतया आदर्शवाद और आदर्शवादी शब्दोंका उपयोग उनकी दार्शनिक (प्रत्ययवादी—विज्ञानवादी) अभिव्यंजनासे नितान्त भिन्न अर्थमें होता है। सामान्य शब्द-प्रयोगके अनुसार आदर्शवादी वह है जो उच्च नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और सौन्दर्यपरक प्रतिमानों-आदर्शोंको स्वीकार करके अपने तथा समाजके जीवनको उनके अनुसार ढालनेका प्रयास करे। वह व्यक्ति भी आदर्शवादी माना जाता है जो किसी समाज, सम्प्रदाय या वर्गविशेषकी प्रस्तुत दशासे असन्तुष्ट होकर उसके लिए किसी नये आदर्शकी कल्पना करता है। पृथ्वीपर स्वर्ग, ईश्वरका राज्य, सतयुग, रामराज्य, मनुष्यकी तथाकथित आदिम पूर्णावस्था, शोषण-रहित समाज आदिको स्थापित करना चाहता है। कोरा आदर्शवाद या आदर्शवादीके रूपमें निन्दात्मक अर्थमें इन शब्दोंका प्रयोग उस समय किया जाता है, जब आदर्श एकदम असम्भव होता है या स्वयं प्रस्तावकके जीवनमें उसका स्पर्श भी नहीं मिलता।

नैतिक आदर्शवादने मनुष्यके जीवनपर व्यापक प्रभाव डाला है। वस्तुतः वह किसी भी संस्कृतिकी आत्मा है। मनुष्य अपने प्राणमय कोषकी एषणाओं और प्रेरणाओं-मात्रसे सन्तुष्ट नहीं रह पाता। व्यक्ति और समाजको किसी वृहत्तर आदर्शकी ओर ले जानेकी प्रवृत्ति भी मनुष्यमें नैसर्गिक सी है। वाल्मीकि-रामायण, महाभारत, रामचरित-मानस, प्लेटोकी रिपब्लिक, बाइबिल जैसी महान् कृतियाँ एक उदात्त नैतिक आदर्शवादकी स्थापना करती हैं। आधुनिक युगमें टॉल्सटॉय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रोम्याँ रोलाँ और गान्धीने मानवीय आत्मामें एक व्यापक नैतिक आदर्श-वादका संस्कार दृढ़ करनेमें बड़ा योग दिया है। प्रेमचन्दकी गणना श्रेष्ठ आदर्शवादी लेखकोंमें होती है। प्रसादकी 'कामायनी' भी इच्छा-ज्ञान-क्रियाके सम्यक् सामंजस्यके आदर्शका प्रतिपादन करती है।

दार्शनिक आदर्शवाद (प्रत्ययवाद, विज्ञानवाद) संसारकी प्रमुख दार्शनिक विचारधाराओंमेंसे एक है। इस दर्शनके अनुसार जगत्का वास्तविक स्वरूप भौतिक नहीं, वरन् चिन्मय, विज्ञानमय, मनोमय है। भौतिक द्रव्य—मैटर—को प्रधानता न देकर यह सिद्धान्त चेतना अथवा मानसिकताको प्रधानता और प्राथमिकता देता है। भौतिकवादी भौतिक द्रव्यको सत्य मानता है और मन अथवा चेतनाको उसका उपजात एवं अनुगामी। चेतनाकी व्याख्या वह भौतिक उपादानोंसे करता है। इसके ठीक विपरीत दार्शनिक आदर्शवादी (प्रत्ययवादी, विज्ञानवादी) मन अथवा चेतनाको परमसत्य एवं परमतत्त्व और भौतिक द्रव्यको उससे उद्भूत मानता है। वह यह स्वीकार नहीं करता कि जगत् एक विराट् जड यन्त्रमात्र है और उसकी परिपूर्ण व्याख्या भौतिक, यान्त्रिक और वैज्ञानिक पद्धतिसे की जा सकती है। वरन् उसकी मान्यता यह है कि परमतत्त्व मन जैसा चेतन है। जगत्के विधानमें चेतना और बुद्धि अन्तर्भूत है। प्रकृतिकी स्वयं-पूर्णता एक भ्रम है। प्रकृति चैतन्यपर अवलम्बित है। जो जगत् संवेदनोंके माध्यमसे इन्द्रियोंको प्रत्यक्ष होता है वह उसका सत्य स्वरूप नहीं है। उसका सच्चा स्वरूप और अर्थ इस गोचर प्रपंचके पीछे छिपा है। जगत् अर्थपूर्ण और सोद्देश्य है। ऐसा होनेके कारण प्रकृति तथा मनुष्यमें एक सामंजस्य है। जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है, मानव-व्यष्टिमें है। जगत् या प्रकृति मनुष्यके लिए शत्रुका देश नहीं है, जिसपर अधिकार और विजय प्राप्त करना उसका एकमात्र पुरुषार्थ है। मनुष्यका मन मस्तिष्ककी प्रक्रियामात्र नहीं है। मनका अस्तित्व प्रथम है, मस्तिष्कीय प्रक्रिया उसकी अनुगामिनी है। अतः मनुष्य नैतिक और आत्मिक दृष्टिसे स्वतन्त्र है। जगत्के चिन्मय होनेके कारण उसमें कुछ भी अर्थहीन नहीं है। मानव प्राणी उसके अंग है, अतः वे भी अर्थहीन नहीं है। मानवीय मूल्य मनुष्यकी सीमाओंमे सापेक्ष्य और सीमित भले ही हों, वे निरपेक्ष परम मूल्योंके विरोधी और उनसे असम्बद्ध नहीं है। ईश्वर जगत्से भिन्न कहीं भी अन्यत्र नहीं रहता। वह जगत्का अन्तर्भूत जीवनीय तत्त्व है। वह परात्पर भी है, अन्तर्भूत भी है। प्रकृति, इतिहास और सामाजिक विधानकी प्रक्रियाओंमें तथा सर्वोपरि मानव-हृदयमें उसका दर्शन मिलता है। मनुष्यकी महत्त्वाकांक्षाओंसे ईश्वरपर प्रकाश पड़ता है। समस्त प्रकृति ईश्वरसे अनुप्राणित है। प्राकृतिक और परा-प्राकृतिकका भेद असत्य है। अद्वैती आदर्शवादके अनुसार ईश्वर अनन्त और समस्त सत्ताका अधिष्ठान है। मनुष्य एक जीवन्त और सर्जनशील विश्वका निवासी है।

दार्शनिक आदर्शवादके कई रूप हैं, जैसे विषयिपरक, विषयपरक, व्यष्टिपरक और निरपेक्ष आदर्शवाद। इनके विस्तार-में जानेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह दर्शन देश और काल, दोनों दृष्टियोंसे सर्वव्यापी रहा है और मानव संस्कृति तथा मनीषाके निर्माणमें

उसने महान् योग दिया है । इसको भारतकी राष्ट्रीय विचारधारा कह सकते हैं । वैदिक साहित्य, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता, योगवासिष्ठ इसी सिद्धान्तसे ओतप्रोत हैं । इनपर आधारित वेदान्त और वेदान्तकी अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी शाखाएँ तथा शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि उनके आचार्य, सभी दार्शनिक आदर्शवादी (प्रत्ययवादी, विज्ञानवादी) हैं । बौद्धधर्मकी विज्ञानवादी शाखा और उसके आचार्य असंग तथा वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील जैसे भारतवर्षके महान् दार्शनिक आदर्शवादी ही हैं । चीनमें ताओपर आधारित लाओत्जेका दर्शन भी आदर्शवादी है । पश्चिममें सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, सन्त अगस्तीन, सन्त टामस ऐक्विनस, डेकार्टस, बर्कले, काण्ट, हीगेल, शॉपेनहार, ग्रीन, ब्रैडले, और रायस आदि प्रमुख आदर्शवादी दार्शनिक हैं । इटलीके क्रोचे और जेंताइलने नव्य-आदर्शवादके रूपमें इस विचारधाराका नूतन विकास किया है । ऐसी व्यापक विचारधाराका प्रभाव साहित्य और कलाके क्षेत्रोंमें भी पड़ना अनिवार्य था । ललित साहित्यमें अश्वघोषका 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द', 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक, शंकराचार्य तथा अन्य आचार्यों एवं कवियों द्वारा रचित स्तोत्र तथा पद ऐसे ही उदाहरण हैं । भारतीय कलाओंका मूल स्रोत आदर्शवाद ही है । पश्चिममें अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दीके साहित्यमें हमें इसकी विशेष अभिव्यक्ति मिलती है । रोमांटिक आन्दोलनके प्रेरक तत्त्वोंमें आदर्शवादी दर्शन भी एक था । वर्ड्सवर्थ और शेलीकी कविताओंमें उसके सुन्दरतम उदाहरण मिलते हैं । अमेरिकामें एमर्सनने साहित्यके क्षेत्रमें अपने विविध निबन्धोंके द्वारा आदर्शवादका प्रतिपादन किया । हिन्दीमें पिछली पीढ़ीका छायावाद भी मूलतः आदर्शवादी है । —आ० रा० शा०

आदर्शीकरण–यदि हम 'जो है' उसे वास्तविक कहें तो 'जो होना चाहिये' उसे आदर्श कह सकते हैं । मनुष्य वास्तविकसे सन्तुष्ट न होकर आदर्शकी ओर प्रवृत्त होता है और वास्तविकमें जिन दोषों और त्रुटियोंको पाता है उन्हें कल्पना द्वारा आदर्शमें दूर और पूरा कर लेता है । मनुष्यका स्वभाव ही कल्पना-प्रसूत आदर्शमें रुचि लेनेका है । इसी स्वाभाविक प्रवृत्तिका नाम आदर्शीकरण है । एक पाश्चात्य सिद्धान्तके अनुसार कला और साहित्यके सर्जनका मुख्य ध्येय वास्तविकसे ऊपर उठकर कल्पनाके आलोकमें 'आदर्श' संसारका आनन्द लेना है ।

अंग्रेजीमें आदर्शीकरणका दूसरा अर्थ भी है जिसे मानसीकरण कहा जा सकता है । कलाका उद्देश्य किसी वस्तुको उसके पार्थिव और स्थूल स्तरसे उठाकर मानसिक स्तरपर ले जाना है, क्योंकि वस्तुके मानसिक रूपकी चर्वणासे ही कलात्मक अनुभूति उत्पन्न होती है । —ह० ला० श०

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद–आदर्शवाद तथा यथार्थवादका समन्वय करनेवाली विचारधारा । इस प्रवृत्तिकी ओर प्रथम महत्त्वपूर्ण संकेत प्रेमचन्दका है । उन्होंने कथासाहित्यको यथार्थवादी रखते हुए भी आदर्शोन्मुख बनानेकी प्रेरणा दी और स्वतः अपने उपन्यासों तथा कहानियोंमें इस प्रवृत्तिको जीवन्त रूपमें अंकित किया । उनका उपन्यास 'प्रेमाश्रम' इस प्रकारकी प्रसिद्ध कृति है । पर प्रेमचन्दके बाद इस साहित्यिक विचार-धाराका आगे विकास प्रायः नहीं हुआ । इस चिन्तन-पद्धतिको कदाचित् कलात्मक स्तरपर कृत्रिम समझकर छोड़ दिया गया । —रा० स्व० च०

आदिकाल–हिन्दी साहित्यके प्रारम्भिक कालको हिन्दी साहित्यका इतिहास लिखनेवाले विद्वानोंने 'वीरगाथाकाल' या 'चारणकाल' या 'सिद्ध-सामन्तकाल' कहा है । 'वीरगाथाकाल' नाम रामचन्द्र शुक्लने दिया था । उन्होंने संवत् १०५० (सन् ९८३) से संवत् १३७५ (सन् १३१८ ई०) तक आदिकालकी सीमाएँ मानी थीं । उन्होंने उस कालकी अपभ्रंश और 'देशभाषा-काव्य'की बारह पुस्तकें साहित्यिक इतिहासमें विवेचनके योग्य समझी थीं—'विजयपाल रासो', 'हम्मीर रासो', 'कीर्तिलता', 'कीर्तिपताका', 'खुमान रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'जयचन्द्र प्रकाश', 'जयमयंक जसचन्द्रिका', 'परमाल रासो' (आल्हाका मूल रूप), खुसरोकी पहेलियाँ और विद्यापतिकी पदावली । उन्होंने कहा कि इन्हीं बारह पुस्तकोंकी दृष्टिसे आदिकालका लक्षण-निरूपण और नामकरण हो सकता है । इनमेंसे अन्तिम दो तथा 'बीसलदेव रासो'को छोड़कर शेष सब ग्रन्थ वीरगाथात्मक हैं । अतः 'आदिकाल'का नाम 'वीरगाथाकाल' रखा जा सकता है । अपभ्रंशकी अन्य सामग्रीका भी उनके समयमें पता चल चुका था, किन्तु उन्होंने उसका उपयोग नहीं किया, क्योंकि उनकी दृष्टिमें वे कृतियाँ विवेचन योग्य नहीं थीं । उनके अनुसार या तो उनमेंसे कुछ पीछेकी रचनाएँ थीं या कुछ 'नोटिसमात्र' थीं और कुछ जैन धर्मकी उपदेश-पुस्तकें थीं । किन्तु इधर जो तथ्य प्रकाशमें आये हैं उनके आधारपर ऊपर लिखित बारह रचनाओंमेंसे कुछ तो पीछेकी सिद्ध हो चुकी हैं, कुछ केवल नोटिसमात्र हैं और कुछके मूल रूपके विषयमें निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता । 'रासो' नामक ग्रन्थोंके आधारपर वीरगाथाकालकी कल्पना की गयी है, किन्तु 'रासो' ग्रन्थोंकी परम्परा अपभ्रंश, गुजराती साहित्यमें मिलती है । इन रासो ग्रन्थोंमें वीर रसके स्थल बहुत ही कम हैं, शृंगार, भक्तिके स्थल बहुत हैं । इन रासो ग्रन्थोंकी दो परम्पराएँ रही हैं—एक साहित्यिक पठित रूपकी और दूसरी गेय रासोकी । परवर्ती अपभ्रंशमें लिखा 'सन्देशरासक' साहित्यिक परम्पराकी कृति है और गुजरातीका 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' और 'बीसलदेव रास' सरल गेयपरम्पराकी रास कृतियाँ हैं । जो हो, रास ग्रन्थोंके आधारपर इस कालका नाम वीरगाथाकाल रखना युक्तिसंगत नहीं है । यही बात 'चारणकाल' नामके सम्बन्धमें कही जा सकती है । राजस्थानमें चारण, भाटोंने कुछ काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु वे इस कालकी सीमाओंसे बहुत पीछेके हैं और उस प्रकारकी रचनाएँ बहुत बादतक होती रहीं, अतः 'चारणकाल' नामसे इस कालकी प्रवृत्तियोंका बोध नहीं होता ।

राहुल सांकृत्यायनने विषयवस्तुको दृष्टिमें रखकर इस कालके लिए 'सिद्ध-सामन्त-काल' नाम सुझाया है । इस कालमें जो साहित्य लिखा गया उसमें बौद्ध नाथ-सिद्धों द्वारा लिखा हुआ साहित्य भी मिलता है और इसी प्रकार सामन्तोंकी प्रशंसामें या उनके आश्रयमें लिखे हुये ग्रन्थ भी इस कालमें मिलते हैं, किन्तु फिर भी सिद्ध-सामन्त-काल

नाम भी पूरी तरहसे इस युगकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंको स्पष्ट नहीं करता।

साधारणत सन् ईसवीकी दसवींसे लेकर चौदहवीं शताब्दीतकके कालको हिन्दी साहित्यका 'आदिकाल' कहा जा सकता है। इधर कई विद्वानोंने इस युगकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंको स्पष्ट करनेके बहुत ही सफल प्रयास किये हैं, अनेक नयी कृतियाँ सही रूपमें सम्पादित होकर सामने आयी हैं, जिनके आधारपर इस कालकी प्रवृत्तियोंपर अच्छा प्रकाश पड़ा है। हजारीप्रसाद द्विवेदीने 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल' नामक कृतिमें बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढंगसे इस युगकी अनेक गुत्थियोंको सुलझाया है।

इस कालमें जो प्रवृत्तियाँ प्रचलित रहीं उनका अच्छा परिचय अपभ्रंशकी रचनाओंमें मिलता है। भावधाराकी दृष्टिसे एक महत्त्वपूर्ण धाराका सिद्धोंकी रचनाओंमें दर्शन होता है। सरह पा, काण्ह पा आदि बौद्ध वज्रयानी सिद्धोंकी रचनाओंका भी ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जा चुका है। सिद्धोंकी रचनाओंमें दोहोंमें पश्चिमी अपभ्रंश और पदोंमें पूर्वी अपभ्रंशका रूप मिलता है। दोहोंमें वज्रयान या सिद्धोंके अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके गूढ़ तत्त्वोंके प्रतिपादनके अतिरिक्त सरल-साधारण उपदेश भी मिलते हैं। ये उपदेश सम्प्रदायसे बाहर सामान्य जनके लिए हैं। इसी प्रकारकी धारा जैन मुनियों—योगीन्दु, मुनि रामसिंहकी 'पाहुडदोहा' आदि कृतियोंमें भी मिलती है और इस धाराका परिचय देनेवाले दोहे छन्द-ग्रन्थों, अलकार-ग्रन्थोंमें बिखरे मिल जाते हैं।

दोहा अपभ्रंश और आदिकालीन हिन्दीका बहुत ही प्रसिद्ध छन्द है। धर्म, उपदेश आदिके अतिरिक्त सुभाषित, श्रृंगार, चेतावनी आदि अन्य कई प्रकारके विषयोंके लिए दोहोंका प्रयोग अपभ्रंशमें हुआ है। हेमचन्द्रके व्याकरणमें, पुरातन प्रबन्धसग्रहके प्रबन्धोंमें तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' जैसी कृतियोंमें उद्धृत दोहोंमें अनेक प्रकारके भाव व्यक्त किये गये हैं। एक ओर विप्रलम्भ श्रृङ्गारके ऊहात्मक और संवेदनात्मक चित्र इन दोहोंमें मिलते हैं तो दूसरी ओर निर्वेद और वैराग्यकी भावनासे पूर्ण चित्र, जैसे 'प्रबन्ध-चिन्तामणि'के इस दोहेमें—'एउ जम्मु नग्गुह गिउ भडसिरि खग्गु न भग्गु। तिक्खाँ तुरियं न माणियाँ, गोरी गली न लग्गु॥' भी मिलते हैं।

मुक्तक पद्यकी धारासे भिन्न अपभ्रंशकी कृतियोंमें कथा-साहित्य मिलता है। ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवी शतियोंके कई चरित-काव्य अपभ्रंशमें मिलते हैं। इन कृतियोंमें किसी पौराणिक या ऐतिहासिक व्यक्तिका चरित्रवर्णन मिलता है और चरित्रकथनके लिए 'कडवक' शैलीका प्रयोग हुआ है। विद्यापतिकी कीर्तिलता और चन्दका 'पृथ्वीराज रासो' इससे कुछ भिन्न किन्तु बहुत कुछ चरितकाव्योंके समान शैलीमें लिखी गयी कृतियाँ हैं। 'सुदसण चरिउ' जैसी अपभ्रंश-कृतियोंके समान इन रचनाओंमें भी विविध छन्दोंके सहारे ऐतिहासिक चरितनायकोंकी कथा कही गयी है। प्राचीन कथा-ग्रन्थोंके समान भृगु-भृगी, शुकशुकीके संवादोंकी परम्परा इन ग्रन्थोंमें भी मिलती है।

इस कालकी एक अन्य साहित्यिक धारा रासक ग्रन्थोंकी मिलती है। रासक या रासो ग्रन्थोंके दो रूप इस कालमें प्राप्त होते हैं। एक 'सदेशरासक' जैसी रचनाओंका विविध छन्दोंवाला साहित्यिक रूप। इस प्रकारकी कृतियाँ पाठ करनेके लिए थीं। दूसरा रूप लघु-रासो कृतियोंका मिलता है। इस प्रकारकी कृतियोंमें किसी व्यक्ति, तीर्थ या व्रतकी कथा मिलती है। ये कृतियाँ गाकर सुनायी जानेके लिए रची जाती रही होंगी। इस प्रकारकी कृतियोंमें प्राय एक ही छन्दका प्रयोग आदिसे अन्ततक मिलता है और कुछ कृतियोंमें इस प्रकारके स्पष्ट उल्लेख भी मिलते हैं कि कृतियाँ गाकर पाठ करनेके लिए रची गयी हैं। कहीं-कहीं शीर्षक रागोंमें दिये हुए मिलते हैं। अपभ्रंशका 'उपदेश रसायन रास' तथा हिन्दीमें नरपति-नाल्हका 'बीसलदेव रास' इसी प्रकारके ग्रन्थ हैं। 'पृथ्वीराज रासो' दूसरे प्रकारकी कृति है जो 'सदेश रासक' जैसी कृतियोंकी परम्परामें आती है।

हिन्दी साहित्यके आदिकालके सम्बन्धमें विद्वानोंका मत है कि इस कालका परिचय देनेवाली कृतियोंमेंसे सभी प्राय हिन्दी प्रदेशके बाहर ही लिखी गयी मिलती हैं, और अपभ्रंशकी कृतियाँ भी हिन्दी प्रदेशके बाहर ही प्राप्त हुई हैं। हिन्दी प्रदेशकी राजनीतिक स्थिति ऐसी रही कि यहाँ ग्रन्थ सुरक्षित नहीं रह सके। जो ग्रन्थ इधर-उधर पहुँच गये, वे ही बच सके। इस कालका परिचय देनेवाले प्रमुख ग्रथ इस प्रकार हैं—अपभ्रंश कृतियोंमें बौद्ध गान और दोहा, जैन विचारकोंके दोहे, 'कुमारपाल प्रतिबोध', 'प्रबन्ध चिन्तामणि', 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह'में प्राप्त अपभ्रंश पद्य, 'सदेश-रासक', विद्यापतिकी 'कीर्तिलता', 'कीर्तिपताका', अलंकार-ग्रन्थों तथा हेमचन्द्रके व्याकरणमें प्राप्त होनेवाले अपभ्रंश पद्य आदि अपभ्रंश रचनाएँ तथा 'प्राकृतपैंगल'के अपभ्रंश पद्य।

'युक्तिव्यक्तिप्रकरण', 'वर्णरत्नाकर', गुजराती रासग्रन्थ, 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो' आदि कृतियोंमें भी इस कालके स्वरूपका परिचय प्राप्त होता है। नाथ-सिद्धोंकी रचनाएं महत्त्वपूर्ण हैं।

ऊपर जिन कृतियोंका उल्लेख किया गया है उनमसे 'युक्तिव्यक्तिप्रकरण' और मैथिल कृति 'वर्णरत्नाकर'को छोड़कर शेष सभी पद्यबद्ध हैं। गद्य संस्कृत और प्राकृतमें तो मिलता है, अपभ्रंश या प्राचीन हिन्दीमें गद्य नहीं मिलता। सबसे प्रचलित और प्रसिद्ध अपभ्रंशका छन्द दोहा है, जिसका मुक्तक काव्यके रूपमें बहुत ही सफल प्रयोग इस कालमें हुआ है। चौपाई और दोहाका सम्मिलित रूप कथा कहनेके लिए हिन्दी चरितकाव्योंका आदर्श रूप बन गया। इस परम्पराका सूत्रपात अपभ्रंश-कवियोंने किया, बौद्ध सिद्धोंकी रचनाओंमें भी चौपाई-दोहाका प्रयोग मिलता है। जैन चरितकाव्योंमें पद्धड़िया और घत्ताका प्रयोग मिलता है। हिन्दी कृतियोंमें घत्ताका स्थान दोहाने ले लिया, किन्तु शेष ढाँचेमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

'सदेश रासक'में अनेक छन्दोंका प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'प्राकृतपैंगल'में छप्पय, रड्डा आदि अपभ्रंशके छन्दोंके लक्षणके साथ प्रसिद्ध अपभ्रंश-कृतियोंमें उदाहरण भी दिये हैं। इन सब मात्रिक छन्दोंके प्रयोग इस कालकी हिन्दी कृतियोंमें मिल जाते हैं।

भक्तिकाल तथा परवर्ती हिन्दीकी रचनाओंमें जो रूप मिलता है उस रूपका पूर्वरूप आदिकालमें मिलता है। और कृतियाँ मिलनेसे तथा उनके अध्ययनसे इस कालकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका स्वरूप धीरे-धीरे अब स्पष्ट हो रहा है। दे०—'सिद्ध-साहित्य','नाथ-साहित्य','वीर-काव्य'।

[सहायक ग्रन्थ—१ 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल' : हजारीप्रसाद द्विवेदी, २ 'नाथ सम्प्रदाय' : हजारीप्रसाद द्विवेदी, ३ 'सिद्ध साहित्य' : धर्मवीर भारती।] —रा० सिं० तो०

आदिम वृत्तियाँ—दे०—'मूल प्रवृत्तियाँ'।

आधिकारिक वस्तु—दृश्य काव्यमें वस्तुके दो भेद किये गये हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक वस्तुको मुख्य कथावस्तु या मूल कथावस्तु भी कहते हैं। 'आधिकारिक' शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए दशरूपककारने कहा है 'अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः। तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्॥' (दशरूपक, १।१२)। अर्थात्, फलपर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है और उस फलका भोक्ता अधिकारी कहलाता है। फलभोक्तासे सम्बद्ध कथा 'आधिकारिक' कहलाती है। फलका भोक्ता जो अधिकारी कहा गया है वही नायक होता है। जयशंकर 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त'का नायक स्कन्दगुप्त फलभोक्ता है। इससे सम्बद्ध कथा **मूल कथावस्तु** या **आधिकारिक कथावस्तु** है। यह कहा जा सकता है कि 'स्कन्दगुप्त'की सभी कथाएँ नायकसे किसी-न-किसी प्रकार सम्बद्ध हैं, फिर आधिकारिक कथावस्तुकी संज्ञा किन कथाको दी जायगी? कुसुमपुरकी घटनाएँ जो स्कन्दगुप्तके जीवनको सीधे प्रभावित करती हैं, मुख्य कथावस्तुके अन्तर्गत आयेंगी। मालवकी कथा, जो आधिकारिक कथाको आगे बढ़ाती है, **प्रासंगिक कथावस्तु** है। इसी तरह 'जनमेजयका नागयज्ञ'में जनमेजयसे सम्बद्ध कथा आधिकारिक तथा नागोंसे सम्बद्ध कथा प्रासंगिक कथावस्तु है। —ब्र० सिं०

आधुनिककाल—हिन्दी साहित्यके इतिहासमें आधुनिक काल प्रायः अँग्रेजी राज्यसे सम्बद्ध किया जाता है। १७०७ ई० में अन्तिम मुगल सम्राट् औरंगजेबकी मृत्युके पश्चात् भारतीय राजनीतिक परिस्थितिके पतनोन्मुख हो जानेके कारण अँग्रेजी राज्यकी स्थापना हुई और १७५७ ई० के बाद निश्चित रूपसे उसका प्रसार होता गया। जिस समय भारतवर्षमें अँग्रेजी राज्यकी स्थापना हुई उस समय परम्परागत मुख्य साहित्यिक सम्पत्ति ब्रजभाषा-कविता—विशेषतः रीति और शृंगारी कविता ही थी। कविगण परिपाटीविहित और रूढ़िग्रस्त राधा-कृष्णकी लीलाओं और नायक-नायिकाओंके कल्पित ऐश्वर्य और विलासमें डूबे हुए थे। इन भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए कवियोंके पास उपयुक्त साधन थे। कविताके आदर्शोंमें भी अभी परिवर्तन नहीं हुआ था। किन्तु अँग्रेज अपने साथ उपयोगी ज्ञान-विज्ञान और एक नवीन शासन-पद्धति लाये, जिसके लिए कविता उपयुक्त माध्यम नहीं थी। अस्तु, एक ओर प्राचीन ब्रजभाषा-कविताका प्रचार बने रहनेके साथ साथ दूसरी ओर जीवनकी नवीन परिस्थितियों और आवश्यकताओंके अनुसार गद्यकी आवश्यकता भी अनुभव हुआ। हिन्दीमें ब्रजभाषा गद्य, राजस्थानी गद्य और खड़ीबोली गद्यकी स्फुट और क्षीण धाराएँ प्रचलित अवश्य थीं, किन्तु वे साहित्यका प्रधान अंग न बन पायी थीं। अँग्रेजी राज्यकी स्थापनाके अन्तर्गत ऐतिहासिक कारणोंके फलस्वरूप और प्रेस जैसे वैज्ञानिक साधनकी सहायतासे खड़ीबोली गद्यकी परम्पराको पुष्टता प्राप्त होती गयी और थोड़े ही दिनोंमें वह हिन्दी साहित्यका प्रधान अंग बन गयी। वास्तवमें अँग्रेज जिस आधुनिकताको अपने साथ लाये वह खड़ीबोली गद्यके माध्यम द्वारा ही अवतरित हुई। यह आधुनिकता कलकत्ता सिविलाइजेशन और फोर्ट विलियम कॉलेजमें साकार हो उठी। इसीलिए हिन्दी साहित्यमें आधुनिकताका प्रवर्तक निश्चय ही गद्य-लेखक था। अतः आधुनिककालको गद्यकाल कहा जाय तो कोई हानि न होगी। अँग्रेजी राज्यके फलस्वरूप उत्पन्न नवीन शक्तियों और यूरोपसे आये विचारोंके प्रभावान्तर्गत कविताके क्षेत्रमें भी अभूतपूर्व परिवर्तन हुए—पहले बाह्य और फिर उसके आभ्यन्तर रूपमें।

आधुनिककालीन हिन्दी साहित्यको भली भाँति हृदयंगम करनेके लिए उन नवीन परिस्थितियों, शक्तियों और भावों एवं विचारोंको समझना अत्यन्त आवश्यक है जो उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियोंमें उत्पन्न हुए हैं। अँग्रेजी राज्यमें नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारोंके प्रचारके फलस्वरूप देशमें क्रान्तिकारी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए जिनके फलस्वरूप विविध प्रकारके आन्दोलनोंसे जीवन स्पन्दित हो उठा। भारतवासी अपना अलसाया हुआ जीवन छोड़कर आगे बढ़े। मध्ययुगीन पतनके बाद इस नवजागरणने देशकी आत्म-गरिमाको फिरसे सजीव बना दिया। पश्चिमका आघात पाकर एक बार तो भारतवासी अपनेको सम्हाल सकनेमें असमर्थ हुए किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अपने पैर जमाये। परिणाम यह हुआ कि पूर्व और पश्चिमका संघर्ष छिड़ गया, जो आधुनिक कालमें उन्नीसवीं शताब्दीसे ही परिलक्षित होता है। सौभाग्यसे इस संघर्षकालमें भी भारतवासियोंने अपना समन्वयात्मक दृष्टिकोण न छोड़ा। उन्होंने पश्चिमके ज्ञान-विज्ञानके साथ-साथ अपनी आध्यात्मिकताकी रक्षा करनेकी सतत एवं सफल चेष्टा की। आधुनिककालके गद्य और काव्य-साहित्य इसके साक्षी हैं। इसके अतिरिक्त व्यापक राष्ट्रीयता भी आधुनिक हिन्दी साहित्यकी एक प्रमुख विशेषता है।

अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दीमें नवयुगकी आवश्यकताके साथ हिन्दीके साहित्यिकोंमें विचार-स्वतन्त्रताका जन्म हुआ और भाषाके शब्दकोशमें वृद्धि हुई। गद्यका विविधतासम्पन्न विकास हुआ और कविने अपनी परिपाटीविहित और रूढ़िग्रस्त कविता छोड़कर दुनियाको नयी आँखोंसे देखा।

साहित्यिक दृष्टिसे आधुनिककालकी रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है : सर्वप्रथम हम उसके अन्तर्गत उन्नीसवीं और बीसवीं दोनों शताब्दियोंकी गणना करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दीको दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है—१. पूर्वार्द्ध और २. उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्धमें ब्रजभाषा-काव्यकी प्रधानता रही। गद्यके क्षेत्रमें खड़ीबोली-गद्यकी क्रमिक परम्पराकी स्थापना इसी समय होती है। लल्लूलाल, सदल मिश्र और इंशाकी रचनाओंका आविर्भाव, ईसाई

मिशनरियोंकी धार्मिक ग्रन्थोंकी रचना, समाचारपत्रोंका प्रकाशन और शिक्षा सम्बन्धी इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, यात्रा-वर्णन, राजनीति, भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, प्रकृतिविज्ञान आदि विविध विषयोंकी पुस्तकोंका निर्माण इस समयकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें ही खड़ीबोली-गद्यने अनेक अँग्रेजी शब्दोंको आत्मसात् करना प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु खड़ीबोली-गद्यमें अभी ललित साहित्यकी रचना न हुई थी। यह कार्य उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्धमें सम्पन्न हुआ। हिन्दी साहित्यके अन्तर्गत यह भारतेन्दुकालके (दे०) नामसे प्रसिद्ध है, जिसका समय स्थूलत १८५० से १९०० ई०-तक माना जाता है। ललित साहित्यके प्रणयनकी दृष्टिसे आधुनिकता सर्वप्रथम इसी कालमें दृष्टिगोचर होती है। इस कालमें गद्यके अन्तर्गत नाटक, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना, जीवनी आदि साहित्यिक रूपोंका प्रणयन हुआ और समाचारपत्र-कलाकी तीव्र गतिसे उन्नति हुई। काव्यक्षेत्रमें यद्यपि व्रजभाषा-काव्यकी प्रधानता बनी हुई थी, किन्तु अब उसका एकाधिपत्य मिटता जा रहा था और खड़ीबोली उसका स्थान ग्रहण करने लगी थी, यद्यपि १८८५ ई० में भारतेन्दुकी मृत्युतक खड़ीबोली-आन्दोलन अधिक जोर न पकड सका था। भारतेन्दुकालमें जीवनकी नवोत्पन्न परिस्थितियोंके फलस्वरूप उत्पन्न आन्दोलनोंमें सुधार एवं प्रगतिकी प्रबल भावना थी और राजनीतिक एव आर्थिक क्षेत्रमें इण्डियन नेशनल कांग्रेस (१८८५ ई०) का जन्म एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इन आन्दोलनोंका प्रभाव गद्य और व्रजभाषा एव खड़ीबोली-काव्यपर दृष्टिगोचर होता है और साहित्यका जीवनके साथ सम्पर्क स्थापित होता है। १९०३ ई० में महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती'का सम्पादन-भार ग्रहण किये जानेके समयसे प्रथम महायुद्ध (१९१४–१९१८ ई०) के अन्ततक आधुनिककालको द्विवेदीयुग (दे०) माना जाता है। हिन्दी कहानी इसी युगकी देन है और विविध प्रकारकी गद्यशैलियोंके जन्मके साथ-साथ द्विवेदीयुग खड़ीबोलीके परिष्करण और परिमार्जनका युग है। इस समय गद्य और काव्य दोनोंकी ही भाषा खड़ीबोली बनी—केवल रत्नाकर ही एक उच्च कोटिके व्रजभाषा-कवि मिलते है।

प्रथम महायुद्धके बादसे लेकर १९३६ ई० के लगभगतक, जब कि सुमित्रानन्दन पन्तकृत 'युगान्त'का प्रकाशन हुआ, आधुनिककालका छायावादी तथा रहस्यवादी युग (दे०) है। इस युगकी विशेषता प्रधानत काव्यमें दृष्टिगोचर होती है। कवियोंने एक नवीन मानव-दर्शन ग्रहण किया और एक पुष्ट कलात्मक आन्दोलनको जन्म दिया। द्विवेदीयुग और छायावादी युगके गद्य और काव्य दोनों प्रकारके साहित्योंपर नवीन वैज्ञानिक युगकी छाप स्पष्ट है। प्रकृति-चित्रण भी अब कोरा उद्दीपनमात्र न रह गया था। द्विवेदीयुगमें ही कवियोंने उसके चेतन रूपका चित्रण अपनी अनुभूतियोंके रंगमें रँगकर प्रारम्भ कर दिया था। छायावादी एव रहस्यवादी रचनाओंमें यह प्रवृत्ति और भी अधिक प्रमुख हो गयी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय संघर्षका अनुसरण करनेवाली भाव-धारा भी निरन्तर प्रवाहित होती रही। प्राचीन मूल्योंका पुनर्मूल्याकन होने लगा और महाकाव्य, खण्ड-काव्य, गीति-काव्य आदि काव्य-रूपोंका प्रचार हुआ। गद्य-साहित्यमें भी, विशेषत उपन्यास और कहानीमें जीवनकी अनेक जटिल एवं दुरूह समस्याओंके समाधानका प्रयत्न किया गया और किया जा रहा है। एकाकी नाटक छायावादी युगकी अपनी विशेषता है। १९३६ ई० के लगभगसे हिन्दी साहित्यमें मार्क्सवादी विचारधारासे प्रभावित प्रवृत्तियोंका जन्म हुआ, जिसे प्रगतिवादके (दे०) नामसे अभिहित किया जाता है। द्वितीय महायुद्धकाल (१९३९–१९४५ ई०)की परिस्थितियोंने आधुनिक हिन्दी साहित्यमें प्रयोगवादको (दे०) जन्म दिया। इन प्रधान विशेषताओंके अतिरिक्त आदर्श और यथार्थ भी कवियों और लेखकोंकी विचारधाराको प्रेरित करते रहे हैं।

आधुनिक कालमें हिन्दी साहित्य पाश्चात्य विचारधारासे अत्यधिक प्रभावित हुआ है और अनेक परम्परागत मान्यताओं और जीवनके प्रति दृष्टिकोणमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके हैं और हो रहे है। इस कालकी कहानी इंशाकृत 'रानी केतकीकी कहानी'से लेकर प्रेमचन्दकृत 'गोदान'तक नित्य नवीन रूप धारण करती रही है। इस कहानीकी मूल सवेदना अधिकाधिक मानवसापेक्ष होती गयी है। पिछले पचास वर्षोंमें यह कहानी संसारके विविध साहित्यिक एव कलात्मक आन्दोलनोंको लेकर चली ह।

[सहायक ग्रन्थ—(१) आधुनिक हिन्दी साहित्य लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, (२) आधुनिक हिन्दी साहित्यका विकास श्रीकृष्णलाल, (३) हिन्दी साहित्य भोलानाथ]—ल०सा०वा०

आनन्दवाद—आनन्द परब्रह्मका ही वाचक है—'रसो वे स । रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। एष ह्येवानन्दयति।' (तै० उ० २ ७ १), वह रस ही है, इस रसको पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है, यह रस सबको आनन्दित करता है। बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है कि 'इस आनन्दके अंशमात्रके आश्रयसे ही सब प्राणी जीवित रहते हैं।' स्वय 'तैत्तिरीय उपनिषद'में ही जगत्के समस्त पदार्थोंका कारण, आधार और लय आनन्द दिखलाया गया है।

आनन्द अभयत्व है। जबतक द्वैत रहता है तबतक भय बना रहता है। अद्वैतकी अनुभूतिमें अभयकी प्राप्ति होती है।

आनन्द आत्माका ही लक्षण है। जब हम शोकाकुल या दु खी रहते हैं तो हम स्वस्थ नहीं रहते। लोग हमारी इस अवस्थाको अस्वाभाविक समझकर इसका कारण पूछते हैं। इसके विपरीत जब हम आनन्दमें रहते ह तो हम स्वस्थ रहते हैं। इस समय कोई हमारी अवस्थाके बारेमें प्रश्न नहीं पूछता, क्योंकि वह समझता है कि आनन्द हमारी स्वाभाविक और वास्तविक अवस्था है। इससे सिद्ध है कि दु ख आत्माका उपलक्षण (आगन्तुक या परिवर्तनशील गुण) है और आनन्द उसका स्वाभाविक लक्षण है।

आनन्द नित्य है। इसका अभाव कभी नहीं होता। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, प्रत्येक अवस्थामें आनन्दका कुछ-न-कुछ अनुभव होता है। सुषुप्तिमें विषयोंका अभाव रहता है, फिर भी आनन्दका अनुभव होता है, क्योंकि सोकर जागनेके बाद सबके अनुभवमें ऐसा ही आता है।

जाग्रत् और स्वप्नमें सुख तथा दु ख रहते हैं, यद्यपि उनके मूलमें आनन्द ही रहता है। सुषुप्तिमें सुख-दु खका द्वन्द्व दब जाता है और आनन्दमात्रका अनुभव होता है। अतः आनन्द नित्य वर्तमान है और वह अपरोक्ष अनुभव है, वैषयिक ज्ञान नहीं।

प्राय• लोग सुख और आनन्द दोनोंको अभिन्न समझते हैं। पर तात्त्विक तथा नैतिक दृष्टिसे दोनोंमें अन्तर है। वेदान्ती सुखको सातिशय सुख और आनन्दको निरतिशय सुख कहते हैं। सुख परिवर्तनशील, अस्थिर और भगुर है, आनन्द नित्य तथा स्थिर है। सुख दु खकी अपेक्षा करता है। सुख-दु खका एक द्वन्द्व है। आनन्द इस द्वन्द्वसे मुक्त है। वह द्वन्द्वानुभूति न होकर अद्वैतानुभूति है। सुखको आनन्दलेश या आनन्दकी अल्प मात्रा कहा जाता है। इसकी तुलनामें आनन्दको आनन्दघनकी संज्ञा दी जाती है। सुखका सम्बन्ध शरीर और इन्द्रियोंसे है, आनन्दका आत्मासे। सुख विषय या ज्ञेय है, आनन्द अविषय, विषयी या ज्ञाता। सुख अलौकिक है, आनन्द लौकिक या लोकोत्तर। सुख आनन्दपर निर्भर है, आनन्द स्वय आत्मनिर्भर है। सुख प्रेयकी प्राप्ति है और आनन्द श्रेयकी। अभ्युदय सुखका क्षेत्र है और नि श्रेयस् आनन्दका। सुखका सत् गुणसे विरोध हो सकता है, पर आनन्दका नहीं।

जिसे आनन्दका सच्चा आस्वादन होता है, उसको अन्य सब कुछ फीका लगता है। आनन्दका स्वाद गूँगेका गुड चखना है। आनन्द अनुभवैकगम्य है।

आनन्द आत्माका स्वभाव है। आत्मज्ञान न रहनेसे आनन्दका भी ज्ञान नहीं होता। आनन्द-लाभका वही साधन है जो आत्मलाभका है। ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, प्रपत्तिमार्ग, पुष्टिमार्ग और योगमार्ग इसको प्राप्त करनेके साधन हैं। आनन्दकी उपलब्धि ही मोक्ष है।

हिन्दीके सन्त-साहित्य, भक्ति-साहित्य और वर्तमान रहस्यवाद-साहित्यमें आनन्दवादके सिद्धान्तोंकी स्थापना हुई है। आनन्दको प्राप्त करनेकी उत्कट इच्छा ही यहाँ साहित्यमें पथ-प्रदर्शिका बनी है। भक्ति चाहे वह सगुण ब्रह्मकी हो या निर्गुण ब्रह्मकी, आनन्ददायिनी है। नैतिक दृष्टिसे सभी सन्तों, भक्तों और रहस्यवादियोंका सिद्धान्त आनन्दवाद ही है, सुखवाद या दु खवाद नहीं। आनन्द-लाभ ही उन सबका लक्ष्य है। इसी कसौटीसे वे अच्छे-बुरेकी, सज्जन-दुर्जनकी पहिचान करते हैं। आधुनिक हिन्दी कवितामें 'कामायनी'के माध्यमसे 'प्रसाद'ने आनन्दवादका अत्यन्त सशक्त समर्थन किया है।

भारतीय साहित्यशास्त्रपर भी आनन्दवादका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया। रसात्मक वाक्यको ही काव्य कहा गया और रसकी कल्पना विशुद्ध ब्रह्मानन्दके रूपमें ही की गयी। सन्तों और भक्तोंने तो भक्तिको ही मुख्य रस माना और अन्य सभी रसोंको भक्तिका ही अवान्तर रूप कहा। रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे इस समय इस मतके सबसे प्रबल समर्थक हैं।—स०ला०पा०

आनदसम्मोहिता—दे०—'प्रौढा', नायिका।

आनुषगिक वक्रता—दे०—'प्रबन्धवक्रता', चौथा नियामक।

आतरिक अलोचना-प्रणाली—साहित्य-शास्त्रको दो मार्गोंमें बाँटा गया है—फार्म और मैटर अथवा काव्य-दर्शन और काव्य-रीति। कुछ विद्वान् फार्मको महत्त्व देते हैं, कुछ मैटरको। फार्मको प्रधानता देनेवाले आलोचक इन्द्रयूटिव या रसवादी कहलायेंगे।

प्रस्तुत आलोचना-पद्धतिका मुख्य लक्ष्य है कृतिकी आत्माको पहचानना। इस पद्धतिका आलोचक शरीरको आत्माका बाह्य स्वरूप कहकर उपेक्षा करता है और कृतिकी गहराईमें पैठकर भाव-सत्योंके मोतीको चुनना चाहता है। छन्द, लय, सर्ग, परिच्छेद, अलंकार, शब्द-शक्ति, शैली, रीति आदि तो बाहरकी वस्तुएँ हैं, मूल वस्तु आत्मा, स्पिरिट अथवा भाव है। अतएव भावका सौन्दर्य ही सत्य है। शैली या रूप तो असत्य और क्षणिक है। साहित्यका सत्य तो आत्मानुभूति है। साहित्यकारकी वास्तविक रत्न-भूमि वह मानसिक प्रक्रिया है जिसमें कल्पनाके अविरल प्रवाहसे गहन-संश्लिष्ट निविड भावोंकी प्रधानता होती है। इसी सिद्धान्तका समर्थन करनेवाली अलोचना-पद्धति आन्तरिक आलोचना कहलाती है।

सचमुच यह एक जटिल प्रश्न है कि कार्य और कारणमें, बीज और फलमें, शरीर और आत्मामें किसको प्रधान माना जाय? फिर भी आन्तरिक सत्यको ही अबतक महत्त्व मिलता आया है। प्लेटो, अरस्तू, अथवा यूनानी साहित्यिक तो एक स्वरसे भावको महत्त्व देते आये हैं। वैसे इनके सिद्धान्तोंकी मूल स्पिरिटकी उपेक्षा हुई और बादके आलोचकोंने इनके बताये हुए आदर्शोंके स्थूल रूपको ही प्रधानता दी। परन्तु किसी भी सिद्धान्तमें अन्तरकी उपेक्षा नहीं की जा सकती चाहे वह अभिव्यंजनावाद हो, सौन्दर्यवाद हो अथवा अस्तित्ववाद या अनिवस्तुवाद हो। इस प्रकार प्लेटोसे लेकर टी एस• इलियटतक, सबने एक स्वरसे अन्तरके महत्त्वको कबूल किया है। यह बात दूसरी है कि कुछने बाह्यको ही अन्तरका प्रतिरूप माना है—जैसे, अभिव्यंजनावादी। इसी तरह कुछने अन्तरके महत्त्वको प्रतिष्ठित करते हुए नीतिको अधिक महत्त्व दिया तो किसीने वासनाको और किसीने क्षुधाको। इस सन्दर्भमें टाल्स्टाय, फ्रायड, मार्क्सके नाम लिये जा सकते हैं। इनकी तुलनामें रिचर्ड्स, टी एस इलियट विशुद्ध रसवादी आलोचक कहे जायँगे।

संस्कृतमें तो रस अर्थात् भावको इतना अधिक महत्त्व मिला कि 'रस'को ब्रह्मके रूपमें देखा गया। भरतमुनि, लोल्लट, शकुक, भट्टनायक आदिने रसको ही काव्यकी आत्माके रूपमें स्वीकार किया है। रस और कुछ नहीं, भावका आस्वादन है और यह आस्वादन अनिवार्यत आनन्दमय है तथा यह आनन्द अखण्ट, चिन्मय, वेदान्तरस्पर्शशून्य है। इसी तरह ध्वनिवादियोंने भी अन्तरको महत्त्व दिया। ये दोनों आत्मवादी हैं। किन्तु हमें यहाँ ध्यान रखना होगा कि तत्त्वरूपमें रस, रीति, आत्मा और शरीर एक-दूसरेके विरोधी नहीं हो सकते बल्कि ये एक-दूसरेके पूरक एव अन्योन्याश्रित हैं।

हिन्दीकी प्रारम्भिक आलोचना निश्चय ही साहित्यके अन्तरसे दूर रही, परन्तु रामचन्द्र शुक्लसे जो इसकी परम्परा बनी वह अबतक अक्षुण्ण है। गो कि आपसके विरोध विद्यमान हैं किन्तु चाहे किसी वर्ग, सिद्धान्तके प्रतिपादन करने-

वाले आलोचक हों, सबने अन्तरको पहचाननेका प्रयत्न किया है। —रा० कृ० स०

आमुख–दे०–'प्रस्तावना'।

आयतन–दे०–'जगतानुबोध'

आयाम–'डाइमेन्शन' या 'सित'के अर्थमें प्रयुक्त। यह एक दिग्गुण (space-quality) है। मूलत चित्रकलामें एक सपाट कागज या कपडेपर जो गोलाई, गहराई, दूरीका आभास उत्पन्न किया जाता है, केवल रगोंके या रेखाओंके और छाया-प्रकाशके सयोजनसे, उसीको दो आयामवाला चित्र कहा जाता है। जब शिल्पमें अर्द्ध-उत्कीर्ण या सम्पूर्ण लम्बाई-चौड़ाई और गहराईवाली प्रकृतिकी अनुकृतियाँ होने लगीं, तो तीसरा आयाम भी प्रत्यक्ष हुआ। इस प्रकारसे धीरे-धीरे फिल्मोंमें तीन-आयामवाले चित्रपट बने जिनमें आपको दूरकी चीजें दूर और पासकी चीजें और भी पास दिखाई देती हैं।

साहित्यकी अपेक्षामे जब प्राचीनकालमें महाकाव्योंके चरित्र या अन्य वर्णन केवल काले और सफेद रगोंमें रँगे जाते थे—यानी नायक धीरोदात्त सर्वगुण-सम्पन्न होता, खलनायक सब दुर्गुणोंका पुतला—तब उसमें स्वाभाविकताकी बडी कमी थी। वह वर्णन कल्पनाश्रित अधिक था, वास्तवसे मिलता हुआ या यथार्थवादी कम। आधुनिक कहानियोंमें भी जब निष्कर्षवाद, नैतिक उपदेश आदि प्रधान हो उठता है तो यही दोष उत्पन्न होता है, चित्रणमें स्वाभाविकताकी कमी हो जाती है। 'आस्पेक्टस आफ नावेल' (ई० एम० फार्स्टर)में चरित्रोंके दो प्रकार बताये गये हैं–ईंटकी तरह साँचाबन्द और गोलाई लिये हुए। साँचेमें बँधे हुए पद्य-बन्ध या कथानक टाइप-नुमा चरित्र इसलिए हृदयस्पर्शी नहीं होते। वे मनको छूते ही नहीं। नये साहित्यमें इसी कारणसे तृतीय आयाम या गहराईकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता है।

उदाहरणार्थ, काव्यका पहलेके जमानेमें सीधे अभिधा या गुणपर जोर था। बादमें लाक्षणिकता बढ़ी तो रीतिबद्ध होकर उक्तिचमत्कारतक पहुँची, परन्तु अब कविताकी समग्र प्रभावशीलता, एक प्रकारका 'whole' या सागोपाग एकात्म (कोह्लर द्वारा मनोविज्ञानमें प्रयुक्त शब्द) अनुभव है। कविताकी सृष्टि भी इसी प्रकारके अविभाज्य अभेदात्मक प्रत्ययका ही परिपाक है। अत. नयी कविताने तीसरा आयाम उत्पन्न किया, यह कहा जाता है तब इसका अर्थ इतना ही है कि छायावादके भाव-प्रवण एक आयाम और प्रगतिवादके निरे विचार-मय दूसरे आयामकी अपूर्णतामेंसे उत्पन्न तीसरे आयामकी आवश्यकता प्रयोगवादने पूरी की।

मनुष्य-सृष्टि न निरी अच्छी ही अच्छी है, न निरी बुरी ही बुरी–फासिज्म विरोधी या कम्युनिज्म विरोधी प्रचारात्मक उपन्यासों और कथाओंमें इसी प्रकारका प्राचीन राम-रावण-द्वन्द्व चित्रित रहता है। मनुष्य कमजोरियों और सम्भावनाओं, दुर्बल सकल्प और सबल क्रियाशीलताका एक मिश्रण ही नहीं, अपितु पुजीभूत चिन्मय इकाई है। इस कारणसे जो भी साहित्य-समीक्षा साचोंके आधारपर चलती है वह दो आयामोंतक ही सीमित रहती है।

मनोविश्लेषण-शास्त्रने मनुष्यके चेतन-जीवनके विषयमें एक तीसरा आयाम निर्मित किया। उसका प्रभाव हिन्दीमें प्रेमचन्दोत्तर आख्यायिका-साहित्यपर पडा। और जैनेन्द्र, अज्ञेय इत्यादिकी हिन्दी कथासाहित्यको देन इसी नये आयामकी निर्मिति है।

आलोचनामें मनोविश्लेषण और समाजविज्ञानके नवीनतम शोधोंपर आश्रित दृष्टिने नया आयाम यह उत्पन्न किया है कि रसोंकी पुरानी चौखट या ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके साँचेके भीतर पैठकर, मानवी-मन द्वारा निर्मित सौन्दर्य-सृष्टि और सौन्दर्य-प्रतीतिके क्षेत्रमें, नवीन सम्भावनाएँ पैदा कीं। पहले हास्य करुणका विरोधी रस माना जाता था, अब हास्यास्पद किन्तु फिर भी करुणाजनक व्यक्ति, प्रसग या दृश्य-कहानियोंमें चित्रित हो जाते हैं। अत अब इलियट आदि आलोचक यह मानने लगे हैं कि साहित्यकी श्रेष्ठताका आयाम केवल काल या दिक ही नहीं, परन्तु उसकी 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति'वाली अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमता है। श्रेष्ठ (क्लासिक) साहित्य न केवल इस मानेमें अमर रहता है कि उसका महत्त्व कैलेंडरकी तिथियों या मोसमके अनुसार बढ़ता-घटता नहीं, परन्तु वह सार्वत्रिक, सार्वजनीन, सर्वस्पर्शी भी होता है। और यह सर्व केवल सतही अनेक देशोंमें फैलनेवाला नहीं, वह अतलस्पर्शी भी होता है। यानी एक रचना किसी भी समयमें, किसी भी देशमें, किसी भी व्यक्तिको बार-बार पढ़ने लायक या देखने लायक या सुनने लायक जान पड़े—इसमें उसकी महत्ता या श्रेष्ठत्व निहित है। यह पौन पुन्यसे क्षीण न होनेवाला सौन्दर्यानन्द नयी आलोचनाका नया मूल्य, मान-दण्ड या आयाम है। यहाँ आयाम इसी नये 'नाम'के अर्थमें प्रयुक्त है। —प्र० मा०

आरंभ–रूपककी पाच अवस्थाओंमेंसे पहली अवस्था। अत्यधिक फललाभकी उत्सुकता ही आरम्भ कहलाती है। 'औत्सुक्यमात्रमारम्भ फललाभाय भूयसे' (दशरूपक १ १९ और २० के मध्यका श्लोक)। नायकादिके मनम फलप्राप्तिकी जो इच्छा होती है वही आरम्भ कहलाती है। उत्सुकतामात्रका पाया जाना आरम्भ है। प्रसादके 'ध्रुवस्वामिनी'में आरम्भ नामकी कार्यावस्था वस्तुत वहाँसे चलती है जहाँ ध्रुवस्वामिनीने अपना निश्चय प्रकट किया है, 'पुरुषोंने स्त्रियोंको अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उनपर अत्याचार करनेका अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम (रामगुप्त) मेरी रक्षा नहीं कर सकते तो मुझे बेच भी नहीं सकते।' यहाँसे यह स्पष्ट बोध होने लगता है कि वह राष्ट्र और अपने पद-गौरवकी रक्षाके लिए पूर्णतया तत्पर तथा कृतनिश्चय हो गयी है। यही फलप्राप्तिका आरम्भ है। —ब० सिं०

आरंभ (आधुनिक नाटक)–नाटकलेखककी समस्याओंमे एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह होती है कि जनताका रस-भग किये बिना किस प्रकार नाटकके घटना-कालसे पूर्वकी सूचनाएँ दर्शकोंको दी जायँ जिससे यह मालूम हो सके कि पर्दा उठनेसे पूर्व क्या वस्तुस्थिति थी। आरम्भमें नाटककारका उद्देश्य होता है प्रेक्षकोंको वे सारी आवश्यक सूचनाएँ दे देना जो नाटकको समझनेके लिए आवश्यक हो। [illegible] इससे पहले कि दर्शक नाटकको [illegible]

चरित्रोंके भाग्यनिर्णयके विषयमें उत्सुक हों, उनका चरित्रोंके विषयमें यह जान लेना आवश्यक है कि वे कौन हैं, क्या हैं, नाटकीय कार्यके प्रारम्भसे पूर्व उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है, इत्यादि, इत्यादि। यूनानी नाट्यकार सुपरिचित कथाओं-को प्रारम्भमें रख देते थे अथवा 'प्रोलोग'में सारी कथाका सारांश दे देते थे, वैसे ही जैसे एलिजावेथ कालीन मूकनाट्य (डब शो)में सारांश पृथक् दे दिया जाता था। अधिकतर नाटकोंमें प्रायः आवश्यक पूर्वसूचनाएँ अनायास दे दी जाती थीं, जैसे 'ऐज यू लाइक इट' में 'नये दरबारमें क्या नया समाचार है?' 'कुछ नहीं, बस वही पुराना समाचार है' के पश्चात् वह पुराना समाचार दर्शकोंके लिए दुहराया गया है। 'दि टेम्पेस्ट'में भी कैलिबन द्वारा किये हुए प्रश्नों एवं उनके उत्तरों द्वारा इस प्रकारकी सूचनाएँ दी गयी हैं। १९वीं शताब्दीमें विशेषतः नाटकोंमें इस प्रकारके संवादोंमें प्रश्नकर्ता सदैव वही सूचनाएँ लेनेके लिए उत्सुक रहा करता था, जिनका जानना प्रेक्षकोंके लिए आवश्यक होता था। १९वीं शताब्दीके सुखान्त नाटकोंके आरम्भमें एक बटलर (प्रधान भृत्य) तथा मेट (भृत्या) अपने स्वामीके विषयमें बात-चीत करते हुए दिखाये जाते थे और उनके द्वारा दर्शकोंको आवश्यक सूचनाएँ दी जाती थीं। किन्तु वास्तवमें नाटकके कार्य-व्यापारके बीच-बीचमें ही सूचनाएँ देते चलना अधिक कलापूर्ण होता है, जैसा कि हमें 'हैमलेट'में मिलता है। किन्तु उसी नाटकका वह अंश जहाँ होरेशियो डेनमार्क और नार्वेके राजनीतिक सम्बन्धोंका लम्बा विवरण देने लगता है, कलाहीन है और नाटकीय आरम्भकी उत्कृष्टताको नष्ट करनेवाला है। उत्कृष्ट आरम्भकी यही विशेषता होती है कि वह स्वाभाविक बातचीतके रूपमें होता है और प्रारम्भिक घटनासे इतना सम्बद्ध होता है कि दर्शकको यह अनुभव नहीं हो पाता कि ये सूचनाएँ जान-बूझकर दी जा रही हैं। इसके सुन्दर उदाहरण हमें 'ओथेलो' तथा 'एलकेमिस्ट'के आरम्भमें मिलते हैं।

इब्सनने इस कलाका और भी विकास किया। उसके 'ए डाल्स हाउस' तथा 'गोस्ट्स' प्रभृति नाटकोंमें कार्य-व्यापारके साथ ही दर्शकोंको अपेक्षित सूचनाएँ भी ठीक समयपर मिलती चलती हैं।

प्रसादके 'स्कन्दगुप्त'के प्रथम अंकमें भी आरम्भका बड़ा सुन्दर प्रयोग मिलता है। विभिन्न पात्रोंके कुल-शीलके साथ-साथ प्रधान मनोवृत्तियोंका परिचय तो मिलता ही है, इसके अतिरिक्त कार्य-व्यापारकी अधिकताके कारण आद्यन्त आकर्षण भी बना रहता है। यहीं नाटकके लक्ष्य फल और साध्य विषयका परिचय भी स्पष्ट प्राप्त हो जाता है। —ब्या० मो० श्री०

आरती—यह गीत-पद्धति कीर्तनके अन्तर्गत आती है। साकारोपासनाके कारण आरती अधिक लोकप्रिय हुई। तुलसीदास-लिखित आरती अधिक प्रसिद्ध है। सिख सम्प्रदायमें भी आरतीको अधिक महत्त्व मिला है, जिसमें सूर्य और चन्द्रमाको दीपक बनाकर निरकारकी आरती सजायी गयी है। —रा० ले० पा०

आरभटी वृत्ति—दे०—'नाट्य वृत्ति', तीसरी।

आराधनागीत—दे०—'स्तुति गीत', 'स्तोत्र'।

आरोचकी—दे०—'भावक'।

आरोपवाद—दे०—'रसनिष्पत्ति', पहला सिद्धान्त।

आर्टिकल—अँग्रेजीके इस शब्दका प्रयोग व्याकरणमें, सीमा-सूचक (लिमिटिंग) विशेषणों—ए, ऐन और दि—के लिए किया जाता है। धर्मशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र और प्राणिशास्त्रमें भी आर्टिकल शब्दका प्रयोग होता है। सन्धियों, अनुबन्ध-पत्रों, कानून, संविधान आदिके प्रलेखोंके विभिन्न वर्गों, खण्डोंको भी आर्टिकल कहा जाता है। किन्तु साहित्यिक अर्थमें, आर्टिकल निबन्धके आकार-प्रकारकी लघु गद्य-रचना है। इसी साहित्यिक अर्थके अनुसार, हिन्दीमें, किसी पत्र-पत्रिकामें, प्रकाशित निबन्ध-रचनाको अँग्रेजी पढ़े लोग, सामान्यतः, आर्टिकल कह देते हैं। पत्र-पत्रिकाओंमें स्फुट अथवा धारावाहिक रूपसे प्रकाशित होनेवाली, कथासे इतर, गद्य-रचनाओंको मोटे तौरपर, आर्टिकलकी संज्ञा दी जाती है। अन्यथा, इसका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। दे०—'लेख'। —अ० कु०

आर्त भक्ति—दे०—'गौणी भक्ति'।

आर्थी—दे०—'उपमा' तीसरा प्रकार।

आर्थी व्यंजना—जहाँपर व्यंग्यार्थ किसी शब्दपर आधारित न हो, वरन् उस शब्दके अर्थ द्वारा ध्वनित होता हो, वहाँ आर्थी व्यंजना होती है। इसलिए इस व्यंजनामें शब्द बदल देनेपर भी व्यंजना सुरक्षित रहती है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना वाचक शब्दपर तथा लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना लाक्षणिक शब्दपर अवलम्बित रहती है, किन्तु आर्थी व्यंजना केवल अर्थकी विशिष्टताके कारण सम्भव हुआ करती है। मम्मटने अर्थवैशिष्ट्यके दस प्रकार निर्देशित किये हैं—वक्तृ, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टा। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि काव्यके अर्थ तीन होते हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ। अतः प्रत्येक आर्थी व्यंजना या तो वाच्यार्थपर अवलम्बित हो सकती है अथवा व्यंग्यार्थपर। वाच्यार्थपर आधारित आर्थी व्यंजनाको 'वाच्यसम्भवा', लक्ष्यार्थपर आधारित व्यंजनाको 'लक्ष्यसम्भवा' तथा व्यंग्यार्थपर आधारित व्यंजनाको 'व्यंग्यसम्भवा' कहते हैं। इन तीन प्रकारकी आर्थी व्यंजनाके साथ उपर्युक्त (वक्तृ, बोधव्य आदि) दस भेदोंको मिला देनेसे आर्थी व्यंजनाके सब मिलाकर ३० अवान्तर भेद सम्भव हैं।

वक्तृवैशिष्ट्य—जहाँ वक्ताकी विशिष्टताके कारण व्यंग्यार्थकी प्रतीति होती है—वक्तासे अभिप्राय कविसे अथवा कवि-कल्पित पात्रसे है। रामको पति-रूपमें वरण किये हुए सीताजी पार्वतीजीसे प्रार्थना करती हैं—'पति देवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख। महिमा अमित न कहि सकहिं, सहस सारदा सेस।' (मानस)। यहाँ वाच्यार्थ द्वारा यह व्यंजना होती है कि जब पार्वतीजी इतनी महान् हैं तो सीताजीकी मनस्कामना को अवश्य ही पूरा कर देंगी। वाच्यार्थ द्वारा ही यह व्यंजना हो रही है, इसीसे इस व्यंजनाको वाच्यसम्भवा कह सकते हैं। वक्तृवैशिष्ट्यके इस दूसरे उदाहरणमें—'अहि उर माखन चोर गड़े। अब कैसे निकसत सुनि ऊधो, तिरछे है जु अड़े।' (सूरदास)—वक्ता गोपी है और वाच्यार्थ बाधित है,

क्योंकि एक व्यक्तिका दूसरेके हृदयमें तिरछे होकर गड़ जाना सम्भव नहीं। लक्ष्यार्थ-रूपमें गोपी यह सूचित करती है कि उसके हृदयमें त्रिभंगी कृष्णकी रति इस प्रकार दृढतासे प्रतिष्ठित है कि कृष्णको भूल जाना सम्भव नहीं। इस लक्ष्यार्थ द्वारा गोपी यह ध्वनित करना चाहती है कि उद्धवका प्रयत्न मूर्खतापूर्ण और व्यर्थ है, क्योंकि प्रेम पूर्णतया परिपक्व हो चुका है। यह व्यजना लक्ष्यार्थ द्वारा उद्भूत है। अत इसे लक्ष्यसम्भवा कह सकते हैं। इसी प्रकार एक व्यग्यार्थ भी दूसरे व्यग्यार्थकी व्यजना करा सकता है। वक्तृबोधव्यके इस तीसरे उदाहरणमें व्यंग्यसम्भवा आर्थी व्यजना है—'कंस वध्यो कुब्जाके काज। और नारि हरिको न मिली कहुँ, कहाँ गवाँई लाज।' (सूरदास)। यहाँ वक्ता गोपी है। उसके सीधे-सादे वचनोंके मुख्यार्थ द्वारा सपत्नीक ईर्ष्या व्यग्य है। किन्तु यह व्यग्य पुन दूसरी व्यजनाएँ भी कर रहा है—'हे कृष्ण, तुम्हें शीघ्र ही गोकुल लौट आना चाहिये, हमसे प्रेम करनेमें इस प्रकारकी वदनामी सम्भव न थी आदि—और इन व्यजनाओंकी भी मूलभूत व्यजना वक्ताके हृदयमें तीव्र रतिभावकी अभिव्यक्ति तो कर ही रही है। वक्तृवैशिष्ट्यके उपर्युक्त तीन उदाहरणोंके समान ही बोधव्य, काकु आदिके वैशिष्ट्यमें वाच्य तथा व्यग्य-सम्भवा व्यजनाएँ हो सकती है।

बोधव्यवैशिष्ट्य–जहाँ सुननेवाले (बोधव्य)की विशेषताके कारण व्यग्यार्थकी प्रतीति होती है। 'सराहों तेरो नन्द हियो। मोहन सो सुत छाँडि मधुपुरी, गोकुल आनि जियो।' (सूरदास)। इस उदाहरणमें श्रोता नन्दकी विशेषताके कारण 'सराहौं' शब्दमें प्रयोजनवती लक्षितलक्षणा है और वह नन्दकी भर्त्सना करता है। इस लक्ष्यार्थ द्वारा यशोदा व्यजित करना चाहती है कि नन्दको कृष्णसे बिछुड़नेकी अपेक्षा मथुरामें ही मर जाना चाहिये था, उनका कृष्ण-प्रेमका दावा तभी सच्चा और खरा उतर सकता था। बोधव्यवैशिष्ट्यके अतिरिक्त इस उदाहरणमें वक्तृवैशिष्ट्य भी है।

काकुवैशिष्ट्य—'आये जोग सिखावन पाड़े। परमारथी, पुराननि लादे, ज्यों बनजारे ठाडे।' (सूरदास)। इस उदाहरणमें काकु अथवा कण्ठध्वनिकी विशेषताके कारण वाच्यार्थसे यह व्यग्यार्थ निकलता है कि उद्धव वस्तुत निर्बुद्धि ही हैं, शास्त्रोंके बोझको ढोते रहे—ज्ञानार्जन अवश्य किया—किन्तु बेचारे ससारके वास्तविक रहस्यको न समझ सके।

वाक्यवैशिष्ट्य–'गरब करउ रघुनन्दन, जिनि मन मॉह। देखउ आपनि सूरति सियके छाँह।' (जानकीमगल)। यहाँ सीताजीकी सखी सीताजीके रूपकी अतिशयताकी व्यजना कर रही है—'अपने रूपको आप (राम) सीताजीकी छायामें देख सकते हैं। सीताजीके रूपकी तो चर्चा ही न कीजिये'। यहाँ ध्वनि वाक्यगत है।

वाच्यवैशिष्ट्य—इस भेदमें वाच्यसे अभिप्राय वक्तव्यसे है—जो कुछ कहा जाय। अत 'वाच्य' शब्दमें 'लक्ष्यार्थ' तथा 'व्यंग्यार्थ' भी समाविष्ट कर लिया जाता है। इस प्रकार वाच्यवैशिष्ट्य वहाँ होता है जहाँ वक्तव्यकी विशेषताके कारण व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। 'सौंच कहौ, तुमको अपनी सौं, बूझत बात निदाने। सूर स्याम जब तुम्हें पठाये, तब नेकहु मुसकाने ?' (सूरदास)। यहाँ गोपियोंके कथनसे यह ध्वनि निकलती है कि 'तुम जैसे ज्ञानी मूर्खको यहाँ भेजकर कृष्णने वस्तुत एक बड़ा मजाक किया है'। कुछ लोगोंके मतानुसार वाच्यसम्भवा आर्थी व्यंजना वहा होती है जहा उत्कृष्ट विशेषणोंवाले वाक्यकी विशेषताके कारण ध्वनिकी प्रतीति होनी हो।

अन्यसन्निधिवैशिष्ट्य—जहाँ वक्ता तथा श्रोताके अतिरिक्त अन्य व्यक्तिके सान्निध्यके कारण व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है। सूरदासके उद्धव-गोपी-सवादमें भ्रमरकी अवतारणा अन्यसन्निधिकी विशिष्टता उत्पन्न करनेके लिए ही की गयी है—भ्रमरसे कही हुई बातें भ्रमरपर भी लागू होती हैं और पास ही बैठे हुए उद्धवपर भी प्रहार करती हैं और कृष्णपर भी चोट करती है—'मधुकर समुझि कहौ किन बात। पर मद पिये मत्त न हूजियत, काहे का इतरात। बीच जो परे सत्य सो भाखे, बोले सत्य सरूप। मुख देखेको न्याउ न कीजै, कहाँ रंक कहँ भूप।'

प्रस्ताववैशिष्ट्य—जहाँ प्रस्ताव (प्रसग) अथवा प्रकरणकी विशेषताके कारण व्यग्यार्थ ज्ञात होता हो। लक्ष्मणके प्रति कही गयी रामकी इस उक्तिमें—'तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा, को कहि सकइ, को जाननिहारा। अनुचित उचित काजु कछु होऊ, समुझि करिय भल कह सब कोऊ। सहसा करि पीछे पछिताहीं, कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं।' प्रसगसे यह ध्वनि निकलती है कि भरतके प्रति की गयी लक्ष्मणकी शंका निर्मूल है।

देशवैशिष्ट्य—देश अथवा स्थानकी विशेषताके कारण जहाँ व्यग्यार्थ ज्ञात होता हो—'चित्रकूट गिरि है वही, जहँ सिय लछिमन नाथ। मन्दाकिनि सरिता निकट, वास कियो रघुनाथ।' (का० कल्प० पृ० ९८)। यहाँ स्थानकी विशेषताके कारण यह व्यग्यार्थ निकलता है कि चित्रकूट शान्तिदायक एव पवित्र है।

कालवैशिष्ट्य—'बहुरि हरि आवहिंगे किहि काम। रितु बसत अरु ग्रीषम बीते, बादर आये स्याम।' (सूरदास)। यहाँ वर्षाकाल प्राणान्तक सिद्ध होगा यही व्यग्यार्थ है और इसके द्वारा कृष्णके जल्द लौट आनेकी बात व्यजित की जा रही है।

चेष्टावैशिष्ट्य—'डिगत पानि, डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल। कप किसोरी दरसके खरे लजाने लाल।' (बिहारी)। यहाँ लज्जित होनेकी चेष्टा द्वारा कृष्णके हृदयमें स्थित राधाके प्रेमका रहस्य प्रकट हो गया है।—उ०श०शु०

आर्यकुल–दे०—'भारत यूरोपीय'।

आर्यसमाज–उन्नीसवीं शताब्दीका भारतीय इतिहास और साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। इतना व्यापक और सूक्ष्म परिवर्तन मध्य युगमें इस्लाम धर्मके सम्पर्कके फलस्वरूप भी न हुआ था। एक ओर तो भारतवर्ष उन्नीसवीं शताब्दीमें एक सुदूरस्थित पाश्चात्य जातिका दास बना और दूसरी ओर पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तथा वैज्ञानिक आविष्कारोंसे लाभ उठाकर उसने नवीन चेतना प्राप्त की और मध्ययुगीन एवं पौराणिक अनेक कुरीतियों, कुप्रथाओं तथा परम्पराओंमें बद्ध जीवनको अल्मना छोड़कर स्फूर्ति

प्राप्त की। इतिहास इस बातका साक्षी है कि यह स्फूर्ति और चेतना, राजनीतिक एवं आर्थिक दासत्वकी परिस्थितिमें, पूर्व और पश्चिमके बीच संघर्षके रूपमें, (अर्थात् भारतीय आध्यात्मिकता और पाश्चात्य भौतिकताके संघर्षके रूपमें, अभिव्यक्त हुई। राजनीतिक और आर्थिक चेतना उसी चेतनाका अंशमात्र थी। यही पूर्व और पश्चिमका संघर्ष था, जिसने राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, योगी अरविन्द और महात्मा गान्धीको जन्म दिया।

एक ओर तो पश्चिमके बढ़ते हुए प्रभावके विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, दूसरी ओर प्राचीन भारतीय साहित्य और कलाका पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों द्वारा अनुदिन बढ़ता हुआ अध्ययन था। हॉजसन, बोत्लिक, मैक्समूलर, प्रिंसेप, कनिंघम, एड्विन आर्नाल्ड आदिकी खोजों और रचनाओंका भारतवासियोंपर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्हें अपने पूर्वजोंकी महत्ताका परिचय प्राप्त हुआ। 'थियोसोफीकल सोसाइटी' (१८७५ ई०)ने भी देशवासियोंका देशके प्राचीन गौरवकी ओर ध्यान आकृष्ट किया। इन सब कारणोंसे बढ़ते हुए पश्चिमी प्रभावके विरुद्ध प्रतिक्रिया होना और भारतकी प्राचीन गरिमाकी ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। इस प्रतिक्रियाने विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण अवश्य अपनाया, किन्तु उद्देश्य विशुद्धवादियोंका भी भारतीय जीवनका परिष्कार करना था। इस दृष्टिकोणका ज्वलन्त उदाहरण आर्यसमाज-आन्दोलन है। इस आन्दोलनने हिन्दू धर्मका पुनरुद्धार करनेका महान् प्रयास किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३ ई०)ने १८७५ ई० में आर्यसमाजकी स्थापना की। आधुनिक भारतके निर्माताओंमें उनका उच्च स्थान है। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्वके कारण थोड़े ही समयमें आर्यसमाज-आन्दोलनका प्रचार समस्त उत्तर भारतमें हो गया। आधुनिक हिन्दी साहित्यके जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०)के जीवनकालमें ही आर्यसमाजका प्रचार हो गया था और भारतवासियोंकी एक बड़ी संख्याने उसे अपनाया। ब्राह्म समाजसे कहीं अधिक प्रचार आर्यसमाजका हुआ। उसने शिक्षितोंको ही नहीं, वरन् अशिक्षित और अर्धशिक्षित जनताको भी प्रभावित किया। रूढ़िग्रस्त, परम्परागत धर्मसे असन्तुष्ट शिक्षित लोगोंको पश्चिमी प्रभावोंसे मुक्त सुधारोंसे सन्तोष प्राप्त हुआ। देशके धार्मिक, सामाजिक, शिक्षा सम्बन्धी और साहित्यिक क्षेत्रमें आर्यसमाजकी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। सुधारवादी सनातनधर्मियोंके हाथमें बागडोर होते हुए भी हिन्दी साहित्य उससे प्रभावित हुए बिना न रह सका।

यह प्रभाव सर्वप्रथम खड़ीबोली गद्यके क्षेत्रमें दृष्टिगोचर होता है। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्धमें लोग, उर्दूको राज्याश्रय प्राप्त हो जानेके कारण, हिन्दी भाषा और नागरी लिपिको भूलते जा रहे थे। हिन्दीकी शोचनीय अवस्था हो गयी थी और ज्यों-ज्यों लोगोंका लगाव उर्दूके साथ बढ़ता गया, त्यों-त्यों हिन्दीके प्रति उनकी उदासीनता बढ़ती गयी। यहाँतक कि सिर्फ हिन्दी जाननेवाले गँवार समझे जाने लगे। उर्दू ज्ञानके बिना शिष्ट समाजमें स्थान पाना भी कठिन हो गया, पढ़े-लिखे लोग तो अपनी चिट्ठियाँतक उर्दूमें लिखने लगे थे। ऐसे समयमें राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्दकी नीति बहुत सहायक सिद्ध न हुई। राजा लक्ष्मण सिंहने उनकी भाषा-नीतिका विरोध किया। अन्य साहित्यकोंको भी 'सितारे हिन्द'की भाषाका रूप खटका और उसकी कड़ी आलोचना की गयी। अनेक लोगोंने अरबी-फारसी मिश्रित गद्य भाषा और शैलीकी घोर निन्दा की और संस्कृत परिवारकी भाषाओंके लिए यह प्रवृत्ति घातक बतायी। किन्तु भाषाके क्षेत्रमें भाषाके अंग बन गये शब्दोंके बहिष्कारकी नीति व्यावहारिक सिद्ध न हो सकी। ऐसी परिस्थितिमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने मध्यम मार्गका अवलम्बन कर हिन्दीके जातीय रूप और शैलीकी स्थापना की, जिसमें सरल संस्कृतके शब्दोंके साथ-साथ लोकप्रचलित विदेशी शब्दोंको भी स्थान दिया गया। किन्तु भारतीय नवोत्थानके इस प्रथम चरणमें आर्यसमाज-आन्दोलन द्वारा प्रेरित संस्कृत भाषा और साहित्यके अध्ययनके फलस्वरूप हिन्दी संस्कृत शब्दावलीके प्रयोगकी ओर अधिकाधिक झुकती गयी। स्वामी दयानन्दने हिन्दीको राष्ट्रभाषाके रूपमें स्वीकार किया था और देशके एक कोनेसे लेकर दूसरे कोनेतक उन्होंने इसी भाषाका प्रयोग किया, जहाँ पहले उर्दूका बोल-बाला था। उन्होंने स्वयं 'सत्यार्थ-प्रकाश' (१८७४ ई०), 'व्यवहार-भानु', 'गोकरुणनिधि' आदि ग्रन्थोंकी रचना हिन्दीमें की। उनकी भाषा संस्कृतगर्भित है। अन्य आर्यसमाजी लेखकोंने भी संस्कृत शब्दावलीके प्रयोगकी ओर अधिक ध्यान दिया, फलतः भाषाका जो आदर्श भारतेन्दुने स्थापित किया, वह अन्य अनेक कारणोंके अतिरिक्त आर्यसमाजके प्रबल प्रभावके कारण बहुत दिनोंके लिए लुप्त हो गया। हिन्दीके 'संस्कृतीकरण' या 'तत्समीकरण'का आर्यसमाज एक प्रधान कारण था। हिन्दीके 'संस्कृतीकरण' और राष्ट्रभाषा-पदपर स्वीकार करनेके अतिरिक्त आर्य समाजने हिन्दी गद्यको एक नयी शैली प्रदान की, जो शास्त्रार्थ और खण्डन-मण्डनके उपयुक्त थी। भाषामें आलोचना और वाद-विवाद करनेकी शक्ति आयी। भाव-व्यंजनामें भी इससे सहायता मिली और तर्कशैलीके साथ-साथ भाषामें व्यंग्य तथा कटाक्ष करनेकी शक्तिका आविर्भाव हुआ। हिन्दी भाषा तथा गद्य शैलीका यह विकास अभूतपूर्व था और क्योंकि आर्यसमाजका कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक था, इसलिए उसने साहित्यिकोंको तरह तरहके विषय सुझाये। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राधाकृष्णदास, श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र जैसे कवि, उपन्यासकार और नाटककार आर्यसमाजी नहीं थे, तो भी उनके द्वारा गृहीत अनेक विषय वे ही हैं जो आर्यसमाज-आन्दोलन अपनाये हुए था। ऐसे अनेक तत्कालीन नाटक, प्रहसन और उपन्यास उपलब्ध होते हैं, जिनपर तर्कप्रणाली, विषय, शैली आदिकी दृष्टिसे आर्यसमाजका प्रभाव स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होता है। किन्तु कुछ हदतक आर्यसमाज नाट्यकलाके लिए घातक भी सिद्ध हुआ। उसने अनेक विषय सुझाकर सामग्री प्रस्तुत करनेमें कोई कसर बाकी न रखी, यह ठीक है, लेकिन शास्त्रार्थवाली शैलीने कृतियोंकी कलात्मकताको आघात पहुँचाया। ऐसा

प्रतीत होता है मानों स्वयं लेखक विविध पात्रोंके रूपमें आर्यसमाजके प्लेटफॉर्ममे बोल रहा है। आर्यसमाजका जितना प्रभाव नाटक ओर काव्यपर पड़ा उतना साहित्यके किसी और अंगपर नहीं पड़ा। तो भी उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें ओर बीसवीं शताब्दीमें आर्यसमाजी उच्च कोटिके प्रसिद्ध नाटककार, कवि या अन्य लेखक और कलाकार बहुत कम हुए। उन्नीसवीं शताब्दीमें तो स्वयं स्वामी दयानन्दको छोडकर कोई प्रसिद्ध आर्यसमाजी लेखक या कवि नहीं हुआ। बीसवीं शताब्दीमें भी पद्मसिंह शर्मा, नाथूराम शंकर शर्मा आदि जैसे कुछ ही प्रसिद्ध लेखक और कवि हुए हैं। यह इसलिए नहीं कि आर्यसमाज कोई साधारण आन्दोलन था, वरन् इसलिए कि वह प्रचारात्मक आन्दोलन होनेकी वजहसे उच्च कोटिका साहित्य प्रचुर मात्रामें न दे सका। कलाका अभाव आर्यसमाजमें ही नहीं, संसारके सभी सुधारवादी (puritonical) आन्दोलनोंमें पाया जाता है। सुधारवादी कुछ तो सौन्दर्य-भावनाको सुख और दु खकी भावनाके आश्रित समझकर कलासे दूर भागते हैं, अथवा सत् और असत्‌से परे भी कोई अनुभव है, इस विचारको नैतिक उद्देश्यसे हीन समझकर उसमें विश्वास नहीं करते। तो भी भाषा, विषय, चयन, लेखकों और कवियोंके दृष्टिकोण तथा उनकी विचार-पद्धतिपर आर्यसमाजका काफी प्रभाव पडा, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है।

लगभग पिछले बीस पचीस वर्षोंसे आर्यसमाजका साहित्यपर प्रभाव एक प्रकारसे नगण्य है। वास्तवमें आर्यसमाज एक ऐसा आन्दोलन था, जिसने देशकी एक ऐतिहासिक आवश्यकता पूरी की। शिक्षा, समाजसुधार, धर्मसुधार आदि क्षेत्रोंमें उसके द्वारा प्रचलित लगभग सभी बातें देश द्वारा स्वीकृत हो जानेके फलस्वरूप उसकी गतिशीलता समाप्त हो गयी। आर्यसमाज आन्दोलन अब केवल नाममात्रका रह गया है। साथ ही राष्ट्रीयताका पोषक होनेके कारण यह आन्दोलन बहुत कुछ कॉंग्रेस द्वारा प्रचलित राष्ट्रीय आन्दोलनमें घुल-मिलकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो बैठा।

[सहायक ग्रन्थ—(१) आर्यसमाज · लाला लाजपतराय, (२) आधुनिक हिन्दी साहित्य लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।] —ल० सा० वा०

आर्या—आर्या छन्द संस्कृतका मात्रिक छन्द है। संस्कृतके मात्रावृत्तोंको तीन वर्गोंमें रखा जा सकता है—आर्या, वैतालीय और मात्रासमक वर्ग। इनमेंसे आर्या-समूहके छन्द और मात्रासमक वर्गके छन्द तो वास्तवमें शुद्ध मात्रावृत्त है, जिनमें मात्रागणोंकी एक निश्चित संख्याके प्रयोगके नियमका पालन होता है, जहा गण समाप्त होता है वहाँ दीर्घ अक्षरका प्रयोग नहीं होता। दूसरी श्रेणीके छन्द मात्रावृत्त केवल इसलिए कहे जाते हैं, क्योंकि उनमें मात्राओंकी संख्या तो निश्चित रहती है, किन्तु वर्णोंकी संख्या निश्चित नहीं रहती—प्रत्येक पंक्तिमें वर्णोंकी संख्या भिन्न हो सकती है। मात्राओंका विभाजन आर्या और मात्रासमक छन्दोंके समान मात्रिक गणोंमें नहीं रहता।

इन छन्दोंमेंसे आर्या छन्द दो पंक्तियोंके छन्द होते हे। वैतालीय वर्गके छन्दोंमे चार पंक्तियाँ रहती हैं, जिनमेंसे १ और ३ तथा २ ओर ४ समान होती हैं अर्थात् वैतालीय वर्गके छन्द अर्द्धसम प्रकारके छन्द हैं।

आर्या छन्दके प्रत्येक आधेमें चार मात्राओंके सात गण तथा एक गुरु रहता है। इन सात गणोंमेंसे समगण लघु, गुरु, लघु प्रकारके होते हैं ओर विषम गण इस प्रकारके नहीं हो सकते। आर्याके पथ्या, चपला भेदोंका भी पिंगलादि छन्द-ग्रन्थोंमें उल्लेख मिलता हे। हिन्दीके बहुत कम कवियोंने आर्याका प्रयोग किया हे, वसे इसका प्रयोग मध्ययुगीन और आधुनिक कवितामें जहाँ-तहा मिलता है।

भिखारीदासके 'छन्दार्णव'में आर्याका गाहा नाम लेकर लक्षणका उल्लेख किया गया है। आर्याके मुख्य भेद हे—आर्या, गीति, उपगीति, उद्गीति ओर आर्यागीति ओर इनके नाम 'छन्दार्णव'में क्रमश गाहा, उग्गाहा, गाहू, विग्गाहा ओर स्कन्ध हैं। क्रमश' ये छन्द विषम, अर्द्धसम, अर्द्धसम, विषम और अर्द्धसम हैं। इनके चारों चरणोंमें मात्राओंका क्रम इस प्रकार रहता है—आर्या १२, १८, १२, १५, गीति—१२, १८, १२, १८, उपगीति—१२, १५, १२, १५, उद्गीति—१२, १५, १२, १८ और आर्यागीति—१२, २०, १२, २०।

संस्कृतमें आर्याका प्रयोग बहुत हुआ है और इस छन्दकी लोकप्रियता 'आर्यासप्तशती' जैसी कृतियोंके नामसे प्रकट होती है। छन्द-ग्रन्थोंमें आर्याके अनेक भेदोंका उल्लेख मिलता हे। —रा० सिं० तो०

आलंबन विभाव—विभावका एक भेद, संस्कृत तथा हिन्दी दोनोंमें इसके अन्तर्गत 'नायक-नायिका-भेद' शास्त्र तथा साहित्य(दे०)का व्यापक विस्तार हुआ हे। विश्वनाथका कथन है—'आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्' (सा० द० ३.२९)। इसीका भावानुवाद देव इस प्रकार प्रस्तुत करते हे—'रस उपजे आलम्बि जिहि सो आलम्बन होइ' (भा० वि० विभाव)। जिस व्यक्ति अथवा वस्तुके कारण किसी व्यक्तिमें कोई भाव जाग्रत होता है, उस व्यक्ति अथवा वस्तुको उस भावका आलम्बन विभाव कहते हैं। आलम्बन विभाव ही वास्तविक रसभूमि है। इसके बिना काव्य-रचना और काव्यास्वाद दोनों ही असम्भव हैं। जहाँ आलम्बन स्पष्ट नहीं होता वहाँ प्रसंगानुकूल इसका आरोप कर लिया जाता हे। यह आलम्बन दो रूपोंमे उपस्थित होता है। कभी तो यह पात्र-विशेषके भावोंके आलम्बन होते ह और कभी स्वय कविके भावोंके। उदाहरणके लिए प्रसादकी निम्नोक्त पंक्तियोंमें स्वय कवि ही आलम्बन है—'कुसुमाकर रजनीके जो, पिछले पहरोंम खिलता। उस मृदुल शिरीष सुमन-सा, मैं प्रात धूलम मिलता।' भिन्न-भिन्न आलम्बनोंके प्रति एक ही भावमें अन्तर आ सकता है। जेसे, अपनेसे आदरणीयके प्रति प्रेम श्रद्धाका, बराबरके प्रति प्रीतिका, दीनके प्रति करुणाका रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न भावोंका भी एक ही आलम्बन हो सकता ह। अर्थात् अत्याचारीके प्रति कोई क्रोध प्रकट कर सकता है, कोई उससे घृणा कर सकता है और कोई सन्त उसे उपदेश देने ओर क्षमा करनेके लिए तत्पर हो सकता है। उदाहरणत, निम्नोक्त

वर्णनमें एक रामको ही अनेक लोगोंने अनेक प्रकारसे देखा है—'देखहिं रूप महा रनधीरा, मनहु वीर रस धरे सरीरा। डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी, मनहुँ भयानक मूरति भारी। रहे असुर छल छोनिप वेषा, तिन्ह प्रभु प्रकट काल सम देखा।' (रा० च० : १ : २४१)।

पृथक् रसके विचारसे आलम्बन भी पृथक् हो जाते हैं। काव्यशास्त्रोंमें इनके रूप, आकार-प्रकार तथा भेद आदिका विस्तृत वर्णन किया गया है। उदाहरणत, शृंगार रसके आलम्बन मधुर, सुकुमार, रूप-यौवनसम्पन्न तन्वंगी तथा तरुण होते हैं, जिन्हें नायिका तथा नायक कहते हैं। इनके भी स्वभाव, आयु, कार्य आदिके अनुसार अनेकानेक भेद हैं। इसी प्रकार विकृत आकारवाले, दूसरेकी चेष्टाओंका अनुकरण करनेवाले हास्य रसके आलम्बन होते हैं। त्यागी, सत्य-सम्पन्न, शूर-वीर, विक्रमशील व्यक्ति वीर रसके, विचित्र आकृति और आचारवाले अद्भुत रसके, बहुबाहु, बहुमुख, भीमदंष्ट्र तथा क्रूर, उद्धत एव शठ आदि रौद्रके, कृश, विषण्ण, मलिन, रोगी, दुःखी तथा दारिद्र्योपहत करुण रसके, निन्दित आकृति, वेश, कर्मवाले अथवा रोगी, पिशाचादि बीभत्स रसके आलम्बन होते हैं। इसी प्रकार इनके अन्य भेद उपस्थित किये जा सकते हैं।

प्राचीन साहित्य-शास्त्रमें जड तथा अमूर्त आलम्बनोंको स्वीकृति नहीं मिली। जड पदार्थों अथवा तिर्यग्योनिगत रतिको अनुचित मानकर उसे रसाभासमात्र माना गया है। नायकोंमें भी कुलीनता और आदर्शका ध्यान रखा गया है। हिन्दी काव्यमें भी इन नियमोंका यथेष्ट पालन किया गया है, किन्तु सेनापति, श्रीधर पाठक, प्रसाद, पन्त, रामचन्द्र शुक्ल आदिके काव्योंमें प्रकृतिको आलम्बनके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। केशवने अवश्य ही इसे उद्दीपनमात्र मान लिया था और उसका नाम गिना देना भी काव्यमें पर्याप्त समझ लिया था अथवा आधुनिक कालमें 'हरिऔध'ने 'प्रियप्रवास'के नवम सर्गमें इसी नाम गिनानेसे काम लिया है। आधुनिक कालसे पूर्व अधिकाश हिन्दी कवियोंमें प्रकृतिका प्रयोग अलंकार अथवा उपदेशके लिए ही हुआ है। छायावादकालमें प्रकृतिमें ही अलौकिक सत्ता देखी जाने लगी, अत आलम्बन लौकिक तथा अलौकिक दो रूपोंमें सामने आये।

अन्य रसोंमें भी आधुनिक हिन्दी कवितामें आलम्बनोंमें परिवर्तन हुआ है। वीर रसके लिए देश-सेवक, आत्मबलिदानी, राष्ट्रोन्नायक, देश-सुधारक तथा सत्याग्रही वीरोंको, बीभत्सके लिए देशद्रोही, शत्रुकी सहायता करनेवाले, हास्यके लिए विदेशी वेश-विन्यास या आचरणवाले, मतदान मांगनेवाले, प्राचीनतावादी आदि, करुणके लिए शोषित जनता, कृषक तथा निम्नवर्ग, अछूत, दलित एव पतित, निष्कासित शरणार्थी, विधवा अथवा त्रस्त नारी आदि नये आलम्बन बने। मैथिलीशरण गुप्तको करुण रसके लिए उपेक्षिताएँ मिलीं और उनके साहचर्यसे अमूर्त भाव-वेदना भी आलम्बन बन गयी। साकेतके 'वेदने, तू भी भली बनी' गीतमें वेदना ही आलम्बन है। बाह्य-सौन्दर्यसे हटकर ध्यान अन्त सौन्दर्यपर अधिक जाने लगा। क्रोधका रूप व्यग्यमें खिल रहा है और उसके लिए सामाजिक व्यवस्थाको विशेषत आलम्बन स्वीकार किया गया है। प्रगतिवादी काव्यमें ये नवीन आलम्बन विशेष रूपसे अपनाये गये हैं। आज देशकी व्यवस्था अथवा प्रकृति या नागरिक सौन्दर्य प्रयोगवादी कविताके नये आलम्बन बन रहे हैं। —आ० प्र० दी०

आलयविज्ञान–दे०—'विज्ञानवाद'।

आलवार–दे०—'भक्ति'।

आलस्य–प्रचलित तेंतीसमेंसे एक सचारी, भरतके अनुसार प्रकृति, काहिली, बीमारी, तृप्ति तथा गर्भ आदिके कारण उत्पन्न भाव है जो अकर्मण्यता, बैठे या लेटे रहने, जँभाई लेने तथा सोने आदिके अनुभावोंमें व्यक्त होता है (नाट्य० : ७ . ४८ ग)। विश्वनाथने इसी व्याख्याको सूत्ररूपमें ग्रहण किया है—'आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यंजृम्भासितादिकृत्।' (सा० द० : ३ : १५५), श्रम, गर्भ आदिजन्य जाड्यको 'आलस्य' कहते हैं। जँभाई लेना, एक जगह बैठे रहना आदि इसके अनुभाव हैं। हिन्दीके रीतिकालमें 'बहु भूषादिक भावतें, कारजु कहा न जाय' (भाव० सचारी०) कहकर भूषणादिके आलस्यको भी स्वीकार किया गया है। और अन्योंने 'जागरनादिकनि जहाँ' (जगत०, ४९४) स्वीकार किया है।

रामचन्द्र शुक्लने इसे संचारी न मानकर स्वतन्त्र मानसिक स्थिति माना है। इसकी परिभाषा लिखते हुए उन्होंने बतलाया है—'शारीरिक या मानसिक क्रियामें तत्पर न होनेकी प्रवृत्ति जिस अवस्थामें हो वह अलसता है।' आगे चलकर सस्कृतग्रन्थोंमें वर्णित परिभाषाओंपर आपत्ति करते हुए उन्होंने कहा है कि 'यद्यपि साहित्यके ग्रन्थोंमें शारीरिक श्रम और गर्भ आदिके कारण उत्पन्न आलस्यको सचारी कहा है, पर संचारीका लक्षण उसपर ठीक-ठीक नहीं घटता है। जबतक उसका किसी भावके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध न हो, सीधा लगाव न हो, तबतक वह सचारी कैसा? रातभर जगी हुई स्त्री बैठे-बैठे जँभाई लेती है तो इससे श्रोता या दर्शकको 'रतिभाव'के अनुभवमें कुछ सहायता पहुँचती हुई मुझे तो नहीं मालूम पड़ती। प्रेमके साथ इस शारीरिक श्रमसे उत्पन्न आलस्यका केवल बादरायण सम्बन्ध दिखाई पडता है अत• आलस्यके वर्णनको किसी भावका सचारी मानना मेरी समझमें ठीक नहीं। उसे स्वतत्र ही मानना चाहिये।' (र० मी० : पृ० २७४)।

पर रामचन्द्र शुक्लके विचारोंसे सहमत होना किंचित् कठिन मालूम पडता है। एक उदाहरणको आधार मानकर उक्त मतके विवेचनमें अधिक सुविधा होगी—'गोकुलमें गोपिन गोविन्द सँग खेली फाग, रातिभर प्रात-समै ऐसी छवि छलकैं। देहैं भरी आलस कपोल रस रोरी भरे, नींद भरे नैनन कछुक झपें झलकैं।' (जगत० : ४९५)।

प्रश्न है कि क्या इस छन्दमें वर्णित आलस्यका किसी भावसे सीधा सम्बन्ध है अथवा नहीं? क्या यह स्वयंमें स्वतन्त्र है अथवा रतिभावका पोषक है? रातभर होली खेलनेके कारण श्रमगत श्रीकृष्णको देखकर नायिकाके मनमें जो ललक पैदा होती है वह रतिभावकी पोषक ही तो है। बिहारीके दोहेमें 'आलस्य'की सुन्दर व्यंजना है—'नीठि

नीठि उठि वैठि हूँ, प्यौं प्यारी परभात। दोऊ नींद भरे खरे, गरे लागि गिरि जात।' (रत्ना० ६४३)।—च० सिं०

आली काली–दे०—'हठयोग'।

आलेख रूपक–दे०—'रेडियो रूपक'।

आलेख्य-प्रख्य–दे०—'काव्य-हरण' अर्थ-हरणका भेद।

आलोचना–आलोचना शब्द 'लुच्' धातुसे बना है। 'लुच'का अर्थ है 'देखना'। इसलिए किसी वस्तु या कृतिकी सम्यक् व्याख्या, उसका मूल्याकन आदि करना ही आलोचना है—'आ समन्तात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम्, स्त्रिया आलोचना'। आलोचक किसी कवि या लेखककी कृतिको देखता या परखता है। 'परीक्षा'का अर्थ भी चारों ओरसे देखना है (परित- ईक्षा परीक्षा)। आलोचना कवि या लेखक और पाठकके वीचकी शृंखला है। राजशेखरने कविकर्मको प्रकाशमें लाना ही भावयित्री प्रतिभा अथवा आलोचककी प्रतिभा कहा है। अँग्रेजी शब्द 'क्रिटिक'का अर्थ भी है 'अलग करना' (टु सेपरेट) जिससे निर्णयकी वातका पता चलता है। पाश्चात्य देशोंमें भी साहित्यगत उत्तमोत्तम वातोंको जानना और समाजको उसका ज्ञान कराना, आलोचनाका उद्देश्य माना गया है। आलोचनाएँ भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वोंके अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकारकी हो सकती हैं, किन्तु मूलत उसका उद्देश्य एक ही रहता है, अर्थात् कविकर्मका प्रत्येक दृष्टिकोणसे मूल्याकन कर उसे पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करना और उनकी रुचि परिष्कृत कर साहित्यकी गति-विधि निर्धारित करना।

संसारमें कर्मप्रकाशनके साथ साथ भावप्रकाशन भी चलता रहता है और वाह्यजगत् हमारे हृदयरसमें पगकर अन्तर्जगतकी वस्तु वनता आया है। इस प्रवाहको पकड़ रखनेके लिए ही चिरकालसे मनुष्यके अन्दर साहित्यका आवेग है। साहित्यमें हम उस मनुष्यका परिचय पाते हैं जो अपनी सीमा लाँघ जाता है। आलोचनाका उद्देश्य यही खोज निकालना है कि कवि या लेखककी कल्पनामें मनुष्यके हृदयके किस विशेष रूपने घनीभूत होकर अपने अनन्त वैचित्र्यके प्रकाशको सौन्दर्य द्वारा प्रस्फुटित किया है। भाषा, रस, अलंकार आदि परखना ही पर्याप्त आलोचना नहीं है। आलोचनाका उद्देश्य है कि कवि या लेखककी कृतिमें मानवहृदय कितना और किस सुन्दरताके साथ चित्रित हुआ है, इस तथ्यका उद्घाटन करना। वास्तवमें साहित्यमें विखरी हुई अनन्त विभूतियोंकी सुन्दरता विना आलोचनाके नजर नहीं आती। श्यामसुन्दरदासके शब्दोंमें 'यदि हम साहित्यको जीवनकी व्याख्या मानें, तो आलोचनाको उस व्याख्याकी व्याख्या मानना पडेगा।' भारतवर्षमें राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमासा'में समीक्षा या आलोचनाका वास्तविक सूत्रपात किया और औचित्यवादियोंने उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया। यूरोपमे यूनानमे ५वीं श० ई० पू० में उसका सूत्रपात हुआ।

आधुनिक समयमें कलाके विविध रूपोंकी प्रचुर मात्रामें रचना हो रही है। उसकी प्रतिक्रिया आलोचनाके रूपमें होती है। वह कलाको सहजज्ञानकी अभिव्यक्ति भले ही माने, किन्तु उसका प्रधान कर्तव्य सहजज्ञानके विभिन्न रूपोंके पारस्परिक भेद समझना है। कलाका जो सिद्धान्त आलोचनाके इस कार्यमें सहायता नहीं पहुँचाता, वह उसके लिए कोई मूल्य नहीं रखता। प्लेटो जैसे ग्रीक विचारकोंने भी सुन्दर जीवनपर अधिक जोर दिया है। इसलिए आधुनिक आलोचनाके सिद्धान्तोंके लिए अनेकरूपताके वीच एकरूपता स्थापित करना और वह भी सौन्दर्यके माध्यम द्वारा, एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये। जिस व्यक्तिने जीवनको जितनी अधिक गहराई-तक देखा है, वह उतनी ही अधिक आलोचक वननेकी क्षमता रखता है। उसके लिए जीवन और कलामें कोई अन्तर नहीं रह जाता। आलोचना कलाको जीवनमें सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है। वस्तुत सच्ची आलोचना कलाका ही एक प्रधान अंग है। उसका चरम लक्ष्य वही है जो जीवनका अन्तिम लक्ष्य है। मिडिल्टन मरेके शब्दोंमें 'कला जीवनकी सजगता है, आलोचना कलाकी सजगता है।' अस्तु, आलोचना कला और साहित्यसे वाहरकी वस्तु नहीं है।

कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि काव्य या कलाकी सर्वोत्तम आलोचना स्वय कवि या कलाकार ही कर सकता है। किन्तु यह मत वहुत वैज्ञानिक नहीं है। वास्तवमें सौन्दर्यविज्ञान ही आलोचकको कविसे अलग करता है। जहा कवि या कलाकार स्वय आलोचक भी होगा, वहा उसका सौन्दर्यवोध उसके अपने कवि या कलाकारसे पृथक् होगा। आलोचक अपने आलोच्य विषयसे पहले घनिष्ठता प्राप्त करता है, उसके अन्दर पैठकर उसे देखता है। उसके उपरान्त वह उसका मूल्य निर्धारित करता है। जहाँ भावनाओंका उद्गम होता है वहीं आलोचनाका उद्गम भी होता है। सृष्टिकी प्रतिक्रियाका नाम ही साहित्य है और उसकी प्रतिक्रियाके मूलमें जो भावना निहित है वही आलोचना है।

प्रत्येक युगमें कोई-न-कोई प्रतिभाशाली लेखक ऐसा अवश्य होता है जो आलोचनाके सघन कुहरेमें पाठकको पथभ्रष्ट होनेसे वचाता है। ऐसी परिस्थितिमें आलोचनाकी निश्चित परिभाषा देना कठिन है। वास्तवमें प्रत्येक युगमें युग-मनके अनुरूप उसकी परिभाषा वदलती रहती है। 'आलोचना'का प्रयोग गुण-दोष-विवेचनसे लेकर सौन्दर्य-विज्ञानतकके अर्थमें हुआ है और आलोचकको मूल्योंका निर्धारक माना गया है। यूरोपमें क्रोचेकी भाँति जे० ई० स्पिनगार्नने आलोचनाका कर्तव्य इस वातका पता लगानेमें माना कि (१) लेखकने क्या अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न किया है और (२) वह उसे अभिव्यक्त करनेमें कहातक सफल हुआ है। इसमे एक प्रश्न यह भी उत्पन्न हो जाता है कि कवि या लेखकने जो कुछ अभिव्यक्त किया है, क्या वह अभिव्यक्त करने योग्य था? कार्लाइलने भी इसी प्रश्नके अनुरूप अपना मत प्रकट किया है। वास्तवमें कवि या लेखकका ध्येय उसकी रचनामें ही खोजना चाहिये।

उन्नीसवीं शताब्दीमें यूरोपमें विक्टर ह्यूगोने कहा था कि रचना अच्छी है या वुरी, इस वातका पता लगाना आलोचनाका कर्तव्य है। किन्तु यह परिभाषा अधूरी है।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि आलोचनाका इतिहास ससारकी परिवर्तनशील रुचिका इतिहास है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचना समय-समयपर भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रही है। भारतवर्षकी प्राचीन या मध्ययुगीन आलोचनाका जो स्वरूप था उससे भिन्न आधुनिक स्वरूप है।

प्रत्येक रचनामें उसके रचयिताका कोई ध्येय निहित रहता है। इस सम्बन्धमें पाठक, लेखक और आलोचकके दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। आलोचक अपनी आलोचना द्वारा लेखकका एक प्रकारसे पुन सस्कार करता है। कवि या लेखक तो युगकी प्रचलित धारणाओंके सामने नतमस्तक हो सकता है, अथवा उसकी रचनामें ऐसी विभ्रमता हो सकती है जिसे कवि या लेखक स्वय नहीं जानता, आलोचना ही वह साधन है जिसके द्वारा इन बातोंपर प्रकाश डाला जा सकता है। ऐसी आलोचना रचनात्मक होगी और कवि या लेखक सहारात्मक या रचनात्मक दोनो प्रकारकी आलोचनाओंसे लाभ उठा सकता है। जनसाधारणको आलोचनासे साहित्यचर्चाका लाभ होता है। आलोचना द्वारा किसी कृतिके स्वागतकी तैयारी की जा सकती है और उससे सुसंस्कृत और शिक्षित व्यक्तियोंके एक समुदायका जन्म भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त आलोचना स्वय एक सुन्दर साहित्यका रूप धारण कर लेती है। वह भी साहित्य या कलाका रूप धारण कर आनन्द प्रदान करती है। मैथ्यू आर्नाल्ड और ल्यूइस मम्फोर्ड जैसे आलोचकोंका तो यह भी कहना है कि आलोचक युगने भी बडे हैं और उन्हें कलाकारके सामने अत्यन्त सुसंगत रूपमें अपना अनुभव रखना चाहिये। वे आत्माभिव्यंजनकी दृष्टिसे साहित्य या कलाके किसी एक पक्षको ऊपर उठा सकते हैं और किसी दूसरे पक्षको नीचे गिरा सकते हैं। स्वयं कवियों और कलाकारोंने आलोचकोंको शत्रु या मित्रके रूपमें देखा है। किन्तु निन्दा या प्रशंसाकी इसमें कोई बात नहीं है। आलोचना स्वस्थ मनसे साहित्य या कलाका अध्ययन करना और उसके सौन्दर्यको परखना सिखाती है। यही उसका परम कर्तव्य है।

आलोचनाके सम्बन्धमें एक यह बात भी हमारे सामने आती है कि उसका मापदण्ड क्या है? उसका कोई-न-कोई मापदण्ड या आधार अवश्य होना चाहिये। लौंजाइनसने आलोचनाको अधिक परिश्रमका परिणाम माना है, किन्तु पोपके कथनानुसार कवियोंकी भाँति आलोचक भी बनाये नहीं जाते। वे तो जन्मसे ही आलोचक होते हैं। तब भी अनुभव द्वारा कुछ सीखा जा सकता है। किन्तु ससारमें किसी साहित्यिक या कलात्मक कृतिकी विभिन्न व्यक्तियोंमें विभिन्न प्रकारकी प्रतिक्रियाएँ होती है। इसलिए आलोचनाके मापदण्डके सम्बन्धमें भी कम ही साम्य मिलेगा। तो भी किसी साहित्यिक या कलात्मक कृतिकी परीक्षा अस्थिर आधारोंपर नहीं की जा सकती। फलत आलोचनाका कोई एक मापदण्ड होता है, रुचिवैभिन्यको स्थान देते हुए भी। यह मापदण्ड प्रत्येक युगके अनुकूल अलग-अलग होता है। इस सम्बन्धमें यह प्रश्न भी उठता है कि सामान्य पाठक, सुशिक्षित व्यक्ति और लेखक या कवि, इन तीनोंमेंसे सर्वोत्तम आलोचना करनेवाला कौन है और कौन उसका मापदण्ड निर्धारित करता है? आधुनिक समयमें जब किसी विशेष वर्गको ध्यानमें रखकर कोई कृति प्रस्तुत की जाती है तो उस वर्गके सामान्य पाठकसे हम न्यायकी आशा नहीं रख सकते। सामान्य पाठक अधिक समयतक दार्शनिक या निष्पक्ष निर्णायक नहीं रह सकता। वह भावुक अधिक होता है। यद्यपि प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति अपने निर्णयको ही साहित्यके क्षेत्रमें अन्तिम निर्णय मानता है, तो भी औसत दर्जेके सुशिक्षित व्यक्तिको गम्भीर साहित्य बहुत कम पसन्द आता है। कलाके जिस रूपसे कलाकारका सम्बन्ध होता है, उसके सम्बन्धमें वह कभी निष्पक्ष नहीं हो सकता। इतनेपर भी आलोचकको इन्हीं तीन समुदायोंमेंसे आना है, किन्तु साथ ही उसे प्रत्येक समुदायकी त्रुटियों और दोषोंको बचाना है।

आलोचनाका निर्माण करते समय आलोचकको जीवन सम्बन्धी बाह्य राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक आदि परिस्थितियोंपर विचार करना पडता है। इसके साथ हमें यह भी देखना पडता है कि स्वय आलोचक कहाँतक युगधर्मसे प्रभावित हुआ है। आत्माभिव्यंजना या आत्मप्रकाशनका स्वरूप होनेके कारण आलोचना बहुत-कुछ कलाके समीप आ जाती है। साथ ही दूसरेकी अभिव्यंजना-की परीक्षा होनेके कारण तथा परीक्षाके साधन और कला एक विशेष रूपमें आनेके कारण आलोचना विज्ञानके समीप आ जाती है। इससे आलोचनाके क्षेत्रमें कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। आलोचनाके मार्गमें अन्य कठिनाइयाँ भी आती हैं। किसी रचनाका मूल्याकन करते समय आलोचक-का अपनी व्यक्तिगत धारणाओंपर नियन्त्रण रखना परमावश्यक है, अन्यथा जातिगत, धर्मगत, वर्गगत, समाजगत, राजनीतिक आदि पूर्वाग्रहोंके कारण कठिनाई पड़नी है और आलोचक किसी रचनाको उस रूपमें देखने लगता है जिस रूपकी स्वय कवि या लेखकने कभी कल्पना भी न की थी। साथ ही केवल वस्तु और उसके प्रभाववर्णनमें ही आलोचनाकी सार्थकता नहीं है। उसकी सार्थकता कलात्मक कृतिके देखने-सुननेके अनुभवका मूल्याकन करना है। रचनाविधि भी किसी रचनाका महत्त्वपूर्ण पक्ष मानी जा सकती है, किन्तु वही सब कुछ है, ऐसा मानना ठीक नहीं। अनुभव भी ध्यान देने योग्य है। आलोचनामें साहित्यिक या कलात्मक शब्दोंके रूप और शक्तिको समझना भी अत्यन्त आवश्यक है। आलोचकको शाब्दिक और तार्किक गोरखधन्धेमे सावधान रहना चाहिये। अपने पाण्डित्यकी झोंकमें यदि वह आवश्यकतासे अधिक अनेक विषयोंका आश्रय ग्रहण करेगा तो अपने ही लिए उलझनें पैदा करेगा। और फिर, कला, कलाके उद्देश्य, कलाकारके कर्तव्य आदिके सम्बन्धमें अनेक मत हैं। इन मतोंके सम्बन्ध-में एक ही युगमें विभिन्नता नहीं होती, वरन् एक युगके मत पिछले युगके मतसे भिन्न रहते हैं। आलोचकको इन विभिन्न मतोंका अध्ययन करते हुए भी निष्पक्ष रहना चाहिये, जो कोई सरल कार्य नहीं है और तभी आलोचना रचनात्मक साहित्यके समीप आ जाती है।

आलोचनाकी इन सीमाओंका सिंहावलोकन करते

समय यह प्रश्न भी उठता है कि आलोचना रचनात्मक साहित्यमें पहले आती है या साथ साथ उत्पन्न होती है या बादमें आती है? आलोचनाका इतिहास यही बताता है कि रचनात्मक साहित्यसे पूर्व आलोचना नहीं हुआ करती। युगके रचनात्मक साहित्यके साथ-साथ भी आलोचना हो सकती है और होती है, किन्तु ऐसी परिस्थितिमें युगका महान्‌से महान् आलोचक भी अपने युगकी महान् कृतियों-का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर पाता और प्राय उच्च कोटिकी रचनाओंकी उपेक्षा भी हो जाया करती है। प्रत्येक युगमें इस प्रकारकी भूलें होती हैं। साथ ही एक निकृष्ट रचना उतनी हानिकारक नहीं होती जितनी एक निकृष्ट आलोचना। एक निकृष्ट रचना हम न भी पढ़ें तो कोई बात नहीं, किन्तु एक निकृष्ट आलोचनासे किसी सुन्दर कलात्मक कृतिको भी आघात पहुँच सकता है। अतएव आलोचकको अत्यन्त सतर्क रहनेकी आवश्यकता है।

आलोचनाकी सामान्य प्रकृति और उसकी विविध प्रमुख-प्रमुख सीमाओंपर विचार करनेके साथ साथ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आलोचनाका रूप और उसका ध्येय प्रत्येक आलोचकमें अलग-अलग होता है। किसी एक आलोचना-सम्प्रदायके सिद्धान्त अकाट्य भी नहीं होते। आलोचनामें या तो सामान्य सिद्धान्तोंका निर्धारण किया जाता है या साहित्य और मनुष्यकी चेतना या अनुभूति साहित्य और जीवन, रूप तथा विषयके पारस्परिक सम्बन्धोंपर विचार किया जाता है जो ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार हम खिड़कीकी बनावट, उसमें लगे शीशे, पेंच आदिपर ध्यान न देकर उसमें दिखाई पड़नेवाले सुन्दर दृश्योंपर अधिक ध्यान दें, अथवा अन्तमें, आलोचना साहित्यकी वास्तविक स्थितिपर विचार कर सकती है जिसके फलस्वरूप मूल पाठ सम्बन्धी आलोचना, वैज्ञानिक आलोचना, जीवन-वृत्तान्त-सम्बन्धी आलोचना, ऐतिहासिक आलोचना, मनोवैज्ञानिक आलोचना, समाजशास्त्रीय आलोचना, व्याख्यात्मक आलोचना, निर्णयात्मक आलोचना आदिका आविर्भाव होता है। किन्तु क्योंकि प्रत्येक आलोचक अपने-में एक भिन्न व्यक्ति होता है, अतएव व्यक्तिगत विशेषताओंके कारण आलोचनाके और भी अनेक भेद हो सकते हैं।

आलोचनाके ध्येयके सम्बन्धमें समय-समयपर भिन्न-भिन्न विचारधाराएं रही हैं। प्राचीन भारतवर्षमें रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदिपर आधारित विचारधाराएँ थीं। पश्चिममें नैतिकता, सौन्दर्यविज्ञान, यथार्थ, अथवा अरस्तूके सुषमावाद या रीतिवादसे सम्बन्धित विचारधाराएँ थीं। अरस्तूके बाद यूरोपमें आलोचनाके बाद भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। औचित्य सम्बन्धी अनुभूतिप्रधान, सैद्धान्तिक, मनोवैज्ञानिक, भौतिकवादी आदि अनेक प्रकारके ध्येय यूरोपमें प्रचलित रहे हैं, किन्तु सेंट्स्बूरी, आर्नाल्ड, आडेन आदि प्रसिद्ध विचारकोंकी दृष्टिसे आलोचनाका सर्वोत्तम ध्येय सर्वोत्तम साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओंका पालन करना है। मानवजीवनकी आधारभूत एकता, कलाकारके अनुभवों और उसकी कृतियोंका पारस्परिक सम्बन्ध और कलात्मक मूल्यों और जीवनके अन्य मूल्योंमें सम्बन्ध स्थापित करना आलोचनाका पुनीत ध्येय है। आलोचना प्रधान रूपसे व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक ही हो सकती है, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टिकोणसे दोनोंमें अधिक भेद नहीं है। हेगेल, कार्लाइल, स्पिनगार्न, कोलरिज, जे० एम० मरी, क्रोजामियाँ, एड्मण्ड विल्सन, पी० ई० मोर, आई० ए० रिचर्ड्स, टी० एस० इलियट आदि यूरोपीय विचारकोंने आलोचनाके ध्येयपर अपने-अपने दृष्टिकोणसे विचार किया है। किसीका दृष्टिकोण व्याख्यात्मक आलो-चनाकी ओर अधिक हुआ है, तो किसीका निर्णयात्मक आलोचनाकी ओर।

आजके वैज्ञानिक युगमें आलोचकों, समीक्षकों और आचार्योंकी संख्या अनुदिन बढ़ती जा रही है और कवियों या कलाकारों और पाठकोंके बीच बढ़ते हुए व्यवधानको कम करनेके लिए आलोचकोंको सतत प्रयत्नशील रहना पड़ता है। यह कार्य स्वस्थ रूपमें सम्पन्न करनेके लिए आलोचकमें सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण, साहस, अन्तर्दृष्टि, अतीत समस्याओंका ज्ञान, विदेशी साहित्यों और अपने चारों ओरकी दुनियासे परिचय, सौन्दर्यानुभूतिकी शक्ति या संवेदनशीलता, अध्ययन एवं मननशीलता, कवि या कलाकारकी कृतिके साथ तादात्म्य स्थापित करना आदि गुणोंका रहना अत्यन्त आवश्यक है। कोरी 'वाह-वाह' और व्यक्तिगत आक्षेप अवांछनीय हैं। उसे तो निष्पक्ष होना चाहिये। कलाकारकी भांति आलोचकका भी अपना व्यक्तित्व होता है। कलात्मक या साहित्यिक कृति द्वारा उत्पन्न हुई प्रतिक्रियाका अपने व्यक्तित्वमें भली भांति मन्थन कर व्याख्या और भाषाधिकार सहित आलोचकको उसे प्रकट करना चाहिये। इसीलिए आस्कर वाइल्डका कथन है कि आलोचक दूसरोंकी कृति और व्यक्तित्वकी तभी व्याख्या कर सकता है जब वह स्वयं अपने व्यक्तित्वमें प्रगाढ़ता (इंटेंसिटी) पैदा कर ले और तभी वह हैजलिटके शब्दोंमें 'सर्वसाधारणके लिए रसज्ञ' (टेस्टर फॉर दि पब्लिक)का कार्य सफलतापूर्वक निभा सकता है।

एक साहित्यिक या कलात्मक कृति किस रूपमें किसी व्यक्तिमें प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है, उसपर उसका क्या प्रभाव पड़ता है, इसी तथ्यपर आलोचनाके प्रकार आधारित रहते हैं। आलोचनाके वर्गीकरणकी समस्या 'दृष्टिकोण'पर निर्भर है। 'दृष्टिकोण'का आधार मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक, वैज्ञानिक, निर्णयात्मक, सामाजिक, वैयक्तिक आदि कोई भी हो सकता है, अथवा कभी रीति, कभी विषयको भी आधार माना जा सकता है। इन सब बातोंसे आलोचनाके वर्गीकरणकी समस्या कुछ उलझ जाती है और इस सम्बन्धमें मतभेद भी उत्पन्न हो जाते हैं। स्थूल रूपसे केवल इतना कहा जा सकता है कि साहित्यकी आलोचना ही साहित्यिक आलोचना कही जा सकती है और जितने प्रकारके विषय होंगे उतने ही प्रकारकी आलोचना भी जन्म लेगी। आधुनिक साहित्यमें अनेक प्रकारकी आलोचना-प्रणालियोंका प्रयोग हुआ है और हो रहा है। आलोचकोंके वर्गों और उनके विभिन्न दृष्टिकोणके कारण आलोचनाके अनेक वर्ग दृष्टिगोचर होते हैं। विषय या देशके आधारपर आलोचनाके प्रकारोंका नामकरण अधिक वैज्ञानिक नहीं समझा जाता। प्रणालियों-

के आधारपर वर्गीकरण ही उपयुक्त सिद्ध होता है। प्राचीन भारतमें अनेक प्रणालियाँ थीं। यूरोपमें भी समय-समयपर अनेक प्रणालियाँ प्रचलित रही है और अब भी है। आधुनिक हिन्दी आलोचनामें या तो पूर्णत प्राचीन रूप या पूर्णत पाश्चात्य रूप या कभी-कभी दोनोंका समन्वय दृष्टिगोचर होता है। ऐसी आलोचना-प्रणालियोंमें **प्रभावात्मक, अनुभवात्मक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, निर्णयात्मक, वैज्ञानिक, अभिव्यंजनावादी, नैसर्गिक, जीवनवृत्तान्तीय, कार्यात्मक, क्रियात्मक, तात्त्विक, मार्क्सवादी, भौतिकवादी, शास्त्रीय, आत्मगत, व्याख्यात्मक,** आदि अनेक प्रकारकी प्रणालियाँ प्रमुख है (दे०)। हिन्दीमें ये सब प्रणालियाँ नहीं मिलतीं। —ल० सा० वा०

हिन्दीमें आलोचनाका वास्तविक प्रारम्भ बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'ने किया। उन्होंने 'आनन्दकादम्बिनी' पत्रिका(१८८०)में लाला श्रीनिवासदास रचित-'संयोगिता-स्वयम्बर'का नाट्य-दोष दिखलाकर और गदाधर सिंह द्वारा अनुवादित 'वग-विजेता'के भाषा सम्बन्धी दोषोंका निर्देश कर आलोचना की। इसके अतिरिक्त अन्य तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओंमें भी पुस्तकपरिचयके समाचार रहा करते थे, उनमें भी कभी-कभी आलोचनाका आभास मिलता था। इस समय दोष-निदर्शन ही आलोचना कहलाता था। किन्तु दोषोंके साथ गुणोंके विवेचनका पहला रूप महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'हिन्दी कालिदासकी समालोचना'में मिलता है, जिसमें उन्होंने लाला सीताराम द्वारा अनुवादित कालिदासके ग्रन्थोंमें भाषा सम्बन्धी त्रुटियोंका उल्लेख किया। इसके पश्चात् लेखककी कृतियोंमें दोषनिदर्शनकी प्रवृत्ति प्रबल हो उठी। आलोचक लेखक और कविसे अपनेको विद्वान् समझता और उनकी कृतिके दोष पाण्डित्यपूर्ण शैलीमें दिखलाता।

किन्तु 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका'(१८९७)के प्रकाशनसे समालोचकको नया बल मिला। उसमें कवियों और लेखकोंमें साहित्यके प्रति अनुराग और लेखन-सुरुचि उत्पन्न करनेके लिए लेख रहते थे। सन् १८९६ ई० में गगाप्रसाद अग्निहोत्रीकी 'समालोचना' पुस्तिका निकली। पत्रिकामें जगन्नाथदास रत्नाकरके पद्यात्मक'समालोचनादर्श' तथा अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'गद्यकाव्य मीमासा' जैसी रचनाएँ भी इसी प्रवृत्तिवश लिखी गयी थीं। इनमें साहित्यके गुण-दोष-निदर्शन और गवेषणापूर्ण अध्ययन, दोनों थे। इन आलोचनात्मक रचनाओंके अनुकरणमें समालोचनाएँ लिखी जाने लगीं। नागरीप्रचारिणी सभाने अँग्रेजीके समालोचकोंकी विद्वत्तापूर्ण, द्वेषहीन और सहानुभूतिपरक आलोचनाका आदर्श उपस्थित किया। इस प्रकार प्रारम्भिक आलोचनाके विकासमें महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा 'सरस्वती' पत्रिकाका विशेष प्रोत्साहन रहा। सन् १९०० में महावीरप्रसाद द्विवेदीने 'विक्रमांकचरित-चर्चा', 'नैषधचरित-चर्चा' जैसे समालोचनात्मक लेख लिखे।

बीसवीं शतीके प्रथम चतुर्थांशमें महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, किशोरीलाल गोस्वामी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुन्दर दास तथा रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति लेखकोंके योगसे आलोचनाको विशेष समृद्धि हुई और वह साहित्यका एक महत्त्वशाली रूप बनकर सामने आयी।

इस कालमें **परिचय-प्रधान, गवेषणा-प्रधान, सिद्धान्त-प्रधान, शास्त्र-प्रधान, प्रभाव-प्रधान, तुलना-प्रधान** और **चिन्तन-प्रधान** आलोचनाकी प्रवृत्तियाँ सम्मुख आयीं।

परिचय-प्रधान आलोचनाका जन्म पुस्तकोंके उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होनेके निर्णय देने और कवियों तथा लेखकोंकी कृतियोंका विज्ञापन करनेकी प्रवृत्तिसे हुआ, जिसके लिए मासिक पत्र-पत्रिकाओंके अलग स्तम्भ खुले। 'समालोचक' (जयपुर) और माधव मिश्रका 'सुदर्शन' (बनारस) जैसे पत्रोंमें परिचय-प्रधान समालोचनाकी अधिकता रहती थी। 'सरस्वती'का पुस्तकपरीक्षा स्तम्भ (१९०४) भी इसी प्रकारका था, किन्तु कालान्तरमें इस प्रकारकी आलोचनामें विज्ञापन, दलबन्दी, मिथ्या प्रशसा और दोषान्वेषणकी प्रवृत्ति ही विशेष रह गयी।

गवेषणा-प्रधान समालोचनाका उन्मेष पाश्चात्य प्रभाव और प्राचीन साहित्यके प्रति जाग्रत् अनुरागके कारण हुआ। प्राचीन कवियोंके जन्म, स्थान, समय, जीवनी, उनकी कृतियोंमें तत्कालीन समय और समाजके प्रभाव आदिपर खोज करनेके अध्ययन होने लगे। प्रारम्भमें उत्साह अनुवादोंका रहा। सरयूप्रसाद मिश्रने बँगलासे 'भारतवर्षीय संस्कृत कवियोंका समय-निरूपण' और गगाप्रसाद अग्निहोत्रीने मराठीसे 'संस्कृत-कविपचक'के हिन्दीमें अनुवाद किये। महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'नैषधचरित-चर्चा', 'कालिदास', किशोरीलाल गोस्वामीके 'अभिज्ञान शकुन्तला' और 'पद्म पुराण' और चन्द्रधर शर्मा गुलेरीके 'विक्रमोर्वशीकी मूल कथा' लेख भी कवियोंके समय, जीवन-चरित्र तथा कृतिकी प्रेरणा और गुण-दोष सम्बन्धी गवेषणाओंसे पूर्ण थे। साथ साथ हिन्दी कवियोंका भी अध्ययन चलता रहा। खोजपूर्ण कार्य करनेमें 'नागरीप्रचारिणी सभा'को सबसे अधिक श्रेय है। हिन्दी कवियों और लेखकोंपर श्यामसुन्दर दास, श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्रने खोजें और सर्च रिपोर्टें प्रकाशित करायीं। नागरीप्रचारिणी पत्रिकामें राधाकृष्ण दासके 'नागरीदासका जीवनचरित', 'मुसलमानी दफ्तरोंमें हिन्दी', 'एडविन ग्रीव्सका गोसाईं तुलसीदासजीका चरित्र', राधाकृष्ण दासके सूरदासपर लेख भी खोजोंसे भरे थे। श्यामसुन्दर दासके 'बीसलदेव रासो'पर विस्तृत विवरण, 'हिन्दीका आदि कवि', मुन्शी देवीप्रसादके 'पृथ्वीराज रासो'पर अध्ययन तथा तासी, शिवसिंह सेंगर, सर जार्ज ग्रियर्सनकी इतिहास-परम्परामें मिश्रबन्धुके 'मिश्रबन्धु-विनोद' (१९१३-१९१५) जैसे लेख और ग्रन्थ भी गवेषणात्मक समालोचनाकी कोटिमें आते है।

सिद्धान्त-प्रधान आलोचनामें संस्कृत साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्त तथा दोनोंके समन्वयपर लिखनेकी प्रवृत्ति मिलती है। भरतके रसवाद, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रटके अलंकारवाद, वामनके रीतिवाद, कुन्तकके वक्रोक्तिवाद, आनन्दवर्द्धनके ध्वनिवादके सिद्धान्तोंके अनुसार लिखे गये बाबूराम बित्थरियाके 'नवरस', कन्हैयालाल पोद्दार-

के 'अलंकार-प्रकाश,' 'काव्यकल्पद्रुम,' अर्जुनदास केडियाके 'भारती-भूषण,' लाला भगवानदीनके 'अलंकार-मंजूषा,' जगन्नाथप्रसाद भानुके 'छन्दप्रभाकर' जैसे ग्रन्थ, शालिग्राम शास्त्रीके साहित्यदर्पणके अनुवाद, 'कविप्रिया,' 'रसिकप्रिया'की टीकाएँ, श्यामसुन्दर दासका 'भारतीय नाट्यशास्त्र' नामक लेख आदि हैं।

पश्चिमी सिद्धान्तोंके परिपार्श्वमें समालोचना करनेकी प्रवृत्ति जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'के पोप-रचित 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म'के पद्यात्मक अनुवाद 'समालोचनादर्श'में लक्षित होती है। आगे छोटे-छोटे निबन्धोंमें पश्चिमी आदर्श दिखलाई पड़ते रहे। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शीके 'विश्व-साहित्य'में पश्चिमी सिद्धान्तोंका प्रतिपादन भी है। पूर्वी और पश्चिमी साहित्य-सिद्धान्तोंके समन्वयात्मक दृष्टिकोणसे लिखे गये रामचन्द्र शुक्लके लेख हैं तथा श्यामसुन्दर दासकृत 'साहित्यालोचन' (१९२२) है। बँगलासे द्विजेन्द्रलालकृत 'कालिदास और भवभूति'का हिन्दी अनुवाद भी इसी श्रेणीका ग्रन्थ है।

शास्त्रीय या शास्त्र-प्रधान आलोचनाका प्रारम्भ महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा मिश्रबन्धुने किया। इस कोटिकी आलोचनाका आदर्श संस्कृत अलंकार-शास्त्रके अनुसार कृतीकी कृतिकी आलोचना करना था। महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'विक्रमांकदेवचरित चर्चा,' 'नैषधचरित' तथा मिश्रबन्धुकी 'हम्मीर हठ' काव्यपर और श्रीधरकी भूषणपर आलोचनाएँ इसी प्रकारकी हैं। मिश्रबन्धुका 'हिन्दी नवरत्न' (१९१०-११) इस प्रकारकी आलोचनाका उत्तम ग्रन्थ है।

प्रभाव-प्रधान आलोचना सिद्धान्त-विरोधी है। इसने शास्त्रीय मान्यताओंसे अधिक महत्त्व व्यक्तिगत रुचि, भावना, जीवनादर्शको दिया। इसमें समालोचक समालोच्य कृतिकी आलोचना करते समय अपनी ही भावनाओंके अनुसार निर्णय देता है। पद्मसिंह शर्माकी 'बिहारीकी सतसई,' 'सतसई-संहार' ऐसी ही रचनाएँ हैं।

तुलना-प्रधान आलोचनामें कवियों और लेखकोंकी कृतियोंकी अन्य भाषा-साहित्योंकी रचनाओंसे तुलना की जाती है। इस कोटिमें पद्मसिंह शर्माकृत 'बिहारी और फारसी कवि सादीकी समालोचना,' 'भिन्न भाषाओंके समानार्थी पद्य,' 'संस्कृत और हिन्दी कविताका बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव,' 'भिन्न भाषाओंका बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव' जैसे लेख, 'बिहारीकी सतसईकी गाथा सप्तशती और अमरुक शतकवाले अंश,' कृष्णबिहारी मिश्रके 'देव और बिहारी,' भगवानदीनके 'बिहारी और देव,' जैसे ग्रन्थ आते हैं। कृष्णबिहारी मिश्रका 'बिहारी और दास' लेख भी इसी प्रकारका है।

चिन्तन-प्रधान आलोचनाका सूत्रपात रामचन्द्र शुक्लने किया। इसमें वैज्ञानिक पद्धतिपर कवि या लेखकके काल, जीवन-चरित्र, वातावरण, परिस्थिति, इनका उनकी कृतियोंपर प्रभाव, साहित्यिक परम्परामें उनका स्थान, लोक-संग्रह आदिपर दृष्टि केन्द्रित रहती है। रामचन्द्र शुक्लकी 'जायसी ग्रन्थावली' (१९२२), 'तुलसी ग्रन्थावली' (तृतीय भाग), 'भ्रमर गीतसार'की भूमिकाएँ इसी भाँतिकी हैं।

बीसवीं शतीके द्वितीय चतुर्थांशमें नवीन सांस्कृतिक उत्थान, पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति, उच्च कक्षाओंमें हिन्दीके अध्ययन, भाषाकी बढ़ी हुई अभिव्यंजना-शक्ति और रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दर दासके कर्मठ व्यक्तित्व इत्यादि अनेक कारणोंसे आलोचनाका नवीन ढंगसे विकास हुआ। इस कालमें काव्य-कृतियाँ भारतीय आदर्शवादी रसवादकी कसौटीपर देखी जाने लगीं और नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि गद्य-रूपोंकी आलोचना पाश्चात्य सिद्धान्तोंके अनुसार होने लगी। पाश्चात्य प्रभावके कारण कृतियों और कृतिकारोंको जीवनकी यथार्थ और वास्तविक परिस्थितियोंसे सम्बद्ध करके देखा जाने लगा। साथ ही साथ व्यक्ति और समाजके मनोविज्ञानको ध्यानमें रखकर न्याय और निर्णय करनेकी प्रवृत्ति बढ़ी। विषय-प्रतिपादनमें निर्णयात्मक, विवेचनात्मक और निगमन भाषा-शैलियोंका प्रयोग हुआ। वस्तुको वैज्ञानिक पद्धतिसे देखनेके आग्रहके कारण प्रभाववादी समालोचना समाप्तप्राय हो गयी, किन्तु रचनाके साथ रचयिताका अभिन्न सम्बन्ध माना गया और रचनाको समझनेके लिए रचयिताको पहले समझ लेना अनिवार्य बताया गया। फलतः रचयिताके पूर्वाग्रह, व्यक्तित्व, प्रभाव, कुण्ठा, अतृप्ति, रुचि, प्रवृत्ति, संस्कार आदिका भी अध्ययन आलोचना बनकर आया।

इस कालमें आलोचनाके कई रूप मिलते हैं। पहला रूप, इसमें आलोचनाका आदर्श रामचन्द्र शुक्लकी पद्धति है, जिसमें समालोच्यके जीवन, उसके वातावरण, परिस्थिति, व्यक्तित्व, काल, समाज, जीवनादर्शकी व्याख्या की जाती है और शील, लोक-संग्रह तथा रसकी कसौटीपर कसकर निर्णय किया जाता है। कृष्णशंकर शुक्लके 'कविवर रत्नाकर', 'केशवकी काव्यकला', विश्वनाथप्रसाद मिश्रके 'बिहारीकी वाग्विभूति', गंगाप्रसाद सिंह अखौरीके 'पद्माकरकी काव्य साधना', रामकुमार वर्माके 'कबीरका रहस्यवाद' हजारीप्रसाद द्विवेदीके 'सूरसाहित्य', 'कबीर', राजबहादुर लमगोडाके 'विश्व साहित्यमें रामचरितमानस', धर्मेन्द्र ब्रह्मचारीके 'गुप्तजीकी काव्यधारा', गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश'के 'महाकवि, हरिऔध' जैसे ग्रन्थ इसी प्रकारके हैं।

दूसरा रूप, विश्वविद्यालयोंकी डी० फिल्, पी-एच० डी० और डी० लिट्० की थीसिसोंमें मिलता है। इनमें गम्भीर अध्ययन, तटस्थ दृष्टिकोण, तथ्यकी मौलिक व्याख्या अथवा गवेषणा, बौद्धिक विवेचनका आग्रह रहता है। यह कार्य भाषा और भाषाविज्ञान सम्बन्धी, हिन्दी साहित्यके इतिहास सम्बन्धी, काव्यकी विशेषधारा या प्रवृत्ति सम्बन्धी विशेष कवि या लेखक या कृति सम्बन्धी, वर्गविशेषके कविसमूह सम्बन्धी, हिन्दी साहित्यकी पृष्ठभूमि, परम्परा, प्रभाव और तुलना सम्बन्धी, साहित्यरूप सम्बन्धी, काव्यशास्त्र सम्बन्धी, लोकसाहित्य सम्बन्धी, अनेक रूपमें प्राप्त है।

तीसरा रूप, जिसमें कविकी विशेष रचनाका सूक्ष्मतम अध्ययन किया जाता है। ध्वनि, शब्द, पंक्ति, पद, प्रभाव, सभीपर गहरी दृष्टि डाली जाती है। भगवतशरण उपाध्यायकी 'नूरजहाँ' इसी प्रकारकी है।

चौथा रूप, जिसमें समालोच्यके पात्रों द्वारा ही उनके दोषोंपर प्रकाश डाला जाता है। नगेन्द्रका 'हिन्दी

उपन्यास' निबन्ध और नरोत्तमप्रसाद नागरका 'शुतुर्मुग पुराण' भी इसी प्रकारकी रचनाएँ हैं।

पाँचवा रूप, प्रगतिशील समालोचनाका है जिसमें मार्क्सवादी सिद्धान्तोंपर समालोचना की जाती है। कृति और कृतीके महत्त्वको यथार्थ सामाजिक जीवन और उसके कल्याणकी दृष्टिसे निर्धारित किया जाता है। मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्र वर्माका 'कथाकार प्रेमचन्द्र' ऐसा ही ग्रन्थ है।

छठा रूप, उन समालोचनाओंका है जिनमें पूर्वी और पश्चिमी साहित्य-शास्त्रके सिद्धान्तोंके समन्वयपर आलोचनाएँ की गयी हैं। शिवनाथके 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' तथा नगेन्द्रके 'सुमित्रानन्दन पन्त', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन' ऐसे ही ग्रन्थ हैं।

सातवाँ रूप, पुस्तक-परिचय है जो पाक्षिक और त्रैमासिक, मासिक पत्र-पत्रिकाओंमें मिलता है, जिनमें पुस्तकके कलेवरसे लेखक और प्रतिपादित विषयतकका संक्षिप्त परिचय रहता है। —शि० ना०

आलोचना, अनुभवात्मक–यह आलोचना-पद्धति काफी पुरानी है और अंग्रेजी साहित्यमें इसकी मान्यता सिद्ध हो चुकी है। इस पद्धतिके मूलाधार हैं निरीक्षण, विश्लेषण और वर्गीकरण। साहित्यिक क्षेत्रमें रुचिवैचित्र्यको महत्त्व प्रदान करते हुए भी यह पद्धति व्यक्तिगत अनुभवोंको व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप प्रदान कर साहित्यिक कृतियोंके निरीक्षण, विश्लेषण और वर्गीकरणमें सहायक सिद्ध होती है और लेखकोंकी मूल भावना और उनकी कृतियोंका वास्तविक रूप स्पष्ट करती है। अनुभवात्मक आलोचक किसी कृतिकी उत्कृष्टता, विशेषता आदिके आधारपर विभिन्न वर्ग बनायेगा और उनमें उन कृतियोंको यथावत् स्थान देगा। वह कलाको प्रकृतिका ही एक अंग मानता है और उसपर वैसे ही और उसी प्रकारके नियम लागू करता है जैसे प्रकृतिपर, ताकि उसकी आत्माका स्पष्ट रूप दृष्टिगोचर होने लगे। इस आलोचना-पद्धतिके अनुसार कलाकी उन्नतिका कभी अन्त नहीं होता (**निर्णयात्मक आलोचनामें** प्राचीन युगकी कला पराकाष्ठापर पहुँची हुई मानी जाती जाती है), उसका प्रत्येक युगमें, निरन्तर विकास होता है। —ल० सा० वा०

आलोचना, अभिव्यंजनावादी–अँग्रेजीमें अभिव्यञ्जनावादको **एक्सप्रेशनिज्म** कहते हैं। इसका आदर्श बेनेदेत्तो क्रोचे(१८६६ ई०)के सिद्धान्तपर आधारित है। आधुनिक युगमें रूढ़ि और परम्पराके प्रति विद्रोह एक सामान्य तथ्य है। यूरोपीय साहित्यमें, लैसिंगके बाद कलाका उद्देश्य 'किसी वस्तुकी रचना' मात्र न समझकर, भावकी अभिव्यक्ति माना गया। कलाके सम्बन्धमें यह भावना उन्नीसवीं शताब्दीमें समस्त यूरोपमें प्रचलित थी। बीसवीं शताब्दीमें भी कला और सौन्दर्यकी मूल अचेतन वृत्ति वही भावना रही है। क्रोचेने कहा था कि 'अभिव्यञ्जना और ललित-कला एक ही हैं' अथवा 'सभी ललित कलाएँ अभिव्यञ्जनाएँ हैं और फलतः सम्पूर्ण अभिव्यंजना ललित कला है।' हमारे मनमें पहले किसी वस्तु या द्रव्यके सम्बन्धमें ज्ञान उत्पन्न होता है तत्पश्चात् उसकी प्रक्रिया उत्पन्न होती है। यह ज्ञान भी या तो सहजज्ञान या प्रेरणा(इन्ट्यूशन)के रूपमें आता है, अथवा हमारी निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा उपलब्ध प्रत्यय(कन्सेप्ट)के रूपमें। सहजज्ञान या प्रेरणापर सौन्दर्य निर्भर रहता है और निश्चयात्मिका बुद्धिपर तर्कशास्त्र। क्रोचेने अपनी इस विचारधाराका सम्यक् विकास किया। वास्तवमें उसके मतानुसार मनका सहजज्ञान या प्रेरणा ही आत्माकी व्यक्तिगत क्रिया है और यही मनुष्यके मनकी सौन्दर्यात्मक वृत्ति है, और क्योंकि कल्पना द्वारा बिम्बोंकी खोज होती है, इसलिए कला उसके द्वारा अनुशासित है। सहजज्ञान या प्रेरणा जिस रूपमें प्रकट होती है वही अभिव्यंजना है। सहजज्ञान या प्रेरणा और अभिव्यञ्जना एक-दूसरेकी पर्याय हैं, अर्थात् दोनों साथ-साथ चलती हैं। मनुष्यकी आत्मा केवल द्रव्य(मैटर)की प्रतीति करती है। इसीके सहारे वह अपनेको प्रकट करती है। अभिव्यंजनाका आधार भौतिक न होकर मानसिक है अर्थात् रूपकी कल्पना करते ही उसकी पूर्ण अभिव्यञ्जना हो जाती है। चित्र या कवितामें उसकी बाह्य अभिव्यक्तिमात्र होती है, वैसे मनोभावोंको बाह्याकार प्रदान करते ही अभिव्यंजनावादीकी स्वतन्त्रताका अपहरण हो जाता है। इस सिद्धान्तका प्रयोग अतियथार्थवादियों(सुररीयलिस्ट्स)ने भी अपने ढंगसे किया है। क्रोचेके इन सिद्धान्तोंको अक्षरशः मान्यता प्रदान करनेमें कठिनाई रही है, क्योंकि जब कलाके विषयोंका घनिष्ठ सम्बन्ध कलाकारके व्यक्तिगत मानसिक जीवनसे ही होगा, तो आलोचक किस बाह्य आधारपर आलोचना करेगा? साथ ही कलाकारकी मानसिक स्वतन्त्रता अद्भुत और विचित्र रूप धारण कर सकती है जो साधारण व्यक्तिके लिए बिलकुल बोधगम्य न रह जायगी। बाह्य जगत्‌में आलोचकोंका नियन्त्रण अभिव्यंजनावादियोंको स्वीकार नहीं। फिर इस सम्बन्धमें कलाके प्रभाव, समाजकल्याण, सौन्दर्य और जीवन आदिसे सम्बन्धित अन्य अनेक समस्याएँ उठती हैं। तो भी क्रोचेके सिद्धान्तोंको आलोचना-प्रणालीका आधार माना जाता रहा है। अभिव्यंजनावादी आलोचना-प्रणालीमें विषय और उसके गुणोंको अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, केवल प्रभावकी अभिव्यक्ति देखी जाती है। उसके मूल्य या उपयोगिता आदिसे उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। —ल० सा० वा०

आलोचना, आत्मगत–यह व्यक्तिपर आधारित एक नवीन प्रकारकी आलोचना-पद्धति है जो स्वच्छन्द व्यक्तिवाद (रोमाटिक इण्डिविजुअलिज्म) और आत्मचेतनाका परिणाम है। आत्मगत आलोचनाको ही **आत्मप्रधान** या **प्रभावाभिव्यंजक** या **प्रभावात्मक** या **प्रभाववादी** आलोचना कहते हैं। दे०–'प्रभावात्मक' आलोचना। —ल० सा० वा०

आलोचना, ऐतिहासिक–किसी कृतिकी व्याख्या करते समय रचयिताके पूर्ववर्ती तथा समकालीन इतिहासका आश्रय ग्रहण करनेसे ऐतिहासिक आलोचना(**हिस्टॉरिकल क्रिटिसिज्म**)का जन्म होता है। आधुनिक कालमें इस आलोचना-पद्धतिको काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई है। इस पद्धतिका व्यवहार करते समय आलोचक साहित्यको समाजका प्रतिबिम्ब मानता है। वह लेखकके कालमें उन शक्तियोंको खोजनेकी चेष्टा करता है जिनसे साहित्यविशेष-

का उद्गम होता है। होमर, टैसीटस, लोंजाइनस, बेकन, मिल्टन, ड्राइटन, हाब्स, कारलाइल, मैथ्यू आर्नाल्ट, फ्रेटरिक श्लेगेल, टी० एस० इलियट आदि पाश्चात्य विचारकों और साहित्यिकोंने साहित्यको सामाजिक एव ऐतिहासिक शक्तियोंसे सम्बद्ध करनेका बराबर थोड़ा-बहुत प्रयास किया है और उनके विचारका यह निष्कर्ष सामने आता है कि प्रत्येक कालकी जीवन-सम्बन्धी व्यापक परिस्थितियाँ अपने पूर्ववर्ती कालसे सम्बद्ध होते हुए भी भिन्न होती हैं और वे कवि, कलाकार या लेखककी विचारधारा और पद्धतिको प्रभावित किये बिना नहीं रहतीं। फलत, नये कालके साथ, आलोचना भी नवीन रूप धारण करती है। ऐतिहासिक आलोचना-पद्धतिकी दृष्टिसे अँग्रेजी साहित्यके प्रसिद्ध इतिहासकार टेनका विशेष महत्त्व है। उनके हाथों इस पद्धतिका विशेष स्पष्टीकरण और विकास हुआ। जाति (संस्कार) और परिस्थिति (बाह्य प्रभाव) के अतिरिक्त युगकी व्यापक शक्तियोंका प्रभाव उन्हें मान्य है। टेनके सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें मतभेद है, विशेषत मनुष्यके अपने विशिष्ट गुणपर, जिससे मनुष्यके व्यक्तित्वमें अद्भुत विशेषता आ जाती है, टेनने विचार नहीं किया। वास्तवमें कुछ आलोचकोंका तो यहाँतक कहना है कि इस आलोचना-पद्धतिसे युगजीवन समझनेमें अवश्य सहायता प्राप्त हुई, किन्तु कलाकारकी रचनाओंसे हमारा ध्यान हट गया। अधिकसे अधिक इस पद्धतिका कलाकृतिमें, काव्यरचना या नाट्यरचना आदिमें साहित्यिक धाराओं या विचारधाराओंके संकेत प्राप्त करनेमें उपयोग हो सकता है।

ऐतिहासिक आलोचनात्मक पद्धतिके अन्तर्गत राजनीति, समाजविज्ञान, दर्शनविज्ञान, आर्थिक जीवन, रूढि, शिक्षा आदिसे सम्बन्धित पीठिकामें कालविशेषके साहित्यको समझनेकी चेष्टा तो की जाती है, किन्तु व्याख्यात्मक आलोचक इस पद्धतिका वैज्ञानिककी भाँति प्रयोग नहीं करता। उसका मुख्य ध्येय तो युगकी आत्माको समझना होता है। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें मध्ययुगकी समाप्तिके पश्चात् आधुनिक युगका सूत्रपात हुआ जिसका नेतृत्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने किया। ऐतिहासिक आलोचना-प्रणालीके अनुसार अँग्रेजी राज्यकी स्थापना होनेपर देशमे कौन-कौनसे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, शिक्षा सम्बन्धी आदि परिवर्तन हुए और उनका सम्यक् प्रभाव युगमनपर किस रूपमें पड़ा, इन सब बातोंकी खोज आवश्यक हो जाती है। हमें यह देखना पड़ता है कि कविने समाजसे क्या लिया और क्या दिया?

—ल० सा० वा०

आलोचना, कार्यात्मक–यह आलोचना-प्रणाली कवि या कलाकारका कार्य सीमित कर देनेके कारण कार्यात्मक कही जाती है। इस प्रणालीके अनुसार कलाकारने जिस साहित्यिक रूपकी रचनाका कार्य अपने ऊपर लिया है उसी रूपके तत्त्वों और गुणों एव विशिष्टताओंके आधारपर उसका मूल्याकन किया जाना चाहिये। आलोचक स्वयं कलाकारको मनोनीत विशेष साहित्यिक रूपके रचनावैशिष्ट्यकी सीमासे बाहर जानेकी अनुमति नहीं देता। यदि कलाकार उपन्यासकी रचना करता है तो उसे उसमे नाटकीय तत्त्वोंका समावेश करनेकी आवश्यकता नहीं है। आलोचकको भी उसमें केवल उपन्यास-कलाके तत्त्व ही देखने चाहिये, उन्हीं तत्त्वोंके आधारपर उसका मूल्याकन करना चाहिये। उपन्यास-कलामें नाट्य-कलाकी विशेषताएँ देखना निरर्थक है। प्रत्येक साहित्यिक रूपके अपने अलग-अलग गुण हैं, उनकी अपनी-अपनी शैली है। इसलिए एकके गुणों और शैलीका आभास दूसरेमें देखना अनुचित है। किन्तु किसी साहित्यिक रूपके विशेष गुणों और शैलीका मूल्याकन केवल नियमों और सिद्धान्तोंके आधारपर करना ही इस प्रणालीका उद्देश्य नहीं है। कवि या कलाकारकी शैलीका मूल्याकन उसके व्यक्तित्वके साथ-साथ सम्बद्ध करनेमें कार्यात्मक प्रणाली सहायक सिद्ध होती है। कोरा 'सिद्धान्तवाद' इसमें नहीं है। साथ ही कवि या कलाकारको अपना निर्धारित मार्ग छोड़कर हृदयकी स्वच्छन्दता व्यक्त करनेका भी अधिकार नहीं है। कविकर्मका संयमन इस प्रणालीकी प्रधान विशेषता मानी जानी चाहिये।

—ल० सा० वा०

आलोचना, गुणदोषात्मक–यह आलोचना-प्रणाली प्रधानत रूढिपर आधारित रहती है। आलोचना-क्षेत्रमें प्राय सब देशोंमें सर्वप्रथम गुण-दोष-दर्शन ही आलोचकोंका लक्ष्य रहा है। आलोचक रूढि-विपर्यय सहन नहीं करता। वह कवियों और लेखकोंकी नवीन विशेषताओं और अन्त प्रकृतिके विश्लेषणकी ओर ध्यान नहीं देता। उसे रूढिका अनुगमन ही प्रिय और वाछनीय लगता है। इस प्रकारकी आलोचनामें एक बड़ा खतरा यह है कि प्राय आलोचक केवल छिद्रान्वेषणतक अपनेको सीमित रखते हैं। विरले आलोचक ही गुण-दोष-निर्देशनमें सन्तुलन रख सके हैं। हिन्दीमें उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्धमें आलोचना गुण-दोष-विवेचनके रूपमें प्रकट हुई। 'प्रेमघन'ने 'संयोगिता स्वयंवर'की त्रुटियों और दोषोंका बडी सूक्ष्मताके साथ उद्घाटन किया। इसी प्रकार महावीरप्रसाद द्विवेदीकृत 'हिन्दी कालिदासकी आलोचना' केवल भाषा सम्बन्धी दोषों और मूल भावोंको पहुचे आघातोंकी ओर सकेत करनेतक ही सीमित है। द्विवेदीजीकी अन्य आलोचनाओंमे गुण-दोषोंका ही अधिक उल्लेख है। वास्तवमें आलोचक इस प्रणालीका अनुसरण कर लेखक या कविके व्यक्तित्वकी, उसके युग और युगानुकूल पड़े प्रभावोंकी उपेक्षा करता है। केवल गुण-दोष-प्रदर्शन आलोचना प्रणालीका प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है।

—ल० सा० वा०

आलोचना, जीवनवृत्तांतीय–साहित्यका अध्ययन करते समय जाति, परिस्थिति और युगके सम्यक् प्रभावान्तर्गत निर्मित साहित्यके व्यक्तित्वके अध्ययनसे भी यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है। इस कार्यके लिए उनके जीवनका ज्ञान आवश्यक हो जाता है। यूरोपमें यह प्रवृत्ति ईसाकी सोलहवीं शताब्दीमें दृष्टिगोचर होती है। अठारहवीं शताब्दीमें जान ड्राइडन द्वारा उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। ड्राइडन और जान्सनने जीवनचरित और आलोचनाका अद्भुत सम्मिश्रण प्रस्तुत किया है। अर्वाचीन बातोंका उल्लेख करनेसे इस प्रणालीमें कोई सहायता नहीं मिलती।

वास्तवमें जीवनका अध्ययन करना उन प्रभावोंका अध्ययन करना है जिनसे साहित्यिक व्यक्तित्वका निर्माण होता है। कृतियों और जीवनका पारस्परिक निकटतम सम्बन्ध आलोचकके लिए उपयोगी सिद्ध होता है। चरित्रका जितना अधिक पूर्ण विश्लेषण होगा उतना ही अधिक विश्लेषणमें स्पष्टता आयेगी। जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-पद्धति प्रतिपादित करनेमें सेण्ट ब्यूवका प्रधान हाथ रहा है और ऐतिहासिक पद्धतिकी भाँति व्याख्यात्मक पद्धतिमें भी उसका विशेष सम्बन्ध है। सेण्ट ब्यूवके मतानुसार किसी कृतिकी जानकारी कलाकारके जीवनसे सम्बद्ध है। कृति उसके जीवनका ही सार अंश है। परिवार, मित्रमण्डली, गोष्ठी, काव्यात्मक या आलोचनात्मक केन्द्र—वह केन्द्र जिसमें लेखक अपना रूप धारण करता है—जीवनचरित-की प्रगति, धार्मिक निष्ठा, प्रकृतिप्रेम आदिकी निरीक्षणशक्ति, अन्तर्दृष्टि और निष्ठा द्वारा अध्ययन कर कवि या कलाकारके व्यक्तित्वका स्पष्टीकरण करना जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-पद्धतिका लक्ष्य है। व्यक्तिका विश्लेषण होते ही कृतिका विश्लेषण हो जाता है। प्राचीन भारतवर्षकी आलोचना-प्रणालीके अन्तर्गत कविके सत्संग, देशज्ञान, व्यवहारज्ञान, वाग्विदग्धता, विद्वानोंका सत्संग आदिका उल्लेख भी एक प्रकारसे जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-प्रणालीका ही रूप है। हिन्दीमें सूर, तुलसी, कबीर आदिका साहित्य भी इस प्रणालीके अनुसार परखा गया है। यद्यपि इस प्रणालीके सम्बन्धमें जीवनचरितपर प्रकाश डालनेवाली सामग्रीका अभाव, वंशके अनुसार प्रतिभाका आँकना अथवा प्रतिभाको वंशानुगत मानना आदि कठिनाइयाँ हैं, तो भी उसका प्रचार रहा है। अनेक कलाकार तो अपने जीवनसे अपनी कृतियोंको अलग रखनेमें सफल हुए हैं और अनेक कलाकार निम्न और साधारण वर्गोंमें उत्पन्न होते हुए भी प्रतिभाशाली सिद्ध हुए हैं। अनेक कलाकारोंके जीवनका थोड़ा-सा भी विवरण प्राप्त नहीं होता। ऐसी परिस्थितिमें प्रस्तुत आलोचना-प्रणाली सहायक सिद्ध नहीं होती। वास्तवमें ऐतिहासिक प्रणालीका कलाकारके व्यक्तित्वका दिग्दर्शन करानेमें सहायक न होनेका अभाव जीवनवृत्तान्तीय आलोचना द्वारा पूर्ण हो जाता है, क्योंकि इस कलाका उद्गम और विकास ज्ञात करनेका साधन प्राप्त हुआ, उसमें कला सम्बन्धी अनेक गुत्थियाँ सुलझानेमें सहायता मिलती है। हमें कलाकारको निकटसे देखनेका अवसर मिलता है और वह तथा उसकी रचना, दो भिन्न वस्तुएँ नहीं रह जातीं। कलाकारके जीवनसे सम्बन्धित अनेक बातें तो उनकी रचनाओंमें जाने या अनजानेमें आ जाती हैं। हम अपने सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन द्वारा उनमें उसके विचारों, अनुभवों, भावनाओं आदिका स्रोत प्राप्त कर सकते हैं। यह आलोचना-प्रणाली अब भी काफी लोकप्रिय है। —ल० सा० वा०

आलोचना, तुलनात्मक—अँग्रेजीमें इसे **कम्परेटिव क्रिटिसिज्म** कहते हैं। **ऐतिहासिक और वैज्ञानिक** आलोचना-प्रणालियोंकी बहुत-कुछ पूर्ति तुलनात्मक प्रणालीसे हो जाती है। उसका सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दीसे माना जा सकता है। साहित्यिक प्रभावोंकी खोज करना, अर्थात् किसी रूप या शैलीपर किसी विशेष साहित्यिकका प्रभाव खोजना इस प्रणालीका मूल उद्देश्य है। तुलनात्मक आलोचनामें बहुत-सी बातें आकर्षक रहती हैं और ऐतिहासिक दृष्टिसे ही उनमें तुलना नहीं रहती, वरन् विचारों और प्रकारोंकी दृष्टिसे भी तुलना रहती है। वास्तवमें तुलनात्मक प्रणाली ग्रहण करनेवाला आलोचक व्युत्पत्तिपर विशेष ध्यान देता है। इस कार्यकी पूर्तिके लिए वह विभिन्न देशों और विभिन्न कालोंकी मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रगतिका भी अवलोकन करता है। एक ही देशकी विभिन्न साहित्यिक धाराओंका अध्ययन करना उसके लिए अभीष्ट होता है। इन सबमें वह कोई नैसर्गिक सम्बन्ध खोजनेकी चेष्टा करता है। तुलनात्मक प्रणालीमें सफल होनेके लिए आलोचकका बहुज्ञ होना भी आवश्यक है। वह साहित्य और कलाका मूल किसी भी रूपमें स्वीकार करे, किन्तु उसे यह न भूल जाना चाहिये कि उसका प्रधान कर्तव्य केवल वर्णन, विवेचन और विश्लेषण है, निर्णय देना उसका कार्य नहीं। साथ ही इस बातपर ध्यान रखना भी आवश्यक है कि तुलना समान वस्तुओंकी ही हो सकती है। यह बात विषयके अतिरिक्त ध्वनि, ध्येय और अभिव्यंजना-प्रणालीके सम्बन्धमें भी लागू होती है। तुलनात्मक आलोचना जब आन्तरिक बातोंकी तुलनाका प्रयास करती है तो और भी दुरूह हो जाती है। परम्परागत राजनीतिक या सामाजिक इतिहासके बदले इसमें फिर विचारोंके इतिहासपर जोर दिया जाता है। तुलनात्मक आलोचनामें साहित्य अभिव्यंजनाका साधनमात्र ही नहीं, मनुष्यके भावों और विचारोंका प्रतिबिम्ब या प्रतीक है, वह सामाजिक चेतनाका दर्पण है। एक ही कविके कई ग्रन्थोंके आधारपर विषयकी पारस्परिक रूपमें तुलना हो सकती है अथवा एक ही कविकी विभिन्न रचनाओंकी तुलना हो सकती है और अन्तमें एक ही भाषाके या अन्य भाषाओंके तद्विषयक कवियों और ग्रन्थोंमें तुलना हो सकती है—विषय, भाव, भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियोंसे। हिन्दीमें देव और बिहारीकी तुलना कुछ दिनोंतक बड़ी धूमधामसे होती रही। —ल० सा० वा०

आलोचना, निर्णयात्मक—अंग्रेजीमें इसे **जुडीशल क्रिटिसिज्म** कहते हैं। यूरोपमें यह प्रणाली काफी पुरानी है और यह एक प्रकारकी नैतिक आलोचना होती है। विद्वानोंको यह बात बुद्धिसंगत भी जान पड़ती है, क्योंकि आलोचनाका मुख्य उद्देश्य निर्णय हो रहा है। आलोचना-प्रणालीके अनुसार उन मूल्योंकी खोज की जाती है जिनके प्रभावान्तर्गत कवि या कलाकारकी सर्जनात्मक शक्तिका उद्घाटन हुआ है। साथ ही उसके द्वारा रूप और रचना-प्रक्रियाका मूल्यांकन भी होता है। ग्रीसमें आलोचना-प्रणालीका सूत्रपात होमरसे माना जाता है। होमरके बाद यूनानी आलोचना-क्षेत्रमें सोफिस्ट्स(तार्किकों)का स्थान है। वे भाषणकला और व्याकरणमें निपुण होते थे और वे अपने वक्तव्योंको अधिकसे अधिक गूढ़ और चमत्कारपूर्ण बनानेकी चेष्टा करते थे। प्लेटोने कलाका आधार नैतिक और दार्शनिक सत्य माना था और उसे उपदेशसे सम्बद्ध करनेकी चेष्टा की थी। अरस्तूने कल्पनात्मक अनुकरण द्वारा

सौन्दर्यको अधिक महत्त्व दिया था। लोंजायनसने कला और साहित्यमें महान् और ऊँचे विचारों, तीव्र मनोवेग, अलकारोंके उचित प्रयोग, पदरचना और वाक्य शैली और चमत्कार द्वारा उत्पन्न आनन्दमय प्रभावोत्पादकताको विशेष मानदण्ड माना। रोममे सिसरो और क्विंटीलियनने भी साहित्यके बाह्य गुणोंपर अधिक जोर दिया। होरेसने औचित्यकी ओर ध्यान आकृष्ट किया। यूरोपीय मध्ययुगमें भी आलोचकोंका ध्यान अर्थकी अपेक्षा शब्द-योजना, रूप-सौन्दर्यकी ओर अधिक गया। पुनरुत्थान-कालमें इटली, इग्लैण्ड आदि देशोंमें आलंकारिता, रूप, शैली, सौन्दर्ययुक्त प्रस्तुतीकरणके अन्तर्गत आलोचनात्मक सिद्धान्त उपलब्ध किये गये। आलोचकोंका ध्यान बराबर शास्त्रीय मतकी ओर गया। फ्रासमें भी अरस्तू, होरेस, वर्जिल आदिके नियमोंकी मर्यादाकी सुरक्षा बनी रही। नवशास्त्रीय कालमें शास्त्रीयताका पूरा पक्षपात दृष्टिगोचर होता है। इस कालमें कुछ नियम प्रचलित थे और उनमें एकरूपता थी। रोमाटिक कालकी आलोचना-प्रणालीमें कोई एकरूपता नहीं। उन्नीसवीं शताब्दीमें भी आलोचकोंका ध्यान शास्त्रीयताकी ओर रहा है। भारतवर्पमें भी काव्यशास्त्र और साहित्यालोचनका आविर्भाव अति प्राचीन कालमें ही हो गया था। भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक, राजशेखर, धनञ्जय, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्योंके नाम और ग्रन्थ लोकप्रसिद्ध हैं, जिनमें काव्य-प्रयोजन, काव्य-लक्षण, काव्य-गुण, काव्य-दोष, रस, रीति, अलकार, छन्द, नाटक आदि विविध विषयोंपर विचार किया गया है और साहित्यके मानदण्ड स्थापित किये गये हैं। भारत और यूरोपमें कुछ सिद्धान्तोंके अनुसार काव्य-समीक्षाका प्रचार रहा है। साहित्यिक रचनाओंमें रीति, गुण, अलंकार आदि देखना ही आलोचनाका मानदण्ड था। कलापक्ष प्रधान था और भावपक्ष एक प्रकारसे छूटा हुआ मिलता है।

निर्णयात्मक आलोचनाके उपर्युक्त संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रणालीका मुख्य ध्येय कृतियोंका मूल्याकन कर पाठकोंकी सहायता करना रहा है। वह लेखकों और कृतियोंकी श्रेष्ठता या अश्रेष्ठताके सम्बन्धमें निर्णय देती है। इस निर्णयमें वह साहित्य और कला सम्बन्धी नियमोंसे सहायता लेती है। किन्तु ये नियम साहित्य और कलाके सहजरूपसे सम्बन्ध न रख, बाह्य रूपसे आरोपित होते हैं और इस प्रकार आलोचनाका अपरिवर्तनशील मानदण्ड स्थापित हो जाता है जो सदैव प्राचीन साहित्यके श्रेष्ठ गुणोंकी अपेक्षा रखता है। निर्णयात्मक आलोचना-पद्धति या तो बिलकुल ही रूढ़िसे अलग हटना नहीं चाहती या वह प्राचीन सिद्धान्तोंको पूरे तौरसे मान्यता प्रदान नहीं करती और सुन्दरतामूलक सिद्धान्तोंको भी उपयोगी मानती है। इन दोनों दृष्टिकोणोंका सामंजस्य भी किया जा सकता है, किन्तु इसमें आलोचक भटक भी सकता है। वह रचनापर अधिक ध्यान केन्द्रित न कर मनोविज्ञान, वातावरण, इतिहासकी ओर अधिक आकृष्ट हो सकता है। इस प्रकारकी पद्धतिके अन्तर्गत आलोचक द्वारा अपने ऊपर पड़े हुए प्रभावकी अभिव्यक्ति भी कुण्ठित हो सकती है। निर्णयात्मक आलोचनाने साहित्य-समीक्षामें जीवन, युग, वातावरण आदिके परीक्षणका महत्त्व कम कर दिया, क्योंकि युग, वातावरण आदि ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ तो सदैव परिवर्तनशील हैं, इसलिए उन्हें साहित्यका निश्चित मानदण्ड नहीं माना जा सकता। कलाका विकास तो देश-कालसे परे है। वास्तविक कला किसी भी देश या कालमें आनन्दप्रदायिनी हो सकती है।

मुद्रण-कलाके प्रचारके फलस्वरूप प्रकाशित समाचार-पत्रोंमें पुस्तक-समीक्षाओं द्वारा पाठकोंके पथप्रदर्शन और पुनर्जीवनकालमें यूनानी साहित्यके अध्ययन द्वारा यूरोपमें निर्णयात्मक आलोचना-प्रणालीको विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। क्रियात्मक आलोचना-प्रणालीमें उसका कुछ अंश विद्यमान रहता है। वह शास्त्रीय आलोचनाका व्यावहारिक रूप है। हिन्दीमें महावीरप्रसाद द्विवेदीकृत और मिश्रबन्धु-कृत आलोचनाएँ निर्णयात्मक ढगकी आलोचनाके उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। एक आदर्श आलोचक केवल उन्हीं नैतिक मानदण्डोंके आधारपर परीक्षा करेगा जो स्वय उस रचनामें विद्यमान होंगे अथवा जो रचनामें निहित मानदण्डके समीप होंगे। वह मैथिली-शरण गुप्तकी आलोचना 'निराला'के आधारपर नहीं करेगा अथवा उन्नीसवीं शताब्दीके उपन्यास-लेखक श्रीनिवास दास-की आलोचना प्रेमचन्दके आधारपर नहीं करेगा। यदि वह किसी कवि या लेखककी आलोचना उसकी रचनामें निहित नैतिक मानदण्डोंके स्थानपर कुछ भिन्न मानदण्डोंके आधारपर करना चाहता है तो ऐसा करनेसे पूर्व उसे यह स्पष्टत प्रकट कर देना चाहिये ताकि पाठक यह समझ सके कि वह निर्णायकके रूपमें है या दण्डनायकके रूपमें। दूसरी ओर, प्रशसकोंको अपने पक्षके समर्थनके लिए भी पूरे तौरसे तैयार रहना चाहिये। निन्दा या प्रशंसा भी एक कलाका रूप ग्रहण कर सकती है, किन्तु केवल निन्दा या प्रशसा ही साहित्यकी आलोचनाके नामसे अभिहित नहीं की जा सकती। निर्णयात्मक आलोचनामें आलोचक न्याया-धीशके समान होता है। **व्याख्यात्मक** आलोचनामें आलोचक अन्वेषकके रूपमें रहता है। —ल० सा० वा०

आलोचना, नैसर्गिक–इस प्रणालीसे कलाके प्रति आलोचककी सहज, स्वाभाविक, निरपेक्ष प्रतिक्रियाका द्योतन होता है और उसमें व्यक्तिगत रुचि-अरुचि ही मुख्य निर्णायक तत्त्व है। कोई कृति हमें अच्छी लगती है, बस इतना ही यथेष्ट है। क्यों अच्छी लगती है, यह प्रश्न उठता ही नहीं। इसमें आलोचनाकी अन्य जितनी प्रणालियाँ हैं, सब निरर्थक समझी जाती हैं। हमें न तो कलाकारके जीवन-का अध्ययन करना है और न देश, काल, परिस्थितिका। कलाकारकी कृति स्वयं अपनेमें कैसी है, यही देखना उसका मूल्य आँकना है। कलाकारकी अभिव्यंजना-शैलीसे भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं। कलाकारकी कृतिकी जो उत्कृष्टता है, केवल उसे ही देखना आलोचकका उद्देश्य होना चाहिये। अन्य बातें अनावश्यक और कृत्रिम हैं। अन्य किसी उचित नामके अभावमें उसे केवल **नैसर्गिक, सहज, स्वाभाविक** आलोचना-प्रणाली कहा जाता है। —र० ना० वा०

आलोचना, प्रभावात्मक–इसे अँग्रेजीमें **इम्प्रेशनिस्टिक**

कहते हैं। यद्यपि सामान्यत आलोचनाका मूल सिद्धान्त है कि किसी कलाकृतिकी किसी व्यक्तिके मनपर क्या प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, इसी बातपर आलोचना निर्भर रहती है, किन्तु प्रभावात्मक आलोचना-पद्धति स्वच्छन्द व्यक्तिवाद और आत्मचेतनापर आधारित है। यह पद्धति हालमें ही विकसित हुई है। नाकिक दृष्टिसे या मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे किसी कृतिके प्रति व्यक्तिगत प्रतिक्रिया ही इस आलोचनाका प्रथम सोपान है। कालक्रमके अनुसार व्यक्तित्व प्रधान आलोचनावादकी चीज है। प्रभावात्मक आलोचनाको ही **आत्मगत** या **प्रभावाभिव्यंजक** आलोचना भी कहते हैं। कोई बात सुनकर, कोई तथ्य देखकर या कोई सुन्दर वर्णन पढ़कर हममें स्वाभाविक हर्षोल्लास उत्पन्न होता है, जिसे अंग्रेजीमें 'इण्ट्यूटिव रेस्पॉन्स' कहते हैं। यदि एक आलोचकमें सत्-असत्का विवेक है और साथ ही उसमें हर्षोल्लासकी भावना है, तो वह शीघ्र ही एक कलात्मक कृतिको भली भाँति हृदयंगम करनेकी चेष्टा करता है और अन्तमें अपना निर्णय दे डालता है। इस आलोचना-पद्धतिका आदर्शक्रम रहता है सहज, आन्तरिक प्रतिक्रिया, कृतिका स्वेच्छापूर्वक ज्ञान और अन्तमें मूल्यांकन। किन्तु साहित्यके इतिहासमें यह क्रम बदला हुआ मिलता है। प्राचीन कालमें हमें नैतिक मूल्यांकन सबसे पहले मिलता है। विवेकपूर्ण साधनोंका विकास बादको हुआ। इस पद्धतिके अन्तर्गत आलोचक कृतिकी कुछ बातोंसे प्रभावित होकर कहता है—'मेरा आनन्द स्वयं ही एक प्रकारका फैसला है, दूसरे लोग दूसरे प्रकारका आनन्द प्राप्त करते और व्यक्त करते हैं। उन्हें अपने ऊपर पड़ा प्रभाव व्यक्त करनेका पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार हम दोनों कलापूर्ण रचना या आलोचना-कलाकी सृष्टि करेंगे। सारी आलोचनाका उद्देश्य कलासे हटकर उसकी जगहपर कुछ और वस्तु रखना है। यहाँ मैं अपनेको रखता हूँ।' किन्तु जबतक प्रभाव एक ही व्यक्तितक सीमित रहा तबतक उसका विशेष मान नहीं होता—वह व्यक्ति विशेषज्ञ हुआ तो दूसरी बात है। जब उल्लास या प्रभावका साधारणीकरण हो जाता है तो उसका मूल्य बढ़ जाता है। इस पद्धतिका सामूहिक रूप भरत मुनिके नाट्यशास्त्रमें बतायी गयी सिद्धियोंमें मिलता है, जिनका प्रमाण दर्शकोंके हर्षोल्लास-सूचक चिह्नों या शारीरिक व्यापारोंसे होता है। हिन्दीमें इस प्रकारकी आलोचनाके दर्शन पण्डित पद्मसिंह शर्माकी कृतियोंमें होते हैं। किन्तु इस पद्धतिमें एक दोष खटकता है कि हो सकता है, जो प्रभाव व्यक्त किया गया है वह आंशिक हो या सम्यक् रूपसे पड़ा प्रभाव न हो और कलाकी सम्पूर्ण आत्मा न परखी गयी हो। साथ ही प्रभावात्मक आलोचक होनेकी क्षमता प्रत्येक व्यक्तिमें नहीं पायी जा सकती। इसके लिए तीव्र संवेदनशीलता, चित्तकी गतिशीलता, भावानुभूति, कल्पना-शक्ति आदि विशेष गुण अपेक्षित हैं। वास्तवमें प्रभावात्मक आलोचना-पद्धति द्वारा हम साहित्यकी शक्ति पहिचाननेमें समर्थ हो सकते हैं, वह हममें नवीन कलात्मक चेतनाका जन्म दे सकती है। —ल० ना० वा०

आलोचना, प्रभावाभिव्यंजक—कलाकृतियोंके निरन्तर अध्ययन द्वारा पाठकके हृदयपर एक प्रभाव या छाप (इम्प्रेशन) पड़ती जाती है जिससे वह स्वयं यह जान जाता है कि क्या उदात्त और श्रेष्ठ है। यह आलोचना-पद्धति व्यक्तिपर आधारित है। दे०—'प्रभावात्मक आलोचना'। —ल० सा० वा०

आलोचना, भौतिकवादी—कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद**से सम्बद्ध होनेके कारण यह आलोचना-प्रणाली भौतिकवादी आलोचनाके नामसे अभिहित की जाती है। इसे **मार्क्सवादी आलोचना** या **प्रगतिवादी आलोचना** भी कहते हैं। कभी-कभी इसके लिए **सामाजिक यथार्थवादी** आलोचना अथवा **सोवियत समीक्षापद्धति** नाम भी प्रयुक्त मिल जाता है, किन्तु **मार्क्सवादी** या **प्रगतिवादी** आलोचना शब्द ही अधिक प्रचलित है।

भौतिकवादी आलोचना जीवनके बहुमुखी पक्षोंके साथ सम्बन्ध स्थापित कर साहित्यका मूल्यांकन करती है। जीवन स्थिर या अपरिवर्तनशील नहीं है, वह निरन्तर गतिशील है, किन्तु प्राचीनके प्रति मोह और नवीनके प्रति आकर्षणके फलस्वरूप जीवनमें, फलत साहित्यमें, द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यही द्वन्द्व वर्ग-संघर्षके रूपमें प्रकट हुआ है। कार्ल मार्क्सके मतानुसार मानव जातिके इतिहासका विकास उत्पादन और वितरणके साधनों और वर्ग-संघर्षके दो कूलोंके बीच प्रवाहित होता है और इसी संघर्षके अनुकूल समय-समयपर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक आदर्श, फलत साहित्यिक आदर्श, निर्मित होते रहे हैं। सन् १९१८ ई०की रूसी राज्यक्रान्तिके पश्चात् कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष साहित्यके मूल्यांकनके आधार निश्चित हुए और अर्थ उसका मूलाधार बना। हमारे आधुनिक जीवनमें अनेकानेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक विषमताएँ हैं, जिनसे आजके मानवका जीवन पीड़ित है। ऐसी स्थितिमें साहित्यकार प्राचीनताके मोहमें पड़े रहें, यह भौतिकवादी आलोचकको मान्य नहीं। वह **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद** और वर्ग संघर्षके आधारपर कलाकारके जीवन और साहित्यकी क्रियात्मकता और गतिशीलताको उभारना चाहता है। कला और आनन्दका परम्परागत अर्थ भी उसे मान्य नहीं। प्रस्तुत आलोचना-प्रणालीका राजनीतिसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है कि मार्क्सवादी साहित्य और आलोचनामें प्रचारका अंश भी विद्यमान है। जिस साहित्यका सम्बन्ध कोरी भावुकतासे हो वह भी उसे स्वीकार नहीं। स्वयं मार्क्सके विचार यूरोपमें रोमांसवाद (रोमांटिसिज्म)के विरोध और बुद्धिवादी दार्शनिक, अतिवादियोंके फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे। इस आलोचना-प्रणालीके समर्थकोंका विश्वास है कि वर्ग संघर्षमें प्रत्येक व्यक्तिका झुकाव किसी-न-किसी एक वर्गकी ओर अवश्य रहता है, पूँजीवादी व्यवस्था अपने आन्तरिक विरोधोंके कारण समाप्त होगी और उसके बाद सर्वहारा-वर्गके हाथमें सत्ता आयेगी जिसे सर्वहारावर्गका अधिनायकत्व कहा जाता है। किसी भी साहित्यिक या कलात्मक कृतिमें इसी सर्वहारावर्ग या

श्रमिकवर्ग या, कहना चाहिये, व्यापक सामाजिक जीवनमें किसी भी उपेक्षित, पीड़ित और पददलितके जीवन, उसके हर्ष-शोक, सुख-दुःख, पीड़ा-व्यथा, वेदना आदिका मार्क्सवादी चित्रण होना चाहिये। वास्तवमें साहित्यिक वर्गीकरणके मूलाधारों–सौन्दर्य और उपयोगिता–मेंसे भौतिकवादी आलोचना उपयोगिताको ही अपनी प्रधान कसौटी बनाती है। वह 'कला कलाके लिए है' के सिद्धान्तमें विश्वास नहीं रखती। भौतिकवादी या मार्क्सवादी आलोचक कला और साहित्य द्वारा क्रान्तिकी अवतारणा होते देखना चाहता है ताकि उसका स्वर्णस्वप्न पूरा हो। सामन्तवादी और पूँजीवादी समाजकी छत्रच्छायामें उत्पन्न कलात्मक मापदण्ड उसे स्वीकार नहीं। श्रमिकवर्गके अधिनायकत्वमें निर्मित वर्गविहीन समाजकी कलाका मापदण्ड मानवकी सेवा होगा। उसमें तथा पिछले मापदण्डोंमें समझौता उपस्थित करना उसे मान्य नहीं, यद्यपि इस मतका पूर्णरूपेण निर्वाह हो नहीं सका। आधुनिक औद्योगिक युगके लिए वह कलाके प्राचीन आदर्शोंका निर्वाह करना उचित नहीं समझता। इस आलोचना-प्रणालीके सिद्धान्तानुसार व्यष्टिके स्थानपर समष्टिका अधिक महत्त्व है। कार्ल मार्क्सको पारलौकिक या आध्यात्मिक शक्तियोंमें विश्वास नहीं था। उसका विश्वास था कि पार्थिव शक्ति ही सब कुछ है, जिसका मूल अर्थशास्त्र है। राजनीति अर्थशास्त्रकी चेरी है। संसारके निर्माणका कारण भी भौतिक है, न कि दैवी, और ज्ञान-विज्ञानके प्रकाशमें उसकी प्रत्येक स्थितिकी व्याख्या की जा सकती है। उत्पादन और वितरणके साधनोंमें परिवर्तन होनेके साथ-साथ सामाजिक व्यवस्थामें भी परिवर्तन होता है। अतः कलात्मक और साहित्यिक आदर्श वर्गविशेषके ही हो सकते हैं। रागात्मकता अर्थात् हृदय-पक्षके स्थानपर, समाज-विमुखता और पलायनवादके स्थानपर उसे बुद्धिवाद और समाज सापेक्षतामें विश्वास है। ईश्वर और धर्मका वह मजाक बनाता है और संसारके बाहर या परे उसके लिए कुछ भी शेष नहीं। इन सब सिद्धान्तोंके आधारपर भौतिकवादी आलोचक साहित्यका मूल्य समझनेकी चेष्टा करता है। वह मार्क्सवादी जीवनादर्श-का पालन होते हुए देखना चाहता है। इस दृष्टिसे इस आलोचना-प्रणालीकी सीमाएँ संकुचित हैं। भौतिकवादी या मार्क्सवादीका आर्थिक दृष्टिकोण अतिपूर्ण है। उसे मानव जातिके सांस्कृतिक भाण्डारसे अभी बहुत-कुछ सीखना और लेना है। —ल० सा० वा०

आलोचना, मनोवैज्ञानिक–यह आलोचना-पद्धति बीसवीं शताब्दीकी देन है। कुछ रचनाओंका तो आधार ही मनोवैज्ञानिक होता है अर्थात् उनमें कवि या कलाकार अपने पात्रोंके मनको व्यक्त करनेकी चेष्टा करता है। ऐसी कृतियोंकी आलोचना भी स्वभावतः मनोवैज्ञानिक ही होगी। किन्तु यह आलोचना वस्तुकी आलोचना होगी, उसमे पद्धतिकी सूचना नहीं मिलती। जब पद्धति मनोवैज्ञानिक कही जायगी तो कविके आन्तरिक जीवन, वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों और प्रभावोंमें कृतिका आधार देखा जायगा। जबतक कलाकारका अध्ययन पूर्ण न हो जायगा तबतक कलाका अध्ययन पूर्ण न हो सकेगा। जब कला कलाकारकी मानसिक प्रवृत्तियोंका ही प्रतिबिम्ब है तो आलोचक पहले कलाका मूल स्रोत ही खोजता है। मूलका ज्ञान हो जानेपर शाखाओंका ज्ञान स्वयं हो जायगा। ऐतिहासिक आलोचनामें देश और जीवनकी बाह्य परिस्थितियोंका प्रभाव परखा जाता है, तो मनोवैज्ञानिक पद्धतिमें कलाकारकी आन्तरिक परिस्थितियोंका और जीवन-चरितात्मक आलोचनामें कलाकारके निजी जीवनसे सम्बन्धित बाह्य परिस्थितियोंका मूल्य आँका जाता है। इस कार्यमें अब मनोविश्लेषण-शास्त्रसे विशेष सहायता ली जाने लगी है। वास्तवमें ऐतिहासिक पद्धतिकी विस्तृत परिधिमें जीवनचरितात्मक पद्धति दूसरी परिधि है और मनोवैज्ञानिक पद्धति भीतरी और तीसरी, फलतः सबसे छोटी परिधि है। किन्तु मनोवैज्ञानिक पद्धतिकी दृष्टिसे समकालीन कलाकारका मन समझनेमें आसानी होती है। पुराने कलाकारोंके सम्बन्धमें यह सुविधा प्राप्त नहीं होती। तो भी आलोचक पुराने कलाकारकी कृतिमें गहनतम मानव-स्वभाववाले अंशोंकी सहायतासे, जहाँ कलाकारकी आत्मानुभूति विशेष रूपसे व्यक्त होती है, उसका मन समझनेकी चेष्टा करता है।

यूरोपमें उन्नीसवीं शताब्दीसे पहले बहुत कम मनो-वैज्ञानिक आलोचना मिलती है। सर्वप्रथम १८वीं शताब्दी पूर्वार्द्धमें एण्टीसनने इस पद्धतिको जन्म दिया। उन्नीसवीं शताब्दीमें कवियों और नाटककारोंकी व्यवस्थाओंमें कभी-कभी मनोविज्ञानका उल्लेख होने लगा था। बीसवीं शताब्दीमें तो इस पद्धतिका परिपोषण विशेष रूपसे हुआ है। हिन्दीमें मनोवैज्ञानिक पद्धतिके प्रचारके लिए काफी गुंजाइश है। भारतवर्षमें रचना-शक्ति और काव्य-सिद्धान्तों-में मनोविज्ञानका तत्त्व निहित है। रसका तो सीधा सम्बन्ध मनोविज्ञानसे है।

मनोवैज्ञानिक प्रणालीसे साहित्य-निर्माणकी समस्याके विश्लेषणमें काफी सहायता प्राप्त हुई है। मानव जातिके आदिम जीवनमें कलाके जन्मपर यह पद्धति प्रकाश डालती है। यद्यपि आधुनिक कालमें यह पद्धति विशेष रूपसे लोकप्रिय हुई है, तो भी एक यह प्रश्न सामने आता है कि इस मनोवैज्ञानिक छान-बीनसे स्वयं साहित्यिक रस, आनन्द प्राप्त करनेमें कहाँतक सहायता प्राप्त होती है। उत्तर सम्भवतः बहुत उत्साहजनक नहीं होगा। वास्तवमें मनोवैज्ञानिक पद्धतिका प्रचार साहित्यपर आधुनिक वैज्ञा-निक युगकी छापका प्रमाण है। मनोविज्ञान साहित्यिक आलोचनाका एक अंगमात्र हो तो अधिक स्वाभाविक होगा। —ल० सा० वा०

आलोचना, मार्क्सवादी–वह आलोचना प्रणाली जिसमें कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिक और वर्ग-संघर्ष तथा अन्य सभी सिद्धान्तोंको साहित्यका मूल्य निर्धारित करनेकी कसौटी बनाया जाता है, मार्क्सवादी आलोचनाके नामसे अभिहित की जाती है। दे०–'भौतिकवादी आलोचना'। —ल० सा० वा०

आलोचना, रचनात्मक–रचनात्मक (क्रिएटिव) आलोचनाको हिन्दीमें क्रियात्मक नाम भी दिया गया है। इस प्रणालीके अन्तर्गत आलोचकके हृदयमें रचनाकारकी

कृतिका पुनरुत्पादन ही मुख्य है। कुछ लोगोंने इसे **साहित्यिक समीक्षा**के समान ही माना है। यूरोपमें साहित्यका मूल्यांकन करनेकी विविध प्रणालियाँ रही हैं। किन्तु स्थूलत, उन प्रणालियोंके अन्तर्गत या तो साहित्यिक कृतियोंका वाह्य रूप परखा गया है अर्थात् आलोचना करते समय केवल कुछ नियमों और सिद्धान्तोंकी कसौटीपर साहित्यको कसा गया है अथवा साहित्यको कवि या कलाकारके मानसिक जगत्से सम्बद्ध कर देखनेकी चेष्टा की गयी है। आलोचनाका इतिहास यह बताता है कि समय-समयपर इन दोनों मूल रीतियोंको आधार मानते हुए ही आलोचनाने विभिन्न दिशाओंकी ओर विकास प्राप्त किया है। उन्नीसवीं शताब्दीके लगभग अन्तमें बेनेदेत्तो क्रोचे तथा अन्य विचारकोंने आलोचना-प्रणालीको वाह्य नियमों और सिद्धान्तोंके स्थानपर—रूढि, व्याकरण सम्बन्धी अथवा छन्द-शास्त्र सम्बन्धी नियमोंके स्थानपर—कविके मनके श्रेष्ठ आधारपर आधारित किया। **प्रभाववादी** प्रणालीको भी उन्होंने अपूर्ण समझा। कलाकारके जीवन और उससे सम्बन्धित वाह्य परिस्थितियोंके आधारपर की गयी आलोचनाको भी उन्होंने दूषित ठहराया। वास्तवमें उनका उद्देश्य कलाकारके मनमें पैठकर उसकी कृतिका मूल्यांकन करनेका था। ऐतिहासिक और सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोणोंका आश्रय ग्रहण करते हुए आलोचकको कविकी भावानुभूतिको अपनी भावानुभूति बना लेना होगा, अपनेको कलाकारके स्थानमें रखकर अपनी तथा कलाकारकी अनुभूतिमें सामंजस्य उपस्थित कर आलोचना करनी होगी, तभी वह वास्तविक और श्रेष्ठ रूप धारण कर सकती है, ऐसा उन विचारकोंका मत था। इसी आलोचना-प्रणालीको रचनात्मक आलोचना नाम दिया गया है। कवि या कलाकारके मानसिक विम्ब और उसके कार्यमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना, जिस मूल चेतनाने कवि या कलाकारके भावजगत्को आलोकित किया था वह कहाँतक उसकी कृतिमें दृष्टिगोचर होती है, ये बातें जानना ही रचनात्मक आलोचनाका प्रधान उद्देश्य है। उसके कोई नियम नहीं होते। साहित्य या कलाके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ भी हो सकती हैं। किन्तु कवि या कलाकारकी मूल चेतना और कृतिमें जितना अधिकसे अधिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकेगा, उतनी ही रचनात्मक आलोचना-प्रणाली सफल होगी। दुरूह मनोवैज्ञानिकता लिये हुए आधुनिक रचनाओंके परखनेमें यह प्रणाली सम्भवत अधिक सफल न हो, किन्तु प्राचीन सरलहृदय कवियोंके आदर्शोंका मूल्यांकन करनेमें उससे सहायता प्राप्त हो सकती है। अपनी सूक्ष्म निरीक्षणशक्ति, चिन्तनशक्ति, प्रेरणा, अनुभूति और अभिव्यक्तिके आधारपर कवि या कलाकारके भाव-जगत्का फिरसे उद्घाटन करना ही रचनात्मक आलोचनाकी सफलता मानी जा सकती है। इससे स्वय आलोचकका व्यक्तित्व भी उभर आयेगा और तभी कलाकार तथा आलोचकके भावजगत्में तादात्म्य स्थापित हो सकेगा। वास्तवमें मूल कृतिका पुनरुत्पादित अनुभव ही आलोचकके चेतनाप्राप्त व्यक्तित्वके सम्पर्कमें आकर स्वय एक स्वतन्त्र कलाका रूप धारण कर लेता है और रचनात्मक आलोचना-में आलोचकका अपना व्यक्तित्व प्रमुख हो जाता है। मिडिल्टन मरेने अपनी पुस्तक 'कीट्स एण्ड शेक्सपीयर'में ऐसा ही सफल और सुन्दर प्रयास किया है। कवि या कलाकार जीवनगत रूपों और दृश्योंका कल्पनात्मक चिन्तन करता है, तो आलोचक कवि या कलाकारकी कृतिका कल्पनात्मक चिन्तन करता है और रचनात्मक आलोचककी कृति ही कलाका रूप धारण कर लेती है। यह आलोचना-प्रणाली निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली, रुढि, अलकार, नैतिकता, विषयोंकी सीमितता आदिको प्रश्रय नहीं देती। आलोचकका ध्यान कृतिपर केन्द्रित न होकर उसके पुनरुत्पादनपर केन्द्रित हो जाता है, वह स्वय कलाकार हो जाता है। —ल० सा० वा०

आलोचना, रीति—प्राचीन भारतमें **रीति**को काव्यकी आत्मा बतानेका श्रेय आचार्य वामनको है। पदोंकी विशिष्ट रचनाको ही उन्होंने रीतिके नामसे पुकारा है, किन्तु पदोंकी विशिष्टताका आधार उन्होंने गुणोंको माना है। इसीलिए **रीति-सम्प्रदाय** और **गुण-सम्प्रदाय** लगभग एक ही हैं। भारतीय आचार्योंने काव्यके अनेक गुणों और तीन रीतियोंका उल्लेख किया है। आगे चलकर इस सम्बन्धमें बहुत अधिक विस्तार हुआ। वास्तवमें रीतिका अर्थ शैली या कहनेका ढग है। यद्यपि काव्य और रीतिके परस्पर सम्बन्धकी दृष्टिसे आचार्योंमें मतभेद रहा है, तो भी इतना तो लगभग सभी ने स्वीकार किया है कि रीतिके द्वारा काव्यके परीक्षणमें सहायता मिलती है। काव्यके अगमें शब्द और अर्थका यथास्थान उचित सयोजन ही रीति है। आधुनिक समयमें भी साहित्यके वाह्य रूप और आन्तरिक रूप दोनोंका परीक्षण हुआ है और इस सम्बन्धमें अनेक सिद्धान्त भी स्थापित हुए हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि किसीने वाह्य रूपको प्रधानता दी है और किसीने आन्तरिक रूपको। आलोचनाके विकाससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि आलोचकोंका ध्यान अनुदिन उसके आन्तरिक रूपकी ओर ही अधिक होता गया है और होता जा रहा है। वे साहित्य और कलाकी अन्तरात्माको पहिचाननेकी चेष्टा कर रहे हैं। वाह्य रूपकी परीक्षा करनेके स्थानपर वे कविकी आन्तरिक प्रेरणा, उसके भावजगत्को जानना चाहते हैं। वाह्य रूपका भी महत्त्व है, क्योंकि बिना वाह्य रूपके आन्तरिक रूपका अस्तित्व सम्भव हो ही कैसे सकता है? किन्तु रीति वाह्य रूपको ही प्रधान मानती है। यही उसकी असगति है। —ल० सा० वा०

आलोचना, वैज्ञानिक—साहित्य और कलाके क्षेत्रमें वैज्ञानिक प्रणालीका उपयोग हो सकता है या नहीं, यह प्रश्न प्लेटोके समयसे चला आ रहा है। वैसे तो विज्ञान और साहित्य एव कलामें भेद है। अंग्रेजीके प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड्सने इस सम्बन्धमें काफी विचार किया है, तो भी विज्ञानके विकासके साथ-साथ आलोचनाके सम्बन्धमें वैज्ञानिक आदर्श स्थापित करनेका प्रश्न उठता रहा है और यह प्रश्न अति प्राचीन कालमें ही उठा था तथा वैज्ञानिक रूपसे साहित्यालोचनकी प्रणालीका प्रचार भी हुआ था, भले ही उसका बहुत अधिक प्रचार न हुआ

हो। इतिहासके प्रति अज्ञानके कारण मध्ययुग और पुनर्जागरण-कालमें वैज्ञानिक प्रणालीका अधिक प्रचार न हो सका। अठारहवीं शताब्दीमें जान्सन साहित्यालोचनमें विज्ञानकी स्थिरता देखनेका इच्छुक था। उन्नीसवीं शताब्दीमें फ्रासमें निश्चित रूपमे विज्ञानके सिद्धान्तोंका साहित्यपर आरोपण करनेका प्रयास किया गया, जिससे साहित्यमें वैज्ञानिक प्रणालीकी आलोचनाका जन्म सम्भव हो सका। आधुनिक समयमें इस सम्बन्धमें वाद-विवाद समाप्त नहीं हुआ, क्योंकि विज्ञानको तो वह व्यवस्थित तथ्य माना जाता है जिसके आधारपर सत्य सिद्ध होता है और आलोचना साहित्यिक या कलात्मक कृतियोंकी अन्तरात्मामें परिभ्रमण द्वारा उत्पन्न प्रतिक्रिया है। इसमें भी विज्ञान किसी व्यापक वस्तु या सिद्धान्तपर विचार करता है और आलोचनामें वैज्ञानिकता होते हुए भी वह विशिष्ट निर्णय है। प्रयोगके फलस्वरूप निकाले गये सिद्धान्तपर भी वह आधारित नहीं रहती। अत कोई भी वैज्ञानिक प्रणाली ज्योंकी त्यों साहित्यपर आरोपित नहीं हो सकती। आलोचनाकी वैज्ञानिक प्रणालीका तो केवल यही तात्पर्य है कि आलोचकका विशिष्ट निर्णय भी व्यवस्थित ज्ञान द्वारा समर्थित हो। अनर्गल और आवेगपूर्ण बातोंके कहनेसे आलोचना वैज्ञानिक नहा होती। आवश्यकतानुसार अन्य वैज्ञानिक निष्कर्षोंका प्रयोग आलोचनामें किया तो जा सकता है, किन्तु विज्ञान या वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपने शुद्ध रूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता। लेकिन इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि आलोचक समान परिस्थितियोंमें भिन्न-भिन्न निर्णय दे और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित करे। साथ ही वैज्ञानिक जितना निष्पक्ष होता हे उतना आलोचक नहां हो सकता।

फ्रासीसी आलोचक ब्रनेतियरने साहित्यके क्षेत्रमें विज्ञानकी कार्यकारण और वर्गीकरण आदिकी प्रणाली ग्रहण करना प्रारम्भ किया था। उसने तथा उसके अनुगामियोंने विविध विज्ञानोंका आश्रय भी ग्रहण किया। बहुत शीघ्र आलोचना-क्षेत्रमें तत्सम्बन्धी वाद-विवाद चल पडा। इसका मूल कारण यही था कि साहित्यमें विज्ञानके नपे-तुले सिद्धान्त मान्य नहीं ह। साहित्य और कलाके सत्य एवं सुन्दरका अनुसन्धान आलोचक भिन्न प्रकारसे करता है। विज्ञानमें वह स्वच्छन्द विचरण कहाँ जो आलोचनामें दृष्टिगोचर होता है। अत इन सब कारणोंसे वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली सर्वग्राह्य सिद्ध नहीं हुई। साहित्यके क्षेत्रमें कवियों या कलाकारोंकी कृतियोंका अथवा स्वय उन्हींके व्यक्तित्वका मूल्याकन करते समय 'गणितके नियम' लागू नहीं किये जा सकते। एक कृति या कविके सम्बन्धमें जो कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है वही सब कृतियों और कवियोंके सम्बन्धमें व्यवहृत होगा, ऐसा नहीं हो सकता। अंग्रेजी साहित्यमें प्रसिद्ध इतिहास-लेखक टेनने साहित्यके इतिहासके पीछे कार्यकारण सम्बन्ध खोजनेकी चेष्टा की थी। उसका प्रयास सफल नहीं हो सका, किन्तु उसके माध्यमके द्वारा अंग्रेजीमें आलोचनाकी वैज्ञानिक प्रणालीका जन्म हुआ और लोगोंने विकासवादके वैज्ञानिक सिद्धान्तोंका साहित्यिक इतिहासपर आरोपण प्रारम्भ कर दिया। इसम सबमे बडा खतरा साहित्यको गौण और विज्ञानको प्रधान मान लेनेका भय हो जाता है। जिस प्रकार आलोचनाकी ऐतिहासिक प्रणालीमें दोष हे उसी प्रकार वैज्ञानिक प्रणालीसे भी स्वय आलोचनाको आघात पहुँचता है। हा, साहित्यके किसी वर्गविशेषकी अध्ययन-प्रणालीमें वैज्ञानिकता आ सकती है, यद्यपि वह भी पूर्णत निर्दोष नहीं हो सकती। आलोचनाकी वैज्ञानिक प्रणालीके सम्बन्धमे विचार-विनिमय बराबर होता रहता हे और उसके सम्बन्धमे अनेक रोचक निष्कर्ष सामने आते रहते हैं। स्वयं कवि या कलाकार आलोचकके लक्ष्यसे दूर न हो, इस बातको ध्यानमें रखते हुए ही वैज्ञानिक प्रणालीपर विचार किया जाना चाहिये। —ल० सा० वा०

आलोचना, व्याख्यात्मक—व्याख्यात्मक आलोचनाको अंग्रेजीमें 'इण्टरप्रिटेटिव क्रिटिसिज्म' कहते हैं। आलोचनाके क्षेत्रमें बहुत दिनोंतक कट्टर रूढिवादी आलोचकोंके बनाये हुए नियमोंका कठोरताके साथ पालन होता रहा, किन्तु ज्यों-ज्यों साहित्यका विकास होता गया और पाठकोंकी रुचिमें परिवर्तन होने लगा, त्यों-त्यों शास्त्रीय नियमोंकी सर्वमान्यताको आघात पहुँचता गया। स्वाभाविकताकी ओर लोगोंका ध्यान इतना आकृष्ट होता गया कि शास्त्रीय नियमोंके प्रति अधिक श्रद्धा न रह गयी। व्याख्यात्मक आलोचना नियमोंके बन्धनोंसे मुक्ति और साहित्यिक कृतियोंकी बन्धनरहित व्याख्याका प्रयास है।

व्याख्यात्मक आलोचनाकी ओर झुकाव जर्मनीके विचारकोंके कारण हुआ। उन्होंने कलाकी बडी विशद और सूक्ष्म व्याख्या की। इग्लैण्डमें यह मत कार्लाइलके माध्यम द्वारा हुआ। उसने साहित्यिक और पाठकोंके बीच व्याख्या करनेका भार आलोचनाको सौंपा। केवल गुण-दोष-विवेचनवाली आलोचनात्मक पद्धति उसे प्रिय न थी। कार्लाइलके बाद आर्नाल्डने व्याख्यात्मक आलोचनाको लोकप्रिय बनाया और पेटरने उसका समर्थन किया।

किसी भी कलात्मक कृतिमें प्रतिपाद्य विषय, प्रतिपादन और अनुभवजन्य अभिव्यक्ति, ये तीन बातें प्रमुख स्थान धारण करती हे। इस दृष्टिसे व्याख्याताका प्रधान उद्देश्य कृतिको उसके वास्तविक रूपमें देखकर निरपेक्ष रुचि स्थापित करना हे, जो काफी कठिन कार्य है। आलोचकको कलाकार या साहित्यिककी कृतिमें पूर्णत लीन होकर उनके उस अनुभवका उद्घाटन करना पडता हे जिससे उस कृतिकी रचना हुई। रुढि, आलोचकके पूर्वाग्रह, निरोध, भावुकता, सैद्धान्तिक आसक्ति, रचना-कौशल सम्बन्धी पूर्वकल्पनाओं आदि बातोंसे व्याख्यात्मक आलोचनामें बाधा पडती है। व्याख्यात्मक आलोचनाका आश्रय ग्रहण करनेवाले आलोचकको अपना निजी व्यक्तित्व पूर्ण बनाना चाहिये और निष्कपटतापूर्वक व्याख्या करनेकी क्षमता रखनी चाहिये। व्याख्या वास्तवमें कलाकारके भावलोकका फिरसे सर्जन करती है और आलोचना ऐसे भावलोकपर अपना निर्णय देती है। व्याख्या नवीन अनुभव स्वीकार करती है, साथ ही कृतिके साथ ऐक्य प्राप्त कर आनन्दका अनुभव प्रदान करती है। भारतवर्षमें जैमिनिकृत दर्शन(पूर्व-मीमासा)में व्याख्या-पद्धतिके दर्शन होते हैं। अनुभूति

'रेट्रिक' नामक रचनामें भी व्याख्याके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार किया गया मिलता है।

वास्तवमें व्याख्यात्मक आलोचनाका मूल सिद्धान्त यह है कि हमें आलोचनाके व्यक्तिगत मानदण्ड स्थापित न करके निरपेक्ष मानदण्ड स्थापित करने चाहिये। काव्य या नाटक किसी युगके लिए वास्तविकताका चित्रण करते हैं और व्यक्तिगत रुचिके कारण जो क्रियाएं-प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं उनसे उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। ऐसी अनेक बातोंकी दृष्टिसे, जो साहित्यिक या कलात्मक रचनापर प्रकाश डालती हैं, इतिहासका विद्यार्थी भी सहायक सिद्ध हो सकता है। पाठ सम्बन्धी अध्ययन, कलाकारके जीवनका अध्ययन, आदि सभी बातें आलोचनात्मक निर्णयमें सहायक सिद्ध हो सकती हैं। ऐतिहासिक आलोचना भी कृतिके तात्विक रूपको समझनेमें सहायता देती है। अन्तमें ये सभी बातें किसी कृतिके वास्तविक मूल्य-रूपका विवेचन करनेमें सफल हो जाती हैं। उधर निर्णयात्मक आलोचना आत्मप्रधान आलोचनाकी वैयक्तिक रुचिके कारण आयी हुई अनिश्चितताको यद्यपि बहुत हदतक दूर कर सकती है, तो भी प्राचीन नियमोंकी स्थिरताके कारण निर्णयात्मक आलोचना साहित्यकी प्रगतिमें बाधक सिद्ध होती है। एक युगके बने हुए नियम दूसरे युगमें खरे नहीं उतर सकते। इसलिए इन प्रश्नोंपर विचार कर कि कवि या कलाकारका क्या उद्देश्य था, वह क्या कहना चाहता था, उसने अपने उद्देश्यका किस प्रकार निर्वाह किया है, उसने जो कुछ कहा है वह कहाँतक कहने योग्य था, आदि आलोचनाके मानदण्डको लचीला बनाना ही व्याख्यात्मक आलोचनाकी विशेषता है।

व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक आलोचनामें प्रायः तीन भेद माने जाते हैं–(१) निर्णयात्मक आलोचना उत्तम, मध्यम, निकृष्ट श्रेणियोंका भेद स्वीकार करती है। व्याख्यात्मक आलोचना केवल प्रकारभेद स्वीकार करती है। वह विज्ञानकी भाँति वर्गभेद तो मानती है, किन्तु ऊँच-नीचके भेदमें उसे विश्वास नहीं। व्याख्यात्मक आलोचना भिन्न-भिन्न प्रकारकी रचनाओंकी विशेषता बता देगी, ऊँच-नीचका भेद नहीं करेगी। (२) निर्णयात्मक आलोचना नियमोंको राजकीय नियमोंकी भाँति किसी अधिकारसे प्राप्त हुआ मानती है और उनका पालन करना अनिवार्य समझती है, किन्तु व्याख्यात्मक आलोचना उन नियमोंको किसी बाह्य अधिकारी द्वारा नहीं, वरन् अपनी ही प्रकृतिके नियम मानती है। पृथ्वी अपने ही नियमसे घूमती है, किसी बाह्य अधिकारीके बनाये हुए नियमोंके अनुसार नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक कवि या कलाकारकी रचनाके नियम उसकी प्रकृति और परिस्थितियोंके अनुकूल होंगे। व्याख्यात्मक आलोचना कवि या कलाकारकी अपनी सृष्टिकी विशेषताएँ स्वीकार करती है और निर्णयात्मक आलोचना उसे निर्जीव पत्थरकी कसौटीपर कसना चाहती है। (३) यह भेद दूसरे भेदके फलस्वरूप है। निर्णयात्मक आलोचना नियमोंको स्थिर और अपरिवर्तनशील मानती है। व्याख्यात्मक आलोचना नियमोंको प्रगतिशील और परिवर्तनशील मानता है।

हिन्दीमें व्याख्यात्मक आलोचनाका सूत्रपात पण्डित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा हुआ, जिन्होंने तुलसी, सूर और जायसीपर इतिहास, समाज, धर्म, सामान्य जीवन आदिको दृष्टिगत रखते हुए आलोचनाएँ लिखीं।

वास्तवमें निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचनाएँ बहुत कुछ एक-दूसरेपर निर्भर रहती हैं। बिना व्याख्याके निर्णयमें यथार्थता नहीं आती और साथ ही व्याख्यामें थोड़ा-बहुत नियमोंका आश्रय लेना पड़ता है। स्पिनगार्नके मतानुसार प्रभावाभिव्यञ्जक **आत्मप्रधान** आलोचना और **निर्णयात्मक** आलोचना भी एक-दूसरेकी पूरक हैं। —रा० सा० वा०

आलोचना, शास्त्रीय–यूरोपमें पुनरुत्थान-कालमें शास्त्रीय आलोचनाकी स्थापना हुई। उस समय प्राचीन ग्रीस और रोममें ही काव्यात्मक प्रतिभा अपनी उच्च कोटितक पहुँची हुई मानी जाती थी और कविगण उसीका अनुकरण करनेमें अपनी सफलता समझते थे। अस्तु, पुनरुत्थान-कालमें अनेक शास्त्रीय नियम बनाये गये जिनका अनुसरण कई शताब्दियोंतक हुआ। पुनरुत्थान-कालमें मध्ययुगीन काव्य, नाटक, कथासाहित्य आदिकी उपेक्षा की गयी और अरस्तू, होरेस, क्विन्टीलियन आदिका आश्रय ग्रहण किया गया। यूरोपमें शास्त्रीय पद्धतिका प्रचार या तो मानववाद अथवा प्राचीन श्रेष्ठ साहित्यके अनुकरणकी वृत्तिके रूपमें हुआ या अरस्तूके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोइटिक्स'के प्रभावके रूपमें, या तर्कप्राधान्यके कारण हुआ। मानववाद प्राचीन ग्रीस और रोमकी मानवताकी खोज, प्राचीन साहित्यकी खोज, प्राचीन साहित्यके अनुवाद और उसके अध्ययनके रूपमें अभिव्यक्त हुआ। फलतः प्राचीन रचनाओंसे प्रेरणा ग्रहण कर साहित्यिकोंने काव्यमीमांसा सम्बन्धी ग्रन्थोंकी रचना की और इस प्रकार शास्त्रीय अनुकरणकी परम्पराका जन्म हुआ। आलोचकोंका ध्यान काव्यमें शब्दचमत्कार, पदविन्यास, शब्दयोजना, छन्द, औचित्य आदि बाह्य बातोंकी ओर गया। यह प्रवृत्ति यहाँतक बढ़ी कि पुनरुत्थानकालमें कला और प्रकृति सम्बन्धी मानदण्ड बदलने लगे। ईसाकी १६वीं शताब्दीके लगभग मध्यसे अरस्तूकी शास्त्रीय वृत्तिका प्रचार हुआ। तर्ककी प्रधानतासे उसे और भी बल मिला। शास्त्रीय पद्धतिका अनुसरण करनेवाला काव्यात्मक मूल्य बाहरसे ग्रहण करता है और अरस्तू तथा होरेसको अपना आदर्श मानता है। एलिजाबेथ-कालमें भाषा, छन्द, कविता, तुक आदिके सम्बन्धमें शास्त्रीय आलोचनाका ही आश्रय ग्रहण किया गया। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दीतकमें शास्त्रीय पद्धतिका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। आर्नाल्ड, गिलबर्ट मरे और टी० एस० इलियट जैसे आलोचकोंने अरस्तू, होमर आदिकी महत्ता किसी-न-किसी रूपमें स्वीकार की है।

भारतवर्षमें तो शास्त्रीय पद्धतिका प्रचार अति प्राचीन कालसे रहा है। उस समय जो साहित्यशास्त्र सम्बन्धी नियम स्थापित हो गये थे उनके अनुसार आगामी कवियों एवं साहित्यकारोंने काव्यरचना की। श्रव्य काव्य, दृश्य काव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, रसनिरूपण, गद्य, पद्य,

चम्पू, नायक, नायिका, नाट्यरचना आदिके सम्बन्धमें जो नियम निर्धारित हो गये थे, उन्हींके अनुसार साहित्य-समीक्षा की जाती थी। शास्त्रीय शैलीके नियम साहित्यके आधारपर ही निर्मित होते हैं। वास्तवमें साहित्यके सम्बन्धमें जब लोकरुचि स्थायी हो जाती है, तो रचनाओंका विश्लेषण करके सिद्धान्त और नियम स्थापित किये जाते हैं। शास्त्रीय पद्धतिको ही अँग्रेजीमें 'क्लैसिकल' कहते हैं और बाह्य सौन्दर्यकी खोज उसकी विशेषता है। नियमबद्धता उसे या शास्त्रीय शैलीको निर्धारित करती है। शास्त्रीय या 'क्लैसिकल' वृत्तिके विपरीत रोमान्सिकता है जिसमें कल्पनात्मकता और स्वच्छन्दताका प्राधान्य रहता है। किन्तु आधुनिक आलोचना शास्त्रीयता और रोमान्सिकतामें कोई परस्पर विरोध नहीं पाती। वह उसका विरोध यथार्थतासे मानती है। निर्णयात्मक आलोचना शास्त्रीय आलोचनाका ही व्यावहारिक रूप है और उसे **सैद्धान्तिक आलोचना** भी कहते हैं। —ल० सा० वा०

आवंती प्रवृत्ति–दे०—'प्रवृत्ति', तीसरी।

आवेग–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी, भरतके आधारपर धनञ्जय तथा विश्वनाथ आदिने इसकी व्याख्या की है। विश्वनाथके अनुसार इसका लक्षण है—'आवेग सम्भ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डिता गता। उत्पातजे स्रस्तताङ्गे धूमाद्याकुलताग्निजे। राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादि-योजनम्। गजादे स्तम्भकम्पादिपांस्वाद्याकुलतानिलात्। इष्टाद्धर्षा शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथायथम्।' (सा० द० ३ १४३–१४५)। सम्भ्रम (घबराहट)को आवेग कहते हैं। यदि वह हर्षसे उत्पन्न होता है तो उसमें अग संकुचित हो जाता है और यदि वह उत्पातजन्य होता है तो शरीर ढीला पड़ जाता है। युद्धादिके डरसे राजाओंके पलायन, झझावात, जोरकी वर्षा, अग्नि, हाथी आदिके द्वारा उत्पन्न व्यससे लोगोंमें जो घबराहट पायी जाती है उसे भी आवेग सचारी कहते हैं। राजाओंके पलायनसे, हाथी आदिकी तैयारीसे सम्भ्रम उत्पन्न होता है। झझावात-जन्य आवेगमे लोग धूलि-धूसरित होते हैं, अग्नि-जन्य आवेगसे, धूम आदिसे भगदड़ आदि अनुभाव होते हैं। इष्ट-जन्य आवेगमें हर्ष और अनिष्ट-जन्य आवेगमें शोक होता है। इसी प्रकार और भी समझ लेना चाहिये। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने इसके लक्षणको प्राय संक्षेपमें दिया है—'प्रिय अप्रिय देखे सुने, गात पातमे वेग। होय अचानक भूरि भ्रम, सो वरने आवेग' (दे० भाव० संचारी)। पद्माकर—'अति टरतें अति नेहतें' (जगत० ५५३) इसे मानते हैं।

उपर्युक्त लक्षणसे स्पष्ट है कि मुख्यत आवेग या तो हर्ष-जन्य होता है या भय-जन्य। यों तो यह मनका वह वेग है जो क्रोध, शोक, उत्साह आदिसे भी उत्पन्न होता है। क्रोधमें मारने दौड़ना, शरीरकी नसोंमें तनावका आ जाना दिखाई पड़ता है। शोकमें शरीर शिथिल पड़ जाता है और भावावेगमें लोग आत्महत्यातक कर लेते हैं। किसी भावकी अतिशयता ही आवेगको जन्म देती है। पद्माकरने हर्ष-जन्य आवेगका एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—'ताहा सनै मोहन सु बाँसुरी बजायी, तामें मधुर मलार गायी और बसी बटकी। तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघटकी, घाटकी न औघटकी बाटकी न घटकी।' (जगत० ५५८)। तुलसीदासने भय-जन्य आवेगका चित्र अंकित किया है—'लागि लागि आगि, भागि भागि चले जहाँ तहाँ, धीयको न माय, बाप पूत न सँभारहीं। छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुध अंध, कहें बारे बूढ़े, बारि बारि, बार बार हीं।' (कवितावली)। —न० मि०

आवृत्ति दीपक–दे०—'दीपक', पहला प्रकार।

आवृत्तिवक्रता–दे०—'प्रकरणवक्रता', चौथा नियामक।

आवृत्तिवाद–प्राय सभी चक्रवादी चक्रोंकी आवृत्ति–आवृत्तिवाद–में आस्था रखते हैं। अनावृत्तिमूलक चक्रवादका उनके बीच कोई मान नहीं। लेकिन आधुनिक अचक्रवादी समाजशास्त्र भी आवृत्तिवादको प्रश्रय देता हुआ पाया जाता है। सोरोकिनको सामान्य अर्थोंमें चक्रवादी नहीं कहा जा सकता। वह न तो समाज अथवा संस्कृतिको शरीरी मानकर चलता है और न उसके जन्म और, मरणकी उस प्रकार कल्पना करता है जिस प्रकार अन्य चक्रवादी। वह महासंस्थानोंकी आवृत्तिमात्रमें विश्वास करता है अत उसे चक्रवादीकी अपेक्षा आवृत्तिवादी कहना ही अधिक ठीक होगा। उसके अनुसार यूरोपमें उसके महासंस्थान-त्रयकी दो बार आवृत्ति हो चुकी है। अब प्रत्यक्षोन्मुख महासंस्थान अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है और परोक्षोन्मुख महासंस्थानकी पुनरावृत्ति होनेवाली है।

अमेरिकाके प्रसिद्ध सस्कृतिशास्त्री क्रोवरकी मान्यता है कि कला, साहित्य, दर्शन, धर्म आदिके क्षेत्रोंमें प्रतिभाओंका उद्भव प्राय इक्का-दुक्का नहीं बल्कि समुदायोंके रूपमें होता है और समाजके लम्बे जीवनमें प्रतिभा-समुदायोंके उद्भवके मौसमकी दो-चार बार आवृत्ति हो जाती है। उसके अनुसार भारतमें प्रतिभा समुदायोंकी उत्पत्तिके मौसमकी अबतक दो बार आवृत्ति हो चुकी है—एकका काल है ८००-५०० ई० पू० जिसमें उपनिषदोंका प्रणयन हुआ और बुद्ध, महावीर आदि द्वारा श्रमण-क्रान्ति सम्पन्न हुई और दूसरा वह युग है जो भारतीय इतिहासका स्वर्ण-युग कहा जाता है और जिसमें विक्रमादित्य, कालिदास, भास्कराचार्य, आर्यभट्ट जैसी अनेक प्रतिभाओंका उदय हुआ था।

वस्तुत आजके समाजशास्त्री सास्कृतिक रूपोंकी आवृत्तियोंमें दृढ विश्वास करते हैं, उत्तरोत्तर प्रगति अथवा ह्रासकी कल्पनाको वे अवैज्ञानिक समझने लगते हैं। —इ० ना०

आसक्ति–जब स्नेह क्रमश अत्यधिक रागरंजित हो जाता है तब वह आसक्तिका रूप धारण कर लेता है। गुण-माहात्म्य, स्मरण, दास्य, सख्य, कान्तादि ग्यारह आसक्ति-प्रकार माने गये हैं। (दे०—'आसक्तियाँ')। —वि० मो० श०

आसक्तियाँ–आसक्तिका अर्थ है मनका लगाव। भागवत सम्प्रदायके अनुसार परमात्माके प्रति ग्यारह प्रकारसे प्रेम-भक्ति (मनका लगाव) हो सकता है। ये ११ प्रकारकी आसक्तियाँ कहलाती हैं—(१) गुणमाहात्म्यासक्ति–जिसमें भगवान् या उनके अवतारविशेषके गुणोंके माहात्म्यके प्रति भक्तका आकर्षण होता है वह गुणमाहात्म्यासक्ति कहलाती है। यथा–'तुम अनादि, अविगत, अनन्त गुन पूरन परमानन्द।' (सू०सा० ना० प्र० स० संस्करण १३३)। (२) रूपा-

सक्ति–जिसमें भगवान्के अवतारविशेषके रूपके प्रति भक्त या साधकका मन मुग्ध हो उठता है उसे रूपासक्ति कहते हैं। यथा–'या मोहनके रूप लुभानी। सुन्दर वदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मंद मुसुकानी।' (मी० प० हि० सा० स० संस्करण : पृ० ३)। (३) पूजासक्ति–जिसमें भगवान्के अवतारविशेषकी पूजा या अर्चना की जाती है वह पूजासक्ति कहलाती है। यथा–'आगे देखि राम तन स्यामा। सीता अनुज सहित सुखधामा॥ परेउ लकुट इव चरनहिं लागी। प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी॥ तब मुनि हृदय धीर धरि, गहि पद बारहि बार। निज आश्रम प्रभु आनि करि, पूजा विविध प्रकार॥' (रा०च० मा०, अ०का०, दोहा १०)। (४) स्मरणासक्ति–जिसमें भक्त भगवान्के गुण, कृत्य, नाम आदिका स्मरण कर सुखी होता है वह स्मरणासक्ति कही जाती है। यथा–'जो सुख होत गोपालहिं गाये। सो सुख होत न जप-तप कीन्हें, कोटिक तीरथ न्हाये॥' (सू०ना० • साहित्य भवन लिमिटेड संस्करण)। (५) दास्यासक्ति–जिसमें भक्त दास-भावसे अपने भगवान्की भक्ति करता है उसे दास्यासक्ति कहते हैं। यथा–'अब लौं नसानी, अब न नसैहौं। मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपतिपद-कमल बसैहौं॥' (वि०प०)। (६) सख्यासक्ति–भगवान्के प्रति सखा-भावसे की गयी भक्तिको सख्यासक्ति कहते हैं। यथा–'खेलत मैं को काको गुसइयाँ' (सू०सा०सा० पृ० ३१)। (७) कान्तासक्ति–इस प्रकारकी भक्तिमें सगुण या निर्गुण भक्त अपने भगवान्की प्रयसी भावमें उपासना करता है। यथा–'मैं तो साँवरे रगराची। साजि सिंगार बाँधि पग घूँघुर, लोक लाज तजि नाची। मीराँ श्रीगिरधर लाल सूँ, भगति रसीली जाँची॥ (मी० प० हि० सा० स० संस्करण पृ० ६)। 'हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव। हरि बिन रहि न सके मेरा जीव॥ किया सिंगार मिलनके ताईं। काहे न मिलौ राजाराम गुँसाईं॥' (क० ग्र० • ना० प्र० स० • पृ० १२५)। (८) वात्सल्यासक्ति–इसमें भगवान्के प्रति वात्सल्य भाव व्यक्त किया जाता है। यथा–'सिखवत चलन जसोदा मैया। अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया। कबहुँक सुन्दर बदन विलोकति उर आनँद भरि लेत बलैया॥'–(सू०सा०सा० पृ० २७)। (९) आत्मनिवेदनासक्ति–इसमें भक्त शीलवश अपने अवगुणोंका वर्णन करता है। यथा 'अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल। काम क्रोधकौ पहिरि चोलना कंठ विषयकी माल। महामोहकै नुपुर बाजत, निन्दा सब्द रसाल। सूरदासकी सबै अविद्या दूरि करौ नँदलाल॥–(सू०सा०सा० पृ० १४)। (१०) तन्मयासक्ति–भगवान्के प्रति आत्मविभोरके भावमें लीन हो जानेको तन्मयासक्ति कहते हैं। यथा–'कहा कहति मोहि रे माई। नँदनन्दन नहिं जानत मैं को ही कब तैं तू मेरे ढिग आई। कहाँ गेह, कँह मातु पिता हैं, कहाँ सजन गुरुजन कँह माई।' (सू०सा०सा० • पृ० ७१)। (११) परमविरहासक्ति–इसमें भक्त भगवान्के विरहमें व्याकुल रहना है। यथा–'सखी मोरी नींद नसानी हो। पियको पथ निहारत सिगरी रैण बिहानी हो। ज्यूँ चातक घन कूँ रटै मछरी जिमि पानी हो। ज्यों व्याकुल विरहणी सुध बुध बिसरानी हो॥'–(मी० प० • पृ० ३३)।

—वि० मो० श०

आसन–'दे०–हठयोग'।

आहार्य अनुभाव–दे०–'अनुभाव'।

इंगला–दे०–'हठयोग'।

इंडो-यूरोपियन–दे०–'भारत यूरोपीय'।

इंदिरा–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भानुके 'छन्द-प्रभाकर' (पृ० १६६)के अनुसार नगण, दो रगण और लघु-गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है। (।।।, SIS, SIS, IS)। श्रीधर पाठक तथा मैथिलीशरण गुप्तने इसका प्रयोग किया है –'प्रियतमे, तपोभ्रष्ट मैं भला। मत छुओ मुझे, लौट मैं चला। तुम सुखी रहो हे विरागिनी। बस विदा मुझे पुण्य भागिनी।' (साकेत • सर्ग ९)।

—पु० शु०

इंद्रध्वज–इन्द्रध्वज एक प्रकारका उत्सव होता था। इस उत्सवके सम्बन्धमें 'बृहत्संहिता' में लिखा है कि एक समय असुरोंसे पीड़ित होकर देवताओंने ब्रह्मासे पीड़ासे मुक्त होनेका उपाय पूछा। ब्रह्माने उन्हें क्षीरसागरके पास नारायणकी स्तुति करनेके लिए भेज दिया। नारायणने प्रसन्न होकर उन्हें एक ध्वज प्रदान किया जिसके प्रभावसे इन्द्रने असुरोंको मार भगाया। इसी ध्वजका नाम इन्द्रध्वज पड़ा। चेदिराज शिशुपालने भी बासका खम्भा गाड़कर इन्द्रध्वज स्थापित किया था। इसके फलस्वरूप इन्द्रने उसे वरदान दिया था कि ऐसा करनेवालेकी प्रजाको कोई रोग न होगा। कुछ विद्वानोंने नाटककी उत्पत्तिके मूलमें इसी इन्द्रध्वजको मान लिया है। उनकी दृष्टिमें इन्द्रध्वज-उत्सवके अवसरपर उसी तरहका नृत्य-गान होता है जैसे यूरोपमें मई-दिवसके उत्सवपर। यूरोपीय नाटकोंकी उत्पत्तिका सम्बन्ध मई-दिवसके उत्सवसे स्थापित किया जाता है। पर भारतीय नाटककी उत्पत्तिसे इन्द्रध्वजका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'भरत-नाट्यशास्त्र' में इस बातका उल्लेख अवश्य है कि सबसे पहला नाटक महेन्द्र-ध्वजोत्सवके अवसरपर ही खेला गया। ब्रह्माने भरतसे कहा था–'महानयं प्रयोगस्य समय समुपस्थित ॥५४॥ अयं ध्वजमह श्रीमन् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते। अथेदानीमय वेद नाट्यसञ्ज्ञ• प्रयुज्यताम् ॥५५॥' अर्थात् नाट्यवेदके प्रयोगका यह बहुत अच्छा अवसर आ गया है। श्रीमान् महेन्द्रके ध्वजका दिन है। इनीके उपलक्ष्यमें आप नाट्यवेदका प्रयोग करके दिखलाइये।

अभिनयदर्पणकार नन्दिकेश्वरने कहा है कि नाट्य और नृत्य विशेष रूपसे उत्सव या पर्वके अवसरपर ही दिखलाने चाहिये–'द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये च पर्वकाले विशेषत•', पर इन्द्रध्वज-महोत्सवके अवसरपर नाटकके अभिनीत होने और इन्द्रध्वजको ही नाटकोत्पत्तिका कारण मान लेनेमें स्पष्ट अन्तर है। दोनों दो चीजें हैं। इससे यह निष्कर्ष नहा निकाला जा सकता कि इन्द्रध्वज-उत्सव ही नाटकोत्पत्तिका मूल कारण है।

—च० सिं०

इंद्रवंशा–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलसूत्र' (६ • ३०)के अनुसार दो तगण, जगण और रगणके योगसे यह वृत्त बनता है (SSI, SSI, ISI,

ऽ।ऽ)। मैथिलीशरण गुप्तने 'साकेत'में इसका प्रयोग किया है। उदा०—'आते यहाँ नाथ निहारने हमें। उद्धारने या सखि तारने हमें। या जाननेको किस भाँति जी रहे। तो जान लें वे हम अश्रु पी रहे।' (साकेत सर्ग ९)। —पु० शु०

इंद्रवज्रा–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका भेद, पिंगलसूत्र (६ १६) और 'नाट्यशास्त्र'(१६ ३१)के लक्षणके अनुसार दो तगण, एक जगण और दो गुरुओंके योगसे वृत्त बनता है (ऽऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, ऽऽ), प्राय ५, ६ वर्णोंपर यति होती है पर ६, ५, वर्णोंपर यतिवाले छन्द भी प्राप्त हैं। यह सस्कृतका विशेष प्रचलित वृत्त है। वाल्मीकि, व्यास, अश्वघोष, कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, केशव (रा० च०), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली) और अनूप शर्मा-(सिद्धार्थ)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'धन्या महीमें शक राजधानी। माया सशुद्धोदन धन्यधन्या। धन्या कथा श्रीघन जन्मकी जो। धन्या बनाती कविकीर्तिको भी।' (सिद्धार्थ पृ० ३२)। —पु० शु०

इद्रिय–दे०—'जगतानुबोध'।

इंद्रियवाद–यह शब्द हिन्दी समीक्षामें पश्चिमसे आया है। कभी-कभी यह 'हेडोनिज्म' या 'इन्द्रियसुखवाद' या केवल 'भोगवाद'के अर्थमें प्रयुक्त होता है और कभी-कभी उसके दार्शनिक अर्थमें यानी 'सेन्स-परसेप्शन' या इन्द्रियानुबोधताके अर्थमें प्रयुक्त होता है। साहित्यमें जब-जब निरा भोगवाद बढ़ा—उदाहरणार्थ, रीतिकालीन हिन्दी कवितामें, तब-तब वहाँ 'सेन्सुअल'(इन्द्रिय-परक)की अपेक्षा 'सेन्सुअस' कल्पना-चित्रोंका, और प्रतिमाओंका काव्यमें अधिक प्रयोग हुआ। कभी-कभी जैसे स्थूलके प्रति सूक्ष्म छायावादी विद्रोह था, वैसे ही सूक्ष्मकी अतिशयताकी प्रक्रिया स्थूलवादमें दिखाई दी। 'अपराजिता'की भूमिकामें नन्ददुलारे वाजपेयीने 'अचल'की कविताके समर्थनमें इसी प्रकारका तर्क उपस्थित किया है। कथा-साहित्यमें इन्द्रियवादकी प्रधानता 'नेचुरलिज्म' या प्रकृतिवादकी ओर साहित्यको ले जाती है। इधर फ्रांसीसी प्रतीकवादियोंने, चित्रकलाके बिम्बवादकी भाँति, इन्द्रिय गोचर संकेतोंका प्रयोग शुरू किया और हिन्दीकी अत्याधुनिक कवितामें भी उस प्रकारकी रचनाएँ लिखी जाने लगी हैं। भौतिकवादी दर्शनके महत्त्वकी प्रस्थापनाके बाद इन्द्रिय-सुख कोई त्याज्य वस्तु नहीं माना जाता। कुछ आधुनिक भारतीय चिन्तकोंका विचार है कि 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शमय' महानन्दमय सृष्टिका आस्वाद ही मुक्ति है, वैराग्य-साधन नहीं। इन्द्रियोंकी ईहा कि तृप्ति सारे सौन्दर्यबोध और सर्जनात्मक प्रक्रियाके मूलमें है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु इन्द्रिय-भोग ही परम साध्य हो, यह दर्शन मनुष्यको पशु-कोटिमें ले आता है। इन्द्रियवाद हो, परन्तु वह प्रज्ञासे नियन्त्रित और समन्वित होना चाहिये।—प्र० मा०

इद्रिय संवेदना–दे०—'संवेदना'।

इड–यह शब्द साहित्यको फ्रायडके मनोविज्ञानकी देन है। 'इड' शब्द जर्मन भाषाका है और इसका प्रयोग नपुंसकलिंग सर्वनामके रूपमें होता है, शाब्दिक अर्थमें सस्कृतका 'इदम्' शब्द 'इड'को व्यक्त करता है। परन्तु 'इड'का विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थ है और इस अर्थमें अभी 'इदम्' हिन्दीमें रूढ नहीं हो पाया है, परन्तु कुछ साहित्यक 'इड'के लिए 'इदम्'का उपयोग करने लगे हैं।

मानसके जन्मजात, नैसर्गिक पक्षको फ्रायड 'इड' कहते हैं, यह 'लिबिडो'(कामशक्ति)का कोष है। इसमें वह सब निहित है जो हम वंशानुक्रमसे पाते हैं, अर्थात् 'इड' व्यक्तिके अस्तित्वकी प्रेरक शक्तियों या मूल प्रवृत्तियोंका भण्डार है। फ्रायडके अनुसार ये प्रवृत्तियाँ दो है—जीवन-प्रवृत्ति और मृत्यु-प्रवृत्ति। ये प्रवृत्तियाँ ही विशिष्ट इच्छाओं-का रूप लेकर परिवेशकी ओर उन्मुख होती हैं और इस प्रकार चेतन जीवनको प्रभावित करती हैं। 'इड'में किसी प्रकारका सघटन या व्यवस्था नहीं है, यह यथार्थसे पूर्ण उदासीन है और केवल सुखेच्छासे परिचालित होता है। इसे शब्दोंमें व्यक्त कर सकना कठिन है—यह हमारे व्यक्तित्वका गूढ अगम्य भाग है। 'इड'में जो कुछ भी होता है, अचेतन रूपसे ही होता है, इसमें और अचेतन मानसमें अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इसका यह अर्थ नहीं कि 'इड' और अज्ञात मन एक ही हैं, क्योंकि इन दोनों धारणाओंमें थोड़ा अन्तर है। अज्ञात मनका कुछ भाग अहम्के अधिकारमें भी रहता है। 'इड'को हम प्रबल उत्तेजनाका अव्यवस्थित रूप मान सकते हैं, अहम्के विपरीत इसमें कोई निषेध, कोई नियन्त्रण, कोई वर्जना नहीं है। स्वभावत 'इड'के लिए शुभ-अशुभ, नैतिक-अनैतिक, आदि मूल्योंका कोई अस्तित्व नहीं है, व्यक्तिकी जन्मजात सुखेच्छाकी तृप्ति ही इसका एकमात्र काम है। मानसका प्रारम्भिक और प्रमुख रूप 'इड' है और अहम्का इसीसे विकास होता है। यथार्थसे प्रभावित अहम् (दे०) जब 'इड'की वासनाओंका दमन करता है तो वे पुन 'इड'में लौट जाती हैं। यह दमित अंश 'इड'के ही नियमोंका पालन करता है। परन्तु यह उत्पत्तिमें भिन्न है, क्योंकि यह अहम् द्वारा दमनका परिणाम है। 'इड'मेंसे अहम्के विकासकालमें ही यह विभाजन होता है। अहम् 'इड'के कुछ भागपर अधिकार करके उसे पूर्वचेतनस्तरपर ले आता है और शेष 'इड'में ही रहता है। अचेतन और पूर्वचेतन मानस-क्षेत्रोंमें परिवर्तन-की सम्भावना रहती है। 'इड'की अचेतन प्रक्रियाएँ पूर्वचेतन बन सकती हैं और अहम्की पूर्वचेतन प्रक्रियाएं पुन चेतनमें लौट सकती हैं।

'इड' और अहम्में कोई मौलिक विरोध नहीं है, वस्तुत अहम् 'इड'की अन्धवासनाओंकी पूर्तिका वास्तविक और व्यावहारिक उपाय ही खोजता है। यदि वह सफल रहता है तो कोई समस्या नहीं उठती। जब वह यथार्थ और अन्धवासनाओंमें सामजस्य नहीं कर पाता और 'सुपरईगो'के नियन्त्रणके कारण दमन अधिक हो जाता है, तो व्यक्तित्वमें अनेक समस्याएँ उठती हैं, जो जटिल होनेपर मानसिक रोगोंका रूप ले लेती हैं।

आधुनिक कथासाहित्यमें 'इड'की मनोवैज्ञानिक धारणा-का विशेष महत्त्व है। मनोविश्लेषणके प्रभावसे पात्रोंके व्यक्तित्वके इस गूढ और दमित अंशकी खोज करके उनके अन्तर्द्वन्द्वको प्रस्तुत करना अधिकांश कथाकारोंकी शैली बन गया है। दे०—'अहम्' और 'सुपरईगो')। —प्रे० ना०

इडा–दे०–'हठयोग'।

इडिपस मनोग्रन्थि–दे०–'मनोग्रन्थि'।

इतिवृत्तात्मक काव्य–दे०–'कथाकाव्य', 'चरितकाव्य'।

इमेजिज़्म–'इमेजिज्म' या बिम्बवाद या प्रतिमावाद शब्दका सबसे पहले प्रयोग अमेरिकाके प्रसिद्ध अँग्रेजी कवि एजरा पाउण्डने किया। शब्द सांकेतिक है और इंग्लैण्ड तथा अमेरिकाके काव्य सम्बन्धी एक आन्दोलनका निर्देश करता है। उस आन्दोलनका प्रसार १९१० ई० और १९१८ ई० के बीच रहा। आन्दोलनके सिद्धान्तोंका आधार टी० ई० हुल्मका दर्शन है। हुल्मने काव्यके रोमांटिक दृष्टिकोणपर गहरी चोट की थी और एजरा पाउण्ड उसके प्रधान समर्थकोंमेंसे था। पाउण्डने नये आन्दोलनके समर्थनमें तत्कालीन विशिष्ट प्रतिमावादी कवियोंकी कविताओंका एक संग्रह 'देजिमाजिस्तै' भी निकाला जो इंग्लैण्डमें १९१४ में प्रकाशित हुआ। इस संग्रहमें रिचर्ड आल्डिंग्टन, हिल्डा डूलिटिल, आमी लोवेल, एजरा पाउण्ड आदिकी कृतियाँ समाविष्ट थीं। इसी प्रतिमावादी आन्दोलनके दृष्टान्तस्वरूप आल्डिंग्टन और मिस लोवेलने अमेरिकामें १९१५-१६ और १७ ई० में तीन-तीन कविता संग्रह निकाले। इन संग्रहोंके नाम थे–'सम इमेजिस्ट पोएट्स' (कुछ प्रतिमावादी कवि)। इनमें अधिकतर एफ० एस० फ्लिंट, डी० एच० लॉरेन्स, जान गूल्ड फ्लेचर आदिकी कविताएँ प्रकाशित हुईं।

१९१५ ई० के संग्रहकी भूमिकामें आन्दोलनकी जो घोषणा छपी उसमें मूलत ६ प्रतिमावादी सिद्धान्त परिगणित हुए–(१) अत्यलंकरण और अतिरंजनसे भिन्न साधारण भाषाका सही और शुद्ध प्रयोग, (२) नियन्त्रित छन्दों और विविध लयों(रिद्म)का उपयोग नये चमत्कारोंके साथ, (३) विषयोंकी विविधता और उनके चुनावोंमें आजादी, (४) प्रतिमाओंका निर्बन्ध उपयोग। एजरा पाउण्डने प्रतिमाकी व्याख्या इस प्रकार की 'जो पलकको एक झपकमें बौद्धिक और भावात्मक (आवेगमय) प्रतिमाका रूप सिरज दे, (५) कविताके प्रभावमें प्रभूत स्पष्टता और शक्ति और (६) भावोंकी सघनता द्वारा प्रवाहकी व्यापकता सीमित कर दी जाय, जिससे प्रभाव केन्द्रित हो जाय।

आन्दोलनके समर्थन और प्रसारके लिए शिकागोसे 'पोएट्री' नामकी एक पत्रिका भी निकाली गयी, जिसके प्रधान व्यक्तियोंमें डूलिटिल, फ्लेचर, फ्लिंट, लोवेल और आल्डिंग्टन थे। प्रतिमावादके आरम्भिक पिताओंमें हुल्म और पाउण्टके अतिरिक्त यार्नो होल्त्सके 'फ्रान्तासस'का नाम भी लिया जाता है। अमेरिकी कवि कार्ल सैण्डबर्गने अपनी प्रसिद्ध कविता 'लेटर्स टु डेड इमेजिस्ट्स' (मृत प्रतिमावादियोंको पत्र)में आन्दोलनके पुरोगामियोंमें एमिली डिकिन्सन और स्टिफेन क्रेनको भी गिना है। स्वय सैण्डबर्ग भी प्रतिमावादी कवि हैं। प्रतिमावादी आन्दोलकोंमें पहले टी० एस० इलियट भी था, पर पाउण्टके साथ ही वह भी इससे कुछ काल बाद अलग हो गया। फिर भी कॉनराड आरकेन, मेरियन मूर, वालेस स्टीवेन्स और डी० एच० लॉरेन्स इसके सिद्धान्त अपनी कविताओंमें निरूपित करते रहे। प्रतिमावाद रोमाण्टिक विरोधी काव्यधाराका पहला आन्दोलन था, जो अभी हाल, बीसवीं शतीके मध्यतक चलता रहा है। —भ० श० उ०

ईषत्प्रगल्भवचना–दे०–'मध्या', नायिका।

ईसाई धर्म–भारतवर्षमें ईसाई धर्मने कब प्रवेश किया, यह तो निश्चय रूपसे नहीं कहा जा सकता, किन्तु ईसा मसीहके अन्यतम शिष्य सेण्ट टामसका ६५ ई०में भारतवर्ष आना कहा जाता है। उन्होंने सिरीयक सम्प्रदायकी स्थापना की। अन्य दो टामसोंका भी इस सम्बन्धमें उल्लेख किया जाता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन टामसोंके आनेसे पूर्व भी ईसाई धर्म भारतवर्षमें प्रवेश कर चुका था और दक्षिणमें मलाबार-तटसे उसका सम्पर्क स्थापित हुआ था। सिरीयक ईसाई धर्म-प्रचारकोंके बाद रोमन कैथोलिक भारतवर्ष आये। ईसाकी बारहवीं और चौदहवीं शताब्दियोंके बीच पोपके प्रबल प्रतापसे समस्त यूरोपमें कैथोलिक धर्म फैल गया था। इसी धर्मसे जेसुइट सम्प्रदायका जन्म हुआ। १३वीं, १४वीं और १५वीं शताब्दियोंमें जो कैथोलिक भारतवर्ष आये उनमें अधिकतर पोर्चुगीज थे। उन्होंने तलवारके जोरपर धर्मका प्रचार करना चाहा। पुर्तगाली नरेशोंने धर्मप्रचारार्थ लोगोंको प्रोत्साहन प्रदान किया। १५४२ ई०में सेण्ट जेवियर नामक प्रसिद्ध जेसुइटने मलाबार, मदुरा, मद्रास आदि स्थानोंकी निम्न जातियोंको ईसाई धर्मकी दीक्षा दी। उनके बाद आनेवाले जेसुइटोंके मार्गमें अनेक बाधाएँ उपस्थित हुईं, किन्तु उन्होंने अपना उत्साह न छोड़ा। उन्होंने दक्षिणकी भाषाओंका अध्ययन कर कुछ ग्रन्थोंकी रचना भी की। मदुरा, त्रिचनापल्ली, तंजोर, सलेम, मद्रास आदि स्थानोंमें उनका प्रचार-कार्य बराबर जारी रहा। धीरे-धीरे उत्तरभारतमें भी उनका अस्तित्व मिलने लगता है। अँग्रेजी राज्यकी स्थापनासे बहुत पहले अँग्रेज, पोर्चुगीज आदि अनेक ईसाई आगरामें विद्यमान थे। फादर एन्तोनियो द आन्द्रे दे १६०० ई०में भारतवर्ष आये और उन्होंने आगरा अपना केन्द्र बनाया। १६२४ ई० में वे जहाँगीरके साथ आगरासे दिल्लीतक गये थे। तत्पश्चात् उत्तरभारतमें कई और मिशनों और धर्म-प्रचारकोंका उल्लेख किया जा सकता है, किन्तु इस समय अपने प्रचार-कार्यमें उन्हें कोई विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी थी। वास्तवमें जेसुइटोंका प्रधान केन्द्र दक्षिणभारत ही अधिक रहा। उन्होंने दक्षिणकी भाषाओंका अध्ययन किया, अपने धर्मप्रचारके लिए ईसाई साहित्यका निर्माण स्थानीय भाषाओंमें किया, किन्तु बाइबिलका अनुवाद वे न कर सके, सम्भवत भाषा सम्बन्धी कट्टरताके कारण।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियोंमें ज्यों-ज्यों भारतवर्षका यूरोपकी विभिन्न जातियोंके साथ सम्पर्क बढ़ता गया—व्यापारके माध्यम द्वारा—त्यों-त्यों वह ईसाई धर्मप्रचारकोंका कार्यक्षेत्र बनता गया। तत्कालीन अराजकतापूर्ण राजनीतिक परिस्थितियोंके कारण विघ्न-बाधाएँ तो अवश्य उपस्थित हुईं, किन्तु कार्य बराबर जारी रहा। १७९३ ई० में विलियम कैरे भारतवर्ष आये। १७९९ ई० में टीपू सुलतानके पतनके पश्चात् विभिन्न मिशनरी सोसाइटियाँ स्थापित हुईं। यहींसे प्रोटेस्टेण्ट

ईसाई धर्मप्रचारकोंका इतिहास प्रारम्भ होता है। इस सम्प्रदायका जन्म यूरोपमें १६वीं शताब्दीमें हुआ था। १७०६ ई० में डेनमार्कके चतुर्थ फ्रेडेरिककी प्रेरणासे वार्थल जीगनवाला और हेनरी प्लुचु नामक दो लूथर-मतावलम्बी भारतमें धर्मप्रचारके लिए मद्रासके तंजोर जिलेमें उतरे। भारतवर्षमें ईसाई धर्मके प्रचारमें ये दोनों नाम अमर हैं। उनके बाद अन्य अनेक लूथर-मतावलम्बी भारतवर्ष आये, किन्तु भारतमें डेनमार्कके राजकर्मचारियोंकी उदासीनता और आर्थिक कारणोंसे उन्हें अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। अँग्रेजोंकी ईस्ट इण्डिया कम्पनीके प्रारम्भिक दिनोंमें क्लाइव जैसे लोगोंका तो ईसाई धर्मप्रचारकोंसे कोई विरोध नहीं था, किन्तु शीघ्र ही कार्नवालिस जैसे व्यक्तियोंको ईसाई मिशनरियोंकी आयोजनाओंमें कोई विश्वास न रह गया। उस समय तो ईस्ट इण्डिया कम्पनीके अधिकारियोंने कुछ ईसाई मिशनरियोंको देशसे निर्वासिततक कर दिया। ऐसे समयमें कैरे और उनके दो साथियों—मार्शमैन और वार्ड—के भारतागमनसे ईसाई धर्मप्रचारके इतिहासका नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। कम्पनीके विरोधके कारण उन्हें कलकत्तासे १५ मील दूर श्रीरामपुरको अपना केन्द्र बनाना पड़ा। तत्पश्चात् प्रोटेस्टेण्ट मतान्तर्गत अन्य अनेक मिशनरी सोसाइटियाँ प्रचारक्षेत्रमें आयीं। प्रारम्भमें इन सोसाइटियोंका कार्य बंगालतक सीमित था, किन्तु ज्यों-ज्यों अँग्रेजी राज्य गंगाकी घाटीमें उत्तर-पश्चिमकी ओर बढ़ता गया, त्यों-त्यों इन मिशनरी सोसाइटियोंका प्रचार-क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। उन्होंने अनाथालय, शिक्षा-संस्थाएँ और प्रेस स्थापित किये तथा समाचारपत्रोंको जन्म दिया। ईसाई धर्मप्रचारका कार्य बुक सोसाइटियों द्वारा भी किया जाने लगा। इन सब बातोंने केवल प्रचारकार्यमें ही नहीं वरन् ईसाई साहित्यके निर्माणमें भी सहायता पहुँचायी। ईसाई मिशनरियोंको अपने प्रचारकार्यमें अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी और कोर्टके डाइरेक्टर भी उन्हें राजनीतिक दृष्टिसे भयावह समझते रहे, किन्तु वे अदम्य उत्साहके साथ अपने कार्यमें लगे रहे। १८३३ ई०में पार्लामेंटमें विलफोर्स ऐक्टके पास हो जानेके बाद उनपर लगे प्रतिबन्ध टूट गये और अनेकानेक मिशनरी धड़ाधड़ भारतवर्ष आकर अपना प्रचार-कार्य करने लगे। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्धमें लगभग समस्त हिन्दी प्रदेशमें ईसाइयोंके प्रचार-केन्द्र स्थापित हो गये। ईसाई धर्मप्रचारकोंका प्रधान उद्देश्य तो अपने धर्मका प्रचार करना ही था, किन्तु घुणाक्षरन्याय द्वारा शिक्षा, प्रेस, सामाजिक सुधारों आदिके क्षेत्रमें उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया और देशको मध्ययुगीन पौराणिक वातावरणसे बाहर निकलनेका अवसर प्राप्त हुआ।

भारतवर्षकी विभिन्न प्रधान भाषाओं और बोलियोंमें बाइबिलका अनुवाद करनेकी एक बृहत् आयोजना कैरे और उनके साथियोंने बनायी थी। हिन्दीसे उनका तात्पर्य खड़ी-बोली हिन्दीसे था। इन श्रीरामपुर मिशनरियों द्वारा प्रारम्भ किया गया कार्य आगरा, इलाहाबाद तथा अन्य स्थानोंके मिशनरियोंने आगे बढ़ाया। वैसे तो बाइबिलका हिन्दुस्तानी अनुवाद १८०५ ई०में फितरतकी सहायतासे विलियम हण्टरने किया था, किन्तु हिन्दीका सर्वप्रथम अनुवाद हेनरी टामस कोलब्रुकने किया, जिसका प्रकाशन १८०६ ई० में सरकारी व्ययसे हुआ। यह ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हो सका। श्रीरामपुर मिशनरियोंने भारतकी चालीस विभिन्न भाषाओंमें धर्मपुस्तकें प्रकाशित करनेकी बृहत् आयोजना निर्मित की, जिसका परिचय उनके इस संस्करणों-से मिलता है। १८१० ई० और १८१८ ई० के बीच विलियम कैरेने पाँच जिल्दोंमें बाइबिलका हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित किया। श्रीरामपुरकी आयोजनाके अन्तर्गत बापटिस्ट मिशनरियोंने और उसके 'ब्रिटिश एण्ड फारेन बाइबिल सोसाइटी'ने १८०१ ई० और १८३० तक हिन्दी (पश्चिमी हिन्दीका एक रूप), अवधी या कोसली, बघेली, बुन्देली, बीकानेरी, ब्रजभाषा, हड़ोती, जयपुरी, कन्नौजी, कुमाउँनी, मालवी, मेवाड़ी, मारवाड़ी आदि हिन्दी प्रदेश तथा भारतवर्षकी अन्य साहित्यिक भाषाओं और बोलियोंमें धर्मपुस्तकोंके पूर्ण या आंशिक अनुवाद प्रकाशित किये।

ईसाई धर्मपुस्तकोंके अनुवादकार्यकी दूसरी शाखा हेनरी मार्टिन (१७८१–१८१२ ई०)से चली। ईसाई धर्म-प्रचारकोंमें कैरेके बाद मार्टिनका नाम आदरके साथ लिया जाता है। १८०६ ई० से १८०८ ई० तक उन्होंने 'न्यू टेस्टा-मेण्ट'की पाण्डुलिपि तैयार कर ली थी, जो कुछ संशोधनोंके बाद १८१४–१५ ई० में श्रीरामपुर प्रेससे अरबी लिपिमें प्रकाशित हुई। १८१७ ई० में वह नागराक्षरोंमें मुद्रित हुई। किन्तु मार्टिनकी भाषा जनसाधारणमें बोधगम्य नहीं थी। इसलिए 'कलकत्ता बाइबिल सोसाइटी'की अध्यक्षतामें 'चर्च मिशनरी सोसायटी'की चुनार शाखाके ऐंग्लो इण्डियन मिशनरी, रेवरेंड बाउलेने अरबी-फारसी शब्दोंके स्थानपर संस्कृत शब्दोंका प्रयोग कर १८१९ ई० में उसका प्रकाशन प्रारम्भ किया। १८२६में पूरा 'न्यू टेस्टामेण्ट' छपकर तैयार हो गया। १८३८ ई० में उसका संशोधित संस्करण श्रीराम-पुर प्रेससे निकला। वास्तवमें बादमें जितने भी बाइबिलके अनुवाद हिन्दीमें प्रकाशित हुए उन सबका मूलाधार बाउले-का यही ग्रन्थ रहा। १८३४–१८३५ ई०में बाउलेने ओल्ड टेस्टामेण्टका अनुवाद भी प्रकाशित किया। बादमें विलियम येट्स, लेसली, स्नाइडर आदिने भी बाइबिलके अनुवाद किये अथवा पुराने संस्करणोंका फिरसे सम्पादन किया। १८५० ई० के बाद कुछ पुराने और कुछ नये अनुवाद प्रकाशित हुए। १८५४ ई० में 'नार्थ इण्डिया बाइबिल सोसाइटी'ने, १८८३ ई० में 'नार्थ इण्डिया आग्जिलियरी बाइबिल सोसाइटी'ने और १८९५ ई० में 'कलकत्ता बाइबिल सोसाइटी'ने ओल्ड या न्यू टेस्टामेण्टोंका प्रकाशन किया। बीसवीं शताब्दीमें बाइबिलका कोई नवीन महत्त्वपूर्ण अनुवाद हिन्दीमें नहीं हुआ। आवश्यकता पड़नेपर पुराने संस्करणोंकी भाषा सुधारकर उन्हींसे काम चला लिया जाता है। अँग्रेजीसे अनभिज्ञ अर्द्ध-शिक्षित या अशिक्षित भारतीय ईसाइयोंमें इन अनुवादोंसे लाभ उठाया गया।

बाइबिलके अनुवादोंके अतिरिक्त ईसाई धर्म प्रचारकोंने खण्डन-मण्डन, उपदेश और भजन सम्बन्धी अनेक अन्य छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रकाशित कीं। इन पुस्तकोंने उनके मत प्रचारकी आयोजनामें महत्त्वपूर्ण योग दिया। यह साहित्य

सोसाइटियों द्वारा और साथ ही व्यक्तिगत प्रयासोंके फलस्वरूप प्रकाशित हुआ। दाऊदके गीत (१८३६), इंजीलकी तफसीर (१८५०), मतपरीक्षा (१८६१), धर्मतुला (१८८०), हिन्दू धर्मका वर्णन (१८९४), गंगाका वृत्तान्त (१८९६) आदि पुस्तकें ऐसी हैं जो जे० टी० थाम्पसन, जान पारसन्स, जान म्योर, ई० ग्रीव्स आदि ईसाई लेखकों द्वारा अथवा 'आगरा ट्रेक्ट एण्ड बुक सोसाइटी,' 'क्रिश्चियन लिटरेरी सोसाइटी,' 'क्रिश्चियन वर्नाक्यूलर एज्युकेशन सोसाइटी,' 'अमेरिकन मिशन,' 'अमेरिकन ट्रैक्ट सोसाइटी' आदिके तत्त्वावधानमें प्रकाशित हुईं। ईसाई लेखकोंकी इन रचनाओं द्वारा खड़ीबोली गद्यकी परम्पराके विकासमें कुछ योग प्राप्त हुआ, किन्तु गद्यका यह रूप शिथिल है–यद्यपि सरल सुव्यवस्थित गद्यका नितान्त अभाव नहीं है। ईसाई लेखकोंकी शैली साहित्यिक गद्य-शैलीको प्रभावित न कर सकी।

[सहायक ग्रन्थ–(१) ए हिस्ट्री ऑफ मिशन्स इन इण्डिया जे० रिक्टर, (२) आधुनिक हिन्दी साहित्यकी भूमिका लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।] —ल० सा० वा०

ईहामृग–आचार्य अभिनव गुप्त और रामचन्द्रने ईहामृगके नामकरणके सम्बन्धमें बताते हुए लिखा है 'ईहा चेष्टा मृगस्यैव स्त्रीमात्रार्थात्रेतीहामृग' अर्थात् इसमें मृगके तुल्य अलभ्य कामिनीकी इच्छा नायक अथवा प्रतिनायक करता है। धनंजय और विश्वनाथने इसका निर्देश करते हुए लिखा है 'दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छन' अर्थात् इसमें (अनासक्त) किसी दिव्य नारीको अपहार (हरण) आदिके द्वारा प्राप्त करनेकी घटना दिखायी जाती है।

भरत मुनिने केवल इतना ही उल्लेख किया है कि इसमें किसी देवी नारीके लिए युद्ध दिखाया जाता है। इस रूपककी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अत्यन्त आवेशके कारण युद्धका प्रसंग पूर्णतया समुपस्थित होनेपर भी किसी-न-किसी बहाने संग्राम टल जाता है।

धनंजयने ईहामृगको कतिपय विशेषताएँ संक्षेपमें इस प्रकार लिखी हैं–ईहामृगका इतिवृत्त मिश्रित (कुछ ऐतिहासिक और कुछ कल्पित) होता है। इसमें चार अंक और **मुख**, **प्रतिमुख**, एवं **निर्वहण** नामक तीन सन्धियाँ होती हैं। मनुष्य और दिव्यपुरुषमें कोई नायक अथवा प्रतिनायक हो सकता है। किन्तु दोनों ही इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति होते हैं। प्रतिनायक **धीरोद्धत** होता है और विपरीत ज्ञानके कारण अनुचित कार्य किया करता है। इस रूपकमें दिव्यस्त्रीके बलात् अपहरणकी इच्छा रखनेवाले नायक या प्रतिनायककी शृंगारमयी चेष्टाएँ भी कहीं-कहीं दिखायी जाती हैं। प्रबल उत्तेजनाके कारण युद्धकी स्थिति उत्पन्न हो जानेपर भी संघर्षका टल जाना और किसी महात्माके वधकी पूर्ण तैयारी हो जानेपर भी उसे बचा लेना इस रूपकमें प्रायः दिखाया जाता है (दशरूपक तृतीय प्रकाश ७२-७५)।

शारदातनयने इस रूपकके रस, वृत्ति एवं पात्र-संख्यापर भी विचार किया है। उनका मत है कि इसमें कहीं-कहीं **कैशिकी**के अतिरिक्त शेष तीन वृत्तियाँ होती हैं और कहीं-कहीं **कैशिकी** वृत्ति भी प्राप्त होती है। इसमें भयानक और बीभत्सके अतिरिक्त शेष सभी रस पाये जाते हैं। नायकोंकी संख्या चार, पाँच या छः होती है। अंक चार होते हैं। इसमें स्त्रीके कारण संग्राम आवश्यक है। उन्होंने 'कुसुमशेखर' नामक ईहामृगका उदाहरण दिया है।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र शारदातनयसे अंक एवं नायक-संख्याके सम्बन्धमें सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि ईहामृगमें चार अंक आवश्यक नहीं, एक अंक भी हो सकता है। उन्होंने नायकोंकी संख्या बारह निश्चित की है (नाट्यदर्पण पृ० १३१)।

विश्वनाथका मत शारदातनय और रामचन्द्र दोनोंसे भिन्न है। उनका मत है कि इसमें एक ही अंक होता है। नायकके सम्बन्धमें उन्होंने अन्य आचार्योंके आधारपर दो मत दिये हैं–(१) एक देवता ही नायक होता है और (२) छः नायक होते हैं।

अभिनव गुप्तने भी अंक एक और नायक-संख्या बारह स्वीकार की है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने चार अंक और नायक ईश्वरका अवतार तथा नायिका देवी मानी है। उनके मतसे इसमें प्रेम इत्यादि वर्णित होता है तथा नायिका द्वारा युद्धादि कार्य-सम्पादन होता है। उन्होंने उदाहरण नहीं दिया है। बाबू गुलाबरायने इसमें एक धीरोदात्त नायक और एक प्रतिनायक माना है। उनका मत है कि नायक किसी कुमारीकी स्पृहा करता है। वह मृगकी भाँति दुष्प्राप्य हो जाती है। प्रतिनायक उसे नायकसे छुड़ाना चाहता है। मिलन तो नहीं होता, किन्तु किसीका मरण भी नहीं होता। इसमें अंक चार होते हैं। हिन्दीमें इसका उदाहरण नहीं मिलता। —द० ओ०

उग्रता (औग्र्य)–प्रचलित तैंतीसमें एक संचारी भाव। किन्हीं कारणोंसे उद्बुद्ध निर्दयताको उग्रता कहते हैं (वाग्भट, काव्यानुशासन पृ० ५८)। 'नाट्यशास्त्र'के लक्षणसे ऐसा प्रतीत होता है कि भरतके सामने कई उदाहरण अवश्य उपस्थित थे। भरतने उग्रताके विभाव एवं अनुभावोंका वर्णन करते हुए कहा है कि चोरीमें पकड़ जाने, राज्यके प्रति अपराध करने, झूठ बोलने इत्यादिसे यह उद्बुद्ध होता है और वध, बन्धन, मारना-पीटना, तर्जना करना इत्यादि अनुभावोंसे इसकी अभिव्यक्ति होती है। (नाट्य० ७ ८१ ग)। इसकी संक्षिप्त व्याख्या 'दशरूपक' एवं 'नाट्यदर्पण'में मिलती है। किसी अपराधी, दुष्ट एवं क्रूर व्यक्तिके प्रति जो मनोवेग आ उपस्थित होता है और निर्दयतासे व्यक्त होता है उसे 'औग्र्य' कहते हैं। 'दशरूपक'के अनुसार इसमें स्वेद एवं शिरःकम्पन अनुभाव हो सकते हैं (४-१५)। इसका अनुकरण विद्यानाथने किया है (प्र० रु० य० ४ ४६)। शारदातनयने 'पुत्र, मित्र, कलत्र इत्यादिके द्रोहसे' यह मनोभाव उत्पन्न होना बताया है (भा० पृ० २३), पर यह अस्पष्ट एवं असंगत प्रतीत होता है। 'रसगंगाधर'में क्रोध एवं उग्रतामें यह भेद बताया है कि क्रोध स्थायी है तथा उग्रता संचारी। पर इस भेदके अतिरिक्त अमर्ष और उग्रता दोनों ही संचारियोंमें यह अन्तर प्रतीत होता है कि अमर्ष तो अपमान होनेपर किसी भी व्यक्तिमें उद्भूत हो सकता है, पर उग्रता किसी अपराधी दुष्टको देखकर ही होती है और यह निर्दयता-रूप है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने उपर्युक्त लक्षणको स्वीकार किया है—'दोष कीरतन चौरता, दुर्जनता अपराध। निर्जनता सो उग्रता, जहँ तरजन बध बाध।' (भाव० सचारी)। कुछने चलता हुआ लक्षण दिया है—'निरदैपन सो उग्रता' (जगत० ५३८)। तुलसी द्वारा वर्णित परशुरामके इन वाक्योंमें उग्रता है—'मातु पितहिं जिन सोच बस, करसि महीप किसोर। गर्भनके अर्भक दलन परसु मोर अति घोर।' (रा० च० मा० १ २७२)। 'दशरूपक'में भी परशुरामकी उग्रताका उदाहरण 'वीर-चरित'से दिया गया है। इसी उदाहरणको हेमचन्द्रने 'काव्यानुशासन'में उद्धृत किया है। रीतिकालके आचार्योंने प्राय शृङ्गारके सचारीके रूपमें इसका उदाहरण दिया है—'कहा कहौं सखि कामको, हिय निरदैपन आज। तन जारत पारत विपति, अपति उजारत लाज।' (जगत० ५४०)। —ज० कि० व०

उच्च मध्यवर्ग– इस वर्गमें प्रधानत वही लोग आते हैं जिनका सम्पर्क समाजके उच्च वर्गसे बहुत निकटका होता है। इस वर्गमें प्रधानतया आवश्यकतासे अधिक धनसम्पन्न और बुद्धिवादीवर्गके लोग आते हैं। —रा० कु० त्रि०

उज्ज्वल रस–'उज्ज्वल रस'में प्रयुक्त उज्ज्वल शब्द 'शृङ्गार' या 'माधुर्य'का वाचक है। भरत(३ श० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'में शृङ्गार रसका वर्ण तो 'श्याम' माना गया है पर उसका वेष उज्ज्वल बताया गया है—'तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मक' (नाट्यशास्त्र ६ ४५-४६), इनमें रति स्थायी भावसे शृङ्गार बनता है, उसका वेष उज्ज्वल होता है। ये दोनों परस्पर-विरोधी होते हैं, पर शृङ्गारके देवता विष्णुको दृष्टिमें रखकर विचार करनेपर स्थिति कुछ स्पष्ट होने लगती है। विष्णु श्यामवर्ण हैं, पर उनका वेष पीताभ कान्तिमान् तथा उज्ज्वल ही है। इस दृष्टिसे उज्ज्वल शब्द निष्कलुषताका भी द्योतक हो सकता है। रूपगोस्वामी (१५–१६ श० ई०) द्वारा रचित शृङ्गार अथवा माधुर्य भक्तिविषयक ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि'-(१५४१ ई०)में यह शब्द अलौकिक रागानुगा मधुर भक्तिके लिए प्रयुक्त हुआ है जिसमें शृङ्गारका पूर्ण अन्तर्भाव माना गया है। नायक-नायिका-भेदकी तरह कृष्णको नायक, राधिकाको नायिका मानकर इस ग्रन्थमें कृष्ण-प्रेमका विशद निरूपण किया गया है। राधा-कृष्ण इस उज्ज्वल रसके आलम्बन और भक्त-रूप उनकी सखियाँ ही उसका आश्रय मानी गयी हैं। ग्रन्थ-नाममें 'उज्ज्वल'के साथ 'नीलमणि' शब्दका योग श्यामवर्ण विष्णु दैवतवाले उज्ज्वल वेषात्मक शृङ्गार रसके समानान्तर है, अतएव पवित्र भावनावाली रति ही उज्ज्वल रसके मूलमें है। भरतने अपने उक्त कथनको स्पष्ट करते हुए स्वय ही उज्ज्वलताका आधार पवित्रता या 'शुचि' होनेको माना है—'संसारमें जो पवित्र, स्वच्छ और दर्शनीय हो वह शृंगारसे उपमित होता है। उज्ज्वल वेषवाला शृंगारवान् कहा जाता है।' (नाट्य०, ६।४६)। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु'में भक्तिके जो पाँच भाव बताये गये हैं उन्हींमेंसे पाचवें भाव माधुर्यका परिविस्तार 'उज्ज्वल रस'के रूपमें 'उज्ज्वल नीलमणि'में हुआ है। अत दोनों ग्रन्थ मिलकर भक्ति रसका पूरा स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। (दे०–'भक्ति रस')। —ज० गु०

उड़िया (भाषा तथा साहित्य)–उड़िया शब्द उड़ीसासे आया है। उड़ीसाकी भाषाका नाम उड़िया है। उड़िया एक जातिविशेषका नाम भी है। किन्तु उड़ियामें इसको 'ओड़िया' कहते हैं और देशको 'ओड़िशा'।

कुछ विद्वानोंका कहना है कि ओड्रविषयसे ओड़िशा शब्द आया है और इसका विकास-क्रम है–ओड्रविषय>ओड्रविष>ओड़िष>ओडिषा या ओड़िशा। तालव्य मागधीका लक्षण है। दूसरोंका अनुमान है कि द्राविड़ शब्द 'ओडिसु'से 'ओडिशा' आया है और उसीका संस्कृतीकरण 'ओड्र' है। द्राविड भाषामें 'ओड़िसु'का अर्थ है खेती करनेवाला एक किसान।

भाषाके अर्थमें या अन्य किसी अर्थमें 'उड़िया' शब्द प्रथम कब व्यवहृत हुआ, यह ठीक-ठीक कहना तो मुश्किल है, किन्तु उड़िया भाषाकी उत्पत्ति बहुत प्राचीन है। उड विभाषाका भरतके नाट्यशास्त्रमें उल्लेख आता है—'शवराभीरचाण्डालसचलद्राविडोड्रजा। हीना वनेचराणा च विभाषा नाटके स्मृता।' विभाषाको बोली अर्थमें लें, तो भी यह कहा जा सकता है कि भरत मुनिके कालमें निश्चित रूपसे उड़िया भाषा एक विशेष रूप ले रही थी।

पूर्वोक्त उद्धरणमें यह भी सूचित होता है कि ओडी विभाषाका शबर-आभीर द्राविड आदि विभाषाओंके साथ सम्बन्ध था। भाषा-तात्त्विक दृष्टिसे विचार करनेसे भी यह पता चलता है कि आर्य, द्राविड और मुण्डारी भाषाओंके सम्मिश्रणसे उड़िया भाषाकी उत्पत्ति हुई है। आधुनिक उड़िया भाषाका मुख्य आधार भारतीय आर्य-भाषा है। साथ-साथ उसमें सन्थाली, मुण्डारी, शबरी आदि मुण्डारी-वर्गकी भाषाओंके और ओराँव, कुई (कन्धी), तेलगु आदि द्राविड-वर्गकी भाषाओंके लक्षण भी पाये जाते हैं। उड़िया शब्द-भण्डारमें इन भाषाओंकी देन तो है ही।

पहले कहा गया है कि आधुनिक उड़िया भाषाका आधार भारतीय आर्य-भाषा है। यहाँ भारतीय आर्यभाषासे मतलब है प्राकृत भाषासे। प्राकृतके मुख्यत चार रूप हैं—महाराष्ट्री शौरसेनी, मागधी और पैशाची। उड़िया भाषाका मागधी या अर्द्धमागधीसे सम्बन्ध है। उड़ियामें तालव्य 'श'का उच्चारण उपलब्ध है। र-ल और न-ण दोनों पाये जाते हैं। उड़ियाकी भौगोलिक परिस्थिति ऐसी है कि वह मागधी (मैथिली, बगला), महाराष्ट्री (भतरी) और शौरसेनी (लरिया) भाषाओंकी सीमाओंको छूती है। दक्षिणमें द्राविड भाषाका भी प्रत्यक्ष पूर्वपुरुषकी दृष्टिसे विचार करें तो उड़ियाका पूर्वी अपभ्रंशसे सम्बन्ध है। उड़िया भाषा वर्तमान उड़ीसा प्रान्तकी भाषा है। उड़ीसाका क्षेत्र विस्तार ६०,१३६ वर्गमील है। उसकी जनसंख्या १,४६,४५,९४६ (१९५१ ई०) है। इसके अतिरिक्त बगालके मेदिनीपुर (दक्षिण-पश्चिम), बिहारके सिंहभूमि, नराईकेला, खरसुआ आदि, मध्यप्रदेशमें फुल्लझार, विन्द्रानुआगड, रायगढ, सारगढ, बस्तर, काँकेर आदि और आन्ध्रके इच्छापुर, उद्यानखण्ड, तरला, टेकालि, निकिविशाखापाटण आदि अचलोंमें भी उड़िया बोली समझी जाती है।

उड़िया लिपि नागरी लिपिके समान ब्राह्मी लिपिसे

सन्तान है। उड़िया लिपिको देखनेसे मालूम होता है कि वह नागरी लिपिसे बिल्कुल भिन्न है, लेकिन ज़रा-सा ध्यानसे देखनेपर मालूम हो जायगा कि दोनोंमें वैषम्यकी अपेक्षा साम्य ही ज़्यादा है। भिन्न प्रतीत होनेका कारण यह है कि नागरी लिपिकी ऊपरकी सीधी रेखा उड़िया लिपिमें वर्तुल हो जाती है और लिपिके मुख्य अंशकी अपेक्षा अधिक जगह अधिकार कर लेती है। नहीं तो दोनों लिपियोंके नीचेके अंशमें बहुत सादृश्य है। उड़िया लिपिके ऊपरका अंश वर्तुल होनेके बारेमें विद्वानोंका कहना है कि उड़ीसामें पहले तालपत्रपर लौहसे लिखनेकी रीति प्रचलित थी और सीधी रेखा खींचनेमें तालपत्र कट जानेका डर था। इसलिए सीधी रेखाके बदले वर्तुल रेखा दी जाने लगी और उड़िया लिपिका क्रमशः आधुनिक रूप आने लगा।

'ललितविस्तर'में उत्कलिपिका नाम आता है, लेकिन वह आता है द्राविड लिपि, किनारि लिपि, दक्षिण लिपिके साथ। इसलिए वह 'उड लिपि' हो सकता है। 'ललित-विस्तर'का काल है कमसे कम नवीं शताब्दी। तन्त्री सूत्रमें भी उड्र लिपिका उल्लेख है और उसका काल दशम शताब्दीसे पूर्व नहीं है।

हिन्दी व्याकरणसे तुलना—उड़िया व्याकरणकी मुख्य विशेषताएँ हैं—अतीत कालमें 'ने' प्रयोगका अभाव और लिंगके अनुसार क्रियाओंमें परिवर्तनका अभाव, उड़ियामें स्त्रीलिंग-हेतुक विकार क्रियामें तो होता ही नहीं, विशेषणोंमें भी नियमतः नहीं होता, परन्तु विशेष्योंमें होता है। उड़ियामें 'ने'का प्रयोग बिलकुल नहीं है। इसलिए अतीत कालके लिए क्त प्रत्ययान्त विकृत शब्दोंका भी प्रयोग नहीं आता है। उड़ियामें क्रियाके अतीत कालमें धातुके बाद ल, ला, लिं, लु, या इल, इला, इलु, इलुँ आदि ल युक्त प्रत्यय आते हैं। वर्तमान कालमें शतृ प्रत्ययका अवशिष्ट हिन्दीका 'ता' भी नहीं आता है।

वाक्य-योजनामें हिन्दीसे उड़ियाकी एक और विशेषता यह है कि हिन्दीमें निषेधात्मक अव्यय क्रियाके पहले आता है, लेकिन उड़ियामें क्रियाके पीछे वाक्यके अन्तमें।

काल और साहित्यिक प्रवृत्तिके अनुसार उड़िया साहित्यका काल-विभाजन इस प्रकार किया जाता है—(१) आदियुग, इतिवृत्तयुग या सारलादासयुग—११वीं शताब्दीके प्रथमार्धसे १६वीं शताब्दीके प्रथमार्धपर्यन्त। (२) मध्ययुग—१६वीं शताब्दीके प्रथमार्धसे १९वीं शताब्दी-के प्रथमार्धपर्यन्त। (क) पूर्व मध्ययुग, भक्तियुग या धार्मिकयुग या पञ्चसखायुग—१६वीं शतीके प्रथमार्धसे १८वीं शतीतक। (ख) उत्तर मध्ययुग, रीतिकाल या उपेन्द्र-भञ्जयुग—१८वीं शतीसे १९वीं शतीके द्वितीयार्धके आरम्भ-पर्यन्त। (३) आधुनिकयुग या स्वातन्त्र्यकाल—१९वीं शती द्वितीयार्धसे।

(१) आदियुग—आदि युगमें सारलपूर्व साहित्य भी अन्तर्भुक्त है, जिसमें 'बौद्ध गान ओ दोहा' एक है। अन्य प्रान्तोंके समान उड़ीसामें 'बौद्धगान ओ दोहा'को उड़ियाका पूर्वरूप और प्रथम उड़िया साहित्य माना जाता है। भाषादृष्टिसे साम्य तो है ही, काहूनुपा, शबरीपा, लुईपा आदि उड़िया थे भी। साहित्यिक धाराकी दृष्टिसे भी पञ्चसखा साहित्यसे उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'बौद्धगान ओ दोहा'-के 'ओडियाण'का 'ओड्डियान'से सम्बन्ध है, जो 'कालिका-तन्त्र'के चार क्षेत्रोंमेंसे एक है।

इस युगके साहित्यमें गोरखनाथका 'सप्तांगयोगधारणम्' भी शामिल है। 'सप्तांगयोगधारणम्'में सात वारोंकी स्वर-साधना वर्णित है और नाथपन्थकी एक पुस्तक-सी प्रतीत होती है। लेकिन सचमुच गोरखनाथकी लिखी हुई है या नहीं इसमें सन्देह है, जैसा कि 'गोरखबानी' आदिके बारेमें।

दूसरा है 'मादलापांजि' जो जगन्नाथ-मन्दिरमें सुरक्षित है। आसाम बुरंजिके समान इसमें उड़ीसाके राजवंशका और जगन्नाथ-मन्दिरके नियोगोंका इतिहास लिपिबद्ध है। किम्वदन्तीके अनुसार गंगवंशके प्रथम राजा चोडगंगदेवने १०८२ ई० (कन्या २४ दिन, शुक्ल दशमी दशहराके दिन)में 'मादलापांजि'को लिखना शुरू किया था। लेकिन दूसरा मत है कि यह मुगलकालमें १६वीं शताब्दीमें रामचन्द्रदेवके राजत्वकालमें लिखवायी गयी थी।

'रुद्रसुधानिधि' भी सारलापूर्वकाल (१३वीं या १४वीं शती)की कही जाती है। यह पुस्तक सम्पूर्ण प्राप्त नहीं है और प्राप्त अंश सम्पूर्ण छपा भी नहीं है। इस शैव ग्रन्थके लेखक नारायणानन्द अवधूत स्वामी हैं और इसमें एक योगभ्रष्ट योगीका वृत्तान्त वर्णित है। कुछ लोग कहते हैं कि यह वृत्तगन्धि गद्यमें लिखा गया है और कुछ कहते हैं दण्डिवृत्तमें।

'कलशा चौतिशा' भी सारलापूर्वकालका कहलाता है और इसके लेखक हैं वत्सादास। इसमें शिवजीकी बरयात्रा और विवाह हास्यरसमें वर्णित है।

सारलादास—सच कहा जाय तो सारलादास ही उड़ीसाके प्रथम जातीय कवि हैं और उड़ीसा साहित्यके आदिकालके प्रतिनिधि हैं। उन्होंने अपनेको 'शूद्रमुनि' और जन्मसे अज्ञान कहा है। उनका प्रथम नाम सिद्धेश्वर परिडा (नण्टायन) था। वे कटक जिलेकी झंकडवासिनी देवी चण्डी सारलाके वरप्रसादसे कवि हुए। इसलिए उन्होंने अपनेको सारलादास कहा और आज वे उसी नामसे परिचित और प्रसिद्ध हैं।

वे कपिलेन्द्रदेवके समसामयिक थे और उनका काल है १४३५–१४३७ ई०। कुछ लोग उनको गंगवंशके कपिल नरसिंहदेवके समकालीन बताकर उनका काल १३२८–१३५२ ई० बताते हैं। उनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं—'बिलंका रामायण', 'महाभारत' और 'चण्डीपुराण'। इस युगका अर्जुनदास लिखित 'रामविभा' नामक एक काव्यग्रन्थ भी मिलता है। चैतन्यदासके 'विष्णुगर्भपुराण' और 'निर्गुण-माहात्म्य' अलखपन्थी निर्गुणिया सम्प्रदायके दो ग्रन्थ भी पाये जाते हैं।

(२) मध्ययुगके दो विभाग हैं—(क) पूर्व मध्ययुग, (ख) उत्तर मध्ययुग। (क) पूर्व मध्ययुगको भक्तियुग कह सकते हैं, लेकिन यह भक्ति रामानुगा नहीं है, ज्ञानमिश्रा है, प्रेमप्रधान नहीं है, योगप्रधान है। इसमें कायसाधना प्रधान थी। 'बौद्धगान ओ दोहा'के शून्यकी पर्याप्त पर्यालोचना हुई है और पुरी जगन्नाथ ही उपास्य देवता थे, जगन्नाथ ही शून्य और कृष्ण थे।

पंचवैष्णव या पंचसखा इस युगके प्रधान थे, इसी समय चैतन्यदेव उड़ीसा आये थे और उन्होंने उनके साथ सख्य स्थापित किया था, जिससे वे पचसखा कहलाये और वंगीय वैष्णव ईर्ष्यान्वित होकर चैतन्यदेवको छोड़कर भाग गये थे।

वे पचसखा ये हैं—वलरामदास, जगन्नाथदास, यशोवन्तदास, अनन्तदास और अच्युतानन्ददास। वलरामदास, रामतारक मन्त्रके, जगन्नाथदास षोडश नाम या बत्तीस अक्षर मन्त्रके, यशोवन्तदास पंचाक्षर मन्त्रके, अनन्तदास एकाक्षर मन्त्रके और अच्युतानन्ददास अष्टाक्षर मन्त्रके उपासक थे। पंचसखाओंमेंसे प्रत्येकने अनेक ग्रन्थ लिखे थे, जिनमेंसे कुछ मुद्रित हैं, कुछ अमुद्रित और कुछ अप्राप्य भी।

उसी कालमें कुछ जीवनियाँ भी पद्यमें लिखी गयी थीं। दिवाकरदासने 'जगन्नाथचरितामृत' लिखा था, जिसमें पचसखाओंके जगन्नाथदासकी जीवनी दी गयी है और जिससे समकालीन गौडीय सम्प्रदायकी भी एक झलक मिलती है। दिवाकरदास षोडश शताब्दीके प्रथमार्धके हैं। सप्तदश शताब्दीके प्रारम्भमें ईश्वरदासने 'चैतन्य भागवत' लिखा था।

सालवाग नामके एक मुसल्मान भक्त कविने भी भक्तिरसात्मक अनेक गान लिखे थे।

यह तो हुई धर्मधाराकी प्रवृत्ति। आदि युगके अर्जुनदासकी 'रामविभा' काव्यधारा भी मरी नहीं थी। शिशुशंकरदासके 'उषाभिलाष', कपिलेश्वरदासके 'कपटकेलि', हरिहरदासके 'चन्द्रावलिविलास', देवदुर्लभदासके 'रहस्यमंजरी' आदि पौराणिक काव्योंके साथ-साथ लौकिक या काल्पनिक काव्यकी भी उत्पत्ति उसी कालमें हुई थी, जिसका उदाहरण प्रतापरायकी 'शशिसेणा' है।

(ख) रीतिकाल—भक्तिकालके वाद रीतिकाल आता है, जिसका हिन्दीके रीतिकालसे साम्य है। इस कालमें पौराणिक और काल्पनिक, दोनों प्रकारके काव्य पाये जाते हैं। नायिकाओंमें सीता, राधातकका नखशिख वर्णन किया जाता है। इस युगका काव्य शब्दालंकार, क्लिष्ट शब्दों और शृङ्गाररससे भरपूर है। काव्यलक्षण, नायक नायिकालक्षण आदिके प्रति यथेष्ट दृष्टि दी गयी है। उपेन्द्रभंजने इसको पराकाष्ठातक पहुँचा दिया। अत इस युगका नाम भंजयुग पड़ गया, किन्तु यह काल इसके पहलेसे शुरू हो गया था। धनंजयभंज (१६३७–१७०१ ई०) उपेन्द्रभंजके पितामह थे और घुमसरके राजा थे। उन्होंने रामायणपर आधारित 'रघुनाथविलास-काव्य' और 'त्रिपुरसुन्दरी', 'मदनमंजरी', 'रत्नमंजरी', 'अनंगरेखा', 'इच्छावती', आदि अनेक काल्पनिक काव्य लिखे थे। उनके 'रत्नपरीक्षा', 'अश्व और गज परीक्षा' आदि कुछ लक्षणग्रन्थ और चौपदी, भूषण आदि संगीतग्रन्थ भी पाये जाते हैं। उनका प्रभाव उपेन्द्रभंजपर स्पष्ट है।

दीनकृष्णदास द्वितीय मुकुन्ददेव (१६५१–१६८६ ई०) और दिव्यसिंहदेव (१६८६–१७०३ ई०) के समसामयिक थे। उन्होंने राधाकृष्णपरक 'रसकल्लोल' काव्य लिखा था, जिसकी प्रत्येक पंक्तिका प्रथम अक्षर 'क' है। व्यक्तित्वके साथ इनका काव्य भी उच्च कोटिका है। इनके अतिरिक्त उनकी 'रामरत्नगीता,' 'रसविनोद,' 'नावकेलि,' 'अलंकारकेलि', आर्त्तत्राण,' 'चौतिशा' आदि अनेक कृतियाँ पायी जाती हैं।

वृन्दावनी दासीने 'पूर्णतम चन्द्रोदय' लिखा था, जिसमें गौडीय सम्प्रदायके अनुसार रामानुगा भक्ति प्रतिपादित हुई है। श्रीकृष्ण ही पूर्णतम चन्द्र हैं।

भूपति पण्डित पश्चिमी सारस्वत ब्राह्मण थे और तिरहुत होकर दिव्यसिंहदेवके समयमें उड़ीसा आये। उड़िया सीखकर उन्होंने भागवतके समान नवाक्षरी वृत्तमें 'प्रेम-पचामृत' लिखा था, जिसमें उड़िसी सम्प्रदायके अनुसार कृष्णकी लीला प्रतिपादित हुई है। उनका एक चौतिशा भी उपलब्ध है।

लोकनाथ विद्यालंकारने 'सर्वांगसुन्दरी,' 'पद्मावती-परिणय,' 'चित्रकला,' 'रसकला' और 'वृन्दावनविहार-काव्य' लिखा था। 'वृन्दावनविहार' एक पौराणिक-धार्मिक ग्रन्थ है और बाकी सब काल्पनिक हैं। इन काव्योंमें रीतिकालके सब लक्षण विद्यमान हैं।

इस पृष्ठभूमिको लेकर उपेन्द्रभंज पैदा हुए थे १६८५ ई० में और उनकी मृत्यु हुई थी १७२५ ई० में। उनका भी जन्मस्थान घुमसर था और वे धनंजयभंजके पौत्र थे। पहले कहा गया है कि पौत्रपर पितामहका यथेष्ट प्रभाव पड़ा था। 'रघुनाथविलास'की टक्करपर उन्होंने 'वैदेहीशविलास' लिखा था। नामसे स्पष्ट है कि विषय-वस्तु एक ही है, परन्तु 'वैदेहीशविलास'में नामके सदृश हर एक पंक्ति 'व'से शुरू होती है। छन्द (सर्ग) में बाईस, बत्तीस आदि वकारादि मस्तक पद भी होते हैं। दीनकृष्णके वकारादि 'रसकल्लोल'की टक्करमें 'कलाकउतुक' लिखा था, जिसका आदि और अन्त दोनों नामके समान 'क' है। उनके अन्य पौराणिक काव्य हैं–'सुभद्रा-परिणय', 'व्रजलीला', 'कुंजविहार', 'रामलीलामृत,' 'अवनारसतरंग' आदि। 'अवनारसतरंग'में इकारादि कोई मात्रा नहीं है, 'सुभद्रा-परिणय' सकारादि है। उनके काल्पनिक काव्योंमें प्रधान हैं 'लावण्यवती,' 'कोटिब्रह्माण्डसुन्दरी,' 'रसिकहारावली,' 'प्रेमसुधानिधि,' 'भाववती,' 'शोभावती' 'इच्छावती', 'कलावती' इत्यादि। इन काव्योंमें रीतिकालके सब लक्षणोंका सम्पूर्ण विकास हुआ है। कहीं-कहीं सीमा अतिक्रम कर अश्लीलता भी आ गयी है। कथावस्तुमें हिन्दीके रीतिकालीन काव्योंके साथ अनेक साम्य हैं।

उन्होंने एक आलंकारिक ग्रन्थ लिखा था 'रसपंचक', जिसके पाँच परिच्छेदोंमें र, म, प, च, क, पाँच अक्षरादिका नियम पालित हुआ है। 'चित्रकाव्यबन्धोदय' चित्रकाव्यका एक अच्छा नमूना है। उन्होंने एक कोषग्रन्थ भी लिखा था, 'गीताभिधान' जिसमें कान्त, खान्त आदि अन्त्य अक्षरका नियम पालित है। इनके अलावा 'छन्दभूषण', 'षट्ऋतु' आदि अनेक कृतियाँ और पायी जाती हैं।

पूर्वोक्त चर्चासे पता चलता है कि मध्यकालके उड़िया साहित्यमें दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट थीं, एक उड़िसी वैष्णव धर्मकी, दूसरी रीति-लक्षणोंकी। साथ-साथ यह भी लक्ष्य करनेकी बात है कि पचसखाओंके समय चैतन्यदेव उड़ीसा आये थे। धीरे धीरे उनका भी सम्प्रदाय जड़ जमाने लगा।

इसलिए भंजकालीन साहित्यके बाद उड़िया साहित्यमें गौड़ीय वैष्णव धर्म और रीतिकालीन लक्षण, दोनोंका समन्वय देखनेमें आता है। इस कालके काव्य प्रायशः राधाकृष्ण-प्रेम-परक हैं और इनमें कभी-कभी अश्लीलत्व भी आ गया है। इनमें प्रधान हैं—सच्चिदानन्द कविसूर्य (साधुचरणदास)की 'प्रेमतरंगिणी,' 'प्रेमलहरी,' 'प्रेमचिन्तामणि,' 'युगलरसामृतलहरी' आदि। भक्तचरणदासका 'मथुरामंगल,' 'मनबोध चौतिशा,' 'कलाकलेवर चौतिशा', 'ननशिक्षा' आदि। अभिमन्युसामन्तसिंहारका 'विदग्ध-चिन्तामणि,' 'प्रीतिचिन्तामणि,' 'सुलक्षणी,' 'रसवती,' 'प्रेमकला,' 'रसकला' आदि। गोपालकृष्ण पट्टनायकको 'पद्यावली'। यदुमणि महापात्रका 'प्रबन्धपूर्णचन्द्र'। बलदेव कविसूर्यका 'किशोरचन्द्रानन चम्पू,' 'रत्नाकर चम्पू,' 'चन्द्रकला' आदि।

इस क्रममें प्रधानतया दो व्यक्ति पाये जाते हैं—(१) व्रजनाथ बटजेना और (२) भीम भोई। व्रजनाथ बटजेनाने 'गुण्डिचाविजे' नामक एक खोरता (हिन्दी) काव्य भी लिखा था। उनके दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'समरतरंग' और 'चतुरविनोद'। 'समरतरंग'में तत्कालीन ऐतिहासिक घटना नागपुरके चिमनाजी बाबूके साथ ढेंकानालके राजा त्रिलोचन महेन्द्र बहादुरका युद्ध अनोखे ढंगसे वर्णित है। यह एक ऐतिहासिक काव्य है। 'चतुरविनोद' एक हास्य रसात्मक गद्यकाव्य है और इसमें चार विनोद हैं—हास्यविनोद, रसविनोद, नीतिविनोद और प्रीतिविनोद। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'अम्बिकाविलास', 'श्यामरासोत्सव', 'केलिकलानिधि', 'विचक्षणा' आदि काव्य भी लिखे हैं।

भीम भोई जन्मसे अन्धे थे और जातिके कन्ध (आदिवासी)। वे कुम्भिपाटिआ या महिमा धर्मके अनुयायी थे और महिमा गोसाईंके उपासक। वे निरक्षर थे, लेकिन उनके रचित 'स्तुतिचिन्तामणि' ब्रह्मनिरूपण और अनेक भजन पाये जाते हैं। उड़ीसामें वे अत्यन्त प्रख्यात हैं।

(३) आधुनिक युग—मध्य युगमें मुगल-काल और मरहट्टा काल समाप्त हो जाता है। उसके बाद ब्रिटिश-कालका आरम्भ होता है। अँग्रेजोंके आनेके बाद अन्य प्रान्तोंके समान उड़ीसाके साहित्यमें भी परिवर्तन आता है। यहींसे आधुनिक युगका आरम्भ होता है। आधुनिक युगकी प्रवृत्ति प्रायः सब प्रान्तोंमें एक-सी ही है।

प्रारम्भमें अँग्रेजी शासनके समान अँग्रेजी साहित्यके प्रति भी कुछ लोगोंको मोह उत्पन्न हो गया था, लेकिन साथ-साथ वे प्राचीन प्रान्तीय साहित्य और संस्कृत, फारसी साहित्यसे सम्पूर्ण रूपसे विच्छिन्न नहीं हुए थे। फारसी और हिन्दी साहित्यका प्रभाव भी थोड़ा-बहुत था। इसी कालके प्रधान कवि हैं राधानाथ राय। वे स्कूल-इंस्पेक्टर थे। उनपर अँग्रेजी साहित्यका प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने कुछ ऐतिहासिक काव्य लिखे थे, जैसे—'पार्वती', 'नन्दिकेश्वरी', 'ययातिकेशरी' आदि। 'महापात्र' प्रथम अमित्राक्षर छन्दमें लिखित एक महाकाव्य है, जिसमें अँग्रेजी कवि मिल्टनका प्रभाव स्पष्ट है।

उन्होंने 'मेघदूत', 'वेणीसंहार' और 'तुलसी-पद्यावली'-का ('तुलसी-स्तवक'के नामसे) अनुवाद भी किया था। इसके अतिरिक्त 'दुर्योधनका रक्तनदीसन्तरण', 'शिवाजीकी उत्साह-वाणी' आदि कुछ उनकी फुटकर कविताएँ भी पायी जाती हैं। उनके कुछ गद्य 'इतालीय युवा', 'विवेकी' आदि पाये जाते हैं। लेकिन यह गद्य पठवाक्य नहीं है। किन्तु पद्यकी भाषा और शैलीमें उन्होंने एक विप्लव ला दिया। उनकी सब रचनाएँ 'राधानाथ-ग्रन्थावली' नामसे छपी हैं। आधुनिक युगको कुछ लोग राधानाथ-युग भी कहते हैं।

इसी युगमें बंगालमें राजेन्द्रलाल मित्र आदि एक आन्दोलन चला रहे थे कि उड़िया एक स्वतन्त्र भाषा नहीं है। उसीका जवाब देनेके लिए उड़ीसाके कुछ लोगोंने कमर कसी। फकीरमोहन सेनापति उनमें मुख्य थे। गद्य-उपन्यासमें वे बेजोड़ हैं। गद्यकी भाषा और शैली उन्होंने प्रतिष्ठित की। उन्होंने 'लछमा', 'मामुँ', 'छमाण', 'आठगुंठ', 'प्रायश्चित्त' उपन्यास लिखे। उनके गल्प भी 'गल्पस्वल्प' नामसे दो भागोंमें संगृहीत हैं। उन्होंने अपना 'आत्मजीवन-चरित' भी लिखा था। 'प्रायश्चित्त'का हिन्दीमें अनुवाद भी हुआ था, 'समाजकण'के नामसे। 'मामुँ'का भी अनुवाद हुआ है।

पद्यमें भी उन्होंने 'उत्कलभ्रमण', 'पुष्पमाला', 'उपहार', 'बौद्धावतार काव्य', 'अवसर-वासर' (छोटी कविताओंका संग्रह) आदि लिखे थे। उन्होंने 'छान्दोग्यो-पनिषद्', 'रामायण', 'महाभारत' आदिका पद्यानुवाद भी किया था।

इस कालके प्रधान कवि हैं मधुसूदन राय। वे भी स्कूल-इंस्पेक्टर थे। उन्होंने अनेक पाठ्य पुस्तकें लिखीं और उसी प्रसंगमें अनेक कविताएँ भी। वे ब्राह्मसमाजी थे। उनकी कविताएँ भक्तिपरक हैं। इसलिए वे भक्त कवि कहलाते हैं। मालूम होता है कि रवीन्द्रनाथ और उनके परिवारका यथेष्ट प्रभाव उनपर पड़ा था। उनकी एक प्रसिद्ध कविता है 'ऋषि प्राणे देवतावतरण'। उसको देखनेसे मालूम होता है कि हिमालयपर देवेन्द्रनाथ ठाकुरको ही सामने रखकर वह कविता लिखी गयी है। 'पद्म', 'ध्वनि' आदि कविताओंमें छायावाद स्पष्ट है। उन्होंने 'उत्तररामचरित'का भी अनुवाद किया था।

काव्य, उपन्यास और गल्पके समान नाटकपर भी लोगोंकी दृष्टि पड़ी थी। उनमें प्रधान हैं रामशंकर राय। उन्होंने नाटक (पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक), गीति-नाट्य, प्रहसन और यात्रा सबपर हाथ दिया था। उनके नाटक हैं—'कांचिकावेरी', 'वनमाला', 'रामवनवास', 'कंसवध', 'विषमोदक', 'युगधर्म', 'कांचनमाली', 'चैतन्य-लीला', 'लीलावती', 'रामाभिषेक'। गीतिनाट्य है—'विश्वयज्ञ'। प्रहसन हैं—'कलिकौतुक', 'बुढ़ावर'। यात्रा है—'वटलोक'। उनकी 'प्रमतरी' एक गाथा और 'विकासिनी' एक उपन्यास भी उपलब्ध है। ये सब भी एक ग्रन्थावलीमें सन्निवेशित हैं।

उस कालके एक और प्रधान कवि हैं गंगाधर मेहेर। वे प्रकृतिके उपासक थे और इसलिए प्रकृति-कवि कहलाते हैं। वे उड़ीसाके वर्ड्सवर्थ कहे जा सकते हैं। कालिदास ही उनके आदर्श थे। उनकी 'प्रणयवल्लरी' 'अभिज्ञान शाकुन्तल' पर आधारित है। 'तपस्विनी'का विषय सीतावनवास है।

'इन्दुमती' रघुवंशके अजविलापपर आधारित है। उन्होंने 'कीचकवध' काव्य भी लिखा था। इनके अतिरिक्त उनकी 'उत्कललक्ष्मी', 'भारती-भावना', 'अहल्या-स्तव' आदि कविताएँ इस युगमें पल्लीकवि नन्दकिशोरवल, प्रावन्धिक और सम्पादक विश्वनाथकर, व्यंगकारक गोपालचन्द्र प्रहराज आदिका नाम भी लिया जा सकता है।

आधुनिक युगके राधानाथ-युगके बाद सत्यवादी युग आरम्भ होता है। सारे हिन्दुस्तानमें कांग्रेस और महात्मा गान्धीका प्रभाव पड़ा था। शान्तिनिकेतनके समान सत्यवादी (साक्षीगोपाल) में गोपबन्धु दासने एक वनविद्यालयकी प्रतिष्ठा की। जातीय भाव बढ़ रहा था। इसलिए इस युगकी कविताओंमें जातीय भाव स्पष्ट है। और एक बात लक्ष्य करनेकी है कि राधानाथके 'पार्वती', 'नन्दिकेश्वरी' आदि काव्योंने इतिहासको विकृत और जातीय चरित्रको कलंकित किया था। सत्यवादी युगमें उसका भी प्रतिवाद होता है।

सत्यवादीके प्रवर्तक है गोपबन्धु दास। उनके लिखित 'धर्मपद', 'बन्दीर आत्मकथा' 'कारा कविता', 'अवकाश-चिन्ता' आदि प्रधान ह। धर्मपद कोणार्कके प्रधान बढ़ई विशुमहारणका लड़का था। उन्होंने बारह सौ बढ़इयों-(शिल्पियों)की प्राणरक्षाके लिए अपने प्राण त्याग किये थे।

नीलकण्ठ दास भी इसी युगके हैं। उन्होंने टेनीसनकी 'प्रिंसेस'के आधारपर 'प्रणयिनी' और 'इनौक आर्डेन'के आधारपर 'दासनायक' भी लिखा था। इस युगके और एक प्रधान लेखक थे गोदावरीश-मिश्र। उनके 'पुरुषोत्तम-देव' और 'मुकुन्ददेव' नाटक प्रख्यात है। उन्होंने अनेक 'लिरिक' और 'सॉनेट' कविताएँ भी लिखी थीं। उनका सचयन 'गीतायन'में हुआ है।

उसी कालमे छायावादी पद्मचरण पट्टनायक, हास्यरसिक लक्ष्मीकान्त महापात्र और नारी कवि कुन्तला कुमारी सावत आती हैं।

सत्यवादी युगके बाद रोमाण्टिक युग आता है। उसके प्रधान कवि है मायाधर मान सिंह। उनके 'धूप', 'हेमशस्य', 'हेमपुष्प' आदि प्रधान ग्रन्थ ह। उनकी लेखनी अभी भी बन्द नहीं हुई है।

रोमाण्टिक युगके बाद सबुज युग आया। यह एक मिलित उद्यम था। उसमें पाँच आदमियोंका सहयोग था। ये पाँच है—कालिन्दीचरण पाणिग्राही, वैकुण्ठनाथ पट्टनायक, हरिहर महापात्र, शरच्चन्द्र मुखर्जी और अन्नदाशकर राय। उनकी कविताएँ 'सबुजकवित्व' नामसे प्रसिद्ध हैं और प्रकाशित हैं। 'वासन्ती' उपन्यास उन लोगोंके सम्मिलित लेखनका फल है।

पीछे वे लोग अलग-अलग हो गये। अन्नदाशकर राय बँगलामें चले गये। हरिहर महापात्र और शरच्चन्द्र मुखर्जीने लिखना स्थगित कर रखा है। बाकी दो अभी-तक लेखनी चला रहे हैं। कालिन्दीचरण पाणिग्राहीका 'माटिर मणिष' प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त उनकी 'लुहारमणिष', 'मुक्तागढरक्षुधा', 'द्वादशी', 'सागरिका' आदि अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं। वैकुण्ठनाथ पट्टनायककी कविताओंका संग्रह काव्यसचयनमें हुआ है।

इसके बाद प्रगतियुग या अत्याधुनिक युग आता है। इस युगके प्रसिद्ध लेखक हैं सच्चिदानन्द राउत राय। उनकी रचनाओंमें 'पल्लीचित्र', 'पाण्डुलिपि' आदि प्रधान है। आधुनिक समयमें औपन्यासिक गोपीनाथ महान्ति, कान्दुचरण महान्ति, नित्यानन्द महापात्र, राधामोहन गडनायक, क्षुद्र गालिक, गोदावरीश महापात्र आदि प्रसिद्ध लेखक हैं। —प्र० प्र०

उत्कंठिता (नायिका)—इसके लिए 'उत्का' शब्दका भी प्रयोग हुआ है। अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद, विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भरतने इसका उल्लेख किया है। भानुदत्तके अनुसार 'संकेतस्थलं प्रति भर्तुरनागमनकारणं या चिन्तयति', अर्थात जो आहेट-स्थलपर पहुँचकर नायकके आनेकी प्रतीक्षा करती है। (र० म० पृ० ११७)। उत्कण्ठाका अर्थ होता है उत्सुकता और इस नायिकामें प्रतीक्षाके साथ उत्सुकताका भाव विशेष देखा जाता है—'आप जाय सकेतमें पीव न आयो होय। ताको मन चिन्ता करै ।'(मतिराम रसराज १५६)। कुछ आचार्योंने मुग्धामें इसका भेद नहीं माना है। इनके अतिरिक्त सभी, स्वकीयाके भेदों, परकीया तथा सामान्यामें इस रूपको मानते हैं। मुग्धा उत्कण्ठिता लज्जाके कारण अपनी उत्कण्ठा प्रकट नहीं कर पाती—'अरे सु मो मन बावरे इतहि कहा अकुलात। अटकि अटा कित पति रह्यो तितहि क्यों न चलि जात।' (पद्माकर जगद्विनोद १ १९४)। मध्या उत्कण्ठिता अधिक व्यग्र और विह्वल होती है—'बारहि बार बिलोकत द्वारहिं चौंकि परै तिनके खरके हूँ। सेज परी मतिराम बिसूरति आयी अहो अबहीं लखि मैं हूँ।' (रसराज १५९)। प्रौढा उत्कण्ठिता अधिक मुखर है—'पिय पथ हेरति गोरिया भो भिनुसार। चलहु न करिहि तिरियवा तुव इतवार।' (रहीम बरवै ५९)। परकीयाकी उत्कण्ठामें व्यग्रताके साथ गोपनका भी भाव रहता है—'तिनकौ तिनके खिरकै खिरकौ तिनके मनको ठहरैबौ करै। लखि बोलत बोल तमालके टोलत चाउसों चौंकि चितैबौ करै।' (दास शृं० नि० : १७३)। सामान्याकी उत्कण्ठा वास्तविक कहाँ तक हो सकती है, पर शृंगारके आलम्बन रूपमें उसे भी प्रेमयुक्त ही माना गया है—'कठिन नींद भिनुसरवाँ आलस पाय। धन दै मितवा रहल लुभाय।' (रहीम बरवै० ६१)। उत्कण्ठिताके रूपमें भक्ति तथा रीतिकाव्यमें नायिकाकी भाव-विह्वलता, चिन्ता, उत्सुकता, आकाक्षा तथा आतुरता आदिका सुन्दर चित्रण किया गया है।

उत्तमा (नायिका)—गुण अथवा प्रकृतिके अनुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद, विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। भरतसे यह विभाजन स्वीकृत होता आया है। भानुदत्तके अनुसार यह नायिका 'अहितकारिण्यपि प्रियतमे हितकारिण्युत्तमा' अर्थात् अहित किये जानेपर भी हित करनेवाली नायिका उत्तमा है (र० म० पृ० १५०)। मतिराम भी ऐसा ही करते हैं—'प्रिय हितकै अनहित करै आप करै हित बारि।' पर अन्य 'दोष लखि सुनि कर भी अपने प्रियपर रोष न करनेवाली इसे मानते हैं। इस

नायिकाके वर्णनमें कवियोंने आत्मसन्तोष, निर्भरता तथा याचनाका भावमय तथा वैचित्र्यपूर्ण अङ्कन किया है–'विनती इती है कै हमेसह मुहै तौ निज पाइनकी पूरी परिचारिका गने रहौ। याहीमें मगन मनमोहन हमारो मन लगनि लगाइ लाल मगन बने रहो।' (पद्माकर : जगद्विनोद : १ : २७१)।

उत्तर–लोकन्यायमूल अर्थालंकार इसको हिन्दीमें प्रश्नोत्तर तथा गूढोत्तर भी कहा गया है। इसकी व्याख्यामें पर्याप्त अन्तर रहा है। इसको सर्वप्रथम रुद्रटने अपने वास्तववर्गमें स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार 'उत्तर अलंकारमें या तो उत्तरके सुननेभरसे प्रश्नकी कल्पना कर ली जाती है या प्रश्नके रहते हुए भी ऐसे उत्तरकी कल्पना की जाती है जिसकी सामान्यत कोई सम्भावना नहीं होती' (का० प्र० १० . १२१)। वस्तुत उत्तर सम्बन्धी चमत्कार ही इसमें प्रधान रहता है। 'साहित्यदर्पण'की परिभाषा है–'उत्तर प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि । यच्चासकृदसम्भाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ।' (१० ८०) अर्थात् जब उत्तरसे प्रश्नका अनुमान किया जाय अथवा किये गये अनेक प्रश्नोंसे अनेक असम्भावित उत्तर कहे जायँ। हिन्दीमें 'कुवलयानन्द'के आधारपर जसवन्तसिंहने इसे लिया है, पर इनका दिया हुआ नाम गूढोत्तर है। मतिराम तथा पद्माकर आदिने गूढोत्तर नाम दिया है। भूषण तथा दास आदिने प्रश्नोत्तर कहा है। इनकी परिभाषाएँ भी बहुत स्पष्ट नहीं हैं। —'कोई बूझे बात कछु कोऊ उत्तर देय' भूषणका यह लक्षण भ्रामक है।' (शिवराजभूषण : ३१०)। दास भी अस्पष्ट हैं—'विविध प्रश्नके विविध उत्तर'। पद्माकरने केवल 'साभिप्राय उत्तर' कहकर छुट्टी पा ली है (पद्मा० ३४६), मतिरामने 'अभिप्राय सों सहित जो उत्तर' (ल० ल० : ३४८) कहकर उत्तर सम्बन्धी चमत्कारकी ओर संकेत किया है। आधुनिक काव्यशास्त्रियोंने संस्कृत आचार्योंके आधारपर पुन उत्तरकी प्रतिष्ठा की है। कन्हैयालाल पोद्दारने इसका विस्तार मम्मटके आधारपर दिया है।

प्रथम उत्तर वहाँ माना जाता है जहाँ प्रतिवचनके ज्ञानसे प्रश्न (पूर्ववाक्य)का अनुमान कर लिया जाता है। इसके भी दो विभाजन हैं–(क) उन्नति प्रश्नमें व्यंग्ययुक्त उत्तर सुनकर प्रश्नकी कल्पना की जाती है—'बसौ पथिक इत आजु ही आगे नगर उजार' (पद्मा० : ३४६)में उत्तरमें चमत्कार है और साथ ही प्रश्नकी व्यंजना भी। (ख) निबद्ध प्रश्नमें कई बार प्रश्न किये जानेपर कई बार अप्रसिद्ध उत्तर दिया जाता है। दासके उदाहरण—'को इत आवत–कान्ह हौं, कहा काम–हित मान। कित बोलै–तेरे दृगन, साखी–मृदु मुसिकान।' (का० नि० १७)में इसी प्रकारके प्रश्नोत्तर हैं। **द्वितीय उत्तर**में प्रश्नमें ही उत्तर अथवा बहुतसे प्रश्नोंका एक ही उत्तर होता है। इसका आधार श्लेष रहता है। कन्हैयालाल पोद्दारने काशिराजसे उदाहरण लिया है—'को कहिये जलसों सुखी, का कहिये पर स्याम। काकहिये जे रस बिना, कोकहिये सुख बाम।' जलमें कौन सुखी है प्रश्नका उत्तर इसीमें समाहित है, कोकला हृदय जलमें सुखी है आदि। इसी प्रकार भूषणके उदाहरणमें कई प्रश्नोंका एक उत्तर है—'को दाता, को रन चढ़ो, को जगपालनहार। कवि भूषन उत्तर दियो सिव नृप हरि अवतार।' (शि० भू० . ३१४)। रीतिकालके कवियोंने इस अलंकारका प्रयोग किया है, पर इसकी कल्पना उनके मनमें स्पष्ट नहीं रही है। यह अलंकार आधुनिक कवियोंमें भी प्रचलित है, विशेषकर छायावादी कवि प्रसाद, पन्त तथा महादेवीके इस प्रकारके चमत्कारिक प्रश्नोत्तरोंमें गहरी व्यंजना है।

यह अलंकार कई अन्य अलंकारोंके निकट है। मम्मटके अनुसार यद्यपि काव्यलिंगमें हेतु-कथन होता है, परन्तु काव्यलिंगमें कारकरूप हेतु अपेक्षित है, जबकि उत्तरको प्रश्नका ज्ञापक कारणभर कहा जा सकता है। ज्ञापक हेतुके कारण इसे 'अनुमान' अलंकार भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'अनुमान'में साध्य-साधन, दोनों शब्द द्वारा स्पष्ट कहे जाते हैं जबकि 'उन्नति प्रश्न'में साधनरूप उत्तरवाक्यका कथन किया जाता है। 'निबद्ध प्रश्न'का 'परिसंख्या'से भेद भी स्पष्ट है। 'परिसंख्या'के समान 'उत्तर'में किसी दूसरी वस्तुका निषेध नहीं होता है, वरन् अप्रसिद्ध उत्तर होते हैं। —र०

उत्तरमध्यकाल–हिन्दी साहित्यके इतिहासको तीन भागों–आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक कालमें बाँटा जाता है। उत्तरमध्यकाल मध्यकालका उत्तरार्ध भाग है। मध्यकाल दो युगों, भक्तिकाल और रीतिकाल या शृङ्गारयुगमें विभक्त किया जाता है। उत्तरमध्यकाल द्वितीयार्ध रीतियुग है। उत्तरमध्यकाल संवत् १७०० वि०से १९०० वि० या मोटे तौरपर सन् १६५८ से १८५७ ई० शाहजहाँके शासनकालकी समाप्तिसे प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम (सन् १८५७)-तक माना जाता है। कवियोंकी दृष्टिसे चिन्तामणि त्रिपाठीसे लेकर प्रताप साहिनक या भारतेन्दुके उदयके पूर्वतकका काल उत्तरमध्यकाल है। राजनीतिक दृष्टिसे यह मुगल शासनका क्रमश अवसानकाल है। औरङ्गजेबकी नीति और उसके उत्तराधिकारी शासकोंकी अयोग्यता और विलासिताके परिणामस्वरूप मुगल शासनका ह्रास, अनेक छोटे-बड़े राज्योंका उदय तथा अँग्रेजोंके पदार्पण और क्रमश अँग्रेजी प्रभावकी वृद्धिका काल है। इसी कालके ठीक मध्यमें सन् १७५७ ई० के प्लासी युद्धसे अँग्रेजोंका प्रभुत्व और शासन बंगालमें कायम हुआ था।

धार्मिक दृष्टिसे इस युगमें विभिन्न (सगुणोपासना, निर्गुणोपासना, सूफी आदि) सम्प्रदायोंकी परम्पराका विकास हुआ। इस युगमें कृष्णोपासक सम्प्रदायोंका सबसे अधिक प्रभाव बढ़ा और रामोपासनामें भी शृंगारिक प्रवृत्तियोंका समावेश हुआ। प्रधानतया यह युग परम्परापालन या रूढिनिर्वाहका काल है, जिसमें शास्त्रबुद्धिका विकास हुआ। पूर्वमध्यकालके व्यापक समन्वयकी प्रतिभा इस युगमें कम देखनेको मिलती है। धर्म परम्परापालनके रूपमें अधिक था। इस कालका प्रधान दृष्टिकोण ऐहिक है।

साहित्यिक दृष्टिसे भी यह काल रूढिवादी है। वीरकाव्य, रामभक्तिकाव्य, कृष्णभक्तिकाव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, सन्तकाव्य आदिकी पूर्ववर्ती परम्पराओंका विकास इस कालमें होता रहा। प्रधान प्रवृत्ति रीतिकाव्यकी है जिसमें

संस्कृतके काव्यशास्त्रीय रस, अलंकार, ध्वनिग्रन्थोंके लक्षणोंके आधारपर कविता लिखनेका प्रचार हुआ। इसी कारणसे उत्तरमध्यकालको रीतिकाल (दे०) भी कहते हैं। इस युगके साहित्यकी प्रमुख प्रवृत्ति शृङ्गारिक है। हिन्दी साहित्यका उत्तरमध्यकाल भाषा-संस्कार एवं कलात्मक उत्कर्षका युग है। व्रजभाषा हिन्दीका ललित रूप इस कालमें देखनेको मिलता है। यह कहा जा सकता है कि इस कालमें व्रजभाषा साहित्यिक या सांस्कृतिक राष्ट्रभाषाका काम कर रही थी। दक्षिणमें हैदराबाद, पूना आदि स्थानोंसे लेकर उत्तरमें कुमाऊँतक इस भाषाके काव्यका सम्मान था। इस कालमें व्यापक रीतिसे साहित्यिक अभिरुचिके दर्शन होते हैं। उत्तरमध्यकाल कलाकाल या शृङ्गारकाल भी कहलाता है। —भ० मि०

उत्पत्तिवाद–दे०–'रसनिष्पत्ति', पर्याय–आरोपवाद।

उत्पाद्य कथावक्रता–दे०–'प्रकरणवक्रता',दूसरा नियामक।

उत्पाद्य वस्तु–इतिवृत्तकी दृष्टिसे यह नाटककी वस्तुके तीन भेदों–**प्रख्यात, उत्पाद्य** और **मिश्र**मेंसे एक भेद है। 'उत्पाद्य कविकल्पितम्' उत्पाद्य इतिवृत्त स्वयं कविकल्पित होता है। लक्ष्मीनारायण मिश्रके समस्या-नाटकों तथा सेठ गोविन्ददासके सामाजिक नाटकोंका इतिवृत्त कविकल्पित है। शूद्रकके 'मृच्छकटिक' और भवभूतिके 'मालतीमाधव'-की कथा उत्पाद्य ही है। —व० सिं०

उत्पाद्योत्पादकभाव–दे०–'रसनिष्पत्ति', आरोपवादके अन्तर्गत।

उत्प्रेक्षा–सादृश्यगर्भ अभेदप्रधान अध्यवसाय अर्थालंकार, जहाँ प्रस्तुतमें अप्रस्तुतकी सम्भावना होती है। इसका शब्दार्थ है अन्य(उपमान)का उत्कटतासे ज्ञान अथवा बलपूर्वक प्रधानतासे देखना। भरतने उत्प्रेक्षा अलंकार नहीं लिया, परन्तु भामहने 'यथासंख्य'के साथ 'उत्प्रेक्षा'का वर्णन किया है। उनके मतमें प्रस्तुतका भिन्न अप्रस्तुतसे गुण-लेशतः साम्य 'उपमा' है और गुणोंकी समतापर साम्य 'रूपक' है, परन्तु उत्प्रेक्षा अलंकारमें विशेष गुणसाम्य न हो, क्रिया-योग आवश्यक है—'अतद्गुणक्रियायोगाद् उत्प्रेक्षातिशयान्विता' (काव्यालंकार २ ९१)। भामहने 'उत्प्रेक्षावयव' अलंकारका भी वर्णन किया है, जिसका उदाहरण है—'उदय और अस्तमें समान रहनेवाले सूर्यके अस्त हो जानेपर क्लान्त दिवस अन्धकाररूपी घरमें मानो ठिकाना पानेके लिए जा रहा है।' (वही ३ ४८)। दण्डीने 'काव्यादर्श'में चेतन और अचेतनकी अन्यथा स्थित वृत्तिकी 'मन्ये', 'शङ्के', 'ध्रुवं', 'प्राय', 'नूनम्' आदि शब्दों द्वारा अन्यथासम्भावनामें उत्प्रेक्षा अलंकार बतलाया है (वही २ २२१, २३४)। नव्य आचार्योंमें केशव मिश्रने उत्प्रेक्षाकी सबसे अधिक प्रशंसा की है, उनके मतमें उत्प्रेक्षा 'सर्वालंकारसर्वस्व' भी है तथा 'कवि-कीर्ति विवर्धिनी' भी, नवोढाके स्मितके समान अपने सौन्दर्यसे वह पाठकके मनको आकृष्ट करती है। मम्मट उत्प्रेक्षाके प्रति उदासीन हैं। उन्होंने उत्प्रेक्षाका सामान्य वर्णन कर दिया है (का० प्र० १० ९२)। जयदेवने उत्प्रेक्षाके लक्षणमें 'निषेधके बिना' उन्नीयन(उत्कट कोटि सन्देह)को आवश्यक माना है (चन्द्रालोक ५ २९)। विश्वनाथ और अप्पय दीक्षितके लक्षणोंमें कोई विशेषता नहीं।

केशवदासने 'औरै वस्तुमें और कीजिये तर्क' लिखकर उत्प्रेक्षाका स्वरूप बतलाया है। उन्होंने 'उत्प्रेक्षोपमा'का भी वर्णन किया है। मतिराम, भूषण, पद्माकर आदिके लक्षण मम्मट तथा विश्वनाथपर आधारित हैं—'आन बातकी आनमें जहँ सम्भावना होय।' (शि० भू० ९७)। दासके अनुसार 'वस्तु निरखि कै हेतु लखि, कै आगम फल काज। कवि कै व्रकता कहति ये, लगै अवरसे काज।' (का० नि० ९), और इसके अतिरिक्त वाचक शब्दोंका कथन किया है। आधुनिक विवेचकोंने भी मम्मट और विश्वनाथका अनुसरण किया है।

उत्प्रेक्षाको स्वतन्त्र अलंकार-पद पीछे मिला, इस कारण इसके भेदोंका विस्तार भी पीछे ही हुआ है। भामहने तो उत्प्रेक्षाके भेद बताये ही नहीं, दण्डीमें 'चेतन' और 'अचेतन'के आधारपर भेद नहीं माने जा सकते। परन्तु 'काव्यादर्श'में 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।' लिखकर जो मत व्यक्त किया गया, वह लगभग ८०० वर्षों तक काव्यशास्त्रियोंके ध्यानको आकृष्ट किये रहा।

उत्प्रेक्षाका पूर्ण विस्तार विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण'में होता है। उत्प्रेक्षाके २ भेद हैं–'वाच्या' तथा 'प्रतीयमाना'। 'वाच्या' जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यगत होनेसे ४ प्रकारकी है, पुनः भाव अथवा अभावरूपसे ८ प्रकारकी हुई। इन आठों भेदोंके निमित्त गुण और क्रिया होनेसे भेद १६ हो गये। इनमेंसे जाति, गुण और क्रियाओंके १२ भेदस्वरूप, फल तथा हेतुके रहनेसे ३६ हुए, द्रव्यमें केवल स्वरूप ही होता है, इन चार भेदोंको मिलाकर वाच्योत्प्रेक्षाके ४० भेद हुए। स्वरूपोत्प्रेक्षाके १६ भेद निमित्तके उपादान या अनुपादानके कारण ३२ बन जाते हैं। अस्तु, स्वरूपोत्प्रेक्षाके ३२, फलोत्प्रेक्षाके १२ और हेतूत्प्रेक्षाके १२ भेद मिलकर वाच्योत्प्रेक्षा ५६ प्रकारकी हुई। प्रतीयमानाके केवल ३२ भेद हैं। इस प्रकार उत्प्रेक्षाके ५६+३२=८८ भेद हो जाते हैं। (सा० द० १० ५८–६२)। उत्प्रेक्षाके भेद 'सापह्नवा', 'श्लेषहेतुगा' तथा 'उपक्रमा' भी हैं, विश्वनाथने इनका वर्णन किया है। जिस उत्प्रेक्षामें अपह्नुति अंग बनकर आवे वह सापह्नवा है। प्रायः 'छल' आदि शब्दोंके प्रयोगसे अपह्नुतिका संकेत रहता है। यदि श्लेष उत्प्रेक्षाका हेतु है, तो उत्प्रेक्षा 'श्लेषहेतुगा' होगी। उपमावाचक शब्दके प्रयोगसे प्रारम्भ होकर जब अवसान सम्भावनामें होता है तो ऐसी उत्प्रेक्षा 'उपमोपक्रमा' कहलाती है।

जयदेवने 'हेत्वादि' लिखकर उत्प्रेक्षाके ३ भेदों–कारण, फल और वस्तुको स्वीकार किया है (चन्द्रालोक ५, ३०) और गूढ़ा (प्रतीयमाना) भेदको स्पष्ट लिखा है। यदि व्याख्या की जाय तो उनके अनुसार उत्प्रेक्षाके ६ भेद हो गये। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः इसी भेद-क्रमको स्वीकार कर लिया है। किसी-किसीने लुप्तोत्प्रेक्षा तथा उत्प्रेक्षा-मालाका उल्लेख भी किया है। इसी क्रमको आधुनिक विवेचकोंने भी अपनाया है। कन्हैयालाल पोद्दार तथा रामदहिन मिश्रने इसके दो प्रधान भेद–वाच्या और प्रतीयमाना माने हैं और फिर वाच्याके वस्तु, हेतु तथा

फल सम्बन्धी एव प्रतीयमानाके हेतु और फल सम्बन्धी भेद माने हैं। पुन इनके भी उक्त-विषया, अनुक्त-विषया अथवा सिद्ध, असिद्ध-विषया नामक दो-दो भेद किये गये हैं। —ओ० प्र०

१ **वस्तूत्प्रेक्षा**—उत्प्रेक्षाका एक भेद। जयदेवने 'हेत्वादि' लिखकर उत्प्रेक्षाके जो तीन भेद स्वीकार किये हैं, उनमेंसे एक। जगन्नाथने इसको स्वरूपोत्प्रेक्षा कहा है। इसमें एक वस्तुकी दूसरी वस्तुके रूपमें सम्भावना की जाती है, अर्थात् उपमेयमें उपमानकी सम्भावना। यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय (आश्रय) उपमेय होता है। इसके दो भेद स्वीकृत रहे हैं—उक्तविषया तथा अनुक्तविषया। इनको उक्तास्पदा और अनुक्तास्पदा भी कहते हैं। उक्तविषयामें उत्प्रेक्षाका विषय (उपमेय) कहकर उपमानकी सम्भावना की जाती है—'रैन तिमहले धन चढो, मुख छवि लखि नँदनन्द। घरी तीनि उदयाद्रि ते,जनु चढ़ि आयौ चन्द।' (का० नि० ९) अथवा-'सोहत ओढ़ै पीतु पट, स्याम सलौनैं गात। मनौ नीलमनि सैल पर, आतपु पर्यौ प्रभात।' (वि० र० . ५८९)। यहाँ उत्प्रेक्षाके विषय 'मुख' और 'स्याम गात'का कथन किया गया है। अनुक्तविषयामें उत्प्रेक्षाके विषयका कथन न करके उपमानकी सम्भावना की जाती है—'आकाश अजन वरसाकर मानो अन्तरिक्षको तमसे लीप रहा है,' यहाँ अन्तरिक्षको 'तमसे लीपना' सम्भावना है, परन्तु किस विषयकी, वह कहा नहीं गया। अथवा—'फिरत विपिन नृप देखि वराहू। जनु वन दुरेहु ससिहि ग्रसि राहू।' (रा० च० मा० . १ १५६), यहाँ वराहके दाँतोंके विना उल्लेख किये राहुके मुखमें चन्द्रमासे उत्प्रेक्षा दी गयी है।

२ **हेतूत्प्रेक्षा**—उत्प्रेक्षाका एक भेद जिसमें अहेतुमें हेतुको अर्थात् अकारणको कारण मानकर सम्भावना की जाती है। इसके दो उपभेद हैं—सिद्धविषया, असिद्धविषया। सिद्ध-विषयामें उत्प्रेक्षाका विषय सिद्ध अथवा सम्भव होता है—'तुम्हारे पदतल पृथ्वीके स्पर्शसे मानो रक्त वर्ण हैं।' अथवा-'मानो खोटी विरह-घटिका सामने देखके ही। कोई भी थी अवनतमुखी कान्तिहीना मलीना।' (प्रियप्रवास)। यहाँ 'रक्तता' तथा 'घटिका' सम्भव कारण हैं। असिद्ध-विषया—जिसमें उत्प्रेक्षाका विषय असिद्ध या असम्भव हो—'विरहिन-के अँसुवानते, भरन लग्यौ ससार। मैं जान्यौं मरजाद तजि, उमग्यौ सागर खार।' (का० नि० ९) अथवा—'मोर मुकुटकी चन्द्रिकनु, यौं राजत नँदनन्द। मनु ससिसेखरकी अकस, किय सेखर सत चन्द।' (वि० र० : ४१९), यहाँ सागरका उमँगना तथा शशिशेखरकी प्रतिद्विन्द्विता असिद्ध हैं।

३ **फलोत्प्रेक्षा**—उत्प्रेक्षाका एक भेद जिसमें अफलमें फलकी सम्भावना की जाती है। इसके दो भेद हैं—सिद्ध-विषया तथा असिद्ध-विषया। सिद्ध-विषया—जहाँ उत्प्रेक्षाका फल सिद्ध अथवा सम्भव हो—'आनन चन्द समान उग्यौ मृदु मजु हँसी जनु जौन्ह छटा है।' (ल० ल० १०७) अथवा—'पायतर आय नित निडर वसायवेकों, कोट बाँधियतु मानो पाग बाँधियतु है।' (शि० भू० . १०३)। यहाँ चन्द्रके उगनेमे ज्योत्स्नाका फैलना और 'पाग बाँधना' (सम्मान देना) फलके रूपकी सिद्ध कल्पनाएँ हैं। असिद्ध-विषया—जहाँ उत्प्रेक्षामें असिद्ध या असम्भव फलकी कल्पना हो—'खंजरीट नहिं लखि परत, कछु दिन साँची बात। बाल दृगन सम होनकों, मनों करन तप जात।' (का० नि० : ९) अथवा—'नाना सरोवर खिले नव पकजोंको, ले अंकमें विहँसते मन मोहते थे। मानो प्रसार अपने शतश करोंको, वे माँगते सरस्से शुचिभूतियाँ थे।' (प्रियप्रवास)। यहाँ 'तप करने जाना' तथा 'करोंको फैलाना' फलोत्प्रेक्षाके विषय असिद्ध हैं।

४ **वाच्या और प्रतीयमाना**—विश्वनाथ आदिने उत्प्रेक्षाके दो सामान्य भेद किये हैं—वाच्या और प्रतीयमाना। इव, मनु, जनु, मानो, मानहु, जानहु, सा, सी, से, प्राय, मेरे जान आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दोंका जहाँ प्रयोग होता है उसे वाच्या कहते हैं और जहाँ इन वाचक शब्दोंका प्रयोग नहीं होता उसे प्रतीयमाना कहते हैं—'वाच्येवादि-प्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुन' (सा० द० : १० . ४१)। 'रसगगाधर'में फिर प्रत्येकके तीन उपभेद किये गये हैं—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा। चन्द्रालोककारने 'प्रतीयमाना'को ही 'गूढोत्प्रेक्षा' कहा है। कुछ आचार्योंने 'गुप्तोत्प्रेक्षा' भी कहा है। विश्वनाथके मतसे प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा तथा हेतूत्प्रेक्षा ही हो सकती है, वस्तूत्प्रेक्षा नहीं, क्योंकि इसमें यदि वाचक शब्दका प्रयोग न किया जाय तो अतिशयोक्तिकी प्रतीति होने लगती है। यथा—'ससि मण्डलको छुवत हैं मनु या पुरके भौन।' (अ० म० : २२४), इसमें यदि 'मनु' हटा दिया जाय तो असम्बन्धमें सम्बन्धकी कल्पना असम्बन्धातिशयोक्ति होगी। पर जगन्नाथ इसे गम्योत्प्रेक्षा ही मानते हैं, क्योंकि उत्प्रेक्षाकी सामग्री विद्यमान है। प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा—'नित्य ही नहाता क्षीर-सिन्धुमें कलाधर है। सुन्दर तवाननकी समताकी इच्छासे।' (काव्यदर्पण), यहाँ समताके इच्छारूप फलकी कामना की गयी है, पर वाचक शब्द नहीं है। हेतूत्प्रेक्षा—'जानि पन चौथो अव मेष कै भगौहौं भानु, अस्ताचल थानमें पयान कियो चाहै है।' (अ० म० २२७), यहाँ कारण 'चौथापन' कहा गया है जो कारण नहीं है, पर वाचक शब्दका प्रयोग भी नहीं है।

जहाँ उत्प्रेक्षा श्लेषपर आधारित होती है, विश्वनाथने उसे श्लेषमूला माना है, जहाँ निषेध करके उत्प्रेक्षा की जाती है, सापह्नवा कहा है। उत्प्रेक्षा भ्रान्तिमान, सन्देह तथा अतिशयोक्तिसे स्पष्टत भिन्न है। उत्प्रेक्षामें वस्तुका वास्तविक ज्ञान रहता है, जब कि भ्रान्तिमानमें अन्य वस्तुकी कल्पना वास्तविक नहीं होती। उत्प्रेक्षामें प्रस्तुत-अप्रस्तुतमें एक प्रवल रहता है, जब कि सन्देहमें दोनों समकक्ष प्रतीत होते हैं। उत्प्रेक्षामें अध्यवसाय साध्य (उपमानका अनिश्चित रूपमे कथन) रहता है और अतिशयोक्तिमें अध्यवसाय सिद्ध, क्योंकि उपमेयका निगरण होकर उपमानमात्रका कथन होता है।

उत्प्रेक्षामें सौन्दर्य-वोधका विस्तृत क्षेत्र है। इसमें 'प्रस्तुतकी अप्रस्तुतरूपमें सम्भावनामें' कल्पनाका मुक्त प्रयोग किया जा सकता है और सादृश्य तथा साधर्म्यकी नानाविध स्थिति, परिस्थिति अथवा भाव-स्थितियोंकी सम्भावनाके लिए प्रकृतिका व्यापक सौन्दर्य प्रयुक्त होता है। यही कारण है कि उत्कृष्ट काव्यमें उत्प्रेक्षाका व्यापक प्रयोग

मिलता है। उपमा और रूपकके समान ही इसका प्रयोग हुआ है। विद्यापति, जायसी और सूरने सम्भवतः उत्प्रेक्षाको सबसे अधिक महत्त्व दिया है। इसका मुख्य कारण है कि इन तीनोंने सौन्दर्यका बहुत व्यापक तथा सूक्ष्म चित्रण किया है। इस सौन्दर्यके अन्तर्गत रूप, परिस्थिति तथा भावस्थिति सम्बन्धी सौन्दर्य आ जाता है। विद्यापतिने रूपसौन्दर्य और मनकी पीड़ा-व्यथाको अभिव्यक्त करनेमें अनेक अप्रस्तुत कल्पनाओंका सहारा लिया है। जायसीने रूप-सौन्दर्यमें वस्तूत्प्रेक्षा और प्रेम-विरहके वर्णनमें हेतूत्प्रेक्षाका विशेष प्रयोग किया है। यह अलकार उत्कर्षकी व्यजनाके लिए बहुत उपयुक्त है। सूरने उत्प्रेक्षाका प्रयोग सर्वाधिक और सबसे सुन्दर किया है। उनके साग-रूपक भी प्रायः उत्प्रेक्षाओंके द्वारा ही सघटित हुए हैं। सूरको रूप-सौन्दर्य तथा भाव-सौन्दर्यके चित्रणमें समान रूपसे सफलता मिली है और उनमें उत्प्रेक्षाके माध्यमसे उन्होंने कल्पनाका प्रयोग किया है। रूपके अनेक पक्षों स्थिति-जन्य, चचल, स्फुरित, क्रीड़ाशील, अलौकिक आदिके चित्रणमें उत्प्रेक्षाका आश्रय है। इसी प्रकार भावोंकी विविध स्थितियोंकी व्यजना सूरने स्वतः सम्भावनी तथा प्रौढोक्ति-सम्भव कल्पनाओं द्वारा की है। इसके अतिरिक्त जीवनकी अनेक अन्य स्थिति अथवा परिस्थितियोंको चित्रमय करनेमें भी इसका प्रयोग हुआ है। तुलसीने रूपात्मक अथवा भावात्मक सौन्दर्यके लिए उत्प्रेक्षा-के अनेक रूपोंका प्रयोग किया है और उनके ये सारे प्रयोग सहज-सौन्दर्य-विधान हैं। अनेक बार वे वाचक शब्दोंका प्रयोग नहीं करते। वीर-काव्यमें युद्ध, नगर, घोड़ा, हाथी, सामग्री आदिके वर्णनमें प्रतीयमाना तथा उक्त-विषया वस्तूत्प्रेक्षाका विशेष प्रयोग किया गया है। रीतिकालीन कवियोंमें सहज सौन्दर्यके स्थानपर कल्पनाकी उड़ान अधिक बढती गयी। उनकी रुचि सादृश्यमूलक अलकारोंमें भी चमत्कार उत्पन्न करनेकी अधिक है। यही कारण है कि इसका प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। आधुनिक युगके काव्यमें उत्प्रेक्षाका व्यापक प्रयोग हुआ है। इसका प्रयोग द्विवेदी-युगके कथा-काव्यमें हुआ, पर बादमें छायावादी काव्यमें कल्पनाकी सम्भावनाओंका क्षेत्र सूक्ष्म हो गया है। —स०

उत्सवगीत–लोकगीतोंकी परम्परामें प्रत्येक उत्सवके लिए गीत निश्चित और निर्धारित हैं। विभिन्न सस्कारोंके लिए विभिन्न प्रकारके गीतोंका विधान है। पुत्र-जन्मके अवसरपर गाये जानेवाले गीतका नाम **सोहर** है–'पनवाँ अइसन धनि पातरि, कुसुम अइसन सुन्दर हो। मोरे रामा उनहूँके भइलें नन्दलाल होरिलवा बड़ सुन्दर हो।' अष्टछापके कवियोंने ऐसे गीत लिखे हैं। विवाहोत्सवके समयके लिए भी विशेष प्रकारके गीत हैं। इनका एक प्रकार जोग है–'जाहि जोगे धिया हमार बससुना जोगिया हम लाइवना।' तुलसीदासने विवाहोत्सव सम्बन्धी गीत लिखे हैं। राष्ट्रीय नवजागरणके कारण कुछ नये उत्सवोंका विधान हुआ और स्वतन्त्रताप्राप्तिके कारण नये उत्सवोंको मान्यता मिली है। स्वतन्त्रता-दिवसके उपलक्ष्यमें गाये जानेवाले उत्सवगीत अधिक लिखे गये हैं। प्रगतिवादियोंने 'मे डे'के सम्बन्धमें गीत लिखे हैं, जिनमें जनान्दोलनकी सफलताकी महत्ता प्रतिपादित की गयी है। नये उत्सवोंके विधानसे नये उत्सव-गीतोंकी रचना सम्भव होती है। —रा० खे० पा०

उत्साह–वीर रसका स्थायी भाव उत्साह है। 'नाट्यशास्त्र' (७ २० ग)में लिखा है–'उत्साहो नाम उत्तमप्रकृतिः स चाविषादशक्तिधैर्यशौर्यत्यागादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य धैर्यत्यागारम्भवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।' अर्थात् उत्साह उत्तम प्रकृतिके व्यक्तियोंसे सम्बद्ध है। यह विषादका अभाव (अविषाद) शक्ति, धैर्य, शौर्य, दानशीलता (त्याग) इत्यादि विभावोंसे उत्पन्न होता है तथा धैर्य, दान-शीलता, किसी कार्यके आरम्भकी प्रगल्भता (ढिठाई) इत्यादि अनुभावोंसे व्यजित होता है। बादके श्लोकमें बताया गया है कि उत्साह प्रयत्नमूलक (व्यवसायात्मक) है तथा असम्मोह अर्थात् जागरूकता इत्यादि गुणोंसे विकसित होता है।

'अमरकोष'में उत्साहको 'अध्यवसाय'का पर्याय कहा है तथा असाध्य साधनमें नियोजित होनेपर इसकी सज्ञा 'वीर्य' बतायी गयी है। 'साहित्यदर्पण'में 'कार्यके करनेमें स्थिरता तथा उत्कट आवेश(सरम्भ)'को उत्साह कहा गया है (३ १७८), 'रसगगाधर'में पण्डितराजका कथन है कि 'जिसकी, शत्रुके पराक्रम तथा किसीके दान आदिके स्मरण-से उत्पत्ति होती है तथा जिसका नाम उन्नतता है, उसे उत्साह कहते हैं।'

उत्साहकी उपर्युक्त परिभाषाओंसे उसके स्वरूपका निश्चय किया जा सकता है। 'वह मनकी एक प्रयत्नमूलक उल्लास-पूर्ण वृत्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य उत्कट आवेशके साथ किसी कार्यको करनेमें प्रवृत्त होता है तथा जिसकी अभिव्यक्ति शक्ति, शौर्य एव धैर्यके प्रदर्शनमें होती है।' यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उत्साहमें साहसका भाव भी अन्तर्निहित है, लेकिन जो तत्त्व उसे कोरे साहससे पृथक् करता है,वह है उसकी चेतन उल्लासपूर्णता। इसीलिए रामचन्द्र शुक्ल उत्साहको 'साहसपूर्ण आनन्दकी उमग' बताते हैं। इस सम्बन्धमें उल्लेखनीय यह है कि मनोविज्ञानियोंने उत्साहको प्रधान भावोंमें परिगणित नहीं किया है, क्योंकि इसमें आलम्बन एव लक्ष्य उतने स्थिर एवं परिस्फुट नहीं होते जैसे अन्य भावोंके। लेकिन आचार्योंने इसे प्रधान भाव इसलिए माना है कि 'आश्रय या पात्रमें उसकी व्यजना द्वारा श्रोता या दर्शकको ऐसा विविक्त रसानुभव होता है जो और रसोंके समकक्ष है।' (र० मी० पृ० १८५)।

गर्व, धृति, दया, हर्ष, मति, आवेग इत्यादि भाव उत्साहके संचारी हैं। उदा०—'तू मौन त्याग कर सिंहनाद, रे तपी! आज तपका न काल। नवयुग शखध्वनि जगा रही, तू जाग, जाग मेरे विशाल!' (दिनकर)। उत्साह भावकी व्यजना है, लेकिन स्थायीकी पुष्टि नहीं हो सकी है, क्योंकि वैसा तो रस-परिपाकमें ही सम्भव है। —र० ति०

उदात्त–एक प्राचीन गूढार्थप्रतीतिमूलक अर्थालकार। यह अलकार रुद्रटके 'काव्यालकार'में दिये 'सार' और उसपर ही आश्रित रुय्यकके 'अलकारसर्वस्व'के 'उदार' अलकारसे भिन्न है। इतिहासकी दृष्टिसे यह बहुत प्राचीन अलकार है। दण्डी, भट्टि, भामह एव उद्भटने इसका उल्लेख किया है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश'में और उनका अनुकरण कर विश्वनाथ-

ने 'साहित्यदर्पण' (१० ९४) में इस अलङ्कारका उल्लेख कर दो प्रकारका उदात्त बताया है। अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द' में जयदेवके 'चन्द्रलोक' के आधारपर इसे स्वीकार किया है। मम्मटने उदात्त अलकारकी परिभाषामें बताया है कि किसी भी वस्तुकी समृद्धि तथा महान् व्यक्तियों-को उस समृद्धिका सहायक माननेसे यह अलकार होता है। (का० प्र० १० ११५)। उत्कर्षरूपसे किसी पदार्थका ग्रहण करना, उदात्त पदका यौगिक अर्थ है।

हिन्दीके आचार्योंने प्राय जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके आधारपर स्वीकार किया है और इसके दो भेद माने हैं। प्रथम—'सपतिको अधिकार जो' (ल० ल० ३७७) या 'अति सपति वरनन' (शि० भू० : ३३७)। उदा०—'लाल करें प्रात तहाँ नीलमनि करें रात, याही भाँति सरजाकी चरचा करत ह।' (वही ३३८) अथवा—'कामतरु विपिन कदम्ब उपवन सीरो, सुरभि पवन डोलें मृदु-सी गवन में।' (ल० ल० . ३७९)। द्वितीय—वर्णनीय अर्थमें महापुरुषोंके अंगभाव होनेका वर्णन—'अरु उपलक्षण और' (ल० ल० ३७७) अथवा—'जहँ उपलच्छन बडेनको' (का० नि० . ११)। उदा०—'करत भये जाके तरे, राधा कृस्न विहार। सो न होइ क्यों तरुनको वसीवट सिंगार।' (पद्मा० . २६७, अथवा—'निकसत जीवहिं बाँधिकै तासों रासति बाल। जमुना तट वा कुजमें, तुम जु दई वनमाल।' (ल० ल० : ३८०)। इन उदाहरणोंमें राधाकृष्णके विहारसे तथा कृष्णके द्वारा दी जानेके कारण वशीवट तथा वनमालके उत्कर्षका वर्णन है। —ज० कि० व०

उदारता गुण—दे०—'गुण', आठवाँ प्रकार।

उदारवाद—इस शब्दका अँग्रेजी पर्याय 'लिबरलिज्म' है। यह एक विशिष्ट सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोणका प्रतीक है जो व्यक्ति और समाजके बीच समन्वय स्थापित करनेका प्रयास करता है। इस दृष्टिकोणके अनुसार न तो व्यक्ति आत्मनिर्भर है और न तो समाज ही निरकुश है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरेके पूरक हैं और दोनों अपनी नि सगतामें अधूरे है।

उदारवादका विकास आधुनिक युगकी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियोंके अन्तर्गत हुआ है। किन्तु इसका स्वरूप प्राचीन ग्रीक दर्शन और मध्यकालीन राजनीतिक विचारोंमें भी दीख पडता है। ग्रीक विचारक अरस्तू और मध्ययुगीन ईसाई विचारक सेण्ट टामस एक्वीनासके राजनीतिक विचार उदारवादी परम्पराका निर्माण करते हैं। इस परम्पराको आधुनिक युगकी परिस्थितियोंने और प्रोत्साहन दिया। १६वीं शताब्दीमें राष्ट्र राज्योंकी स्थापनाके पश्चात् यूरोपमें राजाओंकी निरकुशताके विरुद्ध सैद्धान्तिक प्रतिक्रियाएँ होने लगीं। इन प्रतिक्रियाओंको अनुबन्ध सिद्धान्तमे मूर्त रूप प्राप्त हुआ। उदारवादका सर्वप्रथम आधुनिक रूप अनुबन्धवाद है। अनुबन्धवाद राज्यको कृत्रिम मानता है। यदि राज्य कृत्रिम है तो किसी उद्देश्यको ही लेकर इसकी रचना की गयी होगी। अनुबन्ध-वादियोंका इस बातमें मतभेद है कि राज्य किन उद्देश्योंको लेकर बनाया गया है। लेकिन इतना सब मानते हैं (रूसो और बर्कको छोडकर) कि राज्य नैसर्गिक संस्था नहीं है। अनुबन्धवाद मूलत राज्यकी निरकुशतापर प्रहार करता है। इस सम्बन्धमें हॉब्सका अनुबन्धवाद एक अपवाद अवश्य है। केवल इस अपवादके अतिरिक्त जितने भी अनुबन्धवादी राज्यको कृत्रिम सस्था मानते हैं वे सभी व्यक्ति और समाजके अधिकारोंमें सन्तुलन चाहते हैं। लॉकका अनुबन्धवाद पूर्ण रूपसे इग्लैण्डमें उदारवादी परम्पराका सूत्रपात करता है। कालान्तरमें जब अनुबन्धवाद अनैतिहासिक और असमनोवैज्ञानिक सिद्ध कर दिया गया तो अनुबन्धवाद और उदारवादका यह गठबन्धन टूट गया। उदारवादको इस परिस्थितिमें नयी प्रतिष्ठा प्रदान की गयी। उसको मनोविज्ञान और उपयोगितावादका आधार प्राप्त हुआ। किन्तु उदारवादकी राजनीतिक और सामाजिक मान्यताओंमें परिवर्तन नहीं हुआ।

उदारवादके दो मूल प्रकार हैं। पहला आर्थिक और दूसरा सामाजिक। आर्थिक उदारवाद यद्भाव्यम् नीति अर्थात् 'लैसे फेयर' सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। इस सिद्धान्तके अनुसार निसर्गने आर्थिक क्षेत्रमें मनुष्यके व्यक्तिगत स्वार्थोंमें प्राकृतिक एकरूपताकी स्थापना की है। प्राकृतिक एकरूपता होनेके नाते राज्य या किसी और बाहरी शक्तिकी आवश्यकता नहीं होती कि वह आर्थिक क्षेत्रका सचालन करे। मुक्त प्रतियोगिता और व्यापार-स्वतन्त्रता इस सिद्धान्तकी तार्किक सगतियाँ हैं। पूँजीवादके आरम्भिक चरणोंमें आर्थिक उदारवादका प्रचलन होता रहा, किन्तु धीरे-धीरे पूँजीवादी परिस्थितियोंने आर्थिक परिस्थितियोंमें राज्यके हस्तक्षेपको अनिवार्य बना डाला। १९वीं शताब्दीके अन्तिम दो दशकोंमें आर्थिक उदारवादकी परम्परा टूटने लगी। अमेरिकामें इस परम्परापर प्रहार २०वीं शताब्दीमें प्रथम महायुद्धके पश्चात् हुआ।

राजनीतिक उदारवाद जनतन्त्रका आरम्भिक रूप है। पूर्ण जनतत्र इसे नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्ण जनतत्र समष्टि-को ही अधिकारों और शक्तिका केन्द्रबिन्दु मानता है। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टिसे उदारवाद अर्द्ध-जनतन्त्र है। इसके अनुसार व्यक्तिके सुख और उद्देश्य वाछनीय हैं। इन्हीं सुखों और उद्देश्योंके लिए समाज और राज्यकी रचना हुई है। अत समाज और राज्यकी प्रकृतिमें यह नहीं है कि वह व्यक्तिपर अनावश्यक अधिकारका प्रयोग करे। जहाँ-तक सामाजिक जीवनके लिए आवश्यक है वहाँतक व्यक्ति-पर राज्यका अकुश है। राज्यका सचालन समाजके हाथमें होना चाहिये ताकि राज्यका प्रयोग समाजके हितमें हो सके। यह उदारवादी सिद्धान्त पूर्ण जनतत्र और पूर्ण व्यक्तिवादके मध्यमें स्थित है। धीरे-धीरे जब २०वीं शताब्दी-में समष्टिवादी परम्पराएँ सशक्त होने लगीं तो राजनीतिक उदारवाद शिथिल हो गया।

ब्रिटिश शासनके समय भारतवर्षमें भी उदारवादकी लहर दौड़ी। कांग्रेसके प्रारम्भिक नेतागण उदारवादसे अत्यन्त प्रभावित थे। तत्कालीन साहित्यपर भी इस विचार-धाराकी छाप दिखाई देती है। छायावादी काव्य तथा प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासोंकी पृष्ठभूमिमें उदारवादकी भावनाको स्पष्ट देखा जा सकता है। —रा० कृ० त्रि०

उदाहरण—गम्यौपम्य आश्रय वाक्यगत अर्थालकार,

जो दृष्टान्त अलंकारसे मिलता-जुलता है। कोई साधारण बात कहकर 'ज्यों', 'जैसे' इत्यादि वाचक शब्दों द्वारा किसी विशेष बातसे जहाँ समता दिखायी जाती है वहाँ उदाहरण अलंकार होता है। उदा०–'यों रहीम जस होत है, उपकारीके संग। बाँटनवारेकें लगे, ज्यों मेहदीको रंग।' (रहीम)। भगवानदीनके अनुसार 'दृष्टान्त अलंकारमें कविका मुख्य लक्ष्य उपमान वाक्य(उत्तरार्द्ध भाग)पर होता है, उदाहरण अलंकारमें कविका मुख्य लक्ष्य उपमेय वाक्य (पूर्वार्द्ध भाग) पर होता है, उत्तरार्द्ध केवल बानगीके तौरपर आता है।' अर्थान्तरन्यासमें साधारणका विशेषसे और विशेषका साधारणसे समर्थन होता है, परन्तु दृष्टान्तमें साधारणकी समता साधारणसे और विशेषकी समता विशेषसे की जाती है। —ओ० प्र०

उद्घात्यक–यह रूपकगत **प्रस्तावना**का एक भेद है। अप्रतीतार्थक पदोंके अर्थकी प्रतीति करानेके लिए जहाँ और पद साथमें जोड दिये जायँ वहाँ उद्घात्यक होता है। 'मुद्राराक्षस'में **सूत्रधारने** ग्रहणके सम्बन्धमें नटीसे ज्यों ही कहा कि 'क्रूर ग्रह केतु यद्यपि पूर्ण चन्द्रमण्डलका पराभव करना चाहता है' त्यों ही **नेपथ्यसे** आवाज आयी कि 'अरे मेरे जीते कौन चन्द्रगुप्तका पराभव करना चाहता है।' यहाँ **सूत्रधार**का अभिप्राय चन्द्रगुप्तसे नहीं है पर नेपथ्यसे चाणक्यने 'चन्द्र'के साथ 'गुप्त' आदि पद जोड़कर उसे अन्य अर्थ दे दिया है। यहाँ चाणक्य सूत्रधारका अभीष्ट नहीं समझता है, वह उसे अपने ढंगसे ग्रहण करता है। क्रूर ग्रहका तात्पर्य वह अमात्य राक्षस समझता है। —व० सिं०

उद्दीपक हाव–दे०–'स्वभावज अलंकार', इक्कीसवाँ।

उद्दीपन विभाव–विभावका सर्व-स्वीकृतका भेद। विश्वनाथके शब्दोंमें–'उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा' (सा० द० ३. १३१), रसको उद्दीप्त करनेवाली आलम्बनकी चेष्टादि तथा देश-कालकी स्थितियाँ उद्दीपन विभाव हैं। देवके अनुसार भी—'रसहि जगावे दीप ज्यों उद्दीपन कहि सोइ' (भा० वि० विभाव)। आश्रयके हृदयमें उत्पन्न रति आदि स्थायी भावोंको अधिकाधिक उद्दीप्त तथा तीव्र करनेवाला कारण उद्दीपन विभाव कहलाता है। आलम्बनकी चेष्टा तथा देश, काल आदिको उद्दीपन विभाव माना जाता है। रसके अनुसार उद्दीपन पृथक्-पृथक् होते हैं। शारदातनयने प्रत्येक रसके अनुसार उद्दीपनका वर्गीकरण करते हुए उसके क्रमश ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, रूक्ष, खर, निन्दित तथा विकृत नामसे आठ भेद बताये है। ललित मनको आह्लादित करते है और तत्तदिन्द्रियसे गोचर होते हैं। यह श्रृंगार रसके उत्कर्षक होते हैं। सूचित, दृष्ट या स्मृत हासकारक विभाव ललिताभास कहलाते हैं। इसी प्रकार श्रुत, दृष्ट तथा स्मृत विभाव यदि स्थिरता देनेवाले हों तो वीर रसके उद्दीपक होते हैं। जिनका अनुभव सदा हृदयमें विचित्रताका अनुभव उत्पन्न करता है, वे अद्भुत रसके ऐश्वर्य-भावक चित्र नामक विभाव कहलाते हैं। करुण रसके उद्दीपक कष्टदायक होनेके कारण रूक्ष कहे जाते हैं। कातरता उत्पन्न करनेवाले विभाव खर कहलाते हैं और रौद्रके उद्दीपक होते है। जिन्हे देखकर आँखें बन्द कर लेनी पड़ती है और जिनकी ओर मन प्रवृत्त नहीं होता वे बीभत्सको उद्दीपित करनेवाले विभाव निन्दित और विकृति उत्पन्न करनेवाले भयानकके उद्दीपक विभाव विकृत कहलाते है।

सखा, (दे०) सखी, (दे०) चन्द्र, चन्द्रिका, दूती, (दे०) उनके वचन, षट्ऋतु, पुष्प आदि श्रृंगार रसके उद्दीपक माने गये है। (देव भा० वि० . विभाव)। आलम्बनके रूप, आकार आदि उद्दीपनको अविच्छिन्न तथा ऋतु आदिको तटस्थ कहते ह। इन्हें विषयगत तथा स्वतन्त्र भी कह सकते हैं। तटस्थ आलम्बनसे बाहरी परिस्थितिके कारण ही सम्बन्ध रखते है और विषयके अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इन सभी उद्दीपनोंका निर्वाह हिन्दीमें आधुनिक कालतक परम्परा-पालनके रूपमें होता आया है। आधुनिक कालमें कवियोंकी दृष्टि रसके अवयवोंकी पूर्तिकी ओर नहीं रहती और आलम्बन भी बहुत-कुछ बदल गये है, अत श्रृंगार रसमें दूती, सखी आदिका तिरस्कार हो चुका है और आन्तरिक भावोंकी छटा ही विशेष दीख पड़ती है। शेषमें उद्दीपनोंका रूप-परिवर्तन लक्षित नहीं हुआ है।—आ०प्र०दी०

उद्देश्य–कथात्मक साहित्यके छ तत्त्वोंमेंसे अन्तिम तत्त्व, जिसमें लेखककी उस सामान्य या विशिष्ट जीवनदृष्टिका विवेचन होता है जो उसकी कृतिमें कथावस्तुके विन्यास, पात्रोंकी योजना, वातावरणके प्रयोग आदिमें सर्वत्र निहित पायी जाती है। इसे लेखकका जीवनदर्शन अथवा उसकी जीवनदृष्टि, जीवनकी व्याख्या या जीवनकी आलोचना कह सकते हैं। उन कृतियोंको छोड़कर जिनकी रचनाका उद्देश्य मनबहलाव या मनोरंजन मात्र होता है, सभी कलाकृतियोंमें लेखककी कोई विशेष विचारधारा प्रकट या निहित रूपमें देखी जा सकती है। बिना इसके साहित्यिक कृतित्व प्रयोजनहीन और व्यर्थ होता है (दे० 'उपयोगी साहित्य', 'उपन्यास')। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि किन्हीं कृतियोंमें कथात्मक साहित्यका यह तत्त्व नहीं पाया जाता, भले ही वे कृतिया महत्त्वहीन हों, तो इसे अनिवार्य तत्त्व क्यों कहा जाये? इसका उत्तर यही है कि जिन कृतियोंमें इस तत्त्वके अभावकी बात कही गयी है, उनमें भी वस्तुत इसका अभाव नहीं होता, केवल लेखककी दृष्टिमें कोई मौलिकता या कोई गम्भीरता नहीं होती। वह सर्वसाधारणकी जीवनदृष्टि ही उपस्थित करता है, जो नगण्य होती है। अपनी जीवनदृष्टि वही लेखक उपस्थित कर सकता है जो विचारक भी हो। आधुनिक विचारकोंमें अनेक ऐसे हैं जिन्होंने कथात्मक कृतियों, विशेषकर उपन्यासके माध्यमसे अपने दृष्टिकोणको उद्देश्यके रूपमें प्रकट किया है। —०

उद्भटकी वृत्तियाँ–दे०–'वृत्ति'।

उन्मनी–खेचरी, भूचरी आदि हठयोगकी पाँच मुद्राओंमेंसे एक। इसमें दृष्टिको नाककी नोकपर गड़ाते हैं और भौंको ऊपरको चढाते हैं। गोरख, कबीर आदिने उन्मनीकी साधनाको साधकके लिए बहुत उपयोगी माना है–'तूटी डोरी रस कन बहै। उन्मनी लागा अस्थिर रहै। उन्मनि लागा होइ अनन्द। तूटी डोरी बिनसै कन्द।' (गोरखबानी)। साधारण अर्थ है अन्यमनस्क, संसारसे निर्लिप्त, अनमना–'हर्ने न

बोलै उन्मनी चंचल मेल्या भार। कह कबीर अन्तर बिधा सतगुरुका हथियार।' (कबीर सा० स०)। —उ० अं० शा०

उन्माद—प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। चित्तमें विप्लव होनेको उन्माद कहते हैं। भरतने इसके कई विभाव दिये हैं, जैसे प्रियजनका विरह, सम्पत्ति इत्यादिका नाश, वात, पित्त, श्लेष्म आदिका प्रकोप। इसके अनुभाव तो अनेक हैं, जैसे अकारण हँसना, रोना, चिल्लाना, अल्ल-बल्ल बकना, कभी लेटना, कभी बैठना, कभी उठकर भाग खड़ा होना, नाचना, गाना, जोरसे पढ़ने लगना, धूलमें लोटना, फटे-पुराने कपड़े पहनना, तिनकों एवं मुरझाये फूलों और घड़ा, कपाल तथा सकोरोंको आभरणरूपमें पहनना, इत्यादि। (नाट्य० ७ : ८४ ग)। इसमें वात-पित्त-श्लेष्मके प्रकोपसे प्रेरित हो कदाचित् दशरूपककारने 'सन्निपातग्रहादि'को भी इस संचारीका कारण बताया है, पर यह अंश व्याधिमें भी है। विश्वनाथने—'कामशोकभयादि'से 'चित्तसम्मोह'को माना है।

हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने 'प्रिय वियोगतें जहँ वृथा वचनन लाय विखाद' (भाव० संचारी) अथवा 'अविचारित-आचरन जो' (जगत० : ५५९)को 'उन्माद' संचारी कहा है। देव और पद्माकरके इन लक्षणोंमें भावात्मक पक्षपर अधिक बल है। पद्माकरकी विरहणी नायिकाकी दशा 'उन्माद' संचारीके साथ अंकित है—'छिन रोवति छिन हँसि उठनि, छिन बोलत छिन मौन। छिन छिनपर छीनी परति भई दशा धौं कौन।' (जगत० : ५६१)। इसी प्रकार हरिऔध एक गोपीकी मनःस्थितिको चित्रित करते हैं—'आके जूही निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली। मेरी बातें तनिक न सुनीं पातकी पाटलोंने। पीड़ा नारी-हृदय-तलकी नारि ही जानती है। जूही! तू है विकचवदना, शान्ति तू ही मुझे दे।' (प्रि० प्र०)। इसके उदाहरणोंसे तो प्राय प्रियजन-विरहमें इस भावका प्रदर्शन मिलता है, जैसे 'दशरूपक'में उर्वशीके अन्तर्धान होनेपर विक्रमकी अवस्था।

अनेक अनुभावोंके कारण रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र और शारदातनयने उनकी व्याख्या कर उनका मनुष्यप्रकृतिकी दृष्टिसे वर्गीकरण कर दिया है। नाट्यदर्पणकारोंने तो कहा है—'उन्माद उत्तम प्रकृतिके व्यक्तियोंमें विप्रलम्भकी अवस्थामें और अधम प्रकृतिके व्यक्तियोंमें करुणकी अवस्थामें व्यभिचारी होता है।' (ना० द० पृ० १८३)। इसको अपस्मारसे भिन्न बताते हुए कहा है कि अपस्मार वीभत्स एवं भयानकमें होता है, वह तो 'मनोवैकल्य' है और उन्माद 'मनोऽनवस्थिति', और यही दोनोंमें भेद है। शारदातनयके अनुसार ज्येष्ठ वर्गके मनुष्योंमें इष्टके विरहमें, मध्यममें इष्टका नाश होनेसे और नीचोंमें धननाश इत्यादिसे यह भाव उद्बुद्ध होता है। (भा० प्र० पृ० २४)। परन्तु अनुभावोंका वर्गीकरण नहीं किया गया। हमारे विचारमें उन्माद विप्रलम्भ शृंगारमें ही प्रधानतया दृष्टिगोचर होता है। —ज० कि० व०

उन्मीलित—लोकन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें निलय हो जानेपर भी किसी कारणवश उनकी पृथक्ताकी प्रतीति होने लगती है। यह मीलित अलंकारके ठीक विपरीत है। इस अलंकारमें दो पदार्थोंके समान धर्मोंमें भेद न होनेपर भी किसी विशेष कारणवश भेदकी प्रतीति की जाती है। सर्वप्रथम जयदेवने इसको माना है। मम्मटने इस स्थितिको 'सामान्य'में स्वीकार किया है। 'उद्योत'में स्पष्ट किया गया है—'अभेदकी प्रतीति जब हो चुकी है, तब उसका अभेद दूर कैसे हो सकता है।' अप्पय दीक्षितके आधारपर हिन्दीमें जसवन्त सिंहने 'भाषा-भूषण'में इसको स्वीकार किया है। भेद खुलनेका उल्लेख मतिराम, पद्माकर आदिने किया है। भूषणकी परिभाषा अधिक स्पष्ट है—'सदृश वस्तुमें मिलत पुनि जानत कोनेहु हेत।' (शि०भू० : ३०३)। दासने मीलितमें 'कुछ भेद ठहराय' कहकर काम चलाया है।

बिहारीका उदाहरण वैचित्र्यका सुन्दर उदाहरण है—'मिलि चन्दन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाय। ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै, त्यों-त्यों उघरत जाय।' (सतसई : १८०)। गौरांगी नायिकाके भालपर लगी चन्दनकी बेंदीका भेद मद-लालीके कारण प्रतीत हुआ है। मतिरामने कोमल कल्पनाका परिचय दिया है—'सरद चाँदनीमें प्रगट, होत न तियके अंग। सुनत मंजु मंजीर धुनि, सखी न छोड़ति संग।' (ल० ल० ३४६)। तुलसीदासने 'बरवै रामायण'में इसका प्रयोग सुन्दर किया है—'चम्पक हरवा अँग मिलि, अधिक सुहाय। जानि परै सिय हियरे, जब कुम्हिलाय।'

हिन्दी काव्यशास्त्रमें इस अलंकारपर अधिक विचार नहीं किया गया है। नायिकाओंके कोमल सौन्दर्य-वर्णनमें इसका विशेष प्रयोग हुआ है। बिहारीने इस अलंकारके प्रयोगमें विशेषता प्राप्त की है। —वि० स्ना०

उपकार्योपकारकवक्रता—दे०—'प्रकरणवक्रता', तीसरा नियामक।

उपक्षेपक—दे०—'अर्थोपक्षेपक'।

उपग्रहवैचित्र्यवक्रता—दे०—'पदपरार्धवक्रता', छठा प्रकार।

उपचारवक्रता—दे०— पदपूर्वार्धवक्रता', दूसरा प्रकार।

उपचेतन (subconscious)—यह स्वीकार करनेके बाद कि मानसका एकमात्र पक्ष चेतन ही नहीं है, वरन् उसके अन्य पक्ष भी हैं—उन चेतनेतर पक्षोंके नामादिके बारेमें कुछ मतभेद मिलता है। उपचेतन (अथवा अवचेतन)की कई धारणाएँ मनोविज्ञानमें प्रचलित हैं और उन सभीका प्रभाव आधुनिक साहित्यमें दिखाई पड़ता है। उपचेतनके विषयमें सबसे अधिक प्रचलित दृष्टिकोण यह है कि मानसका यह पक्ष चेतन और अचेतन दोनोंसे भिन्न बीचकी एक अवस्था है। जेम्सके अनुसार साधारणतः हम व्यक्त चेतनाको दो भागोंमें विभाजित कर सकते हैं—'केन्द्रीय भाग और सीमान्त भाग अथवा चेतनाकी कोर। सीमान्त भाग या चेतनाकी कोरका ही नाम उपचेतन अथवा अवचेतन है। इस भागमें वे विचार, भाव और अनुभव रहते हैं जिनके विषयमें हमें अभी, इस स्थलपर तो कोई ज्ञान नहीं है, पर चेष्टा करते ही हमें उनका ज्ञान हो सकता है। जैसे साहित्य पढ़ते समय गणितका हमारा ज्ञान, उपचेतनमें रहता है और जब हम गणितकी ओर ध्यान देते हैं तो साहित्यका ज्ञान उपचेतनमें आ जाता है।

मनोविश्लेषणमें 'उपचेतन' मानसका अधिक महत्त्व नहीं है, वहाँ चेतन और अचेतन ही मानसके दो महत्त्व-

पूर्ण भाग है। किन्तु डॉक्टर मार्टन प्रिन्स, जिनके वर्णित रोगियोंकी समस्याओंसे प्रभावित होकर साहित्यमें अनेक कथाओंका सर्जन हुआ है, उपचेतन (subconscious) शब्दका प्रयोग विस्तृत अर्थमें करते हैं। उनके अनुसार उपचेतनमें अचेतन और समचेतन दोनों पक्ष सम्मिलित रहते हैं। समचेतनसे उनका अभिप्राय मुख्य ज्ञात चेतनाके साथ अदल-बदलकर आनेवाली, पर मुख्य चेतनासे वियोजित चेतनासे है। यह खण्डित व्यक्तित्वमें होता है। (दे०–'खण्डित व्यक्तित्व') —प्री० अ०

उपजाति १–इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राके चरणोंके मिश्रणसे यह वृत्त बनता है। उपजातिके १४ भेद हैं, 'प्राकृतपैंगलम्' (२ १२१) और उसीके आधारपर भानुके 'छन्द-प्रभाकर' (पृ० १४२)में। केशव और मैथिलीशरण गुप्तने इसका प्रयोग किया है। उदा०–'परोपकारी बन वीर आओ। नीचे पड़े भारतको उठाओ। हे मित्र त्यागो मद, मोह माया। नहीं रहेगी यह नित्य काया।' (मै० श० गुप्त)। इसमें १, ४ पाद उपेन्द्रवज्राके और २-३ इन्द्रवज्राके हैं। —पु० शु०

उपजाति २–वर्णिक छन्दोंमें मिश्रित वृत्तका एक भेद। केशवने तोटक (४ स, ।।ऽ) और मनोरमा (४ स × २ ल)-के योगसे एक नवीन उपजातिका प्रयोग किया है। इसे अर्द्धसम न कहकर मिश्रित छन्द कहा जायगा, क्योंकि दोनों छन्दोंके दो-दो चरण एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। उदा०–'सिगरे रणमण्डल माझ गये, अवलोकत ही अति भीत भये। दुहु बालनको अति अद्भुत विक्रम, अवलोकि भयो मुनिके मन सम्भ्रम'। (रा०च० ३९ ८)। —पु०शु०

उपजाति सवैया–दे०–'सवैया'।

उपदेश-काव्य–दे०–'प्रबोधक काव्य' और 'दृष्टान्त काव्य'।

उपदेशवाद–साहित्यके माध्यमसे उपदेश देनेकी प्रवृत्ति, जिसे अंग्रेजीमें didacticism कहा जाता है। अँग्रेजीमें इस वर्गका साहित्य पर्याप्त मात्रामें मिलता है। हिन्दीका नीतिकाव्य इस वर्गमें सुविधापूर्वक नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उसमें उपदेशकी प्रवृत्ति और गहरी तथा बहुत-कुछ साम्प्रदायिक हो गयी है। उपदेशवाद वस्तुतः एक व्यापक साहित्यिक प्रवृत्ति है, जिसे शुद्ध कलात्मक स्तरपर बहुत स्पृहणीय नहीं माना जाता। —रा० स्व० च०

उपनागरिका वृत्ति–दे०–'वृत्ति', पहली।

उपन्यास–यह शब्द उप=समीप तथा न्यास=थातीके योगसे बना है जिसका अर्थ हुआ (मनुष्यके) निकट रखी हुई वस्तु, अर्थात् वह वस्तु या कृति जिसको पढ़कर ऐसा लगे कि यह हमारी ही है, इसमें हमारे ही जीवनका प्रतिबिम्ब है, इसमें हमारी ही कथा हमारी ही भाषामें कही गयी है। आधुनिक युगमें जिस साहित्यविशेषके लिए इस शब्दका प्रयोग किया जाता है, उसकी प्रकृतिको स्पष्ट करनेमें यह शब्द सर्वथा समर्थ है। यों तो उपन्यास शब्दका प्रयोग प्राचीन संस्कृत साहित्यमें भी है। भरतने 'नाट्यशास्त्र'में इसका उल्लेख प्रतिमुख सन्धिके एक उपभेदके रूपमें करते हुए इसे 'उपपत्तिकृतोऽर्थ' तथा 'प्रसादनम्' कहा है अर्थात् किसी अर्थको युक्तिपूर्ण ढंगसे उपस्थित करनेवाला तथा प्रसन्नता प्रदान करनेवाला। अतः यह स्पष्ट है कि उपन्यास हमारे लिए कोई नूतन शब्द नहीं है और गुणाढ्यकी 'बृहत्कथा', 'पंचतन्त्र', 'बौद्ध जातक कथाओं'तक सजेमें इसके सूत्रको खींचे ले जाया जा सकता है। अँग्रेजीके नावेलके तत्त्व भी जिसके समानार्थक रूपमें उपन्यास शब्दका प्रयोग किया जाता है, हिरोडोटसमें पाये जा सकते हैं। परन्तु हम दोनोंको एक नहीं कह सकते। उपपत्तिकृतत्व और प्रसादनत्व–इन दोनों मौलिक गुणोंकी रक्षा करते हुए भी उपन्यासने अपने क्षेत्रको इतना व्यापक कर लिया है कि दोनोंमें गुणात्मक अन्तर आ गया है।

उपन्यास आधुनिक युगकी उपज है–उस युगकी जिसका दृष्टिकोण सर्वथा व्यक्तिवादी हो गया है, अराजकताका बोलबाला है, बाहरी दुनियामें तो कम, हमारे आन्तरिक जगत्में अधिक। समष्टिको दबाकर व्यक्ति ऊपर उठ आया है। इन्हीं परिस्थितियोंका प्रतिफल हमारा उपन्यास साहित्य है। इसमें जो लचीलापन है, बन्धन-हीनता है, यह कभी कोई भी रूप धारण कर सकता है। इसका यही कारण है। इसमें मदोन्मत्त साहसिकोंकी कथा रह सकती है, पूरे समाजकी कथा भी रह सकती है। कथानक भी न हो तो भी कोई परवाह नहीं। जीवित मनुष्योंकी कथाकी कोई बात नहीं, कब्रसे भी उठकर मनुष्य आ सकते हैं। अराजकताके युगमें साहित्यिक सुराज कैसे सम्भव हो? इसमें एक दिनकी, एक घंटेकी तथा एक युगकी कथा रह सकती है। एक या अनेक पात्र रह सकते हैं, उपन्यासमें केवल घटनाएँ ही घटनाएँ या केवल दृश्य ही दृश्य हो सकते हैं। कथा एक सर्वज्ञ, तटस्थ, ईश्वरकी भाँति कही जा सकती है, उत्तम पुरुषात्मक रूपसे कही जा सकती है अथवा एक या एकाधिक पात्रोंके सीमित दृष्टिकोणसे कही जा सकती है। साहित्यके जितने रूप-विधान हो सकते हैं उनमें उपन्यासका रूपविधान सबसे लचीला होता है और वह परिस्थितिके अनुसार कोई भी रूप धारण कर ले सकता है। अँग्रेजीमें जीन आस्टिनकी 'अहंकार और पूर्वाग्रह' (प्राइड एण्ड प्रेजुडिस) जैसी सुसंघटित कथाओं तथा ज्वायसके 'युलिसिस' तथा मार्शेल पुस्तके 'ऐला चर्चे दुताप्येर्दू' जैसी उच्छिन्न कथा-प्रवाह वस्तुके लिए नॉवेल शब्दका ही प्रयोग किया जाता है। हिन्दीमें देवकीनन्दन खत्रीकी 'चन्द्रकान्ता सन्तति', प्रेमचन्दके 'सेवासदन' तथा अज्ञेयके 'नदीके द्वीप' सबको उपन्यासके नामसे ही पुकारा जाता है। जो हो, जिस अर्थमें आज हम उपन्यासको समझनेके अभ्यस्त हो गये हैं, उसमें तानाशाही नहीं चल सकती, चाहे लेखककी हो या घटनाओंकी। घटनाएँ कैसी भी हों, लोककी, परलोककी, आकाशकी, पातालकी, पर वे होंगी कार्य-कारणकी शृंखलामें आबद्ध, उनमें एक तारतम्य होगा, भले ही वे आन्तरिक तथा सूक्ष्म हों, वे हमारे जीवनके किसी पहलूको अवश्य रोशन करेंगी, घटनाएँ, व्यापार-शृंखलाएँ और मानव-मन सब पारस्परिक रूपसे एक-दूसरेको स्पष्ट करते चलेंगे। घटनाएँ जीवनके केन्द्रसे निकलकर जीवनके ही रूपोंका प्रकाशन करेंगी। पशु पक्षी तथा जड पाषाण भी पात्रके रूपमें उपस्थित हो सकते हैं, पर उनकी प्रतिक्रियाएँ वहीं होंगी जो मानव-हृदयकी

होती है।

उपन्यास वास्तविक जीवनकी काल्पनिक कथा है। 'मैं उपन्यासको मानव-जीवनका चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्रपर प्रकाश डालना और उसके रहस्योंको खोलना ही उपन्यासका मूल तत्त्व है'-(प्रेमचन्द)। 'न्यू इंगलिश डिक्शनरी'में उपन्यासकी परिभाषा देते हुए कहा गया है—'बृहत् आकार गद्य आख्यान या वृत्तान्त जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवनके प्रतिनिधित्वका दावा करनेवाले पात्रों और कार्योंको कथानकमें चित्रित किया जाता है।' सब परिभाषाएँ एक ही बातपर जोर देती हैं कि उपन्यासमें मानव-जीवनका प्रतिनिधित्व हो, घटनाएँ शृंखलाबद्ध हों, वास्तविकताकी सेवामें नियोजित कल्पना हो।

यदि हम उपन्यासकी तुलना उस साहित्यरूपसे करें जिसे **रोमांस** कहते हैं तो उसे समझनेमें कुछ आसानी हो सकती है। साहित्य और जीवनमें चार तरहके सम्बन्धकी कल्पना की जा सकती है—असम्भव, दुर्लभ, सम्भव और सुलभ। **रोमांस** प्रथम दो तरहके सम्बन्धोंपर ही आधारित है, परन्तु उपन्यासने उन्हें सर्वथा त्यागकर शेष दोको ही अपनाया है, उसपर भी अन्तिम सम्बन्धपर उसका विशेष आग्रह है। इसी बातको क्लारा रीवने अपनी पुस्तक 'प्राग्रेस आव रोमान्स'में इस प्रकार लिखा है—'उपन्यास अपने युगका चित्रण करता है। **रोमांस** उदात्त भाषामें उसका वर्णन करता है, जो न घटित है और न घटमान। उपन्यास दैनिक जीवनकी घटनाओंका सम्बन्ध बतलाता है जो हमारे मित्रों तथा हमारे जीवनमें सम्भव हों। उपन्यासकी सफलता इसमें है कि प्रत्येक दृश्य इस सरलता और स्वाभाविकताके साथ प्रस्तुत हो और उसे इतना सामान्य बनाया जाय कि उसकी वास्तविकतामें विश्वास हो जाय, कमसे कम जबतक हम उसे पढ़ते रहें। यहाँतक कि पात्रोंके सुख-दुःखमें हम वैसे ही प्रभावित हों, मानो वे हमारे अपने ही हैं।' आधुनिक युगके पूर्व कथासाहित्यके नामपर हमें जो कुछ मिलता है उसमें बहुत-कुछ **रोमांस** जैसी ही वस्तु है। अतः यह विभेद विशेष द्रष्टव्य है। —दे० रा० उ०

अंग्रेजीके 'नावेल'को गुजरातीमें 'नवलकथा', मराठीमें 'कादम्बरी' और बँगला तथा हिन्दीमें उपन्यास कहते हैं। उपन्यास शब्दके हिन्दी विश्वकोश (न० ना० वसु) में इतने अर्थ दिये गये हैं—(१) वाक्यका उपक्रम या बातका आरम्भ होना, (२) वाक्यका प्रयोग, (३) विचार (विश्वजन्ममिमंपुण्यमुपन्यास निबोधत—मनु० ९ ३१), (४) प्रस्ताव, (५) दान, (६) उपनिधि, धरोहर, (७) उपकथा, किस्सा। नाट्यशास्त्रमें उल्लिखित प्रतिमुख सन्धिका एक उपभेद भी 'उपन्यास' कहलाता है। परन्तु 'उपन्यास' 'नावेल'के लिए इतना रूढ़ हो गया है कि इसके अन्य शाब्दिक अर्थ तथा नाट्यशास्त्रीय अर्थ लुप्तप्राय हो गये हैं।

नावेलकी तरह उपन्यास भी सम्पूर्ण **कथासाहित्य**-(फिक्शन) के लिए सामान्यतः प्रयुक्त होता है, यद्यपि उसके अनेक रूप और प्रकार हैं। यूरोपमें अठारहवीं शतीतक उपन्यास सामान्य **कथा-साहित्य**के लिए प्रयुक्त होकर **रोमांस**को भी अपनी अर्थव्याप्तिमें सम्मिलित कर रहा था। परन्तु रोमासके अन्तर्गत पद्यबद्ध कथात्मक कृतियाँ भी आ जाती हैं, जब कि उपन्यास एकमात्र गद्यमें लिखित कथासाहित्यको कहते हैं। प्रारम्भमें रोमास उच्च वर्गकी मर्यादाओं, मूल्यों और प्रवृत्तियोंसे सम्बन्धित होता था और उसमें यथार्थसे पलायन करनेकी प्रवृत्ति पायी जाती थी, परन्तु अठारहवीं शतीमें लोकतन्त्रकी शक्तियोंके समाघातमें साहित्यमें उच्चवर्गीय **रोमांस**का स्थान उस कथा-साहित्यने ले लिया जो मध्यवर्गके यथार्थ जीवन और उसके नैतिकता सम्बन्धी विचारोंके अधिक निकट है। जीवनकी यथार्थताके अनुरूप यह कथासाहित्य सदैव गद्यकी भाषा और व्यावहारिक शैलीमें लिखा गया है। अतः आधुनिक उपन्यास साहित्यका एक नया रूप है, जिसने यूनान और रोमकी प्राचीन गद्य-कथाओं, मौखिक रूपमें प्रचलित वीराख्यानों, मध्ययुगीन गद्य-रोमासों, प्रारम्भिक सूत्रों और इतिहासग्रन्थों तथा बहुत-कुछ पद्य-साहित्यसे भी प्रेरणा, उपकरण और सामग्री ग्रहण करके विकास किया है।

उपन्यासकी परिभाषा देना सम्भव नहीं है, परन्तु व्यापक दृष्टिसे कह सकते हैं कि यह गद्य-साहित्यका एक अन्यतम रूप है, जिसका आधार कथा है—चाहे वह सीधे मनुष्योंकी हो या मनुष्येतर जीव और निर्जीव प्रकृतिकी अथवा चाहे वह सच्ची हो या कल्पित। उसके उपस्थित करनेमें कल्पनाका प्रयोग आवश्यक है। कुतूहलकी सृष्टि तथा मानवीय मनोवेगोंके उद्दीपन द्वारा उसमें रोचकता और किसी नीति या सिद्धान्त सम्बन्धी विचारोंके उत्तेजन द्वारा उसमें गरिमाका समावेश वाछनीय है। प्रारम्भमें उपन्यास केवल कुतूहलको जगाकर मनोविनोद करनेतक सीमित जान पड़ता था। परन्तु वास्तवमें जिन सामाजिक परिस्थितियोंने इस लोकतान्त्रिक साहित्यरूपको जन्म दिया, उनमें यह सम्भव नहीं था कि मनोविनोदमात्र उसका लक्ष्य बना रहे। उपन्यासमें कविताकी भाँति रागात्मक तत्त्वकी वह स्थिति साधारणतया सम्भव नहीं मानी जाती जो मनुष्यको भावकी सात्त्विक अनुभूति करा सके। उपन्यास भी पाठकको उसके दैनिक जीवनकी ठोस वास्तविकतासे उठाकर एक अधिक परिपूर्ण और सत्य लगनेवाले कल्पनाजगत्में ले जाता है। परन्तु ऐसा वह भावोत्तेजनके सहारे नहीं, कथाकी रोचकता और कुतूहलके द्वारा करता है। काव्यके समीक्षकोंने इसे भावकी अपेक्षा निम्न स्थान दिया है। कविता जैसे उच्च, उदात्त रागात्मक तत्त्वकी सम्भावना न होनेसे ही कदाचित् उपन्यास अधिक लोकप्रिय साहित्यरूप है। बीसवीं शताब्दीमें इसे जो महत्त्व मिला है वह कदाचित् किसी अन्य साहित्यरूपको—नाटकको भी कभी नहीं मिला था। इसमें लोकप्रियता और महनीयताका अद्भुत समन्वय हुआ है तथा इसने समाजके समस्त ऊँचे और नीचे वर्गोंको मिला दिया है। विश्वके अनेक महान् चिन्तकोंने गम्भीर मनीषामें उपलब्ध स्थायी सत्यों और मानवमूल्योंको इसी माध्यमसे प्रचारित किया है, जिससे उपन्यास केवल मनोरंजनकी वस्तु नहीं रहा, वह महान् सत्यों और नैतिक आदर्शोंका एक अत्यन्त मूल्यवान् साधन बन गया है। परन्तु कुतूहलवर्धन और मात्र मनोरंजन तथा मानवमूल्योंकी खोज और स्थायी सत्योंके प्रतिपादनके

बीच उपन्यासोंके इतने विविध प्रकारके भेद हैं कि उन्हे वर्गीकृत करना असम्भवप्राय है। वस्तुत उपन्यास एक जीवित और विकासशील साहित्यरूप है जिसका सम्यक् शास्त्रीय अध्ययन होना अभी शेष है।

भय और प्रेम दो प्रधान मानवीय भावोंके आधारपर उपन्यासके दो मुख्य भेद किये जा सकते हैं—**साहसिक कथा** और **प्रेमकथा**। साहसिक कथा भौतिक जगतके विविध प्रकारके भयपर मनुष्यकी विजय पानेकी आकाक्षाको प्रकट करनेकी भावनासे सकटों और सकटोंके अतिक्रमणके सघातसे निमित करके उपस्थित की जाती है। साहसिक कथा कदाचित् प्राचीनतम जीवन-कथा है, जिसका स्रोत 'ऑडेसी' जैसे वीररसप्रधान ग्रन्थोंमें पाया जाता है। परन्तु उपन्यासका सच्चा और वास्तविक रूप प्रेमकथामें ही है। इसीमें चरित्र-चित्रण, मनोवैज्ञानिक अध्ययन और सूक्ष्म सकेतोंकी सम्भावनाएँ हैं और इसीने साहित्यमें उच्च स्थान पाया है। इनके अतिरिक्त कुछ उपन्यास **रहस्य-कल्पनासे** युक्त अविश्वसनीय कथाओंसे निर्मित होते हैं। परन्तु उनमें लेखकको किसी जीवन-दर्शनका प्रतिपादन अभीष्ट होता है। सरवातीजका 'डान क्विग्जट' और स्विफ्टका 'गुलीवर्स ट्रैवेल्स' इसके सुन्दर उदाहरण हैं, परन्तु असम्भव कल्पनाओंके ऐसे उपन्यासोंकी सख्या अधिक नहीं है। उपन्यासोंका एक चौथा भेद **ऐतिहासिक उपन्यास** भी है, यद्यपि कुछ लोगोंने इसके सच्चे साहित्यिक रूप होनेमें सन्देह प्रकट किया है। स्काट, बालजक, ड्यूमा आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार हो गये हैं।

उपन्यासके तत्त्वोंकी प्रधानताके आधारपर भी वर्गीकरण किया गया है। इस दृष्टिसे उसके दो मुख्य वर्ग हो सकते हैं—**घटना-प्रधान** और **चरित्र-प्रधान**। घटना-प्रधान उपन्यासोंमें पाठककी कुतूहलवृत्ति ही सन्तुष्ट होती है। वह निरन्तर 'आगे क्या हुआ ?', 'फिर क्या हुआ ?' इन्हीं प्रश्नोंमें उलझा हुआ उपन्यासके साथ अन्ततक चिपका रहता है। इन उपन्यासोंका साहित्यिक मूल्य अधिक नहीं होता, सामाजिक दृष्टिसे भी इनका महत्त्व नहीं है। चरित्र-प्रधान उपन्यासोंका आकर्षण कथामें नहीं, कथाके पात्रों, उनके भावों, विचारों, चारित्रिक गुणों और दुर्बलताओं, उनके परस्पर व्यवहारों तथा उनके माध्यमसे प्रस्तुत सामाजिक रीति-नीति आदिमें केन्द्रित होता है। **घटना-प्रधान** उपन्यसोंके अन्तर्गत भय, विस्मय, साहस, आश्चर्य-कल्पना ओर रहस्योद्घाटन सम्बन्धी उपन्यासोंके अनेक विभेद किये जा सकते हैं। **साहसिक, जासूसी, तिलस्मी, अय्यारी, खूनी** तथा **भूत-प्रेतों**की कथाओंवाले अनेक प्रकारके उपन्यास घटना-प्रधान ही हे। **रहस्य-कल्पना**वाले उपन्यासोंमें भी घटनाकी ही प्रधानता रहती है, यद्यपि उसकी घटनाएँ असम्भव और अतिलौकिक होती है।

चरित्र-प्रधान उपन्यासोंमें विषयकी विविधता कहीं अधिक है, अत उनका सम्पूर्ण वर्गीकरण सम्भव नहीं है, क्योंकि मनुष्यकी व्यक्तिगत—बाह्य और आन्तरिक तथा सामाजिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंकी अनन्त सम्भावनाएं हैं और जीवनके विकासके साथ उनके नये-नये उद्घाटन होते जा रहे है। फिर भी मोटे तोरपर इसके **सामाजिक** और **मनोवैज्ञानिक**, दो प्रधान उपभेद इगित किये जा सकते हैं। एक तीसरा विभेद **ऐतिहासिक** भी इसीके अन्तर्गत आयेगा। परन्तु **सामाजिक उपन्यास** पुन अनेक प्रकारके होते है, क्योंकि समाजके अनेक स्तर और विविध प्रकारके क्रिया-कलाप हैं। परिवार, ग्राम, प्रदेश, राज्य, विश्व तथा सामाजिक प्रथाएं, व्यक्ति और समूहकी समस्याएं, आर्थिक परिस्थितियाँ, राजनीतिक विचारधाराएँ, दार्शनिक सिद्धान्त आदि अनेक विषय हैं जिनमें किसी या किन्हींको उपन्यासमे प्रधानता दी जा सकती है। सकुचित अर्थमें सामाजिक प्रथाओं और समस्याओंसे सम्बन्धित उपन्यासोंको ही प्राय **सामाजिक उपन्यास** समझा जाता है। परन्तु उस दशामे वर्गीकरणका कोई एक आधार नहीं रहता। कुछ उपन्यासोंमें किसी प्रदेशविशेषका यथातथ्य ओर बिम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है और उन्हें **प्रादेशिक** या **आंचलिक** उपन्यास कहा जाता है। परन्तु ये उपन्यास भी **सामाजिक** या **ऐतिहासिक** ही होते हैं और चारित्रिक-के अन्तर्गत आते ह, क्योंकि पात्रोंके चरित्र-चित्रणको यथार्थता प्रदान करनेके लिए ही उनकी बाह्य परिस्थितिको जीवन्त रूपमें चित्रित किया जाता है। पात्रोंके चरित्र-चित्रणमें जब सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण किया जाता है तब इन्हीं चरित्र-प्रधान उपन्यासोंको **मनोवैज्ञानिक उपन्यास** कहा जाता है। आधुनिक कालमें मनोविज्ञानके अनेक नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं, यथा, फ्रायडका यौन सिद्धान्त तथा एडलर और युगका मनोविश्लेषणका सिद्धान्त। अत कुछ मनोवैज्ञानिक उपन्यास ऐसे होते है जिनमें काम-वासनाको प्रधानता देकर उसीके आधारपर मनुष्यकी अन्तश्चेतनाके रहस्यका उद्घाटन किया जाता है। इस प्रकारके उपन्यासोंमें प्रेमको, जो उपन्यासका सबसे अधिक प्रिय भाव है, शारीरिक ओर वासनाप्रधान रूपमें ही चित्रित कर उसे विकृत कर दिया गया है तथा इस सिद्धान्तकी ओटमें अश्लीलतापूर्ण उपन्यासोंकी बाढ लग गयी है। कामवासनाको इतनी प्रधानता न देकर अन्य दमित वासनाओंको उभारकर मानस-ग्रन्थियोंको खोलनेका प्रयत्न करनेवाले दूसरे ढगके उपन्यासोंमें **मनोविश्लेषण**को प्रधानता दी गयी है। परन्तु **मनोविश्लेषणवादी** उपन्यास कभी-कभी मनोविज्ञानके विशेषज्ञोंके अध्ययन-जैसे हो जाते हैं और उनमें उस प्रकारकी कथा-रोचकता नहीं रहती जो उपन्यासकी सबसे बड़ी विशेषता है। सैद्धान्तिक या दार्शनिक अध्ययन उपन्यासका प्रकृत विषय नहीं है। इसी प्रकार राजनीतिक सिद्धान्तोंके प्रचारके लिए भी उपन्यासोंके माध्यमका प्रयोग किया गया है। साम्यवादी विचारधाराके प्रचारकोंने इस सम्बन्धमें साहित्यके इस सर्वाधिक लोकप्रिय रूपका सबसे अधिक दुरुपयोग किया है। नि सन्देह साहित्य मानवजीवनके सभी क्रिया-कलाप तथा उनसे सम्बन्धित सभी विचारों और सिद्धान्तोंको आत्मसात् करता है। विचारोंके प्रसार और सिद्धान्तोंके प्रतिपादन तथा प्रचारके लिए भी उसका उपयोग न वर्जित किया जा सकता है और न अवाछनीय ठहराया जा सकता है। परन्तु दुन्दरा

सृष्टि करना साहित्यका प्राथमिक धर्म है और साहित्यकारके लिए सौन्दर्यभावनाका अभिनिवेश साहित्यरचनाकी पहली शर्त है। सिद्धान्त, विचार और प्रचार उसके लिए, जहाँ-तक उसके साहित्यिक कृतित्वका सम्बन्ध है, गौण और आनुषंगिक है। परन्तु उपन्यासकी लोकप्रियताके ही कारण अर्थलोलुपों और राजनीतिक प्रचारकोंके द्वारा उसका दुरुपयोग हुआ है और ऐसी सस्ती बाजारू पुस्तकोंके ढेर लग गये हैं जिनमें या तो मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणके नामपर उद्दाम कामुकताको उभाड़ा गया है या प्रगतिशीलताके नामपर कोरा राजनीतिक प्रचार किया गया है।

कथाके स्रोतोंके आधारपर वर्गीकरण करके इन्हीं उपन्यासोंके **सामाजिक**, **राजनीतिक**, **धार्मिक**, **पौराणिक**, **ऐतिहासिक** और **वैज्ञानिक**, अनेक विभेद हो सकते हैं।

शैलीकी दृष्टिसे भी उपन्यासके भेद किये जाते हैं। उपन्यासलेखक अपने पात्रोंकी जीवन-कथा प्राय सर्वज्ञके रूपमें उपस्थित करता है। वह उनके सभी कार्यों, व्यापारों, यहाँतक कि उनके गुप्त रहस्यों और सूक्ष्मसे सूक्ष्म मनोभावोंका ज्ञाता होता है और आवश्यकतानुसार उन्हें पाठकके सम्मुख प्रस्तुत करता जाता है। इस शैलीको प्राय **ऐतिहासिक शैली** भी कहा जाता है और अधिकतर उपन्यासोंमें यही अपनायी जाती है। इसके अतिरिक्त **आत्मकथात्मक** शैली है जिसमें या तो उपन्यासके नायक या किसी अन्य पात्रकी आत्मकहानीके रूपमें सम्पूर्ण कथा उपस्थित की जाती है। कभी-कभी भिन्न-भिन्न मुख्य पात्रोंसे अपनी-अपनी आत्मकहानी कहलाकर उपन्यासकी कथाके सूत्र जोड़े जाते हैं। **डायरी** और **पत्रों**के रूपमें भी उपन्यासकी कथा कही जाती है। डायरी तो प्राय एक ही पात्रकी होती है, परन्तु पत्र अनेक पात्रोंके हो सकते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रामाणिक कागज-पत्रोंको भी ज्योंका त्यों उपस्थित करके कथा कही जा सकती है। शैलीकी दृष्टिसे उपन्यासमें नित नये प्रयोग होते जा रहे हैं और उपर्युक्त शैलियोंके अद्‌भुत मिश्रण और उपयोग सामने आ रहे हैं जिनमें नाटक, रेडियो और चलचित्रकी पद्धतियोंका अनुकरण करके प्रभावकी तीव्रता, स्वाभाविकता तथा नवीनता उपस्थित करनेका प्रयत्न किया जाता है।

जिस प्रकार उपन्यासके प्रकार अगणित हैं उसी प्रकार उसके आकारमें भी आश्चर्यजनक विविधता पायी जाती है। जहाँ एक ओर विलियम कान्ग्रेवका 'इन कागनिटा' लगभग २०००० शब्दोंका उपन्यास है, वहाँ दूसरी ओर मार्सल प्रुस्तका 'ए ला रिचर्च दु तोम्प्स्पेर्दु' ४००० पृष्ठोंमें समाप्त हुआ है। अधिकतर उपन्यासमें ६००००से १२०००० तक शब्द होते हैं। परन्तु इस सम्बन्धमें कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। **कथा-साहित्य**में उपन्यासके अतिरिक्त **छोटी-कहानी** या **कहानी**की तो भिन्न सत्ता स्वीकृत है ही और उपन्यास और **कहानी**में तात्त्विक एव कलासम्बन्धी अन्तर बहुत-कुछ स्पष्ट है, परन्तु **कहानियों**में भी इतनी लम्बी कहानियोंके उदाहरणोंकी कमी नहीं है जिनके छोटे-मोटे उपन्यास होनेका भ्रम हो सकता है। **उपन्यास** और **कहानी**के बीच कथासाहित्यकी एक नयी विधाको भी स्वीकृति मिली है, जिसे **लघुउपन्यास** (शार्ट नावेल) या **उपन्यासिका** (नावेलेट) कहा जाता है। इनकी भी पृथक् सत्ता और अपनी रचना-पद्धति और तात्त्विक विशेषताएँ हैं।

यहाँ स्वय उपन्यासके तत्त्वोंका सक्षेपमें परिचय देना आवश्यक है। यों तो सम्पूर्ण कथासाहित्यके मात्र छ तत्त्व बताये गये हैं—कथावस्तु, पात्र, सवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य, परन्तु उपन्यासमें इनका विशेष महत्त्व है। इनके अतिरिक्त कुछ लोगोंने द्वन्द्व या सघर्ष (कान्फ्लिक्ट) तथा कुतूहल या द्वैधाभाव(सस्पेंस)को भी तत्त्व माना है, परन्तु वास्तवमें ये रचनाकौशलके अग हैं। उपर्युक्त छ तत्त्वोंमें भी मुख्य कथावस्तु और पात्र हैं। देशकाल कथावस्तुका ही एक अग है, जो उसे स्वाभाविक और विश्वसनीय बनाता है। उद्देश्य वह परिणाम है जिसे कथावस्तुके द्वारा प्राप्त किया जाता है और सवाद तथा शैली उसे प्राप्त करनेके साधन हैं।

सम्पूर्ण उपन्यासकी कहानी जिन उपकरणोंसे मिलकर बनती है वे **कथावस्तु** कहलाते हैं। ये उपकरण कथासूत्र (थीम), मुख्य कथानक (प्लाट), प्रासंगिक कथाएँ या अन्तर्कथाएँ (एपीसोड), उपकथानक (अण्डर प्लाट), पत्र, समाचार, प्रामाणिक लेख (डाक्यूमेंट्स), डायरीके पन्ने आदि हैं, जिनका उपन्यासलेखक आवश्यकतानुसार उपयोग करता है। उपन्यास जिस मुख्य विचार, दृष्टिकोण, आधारभूत कार्य या विषयविशेषपर अवलम्बित होता है उसीको उसका **कथासूत्र** या **थीम** कहते हैं। जीवन और जगत्‌के सम्बन्धमें नाना विचार और सिद्धान्त आविष्कृत हुए और हो रहे हैं। उपन्यासकार जाने या अनजाने उन्हींमेंसे किसीको अपनी कथावस्तुका मूलाधार बनाता है। प्रायः उपन्यासोंमें एकसे अधिक कथाएँ कही जाती हैं। इनमें प्राय एक कथा प्रमुख होती है जो आदिसे अन्ततक चलती है और जो कथाके प्रमुख पात्र (नायक) या पात्रोंसे सम्बद्ध होती है। यही कथा **मुख्य कथानक** कहलाती है (जैसे कि **नाटकमें आधिकारिक कथा**)। उपन्यासोंके नवीन प्रयोगोंमें मुख्य कथानकका अभाव भी देखा गया है। परन्तु वह तो एक विशेष स्थिति है। कभी-कभी एकसे अधिक, दो या तीन कथानक समान प्रमुखताके साथ-साथ चलकर इस प्रकार सम्मिलित हो सकते हैं कि दोनोंमें कौन प्रमुख है यह कहना भी कठिन हो जाता है। उन दशामें उन दोनोंको प्रमुख कथानक कह सकते हैं। कथाके विकासमें प्रसगवश ऐसे अनेक छोटे-छोटे इतिवृत्त आ जाते हैं जिनके द्वारा मुख्य कथानक पुष्ट होता है। ये **प्रासंगिक कथाएँ** वायुवेग या अन्य कारणोंसे उत्पन्न उन हिलोरों और भवरोंके समान हैं जो धाराकी गतिमें वेग या क्षणिक अवरोध उत्पन्न करती हैं। ये कथाएँ कथानकके साथ अन्ततक नहीं चलतीं। परन्तु कुछ उपन्यासोंमें मुख्य कथानकके अतिरिक्त एक **उपकथानक**का भी समावेश किया जाता है। इसका कार्य मुख्य कथानकको सहायता देना तथा उसके कथासूत्रको स्पष्ट करना होता है। कथानकको पुष्ट करने या उसकी सत्यताकी प्रतीति करानेके लिए उपन्यासकार किसी महत्त्वपूर्ण समाचार, किसी व्यक्तिगत पत्र, किसी सरकारी लेख, वसीयतनामा, अधिकारपत्र,

न्यायालयके निर्णय अथवा किसीकी व्यक्तिगत डायरीके किसी महत्त्वपूर्ण अंशका भी आवश्यकतानुसार उद्धरण देता है।

जीवनमें नाना प्रकारकी घटनाएँ घटती रहती हैं। उपन्यासकार अपने उद्देश्यके अनुसार उनमेंसे चुनकर उनमें एक प्रकारकी एकता लाता है और अपनी कल्पनाके सहारे अपने **कथानक** और **कथावस्तु**का निर्माण करता है। भय और विस्मय अथवा प्रेम और घृणाके आधारपर ही इन कथानकोंकी कल्पना की जाती है। इन्हीं मुख्य भावोंको उपन्यासकार अपनी प्रतिभासे उच्चसे उच्चतर स्तरपर उठाकर अपने कथानककी रोचकतामें भव्यता पैदा कर सकता है। इनमें भी प्रेमके भावने ही १००० ई०के मुरासाकीके 'गेंजी' नामक उपन्यासमे लेकर आजतक उत्कृष्ट उपन्यासोंकी सृष्टि करायी है। पुन इसी भावको लेकर निकृष्टतम अश्लील उपन्यासोंकी रचना भी हुई है। नारी और पुरुषके प्रेम और उसमें भी नारीके भावनापूर्ण व्यक्तित्वके ही चारों ओर विश्वके अधिकतर उपन्यासोंके कथानक घूमते दिखाई देते हे—भले ही उपन्यासोंके बाह्य **उद्देश्य** कुछ भी रहे हों। इस दृष्टिसे कथानकोंकी संख्या गिनी-चुनी है। परन्तु ऐसा नहीं है कि कथानकके अभावमें उपन्यासलेखन ही समाप्त हो जाय। वस्तुत कथानकमें घटनाओंकी रोचकता और विविधता नयी परिस्थितियोंकी उद्भावनाके द्वारा सम्पन्न की जा सकती है और फिर, उपन्यासमें घटनाएँ अब उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रहीं जितना **चरित्र-चित्रण** तथा उसके माध्यमसे नानाविध **उद्देश्यों**की सिद्धि। यही कारण है कि **कथावस्तुके विन्यास**में स्वीकृत नियमोंके पालनकी ओर भी कुछ उपन्यासलेखक उदासीन दिखाई देते हैं। मुख्य कथानककी प्रमुखताका पूर्ण निर्वाह, जो घटना-प्रसंग कथानकके विकासमें सहायक नहीं हैं उनका नितान्त बहिष्कार, उपकथानकका मुख्य कथानकके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध आदि **वस्तु-संघटन**की अनिवार्य आवश्यकताओंकी भी कुछ लेखक उपेक्षा कर जाते हे।

कथानकके संघटन और **वस्तु-विन्यास**में सत्याभास या विश्वसनीयता, कार्य-कारण-सम्बन्ध, मनोवैज्ञानिक क्षण, उत्कण्ठा, संघर्ष, भविष्य-संकेत और चरमोत्कर्षका होना साधारणतया आवश्यक है। यद्यपि ऐसे भी उपन्यास हैं जिनमें असम्भव घटनाओंका वर्णन किया गया है और उनके द्वारा प्रतीकात्मक ढंगसे किसी उच्च सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है, परन्तु साधारणतया घटनाओंके सम्बन्धमें सत्यकी प्रतीति करा देना आवश्यक है, उनमे कार्य-कारण-का सम्बन्ध दिखानेसे ही यह प्रतीति होती है। इसी सम्बन्धके आधारपर पाठकके मनमें किसी घटनाके द्वारा उत्कट आशा जगाना तथा तत्क्षण उसके घटित होनेका वर्णन करना **मनोवैज्ञानिक क्षण** कहलाता है, जिससे उत्कण्ठा या उत्सुकतापूर्ण प्रत्याशा उत्पन्न होती है। सभी सफल उपन्यास-लेखक पाठककी रुचिको आबद्ध रखनेके लिए इसका प्रयोग करते हैं। कभी तो भावी आकस्मिक और नाटकीय परिणाम पहलेसे कल्पित करा दिया जाता है और कभी पाठकको उसके विषयमें तरह-तरहकी कल्पना करनेके लिए छोड दिया जाता है। ऐसा भी होता है कि पाठकको तो नायकपर आनेवाली विपत्तिकी सूचना होती है, स्वयं नायकको नहीं होती। इस व्यंग्यात्मक उत्कण्ठा तथा **नाटकीय व्यंग्य**का प्रयोग कथानकके आकर्षणकी वृद्धिमें सहायक होता है। घटनाओंके परस्पर घात-प्रतिघातमे **संघर्ष**की स्थिति पैदा होती है जो **पराकाष्ठा**की ओर अग्रसर होकर **चरमोत्कर्ष**की सृष्टि करती है। यह कथा-विकासका वह क्षण होता है जब कथाकी धारा सहसा मुड़कर एक ओरको प्रवाहित होने लगती है। पाठकके कुतूहलको बढानेके लिए उपन्यासोंमें कभी-कभी **भविष्य-संकेत** भी दिये जाते हैं।

उपन्यासमें कथावस्तुके संघटन और विन्यासमे भी अधिक महत्त्वपूर्ण **चरित्र-चित्रण**की कुशलता है। उपन्यासके पात्रोंके क्रिया-कलापमे ही **कथावस्तु**का निर्माण होता है। अत पात्र जितने ही अधिक सजीव और यथार्थ होंगे, कथानकमें भी उतना ही आकर्षण लाया जा सकेगा। पात्रोंको सजीव और यथार्थ बनानेके लिए उपन्यासकारकी कल्पनाशक्ति, मानवमनके सूक्ष्म अध्ययन और उसकी कलात्मक योजनाकी परीक्षा होती है। चरित्र-चित्रणके द्वारा ही कथानकमें वे समस्त खूबियाँ लायी जा सकती हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया गया हे। चरित्र-चित्रणके ही आधारपर उपन्यासकार अपनी कृतियोंमे महान् उद्देश्यों-की अवतारणा करके उसे स्थायी मूल्योंसे समन्वित कर सकता है। चरित्र-चित्रणकी विशेषता यह होनी चाहिये कि पाठक विभिन्न पात्रोंको सरलतासे पहचान सके तथा उनके साथ यथावश्यक तादात्म्यका अनुभव कर सके। मनुष्य-प्रकृतिके विभिन्न पक्षों और स्तरोंके सूक्ष्म अध्ययन और कमसे कम शब्दोंमें चित्र उपस्थित कर सकनेकी योग्यता ही सफल चरित्र-चित्रणकी कसौटी है। महान् उपन्यासकार अपने पात्रोंको देश और कालकी सीमाके अनुकूल रखते हुए भी सार्वकालिक और सार्वजनिक बना देते ह (दे०—'पात्र')।

संवाद या **कथोपकथन**का **चरित्र-चित्रण**मे बहुत महत्त्व है। पात्रोंकी बातचीतके द्वारा ही हम उनसे भली भाँति परिचित होते हे। वर्णनके द्वारा उनके सूक्ष्म मनोभाव, प्रतिक्रियाएँ, संकल्प-विकल्प, विचार और वितर्क आदिका वैसा यथातथ्य और प्रभावशाली चित्र नहीं दिया जा सकता। **संवाद** पात्रोंको सजीव बना देते हैं तथा कथानकमे नाटकीयताका समावेश करके उसके प्रभावको तीव्र कर देते हैं। कभी-कभी किसी पात्रके मुखसे निकला हुआ एक शब्द भी समस्त उपन्यासमें गूँजता सुनाई देता है। **संवाद**-के द्वारा कथावस्तुका विकास और पात्रोंका चरित्र-चित्रण अभीष्ट होता है, अत उपन्यासमें इन्हीं उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए उसका उपयोग होना चाहिये। उसमें देश, काल और पात्रके अनुकूल स्वाभाविकता, मनोविज्ञानकी उपयुक्तता और उपन्यासकी रोचकता और आकर्षणको बढानेवाली अभिनयात्मकता और सरसता आवश्यक है। (दे०—'कथोपकथन')।

पात्रोंके व्यक्तित्वका चित्र उनकी बातचीतमे हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। परन्तु ये पात्र जिस **परिस्थिति** और **वातावरण**में रहते और कार्य करते हैं

उसके बिना पात्रोंके चित्रमें परिपूर्णता नहीं आती, वे शून्यमें लटके हुए-से अयथार्थ लगते हैं। अतः यह आवश्यक है कि कथानककी घटनाओंके घटित होनेकी सम्पूर्ण परिस्थिति, उनका स्थान और समय हमारे कल्पनापटपर अंकित कर दिया जाय, जिससे कि हम पात्रोंकी सजीवतापर विश्वास कर सकें। वस्तुतः उपन्यासमें पात्रोंकी तरह देश-कालका भी अपना व्यक्तित्व होता है। प्राचीन कथासाहित्यसे आधुनिक उपन्यासका सबसे बड़ा अन्तर चरित्र और परिस्थितियोंके चित्रणमें है। प्राचीन कथाओंके पात्र देश-कालनिरपेक्ष होते थे, जब कि आधुनिक उपन्यास कभी-कभी समय और स्थानका ऐसा यथातथ्य चित्र दे देते हैं कि उन्हें वास्तविक रूपमें देखा और जाना जा सकता है। कुछ उपन्यासोंमें **देश-काल** इतना सजीव बनाया जाता है कि वह स्वयं उपन्यासका एक पात्र बन जाता है। इसके महत्त्वकी सूचना इस बातसे मिलती है कि वास्तविक स्थानीय रंग (लोकल कलर) या प्रादेशिक (रीजनल) विवरण देनेवाले उपन्यासोंका **आंचलिक उपन्यासों**के नामसे एक विशेष वर्ग बन गया है। देश-कालके चित्रणका तात्पर्य यह है कि उपन्यासकी घटनाएँ जिस स्थान और समयकी हों उसका ज्योंका त्यों चित्र उपस्थित कर दिया जाय। यह **समसामयिक** और **ऐतिहासिक** दोनों हो सकता है। लेखकको उसका घनिष्ठ परिचय आवश्यक है जिससे कि वह भौगोलिक विवरण, सामाजिक रीति-नीति, शिष्टाचार, भाषा-प्रयोग आदिको उपन्यासमें सम्मिलित करके उसकी घटनाओंमें सजीवता ला सके। परन्तु **आंचलिक और स्थानीय रंग-वाले** उपन्यासोंको छोड़कर साधारणतया उपन्यासोंमें काल्पनिक स्थानों अथवा वास्तविक स्थानोंका काल्पनिक वर्णन होता है। यह कोई दोष नहीं माना जा सकता, शर्त केवल यह है कि जो भी देश-कालका विवरण हो वह वर्णित घटनाओंके अनुकूल ही उनको विश्वसनीय बनानेमें सहायक हो। ऐसे उपन्यासोंकी रचना हुई है जिनमें किसी कालविशेष या स्थानविशेषकी ही नहीं, किसी युगविशेषमें समस्त देशकी सभ्यता सजीव करके खड़ी कर दी गयी है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि उपन्यासमें देश-कालका चित्रण करनेके लिए भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनका समग्र परिचय तो आवश्यक है ही, परन्तु कला-विधान करनेवाली कल्पना-शक्ति होना इससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि इसके बिना भौगोलिक और सामाजिक अध्ययनका उचित उपयोग नहीं हो सकता और विवरणोंमें सरसता नहीं लायी जा सकती। ऐतिहासिक उपन्यासोंमें इसका विशेष रूपमें ध्यान रखना पड़ता है कि देश-कालमें सचाईके साथ मनोरमता भी बनी रहे। विशेषज्ञताके इस युगमें ऐसी रचनाएँ भी देखनेमें आता हैं जिनमें स्थानीय रंग या आंचलिकता कुछ विशेष रुचिके पाठकोंके ही कामकी है, साधारण पाठकके लिए वह उपन्यासका भार बन गयी है।

देश-कालके प्रयोगमें ही उपन्यासकार बाह्य प्रकृतिका कविताकी भाँति उपयोग करता है और कभी उपन्यासके पात्रोंकी रागात्मिका वृत्तियोंका प्रकृतिके साथ सामीप्य और तादात्म्य दिखलाता है और कभी उनकी भावनाओंके प्रतिकूल प्राकृतिक वैभव-विलासका वर्णन करके गम्भीर व्यंग्यकी अवतारणा करता है।

शैलीको भी उपन्यासके तत्त्वोंमें गिनाया गया है, यद्यपि शैली, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल एक साधन है। सभी साहित्यिक कृतियोंमें शैलीका महत्त्व है। परन्तु, कदाचित् इसलिए कि उपन्यास समग्र जीवनका एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करता है और उसके अनेक आकार और प्रकार हैं, उपन्यासमें उसका विशेष उल्लेख हुआ है। शैलीके ही द्वारा उपन्यासके विभिन्न तत्त्वोंको नियोजित किया जाता है। शैलीकी विविधताका आकलन असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक लेखककी अपनी अलग शैली होती है और वह उसके द्वारा अपने व्यक्तित्वको प्रकाशित करता है। परन्तु मोटे ढंगसे कहा जा सकता है कि कोई लेखक **व्याख्यात्मक शैली** पसन्द करते हैं, कोई **अभिनयात्मक**, किसीकी कला उस चित्रकारकी भाँति होती है जो चित्रकी पृष्ठभूमिका सूक्ष्म अंकन करता है, अनेक रंगोंका प्रयोग करता है और चित्रके अंग-प्रत्यंगको सतर्कताके साथ प्रभावशाली रूपमें उतारता है और कोई केवल कुछ रेखाओंके द्वारा चित्रका भाव व्यंजित कर देता है। आधुनिक साहित्यमें व्यंजना, संकेत, प्रतीक और रूपककी शैलियोंके प्रयोगकी सामान्य प्रवृत्ति देखी जाती है, उपन्यासमें भी ये प्रयोग प्रचुर मात्रामें हो रहे हैं।

उद्देश्य भी वस्तुतः उपन्यासका कोई पृथक् तत्त्व नहीं है। उपन्यासमें जो कथा कही जाती है उसका कोई-न-कोई परिणाम होता है। हो सकता है कि किसी कथाका सौन्दर्य-सृष्टिके अतिरिक्त और कोई बाह्य परिणाम न हो, परन्तु फिर भी उन उपन्यासोंको छोड़कर जो केवल व्यावसायिक उद्योगके रूपमें निर्मित होते हैं, कथानककी परिस्थितियों या चारित्रिक विशेषताओंमें कोई-न-कोई विशिष्ट जीवन-दृष्टि पायी जाती है। उपन्यासकार कलाकार होनेके अतिरिक्त सामाजिक प्राणी भी होता है। जब वह किसी कथाको उपन्यासके रूपमें कहनेका निश्चय करता है, तभी उसके मनमें **कथासूत्र**के साथ वह जीवन-दृष्टि मूर्त होने लगती है जो उसने अपने सांसारिक जीवनके अनुभवस्वरूप उपलब्ध की है। यह हो सकता है कि वह स्वयं उस जीवनदृष्टिको उस समय स्पष्ट रूपमें बता सकनेमें समर्थ न हो सके, परन्तु वह जिन परिस्थितियोंका निर्माण करता है तथा जिन पात्रोंको जन्म देता है वे स्वयं उस जीवन-दृष्टिको अपनेमें निहित किये हुए होते हैं। कलाकी दृष्टिसे वस्तुतः वही उपन्यास श्रेष्ठ है जिसका लेखक पाठकोंपर सफलतापूर्वक यह प्रभाव डाल सके कि उसकी रचनासे जिस **जीवन-दर्शन**का सन्देश मिलता है वह उसने बाहरसे आरोपित नहीं किया है, वरन् वही सामयिक अथवा शाश्वत सत्य है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आधुनिक युगमें अनेक चिन्तकों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकोंने अपने चिन्तन, मनीषा, गवेषणा और प्रयोगोंमें प्राप्त किये हुए विचार, सिद्धान्त, सत्य और मूल्य उपन्यासके सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यिक माध्यमके द्वारा संसारको प्रदान किये हैं। उपन्यासके **उद्देश्य**के रूपमें ही ये उसकी **कथावस्तु** और **चरित्र-चित्रण**में निहित मिलते

है। यह स्पष्ट है कि ये उपन्यासकार वस्तुत चिन्तक और दार्शनिक पहले हैं, उपन्यासकार बादमें। परन्तु उनके सन्देशकी दृष्टिसे ही यदि देखा जाय तो भी उन्हें सफलता तभी मिल सकती है जब वे उपन्यास-कलाके प्रति पूर्ण रूपसे वफादार हों और सिद्धान्तों और विचारोंके लोभमें उसके नियमोंकी तनिक भी उपेक्षा न करें। वस्तुत इसी बातपर उपन्यासका भविष्य भी निर्भर है। —त्र० व०

भारतमें कथाप्रवृत्तिका प्रारम्भ ऋग्वेद तथा ब्राह्मणसूत्रों, उपनिषदोंकी व्याख्याओं तथा जैन-बौद्ध-साहित्योंके उपदेशोंमें प्राप्त होता है जिनके माध्यमसे भारतीय जनता सामाजिक आचार, राजनीतिक कूटज्ञता, धार्मिक परिष्कार, नैतिक आदर्श तथा दार्शनिक चिन्तनकी शिक्षा प्राप्त करनेके साथ मनोरंजन भी करती रही है। कथाकी यह प्रवृत्ति संस्कृतके 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश', 'वेतालपंचविंशति', 'सिंहासनद्वात्रिंशिका', 'शुकसप्तति', 'कथासरित्सागर', 'बृहत्कथा' तथा 'बृहत्कथामंजरी'में भी द्रष्टव्य है। किन्तु इनमें कहानीके कुतूहल और विचार-सवलित शुष्क उपदेशका प्राधान्य है। इनमें उपन्यासकी न तो भावशीलता है, न जीवनको व्यापक रूपसे देखनेकी दृष्टि और न शैलीकी ही सहज रोचकता है। औपन्यासिक तत्त्वोंकी दृष्टिसे बाणभट्टकी 'कादम्बरी' तथा दण्डीका 'दशकुमारचरित' ही जिनमें घटना, चरित्र और शैली तीनोंकी रमणीयता है, उपन्यासके निकट पहुँचते हैं।

किन्तु हिन्दीमें उन्नीसवीं शताब्दीमें गद्यके प्रचारके साथ ही कथाकी अप्रकट प्रवृत्ति साक्षात् हुई और इंशाअल्ला खाँकी 'रानी केतकीकी कहानी' (उदयभानचरित), लल्लूलाल-रचित 'सिंहासन बत्तीसी', 'वैताल पचीसी', 'माधवानल कामकन्दला', 'शकुन्तला', 'प्रेमसागर', सदल मिश्र-रचित 'नासिकेतोपाख्यान', जटमल-रचित 'गोरा-बादलकी कथा', राजा शिवप्रसाद-रचित 'राजा भोजका सपना' इसके उदाहरण हैं। हिन्दी गद्यके इस प्रारम्भिक उन्मेषमें जनता एक ओर संस्कृतसे लिये गये पौराणिक और धार्मिक कथावृत्तों तथा 'शुकबहत्तरी', सारंगासदावृक्ष', 'किस्सा तोता-मैना', 'किस्सा साढे तीन यार'से मनोविनोद करती थी और दूसरी ओर फारसीसे ली हुई 'चहार दरवेश', 'बागोबहार', 'किस्सा हातिमताई', 'गुलबकावली', 'छबीली भठियारिन', 'दास्ताने अमीर हमजा', 'तिलस्मे होशरुबा' आदि तथा लोकप्रचलित मौखिक कहानियोंसे जी बहलाती थी। किन्तु इनमें घटनाओंकी स्वाभाविकता, जीवनकी व्यापकता और चरित्रकी अवतारणा नहीं थी। इसी समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने मराठीसे अनूदित 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक हिन्दीका प्रथम सामाजिक उपन्यास प्रस्तुत किया। पाश्चात्य संस्कृतिके प्रभाव, राजनीतिक चेतनाके विकास, राष्ट्रीयताके जागरण, अतीत गौरवके पुनरुत्थानके कालमें भारतेन्दुके सहयोगी और समकालीन साहित्यकारोंने उपन्यासकलाके विकासमें पूर्ण सहयोग दिया। इस भारतेन्दु युगके उपन्यासोंके कई स्रोत हैं। पहला, **सामाजिक** एवं **ऐतिहासिक** स्रोत है। इस स्रोतके उपन्यासोंकी प्रमुख प्रेरणा प्रचलित कुरीतियोंका निराकरण तथा सामाजिक उन्नयन करना है। इन उपन्यासोंमें प्रेम, शौर्य और सतीत्व, जातीय गौरव और राष्ट्रीयताकी भी प्रखर भावनाएँ प्रतिबिम्बित हैं। किशोरीलाल गोस्वामीके 'त्रिवेणी, 'स्वर्गीय कुसुम,' 'हृदयहारिणी,' 'लवंगलता,' 'कुसुम कुमारी', राधारमण गोस्वामीके 'विधवा विपत्ति,' 'हनुमन्तसिंह', 'कल्पलता,' 'चन्द्रकला', कार्त्तिकप्रसाद खत्रीका 'जया' (अनूदित), गोपालराम गहमरीका 'नये बाबू,' राधाकृष्णदास-का 'निस्सहाय हिन्दू,' बालमुकुन्द शर्माका 'कामिनी', गोकुलनाथ शर्माका 'पुष्पावली' इत्यादि इस स्रोतके प्रमुख उपन्यास हैं। इस सामाजिक स्रोतसे ही सम्बन्धित नैतिक स्रोत भी है जिसके उपन्यासोंमें गुणदोष, पापपुण्य, नीति एवं सामाजिक आचरणकी शिक्षा दी गयी है। बालकृष्ण भट्टके 'नूतन ब्रह्मचारी,' 'सौ अजान एक सुजान,' रत्नचन्द्र प्लीडरका 'नूतन चरित्र,' किशोरीलाल गोस्वामीका 'सुखशर्वरी,' श्रीनिवासदासका 'परीक्षागुरु,' मेहता लज्जा-राम शर्माके 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी,' 'धूर्त रसिकलाल,' गोपालराम गहमरीके 'बड़ा भाई,' 'सास पतोहू,' कार्त्तिकप्रसाद खत्रीका 'दीनानाथ' इत्यादि प्रमुख उपन्यास हैं। दूसरा, **तिलस्मी, अय्यारी** और **जासूसी** स्रोत है। इस स्रोतके उपन्यासोंमें चमत्कारप्रदर्शन, कुतुहलवृद्धि, जादू, घटना-संयोगका वैचित्र्य, प्रेम प्रसंग, मिलनकी उत्सुकता, विरहकी व्याकुलता, कथानककी जटिलता, चरित्र-संघटन तथा सुखान्तकी प्रवृत्ति है। किशोरीलाल गोस्वामीके 'स्वर्गीय कुसुम'में तिलस्मी घर, 'लवंगलता'में गोल तिलस्मी कमरा, 'प्रणयिनी परिणय,' 'कटे मूँडकी दो दो बातें'में तिलस्मी शीशमहलकी तिलस्मी कथाएँ प्राप्त हैं। उनका प्रभाव देवकीनन्दन खत्रीके 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'नरेन्द्र मोहिनी,' 'कुसुमकुमारी,' 'वीरेन्द्रवीर,' देवीप्रसाद शर्मा उपाध्यायके 'सुन्दर सरोजिनी,' जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदीके 'वसन्तमालती', देवीसहाय शुक्लके 'दृष्टान्तप्रदीपिनी,' 'जादूभरी बातें' तथा 'भयानक भेड़िया,' 'प्रवीण पथिक,' 'प्रमीला'में स्पष्ट प्रकट है। उपन्यास-कलाकी दृष्टिसे 'चन्द्रकान्ता' हिन्दीका प्रथम साहित्यिक उपन्यास है। काशीनाथ शर्माके 'चतुर सखी' और विजयानन्द त्रिपाठीके 'सच्चा सपना (अनूदित)में भी तिलस्मका चमत्कार है। गोपालराम गहमरीके उपन्यासोंमें जासूसी स्रोत स्पष्ट है। तीसरा, अनुवाद-स्रोत है। हिन्दीमें तिलस्मी और जासूसी उपन्यासोंकी प्रधानता थी, जिससे साधारण जनताका मनोरंजन तो हुआ, किन्तु साहित्यिक समाजका विनोद न हो सका। अत उपन्यास-कार देशी और विदेशी भाषाओंसे अनुवाद प्रस्तुत करने लगे जिनसे प्रेरित होकर हिन्दीमें **सामाजिक, ऐतिहासिक** और **गार्हस्थिक** उपन्यासोंका प्रणयन होने लगा। बंगलासे अनुवादित उपन्यासोंमें भारतेन्दुका 'राजसिंह,' राधाकृष्णका 'स्वर्णलता,' पतिप्राणा अबलाका 'राधारानी,' गदाधर सिंहके 'दुर्गेशनन्दिनी,' 'बंगविजेता', किशोरीलाल गोस्वामीके 'दीपनिर्वाण,' 'विरजा,' बालमुकुन्द गुप्तका 'मडेलभगिनी' (४ भाग), रामशंकर व्यासके 'मधुमालती', 'मधुमता', विजयानन्द त्रिपाठीका 'सच्चा सपना', राधिकानाथ बन्द्योपाध्यायका 'स्वर्णबाई', उदितनारायणलाल वर्माका 'दीपनिर्वाण', प्रतापनारायण मिश्रके 'युगलांगुरीय',

'कपालकुण्डला', अयोध्यासिंह उपाध्यायके 'कृष्णकान्तका दानपत्र', 'राधारानी', कात्तिकप्रसाद खत्रीके 'कुलटा', 'मधुमालती', 'दलित कुसुम'के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनमें प्रेम-प्रसंगोंका बाहुल्य तथा वीरताकी भावनाका अतिरेक है, कथावस्तु, संवाद, मानवीय भावोंका अंकन, घटना-वैचित्र्य और सुन्दर रुचिर शैली सव्याप्त है। संस्कृतसे अनुवादित उपन्यासोंमें गदाधर सिंहका बंगलासे संस्कृतके 'कादम्बरी'का अनुवाद, काशीनाथ शर्माका पूर्वाचार्यकृतका अनुवाद 'चतुर सखी' प्रमुख है। काशीप्रसाद खत्रीका 'शेक्सपीयरके परम मनोहर नाटकोंके आशय', भारतेन्दुके 'पूर्णप्रकाश' और 'चन्द्रप्रभा' (मराठीसे अनूदित), मेहता लज्जारामका 'कपटी मित्र' (गुजराती), किशनलालका 'मुद्राकुलीन' या 'इतिहास चन्द्रोदय', रामकृष्ण वर्माके 'अकबर', 'अमला वृत्तान्तमाला', 'ठग वृत्तान्तमाला', 'पुलीस वृत्तान्तमाला' इत्यादि मुख्य है। किशोरीलाल गोस्वामीके 'उपन्यास' पत्र निकलनेके बाद कानन डायल तथा रेनाल्टके उपन्यासोंके अनुवाद अधिकतासे हुए।

भारतेन्दु-युगमें अनुवादित उपन्यासोंको छोड़कर कथाकी दृष्टिसे मौलिक उपन्यास प्रौढ और उच्च कोटिके नहीं है। उनमें सामाजिक उन्नयन और सुधार, जातीय गौरव, ऐतिहासिक तथ्यों, काव्य, नीति, धर्म, दर्शन तथा मानवताको स्थान मिला है। कथानक सीधे, सरल तथा शैली वर्णनात्मक है।

अद्यावधि देवकीनन्दन खत्रीने हिन्दीके सर्वप्रथम साहित्यिक उपन्यास 'चन्द्रकान्ता'में वीरगाथाओंकी परम्परा, अलिफलैलाकी कथाओं, अमीर हमजाकी 'तिलस्म दिलरुबा' तथा अन्य लोकप्रचलित कहानियोंका प्रयोग किया है। उससे इतना कलात्मक सौन्दर्य आया है कि तिलस्मी उपन्यासोंको ही कलापूर्ण उपन्यासोंका प्राथमिक स्वरूप कहना पडता है। किन्तु इसके पश्चात् उपन्यासकी कलामें विभिन्न दृष्टियोंसे विकास हुआ। किशोरीलाल गोस्वामीके बाद कुछ उपन्यासकारोंने संस्कृतके प्रेमनाटकों या रीतिकालीन श्रृङ्गार-काव्यसे प्रेरणा न लेकर पारसी थियेटरों तथा उर्दू काव्यसे प्रेरणा ली। रामलाल वर्माका 'गुलबदन उर्फ रजिया बेगम' इसी प्रकारकी प्रेरणाका उपन्यास है। पारसी थियेटरोंके प्रभावसे अब हिन्दीमें पौराणिक कथानक, ऐतिहासिक वृत्त, लोकविश्रुत मौलिक कथाओं, कुटुम्ब, समाज आदिसे सामग्री जुटाकर नाटकोंके रूपमें उपन्यास लिखे जाने लगे, जिनमें संलाप और सम्भाषण द्वारा ही चरित्र तथा कथावस्तुका विकास किया जाता था। जब नायिका-भेद, रसपरिपाक, रामलीला, स्वांग, नौटकी, नकलके रूपमें अवशिष्ट नाट्यकलाका आरोप होने लगा तो नाटकीयतापूर्ण उपन्यास सम्मुख आने लगे। भगवानदीनका 'सती सामर्थ्य', किशोरीलाल गोस्वामीका 'कुसुमकुमारी', जयगोपालकृत 'उर्वशी' इत्यादिमें यह स्पष्ट रूपसे द्रष्टव्य है। इनमें नाटकीयता संलाप वा सम्भाषणके रूपमें ही प्रयुक्त हुई थी किन्तु नाटकीय कलाके विकासके साथ उपन्यासोंमें भी **अन्तर्द्वन्द्व, चरमसीमा, क्रिया-प्रतिक्रिया, संकलन-त्रय** इत्यादि नाट्यकलाके गुणोंका प्रयोग होने लगा। व्रजनन्दन सहायके 'राधाकान्त' तथा प्रेमचन्दके 'रंगभूमि'में नाटकीय व्यंग्यादि बडी निपुणतासे प्रयुक्त हुए है।

उपन्यासके विकासक्रममें दूसरी श्रृंखला मनोवैज्ञानिकता है, जिसके कारण उपन्यास-कलाका सौन्दर्य खिल उठा है। अभीतक उपन्यासोंमें दैव-घटना, संयोग-वैचित्र्य, जादू, कुतूहल, तर्कपूर्ण सूझोंका प्राधान्य था, किन्तु अब उपन्यासोंमें मानव-मनके विश्लेषणसे उसके रहस्य खोले जाने लगे। बँगलामें शरच्चन्द्र तथा रवीन्द्र मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत कर ही रहे थे। इसके अनुकरण तथा मनोविज्ञानके अध्ययनकी प्रेरणासे हिन्दीमें भी मनोवैज्ञानिकताका सूत्रपात हुआ। इससे उपन्यास-कलामें नाटकीयता और बढ गयी। प्रेमचन्दके रंगभूमिमें मानव-मनका सूक्ष्म निदर्शन है, किन्तु वास्तवमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषणकी प्रवृत्तिकी प्रमुखता सन् १९२५ के पश्चात् ही आती है।

वीरगाथाओंकी काव्य परिपाटी, नाट्यकला तथा मनोवैज्ञानिकताके अतिरिक्त उपन्यासोंमें गीतितत्त्वका समावेश भी है। उपन्यासोंमें गीतिमत्ता छायावादका प्रभाव है। व्रजनन्दन सहायका 'सौन्दर्योपासक', प्रसादका 'कंकाल', चण्डीप्रसाद हृदयेशका 'मनोरमा' उपन्यास गीति और नाट्यका सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करते है।

शैलीकी दृष्टिसे भी उपन्यास-कलामें विकास हुआ है। अभीतक उपन्यासकार श्रोताओं-पाठकोंका ध्यान रखकर पात्रों और दृश्योंका वर्णन निरपेक्षभावसे करते थे। उन्हें कहानी कहना ही आता था। संक्षेपमें यह **वर्णनात्मक** शैली है। देवकीनन्दन खत्रीके 'चन्द्रकान्ता', 'काजरकी कोठरी', लज्जाराम शर्माके 'आदर्शहिन्दू', किशोरीलाल गोस्वामीके 'चपला', रामजीदास वैश्यके 'धोकेकी टट्टी', प्रियम्वदा देवीके 'कलियुगी परिवारका एक दृश्य' प्रभृति उपन्यासोंमें यह द्रष्टव्य है। किन्तु अब मनोविज्ञानके समावेशसे यह शैली भी मँज गयी है। काल, स्थान, वातावरण और परिस्थितिके अनुसार वर्णन होने लगा है। 'कंकाल' इसका सुन्दर उदाहरण है। दूसरी शैली, **संलाप** या **सम्भाषण**के रूपमें विकसित हुई, जिससे कथा तथा पात्रके विकासके लिए ढंगसे अधिक पात्रोंका सम्भाषण दिया जाने लगा। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिकके 'माँ'में व्यंजक तथा मनोरंजक सम्भाषण है। तीसरी शैली, **आत्मकथात्मक** अर्थात् उत्तम पुरुषमें कथा कहनेकी है। व्रजनन्दन सहायके 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकान्त', रामचन्द्र शर्माका 'कलंक', इलाचन्द्र जोशीका 'घृणामयी', चन्द्रशेखरका 'वारांगना-रहस्य' इत्यादि उपन्यास इस शैलीके उत्कृष्ट उदाहरण है। चौथी शैली, **पत्रकी शैली** है, जिसमें पत्रोंके द्वारा चरित्र और कथावस्तुका विकास होता है। बेचनशर्मा उग्रका 'चंद हसीनोंके खतूत'में यह द्रष्टव्य है। पाँचवीं शैली **डायरी-उद्धरण**की है। 'शोणिततर्पण'में स्वयं कथा कहनेकी रीति प्राप्त होती है।

बीसवीं शताब्दीसे पूर्व उपन्यासोंकी रचनाका उद्देश्य केवल मनोरंजन था। उपन्यास साधारण जनताकी वस्तु थे। अब उपन्यासकार पौराणिक तथा लोक-प्रचलित कथानक लेकर कल्पनाके नादमें कथाकी विचित्रता प्रकट

करके उपन्यास-रचना करता था। किन्तु जब उपन्यास धर्म-प्रचार और समाज-सुधारके साधन बने तो **सामाजिक उपन्यास** भी लिखे जाने लगे। सास-बहू तथा ननद-भौजाईके झगडे, बाल-विवाह, स्त्रियोंकी दासता, जाति-पाँतिका झमेला, दहेज, अस्पृश्यता आदि इनके विषय थे। वास्तवमें सन् १९०१से १९२५ तक लिखे गये उपन्यासोंका उद्देश्य मनोरंजन, उपदेश तथा कलाके लिए कलाका प्रतिपादन करना था।

बीसवीं शताब्दीके प्रथम चतुर्थांशमें आकार और विधानकी दृष्टिसे **घटना-प्रधान**, **चरित्र-प्रधान** और **भावना-प्रधान** उपन्यास प्राप्त होते हैं। घटना प्रधान उपन्यास, **तिलस्मी, साहसिक, जासूसी, प्रेमाख्यानक, ऐतिहासिक, पौराणिक** तथा विविध प्रकारके उपन्यास रूपोंकी कोटियाँ है—(क) **तिलस्मी उपन्यासों**में नायक-नायिका अय्यार-तिलस्मोंको तोड़ने तथा प्रतिस्पर्द्धियोंके अय्यारोंको पराभूत करके बन्दी बनानेमें सफल होते हैं। अन्तमें नायक-नायिकाके मिलनसे उपन्यास सुखान्त बनते हैं। इनके लिए अद्भुत कल्पनाशक्ति, प्रतिभा और कौशलकी आवश्यकता होती है। खत्रीने फारसी एव उर्दूसे तिलस्म लेकर हिन्दीमें उनका प्रयोग किया है। निहालचन्द्र वर्माका 'जादूका महल' ऐतिहासिक उपन्यास है। (ख) **साहसिक उपन्यास** चोर, डाकू, डकैती और चोरीसे सम्बन्धित होते हैं। चन्द्रशेखर पाठकका 'अमीर अली ठग', देवकीनन्दन खत्रीका 'काजरकी कोठरी', दुर्गाप्रसाद खत्रीके 'लाल पंजा', 'डकैती', जयराम गुप्तका 'राजदुलारी', दुर्गाप्रसाद खत्रीके 'रक्तमण्डल', 'सफेद शैतान', इसी कोटिके उपन्यास हैं। (ग) **जासूसी उपन्यासों**में चोरी, डाका, हत्या आदिका पता कोई जासूस लगाता है, वह प्रत्येक प्रकारके वातावरण, घटना, वस्तु-पारिपार्श्वकी सूक्ष्म परीक्षा करता है तथा गुप्तमेंसे प्रकट करता है। जासूसी उपन्यास पश्चिमी जासूसी उपन्यासोंके अनुकरणपर लिखे गये हैं। इनमें कथानक स्वाभाविक होता है और कहानी बहुत स्वाभाविक रीतिसे कही जाती है। गोपालराम गहमरीके 'हत्याका रहस्य', 'गेरुआ बाबा', 'मेमकी लाश', 'जासूसकी जवानी' उत्कृष्ट जासूसी उपन्यास हैं। (घ) **प्रेमाख्यानक उपन्यास** या **रोमांसिक उपन्यासों**में एक ओर रीतिकाव्यकी शृंगारिक और परम्परागत प्रेमकी व्यंजना है, दूसरी ओर फारसी-उर्दूके परम्परागत प्रेमकी अभिव्यक्ति है। प्रथम प्रकारके प्रेममें प्रथम दर्शनसे उत्पन्न प्रेम, अभिसार, उत्कण्ठा, मान, रहस्यात्मक सूत्र आदिका वर्णन है। किशोरीलाल गोस्वामीके 'अगूठीका नगीना', 'कुसुम कुमारी' इसी प्रकारके प्रेमके उपन्यास हैं। दूसरे प्रकारके प्रेममें नायक-नायिका मिलनके लिए साहसिक कार्य करते हैं। इनमें प्रेमका चित्रण शोखी, शरारत और चुहलके साथ किया जाता है। प्रेमाख्यानोंमें अति नाटकीय प्रसंगों तथा अस्वाभाविक अयथार्थ कार्योंकी विपुलता रहती है। रामलाल वर्माका 'गुलबदन', जी० पी० श्रीवास्तवका 'गंगा-जमुनी' इसके अच्छे उदाहरण हैं। (ङ) **ऐतिहासिक उपन्यासों**में ऐतिहासिकताके साथ प्रेम-प्रसंग, तिलस्म और अय्यारी भी मिलती है। हिन्दीमें वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यास कम हैं। किशोरीलाल गोस्वामीके 'लखनऊकी कब्र', 'शोणिततर्पण', 'कोहेनूर', 'शीशमहल', तथा 'रानी दुर्गावती', 'वीर पत्नी या रानी सयोगिता', 'चौहानी तलवार', 'सोनेकी राख', 'अवधकी बेगम', इसी श्रेणीके उपन्यास हैं। ब्रजनन्दन सहायका 'लालचीन', श्यामबिहारी मिश्र तथा शुकदेवबिहारी मिश्रका 'वीरमणि', वृन्दावनलाल वर्माका 'गढ कुण्डार' आदि भी ऐतिहासिक कोटिके उपन्यास हैं। (च) **पौराणिक उपन्यास**—'सती सीता', 'वीर कर्ण', 'एकलव्य', 'परशुराम', 'सुभद्रा', 'अनुसूया'-'चन्द्रलेखा', 'सती सीमंतिनी', 'सती मदालसा' आदि चरित्रोंकी अवतारणा करके लिखे उपन्यास इस कोटिमें आते हैं। (छ) **विविध कथा-प्रधान उपन्यास**—लक्ष्मीदत्त जोशीका 'जपा कुसुम अथवा नई सृष्टि', 'राबिन्सन क्रूसो', ब्रजनन्दन सहायका 'आरण्य बाला', जयराम गुप्तका 'दिलका काँटा'में प्रेम-प्रसंग, अय्यारी, इतिहास, सभी कुछ है। (ज) **चरित्र-प्रधान उपन्यासों**में अयोध्यासिंह उपाध्यायके 'ठेठ हिन्दीका ठाट', 'अधखिला फूल', लज्जाराम मेहताके 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दम्पति', 'आदर्श हिन्दू', पारसनाथ सिंहका 'मँझली बहू', विजयकुमार घोषका 'छोटी बहू', प्रियम्वदा देवीका 'कलियुगी परिवारका एक दृश्य', मन्नन द्विवेदीके 'रामलाल,' 'कल्याणी', शिवपूजन सहायका 'देहाती दुनिया' आदि प्रयोगकी स्थितिके चरित्र-प्रधान उपन्यास हैं। प्रेमचन्द्रके 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', ब्रजनन्दन सहायका 'राधाकान्त', यदुनन्दन प्रसादका 'अपराधी', विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिकका 'माँ', अवधनारायणका 'विमाता', जगदीश झा विमलका 'आशापर पानी', शिवनारायण द्विवेदीका 'छाया' इत्यादि उपन्यास प्रौढ चरित्र-प्रधान उपन्यासोंकी कोटिमें आते हैं। वास्तवमें अभीतकके चरित्र परम्परावद्ध या कल्पित प्रकार-विशेषके प्रतिनिधि होते थे। उनमें साधारण व्यक्तिका जीवन नहीं दिखाई देता था। उनमें प्राय सभी प्रेमी और अय्यार होते थे। किन्तु चरित्रकी वैयक्तिक गतिशीलता, गुण-दोषके मिश्रण, यथार्थानुकारिताके साथ आदर्शवादितामें विश्वास प्रेमचन्द्र और कौशिकके द्वारा ही मिला। प्रारम्भमें चरित्र-प्रधान उपन्यासोंके लिखनेमें प्रेमचन्द अकेले थे। (झ) चरित्र-प्रधान उपन्यासोंमें वैज्ञानिक सत्यकी दुहाई देनेवाले **प्राकृतवादी उपन्यास** भी हैं, जिनमें मनुष्य और पशुओंमें समानता प्रदर्शित की गयी है। विषय-वासनामें मनुष्य पशुसे भी गया-बीता है। विधवाश्रमसे कथानक लेकर लिखे गये बेचन शर्मा उग्रके 'दिल्लीका दलाल' तथा चन्द्रशेखर पाठकके 'वारांगना रहस्य' ऐसे ही उपन्यास हैं। (ञ) **भावनाप्रधान उपन्यास** कवित्व-प्रधान होते हैं। 'वकाल', सौन्दर्योपासक', 'मनोरमा' इसके उदाहरण हैं। किन्तु इनमें 'अंगूठीका नगीना', 'कुसुमकुमारी' तथा कुछ रूपक उपन्यास 'मायापुरी' (जासूसी), चाद करण शारदाका 'कालेज होस्टल', 'चपला', 'रंगभूमि' आदि भी गिने जा सकते हैं।

हिन्दी उपन्यासोंपर 'चन्द्रकान्ता,' 'रक्तमण्डल' और 'भूतनाथ'का आश्चर्यजनक प्रभाव था। उनकी कथावस्तु कौतूहल और आश्चर्यपर आधारित था। मधुमप्रस्थ-

के 'आनन्द महल' तथा गोपालराम गहमरीके 'झण्टा टाकू'में यह प्रवृत्ति स्पष्टतया लक्षित है। यद्यपि सन् २५ से अय्यारीकी कौतूहल-प्रियता समाप्त हो चुकी थी, किन्तु आकस्मिकताका प्रयोग फिर भी बहुलतासे होता था। ज्योतिर्मयी ठाकुरके 'मधुवन'में आकस्मिकताका अद्भुत पुट है। इसके सहारे कथाको मोड़नेका काम लिया जाता था, जिससे घटनाओंके विस्तार और सन्तुलनमें बाधा पड़ती थी। बीसवीं सदीका यह दूसरा चतुर्थांश राष्ट्रीय जागरणोत्थान के प्रयत्न तथा क्रान्तिका काल है। अतः इसमें कथावस्तुकी महत्ता कम हो गयी। उपन्यास विचारोंकी अभिव्यक्तिका साधन बनने लगा। पहले नैतिकता या अन्य कल्पित आदर्शोंसे घटना और पात्रोंकी स्थिति निर्धारित होती थी, अब पात्र और उनके मनोविज्ञानसे कथावस्तुकी दिशा निश्चित होने लगी। विचारोंके अनुसार कथा मोड़ लेने लगी। वर्णन, विवरण, व्याख्याओं, परिभाषाओं, तर्कों, विचारोंके अतिरेकके कारण कथावस्तुमें असम्बद्धता भी आयी, किन्तु पात्रके मनोविज्ञानके अनुकूल होनेके कारण दोष न मानी गयी। इस प्रकार अब कथाकार नेपथ्यमें चला गया। अब पात्रोंके जीवन, उनके कार्य-व्यापारसे कथानक निर्मित होने लगे। वे पात्र-सापेक्ष्य हो गये। चरित्रकी संयोजनामें ही कथाके सूत्र विकसित होने लगे। शिल्पकी दृष्टिसे इन उपन्यासोंके कथानक दीर्घ, व्यापक, विस्तृत और इतिवृत्तात्मक हैं। मुख्य कथानकके साथ गौण कथानक भी संयुक्त हैं। फिर भी कथानकोंमें एकसूत्रता, संवेदना, प्रसंगकी एकात्मकता है। कथासूत्र कलात्मक, सुगठित और सम्पूर्ण हैं।

चरित्रकी प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे एक ओर ठाकुरदत्तके 'छिपा महल,' गोपालराम गहमरीके 'झंडा डाकू' और राहुल सांकृत्यायनके 'शैतानकी आँख'में पात्रोंके व्यक्तित्व घटनाओंकी बहुलता, कुतूहल और आश्चर्यके आधिक्यमें अधिक नहीं स्पष्ट हो सके हैं, किन्तु दूसरी ओर मनोविज्ञानकी इतनी अधिक प्रधानता है कि आदर्शको छोड़कर पात्रोंके मन और उसकी असंगतियों, उसके रहस्योंका ही उद्घाटन किया जाने लगा है। आदर्श और मानवीय स्वभाव भिन्न-भिन्न दिशाओंमें चलने लगे। जैनेन्द्रके 'सुनीता', ऋषभचरण जैनके 'मास्टर साहब', गुरुदत्तके 'विकृत छाया', रांगेय राघवके 'विषादमठ' और अमृतलाल नागरके 'महाकाल', जोशीके 'परदेकी रानी', 'प्रेत और छाया,' अज्ञेयके 'शेखर—एक जीवनी,' यशपालके 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही,' भगवतीचरण वर्माके 'चित्रलेखा,' अश्कके 'गिरती दीवारें' में आदर्श और पात्र प्रायः एक-दूसरेकी विपरीत दिशाओंमें जा रहे हैं। फिर भी मनोविज्ञानके साथ साधारण, प्रकृत तथा मानवीय चरित्रोंकी प्रतिष्ठा हुई है। उनके व्यक्तित्वमें तत्कालीन व्यक्ति, समाज, युग और समस्त परिस्थितियाँ प्रतिबिम्बित होने लगी हैं। 'सेवासदन,' 'रंगभूमि,' 'गबन', 'गोदान,' 'तितली,' 'कंकाल' युगके सजीव चित्र सिद्ध हुए हैं।

भाषा और रचनाशैलीकी दृष्टिसे भी उपन्यास-शिल्पमें विकास हुआ। राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह और उग्रके उपन्यासोंमें आलंकारिक, चित्रात्मक, व्यंजना-प्रधान भाषा, प्रेमचन्दमें भाषाका महाविरेदार स्वाभाविक रूप, जोशी और अज्ञेयके उपन्यासोंमें मनोवैज्ञानिक और सामाजिक स्थितियोंके अनुसार भाषा तत्सम, तद्भव, विदेशी और देशज शब्दोंसे पूर्ण, सूर्यकान्त त्रिपाठी निरालाके 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'चोटीकी पकड़'में भाषा अलंकाररहित, व्यावहारिक और सशक्त है।

रचनाशैलीकी दृष्टिसे उपन्यासोंकी अनेक शैलियाँ विकसित हुईं। **वर्णनात्मक शैली**में मनोविज्ञानके समावेशके कारण वर्णन, चित्रण, संकेत, संवाद, देश, काल, परिस्थिति, वातावरणके समन्वयसे पात्र पाठकोंके सामने शक्तिशाली, सजीव रूपमें सरलतासे प्रत्यक्ष होने लगे। राहुलका 'सिंह सेनापति' तथा हजारीप्रसाद द्विवेदीका 'बाणभट्टकी आत्मकथा', प्रेमचन्दका 'गोदान', भगवतीचरण वर्माका 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' इत्यादि उपन्यासोंमें यह शैली द्रष्टव्य है। दूसरी शैली **सम्भाषण और संलाप**के सन्निवेशसे प्रारम्भ होती है, जिसमें कथाकारकी तटस्थता, चरित्रकी व्यञ्जना, आत्मसम्भाषणोंसे प्रकट होती है। इसमें व्यंग्य, हास्य, विनोद और नाट्यतत्त्वका भी समन्वय है। 'रंगभूमि', 'कंकाल','माँ', 'घृणामयी'में इसका अच्छा प्रयोग है। तीसरी शैली **व्याख्या-प्रधान** है, जिसमें कथाकार पात्रों और घटनाओंकी समस्त स्थितियोंकी मनोवैज्ञानिक, नीतिपरक, दार्शनिक व्याख्याएँ करता है। जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशीके उपन्यासोंमें इसका प्रयोग हुआ है। चौथी शैली, **चित्रात्मक** है जिसमें बाह्य और अन्तःप्रकृति दोनोंका चित्रण किया जाता है। 'परख', 'घरौंदे', 'सराय' इस शैलीके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पाँचवी शैली **आलंकारिक** है जो सीमाका अतिक्रमण करनेपर दोष बन जाती है। चण्डीप्रसाद हृदयेशमें आलंकारिकताकी अधिकता है। छठी **डायरी-पत्र-शैली** है। उग्रके 'चन्द हसीनोंके खतूत'के कथानकका संघटन कुछ पत्रोंमें ही हुआ है। प्रफुल्लचन्द्र ओझा मुक्तका 'पाप-पुण्य' भी इसी शैलीका उपन्यास है। सातवी **स्वगत-शैली** है। इसका उदाहरण 'सन्यासी' है। आठवीं शैली **हास्यव्यंग्य**की शैली है। प्रवासीलाल वर्माका 'मूर्खराज', निरालाका 'कुल्लीभाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा', अन्नपूर्णानन्दका 'महाकवि चच्चा' इस शैलीमें लिखे गये हैं। नवीं शैली **कथा-गर्भ-उपकथा-शैली** है। 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' इसका उत्तम उदाहरण है। 'पंचतन्त्र'की शैलीमें जी० पी० श्रीवास्तवके 'लतखोरीलाल और स्वामी चौखटानन्द' लिखे गये हैं।

वास्तवमें प्रेमचन्द और प्रसादयुग साधारण मनोविज्ञान तथा राष्ट्रीय जागर्तिका काल है, जिसमें सामाजिक कुरीतियोंके निराकरणका प्रयत्न, पतन और पराजयके प्रति आदर्शोंकी स्थापना, उत्पीडित, शोषित और दुःखी मानवताके लिए हार्दिक समवेदना है। कथामें इतिवृत्त, निश्चित घटना, कार्य-व्यापारोंका आधिक्य, रचनाशैलीकी सरलता, सोद्देश्यता है। किन्तु सन् ३६ के पश्चात् हिन्दी उपन्यास एक तीसरा मोड़ लेता है। इस युगमें मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा फ्रायडके यौनवाद तथा युंगके मनोविश्लेषणने व्यक्ति और समाजके मूल्योंको नये सिरेसे समझनेके लिए प्रेरित किया। चरित्रके अध्ययनके लिए मनुष्यके बाह्य

संकेतों, स्वप्नों, सम्भाषणों, भाव-भंगिमाओं, कर्म-प्रेरणाओंका अध्ययन होने लगा। विद्रोही, पापी, अपराधी, स्त्री-पुरुष सम्बन्धी नैतिक मूल्यों आदिपर मनोवैज्ञानिक गहराईसे विचार हुआ। इस युगका यह नवीन दर्शन मनोविश्लेषणका आधार लेकर चला, जिससे उपन्यासको नयी और मौलिक दिशाएँ मिलीं। युगके समाज-निरपेक्ष व्यक्तिवादी दर्शनके कारण उपन्यास भी स्वच्छन्द और व्यक्ति-प्रधान हो गये। जैनेन्द्र, जोशी और अज्ञेयके द्वारा उपन्यासके नये शिल्पकी प्रतिष्ठा हुई। भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्कके उपन्यासोंमें प्रेमचन्दके शिल्पका ही विकास हुआ है। जैनेन्द्रके 'परख', 'तपोभूमि', 'सुनीता', 'कल्याणी', 'त्यागपत्र', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', जोशीके 'संन्यासी', 'घृणामयी', 'परदेकी रानी', 'प्रेत और छाया', अज्ञेयके 'शेखर', 'नदीके द्वीप' में चरित्रोंका आत्म-विश्लेषण प्रधान हो गया है। भगवतीचरण वर्माके 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष वाद', 'टेढे-मेढे रास्ते', अश्कके 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', यशपालके 'दादा कामरेड' में यथार्थ और व्यंग्यका सुन्दर समन्वय है।

रचनाशैलीका प्रौढ विकास इस तृतीय उत्थानकी सर्वप्रमुख विशेषता है। इस कालके उपन्यासोंमें देश-काल-परिस्थितिका समन्वय तथा एकसूत्रता एव कथाकार और पाठकके बीच समदृष्टिके द्वारा नवीन शिल्पका विकास हुआ है। वर्णन और चरित्र-चित्रणके स्थानपर, चिन्तन और चरित्र-विश्लेषण होने लगा। कार्यव्यापार-चित्रणके स्थानपर कर्म-प्रेरणाओं और चित्तवृत्तियोंका अध्ययन हुआ। कथाकार आलोचक न रहकर द्रष्टा वन वैठा और कथाके स्थानपर भाव-राशि प्रस्तुत करने लगा। मुख्य तथा आत्म-विश्लेषणके आधारपर **आत्म-कथात्मक** और निरपेक्ष-चित्रणके आधारपर **आत्मसंस्मरणात्मक** ('शेखर—एक जीवनी', 'सुखदा') तथा व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठाके लिए कहानीके सूत्रोंको तोड़कर **पत्र-सम्भाषणात्मक** रचनाशैलियाँ ('नदीके द्वीप', 'परख', 'तपोभूमि') विकसित हुईं। —वि० रा०

उपन्यास, ऐतिहासिक—ऐतिहासिक उपन्यासके लिए तो इतिहासकी रक्षा करनेके साथ-साथ उसके स्वरूपको अपनी कल्पनाके द्वारा स्पष्ट करना भी आवश्यक है। यह ध्यान रखना चाहिये कि उपन्यास इतिहासका अन्धानुकरण नहीं हो सकता, सबसे पहले यह उपन्यास है—साहित्यिक कलावस्तु। साथ ही वह इतिहास भी है, जिसकी मर्यादाकी भी रक्षा करनी पड़ती है। अत यहाँ कल्पना अनियन्त्रित नहीं हो सकती। अकवर और शिवाजी दोनोंको एक साथ नहीं विठा सकती। इस प्रकारके उपन्यासको भिन्न रुचिवाले दो स्वामियोंकी सेवा करनी पडती है, दोनोंके रसकी रक्षा करते हुए अपना अस्तित्व वनाये रखना पड़ता है। अत इसमें अन्य प्रकारके उपन्यासोंसे अधिक सतर्क प्रतिभाकी आवश्यकता पड़ती है। यूरोपीय साहित्यमें सफल ऐतिहासिक उपन्यासके लेखकके रूपमें सर वाल्टर स्काट तथा अलेक्जेंडर ड्यूमा जैसे ही कुछ नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दीका सर्वप्रथम ऐतिहासिक उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामीका 'कुसुमकुमारी' कहा जाता है। पर वास्तवमें इसे ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। इसका कोई भी पात्र ऐतिहासिक नहीं है। कथा ऐतिहासिक और सच्ची घटनापर अवलम्बित है इतना ही कह देना पर्याप्त नहीं। इस दृष्टिसे तो सेठ गोविन्ददासका 'इन्दुमती' नामक उपन्यास ऐतिहासिक नामका अधिक अधिकारी हो सकता है, क्योंकि कांग्रेसके आन्दोलनका तिथिवार इतिहास इसमें उल्लिखित मिल जाता है। पर यह ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है, क्योंकि इसमें पात्रके व्यक्तित्वकी महिमा गायी गयी है। ऐतिहासिक उपन्यासका अस्तित्व वृन्दावनलाल वर्माके 'गढकुंडार' तथा 'विराटाकी पद्मिनी' में प्रारम्भ होता है। 'झाँसीकी रानी' तथा 'मृगनयनी', दोनों उपन्यास किसी भी साहित्यके प्रौढ ऐतिहासिक उपन्यासके समकक्ष उपस्थित किये जा सकते हैं। प्रतापनारायण श्रीवास्तव हिन्दीके दूसरे ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं, जिनका 'वेकसीका आँसू' हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है।

ऊपर कहा गया है कि ऐतिहासिक कथाकारको इतिहासकी मर्यादाका ख्याल रखना अत्यावश्यक है। परन्तु इतिहासका सच्चा स्वरूप क्या है, वह विगत ऐतिह्यका शुष्क अनुकरण करे अथवा उसमें कल्पनाका भी थोडा योग हो और इतिहास लेखकके सूक्ष्म मानसिक तत्त्वका उसपर हल्का प्रकाश पड़े, इस वातको लेकर विचारकोंमें मतभेद है। एक दल इतिहासको निर्वयक्तिक तथा तटस्थ मानता है। दूसरा कहता है कि इतिहासमें तटस्थता और वस्तुपरकता नामकी चीजका कोई महत्त्व नहीं। हम लाख प्रयत्न करके भी इतिहास-लेखककी व्यक्तिगत धारणाओंसे उसे मुक्त नहीं कर सकते। इन्हीं दो सिद्धान्तोंके अनुरूप ऐतिहासिक उपन्यासोंकी दो श्रेणियाँ हिन्दीमें स्पष्ट रूपमें दिखलाई पडती हैं। एकके समर्थक वृन्दावनलाल वर्मा तथा रांगेय राघव कहे जा सकते हैं जिन्होंने अपने उपन्यासोंमें इतिहासकी वफादारीको अच्छी तरह निभानेका प्रयत्न किया है। रांगेय राघवने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'मुर्दोंका टीला' में अपने पक्षकी वकालत की है। दूसरी ओर चतुरसेन शास्त्रीने 'वैशालीकी नगरवधू' नामक ऐतिहासिक उपन्यासमें 'इतिहासरस' वाले सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है और कहा है, भाव और रसमें जो अन्तर है वही अन्तर इतिहास-सत्य और इतिहास-रसमें है। जिस तरह भावको रसानुभूतिकी श्रेणीतक पहुँचानेके लिए तथ्योंमें परिवर्तन किया जा सकता है उसी तरहकी स्वतन्त्रताका अवसर यहाँ भी मान्य है, क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यासमें इतिहासका सूखा ठट्ठर खड़ा करना नहीं होता, उसमें प्राणप्रतिष्ठा भी करनी पड़ती है। चतुरसेन शास्त्रीका एक उपन्यास 'वयं रक्षाम' भी प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। (द्र०—'उपन्यास')। —दे० उ०

उपन्यास, घटना-प्रधान—उपन्यासके दो ही आधार स्तम्भ हैं—व्यक्ति और घटना। कुछ व्यक्ति होते हैं जिनके जीवनमें घटनाएँ घटती हैं और अपने अस्तित्वके द्वारा व्यक्तिके जीवनपर प्रकाश डालती रहती हैं। उपन्यासकी सार्थकता इसीमें है कि वहाँ घटनाओं तथा व्यक्तिमें पारस्परिक सहयोग तथा आदान-प्रदान होता रहे, परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि उपन्यासकी घटनाएँ अपनी स्वतन्त्रता

घटनी है, मानों उनपर व्यक्तिका नियन्त्रण नहीं है अथवा है भी तो नाममात्रका। वे प्रधान हो गयी हैं और व्यक्तिको उन्होंने दबोच लिया है। साहसिक तथा जासूसी उपन्यास प्रायः घटनाप्रधान होते हैं। नायक किसी भी वस्तुकी खोजमें चला, प्रेयसीकी या गुरुकी। बस क्या है, अनेकों घटनाएँ उसके जीवनमें आकर जुड़ जायँगी। 'मान न मान, मैं तेरा महमान।' अपराधी जरूर-न-जरूर कोई ऐसा सूत्र (क्लू) छोड़ जायगा जो उसको खोज निकालनेमें सहायक होगा। पैरके निशान ही सही, सिगरेटका एक टुकड़ा ही सही, पर ये ही चायकी प्यालीमें तूफान उठानेमें समर्थ होंगी और ऐसी-ऐसी घटनाओंकी सृष्टि करेंगी जो मानव-बुद्धिको चुनौती दे जायँ। प्राचीन कालमें घटना-प्रधान कथाओंका ही साम्राज्य था, उनमें घटनाओंकी प्रचुरता अवश्य थी, पर जीवन दीपक लेकर खोजनेपर भी नहीं मिलता था। गुणाढ्यकी 'बृहत्कथा'को सुनकर पशु-पक्षियोंकी भूख-प्यास हराम हो गयी हो, पंचतंत्रको पढ़कर नीतिके उपदेश भले ही प्राप्त हो जाते हों, पर जीवनस्पन्दनके नामपर तो कुछ भी नहीं है। आज प्रेमचन्दके 'गोदान,' 'रंगभूमि' जैसे भारी-भरकम उपन्यासोंमें जीवनके कुछ उपकरण भले ही मिल जाते हों, पर आज जीवनकी माँग बहुत बढ़ गयी है। इस दृष्टिसे उपन्यास घटना-प्रधान ही कहे जायँगे। (दे०—'उपन्यास')   —दे० उ०

उपन्यास, चरित्र-प्रधान—उपन्यासका वास्तविक स्वरूप चरित्र-प्रधान उपन्यासोंमें ही प्रकट होता है। कथाका प्रारम्भ तो मानवताके प्रारम्भसे ही हुआ होगा, पर जिस समय कथा मनोरंजन और उपदेशको खूँट छोड़कर व्यक्तिकी तरफ मुड़ी होगी उसी समय उपन्यास नामक नूतन साहित्यिक विधानका बीज भी पड़ा होगा। वास्तविक चरित्र-प्रधान उपन्यास तो वे कहे जायँगे जिनमें पात्रकी कुछ विशेषताएँ प्रारम्भमें ही बता दी जायँ, बादमें जितनी घटनाएँ घटें उन सबपर इन विशेषताओंकी छाप हो। 'सेवा सदन'में यह जानते देर नहीं लगती कि सुमन कैसी है? मानिनी है, मनस्विनी है तथा जीवनकी सुख-सुविधाओंपर फिसल पड़नेवाली है। इन गुणोंकी एक बार प्रतिष्ठा हो जानेपर हर एक अवसरपर इनका ही चमत्कार देखनेको मिलेगा। सुमन किसी भी अवस्थामें रहे, वह रहेगी वही, जो वह है। घटनाएँ आयेंगी, उसे जरा हिला-डुला देंगी, पर उखाड़ नहीं सकेंगी। चरित्र-प्रधान उपन्यासोंका दूसरा रूप वह भी होता है जिसमें परिस्थितियोंके फेरमें पड़कर पात्र कोई-सा रूप धारण कर सकता है, पर वह होगा मानवोचित ही। यशपालके 'मनुष्यके रूप'में सोमा न जाने क्यासे क्या हो जाती है, पर उन सब रूपोंमें एक आन्तरिक साम्य है। कह सकते हैं कि परिस्थितियोंके साथ संगति बैठा देना ही उसके चरित्रकी विशेषता है। चरित्र-प्रधान उपन्यास ही आगे बढ़कर व्यक्तिपरक उपन्यासका रूप ले लेते हैं। (दे०—'उपन्यास')   —दे० उ०

उपन्यास, जासूसी—यदि आपको एक सुसघटित कथावस्तुवाला उपन्यास पढ़ना हो जिसके आदि, मध्य और अवसानके बिन्दु स्पष्ट हों, जो कारण और कार्यकी शृंखलामें बँधा हो तो आप जासूसी उपन्यास पढ़ें। हत्या हुई अपराधीकी खोजमें जासूस प्रवृत्त हुए, एकाधिक लोगोंपर शंका हुई, प्रमाणोंकी नाप-तोल कर सच्चे अपराधीका पता लगा और उसे दण्डित किया गया। यही जासूसी उपन्यासका प्रधान सूत्र है और इसमें कथासंघटनके सब तत्त्व वर्तमान हैं। पो, कानन डायल, एडगर वैलेस, ये तीनों नाम जासूसी उपन्यासलेखकोंमें चिरस्मरणीय रहेंगे। हिन्दीमें गोपालराम गहमरीने जासूसी उपन्यास और कहानियोंका अम्बार खड़ा कर दिया है। ठाकुरदत्त मिश्रका 'छिपा महल' तथा राजेश्वरप्रसाद सिंहका 'महान् अपराधी', ये दो प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास हैं।

जासूसी उपन्यासके निर्माणका सूत्र सीधा है। पर एक सफल जासूसी उपन्यासकी रचना सहज नहीं। अपराधी और जासूस दोनोंको रंगमंचपर मुख्य अभिनेताकी तरह उपस्थित रहना चाहिये। पर यदि अपराधी किसी तरह भी पाठककी थोड़ी-सी सहानुभूति पा गया तो वह अपराधीकी फाँसीको पसन्द नहीं करेगा। अपराधीको उपन्यासके प्रारम्भमें ही उपस्थित नहीं करना चाहिये, नहीं तो पाठक मानवोचित दुर्बलताके कारण प्रथम परिचयकी सहानुभूति देने लगेगा। हत्याके लिए अथवा डकैतीके लिए पर्याप्त मनोवैज्ञानिक कारण अवश्य होना चाहिये, परन्तु उसके औचित्यका चित्रण इतने गाढ़े रूपमें नहीं होना चाहिये कि पाठकको अपराधीका दण्डित होना खटकने लगे। यदि अपराधीका चित्र अत्यधिक गाढ़ी काली स्याहीसे चित्रित कर उसे शैतानियतका पुतला बना दिया जाय तो उसका पता लगा लेना पाठकके लिए सहज होगा और सारा उपन्यास ही बीचमें समाप्त हो जायगा, उसे पढ़नेकी प्रेरणा ही नष्ट हो जायगी।

जासूसी उपन्यासोंकी समाप्तिपर पाठकके हृदयमें यह धारणा बननी चाहिये कि सचमुच ही बड़ी पेचीदी गुत्थीको सुलझाया गया है जो साधारणतया सहज सम्भव न था। गोस्वामीजीके उपन्यास 'जिन्देकी लाश'में एक लड़कीको षड्यन्त्रकारियोंने मृत समझकर दफना दिया है, पर वास्तवमें वह मरी नहीं है। बादमें वह जासूसकी सहायतासे निकाल ली जाती है। प्रारम्भमें थोड़ा कौतूहल अवश्य जगता है, पर समस्या बड़े ढंगसे हल हो जाती है। ऐसा नहीं लगता कि एक बड़ी कठिन समस्यासे पाला पड़ा था।

इधर जासूसी कथाओंमें एक नया परिवर्तन आ रहा है और यह हुआ है यथार्थवादके नामपर। इसमें उस समाजका चित्रण हुआ है जिसमें न्यायालयके कमरेमें दर्जनों शराबकी बोतलें रखनेवाला न्यायाधीश किसीको एक औंस शराब रखनेके लिए जेलकी सजा दे सकता है। एक सीधा-सा लगनेवाला धार्मिक पुरुष भ्रष्टाचारके केन्द्रोंका संचालक हो जाता है। आजके युगमें ऐसे व्यक्तियोंके अस्तित्वके सम्बन्धमें विश्वास करना कठिन नहीं है। इस तरहके उपन्यासोंमें अपराधीके पता लगानेपर जोर नहीं दिया जाता। अपराधीका पता तो सबको है ही। उसको अपराधी साबित करना कठिन होता है। अतः जासूसको या वकीलको सम्बन्धित व्यक्तिको अपराधी प्रमाणित करने तथा इस कार्यके खतरोंका सामना करनेमें ही लेखककी प्रतिभा दृष्टिगोचर होती है। ऐसी कथाओंको अँग्रेजीमें 'हार्ड ब्वाइल्ड स्टोरी'

कहते ह।

हिन्दीमे इस तरहके जासूसी उपन्यास देखनेको नहीं मिलते। श्री दुर्गाप्रसाद खत्रीके चार जासूसी उपन्यास प्रसिद्ध हैं—१. 'रक्तमण्डल', २. 'सफेद शैतान', ३ 'प्रतिशोध' और ४ 'लालपंजा'। आजकल हिन्दीमें तीन दर्जनसे भी अधिक जासूसी पत्र निकलते हैं और जासूसी उपन्यासोंकी सख्या वर्षमें हजारोंतक पहुँच जाती है। युगलकिशोर पाण्डे तथा ओमप्रकाश शर्मा इस क्षेत्रमे प्रशसनीय कार्य कर रहे हैं। —दे० उ०

उपन्यास, तिलस्मी–यूनानी शब्द 'टेलिस्मान'से तिलस शब्द निकला है जिसका अर्थ है इन्द्रजाल, जादू, अलौकिक कारनामे। जिस उपन्यासमें आश्चर्यजनक कारनामोंकी भरमार होगी, जहाँ पात्रोंके लिए कुछ भी करना असम्भव न होगा, जहाँ पात्र मौतकी घाटीमे भी किसी चमत्कारके कारण लौटकर सही-सलामत घर आ जायगा, विघ्न-बाधाओंके जंगलमें घिरे रहनेपर भी कैंचीकी तरह मार करता हुआ बाल-बाल बच निकलेगा, वह तिलस्मी उपन्यास कहा जायगा। हिन्दी तिलसी उपन्यासके लेखकोंमें देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामीका नाम सदा अमर रहेगा। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' और 'लखनऊकी कब्र'को पढकर आनन्द प्राप्त करनेवाले पाठकोंकी संख्या सदा अधिक रहेगी। वीरेन्द्र सिंह देखनेमें निरीह, कमर झुकी हुई, बुढ़िया, पर आफतकी पुड़िया, लकलका, बेहोश कर देनेवाली दवा, जरासे सकेतपर बोलने लगनेवाली तथा तलवार चलाने लगनेवाली पत्थरकी मूर्तियाँ, पलक मारते ही पैरोंके नीचे खुल पड़नेवाली सुरंग जल्दी भूलनेवाली चीजें नहीं हैं। 'लखनऊकी कब्रमें' ऐसे पत्र हैं जो दिनमें सफेद रहें, रातमें पढ़े जा सकें, 'मास्टर की' जो सब तालोंको खोल सके, सुरग और जेबी खजानोंकी भरमार है। मनुष्यकी शक्तियाँ सीमित हैं, पर वह अपनेको सर्वसमर्थ देखना चाहता है। उपन्यासके पात्रोंको इस तरह सर्वशक्ति-सम्पन्न, अलौकिक कर्मदक्ष देखकर पाठक अप्रत्यक्ष रूपमें ही सही, पर अपनी ही शक्तिके विस्तारका दर्शन करता है और उसके हृदयकी किसी माँगकी पूर्ति होती है। इधर लोगोंकी रुचि बदली जरूर है और लोगोंमें यथार्थवादी दृष्टिकोणका उदय हुआ है, परन्तु इससे तिलसी उपन्यासोंके प्रचारमें कमी नहीं होगी, कारण कि ये किसी गहरी और मौलिक माँगपर आधारित हैं।

अँग्रेजीमें १८वीं शतीमें गोथिक रोमान्सके नामसे एक आन्दोलन चला था। इसके प्रभावमें बहुतसे उपन्यास लिखे गये, जिनमें तिलसका रग गाढा था। गोस्वामीजीके सभी ऐतिहासिक उपन्यासोंमें तिलसी रग आ गया है। 'गुलबहार' ओर 'कुसुमकुमारी' जैसे उपन्यास भी तिलसके रगसे अछूते नहीं हैं। —दे० उ०

उपन्यास, पारिवारिक–पारिवारिक उपन्यासमें एक ऐसी ही समस्या हाथमें ली जाती है जिसका प्रभाव परिवार-तक ही सीमित रहता है, फैलकर समाजको नहीं छूता। इसका सबसे अच्छा उदाहरण अंग्रेजी उपन्यास लेखिका जेन आस्टिनका उपन्यास 'प्राइड एण्ड प्रेजुडिस' है, जिसमें एक सुखी पारिवारिक जीवनकी कथा कही गयी है। जिस समय जेन आस्टिनने अपने उपन्यासोंकी रचना की थी वे बड़े उथल-पुथलके दिन थे—फ्रासकी राज्यक्रान्तिके, नेपोलियनके उत्थान और पतनके, साम्राज्योंके उत्कर्ष और अपकर्षके, परन्तु इनके उपन्यासोंके कानोंपर जूँतक नहीं रेंगी। वे सबसे तटस्थ होकर एक परिवारकी कथा कहनेमें मग्न है। प्रेमचन्दका 'सेवासदन' एक पारिवारिक समस्याको लेकर अवश्य प्रारम्भ होता है, पर आगे चलकर उसकी सीमामें न जाने कितनी सामाजिक समस्याएँ जुट जाती हैं। राजनीति भी कूद पड़ती है। अत 'सेवासदन'को विशुद्ध पारिवारिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। प्रेमचन्दका 'निर्मला' नामक उपन्यास अवश्य ही पारिवारिक उपन्यासका उदाहरण हो सकता है। 'निर्मला'में दहेज-प्रथा और अनमेल विवाहकी समस्याको सामाजिक स्तरपर ही छेड़ा गया है। पर जिस भावात्मकता और तल्लीनताके साथ पारिवारिक सम्बन्धोंका वर्णन किया गया है उसके सामने सामाजिक समस्याएँ फीकी पड जाती हैं। एक दृष्टिसे जैनेन्द्रकी 'परख'में पारिवारिक रग अधिक गाढा मालूम पड़ता है, कारण कि वह कुल दो-चार व्यक्तियोंतक ही सीमित है जो एक परिवारके ही सदस्य कहे जा सकते हैं, पर कथा कहनेका ढग कुछ ऐसा रहस्यमय, हृदयकी गहराईमें डुबानेवाला तथा आदर्शवादी है कि उसका पारिवारिक रूप छिप जाता है। वह पारिवारिकसे अधिक मनोवैज्ञानिक या आदर्शवादी बन जाता है। जो हो, इतना सत्य है कि पारिवारिक जीवनको आधार बनानेवाली औपन्यासिक प्रतिभा उच्च कोटिके लघु उपन्यासोंकी सृष्टि कर सकती है। —दे० उ०

उपन्यास, प्रवाहवादी–प्रवाहवादी उपन्यास-साहित्य भी मानव-जीवनकी तरह क्रिया और प्रतिक्रियाके रूपमें अपने रूपका विकास करता चलता है। १९वीं शताब्दीमें यथार्थ-वादिताकी माँग बढ़ी, रोमासोंकी काव्यमयता, जगमगाते ऐंद्रिय चित्र तथा सोनेका ससार खडा करनेवाली पद्धतिके विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई तो हमारे सामने सुसघटित उपन्यास आये, जिन्हे अँग्रेजीमें **प्लाट नावेल** कहते ह। उनमें घटनाओंको काट-छाँटकर रख दिया जाता था, उनके आदि, मध्य, अवसान-बिन्दु एकदम स्पष्ट रहते थे, सारे वातावरणपर कारण-कार्यके नियमका नियन्त्रण रहता था। अत इनमे जीवनकी सच्ची अभिव्यक्तिका अभाव था। इसीके विरोधमे प्रवाहवादी उपन्यासोंकी रचना प्रारम्भ हुई। कहा जाने लगा कि इन उपन्यासोंमें एक कृत्रिम पूर्णता है, जिसमें पात्रोंके भाग्यका निर्णय स्वाभाविक रूपमें नहीं, परन्तु लेखकके पूर्वाग्रहके अनुसार हुआ है। जीवन तो आकस्मिक तथा असम्बद्ध घटनाओंका मेला है। यहाँ कहा आदि, मध्य, अवसान नहीं। विधाताने कभी अपनी सृष्टिको समाप्त स्पर्श नहीं दिया है। सब कुछ प्रवाहमय है, हो रहा है। सब कुछ शतृ-प्रत्ययान्त है, निष्ठा-प्रत्ययान्त नहीं। इसी प्रवाहमयता-की अभिव्यक्ति उपन्यास कलाका ध्येय है। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक बाह्य जगत्की कार्यकारणताको हटाकर आन्तरिक विचारजगत्की अनुक्रमताका प्रतिष्ठा हुई और चेतना प्रवाहवादी उपन्यासका जन्म हुआ, जो एक तरहसे स्विनम्यस्नमस्न सन्निष्कोरपन नार्मिक

उपन्यासोंका ही रूप है।

चेतना-प्रवाह मनोविज्ञानका शब्द है जिसका प्रयोग सर्वप्रथम विलियम जेम्सने करते हुए कहा था, 'चेतना छोटे-मोटे टुकड़ोंमें विभक्त होकर उपस्थित नहीं होती, वह प्रवाहमयी होती है'। मिस सिन्क्लेयरने मिस डोरोथी रिचार्ड्सनके उपन्यासकी आलोचना करते हुए १९१५ में इस शब्दका प्रयोग किया था। तभीसे आलोचनाके क्षेत्रमें भी इसका धड़ल्लेसे प्रयोग होने लगा है। इस पद्धतिका प्रयोग जेम्स ज्वायसके 'युलिसिस' नामक उपन्यास तथा वरजिनिया वुल्फके द्वारा हुआ है।

हिन्दीमें प्रभाकर माचवेका 'परन्तु' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। पर अज्ञेय, जैनेन्द्र तथा भगवतीप्रसाद वाजपेयी-के (चलते-चलते) उपन्यासोंमें भी इस पद्धतिका प्रयोग मिलता है। इसमें स्वगतोक्तियोंकी भरमार रहती है और चेतनाके उस स्तरके भावोंकी अभिव्यक्ति की जाती है जो अभी शाब्दिक रूप धारण नहीं कर पाये हैं। अत यहाँकी भाषा व्याकरणके नियमोंकी पाबन्दीसे मुक्त है। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण जेम्स ज्वायसके 'युलिसिस'के अन्तिम ५० पृष्ठ हैं जिनमें कहीं-कहीं विरामचिह्न नहीं, भाषाकी बोधगम्यताकी कोई परवाह नहीं, भाषा तात्कालिक भावोन्मादके दबावके कारण गढ़ ली गयी है। नाटकोंकी स्वगतोक्तियाँ सविकल्पक एवं शाब्दिक भावोंकी अभिव्यक्ति करती हैं और वे श्रोताकी अवस्थिति मानकर ही अपने स्वरूपका निर्माण करती हैं। परन्तु प्रवाहवादी साहित्यकी स्वगतोक्तियाँ चेतनाके उस स्तरके भावोंको अभिव्यक्त करती हैं जहाँ उन्होंने अभी शाब्दिक रूप धारण नहीं कर पाया है। साथ ही वे किसी श्रोताके सुननेके लिए नहीं लिखी जाती हैं। अत दोनों दो प्रकारकी चीजें हैं। एकको स्वगतोक्ति ही कहकर रुक जाते हैं, पर दूसरेको आन्तरिक स्वगतोक्ति कहकर पार्थक्य प्रकट किया जाता है। —दे० उ०

उपन्यास, मनोवैज्ञानिक—उपन्यासमें पात्रोंके क्रिया-व्यापार तथा घटनाओंका वर्णन रहता है। प्राचीन कालके कथाकार इस बातकी ओर अधिक ध्यान देते थे कि पात्र क्या करते हैं, सागरको बाँधते हैं या हिमगिरिको हिला देते हैं या आकाश-पातालके कुलाबे एक कर देते हैं। पर जब इन बाह्य बातोंसे हटकर लेखकका ध्यान इस बातकी ओर केन्द्रित होने लगता है कि पात्रोंकी विचार-प्रक्रिया क्या है, वे क्या सोचते हैं, कैसे सोचते हैं, उनके क्रिया-कलापकी मूल प्रेरणा क्या है तो मनोवैज्ञानिक उपन्यासका स्वरूप सामने आने लगता है। मनुष्य दो स्तरोंपर जीता है, स्थूल और सूक्ष्म—क्रिया और विचार। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि मनुष्यके दो रूप होते हैं—क्रियारत मानव (मैन इन ऐक्शन) और विचार-रत मानव (मैन इन कण्टेम्प्लेशन), कह सकते हैं कि उपन्यासका क्रिया रत-मानव धीरे-धीरे विचार-रत होता गया है, साथ ही उसे मनोवैज्ञानिक रूप देता गया है।

इस आन्तरिक अभियानमें उपन्यास-कलाको चार युगोंको पार करना पड़ता है। औपाख्यानिक (एपिसोडिक नॉवेल), कथानक-संघटित (प्लाट नॉवेल), आत्मनिष्ठ (सब्जेक्टिव नॉवेल) और मनोवैज्ञानिक (साइकलाजिकल नॉवेल)। प्रथम युगमें टील-टौलवाले बाह्य क्रिया-कलापकी प्रधानता थी। १८वीं शताब्दीके डीफो, स्मालेट इत्यादिके उपन्यास इसी श्रेणीमें आते हैं। उनमें पात्रोंके कारनामों-(किं कृत)का वर्णन रहता था। हिन्दीमें प्रेमचन्दके आगमनके पूर्वतक यही अवस्था रही। दूसरे युगमें 'किं'से ध्यान हटकर 'कथ, केन कारेणन'की चर्चा प्रारम्भ हुई अर्थात् आन्तरिक मूल प्रेरणाकी प्रधानता होने लगी। क्रिया-कलाप विविध विचार-धाराओंके संघर्षके परिणामस्वरूप (रिजल्टेण्ट)-के रूपमें दिखलाये जाने जाने लगे। मनुष्यके अन्तर्जगत्‌में तरह-तरहके विचारोंका उत्कर्ष, अपकर्ष, संघर्ष-विसंघर्ष, कशमकश, रस्साकशी चलती रहती है और बाहरी क्रियाएँ इन्हींके स्थूल रूप हैं। पहले बाहरी क्रिया ही थी, आन्तरिक प्रेरणा नहीं। अब आन्तरिक प्रेरणाके युगमें क्रियाएँ गौण हो गयीं। विचार-संघर्षका महत्त्व बढ़ गया। तृतीय युगमें उपन्यास-कला बाहरी क्रियाओंकी रही-सही धूलको झाड़कर अन्तर्जगत्‌में आ बैठी और शुद्ध आत्मनिष्ठ मनोवैज्ञानिक उपन्यासोंके दर्शन हुए। अंग्रेजीमें मेरिडिथ और हेनरी जेम्ससे यह युग प्रारम्भ हुआ और हिन्दीमें जैनेन्द्र और अज्ञेयसे। हिन्दीमें शायद यह युग आज भी चल रहा है।

परन्तु यूरोपीय उपन्यासोंमें मनोविज्ञानके समावेशकी दृष्टिसे चौथा युग भी चल रहा है। हेनरी जेम्स या मेरिडिथने जीवनकी कितनी गहराईमें प्रवेश क्यों न किया हो, पर वहाँ चेतन विवेकका स्पर्श आता ही था। चित्रण करते समय आन्तरिक विचार-प्रवाहको चेतना-स्तरपर ही लाकर देखा जाता था, अर्थात् आन्तरिकताको उसी विन्दुपर पकड़ा जाता था, जहाँ वह शब्दोंका रूप धारण किये हुए होती है। उपन्यास-कलामें गहराईके उस स्तरपर जानेका सहारा नहीं था जहाँ उनका रूप निर्विकल्प होता था, जहाँ आन्तरिकता शब्दोंके ढाँचेमें ढलकर जमी हुई नहीं होती थी। आज उपन्यास-कला वही कर रही है। जेम्स ज्वायस, वरजिनिया वुल्फ इस तरहके मनोवैज्ञानिक उपन्यासोंके प्रणेता हैं। हिन्दीमें कुछ-कुछ अज्ञेयमें और प्रभाकर माचवेके 'परन्तु'में इस कलाके दर्शन होते हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासमें तीन पद्धतियाँ विशेष रूपसे पायी जाती हैं—१ पूर्वदीप्ति। इसमें घटनाओंके क्रमकी सीधी रेखा न खींचकर कथाकार उन्हें पात्रकी स्मृति-तरंगोंके रूपमें उपस्थित करता है। नरोत्तम नागरका 'दिनके तारे' तथा अज्ञेयका 'शेखर—एक जीवनी' या उदयशंकर भट्टका 'वह जो मैंने देखा' इसके अच्छे उदाहरण हैं। २ चेतना-प्रवाह पद्धति और ३ कथाके क्रमिक विकासकी अवहेलना। इसमें कथा साफ-सुथरे ढंगसे नहीं चलती, वह कभी भी कहीं, किसी ओर मुड़ सकती है। 'नदीके द्वीप', 'शेखर—एक जीवनी', 'परन्तु'में यह बात देखी जा सकती है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासमें अनुभूतिकी आत्मनिष्ठ अभिव्यक्तिपर जोर दिया जाता है। कुछ विषय मनोवैज्ञानिक होते हैं, उदाहरणार्थ, एक प्रेमीकी दो प्रेमिकाएँ, दो प्रेमिकाओंका एक प्रेमी, समाजके निन्दित व्यक्तिका चित्रण, बालकोंका, विशेषत ज्येष्ठ, कनिष्ठ और एकलौते बालकोंके क्रिया-कलापका वर्णन, अकर्मण्य, आत्मलीन तथा कल्पना-जगत्‌में निवास करनेवाले प्राणी। ये सब विषय ही ऐसे

हैं कि जिनके आधारपर रचित उपन्यासमें मनोवैज्ञानिकता आ ही जायगी। बहुत से ऐसे उपन्यास होते हैं जिनका विषय तो मनोवैज्ञानिक है, परन्तु जिस पद्धतिमें उनका स्वरूप खड़ा किया गया है वह मनोवैज्ञानिक नहीं है। इलाचन्द्र जोशीके उपन्यास इसके उदाहरण हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासोंमें ये बातें देखनेको प्राय मिल जायेंगी—१ सुसघटित कथावस्तुका अभाव, २ लम्बी-चौड़ी, दीर्घकालीन कथाका अभाव। 'नदीके द्वीप'में डेढ़ वरसकी कथा है, पहाड़ीके 'सराय' और 'निर्देशक'में क्रमश एक और तीन महीनोंकी कथाएं हैं, ३ पात्रोंकी सख्यामें कमी, ४ वार्तालापकी अधिकता, ५ वर्णनात्मकतासे अधिक नाटकीयताकी प्रगति और ६ पाठककी प्रतिक्रिया जो अन्य उपन्यासोंके पाठकसे भिन्न होती है। साधारण उपन्यासोंका पाठक उपन्यासकारके मुखकी ओर देखेगा, परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासके पाठककी दृष्टि उपन्यासके पात्रोंकी तरफ होगी। —दे० उ०

उपन्यास, रोमान्स–रोमान्स शब्द 'रोमन'से निकला है, जिसका अर्थ है असाधारण। अर्थात् रोमान्स उपन्यासमें जो पात्र होंगे वे ऐसे तो न होंगे जो इस पार्थिव जगत्में पाये ही न जा सकें, पर वे लाखोंमें एक होंगे और उनका दर्शन विरल होगा। रोमान्स उपन्यासमें कथा काव्यके उपकरणोंके सहारे अपने स्वरूपको प्रकट करती है। काव्यके क्षेत्रमें जब कथा साग्रह प्रवेश कर, वहाँके तत्त्वोंको अनुरूप बनाकर उन्हें अपनी सेवामें नियोजित करती है तो रोमान्स उपन्यासकी नींव पड़ने लगती है। उसमें कथा थोड़ी-बहुत जटिल हो जाती है। पात्रोंकी अधिकता रहती है। अनेक कथाएँ आकर जुड़ने लगती हैं, पर कवित्वपूर्ण और भावपूर्ण वातावरण भी बना रहता है। वीरोंकी अलकृत साज-सज्जाकी, रणक्षेत्र-प्रयाणकी तथा युद्धकी प्रकारकी विस्तृत विवृति पाठककी कल्पनाको तृप्त करती रहती है। रोमान्स उपन्यासोंकी वर्ण्य वस्तु बहुत ही सीमित होती है। पात्र व्यक्ति नहीं, 'टाइप' (प्रकार) होते हैं। नायक उच्च वशोत्पन्न राजा अथवा धर्मात्मा होता है तथा नायिका सुन्दरताकी देवी—देखनेवालोंके हृदयमें शौर्यभावको जागरित करनेवाली। पात्र किसी महत्त्वपूर्ण वस्तुकी खोजमें रहते हैं, वीरव्रती होते हैं, विपन्नों, विशेषत नारियोंका उद्धार करना तथा प्रेमकी कठिन परीक्षामें अपने प्रतिद्वन्द्वियोंको मात देना उनका व्रत होता है। क्रीड़ा, समारोह, रणप्रयास, श्मशानयात्राके दृश्य, धार्मिक युद्ध इत्यादिका वर्णन होता है। इन सबके बीच एक सुन्दरी कन्याकी प्रतिष्ठा होती है। यही रोमान्सके उपकरण हैं। हिन्दीमें विशुद्ध रोमान्स उपन्यास नहीं हैं। चण्डीप्रसाद हृदयेशका नाम किसी तरह रोमान्सिक कथाकारके रूपमें लिया जा सकता है। खत्रीजी तथा गोस्वामीजीके अतिरिक्त भगवतीचरण वर्माकी 'चित्रलेखा'में भी कुछ रोमान्सिक तत्त्व पाये जाते हैं। प्रेमचन्दकी कहानी 'कामनातरु' रोमान्टिक कथाका अच्छा उदाहरण है। (दे०–'उपन्यास') —दे० उ०

उपन्यास, सामाजिक–वास्तवमें वर्ण्य वस्तुकी दृष्टिसे उपन्यासोंके दो ही विभाग हो सकते हैं–ऐतिहासिक और सामाजिक। धार्मिक तथा राजनीतिक दृसरेकी ही परिधिमें आ जाते हैं, क्योंकि धर्म और राजनीति भी सामाजिक जीवनके किसी विशिष्ट पहलूपर ही प्रकाश डालती है। प्रत्येक युगके समाजके जीवनको परिचालित करनेवाली कुछ समस्याएँ होती हैं, जिनसे उसे जूझना पड़ता है। चूंकि उपन्यास आया ही है जीवनका प्रतिनिधित्व करनेकी प्रतिज्ञा लेकर, अत उसमें सामाजिकताका रग गाढ़ा हो जाना स्वाभाविक है। हर देशके कथासाहित्यमें सामाजिक उपन्यासोंकी ही सख्या अधिक है। भारतेन्दुका लिखा हुआ उपन्यास 'चन्द्रप्रभा' भले ही मौलिक न हो, पर सामाजिक अवश्य है। उसमें वृद्ध-विवाहकी समस्या छेड़ी गयी है। आगेके भी जितने उपन्यासकार हैं उनमें भी समाजकी अवस्थाका ही चित्रण अधिक है, यहाँतक कि प्रेमचन्द, कौशिक, निराला, गोविन्दवल्लभ पन्त, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव इत्यादिके उपन्यास भी सामाजिक ही हैं। कमसे कम उनमें कोई ऐसी विशेषता अधिक विकसित नहीं हो सकी है कि बेधड़क कोई दूसरा नाम दे दिया जाय।

परन्तु यह भी बात सही है कि उपन्यास व्यक्ति-मूलक साहित्य है, अर्थात् उसमें लेखक समाजकी हाँ-में-हा मिलानेवाला निष्क्रिय पदार्थ नहीं होता, उसका अपना व्यक्तित्व होता है और वह अपने विशिष्ट दृष्टिकोणसे सामाजिक समस्याओंपर विचार करता है। अत सब-कुछ होते हुए भी समाजका यथातथ्य चित्रण उपन्यासमें नहीं आ सकता। सामाजिक व्यक्ति जीवनसे अधिक जीते रहते हैं, अत औपन्यासिक जीवन जीवनसे कुछ अधिक होगा या कम–अधिक इस अर्थमें कि उसमें लेखकके मतमें जो समस्याएँ महत्त्वपूर्ण हैं उनके सम्बन्धमें लम्बे लम्बे वाद-विवाद आ जायँगे तथा अनेक अवान्तर प्रसगोंका भी समावेश हो सकता है, कम इस अर्थमें कि जिनसे कथाकी प्रगतिमें कुछ भी योग न मिलता हो तथा जिनसे जीवनसे भी अधिक जीनेवाले पात्रों या घटनाओंकी यथातथ्यता नहीं आ सका हो और जिन बातोंसे लेखकका तात्कालिक सम्बन्ध न हो उन्हें छोड़ा जा सकता है। 'गोदान' सामाजिक उपन्यासका स्पष्ट उदाहरण है। इसमें अनेक तरहकी समस्याएं छेड़ा गयी हैं। इसमें स्त्रियोंके समानाधिकार, स्त्री-शिक्षा, मुक्त प्रेम सम्बन्धी कितने ही विवाद आ गये हैं। नागरिक या ग्रामीण जीवनका जो चित्र खींचा गया है वह भी लेखककी भावनाओंमें रगे रहनेके कारण कुछ 'अधिक' या 'कम' हो गया है।

आजके हिन्दी उपन्यासमें सब तरहकी समस्याएँ मिल जायँगी। मेहनतकश मजदूरों, गरीब किसानों और पूँजीपतियों, जमींदारों तथा मिल-मालिकोंके सघर्षको लेकर इधर अनेक उपन्यास लिखे गये हैं। विधवा-विवाह, बाल-विवाह, अनमेल विवाह, स्त्रियोंकी दुर्दशा, अछूतोद्धार, तलाक, पति-पत्नीका पारस्परिक सम्बन्ध इत्यादि नये प्रश्नोंको उपन्यासमें स्थान मिला है। इधर विवाह-प्रथामें अनास्थाके भाव जागरित हुए हैं और इस समस्याको लेकर भी उपन्यास लिखे गये हैं। (दे०–'उपन्यास') —दे० उ०

उपन्यास, साहसिक–रोमान्टिक उपन्यासका भोंडा या सुधरा हुआ रूप साहसिक उपन्यास कहा जा सकता है।

रोमान्सिक उपन्यास वर्णनप्रधान होते हैं। ये ऐसे ही विषयोंको तथा प्रणालीको लेकर चलते है जिनमें काव्यपूर्ण वर्णनों तथा अनेक लघु कथाओंकी सगति बैठायी जा सके। नीलम देशकी राजकन्या तथा किसी राक्षसके पजेमें वन्दिनी निरीह कन्याका उद्धार रोमान्सके लिए प्रिय क्यों है? इसीलिए कि उद्धारकर्ताके यात्रापथमें पड़े साहसिक कार्योंको दिखलानेका उसमें अधिक अवसर मिल जाता है। इन्हीं रोमान्सिक उपन्यासोंका थोड़ा प्रविर्तित रूप सघटित **उपाख्यानात्मक उपन्यास** है। सात समुद्रपार वसनेवाली परीकी खोजमें निकलनेवाले वीर नायक और 'दशकुमारचरित'के राजकुमारों तथा खत्रीजीके वीरेन्द्र सिंह-में जो अपनी प्रेयसीकी रक्षा तथा उद्धारके लिए प्राणोंको बाजी लगा देते हैं, थोड़ा-बहुत अन्तर भले ही हो, पर है वे एक ही जातिकी चीजें। इन उपन्यासोंमें भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र-जैसी कथाओंका जमघट होता है। यदि उन्हें पृथक् रूपमें भी देखा जाय तो भी कोई विशेष हानि नहीं है। ये घटनाएँ एक प्रधान नायकके जीवनमें ही घटती हैं अत इसी सूत्रके सहारे उपन्यासमें आकर बँधी-सी ज्ञात होती हैं। अनेक उपन्यासोंमें ऐसा पाया जाता है। 'रगभूमि,' 'गोदान की कथाएँ समानान्तर चलती रहती हैं, केवल कभी-कभी एक-दूसरेको छूभर देती हैं। यह प्रवृत्ति साहसिक उपन्यासोंके नायकके सूत्रसे आवद्ध भिन्न कथाओं-के भग्नावशेष-रूपमें है। —दे० उ०

उपपति–दे०–'नायक' (शृगार)।

उपमा–शब्दार्थ है सादृश्य, समानता तथा तुल्यता आदि। अलकारके सौन्दर्यका मूल सादृश्यमें है और यही कारण है कि सादृश्यमूलक अलकार ही प्रधान हैं। उपमा इन समस्त सादृश्यमूलक अलकारोंका भी प्राण है, क्योंकि स्वत सादृश्य है। उपमाकी श्रेष्ठता और महत्त्वके सम्बन्धमें प्रारम्भसे अन्ततक आचार्य सहमत रहे हैं। यही कारण है कि प्राय सभी आचार्योंने अर्थालकारोंमें उपमाको सर्वप्रथम स्वीकार किया है। राजशेखरके अनुसार 'अलकारशिरोरत्न सर्वस्व काव्यसम्पदाम्। उपमा कविवशस्य मातैवेति मतिर्मम।' (अल० शे०में उद्धृत पृ० ३२) अर्थात् उपमा सम्पूर्ण अलकारोंमें शिरोभूषणके समान काव्यकी सम्पत्ति है और कविवशकी माताके समान है। इसी प्रकार रुय्यकने 'अलकारसर्वस्व'में अनेक प्रकारके वैचित्र्यके आधारपर उपमाको सम्पूर्ण अलकारोंका बीजरूप माना है—'उपमैवानेक-प्रकारवैचित्र्येणानेकालकारबीजभूतेति प्रथम निर्दिष्टा।' (पृ० २६)। अप्पय दीक्षितने 'चित्रमीमासा'में उपमाकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन सुन्दर उक्तिसे किया है—'काव्यकी रगभूमिपर अनेक भूमिका भेदोंसे विविध रूपोंमें, उपमा-नटी सभी काव्य-रसिकोंका मनोरजन करती है।' हिन्दीमें केशवकी 'कविप्रिया'को छोड़कर प्राय सभी प्रमुख अलकारग्रन्थोंमें उपमाको प्रथम स्थान मिला है।

उपमा शब्द तथा उसके सादृश्य अर्थका इतिहास बहुत पुराना है, अलकारशास्त्रकी प्रतिष्ठाके बहुत पहलेसे प्रयुक्त। ऋग्वेदमें उपमा शब्दका प्रयोग मिलता है। प्रारम्भमें उपमा शब्दका प्रयोग व्याकरणके अन्तर्गत हुआ है। यास्कने 'निरुक्त'में उपमाको 'सादृश्य' माना है और उसका कर्म गुणवान् अथवा प्रसिद्धसे गुणन्यून तथा अप्रसिद्धकी समता। यह तुलना न्यूनगुणसे गुणवान्की भी की जा सकती है। भरतके पूर्व वैयाकरणोंने सादृश्यके आधारपर उपमाका जो विवेचन और विस्तार किया है, उसे वादके आलकारिकोंने उनके अनलकृत दृष्टिकोणका प्रत्याख्यान करते हुए भी स्वीकार किया है। वस्तुत सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और कलाकी दृष्टि अपने सौन्दर्यबोधके लिए सादृश्यका आश्रय ग्रहण करती है। भारतीय सौन्दर्यका मूलाधार सादृश्य रहा है और यह उपमा उसीका पर्याय है। इस कारण अलकार-शास्त्र प्रारम्भमें सौन्दर्यशास्त्रका (काव्यशास्त्रके रूपमें) पर्याय रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं (कुमारस्वामी 'ट्रान्सफरमेशन ऑव नेचर)। भरतसे लेकर आधुनिक कालतक अलकारोंके विवेचनके साथ उपमाका इतिहास जुड़ा हुआ है और वास्तवमें सम्पूर्ण अलकारोंके विकासमें आलकारिकोंका उपमा सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण ही परिलक्षित होता है। अलकारोंका विवेचन जिस सीमातक उन्नत तथा सुन्दर काव्यके आधारपर चला है उसमें सादृश्यमूलक अलकारोंकी स्वीकृति अधिक रही है और जब उसमें कारण-कार्यकी शृखला, लोकन्याय तथा आधार-आधेयकी वैचित्र्य-प्रधान कल्पनाओंको स्थान मिलता गया, तब समझना चाहिये कि आचार्योंकी दृष्टिसे सौन्दर्यकी भावना हटती गयी है और उनकी विवेचनाके आधारमें उत्कृष्ट काव्य नहीं रहा है।

काव्यशास्त्रके अन्तर्गत सर्वप्रथम भरतने उपमाकी व्याख्या की है—'यत्किंचित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते। उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया।' (नाट्य० १७. ४४) अर्थात् काव्यबन्धोंमें सादृश्यके आधारपर गुण-आकृतिके आश्रयसे जो तुलना की जाती है वह उपमा कहलाती है। भरतके अनुसार यह ४ प्रकारसे दी जाती है—एककी एकसे, एककी अनेकसे, अनेककी एकसे और अनेककी अनेकसे (वही ४५,४९) और ५ प्रकारकी होती है प्रशसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किंचित् सदृशी (वही ५०,५५)। भामहने उपमाकी परिभाषामें उपमान और उपमेयका देश, काल, क्रिया आदिके आधारपर गुणलेशसे साम्य माना है (काव्यालकार २. ३०)। वामनने सूत्रमें इसी भावको ग्रहण किया है—'उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशत साम्यमुपमा' (का० सू० वृ० ४ २. १)। मम्मटने भामहके 'विरुद्ध' शब्दसे प्रेरणा ग्रहण कर 'भेद होनेपर भी समान धर्मसे सम्बद्ध होना उपमा कहा है' (साधर्म्यमुपमा भेदे—का० प्र० . ८ ८७)। मम्मटने 'सादृश्य'के स्थानपर 'साधर्म्य'का प्रयोग किया है। वस्तुत 'साधर्म्य'में आचार्यका ध्यान उपमान तथा उपमेयके साधारण धर्मकी ओर है और 'सादृश्य' उनका काव्यात्मक विशेष गुण है। जयदेवकी परिभाषा अधिक व्यंजक है 'उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयो।' (चन्द्रालोक ५ ११) अर्थात् दोनों उपमान-उपमेयमें जहाँ चमत्कृत सौन्दर्यमूलक सादृश्य कहा जाता है। हिन्दीमें आचार्योंने उपमाकी सामान्य परिभाषा दी है। केशवके अनुसार 'रूप शील गुन होंहि सम, जौ क्यों हूँ अनुसार।' (कवि० १४ १)। मतिराम और भूषणके लक्षणपर वादके आचार्योंका प्रभाव है—'जहाँ वरनिये दुहनिकी सम छविको उल्लास।' (ल० ल० ४०), 'जहाँ

दुहुनको देखिये, शोभा बनत समान।' (शि० भू० ३०)। इनपर 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द'की छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है। कुलपतिके 'रसरहस्य'में उपमाका लक्षण अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक है 'शब्द अर्थ समता कहै, दोउनकी जेहि ठौर। नहिं कलपित उपमान जहँ, सो उपमा सिरमौर।' यहाँ शब्द-अर्थ कहकर अलकारको ध्वनिसे अलग किया है और अकल्पित उपमान कहकर इसे उत्प्रेक्षासे अलग किया गया है। अनेक आचार्योंने मम्मट तथा विश्वनाथका आधार ग्रहण किया है—'उपमेय हु उपमानको इक सम धरम जु होइ।' (पद्मा० ७)।

१. **पूर्णोपमा**—उपमाके प्रमुख दो भेदोंमें प्रथम। वामनके अनुसार 'गुणद्योतकोपमानोपमेयशब्दाना सामग्र्ये पूर्णा।' (का० सू० वृ० ४ २ ५) अर्थात् गुण, द्योतक (वाचक) शब्द, उपमान और उपमेयके समग्र रूपसे उपस्थित होनेपर पूर्णोपमा होती है। आगे चलकर मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने इसी बातको यों रखा है—'पूर्णोपमामें उपमान, उपमेय, साधारण (सामान्य) धर्म और वाचक शब्द स्पष्टतया निर्दिष्ट होते है।' (का० प्र० १० ८७ वृ०, सा० द० १० १५)। पूर्णोपमाका लगभग इसी प्रकारका लक्षण हिन्दीके सभी आचार्योंने दिया है—'वाचक अरु उपमेय जहँ साधारन उपमान।' (ल० ल० ४३)। मतिरामका लक्षण स्पष्ट नहीं है। पद्माकरके लक्षणमें अधिक स्पष्टता है—'उपमानरु वाचक धरम, उपमेय हु जो कोइ। ये चारहु परसिद्ध जहँ, पूरन उपमा सोइ।' (पद्मा० ८)। भूषण तथा दास आदि कतिपय आचार्योंने सामान्य उपमाको पूर्णा उपमा ही मानकर उसका लक्षण अलग नहीं दिया है। उदा०—'दावदार निरखि रिसानो दहि दलराय, जैसे गड़दार अड़दार गजराजको।' (शि० भू० ३४)।—'सुभग सुधाधर तुल्य मुख, मधुर सुधासे बैन।' (पद्मा० ९)। 'तापस बाला-सी गगा कल शशि मुखसे दीपित मृदु करतल, लहरें उरपर कोमल कुन्तल।' (सु० न० पन्त नौकाविहार)।

२. **श्रौती**—पूर्णोपमाके दो भेदोंमंसे एक। मम्मटके अनुसार—'जहाँ उपमानोपमेयभाव 'यथा', 'इव', 'वा' आदि शब्दोंके श्रुतिमात्रसे प्रतीत हो जाय, श्रौती उपमा कही जाती है।' (का० प्र० १० ८७ वृ०)। विश्वनाथने ऐसे ही 'यथा', 'इव' आदि शब्दोंका प्रयोग इस उपमामें माना है, क्योंकि इनसे सुनते ही सादृश्यका बोध हो जाता है (सा० द० १० १६)। हिन्दीके आचार्योंमे जसवन्त सिंह, भूषण आदिने इस विभाजनको छोड़ दिया है। कुलपतिने मम्मटके आधारपर इनको स्वीकार किया है। दासने दो भेदोंका उल्लेख किया है, पर लक्षण नहीं दिये। पद्माकरके अनुसार 'सो श्रौती सब्दहि सुनत, जहँ, वाचकको ग्यान।' (पद्मा० २०)। लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। वस्तुत इव, यथा, सी, से, सों, लों, जिमि आदि वाचक शब्दोंके प्रयोग जहाँ सादृश्यको प्रत्यक्ष कर देते हैं, वहाँ यह उपमा मानी जाती है। उदा०—'चन्द्रमुखी न हलै न चलै निरवात निवासमें दीपसिखा-सी।' (मतिराम)। 'ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुमको, है मधुप ढूँढ़ता यथा मनोज्ञ सुमनको।' (साकेत)। इनमें 'सी' और 'यथा' इसी प्रकारके वाचक हैं।

३. **आर्थी**—पूर्णोपमाका दूसरा भेद। मम्मटके अनुसार उपमामें 'तुल्य' आदि शब्दोंके प्रयोगमें साधर्म्यकी प्रतीति आक्षेपगम्य (शब्दलभ्य या साक्षात् नहीं) होनेपर आर्थी उपमा होती है (का० प्र० १० ८७ वृ)। इन्हींके अनुसरणपर विश्वनाथने भी माना है कि 'तुल्य', 'समान' आदिक तुल्यार्थी वाचक शब्दोंके प्रयोगमें आर्थी उपमा होती है (सा० द० १० १६)। हिन्दीके आचार्योंने इनकी स्पष्ट विवेचना नहीं की है—'अर्थ निरूपैं आरथी' (पद्मा० २०)। वस्तुत तुल्य, समान, सदृश, तूल, सम, सरिस आदि शब्दोंके प्रयोगमें जहाँ सादृश्यकी स्थापना की जाती है वहाँ आर्थी उपमा मानी जायगी। इन शब्दोंका सम्बन्ध उपमान और उपमेय दोनोंके साथ रहता है। ऐसी स्थितिमें 'चन्द्र इव मुख'में जिस प्रकार साक्षात् सादृश्य या साधर्म्य कथन है, वैसा 'चन्द्रतुल्य मुख'में नहीं है। 'इव' आदि वाचक जिन शब्दोंके बाद प्रयुक्त होते हैं उनको उपमान समझ लिया जाता है, पर 'तुल्य' आदि जिस शब्दसे सम्बन्ध रखते हैं उसका उपमान होना आवश्यक नहीं होता। उदा०—'विजय करन दारिद दमन दरन सकल दुख दुद। गिरजा पद मृदु कंज सम बदत हौं सुख कंद।' (पोद्दार अ० मं० ५९)। इन दोनोंका प्रयोग लुप्तोपमाके अन्तर्गत हो सकता है—'कुद इदु सम देह उमा रमन करुना अयन।' (रा० च० मा० १ ३) इसमें धर्म-लुप्त है (सुन्दर)।

४ **लुप्तोपमा**—उपमाके प्रचलित प्रथम भेदोंमेंसे एक। वामनने कहा है 'लोपे लुप्ता।' (का० सू० वृ० ४ २ ६) अर्थात् गुणादिके लोप होनेपर लुप्तोपमा होती है। मम्मट तथा विश्वनाथने पूर्णोपमा और लुप्तोपमाका भेद-विस्तार किया है और इसका लक्षण यही स्वीकृत रहा 'लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयो।' (सा० द० १० १७)। अर्थात् उपमान-उपमेय आदिक चारोंमेंसे एक, दो, तीनका लोप होता है तो लुप्ता कहते हैं। विश्वनाथने इसे भी श्रौती तथा आर्थीमें विभाजित किया है। पर मम्मटके समान ही इन्होंने वाक्यगा और समासगा श्रौती, वाक्यगा, समासगा और तद्धितगा आर्थीमें पूर्णोपमाके भेदोंको स्वीकार किया है, केवल तद्धितगा श्रौतीकी सम्भावना नहीं मानी है। हिन्दीमें इन उपभेदोंका प्रचलन नहीं है। एक तो ये हिन्दीकी प्रवृत्तिके अनुकूल नहीं है और दूसरे जिन संस्कृत-के नवीन आलंकारिकोंका हिन्दीके आचार्योंने अनुसरण किया है, उन्होंने इस प्रकारके भेदोंका विस्तार प्राय नहा दिया है। उन्होंने केवल उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा वाचकके लोपके आधारपर भेदविस्तार किया है। जसवन्त सिंहने 'भाषाभूषण'में लुप्तोपमाका विस्तार मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार त्रिलुप्तातक स्वीकार किया है, यद्यपि यह भेद हिन्दीकी प्रकृतिके अनुकूल नहीं पड़ता। मतिरामके लक्षण हैं—'होत एक द्वै तीन को, इन चारिहु मैं लोप।' (ल० ल० ४६)। भूषणने पूर्णोपमाकी परिभाषा देकर कह दिया है 'लुप्त घटन लौं मान' (शि० भू० ३६)। कुलपति त्रिलुप्तातक भेद मानते हैं। हिन्दीमें यह विस्तार इस सीमातक बढ़ाया गया कि चारोंके लोपका भेद भी माना

गया है 'इक द्वै तीनरु चारको, जहाँ लोप पहिचान। यों सु पचदस भेद जुत, लुप्तोपमा प्रमान।' (पद्मा०. १०)। इस प्रकार पद्माकरने १५ प्रकारकी लुप्तोपमाएँ बतायीं और उनके उदाहरण भी दिये हैं। धर्मलुप्ता–जिसमें धर्मकथन न किया जाय 'कुंद इंदु-सम देह उमा रमन करुना अयन' (रा० च० मा० १ : ४)। इसमें शिवकी देह उपमेय, कुंद इंदु उपमान और 'सम' आर्थी उपमावाचक शब्द। यहाँ 'गौर' वर्ण आदि धर्मका लोप है। उपमान लुप्ता–उपमानका कथन न किया जाना 'गज सम गमन सुमन्द' (पद्मा० १०), यहाँ गज उपमेय है (अन्य उपमेयकी अनुपस्थितिमें), सम आर्थी उपमावाचक तथा गमन धर्म। वस्तुतः यह श्रौती उपमाका भेद नहीं हो सकता, क्योंकि इव आदिके प्रयोगमें शब्द उपमान साक्षात् हो जाता है। वाचकलुप्ता—जिमें वाचक शब्दोंका कथन न हो–'नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन।' (रा० च० मा० १.३), यहाँ वाचक शब्दका कथन नहीं है, नयन उपमेय, सरोरुह और वारिज उपमान तथा नील और अरुन धर्म। उपमेय लुप्ता–जिसमें उपमेयरूप प्रस्तुतका कथन न किया जाय—'अति उत्तम ज्यों चन्द' (पद्मा० १२) अथवा 'पड़ी थी बिजली-सी विकराल' (साकेत)। इन दोनों उदाहरणोंमें 'मुख' तथा 'कैकेयी' उपमेयोंका संकेत किया है, उल्लेख नहीं। संकेत आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना उपमा ही सम्भव नहीं होगी।

वाचकधर्मलुप्ता–जिसमें वाचक शब्दोंके साथ साधारण धर्मका भी कथन न हो–'मुनि कुल वधू झरोखनि झाँकति रामचन्द्र छवि चन्द वदनियाँ।' (गीता०) तथा–'दोनों भैया मुख शशि हमें लौट आके दिखाओ।' (प्रियप्रवास)। इनमें वाचक तथा धर्मका कथन नहीं किया गया है, साथ ही उपमेयके धर्मकी प्रधानता होनेके कारण यहाँ रूपक नहीं माना जायगा, 'झाँकनि' और 'दिखाओ' आदि धर्म वदन और मुखकी प्रधानता सिद्ध करते हैं। धर्मोपमानलुप्ता–जिसमें धर्मके साथ उपमानका उल्लेख भी न हो–'गज सी गति अवरेखु' (पद्मा० १५) तथा–'नदपि कहूँ कोई नहीं काव्यानन्द समान।' (काव्यदर्पण)। इनमें उपमेय तथा वाचक शब्द 'गजगति', 'काव्यानन्द' और 'सी' 'समान' हैं; पर मन्द, सुख धर्म और कामिनीकी गति, सुख साधन उपमान नहीं हैं। यह भेद भी श्रौतीमें ही सम्भव है, क्योंकि इव आदिमें प्रस्तुत उपमेय उपमान हो जायँगे।

वाचकोपमेयलुप्ता–जिसमें वाचक और उपमेयका कथन न हो–'चपल चचला देखु' (पद्मा० : १७) अथवा–'छवि सो रति आचरति हैं चलि अवलोकहु लाल।' (रसमंजरी)। इनमें चचला, रति उपमान तथा चपल, छवि समान धर्म हैं, पर उपमान और वाचक शब्द नहीं हैं। वाचकोपमान लुप्ता—जिसमें वाचक शब्द तथा उपमानका कथन न हो–'दाडिम दसन सु सित अरुन हैं मृग नयन विसाल।' (रसमंजरी)। इसमें दसन नयन उपमेय तथा सित अरुन, विसाल साधारण धर्म हैं, वाचक शब्दोंके साथ दाडिमके दाने, मृग-नेत्र आदि उपमान हैं। धर्मोपमान-वाचक लुप्ता–जिसमें इन तीनोंका कथन न हो–'वृषभ कंध केहरि ठवन' (रा० च० मा०)। या–'खो गया मेरा खग अनजान मृगेक्षणि' (सु० नं० पं०), इनमें वृषभ, केहरि तथा मृग उपमेय नहीं हैं, क्योंकि इनकी आखों, ठवनि तथा कन्धोंसे उपमा दी जाती है, इनसे नहीं। अत केवल उपमेय आँख, गति और कन्धेका कथन है और सब लुप्त है। वाचक-धर्म-उपमेयलुप्ता—'मत्त गयंद हंस तुम सोंहैं कहा दुरावति हम सों।' (सू० सा०)। यहाँ गयद और हंस उपमान हैं, नायिकाकी गति तथा रूप आदि उपमेयकी सुन्दरता वर्णित है, अत यहाँ वाचक, धर्म तथा उपमेय तीनोंका कथन नहीं है और कोई रूपक नहीं बाँधा गया है, इसलिए रूपकातिशयोक्ति भी नहीं है (का० द० पृ० ३५५)। वस्तुत इन भेदोंमें कई केवल विस्तार करनेकी प्रवृत्तिके द्योतक हैं, इनका समुचित निर्वाह नहीं हो सकता।

उपमाके अन्य भेदोंमें प्राचीनोंका मत हिन्दीमें किसीने ग्रहण नहीं किया है। वस्तुतः दण्डी द्वारा किये गये उपमाके भेद स्वतन्त्र रूपमें प्रतिष्ठित हो गये। हिन्दीके कुछ आचार्योंने जयदेव और अप्पय दीक्षितके आधारपर उपमाके भेदोंकी चर्चा नहीं की और कुछने मम्मट और विश्वनाथके आधारपर मालोपमा तथा रसनोपमा आदिकी चर्चा कर दी है। आधुनिक विवेचकोंने विश्वनाथके एक-दो भेदोंको और स्वीकार कर लिया है।

५ बिम्बप्रतिबिम्बोपमा—जहाँ उपमेय और उपमानके कहे हुए विभिन्न धर्मोंका आपसमें प्रतिबिम्ब-भाव वर्णित हो। विश्वनाथने इस उपमाका उल्लेख ऐसी उपमाओंके अन्तर्गत किया है जिनका साधारण धर्म लुप्त नहीं है। उनके अनुसार उपमाके सभी साधारण धर्म उपमेय तथा उपमानमें अलग-अलग कथित रहते हैं और उनमें बिम्बप्रतिबिम्ब-भावसे सम्बन्ध स्थापित किया जाता है (सा० द० १० २३) अर्थात् उनमें केवल शाब्दिक अन्तर रहता है। यथा—'तेरा नीला वपुष जिससे होयगा कान्तिधारी, जैसे बर्हावृत मुकुटसे गोपवेशी मुरारी।' (रसमंजरी)। इसमें इन्द्रधनुष-युक्त नील-मेघ और मयूर-पुच्छके मुकुट धारण किये कृष्णकी उपमा दी गयी है—साधारण धर्मका शाब्दिक कथन भिन्न है—मेघका इन्द्रधनुष और कृष्णका मयूरपुच्छ। परन्तु इन दोनोंमें समान धर्मका प्रतिबिम्बन है।

६ रसनोपमा—मम्मटके अनुसार करधनी(रसना)की एक किंकिणीका दूसरी किंकिणीसे जिस प्रकार क्रमशः सम्बन्ध रहता है उसी प्रकार इसमें उपमेय-उपमान एक-दूसरेसे जुडे रहते हैं (का० प्र० : १० . ९० वृ)। विश्वनाथने इसी बातको दूसरी तरह कहा है–'यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता।' (सा० द० .१० २५), अर्थात् जब उपमेय अगले क्रममें ही उपमान हो जाय। मतिराममें इसीका भाव ग्रहण किया गया है—'जहाँ प्रथम उपमेय सो होत जात उपमान।' (ल० ल० ५१)। पद्माकरका लक्षण भी समान है—'. उपमेय जहँ, होत जात उपमान।' (पद्मा०.२४)। उदा०—'सुगुन ग्यान सम उद्यमहु, उद्यम सम फल जान। फल समान पुनि दान है, दान सरिस सनमान।' (वही.२५)।

७ मालोपमा—मम्मटके अनुसार एक ही उपमेयके लिए

अनेक उपमानोंके गुम्फनके कारण मालोपमा कहते हैं (का० प्र० १० ९० वृ)। विश्वनाथने इसीको दुहरा दिया है—'मालोपमा यदेकस्योपमान बहु दृश्यते।' (सा० द० १२६)। मतिराम, पद्माकर आदि हिन्दीके आचार्योंने भी इसीको दुहरा दिया है—'जहाँ एक उपमेयको होत बहुत उपमान।' (ल० ल० ४८)। उदा०—'रूप जाल नेदलालके, परि करि बहुरि छुटै न। खजरीट मृग मीनसे, ब्रजवनितनके नैन।' (ल० ल० ५०)। और 'पछतावेकी परछाँहीं-सी तुम उदार छायी हो कौन? दुर्बलता-सी अँगड़ाई-सी अपराधी-सी भयसे मौन।' पहलेमें नैनके लिए और दूसरेमें छायाके लिए उपमानोंका कथन है।

उपमा मौलिक अलकार है और उसके सादृश्यकी कल्पनामें सौन्दर्यकी काव्यात्मक उद्भावना है। अतएव इसका सफल और सुन्दर प्रयोग प्रत्येक युगके उत्कृष्ट कविमें मिलता है। उपमाके प्रयोगमें तुलसीकी कल्पना सबसे अधिक प्रखर है। कथाके प्रवाह और उसके भावात्मक उतार-चढावके साथ उपमाएँ सहज रूपमें आकर सौन्दर्य-बोधके उत्कर्षको बढाती है। अन्य कथा-काव्योंमें भी इस अलकारका पर्याप्त प्रयोग हुआ है। सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियोंके पदोंमें उपमाके सुन्दर और सहज प्रयोग हैं। रीतिकालकी ऊहात्मक तथा उक्तिवैचित्र्यकी प्रवृत्तिके साथ अन्य अलकारोंका मेल अधिक रहा है। आधुनिक युगके कथाकाव्योंमें पुन इसका सुन्दर प्रयोग हुआ। छायावादी तथा नवीन काव्यमें भी लुप्तोपमाके विविध रूप मिलते हैं। —र०

उपमान—अलकार-शास्त्रमें उपमाके चार प्रमुख उपादानोंमें एक उपादान (दे०—'उपमा')। वर्णनीय वस्तुकी अथवा उपमेयकी जिस उत्कृष्ट गुणवाले पदार्थसे उपमा दी जाती है, उसे 'उपमान' कहते है। इस शब्दका प्रयोग उपमाके विकासके साथ जुडा हुआ है। निरुक्ततक इसका प्रयोग इसी अर्थमें चल पड़ा था। पाणिनिके समयतक उपमाके चारों अग निर्दिष्ट हो चुके थे। पतजलिने उपमानकी व्याख्या की। उनके अनलंकृत उदाहरण 'गौरिव गवय'का उल्लेख बादके आचार्योंने किया है। संस्कृत तथा हिन्दीके सभी आचार्योंने उपमाके अन्तर्गत उसके चारों अगोंका उल्लेख किया है।

रीतिकालीन आचार्य कुलपति मिश्रके शब्दोंमें 'उपमेय' और 'उपमान'का पारिभाषिक रूप इस प्रकार है—'उपमान अरु उपमेय हैं, अलकारके प्रान। ताते इनको प्रथम ही, कहियत रूप बखान। होय बडाई सम किये, जाके सो उपमान। जाकी बर्नन कीजिये, सो उपमान बखान।' (रस-रहस्य)। उदा०—'अधिकार न सीमामें रहते। पावस निर्झरसे वे बहते।' (प्रसाद · कामायनी)। इसमें 'पावस निर्झर' उपमान अथवा अप्रस्तुत वस्तु है, जिससे 'अधिकार'-रूप उपमेय अथवा प्रस्तुत वस्तुकी समता की गयी है। इसी प्रकार—'सखि! भिखारिणी-सी तुम पथपर फैलाकर अपना अचल, सूखे पत्तोंको ही पा क्या, प्रमुदित रहती हो प्रतिपल।' (छाया पत)। भिखारिणी जिस प्रकार रूखा-सूखा खाकर ही सन्तुष्ट हो जाती है, वैसे ही छाया भी सूखे पत्ते पाकर क्या प्रमुदित रहती है? इसमें उपमेय 'छाया'-की 'भिखारिणी'-रूप उपमानसे उपमा दी गयी है। यहाँ सादृश्य या उपमान सुन्दर बन पड़ा है।

हिन्दीमें 'उपमान'को अवर्णनीय, अवर्ण्य, अप्रस्तुत, अप्रकृत, अप्रासगिक और अप्राकरणिक भी कहते हैं। सर्वाधिक प्रचलित और प्रयुक्त शब्द 'उपमान' और 'अप्रस्तुत' है। रामचन्द्र शुक्लने 'उपमान'के लिए 'अप्रस्तुत-योजना' और 'अप्रस्तुत-विधान' दो नये शब्दोंका प्रयोग किया है, किन्तु इनमेंसे 'अप्रस्तुत-योजना' शब्द अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त एव सम्यक् अर्थका प्रतिपादक प्रतीत होता है। इनके अनुसार यह शब्द उपमानकी अपेक्षा इसलिए उपयुक्त है कि उपमान उतने व्यापक अर्थका बोधक नहीं जितने व्यापक अर्थकी प्रतीति 'अप्रस्तुत योजना' अथवा 'अप्रस्तुत-विधान' शब्दसे होती है। विशेषके लिए दे०—'अप्रस्तुत'। —वि० स्ना०

उपमित कथाकाव्य—दे०—'दृष्टान्तकाव्य'।

उपमेय—उपमाके चार अगोंमेंसे एक, जिसकी किसी अन्य उत्कृष्ट गुणवाली वस्तुसे समता की जाय। उदा०—'हरिपद कोमल कमलसे', इसमें 'हरिपद' उपमेय अथवा प्रस्तुत वस्तु है जिसकी कमलसे समता दी गयी है। और भी—'पागल-सी प्रभुके साथ सभा चिल्लाई, सो बार धन्य वह एक लालकी माई' (मै० श० गुप्त साकेत)। यहाँ सभा उपमेय है जिसकी 'पागल' उपमानसे समता की गयी है।

हिन्दीमें उपमेयको वर्णनीय, वर्ण्य, प्रस्तुत, प्रकृत, प्रासगिक और प्राकरणिक भी कहते हैं। इनमेंसे वैसे तो उपमेय शब्द परिपाटीसे प्रचलित है, किन्तु आज प्रस्तुत शब्द अधिकाशमें उपमेयका स्थानापन्न हो गया है। रामचन्द्र शुक्लने भी उपमेयके स्थानपर प्रस्तुतका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया है।

उपमाके विकासके साथ इसका प्रयोग भी सम्बद्ध है। उपमाके अन्तर्गत उपमेयका विचार किया गया है, हिन्दीके आचार्योंने 'जिसका वर्णन किया जाय उसे उपमेय' समान रूपसे माना है—'जाको बर्नन कीजिये, सो उपमेय प्रमान' (मतिराम ल० ल० ३९)। —वि स्ना०

उपमेयोपमा—सादृश्यगर्भ भेदाभेदप्रधान अलकारका भेद। यह अलकार कुछ आचार्योंके द्वारा स्वतन्त्र माना गया है—भामह, उद्भट, वामन, मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने और कुछने उपमाके अन्तर्गत माना है—दण्डी, रुद्रट तथा भोज आदिने। हिन्दीमें प्राय आचार्योंने इसे स्वतन्त्र अलकार माना है—मतिराम, भूषण, कुलपति, दास तथा पद्माकर आदिने। केशवने इसकी चर्चा नहीं की है और देवने 'काव्य रसायन'में इसे उपमाके भेदके रूपमें स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार—'विपर्यास उपमेयोपमा तयो।' (का० प्र० १० ९१) अर्थात् जहाँ दोनोंमें (उपमेय-उपमानमें) परस्पर परिवृत्ति (परिवर्तन) प्रतिपादित किया जाय। विश्वनाथ तथा जयदेवने 'पर्यायेण' कहकर मम्मटका लक्षण ले लिया है। हिन्दीके आचार्योंने प्राय इसीका अनुवाद प्रस्तुत किया है—'जहाँ परस्पर होत है उपमेयो उपमान।' (शि० भू० ५३)। दासका लक्षण किंचित् अलग है—'उपमा दोऊ दुहुनकी, सो उपमा उपमेय।' (का०

नि० ' ८)। इनमें परस्पर उपमा देनेसे अन्य उपमानोंके निरादरका भाव व्यजित है जो इस अलङ्कारकी विशेषता है। उदा०—'तेरो तेज सरजा समत्थ दिनकर सो है, दिनकर सोहै तेरे तेजके निकरसो।' (शि० भू० ५४), अथवा—तरल नैन तुव बचनसे, स्याम तामरस तार। स्याम तामरस तारसे, तेरे कच सुकुमार।' (का० नि० ८)। यहाँ शिवाजीके तेज और दिनकरकी तथा कच और तामरस-तारकी परस्पर उपमा दी गयी है। —र०

उपयोगितावाद—किसी भी वस्तु, विचार अथवा कार्यका महत्त्व आँकनेके लिए उपयोगिताकी कसौटी बहुत दिनोंसे चली आ रही है। किसी कालविशेषके सामाजिक उद्देश्योंके अनुरूप ही उपयोगिताके प्रतिमान भी बदलते रहे हैं, पर उपयोगिताका सिद्धान्त अक्षुण्ण रहा है। उपयोगितावादको साहित्यमें सोद्देश्यतावादकी भी संज्ञा दी गयी है और इसका विरोधी सिद्धान्त 'कला कलाके लिए' अथवा कलावादके (दे०) रूपमें उपस्थित किया गया है।

उपयोगितावाद शब्दका प्रचार १९वीं शताब्दीमें यूरोपमें हुआ है। वहाँ इसका प्रतिरूप 'यूटीलिटैरियनिज्म' है। कहा जाता है कि यह ग्रीक एपीकरसके आनन्दवादका पुनरुत्थान है। यूरोपमें यह अठारहवीं शताब्दीके वायवी आदर्शवादके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें आया। इसके प्रयोक्ता बेंथम, आस्टिन, मिल आदि व्यक्तिवादी दार्शनिक थे। उनके अनुसार राजनीतिक संस्थाएँ, राज्यकी नीतियाँ आदि किसी आदर्श, काल्पनिक मानवीय अधिकारों एव कर्तव्योंके लिए नहीं हैं, उनकी महत्ता मानवीय सम्बन्धोंकी एक निश्चित, स्थिर उपयोगिताके लिए सहायक होनेमें है। इन लोगोंके अनुसार समाजके नियमनका एकमात्र सिद्धान्त होगा 'सर्वाधिक सख्याका अधिकतम सुख'। इसका स्वरूप इस कालमें व्यक्तिवादी है। यह मुक्त व्यापार, पेशेकी स्वतन्त्रता, व्यापारके क्षेत्रमें अबाधित प्रतियोगिता, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा अन्य व्यक्तिवादी सुधारोंकी माँग करता हुआ आभिजात्य श्रेष्ठताको चुनौती देता है। उपयोगितावादकी विचारधारामें एक विचित्र विकास परिलक्षित होता है, और वह यह कि इस व्यक्तिवादिताकी परिणति होती है समाजोन्मुख विचारधारामें। मिलने यह अनुभव किया कि व्यक्तिकी निरपेक्ष स्वतन्त्रता 'सर्वाधिक सख्याके अधिकतम सुख'के विपरीत जाती है। अन्तत उसे वैयक्तिक और सामाजिक उपयोगितामें भेद करते हुए द्वितीयको श्रेष्ठतर स्थान देनेके लिए विवश होना पड़ा। समाजवादी विचारधाराकी (दे०—'समाजवाद') पृष्ठभूमिमें उपयोगितावादी दर्शनका गहरा हाथ है। समाजवादी विचारधाराके ही चरम रूप 'मार्क्सवाद'में सर्वहारावर्गको मिली श्रेष्ठताके अनुरूप उपयोगिताकी कसौटी भी इसी वर्गका कल्याण हो गयी तथा समाजशास्त्रीय विचारकोंने कलाको वर्गयुद्धका अस्त्र माना, उसे विचारोंके प्रचारका साधन स्वीकार किया। इस प्रकार कला एव साहित्यकी उपयोगिताको सामाजिक सघर्ष एव विकासके साथ जोड़ दिया गया।

परन्तु जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, साहित्यका उपयोगितावादी दृष्टिकोण नया नहीं है। किसी-न-किसी रूपमें उपयोगिताका प्रश्न साहित्यके साथ सम्बद्ध रहा है। भामहने 'काव्यालङ्कार'में काव्यके तीन प्रयोजन माने थे—शास्त्रादि ज्ञान, आनन्द और कीर्ति। रुद्रटने भी यश, इष्टकी प्राप्ति, पुरुषार्थ-सिद्धि आदिको काव्यका प्रयोजन माना है। ध्वन्यालोककार कुन्तकने 'सरसोपदेशरूप प्रयोजन' स्वीकार किया है—'काव्य हृदयको प्रभावित कर कर्तव्याकर्तव्यका सरस विश्लेषण किया करता है।' काव्यसे रसप्रतीति और रसप्रतीतिसे जीवनादर्शोंकी ओर प्रगति, ऐसी कुछ विचारधारा ध्वनि-सम्प्रदायकी रही है। मम्मटने इस 'रसरूप काव्यप्रयोजन'को और परिष्कृत करके उपस्थित किया। उन्होंने काव्यके छ प्रयोजन माने—(१) यश-प्राप्ति, (२) अर्थलाभ, (३) आचारज्ञान, (४) अमगल-निवारण, (५) रस या आनन्द, (६) सरस उपदेश। इनमें कविके प्रयोजन प्रथम चार हैं तथा कवि और सहृदय दोनोंके अन्तिम दो। मम्मटकी इस बातको परवर्ती आचार्योंने लगभग स्वीकार कर लिया है। आधुनिक युगमें रामचन्द्र शुक्लने भी काव्यका उद्देश्य लोकमगल और आत्मविस्तार स्वीकार किया है। इस सम्बन्धमें यह भी ध्यान देने योग्य है कि हमारे काव्यशास्त्रमें विशुद्ध कलावादी दृष्टिकोण अपनाकर विवेचन प्राय नहीं हुआ है। प्रत्येक आचार्यने काव्यप्रयोजनोंमें उपयोगिताके किसी-न-किसी रूपको स्वीकार किया है, यह दूसरी बात है कि प्रारम्भमें यह उपयोगिता कवितक सीमित थी, बादमें वह सहृदय-तक विस्तृत हो गयी।

पश्चिमी काव्यदर्शनमें भी उपदेशसे सम्बन्धित उपयोगिताको प्रमुख स्थान मिला है। ग्रीसमें प्लेटोके समयसे ही यह मत प्रचलित है कि काव्यका पहला कार्य शिक्षा देना है। शिक्षाके क्षेत्रमें भी काव्यका महत्त्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि उससे बच्चे देवी-देवताओंके बारेमें जानेंगे। काव्यचरित्र अनुकरण योग्य होते हैं तथा सैन्यसचालन जैसे अनेक विषय होमर द्वारा प्रशंसनीय ढगसे बताये गये हैं। इस शिक्षक-दृष्टिका विरोध भी ग्रीससे कम नहीं हुआ। प्लेटोने स्वय सकेत किया कि देवता बहुधा चरित्रहीन होते हैं। एक भी आदमी देशमें सेनानायक इसीलिए नहीं चुना गया कि उसकी शिक्षा होमरके काव्यके माध्यमसे हुई है तथा एचिलीस जैसे चरित्र अनुकरणीय नहीं हैं। अरस्तूने भी काव्यके सौन्दर्यबोधवाले पक्षपर अधिक बल दिया है। पर होरेसने काव्यके उपदेशवाले पक्षको महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया। उसने कहा कि 'काव्य शिक्षा देता है, आनन्द देता है या दोनों करता है।' यह बात कुन्तक और मम्मटसे बहुत दूर नहीं है। लुक्रेसियसने भी उपयोगितावादी दृष्टिकोणको ही प्रधानता दी।

आगे आकर रस्किनने तो काव्यको मुख्य रूपसे उपदेश-प्रधान माना है। उसके अनुसार आनन्द तो 'बाई प्रॉडक्ट' (गौण उत्पादन) है, मुख्य बात तो धर्मभावनाको तीव्र करना, नैतिक स्तरको पूर्ण बनाना और भौतिक सेवा करना है। (अर्थलाभ मम्मटने भी स्वीकार किया है।) टॉल्सटायने भी काव्यके धार्मिक और नैतिक पक्षपर जोर दिया।

१९वीं शतीके अन्तिम और बीसवीं शतीके प्रारम्भिक

भागमें 'कलाके लिए कला' आन्दोलनको अधिक बल मिला। वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ड, ब्रैडले जैसे समर्थ लोगों द्वारा इसे समर्थन मिला।

स्थूल उपयोगितावादमें कुछ परिष्कार भी इस कालमें हुए। एक तो यह विचार आया कि कला आत्माको ऊँचा उठाती है, बगैर किसी प्रकारकी प्रत्यक्ष शिक्षाका आश्रय लिये, और दूसरा यह सुझाव कि वह आत्माके लिए रंजनकारी है, मानसिक शक्तिप्रदायिनी है। नवमानवतावादी (मोर, इरविंग बैबिट आदि) लेखकको मानवीय नियमोंके प्रति जिम्मेदार देखते हैं और ये नियम वस्तुगत नियमोंसे भिन्न हैं।

प्रकट है कि उपयोगितावाद व्यापक रूपसे भारतीय विचारधारामें व्याप्त रहा है। पुराने कालमें उसका उपयोगी रूप उपदेशमें था तो अब वर्गयुद्धके शस्त्रके रूपमें, जनकल्याण-योजनाओंके प्रचारके माध्यमके रूपमें उसकी परिणति हो गयी है। —दे० श० अ०

उपयोगी कला–कलाओंको सामान्यतः दो वर्गोंमें विभक्त किया जाता है–**ललित कला** तथा **उपयोगी कला**। ललित कलाएँ मनुष्यके सौन्दर्यबोधकी प्रतीक हैं, उपयोगी कलाओंमें बौद्धिकता तथा उपयोगिताका सम्मिश्रण रहता है। ललित कलाओंमें वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकलाकी गणना होती है। उपयोगी कलाएँ मनुष्यकी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिसे सम्बद्ध हैं। उपयोगी कलाओंमें भी थोड़ा-बहुत सौन्दर्यबोधका भाव तो रहता है, पर वह गौण है। कुर्सी, मेज आदि वस्तुओंमें 'डिजाइन'का ध्यान रखा जाता है, किन्तु यह डिजाइन प्रायः उपयोगिताकी दृष्टिसे बनायी जाती है। सामान्यतः कला कहनेसे ललित कलाओंका ही बोध होता है। आधुनिक प्रयोगकी दृष्टिसे ललित कलामें तो ललित शब्द अब अनावश्यक हो गया है और इसी बातसे उपयोगी कलामें 'उपयोगी' तथा 'कला' शब्द अब एक-दूसरेके विरोधी-से जान पड़ते हैं। इस दृष्टिसे आधुनिक चिन्तनके क्षेत्रमें ललित कला तथा उपयोगी कलाका विभाजन मात्र पुस्तकोंतक ही सीमित रह गया है। अब कलाको अपने आपमें पूर्ण तथा विशुद्ध माना जाता है। उसके लिए सफल तथा असफल जैसे विशेषणोंकी भी अब आवश्यकता नहीं समझी जाती। —रा० स्व० च०

उपयोगी साहित्य–प्राचीनोंने जिसे 'शास्त्र' कहा है, उसे ही आज 'उपयोगी साहित्य'के नामसे अभिहित किया जाता है। 'शास्त्र' दो प्रकारके कहे गये हैं–(१) पौरुषेय और (२) अपौरुषेय। अपौरुषेय शास्त्र श्रुति है जिसमें वेद (ऋक्, साम, यजु, अथर्वण) और छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) आते हैं। इनके अतिरिक्त 'अलंकार' नामका एक सातवाँ वेदांग भी माना गया है। पौरुषेय शास्त्र चार हैं–पुराण, आन्वीक्षिकी (न्याय), मीमांसा और स्मृतितन्त्र (धर्मशास्त्र)। इनमें पुराण और स्मृतियोंकी संख्या १८ है। इस प्रकार वेद ४, वेदांग ६, पुराण, आन्वीक्षिकी (न्याय) और स्मृति मिलाकर १४ शास्त्र-भेद हुए, जिन्हें विद्यास्थान भी कहा गया है। कुछ लोग १८ विद्यास्थान मानते हैं जिनमें पूर्वोक्त विद्यास्थानोंके अतिरिक्त वार्ता (वाणिज्य-कृषिविद्या), कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीति (राजतन्त्र) सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त एक साहित्यविद्याकी भी परिकल्पना है जो वार्ता, कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीतिका साराश कही गयी है। इस प्रकार भारतीय विचारधारामें 'शास्त्र'के रूपमें उपयोगी साहित्यकी विपुल कल्पना है। इन विभागोंका विकास धीरे-धीरे हुआ है, परन्तु पहली शताब्दीके लगभग सभी यथेष्ट विकासकी स्थितिमें थे। इस शास्त्रके विकासके लिए अनेक शैलियोंका प्रवर्तन हुआ था, जैसे सूत्र, वृत्ति, पद्धति, भाष्य, समीक्षा, टीका, पंजिका, कारिका, वार्तिक। आधुनिक युगके उपयोगी साहित्यमें विषय-विस्तार भले ही हुआ हो, परन्तु उसकी शैलियोंमें इतनी विविधता और परिपक्वता नहीं है। प्राचीन युगमें शास्त्रके किसी एक अंशपर लिखे ग्रन्थ भी थे, जिन्हें 'प्रकरण' कहते थे और ग्रन्थोंके अवान्तर अध्यायोंके लिए 'अध्याय', 'परिच्छेद', 'उल्लास' आदि शब्दोंका उपयोग किया जाता था। प्राचीन युगका उपयोगी साहित्य अधिकांश पद्यमें है, क्योंकि पद्यमें कण्ठस्थ करनेकी सुविधा थी। अपने देशमें यह परम्परा उन्नीसवीं शताब्दीतक चली आती है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें शास्त्र-ज्ञानकी विस्तृत निधि प्रस्तुत है। काव्यके अतिरिक्त वाङ्मयके रूपमें जो भी उपलब्ध है उसे 'शास्त्र' या 'उपयोगी साहित्य' कहा जा सकता है। आधुनिक युगमें वाङ्मयका यह ज्ञानोपयोगी अंग पद्यमें न होकर गद्यमें ही लिपिबद्ध होता है।

'उपयोगी साहित्य'के रूपमें आज हमें जो साहित्य प्राप्त होता है वह प्राचीनोंके 'शास्त्र'को आत्मसात् करता हुआ कुछ आगे बढ़ गया है, क्योंकि पिछली इन शताब्दियोंमें ज्ञान-विज्ञान एवं विवेचनाके अनेक नये क्षेत्र उद्घाटित हुए हैं। अतः आज 'उपयोगी साहित्य'का व्याप्ति कहीं अधिक है, यूरोपकी औद्योगिक क्रान्तिने आधुनिक जीवनको कर्म-संकुल बना दिया है और 'साहित्य' कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध आदिकी कुछ विशिष्ट कोटियोंमें सिमट आया है। साहित्यमें उपयोगिताकी स्थापना एक पक्षके द्वारा हुई है, परन्तु साहित्येतर समस्त लिपिबद्ध सामग्रीको 'उपयोगी साहित्य' कहा गया है। 'उपयोगी साहित्य'को आज हम (१) वैज्ञानिक साहित्य, (२) टेकनीकी साहित्य, (३) मानवीय सम्बन्धोंके साहित्य, जैसे अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान, राजनीति आदि, (४) मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण, (५) चिकित्साशास्त्र, (६) क्रीड़ा और आमोद-प्रमोदका साहित्य, (७) साहित्यशास्त्र, (८) दर्शन, (९) धर्म और (१०) विविध आदि अनेक वर्गोंमें रख सकते हैं। वास्तवमें गद्यके विकास और मुद्रण-कलाके आविष्कारके साथ मानवीय ज्ञान-चेतना अधिक विस्तृत होती गयी है और उन्नीसवीं शताब्दीमें उसने मनुष्यके अन्तर्बाह्य अनेकानेक क्षेत्रोंको स्पर्श किया है। प्राचीन युगोंमें धर्म, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र दर्शनमें ही अन्तर्भुक्त थे, परन्तु अब इनमेंसे प्रत्येक अवान्तर उपवर्गोंमें विभक्त है और विश्लेषण-बुद्धिके उत्तरोत्तर विकासके साथ नये-नये चिन्ता-क्षेत्र सामने आते जा रहे हैं। विवेचनाकी इन विभिन्न पद्धतियोंपर प्राचीन उपयोगी साहित्य

नि० • ८)। इसमें परस्पर उपमा देनेमे अन्य उपमानोंके निरादरका भाव व्यंजित है जो इस अलंकारकी विशेषता है। उदा०—'तेरो तेज सरजा समत्थ दिनकर सो है, दिनकर सोहै तेरे तेजके निकरसो।' (शि० भू० • ५४), अथवा—तरल नैन तुव बचनसे, स्याम तामरस तार। स्याम तामरस तारसे, तेरे कच सुकुमार।' (का० नि० • ८)। यहाँ शिवाजीके तेज और दिनकरकी तथा कच और तामरस-तारकी परस्पर उपमा दी गयी है। —र०

उपयोगितावाद—किसी भी वस्तु, विचार अथवा कार्यका महत्त्व आँकनेके लिए उपयोगिताकी कसौटी बहुत दिनोंसे चली आ रही है। किसी कालविशेषके सामाजिक उद्देश्योंके अनुरूप ही उपयोगिताके प्रतिमान भी बदलते रहे हैं, पर उपयोगिताका सिद्धान्त अक्षुण्ण रहा है। उपयोगितावादको साहित्यमें सोद्देश्यतावादकी भी संज्ञा दी गयी है और इसका विरोधी सिद्धान्त 'कला कलाके लिए' अथवा कलावादके (दे०) रूपमें उपस्थित किया गया है।

उपयोगितावाद शब्दका प्रचार १९वीं शताब्दीमें यूरोपमें हुआ है। वहाँ इसका प्रतिरूप 'यूटीलिटैरियनिज्म' है। कहा जाता है कि यह ग्रीक एपीकरसके आनन्दवादका पुनरुत्थान है। यूरोपमें यह अठारहवीं शताब्दीके बाबवी आदर्शवादके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें आया। इसके प्रयोक्ता बेंथम, आस्टिन, मिल आदि व्यक्तिवादी दार्शनिक थे। उनके अनुसार राजनीतिक संस्थाएँ, राज्यकी नीतियाँ आदि किसी आदर्श, काल्पनिक मानवीय अधिकारों एवं कर्तव्योंके लिए नहीं हैं, उनकी महत्ता मानवीय सम्बन्धोंकी एक निश्चित, स्थिर उपयोगिताके लिए सहायक होनेमें है। इन लोगोंके अनुसार समाजके नियमनका एकमात्र सिद्धान्त होगा 'सर्वाधिक संख्याका अधिकतम सुख'। इसका स्वरूप इस कालमें व्यक्तिवादी है। यह मुक्त व्यापार, पेशेकी स्वतन्त्रता, व्यापारके क्षेत्रमें अबाधित प्रतियोगिता, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा अन्य व्यक्तिवादी सुधारोंकी माँग करता हुआ आभिजात्य श्रेष्ठताको चुनौती देता है। उपयोगितावादकी विचारधारामें एक विचित्र विकास परिलक्षित होता है, और वह यह कि इस व्यक्तिवादिताकी परिणति होती है समाजोन्मुख विचारधारामें। मिलने यह अनुभव किया कि व्यक्तिकी निरपेक्ष स्वतन्त्रता 'सर्वाधिक संख्याके अधिकतम सुख'के विपरीत जाती है। अन्ततः उसे वैयक्तिक और सामाजिक उपयोगितामें भेद करते हुए द्वितीयको श्रेष्ठतर स्थान देनेके लिए विवश होना पड़ा। समाजवादी विचारधाराकी (दे०—'समाजवाद') पृष्ठभूमिमें उपयोगितावादी दर्शनका गहरा हाथ है। समाजवादी विचारधाराके ही चरम रूप 'मार्क्सवाद'में सर्वहारावर्गको मिली श्रेष्ठताके अनुरूप उपयोगिताकी कसौटी भी इसी वर्गका कल्याण हो गयी तथा समाजशास्त्रीय विचारकोंने कलाको वर्गयुद्धका अस्त्र माना, उसे विचारोंके प्रचारका साधन स्वीकार किया। इस प्रकार कला एवं साहित्यकी उपयोगिताको सामाजिक संघर्ष एवं विकासके साथ जोड़ दिया गया।

परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, साहित्यका उपयोगितावादी दृष्टिकोण नया नहीं है। किसी-न-किसी रूपमें उपयोगिताका प्रश्न साहित्यके साथ सम्बद्ध रहा है। भामहने 'काव्यालंकार'में काव्यके तीन प्रयोजन माने थे—शास्त्रादि ज्ञान, आनन्द और कीर्ति। रुद्रटने भी यश, इष्टकी प्राप्ति, पुरुषार्थ-सिद्धि आदिको काव्यका प्रयोजन माना है। ध्वन्यालोककार कुन्तकने 'सरसोपदेशरूप प्रयोजन' स्वीकार किया है—'काव्य हृदयको प्रभावित कर कर्तव्याकर्तव्यका सरस विश्लेषण किया करता है।' काव्यसे रसप्रतीति और रसप्रतीतिसे जीवनादर्शोंकी ओर प्रगति, ऐसी कुछ विचारधारा ध्वनि-सम्प्रदायकी रही है। मम्मटने इस 'रसरूप काव्यप्रयोजन'को और परिष्कृत करके उपस्थित किया। उन्होंने काव्यके छः प्रयोजन माने—(१) यश-प्राप्ति, (२) अर्थलाभ, (३) आचारज्ञान, (४) अमंगल-निवारण, (५) रस या आनन्द, (६) सरस उपदेश। इनमें कविके प्रयोजन प्रथम चार हैं तथा कवि और सहृदय दोनोंके अन्तिम दो। मम्मटकी इस बातको परवर्ती आचार्योंने लगभग स्वीकार कर लिया है। आधुनिक युगमें रामचन्द्र शुक्लने भी काव्यका उद्देश्य लोकमंगल और आत्मविस्तार स्वीकार किया है। इस सम्बन्धमें यह भी ध्यान देने योग्य है कि हमारे काव्यशास्त्रमें विशुद्ध कलावादी दृष्टिकोण अपनाकर विवेचन प्रायः नहीं हुआ है। प्रत्येक आचार्यने काव्यप्रयोजनोंमें उपयोगिताके किसी-न-किसी रूपको स्वीकार किया है, यह दूसरी बात है कि प्रारम्भमें यह उपयोगिता कवितक सीमित थी, बादमें वह सहृदय-तक विस्तृत हो गयी।

पश्चिमी काव्यदर्शनमें भी उपदेशसे सम्बन्धित उपयोगिताको प्रमुख स्थान मिला है। ग्रीसमें प्लेटोके समयसे ही यह मत प्रचलित है कि काव्यका पहला कार्य शिक्षा देना है। शिक्षाके क्षेत्रमें भी काव्यका महत्त्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि उससे बच्चे देवी-देवताओंके बारेमें जानेंगे। काव्यचरित्र अनुकरण योग्य होते हैं तथा सैन्यसंचालन जैसे अनेक विषय होमर द्वारा प्रशंसनीय ढंगसे बताये गये हैं। इस शिक्षक-दृष्टिका विरोध भी ग्रीसमें कम नहीं हुआ। प्लेटोने स्वयं संकेत किया कि देवता बहुधा चरित्रहीन होते हैं। एक भी आदमी देशमें सेनानायक इसीलिए नहीं चुना गया कि उसकी शिक्षा होमरके काव्यके माध्यमसे हुई है तथा एचिलीस जैसे चरित्र अनुकरणीय नहीं हैं। अरस्तूने भी काव्यके सौन्दर्यबोधवाले पक्षपर अधिक बल दिया है। पर होरेसने काव्यके उपदेशवाले पक्षको महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया। उसने कहा कि 'काव्य शिक्षा देता है, आनन्द देता है या दोनों करता है।' यह बात कुन्तक और मम्मटसे बहुत दूर नहीं है। ल्क्रेसियसने भी उपयोगितावादी दृष्टिकोणको ही प्रधानता दी।

आगे आकर रस्किनने तो काव्यको मुख्य रूपसे उपदेश-प्रधान माना है। उसके अनुसार आनन्द तो 'बाई प्रॉडक्ट' (गौण उत्पादन) है, मुख्य बात तो धर्मभावनाको तीव्र करना, नैतिक स्तरको पूर्ण बनाना और भौतिक सेवा करना है। (अर्थलाभ मम्मटने भी स्वीकार किया है।) टॉल्सटायने भी काव्यके धार्मिक और नैतिक पक्षपर जोर दिया।

१९वीं शतीके अन्तिम और बीसवीं शतीके प्रारम्भिक

भागमें 'कलाके लिए कला' आन्दोलनको अधिक बल मिला। वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ट, ब्रैडले जैसे समर्थ लोगों द्वारा इसे समर्थन मिला।

स्थूल उपयोगितावादमें कुछ परिष्कार भी इस कालमें हुए। एक तो यह विचार आया कि कला आत्माको ऊँचा उठाती है, बगैर किसी प्रकारकी प्रत्यक्ष शिक्षाका आश्रय लिये, और दूसरा यह सुझाव कि वह आत्माके लिए रजनकारी है, मानसिक शक्तिप्रदायिनी है। नवमानवतावादी (मोर, इरविंग बैबिट आदि) लेखकको मानवीय नियमोंके प्रति जिम्मेदार देखते हैं और ये नियम वस्तुगत नियमोंसे भिन्न हैं।

प्रकट है कि उपयोगितावाद व्यापक रूपसे भारतीय विचारधारामें व्याप्त रहा है। पुराने कालमें उसका उपयोगी रूप उपदेशमें था तो अब वर्गयुद्धके शस्त्रके रूपमें, जनकल्याण-योजनाओंके प्रचारके माध्यमके रूपमें उसकी परिणति हो गयी है। —दे० श० अ०

उपयोगी कला–कलाओंको सामान्यत दो वर्गोंमें विभक्त किया जाता है–**ललित कला** तथा **उपयोगी कला**। ललित कलाएँ मनुष्यके सौन्दर्यबोधकी प्रतीक हैं, उपयोगी कलाओंमें बौद्धिकता तथा उपयोगिताका सम्मिश्रण रहता है। ललित कलाओंमें वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, सगीतकला तथा काव्यकलाकी गणना होती है। उपयोगी कलाएँ मनुष्यकी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिसे सम्बद्ध है। उपयोगी कलाओंमें भी थोडा-बहुत सौन्दर्यबोधका भाव तो रहता है, पर वह गौण है। कुर्सी, मेज आदि वस्तुओंमें 'डिजाइन'का ध्यान रखा जाता है, किन्तु यह डिजाइन प्राय उपयोगिताकी दृष्टिसे बनायी जाती है। सामान्यत कला कहनेसे ललित कलाओंका ही बोध होता है। आधुनिक प्रयोगकी दृष्टिसे ललित कलामें तो ललित शब्द अब अनावश्यक हो गया है और इसी बातसे उपयोगी कलामें 'उपयोगी' तथा 'कला' शब्द अब एक-दूसरेके विरोधी-से जान पडते हैं। इस दृष्टिसे आधुनिक चिन्तनके क्षेत्रमें ललित कला तथा उपयोगी कलाका विभाजन मात्र पुस्तकोंतक ही सीमित रह गया है। अब कलाको अपने-आपमें पूर्ण तथा विशुद्ध माना जाता है। उसके लिए सफल तथा असफल जैसे विशेषणोंकी भी अब आवश्यकता नहीं समझी जाती। —रा० स्व० च०

उपयोगी साहित्य–प्राचीनोंने जिसे 'शास्त्र' कहा है, उसे ही आज 'उपयोगी साहित्य'के नामसे अभिहित किया जाता है। 'शास्त्र' दो प्रकारके कहे गये हैं–(१) पौरुषेय और (२) अपौरुषेय। अपौरुषेय शास्त्र श्रुति है जिसमें वेद (ऋक्, साम, यजु, अथर्वण) और छ वेदाग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) आते हैं। इनके अतिरिक्त 'अलकार' नामका एक सातवाँ वेदाग भी माना गया है। पौरुषेय शास्त्र चार हैं–पुराण, आन्वीक्षिकी (न्याय), मीमासा और स्मृतितन्त्र (धर्मशास्त्र)। इनमें पुराण और स्मृतियोंकी सख्या १८ है। इस प्रकार वेद ४, वेदाग ६, पुराण, आन्वीक्षिकी (न्याय) और स्मृति मिलाकर १४ शास्त्र-भेद हुए, जिन्हें विद्यास्थान भी कहा गया है। कुछ लोग १८ विद्यास्थान मानते हैं जिनमें पूर्वोक्त विद्यास्थानोंके अतिरिक्त वार्ता (वाणिज्य-कृषिविद्या), कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीति (राजतन्त्र) सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त एक साहित्यविधाकी भी परिकल्पना है जो वार्ता, कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीतिका साराश कही गयी है। इस प्रकार भारतीय विचारधारामें 'शास्त्र'के रूपमें उपयोगी साहित्यकी विपुल कल्पना है। इन विभागोंका विकास धीरे-धीरे हुआ है, परन्तु पहली शताब्दीके लगभग सभी यथेष्ट विकासकी स्थितिमें थे। इस शास्त्रके विकासके लिए अनेक शैलियोंका प्रवर्तन हुआ था, जैसे सूत्र, वृत्ति, पद्धति, भाष्य, समीक्षा, टीका, पजिका, कारिका, वार्तिक। आधुनिक युगके उपयोगी साहित्यमें विषय-विस्तार भले ही हुआ हो, परन्तु उसकी शैलियोंमें इतनी विविधता और परिपक्वता नहीं है। प्राचीन युगमें शास्त्रके किसी एक अशपर लिखे ग्रन्थ भी थे, जिन्हें 'प्रकरण' कहते थे और ग्रन्थोंके अवान्तर अध्यायोंके लिए 'अध्याय', 'परिच्छेद', 'उल्लास' आदि शब्दोंका उपयोग किया जाता था। प्राचीन युगका उपयोगी साहित्य अधिकाश पद्यमें है, क्योंकि पद्यमें कण्ठस्थ करनेकी सुविधा थी। अपने देशमें यह परम्परा उन्नीसवीं शताब्दीतक चली आती है। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें शास्त्र-ज्ञानकी विस्तृत निधि प्रस्तुत है। काव्यके अतिरिक्त वाङ्मयके रूपमें जो भी उपलब्ध है उसे 'शास्त्र' या 'उपयोगी साहित्य' कहा जा सकता है। आधुनिक युगमें वाङ्मयका यह ज्ञानोपयोगी अग पद्यमें न होकर गद्यमें ही लिपिबद्ध होता है।

'उपयोगी साहित्य'के रूपमें आज हमें जो साहित्य प्राप्त होता है वह प्राचीनोंके 'शास्त्र'को आत्मसात् करता हुआ कुछ आगे बढ गया है, क्योंकि पिछली दस शताब्दियोंमें ज्ञान-विज्ञान एव विवेचनाके अनेक नये क्षेत्र उद्घाटित हुए हैं। अत आज 'उपयोगी साहित्य'की व्याप्ति कहीं अधिक है, यूरोपकी औद्योगिक क्रान्तिने आधुनिक जीवनको कर्म-सकुल बना दिया है और 'साहित्य' कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध आदिकी कुछ विशिष्ट कोटियोंमें सिमट आया है। साहित्यमें उपयोगिताकी स्थापना एक पक्षके द्वारा हुई है, परन्तु साहित्येतर समस्त लिपिबद्ध सामग्रीको 'उपयोगी साहित्य' कहा गया है। 'उपयोगी साहित्य'को आज हम (१) वैज्ञानिक साहित्य, (२) टेकनीकी साहित्य, (३) मानवीय सम्बन्धोंके साहित्य, जैसे अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान, राजनीति आदि, (४) मनोविज्ञान एव मनोविश्लेषण, (५) चिकित्साशास्त्र, (६) क्रीडा और अमोद-प्रमोदका साहित्य, (७) साहित्यशास्त्र, (८) दर्शन, (९) धर्म और (१०) विविध आदि अनेक वर्गोंमें रख सकते हैं। वास्तवमें गद्यके विकास और मुद्रण-कलाके आविष्कारके साथ मानवीय ज्ञान-चेतना अधिक विस्तृत होती गयी है और उन्नीसवीं शताब्दीमें उसने मनुष्यके अन्तर्बाह्य अनेकानेक क्षेत्रोंको स्पर्श किया है। प्राचीन युगोंमें धर्म, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र दर्शनमें ही अन्तर्भुक्त थे, परन्तु अब इनमेंसे प्रत्येक अवान्तर उपसर्गोंमें विभक्त है और विश्लेषण-बुद्धिके उत्तरोत्तर विकासके साथ नये-नये चिन्ता-क्षेत्र सामने आते जा रहे हैं। विवेचनकी जिन विभिन्न पद्धतियोंपर प्राचीन उपयोगी साहित्यकी

समृद्धि आश्रित थी, उनको पीछे छोड़ दिया गया है और एक तरहसे विवेचन-पद्धतिके क्षेत्रमें आज स्थिरीकरण है, परन्तु नयी अभिव्यंजना-शैलियोंकी दृष्टिसे भी उपयोगी साहित्यका विभाजन सम्भव है। वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विवेचनात्मक एवं वैज्ञानिक तर्कवादी तथा तथ्यप्रधान शैलियोंका उपयोगी साहित्यमें विशेष महत्त्व है। भावात्मक, कल्पनासूत्री और लालित्यमय (अलङ्कृत) शैलियाँ उपयोगी साहित्यके क्षेत्रके बाहर हैं। उनका उपयोग विशुद्ध साहित्यके क्षेत्रमें अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि जहाँ उपयोगी साहित्यका लक्ष्य तथ्यज्ञान एवं बौद्धिक ऊहापोह है, वहाँ विशुद्ध साहित्यका सम्बल रसानुभूति और कल्पनानन्द हैं। —रा० भ०

उपयोगी और ललित साहित्यमें प्रयोजन और क्षेत्रकी भिन्नता स्पष्ट है। पाण्डित्य और कवित्व दो भिन्न वृत्तियोंके प्रतिफल हैं और वे अनिवार्यत अन्तरावलम्बित नहीं हैं। परन्तु मनुष्यके समस्त क्रिया-कलाप जीवन और जगत्के नाना रूप और व्यापारोंकी ही प्रतिक्रिया होते हैं, अत उनके प्रयोजन और क्षेत्र सापेक्षरूपमें ही पृथक् कहे जा सकते हैं। इस प्रकार उपयोगी और ललित साहित्यमें सम्पर्क और परस्पर नक्रमणकी सम्भावनाएँ स्वाभाविक हैं।

राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'के द्वितीय अध्यायमें वाङ्मयके दोनों भेदों—शास्त्र और काव्य—अर्थात् उपयोगी और ललित साहित्यमें तीन प्रकारका सम्बन्ध बताया है—गद्य-पद्यमयत्व, कवि-धर्मत्व और हितोपदेशकत्व (काव्य-मीमांसा, तृतीय संस्करण, बड़ोदा, पृ० ४)। इस सम्बन्ध-विवेचनके प्रारम्भमें ही राजशेखरने कहा है कि काव्य-रचना करनेके पूर्व शास्त्रमें अभिनिवेश होना आवश्यक है। शास्त्र अर्थात् जीवनके विविध व्यापारोंसे सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञानके परिचयके बिना काव्य-रचना करना दीपकके बिना अँधेरेमें टटोलनेके समान है (वही : पृ० ७)। उपयोगी और ललित साहित्यके उपर्युक्त तीन सम्बन्धोंमें पहला—गद्य-पद्यमयत्व—वास्तवमें दूसरे कवि-धर्मत्वका मूलाधार है। अनेक विचारक और वैज्ञानिक कठिन बौद्धिक प्रयासके द्वारा उपलब्ध तथ्योंको जब भाषाके माध्यमसे व्यक्त करते हैं, तब प्रायः कवि-धर्मत्वके नाते ही वे उसमें कदाचित् अनायास कलात्मक रमणीयता ले आते हैं। कैसेलके साहित्य-विश्वकोश (कैसेल्स इनसाइक्लोपीडिया ऑव लिटरेचर)के पाण्डित्य और साहित्य (लर्निङ्ग एण्ड लिटरेचर) - शीर्षक लेखमें अनेक ऐसे विद्वानोंका उल्लेख किया गया है जो मूलतः अध्ययन, मनन और अन्वेषणके क्षेत्रमें कार्य करते हुए भी प्रसिद्ध शैलीकार हो गये हैं और जिन्होंने विचार और चिन्तनकी परिधियोंका ऐसे ललित ढगसे विस्तार किया है कि उनके साहित्यमें व्यावहारिक उपयोगिता और शुद्ध आनन्दप्रदायिनी उदात्त कलाका अद्भुत समन्वय हुआ है। राजशेखरने अपने उपर्युक्त विवेचनमें उपनिषद्के 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानवृक्षं परिषस्वजाते' आदि मन्त्रोंका उद्धरण देकर उस विपुल शास्त्रीय (उपयोगी) साहित्यकी ओर सकेत किया है जिसमें आलंकारिक शैलीमें महान् सत्योंका उद्घाटन हुआ है। वस्तुत प्राचीनतम साहित्यमें उपयोगी और ललित साहित्यका वह पृथक्त्व, जिसकी आधुनिक विशेषज्ञताके युगमें इतनी चर्चा है, बिलकुल नहीं पाया जाता। वैदिक साहित्य मूलत धार्मिक साहित्य माना जाता है। परन्तु ऋग्वेद-संहितामें अग्नि, इन्द्र, वरुण, सविता आदिकी स्तुतियाँ कवित्वके किसी भी लक्षणसे हीन नहीं हैं। भाव-संवेदनाकी सम्पन्नता और कल्पनाके वैभवके साथ उनकी शैलीमें अद्भुत अलंकरण और चमत्कारके साथ गूढ व्यंजनापूर्ण शब्द-शिल्प पाया जाता है। अध्यात्मविद्याका उद्घाटन करनेवाली उपनिषदोंकी शैलीमें तो वर्ण्यविषयकी रहस्यात्मकताने द्विगुणित कलात्मक सौन्दर्य पैदा कर दिया है। आगे चलकर श्रीमद्भागवतमें शास्त्र और काव्यका ऐसा सहज समन्वय मिलता है कि यदि काव्यके प्रति गौरवकी भावनाका अपेक्षाकृत अभाव न समझा जाय तो गीताको काव्य कहनेमें सकोच नहीं हो सकता। पुराणोंका उद्देश्य भी धार्मिक ही है, परन्तु उनमें रूपक और अतिशयोक्तिपूर्ण कथा-शैलीका व्यवहार करके साहित्यिक प्रसाद भी सुरक्षित किया गया है।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओंमें उपयोगी साहित्यका अब भी बहुत अभाव है। मध्यकालीन साहित्यमें तो उपयोगी विषयोंका साहित्य नहींके बराबर लिखा गया, परन्तु गद्यके विकासके साथ-साथ अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दीमें कुछ धार्मिक साहित्य लिखा जाने लगा था, जिसमें कथावाचकोंकी पौराणिक शैलीको साहित्यिकता लाने-का प्रयास देखा जाता है। आधुनिक कालके चिन्तकों और विचारकोंमें स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गान्धी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन् और जवाहरलाल नेहरू आदि अनेक विचारकों और चिन्तकोंकी शैलीमें साहित्यसौष्ठव प्रचुर परिमाणमें मिलता है। इन लेखकोंने अधिकतर अँग्रेजी भाषाका माध्यम ग्रहण किया, अन्यथा उनका साहित्यिक महत्त्व कदाचित् कहीं अधिक होता।

परन्तु ज्ञान-विज्ञानके व्यावहारिक और उपयोगी विषयोंके लिए साहित्यिक शैलीका उपयोग अपवाद मानना चाहिये। वह विचारकसे उसके प्रकृत गुण पाण्डित्यके अतिरिक्त सकीर्ण अर्थमें कवि-धर्मत्वकी भी माँग करता है। वस्तुत विषयको स्पष्ट और निर्भ्रान्त रूपमें उपस्थित करनेके लिए भाषाका अनावृत अलंकरणकी प्रवृत्तिसे यथासाध्य मुक्त होना आवश्यक है। इसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए प्राचीनतम समयसे ही वेदांग-साहित्यमें शास्त्र और काव्यके द्विधा-विच्छेदका प्रमाण मिलने लगता है। प्राचीन भारतीय शास्त्र अर्थात् उपयोगी साहित्यके अन्तर्गत दर्शन, तन्त्र, स्मृति, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, गणित, भौतिक रसायन, आयुर्वेद, ज्योतिष, सगीत और साहित्यशास्त्र—अनेक विषयोंपर लिखे गये अनेकानेक ग्रन्थ चिन्तनकी गरिमा और गम्भीरता प्रमाणित करते हैं। इस विपुल उपयोगी साहित्य-में लालित्य और शैलीका चमत्कार भी कहीं-कहीं अवश्य मिलता है, परन्तु उसे रचयिताकी स्वभावगत विवशता ही कहना चाहिये। कण्ठगत करनेकी सुविधासे पद्यमें रचे जानेके कारण भी उसमें यदा-कदा काव्यकी झलक अनायास आ जाती है। परन्तु वह समस्त साहित्य वेद, पुराण, उपनिषद्, गीता, महाभारत, रामायण, वैदिक, बौद्ध और

जैनदर्शन आदि ललित साहित्यका अक्षय उपजीव्य रहा है और कवियों और नाटककारोंने उससे अनेक रूपमें लाभान्वित होकर अपनी कृतियोंको प्राणवान् बनाया है। वस्तुत उपयोगी साहित्यका अनुशीलन, जिसे राजशेखरने कविके लिए अन्धकारको विदीर्ण करनेवाले दीपकके समान बताया है, उसे नित नये प्रत्यय, अपूर्व विवेचन-बुद्धि और पुराने भाव-चित्रोंके स्थानपर अधिक जीवन्त और व्यजक प्रतीक एव सकेत तो प्रदान करता ही है, प्राय नवीन शैलियों और शिल्प-विधान-सम्बन्धी नवीन तन्त्र ओर पद्धतियोंके अन्वेषणमें भी वह सहायक होता है। प्राचीन भारतीय साहित्यके सौन्दर्य और ऐश्वर्यका मुख्य श्रेय उस उपयोगी साहित्यको ही है, जो हमारे शास्त्रोंमें सुरक्षित है।

धार्मिक आदर्श और दार्शनिक चिन्तन, जो भारतीय सस्कृतिके प्रतिमान निश्चय करते है, सम्पूर्ण भारतीय काव्य-में न्यूनाधिक रूपमें झलकते हैं। परन्तु कुछ कवियोंने प्रधान रूपसे उसे अपना उद्देश्य बनाकर कान्ता-सम्मित उपदेशके सिद्धान्तानुसार काव्यमें उपयोगिताका समावेश किया है। एक ओर यदि अश्वघोष अपने काव्योंके द्वारा बौद्ध धर्म और सर्वास्तिवादके प्रचारका उपक्रम करते है तो दूसरी ओर श्रीहर्ष अपने नैषधीय चरित्रमें कलि और देवताओंके वाद-विवादके बहाने नास्तिकवादका तीव्र खण्डन करते देखे जाते हे। काव्यमें युग-धर्मको निष्पक्ष भावसे प्रतिबिम्बित करके भी कुछ कवियोंने पाण्डित्य और जागरूकताका परिचय दिया है। नवीं शताब्दीके शिवस्वामीने स्वय शैव होते हुए भी तत्कालीन लोकधर्म—बौद्धमतकी प्रतिष्ठा की है। जैन कवियों द्वारा रचे गये नाटक और काव्य धर्मके आग्रहसे प्रसूत होनेके कारण ही जैन काव्य नामसे पृथक् वर्गीकृत किये जाते हैं। 'धर्मशर्माभ्युदय' (हरिचन्द) महाकाव्य और 'मोहराज पराजय' (यश पाल) प्रतीक-नाटकका इस सम्बन्धमें विशेष उल्लेख किया जा सकता है। प्रतीक-नाटकोंमें कृष्ण मिश्रके 'प्रबोधचन्द्रोदय'का उल्लेख भी आवश्यक है, जिसमें औपनिषदाद्वैतदर्शनकी पृष्ठभूमिमें वैष्णव धर्मकी श्रेष्ठता दिखाकर उसके प्रचारका प्रयत्न किया गया है। वेदान्त देशिक और कविकर्णपूरने भी इसी प्रकार अपने पाण्टित्य और धर्म-चिन्तनको साहित्यमें नियोजित करके उपयोगिता और लालित्यका समन्वय किया है।

इन सभी कवियोंने धर्मप्रचारार्थ साहित्यके माध्यमका उपयोग किया और उसीमें अपनी शास्त्रीय विद्वत्ताको सार्थक बनाया। परन्तु बिना किसी धार्मिक आग्रहके काव्यको शास्त्रीय ज्ञानसे सवलित करके उसकी शक्ति-गरिमा तथा प्रयोजन-शीलतामें सवृद्धि करनेवाले कवियोंके उदाहरण भी कम नहीं हैं। 'मुद्राराक्षस' (विशाखदत्त) और 'मृच्छकटिक' (शूद्रक) यदि राजनीति और समाज-विज्ञानके पाण्डित्यसे पुष्ट हैं तो भवभूतिके नाटक कविके वेदशास्त्रके गम्भीर ज्ञानसे भरपूर होकर काव्यको उच्च भूमिपर प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ हुए हैं। कल्हणने यदि इतिहासको काव्यके परिधानमें वेष्टित किया है तो राजशेखरने अपने व्यापक भौगौलिक ज्ञानको काव्यमें प्रतिष्ठित किया है।

हिन्दी भाषाका तो विकास ही जीवनकी अत्यन्त यथार्थ और कठोर परिस्थितियोंकी माँगका प्रतिफलन है। इस लोक-भाषाने जिस भक्ति-काव्यके माध्यमसे उन्नति की वह वास्तवमें एक जीवन-व्यापी मिशन था। वह एक महान् सन्देश लेकर आया था जिसकी तात्कालिक व्यावहारिक उपयोगिता कदाचित् इसके शाश्वत सौन्दर्य और रसानन्दकी अपेक्षा कहीं अधिक थी। यह कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा आदि कवियोंकी कोमल संवेदनशीलताका परिणाम है कि उनकी कृतियाँ सामयिकताकी आवश्यकताको पूरा करके इतनी ऊपर उठ गयीं कि वे आज शुद्ध काव्यानन्दका विषय बनी हुई हैं। परन्तु उनकी महत्ता अब भी उनमें निहित उपयोगिताके नवीन दृष्टिकोणपर ही आधारित है, भले ही उनका प्रतिपाद्य आज व्यावहारिकता खो बैठा हो। यह समस्त भक्ति-साहित्य समयके दार्शनिक चिन्तन और मनीषापूर्वक स्थिर किये गये जीवनके उच्च मूल्योंको समाहित किये हुए है। रामचरितमानसमें बहुश्रुत कविका पाण्डित्य ही उसके काव्यके गौरवको बढाकर उसे एक साथ ही धर्म-ग्रन्थ भी बना देता है।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्यमें ही इसका भी प्रमाण मिलता है कि जब काव्य जीवन-व्यापी प्रयोजन-शीलतासे विछिन्न हो जाता है और कवि कोश और काव्यकी सीमित परिधिकी भाषामें ही अपना कृतित्व ढूँढने लगते हे तब काव्य किस प्रकार निम्न धरातलपर उतर आता है। रीतिकालके कवि यदि काव्यशास्त्रको भली भाँति हृदयगम करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेते, तो भी उनकी रचनाओंमें वह जीवनी-शक्ति नहीं आ सकती थी जो शास्त्रीय अध्ययन ओर चिन्तनसे उपलब्ध होती है।

आधुनिक कालमें हिन्दी साहित्य पुन समाजके नव-निर्माणकी आकाक्षासे प्रेरणा पाकर अग्रसर हुआ है। नवीन वेदान्तदर्शन, सर्वात्मवाद, मानववाद, समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदयके सिद्धान्तोंसे परिपुष्ट होकर उसने अपनी प्रयोजन-शीलतामें वृद्धि की है। पश्चिमके नवीन मनस्तत्त्वके सिद्धान्तों—मनोविश्लेपण और अन्तश्चेतना तथा अरविन्दके अतिचेतना सम्बन्धी अनुसन्धानोंसे भी लाभान्वित होकर वह नवीन कला-प्रयोग करनेमें समर्थ हुआ है। परन्तु इस सम्बन्धमें यह न भुला देना चाहिये कि साहित्यपर शास्त्रका आरोप या कवि द्वारा शास्त्रीय सिद्धान्तोंका अन्धानुकरण न तो काव्यका स्थायी हित कर सकता है और न उससे सिद्धान्तोंकी सचाई परखी जा सकती है। राजशेखरकी इस सलाहका कि कविके लिए शास्त्रका अभिनिवेश आवश्यक है, केवल यह तात्पर्य समझना पर्याप्त नहीं है कि कवि अपनी जानकारीका क्षेत्र बढ़ा ले। केवल इतनेसे उसे वह दीपक हस्तगत न होगा जिससे उसका अन्धकार दूर हो सके। उसके लिए तो अध्ययनके द्वारा अर्जित ज्ञान अपने भीतरमे प्रदीप्त करना पड़ेगा। तभी वह अपने कवि-कर्ममें शास्त्रीय ज्ञानसे वास्तविक रूपमें लाभान्वित हो सकता है।

अत ललित साहित्यके लिए उपयोगी साहित्यका अत्यधिक महत्त्व है। जो भाषा उपयोगी साहित्यसे समृद्ध नहीं है, उसमें ललित साहित्यका स्तर भी व्यापक रूपमें अधिक ऊँचा नहीं हो सकता। —व्र० व०

उपरूपक–नाट्यपर आधृत दृश्यकाव्य रूपक कहलाते हैं और नृत्यपर आधृत उपरूपक। उपरूपकोंका स्पष्ट उल्लेख प्रारम्भिक नाट्याचार्योंने कहीं नहीं किया। धनजयके नाट्य-ग्रन्थका नाम 'दशरूपक' इस तथ्यका साक्षी है कि उनकी दृष्टिमें उपरूपकोंका महत्त्व नहीं था। उन्होंने उपरूपकोंका प्रसग स्पष्ट रूपसे कहीं नहीं उठाया है। 'भावप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदिमें विविध उपरूपकोंका विस्तृत लक्षण इसका प्रमाण है कि उनके कालतक आते-आते नृत्यपर आधृत दृश्यकाव्य साहित्यकी कोटिमें परिगणन होने योग्य बन गये थे। इनके पूर्व 'नाट्यशास्त्र', 'अग्निपुराण', 'दशरूपक', 'प्रतापरुद्रीय', 'रसार्णवसुधाकर'में उपरूपकोंका उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि १७ उपरूपकोंके नाम सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'में प्राप्त होते हैं, किन्तु न तो उन्हें उपरूपककी सज्ञा दी गयी है और न उनके लक्षण या उदाहरण दिये गये हैं। इसी प्रकार यद्यपि धनजयने एक स्थानपर लिखा है 'डोम्बी श्रीगदित भाणो, भाणी प्रस्थान-रासका। काव्य च सप्त नृत्यस्य,भेदा स्युस्तेऽपिमाणवत्॥', पर उन्होंने कहीं भी इनके लक्षण एव उदाहरण नहीं दिये। इसी प्रकार अभिनव गुप्तने **डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, प्रेक्षणक, रामाक्रीड, हल्लीशक, रासक** नामक उपरूपकोंका उल्लेख तो किया है, किन्तु इनका विवेचन कहीं नहीं किया। हेमचन्द्रने 'काव्यानुशासन'में अभिनव गुप्तके नामोंके अतिरिक्त **श्रीगदित** और **गोष्ठी**को भी सयुक्त कर दिया है।

शारदातनयने 'भावप्रकाश'में जिन बीस उपरूपकोंकी यथाविधि व्याख्या की है, उनकी नामावली इस प्रकार है–**तोटक, नाटिका, गोष्ठी, संलाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाणी, प्रस्थान, काव्य, प्रेक्षणक, सट्टक, नाट्यरासक, लासक (रासक), उल्लोप्यक, हल्लीश, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली, पारिजातक।** इस प्रकार यदि इन बीस उपरूपकोंमें 'अग्निपुराण'का **कर्ण**, 'नाट्यदर्पण'का **नर्त्तनक**, 'साहित्यदर्पण'का **विलासिका** और अभिनव गुप्त द्वारा सकेतित तीन उपरूपक और जोड दिये जायँ तो सम्पूर्ण सूचीमें २६ उपरूपक सम्मिलित हो जायँ। शारदातनयके पूर्व रामचन्द्रने 'नाट्यदर्पण'में जिन उपरूपकोंका नामोल्लेख किया है वे हैं–**सट्टक, श्रीगदित, दुर्मीलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीशक, नर्त्तनक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य, भाण, भाणिका।**

आज जो १८ उपरूपक सर्वमान्य बन गये हैं, उनके नाम एव लक्षण आचार्य विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में विस्तारके साथ लिखे हैं, किन्तु उन्होंने उपरूपककी परिभाषा देनेकी आवश्यकता न जाने क्यों नहीं समझी। रूपकोंकी नामावलीके साथ ही साथ १८ उपरूपकोंका नाम देकर वे लिखते हैं 'अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिण।' इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्वनाथके युगमें मनीषी व्यक्तियोंमें १८ उपरूपक मान्य बन गये थे, इसी कारण इन उपरूपकोंकी पूरी व्याख्या और उनके उदाहरण देनेकी उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई।

विद्वानोंने यह प्रश्न उठाया है कि भरत मुनिकी दृष्टिसे उपरूपक क्यों बच गये? रामास्वामी शास्त्रीने इसका उत्तर देते हुए लिखा है कि उस कालमें नृत्य-रूपकोंका विकास नहीं हो पाया था। भरतने जिन नृत्य-प्रकारोंका वर्णन किया है उनमेंसे कतिपय कोहलतक उपरूपककी स्थितितक पहुँच रहे थे अत कोहल तथा अन्य व्याख्याकारोंने उपरूपकोंकी सृष्टि की। हर्षकी तोटक नामक उपरूपककी व्याख्या, जिसका उल्लेख शारदातनयने बारहवीं शताब्दीमें किया, इस तथ्यकी साक्षी है कि हर्षके युगमें उपरूपकोंका सर्जन हो चुका था।

उपरूपकोंके सर्जनकालके सम्बन्धमें विभिन्न मत हैं। कतिपय विद्वान् कोहलको इसका श्रेय देते हैं (भावप्रकाश, भूमिका' पृष्ठ ५१)। दूसरा मत यह है कि उपरूपककी परिकल्पना रूपक शब्दके प्रचलनके उपरान्त ही सम्भव है। यद्यपि रूपक शब्दका प्रयोग धनजयसे पूर्व आचार्योंने भी किया है, किन्तु रूपकके १० भेदोंको रूपक नामसे अभिहित करनेका श्रेय सर्वप्रथम धनंजयको ही दिया जाता है। इसी प्रकार उपरूपकके निश्चित नामकरणका गौरव साहित्यदर्पणकार विश्वनाथको देना चाहिये। इसका कारण यह है कि विश्वनाथसे पूर्व आचार्य हेमचन्द्रने इन नृत्यभेदोंको गेय रूपक और रामचन्द्रने 'अन्यानि रूपकाणि' कहकर सम्बोधित किया है। अभिनव गुप्तने एक स्थानपर लिखा है–'एते प्रबन्धा नृत्तात्मका, न नाट्यात्मका नाटकादिविलक्षणा।' इससे प्रमाणित होता है कि नृत्तपर आधृत होनेके कारण जिन प्रबन्धोंमें नाटकीय तत्त्वोंका अभाव था, उन्हें रूपक या उपरूपककी कोटिमें परिगणित करना आचार्योंको अभीष्ट न था। कालान्तरमें जब वे प्रबन्ध नृत्यका अवलम्बन लेने लगे तो वे उपरूपकोंके समीप पहुँचने लगे। विश्वनाथके युगमें ये नृत्यपर अवलम्बित प्रबन्ध इतने प्रेक्षणीय और प्रिय बन गये कि आचार्योंने इन्हें उपरूपक नामसे विभूषित किया है।

जहाँ रूपकका उद्देश्य प्रेक्षकोंके अन्त'करणमें स्थित स्थायी भावको रसस्थितितक पहुँचा देना है वहाँ उपरूपकका प्रयोजन है उपयुक्त भावभगिमाके द्वारा प्रेक्षकोंके सम्मुख किसी भाव-विशेषको प्रदर्शित करना। बाबू गुलाबरायका मत है कि इन उपरूपकोंकी हिन्दी नाट्यकारोंको आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। —द० ओ०

उपहास काव्य, उपहास महाकाव्य–उपहास काव्य हास्य रसके अन्तर्गत आता है, जिसमें किसी व्यक्ति, वस्तु, रीति या पद्धतिकी उपहासपूर्ण निन्दा रहती है। इसमें किसी क्षुद्र या हास्यास्पद आलम्बनको आधार बनाकर उसीके बहाने किसी गम्भीर तथ्य या ख्यात व्यक्तिकी हँसी उडायी जाती है। पाश्चात्य देशोंमें उपहास काव्य प्रधानतया दो प्रकारका होता था–(१) बरलेस्क या उपहास काव्य, जिसमें पैरोडी, चरित्रोपहास (कैरीकेचर), व्यंग्य (सैटायर) आदि सम्मिलित हैं, (२) उपहास महाकाव्य (मॉक हीरोइक या मॉक एपिक)। वस्तुत उपहास महाकाव्य उपहास काव्यका ही एक रूप या अग है। उपहास महाकाव्यमें किसी वीरकाव्य (वीरभावना-प्रधान महाकाव्य)की बाह्य शैली, भाषा, वर्णनविधि आदिका अनुकरण किया जाता है, किन्तु वर्ण्य विषय अत्यन्त क्षुद्र,

महत्त्वहीन और हास्यास्पद होता है। अंग्रेजीमें पोपका उपहास महाकाव्य 'द रेप ऑफ द लॉक' बहुत प्रसिद्ध है। हिन्दीमें उत्तरमध्यकालके कवि अलीमुहिब खाँ 'प्रीतम'की 'खटमल बाईसी' (१७३० ई०) उच्च कोटिका उपहास काव्य है जिसमें बहुत ही उदात्त और अलंकृत शैलीमें खटमलकी महिमा वर्णित है, पर आलम्बनकी क्षुद्रताका उस शैलीसे मेल न बैठने तथा खटमलकी महिमाका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन होनेसे हास्य रसकी निष्पत्ति होती है। अत उस काव्यमें प्रशस्ति काव्यकी अतिशयोक्तिपूर्ण पद्धतिका उपहास किया गया है। वेनी वन्दीजन (कविता-काल १७९० से १८२३)ने बहुतसे भँडौवे लिखे थे जो हिन्दीके उपहास काव्यके उदाहरण हैं। आधुनिक युगमें कई कवियोंने हास्य रसकी कविताके अन्तर्गत उपहास काव्यकी रचना की है, जिनमें कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच'का प्रबन्धकाव्य 'चूनाघाटी' विशेष उल्लेखनीय है। उसकी रचना आधुनिक युगीन वीरकाव्य 'हल्दीघाटी'की शैलीमें, परन्तु उसीका उपहास करनेके लिए हुई है। पतिपत्नीका गृहयुद्ध उसका वर्ण्य विषय है। अत उसे अंग्रेजीके उपहास महाकाव्यके ढंगका काव्य माना जा सकता है। —श० ना० सिं०

उपाख्यान–उप+आख्यान (व्युत्पत्तिके लिए दे०–'आख्यान')। किसी कथाके अन्तर्गत समाविष्ट अन्य कथा जो स्वत पूर्ण होती है, परन्तु उसका प्रयोग प्रधान कथाके अगरूप होता है। दे०–'उपन्यास'।

उपादान लक्षणा–शुद्धा लक्षणाका पहला भेद, यहाँ 'उपादान'का अभिप्राय है शब्दके मुख्य अर्थका अपने आपको सगत बनानेके लिए अपने अमुख्य अर्थका आक्षेप (स्वसिद्धये पराक्षेप । का० प्र० २ १०)। विश्वनाथके अनुसार 'वाक्यके अर्थकी अन्वय(तार्किक)सिद्धिके लिए जब मुख्य अर्थ किसी अपनेसे भिन्न अर्थका सकेत देता है, तो वहाँ उपादान लक्षणा होती है' (सा० द० . २ ६)। वस्तुत इस लक्षणाके प्रयोगमें मुख्यार्थका सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, लक्ष्यार्थके साथ मुख्यार्थ सलग्न रहता है। इसी कारण कुछ आचार्योंने इसे **'अजहत्स्वार्था'** कहा है। मम्मटने उपादान लक्षणाके उदाहरणमें 'कुन्ता प्रविशन्ति', (भाले चले या चल रहे हैं) दिया है, यहाँ 'कुन्त' शब्दके अपने 'भाले' रूप मुख्य अर्थकी सगति (अन्विति) बिठानेके लिए अपने अर्थसे सम्बद्ध 'कुन्तधारी' पुरुषरूप अमुख्य अर्थका आक्षेप लक्षित है। साथ ही इस शब्दकी लक्षणा 'उपादान'के कारण है, क्योंकि मुख्य अर्थके परित्यागपूर्वक एक भिन्न अर्थका ग्रहण है। विश्वनाथने रूढ़ि उपादान लक्षणाका उदाहरण भी दिया है–'श्वेतो धावति' (सफेद दौड़ता है), यहाँ घोटेके लिए श्वेतका प्रयोग परम्परापर आधारित है अत रूढि उपादान है। अजहत्स्वार्थाके उदाहरणके रूपमें विश्वनाथने दिया है–'कौओंसे दहीकी रक्षा करो'। यहाँ 'कौआ' शब्द उपलक्षणमात्र है, अर्थात् कौएके साथ अन्य सभी दहीके भक्षक जीवोंका सकेतग्रहण भी है। अत यहाँ मुख्यार्थके साथ अन्य अर्थ भी लक्ष्यार्थमें सम्मिलित हैं। काव्यगत उदा०–'स्वर्णलोककी तुम अप्सरि थी, तुम वैभवमें पली हुई' (का० द० पृ० ३६)। यहाँ 'अप्सरि' शब्द अपने अर्थकी सिद्धिके लिए 'अप्सराके समान सुन्दर' आदिका आक्षेप कर लेता है। अत इसमें उपादान लक्षणा है। —र०

उपाय–दे०–'महायान'।

उपाय कौशल–बौद्ध पारमिताओंमेंसे उपाय कौशल वह पारमिता थी जिसके द्वारा बौद्ध भिक्षु घूम-घूमकर जनतामें बुद्धका सन्देश और महायान धर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार करते थे। इसी उपाय कौशलके अन्तर्गत **सन्धाभाषा**का प्रयोग तथा चैत्य-निर्माण, प्रतिमाकन, संगीत आदि कलाओंके उपयोगका विधान था। बादमें जब **मैथुन**-भावनाका विकास हुआ तब उपाय कौशलसे तात्पर्य वैयक्तिक साधनामें मुद्रा-मैथुनकी गुह्य साधनासे हो गया। —ध० वी० भा०

उपालंभ–दे०–'सखी-कर्म'।

उपालंभ काव्य–सस्कृत काव्यशास्त्रके अन्तर्गत उपालम्भ शब्दकी स्वीकृति **सखी-कर्म** (दे०)के अन्तर्गत रही है। सखीके चार कर्मोंमें इसकी गणना की गयी है और हिन्दीके नायक-नायिका-भेदके कुछ आचार्योंने भी इसको इसी रूपमें स्वीकार किया है। नायकको उलाहना देकर उसको नायिकाके मनोनुकूल कराना ही उपालम्भ है। परन्तु काव्यशास्त्रकी यह स्वीकृत परिभाषा काव्यकी व्यापक अभिव्यक्ति की दृष्टिसे अत्यन्त संकुचित है। हिन्दी भक्ति-काव्यमें व्यापक रूपसे और गीति-काव्यमें परम्पराके रूपमें उपालम्भका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस काव्यमें मानवीय हृदयकी गहरी और मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुत उपालम्भ हमारी विशेष भावस्थितिका परिणाम है जो केवल शृङ्गारकी सीमाओंमें नहीं बाँधा जा सकता। इसका मुख्य आधार है साहचर्यकी सहानुभूति। उपालम्भ उलाहनामात्र नहीं है, उसमें न वास्तविक शिकायत रहती है और न प्रेमपात्रकी निन्दा, यद्यपि इस काव्याभिव्यक्तिमें आभासित यही होता है। इसका आधार गहरी आत्मीयता और प्रेम है। प्रेमी अपने प्रेम-पात्रसे अलग होकर विकल और विह्वल हो जाता है। उसकी मिलनकी उत्कण्ठा तीव्र होकर उसे व्यथित कर देती है। पर इस भावावेगमें भी उसके मनमें प्रेमकी अनुभूति अधिक गहरी होती है। ऐसी ही मन-स्थितिमें प्रेमी किसी सहृदय सहचर या सहचरीको माध्यम बनाकर अपने प्रेमीको उपालम्भ देता है। इस बहाने प्रेम-पात्रकी चर्चाके पक्ष सामने आते हैं, प्रेमका आवेग आश्रय पाकर विविध रूपोंमें प्रकट होता है। इस सम्पूर्ण अभिव्यक्तिकी केन्द्रीय भावना रहती है मिलनकी आशा-अभिलाषा। किसी-किसी स्थितिमें केवल अपने विश्वास और प्रेमकी अभिव्यक्ति इस प्रकार होती है। प्रेमके स्वरूपके अनुसार यह आशा और विश्वास विभिन्न रूपोंमें प्रकट होता है।

शृंगारके वियोगपक्षमें उपालम्भ संयोगकी आकाक्षासे अनुगुंजित रहता है। उसमें प्रियका सारा पिछला प्रेम-व्यापार उसकी निष्ठुरताके रूपमें चित्रित किया जाता है, पर उसके मूलमें प्रेमिकाकी अपनी सुखद कल्पनाओंकी स्मृति अन्तर्निहित रहती है। साथ ही वियोगकी परिस्थितिका दोषारोपण प्रियपर करके मिलन-कामना भी व्यक्त की जाती है। सयोग-शृंगारमें यही उपालम्भ नायकको

स्वय नायिका देती है, जिसके अन्तर्गत रीतिकालीन कवियोंने नायकके अन्य नायिकाके रतिचिह्नोंका तथा उसके प्रति मुख्य नायिकाके ईर्ष्याभावका कौशलपूर्ण वर्णन किया है। परन्तु यह सयोगका उपालम्भ केवल मानका अगमात्र है, स्वाभाविक हृदयकी वेदनाकी अभिव्यक्तिका साधन नहीं। वियोगपक्षमें भी इस उपालम्भकी कई स्थितियाँ हैं। नायिका विरह-वेदनाके बीच स्वगत रूपमें अपने प्रियको उपालम्भ देती है, परन्तु इस उपालम्भमें वह स्वाभाविक तन्मयता और आशा-निराशाका स्पन्दन नहीं रहता। इसमें आन्तरिक वेदनाका उद्वेग रहता है, जो इस प्रकार मुखरित होकर वेदनाके क्षणोंको सत्य बनाता है। यही उपालम्भ जब किसी प्रकृतिरूप(पक्षी आदि अथवा मेघ-पवन आदि)का आश्रय लेकर प्रकट होता है तो भावोंकी अभिव्यक्ति अधिक गहन हो जाती है। अपने आत्मीय विश्वासके सहारे प्रेमिका उसको सप्राण मानकर अपने साहचर्यमें ले लेती है और उससे अपने मनकी बात उपालम्भके रूपमें व्यक्त करती है। परन्तु इस प्रसगमें उपालम्भ प्राय· **सन्देश काव्य**का अग बन जाता है। कभी प्रियके सहचरके मिल जानेपर तो यह उपालम्भ और भी मुखर रूप धारण कर लेता है। परन्तु इस प्रकारका उपालम्भ हिन्दीके भक्ति-काव्यमें ही विशेष रूपसे मिलता है। वस्तुत हिन्दी उपालम्भ काव्यकी भावात्मक अभिव्यक्तिका उत्कृष्ट स्वरूप इसीमें रक्षित है। भक्तिसाहित्यमें गोपी, राधा आदिके उपालम्भके साथ ही कतिपय स्थलोंपर यशोदाके मातृ-हृदयका कोमल उपालम्भ भी मिल जाता है और भक्तोंकी अपने आराध्यके प्रति अभिव्यक्त विनय-भावनाके अन्तर्गत भी यह भाव मिलता है।

इस भावात्मक प्रवृत्तिका मूल लोक-भावना है, जो युगोंसे प्रेम-विरहके गीतोंके रूपमें अभिव्यक्त हुई है। लोक-नायिका अपने प्रवासी नायकके प्रति उपालम्भशील होती है और उसको चील्ह, कागा आदि पक्षियोंके प्रति निवेदन करती है—साथ ही सन्देश देती है। कभी-कभी वह आगन्तुक पथिकको लक्ष्य करके भी निर्मोही प्रियको उपालम्भ देती है। परन्तु लोक-गीतोंमें यह भावना व्यापक आधार भी ग्रहण करती है। उस दृष्टिसे नवविवाहिता वधू अथवा विवाहिता बहिन अपने आत्मीय परिजनोंके विछोह-को अनेक बार उपालम्भके माध्यमसे व्यक्त करती है। वह अपने भाईको सुधि न लेनेके लिए उपालम्भ देती है। वस्तुत इस कोमल सवेदनाको साहित्यमें अभिव्यक्तिका अवसर नहीं मिला है, पर लोक-काव्यमें इसका महत्त्व अत्यधिक है।

भक्ति-काव्यके अन्तर्गत उपालम्भ काव्यका प्रमुख आधार कृष्णका मथुराप्रवास है। कृष्ण गोकुल छोड़कर मथुरा जाते हे। गोपियाँ—बादमें राधा भी, गोप, यशोदा, नन्द, ग्वाल-बाल, सभी उनके वियोगमें दु खी और व्यथित हो जाते है। कृष्णके वापस आनेकी आशा जब धीरे-धीरे नष्ट हो जाती तब उनकी आकुलता अधिक बढ जाती हैं। अन्तत गोपियोंकी वियोग-वेदना उपालम्भके रूपमें व्यक्त होती है। इसी बीच कृष्ण उद्धवको गोपियोंको समझानेके लिए भेजते है। उनको पाकर तो गोपियोंकी वेदना जैसे मुखर हो उठती है। वे सब उद्धवको उपलक्ष्य करके कृष्णको नाना प्रकारसे उपालम्भ देती हैं (श्रीमद्भागवत स्क० १०)।

इसी प्रसगको काव्यमे 'भ्रमरगीत'का नाम भी मिला है। आगे चलकर कृष्ण-काव्यमें उपालम्भ काव्य तथा भ्रमरगीत पर्यायरूपमें प्रयुक्त हुए हैं। हिन्दी साहित्यमें सर्वप्रथम मैथिली कवि विद्यापतिके पदोंमें राधाका कृष्णके प्रति उपालम्भका उद्वेगपूर्ण चित्रण है। विद्यापतिकी राधाके उपालम्भमें भी उनकी यौवनोद्वेलित विकलताका आवेग है। सूरकी गोपियोंके उपालम्भके दो स्थल हैं। पहली स्थितिमें गोपियाँ कृष्णके न आनेपर उनकी निष्ठुरता आदिके प्रति उपालम्भशील अपनी विरह-वेदनाके क्षणोंमें होती हैं। दूसरा स्थल वह है जब उद्धवका आगमन होता है और गोपियाँ उनके निर्गुणके उपदेशके उत्तरमें उपालम्भ-का व्यग्यके साथ समावेश करती हैं। भ्रमरगीतके इस प्रसंगमें उपालम्भकी भावना निरन्तर सन्निहित रही है और वास्तवमें गोपियोंके व्यग्य और कटूक्तियोंकी व्यजना यही है। सूरके आधारपर अन्य कृष्ण-भक्तोंने इस प्रसगकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति की है। नन्ददासके भ्रमरगीतमें यही भावना श्रीमद्भागवतके आधारपर व्यक्त हुई है। आधुनिक कालमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने सूरके आधारपर 'चन्द्रावली'में इसका व्यापक चित्रण किया है। इसी प्रकार रत्नाकरके 'उद्धव-शतक'में रीतिकालीन शैलीमें यही प्रसग विदग्धताके साथ प्रस्तुत किया गया है।

दास्यभावके भक्तोंकी अभिव्यक्तिके अन्तर्गत भी उपालम्भकी भावना मिलती है। अपने प्रभुके प्रति दृढ विश्वासके साथ सूर आदि भक्त अपने प्रभुको उपालम्भ भी देते हैं—प्रभुने सबको तारा है तो उनकी बार विलम्ब क्यों? तो उनके प्रति यह उदासीनता कैसी? इसी प्रकारकी उक्तियाँ इन भक्तोंके विनयपदोंमें पद-पदपर मिलती हैं। आधुनिक कालमें इस भावनाकी अभिव्यक्ति देशप्रेमके अन्तर्गत भी हुई है। सत्यनारायण कविरत्नने अपने 'भ्रमरगीत'में देश-माताको यशोदाके रूपमें चित्रित किया है, जो कृष्णको देशके उद्धार न करनेके लिए उपालम्भ देती हैं। इसी प्रकार कई अन्य कवियोंने अपनी भावनाको व्यक्त किया है। —र०

उपेंद्रवज्रा–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, 'पिंगलसूत्र' (६ १७) और 'नाट्यशास्त्र' (१६ ३३)के लक्षणके अनुसार, जगण, तगण, जगण और दो गुरुओंके योगसे यह वृत्त बनता है (ISI, SSI, ISI, SS) तथा ५, ६ वर्णोंपर यति होती है। इन्द्रवज्राके प्रथम वर्णको लघु करनेसे यह वृत्त बनता है। ई० वर्नन आर्नोल्डने 'हिस्टारिकल डेवेलप्मेण्ट् ऑव वैदिक मीटर'में इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा-को एक ही माना है, क्योंकि दोनोंकी लय समान है। 'रामचन्द्रिका' और 'साकेत'में इस छन्दका प्रयोग हुआ है। उदा०–'अनेक ब्रह्मादि न अन्त पायो। अनेकधा वेदन गीत गायो। तिन्हें न रामानुज बन्धु जानो। सुनो सुधी केवल ब्रह्म मानौ।' (रा० च० . १० . ४०)।–पु० शु०

उर्जस्वित्–दे०—'रसवत्' आदि।

उर्दू–उर्दू शब्द मूलत तुर्की भाषाका है (अँग्रेजी 'होर्ड' तथा रूसी 'ओर्द' इसीसे प्रसूत हैं)। यह शब्द ईरानमें मगोलीकालका एक स्मारक है। इसका वास्तविक अर्थ है 'उमरा एव मलातीतकी फिरोदगाह' या 'शाही शिविर'।

भारतमें यह शब्द सम्भवत बाबरके साथ आया और शाही शिविर या शाही किलेके अर्थमें सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ।

किन्तु आज इस शब्दका प्रयोग पाकिस्तानकी राजभाषाके लिए तथा भारतवर्षमें हिन्दीके उस दूसरे रूपके लिए होता है जो भारतके शिक्षित मुसलमानोंकी साहित्यिक और सास्कृतिक भाषा है। उर्दू खड़ीबोलीका ही वह आधुनिक या साहित्यिक रूप है जो फारसी लिपिमें लिखा जाता है और जिसमें फारसी-अरबी शब्दोंका बाहुल्य रहता है। इस प्रकार हिन्दी और उर्दू, दोनोंका एक ही मूल होनेके कारण भी साहित्यिक वातावरण, शब्दसमूह तथा लिपिमें भेद होनेके कारण दोनोंमें बहुत अन्तर दिखाई पडता है। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे मूलत दोनों ही एक है, किन्तु साहित्यिक दृष्टिसे दोनों दो भाषाएँ प्रतीत होती हैं।

अपने आरम्भिक अर्थसे किस प्रकार यह शब्द एक विशिष्ट भाषाका द्योतक हुआ, इसका शताब्दियोंका इतिहास है। भारतमें आकर मुसलमानोंने दिल्ली-मेरठकी बोलीको अपनी बोलचालके लिए चुना। दरबारोंमें राजकार्य फारसीमें होता रहा, किन्तु साधारण व्यवहारके लिए देशी बोलीका प्रयोग होता रहा, जिसे मुसलमानोंने हिन्दी या हिन्दवी नाम दिया (दे०—'हिंदी, हिंदवी')। मुसलमानी सेनाके सैनिकों, शासकों तथा निर्गुण सन्तोंके द्वारा इसे अन्त प्रान्तीय रूप मिला। बीजापुर, गोलकुण्डा आदि दक्षिणी मुसलमानी राज्योंने राजभाषाके रूपमें इसे अपनाया और साहित्यमें इसका प्रयोग किया। दक्खिनी हिन्दी या हिन्दवीका ही समानार्थक शब्द है। रेखता नामक छन्दमें इस भाषाके साथ-साथ कुछ फारसी और अरबीके शब्द भी मिलाये जाने लगे। धीरे-धीरे कविताकी इस भाषाको रेखतेकी बोली कहने लगे। बादमें 'रेखता' शब्द ही भाषाके अर्थमें रूढ हो गया। उत्तरी भारतमें मुगलोंकी राजधानी व्रजप्रदेश आगरामें होनेके कारण देशी भाषाओंमें कविता, सगीतके क्षेत्रमें व्रजको विशेष प्रश्रय मिला, यद्यपि खड़ीबोलीसे विकसित हिन्दी या हिन्दवी रूप भी बोलचालमें प्रयुक्त होता रहा। शाहजहाँने अपनी राजधानी आगरासे दिल्ली बदली और शाहजहानाबादके नामसे नयी दिल्ली बसायी। अत दिल्ली-मेरठकी बोलीको उन्नत करनेका फिरसे अवसर मिला। शाहजहानाबादके लालकिलेको अथवा शाही महलमें जो बाजार अमीर, उमरा अथवा बादशाह और बेगमोंके लिए लगता था, उसे उर्दू-ए-मुअल्लाकी सज्ञा दी गयी। उर्दू-ए-मुअल्लाके ये लोग खड़ीबोलीसे विकसित हिन्दी या हिन्दवीमें आगराकी व्रजभाषाकी मिठास मिलाकर अपने साथ लाये थे। धीरे-धीरे उसमें फारसीका शरीफाना रग चढता गया। इन लोगोंकी जबानको ही जबान उर्दू-ए-मुअल्ला कहा गया। जिस समय वली औरगाबादी दक्खिनसे उत्तरकी ओर शाहजहानाबादमें आये उस समय-तक भी इस जबान उर्दू-ए-मुअल्लामें कविता नहीं लिखी जा रही थी। वलीके दीवानसे प्रेरणा लेकर शिष्ट, शिक्षित मुसलमान कवियोंने जबान उर्दू-ए-मुअल्लाको कविताके लिए अपनाया और सामान्य दक्खिनीकी तुलनामें इसे अत्यन्त शिष्ट और सुसस्कृत पाया। धीरे-धीरे जबान उर्दू-ए-मुअल्लामे पहले 'मुअल्ला' शब्द, फिर 'जबान' शब्द छूट गये और केवल 'उर्दू' शब्द ही शाही किले, शाही वातावरण-से सम्बन्धित सुसस्कृत मुसलमानोंकी शिष्ट भाषाके लिए प्रयुक्त होने लगा। इशाअल्ला खाँ (दरिया-य-लताफत, १८०८ ई०)में स्वय लिखते है 'बादशाहों, और उमरा और उनके दरबारियों और हाजिरबाशोंसे उर्दूकी सनद लेनी चाहिये।' (देखिये, वही पृ० ६५, उर्दू अनुवाद)। शाहजहानाबादके समस्त निवासियोंकी जबानको 'उर्दू' कहनेके लिए इशा तैयार नहीं है। उनके अनुसार 'उर्दू जो फसाहत और बलागतकी कान मशहूर है वह हिन्दोस्तानके बादशाहकी और चन्द अमीरों और उनके मुसाहिबों और बेगम व खानमकी और कस्बोंकी जबान है। जो लफ्ज उनमें इस्तेमाल हुआ उर्दू हो गया। यह बात नहीं कि जो कोई भी शाहजहानाबादमें रहता है वह जो कुछ बोले, सनद है।' (देखिये, दरिया-य-लताफत पृ० १०८)। उर्दूके निर्माणकी कहानी स्वय इशा इस प्रकार करते है, 'यहाँ-(शाहजहानाबाद)के खुश बयानोंने मुत्तफिक होकर मुतादद जबानोंसे अच्छे-अच्छे लफ्ज निकाले और बाजे इबारतों और अलफाजमें तसर्रुफ करके जबानोंसे अलग एक नयी जबान पैदा की जिसका नाम उर्दू रखा।' (वही पृ० ४)। मीर अम्मन देहलवीके अनुसार 'उर्दू बाजारी और लश्करी भाषा' है। उपर्युक्त कथनसे मीर अम्मनका कथन प्रमाणिक भी प्रतीत होता है। उर्दू यदि बाजारकी भाषा है तो वह शाही बाजार ही है, सामान्य बाजार, सामान्य लश्कर नहीं।

प्रो० शेरानीके अनुसार 'खान साहब (सिराजुद्दीन अली खाँ) गालिबन पहले शख्स है जो उर्दूका लफ्ज बमानी जबान इस्तेमालमें लाये है।' (देखिये, ओरियण्टल कालेज मैगजीन, १९३१ ई० पृ० १४)। कुछ लोगोंके अनुसार मुसहफीने उर्दू नामका प्रयोग भाषाके अर्थमें सर्व-प्रथम किया। मीर तकी मीरने १७५२ ई० में निश्चित रूपसे जबान उर्दू-ए-मुअल्ला नामका प्रयोग किया। बाकर आगाह नामक दक्षिणके शायरने १७७२ ई० में और अली इब्राहीम खाँने १७८३ ई० में तथा अता हुसेन खाँ तहसीनने 'नौ तर्ज मुरस्सा' (१७७०-१७९३ ई०) में जबान उर्दू-ए-मुअल्लाका उल्लेख किया। मीर अम्मन तथा इशाने इसी भाषाको उर्दू कहा। फोर्ट विलियम कालेजके हिन्दुस्तानी विभागके अध्यक्ष गिलक्राइस्ट इसे ही हिन्दुस्तानीकी दरबारी शैली मानते हैं। कालेजमें हिन्दुस्तानीके नामसे इसका ही अध्ययन अध्यापन होता था। धीरे-धीरे १८२३ ई० के पश्चात् विलियम प्राइस आदिके समयसे हिन्दीका महत्त्व बढने लगा, किन्तु किसी विशेष कारणसे अँग्रेजोंने हिन्दुस्तानी उर्दूको विशेष प्रश्रय दिया। —मा० व० जा०

उर्दू (साहित्य)—मुहम्मद गोरीने जब ११९९ ई० में देहलीपर विजय पायी और कुतुबुद्दीन ऐबकने शासन सँभाला तो फारसी और पजाबीके वे शब्द जो लाहौरमें पहलेसे बोले जाते थे, यहाँकी खड़ीबोलीमें घुल-मिल गये और व्रजभाषा, राजस्थानी तथा हरयानी भाषाओंके शब्द मिल-मिलाकर एक नयी बोली तैयार हो गयी जिसको अमीर खुसरो (१२५५–१३२५ ई०)ने 'हिन्दवी' या 'देहलवी'

कहा है। अमीर खुसरो फारसीके प्रसिद्ध शायर थे। उन्होंने 'हिन्दवी' जबानमें भी पहेलियाँ, दोहे-चौपाइयाँ और शेर लिखे हैं। उन्होंने ऐसी गजलें भी लिखी हैं जिनमें एक बोल फारसीका है और दूसरा हिन्दवीका, इसीलिए इस भाषाको आगे चलकर रेखता कहने लगे, जिसका अर्थ है बहुत-सी चीजोंका सम्मिश्रण।

अमीर खुसरोसे पहले इल्तुतमिशके जमानेमें सूफी कुतुब साहबने देहलीको अपना केन्द्र बना लिया था। तबसे दिल्ली सूफियोंका केन्द्र बन गयी। प्रारम्भमें ही इन सूफियोंकी नीति यह रही कि वे धर्मप्रचारमें 'हिन्दवी' जबानका प्रयोग करते थे, क्योंकि इसी भाषासे वे जनता-तक पहुँच सकते थे।

अलाउद्दीन खिलजीने जब गुजरात और दकनपर विजय पायी तो उधर भी सूफियों द्वारा हिन्दवी भाषा पहुँची। ख्वाजा गेसू दराजने 'मेराजुलआशिकीन' लिखी, जो उर्दू गद्यकी पहिली पुस्तक कही जाती है। इसके अतिरिक्त देहलीके सूफियोंके चेले देशके कोने-कोनेमें फैल गये और हर तरफसे 'हिन्दी' द्वारा अपने विचारोंको प्रकट करते रहे। अपनी कविताओंमें वे जो छन्द प्रयोग करते थे वे कभी फारसी होते थे और कभी स्थानीय। शब्दोंके प्रयोगमें भी इन सूफियोंने फारसीके मौलिक रूपपर ध्यान नहीं दिया, बल्कि उसी उच्चारणका प्रयोग किया जो जनता प्रयोग करती थी। उन्होंने अपने उपदेशोंमें भारतीय विचारोंसे भी बहुत-कुछ लिया। हिन्दीके कुछ कवियोंपर इन सूफियोंका प्रभाव साफ देखा जा सकता है, जैसे नामदेव, कबीर, रविदासकी भाषा इन सूफियोंसे बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। केवल अन्तर है तो इतना कि ये कवि हिन्दी छन्दोंका प्रयोग करते हैं और विशिष्ट शब्दावली हिन्दू धर्मसे ग्रहण करते हैं।

दकनमें बहमनी वंशका राज्य टूटनेके बाद हिन्दवी भाषाकी उन्नतिके दो बड़े केन्द्र बीजापुर (१४९० ई०) और गोलकुण्डा (१५१८ ई०) हो गये। गोलकुण्डाके कुतुबशाही राजा केवल लेखकोंकी सहायता ही नहीं करते थे बल्कि स्वयं शायरी भी करते थे, इस वंशके चौथे राजा मुहम्मद कुली कुतुब शाह(१५८०-१६११ ई०)का विस्तृत ग्रन्थ विद्यमान है, जिसमें हर प्रकारकी कविताएँ हैं। इनके दरबारसे जो प्रसिद्ध कवि सम्बन्धित थे उनमें वजही, गव्वासी और इब्नेनिशाती मशहूर हैं। बीजापुरके आदिलशाही राजा कला और शायरीके बड़े संरक्षक थे। उनके दरबारके प्रसिद्ध कवि मुकीमी, रुस्तमी, नुसरती आदि हैं। इन कवियोंने दकनके विशेष वातावरणको समाहित करते हुए देहलवी या हिन्दवीकी विशेष दकनी शैलीमें लिखा।

तैमूरके हमले(१३९८ ई०)के बाद दो सूफी कुतबुल आलम और शेख अहमद गुजरात चले गये थे, जहाँ उन्होंने अपने विचारोंके साथ-साथ हिन्दवी भाषाका भी प्रचार किया। धीरे-धीरे यहाँके वातावरणसे प्रभावित होकर देहलवीकी एक गुजराती शैली हो गयी, जिसका प्रयोग गुजरात, काठियावाड़ तथा आसपासके लोग करते थे। खूब मुहम्मद हुसेनकी 'खूब तरंग' और अमीनकी 'युसुफ-जुलेखा' इस शैलीके प्रसिद्ध नमूने हैं।

मुगल-शासनके बाद हिन्दवी जबानकी और उन्नति हुई। फारसीके शब्दोंका प्रयोग बढ़ गया और इस भाषाका नाम हिन्दवीसे रेखता हो गया। फिर शाहजहाँके समयमें रेखतासे इसका नाम बदलकर 'उर्दू' पड़ गया, परन्तु उर्दू शब्दके लिए रेखता शब्द मुगल-शासनके अन्तिम समयतक (१८५७ ई०) प्रयोग होता रहा।

औरंगजेबके दकनपर विजयी होनेके बाद (१६८७ ई०) उर्दूकी दकनी और गूजरी शैलियोंपर फारसीका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। वली जब देहली आये तो एक सूफी बुजुर्ग शेख सादुल्लाह 'गुलशन' ने उनको निर्देशित किया कि फारसी परम्पराओंका उर्दूमें प्रयोग करें। उन्होंने यह बात मानकर बिलकुल फारसीके ढंगपर उर्दूमें शेर कहना आरम्भ किया। यह तर्ज लोगोंको ऐसी पसन्द आयी कि उनके बाद सबने यही राह पकड़ ली। देहलीमें फायज, आबरू, हातिम, मजहर आदिने पिंगलको एक स्थिर रूप दिया और वाक्योंको भी फारसी तर्जपर ढाला और फारसीमें जितने काव्य-रूप प्रचलित थे उन सबको सफलतासे अपनाया।

हातिम, आबरू आदिके बाद मीर, सौदा, दर्दने उर्दू काव्यको प्रोत्साहित किया। उनके कारण यह जमाना उर्दूका स्वर्णयुग कहलाता है। सामाजिक दशाओंसे घबराकर मीर, सौदा और बहुतसे शायर लखनऊ चले आये, जहाँका शासन बहुत अच्छा था। वहाँके नवाब भी कलाके बड़े प्रेमी थे। यहाँ इंशा और मुसहफी और उनके बाद नासिख, आतश आदिने गजलमें नाम पैदा किया। मसनवीमें मीर हसनने अपना कमाल दिखाया और मरसियेमें अनीस, दबीर आदिने फारसीकी परम्परासे हटकर एक विस्तृत साहित्यको जन्म दिया, जिसमें इमाम हुसेनके बलिदानको महाकाव्यके ढंगपर वर्णित किया। भाषाका भी उन्होंने क्षेत्र और बढ़ा दिया। लखनऊ स्कूलने जबानकी सफाई और घुलावटमें बड़ी उन्नति की। नासिख इसके प्रमुख कार्यकर्ता थे। अवधके नवाबोंने, विशेषकर वाजिदअली शाहने उर्दू साहित्यको बड़ा प्रोत्साहन दिया। कवियोंकी सहायताके अलावा उन्होंने स्वयं पचहत्तर छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखीं, जिनमें कुछ रहस्य भी हैं। इन रहस्योंको रंगमंचपर खेलनेका भी प्रबन्ध किया गया। इन्हींके प्रभावसे उर्दूका पहला नाटक 'इन्दरसभा' अमानतने लिखा।

इसी समयमें देहलीमें जौक, मोमिन और गालिबने उर्दू कविताको ऊपर उठाया और उसमें दार्शनिक विचार प्रकट किये। उधर कलकत्तामें फोर्ट विलियम कालेजकी अधीनतामें गद्यकी पुस्तकें लिखी जा रही थीं और सरल उर्दू भाषाकी नयी शैलीका प्रचार किया जा रहा था।

गजलमें तो गालिब (१७९७–१८६९ ई०)ने भावना और आध्यात्मिक विचारोंके साथ दार्शनिक तत्त्व बढ़ाये। इसके साथ-ही-साथ उन्होंने अपने खतोंमें ऐसी सरल भाषा लिखी कि उर्दू गद्य, जो (फोर्ट विलियम और सैयद इंशाकी 'रानी केतकीकी कहानी'के अलावा) बड़ी सुसज्जित लिखी जाती थी, सरलताके मार्गपर चल पड़ी। इसके साथ-ही-साथ यह भी हुआ कि इस समयमें उर्दूके विद्वान् उर्दूमें पत्र-व्यवहार करने लगे, वर्ना इस कामके लिए अधिकतर

फारसीका प्रयोग होता था।

१८५७ ई० के असफल स्वतन्त्रता-संग्रामने भारतके सामाजिक ढाँचेको नया रूप दिया। अंग्रेजी शासन और अंग्रेजी शिक्षा हर तरफ फैलने लगी और पाश्चात्य संस्कृति-का प्रभाव बढने लगा। इस कालमें सर सैयद अहमद खाँ (१८१७-१८९९ ई०) प्रमुख हैं, जिन्होंने सरल उर्दूके साथ-साथ बौद्धिकताका भी प्रचार किया और 'अलीगढ साइंटिफिक सोसाइटी' स्थापित करके उर्दूमें गम्भीर साहित्य उत्पन्न किया। उनके असरसे पाश्चात्य विचार लोगोंमें फैले। दास्तानोंको छोडकर नजीर अहमद-(१८३१-१९१२ ई०)ने १८६९ ई० में उर्दूका पहला उपन्यास 'मिरातुल अरुस' (दूल्हनका आइना) लिखा। इसके बाद नजीर अहमदके अलावा रतननाथ 'सरशार' (१८४६–१९०२ ई०), सज्जाद हुसेन, मुहम्मद अली, शरर, हादी रुसवा, राशिदुल खैरी आदिने उपन्यास-लेखनमें प्रसिद्धि प्राप्त की। गजलके पुराने ढगमें दाग और अमीर मीनाईने शोखी और मुहाविरेके गुण दिखाये, साथ-ही-साथ लाहोरमें मुहम्मद हुसेन 'आजाद'ने वहाँके शिक्षाविभागके अंग्रेज डाइरेक्टरकी सहायतासे 'अंजुमने पंजाब' स्थापित की (१८६७ ई०)। इस अंजुमनकी अधीनतामें १८७४ ई० से ऐसे मुशायरे होने लगे, जिनमें मिसरा, तरहके बजाय कोई विषय दिया जाने लगा और लोग उस विषयपर नज्में लिखकर उन मुशायरोंमें पढने लगे। इस तरह उर्दूमें नयी कविता प्रारम्भ हुई, जिसका शुरूमें तो लोगोंने मजाक उडाया, परन्तु हाली, इस्माईल आदिकी सहायतासे यह आगे बढ़ी और फिर इकबाल (१८७५–१९३८ ई०), जोश, जफरअली खाँ आदिने इसमें दर्शन, प्रकृतिकाव्य तथा राजनीतिके तत्त्व भरे। २०वीं शताब्दीमें भारतके राजनीतिक आन्दोलन और अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक वातावरणसे उर्दू कविताने बहुत असर लिया। उर्दू कवियोंने 'होमरूल' आन्दोलनसे लेकर स्वतन्त्रतातक तमाम राजनीतिक उतार-चढावपर बडी जोरदार और जोशीली नज्में लिखीं, विशेष-कर ब्रिटिशसाम्राज्य शाहीके विरुद्ध तो उर्दू कवियोंकी नज्में देशभरमें प्रसिद्ध हुई हैं। पहली बडी लडाई (१९१८ ई०)-के बाद रूसी क्रान्तिने भी उर्दू कवियों और लेखकोंको प्रभावित किया। इसके साथ-साथ रोमाण्टिक उर्दू कवियों और लेखकोंका भी एक स्कूल पैदा हो गया, जिसने बडी खूबसूरत कविताएँ और कल्पनाके सुन्दर रूपोंमें उपन्यास और लेख लिखे। अख्तर शीरानी, सज्जाद हैदर आदि इस मतके अनुयायी हैं।

१९३५ ई० से उर्दूमें प्रगतिवादका प्रचार हुआ और यह वाद उर्दूपर इतना छा गया कि आज निन्यानवे प्रतिशत चोटीके लेखक उसके माननेवाले हैं। कहानी, उपन्यास, समालोचना, सब शाखाओंमें उन्नति हो रही है और भारतके कोने-कोनेमें इसकी कविताओं और गजलोंने ऐसा रूप धारण कर लिया है कि फिल्मसे लेकर बाजारतककी जबानपर उर्दू छायी हुई है।

उर्दूमें साइंटिफिक किताबें अवध दरबारकी अधीनतामें सन् १८४० ई० से लिखवायी और अनुवाद करवायी जाती थीं। सर सैयदने भी इसमें हाथ बँटाया और बीसवीं शताब्दीमें हैदराबादके निजामने जो 'ट्रान्सलेशन ब्यूरो' स्थापित किया, उसने कुछ दिनोंमें उर्दूमें भिन्न-भिन्न विषयोंपर प्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तकोंका अनुवाद कर दिया, जिससे हैदराबाद और जामिया मिलिया देहलीमें बी० ए० तक सब विभागोंमें उर्दूके माध्यमसे पढाई होने लगी। इसके अलावा भी बहुतसे प्रसिद्ध विद्वानोंने किताबें लिखीं और उर्दू साहित्यको समृद्ध किया।

उर्दूको पढते समय यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि यह खास भारतकी भाषा है और उस सभ्यताकी निशानी है जो मुसलमानोंके हिन्दुस्तानमें बसने और हिन्दुओंसे भाईचारा रखकर सम्मिलित हो जानेसे उत्पन्न हुई है।

स्वतन्त्रताकी घोषणाके बाद साम्प्रदायिक दंगोंने जो हलचल मचायी उसमें भी उर्दू कवियों और लेखकोंने अच्छा काम किया। कृष्णचन्दर, मंटो, ख्वाजा अहमद अब्बास, इस्मत चगताई आदिने कहानियोंमें और जोश, सरदार जाफरी, वामिक आदिने कविताओंमें शान्तिमय वातावरणकी आकाक्षा व्यक्त की। गान्धीजीकी मृत्यु और उसके पश्चात् शान्ति-आन्दोलनमें भी उर्दू कवि अपना कर्तव्य पूरा करते रहे हैं। —म०

उलटा कुवाँ—दे० –'हठयोग'।

उलटा साधना—न केवल नाथ-पन्थ और सन्त-मतमें वरन् उस युगकी तमाम छोटी-छोटी धर्मसाधनाओंमें भी साधनाके साथ उलटा विशेषण जोडनेकी प्रथा थी। इसका एक विशेष अर्थ था। लगभग सभी तान्त्रिक पद्धतियोंमें वामाचारकी प्रधानता थी। उसके दो अर्थ थे, एक तो वामा-युक्त साधना और दूसरे लोकप्रचलित साधनाके सर्वथा विपरीत साधना। सिद्धोंमें मुद्रा-मैथुन तो प्रचलित था, किन्तु उलटा साधना शब्दका प्रयोग उन्होंने नहीं किया। सूर्यको उलटकर चन्द्रमें लीन करनेका रूपक अवश्य चर्यापदोंमें मिलता है। नाथ-योगियों और सन्तोंमें इसका मुद्रा-मैथुनपरक अर्थ तो विलुप्त हो गया, हठयोगपरक अर्थ प्रचलित हो गया। उसमें उलटा साधनाके अर्थ थे श्वासनिरोध द्वारा गंगा(इड़ा)को उलटकर यमुना(पिंगला)में मिलाना या सूर्यको उलटकर चन्द्रमें विलीन करना। —ध० वी० भा०

उल्लाप्य—एक अक, धीरोदात्त नायक, दिव्य कथा, चार नायिकाओंका उपरूपक है। इसमें श्रृङ्गार, करुण, हास्यकी प्रधानता रहती है। इसकी अभिनय-प्रणाली सग्राम-बहुल होती है और शिल्पकके सत्ताइस अगोंका निर्वाह होता है। कुछ विद्वान् तीन अकोंका भी उल्लाप्य मानते हैं। उदा०–'देवी महादेव'। अन्य बातोंमें नाटकसे समानता है। —वि० रा०

उल्लाला—मात्रिक अर्द्धसम छन्द। 'प्राकृतपैंगलम्' तथा अन्य अपभ्रंश छन्द-ग्रन्थोंमें उल्लालाका विवेचन किया गया है (प्रा० पैं० १ ११८)। अपभ्रंश-साहित्यमें इसका प्रयोग इस प्रकार निश्चित रूपसे अनुमित किया जा सकता है। इसके पहले और तीसरे पदमें १५, १५ और दूसरे और चौथे पदमें १३, १३ मात्राएँ होती हैं। उल्लालाका प्रयोग स्वतन्त्र भी मिलता है, किन्तु छप्पय जैसे छन्दोंके साथ इसका प्रयोग बहुत प्रचुरताके साथ हुआ है। भानुने इसका

नाम 'उल्लास' दिया है। उदा०—'हरिहर भगवत सुन्दर स्वामी, सबके घटकी तुम जानो। मेरे मनकी कीजे पूरी, इतनी हरि मेरी मानो।' (ल० प्र० . पृ० ८९)। सूदनने इसका प्रयोग 'सुजानचरित' में किया है। —रा० सिं० तो०

उल्लास–अर्थालंकार; एकके गुण तथा दोषके प्रभावसे दूसरेमें गुण तथा दोषके आधानके चमत्कारपूर्ण (उल्लसित) वर्णनमें 'उल्लास' अलंकार होता है। सम्भवत: जयदेवने इसका सर्वप्रथम लक्षण दिया है—'अन्यमहिम्ना चेद्दोषो ह्यन्यत्र वर्ण्यते।' ('चन्द्रालोक' : ५ . १०१), अन्यकी महिमा और दोष अन्यत्र वर्णित हों। 'कुवलयानन्द' में 'उल्लास' को स्वतन्त्र अलंकार माना गया है, किन्तु मम्मट आदि आचार्योंने इसका उल्लेख नहीं किया है। 'रसगंगाधर' में लिखा है कि कुछ आचार्योंके मतमें यह 'काव्यलिंग' के अन्तर्गत है। उद्योतकार इसके दो भेदों (दोषसे दोष और गुणसे दोष) को 'विषम' के अन्तर्गत मानते हैं। हिन्दीमें जसवन्तसिंहने जयदेवके आधारपर एकका उदाहरण दिया है, पर मतिराम, भूषण, दास, पद्माकर आदि अधिकांशने 'कुवलयानन्द' के आधारपर चारों स्थितियोंके उदाहरण दिये हैं। मतिरामने इसकी परिभाषा दी है—'औरैके गुण दोष ते औरैको गुण दोष।' (ल० ल० . ३१२)। इसी प्रकार पद्माकरका लक्षण है—'जु गुन दोष तें औरके, वर्ण अनत गुन दोष'। (पद्मा० . २२३)।

उदाहरण–१ गुणसे गुण—'तजि तीरथ हरि राधिका, तन दुति करि अनुराग। जिहिं ब्रज केलि निकुंज मग, पग पग होत प्रयाग।' (बि० रत्ना० . २०१)। यहाँ कृष्ण और राधाके शरीरकी द्युति (उज्ज्वल नखप्रभा, लाल तलवा तथा श्यामल चरण-पृष्ठ) की आभा पड़नेसे गंगा, सरस्वती और यमुनाका संगम अर्थात् तीर्थराज प्रयाग प्रकट होता है। २ दोषसे दोष—'संगति दोषु लगै सबै, कहे ति साँचे बैन। कुटिल बंक भ्रुव संग भए, कुटिल बंक गति नैन।' (बि० रत्ना० . ३०३)। यहाँ भौंहोंकी कुटिलताके संसर्गसे आँखोंमें कुटिलताका समावेश वर्णित है। ३ गुणसे दोष—'देह दुलहियाकी बढ़ै, ज्यों ज्यों जोबन जोति। त्यों-त्यों लखि सौतैं सबै, बदन मलिन दुति होति।' (बि० रत्ना० . ४०)। यहाँ दुलहिनकी उभरती हुई जवानीके प्रभावसे सौतोंके मुखमण्डल मलिन हो जाते हैं। ४ दोषसे गुण—'दधि लुढाय मोहन लियो, सखी सबन वन ठौर। बडो लाभ मनमें गुन्यौं, जो न कियै कछु और।' (ल० ल० . ३१६)। अथवा—'दावरेको बुद्धि हैके बावरे न कीजै बैर, रावनेके बैर होत काज सिवराजको।' (शि० भू० . ३७७)। यहाँ औरंगजेबसे उसके मन्त्रिगण यह कहते हैं कि वह शिवाजीसे सुलह कर ले, क्योंकि जितना ही वह शिवाजीसे बैर करता है, उतना ही अधिक उनका काम बनता है। —भ० व्र० शा०

उल्लेख–सादृश्यगर्भ अभेदप्रधान आरोपमूलक अर्थालंकारोंका एक भेद। इस अलंकारपर प्राचीनोंके साथ मम्मटने भी विचार किया है। रुय्यकने 'अलंकारसर्वस्व' में सम्भवत सर्वप्रथम विवेचन किया है—'यत्रैकं वस्तु अनेकधा गृह्यते स रूपबाहुल्योल्लेखनादुल्लेख:।' (पृ० ४७), जहाँ किसी एक वस्तुको अनेक रूपोंमें ग्रहण किया जाय तो उसके इस प्रकार अनेक रूपोंमें कथनको उल्लेख कहा जायगा। आगे रुय्यकने इसके दूसरे भेदका संकेत भी दिया है—'पूर्वत्र ग्रहीतृभेदेनानेकधात्वोल्लेख इह तु विषयभेदेन।' (पृ० ४९)। विश्वनाथने उल्लेखके दोनों भेदोंको स्पष्टत स्वीकार किया है—'एक वस्तुका, ज्ञाताओंके भेदके कारण अथवा विषयभेदके कारण, अनेक रूपोंमें वर्णन किया जाना उल्लेख है।' (सा० द० १० . ३७)।

हिन्दीके आचार्योंने विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षितके आधारपर उल्लेखके दो भेद प्रारम्भसे स्वीकार किये हैं, यद्यपि इनमेंसे अनेककी प्रेरणाके मूलस्रोत जयदेव हैं और उन्होंने 'बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्य' (चन्द्रालोक ५ . २३) एक वस्तुका अनेकके द्वारा बहुत प्रकारका उल्लेखमात्र कहा है। इसका कारण 'कुवलयानन्द' का विवेचन माना जा सकता है। जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण तथा पद्माकर आदिने लगभग समान लक्षण दिये हैं—'कै बहुतै कै एक जहँ, एक वस्तुको देखि। बहु विधि करि उल्लेख हैं, सो उल्लेख उलेखि।' (शि० भू० ७०)। पद्माकर 'साहित्यदर्पण' के अधिक निकट हैं—'द्वि उल्लेख इककों जु बहु, बहु विधि समुझै जत्र। विषय भेद सो इकहिं इक, बरने बहु विधि तत्र।' (पद्मा० ४१)। उदा०—'कवि जन कलपद्रुम कहैं, ज्ञानी ज्ञान समुद्र। दुरजनके गन कहत हैं साव सिंह रन रुद्र।' (ल० ल० ७८) अथवा प्रथम—'पीतम प्रीतिमयी अनुमाने परोसिन जाने सु नीतिन सों ठई। सौति हलाहल सी तो कहैं सखी कहैं सुन्दरि सील सुधामई।' (का० नि० १०)। द्वितीय—'तेरो करवाल भयो दच्छिनको ढाल भयो, हिन्दुको दिवाल भयो काल तुरकानको।' (शि० भू० ७३) अथवा 'विन्दमें थी तुम सिन्धु अनन्त एक सुरमें समस्त संगीत। एक कलिकामें अखिल वसन्त धरापर थीं तुम स्वर्ग पुनीत?' (सु० न० प० ज्योत्स्ना)।

दासने उल्लेखका लक्षण 'परम्परित मालाँन' के समान-सा होकर भी विशेष रूपमें भिन्न है, कहकर स्पष्ट किया है। वस्तुत: मालारूपक आदिमें ग्रहण करनेवाले अनेक व्यक्ति नहीं होते, और साथ ही उल्लेखमें एक वस्तुमें दूसरीका आरोप न होकर एक ही वस्तुका उसके वास्तविक धर्मों द्वारा अनेक प्रकारसे ग्रहण किया जाता है। उल्लेख और भ्रान्तिमें अन्तर इस प्रकार है कि प्रथममें निमित्तभेद होता है और दूसरेमें एक ही निमित्त होता है (चि० मी०)। जगन्नाथके अनुसार भ्रान्तिमें एक भ्रम होता है और उल्लेखमें अनेक (र० गं० . पृ० २६७)। —र०

ऊढा (नायिका)–परकीयाका भेद, विशेष दे०—'नायिका-भेद'। इसके लिए परोढा शब्दका प्रयोग भी किया गया है। ऊढाका अर्थ है विवाहिता; क्योंकि यह नायिका दूसरेसे प्रेम करती है और विवाहिता दूसरेकी होती है, अत इसको परोढा कहा गया है। इसकी सामान्य परिभाषा इसी प्रकार सबने दी है—'ब्याही औरै पुरुषसों औरेसों रसलीन।' (मतिराम . रसराज ५९)। इस नायिकाके प्रेममें विविधता तथा भावात्मक विषमता अधिक है, अतएव यह रीतिकाव्यमें व्यापक विस्तार पा सका है। भक्तिकाव्यमें गोपियोंका प्रेम इसी कोटिका है। इस

नायिकामें गोपनका भाव प्रधान होता है, इस कारण प्रेमकी विविध स्थितियोंका चित्रण अधिक आकर्षक तथा उद्वेगपूर्ण हुआ है। नायिकाके उद्वेग, आकांक्षा, चिन्ता, आक्रोश, द्विविधा तथा वेदना आदिका वर्णन इसमें प्रधान है—'क्यों इन ऑखिनसों निरमक ह्वै मोहनको तन पानिप पीजै। नेकु निहारे कलक लगै इहि गॉव वसे कहौ कैसे के जीजै।' (मतिराम रसराज ६१)। शकाके कारण नायिकाके मनमें आन्तरिक क्लेश है, वह व्याकुल है—'घूमति है घर ही मे घनी यह घायल लौं घर घाल धरी कन।' (देव भा० वि० नायिका०)। पद्माकरने उसकी उद्विग्नताका वर्णन उक्तिके साथ किया है—'हाँ तो स्याम रंग मैं चुराई चित चोरा चोरी बोरत तो वोरयो पे निचोरत बनै नहीं।' (जगद्विनोद १ ७९)।

ऊर्ध्वचेतन—ऊर्ध्वचेतन या अतिचेतन शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें होता है, एक मनौवैज्ञानिक, दूसरा दार्शनिक। मनोवैज्ञानिक अर्थमें स्नायुसघटनकी अत्यधिक उत्तेजनशीलताको, जिसका परिणाम असाधारण रूपसे तीव्र चेतना होती है, कहते हैं। ऐसा प्राय ज्वर या स्नायविक रोगोंमें होता है। दार्शनिक अर्थमें अतिचेतन और ऊर्ध्वचेतन समानार्थक हैं। इन शब्दोंसे योगियों और द्रष्टाओंकी शरीरेन्द्रियसीमातीत चेतनाका बोध होता है। योगाभ्यास और समाधि द्वारा अन्य देशकालमें स्थित और अगोचर घटनाओं, वस्तुओं आदिका ज्ञान ही ऊर्ध्वचेतना है। इस चेतनाको विभिन्न दर्शनोंमें विभिन्न नाम दिये गये हैं। आधुनिक साहित्यमें विशेष रूपसे ऊर्ध्वचेतनासे श्री अरविन्दके ऊर्ध्वचेतनका बोध होता है। —प्री० अ०

ऋचा—[ऋच् (तुदादि) + क्विप् करणे कर्तरि वा–ऋच्यन्ते स्तूयन्ते देवा अनया इति ऋक्, अथवा ऋचति स्तौति देवान् इति ऋक्]। (क) साधारण अर्थ १ स्तुति, २ चमक, ३ पूजा। (ख) विशेष अर्थ—१ ऋग्वेदके मन्त्र। इन्हींका सकलन ऋक्सहिताके नामसे प्रसिद्ध है। ये मन्त्र 'ऋच्' इसलिए कहलाते हैं कि इनमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु, सवितृ आदि देवोंकी स्तुति की गयी है। २ बहुवचनमें प्रयुक्त (ऋच) होनेपर यह शब्द समस्त ऋग्वेदके लिए आता है। (ग) हिन्दीमें यह शब्द सभी वैदिक मन्त्रोंके अर्थमें प्रयुक्त होता है। (घ) इसका पर्याय 'मन्त्र' शब्द है जो ऋक्के अतिरिक्त यजुष् और सामन्का भी वाचक है। (ङ) ऋच्का व्यापक अर्थ—'वैदिक मन्त्र' (ऋक्, यजुस् और साम) तथा सीमित अर्थ—'ऋग्वेदका मन्त्र' है। —आ० प्र० मि०

एकदेशविवर्ति-रूपक—दे०—'रूपक', पाँचवाँ प्रकार।

एकपात्रीय नाटक—एकपात्रीय नाटक उसे कहते हैं जो इस प्रकार लिखा गया हो कि केवल एक अभिनेता द्वारा उसका अभिनय सम्भव हो सके। बीसवीं शताब्दीमें वाईवेट गिलवर्ट, रूथ ड्रेपर तथा क्रार्नेलिया ओटिस स्किनरने इसे लोकप्रिय बनाया। प्राय इसे **स्वगतभाषण** भी कहते हैं। एकपात्रीय नाटकमें प्रेक्षक समस्त कार्य-व्यापार एव चरित्रोंका एक ही पात्रके मस्तिष्क द्वारा दर्शन करता है, जैसे जार्ज कैसर-लिखित 'फ्राम मार्न टु मिडनाइट,' श्रीमती ग्लेन ग्लासगो-लिखित 'बैरेन ग्राउण्ड' तथा हिन्दीमें सेठ गोविन्ददास-लिखित 'चतुष्पथ' और 'शाप और वर' इत्यादि।

एकपक्षीय सवादको भी एकपात्रीय नाटक कहते हैं, जिसमें एक अभिनेता किसी कल्पित व्यक्ति या व्यक्ति-समूहको लक्ष्य करके सम्भाषण करता है। उदाहरणके लिए, रावर्ट ब्राउनिंगके 'माई लास्ट डचेस,' तथा 'आन्द्रिया देल सार्तो' हैं, अल्फ्रेड टेनीसन भी अपनी 'माड' शीर्षक रचनाको एकपात्रीय नाटक घोषित करता है।

एकपात्रीय नाटक मनोवैज्ञानिक कथावस्तुके चित्रणके लिए सर्वोत्तम नाट्य-शैली है। —श्या० मो० श्री०

एकांकी—आधुनिक एकाकी पाश्चात्य साहित्यकी देन है। पश्चिममें एकाकीकी रूप-रेखा दशवीं शतीके 'मिरेकिल्स' और 'मारेलिटीज' जैसे नाटक-रूपोंमें मिलती है, जिनमें धर्म-प्रचारके लिए ईसाई सन्तोंके चरित्रकी किसी एक आकर्षक कहानीको चुना गया है या उनके धर्म-कार्य सम्बन्धी नैतिक उपदेश-प्रधान किसी एक विषयको ग्रहण किया गया है। इसके पश्चात् जनताके मनोरजनके लिए लिखे गये विनोद-पूर्ण 'इण्टरल्यूडस'में इसका विकसित रूप मिलता है, जिनमें अधिकसे अधिक तीन पात्रोंके द्वारा किसी एक भावनाके प्रदर्शनकी प्रवृत्ति प्रकट हुई है। किन्तु उन्नीसवीं-बीसवीं शतीमें पेरिस (ई० १८८७, १८९३, १९१४), बर्लिन (१८८९), लन्दन (१८९१), डबलिन (१९०४), शिकागो (१९०६) आदि नगरोंके लघुमचीय आन्दोलनों (लिटिल थियेटर मूवमेंट)के विकास, प्रीतिभोजोंमें भोजनसे पूर्वके समयका उपयोग करनेके लिए लिखे गये प्रहसनों तथा प्रेक्षागृहोंमें इन प्रहसनोंके प्रारम्भमें प्रेक्षकोंके बीचमें आ जानेवाली भीडके लिए द्विपात्रीय सवादात्मक 'कर्टेन रेजर'-के प्रचलनने एकाकियोंके सर्जनको अभूतपूर्व प्रेरणा दी है। जे एम बेरी, जे बी शॉ, लार्ड डनसेनी, हॉप्टमेन, गाल्सवर्दी, इयोजीन ओनील, काकमेन, सिंज, ग्राहम प्रीस्टले, गेटे, लेसिंग, मोलियर, ब्रूयूइ, इब्सन, स्ट्रिण्डबर्ग, आस्कर वाइल्ड, टाल्सटाय, चेखव, गोर्की, पिरेन्देलो, टी एस इलियट, चार्ल्स मार्गन, ग्राहम ग्रीन, क्रिस्टोफर फ्राइ, लोर्का, क्लाउडेल, जिराउदो, सार्त्र, एनाउल, विलियम्स और मिलर आदिकी नाट्य-प्रतिभाओंने एकाकीका आधुनिक रूप प्रस्तुत किया है, जो आज एक स्वतन्त्र शक्तिशाली साहित्यरूपमें प्रतिष्ठित हो गया है। हिन्दी साहित्यमें भी आधुनिक एकाकीका रूप इसी साम्प्रतिक पश्चिमी रूपके सन्निकट है। अत संस्कृत नाटककलाके सिद्धान्तोंके अनुसार उसके स्वरूपका निर्णय नहीं हुआ है।

इस प्रकार स्वरूपके ऐतिहासिक विकास–आवश्यकता, और प्रयोगकी दृष्टिसे स्पष्ट है कि एकाकी नाटक साहित्यका वह नाट्य-प्रधान रूप है, जिसके माध्यमसे मानव-जीवनके किसी एक पक्ष, एक चरित्र, एक कार्य, एक परिपार्श्व, एक भावकी ऐसी कलात्मक व्यंजना की जाती है कि वे एक अविकल भावसे अनेककी सहानुभूति और आत्मीयता प्राप्त कर लेते हैं।

कलेवरकी दृष्टिसे एकाकी एक अङ्कका नाटक है, किन्तु दृश्य-विधानके अनुसार इसके दो भेद किये जा सकते हैं—पहला, एक दृश्यका एकाकी, दूसरा, अनेक दृश्योंका एकाकी।

पहली श्रेणीके एकांकीमें कथा किसी घटित घटनाके मार्मिक स्थलसे आरम्भ होती है और भावी घटनाओंके अवरोधसे जिज्ञासा तथा कुतूहलकी वृद्धि करती हुई तीव्र गतिसे विस्मयपूर्ण सङ्क्रमण-विन्दुतक पहुँच जाती है। इसमें कथाका प्रवाह उस निर्झरके समान होता है जो किसी पहाड़ीसे अकस्मात् फूटता है, कुछ दूरतक दिखाई पड़ता है और शीघ्र ही आँखोंसे ओझल हो जाता है। इस प्रकारके नाटकोंमें एक ही स्थानपर, एक ही समयमें कार्य सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार त्रिक-संगतिका पूर्ण निर्वाह रहता है। भुवनेश्वरके 'रोमांस—रोमांच' और प्रसादके 'एक घूँट'के एक दृश्यकी परम्परामें आनेवाले रामकुमार वर्माके सभी एकांकी इसी वर्गके हैं। दूसरी श्रेणीके नाटकोंमें विभिन्न स्थलों और समयोंकी घटनाओं द्वारा कथामें वक्रता या विचित्रता उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जाता है, जिसके फलस्वरूप दो या दोसे अधिक दृश्योंकी योजना करनी पड़ जाती है। इस प्रकारके नाटकोंमें स्थल, काल और कार्यकी एकता नहीं रह पाती। इसमें कथाकी धारा भूप्रदेश-की प्रवाहशीला, विस्तृत मूलवती सरिताके सदृश होती है जो ऋजु या वक्र गतिसे अग्रगामी होकर उद्देश्य-सिन्धुसे मिल जाती है। ऐसे नाटकोंमें चरम विन्दुकी उत्कटता नहीं होती। उनमें किसी समस्याके उत्पन्न करने या तथ्यको उद्घाटन करनेमें ही नाटककी सफलता मानी जाती है। सेठ गोविन्ददासके 'आलोक और भिखारिणी' छः, 'चन्द्रापीड और चर्मकार' तेरह, सद्गुरुशरण अवस्थीके 'मुद्रिका' आठ दृश्यवाले एकांकी हैं। जगदीशचन्द्र माथुरके 'भोरका तारा'में दो दृश्योंके स्थानपर १. २ जैसे सकेतोंमें दो भाग मिलते हैं। उदयशकर भट्टके 'बड़े आदमी-की मृत्यु'में कौतूहलोत्पादक चरम सीमा नहीं है। उनके दो दृश्योंवाले 'दुर्गा'में केवल सघर्ष-चित्रण ही मुख्य लक्ष्य बन गया है।

मर्यादाकी दृष्टिसे एकांकीमें केवल **आधिकारिक कथा** होती है। वही अतर्कित आरम्भ होकर अन्तकी ओर तीव्र गतिसे विकास करती है। इसीलिए उसमें जटिलता नहीं होती। उसमें प्राय एक मुख्य घटना अनेक लघु घटनाओंके सहारे आगे बढ़ती है और कौतूहलके नये-नये स्थल उपस्थित करती जाती है। उसमें कमसे कम पात्र होते हैं जो किसी-न-किसी प्रकार कथासे निकटका सम्बन्ध रखते हैं। यदि गौण पात्र हुए-तो वे भी मुख्य कथा और मुख्य पात्रोंके सहायक ही होते हैं। उसमें किसी सुनिश्चित ध्येयकी अभिव्यजना अव्यर्थ शब्दोंमें सन्तुलन और मितव्ययिताके साथ की जाती है। उसमें बाह्य या अन्त सघर्ष भी रहता है, जो परिस्थिति, वातावरणके अनुसार उद्दीप्त होकर कथाके विकासमें सहायता देता है या कभी स्वय उद्देश्य बनकर अभिव्यक्त हो जाता है। उसमें **स्थान-कालकी एकता** अनिवार्य नहीं मानी जा सकती किन्तु विकल्पसे शिल्प-कौशलके द्वारा स्थल, काल, कार्यका उचित सकलन उपस्थित किया जा सकता है। उसका क्षेत्र सकुचित है। उसमें अन्तकी आकस्मिकता, विषयकी एकाग्रता, सवेदनकी तीव्रता, समयकी स्वल्पता और घटनाओंकी अतर्कितता रहती है।

सीमा, विस्तार और प्रभावकी दृष्टिसे एकांकीका अने-कांकी नाटकसे वही अन्त सम्बन्ध है जो साधारणतया कहानी-का उपन्याससे होता है। जहाँ अनेकांकी नाटकमें जीवनकी विविधता, पात्रबहुलता, कथासूत्रोंकी सुविमर्शता, अकोंकी अनेकता, चरित्र-चित्रणकी विचित्रता, कौतूहलकी अनिश्चितता, परिचयकी अधिकता, चरम विन्दुकी व्यापकता तथा कथाकी मन्दगामिता है, वहाँ एकांकीमें जीवनकी एकपक्षता, पात्र-परिमितता, कथाके प्रमुख सूत्रकी ग्राह्यता, एकाकता, चरित्र-चित्रणकी सघनता, कौतूहलकी आद्यन्तता, व्यजनाकी निर्देशता, चरम विन्दुकी केन्द्रीयता और कथाकी क्षिप्रगामिता होती है।

कभी-कभी भ्रमवश एकांकी और कहानीमें कोई मौलिक अन्तर नहीं माना जाता, किन्तु ऐसा है नहीं। आकारकी लघुतामें वे दोनों भले ही एक-से प्रतीत हों, किन्तु उनकी प्रकृति और आत्मामें मूलत भेद है। जहाँ एक ओर कहानी-का लक्ष्य पाठक होता है, उसमें चरित्र, घटना या वातावरण, किसी एककी ओर ही दृष्टि केन्द्रित रहती है, उसमें कहानीकारके व्यक्तित्वका सीधा सस्पर्श होता है, उसकी सवेदना विचार और अनुभूतिको झकझोरकर चित्तको द्रवित करती है, वहाँ दूसरी ओर एकांकीका ध्येय अभिनय है, किन्तु वह अभिनेयके साथ पाठ्य भी है, वह पाठक और प्रेक्षक दोनोंको आनन्द देता है, उसमें घटना, चरित्र और वातावरण, तीनोंकी सगति और समन्वितिपर दृष्टि रहती है, उसमें लेखक तटस्थ रहता है, उसका व्यक्तित्व पात्रोंके माध्यमसे अप्रत्यक्ष रूपसे ही व्यक्त हो सकता है। उसका प्रभाव नाटकीयताके सहृदय सामाजिकोंके चित्तका विस्तार करता है।

यद्यपि **गीति** और एकांकी दो भिन्न रूप हैं, किन्तु आज गीति-नाट्यके विकसित हो जानेसे एकांकी गीतिके निकट आ गया है। अत यहाँ दोनोंके स्वरूपका विचार कर लेना अनुचित नहीं है। गीति गीतिकारकी किसी अनुभूतिकी अभिव्यक्ति है, किसी रागको वाणी देना है जब कि एकांकी-की आत्मा अनुभव, अनुभूति और विचारसे किसी रहस्यका उद्घाटन कर रागको व्याप्ति देना है। एकमें सहजता है, दूसरेमें कृत्रिमता है। एकमें केवल भावकी व्यजना है, दूसरेमें भाव और विचारका चित्रण और व्यजना दोनों है। एकमें कविकी अन्तरात्माकी स्फूर्ति है, दूसरेमें पात्रोंका वाग्विलास है। एककी भाषामें सगीतात्मक अर्थ है, दूसरेमें सगीतात्मक ध्वनि है। एककी शैलीमें भाव-सकेत है, दूसरे-की शैलीमें आंगिक, वाचिक, सात्त्विक, आहार्य—चतुर्विध अभिनय तथा रग-व्यवस्था है।

एकांकीके **कथानक**-चयनमें एकांकिकारकी अन्त-प्रेरणा ही प्रमुख है। वह अपने स्वभाव, रुचि, अरुचि और जीवन-दर्शनके अनुसार किसी भी क्षेत्रके कथानकके विषय और उपादान चुननेके लिए स्वतन्त्र है। वह मनुष्यकी युग-युगीन अपराजेय शक्तिकी ऐतिहासिक यात्राके गौरव-पूर्ण कार्यों, घटनाओं, दृश्यों, धर्मप्रवर्तकों, उनके सिद्धान्तों, राजाओं और वीरोंके चरित्रों, लोकगाथाओं, उत्सवों, सस्कारों, ऋतुओं, तात्कालिक उत्थान-पतनों, अतीत या वर्तमान समाजकी रूढ़ प्रथाओं, कुरीतियों, दुष्प्रवृत्तियों, व्यक्ति या समाजके सघर्षों, यौन आकर्षणों, राज्य-व्यवस्थाओं,

दैनन्दिन जीवनके हृदय-द्रावक चित्रों, घृणा-प्रेम, राग-द्वेष, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, त्याग-भोग, राग-विराग, मोह-निर्मोह, हास्य-औदासीन्य, श्रेय-हेयके द्वन्द्वोंमेंसे किसीसे भी अपने कथानकका आधार निर्मित कर सकता है। अनुभव या अनुभूतिमें जितनी अधिक सत्यता और घटनाओंमें विस्मयकी जितनी अधिक तीव्रता होगी, एकांकी उतना ही अधिक खिल जायगा। कुरुचिपूर्ण यथार्थके परित्याग और व्यावहारिक आदर्शके परिग्रहण उसके सौन्दर्य-वर्धक गुण हैं।

किन्तु एकांकी **कथानक**का विस्तार अनेकांकी नाटकोंके समान नहीं होता। उसमें कथानकको इस कौशलसे सँवार-कर **कथावस्तु**का सघटन किया जाता है कि उसमें एकाग्रता, उत्तेजना, सावधानता और उद्देश्योन्मुखता आ जाती है। वस्तुकी यह सघटन-क्रिया दुरूह नहीं होती। इसमें कार्यका **आरम्भ** और **प्रयत्न** दो ही अवस्थाएँ होती हे और **प्राप्त्याशा**के पूर्व ही कार्यकी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार **मुख** और **प्रतिमुख** सन्धियोंके बीच इन दोनों अवस्थाओंके कार्यके बीजका वपन कर दिया जाता है जो तैल-विन्दु-सा शीघ्र प्रसार पाकर प्रत्याशित या अप्रत्याशित अवरोधोंके रहते हुए भी आश्चर्य, जिज्ञासा, कौतूहल और विस्मयकी स्थितियाँ उत्पन्न करता है और तीव्र वेगके साथ लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है। यह लक्ष्य **कार्य**की परिस्थिति अथवा चरित्रकी गतिके अनुसार **सुखान्त** या **दु खान्त** होता है। इसके सदैव सुखान्त होनेकी सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि इसमें असाधारण व्यक्तित्वसम्पन्न नायककी प्रतिनायक या प्रतिकूल परिस्थितियोंपर निश्चित विजयका आदर्श नहीं रखा जाता।

प्राय एक दृश्यके एकांकीमें लक्ष्य **कार्य**का आकस्मिक **चरम** उत्कर्षपर पहुँचना रहता है और उसमें **कार्यारम्भ** चरमकी स्थितिसे कुछ ही पूर्वकी स्थितिका होता है। इसलिए एकांकीके **कार्यारम्भ** और **कार्यान्त**में कुछ ही दूरीका अन्तर रहता है। कार्यकी यह स्थिति आश्चर्य, ज्ञातव्यकी जिज्ञासा, कौतूहल और विस्मयको उत्पन्न करनेमें विशेष सहायता देती है। रामकुमार वर्माके 'चारुमित्रा'में **कार्य**का आरम्भ कलिंग-युद्धके उस स्थलसे होता है जहां कार्यके चरमोत्कर्ष—अशोकका हृदय-परिवर्तन—क्रूरसे कृपालु वन जानेकी सम्भावना निकट ही है।

अनेक दृश्योंवाले एकांकीमें **कार्य** चरम विकासके रूपमें प्रस्तुत होता है। अत उसमें या तो वस्तुस्थितिका चित्रण किया जाता है या किसी तथ्यका उद्घाटन या सत्यके प्रतिपादनकी कल्पना रहती है। सेठ गोविन्ददासके 'आलोक और भिखारिणी'में जालौकको व्रतादिको छोड़कर अपने राज्यमें किसीको निराहार न रहने देनेकी प्रतिज्ञा और किसी पशु-पक्षीतकको न मारनेकी आज्ञाका प्रजाके द्वारा सहर्ष परिपालन, चित्रित हुआ है। 'भोरका तारा' ऐतिहासिक एकांकीमें कवि शेखरके द्वारा कर्तव्यके लिए प्रेमका वलिदान करना व्यजित किया जाता है और उसकी सूचना प्रथम दृश्यमें होनेवाले सौन्दर्य तथा कर्तव्य सम्बन्धी सवादमें ही दे दी जाती है। प्रारम्भमें प्रभात द्वारा रजनी वालाके खींचे हुए पटके छोरमें स्वर्णकणकी भाँति टँके हुए भोरके तारेकी कल्पना की गयी है, जो किसी पूर्व और भावी परिस्थितिका सकेत कर जाती है। भुवनेश्वरके 'रोमास—रोमाच'में अमरनाथके सुधारवादकी विडम्बना व्यजित की गयी है।

कथावस्तुके मुख्य घटना-प्रसगमें अनेक गौण घटना-प्रसग अवरोधके रूपमें उपस्थित होकर **संघर्ष**की सृष्टि करते हैं और सघर्ष कथाका विकास करता है। इस अवरोध और सघर्षका मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक ढगसे ही प्रस्तुत करना ठीक होता है। 'चारुमित्रा'में तिष्यरक्षिताके सम्मुख चारुके नृत्य करते समय अशोकका आगमन, कलिंग-युद्धमें मृतवत्स-विरहिता माताका चीत्कार, उपगुप्तकी उपस्थिति, चारुका स्वदेशके लिए प्राणदान इत्यादि अवरोधकी स्थितियाँ हैं। 'भोरका तारा'में कवि शेखरके एकांकी गायनमें माधवका आगमन, प्रेम और सौन्दर्यकी चर्चाके बीच एक भिखमंगीका प्रसग, स्कन्दगुप्तके दरवारमें युवतीके गायन, राजाके शेखरके वुलानेकी उसकी प्रार्थना, समुद्रके सकेत, दूसरे दृश्यमें वीरभद्रका विद्रोह, तोरमाणके आक्रमणकी सूचना, देवदत्तकी वीरगतिका सन्देश, काव्यकी शक्तिसे जन-जीवन-की रक्षा करनेके लिए शेखरको प्रेरित करनेका प्रयत्न—सभी कथामें नया सघर्ष लाते गये हैं और कथा अपने लक्ष्य—शेखर अवतक भोरका तारा था, अव वह प्रभातका सूर्य होगा—को प्राप्त कर लेता है।

एकांकीमें **कार्य, स्थान** और **काल**की **संगति** या उनके **संकलन**-निर्वाहका कोई अनिवार्य नियम नहीं है। यह एकांकिकारकी प्रवृत्ति और उसके रचना-कौशलपर आधारित है कि वह कथाके विभिन्न कोणोंको एक ही दृश्यमें मिलाये और समय, स्थान तथा कार्यकी दूरियोंको एक कर दे। ऐसी अवस्थामें एकांकिकारको पहले ही कथाकी समस्त तीव्रतम स्थितियोंका सकलन सावधानीसे कर लेना पड़ता है। रामकुमार वर्माके सभी एकांकियोंमें **त्रय-निर्वाह**का अनिवार्य आग्रह है। 'चारुमित्रा'में कथा कलिंग-युद्धके राजशिविरमें आरम्भ होती है और वहीं समाप्त हो जाती है, किन्तु कथामें वदलती हुई परिस्थिति, घटना, पात्र, दृश्य, वातावरणमें वैचित्र्य और सौन्दर्य दिखलानेके लिए अनेक दृश्योंवाले एकांकीमें त्रिक-संगति नहीं रह पाती। 'भोरका तारा'के पहले दृश्यमें रगभूमि कवि शेखरका साधारण गृह है और दूसरे दृश्यमें उज्जयिनीके आर्य देवदत्तका विशाल भवन है जिसमें यशस्वी महाकवि शेखर अपनी प्रेमपत्नी छायाके साथ सुख और वैभवसे रहने लगा है।

यद्यपि पूर्व और पश्चिमके प्राचीन और मध्ययुगीन नाटकसाहित्यमें प्रधान पात्रोंका चयन समाजके आभिजात्य वर्गमें ही हुआ है, केवल प्रहसनोंमें इतर वर्गको स्थान मिला है और गौण पात्रोंमें निम्न एव मध्यवर्गके नारी पुरुषोंको भी स्थान दिया गया है, किन्तु आजके वदले हुए समय और समाजमें इस प्रकारकी मान्यता रूढ नहीं है। आज नाटकमें समाजके किसी भी वर्गका प्रवेश सम्भव है। चौकीदारसे राष्ट्रपति, चतुर्वेदीसे चन्दुवा धोवीतक, पत्तीके हिलनेसे विश्वके विध्वसतक, किसीको भी ग्रहण किया जा सकता है।

पात्र-विधानके सम्बन्धमें पहली वात यह है कि एकांकी-

में उनकी संख्या पाँच छसे अधिक नहीं होती। दूसरे, उसमें केवल मुख्य और गौण, दोनों प्रकारके पात्र रखे जा सकते हैं। साहस, प्रणय और वीरताकी कहानीमें नायकके साथ प्रतिनायककी कल्पना भी एकांकीको प्रभावशाली बना देती है। तीसरे, पात्रोंमेंसे किसी एकको विदूषक बना दिया जाता है या उसकी अपेक्षा न समझी गयी तो कुछ पात्रोंके संवादोंमें ही हास्य, विनोद, व्यंग्यकी सामग्री प्रस्तुत कर दी जाती है। चौथे, पात्रोंका सजीव, व्यक्तित्ववान् और आकर्षणपूर्ण होना परमावश्यक है, अन्यथा न तो कथा ही रोचकताके साथ दर्शकोंके सम्मुख आवेगी और न कुशल अभिनयके द्वारा विस्मयकी सर्जना हो सकेगी। पाँचवें, पात्रोंके चरित्रका निर्माण उनके संस्कार, मनोविज्ञान और वातावरणके अनुसार ही होना उचित है। उनमें अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित करते समय एकांकिकारको ऐसी घटनाकी आवश्यकता है कि जिसे पाठक या दर्शक पढ़ या देखकर स्वयं विचारोंके द्वन्द्वमें पड़ जाये कि ठीक क्या है। बलिदान होनेसे पूर्व चारुमित्राके चरित्रमें अशोकके प्रेम प्राप्त करने और कलिंग देशकी मर्यादा-रक्षाका अन्तर्द्वन्द्व है। गणेशप्रसाद द्विवेदीके 'सोहागविन्दी'में जब काली बाबू अपनी पत्नी प्रतिमाके अस्थिखण्ड रो-रोकर बक्समें रखने जा रहे हैं तब वे विनोद बाबूको लिखे गये पत्रमें प्रतिमाके शब्दों 'मैं हर घड़ी तुम्हारी राह देखा करती हूँ फिर किससे पूछूँ तुम्हारा पता? कैसे पूछूँ?' को पढ़कर सन्न रह जाते हैं। उनके मनमें पत्नीके पातिव्रतके सम्बन्धमें भाव-संघर्ष इतनी जल्दी उठता है कि उनके हाथसे अस्थिखण्ड गिर जाता है और वे चारपाईपर गिर पड़ते हैं।

संवाद एकांकीका सर्वस्व है, क्योंकि संवादके द्वारा ही कथा और चरित्रके स्थल सम्मुख लाये जाते हैं। अतः संवाद एकांकिकारके शिल्प-कौशलका प्रधान निकष है। स्वाभाविकता, संक्षिप्तता, वाग्विदग्धता, रोचकता, प्रभावोत्पादकता, संवादके उत्कर्ष-विधायक गुण हैं। संवादकी भाषाका निर्णय पात्रोंकी जाति, गुण, कर्म, स्वभाव, मनोवृत्ति, कथाकी प्रकृति, उद्देश्यकी स्थितिपर निर्भर रहता है। उसकी भाषाके वाक्योंमें सरलता, सुबोधता, प्रभावपूर्णता तथा शब्दोंमें अन्वर्थता और मितव्ययिताका होना अपेक्षित है। हास्य एकांकीकी ज्योति है। अतः संवादमें हास्य-विनोद तथा व्यंग्यके प्रसंग लाने या संकेत करनेका पूर्ण प्रयत्न भी वाञ्छनीय है। पात्रोंके आन्तरिक गूढ़ भावोंको व्यक्त करनेके लिए जिन स्वगत, आकाशभाषित या पृथक् सम्भाषणकी प्राचीन प्रथाका प्रयोग एकांकीमें नहीं होता, पात्रोंके उन आन्तरिक मनोभावोंको व्यक्त करनेके लिए किसी दृश्य या वस्तुकी परिकल्पना करनी पड़ती है।

नाट्य-संकेत या रंग-संकेत कथाके परिपार्श्वसे सम्बन्ध रखते हैं। ये वे **प्रतिन्यास** या सूचनाएँ हैं, जिनका प्रयोग एकांकिकार कथा, चरित्र, संवादका संयुक्त प्रभाव बढ़ानेके लिए करता है।

संस्कृत नाटकोंमें रसोन्मेषके आदर्शपर ध्यान केन्द्रित किये जानेके कारण रंग-संकेतोंकी प्रचुरता नहीं है। हिन्दीमें रंग संकेतका प्रयोग-बाहुल्य पश्चिमी प्रभाव है। पश्चिमी नाट्य-कलामें रसके स्थानपर कार्य और चरित्रपर ही सम्पूर्ण दृष्टि रहती है। रंगभूमिकी सज्जा करने, प्रेक्षकोंको नाटकोंका पूर्ण स्वरूप बताने, घटनाके कब और कहाँकी सूचना देने और अभिनयमें योग देने, उपन्यास, कहानी, कविताकी रोचकता लाने, पात्रोंकी वृत्तियों और मुद्राओंको प्रकट करनेकी दृष्टिसे इन **रंग-संकेतों**का अत्यधिक महत्त्व है। अतः रंग-संकेतोंके कार्योंकी विविध दिशाएँ हो जाती हैं। रंगभूमिकी व्यवस्था और पात्रोंकी आयु, वेश-भूषाका निर्देश, कथाके जटिल प्रसंगोंकी व्याख्या, पात्रोंके मानस-द्वन्द्वोंकी व्यंजना तथा उनके भावों-विचारोंको सम्प्रेषणीय और अभिनयात्मक बनानेके उपाय तथा कथामें प्रयुक्त होनेवाले भाव और वस्तुके प्रतीकोंका स्पष्टीकरण रंग-संकेतोंके द्वारा ही किया जाता है।

रूपकी दृष्टिसे आधुनिक एकांकीमें विविध प्रकारके प्रयोग हुए हैं, जिनकी अनेक कोटियाँ हैं, जिन्हें अन्य साहित्य-रूपोंकी भाँति विषय, उद्देश्य, शिल्प-विधान तथा आकार-विस्तारकी दृष्टिसे अनेक वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है। कहानीकी भाँति एकांकी भी एक नवीन विकासशील साहित्य-रूप है। आधुनिक व्यस्त जीवनमें जिसकी उन्नतिकी अपार सम्भावनाएँ हैं, साहित्यिक महत्त्वके साथ-साथ उसका सामाजिक महत्त्व भी है। हिन्दीमें रंगमंचके अभावकी अवस्थामें प्रधानतया आधुनिक एकांकीके रूपमें ही नाट्य-परम्पराका पुनरुत्थान हुआ है। शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी संस्थाओं तथा साहित्यिक गोष्ठियोंके शौकिया अभिनेताओंने एकांकीके अभिनय द्वारा ही सामाजिक जीवनके एक भारी अभावकी आंशिक पूर्ति की है। रंगमंचके भावी विकासके साथ हम एकांकीके उज्ज्वल भविष्यकी कल्पना कर सकते हैं।

यद्यपि संस्कृतके दस रूपकोंमेंसे भाण, व्यायोग, अंक, वीथी, ईहामृग, प्रहसन तथा अठारह उपरूपकोंमें गोष्ठी, नाट्यरासक, काव्य, प्रेंखण रासक, श्रीगदित, विलासिका, हल्लीश, भाणिका एकांकी हैं और प्रयोग-दृष्टिसे अन्य विभेदोंके साथ भासके 'उरुभंग, 'मध्यम व्यायोग,' वत्सराजका 'किरातार्जुनीय,' प्रह्लादनदेवका 'पार्थ-पराक्रम,' काञ्चनाचार्यका 'धनञ्जय-विजय व्यायोग,' रामचन्द्रका 'निर्भय भीम,' विश्वनाथका 'सौगन्धिकाहरण' जैसे व्यायोग; वररुचिका 'उभयसारिका,' शूद्रकका 'पद्मप्राभृतक,' ईश्वरदत्तका 'धूर्तविटसंवाद,' श्यामलिकका 'पादताडितक', वत्सराजका 'कर्पूरचरित' जैसे 'भाण', वत्सराजका 'त्रिपुरदाह,' राम कविका 'मन्मथोन्मथन, वेंकट वर्माका 'कृष्ण विजय' जैसे डिम; 'हास्यचूडामणि' जैसे प्रहसन; 'माधवी' जैसे 'वीथी' वत्सराजका 'शर्मिष्ठा-ययाति,' भास्कर कविका 'उन्मत्तराघव' जैसे 'अंक में एकांकियोंकी परम्परा प्राप्त है। किन्तु हिन्दीमें यह परम्परा लुप्त हो गयी थी। केवल धार्मिक प्रेरणाओंसे लीला, स्वाँग और भगत आदि लोक-नाट्योंकी परम्परा चलती रही। आधुनिक युगमें भारतीय और यूरोपीय संस्कृतिसे सम्पर्क, राष्ट्रप्रेम, अतीतके प्रति अनुराग, गद्यके प्रचलन, वैज्ञानिक आविष्कार, व्यक्तिपर बल, अँग्रेजी और बँगला साहित्यके सम्बन्ध इत्यादिसे नाटकोंको फिर विकास-का अवसर मिला। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने प्राचीनता और नवीनताके इस संघर्षकालमें बीचका मार्ग चुना। एक ओ-

उन्होंने संस्कृत नाट्यशास्त्रकी परम्परामें रूपकों और उपरूपकोंके अनेक भेदोंके अनुवाद प्रस्तुत किये हैं, एक सट्टक, एक नाट्यरासक, एक भाण लिखा है, दूसरी ओर अपनी रचनात्मक प्रतिभासे मौलिक नाटकोंकी रचना की है। उनके नाटकोंमें एकाकी भी है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने एकाकीको नाटकसे पृथक् सत्ता नहीं मानी है और उन्होंने तथा उनके समकालीन नाटककारोंमेंसे किसीने भी ज्ञातभावसे एकाकी लिखनेकी चेष्टा नहीं की है, तथापि उनके एकाकियोंमें एकाकीका स्वरूप स्पष्ट है। इस प्रकार नाटकोंको भाँति भारतेन्दु ही हिन्दी एकाकी रूपके भी जनक हैं। उनका 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' हिन्दीका प्रथम एकाकी है। भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, शालिग्राम, देवकीनन्दन खत्री, राधाकृष्णदास, अम्बिकादत्त व्यास तथा अन्य अज्ञात लेखकोंने इस एकाकी रूपके विकासमें योगदान किया है।

भारतेन्दु-युगके एकाकी एकाकीके विकासकी प्रारम्भिक अवस्थाके द्योतक हैं। इस युगके एकाकी दो अर्थोंमें रूपक-एकाकी हैं। पहले अर्थमें हिन्दी नाटककारोंने संस्कृत शैलीके एकाकियोंसे भिन्न एक या अनेक अकोंमें पूर्ण होनेवाले लघु नाटकोंको कुछ तो बँगला रूपक-एकाकियोंके अनुकरणपर और कुछ इस नये रूपके उचित नाम न दे सकनेके कारण रूपककी सज्ञा दी है। दूसरे अर्थमें उपलक्षण या रूपक(एलिगरी)के रूपमें रूपक कहा है, जिसमें अमूर्तमें मूर्तकी, अप्रकटमें प्रकटकी, परोक्षमें अपरोक्षकी और निरिन्द्रियमें इन्द्रियवान्की कल्पना कर वस्तुओंका मानवीकृत रूप प्रस्तुत किया गया है। 'भारत-जननी' और 'भारत दुर्दशा' ऐसे ही रूपक-एकाकी हैं। प्राय नाटककारोंको एकाकी-लेखनकी मूल प्रेरणा धार्मिक कृत्यों एव कथाओं, पुराणके आख्यानों, इतिहासके प्रसिद्ध इतिवृत्तों, समाजकी दुष्प्रवृत्तियों, राष्ट्रके प्रति अनुराग, प्राचीन भारतके गौरवसे मिली है। इस कालके एकाकियोंकी पहली विशेषता शिल्पादर्शकी हीनता है। इनमें संस्कृत नाट्यशास्त्रकी परम्पराएँ शिथिल हो गयी हैं। नाटककारोंने प्ररोचना, प्रस्तावना, सूत्रधार, नान्दी, मगलाचरण, कथा-संविधानकी प्रकृतियों तथा अवस्थाओं, दृश्य-योजना, पट-परिवर्तन, भरत-वाक्य इत्यादिका विकल्पानुसार स्वतन्त्रतासे प्रयोग कहीं किया और कहीं नहीं भी किया है। इनमें अक भी दृश्य और दृश्य भी गर्भाकके समानार्थी हो गये हैं। इनमें स्थान और कालकी एकताका अभाव, शिथिल सवादोंका बाहुल्य, विकास और विन्यास-हीन कथा-योजनाका प्रामुख्य है। एक वाक्यमें भारतेन्दु-युगीन एकाकिकारकी दृष्टि एकाकी शिल्पपर नहीं है। उन्होंने किसी अभिप्राय या उद्देश्यकी पूर्तिके लिए एकाकियोंकी रचना की है। सम्भवत इसी सोद्देश्यताकी प्रमुखताके कारण उनके एकाकी शिल्पप्रधान न होकर विषयप्रधान हो गये हैं। दूसरे, उनमें नृत्य, संगीत, पद्यप्रयोग, हास्य, वेश-विन्यासके सकेतकी प्रवृत्ति अधिक है। तीसरे, वे अभिनेय होनेकी अपेक्षा पाठ्य अधिक हैं। उनमें उच्च कोटिका अभिनय नहीं है। चौथे, उनमें नाटककारोंकी रुचि जीवनकी स्थूलताका वर्णन करनेकी ओर है। इसलिए उनमें वृत्तियोंकी सूक्ष्म विवृति नहीं है। कल्पित या प्रख्यात कथानकको कथोपकथन-का रूप देकर जैसाका तैसा धर दिया गया है। उनमें कलाकी काट-छाँट और स्वच्छता नहीं है।

भारतेन्दु-कालके रूपक-एकांकियोंकी दो कोटियाँ हैं। पहली, अनुवादित या छायांकित रूपक-एकाकी, दूसरी, मौलिक रूपक-एकाकी। पहली कोटिमें भारतेन्दुका बँगलाके 'भारतमाता'का अनुवाद 'भारतजननी' और मौलिक रूपक 'भारत-दुर्दशा (नाट्यरासक या लक्ष्यरूपक) तथा राधाचरण गोस्वामीका बगलाके 'भारतेर यवन'का अनुवाद 'भारतवर्षमें यवन लोग' जैसे राष्ट्रीय रूपक (एलिगरी) हैं। काचनाचार्यकृत 'धनजयविजय'का छायाविष्ट रूपक, अयोध्यासिंह उपाध्यायका 'प्रद्युम्नविजय' व्यायोग है। दूसरी कोटिमें भारतेन्दुके 'विषस्य विषमौषधम्', राधाचरण गोस्वामीकृत 'तन मन धन गोसाईंजीके अरपन', किशोरीलाल गोस्वामीका 'चौपट चपेट' तथा अज्ञात लेखकका 'जैसा काम वैसा परिणाम', जैसे सामाजिक प्रहसन-रूपक, भारतेन्दुका 'प्रेमयोगिनी' (अपूर्ण), राधाकृष्ण दासका 'दु खिनी बाला', अम्बिकादत्त व्यासका 'कलियुग और घी', श्रीशरणका 'बाला-विवाह', बालकृष्ण भट्टके 'कलिराजकी सभा', 'रेलका विकट खेल', 'बाल-विवाह', प्रतापनारायण मिश्रका 'कलिकौतुक', देवकीनन्दन त्रिपाठीका 'जय नरसिंहकी' और अज्ञात लेखकका 'धर्मालाप' जैसे सामाजिक रूपक, काशीनाथ खत्रीके 'सिन्धु देशकी राजकुमारियाँ', 'गुन्नौरकी रानी', 'लजवोका स्वप्न', भारतेन्दुका गीतरूपक 'नीलदेवी', राधाचरण गोस्वामीके 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर' जैसे ऐतिहासिक रूपक, अम्बिकादत्त व्यासका 'मनकी उमग' जैसे संवाद-रूपक तथा भारतेन्दुका 'सती-प्रताप' (अपूर्ण), लाला श्रीनिवास दासका 'प्रह्लादचरित', बदरीनारायण 'प्रेमघन'-का 'प्रयाग रामागमन', राधाचरण गोस्वामीका 'श्रीदामा', कृष्णशरण सिंह गोपका 'माधुरी' जैसे पौराणिक रूपक-एकाकी आते हैं।

बीसवीं शतीके प्रथम चतुर्थांशमें निबन्ध, लेख, समालोचना, कहानी और गीति रूपोंके प्रति विशेष आकर्षण और नैतिकताकी मान्यताओंके कारण एकाकियोंका विकास अवरुद्ध रहा है। किन्तु सन् १९२९में प्रसादके 'एक घूँट'के प्रकाशनसे एकाकीके विकासकी दूसरी अवस्थाका आरम्भ हो जाता है। 'एक घूँट' पात्रोंकी मनोवैज्ञानिकता, वातावरणकी प्रभावशाली सृष्टि, समय ओर स्थल-सकलनका निर्वाह, सुगठित कथा-सघटन, घटनागत संघर्षकी उत्तरोत्तर क्षिप्रता, सवादकी स्वाभाविकता, मार्मिकता, भावनाके स्पर्श, रचना-कौशल आदि सभी दृष्टियोंसे अपने पूर्वगामी भारतेन्दुकालीन रूपक एकाकियोंसे नितान्त भिन्न है। रवीन्द्रनाथ ठाकुरके 'मुक्तधारा' एकाकीसग्रह तथा सिंज, बेरी, शॉ, ओनील, गाल्सवर्दी, इब्सन जैसे पश्चिमी नाटककारोंकी शिल्पविधिके प्रभाव, स्कूल, कालेज, युनिवर्सिटीके वार्षिकोत्सव, मनोरजन, रेडियोके कार्यक्रमको सफल बनानेके लिए रोचक और सरल लघु नाटकोंकी माँग, वैयक्तिक अभिरुचिके परितोष, जीवनके व्यस्तताजन्य समयाभाव, वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे व्यक्ति एव समाजके आदर्शों और प्रतिमानोंकी नवीन व्याख्या, भाषाकी बढ़ी

हुई अभिव्यंजनाशक्ति इत्यादि अनेक कारणोंसे एकांकी एक स्वतन्त्र साहित्यके रूपमें सम्मुख आता है। सत्येन्द्रके 'कुनाल', पृथ्वीनाथ शर्माके 'दुविधा', रामकुमार वर्माके 'पृथ्वीराजकी आँखें', भुवनेश्वरके 'कारवाँ', सूर्यकरण पारीकके 'बौलावण या प्रतिज्ञापूर्ति'के प्रकाशनसे वर्तमान एकांकियोंका धाराके रूपमें प्रणयन होने लगता है, जो आजतक द्रुत गतिसे चलता जा रहा है।

वर्तमान युगमें एकांकी स्वतन्त्र सत्ताके रूपमें सचेष्ट भावसे लिखे गये हैं। फलत उनमें विषयकी अपेक्षा एकांकी-शिल्प प्रमुख हो गया है। अब उनमें बौद्धिक उत्सुकता, मनोवृत्तियोंका विश्लेषण, अन सघर्षकी व्यंजना, हास्य-व्यंग्यकी हल्की मुस्कान, कथोपकथनकी चारुता, मार्मिक स्थलोंका चयन, यथार्थता, मनोविज्ञानको ग्रन्थियोंको सुलझानेका प्रयत्न, पद्यका प्राय अभाव, संस्कृतके आदर्श नायकका अनस्तित्व, रंग-संकेत इत्यादि क्रमश बढ़ते गये हैं। आजके मनुष्यकी असख्य अभिरुचियोंके अनुसार वर्तमान एकांकी प्रेरणाके विषय लोकविश्रुत राजाओं, वीरों, नेताओं, सुधारकों और सेनानायकोंके जीवन-चरित, लोकगाथाओं और पुराणोंमें वर्णित देवी-देवताओं, दैत्य-दानवोंके आचार, विचार, आदर्श, कृत्य, भक्तोंकी लीला, प्रेम, घृणा, सहानुभूति, द्वेष, वीरता, कायरता, आशा, निराशा, निर्दयता, क्रूरता, हत्या, अज्ञान, देशभक्ति, सामाजिक कुरीतियाँ, वर्ग-सघर्ष, वर्ग-वैमनस्य, साम्यवाद, प्रजातन्त्र, राजतन्त्र, धनता, निर्धनता, विवाह और त्याग, ऊँच-नीच, श्रेय-हेय, ऋणी-महाजन, किसान-मजदूर, हिन्दू-मुसलमान, सत्याग्रही, नियम-अपराधी, सहयोग-असहयोग, यौन आकर्षण, नारी-पुरुषोंके सम्बन्ध, प्राकृतिक जीवन, हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, युद्ध-शान्ति इत्यादि रहे हैं। इनके अतिरिक्त इस कालके एकांकियोंकी प्राय दो श्रेणियाँ हैं। पहली विषयप्रधान है, जिसमें या तो प्रसाद या बँगलाके आदर्शपर अथवा अपनी रुचि और अन्त-प्रेरणाके अनुकूल चुने विषय तथा कथा-विधान लेकर लिखे गये हैं। पारीक, जैनेन्द्रकुमार, वृन्दावनलाल वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट, पहाड़ी, हरिकृष्ण प्रेमी, धर्मप्रकाश, आनन्द, राहुल साकृत्यायन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सेठ गोविन्ददास आदि द्वारा रचित एकांकी इसी श्रेणीके हैं। दूसरी शिल्पप्रधान है, जिसके एकांकियोंमें या तो पाश्चात्य रचनाप्रक्रियाको कठोरताके साथ ग्रहण किया गया है अथवा उसमें अपनी प्रतिभा और बुद्धिसे और संस्कृत नाट्यशास्त्रके आधारोंसे नये कथा-सविधान, नयी अभिव्यंजनाके द्वारा एक स्वदेशी मौलिक रूपका निर्माण कर लिया गया है। भुवनेश्वरने अँग्रेजी एकांकी रचना-शैलीका कठोर, पर सफल अनुकरण किया है। रामकुमार वर्मा, गणेशप्रसाद द्विवेदी, जगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, एस० पी० खत्रीने एकांकीकी स्वनिर्मित शैली प्रस्तुत की है, विशेषतया रामकुमार वर्माने सकलन-त्रयके पूर्ण निर्वाह और एक ही ढ़ंगमें वातावरण चरम सीमातक पहुँचानेकी एक नयी शैली प्रवर्तित की है।

वर्तमान युगमें प्रकारकी दृष्टिसे पहाड़ीका 'युग-युग द्वारा शक्तिपूजा', सेठ गोविन्ददासके 'जाति-उत्थान', 'हंगर स्ट्राइक', 'सहित या रहित', 'अट्ठानवे किसे' जैसे **सोद्देश्य एकांकी**, रामकुमार वर्माके 'एक्ट्रेस', 'रजनीकी रात', भुवनेश्वरके 'शैतान', प्रो० आनन्दके 'प्यास', भगवतीचरण वर्माके 'सन्देहका अन्त' जैसे **समस्या-एकांकी**, रामकुमार वर्माके 'एक तोले अफीमकी कीमत', 'नहाका रहस्य', अश्कके 'जोंक', 'समझौता', 'घड़ी', उदयशंकर भट्टके 'दो अतिथि', 'वर-निर्वाचन', 'मुशी अनोखेलाल', 'नकली और असली' जैसे **प्रहसन एकांकी**, उदयशकर भट्टका 'नेता', सेठ गोविन्ददासके 'विटेमन', 'अधिकार-लिप्सा', 'वह मरा क्यों'?, भुवनेश्वरका 'स्ट्राइक', रामकुमार वर्माका 'कहाँसे कहाँ', भगवतीचरण वर्माके 'दो कलाकार', 'सबसे बड़ा आदमी,' पाण्डेय बेचन शर्मा उग्रका 'राम करे सो होय', वृन्दावनलाल वर्माके 'पीले हाथ', 'सगुन', प्रो० आनन्दका 'मिस्टर मौलिक', एस० पी० खत्रीका 'चौराहा', हरिशंकर शर्माका 'चिड़ियाघरके सवाद', जैसे **हास्य और व्यंग्यमूलक एकांकी**, रामकुमार वर्माका 'बादलकी मृत्यु', अश्कका 'छठा बेटा' जैसे **कल्पनामूलक (फँटेसी) एकांकी**, सूर्यकरण पारीकका 'बौलावण या प्रतिज्ञापूर्त्ति', राहुलके भोजपुरीमें लिखित **जनपदीय एकांकी**, रामकुमार वर्माके 'चारुमित्रा', 'दस मिनट', अश्कका 'लक्ष्मीका स्वागत', भुवनेश्वरका 'ऊसर', जैसे **शिल्पमूलक एकांकी**, सेठ गोविन्ददासके 'चतुष्पथ', 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'सच्चा जीवन' जैसे **एकपात्रीय एकांकी** (मोनोड्रामा), प्रेमचन्द्रका 'दुनिया', 'दिल्ली और दिवाली', नगेन्द्रका 'बिहारी' जैसे **लक्षण** या **सूचनामूलक एकांकी** (फीचर)- विष्णु प्रभाकरके 'माँका हृदय', 'सस्कार और भावना', 'रक्तचन्दन', रामकुमार वर्माके 'ऋतुराज', 'ज्योंकी त्यों धरि दीन्हीं चदरिया', जैसे **रेडियो एकांकी**, सेठ गोविन्ददास-रचित उपक्रम एवं उपसहारवाले एकांकी, 'उत्तररामचरित' जैसे **नाटकसंक्षिप्त एकांकी**, अश्कके 'विवाहके दिन', 'मेमना', एम० पी० खत्रीके 'माँ', 'मछुएकी माँ', 'ठाकुरका घर', जैसे **दुःखान्त शैलीके एकांकी**, उदयशकर भट्टके 'जवानी' जैसे **नाट्य-रूपक एकांकी**, 'कालिदास', 'मेघदूत', 'विक्रमोर्वशीय' तथा रामकुमारके 'प्रतिशोध' जैसे **ध्वनिरूपक एकांकी**, उदयशंकर भट्टके 'जीवन' जैसे **प्रतीकरूपक एकांकी** लिखे गये हैं।

विषयकी दृष्टिसे रामकुमार वर्माका 'दस मिनट,' सेठ गोविन्ददासके 'कगाल नहीं,' 'ईद और होली,' अश्कके 'विभा,' 'आदि मार्ग,' जगदीशचन्द्रमाथुरका 'रीढ़की हड्डी,' उग्रका 'भाई मियाँ,' उदयशकर भट्टका 'सेठ लाभचन्द,' धर्मप्रकाश आनन्दका 'दीनू,' चन्द्रकिशोर जैनका 'कानून,' अविनाशचन्द्रका 'विडम्बना,' लक्ष्मीनारायण मिश्रका 'एक दिन' जैसे **सामाजिक**, सद्‌गुरुशरण अवस्थीका 'मुद्रिका,' उदयशंकर भट्टके 'मनु-मानव,' 'आदिम युग' जैसे **पौराणिक**, रामकुमार वर्माके 'प्रतिशोध,' 'भरतका भाग्य,' शम्भुदयाल सक्सेनाके 'वल्कल,' 'प्रहरी,' 'आतिथ्य,' 'सोनेकी मूर्ति' जैसे **सांस्कृतिक**, सेठ गोविन्ददासका 'हगर स्ट्राइक,' उदयशकर भट्टके 'एक ही कब्रमें,' 'पिशाचोंका नाच' जैसे

राजनीतिक, रामकुमार वर्माके 'चारुमित्रा,' 'उत्सर्ग,' 'रेशमी टाई,' सेठ गोविन्ददासका 'धोकेबाज,' एस० पी० खत्रीका 'बन्दरकी खोपडी' जैसे **चारित्रिक द्वन्द्वप्रधान**, सेठ गोविन्ददासके 'सुदामाके तन्दुल,' 'मानव मन,' 'यूनो,' फाँसी,' गणेशप्रसाद द्विवेदीके 'सोहागकी बिन्दी' जैसे **याथार्थिक**, रामकुमार वर्माके 'पृथ्वीराजकी आँखें,' 'शिवाजी', 'दीपदान,' जगदीशचन्द्र माथुरका 'भोरका तारा,' सेठ गोविन्ददासका 'आलोक और भिखारिणी,' सुदर्शनका 'राजपूतनीकी हार,' उग्रका 'अफजल-वध,' उदयशकर भट्टके 'समुद्रगुप्त पराक्रमाक,' 'कुमारसभव,' वृन्दावनलाल वर्माके 'जहाँदारशाह,' 'काश्मीरका काँटा' जैसे **ऐतिहासिक**, भुवनेश्वरके 'शैतान,' 'ऊसर,' अश्कका 'पापी,' गणेशप्रसाद द्विवेदीके 'दूसरा उपाय ही क्या है ?,' 'शर्माजी,' 'परदेका अपर पार्श्व,' 'सर्वस्व-समर्पण,' 'सोहाग-बिन्दी,' उदयशकर भट्टका 'उन्नीस सौ पैंतीस,' सेठ गोविन्ददासका 'स्पर्धा' जैसे **मनोविश्लेषणमूलक**, रामकुमार वर्माका 'अन्धकार,' जैनेन्द्रका 'टकराहट' जैसे **दार्शनिक**, विष्णु प्रभाकरका 'माँ-बाप,' अविनाशचन्द्रका 'देशरक्षाके लिए,' जैसे **राष्ट्रीय एकांकियों**की रचना हुई है। आज हिन्दी एकाकी-कलाकी वक्रता, अभिनयकी सफलता, बात कहनेकी कुशलता, मन-के रहस्योंको खोलने और विचारोंको सूक्ति एव व्यजना-शैलीमें व्यक्त करनेकी ओर जा रही है। —वि० रा०

एकांतिक—दे०—'भक्ति'।

एकाग्रता—दे०—'हठयोग', 'बोधिचित्त'।

एकावली—एक शृखलामूलक अर्थालंकार, जिसमें शृंखला-रूपमें वर्णित पदार्थोंमें विशेष्य-विशेषणभाव-सम्बन्ध पूर्व-पूर्व विशेष्य, पर-पर विशेषण, पूर्व-पूर्व विशेषण, पर-पर विशेष्य, इन दो रूपोंमें स्थापित अथवा निषिद्ध किया जाता है। रुद्रट द्वारा उल्लिखित इस अलकारको मम्मटके (का० प्र० . १० . १३१) आधारपर विश्वनाथ इसी रूपमें स्वीकार करते हैं—'पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन पर परम्। स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा।' (सा० द० १० ७८)। दोनोंने स्थापना और निषेधके रूपमें दो भेद माने हैं। जयदेवने 'चन्द्रालोक'में इसको केवल 'गृहीत-मुक्त रीतिसे विशेषण-विशेष्यके वर्णनक्रम'के रूपमें माना है। हिन्दीमें जसवन्त सिंहने 'कुवलयानन्द'के आधार-पर इसीका अनुकरण किया है, पर उसकी वृत्तिपर ध्यान न देनेसे लक्षण स्पष्ट नहीं है। हिन्दीके मध्ययुगीन आचार्यों-ने प्राय जयदेवका अनुसरण किया है और लक्षणके अनुसार एक ही उदाहरण दिया है। मतिराम, भूषण तथा पद्माकरके लक्षण समान है—'गहव तजव अर्थालिको जँह' (पद्मा० १७५) और—'एक अर्थ लै छोडिये और अर्थ लै ताहि। अर्थ पाँति इमि कहत हैं' (ल० ल० २५९)।

यहाँ विशेषण शब्दका प्रयोग सामान्य रूपमें ऐसे किसी शब्दके लिए हुआ है, जो किसी वस्तुको अन्य वस्तुसे अलग करता अथवा उसे विशिष्टता प्रदान करता है। भोजने इसे 'परिकर'के अन्तर्गत स्वीकार किया था। जगन्नाथके अनुसार 'मालादीपक'(दे०)को इसका भेद मानना चाहिये।

विशेषणभावसे स्थापनके रूपमें चिन्तामणिका उदाहरण है—'धाम वामजुत वाम जो रूपवन्त बहुरूप। सहित बिलास, बिलास जो मनमथवान अनूप।' इसमे उत्तरोत्तर कथित वस्तुका विशेषणभावसे स्थापन किया गया है। इसका प्रयोग आधुनिक युगके कवियोंमें भी पर्याप्त मिलता है। गुप्तजीका यह सुन्दर प्रयोग है—'वृन्दा-वनमें नव मधु आया, मधुमें मन्मथ आया। उसमें तन, तनमें मन, मनमें एक मनोरथ आया' (काव्यदर्पण)। **विशेषणभावसे निषेध**के उदाहरणमें कन्हैयालाल पोद्दार तथा रामदहिन मिश्रने केशवदासका यह सवैया प्रस्तुत किया है—'सोहत सो न सभा जहँ वृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढे कछु नाहीं। ढान न सो जहँ साँच न केसव, साँच न सो जु बसै छल छाँही।' इसमें सभा आदिके उत्तरोत्तर रूपमें वर्णित वृद्धादिक विशेषण हैं, उनका 'सो न' आदि द्वारा विशेषणभावसे निषेध किया गया है। इस प्रकार **'पर-पर विशेष्य'**का उदाहरण है—'रस सो काव्यरु काव्यसौं, सोहत वचन महान्। वचनन ही सौं रसिक जन, तिन सौं सन्त सुजान।' इसमें 'काव्य' आदि पर-पर विशेष्य है। —वि० स्ना०

एकीकरण—एकता या एकत्व। कलाओंमें एकीकरणसे तात्पर्य है विभिन्न तत्त्वोंका इस प्रकार मिलाना कि सम्पूर्ण कृति विश्लिष्ट न लगकर सश्लिष्ट या एक-रूप मालूम दे।

एकीकरण रूपगत भी हो सकता है और भावगत भी। रूपगत एकता वस्तुत सन्तुलनका ही अर्थ रखती है' अर्थात् विभिन्न खण्डोंका परस्पर समतोल होना। (दे०—'सतुलन'), भावगत एकतासे अभिप्राय है विभिन्न विचारोंका किसी-न-किसी रूपमें एक मूल विचारसे परिचालित या घटित होना।

रूप एव भावकी एकता जितनी ही निश्चित और स्पष्ट होगी, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव उतना ही सफल, इसलिए आवश्यक है कि मूल भाव या तर्क सर्वांग और असन्दिग्ध हो। —कु० ना०

एकेश्वरवाद—एकेश्वरवाद अँग्रेजी शब्द मॉनोथीज्मके वजनपर गढ लिया गया है। अँग्रेजीमें मॉनोथीज्मका अर्थ है वह धर्म या धार्मिक दर्शन जिसमें एक ईश्वरका विधान हो। ईश्वर परमात्मा है। वह जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय करता है। वह नित्यज्ञान और आनन्दका आश्रय है। वह निर्दोष तथा समस्त गुणोंका आकर है।

ईश्वर और जगत्के सम्बन्धको लेकर तीन प्रकारके एकेश्वरवाद हो गये।

(क) सर्वेश्वरवाद—इसमें ईश्वर जगत् है और जगत् ईश्वर। दोनोंमें तादात्म्य-सम्बन्ध है। यही ब्रह्मवाद है। अँग्रेजीमें इसे पैनथीज्म कहते हैं। हिन्दी सन्तोंने इसे निर्गुणवाद या निर्गुण ब्रह्मवाद कहा। प्लाटिनस, स्पिनोजा और सूफी सन्त आदि भी ईश्वरको इसी रूपमें मानते हैं।

(ख) ईश्वरकारणवाद—इसमें ईश्वर जगत्से बाह्य है। वह जगत्को उत्पन्न करके पृथक् हो जाता है और जगत्-व्यापार अपने-आप चलता रहता है। तात्त्विक दृष्टिसे इस मतमें ईश्वर जगत्का केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। अरिस्टॉटिल, डेकार्ट, भारतीय नैयायिक तथा वैशेषिक, इग्लैण्ड तथा फ्रासके १८वीं शतीके कतिपय

दार्शनिक तथा इस्लामके अनुयायी इसी रूपमें ईश्वरको मानते हैं। अँग्रेजीमें इसे डीइज्म कहते हैं। भारतीय शब्द ईश्वरकारणवाद इस अर्थमें ही प्राचीन साहित्यमें प्रयुक्त हुआ है।

(ग) ईश्वरवाद—इस मतमें ईश्वर जगत्‌में व्याप्त है। वह अन्तर्यामी और नियन्ता है। जैसा कि तुलसीदासने कहा है, इस मतके अनुसार, ईश्वर 'अन्तर्यामी' और 'बाहरजामी' (बहिर्यामी) दोनों है, अत यह उपर्युक्त दोनों मतोंका समन्वय है। इसीको सगुणवाद या सगुण ब्रह्मवाद भी कहा जाता है। गीतामें ऐसे ईश्वरको पुरुषोत्तम कहा गया है। अँग्रेजीमें इस वादको थीइज्म कहते हैं। ईसाई-मतानुयायी, लाइबनीज तथा भारतमें वैष्णव, शैव और पाचरात्र सम्प्रदायके अनुयायी और हिन्दीके सगुणोपासक भक्त ईश्वरको इसी रूपमें मानते हैं। नानक और उनके अनुयायी भी इसी मतको मानते हैं। इन तीन प्रकारके ईश्वरवादोंमें भिन्न पातजल योगका चौथा ईश्वरवाद है।

(घ) योगेश्वरवाद—इसमें जो पुरुष कर्म, कर्मफल तथा आशय(कर्मफलके अनुरूप सस्कारके सम्पर्क)से शून्य रहता है, वह ईश्वर कहलाता है (योगसूत्र · १ २४)। ईश्वरमें ऐश्वर्य तथा ज्ञानकी पराकाष्ठा है। वह गुरुओंका भी गुरु है। वह प्रसन्न होकर योगियोंके मार्गमें विघ्नरूप क्लेशोंका नाश करके समाधिकी सिद्धि देता है (भोजवृत्ति २ ४५)। वह तारक ज्ञानका दाता है। वह प्रकृति और पुरुषोंमें अन्तर्यामी नहीं है। वह उनका कर्ता भी नहीं है। इस कारण यह योगेश्वरवाद सर्वेश्वरवाद, ईश्वरकारणवाद तथा ईश्वरवादसे भिन्न है। हिन्दीके योगियोंका मत भी यही ईश्वरवाद है।

एकेश्वरवादके सभी रूपोंने अपने-अपने ढंगसे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करना चाहा है।

(क) सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण अलगसे द्रष्टव्य है।

(ख) ईश्वरकारणवादके अनुसार ईश्वरकी सत्ताके लिए नैयायिक उदयनाचार्यने कई प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिनमेंसे तीन मुख्य हैं और इस प्रसंगमें सर्वत्र उल्लेख योग्य हैं।

जगत्‌के समस्त पदार्थ कार्य (उत्पन्न वस्तु) हैं। उनका कोई निमित्त कारण (उत्पादक) होना चाहिये, जैसे घड़ेका निमित्त कारण कुम्भकार है। अत ईश्वर है। मलिक मुहम्मद जायसीकी व्यंग्योक्ति 'मोंका हँसेसि कि कोहरेहिं'-की पृष्ठभूमिमें ईश्वरकी सत्ताका यही प्रमाण छिपा है। इसे कार्यसे कारणका अनुमान कहा जाता है। निर्गुण और सगुण कवियोंने जब ईश्वरको कुम्भकार या शिल्पी कहा है तो उनका भी आशय यही तर्क था।

प्रकृतिके जड पदार्थमें आयोजन (अनुक्रम, सोद्देश्यता) है। इस आयोजनका भी कारण होना चाहिये। कोई जड वस्तु आयोजनकी प्रदात्री नहीं हो सकती, क्योंकि जड वस्तुमें सघटन-शून्यता है और आयोजनपूर्ण वस्तुओंमें सघटनकी पराकाष्ठा है। अत कोई महामहिम चेतन प्राणी ही इस आयोजनका रचयिता है, और वही ईश्वर है। शकराचार्यने आयोजनापूर्ण जगत्‌को रचना कहा है। एक चित्रकार (चितेरा) चित्रकी योजना (या आयोजना) विचार-पूर्वक करता है। जैसे चित्र देखनेसे ही उसकी योजना या आयोजनाके आधारपर किसी चतुर चितेरेकी कल्पना करनी पड़ती है, वैसे शकराचार्यके मतसे जगत्‌की रचना या आयोजना देखनेसे ईश्वरका अनुमान करना पड़ता है। शकरके इस तर्कको उदयनाचार्यने स्पष्ट किया है।

तुलसीदासकी 'देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये' और कबीर आदिकी 'रचनहार', 'चितेरा' आदि पदावलियोंकी पृष्ठभूमिमें आयोजनसे अनुमानित ईश्वरकी सत्ताका ज्ञान है।

संसारमें मनुष्य अपने कर्मोंका फल पाता है। जो जैसा बोता है, वह वैसा काटता है। इस नैतिक विधानका भी कोई विधाता होना चाहिये, अन्यथा इसका व्याख्यान सम्भव नहीं है। अत नियन्ताके रूपमें, कर्मफल देनेवालेके रूपमें कोई चेतन प्राणी अवश्य है और वही ईश्वर है।

यही तीन तर्क ईश्वरवादी भी देते हैं। उनके मतसे पहला तर्क उपादान कारणके रूपमें भी ईश्वरको सिद्ध करता है।

पश्चिममें डेकार्ट (१७वी शती)से लेकर आजतक इन तर्कोंका मण्डन और खण्डन होता रहा है। निष्पक्ष अनुशीलनसे यही सिद्ध होता है कि कोई चेतन प्राणी जगत्‌के मूलमें है। वह ईश्वर अर्थात् सबसे बड़ा चेतन प्राणी, उपास्य आदि है यह सिद्ध नहीं होता। वैज्ञानिक विकासवादने जगत्‌की उत्पत्तिमें चेतन प्राणीको भी अनावश्यक और व्यर्थ बताया है। इस मतसे चेतनता जड पदार्थका ही विकास है। आधुनिक युगके प्रत्ययवादियोंने विकासवाद और ईश्वरवादके समन्वयपर जोर देकर उपर्युक्त तर्कोंके साथ विकासवादकी सगति दिखलायी है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक और दार्शनिक काट (१८वीं शती) उपर्युक्त और तीसरे तर्कको सही मानता है और पहलेको निष्फल।

(ग) पतंजलिने ईश्वरकी सिद्धि यों की है—

ज्ञानमें तारतम्य (न्यूनाधिक्य) है। जहाँ तारतम्य है वहाँ पराकाष्ठा भी है। अत ज्ञानकी भी पराकाष्ठा है, जो ईश्वर है।

पर यह तर्क लचर है। यह निश्चय रूपसे नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक न्यूनाधिक गुणकी पराकाष्ठा है। अनुभवमें ज्ञान, आनन्द, ईमानदारी, सफेदी, किसी गुणकी पराकाष्ठा नहीं आती। अत तर्कसे यह प्रमाण गलत है। हाँ, रहस्यानुभूति द्वारा इसका अनुमोदन हो सकता है।

वस्तुत ईश्वरके विषयमें दिये जानेवाले सभी प्रमाण प्रत्यक्षमूलक तर्कसे कट जाते हैं, केवल वे ही प्रमाण शेष रहते हैं जो सन्त, भक्त, महात्मा आदि रहस्यवादी अपने दिव्य अनुभवके आधारपर देते हैं। हिन्दीका सन्त और भक्त-साहित्य ऐसे अनुभवोंका विश्वकोश है।

ऋग्वेदमें एकेश्वरवादका उल्लेख है। विष्णु, वरुण, इन्द्र आदिको विभिन्न लोगोंने अपना परमेश्वर माना। पुरुषसूक्त-में शुद्ध ईश्वरवाद है और यही कारण है कि आज भी वैष्णव जन प्रतिदिन इसका ध्यान करते हैं। एक देवको जानना, उसकी उपासना परमात्माके रूपमें करना, उसके लिए यज्ञादि करना, वैदिक ऋषियोंका धर्म था। ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्डके नामसे उनकी त्रिविध साधनाका सुन्दर वर्णन वेदमें मिलता है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद'में ईश्वरवादका दार्शनिक वर्णन किया गया है।

महाभारतकालमें गीताकी रचना द्वारा ईश्वरवादका ऐसा सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया गया कि आज भी वह अतुलनीय है। इसीसे ज्ञात होता है कि उस समयतक एकेश्वरवादकी भावना पूर्णतया विकसित हो गयी थी। सूत्रकालमें न्याय-वैशेषिक, योग और वेदान्त द्वारा एकेश्वरवादके उपर्युक्त चारों वादोंका वर्णन हुआ। पुराणकालमें ईश्वरवादमें भक्ति-साधना, अवतारवाद और मूर्तिपूजाका प्रवेश हुआ। भागवत पुराण आज भी ईश्वरवादके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थोंमेंसे एक है। पाञ्चरात्रों, शैवों और शाक्तोंमें भी एकेश्वरवादकी भावनाका वैसे ही विकास हुआ जैसे ऋग्वेदसे भागवत पुराणतक वैष्णवोंमें। दोनों धाराओंमें परस्पर आदान-प्रदान भी हुआ। सगुण ब्रह्मवादियोंमें रामानुजने नारायणको और मध्वने विष्णुको परमेश्वर माना तो अन्य लोगोंने कृष्णको। स्वामी रामानन्द, कबीर और तुलसीदासने रामको ही परमेश्वर माना। इस प्रकार मुख्यत कृष्णोपासना और रामोपासनाका सर्वत्र प्रचार हुआ। कृष्णोपासनामें राधा तथा अन्य गोपियोंको अधिक महत्त्व देनेसे कालान्तरमें अनैतिक आचारोंको भी अवकाश मिला। रामोपासना प्राय सदैव विशुद्ध नैतिक बनी रही।

हिन्दीके निर्गुण सन्तोंमें प्राय नानक और उनके अनुयायियोंको तथा राधास्वामी-सत्सगको छोड़कर सभी रामोपासनाके अन्दर आते हैं, पर उनके राम तुलसी जैसे सगुणोपासकोंके रामसे भिन्न हैं। वे ब्रह्म हैं, न कि दशरथसुत। नानक-पन्थ हिन्दू धर्मका ही अग है। नानकका एकेश्वरवाद बहुत-कुछ द्वैतवादी एकेश्वरवाद या ब्रह्मवाद है। —म० ला० पा०

एक्सप्रेशनिज्म—(expressionism) 'एक्सप्रेशनिज्म' कलात्मक अभिव्यक्तिके रूपको कहते हैं, जो किसी परिस्थितिके मूल आवेगकी बाह्याकृतिको स्पष्ट करनेका प्रयत्न करती है। आधुनिक अर्थोंमें 'एक्सप्रेशन' शब्दका अर्थ या तो किसी आन्तरिक तथ्यका बाह्याकार प्रकट या स्पष्ट करना या प्रतिनिधित्व करना और या सामान्य रूपमें एक वस्तु द्वारा दूसरीकी ओर सकेत करना होता है।

सामान्य रूपसे यह कहा जा सकता है कि इस वादका प्रारम्भ, आधुनिक युगमें सन् १९१०ई०के लगभग जर्मनीमें हुआ। यों उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम वर्षोंमें भी कहीं-कहीं इसके संकेत मिलते हैं। प्रथम महायुद्धके बाद यह जर्मन साहित्यमें, विशेष रूपसे नाटकोंमें (दे०—'द एडिंग मेशीन'—१९२३ ई० एमर राइस आदि नाटक) अपने पूर्ण विकसित रूपमें मिलता है। यह फ्रैंक वेडकाइडके 'अवेकनिंग आफ स्प्रिंग' तथा आगस्ट सिंट्रडवर्गके 'दि स्पूक सोनाटा' आदि नाटकोंमें बीजरूपमें मिलता है। ये उनके चरित्रोंके अवगुणों या विशेषताओंको कल्पना-शैलीमें बताते थे। इनकी भाषा बहुत प्रभावपूर्ण होती थी, लेकिन उसमें आत्माभिव्यक्तिपूर्ण स्वगत कथन भी हो सकते थे। इनका कार्य आकस्मिक, काल्पनिक या बहु-आधारित भी हो सकता था जिसका निर्माण कला-चातुर्य और गम्भीर प्रभावयुक्ततासे होता है।

'एक्सप्रेशनिज्म' एक ऐसा तत्त्व है, जो किसी-किसी रचनामें किसी अपनायी हुई विधिके बजाय प्रेरणा देता या प्रकाशित करता है।

क्रोचे(१८६६-१९५२ ई०)ने यह यह तथ्य स्पष्ट रूपसे बताया है कि कला सदैव आत्माभिव्यक्तिका एक रूप है। उसके विचारसे, जो कुछ भी अस्तित्व रखता है, वह बाह्य नहीं है, यद्यपि मस्तिष्क अवश्य ही, अपने स्वयंके उद्देश्योंको गुप्त रख सकता है। स्काट जेम्सने क्रोचेके सिद्धान्तकी आलोचना करते हुए लिखा है कि क्रोचेने पृथ्वीपर जिस भवनका निर्माण किया है, उसका कोई आधार नहीं है। वह कलाके विषयमें लिखता है और वह कलाकारसे सलाह लेना भूल गया है। यदि वह उससे राय लेता, तो वह उसे बताता कि कलाका सम्पूर्ण कार्य ससारको कुछ सन्देश देना है और यह कि वह कोई सुन्दर वस्तु होगी। क्रोचे सन्देशके विषयमें बिलकुल भूल गया है। उसका विचार है कि क्रोचेका कवि कोई भाषा नहीं बोलता। अधिकसे अधिक उसका भाषण एक स्वगत-कथन हो सकता है। उसका कलाके विषयमें अपना विचार यह है कि कला भाषासे सम्बन्ध रखती है। वह किसी भी माध्यमसे प्रकट की गयी हो, यह गौण बात है (दे०—'द मेकिंग ऑफ लिट्रेचर' आर० ए० स्काट जेम्स)। उसने क्रोचे तथा आर्नाल्ट, दाँते, अरस्तू या गेटे आदिकी वैचारिक भिन्नताको भी स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है।

लैटिन तथा होरेस क्विंटेलियन और ओविड आदिके उदाहरणोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि किसी रचनामें अभिव्यक्ति करनेके प्रयोगकी भाषा-कथन या शब्द-कथनके सन्दर्भमें तीन प्रकारसे व्याख्या हो सकती है—(१) उद्देश्यपूर्ण अभिव्यक्ति, (२) समान रूपमें उद्देश्यपूर्ण प्रदर्शन अथवा सकेत और (३) मनोवैज्ञानिक आन्तरिक स्थिति।

उपर्युक्त मानसिक विचारोंके अतिरिक्त तीन मुख्य सिद्धान्त हैं जिनकी सहायतासे एक्प्रेशनिज्मको कहीं पहचाना जा सकता है—(१) जिसे अभिव्यक्त किया जाना है (अर्थात् experimend), (२) जो अभिव्यक्त करता है (अर्थात् experiment) और (३) जिसके माध्यमसे अभिव्यक्त किया जाय (अर्थात् expressor)। इनमेंसे प्रथम (अर्थात् experimend)से सम्बन्धित एक और आधुनिक सिद्धान्त है, जो किसी अभिव्यक्तिके बाह्याकारके प्रकटीकरणको यह समझता है कि वह उसे मस्तिष्कमे बिलकुल निकाल देना है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रभावोंकी अभिव्यक्ति और पहिचानी हुई अभिव्यक्तिमें पर्याप्त अन्तर है।

किसी कलामें अभिव्यक्तिको सदैव उसकी प्रक्रियामें एक मुख्य तत्त्व तथा अभिव्यंजनाको कार्यमें एक प्रमुख तत्त्व माना जाता है। क्लैसिकल काव्यशास्त्रमें अभिव्यजनाको आकार या रचनासे कम महत्त्वपूर्ण माना गया है। क्लैसिकल नियमका व्यवहार और सिद्धान्त सदैव यह रहा है कि यद्यपि कलामें किसी विचार या अनुभूतिकी अभिव्यक्ति महत्त्वपूर्ण हो सकती है, परन्तु बिना किसी रचनाके यह असम्भव है, जो अभिव्यक्त करने योग्य होती है।

अभिव्यजनाकी रचनाके विरुद्ध, निस्सन्देह, आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियोंकी मुख्य समस्या लेसिंगके 'लायाक़न'का

उस नियमसे अलग हट जानेका विषय है। लेसिंगके बाद यूरोपीय सिद्धान्त अभिव्यंजनाके महत्त्वपर अधिक जोर देने लगा है और इस प्रकार अन्तमें एक ऐसी स्थितिको पहुँचता है, जहाँसे ललित कलाको एक उद्देश्यके निर्माणके लिए प्राथमिक नहीं माना जाता, लेकिन किसी विचारकी अभिव्यक्तिके समान, या व्यवहारमें, एक अनुभवकी रिपोर्ट समझा जाता है। ललित कला विषयक यह धारणा यूरोपमें सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दीमें व्याप्त रही। और यद्यपि बीसवीं शताब्दीमें इसकी बहुत आलोचना हुई है, तब भी अनभिज्ञतासे यह हमारे समयकी सौन्दर्यशास्त्र-विषयक सामान्यतम धारणा है। क्रोचे इसका प्रमुख वैज्ञानिक प्रचारक है। उसके सिद्धान्तका आधार यह है कि अभिव्यक्ति और ललित कला दोनों एक-दूसरेसे मिलते-जुलते हैं, और इस प्रकार, चूँकि सब ललित कलाएँ अभिव्यक्ति हैं, सब अभिव्यक्ति ललित कला है।

क्रोचे कलाकी समानता और सौन्दर्यका समर्थन करता है और उसे उनसे पृथक् करता है, जिन्हें सामान्य रूपसे कला कहा जाता है। उसका विचार है कि सौन्दर्य वस्तुओंका कोई गुण नहीं है, चाहे वे पेड़ हों या पत्थरके टुकड़े, लेकिन अन्य प्रत्येक महत्त्वके समान, केवल किसी आत्मिक क्रियाशीलके स्वभावके रूपमें उत्पन्न होता है। (दे०–'द थ्योरी ऑफ ब्यूटी' - कोरिट)। इसलिए क्रोचे, हीगेल, शोपेनहावर तथा किसी सीमातक काण्टके विचारके अनुसार कला ज्ञानका एक रूप है या वह हमारी प्रकृतिके व्यावहारिक पक्षके विरुद्ध, सम्भवत, सैद्धान्तिक है।

[सहायक ग्रन्थ–हिस्टरी ऑफ एस्थेटिक - बोसाँके] —प्र० ना० ट०

एलिगिरी–दे०–'रूपककथात्मक काव्य', 'दृष्टांत काव्य'।

एलिजी–दे०–'शोक गीति'।

एलेक्ट्रा मनोग्रंथि–दे०–'मनोग्रन्थि'।

एसे–दे०–'निबन्ध'।

ऐतिहासिकतावाद–इतिहास-दर्शन अथवा इतिहासकी व्याख्याके आधारपर धर्म, दर्शन, आचार-शास्त्र, संस्कृति, साहित्य, कला आदिका स्वरूप स्थिर करनेकी प्रवृत्तिके लिए 'साहित्यकार'के जनवरी, १९५७ ई०के अंकमें 'साहित्य शास्त्रमें ऐतिहासिकतावाद' शीर्षकके अन्तर्गत प्रकाशित 'मुद्राराक्षस'के लेखमें 'ऐतिहासिकतावाद' संज्ञा दी गयी है। शायद अँग्रेजीमें इस प्रवृत्तिका अभी कोई नामकरण नहीं हुआ है। वहाँ इस प्रसंगमें 'इतिहास-दर्शन' (historicism, historiology या philosophy of history), ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (historical perspective) जैसे सामान्य शब्दोंसे ही काम चलाते हैं। वैसे 'ऐतिहासिकतावाद'के लिए अँग्रेजीमें historicalism शब्दका प्रयोग हो सकता है। सन् १९५१ ई० में न्यूयार्कमें प्रकाशित 'अमेरिकन लिटरेरी क्रिटिसिज्म १९००–१९५०' नामक संग्रहमें एडमण्ड विलसनका आलोच्य विषयपर एक लेख है, जिसका शीर्षक है 'The historical Interpretation of literature' जिसका रूपान्तर होगा 'साहित्यकी ऐतिहासिक व्याख्या' और जो 'ऐतिहासिकतावाद' अथवा 'साहित्यमें ऐतिहासिकतावाद' जैसे शब्दोंसे अधिक भिन्न नहीं है।

यों तो इतिहास-दर्शन आदिम, प्राचीनतम, प्रागैतिहासिक सभ्यताओंमें भी किसी-न-किसी रूपमें पाया जाना है, जैसा कि हिन्दुओंमें युग-त्रयोंकी कल्पनाके रूपमें, किन्तु इसका व्यवस्थित रूप हमें इटलीके सेण्ट आगस्तिन (३५४–४३० ई०)की पुस्तक 'द सिवितेत देइ' (De civitate Dei अर्थात् ईश्वरका नगर)में मिलता है। आगस्तिन ऐतिहासिक विकासके मार्गको रेखाकार मानता था। इटलीमें उसके बाद विको और हर्टरके नाम प्रसिद्ध हैं। फ्रास और जर्मनीके इतिहास-दर्शनका सारे यूरोपपर भारी प्रभाव पड़ा। विको (१६६८–१७४४ई०), हर्डर (१७४४–१८०३) और हीगेल (१७७०–१८३१ ई०)-का उल्लेख आगे आयेगा। हीगेलके बाद उसका वास्तवार्थवादी शिष्य कार्ल मार्क्स (१८१८–१८८३ ई०) सबसे प्रभावशाली इतिहासदार्शनिक हुआ, जिसका परवर्ती इतिहास-दर्शनपर व्यापक प्रभाव पड़ा है। वह समाजकी अर्थ-व्यवस्था तथा आर्थिक प्रवृत्तियोंको ऐतिहासिक विकासके मूलमें मानता है। वर्तमान शतीमें जर्मनीने एक और बड़ा इतिहासदार्शनिक पैदा किया, जिसका नाम ओस्वाल्ड स्पेंग्लर (१८८०–१९३६ ई०) था। इंग्लैण्डका प्रसिद्ध इतिहास-दार्शनिक आर्नाल्ड जोसेफ ट्वायनबी (१८८९ ई०) इसका बहुत ऋणी है। अमेरिकाके समाजशास्त्रियोंमेंसे अनेकने इतिहासकी नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें पितिरिम ए० सोरोकिन अग्रगण्य है। स्पेंग्लर और सोरोकिन अपने-अपने ढंगके चक्रवादी इतिहासदार्शनिक हैं।

हम यहाँ केवल साहित्यके सन्दर्भमें 'ऐतिहासिकतावाद'-पर विचार करेंगे। साहित्यिक ऐतिहासिकतावादका अर्थ है साहित्यके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पक्षोंका उद्घाटन और विश्लेषण कर उसके स्वरूप, प्रतिमानों और मूल्योंका निर्णय करना। ऐतिहासिकतावादी समाजके विकास-स्तर और तत्कालीन साहित्यके बीच आंगिक सम्बन्ध देखता है। कई तो उनमें कारण-कार्य-भावका सम्बन्ध माननेके पक्षमें हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि ऐतिहासिकतावादी साहित्यमें स्थायी तत्त्व स्वीकार ही नहीं करते। अधिकांश ऐतिहासिकतावादियोंने साहित्य सम्बन्धी शाश्वत प्रतिमानों एवं साहित्यमें स्थायी तत्त्वोंकी सत्ता मुक्त कण्ठसे स्वीकार की है। कार्ल मार्क्स भी यूनानी साहित्यमें स्थायी तत्त्व मानता ही था। ऐतिहासिकतावादी केवल यह देखता है कि समाजविशेष अथवा युगविशेषका साहित्य युग तथा समाजका कितना और कैसा प्रतिबिम्बन करता है, किन-किन तत्त्वोंसे अनुशासित है, उसने समाजकी विकास-दिशाके निर्धारणमें कहाँतक योग दिया है, उसका व्यापक साहित्य-परम्परामें क्या स्थान है?

उपर्युक्त अमेरिकन समीक्षकने टी० एस० इलियट और जार्ज सेण्ट्सबेरी जैसे सफल समीक्षकोंको अनैतिहासिकतावादी बतलाया है। वे आलोचनाके समय आलोच्य साहित्यिक कृतिके निर्मायक तत्त्वोंकी मीमांसामें रुचि नहीं लेते बल्कि अन्य कृतियोंसे उसकी तुलना करके झट मूल्य-निर्णय कर लेते हैं। उन्हें बस शुद्ध निरपेक्ष मूल्यांकनसे मतलब है, साहित्यकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमिके वैचित्र्यकी

ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। मूल्याकनकालमें वे साहित्य-को मानों कालातीत इतिहासशून्य मान लेते हैं। भारतकी प्राचीन, संस्कृत साहित्यकी आलोचना-शैली भी शुद्ध अनैतिहासिक थी। साहित्यशास्त्रियोंके लिए मानो सारा संस्कृत साहित्य एक ही क्षणमें रचा हुआ हो। 'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्, दण्डिन' पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणा।' वस इसी प्रकारकी आलोचनाका विकास प्राचीन भारतीय साहित्यमें हो सका था। वस्तुत आधुनिक शैलीकी इतिहासविद्या उस समय थी ही नहीं, ऐतिहासिकतावादी साहित्यशास्त्र कहाँसे विकसित होता?

सन् १७२५ ई० में इटलीके दार्शनिक विकोकी 'ल साइन्झा नुओवा' (La Scienza Nuova अर्थात् The new Science, 'अभिनव विज्ञान') नामकी पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें उसने साहित्यकी सामाजिक व्याख्याकी नींव डाली थी। उसने होमरकी रचनाओंकी व्याख्या इतिहास और भूगोलके आधारपर की है। अठारहवी-शतीके आठवें दशकमें तद्देशीय हर्टरने अपनी 'आइडियाज ऑन द फिलॉसफी ऑफ हिस्टरी'-(Ideas on the Philosophy of History)में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि काव्य भाषा, व्यवहार, जल-वायु आदिके अनुसार अपना रूप वदलता रहता है। सन् १८२२-२३ ई०में हीगेलने इतिहासदर्शनपर दिये हुए अपने व्याख्यानोंमें, जो 'लैक्चर्स ऑन द फिलॉसफी ऑफ हिस्टरी' (Lacures on the Philosophy) नामसे अँग्रेजीमें पुस्तकाकार प्रकाशित है, कहा है कि कलाएँ और साहित्य युग-आत्माके व्यंजक एवं तद्द्वारा अनुशासित होते हैं। ओस्वाल्ड स्पैंग्लरका भी ऐसा ही मत है। हिपोलाइट टेन नामक फ्रांसीसी समीक्षकने अपने 'हिस्टरी ऑफ इंग्लिश लिट्रेचर' (History of English Literature १८६३ ई०)में यह दिखलाया है कि साहित्य जातीय तत्त्व (Race), परिमर (Milieu) तथा काल-(Moment)का परिणाम है। उसके अनुसार मनुष्य कविताकी रचना कुछ उसी प्रकार करता है, जैसे रेशमके कीड़े कोवेका और मधुमक्खियाँ छत्तेका निर्माण करती हैं। टेनके समसामयिक इतिहासदार्शनिक मिकेलेट, रेनान, सेण्ट वीव भी साहित्यकी ऐतिहासिक व्याख्याके पक्षपाती थे। कार्ल मार्क्सके अनुसार कला और साहित्य तथा संस्कृतिके अन्य रूप भी अर्थव्यवस्थाकी आधार-शिलापर प्रतिष्ठित प्रासाद-स्वरूप हैं। साहित्यिक परिवर्तनोंका अन्तिम कारण अर्थ-व्यवस्थान्तर्गत परिवर्तन ही है। उसी कालके फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्त कोम्त मानवीय इतिहासको तीन युगों—पौराणिकता-पारलौकिकता (theological), दार्शनिक (metaphysical) और वैज्ञानिक-ऐहिक (scientific or positive)में विभक्त करता है। उसके अनुसार कला एव साहित्य पौराणिकता-पारलौकिकतासे आरम्भ होते देखे जाते हैं। अमेरिका प्रवासी रूसी समाजदार्शनिक पितिरिम ए० सोरोकिन संस्कृति और साहित्यके तीन रूपों—इन्द्रियवाद (sensatism), अतीन्द्रियवाद (ideationalism) तथा अध्यात्मवाद (idealism)की पुन-पुन आवृत्तिमें विश्वास करता है।

इस प्रसगमें सौन्दर्यमूलक इतिहास-दर्शन अत्यन्त दिलचस्प है। सौन्दर्यवादी व्याख्याकार लिजेटीका कहना है कि संस्कृतिकी बाल्यावस्थामें स्थापत्य-कला, परिपक्वा-वस्थामें मूर्ति-कला तथा जीर्णावस्थामें चित्र कलाका प्राधान्य होता है। हीगेलने अपने विशाल ग्रंथ 'फिलॉसफी ऑफ फाइन आर्ट्स' (philosophy of Fine Arts)में एक महत्त्वपूर्ण सौन्दर्यदर्शनकी उद्भावना की है। वह कलाके विकासको महाप्रत्यय (the great idea) अथवा विश्वात्मा(the world spirit)की अभिव्यक्तिका प्रकारविशेष मानता है। इस अभिव्यक्ति-प्रक्रियाके तीन सोपान हैं—प्रतीकात्मक, क्लासिकल और रोमानी। विक्टर ह्यूगोने क्रामवेल(Cromwel)के आमुखमें कहा है कि प्रत्येक जातिका साहित्य तीन क्रमिक अवस्थाओंसे पार होता है। वे अवस्थाएँ हैं—प्रगीतात्मक, वीरगाथात्मक और नाटकीय। सौन्दर्यवादियोंने कला और संस्कृतिके बीच अन्योन्य-सम्बन्ध वडे विस्तारसे दिखलानेका प्रयत्न किया है। लिजेटीके अनुसार कला संस्कृतिका वैरोमीटर (वायुभारमापक यन्त्र) है।

हिन्दीमें ऐतिहासिकतावादी प्रवृत्तिके दर्शन हमें मार्क्सवादी और समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धतियोंमें ही होते हैं। साहित्यके व्यापक ऐतिहासिकतावादी दृष्टिकोणसे अध्ययनकी परिपाटी अभी प्रचलित नहीं हुई है। 'मुद्राराक्षस'के लेखका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 'आलोचना'में हर्षनारायणने भी एक-आध एतद्विषयक लेख लिखे हैं।

[सहायक ग्रन्थ—(१) सोशल फिलॉसफीज इन एन एज ऑफ क्राइसिस सोरोकिन, (२) फिलॉसफी ऑफ फाइन आर्ट्स : हीगेल, (३) स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म लूकाक्स] —ह० ना०

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (historical perspective)—इतिहासकी कई परिभाषाएँ देखनेको मिलती हैं, लेकिन यह बात सर्वसम्मत है कि वह परिवर्तन, विशेषत मानवता-में परिवर्तनका अध्ययन करता है। प्रत्येक समाज, संस्था, वस्तुकी अपनी एक अतीत अवस्था होती है। उस समाज, संस्था या वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उसके केवल वर्तमान स्वरूपको समझना पर्याप्त नहीं है, उसके अतीतका भी यथासाध्य ठीक परिचय होना अपेक्षित है। भारतीय संस्कृतिका यथावत् परिचय प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि युग-युगान्तरमें उसमें जो परिवर्तन होते आये हैं उनका पता लगायें, केवल उसकी वर्तमान अवस्थाके आधारपर उसका स्वरूप-निर्णय भ्रामक सिद्ध होगा। समाज-वादकी सुन्दर योजनाएँ कार्ल मार्क्सके पूर्व भी विद्यमान थीं, किन्तु मार्क्सने उन सबमें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यकी कमीकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इतिहासकी गति-विधिका पर्यवेक्षण कर जो योजना बनायी जायगी वही अधिक व्यवहार्य हो सकती है। वस्तुत वर्तमान ही सब-कुछ नहीं, अतीत भी बहुत-कुछ है, जिसका परिज्ञान वर्तमानको समझने और भविष्यको सँवारनेके लिए नितान्त आवश्यक है।

इतिहास, प्राचीन परिभाषाके अनुसार, अनुभवके

आधारपर शिक्षा देनेवाले दर्शनका नाम है। इस परिभाषामें बहुत सार दिखाई देता है। पशुओंकी अपेक्षा मनुष्यमें यह विशेषता है कि वह अनुभवसे सीखता है, उसका जीवन सहज प्रवृत्तियोंके बदले अधिकांशत अनुभवजन्य विवेकसे परिचालित है। अत यदि मनुष्यको अनुभव प्राप्त करना है, यथार्थ अनुभवपर अपनी जीवन-प्रणाली प्रतिष्ठित करनी है, तो उसे इतिहासका सहारा लेना ही होगा। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यके बिना वह अतीत द्वारा प्राप्त विकास-स्तरसे आगे जानेकी आशा नहीं कर सकता।

इतिहास-विद्याके विकासके पूर्व मनुष्यका तत्त्वज्ञान ही नहीं अपितु व्यवहार भी कोरी, अनुभवशून्य कल्पनापर आश्रित था। इतिहास हमें उन कल्पनाओंकी जाँच कर उनके गुण-दोषकी परीक्षाका अवसर प्रदान करता है। वस्तुत ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यके विकासके ही परिणामस्वरूप जीव-विज्ञान, नृतत्त्व-विज्ञान, समाज-विज्ञान आदि अनेक विज्ञानोंका उदय सम्भव हो सका है, अन्यथा या तो इन विज्ञानोंकी सत्ता ही नहीं होती या होती तो कोरी कल्पनापर आधारित होती। आजकल धर्म, आचार, कला, कानून—प्रत्येक सस्था अथवा प्रवृत्तिको ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें देखनेकी परिपाटी चल पडी है। यही कारण है कि आजका मनुष्य अतीतको अधिक प्रामाणिक रूपमें समझने एव उसपर पहलेकी अपेक्षा अधिक समीचीन निर्णय देनेकी स्थितिमें है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यके अभावमें तो पुराने लोग अपने समयमें प्रचलित मूल्यों और प्रतिमानोंको ईश्वर-निर्धारित समझनेकी भूल करते थे। अब हम इनकी सापेक्षतासे परिचित हैं। —ह० ना०

ऐतिहासिक भौतिकवाद—यह शब्द 'हिस्टॉरिकल मैटीरियलिज्म'का हिन्दी रूपान्तर है। इसकी उत्पत्ति मार्क्सवादी विचारों और लेखोंमे होती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद मनुष्यके इतिहास और समाजकी एक विशिष्ट व्याख्या करनेका प्रयास करता है। इसके अनुसार मनुष्यका सामाजिक जीवन उसकी आर्थिक, राजनीतिक और भौगोलिक परिस्थितियों द्वारा अनुशासित होता है। इन सब परिस्थितियोंमें आर्थिक परिस्थितियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद इतिहासको रहस्यात्मक शक्तियोंका प्रकाशन नहीं मानता। इस दृष्टिसे ऐतिहासिक भौतिकवादका दृष्टिकोण पदार्थवादी है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके सामाजिक रूपको ही ऐतिहासिक भौतिकवाद (दे०) कहते है। अत द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके मूलभूत सिद्धान्त ऐतिहासिक भौतिकवादके भी आधार हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद जीवनकी भौतिक परिस्थितियोंपर ही जोर देता है। निम्नलिखित रूपोंमें उन भौतिक परिस्थितियोंके सैद्धान्तिक रूपका निदर्शन किया जा सकता है—

(१) भौतिक परिस्थितियोंसे हमारा तात्पर्य सास्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियोंसे है। भौगोलिक परिस्थितियाँ मनुष्यके चरित्रका निर्माण करती है, किन्तु केवल इन्हींसे उसके चरित्रका निर्माण नहीं होता और न तो यह परिस्थितियाँ उसके परिवर्तनका प्रधान कारण ही हैं। मूलभूत परिस्थिति आर्थिक परिस्थिति है। ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार जीवन-यापनके जो साधन हैं और उनके उपार्जनके लिए जिस उत्पादन-प्रणालीकी आवश्यकता है, वही हमारे समूचे सामाजिक अस्तित्वका अनुशासन करती है। प्रत्येक मनुष्यके जीनेके लिए भोजन-वस्त्र और अन्य सामाजिक वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। इनके उत्पादनके औजार, जनता और उत्पादनशक्तिके सयोगसे ही उत्पादनशक्तियोंकी सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त उत्पादनके सम्बन्धमें मनुष्य एक-दूसरेके निकट आते हैं, जिससे आर्थिक मानवीय सम्बन्धोंकी सृष्टि होती है। अत उत्पादनप्रणाली और मानवीय आर्थिक सम्बन्धोंके समन्वयसे ही समाजका इतिहास निर्मित होता है।

(२) उत्पादन निरन्तर गतिशील है, क्योंकि मार्क्सवादी किसी भी सामाजिक व्यवस्थाको स्थायी नहीं मानते, इसलिए मनुष्य विभिन्न युगोंमें विभिन्न प्रकारकी उत्पादन-प्रणालीकी रचना करता रहता है।

(३) उत्पादनके समूचे परिवर्तन उत्पादनशक्तियोंके परिवर्तनके नाते होते हैं, जिनका प्रभाव मनुष्यके आर्थिक सम्बन्धोंपर भी पडता है और इस प्रकारसे सामाजिक वातावरणमें इन दोनोंकी अन्त क्रियाएँ चलती रहती हैं। अबतक इन्हीं अन्त क्रियाओंके कारण मनुष्यने चार प्रकारकी सामाजिक व्यवस्थाओंका निर्माण किया है—१ प्रारम्भिक साम्यवाद, २ दास-व्यवस्था, ३ सामन्तवाद, ४ पूँजीवाद।

और वर्तमान समयमें जब उत्पादनकी शक्तियाँ नये रूपोंमें परिवर्तित हो रही हैं तो हम एक नयी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाकी सृजना पा रहे हैं, वह व्यवस्था है समाजवाद।

(४) ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार इतिहासकी एक मूलभूत एकता है और इस मूलभूत एकताका यह कारण है कि समूचा इतिहास निश्चित नियमोंसे परिचालित है। ये नियम द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके सामाजिक सस्करण हैं।

(५) ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार आर्थिक व्यवस्थाके अनुकूल ही सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सास्कृतिक व्यवस्थाओंकी रचना की जाती है।

(६) ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक परिस्थितियोंका विश्लेषण यान्त्रिक दृष्टिसे नहीं करता। वह यह नहीं मानता है कि सामाजिक परिस्थितियाँ केवल मानव-मस्तिष्कको प्रभावित ही करती हैं, प्रत्युत ऐतिहासिक भौतिकवाद इसके स्थानपर यह स्वीकार करता है कि भौतिक परिस्थितियाँ और मानव-मस्तिष्क, दोनों एक-दूसरेको प्रभावित करते रहते हैं। इन्हींकी अन्त क्रियाएँ इतिहासकी गति-विधिका नियन्त्रण करती हैं।

ऐतिहासिक भौतिकवाद केवल ऐतिहासिक विकासके एक पक्षपर जोर देता है, जो १९वीं शताब्दीके उत्तरार्द्ध तक नगण्य माना जाता था। हमारी वर्तमान ऐतिहासिक परिस्थितिमें ऐतिहासिक भौतिकवाद समूचे इतिहासका समग्र दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि आज हमें यह ज्ञात है कि इतिहास विभिन्न शक्तियोंका समन्वित रूप है। दे०—'मार्क्सवाद'। —रा० कृ० त्रि०

ओज गुण–दे०–'गुण', दूसरा प्रकार।

ओड–दे०–'संबोध(न)गीति'।

ओहं–दे०–'सोहं'।

औड्मागधी प्रवृत्ति–दे०–'प्रवृत्ति', पहली।

औत्सुक्य–प्रचलित तैंतीस संचारियोंमेंसे एक संचारी भाव। अग्निपुराणमें इस संचारी भावकी यथार्थ परिभाषा दी गयी है–'औत्सुक्यमीप्सिताप्राप्तेर्वाञ्छया तरला स्थिति' (३३९ ३०) अर्थात् मनकी वह अस्थिर अवस्था जो इष्टकी प्राप्तिकी इच्छाके कारण हो। भरतने इसके विभाव एव अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे दिये हैं (नाट्य० ७ . ७० ग) 'प्रियजनके वियोगमें उसके स्मरण और उद्यान इत्यादि उद्दीपनोंके दर्शनसे यह भाव जाग्रत् होता है। दीर्घश्वास, चिन्तामग्न अधोमुख, निद्रा एवं शयनकी अभिलाषासे इस भावकी अभिव्यक्ति होती है।' पर कालान्तरमें इस भावकी आगे व्याख्या हुई और दशरूपककारने इसके विभावों और अनुभावोंको दूसरा रूप दिया। उनके अनुसार किसी मनोहारी अभिलाषा, सम्भोग या सम्भ्रमके कारण वाछित वस्तुकी प्राप्तिमें विलम्बको सहन करनेकी क्षमता न होनेसे औत्सुक्य होता है। उच्छ्वास, त्वरा (शीघ्रता), श्वास, हृदयमें ताप, स्वेदकण या श्रम इसके अनुभाव हैं।

हिन्दीमें सामान्यत विश्वनाथके आधारपर लक्षण दिया गया है—'जहाँ हितूके मिलन-हित चाह रहति हिय माँह।' (जगत . ५२३)। देवके 'देस न काल सह्यौ परै' (भाव०। संचारी)में विश्वनाथके 'कालक्षेपासहिष्णुता' (सा० द० ३ १५९)का भाव ही है। पद्माकरकी नायिकाको प्रिय-प्रतीक्षा असह्य लगती है—'सजे विभूषन वसन सव, सुपिय मिलनकी हौस। सह्यो परत नहिं कैस हू, रह्यौ अधघरी द्यौस।'-(जगत ५२५)। रसखानके प्रसिद्ध सवैया 'मानुष हौं तो वही रसखान वसौं मिलि गोकुल गाँवके ग्वारन। जौ पशु हौं तो कहा वस मेरो चरौं नित नन्दकी धेनु मझारन।'में यही व्यग्रता व्यक्त हुई है। अयोध्यासिंह उपाध्यायके 'प्रियप्रवास'में कृष्णके लिए गोप-गोपियोंकी उत्सुकताका चित्रण है—'वयवती युवती बहु वालिका सकल वालक वृद्ध वयस्क भी। विवशसे निकले निज गेहसे स्वदृगका दुखमोचनके लिए।'

रामचन्द्र शुक्लने इसका वर्गीकरण सुखात्मक मनोभावोंमें किया है (र० मी० पृ० २००), परन्तु यह वास्तवमें कहना कठिन है। निश्चय रतिके कारण औत्सुक्य होता है और वह आशाजनक भी, पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इस अवस्थाके परिणाम सुखान्त और दु खान्त दोनों ही हो सकते हैं। यह बात दूसरी है कि काव्यशास्त्रियोंने प्राय उल्लासपूर्ण ही उसके उदाहरण दिये हैं। —ज० कि० व०

औदार्य–दे०—'अयत्नज अलकार', छठा प्रकार तथा 'सात्विक गुण', 'नायक'।

कप–दे०—'सात्विक अनुभाव', पाँचवाँ।

कँहरऊ–कँहार जातिके लोग पानी भरने और पालकी ढोनेका काम प्राय किया करते हैं। जब ये वर या दुलहिनकी पालकीको अपने कन्धोंपर उठाकर चलते हैं तब शृगार रसके रसीले गीतोंको गाकर उन्हें गुदगुदाते चलते हैं। इन गीतोंको 'कँहरऊ' या 'कँहरवा' कहते हैं। कँहार लोग वैवाहिक उत्सवोंपर नाचते भी हैं। इस समय ये 'हुडुक' नामक' बाजा बजाते है, जो एक हाथसे पीटकर बजाया जाता है। इन गीतोंमें समाजका व्यग्य-चित्रण किया गया है। हास्यका पुट भी इनमें वर्तमान रहता है। बूढा कँहार किस प्रकार घरके लिए भारभूत हो जाता है, इसका वर्णन अनेक गीतोंमें हुआ है। वाल-विवाहकी झाँकी भी इनमें उपलब्ध होती है। —कृ० दे० उ०

कजरी–सावनके मासमें जो लोकगीत गाये जाये हैं उन्हें कजरी या कजली कहते हैं। इस शब्दकी व्युत्पत्ति श्रावण मासमें आकाशमें आच्छादित वादलोंकी कालिमासे हुई है, जो काजलके समान काले होते हैं। इसी काजलसे कजली या कजरी शब्द बना है। ग्रियर्सनने लिखा है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके मतानुसार मध्यभारतके परोपकारी राजा दादूरायकी मृत्युपर वहाँकी स्त्रियोंने अपने दु खको प्रकट करनेके लिए कजरी नामक एक नये गीतके तर्जका आविष्कार किया। इस महीनेकी शुक्ला तीजका नाम कजली तीज है अत इस कारण भी इस शब्दकी निष्पत्ति सम्भव है।

कजली गीतोंको सर्वप्रथम किसने लिखा यह कहना कठिन है। परन्तु आजसे लगभग १००-१५० वर्ष पूर्व भोजपुरी सन्त कवियों, विशेषकर लक्ष्मी सखीकी रचनाओंमें कजलीके गीत उपलब्ध होते हैं। मिर्जापुरकी कजली वड़ी प्रसिद्ध है। वहाँ इसके दगल भी हुआ करते हैं, जहाँ पुरुषोंके साथ स्त्रियाँ भी इसमें भाग लेती हैं। इसके विषयमें यह उक्ति प्रचलित है कि 'लीला रामनगरकी भारी, कजली मिर्जापुर सरनाम'।

कजलीके गीतोंमें शृगार रसकी मात्रा प्रचुर परिमाणमें पायी जाती है। सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृगारके उभय पक्षोंका चित्रण इनमें वडी सुन्दरतासे किया गया है। गवैये दो दलोंमें विभक्त होकर इन गीतोंको गाते हैं। एक प्रश्न करता है तो दूसरे दलका व्यक्ति उसका उत्तर देता है। यह क्रम कभी-कभी पूरी राततक चलता रहता है। कजलीकी लय वडी सुन्दर तथा मनमोहक होती है, जिसे सुनकर श्रोतागण मुग्ध हो जाते है। उदा०—'कइसे खेले जइवू सावनमें कजरिया, वदरिया घिरि आइल ननदी। तू त चललू अकेली, साथे सगी न सहेली, गुण्डा घेरि लीहें तोहरी डगरिया, वदरिया धिरि आइल ननदी।' —कृ० दे० उ०

कता–उर्दू कवितामें जब कुछ शेर ऐसे लिखे जाते हैं, जिनका विषय क्रम-सवद्ध हो और उनके पहलेके शेरके दोनों मिसरोंमें 'काफिया' और 'रदीफ' न हो तो उन्हें कता कहते हैं। कतामें दो शेरसे लेकर एक सौ सत्तर शेरतक हो सकते हैं। —मसी०

कथनी–केवल कथन करना। सन्तोंकी साधना अनुष्ठान-मूलक न होकर आचरणमूलक थी, अत सन्तोंने वरावर 'कथनी' और 'करनी'के अभेदपर वल दिया है। जो लोग केवल कहते रहते हैं और धर्मके नियमोंको आचरणमें नहीं ढालते उनका निस्तार नहीं। वास्तवमें तो जो आचरण करते हैं वे ही भवसागरके पार उतर सकते हे। 'कथनी थोथी जगतमें, करनी उत्तम सार। कहै कवीर करनी भली उतरे

भौजल पार ॥' (वीजक कवीर)। —उ० ग्र० श्रा०

कथा–दे०—'कथाकाव्य'।

कथा आख्यायिका–दे०—'कथाकाव्य'।

कथाकाव्य–प्रारम्भिक वीरयुगमें प्रचलित गाथाचक्रोंसे ही विकसनशील वीरकाव्य (महाकाव्य), कथाकाव्य और इतिहास-पुराण इन तीनों काव्य-रूपोंका विकास हुआ। वे गाथाचक्र प्रधानतया तीन प्रकारके होते थे–१ वीर-भावनाप्रधान, २ रोमासिक तत्त्वोंसे युक्त प्रेमभावना-प्रधान और ३ लोक-विश्वासों और निजधरी पात्रोंसे सम्बन्धित तथा धर्मभावनाप्रधान। इन तीनों प्रकारके गाथाचक्रोंसे ही क्रमश वीरभावनासे युक्त विकसन-शील महाकाव्य, रोमासिक कथाकाव्य और प्राचीन इतिहास-पुराणका विकास हुआ। विकासोन्मुख सामन्त-युगमें समाजके वर्ग विभक्त हो जाने और अभिजातवर्गके उदयके वाद सामन्ती दरवारी वातावरणमें विशिष्ट कवियों द्वारा विकसनशील महाकाव्योंके अनुकरणपर अलकृत महाकाव्यों और खण्डकाव्योंकी, और विकसनशील रोमासिक कथाकाव्यों या गाथाचक्रोंके अनुकरणपर रोमासिक कथा आख्यायिकाओं या प्रेमाख्यानोंकी रचना होने लगी। इस तरह प्रवन्धकाव्य (महाकाव्य और खण्ड-काव्य) तथा कथाकाव्य ये दो भिन्न रूप हो गये।

प्रवन्धकाव्य और कथाकाव्यका यह भेद भारतवर्षमें ही नहीं, पाश्चात्य देशोंमें भी वहुत प्राचीन कालसे चला आ रहा है। यूनानमें चौथी शताब्दीमें इलियड ओडेसीके रोमासिक तत्त्वों और साहसपूर्ण कार्योंके अनुकरणमें गद्यवद्ध रोमासिक कथाओंकी रचना हुई और पुनर्जागरण-युगमें महाकाव्योंके पुन· उत्थानके पहलेतक सारे यूरोपमें इस काव्यरूपका वहुत प्रचार रहा। मध्ययुगके अन्तिम भागमें ये कथाएँ गद्यवद्ध और पद्यवद्ध दोनों प्रकारकी होती थीं। इन कथाओंके चक्र वन गये थे, जैसे ट्राय सागा या नावेला और पद्यवद्ध रोमान्सको वैलेट, ले अथवा केवल्यू कहा जाता था। उत्तर मध्ययुगमें पद्यवद्ध कथाकाव्य वहुत ही लोकप्रिय काव्यरूप था। यही आगे चलकर वर्णनात्मक प्रवन्धकाव्य या 'नेरेटिव पोएट्री'के रूपमें विकसित हुआ। गद्यवद्ध रोमान्सको आगे चलकर इटली और स्पेनमें नावेला और इग्लैण्डमें नावेल कहा जाने लगा और वही आधुनिक उपन्यास या कहानीका आदि रूप था। मध्ययुगमें अभिजातवर्गीय रोमन क्लासिकल परम्पराके विरुद्ध रोमानिक स्वच्छन्दनाकी प्रवृत्तिने जो विद्रोह किया उसके परिणामस्वरूप महाकाव्यके शास्त्रीय और गुरुगम्भीर काव्यरूपकी जगह सरल और रोमासिक कथाकाव्यका वहुत प्रचार हुआ। सर्वप्रथम फ्रासमें १२वीं शतीके उत्तरार्द्ध तथा १३वीं शतीके पूर्वार्द्धमें किंग आर्थर और उसके सामन्तोंके वीरतापूर्ण कार्यों तथा प्रेमकी रोमासिक कथाओंको पद्यवद्ध कथाकाव्य(ले)का रूप दिया गया (इनसाइक्लोपीडिया ऑव लिटरेचर–शिपले पृ० २९२, २९३)। इग्लैण्डमें भी १२वीं शताब्दीमें आर्थर-गाथा-चक्रसे सम्वन्धित अनेकानेक पद्यवद्ध कथाकाव्य लिखे गये। चौदहवीं शतीमें 'पियर प्लाउमैन', 'सर गावेन एण्ड द ग्रीन नाइट', 'द पर्ल', 'कनफेसियो एमेंटिस' आदि रोमानिक तथा अन्य कई कथात्मक काव्य लिखे गये। उसी समय चॉसरने 'कैण्टरवरी टेल्स' तथा अन्य कई कथात्मक काव्य लिखे, जिनमें विविध प्रकारके चरित्रों और घटनाओंको लेकर वर्णनात्मक कथाएँ कही गयी हैं। इन सभी कथाकाव्योंमें काल्पनिकता, रोमासिकता, उद्दाम साहस और सामन्ती प्रेम भावनाकी अधिकता दिखाई पडती है।

कथाकाव्यके विकासका यह क्रम वहुत-कुछ इसी रूपमें भारतवर्षमें दिखलाई पड़ता है। रामायण-महाभारतके अनुकरणपर, किन्तु अलकृत शैलीमें, सस्कृतके महाकाव्योंकी परम्परा विकसित हुई और उन्हीं दोनों महाकाव्योंके रोमासिक तत्त्वों और साहसिक कार्योंका अनुकरण करके 'वृहत्कथा'की तथा उनकी पशु-कथाओंके आधारपर 'पचतन्त्र'की रचना हुई। इनमेंसे 'वृहत्कथा'के सम्वन्धमें तो अधिकाश विद्वान् एकमत हैं कि उसका मूल रूप भी पद्यवद्ध रहा होगा। उसके सस्कृत रूपान्तर तो पद्यवद्ध हैं ही। 'पचतन्त्र' यद्यपि गद्यवद्ध है, किन्तु उसमें वीच-वीचमें छन्दोंकी सख्या भी कम नहीं है। भारतमें यूरोपकी तरह अभिजातवर्गीय शास्त्रीय परम्परा और सस्कृत भाषाके विरुद्ध नवोत्थित पण्यजीवी मध्यवर्गने विद्रोह किया, जिनके परिणामस्वरूप वौद्ध और जैन साहित्य तथा कलामें वणिक् वर्ग और सामान्य जनताके जीवन और भाषाके प्रति समादर दिखाई पडता है। 'जातकमाला', 'वृहत्कथा' तथा 'पंचतन्त्र'की कथाओंमें अभिजात-भावना और शास्त्रीय प्रवृत्तिका प्राधान्य नहीं है। उदाहरणार्थ, गुणाढ्यने 'वृहत्कथा'में राजाओं और राजवशोंका उतना वर्णन नहीं किया है जितना वणिकों, समुद्रके व्यापारियों और कारीगरोंका। इसीसे कीथने 'वृहत्कथा'को मध्यवर्गका काव्य कहा है (ए हिस्ट्री ऑव सस्कृत लिटरेचर पृ०२७१)। जैन साहित्यमें इस प्रकारकी मध्यवर्गीय कथावस्तु और पात्रोंपर आधारित वहुत-सी पद्यवद्ध रोमासिक कथाएँ लिखी गयीं। इन काव्योंमें कुछ तो रोमासिक महाकाव्यकी ऊँचाईतक पहुँच गये हैं और शेष रोमासिक कथाकाव्य ही हैं। 'पचतन्त्र', 'वृहत्कथा' और 'जातकमाला'की कथाओंकी लोकप्रियतासे प्रभावित होकर अभिजातवर्गीय सस्कृतकी शास्त्रीय परम्पराके कवियोंने भी इस काव्यरूपको ग्रहण किया, यद्यपि उन्होंने इसका माध्यम पद्यको नहीं, गद्यको वनाया। इस तरह सस्कृतमें गद्यवद्ध कथाकाव्य कथा-आख्यायिकाके नामसे प्रचलित हुआ।

सस्कृतके आलकारिकोंने कथाकाव्य नामसे किसी अलग काव्यरूपका निर्धारण नहीं किया है। भारतीय साहित्य-परम्पराके अनुसार काव्य पद्यवद्ध, गद्यवद्ध और मिश्र, तीनों प्रकारका होता है और गद्य, पद्य दोनोंमें कथाप्रवन्ध होते हैं। पद्यात्मक प्रवन्धको सर्गवन्ध काव्य (महाकाव्य और खण्डकाव्य) कहा गया है और गद्यात्मक प्रवन्धके दृश्य और श्रव्य या अभिनेय और पाठ्य, ये दो भेद मानकर पाठ्य गद्यात्मक प्रवन्धोंके फिर कथा-आख्यायिका, परिकथा, खण्डकथा, सकल कथाप्रवन्ध, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या आदि कई भेद किये गये हैं (हेमचन्द्र 'काव्या-नुशासन' · अध्याय ८, अभिनव गुप्त 'ध्वन्यालोक' टीका उद्योत ३ · कारिका ७)। इस व्यापक दृष्टिसे देखनेपर तो

गद्यबद्ध और पद्यबद्ध सभी श्रव्य प्रवन्धोंको प्रबन्धकाव्य या कथाकाव्य कहा जा सकता है, किन्तु सीमित और विशेष अर्थमें पद्यात्मक श्रव्यप्रवन्धोंको प्रवन्धकाव्य और गद्यात्मक श्रव्य प्रवन्धों(कथा, आख्यायिका, परिकथा आदि)को कथासाहित्य कहा जाता था। रुद्रटने तो प्रबन्धके स्पष्ट दो भेद कर दिये है, काव्य और कथा-आख्यायिका आदि (सन्ति द्विधा प्रबन्धा काव्यकथाख्यायिकादय) और कहा है कि कन्या-लाभफलवाली तथा सकल शृगारसे युक्त कथाएँ संस्कृतमें गद्यमें तथा अन्य भाषाओंमें (प्राकृत, अपभ्रंश आदिमें) पद्यमें लिखी जानी चाहिये। हेमचन्द्रके अनुसार धीरशान्त नायकसे युक्त कोई भी प्रबन्ध, चाहे वह गद्यमें हो या पद्यमें, कथा कहा जायगा (काव्यानुशासन आठवाँ अध्याय)। इससे यह स्पष्ट है कि कुछ प्राचीन आचार्योंने कथाकाव्यको श्रव्य प्रवन्धकाव्यके एक अंगके रूपमें तथा प्रवन्धकाव्य(महाकाव्य या खण्डकाव्य)से भिन्न श्रेणीका काव्यरूप माना था। अभिनव गुप्तने महाकाव्य और खण्डकाव्यको सर्गवन्ध तथा गद्य-प्रवन्धको कथा, आख्यायिका आदि कहा है और दोनोंके रसात्मक और इतिवृत्तात्मक, दो भेद किये है (अभिनव गुप्त ध्वन्यालोककी टीका, उद्योत ३ कारिका ७)। इस दृष्टिसे श्रव्य प्रवन्ध कुल चार प्रकारके होंगे—(१) रसात्मक और सर्गवन्ध पद्यप्रवन्ध, (२) रसात्मक गद्यप्रवन्ध कथा, आख्यायिका, (३) इतिवृत्तात्मक सर्गवन्ध प्रवन्ध, (४) इतिवृत्तात्मक गद्यप्रवन्ध। किन्तु यह विभाजन भी पूर्णत वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि इसमें सर्गवन्ध प्रवन्ध और कथा-आख्यायिकाका मौलिक अन्तर स्पष्ट नहीं किया गया है और न यही वताया गया है कि सर्गवन्ध-रूपमें भी कथा-आख्यायिका लिखी जा सकती है या नहीं।

प्रवन्धकाव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य) और कथा-आख्यायिकाका जो अन्तर रुद्रटने वताया है वह अवश्य सत्यके अधिक निकट है, परन्तु पूर्ण वैज्ञानिक वह भी नहीं है। यदि कथा-आख्यायिकाको ही कथाकाव्य माना जाय तो रुद्रटके अनुसार कथाकाव्य वह काव्यरूप है जो सस्कृतमें गद्यमें और अन्य भाषाओंमें पद्यमें भी लिखा जाता है ओर जिसमें कन्याहरण, सग्राम, विप्रलम्भ शृगार, नायकका अभ्युदय आदिसे समन्वित सरस, रोमासिक कथानक होता है तथा जिसके आदिमें मगलाचरण, गुरुवन्दना, कवि और उसके वशका परिचय तथा कथान्तर आदिकी योजना होती है। अत अभिनवगुप्त और रुद्रटके काव्य-भेदोंको एक साथ रखकर देखनेपर प्रवन्धात्मक रचनाओंके तीन भेद किये जा सकते हैं—१ रसात्मक प्रवन्धकाव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य), २ रसात्मक कथाकाव्य (गद्य या पद्यमें लिखी आख्यायिका), ३ अनलकृत या इतिवृत्तात्मक कथासाहित्य (गद्य या पद्यमें लिखी परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, धर्मकथा-प्रवन्ध और आधुनिक उपन्यास, कहानी आदि)। उदाहरणार्थ, 'कुमारसम्भव', अपभ्रंशके 'भविसयत्तकहा', 'पउमसिरीचरिउ' आदि रसात्मक प्रवन्धकाव्य हैं, 'कादम्वरी,' 'दशकुमार-चरित,' प्राकृतकी 'लीलावाइकहा' आदि कथाकाव्य हैं और 'हितोपदेश', 'कुवलयामाला' 'कथासरित्सागर,' 'मलय-सुन्दरीकथा,' 'प्रवन्धचिन्तामणि,' 'भोजप्रवन्ध,' 'वैताल पचीसी' आदि केवल कथा या कथासाहित्यके भीतर आते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने भी ऐसे इतिवृत्तात्मक प्रवन्धोंको केवल कथा कहा है ओर उसे काव्यसे भिन्न माना है (जा० ग्र०, भूमिका पृष्ठ ७०), किन्तु उन्होंने रसात्मक प्रवन्धोंके इन दो भिन्न रूपों—प्रवन्धकाव्य और कथाकाव्यके भेदकी ओर ध्यान नही दिया है।

इस प्रकार कथाकाव्य वह श्रव्य प्रवन्ध है जो एक ओर गम्भीरता, महत् उद्देश्य और महच्चरित्रके अभावमें प्रवन्ध-काव्योंसे भिन्न हो गया है, दूसरी ओर रसात्मक और अलंकृत होनेके कारण इतिवृत्तात्मक कथाओंसे भी अपनी अलग सत्ता रखता है। कथाकाव्यके विशिष्ट लक्षण, जो उसे अन्य काव्यरूपोंसे भिन्न करते हैं, ये हैं—१ उनका कोई महान् उद्देश्य नहीं होता, मनोरंजन ही उनका प्रधान लक्ष्य होता है। इस कारण उनमें महानता, गुरुत्व और गाम्भीर्य भी महाकाव्यों जैसा नहीं होता। उसी तरह उनके चरित्र भी महान् या आदर्श (धीरोदात्त) न होकर प्राय धीरललित या धीरशान्त होते हैं। २ उनका कथानक जीवन्त, प्रवाहमय और आकर्षक अवश्य होता है, किन्तु वह यथार्थ जीवनपर आधारित नहीं होता और न उसमें नाटकीय सन्धियोंसे युक्त अन्विति और सुसम्बद्धता ही होती है। इससे वह प्राय स्फीत, विशृंखल और जटिल (काम्प्लेक्स) होता है। कथाके भीतर कथा करनेकी प्रवृत्ति होनेसे उसमें अवान्तर कथाओंकी भरमार होती है। ३ उसमें काल्पनिक कथाका चमत्कार वहुत अधिक होता है, क्योंकि उसमें असम्भव और अविश्वसनीय वातों, आश्चर्यजनक कार्यों और अप्राकृत या अमानवीय शक्तियोंकी भरमार होती है। फलत उसमें रोमासिकता और अतिशय भावुकता विशेष रूपसे पायी जाती है, साथ ही उसमें युद्ध, प्रेम, भयकर यात्रा, अनहोने कार्यों आदिका अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण होता है। ४ उपर्युक्त-प्रवृत्तियोंके कारण कथाकाव्य लोकतत्त्वों और कथानक-रूढियोंसे भरा होता है। ५ कथाकाव्योंके नायकोंका वीर-रूप उनके प्रेमी-रूपसे दवा रहता है। उनकी वीरता या तो नायिकाकी प्राप्तिके लिए होती है या चमत्कारप्रदर्शनके लिए, उसका उपयोग देश या जातिकी रक्षा जैसे महत् उद्देश्यके लिए नहीं होता। यह प्रेम भी अतिशय भावुकतापूर्ण सामाजिक दायित्वसे रहित, एकान्तिक और प्राय स्थूल शारीरिक होता है। सूफी कथाकाव्योंका प्रेम भी यथार्थ नहीं, आदर्शात्मक (प्लेटोनिक) या प्रतीकात्मक होता है। ६ उसमें रसात्मकता, भावव्यजना और अलकृति तो होती है, किन्तु विचारों और भावोंकी गम्भीरता, उद्देश्यकी महत्ता, वौद्धिक ऊँचाई और भावभूमिकी व्यापकता नहीं होती। (दे०—'चरितकाव्य')। —शं० ना सिं०

कथा, कथासाहित्य—कथ् धातुसे व्युत्पन्न **कथा** शब्दका साधारण अर्थ है 'वह जो कहा जाये'। कहनेमें कहनेवालेके अतिरिक्त सुननेवालेकी स्थिति अन्तर्भुक्त है, क्योंकि सुनने-वालेके विना एक क्षणको हम 'वोलने'की कल्पना तो कर सकते हैं, 'कहने'की नहीं। परन्तु वह सभी कुछ, जो कहा जाय, 'कथा' नहीं कहलाता। कथाका विशिष्ट अर्थ हो गया है किसी ऐसी कथित घटनाका कहना, वर्णन करना जिसका

निश्चित परिणाम हो। घटनाके वर्णनमें भी कालानुक्रम आवश्यक है, जैसे सोमवारके बाद मगल, यौवनके बाद वृद्धावस्था, प्राणातके बाद क्षय आदि। घटना किसीसे भी सम्बन्धित हो सकती है—मनुष्य, अन्य जीवधारी, पशु-पक्षी आदि तथा जगतके नाना पदार्थ जिनका अनुभव किया जा चुका है या जो कल्पित किये जा सकते हैं। जिस किसीसे सम्बन्धित घटना हो, उसकी किसी विशेष परिस्थिति या परिस्थियोंका निश्चित आदि और अन्तसे युक्त वर्णन ही **कथा** कहलाता है।

कथाएँ अनेक प्रकारकी होती हैं, परन्तु उन्हें दो प्रधान वर्गोंमें बाँटा जा सकता है—(१) इतिहास-पुराणकी कथाएँ और (२) कल्पित कथाएँ। ऐतिहासिक कथाओंके आधारपर निर्मित **महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक** आदिको साधारणतया कथासाहित्य या कथाकाव्य नहीं कहते। यद्यपि उपन्यास और कथा-कहानियोंका एक वर्ग ऐतिहासिक भी माना जा सकता है, किन्तु ऐतिहासिक कथा उपन्यास या कहानीमें प्रयुक्त होनेपर अनिवार्यत कल्पनामिश्रित हो जाती है। कल्पनाप्रसूत या प्रधान रूपसे कल्पनाप्रसूत कथाएँ ही कथासाहित्यका आधार बनती हैं। यों तो साहित्य और काव्य समानार्थी शब्द हे और काव्यका पद्यबद्ध होना अनिवार्य नहीं है (दे०—'काव्य', 'साहित्य') परन्तु साधारणतया पद्यबद्ध कथाओंको कथाकाव्य और गद्यमें रचित कथाओंको कथासाहित्य—**उपन्यास, उपन्यासिका, कहानी** आदि कहते हैं। आधुनिक साहित्यमें **कथा-साहित्य** शब्दका प्रयोग अँग्रेजीके **फिक्शन**के अर्थमें होता है। विशेष विवरणके लिए दे०—'कथाकाव्य', 'उपन्यास', 'कहानी'।

कथानक—कथासे व्युत्पन्न (दे०—'कथा') 'कथानक'का शाब्दिक अर्थ होगा कथाका छोटा रूप या साराश। अपने विशिष्ट अर्थमें इससे अभिप्राय है साहित्यके कथात्मक रूपों—लोकगाथा, महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदिका वह तत्त्व जो उनमें वर्णित, कालक्रमसे शृंखलित घटनाओंको रीढकी हड्डीकी तरह दृढता देकर गति देता है और जिसके चारों ओर घटनाएँ बेलकी भाँति उगती, बढ़ती और फैलती हैं। सीधे तौरपर कह सकते हैं कि कथानकका अर्थ है कार्य-व्यापारकी योजना। कथा या कहानी भी साधारणत कार्य-व्यापारकी योजना ही होती है, परन्तु कैसी भी कोई कथा कथानक नहीं कही जा सकती। ई० एम० फार्स्टरने कथा और कथानकका अन्तर बताते हुए कहा है कि 'कथा है घटनाओंका कालानुक्रमिक वर्णन—कलेवाके बाद ब्यालू, सोमवारके बाद मंगलवार, मृत्युके बाद नाश आदि, जब कि कथानक भी घटनाओंका वर्णन होता है, परन्तु उसमें कार्य-कारण-सम्बन्धपर विशेष बल दिया जाता है। 'राजा मर गया और बादमें रानी मर गयी' कहानी है। 'राजा मर गया गया और फिर उसके वियोगमें रानी मर गयी' कथानक है। कालानुक्रम यथावत् है, परन्तु कार्य-कारणकी भावनाने उसे अभिभूत कर लिया है। कथानकमें समयकी गति घटनावलीको खोलती जाती है और साथ ही यह भी प्रमाणित होता जाता है कि विश्वका सघटन युक्तियुक्त है, उसमे कार्य-कारणका अन्त सम्बन्ध है तथा वह बुद्धिगम्य है।

परन्तु युक्तियुक्तता और बुद्धिगम्यताका तात्पर्य प्राकृतवाद नहीं है। कथानककी घटनाएँ यथार्थ घटनाओंकी ठीक प्रतिकृति नहीं होतीं, उनकी सयोजना कलाके स्वनिर्मित विधानके अनुसार होती है। कथानक देव-दानव, अति प्राकृत और अप्राकृत घटनाओंमें भी निर्मित होते हैं, शर्त केवल यह है कि उनका निर्माण परम्परा द्वारा स्वीकृत विधानके अनुसार हो। कथामें विश्वसनीयता ही सत्यकी कसौटी है। उस सत्य घटनासे जिसकी सम्भावनाका विश्वास नहीं जमाया जा सका, वह असम्भव या असत्य घटना कहीं अधिक उपयोगी है जिसे विश्वसनीय बनाकर कहा गया है। कथानकमें विश्वास जमानेका गुण होना चाहिये, कथाकार एक सिद्ध मिथ्यावादी होता है।

कथानक अँग्रेजीके **प्लाट** शब्दका पर्याय हो गया है। प्लाटका एक अर्थ कपट-योजना या षड्यन्त्र भी है। इस अर्थकी छाया कथानकके परिवर्तनशील रूपमें पायी जाती है। कथानककी गतिशील घटनाएँ सीधी रेखामें नहीं चलतीं। उनमें उतार-चढाव आते हैं। भाग्य बदलता है, परिस्थितियाँ मनुष्यको कुछसे कुछ बना देती ह, अपने सगी-साथियोंके साथ अथवा बाह्य शक्तियों—अपने वातावरणके विरुद्ध उसे प्राय सघर्ष करना पडता है। कथानकमें जीवनके इसी गतिमान्, सघर्षशील रूपकी अवतारणा की जाती है।

कथानक कलाका एक साधन है अत जीवनकी प्रत्ययजनक यथार्थताके साथ उसमें आकस्मिकताका तत्त्व भी आवश्यक है। इसीके द्वारा उसमें भावोत्तेजना आती है। टामस हार्डीके शब्दोंमें 'सार्वकालिक और विश्वजनीनके साथ असाधारणके सामंजस्य'में ही कथा और नाटकके संघटनका रहस्य छिपा है। किसी उपन्यास या नाटककी कथाकी यदि यह प्रतिक्रिया हो कि वह कितनी सच्ची है और फिर भी कितनी आश्चर्यजनक, तभी उसकी सफलता है।

कथानकके **विन्यास** अर्थात् रूप रचनाके विषयमें भी विचार किया गया है। अरस्तूके अनुसार कथानकमें **कार्य-व्यापारकी एकता**, स्वयं अपनेमें परिपूर्णता, आरम्भ, मध्य और अन्तका होना आवश्यक है। बात बहुत साधारण-सी है, परन्तु जीवनकी सम्बद्ध घटनाओंकी अनन्त शृंखलामेंसे किसी ऐसे कार्य-व्यापारका, जिसका निश्चित प्रारम्भ दिखाया जा सके अर्थात् जिसके पूर्व कोई ऐसी घटना न हो, जिसका वर्णन करना आवश्यक हो, जिसके मध्यकी घटनाएँ पूर्व और पश्चात्की घटनाओंसे सम्बद्ध हों तथा जिसका निश्चित अन्त हो अर्थात् जिसके बाद कुछ भी वर्णनीय न रहे—संक्षेपमें ऐसे कार्य-व्यापारको जो स्वत पूर्ण हो, पृथक् कर सकनेका प्रश्न कथाकारके सम्मुख एक प्रमुख समस्या बनकर आता है। परन्तु **कार्य-संकलन** या **कार्य-व्यापार**की एकताका तात्पर्य यह नहीं है कि कथानकमें सरल कार्य-व्यापारका ही वर्णन हो। जटिल कार्य व्यापार भी हो सकता है। कथानकके भीतर **उपकथानक** भी आ सकते हैं, परन्तु कथानकके सभी अंग उसकी केन्द्रीय योजनाके सहायक होकर ही आते हैं, उसमें प्रयुक्त प्रत्येक

वाक्य, प्रत्येक शब्द कथाको अग्रसर करनेमें सहायक होना चाहिये। कथानकके **कार्य-सकलन**का रूप भिन्न-भिन्न साहित्यिक माध्यमोंमें थोड़ा-बहुत बदल जाता है। उदाहरणके लिए, **लोकगाथा** (वैलेड)का कथानक महाकाव्यके विस्तीर्ण प्रसारवाले कथानककी अपेक्षा अधिक कसा हुआ होता है, नाटकमें **कार्य-व्यापार**को दर्शकोंके समक्ष प्रदर्शित करना पड़ता है जब कि उपन्यासके कथानककी योजना आन्तरिक कार्य व्यापारपर अधिक निर्भर होती है, साथ ही उपन्यासका कथानक नाटककी अपेक्षा देश और कालके विस्तारमें अधिक स्वन्त्रतापूर्वक फैलाया जा सकता है।

कथामें कथानकके साथ **चरित्र** भी होते हैं। प्रश्न होता है कि कथात्मक कलाकृतिमें कथानक पहले आता है या **चरित्र**? परन्तु यह ऐसी समस्या है जिसका समाधान मुर्गी और अण्डेकी पुरानी पहेलीके समान असम्भव है। जहाँतक आदर्शका सम्बन्ध है, कथानक और चरित्र परस्पर इस प्रकार गुँथे हुए होने चाहिये कि उन्हें अलग-अलग किया ही न जा सके, कथानक चरित्रसे निकलता हुआ दिखाई दे तथा चरित्र कार्य-व्यापारके द्वारा निर्मित जान पड़े। परन्तु व्यवहारमें सभी कथाकार ऐसा नहीं कर पाते, कथानक और चरित्रकी योजनामें उनकी कल्पना एक साथ क्रियाशील नहीं हो पाती। कभी कथानकके कठोर बन्धनमें जकड़कर चरित्र कुरूप बना दिये जाते हैं और कभी चरित्रोंके दृढ स्वभाव और स्वच्छन्द प्रकृति द्वारा कथानककी सीमाएँ टूट जाती है। प्राचीनोंने चरित्रकी अपेक्षा कथानकको प्राथमिकता दी थी। अरस्तूने कथानकको ही दु खान्त नाटककी प्रथम आवश्यकता, उसका प्राण और उसकी आत्मा बताया था। परन्तु आधुनिक कालमें मनोविज्ञानके आधारपर चरित्रको प्रमुखता दी गयी है। फिर भी अरस्तूका यह कथन कि कथामें घटनाओंका प्रवाह अर्थात् कार्य-व्यापारकी गतिशीलता आवश्यक है, आज भी न्यूनाधिक रूपमें सभी कथात्मक कृतियोंपर लागू होता है। कथानककी रचनाके सम्बन्धमें कथाकारोंको इस वस्तुस्थितिका बराबर सामना करना पड़ता है कि कथानकमें मौलिकता और विचित्रता कैसे पैदा की जाय। जीवनमें विविधता अवश्य है और उसमें नाना प्रकारके सम्बन्ध दिखाई देते हैं, परन्तु उस विविधतामें मूलत ऐसी समानता निहित है कि जगत्‌के सम्बन्ध अन्ततोगत्वा कुछ एक गिने-चुने नमूनोंके रूपोंमें ही बँधकर रह जाते है। इसीलिए अनेक लेखकोंने घटनाओंकी विविधता और सम्बन्धोंकी अनेकरूपतापर आधारित कथानकोंकी गिनतीतक कर डाली है।

कथानक-रचनाकी इस कठिनाईके अनुभवकी दो भिन्न प्रतिक्रियाएँ देखनेमें आती है। एक ओर तो वे व्यावसायिक लेखक हैं जो सामयिक पत्र-पत्रिकाओं या सस्ते बाजारू प्रकाशनोंके लिए लिखते हैं। कथानकके बने-बनाये ढाँचे उनके लिए तैयार हैं, प्रेमी और प्रेमिकाका सयोग-मिलन, आकस्मिक वियोग और पुनर्मिलन, किसी वीर पुरुषका शत्रुओंके घेरेसे साहसपूर्वक निकल आना, आदि-आदि। कथानकोंके इन्हीं चौखटोंमें चरित्रोंको बिठाकर नयी-नयी कथाओंकी रचना करना बहुत सरल हो गया है। प्रतिमास प्रकाशित होनेवाला ढेरों कथासाहित्य कथाकारोंकी इस सुविधाका प्रमाण है, परन्तु दूसरी ओर कथानककी बँधी-बँधाई परिपाटीके विरुद्ध मौलिक प्रतिभाशाली लेखकोंकी यह प्रतिक्रिया हुई है कि उन्होंने कथानकको कृत्रिम बन्धन मानकर उसका यथासाध्य पूर्ण बहिष्कार करनेका निश्चय कर लिया है। विश्वविख्यात लेखकोंकी ऐसी कृतियाँ हैं जिनमें कथानक अत्यन्त क्षीण है, उसका कोई निश्चित ढाँचा खड़ा नहीं हो सकता। आधुनिक कालमें कविता, नाटक, रगमंच, चित्रपट, संगीत, चित्रकला, सभी क्षेत्रोंमें 'शुद्धता'का जो आन्दोलन चला है, उसी क्रममें आद्रे जीद जैसे लेखक उपन्यासको भी उन समस्त तत्त्वोंसे मुक्त करना चाहते हैं जो विशिष्ट रूपमें उपन्यासके लिए अनिवार्य नहीं हैं। उनकी दृष्टिमें घटनाओं, संयोग और दुर्घटनाओं आदिके लिए उपयुक्त स्थान सिनेमा है, उपन्यास नहीं। कुछ लेखक कथानकके ढाँचेमें प्रस्तुत किये हुए जीवनको अयथार्थ और कृत्रिम कहते हैं। वर्जीनिया वुल्फने उपन्यासोंकी परम्परामुक्त रूपरेखाका उल्लेख करते हुए बड़े सन्देहके स्वरमें प्रश्न किया है कि 'क्या जीवन ऐसा ही होता है? क्या उपन्यास इसी प्रकारके होने चाहिये?'

साहित्यमें कथानकके विरुद्ध विद्रोहकी भावना वस्तुत उस सामान्य विद्रोहकी भावनाका एक अशमात्र है जो अन्य कलाओंके क्षेत्रोंमें भी अबतक सार्थक समझे जानेवाले स्वीकृत रूपमात्रके प्रति जागरित हुई है। इसके लिए साहित्यिक 'शुद्धतावाद', आत्मलीनता, अतियथार्थवाद आदि विभिन्न आधुनिक प्रवृत्तियाँ उत्तरदायी हैं, जिनके कारण लेखक एक ऐसे निजी ससारकी रचना कर लेता है जिसमें किसी सीमातक प्रवेश मिल सकेगा, यह लेखककी इच्छापर ही निर्भर है। कला और साहित्यमें प्रेषणीयताके गुणका अभाव इसका अनिवार्य परिणाम है। कला और साहित्यके इन साहसपूर्ण नवीन प्रयोगोंकी सराहना करते हुए भी प्रश्न उठता है कि क्या प्रेषणीयताको दुर्बल कर देनेसे कलाका हितसाधन सम्भव है? परम्परावादी, युक्ति और न्यायवादी तथा **मार्क्सवादी-भौतिकवादी** अपने-अपने दृष्टिकोणसे इसका विरोध करते हैं। अनेक लेखकोंका अब भी विश्वास है कि कलामें जीवनसे नित्य नवीन सामग्री प्राप्त करते रहनेकी शक्ति विद्यमान है तथा उसे सार्थक 'रूप'में रूपायित किया जा सकता है। जीवनमें अपार विविधता है और उसकी परिवर्तनशीलता उसमें नित्य नया रग भरती रहती है, अत समरूप तत्त्वोंके नये-नये समवाय रचकर कथानकके प्रयोग द्वारा कथाकृतियोंको संघटन और योजना प्रदान करना असम्भव नहीं है। वास्तवमें कथानकके भविष्यपर ही बहुत-कुछ नाटक, उपन्यास, कहानी आदि कथात्मक साहित्यका भावी रूप निर्भर है। (दे०–'उपन्यास', 'कथावस्तु', 'कहानी', 'नाटक'।)

—स०

कथानक रूढ़ि–सामान्यतया रूढि और अभिप्रायका प्रयोग एक-दूसरेके पर्यायके रूपमें किया जाता है। अभिप्राय जिसे अँग्रेजीमें 'मोटिव' कहते हैं, उस शब्द अथवा एक साँचेमें ढले हुए उस विचारको कहते हैं जो समान परिस्थितियोंमें अथवा समान मन स्थिति और

प्रभाव उत्पन्न करनेके लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जातिकी विभिन्न कृतियोंमें बार-बार आता है। विभिन्न कलारूपोंके अपने अलग अलग अभिप्राय भी होते हैं। चित्रकलामें अभिप्रायका अर्थ होता है, 'कोई चल या अचल, सजीव या निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु, जिसकी अलकृत एव अतिरजित आकृति मुख्यत सजावटके लिए किसी कलाकृतिमें बनायी जाय।' प्रत्येक देशके साहित्यमें भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोगके कारण कुछ साहित्य सम्बन्धी रूढियाँ बन जाती है और यान्त्रिक ढगसे उनका प्रयोग साहित्यमें होने लगता है, इन सभी रूढियोंको साहित्यिक अभिप्राय कहते हैं।

भारतीय साहित्यमें परकायप्रवेश, लिंगपरिवर्तन, पशु-पक्षियोंकी बातचीत, किसी बाह्य वस्तुमें प्राणोंका बसना आदि कितने ही अभिप्राय हैं। ये सभी कथानक रूढियाँ प्रधानतया दो प्रकारकी हैं। एक लोक-विश्वासपर आधारित, दूसरी कवि-कल्पित। हिन्दी साहित्यमें सबसे पहले हजारीप्रसाद द्विवेदीने 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल'में इन साहित्यिक अभिप्रायोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया। —स०

कथावस्तु, वस्तु (कथात्मक साहित्य)–काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदिके उस भागको कथावस्तु कहते हैं जिसमें मूल कथाभाग या इतिवृत्तके साथ सम्बद्ध वे समस्त घटनाएँ भी आ जाती हैं, जिनसे मिलकर कथात्मक साहित्य-विशेषकी विषयवस्तु बनती है। अनेक नाटकों या उपन्यासोंमें एकसे अधिक कथा-धाराएँ होती हैं और उनके अलग-अलग नायक होते हैं। कभी-कभी उनकी फलप्राप्ति भिन्न-भिन्न होती है और कभी-कभी वे सब कथा-धाराएँ अन्तमें एक ही फलागमको प्राप्त होती हैं। कथाओंकी ये समस्त धाराएँ और उनकी शृखलाएँ, घटनाओंको पुष्ट करनेवाले प्रमाण-पत्र, समाचार, दस्तावेज आदि मिलकर कथावस्तु कहलाते हैं। इस प्रकार कथानक अर्थका द्योतक है, यद्यपि दोनों शब्दोंका प्रयोग बहुधा समानार्थी रूपमें होता है। (दे०—'कथानक', 'उपन्यास'।)

कथावस्तु–रूपकोंके भेदक तत्त्व तीन हैं—वस्तु, नेता और रस—'वस्तु नेता रसस्तेषा भेदक।' इन तत्त्वोंकी भिन्नताके कारण रूपकोंमें परस्पर भिन्नता पायी जाती है। वस्तु या कथावस्तु **रूपकों**का पहला भेदक तत्त्व है।

इतिवृत्त, अधिकारी, अभिनय और **कथोपकथन**-की दृष्टिसे वस्तुके कई भेद किये जाते हैं। इतिवृत्तकी दृष्टिसे वस्तुके तीन भेद किये जाते हैं—**प्रख्यात, उत्पाद्य** और **मिश्र** (दे०)। **प्रख्यात** वृत्त इतिहास-पुराणादिसे ग्रहण किया जाता है, जैसे प्रसादके 'चन्द्रगुप्त'का वृत्त ऐतिहासिक प्रख्यात वृत्त है और 'जनमेजयका नागयज्ञ' पौराणिक इतिवृत्त। इतिहास-पुराणसे इतिवृत्त ग्रहण करके भी नाटककार उसपर अपनी कल्पनाकी कूँची फेरता है, पर ऐसा करनेमें इस बातका ध्यान अवश्य रखा जाता है कि कल्पनाके समावेशसे वृत्तकी ऐतिहासिकता या पौराणिकतामें किसी तरहका विकार न उत्पन्न हो। **उत्पाद्य** इतिवृत्त लेखककी कल्पना द्वारा प्रसूत होता है। लक्ष्मीनारायण मिश्रके समस्या-नाटक इसी कोटिमें आते हैं। **मिश्रवस्तुके** वृत्तकी पृष्ठभूमि तो प्रख्यात होती है, पर अनेक कथाएँ कल्पनाप्रसूत भी होती हैं।

अधिकारी या **नायक**के सम्बन्धमें वस्तुके दो भेद होते हैं—**आधिकारिक** और **प्रासंगिक**। रूपकी **मूल-कथावस्तु** अधिकारिक कही जाती है, क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध अधिकारी या फलभोक्तासे होता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी **गौण** कथाएँ भी होती हैं जो प्रसगानुकूल आधिकारिक कथावस्तुकी सहायता किया करती हैं। ये कथाएँ **प्रासंगिक** कही जाती हैं। **प्रासंगिक** कथाके पुन दो भेद होते हैं— **पताका** और **प्रकरी**। सानुबन्ध या दूर-तक चलनेवाली कथाको **पताका** तथा थोड़े कालतक चलकर समाप्त हो जानेवाली कथाको **प्रकरी** कहते हैं। **रूपकोंमें** चमत्कार लानेके लिए **पताका-स्थानक**की भी योजना की जाती है। (दे०—'पताका-स्थानक'।)

रूपकका मुख्य प्रयोजन '**फल**'में निहित है। यह 'फल' ही कथाका कार्य है। रूपककी सम्पूर्ण रचनामें कार्यका फैलाव होता है। यह कार्य कई **अवस्थाओं**में दृष्टिगोचर होता है। इन्हें **कार्यावस्था**के नामसे अभिहित किया जाता है। ये कार्यावस्थाएँ सख्यामें पाँच हैं—**आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति** और **फलागम**। फल-लाभकी उत्सुकता **आरम्भ** कहलाती है। फलप्राप्तिके लिए अत्यन्त शीघ्रतापूर्ण जो व्यापार किये जाते हैं वे **यत्न** हैं। **प्राप्त्याशा**में प्राप्तिकी आशा तो होती है पर वह उपाय और विघ्नोंसे घिरी रहती है। **फलप्राप्ति**की निश्चयात्मक अवस्थाका नाम नियताप्ति है। जब सम्पूर्ण फल प्राप्त हो जाता है तब **फलागम**की अवस्था होती है। (पृथक् टिप्पणियाँ दे०।)

फलसिद्धिकी दृष्टिसे वस्तुका प्रयोजन पाँच भागोंमें बँटा हुआ है—**बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी** और **कार्य**। इन्हें **अर्थप्रकृतियों**के नामसे अभिहित किया जाता है। **रूपक**के आरम्भमें स्वल्पसकेतित वह हेतु, जो अनेकविध विस्तृत होता हुआ इष्ट या फलका कारण होता है, **बीज** कहलाता है। किसी दूसरे अर्थ या कथासे विच्छिन्न हो जानेपर इतिवृत्तके जोड़ने या आगे बढ़ानेके कारणको **बिंदु** कहते हैं। रूपकमें दूरतक चलनेवाली सानुबन्ध कथा, जो आधिकारिक कथाके सहायतार्थ आती है, **पताका** कहलाती है। **पताका** प्रासगिक कथा होती है। प्रासगिक कथाका एक दूसरा भेद भी होता है जिसे **प्रकरी** कहते हैं। **प्रकरी** उन छोटी-छोटी कथाओंको कहते हैं जो समय-समयपर उपस्थित हो, मुख्य कथाकी सहायता कर समाप्त हो जाती है। **कार्य** रूपकका वह प्रधान साध्य है जिसके लिए सब उपकरण एकत्र किये जाते हैं।

रूपकमें **कार्यावस्थाओं** और **अर्थप्रकृतियों**को जोड़नेके लिए पच सन्धियोंका विधान किया गया है। ये सख्यामें पाँच हैं, **मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श** और **निर्वहण** (उपसहृति)। **मुख** सन्धि **बीज** और **प्रारम्भ**को मिलती है, **प्रतिमुख यत्न** और **बिन्दु**को, **गर्भ**में **प्राप्त्याशा** और **पताका**का संयोग होता है। **विमर्श**में **नियताप्ति** और **प्रकरी**की सन्धि होती है। कार्य और फलागमके साथ ही जहाँ अन्य सभी अर्थोंका पर्यवसान हो जाता है वहाँ **निर्वहण** सन्धि होती है। (विस्तारके लिए दे०—'सधि',

'मुख' आदि।

अभिनेताकी दृष्टिसे विचार करनेपर **कथावस्तु**को दो कोटियोंमें विभाजित किया जा सकता है—**वाच्य** और **सूच्य**। **कार्यावस्था, अर्थप्रकृति** तथा **सन्धियों**को '**वाच्य**'की श्रेणीमें रखा जायगा। रूपकमें कुछ ऐसी कथाएँ भी होती हैं जिनकी केवल सूचना दी जाती है। ये कथाएँ मूल कथाकी अखण्डताकी रक्षाके लिए ही सूचित की जाती हैं। इन्हें **सूच्य** कहते हैं। सूच्य कथाओंको **अर्थोपक्षेपक विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार** और **अंकमुख** भी कहते हैं। (विस्तारके लिए दे०—'अर्थोपक्षेपक')

कथोपकथनकी दृष्टिसे शास्त्रकारोंने कथाको तीन कोटियोंमें बाँटा है—**सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य** और **अश्राव्य**। किसी पात्रके कथोपकथनको यदि रंगमंचपर उपस्थित सब पात्र सुन सकें तो वह **सर्वश्राव्य**, यदि कुछ ही सुन सकें तो **नियतश्राव्य** और यदि केवल कथन करनेवाला पात्र ही अपना कथन सुन सके तो **अश्राव्य** होता है। (विस्तारके लिए दे०—ये पृथक् शब्द)।

रूपकके प्रारम्भमें आनेवाले पात्र **सूत्रधार, नटी, स्थापक, नांदी**को भी कथावस्तुके अन्तर्गत ही समझना चाहिये, क्योंकि इनके द्वारा रूपककी **प्रस्तावना** प्रस्तुत की जाती है। प्रस्तावनाके कई भेद किये गये हैं—**उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक, अवगलित**। (विस्तारके लिए दे०—ये पृथक् शब्द।)

संस्कृतके शास्त्रीय ग्रन्थोंमें रूपककी कथावस्तुके सम्बन्धमें जो विस्तृत वर्गीकरण किया गया है वह बहुत ही यान्त्रिक हो गया है। संस्कृतके दो नाटकों (वेणीसंहार और रत्नावली)के अतिरिक्त अन्य नाटकोंको शास्त्रीय कसौटीपर खरा नहीं उतारा जा सकता। भारतेन्दुकालीन कुछ हिन्दी नाटकोंपर संस्कृतके शास्त्रीय निर्देशोंका प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसके पश्चात्के हिन्दी नाटक संस्कृतकी शास्त्रीय परम्पराको उतना न अपनाकर पाश्चात्य शास्त्रीय परम्पराको अधिक अपनाने लगे हैं।

अँग्रेजीमें कथावस्तुको 'प्लाट' कहते हैं। शिप्लेके अनुसार सरल या उलझनपूर्ण घटनाओंके संगुंफनका वह ढंग जिस आधारपर रूपक या नाटकका निर्माण किया जाता है, प्लाट या कथावस्तुके नामसे अभिहित होता है।

अरस्तूने अपने 'पोइटिक्स'में कथावस्तु (प्लाट)को नाटकका प्रथम तत्त्व माना है। कथावस्तुमें प्रारम्भ, मध्य और अन्त होता है। प्रारम्भमें आगे होनेवाला कार्य संनिहित रहता है, मध्यमें विगत तथा भावी कार्यकी सन्निहिति मानी जाती है और अन्त पिछली घटनाओंकी परिसमाप्तिमें देखा जाता है। कथावस्तुकी अन्विति विभिन्न घटनाओंके उचित सम्बन्धों द्वारा सम्पन्न होती है। रोमन नाटकोंके प्रभावके कारण नाटकोंमें समय, स्थान और कार्यकी अन्वितियोंपर विशेष जोर दिया जाने लगा, पर कालान्तरमें नाटककारोंको यह बन्धन स्वीकार नहीं हुआ। मोल्टनने एक स्थानपर लिखा है कि इन अन्वितियोंकी चर्चा पुरानी पड़ गयी है। फिर तो नाटक शास्त्रीय बन्धनोंकी चिन्तासे प्राय मुक्त हो गये। लेकिन आज भी नाटकीय कथावस्तुके लिए आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे आधारभूत अन्वितिको बनाये रखे। —व० सिं०

कथाविच्छेद-वक्रता—दे०—'प्रबन्धवक्रता', तीसरा नियामक।

कथासाम्य-वक्रता—दे०—'प्रबन्धवक्रता', छठा नियामक।

कथासूत्र—दे०—'थीम'।

कथित पद—दे०—'शब्द-दोष', छठा 'वाक्य दोष'।

कथोद्घात—रूपककी **प्रस्तावना**में जहाँ कोई नाटकीय पात्र सूत्रधारके वाक्य या वाक्यार्थको अपनी उक्तिमें प्रयुक्त करता हुआ **रंगमंच**पर प्रवेश करता है वहाँ कथोद्घात होता है। उदाहरणार्थ, संस्कृतके 'वेणीसंहार'में सूत्रधारने ज्यों ही 'निर्वाणेत्यादि' पढ़ा त्यों ही क्रोधमें भरे भीमसेन 'आह दुरात्मन्' कहते हुए आ धमके। —व० सिं०

कथोपकथन, कथनोपकथन—**कथासाहित्य** और **नाटक**का एक तत्त्व जो पात्रोंको जीवन्त रूपमें उपस्थित करते हुए उनकी प्रकृतिको प्रत्यक्ष रूपमें प्रकट करता है। यह कार्य **कथोपकथन, संलाप** या **वार्तालाप**में प्रयुक्त शब्दोंसे ही नहीं, उनके स्वराघात या लहजे, लय और प्रवाह, शैली, अनुरजकता और अलंकरण, सभीके सम्मिलित प्रभावसे सम्पन्न होता है। कथोपकथनके द्वारा ही विभिन्न पात्रोंमें एक-दूसरेके विरुद्ध सन्तुलन पैदा होता है तथा प्रत्येकके चरित्रचित्रणमें परिपूर्णता आती है। यह सही है कि साहित्यमें प्रयुक्त वार्तालाप शब्दश जीवनसे नहीं लिया जाता, परन्तु वह कार्य-व्यापारको वास्तविकता अवश्य प्रदान करता है। साथ ही, मूलभूत संघर्षसे उदय होकर वह उसे अग्रसर करता है और इस प्रकार कार्य-व्यापारको विकसित करता चलता है। कथोपकथनमें वर्तमान कालका प्रयोग होता है जिसके कारण कार्य अत्यन्त निकट, आँखोंके सामने तीव्र गति और गहनताके साथ घटित होता हुआ जान पड़ता है तथा साहित्यमें इसके द्वारा कहीं अधिक विविधता, विश्रान्ति और स्वाभाविकताकी वृद्धि होती है।

नाटकमें कथोपकथनका प्रयोग अधिक परम्परामुक्त रूपमें होता है। नाटकमें अभी कुछ दिनों पहलेतक पद्यका ही प्रभुत्व था और पात्रोंका वार्तालाप भी पूर्ण रूपमें या कमसे कम आंशिक रूपमें पद्यबद्ध तथा काव्यमय हुआ करता था। बीसवीं शतीके गद्यके युगमें भी नाटकके कथोपकथन वास्तविक जीवनकी तुलनामें कहीं अधिक लम्बे, सुघरे और सन्तुलित होते हैं। उनमें वाक्चातुर्य और वचन-विदग्धताका सावधानीसे समावेश किया जाता है। नाटकमें कभी-कभी अधिक अलंकृत भाषाका भी प्रयोग होता है तथा कुछ नाटककार पात्रानुकूल भाषाका प्रयोग न करके सभी पात्रोंसे एक ही प्रकारकी परिमार्जित शैलीमें वार्तालाप कराते हैं। कुछ नाटक विवादप्रधान कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनमें कार्यकी न्यूनता होती है और कथोपकथनमें ही नाटकका समस्त चमत्कार सीमित होता है। परन्तु अधिकांश प्रभावशाली नाटकोंमें कथोपकथन न केवल पात्रानुकूल होता है, वरन् रंगमंचपर उपस्थित किये गये शारीरिक कार्यव्यापारकी अपेक्षा नाटकीय संघर्षको प्रगति देनेमें कहीं अधिक सहायक होता है। (दे०—'उपन्यास')।—स

कनफटा—दे०—'मुद्रा'।

कन्नड (भाषा तथा साहित्य)—जनश्रुतिके अनुसार दक्षिण भारतकी भाषाएँ 'पंचद्राविड' भाषाएँ कहलाती हैं। ये पाँच भाषाएँ हैं—तमिल, कन्नड, तेलुगु, मलयालम तथा तुलु। प्रथम चारों भाषाएँ समृद्ध साहित्यिक भाषाएँ हैं, जिनकी अपनी-अपनी पृथक् लिपियाँ हैं। ग्राम्य गीतोंके अतिरिक्त तुलुका न अपना कोई साहित्य है, न कोई लिपि ही। यह कन्नडकी ही एक पुष्ट बोली है, जो दक्षिण कन्नडके अधिकांशमें बोली जाती है।

तुलुके अतिरिक्त कन्नडकी अन्य बोलियाँ हैं कोडगु, तोड, कोट, बडग। कोडगु तुलुके अति निकट है और कोडगु अथवा कुर्गमें बोली जाती है। कुर्ग वर्तमान मैसूर राज्यका सबसे छोटा जिला है। तोड, कोट और बडग ये तीनों बोलियाँ नीलगिरिकी तीन अलग-अलग पहाडी जातियोंमें बोली जाती हैं, जो अब भी बहुत अविकसित अवस्थामें पडी हुई हैं। नीलगिरि मद्रास राज्यके अन्तर्गत है।

कन्नड, कर्नाट, कर्नाटक शब्द अति प्राचीन ग्रन्थोंमें समानार्थमें प्रयुक्त हुए हैं। महाभारतमें कर्नाट शब्दका प्रयोग कई बार हुआ है (कर्नाटकाश्च कुटाश्च पद्मजालाः सतीनरा, सभापर्व, ७८, ९४, कर्नाटका महिषिका विकल्पा मूषकास्तथा, भीष्मपर्व ५८–५९)। दूसरी शताब्दीमें लिखे हुए तमिल 'शिलप्पदिकार' नामक काव्यमें कन्नड भाषा बोलनेवालोंका नाम 'करुनाडर' बताया गया है। वराहमिहिरके 'बृहत्संहिता', सोमदेवके 'कथासरित्सागर,' गुणाढ्यके पैशाची 'बृहत्कथा' आदि ग्रन्थोंमें भी 'कर्नाट' शब्दका बराबर उल्लेख मिलता है।

यद्यपि कन्नड भाषा महाभारत-रामायण कालमें भी बोली जाती थी तो भी ईसाके पूर्व लिखा हुआ कन्नडका न कोई ग्रन्थ मिलता है, न कोई शिलालेख ही। कर्नाटकमें अबतक प्राप्त शिलालेखोंमें बेलूरके पास हल्मिडि नामक गाँवमें प्राप्त शिलालेख ही एक ऐसी चीज है जिसमें कन्नडके गद्यका सर्वप्रथम दर्शन होता है। यह शिलालेख सन् ४५० ई० में लिखा माना जाता है। सातवीं शताब्दीमें लिखे गये बादामि (बीजापुर जिलेका एक गाँव) और श्रवण-बेगोलके शिलालेखोंसे कन्नडकी सुन्दर पद्यरचनाका परिचय मिलता है (कन्नड साहित्य प्रो० के० वेंकटरामप्पा: पृष्ठ १, ३)।

यद्यपि उपर्युक्त शिलालेखोंके आधारपर यह बताया जा सकता है कि कन्नडमें ईसाकी सातवीं शताब्दीके पहले ही गद्य-पद्यकी रचना हुआ करती थी तो भी नवीं शताब्दीके पहलेका कोई ग्रन्थ अबतक प्राप्त नहीं हो सका है। अबतक प्राप्त रचनाओंमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ है 'कविराजमार्ग'। यह एक रीति-ग्रन्थ है जो दण्डीके काव्यादर्शपर आधारित है। इसका रचनाकाल सन् ८१५–८७७ के बीचका माना जाता है। इस बातमें विद्वानोंमें मतभेद है कि इसके रचयिता मान्यखेटके राष्ट्रकूट चक्रवर्ती स्वयं नृपतुंग थे या उनके कोई दरबारी कवि। प्रो० मुगलिका यह निश्चित मत है कि नृपतुङ्ग इसके लेखक नहीं थे। उनका अनुमान है कि इसके लेखक नृपतुंगके दरबारी कवि श्रीविजय थे (कन्नड साहित्य चरित्रे: प्रो० आर० एस० मुगलि . पृष्ठ ५२)।

कन्नड और कर्नाटक शब्दोंकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें विद्वानोंका मत एक नहीं है। कन्नडमें 'नाडु'का अर्थ है देश। कुछ विद्वानोंका विचार है कर्नाट शब्द 'करु+नाडु'से निकला है। करुनाडुका अर्थ होता है काली मिट्टीका प्रदेश। कुछ वैयाकरणोंका मत है कि 'कन्नड' शब्द संस्कृत शब्द 'कर्नाट'का तद्भव रूप है और कुछ लोगोंकी राय है कि कम्पितु+नाडु अर्थात् सुगन्धित देशसे कन्नाडु और 'कन्नाडु'से 'कन्नड' बना है। इसके अनुसार सुगन्धित देशमें बोली जानेवाली भाषा 'कन्नड' है। कर्नाटकमें चन्दन खूब मिलता है, इसलिए सम्भव है कि ऐसा नाम पड़ा हो।

कर्नाटक शब्द अँग्रेजीमें बिगड़कर 'कर्नाटिक' (Karnatic) अथवा 'केनरा' (Kanara) हो गया है और 'केनरा'से भाषाका नाम 'केनारीस' (Kanarise) पड गया है। हिन्दीमें 'कन्नड', 'कनाटी' तथा 'केनरा', 'कनारी' भी हो गये हैं। आजकल कन्नड और कर्नाटकका प्रयोग क्रमशः भाषा और प्रदेशके लिए होता है।

चारों द्राविड भाषाओंकी अपनी-अपनी पृथक् लिपियाँ हैं, जिनमें कन्नड और तेलुगुकी लिपियाँ करीब-करीब एक ही हैं। इन दोनोंमें जो कुछ अन्तर है वह नाममात्रका है। यद्यपि विद्वानोंने यह स्वीकार किया है कि इन चारों भाषाओंकी लिपियोंका विकास प्राचीन ब्राह्मी लिपियोंकी दक्षिण शाखासे हुआ है तो भी कन्नड और तेलुगुकी लिपियाँ देवनागरी लिपियोंसे जितनी मिलती-जुलती हैं, उतनी तमिलकी लिपियोंसे नहीं। तेरहवीं शताब्दीके पूर्व लिखे गये तेलुगु शिलालेखोंके आधारपर यह बताया जाता है कि तबतक तेलुगु और कन्नडकी लिपियाँ एक ही थीं।

वर्तमान कन्नडकी लिपियाँ बनावटकी दृष्टिसे देवनागरी लिपियोंसे भिन्न दिखाई देती हैं, किन्तु दोनोंके ध्वनि-समूहमें अधिक अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि कन्नडमें स्वरोंके अन्तर्गत 'ए' और 'ओ'के ह्रस्व रूप और व्यंजनोंके अन्तर्गत वर्त्स्य 'ल'के साथ-साथ मूर्धन्य 'ल' वर्ण पाये जाते हैं। बाकी वर्ण देवनागरीके समान हैं।

अबतक कन्नड साहित्यके इतिहासपर जितने छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे गये हैं उनका अवलोकन करनेसे यही मालूम होता है कि काल-विभाजनके सम्बन्धमें विद्वानोंका एक मत नहीं है। सर्वाधिक मान्य काल-विभाजन प्रो० मुगलिका है। (१) पम्पपूर्वयुग (सन् ९५० तक), (२) पम्पयुग (सन् ९५० से ११५० तक), (३) बसवयुग (सन् ११५० से सन् १५०० तक), (४) कुमारव्यासयुग (सन् १५०० से १९०० तक) और (५) आधुनिक युग (सन् १९०० से)।

(१) 'कविराजमार्ग' इस युगका सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। यह माना जाता है कि इसकी रचना सन् ८१५-८७७के बीचमें हुई थी। प्रतीति यह है कि मान्यखेटके राष्ट्रकूट चक्रवर्ती नृपतुंगने इसे लिखा था, किन्तु आधुनिक विद्वानोंने इसपर सन्देह प्रकट किया है। प्रो० मुगलिका यह निश्चित मत है कि राजा नृपतुंग इसके लेखक नहीं थे। उनका अनुमान है कि नृपतुंगके दरबारी कवि श्रीविजयने इसे रचा था।

इस कालका दूसरा ग्रन्थ है 'वड्डाराधने', जिसमें १९ जैन महापुरुषोंकी कहानियाँ गद्यमें निरूपित है। इसके लेखक और रचना-कालके सम्बधमें मतभेद है। यही समझा जाता है कि शिवकोटाचार्य नामक जैन कविने इसे सन् ९००–१०७० के बीचमें रचा था। यद्यपि इसकी रचना प्राकृतकी 'भगवती आराधना' नामक ग्रन्थके आधारपर हुई है तो भी इसमें उत्तम काव्य सौन्दर्यकी छवि मिलती है। इस ग्रन्थकी सबसे बड़ी महत्ता यह है कि इसमें कन्नडके गद्यका सर्वप्रथम रूप प्राप्त होता है।

उपर्युक्त दो रचनाओंके अतिरिक्त अबतक दूसरा कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ है। इस कालमें असग, गुणनन्दी, गुणवर्मा आदि कवि हुए हे, इसका उल्लेख कुछ परवर्ती कवियोंने अपनी रचनाओंमें किया है, लेकिन किसी भी कविकी कोई कृति उपलब्ध नहीं हुई है।

(२) कन्नड साहित्यके इतिहासमें पम्पका काल महत्त्वपूर्ण युग है, जो स्वर्णयुगके नामसे भी प्रसिद्ध है। इस कालका दूसरा नाम है 'जैन युग,' क्योंकि, इस अवधिमें कन्नड साहित्यकी श्रीवृद्धि करनेवालोंमें जैनमतावलम्बी कवियोंका विशेष हाथ रहा। इन जैन कवियोंमें प्रत्येकने प्रधानतया दो प्रकारके काव्य रचे–एक जैन धर्म सम्बन्धी काव्य अथवा धार्मिक काव्य, दूसरा लौकिक काव्य अथवा शुद्ध काव्य। धार्मिक काव्यकी वस्तु किसी तीर्थंकर या महापुरुषकी कहानी होती थी और लौकिक काव्यमें वैदिक धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले पौराणिक काव्योंके कथानकोंका चित्रण होता था। इस प्रकार दो दो ग्रन्थ रचनेका उद्देश्य एक ओर जैन धर्मके तत्त्वोंका प्रचार करना था और दूसरी ओर लोकप्रिय संस्कृतके महाकाव्योंका कन्नडमें प्रतिरूप प्रस्तुत करके लोगोंको अपने धर्मकी ओर आकर्षित करना था। यद्यपि जैन कवियोंका मुख्य उद्देश्य अपने धर्मका प्रचार करना ही था तो भी उनके रचे हुए काव्योंमें साहित्यिक सौष्ठवकी कमी नहीं है। ये जैन कवि संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओंके विद्वान् थे, साहित्यशास्त्रके मर्मज्ञ थे और प्रतिभासम्पन्न कवि भी। इन कवियोंने आवश्यक परिवर्तनके साथ पौराणिक कथानकोंको अपने धर्मके अनुकूल अवश्य बनाया, किन्तु उनकी मौलिकताको नष्ट न होने देकर रोचकताको बनाये रखा। जैन कवियोंकी रचनाओंसे कन्नड भाषा और साहित्यका बड़ा उपकार हुआ। पहले-पहल कन्नड भाषाभाषियोंको संस्कृतके महाकाव्योंका रसास्वादन करनेका अवसर मिला। समृद्ध संस्कृत भाषाके सम्पर्कमें आनेके कारण कन्नटका शब्दभण्डार बढा और अभिव्यजनाशक्ति विकसित हुई। इसके अतिरिक्त संस्कृतकी काव्यशैलियोंका कर्नाटकमें प्रचार ही नहीं हुआ, वरन् कन्नड और संस्कृत-शैलियोंमें समन्वय भी हुआ। इस अवधिमें चम्पू-काव्य-शैलीका विशेष प्रचार हुआ। इस समयके धार्मिक काव्योंमें अद्भुत तथा शान्त और लौकिक काव्योंमें वीर तथा रौद्र रसोंकी विशेष रूपसे अभिव्यजना हुई। उपर्युक्त दो प्रकारके काव्योंके अतिरिक्त छन्द, रस, अलकार, व्याकरण, कोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि विभिन्न विषयोंपर भी ग्रन्थ रचे गये। इस प्रकार इस युगमें कन्नड साहित्यकी सर्वतोमुखी उन्नति हुई।

इस युगके प्रमुख कवि तीन थे–पम्प, पोन्न तथा रन्न जो 'रत्नत्रय'के नामसे प्रसिद्ध हैं। महाकवि पम्प अथवा आदि पम्पने दो काव्य रचे–'आदि पुराण' और 'विक्रमार्जुन-विजय' अथवा 'पम्प-भारत'। 'आदि पुराण'में जिनसेनाचार्य-कृत संस्कृत पूर्वपुराणके आधारपर प्रथम तीर्थंकर वृषभनाथका जीवन-चरित्र चित्रित किया गया है और 'विक्रमार्जुन-विजय'में महाभारतके कथानकका निरूपण किया गया है। ये दोनों चम्पूकाव्य हैं।

पम्प-युगके अन्य कवियोंमें चाउण्डराय, नागवर्म (प्रथम), दुर्गसिंह, चन्द्रराज, नागचन्द्र, नागवर्म (द्वितीय) आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। चाउण्टरायका 'चाउण्डराय-पुराण' प्राचीन कन्नड गद्यका एक सुन्दर नमूना है। नागवर्म (प्रथम)के दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं–'कर्नाटक-कादम्बरी' तथा 'छन्दोंबुधि'। 'कर्नाटककादम्बरी' बाणकी कादम्बरीका कन्नड प्रतिरूप है। इसकी शैली है चम्पू। प्रो० मुगलिका मत है कि कन्नडमें अनुवादित जितने ग्रन्थ हैं उनमें नागवर्म-(प्रथम)की 'कर्नाटक कादम्बरी' सर्वश्रेष्ठ है (कन्नड साहित्य चरित्रे · पृष्ठ ११७)। चन्द्रराज और श्रीधराचार्य नागवर्म-(प्रथम)के समकालीन कवि हैं। चन्द्रराजका कामशास्त्रपर लिखा हुआ 'मदनतिलक' नामक ग्रन्थ और श्रीधराचार्यका 'जातकतिलक' नामक ज्योतिष ग्रन्थ, दोनों उत्तम कृतियाँ हैं। इसी कालमें दुर्गसिंहने, जो भागवत सम्प्रदायके कवि थे, संस्कृत 'पचतंत्र'का अनुवाद प्रस्तुत किया जो बहुत ही लोकप्रिय हुआ।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियोंके बीचमें दूसरे एक प्रसिद्ध कवि हुए, जिनका नाम था नागचन्द्र। चूँकि इन्होंने 'पम्पभारत'का अनुकरण करते हुए रामायणकी रचना की इसलिए इनका दूसरा नाम अभिनव पम्प पड़ा। नागचन्द्रने भी पूर्ववर्ती जैन कवियोंकी भाँति दो काव्य रचे–'मल्लिनाथ-पुराण' तथा 'रामचन्द्र-चरित पुराण' अथवा 'पम्परामायण'। 'पम्परामायण' ही कन्नटके उपलब्ध रामकथा सम्बन्धी काव्योंमें सबसे प्राचीन है।

पम्प-युगमें महाकवियोंका आविर्भाव हुआ और उन्होंने अपनी महान् कृतियोंसे कन्नडको समृद्ध बनाया। इसलिए इसका नाम स्वर्णयुग पड़ा। यद्यपि इस कालमें बड़े-बड़े कलात्मक प्रौढ़ काव्योंका निर्माण हुआ तो भी समाजके साधारण लोगोंके जीवनके साथ साहित्यका सम्पर्क नहीं रहा। इसका मुख्य कारण यह था कि इस समयके कवि राजाओंके आश्रयमें रहते थे और वे जो कुछ लिखते थे, या तो अपने आश्रयदाता राजाओंका यश गानेके लिए लिखते थे या दरबारके अन्य पण्डितोंके बीचमें वाहवाही लूटनेके लिए या अपने धर्मका प्रचार करनेके हेतु। इसका परिणाम यह हुआ कि न बोलचालकी भाषा साहित्यके सर्जनके लिए उपयुक्त समझी गयी, न कन्नटके देशी छन्दोंका प्रयोग किया गया। सर्वत्र संस्कृतका प्रभाव पड़ा। चम्पू-शैलीमें जो प्रौढ काव्य रचे गये वे साधारण जनताकी वस्तुएँ न होकर पण्डितोंतक ही सीमित रहे।

(३) बारहवीं शताब्दीके उत्तरार्धसे पन्द्रहवीं शताब्दीतकका काल बसवयुग कहलाता है। इस युगका दूसरा नाम है 'क्रान्तियुग'। इस समय कर्नाटकमें बड़ी क्रान्ति

मची। धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं रहा जो इस क्रान्तिमें अछूता रह सका। इस क्रान्तिके उन्नायक थे बसव, बसवण्ण अथवा बसवेश्वर। इसीलिए इस युगका नाम 'बसवयुग' रखा गया है, जो सार्थक कहा जायेगा।

इस कालकी सबसे बडी विशेषता यह है कि संस्कृतनिष्ठ कन्नडके स्थानपर बोलचालकी कन्नड साहित्यके निर्माणके लिए उपयुक्त समझी गयी और संस्कृतकी काव्य-शैलीके बदले देशी छन्दोंको विशेष प्रोत्साहन दिया गया। पिछली शताब्दियोंमें जैन मतावलम्बियोंका साहित्य-क्षेत्रमें सर्वाधिकार था। इस युगमें भिन्न-भिन्न मतावलम्बियोंने साहित्यके निर्माणमें योग दिया और एक महत्त्वपूर्ण विषय यह था कि साहित्यकी श्रीवृद्धिमें भक्ति एक प्रबल प्रेरक शक्तिके रूपमें सहायक हुई।

यद्यपि इस कालमें अन्यान्य धर्मावलम्बियोंने साहित्यकी सेवा की, तो भी कन्नड साहित्यमें एक क्रान्तिकारी नूतन युगके निर्माणमें वीरशैव भक्तों तथा उनके अनुयायियोंका विशेष हाथ रहा। बारहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें बसवेश्वरका आविर्भाव हुआ। उन्होंने वीरशैव मतका पुन संघटन करके कर्नाटकके धार्मिक एव सामाजिक जीवनमें बडी उथल-पुथल मचायी। बसव तथा उनके अनुयायियोंने अपने मतके प्रचारके लिए बोलचालकी कन्नडको माध्यम बनाया। वीरशैव भक्तोंने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, नीतिपर निराडम्बर शैलीमें अपने अनुभवकी बातें सुनायीं, जो 'वचन'-साहित्यके नामसे प्रसिद्ध हुई। इन वीरशैव भक्तों अथवा शिवशरणोंके वचन एक प्रकारके गद्यगीत हैं, जिनमें न किन्हीं छन्दोंका प्रयोग हुआ है, न किसी काव्य-शैलीका अनुकरण किया गया है। यद्यपि इन वचनोंका निर्माण करते समय किसी नियमका पालन नहीं किया गया है, तो भी इनमें अपनी ही एक लय है, माधुर्य है और है आकर्षण भी। शिवशरणोंने साहित्यके लिए साहित्य नहीं रचा। उनका मुख्य उद्देश्य अपने विचारोंका प्रचार करना ही था। उनके विचारोंमें सरलता थी, सचाई थी और थी सच्चे जिज्ञासुकी रसमग्नता। इसलिए उनकी वाणीमें साहित्यिक सौष्ठव अपने-आप आ गया। इन शिवशरणोंके वचनोंने कर्नाटकमें वही कार्य किया जो कबीर तथा उनके अनुयायियोंने उत्तर भारतमें किया।

बसव एक मतप्रवर्तक ही नहीं थे वरन् उच्च कोटिके भक्त, विचारक और समाज-सुधारक भी थे। उन्होंने भक्तिका उपदेश दिया और इस भक्तिकी साधनामें वैदिक कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, जाति-पाँतिका भेद-भाव, अवतारवाद, अन्धश्रद्धा आदिको बाधक ठहराया। जातिरहित, वर्णरहित, वर्गरहित समाजके निर्माण द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक साधनाका मार्ग सर्वसुलभ बनाना चाहा। बसवके असाधारण व्यक्तित्वका प्रभाव कर्नाटकमें ही नहीं, प्रत्युत दक्षिणापथके विशाल भू-भागपर भी पडा।

इन वचनकार शिवशरणोंके अतिरिक्त वीरशैव मतावलम्बी बहुतसे ऐसे कवि हुए जिन्होंने भक्तिभावप्रधान नाना प्रकारके काव्य-ग्रन्थ देशी छन्दोंका प्रयोग करते हुए प्रस्तुत किये। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियोंके बीचमें तीन श्रेष्ठ कवि हुए। वे थे हरिहर, राघवांक और पद्मरस।

वीरशैव भक्तों तथा कवियोंके अतिरिक्त इस कालमें अनेक जैन एव ब्राह्मण कवियोंने भी नाना देशी छन्दोंमें विभिन्न विषयोंपर काव्योंका निर्माण करके कन्नड साहित्यकी वृद्धिमें योग दिया। जैन कवियोंमें नेमिचन्द्र, बन्धुवर्मा, जन्न, आण्डय्या, मल्लिकार्जुन, केशिराज, रट्टकवि, कुमुदेन्दु मुनिके नाम उल्लेखनीय हैं।

बारहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें वीरशैव सम्प्रदाय कर्नाटकमें चरम उत्कर्षको पहुँचा और जैन धर्म राजाश्रयसे वंचित होकर प्रभावरहित होने लगा। तेरहवीं शताब्दीमें कर्नाटककी धार्मिक स्थितिम फिरसे उथल-पुथल हुई। एक ओरसे कर्नाटक रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित श्रीवैष्णव सम्प्रदायसे प्रभावित हुआ और दूसरी ओरसे उसमें मध्वाचार्यके द्वैत मतकी भक्तिकी नयी लहर चली। इन दोनों वैष्णव सम्प्रदायों द्वारा चलायी गयी भक्तिधारासे कन्नड साहित्यमें नूतन शक्तिका सचार हुआ। परिणामस्वरूप पौराणिक महाकाव्योंके कथानकोंका कन्नडमें नये सिरेसे विशुद्ध मूल रूपमें निरूपण हुआ।

(४) पन्द्रहवीं शताब्दीसे उन्नीसवीं शताब्दीके अन्ततकका काल कुमारव्यास-युग कहलाता है। इस अवधिमें विजयनगरके सम्राटों तथा मैसूरके राजाओंने कन्नड साहित्यकी श्रीवृद्धिमें विशेष हाथ बँटाया। वैष्णव धर्मकी प्रतिष्ठा बढी जिसकी प्रतिक्रिया कन्नड साहित्यमें भी दिखाई पडी। वैष्णव धर्म द्वारा प्रचारित भक्ति साहित्य-सर्जनमें प्रेरक शक्तिके रूपमें प्रकट हुई। फलत वैष्णव भक्तों तथा कवियोंने जैन तथा वीरशैव मतावलम्बी कवियोंको साहित्य-निर्माण-क्षेत्रमें मात ही कर दिया। साहित्य जनताके अति निकट सम्पर्कमें आया। इस कालके सर्वश्रेष्ठ कवि नार्णप्प (नारणप्प) हैं,जो अपनी लोकप्रियताके कारण कुमारव्यासके अभिधानसे प्रख्यात हुए। कुमारव्यास भागवत सम्प्रदायके प्रमुख कवि थे।

नार्णप्प अथवा कुमारव्यासकी जन्मतिथि, जन्मस्थान तथा उनके रचनाकालके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद है। प्रो० मुगलिके अनुसार चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियोंके बीचमें कुमारव्यास जीवित थे। कुमारव्यासने 'कन्नड भारत' अथवा 'गदुगिन भारत' और 'ऐरावत' नामक दो काव्य लिखे थे, ऐसा माना जाता है। लेकिन 'ऐरावत'के उनकी कृति होनेमें संदेह प्रकट किया गया है। 'कन्नड भारतमें' व्यासरचित महाभारतके प्रथम दस पर्वोकी कथाका निरूपण किया गया है। यद्यपि पम्पने अपने 'पम्पभारत' द्वारा भारतकी सारी कथाका कन्नड प्रतिरूप प्रस्तुत किया था, तो भी वह कुमारव्यासके 'कन्नड भारत'की तरह लोकप्रिय नहीं हो सका। इसके दो कारण हे—एक यह है कि 'पम्प भारत' में पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्ति अधिक थी, दूसरा यह कि उसमें जैन धर्मका रंग चढा था। कुमारव्यासका 'कन्नड भारत' इन त्रुटियोंसे मुक्त है।

कुमारव्यासके 'कन्नड भारत'के उपरान्त भारत, रामायण, भागवतके कथानकोंके आधारपर बहुतसे उत्तम काव्य 'षट्पदि'-शैलीमें प्रस्तुत किये गये। कुमारव्यासके बताये मार्गपर चलकर नरहरि अथवा कुमारवाल्मीकि

नामक कविने वाल्मीकि-रामायणके आधारपर कन्नडमें 'तोरवेरामायण'की रचना की। यह भी भक्तिप्रधान प्रबन्ध-काव्य है, जो प्राचीन कन्नडकी एक उत्तम कलाकृति है। भागवत मतावलम्बी कवियोंमें तिम्मण्ण कवि, चाटुविट्ठल-नाथ, लक्ष्मीश, नागरसके नाम उल्लेखनीय हैं। कुमार-व्याससे प्रेरणा पाकर तिम्मण्ण कविने महाभारतके अन्तिम आठ पर्वोंकी कथाका निरूपण 'कृष्णराज-भारत' नामक अपने काव्यमें किया। सबसे पहली बार समग्र भागवतका कन्नड पद्यानुवाद चाटुविट्ठलनाथ नामक भागवत कविने प्रस्तुत किया। लगभग इसी कालमें एक बड़े प्रतिभासम्पन्न कवि हुए जिनका नाम था लक्ष्मीश। इनका लिखा हुआ 'जैमिनि-भारत' एक अनुपम काव्य है जिसमें भारतके कतिपय रोचक प्रसंगोंका सुन्दर एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। लोकप्रियताकी दृष्टिसे कर्नाटकमें कुमारव्यासके भारतके बाद 'जैमिनि-भारत'का स्थान है। कवि रुद्रभट्टने 'जगन्नाथविजय' द्वारा संस्कृतके वैष्णव काव्योंका कन्नड प्रतिरूप प्रस्तुत करनेकी जो परम्परा चलायी थी, एक प्रकारसे नागरस नामक कविने अपने 'वासुदेवकथामृतसार' नामक भगवद्गीताके कन्नड पद्यानुवाद द्वारा उसकी पूर्ति की।

जिस प्रकार इस अवधिमें कुमारव्यास, कुमारवाल्मीकि, लक्ष्मीश जैसे भागवत सम्प्रदायके कवियोंने भारत, रामायण, भागवत आदि महाकाव्योंसे कथावस्तुएँ लेकर कन्नडमें भक्तिप्रधान प्रबन्धकाव्योंका प्रणयन किया उसी प्रकार माध्वमतावलम्बी भक्तोंने बोलचालकी कन्नडमें गीत, भजन, कीर्तन रचकर भक्तिका सन्देश कर्नाटकके घर-घरमें पहुँचाया। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इन भक्तोंकी परम्पराका आरम्भ तेरहवीं शताब्दीमें नरहरितीर्थ द्वारा हुआ था। इस समय इन भक्तोंकी एक बड़ी मण्डली जुट गयी थी जो प्रधानतया दो भागोंमें विभाजित थी। एक दलका नाम था 'व्यासकूट' और दूसरेका 'दासकूट'। इन दोनोंमें अन्तर यही था कि वे भक्त व्यासकूटके कहलाते थे जो अधिकांश ब्राह्मण थे और जो अपने विचारोंकी अभिव्यक्ति लिए संस्कृतको ही उपयुक्त समझते थे एवं वे भक्त दासकूटके माने जाते थे जिनमें सभी जातियोंके लोग सम्मिलित थे और जो कन्नडके माध्यमसे भजन, कीर्तन रचते थे। सम्प्रदायकी तत्त्व सम्बन्धी बातोंमें 'व्यासकूट' और 'दासकूट'के भक्तोंमें कोई अन्तर नहीं था। इन दोनों दलोंके भक्त कर्नाटकमें हरिदासके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन हरिदासोंने भक्ति, ज्ञान, सदाचार, नीति, प्रेम, लोकव्यवहार आदि नाना विषयोंपर सरस, किन्तु व्याकरणबद्ध कन्नडमें हजारों-लाखों पद रचकर कन्नड साहित्यका भण्डार भरा। हरिदासोंकी परम्परा तेरहवीं शताब्दीसे अठारहवीं शताब्दी-तक चलती है।

सत्रहवीं शताब्दीमें मैसूरके राजा चिक्कदेवरायके आश्रयमें रहते हुए कतिपय वैष्णव कवियोंने उत्तम काव्योंका निर्माण किया। इन कवियोंमें तिरुमलार्य, चिक्कुपाध्याय, सिंगरार्य, होन्नम्मा, हेलवन कट्टे गिरियम्मा, महलिंगरंग कविके नाम उल्लेखनीय हैं। इसी समय पहली बार श्रीवैष्णव सम्प्रदायका प्रभाव कन्नड साहित्यपर प्रत्यक्ष रूपमें दिखाई पड़ा। 'चिकदेवराय विन्नप' तथा 'गीतगोपाल' नामक अपनी रचनाओंमें तिरुमलार्यने श्रीवैष्णव सम्प्रदायके साथ-साथ ऐकान्तिक भक्तिका निरूपण किया है। 'हदिबदेवधर्म' होन्नम्माका एक सुन्दर काव्य है, जिसमें सतीधर्म(गृहिणी-धर्म)का प्रांजल भाषामें वर्णन किया गया है। महलिंगरंग कविके लिखे हुए 'अनुभवामृत'में शंकरके अद्वैत-सिद्धान्तका सार सरस कन्नडमें प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार वैष्णव भक्तों तथा कवियोंने कन्नडके माध्यमसे जनतामें संस्कृतके वैष्णव काव्योंका कन्नड-प्रतिरूप प्रस्तुत करते हुए भागवत धर्ममें प्रतिपादित भक्तिका प्रचार किया है।

इस युगमें वीरशैव मतावलम्बी भक्तों एवं कवियोंने भी नाना प्रकारके ग्रन्थ रचकर कन्नडकी सेवा की। इन ग्रन्थोंका विभाजन प्रतिपादित विषयोंके आधारपर यों किया जा सकता है—(१) नूतन वचनोंका निर्माण और पूर्ववर्ती भक्तोंके वचनोंकी टीकाएँ, (२) वीरशैव मतके दार्शनिक तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले ग्रन्थ, (३) शैव पुराणोंका अनुवाद तथा वीरशैव भक्तोंकी जीवनियोंका वर्णन करनेवाले पुराण, (४) भक्ति तथा नीतिका उपदेश देनेवाले ग्रन्थ। इनमें कुछ 'शतक'-शैलीमें भी लिखे गये हैं। वचन-शैलीके अतिरिक्त कुछ गद्यग्रन्थ भी लिखे गये और सांगत्य, त्रिपदि, वृत्त, चम्पू, गीत आदि छन्दोंका विशेष प्रयोग किया गया। इतनी लम्बी अवधिमें जितने वचनकार हुए वे इने-गिने ही हैं।

चरितकाव्य प्रस्तुत करनेवाले वीरशैव कवियोंमें चामरस, विरूपाक्ष पण्डित, षडक्षरदेव अग्रगण्य थे। चामरस-के लिखे काव्योंमें 'प्रभुलिंगलीले' एक श्रेष्ठ चरितकाव्य है। 'प्रभुलिंगलीले'में अल्लम प्रभुके जीवनवृत्तका विस्तार किया गया है। वीरशैव कवियोंमें श्रेष्ठ प्रबन्धकाव्य रचनेवालोंमें हरिहरके बाद चामरसका नाम आदरके साथ लिया जाता है। विरूपाक्ष पण्डितका लिखा हुआ 'चैन्नबसव पुराण' भी एक उत्तम प्रबन्धकाव्य है, जिसमें प्रसिद्ध वीरशैव भक्त चेन्नबसवकी कहानी कही गयी है। हरिहरके 'बसवराजरगले' तथा चामरसके 'प्रभुलिंगलीले' जैसे चरितकाव्योंमें जैसा मतधर्म तथा काव्यधर्मका सुन्दर समन्वय हुआ है, वैसा समन्वय 'चेन्नबसवपुराण'में नहीं हो पाया है। इसे एक धार्मिक ग्रन्थ ही कहना पड़ता है।

पम्प-युगमें जैन कवियोंने अपने श्रेष्ठ प्रबन्धकाव्योंके द्वारा कन्नडमें चम्पूशैलीको अत्यन्त लोकप्रिय बनाया था लेकिन आगे चलकर इस शैलीका उपयोग कम होता गया। कुमारव्यास-युगमें फिरसे यह शैली अपनायी गयी। इसे अपनानेवाले कवि जैन नहीं थे, किन्तु वीरशैव कवि थे। सत्रहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें षडक्षरदेव नामक एक प्रतिभा-सम्पन्न वीरशैव कविने चम्पूशैलीमें तीन प्रबन्धकाव्य रचे, जिनके नाम हैं—'राजशेखरविलास,' 'शबरशंकरविलास' तथा 'वृषभेन्द्रविजय'। 'राजशेखरविलास' तथा 'शबरशंकर-विलास'में शिवलीलासे सम्बन्ध रखनेवाली कहानियोंका वर्णन किया गया है। 'वृषभेन्द्रविजय'की कथावस्तु बसवका जीवनवृत्त है।

इस युगमें एक महान् वीरशैव सन्तका अवतार हुआ। उनका असली नाम क्या था इसका कुछ पता नहीं लगा है। इनका साहित्यिक उपनाम 'सर्वज्ञ' था। इन्होंने 'त्रिपदि' नामक छन्दमें अपनी अमृतवाणी सुनायी है। प्रत्येक छन्द 'सर्वज्ञ' शब्दके साथ समाप्त होता है और हिन्दीके दोहेकी तरह स्वतन्त्र अर्थ रखता है।

इस अवधिमें जैन धर्मका प्रभाव लुप्त हो चला था, फिर भी कुछ जैन मतावलम्बी कवियोंने अपनी शक्तिभर कन्नडकी सेवा की। समाजकी बदली हुई परिस्थितिको ध्यानमें रखकर जैन कवियोंने प्रचलित देशी काव्य-शैलियोंमें काव्यरचना की। ऐसे कवियोंमें भास्कर, तेरकणावि बोम्मरस शिशुमायण, तृतीय मंगरस, साल्व कवि, रत्नाकरवर्णिके नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें रत्नाकरवर्णि सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनकी कृतियोंमें 'भरतेशवैभव' मुख्य है। प्रथम तीर्थङ्कर आदिदेवके पुत्र भरत और बाहुबलिके उज्ज्वल चरित्रोंका वर्णन ही 'भरतेशवैभव'की कथावस्तु है। पम्प, हरिहर, कुमारव्यास जैसे कन्नडके महाकवियोंकी श्रेणीमें रत्नाकरवर्णिका नाम भी लिया जाता है।

इस युगकी अन्तिम शताब्दीमें अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दीमें कुछ अच्छे कवि हुए। देवचन्द्र नामक जैन कविने 'रामकथावतार' लिखकर जैन रामायणकी परम्पराको आगे बढ़ाया। मैसूरके राजा मुम्मुडि कृष्णराज ओडेयरके दरबारी कवियोंमें केम्पुनारायण तथा करिबसवप्प शास्त्रीने संस्कृत एवं अँग्रेजीके कुछ नाटकोंका अनुवाद प्रस्तुत करके कन्नडमें नाटक-साहित्यके निर्माणके लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया। कालिदासके 'शाकुन्तल' आदि नाटकोंका बसवप्प शास्त्रीने इतनी सफलतासे अनुवाद किया कि वे अभिनव कालिदासके नामसे प्रसिद्ध हुए।

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें मुद्दण नामक एक सफल कवि हुए, जिन्होंने तीन सरस काव्य लिखे–'अद्‌भुतरामायण', 'रामपट्टाभिषेक' और 'रामाश्वमेध'। 'अद्‌भुतरामायण' और 'रामाश्वमेध' दोनों गद्यग्रन्थ हैं और 'रामपट्टाभिषेक' षट्पदि-शैलीमें लिखा हुआ खण्डकाव्य है। इनके गद्यकी यह विशेषता है कि प्राचीन कन्नडकी प्रौढ़ता एवं मधुरताके साथ-साथ आधुनिक कन्नडकी सरलताका परिचय मिलता है। इस दृष्टिसे इस सन्धिकालकी इन तीनों कृतियोंका कन्नड साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(५) आधुनिक युग मूलतः पाश्चात्य प्रभावका युग है। इस युगमें विदेशी मिशनरियोंका कार्य विशेष रूपसे महत्त्वपूर्ण है। एक सर्वथा नवीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक जागृति आधुनिक युगकी प्रमुख विशेषता है। १९०० ई० से १९२० ई० तकके विशिष्ट लेखक थे बी० रामा राउ, आलूर, मुद्वीडकर, तिम्मप्पय्या, मंगेशराव तथा एस० जी० नरसिंहचार। इस युगके लेखकोंने कन्नड काव्यधाराको एक नवीन रूप दिया, पर वस्तुतः तो विकासका युग १९२० ई० के बाद आता है। कवियोंमें श्रीकण्ठय्या, मास्ती, गुण्टप्पा, पंजे, गोविन्द पाई तथा बेन्द्रेके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। उपन्यासके क्षेत्रमें वेंकटेरी, कृष्णाराव तथा कारंतने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। नाटकका भी चतुर्मुखी विकास इस युगमें हुआ। कुछ उपन्यासकारों तथा कुछ अन्योंने कहानीको आधुनिक साहित्यका अत्यन्त लोकप्रिय माध्यम बना दिया। कहानीके साथ ही निबन्धका भी प्रचलन हुआ।

१९३९ ई०के बाद कन्नड साहित्यमें 'प्रगतिवाद'का प्रभाव दिखाई पड़ा। नये साहित्यकारोंने प्रायः इसी विचारधाराको केन्द्र बनाकर साहित्य सर्जन किया। समाजके विभिन्न वर्गोंके व्यक्तियोंने साहित्यको अपनी अभिव्यक्तिका माध्यम बनाया। इस युगके कृतित्वमें आत्मविवृति तथा मानवीय व्यक्तित्वके प्रति श्रद्धाकी भावना विशेष रूपसे देखी जा सकती है। —हि०

कन्नौजी–ग्रियर्सनके अनुसार पश्चिमी हिन्दीकी पाँच बोलियोंमेंसे एक तथा धीरेन्द्र वर्माके अनुसार ब्रजभाषाका ही पूर्वी रूप। इस बोलीका क्षेत्र ब्रजभाषा और अवधीके बीचमें पड़ता है। इसका केन्द्र उत्तरप्रदेशमें कन्नौज (फर्रुखाबाद जिला) है। कन्नौजके उत्तरमें यह हरदोई, शाहजहाँपुर तथा पीलीभीततक और दक्षिणमें इटावा तथा कानपुरके पश्चिमी भागमें बोली जाती है। कन्नौजी बोलनेवालोंकी संख्या ग्रियर्सनने ४५ लाख दी थी। इस बोलीका प्रयोग साहित्यरचनाके लिए नहीं हुआ, किन्तु साहित्यिक ब्रजभाषापर इसका पर्याप्त प्रभाव दिखलाई पड़ता है, क्योंकि अनेक ब्रजभाषाके कवि कन्नौजी बोलनेवाले थे। —धी० व०

कन्या (गोपी)–दे०–'गोपी'।

कपाली–चर्यापदोंमें कपाली अथवा कापालिकके अर्थ हैं चर्याधर, अर्थात् चर्याओंमें निष्णात। कापालिक शब्दकी उत्पत्ति इस प्रकार बतायी गयी है–'कम् महासुखम् पालयति इति कपाली' अर्थात् 'क' महासुखके बीजको जो पालता है वह कपाली है। इसीलिए डोम्बीके साधकको कपाली कहते हैं। —ध० वी० भा०

कपास–सिद्ध और सन्त-साहित्यमें मनका प्रतीक। 'तुला धुनि धुनि आशुके आशु शातिया' (चर्यापद)। 'धुन धुन धुन डाल अब मनको'—सन्त शिवदयाल (विस्तारके लिए दे०–'जुलाहा') —ध० वी० भा०

कबीरपंथ–'कबीरपन्थ'का शाब्दिक अर्थ उस सम्प्रदायसे है, जिसे सन्त कबीरने किसी समय चलाया था और जो अबतक इस नामसे प्रचलित भी चला आता है। कबीरपन्थी साहित्यमें इस बातकी चर्चा आती है कि कबीर साहबने अपने चार प्रमुख शिष्योंको चारों दिशाओंमें अपने मतके प्रचारार्थ भेजा था। उनमेंसे तीन अर्थात् चत्रभुज, बंकेजी और सहतेजीके विषयमें अधिक पता नहीं चलता, किन्तु चौथे अर्थात् धर्मदासके लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने इस पन्थकी 'धर्मदासी शाखा'का मध्यप्रदेशके अन्तर्गत प्रवर्तन किया था और यह आज भी अपनी विविध उपशाखाओंके रूपमें प्रचलित है। कबीरपन्थके ग्रन्थोंमें कबीर साहबके नामपर प्रचलित किये गये ऐसे बारह पन्थोंकी भी चर्चा आती है, जिनमें वस्तुतः उनके सिद्धान्तोंके विरुद्ध प्रचार किया जाता है। 'अनुराग सागर' नामक ग्रन्थ(पृ० ९०)में इनके प्रवर्तकोंके नाम क्रमशः 'मृत्यु अन्धा,' 'तिमिर दूत,' 'अन्ध अचेत,' 'मनभंग', 'ज्ञानभंगी,' 'मकरन्द,' 'चितभंग,' 'अकिलभंग,' 'विशम्भर,' 'नकटा,'

'दुरगदानि' और 'हसमुनि' दिये गये मिलते हैं जो प्रत्यक्ष कल्पित-से लगते हैं और इनके विषयमें कहा गया है कि ये सच्चे मार्गसे दूर थे। सन्त तुलसी साहबकी रचना 'घटरामायण' (पृ० २३४) तथा परमानन्द साहबके 'कबीर मन्शूर'(पृ० २९६)से यह पता चलता है कि स्वयं कबीर साहबने अपने शिष्य धर्मदासके प्रति भी ऐसे बारह पन्थों-की चर्चा की थी और वहाँ इन्हें क्रमश नारायणदास, भागोदास, सुरतगोपाल, साहेबदास, टकसारीपंथके प्रवर्तक, कमाली, भगवान्‌दास, प्राणनाथ, जगजीवनदास, तत्त्वजीया तथा गरीबदास नाम देकर कमसे कम ग्यारहकी चर्चा की गयी पायी जाती है। परन्तु स्पष्ट है कि इनमेंसे कई व्यक्तियोंका आविर्भाव सन्त कबीर साहबके बहुत पीछे हुआ होगा तथा इनमें 'धर्मदासी शाखा'के प्रवर्तकका नाम न आनेसे यह भी सन्देह किया जा सकता है कि कदाचित् इसके ही प्रचारकोंने इन नामोंका उल्लेख अपने प्रति-द्वन्द्वियोंके रूपमें कर दिया होगा।

वास्तवमें आजतक उपलब्ध किसी भी प्रामाणिक सामग्रीके आधारपर, यह बतलाना कठिन है कि सन्त कबीर साहबने ऐसे किसी पन्थका कभी प्रवर्तन भी किया था अथवा इसके लिए उन्होंने अपने शिष्योंको कोई स्पष्ट आदेश भी दिया था। ऐसी दशामें यह अधिक सम्भव है कि उनके निजी विचारोंके पन्थ-निर्माणके प्रतिकूल होते हुए भी, उनके शिष्यों तथा प्रशिष्योंने ऐसा करना, प्रचारकी दृष्टिसे, उचित समझ लिया हो। तदनुसार 'अनुरागसागर' ग्रन्थ(रचनाकाल सम्भवत अठारहवीं शताब्दी)से यह बात स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि उस कालतक ऐसे बारह पन्थ प्रचलित हो चुके थे तथा इसके आधारपर यह भी अनुमान कर लेना कठिन नहीं कि इस पन्थके प्रचारका क्षेत्र वर्तमान उत्तरप्रदेशसे लेकर मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, गुजरात, काठियावाड़, बड़ोदा, विहार, आदि प्रदेशोंतक विस्तार पा चुका था। उन पन्थोंके बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्धाका भाव भी जाग्रत् होने लग गया था। तबसे उनकी शाखाओं एवं उपशाखाओंकी सख्या प्राय निरन्तर बढती ही चली गयी है और इस समयतक सारे देशमें कदाचित् ऐसे कम स्थान मिलेंगे जहाँ कबीर साहब द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित किसी-न-किसी सन्तके मत अथवा उसके द्वारा प्रचारित सम्प्रदायकी कुछ चर्चा न सुन पडे।

फिर भी 'कबीरपन्थ'की शाखाओंमेंसे सभी एक ही प्रकार प्रसिद्ध नहीं हैं और उनमेंसे केवल तीनके नाम विशेष रूपसे लिये जाते हैं। इन शाखाओंको हम क्रमश 'काशी शाखा,' 'छत्तीसगढ़ी शाखा' एवं 'धनौती शाखा' कह सकते हैं और इनकी भी कतिपय उपशाखाएँ बतलायी जाती हैं। काशी शाखाके सस्थापक सुरतगोपाल कहे जाते हैं, जिनका नाम सन्त कबीर साहबके प्रमुख शिष्योंमें भी लिया जाता है, परन्तु इन सुरतगोपालके जीवनका कोई ऐतिहासिक वृत्त अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है और न इस शाखाके मठ 'कबीरचौरा'में मिलनेवाली शिष्य-परम्परा-की सूची द्वारा ही उसपर पर्याप्त प्रकाश पडता है। काशी शाखावाले कबीरचौरा मठके अन्तर्गत उसके निकटवर्ती लहरताराके मठ तथा बस्ती जिलेके मगहरवाले मठके भी नाम लिये जाते हैं तथा उसीके महन्तकी अधीनता मध्य-प्रदेशके बुरहानपुरवाले मठ तथा उड़ीसाके पुरीवाले मठके महन्त भी स्वीकार करते कहे जाते हैं। इसी प्रकार कबीर-पन्थकी दूसरी 'छत्तीसगढ़ी शाखा' या 'धर्मदासी शाखा' भी प्रसिद्ध है और उसके सस्थापक धर्मदासको भी सन्त कबीर साहबका एक प्रमुख शिष्य ही बतलाया जाता है। धर्मदासके ऐतिहासिक जीवनवृत्तका हमें पता नहीं और न उनका हम ठीक जीवनकाल ही बतला सकते हैं। सन्त दरिया साहबकी रचना 'ज्ञानदीपक'(पृ० १५९–६०)से तो पता चलता है कि स्वय कबीर साहबने ही दो सौ वर्ष बाद पुन धर्मदासके रूपमें जन्म लिया था, कठी तोड दी थी और कबीरपन्थ चलाया था, जिसमें आगे चलकर १२ उप-शाखाएँ हुई। फिर यह भी कहा जाता है कि धर्मदासकी शिष्य-परम्परा उनके वंशवालों द्वारा ही चलायी गयी, जहाँ काशीवाली शाखामें ऐसी बात देखनेमें नहीं आती। धर्मदासी या छत्तीसगढी शाखाके प्रमुख केन्द्रका नाम धामखेड़ा है और उसकी उपशाखाएँ माडला, कवर्धा, गटकेसर, बमनी आदि स्थानोंमें भी वर्तमान हैं। कबीर-पन्थकी तीसरी प्रसिद्ध शाखा धनौती(बिहार)की है, जिसे उसके प्रवर्तक भगवान् गोसाईंके नामानुसार 'भगताही शाखा' भी कहा जाता है। भगवान् गोसाईंको पिथौरा-(बुन्देलखण्ड)का निवासी बतलाया जाता है, जैसे धर्मदासके लिए बान्धवगढ़(बघेलखण्ड)का निवासी होना कहा गया है। इनकी भी जीवनीका कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है, किन्तु इतना सर्वमान्य-सा है कि ये कबीर साहबके साथ भ्रमण करते थे और इन्होंने ही 'कबीर बीजक'में संगृहीत रचनाओंको उनके मुखसे समय-समयपर सुनकर उन्हें एक जगह कर दिया था। फिर भी इनकी शिष्य-परम्परावाली तालिकासे ऐसी बात सिद्ध नहीं होती। 'धनौती शाखा'का प्रमुख केन्द्र विहार प्रदेशके दानापुरमें था, किन्तु फिर धनौती चला गया। इसकी एक उपशाखाका किसी लढिया स्थानमें भी होना प्रसिद्ध है।

कबीरपन्थकी अन्य शाखाएँ तथा उपशाखाएँ भी विशेषत उत्तरप्रदेश, विहार, उड़ीसा एवं मध्यप्रदेशमें ही पायी जाती हैं और वहींसे उनका सुदूर दक्षिण एव पश्चिम-के प्रदेशोंमें भी प्रचलित होनेके सम्बन्धमें अनुमान किया जा सकता है। उडीसामें तो सुरतगोपाल, ज्ञानदास, धर्मदास जैसे प्रसिद्ध कबीरपन्थियोंकी समाधियाँ भी वर्तमान हे और वहाँ एक ऐसी ही समाधि स्वय कबीर साहबकी भी बतलायी जाती है। उड़ीसाका प्रदेश बहुत दिनोंतक वैष्णव धर्मका एक प्रधान केन्द्र रहा और पता चलता है कि कबीर साहबके लगभग सौ वर्ष पीछे वहाँ छ बहुत प्रसिद्ध उड़िया वैष्णव कवि भी हुए थे। उन कवियोंकी रचनाओंपर वहाँके प्रचलित बौद्ध धर्मका भी प्रभाव लक्षित होता है, जिससे कबीरपन्थी साहित्य भी अछूता नहीं जान पड़ता। वहाँके वैष्णव कवि महादेवदासकी 'धर्मगीता'में जो सृष्टि-रचना-विषयक पौराणिक सकेत मिलता है, वह मूल बातोंमें कबीरपन्थके 'अनुराग-सागर'की बातोंसे भी मिलता-जुलता है। धर्म, शून्य, निरंजन, त्रिदेव आदि सम्बन्धी अनेक विचित्र विवरण इन दोनोंमें तथा बौद्धोंके 'शून्य

पुराण'में भी पाये जाते हैं और इनके आधारपर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन सभीमें यह अंश किसी परम्परागत सृष्टिकथाके आधारपर लिखा गया होगा अथवा इनमेंसे एकने दूसरेको प्रभावित किया होगा। कबीर-पन्थी साहित्यकी विशेषता यह है कि उसमें सर्वत्र कबीर साहबको ही किसी-न-किसी रूपमें महत्त्व दिया गया है तथा उन्हें अलौकिकता भी प्रदान की गयी है। कबीर साहब केवल एक विचारधाराके प्रमुख प्रवर्तक और प्रचारकमात्र ही नहीं रह जाते, प्रत्युत वे स्वय सत्यपुरुषका भी स्थान ग्रहण कर लेते हैं। कबीर साहबका प्रत्येक युगमें प्रधान बनकर रहना तथा सृष्टिरचनादिके कार्योंको व्यवस्थित रूप देनातक भी यहाँ एक विचित्र पौराणिक रचनाशैली द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

इसी प्रकार जैसे सृष्टि-रचना तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवोंके जन्म एव कर्मके विवरणोंमें एक विचित्र पौराणिकताका समावेश दीख पडता है और वे उड़ीसाके 'धर्मसम्प्रदाय' द्वारा प्रभावित भी जान पडते हैं, कबीर-पन्थकी छत्तीसगढी शाखाके कर्मकाण्डोंपर तान्त्रिकताकी छाप लगी प्रतीत होती है। इसके 'चौकाविधि,' 'जोतप्रसाद,' 'परवाना' आदि सम्बन्धी कृत्योंका विधान इस प्रकार किया गया पाया जाता है जिससे कबीर साहबके मूल मतका कोई लगाव नहीं। आटेके चूर्णके द्वारा विशिष्ट रेखाओंका अकन, फूलबत्ती, नारियल, पान, कलश जैसी वस्तुओंका उपयोग, प्रसाद-वितरण तथा महन्तादि सभी व्यक्तियोंका किसी नियमविशेषके ही अनुसार परम्परागत विधियोंका पूरा करना, ऐसी बातें हैं जो सन्तमतकी मौलिक विचार-धारासे बहुत दूर जाती समझ पडती हैं। फिर भी इन बातोंको बहुत बडा महत्त्व दिया जाता है और इन्हें किन्हीं गूढ रहस्योंका प्रतीक मानकर, इनका विस्तृत समाधान भी किया जाता है। इसके सिवा कबीरपन्थीय साहित्यमें अनेक ऐसी कल्पित कथाएँ भी मिलती हैं जो हमें कभी-कभी बौद्ध जातकों और अवदानोंका स्मरण दिलाती हैं। उसके अन्तर्गत कबीर साहबके प्रति भक्तिभावका प्रदर्शन, उनकी लीलाओंका वर्णन तथा उनकी अलौकिक शक्तिका निरूपण भी प्रचुर मात्रामें पाया जाता है और आध्यात्मिक बातोंका प्रतिपादन करते समय किसी ऐसी वर्णन-शैलीका प्रयोग किया गया मिलता है जिसके कारण उनकी गुत्थियाँ और भी रहस्यमयी बन जाती हैं। कबीर पन्थके साम्प्रदायिक साहित्यमें अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्दोंका भी बाहुल्य दीख पडता है, जिनके आशयका स्पष्टीकरण साधारण ढंगसे नहीं किया जा सकता और 'कबीर बीजक' जैसे मान्य ग्रन्थोंके भाष्यों तथा टीकाओंकी रचना करते समयतक भी उनके प्रामणिक उल्लेख कर दिये जाते हैं।

अतएव, कबीरपन्थकी उपलब्ध सामग्रीके आधारपर यह अनुमान करना कि इसकी बहुत-सी बातोंमें किसी साम्प्रदायिक प्रवृत्तिका ही समावेश हो गया होगा और इस प्रकार यह कबीर साहबकी मूल विचारधारासे क्रमश पृथक् पड़ता गया होगा, कदाचित् अनुचित नहीं कहा जा सकता। इसकी प्रमुख शाखाओं तथा उपशाखाओंके एक विस्तृत क्षेत्रतक फैल जानेके कारण उनपर स्थानीय विशेषताओंका प्रभाव पडना असम्भव नहीं था और सन्त-मतके अन्तर्गत नानकपन्थ, दादूपन्थ, बावरीपन्थ आदि साम्प्रदायिक वर्गोंकी सख्यामें निरन्तर वृद्धि होती जानेके भी कारण इसमें अनुयायियोंका झुकाव अधिकतर ऐसी बातोंको ही महत्त्व देनेकी ओर होता गया और यह उसके साथ कदाचित् होड़तक भी करने लग गया। फलत इसके प्रचार-साहित्यमें निरन्तर वृद्धि होती चली गयी तथा इसका विशिष्ट रूप क्रमश निखरता भी चला गया। सन्तमतके उन्नायकोंमें अनेक ऐसे लोग भी हुए जिन्होंने न केवल कबीर साहबके प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की, अपितु कभी-कभी उन्हें अपने सद्गुरुतकके रूपमें स्वीकार किया और एकाध सन्तोंने तो यहाँतक बतलाया कि वे उस आदि सन्त-के अवतार भी माने जा सकते हैं। इन बातोंसे इस पन्थको अधिकाधिक प्रेरणा ही मिलती चली गयी और इसकी दृष्टिसे वह विशिष्ट जीवनदर्शन भी ओझल होता गया जो कभी सन्तमतका शिलाधार बन चुका था। इसी कारण कबीरपन्थका वर्तमान रूप उन बहुत-से सम्प्रदायोंसे भिन्न नहीं जान पड़ता जो आज हिन्दू धर्मके साधारण अग बने पाये जाते हैं। वर्गविशेषकी भावना, परम्पराप्रियता, भेषधारणका आग्रह, धर्मग्रन्थके प्रति श्रद्धा, बाह्य कृत्योंकी व्यवस्था आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण यह पन्थ उस व्यापक विश्वधर्मके स्तरतक पहुँचता नहीं जान पडता जो कभी सन्तमतके प्रवर्तकोंका आदर्श रहा होगा।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्तपरम्परा परशुराम चतुर्वेदी] —प० च०

कबीरा—उत्तरभारत, राजपूताना, मध्यप्रदेश और विहारमें ऐसे कई लोकपरक निर्गुणी गीत उपलब्ध हैं जिनकी अन्तिम पक्तियोंमें कबीरकी छाप मिलती है। 'कहै कबीर सुनो भई साधो' जैसी पंक्तियोंवाले गीत 'कबीरा' कहलाते हैं। 'कबीरा' गीतोंके प्रचारका कारण स्वय कबीरकी लोक-प्रियता तो है ही, किन्तु परवर्ती सन्तों और निम्न वर्गके प्रति उत्कट लगाव भी इसके मूलमें है। ऐसे गीतोंपर कबीरका अपरोक्ष रूपसे प्रभाव पडा है। निम्न जातियोंके लोकगायक अपने इकतारों और मजीरोंकी संगतमें इन्हें रात-रात गाते हैं। राजस्थान और मारवाडके रामदेव भगत भी कबीरा गानेमें गौरव अनुभव करते हैं। अस्तु 'कबीरा' कबीरकी रचनाएँ नहीं हैं, बल्कि कबीरकी भावधारासे प्रभावित लोकोन्मुखी लोकगीतविशेष हैं, जिनमें साक्षी-स्वरूप अथवा श्रद्धावश कबीरकी छाप लगायी गयी है। —श्या० प०

कमल—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। केशवने ३ नगणो, नगण और गुरुके योगसे इस नवीन छन्दका प्रयोग किया है (।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।।, ऽ), यह 'प्राकृतपैंगलम्'-के इस नामके छन्दसे भिन्न है (२ २६)। उदा०—'तरु चन्दन उज्ज्वलता तन धरे। लपटी नव नागलता मन हरे। नृप देखि दिगम्बर वन्दन करे। जनु चन्द्रकलाधर रूपहि भरे' (रा० च० ३० १७)। —पु० शु०

कमल—दे०—'हठयोग'।

कमला छन्द—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, नगण, नगण और लघु गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है (।।। ।।ऽ,

।ऽ)। केशवकी परिभाषा–'नगन आदि दै सगन पुनि, लघु गुरु दीजै अन्त। आठ वरण प्रतिपद लखौ, कमला छन्द कहन्त॥' भरत (नाट्यशास्त्र ३२ १३४)ने मही और 'प्राकृतपैंगलम्' (२ ७४) और दामोदर मिश्र (वाणीभूषण २ ७३)ने कमल नाम दिया है। उदा०–'तुम प्रवल जो हुते, भुज वलनि सयुते। पितहि भुवि ल्यावते, जगत यश पावते।' (रा० च० ४ १३)।—पु० शु०

कमलिनी–दे०–'महामुद्रा'।

करखा–मात्रिक सम दण्डक छन्दों(दे०)का एक भेद। भानुके अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें ८, १२, ८, ९की यतिसे ३७ मात्रा तथा अन्तमें यगण (।ऽऽ)का प्रयोग होता है (छ० प्र० पृ० ७६)। चन्द (पृ० रा० रा०) तथा सूदन-(सू० च०)ने इसका प्रयोग किया है। तुलसीने स्तोत्र-शैलीमें इस छन्दका सुन्दर प्रयोग किया है–'मोहतम तरणि, हर रुद्र शकर शरण, हरण मम शोक, लोकाभिरामम्' (वि० प० प० १०)।

करनी–दे०–'कथनी'।

करभ–मनका प्रतीक। 'एमइ करहा तेवखु सहि विहरिअ मँहु पडहाइ।' (दोहाकोश प्र० च० वागची)। 'न्यूति जिमाऊँ अपनौ करहा छार मुनिसकी डारी रे।'–(कवीर ग्रन्थावली) —ध० वी० भा०

करुण गीति–हिन्दीमें **एलिजी**के लिए प्राय करुण गीतिका प्रयोग होता है। सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भसे अँग्रेजीमें एलिजी मृत्यु और शोकका गीत बनने लगी, अन्यथा प्राचीन ग्रीसमें युद्ध और प्रेमकी अभिव्यक्ति इसमें होती थी। जान्सन-कृत इसकी परिभाषा थी कि यह सक्षिप्त कविता है जिसमें न तो केन्द्रीयता होती है और न मोड, जो अपर्याप्त और अपूर्ण थी। इसके लिए विशेष छन्दकी योजना है, जिसके चरण हेक्सामीटर और पेण्टामीटरके होते और क्रमपूर्ण आते हैं। हेक्सामीटर चरणमें ६ विराम हो जाते है और पेण्टामीटरमें ५ विराम होते है। स्पेंसर-कृत 'डैफ्नैडा' और मिल्टन-कृत 'लिसिडास' इसी प्रकारकी रचनाएँ हैं। शेलीने कीट्सकी मृत्युपर 'एडोनैस' और आर्नाल्टने अपने मित्र क्लफकी मृत्युपर 'थाइर्सिस' नामक रचना लिखी। टेनिसनकृत 'इन मेमोरियम' इतनी लम्बी है कि इसकी गणना प्रकृत शोकगीतिमें सकोचके साथ की जाती है। टामस ग्रे-कृत 'ओड आन दि डेथ आव ए फेवरिट कैट'में विषादकी एलिजिक व्याप्ति है, यद्यपि इसे कविने ओट (सम्वोधगीति) कहा है। सोलहवीं शताब्दीसे ही मृत्युजन्य शोक और करुणाकी अभिव्यक्ति इसमें होने लगी और इस समय इसका यही प्रधान अर्थ हो गया। सन् १७५१में प्रकाशित ग्रे-कृत 'एलिजी रिटेन इन ए कण्ट्री चर्चयार्ड'ने अशेष कीर्ति अर्जित की। इसमें उद्वेगहीन विषादकी अभिव्यक्ति है, निराशाकी झलक नहीं और जीवनकी तिक्तता और अन्यायके प्रति आक्रोश भी नहीं है। केवल व्यापक विषाद, मानवीय समवेदना एव महानुभूतिकी व्याप्ति है, क्योंकि ग्रेने सामान्य ग्रामीण जीवनमें व्याप्त कारुणिकताका अनुभव किया था। चौधरी वदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन'ने 'दुर्दशा दत्तापुर'में यह पद्धति अपनायी है, यद्यपि इसपर गोल्डस्मिथ-कृत ऊजड़ग्राम (डिजर्टेड विलेज)का स्पष्ट प्रभाव है। हिन्दीमें इसे **करुणगीत** कहते ह, क्योंकि इसमें कारुणिक आर्द्रता और तटस्थ विषादकी अभिव्यक्ति होती है। राजनीतिक चेतनाके जागरित होनेपर किसानों और मजदूरोंके प्रति समवेदना प्रकट करनेवाले गीतोंकी रचना हुई है, जिसमें गिरिधर शर्मा कविरत्नकी रचना 'जय जय किसान' सर्वप्रथम हे।

किसी स्वजन या अत्यन्त प्रिय जनकी मृत्युको लक्ष्य कर लिखे गये गीत पाश्चात्य दृष्टिमें एलिजी हैं, जिन्हें **शोकगीति** कह सकते हैं। शोकगीतिमें वैयक्तिक हानिकी तीव्रानुभूति और उद्वेगपूर्ण विषाद एव अपरिसीम निराशाकी कारुणिक शोकाविष्ट अभिव्यक्ति होती है, यह अधिकाधिक वैयक्तिक है, अत इसमें अधिकाधिक गीतिकाव्यात्मकता मिलेगी। ऐसी रचनाओंमें विक्टर ह्यूगो-कृत 'त्रिस्त्रिसि दि ओलम्पियो' अद्वितीय है। प्रेमी अधिक समयके अन्तरपर अपने प्रेमके रगस्थलकी यात्रा करता है, वहाँ पहुँचनेपर सभी वस्तुएँ परिवर्तित दीख पडती हे, यहाँतक कि प्रकृति भी परिवर्तित हो चुकी है एव पगडण्डीके स्थानपर विस्तृत राजपथ निमित हो चुका है। आधुनिक कालमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके देहावसानपर अनेक शोककाव्य लिखे गये थे, जिनमें प्रेमघन-कृत 'शोकाश्रुविन्दु' अति प्रसिद्ध है, किन्तु यह रचना गीतात्मक नहीं, छन्दात्मक है। उर्दू-फ़ारसीमें इसे मरसिया कहते हे, किन्तु उसमें गेयता और वैयक्तिकतापर विशेष वल नहीं रहता है। प्रतापनारायण मिश्रने हसन-हुसैनकी मृत्युके सम्वन्धमें एक मरसिया लिखा था। 'वटोहियागीत'के प्रसिद्ध कवि रघुवीरनारायणने 'प्यारे शिवेश्वर'में प्रिय व्यक्तिकी मृत्युपर शोकगीत लिखा था। इस कोटिकी रचनाओंमें निराला-कृत 'सरोज-स्मृति' श्रेष्ठ रचना है। दे०–'शोकगीति'। —रा० खे० पा०

करुण रस–भरतके 'नाट्यशास्त्र' (३ श० ई०)में प्रतिपादित आठ नाट्यरसोंमें श्रृगार और हास्यके अनन्तर तथा रौद्रसे पूर्व करुणकी गणना की गयी है। 'रौद्रात्तु करुणो रस' कहकर करुण रसकी उत्पत्ति रौद्र रससे मानी गयी है और उसका वर्ण कपोतके सदृश है (कपोत करुणश्चैव) तथा देवता यमराज वताये गये हैं (करुणो यमदैवत)। भरतने ही करुण रसका विशेष विवरण देते हुए उसके स्थायी भावका नाम 'शोक' दिया है (अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभव) और उसकी उत्पत्ति 'शापजन्य क्लेशविनिपात,' 'इष्टजन-विप्रयोग,' 'विभवनाश,' 'वध,' 'वन्धन,' 'विद्रव' अर्थात् 'पलायन', 'अपघात', 'व्यसन' अर्थात् आपत्ति आदि विभावोंके सयोगसे स्वीकार की है। साथ ही करुण रसके अभिनयमें, 'अश्रुपातन,' 'परिदेवन' अर्थात् विलाप, 'मुख-शोषण,' 'वैवर्ण्य', 'त्रस्तगात्रता', 'नि श्वास,' 'स्मृतिविलोप' आदि अनुभावोंके प्रयोगका निर्देश भी किया है। फिर निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जटता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभेद आदिको व्यभिचारी या संचारी भावके रूपमें परिगणित किया है (६ ६१ ग)।

धनंजय (१० श० ई०), विश्वनाथ (१४ श० ई०) आदि आगेके संस्कृत आचार्योंने करुण रसके उत्पादक विविध

कारणोंको संक्षिप्त करके 'इष्ट-नाश' और 'अनिष्ट-आप्ति' इन दो सज्ञाओंमें निबद्ध कर दिया है, जिनका आधार उक्त 'नाट्य-शास्त्र'में ही मिल जाता है। धनजय—'इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनुनम्।' (द० रू० . ४ . ८१) विश्वनाथ—'इष्टनाशादनिष्टाप्ते· करुणाख्यो रसो भवेत्।' (सा० द० : ३ २२२)। हिन्दीके अधिकाश काव्याचार्योंने इन्हींको स्वीकार करते हुए करुण रसका लक्षण रूढिगत रूपमें प्रस्तुत किया है। चिन्तामणि (१७श०ई०पूर्वा०)के अनुसार 'इष्टनास कि अनिष्ट की, आगम ते जो होइ। दु·ख सोक थाई जहाँ, भाव करुन कह सोइ।' (क० कु० क० त० ८)। देव (१७ श० ई० पूर्वा०)—'विनठे ईठ अनीठ सुनि, मनमें उपजत सोग। आसा छूटे चार विधि, करुण वखानत लोग'। (शब्द र० ३)। कुलपति मिश्रने 'रसरहस्य (१६७० ई०)में भरतके नाट्यके अनुरूप विभावोंका उल्लेख किया है और केशवदासने 'रसिकप्रिया'में 'प्रियके विप्रिय करन'को ही करुणकी उत्पत्तिका कारण माना है।

जहाँतक करुण रसके देवताका प्रश्न है, हिन्दीके कवियोंने अधिकतर 'यम'के स्थानपर 'वरुण'को मान्यता प्रदान की है और इस प्रकार भरतसे लेकर विश्वनाथतककी परम्परासे भिन्न पथका अनुसरण किया है। करुण रसके उद्दीपन-विभावका निरूपण प्राय· 'साहित्यदर्पण'के 'दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनम्'(सा० द० . ३ २२३)के प्रभावसे किया गया है।

करुण रसकी परिव्याप्ति और परिसीमनका निर्धारण एक जटिल प्रश्न है। यद्यपि करुणका स्थायी भाव शोक माना गया है, पर शोक तभी सम्भव है जब उसके मूलमें 'राग' या 'रति' किसी-न-किसी रूपमें निहित हो। आदिकाव्य वाल्मीकि-रामायणसे सम्बद्ध क्रौंचवधकी कथामें ही इसका सूत्र मिलता है। जिस क्रौंच-मिथुनमेंसे एकके वधका परिणाम 'शोक'के 'श्लोकत्व'में घटित हुआ वह 'काममोहित' था। इस आधारपर कुछ काव्य-चिन्तकोंने करुणका क्षेत्र अन्य रसोंकी अपेक्षा अत्यन्त व्यापक बताया है और शृङ्गारादि रसोंको उसीकी परिधिमें समाविष्ट करनेकी चेष्टा की है। इसका सबसे अधिक श्रेय 'उत्तररामचरित'के रचयिता भवभूतिको है। इन्होंने काव्यमें करुण रसकी महत्ता और व्याप्तिका मुक्त उद्घोष किया है— 'एको रस करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्न पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्। आवर्तबुद्बुदतरगमयान्विकारानम्भो यथासलिलमेव हि तत्समग्रम्।' (३ · ४७)। मानव-हृदयको सुखकी अपेक्षा दु·ख अधिक तलस्पर्शी एवं द्रवणशील अनुभूति प्रदान करता है तथा वह अधिक गम्भीर एवं स्थायी आत्मिक एकता उत्पन्न करनेकी क्षमता रखता है, कदाचित् इसी आधारपर उक्त स्थापनाकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

एक ओर जहाँ करुणको इतनी व्यापक महत्ता प्रदान की जाती है, वहाँ दूसरी ओर आचार्योंने उसकी सीमाओंका भी निर्देश शृङ्गारादि अन्य रसोंकी तुलनामें सूक्ष्म रीतिसे किया है। अनुभावों और संचारियोंकी दृष्टिसे विप्रलम्भ शृङ्गार करुणके सबसे निकट पड़ता है इसीलिए भरतसे लेकर वर्तमान कालतक काव्यके तत्त्वज्ञोंको दोनोंका मौलिक अन्तर स्पष्ट करनेकी ओर विशेष ध्यान देना पड़ा है। 'नाट्यशास्त्र'में करुणको निरपेक्ष और विप्रलम्भको सापेक्ष कहकर दोनोंका पार्थक्य प्रदर्शित किया गया है—'करुणस्तु निरपेक्षभाव औत्सुक्यचिन्तासमुत्थ·। सापेक्षभावो विप्रलम्भकृत। एवमन्य करुण अन्यश्च विप्रलम्भ।' (६ . ४५)। उक्त उद्धृत अंशके साथ भरतने 'एवमेष सर्वभावसयुक्त शृङ्गारो भवति' अर्थात् 'इस प्रकार यह शृङ्गार सब भावोंसे सयुक्त होता है।' यह टिप्पणी जोड़कर स्पष्ट निर्देश कर दिया कि वे करुणकी तुलनामें शृङ्गारको अधिक व्यापक भाव-भूमिपर आधारित मानते थे।

जो करुण इष्टनाशसे उत्पन्न होता है वह तो विप्रलम्भसे सरलतासे पृथक् किया जा सकता है, क्योंकि नायक-नायिका, दोनोंकी सत्ता 'रति'की स्थितिके लिए अनिवार्य है। यदि दोनोंमेंसे किसीका अवसान हो जाता है तो 'रति'की स्थिति ही नहीं होती, अत ऐसी दशामें केवल करुण ही सम्भव है। परन्तु अनिष्टप्राप्तिसे उत्पन्न होनेवाला करुण विप्रलम्भसे तबतक अलग नहीं किया जा सकता जबतक 'रति' और 'शोक'की सम्मिलित स्थितिमें किसी एककी प्रधानता व्यक्त नहीं हो जाती। 'रत्यनालिंगित शोक'की विशेष स्थितिको मानते हुए मिश्र रसके रूपमें 'करुण शृङ्गार' और 'करुण वात्सल्य'-की भी कल्पना की गयी है (आनन्दप्रकाश दीक्षित · काव्यमें रस अप्र० थीसिस· पृ० ४३७, ३८)। कृष्ण-काव्यमें भ्रमर-गीतके प्रसगमें गोपी-विरह, यशोदा-विलाप और 'अभिज्ञान-शाकुन्तल'के चतुर्थ अकमें कण्वके आश्रमसे शकुन्तलाकी विदाई तथा ऐसे ही अन्य स्थल शास्त्रीय परिभाषाके अनुसार करुण रसके अन्तर्गत न आते हुए भी न्यूनाधिक करुण प्रभाव उत्पन्न करते हैं। उर्मिला विरह तथा राम-वनगमनकी स्थिति भी समानान्तर ही है, कदाचित् इसीलिए इनके वर्णनमें कवियोंने 'करुणा' या 'करुण रस'-का स्पष्ट प्रयोग किया है। मैथिलीशरण गुप्त 'करुणे, क्यों रोती है? 'उत्तर'में और अधिक तू रोई। मेरी विभूति है जो, उसको 'भवभूति' क्यों कहे कोई?' (साकेत ९)। तुलसीदास—'मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोक न हृदयँ समाइ। मनहुँ करुन रस कटकई उतरी अवध बजाइ।' (रा० च० मा० . २ . ५६)। रामचन्द्र शुक्लने ऐसे ही स्थलोंको ध्यानमें रखकर करुण और विप्रलम्भका अन्तर बताते हुए लिखा है कि वियोगमें प्रियके अपनेसे बिछुड़नेकी विह्वलता प्रधान होती है, किन्तु शोकमें अपने कष्टकी भावना उतना काम नहीं करती जितना प्रियके कष्टकी चेतना जीको जलाती है। इससे भी भावकी प्रधानता और अप्रधानताके आधारपर ही करुण और शृङ्गारके बीच अन्तर करनेकी पुष्टि होती है। केशवदासने वियोग शृंगारके चार भेदोंमें एक करुण भी रखा है, जो इस बातका प्रमाण है कि दोनोंकी सीमा एक विन्दुपर मिल जाती है।

करुण रसके साथ जो इससे भी महत्त्वपूर्ण समस्या सम्बद्ध रही है वह है दु खके द्वारा आनन्दकी उपलब्धिकी। करुणके द्वारा प्रत्यक्ष तो दु·खकी अनुभूति होती है, परन्तु भारतीय काव्यशास्त्रमें रसोंको आनन्दोत्पादक माना गया है, अत· सैद्धान्तिक दृष्टिसे करुण रसकी निष्पत्तिमें भी भावकको आनन्दकी ही उपलब्धि होनी चाहिये। करुण

काव्यसे दु:खकी अनुभूति होती ही नहीं, यह कहना प्रत्यक्ष अनुभवका विरोधी समझकर आचार्योंने विविध प्रकारके तर्कोंसे इसका समाधान प्रस्तुत करनेका यत्न किया है। कुछ विद्वान् करुण प्रसंगोंसे आनन्दकी उपलब्धि सम्भव मानते हैं और कुछ इसके विरोधी हैं। संस्कृत काव्यशास्त्रमें इस विवादका मूल पर्याप्त प्राचीन है, इधर पाश्चात्य नाटकोंमें प्राप्त ट्रेजिडीकी समस्या तथा तत्सम्बन्धी प्राचीन ग्रीक मनीषियोंके मतोंपर भी इसीके साथ विचार किया जाने लगा है। 'ध्वन्यालोक'(२ ८)में आनन्दवर्धन-(९ श० ई० उत्त०)ने न केवल करुणमें 'माधुर्य' एवं 'आर्द्रता'-की स्थिति मानी है वरन् उसे शृङ्गार और विप्रलम्भसे उत्तरोत्तर अधिक प्रकर्षमय भी बताया है, जिससे व्यंजित होता है कि वे करुण रसको शृङ्गारसे भी अधिक तृप्तिकर अथवा आनन्ददायक मानते थे। मुक्तिवादके प्रतिपादक भट्टनायकने कहा है कि रसदशामें सत्त्वोद्रेक होनेसे भावकके लिए भावके क्षेत्रमें 'स्व' और 'पर'का भेद समाप्त हो जाता है, जिसके फलस्वरूप भावके सात्त्विक आस्वादनसे उसे आनन्दकी उपलब्धि होती है। करुण रसमें भी यही बात चरितार्थ होती है। मधुसूदन सरस्वतीने 'भक्तिरसायन'में सांख्य दर्शनके आधारपर करुण आदि दु:खात्मक रसोंमें शुद्ध सत्त्वकी स्थिति न मानकर गुणोंमें तारतम्य स्थापित किया है। उनकी दृष्टिसे सतोगुण उद्रेकशून्य होता है जब कि 'क्रोध' और 'शोक'में रजोगुण और तमोगुणकी प्रधानता रहती है, जिससे इनमें न्यूनाधिक उद्रेक अवश्य मिलता है। इसी कारण रौद्र रस और उससे उत्पन्न करुण रस विशुद्ध आनन्दकी सृष्टि नहीं कर सकते। पर इसीके साथ अनुभूतिके लौकिक और अलौकिक रूपको भी स्वीकार करते हैं, जो रस-सिद्धान्त और उसके आनन्दवादका मूल आधार है। अभिनव गुप्तने रसदशाकी अलौकिक अनुभूति और उसकी विलक्षणताका सूक्ष्म विवेचन करते हुए हृदयकी मुक्त-दशासे आनन्दकी प्राप्ति मानी है, जो उनके विचार-से सभी रसोंमें अनिवार्य रूपसे रहती है, अन्यथा रसनिष्पत्ति ही असम्भव है। विश्वनाथने केवल सचेतस् व्यक्तियोंको करुण रसके प्रति आकर्षित होनेमें सक्षम बताया है और करुणकी रसात्मकताको सीमित किया है। भोजने धनञ्जय और विश्वनाथके ही तर्कके आधारपर 'दु:खदातापि सुखं जनयति'का प्रतिपादन किया। जिस प्रकार रतिमें नखक्षतादि कष्टदायक होते हुए भी सुखसंवृद्धिके साधन होते हैं, उनके विचारसे उसी प्रकार करुण रसमें भी दु:खद वस्तुएँ सुखानुभूति उत्पन्न करती हैं। रामचन्द्र गुणचन्द्रने अपने 'नाट्यदर्पण'में इसी बातको 'पानक रस'का उदाहरण देकर प्रतिपादित किया है जिसमें सुखास्वादकी तरह तीक्ष्ण आस्वाद भी रुचिकर लगता है—'पानकरसमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन, सुखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते।' (पृ० १५९)।

कदाचित् इसी समस्यासे प्रेरित होकर अनेक आचार्योंने रसोंको दो भागोंमें विभाजित कर दिया। शृङ्गार, वीर, हास्य, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस अनुकूलवेदनीय होनेके नाते सुखात्मक वर्गमें रखे गये तथा करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक ये चार रस प्रतिकूलवेदनीय होनेसे दु:खात्मक वर्गमें माने गये। रसोंके इस वर्ग-विभाजनका मूल स्रोत काफी पुराना है, यद्यपि सर्वाधिक प्रसिद्धि इसके लिए रामचन्द्र गुणचन्द्रको ही मिली। उनके 'नाट्यदर्पण'-की १०९वीं कारिका है—'सुखदु:खात्मको रस:'। 'नाट्य-शास्त्र'की 'अभिनवभारती' टीकामें भी कहा गया है—'सुख-दु:खस्वभावो रस:', अर्थात् रस सुख-दु:ख स्वभाववाले होते हैं। यह 'नाट्यदर्पण'से पहलेकी रचना है। हरिपालके 'संगीतसुधाकर,' रुद्रभट्टके 'रसकलिका,' धनञ्जयके 'दशरूपक' आदि अनेक ग्रन्थोंमें भी करुण रसको दु:खात्मक मानकर उसकी आनन्दात्मकतापर विचार किया गया है। रसिकोंकी उसमें उत्तरोत्तर प्रवृत्ति होती है, इसको करुण रसमें स्थित आनन्दका प्रमाण माना गया है यथा—'अत्रोत्तरोत्तरारसिकाना प्रवृत्तय:। यदि वा लौकिककरुणवद्दु:खात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चित्तत्र प्रवर्तत' (धनिककृत व्याख्या द० रू० ४ ४४,४५)। इस समस्यापर अनेक आधुनिक मराठी विद्वानोंने भी विचार किया है। द० के० केलकरने अपने 'काव्या-लोचन' नामक ग्रन्थमें करुणकी दु:खात्मकताके पक्षमें तर्क प्रस्तुत किया कि यदि अश्रुपात आदि दु:खबोधक अनुभाव आनन्दके व्यंजक माने जायँ तो इनकी उपस्थिति रति आदि सुखदशाओंमें भी होनी चाहिये, जो नहीं होती। अत: ये दु:खके ही लक्षण हैं और करुण दु:खात्मक रस ही है। उन्होंने एक मौलिक प्रश्न यह भी उठाया कि आनन्दको ही क्यों इतनी प्रमुखता दी जाय, दु:ख भी प्रमुख है। करुणके नियतिकृत, व्यक्तिगत और आदर्शात्मक, ये तीन रूप मानते हुए उन्होंने आनन्दकी उपलब्धि केवल आदर्शात्मक करुणसे ही सम्भव मानी। आगरकर और जोग आदि विचारकोंने भी लगभग ऐसी ही धारणाएँ व्यक्त की हैं। दा० ना० आपटेने मनके अणु और विभु दो भेद माने हैं और कहा कि अणुरूप मन निरन्तर आनन्दलीन रहता है। केवल विभुरूप मन दु:खादि लौकिक दशाओंसे सम्पृक्त होता है। आधुनिक मनोविज्ञान इन भेदोंको स्वीकार नहीं करता, अत: इनपर आधारित करुण रसकी व्याख्या भी मान्य नहीं हो सकती। दि० के० वेडेकरने रसोंके पूर्वोल्लिखित सुख-दु:खात्मक विभाजनको 'देवासुरकथा'की पौराणिक परिकल्पनापर आधारित बताया, जिसके अनुसार करुण रस आसुरी रसोंकी कोटिमें आता है। (दि० 'आलो-चना' अंक ४)पर उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि 'आधुनिक साहित्यमें करुण रस रौद्रका ऐसा अनुचर नहीं है। वह स्वतन्त्र है। व्यक्तित्वका गौरव और श्रेष्ठ व्यक्तियों-में छिपे किसी दोषके कारण उदात्त व्यक्तिको जो दारुण व्यथा सहनी पड़ी वह आजकी करुण कथाओंका विषय है।' (दि० वही)। मराठी साहित्यके एक अन्य विवेचक वामन मल्हार जोशीने करुण रसकी आधुनिक व्याख्या करते हुए उससे आनन्दकी सृष्टि सम्भव मानी है। वाटवे व्यक्ति-भेदके आधारपर ही करुणमें आनन्दकी स्थिति मानते हैं, उसी प्रकार जिस तरह विश्वनाथने सचेतस् व्यक्तियोंको ही करुणसे आनन्द पानेमें सक्षम बताया है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि आधुनिक रस-विवेचकोंने करुण रसके आनन्द-प्रद होनेकी प्राचीन स्थापनाका सर्वथा तिरस्कार नहीं

किया है।

ट्रैजिडीको लेकर योरोपीय समीक्षकों द्वारा जो समाधान करुण दृश्योंके प्रभावके सम्बन्धमें व्यक्त किये गये, उनके मूलमें प्राय अरस्तू (४ श० ई० पू०)का 'कैथार्सिस' सिद्धान्त किसी-न-किसी रूपमें अवश्य मिलता है। 'कैथार्सिस'(दे०)का अर्थ है मनोरेचन। भयद एव कारुणिक दृश्योंके देखनेसे अन्तर्मनके विकारोंका रेचन हो जाता है और यह अन्तत चित्तवृत्तिके लिए स्वस्थ होता है। शेक्सपीयर (१५६४-१६१६ई०)के प्रसिद्ध दु खान्त नाटकोंकी व्याख्या बहुधा इसी दृष्टिकोणसे की जाती रही है। निश्चय ही मनोरेचनका सिद्धान्त करुण भावोंके विवेचनमें एक महत्त्वपूर्ण विचार-कोण प्रस्तुत करता है। हीगेल(१७७०-१८३१ ई०)ने मनुष्य और ईश्वरके सम्बन्धकी रहस्यात्मकता तथा मानव-आचरणकी नैतिक भावनाको ट्रैजिडीका मूल माना। कारुणिक और दु खद घटनाएँ मानव-जीवनको परिचालित करनेवाली किसी महान् रहस्यमयी शक्तिका बोध कराती है, अतएव साहित्यमें करुण दृश्योंका चित्रण हीगेलके मतसे एक उद्देश्यविशेषको भी व्यक्त करता है और यह उद्देश्य नैराश्यका प्रसार न होकर जीवनके प्रति श्रद्धा और विश्वासका प्रसार है। शापेनहावर (१७७८-१८६० ई०), नीत्शे (१८४४-१९०० ई०) आदि दार्शनिकों तथा ड्राइडन (१६३१-१७०० ई०), एडिसन (१६७२-१७१९ ई०), डि० क्विंसी (१७८५-१८५९ ई०) आदि समीक्षकोंने ट्रेजिडीकी समस्यापर पर्याप्त विचार प्रस्तुत किये हैं, जिनका स्वतन्त्र महत्त्व है।

करुण रसके भेद साधन, आलम्बन, धर्म-अपचय, मन-वचन-क्रिया तथा प्रभावकी मात्राको आधार मानकर करुण रसके अनेक भेद काव्यशास्त्रमें मिलते हैं। साधनके आधारपर 'इष्टजन्य', 'स्मृत अनिष्टजन्य' तथा 'श्रुत अनिष्ट-जन्य' आदि भेद मिलते हैं, जो मूलत करुण रसके उत्पादक कारणोंके ही, 'इष्टनाश' और 'अनिष्टप्राप्ति', जिनका उल्लेख प्रारम्भमें किया जा चुका है, समानान्तर है। स्मृत और श्रुत केवल अनिष्टबोधके प्रकारको व्यक्त करते हैं, जिनके और भी प्रकार हो सकते हैं। 'रसतरंगिणी'में भानुदत्तने करुणके आलम्बनको दृष्टिमें रखकर 'स्वनिष्ठ' और 'परनिष्ठ' नामक दो भेद किये हैं। जब शाप, बन्धन, क्लेश, अनिष्ट आदि अपने अर्थात् आश्रयमे ही सम्बद्ध हों, दूसरे शब्दोंमें जब आश्रय ही स्वय करुण रसका आलम्बन हो, तो उसे स्वनिष्ठ करुण कहा जायगा, पर जब उक्त वस्तुओंका सम्बन्ध अपनेसे पृथक् आलम्बनसे हो तो वह परनिष्ठ करुण होगा। आनन्दप्रकाश दीक्षितने इनके स्थानपर 'करुणाजनक' और 'करुणाजनित' शब्दोंका प्रयोग वाछित माना है (काव्यमें रस अप्र० थीसिस - पृ० ४३३, ३४)। भरतके 'नाट्यशास्त्र'में करुणके तीन भेद मिलते हैं—१. (अध्याय ६ ७८) धर्मोपघातज, २ अपचयोद्भव, ३ शोककृत। इनमें अन्तिम शोककृत सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। भावप्रकाशकारने मन, वचन और क्रियासे अभिव्यक्ति लक्षित करके करुणको मानस, वाचिक और कार्म, तीन प्रकारका माना है। इन्हें अनुभाव-भेद कहा जा सकता है।

मात्राके अनुसार किये गये करुणके पाँच भेद उक्त भेदोंकी अपेक्षा हिन्दीमें अधिक प्रसिद्ध हैं—१. करुण, २. अतिकरुण, ३ महाकरुण, ४. लघुकरुण, ५. सुखकरुण। रीतिकालीन आचार्य कवि देवने अपने 'शब्दरसायन'के अन्तर्गत इन भेदोंका उल्लेख किया है—'करुना अतिकरुना अरु महाकरुन लघु हेत। एक कहत है पाँचमें, दुखमें सुखहिं समेत।' (पृ० ३८)। गुलाबरायने अपने 'नवरस' नामक ग्रन्थमें इनपर विचार करते हुए लिखा है कि 'प्रथम तीन भेदोंमें तो करुणाकी मात्रा उत्तरोत्तर उच्च होती जाती है, पर लघुकरुणमें कुछ कम हो जाती है। वहाँ वह केवल चिन्ताके रूपमें रहती है। अनिष्टका नाम रहता है, पर आशा नहीं टूटती। चित्त दुविधामें रहता है। अनिष्ट-निवारणका पूरी तरहसे प्रयत्न होता रहता है। सुखकरुण वह करुण है जो हर्षमें बदलनेवाला हो, किन्तु वहाँ पिछले वियोगजन्य करुणका प्रबल आवेग हर्षको प्रभावित कर मनुष्यको रुला देता है। हर्षके आँसू इसी प्रकारके होते हैं।' (पृ० ४४१)। संस्कृत काव्यशास्त्रके प्रमुख ग्रन्थोंमें इनका उल्लेख नहीं मिलता कदाचित् इसीलिए आनन्दप्रकाश दीक्षितने इन भेदोंको निस्सार बताया है। वे किसी-न-किसी दूसरे रसमें इनके अन्तर्भावके पक्षमें हैं। रसास्वादमें स्तरभेद उन्हें अभीष्ट नहीं, यद्यपि आनन्दवर्धन आदि आचार्योंतकने रसोंमें प्रकर्ष-भेद माना है। ये भेद निश्चय ही करुण रसकी अनुभूतिके विभिन्न स्तरोंको व्यक्त करते हैं और इन्हें सर्वथा निराधार या असिद्ध नहीं कहा जा सकता। —ज० गु०

हिन्दी साहित्यके वीरकाव्यमें करुण रसकी अभिव्यक्ति बहुत कम हुई है, यद्यपि मृत्यु और अनिष्टकी परिस्थितियाँ आयी हैं। कहीं-कहीं रसाभासके रूपमें करुण आया है। मान कविमें कहीं करुणका दर्शन होता है (रा० वि० १ ३७)। यत्र-तत्र आभासभर मिलता है। भक्ति-साहित्यके आशा-उल्लासमें करुणको अधिक अवसर नहीं था, यद्यपि कृष्णके मथुरा जानेका प्रसग अपने-आपमें करुण है और सूर जैसे कविने अत्यधिक भावात्मक शैलीमें अंकित भी किया है। वस्तुत इस अवसरपर यशोदा तथा गोपियोंके मनमें कृष्णके विषयमें आशकाका भाव करुणाकी सृष्टि करता है। आगे गोपियोंकी वियोग शृङ्गारकी सघन मनोदशा यत्र-तत्र करुण जान पड़ती है। राधाका चित्र अपनी वियोग-व्यथामें मौन तथा करुण है। तुलसीके कथा-काव्यमें करुण रसको अवसर मिला है। कैकेयीके वरदानोंको सुनकर दशरथके मनकी करुणाका सुन्दर चित्रण तुलसीने किया है। इसके अन्तर्गत कविने राजाके मनके आशंका, मोह, विषाद, दैन्य, जड़ता, उन्माद, त्रास, स्तम्भ, मूर्च्छा आदि अनेक संचारियोंका सहज और सूक्ष्म अंकन किया है। इस करुणाके प्लावनमें सारी अयोध्या नगरी बह जाती है। राम-वन-गमन और बादमें दशरथ-मरणकी परिस्थितियाँ करुण रसके अनुकूल हैं और कविने इसका विशद वर्णन किया है। सुमन्त्रका अयोध्या वापस आना, दशरथका समाचार पाना, उनका मरण, भरतका अयोध्या आना आदि ऐसे प्रसग हैं। इन करुण प्रसंगोंको तुलसीने 'कवितावली' तथा 'गीतावली'में भी चित्रित किया

है। सूफी प्रेमी कवियोंने वियोगके वर्णनके अन्तर्गत करुण परिस्थितियोंका अवश्य अंकन किया है, उदाहरणके लिए जायसीका 'नागमती-वियोग' लिया जा सकता है। रीतिकालके कवि इसका समुचित निर्वाह नहीं कर सके, उनके उदाहरण कमजोर हैं। मुक्तकोंमें यह सम्भव भी नहीं था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने 'हरिश्चन्द्र' नाटकमें इसकी सफल अवतारणा की है। भारतेन्दुने तथा इस युगके कई कवि और लेखकोंने देश-दुर्दशापर भी करुण रसकी कविता की है। आधुनिक महाकाव्यों तथा प्रबन्धकार्योंमें यत्र-तत्र इसका वर्णन मिलता है। छायावादी कवियोंमें महादेवीके काव्यमें करुणाका विशेष उल्लेख किया जाता है, पर यह भावाभिव्यक्ति वियोग शृङ्गारके अन्तर्गत आती है। —सं०

करुण विप्रलम्भ–दे०—'विप्रलम्भ शृंगार'।

करुणा–दे०—'महायान'।

कर्पूर–दे०—'बोल-कक्कोल-योग'।

कलमा–वह वाक्य जो इस्लाम धर्मका मूल मन्त्र है। वह वाक्य है 'ला इलाह इल्ल ल्लाह मुहम्मद यून रसूल इल्लाह' अर्थात् अल्लाहको छोड़कर दूसरा कोई परमात्मा नहीं और मुहम्मद अल्लाहका रसूल है। इसमें 'ला इलाह इल्ल ल्लाह' तो कुरानमें आया है, लेकिन बादका अंश नहीं। इस्लामके अनुयायियोंका कहना है कि मुसलमानको जीवनमें कमसे कम एक बार जोरसे इसका उच्चारण करना चाहिये। —रा० पू० ति०

कलहंस–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। दे०—'मनोहस'।

कलहांतरिता (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद। विशेषके लिए दे०–'नायिका-भेद'। 'अभिसन्धिता'के नामसे सर्वप्रथम भरत द्वारा उल्लिखित। कलहके कारण अलग हुई, इस शब्दका अर्थ है। भानुदत्तने इसे 'पतिमवमत्य पश्चात्परितप्ता' कहा है (र० मं० पृ० १०४)। अर्थात् पतिका अपमान करके पुन पश्चात्ताप करनेवाली नायिका। मतिरामने कारण 'कह्यो न मानै कन्तको' स्वीकार किया है, पर पद्माकरने 'प्रथम कछु अपमान करि' कहा है। नायिकाके इस रूपके अन्तर्गत स्वकीयाके मुग्धादिक भेद, परकीया तथा सामान्याको माना गया है। मुग्धाका मान सहज रिसके कारण है, इसी कारण उसके पश्चात्तापमें मार्मिकता अधिक है—'आयहु अवहि गवनवाँ जुरते मान। अब रस लागहि गोरियहि मनपछतान' (रहीम बरवै० ४७)। 'लाजके अठोट कै कै बैठती न ओट दै दै, घूँघटकौ काहेकों कपट पट तानती।' (देव ब्र० भा० ना० २ ५२०)। मध्या कलहान्तरिताकी आकुलता अधिक स्पष्ट हो जाती है—'थकि गइ मन बनहरिया फिरिगो पीय। मै रुठि तुरित न लायउ हिमकर हीय' (रहीम बरवै० ४९)। मुग्धा जब 'अतन ताप तन ही सहै मन ही मन अकुलाइ', तब मध्या 'कलह कहरकी लहरमें परी तिया पछिताय।' (पद्माकर ज० वि० १ १७२, १७४)। प्रौढ़ाका पश्चात्ताप समर्पणकी सीमापर पहुँच जाता है—'अंजुलि जोरि निहारि गरें परि हौं हरि प्यारेके पाँय परौगी।' (देव ब्र० भा० ना० २: ५२६)। वह अपनी विकलताको सँभाल पानेमें असमर्थ जान पड़ती है—'प्राननकी हानि सी दिखान सी लगी हाय कौन गुन जानि मान कीन्हौ प्रान प्यारे सों।' (पद्माकर ज० वि० १ १७५)। परकीया अपने मानके लिए अत्यधिक उद्विग्न तथा विकल है, उसके लिए यह स्थिति अधिक मार्मिक व्यथाकी है—'जेहि लगि कीन विरोधवा ननद जेठानि। रखिउ न लाय करेजवा तेहि हित जानि।' (रहीम बरवै० ५०)। वह दोनों ओरसे क्लेश पा रही है—'जोरत हू सजनी विपति तोरत विपति समाज। तेह कियो बिन काज पुनि तेहि कियो बिन काज।' (मतिराम र० रा० १४१)। सामान्याके पश्चात्तापमें धनहानिका भाव प्रधान रहता है—'जिहि दीन्हेंउ बहुँविरिया मुहि मनिमाल। तिहिते रुठेउ सखिया फिरि गये भाग।' (रहीम बरवै० ५१)। रीतिकाव्यमें इस नायिकाके रूपके अन्तर्गत विह्वलता, पश्चात्ताप, मनोव्यथा तथा ग्लानि आदि मनोभावोंका अंकन है और इन वर्णनोंमें उक्तिवैचित्र्यका निर्वाह किया गया है। —सं०

कला–कला मानव-संस्कृतिकी उपज है। निसर्गसे युद्ध करते हुए मानवने श्रेष्ठ संस्कारके रूपमें जो कुछ सौन्दर्य-बोध प्राप्त किया है, 'कला' शब्दमें उसका अन्तर्भाव है। परिस्थितियोंको इष्ट आकार देकर ही मनुष्यने मानव-संस्कृति-को जन्म दिया और उसे विकासके पथपर आरूढ किया। पशु और मनुष्यमें सबसे बडा अन्तर ऊर्ध्वोन्मुख चेतनाका है जो उसे प्रकृतिपर विजय प्राप्त करने और परिस्थितिको इच्छित स्वरूप देनेमें समर्थ बनाती है। आहार-भय-मैथुनादि सामान्य पशु-क्रियाओंसे ऊपर उठकर मनुष्यने जब आत्मचैतन्य प्राप्त किया, तब उसमें एक नयी दीप्तिका आविर्भाव हुआ। जीवन-कलहसे थोड़ा अवकाश पाते ही मनुष्य अपने संघर्षपूर्ण अनुभवोंसे लाभ प्राप्त करता हुआ सुख-सुविधाकी ओर बढता है। पर्णकुटीसे प्रासादतक बढते हुए मनुष्यने अपनी निरन्तर वृद्धिमान् आवश्यकताओंकी पूर्ति ही नहीं की, उसने अपने भीतर उत्कृष्ट सौन्दर्य-चेतनाका विकास किया और शारीरिक आवश्यकताओंसे ऊपर उठ-कर मनकी सन्तृप्तिको अपना लक्ष्य बनाया। पक्वान्न और सुगन्धित द्रव्योंका आविष्कार, रंगोलीकी कला, चाँदी-सोनेके आभूषणोंका वैचित्र्य, चित्र और मूर्तिका निर्माण, इष्ट-मित्रों-के हास-विनोद, कथा और काव्य, ये सब मानवकी सतत विकसित कला-चेतनाके ही विभिन्न स्वरूप हैं। मानसिक दृष्टिसे आह्लादकारक ये चेष्टाएँ मनुष्यके भाव-जगत्को निरन्तर तरलता और सुन्दरता प्रदान करती रही हैं।

कलाका 'उपयोगी कला' और 'ललित कला'में विभाजन किया जाता है और यह बताया जाता है कि उपयोगी कला व्यवहारजनित और सुविधाबोधी है तथा ललित कला मनके सन्तोषके लिए और उसमें उस विशिष्ट मानसिक सौन्दर्यकी योजना है जो उपयोगितावादसे भिन्न वस्तु है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कलाके इन दोनों भेदोंका विकास साथ-साथ हुआ और मानवके सहजीवन और उसकी माधुर्य-साधनाके फलस्वरूप ही ये दोनों नित्य विकासमान् रहे। कर्म-कुशलता ही कला है। कला और मनुष्यका सम्बन्ध अविभाज्य है। मानवके द्वारा कलाकी प्रतिष्ठा हुई और कलाके द्वारा मानवने आत्मचैतन्य एव आत्मगौरव

प्राप्त किया। पाशविक विकारोंकी तीव्रता कम करनेमें 'साहित्य, संगीत, कला'का योग-दान अप्रतिम रहा है। कलाके द्वारा ही मानव-जीवनमें माधुर्य और सौन्दर्यशीलताका जन्म हुआ और कर्तव्य-कर्म सुन्दर एवं मधुर बना।

कलाका उद्गम सौन्दर्यकी मूलभूत प्रेरणासे हुआ है। सौन्दर्याभिरुचिका प्रमाण मनुष्यकी अनुकरणप्रवृत्ति है। प्रकृतिका अनुकरण और अतिक्रमण मानवकी सर्वोपरि चेतना है। प्रकृतिके रमणीय दृश्य, जैसे सूर्योदय, सूर्यास्त, मानव-मनको आनन्दसे भरते रहे हैं। इन दृश्योंका वह स्वप्न भी निर्माण करे ऐसी इच्छा मनुष्यके मनमें जागरित हुई। कोकिलके पंचम स्वरने उसे संगीतकी प्रेरणा दी। इसी प्रकार निर्झरने उसे नृत्यके लिए अग्रसर किया। दुर्दम्य शत्रुओंके पराभवके उपरान्त अपने उल्लासको प्रकट करनेके लिए अथवा दैवकी कृतज्ञतामें बलिदानके अवसरपर मनुष्यके सामूहिक नृत्यगीत-अभिनयके आयोजनसे नाट्य-कलाको जन्म मिला। दुःखमय परिस्थितिको कल्पनामें डुबाकर जीवनके संघर्षोंमें उसने रस लिया और हर्ष-शोक, सुख-दुःखको रस-निष्पत्तिका विषय बनाया। कलामें क्षोभ और श्रमका परिहार है, मनका रंजन और उद्बोधन है, विगत अनुभवोंकी सुखद पुनरावृत्ति है, यह जब मनुष्यने जाना तभी तो आकांक्षामधुर कला-निर्मिति और कलानन्दका जन्म हुआ।

कलाकी निर्मितिमें कलाकारको एक विशिष्ट आनन्दकी उपलब्धि होती है और आनन्द-दान ही कलाका उद्देश्य है। इस कलानन्दमें अनेक कोटियाँ हैं। परन्तु कलानन्द शास्त्रज्ञानसे उत्पन्न आनन्द(ज्ञानानन्द)से भिन्न और उत्कृष्ट है। ज्ञानानन्द अपने श्रेष्ठ स्वरूपमें अमूर्त्त और कष्ट-साध्य है। कठिन बौद्धिक श्रमके बाद ही उसकी उपलब्धि होती है, परन्तु कलानन्द भावनात्मक और मूर्त-स्वरूप होनेके कारण सरल ग्राह्य और सार्वजनीन है। शास्त्रमें जहाँ तात्त्विक सत्यका विकास है, वहाँ कलामें अनुभूत सत्य अथवा काल्पनिक सत्यका प्रसार है। एक तरहसे ज्ञानानन्दका मूल खण्डानुभवोंका सम्बन्ध-निर्धारण है, परन्तु कलानन्द समग्र दर्शन है। दोनोंके मूलमें उत्कण्ठाका भाव है। परन्तु यह उत्कण्ठा दो प्रकारकी है—ज्ञानमें ज्ञेय वस्तुकी पर-परता लक्षित है तो कलाप्रसूत आनन्दानुभूतिमें उसकी आत्मपरता अथवा स्वीयताकी स्वीकृति है। इस प्रकार कलानन्द ज्ञानानन्दसे श्रेष्ठतर है। इसीलिए उसे लोकोत्तर एवं 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा गया है।

कलाका एक लक्ष्य कुतूहलपूर्ति भी है। मनुष्यको इन्द्रिय-बन्धनों एवं देश, काल, परिस्थितियोंकी मर्यादाओंसे ऊपर उठाकर कला कल्पनाकी सहायतासे कलाकारकी कुतूहलपूर्ति एवं इच्छापूर्तिका साधन बनती है। इस कुतूहलपूर्ति एवं इच्छापूर्तिसे जिस उत्कर्षमय आनन्दका जन्म होता है, वही कलाका आनन्द है। अतः कलामें प्रत्यक्षकी अपेक्षा अप्रत्यक्ष, वस्तुस्थितिकी अपेक्षा सम्भाव्य और सत्यकी अपेक्षा कल्पनाका अधिक महत्त्व है। कल्पना द्वारा मनुष्य अपनी अनुभूतिमें नये प्रत्यय जोड़ता है, नये अनुभवोंमें जीता है। फलस्वरूप उसमें नवचैतन्यका जन्म होता है। यही कलाका आनन्द है। मनुष्य समाजप्रिय प्राणी है। अतः उसका सुख-दुःख अन्य प्राणियोंके सुख-दुःखसे बँधा है। इसीलिए उसका व्यक्तित्व समरस नहीं हो पाता। भावनाओं और विचारोंके संघर्षस्वरूप उसके भीतर जो आन्दोलन होते रहते हैं, वे उसे अपूर्णताकी दुःखद न्यूनता देते हैं। ऐसी स्थितिमें 'कला' उसके भीतर सन्तुलन स्थापित करती है। प्रणय-भंग, महत्त्वाकांक्षाका विरोध, किंकर्तव्यविमूढ़ता, अन्तर्मनका क्षोभ, ये कुछ ऐसे कारण हैं जिनपर मनुष्यका वश नहीं चलता। इसीसे मनुष्य अन्तर्मुखी बनता जाता है और अपने भीतर ऐसे लोकका निर्माण करता है जहाँ इन दुःखोंका बाध है अथवा अखण्ड आनन्दकी स्थिति है। यहींसे कलाका जन्म होता है। कलाके द्वारा मनुष्यका मानस-क्षितिज उदार, व्यापक और उन्नत बना है। उसने दुःखमें भी सुखकी अनुभूति की है। पीडा उसके लिए चन्दन वन गयी है।

क्यों मनुष्य त्रासकीय कलामें आनन्द प्राप्त करता है? कारण है मनकी अन्तर्मुखता, जो सुखद घटनाकी अपेक्षा करुण-गम्भीर घटनासे अधिक रस ग्रहण करती है। प्रेक्षक अपने क्षुद्र दुःखोंको भूलकर रंगमंचपर स्थित महान् व्यक्ति-(नायक)के दुःखमें विभोर हो जाता है, इस प्रकार स्व-रसत्वको प्राप्त करता है। मानव मनका एक भव्य पहलू यह है कि वह तटस्थ वृत्ति ग्रहण कर सकता है और साधारणीकरण द्वारा सबके सुख-दुःख अपना सकता है। कला इस अतिक्रमणमें उसकी सबसे अधिक सहायक है। कलाके आस्वादसे श्रमपरिहार और मनके उद्बोधनकी भी तुष्टि होती है। कलाके नन्दन वनमें प्रवेश करते ही भावकका सारा मनस्ताप गल जाता है और परिस्थितियोंसे ऊपर उठकर प्रेक्षक अप्रत्याशित सफलताओंका अनुभव करता है। इस प्रकार कलानन्दके स्वरूप और कार्यके सम्बन्धमें अनेक प्रकारसे विचार किया जा सकता है।

कलाएँ अनेक हैं, परन्तु कलाका ध्येय सर्वत्र एक ही है—सौन्दर्यका अनुसन्धान अथवा रसानुभूति। कलाका जन्म मनकी जिस मधुमयी भूमिकासे होता है वह सर्वत्र एक है। प्रणय-वंचनाके दारुण दुःखकी अभिव्यक्ति चाहे नृत्याभिनयमें हो या मूर्तिमें या चित्र-संगीतमें, अभिव्यंजनाका स्वरूप भिन्न होनेपर भी मूल संवेदनामें कोई भेद नहीं होगा। समस्त कलाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं और उनका लक्ष्य समान है। चित्र, नाट्य, संगीत, काव्य इत्यादि कला-प्रकारोंमें तरतमता स्थापित की गयी है, परन्तु यह भुला दिया गया है कि प्रत्येक कलामें आंशिक रूपसे सभी कलाओंका उपयोग सम्भव है। संगीतमें स्वर प्रधान है, काव्यमें शब्द, परन्तु श्रेष्ठ काव्यमें गेयताका कम उपयोग नहीं है। संगीत स्वतन्त्र कला है, परन्तु कवितामें वह शब्द रस-परिपोषक बनकर ही सार्थक होता है। प्राचीनोंने गीत, नृत्य और वाद्यका संगीतके भीतर ही समावेश किया था, क्योंकि उनका मूलाधार है गतिमानता। यही गतिमानता छन्दपद्धतिके द्वारा प्रकट होती है। चित्रकलाकी भाषा है 'रंग' अथवा 'रेखा', परन्तु वाङ्मयमें शब्दचित्रोंका कम महत्त्व नहीं है। शिल्पको तो मूक काव्य ही कहा जा सकता है। वास्तवमें महान् कलाकृतियाँ समान रूपसे सभी कलाओंको प्रभावित करती रही हैं। समस्त भारतीय

चित्रकला और शिल्पकला 'रामायण' और 'महाभारत'पर आधारित है और महान् कला मन्दिरों एव चित्रोंने कवियोंको बराबर स्फूर्ति दी है। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न उठता है कि कलाके भिन्न-भिन्न प्रकारभेद किन आधारोंपर अवलम्बित किये जायँ। वास्तवमें कलाओंका अन्तिम ध्येय एक होनेपर भी माध्यमकी विभिन्नता और उसकी मर्यादा उनकी अभिव्यजना-शैली एव सामर्थ्यको सीमित कर देती है। इसीसे उनके आकार और वैशिष्ट्य भिन्न-भिन्न होते हैं, जैसे, शिल्पकी साकारता चित्रमें नहीं है और न चित्रका रग-वैशिष्ट्य चित्रमें है। नृत्यकी गतिमयता शिल्प, चित्र और अन्य स्थिर कलाओंमें नहीं है। सगीत श्रव्य कला है, उसके श्रुति-माधुर्यका अनुभव चित्रकलामें कहाँ मिलेगा? केवल नाट्य ऐसी कला है जिसमें सगीत, नृत्य, शिल्प और वाङ्मय, सबकी संहिति है, इसीलिए नाट्यकला जैसी सार्वजनीयता अन्य कलाओंमें नहीं है। नाट्यकला भिन्न-भिन्न रुचिके रसिकोंमें जिस प्रकार प्रियता प्राप्त कर सकती है, वैसा शेष कलाओंके लिए सम्भव नहीं है। अन्य कलाओंमें माध्यम बदलनेसे ही कलाका स्वरूप और उसका शास्त्र बदल जाता है।

कलानुभूति एकरस और अखण्ड है, यह ऊपर बता चुके हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि कलानुभूतिका स्वरूप क्या है? पहली वस्तु जो स्पष्ट है वह यह है कि कलानुभूति निर्वैयक्तिक है। उत्कृष्ट कलाकृति हमें व्यक्तिगत सकीर्णताओंसे ऊपर उठा देती है और हम आत्मविभोर हो जाते हैं। कलानद(रस)के आस्वादनमें प्राथमिक स्तरोंपर चाहे जितनी भी चेष्टा करनी पडे, यह स्पष्ट है कि कलानुभूतिके अन्यतम क्षणोंमें रसिक कलाकृतिमात्रसे साक्षात्कार प्राप्त करता है, उसके लिए जैसे शेष ससारकी स्थिति है ही नहीं। दूसरी बात यह है कि भावकको व्यक्तित्वसे मुक्ति देकर अथवा आत्मविभोर करके कला उसके भीतर लोकोत्तर आनन्दका संचार करती है। ब्रह्मानन्दकी कल्पना भी कुछ ऐसी ही है, परन्तु ब्रह्मानन्द स्थायी वृत्ति है, कलानुभूति (रसानुभूति) क्षणिक और स्वल्प है। दोनों प्रकारके आनन्दका आधार 'भूमा'(आत्मविस्तृति)का सुख है। 'भूमामें सुख है, अल्पमें नहीं।' ऐसा श्रुति कहती है। साथ ही ब्रह्मानन्दमें सत्यका भी प्रत्यक्षीकरण है, अर्थात् प्रत्यक्ष(वास्तव)का दार्शनिक ज्ञान भी सम्मिलित है तथा नैतिक दृष्टिकोणका भी समावेश है। कलानुभूति निर्विशेष रसानुभूतिमात्र है, उसके लिए न दर्शनज्ञानकी अपेक्षा है, न उसके साथ कोई नैतिक दायित्व चिपटा हुआ है। वह अपनेमें पूर्ण है। मोक्ष-सुखसे वह न्यूनतर इसलिए है कि वह अचिरस्थायी है और उसका स्रोत भोक्ताके बाहर है, भीतर नहीं। फिर भी अनुभूतिकी एकान्विति और उसकी विचक्षणता उसे सामान्य लोकानुभूतिसे उत्कृष्ट बना देती है।

यह कहा जा सकता है कि कला जीवनसे पराङ्मुख हो सकती है, वह नीति-निरपेक्ष बन सकती है, परन्तु ब्रह्मानन्दमें जीवन और नीति दोनोंका अन्तर्योजन है। परन्तु इसीसे कला सार्वजनीन और सहजसाध्य भी है। कलाकारका दायित्व मात्र कलाके प्रति है। इसी प्रकार कला-रसिक अपनी अनुभूतिकी सच्चाईके प्रति ही उत्तरदायी है। जहाँ रसानुभूति जीवनसे पराङ्मुख न होकर जीवनको अन्तर्यांजित करनेमें समर्थ हो जाती है अथवा उच्च नैतिक भूमियोंका उद्घाटन करने लगती है, वहाँ वह अपनी सीमाका विस्तार ही करती है। उत्कृष्ट कलाका स्थायी मान मानवीयता है, जिसमें लोकमगल और नीतिमयताका समाहार है। वह समग्र और समष्टिगत अनुभव है। इस दृष्टिसे वह मानवकी विशुद्धतर और चरमतर संवेदना है। सम्भवत इसीलिए श्रुति 'कविर्मनीषी' कहकर कवि और द्रष्टा(ऋषि)को एकीकृत कर देती है।

कलामें जीवनके प्रति पलायन नहीं है, उसमें जीवनकी रसपूर्ण स्वीकृति है। जहाँ कला जीवन-वैषम्यसे भागकर कलाके आदर्शलोकका निर्माण करती है, वहाँ वह अन्तत जीवनकी ओर लौटकर उसे देवोपम बनाना चाहती है। इसीसे उत्कृष्ट कवि और कलाकार जीवनके प्रति अपने दायित्वकी अवहेलना नही करते। उत्कृष्ट कलामें दु खवादको कोई स्थान नहीं है, क्योंकि कला जीवनके प्रति आस्थाको पुष्ट करती है और जीवनके प्रति आस्था मनुष्यके प्रति आस्थाका ही दूसरा नाम है। कलाकारका विशद एवं गहन मानव-प्रेम ही उसे देवत्व प्रदान करता है। कलाकार मूर्त्तके भीतरसे उस अमूर्त्त सौन्दर्य और अक्षय प्रेमकी झाँकी देता है जो समस्त दृश्यमान् वस्तुओंको एक सूत्रमें ग्रथित करता है। इसीलिए कलामें ही मनुष्य वस्तून्मुख जगत् और मानव-स्वभावकी दुर्बलताओं एव असंगतियोंका अतिक्रमण करनेमें सफल होता है।

कलानुभवकी प्रक्रियाके सम्बन्धमें भी पूर्व और पश्चिममें विस्तारपूर्वक विचार हुआ है। कलानुभवमें कलाकारके मनकी स्थिति क्या है? कलाविदोंका विचार है कि कलानुभवी मानस कला-विषयकी समग्र अनुभूतिको प्राप्त होता है। यह 'समाधि'की अवस्थामें ही सम्भव है, जब कलाकारका मन अनुभूत विषयसे तद्रूप हो जाता है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह होता है कि क्या मन द्वारा सौन्दर्यानुभूति और रसास्वादन पूर्वापर प्रक्रियाएँ हैं अथवा उनमें नैरन्तर्य तथा तादात्म्य है? भारतीय कला-मतमें सौन्दर्यानुभूति और रसास्वादनकी प्रक्रिया तात्क्षणिक और एकान्वित है और इसीलिए कला-सर्जन एव रसास्वादनकी प्रक्रियामें निरन्तर आनन्दबोध होता चलता है। इसी नैरन्तर्यके कारण कला-चेतन समीक्षात्मक है, अर्थात् सर्जन-वेलामें कलाकारका मन अपनी कृतिको अपने सम्मुख रखकर उसके गुण-दोषकी सूक्ष्म विवेचना करते हुए निर्माणके अग्रचरणोंकी ओर अग्रसर होता है।

भारतीय कला-दर्शनके अनुसार कलाचेतना भावमूलक है। इसीलिए स्थायी भावोंका कलामें महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवनमें भी इन स्थायी भावोंकी अनुभूति हमें होती है, परन्तु यह अनुभूति व्यक्तिगत स्तरपर होती है और उसमें रसानुभवका निर्लेप एव साधारणीकरण नही होता। कलाचेतना हमारे भावोद्रेकको व्यक्तिगत चेतनासे ऊपर उठाकर उसे तटस्थता एवं सार्वभौमिकता प्रदान करती है। इसीसे त्रासकीय दु खका लोकोत्तर आनन्दमें परिहार हो

जाता है परन्तु यह कहना उचित नहीं है कि रसानुभवमें बुद्धिका बाध है अथवा मानवीय चेतनाके अन्य अंगोंका उसमें किंचिन्मात्र भी उपयोग नहा होता। ध्वनिकारने वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनिके रूपमें कलानुभूतिके तीन स्वरूपोंका निर्देश किया है, जिनमें कलाचेतनाकी सर्वसहति है। इनमें रसध्वनिकी प्रमुखता होनेके कारण 'रस'को ही कलानुभूति मान लिया गया है, परन्तु इस माननेमें अन्य चेतनाओंकी अस्वीकृति नहीं है। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि पश्चिमी कला-दर्शन भी 'रस'के उसी रूपको स्वीकार करे जो भारतीय कला-दर्शनने माना है। पश्चिममें कलात्मक सौन्दर्यको बुद्धिग्राह्य ही माना गया है और वहाँ अलंकार-ध्वनिकी भूमिकापर ही रसानुभूतिकी स्थापना की गयी है।

मनुष्यकी समग्रगत चेतनाको 'सत्य शिव सुन्दरम्' सूत्रमें ही बाँधा जा सकता है। सत्य दर्शनका विषय है, शिव धर्मका अनुसन्धान है और सुन्दरकी शोध कलाका मूलस्रोत है। इस प्रकार मानवीय चेतनाका एक प्रमुख अंग ही कलाने परितोष प्राप्त करता है। दर्शन ज्ञानमूलक है तो धर्म नीतिमूलक। कला ज्ञान और नीतिसे पुष्ट होकर अपने सीमित क्षेत्रका अतिक्रमण करती है। उसका ज्ञान और नीतिसे प्रकृतिगत विरोध नहीं है, परन्तु अपने मूल-रूपमें वह बुद्धिनिरपेक्ष और नीतिपराङ्मुख है। कलाकी इन सीमाओंको समझकर ही हम उसके साथ न्याय कर सकेंगे। —रा० भ०

कलापक्ष—साहित्य तथा काव्यका अन्तरंग उसका बोधपक्ष है और बहिरंग कलापक्ष। दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। बहिरंग काव्यको उत्कर्षमय बनाते हैं तो अन्तरंग कलापक्ष अथवा बहिरंगको सार्थकता प्रदान करते हैं। काव्यके सम्बन्धमें एक प्राचीन रूपक है जिसमें कविताकी तुलना लावण्यवती युवतीसे की गयी है। शब्दार्थ जिसका शरीर है, अलंकार आभूषण हैं, रीति अवयवोंका गठन है, गुण स्वभाव और रस आत्मा है। इस रूपकमें शरीरस्थ आत्माकी तरह रसको सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। काव्यके बाह्यांग छन्द (वृत्त), शब्दार्थ, अलंकार और गुण-रीति हैं। काव्यका अन्तरंग भावना, कल्पना और विचारके अन्तर्भावसे निर्मित होता है। कुछ रसिकजन बाह्यांगको अधिक श्रेय नहीं देते, परन्तु असुन्दर बाह्यांगमें सुन्दर आत्माकी कल्पना बहुत कुछ भ्रान्त है। यह अवश्य है कि अन्तरंग सौन्दर्यका बाह्यांगसे अधिक महत्त्व है, परन्तु खरादपर चढ़नेके बाद मणिका सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। वास्तवमें सौन्दर्यकी प्रतीति बहिरंग और अन्तरंग दोनोंके समन्वयसे होती है और ये विविध अंग परस्पर पूरक हैं तथा इनके समग्रगत प्रभावसे ही रसनिष्पत्ति होती है। काव्यस्वरूप समग्रगत है, अतः कलापक्षका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। अध्ययनकी सुविधाके लिए ही उसे अलग कर लिया गया है।

वैसे गद्य-पद्य, दोनों प्रकारकी रचनाओंमें कलापक्षका विवेचन सम्भव है, परन्तु गद्यमें कलापक्षका उतना विस्तार नहीं है जितना पद्यमें। गद्य विचार-शक्तिको जाग्रत् करता है, पद्य कल्पना-शक्तिको। गद्यका उद्देश्य अर्थबोध, पद्यका उद्देश्य आनन्द है। गद्य तर्कनिष्ठ है, पद्य भावनानिष्ठ। अतः जहाँ गद्यमें व्यवहारोपयोगिता देखी जाती है, वहाँ पद्यमें संगीतोपयोगिता और भावोत्कृष्टता। ओजस्विता और समासप्राचुर्य श्रेष्ठ गद्यके गुण हैं तो पद्यका गुण है 'मधुर कोमलकान्त पदावली', इसीलिए कलानिष्ठा पद्यका विषय है, गद्यका नहीं।

पद्यका कलापक्ष छन्दोबद्धतासे आरम्भ होता है, क्योंकि कविताके लिए लयबद्ध होना अनिवार्य है। मनुष्यके भीतर आन्दोलनकी जो मूल इच्छा है उसकी तृप्ति छन्दके द्वारा ही होती है। प्रदीप्त-भावना लयबद्धता और तालबद्धता-का ही आश्रय लेती है। क्रौंच-वधका शोक 'श्लोक'के रूपमें प्रकट हुआ, यह कोई चमत्कार नहीं था। प्रकृतिकी योजना ही ऐसी है कि उद्दीप्त भावना छन्दका रूप ग्रहण कर लेती है। नाद और लयमें विलक्षण सामर्थ्य है, और इसीलिए छन्द मनको अधिक भावनाग्राही और संवेदनामूलक बना लेता है। अनुकूल छन्द पाकर कविकी भावना अत्यन्त आकर्षणमयी बन जाती है। छन्दकी नादमयता और उसका आन्दोलन गद्यानुवादमें नहीं आता। इसीलिए उत्कृष्ट काव्यकृतिका रसास्वादन मूलमें ही सम्भव है। इस प्रकार छन्दोमयतामें काव्यका महत्त्व सन्निहित है। छन्दमें ही काव्य माधुर्य और गतिको प्राप्त होता है। कविताका गूढ़ गुञ्जन बहुत कुछ छन्दोमयता और गतिमानतापर आधारित है। अर्थके सम्बन्धमें विद्वानोंमें भले ही मतभेद हो, परन्तु 'छन्द'(नाद-लय)के प्रभावको अस्वीकार करना सबके लिए कठिन है।

वृत्त (छन्द) और विषयकी अनुरूपता आधुनिक काव्यमें भी स्वीकृत है, यद्यपि वह प्राचीन कलावादिताके विपरीत एक नयी प्रकारकी कला-प्रणालीकी सृष्टि करती है। वास्तव-में कलापक्षका एक महदंश छन्द-योजनापर परिसमाप्त हो जाता है।

परन्तु कला-योजनाका एक दूसरा रूप काव्यगत शब्द-योजनाको लेकर है। पारिभाषिक शब्दावलीमें इसे शब्दालंकारोंका उपयोग कह सकते हैं। यमक, अनुप्रास, श्लेष—तीन प्रमुख शब्दालंकार हैं। यमक और अनुप्रास-के समुचित उपयोगसे काव्यकी शोभा बढ़ती है, इसमें किंचिन्मात्र भी शंका नहीं है। नवादी स्वरोंके उच्चारणसे एकतानता और सुरीलेपनका आभास होता है और काव्य-की सुस्निग्धता एवं सौष्ठवकी वृद्धि होती है। यमक और अनुप्रास काव्यको अर्थगौरव भले ही न दें, वे उसे सरणीन और रमणीय बना देते हैं। नाद-माधुर्यके निर्माणमें अनुप्रास-का कम महत्त्व नहीं है। फिर भी यह निश्चित है कि इन अलंकारोंके अतिरेकसे काव्य शोभाहीन बन जाता है। श्लेषमें कौतुकसृष्टि है। उसमें भी संयम अनिवार्य शर्त है।

प्राचीन कवितामें अलंकारोंका प्राबल्य था, उसीकी प्रतिक्रियामें आधुनिक काव्यमें अनलंकृत रचनाकी चाल चल पड़ी है। आधुनिक जीवन जिस प्रकार अनपेक्षित भारको उतारकर फेंकनेमें समर्थ हुआ है, उसी प्रकार आधुनिक काव्यकी चाल भी चपल है और उसमें गरिमाको छोड़कर चपलताका आदर्श ग्रहण किया गया है। यह कहा जाता है कि आधुनिक साहित्य सुसंस्कृत समाजके लिए नहीं रचा जाता, वह सामान्यजनके लिए है। परन्तु

सामान्य अशिक्षित स्त्री-पुरुष भी पद-पदपर आलकारिक भाषाका आश्रय ग्रहण करते हैं। समाचारपत्र जैसे व्यवहारोपयोगी वाङ्मयमें भी आलकारिकताकी छाप रहती है। यह सम्भव है कि यह आरोप कृत्रिम हो। कलामात्र ही कृत्रिम है। उसमें सत्यकी अपेक्षा सत्याभासका अधिक महत्त्व है। *अलकार कृत्रिमत्वका सर्जन करते हैं तो* शोभाकी वृद्धि भी करते हैं। कलावन्तका कौशल कृत्रिमताको इस प्रकार छिपा लेता है कि वह घनीभूत वास्तविकता बन जाती है। यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि अलकार भावनाके मारक हैं, पोषक नहीं, परन्तु केवल अतिरेक होनेपर ही यह सिद्ध होता है। श्रेष्ठ कवि और कलाकार अलंकारसे अभिव्यक्तिमें सहायता लेते हैं। ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहाँ अलकृत प्रयोग द्वारा विवेच्य आकर्षक और मनोरम बन गया है। साहित्यकी सौन्दर्य-वृद्धिमें अलकार निश्चय रूपसे सहायक हैं और उनके समुचित उपयोगसे काव्यानुभूति सुसज्जित और प्रभावशाली बनती है।

काव्यमें स्पष्ट अर्थबोधकी अपेक्षा सूचकता अथवा ध्वन्यर्थका अधिक महत्त्व है, क्योंकि शास्त्रीय विवेचनामें जिस स्पष्ट प्रतिपादनकी आवश्यकता होती है वह काव्यसे भिन्न वस्तु है। पूर्ण विकसित फूलकी अपेक्षा अस्फुट कलीमें अधिक प्रियता है,क्योंकि उसमें अभी विकासकी सम्भावनाएं सन्निहित हैं। इसी प्रकार अभिधार्थकी अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक सूक्ष्म और आकर्षक होता है। सच तो यह है कि सभी कलाओंमें व्यंजना-तत्त्वकी प्रधानता है, चाहे चित्रकला हो या सगीत या मूर्तिकला। काव्यगत प्रत्येक शब्दके उच्चारणसे भावकमें अनेक भावकल्पना-तरगें आन्दोलित हो उठती हैं, तभी शब्दप्रयोग सार्थक होता है। जलाशयके स्थिर जलमें कंकड़ मारनेसे जिस प्रकार दूरगामी आवर्तोंका जन्म होता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यजक शब्द सहृदयके मानसमें अनेक भावावर्तोंकी सृष्टि करता है। विशिष्ट मानसोपकरणके अनुकूल सहृदय उनमेंसे कुछ तरगावर्तोंको ग्रहण कर लेता है।

ध्वनि रस-निष्पत्तिमें भी सहायक होती है। वास्तवमें रसको अभिधेय नहीं, व्यग्य माना गया है। रस अन्तर्वर्तिनी भावस्थिति है और ध्वनि या सूचकता अन्तर्मनके निगूढ अनुभवों और सूक्ष्म भावावर्तनोंको तलपर उभारनेमें समर्थ होती है, जिससे भाव-स्थिति पुष्ट होकर रसका रूप ग्रहण करती है। ध्वनि-काव्यपर गूढता अथवा क्लीष्टताका लाछन लगाया जाता है, परन्तु ध्वनिमूलक गूढ गुञ्जना दुर्बोधता नहीं है, उसमें रसप्रतीतिकी स्फीत धारा अन्तर्निहित है। उसमें वाचककी बुद्धिमत्ता अथवा प्रज्ञाशीलताके विषयमें समादर भी निहित है। ध्वनिकाव्यका मूलाधार भाषाका विलक्षण और चमत्कृत प्रयोग है और इसीलिए उसके वाचकको रसज्ञ ही नहीं, विदग्ध भी होना चाहिये।

कलापक्षमें भाषाका अध्ययन भी आता है। काव्यके माध्यमसे प्रसग, स्वभाव, भावना, विचार, अन्तर्द्वन्द्व इत्यादि भाषामें द्योतित होते हैं, अत भाषा काव्य या साहित्यका व्यवहार-पक्ष है। काव्यमें किस भाषाका उपयोग हो, इस सम्बन्धमें कोई भी नियम बनाना कठिन है, परन्तु लयबद्ध, नादानुकूल, आलकारिक एव व्यंजक भाषा आदर्श काव्यभाषा है। भाषा भावाभिव्यक्तिका एक साधन है, परन्तु यह एक अत्यन्त लचीला साधन है। व्यक्तिके मन-स्सघटन एव स्वभावका परिणाम ही उसकी भाषा-शैली है। अत भाषा-शैलीमें व्यक्तित्वका सम्पूर्ण प्रकाश है और *उसके माध्यमसे व्यक्तित्वका भी अध्ययन हो सकता है।* व्यक्तिनिष्ठ होनेके कारण ही साहित्यके बोधपक्ष और रूपपक्षको अलग करना सम्भव नहीं है, क्योंकि भाषा और विचार अन्योन्याश्रित हैं।

भाषा सम्बन्धी विशेषता शब्दार्थ-सम्बन्धको लेकर है अर्थात् भाषा इष्टार्थबोधका परम साधन है। परन्तु जहाँ विचार-दारिद्रय है वहाँ शब्दोंका व्यर्थ इन्द्रजाल भी खड़ा हो सकता है। अत योग्य शब्दका सगत प्रयोग ही अभीष्ट है और यही कलापक्षका प्रथम सोपान है। परन्तु भाषाका सामर्थ्य उसकी व्यजना-शक्तिमें ही है। इसी व्यजना-तत्त्वके पोषणसे अर्थ-गौरवकी सृष्टि होती है। रीति और गुण भाषाके ही तत्त्व हैं। प्रसाद, ओज और माधुर्य अथवा वैदर्भी, गौडी और पाचालीके रूपमें प्राचीन काव्य-शास्त्रने जिन भाषा-तत्त्वोंकी ओर सकेत किया था, वे सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं। इन्हींके व्यक्तिगत प्रयोगसे विशिष्ट लेखन-शैलीका निर्माण होता है।

परन्तु काव्यमें इन गुणोंके अतिरिक्त एक और भी गुण है, जिसे 'गेयता' कह सकते हैं। गेयताका आधार नाद-माधुर्य है, जो अनुकूल शब्द-योजनाके द्वारा माधुर्यमयी चित्तवृत्तिको जन्म देता है। शृंगार, शात और करुण रसोंमें माधुर्य गुणकी प्रतीति विशेष होती है। गीतिकाव्यमें कलापक्षका महत्त्व कुछ अधिक बढ जाता है, क्योंकि उसमें कविकी अन्तर्मुखी दृष्टि और तज्जन्य भाववृत्तिको शब्दका रूप देना होता है। अस्फुट, मधुर, अव्यक्त भाव सगीतके सूक्ष्मतम आवर्तोंमें बँधकर ही श्रेष्ठ 'गीति'की सृष्टि करते ह।

प्राचीनोंने काव्य-गुण और काव्य-दोषके रूपमें जो विस्तृत विवेचन किया है उसमें बहुत कुछ ऐसा है जो काव्यके कलापक्षपर लागू होता है। गुण-दोष अनेक हैं और कला-पारखीके लिए उनका अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। यतिभग, वृत्तदोष, पुनरुक्ति, असगत कल्पना आदि अनेक दोषोंका विस्तृत विवेचन हुआ है। गुणोंको ध्यानमें रखकर और दोषोंसे ऊपर उठकर ही कलापक्षको समृद्ध बनाया जा सकता है।

अन्तमें हमें 'औचित्य'के सम्बन्धमें भी कुछ निर्देश कर देना है जिसे एक सम्प्रदाय-विशेष काव्यका प्रमुख उपकरण मानता है। जहाँतक कलापक्षका सम्बन्ध है, औचित्य अतिरेकमें नही, सयममें है। देश, काल, परिस्थितिके अनुसार शब्द, अलकार, वर्णन इत्यादिका सम्यक् प्रयोग औचित्य कहलाता है। उत्कृष्ट कोटिके शैलीकारके लिए शब्द-सपत्ति इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं जितनी उस मानसिक गुणकी आवश्यकता है जो उपयुक्त स्थानपर योग्यतम शब्दकी स्थापना कर सके। छन्द, अलंकृति, भाषा, शैली, सभी क्षेत्रोंमें उपयुक्त रूप-विन्यास और सम्यक् योगायोग औचित्यकी योजनापर ही आश्रित है।

कलापक्षको बहुधा भावपक्षसे स्वतन्त्र और अधिक श्रम-

साध्य समझा जाता है। परन्तु वह वस्तुतः कविके व्यक्तित्व और उसके मनःसंगठनमें अनन्यतः सम्बन्धित है। कविके व्यक्तित्वकी विभिन्नतासे ही कलापक्षमें विभिन्नता आ जाती है, क्योंकि रुचि-वैचित्र्य और दृष्टिकोणकी विलक्षणताके अनुसार कोई कवि छन्दपर बल देता है तो किसीको अलंकार प्रिय है, कोई रीतिवादी है तो किसीको वाग्वैचित्र्य अथवा गूढ़ व्यंजना प्रिय है। भावकी तरलता, गहनता और अनन्यताके रूपमें भी कलापक्षमें विरलता, संकोच अथवा गूढ़ताका योग हो जाता है। वस्तुतः भावपक्षसे स्वतंत्र कलापक्षकी कोई स्थिति है ही नहीं। —रा० र० भ०

कलाली—कलालीका अर्थ शराब पिलानेवाली है। इस शब्दका प्रयोग सूफियोंने नहीं किया है, लेकिन निर्गुणिया सन्तों, जैसे रैदास आदिने इसका प्रयोग किया है। गुरु तथा परमात्माके लिए इसका प्रयोग सांकेतिक रूपमें किया गया है। सूफियोंने 'साक़ी'का प्रयोग इसी अर्थमें किया है। (दे०—'साक़ी', 'शुण्डिनी') —रा० पू० ति०

कलावाद—कलावाद(कला कलाके लिए)को उस अर्थमें 'वाद' मानना कदाचित् कठिन होगा जिस अर्थमें अन्य साहित्यिक, दार्शनिक अथवा राजनीतिक 'वाद' ग्रहण किये जाते हैं। यह कलाके प्रति एक दृष्टिकोण-विशेषका परिचायक है, जिसकी सत्ता यूरोपमें प्लेटो तथा अरस्तूसे लेकर वर्तमान समयतक किसी-न-किसी रूपमें बराबर मिलती है। भारतवर्षमें भी काव्यके अलंकार, रीति आदि ऐसे अनेक सम्प्रदाय मध्यकालमें मिलते हैं जिन्होंने कलापक्षको अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हुए उसपर विशेष बल दिया। आधुनिक कला और साहित्यके क्षेत्रमें कलावादकी स्थिति उपयोगितावादके प्रतिलोम अर्थमें उसके प्रतिपक्षीकी तरह दृष्टिगत होती है। एक पक्ष द्वारा कलावादको संकीर्ण एवं व्यक्तिनिष्ठ कहा जाता है तो दूसरे पक्षकी ओरसे उपयोगितावादको स्थूल सामाजिकताका आग्रही बताया जाता है। कलावादी कलाको लोकातीत वस्तु, कलाकारको लोकोत्तर प्राणी और कलाजन्य आनन्दको अलौकिक आस्वादयुक्त एवं समाज-निरपेक्ष मानता है, जब कि उपयोगितावादी कलाको समाजकी मनोवृत्ति परिवर्तित करनेका एक सशक्त अस्त्र मानते हुए उसे सिद्धान्त-प्रचारका सर्वप्रमुख साधन समझता है। ये दोनों सीमाएँ हैं। कुछ विचारक मध्यमार्गका अनुसरण करते हुए कलाके व्यक्तिपक्ष और समाजपक्षका समन्वय स्थापित करनेकी चेष्टा भी करते हैं। इस प्रकार कलावादके प्रति मुख्यतया तीन प्रकारकी दृष्टियाँ और तदनुरूप तीन विचारधाराएँ मिलती हैं।

योरोपीय कलाका वास्तविक इतिहास ग्रीक और रोमन धार्मिक शिल्पकी परम्परासे प्रारम्भ होता है। प्लेटो और अरस्तूने कवियों एवं कलाकारोंके सम्बन्धमें जो धारणाएँ व्यक्त कीं उनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन यूनानमें हेलेनिस्टिक कालमें कलावादी विचारधारा पर्याप्त प्रमुखता रखती थी, अन्यथा उनके सजग सामाजिक परिसीमनका कोई आधार ज्ञात नहीं होता। प्लेटोके 'रिपब्लिक'में कल्पनाशील कलाकारोंके अनियन्त्रित प्रभावको नैतिक एवं सामाजिक दृष्टिसे अवांछित माना गया है। अरस्तूने कलाके प्रति अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण अपनाया। सौन्दर्य सम्बन्धी सिद्धान्तोंके एक प्रसिद्ध समीक्षक बूचरका कथन है कि अरस्तू पहले विचारक थे जिन्होंने सौन्दर्य-शास्त्रसे नीतिशास्त्रका पृथक्करण किया और यह भी बताया कि एक परिष्कृत आनन्दानुभूति ही काव्य-कलाका चरम ध्येय है।

इतना होते हुए भी अरस्तूने अपने गुरु प्लेटोकी नैतिक सामाजिक धारणाका तिरस्कार नहीं किया। कलामें नैतिक-प्रयोजन तथा उपदेशात्मकता उन्हें अमान्य नहीं हुई। रोमन विचारक सिसरोने 'डेकोरम' और भव्यताको कलाका प्रधान प्रतिपाद्य माना। लोंजाइनसने अवश्य मध्यमार्गका अनुसरण किया। एक ओर उसने शिक्षासे और दूसरी ओर मनोरंजनसे कलाको भिन्न एवं श्रेष्ठ माना तथा उसे सत्प्रेरणाके उच्च धरातलपर प्रतिष्ठित करके उसके स्वतन्त्र मूल्यांकनका प्रश्न उठाया। भावनाके उदात्तीकरणको उसने कला तथा काव्यका मुख्य ध्येय बताया। डायोनीसियस और डिमेट्रियस आदि अन्य रोमन आचार्योंने कलावादी वृत्तिके अनुरूप शैली पक्षपर ही विशेष विचार किया और प्रायः उसीको अधिक महत्त्व दिया। अन्धकार-युगके एक विस्तृत व्यवधानके बाद दांतेने पुनः कलाके क्षेत्रमें उदात्त गुणोंकी नवप्रतिष्ठा प्रदान की, साथ ही शैली-पक्षकी भी उपेक्षा नहीं की। दाँतेके पश्चात् योरोपीय साहित्यमें शास्त्रीय अथवा क्लासिकल दृष्टिकोण क्रमशः रोमाण्टिक दृष्टिकोणके द्वारा स्थानान्तरित होने लगा और कला सम्बन्धी मूल्योंमें भारी परिवर्तन घटित हुआ। कुछ दूर-तक इस कालमें भी सन्तुलित दृष्टि बनाये रखनेका प्रयत्न किया गया। शास्त्रीयताका आग्रह कलाके क्षेत्रसे सहसा विलुप्त नहीं हो गया। सत्रहवीं शतीमें फ्रांसमें नियो-क्लासिसिज्म अथवा नव्य शास्त्रवादकी प्रवृत्ति कलाके प्रति मध्यकालीन चिन्तनका नवीन संस्करण बनकर उदित हुई।

क्लासिकल या शास्त्रीय कला बहुत कुछ ईसाई धर्मकी छत्रच्छायामें पल्लवित हुई। रोमको केन्द्र बनाकर बाइजैण्टाइन कलाका जो प्रसार सातवींसे पन्द्रहवीं शती ईसवीके बीच योरोपमें हुआ उसका क्षेत्र ईजिप्टसे लेकर रूसतक विस्तृत है। इस 'चर्च'-आश्रित धार्मिक कलामें नैतिक-धार्मिक मूल्योंके आगे कलागत मूल्य निश्चित रूपसे गौण रहे। एक दृष्टिसे कला और कलाकार दोनों धार्मिक प्रचारका साधन बने, शुद्ध कलावादी दृष्टिका प्रायः इस क्षेत्रमें अभाव ही रहा। धार्मिक कला और साहित्यकी प्रायः सर्वत्र यही स्थिति रही। चर्चसे अनुप्राणित कला यद्यपि प्रचारात्मक, सोद्देश्य तथा उपदेशात्मक थी, तथापि उसमें विविध कल्पनाओं एवं भावनाओंके चित्रणके लिए पर्याप्त छूट भी थी। धार्मिक आस्थावान् कलाकार बिना किसी बाह्य नियन्त्रण एवं बाध्यताके आत्मप्रेरणासे शिल्प-सर्जन करते थे। टॉल्स्टायने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ह्वाट इज आर्ट'में कलाके सम्बन्धमें जो धारणाएँ व्यक्त की हैं, उनकी पूर्व-पीठिका उक्त धार्मिक कलाकी परम्परामें निहित है। कलावादी विचारधारा(कला कलाके लिए)का सबसे सशक्त विरोध कदाचित् टॉल्स्टायने ही किया। उन्होंने सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए न सौन्दर्यको कलाका साध्य माना और न आनन्दको। सुधारवाद उपयोगितावादका ही दूसरा रूप है और कलाको वह अनिवार्यतः एक गौण साधनमात्र

मानकर चलता है। टॉल्स्टायके मतसे धर्मके प्रति अविश्वास ही कलावादी विचारोंको जन्म देता है।

रिनेसाँ(१४५३ ई०)के बाद फ्रास कला-आन्दोलनोंका प्रमुख केन्द्र बना। नैतिक मूल्योंकी विश्रृंखलतासे कलाकार आत्मस्थ हो गये। परम्परावादी तथा स्वातन्त्र्यमूलक विचारोंके बीच सुदृढ सामाजिक दर्शनके अभावमें अस्थिरताका वातावरण बना रहा।

सन् १८६६के लगभग फ्रासमे एक ऐसी विचारधाराका उद्गम हुआ जिसका कलावादसे सीधा सम्बन्ध माना जाता है। 'कला कलाके लिए', जो फ्रेंच सूत्र कथन 'ल आर्त पोर ल आर्त'के अँग्रेजीका हिन्दी अनुवाद है, इसीकी देन है। इसके परिपोषकों एव उद्भावकोंमें जेम्स एबॉट मैकनील ह्विस्लर(१८३४–१९०३ ई०)का नाम अग्रगण्य है। यह एक अमरीकी चित्रकार था और फ्रासके अतिरिक्त उसका कार्यक्षेत्र इग्लैण्डमें भी रहा। विख्यात अँग्रेजी समालोचक रस्किन और ह्विस्लरके बीच कलाके उद्देश्यको लेकर सन् १८७०के आसपास एक महत्त्वपूर्ण वाद-विवाद चला, जिससे प्रेरित होकर ह्विस्लरने 'कला कलाके लिए' मतका आग्रहपूर्वक प्रवर्तन किया। रस्किनने नैतिक पक्षका तिरस्कार करके कलाके स्वतन्त्र एव स्वत पूर्ण होनेका उद्घोष किया जो अतिवादकी सीमातक पहुँच गया। ह्विसलर अपने चित्रोंके ऐसे शीर्षक दिया करता था जो गूढ़ व्यञ्जनात्मक होते थे और साधारण जनके लिए सर्वथा अबोध्य भी। इसका कारण उसका अतिवादी कलावाद ही था।

कलावादी विचारधाराको ब्रैडले, क्लाइव बेल, रोजर फ्राइड तथा जार्ज इन्नेस आदि समालोचकों द्वारा गम्भीर समर्थन प्राप्त हुआ। ब्रैडलेने नैतिक पक्षको कवितामें बाह्य स्थान दिया और उसकी श्रेष्ठताके लिए उसे नियामक तत्त्व नहीं माना। इस धारणाका खण्डन आई० ए० रिचर्ड्सने अपने 'प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' नामक समीक्षा-ग्रन्थमें सैद्धान्तिक आधारपर किया। रिचर्ड्सने काव्यकी शेष जगत्से भिन्न सत्ता नहीं स्वीकार की और न उसके अनुभव सामान्य अनुभवोंसे भिन्न माने। प्रेषणीयताको उसने विशेष महत्त्व प्रदान किया। क्लाइव बेलने आधुनिक चित्र-कलामें रूप-तत्त्वको प्रधानता देते हुए significant form का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। रोजर फ्राइडका क्लाइव बेलसे तथा जार्ज इन्नेसका ह्विसलरसे विचारसाम्य दिखाई देता है। समन्वित रूपसे सभीकी दृष्टि कलावादी ही रही। कुछ कला-समीक्षकोंकी धारणा है कि चित्रकलाके क्षेत्रमें आनेवाले प्रभाववाद, उत्तर-प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद, घनवाद तथा अधियथार्थवाद, सभीकी आधारभूमि कलावादी विचारधारासे अभिमिंचित हुई है। क्रोचेके सौन्दर्यदर्शन द्वारा इस कलावादको सुदृढ दार्शनिक आधार प्राप्त हुआ है, ऐसा भी कुछ लोगोंका मत है। 'सौन्दर्यका कोई बाह्य अस्तित्व नहीं है,' काण्टकी इस स्थापनाको मूलमें रखकर क्रोचेने अपने 'इस्थेटिक्स' नामक ग्रन्थमें सौन्दर्यबोधके लिए कल्पनाके एक विशिष्ट रूप 'सहज ज्ञान'(intuition)की सत्ताका प्रतिपादन किया। सौन्दर्यसृष्टि और सौन्दर्यानुभूति, दोनोंको सूक्ष्म मानसिक प्रक्रियाके रूपमें स्वीकार करते हुए अभिव्यजना और वर्णवस्तुके बीच तात्त्विक एकता स्थापित की। इस प्रकार कलापक्ष और वस्तुपक्षको विच्छिन्न करके देखनेवाली सुदीर्घ परिपाटीकी निस्सारता प्रकट की। कलाको मूलत एक आध्यात्मिक क्रिया बताते हुए क्रोचेने अभिव्यजनाके अतिरिक्त उसका कोई अन्य उद्देश्य स्वीकार नहीं किया। उपयोगितावादी दृष्टिका एक प्रकारसे पूर्ण उच्छेदन क्रोचेके सौन्दर्य-सिद्धान्तसे हो जाता है। कलाको क्रोचे स्पष्टत नैतिक अथवा शैक्षणिक सीमाओंसे मुक्त मानता है, किन्तु यह सब कलाके अमूर्त व्यापारपर ही लागू होता है। मूर्त होनेपर क्रोचे भी कलाको सामाजिक बन्धनोंसे परे नहीं मानता। क्रोचे द्वारा दी गयी कलाकी व्याख्या तत्त्वत समाजविरोधी नहीं है।

आधुनिक युगमें मार्क्सवादके प्रचार-प्रसारके साथ एक नये सौन्दर्यबोधका उदय हुआ जिसका कोई स्वतन्त्र शास्त्र तो नहीं बन सका, परन्तु उसके द्वारा प्राचीन कलावादी विचारोंका तीव्र उन्मूलन अवश्य घटित हुआ। मार्क्सके अर्थशास्त्रने कलाके प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोणको नयी व्याख्या एव आस्थाके साथ प्रस्तुत किया। स्टैलिन और माओने रूस और चीनमें कला तथा साहित्यको राजनीतिका प्रचार अस्त्र मानकर उसे राजशक्ति द्वारा पूर्णतया मर्यादित रखा। कला जनताके लिए, मुख्यतया सैनिकों और श्रमिकोंके लिए ही है, अतएव कला एवं कलाकारका स्वतन्त्र व्यक्तित्व उन्हें अमान्य है। 'प्रॉबलेम्स ऑफ आर्ट एण्ड लिट्रेचर' नामक परिपत्रमें माओने मार्क्स और लेनिनके मतकी साक्षी देते हुए इसी प्रकारकी भावना व्यक्त की है।

मार्क्सवादी विचारकोंमें ट्रॉट्स्कीने अवश्य कलाके क्षेत्रमें राजनीतिक पार्टीके हस्तक्षेपको अनुचित बताया है। अपनी 'लिट्रेचर एण्ड रिवोल्यूशन' नामक कृतिमें उसने माना है कि कलाका क्षेत्र वह नहीं है, जिसमें पार्टीको आदेश देनेकी आवश्यकता हो। कलाकी रक्षा करना और सहायता करना पार्टीका काम है, परन्तु नेतृत्व केवल अव्यक्त रूपसे ही हो सकता है। कॉडवेल जैसे मार्क्सवादी समालोचकोंने ट्राट्स्कीकी यह दृष्टि नहीं अपनायी और कलावादी विचारोंको विशुद्ध बुर्जुआ सस्कृतिकी कुत्सित वृत्तिका परिणाम घोषित किया।

हिन्दी साहित्यमें आधुनिक कालमें प्रेमचन्द द्वारा उपयोगितावादी दृष्टि और प्रसाद द्वारा आनन्दवादी या कलावादी दृष्टि अपनायी गयी। आलोचकोंमें भी इसी प्रकार प्रमुख रूपसे दो वर्ग दिखाई देते हैं। मार्क्सवादी समीक्षकोंमें कुछ तो कट्टर उपयोगितावादी हैं, पर कुछ कलागत मूल्योंको भी महत्ता देते हैं और क्रोचेके अभिव्यजनावादसे विशेष प्रभावित रहे हैं। 'साहित्यालोचन'में श्यामसुन्दर दासने 'कला कलाके लिए' नामक कलावादी सूत्रवाक्यके पीछे निहित वास्तविक अभिप्रायकी समुचित व्याख्या करते हुए लिखा है–'उस अवस्थामें कला कलाके लिएका हमारे लिए केवल इतना ही अर्थ रह जाता है कि कला एक स्वतन्त्र सृष्टि है। कला-सौन्दर्य और कला-अभिव्यंजनाके कुछ अपने नियम हैं।' —ज० गु०

कल्पना—पूर्व अनुभूतियोंकी पुनर्योजनासे अपूर्वकी

अनुभूति उत्पन्न करनेकी क्रिया या शक्तिको कल्पना कहते हैं। 'वर्तमान'का अवगाहन करनेवाला प्रत्यक्ष, 'अतीत'का अवगाहन करनेवाली स्मृति तथा 'अनागत'का अवगाहन करनेवाली कल्पना। क्षीर-सागर, दशमुख, स्वर्ण-शृंग आदि अननुभूत पदार्थ कल्पना द्वारा ही अनुभव-गम्य होते हैं। चरम-मनोविज्ञानके अनुसार 'अचेतन' अनुभूतियोंसे भी कवि और कलाकार अपनी कृतिके लिए पर्याप्त सामग्री पाते हैं। इस सामग्रीका संकलन कल्पना द्वारा होता है। संगीत, मूर्ति, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओंमें भी ध्वनि आदिका नवीन संयोजन कल्पनापर निर्भर रहता है। सुन्दर- वस्तुमें अंगोंका विन्यास और सन्तुलन तथा अंगागीभाव और भावकी एकता, 'रेकरेण्ट मोटिफ' इसीके परिणाम हैं। —ह० ला० श०

क़ल्व—सूफी एक उच्चतर आत्माको स्वीकार करते हैं और उसके तीन विभाग करते हैं : क़ल्व, रूह और सिर्र। क़ल्व मनुष्यकी बौद्धिक क्रियाओंका आधार है। इसका बुद्धिसे योग है। सूफियोंके अनुसार क़ल्व भौतिक स्थूल जगत् और अध्यात्मिक जगत्के बीच स्थित है। दृश्यमान् जगत्में अभिव्यक्त होनेवाले परमात्मा-विषयक ज्ञानको यह बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता है और अन्तरकी सूक्ष्म इन्द्रियोंको उससे अवगत कराता है। सूफियोंका कहना है कि यह रूह और नफ़्सके बीच स्थित है। यह कुप्रवृत्तियों और सुप्रवृत्तियोंका युद्धक्षेत्र बना हुआ रहता है। एक ओर यह परमात्मा सम्बन्धी ज्ञानके लिए खुला रहता है तो दूसरी ओर इन्द्रिय-जनित वासनाका भी प्रवेश होने देता है। —रा० पू० ति०

कवि-चर्या—कविशिक्षा(दे०)के अन्तर्गत राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'के दसवें अध्यायमें कवि-चर्याका विस्तृत वर्णन किया है। राजशेखरका कहना है कि कवि निरन्तर शास्त्रों और कलाओंका पारायण करे, मन, वाणी, कर्ममें पवित्र रहे, स्मितिपूर्वक सलाप करे, उसका भवन साफ-सुथरा तथा सब ऋतुओंके अनुकूल होना चाहिये, उसके परिचारक अपभ्रंश भाषामें बोलें, अन्तःपुरके लोगोंको प्राकृत-संस्कृतका ज्ञान हो और इसके मित्र सर्वभाषाविद् हों, लिखनेके लिए खड़िया, कलम, दवात, भूर्जपत्र इत्यादि सामग्री हमेशा उसके पास रहे, कवि अपनी अधूरी रचनाको दूसरोंके सामने न पढे, वह अपने समयके चार विभाग करे, प्रातःकाल सन्ध्यासे निवृत्त होकर सूक्त पाठ करे, तब अध्ययन-कक्षमें जाकर विद्याओं और काव्योंका अनुशीलन करे, दूसरे प्रहर काव्य-रचना करे, मध्याह्नके लगभग स्नान कर भोजन करे, भोजनके पश्चात् काव्य-गोष्ठी करे, चतुर्थ याममें स्वरचित काव्यकी परीक्षा करे। राजशेखरका यह वर्णन वात्स्यायन-कामसूत्र(१ ४)में वर्णित नागरिक-वृत्ति और अर्थशास्त्र(१ १९)मे वर्णित राजवृत्तसे मिलता-जुलता है। वस्तुतः इन विवरणोंसे तत्कालीन सामाजिक जीवनपर प्रकाश पडता है। —म० प्र० ल०

कविता—काव्यात्मक रचना (कविकी कृति)। 'काव्य'से जहाँ रचनाके भावपक्ष और अन्तःसौन्दर्यका अधिक बोध होता है, वहाँ 'कविता' शब्दके प्रयोगसे प्रायः उसके कलापक्ष और रूपात्मक सौन्दर्यको प्रधानता मिलती है। काव्य, कविता, पद्य, इन तीनों शब्दोंको हम क्रमागत रूपमे निम्नतर भावस्थितिमें रखते हैं। पद्य गद्यका विपर्क्षी रूप है जो छन्दोबद्ध भाव या विचारतक सीमित है। मात्र छन्दोबद्ध रचनाके लिए 'पद्य' शब्दका प्रयोग उचित है, परन्तु 'कविता' शब्द 'पद्य'से ऊँची स्थितिका द्योतक है और उसमें 'कविता' (कवि-कर्म) अर्थात् काव्यकलाको अधिक महत्त्व दिया गया है। सामान्यतः तीनों शब्द समान अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।

यद्यपि व्यापक रूपमें छन्दोबद्ध रचनामात्रके लिए 'कविता' शब्दका प्रयोग होता है, सकीर्ण अर्थमें, आधुनिक कालमें विशेष रूपसे, 'कविता' शब्दका प्रयोग अपेक्षाकृत आकारमे छोटे, ऐसे पद्य-विशेषके लिए किया जाता है, जो आधुनिक गीति या प्रगीति मुक्तकके अनेकानेक प्रकारोंमेंसे किसी रूपमे रचा गया हो। पद्यकी ऐसी रचनाओंका पृथक् निर्देश करनेके लिए 'काव्य' शब्दका प्रयोग नहीं किया जाता। 'काव्य' शब्द जब किसी रचना-विशेषके लिए प्रयुक्त होता है तब उससे अपेक्षाकृत बडी, प्रायः सदैव ही प्रबन्धात्मक रचनाका अर्थ सूचित होता है। काव्य और कविता शब्दके प्रयोगका एक अन्तर यह भी है कि जहाँ 'काव्य' सामान्यतः 'साहित्य'के पर्यायवाची अर्थमें ऐसी रचनाओंको भी कह सकते हैं जो पद्यमें न रची गयी हों, वहाँ 'कविता' हमें अनिवार्य रूपसे पद्यात्मक, लय और तालयुक्त शब्दावलीकी सूचना देती है, भले ही उसमें काव्यकी आन्तरिक विशेषता विद्यमान न हो और वह मात्र पद्यबद्ध हो। इसके अतिरिक्त काव्यका अभिधान ऐसी रचनाओंको नहीं दिया जा सकता जो अरस्तूके 'पोइटिक्स'-में निर्दिष्ट 'पोइट्री'से भिन्न 'वर्स' मात्र हैं। —रा० म०

हिन्दी साहित्यमें आधुनिक कालके पूर्वतक 'कविता' शब्दका प्रयोग 'कविताई' या 'कवि-ता'(कवि-कर्म)के अर्थमें ही होता था। तुलसीदासने 'रामचरितमानस'की भूमिकामें कहा है 'चली सुभग कविता सविता सी। राम विमल जस जल भरिता सी।' इसी अर्थमें उन्होंने 'भनिति' शब्दका भी कई बार प्रयोग किया है। इसी अर्थमें कहा गया है कि "'कविता' कर्ता तीन हैं तुलसी केसव सूर। 'कविता' खेती इन लुनी सीला बिनत मजूर।" अठारहवीं शतीमें भिखारीदासने लिखा था, "आगेके सुकवि रीझि हैं तौ 'कविताई', न तौ राधिका कन्हाईके सुमिरनको बहानौ है।" भिखारीदासने इसी अर्थमें 'काव्य' शब्दका भी प्रयोग किया है, "इनके 'काव्यन'में मिली, भाषा विविध प्रकार।" हिन्दीमे 'कविता' शब्दका यह प्रयोग परम्परानुमोदित है, यद्यपि कदाचित् यह कथन अयुक्त न होगा कि संस्कृत साहित्यमें 'कविता'की अपेक्षा 'काव्य' शब्दका अधिक प्रयोग हुआ है।

सकीर्ण अर्थमें किसी रचना-विशेषके लिए 'कविता'का प्रयोग, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, आधुनिक कालमें ही होने लगा है। प्राचीन कालमें अधिकतर या तो प्रबन्ध-काव्यकी रचना होती थी या मुक्तक-काव्यकी। एकसे अधिक छन्दोंमें एक विषयपर छोटी पद्यरचनाएँ स्तोत्र, स्तवन, प्रशस्ति, माहात्म्य आदिके रूपमें मिलती हैं। हिन्दीके मध्ययुगीन भक्त कवियोंने भी इस प्रकारकी स्तोत्रादि

रचनाएँ की हैं और यह क्रम भारतेन्दु हरिश्चन्द्रतक चला आया है। परन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने सामयिक विषयोंपर विचारोत्तेजक और उद्बोधनपूर्ण स्फुट रचनाओंकी नवीन पद्धति चलायी। उनकी 'भारत-भिक्षा', 'विजयिनी-विजय-वैजयन्ती', 'श्रीराजकुमार-शुभागमन-वर्णन', 'मानसोपायन', 'वर्षाविनोद' आदि रचनाओंने हिन्दीमें पद्य निबन्धोंकी उस परम्पराका सूत्रपात किया जो आधुनिक कालमें अनेकधा विकसित हुई। ऐसी रचनाओंकी ही जातिवाचक सज्ञा 'कविता' है, जो अंग्रेजीकी 'पोइम' और उर्दूकी 'नज़्म'का पर्याय है। भारतेन्दुकालमें देशभक्ति, राजभक्ति, समाज-सुधार और प्राकृतिक वर्णन सम्बन्धी असंख्य गम्भीर और व्यंग्यात्मक 'कविताएँ' रची गयीं। द्विवेदीकालमें सामयिक पत्र-पत्रिकाओंके माध्यमसे इन कविताओंका प्रचलन और अधिक हो गया। वस्तुत उन अनेक आधुनिक रूपोंमें 'कविता' भी है, जिसका उद्गम और विकास समाचार-पत्रों और पत्र-पत्रिकाओंके माध्यमसे हुआ है। परन्तु 'कविताएँ' इतिवृत्त, विवरण, शिक्षा और उद्देश्य-विषयक ही नहीं, भावात्मक भी हो सकती है, यह छायावादकी उन असख्य कविताओंसे सिद्ध हो गया जो आधुनिक गीति-काव्य(दे०—गीति-काव्य)के विविध प्रकार-भेदोंके अन्तर्गत आती हैं। 'प्रगतिवाद', 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता'के आन्दोलनोंके अन्तर्गत ऐसी ही रचनाएं हुई हैं जो पृथक्-पृथक् 'कविता' नामसे पुकारी जाती है। —व्र० व०

कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध—अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिका तीसरा भेद। यह ध्वनि वहाँ होती है जहाँ कवि स्वय किसी प्रौढोक्तिको न कहकर स्वनिर्मित पात्र द्वारा किसी कल्पित उक्तिको कहलाता है। कविप्रौढोक्ति तथा कविनिबद्ध-पात्रप्रौढोक्तिमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि पात्रकी उक्ति भी अन्ततोगत्वा कविकी ही उक्ति है। फिर भी वक्ताकी विशेषताके कारण कभी-कभी उक्तिमें विशेष चमत्कार आ ही जाता है। कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धके समान ही इसके भी १२ भेद हैं—(१) कविनिबद्धपात्रप्रोढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे वस्तुकी ध्वनि—'करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाँड़त नीच। दीन्हेहु चसमा चखनि, चाहत लखे न मीच।' (का० क० पृ० २७३)। इस उदाहरणमें मृत्युके चश्मा लगानेका कथन प्रौढोक्ति है और इस उक्तिका वक्ता कवि-कल्पित दूती है, जो नायिकाकी अत्यन्त शोचनीय स्थितिका परिचय नायकको दे रही है। नायिकाकी अत्यधिक कृशताके कारण चश्मा लगाकर खोजनेपर भी मृत्यु उसे नहीं देख पा रही है। इस वस्तुमे यह बात (वस्तु) ध्वनित हो रही है कि नायकको नायिकासे मिलनेमें अब अधिक विलम्ब न करना चाहिये। (२) कविनिबद्धपात्र-प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे अलकारकी व्यजना—'दियो अरघ नीचे चलौ, सकट मानै जाइ। सुचिती ह्वै औरौ सबै, ससिहि विलोकैं आइ।' (का०द० पृ० ३१६)। यहाँ सखी नायिकासे यह व्यजित करना चाहती है कि उसके मुख-चन्द्रके कारण अन्य स्त्रियाँ भ्रमित हो रही हैं नायिकाके मुखमें चन्द्रके आरोप द्वारा इस उदाहरणमे रूपक अलकार ध्वनित हो रहा है। (३) कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलकारसे वस्तुकी व्यजना—'मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला' (मानस)। यहाँ दशरथ अपने मनोरथ(उपमेय)पर कल्पतरु(उपमान)का आरोप कर रहे हैं, अत इस उदाहरणमें कवि-कल्पित पात्रकी प्रौढोक्ति है और रूपक अलंकार है। इस रूपकके विधान द्वारा दशरथ अपनी अत्यन्त दयनीय स्थिति(वस्तु)को व्यंजित करते हैं (४) कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलकारसे अलकारकी व्यजना—'नित ससौ, हसौ बचत, मनहुं सु यहि अनुमान। विरह अगिनि लपट न सकत झपटि न मीचु सचान' (का०द० पृ० ३१७)। सखी द्वारा मृत्युको बाज कहनेमें कवि-कल्पित पात्रकी प्रौढोक्ति है। मृत्युपर बाज विरहकी लपटोंके कारण ही नायिकाके हस(जीव)पर झपट नहीं पाता। अत यहाँ रूपकसे विशेषोक्ति अलकार ध्वनित हो रहा है, क्योंकि पर्याप्त कारणकी विद्यमानतामें भी कार्य (मृत्यु) नहीं होता। —उ० शं० शु०

कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध—अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिका दूसरा भेद। जो कथन केवल कवि-कल्पना द्वारा निर्मित हो और बाह्य जगत्में जिसकी स्थिति न हो उसे 'प्रौढ' कहते हैं (कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि निर्मित —का० प्र० पृ० ८५)। चकोरका आग खाना, हसका क्षीर-नीर-विवेक, कीर्तिका श्वेत वर्ण आदि ऐसे अनेक कथन काव्यमें मिलते हैं जो लोक-व्यवहारमें असगत अथवा असम्भव समझे जाते हैं। इन्हें कविप्रौढोक्तिकी सज्ञा दी गयी है। स्वत सम्भवी ध्वनिके समान कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धके भी चार भेद हैं—वस्तुसे वस्तु अथवा अलकार और अलकारसे वस्तु अथवा अलकारकी व्यजना। (१) कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे वस्तुकी व्यंजना—'सिय वियोग दुख, केहि विधि कहउँ बखानि। फूल बानते मनसिज बेधत आनि' (का० द० . पृ० ३१३)। कामका पुष्पबाणसे विद्ध करना कवि-कल्पनामात्र है। इस कथन (वस्तु) द्वारा इस बात(वस्तु)की व्यजना हो रही है कि सीता रामके विरहमें अत्यन्त कातर हैं, अत यह कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे वस्तुका उदाहरण है। (२) कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे अलकारकी व्यजना—'निसि ही में ससि करतु है, केवल भुवन प्रकास। तेरो जस निसि-दिन करत, त्रिभुवन धवल उजास' (का० क० भा० १ पृ० ७०)। यशका त्रिभुवनको प्रकाशान्वित कर देना कविप्रौढोक्तिसिद्धमात्र है। यश रात-दिन प्रकाश फैलाता है, इस कथन(वस्तु)से व्यतिरेक अलंकार ध्वनित होता है, क्योंकि उपमेय(यश)में उपमान(चन्द्र)की अपेक्षा कुछ उत्कृष्टताकी ध्वनि निकलती है। (३) कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलकारसे वस्तुकी व्यजना—'पत्रा ही तिथि पाइए, वा घरके चहुँ पास। नित प्रति पून्यौ ही रहत, आनन ओप उजास' (विहारी)। 'आनन ओप उजास'का कथन कविप्रौढोक्तिसिद्धमात्र है। वाच्यार्थमें परिसंख्या अलकार है, क्योंकि तिथिका ज्ञान सभी स्थानोंसे वर्जित करके केवल पत्रामें ही सीमित कर दिया गया है। वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थ रूपमें नायिकाके रूपातिशयकी व्यजना हो रही है। (४) कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलकारसे अलकारकी व्यजना—'पहिरे स्याम न पीत पट, घनमें विज्जु विलास', इस पक्तिमें उपमेय 'पीत पट'को असत्य कहकर उपमान 'विज्जु-विलास'को सत्य ठहराया गया है, अत इसमें अपह्नुति अलकार है।

वाच्यार्थ रूपमें प्रस्तुत इस अलंकार द्वारा दो उपमाएँ ध्वनित हो रही हैं—स्याम-तन घनके सदृश है और पीत पट विज्जु-विलासके समान है। इस प्रकार यह कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकारसे अलंकारकी ध्वनिका उदाहरण है। उक्त चारों उदाहरण वाक्यगत ध्वनिके हैं। पदगत व्यंजनाको सम्मिलित कर लेनेपर कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धके कुल १२ भेद हैं। —उ० श० शु०

कवि-भेद—कविशिक्षा(दे०)के अन्तर्गत राजशेखरने तीन प्रकारके शिष्यों(दे०)के अनुसार कवियोंके भी तीन भेद किये हैं—(१) सारस्वत, पूर्व जन्मके संस्कारोंके फलस्वरूप जिसे सरस्वतीका प्रसाद प्राप्त हो, (२) आभ्यासिक, जो इस जन्मके अभ्याससे कवि बना हो और (३) औपदेशिक, जो दुर्बुद्धि किसी मन्त्र-तन्त्रके प्रभावसे कवि बन गया हो (का० मी० · अ० ४)। पुन राजशेखरने काव्य-शास्त्रके विभिन्न अंगोंमें विशेष निपुणताके अनुसार कवियोंके ८ भेद किये हैं (का० मी० · अ०५)—(१) रचना-कवि, जो पदोंके सयोजनमें निपुण हो, (२) शब्द-कवि, जो शब्दोंके प्रयोगमें विशेष कुशल हो, (३) अर्थ-कवि, जिसकी कवितामें अर्थ-सौन्दर्य विशेष रूपसे हो,(४) अलंकार-कवि, जो अलकारोंके प्रयोगमें विशेष पटु हो, (५) उक्ति-कवि, जिसकी उक्तियोंमें विशेष चमत्कार हो, (६) रस-कवि, जो रस-निर्वाहमें विशेषत निपुण हो, (७) मार्ग-कवि, जो रीतियोंके प्रयोगमें कुशल हो तथा (८) शास्त्रार्थ-कवि, जो अपने काव्यमें शास्त्रोंके अर्थका समावेश निपुणतासे कर सकता हो। इन समस्त गुणोंसे युक्त कविको 'महाकवि' कहते हैं। केशवदासने कवियोंके तीन भेद किये हैं—(१) उत्तम, (२) मध्यम और (३) अधम—'उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरि रस लीन। मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन।' (कविप्रिया : ४ २)।—म० प्र० ल०

कवि-शिक्षा—सस्कृत काव्य-शास्त्रके सभी आचार्योंने कविके लिए बहुश्रुत एव सुशिक्षित होना आवश्यक माना है। भामह(५००—६३० ई०के बीच)ने कहा है कि 'शब्दार्थका ज्ञान प्राप्तकर, शब्दार्थवेत्ताओंकी सेवा कर तथा अन्य कवियोंके निबन्धोंको देखकर काव्य-क्रियामें प्रवृत्त होना चाहिये' (काव्यालंकार · १ · १०)। वामन(८०० ई०के लगभग)ने कविके लिए लोकव्यवहार, शब्द-शास्त्र, अभिधान, कोश, छन्द शास्त्र, कला, काम-शास्त्र तथा दण्डनीतिका ज्ञान तथा काव्य-शास्त्रका उपदेश करनेवाले गुरुओंकी सेवा आवश्यक मानी है (काव्यालंकारसूत्र : १ : ३ · १ : ११)। राजशेखर(८८०—९२० ई०)ने 'काव्य-मीमासा'में कविशिक्षोपयोगी विविध विषयों, शास्त्र-परिचय, पदवाक्य-विवेक, पाठ-प्रतिष्ठा, काव्यके स्रोत, अर्थव्याप्ति, कविचर्या, राजचर्या, काव्यहरण, कवि-समय, देशविभाग, कालविभागका वर्णन किया है। कवि-शिक्षापर लिखनेवाले राजशेखरके परवर्ती आचार्योंने 'काव्यमीमासा'से बहुत कुछ लिया है। क्षेमेन्द्र(१०५० ई०)ने 'कविकण्ठाभरण'में कवि-शिक्षापर प्रकाश डालते हुए कहा है कि कवि बननेके अभिलाषी अधिकारी शिष्यको साहित्यमर्मज्ञ गुरुकी सेवा करनी चाहिये, वाक्यार्थ-शून्यपदोंके सन्निवेशसे पद्यरचनाका अभ्यास करना चाहिये, प्रसिद्ध कवियोंके काव्योंका अनुशीलन करना चाहिये तथा नाटक, शिल्पियोंके कौशल, सुन्दर चित्र, प्राणियोंके स्वभाव तथा समुद्र, नदी, पर्वत इत्यादि विभिन्न स्थानोंका निरीक्षण करना चाहिये (कविकण्ठाभरण सन्धि · १ - २)।'वाग्भटालंकार'के कर्ता वाग्भट(१२वीं श० ई० पूर्वार्ध)ने कविशिक्षाका क्रम यह बताया है—'अर्थहीन, परन्तु पद्यमें चारुता लानेवाली पदावली द्वारा काव्यरचनाके लिए समस्त छन्दोंको वशमें करे (१ : ७)।' तदनन्तर 'एक ही अभिधेयको सक्षिप्त एव विस्तृत रूपमें विभिन्न अलकारोंका प्रयोग करते हुए पद्यबद्ध करनेका अभ्यास करे (१ · १६)।' इस प्रकार 'उद्योगपूर्वक शास्त्रोंका अध्ययन कर, अभ्यासद्वारा शब्दार्थको वशमें कर, कवि-समयोंका ज्ञान प्राप्त कर, मनके प्रसन्न होनेपर कविता करे (१ . २६)।' हेमचन्द्र(१०८८—११७२ ई०) तथा नेमिकुमारके पुत्र वाग्भट(१३वीं श० ई० उत्त०)ने अपने काव्यानुशासनोंमें प्राय· राजशेखरके आधारपर काव्यके स्रोत, कवि-समय, काव्यहरण तथा देश एव काल-विभागका वर्णन किया है। अमरचन्द्र(१३वीं श० ई०)ने 'काव्य-कल्पलता'में, देवेश्वर(१४वीं श० ई०)ने 'कविकल्पलता'में तथा केशव मिश्र(१६वीं श० ई० उत्त०)ने 'अलंकार-शेखर'में छन्द एव अलंकार-योजनाका अभ्यास, कविके वर्ण्य विषय तथा वर्णन-परिपाटीका वर्णन किया है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंमेंसे केशवदास(१५५५-१६१७ ई०)ने 'कविप्रिया'में काव्य-रचनाके ढग, कविताके विषय, वर्णन-परिपाटी तथा काव्य-समयोंका वर्णन किया है। केशवका वर्णन बहुत कुछ 'अलकारशेखर' तथा 'काव्यकल्पलता'पर आधारित है। केशवके बाद कवि-शिक्षाका प्राचीन परिपाटीके अनुसार विस्तृत वर्णन जगन्नाथप्रसाद 'भानु'के 'काव्यप्रभाकर'(१९१० ई० में प्रकाशित)में मिलता है। यद्यपि हिन्दी काव्य-शास्त्रमें काव्य-शिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थोंका प्रचलन कम रहा है, पर रीतिकालका सम्पूर्ण काव्य-साहित्य सस्कृतके इन ग्रन्थोंसे प्रभावित है। इन मान्यताओंका परम्पराके रूपमें अनुसरण किया गया है।

बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भसे हिन्दी साहित्यके नयी दिशाकी ओर अग्रसर होनेपर काव्यांगोंके साथ-साथ कवि-शिक्षा विषयक धारणाओंमें भी परिवर्तन हुआ। कविने किसी बँधी-बँधायी परिपाटीसे मुक्त होकर स्वतन्त्र दृष्टिसे प्रकृति और समाजकी ओर देखना प्रारम्भ किया। परन्तु कविताकी कल्याणकारिणी शक्तिको बनाये रखनेके लिए कविका भाषा, छन्द, लोकव्यवहार एव विविध शास्त्रोंसे परिचित होना आज भी उतना ही आवश्यक है जितना प्राचीन कालमें माना जाता था। अत कवि-शिक्षा आज भी अपेक्षित है। —म० प्र० ल०

कवि-समय—कविशिक्षा(दे०)के अन्तर्गत 'कवि-समय'-का अर्थ है कवि-समाजमें प्राचीन परम्परासे मानी आती हुई बातें और परिपाटियाँ। इस शब्दका प्रयोग सबसे पहले राजशेखरने 'काव्यमीमासा' (अध्याय १४)में किया है और इसकी परिभाषा दी है कि 'परम्परासे चली आती हुई जिन अशास्त्रीय एव अलौकिक बातोंका कवि वर्णन करते हैं उन्हें 'कवि-समय' कहते हैं।' कवि-समयोंकी निर्दोषताका समर्थन करते हुए राजशेखरने कहा है कि 'पिछले विद्वानोंने

सहस्रशाख साग वेदका अवगाहन कर, शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर, देशान्तरों एवं द्वीपान्तरोंमें भ्रमण कर जिन बातोंको जाना और उन्हें अपने काव्योंमें स्थान दिया, वे बातें भले ही आज उस रूपमें न मिलती हों, फिर भी उनका वैसा वर्णन करना 'कवि-समय' है।' राजशेखरने आगे कहा है कि 'कुछ कवि-समय तो पूर्वपरम्परासे प्रतिष्ठित हैं, परन्तु कुछको धूर्तोंने अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए चला दिया है।' इससे स्पष्ट है कि राजशेखरको प्राचीन मान्य कवियों द्वारा वर्जित ऐसी बातें ही, जो आज उस रूपमें नहीं मिलतीं, कवि-समय द्वारा अभिप्रेत हैं। राजशेखरसे पहले वामनने 'काव्य-समय' शब्दका उपयोग किया है (काव्यालङ्कारसूत्र - ५ १)। परन्तु 'काव्य-समय' राजशेखरके 'कवि-समय'से भिन्न है और उसका प्रयोग वामनने व्याकरण, छन्द एव लिंगके सम्बन्धमें प्रतिष्ठित कवि-परिपाटीके अर्थमें किया है। राजशेखरके परवर्ती आचार्योंने कवि-समयोंका जो वर्णन किया है, वह प्राय राजशेखरके आधारपर। कवि-समयके सम्बन्धमें राजशेखरके परवर्ती आचार्योंमेंसे हेमचन्द्र (काव्यानुशासन अध्या० १), वाग्भट (काव्यानुशासन अध्या० १), अमरचन्द्र (काव्य-कल्पलतावृत्ति : प्रतान १), केशव मिश्र (अलकारशेखर, रत्न ६) तथा हिन्दीके आचार्योंमेंसे केशवदास (कविप्रिया चौथा प्रभाव) और जगन्नाथप्रसाद 'भानु' (काव्य प्रभाकर मयूख ११)के नाम उल्लेखनीय हैं।

राजशेखरने 'कवि-समयों'के तीन प्रधान विभाग किये हैं, (१) स्वर्ग्य–स्वर्ग लोकको बातोंसे सम्बन्धित, यथा 'चन्द्रमाके कलंकको खरगोश या हिरन मानना, कामदेवके ध्वजमें मकर या मीनका वर्णन करना, चन्द्रमाका जन्म अत्रिके नेत्र अथवा समुद्रसे मानना, शिवके माथेके चन्द्रको नवोदित मानना, कामदेवको मूर्त तथा अमूर्त दोनों रूपोंमें समझना, द्वादशादित्योंको, नारायण-माधव-दामोदर-शेष और कूर्मको, कमला और सम्पत्तिको एक मानना', (२) पातालीय–पातालसे सम्बन्धित, यथा नाग और सर्पोंको, दैत्य, दानव,असुरोंको एक मानना, (३) भौम–पृथ्वीलोक सम्बन्धी। पृथ्वी लोक सम्बन्धी कवि-समय चार श्रेणियोंमें विभक्त होते है (क) जातिरूप, (ख) द्रव्यरूप, (ग) क्रियारूप और (घ) गुणरूप। इनमेंसे प्रत्येकके पुन तीन भेद हैं, (१) असत्, अर्थात् जो विद्यमान नहीं है उसका वर्णन करना, (२) सत्, अर्थात् जिसका विद्यमान होनेपर भी वर्णन न करना, (३) नियम, किसी वस्तुका किसी विशेष स्थानके प्रसंगमें ही वर्णन करना और उसके अन्यत्र मिलनेपर भी उस स्थानके प्रसंगमें वर्णन न करना।

इस प्रकार भौम कवि-समय १२ श्रेणियोंमें विभक्त होते हैं, (१) असत् जातिरूप, यथा नदियोंमें पद्म, उत्पल आदिका वर्णन, जलाशय मात्रमें हसोंका वर्णन, सभी पर्वतोंमें सुवर्ण, रत्न आदिका वर्णन, (२) सत् जातिरूप, यथा वसन्तमें मालतीका, चन्दन वृक्षपर फल-फूलोंका, अशोक वृक्षमें फलोंका वर्णन न करना, (३) जाति-नियम-रूप, यथा समुद्रमें ही मकरोंका वर्णन करना, मोतियोंका स्रोत ताम्रपर्णीको ही बताना, (४) असत् द्रव्यरूप, यथा अन्धकारका मुष्टिग्राह्यत्व और सूचीभेद्यत्व, ज्योत्स्नाका घड़ोंमें भरकर ले जाया जा सकना, (५) सत् द्रव्यरूप, यथा कृष्णपक्षमें ज्योत्स्नाका और शुक्ल पक्षमें अन्धकारका वर्णन न करना (६) द्रव्य-नियम, यथा मलय गिरिको ही चन्दनका उत्पत्ति-स्थान और हिमालयको ही भूर्जपत्रका प्रभव-स्थान मानना, (७) असत् क्रियारूप, यथा चक्रवाक-मिथुनका रातमें अलग रहना, चकोरोंका चन्द्रिका-पान, (८) सत् क्रियारूप, यथा दिनमें नीलोत्पलोंके अविकास तथा शेफालिकाके पुष्पोंके झड़नेका वर्णन करना, (९) क्रिया नियम, यथा कोयलके कूकनेका केवल वसन्तमें ही वर्णन, वर्षामें ही मयूरोंके कूजन एव नृत्यका वर्णन, (१०) असत् गुणरूप, यथा यश, हास आदिकी शुक्लता, अयश, पाप आदिका कालापन, क्रोध, अनुराग आदिका रक्तत्व, (११) सत् गुणरूप, यथा कुन्द, कुड्मल तथा दाँतोंकी लालीका, कमल-मुकुल आदिके हरे रगका तथा प्रियगुके फूलोंके पीलेपनका वर्णन न करना, (१२) गुण नियम, यथा सामान्यत माणिक्यमे रक्तत्व, फूलोंमें शुक्लता, मेघोंमें कृष्णताका वर्णन। —म० प्र० ल०

कव्वाली—कव्वालोंका गीत। यह सामूहिक गान है। 'कव्वाल'की व्युत्पत्ति 'कौल'(फारसी)से मानी जाती है और इसका अर्थ है—कहना अथवा प्रशसा करना। कुछ लोगोंकी दृष्टिमें इसका मूल अरबीकी 'नक्ल' धातु है और इसका भी अर्थ है बयान करना। किन्तु वास्तवमें इसका मूल स्रोत फारसी ही है, क्योंकि कव्वालीकी पद्धति ईरानमें ही आविष्कृत हुई। यह राग या रागिनी नहीं, बल्कि एक विशेष प्रकारकी धुन है और कई प्रकारके काव्य-विधान इस धुनमें गाये जा सकते हैं और गाये जाते हैं। कव्वाली जातिगत पेशा नहीं, बल्कि कर्मगत है, अत कव्वालोंकी कोई विशेष जाति नहीं, बल्कि कव्वालीका पेशा होता है। सूफियोंके माध्यमसे इसे लोकप्रियता मिली, क्योंकि उपासना-सभाओंमें वे भावोन्मादके कारण गा उठते थे और सारा उपासक-समाज उनका अनुकरण करता था। पीछे चलकर आवेश उत्पन्न करनेके साधन और माध्यम-रूपमें कव्वालको स्वीकृति मिली और क्रमश ऐसे लोगोंके दल संघटित होने लगे जो इस प्रकारकी सभाओंमें गाया करते थे। प्रारम्भमें ये लोग सूफी साधक ही थे, बादमें पेशेवर हो गये। कव्वालीके विषयानुकूल कई भेद होते हैं। हम्दमें परमात्मा सम्बन्धी प्रशसात्मक गीत रहते हैं और नातमें रसूलकी शानमें कुछ कहा जाता है। मनक़बतमें औलियाके सम्बन्धमें वर्णन किया जाता है। रसूलके वशजोंकी प्रशंसा भी इनमें होती है। भारतवर्षमें इस सामूहिक गायनका प्रवेश ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्तीके कारण हुआ, जो १० वीं मुहर्रम ५६१ हिजरीको अजमेर पहुँचे थे। ख्वाजाने फारसीमें गजलें कही थीं, जो उपासना-सभाओंमें समवेत रूपमें गायी जाती रहीं। कव्वालीकी धुनमें कसीदा गजल अथवा रुबाई, कोई भी गायी जा सकती है।—रा० खे० पा०

कश्मीरी–(भाषा तथा साहित्य)—कश्मीरी भाषा मुख्यत कश्मीर घाटीमें बोली जाती है, यद्यपि जम्मू प्रान्तके किश्तवाड़ जिलेमें बोली जानेवाली 'किश्तवाडी' भी इसीकी एक उपभाषा है। कुल मिलाकर इसका क्षेत्र कोई १०,००० वर्गमील है और बोलनेवालोंकी संख्या लगभग

१५ लाख है।

इस भाषाके लिए 'कश्मीरी' नामका सर्वप्रथम उल्लेख अमीर खुसरो(१३वीं शती)की 'नुहसिपिह' (३ सि०)में मिलता है, जहाँ इसे 'सिन्धी,' 'लाहौरी,' 'तिलगी' आदिके साथ परिगणित किया गया है। पर कश्मीरमें १७वीं शतीतक इसे 'देशभाषा' या 'भाषा' नामसे ही सूचित किया जाता रहा। स्पष्ट है कि दूसरे प्रान्तवालोंने ही इसे 'कश्मीरी' नाम दिया और बादमें कश्मीरियोंने भी इसे अपना लिया। आजकल इसे काशुर कहते हैं।

पर इससे यह न समझा जाय कि सोलहवीं शतीतक इस भाषाका विकास हो ही नहीं पाया था। ललद्यद-(१४वीं शती)की वाणीमें कश्मीरीका जो लालित्य निखर उठा है, उसे अपभ्रंशमेंसे उभरते-उभरते कमसे कम दो सौ वर्ष लगे ही होंगे। और उधर, 'महानयप्रकाश' (१३वीं शती)में शितिकण्ठने (कश्मीरकी) 'सर्व गोचर देशभाषा'के जो नमूने दिये हैं, वे प्राकृतकी अपेक्षा अपभ्रंशके निकट होते हुए भी ललधदकी कश्मीरीसे विशेष दूर नहीं। स्पष्ट है कि जब शैव सिद्धोंने कश्मीरीको शैव तन्त्रोंका लोकसुलभ माध्यम बनाया, तो धीरे-धीरे कश्मीरी साहित्यका भी माध्यम बनती गयी। अत कश्मीरीको दारद परिवारकी सन्तान बताना युक्तियुक्त नहीं। ग्रियर्सनने शीना और कश्मीरीके जो तुलनात्मक रूप-चित्र दिये हैं, उनमें इतना मौलिक साम्य नहीं कि कश्मीरीको भारतार्य परिवारसे बाहर माना जाय। रही बात ककुव (कृकवाक्),ओश (अश्रु), अछि (अक्षि) और न्वश (स्नुषा) जैसे शब्दोंकी जो मध्य भारतीय भाषाओंकी अपेक्षा दारदके निकट दिखाई देते हैं। निश्चय ही ये शब्द कश्मीरी अपभ्रंशमेंसे होकर आधुनिक कश्मीरीमें आये हैं, क्योंकि 'महानयप्रकाश,' 'छुम्मा,' 'सम्प्रदाय,' 'ललवाख्य,' 'वाणासुरकथा,' 'सुखदुखचरित्र,' आदि सभी ग्रंथोंकी भाषा एकमतसे भारतार्य परिवारकी ओर सकेत करती है।

आजसे कोई छ सौ वर्ष पूर्व कश्मीरी शारदा लिपिमें लिखी जाती थी, पर १४वीं शतीमें जब फारसी कश्मीरकी राजभाषा बनी तो कश्मीरीके लिए भी फारसी लिपिका उपयोग बढता गया और आजकल भी इसी लिपिका एक अनुकूलित रूप प्रचलित है। कश्मीरी ध्वनिमालामें कुल ५२ ध्वनिमान (फोनीम) हैं। पदान्तमें जब अति ह्रस्व इ, उ, आये तो इन्हें मात्रा स्वर कहते हैं। शारदा लिपिमें इनके नीचे विराम लगाया जाता था। कश्मीरीमें नपुंसकलिंग केवल कुछ सर्वनामोंमें पाया जाता है, जैसे तस या तमिस जनिस (उस जनको) पु०, पर तथ गरस (उस घरको या घरमें) नपु०।

कश्मीरी कारक बहुत सरल हो चुके हैं, पर प्राचीन संश्लेषणपद्धतिके अवशेष अब भी पाये जाते हैं, जैसे —

वचन (प्र० एक०) <*वच्छेन <वत्सेन, वचन (द्वि० बहु०) <*वच्छान् <वत्सान्; वचस (द्वि० एक०) <*वच्चस, <वत्सस्य, वचस क्युत (चतु० एक०) <*वच्छस्स किने <वत्सस्य कृते।

ऐसे ही क्रियापदोंमें भी भारतार्य विशेषताएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं, जैसे—गछान् छु <गच्छन् अस्ति गव गतो, <गछि <*गच्छिसइ, गछिथ <*गच्छित्वा, चाविथ <*चावयित्वा। परन्तु इस मौलिक साम्यके ऊपर कुछ ऐसी विलक्षणताएँ जमती गयी हैं कि आज ये क्रियाएँ बहुत जटिल हो चुकी हैं। यहाँतक कि लिंग, वचन, कर्ता, कर्म और कालके अनुसार एक-एक धातुके सैकडों रूप बनते हैं। अकेले भूतकालके साठसे ऊपर रूप बनते हैं, जैसे पोरुथ (तूने पढा), पोरुथस (तूने पढा उसको), पोरुथक (तूने पढा उनको), पोरुथम (तूने पढा मुझको), परिथ (तूने पढे), आदि-आदि, परुथ (तूने पढी) आदि-आदि पर्यथ (तूने पढीं), आदि-आदि। सश्लेषणकी इस प्रक्रियापर दारद भाषा कोई प्रकाश नहीं डालती।

कश्मीरी साहित्यका विकास-क्रम भी उसकी भारतार्य परम्पराका ही द्योतक है। सुविधाके लिए इसे हम पाँच कालोंमें दर्शा सकते हैं —

१ आदिकाल (१२०० ई० से १३५० ई०)—इसमें सन्तोंकी मुक्तक वाणीका ही अधिक जोर रहा। शितिकण्ठका 'महानयप्रकाश,' ललद्यतके 'वाख्य', नुन्दर्योशके 'श्लोक' और दूसरे येशों(ऋषियों)के पद इस कालकी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं, जिनमें शैव दर्शन, तसव्वुफ, सहजोपासना, सदाचार, अध्यात्मसाधना और पाखण्डप्रतिरोध तथा आडम्बर-त्यागका प्रतिपादन ही अधिक हुआ है। सवेदनशील अभिव्यक्ति केवल ललवाख्योंमें मुखरित हुई हैं।

२ प्रबन्धकाल (१३५० से १५०० ई०)—जैनुलाबिदीन-(बडशाह, १४वीं शती)ने कश्मीरी साहित्यको जो प्रोत्साहन दिया, जिसके फलस्वरूप कई पौराणिक, लौकिक एव इतिवृत्तात्मक काव्योंकी रचना हुई, जिनमें वर्णनोंकी ही प्रधानता रही। पर महावतारकी 'वाणासुरकथा' तथा प्रशस्त 'सुख दुखचरित्र'के अतिरिक्त इस कालके सभी काव्य लुप्त हो चुके हैं। सगीतात्मक कृतियोंकी भी इस कालमें धूम रही, ऐसी साक्षी मिलती है।

३ गीतिकाल (१५०० से १७५० ई०)—इस कालमें लोक-जीवन (विशेषत पारिवारिक), विरह-मिलन, हर्ष-विषाद और हास-रुदनका विश्वजनीन भावचित्रण हुआ। हब्बाखातून और अरणिमाल इस कालके अथ और इति हैं। दोनोंके गीत सवेदनाके करुण मधुर सगीतसे अनुप्राणित हैं। १६०० ई० के लगभग हबीबउल्लाह नौशहरीने सूफी रहस्यवादकी उद्भावना की और १६५० ई० के लगभग साहिब कौलने कृष्णचरित रचा जो गीत शैलीमें ही कृष्ण-लीलाका चित्रण करनेमें काफी सफल रहा है।

४ प्रेमाख्यान काल (१७५० से १९०० ई०)—इस कालमें गीति-परम्पराको आख्यान-काव्यका सहारा मिला, तो एक ओर रामचरित, कृष्णलीला, पार्वतीपरिणय और नलदमयन्तीपर आधारित मार्मिक 'लीला'काव्य रचे गये, और दूसरी ओर प्रेममार्गी सूफी धारा 'मसनवियों'में उमडती चली। फारसी मसनवियोंका रूपान्तरण जोरों पर रहा और पजाबी, उर्दू तथा अरबीसे भी सामग्री ली गयी। इस कालकी सैकडों रचनाओंमेंसे भी अधिकाश अप्रकाशित ही पड़ी हैं। प्रमुख कृतियोंमेंसे कुछ ये हैं—

प्रकाशरामकी 'रामायण', रमजान बठका 'अकनन्दुन', महमूद गामीके 'शीरीं-खुसरो', 'लैला-मजनू', 'यूसुफ-

जुलेखा' ओर 'सुदामचरिथ', वलीउल्लाहकी 'हीमाल', मकवूलकी 'गुलरेज', हक्कानीकी 'मुमताजे वेनजीर' और कृष्ण राजदानका 'हरिहरकल्याण'।

इनमेंसे अधिकाश काव्योंके अन्दर लौकिक और अलौकिक प्रेमके चित्रणमें कश्मीरी परिवारोंके व्यथित जीवनकी परछाइयाँ खूव झलकी है।

५ आधुनिक काल(१९०० ई०से)—भारतके आधुनिक युगकी विचारधाराएँ ज्यों-ज्यों कश्मीरके अवरुद्ध जीवनको स्पर्श करती गयी, त्यों-त्यों कश्मीरी साहित्य भी आधुनिकता-में पैर धरता गया। वहाव परेका 'शाहनामा', मकवूलका 'ग्रीस्तिनामा' और रसूल मीरकी 'गजलों'ने इस नये युगकी पूर्वपीठिका तैयार की है, तो महजूरने इसकी 'प्रभाती' गायी और आजादने एक नवीन 'चेतना' देकर इसे दूसरे प्रदेशोंके भारतीय साहित्यका सच्चा सहयोगी वना दिया।

गद्यका प्रथमोन्मेप भी इसी कालमें होने लगा है। आरम्भमें केवल धार्मिक चर्चा ही गद्यका अन्तरंग रही, पर अव कहानी और नाटकका भी विकास होने लगा है और निवन्ध भी उभरता आ रहा है।

वर्तमान साहित्यकारोंमें मास्टरजी, आरिफ, नादिन, राही, रोशन, कामिल, फाजिल, अलमस्त, अख्तर, उमेश कौल, लोन, पुश्करभान और हाजिनी विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमेंसे प्राय सभी आजके भारतीय साहित्यकी प्रगतिशील प्रवृत्तियोंसे प्रेरित रहे हैं। अपने युगकी वस्तुस्थितिको झलकाते हुए भी इन्होंने इतिवृत्तात्मकता तथा कोरी भावुकताकी अतियोंसे अपने यथार्थ चित्रणोंको सुरक्षित रखा है और कश्मीरके प्राकृतिक वैभवमें नये कश्मीरके निर्माणकी उद्भावना द्वारा मानववादकी सजीवक रागिनी गायी है। भाषा, भाव, छन्द-विधान, सभीमें आज वहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग हो रहे हैं और अभिव्यक्तिके नये साचे तराशे जा रहे हैं। पर अधिकाश कश्मीरी साहित्य अभी 'आज'की अपेक्षा आनेवाले 'कल'से अधिक सम्वद्ध हैं। —पृ० पु०

कष्ट-कल्पना—दे०—'रस-दोष', दूसरा।

कष्टार्थ—दे०—'अर्थ-दोष', दूसरा।

कसीदा—यह उर्दू काव्यके उस रूपका नाम है जिसमें किसीकी प्रशसा की जाय। इसमें हर शेरका दूसरा मिस्रा एक ही **रदीफ** और **काफिये**(तुकान्त)में होता है। अगर किसी शेरके दोनों मिस्रोंकी रदीफ और काफिया एक ही हो तो उसको 'मतला' कहते हैं। गजलके आरम्भमें कमसे-कम एक 'मतला' अवश्य रखा जाता है। गजलके वीचमें भी इसका प्रयोग कई वार किया जा सकता है। (दे० गजल)

कसीदे दो प्रकारके होते हैं, एक वह जिसमें कवि प्रारम्भसे ही प्रशसा करने लगता है और दूसरा वह जिसमें प्रारम्भमें एक तरहकी भूमिका दी जाती है और कवि और वातोंके अलावा वसत, वहार, दर्शन, ज्योतिष आदिके विषयमें कुछ कहता है। इन प्रारम्भिक वर्णनोंको 'तश्वीव' कहते हैं। 'तश्वीव'के वाद कवि प्रशसा करनेकी ओर अपने शेरोंको मोडता है। इस मोडको 'गुरेज' कहते हैं। इसका वर्णन वडा मुश्किल समझा जाता है और इसीके द्वारा शायरके कमालका अनुमान होता है। अच्छी 'गुरेज' वह है जिसमे कवि 'तश्वीव'से 'तारीफ'(प्रशसा)पर इस तरह आ जाय कि पढनेवालोंको यह पता ही न चले कि प्रशसाका विषय ठूस-ठासकर लाया गया है। कसीदेके तीसरे अग 'मदह'(प्रशसा)के वाद चौथा अग 'दुआ' होता है जिसमें कवि ममदूह(प्रशंसित व्यक्ति)के लिए शुभ-कामनाएँ करता हुआ उससे कुछ याचना करता है। इसीके वाद कसीदा समाप्त हो जाता है।

दरवारोंके प्रभावसे क़सीदोंकी शैलीमे वडे भारी-भरकम शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। प्रशसा करनेमें प्रशसित व्यक्तिकी वीरता तथा उसके घोडे और तलवारका अत्युक्ति-पूर्ण वर्णन होता है। पुरानी कवितामें कसीदेका महत्त्व इतना था कि कोई कवि उस्ताद (गुरु) तभी समझा जाता था जव वह अच्छा कसीदा लिख लेता हो। केवल गजल कहने-वाला चाहे वह कितनी ही सुन्दर गजल लिखता हो, उस्ताद नहीं माना जाता था, क्योंकि कसीदेमें ही उसकी भावनाकी उडान और योग्यताकी परीक्षा होती थी। —म०

कहानी—गद्य कथा साहित्यके एक अन्यतम भेदके रूपमें कहानी सवसे अधिक, किसी अशमें उपन्याससे भी अधिक, लोकप्रिय साहित्यका रूप है। आधुनिक हिन्दी साहित्यमें यह रूप भी वंगलाके माध्यमसे पाश्चात्य साहित्यसे आया है। अंग्रेजीमें जिसे शार्ट स्टोरी कहते हैं, वही वँगलामें गल्प तथा हिन्दीमें कहानी नामसे प्रचलित है। हिन्दीमें भी गल्प नामका किसी मात्रामें प्रचलन रहा है, परन्तु कहानी शब्द ही सर्वाधिक स्वीकृत है। शार्ट स्टोरीके शब्दानुवाद-रूपमें कभी-कभी इसे छोटी कहानी और 'लघुकथा' भी कहा जाता है, परन्तु कहानी नाम ही अधिक सुकर और सहज है।

कथासाहित्यके वडे रूपों, उपन्यास और उपन्यासिका-(लघु उपन्यास)की तरह कहानीमें भी कथासूत्र (थीम), कथानक, पात्र और देश-काल या परिस्थिति उसके प्रमुख तत्त्व वताये गये हैं तथा इसमें भी पात्रोंके पारस्परिक अथवा परिस्थितिके विरुद्ध द्वन्द्व या सघर्ष, सघर्षकी पराकाष्ठा, चरम सीमा तथा सघर्षकी जटिलताओंके विघटनमें कहानीके अन्तकी विकास-रेखा वतायी गयी है। उसे भी उत्तम पुरुष, सर्वज्ञ या सीमित अन्य पुरुषके रूपमें उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु कथासाहित्यके उपर्युक्त वड़े रूपोंसे कहानीकी भिन्नता इतनी ही नहीं है कि उसका कथानक वहुत छोटा होता है, उसमें घटना-प्रसग और दृश्य तथा पात्र और उनका चरित्र-चित्रण अत्यन्त न्यून, सूक्ष्म और सक्षिप्त होता है, वरन् कहानी प्रस्तुत करनेमें लेखकके दृष्टिकोणसे तथा कहानीका वातावरण अर्थात् समस्त कहानीमें परिव्याप्त सामान्य मनोदशासे उसके शिल्प-विधानमें ऐसी एकता और प्रभावान्विति आ जाती है जो कहानीकी निजी विशेपता है और उसके रूपात्मक व्यक्तित्वकी पृथक्ता प्रकट करती है।

यद्यपि कहानीके उपर्युक्त तत्त्व परस्पर अभिन्न रूपमें सपृक्त होकर प्रत्येक कहानीमें न्यूनाधिक रूपमें वर्तमान रहते हैं, किन्तु किसी कहानीमें चरित्र, किसीमें कथानक, किसीमें केवल कथासूत्र, किसीमें वातावरण और इसी प्रकार

अन्य किसी तत्त्वको प्रधानता देकर शेषकी अपेक्षाकृत उपेक्षा की जा सकती है। कहानीके किसी एक तत्त्वपर अधिक बल दे देनेके कारण उसमें इतनी अधिक रूपात्मक विविधता दिखायी देती है कि कभी-कभी यह कहना कठिन हो जाता है कि यह कहानी निबन्ध नहीं, कहानी ही है, यह रेखाचित्र या संस्मरण या साधारण चुटकुला नहीं है। यदि कहानीमें कथासूत्र या आधारभूत विचार या भावपर अधिक बल दे दिया जाय तो वह अपने प्रयोजनमें निबन्धके निकट जा पहुँचती है, यदि उसमें चरित्रको प्रधानता दे दी जाय तो वह कभी-कभी व्यक्तिका रेखाचित्र बन सकती है और यदि कार्य-व्यापारको ही उसमें प्रमुख रूपमें दर्शाया जाय तो साधारण वर्णनसे उसका अन्तर बताना कठिन हो जाता है। निश्चय ही कहानीमें वर्णनात्मकता हो सकती है, उसमें किसी एक भावना, विचार या भावको एकान्ततः विकसित किया जा सकता है, उसमें किसी चरित्रकी विशेषता प्रस्तुत की जा सकती है और फिर भी वह साधारण वर्णन, निबन्ध या रेखाचित्रसे पृथक् इस कारण समझी जाती है कि उसमें किसी एक तत्त्वपर बल देते हुए पात्रोंकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंके माध्यमसे जीवन और उसकी व्याख्याको प्रस्तुत किया जाता है। कहानी **निबन्ध** नहीं है, क्योंकि उसमें व्यापक मानवीय सत्योंका अन्वेषण या उद्घाटन होता है, केवल तथ्यपरक अभिधामूलक सत्योंका नहीं। वह साधारण वर्णन भी नहीं है, क्योंकि वर्णन करनेके साथ-साथ वह जीवनकी व्याख्या भी करती है, उसे सार्थकता प्रदान करती है, उसका दिशानिर्देश करती है। कहानीमें सीमित और आंशिक उपन्यासकी अपेक्षा अत्यन्त छोटे पैमानेपर, जीवनका एक सुसंघटित, अपनेमें परिपूर्ण चित्र उपस्थित किया जाता है, अतः वह रेखाचित्रसे भिन्न है, जिसमें वर्णनकी मनोहारिता या विषयकी प्रभावोत्पादकता होते हुए भी, उस प्रकारका संघटन और सम्पूर्णता नहीं होती।

गद्य कथा-साहित्यके इस रूपका अपेक्षाकृत अल्प कालमें ही इतना शक्तिशाली विकास हुआ है और आकार-प्रकारकी विविधतामें वह इतना समृद्ध हो गया है कि उसकी परिभाषा देना सम्भव नहीं है। उपर्युक्त विशेषताओंसे ही हम उसे पहचान सकते हैं और इतना कहकर ही संतोष कर सकते हैं कि कहानी गद्य साहित्यका एक छोटा, अत्यन्त सुसंघटित और अपनेमें पूर्ण कथारूप है।

कहानीकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, यद्यपि आधुनिक साहित्यिक कहानीका इतिहास उन्नीसवीं शतीसे प्रारम्भ होता है, जिसमें प्राप्त सबसे प्राचीन लिखित साहित्यमें ऐसी कहानियाँ मिली हैं जिनमें पर्याप्त साहित्यिक कौशल पाया जाता है। अनुमान है कि 'जादूगरोंकी कथाएँ' किसी-न-किसी रूपमें ४००० ई० पू० से ३००० ई० पू० तक प्रचलित थीं, यद्यपि 'वेस्ट कार्पोरिस', जिसपर वे लिखी हुई मिलती हैं, कुछ समय बादका जान पड़ता है। भारतीय कहानीकी परम्परा अत्यन्त सम्पन्न है। इसका कुछ विस्तृत परिचय बादमें दिया गया है, परन्तु यहाँ इतना संकेत करना आवश्यक है कि ऋग्वेदमें, जिसकी गणना संसारके प्राचीनतम साहित्यमें होती है, काल्पनिक कहानी अपनी अनेक साहित्यिक विशेषताओंके साथ विद्यमान हैं। इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत तथा बौद्ध धर्म सम्बन्धी अवदान और जातक कथाओंके अक्षय भण्डार हैं। गुणाढ्यकी 'बृहत्कथा' जो अब केवल संक्षेपों और संग्रहोंमें प्राप्त है तथा 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश'की कहानियोंमें उस प्रकारका धार्मिक आग्रह भी नहीं है और नीति-शिक्षाके साथ मनोरंजनको प्रधानता दी गयी है। इन कहानियोंका विश्वव्यापी प्रचार हुआ है और इन्होंने विश्वके कहानी-साहित्यका भण्डार भरा है। 'पञ्चतन्त्र'(पाँचवीं, छठी शती)का छठी शतीमें ही खुसरो नौशेरवाँने पहला पहलवीमें अनुवाद कराया था। पहलवीसे छठी शतीमें ही इसका सीरियन भाषामें ईसाई पादरी बुदके द्वारा अनुवाद हुआ। अगली दो शताब्दियोंमें इसके सीरियनसे अरबीमें कई अनुवाद हुए। अरबीसे इसकी कहानियाँ यूरोपकी लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेंच, स्पेनिश और अँग्रेजीमें अनूदित हुईं। १६वीं शतीतक इसके अनेक अनुवाद हो चुके थे और इस प्रकार इन कहानियोंने परोक्षरूपसे ही सही, साहित्यमें कहानीके आधुनिक रूपको जन्म देनेमें सहायता दी। प्राचीन यूनानी साहित्यमें भी गद्य और पद्यमें रचित अनेक कथाएँ मिलती हैं। बाइबिल तो कहानियोंका भण्डार है।

मध्ययुगमें यूरोपमें कहानियोंकी आश्चर्यजनक विविधता पायी जाती है। चॉसरकी 'कैण्टरबरी टेल्स' और बोकेसियोकी गद्यमें लिखित 'डिकेमेरॉ' प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं। १७वीं, १८वीं शतीतक छोटी-बड़ी कहानियोंके अनेक प्रकारके नमूने मिलते हैं जिनमें कुछ आधुनिक कहानीके निकट पहुँच सकते हैं। परन्तु जान-बूझकर पृथक् साहित्यरूपमें निर्मित सुनियोजित कहानियोंका उदय १९वीं शतीके प्रथम चरणमें हुआ है। १८वीं शतीके अन्ततक तो उपन्यासको ही एक गम्भीर साहित्यरूपमें मान्यता मिली थी। कहानियोंकी माँग उस समय हुई जब अनेकानेक समाचार-पत्रों तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओंका प्रकाशन आरम्भ हुआ और पत्र-व्यवसायको बढ़ानेके लिए संपादकगण ऐसी कहानियोंको लिखानेमें एक दूसरेसे होड़ करने लगे जो पत्र या पत्रिकाके एक ही अंकमें पूरी हो जायँ।

आधुनिक कहानीका प्रारम्भ १९वीं शतीके चार देशोंके लेखक-समूहके द्वारा हुआ, जिनमें परस्पर १५ वर्षसे अधिकका अन्तर नहीं है। जर्मनीके ई० टी० डब्ल्यू० हॉफमैनके कहानी संग्रह १८१४ और १८२१के बीच प्रकाशित हुए, जेकब और विल्हेल्म ग्रिमके परियोंकी कथाओं और पुराण-कथाओंके संग्रह १८१२ और १८१५के बीच निकले तथा जॉन लुडविग टीकने भी इसी कालमें तत्परतासे कहानियाँ लिखीं। इङ्गलैण्ड निवासी अमेरिकन लेखक वाशिंगटन इर्विंगकी 'स्केच बुक' १८१९-२० में तथा तीन अन्य कहानीकी पुस्तकें १८३२के पूर्व प्रकाशित हुईं। इसी समयके लगभग नैथनील हॉथॉर्न और एडगर एलन पो कहानी-लेखकके रूपमें प्रकट हो रहे थे। रूसमें एलेक्जेण्डर पुश्किन और निकोलाइ गोगोलने १८३१ में लिखना आरम्भ किया तथा फ्रांसके प्रॉस्पर मेरिमीका कहानी-संग्रह १८२९में प्रकाशित हुआ। थियोफिल गौतिए और बालजकको कहानियाँ भी १८३०में

प्रारम्भ हुई। ये सब कहानीको एक पृथक् साहित्यका रूप मानकर लिखनेवाले सजग कहानीकार थे। इनमें इर्विंगके शब्दोंमें 'विचारकी निरन्तर क्रियाशीलता और कृतित्वका सुघरपन' पाया जाता है। इर्विंगके 'रिप वॉन विंकिल,' 'द लेजेण्ड ऑव स्लीपी हालो' और 'द स्टाउट जेण्टिलमैन' कहानीकलाके आदर्श कहे जाते हैं। परन्तु इर्विंगने कहानी-कलाको एक ऐसा बँधा-बँधाया रूप देनेकी चेष्टा की जिसमें गतिशीलता और नाटकीयताका अभाव था। हॉथॉर्न और पोको इर्विंगके द्वारा स्थापित विधानमें परिवर्तन करना पड़ा। पाठकको तीव्रतासे प्रभावित करने तथा कहानीमें जीवन्त-शक्ति लानेके लिए हॉथॉर्न प्रसिद्ध है। गोगोलके विषयमें प्रसिद्ध है कि वह शैली और वृत्तिकी दृष्टिसे निर्दोष बनानेके लिए एक कहानीको आठ-आठ बार लिखता था। कहानीकलाके परिश्रम-साध्य शिल्पविधानको इस प्रकार १८३०-४०के बीच पूर्ण स्वीकृति प्राप्त हो गयी।

पोने तो कहानीकलाके सम्पूर्ण सिद्धान्तोंका ही प्रतिपादन कर डाला और कहानी-रचनाके सुनिश्चित नियम बना दिये। उसके अनुसार कहानीमें पूर्वनिश्चित प्रभावान्विति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसीके द्वारा कहानीमें पूर्ण एकात्मकता या सकलन (यूनिटी) आता है, अत कहानीमें कुछ भी ऐसा न होना चाहिये जो उस प्रभावान्वितिमें सहायक नहीं है। कहानीके समस्त तत्त्वोंकी, उसके सम्पूर्ण आकार-प्रकारकी उसी पूर्व-निश्चित प्रभाव या केन्द्रीय सवेदनाके आधारपर योजना की जाती है। पोकी कहानियोंमें कथानकका उत्सुकतापूर्ण अनिश्चय वा द्वैधीभाव(सस्पेन्स) पूर्ण वातावरण और मनोदशा(मूड)की प्रधानता होती है। उनमें कलाकी परिपूर्णता लानेके प्रयत्नमें प्राय॰ जीवनकी यथार्थता नष्ट हो जाती है। पोने कहानीको अत्यधिक नियमबद्ध कर दिया जिससे कि उसमें कुछ समझनेके लिए गतिरोध आ गया। गॉइ दि मोपासाँको इस बातका श्रेय है कि उसने कहानीको नियमोंके कठोर बन्धनसे सदाके लिए मुक्ति दिलायी। मोपासाँकी कुछ कहानियाँ वास्तवमें महान् हैं, उसकी उत्कृष्ट कहानियोंकी सख्या भी कम नहीं है, परन्तु निकृष्ट कहानियाँ भी उसने ढेरों लिखीं। उसकी कहानियोंकी बहुत बड़ी विशेषता यह है कि चाहे वे महान् हों, अच्छी हों या बुरी, प्रत्येकमें वास्तविक जीवनका मस्पर्श मिलता है और सम्पूर्ण कहानियोंमें कुल मिलाकर ऐसा लगता है मानों लेखकने नश्वर मानवताकी सुख-दुखात्मक अनुभूतियोंको बड़े समारोहके साथ वर्णित किया है। चेखवने कहानीके रूपको और अधिक प्रगति देकर उसे नवीन प्रकारकी स्वतन्त्रता, अवसाद, आकर्षण और सुषमासे सम्पन्न किया। अमेरिकाके ओ॰ हेनरीने भी कहानी-साहित्यके विकासमें योग दिया। परन्तु उसकी कहानीके अन्त करनेकी कलामें ही जादू था, जो कुछ दिनोंतक ही पाठकोंको मुग्ध कर सका, क्योंकि उसकी कहानियाँ प्राय यन्त्रमें ढली जैसी लगती हैं। उनमें वाक्-चातुर्य है और हार्दिक सवेदना भी, परन्तु लेखकका मानव व्यक्तित्व उनमें नहीं मिलता। डिकेन्सने भी कुछ कहानियाँ लिखी हैं और उनमें स्वच्छन्दता, मानवता और प्रभावोत्पादकता पायी जाती है।

कहानी साहित्यका सबसे स्वाभाविक और इसीलिए अत्यधिक स्वच्छन्द रूप है। कहानीके अनन्त प्रकार अलिखित रूपमें चलते हैं। दृष्टान्त, चुटकले, हँसी-मजाक, साहसिक वर्णन, परियोंकी कथाएँ आदि न जाने कितने रूपमें कहानी हमारे जीवनके प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक कालमें घुली-मिली रहती है। इसके अतिरिक्त स्वय हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति प्रति दिन सैकड़ों कहानियोंके बीचसे गुजरता है। कहानी प्राण-वायुकी तरह अनिवार्य जान पड़ती है। इसीलिए उसका लिखित रूप भी किसी न किसी तरह हमारी साहित्यिक चेष्टाका अभिन्न अंग है। उसमें अगणित प्रयोग हुए हैं और होते रहेंगे। मानवीय प्रेषणका वह सरलतम रूप हो सकती है और अत्यन्त जटिल और उलझा हुआ भी। वह अत्यन्त व्यवस्थित अभिव्यक्तिका रूप धारण कर सकती है और अत्यन्त शिथिल भी। सच्चे कहानीकारके हाथमें कहानी, कथानक, विकास और परिणति आदि उसके तथाकथित मूल तत्त्वोंसे सम्बद्ध उसके कला-सिद्धान्तोंके किसी भी झमेलेमें न पड़कर अत्यन्त प्रभावशाली बन सकती है। ये तत्त्व उपयोगी भी हो सकते हैं और व्यर्थ भी, प्रश्न केवल लेखकका है। लेखक ही कहानी कलाके नियम अपने लिए निर्मित करता है, अपनी शैलीके द्वारा ही वह अपनी सफलता या असफलता प्रमाणित करता है।

कहा जाता है कि कहानी इतनी ही लम्बी हो कि वह एक बैठक या लगभग आधे घण्टेमें पढ़ी जा सके। परन्तु कोई जल्दी पढ़ता है कोई धीरे, अत कहानीकी लम्बाईकी दूसरी माप यह बतायी गयी है कि कहानीका आकार २५०० शब्दोंसे १०,००० शब्दोंतकका हो सकता है। २५००से कम शब्दोंकी कहानी **छोटी कहानी** या **लघु कथा** (शॉर्ट शॉर्ट स्टोरी) तथा १०,०००से अधिक शब्दोंकी बड़ी कहानी (लॉंग शॉर्ट स्टोरी) कही जायगी। और यदि उसमें २०,००० शब्दोंसे अधिक हों तो उसे लघु उपन्यास या उपन्यासिका (नावेलेट) समझना चाहिये। परन्तु यह नाप-जोखका पैमाना केवल कुछ विशेषज्ञोंके कामकी चीज हो सकती है। ५०० शब्दोंसे भी कमकी कहानियाँ हैं और २०००० शब्दोंसे अधिककी भी, और ये दोनों साधारणतया कहानी नामसे ही अभिहित हैं।

साहित्यमात्र और कदाचित् उसमें सबसे अधिक कहानी, लेखक और पाठकके बीचकी चीज है। उसके कला सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी प्राय दोनों ही अवहेलना करते हैं। नियम और सिद्धान्त तभी अधिक बनते हैं जब कहानी-लेखनमें ताजगी नहीं रहती और पिष्टपेषण होने लगता है। नियमोंको ध्यानमें रखकर अच्छी कहानी नहीं लिखी जा सकती। अच्छी कहानी तो स्वत लिख जाया करती है, क्योंकि लेखक भी स्वत निकल आता है। (दे॰ उपन्यास, उपन्यासिका) —स॰

भारतीय साहित्यमें कहानीका प्राचीनतम रूप ऋग्वेदके यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, सरमा और पणिगण-जैसे लाक्षणिक सवादों, ब्राह्मणोंके सौपर्णी-काद्रव जैसे रूपकात्मक व्याख्यानों, उपनिषदोंके सनत्कुमार-नारद जैसे ब्रह्मर्षियोंकी भावमूलक आध्यात्मिक व्याख्याओं, महाभारतके गगावतरण, शृग, नहुष, ययाति, शकुन्तला, नल आदि जैसे उपाख्यानों, गीताके प्रवचनों, हरिवंश परिशिष्ट, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त,

शिव, स्कन्द जैसे पुराणोंके वार्तालापोंमें खोजा जा सकता है। इनमें कहानीकी प्रेरणाका आधार धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्वचिन्तन तथा नीति और कर्तव्यकी शिक्षा देना है। यही कहानी व्यंजनापूर्ण रूपकोंसे वर्णन-प्रधान चरित्रोंतक रमी हुई है।

भारतवर्षमें कहानीका प्राचीनतम रूप कथा है। कथा-शैलीकी कथाओंके विषय वीरों—राजाओंके शौर्य, प्रेम, न्याय, ज्ञान और वैराग्य, समुद्री यात्राओंके साहस, आकाश तथा अन्य अगम्य पर्वतीय प्रदेशोंमें प्राणियोंके अस्तित्व आदि हैं। इनमें **कथानक या घटना-प्रधान रूप** ही अधिक मिलते हैं। इस प्रकारकी कथाएँ भी शतियों-तक प्रचार पाती रहीं। सम्भवत: वे प्राकृतमें लिपिबद्ध की गयी होंगी। इन कथाओंमें सबसे प्राचीन कथा गुणाढ्यकी 'बृहत्कथा' है, जिसका निर्माण रामायण, उदयन, वासवदत्ता, समुद्री व्यापारियों तथा राजकुमारियोंके पराक्रमकी घटना-प्रधान कथाओंसे हुआ है। यद्यपि यह अप्राप्त है, किन्तु इसके संक्षिप्त रूपोंमें बुधस्वामीके 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', क्षेमेन्द्रकी 'बृहत्कथामंजरी' और सोमदेवके 'कथासरित्सागर'से इसके स्वरूपपर प्रकाश पड़ता है। दण्डीके इसके लिए प्रयुक्त 'कथा' शब्दसे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ अनुमानत: गद्यमें रहा होगा। सम्भव है कि बीच-बीचमें श्लोकादि भी रहे हों। बृहत्कथाकी अनेक मनोरंजनपूर्ण कथाओंका विषय और शैलीका प्रभाव दण्डीके 'दशकुमारचरित', बाणभट्टकी 'कादम्बरी', सुबन्धुकी 'वासवदत्ता', धनपालकी 'तिलकमंजरी', और सोमदेवके 'यशस्तिलक'पर भी लक्षित है। यहाँतक कि काव्यग्रन्थ 'मालतीमाधव', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय', 'रत्नावली', 'मृच्छकटिक' आदि भी इस कहानीपरम्परासे प्रभावित हैं।

'कथा'की परम्परामें एक शाखा नीति-कथाओंकी भी है। पतंजलिके 'अजाकृपाणीय' और 'काकतालीय' शब्द भी किसी-न-किसी नीतिकथासे ही सम्बन्धित जान पड़ते हैं। इस दृष्टिसे इनका प्रारम्भ भी ई० सन्‌के पूर्वसेही मानना होगा। इन नीतिकथाओंकी विशेषता यही है कि इनमें मनुष्यके स्थानपर पशु, पक्षी, वृक्ष पात्रके रूपमें ग्रहीत हुए हैं। वे मानवीय स्वभाव, गुणोंसे युक्त हैं। इनका उद्देश्य राजनीतिक एवं नैतिक शिक्षा देना तथा दैनिक जीवनके द्विविध पक्षोंका प्रतिपादन करना है। इनमें कथाशिल्पकी अपेक्षा नीति विषयके समर्थनपर अधिक बल दिया गया है। अर्थात् ये शैलीप्रधान न होकर विषय-प्रधान हैं। इनकी शैली कथागमोपकथा—कहानीके भीतर कहानीकी है। किसी नीतिके विषयमें कहानीका प्रारम्भ होता है और जैसे ही किसी नैतिक शिक्षाके साथ उसका अन्त होने लगता है वैसे ही एक पात्र दूसरे पात्रको एक नयी कथाका संकेत कर देता है। ये कथाएँ गद्यमें हैं। बीच-बीचमें पद्यका भी प्रयोग हुआ है। शैलीकी मनोरंजकता तथा कुतूहलताके कारण इन कथाओंका अत्यधिक प्रचार हुआ। विदेशमें भी 'अरेबियन नाइट्स' जैसे कथाग्रन्थ बने। भारतमें इस कथा-शैलीका कथासंग्रह 'पंचतन्त्र' है। इसके पाँच तन्त्रों—'मित्रभेद'में भेदनीति, 'मित्रलाभ'में मित्रता और पारस्परिक सहयोग, 'विग्रह'में युद्ध उसके कारण और सन्धिकी उपयोगिता, 'लब्धप्रणाश'में असावधानीसे प्राप्त वस्तुकी भी हानि होने और 'अपरीक्षित कारक'में बिना विचारे काम करनेसे नाश होनेके विषयमें सूक्ष्म और विश्लेषक-बुद्धिसे विचार किया गया है। यह गद्यमें है, किन्तु बीच-बीचमें यथा-स्थल श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। 'पंचतन्त्र' जैसे कथाग्रन्थोंकी परम्परामें ही 'तन्त्राख्यायिका', 'बृहत्कथामंजरी', 'कथासरित्सागर', नारायणकृत 'हितोपदेश', जैनसिद्धार्थका 'उपमिति', 'भाव-प्रपंचकथा', हेमचन्द्रका 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' इत्यादि ग्रन्थ आते हैं।

कथाओं और नीति-कथाओंके समान ही बौद्ध विचारोंके पोषण और प्रसारके लिए संस्कृत गद्यमें अवदान ग्रन्थोंकी भी परम्परा प्राप्त है, इसमें 'अवदानशतक' मुख्य है। इसका उद्देश्य पूर्वजन्मकी प्रामाणिकता प्रमाणित करना है।

अवदानोंके अतिरिक्त बोधिसत्त्वके पूर्वजन्मोंसे सम्बन्धित जातक कथाएँ भी हैं। इनमें आर्यशूरकी 'जातकमाला' प्रमुख है। कुमारलातका 'सूत्रालंकार' या 'कल्पनामण्डितक' भी जातकों और अवदानोंका संग्रह है। इनमें अवदानों और जातकोंमें कथा-प्रधान और यत्र-तत्र कार्य-प्रधान कहानी-के रूप सम्मुख आते हैं।

संस्कृतमें कथाकी कथानक-प्रधान नीतिपरक कथाओंकी परम्परा दूरतक मिलती है। इनमें विक्रमादित्य, भरथरी, मुंज, भोजके विद्या-प्रेम, न्याय, शौर्य आदि वर्णित हैं। शिवदासके 'वेतालपंचविंशतिका', 'शालिवाहन कथा', 'कथार्णव', 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' या 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' या 'विक्रमार्क', यूसुफ जुलेखापर आधारित श्री वीरकविका 'कथाकौतुक', आनन्द-कृत 'माधवानलकथा', 'शुक सप्तति', अनन्त-विरचित 'वीरचरित,' 'विक्रमोदय', 'पंचदण्डछत्र-प्रबन्ध,' वल्लालसेनका 'भोजप्रबन्ध' आदि ग्रन्थ इसी परम्पराकी कहानियाँ हैं।

इस प्रकार प्राचीन कालसे कहानीका प्रवाह व्यंजना-प्रधान कथारूपकोंसे इतिवृत्त, कार्य, चरित्र और वातावरणकी प्रधानताकी ओर रहा है।

जनताकी अपने चरितनायकोंके प्रति अटूट श्रद्धा तथा युद्ध-प्रेमकी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंके कारण कथा-साहित्यकी परम्पराका निरन्तर विकास होता रहा है। संस्कृत, पाली, प्राकृतके कथा-साहित्यकी परम्परा अपभ्रंशमें भी प्राप्त होती है। इसमें राजाओंके आख्यान और चरित्र लिखे गये। हिन्दीके आदि कालसे रीतिकालतक गद्यके अभावमें भी कथा-प्रेमकी प्रवृत्ति देखी गयी है। उसने गीतों, प्रबन्धों, और मुक्तकोंमें अपना स्थान बनाया है।

हिन्दीके पूर्व-मध्यकालमें भारतमें मुसलमानोंके स्थिर हो जानेपर विदेशी संस्कृतिके प्रभावसे 'लैला-मजनू,' 'शीरीं-फरहाद,' 'युसुफ-जुलेखा' इत्यादि कथाओंका भी आगमन हुआ। लोक-कथाओंके आधारपर कथाकाव्य लिखनेवाले प्रेममार्गी सूफी कवियोंके प्रेमाख्यानोंमें कथा, मालामें धागेके समान बनी हुई है। किन्तु ये उड़नखटोला, उड़ाकू घोड़ा, देवी-देवता, राक्षस-देव, अप्सरा-प्रेमके अद्भुत चमत्कारोंके प्रसंगोंसे अलौकिक, अतिलौकिक और अस्वाभाविक हो गयी हैं।

वैष्णव काव्यमें प्रवन्ध और नीतिके रूपमें कथाका सुगुम्फन है। इसके अतिरिक्त इस कालमें अकवर-वीरवलकी व्यग्य-विनोदपूर्ण कहानियाँ भी लोक-प्रचलित रही हैं।

रीतिकालके मुक्तकोंमें राधाकृष्णकी कथाओंको प्रश्रय मिला ही है, कुछ अन्य पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं-पर आधारित काव्योंकी भी रचना हुई। इनमें कथा कहीं अभौतिक, कहीं अतिभौतिक और कहीं भौतिक आलम्वनोंके आश्रित है। इस प्रकार इन तीनों ही कालोंमें पौराणिक, अतिदिव्य कथाओंके प्रसगों और ऐतिहासिक, अतिभौतिक वृत्तों, जीवनियोंको लेकर लिखे गये काव्यमें कथाका प्रवाह सतत गतिशील रहा है।

किन्तु हिन्दीके आधुनिक कालकी 'कहानी' कथाके विकासमें एक नितान्त नवीन दिशा है, यद्यपि आधुनिक कहानीकी कथात्मकताकी झलक इन्शाअल्ला खाँकी 'रानी केतकीकी कहानी' या 'उदयभान चरित', लल्लूलाल-रचित 'सिंहासन वत्तीसी', 'वैताल पचीसी', 'माधवानलकाम-कन्दला', 'शकुन्तला', 'प्रेमसागर', सदल मिश्रके 'नासिकेतो-पाख्यान', जटमलकी 'गोरावादलकी कथा', राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्दका 'राजा भोजका सपना' या 'वीरसिंहका वृत्तात' इत्यादि मौलिक और अनुवादित कथाग्रन्थोंमें मिलती है। कहानीके इस प्रारम्भिक कालमें कहानियाँ प्राय दो स्रोतों-से सम्वन्धित थीं—एक सस्कृत कथा या लोकप्रचलित मौखिक कथाओंका स्रोत, दूसरा उर्दू या फारसीकी कहानियों-का स्रोत। पहलेमें सस्कृतकी धार्मिक एवं पौराणिक कथाओंके अनुवाद तथा 'शुक वहत्तरी', 'सारगा सदाव्रज', 'किस्सा तोता-मैना', 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'किस्सये चार यार', आते हैं,' और दूसरेमें 'वागोवहार', 'किस्सा हातिम-ताई', 'चहार दर्वेश', 'दास्ताने अमीर हमजा', 'तिलस्मे होशरुवा' जैसी कहानियाँ रखी जा सकती है। इस प्रकार इस समय ये जादू, कुतूहल और वासनामूलक प्रेमकी कहानियाँ ही भारतीय जनताका मनोरजन कर रही थीं।

किन्तु पाश्चात्य सस्कृति तथा उसके भौतिक दृष्टिकोणके प्रसार, राष्ट्रीय जागरण, सास्कृतिक आन्दोलन, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी वृद्धि, गद्यके प्रचार, मुद्रणकी सुविधाओं और पत्रोंके इस युगमें 'हिन्दी प्रदीप', 'सरस्वती' और 'सुदर्शन'-के प्रकाशनसे कथा-साहित्यमें अभूतपूर्व क्रान्ति हुई। यद्यपि प्रारम्भमें 'हिन्दी प्रदीप'में 'कात्यायन वररुचिकी कथा', 'उपकोशाकी कथा', 'सुदर्शन'में पौराणिक आख्यान और 'सरस्वती'में 'रत्नावली', 'मालविकाग्निमित्र', 'कादम्बरी', 'सीम्वलीन', 'एथेन्सका टाइमन', 'पेरीक्लीज', 'कामेडी ऑव एरर' (कौतुकमय मिलन) जैसी देशी-विदेशी कहानियों, काव्यों, नाटकोंके अनुवाद ही प्रकाशित हुए, किन्तु 'सरस्वती'में १९०० में किशोरीलाल गोस्वामीकी 'इन्दुमती' कहानी प्रकाशित हुई, जो परम्परागत अनूदित या तथा-कथित मौलिक कहानियोंमे सर्वथा भिन्न प्रकारकी थी। यद्यपि इसपर शेक्सपियरके 'टेम्पेस्ट' तथा किसी राजपूत कहानीका प्रभाव माना गया है, किन्तु शिल्पकी दृष्टिसे यह एक नवीन कहानी थी। इसके पश्चात् कुछ समयतक रूपान्तरित और अनुवादित कहानियोंका वाहुल्य रहा। वंगलामे कहानियोंके अनुवादकोंमें गिरजाकुमार घोष, लाला पार्वतीनन्दन तथा 'वग महिला'का प्रमुख स्थान है। 'सुदर्शन'में माधव मिश्र पौराणिक आख्यायिकाओंके अनुवाद कर रहे थे। इन अनुवादोंके अतिरिक्त हिन्दीमें छन्दोवद्ध कहानियाँ भी लिखी गयीं जिनमें न तो विषयका आदर्श है और न शैलीका निश्चित रूप है। 'जम्बुकी न्याय', 'निन्नानवेका फेर', 'नकली किला,' 'कुलीनाथ पाण्डे,' 'विद्या-विहार' इत्यादि इसी शैलीकी रचनाएँ हैं। इसके साथ प्रारम्भमें वग भाषाके गल्पकी शैलीका भी अनुकरण हुआ। किशोरीलाल गोस्वामीकी 'गुलवहार', मास्टर भगवान्‌दासकी 'प्लेगकी चुड़ैल,' रामचन्द्र शुक्लकी 'ग्यारह वर्षका समय', गिरजादत्त वाजपेयीकी 'पण्डित और पण्डितानी' इत्यादि आधुनिक कहानीके निकट हैं, किन्तु इनमेंसे कुछ विदेशी शैलीकी हैं, कुछ जीवन, स्केच, इतिहास, निवन्धके निकट है। कहानी-शिल्पका सौन्दर्य इनमें नहीं है। 'वंग महिला'-की 'दुलाईवाली' सरस्वतीमें १९०७में प्रकाशित हुई जो हिन्दीकी प्रथम मौलिक आधुनिक कहानी है और दूसरी 'इन्दु'में १९११में प्रकाशित 'प्रसाद'की कहानी 'ग्राम' है। १९११ में ही भारतमित्रमें चन्द्रधर शर्मा गुलेरीकी 'सुखमय जीवन' कहानी भी प्रकाशित हुई। १९१२ में 'इन्दु'में प्रसादकी 'रसिया वालम', जी० पी० श्रीवास्तवकी कहानियाँ, 'सरस्वती'में 'कौशिक'की 'रक्षावन्धन' (१९१३), गुलेरीकी 'उसने कहा था' (१९१६), ज्वालादत्त शर्मा, चतुरसेन शास्त्री तथा 'अदीव', 'जमाना'से निकलकर प्रेमचन्दकी कहानियाँ तथा 'प्रसाद'की 'इन्दु'में 'पुरस्कार', 'आकाशदीप', 'विसाती', 'स्वर्गके खण्डहर', 'प्रतिध्वनि,' राधिकारमण सिंहकी 'कानों-में कगना' (१९१३) और 'विजली'के प्रकाशनसे हिन्दीकी आधुनिक प्रगति अवाध गतिसे आगे वढ़ने लगी।

हिन्दीकी आधुनिक कहानीके विकासमें एक ओर मानव-जीवनके प्रेम, करुणा, विनोद, हास्य व्यग्य, विस्मय, आश्चर्यपूर्ण साधारण और यथार्थ परिस्थितियोंके आघात-प्रतिघात सहायक हुए है, दूसरी ओर प्राचीन प्रेम-प्रधान खण्डकाव्य, प्रवन्धकाव्य, नाटकों और प्रेमाख्यानोंसे प्राप्त काव्यात्मक कल्पनाने योग दिया है।

विषय और वातावरणकी दृष्टिसे जहाँ प्राचीन कहानीमें राजा, राजकुमार, राजकुमारियोंकी प्रणयकथाओंका आधिक्य, मानवके वाह्य क्रिया कलाप, स्वभावके वर्णनपर दृष्टि है तथा संयोग, आकस्मिक घटनाओंसे कुतुहल, आश्चर्य और जिज्ञासाको शान्त करनेकी प्रवृत्तिकी अतिरजकता तथा प्रेम-वृत्तिकी एकच्छत्रता है, वहाँ आधुनिक कहानीमें सामाजिक समानताके भाव जगनेके कारण, समाजकी सभी सस्थाओं, वर्गों और वर्णोंके मनुष्योंके व्यक्तिगत जीवनकी साधारण घटनाओंको कहानीका विषय वनाया गया है, मानवकी अन्त प्रकृति चित्रित करनेका प्रयत्न किया गया है, सयोग और दैवघटनाको केवल कथानकके विकासमें साधनमात्र माना गया है, प्रेमके साथ अन्य प्रवृत्तियोंके चित्रणपर भी ध्यान दिया गया है, मानवको देव-दानवों जैसी अतिभौतिक सत्ताओंके हाथका क्रीडा-कन्दुक नहीं वनाया गया है, उनकी प्रवृत्तियोंका मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है और जीवनके महत् तथ्यों एवं शाश्वत सत्योंका भी उद्घाटन किया गया है। शैलीकी दृष्टिसे जहाँ

प्राचीन कहानीका प्रारम्भ बंधे-सधे नियमित और व्यवस्थित ढंगसे होता था वहाँ आधुनिक कहानी कथानकके किसी भी स्थलसे प्रारम्भ हो सकती है। यही उसकी वक्रता या विचित्रता है और उसमें चित्रणकी प्रवृत्ति अधिक है। दूसरे, जहाँ प्राचीन कहानी वर्णन-प्रधान होती थी वहाँ आधुनिक कहानी रूपकों और प्रतीकोंका सहारा लेकर कलात्मक होती जा रही है। उसकी शैलीमें निरन्तर विकास होता जा रहा है।

बीसवीं शताब्दीके प्रथम चतुर्थांशमें आधुनिक हिन्दी कहानी रूपकी दृष्टिसे चतुरसेन शास्त्रीकी 'खूनी', प्रेमचन्दकी 'आत्माराम', 'शखनाद', 'बडे घरकी बेटी', 'का गुमान', 'बूढ़ी काकी', 'मुक्तिमार्ग', 'अग्निसमाधि', 'दीक्षा', 'दफ्तरी', गुलेरीकी 'उसने कहा था', प्रसादकी 'भिखारिन' 'गुण्डा', कौशिककी 'ताई', जैसी **चरित्र-प्रधान,** प्रेमचन्दकी 'शतरजके खिलाडी', विशम्भरनाथ जिज्जाकी 'परदेशी', राधिकारमण सिंहकी 'कानोंमें कगना', 'बिजली', चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'की 'प्रेम-परिणाम', 'उन्माद', 'योगिनी', 'प्रसाद'की 'आकाशदीप', 'प्रतिध्वनि', 'बिसाती', 'स्वर्गके खण्डहरमें', 'हिमालयका पथिक', 'समुद्र सन्तरण', गोविन्दवल्लभ पन्तकी 'जूठा आम', 'मिलन मुहूर्त', प्रेमचन्दकी 'प्रेमतरु,' सुदर्शनकी 'हार-जीत' जैसी **वातावरण-प्रधान,** कौशिककी 'पतितपावन,' ज्वालादत्त शर्माकी 'भाग्यका चक्र,' पदुमलाल पुन्नालाल बख्शीकी 'झलमला' सग्रहकी कहानियाँ जैसी **कथानक-प्रधान,** गोपालराम गहमरीकी **जासूसी कहानियाँ,** दुर्गाप्रसाद खत्रीकी **वैज्ञानिक कहानियाँ**—'ससारविजय', 'रूप-ज्वाला', मथुराप्रसाद खत्रीकी 'शिखण्डी', जैसी **कार्य-प्रधान,** राय कृष्णदासकी 'कला और कृत्रिम कला', 'प्रसाद'की 'कला' जैसी **प्रतीक-प्रधान,** पाडेय बेचन शर्मा 'उग्र'की 'निर्लज्ज, 'इन्द्रधनुष' सग्रहकी तथा चतुरसेन शास्त्रीकी 'रजकण' सग्रहकी मानव-जीवनके कुरूप, सुरुचिपूर्ण और अशुभ प्रसगोंको लेकर लिखी **प्रकृतवादी** तथा विषयकी दृष्टिसे चतुरसेन शास्त्रीकी 'भिक्षुराज', 'प्रसाद'की 'ममता', 'देवरथ', प्रेमचन्दकी 'वज्रपात', 'सारधा', सुदर्शनकी 'न्याय-मन्त्री', वृन्दावनलाल वर्माकी 'तातार वीर' और 'एक वीर राजपूत', 'राखीबन्द भाई' जैसी **इतिहास-प्रधान** कहानियोंसे होकर विकसित हुई है। शैलीकी दृष्टिसे आधुनिक कहानी सुदर्शनकी 'तीर्थयात्रा,' 'प्रसाद'की 'ममता' जैसी **वर्णनात्मक,** कौशिककी 'ताई', द्विजकी 'मोक्षकी भिक्षा' जैसी **संलापात्मक,** प्रेमचन्दकी 'ब्रह्मका स्वाँग', सुदर्शनकी 'अन्धेर', 'अन्धेरी दुनियाँ' जैसी **आत्मचरितात्मक,** 'प्रसाद'की 'देवदासी', राधिकारमणप्रसाद सिंहकी 'सुरवाला' प्रेमचन्दकी 'कुसुम' और सुदर्शनकी 'बलिदान' जैसी **पत्रात्मक शैलियोंमें** व्यक्त हुई है।

किन्तु बीसवीं शतीके द्वितीय चतुर्थांशमें जीवनके तथाकथित शाश्वत कहे जानेवाले प्रतिमानों और आदर्शोंको वैज्ञानिकता छूने लगी। परिणामस्वरूप शाश्वत सत्यकी व्यंजना युगसत्य, अतीत सत्य तथा मनोवैज्ञानिक सत्यके रूपमें होने लगी। राय कृष्णदासकी 'तापसीकी तितिक्षा', 'अन्त पुरका आरम्भ,' हरिवंश राय बच्चनकी 'मुन्नी'में सत्य इसी रूपमें उद्घाटित किया गया है। इसके अतिरिक्त पहले जहाँ ईर्ष्या, क्रोध, भय, आशंका, प्रेम, घृणा, सन्देह जैसी वृत्तियोंके चित्रणपर बल दिया जाता था वहाँ मनकी गहराइयोंमें पैठ होने लगी है और व्यक्ति-समाजकी परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाओंको चित्रित किया जाने लगा है। जैनेन्द्रकी 'एक रात,' 'चलितचित्त' तथा जोशीकी 'अभिनेत्री'में इन्हीं वृत्तियोंका विश्लेषण किया गया है। जैनेन्द्रकी 'टाइप,' यशपालकी 'पुलिसकी दफा'में यही लक्षित है। दूसरी विशेषता बुद्धिवादका तीव्र आग्रह है, जिसके कारण भावनाकी अप्रधानता बढ़ी है और सामाजिक विषमताओंके प्रति भीषण विद्रोहकी भावना जागी है, आलोचनाकी शक्ति विकसित हुई है, विचारों-सिद्धान्तोंकी पुष्टिके लिए सुभाषित जैसे वाक्यों, सूक्तियों, निर्देशोंका प्रयोग होने लगा है। अज्ञेय, पहाड़ी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा तथा जैनेन्द्रकी कहानियोंमें यह बौद्धिकता द्रष्टव्य है। आज तर्कसंगत, मनोवैज्ञानिक तथा यथार्थ जीवनके सत्योंकी व्यजना और अन्तर्द्वन्द्वके विश्लेषणकी ही ओर अधिक रुचि है।

शैलीकी दृष्टिसे आधुनिक कालकी कहानी वर्णनसे चित्रण, चित्रणसे विश्लेषण और विश्लेषणसे सूक्ष्म विश्लेषणकी ओर बढ रही है तथा विषयकी दृष्टिसे प्रत्यक्ष आवश्यकताओंसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समस्याओं तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समस्याओंमें अन्तर्मनके सघर्षों और रहस्योंकी ओर प्रगति कर रही है। —वि० रा०

कहानीके भेद—कहानी-कलाके विभिन्न तत्त्वोंकी प्रधानताके अन्तरसे कहानियोंका वर्गीकरण निम्नलिखित ढंगसे किया जा सकता है—१. कथानक या घटनाप्रधान कहानी, २. चरित्रप्रधान कहानी, ३. वातावरणप्रधान कहानी और ४. भावप्रधान कहानी।

इस वर्गीकरणके अतिरिक्त कुछ कहानियाँ ऐसी भी रह जाती हैं, जो किसी वर्गमें नहीं आतीं, वस्तुत यही कहानी-कलाकी विकासशीलता और मौलिकता है। प्रकृतवादी, प्रतीकवादी और सांकेतिक कहानियोंके लिए एक मिश्रित वर्ग बनाना पड़ेगा।

विषयकी दृष्टिसे कहानियाँ अनेक प्रकारकी हो सकती हैं—ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक, साहसिक, रोमासिक और जासूसी आदि। शिल्प-विधिकी भी किंचित् विशेषताएँ इनमें आ जाती हैं अत इनका परिचय पृथक्-पृथक् दिया गया है।

घटना या कथानक-प्रधान कहानी—घटना कहानीके अन्तर्गत **घटना-प्रधान कार्य-प्रधान** और **चरित्र-प्रधान** तीन रूप होते हैं और ये तीनों रूप इसके मुख्य धरातल हैं, जहाँसे कहानीकार अपनी सवेदनाओंकी कलात्मक अभिव्यक्ति उपस्थित करता है।

घटना-प्रधान कहानियोंमें घटनाएँ ही कथानक-निर्माणमें मुख्य होती हैं। इन्हीं घटनाओंके माध्यमसे समूची कहानी निर्मित होती है। मूल्यकी दृष्टिसे ऐसी कहानियाँ अत्यन्त साधारण कोटिकी होती हैं। कहानी अपने आविर्भाव-युगमें मुख्यत इसी रूपमें थी और इसका विकास आजतककी कहानियोंमें मिलता आ रहा है। घटना-प्रधान कहानियों-

में दैवघटना और सयोगका विशेष सहारा लिया जाता है। 'कौशिक'की प्रसिद्ध कहानी 'ताई' इसके उदाहरणमें सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुत **कार्य-प्रधान** कहानी घटना-प्रधान कहानीका ही एक विकसित रूप होती है। इस रूपके अन्तर्गत **जासूसी, रहस्यपूर्ण** तथा **अद्‌भुत कहानियाँ** आती हैं। इस प्रकार-की कहानियोंके प्रतिनिधि-कहानीकार गोपालराम गहमरी और दुर्गाप्रसाद खत्री उल्लेखनीय हैं।

चरित्र-प्रधान कहानियोंका मुख्य उद्देश्य चरित्र-चित्रण और चरित्र-विश्लेषण होता है, फलत इन कहानियोंका मुख्य धरातल मनोविज्ञान होता है। प्रेमचन्दकी 'कफन,' 'बूढी काकी', 'प्रसाद'की 'आकाशदीप,' 'मधुआ,' गुलेरीकी 'उसने कहा था' आदि कहानियाँ इस दिशामें सुन्दरतम उदाहरण हैं। 'कफन'में गरीब चमार बाप-बेटे, जाडेके दिनों-में बाहर अलावको घेरे बैठे हैं, भीतर बहू प्रसवपीडासे कराह रही है, लेकिन उसे देखने मात्रके लिए उन दोनोंमेंसे कोई भीतर नहीं जाता। क्यों?—इसलिए कि वे दोनों भूखे थे और अलावमें कुछ आलू पडे थे। उन्हें डर था कि अगर कोई भीतर जायगा, तो दूसरा आलू निकालकर खा जायगा। स्त्री मर जाती है। कफनके लिए गाँववाले चन्दा करके उन्हें रुपये देते हैं। बाजारमें पहुँचकर दोनों उस रुपयेसे शराब पी डालते है। कहानीमें कार्य-व्यापार, घटनाएँ और प्रसंग बिलकुल नाममात्रके हैं और वे भी केवल उन दोनों चरित्रोंकी छायाके निमित्त हैं। अपने कालमें प्रेमचन्द सामाजिक धरातल तथा 'प्रसाद' ऐतिहासिक धरातलकी चरित्र-प्रधान कहानियोंके सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। संक्रान्ति-युगमें मनोविज्ञानकी उन्नति और उससे पायी हुई मनोविश्लेषणकी पद्धतिसे चरित्र-प्रधान कहानियाँ और भी सुदृढ तथा समुन्नत हुई। जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और यशपाल आधुनिक मनोविश्लेषणके धरातलसे चरित्र-प्रधान कहानियोंके सुन्दर कृतिकार हैं। अब इन कहानियोंमें चरित्रके बाह्य विशलेषणकी अपेक्षा चरित्रके आन्तरिक विशलेषणकी प्रतिष्ठा हुई है। चरित्र-प्रधान कहानियाँ घटनाओंको छोड़कर स्थूलतासे सूक्ष्मताकी ओर अग्रसर हुई हैं। इनमें विशुद्ध व्यक्ति-विश्लेषण तथा आत्म-विश्लेषणकी प्रवृत्ति आयी है। जैनेन्द्रकी 'एक रात', 'मास्टर जी', अज्ञेय की'रोज', 'छाया', इलाचन्द्र जोशीकी 'एकाकी', यशपालकी 'एक राज़', 'उत्तराधिकार', अश्ककी 'उबाल', 'पिंजरा' आदि कहानियाँ इस क्षेत्रकी उत्कृष्ट कृतियाँ हैं।

वातावरण-प्रधान कहानी—कहानी कल्पनालोककी वस्तु न होकर जीवनकी वस्तु है और जीवन सर्वथा वातावरण-सापेक्ष्य है। हमारे दैनिक जीवनके कार्यव्यापारोंमें किसी-न-किसी परिवेश तथा वातावरणकी प्रेरणा होती है। इसी प्रेरणाको कहानीकी सवेदनाके साथ-साथ पूर्ण रूपसे चित्रित करनेसे कहानी वातावरण-प्रधान हो जाती है। वातावरणके निर्माणमें प्रकृति-चित्रण तथा रूप-चित्रण इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं। सामाजिक कहानियोंमें वातावरणका निर्माण, उनमें ऐकान्तिक प्रभाव और स्वाभाविकताके साथ-साथ सौन्दर्यकी अवतारणा होती है और कहानीके चरम उद्देश्यका प्रभाव पाठकपर अनन्य ढगसे पडता है, जैसे, प्रसादकी 'बिसाती', 'बनजारा','आँधी' तथा प्रेमचन्दकी 'अलग्योझा', 'पूसकी रात' और 'गुल्ली-डण्डा' आदि कहानियाँ।

ऐतिहासिक कहानियोंमें वातावरणकी प्रतिष्ठा एक परम आवश्यक तत्त्व है। इसके बिना कहानीमें न तो ऐतिहासिकता ही आ सकती है और न वह प्राणतत्त्व, जिसके भीतरसे कहानीका उद्देश्य उभरता है। 'प्रसाद'की प्रतिनिधि ऐतिहासिक कहानियों, जैसे 'देवरथ', 'सालवती', 'आकाशदीप'में यह तत्त्व पूर्ण सफलतासे चरितार्थ हुआ है। ये कहानियाँ वातावरण-प्रधान कहानियोंके उत्कृष्ट उदाहरण है। वस्तुत वातावरण प्रधान कहानियोंमें कवित्वपूर्ण भावना, उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति, नाटकीय स्थितियोंकी अवतारणा और उनमें चरित्रोंके सघर्ष, इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं।

भाव-प्रधान कहानी—चरित्र प्रधान और वातावरण-प्रधान कहानियोंके बीचमें भाव-प्रधान कहानियाँ आती हैं। ऐसी कहानियाँ जिनमें चरित्र, घटना या कार्य-व्यापारपर बहुत बल न होकर केवल किसी भाव-विशेषपर बल होता है और उसीके आधारसे समूची कहानी अपनी एक लयके साथ निर्मित होती है, जैसे जैनेन्द्रकी 'नीलम देशकी राजकन्या' और अज्ञेयकी 'कोठरीकी बात।' भाव-प्रधान कहानियोंमें टैगोरकी कुछ कहानियाँ, जैसे 'भूखा पत्थर', उल्लेखनीय है। ऐसी कहानियोंमें एक मुख्य भावनाका प्राधान्य रखा जाता है। भाव-प्रधान कहानियाँ प्राय प्रतीकवादी कहानियोंका रूप धारण कर लेती हैं। जैनेन्द्रकी 'लाल सरोवर', 'राज पथिक', अज्ञेयकी 'पेगोडा वृक्ष,' 'चिड़ियाघर' आदि कहानियाँ अपने भाव-चित्रोंमें किंचित् प्रतीकोंके सहारे मानसिक चित्रों एवं सत्योंकी अभिव्यक्तिमें अत्यन्त सफल हैं। ऐसी कहानियाँ प्राय सूक्ष्म तत्त्वों तथा भावनाओंको साकार रूप देनेमें सफल होती हैं। अमूर्त विषयों और मनुष्यके अन्त सौन्दर्य तथा मानसिक सघर्षोंके चित्र प्रस्तुत करनेमें ऐसी कहानियाँ अत्यन्त शक्तिशाली सिद्ध होती हैं।

ऐतिहासिक कहानी—सस्कृत गद्य साहित्यमें असख्य ललित कथाएं ऐतिहासिक आधार लेकर लिखी गयी हैं और उनका मुख्य उद्देश्य नीति-स्थापना, आदर्श एव दृष्टान्त उपस्थित करना रहा है। हिन्दीमें आधुनिक दृष्टिकोणसे ऐतिहासिक सामग्रीको बिलकुल भिन्न उद्देश्यसे कहानीका वर्ण्य विषय बनाया गया है। इतिहासको यथार्थवादी ढंगसे ग्रहण करना इसकी पहली विशेषता है। इसी दृष्टिकोणसे प्राचीनताके मोह, जातीय गौरव, राष्ट्र-प्रेम, आदर्श-स्थापना एवं वीर-पूजाकी भावनाने कहानीकारोंको इतिहासकी ओर प्रवृत्त किया है।

कलाकी दृष्टिसे सामाजिक कहानी एव ऐतिहासिक कहानीकी सम्भावना एव उपलब्धिमें कोई विशेष अन्तर नहीं। एकमें ऐतिहासिक यथार्थ और मनोविज्ञान है, तो दूसरीमें वर्तमान यथार्थ। इस प्रकार वर्तमानसे अतीतको जोड़ने अथवा दोनोंमें रसमय सम्बन्ध स्थापित करनेका माध्यम केवल कल्पना है। अतएव ऐतिहासिक कहानीमें कल्पना एव तर्कजनित भावुकताका प्रवेश अत्यन्त आवश्यक है।

वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, प्रेमचन्द और

जयशंकर 'प्रसाद' ऐतिहासिक कहानी लिखनेवालोंमें विशेष उल्लेखनीय हैं। वृन्दावनलाल वर्माकी 'राखीबन्द भाई' तथा 'खजुराहोकी दो मूर्तियाँ' आदि कहानियोंमें ऐतिहासिक तथ्योंके प्रति रसमय निष्ठा तथा पुनरुत्थानकी भावना है। चतुरसेन शास्त्रीकी 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', 'सिंहगढ़-विजय', 'वसन्त' आदि कहानियोंका निर्माण कल्पना एवं इतिहासके रुमानी धरातलपर किया गया है। प्रेमचन्दकी 'राजा हरदौल', 'मर्यादाकी वेदी' और 'शतरंजके खिलाड़ी' आदि कहानियाँ वर्तमानको शक्तिशाली बनानेके लिए अतीतसे प्राणशक्ति खोजनेके सुन्दर प्रतिमान हैं। इस दिशामें 'प्रसाद'का स्थान अद्वितीय है। इनकी अनेक अमर ऐतिहासिक कहानियाँ जीवनके अनेकानेक पक्षों और उद्देश्योंको लेकर लिखी गयी हैं। जैसे—'चक्रवर्ती', 'सालवती', 'स्वर्गके खण्डहरमें' 'आकाशदीप', 'पुरस्कार' और 'गुण्डा' आदि। इन कहानियोंमें इतिहास और अतीतके स्वर्णिम पृष्ठोंसे रसलिप्तताकी सहज भावना, जातीय गौरव, आदर्श-स्थापन, जीवनको इतिहासकी कसौटीपर रखकर नये ढंगसे मूल्यांकन करनेका विचार और साथ ही वर्तमानसे पलायनकी प्रवृत्ति—ये अनेक विशेषताएँ एक ही व्यक्तित्वमें मिल जाती हैं।

शिल्पकी दृष्टिसे ऐतिहासिक कहानियोंमें वातावरणकी अवतारणा परम आवश्यक तत्त्व है। क्योंकि इसके बिना कहानीमें न इतिहासकी रसमयता एवं प्राणवत्ता आ सकती है, न कहानीका वह चरम उद्देश्य ही चरितार्थ हो सकता है जिसके आधारपर ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी जाती हैं। 'प्रसाद'की ऐतिहासिक कहानियाँ इसलिए श्रेष्ठ हैं कि उनमें परिपार्श्व और वातावरणका इतना मोहक आकर्षण और वेग है कि पाठक उनमें लिप्त हो जाता है।

ऐतिहासिक कहानियोंमें साधारणतया कथावस्तुकी स्पष्टता, बहुलता, चित्रण-वर्णनमें भावुकता एवं कवित्वपूर्ण उद्भावना, नाटकीय स्थितियोंकी अवतारणा और संघर्षका वेग आदि विशेषताएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

सामाजिक कहानी—आधुनिक कहानी-कलाका विकास आधुनिक सामाजिकताके प्रतिनिधित्वके लिए हुआ है। जिस सचाई, जितनी यथार्थ पैठके साथ हमारी सामाजिकताका प्रत्येक पक्ष, प्रत्येक स्तर एवं अंग इस कलामें बँधता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। आजकी सामाजिकतामें सम्भवतः यही कारण है कि कहानी इतनी लोकप्रिय और जीवनको परखने और साधनेमें सफल हुई है।

अतएव सामाजिक कहानी वह है, जिसका उपजीव्य सारा समाज है, हर व्यक्ति है और इन दोनोंकी सम्पूर्ण गति है, दिशा है, जिसके व्यक्तित्वमें समाजका सारा व्यक्तित्व बँधा है, जैसे कसौटीमें स्वर्ण-रेखा खिंची रहती है, जिसकी रचनामें सम्पूर्ण समाजका रहस्य, अन्तर्मन और सारा दर्शन छिपा रहता है; जिसका हर पात्र हमारा प्रतिनिधि होता है, जो वह बोलता है, सोचता है, जिस द्वन्द्व और करुणामें वह फँसा है, जिस कुण्ठा, जिस आर्थिक, नैतिक, संस्कारगत, परम्परागत दलदलमें वह जूझ रहा है, वह सब हम हैं, हमारा समाज है, हमारे समाजकी उपलब्धि एवं मान्यताएँ हैं।

हिन्दी कहानी अपने प्रारम्भसे ही सामाजिक रही है। बल्कि सामाजिक चेतनाके आग्रह एवं तनावने कहानीको विकास ही दिया है। ज्यों-ज्यों जीवन जटिल एवं द्वन्द्वमय होता गया है, त्यों-त्यों सामाजिक कहानियोंके स्तरमें विकास होता गया है, क्योंकि समाजके बदलते हुए मूल्यों एवं विचार तथा दर्शनका सीधा प्रभाव सामाजिक कहानियोंपर पड़ता है। सम्प्रेषणीयताका सारा दायित्व इन्हीं कहानियोंपर आता है, यही कारण है कि सामाजिक कहानियोंमें जितने शिल्पगत प्रयोग होते हैं उतने कहीं नहीं।

हिन्दी कहानियोंका विकास ऐसे युगसे आरम्भ हुआ, जब भारतीय सामाजिकताका वास्तविक संक्रान्ति-काल था, एक ओर स्वतन्त्रता-संग्राम, दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृतिके सम्पर्कसे भारतीय सामाजिकतामें विद्रोहकी भावना उभर रही थी। अनेक सुधारवादी आन्दोलनोंके कारण व्यक्ति, समाजको अपूर्व मुक्ति मिल रही थी। इन सब कारणोंके फलस्वरूप व्यक्ति, समाज, धर्म, जीवन, दर्शन, विवाह, छुआछूत, नारी-समस्या, परिवार, किसान और उसके जीवनसे सम्बन्धित समाजके सारे वर्ग, सारी शक्तियाँ, नारे सस्थान कहानीकी सामाजिकतामें स्थापित हुए। प्रेमचन्द इस युगके सर्वोत्कृष्ट, सम्भवतः महान् कहानीकार सिद्ध हुए, जिनकी कहानियोंकी सीमामें समूचा तत्कालीन समाज चित्रित हुआ है। 'सप्तसरोज'(१९१७ ई०)की कहानियोंसे लेकर 'मानसरोवर' प्रथम भाग (१९३६ ई०)की कहानियों तकका प्रायः समूचा भारतीय समाज, मुख्यतया उसका निम्न वर्ग, निम्न मध्यवर्ग, मध्यवर्ग, उच्च मध्यवर्ग अपनी विविध परिस्थितियोंके साथ अभिव्यक्त हुआ है। प्रारम्भिक अवस्थाके आदर्शवादी स्तरसे विकासकी अवस्थामें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी ढंगसे और अन्तिम अवस्थामें परम यथार्थवादी धरातलपर, उदाहरणके लिए क्रमशः 'बड़े घरकी बेटी', 'शतरंजके खिलाड़ी' अथवा 'बूढ़ी काकी' और अन्तमें 'कफन'।

सामाजिक स्तरपर प्रेमचन्द सदा यथार्थवादी थे। उनकी सामाजिक कहानियोंमें शोषण, अत्याचार, सामाजिक कुरीतियोंके प्रति सुधारका आग्रह, पराजय, पतनके प्रति आदर्शकी प्रतिष्ठा और दुःखी, पीड़ित, शोषित मानवताके प्रति अथाह समवेदना थी। यही कारण है कि प्रेमचन्दकी सामाजिक कहानियाँ भारतवर्षमें क्या, समूचे संसारमें प्रसिद्ध हुई हैं, क्योंकि उनकी कहानियोंके माध्यमसे भारतीय समाजका सच्चा परिचय मिलता है।

प्रेमचन्द और 'प्रसाद'-युगके उपरान्त हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनको प्रभावित करनेवाली कुछ क्रान्तिकारी शक्तियाँ आयीं। जैसे मार्क्सवाद और फ्रायडकी विश्लेषणपद्धति। मार्क्सवादके समाजशास्त्र, विशेषतया उसके आर्थिक दर्शनसे सामाजिक सम्बन्धों एवं उसके समूचे ढाँचेपर जो नया प्रकाश पड़ा, सामाजिक जीवनमें सापेक्षवादके व्यापक सन्दर्भमें जो जीवनका नया मूल्यांकन शुरू हुआ, यह सब सामाजिक कहानियोंमें प्रतिबिम्बित हुआ। दूसरी ओर फ्रायडकी मनोविश्लेषणकी पद्धतिने जीवनकी बाह्य घटनाओंको नगण्य सिद्ध कर व्यक्तिके चेतन-अचेतन जगत्के मन-उद्वेगों, स्वप्नचित्रों तथा बिल्कुल नये

ढगसे स्त्री-पुरुष सम्बन्धोंपर ध्यान आकर्षित किया और इस कालमें इस दिशाकी सामाजिक कहानियोंमें 'काम', 'प्रेम' तथा उनकी समस्त विकृतियोंका चित्रण खुलकर हुआ और इन दोनों युगीन शक्तियोंसे जहाँ एक ओर सामाजिक प्रश्नों और उनके निर्णयोंमें आमूल परिवर्तन ला खडा किया, उसी तरह उन प्रवृत्तियोंने कहानीकारोंके मापदण्ड और दृष्टिकोणमें भी अपूर्व क्रान्ति की। युगका जितना बौद्धिक दृष्टिकोण 'जीवन'के प्रति हुआ, उतनी ही बौद्धिकता कहानीकी परिभाषा, रचना-कौशल और शिल्प-विधानके प्रति प्रकट हुई तथा कहानी-कलामें स्वभावत आश्चर्यजनक वैविध्य उपस्थित हुआ। जैनेन्द्रकुमारने मूलत चरित्रकी कहानियों और विशुद्ध मानसिक ऊहापोहकी कहानियाँ लिखीं। नयी सामाजिकता और उसकी अभिव्यक्तिकी सफल कहानियाँ 'एक रात', 'मास्टरजी', 'ग्रामोफोनका रिकार्ड', 'मित्र विद्याधर' और 'राजीवकी भाभी' आदि हैं। 'अज्ञेय'ने मुख्यत व्यक्ति-चरित्रके 'टाइप'से आगे वढकर स्वभाव और कर्म-प्रेरणाओंके सूक्ष्म विश्लेषणकी कहानियाँ लिखीं। सामाजिक वैषम्य और सघर्षोंका चित्रण तथा अन्यायके प्रति विद्रोहका स्वर भी उनमें है। पर उन्होंने स्वय कहा है, 'मेरी दृष्टि मूलतया कविकी दृष्टि है। सामाजिक सघर्षोंके व्यक्तिगत पहलुओंको ही वे अपना विषय बनाते है।'

यशपाल मुख्यतया समाजालोचनके कहानीकार हुए। उनपर मार्क्सीयमतका प्रभाव अधिक है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क', इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा आदि भी नयी सामाजिकताके मूल्याकन और सफल अभिव्यक्तिके कहानीकार हैं।

इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवनमें विशुद्धत साधारण घरेलू जीवनके चित्र उपस्थित करनेवाले सामाजिक कहानीकारोंमें कुछ हिन्दी कहानी-लेखिकाओंके नाम उल्लेखनीय हैं, जैसे होमवती, सत्यवती मलिक, कमला चौधरी और महादेवी वर्मा।

कला-कौशलकी दृष्टिसे आजकलकी सामाजिक कहानियोंमें देश-काल-परिस्थितिके अन्तर्गत परिस्थिति-तत्त्वके चित्रणमें अपूर्व बल दिया जाता है। इसका कारण यह है कि यह कहानी-कला मुख्यतया व्यक्ति-चरित्रके धरातलसे निर्मित होकर अपने मूल रूपमें मनोवैज्ञानिकताकी ओर विकसित हो रही है, तभी इसमें व्यजनाके तत्त्व अपूर्व ढगसे स्थापित हुए हैं। 'अज्ञेय'की कुछ उत्कृष्ट कहानियाँ, जैसे 'साँप', 'परम्परा', 'कोठरीकी बात', 'हीलीवोन्‌की बत्तखें' और 'वे दूसरे', इस दिशामें अपूर्व हैं।

वर्गीकरणकी दृष्टिसे सामाजिक कहानियोंके मुख्यतया तीन वर्ग हैं, (अ) व्यक्तिगत जीवनसे सम्बन्धित, (आ) पारिवारिक जीवनसे सम्बन्धित, (इ) व्यापक सामाजिक जीवनसे सम्बन्धित। पहले वर्गमें चरित्र, मनोभाव तथा विश्लेषणके चित्र मिलते हैं। दूसरेमें पारिवारिक समस्याओंके परिवेशमें सामयिक एव परम्पराके सघर्ष-चित्र उभरते हैं। प्रेमचन्द और 'प्रसाद'की कुछ कहानियाँ क्रमश 'बडे घरकी बेटी', 'शान्ति', 'अलग्योझा' तथा 'परिवर्तन', 'भीखमें', 'सदेह' आदि उत्कृष्ट उदाहरण हैं। यहाँ व्यापक समाजके सदर्भमें समस्त सामाजिक शक्तियों, संस्थाओं तथा सस्थानों मे व्यक्तिकी सघर्षमयी कहानियाँ आती हैं। प्रेमचन्द, 'प्रसाद', 'अज्ञेय', जैनेन्द्र, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि इस क्षेत्रके प्रतिनिधि कहानीकार हैं।

मनोवैज्ञानिक कहानी—मनोवैज्ञानिक कहानियोंका उदय उस क्षण हुआ जब कि घटनाकी कहानीसे बढकर चरित्रकी कहानियाँ हिन्दीमें आयीं। चरित्र ऐसे जो सर्वथा सजीव और स्वाभाविक हों और उनकी प्रतिष्ठा कल्पनाके धरातलसे न होकर कहानीकारकी आत्मानुभूतिके धरातलसे हो, जिससे चरित्र और पाठकमें सहज ही साधारणीकरण हो जाय।

इस तरह मनोवैज्ञानिकता कहानीका परम धर्म है, क्योंकि कहानीकार जो वस्तुत जीवनद्रष्टा है, ऐसा सजीव चित्र कहानीमें उपस्थित करता है जिसके पीछे चेतन पात्रोंकी मानसिक स्थितिका दृश्य है और कुशल कहानीकार उस मानसिक स्थितिका चित्रण उसके कार्यव्यापारों और कर्म-प्रेरणाओंके अनुकूल मानवमनोविज्ञानकी शर्तोंपर ही करता है। जहाँ यह मनोविज्ञान कहानीका उद्देश्य बनकर आता है, विशेषतया उसे ही मनोवैज्ञानिक कहानीकी सज्ञा मिलनी चाहिये। अच्छी कहानीकी कसौटी यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। प्रेमचन्दने कहा है, 'सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्यपर हो।' उदाहरणके लिए उन्होंने बताया है, 'बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा रहता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवताको खोलकर दिखा देना समर्थ आख्यायिका-(कहानी)का काम है।' जैसे 'प्रसाद'की 'गुडा' नामक कहानी और प्रेमचन्दकी 'बडे घरकी बेटी'।

लेकिन प्रेमचन्द और 'प्रसाद'की कहानियोंमें जिस स्तरके मनोविज्ञानका सहारा लिया गया था वह अपेक्षाकृत चरित्रके साधारण मनोविज्ञानसे सम्बन्धित था। 'प्रसाद'के चरित्रोंमें घात-प्रतिघात तथा प्रेमचन्दके चरित्रोंका अन्तर्द्वन्द्व बाह्य जीवनसे अधिक सम्बद्ध था, आन्तरिक प्रेरणाओंसे कम।

प्रेमचन्द-युगके उपरान्त मनोवैज्ञानिक कहानियोंके स्तरमें बहुत विकास हुआ। व्यक्तिके स्वभाव और कर्म-प्रेरणाओंकी भूमिपर कहानियोंके सर्जनका आरम्भ हुआ। जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी इस दिशामें प्रमुख उदाहरण हैं। इस कालमें आकर वस्तुत मनोविज्ञानशास्त्रमें अद्भुत उन्नति हुई, जिसमेंसे मनोविश्लेषणपद्धतिका प्रयोग हिन्दी कहानी-कलामें हुआ। इस तरह मनोविज्ञानका प्रयोग मानवजीवनके सभी अगों तथा स्तरोंको समझनेके लिए किया गया। इस दिशामें नये स्तरकी मनोवैज्ञानिक कहानियाँ मुख्यत स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोंपर लिखी गयीं, जैसे, जैनेन्द्रकी 'एक रात', अज्ञेयकी 'साँप'।

इस स्तरकी कहानियोंसे हमारे साहित्यका मस्तक बहुत ही ऊँचा उठा है। इन कहानियोंमें मानवजीवन तथा उसकी कर्म-प्रेरणाओंके प्रति अद्भुत दृष्टि है। हिन्दी कहानियोंमें नये विज्ञानके प्रयोगोंको जैनेन्द्रने अपनी 'एक रात' कहानी-सग्रहकी भूमिकामें 'विकास'की सज्ञा दी है, 'शरीरमे प्राणोंकी ओर बढना बनावटसे स्वाभाविकताकी

ओर बढ़ना होगा, मनावस्थासे सचेतनकी ओर और आभ्यन्तरसे प्रत्यक्षकी ओर बढ़ना होगा। स्थूल वास्तवके नीचे बरसातकर इस प्रगतिशील जगत्में टिकना नहीं हो सकेगा, दूसरेकी ओर अग्रसर होना ही होगा।' इस सूक्ष्म तत्त्वकी पकड़ वस्तुतः मनोवैज्ञानिक कहानियोंका धर्म बना।

ऐसी कहानियोंमें साधारण चरित्रके स्थानपर विशिष्ट चरित्र, अन्तर्मुखी चरित्र और कुंठित चरित्रोंको ही प्रधानता मिली। इनमें विशुद्ध व्यक्ति विश्लेषण, आत्मविश्लेषण और मानसिक ऊहापोहकी प्रवृत्ति आयी। जैनेन्द्रकुमारकी 'मित्र विद्याधर', 'अज्ञेय'की 'छाया', 'साँप', 'नम्बर दस', इलाचन्द्र जोशीकी 'दुष्कर्मी', यशपालकी 'एक रात', उपेन्द्रनाथ 'अश्क'की 'डेंगी' कहानियाँ इस क्षेत्रकी प्रतिनिधि और उत्कृष्ट कृतियाँ हैं।

मनोविश्लेषणात्मक कहानी—मनोवैज्ञानिक कहानियोंके विकासक्रममें मनोविश्लेषणात्मक कहानियाँ आती हैं। मनोविज्ञानकी उन्नति और उसकी देन मनोविश्लेषण, इन कहानियोंकी मूल प्रेरणा बना। जिस तरह बाह्य जगत्में हम इतने जटिल व्यापार और दुर्बोध समस्याएँ देखते हैं, उसी तरह इस विज्ञानने यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्यका एक अन्तर्जगत् भी है, और यह अन्तर्जगत् बाह्य जगत्से कहीं अधिक गतिशील और जटिल है। यह सारा बाह्य जीवन इसी अन्तर्जगत्से प्रेरित एवं निर्देशित है। मनोविश्लेषणने इसके अध्ययनके लिए यह एक नयी पद्धति भी दी है कि मनुष्यके बाह्य संकेतों, कर्म-प्रेरणाओं और भावग्रन्थियों द्वारा हम उसके जटिल गूढ़ अन्तर्जगत्को समझ सकें।

मनोविज्ञानसे प्राप्त मनोविश्लेषण की इस पद्धतिने कहानियोंके स्तर एवं मान्यताओंमें एक क्रान्ति उपस्थित की। इन कहानियोंमें अपूर्व ढंगसे, नये दृष्टिकोणसे सामाजिक मूल्यों और प्रश्नोंको देखा गया। विद्रोह, पाप और अपराधके विश्लेषण हुए तथा पापी, विद्रोही और अपराधीके प्रति करुणा, सहानुभूति और दयाकी भावना लायी गयी, स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोंपर मौलिक ढंगसे विचार हुए।

हिन्दीमें मनोविश्लेषणात्मक कहानियोंका सफल आरम्भ जैनेन्द्रकुमारसे हुआ। इन्होंने चरित्रोंकी अवतारणा और विकास विशुद्ध मनोविश्लेषणपद्धतिपर किया। कहानियोंमें घटनाओं और कार्योंकी अपेक्षा मानसिक ऊहापोह और विश्लेषणको प्रमुखता मिली। इस पद्धतिका विकास 'अज्ञेय'में अधिक मिला। जैनेन्द्रके चरित्रोंमें जहाँ सामाजिकता अधिक है, वहाँ 'अज्ञेय'के चरित्रोंमें उत्कट ढंगकी वैयक्तिकता है। 'अज्ञेय'की कहानियोंमें चरित्रोंकी कर्मप्रेरणाएँ और उनकी मानसिक स्थितियोंके सूक्ष्म विश्लेषण हैं। इस प्रसंगमें इलाचन्द्र जोशीका भी नाम आता है। लेकिन 'अज्ञेय' जहाँ अपने मनोविश्लेषणमें वैयक्तिकतासे अधिक प्रेरित होनेके कारण मानवीय महत्त्वों और उसकी संवेदनाओंके चित्रणमें अधिक आकर्षक और प्रभावशाली सिद्ध होते हैं, वहाँ जोशीजी 'अहं'का ही मनोविश्लेषण उपस्थित कर एक चिन्तकके रूपमें अधिक उभर आते हैं और कहानियाँ अपेक्षाकृत बौद्धिक हो जाती हैं।

कला एवं विधानकी दृष्टिसे मनोविश्लेषणात्मक कहानियोंमें चरित्रविश्लेषणकी निम्नलिखित शैलियाँ मिलती हैं—(१) आत्मविश्लेषण—उदाहरणके लिए जैनेन्द्रकी कहानी 'क्या हो', इलाचन्द्र जोशीकी 'मैं' और 'अज्ञेय'की 'अमरवल्लरी', 'विपथगा' और 'मिस्टर चौधरीकी वानरी।' इनके माध्यमसे आत्मानुभूतियों, स्मृतियों तथा अन्तर्मनके मानसिक चित्रोंके विश्लेषण प्रस्तुत होते हैं। शैलीकी दृष्टिसे इनमें स्वगत भाषणके तत्त्व उभर आते हैं, विशेषकर उन स्थलोंपर जहाँ चरित्रके मानसिक द्वन्द्व और ऊहापोहकी अभिव्यक्ति अधिक होती है। (२) मानसिक ऊहापोह—जैसे जैनेन्द्रकी कहानी 'ग्रामोफोनका रिकार्ड', 'अज्ञेय'की 'पठारका धीरज', 'सिगनेलर' और 'नम्बर १०'। (३) अवचेतन स्थिति—जैनेन्द्रकी 'एक रात', 'अज्ञेय'की 'पुरुषका भाग्य' और 'हीलीबोन्की बत्तखें' कहानियाँ। (४) संकेतों और कार्यों द्वारा पुष्ट—जैनेन्द्रकी 'मास्टरजी', 'राजीव और भाभी', 'अज्ञेय'की 'पुरुषका भाग्य', 'पुलिसकी सीटी', 'साँप' और 'कोठरीकी बात' कहानियाँ।

इसके अतिरिक्त प्रतीकोंके सहारे मानसिक संघर्षों तथा उनके विश्लेषणोंके चित्र कहानियोंमें उठते हैं। 'अज्ञेय' इस कलामें अद्वितीय हैं, 'पठारका धीरज', 'सिगनेलर', 'नम्बर १०' 'साँप', 'कोठरीकी बात' और 'पुलिसकी सीटी' और 'हीलीबोन्की बत्तखें' इस दिशाकी सुन्दरतम कहानियाँ हैं।

वस्तुतः ऐसी कहानियोंमें शिल्पविधिकी इतनी विभिन्नता तथा प्रयोग देखनेमें आते हैं कि उनसे कहानीकी आश्चर्यजनक उन्नति और गतिशीलताका पता लगता है। इनमें कलाविधानकी सूक्ष्मता और हस्तलाघव कलापक्षकी मूल विशेषताएँ हैं। लेकिन भावपक्षकी दिशामें विधानकी जटिलताके प्रयोग बहुत श्रेयस्कर नहीं हैं, इससे कहानीकी सामाजिकता और प्रेषणीयतामें बड़ा विघटन उपस्थित हुआ है।

साहसिक कहानियाँ—इन्हें अंग्रेजीमें 'एडवेंचरस स्टोरी' कहते हैं। बनारसके उपन्यास बहार आफिस और 'जासूस' पत्रिकामें ऐसी कहानियाँ सर्वप्रथम हिन्दीमें आयीं। दुर्गाप्रसाद खत्रीका नाम इस प्रसंगमें उल्लेखनीय है। ऐसी कहानियोंमें कुछ स्वाभाविक और अधिक अस्वाभाविक तथा रोमांचकारी कार्योंकी सम्पन्नताके बीचसे कला निखरती है। इसके अतिरिक्त साहसिक कहानियोंमें रहस्यों और अनेक षड्यन्त्रोंकी भी अवतारणा की जाती है और उनके बीचसे कहानियोंमें अत्यधिक उत्तेजनशीलता आ जाती है। मथुराप्रसाद खत्री लिखित कहानी 'सिलवटी' इस दिशामें एक सुन्दर उदाहरण है। **जंगलकी कहानियाँ, शिकार सम्बन्धी कहानियाँ**, जिनके प्रसिद्ध लेखक श्रीराम शर्मा हैं, इस क्षेत्रमें आती हैं। दर्शन और लोकप्रियताकी दृष्टिसे कहानियोंका यह प्रकार भी हिन्दीमें अपेक्षाकृत कम ही है। हमारे जीवनमें साहसिकताकी कमी इसका बहुत बड़ा कारण है।

साहसिक कहानियोंको कलाकी दृष्टिसे कथा कहना कोई असंगत नहीं है, इनमें भी अद्भुत यात्राओं एवं साहसोत्तेजक दृश्योंकी व्याख्या होती है। अनेक जीवनगत कठिनाइयों,

अवरोधोंपर आशापूर्ण विजय पानेकी प्रेरणा मिलती है।

रोमांसिक कहानी–रोमास उस कथाको कहते हैं जिसमें आदर्श, उदात्त और अघटित प्रेम अथवा रोमासकी स्थापना हो। यूरोपीय कथा-साहित्यमें चौदहवीं शतीतक रोमासका प्रचलन अत्यधिक था। इसी शतीमें रोमाससे अलग वास्तविक जीवनकी कथाओंको 'नोवाल' कहते थे जिसे आगे चलकर नावेला, नावेले और एलिजाबेथकालमें नावेलकी सज्ञा मिली (उपन्यास और रोमासके अन्तरको देखनेके लिए दे० क्लेरारीवकी पुस्तक 'दी प्रोग्रेस ऑफ रोमास', १७७५ और क्रास-'रचित डेवलपमेण्ट ऑफ इगलिश नावेल', १८९९)। इस भाँति कहानीके प्रसंगमें रोमासका स्थान कहानीसे बहुत दूर जा पड़ता है। प्रेमाख्यान अथवा काल्पनिक साहसिकता एवं अतिस्वच्छन्द प्रेमातुरता इसकी परिधिमें है। प्रारम्भिक उपन्यासोंमें कथाके ऐसे रूप देखनेको मिल सकते हैं। प्रेमी-प्रेमिकाकी काल्पनिक आदर्शपूर्ण, साहसिक चमत्कारपूर्ण उदात्त कथाएँ, एक-दूसरेकी प्राप्तिमें अनेक यात्राएँ, साहसिकता एव जीवनकी बाजीतक लगाना इसकी विशेषताएँ हैं। चमत्कारपूर्ण ढंगसे कथाका विकास होना इसकी कलागत विशेषता है। दुर्गाप्रसाद खत्रीकी एक कहानी 'रूपज्वाला' रोमासिकका एक उदाहरण है। रोमासका प्रेमी एक विवाह-विज्ञापन पढकर भावी पत्नीके लिए प्रार्थनापत्र भेजता है और उत्तरमें उसे एक सुन्दरीका फोटो मिलता है। इस फोटो-मात्रसे प्रेमी प्रेमिकाके लिए अनेक त्याग करता है, पर अन्तमें प्रेमी एक ठग द्वारा छला जाता है, क्योंकि प्रेमिका काल्पनिक थी, सत्य नहीं। इस तरह क्रासके शब्दोंमें जीवनके सहज, दुर्लभ, असम्भव, अद्भुत रोमासोंकी पीठिकापर, मानवकार्यों एव कृत्योंमें निहित उदात्त-अनुदात्त भावोंमें सर्वथा आदर्शकी स्थापना करनेवाले गद्य कथा-साहित्यको रोमास कहते हैं।

जासूसी कहानी–कहानीके समस्त प्रकारोंमें एक प्रकार है, कार्यप्रधान कहानीका। वस्तुत ससारकी समस्त भाषाओंमें कहानीकलाके प्रथम उत्थानमें कार्यप्रधान कहानी ही आती है, इसीके अन्तर्गत जासूसी, साहसिक एव रोमासकी कहानियाँ आती हैं।

कहानियोंके उक्त समस्त प्रकारोंमें सबसे अधिक बल 'कार्य'पर दिया जाता है। पर जासूसी कहानीमें कार्यके साथ-साथ बुद्धिकौशल, हस्तलाघव और कभी-कभी तिलिस्म और ऐयारी तत्त्वोंको भी समेटना पड़ता है। गोपालराम गहमरीकी प्रसिद्ध जासूसी कहानियाँ इस दिशामें सुन्दरतम उदाहरण हैं। गहमरीने 'जासूस' पत्रिकामें अनेक जासूसी कहानियाँ लिखीं और अपने समयके लेखकोंसे लिखवायीं। पर हिन्दीमें जासूसी कहानियाँ जासूसी उपन्यासकी अपेक्षा उतनी लोकप्रिय न हो सकीं। यों भी जासूसी कहानियोंकी लोकप्रियता आज भी पाठकोंके एक निचले वर्गके लोगोंतक ही सीमित है। इसकी प्रतिष्ठा हिन्दीमें हो नहीं सकी है। इसका कारण सम्भवत यह है कि हिन्दीमें उच्च कोटिकी जासूसी कहानियोंका नितान्त अभाव है।

इसकी तुलनामें मराठी, बँगला आदि भाषाओंमें जासूसी कहानियोंका स्तर और लोकप्रियताका धरातल उच्च है। अँग्रेजी भाषामें मुख्यत जासूसी कहानियोंका स्तर हर दृष्टिसे उच्च है और इसका एक गौरवपूर्ण इतिहास और मूल्यवान् परम्परा है। सम्भवत इसके पीछे अपने-अपने देश, समाजकी सस्कृतिका हाथ अधिक है।—ल० ना० ला०

कहानीके शैलीभेद–कथावस्तु, पात्र और चरित्र-चित्रण, कथोपकथन तथा देश-काल, वातावरण आदि कहानी-कलाके विभिन्न तत्त्व हैं, लेकिन शैली-तत्त्व कहानी-कलाकी वह रीति है, जो इसके अन्य तत्त्वोंका अपने विधानमें उपयोग करती है। फलत इसमें एक तरहसे विधानकी स्पष्ट व्यजना है। कहानी-कलामें रूप-विधानके चातुर्य और हस्तलाघवका सबसे बड़ा प्रभाव इसी शैलीके सन्दर्भमें देना पड़ता है। एक तरहसे इस कलामें इसके भावपक्षकी सफलता इसकी कलापक्षके अधीन है और कलापक्षके अन्तर्गत शैली-तत्त्व सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

शैलीके अन्तर्गत इसके दो पक्ष आते हैं, प्रथम भाषा-पक्ष, द्वितीय रूपविधान-पक्ष। भाषाशैली गद्यकी वह कलात्मकता है जिसके विविध प्रयोग और रूपोंसे कहानीकार अपने भावचित्रको मूर्त करता है।

शैलीके रूपविधान-पक्षके अन्तर्गत कहानी-निर्माणकी विभिन्न प्रणालियाँ आती हैं, जैसे—ऐतिहासिक शैली, पत्रात्मक शैली, नाटकीय शैली, आत्मचरित शैली, डायरी शैली और मिश्रित शैली।

ऐतिहासिक शैली–इसके अन्तर्गत कहानीकार एक कथावाचककी भाँति पूर्णत तटस्थ होकर कहानीकी सृष्टि करता है। यह सृष्टि पूर्ण रूपसे वर्णनात्मक होती है, **वर्णनात्मकशैली** इसीके अन्तर्गत है। अत समूची कहानीका सूत्रधार कहानीकार ही होता है और इसका नायक 'वह', अन्यपुरुष, ही होता है। कुशल कहानीकार पात्रोंके चरित्र-चित्रण तथा अन्य समस्त तत्त्वोंको अपनी वर्णनात्मकतामें समेटकर कहानीको समपर पहुँचाकर शान्त होता है। स्थान-स्थानपर बौद्धिक विवेचन, भावात्मक वर्णन और विश्लेषण आदिको भी स्थान मिलता है। फलत यह शैली कहानीकी समस्त शैलियोंमें सबसे अधिक सरल, सुगठित और बोधगम्य शैली है, 'बेदो गाँवमें महादेव सुनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबानमें प्रात से सन्ध्यातक अँगीठीके सामने बैठा हुआ खट-खट किया करता था' (प्रेमचन्द—'आत्माराम') और इस तरह कहानीकार समूची कहानीको सुना जाता है। इसके विकासमें वह कभी स्थिति-विवेचन और चरित्र-चित्रण करता है और कभी प्राकृतिक वर्णन और मानसिक अन्तर्द्वन्द्वके चित्र उपस्थित करता है।

आत्मकथात्मक शैली–इसके अन्तर्गत कहानीकार अथवा कहानीका कोई पात्र 'मैं'के धरातलसे आत्मचित्रण अथवा आत्मकथा द्वारा पूरी कहानी कहता है। इस तरह पूरी कहानी 'मैं'में केन्द्रित और उसीसे प्रेरित होकर उसीकी सीमामें वर्णित होती है। यही कारण है कि इस शैलीको **उत्तम पुरुषात्मक** शैली भी कहते हैं। रूपविधानकी दृष्टिसे इसके अन्तर्गत तीन शैलियाँ आती हैं—१ कहानीका मुख्य पात्र आरम्भसे अन्ततक सम्पूर्ण कहानी स्वय कहता है, जैसे, इलाचन्द जोशीकी 'दीवाली और होली' शीर्षक कहानी। २ कहानीके विभिन्न पात्र क्रमश आत्मकथा सुना जाते

है, जैसे, सुदर्शनकी 'कविकी स्त्री'। ३ कहानीकार स्वयं आत्मभाषणके रूपमें समूची कहानी पूरी करता है, जैसे, 'अज्ञेय'की 'मनो'। वस्तुत: जिस कहानीमें एक ही पात्र प्रमुख होता है, शेष गौण होते हैं, उनके लिए यह शैली अत्यन्त शक्तिशाली सिद्ध होती है।

पत्रात्मक शैली–कहानीकार पत्रोंके माध्यमसे कहानीकी रचना करता है। प्रभावकी दृष्टिसे यह शैली अन्य शैलियोंकी अपेक्षा असफल शैली है। इसमें प्रयोगशीलता और कलात्मक आडम्बर ही अधिक है, फलत: कहानीकी मूल आत्मा अप्रस्फुटित ही रह जाती है। यही कारण है कि इस शैलीका प्रचलन और विकास बहुत ही कम हुआ है।

इस शैलीके अन्तर्गत कहानी-रचनाकी निम्नलिखित तीन प्रणालियाँ हैं–(१) एक ही पत्रके माध्यमसे समूची कहानीका निर्माण, जैसे विनोदशंकर व्यासकी कहानी 'अपराधी' तथा इलाचन्द्र जोशीकी कहानी 'चौथे विवाहकी पत्नी'। (२) कई पत्रोंके माध्यमसे, जैसे चन्द्रगुप्त विद्यालंकारका 'एक सप्ताह,' 'अश्क'का 'नरकका चुनाव'। (३) आरम्भ और विकास-भागकी रचना विभिन्न पत्रों द्वारा, किन्तु इस कहानीका अन्त स्वतन्त्र विवेचन द्वारा, जैसे, 'अज्ञेय'की 'सिगनेलर' कहानी।

प्रभावकी दृष्टिसे पत्रात्मक शैलीकी उक्त तीसरी प्रणाली प्रथम और द्वितीयकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। इसमें कहानीका एकान्तिक प्रभाव और कहानीकारकी आत्मानुभूति दोनोंकी अभिव्यक्ति हो जाती है।

डायरी शैली–पत्र शैलीके बहुत समीप है। डायरीके विभिन्न पृष्ठों द्वारा सम्पूर्ण कहानी कही जाती है। इस शैलीमें भूतकालका चित्र बड़ी ही सजीवतासे उभारा जा सकता है। भावुकताका स्तर इसमें सहज-सम्भाव्य है। किन्हीं अर्थोंमें डायरी शैली और **आत्मकथात्मक शैली**में बहुत ही सामीप्य है। इसमें आत्म-विश्लेषण और विवेचनकी सारी स्थितियाँ प्राप्त होती हैं। इलाचन्द्र जोशीकी प्रसिद्ध कहानी 'मेरी डायरीके दो नीरस पृष्ठ' और भगवतीप्रसाद वाजपेयीकी 'अन्ना' इस शैलीकी दो सुन्दर कृतियाँ हैं। —ल० ना० ला०

कांति–दे०—'अयत्नज अलंकार', दूसरा प्रकार, 'गुण', नवाँ प्रकार।

काकु वक्रोक्ति–दे०—'वक्रोक्ति'।

काकाक्षिप्त व्यंग्य–गुणीभूत व्यंग्यका एक भेद, जिसमें व्यंग्यार्थ काकु अथवा कण्ठध्वनि द्वारा आक्षिप्त अर्थात् खींचकर लाया जाता है। यह गुणीभूत व्यंग्य इसलिए है कि इसे शीघ्रतापूर्वक मनोगत किया जा सकता है। 'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ विकासा।' (मानस), इस उदाहरणमें काकाक्षिप्त व्यंग्य भिन्न है। प्रस्तुत उदाहरणमें काकाक्षिप्त व्यंग्य तो यही बताकर रह जाता है कि नलिनी खद्योतके प्रकाशसे नहीं विकसित होती है, किन्तु काकुवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना द्वारा यह गूढ़ार्थज्ञान होता है—'मैं (सीता) नलिनी हूँ, रामरूपी सूर्यको और देखनेपर ही विकसित होती हूँ'। —उ० श० शु०

काग–अज्ञानी चित्तका प्रतीक। सिद्धोंने इससे अवधूतीको भयभीत होते हुए चित्रित किया है—'दिवसइ वहुड़ी काग डरे भाअ' ('चर्यापद' २)। कबीरने लिखा है—'कागिल गर फाँदिया, बटेरे बाज जीता' (कबीर ग्रन्थावली) —ध० वी० भा०

काजला (या कजरा)–जन्मोत्सवके अवसरपर छठीके दिन गाया जानेवाला जच्चाका अन्तिम गीत। इसमें जच्चाको उसकी ननद द्वारा या बच्चेको उसकी बुआ द्वारा काजल लगानेका उल्लेख रहता है। इसी नामका एक गीत विवाहोत्सवमें रतजगेके अवसरपर भी गाया जाता है—इसमें काजर पारने और उसे वरको लगानेका उल्लेख रहता है। —र० भ्र०

कादिरी–दे०—'सूफ़ी सम्प्रदाय'।

कापालिक–(कपाल-खोपड़ी, खोपड़ी धारण करनेवाला) तान्त्रिकोंके वाममार्गके अघोर साधकोंको ही कापालिक कहा जाता है। इनका मूल आदिमयुगीन नरबलि-प्रथाओंमें है और इनको एक तरहसे प्राचीनतम आचार-विधियोंका उत्तराधिकारी ही मानना चाहिये। इनका उल्लेख सबसे पहले 'महाभारत'में मिलता है, परन्तु उसमें शैव रूपमें उनका स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये। सातवीं शतीके उत्तरार्द्धमें पुलकेशिन् द्वितीयके भतीजे नागवर्द्धनके कपालेश्वर-मन्दिरके दानपत्रमें महाव्रती रूपमें कापालिकोंका उल्लेख है। आठवीं शतीके भवभूति-विरचित 'मालतीमाधव'में कापालिक सम्प्रदायका विशद चित्रण है। 'विद्यारण्य' और 'आनन्दगिरि'में यह वर्णन दिया गया है—वे जटाएँ रखते हैं, जटाओंमें नवचन्द्रकी प्रतिमा रहती है, हाथमें नरकपालका कमण्डलु रहता है और मद्य-मांसका वे उसीमें सेवन करते हैं। ११वीं शतीमें चन्देल राज्याश्रित कृष्ण मिश्रकृत 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक'में नरबलि, श्रीचक्र, योगसाधन आदिके विशद चित्रणके साथ कापालिकोंका वर्णन किया गया है।

पुराणोंमें कापालिक शब्दका एक और रोचक इतिहास है। शिवने ब्रह्माकी हत्या करनेके अनन्तर कपाली-व्रत लिया, ब्रह्माका ही कपाल उनके हाथमें लगा रहा। इस उन्मत्त व्रतको धारण करनेसे ही वे ब्रह्महत्यासे छूटे। कापालिक भी समाजके दुरितका भार अपने ऊपर वहन करनेके लिए यह अघोर व्रत लेते हैं। ऐसी उनकी मान्यता है। 'ब्रह्माण्ड' पुराणमें एक दूसरी कथा है जिसकी पुष्टि 'नीलमत' पुराणमें भी हुई है कि शिव जब विष्णुके मोहिनी रूपमें मुग्ध होकर उन्मत्त हुए थे तो उच्छृङ्खल हो गये थे। कृष्णपक्षकी चतुर्थीको कश्मीरी शैव नृत्य, गीत और गणिका-विहारके द्वारा शिवके इस मोहका उत्सव मनाते थे। वस्तुत: कापालिक सम्प्रदायमें पाषण्डका बोध उसकी समाजवाह्यताके कारण होता है, वैसे इनका यह लोकवाह्यरूप भी अन्तरसे लोकमंगलकी भावनासे ही तत्त्वत: धारित है। लोकमानसमें इसीने इनके प्रति उद्वेग नहीं रहा है। वे अपने अभय-साधनके कारण लोकजीवनमें बहुत प्रभाव रखते रहे हैं। —वि० नि० मि०

काफ़िया–उर्दू कवितामें 'रदीफ़'(तुकान्त)के पहले आम तौरपर शेरोंमें एक ही आवाजके शब्द लाये जाते हैं। ऐसे सारे शब्द जिनकी आवाज एक ही हो और वे रदीफ़के पहले लाये जायँ, 'काफ़िया' कहलाते हैं, जैसे बहार, हजार, करार, मजार आदि। —म०

कामचांडाली–दे०–'महामुद्रा'।

कामनापूर्ति (wish fulfilment)–कामनाका साधारण मनोवैज्ञानिक अर्थ है किसी अभिलषित पदार्थ या स्थितिको, उसकी उपलब्धिके प्रति एक उत्कण्ठाकी अनुभूतिके साथ, आदर्शरूपमें प्रस्तुत करना। फ्रायड और उसके अनुयायी कामना शब्दका प्रयोग बड़े व्यापक अर्थमें करते हैं और उसे कोई प्रेरणा, प्रवृत्ति, प्रेरक शक्ति आदि मानते हैं। फ्रायडीय मनोविश्लेषणमें कामनापूर्ति शब्द विशेष महत्त्व रखता है और उसका अर्थ है–(फ्रायडीय) कामनाके लक्ष्यकी प्राप्ति, चाहे वह कामना अंगीकृत हो या न हो और चेतनास्तरपर व्यक्ति उसकी पूर्तिकी इच्छा करे या न करे। कामनापूर्त्यात्मक विचारका अर्थ है–यह सोचना कि स्थिति वैसी ही है या हो जायगी जैसी हम चाहते हैं और इसके विपरीत धारणाओं या तथ्योंको अस्वीकार करना। फ्रायडीय मनोविश्लेषणकी यह मान्यता है कि व्यक्ति अपनी दमित कामनाओंकी पूर्ति येन केन प्रकारेण किया ही करता है। फ्रायडके अनुसार हमारे सारे स्वप्न प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न रूपसे कामनापूर्ति किया करते हैं। यह कहनेका तात्पर्य है कि प्रत्येक स्वप्नमें कोई-न-कोई कामना अवश्य वर्तमान रहती है और यही कामना स्वप्नकी गुप्त अन्तर्वस्तु होती है। काव्य, कथा-साहित्य, नाटक और चित्रकलाके माध्यमसे भी लेखक या कलाकार अपनी कामनापूर्ति कर लिया करता है। यह भी देखा गया है कि बहुत-सी व्युत्पन्न मानसिक व्याधियाँ भी कामनापूर्तिके कारण ही हो जाती हैं। दे०–'स्वप्न-प्रतीक'। —आ० रा० शा०

कामरूपा भक्ति–यह पुष्टिमार्गीय भक्ति है, जिसमें भगवान् कृष्णके प्रति ही आसक्तिभाव रहता है। भक्तके लिए यही भाव साध्य है, रागानुराग भक्तिका यह एक प्रकार है। गोपी-प्रेम इसी कोटिका है। —वि० मो० श०

कामवृत्ति–दे०–'मनोविश्लेषण'।

कामिक–कामिक शब्दका अर्थ है **कामेडी** (दे०)-सम्बन्धी, जो वास्तवमें विशेषण है, किन्तु आधुनिक कालमें इस शब्दका प्रयोग सज्ञाके रूपमें हास्योद्दीपक नाटकके अर्थमें होता है। दे०–'प्रहसन'। —श्या० मो० श्री०

कॉमेडी–कॉमेडी सुखान्त नाटकको कहते हैं। यह शब्द यूनानी शब्द कॉमससे आया है। कॉमसका अर्थ है हर्षोल्लास मनाना। अधिकाश विद्वानोंके अनुसार **ट्रेजेडी**-(दे०)की ही भाँति कॉमेडीका भी उद्भव धार्मिक है। सम्भवत॰ कॉमेडीका नाम प्राचीन यूनानके ग्रामोंमें डायनिसस देवताके सम्मानमें होनेवाले आनन्दोत्सवोंमें गाये जानेवाले गीतोंपर पड़ा है, क्योंकि उन गायकोंको कॉमस कहते थे। इन गायकोंका दल प्रेक्षकोंके मजाकोंका गीतोंमें उत्तर दिया करता था। इन उत्तरोंमें प्राय प्रेक्षक-समूहमें उपस्थित विशिष्ट व्यक्तियोंपर आक्षेप भी हुआ करते थे। अन्तमें यह गीत ईश्वरकी प्रार्थनासे समाप्त किया जाता था। इसके बाद एक दावत होती थी जिसमें पुरुष एव स्त्रियाँ सम्मिलित होती थीं और सगीतका कार्यक्रम रहता था। इन आनन्दोत्सवोंके पीछे जन-मनमें विश्वके रचयिता द्वारा मनुष्योंको जीवन प्रदान करनेके उपलक्ष्यमें धन्यवाद देने अथवा आभार प्रदर्शन करनेकी भावना हुआ करती थी। अरस्तूके मतानुसार कॉमेडीमें किसी ऐसे दोष वा असौन्दर्यका चित्रण होता है, जो दु खद अथवा विनाशकारी नहीं होता। आधुनिक धारणाके अनुसार कॉमेडीका मुख्य उद्देश्य मनोरजन करना है। इलियट डानेट्सका मत है कि कॉमेडी वह कथा है जिसमें व्यक्तिके समष्टिगत और व्यक्तिगत जीवन-व्यवहारोंमें व्यक्त प्रथाओं और स्वभावोंका मनोरंजक चित्रण होता है और इस चित्रणसे एक ओर तो पाठक यह सीखता है कि जीवनमें उसे क्या करना चाहिये और दूसरी ओर यह कि उसे क्या त्यागना चाहिये। कॉमेडीके चरित्रोंकी सृष्टि जीवनके निरीक्षण एव अनुभवके फलस्वरूप होती है। उसका हास्य व्यक्तिगत स्तरपर न होकर सम्पूर्ण सामाजिक स्तरपर होता है और परिहासके उन्मुक्त क्षणोंमें भी हमें सोचनेपर विवश कर देता है—हमें हमारी त्रुटियोंका विश्वास दिलाता चलता है। कॉमेडीके पात्र विभिन्न यथार्थ स्थितियोंका अतिरजनापूर्ण चित्रण करते हैं। सिसरोके अनुसार कॉमेडी जीवनकी प्रतिलिपि, प्रथाओंका दर्पण और तथ्यकी छाया है। नाटकके अन्य रूपोंमें संवेगोंका कथानककी प्रगतिकी दृष्टिसे बहुत महत्त्व होता है, किन्तु कॉमेडीमें कथानकका विशेष महत्त्व नहीं होता, वह तो केवल एक ऐसी डोर होती है कि जिसपर विविध घटनाएँ वस्त्रोंकी भाँति लटका दी जायँ और वे मानवीय दुर्बलताओंके चित्र प्रस्तुत करें। एक उत्कृष्ट कॉमेडी अपने परिहासके साथ-साथ मानव स्वभावके मूलतक पहुँच जाती है तथा प्रेक्षकको उसकी महान् सम्भावनाओं तथा विभिन्न सीमाओंके प्रति जागरूक बनाती है।

कॉमेडी और ट्रेजेडी तथा कामेडी और **फार्स** (भँडैती) या **बर्लेस्क** (नकल) इत्यादिके बीचका अन्तर ध्यान देने योग्य है। कॉमेडी और ट्रेजेडीमें मुख्य अन्तर यह है कि ट्रेजेडीका अन्त दु खमय होता है जब कि कॉमेडीका अन्त सुखमय होता है। इसके अतिरिक्त ट्रेजेडीकी तुलनामें कॉमेडीमें अपनी विशेषताएँ हैं, यथा विचित्र एव हास्यास्पद स्थितियाँ, हलके-फुलके तथा मजाकिया सवाद एव चारित्रिक विशेषताओंका दिग्दर्शन। कॉमेडी फार्ससे इस बातमें भिन्न है कि उसमें फार्सकी भाँति भोंडे एव अपरिष्कृत मजाक नहीं होते और उसके सवाद एव कथानकमें एक गाम्भीर्य एवं परिष्कार होता है। यह सत्य होते हुए भी, इनके बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, क्योंकि आजकल कॉमेडी तथा फार्सके लक्षणोंके समन्वयकी प्रवृत्ति अधिक है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण है **म्यूजिकल कॉमेडी** जो ग्रेट ब्रिटेन तथा अमेरिकामें १९वीं शताब्दीके उत्तरार्द्धसे ही अत्यन्त लोकप्रिय रही है।

कॉमेडीको प्राय पाँच मुख्य प्रकारोंमें विभाजित किया जाता है १ **शास्त्रीय कॉमेडी**, जिसमें रूढिगत आदर्शों एव प्रथाओंका पालन तथा नैतिक मूल्योंकी स्वीकृति होती है, २ **रूमानी कॉमेडी**, जिसमें रूढियोंकी उपेक्षा तथा स्वच्छन्द कल्पनाका उपयोग किया जाता है, ३ **भावप्रधान कॉमेडी**, जिसमें किसी एक अन्तर्वृत्तिके असन्तुलनका हास्यास्पद एव व्यग्यात्मक चित्र होता है। इसके पात्र टाइप (प्रकार) बनकर उभरते हैं, ४ **सामाजिक कॉमेडी**, जिसमें समाजकी कृत्रिम सभ्यता एव कृत्रिम

व्यक्तित्वका मजाक रहता है और ५ **समस्यामूलक कॉमेडी,** जिसमें समसामयिक जीवनके अन्तर्बाह्य रूपोंका मनोवैज्ञानिक विवेचन होता है। वर्तमान जीवनकी मान्यताओं एव परम्परागत आदर्शोंकी असगतिका इसमें दिग्दर्शन होता है, साथ ही उसके प्रति घोर असन्तोष एव विद्रोहकी भावना भी होती है। —ब्या० मो० श्री०

काया–दे०—'पिंड'।

कायापलट—योग-साधनाकी एक विशेष क्रिया, जिसमें योगी लोग अपनी साधनाओंके द्वारा शरीरका कायाकल्प करते हैं। गोरखने कहा है कि रेचक प्राणायामके द्वारा श्वासोच्छ्वास करो और नवों द्वारोंको रोक दो, और छठे-छमासे काया-कल्पके द्वारा शरीरको नवीन करो, तब उन्मनी अवस्था प्राप्त होगी—'अवधू नवघाटी रोकिलै बाट। बाई बाणिनै चौसठि हाट। काया पलटै अविचल विध। छाया विवरजित निपजै सिद्ध।' (गोरखबानी : १९)—उ० शं० शा०

कायिक अनुभाव–दे०—'अनुभाव'।

कारक दीपक–दे०—'दीपक', दूसरा प्रकार।

कारकवैचित्र्यवक्रता–दे०–'पदपरार्धवक्रता', दूसरा प्रकार।

कारण-निबन्धना–दे०—'अप्रस्तुत प्रशंसा', पहला भेद।

कारणमाला (अथवा **गुम्फ**)—एक शृंखलामूलक अर्थालंकार, जिसमें शृंखलारूपमें वर्णित पदार्थोंमें परस्पर कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध होता है। शृंखलारूपमें वर्णित पदार्थोंमें यह कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध दो प्रकारसे सम्भव है। १ पूर्व-पूर्व वर्णित पदार्थ उत्तरोत्तर कथित पदार्थका कारण होता है। २ उत्तरोत्तर कथित पदार्थ पूर्व-पूर्वके प्रति कारण होता है। अर्थात् इसमें पूर्व-पूर्व कार्य होता है और पर-पर कारण। रुद्रटसे इसका उल्लेख मिलता है। मम्मटके अनुसार इस अलंकारमें उत्तरोत्तरवर्ती अर्थके प्रति पूर्व-पूर्ववर्ती अर्थ कारणरूपसे कहा जाता है—'यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता' (का० प्र० : १० : १२०)। विश्वनाथका भाव ऐसा ही है–'पर पर प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता' अर्थात् प्रत्येक पूर्वकथित पदार्थका परवर्तीका कारण कहा जाना (सा० द० : १० : ७६)। जगन्नाथके अनुसार 'पूर्वं पूर्वं कार्यं परं परं कारणम्'में भी यह अलंकार अन्योंके द्वारा माना जाता है (र० गं० : पृ० ४६१)।

हिन्दीमें केशवदासने इस अलंकारका उल्लेख 'कवि-प्रिया'में नहीं किया है। 'भाषाभूषण'में इसे 'गुम्फ' कहा गया है और अप्पय दीक्षितका अनुसरण करके भी वृत्तिमें उल्लिखित दो भेदोंको नहीं ग्रहण किया गया है। मतिराम-ने 'हेतमाला' नाम देकर इसके दोनों रूपोंका उल्लेख किया है—'पूरब पूरब हेतु जहँ उत्तर उत्तर काज' अथवा 'उत्तर उत्तर हेतु जहँ पूरब पूरब काज' (ल०ल० २५५, २५७)। केशव और देवको छोड़कर अन्य आचार्योंने इसको स्वीकार किया है। कुलपतिने 'रसरहस्य'में अधिक स्पष्ट लक्षण दिया है—'पहिलो पहिलो हेत जहँ, पिछले कारन होय। हेतन ही कौ गूथिबो'। सोमनाथने 'रसपीयूष'में हेतुकी परम्पराको 'गुम्फा' कहा है जो 'गुम्फ' ही है। भूषणने लक्षणमें प्रथम स्थितिका उल्लेख किया है, पर उदाहरण दोनों स्थितियोंका दिया है।

तुलसीके इस दोहेमें इसका सहज उदाहरण है—'बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम। राम कृपा बिनु सपनेहुँ, जीवन लह बिश्राम।' (रा० च० मा०)। इसी प्रकार दासका उदाहरण है—'विद्या देती विनयको, विनय पात्रता मित्त। पात्रत्वै धन, धन धरम, धरम देत सुख नित्त' (का० नि० : १८)। यह चिन्तामणिके उदाहरणका अनुवाद-मात्र है। इन दोनोंमें पूर्व-पूर्व कथित पदार्थ उत्तरोत्तर कथित पदार्थके कारण हैं। इसके विपरीत भूषणके इस दोहेमें—'सुजस दान अरु दान धन, धन उपजै किरवान। सो जगमें जाहिर करी, सरजा सिवा खुमान।' (शि० भू० : २३४) तथा मतिरामके उदाहरणमें–'दु:ख मूल गनि पाप, पाप कहँ कुमति प्रकासै। कुमति मोह विस्तरै क्रोध मोहै उल्लासै।' (ल० ल० : २२५) उत्तर-उत्तर कारण और पूर्व-पूर्व कार्य हैं। —वि० स्ना०

कारिका–[कृ+ण्वुल् (अक) भावे+स्त्री प्रत्यय आ] (क) साधारण अर्थ (१) क्रिया, कार्य। (२) नटी, नर्तकी। (३) शिल्प, वाणिज्य, व्यापार। (४) यातना, रोग। [इस अर्थमें इस शब्दकी व्युत्पत्ति कृ(हिंसार्थक)+ण्वुल् कर्तरि+स्त्री प्रत्यय आ होगा और इसका विग्रह 'कृणाति हन्ति इति कारिका' इस प्रकार होगा।] (५) रोगनाशिका कष्टकारि (सुश्रुत) [कृणाति हन्ति रोगमिति कारिका—व्युत्पत्ति न० ४ की भाँति] (ख) विशेष अर्थ–दर्शन, व्याकरण, साहित्य आदि शास्त्रोंपर लिखे गये एव थोड़े शब्दोंमें बहुत-सा शास्त्रार्थ व्यक्त करनेवाले श्लोक-विशेष। छन्दोबद्ध होनेसे इन्हें स्मरण रखना सरल होता है। कारिकामें पद्यकी भाँति स्मरण करने तथा सूत्रकी भाँति अधिक बातोंको थोड़े शब्दोंमें कहनेकी सुविधा होती है (राहुल सांकृत्यायनकृत बौद्धदर्शन, किताब महल प्रकाशन, पृ० ६३)। संस्कृतका कारिका-साहित्य बहुत विशाल, साथ ही बड़ा ही गम्भीर एव महत्त्वपूर्ण है। नागार्जुनकी माध्यमिक कारिकाएँ जो शून्यवाद(वस्तुशून्यता)की प्रतिपादक हैं, कारिका-शैलीकी सर्वाधिक प्राचीन प्रतिनिधि हैं। माध्यमिक कारिकाके अतिरिक्त नागार्जुनकी 'युक्तिषष्ठिका' तथा 'विग्रहव्यावर्तिनी' या 'शून्यतासप्तति' नामक कृतियाँ भी कारिका-शैलीमें ही हैं। नागार्जुन(ईसवी द्वितीय शताब्दीका उत्तरार्ध)को इस शैलीका प्रवर्तक कहा जाता है। नाट्यशास्त्रपर भरत मुनिकी कारिकाएँ, जो भरतसूत्रोंके नामसे अभिहित हैं, अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। मौलिक कारिकाएँ सम्भवत नागार्जुनकी कारिकाओंसे भी प्राचीन हैं। इनके अतिरिक्त साख्यशास्त्र-पर ईश्वरकृष्ण(ईसवी द्वितीय या तृतीय शताब्दी)की 'साख्यकारिका' (साख्यसप्तति), व्याकरणशास्त्रपर भर्तृहरिकी कारिकाएँ, साहित्यशास्त्रपर मम्मटकी १४३ कारिकाएँ, जिनपर उनकी स्वरचित वृत्ति है और सम्पूर्ण ग्रन्थ साहित्यशास्त्रमें काव्यप्रकाशके नामसे सर्वप्रसिद्ध है तथा न्यायशास्त्रपर विश्वनाथ न्यायपचाननकी 'कारिकावली', जिसका दूसरा नाम 'भाषा-परिच्छेद' भी है, एव जिसपर ग्रन्थकारकी स्वरचित वृत्ति 'न्यायमुक्तावली'के नामसे दर्शन-साहित्यमें अत्यन्त प्रसिद्ध है, इत्यादि ग्रन्थ संस्कृतके कारिकासाहित्यके अमूल्य अंश हैं। —आ० प्र० मि०

कार्य—अर्थप्रकृतिकी पाँच **स्थितियों**मेंसे अन्तिम स्थिति। रूपकका वह प्रधान साध्य या प्रयोजन, जिसके लिए सब उपकरण एकत्र किये जाते हैं, कार्य कहा जाता है। (दे० अर्थप्रकृति)। उदाहरणार्थ, 'स्कन्दगुप्त' (प्रसाद) नाटकका कार्य है गुप्त साम्राज्यकी विचलित लक्ष्मीको सम्पन्न और निरापद बनाना। इसीलिए सब प्रयत्न और प्रयास एकत्र किये गये हैं। अतएव इस कार्यके अनुकूल स्थिति जहाँसे उत्पन्न होने लगी है वहाँसे कार्य **अर्थप्रकृति**का आरम्भ हो जाता है। विरोधी दलका नेता भटार्क जहाँ यह निश्चय करता है कि सब भूलकर, अब स्कन्दगुप्तकी छत्रच्छायामें राष्ट्रके उद्धारमें लगूँगा और कहता है—(स्कन्दके सामने घुटने टेककर) 'श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्यकी जय हो। जैसी आज्ञा होगी वैसा ही करूँगा।' वहींसे यह 'अर्थ प्रकृति' आरम्भ हो जाती है। कार्यकी पूर्णता वहाँ आती है, जहाँ खिंगिलको परास्त-कर स्कन्दगुप्त पुरगुप्तको टीका लगाता है। इस प्रकार आक्रमणकारियोंसे आर्य-राष्ट्रका पूर्ण उद्धार होता है और अन्त कलहके मूल-कारणका भी नाश हो जाता है। —ब० सिं०

कार्य-निबन्धना—दे०—'अप्रस्तुत प्रशंसा,' दूसरा भेद।

कार्य-विकास—पाश्चात्य नाट्यसिद्धान्तोंके अनुसार नाटककी प्रारम्भिक घटनाके बाद नाटकीय कार्य-व्यापारका प्रारम्भ होता है, जिसका पूर्वभाग उलझन तथा समस्याओंसे पूर्ण होता है और उसमें कार्य नाटकीय **संघर्ष**की दिशामें अग्रसर होता है। **प्रस्तावना**में जो चरित्र तथा परिस्थितियाँ प्रकट हुई थीं उन्हींको लेकर घटनाएँ स्वाभाविक गतिसे आगे बढ़ती हैं। सम्पूर्ण कार्य-व्यापारमें प्रमुख घटना अत्यन्त स्पष्ट एवं प्रधान होनी चाहिये। चरितों एवं कार्यके पारस्परिक सम्बन्धोंका निर्वाह अति आवश्यक है। प्रत्येक दृश्यमें या तो कोई नवीन स्थिति उत्पन्न करके या चरित्रोंके विषयमें कुछ और जानकारी प्रस्तुत करके अथवा दोनों ही प्रकारसे नाटकीय कार्यका विकास करना चाहिये।

इस प्रकार किसी भी नाटकमें प्रस्तावनासे **चरम उत्कर्ष**-तकका भाग कार्य-विकासका होता है। उदाहरणके लिए 'स्कन्दगुप्त' (प्रसाद) नाटकमें प्रस्तावनाके बादसे, मालवपर विदेशियोंका आक्रमण, स्कन्दगुप्त द्वारा उसकी रक्षा, सम्राट्की मृत्यु और स्कन्दगुप्तका सिंहासनारोहण, हूणोंको पराजित करनेके लिए उसके द्वारा सैन्य-संगठन और आक्रमण, किन्तु कुचक्रों-षड्यन्त्रोंके कारण विफलता, पुनः सैन्य-संघटन और गुप्त-साम्राज्यके बचे-खुचे वीरोंको साथ लेकर युद्धकी तैयारी, इतनी भारी घटनाओंके क्रम द्वारा कथानक **चरम सीमा**पर पहुँचता है, अतः कथाका यह सारा भाग कार्य-विकासके अन्तर्गत समझना चाहिये। —श्या० मो० श्री०

कार्य-व्यापार—पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तोंके अनुसार किसी नाटकमें घटनाओंकी शृंखलाको **कार्य** या **कार्य-व्यापार** कहते हैं। अरस्तूके मतानुसार कार्य-व्यापार नाटकमें अनिवार्य है। किन्तु ड्राइडनका कथन है कि कथानकका नाटकमें न्यूनतम महत्त्व है। वेनब्रफ इस विरोधी धारणाको और भी स्पष्ट करता है, 'मुझे विश्वास है कि मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ कि मुख्य मनोरंजन एवं नैतिक सन्देश, घटना-क्रम अथवा कार्य-व्यापारकी अपेक्षा चरित्र एवं वाग्वैदग्ध्यपर अधिक निर्भर होता है।' इस विषयमें मतभेद है। एडिथ हैमिल्टन (दी ग्रीक प्लेज, १९३७) अपने मतका प्रतिपादन करते हुए कहता है कि एशिल्स-लिखित प्रोमेथ्यूस बाउण्डकी प्रधान वस्तु है उसके नायकका बन्दी होना, जब कि अन्य लेखक सम्मिलित स्वरमें कहते हैं कि वार्तालापों द्वारा प्रोमेथ्यूजके चरित्रका उद्घाटन ही उस सम्पूर्ण नाटकका सर्वस्व है। नाटकके कार्य अर्थात् प्रोमेथ्यूजके बन्दी होनेका महत्त्व तो केवल इस बातके साक्ष्यमें है कि दुःखान्त नाटक मूलतः एक महान् आत्माका प्रपीड़न है जिसमें उसे महान् क्षति उठानी पड़ती है।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कार्य—जैसे प्रपीड़न, क्षति आदि घटनाओंका नाटकमें नगण्य महत्त्व है। वास्तवमें कार्यका महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे कि शरीरके किसी अंगके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा आवश्यक है, कौन-सा नहीं।

कार्य-व्यापारकी अवस्थाओंके विषयमें भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यशास्त्रोंके आचार्योंके विचार प्रायः मिलते हैं। दोनोंने कथानकके पाँच भाग किये हैं। दोनोंने अपने-अपने उद्देश्यके अनुसार पाँच चढ़ाव-उतारके स्थल निर्दिष्ट किये हैं। पाश्चात्य नाट्य-रचनाके लिए विरोध ही मूल भाव होता है। अतएव उन्होंने कथानककी पाँच भूमिकाएँ मानी हैं—(१) आरम्भ, (२) कार्य-विकास, (३) चरम-सीमा। (४) निगति और (५) समाप्ति। पर भारतीय प्राचीन नाटक केवल धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिसे रचे, खेले और देखे जा सकते हैं। उनमें सुखकारी फलका लाभ ही प्रधान कार्य रहता है। इसलिए उनमें कार्यकी चार अवस्थाओं—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्तिके उपरान्त पाँचवीं अवस्था फलागम या परिणाम रखी गयी है। —श्या० मो० श्री०

कालचक्रयान—वज्रयानके एक दूसरे भेद कालचक्रयानका भी उल्लेख मिलता है। कालचक्रयानका भी परवर्ती सिद्ध-साहित्यसे निकटका सम्बन्ध मालूम होता है। कालचक्रयानके बारेमें विद्वानोंमें काफी भ्रम और विवाद रहे हैं। कुछ विद्वान् उसे **वज्रयान**का पूर्ववर्ती धर्म मानते हैं, कुछ उसे दसवीं शताब्दीमें प्रचलित वैष्णव धर्मकी बौद्ध शाखा मानते हैं, जिसमें विष्णुके चक्रकी कल्पनाका समावेश हो गया था। कुछ इसका उद्भव चीनी तुर्किस्तानके निकट शम्भल नामक किसी प्रदेशसे आगत साधनासे बताते हैं, जहाँके राजा 'कुलिक' कहलाते थे और जहाँ १२ पशुओंके चिह्नोंसे समय-चक्रका संकेत दिया जाता था, जिसका उपयोग अतिश दीपकरने नये तिब्बती संवत्में किया था। पद्मकार पो (१६ वीं शताब्दी) नामक तिब्बती इतिहासकारने अनुश्रुतियोंके आधारपर 'पि० तो' नामक सिद्धको इसका प्रमुख आचार्य माना है, जिसने नालन्दामें इसके सिद्धान्तको स्वीकार कराया।

इधर 'सेकोद्देशटीका', 'कालचक्र-तन्त्र' आदि कई ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि यह वास्तवमें योग-प्रधान साधना थी जिसमें धर्म, धातु और आकाशके लक्षणों-वाले अच्युत क्षणको काल कहते हैं। वही काल वज्रज्ञान है, वही चिद्रूप है। कालचक्रके सांकेतिक अर्थ भी हैं।

'का'के अर्थ हैं कारण, 'ल'के अर्थ है 'लय,' 'च'के अर्थ है 'चलचित्त', 'क्र' के अर्थ हैं क्रम-बन्धन। कालकी स्थिति भी देह में है और वह प्राणवायुकी गतिके रूपमें है। उसीको वशमें करना चाहिये। —ध० वी० भा०

कालमुख–(काले मुँहवाले) शैव साधकोंका एक विशिष्ट सम्प्रदाय। 'सर्वदर्शनसंग्रह'में कापालिकोंके एक कट्टरपन्थी उपसम्प्रदायके रूपमें इनका उल्लेख है। ये शिवकी नील-कण्ठ, कृष्णवर्ण और मुण्डमालाधारी रूपमें उपासना करते हैं, इसीलिए अपनेको भी कालमुख रखते हैं। इनका नाम वासवसिद्धान्ती भी है। ये अपने अघोर आचरणको सिद्धियाँ कहते हैं। (१) कपाल-भोजन, (२) भस्मलेपन, (३) चिता-भस्मसेवन, (४) दण्डधारण, (५) सुरापात्रधारण, (६) सुरापात्र-में भैरवका पूजन। इनका उल्लेख रामानुजमें मिलता है, साथ ही लाकुलों(लकुलीश पाशुपतों)की शाखाके रूपमें १११७ ई० के मैसूरके एक शिलालेखमें भी मिलता है। —वि० नि० मि०

काल-विभाग–कविशिक्षा(दे०)का एक अंग। काव्य-शास्त्रके आचार्योंने कालविरुद्ध वर्णनको दोष माना है। अत कविके लिए काल-विभागोंका सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'के अठारहवें अध्यायमें काल-विभाग तथा विभिन्न ऋतुओंका विस्तृत वर्णन किया है, जिसका अनुसरण परवर्ती आचार्य हेमचन्द्र (काव्यानुशासन-अध्या० ३) और वाग्भट(काव्यानुशासन अध्या० ७)-ने किया है।

कालके कला-काष्ठा आदि विभाग होते हैं। पन्द्रह निमेषोंकी एक काष्ठा, तीस काष्ठाओंकी एक कला, पन्द्रह कलाओंकी एक घटिका, दो घटिकाओं(घड़ियों)का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्तोंका अहोरात्र (दिन-रात) होता है। चैत्र और आश्विन मासमें दिन-रात बराबर होते हैं। चैत्रके बाद दिन एक-एक मुहूर्त बढ़ने लगता है और रात घटने लगती है। तीन महीनेतक यह क्रम चलता है। इसके बाद दिन एक-एक मुहूर्त घटने लगता है और रात एक-एक मुहूर्त बढ़ने लगती है। आश्विन मासके बाद यह क्रम बदल जाता है। पन्द्रह अहोरात्रका पक्ष होता है। एक मासमें दो पक्ष, कृष्ण और शुक्ल होते हैं। दो-दो महीनोंकी ऋतु होती है। ६ महीनोंका एक अयन होता है। वर्षा ऋतुसे दक्षिणायन और शिशिरसे उत्तरायण प्रारम्भ होता है। दैवज्ञ चैत्रसे वर्षका आरम्भ मानते हैं और लोक-व्यवहारमें वर्षासे वर्ष-का प्रारम्भ माना जाता है। श्रावण, भाद्रपदमें वर्षा ऋतु, आश्विन, कार्त्तिकमें शरद्, मार्गशीर्ष, पौषमें हेमन्त, माघ और फाल्गुनमें शिशिर, चैत्र-वैशाखमें वसन्त और ज्येष्ठ, आषाढ़में ग्रीष्म ऋतु होती है।

कवि-शिक्षा ग्रन्थोंमें विभिन्न काल-विभाजनके रूपोंके वर्णनकी निश्चित परम्पराओंका निर्देश किया गया है। इस बातकी शिक्षा दी गयी है कि किस समय (प्रात, साय, सन्ध्या, रात्रि, ज्योत्स्ना, दोपहर आदि) तथा ऋतुमें किन-किन वस्तुओं तथा स्थितियोंका उल्लेख करना चाहिये। संस्कृतके कवि-शिक्षा ग्रन्थकारोंके अतिरिक्त हिन्दीमें केशवका इस दृष्टिसे महत्त्व है (कविप्रिया १०)। —म० प्र० ल०

कालवैचित्र्यवक्रता–दे० 'पदपरार्धवक्रता', पाँचवाँ प्रकार।

काल्पनिक सत्य–यद्यपि अधिकांश कलानुभूतियाँ वस्तु सत्यसे ही प्रतिष्ठित होती हैं किन्तु उनकी कलात्मक गहराई केवल काल्पनिक सत्य द्वारा ही अनुभव की जा सकती है। प्रत्येक कला मूलत· स्थूल रूपमें दो आयामोंमें ही व्यक्त होती है और तीसरे आयामको संकेत द्वारा व्यक्त करती हैं। काल्पनिक सत्यकी अनुभूति, कलाके तीसरे आयाम, उसके गहराईको समझने और परखनेमें सहायक होती है। कवि या कलाकार अपने काल्पनिक सत्यको केवल दो आयामोंमें ही बाँध पाता है और शेषको वह भावक वर्गकी बोधशक्तिपर छोड़ देता है, इसीलिए काल्पनिक सत्यको जाननेके लिए बहुधा भावकवर्गकी अभिरुचिको परिष्कृत होना पड़ता है ताकि वह उसे जान-समझ ले।

कॉडवेलने 'इल्यूजन एण्ड रियेलिटी'में काल्पनिक सत्य-की व्याख्या करते हुए लिखा है कि काल्पनिक सत्य मूल सत्य न होते हुए भी सत्य है, क्योंकि वह असंगत और असत्य होते हुए भी भौतिक यथार्थसे किन्हीं रूपोंमें सम्बद्ध होता है। यहाँतक कि 'फैंटेस्टिक रियेलिटी'के रूपमें भी वह इस सत्यको स्वीकार करता है और कहता है कि यद्यपि कलात्मक सत्यके सामने उसका मूल्य कुछ नहीं है, फिर भी उसमें यह क्षमता होती है कि वह भौतिक सत्यको प्रभावित करता है और उसे विशिष्ट चेतना प्रदान करनेमें सहायक होता है। कहनेका सारांश यह कि काल्पनिक सत्यका अस्तित्व कलाभिरुचि और रचना-प्रक्रियाका एक अनिवार्य अंग है।

किन्तु प्लेटोने कल्पनाको ही वर्जित करनेका प्रस्ताव किया है और इसी आधारपर कल्पना-जगत्में रमनेवाले कवियोंकी भी उसने निन्दा की है, किन्तु अरस्तूने कल्पना और काल्पनिक सत्योंको बड़ा उपयोगी बताया है। उसका कथन है कि सत्यके बाह्य उपकरण कभी-कभी उतना अधिक प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाते जितना कि सत्यके कल्पनात्मक मूल भाव प्रभावित करते हैं। कल्पना द्वारा वस्तु-सत्यके सम्भावित अंगोंको भी देखनेकी दृष्टि हमें मिलती है इसलिए उसका महत्त्व जहाँतक कला-क्षेत्रका सम्बन्ध है, विशेष है। यहाँतक कि उसकी अवहेलना करके कला-सर्जन और कलाभिरुचि दोनोंका ही विकास नहीं हो सकता। —ल० का० व०

काव्य–इसमें एक अंक होता है। नायक-नायिका उदात्त होते हैं। उसमें मुख, प्रतिमुख, निर्वहण सन्धिका प्रयोग, हास्यका प्राचुर्य, आरभटी वृत्तिका अभाव रहता है। यह खण्डमात्रा, द्विपादिका भग्नताल गीतोंसे पूर्ण और अगुलि-काव्य छन्दोंसे युक्त होता है। उदाहरण यादवोदय। शेष बातोंमें नाटकसे समानता है। —वि० रा०

काव्य–कविके द्वारा जो कार्य सम्पन्न हो, उसे 'काव्य' कहते हैं · कवेरिदं कार्यभावो वा, (ष्यञ्) मेदिनी कोष। अभिनवगुप्ताचार्यने 'ध्वन्यालोक-लोचन'में 'कवनीय काव्य' महाकाव्य लिखा है, जिससे इसी अर्थकी पुष्टि होती है। अत काव्यकी व्याख्याके लिए 'कवि' शब्दके अर्थको समझना आवश्यक हो जाता है। 'कु' धातुमें अच् प्रत्यय (इ) जोड़-कर 'कवि' शब्दकी व्युत्पत्ति बतलायी गयी है और 'कु'का

अर्थ है 'व्याप्ति,' 'आकाश,' अर्थात् 'सर्वज्ञता'। फलत कवि सर्वज्ञ है, द्रष्टा है। श्रुति कहती है 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूः'। 'परिभू' अर्थात् जो अपनी अनुभूतिके क्षेत्रमें अथवा दृष्टिक्षेपमें सब कुछ समेट ले और 'स्वयम्भू' जो अपनी अनुभूतिके लिए किसीका भी ऋणी न हो, अर्थात् काव्य उसी मनीषीकी सृष्टि है जो स्वयं सम्पूर्ण और सर्वज्ञ हो। वैदिक साहित्यमें कवि, द्रष्टा और ऋषि समानार्थक हैं और वेदोंके प्रकाशक ब्रह्माको 'आदि कवि' कहा गया है। लौकिक साहित्यमें कवि शब्द अपेक्षाकृत सकीर्ण अर्थोंमें प्रयुक्त होता है और विशिष्ट रमणीय शैलीमें काव्य रचनेवालेके लिए उसका प्रयोग होता है। 'वाल्मीकि-रामायण'को 'आदि काव्य' और 'महाभारत'को 'काव्य'की संज्ञा दी गयी है, क्योंकि वाल्मीकि 'आदि कवि' हैं और व्यास 'कवि'। इससे स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक कालमें 'कवि' शब्द विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न एक विशेष प्रकारकी शैलीमें रचना करनेवाले विद्वान्के अर्थमें योगरूढ हो गया था और बादमें इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ। कविके लिए 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' और 'वर्णननिपुणता' अनिवार्य धर्म है। परन्तु यह वर्णननिपुणता असाधारण होनी चाहिये। 'काव्य लोकोत्तरवर्णनानिपुण कवि-कर्म ' (का० प्र०, प्रथमोल्लास पृ० १२)। कवि-कर्मको 'काव्य-ससार' कहा गया है और कविको इस ससारका स्रष्टा या प्रजापति। (अपारे काव्यससारे कविरेव प्रजापति, अग्निपुराण ३३९ १०)।

यह तो हुई 'कवि'के नाते उसकी कृति 'काव्य'की चर्चा, परन्तु स्वतन्त्र इकाईके रूपमें भी 'काव्य'के सम्बन्धमें विचार किया गया है। काव्यका लक्षण क्या है, इस विषयको विभिन्न आचार्योंने विभिन्न रूपोंमें उपस्थित किया है। वास्तवमें इन आचार्योंके सामने या तो विशिष्ट काव्य-कोटियाँ थीं, जैसे भरत मुनिका काव्य-लक्षण नाटकपर आधारित है, अथवा विशिष्ट काव्य-सम्प्रदाय। फलस्वरूप, काव्य-लक्षण सम्बन्धी उनके मतवाद निर्वैयक्तिक नहीं हो सके हैं। भरत मुनिने शुभ काव्यके सात लक्षण माने हैं। (१) मृदुललितपदावली, (२) गूढ शब्दार्थहीनता, (३) सर्वसुगमता, (४) युक्तिमत्ता, (५) नृत्यमें उपयोग किये जानेकी योग्यता, (६) रसके अनेक स्रोतोंको बहानेका गुण, (७) सधियुक्तता। इनमेंसे पाँचवें और सातवें लक्षण नाटक-(दृश्यकाव्य)को ध्यानमें रखकर लिखे गये हैं। शेषमें गुण, रीति, अलकार और रसका निर्देश है। 'अग्निपुराण'में काव्यको इतिहाससे अलग करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—काव्य ऐसी पदावली है जो दोषरहित, अलकारसहित और गुणयुक्त हो तथा जिसमें अभीष्ट अर्थ सक्षेपमें भली भाँति कहा गया हो (अग्निपुराण ३३७ ६-७)। यह लक्षण स्पष्ट ही काव्यके बहिरगको प्रधानता देता है। परन्तु एक अन्य स्थानपर 'अग्निपुराण' रसको काव्यकी आत्मा मानता हैं (वाग्वैदग्ध्य-प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्)। भामह और दण्डी काव्यके सम्बन्धमें इसी आदर्शको लेकर चलते हैं। दण्डी 'पदावली'को काव्य-शरीर मानकर इस मन्तव्यको और भी स्पष्ट कर देते हैं (शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली १ १०) और भामह शब्द और अर्थके समवायको काव्य कहकर (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्, काव्यालकार १ १६) उस आदर्श काव्यस्थितिकी सूचना देते हैं जब शब्द और अर्थ अपनी स्वतन्त्र स्थिति खोकर एकात्म हो जाते हैं। वामनने 'काव्यालकारसूत्र'-(१० १ १, २, ३)में काव्यको अलकारसहित और दोषरहित माना है। परन्तु 'अलकार' सम्बन्धी वामनकी भावना सूक्ष्म है। सौन्दर्य ही अलकार है, कहकर उसने 'अलकार'की विस्तृति की है। परन्तु जब 'वामन' रीतिको काव्यकी आत्मा और शब्दार्थको काव्य-शरीर कहते हैं तो उनका मत भामह और दण्डीसे भिन्न हो जाता है। रुद्रटने काव्य-लक्षण देते हुए भामहका ही अनुसरण किया है। परन्तु ध्वनिकार और आनन्दवर्द्धनाचार्यने पूर्ववर्ती सभी लक्षणोंको अनुपयुक्त समझकर ध्वनि-सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा की और ध्वन्यर्थको ही काव्यात्मा सिद्ध किया। इसी तरह राजानककुन्तकने 'वक्रोक्तिजीवित'में वक्रोक्ति-गर्भित अर्थात् उक्तिवैचित्र्यमूलक काव्यार्थको काव्य माना है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश'में काव्यका जो लक्षण दिया है वह भामहादिसे भिन्न होते हुए भी इस अर्थमें भिन्न नहीं है कि उसने ऐसे शब्दार्थको भी काव्य माना है जो अनलकृत हो। बादके आचार्योंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही अधिक अपनाया, जैसे 'चन्द्रालोक'में जयदेवने काव्यलक्षण देते हुए कहा है 'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुणभूषिता, सालकाररसानेकवृत्तिर्वा काव्यनामभाक्।' इसमें काव्यमें दोषराहित्य, लाक्षण्य (व्यग्य), रीति, गुण, अलंकार, रस, वृत्तिकी स्थापना की गयी है। काव्य सम्बन्धी अन्तिम विवेचन हमें 'साहित्यदर्पण'कार विश्वनाथ कविराज और 'रसगगाधर'कार जगन्नाथ पण्डितराजमें मिलते हैं। विश्वनाथने काव्यको रसात्मक बतलाया है (सा० द० १ ३) और पण्डितराजने रमणीय अर्थके प्रतिपादक शब्दको काव्य कहा है। इस प्रकार काव्यके अर्थकी व्याप्तिमें कहीं सकोच और कहीं विस्तार दिखाई देता है। इसका कारण यही है कि काव्यके सम्बन्धमें सर्वग्राही दृष्टिकोण उत्पन्न नहीं हो सका। जिन तत्त्वोंकी ओर ये आचार्य इंगित करते हैं वे सूक्ष्म तत्त्व हैं, जैसे रस (भरतमुनि), शब्दार्थकी समवायवृत्ति (मम्मट), सौन्दर्य (दण्डी), रीति (वामन) और ध्वनि (ध्वनिकार और आनन्दवर्द्धन), और इनमेंसे प्रत्येक तत्त्व अपने बलपर स्वतन्त्र रूपसे काव्यकी आत्मा होने योग्य है। परन्तु प्रत्येक आचार्यका यह आग्रह रहा है कि उसके मतवाद और अन्य मतवादोंमें अगागी सम्बन्ध रहे।

मम्मटने काव्यके तीन भेद किये हैं - उत्तम, मध्यम और अधम। यह वर्गीकरण शब्दार्थके वाचक, लाक्षणिक और व्यग्य प्रयोगोंके आधारपर किया गया है। व्यग्यकाव्य उत्तम, लाक्षणिक मध्यम और वाचक अधम है (का० प्र० १ ५, ६) मम्मट काव्यमें रस, गुण और अलकारकी स्थिति मानते हैं, परन्तु रसको सर्वोपरि बतलाते हैं। रस यदि आत्मा है तो गुण रसका उत्कर्ष करनेवाले और उसे अचल स्थितिमें रखनेवाले हैं। (का० प्र० उ० ८ ६६) अलंकारके सम्बन्धमें भी कदाचित् उनका यही मत है। यद्यपि उन्होंने 'अनलंकृत' वाक्यको भी

(जिसमें अलकार अस्फुट अथवा अप्रकाशित हों) काव्य माना है। अलकार रसके धर्म नहीं ह, अत वे रसके साक्षात् उत्कर्षक न होकर शब्दार्थ द्वारा परस्पर सम्बन्धसे रसका उत्कर्ष करते हैं। विश्वनाथने रसको ही काव्यकी आत्मा माना है और उत्तम काव्यमें रसकी सर्वोपरि स्थिति बतलायी है। वर्णनात्मक काव्यको जहाँ रसकी स्थिति नहीं है, उन्होंने गौण काव्य कहा है। इनके अतिरिक्त किसी भी अधम काव्यकी स्थिति उन्हें अमाननीय है।

काव्यप्रयोजन और काव्यहेतुपर भी प्राचीन आचार्योंने विचार किया है। जहाँतक काव्यप्रयोजनका सम्बन्ध है, प्राचीनोंने व्यावहारिक दृष्टिको प्रधानता दी है और काव्यको अर्थ, धर्म, कामके अतिरिक्त मोक्षका भी साधन बतलाया है। भामहने 'काव्यालकार'में इस चतुर्वर्गके साधनके अतिरिक्त कला-वैलक्षण्य, प्रीति और कीर्तिको भी कलाका प्रयोजन कहा है—धर्मार्थकाममोक्षाणा वैचक्षण्य कलासु च। प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्। (काव्यालकार : १, २) मम्मटके अनुसार 'काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्य परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे॥' स्पष्ट है कि यह दृष्टि काव्यको लोकोपजीवी ही मानती है और उस लोकोत्तर पक्षको महत्त्व नहीं देती जो उत्कृष्ट काव्यका लक्षण है अर्थात् रस, चमत्कार, ध्वनि या व्यग्यार्थ, कल्पनाका आनन्द आदि। पाश्चात्य विद्वानोंने काव्यप्रयोजनके इन सूक्ष्म रूपोंपर भी विचार किया है। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणात्मक शास्त्र इस सम्बन्धमें हमारे सहायक रहे हैं, क्योंकि उनके द्वारा हमने कविकी मन-प्रक्रियाको सुस्पष्ट रूपसे जाना है और पाठक अथवा श्रोताकी ग्रहणशीलता एवं काव्यगत सवेदनासे भी आज हम अधिक व्यापक रूपमें परिचित हैं। काव्यहेतुके सम्बन्धमें भी पश्चिममें अधिक गहराईसे विचार किया गया है। प्राचीनोंने शक्ति (प्रतिभा), निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास, काव्यके तीन प्रमुख हेतु बतलाये हैं। किसी आचार्यके मतमें इन तीनोंका स्वतन्त्र अस्तित्व है, परन्तु आचार्य मम्मट इन तीनोंको सम्मिलित रूपमें एक ही कारण मानते हैं। कोई-कोई प्रतिभाको ही मुख्य और प्राथमिक काव्यहेतु मानते हैं, यद्यपि काव्यको सस्कारी और शाणोत्तीर्ण बनानेके लिए निपुणता और अभ्यास भी वाञ्छनीय है, क्योंकि उनके द्वारा काव्यकी चमत्कृति बढ़ती है। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास जिसमें तीनों हैं, वही कवि है। राजशेखरने काव्यकी उत्पत्तिके प्रमुख कारण 'समाधि' (मनकी एकाग्रता अथवा मानसिक प्रयत्न) और अभ्यास (बाह्य प्रयत्न) माने हैं। इन दोनोंके द्वारा जो शक्ति उत्पन्न होती है उसका प्रसार, विस्तार या व्यापार 'प्रतिभा' और 'व्युत्पत्ति'के द्वारा होता है। 'प्रतिभा'का लक्षण इस प्रकार दिया गया है 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' अर्थात् जिस प्रज्ञाके द्वारा नयी-नयी कल्पना सम्भव हो। इस प्रतिभाके दो प्रकार माने गये हैं कारयित्री (काव्यरचना करनेवाली) और भावयित्री (बोध करानेवाली)'। कारयित्री प्रतिभा तीन तरहकी है सहजा (पूर्व जन्मके सस्कारसे प्राप्त), आहार्या (इस जन्मके सस्कारसे प्राप्त) और औपदेशिका (मन्त्र-तन्त्र शास्त्रिक द्वारा प्राप्त)। पश्चिमी साहित्य-शास्त्रमें 'इमेजिनेशन', 'इन्ट्यूटिव फैकल्टी' अथवा 'पोइटिक् सेन्स'के अन्तर्गत कवि-प्रतिभाकी विस्तृत विवेचना हुई है।

यह स्पष्ट है कि काव्यके सम्बन्धमें पूर्व-पश्चिममें अनेक प्रकारके विचार हैं और उन्हें एक केन्द्रबिन्दुपर लाना बहुत कठिन है। समीक्षकों और कवियोंने अपनी-अपनी प्रवृत्तियोंके माध्यमसे काव्यको देखा और समझा है और प्रवृत्तियोंकी विभिन्नताके कारण काव्यके मूल तत्त्वके सम्बन्धमें भी उनके आग्रहमें भेद है। हमारे यहाँ 'रस'की व्याख्या 'वेदान्त दर्शन'के आधारपर हुई है और रसानुभवको स्पष्ट करनेके लिए अन्य मतवादोंसे भी सहारा लिया गया है, परन्तु पश्चिममें काव्यविवेचनाका दार्शनिक पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वहाँ सौन्दर्यशास्त्र दर्शनका ही अग है। इस विवेचनामें हम काव्यसमीक्षकको अत्यन्त ऊँची और सैद्धान्तिक भूमिपर पाते हैं। अरस्तूके इस कथनमें कि 'काव्य प्रकृतिकी अनुकृति है', इस प्रकारका सिद्धान्त सामने आता है कि काव्य कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है—प्राथमिक अनुभव नहीं है। प्लेटो तो उसे नकलकी नकल कहता है। वॉन नार्फका कहना है कि काव्य सत्यकी अनुभूतिका प्रयासमात्र है, यद्यपि छद्मवेशमें, काव्यकी तथ्यमूलक भित्तिपर कई पश्चिमी लेखकोंने बल दिया है। कैम्पबेलके अनुसार काव्य सत्यका मुखर रूप है। ओ० डब्ल्यू० हेलमने काव्यकी अलकृत वर्णच्छटाको वर्ण्य वस्तु-(सत्य)की रूपरेखासे अलग करके देखा है। उसका कहना है कि कविताका लक्ष्य सत्यकी शुभ्र ज्योति है, परन्तु उसको प्रभावशाली बनानेके लिए वह इन्द्रधनुष-सी वर्णच्छटाको ग्रहण कर लेती है। एक दूसरे प्रकारके कथन वे हैं जो काव्यके लिए दार्शनिक भूमि नहीं खोजते, मनुष्यके मनोविज्ञानमें ही उसका स्वरूप देखते ह। कार्लाइलका यह कहना कि कविताके द्वारा मनुष्य अपने अस्तित्वको सन्तुलित एव समन्वित बनानेका प्रयत्न करता है, ऐसा ही एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इसी प्रकार शेली जब काव्यको प्रसादचेता और मेधावी महाप्राणोंके सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक आनन्दमय क्षण मानता है तो वह काव्यका मनोवैज्ञानिक निरूपण ही करता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंने तो अत्यन्त विशदतासे काव्यप्रेरणाके मूल स्रोतों और उसकी प्रक्रियापर विचार किया है।

पश्चिमी आलोचकोंने भी काव्यको कविके अंतरग और बहिरगसे सम्बन्धित करना चाहा है। अतरगसे सम्बन्धित करनेकी प्रकिया जॉन ड्रिंकवाटरमें दिखलाई देती है, जिनका कहना है कि काव्य पवित्रीकृत जीवन है। उसमें दु ख या लज्जाके भावका उदात्तीकरण मात्र नहीं है, वह भावको क्षुद्रताकी भूमिसे ऊपर उठाकर उसे असाधारणत्वकी कोटि दे देता है। बहिरगसे सम्पर्कित करनेवाला समीक्षक आरनॉल्ड काव्यका नाता जीवनसे जोड़ता है और उसे जीवनकी समीक्षा कहता है। वस्तुत ये दोनों एकदम विरोधी ध्रुव हैं। पहले दृष्टिकोणमें काव्य कविके अन्त करणका विस्फोट है, तो दूसरेमें वह बाह्य परिस्थितियोंकी प्रतिक्रियामात्र है। व्यक्तिनिष्ठ काव्य (गीतिकाव्य) पहली कोटिके अन्तर्गत आता है और वस्तुनिष्ठ काव्य (प्रबन्धकाव्य) दूसरी कोटिके अन्तर्गत। दोनों ही

दृष्टिकोण स्वतः एकांगी हैं, परन्तु उन्हें परस्पर पूरक समझा जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि किसी विशिष्ट कविके व्यक्तित्वमें दोनोंका समाहार न हो सके।

विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिसे विवेचन करें तो कुछ पश्चिमी विद्वान् काव्यको आनन्द-कोटिमें रखते हैं। बेकन इनमें पहले हैं। उनका कहना है कि काव्य असत्य भाषण है, परन्तु यह असत्यवाचन आनन्दप्रद है। एक दूसरे आलोचक हेमरटनके शब्दोंमें काव्य सुन्दर झूठ है। इस काव्यगत आनन्दकी विवेचना करते हुए आलोचकोंने विभिन्न तत्त्वोंको अधिक महत्त्व दिया है। काव्यशास्त्री काव्यगत आनन्दकी व्याख्या रस, अलंकार, रीति, गुण, औचित्य एवं चमत्कारके तत्त्वोंके आधारपर करते हैं। ये तत्त्व पूर्व और पश्चिम दोनों ओर समान रूपसे स्वीकृत हैं, अन्तर उनकी व्याख्या और व्याप्तिमें है। भारतीय आचार्योंने जहाँ इनमेंसे प्रत्येककी स्वतन्त्र और सर्वोपरि सत्ता स्वीकार की है, वहाँ एकको प्रधान स्वीकार करते हुए उन्होंने अन्य काव्यांगोंको उसीमें समीकृत कर दिया या उसीका अंग बना लिया है। इस प्रकार उनकी काव्य-विवेचना अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है। वास्तवमें भारतीय शास्त्रीय चिन्ता मौलिक चिन्तनसे कुछ आगे बढ़कर शीघ्र ही सम्प्रदायोंमें बँध गयी और प्रत्येक सम्प्रदाय अपनेको सर्वश्रेष्ठ और सर्वग्राही सिद्ध करनेकी धुनमें औचित्यकी सीमाका उल्लंघन करता हुआ अतिव्याप्तिसे दूषित हो गया और सन्तुलन खो बैठा। इन व्याख्याओंमें काव्यकी रस-व्याख्या सबसे अधिक लोकप्रिय हुई। भारतीय काव्यशास्त्रमें मूलतः रसको ही काव्यकी आत्मा माना गया है और रसात्मक वाक्यको ही काव्यकी संज्ञा दी गयी है। पश्चिममें भी यह रसवादी दृष्टिकोण मिलता है। जैसे जॉन ड्रिंकवाटरकी स्थापना है कि कविता मूलतः भाव-संवेदनाओंसे सम्बद्ध है जो परिवर्तनशील संसारमें नित्य हैं। जे० सी० पॉवेके मतानुसार भी काव्यमें रसात्मकता और मानवीयताके उपादान परमावश्यक हैं। भारतीय काव्य-समीक्षामें आलंकारिकोंका बड़ा महत्त्व है, परन्तु पश्चिममें भी काव्यकी कल्पनाको प्रमुख उपकरण मानकर उसके तथ्योंपर विशद रूपसे विचार हुआ है। शेलीके अनुसार काव्य कल्पनाकी ही अभिव्यंजना है और 'ला मारतीन'का कहना है कि काव्य महाप्राणोंका प्रभात-स्वप्न है। रीति और गुण भाषा-शैलीके तत्त्वोंसे सम्बन्धित हैं। पश्चिममें इन तत्त्वोंकी विशद व्याख्या हुई है। वास्तवमें काव्यका बहिरंग ही आकर्षणकी पहली वस्तु है और फलस्वरूप समीक्षकोंका ध्यान पहले इसी पक्षपर गया है। पश्चिमी काव्य-समीक्षकोंका एक ऐसा वर्ग भी है जो चमत्कारको प्रधानता देता है। यह मत भारतीय आचार्योंके 'वक्रोक्ति' मतसे मिलता-जुलता है।

काव्य हृदय और बुद्धिकी संश्लिष्टि है। उसे केवल रसवादके अन्तर्गत लाना असम्भव है। आज हम काव्यको रसमूलक (प्रबन्धकाव्य), भावमूलक (गीतिकाव्य), विचारमूलक (निबन्धकाव्य), चमत्कारमूलक (सूक्तिकाव्य और ध्वनिकाव्य) और परिहासमूलक (परिहास या विडम्बनाकाव्य) मान सकते हैं। रस एवं भाव काव्यके हृदयपक्ष हैं और विचार, चमत्कार (वाग्वैदग्ध्य) एवं परिहास बौद्धिक पक्ष। इस प्रकार काव्यकी ये पाँच कोटियाँ हैं। इससे भिन्न एक कोटि कल्पनामूलक काव्य (आलंकारिक काव्य) की भी मानी जा सकती है। परन्तु काव्यमें रस और अलंकारका बहुत कुछ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है; कमसे-कम श्रेष्ठ काव्यमें। जहाँ अलंकार भावसृष्टिसे पृथक् स्वतन्त्र सृष्टि हैं, साध्य हैं, वहाँ वे चमत्कारवाद अथवा वाग्वैदग्ध्यके अन्तर्गत आयेंगे। गीति काव्यमें केवल भावतक पहुँचा जा सकता है। प्राचीनोंने उनमें रसको व्यंग्य माना है और अन्य काव्यतत्त्वोंसे स्वतन्त्र ध्वनितत्त्वकी कल्पना की है, परन्तु रसवादके आग्रहके कारण वास्तवमें भारतीय काव्य-शास्त्रका यह परवर्ती विकास रसदृष्टिसे ही नियोजित एवं सीमित है।

काव्य-तत्त्वोंमेंसे रीति, गुण, औचित्य और शब्दालंकार काव्यके बहिरंग माने जा सकते हैं और अन्तरंगके अन्तर्गत कविका भाव-जगत्, उसका हास परिहास और चमत्कार-भाव आता है। इन्हींके आधारपर काव्य प्रबन्ध, गीति, निबन्ध, परिहास या विडम्बना और सूक्तिके विभिन्न भेदोंमें विभाजित किया जाता है। कविके भाव-जगत्में जहाँ एक ओर रस और भाव हैं, वहाँ दूसरी ओर अर्थालंकारोंसे संयोजित अप्रस्तुत विधान भी, जो कल्पनामूलक सौन्दर्य-सृष्टिकी रचना करता है। इस प्रकार काव्यमें केवल रस या अलंकारकी ही स्थिति न मानकर विचार, परिहास एवं वाग्वैदग्ध्यकी भी स्थिति मान ली जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि रसमूलक काव्यमें अलंकार रहे ही नहीं या निबन्ध-काव्यमें रसमूलक या अलंकारमूलक प्रकरण एकदम न हों। हमें काव्य-तत्त्वोंको अंग-अंगीके रूपमें लेना होगा तभी हम काव्यके सार्वभौमिक रूपको ग्रहण कर सकेंगे।

काव्यके निर्माणमें कविके स्वभाव, संस्कार और देश-कालकी परिस्थितियोंका भी महत्त्वपूर्ण हाथ है। प्रत्येक कविके काव्य-लेखनकी भूमिका अन्य कविकी काव्य-लेखनकी भूमिकासे भिन्न रहती है और फलस्वरूप काव्यका स्वरूप भी बदल जाता है। प्रत्येक कलाके बाह्यागपर उस युगकी बदलती लोकरुचिका प्रभाव पड़ता है। अपूर्व प्रतिभासम्पन्न कवि अपनी प्रतिभाके बलपर लोकरुचिको भी बदल सकता है, परन्तु अधिकांश कवि लोकरुचिका अनुगमन करते हैं। युगधर्मके बदलनेपर प्राचीन संकेत जीर्ण पड जाते हैं और कविके लिए नये प्रतीकों और संकेतोंको खोजना आवश्यक हो जाता है। भक्तियुग अथवा रीतियुगके प्रतीकोंसे आजके काव्यके प्रतीकोंकी तुलना करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है। साहित्यके इतिहासके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवनपद्धतिके अन्तरसे काव्यपद्धतिमें भी परिवर्तन हो जाता है। युगधर्म और काव्यलेखनमें अनन्य सम्बन्ध है। देशकालवैशिष्ट्य और युगवैशिष्ट्य प्रत्येक कलाकृतिमें सूक्ष्म रूपसे रहते हैं, यद्यपि युगातीत जातीय एवं राष्ट्रीय विशेषताओंकी फल्गुधारा भी उसमें निरन्तर प्रवाहित होती रहती है।

कविताके क्षेत्रमें जिन अपरिहार्य परिवर्तनोंने नये काव्यरूपोंको जन्म दिया वे हमारे मनमें यह शंका उठाते हैं कि क्या कविताका तेजोमय युग समाप्त हो गया और क्या महाकाव्यसे गीतिकाव्यकी ओर बढते हुए हम निरन्तर

हासकी ओर बढ़ रहे हैं? कविता ही क्यों, सभी कला-क्षेत्रोंमें इस प्रकारकी शंका उठती है। स्वयं महाकाव्यकी भीतरी स्थितिमें कितना परिवर्तन हुआ है, यह 'महाभारत' और 'रघुवंश'के तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट हो जाता है। मुद्रण-कलाके आविष्कारसे पहले काव्य कण्ठस्थ कर लिया जाता था और उसमें तत्त्वज्ञान, उपदेश, चरित्र, इतिहास, काव्य सब कुछ था। वास्तवमें महाकाव्यका विराट् स्वरूप विश्वकोशकी भाँति समस्त युगज्ञानका समुच्चय था। गद्य वाङ्मयके विकासके बाद इतिहास, चरित्र, तत्त्वज्ञान और कथाके लिए नया क्षेत्र खुला और काव्य केवल काव्यानुकूल विषयोंतक सीमित रह गया। कालान्तर-में दीर्घ काव्यकी परम्परा भी समाप्त हो गयी और गीति-काव्यका जन्म हुआ। गीति-काव्य प्रजातन्त्र और व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी उपज है। व्यक्तिगत अनुभवकी उत्कट भावतरंग ही गीति-काव्यका निर्माण करती है और उत्कट भावना दीर्घ कालतक टिक नहीं सकती। फलस्वरूप, आज काव्य-क्षेत्रमें स्वल्प गीतोंका प्राधान्य है। इस उदाहरणसे यह स्पष्ट है कि कविताके सम्यक् अध्ययनके लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोणकी आवश्यकता है। नयी कविताके प्रति जो आज कुत्साका भाव है वह इसीलिए कि हम उसे नये सामाजिक परिवेशमें रखकर देख नहीं पाते।

ऐतिहासिक अध्ययनके अभावमें काव्यकी सभी व्याख्याएँ एकांगी, अतः अपूर्ण बन गयी हैं। उनमें सम्प्रदायाग्रह ही अधिक है। आज इस प्रकारका अतिवाद सम्भव नहीं है और काव्यके सम्बन्धमें नयी दृष्टिकी आवश्यकता है। यह नयी दृष्टि सार्वभौमिक होगी, साम्प्रदायिक नहीं। —रा० म०

काव्य-कला—काव्यमें अनुभूतिकी प्रधानता है और क्रोचे-के अनुसार अनुभूति ही अभिव्यंजना है। फलस्वरूप, काव्य-कलाका वास्तविक स्वरूप कविके मनका सौन्दर्य-बोध है और उस सौन्दर्य-बोधको कला-माध्यमों द्वारा तद्वत् रूप देना ही श्रेष्ठ कला है। इस चिन्तन-पद्धतिमें 'कला' काव्यसे निचले स्तरकी चीज है। कला-माध्यमों द्वारा जो हमें मिलता है वह कवि कलाकारके मनके सौन्दर्य-बोधसे कुछ कम, कुछ हीन ही होता है। प्राचीनोंने काव्यको कलासे अलग रखकर अपनी सुरुचिका परिचय दिया है और चौंसठ कलाओंकी गणना करते हुए 'समस्यापूर्ति,' 'अक्षरच्युतक' और 'मात्राच्युतक' आदि कविकर्मके भीतर उल्लिखित किये हैं। परन्तु आधुनिक संदर्भमें हम कविताके बहिरंगसे सम्बन्धित कौशलको काव्यकलाका नाम देते हैं। फलतः काव्यानुभूतिके स्थिरीकरणके लिए जिन प्रतीकात्मक उपकरणोंका उपयोग होता है वे काव्यकलाका निर्माण करते हैं। काव्य-कलाको हम रचना-कौशल कह सकते हैं। कविके हेतुके अनुरूप कविता कहीं कल्पनामय, कहीं भावनामय और कहीं विचारात्मक होती है। रस-पोषणके लिए भी कवि अनेक युक्तियोंका प्रयोग करते हैं। रचनाका लघु-दीर्घ आकार, अनुभूतिके वेग एवं उसकी व्याप्तिपर आधारित है। वास्तवमें काव्य-कलाका क्षेत्र बड़ा व्यापक है और उसका एकमात्र मापदण्ड यह है कि उसके द्वारा रसोत्कर्ष होता है कि रसापकर्ष।

काव्य-कलाका सम्बन्ध रचनाके विविध अंगोंसे है। पहली वस्तु जिसपर हमें विचार करना है वह पार्श्वभूमि है। कवितामें पार्श्वभूमिका उपयोग इस प्रकार होता है कि वर्ण्य वस्तुके स्थापन एवं निर्वाहकी एक योजना कवि प्रारम्भमें अपने मनमें बना लेता है और पश्चात् उस पार्श्वभूमिसे तिलभर भी हटना उसके लिए सम्भव नहीं है। पार्श्वभूमिका विशद उपयोग चित्र-कलामें होता है, परन्तु काव्य-कलामें भी सीमित रूपसे उसका उपयोग होता है। उदाहरणस्वरूप, गीताके उपदेशकी पृष्ठभूमिके लिए कुरु-पाण्डव-सेनाओंकी तैयारी और सज्जाका विशद पार्श्वपट 'महाभारत'में उपस्थित किया गया है। यह पार्श्वभूमि कभी मूल विषयकी संवादी रहती है और कभी विरोधी पद्धतिपर सज्जित की जाती है। विरोधी पद्धतिपर प्रतिष्ठित पार्श्वभूमि अधिक आकर्षक होती है, क्योंकि उसमें विषयान्तर्गत द्वन्द्वका आभास मिलता है।

कहीं-कहीं प्रकृतिको भी पार्श्वभूमिके लिए चित्रित किया जाता है, विशेष रूपसे उद्दीपनके अन्तर्गत अथवा भावारोपमूलक पद्धतिमें, जिसे अँग्रेजीमें 'पैथेटिक फ़ैलेसी' कहते हैं। काव्य-कलामें प्राकृतिक संदर्भों और प्रतीकोंका अप्रतिम महत्त्व है।

काव्य-कलाका एक अन्य उपकरण, वातावरण निर्माण है। यह निर्माण रस-परिपोषका सहायक होता है। परिपार्श्व (पार्श्वभूमि)की अपेक्षा वातावरणकी योजना अधिक श्रमसाध्य है। रसग्रहणकी अनुकूल मनःस्थितिकी निर्मितिमें वातावरण सबसे अधिक सहायक होता है। कभी-कभी किन्हीं संकेतों अथवा उल्लेखोंसे एक उदात्त भावनाका निर्माण हो जाता है, परन्तु ये संकेत या उल्लेख विशिष्ट होते हैं अथवा स्थानिक विवरणसे उन्हें ग्रहण किया जाता है। वास्तवमें संवादी वातावरणका निर्माण काव्य-कलाकी सर्वोपरि साधना है, जैसे, करुण रसके प्रसंगमें करुण रसका परिपोषक वातावरण अनिवार्य है। उसके अभावमें रसा-स्वादन अपूर्ण रहेगा। वातावरण-निर्माणमें कल्पना सबसे अधिक सहायता करती है। पौराणिक और ऐतिहासिक सन्दर्भोंका उपयोग भी वातावरणको पुष्ट करता है।

काव्य-कलाका तीसरा तत्त्व वर्णन है। वर्णन स्वयं एक सम्पूर्ण कला है। महाकाव्य, कथाकाव्य और खण्डकाव्यमें वर्णनोंकी प्रधानता रहती है। प्रेम-विलासका वर्णन, नायक-नायिकाके सौन्दर्यका वर्णन, प्रकृति-वर्णन, स्वयंवर-वर्णन, युद्ध-वर्णन इत्यादि महाकाव्य-प्रथित वर्णनोंकी साहित्यमें भरमार है। गीतिकाव्यमें वर्णन सांकेतिक और मधुर होता है। वर्णनमें अलंकारोंका उपयोग आवश्यक नहीं है, क्योंकि इससे कृत्रिमताका आभास हो सकता है। वर्णनका एक सूक्ष्म रूप भी है जो हलचल, स्थल और व्यक्तिके वर्णनसे अलग अन्तर्द्वन्द्व अथवा मनःशौर्यतक सीमित है। वक्तृत्वपूर्ण वर्णनोंकी एक सुन्दर परम्परा वीर-काव्य और धार्मिक-काव्यमें दिखलाई देती है। आधुनिक काव्यमें वर्णन सांगोपांग नहीं किया जाता क्योंकि ऐसे वर्णनमें अद्भुत रस और अलंकार-प्राचुर्यको स्थान नहीं मिल सकता। अतः नया कवि वर्णनकी सहेतुकताका अधिक कायल है और प्रसंगके अनुरूप दो-चार रेखाओंमें ही समग्रताका

आभास देनेकी चेष्टा करता है।

काव्यकलाका एक अन्य तत्त्व शब्द-चित्र है। व्यक्ति अथवा प्रसगके मूर्तिमन्त चित्र श्रेष्ठ काव्यकी विशेषता हैं। शब्द-चित्र काव्य-रसिकको विशेष आनन्द देते है, क्योंकि उनके द्वारा सूक्ष्म सौन्दर्यकी प्रतीति होती है। यह आवश्यक नहीं है कि शब्द-चित्र दृश्यगत सौन्दर्यसे ही सम्बन्धित हों, सूक्ष्म मानसिक तारतम्यका भी उनमें सकेत मिल सकता है, जैसे 'प्रसाद'के 'आँसू' काव्यमें। शब्द-चित्रका सूक्ष्म होना आवश्यक है, क्योंकि सूक्ष्म वर्णनसे ही शब्द-चित्र साकार होता है।

पुनरुक्ति भी काव्य-कलाका एक प्रमुख अंग है। सामान्य पुनरुक्ति दोषके अन्तर्गत आती है, परन्तु जहाँ कल्पना, भावना या विचारको वल देने या मूर्तिमान् करनेके लिए उसका उपयोग होता है, वहाँ वह कलात्मक हो जाती है। गीतिकाव्यमें ध्रुवपदकी पुनरुक्ति गीतिके भावसौष्ठवका प्रमुख अग मानी जाती है। काव्य-सज्जाको लेकर अनेक विशिष्ट पद्धतियोंका निर्माण हुआ है और परिणामस्वरूप काव्यकलामें नये अध्याय जुडे हैं। प्रत्येक युग काव्यके द्वारा युगके नये उपादानोंको अपना सस्कार वनाता है, अत नये भाव-विकास एव नये सस्कारोंके कारण काव्यके कलापक्षका नित-नूतन विन्यास होता रहता है। विविध काव्य-प्रकार विविध काव्यकलाके सूचक हैं। भावगीत, नाट्यगीत, गजल, रुबाई, सानेट, मुक्तक जैसे अनेक नये कलारूप आधुनिक काव्यके अग वन गये हैं। काव्यकलाका मर्यादित रूप महाकाव्य और खण्डकाव्यमें सुरक्षित है, तो उसका स्वच्छन्द रूप प्रगीतकाव्य एव मुक्त छन्दमें प्रकट हुआ है। नये काव्यरूप रसग्रहणके क्षेत्रमें नयी समस्याएँ लेकर आते हैं और इसलिए प्रत्येक युगमें कवि-कौशलका रूप वदलता रहता है —रा० भ०

काव्य-दोष—सस्कृत साहित्य शास्त्रमें प्रारम्भसे ही दोष-विवेचन मिलता है। भरतने (४ श० ई०) 'नाट्यशास्त्र'में (१७ . ८८, ९४) केवल इतना ही लिखा है कि दोषकी स्थिति भावात्मक है, गुण उसका विपर्यय है। भामहने (७ श० ई०) 'काव्यालंकार'में (परि० ४) कहा है कि काव्यमें सत्कवि इसका प्रयोग नहीं करते। दण्डीने (७ श० ई०) 'काव्यादर्श'में (परि० १ दोषनिन्दा) सामान्य दोषके विषयमें केवल दो वातें कही हैं १ दोष काव्यमें विफलताके कारण होते हैं तथा २ विद्वानोंको काव्यमें इनका परिहार करना चाहिये। अग्निपुराणमें कहा गया है कि दोष उद्वेगजनक है। वामनने (९ श० ई० मध्य) 'काव्यालकारसूत्र'-(अधि० २ : अ० १२)में दोषके लक्षणोंका विवेचन करते हुए वतलाया है कि दोषके अन्तर्गत उन तत्त्वोंकी गणना होती है, जो काव्य-सौन्दर्यकी हानि करते हैं। मम्मटके (११ श० ई० उत्त०) 'काव्यप्रकाश' (उल्लास ७)-के अनुसार मुख्य अर्थका जिससे अपकर्ष हो उसे दोष कहते हैं। उद्देश्यकी प्रतीतिका विघातक होना ही मुख्यार्थका अपकर्ष है। यह मुख्य अर्थ है रस और उसके आश्रयसे गौण रूपमें वाच्य भी। विश्वनाथने (१३, १४ श० ई०) 'साहित्यदर्पण'(परिच्छेद ७)में इसी वातको और भी सरल ढंगसे कह दिया है कि जिससे मुख्य अर्थका अपकर्ष हो वह दोष है। इस प्रकार जो रसका अपकर्षण करे अथवा हानि करे वह दोष है। रसकी हानि तीन प्रकारसे सम्भव है १ रसकी प्रतीतिमें विलम्व द्वारा, २ अवरोध द्वारा और ३ रस-प्रतीतिके पूर्ण विघात द्वारा। साराश यह कि मूल रूपमें रस और गौण रूपमें शब्द और अर्थके अपकर्ष द्वारा काव्यका अपकार करनेवाले तत्त्व दोष कहलाते हैं। 'काव्य-प्रकाश'के 'प्रदीप' टीकाकारका कथन है कि उद्देश्यकी प्रतीतिके विघातक तत्त्वोंको दोष कहते हैं। इसके अन्तर्गत सभी प्रकारके विषय आ जाते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे रसके ही परिपाककर्ता होते हैं।

हिन्दीके आचार्योंमें केशवने 'रसिकप्रिया' (१५९१ ई०) तथा कविप्रिया(१६०१ ई०)में दोषके तीन वर्ग तथा उनके भेदोंका उल्लेख किया है, पर उसके सामान्य लक्षणका विवेचन नहीं किया है। वैसे केशव काव्यमें दोषको असह्य मानते हैं—'प्रभु न कृतघनी सेइये, दूषण सहित कवित्त।' चिन्तामणिने 'कविकुल कल्पतरु'(१६५० ई०)के चौथे अध्यायमें दोषोंका वर्णन किया है। इसका अधिकाश आधार 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' है। तोषनिधिने 'सुधानिधि(१६३४ ई०)में रसदोषका चित्रण किया है। जसवन्तसिंह, पद्माकर, मतिराम तथा भूषणके ग्रन्थोंमें दोषोंका उल्लेख नहीं है। कुलपति मिश्रने 'रसरहस्य'के (१६७० ई०), जिसका आधार 'काव्यप्रकाश' है, पाँचवें वृत्तान्तमें दोषोंपर विचार किया है। इन्होंने काव्यप्रकाशके आधारपर लगभग सभी दोषोंके लक्षण एव उदाहरणों और अन्तमें दोष-समाधानके अन्तर्गत उन दोषोंको दूर करनेके उपायोंका वर्णन किया है। इन्होंने विवेचनमें बड़ी ही क्षमता दिखलायी है। इनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। देवने 'काव्यरसायन'(१७०२ ई०)में रसदोषका विवेचन किया है।

सूरति मिश्रने 'काव्यसिद्धान्त'(१८ श० पूर्वा०)में दोषों तथा उनको दूर करनेके उपायपर विचार, 'दोषाकुश' शीर्षकके अन्तर्गत अधिक विस्तारसे किया है। यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। काव्यशास्त्रके सभी अंगोंपर प्रकाश डालनेके कारण सूरति मिश्रकी गणना हिन्दी काव्यशास्त्रके प्रधान आचार्योंमें होती है। कुमारमणि भट्ट कृत 'रसिकरसाल'-(१७१९ ई०)का आधार 'काव्यप्रकाश' है। लगभग सभी काव्यागोंपर इसमें विवेचन किया गया है। इसमें दोषोंका भी विस्तृत वर्णन मिलता है।

श्रीपति प्रमुख आचार्योंमें हैं। इन्होंने दोषोंका विवेचन विस्तृत और स्वतन्त्र रीतिसे किया है। इन्होंने उदाहरणोंके लिए केशव तथा अन्य कवियोंके पद्योंको रखा है। इनके 'काव्यसरोज'(१७२० ई०)के चतुर्थ दलमें दोषोंका वर्णन है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने दोषोंकी यह परिभाषा की है—'जा पदार्थके दोष ते आछे कवित्त नसाइ। दूपन तासों कहत है श्रीपति पण्डित राइ।' (प्रथम दल १३, १५, १७)। इन्होंने 'काव्यसरोज'में दोषोंका वर्णन संक्षेपमें किया है, पर इनके 'कवि-कल्पद्रुम'(१७२३ ई०)में अधिक विस्तारसे वर्णन मिलता है। अन्य कवियोंकी कवितामें दोष दिखाकर श्रीपतिने अपनी सूक्ष्म दृष्टिका परिचय दिया है।

सोमनाथका 'रसपीयूषनिधि' (१७३७ ई०) काव्य-शास्त्रका एक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें दोषोंका वर्णन है। यह ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश'के आधारपर है। इसकी बीसवीं तरंगमें दोषोंके लक्षण और उदाहरण बड़े ही सुव्यवस्थित ढंगसे दिये गये हैं। भिखारीदासके 'काव्य-निर्णय'(१७४६ ई०)में दोषोंका सुव्यवस्थित एवं विस्तृत वर्णन 'काव्यप्रकाश'के आधारपर है। रतन कविने 'फतेह भूषण'(१७७३ ई०)में दोषोंका विस्तृत वर्णन किया है। जनराज कृत 'कवितारसविनोद'के (१७७६ ई०) ९वें विनोदमें दोषोंका विस्तृत वर्णन है। जगतसिंहके 'साहित्यसुधानिधि'का आधार 'चन्द्रालोक,' 'नाट्यशास्त्र,' 'काव्यप्रकाश,' 'साहित्यदर्पण' आदि हैं। उसकी दशम तरंगमें दोषोंका वर्णन है। अधिकांश दोष 'काव्यप्रकाश'के ही आधारपर हैं। जगतसिंहने दस दोषोंका वर्णन किया है और इनका विचार है कि अन्य सभी इनके अन्तर्गत आ जाते हैं।

यान कविका 'दलेल प्रकाश' (१७८३ ई०), रसिक गोविन्द-कृत 'रसिक गोविन्दानन्दघन' तथा ग्वाल कवि-कृत 'दूषणदर्पण'(१८३३ ई०)में भी दोषोंका विवेचन मिलता है। लछिराम-कृत 'रावणेश्वर कल्पतरु'(१८९० ई०)में भी दोषोंका निरूपण है। इसमें चार प्रकारके दोष—१ शब्द-दोष, २. वाक्य-दोष, ३ रस-दोष तथा ४ अर्थ-दोषका सविस्तर वर्णन है। इन्होंने केशव द्वारा 'कविप्रिया'में वर्णित अनेक दोषों, जैसे, वधिर, मृतक, दुष्ट आदिपर स्पष्ट प्रकाश डाला है। केशवके समान इनका आधार 'चन्द्रालोक' है। कन्हैयालाल पोद्दारकी 'रसमंजरी' (१९३४ ई०), सीताराम शास्त्री-कृत 'साहित्यसिद्धान्त'(१९३३ ई०)में भी दोषोंका उल्लेख मिलता है। विहारीलाल भट्ट-कृत 'साहित्यसागर'(१९३७ ई०)में भी कुछ दोषोंका उल्लेख है।

भरतने दोषोंकी संख्या दस मानी है। 'अग्निपुराण'में मुख्य तीन दोष और उनके कुछ भेद निरूपित किये गये हैं। भामहने तीन प्रकारके दोष माने हैं १. सामान्य दोष ११, २. वाणी दोष ४ तथा ३ अन्य दोष ११ स्वीकार किये हैं। इनके अनुसार ये समस्त दोष एक दूसरेमें समन्वित होकर ११ रह जाते हैं। दण्डीने ११ दोषोंका उल्लेख किया है। वामनने दोषोंका निरूपण कुछ अधिक किया है। उन्होंने दोषोंके शब्दगत और अर्थगत भेद किये हैं। फिर इन्हें पददोष, पदार्थदोष, वाक्यदोष तथा वाक्यार्थदोषमें विभाजित किया है। इन्होंने शब्दगतके तीन भेद १ पदगत, २. पदार्थगत, ३ वाक्यगत तथा अर्थगतके दो भेद १ पदार्थगत और २. वाक्यार्थगत किये हैं। मम्मटने 'काव्यप्रकाश'में दोषोंका अधिक स्पष्ट विवेचन किया है। इन्होंने तीन प्रकारके काव्यदोष माने हैं, १ शब्ददोष ३७, २. अर्थदोष २३, ३. रसदोष १०। पदगत, पदांशगत और वाक्यगत दोष शब्ददोषके अन्तर्गत ही परिगणित कर दिये गये हैं। 'ध्वन्यालोक'(९ श० ई० उत्त०)में रसविषयक दोषोंके निरूपणमें दोषशब्दके स्थानमें 'अनौचित्य' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'ध्वन्यालोक'-का अनुसरण करते हुए क्षेमेन्द्रने इसी विषयपर 'औचित्य-विचारचर्चा' (१०६३ ई०) नामक ग्रन्थ लिखा है। भोज-(११ श० ई० पूर्वा०)ने वाक्यदोषोंके अन्तर्गत अरीतिमत्को विपर्ययदोष माना है तथा रसदोषकी अनित्यताके आधार-पर उन्होंने वैशेषिक गुणोंकी कल्पना कर डाली है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में दोषोंका अधिक विवेचन किया है, किन्तु वह 'काव्यप्रकाश'पर ही अवलम्बित है।

—टी० सिं० तो०

काव्य-पाक—कविशिक्षा(दे०)के अन्तर्गत प्रचलित शब्द। वामनके अनुसार 'गुणोंकी स्फुटता और पूर्णताको काव्य-पाक कहते हैं, इसकी उपमा आमके पकनेसे दी जाती है' (काव्यालंकारसूत्र . ३ : २ का संग्रहश्लोक १)। राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'के पाँचवें अध्यायमें काव्य-पाक-पर विस्तृत विचार किया है। उनका कहना है कि 'निरन्तर अभ्याससे सुकविका वाक्य परिपक्वता प्राप्त करता है।' अपने पूर्वाचार्योंका मत उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा है कि मंगलके मतानुसार सुप् (संज्ञापद) एवं तिङ्(क्रियापद)-के परिज्ञानसे परिपक्वता आती है, इसे 'व्युत्पत्ति' भी कहते हैं। परन्तु आचार्य सौशब्द्य(ठीक शब्दोंके सन्निवेश-की योग्यता)को, शब्दोंके ऐसे सन्निवेशको कि उन्हें हटाकर दूसरे शब्द न रखे जा सकें, काव्य-पाक कहते हैं। वामनने पदोंकी इस परिवृत्ति असहिष्णुताको 'शब्द-पाक' कहा है, परन्तु राजशेखरकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी इस मतका खण्डन करते हुए कहती हैं कि 'यह 'पाक' नहीं अपितु कविकी अशक्ति है, क्योंकि महाकवियोंके एक ही वस्तुके विभिन्न शब्दोंमें किये वर्णन परिपक्वतासे पूर्ण होते हैं। इसलिए रसके अनुरूप शब्दार्थोंसे पदरचना करना ही 'पाक' है।'

वामनने वृन्ताक-पाक(बैंगन जैसी परिपक्वता)का उल्लेख किया है 'जिसमें केवल सुप्-तिङ्(नामपदों एवं क्रियापदों)का संस्कार ही सारभूत हो और वस्तु(अर्थ)-गुण क्लिष्ट हो, ऐसे काव्यको वृन्ताक-पाक कहते हैं। लोग इससे घृणा करते हैं' (काव्यालंकारसूत्र . ३ : २ : २)। राजशेखरने ९ प्रकारके काव्य-पाक बताये हैं—१ पिचुमन्दपाक, जो आदि और अन्तमें अस्वादु हो, २. बदरपाक, जो शुरूमें अस्वादु परन्तु परिणामतः मध्यम कोटि-का हो, ३. मृद्वीकापाक, जो प्रारम्भमें अस्वादु परन्तु परिणाममें स्वादु हो, ४ वार्ताकपाक, जो आदिमें मध्यम तथा परिणामतः अस्वादु हो, ५ तिन्तिडीकपाक, जो आदि-अन्तमें मध्यम कोटिका हो, ६ सहकारपाक, जो प्रारम्भमें मध्यम परन्तु अन्तमें स्वादु हो, ७ क्रमुकपाक, जो आदिमें उत्तम परन्तु अन्तमें अस्वादु हो, ८ त्रपुसपाक, जो आदिमें उत्तम परन्तु अन्तमें मध्यम हो, ९. नालिकेरपाक, जो प्रारम्भसे अन्ततक स्वादु हो। इनमेंसे १, ४, ७ संख्यावाले त्याज्य, २, ५, ८ संस्कार्य तथा ३, ६, ९ उपादेय हैं (का० मी० : अध्या० ५)।

—म० प्र० ल०

काव्य-पुरुष (सारस्वतेय)—कवि-शिक्षा(दे०)के अन्तर्गत कविकी कल्पना। 'सारस्वतेय'का अर्थ है सरस्वतीका पुत्र। राजशेखरने इसको 'काव्य-पुरुष' भी कहा है। सारस्वतेयके जन्मकी कथा 'महाभारत'में दो रूपोंमें मिलती है, एक तो यह कि भगवान्‌ने सरस्वतीसे एक पुत्र 'सारस्वतेय' उत्पन्न किया और उसे वेदाध्ययन करने तथा संसारमें वेदोंका

प्रचार करनेका आदेश दिया (शान्तिपर्व, अध्या० ३५९); दूसरा यह कि एक बार ऋषि दधीचि अलम्बुसा नामक एक अप्सराको देखकर विचलित हो उठे और सरस्वती नदीमें उनका वीर्यपात हुआ, जिसके फलस्वरूप सरस्वतीने एक पुत्रको जन्म दिया। सरस्वती इसे दधीचिके आश्रममें छोड़ आयी, सारस्वतेयने वेदाध्ययन किया और जब एक बार बारह वर्षके दुर्भिक्षके फलस्वरूप ऋषिगण वेदोंको भूल गये तब सारस्वतेयने उन्हें पुन वेद पढाया (शल्यपर्व अध्या० ५२)। 'वायुपुराण'में सारस्वतेयकी कथा इस रूपमें मिलती है कि ब्रह्माके प्रथम पुत्र भृगु अथवा कविकी पौलोमीसे एक पुत्रकी प्राप्ति हुई, जिसका नाम च्यवन रखा गया। च्यवनके दो पुत्र हुए—दधीचि और आलवान। दधीचिने सरस्वतीसे विवाह किया और इस दम्पतीने सारस्वतेयको जन्म दिया। उसने अपनी माताके आशीर्वाद-से समग्र शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया (अध्या० ६५)। बाणभट्टने 'हर्षचरित'के प्रथम उच्छ्वासमें सारस्वतेयकी कथा दी है, जो वायुपुराणकी कथासे मिलती है। राजशेखरने सारस्वतेयके जन्मकी कथा यह दी है कि एक बार सरस्वती पुत्रेच्छासे हिमालयमें तपस्या कर रही थी। उसकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर ब्रह्माने उसे एक पुत्र प्रदान किया। यह सारस्वतेय काव्यपुरुष कहलाया। इससे छन्दोमयी वाणी निःसृत हुई और काव्य-शास्त्रका प्रवर्तन हुआ (का० मी० अध्या० ३)। —म० प्र० ल०

काव्य-रूप—दे०—'साहित्य-रूप'।

काव्य-लक्षण—भरत(३ श० ई०)ने अपने 'नाट्यशास्त्र'में काव्य-बन्धकी शोभा बढानेवाले ३६ लक्षणोंका वर्णन किया है। अभिनवगुप्तके समयमें इन काव्य-लक्षणोंके दो रूप प्रचलित हो चुके थे, जिनमें पर्याप्त अन्तर है। वस्तुत ये लक्षण अलकार तथा गुणसे भिन्न हैं। भरतने इसी अध्याय (१६ अथवा १७)में अलकार, दोष तथा गुणकी चर्चा की है। यहाँ लक्षणका भाव 'महापुरुषके लक्षण'के समान समझना चाहिये। लक्षणोंकी इस सूचीमें कई नाम, उदाहरण, हेतु, सशय, दृष्टान्त, निदर्शन, तुल्यतर्क, माला, अर्थापत्ति, लेश आदि ऐसे हैं जिनको इन्हीं नामोंके अलकारोंके मूलमें माना जा सकता है। पर शब्दसाम्यके अतिरिक्त व्याख्या सम्बन्धी कोई साम्य इनमें परिलक्षित नहीं होता, यह इनकी परिभाषाओंसे स्पष्ट है। परन्तु इनपर विचार करनेमे ओमप्रकाशके इस मतमें सत्यका अंश जान पडता है—'यूनानी काव्यशास्त्रके अनुसार अलंकार उन विधानोंका नाम है जिनके प्रयोग द्वारा श्रोताओंके मनमें वक्ता अपनी इच्छाके अनुकूल भावना जगाकर उनको अपना समर्थक बना सकता है। भरतके 'काव्यविभूषण'में भी वे युक्तियाँ हैं जिनका प्रयोग वक्ताको दूसरेके समक्ष अधिक सफल सिद्ध कर सकेगा' (हि० अ० सा० पृ० ६, ७)। यूनानके विचारकों तथा काव्यशास्त्रियोंने वक्तृत्व-कलापर विस्तारसे विचार किया है और इस कलाको उन्होंने काव्य और नाट्यकलाके समकक्ष प्रतिष्ठा प्रदान की है। उनके (साक्रेटीज तथा अरस्तू आदि) द्वारा प्रतिपादित इस कलाके विभिन्न तत्त्वोंपर विचार करनेसे प्रस्तुत काव्य-लक्षणोंसे इनकी समताका आभास अवश्य मिलता है। यहाँ भरतका 'काव्य'से अभिप्राय निश्चय ही दृश्यकाव्य है जिसमें गद्यका प्रयोग आवश्यक है। अतएव इन लक्षणोंका अभिप्राय भाषण-शैली अथवा कथोपकथन-शैलीकी विशेषताके रूपमें अवश्य समझा जा सकता है।

१ **भूषण** रचनाको अलकरणके समान अनेक अलकारों तथा गुणोंसे विभूषित करना 'भूषण' लक्षण है। अरस्तूके अनुसार वक्तृत्वकला तथा गद्यशैलीमें आलकारिक प्रयोगसे अनेक गुण, सौष्ठव तथा चमत्कार उत्पन्न हो जाते हैं। २. **अक्षरसंघात** • जब कुछ श्लिष्ट अक्षरोंके प्रयोगसे विचित्र अर्थकी अभिव्यक्ति होती है, उसे अक्षरसंघात कहा जाता है। यह लक्षण भी वाक्कौशलका अंग है। ३ **शोभा** सिद्ध अर्थकी समतामें असिद्ध अर्थके प्रयोग द्वारा श्लेषार्थसे सुन्दर तथा विचित्र अथवा विशिष्ट अर्थ व्यक्त किया जाना 'शोभा' है। अरस्तूने भी स्पष्टता तथा औचित्य-पर विचार करते हुए स्वीकार किया है कि अपनी वार्ताको आकर्षक तथा सुन्दर बनानेके लिए अप्रचलित शब्दोंका प्रयोग अपेक्षित है, पर इस विषयमें सावधानी अपेक्षित है। ४ **उदाहरण** समान अर्थवाले वाक्योंके प्रदर्शनसे निपुण जनोंका अपना अभिप्राय सिद्ध करना 'उदाहरण' कहलाता है। आइसाक्रेटीज तथा अरस्तूके प्रमाणके अन्तर्गत यह स्वीकृत है। ५ **हेतु** • प्रयोजनके औचित्यके अनुसार इष्ट अर्थको सिद्ध करनेवाला मनोहर तथा सक्षिप्त वाक्य 'हेतु' है। आइसाक्रेटीजके 'औचित्य'में यह आ सकता है। ६. **संशय** : विचारोंकी सकुलताके कारण अनेक दृष्टियोंसे जब प्रस्तुत अर्थको बिना पूर्णत प्रकट किये ही वाक्यको समाप्त कर दिया जाता है, तब उसे संशय कहते हैं। स्पष्ट ही यह वक्तृत्वकलाका एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग है और प्लेटोने भाषण-कला ही नहीं वरन् समस्त कलाओंके समुचित प्रयोगके लिए मनोविज्ञानका अध्ययन उपयोगी माना है। ७ **दृष्टान्त** अपने पक्ष तथा प्रतिपाद्य तथ्यको सिद्ध करनेवाले हेतुको प्रकट करनेवाला वचन दृष्टान्त कहलाता है। स्पष्टतया यह तर्कपर आधारित लक्षण है। ८. **प्राप्त** • कुछ अशोंको देख या जानकर सारे भावका अनुमान करना 'प्राप्त' है। इसका आश्रय नाटक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये लक्षण नाट्यकाव्यसे अधिक सम्बद्ध हैं। ९ **अभिप्राय** • सादृश्य द्वारा अभूतपूर्व अर्थको भी लोकके लिए हृदयग्राही कल्पनाका विषय बना देना 'अभिप्राय' कहलाता है। यूनानी आचार्योंने इस प्रयोगको स्वीकार किया है—'यह सर्वसिद्ध है कि अपरिचित शब्द प्रचलित अलंकार अथवा परिचित शब्द और अप्रचलित अलंकारके सम्मिश्रणसे वाक्यमें नवजीवन आ जाता है' (एस० पी० खत्री : आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त, पृ० ६५)। १० **निदर्शन** • प्रसिद्ध अर्थको प्रतिष्ठित करके, विरोधी मतको अस्वीकार करना निदर्शन है। ११ **निरुक्त** • किसी निर्दोष वाक्यके पूर्वकथनको प्रमाणित करनेके लिए कहा गया वचन निरुक्त है। १२ **सिद्धि** अभिप्रेत अर्थको सिद्ध करनेके लिए पूर्ववक्ताओं अथवा प्रधान जनोंके नामका उल्लेख सिद्धि कहलाता है। १३ **विशेषण** बहुत-से सिद्ध तथा प्रधान अर्थोंका कथन

करके उनसे भिन्न विशिष्ट वचनका प्रतिपादन करना विशेषण कहा जाता है। १४ **गुणातिपात** : विपरीत अर्थोंमें प्रयुक्त निष्ठुर व्यंजनावाले मधुर वचनोंमें अनेक गुणोंका कथन गुणातिपात कहा जाता है। १५ **अतिशय** : साधारण जन-सुलभ अनेक गुणोंका कथन करके विशेष गुणोंका कथन करना अतिशय है। १६. **तुल्यतर्क** : समानार्थ रूपक तथा उपमान द्वारा प्रत्यक्ष अर्थको स्पष्ट करना तुल्यतर्क कहलाता है। १७ **पदोच्चय** अनेक प्रयुक्त पदोंका अनेक दूसरे पदोंके साथ उसी अर्थकी सिद्धिके लिए जब विस्तार किया जाता है, उसे पदोच्चय कहते हैं। १८. **दृष्ट** देश, काल तथा परिस्थितिके अनुरूप प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष वस्तु या घटनाका वर्णन दृष्ट है। १९ **उपदिष्ट** : विद्वान्-जनोंको प्रसन्न करनेवाला शास्त्रकी साक्षीपर कहा गया अपना वचन उपदिष्ट है। २०. **विचार** : पूर्व-प्रसगके अनुकूल भ्रमनिवारण करनेवाला बौद्धिक साधनोंसे युक्त तत्त्व-चिन्तन 'विचार' नामसे प्रसिद्ध है। २१ **विपर्यय** : प्रत्यक्षको देखकर सन्देहके कारण विचार-पद्धतिके विपरीत चिन्तन करना विपर्यय है। २२ **भ्रंश** : विविध कारणोंसे वाच्यार्थका परित्याग करके अन्य अर्थमें शब्दका प्रयोग करना भ्रंश कहलाता है। २३ **अनुनय** : दो भिन्न मतवाले व्यक्तियोंको समान रूपसे प्रसन्न करनेवाला तथा साथ ही प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला वाक्यविन्यास अनुनय है। २४ **माला** : चाहे हुए अर्थको सिद्ध करनेके लिए किसी व्यक्तिसे उसके अनेक प्रयोजनोंका उल्लेख करना माला कहलाता है। २५ **दाक्षिण्य** : हर्षित तथा प्रसन्नमुख होकर तथा अनेक चतुर-वचनों और चेष्टाओं द्वारा किसीका अनुवर्तन (कार्य) करना दाक्षिण्य है। २६ **गर्हण** : किसी-के दोषोंका कथन करके उनको गुण सिद्ध करना, अथवा गुणोंका उल्लेख दोषके समान करना गर्हण कहलाता है। २७ **अर्थापत्ति** : वचनमाधुर्यके साथ दूसरे अर्थके कथनमें किसी अन्य अर्थकी प्रतीति अर्थापत्ति कहलाती है। २८ **प्रसिद्धि** : अनेक लोक-प्रसिद्ध कथनोंसे किसीके कृत्यों-की महत्ताका कथन प्रसिद्धि है। २९ **पृच्छा** : शास्त्रसम्मत वचनों द्वारा अपने आपसे अथवा दूसरे(काल्पनिक)से प्रश्न करके अर्थकी व्यंजना करना पृच्छा है। इस प्रकार वक्ता अपनी बातको अधिक बलपूर्वक व्यक्त करता है। ३० **सारूप्य** आकस्मिक रूपसे कुछ सुनकर अथवा देखकर सादृश्यके कारण साक्षात् कथनसे वस्तुके स्वरूपके विषयमें दूसरी वस्तुकी सम्भावनाको सारूप्य कहते हैं; अर्थात् सादृश्यके आधारपर वक्ता प्रत्यक्ष वस्तुके कथनमें दूसरी वस्तुका सकेत सम्भावित कर देता है और इस प्रकार अपने अर्थकी सिद्धि करता है। ३१. **मनोरथ** : अपने हृदय-स्थित गूढ मनोभावोंका कथन दूसरेकी स्थिति-कथनके बहाने करना मनोरथ है। ३२ **लेश** : तर्क-वागीशोंके द्वारा प्रस्तुत युक्तिपूर्वक सदृश अर्थकी सिद्धि करनेवाला कथन लेश कहलाता है। यहाँ स्पष्टत तर्क-शैलीका उल्लेख किया गया है। ३३. **संक्षेप** : निर्दोष होकर भी दूसरोंके अपराधोंको अपने ऊपर लेनेकी घोषणा करना संक्षेप है। इसीको अन्यत्र **दोष** भी कहा गया है जिसका अर्थ है विचित्र अर्थोंवाले दूसरोंके दोषोंका अपने आपके विषयमें कथन करना अथवा दूसरोंके अप्रत्यक्ष दोषोंसे आत्मकीर्तन करना। ३४ **गुणकीर्तन** : विशिष्ट लौकिक गुणोंका किसी एक व्यक्तिके सम्बन्धमें कथन करना अथवा किसी व्यक्तिके सम्पूर्ण गुणोंका कथन करके उसके दोषोंका उल्लेख न करना गुणकीर्तन कहलाता है। ३५. **सिद्धि** प्रस्तावना-मात्रसे, वास्तविक शब्दोंमें बिना उल्लेख किये निर्दिष्ट (विवक्षित) अर्थका कथन करना अथवा बोध होना सिद्धि कहलाता है। ३६. **प्रियोक्ति** : प्रसन्न मनसे पूज्य व्यक्तिके आदरके लिए अथवा हर्ष प्रकट करनेके लिए प्रयुक्त वचन प्रियोक्ति कहलाते हैं।

इस प्रकार ये काव्य-लक्षण अथवा विभूषण वस्तुत, कथन या वक्तृत्व-शैलीसे सम्बन्ध रखते हैं। आगे चलकर इस कलाका विकास इस देशमें नहीं हो सका और न ये गुण गद्य-शैलीमें ही विकसित हो सके। अतएव इनका विकास या विस्तार न सस्कृत साहित्यमें हुआ है और न हिन्दीमें। आधुनिक हिन्दी साहित्यमें गद्य-शैलीके अन्तर्गत वक्तृत्व-कलाका प्रभाव भी है, पर इसका विवेचन और अनुशीलन शास्त्रीय स्तरपर नहीं हुआ। दे०—'वक्तृत्वकला'।

[सहायक ग्रन्थ १ एस० के० डे० . पोइटिक्स; । २. ओमप्रकाश- हिन्दी अलकारसाहित्य । ३. एस० पी० खत्री। आलोचना-इतिहास तथा सिद्धान्त ।] —र०

काव्यलिंग—तर्कन्यायमूल अर्थालकार, 'काव्यलिंग'में दो शब्द हैं 'काव्य' और 'लिंग'। 'लिंग' शब्दका प्रयोग यहाँ तर्कशास्त्रके 'लिंग' शब्दसे भिन्न अर्थमें हुआ है, क्योंकि 'काव्यलिंग'के अलंकारमें चमत्कारकारक वर्णन अपेक्षित है। अत 'लिंग'से यहाँ तात्पर्य है 'हेतु' अर्थात् 'कारण'से। काव्यमें किसी बातको सिद्ध करनेके लिए जहाँ युक्ति अथवा कारणका कथन करके उसका समर्थन किया जाय वहाँ 'काव्यलिंग' अलंकार होता है। इसमें जिस बातको सिद्ध करना अपेक्षित हो उसको सिद्ध करनेके लिए चमत्कारपूर्वक उसका कारण वाक्यके अर्थमें अथवा पदके अर्थमें कहा जाता है। अत यह दो प्रकारका होता है। १ वाक्यार्थता—जहाँ सारे वाक्यके अर्थमें कारण कहा जाय। २. पदार्थता—जहाँ एक पदके अर्थमें कारण कहा जाय। सर्वप्रथम संस्कृतमें उद्भटने इसे माना है। उनके बाद मम्मट तथा रुय्यकके अनुसार जहाँ वाक्यार्थ अथवा पदार्थरूपसे हेतुका कथन किया जाय—'काव्यलिंग हेतोर्वाक्यपदार्थता' (का०प्र० . १०. ११४)। इसमें समर्थनीय अर्थका अन्य अर्थ द्वारा समर्थन किया जाता है। 'साहित्यदर्पण'की परिभाषा मम्मटके समान है।

हिन्दीमें इसका स्पष्ट उल्लेख जसवन्त सिंह द्वारा किया गया है। सोमनाथने अपने रीतिग्रन्थ 'रस-पीयूष-निधि'में जो लक्षण दिया है, वह अधिक सगत एव पूर्ण है—'समरथिबो जहँ अर्थको, कछु जुगति सों होय।' हिन्दीके आचार्योंमें इसके लक्षणके सम्बन्धमें मतभेद तथा अस्पष्टता है। मतिरामने इस अलकारको छोड़ दिया है। भूषण—'दिढाइवे जोग जो ताको करत दिढाव' (शि० भू० . २६३), पद्माकर—'अर्थ समर्थहिं जोग जो करै समर्थन तासु' (पद्मा० २००) लक्षत देते हैं। दास तथा पद्माकर आदिने इस 'जुक्तिबल' समर्थनको शब्दार्थ तथा पदार्थगत भी स्वीकार किया है, पर

दासने 'वहै निरुक्ति न आन' कहकर उन्हें एक ही माना है।

विहारीके इस दोहेमें वाक्यार्थताका उदाहरण है—'मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय। जा तनकी झाँई परै, स्याम हरित दुति होय।' (सतसई १)। प्रशंसाकी असमर्थताका कारण सारे वाक्यमें कहा गया है। तुलसीके वर्णनमें—'श्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।' (रा०च०मा०)। इसमें पूर्वार्द्धका समर्थन उत्तरार्द्धके वाक्यार्थमें प्रस्तुत युक्तिके द्वारा किया गया है। यहाँ वाक्यार्थमें कारण है। दासने कई सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—'दास जू आँनिन चन्द प्रकास ते फूले सरोज कली ह्वै जात है। ठौर ही ठौर बँधे अरबिन्द मलिन्दके वृन्द घने भननात है' (का० नि० १७)। पदार्थताका उदाहरण—सुमित्रानन्दन पतकी इन पक्तियोंमें है—'और भोले प्रेम। क्या तुम हो बने, वेदनाके विकल हाथोंसे? जहाँ, झूमते गजसे विचरते हो, वहीं, आह है, उन्माद है, उत्ताप है।' (का० द०से)। इस पद्याशमें प्रेमका वेदनाके विकल हाथोंसे बना होना सिद्ध करनेके लिए चतुर्थ पंक्तिमें 'आह है ' कारण (युक्ति) प्रस्तुत करके समर्थन किया गया है। इसी प्रकार पद्माकरका उदाहरण है—'वृथा विरस बातैं करति लेति न हरिको नाम। यह न आवरज है कछू रसना तेरो नाम' (पद्मा० - २०२)।

यद्यपि हिन्दीके भक्ति-साहित्यमें इस अलकारका प्रयोग पर्याप्त रूपमें हुआ है, किन्तु वह प्रयोग प्राय स्वाभाविक है, कलात्मक प्रयास नहीं। इसका कलात्मक प्रयोग रीतिकालीन साहित्यमें विशेष रूपसे मिलता है। स्वतन्त्र कवियोंमें घनानन्द तथा ठाकुर आदिमें तथा विहारीके भक्ति एव नीति-विषयक दोहोंमें इसका प्राचुर्य है। वस्तुत विहारीने इसकी कलात्मक योजनामें प्रशसनीय सफलता प्राप्त की है।

संस्कृतमें दण्डी तथा भोजने काव्यलिंगको 'हेतु' अलंकारके अन्तर्गत 'कारकहेतु' नामसे लिखा है। रीतिकालीन आचार्य केशवने 'कविप्रिया'में 'हेतु' अलकारका स्वरूप आचार्य दण्डीके मतानुसार निर्धारित किया है, किन्तु सम्भवत केशव दण्डीके हेतु अलंकारके स्वरूपको यथार्थतः समझ नहीं सके हैं, अत उनके उदाहरण प्राय दूषित हैं। भगवानदीनने अपनी 'अलंकारमजूषा'में 'काव्यलिंग'के लक्षणमें ज्ञापक कारण द्वारा अर्थसमर्थन माना है, किन्तु ज्ञापक कारणकी स्थिति 'अनुमान' अलंकारमें होती है, न कि 'काव्यलिंग'में।

काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यासमें अन्तर स्पष्ट है। काव्यलिंग अलकारमें एक वाक्यार्थ दूसरे वाक्यार्थपर, सिद्धिके लिए आश्रित रहता है अर्थात् इसमें वाक्यार्थको सिद्ध करनेकी अपेक्षा रहती है। जिस बातकी सिद्धि अपेक्षित रहती है उसका कारण वाक्यार्थमें अथवा पदके अर्थमें कहा जाता है। किन्तु अर्थान्तरन्यासमें वाक्यार्थ सर्वथा सिद्धि-निरपेक्ष रहता है। इसमें दो वाक्यार्थोंमें सामान्य-विशेष-भाव सम्बन्ध होता है। विश्वनाथके अनुसार हेतु तीन प्रकारका होता है, ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक। हेतुकी स्थितिमें अर्थान्तरन्यास अलकार माना जाता है, किन्तु जहाँ निष्पादक हेतु हो वहाँ 'काव्यलिंग' अलकारकी स्थिति होती है। पर वस्तुत निष्पादक तथा ज्ञापक दोनों कारण कारण ही हैं, इनमें भेद करना सदा सम्भव नहीं। जैसे विहारीके दोहे 'कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय। उहिं खाये बौराइ इहिं पायें ही बौराय'-(सतसई : १९२)में स्वर्णको धतूरेसे अधिक मादक कहनेकी बात तबतक सिद्ध नहीं होती जबतक कि दोहेके उत्तरार्द्धमें इसके कारणका कथन नहीं किया जाता। अत इस वाक्यार्थको सिद्ध करनेकी अपेक्षा रहती है। उत्तरार्द्धमें कथित कारणसे पूर्वार्द्धके वाक्यार्थकी सिद्धि होती है। अस्तु, 'काव्यलिंग'में वाक्यार्थ सिद्धि-सापेक्ष होता है और अर्थान्तरन्यासमें सिद्धि-निरपेक्ष। यही दोनोंमें सूक्ष्म अन्तर है। —वि० स्ना०

काव्य-विद्या–दे०—'साहित्य-रूप'।

काव्य-शास्त्र–संस्कृत-परम्परामें सम्पूर्ण वाङ्मय (दे०)-को शास्त्र (दे०) तथा काव्य(दे०)के दो स्वतन्त्र प्रकारोंमें विभाजित किया गया है (इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्र काव्य च। राजशेखर का० मी० , अ० २)। काव्यके अनुशीलनके लिए शास्त्रका ज्ञान आवश्यक माना गया है। राजशेखर(१० श० ई०)का कहना है कि दीपकके प्रकाशके विना पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार शास्त्र-ज्ञानके विना काव्य-ज्ञान असम्भव है। उन्होंने ही चार वेद, छ वेदाग, चार शास्त्र—इन चौदह विद्याओंके साथ काव्य-विद्याको पन्द्रहवाँ स्थान दिया है और इसे चौदहों विद्याओंका एकमात्र आधार माना है। कुछ विद्वानोंने आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति (या अर्थशास्त्र)—इन चार विद्याओंको माना है और राजशेखरने उनके साथ साहित्य विद्याको पाँचवीं विद्या माना है, जो उक्त चारों विद्याओंका सार है। उन्होंने काव्य-विद्या (पंचदशं काव्यं विद्यास्थानम् का० मी० २) तथा साहित्य-विद्याको (पंचमी साहित्यविद्या ' वही) समान अर्थ(पर्यायरूप)में ग्रहण किया है। आगे इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—'शब्द और अर्थके सहभावको बतानेवाली विद्या (शास्त्र) साहित्य-विद्या है। इस विद्याकी चौसठ उपविद्याएँ हैं, जिन्हें विद्वान् कला (दे०) कहते हैं। उपविद्याएँ या कलाएँ काव्यका जीवन हैं।' (का० मी० २)।

संस्कृत काव्य-शास्त्रके इतिहासमें सर्वप्रथम अलकार-शास्त्र(दे०)का महत्त्व रहा है। वस्तुत संस्कृत-परम्परामें बहुत समयतक अलंकार-शास्त्र काव्य-शास्त्रके पर्यायके रूपमें प्रचलित रहा है। भामह(६ श० ई०)के 'काव्यालकार,' दण्डी(६ श० ई०)के 'काव्यादर्श' तथा उद्भट-(८ श० ई०)के 'काव्यालकार-सग्रह'के नाम तथा विषय-प्रतिपादनसे स्पष्ट है कि इन आचार्योंने काव्य-शास्त्रको अलकार-शास्त्रके रूपमें ही लिया है। वामन(९ श० ई०)के 'काव्यालकार-सूत्रवृत्ति', रुद्रट(९ श० ई०)के 'काव्यालकार'में क्रमश रीति-गुण तथा रस आदिकी प्रतिष्ठा बढी है, पर फिर भी काव्य-शास्त्र सम्बन्धी इनका दृष्टिकोण प्राचीनोंसे भिन्न नहीं है। आगे ध्वनिवादी आनन्दवर्धन (९ श० ई०) तथा वक्रोक्तिवादी कुन्तक(१०-११ श० ई०)-ने अपने-अपने सिद्धान्तोंके माध्यमसे काव्य-शास्त्रका प्रतिपादन किया है। मम्मट(११ श० ई०)के 'काव्यप्रकाश'-

में व्यापक रूपसे ध्वनिके अन्तर्गत अन्य सिद्धान्तोंको ग्रहण किया गया है, और एक प्रकारसे उन्होंने उसे काव्य-शास्त्रके रूपमें स्वीकार किया है। विश्वनाथ (१४ श० ई०)ने 'साहित्यदर्पण'में इसी दृष्टिकोणको अपनाया है और काव्य-शास्त्रके पर्याय-रूप साहित्यशास्त्रको व्यापक आधारपर प्रतिष्ठित किया है। यद्यपि ऐसा इन आचार्योंने कहीं स्पष्टत उल्लेख नहीं किया है। भोजराज (११ श० ई०)के 'श्रृंगार-प्रकाश', भानुदत्तकी 'रसमंजरी' आदिमें रस-सिद्धान्तकी प्रधान रूपसे विवेचना है। इस प्रकार काव्य-शास्त्र-ग्रन्थोंमें काव्यके अंग-उपांगोंकी विभिन्न सिद्धान्तोंके रूपमें विवेचना होती रही है। इन सिद्धान्तोंके विभिन्न प्रतिपादकोंने अन्योंमें अपने सिद्धान्तको महत्त्व दिया है और कुछ अन्य आचार्योंने समन्वयके मार्गसे पूर्ण काव्य-शास्त्रकी रूप-रेखा प्रस्तुत करनेका भी प्रयत्न किया है। तार्किक तथा दार्शनिक शैलियोंका आश्रय लेकर काव्य-शास्त्रके आचार्योंने इस शास्त्रको गरिमा प्रदान की है।

हिन्दीमें भी प्रायः काव्य-शास्त्र-ग्रन्थोंकी तीन परम्पराएँ मिलती हैं। एक ऐसे ग्रन्थोंकी परम्परा जिनमें केवल अलकारोंकी व्याख्या अथवा विवेचन है, जसवन्त सिंहका 'भाषाभूषण' (१६४३ ई०), मतिरामका 'ललितललाम' (१६६१ ई०), भूषणका 'शिवराजभूषण' (१६७३ ई०) आदि। दूसरे ऐसे ग्रन्थोंकी परम्परा जिनमें रस अथवा नायिका-भेदका विवेचन है, केशवदासकी 'रसिकप्रिया' (१५९१ ई०), मतिरामका 'रसराज' (१६४३ ई०), कुलपतिका, 'रसरहस्य' (१६६७ ई०), देवका 'रसविलास' (१७२६ ई०) तथा भिखारीदासका 'रससाराश' आदि। इनके अतिरिक्त एक ऐसे ग्रन्थोंकी परम्परा है जिनमें 'काव्य-प्रकाश'के अनुसरणपर 'काव्य-शास्त्र'के विभिन्न अंगोंका निरूपण समन्वित रूपसे किया गया है, केशवदासकी 'कविप्रिया,' चिन्तामणिका 'कविकुलकल्पतरु' (१६५० ई०) तथा भिखारीदासका 'काव्यनिर्णय' (१७४६ ई०) आदि। परन्तु इनमें कई आचार्योंने दोनों या तीनों प्रकारके ग्रन्थोंकी रचना की है, अथवा उनके एक ही ग्रन्थमें कई दृष्टियाँ मिलती हैं। इस कारण सिद्धान्तगत कोई स्पष्ट दृष्टिकोण इनमें परिलक्षित नहीं होता। आधुनिक कालमें श्यामसुन्दर दास, कन्हैयालाल पोद्दार, गुलाबराय तथा रामदहिन मिश्र आदिने अपने काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थोंमें सभी अंगोंकी समुचित विवेचना की है। वस्तुतः पाश्चात्य प्रभावसे आधुनिक कालमें एक व्यापक काव्य-शास्त्रकी कल्पना अधिक स्पष्ट और विकसित हुई है। —र०

काव्य-हरण—कविशिक्षा(दे०)के अन्तर्गत 'अन्य कविके प्रयुक्त शब्दोंको अपनी रचनामें लेना 'काव्य-हरण' कहलाता है' (का० मी० : अध्या० ११)। राजशेखर (८८०–९२० ई०) पहले आचार्य हैं जिन्होंने 'काव्य-हरण'-के विविध प्रकारोंपर विस्तृत प्रकाश डाला है। उनसे पहले वामन (८०० ई० के आसपास) और आनन्दवर्धन (९वीं श० ई० उत्त०)ने काव्य-हरणका केवल सकेत मात्र किया है और कहा है कि कवियोंको इनमें प्रवृत्त न होना चाहिये। राजशेखरके पश्चात् क्षेमेन्द्र (क०कं० : द्वितीय सन्धि) तथा हेमचन्द्र(काव्यानुशासन : १ १०के विवेकमें)ने राजशेखर द्वारा वर्णित काव्य-हरणके विविध प्रकारोंका उल्लेख कवि-शिक्षाके क्रममें किया है। वाग्भट (१२ श० ई० पूर्वा०)ने कविके अभ्यासक्रममें भी दूसरे कवियोंके पदोंको लेनेकी निन्दा की है, परन्तु समस्यापूर्तिमें अन्य कवियोंके पदोंके उपयोगको कविका गुण बताया है (वाग्भटालंकार : २ : १२, १३)।

राजशेखरने पहले काव्य-हरणके दो भेद किये हैं, १ परित्याज्य, अर्थात् छोड़ देने योग्य और २ अनुग्राह्य, अर्थात् ग्रहण करने योग्य। अनुग्राह्य काव्य-हरणके विषयमें राजशेखरने अपनी पत्नी अवन्तिसुन्दरीका यह मत उद्धृत किया है कि किसी हीन कविके काव्यके किसी अंशको उत्कृष्ट रूपसे अभिव्यक्त करनेके लिए किया हुआ काव्य-हरण अनुग्राह्य है। इसके अतिरिक्त अन्य काव्य-हरण परित्याज्य हैं।

आगे राजशेखरने काव्य-हरणके दो और भेद किये हैं, १ शब्द-हरण और २ अर्थ-हरण। शब्द-हरणके भी पाँच भेद हैं—पद-हरण, पाद-हरण, अर्ध-हरण, वृत्त-हरण और प्रबन्ध-हरण। राजशेखरका कहना है कि किसी कविकी रचनाको मोल लेकर अपनी बना लेना भी काव्य-हरण ही है।

अर्थ-हरणके भी चार भेद हैं, १ प्रतिबिम्बकल्प, जिसमें अन्य कविके अर्थको वाक्यान्तरोंकी रचना कर हरण किया जाय, २ आलेख्यप्रख्य, जिसमें अन्य कविकी रचनाका ऐसा सस्कार किया जाय कि वह सर्वथा भिन्न प्रतीत हो, ३. तुल्यदेहितुल्य, विषयके भिन्न होनेपर भी नितान्त सादृश्यके कारण किसी अन्य रचनासे अभिन्न प्रतीत होना और ४. परपुरप्रवेशप्रतिम, जहाँ मूलके एक होनेपर भी वर्णन भिन्न प्रकारसे किया जाय। —भ० प्र० ल०

काव्य-हेतु—कविशिक्षा(दे०)के अन्तर्गत कविमें काव्य-निर्माणकी सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाले साधनोंको 'काव्य-हेतु' अथवा 'काव्यके कारण' कहा जाता है। वामनने 'काव्य-हेतु'के स्थानपर 'काव्यांग' शब्दका व्यवहार किया है।

भामहने काव्यहेतुके रूपमें केवल प्रतिभाका उल्लेख किया है—'गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्। काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।', अर्थात् गुरूपदेशसे जडबुद्धि भी शास्त्राध्ययन कर सकता है, परन्तु काव्य तो कोई प्रतिभावान् ही बना सकता है (काव्यालंकार १ ५)। दण्डी(६–७ श० ई०)ने प्रतिभा, शास्त्रज्ञान (व्युत्पत्ति) तथा अभ्यास तीनोंको काव्यका कारण कहा है—'नैसर्गिक प्रतिभा, विस्तृत निर्दोष शास्त्राध्ययन तथा अमन्द अभ्यास काव्यसम्पत्तिके कारण होते हैं' (काव्यादर्श : १. १०३)। रुद्रट(९ श० ई० पूर्वा०)ने भी शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति एव अभ्यासको काव्यहेतु मानते हुए कहा है—'काव्यमें असार वस्तुको दूर करने, सार ग्रहण करने तथा चारुता लानेके कारण शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास, ये तीनों स्थान पाते हैं' (काव्यालंकार : १ १४)। वामनके अनुसार 'लोक, विद्या और प्रकीर्ण काव्यांग होते हैं' (काव्यालंकारसूत्र : १ ३ १)। लोकसे आचार्यका अर्थ है लोकव्यवहार (१. ३ २), विद्याके अन्तर्गत उन्होंने शब्दशास्त्र, अभिधान, कोश, छन्द शास्त्र, कला,

कामशास्त्र तथा दण्डनीतिको लिया है (१ ३ ३)। इससे स्पष्ट है कि विद्यासे उनका अर्थ 'व्युत्पत्ति' है। प्रकीर्णके अन्तर्गत उन्होंने 'लक्षज्ञत्व (काव्यपरिचय), अभियोग (काव्यरचनाका उद्योग), वृद्धसेवा, प्रतिभा और अवधान (चित्तकी एकाग्रता)' (१ ३. ११)को लिया है। राजशेखरने काव्यहेतुकी मीमासा करते हुए श्यामदेव तथा आचार्य मंगलके मतोंका उल्लेख किया है। श्यामदेवके मतके अनुसार 'काव्यकर्ममें कविकी समाधि (मनकी एकाग्रता) सर्वोत्कृष्ट साधन है' तथा आचार्य मगल अभ्यास-को प्रधान कारण मानते हैं, परन्तु राजशेखर समाधि एव अभ्याससे उत्पन्न 'शक्ति'को ही काव्यका एकमात्र कारण मानते हैं और उसे प्रतिभा तथा व्युत्पत्तिसे बहुत दूर बताते हैं। राजशेखरका कहना है कि शक्ति ही प्रतिभा और व्युत्पत्तिको जन्म देती है (का० मी० अ० ४)।

मम्मट(११ श० ई०)ने शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति और अभ्यासके समन्वयको काव्यहेतु माना है–'शक्ति (प्रतिभा), लोकव्यवहार, शास्त्र एव काव्य आदिके परिशीलनसे प्राप्त निपुणता (व्युत्पत्ति) तथा काव्यज्ञकी शिक्षासे अभ्यास–ये उसके (काव्यके) उद्भवमें हेतु बनते हैं' (का० प्र० १ ३)। आगे इस कारिकाकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास पृथक्-पृथक् काव्यहेतु नहीं हैं, अपितु तीनों मिलकर काव्य-के हेतु बनते हैं। वाग्भट(१२ श० ई० पूर्वा०)ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यासके सम्बन्धको स्पष्ट करते हुए कहा है–'प्रतिभा उसका (काव्यका) कारण है, व्युत्पत्ति विभूषण है और अभ्यास उसके सर्जनको बढानेवाला है, ऐसा आद्यकवियोंका कथन है' (वाग्भटालकार १ ३)। हेमचन्द्र(१०८८–११७२ ई०)के अनुसार 'प्रतिभा इस-(काव्य)का हेतु है। व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभाका सस्कार करनेवाले हैं' (काव्यानुशासन १ ४)। जयदेव-(१२५० ई०)ने 'चन्द्रालोक'में इसी बातको यों कहा है–'श्रुत (व्युत्पत्ति) और अभ्याससहित प्रतिभा ही कविताका हेतु है, जैसे मिट्टी-पानीके सयोगसे बीज बढकर लताके रूपमें व्यक्त होता है' (१ ६)। कविराज जगन्नाथ-(१५९०–१६६५ ई०)का मत अन्य आचार्योंसे कुछ विलक्षण है। उनका कहना है कि 'उस(काव्य)का कारण केवल कविमें रहनेवाली प्रतिभा है' (र० ग० १ आनन)। व्युत्पत्ति और अभ्यासको वे प्रतिभाका हेतु मानते हैं–'और उस(प्रतिभा)का हेतु कहीं तो किसी देवता, महापुरुष आदिके प्रसादसे उत्पन्न अदृष्ट होता है और कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति तथा काव्यरचनाका अभ्यास' (वही)।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्राय मम्मटके 'काव्यप्रकाश' अथवा जयदेवके 'चन्द्रालोक'का आधार लिया है। सूरति मिश्र(१७०९ ई०के लगभग)ने अपने ग्रन्थ 'काव्यसिद्धान्त'में शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यासको काव्यकारण कहा है–'कारण देव प्रसाद जिहि सक्ति कहत सब कोइ। बितपति और अभ्यास मिल त्रय बिन काव्य न होइ।' और आगे इनके सम्बन्धको 'चन्द्रालोक'की उपमाको लेकर यों कहा है–'जैसे बीजरु मृत्तिका, नीर मिलै सब आन। तबहीं तरु उपजै सुत्यों इनते कविता जान।' श्रीपतिने अपने 'काव्यसरोज'(रचनाकाल १७२० ई०)में काव्यहेतुके विषयमें कहा है कि–'शक्ति निपुणता लोकमत बितपति अरु अभ्यास। अरु प्रतिभा ते होन है ताको ललित प्रकास।' शक्तिको उन्होंने सुपुण्य-विशेष कहा है और उसका प्रतिभासे भेद किया है। जगन्नाथप्रसाद 'भानु'ने अपने 'काव्यप्रभाकर'(१९१० ई०में प्रकाशित)में शक्ति, निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यासको काव्यहेतु माना है (का० प्र० २ मयूख)। बिहारीलाल भट्टने भी अपने 'साहित्यसागर'में पूर्वसस्कार (प्रतिभा), सद्ग्रन्थों-का अध्ययन (व्युत्पत्ति) और अभ्यासको काव्यकारण माना है।

१ **प्रतिभा**–भट्ट तौत(९५० ई०के लगभग)ने प्रतिभा-की व्याख्या इन शब्दोंमें की है–'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' नये-नये भावोंके उन्मेषसे युक्त प्रज्ञाको प्रतिभा कहते हैं (क्षेमेन्द्र द्वारा 'औचित्यविचारचर्चा'की कारिका ३५ की व्याख्यामें उद्धृत)। वामन(८०० ई०के लगभग)ने इसे 'जन्मान्तरसे प्राप्त कोई सस्कार' कहा है 'जिसके बिना काव्य-रचना नहीं हो सकती या होती भी है तो हास्यका कारण बन जाती है' (काव्यालकारसूत्र १. ३ १६)। रुद्रट-(८००-८५०के बीच)ने प्रतिभाके लिए 'शक्ति' शब्दका उपयोग करते हुए इसकी व्याख्या यों की है–'मनकी एकाग्रावस्थामें जिसमें अभिधेयका अनेक रूपोंमें विस्फुरण होता है और जिसमें अक्लिष्ट पद सूझ पड़ते हैं, उसे 'शक्ति' कहते हैं (काव्यालकार १. १५)। राजशेखर-(८८०-९२० ई०)के शब्दोंमें 'जो (बुद्धि) सार्थक शब्दसमूह-को, अलकारतन्त्रको, कहनेके ढगको तथा ऐसी ही अन्य बातोंको हृदयमें प्रतिभासित करती है, उसे प्रतिभा कहते हैं' (का० मी० . अ० ४)। मम्मट(११०० ई०)ने भी प्रतिभाके लिए 'शक्ति' शब्दका प्रयोग किया है और वामनके ढगपर कहा है कि 'शक्ति कवित्वका बीजरूप कोई सस्कारविशेष है, जिसके बिना काव्य प्रसृत नहीं होता और यदि हो भी तो उपहसनीय होता है' (का० प्र० १ ३)। वाग्भट(१२वीं शताब्दीका पूर्वार्ध)ने प्रतिभाकी व्याख्या इस प्रकार की है–'प्रसन्न पदावली, नये-नये अर्थों तथा उक्तियोंका उद्बोधन करनेवाली कविकी स्फुरणशील सर्वतोमुखी बुद्धिको प्रतिभा कहते हैं' (वाग्भटा-लकार १, ४)। हेमचन्द्र (१०८८–११७२) तथा जगन्नाथ-(१५९०–१६६५ ई०)ने भट्ट तौतकी ऊपर उद्धृत व्याख्या-का समर्थन किया है।

प्राय सभी आचार्योंने प्रतिभाको सहज तथा काव्यका प्रधान हेतु माना है। वामनने यद्यपि प्रतिभाको 'प्रकीर्ण'के अन्तर्गत रखा है, परन्तु इसे कवित्वका बीज मानकर इसकी महत्ता उद्घोषित की है। रुद्रट अवश्य इसके अपवाद हैं। उन्होंने प्रतिभाको उत्पाद्य भी माना है और दण्डीने यद्यपि प्रतिभाका महत्त्व स्वीकार किया है, परन्तु यह भी कह दिया है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा इसके अभाव-की पूर्ति हो सकती है।

रुद्रटने प्रतिभाके दो भेद किये हैं—सहजा अर्थात् स्वाभाविक और उत्पाद्या अर्थात् जो किन्हीं साधनोंसे (यथा शास्त्राध्ययन और अभ्यास) उत्पन्न की जा सके। राजशेखरने

भी प्रतिभा दो प्रकारकी बतायी है–'कारयित्री और भावयित्री। कविका उपकार करनेवाली प्रतिभा कारयित्री कहलाती है। इसके भी तीन भेद हैं, सहजा, आहार्या तथा औपदेशिकी। जन्मान्तरके संस्कारोंकी अपेक्षा रखनेवाली सहजा होती है, वर्तमान जन्मके संस्कारोंसे उत्पन्न आहार्या तथा मन्त्र-तन्त्रादि साधनोंसे उत्पन्न औपदेशिकी होती है। भावक-(दे०)का उपकार करनेवाली प्रतिभा भावयित्री कहलाती है। यह प्रतिभा कविके श्रम तथा अभिप्रायका बोध कराती हैं' (का० मी० : अ० ४)।

२ व्युत्पत्ति–राजशेखरने प्राचीन आचार्योंके मतका उल्लेख करते हुए व्युत्पत्तिका अर्थ 'बहुज्ञता' दिया है। यही अर्थ काव्यशास्त्रके सभी आचार्योंको मान्य है। परन्तु राजशेखरने स्वयं अपना मत यह दिया है कि 'उचित-अनुचितका विवेक व्युत्पत्ति है' (का० मी० : अ० ४)। सभी आचार्योंने व्युत्पत्तिको प्रतिभाका संस्कारक माना है (दे०—'काव्य-हेतु')। इसके अपवादस्वरूप राजशेखरने आचार्य मंगलका मत उद्धृत किया है कि 'व्युत्पत्ति (प्रतिभासे) श्रेष्ठ है' और अपना मत यह दिया है कि 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों समवेत रूपसे श्रेयस्कर हैं' (वही)।

३ अभ्यास–'निरन्तर प्रयास करते रहनेको अभ्यास कहते हैं' (का० मी० : अ० ४)। सभी आचार्योंने अभ्यासको प्रतिभाका पोषक माना है। दण्डीने प्रतिभाका सर्वोपरि महत्त्व स्वीकार करते हुए भी कहा है कि 'पूर्व-वासना-जन्य अद्‌भुत प्रतिभाके न रहनेपर भी शास्त्राध्ययन और अभ्याससे वाणीकी उपासना करनेपर वाणी अवश्य ही अनुग्रह करती है।' (काव्यादर्श : १ : १०४)।

४ समाधि–'मनकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं' (का० मी० : अ० ४)। राजशेखरने श्यामदेवका मत उद्धृत किया है कि 'काव्यकर्ममें कविको समाधि सर्वोत्कृष्ट साधन है' और स्वयं समाधिको आभ्यन्तर प्रयत्न माना है तथा इसको शक्तिका एक कारण बताया है। वामनने 'समाधि'को 'अवधान' शब्दसे अभिहित किया है (काव्यालंकारसूत्र : १ : ३ : १७)। —भ० प्र० ल०

काव्यार्थ योनियाँ–कविशिक्षा(दे०)के अन्तर्गत जिन विविध स्रोतोंसे काव्यके विषय प्राप्त होते हैं उन्हें 'काव्यार्थ योनियाँ' कहा गया है। संस्कृत काव्यशास्त्रके आचार्योंने कविका बहुज्ञ होना आवश्यक माना है और विविध शास्त्रों, कलाओं और लोक-व्यवहारोंके ज्ञानको 'व्युत्पत्ति' संज्ञा देकर, इसको एक प्रधान काव्यहेतु (दे०) माना है। भामहने शब्द-शास्त्र, छन्द शास्त्र, अभिधानोंमें प्रतिपादित अर्थ, इतिहासपर आश्रित कथाएँ, लोकवृत्त, युक्ति तथा कलाएँ—इनको काव्य-योनियाँ बताया है (काव्यालंकार : १ : ९)। वामनने लोक-ज्ञान और विद्याओंको 'काव्यांग'के अन्तर्गत रखा है (काव्यालंकारसूत्र : १ : ३ : १)। रुद्रटने भी भामहके उल्लिखित शास्त्रोंको गिनाया है। राजशेखरने अपने पूर्वाचार्योंके इस मतका उल्लेख किया है कि काव्य-योनियाँ १२ हैं—'श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या (दर्शनशास्त्र), समयविद्या (धर्म-मत), राजसिद्धान्तत्रयी (नाट्यशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र), लोकज्ञान, विरचना (कविकी अपनी बुद्धिसे कल्पित कथा या अर्थ) और प्रकीर्णक (ऊपर कहे शास्त्रोंसे अन्य शास्त्र, जैसे हस्ति-शिक्षा, रत्नपरीक्षा, धनुर्वेद, योगशास्त्र)। इसके अतिरिक्त उसने अपनी ओरसे अन्य चार बातें, उचित संयोग (वस्तुओं या अर्थोंका ठीक संयोग), योक्तृ-संयोग (वर्णित वस्तुका अन्य वस्तुओंके साथ संयोग), उत्पाद्य-संयोग (भिन्न वस्तुओंमें संयोगकी उद्भावना), संयोग-विकार (संयोगके कारण होनेवाले विकार), जोड़कर इस संख्याको सोलह कर दिया है (का० मी० : अ० ८)। इस प्रकार सभी शास्त्र, कलाएँ और वर्णन-परिपाटियाँ काव्य-योनियोंमें अन्तर्भूत हो जाती हैं। राजशेखरके परवर्ती आचार्योंमें क्षेमेन्द्र, मम्मट, वाग्भट, हेमचन्द्र इत्यादिने भी प्रायः इन सोलह काव्य-योनियोंका परिचय दिया है। —भ० प्र० ल०

काव्यार्थापत्ति–अर्थापत्तिका पर्याय है, दे०–'अर्थापत्ति'।

काव्यास्वादरोधक–दे०—'अपकर्ष'।

काव्यास्वादविलम्बक–दे०—'अपकर्ष'।

काव्योत्कर्षविनाशक–दे०—'अपकर्ष'।

किंवदन्ती–यह संज्ञा उन समस्त आख्यायिकाओंको प्राप्त है जो स्थानीय और ऐतिहासिक दोनों हैं। संस्कृत, प्राकृत, पाली आदिमें इसका कोई प्रयोग उपलब्ध नहीं है। लोकसाहित्यके अन्तर्गत किंवदन्ती उन कथाओंके लिए प्रयुक्त होता है जो विपर्यस्त अथवा असम्बद्ध इतिहासकी घटनाओंपर निर्भर होकर लोक-जीवनमें बच रही हैं। प्रायः ऐतिहासिक घटनाएँ लोकपरक भावनाओंसे विकृत होकर ऐसा रूप धारण कर लेती हैं कि उन्हें इतिहास माननेकी अपेक्षा किंवदन्ती ही कहना पड़ता है। मराठीमें इसके पर्यायस्वरूप 'दन्तकथा' शब्द प्रयुक्त होता है। हिन्दीमें भी यह शब्द प्रचलित है। अभिप्रेत अर्थ दन्तकथाओंका नहीं होता है। हाँ, इतिहासका सूक्ष्म तत्त्व अवश्य उनमें निहित होता है। संस्कृतके 'उदन्त' शब्दका अर्थ है निवेदन, बात अथवा लोकवार्ता। सम्भवतः 'उ'का लोप हो जानेपर 'दन्त'का लोकप्रचलित कथाओंके साथ सम्बन्ध जुड़ जानेसे 'दन्तकथा'का प्रयोग चल पड़ा है। किंवदन्ती अर्थात् 'किम्' (कुछ) तथा वद् (कहना)—कुछ कहना। यह 'कुछ कहना' धीरे-धीरे लोकप्रचलित दृष्टान्तोंका साधन बन जानेपर पूर्व कालमें घटित प्रसंगोंकी कथामात्र हो गया।

किंवदन्तीके दो वर्ग हैं—स्थानीय किंवदन्ती एवं बाहरसे प्राप्त किंवदन्ती। वस्तुका जहाँतक सम्बन्ध है, घटित सत्य दोनोंके मूलमें होगा। —श्या० प०

किरपान या कृपाण–मुक्तक दण्डकका एक भेद। इसके प्रत्येक चरणमें आठ-आठकी यतिसे ३२ वर्ण होते हैं। यतियोंके स्थानपर अनुप्रास और अन्तमें गुरु लघु होना आवश्यक है। प्रायः इस छन्दमें वीर रसका वर्णन उपयुक्त होता है, किन्तु मध्यकालके कवियोंने विरह, संयोग आदि भावोंके लिए भी इसको चुना है। वास्तवमें यह आलंकारिक छन्द है जो रीति-कालके कवियों द्वारा नाना प्रकारसे प्रयुक्त हुआ है। भानुने 'छन्दप्रभाकर'(पृ० ११९)में लिखा है कि प्रत्येक चरणके अन्तमें नगणकी योजना करनेसे छन्दमें लालित्य आ जाता है। ३२ वर्णोंके इस छन्दमें आठ-आठकी यतिपर अनुप्रास लगाना एक प्रयोग-

मात्र ही लगता है। सम्भवत यही कारण है कि पूर्ववर्ती छन्द-ग्रन्थोंमें प्राय इस नामका छन्द नहीं मिलता। उदा०–'विन गुन तेरी आन, भृकुटि कमान तानि; कुटिल कटाक्ष वान, यह अचिरज आहि' (कविप्रिया पृ० १५२)। —ह० मो०

किरीट सवैया–दे०—'सवैया', पाँचवाँ प्रकार।

किलकिंचित्–दे०—'स्वभावज अलंकार,' पाँचवाँ।

कीर्त्तन–यह सामूहिक गीतका एक रूपान्तर है। इसके दो रूप हैं–लोकप्रिय अथवा असाम्प्रदायिक तथा सकीर्ण अथवा साम्प्रदायिक। चैतन्यदेवके कारण यह रूप अधिक लोकप्रिय हुआ। —रा० खे० पा०

कुंडल–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भानुके अनुसार २२ मात्राके चरणका छन्द जिसमें १२, १० पर यति तथा अन्तमें २ ग (SS) रहते हैं। इस छन्दका प्रयोग सूरने 'सूरसागर'में तथा तुलसीने 'विनयपत्रिका'के पदोंमें विशेष रूपसे किया है। वस्तुत यह छन्द भावावेगको प्रकट करनेमें सफलतासे प्रयुक्त हुआ है। सूरका प्रयोग—'चलन चलन श्याम कहत, कोउ लेन आयो। नन्द भवन भनक सुनी, कंस कहि पठायो' (सू० सा० वें० प्रे० पृ० ४५६) तथा तुलसीका भावावेग विनयपत्रिकामें व्यक्त हुआ है—'तू दयाल दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी। हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज हारी'–इस छन्दके चरणके अन्तमें यदि एक ही ग (S) रहता है तो **उड़ियाना** कहलाता है। सूर तथा तुलसीने पदोंमें इसका भी प्रयोग किया है—'ठुमुकि चलत रामचन्द्र, वाजत पैजनियाँ। धाय मातु गोद लेत, दशरथकी रनियाँ' (गीता०)। यह छन्दरूप प्रभातीके रूपमें अधिक प्रयुक्त हुआ है। —र०

कुंडलिनी–दे०—'हठयोग'।

कुडलिया–मात्रिक विषम छन्द। 'प्राकृतपैंगलम्'-(१ १४६)में इसका लक्षण दिया गया है। यह संयुक्त छन्द है। छ पंक्तियोंका यह छन्द होता है, प्रथम दो दल दोहेके होते हैं और अन्तिम चार रोलाके। दोहेके चार पाद दो ही गिने जाते हैं। दोहेको छन्दका पूर्वार्द्ध कहा जा सकता है और रोलाको उत्तरार्द्ध—इस प्रकार कुण्डलियाके प्रत्येक पादमें २४–२४ मात्राएँ होनी हैं। दोहेके चौथे पाद-को रोलाके प्रथम पादमें दोहराया जाता है और दोहेका प्रथम पाद जिस शब्दसे प्रारम्भ होगा वही शब्द रोलाके चतुर्थपादके अन्तमें दोहराया जाता है। यति दोहा और रोलाके अनुसार ही रखी जाती है। अपभ्रंश छन्द-ग्रन्थोंमें भी कुण्डलियाका परिचय मिलता है। हिन्दीमें गिरधर-की कुण्डलिया काफी लोकप्रिय हैं। उनके अतिरिक्त केशव (रामचन्द्रिका), जटमल (गोरावादल०), सूदन (सुजान-चरित) तथा गुलाव(करहियोको रायसो)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। यह छन्द वीर रस तथा उपदेशके लिए अधिक उपयुक्त है। उदा०—दोहेके दो चरण जो इसका प्रथम चरण वनाते हैं–'वसिवो वृन्दावन करौ, यह चाहत जिय मोर।' तथा रोलाका एक चरण जो इसका तीसरा चरण वनाता है–'कर मुरलीकी घोर, भोर जमुनाको अन्हैवो।' इसका प्रथम अंश वस्तुत दोहेका चौथा चरण ही है, और इसी प्रकार दोहेका प्रथम चरण रोलाके अन्तमें 'करौं वृन्दावन वसिवो' दोहराया गया है। —रा० सिं० तो०

कुट्टमित–दे०—'स्वभावज अलकार', सातवाँ।

कुतूहल–दे०—'स्वभावज अलंकार', पन्द्रहवाँ।

कुमार ललिता–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, 'पिंगलसूत्र'में इसकी परिभाषा दी है–'जसौ ग्' (६ ३), जगण, सगण और गुरुके योगसे इस वृत्तका चरण वनता है (ISI, IIS, S)। लगभग सभी आचार्योंने यह नाम माना है। उदा० 'क्रिया भरत कीनी–वियोग रस भीनी। तजी गति नवीनी–मुकुन्द पद लीनी' (रा० च० १० १२)।—पु० शु०

कुलटा (नायिका)–परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद विशेषके लिए दे०—'नायिकाभेद'। सर्वप्रथम उल्लेख भानुदत्तने किया है। इसका शब्दार्थ है पतित स्त्री। अनेक पुरुषोंसे प्रीति करनेवाली कामातुरा नायिका। मतिरामके अनुसार–'जो चाहत वहु नायकन सरस सुरति परप्रीति।' (रसराज ७९)। सामान्यासे इस नायिकाका भेद केवल इतना माना जाता है कि यह कामवासनासे प्रेम करती है और गणिका धनकी आकाक्षासे। इस नायिकाके वर्णनके माध्यमसे रीतिकालके कवियोंने नारी-मनोविज्ञानके इस पक्षका चित्रण किया है—'जाति चली यहि भाँति गली विथुरी अलकैं अँचरा न सँभारै।' (मतिराम रसराज ८०)। देवने उसकी भगिमाका वर्णन किया है–'चंचल नैनी दृगचल मोरि हँसै मुख रचक अंचल दैके।' (ब्रजभाषा नायिका० २ ३३३)। पद्माकरने उसकी लज्जाहीनताका अकन किया है–'एकनकों तकि घूँघटमें मुख मोरि कनैखिन दै चलै दै चलै।' (भा० वि० १ १०८)।

कुलिश–दे०–'वज्र'।

कुसुमविचित्रा–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलसूत्र' (६-३५)के लक्षणके अनुसार नगण, यगण, नगण और यगणके योगसे यह वृत्त वनता हैं (III, ISS, III, ISS)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'तेहि अति रूरे रघुपति देखे। सव गुन पूरे तन मन लेखे।' (रा० च० ५ ६)। —पु० शु०

कुसुमस्तवक–साधारण दण्डकका एक भेद। यह हेमचन्द्र(१४ श० ई०)कालीन छन्द है। हेमचन्द्रने इस छन्दका नाम 'कुसुमास्तरण' दिया है। लगता है कि सवैया-के विकासमें प्रस्तुत छन्दका हाथ अवश्य रहा होगा। 'छन्दो-ऽनुशासन'में इसका लक्षण दिया है—'स कुसुमास्तरण' (अ० २ ३०१)। भानुने इसका लक्षण—'सगण ९ वा अधिक' (छन्द प्रभाकर) दिया है। 'जयदामन'(पृ० १४७)-पर वर्णवृत्त दण्डकका अक्षरानुसार अकन करते हुए वेलेणकरने १०वीं संख्यामें कुसुमास्तरणका लक्षण कितना भी सगण दिया है। भानुके लक्षणके साथ यह तुलनीय है। रीतिकालीन कवियोंने इसका यदा कदा प्रयोग किया होगा, क्योंकि एक सगण निपात कर देनेसे ध्वनिकी दृष्टिसे सवैयाका सुन्दर रूप उपस्थित हो जाता है, उदा०—'छसरैं सिर पै छवि मोर-पखा उनके नथके मुकता थहरैं थहरैं,' अन्तिम 'थहरैं'का पात कर देनेसे रीतिकालीन कवियोंको अपना प्रिय सवैया आसानीसे प्राप्त हो जाता है। सम्भवत• इसी लिए प्रस्तुत छन्द वहुत प्रचलित नहीं हो सका, यहाँतक कि केशवदासने भी इसका प्रयोग नहीं किया है। फिर

भी अपनी ऐतिहासिकताके कारण यह छन्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। —ह० मो०

कृप–दे० 'हठयोग'।

कृति : कृतित्व–कलात्मक रचना। लेखक अथवा कलाकारके कर्तृत्वसे उद्भूत साहित्य, संगीत, मूर्ति अथवा चित्र। प्रत्येक कलात्मक कृति विचारों, भावनाओं और संवेदनाओंकी संहति है, जिसका व्यक्त स्वरूप विभिन्न माध्यमोंके द्वारा विशिष्ट संकेतके रूपमें प्रकट होता है और यही व्यक्त स्वरूप प्रतीक बनकर भोक्ताके मनमें कलाकारके विचारों, उसकी भावनाओं अथवा संवेदनाओंकी निष्पत्ति करता है। इस प्रकार कृति शब्दका व्यवहार स्थूल कलासंकेतों और सूक्ष्म एवं विशिष्ट संवेदना-जगत्, दोनोंके लिए होता है। क्रोचे कलाकृतिको मानसिक ही अधिक मानता है और अनुभूतिसे उसका तादात्म्य कर देता है। 'अनुभूति ही व्यंजना है' यह क्रोचेका कला-सिद्धान्त है और इसमें अभिव्यंजनाको कृतिका बहिरंग न मानकर उसका अन्तरंग ही माना गया है। (दे० रचना, सर्जन) —रा० भ०

कृष्णकाव्य–भारतीय धर्म और संस्कृतिके इतिहासमें कृष्णका व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण है। कृष्ण(आंगिरस)का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद (१, ११६. ७, १, ११६, २३, ८, ८५, १–९, ८, ८६, १–५)में पाया जाता है। इन सन्दर्भोंमें कृष्ण एक स्तोता ऋषि हैं, वे तथा उनके पुत्र क्रमशः अपने पौत्र और पुत्र विश्वक–विष्णापुको पुनः जीवन और आरोग्य देनेके लिए अश्विनीकुमारोंका आह्वान करते हैं। ऋग्वेदमें एक कृष्णासुरका भी उल्लेख है जिसे इन्द्रने पराभूत किया था (१, १०१, १, ८, ९६, १३–१५)। परन्तु महाभारतके वीर राजनीतिज्ञ कृष्णके व्यक्तित्वसे इन प्राचीन सन्दर्भोंमें कोई समता नहीं मिलती। 'छान्दोग्य उपनिषद्'(३, १७, ४–६)के घोर अंगिरसके शिष्य कृष्ण देवकीपुत्र कहे गये हैं, जिन्हें गुरुसे यज्ञकी सरल रीति प्राप्त हुई जिसकी दक्षिणा थी तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य। महाभारतके शान्ति-पर्वमें वासुदेव कृष्णकी पूजाविधि बताते हुए जिस वैष्णव यज्ञका प्रतिपादन किया गया है उससे उपनिषद्के इस सन्दर्भका सरलतासे सामंजस्य हो जाता है। 'घट' और 'महाउमग्ग' जातकोंमें भी कण्ह वासुदेवकी क्रमशः एक पूरी कथा तथा संक्षिप्त उल्लेख मिलता है, जिसका थोड़ा-बहुत साम्य भागवतमें वर्णित प्रसिद्ध कृष्ण-कथासे दिखाया जा सकता है। हरिवंश, विष्णु, भागवत, ब्रह्मवैवर्त आदि अनेक पुराणोंमें कृष्णकी कथाको अधिकाधिक महत्त्व मिला है, परन्तु इनमें भागवतकी कृष्णकथा ही सबसे अधिक विस्तृत और सांगोपांग तथा व्यवस्थित कही जा सकती है। ऐसा लगता है कि कृष्णकी कथा मौखिक रूपमें लोक-प्रचलित थी। पुराणोंमें उसका धीरे-धीरे धार्मिक रूपककी भाँति उपयोग होने लगा जो क्रमशः बढ़ता चला गया और कवियोंकी कल्पना उनमें नये-नये प्रसंग और सन्दर्भ जोड़ती गयी। कृष्णकी कथा कल्पनाके लिए सबसे अधिक उर्वर क्षेत्र रही है।

इस कथाके कई रूप और पक्ष हैं। लिखित और मौखिक रूपमें कृष्णाख्यानपर विहंगम दृष्टि डालनेसे कृष्णके तीन रूप हमारे सामने आते हैं—(१) योगी धर्मात्माका रूप—जिसकी गीताके कृष्णमें चरम परिणति मिलती है, (२) ललित मधुर गोपालका रूप—संस्कृत साहित्यमें जिसकी चरम परिणति श्रीमद्भागवत, पद्म और ब्रह्मवैवर्त पुराणमें हुई है तथा (३) वीर राजनयिकका रूप जो महाभारत और पुराणोंमें युद्धके सन्धि-विग्रह सम्बन्धी प्रसंगोंमें प्रकट हुआ है। ये रूप मनुष्यके ज्ञान, राग और कर्मकी तीन प्रधान मानसिक वृत्तियोंके प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। ये तीनों रूप पर्याप्त प्राचीन जान पड़ते हैं और बाह्यतः असंगतसे लगते हुए भी उनमें एकसूत्रता देखी जा सकती है। उदाहरणके लिए कृष्णके व्यक्तित्वकी सबसे प्रमुख विशेषता—निःसंगता या तटस्थताकी वृत्ति समान रूपसे उनके सभी रूपोंमें मिलती है और ध्यानसे देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसी वृत्तिको मानो जीवनके इन तीन विभिन्न पक्षोंमें उदाहृत करनेके लिए इन तीन रूपोंकी अवतारणा हुई है। परन्तु ये तीनों रूप कृष्णके उस दैवत रूपके ही अधीन विकसित हुए जो अत्यन्त प्राचीन कालसे इष्ट देवता वासुदेव कृष्णके रूपमें लोकप्रिय होता आया था (दे०–'भागवतधर्म')। इस दैवत रूपकी परिणति अन्ततोगत्वा साक्षात् परब्रह्ममें हुई। ऐसा जान पड़ता है कि इष्ट देव वासुदेव कृष्णके व्यक्तित्वकी प्रमुख विशेषता उनका सौंदर्य और माधुर्य ही थी, और इसी रूपमें वे वृष्णिवंशीय सात्वत जातिके कुलदेव माने जाते थे। मौखिक रूपमें ललित मधुर गोपाल कृष्णकी कथाएँ अवश्य प्रचलित रही होंगी जो काव्य (उदाहरणार्थ, 'गाथासप्तशती १, ८९। ध्वन्यालोक ३, ६। बुद्धचरित १, ५०) तथा मूर्तिकला और शिलालेखों (उदाहरणार्थ घोसुण्डी, बेसनार, नानाघाट–ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शंस–लूडर्स संख्या ६, ६६९, १११२)में यदा-कदा आभासित हो जाती है। परन्तु पुराणोंने इन कथाओंको बहुत धीरे-धीरे अपनाया। प्राचीन पुराणोंमें केवल भागवतमें गोपाल कृष्णकी कथा सम्यक् रूपसे वर्णित की गयी, परन्तु उसमें भी राधाका नामोल्लेखतक नहीं हुआ। पद्म और सबसे अधिक ब्रह्मवैवर्त पुराणमें ही राधा-कृष्णकी प्रेम-रोमांसगर्भित-कथा विस्तारसे दी गयी है। परन्तु लोकसाहित्य, गीत और कथाओंमें कृष्णके असंख्य आख्यान चलते रहे होंगे, यह बात मध्यकालमें निर्मित देशभाषा काव्यसे प्रमाणित होती है।

संस्कृतमें राधा-कृष्ण सम्बन्धी प्रथम काव्यरचना जयदेव-(बारहवीं शती)का गीतगोविन्द है जो भक्ति और शृंगारका अनुपम माधुर्य-मण्डित गीतिकाव्य है। अनुमान है कि कविको उसकी रचनाकी प्रेरणा राधा-कृष्ण सम्बन्धी लोकगीतों तथा लोकप्रचलित आख्यानोंसे ही मिली होगी। इसी लोकपरम्पराकी देशभाषामें सबसे पहली साहित्यिक अभिव्यक्ति चौदहवीं-पन्द्रहवीं शतीमें विद्यापतिके मैथिल-पदोंमें हुई। पदावली हिन्दी कृष्णकाव्यकी पहली रचना कही जा सकती है। विद्यापतिकी पदावलीकी भावधाराके सम्बन्धमें मतभेद है कि उसमें लौकिक शृंगार है अथवा भक्तिका माधुर्यभाववाला शृंगार। यह मतभेद वस्तुतः सम्पूर्ण कृष्णकाव्यके विषयमें न्यूनाधिकरूपमें उठता रहता है। बात यह है कि कृष्णके उपर्युक्त तीन रूपोंमेंसे कवियोंने केवल ललित-मधुर गोपाल कृष्णको ही काव्यका विषय

बनाया है, अन्य रूपोंको इसी रूपकी पुष्टि या महत्ताके लिए यदा-कदा प्रयुक्त किया है। अत स्वभावतया इस रूपमें शृंगारकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी है, राधा और अन्य गोपियोंसे सम्बन्धित प्रेमप्रसगोंकी भरमार होती गयी है। परिणामत यह कहना असम्भवप्राय हो गया है कि कहाँ लौकिक शृंगारकी मूल प्रेरणासे रचना की गयी है और कहाँ वह भक्ति-भावनापर आधारित है। परन्तु विद्यापतिकी पदावलीके विषयमें विभिन्न मतोंके बीच वास्तविकता यह जान पड़ती है कि मूलत कविने अपने आश्रयदाताओंकी प्रसन्नताके लिए राधा-कृष्णके प्रेम-प्रसगोंपर शुद्ध शृंगारिक रचना की थी, परन्तु कदाचित् कालान्तरमें अन्त समय निकट आते-आते उसके हृदयमें शिव और शक्तिकी तरह राधा-माधवके प्रति भी भक्ति-भावना जागरित हो गयी होगी। जो हो, विद्यापतिकी पदावली रसिकोंका मनोरजन तो करती ही रही है, चैतन्य सरीखे भक्तोंको भी वह अपनी विदग्ध-माधुरी और गूढ़-गम्भीर प्रेम-प्रवणतामे रसमग्न करनेमें सफल हुई है। **भक्तिकाल**(दे०)का वातावरण ही ऐसा भावावेगपूर्ण था कि उसमें विद्यापतिके पद क्या, भक्तोंको ध्वन्यालोकमें दिये हुए घोर शृंगारके उदाहरण भी भक्तिरसमें डूबे हुए जान पड़ते थे। इसी वातावरणमें हिन्दीके कृष्णकाव्यकी जो अधिकाशत कृष्ण भक्ति-काव्य है, रचना हुई।

विद्यापतिके बाद हिन्दी कृष्णकाव्यके प्रथम कवि सूरदास हुए जिनकी प्रतिभाको पुष्टिमार्गके प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्यने अपने सम्प्रदायके प्रचारमें लगाया। सूरदासने गोपाल कृष्णके गोकुल, वृन्दावन और मथुराके जीवनसे सम्बन्धित सम्पूर्ण आख्यानको सूरसागरमें एक गीति-प्रबन्धका रूप दिया। कथाकी सामान्य रूप-रेखा तो उन्होंने भागवतसे ही ली, परन्तु उसके प्रसगों और विवरणोंको उन्होंने बहुत अधिक विस्तार दिया, अनेक नवीन घटनाओं और उपकथाओंकी अवतारणा की तथा सम्पूर्ण कथाको भक्ति-भावनाके साथ इस प्रकार सघटित किया कि उसमें उद्देश्यकी एकताके साथ-साथ उपकथाओं और प्रसगोंकी बहुलता तथा शैलीकी मुक्तता होते हुए भी सयोजन और सघटनमें एकसूत्रता आ गयी। इसके अतिरिक्त विविध उपकथाएँ और घटनाप्रसंग, जिन्हें लीला कहा गया है और जो सम्पूर्ण कृष्णलीलाके अग हैं, स्वय विधिवत् प्रारम्भ, कथाके आदि, मध्य, अवसानकी योजना तथा निश्चित उद्देश्यके साथ रचे गये हैं, स्वतन्त्र खण्डकथा या खण्डकाव्यके रूपमें पढ़े जा सकते हैं और प्रत्येक पद जो पहले छोटी घटना या वर्णन-प्रसग, फिर खण्डकाव्य और अन्तमें सम्पूर्ण कृष्णकथाकी एक कड़ी मात्र है, स्वतन्त्र रूपमें पूर्णतया आस्वादनीय है। वस्तुत ये पद इसी रूपमें अलग-अलग ही पढ़े या गाये जाते हैं। कथाके सन्दर्भकी तो पाठक, गायक या श्रोता पृष्ठभूमिके रूपमें स्वय कल्पना कर लेते है। इसीलिए प्राय यह कहा जाता है कि 'सूरसागर' मुक्तकपदोंका सग्रह है। परन्तु वस्तुत वह एक साथ ही गीति-प्रबन्ध, कृष्णकी विविध लीलाओं तथा मुक्तकपदोंका सग्रह है। कृष्णकाव्यकी एक सामान्य प्रकृति यह भी है कि वह अधिकतर मुक्तक-रूपमें रचा गया है, क्योंकि कृष्णकाव्य-

में वर्णित कृष्णकी कथा अत्यन्त सीमित है। सूरदासने ही उसके सभी घटना-विवरण दे दिये हैं। कृष्णके जन्म, शैशव, गोपोंके साथ क्रीड़ा, गोचारण, राधा तथा गोपियोंके साथ रस-केलि, छद्मवेशधारी असुरोंका वध, गोवर्धनधारण और इन्द्रदमन, मथुरा-प्रवास, कंस-वध, उद्धव-सदेश, द्वारिकागमन तथा प्रभासक्षेत्रमें गोप-गोपियों और राधाके साथ पुनर्मिलन। परन्तु सूरदास द्वारा दिया गया कथाका यह विस्तार अन्य कवियोंमें नहीं मिलता। उन्होंने इसीमेंसे कुछ प्रसगोंपर ही लेखनी चलायी है। **अष्टछाप**(दे०)के कवियोंमें नन्ददासको छोड़कर अन्य सभी कवि सूरदासका अनुकरण करते देखे जाते हैं। पुष्टिमार्गीय कृष्णकाव्यकी एक विशेषता यह है कि इसमें गोपालकृष्णकी बाललीलाको विशेष महत्त्व दिया गया है। अन्य सम्प्रदायोंके कवियोंने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है। कृष्ण-कथाका सर्वाधिक प्रिय विषय राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्णकी प्रेम-लीला है। स्वय सूरदासने भी इसे सर्वाधिक महत्त्व दिया है। सूरसागरकी कथाकी एकसूत्रता राधाकृष्णके प्रसगपर ही आधारित है। सूरदासके सहयोगी अष्टछापके अन्य कवियोंने भी उसे यथेष्ट महत्त्व दिया और निकुजलीलाके वर्णनमें सर्वाधिक रुचि दिखायी। सूरदासके समकालीन गुसाईं हितहरिवंश (दे०—'राधावल्लभ सम्प्रदाय') और उनके अनुयायी राधावल्लभी भक्त, स्वामी हरिदास और उनके अनुयायी **सखीसम्प्रदाय** (दे०)के भक्त तथा महाप्रभु चैतन्यके गौडीय वैष्णव सम्प्रदायमें दीक्षित भक्तकवि सभी लगभग एकान्तरूपसे राधा और गोपियोंके साथ कृष्णकी प्रेम-क्रीडाओंके वर्णनमें ही मग्न दिखाई देते हैं। सूरदासके प्रेम-चित्रणोंकी सूक्ष्मता और गूढ़ व्यंजनात्मकता तो अन्य कवियोंको दुर्लभ हो ही गयी, उनके काव्यकी यह सीमित विषयवस्तु भी और अधिक सीमित और संकुचित होती गयी और यमुना-कूल, लता-निकुज और अन्त प्रकोष्ठके कुछ चुने हुए प्रेम-प्रसंगोंका ही थोड़े-थोडे अन्तरोंके साथ चर्वित-चर्वण होने लगा। धीरे-धीरे कृष्णके व्यक्तित्वका वह वीतरागत्व भी, जो इस माधुर्यभावके रूपमें भी कम-से-कम सूरदासने निरन्तर सुरक्षित रखा था, भुला दिया गया।

सूरदासके बाद सम्पूर्ण कृष्ण-कथा रचनेका प्रयत्न भक्ति-कालके बाद वल्लभ सम्प्रदायके ही ब्रजवासीदासने 'ब्रजविलास'(१,७७०)में किया जो वर्ण्य विषयमें 'सूरसागर' और शैलीमें 'रामचरितमानस'का अनुकरण है। परन्तु काव्यकी दृष्टिसे उसका कोई महत्त्व नहीं है। कृष्ण-कथा सम्बन्धी कुछ प्रबन्धात्मक रचनाएँ नन्ददासने भी की थीं—जैसे 'श्यामसगाई', 'भँवरगीत' और 'रासपचाध्यायी,' परन्तु इस प्रकारके लघु-प्रबन्ध तो 'सूरसागर'में अनेक पाये जाते हैं। नन्ददासका 'रुक्मिणीमगल' अवश्य कृष्णके ऐश्वर्य-रूपकी ओर ध्यान आकृष्ट करता है जिसे सूरसागरमें गौण स्थान दिया गया है। राधावल्लभी ध्रुवदास, वल्लभ-सम्प्रदायके नागरीदास तथा राधावल्लभी हितवृन्दावनदास आदि कुछ परवर्ती भक्त कवियोंने भी कृष्णकाव्य सम्बन्धी छोटे-छोटे प्रबन्धोंकी रचनाएँ कीं। परन्तु ये भी काव्यकी दृष्टिसे अत्यन्त साधारण कोटिकी हैं। वास्तवमें कृष्णका ऐश्वर्य रूप ही प्रबन्ध-रचनाका प्रकृत विषय हो सकता था,

परन्तु कृष्ण-भक्तिके साथ उसका सामंजस्य न होनेके कारण बहुत थोड़े भक्त-कवियोंने उसकी ओर ध्यान दिया। कृष्णके ऐश्वर्य-रूपसे सम्बन्धित केवल एक-दो प्रसग ही काव्यके विषय बनाये गये। इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय प्रसग है रुक्मिणी-हरण। नन्ददासके पहले अकबरी-दरबारके कवि महापात्र नरहरि बन्दीजन (१५०५-१६१०) भी रुक्मिणी-मगल लिख चुके थे। राजस्थानीमें पृथ्वीराजने 'वेलि क्रिसण रुक्मिणी री' (१५८०) नामसे इस विषयपर एक सुन्दर काव्यकी रचना की थी, परन्तु वह सर्वथा इहलौकिक रचना है, भक्ति-भावका उसमें कोई सकेत नहीं है। रीतिकालमें नवल सिंहने भी 'रुक्मिणी मगल' नामसे एक छोटेसे प्रबन्ध काव्यकी रचना की। उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें महाराज रघुराज सिंहने भी 'रुक्मिणी परिणय'की रचना की। 'सुदामा चरित'के लेखक नरोत्तमदास (सोलहवीं शती) भी भक्त कवि नहीं कहे जा सकते, यद्यपि उसी प्रकारकी दैन्य भावकी भक्ति-भावना उसमें भी मिलती है जैसी कि 'रुक्मिणी मगल' सम्बन्धी काव्योंमें है।

इस प्रकार साधारणतया सम्पूर्ण कृष्णकाव्य और विशेष रूपमें कृष्ण-भक्ति-काव्यकी प्रकृति गीतिके ही अधिक अनुकूल है। फलत अधिकाश प्रकृत कृष्णकाव्य गीतिपदोंमें ही रचा गया है। भक्तिकालीन वातावरणको भावाविष्ट करनेका अधिकाश श्रेय कृष्ण-भक्ति और कृष्णकी ललित लीलाओंके काव्यमय गायनको ही है। उसीने जन-जनके हृदयमें गीति-भावनाका संचार कर दिया था। फलस्वरूप उस शैलीको काव्यमें प्रतिष्ठा मिली जिसे संस्कृत कवियोंने काव्यके गौरवके उपयुक्त न मानकर तिरस्कृत कर दिया था। रामकाव्यके यशस्वी प्रणेता तुलसीदासतकने उसे अपनाया। उनपर कृष्णकाव्य और उसकी गीति-भावनाके प्रत्यक्ष प्रभावका प्रमाण उनकी 'कृष्णगीतावली' है। कृष्णका ललित-मधुर रूप ही वस्तुत गीति-भावनाका सहज प्रेरणा-स्रोत है, शताब्दियोंसे वह लोक-हृदयको रस-प्लावित करता आया है। यही कारण है कि कृष्ण सम्बन्धी अधिकाश गीतिकाव्य मीराँकी पदावलीको छोड़कर प्रत्यक्षत आत्मनिष्ठ न होते हुए भी गीतिकी स्वात्मानुभूतिके गुणसे हीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कवि सहज ही उन पात्रोंके भावोंमें अपनेको तल्लीन कर लेता है, जिनके माध्यमसे कृष्णके प्रति घनिष्ठ अनुराग व्यक्त किया जाता है। सगीतात्मकता तो कृष्ण-भक्ति-काव्यमें ओत-प्रोत है। लगभग सभी भक्त कवि सगीतज्ञ भी थे। अष्टछापके अनेक कवियोंके विषयमें उनकी सगीत-निपुणता सम्बन्धी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। स्वामी हरिदासकी ख्याति तो कदाचित् काव्यकी अपेक्षा सगीतके क्षेत्रमें ही अधिक है। लोक-विश्रुत आख्यानपर रचना करते हुए भी कवियोंने कृष्ण सम्बन्धी गीतिपदोंकी रचनामें पर्याप्त स्वच्छन्दता, सहजोद्रेक और नवीन भावोन्मेषका परिचय दिया है, क्योंकि सीमित क्षेत्रमें ही सही, कृष्णके प्रेम-प्रसगोंमें कवि-कल्पनाको उद्दीप्त करनेकी अनुपम क्षमता रहती है। कृष्णकाव्यके गीति-पदोंमें गीति-काव्यके सभी गुण—तात्त्विक और रूप-रचना सम्बन्धी न्यूनाधिक रूपमें पाये जाते हैं और हम इसी काव्यके आधारपर भक्तिकालको हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ गीतिकाल कह सकते हैं। यह अवश्य है कि काव्य-रचनाकी प्रचुरतामें कृष्णकाव्यमें भी गीति-पदोंके रूपमें ही ऐसी रचनाओंकी कमी नहीं है जो मात्र वर्णनात्मक और उपदेशात्मक हैं तथा जिनमें बाह्य रूप-रेखाके अतिरिक्त गीतिका कोई लक्षण नहीं मिलता।

कृष्णकाव्यके श्रीकृष्णका व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण है। उन्हें तत्त्वत साक्षात् परब्रह्म, अद्वैत, परमेश्वर मानकर अपने-अपने भावके अनुसार कवियोंने वात्सल्य, सख्य और माधुर्यके आलम्बन-रूपमें अपने उदात्तीकृत लौकिक जीवनका अभिन्न अग बनाया है। विशेषत सूरदास तथा साधारणत अन्य कवियोंने नन्द, यशोदा, गोप और गोपीके भावोंकी प्रतिमाके रूपमें कृष्णका चित्रण करते हुए जहाँ भावकी पूर्ण तन्मयता लानेके उद्देश्यसे उनके ब्रह्मत्वका प्रतिवाद किया, वहीं उनके ब्रह्मत्वकी गूढ व्यजना हुई है। यशोदाके वात्सल्य-भाजन कृष्ण पूर्णत बालपुत्र हैं, उनके किसी अन्य रूपका सकेत भी उसे स्वीकार्य नहीं है। इसी प्रकार गोपियोंके कृष्ण प्रेमीके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। सभी भक्त उनके ब्रह्मत्वको अस्वीकार करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि न वे पुत्र हैं, न सखा, न प्रेमी, वे किसीके शत्रु या मित्र नहीं, वे न नर हैं, न नारी, वे क्या हैं, यह कैसे कहा जाय? इसीलिए वे भक्तोंके भावके अनुरूप उनके भगवान् हैं। कृष्णकाव्यमें यह तत्त्ववाद कहा नहीं गया, रूपक, प्रतीक-सकेत और व्यजनाकी शैलीमें अनुभूत कराया गया है। भावकी अनन्य परिपूर्णताके कारण कृष्णकाव्यके पात्र प्रतीक-रूप हैं। अत सूरदासके बाद कवियोंने उन्हें लगभग ज्योंका त्यों स्वीकृत करके ही प्रयुक्त किया है और जिस प्रकार भावकी दृष्टिसे कृष्णकाव्य धीरे-धीरे सीमित हो गया उसी प्रकार पात्रोंकी दृष्टिसे भी उसमें संकोच आता गया और अधिकांश कवियोंकी दृष्टि कृष्ण, राधा और गोपियोंतक ही सीमित रह गयी। अन्य पात्रोंकी ओर यदि इन्होंने देखा भी तो केवल इन्हींके नाते।

भक्त कवियोंके हाथमें कृष्णकाव्य उन मानवीय भावोंके सहज परिष्करण और उदात्तीकरणका व्यावहारिक और प्रत्यक्ष दृष्टान्त बनकर प्रयुक्त हुआ था जो मनुष्यको ससारके विषयोंमें लिप्त किये रहते हैं तथा पतनकी ओर ले जाते हैं। परिवारके जो नाते मनुष्यके आध्यात्मिक विकासमें उसके सबसे बड़े वैरी हैं, श्रीकृष्ण उन्हींके रूपमें भक्तोंको प्राप्त होकर उनके तत्सम्बन्धी राग-द्वेषको अपनेमें समर्पित करा लेते हैं। गीताके श्रीकृष्णने जिस नि सगताका उपदेश दिया था, उसीको भक्त कवियोंने चित्रित किया है तथा उन्होंने आत्म-समर्पण-युक्त भक्तियोगका जो रूप अर्जुनको समझाया था वही काव्यमें उदाहृत किया गया है।

परन्तु भावावेगकी वह उदात्त स्थिति कबतक स्थिर रह सकती थी? कौन कह सकता है कि भक्तिके प्रारम्भिक उन्मेषमें भी स्खलनकी कितनी सम्भावनाएँ रही होंगी और काम-वासना जैसी आकर्षक और पतनोन्मुख भावनाको स्वच्छतापूर्वक अभिव्यक्ति देते हुए न जाने कितनी बार कितने भक्तोंके मनमें भावकी इहलौकिकता ही ठहरकर रह गयी होगी? परन्तु इन दुष्कल्पनाओंके बावजूद, यह नि संकोच कहा जा सकता है कि कृष्णकाव्यने, कमसे-कम

भक्तिकालीन कृष्णकाव्यने जीवनकी जडताको भग कर उसे गतिशील बनाया, उद्देश्यहीनताको दूर कर उसे ऊँचा लक्ष्य प्रदान किया तथा जीवनकी असुन्दरता और नीरसता मिटाकर उसे सुषमा, सौन्दर्य और आनन्दसे अनुप्राणित किया। जहाँतक सदाचार और चरित्रका सम्बन्ध है, कृष्णकाव्यने उसे मनोवैज्ञानिक आधारपर सहज प्रवृत्तिके रूपमें ऊँचा उठानेका सफल उद्योग किया। उसने मनुष्यकी सबसे प्रमुख दुर्बलताको परम्परागत धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोणसे दमनपूर्वक दूर करनेके स्थानपर उसे स्वाभाविक रूपमें ऊँचा उठानेका उपाय बताया। कृष्णकाव्यमें उस युगकी सर्वोच्च जन-भावना सुरक्षित है, वह धर्म और समाजके क्षेत्रमें सर्वोत्तम लोकतन्त्रात्मक शक्तियोंका प्रतिनिधित्व करता है।

परन्तु, जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है, भक्तिकालका यह आदर्श वातावरण जो भावापन्नतापर आधारित था, अधिक दिनों नहीं रह सका। भक्ति सम्प्रदायबद्ध होकर रूढि और कर्मकाण्ड-प्रधान होने लगी। साम्प्रदायिक प्रचारक धन-वैभवमें लिप्त होने लगे। उनका दृष्टिकोण सासारिक हो गया और उन लोगोंका आदर घट गया जो सासारिकताकी उपेक्षा करते हैं। अनजाने ही जीवनके वे मूल्य जो भक्तिकालने पुनर्निर्मित किये थे, भुलाये जाने लगे। भक्तिधर्ममें भी गतिशीलताके स्थानपर जड़ता आने लगी। ऊपर सकेत किया जा चुका है कि कृष्णकाव्यका वर्ण्य विषय और उसकी भावधारा धीरे-धीरे सीमित और सकुचित होती गयी थी। जिस प्रेमकी भावनाको उसमें प्रमुखता दी गयी थी वह अपनी साकेतिकता और सूक्ष्मता खोकर जड़ता और विलासकी ओर जाने लगी। यह परिस्थिति बदले हुए वातावरणमें अत्यन्त स्वाभाविक थी। सम्प्रदायोंके केन्द्र भी वैभव-सम्पन्न थे और धनिक और अधिकारी वर्ग भी कवियोंको सरक्षण देने लगे थे। कुम्भनदासने सम्राट् अकबरके आमन्त्रणपर फतेहपुर सीकरी जाकर पश्चात्ताप किया था, सूरदासने एक बार सम्राट्से मिलकर स्पष्ट कह दिया था, दुबारा कभी मिलनेका प्रयत्न न करना। परन्तु अब स्थिति बदल गयी। कविगण सम्राटों और राजाओंकी तो क्या, छोटे-मोटे सामन्तों और जमींदारोंकी शरण ढूँढने लगे। परिणाम यह हुआ कि रीतिकाल(दे०)में कविताका वर्ण्य विषय लगभग वही रहा जो कृष्ण-भक्तिकाव्यका था, परन्तु उसकी आत्मा बदल गयी। सर्वोच्च स्थितिसे वह निकृष्ट धरातलपर उतर आया। कृष्ण लौकिक नायकका प्रतीक नाम हो गया, कृष्णकी अभिन्न ह्लादिनी शक्ति, राधा एक साधारण नायिका बनकर रह गयीं, गोपियाँ उनकी प्रिय, नर्म आदि सखियाँ हो गयीं। सूरदासने गोपियोंके प्रेम-भावकी अनन्यता और सम्पूर्णता सम्पादित करनेके लिए सूरसागरमें 'खण्डिता प्रकरण' लिखा था जिसमें कृष्णके दक्षिण-नायक रूपका सूक्ष्म, आध्यात्मिक व्यजनापूर्ण चित्र दिया था। उन्होंने गोपियों और राधाके प्रेम-विकासकी अत्यन्त सूक्ष्म और स्वाभाविक स्थितियोंका चित्राकन किया था। रीतिकालीन कवियोंको उसीके आधारपर नायक-नायिका भेद (दे०) नामसे एक बृहत् काव्य-शास्त्रीय विवेचनका विषय मिल गया। विषयकी दृष्टिसे लगभग समूचा रीतिकालीन साहित्य कृष्णकाव्य है। काव्य-धाराकी दृष्टिसे भी, जैसे कृष्ण-भक्तिकाव्यमें माधुर्य भावकी प्रधानता थी, वैसे इसमें भी शृगारकी प्रधानता है। परन्तु वास्तविक यह है कि विषय-वस्तु प्राय नाम-मात्रको ही कृष्णपरक है, उसमें कृष्ण और राधाका वहा ना-मात्र है तथा भाव-धारा बाह्यत समान होते हुए भी विषयके अनुरूप सर्वथा लौकिक, अत हीन कोटिकी है। उदात्तताके स्थानपर उसमें विलासिताका वातावरण है, आध्यात्मिक पिपासाके स्थानपर वासनाकी अतृप्ति है।

परन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं है। आधुनिक कालकी सुधारवादी भावनाके प्रभावमें रीतिकालके शृगारी काव्य और उसके तथाकथित पूर्वरूप, कृष्ण-भक्तिकाव्यकी अत्यधिक निन्दा की गयी है। माधुर्य भक्ति और लौकिक शृगारका अन्तर तर्क और वाद-विवादके द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता। तर्कके आधारपर तो बडेसे-बडे भक्त-कविका माधुर्य भाव मानसिक रुग्णता और दमित वासनाका प्रकाशन कहकर निन्दित किया जा सकता है। परन्तु कलामें यदि उदात्तीकरणकी स्थिति स्वीकार्य है, तो कृष्ण-भक्तिकाव्य उसका सर्वोत्तम उदाहरण कहा जा सकता है। रीतिकालीन कवि भी सर्वदा लौकिक वासनात्मक प्रेरणासे ही काव्यरचनामें प्रवृत्त होते रहे हों, यह भी दावेके साथ नहीं कहा जा सकता। अनेक रीतिकालीन कवियोंमें (केवल उन कवियोंमें ही नहीं जो निश्चित रूपमें भक्ति-प्रेरित थे और जो शुक्लजीके इतिहासके 'रीतिकालके अन्य कवि' शीर्षकमें रख दिये गये हैं) प्राय भक्ति-भावनाकी प्रेरणा झलक जाती है और उनकी चित्तवृत्ति सासारिकतासे ऊपर उठती हुई जान पड़ने लगती है। और फिर, रीतिकालमें कृष्णकाव्यकी धारा क्षीण भले ही पड़ गयी हो, टूटी कदापि नहीं। घनानन्द रीतिकालमें ही हुए जिन्होंने सुजानके प्रेमको सहज ही कृष्ण-प्रेममें परिणत करके सासारिकतापर विजय पायी। नागरीदास, बख्शी हसराज, हितवृन्दावनदास, भगवत रसिक, हठीजी, ब्रजवासीदास आदि अनेक भक्तकवि जो वल्लभ, राधावल्लभ या सखी सम्प्रदायके अनुयायी थे, रीतिकालमें ही हुए हैं। इन्होंने कृष्ण-भक्तिकाव्यकी परम्पराको जीवित रखा और समसामयिक रीतिकालीन कृष्णकाव्यके प्रणेताओंके लिए चेतावनीका काम किया। इनमें और रीतिकालीन कवियोंमें एक अन्तर शैलीका भी है। जहाँ इनमेंसे कुछ कवि भक्तिकालीन कृष्णकाव्यकी पदशैलीके अनुकरणका प्रयत्न करते दिखाई देते हैं, वहाँ रीतिकालीन कवियोंकी शैली एकदम भिन्न, सूक्ति और उक्ति-वैचित्र्य-प्रधान मुक्तकोंकी शैली है। गीतिकाव्यकी भावापन्नता उसमें नहीं है। कलात्मक चमत्कारपर ही कविका विशेष ध्यान है। दोहा, कवित्त, सवैया, हरिगीतिका आदि कुछ छन्दोंका मुक्तक रूपमें सूरदास, हित हरिवश, नन्ददास तथा कुछ अन्य भक्त-कवियोंने भी व्यवहार किया था, परन्तु रीतिकालमें तो राधा-कृष्णका गुणगान कवित्त और सवैयामें ही सीमित रह गया।

आधुनिक कालमें जब गद्यके रूपमें साहित्यका बहुविधि विकास प्रारम्भ हुआ, तब भी कविताका विषय बहुत दिनोंतक कृष्णवार्ता ही बना रही। हिन्दीके कवि राधा-कृष्णके प्रेम-प्रसंगोंपर इतने मुग्ध थे कि उन्हें काव्यका और कोई

विषय सूझता ही न था। आधुनिक कालके प्रारम्भिक युगमें ललितकिशोरी जैसे वास्तविक भक्तकवि तो होते ही रहे, शुद्ध काव्यकलामें प्रवृत्त भारतेन्दु सरीखे कवि भी, न केवल राधा-कृष्ण-प्रेमवार्ता विषयक कवित्त और सवैया लिखते थे, जिनकी प्रेरणाके विषयमें संदेह किया जा सकता है, बल्कि सूरदासकी परम्परामें पदरचना भी करते थे। पदरचनाकी प्रवृत्ति वर्तमान कालतक समाप्त नहीं हुई है। अनगिनती अख्यात भक्तोंके अतिरिक्त वियोगी हरि जैसे प्रसिद्ध साहित्यिकका नाम इस श्रेणीके कवियोंमें लिया जा सकता है। रीतिकालके प्रसिद्ध आचार्य भिखारीदासने कहा था, 'आगेके कवि यदि प्रसन्न होंगे तो समझा जायगा कि मैं भी कोई कवि था, अन्यथा मुझे इसीमें सन्तोष है कि मैंने कविताई करनेके बहाने राधा-कन्हाईका स्मरण तो कर लिया।' अनेक रीतिकालीन और आधुनिककालीन कृष्ण-काव्य लिखनेवाले कवियोंका यही भाव रहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रसे लेकर आधुनिककालीन ब्रजभाषाके शिल्पी जगन्नाथदास 'रत्नाकर'तक, अनेक कवि कृष्णकाव्यपर पूर्ण अधिकार और आत्मीयताके साथ लिखते रहे हैं। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा आजकी 'नयी कविता के युगमें भी ब्रजभाषाके कृष्णकाव्यकी परम्परा समाप्त नहीं हुई है। उसका चमत्कार ऐसा विलक्षण है कि अति आधुनिक प्रवृत्तियों-से प्रभावित कलाकार भी उसपर रीझे बिना नहीं रहते।

कृष्णकाव्य सोलहवीं शताब्दीसे आज बीसवीं शताब्दी-तक ब्रजभाषाको काव्य-भाषाके रूपमें निखारता आया है। ब्रजभाषाको उसीके द्वारा देशव्यापी मान्यता प्राप्त हुई और गुजरातसे बंगालतक उसका प्रचार हुआ। उसीके प्रभावसे बंगालमें काव्यकी एक नवीन शैली और प्रवृत्ति 'ब्रजबूलि' (दे०) नामसे विकसित हो गयी। परन्तु कृष्ण-काव्य आधुनिक काव्य-भाषा खड़ीबोलीमें भी रचा गया है, अत यह कहा जा सकता है कि कृष्णकाव्यसे ब्रजभाषाको गौरव मिला है, न कि ब्रजभाषासे कृष्णकाव्यको। खड़ी बोलीके कृष्णकाव्यमें, जिसके प्रमुख प्रणेता अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त हैं, आधुनिक सुधारवाद, देशभक्ति, विश्व-मैत्री आदि भावनाओंको भी सम्मिलित किया गया है। आधुनिक कालमें जो भी मध्यकालीन अवशेष हैं, उनमें स्वाभाविक है कि अधिकांश कृष्णकाव्य ही है। वस्तुत आधुनिककालीन कृष्णकाव्य, चाहे वह भक्ति-प्रेरित हो या रीति-प्रेरित अथवा देश-भक्ति और सुधारवादसे ही प्रेरित क्यों न हो, मध्यकालीन अवशिष्ट ही कहा जा सकता है। —ब्र० व०

कृष्ण-भक्ति शाखा—हिन्दी साहित्यके इतिहासके **पूर्व-मध्यकाल**(दे०)को अध्ययनकी सुविधाके लिए भक्तिके सम्प्रदायगत अन्तरों और उन्हींके परिणामस्वरूप काव्य-विषयोंके आधारपर रामचन्द्र शुक्लने चार प्रमुख शाखाओंमें विभाजित किया था। यह विभाजन स्वाभाविक और स्पष्ट होनेके कारण सर्वस्वीकृत हो गया है। पूर्व-मध्यकाल काव्यकी प्रमुख प्रवृत्तिके आधारपर **भक्तिकाल** (दे०) कहा जाता है। यह भक्ति मोटे तौरपर निर्गुण और सगुण दो पृथक् धाराओंमें विभक्त की जाती है। सगुण-धाराका अध्ययन पुन रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखामें विभाजित करके किया जाता है। जैसा कि **रामकाव्य** (दे०) और **कृष्णकाव्य**(दे०)की प्रवृत्तियोंके साधारण परिचयसे ही स्पष्ट हो जाता है, इन शाखाओंमें केवल विषयवस्तुका ही अन्तर नहीं है, दृष्टिकोण और प्रवृत्तियोंका भी स्पष्ट अन्तर है। कृष्ण-भक्ति शाखाके कवि परम सत्यको सौन्दर्य और आनन्दके रूपमें मूर्तिमान् करते हैं और उसी निःशेष परिपूर्णतामें शिव और सत्यको अन्तर्भुक्त मानते हैं। वे मानसी और रागानुगा भक्तिके समर्थक हैं। बाह्य आचरण, मर्यादा आदिको वे तुच्छ मानते हैं। फलस्वरूप उनके काव्यमें भावात्मकता और रसात्मकता कहीं अधिक है। काव्यके कलात्मक सौन्दर्यके लिए भी उसमें कहीं अधिक उर्वर क्षेत्र है। यही कारण है कि कृष्ण-भक्ति शाखाका काव्य ही अधिक सम्पन्न और समृद्ध हुआ, उसीकी परम्परा आगे चली और आधुनिक युगतक पर्याप्त धूमधामसे जीवित है। उसीकी सहज परिणति काव्यके उस रूपमें हो सकी जिसे बहुत अंशमें इहलौकिक (सेक्यूलर) कह सकते हैं। कृष्ण-भक्ति शाखाका काव्य आगे चलकर कृष्ण-काव्य होकर रह गया। भक्ति-भावना बहुत कुछ दब गयी या गौण हो गयी। भक्ति और काव्यकी सीमाओंको इतना निकटसे मिलाकर बहुत कुछ समान रूप कर सकनेकी क्षमता कृष्ण-भक्ति शाखाके काव्यमें ही है। वह हिन्दी-साहित्यका एक प्रधान अंग है। —ब्र० व०

कृष्णाभिसारिका—दे०—'अभिसारिका,' नायिका।

केलि—दे०—'स्वभावज अलंकार,' सतरहवाँ।

कैतवापह्नुति—दे०—'अपह्नुति,' छठा भेद।

कैलास—'कैलास'का प्रयोग जायसीने 'स्वर्ग'के अर्थमें किया है। 'पद्मावत'में योगियों और नाथपन्थियोंकी साधनाका प्रत्यक्ष प्रभाव दीख पड़ता है। उनकी साधनामें शिवका विशिष्ट स्थान है और शिवका स्थान कैलास है, इसीलिए सम्भवत जायसीने 'कैलास'का प्रयोग स्वर्गके अर्थमें किया है। (विस्तारके लिए दे०—'हठयोग')। —रा० पू० ति०

कैशिकी वृत्ति—दे०—'नाट्यवृत्ति', पहली।

कोमला वृत्ति—दे०—'वृत्ति', तीसरी।

क्रम—दे०—'अर्थदोष', पाँचवाँ।

क्रिया—साधककी अवस्थानुसार साधना-पद्धति अपनानेकी दृष्टिसे चार पद्धतियाँ प्रमुख थीं। इन्हींके नामपर वज्रयानके चार तन्त्र हो गये—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र, अनुत्तर-तन्त्र। इनमेंसे क्रिया तथा चर्या केवल शैक्षोंके लिए आवश्यक है, क्योंकि वे अविकसित मनवाले होते हैं। क्रिया आदि कर्मप्रधान पद्धतिका नाम है जिसमें प्रज्ञापारमिताओंके संयम-पालनका विधान है। दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञाका सेवन ही क्रिया-साधना है। —ध० वी० भा०

क्रियाचतुर नायक—दे०—'नायक' (शृंगार)।

क्रियात्मक आलोचना—शैली तथा वस्तु दोनोंको अन्योन्याश्रित माननेवाले दर्शनशास्त्रज्ञोंने १९वीं शतीके अन्तिम चरणमें इस आलोचना-प्रकारका प्रवर्तन किया। इस वर्गने आलोचनाके बाह्यारोपित मानों, रूढ़ियों और व्याकरणात्मक सिद्धान्तोंके साथ-साथ व्यक्तिगत अनुभूतिके आधारपर टिकी प्रभाववादी आलोचनाका भी विरोध किया। इस वर्गका विश्वास है कि किसी कलाकृतिकी वास्तविक

परख न तो साहित्यकारकी, जीवनी, उसके धर्म या उसकी परिस्थितियोंके ज्ञानके आधारपर की जा सकती है और न कलाकृतिमें प्रदर्शित रूढि, पाण्डित्य, व्याकरणात्मक विवेचन, शब्दशोधन अथवा छन्द-व्यवस्था आदिके आधारपर ही। इन उपादानोंसे हम कलाकृतिकी अन्तरात्मातक नहीं पहुँच सकते। श्रेष्ठ आलोचना वही होगी जिसमें आलोचक उक्त ऐतिहासिक तथा सौन्दर्यात्मक, दोनों दृष्टियोंको ध्यानमें रखता हुआ उनके समन्वयके साथ-साथ कलाकारके अनुभवोंको अपने मनमें जन्म देगा। आलोचकका काम है कलाकार और स्वयंके भाव-संसारमें एकरूपता स्थापित करना, अपने आपको उस कलाकारके व्यक्तित्वसे अभिन्न कर देना। इस प्रकारकी आलोचनाकी सफलताके लिए यह भी आवश्यक है कि आलोचक कविके लक्ष्य तथा उसके प्रतिपादन, दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करे। लक्ष्य तथा उसकी सिद्धिमें जिस कृतिमें अधिकतम निकट-सम्बन्ध होगा, वह कृति उतनी ही श्रेष्ठ समझी जायगी। अत क्रियात्मक आलोचनाके द्वारा यह जाना जाता है कि कृतिकारका लक्ष्य क्या है, उसे उसमें कितनी सिद्धि मिली, उसके लक्ष्य तथा उसकी कृतिमें सम्बन्ध स्थापित हो सका है या नहीं? आदि। वस्तुत कलाकारकी क्रियात्मकताका पुनर्निर्माण ही क्रियात्मक आलोचनाका मूल आधार है। कलाकृतिके आरम्भसे लेकर उसकी पूर्णतातक कलाकारको जो अनेकानेक अनुभव हुए हैं, जिन अनुभवोंके आधारपर उसकी कलाकी स्थिति, विकास और पूर्णता निर्भर है, उन सब अनुभवोंका क्रमश पुनर्निर्माण करना ही इस आलोचनाका लक्ष्य है। इस आलोचनाकी सफलताके लिए आलोचकमें निरीक्षण, मनन, प्रेरणा, अनुभूति तथा अभिव्यक्ति, ये पाँच बातें आवश्यक मानी गयी हैं।

इस प्रकार इस आलोचना-प्रकारने अरस्तू द्वारा निर्धारित काव्य-समीक्षाके सिद्धान्तोंकी उपेक्षा करनेके साथ-साथ नाटक तथा काव्य आदि पृथक् रूढिवादी वर्गीकरणको भी महत्त्वहीन घोषित कर दिया। इस प्रणालीने न तो साहित्य-निर्माणमें काव्यात्मक विषयोंको ही मान्यता दी और न अलंकार-प्रयोग या नैतिकताको ही उपयोगी स्वीकार किया। इतना होते हुए भी इस प्रणालीमें कुछ त्रुटियाँ अवश्य रह गयीं। किसी विशेष नियमावलीके अभावमें रुचि-वैभिन्न्य या व्यक्तिगत क्षमता-अक्षमताके कारण कविके मनके साथ आलोचकके मनकी अभिन्नताकी सिद्धि एक कठिन कार्य जान पड़ता है। साथ ही विभिन्न कालों और परिस्थितियोंमें प्राचीन तथा नवीन साहित्य या कलाकृतिके मूल्याकनकी समान-सिद्धि भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार सौन्दर्यके अनेक स्तर तथा वर्ग हो सकते हैं, ऐसी अवस्थामें किसी कृतिकी श्रेष्ठता अंकित करना भी असम्भव हो जायगा। सामंजस्य भी किसी कृतिकी श्रेष्ठताका घातक नहीं हो सकता। क्योंकि सामंजस्यका निर्वाह करनेपर भी कवियोंकी कोटियाँ बनी रहती हैं। —आ० प्र० दी०

क्रिया-दोष—दे०—'शब्द-दोष', बीसवाँ 'वाक्य-दोष'।

क्रियाविदग्धा—दे०—'विदग्धा', नायिका।

क्रियावैचित्र्यवक्रता—दे०—'पदपूर्वार्धवक्रता', छठा प्रकार।

क्रोध—रौद्र रसका स्थायी भाव क्रोध है। 'साहित्यदर्पण'में इसका लक्षण है—'प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोध· क्रोध इष्यते' (३ १७७), अर्थात् शत्रु इत्यादि प्रतिकूल विषयोंमें तीक्ष्णताका उद्बोध क्रोध कहलाता है। रामदहिन मिश्रका लक्षण अधिक स्पष्ट है, 'असाधारण अपराध, विवाद, उत्तेजनापूर्ण अपमान आदिसे उत्पन्न हुए मनोविकारको क्रोध कहते हैं' (काव्यदर्पण पृ० ९५)। पण्डितराजने क्रोधकी अन्य सज्ञा 'जलन' कही है। यह स्मरणीय है कि यदि यह जलन किसी साधारण अपराधसे उत्पन्न हुई हो, तो वह कठोर वचन बोलने तथा मौनावलम्बन इत्यादिके रूपमें प्रकट होती है, और तब वह 'अमर्ष' नामक व्यभिचारी कहलायेगी, क्रोध नहीं। क्रोध प्रबल, उत्कट तथा 'शत्रु-विनाश आदिका कारण' होता है। हृदयके प्रिय और अनुकूल भावोंपर आघात होनेसे भी क्रोधका प्रादुर्भाव होता है। (हरिऔध)।

भृकुटिभंग, ओठ चबाना, ताल ठोंकना, डाँटना, अपने पिछले कार्मोंकी बड़ाई करना, शस्त्र घुमाना, उग्रता, आवेग, रोमाच, स्वेद, दाँत निकालना, नेत्रोंका लाल हो जाना इत्यादि क्रोध 'स्थायी'के व्यंजक अनुभाव हैं। दाँत निकालने, स्वेद आदि अनुभावोंके सम्बन्धमें विकासवादियोंकी व्याख्या मनोरंजक है। उनका कथन है कि सभ्यताके आविर्भावके पूर्व जब विशेष अस्त्र-शस्त्रादि नहीं बने थे, शत्रुको देखकर लोग उसे क्रोधमें आकर काट खानेको दौड़ जाते थे। अब सभ्य हो जानेपर शत्रुके प्रति यह दौड़कर काटनेवाला आचरण समाप्त हो गया है, किन्तु दौड़नेकी क्रियाके साथ सहचार करनेवाले तत्त्व दाँत निकालना, दाँत पीसना, नथुनोंका फुला लेना, स्वेद इत्यादि अबतक बने हुए हैं और क्रोधकी व्यंजनामें सहायक होते हैं। लेकिन जैसा गुलाबरायने कहा है, शृंगारमें पसीना आनेकी व्याख्या विकासवादी क्योंकर करेंगे? यह भी रोचक प्रश्न होगा।

मद, उग्रता, अमर्ष, स्मृति, चचलता, असूया, आवेग इत्यादि चित्तवृत्तियाँ क्रोध 'स्थायी'के साथ सहचार करनेवाले व्यभिचारी भाव हैं। उदाहरण—'उठ वीरोंकी भाव रागिनी, दलितोंके दलकी चिनगारी। युग-मर्दित यौवनकी ज्वाला, जाग-जाग री क्रान्तिकुमारी।' (दिनकर) यहाँ कविकी ललकारसे 'क्रोध' भावकी व्यंजना हुई। स्थायीका प्रस्फुटन नहीं हुआ है, क्योंकि वह तो रौद्र रसमें ही सम्भव है। —र० ति०

क्लिष्ट—दे०—'शब्द-दोष', बारहवाँ 'पद-दोष'।

क्लैसिसिज्म—'क्लैसिसिज्म'का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय, गम्भीरतम आदि। अत 'क्लासिकल'का अर्थ हुआ सर्वश्रेष्ठ शाश्वत, उच्च कोटिकी वस्तु।

वस्तुत इस शब्दका प्रयोग यूनान और रोमके साहित्यके लिए हुआ। यूरोपमें १५वीं, १६वीं शताब्दीमें साहित्यिकोंकी रचनाकी कसौटीके लिए ग्रीक और रोमीय साहित्यको आदर्श माना गया। इसी तरह १८वीं शतीमें इंगलैण्टके साहित्यिकोंके आदर्श थे होमर, वर्जिल, होरेस तथा अरस्तू। इस युगको 'नव्य शास्त्रवादी' कहा गया।

अरस्तूने यह देखा कि कलाकृतियोंमें विभिन्नताओंके बावजूद भी एक ही सत्य है। उन सबकी महनीयताका एक

ही सत्य है–वह सत्य अनेकत्वमें एकत्व है। अतएव उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि समस्त कलाकृतियोंमें एकत्व होनेका कारण उनका उद्देश्य है। तात्पर्य यह कि उद्देश्यकी एकता ही कलाकृतियोंमें एकत्व स्थापित करती है। इसी दृष्टिकोणसे रचनामें बाह्य रूप-सौष्ठव प्रधान हो उठता है और आलोचक उसकी खोज-बीन करता हैं। इसी विचारधाराको 'क्लासिकल' विचारधारा कहते हैं।

सबसे पहले ह्यूमने एक प्रश्न उठाया कि होमर आजसे हजार-दो हजार साल पहले रोम तथा एथेन्समें पढे जाते थे और वे आज भी लन्दन और पैरिसमें पढे जाते हैं। अनेक विभिन्नताओं और परिवर्तनोंके होते हुए उनका महत्त्व अक्षुण्ण है, इसका क्या कारण है? साहित्यिकोंने यह अनुभव किया कि जो साहित्य कालकी कसौटीपर खरा उतरता है वही साहित्य उच्च, श्रेष्ठ अथवा क्लासिकल कहलायगा। इस प्रकार क्लासिकल साहित्य जीवनके उन तत्त्वोंकी चेतनाका वहन करता है जिनकी उपयोगिता या सार्थकता प्रत्येक युग तथा देशमें अक्षुण्ण रहती है। अतएव, आलोचक साहित्यके इसी स्वरूपकी परीक्षा करता है, क्योंकि क्लासिकल साहित्यके अध्ययनका अर्थ हुआ रसात्मक संवेदनका आकलन जो वस्तुत मनुष्य-चेतनाके अंग और प्रतीक हैं। इस प्रकार इस पद्धतिका आलोचक साहित्यकी श्रेष्ठता, उच्चताके स्वरूप तथा उसके हेतुओंका विश्लेषण-विवेचन करता है। इस पद्धतिके आलोचकका विश्वास है कि कुछ साहित्य शाश्वत, अविचल अथवा क्लासिकल हैं और कुछ गत्यात्मक, स्वच्छन्द या रोमानिक हैं।

संस्कृत आचार्योंके चिन्तनकी प्रणाली इनसे सर्वथा भिन्न थी। उन लोगोंने इस दृष्टिसे न तो साहित्यका अध्ययन किया, न विवेचन। समस्त संस्कृत साहित्यशास्त्रका केन्द्र-बिन्दु था शरीर और आत्मा, रस, ध्वनि, और वक्रोक्ति, रीति, अलंकार। वैसे कुछ विद्वानोंने संस्कृत साहित्यके ह्रासोन्मुखी कालको लक्ष्य करते हुए अतीतके साहित्यको श्रेष्ठ और शाश्वत माना। इस दृष्टिसे संस्कृत साहित्यके इतिहासमें इस सिद्धान्तको घटित किया जा सकता है। किन्तु वह कहाँतक उचित होगा यह विवादास्पद है।

हिन्दीमें निश्चय ही इस पद्धतिका स्वरूप देखा जा सकता है परन्तु उस रूपमें नहीं, जिस रूपमें अँग्रेजी या यूरोपीय साहित्यमें। हिन्दीका रीतियुग अतीतके साहित्यको इसी रूपमें ग्रहण करता है। इस युगके आचार्योंके प्रेरणा-स्रोत थे संस्कृतके ह्रासोन्मुखी साहित्यिक आचार्य। इनकी दृष्टि उन्हींपर टिकी थी, और इन लोगोंने जो कुछ भी लिखा वह उन्हींको आदर्श मानकर। कुछ लोगोंकी रायमें रामचन्द्र शुक्ल भी शाश्वतवादी है, क्योंकि सूर, तुलसी और जायसीको उन्होंने श्रेष्ठ और क्लासिकल माना। उन्होंने इन्हीं श्रेष्ठ कवियोंके आधारपर श्रेष्ठ साहित्यके कुछ मापदण्ड भी बताये। फिर भी इन्हें रसवादी कहना अधिक उपयुक्त होगा। आधुनिक आलोचकोंमें विश्वनाथ मिश्र, कृष्णशंकर शुक्ल, गुलाबराय, देवराजके नाम लिये जा सकते हैं। साहित्यके निश्चित, शास्त्रीय सिद्धान्तोंमें इनका अटल विश्वास है। —रा० कृ० स०

क्वाँरी–जिसका विवाह न हुआ हो। सन्तोंने मायाको सदा क्वाँरी शब्दसे सम्बोधित किया है तुम बूझहु पंडित कवन नारि। काहु न वियाहल है कुमारि। (कबीरबीजक ३४७)। —उ० शं० शा०

खंडकथा–दे०—'कथाकाव्य', 'खण्डकाव्य'।

खंडकाव्य–यह प्रबन्धकाव्यका ही एक विशेष रूप है। संस्कृतके पूर्ववर्ती आलंकारिकोंने प्रबन्धकाव्य शब्दका प्रयोग अधिक न करके प्राय सर्गबन्ध या सर्गबन्धकाव्य शब्दका ही प्रयोग किया है, क्योंकि प्रबन्धके भीतर वे सर्गबन्धकाव्यके अतिरिक्त रूपक, कथा, आख्यायिका आदि सभी प्रबन्धात्मक साहित्यरूपोंको ग्रहण करते थे। भामह और दण्डीने सर्गबन्धकाव्यका अर्थ विशेष रूपसे महाकाव्य ही लिया है और खण्डकाव्यकी चर्चा ही नहीं की है (दे० काव्यालंकार १ : १९ . २१ और काव्यादर्श . १ . १३ . १४)। रुद्रटने सभी प्रबन्धों(प्रबन्धकाव्य, कथा, आख्यायिका आदि)को महत् और लघु, इन दो प्रकारोंमें विभक्त कर उनका अन्तर इस प्रकार बताया है—'तत्र महान्तो येषु च वितत्स्वेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः सर्वे रसा क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि। ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात् असमग्रानेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ता' (काव्यालंकार . ८ . ५ ६)। इस तरह सर्वप्रथम रुद्रटने प्रबन्धकाव्यके दो रूपों महान् काव्य (महाकाव्य) और लघु काव्य(खण्डकाव्य)पर मौलिक ढंगसे विचार किया है। आनन्दवर्द्धनने (ध्वन्यालोक ३ : ७) काव्यभेदोंका विवरण देते हुए प्रबन्धकाव्यके लिए सर्गबन्ध शब्दका ही प्रयोग किया है। यद्यपि कथाके भीतर उन्होंने खण्डकथा, परिकथा और सकलकथाका उल्लेख किया है, पर सर्गबन्धकाव्यके भीतर महाकाव्य, खण्डकाव्य आदिका रूप-विभाजन नहीं किया है। उसी तरह हेमचन्द्रने काव्यानुशासनमें श्रव्यकाव्यमें कथा, आख्यायिका और चम्पूके साथ केवल महाकाव्यकी गणना की है। सम्भवत उन्होंने प्रबन्धकाव्यके अर्थमें ही महाकाव्य शब्दका प्रयोग किया है और उसमें खण्डकाव्यका उल्लेख नहीं किया है। विश्वनाथ कविराजने साहित्यदर्पणमें महाकाव्यका लक्षण बतानेके बाद खण्डकाव्यका उल्लेख इस प्रकार किया है—'भाषाविभाषानियमात्काव्य सर्गसमुत्थितम्। एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम्। खण्डकाव्य भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।' (सा० द० . ६ ३२८-३२९)। इस परिभाषाके अनुसार किसी भाषा या उपभाषामें सर्गबद्ध एव एक कथाका निरूपक पद्यग्रन्थ जिसमें सभी सन्धियाँ न हों, 'काव्य' कहलाता है और काव्यके एक अंशका अनुसरण करनेवाला खण्डकाव्य होता है। विश्वनाथकी इस परिभाषाका अनुसरण करके हिन्दीमे विश्वनाथ प्रसाद मिश्रने 'वाङ्मयविमर्श'में प्रबन्धकाव्यके तीन भेद किये हैं, महाकाव्य, एकार्थकाव्य और खण्डकाव्य। उनके अनुसार महाकाव्य और खण्डकाव्यके बीचकी कड़ी एकार्थकाव्य है जिसे विश्वनाथने केवल 'काव्य' कहा है। उन्होंने खण्डकाव्यकी परिभाषा यह बतायी है, 'महाकाव्यके ही ढगपर जिस काव्यकी रचना होती है, पर जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है उसे खण्डकाव्य कहते हैं। यह खण्ड जीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है जिससे वह प्रस्तुत रचनाके रूपमें

स्वत पूर्ण प्रतीत होता है।' (वाङ्मयविमर्श, द्वितीयसस्करण पृ० ३९)। एकार्थकाव्य और खण्टकाव्यका अन्तर उन्होंने यह बताया है, 'खण्डकाव्यका विस्तार भी थोडा होता है। एकार्थकाव्यकी भाँति पूर्ण जीवनका कोई उद्दिष्ट पक्ष उसमें नहीं होता।' (वही)

सामान्यतया ८ या ८ से अधिक सर्गोंवाले प्रवन्ध-काव्योंको महाकाव्य और ८ मे कम सर्गोंवाले काव्योंको खण्टकाव्य माना जाता है, परन्तु यह वैज्ञानिक विभाजन नहीं है। महाकाव्य वही प्रवन्धकाव्य माना जायगा जिसमें महदुद्देश्य, महच्चरित्र, समग्र युगजीवनका चित्रण, गरिमामयी और उदात्त शैली आदि महाकाव्यके सभी गुण पाये जायें। (दे०–'महाकाव्य') जिन प्रवन्धकाव्योंमें महाकाव्यके उपर्युक्त लक्षण नहीं मिलते, वे चाहे आकारमें वडे हों या छोटे, चाहे आठसे कम सर्गवाले हों या अधिक सर्गवाले, महाकाव्य नहीं माने जायेंगे। ऐसे प्रवन्धकाव्य दो प्रकारके होते हैं—एक तो वे जिनमें किमी व्यक्तिके सम्पूर्ण जीवनका चित्रण तो होता है, पर समग्र युगजीवनका चित्रण नहीं होता और न महाकाव्यके अन्य सभी लक्षण पाये जाते हैं। दूसरे वे जिनमें जीवनका खण्ट दृश्य चित्रित होता है और जो कथावस्तुकी लघुता तथा उद्देश्यकी सीमाओंके कारण वृहदाकार तथा महान् नहीं बन पाते। इनमेंमे प्रथम प्रकारके प्रवन्धकाव्यको एकार्थकाव्य और दूसरेको खण्डकाव्य कहना उचित ही है। इस प्रकारके खण्डकाव्योंको ही रुद्रटने लघुकाव्य कहा है। लघुकाव्य या खण्डकाव्यके सम्बन्धमें रुद्रटका यह कथन सर्वथा उचित है कि उसमें चतुर्वर्ग फलमेंसे किसी एक फलको उद्देश्य रूपमें अपनाया जाता है और अनेक रस असमग्र रूपमें पाये जाते हैं अथवा कोई एक ही रस समग्र रूपमें निष्पन्न होता है। आधुनिक काव्यमें रस दृष्टि प्रधान नहीं रह गयी है, चरित्राकनको अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है और चतुर्वर्ग फलवाला सिद्धान्त भी आज मान्य नहीं रह गया है। अत रुद्रटकी परिभाषा आजके खण्डकाव्यपर पूर्णतया नहीं घटित हो सकती। विश्वनाथ कविराजकी यह परिभाषा कि खण्डकाव्य काव्यके एक अशका अनुसरण करनेवाला होता है, अधिक स्पष्ट नहीं है क्योंकि कभी-कभी किसी चरित्रके खण्ट जीवनका चित्रण करनेवाले काव्य भी महाकाव्य होते हैं। जिस जीवन-खण्डको चित्रित किया जाता है यदि उसमें महत्ता है और उस काव्यकी शैली भी उदात्त और गरिमामयी है, तो उस काव्यको महाकाव्यके गुणोंमे युक्त मानना चाहिये। वस्तुत महाकाव्यात्मक उपन्यास (एपिक नॉवेल), सामान्य उपन्यास और कहानीमें जो अन्तर है वही अन्तर महाकाव्य, एकार्थकाव्य और खण्डकाव्यमें है। सीमित दृष्टिपथसे जीवनका जितना दृश्य दिखाई पड़ता है, उसीका चित्रण कहानी और खण्डकाव्य दोनोंमें होता है। ऐसे जीवन दृश्यमें महाकाव्य और महाकाव्यात्मक उपन्यास जैसी व्यापकता, ऊँचाई और गहराई नहीं होती और न उसमें एकार्थकाव्य तथा सामान्य उपन्यासकी तरहका फैलाव, उतार-चढ़ाव और मोड़ ही होता है, किन्तु उसमें अन्विति और कसाव अधिक होता है। इसी कारण खण्टकाव्य और कहानीमें प्रासंगिक और अवान्तर कथाएँ नहीं होतीं और न कथामें अनावश्यक स्फीति ही होती है। —श्या० ना० सिं०

सस्कृत काव्यशास्त्रमें खण्डकाव्यकी कोई परिभाषा नहीं मिलती। साहित्यदर्पणके 'एकदेशानुसारी काव्य खण्डकाव्य होता है' इस कथनके ही आधारपर आधुनिक लेखकोंने खण्डकाव्यके लक्षण देनेका प्रयत्न किया है। परन्तु इस विषयमें सस्कृत काव्यके उदाहरणोंसे भी कोई सहायता नहीं मिलती, क्योंकि सस्कृतमें महाकाव्यकी महनीयता और जीवन-व्यापिनी समग्रतासे रहित, किन्तु उसीकी भाँति सर्गवद्ध कथात्मकतासे समन्वित कोई ऐसे उदाहरण नहीं मिलते, जिन्हें नवीन परिभाषाके अनुसार खण्डकाव्य कहा जा सके और जो किसी अन्य काव्य-रूपमें अन्तर्भुक्त न माने गये हों। वस्तुस्थिति यह है कि सस्कृत साहित्यके देशी-विदेशी सभी समीक्षकों और इतिहास-लेखकोंने मेघदूत, घटकर्पर, चौरपचाशिका और मेघदूतके अनुकरणमें लिखे गये अनेकानेक **सन्देश-काव्यों**को जिन्हें खण्डकाव्य कहा जा सकता है, गीतिकाव्यमें ही सम्मिलित किया है। वास्तवमें सस्कृत साहित्यके समीक्षक खण्डकाव्यों-को ही गीतिकाव्य कहते है। गीतिकाव्य सज्ञाका व्यवहार सस्कृत काव्यरूपोंके सम्वन्धमें नहीं हुआ है। यह वात अवश्य विचारणीय है कि सस्कृतका यह तथाकथित गीति-काव्य गीतिकाव्यकी स्वीकृत परिभाषापर कहाँतक खरा उतरता है। (दे०–'गीतिकाव्य')।

प्राकृत और अपभ्रशमें सैकडों ऐसे कथात्मक काव्य-ग्रन्थ हैं जो महाकाव्य नहीं कहे जा सकते, अत उनके लिए प्रबन्धकाव्य या कथा-प्रवन्धकाव्यकी सामान्य परिभाषाका प्रयोग किया गया है। इनमें अनेक चरित-काव्य है जिनका उद्देश्य किसी आदर्शकी शिक्षा देना अधिक है, काव्यगत आनन्द साधन-मात्र है। इन्हीं प्रवन्ध और चरित-काव्योंके अन्तर्गत कुछ उदाहरण खण्डकाव्यके भी प्राप्त हो सकते हैं।

आदि और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्यमें भी छोटे-वड़े सैकड़ों कथात्मक काव्य मिलते हैं जिनमेंसे खण्डकाव्यके उदाहरण सकलित किये जा सकते हैं। इनमेंसे यदि **रासो** नामक काव्यग्रन्थोंको **वीरगीत** या **नृत्यगीत** या **लोकगाथा** (वैलेड) मानकर अलग कर दिया जाय, तो 'पद्मावत'को छोड-कर समस्त प्रेमाख्यानक काव्य (दे०–'प्रेमाख्यानक काव्य') तथा राजाश्रित कवियों द्वारा रचा गया समस्त प्रशस्ति-काव्य (दे०–'वीर काव्य') खण्डकाव्यकी परिभाषामें अन्तर्भुक्त हो सकता है। इनके अतिरिक्त वैष्णव भक्ति-भावनाकी प्रेरणासे लिखे गये कुछ कथा-प्रवन्धात्मक काव्य इस कोटिमें आ सकते हैं। इनमें एक ओर कृष्ण-कथासे सम्वन्धित विशिष्ट लीलाएँ–कालिय-दमन, गोवर्धन-पूजा, रासलीला आदि तथा अन्य कथात्मक प्रसंग—सुदामा-चरित, रुक्मिणी-मगल आदि हैं और दूसरी ओर राम कथाके प्रसगोंपर आधारित स्वयवर, अश्वमेध आदिसे सम्वन्धित काव्यग्रन्थ हैं।

आधुनिककालीन हिन्दी साहित्यमें अनेक ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जो कथा-प्रवन्धके लक्षणोंसे पूर्णतया समन्वित होते हुए भी महाकाव्य नहीं कही जा सकतीं। इनकी रचनाकी प्रेरणा वहुत कुछ पाश्चात्य साहित्यसे मिली है और वे अँग्रेजीके पेस्टोरल (ग्रामकाव्य) इडिल और

एकलोग् (प्रत्युत्तर काव्य) अथवा वैलेड (लोकगाथा) आदि काव्यरूपोंके अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। परन्तु उनकी स्वतन्त्र सत्ताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता और यदि उन्हें किसी सामान्य काव्यरूपकी परिभाषाके अन्तर्गत रखा जा सकता है, तो उसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त परिभाषा खण्डकाव्य ही है।

उपलब्ध साहित्यको ध्यानमें रखते हुए खण्डकाव्यके जो आधुनिक लक्षण बताये गये हैं, उनमें अभावात्मक लक्षणोंकी ही प्रधानता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो महाकाव्यके लक्षणोंपर खरा नहीं उतरता वह अनिवार्यत खण्डकाव्य कहा जा सकता है। असफल महाकाव्य या लघु आकारके किसी एक घटना-प्रसगपर आधारित लीलाकाव्य या चरितकाव्य मात्रको खण्डकाव्यकी सज्ञा दे देना समीचीन नहीं है। खण्डकाव्यकी स्वतन्त्र और निश्चयात्मक विशेषताओंका निरूपण सम्भव है। परन्तु इनके लिए इस नामसे अभिहित समस्तरचनाओंका विवेचन, विश्लेषण आवश्यक होगा। मोटे ढंगसे कहा जा सकता है कि खण्डकाव्य एक ऐसा पद्यबद्ध कथाकाव्य है जिसके कथानकमें इस प्रकारकी एकात्मक अन्विति हो कि उसमें अप्रासंगिक कथाएँ सामान्यतया अन्तर्भुक्त न हो सकें, कथामें एकागिता– साहित्यदर्पणके शब्दोंमें एकदेशीयता हो, तथा कथा-विन्यासमें क्रम—आरम्भ, विकास, चरमसीमा और निश्चित उद्देश्यमें परिणति हो। कथाकी एकागिताके परिणाम-स्वरूप खण्डकाव्यके आकारमें लघुता स्वाभाविक है और साथ ही उद्देश्यकी महाकाव्य जैसी महनीयता सम्भव नहीं है। कथाकी एकागिताके ही फलस्वरूप खण्डकाव्यमें गीतिके अनेक लक्षण स्वत आ जाते हैं। खण्डकाव्यका प्रतिपाद्य चाहे कोई चरित्र, घटना-प्रसग, परिस्थिति-विशेष या कोई सामयिक अथवा जीवन-दर्शन सम्बन्धी सत्य हो, कवि अपने व्यक्तित्वका उसके साथ अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठतापूर्वक तादात्म्य कर लेता है। अत खण्डकाव्यके कविका दृष्टिकोण उतना व्यक्ति-निरपेक्ष और वस्तुपरक नहीं रहता जितना महाकाव्यके लिए अपेक्षित है। कथा-विन्यासमें नाटकीयता खण्डकाव्यके आकर्षणको बढा देती है। खण्डकाव्यमें वर्णन-विस्तार नहीं हो सकता। उसकी वस्तु भावात्मक अधिक होती है, अत गीतिकाव्यकी भावप्रवणता और तीव्र अनुभूति उसमें जितनी अधिक होती है, उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक होता है। इस प्रकार उसकी कथाका विकास बहुत कुछ भाव-विकासपर आधारित होता है। खण्डकाव्यका यही लक्षण उसे चरितकाव्य या साधारण प्रबन्धकाव्यसे भिन्न करता है। खण्डकाव्यका कथानक पौराणिक, ऐतिहासिक, कल्पित, प्रतीकात्मक—किसी भी प्रकारका हो सकता है। वाह्य रूप-रचना सम्बन्धी सर्गबद्धताका नियम जिस प्रकार महाकाव्यकी रचनामें कठोरताके साथ पालन नहीं किया गया है, उसी प्रकार खण्डकाव्यके लिए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी वस्तु भिन्न-भिन्न सर्गोंमें अनिवार्य रूपसे विभाजित होनी चाहिये। सर्गोंकी संख्या निर्धारित करना तो और भी अप्रासगिक है। साधारणतया खण्डकाव्यमें छन्दोंकी विविधता नहीं होती, प्राय सम्पूर्ण काव्य एक ही छन्दमें रचा जाता है। परन्तु इसके अनेक अपवाद भी हैं। बीच-बीचमें गीतोंका प्रयोग भी खण्डकाव्यकी एक विशेषता कही जा सकती है। आधुनिक कवियोंमें द्विवेदीकालके कवियोंने सुन्दर खण्डकाव्योंकी रचना की है। मैथिलीशरण गुप्तके 'जयद्रथवध', 'पचवटी', 'वन-वैभव', 'वक-संहार', 'सिद्धराज', 'कुणालगीत', और 'नहुष', रामनरेश त्रिपाठीके 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न'; जगन्नाथदास रत्नाकरका 'गगावतरण', सियारामशरण गुप्तके 'मौर्य-विजय', 'अनाथ', 'आत्मोत्सर्ग' और 'उन्मुक्त'का खण्डकाव्यके अच्छे उदाहरणोंमें उल्लेख किया जा सकता है। कुछ छायावादी कवियोंने भी खण्डकाव्यकी रचना की है। जयशंकर 'प्रसाद'-के 'प्रेमपथिक', पन्तके 'ग्रन्थि', निरालाके 'तुलसीदास' और रामकुमार वर्माके 'चित्तौरकी चिता',में अन्तर्मुखी आत्मनिष्ठ दृष्टिकोणकी प्रवृत्ति अधिक है। रामायण, महाभारत, पुराण और बौद्धसाहित्य तो खण्डकाव्योंके कथानकोंके सबसे अधिक उपजीव्य रहे ही हैं, मध्यकालीन भारतीय इतिहास-की वीरता और आत्मत्यागपूर्ण कथाओं तथा रोमासिक प्रेम और आधुनिक देशभक्तिके भावोंको उद्‌बुद्ध करनेवाली कल्पित कथाओंको भी खण्डकाव्यका विषय बनाया गया है। (दे०–'कथाकाव्य', 'प्रबन्धकाव्य', 'महाकाव्य')। —व्र० व०

खंडित व्यक्तित्व (split personality)—सामान्य व्यक्तित्व अपने समस्त घटकोंका सामजस्यपूर्ण समेकित रूप होता है और एक स्थायी इकाईकी भाँति व्यवहार करता है। विकारग्रस्त होनेपर उसके ये घटक असम्बद्ध या विकीर्ण हो जाते हैं, समेकन भग हो जाता है। मनोवैज्ञानिक भाषामें इस दशाको खण्डित व्यक्तित्व कहते हैं। यह स्थिति प्रबल मानसिक संघर्षसे उत्पन्न होती है, जिसके कारण व्यक्तित्वके कुछ अगोंपर चेतनाका अधिकार नहीं रह जाता। असबद्ध अंश कोई विचार, भाव या प्रवृत्तियाँ हो सकते हैं। किसी सुपरिचित नाम या घटनाका भूल जाना असम्बद्ध विचारका उदाहरण है। इसी प्रकार सवेगको उत्पन्न कर सकनेवाली स्थितिके मध्य होते हुए भी व्यक्ति पहलेकी तरह उससे प्रभावित नहीं हो पाता। प्लाचेट द्वारा स्वसचालित अथवा तथाकथित दिवगत आत्माओंसे प्रेरित लेखन और त्राटकके द्वारा प्राप्त ज्ञान व्यक्तित्वके असम्बद्ध सरल घटकोंकी प्रक्रिया ही होती है। दिवगत आत्माओंसे तथाकथित बातचीत करने और उनसे सन्देश प्राप्त करने-वाले 'माध्यमों'में व्यक्तित्वके असम्बद्ध अंशोंका सघटन अपेक्षाकृत अधिक घनीभूत होता है। ये अपने ही असम्बद्ध विचारोंको मृतककी वाणी मानकर स्वय तथा दूसरोंको धोखा देते हैं।

असम्बद्ध विचारों, भावों और प्रेरणाओंकी सख्या कभी-कभी काफी प्रचुर हो जाती है और सुसघटित होकर एक ही व्यक्तिमें एक दूसरे स्वतन्त्र व्यक्तित्वका रूप ले लेती है। यह दूसरा व्यक्तित्व पहलेके साथ-साथ भी रह सकता है, अथवा वे एक दूसरेके बाद प्रकट होते रहते हैं। कभी-कभी एक ही व्यक्तिमें दोसे अधिक व्यक्तित्व भी उत्पन्न हो जाते हैं। अँग्रेजीके प्रसिद्ध लेखक राबर्ट लुई स्टीवेंसनकी प्रख्यात कृति 'डाक्टर जेकिल और मिस्टर हाइड' इस विषयका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

साधारण जीवनमें भी खण्डित या असम्बद्ध व्यक्तित्वके पर्याप्त दृष्टान्त मिलते रहते है। हमारे आदर्शों और आचरणमें अन्तर इसी असम्बद्धताका द्योतक है। भीतरसे शाक्त, बाहरसे शैव और सभामें वैष्णव रूपोंको धारण करनेवाले प्राचीन कौलोंके प्रतिरूप आजकल भी मिलते हैं। मार्क्सवाद और अद्वैत वेदान्त अथवा ईसाई धर्ममें एक साथ विश्वास रखना, व्यक्तित्व, जीवन और व्यवसायकी नैतिकताओंको भिन्न समझना आदि इसी स्थितिके उदाहरण हैं। सम्भवत सम्पूर्ण विश्व एक ऐसी ही नैतिक और आत्मिक असम्बद्धता या खण्डितताससे पीडित है। महाभारत-कालमें भी कुछ-कुछ ऐसी ही स्थिति थी। भीष्म, द्रोण और विदुर जैसे धर्मप्राण व्यक्ति पाण्डवोंके प्रति दुर्योधनके अन्यायोंका विरोध या उनसे विद्रोह नहीं कर पाते थे। —आ० रा० शा०

खंडिता (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजन-का एक भेद, विशेषके लिए दे०–'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भरत द्वारा उल्लिखित। भानुदत्तने कहा है कि जिसका प्रिय 'अन्योपभोगचिह्नित प्रातरागच्छति' अर्थात् रात्रिमें अन्यत्र रमकर प्रात परस्त्री-संसर्गके चिह्नोंसे युक्त आता हो। इस परिभाषामें मतिराम तथा पद्माकर आदिने 'दुखित होत' और जोड़ा है, अर्थात् इस स्थितिमें वह ईर्ष्यासे दु खी भी होती है। मुग्धा खण्डिता पतिपर अपना क्षोभ प्रकट करनेमें भी सकुचित है–'बिन गुन माल गोपाल उर क्यों पहिरी परभात। चकित चित्त चुप ह्वै रही निरखि अनोखी बात।' (पद्माकर जगद्विनोद १ १५९)। मध्या खण्डिता अपना अक्रोश व्यंग्यसे व्यक्त करती है–'कोऊ करो कितेक यह तजो न टेव गुपाल। निसि औरनिके पग परो दिन औरनिके लाल।' (मतिराम रसराज . १२६)। प्रौढा खण्डिताके नि सकोच आदर-मानमें स्वत एक व्यंग्य छिपा है–'पिय आवत अँगनैया उठिकै लीन। साथें चतुर तिरियवा बैठक दीन।' (रहीम बरवै० ४३)। परकीया खण्टिताको दु ख तथा आन्तरिक खेद है–'रावरे नेहको लाज तजी अरु गेहके काज सबै बिसराये। कोऊ कितेक उपाय करौ कहुँ होत है आपने पीउ पराये।' (मतिराम रसराज १२९)। परन्तु यह खेद विरह-पीडाकी ही अभिव्यक्ति है–'जेहि लगि सजन सनेहिया छुटि घरबार। आपन हित परिवरवा सोच परार।' (रहीम बरवै० ४५)। सामान्या खण्डिताके उदाहरणोंमें धनका उल्लेख अनिवार्यत हुआ है–'मितवा ओठ कजरवा जावक भाल। लिहेसि काढ़ि बरिअइया तकि मनिमाल।' (रहीम वही ४६)। रीतिकाव्यमें खण्डिताके वर्णनोंमें वचिता नायिकाओंकी मानसिक स्थितियोंका अंकन किया गया है। नायिकाके दु ख, ईर्ष्या, द्वेष, क्लेश, व्यथा तथा आकाक्षाका सुन्दर चित्रण हुआ है और साथ ही इसके अन्तर्गत उपालम्भकी व्यंग्यपूर्ण उक्तियोंका आलकारिक वर्णन भी है। —र०

खड़ीबोली–(वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी, जनपदीय हिन्दुस्तानी) भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे 'खड़ीबोली' शब्दका प्रयोग दिल्ली-मेरठके समीपस्थ ग्राम-समुदायकी ग्रामीण बोलीके लिए होता है। ग्रियर्सनने इसे 'वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी' तथा सुनीतिकुमार चटर्जीने 'जनपदीय हिन्दुस्तानी' कहा है। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे खड़ीबोली ही स्टैण्डर्ड हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानीकी मूलाधार बोली है। साहित्यिक सन्दर्भमें कभी-कभी अवधी, ब्रज आदि बोलियोंके साहित्यसे अलगाव करनेके लिए आधुनिक हिन्दी साहित्यको 'खड़ीबोली' साहित्यसे अभिहित किया जाता है और इस प्रसगमें खड़ीबोली शब्द 'स्टैण्डर्ड हिन्दी'का समानार्थक हो जाता है। प्रथमको हम 'खड़ीबोली' शब्दका विशिष्ट अर्थ और द्वितीयको सामान्य अर्थ कह सकते हैं।

किन्तु 'खड़ीबोली' शब्दके आरम्भिक अर्थ तथा नामकरण और उसके रूप, अर्थ, प्रयोगके विकासके सम्बन्ध-में विद्वानोंमें मतवैभिन्य दिखाई पडता है। खड़ीबोली नामकी व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानोंने भिन्न-भिन्न रूपसे की है। उन विद्वानोंकी विचार-धाराओंको निम्नलिखित वर्गोंमें बाँट सकते हैं–(१) कुछ विद्वान् 'खड़ीबोली' नामको ब्रजभाषा-सापेक्ष्य मानते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि लल्लूजीलाल(१८०३ ई०)से बहुत पूर्व यह नाम ब्रजभाषाकी मधुर मिठासकी तुलनामें उस बोलीको दिया गया था जिससे कालान्तरमें स्टैण्डर्ड हिन्दी और उर्दूका विकास हुआ। ये विद्वान् 'खड़ी' शब्दसे कर्कशता, कटुता, खरापन, खडापन आदि अर्थ लेते हैं। (दे० वंशीधर विद्यालकार उर्दू, भाग १४, पृ० ४७१, १९३४ तथा धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दीभाषाका इतिहास, तृतीय सस्करण, भूमिका पृ० ३४)। (२) कुछ लोग इसे उर्दू-सापेक्ष्य मानकर उसकी अपेक्षा इसे प्रकृत, 'शुद्ध', ग्रामीण ठेठबोली मानते हैं। (तासी, १८३९–१८७० ई०, हिस्ट्री दी ला हिन्दुई एण्ड हिन्दुस्तानी, प्रथम सस्करण, भाग १, पृ० ३०७ तथा चन्द्रवली पांडे, खड़ीबोलीकी निरुक्ति, उर्दूका रहस्य)। (३) कुछ खड़ीका अर्थ 'सुस्थिर, सुप्रचलित, सुसस्कृत,' परिष्कृत या परिपक्वसे मानते हैं (दे०–टी ग्रैहमबेली–दि हिस्ट्री आव उर्दू लिटरेचर पृ० ४, जे० आर० ए० १९३६, अक्टूबर, पृ० ७१)। (४) कुछ लोग उत्तरीभारतकी ओकारान्त ब्रज आदि बोलियोंको 'पड़ीबोली' और उसके विरोधमें इसे 'खड़ीबोली' मानते हैं (सुनीतिकुमार चटर्जी ओ० डी० बी० एल०, पृ० ११, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १६५)। (५) जब कि कुछ लोग रेखता शैलीको 'पड़ी' और इसे 'खड़ी' मानते हैं।

वास्तवमें 'खड़ीबोली'में प्रयुक्त 'खड़ी' शब्द गुणबोधक विशेषण है और किसी भाषाके नामकरणमें गुण-अवगुण-प्रधान दृष्टिकोण अधिकाशत अन्य भाषा-सापेक्ष्य होता है। सस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और उर्दू आदि इसी श्रेणीके नाम हैं, अतएव 'खडी' शब्द अन्य भाषा सापेक्ष्य अवश्य है, किन्तु इसका मूल खड़ी है अथवा खरी? और इसका प्रथम मूल अर्थ क्या है? इसके लिए शब्दके इतिहासकी खोज आवश्यक है। बोलीके अर्थमें इस नामका उल्लेख हमें मध्यकालमें कहीं नहीं मिलता है। निश्चित रूपसे इस शब्द-का प्रयाग १९वीं शतीके प्रथम दशाब्दमें लल्लूजीलालने २ बार, सदल मिश्रने २ बार, गिलक्राइस्टने ६ बार किया है।

लल्लूजीलाल तथा सदल मिश्रने 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' और 'रामचरित्र' नागरीलिपिमें लिखा

था। इन ग्रन्थोंमें 'खड़ीबोली' ही शब्द मिलता है, जिसका उच्चारण निश्चय ही खड़ी रहा होगा। इस प्रकार हिन्दू लेखकोंमें खड़ीबोली शब्द ही प्रचलित रहा होगा, किन्तु रोमनलिपिमें 'प्रेमसागर'के मुखपृष्ठपर खरी (Kharee) ही मुद्रित है। रोमनलिपिमें हिन्दीके ट् या ड् को r या r से प्रकट करते हैं। इसीसे हिन्दी 'खड़ी को 'खरी' लिखा गया। सम्भवत विदेशी अँग्रेजोंमें खरी शब्द ही अधिक प्रचलित हुआ। आजका सामान्य अँग्रेज 'खडी' शब्दका उच्चारण 'खरी'के आसपास ही करेगा। भारतीय ध्वनि-विकासमें भी र और ड् ध्वनिमें पारस्परिक विनिमय होता रहा है। सम्भवत उच्चारणकी दृष्टिसे खडी और खरी उस समय बहुत ही निकटके शब्द थे।

इस शब्दके वास्तविक अर्थज्ञानके लिए हमें लल्लूजी-लाल, सदल मिश्र तथा गिलक्राइस्टके उद्धरणोंपर पुन गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। इन उद्धरणोंसे किसी प्रकार भी यह सिद्ध नहीं होता कि ब्रजभाषाकी अपेक्षा अधिक 'कर्कश,' 'कटु' होनेके कारण इस बोलीको यह नाम दिया गया। यदि १९वीं शतीसे बहुत पूर्व ही ब्रजभाषाके विरोधमें यह नाम प्रचलित रहा होता तो स्टैण्डर्ड उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी सबके लिए यह शब्द प्रयुक्त होता, क्योंकि भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे तीनोंकी मूलाधार बोली यही है और 'प्रेमसागर' तथा 'बागो बहार' दोनोंको खडीबोलीका ग्रन्थ कहा जाता, किन्तु ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया। स्वय लल्लूजीलालने 'लाल चन्द्रिका'की भूमिकामें अपने ग्रन्थोंकी भाषाके तीन भेद किये हैं—(१) ब्रज, (२) खडीबोली, (३) रेखतेकी बोली (उर्दू)। यदि खड़ीबोलीको ब्रजभाषा-सापेक्ष्य समझते तो लल्लूजीलाल अपने ग्रन्थोंकी भाषाके दो ही भाग करते। वास्तवमें 'खडीबोली'के लिए कर्कश, कटु आदि अर्थ भारतेन्दुयुगकी देन है, जब कि हिन्दी कविताके लिए ब्रजभाषा और खडीबोली दोनोंमें प्रतियोगिता हो रही थी। सम्भवत ब्रजभाषा पक्ष-वालोंने उसी युगमें 'खडीबोली'का इस प्रकार अर्थ किया होगा।

बेली महोदयके अनुसार 'खड़ी' ही मूल शब्द है (खरी नहीं) जो 'खड़ा'का स्त्रीलिंग रूप है। खडी शब्दका अर्थ है 'उठी' और जब यह शब्द किसी भाषाके लिए प्रयुक्त होता होगा तब इसका अर्थ प्रचलित रहा होगा। इस प्रकार इनके अनुसार 'खडी'का अर्थ है परिपक्व, प्रचलित या सुस्थिर।

चन्द्रबली पाण्डेने अपने लेख (दे०—'खडीबोलीकी निरुक्ति')में बोलीके 'परिपक्व,' 'प्रचलित,' अर्थका खण्डन करते हुए यह प्रतिपादन करनेका प्रयत्न किया है कि खड़ी-बोली सदल मिश्रकी निजी या उनके यहाँकी प्रचलित बोली नहीं है। किन्तु उनका खण्डन मान्य नहीं, क्योंकि इस बोलीका प्रचलन (हिन्दवी रूपमें) अन्त प्रान्तीय व्यवहारके लिए बहुत पहलेसे था, अन्यथा सिन्ध-गुजरातके स्वामी प्राणनाथ (कुलजम स्वरूप) और लालदास (बीतक), पटियालाके रामप्रसाद निरजनी (योगवाशिष्ठ), राजस्थानके दौलत राम (पद्मपुराण) और बिहारके सदल मिश्र इस बोलीमें रचना न कर सकते। अतएव 'खड़ी' शब्दका अर्थ परिपक्व, प्रचलित मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। साथ ही इस बोलीको खडी (स्टैण्डर्ड केवल वाच्यार्थ लेकर) इसलिए मानना कि इसकी तुलनामें उत्तरप्रदेशकी ब्रजभाषा आदि अन्य बोलियाँ 'पडी' बोलियाँ थीं, भी न्याय-सगत नहीं है। किन्तु बेलीका अर्थ भी पूर्ण नहीं है। खडी शब्दका केवल 'स्टैण्डर्ड,' 'करैण्ट' अर्थ लेनेसे उर्दूसे उसका स्पष्ट अलगाव सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि हिन्दी(सामान्य अर्थ)की उर्दू शैली दिल्ली-आगरेमें भलीभाँति प्रचलित और सुस्थिर थी, किन्तु उर्दूका झुकाव 'यामिनी' भाषा (फारसी अरबी)की ओर अधिक था, अतएव मूल रूपसे हिन्दी या हिन्दुस्तानी होनेपर भी गिलक्राइस्टके पूर्व हेलहेडने इस हिन्दुस्तानीको मिश्रित हिन्दुस्तानी कहा था, जब कि उसके अनुसार हिन्दुस्तानीकी हिन्दवी शैली शुद्ध हिन्दुस्तानी थी (अथवा शुद्ध हिन्दी थी)। प्रेमसागरके प्रथम तीन सस्करणोंके मुखपृष्ठपर मुद्रित pure hindee language or kharee bolee (१८०५ ई०) पुन इसके सस्करणमें hinduwee (१८११ ई०) और तीसरे सस्करणमें hindee (१८४२ ई०) शब्द इसी तथ्यकी ओर सकेत करते हैं। खड़ी-बोली नाम सर्वप्रथम हिन्दी(या हिन्दुस्तानी)की उस शैलीके लिए दिया गया जो उर्दूकी अपेक्षा अधिक शुद्ध हिन्दी (भारतीय) थी और जिसका प्रयोग सस्कृत परम्परा अथवा भारतीय परम्परासे सम्बन्धित लोग अधिक करते थे। अधिकाशत वह नागरी लिपिमें लिखी जाती थी। १८०५ ई०से हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू शब्द गिलक्राइस्टके अनुसार समानार्थक थे, अतएव इनसे अलगाव सिद्ध करनेके लिए 'शुद्ध' (pure) विशेषण जोडनेकी आवश्यकता पडी तथा 'खडीबोली' नाम सार्थक हुआ। इस प्रकार खडी-बोलीका वास्तविक अर्थ होगा शुद्ध, परिष्कृत या परिनिष्ठित (प्रचलित) भाषा। उर्दू भी दिल्ली-आगरेकी बोली थी, किन्तु वह यामिनी मिश्रित थी, अतएव वह दिल्ली-आगरेकी खडी (शुद्ध, परिष्कृत) और प्रचलित बोली नहीं थी। लल्लूजीलालके उद्धरणका यही वास्तविक अर्थ है। खड़ी-बोली शब्दका अर्थ १८२३ ई०के बाद हिन्दी हुआ। यही कारण है कि 'प्रेमसागर' के १८४२ ई०के सस्करणमें हिन्दी शब्द ही मुखपृष्ठपर मुद्रित है।

खड़ीबोली शब्दका प्रयोग आरम्भमें उसी भाषाशैलीके लिए हुआ जिसे १८२३ ई० के बाद हिन्दी कहा गया। किन्तु जब प्राचीन तथा प्रचलित शब्दने 'खड़ीबोली' शब्दका स्थान ले लिया तो खडीबोली शब्द उस शैलीके लिए बहुत कम प्रयुक्त हुआ, केवल साहित्यिक सन्दर्भमें कभी-कभी ही प्रयुक्त होता रहा और आज भी कभी-कभी प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार जब यह मत प्रसिद्ध हो गया कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीकी मूलाधार बोली ब्रजभाषा नहीं बल्कि दिल्ली और मेरठकी जनपदीय बोली है, तब उस बोलीका अन्य उपयुक्त नाम प्रचलित न होनेके कारण उसे खडीबोली ही कहा जाने लगा। इस प्रकार खड़ीबोलीका प्रस्तुत भाषाशास्त्रीय प्रयोग विकसित हुआ। प्राचीन कुरु जनपदसे सम्बन्ध जोडकर कुछ लोग अब इसे 'कौरवी' बोली भी कहने लगे हैं, किन्तु जबतक पूर्ण रूपसे यह न सिद्ध हो जाय कि इस बोलीका विकास उस जनपदमें

प्रचलित अपभ्रंशसे ही हुआ है तवतक इसे कौरवी कहना वैज्ञानिक दृष्टिसे युक्तियुक्त नहीं।

खड़ीबोली निम्नलिखित स्थानोंके ग्रामीण क्षेत्रमें बोली जाती है–मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर देहरादूनके मैदानी भाग, अम्बाला, कलसिया और पटियाला-के पूर्वी भाग, रामपुर, मुरादाबाद। बाँगरू या जाटकी या हरियानी एक प्रकारसे पंजाबी और राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली ही है, जो दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार और पटियाला, नाभा, झींदके ग्रामीण क्षेत्रोंमें बोली जाती है। खडीबोली क्षेत्रके पूर्वमें ब्रजभाषा, दक्षिण-पूर्वमें मेवाती, दक्षिण-पश्चिममें पश्चिमी राजस्थानी, पश्चिममें पूर्वी पंजाबी और उत्तरमें पहाड़ी बोलियोंका क्षेत्र है। बोलीके प्रधानत दो रूप मिलते हैं—पूर्वी या पूर्वी खडीबोली तथा पश्चिमी या पश्चिमी खडीबोली।

साहित्यके क्षेत्रमें खड़ीबोलीके आदि प्रयोग 'गोरख-वाणी' तथा बाबा फरींद शररगजकी बानियोंमें मिलते है। मुसलमानोंने इसी बोलीको अपनाकर इसे अन्त प्रान्तीय रूप दिया। निर्गुण सन्तोंने भी इसके प्रचारमें सहयोग दिया। धीरे-धीरे इस बोलीमें व्याकरणके क्षेत्रमें तथा शब्द-कोषमें अन्य भाषाओंका मिश्रण होने लगा, जिससे हिन्दी (आधुनिक अर्थ), उर्दू और हिन्दुस्तानीका विकास हुआ। आज इस बोलीके कुछ लोकगीत मिलते है, जो प्रकाशित भी हुए हैं।

खड़ीबोली नागरी लिपिमें ही लिखी जाती है। हिन्दी-की रूपरेखा जाननेके लिए खडीबोलीका ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। —मा० व० जा०

खसम–हठयोग साधनाका उद्देश्य चित्तको सब सासारिक धर्मोंसे मुक्त कर उसे निर्लिप्त बना देना था। इस सर्वधर्म-शून्यताको बराबर मनकी शून्यावस्था कहा जाता रहा है। शून्यका परिचायक गगन है, अत परिशुद्ध, स्थिर, निर्मल चित्तकी उपमा आकाशसे दी जाती रही है। खसमके मूल अर्थ हैं खके समान या आकाशके समान।

बौद्ध परम्पराओंमें भी खसम शब्दका व्यवहार इसी रूपमें हुआ है। सिद्धाचार्य बोधिचित्तकी साधनामें मनको शून्य-स्वरूप या खमम-स्वरूप धारण करनेका उपदेश देते थे–'सव्वरूअ तहिं खसम करिज्जइ। खसम सहावे मणह धरिज्जइ।' (दोहाकोष-सरहपा)।

सन्तोंने इस अर्थके अतिरिक्त एक दूसरे अर्थमें भी इसका प्रयोग किया है, पतिके या प्रियतमके अर्थमें। सम्भवत इसका आधार अरबीका खसम शब्द है (दे०—'कबीर' हजारीप्रसाद द्विवेदी)। पर सरहपाके एक दोहेमें भी इसी अर्थमें खसम शब्दका व्यवहार मिल जाता है–'अवखह अचेय परम्मपहु खसम महासुह नाह।' (दोहाकोष सरहपा)

कहीं-कहीं सन्तोंने इस खसम(ब्रह्म, पति)के प्रति पातिव्रत्यके बजाय इसके मरणपर प्रसन्नता भी व्यक्त की है। पलटूने अपनी एक कुण्डलियामें कहा है–'पलटू ऐसे पद कहै बूझै सो निरवान। खसम विचारा मर गया जोरू गावै तान।' ऐसे स्थलोंपर खसमकी मृत्युका अर्थ है शून्य-स्वभाव धारण कर चित्तकी निर्वाणप्राप्ति। सरहपाके दोहाकोषमें इसी प्रकार गृहपतिके मरणपर घरनीका प्रसन्न होना वर्णित किया गया है।

परवर्ती कबीरपन्थी साहित्यमें कहीं कहीं स्वत कबीरको खसम बताया गया है (दे०–'कबीर' हजारीप्रसाद द्विवेदी। सिद्धसाहित्य धर्मवीर भारती)

खुमार–इसका अर्थ नशा है। आध्यात्मिक प्रेमका नशा। (दे०–'अमृत') —रा० पू० ति०

खेचरी–योगसाधनकी एक मुद्रा जिसमें जबानको उलटकर तालूसे लगाते है और दृष्टिको दोनों भौंहोंके बीच मस्तकपर लगाते हैं। इस स्थितिमें चित्त और जीभ दोनों ही आकाशमें स्थित रहते हैं, इसीलिए इसे खे(आकाश)–चरी मुद्रा कहते है। इसके साधनसे मनुष्यको किसी प्रकारका रोग नहीं होता है। 'मुख मध्ये खेचरी मुद्रा स्वाद विस्वाद ले उत्पनी। स्वाद विस्वाद समीकृतवा, मुद्रा तो भई खेचरी।' (अष्टमुद्रा–गोरखबानी) इसीको प्रतीकात्मक पद्धतिमें गोमास-भक्षण भी कहते हैं। गोका अर्थ इन्द्रिय या जीभ और उसे उलटकर तालूसे लगाना गोमास-भक्षण। —उ० श० ग्रा०

खेलवना–सोहरके गीतोंके समान ही पुत्र-जन्मके सुखद अवसरपर जो गीत गाये जाते हैं उन्हें 'खेलवना' कहते हैं। परन्तु सोहरसे इनमें कुछ भिन्नता रहती है। सोहरमें विशेषकर पुत्र-जन्मकी पूर्वपीठिकाका वर्णन रहता है, परन्तु खेलवनाके गीतोंमें उत्तरपीठिकाका उल्लेख होता है। पुत्र-जन्मके लिए ललचनेवाली माता, गर्भकी वेदनासे व्याकुल तरुणी, बहूकी मगल-साधनामें लगी हुई सास, धायको दौड़कर बुलानेवाला पति, पुत्रके उत्पन्न होनेपर राजपाट माँगनेवाली धाय, ये सब सोहरके प्रतिपाद्य विषय हैं। परन्तु सद्योजात शिशुका रोदन, माताका पुत्र-जन्मके कारण असीम आनन्द, सासकी प्रसन्नता, अपने कुलाकुरके रूपमें पुत्रके पैदा होनेसे अपना सर्वस्व लुटा देनेवाले पिताका हर्ष 'खेलवना'के मुख्य विषय है। 'खेलवना'में आनन्द और उछाहकी मात्रा अधिक पायी जाती है। —कृ० दे० उ०

ख्याल–'ख्याल' लोकभाषाका परम्परागत शब्द बताया जाता है। 'ख्याल' लोकनाट्यका एक प्रकार, गीतकी एक शैली, हास्यप्रधान मालवी गीत अथवा चित्रके लिए प्रयुक्त लोकप्रचलित शब्द है। ख्यालबाजोंके दो अखाड़े हैं—कलगी अखाडा और तुर्रा अखाड़ा। गानेकी शैली और धुनोंके अनुसार ढाड़ा या खड़ी रगतका ख्याल, लम्बी रंगत या ताबील ख्याल, सिकस्ता ख्याल या लॅगडी रगत-का ख्याल, लावनिया ख्याल, डेढ़ रगती ख्याल, छोटी रगतका ख्याल आदि उपभेद उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि १८वीं शताब्दीके आरम्भमें आगराके इर्दगिर्द एक नयी कविताकी शैली प्रचलित हो गयी थी जो आगे चलकर 'ख्याल' कहलाने लगी। राजस्थानमें 'ख्याल' शब्द खेलके अर्थमें ग्रहण किया जाकर, १९वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें लोक-प्रचलित ऐतिहासिक एव परम्परागत कथाओंको नाट्य-रूपोंमें अभिनीत करनेकी शैली-विशेषके लिए रूढ हो गया। आजकल 'ख्यालों'की अनेक पुस्तकें बाजारमें मिलती है। ख्यालकी लोकनाट्य-शैली मालवाके 'नाच' और उत्तर-प्रदेशकी 'नौटकी'से बहुत मिलती है। पात्र प्राय पद्यबद्ध सवाद भिन्न-भिन्न रगतोंमें गाकर अभिनय करते है। गद्य-

का प्रयोग बहुत ही सीमित होता है। नगाडा, सारंगी और ढोलकका प्रयोग किया जाता है। वस्तुत ख्याल गीतिनाट्यकी कोटिमें आते हैं। शेखावटीके चिढावा (राजस्थान) ग्रामके निवासी नानूलालके ख्याल उत्तरप्रदेशमें बहुत प्रचलित हैं। उसने लगभग ४०–५० ख्यालोंकी रचना की। उसके पोते अभी उन ख्यालोंका प्रदर्शन करते हैं। ख्यालोंकी लगभग ३०० पुस्तकें इस समय उपलब्ध हैं। ख्यालमें लावणी, दूहा, चौबोला, दुबोला, चौपाई, शेर, उडान, कवित्त आदि छन्द मिले हैं। दूहे 'चन्द्रायणी' और 'घूमणी' तथा लावनी 'लँगडी' और ज्यानकी 'जानकी' रंगतोंमें गायी जाती है। —श्या० प०

गंगा–दे०–'हठयोग'।

गंगोदक सवैया–दे०–'सवैया', छठा प्रकार।

गगनमंडल–दे०–'हठयोग'।

गज–गज उन कुछ उपमानोंमेंसे एक है जो सिद्धोंके दोहों तथा चर्या-पदों और परवर्ती नाथों अथवा सन्तोंके साहित्यमें समान रूपसे व्यवहृत किये गये हैं। (दे०–'बोधिचित्त')। —प० वी० मा०

ग़ज़ल १–गजलमें प्रेम भावनाओंका चित्रण होता है। गजलका शाब्दिक अर्थ नारियोंके प्रेमकी बातें करना है। अत अच्छी गजल वही समझी जाती है जिसमें इश्को-मुहब्बतकी बातें सच्चाई और असरके साथ लिखी जायँ। यह बात तभी पैदा होती है जब उसे सरल और मीठी बोलीमें लिखा जाय कि दिलमें घर कर जाय। लेकिन गजलके शेरोंका सादा होना कोई जरूरी नियम नहीं है। बहुतसे उच्च कोटिके शेर सादे नहीं हैं, फिर भी वे गजलके अच्छे नमूने माने जाते हैं। गजलकी असली कसौटी प्रभावोत्पादकता है। गजल वही अच्छी होगी जिसमें असर और मौलिकता हो, जिसके पढनेवाले समझें कि यह उन्हींकी दिली बातोंका वर्णन है।

सासारिक प्रेमके अलावा गजलमें तसव्वुफ और भक्ति-रसका भी वर्णन होता है। बहुतसे सूफी कवियोंने इसी रंगमें गजलें कहीं हैं। दूसरे कवियोंने भी अपनी गजलोंमें भक्ति-रसको रखा है। तसव्वुफमें भगवान्‌तक पहुँचनेके लिए एक प्रेमका प्रतीक होना चाहिये। कोशिश यह की जाती है कि इस प्रतीकमें वासनात्मक प्रभाव न आने पाये। इसी वजहसे सूफियोंने अपने प्रेमका प्रतीक लडकोंको रखा, जिससे यह प्रभाव न उत्पन्न हो। इसीके प्रभावसे फारसी और उर्दू गजलमें यह परम्परा थी कि माशूकके लिए हमेशा पुलिंगका प्रयोग होता था चाहे और बातोंसे उसका स्त्रीलिंग होना जाहिर हो जाय, जैसे–'अँगडाई भी वो लेने न पाये उठाके हाथ, देखा मुझे तो छोड दिये मुस्कुराके हाथ।'

इसके अलावा उर्दू गजलमें और तरहकी मुहब्बत भी लिखी जाती है, जैसे देश-प्रेम, पारिवारिक प्रेम आदि। परन्तु इसमें शायर प्रतीकोंका प्रयोग करता है। इस प्रकार वह जीवनके अन्य पहलुओंपर भी अपनी राय देता है। उदाहरणार्थ 'चमन'का अर्थ कहीं अपना देश है, कहीं अपना घर, कहीं अपना गाँव, कहीं अपनी संस्था। 'कफस'का अर्थ जेल या कोई ऐसी जगह जहाँ आदमी दूसरेकी पराधीनतामें रहे। इसी प्रकार 'गुल,' 'आशियाँ,' 'सय्याद,' 'बागवान,' 'साकी,' 'खंजर,' 'गमगीर,' 'रकीब' आदिसे गजल कहनेवाला उनके शाब्दिक अर्थपर नहीं जाता, बल्कि उनके भावपर, जीवनके अन्य रूपोंपर अपनी राय देता है।

अक्सर गजलका हर शेर स्वयं पूर्ण होता है। इसके दो बराबरके टुकडे होते हैं, जिनको 'मिसरा' कहते हैं। जितने शेरोंका आखिरी शब्द एक हो और उसके पहलेका शब्द एक ही आवाजका हो, उनको एक साथ लिखते हैं, और ऐसे पाँचसे सत्रह शेरोंके संग्रहको गजल कहते हैं। परन्तु इस संख्याके पालनमें उर्दूमें कोई खास पाबन्दी नहीं है। बहुतसे शायरोंने अपनी गजलोंमें सत्रहसे ज्यादा शेर भी रखे हैं। हर शेरके अन्तमें जितने शब्द बार-बार आयें उनको 'रदीफ' और रदीफके पहलेके एक ही आवाजवाले शब्दोंको 'काफिया' कहते हैं, जैसे मीरके इस शेरमें 'पत्ता-पत्ता बूटा-बूटा हाल हमारा जाने है। जाने-न-जाने गुल ही न जाने बाग तो सारा जाने है।' 'जाने है' रदीफ है और 'हमारा', 'सारा' काफिया है।

अक्सर गजलके पहले शेरके दोनों मिसरे एक ही 'काफिया' और 'रदीफ'में होते हैं। ऐसे शेरको 'मतला' कहते हैं। अन्तमें जिस शेरमें शायरका उपनाम या तखल्लुस हो वह 'मक्ता' कहलाता है। —म०

ग़ज़ल २–ब्राउन (हिस्ट्री ऑफ पर्शियन लिटरेचर, भाग २, पृ० २७)का मत है कि **मकता** अर्थात् अन्तिम शेरमें उपनाम या तखल्लुस देनेकी अनिवार्य परम्पराका प्रवर्त्तन मुगल आक्रमणके पश्चात् हुआ। भारतमें गजलकी सर्वप्रथम रचना करनेवाले व्यक्ति ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती थे, जिनके सम्बन्धमें उल्लेख मिलता है कि उन्होंने फारसी और भारतीय भाषाओंमें गजलें कही थीं। दक्खिनीमें रचना करनेवाला प्रथम व्यक्ति बीजापुरकी आदिलशाही राज्यवंश-परम्पराका पाँचवाँ नरेश इब्राहीम आदिलशाह (सन् १५७९-१६२६ ई०) हुआ। इसकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। दक्खिनीमें मुहम्मद कुली कुतुबशाह(सन् १५८०-१६१२ ई०)तककी रचनाएँ मिलती हैं। उर्दूके प्रारम्भिक कवियोंमें वली(ई० स० १६६८–१७४४)ने गजलें लिखी हैं। मीर गजलोंके सम्राट् माने जाते हैं। इनकी रचनाके सम्बन्धमें गालिबने कहा है–'रेखतेके तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब, कहते हैं अगले जमानेमें कोई मीर भी था।' जौककी सम्मति है कि–'न हुआ पर न हुआ मीरका अन्दाज नसीब, 'जौक' यारोंने बहुत जोर गजलमें मारा।' हिन्दीके कवियोंमें भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने गजल कही, उसकी भाषा खडीबोली है, जो उर्दूके समीप है। जयशंकर 'प्रसाद'की 'भूल'-शीर्षक कविता इसी पद्धतिकी है। निरालाजीने गजलकी शैली अपनायी है। दिनकरजीने भी इसे सजाया-सँवारा है। —रा० खे० पा०

गत्यात्मक आलोचना-प्रणाली–अँग्रेजीमें इसका समानार्थी शब्द 'डायनमिक' है जिसका अर्थ है गतिशील शक्ति। इसी शब्दसे 'डायनमिक्स' शब्द बना है जिसका अर्थ उस विज्ञानसे है जो वस्तुकी गतिकी तथा प्रकृतिकी परीक्षा करता है। इसी प्रकार 'डायनमिज्म' भी इसीसे बना है

जिसका अर्थ होता है—शक्ति-सचालनका विज्ञान। साराश यह कि गति ही 'डायनमिक' या 'गत्यात्मक'का मूल तत्त्व है।

अविचल सिद्धान्तवादी जीवनको, सृष्टिको सत्य शाश्वत, चिरन्तनके घेरेमें बाँध देते हैं और वर्तमानको अतीतकी कसौटीपर कसते हैं। इनका यह प्रयास कुछ वैसा ही प्रयास है जैसा कि गगा नदीको एक छोटेसे घेरेमें बाँधना और उसके जलको उतनी ही सीमामें सडने-गलने देना। यह आलोचना-पद्धति साहित्यकी समस्त प्रगतिको अपने सिद्धान्तोंके कटघरेमें घेरकर रख देना चाहती है। इसके समर्थक यह नहीं सोचते कि साहित्य एक विकसनशील सत्ता है और इसीलिए साहित्यके मानदण्डोंमें युगानुकूल परिस्थितिके अनुकूल परिवर्तन अपेक्षित हैं। आजका आदमी यह जानता है कि एक निश्चित अवधिके बाद चाँद अपनी शीतलता खो देगा, सूरज अपना ताप खो देगा, पृथ्वीपर समुद्र अपना आधिपत्य जमायेगा। कैलासका ऊँचा शिखर हजारों फुटकी गहराईमें नीचे धँस जायगा। हमारे पूर्वज इसकी कल्पनातक नहीं कर सकते थे। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि सत्य, चिरन्तन, शाश्वत, ये सबके सब सापेक्षिक शब्द हैं। इस सृष्टिमें यदि कुछ सत्य है तो सृष्टिकी गति। गतिशीलता ही एकमात्र सत्य ठहरती है।

इसीलिए इस शिविरके आलोचकोंका यह आग्रह है कि साहित्यकी गतिशीलताको कुछ निश्चित मान्यताओंके घेरेमें न बाँध दिया जाय, क्योंकि साहित्य अन्ततोगत्वा एक गतिशील सत्ता है। गति ही साहित्यकी आत्मा है। युग, परिवेश, समाज, व्यक्तिके अनुकूल साहित्यका स्वरूप बदलता रहता है। पूर्व-युगमें राम-कृष्ण जैसे उदात्त चरित्रोंका चित्रण किया जाता था और आज चोर, हत्यारा, डाकू, समाज-उपेक्षित पात्र नायकके रूपमें चित्रित किये जाते हैं। घीसू, माधो, हलकू अथवा गुलकी बन्नोंकी तरह उपेक्षित, हेय, तुच्छ पात्र साहित्यकी मर्यादाको एक नवीन ढगसे प्रतिष्ठित करते हैं। अविचल सिद्धान्तवादी ऐसे साहित्यको साहित्य नहीं मानता, क्योंकि प्राचीन शास्त्रकारों द्वारा प्रणीत शास्त्रोंमें इनकी व्यवस्था नहीं की गयी है। इसलिए लीकसे, बताये हुए रास्तेसे अलग हटनेपर वे तुरन्त साहित्यको मर्यादाहीन घोषित कर उसकी उपेक्षा करते हैं। इसके विपरीत गत्यात्मक आलोचनाका समर्थक यह मानता है कि रूढि, परम्परा अथवा प्राचीनताको एकमात्र सत्यके रूपमें हम नहीं मान सकते। जीवनके मान बदलते है, साहित्यके मान एव रूप बदलेंगे ही। अस्तु, बदले हुए यथार्थके परिवेशमें हमें नये दृष्टिकोणको अपनाना होगा। हमें नये ढंगमे, मौलिक ढगसे पुन चिन्तन करके साहित्यके मान स्थिर करने होंगे।

यूरोपका चिन्तन अत्यधिक विकसित है, फलत स्वच्छन्दतावादियोंसे लेकर अतिवस्तुवादी, प्रयोगवादीतक इस प्रणालीके अन्तर्गत माने जायेंगे। मार्क्सके अनुयायी, फ्रायड, एडलर, युगके अनुयायी तथा हर्बर्ट रीटके समर्थक, सार्त्रके अस्तित्ववादके पोषक एव अति आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारोंके आधारपर विकसित होनेवाली समस्त चिन्तन-परम्पराएँ इसी प्रणालीके अन्तर्गत आयेंगी। इस प्रकार यूरोपमें नव्य-शास्त्रकालके बाद जो कुछ भी चिन्तन किया गया है वह सब इस प्रणालीका समर्थक है।

सस्कृतमें इसका स्वरूप हम उस समय देख सकते ह जब कि वहाँकी चिन्तन-परम्परा विकसित थी। रसवादी, ध्वनिवादी, अलकारवादी, वक्रोक्तिवादी, रीतिवादी—ये सबके सब गत्यात्मक आलोचना प्रणालीके अन्तर्गत माने जायेंगे। युगके अनुकूल, परिवेशके अनुकूल इन लोगोंने अपनी-अपनी स्थापनाएँ स्थापित कीं। बादमें चलकर ये ही सिद्धान्त ह्रासोन्मुख सस्कृत-साहित्यकारोंके हाथ पड़कर रूढ, परम्परागत हो गये और उन लोगोंने इन्हीं सिद्धान्तोंको अविचलके रूपमें ग्रहण किया। प्रारम्भमें जब सस्कृत-साहित्यमें चिन्तनकी मौलिक परम्परा थी तब अविचल सिद्धान्तका कभी भी समर्थन नहीं किया गया। इसका उल्लेख तभीसे मिलता है जबसे चिन्तनकी मौलिक परम्परा नष्ट हो जाती हे ओर पुरानी बातोंके पिष्टपेषणमें लोग लग जाते हैं।

हिन्दीमें रीति-युग अविचल सिद्धान्तका अनुयायी माना जायगा। बादमें तो हिन्दीमें चिन्तनकी मौलिक परम्पराकी नीव रामचन्द्र शुक्ल द्वारा पडती है। ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली, मनोवैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली, समाज-शास्त्रीय आलोचना-प्रणाली, प्रभाववादी आलोचना-प्रणाली और अन्य प्रणालियाँ हिन्दीमें जन्म लेती हैं और आज भी इनका विकास होता चला जा रहा है। सच पूछा जाय तो रीति-युगके पश्चात् हिन्दीकी समस्त आलोचना-प्रणालियाँ गत्यात्मक आलोचना-प्रणालीके अन्तर्गत आती हैं। —रा० कु० स०

गद्य—संस्कृत-साहित्यमें श्रव्यकाव्यका एक भेद। दे०—'साहित्यरूप'। सस्कृत-साहित्यशास्त्रमें गद्यको गद्यकाव्यके अर्थमें ग्रहण किया गया है, इसीलिए भामह, दण्डी, वामनसे लेकर विश्वनाथतक सभी आचार्योंने गद्यके प्रभेदोंमें आख्यायिका, वृत्त, कथा आदिका उल्लेख किया है। भामहने गद्यको प्रकृत, अनाकुल, **श्रव्य** शब्दार्थ पदवृत्ति कहा हे (काव्यालकार १, २५) और दण्डीने 'अपाद'—गण-मात्रारहित (काव्यादर्श, १, १३)। वामनने परिभाषा न देकर उसकी विशेषताओंको दुर्ज्ञेय तथा उसकी रचनाको कठिन बताते हुए 'गद्यं कवीना निकषं वदन्ति' (गद्यको कवियोंकी कसौटी कहते हैं) उद्धरण देकर साहित्यमें उसकी महत्ताका निर्देश किया है (काव्यालकारसूत्रवृत्ति १, ३, २१)। 'साहित्यदर्पण'(विश्वनाथ)में गद्यकी कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। केवल उसे काव्य कहकर उसके चार भेद बताये गये है—मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक। मुक्तक समासरहित होता है, वृत्तगन्धिमें छन्दकी गन्ध आती है, अर्थात् उसके वाक्यों और वाक्यांशोंमें प्राय छन्दोंके गण-मात्राका विधान पाया जाता है, उत्कलिकाप्राय गद्य दीर्घ समासयुक्त होता है तथा चूर्णकमें छोटे-छोटे समासोंका प्रयोग होता है (सा० द० ६ ३३०, ३३१)। विश्वनाथने गद्यके अन्तिम तीन भेद वामनके ही आधारपर दिये हैं, मुक्तक नामका भेद वामनने नहीं किया। काव्यालकारसूत्रवृत्तिमें गद्यके इन भेदोंकी, जिन्हें शैलीका ही भेद समझना चाहिये, किंचित् अधिक स्पष्ट परिभाषा

मिलती है। पद्यभागमे युक्त या उसके समान प्रतीत होनेवाला गद्य जिनमें वृत्त या छन्दकी गन्ध मिले, वृत्तगन्धि होता है, दीर्घ समासमे रहित और ललित पदोंमे युक्त गद्य चूर्णक कहलाता है तथा इसमे विपरीत दीर्घ समासयुक्त और उद्धत पदोंसे युक्त गद्यको उत्कलिकाप्राय कहते हैं (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ' १ : ३ २२–२५)।

संस्कृत-साहित्यशास्त्रमें कथा, आख्यायिका, आख्यान आदिके लिए ही गद्यका उपयोग बताया गया है। कथात्मक साहित्यके अतिरिक्त विचारात्मक लेखनके लिए गद्यके साहित्यिक प्रयोग तथा शास्त्रीय और वैज्ञानिक विषयोंके लिए उसके व्यावहारिक उपयोगकी ओर कोई सकेत नहीं किया गया है।

गद्यकी सबसे सरल, व्यापक और सर्वमान्य परिभाषा यही हो सकती है कि जिस शब्दार्थयुक्त भाषाका साधारण बातचीतमें प्रयोग किया जाता है वही 'गद्य है। इससे भिन्न पद्यमें असाधारण भाषाका प्रयोग होता है। उसमें विशेष प्रकारके क्रमबद्ध ताल और लयकी योजनाके लिए वाक्यगत शब्दोंके साधारण क्रममें परिवर्तन करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त गद्यका लक्ष्य सहज, सरल, सीधे और निश्चित प्रयोजनयुक्त, भामहके शब्दोंमें प्रकृति और अनाकुल शब्दार्थको प्रेषित करना है। पद्यका भी व्यवहार निश्चित प्रयोजनके लिए हो सकता है। वस्तुत प्राचीन भारतीय शास्त्र और विज्ञानके विषय भी पद्यमें लिखे जाते थे। परन्तु उसमें सर्वत्र शब्दार्थकी सरलता और सीधापन सुरक्षित नहीं रह पाता था, क्योंकि शब्दोंकी विशिष्ट छन्दोबद्ध योजनाके लिए उसमें कृत्रिमता, भंगिमा और वक्रता आ जाना स्वाभाविक है। अत गद्य-पद्यका भेद स्पष्ट है। काव्यकी सौन्दर्यवृत्तिसे सर्वथा असपृक्त रहकर भी दोनों समानुरूप नहीं हो सकते, उनके रूप और प्रकृतिका अन्तर निर्विवाद है। इस दृष्टिसे पद्य और काव्यमें अन्तर किया गया है। परन्तु जैसा कि साधारणत होता है, यदि काव्यको अनिवार्यत पद्यबद्ध न मान लिया जाय तो गद्य और काव्यमें कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। वस्तुत· जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, काव्यके अनेक रूप गद्यमें ही रचे जाते हैं। फिर भी गद्य शब्द-रचनाके बाह्य रूपका ही नहीं, उसकी आन्तरिक प्रकृतिका भी द्योतक है। हम अनेक पद्यबद्ध काव्यकृतियोंको गद्यात्मक कहते हैं, क्योंकि उनमें सवेदनशीलताकी अपेक्षा बोधवृत्तिकी प्रधानता होती है। गद्य मुख्यत' बोध, व्याख्या, तर्क, वर्णन और कथाके क्षेत्रोंमें ही सीमित है।

प्रयोगकी दृष्टिसे गद्यका साधारण रूप वह है जो व्यावहारिक उपयोगमें आता है, परन्तु दो व्यक्तियोंके बीच साधारण वार्तालापसे लेकर बड़ी-बड़ी सभाओंके कलापूर्ण प्रभावशाली भाषणोंतक तथा क्षेमकुशल सम्बन्धी साधारण पत्र-व्यवहारसे लेकर शास्त्र और विज्ञानके विविध विषयोंके विश्लेषण, विवेचन, अनुशीलन और अनुसन्धानपूर्ण प्रबन्धों(थीसिसों)तक गद्यके इस व्यावहारिक उपयोगमें प्रयोग सम्बन्धी इतनी विविधता और अनेकरूपता है कि सामान्यत· उसकी गणना नहीं की जा सकती। गद्यके इन विविध प्रयोगोंमें जहाँ एक ओर पारिभाषिक शब्दावली उसे विशेषता प्रदान करके उसके प्रेषण-क्षेत्रको सीमित कर देती है, वहाँ दूसरी ओर गद्यके व्यावहारिक क्षेत्रमें ही अलंकृत पदावली—साहित्यिक शैली—का प्रयोग उसे उपयोगिताके साथ-साथ सौन्दर्यसे समन्वित कर देता है, जिससे उसकी प्रेषणीयताके क्षेत्रमें विस्तार आ जाता है। गद्यका इसी प्रकारका लिखित प्रयोग आधुनिक कालमें साहित्यकी एक विशिष्ट विधाके नामसे अभिहित होने लगा है। जब कोई कहता है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी कविता, कहानी और उपन्यासकी अपेक्षा उनका गद्य अधिक प्रभावशाली है, तब उनके गद्यमें लिखे गये इन छोटे-बड़े निबन्धों और प्रबन्धोंकी ओर सकेत होता है जिनमें प्रतिपादित विषय और प्रतिपादनशैली, लेखकके विचार तथा उसका व्यक्तित्व, दोनों समानत प्रभावित करते हैं। यह कहना कठिन होता है कि इनमेंसे कौन प्रधान है। साहित्यके इस गद्यमें **लेख, निबन्ध, प्रबन्ध** आदि तो अभिप्रेत होते हैं, परन्तु **कथा, कहानी, उपन्यास** आदि नहीं।

शास्त्र और विज्ञान **उपयोगी साहित्य**(दि०)में प्रयुक्त इस प्रकार व्यावहारिक गद्यके अतिरिक्त **ललित साहित्य**में प्रयुक्त गद्यके दो प्रमुख प्रयोग-क्षेत्र हो जाते हैं—एक कहानी, उपन्यास, नाटक आदिका क्षेत्र, जिसका उल्लेख संस्कृत-साहित्यशास्त्रमें मिलता है और दूसरा साहित्यिक गद्यका क्षेत्र, जो **लेख, निबन्ध, संस्मरण, यात्रा, प्रबन्ध** आदिके इतने छोटे-बड़े रूपोंमें मिलता है कि उसका निश्चित वर्गीकरण सम्भव नहीं है।

लिखित रूपमें गद्यका प्रयोग पद्यके बहुत बाद प्रारम्भ हुआ। इसका प्रधान कारण यही है कि मूलत गद्यमें भाषाका रूप प्रकृत, अकृत्रिम और व्यावहारिक रहता है। कमसे कम शब्द-प्रयोगके द्वारा जितना तीव्र और तुरन्त प्रभाव पद्यका होता है उतना गद्यका नहीं हो सकता। परन्तु सामाजिक जीवनके विविध प्रकारके विकासके साथ-साथ गद्यके विकास तथा उसकी उपादेयता और महत्तामें वृद्धि होती गयी और आज वह व्यावहारिक क्षेत्रसे ही नहीं, साहित्यके अनेक रूपोंसे भी पद्यको अपदस्थ कर चुका है। नाटक और कथा साहित्यमें भी पहले पद्यका व्यवहार होता था, परन्तु आज इनमें गद्यका एकान्त साम्राज्य है। कविताके क्षेत्रमें भी **गद्य-गीति** (दि०) नामसे ऐसी रचनाएँ होती हैं, जिनमें सहज शब्दार्थकी नहीं, हार्दिक संवेदनकी प्रधानता होती है।

शैलीकी दृष्टिसे गद्यके केवल चार भेद संस्कृतके आचार्योंने बताये ह और इन भेदोंमें भी शब्दावलीके बाह्य रूपको ही लक्ष्य किया गया है, परन्तु गद्य शैलियोंके साहित्यरूप—लेख, निबन्ध, प्रबन्ध, आलोचना, कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी आदिमें वर्ण्य-विषय और लेखकके व्यक्तित्वके अन्तरसे असख्य भेद होते हैं। स्वय उपयोगी साहित्य—इतिहास, धर्म, दर्शन, राजनीति, शिक्षा-विज्ञान आदि विषयोंमें अनेकानेक शैलियोंका प्रयोग होता है।

हिन्दी गद्य, जो उन्नीसवीं शताब्दीके पहले अपने वर्तमान रूपको प्राप्त नहीं कर पाया था, साहित्यिक प्रयोगमें **भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग** तथा **छायावाद** एव **'प्रसाद' प्रेमचन्द** युगमें विविधरूप विकास करता हुआ वर्तमान

कालमें प्रौढ़ताकी ओर अग्रसर हो रहा है और साहित्यिक रूपोंमें ही नहीं, विविध उपयोगी विषयोंके माध्यमरूपमें शक्ति-सचय कर रहा है।

[सहायक ग्रन्थ–हिन्दी साहित्यका इतिहास (आधुनिक काल) रामचन्द्र शुक्ल; आधुनिक हिन्दी साहित्यकी भूमिका तथा आधुनिक हिन्दी साहित्य लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्यका विकास श्रीकृष्णलाल, हिन्दी साहित्य भोलानाथ।]

गद्य-काल–आधुनिक काल(दे०)को ही गद्य-काल कहा जाता है, क्योंकि हिन्दी साहित्यके इतिहासमें आधुनिक कालसे पूर्व केवल काव्यका प्राधान्य था। साहित्यिक विषयोंका निरूपण तो काव्यके माध्यम द्वारा होता ही था, उपयोगी विषयोंतककी विवेचनाके लिए पद्यको उपयुक्त साधन स्वीकार किया जाता था। सरल सामन्ती जीवन-क्रमके लिए और ऐसे साहित्यके लिए जिसका प्रणयन समाजके अल्पसंख्यक शिक्षित व्यक्तियोंतक सीमित था, काव्य उपयुक्त साधन बना रह सकता था, किन्तु अँग्रेज यूरोपीय औद्योगिक क्रान्तिका जो दृष्टिकोण अपने साथ भारतमें लाये थे उसके लिए गद्य ही उपयोगी सिद्ध हो सकता था। इसीलिए उनके शासनकालके प्रारम्भसे ही गद्यका विकास दृष्टिगोचर होता है। प्रेस जैसे वैज्ञानिक साधनके आश्रयमे उसकी क्रमबद्ध परम्परा स्थापित होनेमें देर न लगी। गद्यके प्रारम्भकी दृष्टिसे हिन्दी साहित्यके इतिहासमें उन्नीसवीं शताब्दी महत्त्वपूर्ण है। इसी शताब्दीके पूर्वार्द्धमें लगभग सभी उपयोगी विषयोंसे सम्बन्धित ग्रन्थ पहले-पहल गद्यमें प्रस्तुत किये गये, जिनका अध्ययन कर हिन्दी-भाषियोंका जीवनके प्रति दृष्टिकोण ही बदल गया। —ल० सा० व०

गद्य-काव्य–संस्कृत साहित्यशास्त्रमें गद्य-काव्यके अन्तर्गत **कथा, वृत्त, आख्यायिका** आदिका निर्देश किया गया है, परन्तु गद्य-काव्यके अन्तर्गत और भी अनेक साहित्य-रूप आ सकते हैं। दे०–'साहित्य रूप' तथा 'गद्य'।

गद्य-काव्यके इस व्यापक अर्थके अतिरिक्त इसका विशिष्ट अर्थ भी है और आधुनिक कालमें यह प्रयोग इसी अर्थमें सीमित हो गया है। विशिष्ट अर्थमें गद्य-काव्य वह रचना है, जिसमें कविता जैसी सवेदनशीलता और रसात्मकता होती है। फलस्वरूप उसका बाह्य रूप भी साधारण गद्यकी अपेक्षा अधिक लययुक्त, अलकृत और सधा हुआ होता है। सस्कृतके वृत्तगन्धि और चूर्णक(दे०–'गद्य')-की शैलियाँ इसी रूपमें प्रयुक्त होती हैं। गद्य-काव्यसे वस्तुत गद्यगीतिका ही बोध होता है। परन्तु कहानी, ससरण, निबन्ध आदि भी गद्य काव्यात्मक हो सकते हैं तथा नाटकके कथोपकथन और स्वकथन तथा उपन्यासके वर्णन, चित्रण तथा कभी-कभी कथोपकथनमें भी गद्य-काव्यात्मक शैलीका प्रयोग हो सकता है। इस प्रकार गद्य-काव्य एक साहित्य-रूप भी है और एक शैली-वैशिष्ट्य भी।

गद्य-काव्यके उदाहरणोंमें 'गीताजलि' (अनुवाद) और 'साधना' (रवीन्द्रनाथ ठाकुर), 'साधना', 'छायापथ', 'पगला' और 'संलाप' (राय कृष्णदास), 'ठढे छींटे' और 'श्रद्धाकण' (वियोगी हरि), 'अन्तस्तल' (चतुरसेन शास्त्री), 'हिमहास' (रामकुमार वर्मा), 'झरोखे' (सुदर्शन), 'उन्मन', 'सारङ्ग', 'स्पन्दन', 'शबनम' और 'शारदीया' (दिनेशनन्दिनी डालमिया), 'जीवन-कण', 'जीवन-धूलि' और 'शेष स्मृतियाँ' (रघुवीर सिंह), 'गेहूँ और गुलाब' (रामवृक्ष बेनीपुरी) तथा 'अन्तरात्मासे'(रङ्गनाथ रामचन्द्र दिवाकर)-का निर्देश किया जा सकता है।

ये प्राय सभी रचनाएँ गद्य-गीति कही जा सकती हैं, क्योंकि इनमें वैयक्तिक आत्मनिष्ठता, तीव्र भावात्मकता, अन्तर्निहित ध्वनि-सगीत, भावकी एकात्मकता या भाव-संकलन और गीतिके लिए अपेक्षित भाव-विकास और उसकी परिणति–सभी लक्षण न्यूनाधिक रूपमें पाये जाते हैं। —ब्र० व०

गद्य गीति–दे०–'गद्य-काव्य'।

गम्यगमक भाव–दे०–'रसनिष्पत्ति', आरोपवादके अन्तर्गत।

गर्बा–गुजराती लोकगीतोंका एक प्रसिद्ध प्रकार, प्रथा, एक गुजराती लोकनृत्यकी शैली, एव मिट्टीका वह पात्र, जो देवी अम्बाकी पूजाके लिए मगल-कलशके रूपमें सजाकर प्रस्थापित किया जाता है और जिसपर चार ज्योतियाँ प्रज्ज्वलित की जाती हैं। नवरात्रमें गर्बा पात्र स्थापित कर स्त्रियाँ उसके आस-पास परिक्रमा करते हुए गीत एव नृत्यका आयोजन करती हैं। इन्हीं नृत्य एव गीतोंको गर्बाकी सज्ञा प्राप्त है। किंवदन्तीके अनुसार यह प्रथा सबसे पहले द्वारिकाके मन्दिरसे आरम्भ हुई। तभीसे बाँझ स्त्रियाँ पुत्रवती होनेकी कामनासे द्वारिका जाकर अपने वक्षोंपर हाथके छापे लगवाने लगीं। गर्बा गीत कृष्णकी प्रणयचेष्टाओं और देवी अम्बाके स्तुतिविषयक होते हैं। —श्या० प०

गर्भसधि–रूपककी **पंच सन्धियों**मेंसे तीसरी सन्धि। 'दशरूपक'-कारका कहना है 'गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषण मुहु। द्वादशाग पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भव' (१ ३६)। जब **बीज** दिखाई पड जानेके पश्चात् फिरसे नष्ट हो जाय लेकिन उसका अन्वेषण बार-बार किया जाय तब गर्भसन्धि होती है। इस सन्धिमें बीज बिलकुल नष्ट नहीं होता बल्कि वह दब-सा जाता है। उसके अन्वेषणमें बीजका और भी विकास करना पड़ता है। **फल**के गर्भस्थ होनेके कारण इसे गर्भसन्धि कहा गया है।

इसमें साधारणत पताका **अर्थप्रकृति** और **प्राप्त्याशा** अवस्थाका मिश्रण रहता है, पर पताकाका रहना आवश्यक नहीं है, वह हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है, किन्तु 'प्राप्तिसम्भव'का होना बहुत जरूरी है।

जिस बीजको प्रतिमुख सन्धिमें लक्ष्यालक्ष्यरूपमें देखा गया है, वही यहाँ आकर विशेष रूपसे प्रस्फुट हो जाता है, किन्तु फिर भी फलप्राप्तिका निश्चय सन्दिग्ध हो उठता है, क्योंकि इसमें कभी विघ्न आ उपस्थित होता है तो कभी अन्य व्यवधान। इस प्रकार बार-बार बीजकी खोज की जाती है। जैसा पहले भी सकेतित किया गया है कि यहाँ फल या प्राप्तिकी सम्भावना तो रहती है, पर उसका ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता।

'स्कन्दगुप्त'(प्रसाद)में 'मगधमें अनन्तदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क सम्मेलनमें गर्भसन्धिका प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि फिर तो क्षण-क्षणपर बीज अथवा फलका आविर्भाव

और तिरोभाव होने लगता है और कुतूहलकी तीव्रता बढ उठती है। अनन्तदेवी और भटार्कके कारण फलप्राप्तिमें आशंका उत्पन्न होती है और स्कन्दगुप्तके प्रयत्नोंको देखकर आशाका उदय होने लगता है। यह द्विधाकी अवस्था चतुर्थ अंकके द्वितीय दृश्यतक चली है, अतएव वहीं गर्भ-सन्धिकी समाप्ति समझनी चाहिये।' (जगन्नाथ शर्मा—'प्रसाद'के नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन)।

गर्भसन्धिके सन्ध्यंग निम्नलिखित हैं—अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, तोटक, अधिबल, उद्वेग, सम्भ्रम, आक्षेप।

इन सन्ध्यंगोंको प्राय प्रयोगमे नहीं लाया गया है। (दे०—'सन्धि') —व० सिं०

गर्भित—दे०—'शब्द-दोष', चौदहवाँ 'वाक्य-दोष'।

गर्व—प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। वाग्भटके अनुसार दूसरोंका अनादर (परावज्ञा—'काव्यानुशासन' पृ० ५८) गर्व है। यह लक्षण वास्तवमें गर्वके भावके वैयक्तिक स्वाभिमान और दूसरोंपर उसकी अभिव्यक्तिका संक्षेपमात्र है। 'अग्निपुराण' (३३९-२९)में इसका लक्षण ठीक है 'गर्व परेष्ववज्ञानमात्मन्युत्कर्षभावना' अर्थात् अपने उत्कर्ष-की भावनासे दूसरोंकी अवज्ञा करना। भरतने इसके विभाव एवं अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे दिये हैं—'वैभव, उच्च कुल, सुन्दर रूप, युवावस्था, विद्या-प्रवीणता, बल अथवा धनका लाभ गर्वके विभाव हैं। दूसरोंका अनादर, अविनय, प्रश्न पूछनेपर उत्तर न देना, बात न करना, उपेक्षावृत्ति, उपहास, कठोर वचन कहना, पूज्योंका अनादर करना, अकारण उपालम्भ करना इत्यादि अनुभावोंसे व्यक्त होता है, (नाट्य० ७।६७ ग)। विश्वनाथके अनुसार 'गर्वो मद प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिज। अवज्ञासविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत्।' (सा०द० ३ : १५४)। प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या तथा उच्च कुल आदि के गर्वसे अविनय, अवज्ञा तथा उपेक्षा आदि करना इसके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। हिन्दीके आचार्योंने प्राय यही लक्षण दिया है—'बहु बल धन कुल रूपतें, सिरु उन्नतु अभिमान। गिने न काहू आप सम', (भाव० संचारी)।

आधुनिक कवि उदयशंकर भट्टकी इन पंक्तियोंमें 'गर्व' संचारी है—'मेरे तपका तीव्र तेज है बढ रहा, रविमण्डलको भेद ब्रह्मके शीर्षतक। फैला है आतंक जगत् परमाणुमें, मिटा रहा हूँ सतत लिखावट भाग्यकी।' (विश्वामित्र)। रूपजनित गर्वकी व्यंजनाका उदाहरण—'मन नैनन नील सरोज गुनै रु उरोजन कंज-कली अनुमानहिं, भ्रम बन्धुक फूलनके अधरानरु पानन पद्म सनाल सुजानहिं। मनि मोतिन चारु गुही कबरी लखि बन्धुनकी अवली मन ठानहिं, अतिमन्द मिलिन्दके वृन्द सखी दुरवार बनो दुख देत न मानहिं।' (र० म० पृ० १३८)।

गर्व एक प्रकारका मनोविकार है। गर्वकी भावनासे अभिभूत मनुष्य स्वसन्तुष्ट है, अत वह दूसरोंपर यह अभिव्यक्त भी करता है और इस अभिव्यक्तिसे उसे सुखका ही अनुभव होता है। उत्साहप्रधान गर्वसे वीर रसकी व्यंजना होती है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकोंने इसको स्थायी भाव माना है। —ज० कि० व०

गर्विता अथवा वक्रोक्तिगर्विता (नायिका)—नायिकाओंके अवस्थानुसार स्वतन्त्र विभाजनका एक भेद। विशेष विस्तारके लिए दे०—'नायिका-भेद'। अपने प्रियके प्रेमपर और अपने रूपपर गर्व करनेवाली नायिका—यह विभाजन भानुदत्त द्वारा सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया है। **प्रेमगर्विता**—प्रेमपर गर्व करनेवाली—'निज नायकके प्रेमकों गरव जनावै बाल।' (मतिराम : रसराज १०१)। इस नायिकाको नायककी निर्भरतापर गर्व होता है—'मेरे हँसे हँसत हैं मेरे बोले बोलत है, मोहीको जानत तन मन धन प्रान री।' (मतिराम रसराज १०२)। देवकी नायिका अपने प्रियके एकरस प्रेमपर गर्व करती है—'अङ्गन सङ्ग बसै अनुराग, हौ जीवनतें जीवनमूरि न फूटै।' (ब्रजभाषा नायिका० २ ३४८)। पर इस प्रसंगमें नायक द्वारा नायिकाके शृङ्गार किये जानेका वर्णन रीतिकाव्यमें विस्तारसे मिलता है—'आपुहि देत जवकवा गूँदत हार। चुनि पहिराय चुनरिया प्रान अधार।' (रहीम बरवै० ३२)। **रूपगर्विता**—अपने सौन्दर्यपर गर्व करनेवाली नायिका—'जाकें अपने रूपको अति ही होय गुमान।' (मतिराम रसराज १०४)। कभी यह गर्व स्वत नायिका-की उक्तिमें भासित होता है और कभी अन्यकी उक्ति द्वारा प्रकट किया जाता है। मतिरामकी यह नायिका स्वयं गर्वोक्ति करती है—'दिन हूँ मैं मुखचन्दको लखि ललचात चकोर', अत उसका आना नहीं हो पाता। (वही १०६)। पद्माकरने अन्यकी उक्तिमें नायिकाके गर्वकी व्यंजना की है—'चन्द्रमुखी कहँ होनी दुखी तौ न कोऊ कहैगो सुखी रहिबो करो।' (मा० वि० १ १३९)। इस रूप सम्बन्धी गर्वके माध्यमसे कवियोंने नायिकाके रूपसौन्दर्यका चमत्कृत और ऊहात्मक वर्णन किया है।

गल्प और छोटी कहानी—लघुकथाके सन्दर्भमें गल्प और छोटी कहानी भी देखी जा सकती है। वस्तुत ये दोनों शब्द कहानीके छोटे रूप, संक्षिप्त रूपकी ओर संकेत करते हैं। पर लघुकथाकी अपेक्षा गल्प एवं छोटी कहानीका धर्म आधुनिक कहानीके अधिक समीप लगता है। गल्प बँगला-की छोटी कहानियोंकी सज्ञासे प्राप्त शब्द है और छोटी कहानी अँग्रेजीके शार्ट स्टोरी शब्दसे। शिल्परचना और उद्देश्यकी दृष्टिसे गल्प, छोटी कहानी और लघुकथा—ये तीनों रूप किसी-न-किसी स्तरमे समानधर्मा है। (दे०—'कहानी')। —ल० ना० ला०

गांधीवाद—गान्धीवाद, महात्मा गान्धी (१८६९–१९४८)की विचारपद्धतिका व्यापक नाम है। गान्धीके व्यक्तित्वके अनेक पक्ष थे। वे राजनेता थे, समाज सुधारक थे, अर्थवेत्ता थे, शिक्षाशास्त्री थे और धर्मोपदेशक भी थे। समाज और शासनके संघटन तथा जीवनके अन्य अनेक पक्षोंके बारेमें उनके अपने विचार थे, जिनका प्रतिपादन उन्होंने अपनी दैनिक साधनाके मध्यसे गुजरते हुए किया था। मार्क्सवाद-के समान कोई व्यवस्थित शास्त्रीय अध्ययन इसके पीछे नहीं है, इसी कारण उसमें किसी प्रकारकी तर्कजन्य पद्धतिका अभाव है। गान्धीवादका आधार तर्क नहीं, स्वानुभूति है। इस विचारधाराका प्रत्येक खण्ड आत्मशक्तिको लेकर चलता है। इसी कारण उसमें एक प्रकारकी आध्यात्मिकता और

विचार-स्वातन्त्र्य है।

गान्धीवादको किशोरलाल मशरूवालाने तीन भागोंमें विभक्त किया है—(१) वर्णव्यवस्था, (२) ट्रस्टीशिप, (३) विकेन्द्रीकरण। विनोबाके अनुसार गान्धी समाजकी बँधी हुई कल्पनाओंको तोडनेके स्थानपर उनका परिष्कार-कर विकसित रूप प्रदान करना चाहते हैं। वर्णव्यवस्थाके अन्तर्गत उन्होंने (१) पारिश्रमिककी समानता, (२) होडका अभाव तथा (३) आनुवशिक सस्कारोंसे लाभ उठानेवाली शिक्षण-योजनाका प्रस्ताव किया। ट्रस्टीशिपके अन्तर्गत आत्मविश्वासके साथ समस्त प्राणिमात्रके कल्याणके लिए कार्य करना होता है। विकेन्द्रीकरणके अन्तर्गत उद्योगोंका ही नहीं, राजसत्ताका भी विकेन्द्रीकरण उनका अपना अभीप्सित था। लक्ष्यतक पहुँचनेके लिए सत्य, अहिंसा और सेवा इन विशिष्ट साधनोंका उपभोग आवश्यक माना गया है। गान्धीवादकी सबसे बड़ी देन उसकी यह विचारधारा है कि हमको साध्यके साथ-साथ साधनकी पवित्रताका भी ध्यान रखना चाहिये।

सर्वोदय (दे०) गान्धीका सामाजिक आदर्श है, सत्याग्रह जीवनादर्श और रामराज्य शासनादर्श। सर्वोदयका अर्थ है सबकी उन्नति और उसका ध्येय है हृदयपरिवर्तन—हृदयपरिवर्तन अन्यायी, शोषक और अनीतिवान्का। गान्धीवादके मूल स्तम्भ दो हैं—सत्य और अहिंसा। सत्यका ही दूसरा नाम उन्होंने परमेश्वर माना है तथा समस्त सृष्टिमें एक ही तत्त्वकी व्याप्ति स्वीकार कर ईश्वर और मनुष्य तथा मनुष्य एवं अन्य जीवधारियोंकी एकता स्वीकार की है। इस अन्तर्भूत एकत्वके कारण ही उन्होंने माना था कि 'जो घटना एक शरीरधारीपर घटती है उसका समग्र जड पदार्थपर और उसकी आत्मापर प्रभाव पड़ता है।' इस प्रकार सत्यके साक्षात्कारसे समबुद्धि प्राप्त होती है और समबुद्धिसे सबके प्रति अहिंसाका भाव उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए उन्होंने अहिंसाको सत्यका दूसरा पहलू कहा है। अहिंसामें केवल द्वेषका अभाव ही नहीं, प्रेमकी सम्प्राप्ति भी है। यह प्रेम स्वार्थ, मोह, आसक्ति आदिसे भिन्न होता है। इस अहिंसामें (अभावात्मक) वैरत्याग, (भावात्मक) चराचरप्रेम और पूर्ण निष्कामभावका समन्वय है। इस समन्वयका पहला तत्त्व जैन-बौद्ध अहिंसाका है, दूसरा वैष्णव भावनाका प्रसाद है और तीसरा तो स्पष्टत गीताका प्रभाव है। इस अहिंसाकी प्राप्तिके लिए गान्धीने आत्मशुद्धि-को आवश्यक माना है और आत्मशुद्धिके लिए अन्य सन्तोंकी भाँति अहन्ताके त्यागको अनिवार्य माना। अहकारका त्याग तप और भगवद्भक्तिसे ही सम्भव है। तपके लिए रागभोगका त्याग और आत्मपीडन करना होता है तथा उसके लिए शक्ति भगवान्पर अटल विश्वास होनेसे प्राप्त होती है। यह तप या आत्मशुद्धि केवल उस व्यक्तिका ही कल्याण नहीं करती, आत्माकी अखण्डताके कारण सारे समाजको उन्नत बनाती है।

प्रकट है कि गान्धीके जीवनदर्शनमें त्याग और तपका प्राधान्य है तथा भोग और आनन्दका तिरस्कार। कलामें भी उन्होंने शिव और सत्यपर ही बल दिया, सुन्दरको उन्होंने इन दोनोंमे या तो अभिन्न माना या अस्वीकार किया। कलाकी श्रेष्ठताकी कसौटी गान्धीने उसकी उपयोगिता स्वीकार की, 'कलाका सम्बन्ध नीति, हितकारिता और उपयोगितासे नहीं है, केवल सौन्दर्यसे है—यह कहना सौन्दर्य और कलाको न समझने जैसा है। सत्य ही ऊँची-से-ऊँची कला और श्रेष्ठ सौन्दर्य है, और वह नीति, हितकारिता और उपयोगितासे भिन्न नहीं हो सकता।' गान्धीके अनुसार सगीत इसलिए श्रेष्ठ है कि 'वह प्रार्थना और नैतिक उन्नतिमें सहायक है', किसी रससिद्धान्तके कारण नहीं। उनका विश्वास था, 'चित्र, गायन आदि बाह्य आकारोंकी अपेक्षा शुद्ध आचरणमें अभिव्यक्त मनुष्यकी नैतिक पवित्रता कला-का उच्चतर प्रकाशन है।' 'उत्तम जीवनकी भूमिकाके बिना कला किस प्रकार चित्रित की जा सकती है!' यज्ञमय जीवन कलाकी पराकाष्ठा है।

गान्धीवादमें कला आत्म-मन्थनका प्रसाद है। 'मैं कला-के दो भेद करता हूँ आन्तर और बाह्य। इनमेंसे किसपर तुम अधिक जोर देते हो, यही सवाल है। मेरे नजदीक तो बाह्यकी कीमत तबतक कुछ नहीं है—जबतक अन्तरका विकास न हो।' 'समस्त कला अन्तरके विकासका आविर्भाव ही है। जो कला आत्माको आत्मदर्शन करनेकी शिक्षा नहीं देती वह कला ही नहीं है तथा प्राकृतिक कलाकृतियोंकी अपेक्षा मानुषी कला तुच्छ और अपूर्ण है। जिसमें सत्यकी अभिव्यक्ति है, जिसमें ऊर्ध्वगामिनी प्रकृतिकी अभिव्यजना या सहायता होती है, वही सच्ची कला है।'

गान्धीवादकी सात्त्विक तापसी भावना और आनन्द तथा सौन्दर्यका तिरस्कार, कला-सर्जन या आस्वादनके अधिक अनुकूल नहीं है। इसी कारण उसकी सीधी तात्त्विक अभिव्यक्ति हिन्दीमें ही नहीं, गुजरातीमें भी विरल है। कहना तो यों चाहिये कि राजनीतिमें भी, जो गान्धीका प्रमुख क्षेत्र रहा, उनके अनुयायियोंने अहिंसा, त्याग आदिको साधनरूपसे ही अपनाया, बहुत कम लोग उनकी जीवन-प्रणाली अन्तिम रूपसे ग्रहण कर उसे सिद्धिरूपमें अपना सके हैं।

हिन्दी साहित्यमें गान्धी-व्यक्तित्वके अनेक पक्ष, उनकी व्यवहार-प्रक्रियाके विविध रूप तथा विचार-सरणिके अश खण्डश अभिव्यक्त हुए हैं। प्रेमचन्द्के उपन्यासों और कहानियोंमें सत्याग्रह, हृदय-परिवर्तन, स्वाधीनता-सग्राममें सत्य-अहिंसाके शस्त्रोंका प्रयोग, आश्रमोंकी स्थापना द्वारा सुधार आदि गान्धीवादके अनेक पक्ष अभिव्यक्त हुए हैं। 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रगभूमि', 'गबन' उपन्यासों तथा 'नमकका दारोगा', 'समरयात्रा' एवं अन्य कहानियोंमें गान्धीवादका व्यवहारपक्ष जितना उभरकर आया है, उतना किसी अन्य लेखकमें नहीं मिलता। 'कौशिक', सुदर्शन, भगवतीचरण वर्मा एव जैनेन्द्र अन्य कथाकार हैं जो गान्धीवादकी यत्र-तत्र अभिव्यक्ति करते हैं। कवियोंमें मैथिलीशरण गुप्तकी 'यशोधरा' और 'साकेत'में गान्धीवादी विचारोंकी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, बच्चन एवं सुमित्रानन्दन पन्त जैसे कवियोंने भी गान्धीवादको काव्यकी वाणी दी है। यों 'कामायनी'में भी यत्र-तत्र गान्धीवादकी झलक आलोचकोंने देखी है। गान्धीका तत्त्व-

दर्शन अपने मूल रूपमें जितना कवि सियारामशरण गुप्तमें उपलब्ध होता है उतना अन्य किसीमें नहीं। नगेन्द्रके अनुसार 'सियारामशरण 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त', 'नोआखाली'में तो प्रत्यक्ष रूपसे गान्धीवादके सिद्धान्तोंकी स्थापना करते ही है, इनके अतिरिक्त 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी'-की काव्यवद्ध कहानियों और 'नकुल'में भी गान्धीदर्शनकी ही अभिव्यक्ति है। और यही बात 'दैनिकी' आदिकी विचारात्मक स्फुट कविताओंमें है।'' हिन्दीमें केवल दो लेखक ऐसे हैं जिन्होंने गान्धीदर्शनको गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया है—जैनेन्द्र और सियारामशरण। इनमेंसे जैनेन्द्रकी स्वीकृति एकान्त बौद्धिक है। उनकी आत्मा गान्धीदर्शनके शम सात्त्विक प्रभावको ग्रहण नहीं कर सकी है। पन्तजीको गान्धीदर्शनकी शान्त परिष्कृति पूर्णतः स्वीकार्य है, परन्तु वे कदाचित् उसमें अभीष्ट कलाका अभाव पाते हैं, इसलिए अरविन्दके प्रति उन्हें अधिक आकर्षण है, किन्तु सियारामशरणके हृदय और बुद्धि दोनोंका गान्धीदर्शनके साथ पूर्ण सामंजस्य है, वह उनकी आत्मामें रम गया है।'

गान्धीका व्यक्तित्व इतना महान् था कि समकालीन जीवनका प्रत्येक पक्ष उनसे किसी-न-किसी रूपमें प्रभावित हुआ है। कला और साहित्य भी इससे अछूते नहीं रहे। इस दृष्टिसे हिन्दीके अधिकांश कवि और लेखकोंने उनसे किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित होकर उनकी जीवन-दृष्टिको अभिव्यक्ति दी है। पर इस अभिव्यंजनामें सतहपरका उद्घोष और नारेबाजीकी स्तुति अधिक है, गहरी अनुभूतिका अपेक्षाकृत अभाव है।

[सहायक ग्रन्थ—१ सर्वोदय-तत्त्वदर्शन : गोपीनाथ धावन, २ गान्धीवाद : समाजवाद : किशोरलाल घ० मशरूवाला, ३ आधुनिक हिन्दी कविताकी मुख्य प्रवृत्तियाँ : नगेन्द्र, ४ हिन्दी कवितामें युगान्तर : सुधीन्द्र।]—दे०श०अ०

गांभीर्य—दे०—'सात्त्विक गुण', नायक।

गाथा—गाथा लोक-साहित्यका वह प्रकार है जिसमें गेयताके साथ ही कथानककी प्रधानता रहती है। कीट्रीजने इसकी परिभाषा बतलाते हुए लिखा है कि गाथा वह लोकगीत है जिसमें किसी कथाका वर्णन हो अथवा यह वह कथा है, जो गीतोंमें कही गयी हो—(कीट्रीज—इं० स्का० पा० बै०, भूमिका भाग)। सर्वप्रथम गाथा शब्दका प्रयोग ऋग्वेदमें पाया जाता है (ऋग्वेद : ८ . ३२ : १)। यज्ञके अवसरपर गाथा गानेकी प्रथा उस समय प्रचलित थी। इनके गानेवालोंको 'गाथिन्' कहा जाता था (ऋग्वेद १ . ७ १)। जातकोंमें श्लोकबद्ध रचनाको गाथाका नाम दिया गया है (बटुकनाथ शर्मा—पाली जातकावली : पृ० ९)। प्राकृत भाषामें लिखी गयी हालकी गाथा-सप्तशती सुप्रसिद्ध रचना है, जिसमें शृङ्गार रसके बड़े सुन्दर चित्र उपलब्ध होते हैं। भोजपुरी भाषामें गाथाका अर्थ कथा है और इसी अर्थमें इसका प्रयोग सर्वत्र किया जाता है। अतएव गाथा वह छन्दोबद्ध रचना है, जिसमें कथाकी प्रधानता हो। अँग्रेजी बैलेडके लिए लोक-साहित्यमें अब गाथा शब्दका प्रयोग होने लगा है। लोकगाथा और लोकगीतमें बड़ा अन्तर है। इन दोनोंमें स्वरूपगत भेद और विषयगत भेद उपलब्ध होता है। आल्हा, ढोला-मारू तथा विजयमलकी गाथा इसके उदाहरण हैं। ये गाथाएँ कई प्रकारकी होती हैं, जिनमें प्रेमकथात्मक, वीरकथात्मक, रहस्य-रोमांच-कथात्मक आदि भेद प्रसिद्ध हैं।

लोकगाथाओंकी प्रधान दस विशेषताएँ होती हैं—(१) लोकगाथाके रचयिताका अभाव—लोकगाथाकी रचना किस व्यक्तिविशेषने की यह कहना बड़ा कठिन है। देश और कालके अनुसार इसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन होता रहता है। (२) प्रामाणिक मूल पाठका अभाव—किसी लोकगाथाका कौन-सा मूल पाठ है यह बतलाना सम्भव नहीं। उसके सभी पाठोंका महत्त्व समान है। लोरकी तथा विजयमल आदि गाथाओंका कौन-सा पाठ शुद्ध है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। (३) आवृत्तिमूलक संगीत—लोकगाथाओं-का संगीतसे अभिन्न साहचर्य होता है। संगीत—जिसकी बार-बार आवृत्ति की जाती है—के बिना ये निष्प्राण हैं। (४) स्थानीयताका पुट—गाथाओंमें स्थानीय इतिहास, रीति-रिवाज तथा प्रथाओंका वर्णन उपलब्ध होता है। (५) मौखिक—लिपिबद्ध नहीं, जबतक गाथाएँ मौखिक रहती हैं तभीतक इनकी जीवनी शक्ति है। लिपिबद्ध होनेपर इनका विकास अवरुद्ध हो जाता है। (६) उपदेशात्मक प्रवृत्तिका अभाव—इन गाथाओंमें धर्म या नीतिग्रन्थोंके समान उपदेश देनेकी प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। (७) कथामें स्वाभाविक प्रवाह—कथामें प्रवाहका होना आवश्यक है। लोकगाथाका प्रवाह पहाड़ी नदीकी भाँति गतिशील होता है। आल्हामें कितना प्रवाह है यह किसीसे छिपा नहीं है। (८) अलंकृत शैलीकी अविद्यमानता—लोकगाथा सहज, सरल तथा बोधगम्य शैलीमें होती है। वह अलंकारोंके कारण कहीं बोझिल नहीं पायी जाती। (९) टेक-पदोंकी पुनरावृत्ति—टेक-पदोंकी बार-बार आवृत्तिसे गाथाओंमें जीवनका संचार होता है। (१०) लम्बा कथानक—लोकगाथाओंका कथानक बड़ा लम्बा होता है। कथा ही इनकी प्रधानता है। आल्हा, लोरकी, विजयमलकी लम्बी गाथाएँ इसका उदाहरण हैं।

लोकगाथाओंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें विद्वानोंमें बड़ा मत-भेद है। कोई इसे व्यक्तिविशेषकी रचना मानता है तो कोई इसे समुदाय-विशेषकी कृति स्वीकार करता है। इस सम्बन्धमें निम्नांकित पाँच मतभेद हैं—(१) ग्रिमका सिद्धान्त—समुदाय-वाद। (२) स्टेन्थलका मत—जनतावाद। (३) श्लेगलका—व्यक्तिवाद। (४) विशप पर्सीका—चारणवाद। (५) चाइल्डका—व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद। ग्रिमका मत है कि किसी समुदायविशेषके लोग सामाजिक उत्सवोंपर सामूहिक रूपमें गीत गाते हैं। एक व्यक्ति गीतकी कोई एक कड़ी बनाता है तो दूसरा दूसरी कड़ी जोड़ता है। इस प्रकार सबके सामूहिक प्रयाससे गाथाओंका निर्माण होता है। स्टेन्थलका जनतावादी सिद्धान्त ग्रिमके सिद्धान्तका विशेषीकरण है। परन्तु श्लेगलका मत है कि गाथाएँ व्यक्तिविशेषकी रचनाएँ हैं। जिस प्रकार इलियड, ऑडेसी आदि महाकाव्योंका लेखक एक व्यक्ति था उसी प्रकार ये गाथाएँ भी किसी एक व्यक्तिकी ही रचना हैं। यह दूसरी बात है कि अधिक काल बीत जानेके कारण उन लेखकोंका

नाम आज हमें ज्ञात नहीं है। विशप पर्सीका कथन है कि इन गाथाओंके रचयिता चारण लोग थे, जो राजदरबारोंमें काव्योंकी रचना कर राजाओंका मनोरंजन किया करते थे। चाइल्ड इस मतका समर्थक है कि इन गाथाओंका रचयिता कोई व्यक्ति तो अवश्य है, परन्तु उसके व्यक्तित्वका इन गीतोंमें अभाव है। परन्तु सत्य तो यह है कि गाथाओंकी उत्पत्तिमें इन सभी सिद्धान्तोंका समन्वय उपलब्ध होता है। —कृ० दे० उ०

गाथा १–[गै+थन्+स्त्री प्रत्यय टाप्] (क) साधारण अर्थ १ गान, गीत [यथा 'गायदगाथ सुतसोमोदुरायन्' ऋ० ११६७१६ तथा 'इन्द्रमिद् गाथिनो वृहत्' ऋ० ११११३११ इत्यादि मन्त्रोंमें] २ स्तोत्र। (ख) विशिष्ट अर्थ १ आर्या छन्द [इस अर्थके प्रामाण्यके विषयमें तारानाथने अपने 'शब्दस्तोममहानिधि'में छन्दोमंजरी नामक ग्रन्थका उद्धरण दिया है–'पादे द्वादश विषमे मात्राश्चाष्टादश, द्वितीये हि। पञ्चदश चेत्तुरीये कथिता गाथा तथैवार्या।'] २ प्राकृत भाषाका कोई भी छन्द या पद्य। [हाल-कृत 'गाहा सत्तसईमें 'गाहा' शब्द, जो संस्कृत शब्द, 'गाथा'-का ही प्राकृत रूप है, सम्भवत प्राकृत छन्दके ही अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।] ३ एक प्रकारकी प्राकृत। ४ ललित-विस्तर इत्यादि बौद्ध साहित्यके ग्रन्थोंमें बीच-बीचमें आनेवाला पद्यात्मक या छन्दोबद्ध भाग। ५. ब्राह्मण एव आरण्यक ग्रन्थोंमें आये हुए गद्यात्मक आख्यानोंके बीच-बीचमें आनेवाले श्लोक या पद्यात्मक अंश। इन गाथाओंमें उन आख्यानोंके बड़े प्राचीन उल्लेख मिलते हैं [जैसे ऐतरेय ब्राह्मणके शुन शेप-आख्यानमें आयी हुई गाथाएँ]। (ग) हिन्दीमें यह शब्द वृत्तान्त या जीवनीके अर्थमें प्रयुक्त होता है। गाथाओंमें आख्यानोंका सूक्ष्म उल्लेख या सकेत होनेके कारण कालान्तरमें यह शब्द आख्यान, कहानी या जीवन-वृत्तान्तके ही अर्थमें प्रयुक्त होने लगा, ऐसा प्रतीत होता है। (घ) मौलिक अर्थमें इसके पर्याय गान, गीत, गीतिका इत्यादि तथा परिवर्तित (नवीन) अर्थमें कथा, कहानी, वृत्तान्त इत्यादि हैं। —आ० प्र० मि०

गाथा २–जिस प्रकार **श्लोक** या **अनुष्टुप्** लौकिक संस्कृतका और दोहा अपभ्रंश तथा हिन्दीका प्रमुख छन्द बन गया, उसी तरह गाथा प्राकृतका सर्वप्रमुख छन्द था। इसका यह अर्थ नहीं कि गाथा छन्द संस्कृतमें था ही नहीं। वैदिक कालमें भी गाथा या गाता छन्दको महत्त्वपूर्ण स्थान मिला होगा और उस समयकी ऐतिहासिक-पौराणिक कथाएँ गाथा-बद्ध ही रही होंगी। इस अनुमानका आधार यह है कि उस समय उन पद्यबद्ध कथाओंको गाथा ही कहा जाता था और वे गाकर सुनायी जाती थीं। ऐसे आख्यानोंको गाथा और गाथा नाराशसी कहा जाता था। अथर्ववेदमें गाथा और गाथा नाराशसीका नाम इतिहास-पुराणके साथ लिया गया है (अथर्व १५ ६ १०, ११, १२)। लोकाश्रित वैदिक साहित्यका ही विकसित रूप प्राकृत-साहित्यमें दिखाई पड़ता है। वैदिककालीन गाथा छन्दका प्राकृत-साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करना आश्चर्यजनक नहीं है। प्राकृत और अपभ्रंशमें इस गाथा शब्दका रूप गाहा हो जाता है। प्राकृतमें यह छन्द कितना प्रचलित था, इसका प्रमाण 'गाथा सप्तशती' है। सम्भवत सातवाहन हालने लोकप्रचलित गाथाओंमेंसे सर्वश्रेष्ठ सात सो गाथाओंको चुनकर 'गाथासप्तशती'का सकलन किया था। गाथाकाव्यका प्रभाव संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दीके मुक्तक काव्यपर कितना अधिक पड़ा है, यह सस्कृतकी 'आर्या सप्तशती', हेमचन्द्र द्वारा संकलित अपभ्रंशके दोहों और हिन्दीके **सतसई** काव्यकी सुदीर्घ परम्परासे स्पष्ट है। —श० ना० सिं०

गाथागीत–दे०–'लोकगाथा' और 'साहित्यिक गाथा'।

गाथाचक्र–दे०–'कथाकाव्य', 'महाकाव्य'।

गान–अमरकोशके अनुसार **गीत** और **गान** समानार्थक हैं–'गीत गानमिमे समे।' गीतका षड्विध लक्षण है–'सुस्वर सरस चैव सराग मधुराक्षरम्। सालंकार प्रमाण च षड्विध गीतलक्षणम्।' गानके सम्बन्धमें धारणा है कि स्वयम्भु शिवने रागरागागभाषागक्रियागोपाग सहित गान-विद्याका सर्जन किया और उसे नारदको सिखलाया। नारदके द्वारा यह गान-विद्या पृथ्वीपर उतरी (तदेत्तन्नारदादिभ्यो दत्तमादौ स्वयम्भुवा। नारदेन ततो गान पृथिव्यामवतारितम्)। गानका बड़ा व्यापक प्रभाव दिखलाया गया है और कहा गया है कि सभीकी-सभी चित्त-वृत्तियाँ गानमें विलीन हो जाती हैं। गीतका कर्तृरूप गान है, गीतका सम्बन्ध जहाँ रचनाविशेषसे है वहाँ गानका सम्बन्ध गेयताकी पद्धति अर्थात् संगीततत्त्वके प्रयोगात्मक रूपसे है। गानेकी पद्धतिका सम्बन्ध रससे है। शृंगार और हास्यमें मध्यम और पंचम, वीर, रौद्र और अद्भुतमें षड्ज तथा ऋषभ, करुण रसमें गान्धार और निषाद तथा वीभत्स और भयानकमें धैवत समीचीन है। गान-पद्धतिके कई विधि-निषेध हैं। मुख-विकृतिको गानक्रियाका दोष माना गया है। —रा० खे० पा०

गाना–गाना गान शब्दका सरलीकरण है और जिस प्रकार गान क्रियासे नाम हो गया उसी प्रकार गाना भी केवल क्रिया नहीं बल्कि संज्ञा भी है। सामान्य दृष्टिसे शास्त्रीय संगीत-पद्धतिसे मुक्त रचना और गान-पद्धतिकी सज्ञा गान अथवा गाना है। सस्ते प्रकारके गीतोंकी भी यह सज्ञा हो गयी है। —रा० खे० पा०

गाय–सन्त-साहित्यमें गायके कई प्रतीकार्थ हैं। आत्मा, 'एक गाइ नौ बछड़ा, पंच दुहेबा जाइ। एक फूल सोलह करण्डियाँ मालनि मनमें हरषि न माइ'। (गोरखबानी ११३)। वाणीके अर्थमें–'चारि ब्रिछ छव साषा वाके पत्र अठारह भाई। एतिक लै गम कीहिसि गइया, गैया अति हरहाई।' (कबीर-बीजक १६५)। मायाके अर्थमें–'हसा सरी छूरी कुहिया, गैया पियै बछरुहिं दुहिया।' (कबीर-बीजक १७१)। जनजीव प्रपंचमें रत हो गया तब गैया(माया)ने बछडेरूपी जीवका ज्ञानरूपी दूध दुहकर पी लिया। 'अवधू काम धेनु गहि राखी। बसि कीनो तब अमृत सरवै आगे चीर न नाखी।' (दादू) —उ० श० शा०

गायन–गायन और गायक प्राय समानार्थी शब्द हैं। अष्टाध्यायीके अनुसार नर्तक, गायन (गायक) और वादक सभी शिल्पी हैं। गायन एक जातिविशेषका भी नाम है, जिसका पेशा नाच गाना है। इसे गन्धर्वोंकी एक जाति

माना जा सकता है। इसका उल्लेख मनुस्मृतिमें भी हुआ है। गायन गान-क्रियाका प्रचलित रूप है ('गायन चले हृदयमें'—दिनकर)। गायनका स्त्रीवाची रूप है **'गायिनी'** जो एक प्रकारका मात्रिक छन्द है, जिसके पादोंमें क्रमश १२-१८ और १२-२० मात्राएँ होती हैं, प्रत्येक चरणके अन्तमें एक गुरु होना चाहिये। बीस मात्राओंके पश्चात् एक जगण आता है। जगणके स्थानमें चार लघु होना भी दोषहीन माना जायगा—'आदौ बारा मत्ता दूजे द्वै नो सजाय मोद लहो। तीजै भानू कीजै चौथे बीसेजु गायिनी सुकृति कहो।' —रा० खे० पा०

गीत—भगवान् शंकरसे ही स्वर और सुर दोनोंका उद्गम है। वे नादब्रह्म ही हैं। नादके एक विशेष नियन्त्रणकी संज्ञा व्याकरणशास्त्रीय स्वर है, जिसकी सहायतासे ही व्यंजनोंका उच्चारण सम्भव होता है और उसी नादके दूसरे प्रकारके नियन्त्रणकी संज्ञा लय, ताल, सुर आदि है। संगीतशास्त्रके अनुसार शंकरने संसारको दुःखाक्रान्त देखकर सांसारिकोंके दुःख-निवारणार्थ गीत और वाद्य प्रकाशित किया और गीतज्ञ गीत द्वारा मुक्ति पा सकता है। साम-संहिता-भाष्यके अनुसार आभ्यन्तर प्रयत्नसे स्वर-ग्रामकी अभिव्यक्ति गीत है। मीमांसा(९, २, २९)के मतसे सामवेदमें सहस्र प्रकारके गीतोंके साधन हैं। गायक इच्छानुसार किसी एकका अवलम्बन कर सकता है। गीतके दो भेद माने गये हैं—वैदिक और लौकिक। वैदिक गीतोंकी चर्चा **गेयपद**(दे०)के अन्तर्गत हुई है। शास्त्रीयताके आधारपर लौकिक गीतके भी दो विभेद हैं—**मार्ग** और **देशी**। शास्त्रनिरूपित परम्पराका निर्वाह **मार्ग**में होता है, जिसके लिए नाट्यशास्त्रकर्ता भरतको भी प्रमाण माना गया है। भगवान् शंकर इसके आद्याचार्य हैं, अतः उनके प्रीत्यर्थ इसका विधान है। विभिन्न भूभागोंके निवासियोंकी रुचि और रीतिके विभेदसे गीतके रूपोंकी भिन्न-भिन्न परिणतियाँ हैं और इनकी संज्ञा **देशी** है। साहित्यमें जिसे गीत कहते हैं उसका सम्बन्ध विशेष रूपमें **देशी** विभेदसे है। गायकों द्वारा मान्य पदोंकी स्वीकृति साहित्यिक तत्त्वोंके कारण नहीं, बल्कि संगीत-तत्त्वके कारण है। लोकगीतोंका परिस्फुटित रूप ही साहित्यिक गीत है और साहित्यमें यह **गीतिकाव्य**का प्रारम्भिक रूप तथा अब उसका प्रथम भेद है। गेय पदोंमें जहाँ शास्त्रीय संगीतके विधानको काव्यकी समकक्षता प्राप्त है, वहाँ गीतोंमें देशी संगीत-पद्धतिका नियमन रहता है। लौकिक कण्ठ्य संगीतका यह साहित्यिक अभियान है। 'आदिग्रन्थ'में जो गीत संगृहीत हैं उनमें जयदेव और रामानन्दके गीतोंको सर्वाधिक प्राचीन माना जा सकता था, किन्तु उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है और वे प्रसिद्ध जयदेव और रामानन्दके न होकर इन्हीं नामधारी किन्हीं व्यक्तियों-के होंगे। गेय पदोंके अन्तर्गत इनकी परिगणनाका प्रयास बादमें चलकर हुआ। प्रारम्भिक गीत लौकिक जीवन सम्बन्धी थे, जिन विधानका उपयोग धार्मिक विचारोंकी अभिव्यक्तिके लिए किया गया। सन्तकाव्यकी अधिकांश गीतात्मक रचनाएँ इसी कोटिकी हैं। कई व्यक्ति समूह बनाकर जब गाते हैं तो वह **समवेत गीत**का रूप धारण करता है। उपरूपकोंमेंसे कई एक ऐसे हैं जो समवेत गीतके विकसित और अभिनयात्मक रूप हैं। **नाट्यरासक**में नाट्यकी प्रधानता तो है, किन्तु **समवेत गान**का रूप मिलता है। **'हल्लीश'**के समवेत गीतका अभिनयात्मक रूप स्पष्ट है। **चर्चरी** और **वेलि**, **समवेत गीत**के ही रूप हैं। —रा० खे० पा०

गीतकाव्य—दे०—'गीतिकाव्य'।

गीतिका १—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। २६ मात्राओंके चरणका यह छन्द माना जाता है, जिसमें १४-१२ को यति तथा अन्तम लग (IS) होना है, भानु (छं० प्र० · पृ० ६५) तथा भिखारीदास (छन्दो० पृ० ३८)। इसीके अन्तमें यदि ग ल (SI) होता है तो **गीता** छन्द हो जाता है। स्पष्टत यह बहुत गौण अन्तर है। इसका प्रयोग हिन्दीमें चन्द (पृ० रा०), केशव (रा० च०) तथा भूषण(शि० भू०)ने किया है। अन्य कवियोंने इस नामसे हरिगीतिका छन्दका प्रयोग किया है (दे०)। भूषणने हरिगीतिकाके नामसे गीता छन्द-का प्रयोग किया है—'मनिमय महल सिवराजके, इमि रायगढमें राजही' (शि० भू० १६)। यहाँ मात्राएँ केवल २६ हैं। उदा०—'लै संग भक्ति मलाह करि, आत्म सो लै जाउ'—भिखारीदास (छन्दो० · पृ० ३९)।

गीतिका २—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। हिन्दी-में इसके मात्रिक रूपको हरिगीतिका कहते हैं, पर प्राचीन परम्पराके अनुसार केशवने इसको वृत्तरूपमें प्रयुक्त किया है। स, ज, ज, भ, र, न, ल, गके योगसे यह वृत्त बनता है (IIS, ISI, ISI SII, SIS, IIS, IS), 'प्राकृतपैंगलम्'में (२ १९६) इस छन्दका गीता नाम दिया गया है। उदा०—'कोउ आजु राज समाजमें बल सम्भुको धनु कर्षिहै। पुनि श्रौणके परिमाण तानि सो चित्तमें अति हर्षिहै। वह राज होइ कि रंक केशवदास सो सुख पाइहै। नृपकन्यका यह तासुके उर पुष्पमालहिं नाइहै—(रा० च० ३ . ३१)। —पु० शु०

गीतिकाव्य—'लिरिक'के तत्त्वबोधके लिए निर्मित आधुनिक शब्द है, जिसका मूलभूत आधार **गीत** अथवा **गीतकाव्य** है। गीतका प्रयोग प्राचीनतम है और नाट्य-शास्त्रमें इसके प्रयोग मिलते हैं—'गीतं शब्दितगानयो' (हेमचन्द्र) और 'गीत गानमिमे समे' (अमरकोश, १-६-२६)। गीतिकाव्य शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग लोचन-प्रसाद पाण्डेयने 'कविता-कुसुम-माला', (प्रथम संस्करण जून, १९०९)की भूमिकामें किया और 'पाठकोंसे एक निवेदन'के अन्तर्गत लिखा कि काव्यके तीन प्रकार हैं—गीतिकाव्य, श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य। गीतिकाव्य गीतशैलीका नव्यतम विकास है। गीत और गीतिकाव्यका विकास लोकगीतोंसे हुआ है। जयदेवकृत 'गीतगोविन्द'के गीतोंको इनका आदि स्रोत माननेका भ्रम होता रहा है। बौद्धोंने लोक-भाषाको अधिक मान्यता दी थी, यद्यपि संस्कृत-में लिखे गये बौद्ध साहित्यका अभाव नहीं है। सिद्धोंने लोकभाषाओंको आधार बनाया, उनके 'चर्यागीत' लोक-गीतोंके उपदेशात्मक अभियान हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीने इन गीतोंको प्राचीनतम बँगला रचनाका आदर्श और उदाहरण माना है, किन्तु आधुनिक शोधकोंने इसकी अयथार्थता सिद्ध कर दी है। 'चर्यागीत' शास्त्रीय राग-रागिनियोंके अन्तर्गत वर्गीकृत हैं, किन्तु राग रागिनियोंके

नाम सूचित करते हैं कि इनके वर्गीकरणमें स्वतन्त्रता थी और देशविशेषमें भिन्न-भिन्न राग प्रचलित थे। देशविशेषमें प्रचलित लोकगीतोंकी लयात्मक पद्धतिका नामकरण उस देशके नामपर हुआ। राग **गुर्जर, सोरठ, गौड** आदि इसी वर्गके हैं। **गुर्जरसे गूजर** और **गूजरसे गूजरी** बनता हुआ यह सन्त साहित्यमें आया। **गौडीसे गवडी** और **गवडा**का रूप बना, जो सन्त-साहित्यमें मिलता है। गौरीके शास्त्रीय विधानवाली शैलीसे इसमें भिन्नता है। 'कबीर-बीजक'का **चाँचर** चौराहेपर गाया जानेवाला लोकगीत है, जिसके **चाँचर चर्चरी**रूपका उल्लेख 'पालि महा-व्याकरण'में आया है। 'बीजक'की **बेली** राजस्थानीमें प्रचलित **बेलि** नामक काव्यका पूर्वरूप है। सिद्ध-साहित्यमें प्रचलित गीत नाथ-सम्प्रदायमें **सबदी**, सबद+ई=सबदी हुआ। गुरुके शब्द होनेके कारण ऐसा नामकरण हुआ। लौकिक गीतोंकी परम्परा विद्यापतिकी पदावलीमें मिलती है और उपासनामूलक गीतोंकी **नाचारी**में। राधा-कृष्ण-विषयक गीतोंपर जयदेवकी छाया और छाप है। आदि-ग्रन्थमें सकलित जयदेवकृत पद किसी निर्गुण सम्प्रदाया-नुयायी जयदेवका है, प्रसिद्ध पीयूषवर्षी जयदेवकृत नहीं। 'आदिग्रन्थ'में रामानन्दकृत दो पद हैं, जो प्रसिद्ध रामानन्द-के नहीं, किसी अन्य रामानन्दके हे। पदोंको राग-रागि-नियोंके अन्तर्गत वर्गीकृत करनेकी प्रथा **सिद्धकाल**से भी प्राचीन ज्ञात होती हे, क्योंकि उस कालके गीत इस प्रकार वर्गीकृत हैं। यह परम्परा बीसवीं शताब्दीके द्वितीय दशक-तक किसी-न-किसी रूपमें प्रचलित रही, लोचनप्रसाद पाण्डेय और मुकुटधर पाण्डेयकी रचनाएँ इसी प्रकारकी हैं। इस स्थितिसे स्पष्ट हो जाता है कि गीतोंका सम्बन्ध शास्त्रीय सगीतसे बना रहता है। यद्यपि सगीततत्त्व अवि-च्छिन्न रहा, किन्तु वह क्रमश गौण होता गया और काव्यत्वकी मात्रा उसी अनुपातमें बढती गयी, अत गीत गीतकाव्य होते गये। गेय पदोंमें सगीततत्त्व प्रधान है, गीतमें काव्यत्व और सगीतकी शास्त्रीयताका सन्तुलन तथा गीति-काव्यमें सगीततत्त्वसे काव्योत्कर्षको अधिक प्रधानता मिलने लगती है।

गीतिकाव्य पश्चिमसे आया हुआ विधान है, जिसकी वहाँ सज्ञा थी **लिरिक**। **लिरिक**के अर्थविकासका इतिहास गीतिकाव्यके तात्त्विक विश्लेषणके लिए आवश्यक होगा। अरस्तूने लिरिकपर विचार नहीं किया, केवल तीन स्थलोंपर स्तोत्र और मन्त्रोच्चारण(डिथीहैम्ब्स और नोम्स)के सम्बन्धमें उल्लेखमात्र किया है। काव्यके तीन वर्ग स्वीकृत थे— **प्रबन्धकाव्य (एपिक), रूपक (ड्रामा)** और **गीत (साग)** तथा **सांग**का सामान्य नाम था **लिरिक**। **लिरिक** सम्बन्धी धारणाओंमें परिवर्तन और विकास होते रहे हैं। **गीतिकाव्य**में विकसित धारणाका यही आधार हे। साहित्यिक वर्गीकरणमें विभिन्न विधानोंकी निश्चित रेखा अमान्य होगी, क्योंकि पारस्परिक अन्तरावलम्बनकी प्रक्रिया सतत क्रियाशील रहती है। 'साकेत'का नवम सर्ग गीतात्मक है, 'कामायनी'के अनेक अश स्वतन्त्र गीतिकाव्य हैं और 'प्रेम-पथिक'में कथात्मक गीतावेश है। इसी प्रकार **वर्णनात्मक गीति** और **नाट्य गीति**के विधान होते हैं। यूनानी काव्यशास्त्रने **एपिक, ड्रामा** और **लिरिक**के लिए विभिन्न छन्दोंका विधान किया था, किन्तु ऐसा कृत्रिम वर्गीकरण टिक नहीं सका। प्रारम्भमें सगीतकार और कवि एक ही व्यक्ति था, अत गीतोंमें भी काव्य-तत्त्वकी प्रधानता थी। इस प्रकार **गीतिकाव्य गीत** ही था और यूनानी आदर्शपर लिखे गीतोंकी सज्ञा **गीतिकाव्य** थी। कविने अनुभव किया कि उसकी रचनाओंके लिए वाद्य-यन्त्रोंकी अपेक्षा अनिवार्य नहीं है, क्योंकि उसके शब्दोंमें संगीत-तत्त्वका मूल निहित है, अत गेय पद गीत हुए, एव इस प्रकार सगीतका शास्त्रीय अभिनिवेश गीतिकाव्यकी कसौटी नहीं रहा, यद्यपि सगीतसे इसकी अविच्छिन्नता वर्तमान रही। गीतिकाव्यमें कविका स्व अधिकाधिक स्वीय रूपमें अभिव्यक्त होता हे। **प्रबन्धकाव्य** अथवा **रूपक**में कवि ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक पात्रोंपर अपने व्यक्तित्वका प्रक्षेपण करता और उनकी अनुभूतियों तथा भावनाओंको निजत्वके अनुरूप रूपायित करता है, गीतिमें वह निर्बाध और प्रत्यक्ष व्यक्तित्वको अभिव्यक्ति देता है, अत इसमें पर-प्रत्यक्ष, सकोच और कुण्ठाहीन वैयक्तिक व्यक्तित्व और उच्छ्वसित भाव-तरगको वाणी दे पाता है, इसलिए इसमें सहज तरलता, अबाध मुक्तता और प्रत्यक्षानुभूतिका स्वर मिलता है। वैयक्तिकता इस प्रकार गीतिकाव्यकी अन्यतम कसौटी है। अबाध कल्पना, असीम भावुकता, विशुद्ध भावात्मकता, कर्म-कोलाहलकी चिन्तासे मुक्त विचारधारा अथवा निष्कर्षोपलब्धिके भारसे मुक्त भावधारा गीतिकाव्यके प्रकृत विषय हैं, इसमें सिद्धान्तीकरणका अवकाश नहीं। विचारको भी गीतिमें भावात्मक माध्यम ग्रहण करना पड़ता है। भावात्मक स्थिति क्षण-स्थायिनी होती है, अत उसे अभिव्यक्त करनेवाली रचना भी नातिदीर्घ ही रहती है, सक्षिप्तता गीतिकाव्यका प्राण हे। कविकी वैयक्तिक भावधारा और अनुभूतिको उनके अनुरूप लयात्मक अभिव्यक्ति देनेके विधानको गीतिकाव्य कहते ह। वह उन पूर्ण और समग्र क्षणोंकी वाणी है, जिनकी स्थितिमें वे क्षण ही पूर्ण और समग्र जीवन प्रतीत होते हैं। क्षणोंकी महत्ता इसमे रहती है कि वे क्षण अपने स्थितिकालमें समग्र जीवन प्रतीत होते हैं और अभिव्यक्तिकी सार्थकता इसमें है कि वह उन समग्र क्षणोंकी समग्रताको अखण्डित और प्रभावान्वित अभिनिवेश देनेका प्रयास करती है। कलाकी कृत्रिमता भी इतनी सहज और नैसर्गिक रहती हे कि उसमें सहजताका ही बोध सम्भव होता है।

इस सम्बन्धमें यह भी स्मरण रखना होगा कि केवल आत्मनिष्ठता, स्वपरता और वैयक्तिकता ही गीतिकाव्यके लिए पर्याप्त कसौटी नहीं है; 'निराला'के 'तुलसीदास'में स्वानुभूतिका अभाव नहीं, 'आँसू'में स्वविवृति ही प्रधान है, किन्तु इनमें सीमित गीतिकाव्यात्मकता है। गीतिकाव्यके लिए गीतिकाव्यात्मक अनुभूति और भावनाकी अपेक्षा है, जो गीतिकाव्यात्मक विधानके माध्यमसे अभिव्यक्त होगी। एक विचार, एक अमिश्र अनुभूति और भावना अथवा एक सक्षिप्त स्थितिकी सगीतात्मक एव भावाविष्ट, अत सक्षिप्त अभिव्यक्ति गीतिकाव्यमें होती है। छन्दोंमे सगीततत्त्व है, किन्तु छन्दोंके अन्तर्निहित सगीतमे परिपुष्ट भावात्मक

संगीतात्मकतासे मण्डित गीतिकाव्यमें महत्त्वकी अखण्डता रहती है, यद्यपि तुकान्तहीन, छन्द-विमुक्त गीतिकाव्यकी कुछ रचनाएँ अत्यधिक आधुनिक कालमें आयी हैं। गीतिकाव्यमें मानवीय वृत्तियाँ अपनी सहज स्थितिमें अभिव्यक्त होती हैं, अत उनमें आन्तरिक सौन्दर्य-गठन और अन्तर्वेगकी तरलता रहती है, बौद्धिकताकी भावात्मक परिणतिमें भिन्न पाण्डित्यका बोझ इसके लिए असह्य होता है, इसे अन्तरकी आकुलता और वेदनाकी आर्द्रतासे सिंचित करना पडता है, सहज ही वशीकृत होनेवाली यह परिणीता नहीं है। —रा० खे० पा०

पाश्चात्य साहित्यके **लिरिक पोइट्री**के लिए हिन्दीमें गीतिकाव्य शब्द रूढ हो चला है, यद्यपि अब भी कुछ लोग इसके लिए **गीतकाव्य, प्रगीतमुक्तक** और **प्रगीतकाव्य** शब्दोंका भी व्यवहार करते हैं। परन्तु **गीत** (साग) शब्द **लिरिक**के पूर्वरूप और अब उसके एक भेदके लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि उसका यही अर्थ हमारी भाषाओंमें प्राचीन कालसे चला आया है, अत गीतकाव्य नाम भ्रामक है। **लिरिक**का एक बाह्य लक्षण उसकी पूर्वापर-प्रसग-निरपेक्षता अवश्य है और इस कारण वह मुक्तकके अन्तर्गत आ जाता है, परन्तु **मुक्तक** नामसे हम जिस काव्यरूपको जाननेके अभ्यस्त हो गये हैं उसकी प्रकृति और रूपरचना, दोनों लिरिकसे भिन्न हैं, अत उसे मुक्तकके एक भेदके रूपमें मानना उसकी महत्ताको घटाना है। (द्र०—'मुक्तक')। प्रगीत भी गीतिकी तरह नव-निर्मित शब्द है, परन्तु उसकी अपेक्षा गीति शब्दमें अधिक सुकरता जान पडती है। प्रगीत विशेषण है जिसे सम्पूर्ण अर्थ देनेके लिए 'मुक्तक' या 'काव्य' विशेष्यकी अपेक्षा रहती है और वह स्वय गौण रह जाता है, प्रधान शब्द 'मुक्तक', 'काव्य' रह जाते हैं, जिनमें पहला भिन्न अर्थका द्योतक है और दूसरा अत्यधिक सामान्य होनेसे अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है। कहीं-कहीं लिरिकका शाब्दिक अनुवाद **वैणिक** भी देखनेमें आया है, परन्तु 'लायर'से व्युत्पन्न लिरिक न जाने कबका उस वाद्ययन्त्रसे अपना नाता सदाके लिए छोडकर कहीं अधिक व्यापक अर्थमें रूढ हो गया है, तब वीणापर लायरके अर्थका आरोप करके उसमे वैणिक शब्द गढना हास्यास्पद-सा है, अत लिरिकके लिए गीति शब्द सबसे अधिक उपयुक्त है। इसी कारण उसका चलन भी अधिक व्यापक हो रहा है।

पाश्चात्य समीक्षामें गीतिकाव्यकी जो अनेक विशेषताएँ बतायी गयी हैं, उन्हें चार प्रमुख लक्षणोंमें बाँटा जा सकता है। ऐतिहासिक क्रमसे चलनेपर गीतिकाव्यका प्राथमिक लक्षण संगीतात्मकता है, परन्तु अपने विकास-क्रमसे यह संगीतात्मकता न केवल 'लायर' या अन्य वाद्ययन्त्रोंका सहारा छोड चुकी है, वरन् वह सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होती गयी है, यहाँतक कि अब वह गीतिके शब्दोंकी ध्वनिमें निहित स्वर-तालमें ही सीमित होती जाती है। इतनी संगीतात्मकता तो किसी भी काव्यके लिए अनिवार्य कही जा सकती है और गीति तो तीव्र भावावेग-पूर्ण काव्य है, परन्तु गेयता अब गीतिकाव्यका प्रधान लक्षण नहीं माना जाता, क्योंकि गेयताके इतने अधिक रूप और प्रकार हैं कि यह कहना असम्भव है कि गीतिकाव्यके लिए किस प्रकारकी गेयता अपेक्षित है, अन्य काव्यरूप भी किसी न-किसी मात्रामें गेय होते हैं। फिर भी आधुनिक गीतिकार शब्दोंके अन्तर्निहित ध्वनि-संगीतको जितना अधिक महत्त्व देते हैं उतना अन्य काव्यरूपोंमें रचना करनेवाला नहीं। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि कविका भावावेग जब उस कोटिका होता है कि उसकी अभिव्यक्ति गीतिके रूपमें हो, तब उसकी भाषामें लय और तालका नैसर्गिक संयोग हो जाता है। पहले गीतिकाव्यका एकमात्र लक्षण गेयता (वाद्ययन्त्रोंके साथ गेयता) थी, अब गेयता उसका सबसे प्रमुख लक्षण भी नहीं है। नि सन्देह यह उसका मूल लक्षण अवश्य है और अपने परिवर्तित अर्थमें उसका अनिवार्य लक्षण भी है।

अन्य काव्यरूपोंसे गीतिकाव्य जिस लक्षणके आधार-पर पृथक् पहचाना जाता है, वह है उसका आन्तरिक प्रगतिगत लक्षण, उसका अन्तर्मुखी दृष्टिकोण। गीतिकारकी दृष्टि अपेक्षाकृत सीमित, वैयक्तिक और आत्मनिष्ठ होती है। रस्किनके शब्दोंमें 'गीतिकाव्य कविकी निजी भावनाओंका प्रकाश होता है। सहजशुद्ध भाव, स्वच्छन्द कल्पना, तर्कवाद और न्यायमूलकतासे मुक्त विचार, ये ही गीतिकाव्य-की वास्तविक विशेषताएँ हैं।' गीतिकी संगीतात्मकता इसीका अनिवार्य परिणाम कही जा सकती है। ब्रूनेतियरने कहा है, 'गीतिकाव्यमें कवि भावानुकूल लयोंमें अपनी आत्मनिष्ठ वैयक्तिक भावना व्यक्त करता है।'

यों तो काव्यमात्र कविकी आत्माभिव्यक्ति है, परन्तु गीतिकाव्यकी वैयक्तिक आत्माभिव्यक्तिका तात्पर्य है कि वह अपरोक्ष होनेके साथ ही तीव्र भावात्मक होती है। आत्म-कथा, भले ही वह पद्यबद्ध हो, गीतिकाव्य नहीं हो सकती। गीतिकाव्य हृदयके उस गम्भीर भावावेशका परिणाम है, जो सहज उद्रेक और प्राकृतिक वेगके साथ नि सृत होता है। तीव्र भावापन्नताके कारण गीतिकाव्यमें काव्यका वह गुण सबसे अधिक विद्यमान रहता है, जिसके कारण उसे रसात्मक वाक्य (विश्वनाथ), सरल, ऐन्द्रिय और भावावेशपूर्ण (मिल्टन) और सबल भावोंका स्वत प्रवर्तित प्रवाह अथवा कल्पनाके द्वारा रुचिर मनोवेगोंका स्रष्टा (रस्किन) कहा गया है।

प्रारम्भमे गीतिकी आत्मनिष्ठ वैयक्तिकता समूहगत होती थी, उसका सीधा उद्देश्य जातीय जीवनका रजन था। उस समय गीति अधिकतर **समवेत (कोरिक)** गायनके लिए रचा जाता था। परन्तु आधुनिक कालमें यह काव्यरूप कभी-कभी अत्यन्त असामान्य और दुरधिगम्य भावनाओंका माध्यम बन गया है, परन्तु असाधारण व्यक्ति-वैचित्र्य और अभिव्यक्तिकी विलक्षणताके बावजूद गीतिकारका उद्देश्य घनिष्ठ और अनावृत आत्माभिव्यजन ही होता है। उसकी रचनाकी दुरूहता बहुत-कुछ अहपूर्ण, कुण्ठाग्रस्त व्यक्तित्वका परिणाम कही जा सकती है।

गीतिकाव्यकी स्वानुभूति-मूलकताके अन्तर्गत उन रचनाओंको भी सम्मिलित करना चाहिये जिनमें कविकी भावानुभूति भिन्न माध्यमसे व्यक्त हुई है। हिन्दीका विपुल वैष्णव भक्ति-काव्य, जिसमें कृष्ण या रामकी कथाओंके

विभिन्न पात्रोंके माध्यमसे कवियोने अत्यन्त घनिष्ठ आत्म-निवेदन किया है, सच्चे अर्थमें गीतिकाव्य ही है। आधुनिक कालके गीतिकाव्यसे भी इस पद्धतिके उदाहरण प्रचुर संख्यामें दिये जा सकते हैं। यह अवश्य है कि कृष्ण और राम-कथा सम्बन्धी गीतिकाव्यके प्रचुर परिमाणमें ऐसे उदाहरण भी हे जिनमें गीतिकी विशेषताएँ उत्कृष्ट रूपमें नहीं मिलतीं और इसका एक कारण माध्यमकी भिन्नता भी है, परन्तु यह बात तो कविकी व्यक्तिगत अनुभूतिसे सम्बन्ध रखती है कि उसकी रचनामें भावानुभूतिकी मात्रा किस कोटिकी है।

गीतिकाव्यमें नाटकीयता ओर कथनोपकथनका ढग भी कभी-कभी अपनाया जाता है, परन्तु इस पद्धतिमें भी वर्णनात्मकता या तार्किकता अवाछनीय है। नाटकीय शैलीके अन्तर्गत भी भावकी अभिव्यक्तिका आत्मनिष्ठ और वैयक्तिक रहना अनिवार्य है।

अन्तर्निहित संगीतात्मकता और तीव्र अनुभूतिपूर्ण स्वानुभूतिमूलकता, ये ही दो गीतिकाव्यके तात्त्विक लक्षण हैं, जो उसकी आत्मा कहे जा सकते है। उन्हींके परिणाम-स्वरूप गीतिमें सहज उद्रेक, नवोन्मेष, सद्य स्फूर्ति, स्वच्छन्दता, अनाटम्बर आदि विशेषताएँ आ जाती हैं। गीतिके इन्हीं आन्तरिक–प्रकृतिगत–गुणोंपर उसकी रूपगत अर्थात् आङ्गिक रचना-विधान सम्बन्धी विशेषताएँ आधारित हैं।

गीति रचनाकी प्रथम आवश्यकता यह है कि उसमें सवेगात्मक एकता या भाव-सकलन सुरक्षित रहे। उसमें किसी एक ही विचार, भाव या परिस्थितिका चित्रण सम्भव है। गीतिकी भावमूलक इकाई नाटकके कार्य-संकलनसे भिन्न है। भावको उद्दीप्त करनेवाली गीतिकी मूल प्रेरणा निरन्तर स्पष्टतया व्यक्त रहती है, भावका विकास उसीके द्वारा नियन्त्रित होता है, जब कि नाटकके कार्यकी प्रेरणा देनेवाला भाव या परिस्थिति कार्यमें घुल-मिलकर विलीन हो जाती है। दूसरे, गीतिका प्रारम्भ विना किसी भूमिकाके सहज उद्रेक और सद्य स्फूर्तिके रूपमें होता है। मूल प्रेरणासे उद्दीप्त भाव अत्यन्त अखण्डित, सुसंहत ढंगसे व्यक्त होता है, कोई अन्य भाव या विचार उसके सहज विकासमें बाधक नहीं हो सकता। अन्य भाव सञ्चारीके रूपमें उसे पुष्ट अवश्य कर सकते हैं, परन्तु उनके लिए गीतिके सीमित आकारमें बहुत कम गुन्जाइश होती है। गीतिका भाव-विकास ज्यों ही चरम सीमापर पहुँचता है, त्यों ही गीतिका अवसान हो जाता है। कभी-कभी श्रेष्ठ गीति भावोत्तेजनाके अन्तके पूर्व ही समाप्त होकर एक विशेष अपेक्षित प्रभाव छोड़ जाती है। इस प्रकार गीतिकी भाव-मूलक एकतामें उसके आकारकी लघुताका गुण भी निहित है। किसी एक तीव्र अनुभूत भावकी स्थिति अधिक देरतक विकासशील नहीं रह सकती। यदि उसे बढ़ाया जायगा तो उसमें पुनरुक्ति, उपदेशात्मकता, वर्णनात्मकता और परिणामस्वरूप प्रभावहीनता आ जायगी। कविकी आत्म-निष्ठ तीव्र भावानुभूति अखण्ट और सुसंहत रूपमें गीतिके लघु आकारमें ही सुरक्षित रह सकती है। प्रेरणा-प्राप्त सौन्दर्य-कल्पनासे प्रसूत गम्भीर मनोवेगकी अभिव्यक्तिमें गतिकी तीव्रता भी स्वाभाविक है, जो लम्बी रचनामें सम्भव नहीं है।

गीतिकी आङ्गिक रूप-रचनाके लिए कोई कठोर नियम नहीं निर्धारित किये जा सकते। स्वच्छन्दता गीतिकाव्यका आवश्यक लक्षण है, परन्तु भाव-सङ्कलन और भाव-विकास सम्बन्धी उपर्युक्त विशेषताके कारण गीतिकी अङ्ग-रचनाके सहज ही तीन अश हो जाते हैं। गीतिका प्रारम्भ भावको जागरित करनेवाली प्रेरणासे होता है, जो किसी सम्बोधनके रूपमें, भाव-प्रेरक परिस्थिति-विशेषके सङ्केत रूपमें अथवा भावोत्तेजना देनेवाले विचार, स्मरण आदिके कथनरूपमें व्यक्त की जा सकती है। यह अश अत्यन्त सक्षिप्त होता है और उसमें स्वत बौद्धिकता या तर्क वृत्ति नहीं होती, यद्यपि वह बोध-वृत्तिका आधार अवश्य होता है। गीतिके इस प्रथम अंशमें प्रेरक परिस्थिति, विचार, स्मृति, प्राकृतिक दृश्यके सङ्केत आदिके द्वारा कवि एक कुतूहल सा जगा देता है। गीतिके दूसरे अशमें उद्दीप्त भाव विकसित होता है, जब कि बोध-वृत्ति या तर्ककी सहायतासे भावकी तीव्रताको आवश्यकतानुसार अधिकाधिक वृद्धि दी जाती है। चरम सीमापर पहुँचकर गीतिका भाव तीसरे अंशमें, किसी स्थिर विचार, मानसिक दृष्टिकोण अथवा सङ्कल्पके रूपमें परिवर्तित होकर मनकी सामान्य स्थितिमें विलीन हो जाता है। इसीलिए गीति एक स्वत पूर्ण और प्रसग निरपेक्ष रचना है। उसमें व्यजना और सकेतकी प्रमुखता है। अभिनव गुप्तके शब्दोंमें पूर्वापर प्रसग-निरपेक्ष होनेपर भी उसके द्वारा रस-चर्वणा होती है, इस अर्थमें वह मुक्तक काव्य है।

गीतिकाव्यके सम्बन्धमें प्राचीनों—प्राच्य और पाश्चात्य दोनों—की धारणा ऊँची नहीं थी। सस्कृतमें उसे कोई स्थान ही नहीं दिया गया। यूनानी विचारक अरस्तूने उसका उल्लेखमात्र करके छोड़ दिया। इस उपेक्षाका कारण यह है कि गीति-कविकी दृष्टि, कहा जाता है, सापेक्ष होती है, वह पूर्ण सत्यका उद्घाटन करनेमें समर्थ नहीं होती। परन्तु वास्तवमें ऐसे गीति-कवियोंकी कमी नहीं है जिन्होंने विस्तृत जगत्पर दृष्टिपात किया है और गीतिके माध्यमसे महान् सत्योंकी उपलब्धि की है। गीति-तत्त्वोंके साथ उनकी रचनाओंमें नाटकत्व और महाकाव्यत्वके भी गुण मिलते है। सूरदास, मीरॉ, वर्ड्सवर्थ, शेली, रवीन्द्रनाथ, 'प्रसाद' आदि ऐसे ही कवि हो गये है। यह भी कहा गया है कि जब युगकी अन्तश्चेतनामें काम-वासनाकी प्रधानता होती है, तभी गीतिकाव्य फलता-फूलता है। यह कथन सत्य है, केवल इसमें जो लाछनका सकेत है, वही अनुचित है। काव्यमात्र तभी फलता-फूलता है जब युग-चेतनामें भाव-प्रवणताकी तीव्रता होती है। न विलासके वातावरणमे काव्यकी उन्नति होती है ओर न भौतिकतापूर्ण यान्त्रिक सभ्यता इसे पनपने देती है। प्रेमका व्यापक भाव ही तो काव्यका सबमे अधिक प्रिय भाव है, वही मानव-मनकी नाना वृत्तियोंका मूल उत्स है। विश्वके महान् गीतिकारोंने उसे उदात्त भूमिपर प्रतिष्ठित करके मनुष्यको पशु सामान्य स्थितिसे ऊपर उठाया है। गीति कवि उपदेश और आदर्शपूर्ण-चित्रण नहीं करता, वह व्यक्तित्वका अत्यन्त निश्छल उद्घाटन करता है। जीवनके व्यापारोंमें भी

हमारी दृष्टि व्यक्तिपर पड़ती है। गीति-कवि सहज ही हमारा आत्मीय बन जाता है। वह जन्मना कवि होता है, उसकी कृति ध्वनि-काव्य है। कमसे कम शब्दोंके सहारे लय और स्वर-तालकी अनन्त सगतियोंको मिलाकर वह हृदयकी विस्मृत भावनाओं और प्रसुप्त सस्कारोंको जगा देता है। उसमें विचारोंको भाव-सवलित करके क्रियाशील बना सकनेकी अद्भुत क्षमता होती है। उदात्त कल्पनाओंको उद्बुद्ध करके वह इतिवृत्तपूर्ण सासारिकतासे ऊपर उठानेकी शक्ति रखता है।

गीतिकाव्यके अनेक भेदोपभेद किये गये हैं—**गीत, भावगीति** और उसके अनेक रूप जिनमें **सम्बोध-गीति** प्रमुख है, **शोक-गीति, वर्ग-गीति या समाज-गीति राष्ट्रीय गीति** आदि। इन सबपर पृथक् विचार किया गया है। —व्र० व०

भारतमें गीतिका प्राचीनतम रूप सहिताओंमें प्राप्त होता है। यद्यपि वैदिक काल आर्योंके सामुदायिक योग क्षेमका काल है जिसमें व्यक्तिके लिए स्थान नहीं है, उसके अश्रु, हास, उल्लास, विषाद सभी सामूहिक रूप लिये हुए हैं, तथापि तद्युगीन व्यक्तिमें धार्मिक प्रेरणाओंसे सामुदायिक रागात्मक अनुभूति जागरित करनेके लिए यज्ञ तथा सस्कारादिके अवसरोंपर वेदोंको अघाति, तुनव, कन्थवीणा, नाद इत्यादि वाद्ययन्त्रोंके साथ सस्वर गानेकी प्रथा रही है। इस प्रकार वैदिक ऋचाओंके समवेत गायनमें उच्चारण, स्वर, लय, ताल तथा नाट्य-विधानकी कठोरताके कारण गीतिके सगीत-तत्त्वकी रक्षा तो अवश्य हो गयी, किन्तु कुछ प्राकृतिक दृश्योंके वर्णन, रूपक-कथाओं तथा सस्कार-विशेषके समयके भावाभिव्यजनको छोड़कर उसमें वैयक्तिक भावनाकी तरलता सुरक्षित नहीं है, अत वैदिक गीतमें गीतिका प्राथमिक गुण अवश्य पाया जाता है।

वैदिक कालकी अपेक्षा बौद्ध काल वैयक्तिक साधनाका काल है, अतएव उसमें वैयक्तिकता और आत्मनिष्ठताकी अधिक सम्भावना है, किन्तु नैतिक आचरण और धार्मिक उपदेशके आग्रहके कारण तत्कालीन साहित्यमें व्यक्तिके स्वाभाविक मनोरागोंकी अभिव्यक्तिके लिए स्वतन्त्र अवसर नहीं मिल पाया और विरक्तिमें निष्ठाके कारण सगीतात्मकता भी अक्षुण्ण नहीं रह सकी है। फलत पाली साहित्यमें गीतिकाव्यका अभाव ही है, यद्यपि **थेर** या **थेरी** गाथाओंकी बौद्ध भिक्षुणियोंकी आत्माभिव्यक्तिमें यत्र-तत्र गीत्यात्मकताका आभास मिल जाता है।

सस्कृतमें वाल्मीकि रामायण पाठ्यके साथ गेय भी कही गयी है, किन्तु उसके इतिवृत्तात्मक कलेवरमें गीतिकी सद्य-सजात भावना खोजनेपर ही मिलती है। दूतकाव्यकी परम्परामें कालिदासका मेघदूत कथात्मक होते हुए भी इतना व्यक्तिनिष्ठ और भावुकतापूर्ण है कि उसे गीतिकाव्यके निकट माना जा सकता है। वस्तुत सस्कृतमें गीतिकाव्यका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पीयूषवर्षी जयदेवका 'गीतगोविन्द' है, जिसमें एक ओर रागोंका शास्त्रीय विधान है और दूसरी ओर राधा-कृष्णकी विलास क्रीडाओंका ललित पदावलीमें चित्रात्मक वर्णन है। इस प्रकार यहाँ गीत और गीतिकाव्य एक-दूसरेके समानान्तर है।

हिन्दी साहित्यके आदिकालीन प्रबन्धकाव्यों तथा वीरगाथाओंमें भी गीतिकी प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इनमें रण और प्रणय, वीर और शृङ्गारके वर्णनोंमें उत्साह और रतिकी गेयात्मक अभिव्यजना हुई है, जिसमें छन्द-निहित गेयता भी है और हार्दिकता भी। इस दृष्टिसे चन्द वरदाईके 'पृथ्वीराजरासो'के 'कनवज्जसमय', 'बड़ी लड़ाईके समय' तथा नरपति नाल्हके 'बीसलदेवरास'के प्रबन्ध-में भी गीतिके तत्त्व पाये जा सकते है। जगनिकके वीरगीत 'आल्हखण्ड'में **लोकगाथा (बैलेड)**का स्वरूप सुरक्षित है, जिसमें लोकमानस सगीत और काव्यात्मकताके साथ सम्मुख आया है। डिंगल साहित्यमें पृथ्वीराजकी 'क्रिसन-रुक्मिणी-वेलि', कुशललाभके 'ढोलामारू रा दूहा' और नरोत्तमस्वामीके 'राजस्थान रा दूहा'में भी गीतिकी प्रकृतिका सम्मिलन है। वास्तवमें **लोकगाथा** गीति और प्रबन्धके सीमा-मिलनका काव्य-विधान है, अत उसमें दोनों काव्य-रूपोंके तत्त्व पाये जाते है।

मैथिल-कोकिल विद्यापतिके पदोंसे हिन्दीमें गीतिकी एक स्वतन्त्र परम्पराका प्रवर्तन होता है। यद्यपि उन्होंने जयदेवकी भाँति ही राधा-कृष्णका प्रेम अपनी पदावलीका विषय बनाया है, किन्तु उनके गीतिपदोंमें राधा-कृष्णका जो प्रणय, शिव-गगाकी जो भक्ति व्यक्त हुई है उसमें हृदय-की अनेक स्वाभाविक वृत्तियों तथा दशाओंका सुकुमार चित्रण है। विभिन्न रागोंके विधान और मानव-मनकी सौन्दर्यके प्रति लालसाकी जो आत्मनिष्ठ व्यंजना यहाँ द्रष्टव्य है उसके आधारपर विद्यापति हिन्दीके प्रथम गीतिकार कहे जा सकते है, जिनमें शब्द और स्वर अपने क्षेत्रोंमें व्यापक प्रभाव लिये हुए है। निर्गुणाश्रित अनुभव-मार्गी सन्त कवियों—कबीर, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास, दरिया साहब आदिके पदोंमें गीतकाव्यका अधिक उत्कृष्ट रूप उपलब्ध होता है। इन्होंने एक ओर धर्मोपदेशकके रूपमें व्यक्तिवादी सामाजिक उन्नयन, सघटन, ऐक्य, अभेद और सहानुभूतिकी भावनाओंके प्रचार, कर्मकाण्ड, मिथ्याडम्बर और पाखण्डके खण्डन, गुरु, सत्सग-सदाचार तथा मानव-धर्मकी स्थापनाके लिए प्रयत्न किया है, दूसरी ओर साधकके रूपमें 'पुहुपबासमे पातरे' निर्धर्मक निराकार ब्रह्मको 'प्रिय' मानकर अपनेको उसकी प्रिया स्वीकार किया है और दाम्पत्य भावकी प्रेम-साधनामें लीन होकर मिलन-विरहकी भावस्थितियोंके सजीव चित्र उपस्थित किये है। इस प्रकार उनके पदोंमें जहाँ-जहाँ स्पष्ट-वादिता, तीव्रता, व्यंग्य, आत्मविश्वास और दृढता है, वहीं उनमें आन्तरिक अवस्थाओंके स्वच्छ, मधुर और मर्मस्पर्शी आवेशमय चित्रण भी हैं। उन्होंने धार्मिक सत्योंके उद्घाटनमें रूपकों तथा उलटबाँसियोंमें गीतिकी ध्वनिप्रधान प्रतीकात्मक शैलीका प्रयोग किया है, किन्तु वैराग्य, ऐकान्तिक साधना, उपदेशके अतिरेक, भाषाकी अस्पष्टता, गहन लाक्षणिकता तथा खण्डनात्मक प्रवृत्तिके कारण उनमें गीतिकाव्यकी उन्मुक्त प्रेषणीयता, सहज ग्राह्यता तथा आशु प्रभावोत्पादकता अपेक्षाकृत कम आ पायी है। फिर भी सन्तोंकी इस पद-पद्धतिमें गीतिका सच्चा रूप पहली बार प्राप्त होता है, जिसमें सगीतसे काव्य कुछ खिंचा हुआ है।

वैष्णव भक्तकवियोंके कृष्णकाव्य और रामकाव्यमें गीतिकाव्यका सर्वोत्कृष्ट नैसर्गिक रूप मिलता है। इन्होंने निराकार ब्रह्मको भी नाम और रूपमय लीलावतारीके रूपमें प्रतिष्ठित किया है, जिसका साक्षात्कार लोकके बीच भी किया जा सकता है। कृष्णभक्त कवियोंने राधा-कृष्णके जिस रूप और रसपूर्ण पक्षको लीला-कीर्तनके लिए चुना उसका अपरिमित सौन्दर्य इन कवियोंको अतिशय संवेदनशील और भावुक बनानेके लिए पर्याप्त है। संवेदनशीलता और भावुकता गीतरचनाके लिए प्राथमिक उपादान हैं। इसके अतिरिक्त दैन्य, हास्य, वात्सल्य, सख्य, कान्ताभक्तिका अनुसरण करनेके कारण इनके काव्यमें करुणापूर्ण आत्मनिवेदन, मातृत्व, मैत्री, रति-भावका जो सहजोद्रेक मिलता है उसमें गीतिकी आत्मा सहज रूपमें देखी जा सकती है। ये कवि यद्यपि प्राय गोपी, गोप, यशोदा, राधा-कृष्ण, कुब्जा आदि पात्रोंके माध्यमसे भावाभिव्यक्ति करते हैं, परन्तु उसमें भी तन्मयता और भावशीलताके कारण सद्य स्फूर्ति, आत्मीयता तथा नवीनता आ गयी है। पात्रोंका सुख दुख, हास-रुदन, संयोग-वियोग जैसे उनका ही बन गया है, यहाँतक कि प्रकृति भी उन्हींके मनोरागोंकी सहचरी है। भजन या कीर्तनके लिए गाये जानेके कारण उनके ये पद सङ्गीतमय भी हैं। इस प्रकार ब्रजभाषाके मधुर गायक सूरके विनय, मुरली-माधुरी, रासलीला भ्रमरगीत आदिके पदों तथा परमानन्ददास, नन्ददास, हितहरिवंश आदिके पदोंमें गीतिकी प्रगीतात्मकता पूर्ण रूपसे सुरक्षित है। सूरका 'भ्रमरगीत' विरहव्यथा, व्यंग्य और विनोदपूर्ण **उपालम्भ-गीति**का अन्यतम उदाहरण है। तुलसीदासकी 'गीतावली', 'श्रीकृष्ण गीतावली' और विशेष रूपसे 'विनय-पत्रिका'में गीत्यात्मकता साकार हो गयी है। इस प्रकार **भक्तिकाल**के प्रगीतोंमें अनलंकृत संक्षिप्त अर्थाभिव्यक्ति तथा शास्त्रीय सङ्गीत-विधान दोनों उच्च स्तरपर विद्यमान हैं।

रीतिकालमें चमत्कार-चातुर्य, अलंकरण-आधिक्य और अवसरोपयुक्त उक्ति-वैचित्र्यके कारण मुक्तक काव्यका ही प्रणयन हुआ, गीतिकाव्यकी रचनाके लिए अवकाश नहीं मिल पाया।

आधुनिक काल अपेक्षाकृत व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, अतीत-गौरवके प्रति आस्था तथा राष्ट्रीय जागरणका काल है, जो गीतिकाव्य-धाराके प्रसारके लिए अत्यन्त उपयुक्त है। अत भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने एक ओर विद्यापति, चण्डीदास, सूर, तुलसी, मीराँकी परम्परामें राधा-कृष्णके आलम्बन लेकर ब्रजभाषामें भक्तिपूर्ण स्फुट पद और 'चन्द्रावली'में गीत लिखे हैं, दूसरी ओर राष्ट्रीयतापरक कविताओंकी भी रचना की है। परन्तु वस्तुत राष्ट्रीय गीतोंकी परम्परा श्रीधर पाठकने प्रारम्भ की। उन्होंने भारत-स्तवन तथा राष्ट्र प्रेमके गीतोंकी रचना की है। इसके पश्चात् द्विवेदी-युग देश-प्रेम, नीतिपरक आचार-शीलता, इतिवृत्तात्मकता और भाषा-परिष्करणका युग है। अत इस युगकी कविता समाज-सेवा, पुरातनप्रेम, सामाजिक व्यंग्य एव सुधारकी भावनाओंसे पूर्ण है। महावीरप्रसाद द्विवेदीकी 'विधि-विडम्बना', नाथूराम शङ्कर शर्माकी 'पञ्च-पुकार', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'के 'अहिंसा-संग्राम', 'कविराजसे सम्बोधन', मैथिलीशरण गुप्तके 'सुकवि-कीर्तन', 'स्वर्ण-सहोदर', 'स्वर्ण-सङ्गीत', मन्नन द्विवेदीकी 'चमेली', रामचरित उपाध्यायके 'कन्हैया', 'नौकरशाही', माधव शुक्ल तथा मुकुटधर पाण्डेयकी स्फुट कविताएँ इसके उदाहरण हैं। किन्तु विषयकी एकरूपता, अभिव्यक्तिकी स्थूलता, वर्णनात्मकता और भाषाकी रूक्षताके कारण इनमें भावार्हता और व्यञ्जकता नहीं है, जिसके कारण ये रचनाएँ **पद्य-निबन्ध** होकर रह गयी हैं। इस युगके प्रतिक्रियास्वरूप **छायावाद** और **रहस्यवाद**का युग आता है, जिसकी गीति-शैलीपर एक ओर लावनी, कजली, दादरा, बिरहा आदि लोकप्रसिद्ध लोक-गीतोंका प्रभाव है और दूसरी ओर इंग्लैण्डके रोमांसिक युगकी 'लिरिक'-शैलीकी छाप है। इस प्रकार छायावाद-युगीन गीतिकाव्यमें भावकी दृष्टिसे आध्यात्मिक मिलन-विरह, संसारकी नित्यता-अनित्यता, जीवन-दर्शन, लौकिक प्रणय, प्रकृतिमें मानवीय भावोंका प्रक्षेपण, उसमें दिव्यानुभूति, वैयक्तिक आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, राष्ट्रीयता, निम्न वर्गोंके प्रति करुणा आदिकी व्यंजना हुई है और कलाकी दृष्टिसे चित्रोपम ध्वन्यात्मक भाषा, स्वच्छन्द छन्दोयोजना, सारोपा और साध्यवसाना लक्षणाके विस्तार, सुकुमार कल्पना, मूर्तका अमूर्त और अमूर्तका मूर्त-विधान, विशेषण-विपर्यय, समासोक्ति और अर्थान्तरन्यासकी शैली जिसकी विशेषता है। इस युगमे गीतिके विविध कलात्मक रूप प्रस्तुत हुए हे। 'निराला'के 'परिमल', 'गीतिका', 'प्रसाद'के 'झरना', 'लहर', पन्तके 'गुञ्जन', 'पल्लव', महादेवीके 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत', 'दीपशिखा', रामकुमार वर्माके 'चित्ररेखा', 'आकाशगङ्गा', बच्चनके 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर', सियारामशरणके 'दूर्वादल', 'दूरागत गान' मैथिलीशरण गुप्तके 'झङ्कार', सुभद्राकुमारी चौहानके 'कलह-हरण', रामनाथ सुमनके 'अपने कलेजेका तूफान', गोपालशरण सिंहके 'कादम्बिनी', दिनकरके 'द्वन्द्वगीत', 'रसवन्ती', 'दिगम्बरि', नवीनके 'नगे-भूखोंका यह गाना', भारतीय आत्माके 'अपने सपूतसे', रायकृष्णदासके 'साधना', वियोगी हरिके 'तरङ्गिणी', 'अन्तर्नाद'में **अध्यान्तरिक भावगीति**, 'निराला'के 'बनबेला', 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'खजोहरा', बच्चनके 'वृद्ध जगको अखरनेवाले वासना गीत'में सामाजिक **व्यंग्यगीति**, 'प्रसाद'के 'आँसू', प्रभातके 'कलेजेके टुकड़े', दिनकरके 'नयी दिल्ली', कामताप्रसाद गुरुके 'ग्रामीण विलाप'में **शोक-गीति**, 'प्रसाद'के 'हिमाद्रि तुंगशृङ्ग'वाले **अभियानगीत** तथा चन्द्रगुप्तकी कार्नेलियाके **राष्ट्र-गीत**, 'निराला'के **प्रभाती** और **उद्बोधनगीत** तथा सोहनलाल द्विवेदीके **अभियान-गीत, राष्ट्रीय गीत**, दिनकरकी 'बोधिसत्व', 'हिमालयके प्रति', पन्तकी 'परिवर्तन' नामक कविताओंमें **राष्ट्रगीत** और **वीरगीत**, मैथिलीशरण गुप्तकी 'पत्रावली', द्वारकाप्रसाद गुप्त रसिकेन्द्रकी **पत्रगीति**, जनार्दनप्रसाद झा द्विजके 'टूटा हियहार'में '**पत्रगीति**', 'निराला'की 'यमुनाके प्रति', भगवतीचरण वर्माकी 'नूरजहाँकी कब्रपर', 'नववधू', पन्तकी 'छाया', दिनकरकी 'बालिकासे वधू', रामकुमार वर्माकी 'नूरजहाँ', दिनकरकी 'समाधिके दीपसे', 'निर्झरिणी'में

सम्बोधगीति, 'प्रसाद'के 'करुणालय', 'महाराणाका महत्त्व', पन्तकी 'ज्योत्स्ना', 'निराला'के 'पंचवटीप्रसंग', उदयशंकर भट्टकी 'मत्स्यगन्धा', भगवतीचरण वर्माकी 'तारा', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'के 'नवर्त्त', मैथिलीशरण गुप्तके 'लीला', 'अनघ' और सियारामशरणकी 'कृष्णा'में गीति नाट्यका विकास परिलक्षित है। इसके अतिरिक्त अँग्रेजीकी सानेट-पद्धतिपर प्रभाकर माचवे और बालकृष्णरावकी चतुर्दशपदियाँ भी गीतिप्रधान हैं। इस प्रकार छायावादी गीतिकाव्यमें स्वाभाविक भावुकताके साथ छन्दगत संगीत ही प्राप्त होता है, उसका शास्त्रीय रूप पृथक् हो गया है।

प्रगतिवाद छायावादकी प्रतिक्रियाके स्वरूप आया। अत इस युगकी कविताओंमें सामाजिक विषमताके प्रति विद्रोह, साम्यवादके प्रति आग्रह, शोषक पूँजीवादी प्रथाके नाश, शोषित किसान-मजदूरोंके प्रति सहानुभूति, ईश्वरके प्रति क्षोभ, अन्तरराष्ट्रीयता, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा इतिहासकी अर्थमूलक व्याख्याके प्रति श्रद्धा, जीवनकी स्थूल समस्याओंके समाधानकी चेष्टा, प्राचीन रूढियोंके प्रति क्रान्ति, यौन-आकर्षण, ऐन्द्रियता, मानवप्रेम आदिकी भावनाएं व्यक्त हुई है। अभिव्यक्तिमें स्पष्टता, सरलता और भाषाका अभिधाप्रधान रूप ही अधिक प्रस्तुत हुआ है। पन्तके 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', अचलके 'मधूलिका', 'अपराजिता', शिवमङ्गल सिंहके 'जीवनके गाने', 'लाल सेनाके प्रति', नरेन्द्रके 'शूल-फूल', 'कर्णफूल', दिनकरकी 'सामधेनी', गोपालशरण सिंहकी 'मानवी', श्रीमन्नारायणके 'रोटीका राग'में इसके उदाहरण प्राप्त हैं। प्रगतिवादमें गीतिकी संगीतात्मकता प्राय खोनेको है और काव्यत्व भी मन्द है।

प्रयोगवादी कविताके विषय वर्ग-चेतना, सामाजिक वैषम्यों-से उद्‌भूत, गुम्फित और जटिल संवेदनाएँ, पुरातन आदर्शोंकी अस्वीकृति, आदर्श जीवनकी वास्तविकताको बन्धन मानना, नारीके कायिक सौन्दर्यके प्रति लालसा, छन्द-हीनता, पूर्ण प्रतिष्ठित काव्यादर्शोंमें अविश्वास, जीवनकी कुहेलिकामें नये प्रतिमान-अन्वेषणकी प्रवृत्ति आदि देखी जाती है, जिसमें कवि अछूते नवीन विषयोंपर लिखनेके लिए आतुर है और साम्यके लिए खोज-खोजकर नये उपमान लानेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार प्रयोगवादी गीतिकाव्य सचेष्ट काव्यके अन्तर्गत आता है, जिसमें भाषा, भाव-व्यंजनाके नये-नये प्रयोग देखनेको मिलते हैं, फलतः अभी वे लोक-मानसकी वस्तु नहीं बन पा रहे है। 'तारसप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक', अज्ञेयके 'बावरा अहेरी', धर्मवीर भारतीके 'ठंडा लोहा', जगदीश गुप्तके 'नावके पाँव' तथा रामधारी सिंह 'दिनकर'के 'नील कमल'में यह प्रवृत्ति प्रकट हुई है। —वि० रा०

गीति-नाट्य—गीति-नाट्योंके आधुनिक रूपका, जिसकी भाषा गीतात्मक है, सर्वप्रथम सन् १९५४ में जन्म हुआ था, जब कि रिन्यूसिनी-लिखित डेफ्नेको यूनानी दु खान्त नाटकोंको पुनरुज्जीवित करनेके उद्देश्यसे रंगमंचपर प्रस्तुत किया गया था। अत पहले गीति-नाट्य संगीतपूर्ण दु खान्त नाट्यके रूपमें होता था। विषय भी यूनानी पौराणिक कथाओंसे लिये जाते थे। इन गीति-नाट्योंमें संगीत, चित्रकारी, गीत-रचना, नृत्याभिनय, मंच-प्रचना इत्यादि कलाओंके संयोजनसे प्रेक्षकोंपर मोहक प्रभाव-सृष्टि की जाती थी। १९वीं शताब्दीतक यूरोपीय देशोंके सामन्त-समाजोंमें इसकी अधिक धूम रही। इसके पश्चात् सर्वसाधारणमें भी यह लोकप्रिय होने लगा। फ्रान्समें गीति-नाट्योंकी बडी उन्नति हुई। वहाँ इनमें यथार्थवादी प्रवृत्तियोंका समावेश हुआ तथा इनके अनेक रूप प्रचलित हुए। इनमें सुखान्त और दु खान्त, भावात्मक एव यथार्थवादी—सभी प्रकारके विषय उठाये गये। गीति-नाट्यके अंग हैं—१ प्रस्तावना, २ कथा, ३ संवादाभिनय, ४ गीत, ५ नर्तन। इसमें सारी कथा गीतोंके माध्यमसे प्रस्तुत की जाती है। इसकी दो शैलियाँ हैं—प्रथम, मूक अभिनयात्मक, दूसरी संवादात्मक। प्रथममें एक दल-विशेष वाद्य-यन्त्रोंकी सहायतासे भावयुक्त एव संवादात्मक गीत गाता है और दूसरा दल उन गीतोंकी अनुरूप भूमिकामें गीतके भावोंके अनुरूप अभिनय करता है। भारतमें इस प्रकारके गीति-नाट्योंका प्रचार महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने अपने शान्ति-निकेतनमें किया था। उनका 'चाण्डालिका' नामक गीति-नाट्य रंगपीठपर बडी सफलता पा चुका है। दूसरी शैलीमें गीति-नाट्य वे है जिनमें केवल पद्य-संवादमात्र रहते हैं। संवादके अतिरिक्त जितना कथा-भाग है, उसे या तो गायक-मण्डली गीत द्वारा व्यक्त करती है अथवा एक भावनटी या भावनट आकर कथा-भागको नृत्य द्वारा प्रस्तुत करता है। अत गीति-नाट्योंके प्रदर्शन-विधानमें तीन दल होते हैं—१ अभिनेता, २. भावनट या भावनटी वा कथाभिनेता, ३ गायक-वादक-मण्डलीके दो दल, जिनमेंसे एक पात्र प्रतिनिधि होता है और दूसरा समवेत गायक। —श्या० मो० श्री०

गुँडुरी—दे०—'हठयोग'।

गुजराती—गुजरात प्रदेशकी भाषा। गुजराती शब्द गुजरातसे बना है। गुजरातकी व्युत्पत्तिके बारेमें कई मत हैं, परन्तु सर्वमान्य व्युत्पत्ति आज यह मानी जाती है—गुर्जर+त्रा=गुर्जरत्रा > गुज्जरत्ता > गुजरात। आठवीं शताब्दीसे दसवीं शताब्दीतकके उत्कीर्ण लेखोंमें गुर्जरत्रा-मण्डल, गुर्जरत्रा-भूमि, गुज्जरत्ता आदि शब्द मिलते हैं। प्रसिद्ध अरब यात्री अल्बरूनी(ई० ९७०–१०३०)ने 'गुज्रात' शब्दका और दो अन्य अरब यात्री अबुजैद (ई० ९१६) और अलमसूदी(ई० ९४३)ने क्रमश गुर्जर और गुजरात शब्दोंका प्रयोग किया है।

ऐसा माना गया है कि शक-कुलकी गुर्जर नामकी एक जाति पाँचवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धसे छठी शताब्दीके पहले दशकतकके समयमें दक्षिण पंजाबसे राजपूतानेकी ओर गयी थी। वहाँसे यह जाति धीरे-धीरे नर्मदा नदीके आस-पासके और सौराष्ट्रके प्रदेशोंमें भी फैल गयी थी। चीनके प्रसिद्ध यात्री हुएनत्सांगकी यात्राके समय इन गुर्जरोंकी राजधानी राजपूतानेमें भिन्नमालमें थी। मुसलमानोंके आक्रमणके कारण दसवीं शताब्दीके मध्यमें गुर्जरोंको भिन्नमाल छोड़ना पड़ा और वे आजके गुजरातके उत्तरभागमें आकर रहने लगे। इस भूमिमें गुर्जरोंको आश्रय मिला इसलिए इसको गुर्जरत्रा भूमि कहने लगे।

गुजराती भाषाके लिए केवल गुजराती शब्दका ही

प्रयोग मिलता है, दूसरा कोई पर्याय प्रचलित नहीं है। परन्तु प्राचीन कालमें इसी भाषाको अपभ्रंश, गुर्जर भाषा, अपभ्रंश गिरा, प्राकृत या भाषा कहा जाता था।

सत्रहवीं शताब्दीमें हुए रसकवि प्रेमानन्दने (१६४९–१७१४ई०)पहले-पहल अपने काव्य 'दशमस्कन्ध'में गुजराती शब्दका प्रयोग अपनी भाषाके लिए किया—'भाषु नागदमण गुजराती भाषा।' इसके बाद ई० १७३१ में जर्मनीके मुख्य नगर बर्लिनके एक लाइब्रेरियन ला कोझने अपने एक लेखमें गुजराती भाषाका उल्लेख किया है। उसके बाद तो धीरे-धीरे गुजराती शब्द व्यवहारमें आने लगा और आज वही एक शब्द प्रचलित है।

गुजराती भाषाकी उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंशसे हुई है। ई० १००० से लेकर आजतकका इसका क्रमश विकास भाषाकी दृष्टिसे जितना सुस्पष्ट है उतना अन्य किसी भारतीय आर्य-भाषाका नहीं है। प्रत्येक शतककी भाषाके नमूने प्राप्त हैं। अर्वाचीन गुजरातीके मूल किस शताब्दीतक देखे जा सकते हैं, इस विषयमें मतैक्य नहीं है, फिर भी इन हजार वर्षोंको निम्नलिखित प्रकारसे सुविधापूर्वक बाँटा जा सकता है—१ गौर्जर अपभ्रंश अथवा प्राचीन गुजराती—

क प्रथम भूमिक, बारहवीं शताब्दीतक।
ख द्वितीय भूमिक, चौदहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धतक।

२ गुर्जर भाषा अथवा मध्यकालीन गुजराती—

क प्रथम भूमिक,	शुद्ध,	लगभग	१३५० से १४२५ ई०
ख द्वितीय ,,	मिश्र,	,,	१४२५ से १५०० ,,
ग तृतीय ,,	शुद्ध	,,	१५०० से १५७५ ,,
घ चतुर्थ ,,	मिश्र	,,	१५७५ से १६५० ,,

३ अर्वाचीन गुजराती—

क प्रथम भूमिक लगभग १६५० से १८२५ ई० तक।
ख द्वितीय ,, ,, १८२५ ई०से आजतक।

इस वर्गीकरणके सम्बन्धमें मतभेद भाषा-स्वरूपके बारेमें नहीं है, बल्कि समय-विशेषकी भाषाके नामकरणके सम्बन्धमें ही है। संक्षेपमें कह सकते हैं कि ईसवीके ग्यारहवें शतकतक अपभ्रंश भाषा प्रचलित थी। उसके बाद दो सौ वर्षतक अपभ्रंश और पुरानी गुजरातीका अन्तराल-रूप रहा। इस रूपको कुछ लोग अन्तिम अपभ्रंश या गौर्जर अपभ्रंश कहते हैं। उसके बाद उस भाषाका उद्भव हुआ, जिसे टेसिटोरी प्राचीन पश्चिम राजस्थानी (O W R) कहते हैं। सत्रहवीं शताब्दीके मध्यसे अर्वाचीन गुजरातीके चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

आज गुजरात प्रदेशकी सीमा उत्तरमें कच्छ और मेवाड़-मारवाड़तक, दक्षिणमें बम्बईके थाना जिलेतक, पश्चिममें अरब समुद्रतक और पूर्वमें मालवा खानदेशतक सामान्यत मानी जाती है। गुजराती जिन प्रदेशोंमें बोली जाती है, उनका क्षेत्रफल ७,१०,०७२ वर्गमील है। एक करोड़ साठ लाख लोग गुजराती भाषा बोलते हैं। गुजराती लिपि देवनागरीका ही एक रूप है। उसने देवनागरीकी शिरोरेखाके बन्धनसे अपनेको मुक्त कर लिया है और कुछ अक्षरोंकी आकृतियाँ बदल दी हैं।

गुजरातीमें विवृत ॲ और ऑका प्रयोग अच्छी तरह होता है। लिखनेमें वह बताया नहीं जाता, मगर बोलनेमें खास ध्यान रखना चाहिये। मों, बेठो, छे, गोर, कोयल आदि शब्दोंमें विवृत ॲ ऑ हैं।

गुजरातीमें कण्ठ्य ह्के उपरान्त औरस्य ह्का प्रयोग भी कभी-कभी होता है—उदाहरण, ब्रह्मण, आह्वान। यहाँ ह् ध्वनि छातीमेंसे निकाली जाती है। कुछ तद्भव शब्दोंमें भी यह ह् ध्वनि थोड़ी सी मात्रामें सुनाई पड़ती है। अमे, तमे, ज्यारे, त्यारे आदि शब्दोंमें यह ह् ध्वनि सुनाई पड़ती है। इसे ह् श्रुति कहते हैं।

इसी प्रकार कुछ शब्दोंमें य् ध्वनि भी थोड़ी-सी सुनाई पड़ती है। जैसे, आसको आस्य, लावको लाव्य, दोरड़ुको दोयड़ु लोग बोल देते हैं। इसे य-श्रुति कहते हैं।

गुजरातीमें कोमल चन्द्रबिन्दु(ँ)का लिखनेमें उपयोग नहीं होता है,परन्तु उच्चारणमें बराबर ध्यान रखा जाता है।

गुजरातीमें कहीं-कहीं च्, छ्, ज्, झ्के उच्चारण प्राकृतसे आये हैं, किन्तु साहित्यिक एव सरकारी भाषामें शुद्ध तालव्य उच्चारण ही होता है।

ज्ञका उच्चारण गुजरातीमें ग्न होता है। इस प्रकार ज्ञानको गुजरातीमें ग्यान नहीं ग्नान बोला जाता है।

गुजरातीमें स्वराघात(accent)का तत्त्व सूक्ष्म तोरपर देखा जा सकता है। यह स्वराघात द्विविध है। शब्दमें वह
। । ।
वर्ण या वर्णोंके ऊपर होता है। जैसे घर, मेज, कबाट,
। । । ।
घरबार, खावरावणु।

गुजरातीमें अनेक शब्दोंके अन्त्यवर्ण त्वरितोच्चार्य होते
। । ।
हैं, जैसे रमन्, शाक्, गाम्। उसका कारण कदाचित् यह है कि इन वर्णोंपर स्वरभार नहीं आता है।

गुजराती स्वराघातका द्वितीय स्वरूप है—वाक्य अन्वयानुसार शब्दपर स्वरभार लगता है। कवि न्हानालालने अपने अनोखे काव्य छन्द, डोलन छन्दमें इसका पूरा उपयोग किया है।

गुजरातीमें प्रयुक्त फारसी अक्षरोंके नीचे न बिन्दी लगायी जाती है और न उनका उच्चारण फारसी उच्चारणकी तरह होता है। ड और ढके नीचे भी बिन्दी नहीं लगायी जाती।

गुजरातीमें पूर्ण विरामकी जगह अँग्रेजीकी तरह छोटी बिन्दी ( ) रखी जाती है। खड़ी पाई (।)का उपयोग नहीं होता। अन्य विराम-चिह्न हिन्दी जैसे ही हे।

गुजरातीमें प्रत्यय शब्दके साथ ही लगते हैं। मात्राएँ हिन्दीकी तरह लगायी जाती हैं।

गुजरातीमें सस्कृतकी तरह तीन लिंग हैं। नपुसकलिंगको नान्येतर जाति कहते हैं। सामान्यतया ओकारान्त शब्द पुल्लिंग, इकारान्त शब्द स्त्रीलिंग और उकारान्त शब्द नपुंसकलिंगके होते हैं।

गुजरातीमें सामान्यत ओ लगानेसे एकवचनका बहुवचन होता है। दो ही वचन हैं।

गुजरातीमें हिन्दीके सर्वनामोंके उपरान्त एक अन्योन्यवाचक सर्वनाम भी चलता हे।

हिन्दी और गुजरातीमे सज्ञा और विशेषणमें कुछ

नामोंके सिवा साम्य ही है।

गुजरातीकी क्रियाएँ, कृदन्त तथा काल हिन्दीकी तरह ही हैं। अव्यय भी हिन्दीकी तरह हैं। सब जगह नामकरणमें भेद है।

प्राचीन गुजराती साहित्य—तेरहवीं शताब्दी ईसवीके मुख्य ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—शालिभद्र सूरिकृत 'भरतेश्वर बहुबलिरास', विजयसेन सूरिकृत 'रेवन्तगिरि रासु'; विनयचन्द्र सूरिकृत 'नेमिनाथ चतुष्पादिका' आदि। इस समयके गद्य-लेख भी मिलते हैं।

चौदहवीं शताब्दी ईसवीके मुख्य ग्रन्थ हैं—जिनधर-कृत, 'कछूली रास', राजशेखरकृत 'नेमिनाथ फागु', किसी अज्ञात कविकृत 'वसन्त विलास फागु', जैनेतरकवि असाइत-कृत 'हंसाउली', श्रीधर व्यास-कृत 'रणमल छन्द' आदि।

पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवीके मुख्य ग्रन्थ—जयशेखरकृत 'प्रबोध-चिन्तामणि', अब्दुर्रहमानकृत 'सन्देश रासक', माणिक्यचन्द्र सूरिकृत 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र', भालण-कृत 'कादम्बरी', पद्मनाभकृत 'कान्हडदे प्रबन्ध' इत्यादि।

कविवर नरसिंह मेहताकी कृतियाँ, 'शामलदासनो विवाह', 'राससहस्त्रपदी', 'शृंगारमाला', 'चातुरीओ', 'हिंडोलाना पदो', 'वसन्तना पदो', 'सुदामाचरित्र' आदि इसी शतकमें लिखी गयी हैं।

सोलहवीं शताब्दी ईसवीमें मीराँ, नाकर, उद्धव, विष्णुदास आदि अनेक कवियोंके ग्रन्थ मिलते हैं।

इस प्रकार प्राचीन गुजरातीमें रास, फागु, कथा, कथानक, चरित्र, चतुष्पादिका आदि अनेक जैनकाव्य-स्वरूप और आख्यान, कथा, बारहमासी, पद, गरबी आदि अनेक ब्राह्मणकाव्य-स्वरूप मिलते हैं।

मध्यकालीन गुजराती साहित्य—इस युगको प्रेमानन्द-युग कहा जा सकता है। सत्रहवीं शताब्दीमें हुए इस रससिद्ध कविकी कीर्ति गुजराती साहित्यमें स्थायी है। अपने आख्यानोंमें उसने नवों रसोंका सफल चित्रण किया है। यह कवि सौ फीसदी गुजरातीपनसे भरा था और उसकी कृतियाँ गुजरातियोंको जैसा आनन्द देती रही हैं वैसा आनन्द उस युगके किसी कविकी कृतियोंके द्वारा नहीं मिल सकता है। इस युगका दूसरा वेदान्ती कवि अखा है। कबीरकी वाणीकी तरह अखाकी वाणी भी हृदयपर सीधा असर करती है। उसके छप्पे आज भी गुजरातमें घर-घरकी कहावतें बन गये हैं। उसकी 'अखेगीता' में चिन्तन और साधनाकी परिपक्वता मिलती है। अखाकी रचनाएँ सामान्यतः दार्शनिक हैं।

इस युगके कवि शामलने पद्यमें कहानियाँ लिखी हैं। इन पद्य-कथाओंका औपन्यासिक रस आज भी पढ़नेवालोंको मुग्ध कर लेता है।

बादके कवियोंमें प्रीतम, धीरो और भोजो उल्लेखनीय हैं। इनके पद और भजन आज भी बहुत लोकप्रिय हैं।

इस युगका अन्तिम महान् कवि दयाराम है। गरबी साहित्यका वह चक्रवर्ती सम्राट् माना जाता है। वह पुष्टिमार्गी था और मुख्यतः शृंगार रसका कवि था। गुजरातकी नारियाँ आज भी दयारामकी गरबियाँ गाकर रास खेलनेमें धन्यता अनुभव करती हैं।

अर्वाचीन गुजराती साहित्य—अर्वाचीन गुजराती साहित्यकारोंमें आद्य हैं वीर नर्मद। अँग्रेजोंका शासन शुरू हो गया था। अँग्रेजी शिक्षा शुरू हो गयी थी। चारों ओर सुधारका वातावरण था। गुजरातीमें मुद्रण शुरू हो गया था। गुजरातीका पहला समाचारपत्र 'मुंबई समाचार' १० जून, १८२२ ई०से मोबेद फरदुनजी मर्जबानने प्रकाशित करना शुरू किया था। नर्मदने कॉलेजमें अध्ययन भी किया था। उस जमानेमें इस सरस्वती-पुत्रने प्रतिज्ञा की थी कि कलमके द्वारा जो धन मिले उसने ही जीवन-निर्वाह करना है। उसकी कविताने लाखोंको मुग्ध किया, उसके गद्यने लाखोंको प्रेरणा दी। वह प्रेमशौर्यका कवि था। नर्मदने कोशकी भी रचना की थी।

नर्मदके समकालीन कवीश्वर दलपतरामको भी हम नहीं भूल सकते। गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी, आजकी गुजरात विद्यासभाकी स्थापनामें फार्बस साहबको उनसे ही विशेष सहायता मिली थी। इस सभाने गुजराती साहित्यकी अत्यन्त सेवा की है और आज भी यह इस कार्यमें संलग्न है।

आधुनिक गुजरातीके सर्वप्रथम आलोचक नवलराम पण्ड्या भी इसी युगमें पैदा हुए थे। गुजरातीका पहला प्रमुख उपन्यास लिखनेवाले नन्दशङ्कर मेहता, प्रार्थना समाजके संस्थापक भोलानाथ साराभाई, सुधारक महीपतराम नीलकण्ठ, विदेश जानेवाले पहले गुजराती करसनदास मूलजी, वैज्ञानिक भगवानलाल इन्द्रजी और ऐसे अनेक महान् व्यक्तित्व इसी युगकी देन हैं।

१८८७ ई०में गुजरातीके श्रेष्ठ उपन्यास 'सरस्वती चन्द्र'-का पहला भाग प्रकाशित हुआ। इस उपन्यासके लेखक साक्षरवर्य गोवर्धनराम त्रिपाठी १९०५ ई० में पहली गुजराती साहित्य परिषद्के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। गुजराती गद्य-शक्तिका इतना शक्तिपूर्ण प्रस्फुटन उनके पहले कभी नहीं हुआ था। यह युग पण्डित-युगके नामसे गुजरातीमें प्रसिद्ध है। गोवर्धनराम त्रिपाठी, नरसिंह राम दिवेटिया, मणिलाल नभुभाई, रमणभाई नीलकण्ठ, केशव हर्षद ध्रुव, आनन्दशङ्कर ध्रुव, कवि कान्त, कवि द० क० ठा०, अहमदाबाद साहित्य सभा तथा गुजराती साहित्य परिषद् आदिके प्रथम संयोजक रणजीत राम, ये सब ऐसे दिग्गज पण्डित थे जो किसी भी साहित्यके लिए गौरवपूर्ण व्यक्तित्व माने जा सकते हैं। गुजराती साहित्य इन्हें पाकर धन्य हुआ है।

बादका श्रेष्ठ व्यक्तित्व है कवि नानालालका। गुजराती कविताको जिस विकास-शिखरपर वे ले गये उससे आगे अबतक कोई नहीं ले जा सका है। नानालाल गुजरातके रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। उनके गीत और रास सदा लोकप्रिय रहेंगे।

इसके बादका युग गान्धी-मुन्शी-युगके नामसे प्रख्यात है। महात्मा गान्धी जैसा व्यक्तित्व गुजराती साहित्यको और दूसरा कौन मिल सकता था। उन्होंने स्वयं तथा उनके शिष्य गान्धीवादी लेखकोंने गुजराती साहित्यका अत्यन्त उपकार किया। उसी समय उपन्यास-सम्राट् कन्हैयालाल मा० मुन्शीने अपने उपन्यासों, नाटकों, कहानियों, लेखों द्वारा गुजराती अस्मिताको जाग्रत किया। इनके बाद आज

गुजरातीसाहित्य सभी क्षेत्रोंमें प्रगति कर रहा है। उपन्यास, कहानी, नाटक, एकाकी, कविता, चिन्तन, आत्मकथा, जीवनी, निवन्ध, आलोचना, पत्रकारिता सभी क्षेत्रोंमें गुजराती साहित्य समृद्ध हो रहा है। लोकसाहित्यमें मेघाणीजीने अभूतपूर्व कार्य किया है।

राष्ट्रभाषा हिन्दीके साथ गुजरातीका विशेष सम्बन्ध है। दोनों एक माताकी—शौरसेनी अपभ्रंशकी—पुत्रियाँ हैं। प्रारम्भसे दोनोंपर एक-दूसरेका प्रभाव पड़ा है। व्रजभाषाका प्रचार गुजरातमें काफी था। गुजरातके अनेक वैष्णव कवियोंने व्रजभाषामें रचनाएँ की हैं। भुज, कच्छमें व्रज-भाषाकी वहुत वडी पाठशाला थी, जहाँ उत्तरभारतसे भी लोग पढनेके लिए आते थे। हिन्दीके सुप्रसिद्ध कवि गोविन्द गिलाभाई सौराष्ट्रके शिहोर गाँवके थे। लल्लूजीलाल गुजराती थे। गुजराती कवि दयारामने सैकड़ों रचनाएँ व्रजभाषामें की हैं। आजके नवोदित कवि-लेखक गुजरातीके साथ-साथ हिन्दीमें भी कविताएँ, कहानियाँ तथा उपन्यास आदि लिख रहे हैं।

हिन्दीको राष्ट्रभाषाका पद दिलानेमें अहिन्दी-भाषियोंका प्रमुख हाथ रहा है। उसमें भी गुजरातका हाथ कम नहीं है। स्वामी दयानन्द और महात्मा गान्धीके नामोंके उल्लेख इस सम्बन्धमें पर्याप्त होंगे। राष्ट्रभाषा-प्रचारके क्षेत्रमें तथा राष्ट्रभाषाकी परीक्षाओंमें भी सबसे वड़ी सख्या गुजरातियों-की है।

साहित्यके प्रवाहोंको देखें तो भी विलक्षण साम्य नजर आता है। वीरगाथाकाल तथा भक्तिकालमें जैसी रचनाएँ हिन्दीमें मिलती हैं वैसी गुजरातीमें भी मिलती हैं। रीति-कालका गुजरातीमें अभाव है। भारतेन्दु-मण्डलीने जो काम जिस समय किया, वही काम उसी समय नर्मद-मण्डली-ने किया। आधुनिक कवितामें हिन्दीमें जिन वादोंकी कविताएँ लिखी गयी हैं, उन वादोंकी कविताएँ गुजरातीमें भी लिखी गयी हैं, यद्यपि गुजराती कवितामें वादोंके लेवल कभी नहीं लगे।

गुजराती शब्द-समूह और हिन्दीके ७५ प्रतिशत शब्द-समूहमें समानता है। खड़ीबोलीमेंसे व्रजभाषाके तथा अपभ्रंशके शब्द अब हटते जा रहे हैं, किन्तु ऐसे शब्द गुजरातीमें हैं। —ज० त्रि०

गुड़—योग-साधनामें सोमरस या मदिरा बनानेका एक साधन—'अमृत दाखी भाठी भरिया ता मधै गुड झकोल्या' (गोरखवानी) यहाँ गुड़का अर्थ सुरति माना जाता है। कबीरने गुरुके शब्दको भी गुड माना है—'कवीर गुड़की गमि नहीं पाहण दिया बनाइ। सिप सोधी विन सेविया पारि न पहुँच्या जाइ॥' (कबीरग्रन्थावली)। —उ० शं० शा०

गुण—शब्दार्थ है विशेषता, शोभाकारी या आकर्षक धर्म, दोषाभाव। (काव्यशास्त्रके अन्तर्गत) दोषाभाव, दोषका वैपरीत्य, काव्यकी शोभा करनेवाले धर्म (वामन), रसरूप अंगीके आश्रित रहनेवाले (आनन्दवर्धन), रसरूप अंगीके धर्म तथा रसके उत्कर्षके कारणरूप धर्म (मम्मट)।

भरत(४ श० ई०)के अनुसार दोषका विपर्यय काव्यमें गुण माना जाता है—'एत एव विपर्यस्ता गुणा काव्येषु कीर्तिता' (नाट्य० १७ ९५)। इस प्रकार उन्होंने इसे अभावात्मक तत्त्व माना है। विपर्ययके सम्बन्धमें मतभेद है। कोई इसका अर्थ दोषका अभाव करता है, कोई अन्यथाभाव और कोई विपरीतभाव। अभिनव गुप्त(१०, ११ श० ई०)ने अभावके अर्थमें ही ग्रहण किया है, परन्तु भरतके गुणोंके लक्षणोंसे स्पष्ट है कि कुछ गुणोंको छोड़कर अन्य सभी भावात्मक हैं। दण्डी(७ श० ई०)की अलकारों-की व्यापक परिभाषा 'काव्यशोभाकरान्'के अन्तर्गत गुणका अन्तर्भाव हो जाता है। सामान्य अलंकारोंपर विचार करते समय उन्होंने 'काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ता' (काव्यादर्श २ ३) कहकर जिन पूर्वमार्गोंका निर्देश किया है वे गुण ही हैं। वामन (९ श० ई० मध्य) गुणके प्रतिष्ठाता आचार्य हैं। उनके अनुसार 'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा।' (३ १ १), अर्थात् गुण काव्य-मूल शोभा(सौन्दर्य)के तत्त्व हैं। गुण शब्द और अर्थके धर्म हैं और काव्यके लिए अनिवार्य हैं। ध्वनि-सिद्धान्त निरूपित हो जानेके उपरान्त गुणका अर्थ निर्दोषताके रूपमें ग्रहण किया गया। आनन्दवर्धन(९ श० ई०)ने गुणोंके स्वतन्त्र अस्तित्वको नहीं माना, रसाश्रित स्वीकार किया है। मम्मट(१२ श० ई०)ने इन्हींका अनुसरण किया है—'ये रसस्यागिनो धर्मा', अर्थात् रसके अगरूप धर्म गुण हैं, जो 'उत्कर्षहेतवस्ते' उनके उत्कर्षके कारण हैं (का० प्र० ८ ६६)। विश्वनाथ (१४ श० ई० पूर्वा०) तथा अन्य आचार्योंने मम्मटका अनुसरण किया है। जगन्नाथ(१७, १८ श० ई०)ने रसको काव्यकी आत्मा मानकर उसे गुण-शून्य कहा है और गुण शब्दार्थका धर्म माना है। परन्तु अभावात्मक या निषेधात्मक रूपमें गुणका स्पष्टीकरण नहीं होता। गुण तो निश्चय रूपसे भावात्मक हैं। अत गुणके प्रसगमें विपर्ययका अर्थ है दोषका वैपरीत्य। काव्यकी शोभाको सम्पादित करनेवाले या काव्यकी आत्माको प्रकाशित करनेवाले तत्त्व या विशेषता गुण हैं। ये गुण शब्द और अर्थके धर्म हैं। ये वर्णसंघटन, शब्दयोजना, शब्दचमत्कार, शब्दप्रभाव और अर्थकी दीप्तिपर आश्रित हैं।

गुणोंकी सख्याके सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतवैषम्य है। भरतमुनिने गुणोंकी संख्या दस मानी है। उनके द्वारा प्रतिपादित दस गुण हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति। आचार्य दण्डीने भी ये ही दस गुण माने हैं, परन्तु दण्डीकी धारणा समाधि, क्रान्ति आदि कुछ गुणोंके सम्बन्धमें भरतसे भिन्न है। आचार्य वामनने भी दस गुण ही माने हैं, परन्तु प्रत्येक गुणके दो भेद, शब्दगुण और अर्थगुणके रूपमें कर दिये हैं। इस प्रकार दोनों प्रकारके भेदोंको मिलाकर वीस गुण हुए। भोजने गुणोंकी संख्या चौवीस मानी, जो वाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक भेदोंमें कुल वहत्तर होते हैं। वाह्य अधिकाश शब्दगुण, आभ्यन्तर अर्थगुण हैं। वैशेषिक गुण ऐसे दोष हैं जो विशेष प्रसगमें गुण वन जाते हैं। वाह्य तथा आभ्यन्तरमें पूर्वकथित दस भेदोंके अतिरिक्त भोजके नये चौदह भेद हैं—उदाहरण, ओजस्व, प्रेयस्, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तार, सक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति, प्रौढि।

अग्निपुराणमें अठारह गुण माने गये हैं, जो शब्दगुण,

अर्थगुण और उभयगुणोंमें विभक्त हैं। छ शब्दगुण हैं—श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, औदार्य, ओजस्। अर्थगुण हैं—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि, सामयिकता। उभयगुण हैं—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्राशस्त्य, पाक, राग। आगेके आचार्योंने इस संख्यामें कमी करना ही उचित समझा। आचार्य कुन्तकने गुणका नितान्त भिन्न विवेचन किया। उन्होंने दो अनिवार्य सामान्य गुण माने, जो हैं—औचित्य और सौभाग्य। इसके अतिरिक्त चार विशिष्ट गुण माने, जो हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। आनन्दवर्धनाचार्यने रसके धर्मरूपमें गुणको माना और इस प्रकार चित्तकी तीन अवस्थाओं—द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्वके आधारपर केवल तीन गुणों माधुर्य, ओज और प्रसादको स्वीकार किया। वामनके द्वारा दस गुण इन्हीं तीन गुणोंके भीतर समाविष्ट सिद्ध किये गये। मम्मटने दस गुणोंका खण्डन कर तीन गुणोंको सिद्ध किया।

हिन्दीके आचार्योंने प्राय मम्मट और विश्वनाथका अनुसरण कर तीन गुणोंको ही मान्यता प्रदान की है। चिन्तामणिने 'कविकुलकल्पतरु'(१६५० ई०)में तीन गुणोंके अन्तर्गत अन्योंका अन्तर्भाव माना है। चिन्तामणि माधुर्यको कवित्वका मूल मानते हैं। उन्होंने वामन तथा मम्मट, दोनोंके विवेचनको आत्मसात् किया है। कुलपतिने 'रसरहस्य'(१६७० ई०)में रीतिके मूल तत्त्वरूप गुणका वर्णन किया है। मम्मटका 'काव्यप्रकाश' इनका मुख्य आधार है। २० गुणोंमें इन्होंने भी तीनकी स्थापना की है, कुछ अन्तर्भाव हो जाते हैं, कुछ दोष-भावमात्र हैं और कुछ दोषरूप ही। देवने 'काव्यरसायन'(१७०३ ई०)में मम्मटसे पहलेके आचार्योंका अनुसरण किया है। देवने १० गुणोंको स्वीकार किया है और उनमें यमक तथा अनुप्रासको मिलाकर संख्या १२ कर दी है। दासने 'काव्यनिर्णय'(१७४६ ई०)में परम्परासे कुछ भिन्न अर्थमें गुणका भाव ग्रहण किया है। दासके अनुसार 'त्यों विदग्ध हियमें रहैं, दस गुन सहज स्वभाव' (१९), अर्थात् गुण सहृदयके हृदयमें स्वभावरूपमें अवस्थित रहते हैं (स्थायी भावके समान)। उनका दस गुणोंका विभाजन परम्परासे अलग है—अक्षरगुण—माधुर्य, ओज, प्रसाद, दोषाभावरूप—समता, कान्ति और उदारता, अर्थगुण—अर्थव्यक्ति और समाधि, वाक्यगुण—श्लेष और पुनरुक्तिप्रकाश। दासने यह अन्तिम गुण सौकुमार्यके स्थानपर रखा है। आधुनिक कालमें कन्हैयालाल पोद्दार तथा रामदहिन मिश्र आदिने संस्कृत-परम्पराका अनुसरण किया है। इनके अतिरिक्त रामचन्द्र शुक्लने गुणको रसाश्रित माना है और श्यामसुन्दर दासने शैलीके अन्तर्गत माना है। और इसके सम्पूर्ण विवेचनसे यह स्पष्ट ही है कि इनके माध्यमसे आचार्योंने विभिन्न शैलियोंपर विचार किया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वस्तु (content) तथा अभिव्यक्ति (expression)के सम्बन्धपर प्राचीन समयसे विचार होता आया है।

१ माधुर्य—माधुर्यका शब्दार्थ है मधुर होनेकी विशेषता, मिठास, रोचकता। काव्यगुणके प्रसंगमें माधुर्य शब्दका अर्थ विभिन्न विद्वानोंने भिन्न-भिन्न रूपमें ग्रहण किया है। भरतने श्रुतिमधुरताको माना है (नाट्य० १७ १०१)। दण्डीके अनुसार माधुर्यका तात्पर्य है रसमयता, रससे सम्पन्नता। यह माधुर्य शब्दगत रूपमें श्रुत्यनुप्रास और अर्थगत रूपमें अग्राम्यताका अर्थ रखता है। अत माधुर्यका अर्थ सरसता, शिष्टता एवं सुसंस्कृतता है। वामनके मतानुसार पदोंकी पृथक्ताका अर्थ है समासरहित होना। इसमें दीर्घ समासताका निषेध होता है। अर्थगुणके रूपमें माधुर्यका अर्थ है उक्तिवैचित्र्य (काव्य० सूत्र० वृ० ३ १ २१। ३ . २ . ११)। ध्वनिवादी आचार्य माधुर्यका दूसरा ही अर्थ करते हैं। सहृदयोंको द्रवित करनेवाला गुण माधुर्य है। मम्मटने माना है कि आह्लादकता और शृंगार रसमें द्रवित करनेकी विशेषता ही माधुर्य है (का० प्र० : ८ . ६८)। इस प्रकार माधुर्यका अर्थ हुआ श्रुतिसुखदता, समासरहितता, उक्तिवैचित्र्य, आर्द्रता, चित्तको द्रवित करनेकी विशेषता, भावमयता, आह्लादता।

साहित्यदर्पणकारके मतसे ट ठ ड ढको छोड़कर क से लेकर म तकके वर्ण तथा मूर्धन्य वर्ण और अन्त्य वर्णोंके प्रयोगसे माधुर्य गुणका सम्पादन होता है। इस प्रकारका वर्णप्रयोग सयोग, करुण, वियोग और शान्त रसोंमें क्रमसे आधिक्यके साथ पोषक होता है (सा० द० ८ २,३)। इस प्रकारकी रचना समासरहित या अल्पसमास होनी चाहिये, तभी माधुर्य गुणयुक्त कही जा सकती है।

हिन्दीके आचार्योंमें चिन्तामणि माधुर्यको 'चित्तकी द्रुति' कहते हैं, विश्वनाथके अनुसार रसोंमें उसका प्रयोग मानते हैं। कुलपति आदिने मम्मटका अनुसरण किया है। देवने माधुर्यकी परिभाषा दण्डीसे ली है। दासने विश्वनाथके अनुसार टवर्गहीन सम्पूर्ण वर्गके मृदु अक्षरोंके प्रयोगको माना है। उदा०—'निरख सखी ये खंजन-आये। फेरे उन मेरे रंजनने इधर नयन मन भाये।' (साकेत)।

२ ओज—ओजका शाब्दिक अर्थ है तेज, प्रताप, दीप्ति। काव्यके अन्तर्गत जो गुण सुननेवालेके मनमें उत्साह, वीरता, आवेग आदि जाग्रत् करनेकी क्षमता रखता हो वह ओज कहलाता है। भरतके अनुसार अनेक तथा विभिन्न प्रकारके समस्त पदोंवाली अर्थ-गाम्भीर्यकी श्रवणसुखद शैली (नाट्य० : १७ - १०२)। दण्डीके विचारसे समासयुक्त पदोंकी बहुलतासे ओज गुण सम्पन्न होता है। ओज गुणका प्रयोग वैदर्भ मार्गके गद्य तथा गौडीय मार्गके पद्य और गद्य, दोनोंमें होता है। वामनके अनुसार रचनाका गाढत्व अर्थात् अवयवों या अक्षरविन्यासका सश्लिष्टत्व, संयुक्ताक्षरोंका संयोग, ओज गुणके लिए आवश्यक होता है (काव्य० सू० वृ० : ३ : १ · ५)। अर्थगुणके रूपमें अर्थकी प्रौढ़ता अर्थात् संयत, संक्षिप्त शब्दोंमें अधिक भाव या अर्थकी अभिव्यक्ति ओज गुणका लक्षण है (वही : ३ . २ . २)। ध्वनिके अनुयायी आचार्योंके मतसे चित्तका विस्तारक या चित्तका दीप्तिकारक गुण ओज है। इसकी स्थिति वीर रस, वीभत्स रस और रौद्र रसमें क्रमश अधिक मानी गयी है अर्थात् सामाजिकका हृदय वीर रसकी अपेक्षा वीभत्स रसमें और वीभत्स रसकी अपेक्षा रौद्र रसमें अधिक धधक उठा करता है (का० प्र० ८ · ६९, ७०)। इसके लिए वर्गोंके आद्य और तृतीय वर्णोंकी संयुक्ताक्षरता, ट ठ ड ढ श ष आदिका प्रयोग, दीर्घ समास और उद्धतपदसंघटना आवश्यक

होती है। इस प्रकार ओजमें उदात्त भाव तथा कर्कश, क्लिष्ट वर्ण-सघटन और संयुक्ताक्षरोंका प्रयोग होता है (सा० द० ८ ४,६)।

चिन्तामणिने ओजको दीप्तिका कारण कहा है। देवका लक्षण प्राय दण्डीके आधारपर है। अन्योंने मम्मटसे प्रेरणा ग्रहण की है। दासने 'साहित्यदर्पण'के अनुसार उद्धत अक्षरोंके वर्णविन्यासका यह गुण माना है। उदा०—'मारहिं चपेटन्हि डाटि दातन्ह काटि लातन्ह मीजहीं। चिक्करहिं मर्कट भालु छलबल करहिं जेहिं खल छीजहीं।' (रा० च० मा० ६ . ८१)। साहित्यमें वीर रसमें इसका प्रयोग हुआ, अत हिन्दी वीरकाव्यमें इस गुणका विशेष प्रयोग है।

२ प्रसाद—प्रसादका शब्दिक अर्थ तो है प्रसन्नता, खिल जाना या विकसित हो जाना। भरतके अनुसार जिसमें स्वच्छता, सरलता और सहजग्राह्यता हो, अर्थात् सुनते ही अर्थ समझमें आ जाय, प्रसादगुण कहलाता है (नाट्य० : १७ ९८)। दण्डीके मतानुसार प्रसिद्ध अर्थोंमें शब्दका ऐसा प्रयोग जिससे सुनते ही अर्थ समझमें आ जाय, प्रसाद है। वामनने प्रसादमें शैथिल्यकी विशेषता मानी है और यह बन्ध गाढत्वरूप ओज गुणका विरोधी है (काव्य० सू० वृ० ३ १ ६)। प्रसाद गुणकी यह शिथिलता दोषरूपिणी नहीं है, वरन् ओजकी तुलनामें स्पष्ट करनेसे यह उसकी विशेषता प्रकट होती है (वही ३ २ ३)। ध्वनिके अनुयायी आचार्योंके मतानुसार सभी रसों और सभी रचनाओंमें ऐसा धर्म जो कि सामाजिकके हृदयमें भाव या अर्थकी शीघ्र व्याप्ति कर दे, प्रसाद गुण है। जैसे सूखे इन्धनमें अग्नि और जैसे स्वच्छ वस्त्रमें जल तुरन्त फैल जाता है, उसी प्रकार चित्तको रसोंमें और रचनामें जो तुरन्त व्याप्त कर दे वह गुण प्रसाद है (का० प्र० ८ ७० ७१)। इस प्रकार प्रसाद गुण वहाँ होता है जहाँ सरल, सहज भावव्यजक शब्दावलीका प्रयोग किया जाता है। अर्थकी निर्मलता या स्वच्छता इसकी विशेषता है। यह सभी रसोंमें व्याप्त रहता है।

हिन्दीके आचार्योंने प्राय मम्मट तथा विश्वनाथका अनुसरण किया है। चिन्तामणिके अनुसार प्रसाद गुणमें अक्षरोंमें अर्थ इस प्रकार व्यक्त रहता है जिस प्रकार सूखे ईंधनमें अग्नि और जलमें तरलता। कुलपतिने रचनारूपमें माना है। देवके लक्षणका आधार प्राय दण्डी हैं। दासके अनुसार—'मन रोचक अच्छर परें, सो है सिथिल शरीर। गुन प्रसाद जलसूक्ति ज्यों, प्रघटै अरथ गँभीर।' (का० नि० १९)। उदा०—'वह आता, दो टूक कलेजेके करता, पछताता पथपर आता।' (निराला भिखारी)। सभी युगोंके श्रेष्ठ कवियोंने इसका प्रयोग किया है।

४ श्लेष—श्लेषका शब्दार्थ है मेल या जोड़। अनेक शब्दों, अर्थों या वर्णोंका एकमें सघटन (भरत नाट्य० १७ ९७)। यह दण्डी, वामन आदि आचार्योंके द्वारा ही काव्यगुण माना गया है। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि इसे पृथक् गुणके रूपमें स्वीकार नहीं करते हैं, वरन् ओजमें ही इसे समाविष्ट कर लेते हैं। लक्षणकी दृष्टिसे दण्डी और वामनकी शब्दावलीमें भी भिन्नता है। दण्डीके अनुसार गाढबन्धता अर्थात् रचनाका सघन सघटन श्लेष है। महाप्राण वर्णोंके द्वारा भी यह विशेपता सम्पादित होती है। वामनके अनुसार गाढबन्धता ओजका गुण है। श्लेषमें घटनाकी विशेषता होती है (काव्य० सू० वृ० ३ २ ४)। क्रम अर्थात् अनेक क्रियाओंकी परम्परा, कौटिल्य, अनुल्वणत्व या प्रसिद्ध वर्णनशैली और युक्तिविन्यासका योग घटना कहलाता है। अत श्लेष गुणमें इन सभीका योग रहता है। जिसमें अनेक पद एक पदके समान भासित होते हैं, ऐसी आभायुक्त रचनाकी विशेषता श्लेष कहलाती है। यह सन्धिसौष्ठव और मसृणत्व ओज गुणमें समाहित माना गया है। श्लेष गुण श्लेषालकारसे भिन्न है। वामन और दण्डीके श्लेष, समाधि और उदारता ओजके अन्तर्गत आ जाते हैं। मम्मट तथा विश्वनाथने इसके गुणत्वका खण्डन किया है।

हिन्दीके प्रमुख आचार्योंमें देव और भिखारीदासने इस गुणको स्वीकार किया है, यद्यपि उन्होंने भी तीन प्रमुख गुणोंका उल्लेख किया है। दासके अनुसार बहुतसे शब्दोंके अर्थको समझानेके लिए उन्हें एक सूत्रमें आबद्ध करते हुए 'समास' किया जाना यह गुण है। उदा०—'लखि लखि सखि सारस नयन, इन्दु वदन घनस्याम। बिज्जु हास दारिम दसन बिंबाधर अभिराम' (का० नि० १९)। भिखारीदासने समासके आधारपर इसके दीरघ, मध्यम तथा लघु भेद किये हैं। इस गुणका प्रयोग सूर, तुलसी, जायसी आदि महाकवियोंने सफलतासे किया है। आधुनिक कालमें इसका प्रयोग कम होता जा रहा है।

५ समता—समताका शब्दार्थ है समान, तुल्य या एक-सा होनेका भाव। भरतके अनुसार जहाँ रचनामें अधिक असमस्त कठिन तथा व्यर्थ पद न हों (नाट्य० १७ ९९)। दण्डीके अनुसार बन्धों या रचनाओंकी एकरूपता समता है। बन्ध(रचना)के तीन प्रकार हैं, (क) मृदु बन्ध, जिसमें अल्पप्राण अक्षरोंकी प्रचुरता रहती है, (ख) स्फुट बन्ध, जिसमें कर्कश वर्णोंकी बहुलता रहती है, (ग) मध्यम बन्ध, जिसमें दोनों प्रकारके वर्णोंका मिश्रण रहता है। समतामें दोनोंका सम्मिश्रण रहता है और औचित्यके साथ एकरस प्रयोग होता है। यह वैदर्भ मार्गकी विशेषता है। वामनके मतसे मार्ग या रचनाशैलीका अभेद अर्थात् प्रारम्भसे अन्ततक एकरूपता समता है (काव्य० सू० वृ० ३ १ १२)। समता अवैषम्य है। जिस शैलीमें रचनाका प्रारम्भ किया जाय, अन्ततक उसी शैलीका निर्वाह समता गुणकी विशेषता है (वही ३ २ ५)। जिसमें प्रक्रममें भेद न हो तथा सुगमता हो, वह गुण समता है। वामनके अनुसार यह अर्थगुण है। ध्वनिके अनुयायी आचार्योंके मतानुसार यह समताका गुण प्रसादके अन्तर्गत समाहित हो जाता है (मम्मट तथा विश्वनाथ आदि)। हिन्दीमें भी प्राय ऐसा ही हुआ है, देव तथा दासने इसका वर्णन किया है—'प्राचीननकी रीति सौं, भिन्न रीति ठहराइ।' (का० नि० १९)। उदा०—'मेरे दृग कुवलयनको, होत निमा सानन्द। सदा रहैं ब्रज देस पै, उदित साँवरो चद।' (वही वही)।

६ सुकुमारता—सुकुमारताका शब्दार्थ है कोमलता।

काव्यके अन्तर्गत इस गुणका समावेश वहाँ होता है जहाँ रचनाके अन्तर्गत परुष अर्थात् कर्णकटु कठोर वर्णोंका परिहार तथा कोमल वर्णोंकी योजना होती है और इस प्रकार कोमलताके साथ सुकुमार भावनाकी अभिव्यंजना की जाती है। (भरत : नाट्य० . १७ . १०३)। इस गुणके प्रसंगमें दण्डी और वामनका लगभग एक समान ही मत है। दण्डीके विचारसे 'अनिष्ठुराक्षरप्राय सुकुमारमिहेष्यते' अर्थात् अपरुष अक्षरोंकी योजनासे सुकुमार गुण आता है। यह दीप्तत्व गुणका विपर्यय है। वामनने भी रचनाकी अजरठता या अपरुषताको सौकुमार्य माना है—'अजरठत्व सौकुमार्यम्' या 'अपारुष्य सौकुमार्यम्' (काव्य० सू० वृ० : ३ . १ . २२ । ३ २ १२) इस प्रकार परुषताका उलटा सुकुमारता है। जिसमें कठोरताका अभाव हो, वह रचना सुकुमारताके गुणसे युक्त मानी जाती है। यह सुकुमारता वैदर्भी रीतिकी विशेषता मानी गयी है। सुकुमारताके गुणको ध्वनिवादी आचार्योंने माधुर्य गुणमें समावेश कर लिया है (मम्मटादिने)। हिन्दीके आचार्योंने इसको स्वतन्त्र नहीं माना है। देवने इसका स्वतन्त्र विवेचन दण्डीके आधारपर किया है। दासने इसके स्थानपर पुनरुक्तिप्रकाशको रखा है। सम्भवत· उन्होंने इसके अलग अस्तित्वको स्वीकार नहीं किया अथवा इसके विशिष्ट गुणको पुनरुक्तिप्रकाशमें स्वीकार किया है।

७ **अर्थव्यक्ति**—अर्थव्यक्तिका शब्दार्थ है अर्थका प्रकाशन। जहाँपर शब्दों और पदोंके द्वारा समग्र अर्थकी (लोक-वस्तुओंकी) पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाय, वहाँपर अर्थव्यक्तिका गुण माना गया है (भरत . नाट्य० : १७ . १०४)। दण्डीके मतानुसार 'अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य', जिन पदोंके द्वारा अर्थ उद्दिष्ट अभिप्रायसे अन्यत्र न जा सके, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है। दण्डीने इसे वैदर्भ और गौड, दोनों ही मार्गोंकी विशेषताके रूपमें ग्रहण किया है। इसमें शब्दोंके नपे-तुले प्रयोगकी विशेषताकी महत्ता है। अभिप्राय-की सिद्धिके लिए जितने शब्दोंकी आवश्यकता होती है, उतने ही शब्दोंका प्रयोग, न उतनेसे कम और न अधिक, इसमें वाञ्छनीय है। वामनके विचारसे शब्दगुणके रूपमें अर्थकी स्पष्ट प्रतीतिके हेतुस्वरूप (अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्ति काव्य० सू० वृ० . ३ · १ २४) तथा अर्थगुणके रूपमें वस्तु और भावोंके स्वभावकी स्फुटता अर्थव्यक्ति होती है (वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्ति । वही ३ · २ १४)। इस प्रकार अर्थव्यक्ति गुणके सम्बन्धमें मतभेद नहीं है। ध्वनिवादी आचार्योंके विचारसे यह अर्थव्यक्ति प्रसाद गुणके अन्तर्गत समाविष्ट हो जाती है। हिन्दीमें देवने इसके लक्षणमें प्राय दण्डीका अनुसरण किया है। दासने इस प्रकार लक्षण दिया है—'जासु अरथ अति ही प्रगट, वह नहिं समास अधिकाइ। अर्थ 'व्यक्तगुन' बात त्यों, बोलें सहज सुभाइ।' उदाहरण भी स्पष्ट है—'इक टक हरि राधे लखें, राधे हरिकी ओर। दोऊ आँनन इन्दु औ, चार्यों नैन चकोर।' (का० नि० १९)।

८ **उदारता**—इसका तात्पर्य है व्यापकता, उत्कर्ष, असंकीर्णता, प्रभावात्मकता। जिसके होनेसे प्रतिपाद्य अर्थमें उत्कर्षकी प्रतीति हो, वह औदार्य गुण है। भरतके अनुसार किसी रचनामें अलौकिक चरित्रोंका शृङ्गार तथा अद्भुत रसका उनसे सम्बद्ध अनेक अवस्थाओंमें वर्णन होना (नाट्य० · १७ १०५)। दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में लिखा है—'उत्कर्षवान् गुण कश्चित उक्ते यस्मिन् प्रतीयते। तदुदाराह्वय तेन सनाथा काव्यपद्धति।' जिस गुणके द्वारा उक्तिविशेष खिल जाती है, वह उदारताका गुण है। वामनके विचारसे रचनाका विकटत्व, जिसमें पदावली नाचती सी जान पडती है, शब्दगत उदारता (विकटत्वमुदारता : काव्य० सू० वृ० . ३ . १ : २३) और जिसमें ग्राम्यत्वका अभाव हो, वह अर्थगत उदारता (अग्राम्यत्वमुदारता · वही : ३ . २ . १३) है। इस गुणके अन्तर्गत प्राजल, सुष्ठु, सस्कृत शब्दावलीका प्रयोग अर्थके उत्कर्षके लिए होता है। कतिपय आचार्योंके विचारमें मनोरम, ललित एव मजुल विशेषणोंका प्रयोग इस गुणम होना चाहिये। इसका अन्तर्भाव माधुर्य गुणके भीतर माना गया है (मम्मट आदिके द्वारा)। हिन्दीके आचार्योंमें देवने–'जाहि सुनत ही ओजको दूर होत उत्कर्ष' (शब्दरसायन) इसका लक्षण दिया है। स्पष्ट ही 'जाहि सुनत' तथा 'उत्कर्ष' दण्डीके शब्द हैं, पर ओजके उत्कर्षके दूर होनेकी बात देवकी अपनी है। दासने 'औरोंको समझनेमें कठिन होते हुए भी जो अन्वय केवल चतुरोंकी समझमें सरलतासे आ जाय' माना है। उदा०—'कँदन अनेकन विघनके, एकरदन गनराइ। वन्दन सुत वन्दन करौ, पुनकर पुनकर पाइ।' (का० नि० · १९)।

९. **कान्ति**—कान्तिका शब्दार्थ है आभा, उज्ज्वलता और कमनीयता। भरतके अनुसार इसके अन्तर्गत श्रुतिमधुर तथा मनको प्रसन्न करनेवाली क्रीडाशीलताका वर्णन होता है (नाट्य० १७ . १०६)। दण्डीका मत है कि जहाँ लौकिक अर्थका अतिक्रमण नहीं किया जाता और ऐसा स्वाभाविक वर्णन किया जाता है कि कान्त जगत्की कमनीयता व्यक्त हो, वहाँ कान्ति गुण होता है—'कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्। तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते।' यह अत्युक्तिका विपर्यय रूप है और वैदर्भ मार्गकी विशेषता है। वामनके मतसे रचनाकी उज्ज्वलता या नवीनता जहाँपर है, वहाँपर कान्ति शब्दगुण है (काव्य० सू० वृ० ३ . १ · २५), परन्तु 'दीप्तरसत्व कान्ति' अर्थात् जिस रचनामें शृङ्गार आदि रस दीप्त होते हैं, वह कान्ति अर्थगुण है (वही . ३ · २ · १५)। जहाँ कवि नवीन कल्पना-से किसी वस्तु या भावका उज्ज्वल प्रकाशन करता है वह कान्ति है। कान्तिका अन्तर्भाव ओज गुणमें माना जा सकता है (मम्मट आदिने)। हिन्दीमें प्राय इसी मतका अनुसरण किया गया है। देवके अनुसार 'अधिक लोक मर्जादते, सुनत परम सुख जाहि। चारु वचन पै कान्ति रुचि, कान्ति वखानत ताहि।' (शब्दरसायन)। इसमें दण्डीके विपरीत लोकमर्यादाकी अपेक्षा कुछ विशेषताका निर्देश है। दासने ऐसी रचनामें माना है, जिसके रुचिर शब्दोंका अर्थ 'न गूढ़, न प्रगट' हो, नागरिक हो तथा सुमति जनोंके द्वारा समझी जानेवाली हो। उदा०—'वे मूरति ध्यानमें लावनको सुर सिद्ध समूहन साध मरे। वड भागिनी गोपी मयंकमुखी अपनी-अपनी दिसि अंक भरे। (का० नि० १९)।

१० **समाधि**–समाधिका अर्थ है सम्यक् रूपसे आधान या उपचार, अर्थात् एक वस्तुके धर्मका दूसरी वस्तुमें ठीक ढगसे आरोपित करना। रचनाका विशिष्ट अर्थ, जिसे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति प्राप्त करते हैं (भरत नाट्य० १७ १००)। दण्डीके विचारसे जहाँपर लोकसीमाके अनुरोधमे अन्यके धर्मका अन्यत्र आरोप किया जाता है, वहाँ समाधि गुण होता है। दण्डीने लिखा है ?—'अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना। सम्यगाधीयते यत्र स समाधि स्मृतो यथा।' (१ . ९३)। आरोह और अवरोहके निमित्तके रूपमें वामनने शब्दगुण समाधि माना है (काव्य० सू० वृ० ३ १ १३)। जहाँ अचानक नहीं वरन् क्रमके साथ आरोहके वाद अवरोह हो, वहाँ समाधि गुण है (वही ३ २ ७)। अर्थ-समाधि गुण अर्थ-दृष्टिके रूपमें है। जहाँ कवि या तो अकारण किसी नवीन अर्थका दर्शन करता है अथवा उसे दूसरे कविके काव्यकी छायासे नवीन अर्थकी दृष्टि प्राप्ति होती है, वहाँ अर्थगत समाधि गुण है। ध्वनिवादी तथा कुछ अन्य आचार्योंने इसके गुणत्वपर शङ्का की है और इसे अलग गुण नहीं माना (मम्मट आदिने)। हिन्दीके आचार्योंने प्राय इसी मतको माना है। देवने समाधिका लक्षण दण्डीके आधारपर दिया है, पर 'लोक सींव उलघै अरथ' कहकर भाव उलट दिया है। दासका लक्षण वामनके निकट है। उदा०—'वर तरुनिनके वैन सुनि, चीनी चकित सुभाइ। दुखित दाख मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाइ।' (का० नि० १९)। —भ० मि०

गुणसंप्रदाय—वह सम्प्रदाय जो काव्यके अन्तर्गत गुणोंको सर्वोत्कृष्ट महत्त्व प्रदान करता है, गुणसम्प्रदाय है। यह रीति सम्प्रदायके अन्तर्गत है, क्योंकि रीति-सिद्धान्त गुणपर ही आश्रित माना गया है, जैसा कि वामन(९ श० ई० मध्य)का स्पष्ट मत है 'विशिष्टा पदरचना रीति'। 'विशेषो गुणात्मा' (काव्य० सू० वृ० १ २ ७,८)। अत रीतिको काव्यकी आत्मा मानते हुए भी जो गुणको विशिष्ट महत्त्व देते हैं, वे ही गुणसम्प्रदायके आचार्य माने जाने चाहिये। भिन्नतया 'गुणसम्प्रदाय'का कोई अलग सिद्धान्त नहीं माना गया। अत गुणसम्प्रदायकी अलग कोई सत्ता भी नहीं मानी जाती। परन्तु काव्यमें गुणको जिन आचार्योंने विशेष महत्त्व दिया, वे ही गुणसम्प्रदायके अन्तर्गत माने जा सकते हैं। इन आचार्योंमें दण्डी (७ श० ई०) और वामन प्रमुख हैं। दण्डीने यद्यपि अलकारको महत्त्व दिया, फिर भी वे मार्ग या रीतिको निरूपणमें गुणको महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। उनकी दृष्टिसे वैदर्भी काव्यकी उत्तम शैली है और उस शैलीके प्राण दस गुण हैं (इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा स्मृता)। वामनने तो गुणोंको काव्यका सर्वस्व ही माना। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा । तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा ।' (वही ३ १ १,२), अर्थात् काव्यकी शोभा करनेवाले धर्म गुण हैं और उसको अधिक उत्कर्ष देनेवाले अलंकार हैं। मार्गनिरूपणके प्रसंगमें कुन्तक(१०, ११ श० ई०)ने भी गुणोंको महत्त्व दिया है। उनका सहज-सुकुमार मार्ग उनके द्वारा निरूपित माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य, चारों विशिष्ट गुणोंमे सम्पन्न रहता है। परन्तु यह गुणोंकी धारणा वामनके गुणोंसे भिन्न है। वामन गुणोंको काव्यके नित्यधर्म मानते हैं। अत 'गुणसम्प्रदाय'के प्रधान आचार्यके रूपमें वामनको ही मानना चाहिये। वादके आचार्योंने रीतिके विवेचनमें गुणकी अपेक्षा समासके आधारपर अधिक वल दिया, अत रीतिका वर्णन करते हुए भी वे गुणसम्प्रदायके माननेवाले नहीं कहे जा सकते। हिन्दीमें किसी आचार्यने गुणको इस प्रकारका महत्त्व प्रदान नहीं किया। —भ० मि०

गुणातीता–दे०—'गोपी'।

गुणावतार–जव भूमा पुरुष प्रकृतिके गुणोंको श्रीविग्रह वनाकर आविर्भूत होता है तव उसे गुणावतार कहते हैं। त्रिदेव–ब्रह्मा, विष्णु और महेश–गुणावतार कहलाते हैं। —वि० मो० श०

गुणीभूत व्यंग्य–जहाँ व्यग्यसे सम्वन्ध होनेपर वाच्यका चारुत्व अधिक प्रकर्षयुक्त हो जाता है, वह गुणीभूत व्यंग्य नामका काव्यका दूसरा भेद होता है (प्रकारोऽन्यगुणीभूत-व्यंग्य काव्यस्य दृश्यते। यत्र व्यग्यान्वये वाच्यचारुत्व स्यात् प्रकर्षवत्–हि० ध्व० पृ० ३८९)। इसे मध्यम काव्य कहते हैं, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थकी तुलनामें गौण अर्थात् अप्रधान हो जाता है। ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्यके उदाहरण वहुधा मिले-जुले रहते हैं, किन्तु अप्रधानताकी दृष्टिसे ही दोनोंमें अन्तर कर लिया जाता है—जहाँ व्यग्यार्थ प्रधान हो वहाँ ध्वनि और जहाँ वह अप्रधान हो वहाँ गुणीभूत व्यग्य होता है। इसीलिए ध्वनिकारकी स्थापना है कि 'यह गुणीभूत व्यग्यका प्रकार भी रस आदिके तात्पर्य-का विचार करनेसे फिर ध्वनि हो जाता है' (प्रकारोऽय गुणीभूतव्यग्योऽपि ध्वनिरूपताम्। धत्ते रसादितात्पर्यपर्या-लोचनया पुन । हि० ध्व० पृ० ४०९)। व्यग्यार्थ अगूढ, अपराग, वाच्यसिद्ध्यङ्ग, अस्फुट, सन्दिग्धप्रधान, तुल्य-प्रधान, काकाक्षिप्त तथा असुन्दर होनेके कारण गौण हो जाता है। इसीलिए गुणीभूत व्यग्यके उक्त आठ भेद माने गये हैं। ध्वनिके शुद्ध एव सकीर्ण भेदोंके साथ मिलनेसे गुणीभूत व्यंग्यके अनेकानेक भेद सम्भव हैं।—उ० श० शु०

गुप्ता (नायिका)–परकीयाकी स्थितिके अनुसार भेद, विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा उल्लिखित। परपुरुषके प्रेमको छिपानेवाली नायिका, विशेषकर चतुराईसे छिपानेकी चेष्टा करती है। **भूतगुप्ता अथवा वृत्तसुरतगोपना**–व्यतीत घटना और उसके अवशेष चिह्नको छिपानेवाली नायिका। इस गोपनमें नायिकाका वचन-चातुर्य देखने योग्य है—'चूनत फूल गुलववा डार कटील। टटिगो वन्द अँगियवा फटि पट नील।' (रहीम वरवै० ३०)। कभी वह अपने चिह्नोंको छिपाती है–'मोहि झकझोरि डारी कचुकी मरोरि डारी तोरि डारी कसनि वथोरि टारी वेनी त्यों।' (पद्माकर जगद्विनोद १ ८८)। उसका कहना है कि यह सव राधाने होली खेलने-में किया है। कभी सात्त्विक अनुभावोंको भी छिपाया गया है–'रोम उठे तन कप छुटै मतिराम भई श्रमकी सरसाई।' (रसराज ६८)। मतिरामकी नायिका डरनेको व्याज वताती है। **भविष्यद्गुप्ता अथवा वर्तिष्यमाण सुरत-गोपना**—होनेवाली घटनाको पहलेसे छिपानेका चातुर्य

करनेवाली नायिका। रहीमकी नायिकाकी सरलतामें चातुर्यकी गहरी व्यंजना है—'जैहौ चुनन कुसुमिआँ खेत बडि दूर। नौवन केरि दोहरिया मुहि सग कूर।' (बरवै० १६)। बेनीप्रवीनकी नायिकाकी इस युक्तिमें कितनी चतुराई है—'नेह के जोहीं पठावती हैं करिहैं फिर तेहि भरी त्रिगु बातें।' (मीतल ब्र० भा० नायिका० . २ ३१८)। इसके उदाहरणोंमें वचन-चातुर्य अधिक है। **वर्तमानगुप्ता अथवा भविष्य सुरतगोपना**—इस भेदको भानुदत्तने वृत्तवर्तिष्यमाण कहा है जिसका भाव भिन्न है। यह नायिका अपनी प्रेमविषयक वर्तमान स्थितिको चातुर्यसे छिपानेका प्रयत्न करती है। परिस्थितिसे रक्षा कर लेनेका भाव प्रधान रहना है—'इन्है भेंटती भेंटिहौं तोहिं अली भयौ आजु तौ मो अवतार नयौ।' अथवा—'चिरजीवहि नन्दकौ वारौ अरी गहि बाँह गुविन्दने ठाढ़ी करी।' (दास तथा मण्डन वही २ ३२०, ३२१)।

गुरु—लगभग समस्त मध्यकालीन धर्म-साधनाओंमें गुरुका महत्त्व बहुत अधिक माना गया है। सम्भवत यह तान्त्रिक युगका अवशिष्ट प्रभाव था, क्योंकि जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव, सभी सम्प्रदायोंमें जब गुह्य साधनाओंका समावेश हुआ तो गुरुकी स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण होती गयी, क्योंकि साधनाकी प्रकृति दुरूह थी और अज्ञानी साधकको गुरुका निर्देशन आवश्यक था। साथ ही विद्वानोंका कथन है कि तन्त्र-सम्प्रदाय नये सम्प्रदाय थे, अत अनुदार पुराने आचार्योंकी तुलनामें अपने सम्प्रदायोंके आचार्योंको प्रतिष्ठित करनेके लिए भी सहमा गुरुको अत्यधिक श्रद्धासे मण्डित किया जाने लगा था। यह प्रतिद्वन्द्विता कभी-कभी जातीय और प्रादेशिक आधारपर भी चलती थी। (दे०—'स्टडीज इन तन्त्राज' प्रबोधचन्द्र बागची)।

सन्तों और नाथोंके पूर्ववर्ती सिद्धोंने गुरुको अधिक महत्त्व दिया था। यह प्रवृत्ति बौद्ध धर्ममें पहले नहीं थी। कहा जाता है, एक बार बुद्धसे पूछा गया कि उनका गुरु कौन है तो उन्होंने कहा कि उन्होंने अपने अभिज्ञानसे सब प्राप्त किया, उनका गुरु कौन है? किन्तु 'गुह्य समाजतन्त्र'में प्रत्येक तथागतका गुरु एक वज्राचार्य बताया गया है, जिसकी पूजा वे स्वत करते हैं। इसी सिद्धान्तके अनुसार सिद्धोंने गुरुकी महिमाका गान किया है। तिल्लोपा कहते हैं कि समस्त लोक तथा पण्डितोंके लिए भी जो अगम्य है, पर श्रीगुरुपादके प्रसन्न होनेपर कौन ऐसी वस्तु है जो अगम रह जाय (दोहाकोष तिल्लोपा)। अद्वयवज्रके 'प्रेम-पचक'में गुरुको दूती कहा गया है, जो प्रज्ञा तथा उपायकी मध्यस्थता कर दोनोंका मिलन सम्पन्न करा देता है।

नाथों और सन्तोंमें यह प्रवृत्ति बराबर चली आयी है, किन्तु नाथों और सन्तोंके गुरुमें एक अन्तर है। नाथोंका गुरु योगसाधनाका ज्ञाता है, सन्तोंका गुरु वैष्णव प्रतीत होता है और वह शब्द-सुरतिके साथ-साथ हरिभक्ति और प्रेमसाधनाका भी उपदेश देता है। नाथपन्थी बानियोंमें अवश्य कई स्थलोंपर ऐसा ज्ञात होता है कि शिष्य गोरखनाथ अपने गुरु मछीन्द्रनाथको उपदेश दे रहे हैं। पर यह सम्भवत उस घटनाकी ही स्मृति है जिसमें किंवदन्तियोंके अनुसार कहा जाता है कि गोरखने योगिनियोंके जालसे मछीन्द्रको मुक्त कराकर तान्त्रिक अनुष्ठानोंका बहिष्कार किया था।

किन्तु सभी पद्धतियोंने यह माना है कि जो निगुरा है या गुरुहीन है उसे ब्रह्मकी उपलब्धि नहीं हो सकती, पर साथ ही साथ उन्होंने यह भी चेतावनी दी है कि अज्ञानी शिष्यको यदि अज्ञानी गुरु मिल गया तो वे दोनों विनष्ट हो जाते हैं। (दे०—'सेवा'—गुरु-सेवा) —ध० वी० भा०

गुह्य साधना—तन्त्रोंके उदयकालमें ऐसी धर्म-साधनाओंका आरम्भ हुआ जो परम्परागत साधनाओंसे सर्वथा पृथक् थीं। उनमें मैथुन-साधनाका जो महत्त्व था उसके कारण इनका प्रबल विरोध हुआ होगा, अत ये साधक छिपकर साधनाएँ करते थे। हिन्दू, बौद्ध, जैन, सभी धर्मोंके तान्त्रिक ग्रन्थोंमें इस बातपर बल दिया गया है कि इन साधना-प्रणालियोंको बिलकुल गुह्य रखना चाहिये और प्रकट कर देनेपर इनका निष्फल हो जाना बताया गया है। इसीलिए इन्हें गुह्य साधना कहा जाने लगा। इनके सिद्धान्तोंका विवेचन भी प्रतीकोंके द्वारा किया गया है, ताकि सिवा सम्प्रदायमें दीक्षित साधकोंके अन्य लोग उसका अर्थ न समझ पायें। इस भाषाको गुह्य वाणी कहा जाता था और तान्त्रिक अनुष्ठानोंका बहिष्कार होनेपर भी सन्तोंतक इस गुह्य भाषा या 'गुह्य बानी'की परम्परा चली आयी है। बौद्ध सिद्धाचार्योंमें **प्रज्ञोपाय युगनद्ध**की साधनाको गुह्य साधना कहते थे। इसमें हठयोगके द्वारा **चित्तका विशोधन** किया जाता है—अन्दर श्वासका निरोध कर और बाहर **मुद्रा**के साथ समागमके द्वारा। दोनों साधनाएँ एक-दूसरेका समर्थन करती चलती हैं। विभिन्न क्षणोंमें विभिन्न मुद्राओंसे युगनद्ध स्थापित कर बिन्दुको ऊर्ध्वमुखी कर विभिन्न चक्रोंमें धारण किया जाता है। —ध० वी० भा०

गूढव्यंग्या लक्षणा—मम्मट तथा विश्वनाथ आदि आचार्योंने लक्षणाके गौणी तथा शुद्धा आदिक भेदोंको गूढ तथा अगूढ व्यंग्यके रूपमें स्वीकार किया है। इसमें व्यंग्य-रूप अर्थ केवल काव्य-मर्मज्ञों द्वारा ही वस्तुत ठीक-ठीक ग्रहण किया जा सकता है। 'चालेकी बातें चलीं, सुनति सखिनके टोल। गोंपे हू लोयन हँसत, विहँसत जात कपोल।' (का० द० . पृ० ३८), बिहारीके इस दोहेमें 'लोयन हँसत' तथा 'विहँसत जात कपोल'में गौणी सारोपा गूढव्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा है, हर्षोल्लास एव लज्जाकी व्यंजनासे नायिकाका 'मध्या' होना व्यंजित होता है। सामान्य जन इसे सुगमतासे नहीं समझ पाते, इसी कारण यह व्यंजना गूढ़ा है। —उ० शं० शु०

गूढोक्ति—गूढार्थ-प्रतीतिवर्गमें यह अलंकार माना जा सकता है। अप्पय दीक्षितने इस अलंकारका उल्लेख किया है। उनके अनुसार इसकी परिभाषा निम्नलिखित है—'गूढोक्तिरन्योद्देश्य चेयदन्य प्रति कथ्यते।' (कुवलयानन्द, ८७ . पृ० १७०), अर्थात् किसी व्यक्तिके प्रति कहनेवाली बातको (लोक-लाज) अन्य व्यक्तियोंकी उपस्थितिके कारण उससे न कहकर किसी तीसरे व्यक्तिसे कहा जाय तो गूढोक्ति अर्थात् गुप्त उक्ति अलंकार होता है। चमत्कार यह होता है कि उस बातको वह व्यक्ति समझ ही लेता है जिसके लिए वह कही जाय। उदा०—'वृष! अपेहि परक्षेत्रादायाति

क्षेत्ररक्षक' (वृष=बैल, ध्वनित कामुक । क्षेत्र=सस्यादिवाला क्षेत्र, ध्वनित पत्नी) । 'कुवलयानन्द'का अनुसरण करनेवाले हिन्दीके आचार्योंने इसीके आधारपर लक्षण दिया है—'कहिवेको कछु औरसों, कहै औरमों वोल ।' अथवा—'अभिप्राय जुग जहँ कहिय, काहसो कछु वात ।' (का० नि० १६) । उदा०—'या न प्यार विसराइये, लई मोहि तैं मोल । मुँख निरखत नँदलालको, कहैं सखीसो वोल ।' (ल० ल० ३६१) । अथवा—'पहिले ही मराल मयूर चकोर मिलिन्दनको मँटरावनो है । हँसि वोली अली भली मैथिलीकी फिरि काल्हि इते मँग आवनो है ।' (लछिराम अ० मं०) । जनकपुरकी फुलवारीमें सीताजीके साथ सखी रामचन्द्रजीसे यह कहना चाहती है कि वे कल वहाँ फिर आयेंगी, पर अन्य लोगोंसे यह छिपानेके लिए वह आपसमें एक दूसरी सखीसे ऐसा कहती है ।

अप्पय दीक्षितने इस अलंकारको अप्रस्तुत-प्रशसा अलकारसे भिन्न बताया है, क्योंकि यहाँपर कार्यकारणका व्यंग्य नहीं है, न यह श्लेषमात्र है, क्योंकि यहाँपर अन्य लोगोंसे छिपानेके लिए चमत्कृत शब्दोंका प्रयोग किया जाता है । वास्तवमें 'काव्यप्रकाश'की व्याख्या 'उद्योत'के लेखकने कहा है कि गूढोक्ति ध्वनिकाव्य है, क्योंकि अलकारमें तो व्यग्यार्थकी अभिव्यक्ति होती है, अर्थकी व्यग्य ध्वनि नहीं । —ज० कि० व०

गृहिणी—दे०–'महामुद्रा' ।

गेय काव्य—सामवेदकी सहिता 'आर्चिक और गेय' भागोंमें विभक्त है । गेय भाग यज्ञकालमें गाया जाता था । नाट्योत्पत्तिके प्रकरणमें कहा गया है कि संगीतका भाग सामवेदसे लिया गया (नाट्य-शास्त्र १ १७) । पाणिनिने सामकी गेयताका उल्लेख किया है (गेयो माणवक साम्नाम् ३ ४ ३८) । यज्ञकालमें गान करनेवाले व्यक्ति होते थे जिनकी उद्गाता सज्ञा थी । 'छान्दोग्योपनिषद्'में सामोपासनाके प्रसगमें उद्गाताको गानादिका उपदेश दिया गया है, (अध्याय २, खण्ड २२) । इस प्रसगमें प्रधान वैदिक देवताओंसे सम्बद्ध गानका विधान है और उनके लक्षणोंका निरूपण है । सोमगानको निरुक्त और स्पष्ट तथा वायुदेव सम्बन्धी गानको मृदु एव श्लक्ष्ण कहा गया है । **सामगान**के प्रकरणमें स्वरों और वर्णोंके उच्चारणोंका जो निरूपण है उससे स्पष्ट हो जाता है कि सामगान गेय पद थे, अर्थात् अर्थ और सगीततत्त्व, दोनोंकी समान भावसे रक्षा की जाती थी । वैदिक साहित्यमें गेय पद स्तुतिपरक थे और इनका क्रमिक विकास होता रहा । सामवेदके उपवेदकी संज्ञा गान्धर्व है, जिसके लिए विधान है—'पदस्य स्वरसघातस्तालेन संगतस्तथा । प्रयुक्तश्चावधानेन गान्धर्वमभिधीयते ॥' गेय पदोंमें 'ध्रुवक' होता है । ध्रुवकके सम्बन्धमें 'रागार्णव'में कहा गया है—'न विवेक विना ज्ञान, ध्यान नात्र रसं विना । श्रद्धया न विना दान न गान ध्रुवकं विना ॥' जिसे वादमें चलकर ध्रुव, टेक कहा गया । 'आदि ग्रन्थ'में टेकके स्थानमें 'रहाउ' शब्दका प्रयोग हुआ है । 'चर्याचर्यविनिश्चय'-में प्रथम गीत लुईपाका 'राग पटमजरी'में है, जिसकी आदि पंक्ति है—'काआ तरुवर पच विडाल चचल चीए पइठो काल ।' गेय पदोंका क्रम गोरखनाथमें प्रारम्भ हुआ और भक्तिकालीन साहित्यमें पहुँचा । कवीर, सूर तुलसीके पद गेय काव्य है । उनका क्रम विभिन्न रागोंके अन्तर्गत रखा गया है । कुछ ऐसे राग हैं जो शास्त्रीय नहीं है । कुछका सम्बन्ध देश-विशेषसे है और कुछका विषय-विशेषसे । गेय काव्यमें काव्य और गेयताकी सम-प्रधानता रहती है । प्रारम्भमें वाद्यकी अपेक्षा थी, किन्तु अव इसकी सगति अपेक्षित नहीं रही । गीतिमें जहाँ अन्तर्निहित सगीतकी मुख्यता रहती है, वहाँ गेय पदमें सगीतके वाह्य विधानकी अपेक्षा ।

नाट्यशास्त्रमें लास्यके ग्यारह अंगोंका वर्णन किया गया है, जिनमें एक अग है गेय पद और इसमें वीणा आदि सगीतके उपकरणों अर्थात् वाद्योंको सामने रखकर सागोपाग विधिसे कोई नारी अपने प्रियतमके गुणोंका शुष्क गान करती है । —रा० खे० पा०

गोचारण-काव्य (ग्राम्य काव्य)—गोचारण-काव्य पाश्चात्य साहित्यका एक प्रमुख और अत्यन्त प्राचीन काव्यरूप है । यद्यपि गोचारण-काव्यके भीतर प्रत्युत्तरकाव्य (एक्लॉग), ग्राम्य गीति (इडिल, पेस्टोरल लिरिक), ग्राम्य शोकगीति (पेस्टोरल एलिजी), ग्राम्य कथाकाव्य (पेस्टोरल रोमास), ग्राम्य नाटक (पेस्टोरल ड्रामा), ग्राम्य प्रशस्तिकाव्य (पेस्टोरल पेनेजेटिक), ग्राम्य महाकाव्य (पेस्टोरल एपिक) आदि अनेक काव्यरूपोंका विकास हुआ, पर सभी प्रकारके गोचारण या ग्राम्य काव्यकी सामान्य और स्थिर विशेषता यह है कि उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे नागरिक और ग्राम्य जीवन तथा उसके परिवेशका अन्तर दिखाना ही प्रमुख उद्देश्य होता है । गोचारण-काव्यका अर्थ लोकगीत या मौखिक रूपमें प्रचलित ग्रामीण जनताका परम्परागत काव्य नहीं है । इसके विपरीत वह शिष्ट नागर समाजके कवियों द्वारा रचित काव्य होता है, जिसमें दरवारी या नागर परिवेशमें रहनेवाला कवि ग्राम्य जीवनकी ताजगी, जीवन्तता और वातावरणको विविध शैलियोंमें अभिव्यक्त करता है । गोचारण-काव्य लिखनेवाला प्रथम कवि यूनानका थियाक्रिटस (२८० ई० पू०) था, जिसने भेड चरानेवालोंको पात्र वनाकर उनके सलाप या स्वगत-भाषणके रूपमें काव्यरचना की थी । तवसे अवतक सारे यूरोपमें किसी-न-किसी रूपमें उसीकी शैली या विषयवस्तुका अनुकरण करके गोचारण-काव्यकी रचना होती आयी है ।

भारतीय साहित्यमें गोचारण-काव्य नामक किसी स्वतत्र काव्यरूपकी परम्परा नहीं मिलती, यद्यपि ग्राम्य वातावरण और पशुचारण करनेवाली जातियोंके जीवनसे सम्वन्धित काव्यका यहाँ भी नितान्त अभाव नहीं है । पालि, प्राकृत और अपभ्रश साहित्यमें आभीरों और गोपोंके जीवनसे सम्वन्धित तथा ग्राम्य परिवेशका चित्रण करनेवाला पर्याप्त काव्य मिलता है । हेमचन्द्रके प्राकृतव्याकरणमें अपभ्रशके सगृहीत दोहोंमें गोचारण-काव्यका सुन्दर उदाहरण मिलता है । हिन्दीमें सूरदासके पदों, विहारीके दोहों, रसखानके छन्दों और रीतिकालके कुछ कवियोंकी कवितामें व्रज, विशेष रूपसे वृन्दावनके परिवेश और गोप या आभीर जातिके जीवनका वहुत ही स्वाभाविक और विवृत चित्रण मिलता है । ऐसे काव्यको गोचारण-काव्य तभी माना जायगा जव कि गोचारण काव्यका व्यापक अर्थ लिया जाय । यूरोपीय ढगके

गोचारण-काव्य या प्रत्युत्तर-काव्यका प्रतिरूप हिन्दी साहित्य-में खोजना व्यर्थ है, क्योंकि यहा उसे स्वतन्त्र काव्यरूप माना ही नहीं गया और न कवियोंने जान-बूझकर प्रयत्न-पूर्वक उस प्रकारका काव्य ही लिखा है। —ग्रं० ना० सिं०

गोप-सखा—दे०—'गोपी'। यह बताया गया है कि गोपी-भावकी भक्ति अपनेको सखीरूपमें कल्पित करके की जाती जाती है। उसी प्रकार सखा-भावकी भक्तिमें भक्त अपनेको श्रीकृष्णके गोप-सखाके रूपमें कल्पित करता है। श्रीकृष्णकी बाल्य और कैशोर लीलाके सङ्गी गोप-सखा वय क्रमके अनुसार तीन प्रकारके माने गये हैं। कुछ गोप अवस्थामें तनिक बडे हैं, परन्तु फिर भी वे मैत्रीके भावसे गोचारण और तत्सम्बन्धी क्रीडा-विनोद आदिमें श्रीकृष्णके साथ रहते है। हलधरका वात्सल्य-मिश्रित सख्य प्रेम इन सखाओंका प्रतिनिधि-भाव कहा जा सकता है। इन सखाओंकी रुचि श्रीकृष्णकी उन लीलाओंमें अपेक्षाकृत अधिक रहती है, जिनमें उनका पराक्रम प्रकट होता है तथा वे दुष्टोंका सहार करके सखाओं-की सुरक्षा सम्पादित करते हैं। ये वयस्क सखा श्रीकृष्णकी राधा और गोपी सम्बन्धी निकुज-लीलामें सम्मिलित नहीं होते। श्रीकृष्णसे अवस्थामें छोटे सखा भी गोकुलकी गलियों, यमुनातट, वन-प्रान्त और गोचारणकी विनोदपूर्ण क्रीडा, कन्दुक-केलि, छाक आदि तथा माखन-चोरी लीलामें तो सम्मिलित होते हैं, परन्तु गोपियोंके काम-भावकी प्रेम-क्रीडासे उनका कोई सम्पर्क नहीं रहता। श्रीकृष्णके प्रति वे मैत्रीके साथ श्रद्धा और गौरवका भाव भी रखते हैं। तीसरे प्रकारके गोप-सखा वे हैं जो श्रीकृष्णके समवय, समशील और समव्यसन हैं। वे उनके अन्तरंग सखा हैं और उनका प्रत्येक लीलामें उनका साथ देते हैं। उन्हें राधा और श्यामके अभिन्न अनुरागका भी परिचय है तथा वे पनघट, दधिदान तथा निकुज-लीलामें काम-भावसे उद्वेलित गोपियोंको परितुष्ट करनेमें अपने प्रिय सखाकी सहायता करते है। इन्हीं सखाओंमें प्रेमकी वह स्थिति दिखायी गयी है जो सयोग और वियोग दोनों अवस्थाओंमें अनन्य भावसे क्रियाशील रहती है और भक्ति-धर्मकी भावात्मक पूर्णताको प्राप्त करती है।

गोप-सखाओंके कुछ नाम 'विष्णु' और 'श्रीमद्भागवत', पुराणोंमें भी दिये गये है। परन्तु 'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणोंसे उनकी एक लम्बी सूची बनायी जा सकती है। पुष्टिमार्गीय साहित्य, विशेषत सूरसागरमें भी अनेक छोटे-बडे और समवय सखाओंके नाम मिलते हैं तथा गौडीय वैष्णव सम्प्रदायके साहित्यमें नामोंके साथ उनका वर्गीकरण और विवेचन भी दिया गया है। इन्हीं आत्मीय सखाओंमें आठ विशिष्ट सखा पुष्टिमार्गमें **अष्टसखा** नामसे अभिहित हैं, जिनके भावकी अनुरूपता **अष्टछाप**-कवियोंमें देखी जाती है (दे०—'अष्टसखा')। —व्र० व०

गोपी—ऋग्वेदमें विष्णुके लिए प्रयुक्त 'गोप', 'गोपति', और 'गोपा' शब्द गोप-गोपी-परम्पराके प्राचीनतम लिखित प्रमाण कहे जा सकते हैं। इन उरुक्रम त्रिपाद-क्षेपी विष्णुके तृतीय पाद-क्षेप—परमपदमें मधुके उत्स और भूरिशृंग—अनेक सीगोंवाली गउएँ हैं (ऋग्वेद १ १५५-५)। कदाचित् इन गउओंके नाते ही विष्णुको गोप कहा गया है। इस आलंकारिक वर्णनमें अनेक विद्वानों, यथा मेकडानेल, ब्लूमफील्डने विष्णुको सूर्य माना है, जो पूर्व दिशासे उठकर अन्तरिक्षको नापते हुए तीसरे पाद-क्षेपमें आकाशमें फैल जाता है। कुछ लोगोंने ग्रह-नक्षत्रोंको ही गोपी कहा है, जो सूर्य-मण्डलके चारों ओर घूमते हैं।

परन्तु गोपी शब्दकी प्रतीकात्मक व्याख्या कुछ भी हुई हो, इसका साधारण अर्थ पशु-पालक जातिकी स्त्री है और यही अर्थ न केवल इसका मूल अर्थ है, बल्कि अनेकानेक धार्मिक व्याख्याओंके बावजूद काव्य और साधारण व्यवहार, दोनोंमें निरन्तर समझा जाता रहा है। पशुपालक आभीरों या अहीरोंकी जाति परम्परासे क्रीडा-विनोदप्रिय आनन्दी जाति रही है। इसी जातिके कुलदेव गोपाल कृष्ण थे जो प्रेमके देवता थे, अत्यन्त सुन्दर, ललित, मधुर—गोपियोंके प्रेमाराध्य। ऐसा जान पड़ता है कि इस जातिमें प्रचलित कृष्ण और गोपी सम्बन्धी कथाएँ और गीत छठी शताब्दी ईसवीतक सम्पूर्ण देशमें प्रचलित होने लगे थे। धीरे-धीरे उन्हे पुराणोंमें सम्मिलित करके धार्मिक उद्देश्यपरक रूप दिया जाने लगा। दक्षिणके **भागवत धर्म** (दे०) आल्वार भक्तिके गीतोंमें गोपी-कृष्ण-लीलाके अनेक मनोहर वर्णन मिलते है। काव्यमें सबसे पहले 'गाहा सत्तसई'(गाथा-सप्तशती)मे गोपी और उनमें विशिष्ट नामवाली राधा तथा कृष्णके मिलन-विरह सम्बन्धी प्रेम-प्रसग सर्वथा लौकिक सन्दर्भमें वर्णित मिलते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि गोपी कृष्णकी कथाके अनेकानेक प्रसग लोक-कथाओं और लोक-गीतोंके रूपमें देशभरमें प्रचलित रहे होंगे। इन कथाओं और गीतोंके भाव तथा प्रसग साहित्यमे भी यदा-कदा अभिव्यक्ति पाते रहे होंगे, जिसके बहुत थोडेमे प्रमाण शेष रह गये हैं। कदाचित् साहित्यके इस अंशको शिष्ट जनोंमें अपेक्षाकृत कम महत्त्व मिला और इसी उपेक्षाके कारण वह नष्टप्राय हो गया। जो हो, सस्कृतमें 'गीतगोविन्द'-(बारहवीं शती)में उसका वह रूप मिलता है जो आगे चलकर भाषा-काव्यमें विकसित हुआ। 'गीतगोविन्द' और विद्यापतिकी 'पदावली'से इस बातका अनुमान लगाया जा सकता है कि गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्णकी कथाका लोक-साहित्य उस समय भी भाव लालित्यकी दृष्टिसे कैसा सम्पन्न और मनोहर रहा होगा।

मध्ययुगमें कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायोंने पुराणों, मुख्य रूपमें श्रीमद्भागवतका आधार लेकर गोपी-कृष्णके प्रेमाख्यानको धार्मिक सन्दर्भमें आध्यात्मिक रूप दे दिया और गोपी, गोपी-भाव तथा राधा-भावकी अत्यन्त गम्भीर और रहस्यपूर्ण व्याख्याएँ होने लगीं। निश्चय ही इन व्याख्याओंका मूलाधार पुराण ही हैं, परन्तु उनके विवरण और विस्तार कहीं-कहीं स्वतन्त्र रूपमें कल्पित किये गये जान पड़ते हैं। उनका प्रयोजन प्रतीकात्मक है।

'महाभारत'में गोपियोंके सम्बन्धमें कोई आध्यात्मिक व्याख्या नहीं मिलती। हरिवंशमें, जिसे महाभारतका 'खिल' कहा जाता है, कृष्णावतारका हेतु बताते हुए कहा गया है कि वसुदेव पहले कश्यप थे और कुबेरकी गौ हरण करनेके अपराधमें शापित होकर उन्होंने गौओंके बीच स्थित गोप-रूपमें जन्म लिया था। कश्यपकी स्त्री अदिति और सुरमी

देवकी और रोहिणी थीं। इन्हींके यहाँ कृष्णने, देवताओंको व्रजमें जन्म लेनेकी आज्ञा देकर, स्वयं जन्म लेनेकी इच्छा की थी। सैकड़ों-सहस्रों देवता पाञ्चाल देशके कुरुवंश और वृष्णिवंशमें उत्पन्न हुए (हरिवंश—आदिपर्व, अध्याय ५३-५५)। हरिवंशमें स्पष्टत कहा नहीं गया है, परन्तु यह ध्वनित होता है कि गोप-गोपियाँ भी देव-देवियाँ ही थे। हरिवंशके बाद वैष्णव पुराणोंमें गोप-गोपियोंका दैवी उत्पत्ति-विषयक न्यूनाधिक उल्लेख बराबर पाया जाता है। श्रीमद्भागवतमें भी गोपियोंको देवताओंकी स्त्रियाँ कहा गया है जो वसुदेवके भवनमें जन्म लेनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णुका प्रिय करनेके लिए पृथ्वीपर अवतरित हुई थीं। (द० स्क० पू० १ २३)। परन्तु 'हरिवंश', 'विष्णुपुराण' और 'भागवत'की गोपियाँ फिर भी लौकिक रूपमें ही चित्रित की गयी हैं, उनके विषयमें कोई रहस्य-संकेत नहीं है।

'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त्त' पुराणोंमें **गोलोक**के नित्य वृन्दावनकी विशद कल्पना मिलती है जिसमें परमानन्दरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण राधा तथा गोपियोंके साथ नित्य क्रीडारत रहते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त'(श्रीकृष्णजन्मखण्ड)में वर्णन है कि नन्दव्रजमें अवतीर्ण होनेके पूर्व श्रीकृष्णने राधा तथा गोलोकके सब गोप और गोपियोंको व्रजमें जन्म लेनेकी आज्ञा दी (अ० ६, ६३—६९)। साथ ही देवी-देवताओंने भी व्रजमें जन्म लेनेके लिए गोप-गोपीका रूप धारण किया था (वही, ११९)। 'पद्मपुराण'के अनुसार दण्डकारण्यवासी कृष्ण-भक्त मुनियोंने भी सौन्दर्य-माधुर्यका आस्वादन करनेके हेतु गोपियोंका जन्म पाया था।

मध्ययुगके कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायोंने ही वस्तुत गोपियोंकी उत्पत्ति सम्बन्धी रहस्यात्मक कल्पनाएँ की हैं और कुछ आलोचकोंने यहाँतक अनुमान किया है कि 'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणोंके राधा और गोपी सम्बन्धी अनेक विवरण उसीके प्रभाव हैं। जो हो, गोपियोंका उत्पत्ति सम्बन्धी उल्लेख अत्यन्त रोचक और विचारणीय है।

निम्बार्कके सनकादि या हंस-सम्प्रदायमें कृष्ण-ब्रह्मकी अचिन्त्य शक्तिको द्विविध बताया गया है—एक ऐश्वर्य और दूसरी माधुर्य। रमा, लक्ष्मी या 'भू' नामकी उनकी ऐश्वर्य-शक्ति है और गोपी और राधा माधुर्य या प्रेम-शक्ति। इस प्रकार राधा तथा अन्य गोपियाँ कृष्णकी आह्लादिनी शक्ति हैं। निम्बार्करचित 'दशश्लोकी'में कहा गया है—'अंगे तु वामे वृषभानुजा मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्। सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥' अर्थात् अनुरूप सौभगारूपसे कृष्णके वामांगमें आनन्दपूर्वक विराजमान, समस्त मनोकामनाओंको पूर्ण करनेवाली वृषभानुजाको नमस्कार करता हूँ, जो सहस्रों सखियों द्वारा परिसेवित हैं।

गोपी सम्बन्धी सबसे अधिक विस्तार गौडीय वैष्णव (चैतन्य)सम्प्रदाय और पुष्टिमार्ग(वल्लभ-सम्प्रदाय)में मिलते हैं। गौडीय वैष्णव मतके अनुसार गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं। वे अप्रकट तथा प्रकट दोनों लीलाओंमें उनके नित्य परिकरके रूपमें निरन्तर उनके साथ रहती हैं। श्रीकृष्णकी तरह गोप गोपियोंके भी प्रकट और अप्रकट, दोनों शरीर होते हैं। वृन्दावनकी प्रकट लीलामें गोपियाँ भगवान्‌की स्वरूप-शक्ति-प्रादुर्भाव-रूपा हैं। भगवान्‌की ह्लादिनी गुह्य विद्याके रहस्यका प्रवर्तन उन्हींके द्वारा होता है। वे नित्यसिद्धा हैं। रूपगोस्वामी प्रभृति चैतन्यमतके विवेचकोंने गोपियोंका वर्गीकरण करके कृष्णकी व्रज-वृन्दावनकी प्रेमलीलामें उनके विभिन्न स्थानोंका निर्देश किया है।

'उज्ज्वल नीलमणि'के 'कृष्णवल्लभा' अध्यायके अनुसार कृष्णवल्लभाओंको पहले स्वकीया और परकीया—इन दो भागोंमें बाँटा गया है। रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती आदि कृष्णकी विवाहिता पत्नियाँ स्वकीया हैं तथा उनकी प्रेयसी गोपियाँ परकीया हैं। परन्तु गोपियोंका परकीयात्व लौकिक दृष्टिमात्रसे है। वास्तवमें तो वे सभी स्वकीया हैं, क्योंकि उन्होंने प्राण, मन और शरीर सभी कुछ कृष्णार्पण कर रखा है। फिर भी प्रकट लीलामें इन गोपियोंका परकीयात्व ही स्वीकार किया गया है। परकीया गोपियाँ—**कन्या** और **परोढा** दो प्रकार की हैं। कन्या अविवाहित कुमारियाँ हैं जो कृष्णको ही अपना पति मानती हैं। प्रेम-भक्तिमें श्रेष्ठता परोढाओंकी ही है। **परोढा** गोपियाँ पुन तीन प्रकारकी हैं—**नित्यप्रिया, साधन-परा** और **देवी**।

जो गोपियाँ नित्यकालके लिए नित्य वृन्दावनमें श्रीकृष्णके लीला-परिकरकी अंग हैं वे नित्यप्रिया हैं। ये वस्तुत वे भक्त जीव हैं, जिन्होंने प्रेम-भक्तिके द्वारा भगवत्-स्वरूपमें प्रवेश पा लिया है और जो नित्यसिद्ध गोपी-देहसे उनकी लीलाके अभिन्न अंग बन गये हैं। नित्यप्रिया गोपियोंको **प्राचीना** भी कहा गया है, क्योंकि ये वे जीव हैं जो बहुत लम्बी साधनाके फलस्वरूप गोपी-देह पाते हैं। इनका गोपी-भाव भक्तोंका साध्य नहीं है। उनका साध्य **साधन-परा** गोपियोंका रूप है।

ये **साधन-परा** गोपियाँ **यौथिकी** और **अयौथिकी**, दो प्रकारकी हैं। **यौथिकी** अपने गणके साथ प्रेम-साधनामें संलग्न रहती हैं। **यौथिकी** पुन दो प्रकारकी होती हैं—**मुनि** और **उपनिषद्**। पौराणिक प्रमाणोंके अनुसार अनेक मुनिगण जो कृष्णके माधुर्यरूपका आस्वाद लेनेके लिए गोपी-भावकी आकांक्षा करते हैं, गोपियोंका जन्म पाकर कृष्णकी व्रजलीलामें सम्मिलित होनेका सौभाग्य लाभ करते हैं। ये ही मुनि-यूथकी गोपियाँ हैं। उपनिषद्-यूथकी गोपियाँ पूर्वजन्मके उपनिषद्‌गण हैं, जिन्होंने तपस्या करके व्रजमें गोपीरूप पाया है।

अयौथिकी गोपियोंका रूप उन कृपाप्राप्त जीवोंको मिलता है जो गोपी-भावसे भगवान् कृष्णके प्रेममें रत रहते हैं और अनेक योनियोंमें जन्म लेनेके बाद गोपीरूप पाते हैं। ये **अयौथिकी** गोपियाँ **नवीना** भी कहलाती हैं और इन्हें भक्तिके फलस्वरूप प्राचीना नित्यप्रिया गोपियोंके साथ सालोक्य(दे०—'मुक्ति')की प्राप्ति होती है।

देवी उन गोपियोंका नाम है जो **नित्यप्रियाओं**के अंशसे श्रीकृष्णके सन्तोषके लिए उस समय देवीके रूपमें जन्म लेती हैं जब स्वयं श्रीकृष्ण देवयोनिमें अंशावतार धारण करते हैं। उपर्युक्त **कन्या** गोपियाँ ये ही देवियाँ हैं जो नित्यप्रियाओंकी परम प्रिय सखियोंका पद पाती हैं।

नित्यप्रिया गोपियोंमें आठ प्रधान गोपियाँ **यूथेश्वरी**

होती है। प्रत्येक यूथमें **यूथेश्वरी** गोपीके भावकी असंख्य गोपियाँ होती हैं। राधा और चन्द्रावली सर्वप्रधान **यूथेश्वरी** गोपियाँ हैं। इनमें भी राधा सर्वश्रेष्ठ—महाभावस्वरूपा हैं। रूपगोस्वामीके अनुसार ये सुष्ठुकान्तस्वरूपा, धृतषोडशशृङ्गारा और द्वादशाभरणाश्रिता हैं। उनके अनन्त गुण हैं। राधाके यूथकी गोपियाँ भी सर्वगुणसम्पन्न हैं।

राधाकी ये **अष्टसखियाँ** पाँच प्रकारकी होती हैं—**सखी** (कुसुमिका, विन्ध्या आदि), **नित्य-सखी** (कस्तूरिका, मणिमंजरिका आदि), **प्राण सखी** (शशिमुखी, वासन्ती आदि), **प्रिय सखी** (कुरङ्गाक्षी, मदनालसा, मंजुकेशी, माली आदि) तथा **परम श्रेष्ठ सखी**। राधाकी **परम श्रेष्ठ सखियाँ** आठ हैं—ललिता, विशाखा, चम्पकलता, चित्रा, सुदेवी तुंगविद्या, इन्दुलेखा, रङ्गदेवी और सुदेवी हैं। चित्रा, सुदेवी तुंगविद्या और इन्दुलेखाके स्थानपर सुमित्रा, सुन्दरी तुंगदेवी और इन्दुरेखा नाम भी मिलते हैं (दे०—'युगल-सर्वस्व'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, खड्गविलास प्रेस, पटना १९११)।

ये **अष्टसखियाँ** सब गोपियोंमें अग्रगण्य हैं। इनकी एक-एक सेविका भी हैं जो **मंजरी** कहलाती हैं। **मंजरियों**के नाम ये हैं—रूपमंजरी, जीवमंजरी, अनंगमंजरी, रसमंजरी, विलासमंजरी, रागमंजरी, लीलामंजरी और कस्तूरीमंजरी। इनके नाम-रूपादिके विषयमें भिन्नता भी मिलती है। ये सखियाँ वस्तुत राधासे अभिन्न उन्हींकी कायव्यूहरूपा हैं। राधा-कृष्ण-लीलाका इन्हींके द्वारा विस्तार होता है। कभी वे, जैसे खण्डिता दशामें, राधाका पक्ष-समर्थन करके कृष्णका विरोध करती हैं और कभी, जैसे मानकी दशामें, कृष्णका विरोध करती हैं और कभी कृष्णके प्रति प्रवृत्ति दिखाते हुए राधाकी आलोचना करती हैं। परन्तु उन्हें राधासे ईर्ष्या कभी नहीं होती, वे कृष्णका संग-सुख कभी नहीं चाहतीं, क्योंकि उन्हें राधा-कृष्णके प्रेम-मिलनमें ही आत्मीय मिलन-सुखकी परिपूर्णताका अनुभव हो जाता है। अत वे राधा-कृष्णके मिलनकी चेष्टा करती रहती हैं।

वल्लभ-सम्प्रदाय (पुष्टिमार्ग) में भी शब्दोंके किञ्चित् हेर-फेरसे गोपियोंके सम्बन्धमें इसी प्रकारके विचार मिलते हैं। वहाँ भी **गोलोक**के नित्य रासकी गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके परमानन्दस्वरूपका विस्तार करनेवाली, उन्हींकी सामर्थ्यशक्ति हैं। उनकी उत्पत्ति स्वयं श्रीकृष्ण ब्रह्मके आनन्दकायसे हुई है। उनके बिना ब्रह्मका परमानन्दस्वरूप अपूर्ण है। गोपियाँ कृष्ण-धर्मीकी धर्म-रूपा हैं। राधा उन गोपियोंमें पूर्ण आनन्दकी सिद्ध-शक्ति हैं, अत वे स्वामिनी हैं। राधा और गोपियोंके रूपमें रस-रूप कृष्ण-ब्रह्म अपना प्रसार करके उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं जैसे बालक अपना प्रतिबिम्ब देखकर प्रसन्न होता है।

अवतार-दशामें परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण-ब्रह्म अपने सम्पूर्ण रस-परिकर—राधा, गोपी, गोप, गो, वत्स आदि—तथा ***लीलाधाम***के साथ व्रजमें प्रकट होते हैं। अवतार-लीलाकी गोपियोंके वल्लभमतमें भी **स्वकीया** और **परकीया**, दो भेद किये हैं, केवल उनके नाम भिन्न हैं। एक प्रकारकी गोपियाँ **अनन्यपूर्वा** कही गयी हैं, जो पुन दो प्रकारकी हैं—एक, कुमारियाँ जो कृष्णको पतिके रूपमें पानेकी साधना करते हुए सदैव अविवाहित रहती हैं और दूसरी वे जिनका कृष्णके साथ विवाह होता है। ये दोनों प्रकारकी **अनन्यपूर्वा** गोपियाँ कृष्णका ही वरण करती हैं। ये गोपियाँ **पूर्वराग**की अवस्थाके बाद कुलकी मर्यादा और लोककी लज्जा त्यागकर कृष्णसे मिलती हैं। **अनन्यपूर्वा** गोपियाँ वस्तुत **स्वकीया** हैं।

अन्यपूर्वा गोपियाँ **परकीया** कही जा सकती हैं, क्योंकि वे विवाहिता होती हैं और अपने लौकिक पतियोंसे सम्बन्ध त्यागकर **जार** भावसे श्रीकृष्णको प्रेमी-रूपमें प्राप्त करनेकी लालसा रखती हैं। लोक, वेद और कुलकी मर्यादाओंका उन्हें उल्लङ्घन करना पड़ता है।

इन दो प्रकारकी गोपियोंके अतिरिक्त एक **सामान्या** गोपियाँ और कही गयी हैं जो निरन्तर कृष्णके बालरूपके प्रति यशोदाकी तरह वात्सल्य स्नेह करती हैं। चैतन्यमतमें स्वकीया-परकीयाके अतिरिक्त तीसरे प्रकारकी **साधारणी** वल्लभाएँ कही गयी हैं, जो कुब्जाकी तरह केवल कामवासनाकी परितृप्तिके लिए प्रेम करती हैं। वल्लभमतकी सामान्या गोपियोंसे वे नितान्त भिन्न हैं। वल्लभमतमें वात्सल्यभावको जो महत्ता दी गयी है उसे देखते हुए इस भावकी गोपियोंका एक भिन्न वर्ग रखना समीचीन है।

पुष्टिमार्गीय भक्तिका प्रथम सोपान वात्सल्यभावकी भक्ति ही है, जिसे **प्रवाही पुष्टि भक्ति** कहते हैं। प्रवाही पुष्ट भक्त **सामान्य** गोपियाँ उच्च भक्त हैं। **अनन्यपूर्वा** गोपियाँ उच्चतर भक्त हैं, क्योंकि उनमें **पूर्वराग**की अवस्थामें मर्यादाका भाव रहता है। उनकी भक्ति **मर्यादा-पुष्टि** भक्ति है। उच्चतम भक्ति **पुष्टि-पुष्टि भक्ति** होती है जो **जार** भावकी होती है। **अन्यपूर्वा** गोपियाँ ही इसकी अधिकारिणी होती हैं। इस प्रकार वल्लभमतमें भी चैतन्यमतकी भाँति **परकीया-भाव**की ही सर्वोच्च महत्ता है। रास-रसका सुख केवल अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा गोपियोंको ही मिलता है।

श्रीमद्भागवतकी सुबोधिनी टीकाके रासपंचाध्यायी 'फल-प्रकरण'में वल्लभाचार्यने रासकी इन दो प्रकारकी गोपियोंको पुन **तामस, राजस, सात्त्विक,** तीन गुणोंके प्रभावसे उनके भेदके अनुसार नौ और नौ अठारह भेदोंमें वर्गीकृत किया है। इनके अतिरिक्त उन्नीसवीं प्रकारकी गोपी ***गुणातीता*** या ***निर्गुणा*** कहलाती हैं। वल्लभाचार्यने इन गोपियोंमें राधाका कोई उल्लेख नहीं किया। वल्लभ-सम्प्रदायमें राधाका माहात्म्य विट्ठलनाथके समयमें प्रतिष्ठित हुआ। यह अनुमान निराधार नहीं है कि पुष्टिमार्गमें राधा और गोपी भावकी इतनी महत्ता बहुत कुछ गौड़ीय तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायोंके सम्पर्कका परिणाम है। गोपियोंके उपर्युक्त वर्गीकरणसे इसकी पुष्टि होती है।

यद्यपि गोपियाँ कृष्णकी रस-शक्ति हैं, उनसे अभिन्न हैं, परन्तु लीलामें वे भिन्न तथा भक्तोंमें आनन्द-भावका आविर्भाव करनेवाली रसात्मक शक्तिकी प्रतीक भी हैं। राधा रस-सिद्धिकी प्रतीक हैं तथा अन्य गोपियाँ गोपीस्वरूप बननेकी कामना करनेवाले भक्तोंकी प्रेमभक्ति साधनाकी

विविध स्थितियोंकी प्रतीक है।

वल्लभसम्प्रदायमें चैतन्यमतकी तरह गोपियोंके यूथोंके विवरण तो नहीं है, परन्तु राधा और चन्द्रावलीको अन्य शक्ति-स्वरूपा गोपियोंकी स्वामिनी, सिद्धशक्ति-स्वरूपा कहा गया है। अन्य गोपियाँ इन्हींकी सखियाँ हैं। यहाँ भी मुख्य आठ सखियाँ मानी गयी हैं, परन्तु नामोंमें कुछ अन्तर है। पुष्टिमार्गी **अष्टसखियाँ** हैं—चम्पकलता, चन्द्रभागा, विशाखा, ललिता, पद्मा, भामा, विमला और चन्द्ररेखा। मधुरभावके भक्त सखीरूप होते हैं। अष्टछापके परम भगवदीय आठ भक्त, जो सख्य भक्ति करनेके कारण गोचारण-लीलाके **अष्टसखा** (दे०) कहे गये हैं, मधुरभाव सिद्ध कर लेनेके कारण निकुञ्जलीलाकी अष्टसखी भी बताये गये हैं। इस प्रकार सूरदास चम्पकलता, परमानन्ददास चन्द्रभागा, कुम्भनदास विशाखा, कृष्णदास ललिता, छीतस्वामी पद्मा, गोविन्दस्वामी भामा, चतुर्भुजदास विमला तथा नन्ददास चन्द्ररेखाका भाव सिद्ध किये हुए सखीभावके भक्त हैं।

अष्टछाप-कवियोंमें सूरदासके काव्यमें माधुर्य भक्तिका सबसे अधिक विशद और विस्तृत रूप मिलता है। उन्होंने राधा और कृष्णको प्रकृति और पुरुषरूपमें वर्णित किया है तथा अन्य गोपियोंको राधाकी विविध प्रेमावस्थाकी सखियोंके रूपमें। इन सभी कवियोंने राधा और गोपियोंको एक ओर तो कृष्ण-ब्रह्मकी आनन्दरूप-प्रसारिणी शक्तिके रूपमें चित्रित किया और दूसरी ओर दाम्पत्य या कान्ताभावसे भक्ति करनेवाले अनन्य भक्तोंके रूपमें। सूरदासने राधाके अतिरिक्त ललिता और चन्द्रावलीका विशेष उल्लेख किया है और उन्हें राधाकी परम प्रिय, घनिष्ठ सखियोंके रूपमें 'मान' और 'खण्डिता'के प्रकरणोंमें चित्रित किया है। 'खण्डिता' प्रकरणोंमें इन दोके अतिरिक्त सूरदासने शीला, सुखमा, कामा, वृन्दा, कुमुदा और प्रमदाका उल्लेख किया है। गोपियोंमें कृष्ण-प्रेमकी अधिकारिणी ये ही हैं। परन्तु इनमेंसे किसीका राधासे ईर्ष्याभाव नहीं है। वास्तवमें ये राधासे ही नहीं, कृष्णसे भी अभिन्न हैं। सूरदासने कहा है—'राधिका गेह हरि-देहवासी। और तिय घरनि घर तनु-प्रकासी॥ ब्रह्म पूरन द्वितिय नहीं कोऊ। राधिका सबै, हरि सबै वोऊ॥ दीप सौं दीप जैसे उजारी। तैसैं ही ब्रह्म घर घर विहारी॥' (सू०सा० सभा पद ३११३)।

सूरदासने 'दानलीला'के प्रसंगमें गोपियोंकी महिमा बताते हुए उन्हें श्रुतिकी ऋचाएँ बताया है। कृष्णके सगुण परमानन्दस्वरूपके देखनेकी श्रुतियोंकी इच्छा पूरी करनेके लिए ब्रह्माने जब **निज धाम—नित्यवृन्दावन** दिखाया, जहाँ प्रकृतिकी रमणीय शोभाके बीच किशोर श्याम गोपियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं, तब श्रुतियोंने गोपीरूप पानेका वरदान माँगा। पूर्ण परमानन्द ब्रह्मने वरदान दिया कि जब मैं भरतखण्डके मथुरामण्डलमें, जो हमारा निज धाम है, गोपवेश धारण करूँगा तब तुम गोपी होकर मुझसे प्रेम करोगी। इस प्रकार वेद-ऋचाओंने गोपी बनकर हरिके साथ विहार किया। ब्रह्मा कहते हैं—'जो कोउ भरताभाव हृदय धरि हरि पद ध्यावै। नारि-पुरुष कोउ होइ श्रुतिऋचा गति सो पावै॥ तिनकी पदरज कोउ जो वृन्दावन भू माह। परमे सोऊ गोपिका-गति पावै सशय नाहिं॥' सूरसागरके इस पद(सभा पद १७९३)के वेंकटेश्वर प्रेसके सस्करण(सं० १९८० वि०)के पाठमें त्रिपद वामन-पुराणकी साक्षी दी गयी है। वास्तवमे गदाधरदास द्विवेदी लिखित 'सम्प्रदाय-प्रदीप' नामक पुस्तकके द्वितीय प्रकरणके १ से ३० श्लोकोंका इस पदसे शब्दश साम्य पाया जाता है। विद्याविभाग, काकरोलीसे प्रकाशित यह पुस्तक सवत् १६१० की लिखी कही गयी है। प्रश्न उठता है कि इन दोनोंमें मूल कौन है और अनुवाद कौन? जो हो, पुष्टिमार्गमें गोपियोंकी इस प्रकारकी महिमा प्रचलित रही है। उपर्युक्त **भर्ता-भाव** अर्थात् **गोपी-भाव** भक्तिका सर्वोच्च भाव माना गया है।

गौडीय वैष्णव और वल्लभसम्प्रदायोंमें गोपी और **गोपी-भाव**की जो महत्ता दी गयी उसे ही थोड़े-बहुत विवरण और अवधान सम्बन्धी अन्तरोंके साथ कृष्ण-भक्तिके अन्य सम्प्रदायोंमें भी अपनाया गया है। इन सम्प्रदायोंमें **राधा-वल्लभीय** (दे०) और **सखी सम्प्रदाय** विशेष उल्लेखनीय है। इन दोनोंमें ही राधा-कृष्णको अद्वय मानकर उनकी सखियोंको भी उन्हींका एक अभिन्न अग माना गया है। अत भक्तगण गोपियोंके सखी-भावको अपनानेके लिए ही लालायित रहते हैं। वे गोपियोंके स्वरूपका ध्यान करते हुए उन्हींकी तरह आचरण करते हैं तथा उनके भावको दृढ करनेकी चेष्टा करते हैं। उनकी सबसे बड़ी आकाक्षा यही होती है कि किसी प्रकार उन्हें युगल मूर्तिके सन्निकट रहकर उनकी परिचर्या करनेका अवसर मिले।

[सहायक ग्रन्थ—उज्ज्वल नीलमणि (सस्कृत) · रूपगोस्वामी, श्रीसुबोधिनी भाष्य वल्लभाचार्य, सम्प्रदाय-प्रदीप गदाधरप्रसाद द्विवेदी, सूरसागर सूरदास, अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय दीनदयालु गुप्त, सूरदास ब्रजेश्वर वर्मा, ब्रजबूलि, (अंग्रेजी) सुकुमार सेन, श्रीराधाका क्रम-विकास(हिन्दी अनुवाद) शशिभूषणदास गुप्त।]—ब्र० व०

गोपीचन्द्र—गोपीचन्द्रकी लोकगाथा उत्तरी भारतमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। नाथसम्प्रदायके अनुयायी साधु जो 'जोगी'के नामसे विख्यात है, सारगी बजाते हुए गोपीचन्द्र-की गाथाको गा-गाकर भिक्षाकी याचना करते है। पहिले लोगोंका यह विश्वास था कि गोपीचन्द्रकी गाथा जोगियोंके उपजाऊ मस्तिष्ककी उपज है, परन्तु आधुनिक अनुसन्धानों-से पता चला है कि यह गाथा ऐतिहासिक आधारपर प्रतिष्ठित है। बुकानन हैमिल्टन तथा ग्रियर्सनने प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध किया है कि गोपीचन्द्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं।

गोपीचन्द्रके गीतमें सन्निहित परम्पराके अनुसार इनकी जन्मभूमि उत्तरी बगालके रगपुर जिलेमें मानी जाती है। ग्रियर्सनने उस स्थानका भी पता लगाया है जो गोपीचन्द्र-की माता 'मयनामती'के नामके कारण 'मयनामतीर कोट' कहलाता है। गोपीचन्द्रके पिताका नाम मानिकचन्द्र था जो उत्तरी बंगालमें रगपुर जिलेमें राज्य करते थे। इनकी जाति गन्धवणिक् थी। इनकी स्त्रीका नाम 'मयनामती' था जो योगविद्यामें बड़ी निपुण थी। मानिकचन्द्रके भाईका नाम धर्मपाल था। बुकाननने लिखा है कि इनका सम्बन्ध

बंगालके सुप्रसिद्ध पाल-राजाओंमें था। ग्रियर्सनका भी यही मत है।

मानिकचन्द्रकी मृत्युके पश्चात् उनकी स्त्री मयनामतीने अपने अलौकिक योग-प्रभावसे यमपुरीको घेर लिया। तब उसके गुरु गोरखनाथने उसे पुत्रोत्पत्तिका वरदान दिया। इस प्रकार गोपीचन्द्रकी उत्पत्ति हुई। जब गोपीचन्द्र बड़े हुए तब उनका विवाह राजा हरिश्चन्द्रकी पुत्री अदुनासे हुआ। साथ ही पुरस्काररूपमें अदुनाकी बहन पदुना भी प्राप्त हुई। मयनामती योग-बलसे यह जानती थी कि अठारह वर्षकी आयुमें यदि मेरा पुत्र योगी न हुआ तो उसकी मृत्यु हो जायगी। अत राज्य-सुख तथा विषय-वासनामें फँसे हुए गोपीचन्द्रको उसने संन्यास ले लेनेका उपदेश दिया। गोपीचन्द्रने हाडीसिद्धको अपना गुरु बनाया और घर तथा राज्य छोड़कर जोगी हो गये। अदुना तथा पदुनाने इन्हें ऐसा न करनेके लिए बड़ा आग्रह किया, परन्तु उन्होंने किसीकी बात नहीं मानी। हाडीसिद्धने अपने शिष्य गोपीचन्द्रकी साधनाकी परीक्षा लेनेके लिए इन्हें हीरा नामक वेश्याके हाथों बेच दिया, जिसने इनसे अपनी वासनाकी पूर्ति न करनेके कारण बड़े कठोर तथा नीच कार्मोको करनेके लिए कहा। मयनाको जब अपने पुत्रकी दयनीय दशाका पता चला तो उसने हाडीसिद्धकी सहायतासे इन्हें हीरा वेश्याके यहाँसे बारह वर्षोंके पश्चात् मुक्त कराया। गोपीचन्द्र फिर घर लौटकर आये और पुन राज्य-सुख भोगने लगे।

विद्वानोंने अनेक ऐतिहासिक प्रमाणोंके आधारपर गोपीचन्द्रका आविर्भाव-काल ११वीं शताब्दीका पूर्वार्ध माना है। दक्षिणके राजा राजेन्द्र चोलके तिरुमलाईके शिलालेखसे तथा फरीदपुर और ढाकामें प्राप्त ताम्रलेखोंसे इस सिद्धान्त-की पुष्टि होती है।

गोपीचन्द्रकी गाथाका प्रचार पंजाबसे लेकर बंगालतक पाया जाता है। साथ ही गुजरात तथा महाराष्ट्रमें भी इनकी कथाका प्रचार है। इसके श्रेय-विस्तारके द्वारा ही इस कथाकी लोकप्रियताका अनुमान किया जा सकता है। विभिन्न प्रान्तोंमें प्रचलित गोपीचन्द्रके गीतोंके कथानकमें थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है। मोहन सिंहने 'उदास गोपीचन्द्र' नामक पंजाबी लोकगाथाका उल्लेख किया है। लक्ष्मणदासने गोपीचन्द्रके हिन्दी गीतका सम्पादन किया है। बँगलामें गोपीचन्द्रके गीतोंका संकलन तथा सम्पादन भवानीदासने किया है। कलकत्ता विश्वविद्यालयसे 'गोपीचन्द्रेर गान' नामसे इनका प्रकाशन हुआ है।

गोपीचन्द्रकी गाथा बड़े सुन्दर तथा मनोहर पद्योंमें कही गयी है। जब राजा गोपीचन्द्र संन्यास लेनेके लिए घरसे विदा हो रहे ह, उस समय उनकी रानियोंका विलाप बड़ा मर्मस्पर्शी है। यह पाषाण-हृदयको भी एक बार पिघला देता है। सारंगी बजाकर जब 'जोगी' इस गीतको लयसे गाने लगते है तो श्रोताओंकी आँखें आँसुओंसे छलछला उठती हैं। अठारह वर्षकी भरी जवानीमें राज्यके सुखों तथा अदुना और पदुनाके प्रेमको ठुकराकर योगी होनेकी कहानी गोपीचन्द्रके अलौकिक त्यागकी कथा है। इसी कारण यह श्रोताओंको इतनी मार्मिक लगती है। —कृ० दे० उ०

गोपी-भाव—दे०—'गोपी'।

गोमांस—दे०—'खेचरी'।

गोरखपंथ—दे०—'नाथ-सम्प्रदाय'।

गोलोकलीला—दे०—'अक्षर-धामलीला' तथा 'नित्यलीला'।

गोष्ठी—एक अंकका उपरूपक है। पात्रोंमें नौ या दस पुरुषों तथा पाँच या छ स्त्रियोंका व्यापार रहता है। इसमें काम-शृंगारकी प्रधानता, कैशिकी वृत्तिका प्रयोग, उदात्त वचनोंकी योजना तथा गर्भ और विमर्श सन्धियोंको छोड़कर शेष सन्धियोंका निर्वाह रहता है। शेष सब बातोंमें नाटकसे समानता है। उदाहरण—'रैवत-मदनिका।' —वि० रा०

गौडी रीति—दे०—'रीति', दूसरी।

गौण वस्तु—दे०—'प्रासंगिक वस्तु'।

गौणी भक्ति—देवार्चन, भजन-सेवाकी ओर प्रवृत्तिका नाम गौणभक्ति अथवा साधनभक्ति है। यह **पराभक्ति**की भूमिकामें प्रविष्ट होनेका प्रथम सोपान है। पराभक्तिकी साधनामें जो नाना प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित होती हैं वे गौणी भक्ति द्वारा दूर हो जाती है। नारदीय भक्तिसूत्रमें गुणभेद अथवा आर्तादि भेदसे इसके तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं—'गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा।' (५६)। गुणभेदसे प्रकार (१) **सात्त्विकी**—भक्तिके लिए ही की जानेवाली पूजा (श्रीमद्भागवत ३।२९।१०), (२) **राजसी**—विषय, यश और ऐश्वर्यकी कामनासे प्रेरित होकर की जानेवाली पूजा (भागवत ३।२९।९), (३) **तामसी**—हिंसा, दम्भ, मत्सरता सहित की जानेवाली पूजा (भागवत ३।२९।८)। आर्तभेदसे प्रकार (१) **अर्थार्थी**—संसारी पदार्थ—धन, पुत्र, कलत्रादिके लिए की गयी पूजा, (२) **आर्त**—दु:ख या संकट-निवारणार्थ की जानेवाली पूजा, (३) **जिज्ञासु**—भगवान्‌को जाननेकी इच्छासे की जानेवाली पूजा। अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु—इन तीनों प्रकारके भक्तोंकी पूजा सकाम भक्ति कहलाती है। गौणी भक्तिमें तपोभक्तिकी अपेक्षा राजसी और रजोगुणी (राजसी) भक्तिकी अपेक्षा सात्त्विकी भक्ति श्रेष्ठ है। इसी प्रकार अर्थार्थीकी अपेक्षा जिज्ञासु तथा जिज्ञासुकी अपेक्षा आर्त भक्ति श्रेष्ठ है। (शाण्डिल्यसूत्र ५६)। श्रीमद्भगवद्-गीतामें भक्तोंके अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकार बतलाये गये हैं और ज्ञानीको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। (अध्याय ७।१६) —वि० मो० श०

गौणी लक्षणा—प्रयोजनवती लक्षणाके सारोपा तथा साध्यवसाना भेदोंका एक प्रकार, जिसमें लक्ष्यार्थ सादृश्य सम्बन्धके आधारपर ग्रहण किया जाता है। सादृश्यका अर्थ है गुणोंकी समानता। इस लक्षणाका मूल 'उपचार' कहा गया है, 'साहित्यदर्पण'के अनुसार जिसका अर्थ है 'दो अत्यन्त विभिन्न प्रतीत होनेवाले पदार्थोंमें सादृश्यके अतिशयमें भेदका न जान पड़ना।' उदा०—'उदित उदयगिरि मंचपर, रघुबर बाल पतंग। बिगसे सन्त-सरोज सब, हरषे लोचन-भृंग।' (तुलसी र० म० से)। इसमें रामको 'बाल पतंग' कहनेमें मुख्य अर्थका बाध है और रामकी प्रभा उदयकालीन सूर्यके समान है, यह भिन्न अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया गया है। साथ ही रामकी शरीर-कान्तिका सौन्दर्य व्यक्त करना प्रयोजन है जो सादृश्य-सम्बन्धपर आधारित है। अत यहाँ गौणी लक्षणा है।

गौरवगीति–दे०—'प्रशस्तिगीति'।

ग्रामगीत–ग्रामगीत शब्दसे ग्रामविषयक या ग्राममें गाये जानेवाले, गाँवसे लिये गये या ग्रामनिवासियोंके गीत-जैसे अर्थ मिलते है, किन्तु हिन्दीमें कहीं-कहीं इसे लोकगीत-का पर्याय मान लिया गया है। वस्तुत ग्रामगीत शब्दका प्रयोग करनेवाले आरम्भमें लोकगीतका उतना विस्तृत अर्थ नहीं समझते थे कि उसमें ग्रामगीत भी सम्मिलित किये जा सकें। उन्होंने सामान्यत मनुष्यके तीन समुदाय समझे। पहला जंगली या आदिम। इन्हें ही मूल अर्थमें 'फोक' या लोक कहा गया। बहुधा लोकवार्ताके विद्वानोंने जंगली जातिके गीतोंको ही लोकगीत माना, उन्हींको लोकगीतके रूपमें रखा। दूसरा मनुष्य-समुदाय था ग्रामवासी या ग्रामीण। ये ग्रामीण जन चतुर्दिक् सभ्यताके क्षेत्रमें आवृत रहते हैं। इनके गीत ही ग्रामगीत कहे गये। ये ग्रामीण 'फोक'के सकुचित पुरातन अर्थमें लोक नहीं थे। तीसरा समुदाय नागरिकोंका था। इनके पास था शास्त्रीय सगीत। इस दृष्टिसे ग्रामगीतोंका रूप स्पष्ट होता है। ग्रामगीत वस्तुत वे गीत हैं जो ग्रामोंमें प्रचलित मिलते हे। ग्राम तो एक नागरिक इकाई हे। उनमें भी लोक-मानस विद्यमान है। इस सिद्धान्तसे ग्रामगीत भी लोकगीत हैं, केवल ग्रामके स्थानीय तत्त्वोंसे वे गीत-विशेषित हो जाते हैं। —स०

ग्राम्य–दे०—'अर्थ-दोष', छठा तथा 'शब्द-दोष', दसवाँ 'पद-दोष'।

ग्लानि–प्रचलित तेंतीसमेंसे एक सचारी भाव। भरतके अनुसार–वमन, रेचन, रोग, अनाहार, मानसिक चिन्ता, मदपान, प्यास तथा निद्रा आदिसे यह उत्पन्न होता है और इसके अनुभाव हैं, निर्मल वाणी, कान्तिहीन दृष्टि, पीला चेहरा, मन्द गति तथा निर्बलता आदि (नाट्य० ७ ३१)। विश्वनाथने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है–'रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसम्भवा।ग्लानिर्निष्प्राण-ताकम्पकार्यानुत्साहतादिकृत्' (सा० द० ३ १७०)। अर्थात् रतिजन्य परिश्रम, मनस्ताप, भूख, प्यास आदिसे उत्पन्न विकलताको ग्लानि कहते हैं। इसमें कमजोरी, कम्प, काम करनेमें अनुत्साह आदि अनुभाव पाये जाते हैं। रामचन्द्र शुक्लने ग्लानिकी परिभाषा कुछ दूसरे ढंगकी दी है–'किसी भावके वेगके कारण जो मानसिक शैथिल्य होता है उसे ग्लानि कहते हैं' (र० मी० पृ० २२४)। इसके अनन्तर उन्होंने अपनी परिभाषाको और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'दु ख और मनस्तापसे उत्पन्न शिथिलता ही सचारीके रूपमें कही जा सकती है'। परिश्रमजन्य ग्लानिको वे श्रम(दे०)से भिन्न नहीं मानते।

हिन्दीके गीतिकालके आचार्योंने प्राय सस्कृत परम्परा-का अनुसरण किया है। देव तथा पद्माकर आदिके लक्षण समान है–'भूखहिं तें कि पियास तें, कै रतिश्रम तें अंग। विह्वल होत गलानि सों, कम्पादिक स्वर भग।' (जगद्० ४७५)। पद्माकरके उदाहरणमें नायिकाकी शिथिलतामें ग्लानिके स्थानपर श्रमका भाव प्रधान है–'राजि रही रति आँखिनमें मनमें धौं कहा तनमें सिथिलाई।' (जगद्० ४७६)। परन्तु रति-श्रमको सस्कृत तथा हिन्दीके आचार्योंने समान रूपसे इसके अन्तर्गत माना है। अयोध्यासिंह उपाध्यायने यशोदाके चित्रणमें इस सचारीकी व्यंजना की है–'आवेगोंसे विपुलविकला शीर्णकाया कृशागी। चिन्तादग्धा व्यथितहृदया शुष्कओष्ठा अधीरा। आसीना थी निकट पतिके अश्रुनेत्रा यशोदा। छिन्ना दीना विनत-वदना मोहमग्ना मलीना।' (प्रि० प्र०)। —व० सिं०

घत्ता–मात्रिक अर्द्धसम छन्द। घत्ताके विषम चरणोंमें १८ और सम चरणोंमें १३ मात्राएँ होती हैं और अन्तमें तीन लघु होते हैं। घत्ता अपभ्रशका एक बहुत प्रिय छन्द है। अपभ्रशके चरित काव्योंमें सन्धियोंके प्रारम्भमें प्राय घत्ताका प्रयोग कवियोंने किया है। जिस प्रकार हिन्दीमें चौपाई-दोहा शैलीमें चौपाईके पश्चात् दोहेका, उसी प्रकार अपभ्रश चरित-पुराण-कृतियोंमें घत्ताका प्रयोग मिलता है। स्वतन्त्र रूपसे घत्ताका प्रयोग अपभ्रश-कृतियोंमें कम ही मिलता है। 'प्राकृतपैंगलम्'में घत्ताको द्विपदी कहा है (१ ९९)। हिन्दीमें घत्ताका प्रयोग बहुत कम मिलता है। केशवदास तथा सूदन जैसे कवियोंने इसका प्रयोग किया है। घत्ता शब्दकी व्युत्पत्ति बहुत स्पष्ट नहीं हे। उदा०–'मोहन मुख आगे अति अनुरागे मैं जु रही ससि छवि निदरि।' (भिखारीदास)। 'स्वयम्भू छन्द' तथा कुछ अन्य कृतियोंमें घत्ताके अनेक भेदोंका भी उल्लेख किया गया है। अपभ्रंशका यह प्रसिद्ध छन्द हिन्दी कवियोंका प्रिय क्यों नहीं बन सका, कदाचित् इसका कारण दोहेकी लय और लोकप्रियता है। —रा० सिं० तो०

घत्तानंद–मात्रिक अर्द्धसम छन्द, 'प्राकृतपैंगलम्'-(१ १०२)के अनुसार घत्ताके समान दो ही पक्तियोंमें घत्तानन्द भी लिखा जाता है। इस प्रकार इसको भी द्विपदी कहा जा सकता है। घत्तानन्दकी प्रत्येक पंक्तिमें ११, ७, १३ के विरामसे ३१ मात्राएँ होती हे। घत्तानन्दका प्रयोग अपभ्रशमें मिलता है। हिन्दीके कवियोंने इसका प्रयोग बहुत कम किया है। सूदनने 'सुजान-चरित'में प्रयोग किया है। उदा०–'जय कन्दिय कुलकस, वलिविध्वस केशिय वक दानव दरन।' (गदाधर छन्दोमजरी पृ० ७७)। —रा० सिं० तो०

घनवाद–घनवाद (क्यूबिज्म) चित्रणकी एक शैली है जिसका विकास प्रथम महासमरके पूर्व इसी शतीमें हुआ। इसका आरम्भ प्रसिद्ध फ्रेंच चित्रकार सेजानकी अंकन-शैलीसे सम्बन्ध रखता है। सेजान पहला कलावन्त था जिसने भग-रेखाओं(कर्व)को कोणिक रूप दिया और घन रूपको निखारकर स्पष्ट किया, उसपर बल दिया। वस्तुओंकी घनताकी परिचायक इस शैलीकी शक्ति लोगोंने पहचानी और अनेक चित्रकारोंने तत्काल इस पद्धतिसे वर्ण और रेखाओं द्वारा अंकन करना प्रारम्भ कर दिया।

घनवादकी दृष्टि प्रारम्भमें लोगोंको खनिज-विज्ञानसे मिली। उसके अनुसार कण अथवा अणु (रवा) ही सारे भौतिक पदार्थोंका प्राथमिक रूप था। इससे चित्रको 'क्रिस्टल' या कणत्व प्रदर्शित करना चाहिये। पदार्थोंके सारे अनन्तर विकार-रूप इन्हीं कणोंके बदलते रूपमे प्रभावित होते हैं। किनारे और कोण इस दिशामें बडे महत्त्वके होते हैं, इससे मनुष्य और अन्य प्राकृतिक अवयवोंको प्राथमिक रूप देनेके लिए यह आवश्यक है कि

वर्तुल या भग-रेखाएँ सर्वथा त्याग दी जायँ और वे प्राथमिक रूप ज्यामितिक आकृतियोंसे उपलब्ध किये जायँ। इसीसे प्रारम्भिक घनवादी चित्रोंकी भूमि रवादार मिश्रीके रूपमें तैयार की गयी। इसी प्रकार समुद्री दृश्योंमें भी लहरोंके किनारे बहुत पैने कर दिये गये। इस नयी चित्र-शैलीके प्रधान चित्रकार पाब्लो पिकासो और जार्ज ब्राक हैं। इनमेंसे किसको इसका प्रवर्तक माना जाय इस विषयमें चित्रालोचकोंका मतैक्य नहीं, परन्तु निस्सन्देह ये दोनों ही असाधारण प्रतिभासम्पन्न हैं।

घनवादका प्रधान सिद्धान्त यह है कि शक्ति सौन्दर्य है। दूसरे, सीधी रेखा टेढ़ी या गोल (भग) रेखासे अधिक मजबूत होती है। विवेकतः इस सिद्धान्तको स्वीकार करना कठिन है, क्योंकि शक्ति ही यदि सुन्दर होती तब कम-जोर-कोमल कुसुम सुन्दर नहीं कहा जा सकता और यदि केवल सीधी रेखाएँ ही मजबूत समझी जातीं और गोल रेखाएँ कमजोर, तो पहलेसे बनते आते सीधे द्वारोंको मेहराबदार नहीं बनाया जाता।

जो भी हो, घनवाद अनेक प्रकारसे विकसित हुआ और चित्रणके क्षेत्रमें उसने असाधारण प्रगति की। उसीके प्रभावसे मूर्त अमूर्त होने लगा और भविष्यवाद (दे०), निर्माणवाद आदि अनेक चित्र-शैलियाँ कालान्तरमें विकसित हुईं। घनवादको साधारणतः हम पूर्व और उत्तर, दो शैलियोंमें बाँट सकते हैं। पहली शैलीका आरम्भ पिकासोने अपने प्रसिद्ध चित्र 'मातिलमें महिलाका मस्तक'-में किया। इसमें और इस प्रकारके दूसरे चित्रोंमें मानव शरीरको ज्यामितिक खण्डोंमें प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार मस्तकका कणीकरण लगता तो लकड़ीके तक्षित मस्तक-सा है, पर पारखी नेत्रोंके लिए उनका अर्थ है।

पहले कालमें तो मानव-पिण्डको ज्यामितिक खण्डोंमें बाँटकर ही छोड़ दिया गया था, जिससे उनकी कई सतहें या तल बन गये, अब इस उत्तरकालीन घनवादी शैलीमें उन कतलों, तलों, सतहों या प्लेन खण्डोंको फेंट दिया जाने लगा, जिससे आँखें कहीं चली गयीं, नाक कहीं जा पड़ी, हाथ और बाहें भिन्न-भिन्न दिशाओंमें जा लगीं। यह आवश्यक नहीं था कि दोनों नेत्र या दोनों बाहें बराबर-बराबर अपने नियत स्थानपर हों। यह कलाकार उनका प्राथमिक मौलिक तथ्य देख रहा था, अपनी विधिसे, विश्लेषणात्मक दृष्टिसे। सर्वात्मरूपमें पिण्डके अवयव प्रकट न थे, नेत्रोंको उनका स्वरूप गोचर नहीं होता था। इससे अनेक कोणोंसे देखनेके लिए उन्हें खण्डशः तोड़ टाला गया। फिर बिना किसी पद्धति या तरतीबके एकस्थ कर दिया गया। रूप अब प्रधान न था, कण प्रधान थे, खण्ड प्रधान थे। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण पिकासोके चित्र 'कानवाइलरका चित्र'में प्रस्तुत है। उस चित्रमें घड़ीकी चेन लगे वेस्टकोट, बायीं आँख, बायाँ कान और नाकके एक रुखका धुँधला आभास मिलता है, शरीरका शेष-सर्वस्व रसीदों और फाइलोंमें खो गया है। इनमें पहला यानी पूर्वकाल घनवादका विश्लिष्ट रूप प्रस्तुत करता है और उत्तरकाल उसका संश्लिष्ट रूप। भविष्यवाद, निर्माण-वाद आदि इसी उत्तरकालीन घनवादके प्रसार हैं।

टेकनीककी दृष्टिसे घनवादका आरम्भ सेजानने किया। उसने अंकनमें वजनकी व्यंजनाके लिए रंगका प्रयोग ब्लाक-रूपमें किया, परन्तु मूर्तनको उसने अक्षुण्ण रखा। रूपकी अरूपता उसने सिद्ध न की, उसका प्रतिनिधीकरण फलकपर बना रहा। परन्तु उस रूपकी इयत्ता सेजानके घनवादी अनुयायियों—पिकासो, ब्राक, देरें और लेजेने नष्ट कर दी। उन्होंने रूपको सर्वथा गौण कर दिया और सेजानकी मौलिक प्रक्रियामें एक नयी भाषाका विकास किया। घनवादकी इस नयी दृष्टिने यथार्थको सर्वथा तजकर वर्ण और रेखाके सौन्दर्यपर अपनी दृष्टि आरोपित की और प्रयास केन्द्रित किया और रूपका प्रायः पूर्णतः बहिष्कार कर दिया। अद्यावधि कलालोचनके सारे स्वीकृत सिद्धान्तों-को इस दृष्टिने चुनौती दे दी।

घनवाद भी प्रभाववाद (दे०)की ही भाँति पहले शाब्दिक रूपमें उपहासस्वरूप ही प्रयुक्त हुआ। चित्रकार मतीसने १९०८ ई० में घनवाद शब्दका प्रयोग एक ऐसे चित्रके सम्बन्धमें किया था, जिसके रूपायित विषयका निरूपण स्पष्टतः घनात्मक हुआ था। रूपात्मक प्रभाववाद-से तो यह शैली नितान्त दूर थी ही, आभ्यन्तरवादी उत्तर-प्रभाववादी दृष्टिकोणसे भी यह एक पग आगे थी, क्योंकि रूप-आकलनको इसने कोई महत्त्व नहीं दिया, केवल शुद्ध अमूर्त रूपके तथ्यको ही निरूपित करनेका प्रयास किया। इसके एक विशिष्ट रूप—वैज्ञानिक घनवाद—का व्याख्याता पिकासो है। उसने उसे उसके चरम निर्विकार रूपतक पहुँचाया। पिकासो और ब्राकके अतिरिक्त घनवादी शैली-के अन्य प्रधान चितेरे लेगे, ग्लीज, मैत्जिंगे और लोते हैं।

पाब्लो पिकासो (१८८१ ई०) मूल रूपमें स्पेनका निवासी है, पर अब पेरिसमें रहता है। आजके संसारका वह सबसे यशस्वी कलाकार है। आधुनिक चित्रांकनकी अनेकानेक शैलियाँ उसकी तूलिकासे आविर्भूत हुई हैं। आधुनिक फ्रेंच चित्रणकी घनवादी आदि अनेक—प्रायः सभी—शैलियोंका वह अग्रणी है। चित्रण, ग्राफ, पाटरी, मूर्तन (तक्षण), सभी क्षेत्रोंमें उसकी अप्रतिम मेधाने सफल प्रयोग किये हैं। उसकी प्रतिभा प्राचीनोंसे किसी मात्रामें कम नहीं है। १९०९ ई० और १९११ ई० के बीच उसने ब्राकके साथ-साथ विश्लेषणात्मक घनवादका अभ्यास किया, सन् १९१२ ई० के बाद संश्लेषणात्मक घनवाद-का। फिर तो उस दिशामें वह विविध प्रयोग करता गया और उसके प्रत्येक प्रयोगने चित्रकलाको एक नयी शैली दी। १९३७ ई० में उसने अपना प्रसिद्ध चित्र 'गेरनिका' अतियथार्थवादी—घनवादी शैलीमें अंकित कर जर्मन आतंकवादका विरोध किया।

जार्ज ब्राक (१८८२ ई०) भी फ्रेंच चित्रकार है और वह भी पिकासोके साथ घनवादका जन्मदाता माना जाता है। उसके साथ ही उसने भी घनवादकी विविध पूर्व और उत्तरकालीन शैलियाँ निर्मित कीं, बादमें फोव-आन्दोलनमें भाग लिया और घनवादी शैलीको फोवी शैलीके चटख रंग दिये। उसने चित्रमें दीवार कागज (wallpaper)-के टुकड़ोंका प्रयोग किया। इसके घनवादी चित्रोंमें गजब-का वर्ण प्रयोग हुआ है।

फरनान लेगे (१८८१ ई०) भी प्रधान फ्रेंच घनवादी चित्रकार है। विविध शैलियोंके भावसे गुजरता वह १९१० ई० में पिकासो और ब्राकसे मिला और उसने भी घनवादी शैली अपना ली। अलकर्ता होनेके कारण उसके चित्रोंमें बडी सफाई भी है। उसका चित्र 'वाजके ऊपर प्रोफील' बड़ा सुन्दर बन पडा है।

आल्वर ग्लीज (१८८१ ई०-१९५३ ई०) फ्रेंच घनवादी चित्रकार और उस शैलीका सिद्धान्त-निरूपक था। मैर्तिजगे-के साथ उसने घनवादी शास्त्रकी पहली पुस्तक 'दु क्युबिज्म' १९१२ ई० में प्रकाशित की। १९१९ ई० के बाद वह धार्मिक प्रेरणाओंके वशीभूत हो गया और अधिकतर धार्मिक चित्र ही बनाने लगा, पर उसकी शैली घनात्मक बनी रही। चटख रगोंका घनवादी विश्लेषण उसके चित्रों-का प्राण था। जॉं मेर्तिजगे (१८८३ ई०) भी ग्लीजकी ही भाँति घनवादी चित्रकार और सिद्धान्त-निरूपक था। पहले वह नवप्रभाववादियोंके प्रभावमें आया। फिर पिकासो और ब्राकके प्रभावसे घनवादके दायरेमें उसने ग्लीजके साथ घनवादके सिद्धान्तोंकी 'दु क्युबिज्म'में व्याख्या की। आन्द्रे लोते (१८८५ ई०) भी फ्रेंच घनवादी चित्रकार था। उसने अकनके साथ-साथ सिद्धान्तका चिन्तन किया। ज्यामितिक आकारोंपर उसने बड़ी सूझ और अर्थके साथ लिखा। क्लासिकल (शास्त्रीय) कलाका प्रसशक होता हुआ भी प्रवृत्तिसे वह आधुनिकतावादी था और पिकासो और ब्राकके सान्निध्यमें आते ही जैसे उसने अपनी सहजभूमि और प्रेरणा पा ली। उसने दलोनेकी प्रेरणासे घनवादी शैलीमें शोख रंगोंका प्रयोग किया।

[सहायक ग्रन्थ– मॉडर्न मूवमेंट इन आर्ट विलेन्स्की।] —भ० श० उ०

घनाक्षरी–मुक्तक दण्डकका एक भेद। इसके अन्य नाम कवित्त और मनहरण भी हैं। इसे मुक्तक वर्णिक छन्दकी कोटिमें माना जाता है। इसमें ३१ अक्षर होते हैं, १६ और १५ अक्षरपर यति होती है। गुर्वन्त होना आवश्यक है। घनाक्षरीवृत्तोंमें ३१ वर्णका कवित्त छन्द अन्य कवित्तोंसे सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय है। हिन्दी ब्रजभाषाका यह अपना छन्द है। विद्वानोंमें प्राय इसकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कोई निश्चित मत नहीं स्थापित किया जा सका है। कहते हैं, १४वीं शताब्दीमें मार्दगिकसेन कविने इस छन्दका आविष्कार किया था। यह छन्द ध्रुपदमें ठीक बैठता है। भक्तकालीन कवियों–विशेषत सूरदास(सूरसागर) और तुलसीदास(विनयपत्रिका)ने पदोंमें इस छन्दका प्रयोग किया है। सूरदासके पूर्व किसीने कवित्त लिखा था, इसका उदाहरण नहीं प्राप्त होता। इसका प्रारम्भिक प्रयोग अकबर दरबारके कवि गग, 'कवितावली' और 'रामचन्द्रिका'में मिलता है। ऐसा माना जाता है कि चारणों और भाटोंने इस छन्दका प्रयोग किया है, पर रासो ग्रन्थों(पृथ्वीराजरासो, परमालरासो)में इसका प्रयोग नहीं हुआ है। कवित्त संज्ञाका प्रयोग छप्पय छन्दके लिए किया गया है। इस छन्दके निर्माणमे अनुष्टुप् वर्णिक छन्दकी प्रेरणा विद्यमान है। वस्तुत ये छन्द वैदिक छन्दोंके वास्तविक उत्तराधिकारी हैं, जिनमें गण, मात्रा आदिका कोई बन्धन नहीं होता। संगीत और नाद-व्यजनाका जितना अच्छा उदाहरण रीतिकालीन तथा रीतिमुक्त कवियोंने इसमें प्रस्तुत किया है, वह अन्य छन्दोंमें दुर्लभ है। यद्यपि अपनी मुक्तताके कारण ये वृत्त मुक्तक हैं, किन्तु इनमें लालित्य लानेके लिए अनेक बातोंकी ओर ध्यान रखना आवश्यक है।

इस छन्दके ३१ वर्णोंमें प्राय १६ और १५ पर यति होती है, परन्तु समस्त चरणमें ८, ८, ८, ७, वर्णोंके बाद यतिका प्रयोग भी होता है। कभी-कभी शब्दके बीचमें यति पडती है तब ७ या ९ वर्णोंपर यति प्रतीत होती है, परन्तु लयानुसार यतिका क्रम पहले जैसा ही रहता है। इसके चारों चरणोंमें समान अन्त्यानुप्रास या ललितान्त्यानुप्रास होता है। चरणान्तमें मगण, रगण और सगण ही आ सकते हैं। सूक्ष्मत विचार करनेपर सम-विषम अक्षर-मैत्रीका नियम भी अनिवार्य है, केवल वर्णसख्या पूरी करनेसे छन्दकी लय नहीं बन जाती। सम-वर्णिक शब्दके पश्चात् सम-वर्णिक शब्द और विषम-वर्णिक शब्दके पश्चात् विषम-वर्णिक शब्दका प्रयोग अनुकूल पडता है। घनाक्षरीके अष्टक पर्वको दो चतुष्कोंमें विभक्त किया जा सकता है। वर्णिक चतुष्ककी मात्रा-सख्या ४ से ८ तक हो सकती है और ६ मात्राका वर्णिक चतुष्क घनाक्षरीके लिए सर्वाधिक अनुकूल है। इससे अधिक मात्राओंके चतुष्कोंमें घनाक्षरीका प्रवाह गम्भीर और मन्द हो जाता है तथा इससे कम मात्राओंके चतुष्कोंका प्रवाह सरल और क्षिप्र हो जाता है।

इस छन्दमें सम और विषम प्रयोगोंका ध्यान रखना इसलिए उचित है कि सम प्रयोग कर्ण मधुर होते हैं, इसी प्रकार विषम प्रयोगमें विषमके साथ विषम रख देनेसे 'विषस्य विषमौषधम्' हो जाता है, अर्थात् सुन्दर हो जाता है। एक, तीन या पाँच वर्णोंमें पूर्ण हो जानेवाले पद विषम और दो, चार और छमें पूर्ण होनेवाले सम कहलाते हैं। लयकी दृष्टिसे कवित्तोंमें माधुर्य लानेके लिए सम तथा विषम प्रयोगोंके सम्बन्धमें भानुने 'छन्दप्रभाकर'में ध्यान आकर्षित किया है। इसके रूप-विधानके सम्बन्धमें जगन्नाथप्रसाद 'रत्नाकर'ने विचार किया है। यह नियम प्राय ३ अक्षरोंमे न्यूनके शब्दमें लागू नहीं होते, क्योंकि उनमें मगणादिकी सम्भावना नहीं होती, परन्तु अन्यत्र इस सम्भावनापर यथोचित विचार कर लेना चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ये नियम उसी अवसरके निमित्त हैं जहाँ एक ही शब्दमें गण पडे। पर जहाँ शब्दों-में जोड-तोडमें गण होगा वहाँ ये नियम लागू नहीं होंगे।

इस छन्दमें प्रवन्ध-क्षमता कम है, अत इसका प्रयोग स्फुट रचनाओंमें अधिक हुआ है। यही कारण है कि यह रीतिकालका प्रचलित और प्रिय छन्द है। अनेक रसोंमें सफलतापूर्वक प्रयुक्त होनेपर भी यह छन्द शृङ्गार और वीर रसका विशिष्ट छन्द है। आधुनिक युगमें भी ब्रजभाषाके कवियोंमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रत्नाकर तथा खड़ीबोलीके कवियोंमें हरिऔध (रसकलश), मैथिलीशरण गुप्त (साकेत), अनूप शर्मा (सुमनाजलि), गोपालशरण सिंह, दिनकर (कुरुक्षेत्र) आदिने इसका प्रयोग किया है। वस्तुत इसे हिन्दीका राष्ट्रीय छन्द माना जा सकता है।

रीतिकालके कवियोंने इस छन्दमें बहुतसे प्रयोग किये हैं। सूदनने अपने 'सुजान-चरित'में इसका कवित्त-घनाक्षरी नामसे विशेष प्रयोग किया है—'जब होन असवार, भुवभारके निवारक बन्दि सरदार, बदनेनको कुँवार।' (२७ : ३, ४)। इनमें १७, १५ पर यति है और पहिले और तीसरे चरणमें ८, ९, ८, ८ तथा दूसरे और चौथेमें ८, १०, ८, ६ पर यति है तथा अन्तमें गुरु-लघु है। देवके प्रयोगोंमें कई विशेषताएँ हैं। कभी-कभी एक चरणकी मात्राएँ ३२ या ३३ हो गयी हैं—'कुँवर किशोरी मुख मोरी करै सखियन सों चोरा चोरी चितगति रोरी सी रची रही।' (र० वि० पृ० ५३)। इसमें ३२ अक्षर हैं। तुलसीदास और पद्माकरके कवित्तोंमें ८, ८, ८, ८, यतियोंमें १६ अक्षरोंका प्रयोग भी मिलता है। केशवदासका उदाहरण—'बानी जगरानीकी उदारता बखानी जाय, ऐसी मति कहौ धों उदार कौनकी भई।' (रा० च० . प्र० १ ?)। इस छन्दमें लयके अनुसार भाव और चित्रको व्यंजित करनेकी अपूर्व शक्ति है। —पु० शु०, ह० मो०

घोड़ी—बुड़-चढ़ीके गीत, दूल्हेको घोड़ीपर बिठाते समय गाया जाता है। इसमें घोड़ीकी सज्जा, चाल, उसके हाव-भाव और उसपर चढ़नेवाले वरके सौन्दर्य आदिका उल्लेख रहता है। घोड़ीके गीत मुसलमानोंके यहाँ खास तौरसे गाये जाते हैं। —र० अ०

चंचरी—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भानुके अनुसार 'छन्दप्रभाकर'(पृ० ८७)में इसका लक्षण र, स, ज, ज, भ, रके योगसे बताया गया है। (ऽ।ऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।।, ऽ।ऽ), 'प्राकृतपैंगल'में चर्चरी (२ · १८४), 'छन्दोनुशासन'(हेमचन्द्र)में उज्ज्वल (२ . ३१३) और 'छन्द सूत्र'में विबुधप्रिया (८ . १६) नाम दिया गया है। इस छन्दमें १०,८ वर्णोंपर यति होती है, पर पिंगलने ८,१० वर्णोंपर यति मानी है। इसका मात्रिक रूप गीतिका-छन्द है। सूदनने चर्चरी नामसे प्रयुक्त किया है (सुजान-चरित), पर केशवने चचरी नाम ही दिया है। उदा०—'माल श्रीरघुनाथके उर शुभ्र सीतहिं सो ठयी। अर्पियो हनुमन्तको तिन दृष्टि कै करुणामयी।' (रा०चं० २६ . ?३)।—पु०शु०

चंचला—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, 'प्राकृत-पैंगलम्'(१४ श० ६०)में उल्लिखित वर्णवृत्त (१७२)। ८ गुरु-लघुके योगसे यह छन्द बनता है। 'स्वयंभुच्छन्द'में (१, ४३) इसका नाम चित्रशोभा दिया है। केशवने इसका नाम ब्रह्मरूपक दिया है। उदा०—'अन्न देइ-सी सदेह राखि लेइ प्राणजात, राज बाप मालले करै जु पोषि दीह गात। दास होइ पुत्र होय शिष्य होय कोई माय, शासन न मानई तो कोटि जन्म नर्क जाइ।' (रा० च० ९ ९)। —पु० शु०

चंचलातिशयोक्ति—दे०—'अतिशयोक्ति', छठा भेद।

चंडाग्नि—वज्रयोगमें पवन-निरोधके उपरान्त अवधूती मार्गमें चण्डाग्निके प्रज्वलित करनेकी क्रियाका विधान है। यही चण्डाग्नि समस्त क्लेश और वासनाओंको भस्म कर देती है। शैव पद्धतिमें इसीको ब्रह्माग्नि कहा गया है। नाथपन्थी तथा सन्तोंमें यद्यपि इसे चण्डाग्नि नामसे नहीं पुकारा गया, किन्तु इसका वर्णन अवश्य मिलता है। इस अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए नौ इन्द्रियद्वारोंको पवनबन्ध द्वारा बन्द कर केवल दसवें द्वार—ब्रह्मरन्ध्र अथवा वैरोचन द्वारको उद्घाटित करना पड़ता है —ध० वी० भा०

चंद्र—दे०—'हठयोग', 'पिंट'।

चंद्र—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भानुके अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें १७ मात्राएँ होती हैं। सूरने वर्णनात्मक स्वलोंपर इसका भी प्रयोग किया है—'कियो अति मान वृषभानु बारी। देखि प्रतिबिम्ब प्रिय हृदय नारी।' (सू० सा० . ना० प्र० पृ० ३६५)।

चंद्रवर्त्म—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। रगण, नगण, भगण, सगणके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽ।ऽ, ।।।, ऽ।।, ।।ऽ), 'रत्नमंजूषा'(५ ३)में इसका वितान नाम दिया है। हेमचन्द्र (छ० २ १६१), जयदेव (छन्दो० ८ ४३), विरहाक(वृत्त० ३ ४४)ने चन्द्रवर्त्म नाम माना है। तुलसीकी चौपाइयोंमें इस छन्दके चरण मिल सकते हैं—'राम भक्तजन जीवन धनसे।' (बालकाण्ड)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—'स्नान दान जप जाप जु करियो। सोधि-सोधि उर माँचु जु धरियो। जोग जाग हम जा लग गहियो। रामचन्द्र सबको फल लहियो।' (रा० चं० ११ २)। —पु० शु०

चंद्रसखी—स्त्रियोंके भक्ति-गीत, चन्द्रसखी कृष्णाश्रयी शाखाकी लोक-गायिका हैं। इनके गीत, मालवा, राजस्थान, निमाड़ और ब्रजमें जनतामें प्रचलित हैं। इस कवयित्रीका काल १७वीं या १८वीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। चन्द्रसखीके भजन स्त्रियोंमें खूब प्रचलित हैं। —श्या० प०

चंद्रावल—सावनके दिनोंमें कुरुप्रदेश, बुन्देलखण्ड, राजस्थान और गंगाके मध्यवर्ती मैदानोंमें 'चन्द्रावल' अथवा 'चन्द्रावलि' नामक एक गीत-कथा प्रचलित है। किसी-न-किसी रूपमें यह कथा प्राय सभी जनपदोंमें उपलब्ध है। कथाकी रूपरेखा इस प्रकार है—'एक दिन मुगलोंकी सेनाने चन्द्रावलिके गाँवके निकट डेरा डाला। चन्द्रावलि माताके बरजनेपर भी घड़ा लेकर पानी भरने पहुँची। मुगलोंने उसे तम्बुओंके बीच डाल लिया। तब उसका पिता, भाई आदि बारी-बारीसे उसे छुड़ानेके लिए मुगलोंके पास पहुँचे। चन्द्रावलिको उन्होंने नहीं छोड़ा। तब धोखेसे चन्द्रावलिने तम्बुओंमें आग लगा दी और जल गयी।' 'चन्द्रावल' वस्तुत चन्द्रावलिके सम्बन्धमें गेय गीतोंके कथा-रूपकी संज्ञा है। बुन्देलखण्डमें 'मथुरावली'के नामसे जो गीत-कथा गायी जाती है, उसकी कथावस्तु भी चन्द्रावलके अनुरूप है। केवल चन्द्रावलिके स्थानपर मथुरावलीका प्रयोग किया जाता है। चन्द्रावलि कहीं-कहीं ब्याहता बतायी गयी है। वह अपने पति और ससुरकी लाज रखनेके लिए तथा पिता और भाईका मुख उज्ज्वल करनेके लिए मुगलोंको समर्पित होनेकी अपेक्षा अग्निकी लपटोंमें अपनी आहुति देकर कथाको कारुणिक स्थितिमें समाप्त करती है। पाठ-भेदकी दृष्टिसे शब्दोंमें यहाँ-वहाँ भेद स्वाभाविक है। कहीं मुगलोंके स्थानपर 'तुरुक'का प्रयोग है। इस प्रकार जलकर 'चन्द्रावल' या 'मथुरावली' कुल-पुरुषोंकी पगड़ीकी लाज रखती है। 'रोय चले बाके साहिबा, बिहँस चले राजा वीर, राखी बहना पगड़ीकी लाज, ठाड़ी जरै मथुरावलि।'(चन्द्रावलि)।' उक्त

गीतकथा श्रावणमें झूलेपर गायी जाती है। अनुमानत गीत पाँच-छ शताब्दीसे अधिक प्राचीन नही हैं।

मालवामें 'चन्द्रावल' नामक एक और गीत-कथा दीपावलीके दूसरे दिन गायी जाती है। उसमें चन्द्रावलि एक गूजरी है जो कृष्णको अपने यहाँ आमन्त्रित करती है। सेजपर छलिया कृष्णने चन्द्रावलिको विलमाया और रात छ मासकी हो गयी। परिणामस्वरूप गोशालामें प्रतीक्षा करता हुआ उसका पति 'गोरधन' गायोंके खुरोंसे कुचलकर मर गया। उसीकी स्मृतिमें 'गोरधन' छापे जाते हैं और चन्द्रावल गाकर स्त्रियाँ लोकाचार पूर्ण करती हैं। भारतीय लोकगीतोंमें चन्द्रावलि नाम और भी कथा-प्रसंगोंके बीच आता है। स्थूल रूपसे मुगलोंके अन्याचारसे पीड़ित चन्द्रावलि ही 'चन्द्रावल'की नायिका है। —श्या० प०

चंपू—श्रव्य काव्यका एक भेद। दे०—'साहित्यरूप'। 'गद्यपद्यमय काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते'–(सा० द०, ६,३३६), अर्थात् गद्य-पद्यके मिश्रण काव्यको चम्पू कहते हैं। काव्यकी इस विधाका उल्लेख साहित्यशास्त्रके प्राचीन आचार्यों—भामह, दण्डी, वामन आदिने नहीं किया। यों गद्य-पद्यमय शैलीका प्रयोग वैदिक साहित्य, बौद्ध जातक, जातकमाला आदि अति प्राचीन साहित्यमें भी मिलता है। चम्पू नामके प्रकृत काव्यकी रचना दसवीं शतीके पहले नही हुई। 'नल चम्पू' (त्रिविक्रमभट्ट) जो दसवीं सदीके प्रारम्भकी रचना है, चम्पूका प्रसिद्ध उदाहरण है। इसके अतिरिक्त 'यश तिलक' (सोमदेव सूरि), 'चम्पू रामायण' (भोजराज), 'आनन्दवृन्दावन' (कवि कर्णपूर), 'गोपाल चम्पू' (जीव गोस्वामी), 'नीलकण्ठ चम्पू' (नीलकण्ठ दीक्षित) और 'चम्पू भारत' (अनन्त कवि) दसवींसे सत्रहवीं शतीतकके चम्पू-काव्योंके उदाहरण है।

वस्तुत यह काव्यरूप अधिक लोकप्रिय न हो सका और न काव्यशास्त्रमें उसकी विशेष मान्यता हुई। हिन्दीमें 'यशोधरा'(मैथिलीशरण गुप्त)को चम्पू-काव्य कहा जाता है, क्योंकि उसमें गद्य-पद्य दोनोंका प्रयोग हुआ है। —व्र० व०

चउपैया—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'में इसके प्रत्येक चरणमें ३० मात्रा तथा अन्तमें ग (ऽ) माना गया है (१ ९७)। भिखारीदासने इसी लक्षणके छन्दका नाम चौबोल दिया है (छन्दो० पृ० ३३)। भानुने 'प्राकृतपैंगलम्'के अनुसरणपर इसमें १०,८,१२पर यति मानी है और अन्तमें एक सगण (।।ऽ) और ग (ऽ)का प्रयोग कर्णमधुर कहा है (छ० प्र० पृ० ६९)। तुलसीने इस छन्दका प्रयोग 'रामचरितमानस'में, केशवने 'रामचन्द्रिका'में तथा रघुराजने 'रामस्वयवर'में किया है। इनके अतिरिक्त नन्ददास तथा सुन्दरदास द्वारा भी यह प्रयुक्त हुआ है। प्राय स्तुति या प्रशंसामें इसका अच्छा प्रयोग हो सका है, विशेषकर तुलसीने–'जय-जय अविनासी, सब घटवासी, व्यापक परमानन्दा।' (रा० च० मा० १ १८६)। यह छन्द अलकार-छन्द कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी यतिके साथ यमकका प्रयोग भी होता है। उदा०–भए प्रगट कृपाला, दीन दयाला, कौसल्या हितकारी।' (रा० च० मा० १ १९२) तथा–'गुनगन प्रतिपालक रिपु-कुल-घालक, बालक ते रणरन्ता।' (रा० च० ३६ ९)।

चकवा—एक पक्षी जो जाडेमें नदियों और बडे जलाशयोंके किनारे दिखाई देता है और बैशाखतक रहता है। अधिक गरमी पड़ते ही यह भारतवर्षसे चला जाता है। यह दक्षिणको छोड सारे भारतवर्षमें पाया जाता है। यह पक्षी प्राय झुडमें रहता है। यह हंस जातिका पक्षी है। इसीलिए सन्त लोग इसे जीवका भी पर्यायवाची मानते हैं। यह अपने जोडेसे बहुत प्रेम करता है। बहुत कालसे इस देशमें ऐसा प्रसिद्ध है कि रात्रिके समय यह अपने जोड़ेसे अलग रहता है। सन्तोंने इसके रात्रिकालके वियोगजनित दु खको लेकर जीवका ईश्वरसे विछोह होनेकी कल्पना की है। 'चकवा चकई दो जने, इन मारो मति कोय। ये मारे करतारके रैनि विछोहा होय।' (कबीर० सा०)। —उ० श० शा०

चकित—दे०—'स्वभावज अलकार', सोलहवाँ।

चतुर्व्यूह—पाचरात्रके अनुसार भगवान् लोककल्याणके लिए (दे०—गीता, अ० ४, श्लो० ८) चार प्रकारका रूप धारण करते है–(१) व्यूह, (२) विभव, (३) अर्चावतार, (४) अन्तर्यामी अवतार। व्यूहमें वासुदेव (सर्वकामी परमात्म्य), संकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन), अनिरुद्ध-(अहंकार)की गणना है। —वि० मो० श०

चपलता—प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी। भरतने इसके विभाव प्रेम, घृणा, अधैर्य, ईर्ष्या, विरोध आदिको माना है और कठोर वचन, प्रतारणा, पीटना, मारना, बाँधना आदिको अनुभाव स्वीकार किया है (नाट्य० . ७ ६०)। विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा है–'मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्य त्वनवस्थिति। तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादय।' (सा० द० ३ १६९)। मात्सर्य, द्वेष, राग आदिके कारण मनका स्थिर न रहना चपलता है। इसमें भर्त्सना, परुषता, स्वच्छन्दता आदिका आचरण पाया जाता है। हिन्दीके कुछ आचार्योंने इसका अनुसरण किया है–'रागरु क्रोध विरोध तें चपल चेष्टा होय।' (भाव० सचारी)।

चपलता भी दो प्रकार की होती है—प्रकृतिगत और आगन्तुक। प्रकृतिगत चपलता भावदशाके रूपमें अभिव्यक्त होती है। आगन्तुक चपलता ही सचारी हो सकती है, क्योंकि इसीका सीधा सम्बन्ध किसी स्थायी भावसे होता है। रीतिकालीन कवियोंने रागको प्रधानता दी है। पद्माकरका लक्षण है–'जहँ अति अनुरागादि तें, थिरता कछू रहै न। तित चितचाहैं आचरण, वहै चपलता ऐन।' (जगत० ५६५)। पद्माकरने रागजन्य सचारीका ही उदाहरण दिया है–'झाँकति है कबहूँ झँझरीन झरोखनि त्यों सिरकी सिरकी मैं। झाँकति ही खिरकी मैं फिरै थिरकी-थिरकी खिरकी-खिरकी मैं।' (जगत० ५६६)। तुलसीदासने सीताके मनोभावमें इसीकी व्यजना की है–'चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृप किसोर मन चीता।' (रा० च० मा० १)। —च० सिं०

चपलातिशयोक्ति—दे०—'अतिशयोक्ति', छठा भेद।

चरखा—लकड़ीका बना हुआ एक प्रकारका यत्र जिसकी सहायतासे ऊन, कपास या रेशम आदिको कातकर सूत बनाते है। सन्तसाहित्यमें चरखेके रूपकसे शरीरके

स्थूल रूपका ग्रहण किया गया। चरखेके समान ही शरीरके सारे व्यापारको स्पष्ट करनेके लिए एक-एक चीजका अलग-अलग वर्णन किया जाता है। 'जो चरखा जरि जाय वढ़ैया ना मरे। मैं कातौं सूत हजार चरखुला जनि जरे' (कबीर-बीजक २२७) अर्थात् यद्यपि चरखारूपी शरीर जल जाता है, परन्तु उसका बनाने या कल्पना करनेवाला वढ़ई (मन) नहीं मरता है। जो इस चरखेको ममझ ले और उमे मनके ये संकल्प-विकल्प विदित हो जायँ तो फिर आवागमन मिट जाता है। —उ० श० शा०

चरण–किसी छन्दकी प्रधान यतिपर समाप्त होनेवाली पूर्ण पंक्तिको उसका एक 'चरण' कहा जाता है। 'पद' और 'पाद' इसके पर्याय हैं। सामान्यत छन्दकी कल्पना चतुष्पादके रूपमें मिलती है, अतएव अधिकाश छन्द चार चरणोंवाले होते हैं। चरणकी समानताका अर्थ है मात्रिक यति-गति तथा मात्रा-संख्याकी एकरूपता। वर्णिक छन्दोंमें वर्ण-क्रम तथा वर्ण-संख्यासे यह समानता मापी जाती है, साथ ही यति-गतिका विचार भी रहता है। कुछ छन्द चारसे कम और चारसे अधिक चरणोंवाले भी होते हे। वैदिक छन्दोंमें त्रिपाद गायत्री, त्रिपाद अनुष्टुप् आदि तीन ही चरणोंके होते हैं तथा 'षट्पद' जिसका अपभ्रंशरूप 'छप्पय' हो गया है और 'मिलिन्दपाद' नामक छन्द छ चरणोंवाले होते हैं। इसी कारण इनका नामकरण भौंरेके समानार्थी शब्दोंसे किया गया है।

सम, विषम, अर्द्धसम–जिन छन्दोंमें सब चरण समान होते हैं उन्हें 'सम', जिनमें दोसे अधिक चरण समान न हों उन्हें 'विषम' और जिनमें कुछ चरण (पहला, तीसरा) एक समान हों तथा अन्य (दूसरा, चौथा) कुछ उनसे भिन्न, किन्तु परस्पर समान हों, उन्हें 'अर्द्धसम' कहा जाता है। इस प्रकार सम, विषम और अर्द्धसम ये मात्रिक और वर्णिक, दोनों प्रकारके छन्दोंके विभाजन हैं, जिनका आधार चरणोंकी समानता, असमानता तथा अर्द्धसमानता मानी जाती है। विषम संख्याके चरणोंवाले छन्द विषम कोटिमें ही आते हैं, चाहे सभी चरण परस्पर समान हों। यह एक प्रकारका अपवाद जैसा है, विषमताका निर्णय चरणोंके रूपसे न होकर चरण-संख्यासे होता है। —ज० गु०

चरितकाव्य–चरितकाव्य प्रवन्धकाव्यका ही एक विशेष रूप या प्रकार है। **प्रवन्धकाव्य, कथाकाव्य,** और **इतिवृत्तात्मक कथा** (पुराणकथा आदि), तीनोंके लक्षणोंका समन्वय हुआ है। यही कारण है कि प्राय· चरितकाव्योंने अपनेको कभी चरित, कभी कथा और कभी पुराण कहा है, जैसे, 'पउमचरिउ', 'रिट्ठणेमिचरिउ', 'जसहरचरिउ', 'पज्जुण्ण कहा', 'भविस्त कहा', 'महापुराण', 'हरिवंशपुराण' आदि। वस्तुत चरितकाव्योंमें इन तीनों शब्दोंका एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है और सबका अभिप्राय प्रबन्धकाव्यसे ही है, ऐतिहासिक चरित्र, पुराणकथा या साहित्यिक कथाकाव्यसे नहीं। किन्तु चरित, कथा और पुराण नामवाले सभी ग्रन्थ चरितकाव्य नहीं होते, जैसे 'बुद्धचरित', 'श्रीकण्ठचरित', 'नैषधीय चरित' आदि शास्त्रीय शैलीके महाकाव्य हैं, 'वृहत्कथा', 'श्रुतपञ्चमीकथा', 'लीलावई कहा', 'समराइच्च कहा', 'दशकुमारचरित', 'हर्षचरित' आदि कथाकाव्य और इतिवृत्तात्मक कथाकाव्य हे तथा 'अग्निपुराण', 'वायुपुराण', 'आदिपुराण', 'उत्तरपुराण' आदि पुराणग्रन्थ हैं।

चरितकाव्यकी कुछ निजी विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह पुराण, इतिहास और कथामे भिन्न तथा एक विशेष प्रकारका **प्रवन्धकाव्य** माना जाता है। संस्कृतमें चार शैलियोंके **प्रवन्धकाव्य** मिलते हैं। शास्त्रीय शैली, ऐतिहासिक शैली, पौराणिक शैली और रोमासिक शैली। इनमेंसे प्रथमके अतिरिक्त अन्य तीन शैलियोंमें चरितकाव्य होते हैं। अपभ्रंशमें पौराणिक और रोमासिक, इन दो ही शैलियोंके **प्रबन्धकाव्य** मिलते हें और वे सभी चरितकाव्य हैं। 'पउमसिरिचरिउ की भूमिकामें हरिवल्लभ मायाणीने चरितकाव्यका स्वरूपनिर्देश करते हुए लिखा है कि 'स्वरूपकी दृष्टिसे अपभ्रंशके पौराणिक काव्यों और चरितकाव्योंमें बहुत अन्तर नहीं है। पौराणिक काव्योंमें विषयका विस्तार बहुत अधिक होनेसे सन्धि-संख्या पचाससे सवा सौतक होती है, किन्तु चरितकाव्योंमें विषय-विस्तार मर्यादित होता है, जिससे सन्धि-संख्या अधिक नहीं होती। शेष वातों, जैसे सन्धि, कडवक, तुक, पंक्तियुगल आदिमें दोनोंमें कोई भेद नहीं होता। किन्तु सभी चरितकाव्य कडवकवद्ध हों, यह वात भी नहीं है, हरिभद्रका 'णेमिणाह चरिउ' आद्यन्त रड्डाछन्दमें है।' (पउमसिरि चरिउ भूमिका पृ० १५)। किन्तु यह अन्तर वाह्य स्वरूपका अन्तर है, मायाणीजीने दोनोंके आन्तरिक स्वरूपका कोई अन्तर नहीं वताया है। वस्तुत पुराण, पौराणिक सामग्रीवाले काव्य और पौराणिक शैलीका काव्य, इन तीनोंमें वहुत अन्तर होता है। इनमें पुराण तो काव्य होता ही नहीं। पौराणिक सामग्री लेकर शास्त्रीय या रोमासिक शैलीके प्रवन्धकाव्य भी लिखे जाते हैं और ऐतिहासिक और उत्पाद्य सामग्री लेकर भी पौराणिक शैलीके महाकाव्य लिखे जा सकते हैं। अत· काव्य पौराणिक नहीं होता, वल्कि उसकी शैली पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमासिक या शास्त्रीय होती है। इनमें तीन शैलियोंमें चरितकाव्य होते हैं, शास्त्रीय शैलीमें नहीं होते। उदाहरणार्थ, पौराणिक शैलीके चरितकाव्य–'पद्मचरित', 'पार्श्वनाथचरित', 'पउमचरिय', 'पउमचरिउ', 'महापुराण', 'पासपुराण', 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' आदि। ऐतिहासिक शैलीके चरितकाव्य–'पृथ्वीराजविजय', 'विक्रमाकदेवचरित', 'राजतरंगिणी', 'कुमारपालचरित', 'हम्मीर महाकाव्य', 'गउडवहो' आदि। रोमासिक शैलीके चरितकाव्य–'नवसाहसाकचरित', 'चन्द्रप्रभचरित', 'शान्तिनाथचरित', 'मलयसुन्दरी कहा', 'अंजणा सुन्दरी चरिय', 'भविसयत्तकहा', 'करकण्डुचरिउ', 'जसहरचरिउ' आदि।

इस प्रकार प्रवन्ध-काव्यके मुख्यत दो रूप होते हैं, (१) शास्त्रीय प्रवन्धकाव्य, (२) चरितकाव्य। चरितके लक्षण ये हैं - १ चरितकाव्यकी शैली जीवनचरितकी शैली होती है। उसमें प्रारम्भमें या तो ऐतिहासिक ढंगसे नायकके पूर्वज, माता-पिता और वंशका वर्णन रहता है या पौराणिक ढंगसे उसके पूर्व भवोंका वृत्तान्त तथा उसके जन्मके कारणोंका वर्णन होता है अथवा कथाकाव्यकी तरह उसके माता-

पिता, देश और नगरका वर्णन रहता है। उसमें चरितनायकके जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्ततककी अथवा कई जन्मों-(भवान्तरों)की कथा होती है। उसमें शास्त्रीय प्रबन्धकाव्योंकी तरह महत्त्वपूर्ण और कलात्मकता उत्पन्न करनेवाली मुख्य घटनाओंका चुनाव और वर्णनात्मक अंशोंकी अधिकता नहीं होती। अत वह कथात्मक अधिक और वर्णनात्मक कम होता है। चरितकाव्यका कवि कथाको छोडकर वस्तुवर्णन या प्रकृति-चित्रणमें अधिक देरतक नहीं उलझता। इसी कारण वह कथाकाव्यके अधिक निकट तथा शास्त्रीय प्रबन्धकाव्योंकी अपेक्षा अधिक स्वाभाविक, सरल और लोकोन्मुख होता है। २ चरितकाव्यमें प्राय प्रेम, वीरता और धर्म या वैराग्य-भावनाका समन्वय दिखलाई पडता है। सबमें कोई-न-कोई प्रेमकथा अवश्य होती है और उसका स्थान गौण नहीं, महत्त्वपूर्ण होता है। उसमें पौराणिक कथानकमें भी प्रेमाख्यानक रग भरनेका प्रयत्न दिखाई पडता है। प्राय सभी चरितकाव्योंमें प्रेमका प्रारम्भ समान रूपमें स्वप्न-दर्शन, गुण श्रवण, चित्र-दर्शन या प्रथम साक्षात्कार द्वारा होता है। विवाहके पहले या बादमें नायक-नायिकाके मार्गमें अनेक विघ्न-बाधाएँ आती हैं, युद्ध करने पडते हैं और अन्तमें उनका मिलन होता है। जैन चरितकाव्योंमें प्राय अन्तमें नायक किसी प्रेरणा या उपदेशसे ससारसे विरक्त होकर जैन मुनि बन जाता है। ३ प्राय सभी चरितकाव्योंमें कथारम्भके लिए वक्ता-श्रोता-योजना अवश्य होती है। यह प्रश्नोत्तर योजना इतने रूपोंमें मिलती है, (क) धर्मगुरु और शिष्य, पौराणिक कथाविद् और भक्तजन अथवा श्रावक और श्रोताके बीच, (ख) शुक-शुकी, शुक-सारिका, भृग-भृगी अथवा किसी वक्तापक्षी और मानव-श्रोताके बीच, (ग) कवि और कवि-पत्नी या कवि और उसके किसी शिष्यके बीच। ४ उसमें अलौकिक, अतिप्राकृत और अतिमानवीय शक्तियों, कार्यों और वस्तुओंका समावेश अवश्य रहता है जो पौराणिक और रोमासिक शैलीके कथाकाव्यों, पौराणिक कथाओं और लोककथाओंकी देन है। इस कारण उसमें साहसपूर्ण, आश्चर्योत्पादक और रोमासिक कार्यों तथा तत्त्वोंकी अधिकता होती है और उन सभी कथानक-रूढियोंकी भरमार होती है जो लोककथा और कथा-आख्यायिकामें बहुत अधिक मिलती हैं। ५ उनका कथानक शास्त्रीय प्रबन्धकाव्यों जैसा पचसन्धियोंसे युक्त और कार्यान्वितिवाला नहीं होता, वह कथाकाव्योंकी तरह स्फीत, विशृखल, गुम्फित या जटिल होता है। ६ उसकी शैली कथाकाव्योंसे अधिक उदात्त होती है, पर शास्त्रीय प्रबन्धकाव्यों जैसी अतिशय अलंकृत, चमत्कारपूर्ण या पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्तिसे युक्त नहीं होती, जिससे उसमें अधिक सरलता, सादगी और सामान्य जनताके लिए पर्याप्त आकर्षण होता है। ७ चरितकाव्य प्राय उद्देश्यप्रधान होता है, कथाकाव्योंकी तरह केवल मनोरजन करना उसका लक्ष्य नहीं होता। यह उद्देश्य कभी धार्मिक, कभी प्रशस्तिमूलक और कभी लोकल्याणाभिनिवेशी होता है। परन्तु उसका उद्देश्य अधिक उभरा हुआ और स्पष्ट होता है, शास्त्रीय प्रबन्धकाव्यों जैसा कलात्मक सौन्दर्यके भीतर निहित नहीं होता। इसी कारण चरितकाव्य उपदेशात्मक, प्रचारात्मक या प्रशस्तिमूलक प्रतीत होते है।

उद्देश्य और विषयवस्तुकी दृष्टिसे चरितकाव्य ६ प्रकारके होते हैं—१ धार्मिक, २ प्रतीकात्मक, ३ वीरगाथात्मक, ४ प्रेमाख्यानक, ५ प्रशस्तिमूलक, ६ लोकगाथात्मक। हिन्दीके अधिकाश मध्यकालीन प्रबन्ध-काव्य अपभ्रशके प्रबन्धकाव्योंकी भाँति चरितकाव्य ही हैं। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—१ धार्मिक पौराणिक —'रामचरितमानस', 'कृष्णचन्द्रिका', 'दशावतार'। २ प्रतीकात्मक—'पद्मावत', 'लोरिक-चन्दा', 'मृगावती', 'मधुमालती' आदि। ३ वीरगाथात्मक—'पृथ्वीराजरासो', 'हम्मीररासो' आदि। ४ विशुद्ध प्रेमाख्यानक—'बीसलदेव रास', 'छिताईवार्ता', 'नल दमन' आदि। ५ प्रशस्तिमूलक —'वीरसिंहदेवचरित', 'छत्रप्रकाश'। ६ लोकगाथात्मक—'ढोलामारु रा दूहा', 'आल्हखण्ड', 'उदयवत्स सावलिंगा' आदि। —शं० ना० सिं०

चरित्र, चरित्र-चित्रण—दे०—'पात्र'।

चर्चरी—चर्चरी १३वीं शताब्दीसे पूर्वका लोक-प्रचलित गीत है। जिनदत्त सूरि नामक जैन कविने इस गीतको अपनाया था। चर्चरी यद्यपि कोई निश्चित छन्द प्रकार नहीं है, तथापि १२वीं शताब्दीके लगभग वसन्तके दिनोंमें आगरा और उसके निकटवर्ती क्षेत्रोंमें यह गीत खूब गाया जाता था। कबीरने बीजकमें 'चाँचर'का प्रयोग किया है, वह कदाचित् 'चर्चरी'का ही विकृत स्वरूप है। यह गीत नृत्य करते समय गाया जाता था। कालिदास और श्रीहर्षके नाटकोंमें 'चर्चरी'का उल्लेख आया है। कतिपय टीकाओंमें 'चाँचर'को खेल बताया है, जो कदाचित् चर्चरीसे भिन्न होगा। 'चर्चरी' शृगार-प्रधान लोकगीत होना चाहिये जो अपनी लोकप्रियताके कारण कतिपय जैन कवियोंको आकर्षित करनेमें सफल हुआ। —श्या० प०

चर्या—महायानके धर्म और साधना-पथमें बोधिचित्तको उत्पन्न करनेके लिए ६ पारमिताओंकी साधना करनी होती है, जिनमेंसे सबसे अन्तिम और महत्त्वपूर्ण प्रज्ञा-पारमिता है। इसकी साधनाके बाद बोधिचित्तोत्पाद होता है, उसके उपरान्त उसे ऊपरकी ओर उद्बुद्ध किया जाता है, तब अनन्त करुणाका उदय होता है। यह समस्त प्रणाली चर्या कहलाती है जो जनसुलभ नहीं है, किन्तु जो साधक इसे सम्पन्न कर लेता है वह अल्प बन्धनसे मुक्त अनुत्तर सम्बोधिको प्राप्त कर लोकका बन्धु और रक्षक हो जाता है। चर्या तथा क्रिया, दोनोंका ही उद्देश्य प्रज्ञा तथा उपायका अद्वय है। विधि देवी, देवता उनकी साधनाएँ, दीक्षा, अभिषेक, मण्डल आवेश आदि क्रियाओं और चर्चाओंके अन्तर्गत आते हैं। —ध० वी० भा०

चर्यापद—दे०—'सिद्ध-साहित्य'।

चांडाली—दे०—'महामुद्रा'।

चांद्रायण—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भानुके अनुसार इसके २१ मात्राके चरणमें ११, १० की यति होती है तथा ११ मात्रा जगणान्त (ISI) तथा १० मात्रा रगणान्त (SIS) होती है। यह प्लवगम छन्दके निकटका छन्द है, जिसका उल्लेख 'प्राकृतपैंगलम्'में हुआ है (दे०)। भानु

द्वारा निर्दिष्ट नियमका पालन प्रायः कवियोंने नहीं किया है। हिन्दीमें चन्द (पृ० रासो), सूर (सू० सा०), मान (रा० वि०) तथा रघुराज(रा० स्व०)ने इसका प्रयोग किया है। सूरने रोला-दोहाके संयुक्त छन्दोंके कथानकोंके प्रारम्भमें टेकके रूपमें इस छन्दका प्रयोग किया है, पर जगण-रगण-का नियम सदा एक-सा नहीं है—'यह अति अचरज मोहिं, कहा कारन ठयो।' (सू० सा० : सभा० - पद ११९०)। उदा०—'अपनी दया विचारि, पाप सब मीजिये।' (भानु - छ० प्र० : पृ० ५६)। —न०

चादर—दे०—'जुलाहा'।

चामर—वर्णिक छन्दोंमें सम वृत्तका भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'-(२ - १५९)के अनुसार ७ गुरु, लघु एवं गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है (र ज र ज र)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। जयकीर्तिने उत्सव (छन्दो० ६ - ३०) और हेमचन्द्र-(छन्दो० २ - २५४)ने तूणक नाम दिया है। उदा०—'वेदमन्त्र तन्त्र शोधि अस्त्र शस्त्र दै भले, रामचन्द्र लक्खनै सु विप्र छिप्र लै चले।' (रा० चं० २ - २८)।—पु० शु०

चार आनन्द—वज्रयानी सिद्धोंने चार क्षणों, चार आनन्दों और मुद्राओंका उल्लेख बार-बार किया है। चार क्षणोंको विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षणकी संज्ञा दी गयी है। इन्हीं चार क्षणोंके भेदसे चार आनन्द बताये गये हैं, जिनके नाम हैं प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। प्रथमानन्द विचित्र क्षणका आनन्द है, जिसकी अनुभूति आलिंगन, चुम्बनादिसे मिलती-जुलती है। परमानन्द ज्ञान सुखका योग है। विरमानन्द समागम-सुखकी भाँति है। इन सभी राग-विरागोंसे वर्जित चतुर्थ आनन्द है सहजानन्द, जो सर्वश्रेष्ठ है और साधकको महासुखकी अनुभूति देता है। —ध० वी० भा०

चार काया—**त्रिकाय सिद्धान्त**के द्वारा बुद्धके दिव्य-रूपकी जो परम्परा महायानी आचार्योंने प्रारम्भ की थी उसका चरम विकास सिद्धोंमें हुआ। महायानी आचार्योंने बुद्धकी तीन कायाओंके मूलमें तीन धातुओंकी कल्पना की थी जो इस प्रकार है—रूपधातुसे निर्मित निर्माण-काया, कामधातुसे सम्भोग-काया और धर्मधातुसे धर्म-काया। सिद्धोंने प्रज्ञोपाय सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा इस दिशामें भी करनेके लिए एक चतुर्थ कायाकी प्रतिष्ठा की, जिसे वे वज्र-काया, स्वभाव-काया, सहज-काया या महासुख-काया कहते थे। निर्माण-कायामें बुद्ध मानुषी रूप धारण कर संसारके अनुरूप जीवनयापन करते हैं। सम्भोग-कायामें आनन्द अथवा करुणाकी प्रधानता होती है, यह काया बोधिसत्त्वके रूपमें होती है। धर्म-काया तीनों लोकोंमें अपनेको अभिव्यक्त करते हुए भी सभी आवासों, क्लेशों और संस्कारोंसे मुक्त, अनादि, अनन्त, अजर, अमर और अपरिवर्तनशील होती है। चौथी सहज-काया इन चारोंमें सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यह समस्त द्वयताओं और क्लेशादि मलावरणोंसे निरावृत, शुद्ध, सहजरूप होती है, इसीको निरंजन कहते हैं। बुद्धके इसी सहज-काया-स्थित निरंजन रूपमें करोड़ों साधकोंमेंसे कोई ही लीन हो पाता है। —ध० वी० भा०

चार चक्र—दे०—'हठयोग'।

चिंता—प्रचलित तैंतीससेंसे एक संचारी भाव। भरतके अनुसार इसके विभाव हैं—धनहानि, प्रिय वस्तुका अपहरण, निर्धनता आदि और अनुभाव हैं—उच्छ्वास, चिन्तन, मनन, नतमुख होना तथा दुर्बलता आदि (नाट्य० - ७ - ५१)। विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा है—'ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत्।' (सा० द० - ३ - १७१)। अभीष्टकी प्राप्ति न होनेके कारण तद्विषयक ध्यान-को चिन्ता कहते हैं। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने इसीका अनुसरण किया है। देवके अनुसार 'इष्ट वस्तु पायें बिना, एक आत चितु होइ। स्वाँस ताप वैवरण जहँ, चिन्ता कहियतु सोइ' (भाव० - संचारी)। इस लक्षणमें 'नाट्य-शास्त्र'की परम्पराका प्रभाव है, पर अन्य ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने सामान्य ढंगसे—'जहाँ कौन हू बातकी चितमें चिन्ता होय।' (जगत० - ५०४) मान लिया है।

अभीष्टकी प्राप्तिकी दृढ़ कामना एक तरहकी आकांक्षा है। जब यह आकांक्षा बाधित होती है तब चिन्ताका उदय होता है। यह रागात्मक प्रवृत्ति नहीं है, इसलिए बाधाओं-को दूर करनेके लिए लोगोंको प्रयत्नवान् बनाती है। इस प्रयत्नकालके बीच-बीचमें आशा, निराशा, शंका, ईर्ष्या, व्याकुलता आदिका प्रादुर्भाव होता रहता है। चिन्ताका निष्क्रियात्मक रूप भी होता है, जो चिन्ता करनेवालेको और भी अशक्त, पंगु और निरीह बना देता है। इसका प्रादुर्भाव स्वतन्त्र रूपमें भी होता है और संचारीके रूपमें भी। चिन्ता संचारीका वियोग-शृङ्गारके अन्तर्गत उदा०—'आँसुनि मोचति सोचति यों सिगरो दिन कामिनि काग उड़ावै।' (भाव० - संचारी)। तुलसीदासने 'कवितावली'में माँ कौसल्याकी पुत्रविषयक चिन्ताका सुन्दर चित्रण किया है—'भोर ही मुसात हैहैं कन्दमूल खात हैहैं, दुति कुम्हलात हैहैं मुख जलजातको।' —व० नि०

चित्त—दे०—'जगतानुबोध', 'बोधिचित्त', 'हठयोग'।

चित्त-मारण—दे०—'बोधिचित्त'।

चित्त-विशोधन—दे०—'बोधिचित्त'।

चित्त-हनन—दे०—'बोधिचित्त'।

चित्रतुरग-न्याय—दे०—'रसनिष्पत्ति', अन्तर्गत अनुमान-वाद।

चित्रपदा—वर्णिक छन्दोंमें सम वृत्तका एक भेद, विरहांक (वृ० जा० स० ४ : ११) और जयकीर्ति(छन्दो० - २ : ६७)ने इस छन्दका वितान नाम दिया है। यह वृत्त दो भगणों और दो गुरुओंके योगसे बनता है (SII, SII, SS)। केशवने प्रयोग किया है—'रूपहिं देखत मोहै, ईश कहौ नर को हैं। संभ्रम चित्त अरुझै, रामहि यों सब बूझै' (रा० च० १ - ३०)। —पु० शु०

चित्रिणी—दे०—'हठयोग'।

चिश्ती—दे०—'सूफी-संप्रदाय'।

चूलिका—यह **अर्थोपक्षेपक**का एक भेद है। 'अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना' (द० रू० १ - ६१) अर्थात् नेपथ्यमें स्थित पात्रके द्वारा अर्थ(कथावस्तु)की सूचना चूलिका कहलाती है, जैसे, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र'में जब हरिश्चन्द्र कफन माँगने लगते हैं, तब नेपथ्यमें आवाज आती है 'अहो धैर्य्यमहो सत्यमहो दानमहो बलम्। त्वया राजन् हरिश्चन्द्र सर्वलोकोत्तर कृतम्।'

उसी नाटकमें एक स्थानपर जब हरिश्चन्द्रका मन चंचल हो उठता है, तब नेपथ्यसे आवाज आती है 'पुत्र हरिश्चन्द्र, सावधान! यही अन्तिम परीक्षा है। तुम्हारे पुरुषा इक्ष्वाकुसे लेकर त्रिशंकुपर्यन्त आकाशमें नेत्रभरे खड़े एकटक तुम्हारा मुख देख रहे हैं। आजतक इस वंशमें ऐसा कठिन दुःख किसीको नहीं हुआ था। ऐसा न हो, इनका सिर नीचा हो। अपने धैर्यका स्मरण करो।' यह चूलिका है। —व० सिं०

चेटक–दे०–'नर्मसचिव', नायक।

चेतन (conscious)–मानसका चेतन-पक्ष मनुष्यके सामान्य व्यवहारमें व्यक्त होता है। चेतन मानसमें वे अनुभव और व्यापार आते हैं, जिनका हमें पूर्ण ज्ञान है। स्नायविक दृष्टिकोणसे हम कह सकते हैं कि जब स्नायविक क्रिया एक आवश्यक मात्रातक गहरी हो जाती है, हमें अनुभव होने लगता है, और यही चेतना है। मनोविश्लेषणके प्रभावसे चेतन मनकी धारणामें परिवर्तन हो गया है, पूर्वकालीन मनोवैज्ञानिक यह मानते थे कि मानस सदा चेतन है, अचेतन मानसकी कल्पना ही इनके लिए असम्भव थी। परन्तु अब यह सभी स्वीकार करते हैं कि चेतन मानस हमारे सम्पूर्ण मानसका एक अंशमात्र है। यह वह अंश है, जो वाह्य जगत्के सम्पर्कमें आता है और पूर्णतः व्यक्त होता है। मानसका यह भाग हमारी जाग्रत् अवस्थामें क्रियाशील रहता है, यह यथार्थसे संचालित होता है, विचारशील है, विवेक, तर्क, ध्यान, संवेदना तथा प्रत्यक्ष-ज्ञान इसकी प्रक्रियाएँ हैं। इस पक्षमें व्यक्तित्वके **अहम्** और **सुपरईगो**का सम्बन्ध रहता है, पर इड इसकी पहुँचके बाहर है। —प्री० अ०

चेतना–चेतन मानसकी प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात् वस्तुओं, विषयों, व्यवहारोंका ज्ञान। चेतनाकी परिभाषा कठिन है, पर इसका वर्णन हो सकता है। चेतनाकी प्रमुख विशेषताएँ हैं, निरन्तर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह, इस प्रवाहके साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओंमें एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य। चेतनाका प्रभाव हमारे अनुभव-वैचित्र्यसे प्रमाणित होता है और चेतनाकी अविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्यके अनुभवसे। विभिन्न विषयोंकी अलग-अलग समयपर चेतना होनेपर भी हम सदा यह भी अनुभव करते हैं कि 'मैंने अमुक वस्तु देखी थी।' यदि हमारी चेतना अखण्ड और अविच्छिन्न न होती तो यह अनुभव हमें न होता। लेकिन यह अखण्डता और अविच्छिन्नता साहचर्यसे ही सम्भव होती है। विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओंमें साहचर्य (अथवा आसंग)-के द्वारा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि वे मिलकर एक चेतनाका अंग बन जाती हैं। मानसिक संघर्ष, अत्यधिक दमन और भावात्मक आघातोंमें ये साहचर्य नष्ट भी हो जाते हैं और तब चेतना भी बिखरी-बिखरी हो जाती है और व्यक्तित्व खण्डित। चेतनामें साहचर्य नष्ट होनेकी अनेक मात्राएँ हो सकती हैं, यदि कम मात्रामें हो तो कोई विशेष व्यवहार, कोई विशेष मानसिक क्रिया सम्पूर्ण चेतनासे वियोजित हो जाती है, पर व्यक्तित्वके लिए गम्भीर समस्या नहीं उठती। पर यदि अधिक मात्रामें हो तो बहुव्यक्तित्व, खण्डित व्यक्तित्व आदि रोग हो जाते हैं (दे०—'चेतन', 'आसंग', 'खण्डित व्यक्तित्व')।

चेतना शब्दका उपयोग प्रायः उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक अर्थमें ही होता है, पर कभी-कभी इसका प्रयोग दार्शनिक अर्थमें भी हो सकता है। विज्ञानवादी और प्रत्ययवादी दार्शनिक चेतना या विज्ञानको शाश्वत और एकमात्र सत्ता मानते हैं। इस अर्थमें 'चेतना' शब्द 'आत्मा'का समानार्थक हो जाता है–परन्तु साहित्यमें और दर्शनमें भी इस अर्थमें प्रायः 'चैतन्य' शब्दका उपयोग किया जाता है, 'चेतना' शब्द सामान्य मनोवैज्ञानिक अर्थमें ही अधिक आता है। —प्री० अ०

चैता–चैत्र मासमें जो गीत गाये जाते हैं, उन्हें चैता कहते हैं। जिस प्रकार फागुन (फाल्गुन)के महीनेमें गाये जानेवाले गीतोंका नाम 'फगुआ' पड़ गया है, उसी प्रकारसे चैत (चैत्र) मासमें गेय होनेके कारण इन गीतोंका नाम चैता है। जितनी पेशलता, मनोहरता तथा द्रावकता चैतामें उपलब्ध होती है उतनी अन्य गीतोंमें नहीं। चैताका वर्ण्य विषय सम्भोग तथा विप्रलम्भ-शृंगारसे परिपूर्ण है।

चैता दो प्रकारका होता है—(१) झलकुटिया, (२) साधारण। झलकुटिया चैता उसे कहते हैं जो सामूहिक रूपमें झाल 'कूटकर' (बजाकर) गाया जाता है। साधारण चैता वह है जिसे व्यक्तिविशेष बिना किसी वाद्यकी सहायतासे गाता है। झलकुटिया चैता जब सामूहिक रूपमें गाया जाने लगता है तब गवैये दो दलोंमें विभक्त हो जाते हैं। पहले दलके व्यक्ति गीतकी प्रथम पंक्तिको गायेंगे तो दूसरे दलवाले उसके टेकको समवेत स्वरमें तारस्वरसे गायेंगे। इस प्रकार चैताके गानेका क्रम बहुत देरतक चलता रहता है। कभी-कभी गवैये भावावेशमें आकर घुटनोंके बल खड़े हो जाते हैं और 'आहो रामा' तथा 'हो रामा'की गगनभेदी ध्वनिसे समस्त वायुमण्डलको प्रतिध्वनित कर देते हैं।

चैताकी प्रायः प्रत्येक पंक्तिके प्रारम्भमें 'रामा' और अन्तमें 'हो रामा' उपलब्ध होता है। जैसे 'रामा नदियाके तीरवा चनन गाछि बिरवा हो रामा।' इस गीतके गानेमें प्रथम क्रमिक आरोह होता है और अन्तमें अवरोह होता है। इसी आरोहावरोहके क्रमसे यह गीत गाया जाता है। चैता प्रेमके गीत हैं, अतः इनमें शृंगारके दोनों पक्षोंकी कहानी रागोंमें लिखी गयी है। इनमें कहीं सूर्योदयतक सोनेवाले किसी आलसी पतिके जगानेका उल्लेख मिलता है, तो कहीं पति-पत्नीके प्रणयकी झाँकी उपलब्ध होती है। कहीं यमुनामें जल भरते हुए किसी स्त्रीके 'मानिक' खोनेका वर्णन मिलता है, तो कहीं श्रीकृष्णके द्वारा गोपियोंको छेड़नेका प्रसंग।

'चैता'को 'घाँटो'-भी कहते हैं। इन गीतोंके रचयिता किसी लोककवि बुलाकीदासका उल्लेख बार-बार इनमें हुआ है। जैसे 'दास बुलाकी चइत घाँटो गावे हो रामा, गाई गाई बिरहिन समुझावे हो रामा॥' ये बुलाकीदास उत्तरप्रदेशके बलिया जिलेके निवासी थे। इनकी कुटिया आज भी इस जिलेके रसड़ा गाँवके पास विद्यमान है। भोजपुरीके सन्त कवियोंने अनेक 'चैता'-गीतोंकी रचना की है।

मैथिलीमे इन गीतोंको 'चैतवार' कहते है, जिनमें वसन्तकी मस्ती और रगीन भावनाओंका अनोखा सौन्दर्य अकित है। इनमें एक अपूर्व लोच है जो अन्य लोकगीतोंमें उपलब्ध नहीं होता। —कृ० दे० उ०

चोर—दे०—'ताला-कुजी'।

चोला—दे०—'जुलाहा'।

चौपई—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। सम्भवत 'प्राकृतपैंगलम्'के चउपइया (दे०) नामक छन्दसे इसका सम्बन्ध जोडा जा सकता है (१ ९७)। भानुके अनुसार इस छन्दमें प्रत्येक चरण १५ मात्राओंका होता है और अन्तमें ग ल (SI)का विधान है। भिखारीदासके 'छन्दार्णव-पिंगल'में भी इसका रूप मिलता है (पृ० २२)। हिन्दीमें इस छन्दका प्रयोग चन्द (पृ० रा०), सूर (सू० सा०), नन्ददास (भ्रा० म०, वि० म० आदि), केशव(वी० च०)ने किया है। सूरके पदोंमें इसके पदोंका मिश्रण है—'नारद कह्यो अब पूछा जाइ। बिनु पूछें नहिं देहिं बताइ।' (सभा स० पद ७२६)। इसी प्रकार नन्ददासने चौपाइयोंके बीचमें प्रयोग किया है—'तबकी कहि न परत कछु बात। इक-इक पलक कलप सम जात।' (वि० म० प० ३०)। सूदनने 'सुजान-चरित'में जयकरी नामसे इस छन्दका प्रयोग किया है। इसका दूसरा नाम जयकरी प्रसिद्ध भी है। इस छन्दका उपयोग वर्णनात्मक स्थलोंमें अच्छा होता है।

चौपड—चौपड खेलनेसे ज्ञान-क्रीडाका सकेतार्थ सिद्धों और सन्तोंने लिया है। 'करुणा पिहाडि खेलहु न अवल' (चर्यापद १२)। 'चौपड माहीं चौहटे अरध-उरध बाजार' (क० ग्र०)। —ध० वी० भा०

चौपाई—मात्रिक सम छन्दका भेद। प्राकृत तथा अपभ्रशके १६ मात्राके वर्णनात्मक छन्दोंके आधारपर विकसित हिन्दीका सर्वप्रिय और अपना छन्द। 'प्राकृतपैंगलम्'का चउपइया (दे०) १५ मात्राओंका भिन्न छन्द है। इसका विकास पादाकुलकके चौकलोंके नियमके शिथिल होनेसे सम्भव जान पडता है। भानुने चौपाईके १६ मात्राके चरणमे न तो चौकलोंका कोई क्रम माना है और न लघु-गुरुका। उन्होंने समके पीछे सम और विषमके पीछे विषम कलके प्रयोगको अच्छा माना है तथा अन्तमें जगण (ISI) और तगण (SSI)को वर्जित माना है (छ० प्र० . पृ० ४९)। सम-समका प्रयोग—'गुरु-पद-रज-मृदु-म-जुल-अ-जन'। विषम-विषम, सम-समका प्रयोग—'नित्य-भजिय-तजि-मन-कुटि-ला-ई'। विषम-विषम सम, विषम-विषम समका प्रयोग—'कहहु-राम-की-कथा-सुहा-ई'। दो विषम समके समान प्रयुक्त—'ब-दो-राम-नाम-रघु-बर-को' (भानुके छन्द० प्र०से)। तुलसीने इन नियमोंका 'रामचरितमानस'में बहुत अच्छा निर्वाह किया है और उनके छन्द-प्रवाहका सौन्दर्य भी यही है। चन्द, जायसी, सुन्दर, सूर, नन्ददास तथा जोधराज आदिने इन नियमोंमें शिथिलता दिखलायी है। कभी-कभी १५ मात्राके चरणोंका प्रयोग मिलता है और कभी लघु-गुरु (IS)से अन्त किया गया है। यद्यपि १५ मात्राका चौपई (दे०) छन्द अलग है, परन्तु उसके अन्तमें ग ल (SI) आवश्यक है। चरणके अन्तमें ल ग(IS)का प्रयोग इस छन्दमें स्वतन्त्रतासे मिलता है। जायसीमें ऐसे अनेक छन्द हैं तथा नन्ददासने अपनी तीनों मजरियोंमें ऐसे बहुत प्रयोग किये हैं—'चले-चले तुम जैयो तहाँ। बैठे हौं साँवरे जहाँ।' (वि० म० : प० ५)। इनको चौपाई ही माना जायगा, यद्यपि १५ मात्राके चरण हैं। सुन्दरमें १५ मात्राके चरणमें ल ग (IS) तथा ग ग (SS) दोनों प्रकारके अन्त पाये जाते हैं जो चौपईके ग ल(SI)से भिन्न हैं—'ये चौपाई त्रयोदस कही। आतम साक्षी जानौ सही।' (आतमभेद)। वस्तुतः अनेक कवियोंमें चौपाई तथा चौपई छन्दके प्रयोगमें भ्रमकी स्थिति पायी जाती है।

जैसा कहा गया है, हिन्दीमें यह छन्द चन्दके काव्यसे ही मिलता है। यह सामान्यत वर्णनात्मक है, जिसमें किसी भी प्रकारकी स्थिति आ जाती है। सभी रसोंका निर्वाह इसमें हो जाता है। कथा-काव्योंमें इस छन्दकी लोकप्रियता-का मुख्य कारण यही है। वीरकाव्यके कवियोंमें केशव, जटमल, गोरेलाल, सूदन, गुलाब तथा जोधराज आदिने चौपाईका प्रयोग प्रसगानुकूल किया है, पर प्रेमाख्यानक कवियोंमें कुतुबन, जायसी, उसमान, नूरमुहम्मद आदि सभीने इस छन्दको दोहाके साथ अपनाया है। सूरने सूरसागरके कथात्मक अशोंको जोडनेके लिए प्राय इस छन्दका आश्रय लिया है। नन्ददासने मजरियोंमें प्रयोग किया है। कथा-काव्यके लिए इस छन्दकी उपयुक्तताके कारण कृष्ण-कथा भी इस शैलीमें कई कवियोंने लिखी है। आधुनिक कालमें द्वारकाप्रसाद मिश्रने 'कृष्णायन'में इसका उपयोग किया है। लाल कविका 'छत्र-प्रकाश' इसी शैलीमें है। सन्त कवियोंमें सुन्दरदासने भी ग्रन्थोंकी रचना दोहा-चौपाई-शैलीमें की है (उदा०—सर्वांगयोग, पचेन्द्रियचरित्र)। —र०

चौबोला—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'-में इसका लक्षण दिया है (१ १३२), इस छन्दके द्वितीय और चतुर्थ चरणमें १४ मात्रा और प्रथम तथा तृतीयमें १६ मात्रा। इस दृष्टिसे तो यह अर्द्धसम छन्द माना जायगा। परन्तु हिन्दीका चौबोला छन्द समचरण है। सम्भवत इसपर चौपाईका प्रभाव है। भानुके अनुसार यह १५ मात्राओंका समचरण छन्द है, जिसके अन्तमें ल ग रहता है। हिन्दीके कवियोंमें केशव (वी० च०), सूदन (सु० च०) तथा रघुराज(रा० स्व०)ने इसका प्रयोग किया है। इस छन्दमें वीर तथा शृगारका उचित निर्वाह हो सका है। उदा०—'सन्त समागम सन्तत सजौ, शरणागत है प्रभुको भजौ।' (छ० प्र० पृ० ४७)। —र०

च्युतसंस्कार—दे०—'शब्द-दोष', दूसरा 'पद-दोष'।

छंद—अक्षर, अक्षरोंकी सख्या एव क्रम, मात्रा, मात्रा-गणना तथा यति-गति आदिसे सम्बन्धित विशिष्ट नियमोंसे नियोजित पद्य-रचना छन्द कहलाती है। छन्द शब्दका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेदमें मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति छद् धातुसे मानी गयी है, जिसका अर्थ आवृत करने या रक्षित करनेके साथ-साथ प्रसन्न करना भी होता है। प्रसन्न करनेके ही अर्थमें निघण्टुमें छन्द धातु भी मिलती है। कुछ विद्वानोंका मत है कि इसीसे छन्द शब्दको सम्बद्ध मानना अधिक युक्तिसगत है। वेदके छ अगोंमे छन्द

भी एक अंग है। पिंगलाचार्यके 'छन्द सूत्र' और 'अग्निपुराण'में छन्दोंके दो विभाग किये गये हैं—एक वैदिक और दूसरा लौकिक। इन दो वर्गोंमें छन्दोंका विभाजन शास्त्रीय होनेकी अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है। इस विभाजनका मुख्य आधार छन्दगत विशेषता न होकर वह साहित्य है, जिसमें वर्गविशेषके छन्दोंका प्रयोग हुआ है। वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त छन्द वैदिक और वेदेतर अर्थात् लौकिक साहित्यमें प्रयुक्त छन्द लौकिक माने जाते हैं। शास्त्रीय दृष्टिसे इनमें वर्णसंख्या और पाद-व्यवस्थाका भी अन्तर होता है। —ज० गु०

छंदमुक्त–'मुक्त छन्द'में छन्द तो मूलत रहता है, पर उसकी प्रकृति मुक्त होती है, परन्तु 'छन्दमुक्त' कहनेसे साधारणतया छन्दहीनताका बोध होता है। अज्ञेयने इसे 'मुक्तछन्द' और 'छन्दहीन'के बीचकी स्थितिका बोधक माना है, जिसमें छन्दका अभाव सर्वथा हो ही ऐसा आवश्यक नहीं है। बहुत-सी ऐसी कविताएँ जो स्पष्टतया छन्दयुक्त प्रतीत नहीं होतीं और जिन्हें सहसा छन्दहीन भी नहीं कहा जा सकता, वे इसी शब्दसे व्यंजित की जा सकती हैं। —ज० गु०

छंदशास्त्र–छन्दोंकी उत्पत्ति, आदि आचार्य, परम्परा, भेद-प्रभेद, जाति, लक्षण उदाहरण, रचनाविधि, विस्तार-संख्या, वर्गीकरण आदि छन्द सम्बन्धी विविध पक्षोंका निरूपण करनेवाला शास्त्र 'छन्दशास्त्र' कहलाता है। इसे 'पिंगल-शास्त्र' भी कहते हैं। कुछ विद्वान् काव्य-शास्त्रसे छन्दशास्त्र-को भिन्न मानते हैं।

भारतीय छन्दशास्त्रका उद्गम वैदिक साहित्यमें मिलता है। छन्द वेदांग हैं और उन्हें वेदोंका चरण माना गया है—'छन्द पादौ तु वेदस्य'। शांखायनके श्रौतसूत्र-(७–२७)में तथा निदानसूत्रमें, ऋक्प्रातिसाख्यके षोडश पटलमें, कात्यायनकृत ऋग्वेद और यजुर्वेदकी अनुक्रमणीमें तथा स्फुट रूपसे अन्य वैदिक ग्रन्थोंमें प्रयुक्त छन्दोंका विवरण मिलता है, किन्तु छन्दशास्त्रकी व्यवस्थित परम्पराका सूत्रपात पिंगलाचार्यके 'छन्द सूत्र'से ही होता है, जिसका समय ई० पू० २००के लगभग अनुमानित किया जाता है। इस ग्रन्थमें मात्राछन्द, वर्णवृत्त, दण्डक आदि विभाजन भी दिये हैं और यतिका विचार स्वतन्त्र रूपसे किया गया है। अष्टम अध्याय, जिसमें गाथा-छन्दोंका समावेश है, प्रक्षिप्त माना जाता है। 'अग्निपुराण'में प्राप्त होनेवाला 'आग्नेय छन्द सार' पिंगलके उक्त सूत्रग्रन्थका परवर्ती और उसीपर आधारित है। 'पिंगलोक्त यथाक्रमम्' लिखकर पुराणकारने इसे घोषित किया है। भरतके 'नाट्यशास्त्र'में भी छन्दोंका संक्षिप्त निरूपण है। कालिदासरचित 'श्रुतबोध (५वीं शती ई०के लगभग) छन्द सम्बन्धी संस्कृतका प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ है। कुछ लोगोंके मतसे यह वररुचिकी रचना है। इसमें वृत्तोंके लक्षण गणात्मक पद्धतिपर न दिये जाकर गुरु वर्णोंकी क्रमसंख्या बताकर दिये गये हैं, जो छन्दशास्त्रके इतिहासमें अद्वितीय एवं विचित्र विधान है। इसके अतिरिक्त संस्कृतके अन्य महत्त्वपूर्ण पिंगल-ग्रन्थ है, हलायुधकृत 'छन्द शास्त्र', क्षेमेन्द्रकृत 'सुवृत्ततिलक' (११वीं श०), गंगादासकृत 'छन्दोमंजरी' (१२वीं, १३वीं श० ई०के बीच), केदारभट्टकृत 'वृत्तरत्नाकर' (१४वीं श० ई०के लगभग), दामोदर मिश्रकृत 'वाणीभूषण' (१४वीं श० ई० उत्त०)। प्राकृत और अपभ्रंशके छन्द सम्बन्धी ग्रन्थोंमें 'प्राकृतपैंगलम्' (१४वीं श० ई०), जिसकी रचना विविध व्यक्तियोंके योगसे हुई मानी जाती है तथा हेमचन्द्रकृत 'छन्दोनुशासनम्'(१२वीं श० ई०)का स्थान सर्वोपरि है। आचार्य हेमचन्द्रकी रचना विशद एवं वैज्ञानिक रीतिसे लिखित है और 'प्राकृतपैंगलम्' हिन्दीके पिंगलकारों द्वारा अधिक अनुकृत होनेकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व रखता है। हेमचन्द्रसे पूर्व सिद्ध शान्तिपादकृत 'छन्दोरत्नाकर' (१०वीं श० ई०) भी प्राप्त होता है।

उपर्युक्त संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशके आधारपर छन्दशास्त्र-लेखनकी निम्नलिखित चार प्रमुख शैलियाँ उपलब्ध होती हैं–१ सूत्रशैली–पिंगलाचार्य तथा आचार्य हेमचन्द्र द्वारा व्यवहृत, २ श्लोकशैली–'अग्निपुराण' और 'नाट्यशास्त्र'में प्राप्त, ३ एकनिष्ठ शैली–जिसमें लक्षण उदाहृत छन्दमें ही निहित रहता है–गंगादास और केदारभट्ट द्वारा व्यवहृत, ४ मिश्रित शैली–लक्षण अलग छन्दोंमें भी और कहीं-कहीं उदाहृत छन्दोंमें भी, जैसे 'प्राकृतपैंगलम्'में।

हिन्दी छन्दशास्त्र-विषयक रचनाओंपर इन सभी शैलियोंका न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है और विकासक्रमकी दृष्टिसे देखा जाय तो वे निश्चय ही पिंगलशास्त्रकी अखण्ड परम्पराका अविभाज्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग सिद्ध होती हैं। उनमें कहीं-कहीं पूर्ववर्ती अनेक प्राचीन ग्रन्थोंका उल्लेख भी मिलता है। हिन्दी छन्दशास्त्रके ग्रन्थोंमें मतिरामके नामसे विख्यात 'छन्दसार पिंगल', चिन्तामणिका 'छन्द-विचार' (१७वीं श० ई० पूर्वा०), सुखदेवका 'वृत्तविचार' (१६७१ ई०), माखनका 'छन्दविलास' या '*श्रीनाग पिंगल*' (१७०३ ई० के लगभग), नारायण दासका 'छन्दसार' (१७७२ ई०), भिखारीदासका 'छन्दोर्णव' (१७४२ ई०), दशरथका 'वृत्तविचार' (१७९९ ई०), रामसहायकी 'वृत्ततरंगिनी' (१८१६ ई०), कलानिधिकी 'वृत्तचन्द्रिका', पद्माकरकी 'छन्दसारमंजरी', नन्दकिशोरका 'पिंगल-प्रकाश' (१८०१ ई०), गदाधर भट्टकी 'छन्दोमंजरी' (१८८३ ई०) तथा जगन्नाथप्रसाद 'भानु'का 'छन्दप्रभाकर' (१९२२ ई०) प्रमुख हैं। छन्द-विषयक इन सम्पूर्ण ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्य रीतिग्रन्थोंमें भी इस विषयका समावेश मिलता है, जैसे सोमनाथके 'रसपीयूषनिधि'(७३७ ई०)की तीसरी, चौथी, पाँचवीं तरंगोंमें तथा देवके 'शब्दरसायन'के दसवें और ग्यारहवें प्रकाशमें। फजल अलीका 'फजल अली प्रकाश' भी इसी कोटिमें आता है।

उक्त अनेक ग्रन्थोंमें प्राय पिंगलाचार्यकी वन्दना मिलती है और उन्हें शेषका अवतार माना गया है। 'फनपति भाख' (वृत्ततरंगिनी), 'फनपति करत बिनान' (वृत्तविचार) आदि लिखकर बराबर उनकी साक्षी दी जाती है, जो वास्तविक न होकर परम्परा-परिपालनमात्र है। सुखदेवने पिंगल, भामह और अगस्त्यके छन्दग्रन्थोंका आभार स्वीकार करते हुए छन्दके वेदांग होनेका उल्लेख किया है–'पिंगल भाम अगस्त कृत छन्दोग्रन्थ अगाध। सारु लियौ तेहिको

कहूँ छमियो कवि अपराध । ८ । वेद अंग है छन्द, ताते पढ़ियत प्रात नित । भाषत कवि कुल चन्द, भाम अगस्त फनिंद मुनि । ५ ।' पिंगलाचार्यका 'छन्द सूत्र' तो प्राप्य है परन्तु भामह और अगस्त्यके किसी छन्दग्रन्थका उल्लेख-तक नहीं मिलता । कविके कथनसे उनकी सत्ताका आभास मिलता है, जो सन्दिग्ध भी हो सकता है । दासने भी अपने 'छन्दोर्णव'में संस्कृत, प्राकृत और भाषाके अनेक छन्दग्रन्थोंके देखनेकी बात लिखी है–'प्राकृत भाषा संस्कृत लखि बहु छन्दोग्रन्थ । दास कियो छन्दोरणव, भाषा रचि शुभ ग्रन्थ । ७ ।' इसी प्रकार भानु भी इन शब्दोंमें पूर्वग्रन्थोंका उल्लेख करते हैं–'इस ग्रन्थको हमने श्रीयुत भट्ट हलायुधके सटीक प्राचीन संस्कृत छन्द शास्त्र, 'श्रुतबोध','वृत्तरत्नाकर', 'छन्दोमंजरी','वृत्तदीपिका','छन्द-सार-संग्रह' इत्यादि ग्रन्थोंके आधारसे बनाया है ।' (छ० प्र० पृ० ३ : भूमिका) । इस प्रकार छन्दशास्त्रके प्रणयनकी लगभग अखण्ड परम्परा वर्तमान समयतक चली आती है । हिन्दी शास्त्रकारोंने गद्यका भी प्रयोग किया है, जैसे सुखदेव, गदाधर भट्ट और भानुने । छन्दोंके नये वर्गीकरणका प्रयास भी दशरथ और रामसहाय आदिके द्वारा हुआ है तथा तुक आदि नये विषय भी समाविष्ट कर लिये गये हैं । हिन्दीकी तरह सम्भवत किसी भी आधुनिक भारतीय भाषामें छन्दशास्त्रका विकास नहीं हुआ । —ज० गु०

छठ–छठीके गीत । इनके दो प्रकार हैं—१. पुत्र प्राप्तिकी कामनासे, कार्तिकमासमें शुक्ल-पक्षकी षष्ठीके दिन सूर्य-पूजनके अवसरपर गाये जानेवाले धार्मिक गीत, २. जन्मोत्सवके अवसरपर शिशु-जन्मके छठे दिन 'छठी'को गाये जानेवाले गीत । —र० श्री०

छत्तीसगढ़ी–छत्तीसगढ़ी पूर्वी हिन्दीकी एक बोली है । इसका स्थान अवधी(बघेली समेत)के दक्खिनमें पड़ता है । मध्यप्रदेशके छत्तीसगढ़ प्रान्तके सामान्य जनकी यही भाषा है । इसमें साहित्यिक रचना प्राय कुछ भी नहीं है । इधर कुछ वर्षोंसे जनसाधारणमें प्रचारार्थ सरकारने इसका उपयोग किया है । अवधीसे मुख्य भेदक लक्षण निम्नलिखित हैं–१ संज्ञा और सर्वनामके बहुवचनका प्रत्यय-मन । २ कर्म-सम्प्रदान कारकके परसर्ग कके विकल्पमें ल । ३ करणके परसर्ग सेके विकल्पमें के । ४ सम्बन्ध परसर्गके लिंगभेदसे बदलता नहीं । ५ निश्चयात्मक प्रत्यय ह और मर्यादित प्रत्यय च (अवधी-इ) । ६ सर्वनाम अवधीसे भिन्न और भोजपुरीसे मिलते हैं । —बा० रा० स०

छप्पय–मात्रिक विषम छन्द । 'प्राकृतपैंगलम्'(१ १०५)में इसका लक्षण और इसके भेद दिये गये हैं । छप्पय भी संयुक्त छन्द है, जो रोला (११+१३) चार पाद और उल्लाला(१५+१३)के दो पादके योगसे बनता है । उल्लालाके दो भेदोंके अनुसार छप्पयके पाँचवें और छठे पादमें २६ या २८ मात्राएँ हो सकती हैं । प्रधान रूपसे २८ मात्राओंवाले भेदको कवियोंने अपनाया है । भानुने इसके ७१ भेदोंका उल्लेख किया है ।

छप्पय अपभ्रंश और हिन्दीमें समान रूपसे प्रिय रहा है । इसका प्रयोग हिन्दीके अनेक कवियोंने किया है । चन्द (पृ० रा०), तुलसी (कवितावली)· केशव (रा० च०); नाभादास (भ० मा०), भूषण (शि० रा० भू०), मतिराम (ल० ल०), सूदन (सु० च०), पद्माकर (प्र० वि०). तथा जोधराज(ह० रा०)ने इस छन्दका प्रयोग किया है । इस छन्दका प्रयोग वीर तथा भयान रसोंमें चन्दसे लेकर पद्माकरतकने किया है । इस छन्दके प्रारम्भमें प्रयुक्त रोलामें गतिका चढाव है और अन्तमें उल्लालामें उतार है । इसी कारण युद्ध आदिके वर्णनमें भावोंके उतार-चढावका इसमें अच्छा वर्णन किया जाता है । पर नाभादास, तुलसीदास तथा हरिश्चन्द्रने भक्ति-भावनाके लिए इस छन्दका प्रयोग किया है । उदा०–'डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पव्वे समुद्रसर । व्याल बधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर । दिग्गयन्द लरखरत, परत दसकण्ठ मुक्खभर । सुर विमान हिम भानु, भानु संघटित परस्पर । चौंकि विरंचि शंकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ । ब्रह्मण्ड खण्ड कियो चण्ड धुनि, जबहि राम शिव धनु दल्यौ ॥' (कविता० बाल० ११) । —रा० सिं० तो०

छल–एक नया संचारी भाव । सम्भवत भानुदत्तने अपनी 'रसतरंगिणी'में इस संचारी भावकी सर्वप्रथम चर्चा की है (५, पृ० ११०) । अवमान, विपरीत पक्ष एवं कुत्सित चेष्टा इसके विभाव है, वक्रोक्ति, निरन्तर स्मित और चुपके-चुपके देखना एवं अपने विकारोंको छिपाना इसके अनुभाव हैं । स्पष्ट है कि यह संस्कृतके अन्य काव्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित अवहित्था संचारीसे विशेष भिन्न नहीं । 'रसतरंगिणी'में शृंगार एवं संग्राममें 'छल'के भावके उदाहरण दिये गये हैं । कदाचित् इनका अनुसरण कर हिन्दीके कवि देवने इस संचारीका प्रचार किया । उनके 'भावविलास'में निम्नलिखित उदाहरण मिलता है–'स्याम सयाने कहावत हैं कहौ आजुको काहि सयानु है दीनो । देव कहै दुरि देरी कुटीरमें आपनो वैर वधू उहि लीनो । चूमि गयी मुँह औचक ही पट्ट लै गयी पै इन वाहि न चीन्हो । छैल भले छिनहीमें छले दिनहीमें छबीली भलो छल कीन्हो ।' (भाव० संचारी) । अत देवके अनुसार अपने अवभावका बदला लेना छल हुआ । यदि हिन्दी काव्यशास्त्रमें इसका विकास इस प्रकार हुआ तो समझना चाहिये कि छल कोई संचारी भाव नहीं प्रत्युत सुविचारित योजना है । वैसे भी जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, यदि भानुदत्तके अनुसार ही इसकी परिभाषा ली जाय तो यह अवहित्थाके अन्तर्गत है, इसको स्वतन्त्र संचारी मानना आवश्यक नहीं । —ज० कि० व०

छायानाट्य–जेम्स जे० हेजने पुत्तलिका-नाट्यमें प्रयुक्त पुत्तलिकाओंके १८ प्रचलित भेद माने हैं, जिनमें प्रमुख चार हैं–स्ट्रिंग पपेट (सूत्रचालित पुत्तलिका), हैंड पपेट (हस्तचालित पुत्तलिका), शैडो फिगर (छायाकृति) तथा रॉड पपेट (दण्डचालित पुत्तलिका) । छायाकृति द्वारा अभिनीत पुत्तलिका-नाट्यको छायानाट्य कहते हैं । ये छायानाट्य चीनमें ईसासे पूर्व प्रचलित थे । जार्ज जैकबकी 'शैडोज़ इन दि ईस्टर्न थिएटर्स' नामक पुस्तक(१९२५ में प्रकाशित)के अनुसार छायानाट्योंका प्रचार चीनसे भारतमें, भारतसे फारस, अरेबिया तथा अफ्रीका एवं यूरपीय देशोंमें हुआ । चीनमें इन छायाओंको पारदर्शी रंगोंके द्वारा रंगीन बना

दिया जाता था, किन्तु यूरोपमें पहुँचते-पहुँचते इस युक्तिका लोप हो गया था। १९वीं शताब्दीके प्रारम्भमें छायानाट्य यूरोपमें विशेष रूपसे लोकप्रिय होने लगे। मुख्यत पुत्तलिका-नाट्यशालाओंके पर्दोंपर ये छायानाट्य बहुत बडी संख्यामें दिखाये जाने लगे। चित्रपटोंके आविष्कारके कुछ काल पूर्व (१८८०से १८९०के बीच) इन छायानाट्यों-की बहुत अधिक धूम थी। मैजिक लैण्टर्नकी भाँति ही छायानाट्योंने भी चलचित्रोंके आविष्कारको प्रेरणा दी है। वास्तवमें चलचित्रोंके आविष्कारके सहस्र वर्ष पूर्व ही इस प्रकारके छायापटों, ध्वनि, रग, एवं चल आकृतियोंका सयोग प्रचलित हो चुका था। चलचित्रोंके आविष्कारसे छायानाट्योंका प्रचार बहुत कम अवश्य हो गया है, किन्तु अब भी यूरोपमें अनेक छायानाट्य-मण्डलियाँ जनतामें लोकप्रिय हैं।

भारतमें छायानाट्योंकी बड़ी उन्नति हुई थी। ये छायानाट्य आधुनिक चलचित्रोंके मानों मूल रूप थे। उनमें चमड़ेकी कठपुतलियाँ बनाकर प्रकाशके आगे साधारण कठपुतलियोंकी भाँति नचाते थे और उनकी छाया आगे पडे हुए पर्देपर पडती थी। दर्शक-समूह पर्देपर पड़नेवाली उसी छायाके रूपमें नाटक देखता था। इस प्रकार छोटी-छोटी पुतलियोंकी सहायतासे पर्देपर सजीव मनुष्योंकी आकृतियाँ दिखायी जाती थी। ऐसे छायानाट्यों-के तो रूपक भी अलग बनते थे, जिनके मुख्य आधार प्राय रामायण और महाभारतके आख्यान हुआ करते थे। ऐसे नाटकोंमें सुभटकृत 'दूतागद', भवभूतिकृत 'महावीरचरित', राजशेखरकृत 'बालरामायण' और जयदेवकृत 'प्रसन्नराघव' मुख्य हैं। भारतमें, विशेषत दक्षिणभारतमें, ऐसे नाटक सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीतक खेले जाते थे। जावा द्वीपमें ऐसे छायानाट्योंका प्रचार बहुत दिन पहले भारतकी देखा-देखी ही हुआ था। पिशलका तो यहाँतक कथन है कि मध्ययुगमें यूरोपमें कठपुतलियों आदिका जो नाम हुआ करता था वह भारतका ही अनुकरण था। उनका यह भी मत है कि अँग्रेजी नाटकोंमें जो 'क्लाउन' या मसखरे होते हैं, वे भी भारतीय नाटकोंके विदूषकोंके ही अनुकरणपर रखे गये हैं, क्योंकि विदूषकोंकी सबसे अधिक प्रधानता भारतीय नाटकोंमें ही पायी जाती है। —श्या० मो० श्री०

छायावाद—छायावाद आधुनिक हिन्दी कविताकी उस धाराका नाम है जो १९१८ ई० के आसपास द्विवेदी-युगीन (दे०—'द्विवेदी-युग') नीरस, उपदेशात्मक, इतिवृत्तात्मक और स्थूल आदर्शवादी काव्यधाराके बीचसे प्रमुखत रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियोंके विरुद्ध विद्रोहके रूपमें प्रवाहित हुई। यह नयी काव्यधारा अँग्रेजीके रोमाण्टिक कवियों तथा बँगल.के कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी काव्यधाराके ढगकी या उससे प्रभावित थी। रामचन्द्र शुक्लके मतानुसार 'पुराने ईसाई सन्तोंके छायाभास (phantasmata) तथा यूरोपीय काव्यक्षेत्रमें प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद-(symbolism)के अनुकरणपर रची जानेके कारण बगालमें ऐसी कविताएँ छायावाद कही जाने लगी थीं' अत हिन्दीमें भी इस तरहकी कविताओंका नाम छायावाद चल पडा। (हि० सा० इ०, पृ० ६१७, आठवाँ सस्करण)। हजारीप्रसाद द्विवेदीका कहना है कि बँगलामें 'छायावाद' नाम कभी चला ही नहीं। (हि० सा० उ० और वि०, पृ० ४६१)। अस्तु, छायावाद नाम पड़नेका चाहे जो भी कारण रहा हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९२० ई०के आसपास ही इस नवीन काव्याधाराका 'छायावाद' नाम प्रचलित हो गया था, जैसा कि 'श्रीशारदा'में १९२० ई० के चार अकोंमें प्रकाशित मुकुटधर पाण्डेयके 'हिन्दीमें छायावाद' शीर्षक निबन्ध तथा उसी शीर्षकसे जून, १९२१ ई० की 'सरस्वती'में प्रकाशित सुशीलकुमारके व्यंग्यात्मक निबन्धमे स्पष्ट है।

उपर्युक्त निबन्धोंसे यह प्रतीत होता है कि उस समय छायावाद शब्दका प्रयोग अँग्रेजीके मिस्टिसिज्म-(mysticism) के अर्थमें होता था। १९२७ ई० के मई मासकी सरस्वतीमें महावीरप्रसाद द्विवेदीने 'सुकवि किंकर' उपनामसे एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने रविबाबूकी कविताको मिस्टिक या रहस्यवादी माना था और हिन्दीमें प्रचलित छायावादपर छींटाकशी करते हुए लिखा था कि 'छायावादसे लोगोंका क्या मतलब है, कुछ समझमें नहीं आता। शायद उनका मतलब हो कि किसी कविताके भावोंकी छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिये।' इससे स्पष्ट है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी छायावादको बँगलाकी रहस्यवादी कविताओंका अनुकरण या छायानुवाद मानते थे। १९२७ ई० में ही कृष्णदेवप्रसाद गौड़ने महावीरप्रसाद द्विवेदीके उक्त निबन्धके उत्तरमें 'छायावादकी छानबीन' शीर्षक एक लेख लिखा। उस लेखमें भी 'छायावाद' शब्दका प्रयोग रहस्यवाद(mysticism)के अर्थमें ही हुआ था (सा० प्र० कृष्णदेवप्रसाद गौड पृ० ३४)। इस तरह प्रारम्भमें अधिकतर विद्वानोंका यही मत था कि रहस्यवाद और छायावाद एक ही हैं। बादमें रहस्यवाद और छायावादमें भेद किया जाने लगा और रहस्यवादको मिस्टिसिज्म और छायावादको रोमाण्टिसिज्म(romanticism) का द्योतक माना जाने लगा।

रामचन्द्र शुक्ल छायावादको स्वच्छन्दतावादसे भिन्न मानते थे। उनके अनुसार छायावादके प्रारम्भके पूर्व मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि कई कवि खड़ी-बोली काव्यको अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अन्तर्भाव-व्यजक रूप-रग देनेमें प्रवृत्त हुए थे और वही स्वाभाविक स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा थी। छायावादको वे दो अर्थोंमें ग्रहण करते थे, एक तो रहस्यवादके सीमित अर्थमें और दूसरे प्रतीकवाद या चित्र-भाषावादकी अभिव्यजना-प्रणाली या काव्यशैलीके व्यापक अर्थमें। उनका कहना है कि 'हिन्दीमें छायावाद शब्दका जो व्यापक अर्थ रहस्यवादी रचनाओंके अतिरिक्त और प्रकारकी रचनाओंके सम्बन्धमें भी ग्रहण हुआ वह इसी प्रतीकशैलीके अर्थमें। छायावादका सामान्यत अर्थ हुआ प्रस्तुतके स्थानपर उसकी व्यजना करनेवाली छायाके रूपमें अप्रस्तुतका कथन। इस शैलीके भीतर किसी वस्तु या विषयका वर्णन किया जा सकता है।' (हि० सा० इ०, पृ० ६६९, आठवाँ सस्करण)। इस प्रकार रामचन्द्र शुक्ल स्वच्छन्दता-

वादको छायावादसे भिन्न और रहस्यवादको छायावादका पर्यायवाची अथवा उसीमें अन्तर्मुक्त मानते थे। विश्वनाथ-प्रसाद मिश्रने एक कदम आगे बढ़कर स्वच्छन्दतावादको सामाजिक रूढ़ियोंसे विद्रोह, रहस्यवादको सांसारिक जीवनसे विद्रोह और छायावादको अभिव्यंजनावाद मानकर पूर्वप्रचलित काव्यशैलीके विद्रोहकी अभिव्यक्ति माना, परन्तु यह भी स्वीकार किया कि 'आगे चलकर छायावाद नाम इतना व्यापक हुआ कि नये रूप-रंगकी कोई रचना 'छायावाद'में ही अन्तर्भुक्त हो गयी। तात्पर्य यह कि अभिव्यंजनाका नूतन विधान छायावादका मुख्य लक्षण रहा है।' (हि० सा० सा०, पृ० ५९)। इस तरह विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी रामचन्द्र शुक्लकी तरह स्वच्छन्दतावाद और रहस्यवादको विषयवस्तु-व्यंजक और छायावादको अभिव्यंजना-पद्धति-व्यंजक संज्ञाएँ मानते हैं।

किन्तु इन सभी विद्वानोंने इस बातकी ओर ध्यान नहीं दिया कि विषयवस्तु और अभिव्यंजना पद्धति एक-दूसरेसे अविभाज्य और अन्योन्याश्रित हैं। इस दृष्टिसे छायावाद केवल अभिव्यंजनाकी विशेष पद्धति नहीं हो सकता। उसकी वैविध्यपूर्ण विषयवस्तुमें भी कोई ऐसा तत्त्व अवश्य होना चाहिये जिसके कारण कवियोंको उस पद्धति-विशेषका सहारा लेना पड़ा होगा। इसी बातको ध्यानमें रखकर जयशंकर 'प्रसाद'ने छायावादकी यह परिभाषा दी है—'जब वेदनाके आधारपर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दीमें उसे छायावाद नामसे अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परासे, जिसमें बाह्य वर्णनकी प्रधानता थी, इस ढंगकी कविताओंमें भिन्न प्रकारके भावोंकी नये ढंगसे अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्शसे पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्मभावोंकी प्रेरणा बाह्य स्थूल आकारमें भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावोंके व्यवहारमें प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया पदविन्यास आवश्यक था। हिन्दीमें नवीन शब्दोंकी भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णनके लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यासमें ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्तिका प्रयास किया गया।' (काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १४३)। यह परिभाषा छायावादका बहुत कुछ सही स्वरूप उपस्थित करती है और यह स्पष्ट कर देती है कि छायावाद केवल अभिव्यंजनाकी विशेष प्रणाली या प्रतीक-पद्धति नहीं है, बल्कि उसमें ऐसे सूक्ष्म और नवीन भावोंकी योजना भी हुई है, जिनकी अभिव्यक्ति इस विशेष शैलीके अतिरिक्त अन्य किसी पद्धतिसे नहीं हो सकती थी। नवीन आभ्यन्तर अनुभूतिको व्यक्त करनेके लिए नवीन अभिव्यंजना-शैली आवश्यक थी और इसी शैलीके काव्यका नाम छायावाद पड़ा। छायावाद नामकी सार्थकता बताने तथा उसे विदेशी काव्य प्रवृत्तिका अनुकरण नहीं बल्कि भारतीय काव्य-परम्पराके अनुरूप सिद्ध करनेके लिए जयशंकर 'प्रसाद'ने लिखा है—'छाया भारतीय दृष्टिसे अनुभूति और अभिव्यक्ति-की भंगिमापर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रताके साथ स्वानुभूतिकी विवृति छायावादकी विशेषताएँ हैं, अपने भीतरसे मोतीके पानीकी तरह आन्तरस्पर्श करके भावसमर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति-छाया कान्तिमयी होती है।' इस कथनमें छायावादकी तीन प्रधान विशेषताओं—स्वानुभूतिकी विवृत्ति या आत्मव्यंजकता, सौन्दर्यप्रेम और अभिव्यक्तिकी भंगिमा या सांकेतिकताका उल्लेख हुआ है। किन्तु छायावादकी अन्य विशेषताओंका उल्लेख न करनेसे 'प्रसाद'की परिभाषामें अतिव्याप्ति दोष आ गया है, क्योंकि उसके अनुसार आधुनिक प्रयोगवादी रचनाओं-मेंसे भी बहुत-सी छायावादी मानी जा सकती हैं।

नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयीने छायावादकी जो परिभाषाएँ बतायी हैं, उनमें छायावादकी कुछ अन्य तात्त्विक विशेषताओंका समावेश हुआ है। नगेन्द्रके अनुसार 'छायावाद स्थूलके विरुद्ध सूक्ष्मका विद्रोह है।' छायावादमें विद्रोहकी जो व्यापक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है उसकी ओर विद्वानोंका ध्यान नहीं गया था। किन्तु उस विद्रोहका स्वरूप क्या है, इस बातका उल्लेख नगेन्द्रने नहीं किया है, जिससे उनकी परिभाषामें अस्पष्टताका दोष है। वाजपेयीजी छायावादको रहस्यवाद अथवा आध्यात्मिक काव्यसे भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार 'नयी छायावादी काव्यधाराका भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, किन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दीकी मानवीय प्रगतिकी प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। उसकी एक नवीन और स्वतन्त्र काव्यशैली बन चुकी है। आधुनिक परिवर्तनशील समाजव्यवस्था और विचार-जगत्‌में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकताकी, नवीन परिस्थितिके अनुरूप स्थापना करता है। छायावादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामयिक जीवन परिस्थितियोंसे ही मुख्यतः अनुप्राणित है। छायावाद मानव-जीवन-सौन्दर्य और प्रकृतिको आत्माका अभिन्न स्वरूप मानता है। नवीनकाव्य(छायावाद)में समस्त मानव-अनुभूतियोंकी व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।' (आ० सा० . पृ० ३१९-२०)। नन्ददुलारे वाजपेयीकी इस परिभाषामें छायावादकी प्रायः सभी मौलिक विशेषताएँ समाविष्ट हो गयी हैं। यदि छायावाद केवल आध्यात्मिक-काव्य होता तो उसे अवश्य रहस्यवादका पर्याय माना जा सकता था। उसी तरह यदि वह केवल प्राचीन रूढ़ियोंके विरुद्ध विद्रोहकी अभिव्यक्ति होता तो उसे स्वच्छन्दतावादसे अभिन्न माना जा सकता था, किन्तु उसकी मूल प्रवृत्ति प्रतिक्रियात्मक नहीं बल्कि रचनात्मक है, जो भारतीय संस्कृतिकी जीवन्त परम्परा, राष्ट्रीयताकी सशक्त आकांक्षा और नवीन मानवतावादी आदर्शोंकी प्रेरणासे अनुप्राणित है। अतः छायावाद रहस्यवाद, अध्यात्मवाद, स्वच्छन्दता-वाद, मानवतावाद, राष्ट्रीयता और सूक्ष्म सौन्दर्यबोध आदि विविध प्रवृत्तियोंका समग्र रूप है, अर्थात् वह उस जागरण-युगकी प्रबुद्ध आत्मा(या नवीन आध्यात्मिक चेतना)की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टिसे नन्ददुलारे वाजपेयीकी परिभाषा अन्य लोगोंकी परिभाषाओंसे अधिक स्पष्ट, पूर्ण और समीचीन है। यहाँ आध्यात्मिकताका अर्थ धार्मिकता, अलौकिकता या दार्शनिकता नहीं बल्कि स्थूल लौकिकता

और जड़ताके भीतर निहित सूक्ष्म चेतनता है, जिसे 'प्रसाद'ने 'वेदना' कहा है। इसी व्यापक वेदना और नवीन आध्यात्मिक चेतनाकी सूक्ष्म अनुभूतियोंकी नवीन भंगिमामयी शैलीमें जो अभिव्यक्ति हुई, उसीका नाम 'छायावाद' पड़ा।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि रहस्यवाद (दे०) छायावादका एक लघु अंशमात्र है, दोनों एक नहीं है, अर्थात् सभी रहस्यवादी कविताएँ छायावादी नहीं होतीं और न सभी छायावादी कविताएँ रहस्यवादी ही होती हैं। उसी तरह स्वच्छन्दतावाद (दे०)की प्रवृत्ति छायावादमें अवश्य है, पर छायावाद स्वच्छन्दतावाद नहीं है, वह उससे और भी आगे बढ़ा हुआ तथा अन्य कई प्रवृत्तियोंका समग्र रूप है। स्वच्छन्दतावाद या रोमाण्टिसिज्म यूरोपमें अठारहवीं शताब्दीके अन्त और उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें उत्पन्न और विकसित हुआ और उसके मूलमें यूरोपकी तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियोंकी प्रतिक्रियाका ही प्रमुख हाथ था। इसके विपरीत छायावाद उसके सौ वर्ष बाद भारतीय भूमिमें भिन्न आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियोंके बीच विकसित हुआ। यद्यपि दोनोंमें ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, स्थूल बन्धनों और रूढ़ियोंके विरुद्ध विद्रोह, सौन्दर्य-प्रेम और आत्माभिव्यजनाकी प्रवृत्तियाँ समान रूपसे पायी जाती हैं, पर दोनोंके बीच देश और कालकी जो दूरी है, उससे दोनोंके स्वरूपमें पर्याप्त अन्तर भी है। अत छायावाद शब्द रोमाण्टिसिज्मका हिन्दी अनुवाद नहीं है और न वह यूरोपीय रोमाण्टिक कविताका अन्धानुकरण है। वह तो भारतीय संस्कृतिसे अनुप्राणित, भारतीय परिस्थितियोंसे अनुप्रेरित और प्रथम महायुद्धके बादके नवीन मानवतावादी आदर्शवादपर आधारित हिन्दीकी मौलिक काव्यधारा है। यूरोपीय रोमाण्टिक कविताका विद्रोह केवल सामन्तवाद और उसका समर्थन करनेवाली प्रवृत्तियों और रूढ़ियोंके विरुद्ध था, किन्तु छायावादका विद्रोह सामन्तवादके साथ विदेशी साम्राज्यवादके विरुद्ध भी था। यूरोपमें रोमाण्टिक कविताके समयतक पूँजीवादका जितना विकास हो चुका था, उतना भारतीय पूँजीवादका द्वितीय महायुद्धके बादतक भी नहीं हुआ था। यूरोपीय पूँजीवाद उपनिवेशोंपर आधारित था और भारतीय पूँजीवाद स्वय साम्राज्यवादके बन्धनोंमें जकड़ा था। इस कारण भारतीय व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी भावनामें यूरोपीय व्यक्ति स्वातन्त्र्य जैसी शक्ति, वेग और तीव्रता नहीं थी। इससे छायावादी कविता उस अर्थमें क्रान्तिकारी कविता नहीं थी जिस अर्थमें यूरोपीय रोमाण्टिक कविता थी। दोनोंके विद्रोहके स्वरूपमें अन्तर होनेसे उनके काव्यके स्वरूपमें भी पर्याप्त अन्तर है।

वस्तुत छायावाद बीसवीं शताब्दीके प्रथम दो दशकोंमें भारतके नवजागरण (रेनेसाँ)का काव्यात्मक रूपान्तर है। विकासमान और सघर्षशील पूँजीवाद तथा पाश्चात्य सस्कृति, शिक्षा और साहित्यके निकट सम्पर्क या प्रभावने भारतमें व्यक्तित्ववादको जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी कवितामें छायावादके रूपमें वैयक्तिक अनुभूतियों और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियोंकी सीधी अभिव्यक्ति होने लगी। इस कारण छायावादी काव्यका सर्वप्रथम लक्षण यही है कि वह आत्माभिव्यनक या विषय-प्रधान होता है। आत्माभिव्यंजनामें कविकी कल्पनाके साथ उसकी अनुभूतियों और चिन्तनकी ही सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है, बाह्यार्थ-निरूपण और वस्तुवर्णनका उसमें अभाव-सा होता है। छायावादमें स्वच्छन्दतावादी विद्रोहकी भावनाका भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिससे उसमें सामाजिक बन्धनोंसे ऊबकर प्रकृतिके अविकृत और रहस्यमय सौन्दर्यलोकमें रमनेकी प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। वर्तमान परिस्थितियोंके वैषम्यसे असन्तुष्ट स्वच्छन्तावादी कविको प्रकृतिमें ही नहीं, अतीत, भविष्य, कल्पना तथा अलौकिकता या आध्यामिकताके स्वप्नलोकमें भी रमनेके लिए मनोनुकूल भूमि मिलती है। इस प्रकार स्वच्छन्दतावादी काव्यमें यथार्थवादका केवल निषेधात्मक पक्ष ही दिखाई पड़ता है, विधेयात्मक या रचनात्मक पक्ष नहीं। उसका विधेयात्मक पक्ष आदर्शवादी या मानवतावादी भूमिपर आधारित होता है, जिसकी कल्पना और आकांक्षा तो की जा सकती है, पर जो कभी यथार्थकी भूमिपर उतारा नहीं जा सकता। जिस पूँजीवादी व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी भावनासे स्वच्छन्दतावादका उदय हुआ था, वह स्वय इसी प्रकारका भ्रम था, क्योंकि पूँजीवाद व्यक्तिको स्वतन्त्र बनाकर भी उसे नये आर्थिक बन्धनोंमें जकड़ देता है, जिससे व्यक्तिस्वातन्त्र्यका स्वप्न कभी यथार्थ नहीं बन पाता। अत छायावादपर अतिशय काल्पनिकता और यथार्थ जीवनसे पलायनका जो दोषारोपण किया जाता है, वह पूँजीवादसे उत्पन्न व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावादकी देन है।

उपर्युक्त विवेचनके निष्कर्षके रूपमें कहा जा सकता है कि स्वच्छन्दतावादकी निम्नलिखित विशेषताएँ छायावादमें पायी जाती हैं—१ आत्मानुभूतिकी अभिव्यक्ति, २. कल्पनाकी अतिशयता, ३ सौन्दर्यके प्रति अत्यधिक आकर्षण, ४ विस्मयकी भावना, ५ सर्वचेतनावाद (pantheism) या एक ही सूक्ष्म चेतनाका समस्त विश्वमें दर्शन, ६ सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक बन्धनों और रूढ़ियोंसे विद्रोह, ७ उन्मुक्त प्रेमकी प्रवृत्ति (लौकिक या आध्यात्मिक)।

छायावादकी अन्य प्रवृत्तियाँ जो पूँजीवादी व्यक्तिवादके कारण नहीं बल्कि अन्य कारणोंसे उद्भूत हुई हैं, ये हैं—१ भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तनकी विविध परम्पराओंकी अभिव्यक्ति, २ आधुनिक-युगीन भारतीय सांस्कृतिक नवजागरणके विविध पक्षा—विवेकानन्द और रामतीर्थकी अद्वैतमूलक भक्ति-साधना, गान्धीवादी मानवतावाद, रवीन्द्रनाथ ठाकुरका विश्वबन्धुत्ववाद आदिकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति, ३ राष्ट्रीयताकी भावना और विदेशी शासनके विरुद्ध विद्रोह।

छायावाद-युगको दो कालोंमें विभाजित किया जा सकता है। १९१८ ई० से १९३० ई० तकका काल उसका पूर्वार्द्ध है, जिसमें छायावाद विकासोन्मुख था और उसमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और विद्रोहकी प्रवृत्ति अत्यन्त शक्तिमती, तीव्र, आशामयी और सघटित थी। १९३० ई० से १९४२ ई० का

काल उसका उत्तरार्द्ध है, जिसमें छायावादकी शक्ति बिखरने लगी और वह आदर्शके स्वप्नलोकको छोड़कर यथार्थकी कठोर भूमिपर उतरता दिखाई पड़ा। छायावाद जिस व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी भावनासे उत्पन्न हुआ था, वह एक भ्रम था। भ्रम भी कुछ कालतक शक्तिका स्रोत बना रह सकता है, पर जब वह टूटता है तो उसकी सारी शक्ति बिखर जाती है। १९२८–३० ई० के आसपास विश्वव्यापी मन्दी, भारतमें फैली बेकारी, स्वतन्त्रता-आन्दोलनकी असफलता और यूरोपीय पूँजीवादकी तानाशाहीमें परिणति देखकर भारतीय मध्यवर्गका व्यक्ति स्वातन्त्र्यका भ्रम भी टूटने लगा। फलतः छायावादी कविकी विद्रोही भावना भी बिखरने लगी और वह स्वप्नलोकके शीशमहल(ivory tower)से निकलकर यथार्थ जीवनकी समस्याओंका सामना करने लगा। इस प्रक्रियामें छायावादी काव्य दो धाराओंमें विभक्त हो गया, पहली धारा सामाजिकताकी थी और दूसरी ओर वैयक्तिकताकी। स्वप्न टूटनेपर या तो यथार्थका ज्ञान होनेसे नयी शक्ति आती है या घोर नियतिवाद, निराशावाद, अहंवाद, अराजकतावाद आदि नितान्त वैयक्तिक अथवा असामाजिक प्रवृत्तियोंका जन्म होता है। छायावाद-युगके उत्तरार्द्धमें पहली प्रवृत्ति सुमित्रानन्दन पन्त, दिनकर, 'निराला', केदारनाथ अग्रवाल आदिकी कविताओंमें और दूसरी प्रवृत्ति बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, अचल, भगवतीचरण वर्मा आदि कवियोंकी कविताओंमें मिलती है। यह छायावादके लिए संक्रान्तिका काल था जिसमें वह प्रगतिवाद और प्रयोगवादके नये स्वरूपमें रूपान्तरित हो रहा था, फिर भी उसकी मूल भावना और काव्य-शैली छायावादी ही थी। अतः उसे भी छायावादके अन्तर्गत ही माना जाता है। इस कालकी प्रमुख विशेषताएँ हैं—१ सामाजिक या यथार्थोन्मुख आदर्शवाद, २ छायावादी आदर्शवादकी प्रतिक्रिया और निजी सुख-दुःखकी सीधी अभिव्यक्ति, ३ मस्ती और मौजकी प्रवृत्ति, ४ निराशावाद, ५ अहंवाद, ६ ऐन्द्रियता और मधुचर्या।

[सहायक ग्रन्थ—(१) छायावाद युग : शम्भूनाथ सिंह, (२) छायावादका पतन : देवराज] —श० ना० सिं०

छायावाद-युग—छायावादके जन्मके सम्बन्धमें कई मत प्रचलित हैं। रामचन्द्र शुक्लका मन्तव्य है, 'हिन्दी कविताकी नयी धारा(छायावाद)का प्रवर्तक इन्हींको—विशेषतः मैथिलीशरणगुप्त और मुकुटधर पाण्डेयको समझना चाहिये।' अर्थात् शुक्लजीके अनुसार छायावादका जन्म-काल ई० सन् १९०५ के लगभग माना जाना चाहिये। परन्तु इस सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंको आपत्ति है। इलाचन्द्र जोशी तथा शिवनाथ शुक्लजीके इस मतका खण्डन करते हैं। ये छायावादका प्रारम्भ ई० सन् १९१३-१४ के लगभग मानते हुए जयशंकर 'प्रसाद'को छायावादका जनक मानते हैं। इलाचन्द्र जोशी लिखते हैं, 'छायावादकी उत्पत्ति और विकासके सम्बन्धमें आचार्य रामचन्द्र शुक्लका वक्तव्य एकदम भ्रामक, निर्मूल और मनगढ़न्त है। 'प्रसाद'जी अविवादास्पद रूपसे हिन्दीके सर्वप्रथम छायावादी कवि ठहरते हैं। सन् १९१३-१४ के आसपास 'इन्दु'में प्रतिमास उनकी जिस ढंगकी कविताएँ निकलती थीं (जो बादमें 'कानन-कुसुम'के नामसे पुस्तकाकार प्रकाशित हुई) वे निश्चय रूपसे तत्कालीन हिन्दी काव्य-क्षेत्रमें युग-विवर्तनकी सूचक थीं।' शिवनाथ भी इसी मतके पोषक हैं—'मैं यों कहूँ कि आचार्य शुक्ल जहाँसे नवीन काव्यकी भारतीय पद्धतिका प्रवर्तन मानते हैं उसके पहलेसे ही 'प्रसाद' नवीनताका प्रारम्भ कर चुके थे। छायावादके प्रारम्भकर्ता 'प्रसाद' हैं।'

कुछ लोग 'भारतीय आत्मा' (माखनलाल चतुर्वेदी)को छायावादके प्रवर्तनका श्रेय देना चाहते हैं। इस मतके समर्थक हैं, विनयमोहन शर्मा एवं प्रभाकर माचवे। इन लोगोंका आग्रह है कि छायावादका प्रारम्भ ई० सन् १९१३ से अवश्य हुआ, परन्तु छायावादके प्रारम्भकर्ता जयशंकर 'प्रसाद' न होकर माखनलाल चतुर्वेदी हैं।

नन्ददुलारे वाजपेयीका दूसरा ही मत है। सुमित्रानन्दन पन्तको इसका श्रेय देते हुए आप लिखते हैं—'साहित्यिक दृष्टिसे छायावादी काव्यशैलीका वास्तविक अभ्युदय सन् १९२०के पूर्व-पश्चात् सुमित्रानन्दन पन्तकी 'उच्छ्वास' नामकी काव्य-पुस्तिकाके साथ माना जा सकता है।'

इस मत-वैभिन्न्यके पर्याप्त कारण हैं। द्विवेदीयुगकी कविताकी भाषा व्रजभाषा थी। खड़ीबोलीमें कविताका सुनिश्चित एवं क्रमिक प्रवाह लगभग सन् १९०४ ई०से देखा जाता है और छायावादका प्रारम्भ-काल यदि १९१३-१४ माना जाय तो छायावाद एवं व्रज-काव्यका मध्यकाल दस-बारह वर्षोंसे अधिक नहीं ठहरता। अस्तु, सन् १९१३-१४ ई० और १९०३-८के बीच यदि कुछ समता या अधिक निकटता दीख पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं। इसका एक कारण और है। रीतिकालके विरुद्ध द्विवेदी-कालमें विद्रोह हुआ। स्वच्छन्दतावादका प्रथम काल, जिसे सैद्धान्तिक स्वच्छन्दतावाद कहना अधिक उपयुक्त होगा, यही काल माना जाना चाहिये, अर्थात् १९००-१९१४ तकके कालको सैद्धान्तिक स्वच्छन्दतावादके नामसे पुकारा जा सकता है, जिसका सिद्धान्त १९वीं शताब्दीकी कविताके संकुचित दृष्टिकोणके प्रति असन्तोष और उसकी अतिशय नियमबद्धता और साहित्यिक पाण्डित्यके प्रति विरोध था। यही कारण है कि कुछ आलोचकोंको मैथिलीशरण गुप्त और 'प्रसाद'के काव्यमें भी छायावादकी गन्ध मिलती है। नन्ददुलारे वाजपेयी, श्रीकृष्णलाल और सियारामशरण गुप्तने इस तथ्यका स्पष्टीकरण बड़े सुलझे ढंगसे किया है। इस प्रकार छायावादका प्रारम्भ १९१३-१४ ई० से होता है और १९३६ तक आते-आते इसकी धारा मन्द पड़ जाती है।

वस्तुतः छायावाद मध्यवर्गीय चेतनाके विद्रोहका दूसरा नाम है। उस विशिष्ट कालकी परिस्थितियों और विचारधाराओंने विविध रूपमें जीवन और काव्यको प्रभावित किया था। पूँजीवादका विकास और व्यक्तिवादका जन्म, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियोंका उदय, प्रथम महायुद्धका प्रभाव, राजनीतिके क्षेत्रमें महात्मा गान्धीका आन्दोलन और सम्पूर्ण समाजमें स्वातन्त्र्य-प्रेमका जागरण, नयी पीढ़ीपर पश्चिमी सभ्यताका रंग चढ़ना तथा अँग्रेज रोमाण्टिक कवियोंने

प्रभावित होना, कवीन्द्र रवीन्द्रके प्रति श्रद्धा, बगालमें ब्राह्म-समाजका आन्दोलन और राजा राममोहन रायके क्रान्तिकारी विचार, स्वामी दयानन्द सरस्वतीका कर्मकाण्डी वैष्णव धर्मके विरुद्ध आन्दोलन—इन विभिन्न सास्कृतिक परिस्थितियोंने मिल-जुलकर छायावादको जन्म दिया। साहित्यके क्षेत्रमें यद्यपि रीतिकालके विरुद्ध आवाज उठ चुकी थी, किन्तु भाषा बदली थी, छन्दके वर्णवृत्त पूर्ववत् थे। वासनाका रग छूटा था तो उपदेशकी रगहीनता आ गयी थी। रसके ऊपर इतिवृत्त चढ बैठा था, यहॉतक कि स्थूल सौन्दर्य-बोधके विरोधमें पुनरुत्थान-युगके काव्यने सौन्दर्यको ही निर्वासित कर दिया था। फलत• नये कवियोंका उन्मुक्त मन अपनी अभिव्यक्तिके लिए दूसरा रास्ता ढूँढने लगा। सघर्षशील मध्यवर्गकी चेतनामें अभूतपूर्व परिवर्तन लक्षित होने लगे। व्यक्तिवाद, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके आदर्शोंकी नीव पडी। बुद्धिके विरुद्ध हृदय और स्थूलके विरुद्ध सूक्ष्म विद्रोह कर उठा। महादेवीके शब्दोंमें—उस युगकी कविताकी इतिवृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली कि मनुष्यकी सारी कोमल और सूक्ष्म भावनाए विद्रोह कर उठीं। स्थूल सौन्दर्यकी निर्जीव आवृत्तियोंसे थके हुए और कविताकी परम्परागत नियम-श्रृखलासे ऊबे हुए व्यक्तियोंको फिर उन्ही रेखाओंमें बॅधे स्थूलका न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूढिगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन रूप-रेखाओंमें सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूतिकी आवश्यकता थी, जो छायावादमें पूर्ण हुई।

१९१३ ई० से पहले 'प्रसाद' ब्रजभाषामें कविताएँ लिखा करते थे, परन्तु 'इन्दु'के माध्यमसे उन्होंने नयी कविताओंका प्रारम्भ किया। खडीबोलीमें उनकी पहली पुस्तक 'कानन कुसुम' है। 'कानन-कुसुम', 'महाराणाका महत्त्व' और 'प्रेम-पथिक' इनकी प्रारम्भिक रचनाऍ हैं, जो १९२० ई० के पूर्व प्रकाशित हो चुकी थीं। १९१८ ई० में इनकी २४ कविताओंका सग्रह 'झरना' नामसे प्रकाशित हुआ। 'झरना'में यौवनका स्वर है—आत्मदान एव आत्मप्रकाशनकी अभिलाषा है। भाव-प्रवणता एव आर्द्रता स्पष्टतया परिलक्षित है। पुन १९२७ ई० में 'झरना'का दूसरा सस्करण ३१ नयी कविताओंको जोड़कर प्रकाशित हुआ। यहाँ हमें स्मरण रखना होगा कि अबतक पन्तकी 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' प्रकाशित हो चुके थे। 'निराला'की स्फुट कविताएँ पत्र-पत्रिकाओंमें छपने लगी थीं। तात्पर्य यह कि छायावादी कविता अपने पूर्ण उन्मेषको प्राप्त कर चुकी थी। १९३१ ई० में 'प्रसाद' अपनी प्रौढ रचना 'ऑसू'के साथ हिन्दीमें आये। 'आसू' एक श्रेष्ठ विरहकाव्य है—बल्कि विरहके अन्तर्गत भी यह मुख्यत एक स्मृति-काव्य है। इसमें प्रेम-वेदनाको 'प्रसाद'ने बड़ी दिव्यतासे अंकित किया है। अपने अगले कविता-सग्रह 'लहर'में 'प्रसाद'ने अन्यान्य भाव-भूमियोंपर अपनी कल्पनाको दौड़ाया है। इन कविताओंमें आनन्दवादकी झलक, अज्ञात प्रियतमसे रहस्यमय अभिसारोंके चित्र, सजीले स्वप्नोंसे अतृप्तिको मिटानेका प्रयास, 'बीती विभावरी जाग री'का आह्वान और 'अब जागो जीवनके प्रभात'की कामना स्पष्टतया देखी जा सकती है। १९३५ ई० में 'कामायनी' प्रकाशित हुई। यह छायावाद-युगका महाकाव्य है। इसमें एक उदात्त आदर्शवादी स्तरपर सामजस्यपूर्ण आनन्दवादकी धारणा स्थापित की गयी।

छायावाद-युगके दूसरे सशक्त एव प्रौढ़ प्रतिभाके कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' हैं। 'जूहीकी कली' 'निराला'की प्रारम्भिक कविताओंमेंसे है। इसकी रचना १९१६ ई०में हुई थी और 'मतवाला'में इनकी कविताएँ प्रारम्भमें प्रकाशित हुई, लेकिन १९२९ से ही ये प्रकाशमें आये, जिस वर्ष इनका 'परिमल' प्रकाशित हुआ। परिमलकी कविताओंमें कविका सयम, उदात्त अन्त स्वर, करुणासे सहज द्रवित हृदयकी विशालता, भावोंके सूक्ष्म सौन्दर्य एव दार्शनिक गहराई आसानीसे देखी जा सकती है। 'जूहीकी कली', 'पचवटी', 'जागृतिमें मुक्ति', 'छ बादलगीत', 'भिक्षुक', प्रसिद्ध गीत 'भर देते हो'—'परिमल'की प्रमुख कविताएँ हैं, जिनमें छायावादी अनेकमुखी प्रवृत्तियोंकी उदात्त झलक मिलती है। 'परिमल'के बाद 'गीतिका' एव तत्पश्चात् 'अनामिका'-(१९३७)का प्रकाशन हुआ। 'अनामिका' इनका प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ है। 'तोडती पत्थर','बादल गरजो', 'तोड़ो-तोड़ो कारा' आदि कविताएँ कविकी प्रगतिशील चेतनाकी सूचक है। 'दु ख ही जीवनकी कथा रही', 'क्या कहूँ आज जो नहीं कही', 'जीवन चिरकालिक क्रन्दन', 'मै अकेला देखता हूँ', 'स्नेह निर्झर बह गया है', 'रेत ज्यों तन रह गया है' आदि कविताओंमें कविकी घोर निराशा और अवसादकी अनुभूतियोंके बीच भी उसकी परुष तेजस्विता देखी जाती है। 'अनामिका'में ही 'रामकी शक्ति-पूजा' छपी है। 'अनामिका'के बाद 'तुलसीदास' प्रबन्ध-काव्य प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् निरालाने नया मोड़ लिया। 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला', 'नये पत्ते', 'अर्चना' और 'आराधना'का प्रकाशन हुआ।

सुमित्रानन्दन पन्त छायावादके तीसरे महत्त्वपूर्ण स्तम्भ हैं। इनका रचना-काल सन् १९१८ ई० से प्रारम्भ होता है। 'वीणा', 'ग्रन्थि' १९२० तक प्रकाशित हो चुकी थीं। १९२१ ई०में 'उच्छ्वास' और 'ऑसू' कविताएँ लिखी गयीं। 'पल्लव'का प्रकाशन १९२६ में हुआ। १९१९ से १९३२ तककी रचनाए 'गुजन'में सगृहीत हैं। 'युगान्त' कविकी नयी दिशाका सूचक है, जिसमें १९३४, ३५, ३६ई० की कविताऍ सगृहीत हैं। इसके पश्चात् १९३९ तककी रचनाऍ 'युग-वाणी'में संगृहीत है। इनकी 'ग्राम्या' १९४०के मध्यतककी कविताओंका सग्रह है। 'वीणा'में प्रारम्भिक रचनाएँ हैं, जिनमें कविकी अप्रस्तुत रूपोंका मूर्त-विधान करनेवाली लाक्षणिक शैली स्पष्ट है। प्रकृति और मानवके प्रति जिज्ञासा एवं रहस्य भावनाकी प्रधानता है, किन्तु 'ग्रन्थि'में कविका यह किशोर उल्लास असफल प्रेमकी सघन वेदनामें परिणत हो जाता है। 'ग्रन्थि' एक खण्डकाव्य है। दृश्य-जगत्के नाना सुन्दर रूपोंका मूर्त एव मासल चित्रण पल्लवमें हुआ है। 'वीचि-विलास', 'बादल', 'नक्षत्र', 'मौन निमन्त्रण', 'ऑसू', 'विश्व-वेणु', 'उच्छ्वास' आदि सौन्दर्यमयी कल्पनाकी श्रेष्ठ कविताऍ हैं। 'परिवर्तन' इनकी एक नयी उपलब्धि थी। इस कवितापर आध्यात्मिक दर्शन—विशेषकर उपनिषदोंका प्रभाव देखा जाता है। 'गुञ्जन'

इनके आत्म-चिन्तन एव लोककल्याणके चिन्तनसे गुञ्जित हैं। यहाँ भी आध्यात्मिक दर्शनका प्रभाव स्पष्ट है, परन्तु 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'में इनका स्वर सर्वथा बदल जाता है। दलित-शोषित मानवताके प्रति बौद्धिक सहानुभूति ही इन पुस्तकोंका मुख्य विषय है। १९३८ और १९४५ के बीच इनकी कविताएँ प्रगतिशील धाराको एक नया रूप-संस्कार देती है। अपने नये काव्य-सकलनो —'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि', 'उत्तरा' तथा 'अतिमा'में पन्तने अरविन्द-दर्शनसे विशेष प्रेरणा ग्रहण की है।

छायावादके कवि-चतुष्टयकी चौथी कवि महादेवी वर्मा हैं। महादेवीको निराशावाद अथवा पीडावादकी कवयित्री कहा गया है। स्वय महादेवी लिखती हैं, 'दु ख मेरे निकट जीवनका ऐसा काव्य है जो सारे ससारको एक सूत्रमें बाँध रखनेकी क्षमता है।' इनकी कविताओंमें सीमाके बन्धनमें पडी असीम चेतनाका क्रन्दन है। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत', और 'दीपशिखा' इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। अतिरजित भावना, सूक्ष्म कल्पना, सुन्दर शब्द-विन्यास, अमिट वेदना, एक अनन्त खोज इनकी कविताओंके प्रमुख तत्त्व है।

छायावादी काव्यके वृत्तमें रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, उदयशकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, हरिकृष्ण प्रेमी, मोहनलाल महतो वियोगी, जानकीवल्लभ शास्त्री, सुमित्राकुमारी सिनहा, विद्यावती कोकिल, हसकुमार तिवारी आदि उल्लेखनीय है। छायावादके बहुतसे परवर्ती कवि इस काव्य-धाराके प्रभावसे अपनेको सर्वथा मुक्त नहीं कर सके।

इस कालके कवियोंने आलोचकका भी काम किया है। महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, पन्त, 'निराला' एवं 'प्रसाद'ने छायावादके स्पष्टीकरणके लिए काफी सामग्री दी है। —रा० कु० स०

छिनाली–दे०–'हठयोग'।

छेकानुप्रास–अनुप्रास अलंकारका एक भेद। 'छेक' शब्द-का अर्थ है 'प्रिय' अर्थात् विद्वानोंको प्रिय लगनेवाला। इसका विवेचन सर्वप्रथम उद्भटने अपने 'काव्यालकारसार-सग्रह'(८०० ई०)में किया है। मम्मटके अनुसार 'सोऽनेकस्य सकृत्पूर्व' (का० प्र० ९ ७९), अर्थात् एकसे अधिक व्यंजनका एक बारका साम्य। इसी प्रकार विश्वनाथका कथन है–'छेको व्यजनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा' (सा० द० १०), जहाँ अनेक व्यजनोंकी, स्वरूप और क्रमसे एक बार आवृत्ति हो, वहाँ 'छेकानुप्रास' अलकार होता है। छेकानुप्रासमें वर्णोंका उसी क्रमसे प्रयोग होना चाहिये। जैसे 'रस' 'सर'में छेकानुप्रास नहीं है। 'सर' 'सर'में छेकानुप्रास है, क्योंकि इसमें आवृत्त वर्णोंका स्वरूप और क्रम समान है।

हिन्दीमें जसवन्त सिंहके 'भाषाभूषण'(१६४३ ई०)में लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'आवृति वर्न अनेकको दोय-दोय जब होय। है छेकानुप्रास स्वर समता विनहू सोय।' (१९८)। इसमें बिना स्वरसमताके भी छेकानुप्रासके प्रयोगकी बात 'साहित्यदर्पण'के 'वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्'-के आधारपर कही गयी है। कुछ आचार्योंने इसके लक्षण स्पष्ट नहीं दिये है, जैसे भूषण, दास तथा भगवानदीन आदि। चिन्तामणि तथा कुलपति मिश्रने मम्मटका अनुसरण किया है। भूषण कहते है—'स्वर समेत अच्छर पढनि, आवत सहस प्रकास' (शि० भू० ३५५)। दासके अनुसार 'वर्न बहुतकी एककी, आवृति एकहि बार' (का० नि० १९) 'छेकानुप्रास' है। पर 'साहित्यदर्पण'में एक वर्णके एक बारके सादृश्यको छेकानुप्रास नहीं कहा गया है। इसमें तथा 'काव्यप्रकाश'की 'प्रदीप' और 'उद्योत' व्याख्याओंमें एक वर्णकी एक बार आवृत्तिको 'वृत्यानुप्रास' कहा गया है। आधुनिक विवेचकोंमें भगवानदीनने भी एक वर्णकी आवृत्तिको भी 'छेक' माना है। आचार्य रुद्रटसे 'छेक'में अनेक वर्णोंकी आवृत्ति मानी गयी है।

देवने इसका सुन्दर उदाहरण दिया है—'रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै, साँसै भरि आँसू भरि कहत दई दई।' आधुनि कालमें ब्रजभाषाके कवि रत्नाकरको विशेष सफलता मिली है—'मुक्ति मुकताको मोल माल ही कहाँ है जब मोहन लला पै मन मानिक ही वारि चुकी।' (उ० श०)। इसका प्रयोग खडीबोलीके कवियोंमें भी मिलता है—'लपटसे झट रुख जले जले, नद नदी घट सूख चले चले। विकल ये मृग मीन मरे मरे, विकल ये दृग दीन भरे भरे।' (मै० श० गुप्त। काव्यदर्पणसे उद्धृत)। इसका प्रयोग हिन्दी साहित्यमें प्राय सर्वमान्य रहा है, आदिकालके वीरकाव्यमें रसकी अनुरूपताके लिए, भक्त कवियोंने सहज वर्णन सौन्दर्यके रूपमें तथा रीतिकालीन परम्परामें चमत्कारकी दृष्टिसे। भगवानदीनने 'अलकार-मंजूषा'में छेकानुप्रासका एक यह भी उदाहरण दिया है—'बाँये द्वार का करी चतुर चित्त का करी, सो उम्मिर वृथा करी न रामकी कथा करी।' इसमें काकरी, थाकरी, आदि शब्दोंके प्रयोग द्वारा 'यमक' अलकारका उदाहरण हो सकता है, न कि छेकानुप्रासका। —वि० स्ना०

छेकापह्नुति–दे०–'अपह्नुति', पाँचवाँ भेद।

छेकोक्ति–एक गौण अर्थालकार। अप्पय दीक्षितने छेकोक्तिको नया अलंकार बताया है। कदाचित् उन्हें छेकानुप्रास एव छेकापह्नुति शब्दोंमें छेक-चतुरसे प्रेरणा मिली हो, इसीलिए उन्होंने इस अलकारकी परिभाषा की है—'छेकोक्तिर्यत्र लोकोक्तेः स्यादर्थान्तरगर्भिता।' (कुवलयानन्द ९१), अर्थात् लोकोक्तिसे किसी अन्य अर्थकी व्यजना होनेपर छेकोक्ति अलकार होता है। यथा—'भुजंग एव जानीते भुजंगचरण सखे।' (वही)। इस उदाहरणमें एक व्यक्तिने किसीके सम्बन्धमें दूसरेसे पूछा तो इसने एक चौथे व्यक्तिकी ओर संकेत करके कहा कि उसकी दशा यही जान सकते हैं, क्योंकि साँप ही साँपकी गति जानते है। यहाँपर लोकोक्तिके अन्यार्थकी व्यजना होती है। 'कुवलयानन्द'के आधारपर हिन्दीके आचार्योंने भी इसे ग्रहण किया है—'और अर्थ लीन्हे सु जो, छेक उक्ति अभिराम।' (ल० ल० ३६६) अथवा—'लोकोक्तिमें गर्भित अरथ सु आन।' (पद्मा० २५८)। उदा०—'सिगरे तनु मोह मे मोहि रहे तृन ओट पहार न देखि परै।' (ल० ल० ३६८), इसमें लोकोक्ति भिन्न अर्थकी व्यजना करती है—सर्वव्यापी तथा सूक्ष्म होनेकी। यहाँपर भी लोकोक्तिका अन्यार्थ व्यजित होता है।

भोजने (शृ० प्र० के० राघवण पृ० ३८५) लोकोक्ति एव छेकोक्तिको शब्दालकार छायाके अन्तर्गत माना है। —ज० कि० व०

जगतानुबोध–शून्यवादियों और विज्ञानवादियोंमें एक सूक्ष्म दार्शनिक अन्तर यह था कि शून्यवादियोंने चित्तका अनस्तित्व और अनुत्पाद माना था, किन्तु विज्ञानवादी चित्तका अस्तित्व मानते थे और ससारको चित्तकी ही एक भ्रान्तिके रूपमें स्वीकार करते थे। इस ससारके वास्तविक स्वभावका ज्ञान प्राप्त कर चित्तका भ्रान्तिसे मुक्त होना ही जगतानुबोध है।

जगत्के स्वरूपका विवेचन करते हुए सिद्धोंने बराबर 'कन्ध, भूअ, आअत्तण, इन्दी' (दोहाकोष) अर्थात् स्कन्ध, भूत, आयतन और इन्द्रियोंकी ओर सकेत किया है, जिनकी चेतनाका प्रवाह ही वास्तवमें संसार है। इसीलिए इसे 'चर्यापद'में बार-बार भव-नदी कहा गया है। इनमेंसे प्रत्येक तत्त्वपर अलग-अलग विचार करनेपर ज्ञात होता है कि मूलत बौद्ध परम्परामें चार महाभूतोंको ही मान्यता दी गयी थी (अ० ध० को० वसुबन्धु)। इसका अनुसरण करते हुए सरहपाने चार महाभूत माने हैं, पृथ्वी, आप् (जल), तेज (अग्नि), गन्धवह (वायु), किन्तु काण्हपाने गगनकी भी गणना की है। इन्हें भूत इसलिए कहा जाता है कि ये भवके आधार हैं। इन्द्रियाँ और उनके विषय भी इन्हीं पंचभूतोंके आश्रित हैं। पृथ्वीका विषय है गन्ध, इन्द्रिय–नासिका। जलका विषय रस या स्वाद, इन्द्रिय–जिह्वा या रसना। तेजका विषय है रूप, इन्द्रिय—नेत्र। वायुका विषय है स्पर्श; इन्द्रिय–त्वचा। आकाशका विषय है शब्द, इन्द्रिय–श्रोत्र। इन्हींपर आधारित पाँच प्रकारके विज्ञान हैं। चाक्षुष, श्रोत्रिय, घ्राण, रसना, काया (त्वचा)। इन विज्ञानोंकी अधिष्ठात्री पाँच इन्द्रियाँ हैं। किन्तु विज्ञानवादमें इनके अलावा मनको छठी इन्द्रिय माना गया है और उसे मनोविज्ञानकी अधिष्ठात्री इन्द्रिय माना गया है। सिद्धोंने कहीं-कहीं छ इन्द्रियोंका उल्लेख इसी सिद्धान्तके अनुसार किया है।

इन्द्रियोंके साथ आयतनोंका भी उल्लेख है। आयतन-का अर्थ है निवासस्थल। उदाहरणके लिए, यदि हम पुष्पको देखते हैं तो यह पुष्पका दर्शन चाक्षुषविज्ञान है। इसके दो आयतन हुए। पुष्प इसका रूप-आयतन या विषय-आयतन हुआ और चक्षु इसका इन्द्रिय-आयतन। इस प्रकार छ विज्ञानोंके बारह आयतन हुए। छ विज्ञान और बारह आयतनकी समवेत संख्या १८ हुई। १८ धातुओंसे यह ससार निर्मित है। (दे०–'चर्यापद' १३वीं चर्याकी टीका)

चित्तगत दृष्टिकोणसे तो सारा ससार इन १८ धातुओंमें बना है, किन्तु वस्तुगत दृष्टिकोणसे सभी वस्तुओंके धर्मोंका समवेत रूप संसार है। शून्यवादने तो प्रतीत्यसमुत्पादके सिद्धान्तसे सभी धर्मोंका नैरात्म्य सिद्ध कर दिया था, किन्तु विज्ञानवादने इन धर्मोंको भी चित्तगत माना था। इन धर्मोंमें पाँच प्रकारके साम्य माने गये हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान। समस्त धर्म इन्हीं पाँच स्कन्धोंमें वर्गीकृत कर दिये गये हैं। अत स्कन्ध, भूत, आयतन, इन्द्रिय और विषयका विकार यह ससार है। 'कन्ध, भूअ आअत्तण, इन्दी विषय विआरु। ('दोहाकोष' सरहपा) —ध० वी० भा०

जच्चा–जन्मोत्सवका गीत, ब्रज-लोक और अवध-लोकमें विशेष प्रचलित, जच्चाकी आशाओं-आकाक्षाओं, उसकी प्रसव-पीड़ा और शिशुजन्मके अवसरपर उसके सम्बन्धियों-के नेग और ठनगनसे सम्बद्ध। सत्येन्द्रने इसके तेरह उपप्रकारोंका उल्लेख किया है–दे०—'ब्रजलोक साहित्यका अध्ययन', पृ० १२३। —र० भ्र०

जड़ता (जडता एव जाड्य)–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी भाव। निश्चेष्ट हो जाना (सर्वकार्याप्रतिपत्ति) जडता है। 'नाट्यशास्त्र'में इसके विभाव एव अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे दिये हैं—'इष्टानिष्टश्रवणदर्शनव्याध्यादिभिर्विभावै-रुत्पद्यते। तामभिनयेदकथनाभाषणतूष्णीभावानिमेषनिरी-क्षणपरवशत्वादिभिरनुभावै।' (७ ६६) अर्थात् इष्ट एव अनिष्टका देखना और सुनना और व्याधि इत्यादि इसके विभाव हैं, और किंकर्तव्यमूढ, मौन, अनिमेषदर्शन एव परवशताके अनुभावोंसे इसका अभिनय होता है। धनंजय-(द० रू० ४ १३)ने इष्टदर्शन एवं अनिष्टश्रवणके कारण जडताके उदाहरण दिये हैं। विश्वनाथका लक्षण 'नाट्य-शास्त्र'पर आधारित है (सा० द० ३ १४८)।

हिन्दीमें देवके लक्षणमें भी यही भाव है—'हित अहितहि देखै जहाँ, अचल चेष्टा होइ। जानि बूझि कारज थके, जड़ता बरने सोइ।' (भाव० सचारी)। अन्य आचार्योंमें प्राय यही लक्षण है। कुछने स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है—'उतकठादिक तैं जु ह्वै, अचल चित्त अरु अंग।' (ल० ल० । ४२४)।

देवका उदाहरण—'ठौर ही ठाढे चितौत इतौ तन नेकऊ एक टकी टहली सी। देवको देखति देवता-सी वृषभान लली न हली न चली सी।' (भाव० सचारी)। इसी प्रकार पद्माकरका उदाहरण है—'हलै दुहूँ न चलै दुहूँ, दुहूँ बिसरिगे गेह। इक टक दुहुनि दुहूँ लखें, अटकि अटपटे नेह।' (जगत० ५६४)। इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि एकदम ठक हो जाना जडता है। इस अवस्थामें अनुभव होते ही, व्यक्तिके मानसिक एवं शारीरिक व्यापार क्षणभरके लिए स्थगित हो जाते हैं। आशातीत सुख, अद्भुत विषय तथा अपार दु खसे भी यह भाव व्यक्त होता है। अत यह सुख-दु खात्मक है। प्रधानत यह मानसिक अवस्था है। मोह इससे भिन्न है, क्योंकि वह दु खात्मक है।—ज०कि०व०

जन–सामान्य अर्थोंमें इस शब्दसे समाजमें रहनेवाले लोगोंका बोध होता है। —रा० कु० त्रि०

जन-आंदोलन–जब जनता किसी सघटित लक्ष्यके लिए सामूहिक प्रयास करती है तो उस प्रयासको जन-आन्दोलन कहते हैं। जन-आन्दोलनकी सैद्धान्तिक एकता व्यापक और सकीर्ण दोनों हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, किसी विदेशी सत्ताको हटानेके लिए विभिन्न राजनीतिक दल अपने सैद्धान्तिक विभेदोंका परित्याग करते हैं। —रा० कु० त्रि०

जनकवि–जिस कविकी दृष्टि मात्र अन्तर्मुखी न हो, जिस कविकी विषयवस्तु व्यक्ति-निष्ठ भावनाओंका चित्रण न हो और जिस कविके काव्यका सम्पर्क जनताके व्यापक जीवनसे

हो, वही कवि जनकवि कहलानेका अधिकारी है। वर्तमान समयमें कुछ राजनीतिक पार्टियोंने इस शब्दका गलत प्रयोग किया है। उसके अनुसार उनकी पार्टी जनताकी पार्टी है और जिस कविका सम्पर्क उनकी पार्टीसे हो वही जनकवि है। किन्तु जनकविका मापदण्ड उसका काव्य है। वह काव्य जितना ही व्यापक होगा उतना ही उसका सम्पर्क समाजके जीवनसे निकट होगा और उसी काव्यका स्रष्टा सच्चे अर्थोंमें जनकवि है। —रा० कु० त्रि०

जनतंत्र–जनतन्त्र शब्द अँग्रेजी शब्द 'डेमोक्रेसी'का हिन्दी पर्याय है। इस शब्दका प्रयोग चिन्तनके इतिहासमें विभिन्न अर्थोंमें किया गया है। अपने व्यापक रूपमें जनतन्त्र एक निश्चित प्रकारकी समाजव्यवस्था और शासनप्रणाली-का द्योतक है। समाजव्यवस्थाके रूपमें जनतन्त्र समता और स्वतन्त्रताकी स्थापना कर समाजको एक विशाल भ्रातृत्वके बन्धनमें बाँधनेका प्रयास करता है। इस दृष्टिसे जनतन्त्र एक विशिष्ट मानववादी चिन्तनका प्रतीक है। इसके मानववादके मूलमें समष्टिकी नैतिक प्रतिष्ठा की गयी है और समष्टिकी ही परिधिमें व्यक्तियोंका प्रक्षेपण सम्भव है। इस नाते जनतन्त्र सामाजिक जीवनमें उन सभी परिस्थितियोंका निवारण करना चाहता है जो व्यक्तिगत प्रशस्तिका मार्ग रोकती हैं। अत जनतन्त्र आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक न्यायकी रचना करता है। शासनप्रणालीके रूपमें जनतन्त्र अपने नैतिक आदर्शोंकी पूर्तिके लिए राज्यकी सम्प्रभुतापर नियन्त्रण करना चाहता है, क्योंकि यह आदर्श जनता और समाजके बीचका जीवित विश्वास है। जनतन्त्रके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह जनता और समाज द्वारा ही इन आदर्शों-की प्राप्तिका प्रयास करे।

जनतन्त्रके अँग्रेजी पर्याय 'डेमोक्रेसी'में 'डेमो' शब्दका अर्थ 'जनता' है। अत व्युत्पत्तिक रूपमें भी 'डेमोक्रेसी' शब्द समाज और जनताकी प्रधानताको स्वीकार करता है। इतिहाससे ज्ञात होता है कि समाज और जनताकी उच्चता सर्वप्रथम शासनप्रणालीके रूपमें व्यक्त हुई। ग्रीसमें जनतन्त्र एक राजनीतिक व्यवस्थाके रूपमें पाया जाता है। परन्तु ग्रीक जनतन्त्रने अपने शासनकालमें कभी-कभी ऐसी कठोरता और मानसिक शिथिलिताका परिचय दिया है कि महान् ग्रीक विचारक प्लेटो(४२८-३४८ ई० पू०)का विश्वास ही इस शासनप्रणालीके औचित्यसे उठ गया। परन्तु उसके शिष्य अरस्तू(३८४-३२२ ई० पू०)ने पुन जनतन्त्रमें विश्वास जगानेका प्रयास किया। फिर भी इतना स्पष्ट है कि जनतन्त्रकी पिछली भूलोंको देखकर अरस्तूने मिश्रित शासनव्यवस्थाको ही अपना व्यावहारिक आदर्श माना। उसकी व्यावहारिक आदर्श-व्यवस्थाको अँग्रेजीमें 'पॉलिटी' कहते हैं। इस शासनप्रणाली-के अनुसार शासनमें गुण और संख्याका योग प्राप्त होना है। गुणकी प्राप्तिके लिए समाजका उच्च कुल अपना बौद्धिक सहयोग देता है और संख्याकी प्राप्तिके लिए सामान्य जनतासे योग माँगा जाता है। अत अरस्तूकी व्यावहारिक आदर्शव्यवस्थामें उच्च कुल और जनताका समन्वय किया गया है। रोमन-कालमें भी सैद्धान्तिक दृष्टिसे जनताको ही अधिकार-स्रोत माना गया था। मध्ययुगमें राज्याभिषेक-शपथ-ग्रहणकी परम्परा द्वारा जनताकी शक्तिको ही उन्नत बनानेका प्रयास किया गया। ट्यूटॅनिक जातियों-से प्रभावित होकर सेण्ट टामस एक्युनास(१२२०-१२७४ ई०)ने भी जनताको राजासे श्रेष्ठ मानकर वैधानिक राज्यतन्त्रकी व्यवस्थाको ही वाञ्छनीय स्वीकार किया है। आधुनिक युगकी प्रारम्भिक शताब्दियोंमें अनुबन्ध सिद्धान्त द्वारा (हॉब्सका दर्शन इस तथ्यका अपवाद है) परोक्ष रूपसे जनताको शक्तिका केन्द्र स्वीकार किया गया। जनतान्त्रिक विचारोंकी परम्पराकी व्यवस्थित और सयत परिणति फ्रांसकी राज्यक्रान्ति(१७८९ ई०)में दृष्टिगत होती है। फ्रांसकी राज्यक्रान्तिने सर्वप्रथम जनतन्त्रको शासनप्रणालीका ही रूप न मानकर जीवनके व्यापक आदर्शके रूपमें प्रतिष्ठित किया और तबसे लेकर आजतक जनतन्त्र केवल राजनीतिक मूल्योंकी ही नहीं, प्रत्युत जीवनके व्यापक प्रतिमानोंकी समस्या हो गया है।

जनतन्त्रकी मूलगत विशेषताएँ किसी निश्चित विधिमें बाँधी नहीं जा सकतीं। इसका कारण यह है कि जनतन्त्रके मूल्य राजनीतिक परिस्थितियोंकी सापेक्षतामें आँके जा सकते हैं। १६वीं, १७ वीं और १८वीं शतीमें अनुबन्ध-सिद्धान्त द्वारा जनतन्त्र व्यक्तिवाद(दे०)से सम्बन्धित था, किन्तु जैसे-जैसे व्यक्तिवादकी परम्पराएँ टूटती गयीं, जनतन्त्र व्यक्तिके स्थानपर समष्टिका दर्शन होता गया। आधुनिक राजनीतिक दर्शनके इतिहासमें जनतन्त्र और समष्टिका समन्वय रूसो(१७१२–१७७८ ई०)के सर्व-इच्छा-सिद्धान्त, अर्थात् 'जनरल विल थियरी'में प्राप्त होता है।

अत सैद्धान्तिक स्तरपर जनतन्त्र व्यष्टिवादी और समष्टिवादी परम्पराओंका प्रतीक है। व्यक्तिवादी रूपमें यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत अधिकार और व्यक्तिगत हितोंको ही प्रधान मानता है। इस दृष्टिसे समाज केवल इन हितोंकी साधनाका माध्यम है। समष्टिवादी रूपमें जनतन्त्र समाज और सामूहिक जीवनको व्यक्तिसे ऊँचा मानता है। व्यक्ति समाजका केवल एक अंग है और समाजसे हटकर उसका कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता। इस रूपमें जनतन्त्र राज्यकी निरकुशताके स्थानपर जनताकी निरकुशताकी प्रतिष्ठा करता है। ऐसी व्यवस्थामें व्यक्ति सामाजिक दासतामें उतना ही बँधा है जितना वह आधुनिक युगके प्रारम्भमें राजाओंकी दासतामें था। कहा जाता है कि जनतन्त्रका समष्टिवादी रूप ही शुद्ध और पूर्ण जनतन्त्र है। पूर्ण जनतन्त्र केवल व्यवहारमें ही व्यक्तिको अपना दास बनाता है, नहीं तो सैद्धान्तिक दृष्टिसे समष्टि-शक्तिका मूलभूत तत्त्व व्यक्ति है। उसके व्यक्तित्वका नैतिक प्रक्षेपण ही समष्टिकी नैतिक शक्ति है। समष्टिमें लीन होकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्वका उज्ज्वल और परिष्कृत रूप पाता है। इस दृष्टिकोणकी यह अन्तर्हित मान्यता है कि समष्टिका उद्देश्य व्यक्तिके नैतिक उद्देश्योंसे अलग नहीं है। इस भाँति जनतन्त्र व्यक्तिको सीमाहीन स्वच्छन्दता न देकर उसके कर्मोंपर नैतिक बन्धन लगाता है, किन्तु उन्हीं नैतिक बन्धनोंसे उस परिस्थितिका जन्म होता है जो सच्ची

स्वतन्त्रताके विकासके लिए आवश्यक है। जनतन्त्रके अनुसार स्वतन्त्रता सामाजिक जीवनमें ही सम्भव है।

शासन-प्रणालीके रूपमें जनतन्त्रकी आधारभूत मान्यता है कि किसी व्यक्ति या वर्गको यह अधिकार प्राप्त नहीं कि वह समूची जनताके भाग्यका निर्णय करे। वरन् स्वाभाविक तो यह है कि जनता स्वयं ही अपने भाग्यका निर्माण करे। अब्राहम लिंकन(१८०९–१८६५ ई०)का यह वाक्य कि 'जनतन्त्र वह शासन है जो जनताका है, जो जनता द्वारा होता है और जो जनताके लिए होता है', जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणालीको ठीक रूपसे व्यक्त करता है। यह जनतन्त्र दो प्रकारका होता है। पहला प्रकार है अपरोक्ष जनतन्त्र और दूसरा है परोक्ष जनतन्त्र। अपरोक्ष जनतन्त्रमें जनता बिना किसी प्रतिनिधि-संस्थाके माध्यमसे ही अपनी शासनप्रणाली सँभालती है। इस प्रकारका जनतन्त्र पुराने युगमें ग्रीक नगरराज्योंकी कुछ व्यवस्थाओंमें पाया जाता था। आधुनिक युगमें जेनेवाकी शासन-प्रणाली भी इसी प्रकारकी थी। इस वर्गके जनतन्त्रकी व्यावहारिकता इस तथ्यपर आधारित है कि जिस देशमें इस प्रकारका शासन हो उस देशकी भौगोलिक परिधि छोटी हो, किन्तु आजके युगमें यह असम्भव है। इस नाते अपरोक्ष जनतन्त्रके स्थानपर परोक्ष जनतन्त्रका ही प्रचलन है। अपरोक्ष जनतन्त्रमें जनता प्रतिनिधि संस्थाओंके माध्यमसे ही अपनी राजनीतिक शक्तिका संघटन करती है। संसदीय शासन-प्रणाली, जो पूर्णतया प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्था है, परोक्ष जनतन्त्रका ही एक रूप है। परोक्ष जनतन्त्रको प्रतिनिध्यात्मक जनतन्त्र भी कहते हैं।

जनतन्त्रके आदर्श और शासन-प्रणालीकी कड़ी आलोचनाएँ भी वर्तमान युगमें की गयी हैं। अधिकतर इन आलोचनाओंके मूलमें सामान्य मनुष्यके प्रति असहानुभूति और अश्रद्धाका ही भाव है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि सामान्य जनताका बौद्धिक स्तर इतना ऊँचा नहीं होता कि वह शासनभारको कुशलतासे सँभाल सके। इसीसे सम्बन्धित दूसरी आलोचना यह है कि किस तर्कके नाते यह स्वीकार किया जाय कि बहुमतका निष्कर्ष ही सत्य और ठीक है। समाजवादी भी अपने ढंगसे जनतन्त्रकी आलोचना करते हैं। उनके अनुसार वर्तमान जनतन्त्र, जो इंग्लैण्ड, पश्चिमी यूरोप और अमेरिकामें फैला है, शुद्ध जनतन्त्र न होकर पूँजीवाद(दे०)का ही एक रूप है। शुद्ध जनतन्त्र केवल समाजवादी व्यवस्थामें ही सम्भव है, जहाँ उचित न्यायकी परिस्थितियाँ हों। आर्थिक वर्गसंघर्ष और जनतन्त्र साथ-साथ नहीं चल सकते। अत समाजवादी जनतन्त्रके विरोधी नहीं हैं, वे केवल उस आर्थिक परिस्थिति-पर जोर देते हैं जो जनतन्त्रके लिए आवश्यक है। प्रथम और द्वितीय महायुद्धके बीचका समय जनतन्त्रके जीवनके लिए काफी संकटका समय था। यूरोपीय देशोंमें जनतन्त्रके विरोधमें काफी प्रतिक्रियाएँ हुई। इसी नाते यूरोपके कुछ देशोंमें जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणालीके स्थानपर अधिनायक-वादी व्यवस्थाएँ बनायी गयीं। द्वितीय महायुद्धके पश्चात् जनतन्त्रके सामने अधिनायकवादकी समस्या तो नहीं रह गयी, परन्तु राजनीतिक और आर्थिक संघटनकी समस्याएँ इतनी जटिल हो गयी हैं कि जनतन्त्रके लिए यह आवश्यक है कि उन समस्याओंका सुझाव पेश करे। जनतन्त्र एक विश्वास है, और वह भी बौद्धिक विश्वास। हो सकता है कि विश्वासका बल ही जनतन्त्रको इतनी शक्ति दे कि वह इन समस्याओंको सुलझा सके।

हिन्दीमें जनतन्त्रात्मक साहित्य खड़ीबोलीमें भारतेन्दु-युगसे प्रारम्भ होता है। यह सत्य है कि इस साहित्यमें राजनीतिक आदर्शोंकी बहुलता ही है। जहाँतक इसके साहित्य-सौष्ठवका प्रश्न है, यह साहित्य एक दृष्टिसे बहुत उन्नत नहीं कहा जायगा। इन राजनीतिक आदर्शोंकी पृष्ठभूमिमें साहित्यकारोंकी देश-प्रेमकी भावना थी। विदेशी शासनकी दासताकी प्रतिक्रियाके रूपमें ही इस साहित्यका जन्म हुआ। राष्ट्रवादी साहित्य मूल रूपमें जनतन्त्रात्मक ही होता है। वैसे तो हिन्दीके आधुनिक साहित्यमें विभिन्न राजनीतिक आदर्शोंको लेकर साहित्यकार कलाका सर्जन कर रहे हैं, किन्तु उनमें शुद्ध जनतन्त्रात्मक परम्पराको माननेवाले कोई ही हैं। मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल चतुर्वेदीके नाम इस दृष्टिसे उल्लेखनीय हैं।

आजके हिन्दी साहित्यके सामने दोहरी समस्याएँ हैं। पहली समस्या है कलात्मक मूल्योंकी और दूसरी नैतिक और राजनीतिक आदर्शोंकी। जब राजनीतिक और नैतिक आदर्शोंका समन्वय कलात्मक मूल्योंसे हो जायगा तो वह दिन साहित्यका अमर दिन होगा। अभीतक जनतन्त्रात्मक आदर्शोंके साहित्यिक रूपमें कलात्मक प्रतिभाका अभाव ही दीखता है।

[सहायक ग्रन्थ—मॉडर्न पोलिटिकल थियरी सी० ई० एम० जोड]

—रा० कु० त्रि०

जनता—यह शब्द विभिन्न रूपोंमें प्रयुक्त होता है। कभी-कभी यह समाजकी रहस्यात्मक एकताका प्रतीक माना जाता है, किन्तु अधिकांश लोग इस शब्दसे केवल समाजके सम्पूर्ण सदस्योंका संघटित स्वरूप ही समझते हैं।

—रा० कु० त्रि०

जनपद—अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक उल्लेखोंके अनुसार आर्यजाति 'जन' अथवा समुदायों या गिरोहोंमें संघटित थी। एक आर्य जनके सब लोग अपनेको सजात, अर्थात् किसी एक मूल पुरुषसे उत्पन्न समझते थे। आर्योंके मूल प्रधान जन केवल पाँच थे, किन्तु बादको ये अनेक आर्य जनोंके रूपमें विकसित हुए।

आर्य जनोंकी राष्ट्रीय भूमियाँ 'जनपद' कहलाने लगीं, अर्थात् जनपदका अर्थ उस भूमि-भागसे होता था जहाँ कोई आर्य जन बस गया हो। प्रत्येक जनपदका एक पुर अथवा प्रधान नगर होता था, जहाँ जनपदका राजा रहता था। प्रत्येक जनको राजनीतिक संघटनकी दृष्टिसे राष्ट्रकी संज्ञा दी जाती थी। राजाका बड़ा पुत्र प्राय जनपदके शासनका उत्तराधिकारी होता था। राजाको सहायता देनेके लिए दो संस्थाएँ होती थीं, जो सभा और समिति कहलाती थीं। इन्हींका नाम आगे चलकर पौर और जानपद पड़ गया था।

धीरे-धीरे आर्यावर्तके कुछ जनपद अधिक शक्तिशाली और सम्पन्न होते गये। बौद्ध साहित्यमें निम्नलिखित सोलह महाजनपदोंका उल्लेख अनेक स्थानोंपर हुआ है—कुरु,

पचाल, शूरसेन, मत्स्य, कोसल, काशी, वृजि, मल्ल, मगध, अग, चेदि, वत्स, अवन्ति, अश्मव, गान्धार तथा कम्बोज। अन्तिम तीनको छोडकर शेष तेरहका सम्बन्ध आर्यावर्तके मध्यदेश(दे०)से था।

जनपदोंका पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व साम्राज्यकालमें ही लुप्त हो गया था, किन्तु उनकी इकाइयाँ आज भी उत्तर-भारतकी भाषाओं तथा बोलियोंके रूपमें पृथक्-पृथक् दिखलाई पड़ती हैं। —धी० व०

जनवाद—जनवादके मूलमें स्थित 'जन' शब्द काफी पुराना है। भारतीय वाङ्मयमें जानपद जनकी प्रतिष्ठा काफी प्राचीन कालसे चली आ रही है। यह शब्द समूहवाची है। जनवादके लिए हम कह सकते हैं कि यह कला, साहित्य और जीवनके प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण है जो जनसामान्य व्यक्तियोंको महत्त्व देता है। परन्तु यह परिभाषा अत्यधिक व्यापक है, जनवाद जिस विशेष अर्थमें आज हमारी साहित्य-समीक्षामें प्रयुक्त होता है वह हालकी ही बात है तथा उसके विकासका एक मनोरंजक इतिहास भी है।

कला और साहित्यमें आज जनवाद जिस अर्थमें प्रयुक्त होता है, उसके पीछे एक विशिष्ट दर्शन है। मार्क्सने समाज और उसके विविध रूपों और विचारोंकी ऐतिहासिक व्याख्याएँ कीं, वे कला और साहित्यपर भी लागू होती हैं। साहित्यकी जो मार्क्सवादी विवेचना हुई, उसीसे जनवादका प्रादुर्भाव हुआ।

रूसमें अक्टूबर क्रान्तिके बाद सकीर्ण मार्क्सवादियोंने 'प्रोलेट कल्ट' तथा 'ऑनगार्ट' जैसी संस्थाओंकी स्थापना की और साहित्यमें मार्क्सके वर्ग-संघर्षको पूरी तरहसे लागू करनेका जोर देते हुए इन लोगोंने सर्वहारा-साहित्यकी माँग की। इन 'कुत्सित समाजशास्त्रियों'का बोलबाला १९३२ ई० तक रहा। फिर मैक्सिम गोर्की जैसे कलाकारोंकी आवाजपर इन संस्थाओंको भग करके 'सोवियत लेखक सघ'की स्थापना हुई तथा लेखकोंके सामने एक ठोस, इतिहाससम्मत तथा क्रान्तिकारी पहलुओंवाला व्यापक जीवनदर्शन 'सामाजिक यथार्थवाद'(दे०)के नामसे रखा गया। मार्क्सवादी विचारधाराके प्रचारके साथ-साथ सामाजिक यथार्थवादको अभिव्यक्ति देनेवाले साहित्यका प्रचार-प्रसार भी बढा और उस समय ऐसे साहित्यको 'प्रगतिशील साहित्य' (progressive literature) कहा गया है। भारतवर्षमें भी यह विचारधारा आयी और १९३६ ई० में 'प्रगतिशील लेखक सघ'की स्थापना हुई, परन्तु रूसके समान ही साहित्यिक क्षेत्रमें यहाँ भी एक लम्बे अर्सेतक काफी खींच तान और संकीर्णता चलती रही। द्वितीय विश्वयुद्धने ससारके साधारण जनको झकझोर दिया। उसने अनुभव किया कि राजनेता तथा कतिपय अन्य न्यस्त स्वार्थोंवाले थोडेसे व्यक्ति किस प्रकार उसे युद्धकी आँचमें झोंककर आहुतियाँ देते हैं। अत एक प्रकारकी राजनीतिक चेतना सारे विश्वमें आयी, फलत साधारण जनका, विश्वके नागरिकोंका महत्त्व बढा। उस सम्बन्धमें आजके दोनों शक्ति-संघटनोंमें यह तथ्य द्रष्टव्य है कि कम्युनिस्ट ग्रुप 'पीपुल्स डेमोक्रेसी'की बात करता है और अमेरिकी समूह 'पीपुल्स कैपिटलिज्म'का नारा लगाता है। चीनकी अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियोंमें हुई क्रान्तिने भी साम्यवादी चिन्ताधारामें लोकतान्त्रिक भावनाको समाविष्ट किया और वहाँ भी जनका आदर बढा। इस प्रकार ऐतिहासिक स्थिति ऐसी हो गयी जिसमें जनवाद एक अनिवार्य आवश्यकता बन गया, पर यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे साहित्य-विवेचनमें 'जनवाद' कम्युनिस्ट स्रोतोंसे ही आया है। १९४७ ई० के आस-पास भारतीय कम्युनिस्ट पार्टीने 'जनवादी' नामक एक प्रकाशन भी किया था। इस तरहकी चिन्तनधाराका जो विकास हुआ, उसे यों भी कह सकते हैं—सर्वहारा साहित्य, प्रगतिशील साहित्य, जनवादी साहित्य।

उपर्युक्त राजनीतिक परिस्थितियोंके अतिरिक्त मार्क्सवादी समीक्षापद्धतिमें भी यह अनुभव किया जाने लगा कि रूढ वर्ग-सघर्षके आधारपर प्राचीन क्लासिकल साहित्यका मूल्याकन कठिन है। ऐसी स्थितिमें एक ऐसे मानदण्डकी आवश्यकता पडने लगी जिसके अनुसार मार्क्सवादको मूलत न छोडते हुए भी उदार दृष्टिकोणको अपनाया जा सके। इस नये दृष्टिकोण (मार्क्स, लेनिन, ऐंगिल्सने पहिले भी सकीर्णताका विरोध किया था, पर उनके जोशीले अनुयायियोंने प्रारम्भमें ध्यान नहीं दिया)के अनुसार हर युगके श्रेष्ठ कविका दृष्टिकोण जनवादी होता है। वह अपनी वर्गगत सीमाओंका उल्लघन कर सामान्य जनका साथ देता है। 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय'के सिद्धान्तपर यों सहानुभूति वह हर वर्गको दे सकता है, पर नजर अन्तत सामान्य जनकी ओर होती है। यह जनवादी परम्परा हर युगके श्रेष्ठ साहित्यमें देखी जा सकती है, जब कि प्रगतिवाद एक विशेष युगके साहित्यके लिए रूढ हो गया है। यह युग हिन्दीमें १९३६ ई०मे आया है और इस धाराके साहित्यकार सचेष्ट भावसे मार्क्सवादी दर्शनका उपयोग करते हैं।

यों भी कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद(दे०)की एक विशेषता उसका जनवादी दृष्टिकोण है। मार्क्सके दर्शनमें, जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसके अनुसार उत्पादनके प्रकारोंके साथ समाजमें व्यक्तियोंका पारस्परिक सम्बन्ध भी बदलता जाता है और तदनुसार आचारशास्त्र, साहित्य आदि भी बदल जाते हैं। परन्तु ऐंगिल्सने अर्थ और साहित्यके सीधे सम्बन्धको स्वीकार किया है। उसके अनुसार, दर्शन, धर्म, साहित्य, कला आदि आकाशचारी विचारधाराएँ हैं, इसलिए इनका अर्थसे अप्रत्यक्ष और घुमावदार ही सम्बन्ध है। विचार अन्ततोगत्वा अर्थके द्वारा ही निर्मित होते हैं, पर निर्मित हो जानेपर वे अपने विकासका स्वतन्त्र मार्ग अपना लेते हैं, बल्कि साहित्य, दर्शन आदि भी मानवके आर्थिक सम्बन्धोंके परिवर्तनकी प्रधान धारणाएँ हैं। यहींपर जनवादी स्थिति सम्भव है, जब कि वह जनताके साथ मिलकर क्रान्तिको आगे बढानेमें प्रेरणा देती है। मार्क्सीय साहित्यशास्त्रके अनुसार कलाकारके व्यक्तित्वका निर्माण उसके वर्गकी मान्यता द्वारा होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपने वर्गकी विचारधाराओंका विरोध नहीं करता। वह अपने युगकी ऐतिहासिक सीमाके भीतर समसामयिक

विचारोंका विरोध भी करता है, क्योंकि वह केवल उपभोक्ता नहीं, निर्माता भी है और निर्णायक-रूपमें वह एक वर्गका सदस्य होते हुए भी उसके प्रतिक्रियावादी तत्त्वोंका विरोध कर सकता है।

मार्क्सपोषित इस जनवादी विचार-सरणिके अनुसार साहित्यमें मानवके सामूहिक भावोंकी ही अभिव्यक्ति होनी चाहिये। व्यक्ति-वैचित्र्यके लिए उसमें स्थान नहीं है। 'लेखकमें शक्ति जनतासे आती है, जनताके साथ उसका सम्बन्ध जितना ही घनिष्ठ होता है, उसमें उतनी ही अधिक रचना शक्ति आती है और उसकी रचनामें उतना ही अधिक सौन्दर्य वढता है। साहित्यकारको अनिवार्य रूपसे जनताका पक्षधर होना ही पडेगा। इन सामूहिक भावोंपर भी युगका नियन्त्रण होता है, परन्तु प्रत्येक युगमें भविष्यके वीज भी विद्यमान रहते हैं। उसमें विरोधोंका निरन्तर सघर्ष चलता है। युगके विकसनशील तत्त्व ही कलाकारके लिए उपादेय होते हैं। सच्चे कलाकारकी प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि उन तत्त्वोंका दर्शन कर लेती है, जो कि सामूहिक भावोंमें ही अन्तर्भूत रहते हैं, वल्कि यों कहें कि सच्चे सामूहिक भावोंका निर्माण उन्हीं तत्त्वोंसे होता है।

इस विचारधाराके अनुसार 'साहित्य' आर्थिक परिस्थितियोंसे नियमित होता है, लेकिन उनका सीधा प्रतिविम्ब नहीं है। उसकी अपनी सापेक्ष स्वाधीनता है। साहित्यके सभी तत्त्व समान रूपसे परिवर्तनशील नहीं हैं, इन्द्रियवोधकी अपेक्षा भाव और भावोंकी अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तनशील होते हैं। दो विभिन्न युगोंमें अपने अभ्युदय और ह्रासकी विभिन्न परिस्थितियोंमें एक ही वर्ग दो तरहके साहित्यका पोषण करता है। सचेत लेखक सामाजिक विकासकी समस्याओंके प्रति उदासीन न रहकर शान्ति, स्वाधीनता, जनतन्त्र और जातीय संस्कृतिके लिए सघर्ष करते हैं। उनके चिन्तन, लेखन और कलाका लक्ष्य होना चाहिये कि पीडित वर्ग मुक्ति पाये। वे अपने साहित्य और कलासे सामाजिक परिस्थितियोंपर तभी असर डाल सकते हैं जब वे इन परिस्थितियोंको समझें और उनके वदलते हुए रूपको अपनी रचनाओंमें जगह दें।

जनवादी कलाकार वर्ण्य विषयकी तरह शैली और भाषाको भी जनवादी वनानेका समर्थक है। चामत्कारिक और ऊहा-प्रधान शैलीका वह विरोधी होता है। जनवादी साहित्यकी भाषाको सरल और प्रवाहपूर्ण वनाना चाहता है। उसमें अलकरण और कलावाजीके स्थानपर अनुभूतिपर अधिक जोर दिया जाता है। अत्यधिक कोमलता और मिठासको वह ह्रासजन्य मानता है। परन्तु घटनाओंका सूखा वर्णन भी अभिप्रेत नहीं, वल्कि उनके अन्तस्तलमें प्रवाहित जीवनी शक्तिका विकासमान रूप ही चित्रित होना चाहिये। कलाकारका कार्य उस शक्तिका अनावरण और घटनाओंसे सम्बन्धित करना है। सौन्दर्यका स्रोत वह वास्तविकताको मानता है और वास्तविकताका यह वोध अपनी सामयिक समस्याओंमें भाग लेनेसे आता है।

मार्क्सवादी समीक्षाओंमें यों तो हर युगके श्रेष्ठ कवि और काव्यको जनवादी माना गया है, चाहे वे वाल्मीकि, व्यास और कालिदास हों अथवा कवीर, सूर, तुलसी या मीराँ हों। आधुनिक कालमें जनवादी धाराके प्रारम्भकर्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। 'प्रसाद', प्रेमचन्द, रामचन्द्र-शुक्लने उसे आगे बढ़ाया और आधुनिक कालके जनवादियोंमेंसे कुछ प्रमुख नाम ये हैं—'निराला', वृन्दावनलाल वर्मा, यशपाल, 'अश्क', नागार्जुन, केदार अग्रवाल, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रागेय राघव तथा राहुल साकृत्यायन, यों किसी जमानेमें सुमित्रानन्दन पन्त और नरेन्द्र शर्मा प्रभृति साहित्यकार भी जनवादी थे।

[सहायक ग्रन्थ—(१) प्रगतिशील साहित्यकी समस्याएँ. रामविलास शर्मा, (२) प्रगतिशील साहित्यके मानदण्ड रागेय राघव, (३) प्रगतिवाद—एक रूपरेखा धर्मवीर भारती, (४) स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य रामविलास शर्मा।]
—दे० शं० अ०

जन-साहित्य—जनकाव्यको परखनेका जो मापदण्ड है वह मापदण्ड जन-साहित्यको आँकनेका भी है। हर एक साहित्य जन-साहित्य नहीं हो सकता। जन साहित्य वननेके लिए समाजकी आत्माके साथ तादात्म्य स्थापित करना पडेगा, किन्तु वर्तमान समयमें राजनीतिक दलोंने जनकाव्यकी जो दुर्दशा की है वही दुर्दशा जन साहित्यकी भी हुई है। प्रगतिशील साहित्यको ही कुछ लोग जन साहित्य मानते हैं, किन्तु यह उनकी भूल है। साहित्य मुक्त और निर्वन्ध आत्माका स्वर है। इसकी आकृति, रूपरेखा किसी भी वाहरी वाध्यताको स्वीकार नहीं करती। जन-साहित्यका सम्पर्क सामाजिक हित और कल्याणसे है, न कि दल-विशेषसे।
—रा० कु० त्रि०

जनहित—यह शब्द वस्तुत सामाजिक कल्याणसे सम्वन्ध रखता है। सारे समाजका जो कल्याण है वही वस्तुत समाजमें रहनेवाले लोगोंका भी कल्याण है।—रा० कु० त्रि०

जनांतिक—नियतश्राव्य(दे०)के दो भेदोंमेंसे एक। जहाँ रगमचपर दूसरे पात्रोंके उपस्थित रहते हुए भी दो पात्र इस तरह वात करें, मानो दूसरोंको उन्हें कुछ सुनाना अभीष्ट न हो और दूसरे पात्रोंकी ओर 'त्रिपताका कर'के द्वारा सकेत कर सामाजिकोंको इस वातकी सूचना दें कि उनका निवारण किया जा रहा है, वहाँ जनान्तिक **नियतश्राव्य** होता है।

रगमंचपर उपस्थित जिस पात्रको कोई वात नहीं सुनानी है उसकी ओर हाथकी सारी अँगुलियाँ उर्ध्वोन्मुखी कर अनामिकाको वक्राकार रखना 'त्रिपताका' कहा जाता है। इस तरहसे हाथको विशेष स्थितिमें रखना 'त्रिपताका कर'का लक्षण है।
—व० सिं०

जवरूत—दे०—'सूफीमार्ग।'

जलहरण—मुक्तक दण्टकका एक भेद। इसमें ३२ अक्षर होते हैं। आठ, आठ, नौ, फिर सातपर यति होती है। साधारणतया नियम यह है कि पादान्तके दोनों वर्ण लघु हों अथवा अन्तके पूर्व एक वर्णका लघु होना आवश्यक है और अन्त यदि गुरु भी हो तो उसका उच्चारण लघुकी ही भाँति होगा। प्रस्तुत दण्टक भक्ति और रीतिकालसे लेकर घनाक्षरी वृत्त लिखनेवाले आधुनिक कालतकके कवियोंका प्रिय छन्द रहा है। केशव, मतिराम, पद्माकर, घनानन्दसे लेकर भारतेन्दु और रत्नाकरतक प्राय सभी घनाक्षरी

लिखनेवाले कवियोंने जलहरण दण्डकका प्रयोग किया है। उदा०—१ 'सीता जूके मुख सुख सुखमाकी उपमाको कोमल न कमल न अमल न रजनपति।' (केशव : क० प्रि०)। २ 'फूलि रहे फलि रहे फैलि रहे, फवि रहे, झपि रहे झलि रहे झुकि रहे झमि रहे।' (पद्माकर), ३ 'हरी प्रानप्यारी बिन देखे मुख तेरो मेरे, जियमें घटा घहरि-घहरि उठे।' (हरिश्चन्द्र)। —ह० मो०

जाहर पीर—यह मुसलमानोंके पचपीरोंमेंसे एक प्रधान पीर हैं। गुरु गुग्गा और जाहर पीर, दोनों एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। टेम्पुल महोदयने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी लीजेण्ड्स ऑव दी पजाब'में लिखा है कि 'गुग्गाकी समस्त कहानी महान् अन्धकारमें पड़ी हुई है। आजकल वह मुसलमानोंके प्रधान फकीरोंमेंसे है। यह जाहर पीरके नामसे भी विख्यात है।' जगदीश सिंह गहलोतका कथन है कि 'गौगा या गुग्गा पजाबके हरियाना जिलेके मेहरी नामक गाँवका चौहान राजपूत था। स० १३५३ में दिल्लीके बादशाह फीरोजशाह द्वितीयके सेनापति अबूबकसे युद्ध करते हुए वीरगतिको प्राप्त हुआ। हिन्दू इसे देवता तुल्य मानकर भादों बदी नवमीको इसकी जयन्ती मनाते हैं। मुसलमान इसे जाहर पीरके नामसे पूजते हैं।' इन दोनों उद्धरणोंसे गुग्गा और जाहर पीर अभिन्न व्यक्ति ठहरते हैं। गुग्गाकी कथासे पता चलता है कि उसकी माता बछल और और पिता देवराय थे। इसका विवाह कामरूप, आसामके राजा सजाकी बेटी सिरियलसे हुआ था। गुग्गा विषवैद्य था। यह सर्पोंके द्वारा काटे गये मनुष्योंके जहरको अपने प्रभावसे नष्ट कर देता था। सम्भवत इसीलिए मुसलमान लोग इसे जहर, विष पीर, साधु या जाहर पीरके रूपमें पूजते हैं। इसने सजाकी बेटी सिरियलके सर्प-दशंको दूर कर दिया था।

देवीके जागरणकी भाँति ब्रजमें एक जागरण जाहर पीरका भी होता है। एक पट, जिसे चन्दोवा कहते हैं, टाँग दिया जाता है। इस पटपर जाहर पीर सम्बन्धी विविध वृत्तोंके चित्र कढे रहते हैं। वहीं मोरछलीकी एक ध्वजा बाँसमें बाँधकर खडी कर दी जाती है। इस जागरणमें जाहर पीरका गीत गाया जाता है। मारवाड़ तथा पजाबमें जाहर पीरकी पूजाका बड़ा प्रचार है। वहाँ नागपंचमीके दिन, जिसे गुग्गापचमी कहते हैं, इसकी पूजा होती है। —कृ० दे० उ०

जिकड़ी—ब्रजमे प्रचलित गीतविशेष जो होलीके अनन्तर-पर ग्राम-मण्डलियों द्वारा गाये जाते हैं। ये मण्डलियाँ कभी-कभी होड़ बद लेती हैं। गीतोंमें ही प्रश्नोत्तर होते हैं। जिसका उत्तर ठीक बैठता है, वह मण्डली जीत जाती है और हारी हुई मण्डलीका जिकड़ी भजन कटा हुआ गिन लिया जाता है। जिकड़ी भजनका स्वर धार्मिक होता है। साधारणतया इसमें चार चौक होते हैं। उन्हें गानेवाले रसिये, जो गाते समय बोल उठाते हैं, अगेटिया, जो दुहराते हैं, पिछेडिया और जो लम्बा खींचते हैं, हेकड़ा कहलाते हैं। जिकड़ीका प्रारम्भ **गाहेसे** होता है। गाहे छ चरणोंका होता है। इस प्रकार जिकड़ीके पाँच अंग उल्लेखनीय हैं—१ गाहो, २ टेक, ३. साखी या फूल, ४ झडावन और ५ उडान या टूटन। जिकड़ीमें व्यंग्योक्तियाँ 'फुटकर' कहलाती हैं। ब्रजके मथुरा, अलीगढ और आगराके क्षेत्रमें जिकड़ी चैत मासकी विशेष प्रिय गीत-शैली है। —श्या० प०

जिक्र—'जिक्र' शब्दका अर्थ स्मरण करना है। परमात्माके नामका स्मरण ही सूफियोंका 'जिक्र' है। परमात्माके सतत स्मरणसे साधक एक ऐसी अवस्थाको प्राप्त होना चाहता है जिसमें परमात्माके सिवा अन्य सभी वस्तुओंका ध्यान उसके भीतरसे तिरोहित हो जाय। प्रारम्भमें 'जिक्र'से यही समझा जाता रहा, लेकिन बादमें चलकर और कई बातें इसके साथ जुड गयीं और इनका अर्थ ही पलट गया। इसमें नाना प्रकारकी क्रियाएँ शामिल हो गयीं। कहते हैं कि 'जिक्र'की इन क्रियाओं द्वारा साधकको 'हाल'(भावाविष्टावस्था)की अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस अवस्थामें साधकके मनमें परमात्माके सिवा अन्य किसी प्रकारका ख्याल नहीं आता।

'जिक्र'की नाना प्रकारकी क्रियाएँ सूफी सम्प्रदायोंमें प्रचलित हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि बहुत-सी क्रियाएँ थोड़े-बहुत अन्तरसे भिन्न सूफी सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायोंमें प्रचलित हैं। मिस्रमें 'जिक्र'की इन क्रियाओंका बहुत प्रचलन है, वैसे सभी मुसलिम देशोंमें ये क्रियाएँ देखनेको मिलती हैं। 'जिक्र'की ये क्रियाएँ काम-साधना जैसी हैं।

'जिक्र'की क्रियाओंका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं, फिर भी इनका अनुमान इस बातसे लगाया जा सकता है कि 'जिक्र'की इन क्रियाओंके सम्पादन द्वारा साधक एक ऐसी स्थितिमें पहुँच जाते हैं कि शारीरिक पीड़ा नामकी कोई वस्तु उनके लिए नहीं रह जाती। जलते हुए लाल छड़ोंको वे मुँहमें ले लेते हैं तथा शरीरमें घुसेडते हैं, फिर भी किसी प्रकारकी पीडाका अनुभव नहीं करते। ये सभी क्रियाएँ वे अपने शेख या पीरकी उपस्थितिमें करते हैं। मुर्शीद(गुरु)के बिना इन क्रियाओंका सम्पादन अकेले भी किया जा सकता है और समूहमें भी।

'जिक्र'के दो प्रकार हैं। एकमें साधक जोर-जोरसे अल्लाहका नाम लेता है और दूसरेमें इसके ठीक विपरीत चुपचाप शान्त भावसे मन-ही-मन परमात्माका स्मरण करता है। इनमें प्रथमको **जिक्रे जली** और द्वितीयको **जिक्रे खफी** कहते हैं। **जिक्रे जली**में साधक जोरसे 'अल्लाह' कहता है और उत्तरोत्तर उसकी आवाज तेज होती जाती है। उसे लगता है कि जैसे आवाज कभी दाहिने घुटनेसे आती है, तो कभी बायेंसे और कभी पार्श्वसे। इसका निश्चित क्रम जैसा है उसीका अनुसरण साधक करता है। एक विशेष अवस्थामें वह प्रार्थनाकी मुद्रामें मक्काकी दिशामें मुँह फेर आँखें बन्द कर लेता है। आवाजको नाभिसे खींचकर दाये कन्धेकी ओर ले आता है और 'ला' शब्दका उच्चारण करता है, तब वह 'इलाह' कहता है, मानों वह अपनी आवाज मस्तिष्कसे खींचता है और अन्तमें बायें पार्श्वसे आवाजको खींचता है और पूरी शक्ति लगाकर 'इल्लाहल्लाह' कहता है।

जिक्रे खफीकी क्रियाओंका क्रम निम्नलिखित है—इसमें साधक बहुत धीरे-धीरे अथवा मन-ही-मन शब्दोंका उच्चारण करना है। आँखें और जिह्वा बन्द कर लेना है

और इसके बाद मानों अपने हृदयकी जिह्वासे कहता है—'अल्लाह समीयून' (परमात्मा जो सुनता है), 'अल्लाह बसीठन' (परमात्मा जो देखता है), 'अल्लाह आलीमुन' (परमात्मा जो जाननेवाला है)। पहलेको वह नाभिसे हृदयतक ले जाता है, दूसरेको हृदयसे मस्तिष्कतक और तीसरेको मस्तिष्कसे अन्तरिक्षतक और फिर उसी क्रमसे पीछे लौटता है। इसी प्रकारसे वह बार-बार करता है। वह धीमे स्वरसे 'अल्लाह' कहता है। पहले दाहिने घुटनेसे और तब बायें पार्श्वसे, प्रत्येक बार जब वह साँस छोड़ता है तो 'ला इलाह' कहता है और जब खींचता है तब 'इल्लाल्लाह' कहता है। यह तीसरा जर्ब बहुत ही श्रम-साध्य है और इसे सैकड़ों-हजारों बार दुहराया जाता है और बहुत ही महत्त्वका और पुनीत माना जाता है। —रा० पू० ति०

जिक्रे-खफी–दे०—'जिक्र'।

जिक्रे-जली–दे०—'जिक्र'।

जिज्ञासु भक्ति–दे०—'गौणी भक्ति'।

जीवन-चरित–दे०—'जीवनी'।

जीवनी, जीवनी साहित्य–किसी व्यक्तिविशेषके जीवन-वृत्तान्तको जीवनी कहते हैं। जीवनीका अँग्रेजी पर्याय 'लाइफ' अथवा 'बायोग्राफी' है। हिन्दीमें जीवनीको जीवन-चरित अथवा जीवन-चरित्र भी कहा जाता है। इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं जान पड़ता। जीवन-चरित कालान्तरमें किंचित् शुद्ध होकर जीवन-चरित्र बन गया और इसीका आधुनिक एव संक्षिप्त रूप जीवनी अब सर्वाधिक प्रचलित है। जीवन-चरित्रमें निहित दोनों शब्दोंको अलग करें तो जीवनके अन्तर्गत स्थूल बाह्य घटनाओंको और चरित्रके अन्तर्गत चरितनायककी आन्तरिक विशेषताओंको ले सकते हैं। इस प्रकार जीवन-चरित्र अथवा जीवनीमें किसी मनुष्यके अन्तर्बाह्य, दोनों ही जीवनोंका लेखा होता है।

सामान्यत जीवन-चरित सारे जीवनमें किसीके किये हुए कार्योंका वर्णन होता है। उसमें नायकके सम्पूर्ण जीवन या उसके यथेष्ट भागकी चर्चा होनी चाहिये, पर यह कोई ऐसा नियम नहीं है जिसका पालन करना हर समय सम्भव हो सके। अनेक लोगोंके जीवन-चरित्र उनके जीवन-कालमें लिखे जाते हैं और यह स्पष्ट है कि जीवन-कालमें लिखे गये जीवन-चरित्रोंमें जिन्दगीभरका हाल दे सकना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि जीवनी-साहित्य-का एक छोर स्फुट संस्मरणको माना जा सकता है और दूसरा छोर उस जीवनीको, जिसमें जन्मसे लेकर मृत्युतकका इतिहास हो। शिप्लेके अनुसार जीवनीको नायकके सम्पूर्ण जीवन अथवा उसके यथेष्ट भागकी चर्चा करनी चाहिये और अपने आदर्शरूपमें एक विशिष्ट इतिहास होना चाहिये। यह ठीक है, पर जीवनी साधारण इतिहास और काल्पनिक कथा—दोनोंसे बहुत अधिक भिन्न होती है। पाश्चात्य साहित्यमें जीवनीको बहुत पहलेसे एक विशेष साहित्यरूप माना जाता रहा है, उपन्यास या इतिहास नहीं। रिनेसाँसे पहले किन्हीं विचारों अथवा सिद्धान्तोंकी व्याख्या करनेके दृष्टिकोणसे जीवन-चरित लिखे जाते थे, उनका प्राथमिक उद्देश्य जीवनी लिखना न होता था। मध्ययुगमें सामान्यत सन्तों अथवा राजवंशोंसे सम्बन्धित जीवनियाँ लिखी गयीं और इनमें मनुष्यको प्रकारोंके अन्तर्गत रखनेकी प्रवृत्ति प्रधान हुई, फिर भी जीवन-चरित लिखनेके पीछे सदासे ही यह भावना रही है कि मनुष्योंको व्यक्तियोंके रूपमें समझा और माना जाय। यही भावना 'रिफार्मेशन'-कालमें इस तरह विकसित हुई कि प्रत्येक व्यक्तिमें कुछ-न-कुछ विशेषता होती है। फलत प्रोटेस्टेण्ट जीवनियोंकी रचना हुई।

जीवनी-लेखनके सम्बन्धमें समय-समयपर अनेक दृष्टिकोण विकसित हुए हैं। आत्मीय जीवनी, लोकप्रिय जीवनी, विद्वत्तापूर्ण जीवनी, मनोवैज्ञानिक अथवा व्याख्यात्मक जीवनी, कलात्मक जीवनी और लिटन स्ट्रैची द्वारा विकसित व्यंग्यात्मक जीवनी। परन्तु शिप्लेके अनुसार जीवनियोंके ये समस्त प्रकार किसी-न-किसी रूपमें एक ही मोटे वर्गके अन्तर्गत आ जाते है, जिसे उपदेशात्मक जीवनी कहा जा सकता है। ऐसा होते हुए भी जीवनी-लेखकके लिए उचित है कि वह चरित नायकके जीवनको क्रमश अन्वेषित एव उद्घाटित करे। प्रारम्भसे ही चरितनायकमें महत्ता और विलक्षणताके दर्शन करने लगना अच्छा नहीं रहता, क्योंकि ऐसा करनेसे नायकका चरित्र स्वाभाविक रूपसे निर्मित नहीं हो पाता।

यदि जीवनीको कथा-साहित्यसे अलग रखना है तो यह बात कभी न भूलनी चाहिये कि वास्तविक जीवनी वही है जिसमें तथ्योंके अन्वेषणमें और उन्हें प्रस्तुत करनेमें विशेष ध्यान रखा जाय और जीवनी प्रामाणिक तथा सम्यक् जानकारीपर आधारित रहे। जीवनी-लेखकको उन सभी तथ्योंकी जानकारी कर लेनी चाहिये जिन्होंने उसके चरितनायकके जीवनपर प्रभाव डाला हो। साथ ही, जीवनी-लेखकको चरितनायकके जीवनकी घटनाओंको उसी क्रमसे प्रस्तुत करना चाहिये जिसमें कि वे घटित हुई थीं। जीवनीकी सामग्रीके कुछ स्रोत कैसेलने गिनाये हैं—(क) उसी विषय अथवा सम्बद्ध विषयोंपर पहले लिखी गयी पुस्तकें, (ख) मूल सामग्री, यथा-पत्र, डायरी या अधिकृत गवेषणा-सामग्री, (ग) समकालीनोंके संस्मरण, (घ) यदि वर्ण्य समय बहुत पहलेका नहीं है तो जीवित व्यक्तियोंकी यादगारें, (ङ) जीवनी-लेखक यदि अपने चरितनायकके सम्पर्कमें रहा है तो उसके अपने संस्मरण, यथा, बासवेल। (च) उन स्थलोंका भ्रमण तथा पर्यवेक्षण जहाँ चरितनायक रहा था।

हमारे देशमें जिस प्रकार इतिहास लिखनेकी परम्परा नहीं रही, उसी प्रकार जीवन-चरित लिखनेकी भी परम्परा नहीं थी। पुराणों, महाकाव्यों, खण्डकाव्यों और नाटकोंमें राजपुरुषों, महापुरुषों और वीरोंका वर्णन अवश्य होता था, पर इन ग्रन्थोंमें इन व्यक्तियोंका अतिरंजित और अतिप्राकृत स्वरूप अंकित किया जाता था। इसी प्रकार भक्ति-कालीन वार्ताओं, नाभादासकृत 'भक्तमाल' तथा अन्य कुछ ग्रन्थोंमें जीवन-सम्बन्धी जो भी इतिवृत्त मिलते हैं, उपर्युक्त गुण-दोषोंसे युक्त हैं। फलत जीवनी-लेखनकी वास्तविक एव वैज्ञानिक दृष्टि हमारे प्राचीन साहित्यमें कठिनाईसे मिलेगी। यह दृष्टि हमें आधुनिक कालमें पश्चिम-से मिली।

हिन्दीमें अपेक्षाकृत आधुनिक रीतिसे जीवनियोंका लिखा जाना लगभग १८८२ ई० से प्रारम्भ होता है। कार्त्तिकप्रसाद खत्रीने १८९३ ई०में मीराँबाईका जीवन-चरित्र लिखा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राधाकृष्ण दास, मुंशी देवीप्रसाद आदिने जीवन-चरित्र-लेखनमे रुचि ली और बड़ा कार्य किया। बालमुकुन्द गुप्तने प्रतापनारायण मिश्रका जीवन-चरित्र लिखा। अतिरंजित उपाख्यानों, इतिवृत्तात्मक ब्यौरों और स्फुट प्रसंगोंकी स्थितिसे आगे बढ़कर हिन्दीका जीवनी-साहित्य नायकके जीवन-तथ्योंके वैज्ञानिक विश्लेषण, सम्यक् निरूपण और मनोवैज्ञानिक अध्ययनकी दिशामें गतिशील हो रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—राष्ट्रीय जीवनियोंका कोश—इंग्लैण्ड, स्वीडेन, हालैण्ड, आस्ट्रिया, जर्मनी, अमेरिका। महात्मा तेन्दुलकर।]		—अ० कु०

जीवनवृत्तान्तीय आलोचना—(बायग्राफिकल क्रिटिसिज्म) जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-प्रणालीका यह मत है कि कृतिकार और उसकी कृतिमें एक ऐसा अनिवार्य सम्बन्ध है कि कृति मुख्यतः उसके जीवन और जीवनदृष्टिको पूर्ण रूपसे व्यक्त करती है। इस प्रणालीका यह मत है कि कृतिकार अपनी कृतिमें अपने जीवनके विकास और उसके संघर्षोंको व्यक्त करता चलता है। वस्तुतः प्रत्येक कृतिको कलाकारके जीवनसे पृथक् भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जीवनके सुख-दुःख, अनुभव, आनन्द, तिक्त और रिक्त क्षणोंकी अनुभूतियाँ उसे प्रत्येक क्षण प्रभावित करती हैं और उसके उतार-चढ़ाव, आरोह-अवरोहमें उसकी चेतना आन्दोलित होती रहती है। इन्हीं संघर्षोंके क्षणोंमें कृतिकारकी रागात्मक भावनाएँ भी उद्वेलित होती रहती हैं और उसकी प्रत्येक कृति किसी-न-किसी रूपमें इन क्षणोंको व्यक्त करती ही है। जैसे निरपेक्ष सत्यका अस्तित्व आजके युगमें स्वीकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार नितान्त निरपेक्ष अनुभूतियोंका भी अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जा सकता। अस्तु इस दृष्टिसे इस प्रणालीका महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह रहा है कि कृतिकार और उसकी कृतिमें उस सम्बन्धको ध्यानमें रखकर मूल्यांकन किया जाय जो परिवेश, यथार्थ और वस्तुस्थिति और परिस्थितिके रूपमें कलाकारके चिन्तन और विवेकको प्रभावित करती रही है। जीवनवृत्तान्तीय प्रणाली कृतिकारके मानवीय सन्दर्भमें उसको क्रियाशील चेतनाके निर्णय, निश्चय, भाग और योग लेनेवाला व्यक्ति मानती है, इसलिए उसके कृतित्वसे उसकी क्रियाशील संवेदनाको भी नापनेकी चेष्टा करती है।

स्थापनारूपमें जीवनवृत्तान्तीय आलोचनाकी तीन मुख्य स्थापनाएँ हैं। सर्वप्रथम तो यह कि कृतिकारका जीवन जिस देश-कालमें जीता और जागता है उस देश-कालसे निरपेक्ष साहित्यका निर्माण नहीं कर सकता। उस देश-कालका परिवेश उसकी चिन्तनशक्ति, भावानुभूति और विचारको प्रभावित करता है। ये प्रभाव उसके समूचे जीवनवृत्तको मर्यादित भी करते रहते हैं और उसका संघर्ष उसकी स्वीकृतियों और अस्वीकृतियोंमें प्रतिबिम्बित होकर उसकी कृतिमें अभिव्यक्ति पाता रहता है।

दूसरा यह कि कृतिकारका जीवन और उसकी कृति, दोनों प्रत्यक्ष या परोक्षरूपमें एक-दूसरेको व्यक्त करते हैं। कृति कृतिकारकी उपलब्धि है और प्रत्येक उपलब्धि जीवनवृत्तसे विकसित होकर उसके अंगकी पूर्ति करती है। इस दृष्टिसे यदि देखा जाय तो प्रत्येक कृति कलाकारके दो पक्षोंका प्रतिनिधित्व करती है—एक तो उसकी वर्तमान स्थितिका और दूसरे उसके विचार-दर्शनके रूपमें प्राप्त उपलब्धिका। इन दोनोंके माध्यमसे उसके व्यक्तित्वको अधिक जाना जा सकता है।

तीसरा यह कि इस आलोचना प्रणालीके माध्यमसे हम कृतिकारके जीवनमें भाग लेकर, उसकी अनुभूतिको ग्रहण कर लेनेपर, उसकी कृतिको अधिक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिके साथ देख और समझ सकते हैं। अस्तु, यदि पाठकके सामने किसी भी रूपमें यह दृष्टि प्रस्तुत हो सके तो बहुत सी ऐसी रचनाएँ जो अधिकांश सन्दर्भहीन-सी लगती हैं, उनका भी महत्त्व पर्याप्त मात्रामें ज्ञात हो जायगा।

अस्तु विवेचनात्मक रूपमें जीवनवृत्तान्तीय प्रणालीके दो स्तर हैं। एक तो यह कि प्रत्येक कृतिको उसके शिल्प और रूपाकारके आधारपर देखनेका प्रयास किया जाय और दूसरा यह कि उस वस्तुपरक दृष्टिके साथ उस कृतिकारकी मनःस्थिति और परिवेशका भी एक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। यद्यपि यह ठीक है कि कृतिकारके व्यक्तित्वकी गहराई, ऊँचाई और व्यापकताकी पकड़ कलामें व्यक्त होती है, फिर भी उसके विचारों और कल्पनाओंकी काव्यानुभूतिकी परखके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसके जीवनकी अनन्त झाँकियोंका एक ऐसा चित्रपट प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जाय, जिसमें उसकी सक्रियता और उसका कृतित्व, दोनों ही समान रूपसे चित्रित हो सकें।

मनोवैज्ञानिक स्तरपर एक सीमातक सत्य होनेके बावजूद इसमें कुछ विरोधाभास है, जिसे जान लेना आवश्यक है। कृतिकारके व्यक्तित्व और उसकी जीवनीमें आत्मीयता प्राप्त करनेमें जहाँ कुछ सुविधाएँ हैं वहीं इसके कई दोष भी हो सकते हैं। यदि उस जीवनीसे पाठकको सहानुभूति उत्पन्न हुई तो वह, सम्भव है, उसकी रचनाओंके साथ सन्तुलित, विवेकपूर्ण मत न रखकर अतिप्रशंसावादी धारणा बना ले। साथ ही यदि उसकी आत्मीयताने उसके सामने केवल उसके व्यक्तित्वकी त्रुटियों और कमजोरियोंको ही उभारकर प्रस्तुत किया, तो सम्भव है कि वह उस आधारपर उसकी उच्चतम कृतिको भी न्यूनतम सिद्ध करनेको तत्पर हो जाय। दोनों ही स्थितियोंमें साहित्यिक अथवा कलापूर्ण विवेचन न होकर पाठककी भावनामें पक्षधरताकी सम्भावना पायी जा सकती है। जहाँ एक ओर यह कमी है वहीं दूसरी ओर यह भी है कि इस प्रणालीकी मूल प्रकृतिमें ही वे सीमाएँ हैं जो उसकी स्वतन्त्रताको पुष्ट करती हैं, क्योंकि अधिकांश रूपमें किसी भी कृतिकारके वास्तविक और प्रामाणिक जीवनको जानना स्वयंमें एक सीमित सम्भावना है। दूसरी दृष्टिसे यदि देखें तो इस आलोचना-प्रणालीमें वे तत्त्व हैं जो अतिरिक्त तथ्योंपर बल देकर अनावश्यक तत्त्वोंको महत्त्व देते हैं। अस्तु, जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-प्रणालीके विकाससे यह भी सम्भव है कि साहित्यिक तथ्योंसे अधिक उन ऐतिहासिक

तथ्योंको विशेष महत्त्व दिया जाने लगे जो केवल गौण रूपमें जीवनमें आते और प्रभावित करते हों। जीवन-वृत्तान्तीय आलोचना ऐतिहासिक अन्वेषणात्मक प्रवृत्तियोंका एक विकृतिपूर्ण रूप भी हो सकता है। वैज्ञानिक आलोचना-के लिए यह आवश्यक है कि कृतिकी आलोचना और मूल्याकन करते समय उसके व्यक्तित्वको केवल उतना ही महत्त्व देना चाहिये जितना कि कृतिमें हो। उससे परे जानेसे कृतिकी आलोचना न होकर कृतिकारकी आलोचना की जानेकी सम्भावना होती है। यदि ऐसा हुआ तो परिणाम यह होगा कि कृतिकारके आचार-विचार, व्यवहार और आचरणकी व्याख्या करते-करते कृतिकी आलोचना नहीं हो पायेगी, उसका मूल्याकन नहीं हो पायेगा।

वस्तुतः कृति सर्वप्रथम एक कलाकृति है और इस प्रकार वह स्वय एक कलानुभूति और सौन्दर्यानुभूतिको व्यक्त करती है। सम्पूर्ण जीवन कुत्सित, कुण्ठाग्रस्त, असामाजिक और अराजकतापूर्ण व्यतीत करनेवाला कृतिकार एक क्षण ईमानदार, उदात्त और सर्जनशील भी हो सकता है। ऐसी स्थितिमें यदि कृतिकारकी जीवनीके आधारपर उसकी कलाकृतिका मूल्याकन करनेवाला उसके सम्पूर्ण जीवनको दृष्टिमें रखकर आलोचना करने बैठता है तो सम्भव है कि सम्पूर्ण जीवनवृत्तान्तके आधारपर वह उस एक क्षणके महत्त्वको न समझ पाये, जिसमें कृतिकार इतना ईमानदार और सवेदनशील रहा है। अस्तु, प्रस्तुत आलोचना-प्रणाली जहाँ एक ओर मानवीय पक्षपर बल देती है वहीं वह साहित्यिक एवं कलाकी दृष्टिसे वे खतरे भी मोल लेती है, जो मूल्याकनकी गतिविधिको दूषित कर सकते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिसे यदि देखा जाय तो भी यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवनवृत्तान्तीय शैलीकी अनिवार्य सीमाएँ हैं। अँग्रेजी साहित्यमें इस शैलीपर विशेष बल देनेवाला अठारहवीं शताब्दीका प्रसिद्ध कवि ड्राईडेन था, जिसका यह मत था कि प्रत्येक कृति कृतिकारके व्यक्तित्वके मूल्याकन विना न तो अच्छी तरह समझी जा सकती है और न उसका मूल्याकन किया जा सकता है। सर्वप्रथम इस प्रणालीका प्रचार एवं प्रसार उस समय हुआ जब कुछ कवियोंका जीवन-चरित्र लिखनेका प्रयास किया जा रहा था और उस प्रयासके विस्तारमें उन कृतियोंका भी विवेचन किया गया था जो उन कवियोंके जीवनकी झाँकियाँ प्रस्तुत कर रही थीं। जैसा कि स्पष्ट है, जिन परिस्थितियोंमें इस प्रणालीका विकास हुआ, उसमें महत्त्वपूर्ण तत्त्व जीवन-वृत्तान्त प्रस्तुत करना था, न कि साहित्यिक मूल्याकन। अस्तु, जहाँ प्रस्तुत आलोचना प्रणालीमें एक सीमातक अधिकाश सत्य है वहीं उसमें अतिशय आग्रह भी है, जो साहित्यिक सन्दर्भोंकी अपेक्षा अन्य सन्दर्भोंको बल देता है। इन ऐतिहासिक जीवनी लिखनेवालोंका एकमात्र आशय देश-कालकी सीमाओं, कृतिकारके व्यक्तित्वकी क्रिया, प्रतिक्रिया, दायित्व, अनुत्तरदायित्वका विवेचन करना था। इन समस्त स्थितियोंमें कविकी समसामयिकता और उसकी मानवीय क्रियाशीलताको चित्रित करनेका उद्देश्य था। कृति इन सीमाओंसे उपजकर भी इनसे परेकी सम्भावना हो सकती है, क्योंकि जीवनवृत्तान्त तो केवल वास्तविकताके सन्दर्भको प्रस्तुत करता है, कृति दृष्टिका वाहन है और दृष्टि सन्दर्भकी सीमामें सर्वथा नयी भावभूमिको भी प्रस्तुत करनेकी क्षमता रख सकती है। अत वैज्ञानिक दृष्टिसे इस प्रणालीमें कई कमियाँ हैं, जो इसे वैज्ञानिक होनेसे रोकती है। —ल० का० व०

जुगुप्सा–बीभत्स रसका स्थायी भाव जुगुप्सा है। 'रसतरगिणी'में कहा है—'अप्रियदर्शनस्पर्शनस्मरणजनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा जुगुप्सा।' अर्थात् अप्रिय वस्तुके दर्शन, स्पर्श अथवा स्मरणसे उत्पन्न मनोविकार, जो साधारणतया अपूर्ण तथा रसपरिपाकमें ही पूर्णतया प्रस्फुटित होता है, जुगुप्सा है। 'साहित्यदर्पण'के अनुसार दोषदर्शनादिके कारण किसी वस्तुमें उत्पन्न घृणाको जुगुप्सा कहते हैं (३ १७९)। किसी अरुचिकर अथवा प्रतिकूल वस्तुके साक्षात्कार अथवा उसकी कल्पनामात्रसे जनित चित्तवृत्तिका सकोच ही जुगुप्सा है। श्मशान इत्यादिमें शव, रक्त, मास, मज्जा इत्यादिके दर्शनसे, अथवा कभी उनके स्मरणसे, मनमें एक उद्वेग उत्पन्न होता है, जो मनुष्यको इन वस्तुओंसे दूर खिंच जानेके लिए प्रेरित करता है, क्योंकि तभी वह उस तीव्र असन्तोष, गर्हणा एव विकलताकी भावनासे मुक्ति पाता है, जो उसके भीतर उनके दर्शन या स्मरणसे उद्भूत हुई होती है। यह विकर्षणकी प्रवृत्ति भय एव क्रोधमें भी लक्षित होती है। लेकिन, भयमें वह पलायन अथवा अन्य प्रकारसे दैन्यप्रदर्शनके रूपसे प्रकट होती है तथा क्रोधमें वह मनुष्यको उस प्रतिकूल विषयके विनाश या मर्दनमें प्रवृत्त करती है, जब कि जुगुप्सामें केवल दूर हटनेकी कामना ही प्रबल होती है। जुगुप्साको अश्लीलताके साथ लपेटना भी युक्तिसगत नहीं है। अश्लीलता मर्यादाका उल्लघन है तथा वह शृगारमें दृष्टिगोचर होती है, जहाँ वह घृणा या जुगुप्सा उत्पन्न नहीं करती।

मोह, व्याधि, जड़ता, ग्लानि इत्यादि जुगुप्साको पुष्ट करनेवाले व्यभिचारी भाव हैं। उदा०—'सूपनखाको रूप लखि, स्रवत रुधिर विकराल। तिय सुभाव सिय हठि कछुक, मुख फेर्यो तिहिं काल।' (पोद्दार र० म०)। यहाँ 'कछुक मुँह फेर्यो'के कथनसे जुगुप्साभावकी व्यजना है, स्थायीका परिस्फुटन नहीं हो सका है। —र० ति०

जुलाहा–योग साधनाओंमें साधकका प्रतीक जो, सिद्धोंसे लेकर सन्तोंतकके साहित्यमें व्यवहृत होता रहा। तन्तिपाकी चर्यामें साधकको जुलाहा, मनोवृत्तियोंको सूत्र, तनको चादर और करघेके शब्दको अनाहदनाद माना गया है। कबीरमें भी यह रूपक इसी प्रकार मिलता है। एक स्थानपर ईश्वरको कोरी मानकर सारी सृष्टिको उसका ताना-बाना बताया गया है (सन्त कबीर—रामकुमार वर्मा)। तनको चादर या चदरिया मानकर मैले होने (या वासना-मलिन होने) या चोलेके जर्जर होने और बदलनेका भी उल्लेख सन्तोंने बार-बार किया है। —ध० वी० भा०

जृंभा–दे०—'सात्त्विक अनुभाव', नवाँ।

जैन चरित साहित्य–सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और आधुनिक भारतीय भाषाओं, सभीमें लिखे हुए जैन साहित्यमें

विषयवस्तुको एक ऐसी समानता मिलती है जो उसे अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती है। यह समानता प्राय बहुत-कुछ नीरस है। जैन कविके सामने कथानकोंका स्वरूप प्राय निश्चित रहता था, प्रतिभासम्पन्न कवि परम्परामें बँधी कथामें काव्यानुकूल प्रसंगोंपर कवित्वका प्रदर्शन करते हैं, अन्यथा बहुसंख्यक रचनाओंमें नवीनता बहुत कम मिलती है।

जैन चरित-काव्योंके दो प्रकार मिलते हैं—अनेक पात्रोंकी कथावाले ग्रन्थ और एक पात्रकी कथा कहनेवाली कृतियाँ। प्राकृत और अपभ्रंशमें जैन कवियों द्वारा लिखित चरितकाव्योंकी जो धारा मिलती है वह हिन्दीमें भी चलती रही। परिवर्तनकालीन भाषा और सारी नवीनताओंको इन कवियोंने अपनाया है। पौराणिक पात्रों, लोककथाओंमें प्रसिद्ध पात्रों या प्रसिद्ध वीर, दानी व्यक्तियोंकी जीवन-कथाओंको इन कवियोंने चुना है और नाना प्रसंगोंकी कल्पना उनको बीचमें रखकर की है। अनेक व्रत-कथाओं, धार्मिक प्रतिज्ञाओंका पालन करनेवाले धार्मिक पुरुषोंकी कहानियाँ इन ग्रन्थोंमें कही गयी है।

जैन चरित-काव्य और अन्य उपदेशप्रधान लोकप्रिय कथाकाव्य प्राय अप्रकाशित हैं और साहित्यके विद्यार्थियोंने उनकी ओर बहुत ही कम ध्यान दिया है। इस प्रकारकी अनेक कृतियोंमें कई तो बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके अस्तित्वका समाचार इधर हालके वर्षोंमें ही मिला है। चरित, चउपई और रास आदि नामोंसे युक्त इन जैन रचनाओंमें केवल आकार और शैलीका अन्तर भले ही मिले, इनके धर्मप्रधान स्वरमें विशेष भेद नहीं है। श्रावकों-(गृहस्थों)को उपदेश देनेके लिए इन रचनाओंकी सृष्टि इनके रचयिताओंने की। नाना जैन भाण्डारोंकी प्रकाशित सूचियोंमें इस प्रकारके ग्रन्थोंके उल्लेख मिलते हैं, उनमेंसे कुछके नाम यहाँ दिये जा रहे हैं। इनमें कुछकी भाषा अपभ्रंशके प्रभावसे सर्वथा मुक्त नहीं हो पायी है और दूसरी ओर अन्य कृतियोंकी भाषा जैनेतर कवियोंके समान ही है। जैसे धर्मसूरिकी १२०९ ई० में रचित 'श्रीजम्बूस्वामीरासा'की भाषामें अपभ्रंशका आभास मिलता है, शब्दावली तद्भव-प्रधान है। इसी प्रकार अम्बदेवकृत चरितकाव्य 'संघपति समरा रास'(१४वीं शती वि०)में दानवीर समरशाहका यश इस प्रकारकी भाषामें कहा गया है 'निसि (णिसि नहीं) दीनों झलहलहि जेम ऊगिउ तारायणु। पावल पारु न पामियए वेगि वहइ सुखमणु' आदि। आगेकी कृतियोंमें भाषा निरन्तर विकसित होती गयी है। अन्य कृतियोंमें १३५५ ई० में रचित उदयवन्तकी कृति 'गौतमरासा' (प्रकाशित), विद्धणकृत १३६६ ई० मे रचित 'ज्ञानपचमी चउपई', १७८९ ई०में दयासागर सूरिरचित 'धर्मदत्तचरित', ईश्वरसूरिकृत 'ललितागचरित' (१५०४ ई०), 'सारसिखा मनरास' (१४९१ ई०), 'यशोधरचरित्र' (१५२४ ई०), 'कृपणचरित्र' (१५२३ ई०), ठकरसीकृत, कुशललाभकृत १५५९ ई०में रचित 'माधवानल चौपाई', विद्याभूषण सूरिकृत 'भविष्यदत्तरास', रायमल्लकृत 'हनुमन्तचरित्र' (१५५९ ई०) और 'भविष्यदत्तचरित्र', जिनदासकृत 'जम्बूचरित्र' (१५८५ ई०), बनवारीलालकृत 'भविष्यदत्तचरित्र (१६०९ ई०), कल्याणदेवकृत 'देवराज वच्छराज चौपई' (१५८६ ई०), नन्दकृत 'यशोधरचरित्र' (१६७३ ई०), कर्मचन्द्रकृत 'मृगावती चौपई' इत्यादि। इस प्रकारके ग्रन्थोंकी रचना अठारहवीं-उन्नीसवीं शतीतक होती रही। उदाहरणके लिए, आमेर शास्त्रभाण्डारमें प्राप्त खुशालचन्दकृत 'हरिवंशपुराण' (१७२३ ई०), 'पद्मपुराण' (१७२६ ई०), 'धन्यकुमारचरित्र', 'जम्बू-चरित्र' जैसी कृतियोंका उल्लेख किया जा सकता है।

इन कृतियोंके केवल नाम देखनेसे ही बिना किसी त्रुटिके भयके कहा जा सकता है कि प्रसिद्ध धार्मिक व्यक्तियों जैसे भविष्यदत्त, यशोधर, गौतमस्वामी, जम्बूस्वामी आदिके ही चरित्रोंको बराबर अनेक कवियोंने अपनी कथाका विषय बनाया है और यह भी बिना विवादके कहा जा सकता है कि कथाके पूर्वस्वीकृत ढाँचेमें कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किये गये हैं। इन चरितकाव्योंमें फिर भी कहीं-कहीं नवीनताएँ मिलती है। समसामयिक समाजके उल्लेख मिलते हैं और यत्र-तत्र समसामयिक प्रसिद्ध व्यक्तियोंको भी कविताका आधार बनाया गया है। इस सम्पूर्ण साहित्यमें महत्त्वपूर्ण कृतियाँ भी बहुत हैं।

[सहायक ग्रन्थ—(१) जैन साहित्य और इतिहास प्रेमी, (२) हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास कामताप्रसाद जैन।] —रा० सिं० तो०

जोग—'जोग' उन गीतोंको कहते हैं जिनका वर्ण्य विषय प्राय विवाह है। परन्तु इसके अतिरिक्त इनमें जादू और टोनाका भी उल्लेख पाया जाता है। 'तिलक चढ़ने'के पश्चात् जब वर और कन्याके घरमें 'सगुन' गाया जाता है तब उसी समय 'जोग' गानेकी भी प्रथा पायी जाती है। इन गीतोंमें कहीं वैवाहिक विधिका वर्णन है, तो कहीं कामाख्या (आसाम) जाकर जादू-टोना सीखकर आनेका उल्लेख उपलब्ध होता है। भोजपुरीमें जोग करनाका अर्थ जादू या टोना करना होता है। परन्तु जोगके गीत प्रधानतया विवाहके सम्बन्धमें ही उपलब्ध होते हैं। —कृ० दे० उ०

ज्ञातयौवना (नायिका)—मुग्धा नायिकाका दूसरा भेद, भानुदत्त द्वारा सर्वप्रथम उल्लिखित, हिन्दी लेखकों द्वारा प्राय सर्वमान्य। विशेष दे०—'नायिका-भेद'। इस नायिकाको अपने तारुण्यका आभास होने लगता है। मतिरामने इस प्रकार कहा है—'निज तनु जोबन आगमन जानि परत है जाहि।' (रसराज २१)। लगभग इन्हीं शब्दोंमें इसकी परिभाषा अन्यों द्वारा भी दी गयी है—'तनमें जोबन आगमन जाहिर जब जिहि होत।'(प० जगद्वि० भा० १ ३२)। नारीमें जब यौवनकी भावना स्पष्ट रूपसे प्रकट होकर उसे ही भासित हो जाती है तब वह ज्ञातयौवना कही जाती है—'औचक आय जोबनवाँ मोहि दुख दीन। छुटि गो संग गोइयवाँ नहिं भल कीन।' (रहीम ३)। नायिका अपनी स्थितिसे परिचित हो चुकी है। मतिरामकी नायिकाको अपने तारुण्यका भान हो गया है—'कानन लौं लागे मुसुकान प्रेम पागे लौने, लाज भरे लागे लोल लोचन अनगते।' (रसराज २२)। दासकी अज्ञातयौवनामें भावना स्फुरित हो रही है—'आननमें मुसुकानि सोहावनी बंकुरता अँखियान छई है।' (शृं० नि० १३०)। पद्माकरने

शारीरिक विकासका ज्ञान अधिक चित्रित किया है—'छोरि धरी हरी कचुकी न्हानको अंगन तें जगे जातिके कोंधे।' (जगद्वि० भा० १ ' ३३)। विद्यापतिने राधाके क्रमविकास-में अज्ञातयौवनाका वय सन्धिके रूपमें और ज्ञातका उसके भावावेगके साथ चित्रण किया है। सूरने भी राधाका इन दोनों रूपोंमें अकन किया है । पर सूरमें शारीरिक उन्माद विद्यापतिकी अपेक्षा कम है और भावात्मक उल्लास अधिक है। अन्य सूफी प्रेमी कवियोंके साथ जायसीने अपनी नायिकाके इस रूपका व्यापक वर्णन किया है, पर उसमें वियोगकी पीडा अधिक है जो एक प्रकारकी मदनपीडा ही जान पड़ती है। छायावादी कविताओंमें प्रकृतिपर मुग्धा नायिकाके विविध रूपोंका आरोप मिलता है । उदा०— 'निराला'की कविता 'जुहीकी कली'। (ज्ञातयौवनाके १ नवोढा, २ विश्रब्धनवोढा भेदके लिए इन्हीं शब्दोंको देखें। केशवकी नवलअनगा तथा लज्जाप्राय ओर देवकी नवयौवना, नवलअनगा तथा सलज्जराति ज्ञातयोवना नायिकाएँ है।)

—र०

ज्ञानाश्रयी शाखा—निर्गुणधारा कही जानेवाली साहित्यिक प्रवृत्तिका वह रूप, जिसका सम्बन्ध प्रधानत परमात्माको ज्ञान द्वारा उपलब्ध करनेकी चर्चाके साथ हो, 'ज्ञानाश्रयी शाखा'के नामसे अभिहित किया जाता है और इसका कबीरादि सन्तोंकी रचनाओंमें लक्षित होना बतलाया गया है। निर्गुणधाराकी एक दूसरी शाखा, जिसे इससे भिन्न समझा गया है, 'शुद्ध प्रेममार्गी' कही गयी है और उसका सम्बन्ध प्रधानत परमात्माको विशुद्ध प्रेम द्वारा प्राप्त करनेके विषयसे है तथा उसके उदाहरण जायसी आदि सूफी कवियोंकी कृतियोंमें मिलते हैं। 'ज्ञानाश्रयी' अथवा 'शुद्ध प्रेममार्गी' शब्दोंके प्रयोगका अभिप्राय यहाँ यह नहीं कि उक्त प्रकारकी रचनाओंमें क्रमश केवल ज्ञान अथवा प्रेमका ही वर्णन पाया जाता है। सन्तों द्वारा निर्मित साहित्यमें प्रेम एव विरहकी चर्चा प्रचुर मात्रामें दीख पड़ती है और इसी प्रकार सूफियोंकी प्रेम-गाथाओंमें भी हमें ज्ञान-साधनाके प्रसग मिल सकते है। इनके प्रयोगकी सार्थकता इस बातसे सूचित होती है कि सन्तोंकी रचनाओंमें ज्ञान-साधनाके महत्त्वपर विशेष बल दिया गया प्रतीत होता है, जहाँ प्रेमा भक्तिको उसका एक आवश्यक अग ही ठहराया गया है, किन्तु सूफियोंने इसके विपरीत प्रेम एव विरहका ही वर्णन अधिक विस्तारके साथ किया है। सन्तोंकी दृष्टिसे परम तत्त्वकी उपलब्धि एव स्वानुभूतिमें कोई मौलिक अन्तर नहीं माना जा सकता और प्रेमानन्द वहाँ उसकी सिद्धिका एक परिणाम भी समझा जा सकता है, किन्तु सूफियोंके अनुसार, ईश्वरीय प्रेमका उदय खुदाके नूरकी ओर आकर्षणसे हुआ करता है और उसके वस्ल(मिलन)की स्थिति आ जानेपर हमें उस मआरिफ(ईश्वरीय ज्ञान)का अनुभव होता है जो 'हाल' या उन्मादकी अवस्थामें भी परिणत हो जा सकता है।

'ज्ञानाश्रयी' शब्दमें प्रयुक्त 'ज्ञान' शब्द किसी साधारण जानकारी अथवा तर्कोंपर आश्रित दार्शनिक तत्त्वबोधका सूचक नहीं है। साधारण जानकारी या लौकिक ज्ञान इन्द्रियजन्य हुआ करता है और उसका क्षेत्र स्थूल पदार्थों-

तक सीमित रह सकता है। इसी प्रकार दार्शनिक ज्ञानका भी वास्तविक आधार तत्त्वचिन्तन होता है, जिसमें बुद्धि अपनी चरम शक्तिका उपयोग करती है और वह सूक्ष्मसे सूक्ष्म भावोंतकको भी अपना विषय बना लेता है। परन्तु 'ज्ञानाश्रयी'के ज्ञान शब्दसे अभिप्राय उस प्रतिभा या अतीन्द्रिय बोधसे है, जो आपसे आप उदय हो सकता है। इस ज्ञानके लिए इन्द्रियजन्य अनुभव अपेक्षित नहीं और न इसकी उपलब्धि बुद्धिके प्रयासपर ही निर्भर है। इसे हम बाह्य ज्ञानकी कोटिमें नहीं रख सकते। यह मूलत अन्तर्ज्ञान है, जो सहज रूपमें तथा बिना किसी प्रत्यक्ष साधनके आधारसे उत्पन्न होता है और इसीलिए यह 'सहजज्ञान' भी कहा जा सकता है। सन्त कबीरने इसी ज्ञानको 'ब्रह्मगियान'(ब्रह्मज्ञान)का भी नाम दिया है तथा उसके निरन्तर बने रहनेकी दशाको 'सहज समाधि' कहा है। उनके अनुसार ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जानेपर करोड़ों कल्पोंतक भी सहज समाधिमें विश्राम किया जा सकता है। इसके कारण हृदयकमल पूर्णत विकसित हो जाता है और परम ज्योतिका प्रकाश होते ही, भ्रमके निराकरण द्वारा सभी कुछ आपसे आप सूझने लगता है। कालपर सदाके लिए विजय मिल जाती है, आवागमनका झमेला दूर हो जाता है और एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जिसका वर्णन शब्दोंमें नहीं किया जा सकता। इसे ही अन्यत्र उन्होंने 'ज्ञानलहरी'की धुनका जगना अथवा 'ज्ञानकी आँधी'का उठना भी कहा है तथा इस ज्ञानका स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे उन्होंने अन्य पदोंकी भी रचना की है।

'ज्ञानाश्रयी शाखा'वाले 'ज्ञान'का सम्बन्ध जितना मस्तिष्कसे नहीं उतना हृदयसे है और इसीलिए इसे भक्तिसे भिन्न नहीं ठहराया जाता। केवल मस्तिष्कप्रसूत ज्ञान एकागी हो सकता है और उसमें नीरस विवेचनके प्रतिपादनके अतिरिक्त अन्य व्यापारोंकी आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु हृदयप्रसूत ज्ञानमें समस्त इन्द्रियाँ अपना-अपना काम एक साथ करती हुई प्रतीत होती हैं और इसी कारण इसका परिणाम सच्चे 'अनुभव'के रूपमें दिखाई पडता है। एक साधारण ज्ञानीको तत्त्वचिन्तन द्वारा वस्तुस्थितिका परिचयमात्र मिल सकता है, उसे इसका पूरा बोध नहीं हो पाता। वह प्रत्येक बातको विश्लेषण द्वारा पृथक्-पृथक समझकर तद्विषयक धारणा बना सकता है, किन्तु वह उन्हें एक साथ और एक रूपमें प्रत्यक्ष कर उनमें प्रवेश भी नहा कर पाता। इसके विपरीत सहजज्ञानी अपनेको, वस्तु-तत्त्वके अन्तस्तलतक पहुँचकर, उसके साथ एकरूप हो गया भी पाता है। वह परम तत्त्व अथवा परमात्माको अपनेसे पृथक् रूपमें नहीं जानता, प्रत्युत अभेदरूपमे उसमें लीन हो जानेका अनुभव किया करता है। हिन्दी साहित्यकी अनेक रचनाओंमें ब्रह्म, जगत् एव जीवकी चर्चा शुष्क वेदान्तकी दृष्टिसे की गयी दीख पड़ती है और उनमें इनका दार्शनिक निरूपण भी पाया जाता है, जो ज्ञानमूलक कहा जा सकता है। परन्तु वहाँ हमें उनके रचयिताओंके वे व्यक्तिगत उद्गार नहीं मिलते जो परमात्माके प्रति किसी रागात्मक आकर्षण द्वारा ही सम्भव हो सकते हैं, जिनके शब्दोंमें या

तो श्रद्धामूलक भक्तिके भाव भरे रह सकते हैं अथवा उस प्रेमकी अभिव्यक्ति ही हो सकती है जो अभेदपरक आत्मीयताका परिचायक होता है।

अतएव, 'ज्ञानाश्रयी शाखा'का सम्बन्ध उस भक्तिमूलक साहित्यके साथ जोड़ा जा सकता है, जिसमें निर्गुण-धाराकी प्रवृत्ति पायी जाती है। इसके अन्तर्गत गिनी जानेवाली रचनाओंमें हमें अधिकतर भारतीय ब्रह्मज्ञानके साथ चलनेवाली उपासनाकी चर्चा मिलती है। इनमें निर्गुण परमात्मतत्त्वके प्रति प्रदर्शित प्रेमा भक्ति-विषयक उद्गार मिलते हैं, आत्मज्ञानजनित आनन्दकी अभिव्यक्ति पायी जाती है और एक ऐसे आध्यात्मिक जीवनकी रूपरेखा भी प्रस्तुत की गयी दीख पड़ती है जिसमें पूर्ण शान्ति, सद्भाव तथा विश्वजनीन कल्याणकी सम्भावना रहती है। ऐसी रचनाओंमें प्राय भावगत सौन्दर्यके साथ-साथ भाषा एव शैलीपरक आकर्षण भी उतनी ही मात्रामें लक्षित नहीं होता, जिस कारण उन्हें 'साहित्यिक' नहीं समझा जाता और इस 'शाखा'के अन्तर्गत सस्कृत बुद्धि, सस्कृत हृदय और सस्कृत वाणीका वह विकास भी नहीं देखा जाता जो शिक्षित समाजको अपनी ओर आकर्षित कर सके। इनके रचयिताओंका उद्देश्य वस्तुत· यह कभी नहीं रहा कि वे इनके द्वारा किन्हीं 'विद्वानों'को परितोष प्रदान करें अथवा इनके कारण 'सुजानों'का आदर प्राप्त करें। प्रधानत· ज्ञानमार्गी होनेके कारण उन्होंने अपना जीवन आत्मचिन्तनमें ही बिताना अधिक उचित समझा और यदि उन्होंने अपनी निर्गुणोपासनाके फलस्वरूप किन्हीं मार्मिक भावोंकी अभिव्यक्ति भी की तो उन्हें स्वभावत ज्योंका त्यों रख देना ही पसन्द किया, उनके माध्यमको सजानेकी चेष्टा नहीं की। इसके विपरीत निर्गुणधाराकी शुद्ध प्रेममार्गी शाखावाले कवियोंने प्रेमतत्त्वको महत्त्व देते समय प्रेमी-प्रेमिकाओंकी प्रेमगाथाओंकी रचना तथा उनके अन्तर्गत मार्मिक स्थलोंकी योजना करके उनमें सभी प्रकारसे सरसता लानेका भी प्रयत्न किया। —प० च०

ज्येष्ठा-कनिष्ठा (नायिका)–विभेद-विस्तारके लिए दे०–'नायिका-भेद', सर्वप्रथम रुद्रटने दिया है। पतिप्रेमके आधारपर कभी सामान्यत स्वकीयाके और कभी मुग्धा तथा प्रौढाके ये दो भेद किये जाते हैं। शाब्दिक अर्थ है बड़ी और छोटी, पर यहाँ यह अवस्थापर आधारित भेद नहीं है वरन् जिस स्त्रीपर पतिका अधिक प्रेम होगा उसे ज्येष्ठा और जिसपर कम, उसे कनिष्ठा कहते हैं—'प्रथम पियारी दूसरी घटि प्यारी निरधारि।' (रसराज · ५७)। मतिरामके मतसे पद्माकरका मत किंचित् भिन्न लगता है—'पिय प्यारी जेठा कही अति प्यारी लघु छोटि।' (जगद्वि० · २ : ७३)। इसमें लघुको अधिक प्यारी कहा गया है। प्राय कवियोंने इन दोनोंको एक ही उदाहरणमें अकित किया है—'जल विहार पिय प्यारिको देखति क्यों न सहेलि। इत चुमकी नजि एक तिय करत एक सों केलि।' (वही · वही ७६)। दासने इन दोनों भेदोंके विभिन्न नायकोंके साथ स्वीकार किया है और उन्होंने कनिष्ठाको 'प्यार बिन कहे' माना है। ज्येष्ठाका उदा०—'लाल मन वृत्तिनिको देखनि सोती भई, सौतिनि सुतौती भई बाकी नैन सारी गै।' कनिष्ठाका उदा०—'नैननको तरसैये कहाँ लौ हियो बिरहागमे तैये। एक घरी ना कहूँ कल पैये कहँ लगि प्रानन्को कलपैये।' (शृं० नि० ७०, ७२)।

झलकियाँ–झलकियाँ रेडियो-नाटकके अन्तर्गत आती हैं। स्वरूपविधानकी दृष्टिसे इन्हें पाँच-छ छोटी-छोटी रेडियो-नाटिकाओंका समूह कह सकते हैं। आकाशवाणीके विभिन्न केन्द्रोंसे 'झलकियाँ', इन्द्रधनुष, लहर, रग-तरग नामसे प्रसारित किये जानेवाले कार्यक्रमोंमें पाँच-पाँच, छ-छ मिनटकी छोटी-छोटी नाटिकाएँ रहती हैं, जो बीच-बीचमें दो-चार पक्तियोंके 'नैरेशन'से परस्पर सम्बद्ध कर दी जाती हैं। मनोरजकता झलकियोंकी सबसे बड़ी विशेषता होती है। इनमें जीवनके हल्के-फुल्के क्षणोंका ही अंकन होता है।

[सहायक ग्रन्थ—रेडियो-नाटक हरिश्चन्द्र खन्ना, रेडियो-नाट्य-शिल्प · सिद्धनाथकुमार।] —सि० कु०

झाँझी–झँझी या झाँझी, शारदीय नवरात्रके दिनोंमें गाया जानेवाला बालिकाओंका गीत ब्रजलोकमें विशेष रूपसे प्रचलित, बालिकाएँ झाँझी (मिट्टीकी छेददार हाँडी—जिसमें दिया जलता रहता है) लेकर एक घरसे दूसरे घरका फेरा करती हैं, झाँझीके गीत गाती हैं और पैसे माँगती हैं, ये गीत कथाकी दृष्टिसे अद्भुत किन्तु मनोरजक होते हैं। अन्तमें टेसूका विवाह झाँझीसे होता है और तदुपरान्त टेसूका सिर उखाड़कर फेंक दिया जाता है। —र० ब्र०

झाण साधना–दे०—'हठयोग', 'बोधिचित्त'।

झुंझुना–जन्मोत्सवमें छठीके दिन गाया जानेवाला एक लघु-गीत, इसमें शिशुको उसके सम्बन्धियों द्वारा झुनझुना खिलानेका उल्लेख रहता है। —र० ब्र०

झुलना–या 'झूलना'; जिस तरह पूर्वमें सावनमें कजली गायी जाती है, उसी तरह कुरु-देशी (ब्रजवासी भी) सावन गाते हैं, जिसे झूलना भी कहते हैं। (राहुल · आदि हिन्दीकी कहानियाँ और गीतें, पृ० ९१)। इसी नामका बच्चोंको झूला-झुलानेका भी एक गीत, प्राय दाइयों या माताओं द्वारा गाया जाता है; इसी नामका एक छन्द, जिसके प्रत्येक चरणमें ७,७,७ और ५के विरामसे २६ मात्राएँ और अन्तमें गुरु-लघु होते हैं। —र० ब्र०

झूमर–झूमर वे गीत हैं जो प्रत्येक मागलिक अवसरपर गाये जाते हैं। ग्रामीण स्त्रियाँ विवाहादि उत्सवके समय सामूहिक रूपसे झूम-झूमकर इन गीतोंको गाती हैं, अत इनका नाम झूमर पड़ गया है। ये गीत बड़े प्राचीन जान पड़ते हैं। मैथिल-कोकिल विद्यापतिने 'गावहु ए सखि झूमर लोरि' लिखकर इनका उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि विद्यापतिके पूर्व ये लोकसाहित्यमें प्रचलित थे। भोजपुरी झूमरके गीतोंमें शृंगारके दोनों पक्षों—सम्भोग एव विप्रलम्भका बड़ा ही सरस तथा सुन्दर वर्णन पाया जाता है। जब स्त्रियाँ झूम-झूमकर समवेत स्वरसे इन्हें गाने लगती हैं तब एक समाँ बँध जाता है और श्रोताओंके हृदयमें गुदगुदी पैदा होने लगती है। ये झूमरके गीत क्या हैं, शृंगारके रस-कलश हैं, जिन्हें कोकिलकण्ठी स्त्रियाँ अपने लोचभरे स्वरोंसे सहृदयोंके ऊपर उँडेलकर उन्हें रससिक्त कर देती हैं। लोकगीतोंके विभिन्न प्रकारोंमें इससे रसीला तथा मधुमय गीत सम्भवत दूसरा नहीं है।

मैथिली झूमर बड़े मधुर होते हैं, जिनके प्रधान दो भेद हैं–१. सन्देशात्मक, २ भावात्मक। सन्देशात्मक झूमरोंमें काक या कोयलके द्वारा प्रवासी साजनको सन्देश भिजवाया गया है। भावात्मक झूमरोंमें रसात्मक अनुभूति और आनन्दका साधारणीकरण है। झूमरका मजमून प्रेमसे सराबोर है। इसकी पंक्ति-पंक्तिमें वारुणी और शब्द-शब्दमें जादूका असर है। झूमरके गीतोंकी एक विशेष तर्ज होती है। इनको प्रायः स्त्रियाँ ही गाती हैं। —कृ० दे० उ०

झूलना–मात्रिक सम दण्डक छन्दोंका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'के अनुसार झुल्लण छन्दके प्रत्येक चरणमें १०, १०, १७ की यतिसे ३७ मात्राएँ होती हैं। उदाहरणसे इस बातका आभास मिलता है कि यतिके स्थलोंपर तुक मिलना चाहिये। भानुने यति १०, १०, १०, ७ और अन्तमें यगण (ISS)का निर्देश किया है। इसी छन्दके चरणमें जब २०, १७ पर यति होती है तब इसे **हसाल** कहते हैं, क्योंकि दोनोंके अन्तमें यगणका प्रयोग भी होता है। तुलसीने यतिके नियमका प्रायः अनुसरण नहीं किया है, २०, १७ पर यति दी है और मध्यतुकका प्रयोग भी नहीं किया है—'कनक गिरि शृंग चढ़ि, देखि मर्कट कटक, वदत मन्दोदरी परम पुनीता। सहसभुज मत्त गजराज रनकेसरी, परसुधर गर्व जेहि देखि बीता।' (गीता० ५)। इसमें प्रथम चरणमें यतिका प्रयोग नियमानुकूल है, पर दूसरे चरणमें यति २०, १७ पर है। अतः तुलसीके प्रयोगमें झूलना और हसालका संयोग समझना चाहिये। इनके अतिरिक्त केशव (रा०च०) तथा रघुराज(रामस्व०)ने भी इसका उपयोग किया है। सूरने भी इस छन्दका प्रयोग पदोंकी गतिमें उतार-चढ़ावके द्वारा रोचकता पैदा करनेके लिए किया है—'झिरकि कै नारि दै, गारि गिरिधर तब, पूँछपर लात दै, अहि जगायो।' (सू० सा० सभा० पद ११७०)।

झूलना–वर्णिक छन्दोंमें सम वृत्तका एक भेद। स, ज, ज, भ, र, स, लघुके योगसे यह वृत्त बनता है। इस छन्दमें १२, ७ वर्णोंपर यति होती है (IIS, ISI, ISI, SII, SIS, IIS, I)। भानुने (छ०प्र० पृ० १९४) इसका नाम मणिमाल दिया है, पर केशवने झूलना। 'रामचन्द्रिका'में इसका प्रयोग हुआ है। यह छन्द मात्रिक झूलनासे भिन्न है। रूपमालाके आदिमें दो लघु रखनेसे यह छन्द बन जाता है—'तुम हौ अनन्त अनादि सर्वत्र सर्वदा सरवज्ञ। अब एक हौ कि अनेक हौ महिमा न जानत अज्ञ।' (रा० च० २७ १)। —पु० शु०

टिटोवाद–यूगोस्लावियाके मार्शल टिटो साम्यवादी होते हुए भी राष्ट्रीय क्षेत्रोंमें अन्तरराष्ट्रीय कामिनफार्मसे यूगोस्लावियाकी कम्युनिस्ट पार्टीकी स्वतन्त्रता चाहते थे। यही सिद्धान्त टिटोवादका मूल आधार है। ट्राटस्कीवादकी भाँति सभी प्रगतिवादी इसे भी निन्दावचनके रूपमें प्रयुक्त करते हैं। —रा० कृ० त्रि०

टिप्पणी–[टिप्+क्विप्=टिपा, सा पण्यते स्तूयते इति टिप्पणी=टिपा पण्+अच्] (क) १ संक्षिप्त टीका, विषमस्थलोंका व्याख्यान। २ टीकाकी टीका [जैसे महाभाष्यकी कैयटकृत प्रदीप टीकाकी नागेशकृत 'उद्योत' टिप्पणी]। (ख) हिन्दीमें 'टिप्पणी' शब्द प्रायः अँग्रेजीके 'नोट' शब्दका अर्थ देता है। 'टीका' 'टीका'के साथ समास(टीका-टिप्पणी)के रूपमें प्रयुक्त होनेपर आलोचना, दोषप्रदर्शन, छिद्रान्वेषण या नुक्ताचीनीका अर्थ देता है। (ग) इसके पर्याय टीका, विवृति, व्याख्या इत्यादि शब्द हैं। व्याख्या विस्तृत होती है, टीका भी टिप्पणीकी अपेक्षा विस्तृत ही कही जायगी। टिप्पणी तो टीकाकी टीका है, उसके दुरूह या अस्पष्ट स्थलको सरल और स्पष्ट करती है।—आ० प्र० मि०

टीका–[टीकृ गतौ (भ्वादि०)+अ+स्त्री प्रत्यय टाप्—टीक्यते गम्यतेऽर्थो यया सा] (क)सामान्य अर्थ–१ व्याख्यानग्रन्थ, व्याख्या, विवृति। (ख) विशेष अर्थ–१ विषम-पदव्याख्या (भानुजी दीक्षितकी रामाश्रमी), विषम-पदव्याख्यानरूपा वृत्ति (तारानाथकृत शब्दस्तोममहानिधि)। इस अर्थके अनुसार 'टीका' भी वृत्तिकी ही भाँति संक्षिप्त होनी चाहिये, क्योंकि उसमें केवल कठिन और दुरूह पदोंका ही व्याख्यान होता है। परन्तु इसका विरोधी मत भी है, जिसके अनुसार टीका विषमपदोंकी ही व्याख्या नहीं, अपितु मूलके सुगम और दुर्गम समस्त पदोंकी निरन्तर व्याख्या है। ['टीका निरन्तर-व्याख्या'—'सुगमाना विषमाणा च निरन्तर व्याख्या' हेम।] यों तो संस्कृतके विशाल टीकासाहित्यमें शायद ही कोई टीका ऐसी मिले जिसमें प्रतिपद व्याख्यान हो, परन्तु प्रायः उपलब्ध सभी टीकाओंमें मूलके प्रायः आवश्यक सभी पदोंकी व्याख्या मिलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दो-चार टीकाओंमें भले ही केवल विषम पदोंका व्याख्यान हो और वे बहुत संक्षिप्त हों, परन्तु प्रायः सभी टीकाग्रन्थोंके सम्बन्धमें 'टीका'का द्वितीय लक्षण ही अधिक घटित होता है। संस्कृतका यह टीकासाहित्य मौलिकसे कहीं अधिक विशाल है। इसका कारण ग्रन्थकारोंमें मौलिकता या स्वतन्त्र चिन्तनका अभाव या उसकी न्यूनता नहीं, अपितु संस्कृत भाषा और उसके शास्त्रोंकी गम्भीरता और गहनता ही है, क्योंकि टीकाओंमें भी पुराने वादोंपर नये विचार, उन वादोंका नयी दिशाओंमें विकास, उनका नये ढंगसे मूल्यांकन आदि सभी कुछ मिलता है। इतने विशाल साहित्यके प्रमुख ग्रन्थोंका भी परिगणन कठिन है, पर कुछ सर्वाधिक प्रसिद्ध ये हैं—उद्योतकरकृत न्यायवार्तिकपर वाचस्पतिमिश्रकी तात्पर्य टीका, सांख्यकारिकापर उनकी सांख्यतत्त्वकौमुदी, योगभाष्यपर तत्त्ववैशारदी तथा शंकरकृत वेदान्त भाष्यपर उनकी भामती तथा आनन्द गिरिकी न्यायनिर्णय टीका, व्याकरणमें महाभाष्यपर कय्यटकृत प्रदीप, भट्टोजिदीक्षितकी सिद्धान्तकौमुदीपर ज्ञानेन्द्रकी तत्त्वबोधिनी, काव्योंमें 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश', 'मेघदूत', 'किरात', 'शिशुपालवध' (माघकाव्य) तथा 'नैषधचरित'पर मल्लिनाथकी टीकाएँ तथा 'नैषध'पर नारायणकी टीका, इसी प्रकार काव्यशास्त्रमें मम्मटके 'काव्यप्रकाश'पर चालीससे ऊपर टीकाएँ हैं। नाटकोंपर राघव भट्टकी टीकाएँ सर्वविदित हैं। (ग) हिन्दीमें 'टीका'के अर्थमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। मध्यकालीन भक्ति और रीतिकाव्यपर व्रजभाषा-गद्यमें अनेक टीकाएँ मिलती हैं, जैसे चौरासी और 'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता'पर गुसाईं हरिरायकी भावप्रकाश टीका, 'साहित्यलहरी'पर सरदार कविकृत टीका, 'भक्तमाल'पर

प्रियादासकी टीका (पद्यमें), हितहरिवंशके 'चौरासी पद'पर तथा बिहारीकी सतसईपर अनेक टीकाएँ हैं। 'रामचरितमानस'पर भी अनेकानेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। —आ० प्र० मि०

टेक–गीतके आरम्भकी वह कड़ी जो प्रत्येक चरणके अन्तमें दुहरायी जाती है लोकगीतोंमें प्राय तुक और मात्राका ध्यान नहा रखा जाता, इनमें नैसर्गिक सन्तुलन-बोधपर आधारित एक स्वाभाविक लयात्मकता होती है और बार-बार दुहरायी जानेवाली टेकके कारण ये सुगेय बने रहते हैं, टेकके अभावमें किसी भी गीत–लौकिक या शास्त्रीय–की संगीतात्मकताका निर्वाह सम्भव नहीं।—र० अ०

टेबलो–अवाक् तथा स्थिरमुद्रा-स्थित अभिनेता-मण्डली द्वारा किसी चरित्र, घटना अथवा दृश्य(प्राय ऐतिहासिक)-का अभिनयाङ्कन 'टेबलो' कहलाता है। नाटकका एक पृथक् भेद होनेके अतिरिक्त 'टेबलो' कभी-कभी उस अभिनय-क्षणके लिए भी आता है, जहाँ अभिनेता एव रंगपीठ नाटकीय वातावरणके अनुकूल एक विशेष अभीष्ट प्रभावकी सृष्टिके उद्देश्यसे सम्मिलित रूपमे चित्रलिखित हो जाते हैं, उदाहरणके लिए **मूकनाट्य, नृत्यनाट्य** तथा **नृत्य** आदि। —श्या० मो० श्री०

टेसू–शारदीय नवरात्रके दिनोंमें गाया जानेवाला बालकोंका गीत, ब्रजलोकमें विशेष रूपमे प्रचलित, लड़के 'टेसू' मनुष्यकी आकृतिका खिलौना लेकर द्वार-द्वारपर घूमते हैं टेसूके गीत गाते हैं और पैसे माँगते हैं, विषयकी दृष्टिमे ये गीत बड़े ऊटपटाँग और अद्भुत कहे जा सकते हैं, किन्तु ये होते हैं बड़े मनोरंजक। टेसूको जनश्रुति एक प्राचीन वीरके रूपमें स्मरण करती है। पूर्णिमाके दिन टेसू तथा झाँझी(दे०)का विवाह भी रचाया जाता है। —र० अ०

टोटेमिज्म (totemism)–टोटेमिज्म या टोटेमवाद आदिम जातियोंकी एक विश्वासप्रवृत्ति है, जिसके अनुसार वे अपनी उत्पत्ति किसी अमानव पूर्वजसे मानती ह। विविध आदिम जातियोंका विश्वास है कि उनके पूर्वज पक्षी, नाग आदि थे। वे अपने उस स्वीकृत पूर्वजकी पूजा करती और नाम आदि धारण करती है। उनका विश्वास है कि वही उनकी रक्षा भी करते हैं। अपने घरों, लिबास, पताकाओं आदिपर भी वे उनके चित्र धारण करती हैं, अपने शरीरपर उन्हींके प्रतीकरूपमें गोदना आदि भी गोदवाती हैं। इन्हीं पशु, पक्षियों आदि अमानव जीवोंके उल्लेखसे उनका अलिखित लोकसाहित्य भी मुखरित है। हमारे साहित्यकी वानर, रीक्ष आदि जातियाँ भी स्वभावत मनुष्य होकर भी इसी परम्पराके अनुसार वन्दर और रीछको अपना पूर्वज माननेके कारण अपने उन नामोंसे प्रसिद्ध हुईं। नाग आदि जातियाँ भी नागपूजक अथवा नाग-पूर्वज-प्रधान होनेसे नाग सज्ञामे विभूषित हुई। ऐसी आदिम जातियाँ आपसमें लड़कर मानव-भक्षणतक तो करती हैं, पर अपने पक्षी-पशु आदि कल्पित पूर्वजकी जातिके जीवोंका आहार नहीं करती। उनके नामपर ही उनकी पूजा, टोना, टोटका आदि होते हैं। टोटम या जीव-जन्तुओंमें आदि पुरखेपनके विश्वासकी सज्ञा टोटेमिज्म या टोटेमवाद है।—भ० श० उ०

ट्राट्स्कीवाद–ट्राट्स्की सोवियत क्रान्तिकी सफलताके उपरान्त यह चाहता था कि सोवियत शक्तियाँ अन्य पूँजीवादी देशोंपर आक्रमण करें। वह क्रान्तिको रोकना नहीं चाहता था। इसी क्रान्तिको चिरन्तन क्रान्ति-(permanent revolution)के रूपमें उसने व्यक्त किया है। कुछ समयतक प्रगतिवादी आलोचक इस शब्दको निन्दावचनके रूपमें प्रयुक्त करते रहे हैं। —रा० कृ० त्रि०

ट्रैक्ट–यों तो किसी भी छोटे आकारवाले निवन्ध, प्रतिपादन अथवा विवेचनको ट्रैक्ट कह सकते हैं, पर मुख्यत उसी मुद्रित प्रबन्ध अथवा प्रवचनको ट्रैक्ट माना गया है, जो व्यावहारिक धर्म अथवा नैतिकतासे सम्बद्ध किसी विषय-पर हो। ट्रैक्ट छोटी पुस्तिका या पैम्फ्लेटके रूपमें प्रकाशित किया जाता है और उसे कभी-कभी ट्रैक्टे भी कहते हैं।

यूरोपके धर्म-आन्दोलनोंमें ट्रैक्टोंके प्रकाशनने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इंग्लैण्डमें 'आक्सफोर्ड ट्रैक्ट्स' या 'ट्रैक्ट्स फार द टाइम्स'के नामसे १८३३ से १८४१ के बीच ९० ट्रैक्ट प्रकाशित हुए और प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा लिखित इन ट्रैक्टोंने उस आक्सफोर्ड स्कूलकी नींव डाली, जो आगे चलकर आक्सफोर्ड आन्दोलनमें विकसित हुआ। इन ट्रैक्टोंमें चर्चके अधिकार तथा परम्पराको लेकर महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी थीं और ३९ आर्टिकलोंकी कैथोलिक व्याख्या की गयी थी।

भारतमें ईसाई मिशनरियोंके आगमन और 'ट्रैक्ट बुक सोसाइटियों'की स्थापनासे ट्रैक्ट-साहित्यका प्रकाशन आरम्भ हुआ। १८५४ में 'नार्थ इण्डिया ट्रैक्ट एण्ड बुक सोसाइटी'ने हिस्ट्री ऑफ बाइबिलका अनुवाद 'धर्म पुस्तकका इतिहास' नामसे प्रकाशित किया। १८७८ में यही पुस्तक 'अमेरिकन ट्रैक्ट सोसाइटी'ने प्रकाशित की। बनारस, आगरा आदि अनेक स्थानोंकी 'ट्रैक्ट बुक सोसाइटियाँ' कुछ-न-कुछ धर्म-प्रचारका कार्य किया ही करती थीं। इन सोसाइटियोंका कार्यक्षेत्र यू० पी० से लेकर पंजाबतक था।

व्यावहारिक धर्म तथा नैतिकतासे सम्बद्ध पुस्तिकाओंके लिए ट्रैक्ट शब्द हिन्दीमे अधिक प्रचलित न हो सका। विभिन्न भारतीय धार्मिक आन्दोलनोंने सम्बद्ध पुस्तिकाएँ हिन्दीमें बराबर लिखी जाती रहीं ह, पर उनके लिए ट्रैक्ट शब्दका प्रयोग नहीं हुआ। इससे ज्ञात होता है कि ट्रैक्ट नाम ईसाई धर्मसे सम्बन्धित प्रचार-साहित्यके लिए ही सीमित होकर रह गया और धर्माचरणविषयक अन्य पैम्फ्लेट-साहित्यके अर्थमें हिन्दीमें नहीं अपनाया गया।

यों, ट्रैक्ट शब्दसे जिस विशेष प्रकारके साहित्यका बोध होता है उसे गिनाना ही चाहें तो कह सकते हैं कि हिन्दीमें ट्रैक्टों-पैम्फ्लेटों द्वारा बाइबिलकी चमत्कारपूर्ण कहानियोंका प्रचार, आर्यसमाजके विद्वानों द्वारा हिन्दू धर्मके विरोधियोंकी उक्तियोंका खण्डन, हिन्दू समाजकी कुरीतियों-पर प्रहार और वैदिक रीतियोंका प्रचार, सम्मेलनोंके सभापतियोंके भाषणोंके स्थायी रूपकी प्राप्ति, सरकारकी बातोंका जनतामें प्रचार आदि होता रहा है। —अ० कु०

ट्रैजेडी–ट्रैजेडी(दु खान्त नाटक)का उद्भव आदि जातियोंमें प्रचलित विभिन्न धार्मिक कृत्योंसे हुआ है, जो कि सामाजिक दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे, उदाहरणके लिए, मृतककी आत्माको अमरत्व प्रदान करनेके लिए तथा उसे प्रसन्न

करनेके लिए उसके नायकोचित कार्योंका अभिनय (समाधि-कृत्य)। इस प्रकारके धार्मिक कृत्योंमें बहुधा कथावस्तु नायक (पौराणिक, मृत अथवा ऐतिहासिक) तथा खल पात्रके संघर्षके विषयमें होती थी और उसकी चरम सीमा नायककी मृत्यु तथा पुनर्जीवनमें निहित रहती थी। सर्वप्रथम धार्मिक दुःखान्त नाटक जो हमें ज्ञात हैं, वे हैं मिस्र तथा सीरियाके भावावेशपूर्ण नाटक (पैशन प्लेज), जो ओसिरिस, एटिस तथा एडोनिसिस नामक पौराणिक चरित्रोंपर लिखे गये हैं। जहाँतक सुदूरपूर्वका प्रश्न है, जापानके 'नोह' नाटकोंको छोड़कर दुःखान्त नाटकोंकी रचनाके अधिक प्रमाण नहीं मिलते। यूरोपमें ट्रैजेडीका सर्वप्रथम विकास यूनानमें प्राचीन कालमें प्रचलित प्रकृतिदेवता डायनिसिससे सम्बन्धित जातीय धार्मिक कृत्यों द्वारा हुआ।

ट्रैजेडी यूनानी शब्द 'ट्रैगास'से आया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—**अजागीत**। प्राचीन कालमें बकरेकी बलि देनेकी प्रथासे इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है। अरस्तूने ट्रैजेडीका सम्बन्ध उन नाट्य-रचनाओंसे स्थापित किया है जिनके नायक आदि आधे मनुष्य और आधे बकरे होते थे। ट्रैजेटी शब्दका व्यवहार समस्त गम्भीर नाटकोंके लिए होता था, उनका त्रासद अन्त आवश्यक नहीं था। पौराणिक नाटकोंके चित्रणमें अतिरंजना और रूढिगत काव्यात्मक शैलीका व्यवहार होता था, परन्तु बादमें चलकर यूरिपिडेसकी कृतियों द्वारा यथार्थवादी विवरण भी नाटकमें आये, स्वच्छन्द एवं रूढि विरुद्ध कथानक अपनाये गये। अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें ट्रैजेडीकी जो व्याख्या की है, वह प्राचीन यूनानी ट्रैजेडीपर बिलकुल ठीक उतरती है—'अतः ट्रैजेडी उस कार्यकी कलानुकृति है जो कि गम्भीर एवं स्वतःपूर्ण एवं भव्य हो।' भव्यसे अरस्तूका तात्पर्य महाकाव्योंकी ही भाँति ऐसे उच्च कोटिके चरित्रोंकी कलानुकृतिसे है, जिनके व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण हों। ट्रैजेडीकी विशद विवेचना करते हुए अरस्तूने फिर कहा है—'ट्रैजेडी उस व्यापार-विशेषका अनुकरण है जो गम्भीर हो, पूर्ण हो, एक निश्चित परिमाणका हो, प्रत्येक प्रकारके कलात्मक अलकारोंसे सजी हुई भाषासे युक्त हो और ये सब प्रकार नाटकके भिन्न-भिन्न भागोंमें पाये जाते हों, जो वर्णनात्मक न होकर दृश्यात्मक हों, जो करुणा और भयका प्रदर्शन करके इन मनोविकारोंका उचित सुधार और परिष्कार कर सके। दुःखान्तके ६ अंग हैं—१ इतिवृत्त, २ आचार, ३ वर्णन-शैली, ४ विचार, ५ दृश्य और ६ गीत। इनमेंसे प्रथम दो अंग तो अनुकरणके साधन हैं, तीसरा अनुकरणका ढंग है और शेष तीन अनुकरणके आधार हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण है घटनाओंका गुम्फन। ट्रैजेडी वास्तवमें व्यक्तियोंका ही नहीं, वरन् कार्य और जीवनका, सुख और दुःखका अनुकरण होता है। सम्पूर्ण मानवीय सुख और दुःख कार्यका स्वरूप धारण करते हैं। जिस अन्तके लिए हम जीवन धारण किये हुए हैं, वह एक प्रकारकी कार्यशीलता है, कोई गुण नहीं। यद्यपि आचारसे मनुष्योंके गुण निर्धारित किये जाते हैं, किन्तु वे अपने कार्योंसे ही सुखी या दुःखी होते हैं। अतः नाटकीय कार्य आचारका प्रदर्शन करनेकी दृष्टिसे नहीं आता, वरन् आचार ही कार्योंका सहायक बनकर आता है। अतः कार्य (घटनाएँ) और इतिवृत्त ही ट्रैजेडीके अन्त या परिणाम हैं और अन्त या परिणाम ही सब बातोंमें मुख्य माना जाता है।' अरस्तूके सिद्धान्तके अनुसार ट्रैजेडीमें दुःखानुभूति (मृत्यु, शारीरिक कष्ट आदि)का अत्यधिक महत्त्व है। इस प्रकारकी ट्रैजेडीके लिए अरस्तूने ऐसे नाटकका विधान किया है जो न तो असाधारण रूपसे महान् हो और न पूर्णतः बुरा ही हो, वरन् जो किसी त्रुटिवश पतनका भागी बन गया हो। चरित्र-चित्रण तथा कथानककी दृष्टिसे इस प्रकारकी त्रुटियोंका बहुत महत्त्व है। आधुनिक सामाजिक नाटकोंमें यह त्रुटि नायककी अपेक्षा, जो कि केवल बाह्य परिस्थितियोंका शिकार होता है, समाजमें ही अधिक दिखायी जाती है। अतः अरस्तूके अनुसार ट्रैजेडीका उद्देश्य प्रेक्षकोंमें करुणा एवं भयकी अनुभूति इस प्रकार कराना है कि धार्मिक अपवित्रताओंकी परिशुद्धि (कैथार्सिस) हो जाय। यह ट्रैजेडीका विशेष लक्षण है। यद्यपि अरस्तूके ट्रैजेडी सम्बन्धी सिद्धान्त यूनानी नाटकोंके प्रसंगमें आये हैं, फिर भी उनमें गिनाये गये ट्रैजेडीके ये लक्षण भव्यता, कथानक, स्थिति-विपर्यय (रिवर्सल), नाटकीय कार्यमें निर्णयात्मक मोड़ उत्पन्न करनेवाला तथ्य (डिस्कवरी, उदाहरणके लिए यह तथ्य कि एडिपसने अपने पिताकी हत्या करके अपनी मातासे विवाह कर लिया), पात्रोंका नैतिक निर्णय (इथॉस) तथा नायककी न्याय-बुद्धि (डायनिया), ऐसे आवश्यक तत्त्व हैं कि किसी भी युगकी पूर्ण-विकसित ट्रैजेडीमें प्राप्त होंगे। कालान्तरमें ट्रैजेडीका एक और भी लक्षण पाया जाने लगा। वह है कार्यकी एकता—अर्थात् घटनाओंका ऐसा संघटन कि एक भी घटनाके हटाने या बदलनेसे सम्पूर्ण घटना क्रम छिन्न-भिन्न एवं क्रमहीन जान पड़े। बादमें चलकर (यूरोपके पुनर्जागरण-कालमें) फ्रांसमें **स्थान** एवं **समय**की एकताओंके सिद्धान्त भी अपनाये जाने लगे, जो कि सम्पूर्ण यूरोपमें मान्य हो गये। कार्यके अतिरिक्त इन दोनों एकताओंकी अरस्तूके काव्यशास्त्रमें चर्चा नहीं है।

ट्रैजी-कामेडीके (जिसमें सुखान्त एवं दुःखान्त, दोनों ही प्रकारकी घटनाएँ मिश्रित होती हैं) उदयके साथ-साथ, अर्थात् स्वच्छन्दतावादी नाटकोंके प्रादुर्भावके पश्चात् इन तीनों एकताओंके सिद्धान्तोंका महत्त्व उठ गया, किन्तु घटनाओंके कार्य कारणका सिद्धान्त अब भी व्यवहृत होता है।

१८वीं शताब्दीके बादसे ट्रैजेडीमें भव्यतावाले सिद्धान्त-में भी परिवर्तन हुआ। इस सिद्धान्तके अनुसार केवल उच्च कोटिके ही पात्र ट्रैजेडीके नायक हो सकते थे, किन्तु १८वीं शताब्दीके बादकी ट्रैजेडीमें सामान्य व्यक्ति भी नायक होने लगे। भव्यताका अर्थ अब कुलीनता, सामाजिक सम्मान, ऐश्वर्य आदि नहीं रह गया, वरन् अब वह आत्मिक एवं बौद्धिक उच्चताके अर्थमें व्यवहृत होने लगा। सामान्य व्यक्तिको यह महत्त्व प्रदान करनेका फल यह हुआ कि सामाजिक यथार्थवादका विकास हुआ और सामाजिक संघर्षवाले ट्रैजेडी नाटकोंका प्रादुर्भाव हुआ।

यथार्थवादी नाटकोंमें कुछ ऐसी भी स्थितियाँ एवं पात्र होते हैं जो वास्तविक अर्थमें दुःखान्त नाटककी सृष्टि नहीं

करते। वे ट्रैजेडी एवं कामेडी (दे०) दोनोंके बीचकी कोटिमें आते हैं। ऐसे नाटकोंको ट्रैजेडीकी अपेक्षा गम्भीर नाटक (सीरियस ड्रामा) कहना ही उपयुक्त होगा, उदाहरणके लिए, 'राकेट टू दि मून' ऐसा ही नाटक है। इस प्रकारके नाटकोंको सामाजिक नाटक (सोशल ड्रामा) तथा समस्या-नाटक (प्राब्लम प्ले) भी कहा गया है।

भिन्न-भिन्न युगोंके दुःखान्त साहित्यमें भिन्न-भिन्न दार्शनिक धारणाएँ मिलती हैं। यूनानी नाटकोंमें हमें नियतिवाद मिलता है। आधुनिक युगमें दुःखान्तकी सृष्टि व्यक्ति तथा समाज एवं उसकी रूढ़ियों, पूर्वाग्रहों, नियमों आदिसे उसके संघर्ष द्वारा की जाती है, उदाहरणके लिए, इब्सनके 'ए डाल्स हाउस', बर्नार्ड शॉके 'सेण्ट जोन' इत्यादिमें। एमिली जोलाने ट्रैजेडीका कारण मनुष्यमें काम-(यौन)वृत्तिका होना बताया है। उसके अनुसार इस काम(यौन)वृत्तिके कारण ही समस्त पाप होते हैं। इस प्रकार नियतिवादवाली प्राचीन धारणाका अभिनवीकरण हो गया है। अब भाग्य और कुछ नहीं, वरन् केवल वृत्ति एवं जन्मगत संस्कार रह गया है।

चेखवने ट्रैजेडीकी दूसरे ढंगसे व्याख्या की है। उसने ट्रैजेडीका कारण मनुष्यकी संघर्षको जन्म देनेवाली इच्छाकी असन्तुष्टि एवं तज्जन्य मानसिक कुण्ठा या घुटनको बताया है। ब्रिउनटियरने अपनी पुस्तक 'दि ला आफ ड्रामा'में ट्रैजेडीकी व्याख्या इस प्रकार की है—'ट्रैजेडी मानवीय इच्छाकी वह शाखा है जो संघर्षको जन्म देती है। मनुष्यका यह संघर्ष रहस्यमय शक्तियों, प्राकृत शक्तियों, नियति, सामाजिक नियमों, समकालीन व्यक्तियों और यहाँतक कि स्वयं अपने विरुद्ध भी हो सकता है।'

बीसवीं शताब्दीमें राष्ट्रीय एवं वर्गीय संघर्षों तथा उनके साथ-साथ बौद्धिक एवं संवेगात्मक संघर्षोंपर श्रेष्ठ नाटकोंकी रचना हुई, किन्तु उनमें अरस्तूके सिद्धान्तके अनुसार घटना-संघटन अथवा कार्यकी प्रधानता बराबर बनी रही। महान् दार्शनिक हीगेलके शब्दोंमें कार्यकी प्रगति, मनुष्यकी इच्छा तथा उसके वातावरण—अर्थात् अन्य मनुष्योंकी इच्छाओं, समाज एवं प्रकृतिकी शक्तियों आदिके बीच होनेवाले सतत संघर्ष द्वारा होती है।

ट्रैजेडीको चार मुख्य प्रकारोंमें विभाजित किया जा सकता है—१ मर्यादावादी या संस्कृत (क्लासिकल), जिसमें कथानक, कथावस्तु, चरित्र, भाषा, आदर्श आदिकी मर्यादापर विशेष बल दिया जाता है, २ स्वच्छन्दतावादी (रोमांसिक), जिसमें मर्यादावादी बन्धनोंका विरोध एवं स्वच्छन्द होनेकी प्रवृत्ति है, ३ मिश्र (मिक्स्ड), जिसमें मर्यादावाद तथा स्वच्छन्दतावादका मिश्रण है। यह स्वच्छन्दतावादकी अतिशय स्वतन्त्रताके विरोधमें उत्पन्न हुई और (४) यथार्थवादी (रियलिस्टिक), जिसमें मर्यादावाद, स्वच्छन्दतावाद तथा मिश्रणवाद—सभी सिद्धान्तोंकी उपेक्षा की गयी तथा सर्वसाधारणके सामान्य जीवनके यथार्थ चित्रणको लक्ष्य माना गया। इसका वर्णन ऊपर हो चुका है। —श्या० मो० श्री०

डायरी—सीमित अर्थमें तो वह कापी, नोटबुक या पुस्तिका है, जिसमें हर रोज दैनिक घटनाओं या दिनभरमें किये गये कार्योंका लेखा रखा जाय, पर प्रचलित अर्थमें डायरी दैनिक व्यापारों-घटनाओंका ब्यौरा है। डायरीमें लोग अपने थोड़े या सब अनुभवों तथा निरीक्षणोंका दैनिक विवरण रखते हैं।

डायरीके माध्यमसे लेखकके सद्य स्फुरित भावों तथा विचारोंको अभिव्यक्ति मिलती है। डायरीके लिए रोजनामचा, दैनिकी, दैनन्दिनी आदि पर्याय हैं और ये पर्याय इस दृष्टिसे सार्थक भी हैं कि वे डायरीके इस प्रमुख गुणकी ओर संकेत करते हैं कि डायरीमें लेखकका अनुभव उसके सबसे अधिक निकट रहकर अंकित होता है। डायरीमें लेखकके मनपर पड़े प्रभाव उसी दिन लिखित रूप पाते हैं। इस प्रकार डायरी लेखकके व्यक्तित्व-प्रकाशनका सर्वाधिक प्रामाणिक माध्यम है। प्रामाणिक इस अर्थमें कि प्रायः डायरियाँ अपने निजी भावों-विचारोंको नोटकर लेनेके उद्देश्यसे लिखी गयी हैं, पुस्तक-प्रकाशनके उद्देश्यसे नहीं। विशुद्ध डायरी सम्भवतः इस दृष्टिसे कभी नहीं लिखी जाती कि कालान्तरमें वह पुस्तकरूपमें प्रकाशित हो सकेगी।

डायरी लेखकके अत्यधिक निकट होती है, इसलिए ऐसा भी सम्भव है कि उसमें कलात्मक तटस्थताका अभाव रह जाय। अतः यह कहा जा सकता है कि डायरी कोई विशेष कलापूर्ण साहित्यरूप नहीं है, पर डायरी अपने मूल अभिप्रायमें कदाचित् साहित्य-रूप है ही नहीं। साहित्यिक दृष्टिसे डायरीमें सम्बद्धता या संगति और शिल्पगत कलात्मकताकी कमी हो सकती है, पर स्पष्टकथन, आत्मीयता और निकटता आदि विशेषताएँ डायरीकी उक्त कमीको पूरा कर देती हैं।

डायरी आत्मकथाका ही एक बदला हुआ रूप है। डायरीमें सामान्यतः ताजे अनुभवोंको लिखा जाता है या सम्भव है कि कभी-कभी बीते हुए अनुभवोंका पुनर्मूल्यांकन कर लिया जाय और दूसरी ओर आत्मकथामें सारे अतीतपर एक अपेक्षाकृत कहीं अधिक परिपक्व और तटस्थदृष्टि डाल सकनेकी सम्भावना रहती है। डायरीमें वैयक्तिकता होती है और जर्नल डायरीकी अपेक्षा किंचित् अधिक विचारप्रधान निर्वैयक्तिक रचना है।

[साहित्य : महादेव भाईकी डायरी (तीन भाग), सं० नरहरि पारीख। बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ, सं० झाबरमल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी गुप्तजीकी १८९७–१९०७ तककी डायरीका कुछ अंश।] —अ० कु०

डिंगल—राजस्थानकी साहित्यिक भाषाओंमेंसे पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ीके साहित्यिक रूपको डिंगल नामसे पुकारा जाता है। मारवाड़ीका यह नाम बहुत प्राचीन नहीं है। इस भाषाके लिए 'डिंगल' नाम क्यों दिया गया इसका कोई ऐतिहासिक या भाषाविषयक लिखित उचित समाधान प्राप्त नहीं होता। इस शब्दका मारवाड़ी भाषाके लिए प्रयोग उपलब्ध प्रमाणोंके आधारपर सर्वप्रथम जोधपुरके कविराज बाँकीदासके सं० १८७१ में लिखित ग्रन्थ 'कुकवि बत्तीसी'में मिलता है। बाँकीदास और उनके वंशज बुधाजीने 'डींगल' नाम दिया है, अतः डींगल ही सही शब्दरूप है। डांगलको 'पिंगल'के आधारपर 'डिंगल' कहा जाने लगा और तबसे

साहित्यजगत्में 'डिंगल' नाम ही प्रचलित हो गया।

डींगल या डिंगल शब्दकी व्युत्पत्ति और अर्थके सम्बन्धमें विद्वानोंने नाना प्रकारकी कल्पनाएँ की हैं, किन्तु उनसे 'डींगल'के अर्थपर कोई भी प्रामाणिक प्रकाश नहीं पड़ता। सर्वप्रथम हरप्रसाद शास्त्री और एल० पी० तेस्सीतोरीने डिंगल भाषा और साहित्यपर विचार किया, किन्तु 'डिंगल' शब्दके अर्थके सम्बन्धमें उनके तर्क काल्पनिक हैं। तेस्सीतोरीने बहुत ही परिश्रमसे डिंगलकी तीन सुन्दर कृतियों वचनिका राठौड़ रतनसिंहजीरी, महेसदासरौतरी, खिड़िया जगारी कही (रचनाकाल, लगभग १६६० ई०) वेलि क्रिसन रुक्मणीरी, राठौड़राज प्रिथीराजरी कही (ई० सोलहवीं शती) और छन्द राउ जइतसी रउ, वीठू सूजइ रउ कहिअउ (सोलहवीं शती ई० लगभग)का सम्पादन कर प्रकाशित कराया। वेलि क्रिसन रुक्मणीरीके आजकल अन्य कई सस्करण प्राप्य हैं। 'ढोला मारूरा दूहा' डिंगल साहित्यका एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशित ग्रन्थ है।

चारण, भाट, राव, मोतीसर आदि राजस्थानके जाति-विशेषके लोगोंने डिंगलमें विशेष रूपसे रचना की है, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि केवल इन्हीं जातियों-ने डिंगलमें साहित्य-सर्जन किया। जिस प्रकार डिंगलकी अपनी भाषाविषयक अलग विशेषता है, उसी प्रकार छन्द, अलकारके सम्बन्धमें भी डिंगलकी अपनी पृथक् परम्पराएँ हैं और काव्यरूपोंके सम्बन्धमें भी डिंगलकी परम्पराएँ प्राय बिलकुल भिन्न हैं। इतिहासविषयक गद्य-पद्यात्मक रचनाएँ ख्यात, वात आदि नामोंके अन्तर्गत मिलती हैं। दूसरी ओर पद्यात्मक काव्यकृतियोंके नाम कहीं चरितनायकों-के नामके अनुसार, कहीं प्रधानप्रयुक्त छन्दके अनुसार रखे गये मिलते हैं। डिंगल काव्यका इस प्रकार अपना स्वतन्त्र और काफी प्रभावशाली साहित्य मिलता है, जिसका सम्यक् अध्ययन अभी प्रारम्भ ही हुआ है। —रा०सिं०तो०

डिम—नाट्यदर्पणकार लिखते हैं 'डिम डिम्बो विप्लव इत्यर्थ, तद्योगादय डिम, डिमे सघातार्थत्वादिति।' इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्रने इस रूपक-प्रकारको दो और नामोंसे पुकारा है, डिम्ब और विद्रोह (काव्यानुशासन पृ० ३२२)। सम्भवत इस रूपकमें विविध प्रकारके विप्लवके कारण इसका नाम आचार्यने डिम्ब और विद्रोह रखा है। डिमका अर्थ समूह भी होता है। भरतमुनिके मतसे इसमें देवता, नाग, राक्षस, यक्ष, पिशाच आदि १६ पात्रोंके परस्पर वैमनस्य एव सघर्षके कारण नाना प्रकारके मायावी तथा ऐन्द्रजालिक क्रिया-कलापोंका प्रदर्शन होता है। सम्भव है, इसी कारण इसका नाम डिम पड़ा हो।

भरतमुनिके लक्षणका अनुसरण करते हुए धनजय, शारदातनय एव विश्वनाथने डिमका लक्षण इस प्रकार किया है—'जिसका इतिवृत्त प्रसिद्ध हो, देव, गन्धर्व, यक्ष राक्षस और महासर्प इत्यादि जिसके नेता हों, भूत, प्रेत, पिशाच इत्यादि १६ अत्यन्त उद्धत पात्र हों, जो माया, इन्द्रजाल, सग्राम, क्रोध और उन्मत्तादिकोंकी चेष्टाओं तथा सूर्य-चन्द्र-ग्रहणके वृत्तसे व्याप्त हो, जिसमें चार अक हों, जो **विष्कम्भक** एव **प्रवेशक**से रहित हो, जिसमें **कैशिकी**को छोड़कर अन्य वृत्तियाँ एव शान्त, हास्य एवं शृंगारको छोड़कर दीप्त छ रस हों, **विमर्श**को छोड़कर चार सन्धियाँ हों।

नाट्यदर्पणकारने इसके विषयमें विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उनका मत है कि डिममें शान्त, हास्य एव शृगार इन तीन रसोंको स्थान नहीं है। डिमका मुख्य अगी रस रौद्र होता है और वीभत्सादि शेष रस अग बनकर आते हैं। सग्राम, बाहुयुद्ध, बलात्कार और पराभव आदिका वर्णन अनिवार्य रूपसे पाया जाता है। सक्षेपमें आचार्य रामचन्द्रने इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—'अशान्त-हास्यशृगारविमर्श ख्यातवस्तुक। रौद्रमुख्यश्चतुरग ऐन्द्रजाल रणो डिम ॥८६॥' (ना०द०, पृ० १२९)। भरतमुनिने 'त्रिपुरदाह' नामक डिमका उल्लेख किया है। भावप्रकाशमें शारदातनयने 'वृत्रोद्धरण' और 'तारकोद्धरण'-का भी उदाहरण दिया है। सागरनन्दीने सोलह नायकयुक्त डिमके लिए 'नरकोद्धरण', विख्यात वस्तुविषयके लिए 'वृत्रोद्धरण'का नामोल्लेख किया है।

भारतेन्दुने हिन्दीमें इस शैलीका अभाव देखकर संक्षेपमें इतना ही लिखा है कि 'इसमें उपद्रव-दर्शन विशेष होता है। अक चार, नायक देवता या दैत्य या अवतार।' बाबू गुलाबरायका मत है कि 'इसके चार अक और सोलह नायक होते हैं। इसमें रौद्र रसका प्राधान्य रहता है। इसके नायक देवता, दैत्य या अवतार होते हैं और जादू तथा माया-जाल रहता है। इसमें शृगार और हास्य वर्जित है।' उनकी दृष्टिमें भी हिन्दीमें डिमका कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है। —द० ओ०

डेन्यूमाँ—यह फ्रांसीसी शब्द है जिसका अर्थ है गाँठ खुलना। पाश्चात्य धारणाके अनुसार नाटकके उस स्थानको डेन्यूमाँ कहते हैं जहाँसे नाटकीय सघर्षका अन्त एव निष्कर्ष-का प्रारम्भ होता है। यह ठीक नाटकके चरम बिन्दुके पश्चात् आता है। सुखान्त एव दु खान्त नाटकोंमें इसके रूप भिन्न होते हैं। सुखान्त नाटकमें बाधाएँ शनै-शनै हटने लगती हैं, कठिनाइयाँ एव भ्रान्तियाँ समाप्त होने लगती हैं तथा नायक एव नायिकाकी मनोकामनाओंकी पूर्तिके साधन उपस्थित होने लगते हैं। दु खान्त नाटकमें डेन्यूमाँ उस स्थलको कहते हैं, जहाँसे नाटककी दुष्ट शक्तियाँ प्रबल होकर स्वच्छन्दतापूर्वक कार्य करने लगती हैं, उन्हें रोक रखनेवाली शक्तियोंका पतन हो जाता है और नाटकका दु खमय अन्त आता है। शेक्सपीयरके 'मैकबेथ' नाटकके तृतीय अंकके प्रथम दृश्यमें फ्लिएन्ससे बचकर भाग निकलने तथा बैंकोंकी प्रेतात्माके प्रकट होनेके पश्चात्से ही मैकबेथके दु खान्त भाग्य-परिवर्तनका प्रारम्भ हो जाता है। अत नाटकका यह स्थल डेन्यूमाँ कहा जायगा। 'ओथेलो'के चतुर्थ अकके प्रथम दृश्यमें जहाँ मूरको अपनी पत्नीकी दुश्चरित्रता-का विश्वास हो जाता है, वहाँसे डेन्यूमाँ प्रारम्भ हो जाता है। इसी प्रकार 'किंग लियर'में जहाँ लियर गोनेरिल और रीगनके दिखावटी व्यवहार तथा कार्डेलियाके प्रकट रूपसे रुक्ष व्यवहारसे भ्रान्त होकर अपना राज्य उन दोनोंको दे देता है तथा कार्डेलियाके भागमें केवल अपना श्रम सुरक्षित रखता है, वहीं नाटकीय चरम बिन्दु आ जाता

है और किंग लियरके भाग्यका निर्णय हो जाता है। इस नाटकका डेन्यूमाँ इसी स्थलपर प्रारम्भ होता है। डेन्यूमाँमें अनिश्चितता, आशंका एवं द्विविधाका शमन हो जाता है और नाटककी कथा एक निश्चित दिशा पाकर अन्तकी ओर बढ़ती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल'में राजा दुष्यन्त द्वारा धीवरसे मुद्रिका-प्राप्तिकी घटना नाटकके सुखद अन्तका निश्चय करा देती है। अतः इसी स्थलको इस नाटकका डेन्यूमाँ समझना चाहिये। —श्या० मो० श्री०

डोम्बी–दे०—'महामुद्रा', 'हठयोग'।

ढकोसला–ढकोसला एक ओर तो सामान्य शब्द है जिसका अर्थ होता है कोई आडम्बर अथवा मिथ्या ढोंग। 'हिन्दी शब्दसागर'में इसकी व्युत्पत्ति ढंग कौशलसे मानी गयी जो भाषा तत्त्वकी दृष्टिसे ठीक नहीं विदित होती। दूसरी ओर लोकसाहित्यका एक विभेद भी ढकोसला कहलाता है। शब्दकोशोंमें इसका उल्लेख नहीं मिलता। फैलनके शब्दकोशमें ढकोसलाके कई अर्थोंमें एक अर्थ 'फेबिल' भी है। उसीमें उदाहरणमें गालिबकी एक पंक्ति दी गयी है। ढकोसलेमें कल्पित कथा-वार्ताका तत्त्व होना चाहिये। लोक-साहित्यमें ढकोसला ऐसी ही लोकोक्ति या वार्ताको कहते हैं जिसके सिर-पैर नहीं दिखाई पड़ते, वे सिर-पैरकी उक्तियाँ। ये वे सिर-पैरकी उक्तियाँ, प्रभाववादी कथन-शैलियाँ हैं, जिनसे तत्कोल अभिप्रेत अर्थ सिद्ध होता है। कमसे कम बढ़ती हुई बात अटक जाती है। ध्यान कहींसे कहीं चला जाता है। ब्रजमें ऐसे ही ढकोसलेका एक रूप है परसोकला जैसे 'भैंसिया चढ़ी पेड़पै लपलप गूलर खाय'।

ऐसे ही बुझौली अथवा पहेलियोंकी तरहके भी ढकोसले होते हैं, इनमें किसी विचित्र स्थितिकी कल्पना करके पहेली जैसी शैलीमें प्रस्तुत कर दिया जाता है। 'पीपर बैठी भैंसि उगारै ऊँट खाट पै सोवै। पीछे फेरिके देखि लुगाई अँगियाये कुत्ता धोवै।' ऐसा ढकोसला अनमिल्ला कहा जाता है। अचका भी इसीके अन्तर्गत आयेगा। 'मेरी परोसिन कूटे धान, भनक परि गई मेरे कान, वाइ परयौ धाननको लालौ, मेरे हाथनु परि गयौ छालो।' —स०

ढाँक–ब्रजप्रदेशमें प्रचलित लोकगीत तथा विधान। किसी व्यक्तिके साँपके द्वारा काटे जानेपर इसका आयोजन किया जाता है। एक व्यक्ति घड़ेपर थाली रखकर काठकी लकड़ीसे उसे बजाता है तथा उपस्थित गायक लोग सम्मिलित स्वरमें नाग देवताको तुष्ट करनेके लिए गीत गाते हैं। ग्रामीणोंका विश्वास है कि इस उपचारसे सर्पका विष खिंच जाता है तथा काटा हुआ व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है।—रा०स्व०च०

ढोला–ढोला राजस्थान, मालवा, ब्रज और उत्तरभारतीय हिन्दी भाषा भाषी क्षेत्रका लोककाव्य है। वर्षाऋतुमें प्रायः 'चिकाड़े'(चिकारा अथवा सारंगीकी आकृतिका एक छोटा तन्तुवाद्य)पर इसे गाया जाता है। ढोलक और मजीरे साथमें बजते हैं। 'झुरैया' नामक दूसरा गायक बीच-बीचमें प्रमुख गायकको विश्राम देनेके लिए सुर भरता है। ढोला-की कथा राजस्थानके 'ढोरा-मारू'पर आधारित है, जिसमें युवा होनेपर ढोला अपनी बाल्पनमें ब्याही पत्नी मरवण-को अनेक कठिनाइयोंके पश्चात् प्राप्त करता है। 'ढोला-मारू रा दूहा' ग्रन्थ नागरीप्रचारिणी सभाने प्रकाशित हुआ है। इसकी रचना अथवा सबसे पुराना स्वरूप ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दीका प्रतीत होता है। छत्तीस-गढ़में प्राप्त ढोलाकी कथामें केवल मारूके गौनेका वर्णन है। इसमें 'रेवा' नामक जादूगरनी ढोलापर मोहित होकर बाधाएँ उपस्थित करती है। कथाके और भी रूप प्राप्त हैं। सन् १८९० ई० में यह कथा दो बार लिपिबद्ध की गयी। आर्क्योलॉजिकल सर्वे रिपोर्टके अनुसार ढोलाकी कथा पौराणिक नल और दमयन्तीसे जोड़ी गयी है। छत्तीसगढ़की दूसरी कथाओंमें ढोलाको 'दूल्हन' कहा है, जिसका विवाह बचपनमें गढ़पिंगलाकी राजकुमारी मरवणसे हुआ था। राजकुमारीने युवा होनेपर ढोलाके पास कई सन्देश भेजे, पर अपनी दो रानियोंके प्रेममें फँसा हुआ ढोला उन्हें प्राप्त नहीं कर सका। अन्तमें सन्देश प्राप्त होनेपर वह अन्धी ऊँटनीपर सवार होकर मरवणके पास पहुँचता है और उसे प्राप्त करता है। एक कथामें मारू तोतेके हाथ ढोलाको सन्देश भेजती है। रेवा कहीं-कहीं मालिन भी घोषित की गयी है। ब्रजमें प्रचलित ढोला 'दूलह' या 'दुर्लभ'से बना प्रतीत होता है। स्त्रियोंमें गाये जानेवाले 'ढोला' 'डोलना' क्रियासे सम्बन्धित गीत हैं, जो मार्गमें चलते समय गाये जाते हैं। अपनी विशेष प्रसिद्धिके कारण 'ढोला' राजस्थान और मालवामें प्रियतमका पर्याय बन गया है। ढोला गानेवाले बहुत कम मिलते हैं। उन्हें 'ढुलैया कहा जाता है। कालान्तरमें ढोलाकी कथाके कई रूपान्तर बन गये। गोरख सम्प्रदाय और शाक्तोंका प्रभाव इस कथापर स्पष्ट है। [द्रष्टव्य ढोला मारूरा दूहा (ना० प्र० स०), दी स्टोरी ओफ ढोला, पृ० ३७१, लोक साग्ज ऑफ छत्तीसगढ़ (एलविन), छत्तीसगढ़ी लोकगीतोंका परिचय (दुबे), ब्रजलोक साहित्यका अध्ययन, पृ० ३५७ तथा ढोला राह चिकाड़ेमें (गजाधर सिंह भूदेव) एवं नलचरित्र ढोला (छेदालाल करकौली)]। —श्या० प०

ढोला-मारू–ढोला-मारूकी कथा राजस्थानकी अत्यन्त प्रसिद्ध लोकगाथा है। इस प्रेमगाथामें मानव-हृदयके कोमल मनोभावों तथा बाह्य प्रकृतिके बड़े ही मनोहर चित्र अंकित किये गये हैं। इस गाथाकी लोकप्रियताका अनुमान निम्नलिखित दोहेसे लगाया जा सकता है, जो राजस्थानमें अत्यन्त प्रचलित है—'सोरठियो दूहो भलो, भलि मरवणरी बात। जोबन छाई धण भली, तारों छाई रात॥' हेमचन्द्रके प्राकृत व्याकरणमें जो अपभ्रंशके उदाहरण दिये गये हैं उनमें ढोला शब्द आया है, वहाँ ढोलासे आशय नायकका है। ढोला नाम नायकका क्यों पड़ा यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। बहुत सम्भव है, इस लोकगाथाके नायककी सुप्रसिद्धिके कारण ही नायककी संज्ञा ढोला हो गयी हो।

ढोला-मारूकी गाथा ऐतिहासिक आधारपर प्रतिष्ठित है। ढोला कछवाहा वंशके राजा नलका पुत्र था। मारवणी पूगलके राजा पिंगलकी कन्या थी। दोनोंका विवाह ऐतिहासिक घटना है। राजस्थानके सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखक मुँहणोत नैणसीकी ख्यातमें ढोलाके मारवणी और मालवणी दो स्त्रियोंके होनेका उल्लेख पाया जाता है। एक बार पूगल देशमें अकाल पड़ा। राजा पिंगल सपरिवार

नलके देशमे चला आया। नलके पुत्र ढोलाको—जिसका दूसरा नाम साल्ह कुमार भी था—देखकर पिंगलकी रानी रीझ गयी। उसने आग्रह करके अपनी कन्या मारवणीका विवाह ढोलाके साथ करवा दिया। इन्हीं ढोला और मारवणीके प्रेमका वर्णन वडी ही सुन्दर रीतिसे इस गाथामें किया गया है।

विद्वानोंने राजा नलका समय सवत् ९५० और १००० वि० के बीच माना है। अतएव ढोला-मारूकी कथा १००० वर्ष पुरानी है। जैसी कि लोककथाओंकी विशेषता होती है, वैसे ही इस गाथामें भी समय-समयपर परिवर्तन होते गये हैं। जैसलमेरके रावल हरिराजके आश्रित जैनकवि कुशललाभने, जिनका समय १५६१ ई० के आसपास है—दूहोंमें प्रचलित इस गाथाके छिन्न-भिन्न कथासूत्रोंको मिलानेके लिए चौपाइयोंकी रचना की। आजकल ढोला-मारू काव्यके चार रूपान्तर उपलब्ध होते हैं—१ जिसमें केवल दूहें हों और जो प्राचीन है, २ जिसमें दूहे और कुशललाभकी चौपाइयाँ हैं, ३ जिसमें दूहे और गद्य-वार्ता है और ४ जिसमें दूहे, कुशललाभकी कुछ चौपाइयाँ और गद्यवार्ता है। नरोत्तमदास स्वामी और उनके मित्रोंने इन प्राचीन दूहोंका सुन्दर सम्पादन कर विद्वत्तापूर्ण भूमिकाके साथ 'ढोला मारूरा दूहा'के नामसे काशी नागरीप्रचारिणी सभासे प्रकाशित किया है।

'ढोलामारूरा दूहा'मे प्रेमका वडा ही मनोरम दृश्य दिखलाया गया है। मारवणीका सन्देश, मालवणीका विरह वर्णन, प्रकृतिका सजीव चित्रण आदि इस ग्रन्थके कतिपय रमणीय प्रसग हैं जो पाठकोंके चित्तको आकर्षित कर लेते हैं। लोककविने राजस्थानके विशेष पशु—ऊँट—करहाका भी वर्णन किया है। वह राजस्थानकी बालुकामयी भूमि और उसकी पैदावारका चित्रण करना भी नहीं भूलता। इस प्रकार प्रस्तुत लोकगाथाको राजस्थानकी प्रतिनिधि-गाथा कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। ढोला-मारूकी गाथा मध्यप्रदेश तथा उत्तरप्रदेशमें भी प्रचलित है। भोजपुरी लोकगाथामें ढोलाने ढोलनका रूप धारण कर लिया है। प्राचीनता तथा काव्यत्वकी दृष्टिसे वर्तमान गाथा अद्वितीय है। —कृ० दे० उ०

तत्त्वाभिनिवेशी–दे० 'भावक'।

तथता–दे०—'विज्ञानवाद'।

तद्गुण–लोकन्याय-मूल अर्थालकार, जिसमें प्रस्तुत अपने गुणको त्यागकर समीपस्थ अन्य वस्तु(अप्रस्तुत)के संसर्गसे उत्कृष्ट गुणके ग्रहणका वर्णन होता है। जहाँ अपना गुण त्यागकर समीपस्थ अन्य वस्तुके गुणग्रहणका वर्णन हो, वहाँ 'तद्गुण' अलकार होता है। 'तद्गुण'से अभिप्राय है 'किसी वस्तुमें अन्य वस्तुका गुण होना।' 'गुण' शब्दका अभिप्राय यहाँ रग और रूप लिया गया है। सर्वप्रथम यह अलंकार रुद्रटके 'काव्यालकार'में अतिशय वर्गके अन्तर्गत स्वीकृत हुआ है। मम्मटके शब्दोंमें 'तद्गुण' अलकारकी परिभाषा ऊपर दी गयी है–'स्वमुत्सृज्य गुण योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत्। वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुण।' (का०प्र० १० १३७)। हिन्दीमें इसको सर्वप्रथम जसवन्त सिंहने अपने 'भाषाभूषण'में 'कुवलयानन्द'के प्रभावसे लिया है। मतिरामने 'जहाँ आपनो रग तजि लेत और-को रग' (रसराज ३३१) कहा है, पर यह परिभाषा स्पष्ट नहीं है। कुलपति मिश्रने प्रस्तुत अलकारकी परिभाषा अपने 'रसरहस्य'में अधिक स्पष्ट दी है—'अधिक और गुण जोगतें, निज तजि औरहि लेइ। सोई तद्गुन जानिये, ताको गुण कहि देइ।' भिखारीदासकी परिभाषा कुछ भिन्न है—'तद्गुन तजि गुन आपनो, सगतिको गुन लेत। पाये पूरवरूप फिरि, स्वगुन सुमति कहि देत।' (का०नि० १४)। स्पष्टत दूसरेका गुण ग्रहण करनेके बाद जहाँ फिर अपना गुण ग्रहण किया जाता है, वहाँ भी 'तद्गुण' अलकार होता है। कन्हैयालाल पोद्दारने भी इस स्थितिमें 'तद्गुण' अल्कारकी स्थिति मानी है। किन्तु अप्पय्य दीक्षितने अपने 'कुवलयानन्द'में ऐसी स्थितिमें पूर्वरूप अलकार माना है (दे०–'पूर्वरूप')। भूषणकी तद्गुणकी परिभाषा स्पष्ट नहीं है—'जहाँ आपनो रग तजि, गहै औरको रग।' (शि०भू० २२८)।

विहारीका तद्गुणका यह प्रसिद्ध उदाहरण है–'अधर धरत हरिकैं परत, ओठ डीठि-पट-जोति। हरित बाँसकी बाँसुरी, इन्द्र-धनुष-रँग होति।' (सतसई ४२०)। मैथिलीशरण गुप्तके इस प्रयोगमें भ्रान्तिका आधार तद्गुण है—'नाकका मोती अधरकी कान्ति से। बीज दाड़िमका समझकर भ्रान्तिसे।' (साकेत)।

हिन्दी काव्यशास्त्रमें इस अलकारका शास्त्रीय विश्लेषण ऊपर निर्दिष्ट रीतिकालीन आचार्योंके अतिरिक्त चिन्तामणि, सोमनाथ आदिने और किया है। प्राय उदाहरणोंमें परम्परागत मालाओं तथा हारोंके रगपरिवर्तनका वर्णन है। भूषणके उदाहरण—'महत उतंग मनि जोतिनके सग आति, कैयो रग चकहा गहत रवि रथके।' (शि० भू० २८९)में भी 'शिशुपालवध'के रैवतक-वर्णनकी छाया है। तुलसी, रहीम तथा विहारीमें इसके काव्यमय प्रयोग मिल जाते हे। आधुनिक छायावादी कवियोंमें इसका प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है। पन्तकी इस पक्तिमें—'यह ऊषाका नव विकास है, जो रजको है रजत बनाता'में तद्गुणका प्रयोग है। —वि० स्ना०

तनुजा सेवा–दे०—'सेवा'।

तपन–दे०—'स्वभावज अलकार' बारहवाँ।

तमिल (भाषा तथा साहित्य)–तमिल भाषा द्राविड भाषा-परिवारकी प्राचीनतम भाषा मानी जाती है। इसकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अभीतक यह निर्णय नहीं हो सका है कि किस समय इस भाषाका प्रारम्भ हुआ। विश्वके विद्वानोंने सस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओंके समान तमिलको भी अति प्राचीन तथा सम्पन्न भाषा माना है। अन्य भाषाओंकी अपेक्षा तमिलकी विशेषता यह है कि यह अति प्राचीन भाषा होकर भी लगभग २५०० वर्षोंसे अविरत रूपसे आजतक जीवनके सभी क्षेत्रोंमें व्यवहृत है। इस भाषाके उपलब्ध ग्रन्थोंके आधारपर यह निर्विवाद निर्णय हो चुका है कि तमिल भाषा ईसासे कई सौ वर्ष पूर्व ही सुसंस्कृत एव सुव्यवस्थित हो गयी थी।

इस भाषाके नामको 'तमिल' या 'तामिल'के रूपमें हिन्दी भाषा-भाषी उच्चारण करते हैं। तमिल भाषाके साहित्य

तथा निघण्टुमें 'तमिल' शब्दका प्रयोग मधुर अर्थमें हुआ है। कुछ विद्वानोंने संस्कृत भाषाके द्राविट शब्दसे तमिल शब्दकी उत्पत्ति मानकर द्राविट > द्रविड > द्रमिड > द्रमिल > दमिल > तमिल आदि रूप दिखाकर तमिलकी उत्पत्ति सिद्ध की है, किन्तु तमिलके अधिकांश विद्वान् इस विचार-से सर्वथा असहमत हैं।

भाषाके प्रथम नामकरणकी तिथिपर विचार करनेके लिए हमारे पास तमिलका प्रामाणिक ग्रन्थ 'तोलाप्पियन्' नामक व्याकरण है। तमिल भाषा-साहित्यके विकासमें आधारभूत तीन कविसंघोंका विवरण तमिल वाङ्मयमें उपलब्ध होता है। 'तोलगाप्पियम्' द्वितीय कविसंघकालका ग्रन्थ है। विद्वानोंने इसे पाणिनि(४०० ई० पू०)से पूर्वका माना है। इस ग्रन्थमें पूर्ववर्ती ग्रन्थ-लेखकोंका भी उल्लेख है। इस ग्रन्थमें तमिल पदका प्रयोग हुआ है। अतः इस प्रमाणके आधारपर तमिल भाषाको कहनेवाला यह तमिल पद पाणिनिके व्याकरण 'अष्टाध्यायी'से भी पूर्वका है।

भाषामूलक प्रान्तोंके वर्गीकरणसे तमिलप्रदेश आज अत्यन्त सङ्कुचित हो गया है। तमिलके सर्वप्राचीन ग्रन्थ 'तोलाप्पियम्'में तमिलप्रदेशकी सीमा उत्तरमें तिरुपति तथा दक्षिणमें कुमरी मानी गयी है। कुमरीसे अभिप्राय आजकलकी कन्याकुमारीसे नहीं है। पुरातनकालमें कुमरी नामक नदी थी। उस समय कुमरी तथा पहली नदीके मध्य तमिलके ४९ देश विद्यमान थे। समय-समयपर हुए सागर-प्रलयमें तमिलका सारा विशाल भूभाग तथा वे देश विलीन हो गये हैं। किस प्रकार तमिलप्रदेश नष्ट हुआ, इसका विवरण तमिलके प्रमुख एवं प्राचीन महाकाव्य 'शिलप्पदि-कारन्'की टीकासे जाना जाता है। तमिल भाषाके तुलनात्मक व्याकरण लिखनेवाले काल्डवेलने अपने ग्रन्थमें लिखा है कि तमिलप्रदेशकी सीमा समस्त कर्नाटक, पूर्व और पश्चिम-घाटके नीचे पालघाटसे लगाकर कुमारी अन्तरीप तथा उत्तरमें बंगोपसागरके उपकूलतक है। उन्होंने तमिलप्रदेशका क्षेत्रफल ६०००९ वर्गमील माना है। कुछ अन्य विद्वानोंके अनुसार ईसासे अनेक शताब्दियोंसे पूर्व तमिलभाषी प्रदेश पूर्वमें जावा द्वीपसमूहसे लेकर दक्षिण-पश्चिममें अफ्रीकातक विस्तृत था। आजकी गणनाके अनुसार तमिलप्रदेशके १२ जिलोंमें तथा लंकामें तमिल जन-भाषा है। आज संसारमें इस भाषाके बोलनेवालोंकी संख्या लगभग तीन करोड है।

भाषाओंके समान तमिल लिपिका भी विद्वानोंने अध्ययन कर निर्णय किया है। कुछ विद्वान् भारतकी सभी लिपियों-का सम्बन्ध ब्राह्मी लिपिसे ही जोड़ते हैं, जो नागरी लिपिका आधार है। तमिलके महान् विद्वान् राघवय्यगारका मत है कि तमिलकी आदिम लिपिका सम्बन्ध प्राचीन मिस्री लिपिसे है।

भारतीय भाषाओंमें तमिल ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जिसकी वर्णमाला अन्य भाषाओंकी वर्णमालाकी अपेक्षा अति न्यून है। इस भाषामें १२ स्वर १८ व्यंजन तथा एक विसर्ग सदृश अर्धस्वर है।

पाण्डिय राजाओंके संरक्षणमें तमिलसाहित्यका संवर्धन हुआ, इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। 'इरैयनारकल-विचलुरै' नामक ग्रन्थमें तमिल कविसंघोंका जो विवरण दिया गया है, उसका सारांश यहाँ देना उचित होगा। इस ग्रन्थके अनुसार प्रथम कविसंघ ई० पू० ९९५० से ई० पू० ५५५० तक अर्थात् ४४०० वर्षतक काव्य-निर्माणके कामकी देखभाल करता रहा। इस कविसंघके सदस्य ८९ कवि थे। इस संघका प्रधान ग्रन्थ 'अगत्तियम्' नामक व्याकरण है जो सम्प्रति अप्राप्य है। यह ग्रन्थ १२,००० सूत्रोंमें निर्मित तमिल भाषाका आलोचनात्मक ग्रन्थ माना गया है। इस कालमें 'परिपाटल', 'मुदुनारै', 'मुदुगुरुकु' तथा 'कलवियलरै' आदि ग्रन्थ थे। सामुद्रिक प्रलय होनेके कारण पाण्ड्योंकी राजधानी दक्षिण मदुरा सागरमग्न हो गयी। तदनन्तर कपाटपुरन् नामक स्थानपर पाण्डियोंने अपनी राजधानी निर्माण कर द्वितीय कविसंघकी स्थापना की। इस संघके सदस्य ५९ थे। यह संघ लगभग ३७०० वर्षतक साहित्य-निर्माणका कार्य करता रहा। ई० पू० १८५० में इस संघकी भी समाप्ति हो गयी। समाप्तिका कारण सागरकी उथल-पुथल ही है। द्वितीय संघकालमें 'तोलगाप्पियन्', 'महापुराणा', 'इसैनुणुक्कम्' तथा 'भूतपुराणम्' आदि हैं।

अन्तमें वर्तमान मदुरामें तृतीय कविसंघकी स्थापना हुई। इसमें नक्कीरर आदि ४९ कवि सदस्य थे। यह संघ-१८५० वर्षतक रहा। पश्चात् किन्हीं अज्ञात कारणोंसे इस कविसंघका विघटन हुआ। प्रथम और द्वितीय कविसंघोंके दीर्घकाल तथा विवरणोंके बारेमें कुछ लोग सन्देह करते हैं। उन दोनों कविसंघोंके ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं। सम्प्रति विद्यमान ग्रन्थ तृतीय कविसंघके हैं। अतः तृतीय कविसंघके सम्बन्धमें विद्वान् लोगोंकी आस्था बनी हुई है। इस आस्थाका कारण मदुरा नगरमें आज भी प्राप्त होनेवाली ऐतिहासिक सामग्री है। तृतीय कविसंघके साहित्यमें वर्णित मन्दिर तथा मूर्तियोंका प्राप्त होना तृतीय कविसंघकी सत्ताको प्रमाणित करता है।

आजतकके प्राप्त तमिलसाहित्यको तमिलके विद्वानोंने अध्ययन कर विभिन्न कालोंमें विभाजित किया है। इस काल-विभाजनके आधारपर पाठक तमिलसाहित्यके क्रमिक विकासको समझ सकते हैं। कालोंका विभाजन इस प्रकार है—संघपूर्वकाल, संघकाल, संघोत्तरकाल, भक्तिकाल, कम्बनकाल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल।

सागर-प्रलयका उल्लेख पूर्व ही किया गया है। सागर-प्रलयके कारण प्रथम तथा द्वितीय कविसंघका साहित्य विलुप्त हो गया है। सम्प्रति द्वितीय कविसंघका ग्रन्थ सिर्फ 'तोलगाप्पियन्' तथा तृतीय कविसंघके ग्रन्थ ही हमें उपलब्ध होते हैं। इन्हीं ग्रन्थोंको तमिल भाषामें संघसाहित्य-के नामसे पुकारा जाता है। इन्हीं ग्रन्थोंके अध्ययनके द्वारा पुरातन तमिल जातिके प्राकृतिक जीवन तथा संस्कृतिका ज्ञान होता है।

द्वितीय कविसंघका एकमात्र ग्रन्थ 'तोलगाप्पियन्' लक्षणग्रन्थ है। इसके लेखक अगस्त्यके शिष्य तोलगाप्पियर हैं। तोलगाप्पियम् पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी'के सदृश अद्भुत रचना है। यह ग्रन्थ ऐन्द्र व्याकरणसे प्रभावित है।

संघकालके प्रमुख काव्यग्रन्थ-संग्रहोंके नाम एट्टुत्तोगै

(आठ संग्रह), पत्तुपाट्टु (दस कविताएँ) और पदिनेण्कील्कणक्कु (अठारह लघुकविता-संग्रह) हैं। ये सभी ग्रन्थ लम्बी-लम्बी कविताओंके संग्रह हैं। इन ग्रन्थोंमें श्रृंगार रस तथा वीर रसके भावात्मक पद्योंका संग्रह है। प्राकृतिक वर्णन तमिल कविताओंका विशेष विषय है। इन ग्रन्थोंके अध्ययनसे प्राचीन तमिल समाज, तमिल राष्ट्र, तत्कालीन चेर, चोल, पाण्डिय राजाओंका विवरण, उनकी राजनीति, धर्म, युद्ध तथा आर्थिक दशाका विशद परिचय मिलता है। इन्हीं ग्रन्थोंमें जगत्प्रसिद्ध 'तिरुक्कुरल' नामक ग्रन्थ भी है। इसमें धर्म, अर्थ तथा कामकी बहुत सुन्दर एवं सजीव व्याख्या की गयी है। भारत या संसारकी किसी भी भाषामें धर्मार्थकामकी इतनी सरल, सुन्दर एवं संक्षेपमें व्याख्या नहीं मिलती। इस ग्रन्थका लेखक सन्त तिरुवल्लुवर है। इस ग्रन्थमें कबीर या बिहारीके दोहोंके समान छोटे-छोटे भावपूर्ण १३३० दोहे हैं। 'गागरमें सागर भरना' यह उक्ति इस ग्रन्थके लिए सर्वथा चरितार्थ होती है।

तमिल भाषाके इस सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थके लेखककी जन्मभूमि, कुल तथा वैयक्तिक धर्मके सम्बन्धमें निरन्तर अनुसन्धान होता आ रहा है। आजतक यह निर्णय न हो सका कि ये किस धर्मके अनुयायी थे। शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन और ईसाई सन्त वल्लुवरको अपने ही धर्मका अनुयायी सिद्ध करनेके लिए सतत प्रयत्न करते हैं और 'तिरुक्कुरल'को ही अपनी बातकी पुष्टिके लिए प्रमाणरूपमें उद्धृत करते हैं। 'कुरल' संस्कृत भाषामें 'सुनीतिकुसुममाला'के नामसे अनूदित हो गया है। संसारकी विभिन्न भाषाओंमें अँग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, लेटिन, हिन्दी, कन्नड, मलयालम, बँगला आदि भाषाओंमें भी इसका अनुवाद हो चुका है। हिन्दीमें इसका अनुवाद तमिलवेदके नामसे प्रकाशित है।

संघोत्तरकालमें महाकाव्योंकी रचना हुई। तृतीय संघके अन्तिम कालमें उत्तरापथसे वैदिक, बौद्ध और जैन-धर्मावलम्बी दक्षिणापथ आकर अपने अपने धर्मका प्रचार करने लगे। इस युगमें ही संस्कृत और पाली भाषाका प्रचार हुआ। इसी समय इन भाषाओंका तमिलके साथ सम्मिश्रण हुआ। इस युगमें पाँच सर्वश्रेष्ठ महाकाव्योंकी रचना हुई। ये हैं— १ शिलप्पदिकारम्, २ मणिमेकलै, ३ जीवकचिन्तामणि, ४ वलयापदि, ५ कुण्डलकेशि।

संघोत्तरकालमें महाकाव्यकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति हुई। इसी कालमें शैव, बौद्ध, जैन तथा आजीवक धर्मावलम्बियोंका महान् धार्मिक संघर्ष हुआ। इस समय विभिन्न धर्म और आदर्शोंका प्रचार भी हुआ। अन्तमें तमिलप्रदेशका पुरातन शैव धर्म विजयी हुआ। लगभग ई० सन् ६०० में समस्त दक्षिणभारतमें शैव धर्मका व्यापक प्रचार हुआ। इसी समय वैष्णव धर्मका भी प्रचार धीरे-धीरे होने लगा। शैव नायन्मार और वैष्णव आलवार सारे देशमें पद-यात्रा कर धर्म तथा भक्तिका प्रचार करने लगे। इस प्रकार भक्तिका युग प्रारम्भ हुआ और शैव एवं वैष्णव धर्म-सम्बन्धी भक्ति-गान और काव्योंकी रचना विपुल मात्रामें हुई।

भक्तिधाराको प्रभावित करनेवाले बारह आलवार हैं। इन लोगोंने भी शैव सन्तोंके समान सारे देशमें भ्रमण कर वैष्णव धर्म और भक्तिका प्रचार किया। इनकी रचनाओंको 'नालायिरदिव्यप्रबन्धम्' (४००० पद्य) कहा जाता है। इन आलवारोंमें सभी जातिमें उत्पन्न सन्त थे।

इन आलवारोंके गेय पदोंका आजतक मन्दिरोंमें वेदोंके समान पारायण किया जाता है। इन्हीं आलवारोंमें प्रसिद्ध आण्डाल एक भक्तिन हुई है। यह भगवान्के प्रेममें मस्त होकर गीत गाती थी। इसका विवाह पश्चात् भगवान् विष्णुसे हुआ है। इनके भक्ति-पूर्ण पद्य हिन्दीकी प्रसिद्ध कवयित्री मीराँके सदृश हैं। आण्डालके गीतोंका संग्रह 'तिरुप्पावै' तथा 'नाच्चियार तिरुमोलि'के नामसे विख्यात है।

भक्तिकालीन शैव-वैष्णव सन्त कवियोंने तमिलसाहित्यकी सुरसरितामें वह गति उत्पन्न की, जिससे पुन कवियोंकी प्रवृत्ति प्रबन्ध-काव्य रचनाकी ओर झुकी। इसीका परिणाम है कि भक्तिकालके अन्तमें अनेक प्रबन्धकाव्योंकी रचना हुई। इस कालको विद्वानोंने प्रबन्ध-कालके नामसे कहा है। इसी युगमें 'पेरियपुराण', 'कम्बरामायण' तथा 'नलवेन्बा' आदि प्रबन्ध-काव्योंकी रचना हुई है। इस कालके प्रमुख कवि कम्बन हैं। कुछ लोगोंने प्रबन्धकालको कम्बनके नामसे 'कम्बनकाल' भी माना है।

कम्बन (१२वीं शती)की रामायण वृत्तम् नामक छन्दमें १२ हजार पद्योंमें निर्मित है। यह ग्रन्थ प्रबन्ध-काव्य होकर भी नाटकीय अङ्गोंसे पूरित है। अत इसे विद्वान् लोग दृश्य-काव्य भी मानते हैं। तमिल काव्य-परम्पराकी चरमोत्कर्षता कम्बनकी रामायणमें पायी जाती है।

१३वीं शतीके पश्चात् लगभग २०० वर्षतकका काल टीका-काल समझा जाता है। इस युगमें नवीन काव्योंकी रचना न होकर संघकालीन तथा भक्तिकालीन ग्रन्थोंकी टीकाएँ लिखी हुई हैं। इसी समयसे तमिल भाषामें गद्यका युग प्रारम्भ होता है। प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ 'तोलगाप्पियम्'पर 'इलपूरणम्' नामक टीका इसी युगमें बनी है। 'तिरुक्कुरल'की प्रामाणिक टीका इस युगकी प्रसिद्ध कृति समझी जाती है। इस टीकाका लेखक प्रसिद्ध भाष्यकार परिमेललगर है। टीका-कार्योंमें नच्चिनार्किनियार अतीव प्रसिद्ध सर्वश्रेष्ठ टीकाकार समझे जाते हैं। इन्होंने तमिलके प्रसिद्ध काव्योंपर टीका लिखी है। इनकी टीका व्याकरण-ग्रन्थपर भी मिलती है।

अठारहवीं शतीमें दक्षिणापथमें पाश्चात्योंका आगमन तथा ईसाई धर्मका प्रचार होने लगा। धर्म-प्रचारके लिए ईसाई पादरियोंने तमिलका व्यवस्थित अध्ययन किया। यह काल तमिल गद्यका विकास-काल माना जाता है। ईसाइयोंने तमिल सिखानेके लिए उपयोगी पाठ्य-पुस्तक तथा सरल व्याकरण-ग्रन्थोंका निर्माण किया है। काल्डवेलने द्राविड़भाषाओंका तुलनात्मक व्याकरण लिखा। जी० यू० पोपने 'तिरुक्कुरल', 'नालडियार' तथा 'तिरुवाचगम्'का अँग्रेजी अनुवाद किया है। इनका सरल व्याकरण बहुत ही प्रसिद्ध है और अबतक उसका ७०वाँ संस्करण निकल चुका है। तमिलके प्रसिद्ध लेखक देवनायकम् पिलैने, जो पहिले हिन्दू थे, ईसाई होकर, ईसाई धर्मका प्रचार करते हुए, तमिल भाषामें भी अनेक अच्छे ग्रन्थोंका निर्माण किया है।

'सर्वसमरसकीर्तन', नीतिनूल', तथा 'पेणमणिमालै' आदि ग्रन्थ इनके प्रसिद्ध हैं। ईसाइयोंकी तमिल-सेवा सदा स्मरणीय रहेगी। इन्हीं लोगोंने तमिल भाषामें सरल व्याकरण तथा कोशोंका निर्माण प्रारम्भ किया है। प्रसिद्ध ईसाई सन्त वीरमामुनि(फादर बैस्की)ने तमिल भाषामें 'तेम्बावाणी' नामक काव्य महात्मा ईसाके बारेमें बनाया। इनका हास्य रससे पूर्ण 'परिमार्थ गुरुकदै' व्यंग्यप्रधान ग्रन्थ है। इसी प्रकार इस युगमें मुसलमानोंने भी तमिलमें कविता और गद्य लिखकर तमिल भाषाका पोषण किया है। मुसलमान लेखकोंमें मुहम्मद इब्राहीम, मुहम्मद हुसैन, नायिनार, मस्तान साहिब, गुलाब कादिर आदि उल्लेखनीय व्यक्ति हैं।

१९वीं शतीके प्रसिद्ध गद्य-लेखक आरुमुगनावलर हैं। इस युगमें नाटक, गद्य, उपन्यास, कहानी तथा गीतोंका विस्तार हुआ। संस्कृतके ग्रन्थ 'मेघदूत', 'कादम्बरी', 'गीता', 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश', उपनिषद्, 'रामायण' तथा 'महाभारत' आदि ग्रन्थोंका अनुवाद हुआ। इस कालके प्रसिद्ध लेखकोंमें नागनाद पण्डितर, दामोदरम् पिल्लै, मीनाक्षीसुन्दरम् आदि हैं। मीनाक्षीसुन्दरम् पिल्लैने अनेक लघु-काव्योंकी रचना की। ये प्रकाण्ड पण्डित एवं कुशल अध्यापक थे। इन्हींकी शिष्य-परम्परामें दाक्षिणात्य कलानिधि उ० वे० स्वामीनाथ अय्यर हैं, जिन्होंने तमिलके ग्रन्थोंका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है। इस युगका ग्रन्थ 'नन्दनचरित्र' लोकगीतकी दृष्टिसे सुप्रसिद्ध है। इसके लेखक गोपालकृष्ण भारतीय हैं।

२०वीं शतीमें समस्त दक्षिणपर अँग्रेजीका महान् प्रभाव हो गया। इससे मातृभाषाका प्रभाव घटा। अँग्रेजीका प्रभाव भारतकी सभी भाषाओंपर हुआ। तमिल भी इससे मुक्त न रह सकी। अँग्रेजीके सम्पर्कके कारण तमिल भाषाके लेखकोंका चिन्तन विभिन्न क्षेत्रोंमें हुआ। अँग्रेजीसे प्रभावित होकर साहित्यकी सभी शाखाओंमें विकास होने लगा। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना तथा पत्र-पत्रिकाओंकी वृद्धि इस युगकी विशेष बात है। भाषामें नवीन शैलीका सूत्रपात हुआ। इस युगमें ग्रन्थ-सम्पादनकी कलाका भी विकास हुआ है। पुराने महाकाव्य और उनपर लिखे गये टीका-ग्रन्थोंका सम्पादन इसी युगमें हुआ। इस कार्यमें तमिलका गौरव बढ़ा और पाठकोंको तमिल काव्य-ग्रन्थ सुलभतासे प्राप्त हुए। तमिल भाषामें महाकाव्य, प्रबन्धकाव्य, लघुकाव्य तथा गीतकाव्य पर्याप्त मात्रामें हैं, लेकिन आधुनिक ढंगके नाटक नहीं थे। प्राचीन ग्रन्थोंमें नाटक तथा नाटकके लक्षण-ग्रन्थोंका विवरण मिलता है, किन्तु वे सब ग्रन्थ कालकवलित हो जानेसे सम्प्रति अप्राप्य हैं। नाटकोंके अभावको दूर करनेके लिए तिरुवनन्तपुरम् महाराजा कालेजके दर्शनाध्यापक सुन्दरम् पिल्लैने 'मनोन्मणीयम्' नामक काव्यनाटककी रचना की। इनके पश्चात् सूर्यनारायण शास्त्रीने शेक्सपीयरकी शैलीका अनुकरण करके 'मानविजय', 'कलावती', 'रूपवती' तथा नाटकका लक्षण-ग्रन्थ लिखा। इसके पश्चात् अनेक लेखकोंने नाटक लिखे। नाटक-कम्पनियोंके अत्यधिक प्रचार होनेपर भी तमिल भाषामें उच्च स्तरके नाटकोंका अभाव ही है। नाटककी कमीको पूरा करनेवाले सम्बन्ध मुदलियार हैं। इन्होंने तमिल और संस्कृतके काव्य-ग्रन्थोंके आधारपर लगभग ८० नाटक लिखे हैं। ये स्वयं सुन्दर अभिनेता हैं। इनके नाटक तमिलप्रदेशमें व्यापक रूपसे पढ़े तथा खेले जाते हैं।

इस युगके अमर कवि सुब्रह्मण्यभारती हैं। इन्होंने जयशंकर 'प्रसाद'के समान अनेक विषयोंपर रचना की है। ये राष्ट्रीय कवि माने जाते हैं। इन्होंने क्रान्तिकारी कविताओंके द्वारा देशमें स्वातन्त्र्यभावका जागरण किया है। महात्मा गान्धीके स्वदेशी आन्दोलनको जनताके कानतक पहुँचानेमें इनकी कविताओंने बहुत काम किया। इस कविका तमिलके आबालवृद्धपर महान् प्रभाव देखा जाता है। इनकी भाषा सरल तथा भाव उच्च है। ये ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न होकर भी परम सुधारवादी थे, निर्धनतासे पीड़ित होकर भी अत्यन्त उदार हृदयके थे। करुणा और क्रान्ति इनके जीवनमें साक्षात् दृष्टिगोचर होती है। भारतीने साधारण बोल-चालकी भाषामें समयानुकूल रचना करके सारे देशमें क्रान्ति मचा दी।

इस युगमें तमिल भाषामें उपन्यास तथा कहानियोंका आशातीत विकास हुआ और हो रहा है। १९वीं शतीके अन्तमें ही तमिल भाषामें 'प्रतापमुदालियारचरित्रम्', 'कमलाम्बाल-चरित्रम्', 'पद्मावतीचरित्रम्' और 'जटावल्लवर' आदि उपन्यास लिखे गये हैं। पश्चात् आरणी कुप्पुसामी मुदलियार-ने अँग्रेजी उपन्यासोंके आधारपर जासूसी उपन्यास लिखे। सामाजिक उपन्यास लिखनेवालोंमें वडवूर दुरैसामी अय्यंगार तथा रंगराज प्रसिद्ध हैं। सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखनेमें रा० कृष्णमूर्ति सिद्धहस्त थे। इनका 'शिवगामियन् शपदम्', 'पर्त्तिबनकनवु' स्थायी महत्त्वके हैं। उपन्यासके क्षेत्रमें वरदराजन्, महादेवन्, कण्णन्, मणि, जीवा, अनुत्तमा, सरस्वती तथा गुहप्रिया आदिके नाम उल्लेखनीय हैं।

उपन्यासके समान कहानीके क्षेत्रमें भी तमिलकी प्रगति प्रशंसनीय है। तमिलप्रदेशमें कहानियोंकी मासिक पत्रिकाएँ दिनों-दिन बढ़ती जा रही हैं। पुराने कहानी-कारोंमें व० वे० सु० अय्यर भारती तथा वकटरमणके नाम उल्लेखनीय हैं। बादके कहानीकारोंमें राजाजी, पुदुमैप्पित्तन, अकिलन, कल्की, जीवा, राजगोपालन् और पिच्चमूर्ति आदि हैं। इन लोगोंने सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा हास्य रसप्रधान कहानियाँ लिखी हैं। स्वतन्त्र एवं मौलिक कहानी लेखन-कलाके विकासके साथ ही अँग्रेजी, मराठी, बँगला तथा हिन्दीके कहानी-साहित्यका भी तमिलमें पर्याप्त मात्रामें अनुवाद हुआ है। प्रेमचन्द तथा खाण्डेकरसे तमिल जनता सुपरिचित है। आलोचनाके क्षेत्रमें स्वामीनाथ अय्यर, रा० राघवय्यर, मु० राघवय्यर, का० पिल्लै, सोमसुन्दर भारती, वैयापुरि पिल्लै, व० वरदराजन्, अ० श्रीनिवास राघवन्, सेतुपिल्लै तथा मीनाक्षीसुन्दरम् पिल्लै आदि हैं। सम्प्रति ज्ञानसम्बन्धन् आलोचनाके क्षेत्रमें उदीयमान नक्षत्र समझे जा रहे हैं। इनका 'इलकियकलै' नामक ग्रन्थ आलोचनाके क्षेत्रमें उच्च स्तरका ग्रन्थ माना गया है। निबन्ध-लेखकोंमें कल्याणसुन्दर मुदलियार अद्वितीय हैं। ये गान्धीवादी थे, पश्चात् समाजवादी विचारके अनुयायी हो गये। इन्होंने धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक

तथा राजनीतिक विषयोंमें प्रौढ गद्यमें अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। तमिलकी दैनिक पत्र-पत्रिकाओंमें 'स्वदेशमित्रन्', 'दिनमणि', 'तमिलनाड' आदि पत्र प्रसिद्ध है। साप्ताहिक तथा मासिक पत्रोंमें 'आनन्दविकटन्', 'कल्की', 'कलैमगल कलैकदिर कावेरी', 'अमुदसुरभी मजरी' आदि हैं। बच्चोंके लिए 'कन्नन' तथा 'कलकण्ड' उपयोगी पत्र है। —च०

तरणिजा–वर्णिक छन्दके समवृत्तका एक भेद, इस वृत्तके प्रत्येक चरणमें नगण और गुरुका योग होता है (।।।, ऽ)। केवल केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है— 'वरणिवो, वरणसो। जगतको, शरण सो।' (रा० च० १ १२)। —पु० शु०

तरीकत–इसका अर्थ आध्यात्मिक मार्ग है। ईसाकी नवीं-दसवीं शताब्दीतक इसका अर्थ कुछ और ही था। उस कालमें साधकोंको साधनाके पथपर अग्रसर होनेका व्यावहारिक ज्ञान करानेकी एक पद्धतिका बोध इससे होता था। सन् ईसवीकी ग्यारहवीं शताब्दीके बाद जब नाना सूफी सम्प्रदायोंका आविर्भाव होने लगा तब इसका अर्थ विभिन्न सम्प्रदायोंमें प्रचलित धार्मिक क्रिया और अनुष्ठान हो गया, जिनका सहारा लेकर उस सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त साधक साधनाके पथपर अग्रसर होते। (दे०— 'सूफी-मार्ग')। —रा० पू० ति०

तसव्वुफ–दे०—'सूफी' और 'सूफीमत'।

तांत्रिक मत–६०० ई० से १२०० तकका समय ऐसा रहा है जब सारे भारतवर्षमें छोटे-छोटे तान्त्रिक सम्प्रदायोंका प्रचलन हुआ। अपनी समस्त विविधताके आवरणमें भी इन सम्प्रदायोंमें एकसूत्रता यह थी कि इन सबमें तत्त्व चिन्तनकी अपेक्षा साधना-पद्धतिकी प्रधानता थी। किसी एक देवता या शक्तिको सृष्टिका मूल तत्त्व मानना, उपासनाकी पद्धतिका प्रचुर प्रसार और विस्तारसे उसकी व्याख्या करना, यन्त्रोंका महत्त्व, देवताओंके प्रतीक बीजाक्षरों और वर्णोंका विधान, भूतसिद्धि, कुण्डलिनी योग, रहस्यमयी साधनाएँ, बाहरसे मर्यादा-विरुद्ध दीखनेवाले गुह्य वामाचार, दीक्षाएँ और गुरुका महत्त्व, ये सभी तत्त्व इनमें एक समान हैं। उनमें इतनी अधिक समानता है कि शैवोंने यदि उसे शैव परिभाषा दी है, बौद्धोंने बौद्ध, तो इससे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता, मूल स्वर उन सभीका एक है। वे सभी तान्त्रिक मत हैं। तन्त्रकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि तत्त्वमन्त्रोंसे समन्वित जो विपुल अर्थोंका विस्तार करता है और त्राण भी करता है, उसे तन्त्र कहते हैं। इस साधनापरक धर्मपद्धतिको 'तन्त्र' क्यों कहते थे, इसके विषयमें कहा जाता है कि तन्त्रकी व्युत्पत्ति तन् धातुसे हुई है और 'तन्यते विस्तारयते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्'के अनुसार किसी भी ज्ञानको जो विस्तार प्रदान करता है, उसका सांगोपांग विवरण देता है, उसे तन्त्र कहते हैं। इसीके अनुसार हमें न्यायतन्त्र, चिकित्सातन्त्र आदि शब्द मिलते हैं। ज्ञात यह होता है कि धर्म-साधनाओंमें जिन नयी पूजाओं, मन्त्रपद्धतियों, देवी देवताओं, अनुष्ठानों, यन्त्रों, योगसाधनाओंका प्रवेश हो रहा था उन्हें पूर्ण रूपसे एक ज्ञान या एक चिन्तनापद्धतिके अन्दर समन्वित कर एक नियम अथवा एक अनुशासनमें सुयोजित कर देनेवाली प्रणालीका नाम तन्त्र पड़ गया।

एक विचारणीय प्रश्न यह है कि यह तन्त्राचार आया कहाँसे? कई विद्वानोंने तन्त्रोंके विदेशी उद्गमका उल्लेख किया है। हरप्रसाद शास्त्रीने तन्त्रोंका भारतमें आगमन शकोंके मगपुरोहितोंके साथ बताया है। यद्यपि इसके साथ उन्होंने कोई विशेष प्रमाण नहीं दिये, किन्तु उनके इसी मतके आधारपर विनयतोष भट्टाचार्यने इस सम्भावनाकी कल्पना की कि योगाचारमतका प्रमुख आचार्य और वज्रयानमतमें तन्त्रोंके प्रथम उपदेशके लिए प्रख्यात असंग गान्धार देशका निवासी था और सम्भव है वह मगपुरोहितोंकी तान्त्रिक साधना-पद्धतिसे परिचित हो। इसके अन्य कई प्रमाण मिलते हैं जो अधिक प्रबल हैं। पहला तो यह है कि प्राचीन वाङ्मयमें कभी-कभी तन्त्रोंकी साधना-पद्धतिको अपरिचित और अद्भुत बताया गया है और उसे अवैदिक भी कहा गया है। दूसरे स्वत तन्त्रग्रन्थोंमें भी कभी-कभी ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि तन्त्रोंका प्रचार करनेके लिए देवता बाहरसे आये और फिर लौट गये। जहाँतक पुराने तन्त्रोंका प्रश्न है, उनका नाम 'आगम' भी यह सूचित करता है कि सम्भवत वे वैदिक परम्पराके नहीं थे। हमें मध्यकालीन धार्मिक साहित्यसे यह भी ज्ञात होता है कि प्रारम्भमें इन्हें अवैदिक कहा जाता रहा और अन्तमें जो मत लोक-प्रचलित हो गया उसे ब्राह्मण-परम्परा द्वारा ग्रहण कर लिया गया। 'कूर्म-पुराण'से कमसे कम एक बात और बहुत महत्त्वपूर्ण ज्ञात होती है कि ये तान्त्रिक सम्प्रदाय ऐसे ब्राह्मणों द्वारा प्रवर्तित थे जो रूढ़िवादी ब्राह्मणों द्वारा नीची निगाहसे देखे जाते थे और जिन्होंने अपना द्विजसुलभ वेद-पाठनका अधिकार खो दिया था।

दूसरी ओर भारतीय वैदिक वाङ्मयके अध्ययनसे हमें यह ज्ञात होता है कि अथर्व वेदमें मारण, मोहन, उच्चाटन, मन्त्र, रक्षा, सिद्धि, गुह्य साधनाओंका प्रचुर उल्लेख मिलता है। उस समय भी अथर्व वेदको आर्यपरम्परामें नहीं गिना जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अथर्ववेदकी गुह्य साधनाएँ भारतके अनार्य आदिवासियोंकी थीं, जिन्हें पूर्वागत आर्योंने अपना लिया था। इसी कारण बादमें आनेवाले अन्तरग आर्य उन्हें 'व्रात्य' कहा करते थे। इन व्रात्योंका आचार-विचार बहुत-कुछ अनार्य जातियोंसे प्रभावित रहता था। इन व्रात्योंके साथ-साथ बहुत-सी भारतके मूल निवासियोंकी आदिम प्रवृत्तियाँ, अन्धविश्वास, यन्त्र-मन्त्र और जादू-टोना आ गया होगा। इसके अतिरिक्त कई स्थानोंपर आर्योंने इन मूल निवासियोंकी रूपवती कन्याओंसे विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया था। इस प्रकार धीरे-धीरे आर्योंकी विचारपरम्परामें आर्येतर साधनाएँ और देवी-देवता भी प्रवेश पाने लगे।

बहुत सम्भव है कि प्रारम्भमें इन पूजोपचारोंके लिए कुलीन ब्राह्मण न प्रस्तुत होते हों, अत बहुतसे ब्राह्मण जो निम्न वृत्ति अपनानेके कारण या आचारभ्रष्ट हो जानेके कारण रूढिवादियों द्वारा तिरस्कृत कर दिये गये हों या जो स्वय उनके प्रति विद्रोही हों और लोकधर्म और लोकाचारको ग्रहण कर चुके हों, वे इन जातियों और

इनकी पूजाओंके पुरोहित बन गये।

इस प्रकार तन्त्र वास्तवमें उन अगणित लोकाचारों, लोकमें पूजित देवियों तथा लोकप्रचलित रहस्यमय अनुष्ठानोंका परिणत रूप है जो आदिनिवासियोंने सृष्टिमें संग्राम करते समय अपना लिये थे और जो सदैव हमारे देशके निम्न वर्गमें प्रचलित रहे। तान्त्रिक कालमें यह लोकधर्म उभरकर ऊपर आ गया और इसको ग्रहण करनेके लिए कितने ही सम्प्रदाय प्रत्येक धर्ममें बन गये, जिनमें साधना प्रधान थी और उसी साधनाके अनुरूप उन्होंने अपने देवी-देवताओंका स्वरूप, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, उनकी चर्या, क्रिया-अभिचार, मन्त्र आदि परिकल्पित कर लिये। इसीलिए तन्त्रोंका 'आगम' नाम सर्वथा उपयुक्त है। जो लोकप्रचलित, आदिम परम्पराओंपर आधारित अनुष्ठान उच्चवर्गीय चिन्तनामें आये, वे शुद्ध वैदिक दृष्टिसे बाहरी तत्त्व थे और कालान्तरमें विदेशी साधनाएँ भी उनमें समाहित होती रहीं। तान्त्रिक आचार्योंने तो घोषणा यहाँतक की कि श्रुतियों-स्मृतियों तथा पुराणोंका युग बीत गया और अब केवल तन्त्रोंका युग है और धीरे-धीरे तन्त्र-साहित्यका महत्त्व इतना बढ़ा कि वह भी वैदिक श्रुतियोंके समकक्ष गिना जाने लगा।

तान्त्रिक साधनाओंके आम्नायके अनुसार कई भेद हैं। स्थूल रूपसे ये समस्त आचार दो वर्गोंमें बँटे हैं–दक्षिण तथा वाम। दक्षिणाचारमें प्रभातमें सन्ध्या, मध्याह्नमें जप, ऊनके आसनपर बैठना, दूध शर्कराका पान, रुद्राक्षकी माला धारण करना तथा अपनी पत्नीसे सम्भोग करना—यह विहित था। वामाचार इसका प्रतिकूल था। नृदन्तकी माला, कपालका पात्र, छोटी कच्ची मछलियोंका चर्वण, मासभक्षण और सभी जातियोंकी परस्त्रियोंमें समानरूपसे मैथुन—यह वामाचार था।

वामाचारमें पाँच प्रकारोंका विधान है—'मद्यमांसतथा मत्स्यैर्मुद्रया मैथुनैरपि।' इनके आधारपर भैरवीचक्रोंकी नियोजना होती थी। उन चक्रोंमें स्त्री-साधिकाएँ तथा साधक मिलते थे और मद्यपानके उपरान्त मनोरथ सुखोंकी परस्पर पूर्ति होती थी। इस प्रकारके चक्रोंमें वर्ण और जातिका कोई भेद नहीं रहता था। 'प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातय।' जैसे गगामें मिलकर बाहरी जल या दूधमें मिलकर जल एकात्म हो जाता है उसी प्रकार भैरवीचक्रमें सब उच्च वर्णके हो जाते हैं। इन चक्रोंके तीन भेद होते हैं—वीर, राज और देव। राजचक्रमें यामिनी, योगिनी, रजकी, श्वपची, कैवतक नारी, ये पाँच शक्ति रूपमें व्यवहृत होती हैं। देवचक्रमें राजवेश्या, नागरी, गुप्त-वेश्या, देव-वेश्या तथा ब्राह्म-वेश्या, ये पाँच शक्तियाँ सम्मिलित होती हैं। नागरीमें कोई भी रजस्वला कन्या परिगणित है।

'आगमसार'से ज्ञात होता है कि इन साधनाओंके सांकेतिक अर्थ भी थे। इसीलिए इसे खड्ग-धार या सूक्ष्म पथ बताया गया है और कहा गया है कि यदि केवल मद्यपान करनेसे व्यक्ति सिद्ध हो जाता तो सभी मद्यपियोंको सिद्धि मिल जाती। यदि स्त्री-सम्भोगसे मुक्ति मिलती होती तो कौन बचता। वास्तवमें यह पथ बाघके कान पकड़ने या खड्गकी धारपर चलनेसे भी ज्यादा कठिन है।—ध०व्री०भा०

ताटंक–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। इसका लोकप्रचलित नाम भानुने लावनी दिया है। इसके प्रत्येक चरणमें १६, १४की यतिसे ३० मात्राएँ होती हैं और अन्तमें मगण (ऽऽऽ) रहता है। मदनने ताटक नामसे १४, १४की यतिसे २८ मात्राका चरण तथा अन्तमें मगणका प्रयोग किया है, जो परम्परासे भिन्न है। सूर तथा तुलसीने पद-शैलीमें इसके लावनी रूपका प्रयोग किया है। यह छन्द लावनीके लोक-प्रचलित छन्दके रूपमें भारतेन्दुकालके कवियों द्वारा ग्रहण किया गया है। लोकछन्दके रूपमें लावनीका विशेष महत्त्व है। परन्तु लावनीमें गुरु-लघुका विशेष नियम नहीं रहता। आधुनिक कवियोंने इसको शास्त्रीय रूपमें भी अपनाया है। उदा०—'देव तुम्हारे कई उपासक, कई ढगसे आते हैं। सेवामें बहुमूल्य भेंट, वे कई रगके लाते हैं।' (सुभद्राकुमारी चौहान)। —र०

तात्पर्यावृत्ति–कुछ आचार्यों द्वारा स्वीकृत एक विशेष प्रकारकी शक्ति, जिसके द्वारा वाक्यका वास्तविक मन्तव्य ज्ञात होता है। कुमारिल भट्ट और उनके मतानुयायी मीमांसकोंको 'अभिहितान्वयवादी' कहा गया है, क्योंकि वे अभिहित (अभिधा द्वारा उपस्थित) अर्थोंका अन्वय सम्बन्ध मानते हैं। अभिधा तथा लक्षणाके अतिरिक्त वे तात्पर्यको भी एक प्रकारकी शब्दशक्ति मानते हैं। उनका कहना है कि शब्दोंमें मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ ज्ञान करानेकी शक्ति तो रहती है, किन्तु वाक्यमें उनके एक-दूसरेसे अन्वित होनेपर ही वे वक्ताके वास्तविक तात्पर्यको व्यक्त कर पाते हैं। वाक्यसे विच्छिन्न तथा एक-दूसरेसे असम्बन्ध पद इस तात्पर्यार्थको नहीं व्यक्त कर सकते हैं। योग्यता, सन्निधि ('आसत्ति'–सामीप्य) तथा आकाक्षासे संयुक्त पद-समूहको ही वाक्य कहते हैं। वाक्यमें प्रयुक्त विभिन्न पदोंके एक-दूसरेसे सम्बन्ध होनेमें किसी प्रकारकी बाधाका न होना ही योग्यता है। 'अग्निसे सींचता है', इस वाक्यके क्रियापद 'सींचता है' तथा 'अग्निसे'में अर्थ-बाधा है, किन्तु 'जलसे सींचता है' इस वाक्यमें योग्यता है। वाक्यमें प्रयुक्त सम्बन्धित पदोंमें सामीप्यका होना आवश्यक है, जो कि 'पहाड़ खाता है, अग्निमान् है देवदत्त'में नहीं है। इसे 'पहाड़ अग्निमान् है, देवदत्त खाता है' होना चाहिये। वाच्यार्थकी पूर्तिके लिए किन्हीं पदोंकी आकाक्षा शेष न रह जानी चाहिये, जैसे, 'देवदत्त घरको' आदि पद-समूहमें क्रियापदकी आकाक्षा बनी ही रहती है। अभिहितान्वयवादी मीमांसकोंका मत है कि इन तीन बातोंसे सम्पन्न होनेपर जब शब्दोंका तर्कसंगत सम्बन्ध (अन्वय) ज्ञात होता है, तभी शब्दोंका वास्तविक अर्थ ज्ञात होता है। इसीलिए तात्पर्यावृत्तिका मानना आवश्यक है।

प्रभाकर-मतानुयायी अन्य मीमांसकोंको 'अन्विताभिधानवादी' कहा गया है, क्योंकि वे पदोंसे ही अन्वित अर्थका अभिधान मानते हैं। वे उपर्युक्त अभिहितान्वयवादियोंकी तात्पर्यावृत्तिका विरोध करते हैं। उनके मतानुसार वाक्य द्वारा प्रस्तुत सुसम्बद्ध अर्थ स्वयं शब्दों द्वारा भी व्यक्त होता है, क्योंकि प्रयुक्त शब्दोंके अर्थके अतिरिक्त शब्दोंका कोई स्वतन्त्र अर्थ होता ही नहीं है, उनमें जो भी

अर्थद्योतनका सामर्थ्य होता है वह वाक्यमें निरन्तर प्रयुक्त होनेके कारण ही उन्हें प्राप्त हुआ है। अभिहितान्वयवादमें पहले पदोंसे अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं, पीछे तात्पर्यावृत्तिसे उनका परस्पर सम्बन्ध होनेसे वाक्यार्थका बोध होता है। परन्तु प्रभाकरके अन्विताभिधानवादमें पदोंसे अन्वित पदार्थ ही उपस्थित होते हैं, इसलिए उनके अन्वयके लिए तात्पर्यावृत्ति माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस अन्वित अभिधानवादका प्रतिवादन प्रभाकरने इस आधारपर किया है कि पदोंसे जो अर्थकी प्रतीति होती है वह शक्तिग्रह या संकेतग्रह होनेपर ही होती है। इस प्रकार व्यवहारसे जो शक्तिग्रह होगा वह केवल पदार्थोंमें नहीं, अपितु अन्वित-पदार्थमें ही होगा, क्योंकि व्यवहार अन्वितपदार्थका ही सम्भव है, केवल पदार्थका नहीं। इसीलिए अन्वित अर्थमें ही शक्ति मानते हैं (हि० व्य० पृ० २९-३०)।

'काव्यप्रकाश'के द्वितीय उल्लासके प्रारम्भमें उपर्युक्त दोनों मतोंका संक्षिप्त उल्लेख मिलता है और आचार्य मम्मट अभिहितान्वयवादको स्वीकार करते हैं, किन्तु तात्पर्यार्थको स्वीकृत करते हुए भी ध्वनिके आचार्य उसे व्यंजनाका स्थानापन्न नहीं मानते हैं। अभिधा, लक्षणाकी भाँति ही तात्पर्यशक्ति भी व्यंग्यार्थका बोध करानेमें असमर्थ मानी गयी है। —उ० श० शु०

तादरूप्य रूपक–दे०—'रूपक', दूसरा प्रकार।

तानाशाही–तानाशाही व्यवस्थामें व्यक्तिका योग-क्षेम राज्य वहन करता है और उसकी प्रत्येक गतिविधिपर अंकुश रखता है। फासिज्म तानाशाहीको पूरा प्रश्रय देता है। वह इस बातका पूरा ध्यान रखता है कि व्यक्ति राज्य द्वारा निर्धारित साँचोंमें ढले हुए हों। इसके लिए उसे विचार-नियन्त्रण और 'सेंसरशिप'का मार्ग ग्रहण करना होता है। तानाशाहीके लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका कोई महत्त्व नहीं। —ह० ना०

तामरस–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। हेमचन्द्र-(छ० २ १८३)ने कमलविलासिनी, जयकीर्ति (छ० २ १३५)ने ललितपदा नाम दिया है। यह वृत्त नगण, दो जगण और यगणके योगसे बनता है (।।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽऽ)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—'जब ऋषिराज विनै कर लीनो, सुनि सबके करुणा रस भीनो। दशरथ राय यहै जिय मानी, यह वह एक भई रजधानी।' (रा० च० ६ २२)। —पु० शु०

तामसी भक्ति–दे० 'गौणी भक्ति'।

तारक–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्'(२ १४४)के लक्षणके अनुसार चार सगण और गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है (।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ऽ)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'यह कीरति और नरेसन सोहै। सुनि देव अदेवनको मन मोहै। हमको बपुरा सुनिये ऋषिराई, सब गाँउँ छ सातककी ठकुराई।' (रा० चं० ५ २३)। —पु० शु०

तार्किक सत्य–आजके युगकी सौन्दर्यात्मक भावनामें सौन्दर्यको केवल 'तर्कसन्दर्भ'में प्रयुक्त होनेकी अपेक्षा सक्रिय रूपमें स्वीकार करनेका विशेष आग्रह है। तार्किक सत्य द्वारा किसी भी निष्कर्षपर पहुँचनेसे यथार्थ और वास्तविक तुष्टि नहीं मिल सकती। अस्तु, काडवेलने 'तार्किक सत्य'को क्रियाशील दृष्टिके अभावमें बौद्धिक पिंजरा माना है (दे०—इल्यूजन एण्ड रीयलिटी क्रिस्टोफर काडवेल)। तर्कगत संगति भी एक सत्य है, किन्तु क्रियाशीलताके अभावमें वह केवल प्राणहीन वस्तु बनकर निरर्थक सिद्ध होती है।

तार्किक सत्यका प्रारूप दार्शनिक विवेचनकी प्रक्रियामें जन्म पाता है। यथार्थवादी इसे बूर्जुआ विचारकी परिणति भी मानते हैं। तर्क द्वारा शास्त्रीय रूपसे हम कई निष्कर्षोंका परीक्षण कर सकते हैं और स्वय भी केवल निष्कर्ष निकाल सकते हैं। किन्तु प्रत्येक तार्किक सत्य अनुभूति-सत्यके मर्म और यथार्थके सौन्दर्यकी क्रियाशील गतिविधिका साक्षात्कार कर सकेगा इसमें सन्देह है, क्योंकि भावजगत्की रागात्मक अनुभूतिकी परखके लिए निरा तर्क अपूर्ण होगा।

तार्किक सत्यका बोध हमें केवल परीक्षण और निष्कर्षके माध्यमोंसे होता है। अत केवल तार्किक सत्यसे रसानुभूति और मूल्योंकी स्थापना नहीं की जा सकती। मूल्योंकी स्थापनाके लिए सत्यके गतिशील रूपको लेना पड़ेगा। अस्तु, तार्किक सत्य केवल असगत, रूढ़िवादी सत्य है, जिसमें गतिशीलताके अभावके नाते बुद्धिविलासका दोष वर्तमान रहता है।

तार्किक सत्य केवल विवेचनका माध्यम बन सकता है, अन्तिम परिणति नहीं, क्योंकि उसमें परिप्रेक्ष्य-(perspective) का अभाव होता है, सम्भावनाओंका या तो अतिरेक होता है या सम्भावनाओंका शुष्क विवरण। जीवनकी समग्रताको देख सकनेकी या उसे वहन करनेकी क्षमता तार्किक सत्यमें कभी भी नहीं हो पाती। जीवनकी सक्रियताका वास्तविक बोध भी तार्किक सत्य दे सकनेमें असमर्थ होता है। कलाकी दृष्टिसे तार्किक सत्य तो वैज्ञानिक सत्यसे भी कटु और अव्यावहारिक शुष्कताके साथ अवतरित होता है।

किन्तु तार्किक सत्यके कुछ गुण भी हैं, जिनको ध्यानमें रखना आवश्यक है। सर्वप्रथम तो यह कि तार्किक सत्य रूढ़ियोंका खण्डन करनेमें कटु यथार्थका परिप्रेक्ष्य बड़े सशक्त ढंगसे प्रस्तुत करनेमें सहायक होता है। दूसरा यह कि द्वन्द्वात्मक प्रणालीका विश्लेषण करनेमें उससे विशेष सहायता मिलती है। तीसरे यह कि काल्पनिक स्वप्नोंकी मिथ्यावादितासे कलाको मुक्ति मिलती है। चौथे यह कि तार्किक सत्यके परिप्रेक्ष्यमें मूल्योंकी व्यावहारिकता एवं उनकी गतिशीलताको परखनेका विशेष साधन मिल जाता है। —ल० का० व०

तार्किकीकरण–अपने कार्यों, विश्वासों, असफलताओं, च्युतियों आदिको सकारण और तर्कसगत सिद्ध करनेके लिए युक्तिसगत अथवा लचर कारणोंकी खोज करना तथा उनको अपने कार्यों आदिकी प्रेरणा अथवा हेतु मानना मनोवैज्ञानिक भाषामें तार्किकीकरण कहलाता है। किन्तु ये कारण सच्ची प्रेरणा अथवा सच्चे हेतु न होकर वास्तविक प्रेरणा या हेतुको छिपानेका प्रयासमात्र होते हैं। व्यक्तिको वास्तविक कारणोंका या तो पता ही नहीं होता या उनका आभासमात्र होता है। अत तार्किकीकरण शुद्ध झूठसे भिन्न

होता है। वास्तविक कारण अथवा प्रेरक, प्रकट किये कारणों और प्रेरकोंकी अपेक्षा कहीं अधिक निम्नस्तरीय होते हैं। जब हमारी वास्तविक प्रेरणा निम्न कोटिकी और निन्दनीय होती है तब तार्किकीकरणके द्वारा हम स्वयं अपनी तथा समाजकी आलोचनासे बच जाते हैं। तार्किकीकरणमें सत्यका अंश थोड़ा-सा होता है, किन्तु अधिक सत्यको दबाकर इस अल्पांशको अतिरंजित कर दिया जाता है। दैनन्दिन जीवनमें तार्किकीकरणके उदाहरण हमें प्रायः नित्य मिलते रहते हैं। किसी आयोजनमें समयपर न पहुँचनेकी व्याख्या समयकी कमी अथवा व्यस्तताके की जाती है। अपनी असफलताके लिए भाग्य, सामाजिक अथवा आर्थिक व्यवस्था, निकृष्ट साधन, किन्हीं प्रमुख व्यक्तियोंकी अप्रसन्नता आदिको उत्तरदायी ठहराया जाता है। 'अंगूर खट्टे हैं', 'नाच न आवे, आँगन टेढ़ा' जैसी कहावतें इसी मनोवृत्तिके प्रति व्यंग्य करती हैं। दुर्योधन अपनी अधर्म-प्रवृत्तिका दायित्व चतुराईसे ही ईश्वरके ऊपर डाल देता है—जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति। त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥' —आ० रा० शा०

ताल—लयकी तरह ताल शब्द भी क्षेत्रसे सम्बन्ध रखता है। स्वरकी गतिके विशिष्ट रूपका परिचय तालसे मिलता है। स्वरकी अपेक्षा तालका स्थान गौण माना जाता है। स्वर अंग है तो ताल उपांग। प्रचलित कहावत है—'सुर गया तो सिर गया, ताल गया तो बाल गया।' लय स्वर-प्रवाहके साथ एकरस हो जाती है, ताल उस प्रवाहकी गतिके उतार-चढ़ावके क्रमको सूचित करता है। ताल एक प्रकारकी माप भी है और त्रिताल, झपताल आदि भेद कदाचित इसी आधारपर विकसित हुए हैं। तालकी स्थिति स्वरसन्धियोंके बीच होती है। मात्रिक छन्दोंकी लय तालके अधीन रहती है। त्रिकल और पंचकलकी आवृत्तिसे बने छन्दमें ताल पहली मात्रापर होता है। त्रिकलमें वह तीन-तीन मात्राओंके अन्तरसे १-४-७-१०-१३-१६ आदि संख्याओंकी मात्रापर रहता है और पंचकलमें पाँच-पाँच मात्राओंके अन्तरसे १-६-११-१६-२१-२६ आदिपर। सप्तकलमें पहली दो मात्राएँ ताल बिना छूट जाती हैं और ताल तीसरी और छठी मात्रापर पड़ता है, यथा—

। । । । । । । ।

हरिगीतिका हरिगीतिका हरिगीतिका हरिगीतिका (खड़ी पाइयाँ ताल सूचक हैं)। मात्राएँ पूरी होनेपर भी तालभंग होनेसे लय बिगड़ जाती है। उदाहरणार्थ, मैथिलीशरण गुप्तकी एक पंक्ति—'वाचक प्रथम सर्वत्र ही जय जानकी जीवन कहो' शब्दोंको यदि निम्नलिखित क्रमसे रख दिया जाय तो ताल भंग हो जायेगा—'वाचक सर्वत्र ही प्रथम जय जीवन जानकी कहो'। कारण यह है कि इस रूपमें सप्तकलमें मात्राओंका विभाजन नहीं हो सकता। फलतः जहाँ ताल आना चाहिये वहाँ वह नहीं आ पाता। मात्रिक छन्दोंमें दो लघु तो दीर्घ मात्राका बोध करा सकते हैं, पर दीर्घको आधा करके मात्रा गणना पूरी नहीं की जा सकती। 'वाचक प्रथम'में सात मात्राएँ अलग हो जाती हैं, पर 'वाचक सर्वत्र'में उनका अलग हो पाना सम्भव नहीं। इसी प्रकार 'जय जानकी'के स्थानपर 'जय जीवन' आ जानेसे कठिनाई उपस्थित हो जाती है और ताल भंग हो जाता है। मात्राएँ निश्चित होनेपर भी तालकी स्थिति भिन्न-भिन्न हो सकती है, जैसे, सात मात्राके ध्वनि-खण्ड 'सप्तकल'में निम्नलिखित चार प्रकारका तालक्रम स्पष्टतया सम्भव है—

। । । । । । । । ।

१ दाढालदा, २. दाढादाल, ३ लदादादा, ४ दालदादा। इनमेंसे प्रत्येककी आवृत्तिसे स्वतन्त्र जातिके छन्द बन सकते हैं। इस प्रकार छन्दका स्वरूप निर्धारित करनेमें तालका अपना अलग महत्त्व है। —ज० गु०

ताला-कुंजी—प्राणायाम द्वारा श्वासके बन्धन या निरोधको वज्रयानी सिद्ध अध और ऊर्ध्वके मार्गमें ताला लगानेके रूपकसे व्यक्त करते थे। 'पवण गमण दुआरे दिढ ताला वि दिज्जुई।' (काण्हपा : दोहाकोष) नाथपन्थी बानियोंमें ताला लगानेका रूपक तीन प्रसंगोंमें आया है। कुम्भकके प्रसंगमें, खेचरी मुद्राके प्रसंगमें, शब्द-योगके प्रसंगमें। अन्तमें वे यह भी कहते हैं कि शब्द ताला है, नि शब्द कुंजी है (गोरख-बानी)। सन्तोंमें भी अधिकतर कुम्भक द्वारा श्वासनिरोधके अर्थमें ताला-कुंजीका रूपक मिलता है। ताला-कुंजीकी आवश्यकता चोरसे बचानेके लिए पड़ती है। चोर है वासनात्मक मन। इस चोरसे सावधान रहनेकी चेतावनी सिद्धों, नाथों और सन्तोंने बराबर दी है, किन्तु सन्तोंने एक ऐसा धन पा लिया था जो न चोर चुरा सकते थे, न जिसका क्षय हो सकता था। वह धन था हरि भक्ति। 'तस्कर लेइ न पावक जालै, प्रेम न छूटै रे। चहुदिस पसर्यो बिन रखवारे, चोर न लूटै रे।' (दादूदयालकी बानी—द्वितीय खण्ड)।

तिमड्डा—दे० 'हठयोग'।

तिरस्कार—विशेषालंकारके अन्तर्भूत अर्थालंकार। यद्यपि तिरस्कार एवं अवज्ञा शब्दोंके अर्थमें कोई विशेष भेद नहीं, तथापि काव्यशास्त्रमें ये दो भिन्न अलंकार हैं। अवज्ञाका उल्लेख पीयूषवर्ष जयदेवने सबसे पहले किया (चन्द्रालोक ५ १०७) और तिरस्कारका पण्डितराज जगन्नाथने। अवज्ञा अलंकार उल्लास(चन्द्रालोक, ५-१०१)के विरुद्ध है, तो तिरस्कार अनुज्ञाके। वास्तवमें 'काव्यप्रकाश'की 'नागेश्वरी' व्याख्या(पृ० २९४)में अनुज्ञा एवं तिरस्कार अलंकारोंके सारको विशेषालंकारके अन्तर्गत बताया है। यह विशेषके ही दो पक्ष समझने चाहिये। दूषित वस्तुमें गुण ढूँढकर उसकी इच्छा करना अनुज्ञा है, तो गुणान्वित वस्तुका निरादर करना तिरस्कार है। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः इसे स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना है। उदा०—'निर्गुण होना भला, गुणके गौरवपर धिक्कार है। क्योंकि जब कि अन्य वृक्ष तो स्वस्थ खड़े शोभा देते हैं तो चन्दनके वृक्षको काटा जाता है।' चन्दनमें गुण होना भी दोष है और उसकी कामना होती है। अथवा—'जिन होवहु प्रिय विभव औ गज तुरग वर बाग। जिनमें रत नर करत नहिं हरि-चरनन अनुराग।' (अ० म० पृ० ३८१)। यहाँ भगवद्भक्तिके विरोधी होनेके दोषके कारण वैभवादिका तिरस्कार वर्णित है। —ज० कि० ब०

तीव्रानुभूतिवादी आलोचना-प्रणाली—जिन आलोचना-

में कृतिके स्रष्टाकी तीव्रानुभूतिका स्पष्ट आकलन होता है उसे तीव्रानुभूतिवादी आलोचना कहते हैं। किसी भी कलाकृतिकी श्रेष्ठताका निर्णय करनेके पूर्व स्वयमे दो प्रश्न पूछना चाहिये—पहला, क्या कलाकारने जिस अपूर्व रूपकी झलक देखी है वही मै भी देख रहा हूँ? यदि हाँ, तो मै उसमे वशीभूत हूँ या नहीं? दूसरे, क्या कलाकारने जिस अपूर्व जगत्का निर्माण करना चाहा है उसमें काल्पनिक वास्तविकता है अथवा नहीं, और है तो कहाँतक? यदि हम सभी वर्गोंके कलाकारोंसे व्यक्तिगत प्रदर्शन, निष्कपट अभिव्यक्ति तथा मौलिकताकी माँग न करके केवल एक ही विशिष्ट गुणकी माँग करें तो कदाचित् आलोचना-क्षेत्रकी बहुत कुछ विशृंखलता कम हो जायगी। वह विशिष्ट गुण है अतिशय तीव्रानुभूति। कलाकार जितनी ही तीव्रानुभूति दे सके उतनी ही उसकी कृति श्रेष्ठ होगी। तीव्रानुभूतिवादी आलोचना-प्रणालीमें कलाकारकी तीव्रानुभूति ही खोजी जाती है और उसके रूपोंको प्रस्तुत किया जाता है। नाटक या काव्यमें पात्रोंका भावावेशमय आक्रोश, अतिशयोक्तियों-की स्थिति आदि तीव्रानुभूतिके ही रूप हैं। तीव्रानुभूतिको प्राचीन यूनानी समीक्षकोंने भव्य भावना प्रसार, रोमीय समीक्षकोंने तेज और शक्ति तथा पुनरुत्थानकालके समीक्षकोंने प्रेरणा कहा है। [विशेष दे०–'आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त' खत्री]। —वि० मो० श०

तुक : तुकांत–किसी छन्दके दो चरणोंके अन्तमें जब अन्त्यानुप्रास आता है तो उसे तुक कहा जाता है। चरणके अन्तमें होनेके कारण उसे तुकान्त भी कहते हैं। तुकमें स्वर और व्यंजन, दोनोंकी समानता और आंशिक एकता रहती है। उर्दू और फारसी काव्यमें केवल स्वरसाम्यसे भी तुक बन जाता है, जैसे, अलिफका काफिया 'देखा' और 'भला'में हो सकता है। हिन्दीमें साधारणतया इस प्रकारके तुक ग्राह्य नहीं माने जाते, उनमें व्यंजनोंकी एकता भी आवश्यक रहती है, जैसे, 'देखा' 'लेखा', 'भला' 'गला'में। संस्कृतमें स्तोत्रों और अष्टपदियों-षट्पदियोंको छोड़कर सभी प्रचलित छन्दों(वृत्तों)में तुकका अभाव मिलता है। वस्तुत तुकका विकास लोकभाषाओंकी गेय-परम्परासे हुआ और संस्कृत साहित्यमें जयदेव आदिके गीतोंमें ही वह अपवाद-रूपमें पाया जाता है—'कवि संस्कृतके वृत्तमें, तुक विकलप थल होत। भाषा छन्दनिमें अवसि, सनियम करत उदोत।' (वृ० त० ३)।

हिन्दीमें कुछ कवियोंने संस्कृतके वृत्तोंमें भी तुकका समावेश कर दिया। उदाहरणार्थ, मैथिलीशरण गुप्तका निम्नलिखित वसन्ततिलका वृत्त लिया जा सकता है—'ओहो! मरा यह वराक वसंत कैसा? ऊँचा गला रुँध गया अब अन्त जैसा। देखो, बढ़ा ज्वर, जरा जड़ता जगी है। लो ऊर्ध्व श्वास इसकी चलने लगी है।' (साकेत नवम सर्ग)। कुछ तुकोंके साथ स्थायी अंश भी संयुक्त रहता है, जिसे उर्दू और फारसीकी शायरीमें रदीफ नाम दिया जाता है। उपर्युक्त वृत्तमें प्रयुक्त जगी है, लगी है, में 'है' इसी प्रकारका अंश है। कुछ तुक दोहरे होते हैं, जैसे उपर्युक्त वृत्तमें ही 'वसन्त कैसा' और 'अन्त जैसा'। वसन्त-का तुक अन्त है और कैसाका तुक जैसा। इस तरहके दोहरे तुक मैथिलीशरण गुप्तके द्वारा ही सबसे अधिक प्रयुक्त हुए हैं।

तुकान्तके सम्बन्धमें शास्त्रीय विवेचन मुख्यतया भिखारीदासके 'काव्यनिर्णय', रामसहायकी 'वृत्ततरंगिनी' और जगन्नाथप्रसाद 'भानु'के 'छन्दप्रभाकर'में उपलब्ध होता है। 'काव्यनिर्णय'के इक्कीसवें उल्लासमें तुकोंका वर्गीकरण इस प्रकारसे किया गया है—१ उत्तम, (क) समसरि, (ख) विषमसरि, (ग) कष्टसरि। २ मध्यम, (क) असंयोगमिलित, (ख) स्वरमिलित, (ग) दुर्मिल। ३ अधम, (क) अमिलसुमिल, (ख) आदिमत्त अमिल, (ग) अन्तमत्त अमिल। वीप्सा, याम और लाटिया ये तीन भेद दासने और दिये हैं। लाटिया तुक, रदीफके साथ आनेवाला काफिया है।

'भानु'ने सम विषमादि चरणोंमें तुकोंकी स्थितिके आधारपर उनका विभाजन छ भेदोंमें किया है (काव्य-प्रभाकर पृ० २९६–९८)—१ सर्वान्त्य, २ समान्त्य विषमान्त्य, ३ समान्त्य, ४ विषमान्त्य, ५ समविषमान्त्य, ६ भिन्नतुकान्त। उत्तम, मध्यम और निकृष्टके नामसे दासने पूर्वोल्लिखित तुकभेदोंकी सत्ताको भी स्वीकार किया है। समसरि तुक—दरसौ, सरसौ, परसौ, बरसौ (घना-नन्द सुजान०)। विषमसरि—नीरन, गम्भीरन, धीरन, तीरन (भिखारीदास का० नि० २२), इसमें एक चार अक्षरका तुक है। कष्टसरि—मुसकात हैं, सरसात है, प्रभात हैं, जात हैं (वही), इसमें प्रभात तुक कष्टसरि है। मध्यम तुकमें असंजोग—ब्याहि, चाहि (वही), चाहिके स्थानपर च्याहि होना चाहिये था। सुरमिलित—रोई, कोई, (साकेत ९)। दुर्मिलित—उज्ज्वल, निरमल, स्रीफल, हिमचल (का० नि० २२), इसमें हिमचल ऐसा तुक है। अधम तुकमें अमिल—पलकें, अलकें, झलकेंके साथ छकें अमिल है (वही)। वीप्सा–धनु धनु, छनु छनु, तनु तनु, बनु बनु। लाटिया—फिरत है, फिरत है, फिरत है, फिरत है (वही)। —ज० गु०

तुरंगम–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, यह वृत्त दो नगण और दो गुरुओंसे (।।।, ।।।, SS) बनता है। दामोदर मिश्रने तुगा (वा० भू० २ ७२), 'प्राकृतपैंगल'में तुग, भरतने (नाट्य० ३२ १३६) मधुकर सदृशाख्या, दु खभजन-(वाग्वल्लभ, समवृत्त ३५)ने तुगा, भानुने तुग (छ० प्र०), दासने तुगा (छ० ५ ६८) नाम दिया है। केशवने इसका प्रयोग किया है। उदा०—'बहुत वदन जाके, विविध वचन ताके। बहुभुज युत जोई, सबल कहिये सोई।' (रा० च० ४ - १०)। —पु० शु०

तुल्यदेहितुल्य–दे०–'काव्य-हरण', 'अर्थ-हरण'का भेद।

तुल्यप्राधान्य व्यंग्य–गुणीभूत व्यंग्यका एक भेद, जहाँ वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनो समान रीतिसे उत्कृष्ट हों। संदिग्धप्राधान्य व्यंग्यमें वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थकी सापेक्षिक उत्कृष्टताका निर्णय नहीं हो पाता, किन्तु इस भेदमें दोनों निश्चित रूपसे समकक्ष कहे जा सकते ह। पन्तकी इन पंक्तियोंका वाच्यार्थ तथा उनका व्यंग्यार्थ (—'मनुष्यके दिन एक-से नहीं रहते, उत्थान-पतन यही सृष्टिका नियम है'), दोनों ही समान रीतिसे उत्कृष्ट है—'आह बचपनका

कोमल गात, जराका पीला पात। चार दिन सुखद चाँदनी रात। और फिर अन्धकार अज्ञात।' (का० द०, पृ० ३२४)। —उ० ग० शु०

तुल्ययोगिता–सादृश्यगर्भ गम्यौपम्याश्रयका पदार्थगत अर्थालंकार। यह प्राचीनों(भामह, दण्डी आदि)से स्वीकृत रहा है। अभिप्राय है तुल्य–परस्पर समान–योगका सम्बन्ध अथवा अन्वयका होना। दण्डीने 'काव्यादर्श'में अधिक गुणवान् जनोंके सादृश्य प्रतिपादनमें तुल्ययोगिता मानी है। उद्भट, रुय्यक तथा विद्याधरके अनुसार इसमें औपम्यका अन्तर्निहित होना अनिवार्य है—'प्रस्तुत या अप्रस्तुत वस्तुओंमें, जो एक ही गुण-धर्मके आधारपर सम्बद्ध हो जायँ, सादृश्य भी होना चाहिये' (अल० स०)। इनकी दृष्टिसे मात्र वस्तुओंका एक धर्म होना ही तुल्ययोगिता नहा है। परन्तु मम्मट तथा विश्वनाथ प्रकृत अथवा अप्रकृतके साधारण धर्मके ग्रहणको पर्याप्त मानते हैं—'पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्। एकधर्माभिसम्बन्ध स्यात्तदा तुल्ययोगिता।' (सा० द० १० : ४८), अर्थात् प्रस्तुत या अप्रस्तुतका एक-दूसरेके साथ समान धर्मसे सम्बद्ध होना। जयदेवने 'चन्द्रालोक'में 'क्रियादि'के द्वारा प्रस्तुतों और अप्रस्तुतोंकी तुल्यतामें यह अलंकार माना है (५ ५१)। अप्पय दीक्षितके लक्षणमें 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण'के 'धर्मैक्य'का प्रभाव है। भोजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में हित तथा अहितमें व्यवहारतुल्यताको स्वीकार किया है। हिन्दीके आचार्योंने तुल्ययोगिताके इस सम्पूर्ण विकासक्रमको अपने विवेचनमें स्थान दिया है। जगत सिंहने 'भाषाभूषण'में भोजके लक्षणको प्रथम भेद, 'चन्द्रालोक'के लक्षणको दूसरा भेद तथा दण्डीके लक्षणको तीसरा भेद माना है। अन्य आचार्योंमें मतिराम, भूषण आदि कतिपयने दण्डीके लक्षणको छोड़कर केवल दो भेद माने हैं और दास तथा पद्माकर आदिने तीनों भेदोंको स्वीकार किया है। कुछने मम्मट आदिके समान वर्ण्य तथा अवर्ण्यका अलग उल्लेख किया है।

प्रथम—केवल अनेक प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुतोंका एक ही साधारण धर्म एक बार कहा जाय—'जहाँ अवर्ण्यनको धरम कै वर्ण्यनको एक।' (ल० ल० . १३०)। पद्माकरने इसके दो भेद किये हैं—'वर्न्यनको जहँ धर्म इकैई' तथा 'धर्म एकै जु अवर्न्यन केरौ' (पद्मा० ७१)। उदा०—'लखि तेरी सुकुमारता, एरी या जग माँहि। कमल गुलाब कठोरसे किहिंको लागत नाहिं।' (अ० म० २५३), यहाँ कमल और गुलाब, दोनों अप्रस्तुतोंका एक धर्म कथन किया गया है तथा—'काहूके क्यों हूँ घटाये घटै नहिं सागर और गुन-आगर प्रानी।' (का० नि० ८), यहाँ 'सागर' और 'गुन आगर प्रानी'के मात्र 'घटाये घटै नहिं'का एक धर्म कहा गया है। इसी प्रकार—'अभिनव जोवन जोति सौं जगमग होत विलास। तियके तन पानिप बढ़ै, पियके नैन पियास।' (ल०ल० १३२), यह वर्ण्यका उदाहरण है।

द्वितीय—हित-अनहितमें तुल्यवृत्तिके वर्णनमें—'हित अनहितको एकसो जहँ बरतन व्यवहार।' (शि० भू० १२६) अथवा—'सम फलप्रद हित अहित करैं, काहूकौ ये कर्म।' (का० नि० ८)। उदा०—'जे निमि दिन सेवन करें, अरु जे करें विरोध। तिन्हें परम पद देत हरि, कहौ कौन यह बोध।' (ल० ल० १३४) अथवा—'दास न पापी सुरापी तपी औ जापी हितू अहितू बिलगाई। गंग तिहारी तरंगनसौं सब पावैं पुरन्दरकी प्रभुताई।' (का० नि० : ८), यहाँ हित-अनहितके प्रति गंगाकी समानवृत्ति कही गयी है।

तृतीय–प्रस्तुत(उपमेय)की उत्कृष्ट गुणवालोंके साथ गणना–'जा-जा सम जिहिं कहन कों वहै-वहैं कहि ताहि।' (का० नि० ८) अथवा—'बहुत बडेनि मग वर्न्यहू आनौ।' (पद्मा० ७७)। उदा०—'कामधेनु अरु कामतरु चिन्तामनि मन मानि। चौथो तेरो सुजस हू, है मनसाके दानि।' (अ० म० : २४७), यहाँ यशको उत्कृष्ट वस्तुओंके साथ गिनाकर उनके समान फलदायक कहा गया है। अथवा 'प्रबल सुरेस रमेस महेसा। मेस गनेस हु तुम हु नरेसा।' (पद्मा० . ७५)।

दीपक(प्रथम)में भी एक धर्मका निर्देश अभिप्रेत है, किन्तु वहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत, दोनोंके विषयमें यह कथन होता है, जब कि तुल्ययोगितामें दोनोंमेंसे एकको लिया जाता है। —र०

तेज–दे०—'सात्त्विक गुण', नायक।

तेलुगु (भाषा तथा साहित्य)–तेलुगु आधुनिक भारतीय भाषाओंमें एक प्रधान भाषा है। यह १,१३,११० वर्गमीलके विस्तृत क्षेत्रमें, तीन करोड बीस लाख जनसमूहकी मातृभाषाके रूपमें बोली जाती है। आधुनिक भारतीय-भाषाओंमें हिन्दीके बाद सबसे बडी संख्यामें बोली जानेवाली भाषा यही है। इसकी अपनी स्वस्थ एवं समुन्नत सांस्कृतिक परम्परा रही है, अपनी लिपि अलग रही है तथा विशाल साहित्य रहा है।

तेलुगु, तेनुगु, आन्ध्र, ये तीनों शब्द आजकल एक ही भाषाके लिए पर्याय बने हैं। इनमेंसे 'आन्ध्र' शब्दका प्रयोग क्रमश 'जातिबोधक', 'देशवाचक' और अन्तमें 'भाषासूचक' अर्थोंमें होता आया है। 'तेनुगु' और 'तेलुगु' ये शब्द 'आन्ध्र'के परवर्ती रहे हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (तस्यह विश्वामित्रस्यैकशत पुत्रा असु, पंचाशत् एवज्यायासो मधुछन्दस पचाशत् कनीयास, तद्ये ज्यायासो न ते कुशलन् मेनिरे, तान् अनुव्याजहारन् तानव प्रजा भक्षिरतेतित एतेन्ध्रा पुण्ड्रा शबरा पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूना भूयिष्ठा।) महाभारतके सभापर्व, रामायण(वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धाकाण्ड ४१)में, गिरनार पहाडके शिलालेख-('अन्ध्रपिरिन्देषु' अशोकके गिरनार शिलालेख)में, शाहबाजगढीके शिलालेखमें, 'मनुस्मृति', 'मत्स्य', 'वायु', 'ब्रह्माण्ड' इत्यादि पुराणोंमें तथा इतिहासकार प्लिनीकी रचनामें आन्ध्र जातिका उल्लेख मिलता है। इतना सब होनेपर भी स्वय आन्ध्र शातकर्णी या सातवाहन और इक्ष्वाकु शासकोंने अपने अनेक शिलालेख (ई० पू० २२१ से ई० सन् २१८ तक, राज चलानेवाले आन्ध्र सम्राटोंके शिलालेख, नासिक, कन्हेरी, कार्ली, नानाघाट, अमरावती, चित्रचित्रा वगैरह स्थानोंमें प्राप्त हुए हैं) आदिमें अपने जातिसूचक इस शब्दका उल्लेखतक न किया था।

सम्भवत वे लोग विश्वामित्र द्वारा अभिशप्त सन्ततिके अनुयायी कहलाना न चाहते थे। फिर तीसरी शताब्दीके आसपासके पल्लवराज शिव स्कन्दवर्माके एक ताम्रपत्र (मेदवोलुमें प्राप्त) और हरिहडगरिलवाले लेखमें आन्ध्र राजाओंके राज्यके लिए पहले पहल 'अन्धापथीयो' (आन्ध्रपथ) और 'सातवाहनिरट्ठ' (सातवाहन राष्ट्र) नाम मिलते हैं। चीनीयात्री ह्वेनत्सागकी रचनाओंमें भी इस राज्यके लिए 'आन्ध्रमण्डल' नाम मिलता है। शातकर्णिराज्य तो अपने शिलालेखोंमें 'दक्षिणापथ' यही नाम ही देते थे। नासिकके गोतमीवालाश्रीके लेखमें (दक्षिण) 'पथेसरो' यह उल्लेख मिलता है।

'आन्ध्र' शब्दका प्रयोग भाषाके लिए होने लगा है। तेलुगुके सर्वप्रथम महाकाव्य 'भारतग्रन्थ'के रचयिता नन्नय भट्टारकके समयमें उनके आश्रयदाता राजराज द्वारा प्रदत्त एक ताम्रपत्रमें नन्नयके सहयोगी नारायण भट्टको 'आन्ध्र कविताविशारद' कहा गया है। इनका समय ११वीं शती रहा। किन्तु उस समयके पूर्व ही यहाँकी भाषाके लिए 'तेनुगु' नाम व्यवहारमें था और 'तेलुगु' नाम १२०० ई० के आसपास चल पड़ा था। 'तेलुगु'-'तेनुगु' इन दोनों शब्दोंकी व्युत्पत्तिके बारेमें पण्डितोंमें मतैक्य नहीं रहा है। तेलुगु शब्दको कुछ लोग 'त्रिलिंग'का विकार मानते हे तो दूसरे 'त्रिकलिंग'का।

भाषाशास्त्रियोंके अनुसार तेलुगु भाषाकी उत्पत्तिके बारेमें दो मत पाये जाते हैं। द्राविड भाषाओंका सर्वेक्षण करके उनका तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत करनेवाले काल्डवेल तथा उनकी तरह सोचनेवाले तेलुगुको द्राविडभाषा-परिवारका एक सदस्य मानते हैं। भारत-यूरोपीय परिवारसे उसे भिन्न मानते हैं। किन्तु आन्ध्र भाषा तथा अन्य भारतीय भाषाओंका समन्वयात्मक अध्ययन करके 'आन्ध्र भाषा चरित्र' नामक वृहदाकारग्रन्थ प्रस्तुत करनेवाले चिलुकूरि नारायण रावका मत है कि तेलुगु आर्य परिवारकी भाषा है। जिस प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाएँ, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश आदि अपने-अपने क्षेत्रीय भाषा-विकारोंकी परिणाम हैं, उसी प्रकार तेलुगु भी दक्षिण-भारतमें ईसाके पूर्व और बादकी सदियोंमें प्रचलित प्राकृतका ही, जिसमें हालकृत 'गाथासप्तशती' और गुणाढ्यकी 'वृहत्कथा' वगैरह हैं, क्रमानुसार विकसित रूप है। पश्चिमी पण्डित ओल्टनवर्गने अपने 'तिपिटक' नामक ग्रन्थके दूसरे खण्डकी भूमिकामें लिखा है कि लंकामें प्राप्त 'तिपिटक' आदि बौद्ध ग्रन्थोंकी भाषा 'पालि' उस समय आन्ध्र जनपदोंमें व्यवहृत प्राकृत ही थी। दोनोंमें अन्तर नहीं है। तेलुगु भाषाके व्याकरण-ग्रन्थ 'आन्ध्र शब्दचिन्तामणि'में नन्नय भट्टारकने तेलुगुके प्रादुर्भावके बारेमें आजसे लगभग ९०० वर्ष पूर्व स्पष्ट लिखा है कि 'आद्यप्रकृति प्रकृतिश्चाद्ये, एषा तयोर्विकृति।' नारायण राव लिखते हैं कि 'सच बात तो यह है कि ई० पू० ३००से लेकर ई० सन् ५००तक दक्षिण-भारतमें व्याप्त प्राकृतोंको लेकर शोधकार्य पर्याप्त मात्रामें नहीं हुआ। दक्षिणी प्राकृतोंमें एक 'द्राविडी प्राकृत' भी थी। अन्य भारतीय प्राकृतोंकी ही तरह उसका भी विकास हुआ था। दूसरी प्राकृतोंपर द्राविड प्राकृतका जैसा प्रभाव पड़ा था उसी तरह द्राविट भाषाओंपर भी अन्य प्राकृतोंका उतना ही असर रहा। प्राचीनतम आर्य भाषाओंसे ही जिस प्रकार दूसरी प्राकृतें निकली थीं उसी प्रकार द्राविट भाषाओंका भी विकास हुआ है।'

जहाँतक तेलुगु लिपिका प्रश्न है, यह तो सभी लोग मान चुके हैं कि वह प्राचीन ब्राह्मीकी दक्षिणी शाखाका ही परिणाम है। दक्षिणकी चारों लिपियोंमें कन्नड लिपिके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों प्राय एक-सी लगती हैं। लोग यह मानते हैं कि ३-४ शताब्दियोंके पूर्वतक दोनों भाषाओंकी एक ही लिपि रही थी।

तेलुगुवर्णमाला अत्यन्त वैज्ञानिक एव सम्पूर्ण है। उसमें ५६ अक्षर हैं। तेलुगु भाषाके सभी शब्द अजन्त या स्वरान्त होते हैं। हिन्दी आदि भारतीय भाषाओंकी तरह व्यजनान्त नहीं। इससे यह भाषा सगीतके लिए अत्यन्त उपयुक्त है। कर्नाटक सगीतके सभी वाग्गेयकारोंने इस भाषामें कृतियाँ रची हैं। तेलुगुकी इसी सगीतात्मकताको देखकर काल्डवेलने उसे 'पूर्वी इटालिया' कहा है। तेलुगु भाषा-भाषी जनताका उच्चारण प्राय स्पष्ट एव शुद्ध रहता है। समस्त ध्वनियोंका उच्चारण वे कर लेते हैं।

अधिक विस्तृत क्षेत्रमें फैले रहनेके कारण विभिन्न प्रान्तोंकी व्यावहारिक तेलुगुके रूपोंमें थोड़ी-बहुत भिन्नताका आ जाना स्वाभाविक है। करनूल, अनन्तपुर कडपा आदि पश्चिमी जिलोंकी तेलुगुमें नेल्लूर, चित्तूर, ओंगोल जैसे दक्षिणी सरहदकी भाषामें, उत्तरमें विशाखपट्टण, गोदावरी जिलोंकी बोलीमें और तेलंगानेकी भाषामें उच्चारण एव शब्द-प्रयोगको लेकर एकरूपता नहीं रह गयी है, किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि यह कोई अलग-अलग बोलियाँ हैं। तमिल, कन्नड, महाराष्ट्र एव उत्कल, इन पार्श्ववर्तिनी भाषाओंका प्रभाव सरहदी जिलोंके भाषा-व्यवहारपर सहज ही लक्षित होता है। राजनीतिक कारणोंसे तेलगानेकी तेलुगुमें उर्दू शब्दोंका अश पर्याप्त मात्रामें पाया जाता है।

किन्तु कुछ बोलियाँ भी, जो केवल मौखिक हैं और जिनका सम्बन्ध तेलुगुसे दिखाया जा सकता हे, वर्तमान आन्ध्र प्रदेशके कुछ पार्वत्य क्षेत्रोंमें और उसके बाहर भी पायी जाती हैं।

ग्रियर्सनने यह राय प्रकट की है कि तेलुगुका अन्य द्राविड भाषाओंसे विलक्षण, अपना स्वतन्त्र स्थान रहा है। तेलुगुको प्राप्त इस विलक्षणताका कारण, नारायण रावके अनुसार, अन्य द्राविट भाषाओंसे अधिक प्राचीन प्राकृतोंके साथ उसका नैकट्य ही है। उन्होंने अपना यह दृढ विश्वास प्रकट किया है कि तेलुगुके बारेमें विचार करते समय केवल द्राविड भाषाओंके साथ उसके सम्बन्धकी मीमासा करनेमे ही काम न चलेगा। अन्य द्राविड भाषाओंके साथ-साथ प्राचीन प्राकृतों तथा वर्तमान आर्य भाषाओंके सम्बन्धका भी परीक्षण करना, तथ्यप्रकाशनके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

तेलुगुमें स्फुट साहित्यका दर्शन हमें सन् १०५० ई०के आसपास होता है। तबसे लेकर लगभग ९०० वर्षोंका इतिहास इस वाङ्मयका पाया जाता है। महाकवि नन्नय भट्टारकका संस्कृत भारतका काव्यानुवाद इस साहित्यकी सर्वप्रथम और सर्वांगसुन्दर कृति है। महाकवि नन्नयके ही

नाथ तेलुगुके अबतक उपलब्ध साहित्यका प्रारम्भ माना जाता है। ये न केवल महाकवि थे बल्कि तेलुगुके सर्वप्रथम वैयाकरण भी रहे। किसी भी साहित्य-परम्पराका श्रीगणेश उत्तम श्रेणीकी काव्यरचना एवं व्याकरण-ग्रन्थके साथ एकदम नहीं माना जा सकेगा। शताब्दियोंकी पूर्ववर्ती साहित्य-साधनाके परिणामस्वरूप ही वैसी परिणति लक्षित होगी। नन्नयकृत व्याकरण-ग्रन्थ 'आन्ध्र शब्दचिन्तामणि'-का प्रणयन संस्कृतमें हुआ था। इस कृतिमें पूर्ववर्ती अनेक काव्योंका उल्लेख भी, उदाहरण प्रस्तुत करते समय, किया गया है। इसके अलावा इनके पूर्वके साहित्यस्वरूपपर प्रकाश डालनेवाले कई प्राचीन शिलालेख, ताँबेके बने दानपत्र प्राप्त हुए हैं, जिनपर उत्कीर्ण स्वच्छ काव्यमय रचनाओंसे प्रकट होता है कि तरुवोजा, मध्याक्करा वगैरह व्यवस्थित देशी तेलुगु छन्दोंमें सुन्दर साहित्य-प्रणयन होता था। शिलालेखों और दानपत्रोंके इन प्रमाणोंके बलपर यह कहा जा सकता है कि तेलुगुमें साहित्य-रचना ग्यारहवीं शतीसे काफी पूर्व प्रारम्भ हुई थी और ईसाकी ७वीं शतीको उसका प्रारम्भिक बिन्दु माना गया है।

आधुनिक तेलुगु साहित्यके युगप्रवर्तक क० वीरेशलिंगम् पन्तुलुके अनुसार, तेलुगुके १०५० वर्षोंके साहित्यका काल-विभाग इस प्रकार है—

(१) अज्ञात युग—ई० सन् ७०० से लेकर १०५० तक।
(२) आदियुग—ई० सन् १०५० से लेकर १५०० तक।
(३) मध्ययुग—ई० सन् १५०० से लेकर १७५० तक।
(४) वर्तमान युग—ई० सन् १७५० से लेकर आजतक।

साहित्यमें प्रतिपादित विषयके अनुसार मोटे तौरसे इनके क्रमश: चार और भी नाम दिये जा सकते हैं—

(१) शासनयुग—लेखों और ताम्रपत्रोंका काल।
(२) पुराणयुग—संस्कृतके पुराणग्रन्थोंका अनुवाद-युग।
(३) प्रबन्धयुग—अनुकृत या स्वतन्त्र काव्यरचनाका युग।
(४) गद्ययुग—नवीन विकासका युग।

इन चारों युगोंका संक्षेपमें परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) अज्ञात युग—वैसे तो ई० पूर्व २०० के करीब आन्ध्र सातवाहन राजाओंके समयसे इसका प्रारम्भ माना जा सकता है, किन्तु सन् ७०० ई० के पूर्वके जो भी शिलालेख मिले हैं उनकी भाषा या तो संस्कृत रही या प्राकृत। तेलुगुका रूप तो ७वें शतकके बादवाले शिलालेखोंमें देखा जाता है। इनमें वर्तमान अनन्तपुरम् जिलेमें प्राप्त बादामी चालुक्य नरेशोंके दो शिलालेख तथा जिला गुण्टूरमें उपलब्ध वेंगी चालुक्य राजाका शिलालेख विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रयुक्त भाषाका रूप काफी प्राचीन रहा। लेखोंके अतिरिक्त इस युगके साहित्यके दूसरे प्रकार हैं, 'तुम्मेदपदमुलु' (भ्रमरगीत), 'गोब्बिपदमुलु', 'यक्षगानमुलु', 'मेलुकोलुपुलु' (प्रभातियाँ), सुद्दुलु आदि।

(२) पुराणयुग—इस युगके साहित्यका प्रणयन धर्म-प्रचार, धर्म-रक्षा एवं सांस्कृतिक उत्थानवाले तीन लक्ष्योंको लेकर चला था। आदिकवि नन्नयके पूर्व देशमें बौद्ध एवं जैन विचारधाराओंकी प्रबलताके कारण सनातन धर्मका ह्रास-सा हो चला था। सनातन वैदिक धर्मके प्रति फिरसे जनताको आकृष्ट करनेके लिए उन महाभट्टारकने अपने आश्रयदाता चालुक्य-नरेश राजराज नरेन्द्रकी प्रेरणासे, पाराशरी गौतमीके तीरपर पंचम वेद 'महाभारत' ग्रन्थका कान्ता सम्मित-काव्यमय शैलीमें सरस अनुवाद किया था, किन्तु 'अरण्य' पर्वका थोड़ा ही अंश अनूदित कर पाये कि असमय ही उनका देहान्त हो गया। नन्नयके करीब दो सौ साल बाद कविब्रह्मा तिक्कन सोमयाजी हुए थे, जिन्होंने शेष १५ पर्वोंका अनुवाद, अद्भुत क्षमता एवं सुन्दरताके साथ प्रस्तुत किया था। अधूरे अरण्यपर्वका शेषांश, पीछे १४वीं शतीके मध्यभागमें जाकर, एक तीसरे महाकवि 'प्रबन्ध-परमेश्वर' यर्राप्रगडाने पूरा किया था। इस प्रकार 'महाभारत' ग्रन्थका अनुवाद तीन महाकवियों द्वारा तीन शताब्दियोंमें जाकर सम्पन्न हुआ था। इन्हींको 'कवित्रयी'के नामसे श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाता है।

इस युगके अन्य उल्लेखनीय कवि हैं राजा नन्नेचोड, नाचन सोमनाथ, पाल कुरिकि सोमनाथ, रायनि भास्कर, बमोर पोतना, महाकवि श्रीनाथ। साहित्यके गौरवग्रन्थ हैं 'कुमारसम्भवम्', 'उत्तर हरिवंशमु', 'भास्कर रामायणमु', 'आन्ध्र महाभागवतमु', 'काशीखण्डमु', 'शृंगारनैषधमु', 'बसवपुराणमु' वगैरह। इनमें अन्तिम रचना स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इस युगतक आते-आते काव्यरचनामें दो विधान जोर पकड़ने लग गये थे। एक मार्गी, अर्थात् संस्कृत काव्यरीतियोंका अनुसरण करनेवाली संस्कृतशब्दबहुला रचना और दूसरी देशी, यानी जनसमूहकी रुचिके अनुसार उनकी ठेठ तेलुगुमें चलनेवाली शैली। 'महाभारत', 'भागवत', 'भास्कर-रामायण', 'नैषधम्' वगैरह मार्गी कविताकी रचनाएँ रहीं। 'कुमारसम्भवम्' 'बसवपुराणमु' वगैरह शैव धर्मप्रतिपादक ग्रन्थ देशी शैलीमें मार्गी रचनाओंके लिए प्रतिक्रियाके रूपमें लिखे गये। क्रमशः वैदिक धर्मके प्रति आस्था कम होती गयी और वीर शैव और वीर वैष्णव धर्म जनतापर हावी होने लगे। ऐसे समयमें महाकवि तिक्कना अपने ग्रन्थोंमें ठेठ तेलुगु शब्दोंका प्रचुर प्रयोग करके मार्गी साहित्यको भी साधारण जनताके बहुत समीप ले गये।

(३) प्रबन्धयुग—यह तेलुगु साहित्यका स्वर्णयुग माना जाता है। महाकवि श्रीनाथके साथ अनुवादोंकी परम्परा रुक-सी गयी और काव्यप्रयासियोंकी दृष्टि मौलिक प्रबन्ध लिखनेकी ओर हुई। सोलहवीं शतीके प्रारम्भसे प्रबन्धरचना, यानी स्वतन्त्र महाकाव्य-प्रणयनका सूत्रपात हुआ। देशमें काकतीय शासकोंके समयसे ही मुसलमानोंके आक्रमण होने लगे। एक प्रबल हिन्दू राष्ट्रकी स्थापना करके आर्य धर्म एवं संस्कृतिकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे महात्मा विद्यारण्यके दिशा-दर्शनमें प्रतापी विजयनगर राज्यकी स्थापना हुई। विजयनगरके राजाओंमें सबसे प्रतापी और आदर्श प्रभु हुए कृष्णदेवरायलु। वे स्वयं बड़े विद्वान् एवं कवि थे और उन्होंने अपने दरबार 'भुवन-विजय सभा'में 'अष्ट दिग्गज' महाकवियोंको प्रश्रय दिया था। अल्लसानि पेद्दना, नन्दितिम्मना, तेनालिरामकृष्ण, धूर्जटि, भट्टमूर्ति, मादयगारि मल्लना, अय्यलराजु रामभद्रकवि, कन्दुकूरि रुद्रकवि धुरन्धर दिग्गज कवि थे, जिन्होंने 'मनुचरित्रमु', 'पारिजातापहरणमु', 'पाण्डुरंगमाहात्म्यमुम', 'कालहस्ती-

श्वरशतकमु', 'वसचरित्रमु' आदि अनमोल महाकाव्य रचे थे। स्वय श्रीकृष्णदेवरायने 'आमुक्तमाल्यदा' नामक महाग्रन्थ लिखा था। भट्टमूर्तिने 'वसुचरित्रमु' नामक प्रवन्धके अलावा 'नरसभूपालीयमु' नामक रीतिग्रन्थ एव 'हरिश्चन्द्र नलोपाख्यानमु' नामक द्व्यर्थी काव्य रचे थे। इनके अलावा पिंगलि सूरन्ना नामक एक और महाकविने 'कलापूर्णोदयमु' नामक अद्‌भुत महाकाव्य रचा था, जिसकी टक्करका सर्वलक्षणसम्पन्न काव्य दूसरा नहीं मिलता।

इस युगके उत्तरार्द्धमें साहित्यका रगमच विजयनगर राज्यके पतनके वाद, दक्षिणमें तजाऊरके राजाओंके आश्रयमें चला गया। रघुनाथरायलु, अच्युत विजयराघव वडे ही विद्वत्कवि एवं कविपोषक नरेश थे। तजाऊरकी ही भाँति मदुरैमें भी तिरुमल नायक आदि राजाओंने साहित्यको वहुत प्रश्रय दिया था। सुकवि चेमकूरवेंकटकविका 'विजयविलास', शेषम् वेंकटपतिका 'ताराशशाकविजय' स्त्री-कवि मुद्दुपलनिका 'राधिकास्वान्तनमु' विजयराघवका 'रघुनाथनायकाभ्युदयमु', स्त्री-कवि रगाजम्माका 'उपापरिणयमु' वगैरह अनुपम ग्रन्थ किसी भी साहित्यको गौरव प्रदान कर सकेंगे। इस युगके पूर्वार्द्धकी स्त्री-कवि आतुकूरि मोल्लाने एक छोटी, किन्तु सरस रामायण प्रस्तुत की है, जो अत्यन्त लोकप्रिय है।

इन अनुवादों तथा प्रवन्धोंके अतिरिक्त प्राचीन तेलुगुका शतक-साहित्य भी विशेष महत्त्व रखता है। शतक-काव्य-प्रणयनकी परम्परा अनुवाद-युगमें ही प्रारम्भ होकर अन्य साहित्यिक रचनाओंके समानान्तर वरावर चलती रही है। ई० सन् ११७१ के सुप्रसिद्ध शैव कवि पण्डिताराध्यकी रचना 'शिवतत्त्वसारमु'के साथ इस रचनाका सूत्रपात हुआ था। कुल मिलाकर तेलुगुमें १००० से भी अधिक शतककाव्य लिखे गये थे, जिनमें ६०० के करीव उपलब्ध हुए हैं। ये शतक भक्ति, श्रृंगार और नीतिपूर्ण रचनाएँ है, जिनमें सौ या उससे अधिक सख्यामें, मुक्तक शैलीमें छन्द गुँथे रहते हैं। प्रत्येक शतकका एक 'मकुट' होता है, जो प्राचीन हिन्दीके सतसईकारोंके नामोंकी तरह, रचनाके प्रत्येक छन्दमें जोड़ा जाता है। तेलुगुके अत्यन्त प्रचलित शतक-ग्रन्थोंमें 'वृषाधिपशतक', 'नारायणशतक', 'दाशरथिशतक', 'वेमनशतक', 'सुमतिशतक', 'आन्ध्रनायकशतक', 'भास्करशतक', 'नरसिंहशतक' वगैरह उल्लेखनीय हैं। यथावाक्कुल अन्नमय्या पालकुरिकि सोमनाथ, पोतनामात्य, गोपन्ना, वेना, वद्देन, भास्कर, कूर्मनाथ कवि, कासुल पुरुषोत्तम कवि वगैरह अत्यन्त प्रौढ एव सफल शतककार हुए हैं।

गीति साहित्य शतकोंकी तरह प्राचीन तेलुगुका गीति-साहित्य भी अत्यन्त सम्पन्न रहा। ये गीत भी भक्ति श्रृगार और नीतिप्रधान रहते थे और साहित्यके साथ संगीत एव नाट्य गुणोंसे सरावोर रहते थे। इन गीतिकारोंमें अधिकाश सन्त-महात्मा रहे। गीति-साहित्यकी इस स्वस्थ परम्परामें १५वीं शतीके ताल्लपाक अन्नमाचार्य वगैरह तथा तिरुपतके भक्त कवि क्षेत्रय्या, गोपन्ना (रामदास), नादयोगी त्यागराज आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। त्यागराजकी कृतियाँ रामभक्तिसे अनुप्राणित थीं और तेलुगु साहित्यके विद्यापति 'क्षेत्रय्या'के पद श्रृगारके सम्राट् मुग्ध गोपाल भगवान्‌की मधुर भक्तिधारासे मण्डित।

यक्षगान प्राचीन तेलुगु साहित्यके दृश्यप्रवन्धोंको यक्षगान कहा जाता है। सगीत, अभिनय एव नृत्य, इन तीन कलाओंमें प्रवीण कलाकार इनके प्रदर्शन किया करते थे। कन्दुक्कूरि रुद्रकवि-कृत 'सुग्रीवविजयमु' तजाऊरके राजा विजयराघव-कृत 'रघुनाथाभ्युदयमु', सन्तप्रवर त्यागराज-कृत 'प्रह्लाद भक्तविजयमु' ऐसे दृश्यप्रवन्धोंमें प्रधान हैं। रामायण, महाभारत एव भागवतकी कथाओंको यक्षगानोंके रूपमें अभिनीत करनेकी अत्यन्त प्राचीन परम्परा तेलुगु जन-जीवनमें रही।

(४) वर्तमान युग—गद्ययुग या नवीन विकासका युग। ई० सन् १७५० तक देशमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी शासनके जम जाने और देशी साहित्यके पोषक राजा-महाराजाओंके अधिकारोंके कुण्ठित हो जानेसे साहित्यके क्षेत्रमें एक प्रकारका अवसाद-सा छा गया। विजयनगर राज्यके पतनके वाद प्रभुसत्ताका विकेन्द्रीकरण जो हुआ उससे सन् १६५० ई० से ही दक्षिणमें तजाऊर, मदुराके अलावा पेनुगोंटा, चन्द्रगिरि, वेंकटगिरि, कार्वेटिनगर, विजयनगर, (वर्तमान विशाखपट्टण जिलेके) पेद्दापुरम्, पिठापुरम्, तेलिंगानेके गद्वाला नामक स्थानोंमें छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो चुके थे। इनके शासक तेलुगु साहित्यको करावलम्वन देते रहे। इनमेंसे दक्षिणके तंजाऊर और मदुराके राजदरवारोंमें, जैसा अभी कहा गया है, साहित्यका काफी सवर्द्धन हुआ, किन्तु फिर भी १६५० ई०से लेकर १९०० ई० तकके ढाई सौ वर्षोंका समय साहित्यिक विकासके विचारसे ह्रासयुग ही माना गया है। सन् १६५० ई०से १८५० ई०तकके उल्लेखनीय कवियोंमें समुख वेंकटकृष्णप्प नायक, कूचिमञ्चि तिम्मकवि, एनुगु लक्ष्मणकवि, अड्डिदमु सूरकवि, ककटि पापराजु पुष्पगिरि तिम्मकवि, गोपीनाथ वेंकटकवि वगैरहके नाम प्रसिद्ध हैं।

विदेशी शासनने यदि एक ओर साहित्यके विकास-पथमें अवरोध प्रस्तुत कर दिये तो दूसरी ओर कुछ अँग्रेजी अधिकारी और ईसाई धर्मप्रचारकोंने तेलुगु गद्य-रचनाको प्रोत्साहन देकर, भाषा एव साहित्यका अनमोल उपकार किया था। सी० पी० ब्राउन महोदयका नाम तेलुगु भाषा एव साहित्यके उद्धारकके रूपमें अमर हो गया है। इन्होंने एक वहुत वडा तेलुगु शब्दकोष 'ब्रौन्य निघण्टुवु' वनाया था। जूलूरि अप्पयशास्त्री और चिन्नयसूरि आदि देशी पण्डितोंने भी भाषाकी उल्लेखनीय सेवाएँ की थीं।

फिर १९वीं शतीके अन्तिम चरण और २०वीं शतीके प्रथम चरणमें कन्दुकूरि वीरेशलिंगम् पन्तुलु हुए थे, जो आधुनिक तेलुगु साहित्यके जन्मदाता कहे जा सकते हैं। हिन्दीमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रका जो स्थान है, वही तेलुगुके लिए पन्तुलुका रहा है। कविता, नाटक, उपन्यास, निवन्ध आदि सभी क्षेत्रोंमें इस महान् लेखकने एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोणका प्रतिपादन किया। अँग्रेजी साहित्य एवं वगीय विचारधाराओंका, इनकी रचनाओंपर काफी प्रभाव पडा है।

वीरेशलिंगम् पन्तुलुके अनन्तर वहुतसे ऐसे साहित्यकार

हो गये हैं, जिन्होंने गद्य, कविता, नाटक, प्रहसन, भाषा एवं साहित्यका इतिहास, निबन्ध, समालोचना कहानी आदि सभी साहित्य-शैलियोंमें ग्रन्थ-प्रणयन किया था। इनमेंसे गुरजाड अप्पाराव मण्डपाक पार्वतीश्वरकवि, वड्डुजनपल्लिसीतारामाचार्युलु, वेंद वेंकटरायशास्त्री, धर्मवरम् रामकृष्णमाचार्य, वड्डादिसुब्बारायकवि, जयन्तीरामय्या, गिडुगुराममूर्ति पन्तुलु, चिलुकूरि वीरभद्रराव, कोमर्राजु लक्ष्मणराव, कोट्ट श्यामल कामशास्त्री, वाविल्ल रामस्वामि-शास्त्री, तिरुपति वेंकटकवुलु, वेंकट पार्वतीश्वर कवुलु, सुरवरम् प्रतापरेड्डी आदि प्रसिद्ध हैं। तिरुपति वेंकट कवुलु और वेंकट पार्वतीश्वर कवुलु अत्यन्त प्रतिभाशाली आशुकवि एवं शतावधान चतुर थे। इनकी साहित्यिक यात्राओंने समूचे देशमें कविता-प्रेम एवं प्रणयनकी लहर दौड़ायी। कोप्परपु. कवुलु नामक कविबन्धु भी इसी खेवेके आशुकवि थे।

इनके अतिरिक्त आन्ध्र विज्ञानमण्डली, विज्ञानचन्द्रिका-मण्डली, साहितीसमिति, नव्य साहित्यपरिषद् आदि सारस्वत संस्थाओं द्वारा भी तेलुगु साहित्यकी श्रीवृद्धि हुई है। इस समय तेलुगु साहित्यकी सेवा करनेवाली संस्थाओंमें तेलुगु भाषासमिति, अखिल साहित्य कलाभिवर्द्धक आन्ध्र संसद, आन्ध्र सारस्वत परिषद् आदि साहित्य एवं ललित-कलाओंके उत्थानके लिए प्रयास कर रही हैं।

तेलुगु साहित्यकी सेवा आज भी अपने कृतिरत्नों द्वारा करनेवालोंमें इनके नाम उल्लेखनीय हैं–रायप्रोलु सुब्बाराव, तल्लावझल शिवशंकर स्वामी, महोपाध्याय काशी कृष्णाचार्य, कविसार्वभौम श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री, विश्वनाथ सत्यनारायण, राल्लपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा, गडियारम् शेषशास्त्री, कालोजी नारायणराव, श्रीरंगम् श्रीनिवासराव, तुम्मल सीताराममूर्ति चौधरी, गुर्रम् जाषुवा, पुट्टपर्ति नारायणाचारी, पिंगलि काटूरि कविद्वय, देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री आदि। इन ख्यातनामा कवियोंके साथ स्वर्गीय वेटूरि प्रभाकरशास्त्री, जनमञ्चि शेषाद्रि शर्मा, चिलुकूरि नारायणराव, अडिवि बापिराजुने क्रमश शोधकार्य, काव्यरचना, भाषाका इतिहास, चित्र और शिल्पके क्षेत्रमें विशेष योगदान दिया था। मल्लपल्लि सोमशेखर शर्मा पुरातत्त्व एवं इतिहासके उद्भट पण्डित हैं, जिन्होंने शुष्क एवं नीरस प्रतीत होनेवाले अतीतका सरस काव्यमय प्रतिपादन अनेक ग्रन्थोंमें किया है। मौलिक उपन्यासके क्षेत्रमें उन्नवलक्ष्मीनारायणपन्तुलु, विश्वनाथ सत्यनारायण, नोरिनरसिंह शास्त्री, अडिवि बापिराजु, मोक्कपाटि नरसिंह शास्त्री, मधिरसुब्बन दीक्षित, गुडिपाटि वेंकचलम्‌की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। कहानीके क्षेत्रमें श्रीपादकृष्णमूर्ति शास्त्री, चिन्तादीक्षितुलु, अडिवि बापिराजु, मुनिमाणिक्यम् नरसिंह राव, विश्वनाथ सत्यनारायण, गोपीचन्द, कोडवटिगंटि कुटुम्बराव, पालगुम्मिपद्मराजु आदि प्रतिनिधि-लेखक हैं। हास्य और व्यंग्यके सबल लेखकोंमें भमिडिपाटि कामेश्वरराव प्रसिद्ध हैं। संस्कृतके अलंकारशास्त्र-ग्रन्थोंके प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत करनेवाले पण्डित लेखकोंमें वेदाल तिरुवेंगलाचारी, सन्निधानम् सूर्यनारायण शास्त्री, जम्मुलमडक माधवराव शर्मा आदि प्रमुख हैं। साहित्यिक समालोचकोंमें राल्लपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा, विश्वनाथ सत्यनारायण, शिष्टला सूर्यनारायण शास्त्री, पुट्टपर्ति नारायणाचार्य आदिकी सेवाएँ अनमोल हैं। तेलुगु साहित्यका इतिहास प्रस्तुत करनेवालोंमें कन्दुकूरि सीताराम भट्टाचार्य, चागंटि शेषय्या, पी० वें० हनुमन्तराव, मधुनापन्तुल सत्यनारायण शास्त्री, अट्टकूरि लक्ष्मीकान्त झा आदि प्रधान हैं। भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी शोधकार्य करनेवालोंमें कोराड रामकृष्णय्या, निडदवोलु वेंकटराव, गिडुगु सीतापति गंठि जोगि सोमयाजि आदि हैं। खण्डवल्लि लक्ष्मीरंजनम्‌ने 'आन्ध्रल संस्कृतिचरित्र' लिखा है। अनुवादके क्षेत्रमें काफी कार्य हुआ है। रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द आदिकी रचनाओंके अनुवाद हो चुके हैं। अनेक अँग्रेजी कृतियोंके अनुवाद भी हुए हैं। इनके अलावा एकांकी नाटक, 'हरिकथा', 'पुराण', 'उपाहरणा', 'शतक', 'रेडियो-रूपक', 'रिपोर्ताज' व्यंग्य-चित्र आदि अनेक साहित्य-रीतियोंमें ग्रन्थ-प्रणयन प्रचुर मात्रामें हो रहा है। देशके कोने-कोनेमें बिखरे हुए सैकड़ों प्रचलित लोकगीतों एवं स्त्रियोंके गीतोंको संकलित करनेमें नेदुनूरि गंगाधरम्‌ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

[सहायक ग्रन्थ—आन्ध्र भाषा चरित्र विद्वान् गण्टि जोगि सोमयाजि] —रा० मू० रे०

तोटक–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलसूत्र' (६ ३२) तथा भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ ४१)के अनुसार, चार सगणोंसे यह वृत्त बनता है (IIS, IIS, IIS, IIS)। संस्कृतमें बहुत प्रचलित वृत्त है। विरहाकने इसका नन्दिनी (वृत्त० ३ . २०) नाम दिया है। तुलसीने उत्तरकाण्डकी 'रामस्तुति' और 'कलिवर्णन'में इस छन्दका प्रयोग किया है। इसका प्रयोग चन्द, केशव, सूदन तथा जोधराज आदिने किया है। इसका प्रयोग द्रुत गतिके कारण वीर रसके वर्णनमें अच्छा हुआ है। सूदनने अन्य वर्णनोंमें भी किया है। वीर रसका उदाहरण—'जहँ हिन्दुअ साहि लरन्त रिन। तहँ बान परे बरसा सुबन।'—(पृ० रा० पृ० २०९१)। 'रामचन्द्रिका'में स्फुट प्रयोग (२ १६, ५ ३, ७ . ११ आदि) है। तुलसी द्वारा इस छन्दका प्रयोग—'अबला कचभूषण भूरि छुधा। धनहीन दुखी ममता बहुधा। सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता। मति थोरि कठोर न कोमलता।' (कलिवर्णन उत्तरकाण्ड)। —पु० शु०

तोमर १–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भिखारीदासके 'छन्दोर्णव पिंगल' में इसका उल्लेख है। भानुके अनुसार यह १२ मात्राओंका छन्द है, जिसके अन्तमें ग ल (SI) होता है (छं० प्र० · पृ० ४४)। सम्भवत इसका प्रयोग हिन्दीमें ही अधिक हुआ, क्योंकि 'प्राकृतपैंगलम्' में इसका उल्लेख नहीं है। हिन्दीके कवियोंमें तुलसी (रा० च० मा०), केशव (रा० च०), सूदन (सु० च०), श्रीधर (ज० ना०) और रघुराज (रा० स्व०)ने किया है। इस छन्दका प्रयोग प्राय वीर रसके प्रसंगमें युद्ध-वर्णनके लिए किया गया है। तुलसीने लंकाकाण्डमें इस छन्दका उपयोग युद्धके भयानक तथा बीभत्स दृश्यके चित्रणमें किया है। उदा०—'घर मार बोलहिं घोर, रहि पूरि धुनि चहुँ ओर। मुख बाइ धावहिं खान, तब लगे कीन परान'। (रा० च० मा० ६ · १०१)

तोमर २–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। हिन्दीमें यह छन्द मात्रिकरूपमें प्रचलित है, पर केशवने इसे वृत्त-

रूपमें प्रयुक्त किया है, जिसमें सगण और दो जगणोंसे एक चरण बना है । 'प्राकृतपैंगलम्'(२ ८६)में तोमर वृत्त ही माना गया है। दामोदर मिश्र (वा० भू० २ · ९८) और देव(श० र० · प्र० १०)ने भी इसे वृत्त माना है। उदा०–'सुनि रामचन्द्र कुमार। धनु आनिये इक बार। सुनि वेग ताहि चढ़ाउ। जस लोक लोक बढाउ।' (रा० च० ५ ३९)। —पु० शु०

त्रास–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी। आकस्मिक भयसे चित्तक्षोभको त्रास कहते हैं (प्र० रु० य० पृ० २६०)। भरतके अनुसार वज्रपात, उल्कापात, मेघगर्जन, भयानक वस्तु अथवा पशुके दर्शनसे यह मनोवेग होता है। संक्षिप्त कम्पन, रोमाच, गद्गद वाणी इत्यादि अनुभावोंसे इसकी अभिव्यक्ति होती है (नाट्य० ७ . ९१ ग)। सागरनन्दी एव रामचन्द्र और गुणचन्द्रने इसको भयसे पृथक् बताया है। 'नाट्यदर्पण'के अनुसार विद्युत्पात, महाभैरवनाद एव भयानक प्राणियों तथा शव इत्यादिके दर्शनसे जो आकस्मिक उद्वेगकारी मन क्षोभ होता है वह त्रास है, परन्तु अनर्थकी सम्भावनासे निरुत्साह होना भय है। दूसरे शब्दोंमें त्रास सचारी एव भय स्थायी है, एक आकस्मिक तो दूसरा 'पूर्वापरके विचार'से उत्पन्न होता है। 'दशरूपक'में इसका बहुत सुन्दर उदाहरण माघके 'शिशुपालवध' महाकाव्यके जलविहार वर्णनसे दिया गया है, जब कि तरुणियोंके जलमें रहनेपर पाससे उनको छूकर छोटी मछलियाँ जाती हैं तो उन्हें त्रास संचारी भाव होता है।

हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने उपर्युक्त लक्षणका अनुसरण किया है। देवने 'त्रास'की परिभाषा देकर 'भय'से उसका अन्तर भी स्पष्ट किया है—'घोर श्रवन दरसन सुमृति, तंभ पुलक भवगात। छोभ होइ जो चित्तमें, त्रास कहत कवि तात।' और अन्तर है 'अकसमात तैं त्रास अरु विचार तें भयरीति' (भाव० । सचारी०)। अन्योंने इस प्रकारका सामान्य लक्षण ही दिया है—'जहाँ कौन हूँ अहित तें, उपजत कछु भय आय।' (जगत० ५५६)।

प्रकृतिके उद्दीपक रूपसे नायिका सन्त्रस्त है—'कवि ग्वाल चमक अचानककी लखतै ललना मुरझाय गयीं-सी। थहरायी गयीं, हहरायी गयीं, पुलकाय गयी, पलन्हाय गयीं-सी।' (र० मं० पृ० १५०)। इसी प्रकार 'काव्य-दर्पण'में विद्यापतिसे एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—'सखि परवोधि सपन तल आनी। पिय हिय हरष धपल निज पानी। छुइते राङ मलिन भै गैली। विधु करे कुमुदिनी मलिन भेली।' कृष्णके स्पर्शसे राधाके मलिन होनेमें 'त्रास'की व्यंजना है। —ज० कि० व०

त्रिक–कश्मीर शैव साहित्यकी त्रिक सज्ञा है। यह त्रिक आगम-शास्त्र, स्पन्द-शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र, इन तीनोंका बोध कराता है। साथ ही यह परा, अपरा और परात्परा इन तीन अवस्थाओंका बोध कराता है। इसके अलावा शैव दर्शनके अभेद, भेद और भेदाभेद, तीन पक्षों का द्योतन कराता है। यह इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्तियों तथा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, तीन वाचाओंको भी सकेतित करता है। इसीलिए कभी-कभी कश्मीर शैव दर्शन 'त्रिक दर्शन'के नामसे भी आख्यात होता है। इस त्रिक दर्शनका सबसे बड़ा अनुशासन समरसता है। यह प्रकृतिको साख्यकी तरह एकदम निरपेक्ष सत्ता नहीं देता और अद्वैत वेदान्तकी तरह निष्केवल ब्रह्मके रूपमें भी इसे नहीं स्वीकार करता है। यह मानवस्वभावके सभी पक्षोंको निर्दिष्ट करनेका प्रयत्न करता है, क्योंकि इसके अनुसार चैतन्यस्वरूप होनेके कारण शिव प्रत्येक वस्तुके साथ तादात्म्य स्थापित कराके ज्ञान कराते हैं, अपनी शक्तिके साथ सदा लीलारत होनेके कारण प्रीति जगाते हैं तथा शक्तिके ऊपर वशी होनेके कारण अप्रतिहत इच्छाशक्ति भी पैदा करते हैं। —वि० नि० मि०

त्रिकाया–दे०–'चार काया'।

त्रिकुटी–दे०–'हठयोग'।

त्रिभंगी १–मात्रिक समछन्दका एक भेद, 'प्राकृतपैंगलम्'-के अनुसार ही (१ १९४) भानुने इसके प्रत्येक चरणमें १०, ८, ८, ६की यतिसे ३२ मात्रा मानी है तथा अन्तमें ग(S)का निर्देश किया है (छ० प्र० पृ० ७२)। यह छन्द अलंकृत छन्द कहला सकता है, क्योंकि इसके चरणकी प्रत्येक यतिपर यमकका प्रयोग 'प्राकृतपैंगलम्'से ही स्वीकृत रहा है। इसका प्रयोग तुलसी (रा० च० मा०), केशव (रा० च०), मान (रा० वि०), सदानन्द (रासालग०), सूदन (सु० च०), पद्माकर (हि० वि०), जोधराज (ह० रा०) तथा रघुराज (रा० स्व०)ने प्रधानत किया है। तुलसीने इसके प्रत्येक चरणमें केवल १०, ८, १४पर यति तथा यमकका प्रयोग किया है और इसका एक सीमातक अनुसरण केशव तथा रघुराजने भी किया है—'परसत पद पावन, शोक-नसावन, प्रकट भई तप पुज सही।' (रा० च० मा० १ २११)। इस छन्दकी उतार-चढावके साथ चलनेवाली गति वर्णनोंमें क्षिप्रता अथवा भावावेग व्यक्त करनेके उपयुक्त है। तुलसीने स्तुतिमें इसका प्रयोग किया है। वीरकाव्योंमें वीर तथा सहकारी रौद्र और बीभत्स रसोंमें यह प्रयुक्त हुआ है—'फिरि फेरि झटकैं, सौंग सटकैं, मारु करैं।' (सु० च० २ ८)। सुन्दरने 'गुरुदेव-सतपदी', 'ब्रह्मविद्याश अष्टक' तथा 'गुरु-कृपा-अष्टक'में प्राय इसका उपयोग किया है। केशवने शृंगार रसमें भी इसका प्रयोग किया है–'नाचैं नव नारी, सुमन शृँगारी, गति मनुहारी, सुख साजै।' (रा० च०)।

भानुके अनुसार त्रिभगीके चौकलोंमें जगण (ISI)का प्रयोग वर्जित होता है। जगणका प्रयोग होनेपर इस छन्दका नाम **शुद्धध्वनि** होता है–'अति वल उदाग नृप, साह अग्ग जब, समर मग्ग चलि, खग्ग करे।' (चिन्तामणि भानु)। यमकका प्रयोग आवश्यक नहीं माना गया है। —मं०

त्रिभंगी २–मात्रिक छन्द भी होता है और दण्डक वर्णिक भी। मात्रिक त्रिभगीमें ३२ मात्राएँ होती हैं, १०, ८, ८, और ६ पर यति होती है तथा अन्तमें गुरु होता है। हिन्दीमें मात्रिक छन्दका ही विकास हुआ है। प्रार्थना-परक भाव तथा स्तुतिपरक भावोंके लिए भक्तिकालमें इसका व्यवहार बहुत प्रचलित था। तुलसी, केशव आदि कवियों-का यह प्रिय छन्द रहा है। यों इसका प्रयोग पुष्पदन्त-(१० श० ई०)के काव्यमें भी मिलता है। त्रिभगी अपभ्रंश-कालके मुख्य छन्दों यथा तोटक, तोमर, दोहाके साथ गिना

जाता है। तुलसीदासकी स्तुतियोंमें इस छन्दका विशेष प्रयोग दिखलाई पड़ता है—यथा 'परसत पद पावन, शोक नसावन, प्रगट भई तप पुंज सही।' अथवा 'भये प्रकट कृपाला दीन दयाला कौसल्या हितकारी।' (रा० च० मा० १)। वीर रसके वर्णनमें भी इसका प्रयोग हुआ है, जोधराजने 'हम्मीर रासो' तथा सूदनने 'सुजान चरित'में। उदा०—'मुच्छ लुट्टे उट्ठे, जम ज्यों कट्ठे, बाँधे मुट्ठे रोस भरै।' (सु० च० ७ ७: १७)। सुन्दरने भी इसका प्रयोग 'गुरुदयासतपदी' आदि रचनाओंमें किया है।

त्रिभंगी दण्डककी लक्षण-योजनाके सम्बन्धमें पर्याप्त मतभेद है। जयकीर्तिने 'छन्दोनुशासन' (अ० २ २६८)में त्रिभंगीका लक्षण दिया है—'नसभन तजतनय।' इस दृष्टिसे त्रिभंगी छन्द २७ वर्णका होता है। किन्तु 'छन्दप्रभाकर'-(पृ० २११)के अनुसार त्रिभंगी छन्दका लक्षण है न ६+ ससभमनग = ३४ वर्ण। वर्णिक त्रिभंगीका प्रयोग हिन्दीमें नहींके बराबर हुआ है। —ह० मो०

त्रिमार्ग-सिद्धांत—रीतिके स्थानपर कुन्तक (१०,११ श० ई०)ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित'में तीन मार्गवाला त्रिमार्ग-सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। कुन्तकने मार्गको काव्य-रचनामें प्रवृत्त होनेके हेतुरूपमें माना है। उनका कथन है कि 'सम्प्रति तत्र ते मार्गा कविप्रस्थानहेतव।' मार्ग-का आधार उन्होंने देशविशेष या प्रादेशिक शैलीको न मानकर कविके स्वभावको स्वीकार किया है। कवि-स्वभाव-भेदसे ही काव्य प्रस्थान या मार्गके भेद है, क्योंकि वे स्वभावको सर्वोपरि मानते है—'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते।' स्वभाव तीन प्रकारके हैं—सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इसीके आधारपर कुन्तकने सुकुमार, विचित्र और मध्यम, इन तीन मार्गोंका निरूपण करते हुए त्रिमार्गका सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। मार्गके इस प्रकार निर्णयका तर्क देते हुए उन्होंने कहा है कि काव्यकी कसौटी सहृदयोंको आनन्द प्रदान करना है। अत यदि एक रीति या मार्ग एक प्रदेशके लोगोंको आनन्द दे सकता है, तो सभी प्रदेशोंके लोगोंको आनन्द दे सकता है। दूसरे प्रदेशोंके लिए दूसरा मार्ग या शैली निश्चित करना व्यर्थ है, अत उन्होंने सबको आनन्द देनेवाले सुकुमार मार्गको निश्चित किया—'सुकुमाराभिध सोयं येन सत्कवयो गता।' दूसरा मार्ग अरमणीय नहीं है। वह विचित्र विशिष्ट रमणीयतापर आधारित मार्ग है। इस प्रकार यह सिद्धान्त बड़ा तर्कसंगत सिद्धान्त है।

१ सुकुमार मार्ग—कुन्तकके मतानुसार सुकुमार सत्कवियोंका मार्ग है। इसमें कविकी प्रतिभा नवीन शब्द-अर्थकी उद्भावना करती है। इसमें स्वल्पालंकारोंका मनोहारी प्रयोग बिना प्रयत्नके होता है। यह स्वाभाविक वर्णन-सौन्दर्यसे युक्त रसादिका मंजुल समन्वय करनेवाला सहज कौशलसे युक्त होता है। यह मनको रमानेवाला, विधाताके रचनावैचित्र्यके समान प्रतिभासे उद्भूत नवनिर्माणकी शोभावाला मार्ग है। इस प्रकार भव्यता, सहज सौन्दर्य, सरसता, मधुरता, प्रतिभाजात चमत्कृति, रमणीय अनायास रचित अलंकारोंकी शोभासे दीप्त, सुकुमार वह मार्ग है जिसमें सत्कवि चलते है, जैसे कि भौंरे प्रफुल्ल काननके मार्गमें। सुकुमार मार्ग माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभि-जात्य इन चार गुणोंसे सम्पन्न होता है।

२ विचित्र मार्ग—विचित्र मार्ग आलंकारिक मार्ग है। इस मार्गमें अलंकारोंकी छटाका आकर्षण और चमत्कार प्रधान रहता है। एक अलंकारमें दूसरे अलंकार जुड़ते जाते हैं। यह मार्ग विभिन्न शब्दार्थ-वक्रताकी रंगीनीसे जगमगाता रहनेवाला होता है। इसमें अतिशयोक्तिका विलास क्रीडा करता है। यह सहज और अनायास मार्ग न होकर यत्नसाध्य और कृत्रिम सजावटवाला मार्ग माना गया है। आलंकारिक अतिरंजना और उक्तिवैचित्र्य इसका प्राण है।

३ मध्यम मार्ग—सहज शोभावाले सुकुमार मार्ग तथा आहार्य (बनावटी) चमत्कारवाले विचित्र मार्ग, दोनोंकी विशेषताओंसे सम्पन्न मार्ग मध्यम मार्ग है। —म० मि०

त्रिवेणी—दे०—'हठयोग'।

त्रोटक—इसमें पाँच, सात, आठ या नौ अंकोंका विधान होता है। इसके पात्रोंमें मनुष्य और देवता दोनों रहते हैं। इसमें अंगी रस शृंगार रस और प्रत्येक अंकमें विदूषककी योजना की जाती है। शेष बातोंमें नाटकसे समानता रखना है। उदा०—'स्तम्भितरम' (७ अंक), 'विक्रमोर्वशीय' (५ अंक)। —वि० रा०

थीम—संवाद, सम्भाषण, प्रवचनका विषय, आधारभूत कार्य या चेष्टा, अथवा वह सामान्य प्रकरण या विषय, जिसे कथा-विशेषके द्वारा उदाहृत किया गया हो। हिन्दीमें *थीमको* **कथासूत्र** कह सकते हैं। सी० ई० डब्ल्यू० एल० टाल्हस्ट्राम(दि एनालेसिस ऑव लिटरेरी सिचुएशन)ने कथावस्तुको पाँच मार्गोंमें विभाजित किया है—(१) भौतिक अर्थात् व्यूहाणु(मालीक्यूल्स)के रूपमें मानव, (२) अंगीय (आरगैनिक) अर्थात् प्ररसपिंड(प्रोटोप्लाज्म)के रूपमें मानव, (३) सामाजिक अर्थात् सामाजिक प्राणीके रूपमें मानव, (४) अहभूत अर्थात् व्यक्तिके रूपमें मानव तथा (५) दैवी अर्थात् आत्माके रूपमें मानव। इन मूल कथा-सूत्रोंके आधारपर कलाकृतियोंके नवीन प्रकारके विश्लेषणका मार्ग खुल गया है। टाल्हस्ट्रामने थीम(कथासूत्र)को विषय (सब्जेक्ट), स्थिति, (सिचुएशन) और कथानकसे भिन्न बताते हुए उसे दिशानिर्देशक विचार, अभिप्राय या तात्पर्य, उपदेश या शिक्षा और निश्चितोक्ति कहा है। दे०—'उपन्यास', 'कहानी' —स०

थीसिस—जिस प्रस्तावनाके प्रतिपादनका उद्देश्य यह हो कि उसे सिद्ध किया और तर्क द्वारा पुष्ट बनाया जायगा, उसे थीसिस कह सकते है। कभी-कभी प्रस्तावनाओं और मन्तव्योंमें निहित सत्य स्वत प्रकट नहीं होता। उसके लिए व्याख्या करने और प्रमाण जुटानेकी आवश्यकता पड़ती है। इस रूपमें प्रस्तुत मन्तव्योंको थीसिसकी कोटिमें रखा जा सकता है। व्यापक दृष्टिसे तो किसी भी विशेष अथवा निश्चित विषयपर लिखे गये निबन्धको थीसिस कह सकते हैं, पर थीसिसका इन दिनों प्रचलित वास्तविक अर्थ है—परीक्षार्थी द्वारा किसी डिग्री या डिप्लोमाके लिए प्रस्तुत प्रबन्ध।

छन्दशास्त्र और तर्कशास्त्रमें भी थीसिसका प्रयोग होता है, पर लेखनके अन्तर्गत *थीसिस व्यक्ति-विशेषके* अन्वेषण और विचारका परिणाम है। साथ ही वह मानव-

ज्ञानमें कुछ-न-कुछ योग देती है। थीसिसमें किसी समस्याका विवेचन और निदान होना चाहिये। थीसिस और पेपर, दोनोंमें व्यक्तिगत अन्वेषणका तत्त्व विद्यमान रहता है और सामान्य दृष्टिसे देखा जाय तो इन दोनोंमें आकारका ही अन्तर जान पड़ता है, पर वास्तवमें ये दोनों अनुसन्धानके दो प्रकार हैं। थीसिस वह शोध है, जिसमें कोई केन्द्रीय स्थापना की गयी हो और जो किसी विषयपर नया प्रकाश डालती हो। थीसिसका उद्देश्य यह नहीं होता कि विषयसे सम्बद्ध सारी सामग्री एकत्रमात्र कर दी जाय, अपितु यह कि वैज्ञानिक अन्वेषणकी दृष्टिसे उस सामग्रीकी व्याख्या हो और विवेचन तथा विश्लेषणके बाद कोई शोधगत तथ्य ढूँढ निकाला जाय। अस्तु, थीसिसकी चार प्रमुख आवश्यकताएँ हैं—व्यक्तिगत अन्वेषण, विद्वत्तापूर्ण लेखनके सिद्धान्तोंको मान्यता देना, प्रामाणिकता और किन्हीं निश्चित निष्कर्षोंकी उपलब्धि।

अँग्रेजीमें डाक्टरकी डिग्रीके लिए प्रस्तुत प्रबन्धको डेजर्टेशन भी कहते हैं और थीसिस शब्दका उपयोग प्राय एम० ए० कक्षाके लिए लिखे गये प्रबन्धके अर्थमें किया जाता है। इस दृष्टिसे डेजर्टेशन थीसिसकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर प्रबन्ध माना जाता है, पर हिन्दीमें थीसिस शब्दका प्रयोग एम० ए० और डाक्टरेट, दोनोंके ही लिए लिखे गये प्रबन्धोंके अर्थमें किया जाता है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य भोलानाथ परिशिष्ट क १९३१–४७ तककी हिन्दी थीसिसोंकी सूची। अनुसन्धानका स्वरूप सावित्री सिनहा] —अ० कु०

थेरगाथा—पालीका 'थेर' शब्द सम्स्कृतके 'स्थविर' वृद्ध शब्दसे निकला है। 'गाथा' शब्द सस्कृत तथा पाली, दोनोंमें ही समान रूपसे प्रयुक्त होता है (दे०—'गाथा' १)। यह शब्द सस्कृतकी 'गै' (गाना) धातुसे थन् प्रत्यय तथा स्त्रीलिंग प्रत्यय टाप् लगकर बना है। इस प्रकार 'थेरगाथा' शब्द स्थविरों अर्थात् वृद्ध, पुराने या प्राथमिक बौद्धोंके गीतोंका बोधक है। ये गीत या छन्द साधनाके उन्नत सोपानोंपर पहुँचे हुए बौद्ध सन्तोंके मुखसे बलात् एव अकस्मात निकले हुए वचन हैं, जिनमें उनके अमूल्य अनुभव भरे हुए हैं। इसी प्रकार प्राथमिक बौद्ध साधिकाओंके गीत **थेरीगाथा** कहलाते हैं। इन गाथाओंका सग्रह **'थेरथेरीगाथा'** नामसे 'सुत्तपिटक'के 'खुद्दकनिकाय'के अन्तर्गत हुआ है। —आ० प्र० मि०

दक्खिनी (दकनी, दखनी)—भाषा तथा साहित्यिक सन्दर्भमें इस शब्दका प्रयोग उस भाषाके लिए किया जाता है जिसका प्रयोग दक्षिणके बहमनी वश तथा बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगरसे सम्बन्धित मुसलमान कवियों और लेखकोंने साहित्यके क्षेत्रमें १५वीं शतीसे १८वीं शतीतक किया और जो इन राज्योंकी राजभाषाकी तरह सम्मानित थी तथा जो आज भी इन जिलोंमें बसनेवाले ग्रामीण, अशिक्षित मुसलमानों द्वारा प्रयुक्त की जानेके कारण मुसलमानी नामसे प्रसिद्ध है।

दकनी या दक्खिनी शब्दका प्रयोग इन कवियोंने हिन्दी और हिन्दवी (मध्यकालीन विशिष्ट अर्थ)के समानार्थक रूपमें किया है। हिन्दी या हिन्दवीका दक्खिनी कहलाना केवल इन दक्खिनी राज्योंके सम्बन्धके कारण है, क्योंकि हिन्दी या हिन्दवी बोलनेवाले उत्तरके ये शासक, सैनिक, सूफी दक्षिणमें बस गये थे। इस प्रदेशमें उस समय भी भारतीय आर्य भाषाकी मराठी अथवा द्राविड भाषाओंकी तमिल, तेलुगु और कन्नड बोली जाती थी। उत्तरसे आये इन मुसलमानोंने इन भाषाओंको न अपनाकर बोलचाल तथा साहित्यमें उसी भाषाका प्रयोग किया, जिसे वे उत्तरसे लाये थे। ये मुसलमान शासक तथा सैनिक दिल्ली और मेरठक्षेत्रसे ही आये थे, अतएव इनके द्वारा प्रयुक्त भाषामें मध्ययुगीन खड़ीबोली और बाँगरूका नमूना सुरक्षित है।

दक्खिनीका साहित्य हिन्दी साहित्यकी बहुत बड़ी निधि है। जिस समय उत्तरी भारतमें खड़ीबोली केवल बोलचालकी भाषा थी उस समय दक्षिणमें इन राज्योंका सरक्षण पाकर उसमें साहित्य लिखा गया। दक्खिनीके प्रथम ग्रन्थकार ख्वाजा बन्दानवाज (१३१८-१४३२ ई०) माने जाते हैं। इनका ग्रन्थ 'मिराजुल आशिकीन' खड़ीबोली-गद्यका प्राचीनतम नमूना है। दक्खिनीका पहला कवि निजामी था, जो बहमनी सुलतान अहमदशाह तृतीयके शासनकाल- (१४६०-६२)में मौजूद था। 'कदमराव व पदम' पहली रचना है। मुल्ला वजहीका प्रसिद्ध गद्य ग्रन्थ १६३५ ई० में लिखा गया। गवासीकी 'मसनवी सैफुलमुल्क' एव 'बदीउज्जमाल' (१६२६ ई०) एव 'तूतीनामा' (१६३९), वजहीकी 'कुतुब मुश्तरी' (१६०९ ई०), इब्न निशातीकी 'मसनवी फूलबन' (१६५५ ई०) प्रसिद्ध काव्यकृतियाँ हैं। गोलकुण्डाके कुतुबशाही सुलतान खुद अच्छे कवि थे। मु० कुली कुतुबशाहकी रचनाएँ कुल्लियातके रूपमें प्रकाशित हो चुकी हैं। वली औरगाबादी दक्खिनीके अन्तिम कवि और उर्दूके प्रथम कवि कहे जाते हैं।

दक्खिनीके कवि यद्यपि सभी मुसलमान थे, किन्तु किसीने क्या भाषा, क्या भाव, प्रत्येक क्षेत्रमें भारतीयता नहीं छोड़ी। लिपि केवल फारसी है। धार्मिक साहित्यमें अवश्य फारसी-अरबीके शब्द हैं, किन्तु आजकी उर्दूसे बहुत ही कम, जो हैं भी वे तद्भवरूपमें मिलते हैं। अनेक सस्कृत शब्द तत्सम और तद्भवरूपमें प्रयुक्त हुए हैं। इस साहित्यकी सबसे बड़ी विशेषता है कि यह राज्य-सरक्षण पाकर सब प्रकारसे प्रामाणिक साहित्य है।

[सहायक ग्रन्थ—दक्खिनी हिन्दी बाबूराम सक्सेना] —मा० व० जा०

दक्षिण नायक—दे०—'नायक' (शृगार)।

दग्धाक्षर—दे०—'वर्ण'।

दयावीर—दे०—'वीर रस'।

दलगत मूल्य—दे०—'मूल्य'।

दलित वर्ग—यह समाजका निम्नतम वर्ग होता है, जिसको विशिष्ट सज्ञा आर्थिक व्यवस्थाओंके अनुरूप ही प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, दास-प्रथामें दास, सामन्तवादी व्यवस्थामें किसान, पूँजीवादी व्यवस्थामें मजदूर समाजका दलित वर्ग कहलाता है। —रा० कु० त्रि०

दशक—दे०—'मुक्तक काव्य'।

दशधा भक्ति—नवधा भक्तिमें प्रेमलक्षणा भक्तिके जुड़ जानेसे भक्तिके दस प्रकार हो जाते हैं। (दे०—'प्रेमलक्षणा

भक्ति,' 'नवधा भक्ति' ।) —वि० मो० श०

दशम द्वार—दे०—'हठयोग' ।

दाक्षिणात्या प्रवृत्ति—दे०—'प्रवृत्ति', चौथी ।

दादावाद—दादा या दादावाद आधुनिक यूरोपीय कलामें एक आन्दोलन था, जिसका आरम्भ १९१६ ई० में ज़्यूरिकमें हुआ। जीन आर्प(जाँ आर)ने अपने साथियोंके साथ इस आन्दोलनका प्रवर्तन किया और यह प्रथम महासमरके पूर्व ही अपनी पराकाष्ठाको पहुँच गया। इसका सचालन और प्रचार 'कबरे वोल्वेर', 'तीन सौ इक्यानवे', 'दादा' आदि पत्र-पत्रिकाओं और निहिलिस्त चित्र-प्रदर्शनियोंद्वारा हुआ। कुछ जीवनसे जले-कटे तरुण-तरुणियाँ एकत्र हुए, जिनका कहना था कि जीवनने उनके साथ दगा किया है, और उन्होंने इस ससारके इस अनैतिक स्वभावके भण्डाफोड़का बीड़ा उठाया। यह उन्होंने सारे परम्परागत तर्क, कला, सस्कृति आदिपर प्रहार कर किया। चित्रमें आकस्मिक और अप्रत्याशितका आवाहन कर उन्होंने कलामें एक नयी धारा प्रवाहित की। आर्प और अर्न्स्टके 'फातागागा' चित्र इसी परम्पराके हैं। उनका कलाके साधारण रसवादी सौन्दर्यसे कोई सम्बन्ध नहीं। अन्य भी अनेक रूपोंसे उन्होंने परम्परागत सस्कृतिका उपहास किया। जैसे लियोनार्दो द विंचीके प्रसिद्ध चित्र 'मोनालीजा'में मोनालीजाके मूँछें बनाकर फिरसे चित्रित किया। दूशाँका चित्र 'चश्माँ' भी इसी प्रकारका था, जो वास्तवमें चश्मा या फव्वारा नहीं, मात्र मूत्रालय था और जिसे उसने १९१७ ई० में नियोजित न्यूयार्ककी एक चित्रप्रदर्शनीमें प्रदर्शित किया था।

दादावादका अतियथार्थवाद(दे०)से घना सम्बन्ध है। उसे समझे बगैर इसको समझ सकना जरा कठिन है, इससे उसपर भी दो शब्द यहाँ कह देना अनुचित न होगा। सुररियलिज्म या अतियथार्थवादमें साधारणतया परस्पर सम्बन्धित वस्तुओंको एकत्र कर उनसे प्रजनित शुद्ध यथार्थसे ऊपर एक नये अतियथार्थका दर्शन किया जाता है। यह दादावादकी ही उत्तर-संज्ञा थी। दादावादके परम्परागत प्रहारको इसने ओर आगे बढाया और साधारण सर्जनात्मक अंकनकी जगह अवचेतनको विशृंखलित कर स्वप्न अथवा सुषुप्त चेतनाको कलामें प्रतिबिम्बित किया। फिर भी इसने कला और साहित्यका विनाश न कर एक नये कलात्मक सर्जनकी व्यवस्था की। अतियथार्थवादियोंका दावा है कि हमारी सारी प्रकट क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ हमारे अवचेतन और अर्धचेतन स्वभावसे प्रभावित रहती हैं, जिन्हें स्वरूपसे हम कलाधारमें व्यक्त कर सकते ह। इस दृष्टिके बावजूद अतियथार्थवादी कृतियोंमें अनायास और आकस्मिक-अप्रत्याशितकी जगह असाधारणतया आयोजित कल्पनाका समावेश होता है। आकस्मिक और अप्रत्याशित उनमें केवल निरूपित वस्तुओं और चित्रित पदार्थों या विषयोंके सान्निध्यमें है, पर यह सान्निध्य स्वयं अत्यन्त चिन्तित व्यवस्थाका परिणाम होता है, नितान्त सचेत और तर्कसम्मत प्रयासका। अतियथार्थवादी चित्रणके विशेषत दो प्रकार हमें आज उपलब्ध हैं। एकके प्रतिनिधि तो साल्वादोर दाली और तांगुईके चित्र हैं, जिनमें कालकी गति और स्वप्निल वातावरणका फैली अग्रभूमिमें प्रचुर समावेश होता है और जिसके अवयव नितान्त स्पष्ट और रंग साफ़ होते हैं। इसके दूसरे प्रकारके चित्रों(मासों और आर्पके बनाये)में प्रातिनिधिक रूपकी छाया कम, विकरालता अधिक होती है। इसमें प्रक्षिप्त वस्तुका रूप विकृत कर दिया जाता है।

दादावादके प्रधान चित्रकार जीन आर्प और अर्न्स्ट माक्स हैं। आर्प (१८८८ ई०) अतियथार्थवादी दृष्टिकोणका चित्रकार, मूर्तिकार और सिद्धान्त-निरूपक है और उसका प्रभाव फ्रांस, जर्मनी और स्विट्‌जरलैण्डके चित्रकारोंपर गहरा है। वह प्रभाव अब अमेरिकाके कलाकारोंको भी वशीभूत कर चुका है। उसके चित्रणमें रूप अधिकतर काष्ठवत् होता है, जिसे वह विविध रगोंके सम्पुंजनसे प्रस्तुत करता है। उसमें एक उपहासास्पद प्रवृत्ति होती है, जो अप्रत्याशित वस्तुओंके एकत्रीकरणसे और भी घनी हो जाती है। अर्न्स्ट माक्स (१८९१ ई०) भी दादावादके प्रवर्तकों और अग्रणी चित्रकारोंमें है। वह अपनी शैलीके दो लक्षणोंसे विशेष प्रसिद्ध हुआ है। इन लक्षणोंके अब विशिष्ट नाम पड गये है—कोलाज और फ्रोताज। कोलाजके माध्यमसे अर्न्स्टने प्रकट किया कि दो नितान्त असम्बन्धित क्षेत्रोंके विचार और रूप एकत्र कर दिये जानेपर एक सर्वथा अप्रत्याशित अनुभूति अभिव्यंजित कर सकते हैं। इस प्रकार वह कागजके ऊपर दो फोटोग्राफके टुकडे पास-पास चिपकाकर उनके बीचकी जमीनपर रंग भरकर एक नया यथार्थ और वस्तु-तथ्य प्रस्तुत कर देता है, जो उन टुकड़ोंसे पृथक्‌ द्योतित नहीं होता। कोलाजका अर्थ ही चिपकाना होता है। अर्न्स्ट और आर्पके दादावादी फातागागा-चित्र इसी परम्पराके हैं। इस प्रवृत्तिकी दूसरी टेकनीक फ्रोताज कहलाती है। फ्रोताजका अर्थ है (घर्षण द्वारा) रगड़ना। इस दृष्टिमें एक सिद्धान्त है। वह यह कि दादावादी मानता है कि काष्ठादिके कणोंमें गति और रूप निहित है। इससे उसका विश्वास है कि जब वह उस पदार्थपर कागज रखकर उसपर ग्रेफाइटसे रगड़ता या घिसता है, तब वह कागजपर मूल पदार्थका रूप-गतिक भाव खींच लेता है। अर्न्स्ट माक्सने दादावादके प्रचारमें जीन आर्पका बडा साथ दिया। फिर वह शुद्ध सुररियलिस्ट हो गया। वस्तुत अतियथार्थवाद और दादावादमें बहुत कम अन्तर है, इसीसे अर्न्स्ट और आर्प दोनों अतियथार्थवादी भी कहे जाते हैं। दे०—'अतियथार्थवाद'।

[सहायक ग्रन्थ— सुररियलिज्म : सं० हर्बर्ट रीड]। —भ० श० उ०

दादूपंथ—इस सम्प्रदायके संस्थापक सन्त दादू (१५४४-१६०३ ई०) थे। यह सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय या परब्रह्म सम्प्रदायके नामसे भी प्रसिद्ध है। दादूके सुप्रसिद्ध शिष्य सन्त कवि सुन्दरदास एवं रज्जब साहबने अपनी रचनाओंमें पारब्रह्म या परब्रह्म-सम्प्रदायका उल्लेख किया है। दादूके आदिगुरु स्वयं परब्रह्म थे। इसी कारण इसका नामकरण परब्रह्म-सम्प्रदाय हुआ। परशुराम चतुर्वेदीके मतसे इस सम्प्रदायका स्थापनाकाल १५७३ ई० है। क्षितिमोहन सेनके मतमें सम्प्रदायकी स्थापना दादूने गृहस्थ-जीवनमें प्रवेश होनेके अनन्तर की। 'दादू जन्म-लीला परची' में

ज्ञात होता है कि इस सम्प्रदायका संस्थापन १५८३ ई० के निकट हुआ। दादूपन्थकी नाद-कुल-परम्परा बुढ्ढनसे प्रारम्भ होती है। एच० एच० विल्सनके मतसे बुढढन सन्त कबीरके शिष्य थे। दादूने प्रस्तुत पन्थकी स्थापना अपने साथियोंकी मण्डलीमें आध्यात्मिक विषयोंपर चर्चाके द्वारा की थी। पन्थकी स्थापनाका प्रमुख उद्देश्य एव आदर्श निम्नलिखित पदसे स्पष्ट हो जाता है–

'भाई रे, ऐसा पन्थ हमारा।
द्वैपप रहित पन्थ गहि पूरा, अवरण एक अधारा।
वाद विवाद काहू सौं नाहीं, माहीं जग थे न्यारा।
समदृष्टि सुभाइ महज मैं, आपहिं आप विचारा ॥१॥
मैं तैं मेरी यहु मति नाहीं, निर्वैरी निरकारा।
पूरण सवै देपिया आपा पर, निरालव निर्धारा ॥२॥
काहूके सँग मोह न ममिता, संगी सिरजनहारा।
मन ही मन सौं समझि सयाना, आनँद एक अपारा ॥३॥
काम कल्पना कदे न कीजै, पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पंथि पहुचि परगहि दादू, सोतत सहजि सँभारा ॥४॥'

दादूपन्थकी विचारधारापर कबीरपन्थ (दे०), सूफी दर्शन तथा उपनिषद् साहित्यका प्रभाव स्पष्ट रूपसे पड़ा है। 'दादू जन्म-लीला परची'से ज्ञात होता है कि सम्राट् अकबर, अबुलफजल, राजा भगवन्त सिंह, बीरबल, बुलन्द खाँ, जैमल, माधवदास आदि दादूपन्थके उच्चादर्शोंसे प्रभावित थे। दादूके निधनके अनन्तर अच्छे प्रचारकों और संघटनकर्ताओंके अभावमें दादूपन्थका विकास कई उपसम्प्रदायोंमें हो गया। महन्त जेतरामके समयमें इस पन्थके अन्तर्गत उपसम्प्रदायोंका विकास हुआ। ये उपसम्प्रदाय हैं–खालसा, नागा, उत्तरगढी, विरक्त, खाकी। खालसाका केन्द्र नरानेमें है। नागा सम्प्रदायके प्रवर्तक बडे सुन्दरदास थे। उत्तरगढीके संस्थापक बनवारीदास थे। विरक्त सम्प्रदायके अनुयायी घूम घूमकर दादूके उपदेशोंका प्रचार करते रहे, अत इनका कोई एक विशेष स्थान नहीं है। खाकी भी विरक्तोंके समान भ्रमणशील है। १९११ ई० की जयपुर राज्य-जनसख्यामें दादूपन्थियोंकी सख्या ७०४१ उल्लिखित है। सन् १९२१ ई० की जनसंख्यामें दादूपन्थियोंकी संख्या ५१४० मानी गयी है। परन्तु इन उल्लेखोंसे दादूपन्थकी जनप्रियताका ठीक-ठीक अनुमान नहीं हो सकता। दादूके प्रमुख शिष्योंकी सख्या ५२ है, जिनमें सुन्दरदास, रज्जब, गरीबदास, जगजीवन, वषनाजी, भिस्किनीदास, वाजिदजी, फकीरदास आदि अपनी काव्य-प्रतिभा एव साधनाके कारण विशेष प्रसिद्ध हुए। पन्थके वर्तमान महन्तके अनुसार आज भी दादूपन्थियोंकी सख्या एक लाखसे कम नहीं है।

दादूपन्थमें जितने कवियोंका आविर्भाव हुआ उतने निर्गुणधाराके किसी भी सम्प्रदायमें नहीं हुआ। दादूने स्वयं बीस सहस्र पद, साखियों और बानियोंकी रचना की। दादूके शिष्य सन्तदास एव जगन्नाथदासने 'हरदेव-वाणी' नामसे एक काव्य-सग्रह किया है। जनगोपालने 'जीवन-परची'की रचना की। रज्जबने प्राय ५३५२ छन्दोंकी रचना की। वाणी और 'सर्व्वांगी' इनकी दो प्रमुख रचनाएँ हैं। सुन्दरदासने बयालीस ग्रन्थोंकी रचना की। 'ज्ञानसमुद्र' और 'सर्वांगयोगप्रदीपिका' इनके श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। गरीबदासने २३००० छन्दोंकी रचना की। इन्होंने भी १५ ग्रन्थोंकी रचना की। राघोदास दादूके प्रमुख शिष्य थे। इनका 'भक्तमाल' बहुत प्रसिद्ध है। साधु निश्चलदासके 'विचार सागर'में वेदान्त और योगका प्रतिपादन हुआ है। वषना, जगजीवन आदिने भी सहस्रों छन्दोंकी रचना की। सुन्दरदास इस पन्थके सर्वश्रेष्ठ कवि थे। ये भाषा और व्याकरणके पण्डित थे।

दादूपन्थी साहित्यमें परमतत्त्व या ब्रह्म परमपद, निर्वाण, शून्य, सहज सत्य आदि नामों द्वारा अभिहित हुआ है। परमतत्त्व अनिर्वचनीय और प्रेमका प्रदर्शक है। वह जगन्मय और जगत् ब्रह्ममय है। ब्रह्म जगत्का निमित्त एव उपादान है। वह सहज 'सुन्न' है, इसी सहज शून्यसे सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी, जल, पावक आदि उत्पन्न हुए हैं। उसने रहस्यमय विनोदके लिए संसारकी रचना की है। सृष्टिका कारण ओंकार है। सब घटोंमें एक ही आत्मा व्याप्त है। वह परमतत्त्व ससारका सर्वश्रेष्ठ सेवक है। वह वासनारहित होकर सबकी समान रूपसे सेवा करता है। वायु, सूर्य, चन्द्रादि उसीके सेवा-भावका अनुकरण किया करते हैं। साधकको इन्द्रलोक, सत्यलोक, शिवलोक, विहिश्त या परमपद इसी जीवनकालमें प्राप्त हो जाता है। जिस शरीरके संशय नष्ट हो गये हैं वही जीवन्मुक्त है। बाह्याडम्बर त्याज्य और माया है।

काव्य-कलाकी दृष्टिसे दादू, सुन्दरदास और रज्जबका साहित्य महत्त्वपूर्ण है। दादू साखी-रचनामें बहुत कुशल थे और सुन्दरदास सवैया लिखनेमें। जगजीवन अरिल्लोंके लिए प्रसिद्ध हैं और रज्जब अपने पदोंके लिए। वेदान्त और उपनिषदोंका ज्ञान दादूपन्थियोंके साहित्यमें भरा पड़ा है। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें दादूपन्थका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। सम्भवत इतने उत्कृष्ट कवि हिन्दीसे सम्बन्धित किसी सम्प्रदायमें नहीं हुए। इनकी रहस्यानुभूति बहुत सुन्दर और प्रभावशाली है।

[सहायक ग्रन्थ–(१) हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, (२) दादू क्षितिमोहन सेन, (३) सुन्दर दर्शन त्रिलोकीनारायण दीक्षित।]—त्रि० ना० दी०

दानवीर–दे०—'वीर रस'।

दास्यरस–दे०—'भक्ति'।

दिवाभिसारिका–दे०—'अभिसारिका', नायिका।

दिवास्वप्न (day-dreams)–दिवास्वप्न आत्यन्तिक कल्पनाका एक रूप तथा मनुष्यके स्वभावका अग है। वास्तविक जीवनमें कुण्ठित, निराश अथवा असफल व्यक्ति दिवास्वप्नोंके द्वारा अपनी दमित अथवा अतृप्त इच्छाओंकी पूर्ति करता है। छोटे बच्चे अपने प्रखर दिवास्वप्नों और वास्तविकतामें अन्तर नहीं कर पाते। किशोरावस्थामें हवाई किले बनाना और उनमें खोये रहना एक सर्वव्यापी लक्षण है। बचपन और कैशोरमें दिवास्वप्न प्राय तीन प्रकारके होते हैं—पोषित सन्तान, वीर नायक और अपनी मृत्यु सम्बन्धी। पहले प्रकारके दिवास्वप्नोंमें व्यक्ति यह कल्पना करता है कि उसके प्रस्तुत माता-पिता असली माता-पिता नहीं हैं, वे केवल उसके तत्कालीन अभिभावक

है और असली माता-पिता श्रेष्ठतर तथा अभिजात कुलोत्पन्न हैं। वीरनायक सम्बन्धी दिवास्वप्नोंमें व्यक्ति अपनेको किसी युद्धमें विजेता, अथवा विज्ञान, साहित्य, खेल आदिके क्षेत्रमें अन्यतम रूपसे सफल या किसीकी रक्षा करके लोगोंकी प्रशंसाका पात्र हो जानेकी कल्पना करता है। मृत्युविषयक दिवास्वप्नमें व्यक्ति कल्पना करता है कि मैं मर गया हूँ, सब सम्बन्धी और मित्र शवके पास खड़े रो रहे हैं और एक लम्बे जुलूसमें श्मशानकी ओर शवयात्रामें जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त दिवास्वप्न यौन विषयों अथवा किसी भी महत्त्वाकांक्षाको लेकर हो सकते हैं। कविता, कथासाहित्य और चित्रकलामें दिवास्वप्नोंकी अभिव्यक्ति हमें प्राय मिलती रहती है। —आ० रा० शा०

दिव्य—'दिव्य'का अर्थ है शपथ लेना अथवा भोजपुरीमें 'किरिया लेना'। यह संस्कृत शब्द 'दैविकी क्रिया'का विगड़ा रूप है, जो सत्की परीक्षाके लिए की जाती थी। 'दैविकी'का धीरे-धीरे लोप हो गया और मात्र 'किरिया' अपने अपभ्रंश रूपमें प्रचलित रहा। लोकसाहित्यमें दिव्य-का उल्लेख केवल स्त्रियोंके सतीत्वकी परीक्षाके सम्बन्धमें आता है। याज्ञवल्क्य और नारद-स्मृतियोंके मतसे दिव्य सूर्य उगनेपर अथवा पूर्वाह्नको दे देना चाहिये। 'किरिया लेने'के लिए लोकगीतोंमें छ प्रकारके दिव्योंका उल्लेख उपलब्ध है—अग्नि, आदित्य, जल, तुलसी, तैल और सर्प-दिव्य। जल दिव्य 'गंगा विचार', तैल दिव्य शास्त्रानुसार 'तप्तमाषदिव्य' और सर्प-दिव्य 'घटसर्प दिव्य' है। तुलसी और आदित्य-दिव्योंका स्मृतियोंमें उल्लेख नहीं है। प्राय परदेशी पतिके लौटनेपर पत्नीके पातिव्रत धर्मका प्रमाण किरिया लेकर ही गीतोंमें दिया गया है। यही प्रथा कहीं-कहीं 'विचरवा लेना' भी कही जाती है। —श्या० प०

दिव्यानुभूति—रहस्यानुभूति, विलक्षण अनुभूति। दे०—'अनुभूति'।

दीपक—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रयवर्गका एक अर्थालंकार, जो दीपकन्यायपर आधारित है। एक स्थानपर रखा हुआ दीपक बहुत-सी वस्तुओंको प्रकाशित करता है। यह भरतके समयसे स्वीकृत रहा है। भरतने वस्तुत इसमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत भाव स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार दीपक एक क्रिया द्वारा भिन्न अधिकरण शब्दोंका चमत्कारी संयोगमात्र है। उद्भट तथा वामन आदिने दीपक अलंकार-में उपमानोपमेय भावका अन्तर्भूत होना आवश्यक माना है—'उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम्' (का० सू० वृ० . ४ ३ १८)। परन्तु रुद्रटके अनुसार दीपकके बन्ध-विन्यास अर्थात् अनेक वाक्यार्थोंमें एक क्रियापद अथवा उनमें एक कारकपदकी रचनाका चमत्कार अपेक्षित है—'यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति। तद्वत्कारक-पदमपि तदेतदिति दीपकं द्विधा।' (काव्यालंकार ७ . ६४)। इसी आधारपर उन्होंने इसके भेद भी माने हैं। मम्मटने अपनी परिभाषामें उद्भट तथा रुद्रट, दोनोंके दृष्टिकोणका समन्वय किया है—'दीपक अलंकारमें प्रकृत और अप्रकृतके धर्मका एक बार कथन हुआ करता है तथा वहाँ भी जहाँ एक ही कारकका अनेक क्रियाओंमें सम्बन्ध विवक्षित रहता है।' (का० प्र० १० १०३)। मम्मटने प्राचीन आलंका-रिकोंके निरूपित भेद आदि, मध्य आदिक नहीं माने हैं। विश्वनाथने प्रस्तुत-अप्रस्तुतके एक धर्मसे सम्बन्धित होनेका कथन करके मम्मटका अनुसरण ही किया है (सा० द० ४९) तथा भेदोंके सम्बन्धमें भी दृष्टिकोण समान है। जयदेवने प्रस्तुत-अप्रस्तुतकी तुल्यताको ही दीपक माना है (चन्द्रालोक ५ . ५३)। जगन्नाथने दीपकको तुल्ययोगिताके अन्तर्गत स्वीकार किया है।

हिन्दीके आचार्योंने प्राय 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलया-नन्द'के आधारपर इसे स्वीकार किया है—'वर्न्य अवर्न्यनिको नहाँ, धरम होत है एक।' (ल० ल० १३५)। चिन्तामणि तथा कुलपति आदि कुछ ही आचार्योंपर 'काव्यप्रकाश'का प्रभाव स्पष्ट है। दासका लक्षण भिन्न है—'एक सबद बहुमें लगै' (का० नि० . १८), इसमें मम्मट तथा विश्वनाथके दूसरे भेदका भाव आ जाता है। उदा०—'और हू उपाय केते सहज सुढंग ऊधौ, साँस रोकिवे कौं कहा जोग ही कुढंग है। कुटिल कटारी है अटारी है उतंग अति, जमुना तरंग है तिहारो सतसंग है।' (अ० मं०)। यहाँ 'सतसंग' प्रस्तुतके साथ अटारी आदि अप्रस्तुतोंका 'स्वास रोकना' (मृत्यु)रूप एक धर्म कहा गया है। अथवा—'रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून। पानी गये न ऊबरै, मुक्ता मानिक चून।' (का० द०)।

आवृत्तिदीपक—जयदेवके अनुसार जहाँ दीपक पदोंकी आवृत्ति हो वहाँ होता है (चन्द्रालोक . ५ ५४)। इसके शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थकी आवृत्तिके तीन भेद भी माने गये हैं। हिन्दीके कई आचार्योंने इसे स्वीकार किया है—'जहँ दीपकमं होत है आवर्तनको जोग।' (ल० ल० १३७) अथवा—'दीपककी आवृत्तिमें' (पद्मा० ७७)। अन्य कुछने भिन्न रूपमें भी लक्षण दिया है—'दीपक पदको अर्थ जहँ, फिरि-फिरि करत बखान।' (शि० भू० १३०) अथवा—'वहै सब्द फिरि-फिर परै' (का० नि० १८)। उदा०—'जागत ही तुम जगतमें, भावसिहकी बान। जागत गिरिवर कन्दरनि, अरिवर तजि अभिमान।' (ल० ल० ३८) अथवा—'सिव सरजा तव दानको, करि को सकत बखान। बढ़त नदीगन दान जल, उमडत नद गजदान।' (शि० भू० १३१) तथा—'लाज भरे लाग भरे लाभ भरे लोभ भरे, लाली भरे लाड भरे लोचन हैं लालके।' (अ० मं० २७०)। इनमें क्रमश शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थकी आवृत्ति है। कई विवेचक पदावृत्ति (शब्दावृत्ति) दीपक तथा पदावृत्ति यमक और पदार्थावृत्ति अनुप्रासमें भेद नहीं मानते हैं। कुछका कहना है कि दीपकमें क्रियावाचक पद और पदके अर्थ, दोनोंकी आवृत्ति होती है, यमक तथा अनुप्रासोंमें क्रियावाचक पद और पदार्थोंका नियम नहीं माना जाता। इसके अतिरिक्त दीपकमें क्रियाकी आवृत्ति मानी गयी है और यमकमें अक्रिया-पदोंकी आवृत्ति। फिर भी भेद स्पष्ट नहीं है।

कारकदीपक—मम्मट तथा विश्वनाथने दीपकका एक रूप माना है। दासके अनुसार—'एक भाँतिके वचन-कौ, काज बोहौत जहँ होइ।' इस अलंकारमें अनेक क्रियाओं-का एक ही कर्ता कहा जाता है—'कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात। भरे भौनमें करत हैं

नैनन हीं सब बात।' (वि० र० ३२), यहाँ नायिकाकी अनेक क्रियाओंका कथन है। इसी प्रकार—'किन्तु शिशिरमें ठण्ढी साँसें हाय कहाँतक धारूँ? तन जारूँ मन मारूँ पर क्या मैं जीवन भी हारूँ।' (साकेत का० ८०)।

मालादीपक–मम्मट तथा रुय्यकने इसका सम्भवत सर्वप्रथम विवेचन किया है। मम्मटके अनुसार इसमें 'पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तुमें उत्कर्षका आधान करती प्रतीत' हो (का० प्र० १० : १०४)। आगे चलकर इसके लक्षणमें 'दीपक तथा एकावली'का योग स्वीकृत हो गया (चन्द्रालोक ५ : ८९) तथा 'कुवलयानन्द' और हिन्दीके प्राय सभी आचार्योंने इसी लक्षणको अपनाया—'जहँ दीपक एकावली होत दुहुनिको जोग।' (ल० ल० २६१) अथवा 'दीपक एकावलि मिलें' (का० नि० १८)। दास आदिने मम्मटके समान इसे दीपकके समीप रखा है, पर अन्योंने जयदेवके अनुसार एकावलीके बाद। वस्तुत बादकी परिभाषा प्रथमका विकासमात्र है, क्योंकि पूर्वकथित वस्तुओंसे उत्तरोत्तरकथित वस्तुओंका एक धर्मसे सम्बन्ध दोनोंमें स्वीकृत है। उदा०—'जगकी रुचि ब्रजवास, ब्रजकी रुचि ब्रजचन्द हरि। हरि रुचि बसीदास, बसी रुचि मन बाँधिबो।' (का० नि० १८) अथवा 'नभमें सुन्दर बिजली-सी, बिजलीमें चपल चमक सी। आँखोंमें काली पुतली, पुतलीमें श्याम झलक-सी।' ('प्रसाद' आँसू)।

दीपक तथा तुल्ययोगिताके अन्तरके सम्बन्धमें प्रथममें एक या अधिक प्रस्तुत और एक या अधिक अप्रस्तुत पदार्थ समान धर्मसे सम्बद्ध होते हैं, जब कि दूसरेमें या तो प्रस्तुत या केवल अप्रस्तुत वस्तुएँ ही रहती हैं। इनमें अन्तर्निहित औपम्य माननेवालोंके अनुसार दीपकमें उपमेय प्रस्तुत रहता है और उपमान (अन्तर्निहित रूपमें) अप्रस्तुत रहता है, तुल्ययोगितामें, क्योंकि एकमात्र प्रस्तुत या अप्रस्तुत रहते हैं, यह सुननेवालेकी इच्छापर निर्भर है कि किसको उपमेय माने और किसे उपमान। इसी प्रकार कारणमाला तथा मालादीपकमें पूर्वोल्लिखित तथा उत्तरोत्तर आनेवाली वस्तुएँ सम्बद्ध रहती हैं, परन्तु प्रथममें पूर्ववर्ती वस्तु आगे आनेवालीका कारण होती है, जब कि दूसरेमें यह सम्बन्ध विशेष रूपमें रहता है। —र०

दीप्ति–दे०–'अयत्नज अलकार', तीसरा प्रकार।

दु खवाद–दु खवादका लक्षण–दे० 'सुखवाद'। ज्ञात इतिहासके आधारपर यह कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम गौतमबुद्ध(जन्म ५४४ ई० पू०के लगभग)ने इस सिद्धान्तकी घोषणा की कि सब कुछ दु ख है (सब्बं दुक्ख–सर्वं दु.खम्)। फिर इस लोकको ही दु खलोक और मृत्युलोक (मृत्यु सबसे बडा दु ख है) माना गया। जरा और मरण घोर दु ख समझे गये। जरामरण बौद्ध धर्म तथा दर्शनमें दु खसामान्यका पर्याय बन गया। जन्म, इच्छा, तृष्णा आदि भी दु खरूप समझे गये। सक्षेपमें समस्त भौतिक और मानसिक प्रपच दु'खस्वरूप समझ लिये गये। उपनिषदोंमें भी इतना कहा गया कि जो शान्त, अनित्य, नश्वर है, वह दु ख है और जो अनन्त, नित्य तथा अमर है, वह सुख है। बुद्धने किसी पदार्थको नित्य, अनन्त और अमर नहीं माना। अत उनके मतसे सुख कुछ नहीं है और सब कुछ दु ख ही है। अनित्यवादी तत्त्ववादका ही नैतिक रूप दु खवाद है। बुद्धने इस दु खसे बचनेका मार्ग भी बतलाया जो अष्टाग-साधना-पद्धतिके नामसे विख्यात है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि—ये आठ क्रमिक सोपान हैं, जिनसे दु खोंकी निवृत्ति सम्भव बतलायी गयी है। इस निवृत्तिका नाम निर्वाण है। दु ख अभाव होनेसे निर्वाणको सुख न समझ लेना चाहिये। यह दु खकी शान्ति ही है, सुख नहीं। तत्त्वत यह सुख-दु खसे उदासीनता है।

बौद्ध दर्शनके दु खवादने हिन्दू दर्शनोंको भी प्रभावित किया। साख्यने प्रकृतिको ही त्रिगुणमयी बतलाकर सब वस्तुओंको सत्त्व (सुख), रज (दु ख) और तम(मोह)से निर्मित माना है। अत शुद्ध सुख कहीं नहीं है। सर्वत्र दु खमिश्रित ही सुख है। दु ख त्रिविध है—आध्यात्मिक (आधि-व्याधि), आधिभौतिक (जलना, गिरना, डूबना आदि), आधिदैविक (प्रेत-पिशाचका दण्ड)। इनसे मुक्त होना ही अपवर्ग या मोक्ष है।

मध्ययुगके सन्तोंने भी दु खवादको अपने वैराग्यवादकी भूमिका कहा है। जन्म-मरण, दोनों दु खद हैं—'जनमत-मरत दुसह दुख होई' (तुलसीदास)। आत्मा शरीरमें कारावास भोग रही है। ससार, परिजन, मित्रजन, सभी दु ख देनेवाले हैं। इन्द्रियाँ दु ख देती हैं। जैसे हरिण अपनी श्रवणेन्द्रियके कारण मार डाला जाता है, पतिंगा अपनी दृष्टिके कारण दीपकमें जल मरता है, वैसे ही मनुष्य अपनी पाँचों इन्द्रियोंसे दु ख भोगता है। इस दु:खसे बचनेका एक ही उपाय है—वैराग्य। वैराग्यसे भगवद्भक्ति आती है, जो आनन्ददायिनी है। दु खवादका फल वैराग्यवाद है और वैराग्यवादका फल आनन्दस्वरूपा भक्ति। भारतकी हिन्दू जनता यदि मध्ययुगमें ऐसा सोचती है तो अनुचित नहीं है, क्योंकि उस समय वह अपनी ऐहिक शक्ति खो बैठी थी और उसपर विदेशी मुसलमानोंका क्रूरतापूर्ण शासन था। उसके पास एकमात्र आनन्द वैराग्य और भगवत् शरणागति थी। आज भी वैराग्यवादी जगज्जीवनके प्रति दु खवादी हैं।

१९वीं शताब्दीमें जर्मनीमें शोपेनहार और हार्टमन प्रसिद्ध दु खवादी हो गये हैं, जिनपर बौद्ध विचारधाराका प्रचुर प्रभाव पडा था। वर्तमान समयमें आस्वाल्ड स्पेंगलर पश्चिमका प्रसिद्ध दु खवादी दार्शनिक है।

नित्य दु खवाद और अनित्य दु खवाद, ये दु खवादके दो प्रकार हैं। नित्य-दु खवादमें दु खका शमन कभी नहीं होता और अनित्य-दु खवादमें दु खकी शान्ति निर्वाण या मुक्ति मिलनेसे हो जाती है। दार्शनिक रूपमें नित्य-दु खवादको कोई भी नहीं मानता है। बुद्ध निर्वाणमें, शोपेनहार विचारमें, हार्टमन युक्तिमें, आस्वाल्ड स्पेंगलर सस्कृतिके पुनर्जन्ममें तथा हिन्दू दार्शनिक भक्त मुक्तिमें, सभी दु खोंका शमन, अभाव मानते हैं, पर साहित्यजगत्में वियोग, शृगार रस तथा करुण रसके कुछ लेखक नित्य-दु खवादको मानते हैं। मैथिलीशरण गुप्तके 'साकेत'में

उर्मिला नित्यदु खवादी है। महादेवी वर्माके काव्यमें भी यही दु खवाद मिलता है। इस साहित्यिक नित्य-दु खवादका क्या प्रमाण है? लगता है, ग्रीक 'ट्रैजेडी'(दु खान्त नाटकों)के आधारपर ही यह दु खवाद बना है और इसके पीछे वही सिद्धान्त काम कर रहा है जो ग्रीक 'ट्रैजेडी'के मूलमें है।

हिन्दी साहित्यकी प्रयोगशील धाराके कुछ लेखकोंने दु खवादको एक रचनात्मक तथा प्रेरक शक्तिके रूपमें ग्रहण किया है। इन लेखकोंमें 'अज्ञेय'का नाम विशेष रूपसे महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने दु खको शक्ति देनेवाला तथा आत्माका परिष्कार करनेवाला माना है। नयी कविताके कुछ अन्य वर्तमान लेखकोंने भी वेदना तथा दु खको अपने चिन्तनमें महत्ता दी है, परन्तु ऐसा लगता है कि इन लेखकोंका दु खवाद किसी दार्शनिक चिन्ताधारासे सम्बद्ध न होकर वर्तमान युगके सक्रान्तिकालीन विघटनसे प्रेरित है।

अनित्य-दु खवाद दार्शनिक सत्य है। वस्तुत यही दु खवाद है। सुखवाद केवल अर्थ और कामको पुरुषार्थ मानता है तो दु खवाद केवल धर्म और मोक्षको। सुखवाद ऐहिक भोग-विलासपर जोर देता है तो दु खवाद आत्मिक विकासपर। सुखवाद प्रवृत्तिमार्ग है तो दु खवाद निवृत्तिमार्ग। पहला भोगवाद है तो दूसरा वैराग्यवाद। सुखवाद क्षणिक आनन्दको लक्ष्य बनाता है तो दु खवाद चिर आनन्दको।

सुखवादकी भाँति दु खवाद भी एकागी मत है। यह भी एक 'अन्त' या 'अति' है। दोनों असन्तुलित विचार-धाराएँ है। सुख और दु ख, दोनों एक द्वन्द्वके दो अग है। दोनोंका अस्तित्व अन्योन्याश्रित है। एकके अभावमें दूसरेका भी अभाव होना अवश्यम्भावी है। सबसे अधिक उल्लेख-योग्य बात तो यह है कि दोनों क्षणिक, अनित्य और परिवर्तनशील हैं। ससार न सुखलोक है, न दु खलोक वह दोनोंका मिश्रण है। इस प्रसगमें साख्यमत बहुत न्यायसगत है। मनुष्यके लिए दोनों आवश्यक है, यद्यपि वह दु'ख नहीं चाहता। पर जैसा कि सुमित्रानन्दन पन्तने 'सुख-दु'ख' शीर्षक कवितामें कहा है, सभीको दोनोंका सम्मिश्रण ही अभीष्ट है। दु'खके न रहनेपर, उसके अनुभूत न होनेपर, सुख भी वस्तुत अनुभवमें नहीं रहेगा।

दार्शनिक तथा नैतिक दृष्टियोंसे उपर्युक्त साधारण समन्वयके अतिरिक्त सुखवाद और दु खवादके द्वन्द्वका समाधान आनन्दवादमें होता है। दु'खवाद भी अन्तत आनन्दमें परिणत होता है और सुखवाद तो आनन्दका वाद है ही। कमी उसमें यह है कि वह स्थायी आनन्दको छोड़कर क्षणिक आनन्दको ही अपना लक्ष्य बनाता है।

गीताने सुखवाद और दु खवादका समन्वय अनासक्त कर्मवादमें किया है। यहाँ दु'खवादसे अनासक्तिका भाव ग्राह्य समझा गया और सुखवादसे कर्मकी प्रवृत्ति ली गयी। दोनोंको मिलाकर अनासक्तभावसे कर्म करनेका सिद्धान्त बना, जिससे सुखकी प्राप्ति भी होती है और जीवनके महान् मूल्योंका लाभ तथा सामाजिक मर्यादाका पालन भी होता है। गीताके इस निष्कर्मवादका भारतमें बहुत प्रभाव पड़ा। आधुनिक युगमें भी लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी और विनोबा भावेने इसी मतका प्रतिपादन किया है।

[सहायक ग्रन्थ— न्यायकोश भीमाचार्य झलकीकर]। —स० ला० पा०

दुर्मल्लिका–इसमें चार अक होते है। पहले अंकमें छ घड़ीका व्यापार रहता है और विटकी क्रीडा रहती है, दूसरे अकमें विदूषकका वाग्विलास दस घडीतक चलता है, तीसरे अकमें पीठमर्दका विलास बारह घडीतक चलता है, चौथे अकमें नागरिक पुरुषोंकी बीस घड़ीतक क्रीडा रहती है। उसमें कैशिकी एव भारती वृत्तियोंका प्रयोग होता है और गर्भसन्धिका अभाव रहता है। नायक निम्न जातिका होता है तथा पुरुष पात्रोंमें सभी चतुर होते हैं। उदाहरण–'बिन्दुमती'। —वि० रा०

दुर्मिल सवैया–दे०—'सवैया', चौथा प्रकार।

दूतकाव्य–दे०—'पत्रगीति', 'गीतिकाव्य'।

दूती (नायिका)–शृगाररसके उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत दूती भी आती है—'सखी दूतिका जानिये उद्दीपनके भेद। नायक अरु नायकाको हरै विरहको खेद।' (म० रा० र० रा० . २८७)। भरतने दूतीके विभाजनको ही प्रधानता दी है, पर उनका दृष्टिकोण भिन्न है, दे०—'सखी'। दूसरी ओर रुद्रभट्टने सखियोंके भेदोंमें दूतीको स्वीकार किया है तथा किंचित् अन्तरके साथ धनजय, शारदातनय, शिंगभूपाल, विश्वनाथने दूतीके भेदोंमें तथा विद्यानाथने सहायाके भेदोंमें कुछ कम या अधिक, वही नाम दिये हैं। सामान्यत सस्कृतके आचार्योंमें दूती और सखीके मौलिक भावमें अन्तर नहीं माना गया है। भानुदत्तने अवश्य दूतीकी विवेचना सखीसे स्वतन्त्र रूपमें की है। उनके अनुसार—'दूत्यव्यापार-पारगमा दूती। (र० म० ९७)। जो दूतकार्य करनेमें चतुर हो उसे दूती कहा जायगा। उनके अनुसार सखीका भाव भिन्न है, दे०—'सखी'। दूतीके भावको हिन्दीके कवियों और लेखकोंने प्राय• इसी रूपमें अधिक लिया है। कुछने सखीके विभाजनके अन्तर्गत दूतीको स्वीकार किया है और उनका विचार सस्कृतके अन्य आचार्योंके निकट है, दे०—'सखी'।

कृपारामने दूतीका विभाजन उत्तमा, मध्यमा तथा अधमामें किया है और इसका अनुसरण अधिकाशने किया है। **उत्तमा**–अपना कार्य मधुर चातुर्यसे निकालती है और इसके लिए पैर पड़नेमें भी नहीं हिचकती। मतिरामके अनुसार—'मोहै जो मृदु बोलिकैं मधुर वचन अभिराम।' (र० रा० ३००) और पद्माकरके अनुसार—'हरै सोच उचरै वचन मधुर-मधुर हित मानि।' (ज० वि० भा २ २८)। भानुने पद्माकरका उदाहरण प्रस्तुत किया है—'कान्हि कलिन्दीके निकट निरखि रहे हौ जाहि। आवो खेलन फाग वह तुमहीं सों चित चाहि।' (वही ३२)। **मध्या**–जो अपनी बातपर बल देकर कहती है और अपना कार्य मधुर तथा परुष व्यवहारसे निकालती है। वस्तुत इसकी परिभाषामें मतिरामने जो 'हित' तथा 'अहित' वचनोंका उल्लेख किया है उससे पद्माकरका कहना अधिक ठीक है—'कछुक मधुर कछु-कछु परुष कहै वचन जो आय।' (वही ३०)। पर मतिरामके कथनका

भाव भानुकी परिभाषामें स्पष्ट होता है—'मध्या दूती हित अहित कहत सिखाई बात।' र० र० पृ० ६५)। वस्तुत वह हित-अनहित, दोनोंको समझाती है। मतिरामका उदा०—'रीझि रही रिझवारि वह तुम ऊपर ब्रजराज। लाज सिन्धुकी इन्दिरा क्योंकर आवै हाथ?' (र० रा० ३०५)। **अधमा**—जो स्वभावसे उग्र होती है और कार्य साधनके लिए कठोर वचनोंका प्रयोग भी करती है। मतिराम उसे 'वचन कहत सतराय' कहकर भी उसकी 'ग्रन्थनको मति देखिकै' दूती मान लेते हैं और भानुने कहा है कि वह 'काज'के लिए 'कुपित वचन' कहनेवाली है। पद्माकरका उदा०—'कै गुमान गुणरूपके तें न ठान गुन मान। मनमोहन चित चढि रहीं तोसी किती न आन।' (ज० वि० भा २ ३६)।

इन तीनों भेदोंके अतिरिक्त स्वयदूतिकाका उल्लेख भी किया गया है। **स्वयंदूतिका**—जब नायिका अपने-आप दूतकार्य करती है—'आपुहि अपनो दूतपन करै जो अपने काज' (वही ४३)। उदा०—'मजु महाछविकी कबकी यह नीकी निकुज परी सब खाली। हौं इह बागकी मालिनि हौं इत आये भले तुम हौ बनमाली।' (वही ४४)। तोष, रसलीन तथा गुलाबरायने दूतीके अन्य भेद किये हैं—हित, हिताहित तथा अहित जो पहले भेदोंके रूपान्तर हैं। दूतियोंके अन्य अनेक भेद भरत तथा सस्कृतके अन्य आचार्योंके आधारपर पेशेके अनुसार किये गये हैं। इस विभाजनको तोप, दास, वेनी प्रवीन, देव तथा श्यामसुन्दरदासने अपनाया है, पर इन्होंने सख्याएँ भिन्न स्वीकार की हैं। तोषने २६, दासने १८, वेनीने १२, देवने १३ तथा श्यामसुन्दरदासने ८ जातियोंकी दूतियाँ बतायी हैं।

दूतीकर्म—सखीके समान दूतीके कार्योंपर भी विचार किया गया है। जिन लेखकोंमें सखी तथा दूतीका विभेद स्पष्टत स्वीकृत है, उनमें दूतीके कर्मोंका उल्लेख अलग और स्पष्ट हुआ है अन्यथा दोनोंके कर्तव्योंमें स्थिति भ्रामक है। भानुदत्तके अनुसार—'सघट्टनविरहनिवेदनादीनि कर्माणि।' (र० म० पृ० १६२), अर्थात् सघट्टन तथा विरहनिवेदन, दूतियोंके दो कर्म हैं। केशव, देव तथा दासने इन भेदोंको सखियोंके कर्ममें माना है। परन्तु हिन्दीमें भी कवियोंने दूतीको स्वतन्त्र माना है, उन्होंने इन दो भेदोंको स्वीकार किया है। **संघट्टन**का अर्थ मिलाना है, दूती नायक-नायिकाके मिलानेका सुयोग जुटाती है। पद्माकरके अनुसार—'दोउनको जु मिलाइबो सो सघट्टन मानि।' ज० वि० भा० २ ३८)। उन्हींका उदाहरण है—'गोरीको जु गोपालको होरीके मिस ल्याथि। विजन साँकरी खोरिमें दोऊ दिये मिलाय।' (वही ४३)। **विरह-निवेदन**—विरहका वर्णन करके सयोगकी परिस्थिति उत्पन्न करनेमें सहयोगी होना अथवा नायकके मनको प्रभावित करना, पद्माकर इसे 'विरहविथानि सुनाइवो' कहते हैं। उदा०—'को जिवावतो आजु लों बाढे विरह बलाय। होती जु मैं न तोहि सी ताकी नेक सहाय।' (वही ४०)।

कृपारामने मर्मग्रहण (किसीके हृदयके रहस्यको जानना), सगदेन (साथ-साथ रहना), प्रतिज्ञा (मिलानेकी प्रतिज्ञा करना) अन्य भेदोंके साथ दिये हैं। रसलीन, भानु, हरिऔध तथा गुलाबरायने स्तुति, विनय, प्रबोध और निन्दा दूतीके कर्म माने हैं, जिनमेंसे प्रथम दोका उल्लेख केशव और देवके सखियोंके कर्मके अन्तर्गत हुआ है।

दृश्य-परिवर्तन—दे०—'रेडियो नाटक'।

दृश्य-श्रव्य—इन्द्रियों(चक्षुरिन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय)को ध्यानमें रखते हुए काव्यके दो भेद किये जाते हैं—**दृश्य काव्य** और **श्रव्य काव्य**। 'दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुन काव्यं द्विधा मतम्।' (सा० द०)। दृश्य काव्य वह है जिसका रसास्वादन मुख्य रूपसे चक्षुरिन्द्रिय द्वारा लिया जाता है। श्रव्य काव्यका आनन्द कानों द्वारा प्राप्त किया जाता है। यों तो दृश्य काव्यका आनन्द भी श्रवणेन्द्रिय द्वारा लिया जा सकता है, पर दृश्योंके विधानके कारण चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जो आनन्द उससे प्राप्त होता है वह श्रवणेन्द्रिय द्वारा नहीं। दृश्य काव्य अपनी अभिनेयताके कारण विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। इसीको **'रूपक'** कहते हैं। रूपकमें रूपका आरोप किया जाता है, इसलिए इसे रूपककी सज्ञा दी गयी—**'तद्रूपारोपात्तु रूपकम्'** (सा० द० ६ १)। इसे स्पष्ट करते हुए टीकाकारने लिखा है कि नट(नाटकके पात्र)में रामादिक काव्य-पुरुषोंका स्वरूप आरोपित किया जाता है और सामाजिकको उसमें 'यही राम है'का आरोपात्मक ज्ञान होता है।

दृश्य काव्यको हिन्दीमें **नाटक** कहते हैं। सस्कृतमें इसे प्राय **रूपक** ही कहा गया है, क्योंकि नाटक रूपकका ही एक भेद है। —व० सिं०

दृश्यांतर—दे०—'रेडियो-नाटक'।

दृष्ट अद्भुत—दे०—'अद्भुत रस'।

दृष्टांत—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका अर्थालकार। शब्दार्थ है—प्रामाणिक निश्चयको देखना। प्रथम उद्भट तथा रुद्रटने इसका विवेचन किया है और इसके बाद मम्मट तथा रुय्यकके अनुसार 'इस अलंकारमें उपमेय तथा उपमान, दोनों वाक्योंमें इन सबका (उपमान, उपमेय तथा साधारण धर्मका) बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव झलकता है।' (का० प्र० १० १०२)। विश्वनाथने सक्षेपमें केवल 'वस्तुओंके समान धर्मका प्रतिबिम्ब-भाव-कथन' मान लिया है (सा० द० १० ५१)।

हिन्दीके आचार्योंने यही लक्षण जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके आधारपर ग्रहण किया है—'पद समूह जुग धर्म जहँ, जिमि बिम्बहि प्रतिबिम्ब।' (ल० ल० १४५) अथवा—'लखें बिम्ब प्रतिबिम्ब गति उपमेयोपमान।' (का० नि० १८)। किसी-किसीने मम्मटके साधर्म्य तथा वैधर्म्यके आधारपर दो भेद माने हैं। उदा०—'कान्हर कृपा कटाक्ष-की करै कामना दास। चातक चितमें चेत ज्यों, स्वाति बूँदकी आस।' (का० नि० ८) अथवा—'निरखि रूप नँदलालको, दृगनि रुचै नहिं आन। तजि पियूष कोऊ करत, कटु औषधिको पान।' (पद्मा० ८३) यहाँ साधर्म्यका दृष्टान्त है। इसी प्रकार वैधर्म्यका उदा०—'भवके ताप रहे तवलौं नरके दृढ मूल बने हिय माहीं। तब पंकज कोस छिप्यौ तमतोम कह्यौ वह देत कहा दिखराई।' (अ० म०

२८०) यहाँ पूर्ववाक्यमें तापकी स्थिति और उत्तरवाक्यमें (उपमान) तमका अभाव कहकर विम्ब ग्रहण कराया गया है।

दृष्टान्त तथा प्रतिवस्तूपमाका अन्तर स्पष्ट है, प्रथममें उपमेय-उपमान-वाक्योंमें अलग-अलग समान धर्मका कथन होता है और द्वितीयमें एक ही समान धर्म शब्दभेदसे कहा जाता है। दृष्टान्तका विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव प्रतिवस्तूपमामें नहीं रहता। अर्थान्तरन्यासमें सामान्यका विशेषसे या विशेषका सामान्यसे समर्थन होता है, जब कि दृष्टान्तमें दोनों ही सामान्य या दोनों ही विशेष होते हैं। —शि० प्र० सि०

दृष्टांतकाव्य—यूरोपीय साहित्यमें तीन काव्यरूप—'एलीगरी', 'फेविल' और 'पेरेबिल' ऐसे हैं, जिनमें परस्पर बहुत कम भेद है। इसी कारण इन सबको प्राय 'एलीगरीके' अन्तर्गत ही मान लिया जाता है। जिस व्यापक अर्थमें एलीगरी शब्दका अँग्रेजीमें व्यवहार होता है उसे हिन्दीमें रूपक-कथा कहा जा सकता है। पर सीमित अर्थमें एलीगरी वह कथा होती है, जिसमें पात्र अशरीरी या सूक्ष्म भाव, गुण या प्रवृत्ति होते हैं, जिनका मानवीकरण किया जाता है। ऐसी कथाको **प्रतीककथा** कहते हैं। फेबिलको **उपदेशकथा** कहना चाहिये क्योंकि उसमें पशु-पक्षी या वृक्षोंको भी पात्र बनाकर उपदेशात्मक कथा कही जाती है। पेरेबिलको दृष्टान्तकथा या **उपमितकथा** कह सकते हैं। उसमें पात्र तो प्राय मानव होते हैं और उसकी घटनाएँ किसी नीति, धर्म या आचार सम्बन्धी सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिए दृष्टान्तरूपमें नियोजित होती हैं। संस्कृतमें 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'मोहराजपराजय' आदि और हिन्दीमें 'प्रसाद'के 'कामना' और 'एक घूँट' प्रतीकात्मक नाटक हैं। 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश'की कथाओं तथा 'महाभारत'में प्राप्त पशु-कथाओंको उपदेशकथा मानना चाहिये, क्योंकि उनके पात्र पशु-पक्षी हैं। पालि-साहित्यमें 'जातक-कथाएँ' और संस्कृतमें सिद्धर्षिकी 'उपमितभव प्रपंचकथा' दृष्टान्तकथा या उपमितकथा हैं। यूरोपीय साहित्यमें प्रतीक और दृष्टान्तकथाएँ गद्य-बद्ध और पद्य-बद्ध, दोनों प्रकारकी होती थीं, पर संस्कृतमें वे गद्यात्मक रूपमें ही अधिक मिलती हैं, पद्यबद्ध काव्यके रूपमें नहीं। इसी तरह दृष्टान्तकाव्य या उपमितकाव्यका हिन्दीमें भी अभाव है। (दे०—'प्रबोधक काव्य') —अ० ना० सि०

दृष्टि—बरटेंड रसेलने एक स्थानपर लिखा है कि 'देखना क्या होता है? देखनेकी क्रिया बहुत उलझी हुई है। जिसे हम वस्तु (आब्जेक्ट) कहते हैं, उसमेंसे सब ओरसे प्रकाश-लहरियाँ निकलती और दौड़ती रहती हैं। जिस वातावरण-मेंसे वे प्रकम्पित होती है, जिस क्षेत्रफलमें वे चलती हैं, उन सबकी अपेक्षासे इन प्रकाश-लहरियोंमें बहुत आन्तरिक परिवर्तन घटित होते रहते हैं। इन प्रकाश-लहरियोंकी अन्तिम मंजिल है मेरे अन्तर्नेत्रके रेटिनापर आकर टकराना। यहांसे 'आप्टिक नर्व'की दूसरी क्रिया शुरू होती है, जो कि शारीरिक है। इसके आगे जो होता है उसके बारेमें निश्चित कुछ कहना कठिन है, क्योंकि एक मानसिक क्रिया शुरू होती है, जिसमें पूर्वानुभूति भी संचित रहती है।' साधारण आँखोंकी दृष्टि जब इतनी उलझी हुई क्रिया है तो साहित्यमें जब यह शब्द प्रयुक्त होता है तो वह अनेक विभिन्न अर्थोंमें आता है।

'दृष्टि' कविकी अपेक्षामें किसी विषयमें उसकी पैठ है। सूरकी अन्तर्दृष्टिकी प्रशंसा की जाती है। चर्म-चक्षु न होनेपर भी बाललीलाओंका ऐसा सूक्ष्म वर्णन! क्या यह 'कल्पनाकी आँख' तो नहीं है। 'पेनेट्रेशन'से 'इनसाइट' और 'विजन'तक यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। कविको जब उपनिषदोंने द्रष्टा कहा तो इसी अर्थमें कि वह त्रिकालदर्शी है। वह भूतकालको वर्तमानमें सजीव करके सामने उपस्थित कर देता है तो भविष्यतको भी मुट्ठीमें हस्तामलकवत देखता है।

समीक्षाके क्षेत्रमें जब समीक्षक लेखक या कविके हेतुको नहीं समझ पाता, लेखककी दृष्टिमें गहराईसे देख नहीं पाता, उसके रूप-रंग, रेखाओंका आकलन नहीं कर सकता, तब कहते हैं कि समीक्षककी दृष्टि पैनी नहीं है, ऊपरी-ऊपरी है या उसने अमुक रंगका चश्मा पहन रखा है। इसीलिए सत्य-शोध या 'सत्य-प्रेम'(फिलो+सोफी)को हमारे यहाँ 'दर्शन' कहा गया। साहित्य अथवा अन्य कला-सृष्टियोंमें सौन्दर्यका जो दर्शन होता है वह ऐसी ही अन्तरानुभूतिसे, दिव्य-दृष्टि या 'इन्ट्यूशन'से। क्रोचेका भी यही विचार है, जिसके आधारपर वह साम्यवादियोंका आलोचक बना। अब इस दृष्टिपर कहाँतक पूर्व-कल्पनाओंका जोर हो, यह बहुत मतभेदका प्रश्न है। राजशेखरसे लगाकर टी० एस० इलियटतक इस विषयमें कई प्रकारके अनुमान किये गये हैं। —प्र० मा०

देवघनाक्षरी—मुक्तक दण्डकका एक भेद। ३३ वर्णोंका यह घनाक्षरी वृत्त है। सर्वप्रथम देवने इस छन्दका प्रयोग किया था और उन्हींके नामपर इस वृत्तका 'देवघनाक्षरी' नाम पड़ गया। उसके पूर्व ३१, ३२ वर्णतकका ही घनाक्षरी वृत्त होता था। अपनी ध्वन्यात्मकता और नाद-व्यंजनाके कारण परवर्ती कवियोंमें यह बहुत लोकप्रिय रहा, देवका तो यह प्रिय छन्द रहा ही—'झिल्ली झनकार पिक चातक पुकारैं बन मोरिन गुहारैं उठैं जुगुनू चमकि चमकि'। देवके अतिरिक्त किसी अमरनाथने भी ३३ अक्षरोंका दण्डक वृत्त माना है। 'काव्यरसायन'में देवने जिन चार प्रकारके अनियत-दण्डक दण्डकोंका भेद किया है उनमेंसे ३० वर्णवाले और ३३ वर्णवाले कवित्त देवकी प्रतिभाके द्योतक हैं। पूर्ववर्ती आचार्योंने केवल ३१ वर्ण और ३२ वर्णके दण्डकोंका वर्णन किया था। देवने उनमें यह संशोधन किया कि ३१ वर्णवाले दण्डकमेंसे एक अन्तिम अक्षर कम कर देनेसे तीस वर्णका दण्डक बन जायगा और ३२ वर्णवालेके अन्तमें एक वर्ण बढ़ा देनेसे ३३ वर्णवाला कवित्त बन जायगा। इन दोनों कवित्तों(तीस वर्णवाले कवित्त)में १६-१४ पर यति होगी जब कि ३१ वर्णवालेमें १६-१५ पर यति होगी, अन्तका कम करनेसे ही पूर्व-वर्ती वर्णोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार ३२ वालेमें एक अक्षर बढ़ा देनेसे यतिका नियम १६-१७ का हो जायगा। ऐसा नियम जगन्नाथदास 'रत्नाकर'ने 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर'(पृ० १९)में दिया है, जब कि 'छन्द-प्रभाकर'में भानुने देवघनाक्षरीका नियम ८, ८, ८, ९ पर

यति और अन्तिम तीनों वर्णोंका लघु होना बतलाया है (पृ० २२१)। किन्तु इस नियमकी व्यापकता अन्तिम तीनों को लघु मान लेनेसे कम हो जाती है, अत रत्नाकरका नियम ही विशेष मान्य होना चाहिये। उदा० (१)–'रतियाँ अँधेरी धीर तिया न धरत मुख, बतियाँ कहति उठै छतियाँ तपकि तपकि' (देव ग्र० र० पृ० १५९), (२)–झिल्ली झनकारै पिक चातक पुकारै बन, मोरनि गुहारै उठै जुगुनू चमकि चमकि' (जसवन्त सिंह)। —ह० मो०

देवनागरी–हिन्दी, संस्कृत तथा मराठी भाषाएँ देवनागरी लिपिमें लिखी जाती हैं। भारतवर्षकी प्राचीनतम राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मीकी यह प्रतिनिधि उत्तराधिकारिणी लिपि कही जा सकती है।

ब्राह्मीका प्रचार भारतमें लगभग ३५० ईसवीतक रहा। इस समयतक उत्तर और दक्षिणकी ब्राह्मी लिपिमें पर्याप्त अन्तर हो गया था। दक्षिणकी शैलीसे दक्षिणभारतकी लिपियाँ विकसित हुई तथा उत्तरभारतकी शैली गुप्त-लिपि और कुटिल-लिपिमें परिवर्तित होती हुई देवनागरी तथा उत्तरभारतकी अन्य लिपियोंके रूपमें विकसित हुई।

नागरी अथवा देवनागरी लिपिका प्रयोग उत्तरभारतमें दसवीं शताब्दीके प्रारम्भसे मिलने लगता है। बारहवीं शताब्दीतक यह पूर्णतया विकसित हो गयी थी। अन्य भारतीय लिपियोंके समान देवनागरी लिपि भी बायेंसे दाहिनी ओरको लिखी जाती है।

देवनागरीमें लगभग ४५ मूल लिपिचिह्न हैं। स्वरोंके मात्राचिह्न तथा अकोंके चिह्न इनसे पृथक् हैं। कुछके आधारपर नयी ध्वनियोंके लिए नये लिपिचिह्न भी बनाये गये हैं। देवनागरीके व्यजन-चिह्नोंमें ह्रस्व 'अ' ध्वनि भी सम्मिलित रहती है अर्थात् यह वर्णमाला अक्षरप्रधान है, ध्वनिप्रधान नहीं है।

देवनागरी वर्णमाला संस्कृत ध्वनियोंके वैज्ञानिक क्रमके आधारपर वर्गीकृत है, यद्यपि आजके उच्चारणोंमें कुछ अन्तर अवश्य हो गये हैं। इसी दृष्टिसे यह अत्यन्त वैज्ञानिक लिपि मानी जाती है। लिपिचिह्नोंके आकारकी दृष्टिसे यह बहुत सरल अथवा वैज्ञानिक नहीं मानी जा सकती।

छपाई तथा टाइपराइटर आदि मशीनोंके सुभीतेकी दृष्टिसे इसमें कुछ सुधार करनेके प्रश्नपर बहुत विचार होता रहा है। कुछ छोटे-छोटे परिवर्तन प्रयोगस्वरूप किये भी गये हैं, किन्तु कोई सर्वसम्मत सुधरा हुआ रूप अभी स्थिर नहीं हो सका है। —धी० व०

देवी (गोपी)–दे०—'गोपी'।

देश-काल–कथात्मक साहित्यमें वर्णित कार्योंकी वास्तविकताकी प्रतीति करानेके लिए उनके घटित होनेके स्थान तथा समयका निर्देश करना आधुनिक कलाकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। परन्तु देश-कालके अन्तर्गत केवल स्थान और समय ही नहीं, रीति-रिवाज, रहन सहनके ढग, पात्रोंकी वेश भूषा, उनके शिष्टाचार, आचार-व्यवहार, विचार-चिन्तन, वार्तालापकी भाषा-शैली तथा कथाकी प्राकृतिक पृष्ठभूमि आदि सभी बातें आ जाती हैं, जो कथाको स्वाभाविक वातावरण प्रदान करती हैं। इस देश-काल या वातावरणको सामाजिक और भौतिक, दो भागोंमें बाँटा जा सकता है।

आधुनिक कथासाहित्यमें अनेक महान् लेखकोंने कथाके देश-कालके रूपमें अपने समयके समूचे युगजीवनको अमरत्व प्रदान करनेका प्रयत्न किया है। उदाहरणके लिए, प्रेमचन्दके उपन्यास और कहानियाँ गगा-यमुना प्रदेशकी गान्धीयुगीन राष्ट्रीय प्रगतिका जीवित-जाग्रत् चित्र उपस्थित करती हैं। बालजक और जोलाने अपने उपन्यासोंमें सम्पूर्ण फ्रासीसी सभ्यताको जीवन प्रदान किया है। जटिल और विस्तृत युगजीवनको एक ही उपन्यासमें समेटकर उसकी समस्याओंके समाधानकी चुनौती देनेवाले उपन्यासोंके साथ-साथ ऐसी प्रवृत्ति इधर कुछ विशेष बढ़ी है जिनमें सामाजिक दृष्टिसे जीवनके किसी एक पक्ष अथवा भौगोलिक दृष्टिसे किसी एक क्षेत्रको वाणी और गति प्रदान की जाती है। मजदूर, किसान, सेना, उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग, निम्न वर्ग, स्त्री-जीवन आदिसे सम्बन्धित विशेष अध्ययनपूर्ण उपन्यास और कहानियोंमें लेखक अपनी विशेष रुचि और सहानुभूतिके साथ विविध सामाजिक प्रश्नोंकी शोध करते हैं। विविध वर्गोंके ये चित्र प्राय किसी क्षेत्रविशेषसे सम्बन्धित होकर रचनाको ***क्षेत्रीय*** *(रीजनल) या* ***आंचलिक*** विशेषता प्रदान करते हैं। ऐसी रचनामें लेखककी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, सश्लिष्ट वर्णन-कौशल तथा विवरणोंकी नीरसताको दूर करनेवाली भावना या कल्पनाशक्तिकी कठिन परीक्षा होती है।

ऐतिहासिक उपन्यासोंमें भी युगविशेष और क्षेत्रविशेषमें देश-कालके चित्रण द्वारा ही प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। कुछ ऐतिहासिक उपन्यास देश और कालकी पृष्ठभूमिको लेते हुए भी इनकी सीमाओंका अतिक्रमण कर जाते हैं और स्थायी तथा सार्वभौम मूल्योंका अन्वेषण करते हैं। दूसरी ओर ऐसे भी ऐतिहासिक उपन्यास हैं जो मानव मनोवृत्तियोंके चित्रणमें देश और कालकी सीमाओंका अतिक्रमण करते हुए भी युगजीवनके सत्यको ही उद्घाटित करते हैं। परन्तु ऐतिहासिक उपन्यासमें दृष्टिकोण कोई भी हो, देश-कालका यथातथ्य और इतिहाससम्मत चित्रण आवश्यक है।

सामाजिक पृष्ठभूमिके अतिरिक्त कथासाहित्यमें भौतिक या प्राकृतिक परिस्थितियोंका चित्रण भी किया जाता है। यह चित्रण साहित्यमें प्रकृतिके विविध प्रकारके प्रयोगोंके आधारपर या तो केवल वर्णनको सम्पूर्णता प्रदान करनेके लिए केवल चित्रोपम, किन्तु पृष्ठभूमि मात्रके रूपमें हो सकता है या वर्ण्य विषयके साथ साम्य या विरोधके रूपमें सम्बद्ध किया जा सकता है।

वातावरणके ये दोनों पक्ष सामाजिक और प्राकृतिक साहित्यके अन्यतम तत्त्वों—कथावस्तु और चरित्रचित्रणको सार्थकता और सजीवता प्रदान करते हैं। (दे०—'उपन्यास') —व्र० वि०

देश-विभाग–काव्यशास्त्रमें देशविरुद्ध रचनाकी दोषोंमें गणना की गयी है। अत कविके लिए देशका ज्ञान अपेक्षित है। कवियोंको देश-ज्ञान करानेके लिए राजशेखरने अपने **कविशिक्षा** (दे०) ग्रन्थ 'काव्यमीमासा'के सत्रहवें अध्यायमें देश-विभागका वर्णन किया है। राजशेखरके परवर्ती आचार्यों–हेमचन्द्र (काव्यानुशासन अ० २,

सू० ३ के विवेकमें) तथा वाग्भट(काव्यानुशासन, अ० १)ने राजशेखरके आधारपर देश-विभागका वर्णन किया है। राजशेखरने जगत् और जगत्के विभिन्न विभागोंको 'देश' संज्ञा दी है। विभिन्न आचार्योंके मतानुसार जगत् एक, दो, तीन, सात या चौदह माने गये हैं। इनमेंसे भूलोक पृथिवी है। इसमें विभिन्न मतोंके अनुसार एक, तीन, चार या सात समुद्र हैं। मेरु आद्य वर्षपर्वत है। इसके चारों ओर इलावृत नामक वर्ष है। इसके उत्तरकी ओर तीन वर्षपर्वत हैं—नील, श्वेत और शृंगवान्। दक्षिणकी ओर भी तीन वर्षपर्वत हैं—निषध, हेमकूट और हिमवान्। इनको घेरकर क्रमश: हरिवर्ष, किन्नरवर्ष और भारतवर्ष अवस्थित हैं। भारतवर्षको राजशेखरने पाँच भागोंमें बाँटा है—१ पूर्वदेश, २ दक्षिणापथ, ३ पश्चाद्देश, ४ उत्तरापथ और ५ मध्यदेश।

राजशेखरका यह वर्णन बहुत-कुछ 'बृहत्संहिता' और 'वायुपुराण'के आधारपर है और भारतके प्राचीन भूगोलके ज्ञानमें बहुत सहायक है। देश-विभागके अन्तर्गत कवि-शिक्षाका व्यापक विस्तार हुआ है। विभिन्न प्रदेशोंके वर्णनके लिए निश्चित वस्तुओंके निर्देशकी शिक्षा दी गयी है। प्रदेशोंके अतिरिक्त नदी, पहाड़, वन, सरोवर, समुद्र आदिके वर्णनकी परम्पराकी निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। संस्कृतके आचार्योंके साथ हिन्दीमें केशवका इस दिशामें महत्त्वपूर्ण योग है (कविप्रिया ७)। —म० प्र० ल०

देहस्थ पीठ—वज्रयानी सिद्धोंके साधना केन्द्रोंमें जालन्धर, कामरूप, ओडियान तथा श्रीहट्ट प्रमुख तन्त्रपीठ माने जाते थे। बौद्ध हठयोग साधनामें इन बाह्य तन्त्रपीठोंकी स्थिति कायाके अन्दर भी बतायी गयी है। चर्यापदोंमें उड्डीयान तथा कामरूपका उल्लेख देहस्थ पीठके रूपमें महासुखचक्रमें मिलता है। शैव पद्धतियोंमें भी ये तन्त्रपीठ कायामें स्थित माने जाते हैं और उनके नामपर उड्डियानबन्ध, मूलबन्ध आदि प्रक्रियाएँ प्रचलित थीं। गोरखबानीमें भी उड्डियान, श्रीहट्ट (सुरहट), मुलतान (मूलस्थान), कामरूप (काँवरू) आदि देहस्थ पीठोंका उल्लेख मिलता है। सन्तोंने भी समस्त देहमें तीर्थोंकी स्थिति मानी है। —ध० वी० भा०

दैन्य—प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव, भरतके अनुसार निर्धनता तथा मनस्ताप आदि इसके विभाव हैं और असंयम, शरीर-शिथिलता, मलिनता तथा मनका विक्षेप इसके अनुभाव हैं (नाट्य० ७, : ४९ ग)। विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा निम्नलिखित है—'दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत्।' (सा० द० : ३ : १४५), दुर्गति आदिसे उत्पन्न ओजस्विताके अभावको दैन्य कहते हैं। मलिनता आदि इसके अनुभाव हैं। हिन्दी रीतिकालके आचार्योंने प्राय: 'दीनता'के नामसे इसे स्वीकार किया है और इसमें—'दुर्गति बहु विरहादि तें उपजे दु:ख अनन्त।' (भाव० : संचारी०) माना है।

दैन्य, मद, जड़ता, चपलता आदिको रामचन्द्र शुक्लने मानसिक अवस्थाओंके रूपमें रखा है। उनके अनुसार ये अवस्थाएँ दो प्रकारकी होती हैं—प्रकृतिगत और आगन्तुक। किसी एक स्थिर प्रणालीके प्रकृतिस्थ हो जानेपर अभिव्यक्ति-कालमें किसी भावसे उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता। इस तरहकी प्रकृतिगत अवस्थाओंको चरित्र-चित्रणके लिए उन्होंने काफी उपयोगी माना है। दैन्य, मद आदि आगन्तुक रूपमें ही संचारी माने जा सकते हैं, क्योंकि ऐसी स्थितिमें वे भावोंसे प्रत्यक्ष सम्बद्ध हो जाते हैं। 'रामचरितमानस'की भूमिकामें 'कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू' लिखकर तुलसीदासने अपने प्रकृतिगत दैन्यका परिचय दिया है।

आगन्तुक रूपमें आनेपर दैन्य कुछ संचारियोंकी भाँति भावावेगको बढ़ा देता है। रति और भक्तिके अन्तर्गत आनेवाले दैन्य संचारी इस प्रकार मूल भावोंको वेगयुक्त बना देते हैं—मो अबला तकि जान तुम्हें बिन यों बल कै दलकै जु बलाहक। त्यों दुख देखि हँसे चपला अरु पौन हूँ दूनो बिदेह तें दाहक।' (घनआनन्द कवित्त : १४५)। इसी तरह सूरदासकी इस विनयमें 'दैन्य' है—'मो सम कौन कुटिल खल कामी। तुमसौं कहा छिपी करुनामय, सबके अन्तरजामी।' (सू० सा० सभा० सं० १४८)। —व० सिं०

दोधक—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरत-(नाट्यशास्त्र १६ २७)के लक्षणके अनुसार तीन भगणों और दो गुरुओंके योगसे यह वृत्त बनता है (SII, SII, SII, SS)। केशवने मधु और बन्धु नामसे यही छन्द दिया है। 'प्राकृतपैंगलम्' (२ : १००)में बन्धु, 'वृत्तजाति-समुच्चय' (४ : ५५)में भित्तक नाम दिया गया है। सूदन और केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'राम गये जबते बन माहीं। राकस बैर करैं बहुधा हीं। रामकुमार हमें नृप दीजै। तो परिपूरन यज्ञ करीजै।' (रा० च० : २ १५)। —पु० शु०

दोहा—मात्रिक अर्द्धसम छन्द। 'प्राकृतपैंगलम्' (१ ७८)-के अनुसार इस छन्दके प्रथम तथा तृतीय पादमें १३-१३ मात्राएँ और दूसरे तथा चौथेमें ११-११ मात्राएँ होती हैं। यति पादान्तमें होती है; विषम चरणोंके आदिमें जगण नहीं होना चाहिये। अन्तमें लघु होना है। तुक प्राय: सम पादोंकी मिलती है। मात्रिक गणोंका क्रम इस प्रकार रहता है—६+४+३, ६+४+१।

प्राकृत साहित्यमें जो स्थान गाथाका है, प्रयोगकी दृष्टिसे अपभ्रंशमें वही स्थान दोहा छन्दका है। अपभ्रंशमें मुक्तक पद्योंके रूपमें अनेक दोहे मिलते हैं। प्राकृतमें जिस प्रकार 'गाथासप्तशती' तथा 'वज्जालग्ग' जैसे गाथाबद्ध संग्रह मिलते हैं उसी प्रकार अपभ्रंशमें और हिन्दीमें दोहोंके संग्रह मिलते हैं। उपदेश, मुक्तक पद्योंके रूपमें तो दोहेका प्रयोग मुनि योगीन्दु, रामसिंह, देवसेन तथा बौद्ध सिद्धोंने किया है। हेमचन्द्र तथा अन्य अलंकारशास्त्र, व्याकरण-ग्रन्थ-लेखकोंने अनेक दोहे अपनी कृतियोंमें उद्धृत किये हैं। स्वयम्भूके 'पउमचरिउ'में भी दोहेका प्रयोग मिलता है। यह छन्द हिन्दीको अपभ्रंशसे मिला है। सभी अपभ्रंश छन्दशास्त्र-विषयक कृतियोंमें दोहे तथा उसके भेदोंका विवेचन मिलता है।

'प्राकृतपैंगलम्' आदि छन्द-ग्रन्थोंमें दोहेके भ्रमर, भ्रामरादि २३ भेदोंकी चर्चा की गयी है। वर्णोंके लघु आदि भेदके अनुसार भी दोहेकी जातिकी चर्चा की गयी है, जैसे, यदि दोहेमें २२ लघु वर्ण हों तो वह विप्र होता है।

हेमचन्द्र तथा कुछ अन्य छन्दशास्त्री दोहेके प्रति दलमें मात्राओंकी संख्या १४+१२ मानते हैं। 'दोहा'की व्युत्पत्ति 'द्विपथा'से मानते हैं। जर्मन विद्वान् याकोवी और अलसडोर्फने अपभ्रंश दोहोंका बडे विस्तारसे विवेचन किया है।

हिन्दीमें यह प्राय सभी प्रमुख कवियोंके द्वारा प्रयुक्त हुआ है। पद-शैलीके कवि सूर, मीराँ आदिने अपने पदोंमें इसका प्रयोग किया है। सतसई(दे०)साहित्यमें दोहा छन्द ही प्रयुक्त हुआ है। दोहा मुक्तक काव्यका प्रधान छन्द है। इसमें संक्षिप्त और तीखी भावव्यजना, प्रभावशाली लघु चित्रोंको प्रस्तुत करनेकी अपूर्व क्षमता है। सतसईके अतिरिक्त दोहेका दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोग भक्तियुगकी प्रबन्ध-काव्यशैलीमें हुआ है जिसमें तुलसीदास-का 'रामचरितमानस' और जायसीका 'पद्मावत' प्रमुख है। चौपाईके प्रबन्धात्मक प्रवाहमें दोहा गम्भीर गति प्रदान करता है और कथाक्रममें समुचित सन्तुलन भी लाता है। दोहेका तीसरा प्रयोग रीतिग्रन्थोंमें लक्षण-निरूपण और उदाहरण प्रस्तुत करनेके लिए किया गया है। अपने सक्षेपके कारण ही दोहा छन्द लक्षण प्रस्तुत करनेके लिए प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण सम्भवत स्मरणकी सुविधाकी दृष्टिसे दिये गये है।

कबीरकी साखियाँ दोहेके ही रूप हैं, यद्यपि छन्दशास्त्र-के ज्ञानके अभावमें इनमें दोहोंका विकृत और अव्यवस्थित रूप है। इनमें भी दोहेकी सामान्य विशेषताएँ विद्यमान हैं। जायसीका भारतीय छन्दशास्त्रसे सीमित परिचय है और ऐसा जान पड़ता है, इन्होंने अपने दोहेको सन्तोंकी साखियोंके माध्यमसे ग्रहण किया है, अत उनके इस छन्दके प्रयोगमें भी अस्थिरता है। जायसीके दोहोंमें प्राय विषम पद १२ ही मात्राका है और सम ११ मात्राका— 'रूपवन्त मनि माथे, चन्द्र घटि वह बाढि। मेदनि दरस लुभानी, असतुति विनवै ठाढि।' (पद्मा० १३)। जायसीके कुछ दोहोंमें तो विषम पदोंमें १६ मात्राएँतक हैं। तुलसीदास-ने एक विषम पदमें १२ मात्राओंका प्रयोग नवीनता लानेके रूपमें किया है—'भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ' (राम० १ २३५)। —रा० सिं० तो०

दोहा-साखी–'दोहा' या 'दूहा'की उत्पत्ति कतिपय लेखकोंने सस्कृतके दोधकसे मानी है। 'प्राकृतपैंगलम्'के टीकाकारोंने इसका मूल 'द्विपदा' शब्दको बताया है। यह उत्तरकालीन अपभ्रशका प्रमुख छन्द है। 'दोहा वह पहला छन्द है, जिसमें तुक मिलानेका प्रयत्न हुआ (ह० प्र०)।' प्राचीन अपभ्रशमें इस छन्दका प्रयोग कम मिलता है तथापि सिद्ध कवि सरहपा(९वीं शताब्दीका आरम्भ)ने इसका सबसे पहले प्रयोग किया। एक मतानुसार 'विक्रमोर्वशीय'में इसका सबसे प्राचीन रूप उपलब्ध है। फिर भी पाँचवीं या छठी शताब्दीके पश्चात् दोहा काफी प्रयोगमें आता रहा। हालकी सतसईसे भी इसका सूत्र जोड़ा जाता है। यह तर्क प्रबल रूपसे प्रस्तुत किया जाता है कि कदाचित् यह लोक-प्रचलित छन्द रहा होगा। दोहा दो पंक्तियोंका छन्द है। 'वडो दूहो', 'तूँवेरी दूहा' तथा 'अनमेल दूहो', तीन प्रकार राजस्थानीमें और मिलते हैं। प्राचीन दोहाके पहले और तीसरे चरणमें १३-१३ मात्राएँ तथा दूसरे और चौथेमें ११-११ मात्राएँ होती है। 'वडो दूहो'में १ और ४ चरण ११ ११ मात्राओंके तथा २ और ३—१३-१३ मात्राओंके होते है। 'तूँवेरी दूहा'में मात्राओंका यह क्रम उलटा है। पहले और चौथे चरणकी तुक मिलनेसे 'अनमेल दूहो' और दूसरे और तीसरे चरणोंकी तुक मिलनेसे 'मध्यमेल दूहो' बनते हैं। दोहा लोकसाहित्यका सबसे सरलतम छन्द है, जिसे साहित्यमें यश प्राप्त हो सका।

साखी 'साक्षी'का अपभ्रंश स्वरूप है। दोहा और साखी समानार्थक हैं। सम्भवत बौद्ध सिद्धोंको इस शब्दका ज्ञान था। 'साखि करब जालन्धर पाएँ' पक्तिमें जालन्धरपादको साक्षी करनेका उल्लेख आया है। गोरखपन्थियोंसे प्रभावित होकर यह शब्द कबीरपन्थियोंकी रचनाओंमें आया और बादके साहित्यमें दूहेका अर्थ भी 'साखी' ग्रहण किया गया। —श्या० प०

दोही–दोही और दोहरा नये स्वतन्त्र छन्द नहीं कहे जा सकते। भिखारीदासने दोही और दोहराका लक्षण देते हुए कहा है कि दोहेके विषम पादोंमें दो-दो मात्राएँ बढा देनेसे दोही और एक-एक घटा देनेसे दोहरा हो जाता है। केशवके 'वीरसिंहदेवचरित'में दोहरा मिलता है। उदा०—'जनि बाँह गहो हौं जानती, लाल तिहारी रीति' (भिखारीदास)। —रा० सिं० तो०

द्रुतविलम्बित–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलसूत्र' (६ ३१)के अनुसार—नगण, दो भगण और रगणके योगसे यह वृत्त बनता है (।।।,ऽ।।,ऽ।।,ऽ।ऽ), 'प्राकृतपैंगलम्'(२ १३९)में इसे सुन्दरी और 'नाट्यशास्त्र' (१६ ५१)में हरिणीप्लुता नाम दिया है। केशव (रा० च० ९ २९), हरिऔध (प्रि०प्र० स० १, २, ३, ४, ५, ८, १०, १२, १६), अनूपशर्मा (सिद्धार्थ स० १, ३, ६, ७, ९, ११, १३, १५, १६, १७, वर्द्धमान पृ० ८१, ८५, ९७, ११४ आदि) एव मैथिलीशरण गुप्त(साकेत ९ पृ० १९४)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'गिरि हिमालयके उपकूलमें। कपिल वस्तुपुरी अति रम्य थी। वह प्रसिद्धिमयी धन अन्नदा, सुभग शासन भूषित भूमि थी।' (सिद्धार्थ पृ० १)। —पु० शु०

द्वंद्वात्मक नियति (dialectical destiny)–द्वन्द्व-न्यायके अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने विनाशका बीज अपने भीतर रखती है। उसका नष्ट होकर वस्त्वन्तरके रूपमें पुनरुत्पन्न हो जाना सर्वथा अनिवार्य है। इस अनिवार्यता-तत्त्वको नियति कहते हैं। द्वन्द्वात्मक नियतिमें विश्वास कर मार्क्स साम्यवादी क्रान्तिको अनिवार्य बतलाता है। पूँजी-वाद समाजके गर्भसे साम्यवादी समाजका जन्म होकर रहेगा, चाहे हम चाहें या न चाहें। इस दृढ विश्वासका एकमात्र आधार है द्वन्द्वात्मक नियतिकी कल्पना।

सोरोकिन-प्रतिपादित इन्द्रियवादात्मक, अतीन्द्रिय-वादात्मक तथा अध्यात्मवादात्मक महासस्थानोंका निरूपण अन्यत्र किया गया है (दे० 'महासस्थान')। प्रत्येक महा-सस्थान सत्य और असत्यका सम्मिश्रण माना गया है। सत्याशसे आकृष्ट होकर मानवता एक महासस्थानको अपनाती है, किन्तु काल-क्रमसे जब असत्यांशका प्राबल्य

होता है तब वह भिन्न महासंस्थान अपने विनाशका बीज अपने भीतर रखता है। इस क्रमको सोरोकिन द्वन्द्वात्मक नियति कहकर पुकारता है। सोरोकिनने यहाँ स्पष्ट ही हीगेल और मार्क्सके द्वन्द्व-न्यायका सहारा लिया है। आरम्भिक महासंस्थानका सत्यांश है स्थापना (थीसिस); असत्यांश है प्रतिस्थापना (एण्टी-थीसिस) और स्वयं महासंस्थान है समन्वय (सिन्थीसिस)। इसी प्रकार प्रथम महासंस्थान है स्थापना, द्वितीय महासंस्थान है प्रतिस्थापना और तृतीय महासंस्थान है समन्वय। यह क्रम निरपवाद, नियत है। —ह० ना०

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद—यह शब्द अंग्रेजीके 'डायलेक्टिकल मेटीरियलिज्म'का हिन्दी रूपान्तर है। इस शब्दका पारिभाषिक प्रयोग सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स(१८१८–८३ ई०)-के लेखोंमें प्राप्त होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद केवल भौतिकवादी दर्शन ही नहीं है, प्रत्युत उसकी एक विशिष्ट प्रणाली भी है, जिसके अनुसार वह सृष्टि और समाजका भौतिकवादी अध्ययन करता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमारे दैनिक अनुभवों और पर्यवेक्षणोंपर आधारित है। नित्यप्रतिके जीवनमें हम यह देखते हैं कि संसारकी हर एक वस्तु अन्तमें नष्ट हो जाती है। जिसे जीवन प्राप्त हुआ, मरण उसका अनिवार्य उपसंहार है। समूची प्रकृति इसी सत्यकी साक्षी है। परिवर्तन ही इस सृष्टिका मूल सत्य है, गत्यात्मकता उसका जीवन। यहाँ स्थायित्व नहीं है।

यदि कहीं है भी तो वह केवल एक दीर्घकालीन यात्राकी भूमिका है। न जाने कबसे मानव-इतिहास और प्रकृतिने इस अन्तहीन यात्राका प्रारम्भ किया। यह व्यापक सत्य प्रत्येक भौतिकवादी स्वीकार करता है। किन्तु इस व्यापक सत्यकी स्वीकृति ही परिस्थितिका यथार्थ ज्ञान नहीं है, क्योंकि यह स्वीकृति परिस्थितिके केवल बाह्य रूपतक सीमित है। जबतक हम उसकी मूल प्रकृति और उसके अन्तररहस्योंका उद्घाटन नहीं करते तबतक इस परिस्थितिका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इन परिवर्तनोंकी मूल प्रकृति किन्हीं निश्चित नियमोंसे संचालित होती है। ये नियम गणित और विज्ञानके नियमोंकी तरह कठोर और स्थिर हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इन नियमोंको सार्वभौमिक मानता है। चाहे जीव-सृष्टि हो या समाज-सृष्टि, परिवर्तन इन्हीं नियमोंके अनुसार होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संकेत करता है, जिनके अनुसार सृष्टिका सारा परिवर्तन होता है। संक्षेपमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दार्शनिक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार सृष्टिका तत्त्व 'मैटर' है, जिसका निरन्तर रूपपरिवर्तन हो रहा है। इस परिवर्तनकी प्रणाली द्वन्द्वात्मक है, जिसके अनुसार हर एक परिस्थितिके मूलमें संघर्ष स्थित है और संघर्ष इसलिए है कि उस परिस्थितिविशेषमें ही उसके नाशके उपकरण सन्निहित हैं। परिस्थितिविशेषके इन्हीं विरोधी उपकरणोंमें संघर्ष होता है, जो कालान्तरमें नयी व्यवस्थाका सर्जन करता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दर्शनकी दो विभिन्न धाराओंसे सम्बन्धित है। जहाँतक इसकी प्रणालीका सम्बन्ध है, यह हीगेलके द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद अर्थात् 'डायलेक्टिकल आइडियलिज्म'से प्रभावित हुआ है और जहाँतक दार्शनिक दृष्टिकोणका प्रश्न है, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अन्य पूर्ववर्ती भौतिकवादियोंके अतिरिक्त जर्मन दार्शनिक फायरबाखके यान्त्रिक भौतिकवाद अर्थात् मैकेनिकल मैटीरियलिज्मसे प्रभावित हुआ है।

द्वन्द्व-सिद्धान्त वस्तुतः ग्रीक शब्द 'डायलेगो'से उद्भूत हुआ है, जिसका वास्तविक अर्थ वाद-विवाद करना होता है। प्राचीन ग्रीसमें वाद-विवाद एक साधन था, जिसके द्वारा लोग एक-दूसरेकी बातोंमें तार्किक असंगतियों और आत्मविरोधकी ओर संकेत कर सत्यका अन्वेषण करते थे। उस समय कुछ ऐसे भी विचारक थे जो यह स्वीकार करते थे कि सत्यकी उत्पत्ति दो विरोधी बातोंके संघर्षमें स्थित है। प्लेटो, जिसकी दार्शनिक रचनाएँ इस पद्धतिका अनुसरण करती हैं, यह स्वीकार करता था कि द्वन्द्व अर्थात् डायलेक्टिक्स सत्यको पानेका एक बौद्धिक साधन है। प्रोफेसर जेटलशिपने भी वाद-विवाद-प्रणालीकी महत्ता इसी रूपमें स्वीकार की है।

आधुनिक युगमें जब हीगेलने द्वन्द्व-सिद्धान्तको अपने दर्शनमें प्रतिष्ठित किया तो उसने ग्रीसवासियोंकी द्वन्द्व-कल्पनाकी मूल प्रकृतिको ग्रहण किया। अतः हीगेलके द्वन्द्व-सिद्धान्तका यह अर्थ नहीं है कि हम कथोपकथन या बहस द्वारा सत्यका अन्वेषण करते हैं। वाद-विवादमें दो विरोधी मतोंमें संघर्ष होता है और उसी संघर्षसे नये मतकी सृष्टि होती है। इस प्रणालीमें संघर्ष अनिवार्य है और उसीसे सत्यका जन्म होता है। हीगेलने इसी तथ्यको ग्रहण किया है। उसके अनुसार मनुष्यका समूचा इतिहास विरोधी तत्त्वोंके आपसी संघर्षोंसे निर्मित हुआ है। हीगेल प्रत्ययवादी विचारक था। अतः उसका द्वन्द्व-सिद्धान्त मनुष्यके बाहरी इतिहास और प्रकृतिपर लागू न होकर उनके सापेक्ष प्रत्ययोंपर लागू होता है। सर्वप्रथम मनुष्यके मस्तिष्कमें विरोधी प्रत्ययोंमें संघर्ष होता है और बाहरी इतिहास केवल उन संघर्षोंकी छाया है। हीगेल इस प्रकार मैटरको प्रधान नहीं मानता।

कार्ल मार्क्स भौतिकवादी होनेके नाते प्रत्ययको गौण और मैटरको प्रधान मानता है। इस प्रकार वह मनुष्यके सारे इतिहासको बाहरी प्रकृति और समाजमें देखता है। इसलिए कार्ल मार्क्स और हीगेलकी समता इस बातमें नहीं है कि दोनोंका दार्शनिक दृष्टिकोण एक है। दोनोंकी समता इसी बातमें स्थित है कि दोनोंके अनुसार परिवर्तनकी प्रणाली द्वन्द्वात्मक है। हीगेल और मार्क्सकी द्वन्द्वात्मक प्रणालीकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) द्वन्द्वात्मक प्रणाली प्रत्येक विकासका एक लक्ष्य है और इतिहास उसी लक्ष्यकी प्राप्ति करता है। हीगेलके अनुसार यह लक्ष्य पूर्वनिर्धारित है। समूची सृष्टि विकसित होकर उसी लक्ष्यकी पूर्ति करना चाहती है। इन लक्ष्योंके विभिन्न साधन हैं। ये साधन लक्ष्यसे अलग नहीं हैं वरन् लक्ष्यका एक भाग हैं। इन साधनोंकी सार्थकता इसीमें है कि समूचा लक्ष्य उनमें व्याप्त है। तर्ककी दृष्टिसे हर एक वस्तु साधन और साध्य दोनों है। अतः समूची सृष्टिका आदिसे अन्ततक विकासका पथ तभी उद्देश्यवादी

होता है जब उसमें आर्थिक शक्तियोंका प्रश्न खड़ा हो जाता है। शारीरिक परिवर्तन या सौरमण्डलका विकास उद्देश्यवादी नहीं है, क्योंकि इन परिस्थितियोंका अध्ययन इच्छा, आवश्यकता और उद्देश्यके अनुसार नहीं किया जा सकता। परन्तु सामाजिक इतिहासके परिवर्तनोंमें इच्छाका अंश है। इसलिए सामाजिक विकासमें हम उद्देश्यसिद्धान्त-को स्वीकार कर सकते हैं। मनुष्यकी आवश्यकताएँ या इच्छाएँ ही उसके उद्देश्यको जन्म देती हैं, जिसके नाते हीगेलकी सार्वभौमिक एकताका जो सिद्धान्त था वह विभिन्न मार्गोंमें बँट जाता है। वे उद्देश्य सर्जनात्मक नहीं होते और चूँकि यह मनुष्यकी इच्छापर आधारित है, इसलिए इनकी प्राप्तिको सामान्य बनानेके लिए बाहरी परिस्थितियाँ और उद्देश्योंमें एकरूपता होनी चाहिये। जबतक एकरूपता नहीं होगी तबतक उन उद्देश्योंकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिए जब पूँजीवाद बहुत अधिक विकसित हो जाता है तब उसकी परिस्थितियाँ समाजवादी उद्देश्यकी सृष्टि करती हैं और ये उद्देश्य उन परिस्थितियोंके अनुकूल होते हैं।

(२) द्वन्द्व-सिद्धान्त विराट्का तर्क है। सरल शब्दोंमें इस वाक्यका यह अर्थ है कि मार्क्स और हीगेलके अनुसार द्वन्द्व-सिद्धान्त किसी एक विशेष अंगका अध्ययन नहीं करता क्योंकि अंगका अध्ययन बिना सम्पूर्णके अध्ययनके नहीं हो सकता। अत सम्पूर्ण पूर्ण सत्य है और अंग आंशिक सत्य। दूसरे शब्दोंमें सम्पूर्णकी सापेक्षतामें ही अंगोंका अस्तित्व है।

(३) द्वन्द्व-सिद्धान्तके अनुसार समूचा अस्तित्व गत्यात्मक है। गत्यात्मक होनेके नाते इसकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। द्वन्द्व-सिद्धान्तने इस गत्यात्मकताको ही विकास माना है। उसके अनुसार एक अवस्थाको दूसरी अवस्थामें बदलनेके लिए एक निश्चित प्रणालीका पालन करना पड़ता है। इसको पारिभाषिक दृष्टिसे विकासत्रयी अर्थात् डेवलपमेण्ट ट्रायो कहते हैं। विकासत्रयीके अनुसार जो अवस्था स्थिर है और जिसका हम अध्ययन करते हैं उसको वाद अर्थात् थीसिस कहा जाता है। जब उस अवस्था-के विरोधी उपकरण प्रकट रूपमे वादका विरोध करने लगते हैं, तो उस अवस्थाको प्रतिवाद अर्थात् 'एण्टी-थीसिस' भी कहते हैं। इन दोनों व्यवस्थाओंसे एक तीसरी व्यवस्थाका भी जन्म होता है जिसे सवाद अर्थात् सिन्थीसिस कहते हैं। तीसरी परिस्थितिमें पिछली दोनों परिस्थितियोंके कुछ अंश विद्यमान रहते हैं और उनका समुच्चय नयी परिस्थितिमें धीरे-धीरे होता है। यह विकास मात्रात्मक परिवर्तनसे गुणात्मक परिवर्तनकी ओर चलता है। अत द्वन्द्व-सिद्धान्त विकासकी दृष्टिसे चार सूत्रोंमें पूर्ण रूपमे व्यक्त होता है—(१) विरोधोंकी एकता, (२) विरोधोंका आपसी संघर्ष, (३) इस संघर्षसे एक नयी समन्वित परिस्थितिका जन्म, (४) वादसे संवादतकका परिवर्तन। यह मात्रासे गुणोंकी ओर जानेवाला परिवर्तन है। हीगेल और मार्क्स-के द्वन्द्व-सिद्धान्तकी यह समता सत्यके गत्यात्मक रूपका दर्शन करती है और जब हीगेलके लिए सत्य प्रत्ययमें है तो मार्क्सके लिए जीवनकी भौतिक परिस्थितियोंमें। कार्ल मार्क्स यहींपर जर्मन दार्शनिक फायरबाखसे प्रभावित था।

जर्मन दार्शनिक फायरबाख अपनेको न तो भौतिकवादी मानता था और न आदर्शवादी, किन्तु फायरबाखके दर्शन-में कुछ अंश ऐसे हैं जो भौतिकवादी हैं और जिनसे कार्ल मार्क्स प्रभावित हुआ था। फायरबाख यह कहा करता था कि मनुष्य ही उसके दर्शनका केन्द्रविन्दु है और वही समूची सांस्कृतिक परम्पराका प्रतिविम्ब है। फायरबाख इस दृष्टिसे भौतिकवादी है, किन्तु जिस मनुष्यको अपने दर्शनका केन्द्रविन्दु मानता है वह केवल कल्पनाजगत्की वस्तु है। इसको पारिभाषिक दृष्टिसे 'एशेन्सियल मैन' कहते हैं।

कार्ल मार्क्सका भौतिकवाद फायरबाखके भौतिकवादसे कई अर्थोंमें भिन्न है। मार्क्स न तो आदर्शवादियोंकी तरह भूल ही करता है कि मनुष्यकी चेतना ही सब कुछ है और जड पदार्थ उसकी छाया है और न वह भौतिकवादियों-की तरह यह मानता है कि जड पदार्थ ही सब कुछ है और चेतना केवल निष्क्रिय अनुभवोंका भोक्ता है। उसके अनुसार चेतना और बाह्य परिस्थितियोंमें संघर्ष होता है। यह संघर्ष निश्चित भौतिक परिस्थितियोंमें जन्म लेता है। इसलिए मनुष्यको समझनेके लिए उसकी ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमिका अवलोकन आवश्यक है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मनुष्यको उसकी ठोस परिस्थितियोंकी सापेक्षतामें देखता है और उनके परिवर्तनों-की प्रणाली उनके आन्तरिक संघर्षोंके अनुसार ही मानता है।

सृष्टि और प्रकृतिका यह दृष्टिकोण कई रूपोंमें मस्तिष्क और पदार्थके परम्परागत एकांगी महत्त्वको नष्ट कर देता है। इतना होते हुए भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथ्य और सत्यकी प्रकृतिका अन्वेषण नहीं कर पाता। वह केवल इसी बातका अध्ययन कर पाता है कि मनुष्यके विचारोंका जन्म कैसे होता है। —रा० कु० त्रि०

द्विविधा—नाटकके **आरम्भ**(दे०)से लेकर **नियताप्ति**-(दे०)के पूर्वतकके कार्य-व्यापारकी अवस्था द्विविधासे पूर्ण होती है। इसमें परिणामके प्रति जिज्ञासाका भाव बना रहता है। प्रेक्षक उत्कण्ठापूर्वक यह जाननेका प्रयत्न करता है कि आगे क्या होगा और नाटकका अन्त दु खमय होगा या सुखमय।

नाटकमें रुचि उत्पन्न करनेके लिए द्विविधाका होना अति आवश्यक है। इसीलिए उसमें रहस्य-गोपन (कन्सीलमेण्ट) तथा आकस्मिक विस्मय (सर्प्राइज)का विधान किया जाता है। जबतक रहस्य गुप्त रहता है, प्रेक्षककी द्विविधा बनी रहती है। किन्तु रहस्योद्घाटनके पश्चात् जो आकस्मिक विस्मय होता है वह इस द्विविधाको समाप्त कर देता है। उदाहरणके लिए, 'स्कन्दगुप्त' नाटकमें आरम्भके बादसे मालवपर विदेशियोंका आक्रमण, स्कन्दगुप्त द्वारा उसकी रक्षा, सम्राट्की मृत्यु और स्कन्दगुप्तका सिंहासनारोहण, हूणोंको पराजित करनेके लिए उसके द्वारा सैन्य-संघटन और आक्रमण, किन्तु कुचक्रोंके कारण विफलता, पुन सैन्य-संघटन और गुप्त साम्राज्यके बचे-खुचे वीरोंको साथ लेकर युद्धकी तैयारी—यहाँतककी

सारी कथामें प्रेक्षक द्विविधाकी स्थितिमें रहता है, किन्तु उस युद्धमें सफलता होनेपर उनकी यह द्विविधाकी स्थिति समाप्त हो जाती है।

कथा-वस्तुके रचना-विधानमें नाटककार द्वारा द्विविधा उत्पन्न करनेकी दो शैलियाँ अपनायी जा सकती हैं—प्रथम वह शैली है, जिसमें प्रेक्षक आरम्भसे अन्ततक चरित्रों, घटनाओं तथा मनोवृत्तियों आदिके विषयमें भी अनजान एवं उत्सुक रहता है और अन्तमें वास्तविक घटनाओंके उद्घाटनसे वह प्रभावित एवं आश्चर्यचकित हो जाता है। दूसरी शैली वह हो सकती है जिसमें नाटककार प्रारम्भसे ही मुख्य पात्रों, उनकी मनोवृत्तियों आदि बातोंका प्रकाशन कर देता है और तब उनके लक्ष्योंको साथ लेकर कहानी आगे बढ़ाता है। शेक्सपीयरने अपने नाटकोंमें इस दूसरी शैलीको ही अपनाया है। वास्तवमें यही शैली अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट होती है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गये द्विविधाके एक और प्रभेदको समझ लेना उचित होगा। वह है विडम्बनापूर्ण द्विविधा (आयरनिक सस्पेंस), जिसमें प्रेक्षकको पात्रके पतनका पूर्वनिश्चय हो जाता है, किन्तु स्वयं पात्र उस समय उस पतनसे अनभिज्ञ रहता है। कभी-कभी उस समय भी जब कि दुर्भाग्य निश्चित रहता है, अन्तिम बार द्विविधाकी सृष्टि करनेमें लेखक सफल हो जाता है, जैसे 'मैकबेथ'के उस स्थलपर जहाँ मैकबेथ विश्वासपूर्वक कहता है कि कोई माईका लाल (नो मैन बार्न ऑफ वूमन) उसे नहीं मार सकता। —श्या० मो० श्री०

द्विवेदी-युग—इस युगका नामकरण महावीरप्रसाद द्विवेदीके नामके आधारपर किया जाता है और उसका स्थान भारतेन्दु-कालके तुरन्त बादसे माना जाता है। १९०३ ई०में सरस्वतीका सम्पादकत्व ग्रहण करनेके पश्चात् महावीरप्रसाद द्विवेदीने खड़ीबोलीका परिष्कार प्रारम्भ किया और इस युगके मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि अनेक प्रसिद्ध कवियों और लेखकोंने उनके द्वारा निर्धारित साहित्यादर्शोंका अनुसरण किया। उन्होंने अनेक कवियों और लेखकोंको प्रोत्साहन प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप वे आचार्य-रूपमें स्वीकार किये गये। उन्होंने अपने समकालीन कवियों और लेखकोंपर अपनी प्रतिभाकी अमिट छाप लगा दी और जबतक उनके समकालीन कवियों और लेखकोंकी कृतियाँ जीवित रहेंगी तबतक महावीरप्रसाद द्विवेदीके व्यक्तित्वकी छाप स्पष्ट दिखाई देती रहेगी। द्विवेदीजी एक तीखे विनोदशील व्यंग्यकार, पुष्ट गद्य-लेखक, कवि, समर्थ समालोचक और एक सफल सम्पादक थे। उन्होंने असीम प्रतिभा द्वारा खड़ीबोली साहित्यकी गतिविधि निर्धारित की। द्विवेदी-युग उनके सम्पादनकालके प्रारम्भसे १९२५ ई०के लगभगतक माना जाता है।

जिस समय द्विवेदीजीने 'सरस्वती'का सम्पादन-भार स्वीकार किया उस समय हिन्दी-प्रचारके साथ-साथ व्याकरणके नियमोंकी अवहेलना, स्थानीय प्रयोगोंकी बहुलता, अनुपयुक्त उर्दू तथा अँग्रेजी शब्दोंका प्रचार, मनमाने ढंगसे गढ़े गये नवीन शब्द, आर्यसमाज-आन्दोलन, बंगलासे किये गये अनुवादों और नवोत्थानकालीन भावनाके कारण हिन्दीकी निजी शैलीमें न खप सकनेवाले शब्दोंका प्रयोग, इन सब कारणोंसे बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें हिन्दी गद्य एक अराजकतापूर्ण परिस्थितिसे गुजर रहा था। द्विवेदीजीने भाषाको स्थिरता प्रदान की और भाषाका आदर्श स्थापित किया। भाषाके शब्दभण्डार और उसकी अभिव्यंजनात्मक शक्तिकी वृद्धिका जो कार्य भारतेन्दु-कालमें प्रारम्भ हुआ था, वह द्विवेदी-युगमें और भी आगे बढ़ा। भाषाको परिष्कृत करने और शब्द-भण्डार बढ़ानेके उत्साहमें खड़ीबोली आवश्यकतासे अधिक संस्कृतगर्भित हो गयी। किन्तु गद्यमें विविध शैलियोंका आविर्भाव अवश्य हुआ। इस समय अँग्रेजीकी लाक्षणिकता, बँगलाकी कोमलकान्त-पदावली, अलङ्कारों, उर्दूकी मुहावरेदानीसे समन्वित शैलीके जन्मके साथ-साथ प्रेमचन्द जैसे लेखकोंकी कृतियोंमें हिन्दीकी निजी शैलीका विकास हुआ। बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, गोविन्दनारायण मिश्र, पूर्ण सिंह, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल आदिने अपने-अपने व्यक्तित्वके अनुरूप आत्मकथात्मक, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, भावात्मक, आलोचनात्मक, व्याख्यानात्मक, व्यंग्यात्मक, कवित्वपूर्ण, रूपकात्मक आदि विविध प्रकारकी शैलियोंको जन्म दिया। इन शैलियोंके माध्यम द्वारा वे मानव-मनकी अनेक स्थूल एवं सूक्ष्म बातोंका विश्लेषण करने लगे। 'प्रसाद' और 'हृदयेश'की अलंकृत भाषा-शैलियाँ भी द्विवेदी-युगमें उत्पन्न हुईं। हिन्दीकी इन विविध शैलियोंमेंसे कुछ तो मौलिक थीं, कुछ अनुकरणमात्र थीं। आज हिन्दीकी केवल अपनी विशेषताओंसे सम्बन्धित शैलियाँ रह गयी हैं।

विविध प्रकारकी भाषा-शैलियोंके साथ-साथ द्विवेदी-युगमें गद्य-साहित्यके विविध रूपोंमें प्रतिपादित विषय और कलाकी दृष्टिसे अधिक विकास हुआ। उपन्यास साहित्यने निश्चित रूपसे कला, विषय और उपादान, तीनों दृष्टियोंसे भारतेन्दु-कालकी अपेक्षा अधिक उन्नति की। मनोविज्ञान और संघर्षका आश्रय ग्रहण कर उपन्यास-लेखकोंने मानव-मन और मानव-जीवनका स्वाभाविक चित्रण करना प्रारम्भ किया। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे तिलिस्मी, साहसिक, जासूसी, ऐतिहासिक, पौराणिक, चरित्रप्रधान, भावप्रधान आदि प्रकारोंके उपन्यास लिखे गये। इस प्रकारके उपन्यासकारोंमें किशोरीलाल गोस्वामी, प्रेमचन्द, गोपालराम गहमरी, वृन्दावनलाल वर्मा, कौशिक, चतुरसेन शास्त्री आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। इनमेंसे कुछकी वास्तविक प्रतिभा बादको प्रस्फुटित हुई। इस युगके सबसे अधिक प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द हैं। उनमें अद्वितीय वर्णनात्मक शक्ति है और वे मानव-मनका अत्यन्त सुन्दर उद्घाटन करते हैं। कहानी तो निश्चित रूपसे द्विवेदी-युगकी देन है। उसका प्रारम्भ १९०० ई० में 'सरस्वती' मासिक पत्रिकासे होता है। प्रारम्भमें अँग्रेजी और संस्कृत कथाओंके कहानी रूपान्तर प्रकाशित हुए। धीरे-धीरे सामयिक जीवनमें घटित होनेवाली साधारण घटनाओंके आधारपर कहानियोंका निर्माण होने लगा और चरित्रप्रधान, वातावरणप्रधान, कथानकप्रधान,

कार्यप्रधान, प्रतीकवादी आदि अनेक प्रकारकी कहानियाँ वर्णनात्मक, सम्भाषणात्मक, आत्म-चरित, पत्र, डायरी आदि शैलियोंमें लिखी गयीं। प्रेमचन्द,'प्रसाद', कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सुदर्शन इस युगके प्रमुख कहानी-लेखक हैं।

बँगलासे किये गये अनुवादों और पारसी रंगमंचके लिए लिखे नये नाटकोंके कारण इस युगमें श्रेष्ठ, मौलिक नाट्य-कृतियोंका अभाव मिलता है। बेताव, कश्मीरी, शैदा, जौहर, राधेश्याम आदिकी नाट्य-कृतियोंमें नाट्य-कलाका हीन रूप दृष्टिगोचर होता है। नाट्य-साहित्यका यह पतन भारतेन्दु-कालमें ही प्रारम्भ हो गया था। द्विवेदी-युगमें परिस्थिति बहुत अधिक न सुधर पायी। साहित्यिक नाटकोंके रसास्वादनके लिए हिन्दी पाठक बँगलाकी अनूदित कृतियाँ पढते थे। भारतेन्दु-कालकी भाँति साधु रंगमंचका अभाव भी बराबर बना रहा। प्रथम महायुद्ध(१९१४-१९१९ ई०)के समयतक हिन्दीमें उत्तम कोटिकी मौलिक नाट्य-रचनाएँ एक प्रकारसे उपलब्ध नहीं होतीं—बदरीनाथ भट्ट-कृत 'कुरुवन-दहन' जैसे अपवादस्वरूप नाटकोंमें नाटकीय तत्त्व, चरित्रचित्रण, कथासंघटन, साहित्यिकता आदिकी दृष्टिसे नाट्य साहित्यके उज्ज्वल भविष्यका संकेत मिल जाता है। यद्यपि राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'-कृत 'चन्द्रकला-भानुकुमार' नाटक एक मौलिक और साहित्यिक नाटक था, किन्तु वह कल्पनापर अधिक आधारित था और उसका आकार बृहत् था। ऐसी परिस्थितिमें जयशंकर 'प्रसाद'ने नाट्य-क्षेत्रमें पदार्पण किया। १९२५ ई०के लगभगतक उनकी 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय', 'प्रायश्चित्त', 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु' और 'कामना' नामक रचनाएँ प्रकाशित हुईं। द्विवेदी-युगमें उनकी प्रतिभाका प्रथम विकास अवश्य दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उनकी वास्तविक प्रतिभा परवर्ती कालमें प्रस्फुटित हुई। 'प्रसाद'ने शिक्षित समुदायके सामने भारतके प्राचीन गौरवका चित्र प्रस्तुत करते हुए आधुनिक राष्ट्रीय भावनाओंका पोषण किया। यद्यपि आन्तरिक एवं बाह्य संघर्ष, आदर्श, चरित्र-चित्रण, कथानकसंघटन, कथोपकथन आदिकी दृष्टिसे इनके नाटक महत्त्वपूर्ण हैं, तो भी नाट्यकला तथा रंगमंचकी दृष्टिसे वे सर्वथा निर्दोष नहीं हैं। हरिकृष्ण प्रेमी तथा अन्य नाटक-कारोंने 'प्रसाद'शैलीका ही अनुसरण किया।

निबन्ध-रचनाकी दृष्टिसे द्विवेदी-युग उसका विकास-काल है। भारतेन्दु कालमें निबन्धकारोंके विषय, उपादान और शैली सीमित रही, किन्तु द्विवेदी-युगमें महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, केशवप्रसाद सिंह, पूर्ण सिंह, यशोदानन्दन अखौरी, चतुर्भुज औदीच्य, पद्मसिंह शर्मा, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल आदिने कथात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक आदि विविध प्रकारके निबन्ध प्रस्तुत कर निबन्धोंमें विषयविस्तार और विविध शैलियाँ उपस्थित कीं। पत्र-पत्रिकाओंकी भी द्विवेदी-युगमें यथेष्ट वृद्धि हुई, यद्यपि अँग्रेजीके प्रचार और भाषा-सम्बन्धी यान्त्रिक साधनोंकी कठिनाई होनेके कारण हिन्दीके दैनिक पत्रोंका स्तर और सम्पादन अधिक उन्नति न कर सका। साहित्यिक दृष्टिसे 'सरस्वती', 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' और 'इन्दु', मासिक या त्रैमासिक पत्रोंमें उल्लेखनीय हैं। १८९७ ई० में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका'के प्रकाशनसे हिन्दी समालोचना-साहित्यकी विशेष वृद्धि हुई। पिछली प्रणालीके साथ-साथ उसमें नूतन प्रणालियोंका जन्म हुआ। उसमें गम्भीर अध्ययनके बाद गवेषणात्मक और समालोचना-सिद्धान्त-सम्बन्धी साहित्य प्रकाशित होने लगा। इस सम्बन्धमें श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु और पद्मसिंह शर्माका कार्य प्रशंसनीय है। आगे चलकर ज्यों-ज्यों भारतीय एवं पाश्चात्य समालोचना-सिद्धान्तोंका अध्ययन होता गया, त्यों-त्यों हिन्दी समालोचना-साहित्य भी समृद्ध होता गया।

द्विवेदी-युगका काव्य-साहित्य भारतेन्दु-कालके पश्चात् आधुनिक हिन्दी कविताका दूसरा और तीसरा परिवर्तनकाल है। पिछले कालमें प्रबन्धकाव्यों और गीतिकाव्योंका एक प्रकारसे नितान्त अभाव था। बीसवीं शताब्दीके प्रथम बीस-पचीस वर्षोंमें महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यानक-काव्य, प्रेमाख्यानककाव्य और गीतिकाव्यकी रचना हुई और शब्दभण्डार, भावप्रकाशन-शक्ति आदिकी दृष्टिसे खड़ीबोलीका नवीन विकास और उत्कर्ष उपस्थित हुआ। यह काव्य बुद्धिपर प्रभाव डालनेवाला, भावों तथा विचारों-पर आधारित कल्पनाप्रसूत रूपवाला था। द्विवेदी-युगमें प्रधा-नता इतिवृत्तात्मक काव्यकी रही, किन्तु उसके लगभग अन्तमें काव्य इतिवृत्तात्मकतासे भावपूर्ण कविताकी ओर, अलंकार, रस, गुण आदिसे मानव जीवनकी उच्च वृत्तियों और भावनाओंकी ओर और प्रकृति-वर्णनमें मन कल्पित दृश्योंकी व्यंजनाकी ओर विकसित हुआ।

प्रस्तुत कालके कवियोंने हिन्दीकाव्य-साहित्यकी परम्पराओं और रूढियोंके प्रति विरोध प्रकट कर प्रकृति, मानव और जीवनके सम्बन्धमें व्यापक दृष्टिकोण ग्रहण किया। भाषा, छन्द आदिकी दृष्टिसे रीतिकालीन परम्पराकी अतिशय नियमबद्धता और पाण्डित्य-प्रदर्शनका उसमें परित्याग कर दिया गया। प्रथम महायुद्धके लगभग अन्ततक काव्य-साहित्यमें प्रधानतः साहित्यिक परिवर्तन प्रकट हुए, किन्तु उसके बाद साहित्यिक परिवर्तन ही नहीं हुए, वरन् दार्शनिक और कलात्मक परिवर्तन भी हुए। विश्वकी चेतना, सृष्टिका रहस्य, एकान्त वेदना, अनन्त निराशा, सर्वचेतनवाद, प्रेम, प्रकृतिपर चेतनताका आरोपण आदि उसके नवीन पक्ष हैं। उसमें गीतितत्त्वको भी प्रधानता मिली। मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, मुकुटधर पाण्डेय, बदरीनाथ भट्ट, नाथूरामशंकर शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी,'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदि इस युगके अन्ततकके प्रमुख कवि हैं। १९०४ ई० में रूसपर जापानकी विजय, बंग-भंग आन्दोलन, होमरूल-आन्दोलन तथा अन्तमें असहयोग-आन्दोलन द्वारा हिन्दीमें इस समय राष्ट्रीय काव्यधाराका, जो भारतेन्दु-युगमें जन्म ले चुकी थी, और भी अधिक विकास हुआ। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', मैथिलीशरण गुप्त आदिने इस काव्यधाराका पोषण किया। श्रीधर पाठकने प्रकृति-वर्णन करते समय नवीनता प्रदर्शित की और हरिऔधकृत 'प्रियप्रवास' महाकाव्यकी

रचना भी इसी समय हुई। काव्यमें एक नवीन मानवतावादी दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ और रूढियों तथा परम्पराओंका तिरस्कार कर कवियोंने एक नवीन युगकी भूमिका बाँधी।

द्विवेदी-युगमें यद्यपि काव्यभाषाके रूपमें खड़ीबोलीकी स्थापना हो गयी थी, तो भी ब्रजभाषाकी प्राचीन काव्य-परम्परा भी क्षीण रूपमें बराबर बनी रही। इस परम्पराका पालन करनेवाले कवियोंमें जगन्नाथदास 'रत्नाकर', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', सत्यनारायण 'कविरत्न' आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। 'रत्नाकर'ने भक्ति और रीतिकालका सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया।

[सहायक ग्रन्थ—महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : उदयभानु सिंह] —ल० ना० वा०

द्वैतवाद–अन्तिम तत्त्व एक है या दो है या दोसे अधिक है? जो एक कहते हैं उनके सिद्धान्तको एकत्ववाद, जो दो कहते हैं उनके सिद्धान्तको द्वित्ववाद और जो दोसे अधिक कहते हैं उनके सिद्धान्तको बहुत्ववाद कहा जाता है। द्वित्ववादको कभी-कभी द्वैतवाद कहते हैं। पर द्वित्ववाद द्वैतवाद या बहुत्ववाद, दोनोंका पर्याय हो गया है। भारतीय दर्शनमें एकत्ववादको प्रायः अद्वैतवाद समझा जाता है और इसके विरोधमें जो सिद्धान्त रहता है उसको द्वैतवाद। इन दोनोंमें बहुत विरोध है। इस विरोधको दूर करके दोनोंका समन्वय करनेवाले सिद्धान्त हैं शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद। द्वैतवाद भी उक्त वादोंकी भाँति वेदान्त है, क्योंकि इसको भी श्रुति, स्मृति और ब्रह्मसूत्रके प्रमाण मान्य हैं। इसका भी लक्ष्य ब्रह्मको प्राप्त करना है। यह भी ब्रह्मवाद है, पर इसमें जीव, जगत् और ब्रह्मको परस्पर भिन्न समझा जाता है, अभिन्न नहीं।

द्वैतवादके प्रथम प्रवर्तक और आचार्य मध्वाचार्य हैं। वे इसको परम्परागत बतलाते हैं, पर उनका कथन ऐतिहासिक दृष्टिसे निराधार है। मध्वका जन्म दक्षिण-भारतमें तुलुवदेशके वेलिग्राममें उडीपिके पास मधिजीभट्ट नामक एक वेदवेदांगपारंगत ब्राह्मणके घर ११९९ ई०में हुआ था। घरका इनका नाम वासुदेव था। ये दौड़ने, कूदने-फाँदने, तैरने और कुश्ती लड़ने आदिमें पारंगत थे। अतः इनका नाम भीम पड़ गया। कहा जाता है कि ११ वर्षकी उम्रमें इन्होंने अद्वैतमतके सन्यासी अच्युतपक्षाचार्यसे सन्यासकी दीक्षा ली। अब इनका नाम पूर्णप्रज्ञ रखा गया। जब ये वेदान्तमें पारंगत हो गये तो गुरुने इनका नाम आनन्दतीर्थ रख दिया। इसी नामसे इन्होंने कई ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमें उपनिषदोंके भाष्य, गीताभाष्य और ब्रह्मसूत्रके भाष्य मुख्य हैं। १३०३ ई०में इनका देहान्त हुआ। इनके मतके प्रसिद्ध अनुयायी और विद्वान् रचयिता जयतीर्थ (१४वीं शती), व्यासतीर्थ (१५वीं शती), रामाचार्य (१६वीं शती), वनमाली मिश्र (१७वीं शती), विजयीन्द्र (१८वीं शती), वेदेशतीर्थ (१८वीं शती) आदि हैं। इस मतके अनुयायी आज भी अधिक संख्यामें बम्बई राज्यके कन्नड-भाषी प्रदेश, मैसूर और पश्चिमी तटपर गोवासे लेकर कन्नाडतकके प्रान्तमें रहते हैं। उत्तरी भारतमें ये लोग इधर-उधर सर्वत्र बिखरे हुए हैं, पर दक्षिणभारतकी भाँति बहुसंख्यामें कहीं नहीं हैं। दक्षिण कन्नाडमें इस मतके ८ मठ हैं और तीन मठ शेष भारतमें हैं। ये आज भी इस मतका प्रचार-प्रसार करते रहते हैं।

द्वैतवाद अद्वैतवादकी प्रतिक्रियामें आविर्भूत हुआ। मध्वाचार्यने श्रुति तथा तर्कके आधारपर सिद्ध किया कि संसार मिथ्या नहीं है, जीव ब्रह्मका आभास नहीं है और ब्रह्म ही एकमात्र सत् नहीं है। इस प्रकार अद्वैतवादके अभेदका खण्डन करते हुए उन्होंने पाँच नित्य भेदोंको सिद्ध किया—(क) ईश्वरका जीवसे नित्य भेद है, (ख) ईश्वरका जड पदार्थसे नित्य भेद है, (ग) जीवका जड़ पदार्थसे नित्य भेद है, (घ) एक जीवका दूसरे जीवसे नित्य भेद है, (ङ) एक जड पदार्थका दूसरे जड पदार्थसे नित्य भेद है। इस सिद्धान्तको पंचभेद-सिद्धान्त कहा जाता है। जयतीर्थने 'वादावली' और 'व्यासतीर्थ-न्यायामृत' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थोंमें अद्वैतका खण्डन किया। अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वतीने इन सबके खण्डनोंका खण्डन करनेके लिए, विशेषतः 'न्यायामृत' जैसे सर्वश्रेष्ठ मध्ववादी ग्रन्थका खण्डन करनेके लिए, भेदका खण्डन करनेके लिए तथा अभेदकी सिद्धिके लिए 'अद्वैतसिद्धि' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थकी रचना की। मधुसूदन सरस्वतीको अपने प्रयासमें पर्याप्त सफलता मिली। द्वैतवादी रामाचार्यने 'न्यायामृत'की टीका 'तरंगिणी' नामसे लिखी। इसमें उन्होंने 'अद्वैतसिद्धि'की युक्तियोंका खण्डन किया और इस प्रकार पुनः 'अद्वैतवाद'का खण्डन करके द्वैतवादकी स्थापना की। 'तरंगिणी'की आलोचना अद्वैतवादी ब्रह्मानन्द सरस्वतीने अद्वैतसिद्धिकी टीका 'गुरुचन्द्रिका' और 'लघुचन्द्रिका' नामसे लिखकर की। इनके इन ग्रन्थोंको 'गौड ब्रह्मानन्दी' भी कहते हैं। अद्वैतवादी अप्पय दीक्षितने भी 'मध्वमतमुखमर्दन' लिखा। द्वैतवादी वनमाली मिश्रने 'गौड-ब्रह्मानन्दी' और 'मध्वमत-मुखमर्दन'का खण्डन किया और द्वैतवादको अद्वैतवादके खण्डनोंसे बचाया। इसके अनन्तर तो अद्वैतवाद तथा द्वैतवादका संघर्ष भारतीय दर्शनमें प्रधान बन गया। 'न्यायामृत'की टीकापर टीका लिखी जाने लगी। इनका उद्देश्य था अद्वैतवादका खण्डन। उधर 'अद्वैतसिद्धि'की व्याख्यापर व्याख्या होने लगी, जिनका उद्देश्य था द्वैतवाद-का खण्डन। इन दो ग्रन्थोंका इस संघर्षमें केन्द्रीय स्थान है। इनके अतिरिक्त द्वैतवादी भेदोज्जीवन और अद्वैतवादी भेद-धिक्कार लिखते रहे। एक भेदका जीवनोद्धार करते रहे और दूसरे इसको धिक्कारते रहे।

उपनिषदोंमें बहुतसे वाक्य हैं जो अद्वैतवादकी स्पष्ट पुष्टि करते हैं। मध्वाचार्यने इन वाक्योंकी द्वैतवादी व्याख्या की है। कुछ एकका यहाँ उदाहरण दिया जाता है, क्योंकि श्रुतियोंके समन्वयको ही वेदान्त कहते हैं और द्वैतवादके वेदान्त-सिद्धान्त होनेके कारण उसकी श्रुति-व्याख्या समझना आवश्यक है। 'तत्त्वमसि' (वह तू है) स्पष्ट अद्वैतपरक है, पर मध्व इसका अर्थ लेते हैं—तदीय (तत्) त्वम् असि (तू उसका है)। अर्थात् तुझमें और उसमें भेद है। अयम् आत्मा ब्रह्म (यह आत्मा ब्रह्म है), अद्वैतपरक वाक्य है, पर मध्व इसका यों द्वैतपरक अर्थ करते हैं—अयम् जीवात्मा (आत्मा) ब्रह्म (वर्धनशील) अस्ति—यह आत्मा बढ़ती रहती है। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति (ब्रह्मविद् ब्रह्म ही

होता है), इस अद्वैतपरक वाक्यका द्वैतपरक अर्थ यों किया जाता है—ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मके समान हो जाता है। जब हम कहते हैं कि यह पुरोहित राजा हो गया है तो हमारा अर्थ है कि यह पुरोहित राजाके समान हो गया है। इसी तरह जब हम कहते हैं कि ब्रह्मविद् ब्रह्म है, तो उसका अर्थ है कि ब्रह्मविद् ब्रह्मके समान है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' आदि वाक्योंका अर्थ है कि ब्रह्म बेजोड है और उसको कोई पार नहीं कर सकता है, वह अपार है। इन वाक्योंका यह अर्थ नहीं है कि सिर्फ ब्रह्म ही एकमात्र सत् है और अन्य सब कुछ मिथ्या है। जो वाक्य द्वैतवादकी स्पष्ट निन्दा करते हैं, जैसे, 'मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (जो यहाँ नानात्व या भेद देखता है वह एक मृत्युके बाद दूसरी मृत्यु पाता रहता है), उनको मध्व पूर्वपक्ष मान लेते हैं और कहते हैं कि विरोधीके सिद्धान्तको पहले स्थापित करके श्रुति स्वय उसका खण्डन सिद्धान्तरूपमें उत्तरपक्षमें करती है। 'असद् एवेद अग्रासीत्' (पहले असत् ही था), इसको अद्वैतवादी भी पूर्वपक्ष मानकर परवर्ती वाक्योंमें इसका खण्डन मानता है। बस इसी प्रणालीसे द्वैत-निन्दक वाक्योंका भी द्वैतवादी उनके परवर्ती वाक्योंमें खण्डन देखता है। स्पष्ट है कि अद्वैतपरक श्रुतियोंकी द्वैतवादी व्याख्यामें दूरकी कौडी अधिक है। यह घुमा-फिराकार अर्थ निकालनेका फल है। सीधा अर्थ सही अर्थ होता है। अत द्वैतवादी व्याख्याको अर्थ-विज्ञान तथा श्रुतिके ज्ञाता कभी प्रामाणिक नहीं मान सकते।

इस मतमें कुल दस पदार्थ माने जाते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। प्रथम पाँच और अन्तिम वैशेषिक पदार्थ ही हैं। इनमें विशिष्ट, अंशी, शक्ति और सादृश्य जोड़ देना मध्व मतकी वैशेषिक मतसे विशिष्टता है। द्रव्य बीस प्रकारका माना जाता है—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, अहकारतत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। इनमेंसे अधिकाश साख्यके तत्त्वोंसे लिये गये है। मध्वमतका ईश्वर या परमात्मा बहुत कुछ न्यायके ईश्वरसे मिलता-जुलता है। उसकी प्रकृति साख्यकी प्रकृतिसे मिलती है। इस तरह मध्वमत कुछ बातोंमें न्याय-वैशेषिक और कुछ बातोंमें साख्य-दर्शनसे मदद लेता है।

मध्वमतका प्रचार-प्रसार कन्नड-भाषी प्रान्तमें ही अधिक है। हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्रमें इस मतका अपेक्षाकृत कम प्रचार है। अत हिन्दीमें इस मतको साक्षात् या परम्परासे माननेवाले सन्त कम ही है, पर उनकी बानियोंमें कभी-कभी मध्वके द्वैतवादकी स्पष्ट छाप दिखलाई पडती है। वे प्राय द्वैतवादियोंका वैसे ही खण्डन करते है जैसे अद्वैतवादियोंने द्वैतवादका खण्डन किया था। मध्वमतके पचभेद-सिद्धान्तका प्राय बडा प्रभाव है। ज्ञानके तारतम्य, आनन्दके तारतम्य और मुक्तिके तारतम्य—इन सिद्धान्तोंका साहित्य तथा जन-जीवनपर आज भी प्रभाव स्पष्ट है।

[सहायक ग्रन्थ—(१) भारतीय दर्शन · बलदेव उपाध्याय, (२) 'कल्याण'का वेदांताक।] —सं० ला० पा०

द्वैताद्वैतवाद—संसार और ब्रह्मके सम्बन्धको लेकर दार्शनिकोंमें कई मत प्रचलित है। शकरने अद्वैत, रामानुजने विशिष्टाद्वैत और निम्बार्कने द्वैताद्वैत माना। निम्बार्कके मतमें ससार ब्रह्मसे भिन्न और अभिन्न दोनों है। रामानुजने ससारको ब्रह्मसे भिन्न मानते हुए भी दोनोंकी अभिन्नतापर ही अधिक जोर दिया और शकरने तो दोनोंको भिन्न न मानते हुए अभिन्न ही माना। निम्बार्कके मतानुसार ब्रह्मसे ससारकी भिन्नता और अभिन्नता, दोनों समान महत्त्वकी हैं। इसीलिए इस मतको द्वैत (भिन्नता माननेवाला मत) और अद्वैत (अभिन्नता माननेवाला मत), दोनों एक साथ कहा जाता है। यह कहनेमें व्याधातक अवश्य लगता है, पर वास्तवमें यही सत्य है। जैसे कार्य (घट) कारण(मिट्टी)-मे अभिन्न है, क्योंकि दोनोंकी सामग्री एक ही है, और साथ ही भिन्न भी है, क्योंकि दोनोंके नाम, रूप, आकार, प्रयोजन आदि पृथक्-पृथक् हैं। वैसे ही ससार (कार्य) ब्रह्म-(कारण)से भिन्न और अभिन्न दोनों है। ब्रह्म अद्वैत है, ससार द्वैत (नाना) है। दोनों नित्य सत्य हैं। अद्वैत ब्रह्म (कारण) ही द्वैत ससार(कार्य)का वास्तविक रूप धारण करता है। जो भी कार्य-कारण-सम्बन्धपर विचार करेगा, उसे तात्त्विक दृष्टिमें द्वैताद्वैतवादको ही मानना पडेगा। इस मतका दूसरा नाम भेदाभेदवाद है।

निम्बार्क तेलग ब्राह्मण थे। ११वीं शताब्दीमें रामानुजके परवती कालमें इनका जन्म हुआ। ये ही द्वैताद्वैतवादके मुख्य प्रवर्तक है। इनके मुख्य ग्रन्थ 'वेदान्तपारिजात' (ब्रह्मसूत्रका भाष्य), 'दशश्लोकी' और 'श्रीकृष्णस्तवराज' है। इनके साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्य थे, जिन्होंने 'वेदान्तपारिजात'की टीका 'वेदान्तकौस्तुभ'की रचना की। केशव भट्ट कश्मीरी (१५वीं शताब्दी) इस मतके प्रमुख ग्रन्थकार हैं। इनके लिखे कई ग्रन्थ है। इस मतके अन्य सम्मानित लेखक पुरुषोत्तमाचार्य, देवाचार्य, अनन्तराय और माधव मुकुन्द हैं।

पर इस मतका इतिहास निम्बार्कसे भी प्राचीन है। ब्रह्मसूत्रकार बादरायणके पूर्व औडुलोमि और आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे, ऐसा ब्रह्मसूत्रसे ही ज्ञात होता है। इनके मतसे कारणात्मना जीव तथा ब्रह्मका ऐक्य है और कार्यात्मना अनैक्य। शकराचार्यके पूर्व भर्तृप्रपच नामके एक प्रसिद्ध उपनिषद्-भाष्यकार और भेदाभेदवादी दार्शनिक थे। शकरके पश्चात्, पर रामानुजके पहले भास्कर नामके एक ब्रह्मसूत्र-भाष्यकार हुए हैं, जो भेदाभेदवादी ही है। इसके अनन्तर यादव नामके एक और भेदाभेदवादी हुए, जो निर्गुणवाद और मायावादको अन्य भेदाभेदवादियोंकी भाँति नहीं मानते थे।

सभी भेदाभेदवादी ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी और ब्रह्मपरिणामवादी हैं। वे जीवन्मुक्तिको नहीं मानते। उनके मतसे केवल विदेह मुक्ति ही सम्भव है। भास्कर भेद-(नानात्व)को औपाधिक मानते थे और यादव तथा निम्बार्क स्वाभाविक।

हिन्दीके समस्त सन्तों और भक्तोंपर भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवादका प्रभाव स्पष्ट है। जीव और ब्रह्मके भेदको समझानेके लिए वे जिन रूपकोंका प्रयोग करते हैं, उनमे

यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। पर सिद्धान्तरूपसे जैसा पीताम्बरदत्त बड़थ्वालका कहना है, नानक तथा उनके अनुयायी ही विशेष रूपमें भेदाभेदवादी हैं। पर यह सिर्फ तत्त्ववाद और आभ्यन्तर धर्मसाधनाका भेदाभेदवाद है। बाह्य रूपसे निम्बार्क और नानकके मतोंमें पर्याप्त भेद है। निम्बार्क वैष्णव हैं और नानक सत्य और नामके उपासक। निम्बार्क सगुण ईश्वरकी ओर अधिक झुके हैं और नानक निर्गुणकी ओर। पर दोनोंका तत्त्ववाद भेदाभेद ही है। दोनोंमें ब्रह्म या सत्, जीव और जगत्की समान व्याख्या है।

रामानुजकी भाँति निम्बार्क भी ईश्वर, चित् (जीव) और अचित् (जड पदार्थ), तीन परम तत्त्व मानते हैं। ईश्वरमें अनन्त वस्तुओंको उत्पन्न करनेकी शक्ति है। उस शक्तिमें ही सभी वस्तुएँ सारत विद्यमान हैं। ईश्वर अपनी शक्तिका अनुभवमात्र करनेसे ससारका रूप धारण करता है। रामानुजके मतमें चित् और अचित् ईश्वरके अगभूत हैं, पर यह निम्बार्कको अमान्य है। चित् और अचित्को ईश्वरकी शक्ति मानना—शक्तिवाद—इस मतकी अपनी विशेषता है। जीव और जड पदार्थ ईश्वरके अग नहीं हैं, अपितु शक्ति हैं।

जीव या चित् ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाश्रय है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। वह अणु है। मुक्तावस्थामें भी वह कर्ता रहता है। उस समय वह ईश्वरसे केवल एक बातमें भिन्न रहता है। वह यह कि ईश्वर नियन्ता है और जीव नियम्य। जड पदार्थ तीन प्रकारका है—प्राकृत, अप्राकृत और काल। प्राकृतका तात्पर्य है महत् तत्त्वसे लेकर महाभूततक प्रकृतिसे उत्पन्न जगत्। अप्राकृतका अर्थ उन पदार्थोंसे है, जिनसे प्रकृतिका सम्बन्ध बिलकुल नहीं है। इनमें विष्णुपद, परमपद आदि हैं।

ईश्वर सगुण है। वह निर्दोष है। जो कुछ भी दृष्टिगोचर और बोधगम्य है, उसके भीतर और बाहर ईश्वर व्याप्त है। उसको ही परमब्रह्म, नारायण, भगवान्, कृष्ण, पुरुषोत्तम आदि नामोंसे पुकारा जाता है। निम्बार्क ही प्रथम वैष्णव हैं, जिन्होंने कृष्ण और राधाको सर्वप्रथम विशेष महत्त्व दिया। सहस्रों सखियोंसे घिरी हुई राधा और उसके वल्लभ कृष्ण निम्बार्कके आराध्य देव हैं। दोनोंकी लीला ही सृष्टिका रहस्य है। कृष्णके ही चार व्यूह और अनेक अवतार हैं।

नानकने ब्रह्मको 'सत्य' नाम दिया, वह स्वय रसरूप है और उसका अनुभव करनेवाला भी है। 'वही देखता है, वही समझता है और वही कम एव अधिक अनुभूत भी हुआ करता है।' वह निर्विशेष होकर भी अपना व्यक्तित्व रखता है। वही सर्वत्र है। 'जैसे बूँदमें सागर है और सागरमें बूँद है, वैसे ही जीवमें ब्रह्म है और ब्रह्ममें जीव है।' स्पष्ट है कि नानकके ऐसे विचार भेदाभेदवादके अन्तर्गत ही आते हैं।

इस मतके अनुसार मुक्तिके लिए जीवको प्रपत्ति या ईश्वरके प्रति आत्मसमर्पणसे अपनी चर्या आरम्भ करनी चाहिये। प्रपत्तिके छ अग हैं—समर्पण करनेका संकल्प (आनुकूल्यस्य सकल्प), विरोधका परिहार (प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्), यह विश्वास कि ईश्वर गोप्ता है (रक्षिष्यतीति विश्वास-), ईश्वरके गोप्तृत्वको स्वीकार करना (गोप्तृत्ववरणम्), अपनेको उसके ऊपर न्योछावर करना (आत्मनिक्षेप) और नि सहायताका ज्ञान (कार्पण्यम्)। निम्बार्ककी यह धर्म-साधना रामानुजीय टेंकलै मतकी साधनासे मिलती-जुलती है। भेद यह है कि प्रस्तुत मत लक्ष्मी, भू और लीला तथा उनके पति नारायणके स्थानपर सखियों सहित राधा और उसके वल्लभ कृष्णकी भक्तिपर जोर देता है। रामानुजके पूर्व भक्तिका अर्थ परमेश्वरके प्रति अनन्य प्रेम ही था। रामानुजने इस अर्थमें औपनिषदिक उपासना(सतत अर्चन और चिन्तन)को मिला दिया। निम्बार्कने इसको अमान्य समझकर भक्तिका मूल अर्थ ही ग्रहण किया। रामानुजने ऐश्वर्यप्रधान भक्तिकी शिक्षा दी। उनके मतमें ईश्वरकी भक्ति इसलिए होती है कि ईश्वर उदात्त, अतुलनीय, महान्से महान् और अनन्त है और इन गुणोंके कारण उसके प्रति आकर्षण, श्रद्धा और भक्ति होती है। निम्बार्कने इस ऐश्वर्यप्रधान भक्तिके स्थानपर माधुर्यप्रधान भक्तिकी शिक्षा दी। भगवान्के ऐश्वर्यसे उसकी ओर आकृष्ट होना धर्म-साधनाका आरम्भमात्र है। सच्ची साधना तो उसके प्रेम तथा जीवन्त साहचर्यमें बँधना है, उसकी मधुरिमाका आस्वादन करना है और उसे मधुर रूपमें देखना है। जीव और ईश्वरके सम्बन्धमें माधुर्यका पुट देना निम्बार्कका ही काम था।

निम्बार्कके मतका प्रचार वृन्दावन और बंगालमें विशेष हुआ। ये स्वय वृन्दावनमें बस गये थे। उनकी और उनके अनुयायियोंकी दृष्टि सदा समन्वयपर रही है। अद्वैतवाद और द्वैतवादका ये सदा समुच्चय करते रहे।

यूरोपमें तात्त्विक तथा तार्किक दृष्टिसे द्वैताद्वैतवादका १९वीं और २०वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विशेष जोर रहा। जर्मन दार्शनिक हीगेल वहाँ इस आन्दोलनका प्रवर्तक था। उसके बाद उसके मतने हीगेलवादका रूप धारण किया। जर्मनीके बाहर इग्लैण्ड, इटली, अमेरिका और भारतमें भी इस मतका प्रचार हुआ। इन देशोंमें इसने नव-हीगेलवादका रूप धारण किया। यह प्रत्ययवाद या विज्ञानवाद था। इसका मूल सिद्धान्त द्वैताद्वैतवाद या भेदाभेदवाद था। इसमें सत् और असत्को, अभेद तथा भेदको समान महत्त्व दिया गया और बोधको ही वास्तविकताका सच्चा स्वरूप माना गया। धर्ममें इसने भारतीय द्वैताद्वैतवादकी भाँति सगुण ईश्वर या ब्रह्मका समर्थन किया। यद्यपि इस भेदाभेदवाद और भारतीय भेदाभेदवादमें पर्याप्त भेद है, तथापि दोनोंका तत्त्ववाद और तर्कशास्त्र बहुत कुछ एक-सा है। धर्मसाधना दोनोंकी बिलकुल भिन्न है। हीगेलवाद तथा नव-हीगेलवादकी धर्म-साधना ईसाई मतकी है। इसके तत्त्ववाद और तर्कशास्त्रसे लाभ उठाकर आधुनिक भारतीय द्वैताद्वैतवादने अपने सिद्धान्तोंकी व्याख्या वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक ढगसे करके द्वैताद्वैतवादकी अकाट्य पुष्टि की है।

[सहायक ग्रन्थ–(१) भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय, (२) 'कल्याण'का वेदान्ताक, (३) हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।] —स० ला० पा०

धमन चमन–दे०–'हठयोग'।

धर्मकथा–'धर्मकथा' अथवा 'धर्मगाथा' शब्दका प्रयोग संस्कृत तथा विशेष रूपसे बौद्ध एव जैन साहित्यमें उपलब्ध है। अँग्रेजीके 'मिथ' शब्दके पर्यायरूपमें हिन्दीमें 'धर्मकथा' शब्द ग्रहण किया गया है। मानव-समाजकी आद्यतम कथाएँ धर्मकथाकी सम्पत्ति है। भाषाका आरम्भ होनेपर विविध प्राकृतिक दृश्योंसे सगति बैठाते हुए जो कथाएँ नि सृत हुई, वे ही आगे चलकर परिष्कृत होती गयीं। धर्मकथा अपने वास्तविक रूपमें कहानी है, जिसमें प्रकट अर्थसे भिन्न कोई अभिप्रेत अर्थ निहित होता है। धर्मकथा-में प्राय तीन तत्त्व निहित होते हैं। मूल तत्त्वकी निहिति प्राकृतिक सत्तामें होती है। उसका व्यक्तिपरक स्वरूप दूसरेमें विकसित होकर, तृतीय तत्त्वके द्वारा वस्तुकी नैतिक मान्यताओं और उपयोगिताओंसे सम्बद्ध होकर प्रकट होता है। कतिपय विद्वानोंकी रायमें धर्मकथा कारण-निरूपक कहानी है, जिसके अभिप्रेत अर्थ प्रकृति और मानवके चिर सम्बन्धोंके धार्मिक एव सामाजिक व्यापारोंके भीतरी रहस्यसे प्रभावित होकर उद्घाटित होते हैं। धर्मकथाको एक मत द्वारा प्रकाश और अन्धकारके सघर्षकी रूपकवत् घटनाओंका लेखा माना गया है। सदूर इतिहासके अन्धकारमें आदिमानवने प्राकृतिक व्यापारोंको जिन अनगढ शब्दोंमें व्यक्त किया वे शब्द क्रमश मूल अर्थसे भिन्न स्वरूप धारण करते गये। कालान्तरमें उनका रूपक स्पष्ट हो गया। दूसरे मतके अनुसार धर्मकथा मानवकी असभ्य अवस्थामें उत्पन्न हुई है। वस्तुत धर्मकथाकी उत्पत्ति कदाचित् किसी समय समूह द्वारा किये गये अनुभव-विशेष अथवा समान मानसिक अवस्थाके परिणामस्वरूप हुई है। आग्ल भाषामें इस विषयपर कतिपय ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। मैक्समूलरके मतसे धर्मकथा 'भाषाका रोग अथवा विकृति' या 'प्रकृति-रूपकोंकी विडम्बना' है। इस मतका खण्डन अण्ड्रलगने 'मॉडर्न माइथोलॉजी, ए रिप्लाइ टू मेक्समूलर' ग्रन्थमें किया है। 'कस्टम एण्ड मिथ' तथा 'मिथ रिचुअल एण्ड रिलीजन' ग्रन्थ भी लगके हैं, जिनमें धर्मकथापर विस्तारसे विवेचन किया गया है।

धर्मकथाकी गणना लोकसाहित्यके अन्तर्गत होती है। वस्तुत दोनों एक-दूसरेसे निकटत सम्बन्धित हैं। फ्रेजरके मतानुसार इसका सम्बन्ध कृषि और प्रजनन-कर्ममें उपन्न भय और आशंकाओंपर निर्भर करता है। आजकी अनेक लोककथाओंके मूल विन्दु धर्मकथाओंमें छिपे हैं।–श्या० प०

धर्मगत लक्षणा–विश्वनाथके अनुसार सम्पूर्ण लक्षणाके भेदोपभेद धर्मगत तथा धर्मिगत होते हैं (सा० द० २. ११)। जहाँ लक्षणाका प्रयोजनरूप (व्यंग्यार्थ) लक्ष्यार्थके धर्ममें हो वहाँ धर्मगत लक्षणा मानी जाती है। प्रचलित उदाहरण 'गंगापर वस्ती'में 'गगा' पदका लक्ष्यार्थ 'तट' लिया गया है और तटका धर्म पवित्रता-शुचिता आदि है। तटके धर्मका अतिशय सूचित करनेके प्रयोजनसे यहाँ धर्मगत लक्षणा है। –स०

धर्मगाथा–धर्मगाथा शब्द अँग्रेजी 'मिथ'के लिए प्रयोगमें आता है। धर्मभावसे युक्त गाथा, देखनेमें तो स्पष्टत कहानी ही होती है। इसके पात्र, विशेषत नायक, देवी-देवता होते हैं। इन देवी-देवताओंमें लोगोंकी आस्तिक आस्था रहती है, इन धर्मगाथाओंमें सृष्टिका जन्म विविध प्राकृतिक तथा मानवीय व्यापारोंके मूल कारण, जातियोंका उदय, सास्कृतिक तत्त्वोंकी व्याख्या, जैसे, कौन कब पृथ्वीपर आग लाया आदिका उल्लेख रहता है। धर्मगाथाओंके सम्बन्धमें एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें लोक और मनीषी, दोनोंको आस्था रहती है। कुछ इसीलिए यह भी कहते हैं कि धर्मगाथाका सम्बन्ध मनीषी काव्यरचनासे ही है। वास्तविक बात यह है कि धर्मगाथाकी अभीतक ठीक-ठीक व्याख्या हो नहीं सकी है। फिर भी लेवीज स्पेन्सने 'एन इण्ट्रोडक्शन टु माइथोलोजी'में इनमेंसे कुछ रूपोंकी व्याख्या दी है, जिसे संक्षेपमें यहाँ दिया जाता है–

यह किसी देवता अथवा पराप्राकृत सत्ताका एक विवरण होता है, इसे साधारणत आदिम विचारोंकी शैलीमें लाक्षणिकतासे अभिव्यक्त किया जाता है। यह वह प्रयत्न है जिसके द्वारा मनुष्यका विश्वसे सम्बन्ध समझाया जाता है और जो इसे दुहराते हैं उनके लिए प्रमुखत धार्मिक महत्त्व रखता है, अथवा इसका जन्म किसी सामाजिक संस्था, रीति-रिवाज अथवा परिस्थितियोंकी किसी विशेषता-की व्याख्या करनेके निमित्त होता है। इस परिभाषाके अनुसार धर्मगाथामें १ देवता अथवा पराप्राकृतिक शक्ति-का विवरण होता है। २ इसमें आदिम मानस विद्यमान रहता है। ३. इसका धार्मिक महत्त्व होता है। इसे जो दुहराता या पढ़ता है वह किसी धर्मलाभकी आकाक्षा रखता है। ४ इसके निर्माणके दो प्रमुख कारण हो सकते हैं–

१ मनुष्यकी शेष सृष्टिके साथ सम्बन्धोंकी व्याख्या करनेके लिए।

२ सामाजिक सस्था-प्रथा आदिकी व्याख्याके लिए।

इसे और स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि धर्मगाथा यह वताती है कि आदमकी पसलीसे हव्वाका जन्म कैसे हुआ, पशु अथवा पदार्थ कैसे उत्पन्न हुए, किसी प्राणीमें कुछ विशेषताएँ क्यों हैं, कौवेके एक आँख क्यों है? विशेष प्राकृतिक व्यापार क्यों होता है? चन्द्रको राहु ग्रस लेता है, अत चन्द्रग्रहण होता है।

विद्वानोंके मतमें धर्मगाथामें धार्मिक आस्था नहीं, धार्मिक पृष्ठभूमि अवश्य होनी चाहिये। उसमें किसी देवता या दैवी पुरुषका समावेश होना आवश्यक है। यदि ऐसा न होगा तो उसे लोककहानी कहा जायगा। किन्तु यह बात ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है कि केवल देवी-देवताओंके आनेसे कोई लोककहानी धर्मगाथा नहीं हो सकती। कितनी ही लोककहानियाँ ऐसी प्रचलित हैं, जिनमें शिव-पार्वती, विष्णु आदिका उल्लेख मिलता है, पर उन्हें धर्मगाथा नहीं कहा जा सकता। किसी तथ्यकी व्याख्या करनेवाली कहानियोंमें देवताओंका समावेश होता है, पर उन्हें धर्मगाथा नहीं कह सकते–उदाहरणार्थ, गिलहरीकी पीठपर रेखाएँ क्यों हैं?–सीताके वियोगमें गिलहरीने रामको सहायता दी, राम प्रसन्न हुए, उन्होंने उसपर हाथ फेरा और रेखाएँ वन गयीं–यह लोककहानी है, धर्मगाथा नहीं।

कारण यह है कि धर्मगाथाके लिए केवल यही आवश्यक नहीं कि उनमें देवताओंका सन्निवेश हो, यह भी आवश्यक नहीं कि कहानीमें कही गयी बातमें आस्था हो। ऊपरकी कहानीमें वर्णित बातपर कहने-सुननेवाले दोनों ही विश्वास करते हैं। किन्तु धर्मगाथाके लिए आवश्यक है कि उक्त दोनों बातोंके साथ उसमें धार्मिक आस्था हो, उसके कहने-सुननेमें किसी धार्मिक लाभकी सम्भावना हो, उसके साथ माहात्म्यकी भावना हो।

कुछ विद्वान् धर्मगाथाको लोकवार्ताभिव्यक्ति नहीं मानते। कुछका तो कहना यह है कि धर्मगाथाका पूर्वमें कुछ भी रूप रहा हो, हमारे समक्ष तो वह महान् कवियोंकी रचनाके रूपमें आती है। इन विद्वानोंका लक्ष्य 'इलियड' जैसी रचनाओंकी ओर होता है। कुछका विचार है कि लोकवार्ता-तत्त्वका सम्बन्ध आदिम मानसके वर्तमान अवशेषोंसे होता है, किन्तु धर्मगाथा तो अतीत कालसे सम्बन्ध रखती है। यह भी कहा जाता है कि धर्मगाथामें आदिम मानसकी अभिव्यक्ति नहीं, क्योंकि आदिम मानसका विकास-क्रम कुछ भिन्न प्रकारसे हुआ है—

१ मन शब्दका प्रयोग एक रहस्यात्मक शक्तिके अर्थमें मेलेनेशियन द्वीपसमूहमें होता है। यह वस्तुतः आत्मा अथवा आत्मशक्तिका भी मूल सार है। कुछ विद्वान् इस क्रमविकाससे सहमत नहीं। वे आत्मवत्त्ववाद-(ऐनिमेटिज्म)से ही लोकमानसका मूल मानते हैं। २ पराप्राकृतिकवाद—प्राकृत पदार्थोंके श्रद्धाभयोद्रेकी व्यापारोंमें किसी शक्तिकी उद्भावना। ३ आत्मवत्त्ववाद—(एनिमेटिज्म) आत्मवत् सर्वभूतेषु, मेरे जैसी बुद्धि, शक्ति, विवेक पशु-पक्षियों, पदार्थोंमें है। ४. पदार्थात्मवाद—समस्त पदार्थोंमें आत्मा है (एनिमिज्म)। ५ देववाद—देवताओंकी कल्पना।

इन विद्वानोंके विचारसे इस पाँचवीं स्थितिमें पहुँचनेपर ही धर्मगाथाओंका उदय हुआ, अत ये मूल लोकमानससे सम्बद्ध नहीं। भाषामें भी जैसा कि मैक्समूलरने माना, पहली अवस्था (१) धातु-निर्माण की है (डी मेटिक पीरियड), (२) भाषाओंकी मूल जातियोंके जन्मकी है—डायलेक्टिक। इस अवस्थामें आर्य, सेमेटिक, टर्की जाति-भाषाओंने जातीय धर्म ग्रहण करना आरम्भ किया, (३) धर्मगाथापरक है (माइथालोजिकल), इस अवस्थापर आकर धर्मगाथाएँ बनीं, (४) लौकिक (पापुलर) इस अवस्थापर पहुँचकर राष्ट्रीय भाषाओंका निर्माण हुआ। धर्मगाथाओंके निर्माणमें भाषाका बहुत हाथ रहा है। मैक्समूलरने यही धारणा बना ली थी कि धर्मगाथा केवल भाषाका रोग (मैलेडी आफ लैंग्वेज) है। भाषा जब अपनी श्लेषशक्ति अथवा असमर्थताके कारण एकके स्थानपर साम्यके कारण दूसरे शब्दको ग्रहण कर लेती है और अर्थविषयक परिवर्तन भी पैदा कर देती है, तब धर्मगाथा जन्म लेती है। अत धर्मगाथाका सम्बन्ध लोकमानससे नहीं हो सकता। फिर धर्मगाथाने लोक-कथाएँ उत्पन्न हुई हैं, अत लोककथाओं और लोकवार्ताओंकी जननीको पृथक् ही मान्यता देनी पड़ेगी। इसी प्रसंगमें विद्वानोंके एक सम्प्रदायने धर्मगाथाओंको सूर्य, चन्द्र, तूफान-जैसे किसी प्राकृतिक व्यापारका रूपक सिद्ध किया। किसीने धर्मगाथाओंको किसी-न-किसी ऐतिहासिक व्यक्तिकी ही रूपान्तरित तथा लोकपरिवर्द्धित कहानी माना।

इन युक्तियोंमें विशेष बल नहीं माना जा सकता। धर्मगाथामें मूलत आदिम मानस (प्रिमिटिव माइण्ड) ओत-प्रोत है। उसमें समस्त विकार, विकास और उद्भावना लोकमानसके परिणामसे हैं, संस्कृत मानसकी मनीषा उसमें नहीं। यद्यपि यह विषय पर्याप्त विवादकी गुंजाइश रखता है कि आदिम उद्गार धार्मिक भावनाके मूलसे संयुक्त थे, जैसा कि फ्रेजरने माना है। मैजिक(जादू-टोना)के सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए फ्रेजरका कहना है कि लोकवार्ताका मूल मानस 'मैजिक भाव'का परिणाम है। टेलरने उधर ऐनिमिज्मकी स्थापना की थी और उसके विद्वानोंकी मान्यता यह हो रही है कि आदिम मानवकी मूल अभिव्यक्ति धार्मिक मूलसे युक्त नहीं थी, वह शुद्ध लौकिक थी। किन्तु इस समस्त विवादपूर्ण स्थितिके उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि वह धर्म भी लोकतत्त्वक अंग था और धर्मगाथाएँ उसी लोकतत्त्वके आधारपर बनीं अत धर्मगाथाएँ लोकवार्ता साहित्यका ही अंग हैं औ लोकगाथाओंका अध्ययन लोकवार्ताओंके अध्ययनके लि अत्यन्त आवश्यक है तथा लोकवार्ताओंके स्वरूपको समझे बिना धर्मगाथाओंका भी अध्ययन असम्भव है। दोनोंक परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। —स०

धर्मचक्र—दे०—'हठयोग'।

धर्मवीर—दे०—'वीर रस'।

धर्मसंप्रदाय—पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और छोटा नागपुरसे रीवाँतक किसी समय धर्मदेवताकी पूजा प्रचलित थी। बंगालके वीरभूमि जिले तथा उड़ीसाके कुछ भागोंमें अब भी यह सम्प्रदाय जीवित है, यद्यपि उसका रूप बहुत कुछ भागोंमें वैष्णव या शैव हो गया है। यह सम्प्रदाय किसान, डोम, बागदी, मछुवे, बढ़ई तथा इसी प्रकारकी निम्न जातियोंमें प्रचलित था। कहा जाता है कि इस सम्प्रदायसे बौद्ध प्रभावोंकी परम्पराका सम्बन्ध है। वैसे तो सहजयानी महामुद्रा-साधना या वज्र-योगका कोई भी विशेष प्रभाव इस सम्प्रदायके साहित्यमें नहीं उपलब्ध होता, किन्तु 'क्रियासंग्रह' आदि वज्रयानी ग्रन्थोंमें उपलब्ध तान्त्रिक अनुष्ठान-पद्धतियोंसे धर्मसम्प्रदायके पुराने ग्रन्थोंकी विषयवस्तु बहुत मिलती-जुलती है। धर्मठाकुरकी अर्द्धांगिनी शीतलादेवी वास्तवमें बौद्ध देवी हारीति ही है, जो वेश और नाम बदलकर धर्मसम्प्रदायमें स्वीकृत कर ली गयी है। यह धर्मठाकुर वास्तवमें बौद्धोंके बुद्ध, धर्म और संघमेंसे लिया गया धर्म है, ऐसा कुछ विद्वानोंका मत था, किन्तु इन मतोंका कोई विशेष प्रामाणिक आधार नहीं है। इस धर्मसम्प्रदायका संयोजन १२वीं शतीके लगभग रमाई पण्डितके द्वारा किया गया है और उसमें उस समय जनतामें व्याप्त अनुष्ठानों, विश्वासों और देवी देवताओंको एक नियमित श्रृंखलाबद्धता देकर धर्मठाकुरके पूजा-विधानमें सम्मिलित कर लिया गया है। यह 'धर्म' नाम भी वास्तवमें न्थाल, मुण्डा ओराँव आदि आस्ट्रो-एशियाई जातियोंमें प्रचलित एक शब्दका संस्कृत रूपान्तर है। वह शब्द है 'दुलि' जिसका अर्थ कछुआ होता है। यह शब्द उत्तर-

कालीन सस्कृत भाषामें भी ग्रहण कर लिया गया है और चर्यापदोंमें भी एक स्थानपर कछुएके अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है—'दुलि दुहि पिटा धरणि न जाअ' (चर्यापद २)। टीकाकार यहाँ 'दुलि'का साकेतिक अर्थ 'महासुख-चक्र' बताता है जिसमें द्वयाकार लीन हो जाते हैं। स्वार्थक प्रत्यय ओम जोडकर इसका रूप दुलोम, दुरोम, डुरोम आदि हो जाता है। यह 'डुरोम' या कच्छप ओरावों और सथाल आदि जातियोंका सर्वमान्य देवता था। ज्ञात होता है कि बादमें इसे संस्कृतके 'धर्म' शब्दके कच्छप-रूपमें और कभी कच्छपको धर्मके वाहनके रूपमें परिकल्पित किया जाता रहा। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वान् जो आदिवासियोंकी इस कच्छपपूजा और दुलि शब्दके इतिहाससे अवगत नहीं थे, वे धर्मठाकुरके कच्छप-रूपको बौद्ध स्तूपका ही रूपान्तर मानते रहे। कालान्तरमें कबीरपन्थी साहित्यमें धर्मसम्प्रदायसे एक विशिष्ट प्रभाव-परम्परा समाविष्ट हो गयी—वह है सृष्टि-प्रक्रिया सम्बन्धी गाथाएँ और उसमें निरजनका स्थान। निरजनकी प्रजापति ब्रह्मके समानान्तर कल्पना कर निरजन और मायाके सहगमनसे समस्त सृष्टिके उद्भवकी कथा धर्म-सम्प्रदायके 'शून्य-पुराण' और परवर्ती मगल-ग्रन्थोंमें, उडीसाके वैष्णव साहित्यमें, बगालके नाथ साहित्यमें और कबीरपन्थके साहित्यमें थोडे-बहुत रूपान्तरसे लगभग एक सी मिलती है। कुछ विद्वानोंने इस सृष्टिकथाका मूल स्रोत बौद्ध ग्रन्थों तथा हिन्दू पुराणोंमें ढूँढनेका असफल प्रयास किया है। किन्तु शरच्चन्द्र राय द्वारा सगृहीत ओरावोंमें प्रचलित सृष्टिकथा इन कथाओंकी मूल प्रेरणा प्रतीत होती है।

[सहायक ग्रन्थ—आन्स्क्योर रेलीजस कल्ट्स एस० बी० दासगुप्त।] —ध० वी० भा०

धर्मिगत लक्षणा–विश्वनाथके अनुसार लक्षणाके भेदोपभेद धर्मगत तथा धर्मिगत होते हैं (सा० द० २ ११)। जहाँ लक्षणका प्रयोजन रूप (व्यग्यार्थ) लक्ष्यार्थमें हो वहाँ धर्मिगत लक्षणा मानी जायगी। उदा०—'सहिहौं सब हो राम मैं, किमि सहिहैं सिय हाय'। (र० म० १७)में 'हौं राम'के मुख्यार्थका बाध है, 'कठोर राम हूँ' लक्ष्यार्थ है। कठोरताके अतिशय रूप प्रयोजनके सूचित होनेके कारण लक्ष्यार्थमें प्रयोजन है, अत धर्मिगत लक्षणा है। —स०

धामीसंप्रदाय–सन्त प्राणनाथ द्वारा सस्थापित धामी सम्प्रदाय महाराजपन्थ, मेराजपन्थ, खिजडा, चकला, धाम एव धामी नामोंसे प्रख्यात है। इन नामोंमें महाराज शब्द सम्प्रदायके प्रवर्तकके लिए श्रद्धा और आदरका द्योतक है। मेराज महाराजका अपभ्रशरूप है अथवा मेराज अरबीके मीराज, सजीव स्वर्गयात्राका बोधक हो सकता है। खिजडा नाम एक वृक्षविशेषके आधारपर दिया गया, जो देवचन्दकी नौतमपुरीवाली समाधिके निकट विद्यमान है। उस वृक्षको गुजराती भाषामें खिजडा कहा जाता है। चकला नाम देवचन्दके पुत्र बिहारीदासने दिया था। बिहारीदास-ने यह पन्थ १६५५ ई०में चलाया जो धामीसे किसी प्रकार भिन्न न था। धाम शब्द ब्रह्मका पर्याय है जो सर्वोच्च आध्यात्मिक दशा या विशुद्ध प्रेमका केन्द्र और धाम है। धाम शब्द ब्रह्मके अलौकिक प्रदेशका बोधक है।

धामी सम्प्रदायमें प्रेमानुभूतितत्त्वकी प्रधानता है। इसी कारण किसी अन्य पन्थ, सम्प्रदाय या धर्मसे इसके भेद-भाव अथवा पृथक्ताका कोई प्रश्न नहीं है। सभी ब्रह्मके प्रेमी हैं। प्रेम प्रत्येक दार्शनिक विचारधाराका मूल तत्त्व है। इसीलिए हिन्दू, ईसाई, यहूदी तथा इसलाम धर्म इसी प्रेमके सूत्रमें बँधे हैं और इसी एक रस प्रेममें भीगनेके अनन्तर समस्त ससार आत्मीय प्रतीत होने लगता है। प्राणनाथने अपने समयतक प्रचलित सभी धर्मोंका अध्ययन किया और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका अध्ययन करके उनकी मौलिक एकतापर विचार किया। इस अध्ययन और मननके फलस्वरूप प्राणनाथने धामी सम्प्रदायको स्थापित किया। धामी सम्प्रदाय वर्तमान थियासोफिकल या अहमदीय सम्प्रदायोंकी भाँति सब धर्मोंकी विशेषताओंको लेकर गढा हुआ एक नया सम्प्रदाय है। इस दृष्टिसे धामी सम्प्रदाय कबीरपन्थ, दादूपन्थ, नानकपन्थ आदिसे सर्वथा भिन्न और पृथक् है। इस सम्प्रदायके प्रवर्तक तथा अनुयायी दूसरेके साहित्य और साधनात्मक प्रक्रियाओंके प्रति उदार दृष्टिकोण रखते हैं।

प्राणनाथके मतमें प्रेमको बडा महत्त्व दिया गया है। ब्रह्मकी मूल शक्ति ही प्रेमस्वरूपिणी है। प्रेमकी शक्ति पाकर जीव ब्रह्माकार बन जाता है। सत्सग अध्यात्मिक अभ्युत्थान-के लिए परमावश्यक है, यही धामी सम्प्रदायकी मूल विचारधारा है। इसके **सब्दातीथ साख्यात** अर्थात् प्रेम साक्षात् और स्वानुभूतिके अन्तर्गत रहनेपर भी शब्दातीत और अनिर्वचनीय है। ब्रह्मसृष्टि और जगत् एव ब्रह्म, दोनों ही अलौकिक आनन्दस्वरूप हैं। शुद्ध प्रेम वास्तविक पुरुषार्थकी सच्ची अवस्था है। **सृष्टि** ब्रह्मके नामसे मुखरित हो उठती है।

प्राणनाथ अच्छे कवि थे। इनके ग्रन्थोंके नाम हैं। १ राम ग्रन्थ, २ षट्ऋतु, ३ खुलासा, ४ कीरतन, ५ कलस, ६ सम्बन्ध, ७ प्रकाश ग्रन्थ, ८ खेलबात, ९ प्रकरण इलाही दुलहन, १० सागर सिंगार, ११ कयामतनामा, १२ सिन्धी भाषा, १३ मारफत सागर, १४ बडे सिंगार, १५ राजविनोद, १६ प्रकटबानी, १७ ब्रह्मबाणी, १८ बीस गिरोहोंका बाव, १९ बीस गिरोहोंकी हकीकत, २० कीर्त्तन, २१ प्रेमपहेली, २२ तारतम्य, २३ राजविनोद, २४ विराट् चरितामृत, २५ पदावली, २६ कलजमे शरीफ। इनमेंसे सबसे अच्छा और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'कलजमे शरीफ'। 'कयामतनामा'की भाषा फारसी शब्दोंमें दबी हुई है। प्राणनाथको गुजराती, फारसी, अरबी, सस्कृत तथा अन्य प्रान्तीय बोलियोंका सम्यक् ज्ञान था।

[सहायक ग्रन्थ—(१) उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा परशुराम चतुर्वेदी, (२) धार्मिक साहित्यका इतिहास, शिवशकर मिश्र]। —त्रि० ना० दी०

धारणा–दे०—'हठयोग'।

धीर–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद तीन तगणों और दो गुरुओंके योगसे यह वृत्त बनता है। जयदेवने लयग्राहि (छन्दो० २ १०८), विरहाकने विध्यकमाला (वृत्त० ३ ४३) और भानुने विध्वकमाला नाम दिया

है। केशवने रामचन्द्रिकामें इसका प्रयोग किया है—'योद्धा भगे वीर शत्रुघ्न आये। कोदण्ड लीन्हें महाशेष छाये। ठाढो तहाँ एक बालै बिलोक्यो। रोक्यो नहीं जोर नाराच मोक्यो।' (रा० च० · ३५ · १५)। —पु० शु०

धीरललित–दे०—'नायक (नाटक)।

धीरशांत–दे०—'नायक' (नाटक)।

धीरा–दे०—'धीरादि' (नायिका)।

धीरादि (नायिका)–नायिकाके अपने अपराधी पति-(अन्य स्त्रीके सम्बन्धमें)के प्रति व्यवहारके आधारपर किया गया विभाजन, दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम रुद्रटने प्रस्तुत किया है। **धीरा**—गुप्त कोप करनेवाली, व्यंग्योक्तिसे कोप प्रकट करनेवाली नायिका, भानुदत्तके अनुसार 'व्यंग्यकोपप्रकाशा'। **मध्याधीरा**—जो 'वचननिकी रचनानि सौं पियहि जनावत कोप' (मतिराम र०रा० ३७), पर पद्माकरने इसमें 'तजै न पति सनमान' जोड़ा है। इस प्रकार इस नायिकाके चित्रणके माध्यमसे कवियोंने नारीके मनोभावों और उसके वाक्‌चातुर्यका सुन्दर प्रदर्शन किया है—'तुम कहा करो कान काम तें अटकि रहे, तुमको न दोस नो तो आपनोई भाग है' (मतिराम र०रा० · ३८)। देवकी नायिका भी मीठी चुटकी लेती है—'लाल भले हौ भली चुसटीनो भली भइ आजु भले बनि आये।' (भा० वि० ना०)। **प्रौढाधीरा**—यह नायिका रिस न प्रकट करके भी 'रतिते रहे उदास'। पद्माकरने उदास रहनेवाली इस नायिकाको 'आदरकी खानि' भी कहा है। कई कवियोंने इस नायिकामें अन्तर्निहित कोपको सुन्दर रूपमें व्यंजित किया है। देवकी नायिकाके 'लोइन कोइन ह्वै उझक्यो सु बताइ दियो कवि कोप कपोलनि।' (भा० वि० · ना०)। कभी इसके उदाहरणमें नायक अथवा सखी द्वारा नायिकाके भावगोपनका वर्णन होता है—'मान जानियत रुखी मुख मुसकानि सौं।' (मतिराम · र०रा० ४७)। इस नायिकाके अति उत्साहमें कभी कभी व्यंग्य उभरा है—'आवत देखि लिये उठि आगे ह्वै आपुहि केसव आसन दीनो।' (केशव · र० प्रि० ३ · ६०)। **अधीरा**–प्रकट रूपमें कटु वचन कहकर कोप करनेवाली नायिका। भानुदत्तके अनुसार 'अव्यंग्यकोपप्रकाशा'। **मध्या अधीरा**–पतिका अनादर करके कटूक्ति द्वारा कोप प्रकट करनेवाली नायिका, जो 'बोल कठोर'नि 'पियहिं जनावति कोप' (मतिराम)। इसके अन्तर्गत नारीकी खीझ और आक्रोशका सुन्दर चित्रण किया गया है—'कोउ नहीं बरजै मतिराम रहो तितही जितही मन मायो। काहे कौं भौंहैं हजार करौ तुम तौ कबहू अपराध न ठायो।' (र०रा० ४१)। साथ ही नायककी भ्रमित स्थितिमें भी व्यंग्य छिपा है—'भूलेसे भ्रमेसे काहि मोचत रूमेसे, अकुलानेसे विकानेसे ठगेसे ठीक ठायेसे। (पद्मा० · जगद्वि० भा० १ · ५९)। **प्रौढ़ा अधीरा**–'गरजन-ताडन' और 'रोस' प्रकट करनेवाली नायिका, भानुदत्तके 'तर्जनताडन'का यह अनुवाद ही है। मतिरामने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—'टरु ठैकैं प्रियको प्रिया देय सुमनकी मार।' (र०रा० ४९)। फूलकी मार इसके उदाहरणमें रूढि हो गयी है—'ताहि चितौति वडी अँखियाननें नीकी चितौनि चली अति ओनकी। वाल्म और विलोकिके वाल दई मनों खैंचि सनाल सरोजकी।' (देव० भा०वि० · ना०)। **धीराधीरा**—इस नायिकामें कोप गुप्त और प्रकट रहता है, भानुदत्त 'अव्यंग्यप्रकाशा' कहते हैं। **मध्या धीराधीरा**–मतिरामने 'पियसौं कहिके बचन कछु रोस जतावै रोय' कहा है और पद्माकरने उसमें 'धीर वचन कहि' और जोड़ा है। नारीका क्रोध और व्यंग्य अधिक व्यक्त हो गया है—'कौन तिनैं दुख जिनकें तुमसे मनभावन छैल छबीले' (मतिराम र०रा० · ४४)। नायिका-का आक्रोश तीखा तथा मुखर है—'वाहीके जैये बलाइ ल्यों वालम हौं तुम्हें नीको बतावति हौं ढग' (देव भा०वि० ना०)। कभी भावाभिव्यक्ति सुन्दर बन पड़ी है—'करि आदर तिय पीयको देखि हगन अलसानि। सुमुख मोरि वरसन लगी लै उसासु अँसुआनि।' (पद्मा०· जगद्वि० भा० १ ६२)। **प्रौढ़ा धीराधीरा**–वक्रोक्ति तथा भयप्रदर्शनसे *पतिको दुःखी करनेवाली और मानपूर्वक रतिकलासे उदासीन* रहनेवाली नायिका। प्राय रतिसे उदास अथवा रूखी और डर दिखलानेवाली नायिका यह मानी गयी है (मतिराम और पद्माकर)। यह नायिका अपना क्रोध स्पष्ट प्रकट करती है—'बोली न बोल कछू सतरायकैं भौंह चढाय तकी तिरछौंहीं।' (र०रा० ५३)। 'परसत गात मनभावनके भावतीकी चढि भौंहैं रही ऐसी उपमाने छ्वै' (जगद्वि० १ · ७१)। —सु०

धीराधीरा–दे०—'प्रौढ़ा', नायिका।

धीरोदात्त–दे०—'नायक', (नाटक)।

धीरोद्धत–दे०—'नायक' (नाटक)।

धृति–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी, भरतके अनुसार इसके विभाव हैं—वीरता, आध्यात्मिक ज्ञान, ऐश्वर्य, पवित्रता, सच्चरित्रता, बड़ोंके प्रति आदरभाव तथा क्रीडाका आनन्द आदि तथा अनुभाव हैं—तृप्ति, सन्तोष आदि (नाट्य० ७ ५८ग)। विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा है—'ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु सम्पूर्णस्पृहता धृति। सौहित्यवचनोल्लाससहासप्रतिभादिकृत्।' (सा० द० ३ १६८), तत्त्वज्ञान तथा इष्टप्राप्ति आदिके कारण इच्छाओंका पूर्ण हो जाना धृति कहलाता है। इसमें सन्तृप्ति, वचनोल्लास आदि चिह्न दिखाई देते हैं। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्यों-ने प्राय इसीका भाव ग्रहण किया है—'ज्ञानशक्ति उपजै जहाँ' (भाव० सचारी०) अथवा 'साहस ज्ञान सुसंग तें, धरै धीरता चित्त' (जगत० ४९०)।

रामचन्द्र शुक्लने धृतिको धैर्यसे भिन्न नहीं माना है। उन्होंने लिखा है—'नायकके गुणोंमें धैर्यका जो लक्षण कहा गया है उसीको ग्रहण कर सचारीका नाम मैंने 'धैर्य' ही रखा है। हिन्दीवालोंने यही अर्थ ग्रहण किया है। बड़े-बड़े विघ्न उपस्थित होनेपर भी अपने व्यवसायमें अविचलित रखनेवाली मानसिक अवस्थाका नाम 'धैर्य' है। युद्ध-यात्राके समय विकट पर्वत, नदी आदि पड़नेपर भी बराबर अग्रसर होनेका प्रयत्न किये जाना धैर्य सूचित करता है। इसी प्रकार किसी वस्तुको दान करते समय उस वस्तुके अभावसे होनेवाले कष्ट आदिकी कुछ परवा न करना, किसी धर्म-साधनके मार्गमें घोर कष्ट देखकर भी उसपर अग्रसर होते जाना धैर्यका सूचक होगा।'

(र० मी० पृ० २२७)। तत्त्वज्ञान जन्य सन्तोषको रामचन्द्र शुक्लने सचारी नहीं माना है। पर प्रश्न यह उठता है कि जब तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद सचारी हो सकता है तब तत्त्वज्ञान-जन्य धृति सचारी क्यों नहीं हो सकता ? तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद सचारीमें भौतिक उपभोगोंके प्रति एक प्रकारका वैराग्यभाव उत्पन्न होता है तो तत्त्वज्ञान-जन्य सन्तोषसे आत्मानन्द। तत्त्वज्ञान-जन्य धृति, तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेदका ही अगला सोपान है। दोनों ही शम स्थायीके संचारी है।

तत्त्वज्ञान-जन्य धृतिका उदाहरण—'या जग जीवनको है यहै फल जो छल छाँडि भजे रघुराई। सोधिके सन्त महन्तन हूँ पद्माकर बात यहै ठहराई।' (जगद्वि० ४९२)। विरहिणी नायिकाकी धृति—'रे मन साहसी साहस राखु सुसाहस सो सब जेर फिरैंगे। एक दिनाँ नहिं एक दिनौं कबहू फिर वै दिन फेर फिरैंगे।' (ज० ४९१)।—व०सिं०

धृष्टनायक–दे०—'नायक' (शृगार)।

धैर्य–दे०—'अयत्नज अलकार', सातवाँ।

ध्यान–दे०—'हठयोग'।

ध्येय–कथात्मक कृतियों–उपन्यास, कहानी, नाटक आदिके छ तत्त्वोंमेंसे एक **उद्देश्य** भी है। इसीको कभी-कभी ध्येय भी कह देते हैं। **कहानी**के मुख्य या केन्द्रीय भाव अथवा उसके मुख्य सवेदनास्थलको भी ध्येय कहा गया है। दे०—'उद्देश्य', 'कहानी'।

ध्वनि–सामान्य व्यवहारमें कानोंको सुनाई पड़नेवाले नादको ध्वनि कहा जाता है। पारिभाषिक शब्दके रूपमें ध्वनिके आचार्योंने उसका व्यवहार कई अर्थोंमें किया है। उनके मतानुसार ध्वनि शब्दका प्रयोग निम्नलिखित रूपोंमें हो सकता है—१ वह व्यजक शब्द जो ध्वनित करे या कराये, २ वह व्यंजक अर्थ जो ध्वनित करे या कराये, ३. वह (अर्थात् रस, वस्तु और अलकार) जिसकी व्यजना करायी जाये, ४ वह (अर्थात् शब्दशक्ति व्यंजना) जिसके द्वारा व्यजना करायी जाय, ५ वह काव्य जिसमें रस, वस्तु और अलकार ध्वनित होते हैं। अत ध्वनि शब्द व्यजक शब्द, व्यजक अर्थ, व्यजना-व्यापार तथा व्यग्यकाव्यके अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। स्पष्ट ही ये पाँचों अर्थ परस्पर एक-दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखते है और एक सश्लिष्ट प्रक्रियाके विभिन्न रूपोंका द्योतन करते हैं। सामान्य काव्यशास्त्रीय भाषामें ध्वनिका प्रयोग व्यग्यार्थके लिए हुआ करता है।

काव्य-सिद्धान्तके रूपमें ध्वनि शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थमें मिलता है, जिसकी रचना लगभग ८७५ ई० या उसके कुछ बाद हुई थी। इस ग्रन्थके कृतित्वके सम्बन्धमें बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान् इसके तीन भागों—कारिका, वृत्ति, उदाहरणको आनन्दवर्धनकृत मानते है तथा कुछ अन्य विद्वान् केवल वृत्ति और उदाहरणोंको ही उनका लिखा हुआ मानते हैं, मूल कारिकाओंको वे किन्हीं अन्य पूर्ववर्ती अज्ञातनामा आचार्य-की कृति मानते हैं, जिसे व्यक्तिवाचक नामके अभावमें ध्वनिकारकी सज्ञा देते हैं। कुछ विद्वानोंने यह भी कल्पना की है कि कारिकाओंके रचयिताका नाम अथवा सम्भवत उसकी उपाधि सहृदय थी। सम्पूर्ण ग्रन्थको आनन्दवर्धनकृत माननेवाले आलोचक आनन्दको ही ध्वनिकार नामसे पुकारते है।

'ध्वन्यालोक'में ध्वनिकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—जहाँ अर्थ अपनेको अथवा शब्द अपने अर्थको गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान)को अभिव्यक्त करते हे उस काव्य-विशेषको विद्वान् लोग ध्वनि (काव्य) कहते हैं—'यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो। व्यक्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित'—हिं० ध्व० पृ० ५३)। इस परिभाषाका आशय यही है कि विद्वान् उस काव्यको ध्वनि कहते हैं जिसमें कथित शब्द और अर्थ अपनेको अप्रधान बनाकर व्यग्यार्थको अभिव्यक्त करते ह। वैसे तो किसी भी शब्द अथवा वाक्यसे कोई-न-कोई व्यग्यार्थ निकाला ही जा सकता है, परन्तु प्रत्येक व्यग्यार्थको काव्य नहीं कहा जा सकता है—चमत्कारी व्यग्य ही काव्यके रूपमें समादृत हो सकता है। महाकवियोंकी वाणीमें यह चमत्कारी व्यग्य अर्थ एक विलक्षण अर्थ ही हुआ करता है—रमणियोंके लावण्यके समान यह केवल सहृदयों द्वारा मनोगत किया जा सकता है। शाब्दिक परिभाषा द्वारा उसे बाँध सकना सम्भव नहीं। इसीसे वह 'कुछ और ही है' (अन्यत् एव) आदि शब्दों द्वारा उसकी महत्ता व्यजित की गयी है। ध्वनिकी इसी विशेषताके कारण 'ध्वन्यालोक'की पहली कारिकामें ही यह घोषित किया गया है कि काव्यकी आत्मा ध्वनि है। 'ध्वन्यालोक'का यह भी कथन है कि पूर्ववर्ती विद्वानोंने ही ध्वनिको इस ऊँचे पदपर आसीन कर दिया था। इस कथनसे तो यही ज्ञात होता है कि यह स्थापना 'ध्वन्यालोक'में ही पहली बार नहीं हुई थी, वरन् उसके पूर्व ही हो चुकी थी।

ध्वनिका सिद्धान्त वैयाकरणोंके स्फोटवादके सिद्धान्तपर आधारित है। 'ध्वन्यालोक'मे इस बातका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि ध्वनि-सिद्धान्त तथा उसका नामकरण वैयाकरणोंके स्फोटवादके सादृश्यपर कर लिया गया था—प्रथम विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि व्याकरण सब विद्याओंका मूल है। वे सुनाई देनेवाले वर्णोंको ध्वनि कहते हैं। उसी प्रकार उनके मतको माननेवाले काव्य तत्त्वार्थदर्शी अन्य विद्वानोंने भी वाच्य, वाचक, व्यग्यार्थ, व्यजना-व्यापार और काव्यपद-व्यवहार्यको ध्वनि कहा है—'प्रथमे हि विद्वासो वैयाकरण, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभि सूरिभि काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचक सम्मिश्र शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यजकत्वसाम्याद्-ध्वनिरित्युक्त।' (हिं० ध्व० ७४)।

प्राचीन वैयाकरणोंका कहना था कि श्रोत्रेन्द्रियतक पहुँचनेवाली ध्वनियाँ शीघ्र ही विनष्ट हो जाती है अथवा उनका तिरोभाव हो जाता है। अत विभिन्न ध्वनियोंके समूहोंसे बने हुए शब्दोंसे अथवा विभिन्न शब्दोंसे बने हुए वाक्योंसे अर्थबोध कैसे हो सकता है—जबतक पूरे शब्द अथवा पूरे वाक्य निर्मित हो पाते है तबतक उनकी विभिन्न ध्वनियोंके स्वरूपकी स्मृति नष्ट हो जाती है। शब्दका स्थूल उच्चरित रूप उच्चारण-भेदके अनुसार बदलता

रहता है। इसीलिए उसे शब्दका विकृत रूप कहते हैं और उसे अनित्य माना गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक शब्दका सूक्ष्म प्रतिरूप (prototype) भी होता है जो मानवीय मनमें विद्यमान रहता है—वह नित्य है और अविभाज्य है। इसी सूक्ष्म एवं नित्य ध्वनि-बिम्बको शब्दके स्फोटकी संज्ञा दी गयी है। स्फोटमें शब्दकी विभिन्न ध्वनियोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती है, वरन् उनके एक मिले-जुले रूपका भान होता है। शब्दकी अन्तिम ध्वनिके उच्चरित हो जानेके बाद ही स्फोट अर्थकी प्रतीति कराता है।

वैयाकरणोंके इसी स्फोटके आधारपर अलंकारशास्त्रियोंने ध्वनि-सिद्धान्तको पल्लवित किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार किसी शब्दकी पृथक्-पृथक् ध्वनियाँ (वर्ण) अर्थका बोध करानेमें असमर्थ रहती हैं और उनके स्फोट द्वारा ही अर्थकी अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार काव्यमें केवल वाच्यार्थसे काव्यगत मूल सौन्दर्यको नहीं जाना जा सकता है। काव्यका वास्तविक अर्थ वस्तुतः व्यंग्यार्थ ही प्रकट कर सकता है। इस अकथित अर्थका बोध कराना अभिधा और लक्षणा नामक शब्द-शक्तियोंके वशके बाहर है। इसका ज्ञान मात्र व्यंजना करा सकती है। यह जिस प्रच्छन्न अर्थका उद्घाटन करती है उसीमें काव्यका सौन्दर्य निहित रहता है। जिस प्रकार किसी घण्टेके बजाये जानेपर पहले कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ती है और पुनः वह उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर हो जाती है उसी प्रकार काव्यमें पहले वाच्यार्थका भान होता है और पुनः सहृदय-हृदय-आह्लादकारी गूढ़ व्यंजनाका बोध होता है।

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है कि ध्वनि-सिद्धान्तका भव्य प्रासाद शब्द-शक्तियोंपर निर्मित किया गया है। इसी कारण सभी ध्वन्याचार्योंने शब्द-शक्तिका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। मम्मटने अपनी एक अन्य कृति 'शब्द-व्यापारविचार'में अभिधा और लक्षणाका विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रकारके सभी विवेचनोंका मुख्य उद्देश्य विभिन्न शब्द-शक्तियोंके स्वरूपका निराकरण करना तथा अभिधा और लक्षणाकी तुलनामें व्यंजनाको अधिक महत्त्व-शाली प्रतिपादित करना था। कुछ आलोचकोंकी धारणा है कि व्यंजना-व्यापारको मान्यता देनेके विचारसे ही ध्वन्या-चार्योंने वैयाकरणोंके स्फोटवादकी शरण ली थी। उन्हें यह बहुत रुचिकर न था कि व्यंजना-व्यापार एक मौलिक आविष्कार-सा प्रतीत हो 'प्रथमे विद्वास'की दुहाई देना उनके लिए बहुत ही आवश्यक हो गया। सिद्धान्ततः व्यंजना-व्यापार ही ध्वनिके सिद्धान्तकी आधारशिला माना जा सकता है, स्फोटवाद तो वास्तवमें सादृश्य-पद्धतिपर ध्वनिके स्वरूपका स्पष्टीकरणमात्र करता है।

व्यंग्यार्थके महत्त्वकी दृष्टिसे आनन्दवर्धनने काव्यके तीन भेद किये हैं—(१) उत्तम काव्य—इसे ध्वनि-काव्य भी कहते हैं, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थसे अधिक उत्कृष्ट होता है। (२) मध्यम काव्य—इसे गुणीभूत काव्य कहा गया है, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थके समान उत्कर्षका अथवा निकृष्टतर होनेके कारण गौण या कम महत्त्ववाला हो जाता है (३) अधम काव्य—इसे चित्र-काव्य कहा गया है, इसमें किसी प्रकारका व्यंग्यार्थ नहीं रहता और केवल अलंकारोंका ही कौतुक विद्यमान रहता है। वे सभी अलंकार जिनमें व्यंग्यार्थका सर्वथा अभाव रहता है, इसी भेदके अन्तर्गत रखे जाते हैं। आनन्दवर्धनके मतानुसार इस भेदको काव्य न कहकर काव्यानुकृति ही समझना चाहिये।

इन तीनों प्रकारके काव्योंके, बड़े ही सूक्ष्म और पाण्डित्यपूर्ण विश्लेषणके अनन्तर, हजारों भेदोपभेद किये गये हैं और ध्वनिके सार्वभौम सिद्धान्तके अन्तर्गत समस्त पूर्ववर्ती स्थापनाओंको समन्वित करनेका अत्यन्त सशक्त और सफल प्रयत्न किया गया है।

ध्वन्याचार्योंने ध्वनि-काव्यके दो प्रधान भेद किये हैं—(१) अविवक्षित वाच्यध्वनि, जो लक्षणापर आधारित है और जिसमें वाच्यार्थकी विवक्षा (कहनेकी इच्छा) नहीं रहती है। इस काव्यमें वाच्यार्थ या तो दूसरे अर्थमें संक्रमण कर जाता है अथवा पूर्णतया तिरस्कृत हो जाता है। दोनों ही स्थितियोंमें मुख्यार्थ बाधित रहता है और दूसरा अर्थ देने लगता है। अलंकार-सिद्धान्तके आचार्य दण्डीने समाधि-गुणके अन्तर्गत इसी प्रकारके लाक्षणिक प्रयोगोंका समावेश किया था और समाधि-गुणको उन्होंने काव्यका सर्वस्व माना था। इसी प्रकार रीतिमतानुयायी आचार्य वामनने भी इसी लाक्षणिक विलक्षणताका समावेश वक्रोक्तिके अन्तर्गत किया था। इस प्रकार ध्वनिवादियोंने अलंकार-शास्त्रियों एवं रीतिकारोंकी स्थापनाको ही अंशतः स्वीकार किया है।

ध्वनि-काव्यका दूसरा भेद विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि है, जो अभिधापर आधारित है और जिसमें मुख्यार्थकी विवक्षा रहती तो अवश्य है, किन्तु वह अन्यपर होती है अर्थात् वाच्यार्थ व्यंग्यार्थको प्रकाशित करता है। वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीतिका क्रम जहाँ अलक्षित रहता है वहाँ असंलक्ष्यक्रमध्वनि होती है। भाव तथा रस आदिकी व्यंजनाएँ असंलक्ष्यक्रमध्वनिमें ही समाविष्ट हो जाती हैं। इस युक्तिसे ध्वनिके प्रवर्तकोंने सम्पूर्ण रससिद्धान्तको ध्वनिके विशाल प्रासादमें प्रतिष्ठित कर दिया। रसको ध्वनिमें अन्तर्निहित करनेका सबसे बड़ा तर्क यह है कि रस और भाव नामक मानसिक स्थितियाँ अनिर्वचनीय हैं, शब्द द्वारा कहकर उन्हें नहीं प्रकट किया जा सकता है, उनकी व्यंजना ही सम्भव है। विभाव, अनुभाव आदि व्यंजक हैं और रस व्यंग्य है। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके दूसरे भेद संलक्ष्यक्रमध्वनिमें वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीतिका क्रम लक्षित रहता है और इसके अन्तर्गत वस्तु एवं अलंकारकी व्यंजनाएँ होती हैं जो या तो शब्दकी या अर्थकी अथवा शब्द और अर्थ दोनोंकी शक्तियोंसे उद्भूत हुआ करती हैं। अतः विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके अन्तर्गत रस, वस्तु तथा अलंकारकी व्यंजनाओंका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

इन तीन प्रकारकी व्यंजनाओंमें आनन्दवर्धनने रसध्वनिको सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया। उनके मतमें रसध्वनि अंगी है, रीति, गुण, दोष और अलंकार इसके अंग हैं। इनका चमत्कार तभी देखा जाता है जब वे

रसध्वनिकी भाँति अभिव्यजित होते हैं। माधुर्य-ओज-प्रसाद आदि गुणोंकी रसके साथ अचल स्थिति हुआ करती है। वे रसके साथ उसी प्रकारसे सम्बद्ध है जिस प्रकार शौर्यादिक गुण मानवीय आत्मासे सम्बद्ध हैं और रसास्वादके समय उनकी अभिव्यक्ति स्वयमेव होती है। रीति अर्थात् पद-सघटना शब्द और अर्थमे सम्बन्धित है। काव्यात्मा ध्वनि अथवा रसध्वनि रीतिरूप अंग-सस्थानमें प्रतिष्ठित रहती है। शारीरिक सौन्दर्य मनुष्यके बाह्य स्वरूपको शोभान्वित करता हुआ उसकी आत्माको ही गौरवान्वित करता है। अत रीति भी काव्यात्मा रसध्वनिकी उपकर्त्री हुआ करती है। अलकारोंका स्थान निकृष्टतर है। वे भी शब्द और अर्थसे सम्बद्ध हैं। वे हारादि आभूषणोंके समान अनित्य हैं। रीतिके समान शब्द और अर्थमे उनका सम्बन्ध स्थिर न होकर 'अस्थिर' ही है। उनसे शरीरकी शोभा वढ़ती है, अत वे अप्रत्यक्ष रीतिसे कभी-कभी काव्यात्मामें सौन्दर्यको कुछ अधिक चमत्कृत कर देते हैं, किन्तु अलकारोंके अभावमें भी अग-संस्थान एव उसमें प्रतिष्ठित आत्माका सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है। जहाँ रसध्वनिके साथ अलकार भी रहता है वहाँ ध्वनिकी मनोमोहकता वढ जाती है, जहाँ केवल अलकार रहता है वहाँ उसे उक्ति-वैचित्र्यमात्र कहा जायगा।

इस प्रकार उत्तम काव्य अथवा ध्वनि-काव्यके सार्वभौम सिद्धान्तके अन्तर्गत रसध्वनिकी सर्वश्रेष्ठता ही नहीं प्रतिपादित की गयी, वरन् सभी पूर्ववर्ती आचार्योंकी गवेषणाओंके विच्छिन्न सूत्रोंको सर्वोत्कृष्ट ध्वनि रससे अन्त सम्बन्धित करके काव्य-जिज्ञासुओंके समक्ष एक अत्यन्त पूर्ण, व्यापक और सर्वमान्य काव्य-सिद्धान्त उपस्थित कर दिया गया। इस विशद सिद्धान्तकी महत्ता इस वातसे भी देखी जा सकती है कि इसके वाद प्रतिपादित होनेवाले वक्रोक्तिवाद एव औचित्यवाद भी इसके काव्यलक्षणकी परिधिसे वाहर न जा सके और न कोई परवर्ती आचार्य इसके मूल स्वरूपको विकृत ही कर सका।

उत्तम काव्यके अतिरिक्त ध्वनि-काव्यके दूसरे भेद मध्यम काव्य अथवा गुणीभूत व्यग्य-काव्यमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थके चमत्कारका पोषक होनेके कारण गौण हो जाता है। अत इस भेदमें समासोक्ति तथा रसवत् आदि ऐसे अलकारोंको भी काव्यकी परिधिके भीतर प्रतिष्ठित किया गया, जिनमें कुछ व्यग्यार्थ भी रहता है, यद्यपि उससे वाच्यार्थका ही चमत्कार वढ़ता है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि प्राचीन आचार्योंने अलकारोंके महत्त्वको प्रतिपादित करते हुए ऐसी बातोंकी ओर वरावर सकेत किया है, जिनका शब्द द्वारा कथन तो नहीं किया जाता, परन्तु उनके अस्तित्वको माना अवश्य जाता है। उदाहरणार्थ, वामन सभी अलकारोंको औपम्यमूलक सिद्ध करते हैं और भामह तथा दण्डी सभी अलकारोंमें अतिशयोक्तिकी स्थिति अनिवार्य रूपसे मानते है। किन्तु उपमा और अतिशयोक्ति स्वतन्त्र अलकार हैं। अत वे जब दूसरे अलकारोंमें भी विद्यमान रहते हैं तो अकथित अर्थात् व्यग्यार्थरूपमें ही आते हैं और प्रधान अलकार (अर्थात् वाच्यार्थ) की ही सहायता करते है। ध्वन्याचार्य इन्हें गुणीभूत व्यग्यके अन्तर्गत रखकर समाहृत करते हैं। अधम काव्यके अन्तर्गत वे चित्रालकार आदि शब्दकौतुकप्रधान अलकारोंको रखते हैं जो व्यग्यार्थसे सर्वथा रहित हैं। इस युक्तिसे शाब्दिक क्रीडाप्रधान अलकारोंको काव्यकी सज्ञा मिलनेका गौरव प्राप्त हो गया। स्पष्ट ही ध्वन्याचार्य कोरे सिद्धान्तशास्त्री ही न थे, वरन् व्यवहारविद् भी थे और काव्य-जगत्की वास्तविकताको जानते हुए भी अनजान नहीं बनना चाहते थे। उनकी विशेषता इस वातमें है कि उन्होंने वस्तुस्थितिकी उपेक्षा भी न की और अपने सिद्धान्तपर भी दृढ़ रहे।

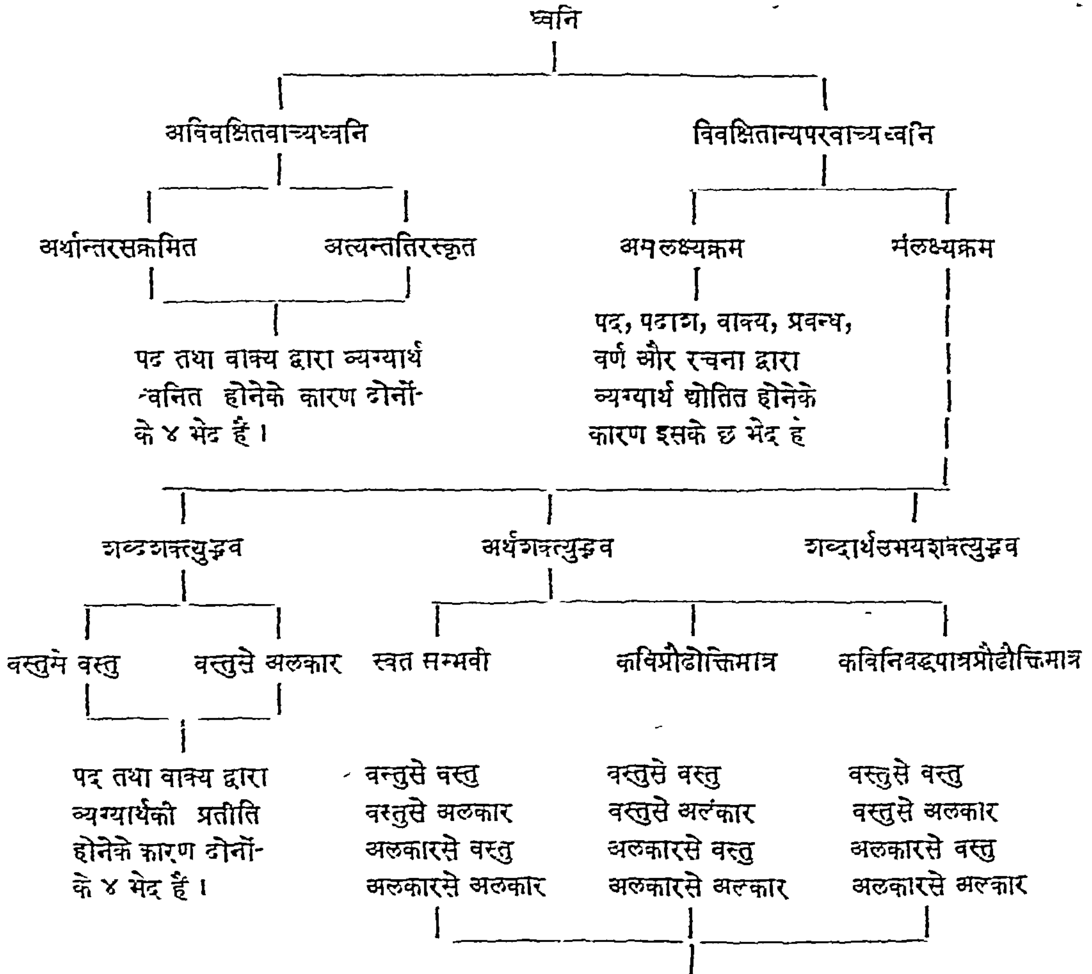
ऊपर अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनिके दो भेदोंकी चर्चा की गयी है और यह भी कहा गया है कि अविवक्षितवाच्यध्वनिके दो भेद (अर्थान्तरसक्रमित, अत्यन्ततिरस्कृत) किये गये हैं। यह ध्वनि कभी तो किसी पदमें अथवा कभी वाक्यमें हुआ करती है। अत अविवक्षितवाच्यध्वनिके चार भेद है। जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है, विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके दो भेद होते हैं। इसके पहले भेद असलक्ष्यक्रमध्वनिकी स्थिति पद, पदाश, वाक्य, प्रवन्ध, वर्ण और रचनामें हुआ करती है। फलस्वरूप इसके भी छ भेद होते हैं। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिका दूसरा भेद सलक्ष्यक्रमध्वनि जब शब्द-शक्तिपर आधारित रहता है तब उसमें या तो किसी वस्तुकी ध्वनि होती है अथवा किसी अलकारकी और वस्तु अथवा अलकारकी ध्वनियाँ किसी पद अथवा वाक्य द्वारा ध्वनित होती हैं। इसीलिए शब्दशक्त्युद्भव ध्वनिके चार भेद किये गये हैं। सलक्ष्यक्रमध्वनिके दूसरे भेद अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके तीन रूप होते हैं—स्वत सम्भवी, कविनिवद्धप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध, कविनिवद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध। अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके उक्त तीनों भेदोंमें वस्तुसे वस्तुकी, वस्तुसे अलकारकी, अलकारसे वस्तुकी तथा अलंकारसे अलकारकी व्यजनाएँ होती हैं और इन चारोंकी स्थिति किसी पदमें अथवा किसी वाक्यमें अथवा किसी प्रवन्धमें होती है। अत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके प्रत्येक भेदके १२ उपभेद हैं, जो सब मिलाकर ३६ हो जाते हैं। सलक्ष्यध्वनिका तीसरा भेद शब्दार्थउभयशक्त्युद्भव ध्वनि है और इसके कोई भेद नहीं किये गये।

उपर्युक्त विवरणका साराश यह है कि ध्वनिके सबसे महत्त्वपूर्ण भेद ४ हैं—अर्थान्तरसक्रमित, अत्यन्ततिरस्कृत तथा असलक्ष्य, सलक्ष्य। कुछ और विस्तारमें जानेपर इसके प्रमुख भेद १८ ठहरते हैं—अविवक्षितवाच्यध्वनि २ भेद + विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि १६ भेद = १८ भेद।

असलक्ष्यक्रमध्वनि १ भेद+सलक्ष्यक्रमध्वनि १५ भेद=१६ भेद।

शब्दशक्त्युद्भव २ भेद+अर्थशक्त्युद्भव १२ भेद+उभयशक्त्युद्भव १ भेद=१५ भेद।

पदवाक्य आदिकी दृष्टिसे किये गये भेदोंको ध्यानमें रखते हुए ध्वनिके कुल मिलाकर ५१ शुद्ध भेदोपभेद किये गये हैं। नीचे दिये वशवृक्षके आधारपर इन्हें मनोगत किया जा सकता है—



उपर्युक्त वंशवृक्षसे ध्वनिके ५१ शुद्ध भेदोंकी संख्या इस प्रकार प्राप्त होती है—अविवक्षितवाच्यध्वनि=४ भेद+विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि ४७ भेद=५१ भेद।

{असंलक्ष्यध्वनि ६ भेद
{संलक्ष्यध्वनि ४१ भेद

४७ भेद

इन ५१ शुद्ध भेदोंके परस्पर मिश्रणसे ध्वनिके ५१×५१=२६०१ मिश्रित भेद किये गये हैं। ध्वनियोंका मिश्रण भी दो प्रकारका होता है—संकर, जो पुन तीन प्रकारका होता है: संशयास्पद, अनुग्राह्य-अनुग्राहक, एकव्यंजकानुप्रवेश तथा संसृष्टि। मिश्रित भेदोंके साथ इन चार भेदोंका लेखा मिलानेसे ध्वनिके भेदोंकी संख्या २६०१×४=१०,४०४ तक पहुँचती है। इन मिश्रित भेदोंमें ५१ शुद्ध भेद जोड़ देनेसे ध्वनिके कुल मिलाकर १०,४०४+५१=१०,४५५ भेद किये गये हैं (द्रष्टव्य काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास)। —उ० ना० शु०

ध्वनि-एकांकी–दे०—'रेडियो नाटक'।

ध्वनिनाटक–दे०—'रेडियो नाटक'।

ध्वनिप्रभाव–दे०—'रेडियो नाटक'।

ध्वनिवाद–दे०—'ध्वनिसिद्धांत'।

ध्वनिसंकर–ध्वनिके विभिन्न भेदोंके परस्पर सम्मिलनसे ध्वनिके अनेकानेक मिश्रित भेद होते हैं। काव्यमें प्राय ऐसे मिश्रित (संकीर्ण) भेद ही अधिक प्राप्त होते हैं। ध्वनियोंका मिश्रण दो प्रकारका होता है—ध्वनिसंकर, ध्वनिसंसृष्टि। जहाँ एक ध्वनि दूसरी ध्वनिसे 'क्षीर-नीर-न्याय'से मिली रहती है वहाँ ध्वनिसंकर माना जाता है। ध्वनिसंकरमें दो या कई ध्वनियाँ दूध-पानीकी भाँति एक-दूसरेसे मिली-जुली रहती हैं। ध्वनिसंकर तीन प्रकारका होता है—(१) संशयास्पद संकर—यह भेद वहाँ होता है जहाँ दो या दोसे अधिक ध्वनियाँ इस रीतिसे विद्यमान हों कि यह निश्चय न किया जा सके कि वहाँ कौन-सी ध्वनि प्रधान है। उदाहरणके लिए 'सीताहरण तात जनि कहेहु पिता सन जाय। जो मैं राम तो कुलसहित कहहि दसानन आय।' (का० क० पृ० २८३)में जो 'मैं राम'का अर्थ बाधित है, क्योंकि राम तो वक्ता हैं ही। अत 'जो मैं राम' का अर्थ 'यदि मैं स्वनामधन्य रघुवंशके प्रतापी राजा दशरथका पुत्र हूँ तो ' आदि अर्थान्तरमें संक्रमित होनेके कारण इस उदाहरणमें लक्षणामूला अविवक्षितवाच्यध्वनि है। किन्तु इसमें अभिधामूला विवक्षितान्यपर अर्थशक्त्युद्भव वस्तुसे वस्तुकी ध्वनि भी है। रामके कथनसे यह व्यंग्यार्थ

ध्वनित होता है कि वे रावणको सपरिवार नष्ट कर देंगे। इन दोनों ध्वनियोंमें किसे प्रधान कहा जाय, यह निश्चय नहीं हो पाता। इसलिए इस उदाहरणमें सशयास्पद सकर ध्वनि है। (२) अनुग्राह्य-अनुग्राहक सकर—यह ध्वनिभेद वहाँ होता है जहाँ एक ध्वनि दूसरी ध्वनिके सहायकके रूपमें प्रयुक्त होती है। 'तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल, हे चिर पुराण, हे चिर नवीन' (पन्त), इस उदाहरणमें 'आत्मा' शब्द तथा 'हे चिर पुराण, हे चिर नवीन' आदि विरोध-सूचक वाक्याशका अर्थ बाधित होनेके कारण अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्यध्वनि है। किन्तु इन लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा कवि अपने हृदयमें स्थित गान्धी-प्रेमकी व्यजना भी कर रहा है। पूज्य पुरुषविषयक रतिभावकी व्यजना होनेके कारण यहाँ विवक्षितान्यपर असलक्ष्यध्वनि (रसध्वनि) भी है। अविवक्षितध्वनि विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनिका पुष्टीकरण कर रही है, अत यहाँ अनुग्राह्य-अनुग्राहक सकर है। (३) एकव्यजकानुप्रवेश सकर—यह भेद वहाँ होता है जहाँ एक ही आश्रयमें अर्थात् एक ही पद अथवा वाक्यमें एकाधिक ध्वनियाँ विद्यमान हों। उदाहरणके लिए, महादेवी वर्माके गीत 'मैं नीर भरी दुखकी बदली। विस्तृत नभका कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना, परिचय इतना, इतिहास यही, उमड़ी कल थी, मिट आज चली आदि' (का० द० पृ० ३१९)में एक ही कथन द्वारा एक ओर अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम वस्तुसे व्यतिरेक अलकारकी ध्वनि है—उपमेय(मैं)में उपमान(बदली)की अपेक्षा अपकर्ष दिखलाकर उपमानकी श्रेष्ठता व्यजित की गयी है—दूसरी ओर गीतमें करुण रसकी व्यजना होनेके कारण असलक्ष्य ध्वनि (रसध्वनि) भी है। —उ० श शु०

ध्वनिसंप्रदाय—सस्कृत काव्यशास्त्रका सबसे प्रमुख एवं प्रौढ सम्प्रदाय। इस सम्प्रदायकी स्पष्ट और बहुत कुछ पूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत करनेवाला सबसे पहला ज्ञात ग्रन्थ ध्वन्यालोक है। इस युग-विधायक ग्रन्थमें पहले छन्दोबद्ध कारिकाएँ दी हुई हैं, जिनमें प्रतिपाद्य विषयका सूत्रशैलीमें व्याख्यान किया गया है, तदनन्तर वृत्तियाँ हैं, जिनमें कारिकाओंमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंका गद्यमें विस्तृत विवेचन ही नहीं हैं, वरन् मूलसिद्धान्तोंके विशदीकरणका भी यत्न किया गया है। वृत्तियोंके इस विवेचनमें ही कभी-कभी कुछ श्लोक भी दिये हैं, जिन्हें 'परिकरश्लोक', 'सग्रहश्लोक' अथवा 'साराशश्लोक' कहा गया है। गद्यके इस विवेचनके अनन्तर अन्तमें उपयुक्त काव्याशोंको देकर आलोच्य विषयोंके उदाहरण भी दिये हुए हैं। इस प्रकार 'ध्वन्यालोक'के तीन पृथक् भाग किये जा सकते हैं—कारिका, वृत्ति, उदाहरण।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके कृतित्वका विषय बहुत ही विवादग्रस्त रहा है। ग्रन्थके वृत्तिभागमें प्रस्तुत गद्यके विवेचनका श्रेय सर्वसम्मतिसे आचार्य आनन्दवर्धनको है। अन्तमें उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत काव्यखण्ड 'ध्वन्यालोक'के पूर्ववर्ती सस्कृत कवियोंके तथा स्वय आनन्दवर्धनके भी हैं। मतभेद इस बातमें है कि सूत्र-बद्ध कारिकाएँ भी आनन्दवर्धन द्वारा विरचित हैं अथवा उन्हें किसी अन्य अज्ञातनामा आचार्यने बनाया था। इस मतभेदका सूत्रपात आजसे लगभग नौ सौ वर्ष पूर्व हो चुका था। 'ध्वन्यालोक'-की पाण्डित्यपूर्ण एव प्रगल्भ टीका करनेवाले प्रसिद्ध दार्शनिक एव आचार्य अभिनवगुप्त हुए। इनकी 'ध्वन्यालोक'की टीका 'लोचन' नामसे प्रख्यात है। आधुनिक यूरोपीय तथा भारतीय पण्डितोंने प्रधान रूपसे 'लोचन'के उल्लेखोंके आधारपर ही कारिकाओंके कृतित्वके सम्बन्धमें उक्त दो प्रकारके मतोंकी स्थापना की है। कारिकाओंको आनन्दवर्धनकृत माननेवाले पण्डित 'लोचन'से कुछ ऐसे उद्धरण प्रस्तुत करते हैं जिनका स्पष्ट आशय है कि कारिकाओंके लेखक भी आनन्द ही थे। अभिनवगुप्तकी दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति 'अभिनवभारती'के कुछ स्थलोंमें भी इसी प्रकारका समर्थन प्राप्त है। 'ध्वन्यालोक'के परवर्ती लेखकोंके साक्ष्योंका उल्लेख भी किया जाता है। 'ध्वन्यालोक'के एक शताब्दी बाद 'वक्रोक्तिजीवित'के रचयिता कुन्तक कारिकाओं और वृत्तियोंके आनन्दकृत होनेका स्पष्ट कथन करते हैं। इसी प्रकार कुन्तक तथा अभिनवके समसामयिक महिम भट्ट भी कारिकाओं एव वृत्तियोंके कृतित्वकी चर्चा करते हुए केवल एक ही व्यक्ति—'ध्वनिकार'का उल्लेख करते हैं। स्वय 'ध्वन्यालोक'की वृत्तियोंके कुछ अन्तरग साक्ष्योंके आधारपर भी यह कहा गया है कि उनमें आनन्द इस बातका दावा करते हैं कि उन्होंने ही ध्वनिसिद्धान्तका आविष्कार कर विद्वज्जनोंको उपकृत किया है। विद्वानोंका तर्क है कि यदि आनन्द कारिकाके रचयिता न होते तो वे इस प्रकारका झूठा दावा कदापि न करते। तत्कालीन कश्मीरी पण्डितोंकी प्रचलित परम्परा भी यही थी कि एक ही लेखक कारिका तथा वृत्तिकी भी रचना करता था।

उपर्युक्त स्थापनाके बिलकुल विपरीत अन्य आलोचकोंका यह मत है कि कारिकाओंके लेखक आनन्दवर्धनसे भिन्न कोई अन्य आचार्य थे। ऊपर दी हुई प्राय सभी युक्तियोंको वे भ्रममूलक मानते हैं। निस्सन्देह वे इस बातको अशत स्वीकार करते हैं कि अभिनवके 'लोचन' तथा 'अभिनव-भारती'में कुछ ऐसे उल्लेख अवश्य हैं जिनके आधारपर आनन्दवर्धन ही कारिकाओंके लेखक जान पड़ते हैं। पर इन थोड़ेसे स्थलोंके अतिरिक्त ऐसे बहुतेरे उल्लेख हैं जिनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'ध्वन्यालोक'से १५० वर्ष बाद अभिनवगुप्त कारिकाकार तथा वृत्तिकारको पृथक् पृथक् व्यक्ति मानते थे। उन्होंने नियमित रीतिसे कारिकाकारके लिए 'मूलग्रन्थकृत्' (मूलग्रन्थकार) तथा वृत्तिकारके लिए 'ग्रन्थकृत्' (ग्रन्थकार) शब्दका प्रयोग किया है। इस पृथक्करणकी आवश्यकता लोचनकारको क्यों पड़ी इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर अद्यावधि नहीं दिया जा सका है। इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि कारिकाकारके लिए 'ग्रन्थकृत्' शब्दका प्रयोग 'लोचन'में कहीं भी नहीं हुआ है। यह अवश्य है कि 'लोचन'के बादके आचार्योंमें कुन्तक, महिम भट्ट, क्षेमेन्द्र तथा विश्वनाथ आदि कई लेखकोंने आनन्दको ही कारिकाकार माना है, किन्तु इस प्रकारके बहुसख्यक उल्लेख प्रस्तुत समस्याका समाधान नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसे विषयोंमें बहुमत द्वारा निर्णय नहीं दिया जा सकता। अभिनवगुप्तकी टीकामें भी पहले 'ध्वन्यालोक'-

की 'चन्द्रिका' नामकी एक टीकाकी चर्चा 'लोचन'में प्राप्त है। ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रिकाकार भी कारिकाकार और ध्वनिकारको पृथक् मानता था। दुर्भाग्यवश 'चन्द्रिका' तथा भट्टनायककृत 'हृदयदर्पण' ग्रन्थ अप्राप्य हैं। सम्भव है, इनसे प्रस्तुत समस्यापर बहुत कुछ प्रकाश पड़े। कारिकाकारके व्यक्तित्वको पृथक् माननेवाले आचार्योंका कहना है कि आनन्दकृत वृत्तियोंमें विवेचित विषयको 'कारिकाकारसम्मत' कहा गया है। यदि वृत्तिकार ही कारिकाओंका रचयिता भी था तब तो 'सम्मति'का प्रश्न ही नहीं उठता। उसे तो केवल यही कहना चाहिये कि कारिका रचते समय उसने इसी मतको प्रतिपादित किया था। वृत्तियोंके विवेचनके बीचमें दिये गये 'परिकरश्लोकों'मेंसे कुछ तो कई कारिकाओंसे भी कहीं अधिक सारगर्भित एवं मार्मिक हैं, अतः आलोचकोंका तर्क है कि यदि यह मान लिया जाय कि इन श्लोकोंकी रचना बादमें वृत्तियोंके लिखते समय आनन्दने की थी तब भी यह शंका बनी ही रहती है कि वृत्तिकारने इन्हें कारिकाओंके साथ न रखकर अपेक्षाकृत गौण स्थानपर क्यों रखा? लेखक जब कभी अपने ग्रन्थमें परिवर्तन-परिवर्धन करता है तो अपनी सामग्रीको उलट-पलट करनेका अधिकार उसे रहता ही है। अतः सम्भावना यही जान पड़ती है कि वृत्तिकारने अपनी रचनाको पृथक् रखनेके उद्देश्यसे ही इन श्लोकोंको कारिकाओंके साथ न मिलाकर वृत्तियोंके साथ रखा है। ध्वनिसिद्धान्तके आविष्कार करनेका आनन्दवर्धनका दावा भी नितान्त अनधिकारपूर्ण नहीं माना जा सकता है। वृत्तियोंमें उसका जो महत्त्वपूर्ण तथा विशद विवेचन प्राप्त है वही इस दावेको बहुत कुछ पुष्टि करता है। कई विश्वसनीय उल्लेखोंके आधारपर यह कल्पना की गयी है कि कदाचित् आनन्द ध्वनिसिद्धान्तके प्रवर्तक 'सहृदय'के समसामयिक तथा शिष्य थे। सम्भव है, अपने गुरुसे अत्यधिक घनिष्ठता एवं आत्मीयताके कारण उन्होंने इस प्रकारका दावा कर दिया हो। वृत्तिकार कारिकाकारके मतोंको अपने मतके रूपमें लिख दिया करते हैं, इसके उदाहरण भी अप्राप्य नहीं हैं। आनन्दकी वृत्तिके अन्तिम श्लोकमें 'सहृदयोदयलाभहेतो' आदि शब्द आते हैं, जिनका अर्थ यह भी किया जा सकता है—यदि सहृदयको व्यक्तिवाचक संज्ञा मान लिया जाय—कि सहृदय-(की कीर्ति)के अभ्युदयके निमित्त। ('सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्। तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः।' (हि० ध्व० पृ० ४८१)। इस प्रकारके कथनोंको गुरुकी महत्ताको अभिव्यंजित करनेवाला भी माना जा सकता है। तत्कालीन कश्मीरी पण्डितोंकी प्रचलित परिपाटी यह अवश्य थी कि एक ही लेखक कारिका तथा वृत्ति, दोनोंकी रचना करता था। किन्तु प्रस्तुत समस्यापर उस परम्परासे विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है। प्रश्न यह है कि क्या वृत्तिकार आनन्दने भी उस परम्पराका अनुसरण किया था?

इस प्रकार हम देखते हैं कि कारिकाओं और वृत्तियोंको पृथक् पृथक् व्यक्तियोंकी रचना माननेके पक्षके तर्क संख्या तथा महत्त्व, दोनों ही दृष्टियोंसे बहुत ही आकर्षक प्रतीत होते हैं, यद्यपि दोनोंको आनन्दवर्धनकृत माननेवाले तर्क भी नितान्त निराधार नहीं कहे जा सकते। वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञात सामग्रीके अनुशीलनसे हम किसी निर्विवाद निष्कर्षपर नहीं पहुँच सकते हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, यदि कुछ अप्राप्त कृतियाँ सुलभ हो सकें तो सम्भवतः इस विवादका निराकरण हो सके। 'लोचन'के पाठका प्रामाणिक पुनरुद्धार भी बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। यह विवाद प्राचीन कालसे ही चल पड़ा था। अतः मत-विशेषके माननेवालोंने 'लोचन'की हस्तलिखित प्रतियोंके पाठको अपने विचारानुकूल परिवर्तित करनेका यत्न अवश्य किया होगा। (प्रस्तुत समस्याके विस्तृत अध्ययनके लिए टे०—ए० संकरम्कृत 'दि थियोरीज आफ रस एण्ड ध्वनि' (१९२९) पृ० ५०–६० तथा पी० वी० काणेकृत 'दि साहित्यदर्पण आफ विश्वनाथ'—तृतीय संस्करण, १९५१, 'दि हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयेटिक्स' पृ० १५३–१९०)

—'ध्वन्यालोक'की हस्तलिखित प्रतियोंकी पुष्पिकाओंमें इस ग्रन्थके कई नाम मिलते हैं—'ध्वन्यालोक', 'काव्यालोक', 'सहृदयालोक', 'सहृदयहृदयालोक', 'काव्यालंकार'। कारिकाओंको आनन्दवर्धनसे भिन्न किन्हीं अन्य आचार्यकी रचना माननेवाले विद्वानोंका अनुमान है कि मूल ग्रन्थका नाम 'काव्यध्वनि' (संक्षिप्त रूप 'काव्य' या 'ध्वनि') अथवा 'सहृदयालोक' था। 'लोचन'की रचनासे लगभग सौ वर्ष पूर्व मुकुल भट्टकृत 'अभिधावृत्तिमातृका'(९००-९२५ ई०)-में इस बातका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है कि आदरणीय सहृदयने ध्वनिके नवीन सिद्धान्तको प्रतिष्ठित किया था। अतः बहुत सम्भव है, ध्वनिसिद्धान्तके प्रवर्तकका नाम अथवा उसकी उपाधि 'सहृदय' थी। इस प्रकारके सामान्य विशेषतासूचक नामोंका व्यक्तिवाचक संज्ञाके रूपमें प्रयुक्त होना कुछ विचित्र अवश्य है, परन्तु ऐसे उदाहरण संस्कृत तथा हिन्दी साहित्यमें भी मिलते अवश्य हैं—मेधाविन्, दण्डिन्, धनिक, सेनापति, भूषण।

आनन्दवर्धनका समय ज्ञात करना अपेक्षाकृत सरल है। कल्हणकृत 'राजतरंगिणी'(११४८–५१)में उल्लिखित है कि कश्मीरके राजा अवन्तिवर्मन्के शासनकाल(८५५–८३ ई०)में कवि आनन्दवर्धनने ख्याति प्राप्त की थी। अन्य आधारोंसे भी इस कथनकी पुष्टि होती है—आनन्दने उद्भट-(८०० ई०)का उद्धरण दिया है जब कि राजशेखर(लगभग ९००–२५ ई०)ने आनन्दके मतको उद्धृत किया है। अवन्तिवर्माके शासनकालकी तिथियोंको ध्यानमें रखते हुए आनन्दका रचनाकाल ९वीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें मानना पड़ता है। आनन्दकी अन्य कृतियाँ 'विषमबाणलीला', 'अर्जुनचरित' तथा 'देवीशतक' हैं। 'ध्वन्यालोक' तथा 'देवीशतक'में 'विषमबाणलीला' तथा 'अर्जुनचरित'के नाम आये हैं, अतः उन्हें इन दोनोंसे पहले रचित माना जायगा। 'देवीशतक'में यमक तथा चित्रालंकारके चमत्कारकी प्रधानता है। इसीसे आलोचकोंकी धारणा है कि उसकी रचना भी 'ध्वन्यालोक'के पहले ही हो चुकी होगी। फलस्वरूप 'ध्वन्यालोक' आनन्दकी प्रौढ़ कृति ठहरती है और उसकी रचना ८७५ ई० के लगभग या उसके बाद ही हुई होगी। यदि कारिकाओंके रचयिता आनन्दवर्धनसे

भिन्न कोई अन्य आचार्य थे तो कारिकाओंका रचनाकाल ८७५ ई० से कुछ पहले मानना पड़ेगा।

'ध्वन्यालोक'से पहले ध्वनिसम्प्रदायके अस्तित्वके कोई निश्चित प्रमाण अभीतक नहीं ज्ञात है। ध्वनिसम्प्रदाय-की जैसी पूर्ण और विशद व्याख्या इस ग्रन्थमें प्राप्त है उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी कोई पूर्ववर्ती परम्परा अवश्य रही होगी। 'ध्वन्यालोक'की पहली कारिका 'काव्यकी आत्मा ध्वनि (है), जिसे बुद्धिमान् लोग पहलेसे कहते आये हैं' (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नातपूर्व) ही सूचित करती है कि पूर्ववर्ती पण्डितोंमें ध्वनिसिद्धान्तकी चर्चा पहलेसे थी। 'लोचन'ने इस कथन-पर टीका करते हुए लिखा है कि इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि इस सिद्धान्तका विवेचन किसी विशिष्ट पुस्तकमें नहीं हुआ था तथापि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा अविच्छिन्न रीतिसे इसे कहा अवश्य गया था (अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तौ एतद् उक्तम्, विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विवेचनात्)। इस कथनसे तो यही अनुमान होता है कि 'ध्वन्यालोक'के पहले ध्वनिसिद्धान्तकी स्थिति केवल मौखिक परम्पराके रूपमें ही थी। उसका व्यवस्थित विवेचन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थमें हुआ। किन्तु यह परम्परा बहुत प्राचीन नहीं प्रतीत होती, क्योंकि भामह, दण्डी और वामन आदि पूर्ववर्ती आचार्य ध्वनिसम्प्रदायसे कुछ भी प्रभावित नहीं जान पड़ते हैं, जब कि रससम्प्रदायसे उनका परिचय अवश्य ही था।

'ध्वन्यालोक'का विषय–'ध्वन्यालोक'में ध्वनिसिद्धान्त-का विवेचन चार उद्योतोंमें विभक्त है। प्रथम उद्योतमें पहले ध्वनिविरोधी मतोंकी चर्चा करके उनकी निस्सारता प्रतिपादित की गयी है। तदनन्तर काव्यके दो अर्थों—वाच्य तथा प्रतीयमानका पृथक्करण प्रदर्शित किया गया है। वाच्य अथवा मुख्य अर्थकी महत्ता, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलकारोंके क्षेत्रमें प्रतिष्ठित की ही जा चुकी थी, किन्तु 'प्रतीयमान' अर्थ अथवा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थसे भिन्न कोई अन्य ही वस्तु होती है। महाकवियोंके काव्यमें वह रमणियोंके आँख, कान, मुख आदि प्रसिद्ध अवयवोंसे भिन्न लावण्यके सदृश शोभित हुआ करता है। (प्रतीयमान पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत् यत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवागनासु। हि० ध्व० पृ० १९)। केवल व्याकरण आदिके नियमोंको जाननेवाला प्रतीयमान अर्थके मर्मको मनोगत नहीं कर पाता, काव्यमर्मज्ञ सहृदय जन उसे सरलतासे ही समझ लेते हैं। समासोक्ति आदि जिन अलकारोंमें यत्किंचित् व्यंग्यार्थ रहता भी है उन्हें ध्वनिकी संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि उनमें वाच्यार्थकी ही प्रधानता हुआ करती है। काव्यको ध्वनिकी संज्ञा तभी दी जा सकती है जब उसमें व्यंग्यार्थ सर्वोपरि तथा सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। काव्य द्वारा अभिव्यंजित प्रतीयमान अर्थ या तो किसी वस्तुको अथवा किसी अलकारको अथवा किसी रसको ध्वनित करता है। वस्तु, अलंकार तथा रसकी ध्वनियोंमें रसध्वनिका महत्त्व सर्वोपरि है। ध्वनिका जैसा चारुत्व रसध्वनिके अन्तर्गत दृष्टिगोचर होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जिस काव्यमें व्यंग्यार्थ प्रधान होता है उसे उत्तम काव्य तथा जिसमें वह वाच्यार्थके समकक्ष और उससे निकृष्ट होता है उसे मध्यम काव्य कहते हैं। व्यंग्यार्थसे सर्वथा रहित आलंकारिक रचनाको अधम काव्यकी संज्ञा दी गयी है। प्रतीयमान अर्थको इस प्रकार प्रतिष्ठित करनेके अनन्तर ध्वनिके दो प्रमुख भेदों (अविवक्षितवाच्य, विवक्षितान्यपर-वाच्य)का निरूपण किया गया है। दूसरे उद्योतमें इन दोनों भेदोंके चार प्रधान उपभेदों (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य, असंलक्ष्य-व्यंग्य) तथा उनके अन्यान्य भेदोंको निरूपित किया गया है। इस वर्गीकरणका मुख्य आधार व्यंग्यार्थ है। तीसरे उद्योतमें व्यंजना करानेवाले अर्थात् 'व्यंजक'—पद, वाक्य, प्रबन्ध आदिकी दृष्टिसे ध्वनिके उपर्युक्त चार भेदोंके पुन अन्य प्रकारके उपभेदोंका विवरण प्राप्त है। इस विवरणमें ध्वनिसिद्धान्तकी व्यापकता तथा उसके विस्तारको प्रतिपादित करनेका यत्न दृष्टिगोचर होता है। ध्वनिका चमत्कार उपसर्ग-प्रत्यय, तद्धित-कृदन्त, पद, वर्णवाक्य, रचना, प्रबन्ध आदि सभी क्षेत्रोंमें अक्षुण्ण है। अलंकार, रस, गुण, रीति आदि पूर्ववर्ती सिद्धान्तोंको ध्वनिसिद्धान्तके अन्तर्गत यथास्थान प्रतिष्ठित करनेकी प्रबल चेष्टा इस विवेचनका प्रमुख लक्षण है। चौथे तथा अन्तिम उद्योतमें कविप्रतिभाकी अनन्तता और असीमताका व्याख्यान है। अपनी नैसर्गिक कल्पनाशक्तिके सहारे कविगण पुराने एव बार-बार दुहराये हुए भावों और उद्गारोंको नित नये रूपोंमें उसी प्रकार प्रस्तुत किया करते हैं जैसे वसन्त ऋतुमें वृक्षोंकी छटा नयी-सी प्रतीत होती है। व्यंग्य तथा व्यंजक भावोंके ऐसे नाना रूप सम्भव हैं जो अर्थोंकी अनन्तताके मूल हेतु हुआ करते हैं, फिर भी लोकोत्तर चमत्कारकारी काव्यार्थकी सिद्धिके लिए कवियोंको केवल रसध्वनिकी अभिव्यंजनाके निमित्त ही प्रयत्नशील होना चाहिये। प्रबन्धकाव्योंमें एक ही प्रधान रसकी अभिव्यंजना होनी चाहिये, जैसे, रामायणमें करुण रस तथा 'महाभारत'में शान्त रस। प्रसगात् जिन अन्य रसोंकी व्यंजना प्रबन्धकाव्यमें यत्र-तत्र की जाय उसे प्रबन्धके प्रधान रसका सहायक ही होना चाहिये। प्रतिभा-सम्पन्न कवियोंकी वाणीमें उक्ति-सादृश्यका पाया जाना स्वाभाविक ही है। यह साम्य प्राणियोंके प्रतिबिम्बके समान, उनके चित्रके समान और दूसरे देहधारी मनुष्यके समान होता है। बुद्धिमान् कविको प्रतिबिम्बरूप तथा चित्ररूप काव्यवस्तुको त्याग देना चाहिये, किन्तु तीसरे प्रकारके साम्यको नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि कोई मनुष्य दूसरे देहधारी मनुष्यके सदृश होनेपर भी उससे अभिन्न नहीं माना जा सकता है—दोनोंकी व्यक्तिगत विशेषताएँ हुआ ही करती हैं और इन्हींके कारण वे समादृत हुआ करते हैं। इसी भाँति प्रतिभाशाली कवियोंकी वाणी पुराने कवियोंसे उक्तिसाम्य रखते हुए भी सहृदय जनोंके मनमें नव-आह्लादका संचरण करती रहती है।

ध्वनिसम्प्रदायका प्रवर्तन करनेवाले सर्वप्रथम ज्ञातग्रन्थ 'ध्वन्यालोक'का संक्षेपमें यही मूल प्रतिपाद्य विषय है। ध्वनिसम्प्रदायको पूर्णतया पल्लवित एव विकसित करनेका श्रेय अभिनवगुप्त(९८०,१०२० ई०)को है, जो एक प्रतिभा-

शाली कवि एवं आचार्य ही न थे, वरन् एक उच्च कोटिके दर्शनशास्त्री भी थे। मध्ययुगीन संस्कृत साहित्यके पण्डितोंमें इनका स्थान अन्यतम है। नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्रपर अभिनवके मतोंकी मान्यताका पता तो इसी बातसे चलता है कि सभी परवर्ती आचार्योंने उन्हें मुक्त कण्ठसे स्वीकार किया है। अभिनवने भरत मुनिके नाट्यशास्त्रकी अत्यन्त विशद टीका 'अभिनवभारती' नामक पुस्तकमें की है। उनके नाट्यशास्त्रके गुरु भट्ट तौत थे। काव्यशास्त्रकी दीक्षा उन्हें भट्ट इन्दुराजसे प्राप्त हुई थी, जिन्हें कुछ विद्वान् कोंकण-निवासी प्रतीहारेन्दुराज(रचनाकाल ९२०-९५० ई०)से अभिन्न मानते हैं। 'ध्वन्यालोक'पर अभिनवकी प्रसिद्ध टीका 'लोचन'का उल्लेख किया जा चुका है। यह टीका कई अन्य नामोंसे प्रसिद्ध है—'सहृदयालोकलोचन', 'ध्वन्यालोकलोचन', 'काव्यालोकलोचन'। सैद्धान्तिक दृष्टिसे 'लोचन'में 'ध्वन्यालोक'के सिद्धान्तोंका ही विशदीकरण एवं पुष्टीकरण प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्रके स्वरूप और उसकी अभिव्यक्तिके सम्बन्धमें अभिनवगुप्त द्वारा प्रवर्तित 'अभिव्यंजनावाद' (दे०—'रसनिष्पत्ति') नाट्यरसकी ही नहीं, वरन् काव्यरसकी समस्याका भी अन्तिम एवं व्यवस्थित समाधान उपस्थित करता है। अभिनवने यह निर्विवाद रीतिसे स्थापित कर दिया कि ध्वनिवादियोंकी व्यंजनाशक्ति ही रसकी अभिव्यक्तिके रहस्यको स्पष्ट रूपसे समझा सकती है, क्योंकि रस, भाव आदिका बोध व्यंग्यरूपमें ही हुआ करता है। इस प्रकार अभिनवने रस तथा ध्वनिके सिद्धान्तोंको अन्तस्सम्बन्धित कर दिया। ध्वनिके तीन रूपों—वस्तुध्वनि अलंकारध्वनि तथा रसध्वनिकी प्रतिष्ठा 'ध्वन्यालोक'में हो ही चुकी थी। ध्वनिसिद्धान्तकी स्थापना जिस रूपमें की गयी थी उसे देखते हुए ध्वनिकार अथवा आनन्दवर्धन इससे आगे नहीं जा सकते थे। अभिनवगुप्तने इस दिशामें एक कदम और आगे बढ़ाया और यह घोषित किया कि काव्य रसके द्वारा ही जीवित रहता है (रसेनैव जीवति सर्वम् काव्यम्) और रसके अभावमें काव्य काव्य नहीं कहा जा सकता। ध्वनिके शेष दो रूप, वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि, अन्ततोगत्वा रसध्वनिकी ही प्रतीति कराते हैं। अतः रस तथा ध्वनिके सिद्धान्तोंमें कोई तार्किक विरोध नहीं माना जा सकता है। अभिनवके इस विवेचनकी एक उल्लेख योग्य विशेषता यह भी है कि उन्होंने नाट्यरस एवं काव्यरसके चारुत्वका पुष्टीकरण पूर्णतया मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक स्तरपर किया है। उनके कश्मीरी शैव दर्शनके गुरु लक्ष्मणगुप्त थे जो स्वयं उत्पलदेवके शिष्य थे। 'लोचन'में उत्पलका उल्लेख 'परमगुरु के रूपमें हुआ है। अभिनवने उत्पलकृत 'प्रत्यभिज्ञानशास्त्र' तथा 'प्रत्यभिज्ञाकारिका'पर क्रमशः 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' (लघुवृत्ति) तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' नामक दो महत्त्वपूर्ण भाष्योंकी रचना की थी। स्वभावतः अभिनवके रसध्वनिके विवेचनोंपर उनके दार्शनिक विचारोंकी छाप प्रायः सर्वत्र ही विद्यमान है। अभिनवका कहना है कि निस्सन्देह काव्यकी आत्मा ध्वनि है, किन्तु मात्र ध्वनि ही काव्यका सर्वस्व नहीं है, उसमें शब्दार्थगुणालंकारसंयुक्त रसात्मकताका चारुत्व होना नितान्त आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तब तो 'गंगायां घोषः' जैसी नीरस उक्तियोंको भी काव्य मानना पड़ेगा। तार्किक दृष्टिसे सार्वभौम आत्मतत्त्व सीमित जगत्के सभी पदार्थोंमें व्याप्त है, अतः वह घटमें भी व्याप्त है, फिर भी 'घटमें जीव है' इस प्रकारका कथन नहीं किया जाता—जीवका कथन केवल जीवित शरीरधारियोंके लिए ही किया जाता है। इसी सादृश्यपर मात्र ध्वनि ही नहीं, वरन् रसात्मक सौन्दर्यसे अभिहित ध्वनि ही काव्यकी आत्मा मानी जा सकती है। अभिनवके इस विवेचनमें मौलिकता अथवा नवीनताका आभास भले ही बहुत अधिक न मिलता हो, पर उनकी प्रगल्भ एवं पाण्डित्यपूर्ण व्याख्याके फलस्वरूप ध्वनिसम्प्रदायने बहुत अधिक शक्ति और बल प्राप्त किया।

किन्तु ध्वनि जैसे सबल तथा सशक्त सिद्धान्तको भी निर्विरोध रीतिसे नहीं स्वीकार किया गया। स्वयं अभिनवगुप्तके उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि भट्टनायक(रचनाकाल ९३५-८५ ई०)कृत अप्राप्त ग्रन्थ 'हृदयदर्पण'में 'ध्वन्यालोक'में प्रवर्तित सिद्धान्तका विरोध किया गया है। रसकी अभिव्यक्तिमें व्यंजनाशक्तिकी महत्ताको भट्टनायक नहीं स्वीकार करते हैं। इसके स्थानपर वे 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' नामक दो नवीन शक्तियोंको प्रतिपादित करते हैं और 'रसचर्वणा'को काव्यकी आत्मा मानते हैं। वे ध्वनिके सिद्धान्तको पूर्णतया अस्वीकृत तो नहीं करते, पर उसे शाब्दिक परिभाषासे परे केवल 'स्वसंवेद्य' मानते हैं। वक्रोक्तिको काव्यका जीवित माननेवाले प्रसिद्ध आचार्य कुन्तक(ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध)ने भी अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित'में ध्वनिके स्वतन्त्र अस्तित्वको अस्वीकृत किया है और रसध्वनिके पूरे चमत्कारको प्रबन्धवक्रताके अन्तर्गत पूर्णतया प्रतिष्ठित किया है। कुन्तकके पाण्डित्यपूर्ण विवेचनका लक्ष्य ध्वनिसिद्धान्तको अपदस्थ करना न था, वरन् वक्रोक्तिके सर्वव्यापी चमत्कारको प्रतिष्ठित करना था। ध्वनिके भेदोपभेदोंको वक्रोक्तिके विविध प्रकारोंमें अन्तर्भुक्त करनेका प्रयत्न ही यह सिद्ध करता है कि वे व्यंग्यार्थके महत्त्वको स्वीकार करते थे। ध्वनिसिद्धान्तको 'ध्वस्त' करनेके उद्देश्यसे रचना करनेवाले कश्मीरी आचार्य राजानक महिम भट्ट (१०००-११०० ई०) हुए, जिन्होंने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थकी रचना की थी। काव्यका कोई समीचीन लक्षण न प्रस्तुत कर सकनेके कारण वे ध्वनिकारकी खिल्ली उड़ाते हैं। 'व्यक्ति' अथवा व्यंजनाको वे शब्दकी कोई शक्ति नहीं मानते। उनके मतानुसार वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीति शब्द और अर्थकी व्यंजकताके कारण न होकर अनुमानकी प्रक्रिया द्वारा हुआ करती है। 'ध्वन्यालोक'में ध्वनिका जो स्वरूप बतलाया गया है उसे महिम भट्ट 'काव्यानुमिति' बतलाते हैं। उनके मतमें शब्दके केवल दो ही अर्थ होते हैं—वाच्य तथा अनुमेय। अनुमेय अर्थके अन्तर्गत वे लक्ष्य एवं व्यंग्य अर्थोंको समाविष्ट करते हैं—उनकी स्वतन्त्र स्थिति वे मानते ही नहीं। अनुमेय अर्थ पुनः तीन प्रकारका होता है। कभी वह वस्तुकी, कभी अलंकारकी अथवा कभी रसकी अनुमिति कराता है। वस्तु और अलंकारका व्यवहार वाच्यार्थके रूपमें हो सकता है, किन्तु रस सदैव अनुमेय होता है और वही

काव्यका सर्वस्व है। वाच्यार्थ-व्यग्यार्थमें व्यंजक-व्यग्य सम्बन्धके स्थानपर महिम भट्ट 'लिंग-लिंगी' सम्बन्धकी कल्पना करते हैं। जहाँ 'लिंग'(हेतु)की स्थिति होगी वहाँ 'लिंगी'(अनुमेय वस्तु)की स्थिति होगी, यद्यपि इस कथनके अपवाद हो सकते हैं। महिम भट्टके इन विचारोंपर नैयायिक श्री शंकुकके 'अनुमितिवाद'का प्रभाव प्रतीत होता है। किन्तु महिम भट्टसे सहमत होनेमें एक बडी कठिनाई यह है कि केवल स्थायी भावके अनुमान द्वारा रसध्वनिमें विलक्षण हृदयंग्राहिता आ ही नहीं सकती, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान ही वह चमत्कारपूर्ण स्थिति पैदा कर सकता है। विभावादि तथा स्थायी भावको 'साधन' तथा साध्यके रूपमें सम्बन्धित मानना भी आपत्तिजनक है, क्योंकि विभावादिको रसका 'ज्ञापक हेतु' नहीं माना जा सकता है। अनुमान वस्तुत एक विशुद्ध मानसिक प्रक्रिया है, किन्तु वाच्यार्थसे व्यग्यार्थकी प्रतीति तर्काश्रित बौद्धिक प्रक्रिया नहीं मानी जा सकती। भावुक 'रसिक' अथवा 'सहृदय' ही एक अत्यन्त संश्लिष्ट रागात्मक प्रक्रिया द्वारा व्यंग्यार्थको मनोगत करनेमें समर्थ होता है। निस्सन्देह महिम भट्टके ध्वनिध्वसका विवेचन बहुत ही विद्वत्तापूर्ण है, किन्तु यह विरोध बहुत-कुछ विरोधके लिए ही किया गया था। 'व्यक्ति' अथवा व्यंजनाका विरोध करते हुए भी वे वस्तु, अलकार एव रसध्वनिके चमत्कारको मानते हैं, रसकी अभिव्यजनाको भी वे वही महत्त्व देते हैं जो ध्वनिसम्प्रदायके आचार्योंको मान्य था। यही कारण है कि उत्तरध्वनिकालके आचार्योंमें उन्हें तथा आचार्य कुन्तकको कोई अनुगामी आचार्य न मिल सके और फलत उनके सिद्धान्तोंको विकसित नहीं किया जा सका।

अभिनवगुप्तके अनन्तर ध्वनिसम्प्रदायके प्रसिद्ध उन्नायकोंमें 'काव्यप्रकाश'(रचनाकाल १०५०–११०० ई० के बाद)के निर्माता कश्मीरी विद्वान् मम्मटका स्थान सर्वोपरि है। नाट्यशास्त्रको छोडकर अन्य सभी काव्यशास्त्रीय मत-मतान्तरोंका साराश मम्मटने अपने ग्रन्थमें यथास्थान देनेका यत्न किया है। उनके ग्रन्थकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसके विवेचन अत्यन्त पूर्ण और विशद होनेके साथ ही बहुत ही सक्षिप्त हैं। 'काव्यप्रकाश' अद्यावधि निर्विवाद रीतिसे काव्यशास्त्रकी एक आदर्श पाठ्यपुस्तक माना जाता है। उसने सभी परवर्ती आलोचकोंको प्रेरणा प्रदान की है। ध्वनिसिद्धान्तके व्यवस्थित स्थिरीकरणका पूरा श्रेय इसी कृतिको प्राप्त है। सिद्धान्तत मम्मट ध्वनिवादी हैं, फिर भी अन्य मतावलम्वी आचार्योंके मतोंको भी उन्होंने यथास्थान समाहृत किया है, यद्यपि ऐसा करनेमें उन्हें कभी-कभी विशेष कठिनाईका सामना करना पड़ा है। काव्यकी परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि काव्यके शब्दों तथा अर्थोंमें दोष न होने चाहिये, यद्यपि गुण अवश्य होने चाहिये, अलकार चाहे कहीं-कहींपर न भी हो (तददोषौ शब्दार्थौ सगुणानलकृती पुन क्वापि)। इस परिभाषामें 'शब्द' और 'अर्थ'का उल्लेख स्पष्ट ही प्राचीन आचार्य भामह(ईसाकी सातवी शताब्दी)की परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'का प्रभाव सूचित करता है। आलोचकोंने इस बातपर आश्चर्य प्रकट किया है कि ध्वनि और रसकी महत्ताको स्वीकार करते हुए भी मम्मटने इस परिभाषामें 'ध्वनि' तथा 'रस'का नामोल्लेखतक नहीं किया है, जब कि 'गुण', 'दोष' तथा 'अलकार'तकका नाम इसमें आ गया है। यह भी स्मरणीय है कि उन्होंने 'गुण' तथा 'दोष'का विवेचन स्वतन्त्र रीतिसे न करके उत्कर्षापकर्षकी दृष्टिसे ही किया है। 'गुण'के सम्बन्धमें उनकी स्थापना है कि जिस प्रकार 'शौर्य' आदि गुण आत्मासे सम्बद्ध हैं उसी प्रकार माधुर्यादिक गुण रसके धर्म हैं, रसके साथ उनकी अचल स्थिति हुआ करती है। काव्यालंकार शारीरिक आभूषणोंके समान 'काव्यशरीर'—शब्द और अर्थको चमत्कृत करते हैं। रसोपकारी होनेपर ही उनका महत्त्व है, अन्यथा वे उक्तिवैचित्र्यमात्र हैं। आलोचकोंकी धारणा है कि 'ध्वन्यालोक'की स्थापनाओं तथा प्राचीन आचार्योंकी मान्यताओंमें एकसूत्रता लानेके प्रयत्नके कारण ही मम्मटकी परिभाषामें उपर्युक्त प्रकारकी विषमताएँ आ गयी हैं।

'साहित्यदर्पण'(ईसाकी १४वीं शताब्दी)के रचयिता विश्वनाथने मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्यकी उपर्युक्त परिभाषाकी तीखी आलोचना की है। आनन्दवर्धनने रसध्वनिकी सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की थी, अभिनवगुप्तने उसकी सर्वश्रेष्ठता ही नहीं, अनिवार्यता भी सिद्ध की थी, किन्तु विश्वनाथने रसात्मक वाक्यको ही काव्यकी संज्ञा प्रदान की (वाक्य रसात्मक काव्यम्)। वस्तुत उन्होंने अभिनवगुप्तके आशयको ही कुछ अधिक स्पष्टताके साथ प्रकट किया है। किन्तु ऐसा करनेमें उन्होंने वस्तुध्वनि तथा अलकारध्वनिको काव्यकी परिधिसे बाहर कर दिया। विश्वनाथने काव्यके प्रथम दो भेदों—ध्वनि तथा गुणीभूत व्यग्य—को ही मान्यता दी है और मम्मट द्वारा स्वीकृत चित्रकाव्यको रसके अभावके कारण काव्यक्षेत्रसे बहिष्कृत कर दिया है। रसात्मकताके विशेष आग्रहके अतिरिक्त विश्वनाथका मम्मटसे कोई विशेष मतभेद नहीं है और उन्होंने प्राय 'काव्यप्रकाश'के मतोंका ही समर्थन किया है।

पण्डितराज जगन्नाथने भी अपने 'रसगगाधर'(१६४१–५० ई०)में 'काव्यप्रकाश'की परिभाषामें गुण, दोष और अलकारके प्रयोगपर आपत्ति की है। उनके मतसे काव्य केवल शब्द और अर्थका ही द्योतन नहीं करता, वरन् एक विशेष प्रकारके शब्द और अर्थको अभिव्यक्त करता है। विश्वनाथकी परिभाषा (वाक्यं रसात्मक काव्यम्) भी उन्हें मान्य नहीं है, क्योंकि काव्यके व्यापक क्षेत्रमें सर्वत्र रसकी स्थिति नहीं हुआ करती है। जिस काव्यमें वस्तु अथवा अलकारकी ही व्यजना है उसे भी काव्य न माना जा सकेगा। अत वे 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द'-(रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द)को ही काव्य मानते हैं। यह रमणीयता काव्यरसिकके हृदयमें तटस्थता एव निस्संगताकी अवैयक्तिक स्थिति पैदा कर देती है और उसे अलौकिक आनन्द प्रदान करती है। यही रसास्वादकी अलौकिक मन स्थिति पैदा करती है। रमणीयताकी दृष्टिसे ध्वनि भी समादृत की जाती है। पण्डितराजने काव्यका चतुर्विधि विभाजन किया है—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और

अधम। जगन्नाथका पहला वर्ग 'ध्वन्यालोक'के उत्तमकाव्य-(ध्वनिकाव्य)के समानान्तर है और इस ध्वनिको उन्होंने 'परम रमणीय' बतलाया है। विस्तारोंमें उनका ध्वनिका वर्गीकरण परम्परागत है। द्वितीय वर्ग 'उत्तम काव्य'के अन्तर्गत 'ध्वन्यालोक'के गुणीभूत व्यंग्यको रखा गया है। 'ध्वन्यालोक'की भाँति गुणीभूत व्यंग्यको वे मध्यम काव्यकी संज्ञा देनेको प्रस्तुत नहीं है क्योंकि वाच्यार्थकी समकक्षतामे व्यंग्यार्थके गौण हो जानेपर भी काव्य चमत्कारकारी हो सकता है। अतः 'मध्यम'की संज्ञा देकर उसकी महत्ताको गिरा देना युक्तिसंगत नहीं है। तीसरी (अर्थात् उनके मतमे मध्यम) श्रेणीके काव्यमें पण्डितराज उस काव्यको रखते हैं जहाँ व्यंग्यकी अपेक्षा वाच्यार्थका चमत्कार स्पष्ट रीतिसे उत्कृष्ट हो। चतुर्थ (अथवा अधम) श्रेणीके काव्यमें वह काव्य आता है जिसमें शब्दचमत्कारका प्राधान्य हो और अर्थचमत्कार शब्दचमत्कारको सुशोभित करता हो। उनका यह भी कहना है कि अर्थकी रमणीयतासे सर्वथा रहित शब्दचमत्कृति प्रस्तुत करनेवाले एकाक्षरी छन्द, पद्मबन्ध आदिका एक पाँचवाँ भेद (अधमाधम काव्य) भी माना जा सकता है और प्राचीनोंके काव्यमें इनकी स्थिति भी पायी जाती है, किन्तु रमणीय अर्थकी कसौटीपर खरा न उतरनेके कारण वे उसकी स्थापना युक्तिसंगत नहीं समझते। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, 'ध्वन्यालोक'-के ध्वनि(उत्तम)काव्यको उन्होंने उत्तमोत्तम काव्य माना है। ध्वन्यालोकके शेष दो भेदों—गुणीभूतव्यंग्य तथा चित्रकाव्य—को उन्होंने तीन वर्गोंमें विभक्त किया है। उनका यह प्रयास बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण है। उनका काव्यलक्षण अत्यन्त व्यापक, तर्कानुमोदित और बोधगम्य है। ध्वनिसिद्धान्तका मूल रूप उन्हें मान्य था, पर वे उसका अन्धानुसरण करनेवाले न थे। अधिकारी आलोचकोंने उन्हें प्रथम श्रेणीका आचार्य माना है। अपनी स्वतन्त्र चिन्तनशक्ति एवं असाधारण प्रतिभाके बलपर उन्होंने ध्वनिको एक नये रूपमें समझने-समझानेका अद्भुत प्रयत्न किया, क्योंकि आचार्य मम्मटके काव्यलक्षणसे उन्हें सन्तोष न था। साहित्यदर्पणकारके समान उन्होंने ध्वनिके दो रूपों(वस्तु और अलंकार)को काव्यक्षेत्रसे बहिष्कृत नहीं कर दिया और साथ ही रसकी सर्वश्रेष्ठताको भी उन्होंने सुरक्षित रखा। वक्रोक्ति तथा अर्थचमत्कृति उपस्थित करनेवाले अलंकारोंको भी उन्होंने काव्यकी परिधिके भीतर ही अधिक युक्तिपूर्ण रीतिसे प्रतिष्ठित किया। सच तो यह है कि मूल ध्वनि-सिद्धान्तको सुरक्षित रखते हुए भी उन्होंने उसे नयी व्यवस्था प्रदान की और अपने काव्य-लक्षणके भीतर संस्कृत काव्यशास्त्रसम्बन्धी सभी सिद्धान्तोंको व्यवस्थित रीतिसे प्रतिष्ठित कर दिया ताकि वे ध्वनिसिद्धान्तके अंग-से ही जान पड़ें।

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्यमें भी ध्वनिसिद्धान्तकी यत्किंचित् चर्चा होती रही। हिन्दीमें रीतिकालके बहुसंख्यक आचार्य सिद्धान्ततः रसवादी थे। उन्होंने मुख्यतया उत्तर-ध्वनिकालके उन संस्कृत आचार्योंसे प्रेरणा ग्रहण की थी जिन्होंने शृंगार रसपर विशद विवेचन प्रस्तुत किये थे। यही कारण है कि हिन्दी रीतिकारोंने शृंगार रस—विशेषतया उसके आलम्बन विभाव (नायक-नायिका-भेद) तथा उद्दीपन विभाव (षड् ऋतु वर्णन)—पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की। दूसरा विषय अलंकारोंका था, जिसने बहुतेरे रीतिकारोंको आकर्षित किया था। रीतिकारोंकी तीसरी परम्परामें उन थोड़ेसे ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया जाता है, जिन्होंने ध्वनिसम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठापित व्यापक काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोणका अनुगमन किया था। इस वर्गके अन्तर्गत निम्नलिखित आठ ग्रन्थोंका उल्लेख किया जा सकता है—१ कुलपति मिश्र 'रसरहस्य' (१६७० ई०), २. कुमारमणि मिश्र - 'रसिक रसाल' (१७१९ ई०), ३ श्रीपति - 'काव्यसरोज' (१७२० ई०), ४ सोमनाथ 'रसपीयूषनिधि' (१७३७ ई०), ५ देवदत्त 'काव्यरसायन' (लगभग १७४३ ई०), ६ भिखारीदास 'काव्यनिर्णय' (१७५० ई०), ७ सूरति मिश्र 'काव्यसिद्धान्त' (लगभग ईसा १८वीं शताब्दी-का उत्तरार्द्ध), ८ प्रताप सिंह 'व्यंग्यार्थकौमुदी' (लगभग ईसाकी १९वीं शताब्दीका मध्य)।

इन सभी ग्रन्थोंका विषय-विवेचन मुख्य रूपसे मम्मटके 'काव्यप्रकाश' तथा विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण'पर आधारित है। इन दो ग्रन्थोंसे भी उपर्युक्त लेखकोंका बहुत घनिष्ठ परिचय न था—जटिल एवं उलझन पैदा करनेवाले विषयों-का नामोल्लेखमात्र करके वे आगे बढ जाते हैं। उनकी परिभाषाओंमें वह स्पष्टता सूक्ष्मता तथा कसावट नहीं है जो शास्त्रीय विषय-विवेचनके लिए नितान्त आवश्यक होती है और जिसके अभावमें अध्येता मूल विषयको सम्यक् रीतिसे नहीं समझ पाता है। इस दिशामें भिखारीदासको अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है, किन्तु उनके लक्षणोंमें भी अपूर्णता एवं भ्रामकता सहजमें ही खोजी जा सकती है। उदाहरणार्थ, लक्षणाकी परिभाषा दासजी इस प्रकार देते हैं—'मुख्य अरथको बाध करि सब्द लच्छना होत। रूढि और प्रयोजनवती है लच्छना उदोत।' (का० नि० पृ० १९) जब कि काव्यप्रकाशमें उसकी परिभाषा यह है—'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।' (का० प्र० २, ९)। दासजीने केवल मुख्यार्थके बाधकी बात कहकर परिभाषाको चलता कर दिया है—'प्रयोजन अथवा रूढिके कारण मुख्यार्थसे सम्बन्धित जो दूसरा अर्थ लक्षित कराती है उस आरोपित क्रियाको लक्षणा कहते हैं' आदिको वे छोड ही गये। अतः इस कोटिके ग्रन्थोंको आदर्श पाठ्यपुस्तक होनेका श्रेय भी नहीं दिया जा सकता है। इसी प्रकार विवक्षितान्य-परवाच्यध्वनिके इस लक्षण—'कहे विवक्षितवाच्य धुनि, चाह करे कहि जाइ। असंलच्छक्रम लच्छक्रम, होत भेद द्वै ताइ।' (का० नि० पृ० १२८)से भी वर्ण्य विषयके प्रति लेखकके अनुरागकी व्यंजना स्पष्ट ही हो जाती है। 'काव्यरसायन'में देवने यह स्थापना की है कि प्रत्येक शब्दार्थमें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीनों शब्दशक्तियोंकी स्थिति रहती है। अतः उन्होंने इन तीनों वृत्तियोंके अनेक मिश्रित भेद बना डाले हैं। विचारणीय यह है कि लक्षणाकी स्थिति सर्वत्र कैसे हो सकती है? उसके लिए मुख्यार्थ बाधित होना आवश्यक है और क्या मुख्यार्थकी बाधा सर्वत्र ही हो सकती है? इस विलक्षण

स्थापनाके कारण देवका विवेचन बहुत ही भ्रामक हो गया है।

इन कठिनाइयोंके कारण हिन्दी रीतिकारोंके विवेचन बहुत ही त्रुटिपूर्ण हैं। वस्तुत न तो उनमें शास्त्रकारोंकी-सी प्रतिभा थी और न उनके पास शास्त्रकारोंकी शैली ही थी। उनके लक्षण दोहोंमें लिखे गये हैं और उनके साथ गद्यमय विवेचनकी कोई परम्परा न थी। सच तो यह है कि उनके आचार्यत्वका व्यक्तित्व- आरोपित-सा जान पडता है। वे प्रधानतया कवि ही थे और उनका सारा ध्यान काव्य-रचनामें ही सलग्न था। निस्सन्देह उनके अधिकाश उदाहरण बहुत ही मौलिक और मर्मस्पर्शी हे और इस क्षेत्रमें उन्हें बहुत बडी सफलता प्राप्त हुई है। इसकी महत्ताको देखते हुए उनके सैद्धान्तिक पक्षकी न्यूनताके दोषका बहुत-कुछ परिहार हो जाता है।

[सहायक ग्रन्थ—१–पी० वी० काणे दि साहित्यदर्पण आफ विश्वनाथ, तृ० सस्करण १९५१ ई० (भूमिका), २–एस० के० डे दि हिस्ट्री आफ सस्कृत पोयेटिक्स, भाग २ (१९२५ ई०), ३–के० सी० पाण्डे कम्परेटिव एस्थेटिक्स, भा० १, (१९५० ई०), ४–विश्वेश्वर तथा नगेन्द्र हिन्दी ध्वन्यालोक (१९५२ ई०), ५–अनु० हरिमगल मिश्र काव्यप्रकाश, (स० २००० वि०), ६–शालिग्राम शास्त्री विमलाविभूषित साहित्यदर्पण, (स० १९९१ वि०), ७–नगेन्द्र देव और उनकी कविता तथा रीतिकाव्यकी भूमिका (१९४९ ई०), ८–भगीरथ मिश्र हिन्दी काव्य-शास्त्रका इतिहास।] —उ० श० शु०

ध्वनिसयोजक–दे०—'रेडियो नाटक'।

ध्वनिसंसृष्टि–ध्वनिके विभिन्न भेदोपभेद जहाँ परस्पर एक-दूसरेसे मिले-जुले न होकर 'तिल-तन्दुल-न्याय'से स्वतत्र रीतिसे पृथक्-पृथक् स्थित हों वहाँ ध्वनियोंकी संसृष्टि मानी जाती है। 'हे अभावकी चपल बालिके, री ललाटकी खल लेखा। हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ जल मायाकी चल रेखा।' ('प्रसाद'), इन पक्तियोंमें तीन स्थलोंपर लक्षणामूला ध्वनि स्वतत्र रीतिसे स्थित है—'चपल बालिका', 'ललाटकी खल लेखा' तथा 'जल-मायाकी चल रेखा'में साध्यवसाना लक्षितलक्षणाकी सहायतासे चिन्ताकी उत्पत्ति, उसके दुष्ट स्वरूप तथा उसकी अतिशय चचलताकी व्यंजनाएँ हो रही हैं। —उ० शं० शु०

नकारवाद–इस दृष्टिकोणके अनुसार समस्त जगत्, जीवन, आदर्श और मूल्य निरर्थक, सयोगज तथा निस्सार हे। जीवन शेक्सपीयरके शब्दोंमें, एक जड मूर्ख द्वारा कही हुई कहानी है, जिसमें गर्जन तर्जन तो बहुत है लेकिन जिसमें सार कुछ भी नहीं है। जो लोग इतिहासमें किसी भी अभिप्राय अथवा आदर्शकी अभिव्यक्ति नहीं मानते उन्हें ऐतिहासिक नकारवादी कहा जाता है। इन लोगोंका मत है कि मनुष्यकी उत्पत्ति ऐसे कारणोंसे हुई है जिनको अपने लक्ष्य और उद्देश्यका कोई भी ज्ञान नहीं था। मानवीय अभियान अणुओंके आकस्मिक सयोगसे प्रतिफलित हो गया है। अत इसी प्रकार, मानवताने जो उन्नति और सफलताका भवन निर्मित किया है वह एक दिन नष्ट भ्रष्ट सृष्टिके खँडहरोंमें दब जायगा। इस तरह मनुष्य तथा उसकी प्रगति और इतिहासके सम्बन्धमें यह एक अत्यन्त निराशावादी, ह्रासोन्मुख और रुग्ण दृष्टिकोण है। अधिकाश तत्त्ववेत्ताओं और इतिहासके दार्शनिकोंका ऐसा मत नही है। —आ०

नक्शबदी–दे०—'सूफी-सम्प्रदाय'।

नचारी–शिव-भक्ति और शिवोपासनापरक गीत, मिथिला जनपदमें विशेष रूपसे प्रचलित, साधु भिखमगे इन्हें गाकर भिक्षार्जन करते हैं, गृहस्थ भक्तिभावनामें डूबते हे और स्त्रियाँ विवाहके अवसरपर इनका उपयोग हास्य और व्यग्य-गीतके रूपमें करती हैं, मैथिल-कोकिल विद्यापतिने लोकगीत-शैलीके आधारपर अनेक ललित प्रदोंकी रचना की है। —र० भ्र०

नज़्म–नज्म शब्दका अर्थ कविता है। उर्दू काव्यके समस्त रूपोंको नज्म कहा जा सकता है, विशेषकर इसका प्रयोग उन कविताओंके लिए होता है जो किसी एक विषय-पर हों। इसका प्रचलन उर्दू काव्यमें शुरूसे ही मिलता है। गोलकुण्डाके राजा सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह-(१५८०-१६११ई०)के दीवानमें भी बसन्त, नौरोज, ईद, दीवाली आदिपर नज्में है। परन्तु अँग्रेजी राज्यसे पहले काव्यका यह रूप चमक नहीं सका। उत्तरी भारतमें केवल 'नजीर' अकबराबादीने इस तरफ अधिक योग दिया। नज्मका असली रग उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें उभरना शुरू हुआ।

मुहम्मद हुसैन 'आजाद'ने कर्नल हालरायडकी मददसे १८६७ ई०में यह कोशिश शुरू की कि ऐसे मुशायरे होने लगें जिनमें मिसरा तरहके बजाय किसी विषयपर नज्में लिखी जायँ। उनकी यह कोशिश सन् १८७४ में कामयाब हुई जब 'अंजुमने उर्दू'की ओरसे लाहौरमें नियमित रूपसे इस तरहके मुशायरे होने लगे और लोग तरह-तरहके विषयोंपर नज्में लिखने लगे। ये नज्में ज्यादातर वर्णनात्मक होती थीं। काग्रेसका सघटन और हिन्दुस्तानियोंमें राजनीतिक चेतनाके विकास तथा अंग्रेजी शिक्षाके प्रसारसे अधिकाश लोग नज्में लिखने लगे। 'आजाद'के अलावा 'हाली', 'दुर्गासहाय', 'सुरूर', 'ज्वालाप्रसाद', 'वर्क़' 'इकबाल', 'चकबस्त', 'जोश', 'मजाज', 'अख्तर शिरानी' आदिने इस रूपमें उर्दू काव्यको सम्पन्न किया और उसमें राजनीति, रोमास, सामाजिक आलोचना, वर्ग-सघर्ष आदि विषयोंको शामिल किया।

फारसीके आधारपर उर्दू काव्यमें 'मुसम्मत'के नामसे ऐसे रूप मौजूद थे जिनमें नज्में लिखी जा सकें। लोगोंने कभी-कभी इसका भी प्रयोग किया। जब नज्मोंका रिवाज हुआ तो मिसरोंके तारतम्यको परिवर्तित करके अपने-अपने दृष्टिकोणसे शायरोंने नज्में लिखीं। आजकल नज्म उर्दू काव्यकी प्रमुख शाखा है। —मसी०

नट–नाटक-रूपकादिमें अनुकार्य(ऐतिहासिक पात्र)का रूप धारण कर उनकी अवस्थाओंके अनुकरण करनेवाले व्यक्तिको नट कहते हे। इस प्रकार नट अभिनेता होता है और नाट्य करता है। रगशालाके व्यवस्थापक सूत्रधार तथा वस्तुकी स्थापना करनेवाले स्थापकको भी नट कहा जाता है, जो नाट्यकी समस्त विधियों और रीतियोंमें पारगत होता है।

इसके अतिरिक्त नट एक प्रकारकी जाति भी होती है जो गानों, आंगिक व्यायामों और ऊँचे-ऊँचे बाँसों, रस्सियोंपर चढ़नेके खेलों द्वारा अपनी जीविका कमाती है। —वि० रा०

नटवा—जाति-विशेषका गीत। नटोंकी एक जाति होती है जो गाँवमें घूम-घूमकर शारीरिक व्यायाम और तत्सम्बन्धी अन्य कलाबाजियोंका प्रदर्शन करती है, उक्त गीत इसी जातिसे सम्बद्ध है, पुरुषों और महिलाओं दोनोंके द्वारा गाया जाता है, प्रायः ढोलक और नाचके साथ ही इसे गाते हैं। —र० भ०

नटी—नाटकादिमें वास्तव-पात्रोंका अपनेमें आरोपण कर उनकी चेष्टाओंका अभिनय करनेवाली स्त्री—अभिनेत्री—नटी होती है। सूत्रधारकी स्त्रीको भी नटी कहते हैं, जिससे सूत्रधार पूर्वरंगका विधान करते समय आमुख(प्रस्तावना)में नाटकादि वस्तुका संकेत करते हुए बातें करता है। नटी सूत्रधारके कार्योंमें सहायक बनती है। नट(जाति)की स्त्री भी नटी कहलाती है, जो नटको उसके कार्योंमें सहायता देती है। —वि० रा०

ननद—दे०—'सास'।

नफ़्स—आत्माके दो भेदोंमें एक यह है। इसे सूफ़ी निम्न कोटिका मानते हैं। वे इसे सभी प्रकारकी कुप्रवृत्तियोंका स्थान तथा समस्त बुराइयोंकी जड़ मानते हैं। उनका कहना है कि यह सब समय नीचेकी ओर ले जानेवाला है। सूफ़ी कहते हैं कि आत्मा पहले-पहल पवित्र ही निर्मित हुई थी, लेकिन नफ़्सके कारण वह कलुषित होती है और उसमें बुराइयाँ आती हैं, नफ़्स और रूहमें निरन्तर संघर्ष होता रहता है। आत्माको ये विपरीत दिशाओंमें खींचते रहते हैं। (दे०—'रूह')। —रा० पू० ति०

नयी कविता—ऐतिहासिक दृष्टिसे नयी कविता 'दूसरा सप्तक'(१९५१ ई०)के बादकी कविताको कहा जा सकता है, किन्तु इस ऐतिहासिक क्रमके अतिरिक्त भी नयी कविताका वास्तविक रूप उस समय प्रतिष्ठित हुआ जब 'दूसरा सप्तक'-के बादके कवियोंने सारी कविताको 'दूसरा सप्तक'के निकटवर्ती पाते हुए, किन्हीं अर्थोंमें कुछ भिन्नताका अनुभव भी किया। नयी कविता मूलतः १९५३ ई० में 'नये पत्ते' के प्रकाशनके साथ विकसित हुई और जगदीश गुप्त तथा रामस्वरूप चतुर्वेदीके सम्पादनमें प्रकाशित होनेवाले संकलन 'नयी कविता (१९५४ ई०)में सर्वप्रथम अपने समस्त सम्भावित प्रतिमानोंके साथ प्रकाशमें आयी। इस कालकी कविताका नयी कविता नाम कई कारणोंसे पड़ा। प्रथम तो यह कि नयी कविताके कवि विषयवस्तु और शिल्पकी दृष्टिसे अपने पूर्ववर्ती कवियोंके साथ तो थे, किन्तु वे स्वयं यह अनुभव कर रहे थे कि 'दूसरा सप्तक'के कवियों द्वारा जहाँ और जिस सीमातक समस्त काव्य-चेतना पहुँच चुकी थी, नयी कविता उससे आगेकी ओर बढ़ चुकी है और किन्हीं अर्थोंमें वह 'दूसरा सप्तक'के कवियोंकी काव्य-चेतनासे थोड़ी पृथक् भी है। जिस काव्यके ऊपर मात्र प्रयोगवादका विवादग्रस्त आरोप और प्रति-आरोप लगाया जा रहा था, उससे भिन्न स्तरपर सर्वथा विषयवस्तुकी नवीनताको लेकर नयी कविताको प्रतिष्ठित करनेकी आवश्यकता अनुभव करके १९५४ ई० में प्रयागकी 'साहित्य सहयोग' नामक सहकारी संस्थाने नयी कविताका प्रकाशन किया। 'नये पत्ते' दो और तीनमें तथा 'आलोचना'-के कुछ अंकोंमें नयी कविताकी मूल स्थापना करते हुए इस बातकी चेष्टा की गयी कि इस नयी काव्यधाराको उन वैयक्तिक यथार्थ और सामाजिक यथार्थके साथ उन प्रतिमानोंको लेकर विकसित किया जाय जो आजके भाव-बोधको वहन करते हुए सर्वथा नयी दृष्टिके साथ अवतरित हो रहे हैं। नयी कविताका मूल स्रोत आजके युग सत्य और युग-यथार्थमें निहित है। इसीलिए उसमें गद्यका यथार्थ और काव्यकी संवेदनशील अभिरुचि, दोनों एक साथ सर्वथा नयी भाव-भूमिपर समूची अनुभूतिको प्रस्तुत करती है। इस नयी भाव-भूमिका आग्रह उस मानवीय आत्म-विश्वास और आत्म-अभिव्यक्तिसे प्रभावित है, जिसे पिछले दो दशक केवल अपने अस्तित्वके संघर्षमें बिताने पड़े हैं और जो आज भी कई अर्थोंमें उस अस्तित्वकी वेदना-संवेदनासे ओतप्रोत है।

अस्तु, नयी कविता आजकी मानव-विशिष्टतासे उद्भूत उस लघु मानवके लघु परिवेशकी अभिव्यक्ति है, जो एक ओर आजकी समस्त तिक्तता और विषमताको तो भोग ही रहा है, साथ ही उन समस्त तिक्तताओंके बीच वह अपने व्यक्तित्वको भी सुरक्षित रखना चाहता है। वह विशाल मानव-प्रवाहमें बहनेके साथ साथ अस्तित्वके यथार्थको भी स्थापित करना चाहता है, उसके दायित्वका निर्वाह भी करना चाहता है।

नयी कविताकी मूल स्थापनाओंमें चार तत्त्व मुख्य हैं। सर्वप्रथम तो यह कि नयी कविताका विश्वास आधुनिकतामें है, दूसरे, नयी कविता जिस आधुनिकताको स्वीकार करती है उसमें वर्जनाओं और कुण्ठाओंकी अपेक्षा मुक्त यथार्थका समर्थन है, तीसरे, इस मुक्त यथार्थका साक्षात्कार वह विवेकके आधारपर करना अधिक न्यायोचित मानती है, और चौथा यह कि इन तीनोंके साथ-साथ वह क्षणके दायित्व और नितान्त समसामयिकताके दायित्वको स्वीकार करती है। आधुनिकताका अर्थ विकृतियोंमें न होकर उस वैज्ञानिक दृष्टिकोणके समर्थनमें है, जो विवेचना और विवेकके बलपर हमें प्रत्येक वस्तुके प्रति एक मानवीय दृष्टि, यथार्थकी दृष्टि देती है।

भाव-बोधके स्तरपर नयी कविता कई अर्थोंमें अन्य काव्य-प्रवृत्तियोंसे भिन्न है। यह भिन्नता मात्र उद्देश्यगत नहीं, दृष्टिगत भी है। जीवनके प्रवाहमें उसकी सन्दर्भयुक्त अभिव्यक्ति नयी कविताका भाव-बोध है। सन्दर्भविशेषमें प्रत्येक वस्तुस्थितिके प्रति सापेक्ष मूल्योंका आग्रह इसकी मनोलीन नियति न होकर आत्मगत सत्य है। जब यह कहा जाता है कि नयी कविता ऐतिहासिक दृष्टिसे सप्तकके कवियोंके आगेका विकसित रूप है तो उसका आशय ही यह है कि नयी कविता भाव-बोधके स्तरपर और आधुनिक यथार्थके स्तरपर सर्वथा नयी दिशाओंकी ओर अग्रसर होनेवाली अनुभूतिका प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिए उसमें न तो छायावादकी भाँति उदात्तके नामपर पलायन करनेकी प्रवृत्ति है और न प्रगतिवादके नामपर कोई साम्प्रदायिक आग्रह। उसका विश्वास मानव विशिष्टतामें है,

और इस विश्वासके आधारपर वह सर्जनशील अनुभवोंसे लेकर अभिव्यक्तिके माध्यमोंतकमें उसका निर्वाह करनेका प्रयास करती है। अनुभूतियोंकी विविधता और अभिव्यक्तिके माध्यम भी इसीलिए उसके लिए इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितना कि यह कि वह यथार्थ और जीवनको एक साथ वहन करते हुए मुक्त क्षणोंके दायित्वके प्रति आग्रहशील है। आधुनिकता और समसामयिकताके सन्दर्भमें लघु मानवकी विशिष्टता और उसके सन्दर्भका महत्त्व इन्हीं कारणोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सौन्दर्य-बोधकी दृष्टिसे नयी कविता सौन्दर्यको यथार्थसे पृथक् वस्तु नहीं मानती। यथार्थका क्रियाशील (dynamic) तत्त्व सौन्दर्यके आयामोंको निर्धारित एवं परिमार्जित करता रहता है। यथार्थहीन सौन्दर्य, निरपेक्ष सौन्दर्य या सन्दर्भहीन सौन्दर्य-बोध, जिसमें मुक्त क्षणोंकी सार्थकता और नितान्त समसामयिकताका आग्रह नहीं है, वह कहीं-न-कहीं मानवदृष्टिको कुण्ठित एवं विकृत भी करता है। अस्तु, नयी कविताका आग्रह सौन्दर्यके प्रति नहीं है, जो मात्र अलौकिक या अदृश्यके संयम-नियमसे शासित होकर व्यक्त होता है। यही कारण है कि नयी कविताके लिए यथार्थसे विकसित हुई वह तथाकथित विकृति भी महत्त्वपूर्ण है और अपने आग्रहपूर्ण अस्तित्वमें नये कविके भाव-बोधको प्रभावित करती है। यही कारण है कि नयी कविताका सौन्दर्यवाद बौद्धिक अनुभूति और बुद्धिवादको भी स्वीकार करता है। इस बुद्धिवादके साथ-साथ नयी कविताका आग्रह मुक्त क्षणोंकी आस्थामें होनेके नाते सौन्दर्यको भोगने और उसके द्वारा प्राप्त उपलब्धियोंको स्वीकार करनेमें भी व्यक्त हुआ है। प्रयोग इसी सौन्दर्यानुभूतिके स्तरपर उसके भावबोधको वहन करनेकी क्षमताके साथ स्थापित हुआ है। जब यह कहा जाता है कि नयी कविता मुक्त क्षणोंकी सत्ताको स्वीकार करती है और उपलब्धियोंको अंगीकार करती है तो इसका आशय यह है कि वह उस सहानुभूतिसे द्रवित है, जिसमें विवेचन-विश्लेषणके साथ-साथ बौद्धिक सहानुभूति भी शामिल है। प्रस्तुत कारणोंसे ही नयी कविता कुछको चौंकानेवाली लगती है और कुछको मात्र चामत्कारिक लगती है, कुछको उसमें रसहीनताका आभास मिलता है और कुछ मात्र विकृतियोंतक उसके भावको सीमित कर पाते हैं। वे उन नये तत्त्वोंको नहीं देख पाते जो आजकी मानव अनुभूतियोंके साथ उसके परिवेशमें विद्यमान हैं और जिनके प्रति उसका दायित्व है।

परिवेशके महत्त्वपूर्ण दायित्वके प्रति नयी कविताका दृष्टिकोण दो विचारोंसे प्रभावित है। सर्वप्रथम तो नितान्त समसामयिकताकी दृष्टिसे और दूसरे अस्तित्वपूर्ण क्षणके प्रति जागरूक चेतनाकी अनुभूति और उसकी अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे। समसामयिकताके दायित्वका निर्वाह करनेके लिए यह आवश्यक है कि कविके अन्दर आधुनिकताके प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिके साथ साथ 'लघु मानव'के लघु परिवेशकी आस्था भी हो। नितान्त समसामयिकताका उद्देश्य यह है कि कविकी उस अनुभूतिका भी महत्त्व स्थापित हो, जो वह मुक्त क्षणोंके साथ-साथ उपलब्धिके रूपमें पाता है, ग्रहण करता है। आधुनिकता जिस परिवेशका निर्माण करती है, समसामयिकता उस परिवेशके प्रति व्याप्त जागरूकताको क्रियाशीलता प्रदान करती है।

अस्तु, नयी कविताका आग्रह जिस विशेष तत्त्वपर है, वह उस मानव-व्यक्तित्वकी स्थापना और उसकी उपयोगितासे विकसित होता है, जो समस्त विद्रूपताओं और कटुताओंके बावजूद मनुष्यको उसकी मूल मर्यादाके प्रति, निजत्व और अस्तित्वके प्रति जागरूक रखना चाहता है। यह आग्रह निरा कपोल-कल्पित नहीं है, वरन् इसके पीछे समस्त मानव-चेतनाका वह अनुभव है जो एक सीमापर यथार्थको पकड़ना चाहता है, किन्तु जो उसको कुण्ठाका साधन न बनाकर सम्पूर्ण चेतनाको वास्तविकताके सन्दर्भमें प्रस्तुत करनेका अधिक सशक्त माध्यम रहा है। देश-कालकी गतिके अनुसार नयी कविताकी अनुभूति-शक्ति इसलिए और भी उत्तरोत्तर विकसित हो रही है, क्योंकि आजके यथार्थ जीवनके बाह्य और आन्तरिक सत्योंके साथ वह अधिक भाव-स्निग्ध और स्वपरिचित हो पाती है। छायावादकी भाँति इसमें वस्तुस्थितिसे पलायनकी प्रवृत्ति न होनेके नाते यह आजकी मानसिक स्थितिको अधिक प्रतिबिम्बित करती है, ठीक उसी प्रकार प्रगतिवादके मतप्रधान काव्यकी हीन और संकीर्ण मनोवृत्तिसे पृथक् वह यथार्थकी गतिशीलताको अंगीकार करके दिग्भ्रमित नहीं होती। यही कारण है कि वह अपनी विविधताके बावजूद विकास पा रही है।

वर्तमान स्थितिमें नयी कविताके प्रति जो आरोप लगाया जाता है, उसमें यह कहा जाता है कि यह मात्र वैयक्तिक और एकांगी मतवादी कविता है, जिसमें साहित्यिक मर्यादाओं और परम्पराओंका उल्लंघन करके केवल व्यक्तिगत सीमाओंको ही स्वीकार किया जाता है। नयी कविताके विरोधमें प्रस्तुत की गयी इन आलोचनाओंका उत्तर स्वयं आजकी नयी कविताके भाव-क्षेत्रका विस्तृत रूप है, जो एक-साथ और एक गतिसे विभिन्न भाव-स्तरोंपर अभिव्यक्ति पा रहा है। नयी कविता आज जिस मोड़पर है उससे यह आशा की जाती है कि वह शीघ्र ही उन प्रतिमानों और आधारोंको विकसित करनेमें समर्थ होगी जिससे उसके बिखरे हुए स्वर और अनुभूतियाँ एकत्र होकर उसके मूल्यों और मानव-आस्थाओंको प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ होंगी। नयी कविताका विश्वास किसी मतवादकी अपेक्षा मानव-सन्दर्भमें उस व्यक्तिकी जागरूकतामें है, जो अभीतक उपेक्षित अथवा वञ्चित रहनेके कारण अपनी किसी भी अनुभूतिको व्यक्त करनेमें असमर्थ था।

नयी कविताकी मुख्य प्रवृत्तियाँ पाँच प्रकारोंमें विभाजित की जा सकती हैं। पहली प्रवृत्ति यथार्थवादी अहंवादकी है, जिसमें यथार्थकी स्वीकृतिके साथ-साथ कवि अपने अस्तित्वको उस यथार्थका अंश मानकर उसके प्रति जागरूक अभिव्यक्तियाँ देता है। दूसरी प्रवृत्ति व्यक्ति अभिव्यक्तिकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति है, जिसमें आत्मानुभूतिकी समस्त संवेदनाको बिना किसी आग्रहके रखनेकी चेष्टा की जाती है। तीसरी प्रवृत्ति आधुनिक यथार्थसे द्रवित व्यंग्यात्मक दृष्टिकी है, जिसमें वर्तमान कटुताओं और विषमताओंके प्रति कविकी व्यंग्यपूर्ण भावनाएं व्यक्त हुई हैं। चौथी प्रवृत्ति ऐसे कवियोंकी है, जिनमें रस और रोमान्सके साथ-साथ

आधुनिकता और समसामयिकताका प्रतिनिधित्व सम्पूर्ण रूपमें व्यक्त हुआ है। पाँचवीं प्रवृत्ति उस चित्रमयता और अनुशासित शिल्पकी भी है, जो आधुनिकताके सन्दर्भमें होते हुए भी समस्त यथार्थको केवल बिम्बात्मक रूपमें ग्रहण करता है। यथार्थवादी अहवादके कवियोंमें 'अज्ञेय', गजानन मुक्तिबोध, कुँवर नारायण, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना इत्यादि-की रचनाएँ आती हैं। व्यक्ति-अभिव्यक्तिकी प्रवृत्ति प्रभाकर माचवे और मदन वात्स्यायनमें है, रस रोमांच और यथार्थका सकेतरूप गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन और धर्मवीर भारतीमें है। आधुनिक यथार्थसे द्रवित व्यंग्यात्मक प्रवृत्तिके अन्तर्गत लक्ष्मीकान्त वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, भवानीप्रसाद मिश्र और विजयदेवनारायण साही-की रचनाएँ आती है। चित्रमयता और अनुशासित शिल्पके अन्तर्गत जगदीश गुप्त, केदारनाथ सिंह और शमशेरबहादुर सिंहकी रचनाएँ प्रस्तुत होती हैं।

आज जिस स्थितिमें नयी कविताकी नवीनतम प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही हैं, उनसे यह स्पष्ट लक्षित होता है कि आजका नया काव्य-बोध एवं उसके सन्दर्भमें विकसित नयी काव्य-शैली, दोनोंका ही आग्रह विशिष्टताको स्थापित करना चाहता है। वह सामान्य अनुभूतियोंकी वास्तविकता-से ओत-प्रोत होते हुए उस व्यापक मानवताके प्रति आस्थावान् है, जो समूह-मानव और समूह-चेतनाके आतंकमें आजतक केवल अपनी लघुताका अनुभव करती रही है, किन्तु उस लघुताको अर्थ देने और उसकी सत्ताको स्वीकार करनेमें जिसे भय और संकोच दोनों ही मालूम होता था। इसीलिए नयी कविताकी मूल अनुभूति भी बौद्धिक और विवेकमय है। (दे०—'प्रयोगवाद', 'प्रयोगयुग')

[सहायक ग्रन्थ—'नयी कविता' १, २, ३, नयी कविताके प्रतिमान लक्ष्मीकान्त वर्मा] —ल० का० व०

नरंगफल, नरंगफुल—पुत्रजन्मके अवसरपर छठीके दिन गाया जानेवाला एक कथा प्रधान गीत, जच्चाके विभिन्न गीतोंमेंसे एक; इसमें पति अपनी गर्भिणी स्त्रीकी 'दोहद-कामना'की पूर्तिके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करता है और सफल होता है; ब्रजलोकमें प्रचलित है। —र० श्र०

नर्मसचिव (नायक)—नायकके सहायकोंका विभाजन 'अग्निपुराण', 'काव्यालंकार' तथा 'शृंगारतिलक'से प्राय बराबर मिलता रहा है। नर्मका अर्थ है आनन्दोल्लास, रतिविलास तथा हास। नायकके ये सहायक शृंगार रसके प्रसंगमें आते हैं। इनको नायकके सहायक अथवा हीनपात्र भी कहा गया है। शारदातनयने कामसचिव और वाग्भट द्वितीयने अनुचर माना है तथा अनुचरके अन्तर्गत नर्म-सचिवको एक भेद स्वीकार किया है। हिन्दीमें सर्वप्रथम सुन्दर तथा तोषने इनका उल्लेख किया है। प्रधान आचार्योंमें देव और पद्माकरने इस विभाजनको प्रस्तुत किया है। **पीठमर्द**—प्रचलित विभाजनका प्रथम भेद, भानुदत्तके अनुसार—'कुपितस्त्रीप्रसादक' अर्थात् कुपित स्त्रीको प्रसन्न करनेवाला सखा पीठमर्द कहलाता है। (र० म० . पृ० १८५)। पद्माकरके अनुसार 'मोरै मान तियानको' पीठमर्द होना है। देव इसका चित्रण करते हैं—'सोर करै मन और अलीगन कोप कठोर हियें अजहूँ है। देखौ जू बूझि मने स्पने हूँ को ऐसो समौ सपने हूँ कहूँ है।' (भा० वि० नायक०)। **विट**—प्रचलित विभाजनका दूसरा भेद है। भानुदत्तके अनुसार—'कामतन्त्रकलाकोविद' अर्थात् कामशास्त्रकी कलाओंमें निपुण विट कहलाता है। (र० म० पृ० १८६)। देवके अनुसार—'वचन चातुरीकौं रचै जानै सकल कलानि' और पद्माकर-ने साथ ही उसे 'दुहुन मिलावैमैं चतुर' भी कहा है (जगद्वि० . २ ८)। पद्माकर सखाकी चतुराईको इस प्रकार व्यक्त करते हैं—'कोकिल-कोकिल कैसी कुहू-कुहू कोमल कोककी कारिका माखी। रुचि रही ब्रजवालाके सामुहे आइ रसालकी मंजरी राखी।' (वही : वही ९)। **विदूषक**—प्रचलित विभाजनका एक भेद। भानुदत्तने इसे 'अंगादिवैकृत्यैर्हास्यकारी' अर्थात् अंगादिको विकृत करके हास्यकी सृष्टि करनेवाला सखा कहा है (र० म० पृ० १८८)। देवने इसे 'अंग भेष भाषानुकारी करै अन्यथा भाइ' कहा है, पर पद्माकरके अनुसार—'स्वाँग ठानि ठानै जु कछु हाँसी वचन विनोद' करनेवाला विदूषक है। देवका विदूषक नायिकाकी हँसी करता है—'मेरो कह्यौ किन मानती मानिनि आपुहितें उतकों उनि-रौंगी। मौनके भीतर हौं भ्रम मोरी लौं बौरी लौं नैक में दौरी फिरौंगी'। **चेटक**—सर्वप्रथम भोजने अपने विभाजनमें इस भेदको जोड़ा है। भानुदत्तके अनुसार—'सन्धानचतुरश्चेटक', अर्थात् नायक नायिकाको मिलानेमें जो चतुर है वह चेटक कहलाता है (र० म० पृ० १८७)। पद्माकरने भी यही स्वीकार किया है 'दुहुन मिलावैमें चतुर'। उदा०—उनन ग्वालि तू किन चली ये उनये घनघोर। हौं लखि आयो तब घरै बैठत कारो चोर।' (पद्माकर जगद्वि० २ १०)। —र०

नवजागरण—१३वीं शतीके आते-आते यूरोपमें प्राचीन रोमीय साम्राज्यके ध्वंससे उत्पन्न अव्यवस्था और गड़बड़ी शान्त हो चुकी थी। आक्रमणकारी नूतन जातियाँ पुरानी लातीनी जातियों द्वारा सुसंस्कृत, स्वधर्म(ईसाई धर्म)में दीक्षित और आत्मसात् कर ली गयी थीं। उस समय यूरोपीय संस्कृतिमें एक नये जीवनका संचार हुआ था, जिसका वेग लगभग १६वीं शतीतक बना रहा। इस युगमें नये-नये अन्वेषण और आविष्कार हुए, धर्म और दर्शनका नया संस्करण किया गया, कला और विज्ञानकी नयी साधनाका समारम्भ हुआ, राजनीति और समाजव्यवस्थामें मौलिक क्रान्तिका सूत्रपात हुआ। पश्चिमी यूरोप—विशेषतया इटली, नेदरलैण्ड्स, स्पेन, फ्रान्स, जर्मनी और इंग्लैण्ड—एक नयी सांस्कृतिक चेतनासे अनुप्राणित हुआ जिसका प्रथम उन्मेष इटलीमें देखनेको मिलता है। इस प्रकार यूरोपका एक प्रकारसे नया जन्म हुआ और इसी कारण उस युगको 'नवजन्म' या 'पुनर्जन्म'के पर्यायभूत 'नवजागरण' या 'पुनर्जागरण'(रेनेसाँ)का अभिधान प्रदान किया गया है। 'नवजागरण'की कल्पनाके प्रचारका श्रेय इटलीके नवजागरणके प्रथम इतिहासकार बर्कहार्टको है।

'नवजागरण' शब्द यूरोपके मध्ययुग और आधुनिक युगके बीचकी संक्रान्तिकी अवस्थाका वाचक है। नवजागरण

युग क्लासिकी (यूनानी-रोमीय) विद्याके पुनरुद्धार और प्रत्यावर्तन(रिवाइवल)का युग था। किन्तु पुनरुद्धार अथवा प्रत्यावर्तनमात्रको 'नवजागरण' समझ लेना भूल होगी। यह प्रत्यावर्तन वस्तुत उस विशाल सर्जन-शक्तिका अभिव्यक्तिविशेषमात्र था, जो उस समय पश्चिमी यूरोपको नवनवोन्मेषशाली कर रही थी। नवजागरण-कालमें साम्राज्य-का अस्त और आधुनिक राष्ट्रीय राज्यकी परम्पराका उदय, सामन्तशाहीका ह्रास और पूँजीवाद तथा उसके परिणाम-स्वरूप एक नये अवकाशभोगी वर्गका उदय एव भाषाओंका विकास देखनेको मिलता है। उस समय विज्ञानके प्रथम चरणके भी दर्शन हुए थे। विज्ञानके उदयके फलस्वरूप कागज, कुतुबनुमा और मुद्रणकलाका आविष्कार हुआ। समुद्रपारीण महाद्वीपोंकी खोज तथा भूकेन्द्रक (बतलीमूसी) ज्योतिषका पतन और सूर्यकेन्द्रक (कोपरनिकी) ज्योतिषकी प्रतिष्ठा हुई। सुख-शान्ति और भौतिक समृद्धिका बाहुल्य हुआ तथा अशान्ति और कठोर जीवनका अन्त। इन तथ्यों-से स्पष्ट हो जाता है कि नवजागरणको क्लासिकी विद्याके प्रत्यावर्तनसे समीकृत नहीं किया जा सकता।

नवजागरण-युगमें पश्चिमी यूरोप मध्ययुगीनताके बन्धनोंसे मुक्त हो व्यक्तित्व-चेतना विकसित करने लग गया था। व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी प्रतिष्ठा हुई और चर्चका प्रभाव घटा। मनुष्यकी दृष्टि, जो मध्य युगमें सदा परलोक-पर टिकी रहती थी, अब इस लोकका सचरण करने लगी। परलोकके ऊपर इहलोककी प्रतिष्ठा हुई। ऐहिक मूल्योंका मान बढा। मनुष्य ईश्वरकी उपेक्षा कर अपनेको समझनेमें दत्तचित्त हुआ—वह अपनेमें लौट आया। धर्मकी अपेक्षा दर्शनका महत्त्व बढा। धर्मनिरपेक्ष मानववादका पथ प्रशस्त हुआ। एक प्रकारसे ईसाई जीवन-प्रणाली एव जीवन-दर्शनका ही विघटन हो गया और उसका स्थान यूनानी-रोमीय जीवन-प्रणाली तथा जीवन-दर्शनसे उत्प्राणित नयी चेतनाने ले लिया। सन्यासियोंके स्थानपर ऐसे बुद्धिजीवियोंका पदार्पण हुआ जो स्वभाव अथवा मनको वशमें करनेके बदले उसके विकास एव परिणतिमें आस्था रखते थे।

यूरोपकी इस सास्कृतिक महाक्रान्तिका एक बडा कारण है यूनानी-रोमीय जीवनदृष्टि एव जीवन-मानोंका प्रत्यावर्तन। यूनानी-रोमीय साहित्य, दर्शन और कलाने यूरोपकी मध्ययुगीन कूपमण्डूकता भग कर उसमें नये मूल्योंकी चाह उत्पन्न कर दी। यूनानी संस्कृतिकी उदारता, इहलोक-केन्द्रकता (सेक्यूलैरिटी) और धर्म, ईश्वर आदिके सम्बन्धमें जनाग्रह प्रसिद्ध है। पश्चिमी यूरोपपर इन प्रवृत्तियोंका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका।

भारतमें गुप्तयुगको हम नवजागरण-युग कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त अभी एक नवजागरणका श्रीगणेश प्राय अँग्रेजी सभ्यताके सम्पर्कके फलस्वरूप १८५७ ई० के आन्दोलनके बाद, अपेक्षाकृत छोटे-पैमानेपर, प्रारम्भ हुआ था। ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज, काग्रेस-आन्दोलन, थियोसाफिकल सोसायटी जैसे विविध आन्दोलन तथा विवेकानन्द, टैगोर, गाधी, राधाकृष्णन्, अरविन्द, मानवेन्द्रनाथ राय जैसे विचारक इस नवजागरण-कालके मुख्य वरदान हैं। —ह० ना०

नवधा भक्ति–नव प्रकारकी भक्ति। विष्णु-भक्तिके नव प्रकार माने जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें इनका वर्णन है–'श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्। अर्चन वदन दास्य सख्यमात्म-निवेदनम्।' (७ ५ २३)। वेदोंमें भी नवधा भक्तिके आशिक सकेत मिलते हैं। (ऋग्वेद १ १५६ २, १ १५४ १, १ १५५ ४४, १ १५४ ४)। बृहदारण्यकमें श्रवण, मनन, निदिध्यास और साक्षात्कारका उल्लेख है। प्रतीत होता है कि भक्तिके इन चार प्रकारोंका ही, जिन्हें आत्मा सम्बन्धी चार प्रतिपत्तियाँ कहा गया है, भागवतकारने नव प्रकारोंमें विस्तार कर दिया है। गीतामें भी नवधा भक्तिका उल्लेख है। (दे०–अ० ९ ३४, १४, अ० ४ ३४, अ० १३ - २५, अ० ११ ३९, ४०, ४१, अ० १८ ७३, अ० ३ ३०, अ० ४ २४)। वैष्णव भक्त कवियोंकी रचनाओंमें नवधा भक्ति-परक पद प्रचुर सख्यामें मिलते हैं। —वि० मो० श०

नवमानववाद–पश्चिमी जगत्में मध्यकालकी समाप्ति करनेमें जिन विचारधाराओंने विशेष योग दिया उनमेंसे **मानववाद** एक प्रमुख विचारधारा है। मध्यकालमें धार्मिक घटाटोपके कारण समस्त मूल्यों और प्रतिमानोंका स्रोत किसी-न किसी दिव्य सत्ताको माना जाता था और मनुष्यको आरम्भसे ही उस दिव्य प्रतिमानसे नीचे गिरा हुआ प्राणी माना जाता था। मानववादियोंने इस मान्यताका तिरस्कार किया। उन्होंने यह घोषित किया कि सम्पूर्णतम मनुष्य ही मनुष्यका प्रतिमान है। इसके लिए मानववादियोंने एक ओर मानवोपरि दिव्य सत्ताका निषेध किया और दूसरी ओर अमानवीय यान्त्रिकताका। मानववादी यह मानते हैं कि मनुष्यमें जो पाशविक है और जो दिव्य है उन दोनोंके मध्यमें कुछ ऐसा है जो पूर्णत मानवीय है और उसीको नैतिकता, कला, सौन्दर्यबोध तथा अन्य आचार-विचारका प्रतिमान मानना चाहिये। कालान्तरमें **मानववाद**के अन्तर्गत बहुतसे विचार और बहुत प्रकारकी प्रवृत्तियाँ समाहित होती गयीं जिनमेंसे बहुत-सी तो परस्पर विरोधी भी थीं और कभी-कभी मानवताकी ऐसी व्याख्याएँ उपस्थित करती थीं जो एक-दूसरेसे पृथक् थीं।

पिछली अर्ध शताब्दीमें कई ऐसी विचारधाराओंका उदय हुआ, जो नवमानववादको अपना आधारभूत सिद्धान्त मानती रही हैं। इन विचारधाराओंमें मानवताको एक स्थिर और सदा एक-सा रहनेवाला तत्त्व न मानकर चिरन्तन विकासशील तत्त्व माना जाता है और उसी सिद्धान्तके अनुसार वर्तमान मनुष्यको विकासकी एक कड़ी मानकर भावी मनुष्यको इस यात्राकी आगामी कडी माना जाता है और उसके विकासमें सहायक होनेवाले आचार-विचारको ही वर्तमान मनुष्यके लिए आदर्शके रूपमें स्वीकार किया जाता है। उदाहरणके लिए, अरविन्द यह मानते हैं कि जैसे निरन्तर विकासकी श्रृंखला हमें पशुतासे मनुष्यताकी स्थितिमें लायी है वैसे ही वह हमें इसके आगे भी ले जायगी और आगामी मनुष्यमें वे कतिपय आन्तरिक शक्तियोंका विकास अनुमानित करते हैं। अरविन्द द्वारा निर्दिष्ट नवमानववाद और रोमन कैथोलिकों द्वारा निर्दिष्ट नवमानव-वाद मूलत आस्तिक है और मनुष्यके अन्दर निहित

क्रमिक साक्षात्कारमें विश्वास करता है, किन्तु नास्तिक मार्क्सवाद भी नवमानववादकी प्रवृत्तियोंको स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि वर्गविभाजित होनेके कारण वर्तमान मनुष्यमें मनुष्यताके गुणोंका पूर्ण विकास नहीं हो पाया या हुआ भी है तो वह कुण्ठित या एकांगी हुआ है। आगामी वर्गहीन समाज-व्यवस्थामें मनुष्यके आन्तरिक गुणोंका सम्पूर्ण विकास होगा। मार्क्सवादी मनुष्यके समस्त आन्तरिक विकासका केन्द्र-विन्दु 'सामाजिकता' मानते हैं। यद्यपि अराजकतावादी विचारक भी नवमानववादकी कल्पना करते हुए व्यवस्थाने निरपेक्ष पूर्ण व्यक्तिको स्थापित करना चाहते हैं। इस प्रकार बहुधा परस्पर विरोधी वृत्तिके विचारक भी इसी एक वर्गमें आ जाते हैं। ध्यानसे देखनेपर ज्ञात होता है कि आगामी मानवकी कल्पना कर और उसके सम्मुख वर्तमान मानवको महत्त्वहीन वताकर या व्यक्ति-मानवको समाज-मानव या दिव्य-मानवके सम्मुख गौण सिद्ध कर वहुधा ये विचारक मानववादकी मूल धारणासे काफी दूर हट जाते हैं। —व० वी० भा०

नवयौवना—दे०—'अज्ञात-यौवना'।

नवलअनंगा—दे०—'नवोढा'।

नववधू—दे०—'अज्ञात-यौवना'।

नवोढा (नायिका)—इसका शब्दार्थ है नव विवाहिता स्त्री। सर्वप्रथम भानुदत्तने इसको मुग्धाके स्वतन्त्र भेदके रूपमें स्वीकार किया है और इनके अनुसरणपर हिन्दीमें मतिराम, दास तथा पद्माकर आदिने। वेनी प्रवीन, भानु तथा सीतल आदिने इसे ज्ञातयौवनाका भेद माना है। विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। भानुदत्तने इसे 'लज्जाभयपराधीनरति' कहा है और मतिराम भी स्वीकार करते हैं कि 'भयलाजजुत रति न चहै'। पद्माकर भी 'डर' तथा 'लाज'को रति न चाहनेका कारण मानते हैं, अतएव इस नवविवाहिता लज्जाशीला तथा भयाकुलाको ज्ञातयौवनाके अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। रहीमने नवोढाके उल्लास और उसकी आकाक्षामें लज्जा तथा आशका व्यक्त की है—'पहिरति चूनि चुनरिया भूषन भाव। नैनन देति कजरवा फूलनि चाव।' (वरवै० . ५)। मतिरामने नवोढाकी लज्जाका सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है—'वात कही न गयी सु रही गहि हाथ दुहू सों सहेलीको अचल।' (रस-राज . २५)। पद्माकरने इस चित्रमें भय व्यक्त किया है—'चाकि चकी चमकी चितमैं है रही चचल अंचल वारी।' (जगद्वि० भा० १ ३९)। रीतिकालीन काव्यमें इस नायिकाके माध्यमसे नवविवाहिता स्त्रीके लज्जा, भय तथा आतुरता आदि मनोभावोंको अकित किया गया है।

केशव और देवकी **नवलअनंगा** एक सीमातक नवोढाके समान है, पर इस नायिकामें भय तथा लज्जाकी इतनी कोमल भावस्थिति नहीं है। केशवके अनुसार—'खेलै वोलै वाल विधि हँसे त्रमै सविलास।' (र० प्रि० १ . २२)। इसमें नायिकाकी अपेक्षाकृत अधिक विकसित स्थिति है—'नैकु जितै चित्तवै चित दै तित मैन मनो दिन द्वैकको ठाढ्यो।' (भा० वि० . नायिका०)। देवके उदाहरणमें केशवसे अधिक नवोढाकी लज्जाशीलता है, पर फिर भी भयाकुलताके स्थानपर मुग्धाका सामान्य भाव व्यक्त हुआ है। —सु०

नव्य आदर्शवाद—नव्य आदर्शवाद नामसे प्रचलित आन्दोलन आधुनिक आदर्शवादी दर्शनमें नवीनतम विकास है और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक माना जाता है। यह नव्य आदर्शवाद इसलिए कहलाता है कि यह जिस आदर्शवादका प्रतिपादन करता है वह हीगेल और उसके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित आदर्शवादसे भिन्न एक नयी विचारधारा है। नव्य हीगेलवाद विचारको चरम तत्त्वकी परम सम्पूर्णता मानता है और व्यक्तिगत अनुभवको उसकी तत्त्वरचनामें उस विचारात्मक सत्तामें केवल भाग लेता हुआ मानता है जो उसके भीतर व्याप्त होकर काम करती है और उसे (व्यक्तिगत अनुभवको) सार्थक और बुद्धिग्राह्य वनाती है। नव्य आदर्शवादका नव्य हीगेलवादसे यहींपर मतभेद है। नव्य आदर्शवाद व्यक्तिगत अनुभवको क्रियाशील, तत्त्वके निर्माता और ज्ञाता विषयी(subject)के एक स्वतन्त्र व्यापारके रूपमें महत्त्व देता है, केवल विचारकी प्रतिकृतिरूपमें नहीं। उसका मुख्य तर्क यह है कि हीगेल और उसके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित चरम तत्त्व स्थिर होनेके कारण परिवर्तन और इतिहासका स्पष्टीकरण करनेमें असमर्थ है और विश्वका चरम सघटन एक ऐसी सम्पूर्णता है, जिसमें अब कोई परिवर्तन या विकास सम्भव नहीं, वह जो है उससे अधिक नहीं हो सकता। नव्य आदर्शवाद इसका विरोधी है, उसके अनुसार वैयक्तिक विचार रचनात्मक है, निष्क्रिय विश्व-विचारका प्रतिविम्बमात्र नहीं। विश्वके विभिन्न तत्त्वोंका विकास जो कुछ प्रस्तुत स्थायी, अपरिवर्तनशील है उसीका व्यक्तीकरण अथवा प्रस्फुटन (unfoldment) नहीं माना जा सकता। दर्शन, परिवर्तनशील चरम तत्त्वके दृष्टिकोणसे, वैयक्तिक अनुभव और चरम तत्त्वके पारस्परिक सम्बन्धोंका इतिहास है। —प्री० अ०

नांदी—यह पूर्वरग(दे०)का एक प्रकार है। इससे देवता, ब्राह्मण तथा राजादिकोंकी आशीर्वचनमें प्रयुक्त स्तुति की जाती है, अतएव इसे नान्दी कहते हैं। नान्दीका अर्थ है आनन्दित करनेवाला, इससे लोग आनन्दित होते हैं। इसमें शख, चक्र, चन्द्र, चक्रवाक और कुमुदादिक मागल्य वस्तुओंका वर्णन आवश्यक है। नान्दी अष्टपदा अथवा द्वादशपदा होती है। 'अनर्घराघव' नाटकमें 'निष्प्रत्यूह' अष्टपदा नान्दी है। किन्तु 'साहित्यदर्पण'की 'विमला' टीकामें वतलाया गया है कि किसीके मतानुसार इसे नान्दी कह दिया गया है, वस्तुत यह 'नान्दी' नहीं है। यह **पूर्वरंग**का **रंगद्वार** नामक अग है, इसमें सर्वप्रथम वाचिक या आगिक अभिनयकी अवतारणा की जाती है।

सच पूछिये तो रगद्वारके पूर्व ही जो मंगलार्थक सामूहिक स्तुति की जाती है, वह नान्दी कही जाती है। इसे **नान्दीपाठ** या **मंगलपाठ**के नामसे भी पुकारा जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके प्राय सभी नाटकोंमें नान्दीपाठकी योजना है। उदाहरणके लिए, 'प्रेम जोगिनी'का 'नान्दी-पाठ' उद्धृत किया जाता है—'भरित नेह नव नीर नित, वरसत सुरस अथोर। जयति अपूरव धन कोऊ लखि नाचत मन मोर।' (भा० ग्र०, ना० प्र० स०, प्र० स०, पृ० ३११)। —व० सिं०

नांदीपाठ–दे०–'नादी'।

नागरी–दे०–'देवनागरी'।

नागिनी–दे०–'हठयोग'।

नाज़ीवाद–यों तो फासिज्मके अनेक भेद-प्रभेद हैं, किन्तु उनमें नाजीवाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'नाजी' शब्द हिटलरके दल राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन श्रमिक दलके मूल जर्मन नामका संक्षेप है। नाजीवाद फासिज्मके समान व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, जनतन्त्र, वैयक्तिक अधिकार, अन्तरराष्ट्रीय सहयोग और शान्ति आदिका प्रबल विरोधी है और व्यक्ति-व्यक्ति और जाति-जातिकी असमानता, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'की नीति और अधिनायकवादका प्रबल समर्थक। नाजीवाद और फासिज्ममें कोई मौलिक भेद नहीं। —ह० ना०

नाटक—पाणिनि नाट्यकी उत्पत्ति 'नट्' धातुसे मानते हैं (पाणिनि ४।३।१२९) और रामचन्द्र गुणचन्द्रने 'नाट्यदर्पण'में इसका उद्भव 'नाट्' धातुसे माना है (ना० द० • गायकवाड ओरिएटल सीरीज पृ० २८)। वेबर और मोनियर विलियम्सका मत है कि 'नट' धातु 'नृत्' धातुका प्राकृत रूप है। माकडका मत है कि 'नृत्' धातु बहुत प्राचीन है और 'नट्'का प्रचलन अपेक्षाकृत कम पुराना है। किसी-किसीका मत है कि 'नट्' और 'नृत्' दोनों धातुएँ ऋग्वेद-कालसे प्रचलित है। दोनोंका प्रयोग स्वतन्त्र एव निरपेक्ष रूपसे होता आया है। सायणने अपने भाष्यमें 'नट्'का अर्थ 'व्याप्नोति' किया है (४।१०५।२३) और 'नृत्'का गात्र-विक्षेपण (१०।८।३)। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदोत्तरकालमें दोनों धातुएँ समानार्थक होती गयीं, किन्तु कालान्तरमें 'नट्' धातुका अर्थ अधिक व्यापक वन गया और 'नृत्'के अर्थके साथ-साथ अभिनयका अर्थ इससे सिमटता चला गया। 'सिद्धान्तकौमुदी'के तिडन्त प्रकरणमें नाट्यकी व्युत्पति इस प्रकार है–'नट् नृतौ। इत्थमेवपूर्वमपि पठितम्। तत्रागविक्षेप। पूर्वपठितस्य नाट्यमर्थ। यत्कारिष नटव्यपदेश।' इससे यह निष्कर्ष निकला कि 'नट्' धातुका अर्थ गात्रविक्षेपण एव अभिनय दोनों ही था। किन्तु कालान्तरमें 'नृत्' धातुका प्रयोग गात्रविक्षेपणके अर्थमें होने लगा और 'नट'का प्रयोग अभिनयके अर्थमें। दशरूपककारने नृत्त, नृत्य और नाट्यका अन्तर स्पष्ट किया है। नृत्त ताल-लयके आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित होता है, किन्तु नाट्य रसाश्रित होता है। 'अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्, नृत्त ताललयाश्रयम्। अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्, दशधैव रसाश्रयम्।' (द० रू० प्र० प्र० ९, ७)। इस प्रकार गम्भीरतासे विचार करनेपर नृत्त और नृत्य नाट्यकी ही दो प्रथम भूमिकाएँ प्रतीत होती हे।

रूपक और नाटक दोनों शब्द पर्यायवाची होते हुए भी सूक्ष्म अन्तरवाले प्रतीत होते हैं। नाट्यमें अवस्थाओंकी अनुकृतिको प्रधानता प्रदान की जाती है, किन्तु रूपकमें अवस्थाओंकी अनुकृतिके साथ-साथ रूपका आरोप भी आवश्यक है अर्थात् अवस्थाकी अनुकृति और रूपानुकृतिका मिश्रित रूप रूपक कहलानेका अधिकारी बनता है।

सस्कृत साहित्यमें नाटकको भी प्रधानत काव्य ही माना गया है। दोनोंका मुख्य उद्देश्य आनन्द-प्राप्ति बताया जाता है। दोनोंका गौण उद्देश्य उपदेश एव व्युत्पत्ति भी विधि-निषेधके रूपमें समान रीतिसे पाया जाता है, केवल उद्देश्यप्राप्तिके साधनमें भेद है—'सामान्येन उभयमपि च तत् शास्त्रवद् विधिनिषेधविषयव्युत्पत्तिफलम्। केवल व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयम् उपायमात्रभेद, न फलभेद (व्य० वि० • अ० १ पृ० २०)।

महिम भट्टका मत है कि अनुभाव-विभावादिके वर्णनसे जब आनन्दोपलब्धि होती है तो रचना काव्य कहलाती है और जब गीतादिसे रजित, नटों द्वारा उसका प्रयोग दिखाया जाता है तो वह नाटक बन जाता है–'अनुभावविभावाना वर्णना काव्यमुच्यते। तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्य गीतादिरजितम्।' (व्य० वि० अ० १ पृ० २०)।

सागरनन्दी नामक आचार्यने त्रैलोक्यके स्थानपर केवल इसी लोकके सुख-दु खपर बल दिया है। उनका कथन है कि इसी लोकके सुख दु खसे उत्पन्न अवस्थाके अभिनयका नाम नाट्य है–'अवस्था या तु लोकस्य सुख-दु खसमुद्भवा। तस्यास्त्वभिनय प्राज्ञै नाट्यमित्यभिधीयते।' सागरनन्दीकी यह व्याख्या भरतमुनिके एक दूसरे श्लोकपर आधारित प्रतीत होती है। भरतमुनि कहते हैं —'यो य स्वभावो लोकस्य सुखदु खसमन्वित। सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।' भरतमुनिके मतकी विस्तृत व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं —'प्रत्यक्षकल्पानुव्यवसायविषयो लोकप्रसिद्ध सत्यासत्यादिविलक्षणत्वात् यच्छब्दवाच्यो लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्व्यमाणोऽर्थोनाट्यम्।' अर्थात् नाटक वह दृश्य काव्य है जो प्रत्यक्ष, कल्पना एव अध्यवसायका विषय बन सत्य एव असत्यसे समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारणको आनन्दोपलब्धि कराता है।

भरतमुनि नाटककी कथावस्तुके विषयमें अपना मत स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि देवता, मनुष्य, राजा एव महात्माओंके पूर्ववृत्तकी अनुकृतिको नाटक कहते हैं— 'देवताना मनुष्याणा राज्ञा लोकमहात्मनाम्। पूर्ववृत्तानुचरित नाटक नाम तद्भवेत्॥' आचार्योंने इस लक्षणपर यह शका उठायी कि प्रख्यात राजा अथवा ऋषिका वृत्त लेकर ही नाटककी रचना होती है, तो 'प्रबोधचन्द्रोदय' आदि उन नाटकोंको, जिनमें गुण-दोष, श्रद्धा-मोह, विरक्ति, काम-धर्म, विद्या-अविद्या, चैतन्य आदि पदार्थ पात्र बनकर आते हैं, नाटककी सज्ञा किस प्रकार दी जा सकती है?

आचार्योंने इस शंकाका समाधान करते हुए नाटकोंका एक और विभाग गौण नाटक नामसे किया है। उन्होंने अश्वघोषकृत 'राजपुत्री', जिसमें बौद्ध धर्मके सिद्धान्तोंको पात्र बनाकर बुद्धका गुणगान किया गया है तथा जयन्तकृत 'आगमडम्बर'को जिसमें बौद्धक्षपणक, कापालिक, नीलाम्बर, चार्वाक, मीमासक एव तार्किक आचार्य पात्ररूपमें उपस्थित होकर अपने-अपने मत एव आचारकी प्रशसा करते हैं, गौण नाटककी कोटिमें रखा है। इसी प्रकार 'मोहपराजय', 'सकल्पसूर्योदय', 'पूर्णपुरुषार्थचन्द्रोदय', 'चैतन्यचन्द्रोदय' आदिको भी गौण नाटक माना है।

सुबन्धुने नाटकका पाँच प्रकारसे लक्षण किया है और प्रत्येक लक्षणके साथ-साथ नाटककी जातिका नाम भी दे

दिया है। शारदातनयने सुबन्धुका मत देते हुए लिखा है कि उन्होंने नाटककी पाँच जातियाँ—पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित एवं समग्र निश्चित की है। उन्होंने यह भी बताया कि प्रत्येक जातिमें उपक्षेप, परिकर, परिन्यास एवं विलोभन नामक अंगोंका होना समान रूपसे पाया जाता है—'सुबन्धुर्नाटकस्यापि लक्षणं प्राह पंचधा। पूर्णं चैव प्रशान्तं च भास्वरं ललितं तथा ॥ समग्रमिति विज्ञेया नाटके पंच जातयः। उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो, विलोभनम्। एतान्यङ्गानि कार्याणि सर्वनाटकजातिषु ॥' भरतमुनिके कथनानुसार पाँच सन्धियों, चार वृत्तियों, चौंसठ अंगों, छत्तीस लक्षणों सहित नाट्यालंकारोंसे सुशोभित, अत्यन्त सरस, उत्कृष्ट भावोंसे समन्वित, चमत्कारपूर्ण रचनासे युक्त, महापुरुषोंके सत्कारसे सम्पन्न, अनिन्दित आचरण-सन्निविष्ट, सन्धियोंमें सुश्लिष्ट, प्रयोगमें रमणीय, सुखका आश्रय, मृदुल शब्दोंसे समन्वित रचना करनी चाहिये। ऐसी ही रचना नाटक नामसे अभिहित होती है—'पंचसन्धिचतुर्वृत्तिचतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम्। षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतमलंकारोपशोभितम् ॥ महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम्। महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनप्रियम् ॥ सुश्लिष्टसन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम्। मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ॥'

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्रने नाटकका लक्षण बताते हुए लिखा है कि जो प्रसिद्ध आद्य (पौराणिक एवं ऐतिहासिक) राज-चरितका ऐसा वर्णन हो जो धर्म, काम एवं अर्थका फलदाता हो और जो अंक, आय (पंच अर्थप्रकृति), दशा(पंचावस्था)से समन्वित हो वह नाटक कहलाता है—'ख्याताद्यराजचरितं धर्मकामार्थसत्फलम्। साङ्कोपायदशासन्धिदिव्याङ्गं तत्र नाटकम्।' (ना० द० पृ० १, श्लोक ५)।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ नाटकका लक्षण करते हुए लिखते हैं—नाटक वह रचना है जिसकी कथावस्तु रामायणादि एवं इतिहासमें प्रसिद्ध हो, जिसमें विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकारके ऐश्वर्योंका वर्णन हो, जहाँ सुख-दुःखकी उत्पत्ति दिखायी जा सके और अनेक रसोंका समावेश हो सके, जिसमें ५से १०तक अंक हों, जिसका नायक पुराणादिमें प्रसिद्ध वंशमें उत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष हो, जहाँ शृंगार अथवा वीर रस प्रधान हो तथा अन्य रस अंगभूत हों, जिसकी निर्वहण सन्धि अत्यन्त अद्भुत हो, जिसमें चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्यके साधनमें व्याप्त हों, गौकी पूँछके अग्रभागके समान जिसकी रचना हो (सा० द०, षष्ठ परिच्छेद, ७११)। जब नाटकमें दससे अधिक अंक हो जाते हैं तो वह नाटक नहीं रहता, महानाटक बन जाता है। 'हनुमन्नाटक' इसी कोटिमें आता है।

नाटक साहित्यकी वह विधा है जिसकी सफलताका परीक्षण **रंगमंच**(दे०)पर होता है और रंगमंच युगविशेषकी जनरुचि और तत्कालीन आर्थिक व्यवस्थाके आधारपर निर्मित होता है। रंगमंचके व्यवस्थापकों एवं कलाकारोंको नाट्यरचनाके साहित्यिक एवं कलागत मूल्यके साथ-साथ रंगमंचके सस्थापकोंकी रुचिका भी ध्यान रखना पड़ता है, अतः नाटकका स्वरूप प्रत्येक युगमें परिवर्तित होता रहता है। नाटकके स्वरूपके बदल जानेसे उसका लक्षण भी बदलना पड़ता है। हमारे देशमें संस्कृतके साहित्यिक नाटकोंका अभिनय राजप्रासादोंतक ही प्रायः सीमित था। इस कारण जनरुचिसे दूर होनेके कारण उसमें अधिक परिवर्तन नहीं आया और संस्कृत नाटकका जो लक्षण भरतमुनिके समयमें प्रचलित था वही प्रायः आचार्य विश्वनाथतक प्राप्त होता रहा। नृत्य-रूपकोंकी धारा स्वतंत्र रूपसे अवश्य विकसित होती हुई विश्वनाथतक कतिपय नवीन उपरूपकोंका स्वरूप धारण कर गयी और ये नयी मान्यताएँ आचार्योंका प्रमाणपत्र पाकर शास्त्रीय बन गयीं।

संस्कृतमें **रूपक** दो प्रकारसे विकसित हुए। एक प्रकार तो मानवविकासकी पूर्णताको आदर्श मानकर चला, दूसरा समाजके यथार्थ रूपको दर्पणके समान प्रतिबिम्बित करता हुआ विकसित हुआ। जिसमें मानवताका उदात्त रूप सम्मुख आया वह नाटक हुआ और जिसमें समाजका वास्तविक रूप झलकने लगा वह **प्रकरण** (दे०) कहलाया। नाटकमें जहाँ किसी महान् राजाके उदात्त रूपकी कल्पना की जाती है वहाँ प्रकरणमें सामान्य जनताकी वास्तविक स्थिति दिखायी जाती है। प्रथमका उदाहरण कालिदासकृत 'शकुन्तला' है और दूसरेका शूद्रक-विरचित 'मृच्छकटिक'।

आदर्शोन्मुख और यथार्थोन्मुख नाटककी ये दो पद्धतियाँ हमारे देशमें सदासे चली आ रही हैं। भारतेन्दुने दोनों शैलियोंका अनुसरण किया। यदि नाटकशैलीमें 'हरिश्चन्द्र'-की रचना हुई तो प्रकरणशैलीमें 'पाखण्ड-विडम्बन'की।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने नाटकका लक्षण देते हुए लिखा है—'नाटक शब्दका अर्थ है नट लोगोंकी क्रिया। नट कहते हैं विद्याके प्रभावसे अपने एवं किसी वस्तुके स्वरूपके फेर या स्वयं दृष्टिरोचनके अर्थ फिरना। दृश्यकाव्यकी संज्ञा रूपक है। रूपकोंमें नाटक ही सबसे मुख्य है, इससे रूपकमात्रको नाटक कहते हैं। इस विद्याका नाम कुशीलव-शास्त्र भी है। ब्रह्मा, शिव, भरत, नारद, हनुमान्, व्यास, वाल्मीकि, लवकुश, श्रीकृष्ण, अर्जुन, पार्वती, सरस्वती और तुम्बुरु आदि इसके आचार्य हैं। इनमें भरतमुनि इस शास्त्रके मुख्य प्रवर्तक हैं।' (भा० ना०, भा० २ प० नि० पृ० ४२१-४२२)। भारतेन्दु नाटककी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि 'काव्यके सर्वगुणसंयुक्त खेलको नाटक कहते हैं। इसका नायक कोई महाराज (जैसे दुष्यन्त) या ईश्वरांश (जैसे श्रीराम) या प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसे श्रीकृष्ण) होना चाहिये। रस शृंगार एवं वीर। अंक पाँचके ऊपर और दसके भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यन्त उज्ज्वल होना चाहिये।' (भा० ना०, भा० २ प० नि० पृ० ४२३)।

आधुनिक कालमें नाटकके लक्षण जनरुचिके कारण बदलने पड़े हैं। बाबू गुलाबराय कहते हैं,'नाटकमें जीवनकी अनुकृतिको शब्दगत संकेतोंमें संकुचित करके उसको सजीव पात्रों द्वारा एक चलते-फिरते सप्राणरूपमें अंकित किया जाता है। नाटक जीवनकी सांकेतिक अनुकृति नहीं है वरन् सजीव प्रतिलिपि है। नाटकमें फैले हुए जीवन-व्यापारको

ऐसी व्यवस्थाके साथ रखते हैं कि अधिकसे अधिक प्रभाव उत्पन्न हो सके। —द० ओ०

यूनान तथा अन्य देशोंकी ही भाँति भारतमें भी नाटकका उद्भव धार्मिक है। नाट्यशास्त्रमें वर्णित भारतीय धारणाके अनुसार एक बार देवताओंने ब्रह्मासे एक ऐसे मनोरजन अथवा क्रीडाकी रचना करनेके लिए प्रार्थना की, जिसे सभी जातियोंके लोग देख और सुन सकें। अत ब्रह्माने ऋग्वेदसे पाठ्य (आख्यान एव सवाद), सामवेदसे गीत, यजुर्वेदसे अभिनय और अथर्ववेदसे रस लेकर एक पाँचवें वेद—नाट्यवेदकी अवतारणा की, जिसका विषय इतिहास (पौराणिक आख्यान) था। उन्होंने एक रगशालाका निर्माण कराया और भरत मुनिसे, जिन्हें नाट्यशास्त्रका प्रणेता माना जाता है, उसे रगशालामें नाट्यके सिद्धान्तोंको कार्यान्वित करके प्रदर्शित करनेके लिए कहा। इस प्रकार जो पहला नाटक खेला गया उसमें देवताओं ओर दानवोंका युद्ध प्रदर्शित था। दानवोंने इस बातपर बहुत रोष प्रकट किया कि उसमें उनकी पराजय दिखायी गयी। ब्रह्माने उन्हें शान्त करनेके लिए नाटककी व्याख्या की, जिसे भरत मुनिने उन्हें समझाया। उस व्याख्याके अनुसार नाटकमें पक्षपातके लिए स्थान नहीं, वरन् उसमें तो विश्वकी समस्त परिस्थितियों एवं घटनाओंका अनुकरण रहता है, नाट्य केवल देवताओं अथवा दानवोंका ही अनुभावन नहीं, वह तो त्रैलोक्यका भावानुकीर्तन—भावोंकी अभिव्यक्ति है, 'नैकान्ततोऽत्र भवता देवाना चानुभावनम्। त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्।' (नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय, १०७), उसका प्रणयन सबके लाभके लिए होता है तथा वह समस्त चरित्रों एव आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर लिखा जाता है, उसमें सभी बातोंका वर्णन रहता है तथा वैदिक एव अन्य गीतोंका समावेश रहता है।

ऋग्वेदमें असख्य रूप धारण करनेवाला इन्द्र अपने नायकोचित कार्योंको नृत्यमें प्रस्तुत करता हुआ बताया गया है। पुराणोंमें देवताओंके कार्योंको **लीला**की सज्ञा दी गयी है। अथर्ववेदमें संगीत एवं नृत्यको दैवी वरदान बताया गया है। बलिकी प्रथा भी प्रारम्भमें देवताओं द्वारा कृत कार्योंका परिणाम थी। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें पुरोहितोंको नृत्य तथा अभिनय करते हुए बताया गया है। इन्द्र द्वारा नृत्योंमें कृत अपने नायकोचित कार्योंके प्रस्तुतीकरणकी तुलना रगमचपर नायकके अभिनयसे की जा सकती है। दैवी कार्योंको लीला समझने तथा रंगशालाकी सम्पूर्ण प्रतीक-योजनाओं द्वारा यह सिद्ध होता है कि भारतीय नाटकोंका उद्भव धार्मिक एवं पावन है। गायक, कवि तथा अभिनेताओंकी प्रतिक्रियाओंको केवल मनोरंजनका साधन न समझकर महत्त्वपूर्ण कृत्य समझा जाता है।

स्वय भगवान्को आदि अभिनेता माना गया है जिसकी स्वत भूत भाव-मुद्राएँ संसारके कार्य-कलापके रूपमें, वाणी ससारके भाषा-समूहके रूपमें, आभरण चन्द्र एव तारकगणोंके रूपमें गोचर है। नाटकमें अभिनेता उसी प्रकार सज्जागृहसे रगमचपर प्रवेश करता है जैसे कि दैव ससारमें अवतार लेता है तथा अज्ञातसे ज्ञात बन जाता है, अत नाटकके नायकका रंगमंचपर प्रवेश **अवतारणा** कहलाता है जो यह सूचित करता है कि वह सैद्धान्तिक रूपमे एक अवतार है। रगमचपर उसके इस व्यक्तित्वसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि उसे स्वय उन भावों एव सवेगोंसे निर्विकार रहना है जिनका कि वह अभिनय करता है। शकराचार्यका यह प्रश्न इसी बातकी पुष्टि करता है—क्या वह अभिनेत्री जो पत्नीका अभिनय करती है, वास्तवमें पतिका अभिनय करनेवाले पात्रकी चाहना करती है? कुशल अभिनेता अपने अंगोंका सचालन उसी प्रकार करता है जैसे पुत्तलिका-सचालक अपनी पुत्तलिकाओंको इच्छानुसार नचाकर इच्छित भावोंकी अभिव्यक्ति करता है, परन्तु स्वय उन भावोंसे आक्रान्त नहीं होता। प्रेक्षक वास्तव पात्रों द्वारा चित्रित प्रेम या भय आदि सवेगोंकी वास्तविक अनुभूति नहीं करता, वरन् वह स्वय निर्विकार रहकर उस अवर्ण्य रसकी अनुभूति करता है जिसके द्वारा उसे बाह्य नहीं वरन् आन्तरिक आनन्द प्राप्त होता है। यह रसानुभूति प्रेक्षककी अपनी रस-ग्राह्यता अर्थात् रसको ग्रहण करनेकी शक्तिपर निर्भर है, नाटक तो रसानुभूतिका निमित्तमात्र है। रसानुभूति तथा सवेग एव प्रेक्षकपर होनेवाली प्रतिक्रिया—इन दोनोंके बीचका अन्तर समझ लेना आवश्यक है। रसानुभूतिमें सवेगका निहित होना सम्भव है, किन्तु वह स्वय सवेग एव प्रतिक्रिया नहीं है। इससे हमें इस बातका सकेत मिलता है कि नाटकका चरम उद्देश्य प्रेक्षकको उसके स्वसे ऊपर उठाकर परब्रह्मके स्तरतक ले जाना है, जो कि अपनी ही रचनाका अवलोकन कर उससे रसानुभूति प्राप्त करता है। इस प्रकार नाटकका वास्तविक लक्ष्य उपदेश देना या प्रेरणा देना न होकर प्रेक्षकको आनन्दित करना है। उसका प्रयोजन वही है जो वैदिक यज्ञोंका रहा है, जिनमें यज्ञका कर्ता अल्पकालके लिए स्वयं देवता बन जाता है तथा यज्ञ समाप्त होनेके पश्चात् वह पुन• अपना मानवीय व्यक्तित्व प्राप्त करता है।

'अग्निपुराण'में नाटककी परिभाषा एव उसके लक्षणादिका निरूपण है। उसमें एक प्रकारके काव्यका नाम **प्रकीर्ण** कहा गया है। इस प्रकीर्णके दो भेद हैं—श्रव्य और अभिनेय। सामने लाने अर्थात् दृश्य सम्मुख उपस्थित करनेको अभिनय कहते हैं। यह अभिनेय प्रकीर्ण ही नाटक है।

नाटकीय अवस्थाओंकी अवस्थानुकृति अथवा **अभिनय** (दे०) चार प्रकारका होता है—१ **आंगिक**, २ **वाचिक**, ३ **आहार्य** तथा ४ **सात्त्विक**। **आंगिक** अभिनयके अन्तर्गत अनुकरणात्मक नृत्यकी विभिन्न भाव-भगिमा एव मुद्रायुक्त भाषा होती है, जिसके द्वारा गीति-नाट्यका अथवा तत्सदृश गीतात्मक रचनाका पदार्थ व्यजित होता है। नेत्र, मुख आदि द्वारा सम्पादित समस्त अभिनय इसके अन्तर्गत आते हैं, जैसे, चलना, उठना, दौड़ना, हँसना इत्यादि। आंगिक अभिनयका सबसे अधिक बोध हमें कथाकली नृत्यमें होता है, जिसमें केवल अनुकृत्यात्मक चेष्टाएँ होती हैं और स्वरका अवाक् चलचित्रोंकी भाँति लेशमात्र भी व्यवहार नहीं होता। वीभत्स, करुण, रौद्र प्रभृति रसयुक्त वाक्य द्वारा मानसिक भावोंके अनुकरणको **वाचिक** अभिनय कहते हैं। वस्त्राभरण आदि रचना द्वारा प्रकृत मूर्तिके अनु-

करणको **आहार्य** कहते है, जैसे लव-कुशके अभिनयके लिए अभिनेताकी अवस्था वारह वर्षकी तथा वस्त्र ऋषि-बालकों जैसे होने चाहिये—यह अनुकरण आहार्य है। **सात्त्विक** भावोंको प्रदर्शित करनेवाले अभिनयको सात्त्विक कहते हैं, जैसे, मुख, हस्त आदिकी विशेष भंगी द्वारा रोमाच, स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भावोंका चित्रण।

अभिनय एव अनुकरण नृत्यशैली एव उद्देश्य, दोनों ही दृष्टियोंसे परस्पर मिलते हैं, दोनोंमें ही मुद्राओं एव भंगिमाओं द्वारा अर्थ एव भावकी अभिव्यक्ति की जाती है तथा दोनोंका ही उद्देश्य प्रेक्षक-समूहको रसानुभूति कराना होता है। नाटकके उपकरणोंमें नृत्य और नृत्त भी गिने जाते हैं। इन तीनोंके वीचका अन्तर प्रारम्भमें ही दिया गया है। अत हम देखते हैं कि नृत्यमें आंगिक अभिनयकी प्रधानता रहती है। किसी भावको प्रदर्शित करनेके लिए व्यक्ति-विशेषके अनुकरणको नृत्य कहते हैं। जब अभिनय एव नृत्यका गीत एव कथनसे संयोग होता है, तब **रूपक**का सम्पूर्ण रूप उपस्थित हो जाता है। जिस प्रकार रसोंका सचार करनेमें अनुभाव-विभाव आदि सहायक होते हैं उसी प्रकार नाटकीय रसकी परिपुष्टिमें नृत्य और नृत्त आदि सहायकका काम देते हैं। इन्हीं वातोंको ध्यानमें रखकर रूपकोंके दो भेद किये गये हैं—१ **रूपक**, २ **उपरूपक**। रूपकोंमें रसकी प्रधानता रहती है और उपरूपकोंमें नृत्य, नृत्त आदिकी। नृत्य मार्ग (सम्पूर्ण देशोंमें एक समान) और नृत्त देशी (भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारका) कहलाता है।

नृत्य दो प्रकारका होता है, ताण्डव और लास्य। लक्षण-ग्रन्थोंके अनुसार ताण्डवका आविष्कार शिवने और लास्यका आविष्कार पार्वतीने किया है। ताण्डवका प्रधान गुण उद्धतता तथा लास्यका मधुरता है। लास्यके दस भेद हैं, जिनमेंसे अधिकाशका सम्बन्ध नृत्यमे न होकर गायनसे है—१ गेय पद, २. स्थित पाठ्य, ३ आसीन पाठ्य, ४ पुष्पगण्डिका, ५ प्रच्छेदक, ६. त्रिगूढ, ७ सैन्धव, ८ द्विगूढ, ९ उत्तमोत्तमक तथा १० उक्त-प्रयुक्त। नृत्तके इन भेदोंका रूपकोंसे प्राय-विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। केवल शोभाके लिए नाटक आदिके आरम्भमें (कभी-कभी नाटकके मध्यमें भी) इनका प्रयोग होता था।

रूपक(दे०)के दस भेद होते हैं। रूपकोंके अतिरिक्त नाट्याचार्योंने १८ **उपरूपक** (दे०) माने हैं। रूपकके भेदोंमेंसे **नाटक** सबसे अधिक सर्वांगपूर्ण है। यह वर्गीकरण कथावस्तु, नायक तथा मुख्य रस—इन तीन दृष्टियोंसे किया गया है, जो कि नाटकके मुख्य तत्त्व माने जाते हैं। अधिकाश महान् नाटकोंके कथानक महाकाव्योंसे तथा इस प्रकार अप्रत्यक्ष रीतिसे पौराणिक कथाओंसे लिये गये हैं।

वस्तु अथवा दृश्य काव्यके कथानकके दो भेद किये गये हैं—आधिकारिक और प्रासगिक। मूल कथावस्तुको आधिकारिक और गौण कथावस्तुको प्रासगिक कहते हैं। नाटकके प्रधान फलको स्वामित्व अर्थात् उसकी प्राप्तिकी योग्यता अधिकार कहलाती है। उस फलका स्वामी अर्थात् उसे प्राप्त करनेवाला अधिकारी कहलाता है। उस अधिकारीकी कथाको आधिकारिक वस्तु कहते हैं। इस प्रधान वस्तुके साधक इतिवृत्तको प्रासगिक कथावस्तु कहते हैं। प्रासगिक कथावस्तुके भी दो भेद हैं—१ **पताका** (दे०), २ **प्रकरी** (दे०)। वरावर चलनेवाले अवान्तरप्रसग को **पताका** और कुछ काल चलकर रुक जाने एवं समाप्त हो जानेवाले प्रसगको **प्रकरी** कहते हैं। कथामें चमत्कारपूर्ण धारावाहिकता लानेके लिए **पताकास्थानक**(दे०)का प्रयोग किया जाता है। पताकास्थानक वह प्रासगिक कथा है, जिसमें किसीके भाषणका किसी नये पदार्थ या भावके वशीभूत होकर कोई दूसरा ही अर्थ सूचित हो जाय। पताकास्थानकके भी चार भेद किये गये हैं।

कथावस्तुको फलप्राप्तिकी ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कारयुक्त अशको **अर्थप्रकृति** (दे०) कहते हैं। प्रत्येक नाटकमें **कार्य** (दे०) या व्यापार-शृंखलाकी पाँच **अवस्थाएँ** होती हैं। कथात्मक पाँच अवस्थाओंके योगसे अर्थ प्रकृतियोंके रूपमें विस्तारी कथानकके पाँच अश हो जाते हैं। एक ही प्रधान प्रयोजनकी साधक उन कथाओंका मध्यवर्ती किसी एक प्रयोजनके साथ सम्बन्ध होनेको **सन्धि**(दे०) कहते हैं। कुछ शास्त्रकारोंने सन्धियोंके अन्तर्गत अन्त सन्धियाँ भी मानी हैं। अन्तःसन्धियोंका उद्देश्य व्यापार-शृखलाकी शिथिलताको दूर कर उसे अग्रसर एव चमत्कृत करना होता है। इनकी सख्या इक्कीस निश्चित की गयी है। इस प्रकार ५ सन्धियोंमें ६४ अग और २१ अन्त सन्धियाँ हुईं। उनका प्रयोग ६ निमित्तोंसे होता है—१ इष्टार्थ, २ गोप्य-गोपन, ३ प्रकाशन, ४. राग, ५ आश्चर्य-प्रयोग और ६ वृत्तान्तका अनुपक्ष। साहित्यदर्पणकारका कथन है कि जिस प्रकार विना अगके मनुष्य किसी कार्यको करनेमें अयोग्य रहता है, उसी प्रकार अगहीन काव्य भी प्रयोगके योग्य नहीं होता।

वस्तु-विन्यासमे एक वात और ध्यान देने योग्य है। इसमें कुछ वातें तो ऐसी हैं जिनका अभिनय अत्यन्त आवश्यक है, जिसमें कि मधुर और उदात्त रस तथा भाव निरन्तर उद्दीप्त हो सकें। जिनका विस्तार अपेक्षित है उन्हें **दृश्य**(दे०) तथा जिनकी केवल सूचना देनी चाहिये उन्हें **सूच्य**(दे०) कहा जाता है। कुछ वातें ऐसी भी हैं, जिनका अभिनय निषिद्ध है उदाहरणके लिए, सूच्य विषयोंमें लम्बी यात्रा, मृत्यु, वध, युद्ध, देशका विप्लव, नगरका घेरा डालना, भोजन, स्नान, चुम्बन, अनुलेपन, वस्त्र धारण आदि। किन्तु कई नाटकोंमें (उदा०—भास तथा राजशेखर-कृत नाटकोंमें) इसका उल्लघन भी हुआ है और विवाहकृत्य, मृत्यु आदि दिखाये गये हैं। शास्त्रोंमें मृत्युको सूच्यके अन्तर्गत आनेकी अनुमति केवल इस दशामें दी गयी है जब कि मृत व्यक्ति पुन- जी उठे। अधिकारी(नायक)का वध नाटकमें नहीं होना चाहिये।

भारतीय नाटकोंका उद्देश्य अर्थ, धर्म या कामकी प्राप्ति है, अर्थात् नाटकमें जीवनके आदर्शोंकी व्याख्या होनी चाहिये, साथ ही वह सामाजिकोंको आनन्द देनेवाला भी होना चाहिये। दुष्टोंका दण्डित होना और सज्जनोंका उपकार ही इन नाटकोंका चरम लक्ष्य रहा है। अत भारतीय प्राचीन नाट्यसाहित्यमें शोकान्त नाटकोंका अभाव है।

दृश्यवस्तुके अन्तर्गत आनेवाली बातें **अंकों** (द्रि०)में दिखलायी जाती हैं। एक अकमें एक दिनसे अधिककी घटनाओंका समावेश नहीं होना चाहिये। प्राय दो अकोंके बीचमें एक वर्षतकका समय अन्तर्हित रहता है। यदि इससे अधिकका समय इतिहासानुमोदित हो तो नाटककारको उसे घटाकर एक वर्ष या उससे कमका कर देना चाहिये। इस अन्तरकी सूचना देनेके लिए पाँच प्रकारके दृश्योंका विधान किया गया है, जिनके द्वारा सूच्य अंश भी प्रकट किये जाते हैं—१ **विष्कम्भक** (द्रि०), २ **प्रवेशक** (द्रि०), ३ **चूलिका** (द्रि०), ४ **अंकास्य** (द्रि०), ५ **अंकावतार** (द्रि०)।

नाट्यके अनुरोधसे नाटकीय वस्तुके तीन और भेद हैं—१. **श्राव्य** (द्रि०), २ **अश्राव्य** (द्रि०) तथा ३. **नियतश्राव्य** (द्रि०)। नियतश्राव्य दो प्रकारका होता है—**अपवारित** (द्रि०) और **जनांतिक** (द्रि०)। इनके अतिरिक्त **आकाश-भाषित** (द्रि०) द्वारा भी आगे-पीछेकी बातोंकी सूचना दी जाती है।

नाटकके प्रधान पात्रको **नायक** (द्रि०) कहते हैं। धनजयके अनुसार उसे १ विनीत, २ मधुर, ३. त्यागी, ४ दक्ष, ५ प्रियवद, ६ शुचि, ७ रक्तलोक, ८. वाग्मी, ९ रूढवश, १० स्थिर, ११ युवा, १२ बुद्धिमान्, १३ प्रज्ञावान्, १४ स्मृति-सम्पन्न, १५. उत्साही, १६ कलावान्, १७ शास्त्रचक्षु, १८ आत्मसम्मानी, १९ शूर, २०. दृढ, २१ तेजस्वी तथा २२ धार्मिक होना चाहिये। उसमें १ शोभा, २ विलास, ३ माधुर्य, ४ गाम्भीर्य, ५ स्थिरता, ६ तेज, ७ लालित्य तथा ८ औदार्य—ये आठ सात्त्विक गुण भी होने चाहिये। नाटकके अन्य पात्र—**विदूषक, भृत्य, पुरोहित** आदि सहायक पात्र होते हैं।

नायककी प्रिया या पत्नीको **नायिका** (द्रि०) कहते हैं, यह आवश्यक नहीं कि वह उसकी पत्नी ही हो। भरत मुनिने नायिकाके चार भेद किये हैं—१ दिव्या, २ नृपतिनी, ३ कुलस्त्री और ४ गणिका। किन्तु यह वर्गीकरण सर्वमान्य नहीं हो सका। सर्वमान्य वर्गीकरणके अनुसार नायिकाके **स्वकीया, परकीया** और **सामान्या**—ये तीन मुख्य भेद किये गये हैं। स्वकीयाके वय क्रमानुसार तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। परकीयाके दो भेद हैं—ऊढा (विवाहिता) तथा अनूढा (अविवाहिता)। (द्रि०—'नायिका भेद'।)

इनके अतिरिक्त नायिकाके हाव-भाव एव व्यवहारके अनुसार कई **अलंकार** (द्रि०) हैं। **वृत्तियों** (द्रि०) अर्थात् नायक-नायिका आदिके आचरणके ढगोंके भी कई भेद किये गये हैं।

भाषा-प्रयोगके लिए भी भारतीय नाट्यशास्त्रमें पर्याप्त निर्देश किये गये हैं। भाषाके दो विभाग किये गये हैं—सस्कृत एव प्राकृत। देवताओं तथा उच्च कोटिके पुरुषोंसे संस्कृत एव स्त्रियों तथा नीच पात्रों द्वारा उनकी देशज भाषाका प्रयोग कराना विहित है। पात्रोंके वर्गीकरणके अनुसार उनके द्वारा बोली जानेवाली अपेक्षित भाषाओंकी सूची भी नाट्यशास्त्रोंमें दी गयी है। साथ ही उचित सम्बोधनोंकी सूची भी दी गयी है। पात्रोंके नामकरणपर भी नाट्यशास्त्रमें विस्तृत विवरण मिलते हैं।

नाटककी मुख्य कथाको प्रारम्भ करनेसे पूर्व कुछ कृत्योंका विधान है। इन्हें **पूर्वरंग** (द्रि०) कहते हैं। पहले एक प्रकारकी स्तुति होती है जिसे **नांदी** (द्रि०) कहते हैं। नान्दीके बाद **रंगद्वार** (द्रि०) होता है, जिसमें देवताओंकी वन्दना सम्मिलित है। नृत्य भी होता है तथा सूत्रधार, विदूषक तथा सूत्रधारके सेवकके बीच वार्ता होती है और उसके द्वारा नाटकके कथानककी भी सूचना देनेके बाद वे चले जाते हैं। भरत मुनिके अनुसार इसके पश्चात् स्थापकका प्रवेश होता था, जिसके वेश द्वारा नाटककी कथाके दैवी अथवा मानवी होनेका पता चलता था और जिसके द्वारा नाटकका प्रारम्भ होता था। भरत मुनिके पश्चाद्वर्ती नाट्यशास्त्रियोंने इसके बड़े सूक्ष्म विवेचन तथा प्रभेद किये हैं। अधिकतर सूत्रधार द्वारा ही नाटकके प्रारम्भ करानेकी व्यवस्था दी गयी है। ऐसा करनेमें वह **भारती वृत्ति** (द्रि०)-का अनुसरण करता है।

भारतीय साहित्यका **रस**-सिद्धान्त भरत मुनिके नाट्यशास्त्रका चिर ऋणी है, क्योंकि चाहे उन्होंने रस-सिद्धान्तका स्वय प्रवर्तन न किया हो, परन्तु यह निर्विवाद है कि आगे चलकर विद्वानोंने रसके सम्बन्धमें उन्हींका अनुकरण किया। रसकी चर्चा बहुत कालतक नाट्यशास्त्रसे सम्बद्ध होकर ही चलती रही।

रस (द्रि०)का अर्थ है **आस्वाद्य** (आस्वाद्यत्वाद्रस)। जैसे भोज्य, पेय आदि पदार्थोंका स्वाद लिया जाता है उसी प्रकार काव्य-रसका भी स्वाद लिया जाता है। भरत मुनिके अनुसार कोई काव्यार्थ रसहीन होना ही नहीं चाहिये—'न रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते।' इसीसे रस दृश्य काव्यका एक अत्यावश्यक तत्त्व माना जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि नाटक रसका आश्रित है। भरत मुनिके अनुसार रसके आधार **भाव** (द्रि०) हैं। भाव मनके विकारोंको कहते हैं। 'वागगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा', अर्थात् वाणी-अग-रचना और अनुभूतिके द्वारा भाव काव्यार्थोंकी प्रतीत कराते हैं। इस बातपर बहुत विवाद हुआ है कि वह कौन-सी प्रक्रिया है जिससे रसका परिपाक होता है और इस सामग्रीसे उसका क्या सम्बन्ध है। भरत मुनिने तो केवल इतना ही लिखा है कि 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति' अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। भिन्न-भिन्न आचार्योंने सयोग तथा निष्पत्तिके भिन्न-भिन्न अर्थ किये और फलत **उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद, अभिव्यक्तिवाद** (द्रि०) जैसे विभिन्न रस-सिद्धान्त चल पडे। नाटकोंमें शृगार और वीर रसको अत्यधिक महत्त्व दिया गया है तथा अधिकाश नाटक इन्हीं दोनोंपर आधारित हैं।

नाटकके प्राचीनकालीन रूप अब प्राय लुप्त हो गये हैं। पश्चिमी नाटकोंके अनुकरणपर ही अब प्राय सभी नाटक खेले जाते हैं। प्राचीन नाट्यरूपोंके नामपर रास-लीला तथा यात्रा उत्तरभारतमें तथा कथाकली दक्षिणमें अवशिष्ट रह गये हैं। ये रास और यात्राएँ तत्त्वकी दृष्टिसे रहस्य-नाटक हैं, जिनमें कि कृष्णकी कथा वर्णित है। इस प्रकारके रास एव यात्राएँ कमसे कम गत दो सहस्र वर्षोंसे

लगातार होती चली आ रही है; पतंजलि (दूसरी शताब्दी)-ने 'जो कंसका वध हमारे सम्मुख करते हैं' कहकर उनकी चर्चा की है तथा उन्होंने इस प्रकारके प्रस्तुतीकरणोंकी तुलना चित्रकार द्वारा निर्मित चित्रोंसे की है। जयदेवका 'गीत-गोविन्द' कृष्णकी रहस्य-लीलाओंको साहित्यिक रूपमें अभिव्यक्ति प्रदान करता है। बहुत-कुछ इसीके समान रामलीलाका प्रस्तुतीकरण वार्षिक त्योहार दशहरेमें होता है तथा जिनका सब-कुछ मूक नाट्यके रूपमें होता है। इन सबमें जो कुछ भी धार्मिक है और जो कुछ भी नाटकीय है उनके बीच भेद करना असम्भव है। मलाबारकी कथाकलीमें शब्दोंका प्रयोग बिलकुल नहीं होता, किन्तु उसमें समस्त अवस्थाओंको मुद्राओं एवं रूप-सज्जाके माध्यमसे अभिव्यंजित करनेकी शक्ति है।

नाटककी पाश्चात्य धारणा भारतीय धारणासे भिन्न है, अतः पाश्चात्य धारणाकी विवेचना आवश्यक है। अँग्रेजीमें नाटकके लिए ड्रामा शब्दका प्रयोग होता है। आइवर ब्राउनने ड्रामाका निम्नलिखित शब्दोंमें विवेचन किया है—ड्रामा जिस यूनानी शब्दसे निकला है उसका अर्थ है 'कृत' अथवा किया हुआ। थियेटर (प्रेक्षागृह) जिस यूनानी शब्दसे निकला है उसका अर्थ है प्रेक्षण-स्थल। ऑडिएन्स (=प्रेक्षक समूह) लैटिन भाषासे आया है। नाटकके इतिहासका अधिकांश परिवर्तनोन्मुख नाटकीय मूल्योंकी कहानी है। प्राचीन कालमें नाटकोंमें संवेगोंका प्रस्तुतीकरण प्रधान था, किन्तु धीरे-धीरे नाटकोंमें विचार-प्रधानताका भी समावेश हुआ और दोनोंको समान महत्त्व दिया जाने लगा। आधुनिक नाटकोंके कार्य-व्यापारमें बौद्धिकताको ही सम्पूर्ण महत्त्व दिया जाता है। प्रायः आधुनिक नाटक पठित रूपमें भी उतने ही प्रभावोत्पादक सिद्ध होते हैं, जितने अभिनीत रूपमें। ड्रामाकी 'कृत'वाली प्राचीन धारणाके अनुसार नाटक उन वयस्कोंके लिए मनोरंजन एवं शिक्षाका साधन है, जो विचारोंके भूखे हैं। अगर हम नाटककी एक ऐसी परिभाषा देना चाहें जिसके अन्तर्गत आदि मानवकी मूक अनुकृतियों एवं धार्मिक कृत्योंसे लेकर आधुनिक मानवकी दार्शनिक विचारप्रधान नाट्य-रचनाएँ आ जायँ तो यह परिभाषा इतनी अस्पष्ट होगी कि लगभग व्यर्थ ही सिद्ध होगी। सुविधाके लिए हमें 'कृत'वस्तुके विषयमें दो प्रश्नोंके उत्तर खोजने चाहिये—१. क्यों? २. कैसे?

क्योंवाले प्रश्नके उत्तर दो दृष्टिकोणोंसे दिये जा सकते हैं—१. मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे, २. ऐतिहासिक दृष्टिसे। इन दोनों दृष्टिकोणोंका समन्वय भी सम्भव है। अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें ऐसा ही किया है। यूरोपकी जागर्तिके बादसे पाश्चात्य-विचारधारापर प्राचीन साहित्यके बढ़ते हुए प्रभावके कारण अरस्तूके काव्यशास्त्रका नाटककी साहित्यिक धारणाओंपर अत्यधिक प्रभाव है। अरस्तूने नाटकके भेदोंका विशेष विवेचन किया है। अरस्तू द्वारा स्थापित (कार्य, समय एवं स्थानकी) एकताओं (त्रिसंकलन)का सिद्धान्त फ्रेंच साहित्यमें बहुत लोकप्रिय हुआ तथा शैपलेन, रिशल्यू, कार्नील तथा बॉयल्यूने इन सिद्धान्तोंके विशद विवेचन किये। ए० बी० वाकलेको जो कि अरस्तूके नाट्य-सिद्धान्तोंका पक्षपाती था, बर्नार्ड शॉसे सदा यह शिकायत रहा करती थी कि वह सुपरिचित शास्त्रीय नाट्य-सिद्धान्तोंका पालन नहीं करता। बीसवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें शास्त्रीय नाट्य-सिद्धान्तोंका उल्लंघन काफी प्रचलित हो चुका था।

अरस्तूने दोनों ही प्रकारोंसे नाटककी व्याख्या की। उसने यूनानी नाटकोंके उत्थानकी ऐतिहासिक व्याख्या धार्मिक कृत्योंमें होनेवाले सहगानोंके उल्लेख द्वारा की तथा नाटकीय संवेगोंकी व्याख्या मनोवैज्ञानिक विवेचन द्वारा की (काव्यशास्त्र ४)। बाल्यावस्थासे ही अनुकरण मनुष्यके लिए स्वाभाविक है। सृष्टिके अन्य जीवोंसे वह इसी बातमें श्रेष्ठ है कि वह सर्वाधिक अनुकरणशील प्राणी है और सर्वप्रथम अनुकरण द्वारा सीखता है। अरस्तूका यह कथन नितान्त सत्य है। मनुष्य पशु-पक्षियोंकी भाँति ही अनुकरणशील है। मानव-विज्ञान (एन्थ्रापालॉजी)के अनुसार नाट्य-अभिनयके पीछे मनुष्यकी अपनेको प्रदर्शित करनेकी जन्मजात प्रवृत्ति भी निहित है। संसारके सर्वप्रथम अभिनेताने अपने परिजनोंके अनुकरण अथवा पड़ोसीकी हास्यानुकृति आदिसे चाहे जितना आनन्द उठाया हो, किन्तु उसमेंका हास्य जैसे ही एक धार्मिक कृत्यके रूपमें नियन्त्रित हुआ होगा, उसी क्षणसे अभिनयमें गम्भीरताका समावेश हुआ होगा और बौद्धिक चिन्तन द्वारा उसका परिचालन प्रारम्भ हो गया होगा। सम्भवतः सर्वप्रथम 'कृत'वस्तु हास्यके प्रयोजनसे ही की गयी होगी, जैसा कि अरस्तूने अनुकरणकी पृष्ठभूमिमें सार्वभौम हास्यका उल्लेख करते हुए सुझाया है। किन्तु यह निर्विवाद है कि जब कृत-वस्तुएँ धार्मिक कृत्योंमें परिवर्तित हो गयीं तो उनके उद्देश्य भी गम्भीर एवं पवित्र हो गये। आदि कालमें आधुनिक कालकी भाँति लोग अभिनय मनोरंजनके लिए देखने नहीं जाते थे। दुःखान्त नाटकोंके उद्भवके पूर्व ही सुखान्त नाटकोंका धार्मिक महत्त्व उठ चुका था। सभ्यताके विकासके साथ-साथ अनुकृत वस्तुओंके साथ सम्बन्धित धार्मिक भावनाका लोप होता गया और नाटककी धारणा बदलकर अवकाशके क्षणोंके मनोरंजनके रूपमें प्रतिष्ठित होती गयी। इस प्रकार नाटकके विकासमें दो प्रकारके परिवर्तन सन्निहित हैं—एक ओर तो आंगिक चेष्टाओं द्वारा संवेगात्मक संघर्षका प्रस्तुतीकरण नाटकका श्रेष्ठ गुण नहीं रह गया, वरन् विचार-संघर्ष श्रेष्ठ गुण माना जाने लगा तथा दूसरी ओर प्राचीनकालिक देवी देवताओंका स्थान मनोरंजक एवं भावोत्तेजक पात्रोंने ले लिया। वास्तवमें नाटकका प्रारम्भ गीत एवं नृत्यके संयोगसे हुआ और आज भी नाटकका लोकप्रिय रूप गीत एवं नृत्यका समन्वय ही है। किन्तु प्राचीन कालके नाटकों, जो कि देवताओंकी प्रसन्नताके लिए खेले जाते थे तथा आधुनिक संगीतात्मक सुखान्त नाटकोंके उद्देश्यों एवं प्रकृतिके बीच जो अन्तर है वह दोनोंके बीचका आधारभूत परिवर्तन सूचित करता है। किन्तु यह परिवर्तन अन्तिम नहीं है, क्योंकि नाटकीय सुधारकर्ता अब भी नाटकको सामाजिक हित साधन बनाना चाहते हैं, ठीक वैसे ही, जैसे प्राचीन धार्मिक नाटक सामाजिक हितके लिए देवताओंके प्रसन्नतार्थ खेले जाते थे।

धार्मिक कृत्योंको नाटकका मूल स्रोत बताया जाता है। धार्मिक कृत्योंकी उत्पत्तिके प्रश्नपर अनेक मत हैं, जिनमेंसे केवल मुख्य मतोंका ही हम यहाँ उल्लेख करेंगे। पहले मतके अनुसार नाटकोंका उद्भव वर्ष अथवा ऋतु-परिवर्तनोंके अवसरोंपर आदिम जातियों द्वारा किये गये लोक-नृत्यों एव लोक-गीतोंसे हुआ है। इस मतके अनुयायी अपने सिद्धान्त-की पुष्टिमें कुछ देशोंमें अब भी प्रचलित वर्ष एव ऋतु-परिवर्तनके त्यौहारोंपर होनेवाले लोक-गीतों एव नृत्योंके आयोजनोंके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एक दूसरे मतके अनुयायियोंने आदिकालीन लोक-नृत्योंका पर्यवेक्षण किया और समाधि-कृत्यको ही सबका मूल स्रोत बताया। उनके अनुसार कृतवस्तु मृत व्यक्तिके सम्मानमें होती थी और उसका उद्देश्य मृतात्माको अमरत्व प्रदान करना था, जिससे कि वह अमर होकर अपने परिजनों एव समाजका उपकार एव पथ-प्रदर्शन कर सके। विद्वानोंका मत है कि अभिनयका प्रारम्भिक रूप प्रार्थना-उपासनाका एक प्रकार-मात्र था। प्राचीन कालमें प्रार्थना इस उद्देश्यसे की जाती थी कि देवतागण मनुष्यकी पुकार सुनकर तदनुसार कामना-पूर्ति करें। उदाहरणके लिए, उगते हुए अनाजके पौधोंको इसलिए लाँघा जाता था कि अनाजका पौधा खूब बढे और धरती उपजाऊ हो, धरतीपर पानीकी धार इसलिए गिरायी जाती थी कि वर्षाके देवता इस सकेतको ग्रहण करके वृष्टि करें। इन्हीं धार्मिक कृत्यों द्वारा नाट्यकलाका उद्भव हुआ तथा यह कला अवान्तरमें मनोरजनका एक साधन बन गयी। अत यदि हम नाटककी मूल प्रेरणा एव उसके विभिन्न प्रकार-भेदोंको उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमिमें अच्छी तरह समझना चाहें तो हमें यह बात बराबर ध्यानमें रखनी चाहिये कि नाटकोंका जन्म धार्मिक स्थानोंमें हुआ है। आदि नाटकोंके प्रदर्शक पुरोहित अथवा उनके सहकारी हुआ करते थे। उस समय पुरोहित सामाजिक कार्यकर्ता होते थे और राजनीतिज्ञोंकी ही भाँति उनका भी दायित्व अपने सम्प्रदायकी रक्षा करना था। लोगोंका यह विश्वास था कि पुरोहितकी ही कृपासे समाजका हित एव रक्षा सम्भव है, पुरोहितकी ही उपासना एवं तन्त्र-मन्त्र आदिके प्रभावसे सूर्य प्रकाशमान् है तथा वृष्टि समयपर होती है। जैसा कि बताया जा चुका है, जब प्राचीन कालकी जनता अनाजके पौधोंको लाँघती थी तो उसका यह विश्वास होता था कि डायनिसस (धरतीको उर्वरा बनानेवाले देव) भी उसके साथ-साथ अनाजके पौधोंको लाँघ रहे हैं और इस प्रकार धरतीको अधिक उर्वर शक्ति प्रदान कर रहे हैं। इसी प्रकार जब जनता मृत व्यक्तियोंकी समाधिपर धार्मिक कृत्यों-का सम्पादन करती थी तो उसे यह विश्वास होता था कि इस मृतककी आत्मा अमर होकर अतिमानवी शक्ति प्राप्त करेगी तथा कठिनाइयों एव सकटमें अपने सम्प्रदायकी रक्षा करेगी।

नाटकका अस्तित्व क्यों है अथवा 'कृत'वस्तुका उद्देश्य क्या है, इसके अनेक उत्तर हैं। सम्भवत ही ये उत्तर समय एव स्थानकी विशिष्ट परिस्थितियोंके अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे। सभ्यताएँ एव सस्कृतियाँ अपने आवश्यकतानुसार नाटकका सर्जन करती हैं। दूसरे प्रश्न 'कैसे'के उत्तर भी अनेक एव भिन्न भिन्न हो सकते हैं। नाटक पूर्णत साम्प्रदायिक भी हो सकता है और व्यक्तिगत भी, पद्यात्मक भी हो सकता है और गद्यात्मक भी, उसका अभिनय व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समूहों द्वारा भी हो सकता है तथा उसे पुत्तलिकाओं आदि द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है। उसका साहित्यिक रूप रगमंच एव सामाजिक उद्देश्यसे प्रभावित रहता है। नाटकके लिए किसी विशेष नियम-बन्धनकी व्यवस्था नहीं की जा सकती और न ही अनुकृति शब्दके प्रयोग द्वारा कोई सीधी-सादी परिभाषा ही बनायी जा सकती है। नाटकके बहुतसे प्रारम्भिक एवं कुछ थोड़ेसे परवर्ती रूपोंमें जीवनका वास्तविक अनुकरण देखनेको नहीं मिलता। जीवनकी अनुकृतिके स्थानपर उनमें कल्पनाजन्य परिस्थितियोंके चित्रण हैं। यह सच है कि उनमें भी किसी-न-किसी प्रकारकी अनुकृति अवश्य रहती है, किन्तु यह अनुकृति रूढिगत प्रतीकवादसे प्रेरित होती है। इसका सबसे प्रत्यक्ष उदाहरण प्राचीन यूनानी अभिनेता है, जिसने सामान्य मनुष्यकी अनुकृति करनेका प्रयत्न नहीं किया, वरन् जीवनसे भी अधिक विराट् वस्तु प्रकट करनेका प्रयत्न किया। इसीलिए वह नकली चेहरा लगाकर कृत्रिम उपायों द्वारा अतिमानवी कद तथा रूप बना लेता था। इसमे यथार्थवादी अभिनय असम्भव अवश्य हो जाता था, किन्तु धार्मिक कृत्यके वातावरणको उससे सहायता मिलती थी। इसी प्रकार मध्यकालीन रहस्यवादी नाटकोंमें अभिनेता प्राय अपने अभिनयका परम्परागत चिह्न धारण करता था। जिस वस्तुका अनुकरण असम्भव होता था, उसे यह चिह्न ही प्रकट करता था। यदि हम नाटकके इतिहासपर दृष्टि डालें तो हमें यह विदित हो जायेगा कि हर तरहके नाटकोंका प्रस्तुतीकरण अबतक हो चुका है—विशुद्ध कल्पनात्मक एव प्रतीकात्मक अभिनयोंसे लेकर आधुनिक रगमचोंपर प्रस्तुत की जानेवाली जीवनकी वास्तविकताओंतकके अनुकरण हमें मिलेंगे।

इस प्रकार नाटकके विस्तृत अर्थमें किसी भी अनु-करणात्मक कार्यको नाटक कह सकते हैं अर्थात्, 'हैमलेट'के प्रदर्शनसे लेकर प्रहसनमें विदूषकके अभिनय, मूक नाट्य, अथवा आदिकालीन धार्मिक कृत्य, सभी नाट्यकी श्रेणीमें आ जाते हैं। विशिष्ट अर्थमें 'नाटक' उस रूपकके लिए प्रयुक्त होता है, जो अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शनके लिए लिखा जाता है। यदि हम नाटकका और भी सीमित अर्थ लें तो हम देखेंगे कि 'नाटक वह गम्भीर तथा सामान्यत यथार्थवादी रूपक-रचना है जिसका उद्देश्य दु खान्त नहीं है, किन्तु जो सुखान्तकी कोटिमें भी नहीं रखा जा सकता।' (फ्रेंच लेखक डाइडराट रचित 'डि ला पोएजी ड्रामाटीक')। फ्रासके डाइडराट, ब्यूमार्केयस ('एसाय सरलिजेनरे ड्रामा-टीक सीरियक्स' नामक पुस्तकमें) तथा अन्य कई लेखकोंने नाटकको वह भावात्मक रूपक माना है, जिसका कार्य समसामयिक समस्याओंकी विवेचना करना है। नाटकका विस्तृततम अर्थ है—'वह रूपक जिसमें व्यक्तियोंका एक समूह (चाहे मध्यकालीन समाजका और चाहे आधुनिक व्यावसायिक नाट्य-निर्माताओंका) कुछ निश्चित चरित्रोंका रूप धारण करके उनका अनुकरण जन-समूहके सम्मुख

प्रदर्शित करता है।' यह अनुकरण धार्मिक अनुकरणके रूपमें भी हो जाता है और मनोविनोदके लिए भी। किन्तु उद्देश्य जो भी हो, यह अनुकरण ही नाटकका मूलभूत सिद्धान्त है। नाटकका दूसरा अनिवार्य तत्त्व है—प्रेक्षक-समाजकी उपस्थिति। मनुष्यकी अनुकरण वृत्ति मूलरूपेण आत्म-प्रदर्शन एवं आत्मप्रतीतिका सश्लिष्ट रूप है। यही कारण है कि इस वृत्तिकी सन्तुष्टिके लिए प्रेक्षक-समूहका होना नितान्त आवश्यक है। उपन्यास और कविता एकान्तमें पढी जा सकती है, किन्तु जब नाटककार नाट्य-रचना करता है तो उसकी मानसिक आँखोंके सम्मुख प्रेक्षकोंका समूह अवश्य रहना चाहिये। 'नाटक' शब्दसे अधिकतर उस सवादका बोध होता है जो अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुतीकरणके लिए हो। इस सामान्य परिभाषाके अन्तर्गत दु खान्त नाटक(ट्रैजेडी)-से लेकर भँडैती (वर्लेस्क), प्रहसन (कॉमिक) तथा भाव-नाट्यनक आ जाते हैं।

यूरोपमें सबसे प्राचीन नाट्य साहित्य यूनानमें मिलता है। नाटकोंका जन्म उन ग्राम्य समारोहोंसे हुआ जो प्राचीन एटिका प्रदेशमें विशिष्ट अवसरोंपर प्रकृतिदेवता डायनिसस-के सम्मानमें होते थे। अनुमान किया जाता है कि वैक्सस—मद्यके देवताकी पूजासे इनका चलन हुआ। उपर्युक्त समारोहोंमें कुछ विशिष्ट लोग जिनका आधा शरीर अजा-चर्मसे ढँका रहता था, वैक्सस देवताकी स्तुति(अजा-गीत)-के मन्त्र गाते हुए वेदीके चारों ओर नृत्य करते थे। यह ६०० ई० पू० से पहलेकी घटना है। आधी शताब्दीके बाद एटिका-निवासी थेस्पिसने गीतोंके बीचका समय भरनेके लिए कथा, व्यग्यानुकरण और छोटे सवाद बढा दिये, जिन्हें एक अभिनेता समवेत गायकोंके नेताके साथ वार्तालापके द्वारा व्यक्त करता था। उसने आगे चलकर रगशालामें शिष्यका वेश पहनाकर पुरुषों द्वारा सवाद पढवाये और उन्हीं सवादोंके पात्रको फ्रिनिशसने ५१२ ई० पू० में पहले-पहल स्त्रीके वेशमें सबको दिखाया। प्राचीन यूनानमें दो प्रकारके नाटक होते थे—१. ट्रैजिक (दु खान्त) (दे०) एव कॉमिक (प्रहसन) (दे०)। प्रहसनको लोग भूलसे सुखान्त अथवा **कॉमेडी** (दे०) कहते हैं। साधारणत दु खान्त नाटकका अन्त दु खमय होता था और प्रहसनका सुखमय। परन्तु दोनोंमें विशेष अन्तर यह था कि दु खान्त-में मनुष्यके जीवनकी गम्भीर समस्याओंपर विचार होता था और उसकी विपत्तियों और कष्टोंका विवरण दिया जाता था, परन्तु प्रहसनमें हास्यास्पद और निम्न कोटिके मनुष्योंकी मूर्खताओं एव असगत कार्योंका विवरण दिया जाता था। दु खान्त नाटक गम्भीर होनेके कारण सभ्य लोगोंमें खेले जाते थे और प्रहसन ग्रामीणोंमें।

मध्य कालमें इग्लैण्डके ईसाई पादरियोंने बहुदेववादियों-के मनोविनोदात्मक नाटकोंके समकक्ष नाटकोंकी प्रतिष्ठा की थी, जो कालान्तरमें अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज), रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरीज) और भावावेश-प्रधान नाटक-(पैशन प्लेज)के रूपमें प्रचलित हुए थे। इन्हींके साथ-साथ नैतिक नाटकों(मॉरेलिटीज)का प्रादुर्भाव हुआ था, जिन्हें पादरी अपने धर्म-प्रचारके उद्देश्यसे नगर-नगर घूमकर खेलते थे। यूरोपीय नाटकोंके आधुनिक रूपोंका श्रीगणेश इन्हीं नाटकोंसे हुआ है, जिनमें ऐतिहासिक और काल्पनिक नाटक तो अपने नामसे ही ज्ञात हैं। सगीतनाट्य (मेलो-ड्रामा) वास्तवमें इटलीमें उत्पन्न हुआ, जिसमें दु खान्त और प्रहसन दोनोंका सम्मिश्रण रहता है और जो हमारी भावनाओंको अतिरजित रूपमें चित्रित करता है। रिन्यूचिनी और उसके अनुयायियोंने काल्पनिक (रोमासिक) नाटकोंमें सगीतका समन्वय करके नाटकके इस रूपकी उद्भावना की थी। प्रहसनके भी अनेक रूप प्रचलित हुए जो अठारहवीं शताब्दीमें शिष्टाचार-विषयक प्रहसनों(कॉमेडी ऑफ मैनर्स)से चलकर भँडैती (फार्स), नकल (मास्क), स्वाँग (वर्लेस्क), हास्य-प्रधान नृत्य-गीत-नाट्य (वादेविले), मूक अभिनय (पैण्टमाइम) तथा नृत्याभिनय(बॉले)तक विकसित हुए। ऊपर उल्लिखित सगीतनाट्य(मेलोड्रामा)से नाटकके एक अन्य रूप सगीतनृत्यमय नाटक(म्यूजिक ऑपेरा)की सृष्टि हुई। इसे गीतिनाट्य भी कहते हैं। नाटकके इस रूपने धीरे-धीरे दु खान्त एव सुखान्त नाटकोंका स्थान ले लिया। जेनाने इस रूपको साहित्यिक स्तरपर पहुँचाया।

१९वीं शताब्दीमें नाटककी प्राचीन रूढिगत सीमाएँ टूटने लगीं और विभिन्न प्रकारके दु खान्त एवं सुखान्त (कॉमेडी) नाटक लिखे जाने लगे। बादमें चलकर ट्रैजी-कॉमेडी (सुख-दु खान्त) नाटक भी लिखे जाने लगे, जो न तो सुखान्त थे, न दु खान्त। सवाक् छायाचित्रोंके आविष्कारके साथ-साथ यूरोपमें एकाकी नाटकोंका भी बहुत प्रचार हुआ। कुछ लोग समझते हैं कि एकाकी (दे०) दसवीं शताब्दीमें उद्भूत हुए, किन्तु वास्तवमें इनका सूत्रपात बहुत पहले ही हो चुका था। प्राचीन यूनान और इटलीमें लघु-प्रहसन स्वतत्र रूपसे विकसित हुए थे और मध्ययुगमें प्रचलित थे। अँग्रेजीमें रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरीज), अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज) और गर्भाक नाटक (इण्टरल्यूड्स)—सभी एकाकी ही थे। भ्रमणशील अभिनेता स्थान-स्थानपर 'ड्राल्स' नामसे छोटे-छोटे प्रहसन किया करते थे।

प्राचीन कालमें नाटक केवल पद्यमें ही लिखे जाते थे। सर्वप्रथम १९वीं शताब्दीमें सुखान्त नाटकोंमें गद्यका व्यवहार हुआ। १८वीं शताब्दीमें मध्यवर्गीय प्रेक्षक-समूहोंकी बढती हुई माँगके अनुसार- नाटकोंमें गद्यका विशेष व्यवहार होने लगा तथा समसामयिक कथाओं एव घटनाओंको भी उनमें स्थान दिया जाने लगा। इसके पश्चात् नाटकमें गद्यकी प्रधानता बराबर रही। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि नाटकमें पद्योंके लिए रुचि नहीं रह गयी। अधिकाश विद्वानोंका मत है कि नाटकमें सवेगात्मकता एव तीव्रता पद्यके प्रयोगसे लायी जा सकती है।

नाट्यशास्त्रके प्रथम पाश्चात्य आचार्य अरस्तूने ड्रामाके ५ प्रधान तत्त्व माने हैं—१. कथावस्तु, २ चरित्र, ३ शैली, ४ विचार तथा ५ शिल्प एव सगीत। उन्होंने इन तत्त्वोंपर विस्तारमें तथा गम्भीरतापूर्वक विचार किया है और अपने सिद्धान्त स्थापित किये हैं।

विद्वानोंमें इस बातपर बहुत विवाद रहा है कि नाटकमें **कथावस्तु** (दे०) अधिक मुख्य है अथवा **चरित्र-चित्रण** (दे०)। अरस्तूके मतानुसार घटना-सघटन द्वारा चरित्र

चित्रण अनिवार्यत हो ही जाता है, अत नाटकमें प्रधान तत्त्व घटना-सघटन है, चरित्र-चित्रण नहीं। किन्तु ड्राइडनका विचार है कि कथानकका नाटकमें न्यूनतम महत्त्व है। वैनब्रफ इस विरोधी धारणाकी और पुष्टि करता है। वह कहता है, 'मुझे विश्वास है कि मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ कि मुख्य मनोरजन एव नैतिक सन्देश घटना-क्रम अथवा कार्य-व्यापारकी अपेक्षा चरित्र एव वाग्वैदग्ध्यपर अधिक निर्भर होता है।' इस विषयपर मतभेद है। एडिथ हैमिल्टन अपने मतका प्रतिपादन अपनी पुस्तक 'थ्री ग्रीक प्लेज' (१९३७)में करते हुए कहता है कि एशिलस लिखित 'प्रोमेथ्यूज बाउण्ड'में मुख्य वस्तु उसके नायकका बन्दी होना है, जब कि अन्य लेखक सम्मिलित स्वरमें कहते हैं कि वार्तालाप द्वारा प्रोमेथ्यूजके चरित्रका उद्घाटन ही उस सम्पूर्ण नाटकका सर्वस्व है। नाटकके कार्य अर्थात् प्रोमेथ्यूजके बन्दी होनेका महत्त्व तो केवल इस बातके साक्ष्यमें है कि दु खान्त नाटक मूलत एक महान् आत्माका प्रपीडन है, जिसमें उसे महान् क्षति उठानी पड़ती है।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि नाटकीय **कार्य** जैसे प्रपीडन, क्षति आदि घटनाओंका नाटकमें नगण्य महत्त्व है। वास्तवमें **कार्य**का महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं किया जा सकता, ठीक वैसे ही, जैसे शरीरके किसी अंगके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा आवश्यक है, कौन-सा नहीं।

पाश्चात्य धारणाके अनुसार नाटकमें ऐसे भावात्मक वस्तु-तत्त्वका होना अति आवश्यक है जो **संघर्ष** उत्पन्न करे। इस **संघर्ष**का चाहे अन्तमें समाधान हो या न हो, पर नाटकमें इसकी उपस्थिति अनिवार्य है। मनुष्यकी अनुकरण-प्रवृत्ति तभी नाटकका रूप ग्रहण कर सकती है जब कि वह कोई मानसिक एव भौतिक सघर्ष प्रस्तुत करती हो, अर्थात् जब वह कार्यमें परिणत होती हो। पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियोंने नाटकके **कार्य-व्यापार**की पाँच स्थितियाँ मानी हैं—१ आरम्भ या प्रस्तावना (एक्सपोजीशन), २ कार्यविकास (राइज आफ ऐक्शन), ३ सघर्ष या चरम सीमा (क्राइसिस, क्लाइमेक्स), ४. निगति (डिन्यूमाँ) और समाप्ति (कनक्ल्यूजन)। **प्रस्तावना** या **आरम्भ**(दे०)-में नाटककारका उद्देश्य होता है प्रेक्षकोंको वे सारी सूचनाएँ दे देना जो नाटकको समझनेके लिए आवश्यक हों। वास्तवमें इससे पूर्व कि वे विविध चरित्रोंके भाग्य-निर्णयके विषयमें उत्सुक हों, उसके पहले चरित्रोंके विषयमें यह जान लेना आवश्यक है कि वे कौन हैं, क्या हैं, नाटकीय कार्य-व्यापार प्रारम्भ होनेसे पहले उनका परस्पर क्या सम्बन्ध था, इत्यादि इत्यादि। यूनानी नाट्यकार सुपरिचित कथाओंको प्रारम्भमें रख देते थे अथवा **प्रोलोग**में सारी कथाका साराश दे देते थे। उत्कृष्ट प्रस्तावनाकी विशेषता यही होती है कि वह स्वाभाविक बातचीतके रूपमें होती है और प्रारम्भिक घटनासे इतनी सम्बद्ध होती है कि दर्शकको यह अनुभव नहीं हो पाता कि उसे वे सूचनाएँ जान-बूझकर दी जा रही हैं। उदाहरणके लिए, इब्सनके 'ए डाल्स हाउस' तथा 'गोस्ट्स' इत्यादि नाटकोंमें यह विशेषता मिलती है। इसी प्रकार शेक्सपीयरके 'हैमलेट'में भी कार्य-व्यापारके बीच अपेक्षित सूचनाएँ हमें ठीक समय-पर मिलती जाती हैं। किन्तु 'ऐज यू लाइक इट'में 'नये दरबारमें कौन-सा नया समाचार है?' 'कुछ नहीं, बस वही पुराना समाचार है'के बाद वह पुराना समाचार दर्शकोंके लिए दुहराया गया है। आरम्भ या प्रस्तावनाके बाद प्रारम्भिक घटना आती है, जिससे कार्य-विकासका प्रारम्भ अथवा सघर्षका सूत्रपात होता है। प्रारम्भिक घटना तथा प्रस्तावनामें अन्तर यह है कि प्रस्तावना नाटकके कार्य-व्यापारसे पृथक् एवं उसकी भूमिका है, अर्थात् नाटकीय कथा-वस्तु जहाँ प्रारम्भ होती है वहाँ प्रस्तावना समाप्त होती है। नाटकीय कार्यका आरंभ किसी मानसिक अथवा बाह्य घटना द्वारा होता है, जो कि नाटकीय सघर्षका बीजारोपण करता है। इसे प्रारम्भिक घटना कहते हैं। उदाहरणके लिए, 'रोमियो एण्ड जूलिएट'में जूलिएटके माता-पिता द्वारा जूलिएटका विवाह काउण्टी पेरिससे करनेका निश्चय नाटकीय सघर्षको जन्म दे देता है, अत वह प्रारम्भिक घटना है। **प्रारम्भिक घटना** (दे०)से ही कार्य-विकासका प्रारम्भ होता है। प्रारम्भिक घटनासे लेकर सघर्षतकका भाग कार्य-विकास होता है। कार्य-विकासका पूर्वभाग उलझन तथा समस्याओंसे पूर्ण होता है और उसमें कार्य नाटकीय संघर्षकी दिशामें अग्रसर होता है। प्रस्तावनामें जो चरित्र एव परिस्थितियाँ प्रकट हुई थीं, उन्हींको लेकर घटनाएँ स्वाभाविक गतिसे आगे बढती हैं। कार्य-विकासके बाद **संघर्ष**(दे०)की स्थिति आती है। यह वह स्थिति है जिसमें विरोधी शक्तियाँ अन्तिम बार परस्पर संघर्ष करती हैं तथा कथावस्तुको निर्णयात्मक क्षण प्रदान करती हैं। सघर्षके बादसे ही एक शक्ति बलवती तथा दूसरी क्षीण एवं निरुपाय होने लगती है। सघर्षमें केवल दो विरोधी शक्तियाँ होती हैं, अधिक नहीं, क्योंकि प्रेक्षककी सहानुभूति केवल एक ही शक्तिके साथ होती है तथा अन्य समस्त शक्तियाँ या तो उसकी सहायता करती हैं या विरोध। इस प्रकारके विरोधोंके कई रूप हो सकते हैं, यथा नायक एव खलनायक, व्यक्ति एव समाज, प्रेम और कर्तव्य, आस्था एव अनास्थाके बीच होनेवाले विरोध अथवा मनुष्यके अपने ही मनमें होनेवाले अन्तर्द्वन्द्व। सघर्षके लिए नाटकीय हेतु अथवा चरम लक्ष्यका होना आवश्यक है। संघर्षकी घटनाएँ कार्य-व्यापारका ही अ श हैं। नाटकका वह स्थल, जहाँ विरोधी शक्तियोंकी हार-जीतका अन्तिम निर्णय होता है, **संघर्ष** एव चरम सीमा कहलाता है। सघर्षके बाद **समाप्ति** अथवा **परिणाम** (कनक्ल्यूजन अथवा कैटास्ट्राफी) आता है। **परिणाम** (दे०) कथावस्तुकी वह अन्तिम स्थिति है, जिसमें सघर्षका अन्त हो जाता है और नाटकका अन्तिम परिणाम हमारे सम्मुख आता है। अरस्तूके मतानुसार परिणामका स्वाभाविक होना अति आवश्यक है। यदि नाटकका परिणाम कार्य-कारणके सिद्धान्तपर आधारित न होकर केवल सयोगपर आधारित हो तो वह निम्न कोटिका और त्रुटिपूर्ण माना जायगा।

नाटकीय वस्तु-विधानकी कुछ अन्य विशेषताएँ भी हैं जो पाश्चात्य नाट्यसाहित्यको समझनेके लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। प्राय पाश्चात्य नाटककारोंने अपने नाटकोंकी

कथा-योजनामें समानान्तरवाद (पैरेलेलिज्म) का प्रयोग किया है। समानान्तरवाद वहाँ होता है जहाँ कार्यके एक भागका प्रधान भाव उसके दूसरे भागमें फिरसे दिखाई देता है और इस प्रकार कार्यके दोनों ही भाग एक-दूसरेके प्रधान भावकी पुष्टि करते हैं। शेक्सपीयरने समानान्तरवादका काफी प्रयोग किया है। उदाहरणके लिए, 'ए मिड् समर नाइट्स ड्रीम' में प्रेमको एक निर्बाध शक्तिके रूपमें चित्रित किया गया है, जिसके कारण एक ओर तो लड़कियाँ अपने माता-पिताओंके विरुद्ध विद्रोह कर देती हैं और दूसरी ओर प्रेमीगण अद्भुत दृढ़ताका परिचय देते हैं। आलोचकोंके अनुसार इस नाटकके दोनों ही अंगोंमें एक ही मुख्य भावना आयी है, अर्थात् प्रेम एक ऐसी शक्ति है जिसे कोई बन्धन स्वीकार नहीं। दूसरे प्रकारके समानान्तरवादका उदाहरण हमें 'किंग लियर' में मिलता है, जिसमें दो कथानक हैं जो कि लगभग प्रत्येक बातमें एक दूसरेसे मिलते हैं। एक कथामें एक पिता अपनी पुत्रियों द्वारा प्रवंचित होता है और केवल उस पुत्रीमें उसे सच्चा प्रेम मिलता है जिसके प्रेमकी उसने सदैव उपेक्षा की थी। दूसरी कहानीमें एक पिता अपने पुत्रोंका चरित्र परखनेमें धोखा खाता है और अन्तमें उसे सच्चा प्यार उसी पुत्रमें मिलता है जिसे उसने हत्यारा समझकर मार डालनेका निश्चय किया था। इस प्रकार लेखकने दो विभिन्न कथानकोंको समानान्तरवाद-की सहायतासे मिलाकर तथा उनमें एक-सी ही भावनाका दिग्दर्शन कराकर शक्तिशाली करुण नाटककी सृष्टि कर दी है।

असादृश्य (कण्ट्रास्ट) नाटकीय वस्तु-विधानकी दूसरी विशेषता है। बिना इस सिद्धान्तके प्रयोगके नाटकमें सशक्तता कभी नहीं आ सकती। असादृश्यमें ही संघर्षके बीज निहित होते हैं, अतः व्यक्तियों, भावावेगों तथा स्वार्थों—किन्हींके भी बीच होनेवाले संघर्षोंके पीछे असादृश्यका होना निश्चित है। उदाहरणके लिए, 'मैकबेथ' के प्रारम्भमें ही हमें मैकबेथकी उच्च कोटिकी विशेषताओं एवं महान् गुणोंका परिचय मिलता है, जिसके कारण अन्तमें होनेवाली दुष्टताकी विजय प्रेक्षकोंमें बहुत गहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न करनेमें सफल होती है। इसी प्रकार 'रोमियो एण्ड जूलिएट' के प्रारम्भमें जो उल्लास एवं हर्षयुक्त वातावरण है तथा गीत्यात्मक संवेगों-वाले दृश्य हैं, वे नाटकके दुःखद अन्तको और भी गहरा रंग प्रदान करते हैं। यह प्रारम्भिक एवं अन्तिम कथा-भागोंके असादृश्यका ही फल है।

उपर्युक्त उदाहरण कथानक-सम्बन्धी असादृश्योंके हैं। असादृश्य चरित्रोंके बीच भी होते हैं, भिन्न-भिन्न पात्रों अथवा नायक तथा खलनायक आदिकी व्यक्तिगत विशेषताएँ असादृश्यके सिद्धान्त द्वारा उभरती हैं। असादृश्यके सिद्धान्त-का नैतिक उपयोग भी सम्भव है, अर्थात् विभिन्न नैतिक आदर्शोंकी तुलना द्वारा उनके आपेक्षिक गुणों या अवगुणोंका निर्णय हो सकता है। नाटकीय विडम्बनाओं (ड्रामेटिक आयरनीज) में भी असादृश्यके सिद्धान्तका प्रयोग होता है, जिसमें एक ही विषयके दो पक्षोंका असादृश्य प्रदर्शन कर विचित्र स्थिति उत्पन्न करनेकी चेष्टा की जाती है। शेक्स-पीयरके 'हेनरी फिफ्थ' (अंक २, दृश्य २) में इसी प्रकारका स्थिति-वैचित्र्य मिलता है। सोफाक्लीजके 'इलेक्ट्रा' नाटकमें भी इसी प्रकारकी परिस्थिति है।

नाटकमें रुचि उत्पन्न करनेके लिए रहस्यात्मक शैलीका भी उपयोग किया जाता है, इसीलिए उनमें रहस्य गोपन तथा आकस्मिक विस्मय (कन्सीलमेण्ट सर्प्राइज) से भी काम लिया जाता है। कथा-वस्तुके रचना-विधानमें नाटककार द्वारा दो शैलियाँ अपनायी जा सकती हैं—वह शैली जिसमें प्रेक्षक प्रारम्भसे अन्ततक चरित्रों, घटनाओं तथा मनोवृत्तियों आदिके विषयमें अनजान एवं उत्सुक रहता है और अन्तमें वास्तविक घटनाओंके उद्घाटनसे वह प्रभावित एवं आश्चर्यचकित हो जाता है, दूसरी शैली वह हो सकती है जिसमें नाटककार प्रारम्भसे ही मुख्य पात्रों, उनकी मनोवृत्तियों आदि बातोंका प्रकाशन कर देता है और तब उनके लक्ष्योंको साथमें लेकर कहानी आगे बढ़ाता है। शेक्सपीयरने दूसरी शैलीको ही अपनाया है, उसके खल पात्रों आदिकी मनोवृत्ति प्रारम्भमें ही प्रकट रहती है और उसीके आधारपर आगेकी कथा बढ़ती है। यही शैली अपेक्षाकृत उत्तम होती है।

नाटक-रचनाके सम्बन्धमें कार्य, देश और कालकी एकता-(सकलन-त्रय) की भी बराबर चर्चा हुई है। सबसे पहले अरस्तूने इस सिद्धान्तका विवेचन किया था। उसने कार्यकी एकता या सकलनका सिद्धान्त इस प्रकार प्रतिपादित किया है—नाटकीय कथानक केवल एक घटनाके अनुकरणपर होना चाहिये तथा सम्पूर्ण नाटकीय कथावस्तु एवं उसके विभिन्न अंश इस प्रकार संघटित होने चाहिये कि यदि उनमेंसे एक अंग भी निकाल दिया जाय अथवा स्थानच्युत हो जाय तो सम्पूर्ण नाटकमें परिवर्तन आ जाय (काव्यशास्त्र, ८)। उसने कालकी एकतापर भी यह कहकर जोर दिया है कि दुःखान्त नाटकका घटनाकाल केवल एक दिनका होना चाहिये, किन्तु इस अवधिमें स्वल्प परिवर्तन भी हो सकता है (काव्यशास्त्र, ५)। अरस्तूका यह कथन 'काल-सकलन' के इस परवर्ती सिद्धान्तके बहुत निकट पड़ता है कि महाकाव्यों की तुलनामें दुःखान्त नाटक लघु होते हैं तथा अपेक्षाकृत संकुचित सीमाओं एवं संकीर्ण क्षेत्रमें घटित होते हैं (काव्यशास्त्र, २६)। यूरोपके पुनर्जागरणके पश्चात् १५७० ई० में उपर्युक्त सकलन-त्रयके सिद्धान्तका कैस्टेलवेट्रो लिखित 'पोएटिका' (काव्यशास्त्र) में वर्गीकरण एवं विवेचन हुआ है। कैस्टेलवेट्रोके इटाल्वी तथा बादमें फ्रान्सीसी समर्थकोंने इस सिद्धान्तको अपनाया तथा प्रचारित किया। इस प्रकार इस सिद्धान्तके अनुसार (१) नाटकका कार्यव्यापार संघटित एवं सम्पूर्ण होना चाहिये, (२) घटना-काल २४ घण्टोंका होना चाहिये, यद्यपि कुछ नाट्यशास्त्रियोंके अनुसार यह समय ३६ घण्टेका होना चाहिये तथा (३) दृश्य अपरिवर्तित होना चाहिये अथवा कमसे कम एक नगरमें ही सीमित होना चाहिये।

उपर्युक्त सिद्धान्तका वर्तमान नाट्यसाहित्यमें कड़ाईसे पालन नहीं होता और नाटकोंकी रचनामें इन नियमोंकी अपेक्षा न करके स्वतन्त्रतासे काम लिया जाता है।

आधुनिक धारणाके अनुसार नाटक जीवनकी व्याख्या है जो हमारी समस्याओं एवं उनके हलोंको हमारे सम्मुख

प्रस्तुत करता है। नाटक नैतिक मूल्योंकी दृष्टिसे मानवीय अभिव्यक्तिका एक श्रेष्ठ साधन है। सैद्धान्तिक रूपसे यह साहित्यका आत्म-निरपेक्ष रूप है, इनमें लेखकके व्यक्तित्वका प्रवेश नहीं होता। लेखक इसमें जो कुछ भी कहना चाहता है केवल सवादोंके माध्यमसे कहता है, अन्यथा सब कुछ घटनाओंसे स्वत व्यंजित होता है। आज नाटक आकारमें लघुता, उद्देश्यमें सूक्ष्म मनोविश्लेषण तथा माध्यममें पाठ्य और कलात्मक अभिनयकी ओर जा रहा है। —श्या० मो० श्री०

भारतवर्षमें नाटक-परम्परा चिर प्राचीन है। मनुष्यमें अनुकरणकी प्रवृत्ति जन्मसे ही आरम्भ हो जाती है और इस प्रकार नाटक अनादि कालसे मानव-सृष्टिका चिर-सहचर रहा है। परन्तु साहित्यमें उसके प्रथम रूपके उपकरण ऋग्वेदके यम-यमी और पुरुरवा-उर्वशी जैसे सूक्तोंमें सन्निहित सवाद, सामवेदके गीत, यजुर्वेदके अभिनय तथा अथर्ववेदके रसमें प्राप्त होते हैं। सम्भवत सहिता-कालमें याज्ञिक क्रिया-कलापके अवसरपर सोमराजके क्रय-विक्रयके सम्बन्धमें यजमान विक्रेता तथा अध्वर्युके वार्तालापमें अभिनय भी होता था। भरतके अनुसार देवासुर-संग्राम-के पश्चात् इन्द्रध्वजके महोत्सवपर देवताओंने नाटकका आरम्भ किया था। वैदिक कालके अनन्तर नाटकमें नृत्यका योग हुआ। रामायण और महाभारत तथा अन्य प्रचलित लघु-कथाओंसे भी नाटकको पाठ्य और सगीतकी प्राप्ति हुई, जो यज्ञादिके अवसरपर रामायण और महाभारतके संगीतमय पारायणसे स्पष्ट है। इस प्रकार नाटकका जन्म भारतमें भी धार्मिक लौकिक वातावरणमें हुआ है।

'वाल्मीकि-रामायण'के बालकाण्डमें नाटकसघ, 'महाभारत'में रंगाभिसारके विशद वर्णन तथा पाणिनिके 'अष्टाध्यायी'के नट, कुशीलव जैसे शब्दोंसे यही अनुमान होता है कि आठवीं शती ईसवी पूर्व नाटक-ग्रन्थ रहे होंगे। पतजलिके 'बलिबन्ध', तथा 'कसवध' जैसे नाटकोंके अस्तित्व-विषयक निर्देश तथा अभिनय, चित्रण, पाठ जैसे शब्दोंके प्रयोगसे भी नाटकीय अभिनयकी सम्भावना होती है। 'हरिवश'में उल्लेख है कि रामने रामायणकी कथाका अभिनय किया और नारदने कृष्ण, बलराम, अर्जुन, सत्यभामा आदिके हाव भावोंका अनुकरण करके दिखाया। बौद्ध कालकी जनतामें भी नाट्यकलाके प्रति अभिरुचि थी। अवदान-शतकोंमें नाट्यकलाका निर्देश है। भरतके 'नाट्यशास्त्र'में 'अमृतमन्थन' और 'त्रिपुरदाह' जैसे नाटक ग्रन्थोंका उल्लेख है।

सस्कृत साहित्यमें कालिदासके पूर्व सौमिल्ल, कविपुत्र जैसे नाटककारोंके होनेका उल्लेख मिलता है, किन्तु केवल भासके 'प्रतिमा' नाटक, 'अभिषेक' नाटक 'पचरात्र', 'दूतवाक्य', 'मध्यम व्यायोग', 'दूत घटोत्कच', 'कर्णभार', 'उरुभग', 'बालचरित' 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'स्वप्नवासवदत्ता', 'चारुदत्त', 'अविमारक' जैसे नाटक ही शेष रहे हैं। किन्तु कालिदाससे दसवीं शतीतक नाटकोंकी अविच्छिन्न परम्परा प्राप्त होती है। इस बीच कालिदासके 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय', 'अभिज्ञानशकुन्तल', शूद्रकके 'मृच्छकटिक', अश्वघोषके 'सारिपुत्तप्पकरण', दिङ्नाग, के 'कुन्दमाला', विशाखदत्तके 'मुद्राराक्षस', 'विशाखदेव', 'देवी चन्द्रदेव', 'अभिसारिकावञ्चितक', अज्ञात लेखकके 'कौमुदीमहोत्सव', हर्षदेवके 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका', 'नागानन्द', भट्टनारायणके 'वेणीसंहार', भवभूतिके 'उत्तर-रामचरित', 'मालतीमाधव', 'महावीरचरित', हनुमान्के 'हनुमन्नाटक', राजशेखरके 'कर्पूरमजरी', 'बालरामायण', 'विद्धसालभजिका', 'बालमहाभारत', क्षेमीश्वरके 'चण्ड-कौशिक', 'नैषदनन्द', जैसे नाटकोंकी धारा प्रवहमान है। तत्पश्चात् सस्कृत नाटकोंकी धारा क्षीण हो गयी, क्योंकि राजाश्रयकी समाप्तिके साथ-साथ रगमच भी समाप्त हो गया। तथापि क्षेमेन्द्रके 'चित्रभारत', 'कनकजानकी', विल्हणके 'कर्णसुन्दरी', वत्सराजके 'रुक्मिणीहरण', 'समुद्र-मन्थन', जयदेवके 'प्रसन्नराघव', विद्यानाथके 'प्रतापरुद्रिय-कल्याण', उद्दण्डके 'मल्लिकामारुत', रूपगोस्वामीके 'विदग्धमाधव', 'ललितमाधव', 'दानकेलिकौमुदी', कृष्ण मिश्रके 'प्रबोधचन्द्रोदय', वेदान्तकेशिकके 'सकल्पसूर्योदय', गोकुलनाथके 'अमृतोदय', 'रत्नखेट', श्रीनिवास दीक्षितके 'भावनापुरुषोत्तम', वेदभावके 'विद्यापरिणय', भूदेव शुक्लके 'धर्मविजयनाटक', मेघप्रभाचार्यके 'धर्माभ्युदय', 'पाण्डवा-भ्युदय' जैसे नाटक लिखे गये। इन सस्कृत नाटकोंमें रसोन्मेष, महनीय और आदर्श चरित्रोंकी अवतारणा, काव्यात्मक वातावरण, नायककी विजय, सुखान्त आशी, रसानुकूल वस्तु-प्रकृति, अवस्था और सन्धिके निर्वाह, कथाकी सरलता, रगमचीय सज्जा, वेश और वचनके विन्यास, धर्म, अर्थ, कामके समसेवनपर बल दिया गया है। प्राकृत और अपभ्रशमें नाटकोंका प्राय अभाव है।

हिन्दी साहित्यमें अठारहवीं शतीतक काव्यका एकाधिपत्य रहा। प्राय इस कालकी दीर्घ अवधिमें सामाजिक अवस्था, आध्यात्मिक दृष्टिकोण, दु खवाद और वैराग्यकी ओर प्रवृत्ति, अन्तर्मुखता, राजाओं-नवाबोंकी ऊहापोहात्मक काव्यसूक्तियोंमें अभिरुचि, कवियोंकी कविताके प्रति एकान्त रुचि, राष्ट्रीय रगमचका अभाव, तथा गद्यसाहित्यकी हीनता इत्यादि अनेक कारणोंसे नाटकोंका अभाव रहा। विवाहोंमें शास्त्रार्थकी योजना, गाँवोंके स्वाँग, नकल, निम्नवर्गीय जन-समूहके नाच-गान, कठपुतलीके नृत्य, छायाचित्र, भाँडमहैती, रामलीला, रासलीला जैसे लोकनाट्योंके रूपमें नाटकके दर्शन अवश्य हो जाते हैं। लिपिबद्धरूपमें चौदहवीं शतीके विद्यापतिके 'रुक्मिणीहरण', 'पारिजातहरण' नाटकों तथा सोलहवीं शतीके 'रामचरितमानस' और 'राम-चन्द्रिका'के सवादोंमें भी नाटकीयताकी झलक है। सत्रहवीं शतीके केशवके 'विज्ञानगीता', कृष्णजीवनके 'करुणाभरण', हृदयरामके 'हनुमान नाटक', यशवन्त सिंहके 'प्रबोधचन्द्रो-दय', अठारहवीं शतीके नेवाज कविके 'शकुन्तला', देवके 'देवमायाप्रपच', आलमके 'माधवानलकामकन्दला' और उन्नीसवीं शतीके महाराज विश्वनाथ सिंहके आनन्दरघु-नन्दन', मजुके 'हनुमान नाटक', मनसारामके 'रघुनाथ-रूपक', कृष्णशर्मा साधुके 'रामलीलाविहार नाटक', हरिरामके 'जानकीरामचरित नाटक', व्रजवासी दासके 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' जैसे नाटकोंकी परम्परा मिलती है। पर ये वास्तवमें नाममात्रके ही नाटक हैं। ये या तो अधिकाश अनुवादित हैं या रामायण और महाभारतकी

कथाओंपर आधारित पद्यात्मक कृतियाँ हैं। अत नाट्यकलाकी दृष्टिसे व्रजभाषामें लिखा गया गोपालचन्द्र गिरिधरकृत 'नहुष' ही हिन्दीका प्रथम नाटक है।

भारतेन्दुसे पूर्व रामलीला, रासलीला, हनुमानलीला, ढोला-मारू, इन्दर-चित्रलेखाकी प्रेमकथाएँ, पूरनचन्द, गोपीचन्द, हकीकतरायकी संगीतपूर्ण नौटंकियाँ, सांगीत, नकल, नट, भाँड़ोंके खेल इत्यादिमें नाट्यकलाकी जो सामग्री है उसने कोई साहित्यिक नाटक नहीं दिया, किन्तु अठारह सौ पचास ईसवीके पश्चात् एक ओर अमानत कृत 'इन्दर-सभा' (गीतिनाट्य) और उसके अनुकरणपर लिखे गये 'मुछन्दर-सभा', 'बन्दर-सभा', 'नाटक छैल बटाऊ मोहना रानीका', रौनक बनारसीका 'गुलबकावली' और 'इन्साफे महमूद'से जनप्रिय नाटकोंकी और दूसरी ओर मुद्रणयन्त्रकी सुविधा, अँग्रेजी साहित्यके सम्पर्क, संस्कृत, अँग्रेजी, बँगलाके अनुवादों-रूपान्तरोंने साहित्यिक नाटकोंकी परम्परा आरम्भ होती है। भारतेन्दुने सबसे पहले १८६८ ई०में बँगलाके 'विद्यासुन्दर' प्रेमप्रधान नाटकका अनुवाद किया। फिर उनके समकालीन श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'-के आगमनसे खड़ीबोलीमें लिखित साहित्यिक नाटकोंकी परम्पराके मौलिक और अनुवादित नाटकोंका सर्जन आरम्भ हो जाता है।

उन्नीसवीं शतीकी जनरुचिमें आदर्शहीनता, नैतिक पतन और प्रेमके विकृत रूपकी पूजा देखकर पारसी थियेटरोंने जिन नृत्य और संगीतप्रधान किन्तु आदर्शहीन, अश्लील नाटकोंको प्रोत्साहन दिया था, उनके विरुद्ध भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने जनताकी रुचिका परिष्कार करनेके लिए आदर्शवादी नाट्यकलाके उत्थानका प्रयत्न किया। उन्होंने संस्कृत और पारसी रंगमंचीय शिष्टतामें प्रयुक्त पाश्चात्य नाट्यकलाके तत्त्वोंसे अपनी स्वतन्त्र नाट्यकलाका विकास किया। 'श्रीचन्द्रावली' (नाटिका), 'विषस्य विषमौषधम्' (भाण), 'नीलदेवी', 'सती-प्रताप', 'भारत-दुर्दशा' (नाट्यरासक) और 'प्रेमयोगिनी'में संस्कृत नाट्यकलाका प्रभाव है। दूसरी ओर 'अन्धेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'में पारसी थियेटरोंकी कलाका रंग है। भारतेन्दुके सहयोगी नाटककार रीतिकवियोंसे प्रभावित हैं। उनके नाटकोंमें जीवनकी चमत्कारपूर्ण घटनाओंका चयन, प्रवाहहीन कथानक, कार्यकी अनेकरूपता, निरुद्देश्य दृश्यविधान, अस्वाभाविक कथोपकथन, वाग्वैदग्ध्य, व्यक्तित्वहीन पात्रोंके आनयनका आधिक्य है। भले ही उनके नाटकोंमें अन्य रंगमंचके अभावके कारण पारसी रंगमंचकी पद्यप्रधान कलाको ग्रहण किया गया हो, किन्तु उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन न होकर देशहितैषिता, समाज-सुधार और राष्ट्रप्रेम है। वास्तवमें उन्नीसवीं शती उत्तरार्धमें नाट्यकला दो दिशाओं-में विकसित हुई है। एक ओर उसने शेक्सपीयरके रंगमंचसे प्रभावित पारसी रंगमंचको अपनाया है, जिसमें उर्दू कविताकी रंगीनी है, जिसके कथानक फारसीकी प्रेम-कथाओं, पुराणोंकी रोचक कहानियों, अँग्रेजीके रोमान्सकारी साहसपूर्ण नाटकों, आख्यानों, कथाओंसे ग्रहण किये गये हैं। दूसरी ओर वह गोष्ठी नाटकोंकी कलामें व्याप्त हो गयी है, जिसका वातावरण रीतिकवियों जैसा ही है, जिसके कथानक संस्कृत नाटकों तथा पौराणिक आख्यानोंपर आधारित हैं, जिनमें कथाकी वैचित्र्यहीनता और अलंकृत एवं कृत्रिमतापूर्ण शैली मिलती है। ये दोनों ही नाट्यकलाएँ बीसवीं शतीके प्रथम दशकतक प्रवाहके साथ प्रयोगमें आती रही हैं।

भारतेन्दुकालमें प्रकारकी दृष्टिसे संस्कृत नाट्यकलाके आदर्शोंपर रचे गये **साहित्यिक**, अभिनयकी सुविधाओंके अनुकूल लिखे गये **रंगमंचीय**, व्यंग्य और हास्यपूर्ण सोद्देश्य **प्रहसन**, पारसी शैलीके **प्रचारप्रधान** तथा संस्कृत, अँग्रेजी और बँगलासे **अनुवादित** या **रूपान्तरित** पाँच प्रकारके नाटकोंकी रचना हुई है। श्रीनिवास दासके 'रणधीर और प्रेममोहिनी', 'तप्तासंवरण', 'संयोगिता-स्वयंवर', राधाकृष्ण दासके 'दु:खिनी बाला', 'पद्मावती', 'महाराणा प्रताप', किशोरीलाल गोस्वामीके 'मयंकमंजरी', कृष्णशरण देव सिंहके 'माधुरीरूपक', अयोध्यासिंह उपाध्यायके 'श्रीरुक्मिणीपरिणय' जैसे नाटक **साहित्यिक नाटकों**की कोटिमें आते हैं। भारतेन्दुकी प्रेरणासे रंगमंचको ध्यानमें रखकर लिखे गये देवकीनन्दन त्रिपाठीके 'सीता हरण', 'रुक्मिणीहरण', 'रामलीला', 'कंसवध', 'नन्दोत्सव', 'लक्ष्मी-सरस्वती-मिलन', 'प्रचण्ड गोरक्षण', 'बालविवाह', 'गोवधनिषेध', लाला खड्गबहादुर मल्लके 'रतिकुसुमायुध', 'महारास', 'हरतालिका', 'कल्पवृक्ष', अम्बिकादत्त व्यासके 'ललिता', 'गोसंकट', 'भारत सौभाग्य', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'के 'भारत सौभाग्य', बलदेवप्रसाद मिश्रके 'मीराबाई', 'नन्दविदा', तोताराम वर्माके 'विवाह-विडम्बना', दामोदर शास्त्रीके 'रामलीला', प्रतापनारायण मिश्रके 'भारत-दुर्दशा', 'सीता-वनवास', लालीके 'गोपीचन्द', दुर्गाप्रसाद मिश्रके 'प्रभास-मिलन' जैसे **रंगमंचीय नाटक** हैं, जिनमें गायन और नृत्य तथा पद्योंका प्रयोग पारसी नाटकोंके जैसा ही है, किन्तु जिनका उद्देश्य व्यक्ति, समाज और राष्ट्रका हित है। भारतेन्दुके 'अन्धेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', बालकृष्ण भट्टके 'शिक्षादान', देवकीनन्दन त्रिपाठीके 'रक्षाबन्धन', 'एक-एकके तीन-तीन', 'स्त्री-चरित', 'वेश्या-विवाह', 'बैल छः टकेको', जयनाथ सिंहके 'सैकड़ोंमें दस-दस', 'कलियुगी जनेऊ', खड्गबहादुर मल्लके 'भारत आरत', देवकीनन्दन त्रिपाठीके 'कलियुगी विवाह', चौधरी नवल सिंहके 'वेश्या', गोपालराम गहमरीके 'जैसेको तैसा', विजयानन्द त्रिपाठीके 'महाअन्धेर नगरी', देवदत्त शर्माके 'अति अन्धेर नगरी' जैसे **प्रहसन-नाटक** हैं, जिनकी मूल प्रेरणा बहुविवाह, वेश्यावृत्ति, बालविवाह, नशेबाजी, स्त्रीशिक्षा-विरोध, अविद्या, सूदखोरी, पाश्चात्य आचारों-विचारोंकी कृत्रिमता, आचार-भ्रष्टता जैसी सामाजिक दुष्प्रवृत्तियोंसे मिली है। अनुवादित या रूपान्तरित नाटकोंमें संस्कृतसे राजा लक्ष्मण सिंहके 'शकुन्तला', भारतेन्दुके 'विद्यासुन्दर' (संस्कृतके चोर कविकृत—पर बँगलासे रूपान्तरित), 'पाखण्डविडम्बन', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'रत्नावली', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी', 'धनंजयविजयव्यायोग', लाला सीताराम बी० ए० के 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित',

'मालतीमाधव', 'मालविकाग्निमित्र', 'मृच्छकटिक', 'नागानन्द', देवदत्त तिवारीके 'उत्तररामचरित', नन्द विश्वनाथके 'उत्तररामचरित', रामेश्वर भट्टके 'रत्नावली', बालमुकुन्द गुप्तके 'रत्नावली', ज्वालाप्रसाद मिश्रके 'वेणीसंहार', कृष्णबलदेव वर्माके 'भर्तृहरि राजत्याग', शीतलाप्रसादके 'प्रबोधचन्द्रोदय', **अँग्रेजीसे** तोताराम वर्माके 'दो वृत्तान्त', रत्नचन्द्रके 'भ्रमजाल', भारतेन्दुके 'दुर्लभ बन्धु', मथुराप्रसाद उपाध्याय शर्माके 'साहसेन्द्र साहस', गोपीनाथके 'मनभावन', 'प्रेमलीला', आर्याके 'वेनिस नगरका व्यापारी', **बँगलासे** रामकृष्ण वर्माके राजकिशोर दे-कृत 'पद्मावती', द्वारिकानाथके गांगुलीकृत 'वीर नारी', मधुसूदनकृत 'कृष्णाकुमारी', उदितनारायणके मनमोहन-कृत 'सती नाटक', 'दीपनिर्वाण', 'अश्रुमती', व्रजनाथके माइकेल मधुसूदनके 'एकी की बोले सभ्यता ?'-के 'क्या इसीको सभ्यता कहते हैं', केशवराम भट्टके 'शरत और सरोजिनी'के आधारपर रचित 'सज्जाद सम्बुल', 'सुरेन्द्रमोहिनी'के आशयपर लिखित 'शमशाद सौसन' जैसे नाटक आते हैं। हाफिज मुहम्मद अब्दुल तथा मिर्जा नजीर बेगके 'इश्क शीरीं व फरहाद', 'राजा सखी कृष्ण अवतार', 'किस्सा माहगीर व दिलवरका', 'नयी चन्द्रावली लासानी' इत्यादि नाटकोंकी पारसी शैलीपर चुन्नीलालके 'हरिश्चन्द्र', महताब राय कायस्थके 'हरिश्चन्द्र', 'रामलीला', मथुरादासके 'चन्द्रावली', बख्श इलाही नामीके 'नागर सभा', 'नामी सभा', 'आशिक सभा' जैसे नाटक लिखे गये। इनकी भाषा-शैली उर्दू-फारसीके शब्दोंसे भरी-पुरी है तथा इनमें ठुमरी दादरा, दोहा-छप्पय, गजल-गानों-की भरमार है।

बीसवीं शतीके द्वितीय दशकसे हिन्दी नाटकके विकास-की दूसरी अवस्था आरम्भ होती है। सन् १९१२ में 'कुरुवनदहन'से नाट्यकलाके रूपमें एक नवीन परिवर्तन आरम्भ हुआ, जो माधव शुक्लके 'महाभारत', मिश्रबन्धुके 'नेत्रोन्मीलन', 'पूर्व भारत', बदरीनाथ भट्टके 'दुर्गावती', 'वेनचरित्र', 'तुलसीदास', माखनलाल चतुर्वेदीके 'कृष्णार्जुन-युद्ध', गोविन्दवल्लभ पन्तके 'वरमाला', गोपालराम गहमरीके 'वनवीर नाटक', चन्द्रराज भण्डारीके 'सिद्धार्थ कुमार', 'प्रसाद'के 'अजातशत्रु'में और अधिक प्रगाढ रूप ले लेता है। इनमेंसे प्रत्येक नाटकमें एक साथ ही कथानकका वैचित्र्य, मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, हास्यके दृश्योंकी योजना, आधुनिक जीवनका वातावरण, स्वाभाविक संलाप, साहित्यिक भाषा, स्थितिके अनुकूल सुरुचिपूर्ण गीत्यात्मक पद्यका प्रयोग, रसवत्ता इत्यादि गुण विकसित हो गये हैं। इनका एक साथ सम्मेलन इसमे पूर्वके किसी भी नाटकमें नहीं मिलता। 'प्रसाद'के 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय', 'प्रायश्चित्त', 'राज्यश्री'से स्वच्छन्दतावादी कलाका जन्म होता है, जिसमें कथानककी जटिलता, स्वच्छन्द चरित्रोंकी दार्शनिकता, भावुकता, भाषामें गद्यात्मकता, अलंकृत शैली, भाव, विचार, सभी काव्यके रसमें डूबे हुए हैं। रूपके साथ नाटकीय विधानमें भी विकास हुआ। शिक्षाके प्रसार, बहुमुखी रुचिके विकास, विविध विषयोंके विस्तार, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, पाश्चात्य नाट्यकलाके प्रभाव, सामयिक जीवनमें अभिरुचि इत्यादि अनेक कारणोंसे संस्कृत नाट्यकलाके धर्म और रसके प्राचीन आदर्श शिथिल हो गये। अब उनके स्थानपर कथानक और चरित्र नाटकके प्राण हो गये। अतः इस कालके नाटकोंमें **नान्दी, प्रस्तावना**के त्याग, कथानकके सौन्दर्यके लिए घटना-वैचित्र्य और कथाकी वक्रताके प्रदर्शनके लिए अंकोंमें अनेक दृश्योंकी अवतारणा, सन्धि-निर्वाहकी शिथिलता, प्रायः तीन अंकोंमें ही कार्य-समाप्ति, विकल्पानुसार अंक-विधान, कार्यके स्थानपर वार्तालाप, स्वगत-भाषण और पृथक् सम्भाषणकी विवेकपूर्ण आयोजना, शब्द-ध्वनियोंके स्थानपर शब्दार्थोंसे वातावरणकी सृष्टि, भिन्न-भिन्न पात्रोंसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी भाषा तथा गीतिपूर्ण पद्यके प्रयोगकी प्रवृत्ति है।

बीसवीं शतीके प्रथम चतुर्थांशमें नाटकोंकी मूल प्रेरणा रामायण, महाभारत, पुराणोंके महिमामय चरित्रों, लोककथाओं, लैला-मजनू, शीरीं-फरहादकी प्रेम-कहानियों, अँग्रेजीके प्रेमाख्यानों, रोमांसिक नाटकों, ऐतिहासिक पुरुषों एवं घटनाओं और राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक सुधारोंसे प्राप्त हुई है। चरित्र और कथानककी दृष्टिसे इस कालमें रामलीला, रासलीला, संगीतके अतिरिक्त प्रेमप्रधान साहसिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामयिक, सामाजिक तथा रूपात्मक नाटकोंकी धारा मिलती है। **साहसिक नाटकों**में अतिनाटकीयता, प्रेम, घृणा, द्वेषके रोमांचकारी स्थल, सत्य और धर्मकी विजयके प्रदर्शन, अयथार्थता, अस्वाभाविकता, अश्लीलता, दैव-घटना और संयोग-विषयकी एकांगिता, जीवनके प्रति एकपक्षीय दृष्टि, स्त्री-पुरुष पात्रोंमें प्रकारविशेष और निश्चित वर्गके होनेकी प्रवृत्ति है। ये नाटक अधिकांश पारसी कम्पनियों-की ओरसे उपस्थित किये गये हैं। जलाल अहमदशाद-कृत 'ख्वाबे हस्ती' इसी कोटिकी रचना है। **पौराणिक नाटकों**-में विनायकप्रसाद तालिब बनारसीसे चली आती हुई परम्पराका विकास नारायणप्रसाद बेताबके 'महाभारत'-(१९१२)से पुनः आरम्भ होता है। इस कोटिके नाटकोंमें धार्मिक कथानक, अतिप्राकृत प्रसंग, उपदेशकी प्रवृत्ति, प्राचीन वरिष्ठ चरित्रोंकी प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। अतिमानवीय प्रसंगोंपर आधारित बदरीनाथ भट्टके 'कुरुवनदहन', 'वेनचरित', 'तुलसीचरित', माधव शुक्लके 'महाभारत', 'रामायण', माखनलाल चतुर्वेदीके 'कृष्णार्जुन-युद्ध', मैथिलीशरण गुप्तके 'चन्द्रहास', 'तिलोत्तमा', चन्द्रराज भण्डारीके 'सिद्धार्थ कुमार' विश्वम्भरनाथ कौशिकके 'भीष्म', सुदर्शनके 'अंजना', मिश्रबन्धुके 'पूर्व भारत', 'प्रसाद'के 'सज्जन', 'जनमेजयका नागयज्ञ', बलदेवप्रसाद मिश्रके 'शंकर-दिग्विजय', 'प्रभास-मिलन', 'राजा शिवि', हसरतके 'महात्मा कबीर', तुलसीदत्त शैदाके 'जनकनन्दिनी', बिल्वमंगल' तथा उपदेशात्मकतापूर्ण बेताबके 'पत्नीप्रताप' या 'सती अनसूया', यमुनादास मेहराके 'विश्वामित्र', राधेश्याम कथावाचकके 'उषा-अनिरुद्ध', गोविन्दवल्लभ पन्तके 'वरमाला', विचित्र कविके 'द्रौपदी-चीरहरण' जैसे पौराणिक नाटक हैं।

ऐतिहासिक नाटकोंके कथानक मिश्र, जटिल और उलझे

हुए हैं। इनका विकास स्वच्छन्दतावादी है। उनमें स्वाभाविक वार्तालाप, उक्ति-वैचित्र्य, पात्रोंमें व्यक्तित्वकी स्थापना, रमणीय भाव-व्यंजना, प्रशस्त काव्य-प्रवाह, कवित्वपूर्ण भाषा-शैलीकी ओर झुकाव है। 'प्रसाद'के 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', सुदर्शनके 'अंजना', 'उग्र'के 'महात्मा ईसा', बदरीनाथ भट्टके 'चन्द्रगुप्त', प्रेमचन्दके 'कर्बला', गोपालराम गहमरीके 'वनवीर', मनसुखलाल सोजातियाके 'रणबाँकुरा चौहान', कृष्णलाल वर्माके 'दलजीत सिंह' जैसे नाटक इसी कोटिके हैं। **सामयिक सामाजिक नाटक**—समाजकी अनेक कुरीतियों, प्रथाओंको लक्ष्य करके कुछ गम्भीर और कुछ हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैलीमें लिखे गये हैं। आगा हश्र कश्मीरीने एक ही नाटकमें पुराणोंसे गृहीत गम्भीर कथानक तथा सामाजिक कुरीतियोंसे सम्बन्धित हास्यपूर्ण कथानक रखनेकी प्रथा चलायी। इस कोटिका प्रारम्भ जी० पी० श्रीवास्तव और राधेश्याम कथावाचकके नाटकोंसे होता है। जी० पी० श्रीवास्तवके मोलियरके रूपान्तरित 'मार-मारकर हकीम साहब' उर्फ 'चड्ढा गुल्खैरू' तथा 'मरदानी औरत', 'नोंक-झोंक', 'उलटफेर', 'दुमदार आदमी' संग्रहके नाटक, 'उग्र'के 'उजबक', 'चार बेचारे', 'लवड़ धोंधों', राधेश्याम मिश्रके 'कौंसिलकी मेम्बरी', सुदर्शनके 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' जैसे नाटक हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैलीमें और गम्भीर शैलीमें मिश्रबन्धुके 'नेत्रोन्मीलन', आगा हश्र कश्मीरीके 'पतिभक्ति', राधेश्याम कथावाचकके 'परिवर्तन', यमुनादास मेहराके 'पाप-परिणाम', जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदीके 'मधुर मिलन', प्रेमचन्दके 'संग्राम', लक्ष्मण सिंहके 'गुलामीका नशा', 'भारत-दर्पण या कौमी तलवार', 'भारतवर्ष', जैसे नाटक सन्निविष्ट किये जा सकते हैं। **रूपात्मक नाटकों**की कोटिमें 'प्रसाद'के 'कामना', ज्ञानदत्त सिंहके 'मायावी' जैसे नाटक आते हैं, जिनमें निश्चेतन पदार्थ तथा अमूर्त भाव स्त्री-पुरुषके प्रतीक बनकर आये हैं।

इस प्रकार बीसवीं शतीके पचीसवें अब्दतक नाट्य-साहित्य पारसी थियेटरोंके मनोरंजनप्रधान और सुरुचिपूर्ण गोष्ठी-नाटकोंसे नैतिकताप्रधान तथा नैतिकताप्रधान नाटकोंसे कलाप्रधान नाटकोंकी ओर विकसित हुआ है।

बीसवीं शतीके प्रथम चतुर्थांशके पश्चात् नाटकका विकास उसके **एकांकी** (दे०) और अनेकांकी, दोनों रूपोंमें हुआ है। अनेकांकी नाटकोंमें तीनसे पाँच अंकतकके नाटक मिलते हैं। 'प्रबुद्ध यामुन' और 'गरीबी या अमीरी'में पाँच अंक हैं, किन्तु लक्ष्मीनारायण मिश्रके नाटक तीन अंकोंमें ही समाप्त हो गये हैं। वास्तवमें दृश्योंकी योजनाके कारण अंकोंकी संख्या कम हो गयी है। यह दृश्य-विधान ऐच्छिक है। कथाकी विचित्रता, किसी प्रधान उद्देश्यकी पूर्ति या अभिनयकी आवश्यकताके अनुसार दृश्योंका विभाजन कर लिया गया है। उदाहरणके लिए, रूपनारायण पाण्डेयका 'सम्राट् अशोक' लिया जा सकता है। **शैलीकी दृष्टिसे** आधुनिक नाटकोंके दो वर्ग किये जा सकते हैं, एक संस्कृत नाट्यकलाके आदर्शोंपर या उनके प्रभावसे रचे गये नाटक, दूसरे, पाश्चात्य शैलीके अनुकरण या विचारोंसे प्रभावित होकर लिखे गये नाटक। पहली श्रेणीके नाटकोंमें प्रस्तावना, नायकके असाधारण व्यक्तित्व, उसकी निश्चित विजय, सुखान्तकी दृष्टि, रंग-संकेतोंके अभाव, काव्यात्मक परिस्थिति, भावुकता, कविता, संगीत-नृत्यकी योजना, अन्तःसंघर्षकी कमी, कथाकी उद्देश्योन्मुख प्रगति, विदूषक या उसके अभावमें किसी पात्रके द्वारा हास्यमय प्रसंगोंकी अवतारणा, स्वगत कथनके यथास्थान प्रयोगकी प्रवृत्ति लक्षित है, जो 'जयन्त', 'प्रतापप्रतिज्ञा', मिश्रबन्धुके 'शिवाजी', हरिकृष्ण प्रेमीके नाटकों, 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', लक्ष्मीनारायण मिश्रके 'अशोक', आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तवके 'अछूत', सियारामशरण गुप्तके 'पुण्यपर्व' तथा 'आधी रात'में स्पष्ट हो गयी है।

दूसरे वर्गके नाटक फ्रायड, जुंग, एडलरके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों, मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहासकी अर्थमूलक व्याख्या और मोलियर, ब्यूह, गेटे, लेसिंग, शॉ, इब्सन, स्ट्रिण्डबर्ग, गोगल, टाल्स्टाय, चेखव, गोर्की, मेतरलिंक, इयोजीन ओनील, काकमैन, पेरेन्देलो, लोर्का, क्लाउदेल, एनाउल, सार्त्र, विलियम्स, चार्ल्स मार्गन, ग्रेहमग्रीन, क्रिस्टोफरफ्राई, टी० एस० इलियट, जीन काकतो जैसे नाटककारोंकी नाट्यकलाके प्रभावसे लिखे गये हैं। यह प्रभाव या तो बँगला साहित्यसे होकर आया या अँग्रेजी साहित्यसे। बँगला साहित्यके प्रभावसे हिन्दी नाटकोंमें राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक चेतना, नारी-सम्मान, कवित्वमय शैली, भावात्मकता, कथानककी इतिवृत्तात्मकता, भावोंकी व्यंजनात्मकता आयी है। पश्चिमसे सीधे आनेवाले प्रभावोंने भी नाटककी कलामें परिवर्तन उपस्थित किये हैं। अतः नाटकोंमें स्वच्छन्दतावाद व्याप्त हो गया है, जिसके कारण प्राचीन आदर्शोंके प्रति उदासीनता, समाजके सभी वर्गोंके प्रवेश, प्रकृतिके भावनामय रूपांकन, नारी-पुरुषके मानसिक द्वन्द्व-चित्रणका आग्रह, यौनाकर्षण, मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रणकी अधिकता दृष्टिगोचर होती है, जो 'दुर्गावती', 'राजमुकुट', 'प्रतिशोध', 'मुक्तिका रहस्य', 'पुरस्कार' जैसे नाटकोंमें स्पष्टतया देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त बौद्धिक दृष्टिकोणके कारण विवेककी जागरूकता, तटस्थता, नाटकोंके विषयोंके लिए प्रागैतिहासिक कालसे आजतककी सामग्रीके ग्रहणकी रुचि, स्वाभाविकता, नाटकीयता, साहित्यिकता इत्यादि मिलती है, जिसका उपयोग 'संन्यासी', 'कर्तव्य', 'कैकेयी', 'धीरे-धीरे', 'आवारा' जैसे नाटकोंमें हुआ है।

पाश्चात्य प्रभावने नाटकके स्वरूपमें भी परिवर्तन कर दिया है। फलतः नाटकोंमें पाँचसे तीन अंकोंमें संकोच, एकांकी-प्रलेखन, सापेक्ष्य दृश्य-योजना, संगीत कवित्वकी अवाछित अनिवार्यताके त्याग, प्रस्तावना, नान्दी, भरतवाक्यसे अलगाव इत्यादिकी प्रवृत्ति मिलती है। सुखान्तके दृष्टिकोणसे दूर, लक्ष्य और प्रभावकी दृष्टिसे कथाको सुखान्त या दुःखान्त बनानेका प्रयत्न किया गया है। पात्रोंकी वेशभूषा, उनके चरित्र, अभिनयके स्थान, नाटकके आरम्भिक कार्यों सम्बन्धी तथा रंगमंचीय शिष्टाचारके लिए प्रतिन्यास और सूचनाओं तथा नाटकके ध्येयको व्यंजित करनेके लिए प्रतीकोंका प्रयोग हुआ है। इनका व्यवहार 'अपराधी', 'विवाहके दिन', 'देवताओंकी छायामें' देखा जा सकता है।

नाट्यशैलीकी दृष्टिसे भी नवीन प्रकारोंके नाटकोंकी रचना हुई है। कृष्ण मिश्रके 'प्रबोधचन्द्रोदय', स्पेन्सरकी 'फेयरी क्वीन', 'पिल्ग्रिम्म प्रोग्रेस', 'क्रिश्चियन पैरेविल्स'की परम्परामें **नाट्यरूपक** लिखे गये हैं। प्रस्तुत पात्रोंसे अप्रस्तुत भावोंकी व्यजना करानेवाले 'प्रसाद'के 'एक घूँट', सेठ गोविन्ददासके 'नव रस', प्राकृतिक तत्त्वोंमें सेन्द्रिय नारी-पुरुषोंकी प्रतिष्ठा करनेवाले चन्द्रभानु सिंहके 'चन्द्रिका', सुमित्रानन्दन पन्तके 'ज्योत्स्ना' और भावोंके विचारोंका सामूहिक रूपक उपस्थित करनेवाले भगवतीप्रसाद वाजपेयीके 'छलना', उदयशकर भट्टके 'जवानी', शम्भूनाथ सिंहके 'धरती और आकाश' जैसे नाटक इसी श्रेणीकी कृतियाँ है। इनके अतिरिक्त भगवतीचरण वर्माके 'तारा', उदयशकर भट्टके 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगन्धा', 'राधा', सुमित्रानन्दन पन्तके 'रजतशिखर', 'फूलोंका देश', 'शरत् चेतना', 'शिल्पी', 'ध्वसशेष', 'अप्सरा', 'निराला'के 'पचवटी-प्रसग' जैसे **पद्यप्रधान गीतिनाट्य**, गोविन्दवल्लभ पन्तके 'वरमाला', 'अन्त पुरका छिद्र', उदयशकर भट्टके 'अम्बा', चतुरसेनशास्त्रीके 'राधाकृष्ण', मुरारिशरणके 'मीरा' जैसे गद्यप्रधान **भावनाट्य**, सेठ गोविन्ददासके 'चतुष्पथ', 'शाप और वर' जैसे **एकपात्रीय नाटक** (मोनोड्रामा), अश्कके 'पहेली' जैसे **झाँकी**, सेठ गोविन्ददासके 'विकास', अश्कके 'छठा वेटा' जैसे **स्वप्न नाटक** और रामकुमार वर्माके 'बादलकी मृत्यु' जैसे **कल्पनामूलक** (फैण्टेसी) नाटकोंका प्रणयन हुआ है।

उपादान और विषयकी दृष्टिसे आधुनिक कालमें यमुनादास मेहराके 'मोरध्वज', उदयशकर भट्टके 'विश्वामित्र', 'राधा', सगरविजय', रामनाथ त्रिपाठीके 'श्रवणकुमार', लक्ष्मीनारायण मिश्रके 'नारदकी वीणा', राधेश्याम कथावाचकके 'सती पार्वती', चतुरसेन शास्त्रीके 'सीताराम', 'राधाकृष्ण', सेठ गोविन्ददासके 'कर्त्तव्य', मुरारिलाल मागलिकके 'मीरा', 'राम' जैसे **पौराणिक**, 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य', 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'ध्रुवस्वामिनी', गोविन्ददासके 'शशिगुप्त', हरिकृष्ण प्रेमीके 'स्वप्नभंग' जैसे **ऐतिहासिक**, रामकुमार वर्माके 'शिवाजी', अश्कके 'जयपराजय', गौरीशकर सत्येन्द्रके 'मुक्तियज्ञ', मिश्रबन्धुके 'शिवाजी', उदयशकर भट्टके 'दाहर', गोविन्दवल्लभ पन्तके 'राजमुकुट' जैसे **नैतिक**, भुवनेश्वरके 'कारवाँ'के एकाकी, गणेशप्रसाद द्विवेदीके 'सोहागबिन्दी', रामकुमार वर्माके 'छोटी-सी बात', 'फेल्ट हैट', 'आँखोंका आकाश' इत्यादि **व्यक्तिकी समस्या**के नाटक है। सेठ गोविन्ददासके 'गरीबी या अमीरी', अश्कके 'लक्ष्मीका स्वागत', 'देवताओंकी छायामें', गोविन्दवल्लभ पन्तके 'अगूरकी वेटी', उदयशकर भट्टके 'दस हजार', आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तवके 'अछूत', रामनरेश त्रिपाठीके 'जयन्त', 'वफाती चाचा', सेठ गोविन्ददासके 'विकास' जैसे **सामाजिक समस्या**के नाटक तथा अश्कके 'जोंक', 'आपसका समझौता', रामकुमार वर्माके 'रूपकी बीमारी', वियोगी हरिके 'प्रबुद्ध यामुन', जनार्दन रायके 'आधी रात' जैसे हास्य-व्यग्यप्रधान या हास्यके मधुर प्रसगोंसे पूर्ण नाटकोंकी सृष्टि हुई है।

आज नाटक आकारमें लघुता, उद्देश्यमें सूक्ष्म मनोविश्लेषण तथा माध्यममें पाठ्य और कलात्मक अभिनयकी ओर जा रहा है। —वि० रा०

नाटिका १.–नृत्य और नृत्तप्रधान भावाश्रित उपरूपकका भेद है, जो नाटक और प्रकरणके सकरसे बना है। उसकी कथावस्तु प्रकरणसे ली जाती है, जो कविकल्पित होती है। उसका धीरललित नायक नाटकसे गृहीत होता है। उसमें स्त्री पात्रोंकी प्रधानता होती है। दो नायिकाएँ होती है। ज्येष्ठा नायिका प्रगल्भा, राजवशीय, गम्भीर स्वभावकी देवी (महारानी) होती है, किन्तु अतिशय मान करती है। कनिष्ठा नायिका भी नृपवशजा, सुन्दरी, किन्तु मुग्धा होती है। नायकका इससे मिलन कष्टपूर्ण होता है और वह भी ज्येष्ठा देवीके हाथमें रहता है। अन्त पुर आदिसे सम्बन्ध रखनेके कारण राजा उससे प्रेम करने लगता है, जो धीरे-धीरे परिपक्व हो जाता है। नायक महारानीसे सशकित रहनेके कारण छिप-छिपकर अनुराग-चेष्टा किया करता है। उसमें अगी रस शृगार और चार अंकोंकी योजना की जाती है और कैशिकीके नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ भी क्रमश चारों अकोंमें प्रयुक्त किये जाते हैं। उसमें विमर्श सन्धिका या तो अभाव या कुछ भाव रहता है, किन्तु शेष चारों सन्धियाँ व्यवहृत होती हैं। कुछ विद्वान् एक या दो तीन अकोंकी नाटिका भी मानते हैं। उदा०–'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' 'चन्द्रप्रभा','विद्धशालभजिका', विल्हणकृत 'कर्णसुन्दरी'। हिन्दीमें भारतेन्दुकी 'चन्द्रावली नाटिका' है। —वि० रा०

नाटिका २–नाटिका **उपरूपक** सम्भवत भरत मुनिवर्णित नटीका विकसित रूप है। भरत मुनिका मत है कि **नाटक** और **प्रकरण**के योगसे नाटिकाका उद्भव होता है–'प्रत्याख्यातस्त्वितरो वा नाटकयोगे प्रकरणौ च।' उनका मत है कि इसकी वस्तु कल्पित हो और नायक राजा हो। इसमें स्त्री पात्रोंकी बहुलता, चार अक, ललित अभिनय, सुगठित अग, विविध गीत-नृत्य-वाद्य हों और रति सम्भोग वर्णनकी विशेषता हो, राजोपचारयुक्त व्यवहारमें क्रोध एव उसकी प्रशान्ति तथा दम्भमय कृत्य हों, राजा नायक, उसकी रानी, नायक-दूती एव परिजन जिसके पात्र हों (नाट्यशास्त्र, १८ अध्याय, १०९, १११)।

अभिनव गुप्तने नायिकाके सम्बन्धमें एक नयी धारणा उपस्थित की है। उनका मत है कि भरत मुनिने रति-सम्भोगादिका वर्णन तो नव-नायिकाके लिए किया है और क्रोध-प्रसादनदम्भादि देवीके लिए।

दशरूपककारने नाटिकाके इतिवृत्तको **प्रकरण** और **नायक**को **नाटक**के नियमानुसार बताया है। अकके विषयमें उनका मत है कि इसमें एक, दो, तीन अथवा चार अक हो सकते है। देवी (बडी रानी) मानिनी होनी चाहिये और नायिका मुग्धा, दिव्या और सुन्दरी हो। नायिका राजाकी पार्श्ववर्तिनी हो, किन्तु वह देवीके क्रोध-भयमे सशकित रहे (द० रू० ३, ४६, ५२)।

नाट्यदर्पणकार दो नायिकाएँ–देवी और कन्या मानते है। दोनो प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध हो सकती है (पृ० १२०, १२०)।

शारदातनयका मत हे कि **नायक** प्रख्यात व्यक्ति और

धीरललित हो, रस शृंगार, वृत्ति कैशिकी, अवमर्श रहित अन्य सन्धियाँ, विटका अभाव हो (भा० प्र०, पृ० २४३)।

विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में पूर्वाचार्योंके मतका समाहार करते हुए नाटिकाका इस प्रकार लक्षण दिया है—नाटिकाकी कथा कविकल्पित होता है। इनमें चार अंक होते हैं। अधिकांश पात्र स्त्रियाँ होती हैं। नायक प्रसिद्ध एवं धीरललित राजा होता है। रनिवाससे सम्बन्ध रखनेवाली या राजकुलोत्पन्ना कोई गायन प्रवीणा अनुरागवती कन्या नायिका होती है। महारानीके भयसे नायक राजा अपने प्रेमको सशंकित होकर प्रकट करता है। महारानी राजवंशकी प्रगल्भा नायिका होती है। वह पद-पदपर मान करती है। नायक और नवीन नायिकाका समागम उसीके अधीन रहता है। इसमें शृंगार रसकी प्रधानता रहती है। कैशिकी वृत्तिकी योजना चारों अंकोंमें होती है। विमर्ष-सन्धि बहुत कम होती है, शेष चारों सन्धियाँ होती हैं। इसके उदाहरण हैं 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका', 'चन्द्रप्रभा', 'विद्धशालभंजिका' आदि।

भारतेन्दुने नाटिकाका लक्षण इस प्रकार लिखा है—नाटिकामें चार अंक होते हैं और स्त्रीपात्र अधिक होते हैं तथा नाटिकाकी नायिका कनिष्ठा होती है, अर्थात् नाटिकाके नायककी पूर्वप्रणयिनीके वशमें रहती है। उदा०—'रत्नावली', 'चन्द्रावली' इत्यादि। —द० ओ०

नाट्यमहाकाव्य—नाटक और महाकाव्यके काव्यरूपोंमें प्रधान अन्तर यह है कि नाटकमें लेखक स्वयं कुछ नहीं कहता, उसे जो कुछ कहना होता है, पात्रोंके मुखसे कथोपकथनके रूपमें कहलाता है, किन्तु महाकाव्यमें वर्णनात्मक पद्धति अपनायी जाती है। अर्थात् उसमें कथोपकथनके साथ-साथ कविको वर्णनके रूपमें स्वयं भी बहुत-कुछ कहनेकी स्वतन्त्रता होती है। इस दृष्टिसे महाकाव्यमें नाटक, गीतिकाव्य और कथाकाव्य, तीनोंके रूपतत्त्व वर्तमान होते हैं। किन्तु कुछ महाकाव्य ऐसे भी होते हैं जिनमें आद्यन्त नाटकोंकी कथोपकथनवाली पद्धति ही अपनायी गयी रहती है, यद्यपि वे नाटक नहीं होते और न अभिनयके लिए उनकी रचना ही होती है। ऐसे ही महाकाव्योंको नाट्यमहाकाव्य कहा जाता है।

प्राचीन कालमें यूनानमें दुःखान्त नाटक पद्यबद्ध होते थे और यही पद्धति अँग्रेजीमें शेक्सपीयर आदि अनेक मध्यकालीन नाटककारोंने भी अपनायी। किन्तु पद्यबद्ध होनेके कारण ही इन नाटकोंको नाट्यमहाकाव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी रचना अभिनयके लिए हुई थी, वे दृश्यकाव्य हैं, *श्रव्यकाव्य नहीं*। नाटकके दृश्य और महाकाव्यके श्रव्यकाव्य होनेके कारण दोनोंके कथानककी संघटना, वर्णन-विधि, शैली और प्रभावमें भी बहुत अन्तर आ जाता है। अतः केवल आद्यन्त कथोपकथनकी पद्धति अपनानेके कारण ही कोई महाकाव्य नाटक नहीं कहा जा सकता। यदि उसमें श्रव्यकाव्य अथवा महाकाव्यके अन्य गुण वर्तमान हैं तो वह काव्य या महाकाव्य ही माना जायगा।

नाटक और महाकाव्यके इस भेदको अरस्तूने बहुत अच्छी तरह समझा है। उसके अनुसार 'महाकाव्यका कथानक इतना लम्बा नहीं होना चाहिये कि एक दृष्टिसे उसका आदि, मध्य और अन्त न दिखलाई पड़े, पर उसे नाटकके समान बहुत छोटा भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि नाटकमें एक ही समयपर घटित होनेवाली अनेक घटनाओंका बारी-बारीसे वर्णन किया जा सकता है, क्योंकि उसमें कालान्विति (यूनिटी ऑव टाइम) उतनी आवश्यक नहीं है। इसीसे महाकाव्य स्वभावतः नाटकसे बहुत बड़ा हो जाता है।' (पोइटिक्स ऑव एरिस्टाटिल—एव्री मैन्स लाइब्रेरी—१९४९, पृ० ४७-४८)। अरस्तूने वस्तु-योजनाकी दृष्टिसे नाटक और महाकाव्यका यह अन्तर बताया है—'नाटकोंमें दर्शकको आश्चर्यचकित करनेकी ही आवश्यकता होती है। पर महाकाव्यमें उससे आगे बढ़कर असम्भव और अविश्वसनीय बातों और घटनाओंका भी वर्णन किया जाता है, महाकाव्य अभिनेय नहीं होता, इसीसे उसमें इस तरहकी अनभिनेय या असम्भव बातोंकी योजना की जाती है।' (वही पृष्ठ ४९)। प्रभावकी दृष्टिसे अरस्तूने यह अन्तर बताया है कि 'अवान्तर कथाओंसे महाकाव्यके गाम्भीर्य और गुरुत्वकी वृद्धि होती है और साथ ही पाठकों-श्रोताओंको औत्सुक्य-शान्ति और विश्रान्ति भी प्राप्त होती है। नाटकोंमें घटनाओं और चरित्रोंका यह रूपवैविध्य नहीं होता, जिससे उन्हें वैसी सफलता नहीं मिलती जैसी महाकाव्योंको मिलती है।' (वही पृ० ४०)।

नाटक और महाकाव्यका यह अन्तर जानना इसलिए आवश्यक है कि नाट्यमहाकाव्यमें नाटक और महाकाव्य, दोनोंके रूपतत्त्वोंका सम्मिश्रण होता है और बिना इस अन्तरको समझे, यह स्पष्ट नहीं हो सकता कि कोई छन्दोबद्ध नाटक नाट्यमहाकाव्य क्यों नहीं है अथवा कोई कथोपकथनात्मक महाकाव्य या नाट्यमहाकाव्य छन्दोबद्ध नाटक क्यों नहीं है। अरस्तूके विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि केवल कथोपकथनकी पद्धति अपनानेसे ही न तो कोई पद्य-प्रबन्ध नाटक माना जा सकता है और न पद्यबद्ध होनेके कारण ही कोई नाटक महाकाव्यकी कोटिमें गिना जा सकता है। वस्तुतः दोनोंके गुण और जातिमें भेद है। अतः नाट्यमहाकाव्य वह पद्यबद्ध काव्य है जिसमें नाटककी कथोपकथनकी पद्धति और नाटकीय सन्धियोंसे युक्त अन्विति तो होती है, पर जो अभिनेय नहीं होता, क्योंकि उसका कथानक नाटककी अपेक्षा अधिक लम्बा, वैविध्यपूर्ण और अवान्तर कथाओं तथा अनभिनेय दृश्योंसे युक्त होता है और जिसमें नाटककी अपेक्षा, गुरुत्व और गाम्भीर्य अधिक होता है। निष्कर्ष यह है कि महाकाव्यके जो स्थिर लक्षण होते हैं, वे यदि किसी नाट्य पद्य-प्रबन्धमें पाये जायँ तो उस प्रबन्धको नाट्यमहाकाव्य कहा जायगा। यदि वह प्रबन्ध न तो महाकाव्य बन पाया है और न नाटक तो उसे नाटकीय शैलीका प्रबन्धकाव्य कहा जायगा और यदि वह अभिनेय है और उसमें नाटकके गुण अधिक हैं तो उसे पद्यनाटक या गीतिनाट्य कहेंगे। यूरोपीय साहित्यमें जर्मन कवि गेटेका 'फाउस्ट' तथा अँग्रेजी कवि टामस हार्डीका 'द डाइनेस्ट' नाट्यमहाकाव्य हैं। हिन्दीमें केशवदासकी 'रामचन्द्रिका'-को यदि महाकाव्य माना जाय तो उसे भी नाट्यमहाकाव्य कह सकते हैं क्योंकि उसमें आद्यन्त

कथोपकथनकी पद्धति अपनायी गयी है और बोलनेवालोंके नाम छन्दोंके बाहर अलगसे दिये गये है, जैसा नाटकोंमें होता है। साथ ही 'रामचन्द्रिका' अभिनेय नहीं है और न उसमें नाटकके अन्य गुण ही पाये जाते हैं, पर बहुतसे विद्वानोंने 'रामचन्द्रिका'के महाकाव्य होनेमें शंका प्रकट की है, अत उसे नाट्यप्रबन्धकाव्य कहना ही अधिक समीचीन है। —श० ना० सिं०

नाट्यरासक–इसमे एक अक, उदात्त नायक, पीठमर्द उपनायक, शृगारका समावेश और हास्य रसका प्राधान्य रहता है। इसमें नायिका वासकसज्जा, मुख और निर्वहण-सन्धियोंका प्रयोग रहता है। कोई-कोई विद्वान् इसमें प्रतिमुख-सन्धिको छोड़कर चारों सन्धियाँ मानते हैं। यह दो सन्धियोंका भी होता है। इसमें लास्यके गेय पद, स्थित पाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढक, सैन्धव, द्विगूढ, उत्तमोत्तमक तथा उक्त-प्रयुक्त जैसे दसों अगोंकी योजना रहती है और ताल और लयका भी विधान होता है। उदा०—'विलासवती' (चार सन्धियोंका), 'नर्मवती' (दो सन्धियोंका)। हिन्दीमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रका भारत-दुर्दशा नाट्यरासक है। —वि० रा०

नाट्य वृत्ति–नाटकके प्रसगमें भरत (४ श० ई०)के अनुसार वृत्तियोंका वड़ा महत्त्व है। 'वृत्तयो नाट्यमातर' वृत्तियाँ नाटक या अभिनयकी जननी हैं, यह कथन उनका है। अभिनव गुप्तके विचारसे पुरुषार्थ-साधक व्यापार, वृत्ति है। वृत्तिके उद्भवके सम्बन्धमें अनेक मत प्रचलित है। भरतने अपने 'नाट्यशास्त्र'में लिखा है कि प्रलयके वाद नारायण विष्णुका मधु-कैटभ नामक दैत्योंसे जो युद्ध हुआ उस युद्धमें विष्णुकी चेष्टाओंसे नाट्यवृत्तियोंकी उत्पत्ति हुई, जो चार हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। भारती विष्णुके युद्ध-समय पद-सचालनसे पडे पृथ्वीपर भारसे उत्पन्न हुई। उनकी ओजस्विनी, वीर रसोचित चेष्टाओंसे सात्वती वृत्तिका जन्म हुआ। विष्णुने जो ललित लीला तथा विचित्र आगिक अभिनयके साथ शिखा वाँधी उससे कैशिकीका उद्भव हुआ तथा उन्होंने जो आवेगसे युक्त होकर नाना प्रकारकी विचित्र युद्ध-चेष्टाएँ कीं, उनसे आरभटी वृत्तिका विकास हुआ (नाट्य० २२)।

इसके अतिरिक्त भरतने इनका सम्बन्ध वेदोंसे भी माना है। ऋग्वेदसे भारती, यजुर्वेदसे सात्वती, सामवेदसे कैशिकी और अथर्ववेदसे आरभटीका उद्भव हुआ। ऋग्वेदमें स्तुतियाँ हैं इसलिए भारती शब्द-प्रधान वृत्ति है, सात्वती कार्य-प्रधान-वृत्ति है, कैशिकी सुकुमार सगीतमय और आरभटी विलक्षण विचित्र कार्यसयुक्त वृत्ति है। शारदातनयने ब्रह्माके चारों मुखोंसे चार वृत्तियोंका जन्म माना है। एकके अनुसार इसका सम्बन्ध शकरके नृत्यसे माना गया है। नाट्य-वृत्तिका सम्बन्ध रसाभिनयसे है।

नाट्य-वृत्तियोंकी चर्चा काव्य-शास्त्रके ग्रन्थोंमें पायी जाती है। आनन्दवर्धन (९ श० ई० उत्त०) तथा अभिनव-(१०-११ श० ई०)ने वृत्तियोंका विभाजन अर्थ-वृत्तियों और काव्य-वृत्तियोंमें किया है (दे०–'वृत्ति') और भारती आदिको अर्थ वृत्तियाँ माना है। नाट्य-वृत्तियाँ ही अर्थ-वृत्तियाँ हैं। भरतके वाद इनकी कल्पनामें कोई मौलिक अन्तर नहीं आया है। काव्यशास्त्रके जिन ग्रन्थोंमें नाटकके अन्य तत्त्वों-की चर्चा हुई है उनमें नाट्य-वृत्तियोंका विवेचन भी है, जैसे विश्वनाथ(१४ श० ई०)के 'साहित्यदर्पण' तथा शिंगभूपाल(१४ श० ई०)के 'रसार्णवसुधाकर'में। धनजय-(१० श० ई०)के 'दशरूपक'में इनकी चर्चा है, पर इन सबका आधार भरतका 'नाट्यशास्त्र' ही है। हिन्दी रीतिकालमें केशवने 'रसिकप्रिया'(१५९१ ई०)में तथा देवने 'काव्य-रसायन'(१७०३ ई०)में इन वृत्तियोंका विवेचन किया है, परन्तु ये रस-वर्णनकी शैलियाँभर हैं। आधुनिक युगके आलोचकोंमें श्यामसुन्दर दासने 'रूपक-रहस्य'में इनका विशेष रूपसे विवेचन किया है। इन सबका आधार भरत और धनंजय ही हैं।

वृत्तियाँ नाट्यमें अनेक हो सकती हैं, पर भरतने चार वृत्तियाँ ही मानी हैं। इनमें अभिनव गुप्तकी व्याख्याके अनुसार वाणीका व्यापार भारती वृत्तिके अन्तर्गत, मनका व्यापार सात्वतीके अन्तर्गत और कायचेष्टा शेष दो वृत्तियोंके अन्तर्गत है। उग्र कायचेष्टा आरभटी और सुकुमार कायचेष्टा कैशिकी वृत्तिके भीतर मानना चाहिये।

१. कैशिकी (नाट्य-वृत्ति)—कैशिकीका सम्बन्ध केशसे है। कैशिकीकी इससे सम्बन्धित पौराणिक व्याख्या तो भरत मुनिकी है और अभिनव गुप्तकी वैज्ञानिक। इसके अतिरिक्त मल्लिनाथ, रामचन्द्र, राघवन् आदिने अपने-अपने मतानुसार इसकी व्याख्या की है। भरतने केश वाँधते समय विष्णुके अग-विक्षेपसे कैशिकीका सम्बन्ध मानकर इसे कोमल, सुकुमार शारीर चेष्टाओंके रूपमें ग्रहण किया है। अभिनव गुप्तने पौराणिक आधार न लेते हुए यह माना है कि केश जिस प्रकार अर्थ और भावसे सम्बन्ध न रखते हुए भी शरीरकी शोभा बढाते हैं, उसी प्रकार यह वृत्ति भी नाट्यमें शरीर चेष्टाओं द्वारा शोभा बढाती है। इसी प्रकार केशकी शोभा स्त्रियोंमें होती है, अत स्त्रियोंकी चेष्टाओंके समान चेष्टा या स्त्री-चेष्टा प्रधान होनेसे यह कैशिकी कही जाती है, यह मत नाट्य-दर्पणकारका है। कैशिककी कथ कैशिकसे सम्बन्ध मानकर राघवन्‌ने इसे विदर्भ देशसे सम्बन्धित ललित वैदर्भी रमणीयतासे सम्बन्धित माना है। शैव मतके आधारपर इस वृत्तिका सम्बन्ध ताण्डवसे न होकर लास्यसे है। इस वृत्तिका प्रयोग नाटकमें स्त्री-पात्रोंको करना चाहिये, यह भरतके द्वारा मान्य है। इसके अन्तर्गत नृत्य, गीत, कामोद्भव मृदुल-सुकुमार चेष्टाएँ रहती हैं। इस वृत्तिका प्रयोग शृगारादि रसोंके प्रसगमें किया जाता है।

स्त्रियोंसे युक्त, अनेक नृत्यगीतोंवाली, नेपथ्यकी स्निग्धता-विचित्रता और आकर्षणसे सम्पन्न कैशिकीवृत्तिके चार भेद हैं—नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट, नर्मगर्भ।

ईर्ष्या, क्रोध, उपालम्भ-वचनसे युक्त, विप्रलम्भ आदिसे सम्पन्न **नर्म** कैशिकी वृत्ति होती है। नवमिलनवाले सम्भोग, तथा रतिके प्रेरक वचन, वेशादिसे युक्त जो भयमें अवसान रखती हो, वह वृत्ति **नर्मस्फूर्ज** है। **नर्मस्फोट** विविध भावोंके क्षण-क्षणमें विभूषित होनेवाले विशिष्ट रूपवाली वृत्ति होती है। जो समग्रतया रसत्वमें परिणत न हों, जहाँ नायक कार्यवश विशेष ज्ञानयुक्त सम्भावनादि गुणोंसे पूर्ण

प्रच्छन्न व्यवहार करता है, वहाँ **नर्मगर्भ** वृत्ति होती है।

३ सात्वती (नाट्यवृत्ति)—सात्वती वृत्तिका प्रयोग उग्र रसोंमें होता है। इसका सम्बन्ध चित्तकी दीप्तिसे है। वीर, रौद्र, अद्भुत रसोंके वर्णनमें इस वृत्तिका प्रयोग होता है, शृंगार, करुणादि रसोंमें बहुत कम। इसका प्रयोग उद्धत स्वभावके पुरुष ही करते हैं। यह भरतके मतानुसार है। अभिनव गुप्त इसका सम्बन्ध सत्त्व या मनसे मानते हैं। इस प्रकार सात्त्विक अभिनय इस वृत्तिके भीतर आना चाहिये। यह मनोव्यापाररूपा सात्त्विकी वृत्ति है। इस वृत्तिका प्रयोग न्यायोचित रूपसे किये गये संग्रामादिके वर्णन-प्रसंगमें होता है। यह विशोका वृत्ति है, क्योंकि इसका सम्बन्ध सत्त्वसे माना गया है, अतः हर्षादि भावोंकी ही इसके द्वारा अभिव्यञ्जना होनी चाहिये। सात्वतीमें इस प्रकार ज्ञान, न्याय, औचित्य आदिकी प्रधानता अनिवार्य है।

'नाट्यशास्त्र'के अनुसार वाणी और अंगोंके अभिनयसे युक्त वचनोंमें सत्त्वको जाग्रत् करनेवाली सात्वतीके चार भेद हैं—उत्थापक, परिवर्तक, संलापक, संघातक। जहाँ 'मैं उठूँगा, तुम अपनी शक्तिको दिखलाओ', इस प्रकारके संघर्षसे सम्बन्धित उत्तेजक वृत्ति होती है, वहाँ **उत्थापक** भेद माना गया है। जहाँ उत्थानसे प्रारम्भ होनेवाले अर्थको छोड़कर संयोगवश अन्य अर्थोंको स्वीकार किया जाता है, वहाँ **परिवर्तक**, जहाँ विविध भाव-वचनयुक्त वार्तालाप चलता है वहाँ **संलापक** और जहाँ मित्रके अर्थ, वाक्य या युक्तिसे दैववशात् या आत्मदोषसे भेद उत्पन्न होता है, वहाँ **संघातक** भेद होता है।

३ आरभटी (नाट्यवृत्ति)—आरभटी वृत्ति, सात्वती वृत्तिसे विपरीत पड़ती है, क्योंकि इसमें न्यायोचितके स्थानपर छल, कपट रहता है। यह वृत्ति अभिमान, अहंकार आदिकी द्योतक है। अतएव धीरोद्धत नायकके प्रसंगमें यह वृत्ति प्रधानतया उपयुक्त होती है।

अनेक प्रकारकी माया, इन्द्रजाल, कपट-वचन, दम्भ, अनृतसे युक्त आरभटी वृत्तिके भेद हैं—संक्षिप्तक, अवपात, वस्तूत्थापन और सम्फेट। अर्थपूर्ण शिल्पयुक्त, अनेक प्रकारके वैचित्र्यसे पूर्ण नेपथ्यमें वस्तुका संक्षिप्त संकेत **संक्षिप्तक** होता है। भय और हर्षको प्रकट करनेवाला, विविध वचनोंसे चमत्कार उत्पन्न करनेवाला, पात्रोंके तुरन्त प्रवेश और निर्गमनसे युक्त **अवपात** होता है। सभी रसोंके संक्षिप्त वर्णन-युक्त पलायन या भगदड़ जिसमें हो या उसपर आश्रित भयका संचार हो वह **वस्तूत्थापन** वृत्ति है। अनेक प्रकारके उपद्रवों और उत्तेजनाओं, अनेक युद्धों, छल-युद्धों और शस्त्र-प्रहार आदिका संयोजन जिसमें हो, वह **सम्फेट** नामक आरभटीका भेद है।

४ भारती (नाट्यवृत्ति)—भारतीका सम्बन्ध करुण और अद्भुत रसोंसे है। यह शब्द या वाग्वृत्ति है। अभिनव गुप्तने इसे पाठ्य-प्रधान वृत्ति माना है। यों भी भारती सरस्वती या वाणीका पर्याय है। भरतने इसे करुण और अद्भुत रसोंसे इसलिए सम्बन्धित माना है कि इन रसोंमें विलाप और वाग्विलास अधिक रहता है, परन्तु इसका प्रयोग रौद्र, वीर आदिमें भी हो सकता है। शृंगार, हास्यमें भी इसे वर्जित नहीं किया जा सकता। इसीलिए कुछ आचार्योंका मत है कि इस वृत्तिका प्रयोग सभी रसोंमें हो सकता है। भरतोंके द्वारा प्रयुक्त होनेसे इसका नाम भारती पड़ा (प्रयुक्तत्वेन भरतैः भारतीति निगद्यते)। भरत नटोंसे भिन्न हैं। जो वाचिक अभिनय करते हैं वे भरत हैं और जो भूक अभिनय करते हैं वे नट हैं। भारतीका उद्देश्य रसकी अभिव्यक्ति है, रस चाहे कोई भी हो। भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'में इसका लक्षण दिया है—'या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता। स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता, सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः।' (२२ . २७)। आगे चलकर भारतीका सम्बन्ध सभी पाठ्य अभिनय और सभी रसाभिनयसे जोड़ा गया। इस प्रकार यह एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण वृत्ति है।

भारती वृत्तिके भरतने चार भेद माने हैं—**प्ररोचना**, आमुख, वीथी और प्रहसन। जयकी सूचना देनेवाली मंगल और विजयसे पूर्ण, सभी पापोंको शान्त करनेवाली पूर्वरंगमें **प्ररोचना** होती है। जहाँ नटी, विदूषक, पारिपार्श्वक आदि सूत्रधारसे अपने कार्यसे सम्बन्धित रूपमें विचित्र वाक्योंसे वार्तालाप करते हैं वहाँ **वीथी** होती है। जहाँ युक्तिसे कोई श्लिष्ट योजना की जाती है, वहाँ **आमुख** है। हास्यादिपूर्ण विचित्र वार्तालाप **प्रहसन** है।

५ भोजकी वृत्तियाँ—भोजका मत है कि जो विकास, विक्षेप, संकोच और विस्तारसे चित्तमें वर्तमान या व्याप्त रहती है, वह **वृत्ति** है। यह छ प्रकारकी होती है—कैशिकी, आरभटी, सात्वती, भारती, मध्यमभारती तथा मध्यमकैशिकी। जो सुकुमार अर्थ-सन्दर्भको प्रकट करे, वह **कैशिकी**, जो प्रौढ अर्थ-सन्दर्भको प्रकट करती है, वह **आरभटी**, जो प्रौढ अर्थवाली और कोमल प्रौढ सन्दर्भको प्रकट करती है, वह **सात्वती**, कोमल अर्थमें प्रौढ सन्दर्भको प्रकट करनेवाली **मध्यमकैशिकी**, कोमल सन्दर्भमें प्रौढ अर्थको प्रकट करनेवाली **मध्यमारभटी** तथा कोमल अर्थ एवं कोमल प्रौढ सन्दर्भवाली वृत्ति **भारती**वृत्ति है। भोजकी वृत्तियोंकी धारणा इस प्रकार अपनी विशेषता रखती है। स्पष्टतया रसके माध्यमसे इनका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। इसके साथ ही भोजने इनकी संख्या छ मानी है, जब कि अन्य आचार्योंने वृत्तियोंकी संख्या चार ही स्वीकार की है। मध्यमारभटी और मध्यमकैशिकी ये दो वृत्तियाँ नवीन हैं, जिनका उल्लेख भोजके ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण'-में हुआ है, 'शृंगार-प्रकाश'में नहीं। —भ० मि०

नाथ—नाथसम्प्रदाय सहजयानियोंकी भाँति केवल पूर्वी भारतमें ही सीमित न होकर सारे देशमें व्याप्त धर्मसाधना रहा है। नाथसम्प्रदाय तथा उसकी शाखा-प्रशाखाएँ दूर-दूर तक फैली हुई हैं और ऐसा भी प्रतीत होता है कि इसमें और बहुत-सी छोटी-छोटी धर्मसाधनाएँ कालान्तरमें विलीन होती गयी हैं। वैसे तो नाथसम्प्रदायके धर्माचार्योंमें गोरखनाथ सबसे अधिक प्रभावशाली और प्रख्यात हैं, परन्तु वे इस सम्प्रदायके संस्थापक नहीं थे। वे पहलेसे चली आती हुई इस धाराके संघटनकर्ता और उन्नायक थे। इसीलिए निश्चित रूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि इस धाराका सूत्रपात कब और कैसे हुआ। नाथसम्प्रदायके योगी योगके द्वारा जिस **रसायन**की खोज कर अपनी कायाको अजर-अमर

वनानेमें विश्वास करते थे, उस रसायनकी खोजका उल्लेख पतंजलितकने किया है, अत यह अनुमान किया गया है कि इस धाराके मूल तत्त्व तो पतजलिसे भी पहलेके हैं। एक समय ऐसा अवश्य आया है जब नाथ योगियों और वज्रयानी सिद्धोंकी साधनाओंमें काफी पारस्परिक मिश्रण हुआ है। परिणामस्वरूप कुछ विद्वानोंका यह मत है कि गोरखनाथ और उनके अनुयायी वज्रयानी थे और वादमें शैव हो गये। नेपालके बौद्धोंमें यही दन्तकथा प्रचलित है। किन्तु कुछ विद्वानोंकी मान्यता है कि स्वत वज्रयानपर शैवसाधनाका प्रभाव पड़ा था और वज्रयानियोंमें वज्रनाथी सम्प्रदाय विकसित हो गया था। जिसका चित्त विस्फुरित हो गया हो उसे सरहपा नाथस्वरूप मानते हैं–'जत वि चित्तहि विस्फुरई तत्त वि णाह सरूअ।' (दोहा कोष)। किन्तु इतना प्रमाण किसी भी मान्यताको स्थापित करनेके लिए यथेष्ट नहीं है। वास्तवमें एक ही भूभागमें शैवों और वौद्धोंकी योगपरक तान्त्रिक साधनाएं बहुत दिनोंतक प्रचलित रहीं, अत उनमें बहुतसे तत्त्वोंका आदन-प्रदान होता रहा। हजारीप्रसाद द्विवेदीका मत है कि 'गोरखनाथने शैव-प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके आधारपर वहु विस्तृत काया-योगके साधनोंको व्यवस्थित किया, उन दिनों अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी तान्त्रिक साधनाके पारिभाषिक शब्दोंके सावृतिक अर्थोंको पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्गमसे उद्भूत ब्राह्मण-विरोधी साधनामार्गको इस प्रकार सस्कृत किया कि उसकी रूढि-विरोधी परम्परा तो बनी रही, किन्तु उसके अन्य वामाचारोंका वहिष्कार कर दिया गया। इस प्रसगमें जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं उनसे प्रतीत होता है कि गुरु मत्स्येन्द्रनाथ और शिष्य गोरखनाथमें कुछ मतभेद था और गोरखनाथ मैथुनपरक गुह्यसाधनाओंके पूर्ण वहिष्कारके पक्षमें थे।'

सम्प्रदायका सघटन करते समय कुछ दूसरी गौण धर्मसाधनाएँ भी नाथसम्प्रदायमें अन्तर्मुक्त हो गयी है। वाममार्गी, शाक्त, वौद्ध और आजीवक सम्प्रदायोंके भी वहुतसे अनुयायी गोरखनाथके शिष्य हो गये। वे अपने पुराने अनुष्ठान, साधनाएँ और सस्कार नहीं छोड पाये। इसीलिए गोरखके अनुयायियोंका जो साहित्य मिलता है उसमें कई प्रकारके प्रभाव लक्षित होते हैं।

वज्रयानियोंकी ही भाँति नाथसम्प्रदायके प्रमुख आचार्योंको भी सिद्ध कहा जाता रहा है। 'हठयोग-प्रदीपिका'के आरम्भमें ऐसे कुछ महासिद्धोंका नाम दिया हुआ है। परम्परासे सिद्धोंकी सख्या चौरासी मानी जाती रही है, किन्तु जो विभिन्न सूचियाँ वौद्धों और शैवोंकी मिलती हैं, उनमें वहुतसे नाम दोनों सूचियोंमें हैं। वास्तवमें ये सूचियाँ ऐतिहासिक नहीं और चौरासीकी सख्या भी प्रतीकात्मक है, किन्तु इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि कुछ सिद्धाचार्य थे, जो वौद्धों और शैवों द्वारा समान रूपसे पूजित थे।

नाथोंकी सख्या नौ मानी गयी है। 'गोरख-सिद्धान्त-सग्रह'के अनुसार आठ दिशाओंमें आठ नाथ हैं और केन्द्र-में आदिनाथ हैं। उसी ग्रन्थमें २४ कापालिक नाथोंका भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त कई साम्प्रदायिक गुरु-परम्पराओंकी सूचियाँ भी मिलती हैं। लोकश्रुतियोंमें नाथोंका सम्बन्ध सिद्धियों और अतिप्राकृतिक चमत्कारोंसे जुड़ा हुआ है। योग-साधनाके द्वारा अपनी कायाको अमर करने और विभिन्न चमत्कारोंका प्रदर्शन करनेके लिए ये नाथ योगी प्रख्यात थे। जनतापर इन नाथ योगियोंका वहुत गहरा प्रभाव था। देशके विभिन्न भागोंमें आज भी जो **योगी** जातियाँ पायी जाती हैं उनमें अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। दक्षिणके कुछ **योगी** नागपूजक हैं। महाराष्ट्रमें **योगी** गृहस्थ जीवन विताते हैं और भैरवकी पूजा करते हैं। मलयाली **योगी** कालीपूजक हैं और मैथुन-साधना करते हैं। कई वयनजीवी यवन जातियाँ भी ऐसी हैं जो पहले **योगी** थीं और अब भी योगी-साधनाओंमें विश्वास करती हैं। (दे०—नाथसम्प्रदाय हजारीप्रसाद द्विवेदी, आव्स्क्योर रेलीजस कल्ट्स · शशिभूषणदास गुप्त, नाथसम्प्रदायेर साधना ओ साहित्य कल्याणी मल्लिक।)

—ध० वी० भा०

नाथसंप्रदाय—'नाथ' शब्दका प्रयोग 'रक्षक' या 'शरण-दाता'के अर्थमें 'अथर्ववेद' और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण'में मिलता है। 'महाभारत'में 'स्वामी' या 'पति'के अर्थमें इसका प्रयोग पाया जाता है। 'वोधिचर्यावतार'में बुद्धके लिए इस शब्दका व्यवहार हुआ है। जैनों और वैष्णवोंमें भी इस शब्दका प्रयोग सवसे वडे देवताके अर्थमें पाया जाता है। परवर्ती कालमें योगपरक पाशुपत शैव मतका विकास नाथ-सम्प्रदायके रूपमें हुआ और 'नाथ' शब्द 'शिव'के अर्थमें प्रचलित हो गया। मत्स्येन्द्रनाथके शिष्य गोरक्षनाथ या गोरखनाथ इस मतके सबसे वडे पुरस्कर्ता थे। उनके द्वारा प्रवर्तित कहा जानेवाला वारहपथी मार्ग नाथसम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इस सम्प्रदायके साधक अपने नामके आगे 'नाथ' शब्द जोड़ते हैं। कान छिदवानेके कारण 'कनफटा' और 'दर्शन' धारण करने कारण 'दरशनी' साधु भी कहते हैं। गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ मत वारह शाखाओंमें विभक्त है। ऐसा कहा जाता है कि शिवजीके १८ सम्प्रदाय और गोरखनाथके १२ सम्प्रदाय परस्पर कलह किया करते थे। गोरखनाथने इन परस्पर लडनेवाले मतोंको विनष्ट करके इन्हें १२ पन्थोंमें विभाजित कर दिया था। ये वारह पन्थ हैं—(१) सत्यनाथी (२) धर्मनाथी, (३) रामपन्थ, (४) नटेश्वरी, (५) कन्हण, (६) कपिलानी, (७) वैरागी, (८) माननाथी, (९) आईपन्थ, (१०) पागल-पन्थ, (११) धजपन्थ और (१२) गगानाथी। इन वारह पन्थोंके कारण ही शकराचार्यके दशनामी सन्यासियोंकी भाँति इन्हें वारहपन्थी योगी कहा जाता है। इन वारहके अतिरिक्त 'वामारग' नामका जो मार्ग है उसे आधा पन्थ मानते हैं। इनमें मुजके (१) कण्ठरनाथी, (२) पागलनाथी, (३) रावल सम्प्रदाय, (४) पख या पक, (५) मारवाड़के वन, (६) गोपाल या रामके पन्थ शिवके सम्प्रदाय माने जाते हैं, (७) चाँदनाथ कपिलानी, (८) हेठनाथ, (९) आई-पन्थ चोलीनाथ, (१०) मारवाड़का वैराग पन्थ, (११) जय-पुरके पावनाथ और (१२) धजनाथ, गोरक्षनाथके सम्प्रदाय माने जाते हैं (विस्तारके लिए हजारीप्रसाद द्विवेदीकृत 'नाथसम्प्रदाय' पृ० १४८-१५६ देखिये)।

'हठयोग-प्रदीपिका'में नाथपन्थके अनेक योगियोंके नाम दिये हुए हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये सिद्ध लोग चिरजीवी हैं और कालदण्डको खण्डित करके आज भी ब्रह्माण्डमें विचर रहे हैं। 'हठयोग-प्रदीपिका'में आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, सारदानन्द, भैरव चौरंगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मन्थानभैरव, सिद्धबोध, कन्हड़ीनाथ, कोरण्टकनाथ, सुरानन्द, सिद्धपाद, चर्पटीनाथ, काणेरीनाथ, पूज्यनाथ, नित्यनाथ, निरंजननाथ, कापालिनाथ, बिन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, मयनाथ, अक्षयनाथ, प्रभुदेव, घोडाचूलीनाथ, टिंटिणीनाथ, भल्लरी, नागबोध और खण्डकापालिकका उल्लेख है। चौदहवीं शताब्दीके मैथिल ग्रन्थ 'वर्णरत्नाकर'में चौरासी नाथसिद्धोंके नाम दिये हुए हैं, जिनमें कई सहजयानी सिद्धोंसे अभिन्न जान पड़ते हैं। इन नामोंमें अनेक ऐसे हैं जिनके विषयमें बहुत कम जानकारी है, परन्तु कुछ ऐसे हैं जिनकी थोड़ी-बहुत चर्चा तान्त्रिकों, योगियों और निर्गुणमार्गी सिद्धोंके ग्रन्थोंमें मिल जाती है। सभी परम्पराओंसे जान पड़ता है कि आरम्भमें नौ मूलनाथ हुए हैं, परन्तु इनके नाम भिन्न-भिन्न परम्पराओंमें भिन्न-भिन्न तरहसे प्राप्त होते हैं। 'महार्णव-तन्त्र'में भिन्न-भिन्न दिशाओंमें नौ नाथोंके न्यासकी विधि बतायी गयी है। उससे नौ नाथोंके नाम इस प्रकार मालूम पड़ते हैं—गोरक्ष, जालधर, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जडभरत, आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ। सुधाकर द्विवेदीने 'पद्मावत'की टीकामें एकनाथ, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, उदयनाथ, दण्डनाथ, सत्यनाथ, सन्तोषनाथ, कूर्मनाथ और जालन्धरनाथको नौ नाथ माना है। सम्प्रदाय-में प्रचलित दन्तकथाओं और भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें प्राप्त उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि आदिनाथके शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ थे। मत्स्येन्द्रके शिष्य गोरक्षनाथ और जालन्धरनाथ कान्हपा या कृष्णपाद थे। आदिनाथ साक्षात् शिव थे, बाकी चार ऐतिहासिक व्यक्ति जान पड़ते हैं। इन चारोंके नाम सहजयानी सिद्धोंकी सूचीमें भी प्राप्त होते हैं। अनुश्रुतिके अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ कदलीदेश या कजरीदेशमें, जिसे स्त्रीदेश भी कहा गया है, विलास-लीलामें फँस गये थे और गोरक्षनाथने उनका उद्धार किया था। गोरक्षनाथका मत सम्पूर्ण भारतवर्ष, पाकिस्तान, नेपाल और अफगानिस्तानमें फैला हुआ है। इन मूल चार पन्थ-प्रवर्तकों अर्थात् मत्स्येन्द्रनाथ, जालन्धरनाथ, गोरक्षनाथ, कृष्णनाथके विषयमें सैकड़ों दन्तकथाएँ भारतवर्षमें फैली हैं और अनेक पुरुषों और स्त्रियोंके साथ इनके नाम जुड़े हुए हैं। हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही इनके अनुयायियोंमें हैं। जार्ज वेस्टन ब्रिग्सने अपनी पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड द कनफटा योगीज'में विस्तारपूर्वक इस पन्थके व्यापक प्रचारका विवरण दिया है।

मत्स्येन्द्रके कालको लेकर दन्तकथाएँ बहुत ही उलझी हुई हैं। परन्तु इधर कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरक्षनाथ तथा जालन्धरनाथ और उनके शिष्य कृष्णपाद समसामयिक सिद्ध थे। प्रसिद्ध कश्मीरी आचार्य अभिनव गुप्तने अपने 'तन्त्रालोक'में 'मच्छन्द' विभुको नमस्कार किया है। ये मच्छन्दनाथ निश्चित रूपसे मत्स्येन्द्र-नाथ ही हैं। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा लिखित 'कौलज्ञान-निर्णय' ग्रन्थमें उन्हें मच्छन्दनाथ भी कहा गया है। अभिनव गुप्तका समय निश्चित रूपसे ज्ञात है। वे सन् ई० की दसवीं शताब्दीके अन्त और ग्यारहवींके आरम्भमें वर्तमान थे, इस-लिए मत्स्येन्द्रनाथका आविर्भाव उसके बहुत पहले हो गया होगा। हजारीप्रसाद द्विवेदीकी 'नाथसम्प्रदाय' नामक पुस्तकमें यह सिद्ध किया गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ नवीं शताब्दीके मध्यभागमें वर्तमान थे। इसीसे शेष तीन नाथोंके सम्बन्धमें भी नवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध स्थिति-काल माना जा सकता है। मत्स्येन्द्रनाथ पूर्वी प्रदेशके निवासी थे, जो सम्भवत कामरूपके पास चन्द्रगिरि या चन्द्रद्वीप नामक कोई स्थान था। लेकिन गोरक्षनाथ पश्चिम भारतमें उत्पन्न हुए थे। जालन्धरनाथका साधनास्थान पंजाबका जालन्धर नामक नगर है।

हालमें ही प्रबोधचन्द्र बागचीने मत्स्येन्द्रनाथ-रचित 'कौलज्ञान-निर्णय'का सम्पादन किया है। इस ग्रन्थके सोलहवें पटल(४६–४९)से जान पड़ता है कि आदियुगमें जो कौलज्ञान था वह त्रेतामें 'महत्कौल', द्वापरमें 'सिद्धामृत' और कलिकालमें 'मत्स्योदरकौल' नामसे प्रकट हुआ। इसी मत्स्योदरज्ञानका नाम 'योगिनी कौल' है, इसीको 'सिद्धमार्ग' या 'सिद्धकौलमार्ग' भी कहते हैं। 'कौलज्ञान-निर्णय'में इसकी साधना-पद्धति और सिद्धान्तोंका विस्तार है। मत्स्येन्द्रनाथका दूसरा ग्रन्थ 'अकुलवीरतन्त्र' है। मत्स्येन्द्रनाथने इसमें बताया है कि जबतक अकुल वीररूपी ज्ञान नहीं होता, तभीतक बालबुद्धिके लोग नाना प्रकारकी जल्पना करते रहते हैं। यह धर्म है, यह शास्त्र है, यह तप है, यह लोक है, यह मार्ग है, यह दान है, यह फल है, यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है, यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है, यह साध्य है, यह साधन है, यह तत्त्व है, यह ध्यान है—ये सब बालबुद्धिके विकल्प हैं (अ० वी० त० ७८-८७)। जिसे यह अद्वैतज्ञान प्राप्त हो गया रहता है उसे प्राणायाम, समाधि और ध्यान-धारणाकी आवश्यकता नहीं रहती (१७–२०), वह ब्रह्मा, शिव, रुद्र, बुद्ध, देवी आदि उपायोंसे अभिन्न होकर स्वय ध्यान और ध्याता बन जाता है (२६–२८), यज्ञ-उपवास, अर्चना-पूजा, होम, नित्य नैमित्तिक विधि, पितृकार्य, तीर्थयात्रा, धर्म-अधर्म, ध्यान, सबके अतीत हो जाता है (४३–४६), वह व्यक्ति समस्त द्वन्द्वोंसे रहित हो जाता है।

जैसा ऊपर बताया गया है, गोरखनाथ सन् ई० नवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें पश्चिमभारतके किसी स्थानमें उत्पन्न हुए। उनके नामपर प्रचलित संस्कृत ग्रन्थोंसे पता चलता है कि वे ब्राह्मणवंशमें उत्पन्न हुए थे और उसी परम्परामें लालित-पालित भी हुए थे। उन्होंने मार्गको बहुत व्यवस्थित रूप दिया। शैव प्रत्यभिज्ञादर्शनके आधार-पर बहुधा विन्यस्त कायायोगके साधनोंको निश्चित रूप दिया, आसन, बन्ध, प्राणायाम, प्रत्याहार, समाधिके सिद्धान्तों और नियमोंको सुव्यवस्थित किया, आत्मानुभूति और शैव परम्पराके सामंजस्यसे छ चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य और पाँच व्योमका नियमन किया और इन दिनों

अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी साधनाके पारिभाषिक शब्दोंको वलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया । सडी-गली प्राचीन सामाजिक रूढियोंका कडा विरोध किया और कठोर ब्रह्मचर्यपर अधिक वल दिया। गोरक्षनाथके नामपर लगभग तीस सस्कृत पुस्तकें प्राप्त होती हैं, जिनमें 'अमनस्क', 'अमरौघ', 'शासन', 'गोरक्षशतक', 'गोरक्षसहिता', 'योगमार्तण्ड', 'योगवीज', 'विवेकमार्तण्ड', 'हठसहिता' और 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' मुख्य हैं । 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' वस्तुत नित्यानन्दकी रचित पुस्तक है। और पुस्तकोंके वारेमें भी काफी सन्देह है। पुरानी हिन्दीमें भी गोरक्षनाथकी लगभग चालीस छोटी-मोटी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। पीताम्वरदत्त वडथ्वालने इन रचनाओंको 'गोरखवानी' नाम देकर सम्पादित किया है। इनमेंसे कई पुस्तकें कुछ पक्तियोंतक ही सीमित हैं। इस ग्रन्थमें सवदी और पद अधिक प्रामाणिक हैं।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति'में वताया गया है कि 'ह'का अर्थ सूर्य है, 'ठ'का चन्द्रमा। सूर्यसे तात्पर्य प्राणवायुका है और चन्द्रसे अपानवायुका, ऐसा ब्रह्मानन्दका मत है। इन दोनोंका योग अर्थात् प्राणायामसे वायुका निरोध ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इडा नाडीको कहते हैं और चन्द्र पिंगला नाडीको। इसलिए इडा और पिंगला नाडियोंको रोककर सुषुम्नामार्गसे प्राण संचारित करनेको भी 'हठयोग' कहते हैं। इस शब्दका सवसे पुराना प्रयोग 'गुह्य समाजतन्त्र'में आता है। वहाँ वोधिप्राप्तिकी विधि वता लेनेके वाद आचार्यने कहा है कि ऐसा करनेपर भी सिद्धि प्राप्त न हो, तो हठयोगका आश्रय लेना चाहिये। 'योगस्वरोदय'में हठयोगके दो भेद वताये गये हैं। प्रथममें आसन, प्राणायाम तथा धोती आदि षट्कर्मोंका विधान है। इनसे नाडियाँ शुद्ध होती हैं और उनमें पूरित वायु मनको निश्चल वनाता है। दूसरेमें नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि निवद्ध करके आकाशमें कोटिसूर्यके प्रकाशका स्मरण और श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण रगोंके ध्यानका विधान है। यही सिद्धसेवित मार्ग हठयोग कहलाता है। परम्परासे यह भी प्रचलित है कि गोरखनाथके पूर्व हठयोगकी जो विधि थी उसका उपदेश मृकण्डुपुत्र अर्थात् मार्कण्डेयने किया था। मार्कण्डेयने योग(दे०)के आठों अग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिको स्वीकार किया था और गोरक्षनाथने प्रथम दोको छोड दिया था, इसीलिए उसे षडंग योग भी कहते हैं, परन्तु नाथपन्थके ग्रन्थोंमें दोनों ही प्रकारके योगोंकी चर्चा आती है। 'गोरक्षशतक'में षडंगयोगकी वात है और 'सिद्धसिद्धान्तसग्रह'में अष्टागयोगकी।

[सहायक ग्रन्थ—नाथसम्प्रदाय हजारीप्रसाद द्विवेदी] —ह० प्र० द्वि०

नाथ-साहित्य—गोरखनाथकी ४० छोटी-मोटी रचनाओंका सग्रह 'गोरखवानी' नामसे पीताम्वरदत्त वडथ्वालने किया है। इनके नाम इस प्रकार हैं—१ सवदी, २ पद, ३ शिष्या-दर्शन, ४ प्राण साकली, ५ नरवै वोध, ६ आत्मवोध, ७ अभैमात्रा योग, ८ पन्द्रह तिथि, ९ सप्तवार, १० मछीन्द्र गोरखवोध, ११ रोमावली, १२ ज्ञान-तिलक, १३ ज्ञानचौंतीसा, १४ पचमात्रा, १५ गोरख गणेश गोष्ठी, १६ गोरख दत्त गोष्ठी, १७ महादेव गोरख गुष्ट, १८ शिष्ट पुराण, १९ दयावोध, २० जाति भौंरावलि, २१ नवग्रह, २२ नवराम, २३ अष्ट पार्छ्या, २४ रहरास, २५ ज्ञानमाला, २६ आत्मवोध, २७ व्रत, २८ निरजन पुराण, २९ गोरखवचन, ३० इन्द्री देवता, ३१ मूल गर्भावली, ३२ खाँणी वाणी, ३३ गोरख शत, ३४ अष्टमुद्रा, ३५ चोवीस सिद्धि, ३६ पडक्षरी, ३७ पच अग्नि, ३८ अष्टचक्र, ३९ अवलि सिलूक, ४० काफिर वोध। इनके अतिरिक्त इकतालिसवाँ एक और 'ज्ञानचौंतीसा' है, जो समयपर नहीं मिलनेके कारण गोरखवानीमें नहीं सम्मिलित किया जा सका। वडथ्वाल प्रथम चौदहको प्रामाणिक मानते हैं, परन्तु यह कहना कठिन ही है कि इनमें कितना अश सचमुच गोरखनाथका लिखा है और कितना वादके लोगोंने उनके नामपर चला दिया। इन पदोंमेंसे कई दादू, कवीर, नानकदेवके नामपर भी पाये जाते हैं। इनमेंसे कुछ पदोंने लोकोक्तिका रूप धारण किया है, कुछने जोगीडोंका रूप ले लिया है और कुछ लोकमें अनुभवसिद्ध ज्ञानके रूपमें चल पडे हैं। इन रचनाओंमें यद्यपि योगियोंके लिए उपदेश हैं, अतएव वैसी साधना-मूलक वातें पायी जाती हैं, परन्तु कुछ पद ऐसे भी हैं जिनसे लेखकके नैतिक विश्वासका पता चलता है। उनमें काम-क्रोधका वर्णन, सहज जीवन, दृढ ब्रह्मचर्य, सयत आचरण और सहज शीलका उपदेश है।

गोरखनाथके वाद ओर भी अनेक सिद्धोंकी हिन्दी वाणियाँ पायी जाती हैं। कुछ तो राम, लक्ष्मण, हनुमान, दत्तात्रेय, महादेव, पार्वती आदि पौराणिक व्यक्तियोंके नामपर पद मिलते है, जो वस्तुत परवर्ती कालके साधुओंकी रचनाए हे ओर पौराणिक पुरुषोंके नामपर चला दी गयी हे। अजयपालके नामकी कुछ सवदियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनकी भाषा काफी प्राचीन जान पडती है। सती काणेरीके नामपर पाये जानेवाले पद परवर्ती जान पड़ते ह। फिर गरीव, गोपीचन्द, घोडाचोली, चर्पटनाथ, चौरगीनाथ, जलन्ध्रीपाद, धूँधलीमल, प्रिथीनाथ, भरथरी, मच्छन्द्रनाथ, मेड़कीपाव, लालजी, हडवन्तनाथ आदि सिद्धोंकी रचनाएँ विभिन्न मूलोंसे प्राप्त हुई ह। इन पदोंका विषय योग, ज्ञान, वैराग्य, आत्मज्ञान, शील, सन्तोष और सहज जीवन हे। गुरु नानकके नामपर चलनेवाली एक योगमार्गी पुस्तक 'प्राणसकली' प्राप्त हुई हे। इस पुस्तककी प्रामाणिकताके विषयमें सिख सम्प्रदायके विद्वानोंमें मतभेद है। इसे गुरुग्रन्थ साहवमें स्थान नहीं दिया गया है। पजावीके सुप्रसिद्ध विद्वान् भाई सन्तोष सिंहने इसकी सवसे पुरानी प्रतिको छठे गुरुके समयका वताया हे, परन्तु सन्त पूरन सिंह इसे गुरुवाणी ही स्वीकार करते हैं। इस ग्रन्थमें नाथसिद्धोंकी ही चर्चा है। कुछ प्रसिद्ध नाथसिद्धोंके नाम इस प्रकार हैं—पर्वतसिद्ध, ईश्वरनाथ, चर्पटनाथ, घूर्म्यूनाथु, चन्दानाथ, खिन्थड़नाथ, डगरनाथ, धूरमनाथ, धंगारनाथ, मगलनाथ, प्राणनाथ। ये सिद्ध सन् ई० की १५वीं शताव्दीके पूर्ववर्ती होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इनसे गुरु नानककी वातचीतका व्यौरा दिया गया है। अधिकाश वातचीत निरजन-

के स्वरूप, प्राणायाम आदि योगप्रक्रियाएँ, स्वरोदा, रससिद्धि, आत्मतत्त्व आदि विषयोंपर है। चर्पटनाथके नामपर मिलनेवाली बहुत-सी उक्तियाँ अन्य स्रोतोंमें भी उनके नामसे मिल जाती है, परन्तु इस ग्रन्थमें इन सिद्धोंके नामपर जो उक्तियाँ हैं, वे इनकी ही रचनाएँ होंगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

हिन्दीके अतिरिक्त बँगला, मराठी, गुजराती, आदि भाषाओंमें भी गोरखनाथकी उक्तियाँ प्राप्त होती है। सर्वत्र लोकभाषामें निबद्ध इन उक्तियोंका तात्पर्य एक जैसा ही है, उनमें कायायोग, सहज जीवन, रूढिविरोध, संयत आचरण और ब्रह्मचर्यपर जोर दिया गया है। रस-पाक साहित्यकी दृष्टिसे इनका मूल्य बहुत अधिक नहीं है।

[सहायक ग्रन्थ–१ नाथसम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी। २ नाथसिद्धोंकी बानियाँ सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी। ३ गोरखबानी सं० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।] —ह० प्र० द्वि०

नाद–कुण्डलिनीको जाग्रत् कर योगी लोग जब उद्बुद्ध कर लेते है तब वह ऊपरकी ओर उठती है। उसकी इस ऊर्ध्वगतिसे जो **स्फोट** होता है उसे नाद कहते हैं। यह नाद अनाहत रूपसे सारे ब्रह्माण्डमें व्याप्त है। यही पिण्डमें भी है, पर इसे अज्ञानी नहीं सुन सकते, क्योंकि उनका **सुषुम्ना**-पथ बन्द है। जब हठयोगसे उनका वह पथ खुल जाता है तो वे उस अनाहत ध्वनिको सुनने लगते हैं। अनुभवी साधकोंने उस ध्वनिको पहले समुद्र-गर्जन, मेघोंकी गड़गड़ाहट, शंख-घण्टे आदिकी ध्वनि और अन्तमें किंकिणी, वंशी, भ्रमर आदिकी ध्वनिके समान बताया है। यही नाद वास्तवमें उपाधियुक्त होकर सात स्वरोंमें विभाजित हो जाता है, पर निरुपाधि होकर प्रणव या ओंकार कहलाता है। इसीको शब्दब्रह्म कहते हैं। वैष्णव पद्धतियोंमें इष्टदेवके नामको शब्दब्रह्म कहा गया है। इसी शब्दब्रह्मको वैयाकरणोंने **स्फोट** कहा है। सन्तोंने **अनाहतनादको सोहं** ध्वनि भी कहा है। —व० वी० मा०

नानकपंथ–नानकपन्थके संस्थापक गुरु नानक(संवत् १५२६-१५९५) थे। गुरु नानक द्वारा संस्थापित यह पन्थ दो नामोंसे अभिहित है—नानकपन्थ तथा सिख धर्म। सिख शब्द शिष्यका अपभ्रंश-रूप है। गुरु नानकके शिष्य कालान्तरमें सिख नामसे प्रख्यात हुए। कालान्तरमें सिख शब्द एक धार्मिक विचारधाराका वाहक बन गया। नानकपन्थमें दस प्रमुख गुरु हुए जिनमें अधिक प्रसिद्ध हैं—गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु हरगोविन्द, गुरु हरराय, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्द सिंह। इन दसों गुरुओंको अनेक राजनीतिक एवं धार्मिक बाधाओंका सामना करना पड़ा। गुरु अर्जुनदेवके जीवन-कालतक पन्थमें साधना, शान्ति, सद्भावना तथा सहनशीलताकी ओर विशेष ध्यान दिया जाता था, परन्तु गुरु गोविन्द सिंहके जीवनकालमें प्रतिकार, वैमनस्य और भेदभावकी प्रवृत्ति प्रमुख हो गयी। तबसे यह पन्थ राजनीति-क्षेत्रमें अधिक महत्त्वशाली बनता गया। गुरु गोविन्द सिंहके नेतृत्वमें यह पन्थ खालसा सम्प्रदायके रूपमें विकसित हो गया। यहींसे सिख जातिका एक पृथक् इतिहास प्रारम्भ होता है। सिख धर्म या नानकपन्थ निरा सैद्धान्तिक या आदर्शवादी मत नहीं है। इसे शुद्ध व्यावहारिक मत कहना उपयुक्त होगा। इस पन्थमें चरित्र-निर्माण तथा चारित्रिक विकासकी ओर विशेष ध्यान दिया गया है। नानकने वर्णव्यवस्थाकी संकुचित परिधिसे ऊपर उठाकर मानव-समाजको 'वसुधैव कुटुम्बकम्'का उपदेश दिया। उनके अनुसार आदर्श मानव वही है, जिसमें ब्राह्मणकी-सी साधना, सत्यप्रियता और चरित्रबल हो, क्षत्रिय जैसी आत्म रक्षा भावना हो, वैश्य जैसी व्यावहारिक बुद्धि हो और शूद्र जैसी सेवा भावना हो।

गुरु नानकदेवके अनन्तर होनेवाले अन्य गुरुओंने कभी अपनेको उनसे भिन्न नहीं माना। गद्दीपर बैठनेके अनन्तर उन्होंने अपनेको नानक ही बतलाया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी रचनाओंमें रचयिताके स्थानपर नानक नाम ही उल्लिखित किया है। 'दी आदि ग्रन्थ-इण्ट्रोडक्शन' शीर्षक अपने ग्रन्थमें ट्रम्पने नानकको इस्लामका अनुयायी ही माना है। 'दी सिख रेलिजन'में एम० ए० मेकॉलिफ उन्हें एक भिन्न धर्मका प्रचारक मानते हैं। नानकका जन्म और पालन-पोषण हिन्दू परिवारमें हुआ था। उनकी रचनाओंमें हिन्दुओंके उत्पीड़नके कारण क्षोभ दिखाई देता है।

सिख धर्ममें आत्मिक विकासपर विशेष बल दिया गया है। मनुष्यको निरन्तर साधना और अभ्यास करते रहना चाहिये। जहाँ मनुष्य अपनेको ज्ञानी या पण्डित समझ लेता है वहीं उसका विकास समाप्त हो जाता है। नानकपन्थमें ब्रह्म सत्य रूप माना गया है। सब-कुछ उसी सत्यमें व्याप्त है। उससे परे कुछ नहीं है। वह ब्रह्म स्वयं रसरूप है और उसका अनुभव करनेवाला भी वही है। वह सर्वत्र रमा हुआ है। वह स्वयं गुण है। वही उसका कथन करता है। वही उसका मूल्य भी है। वह दृष्टि और वर्णनसे परे है। फिर भी वह सर्वत्र दृष्टिगोचर है। वह ज्योति सदा सहज स्वभावसे जानी जाती है। उसकी अनुभूतिके लिए कायाको कष्ट देना आवश्यक नहीं है। गुरु नानक और उनके अनुयायी भेदाभेद-दर्शनके समर्थक थे। मनोमारणके लिए नानकपन्थमें नाम-स्मरण ही साधना और साध्य माना गया है। नाम समस्त जीवोंके लिए आश्रयस्वरूप है। इसी नामके आधारपर समस्त विश्वका अस्तित्व है। नामका कथन, गान, मनन करना परम साधना है। बिना गुरु ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। गुरुके शब्दोंमें अद्भुत शक्ति है। संसारमें सब बराबर है। जातिभेद अहंकार और माया है।

सिख धर्म अनेक सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायोंमें विकसित हुआ। वीरबन्दावहादुरके समयमें सिखोंके मध्य भेदभाव और दलबन्दी प्रारम्भ हुई। नानकदेवके जीवनकालमें ही उनके पुत्र श्रीचन्द(जन्म सं० १५५१)ने उदासी सम्प्रदायकी स्थापना की और कश्मीर, काबुल, कन्धार, पेशावर जैसे सुदूर देशोंमें केन्द्र स्थापित किये। चौथे गुरु रामदासके पुत्र प्रिथीचन्दने मीनापन्थकी स्थापना की। हन्दलजाटने हन्दली मतकी स्थापना की। गुरु हररायके पुत्र रामरायने रामैयापन्थ चलाया। गुरु गोविन्द सिंह द्वारा

मस्थापित खालसा सम्प्रदायके आगे चलकर दो दल हुए, जिनमें प्रथम था सत्त खालसी और द्वितीय था वन्दई खालसा। उदासी सम्प्रदाय भी चार शाखाओंमें विकसित हुआ। सिख धर्मकी विकृतियों या उपसम्प्रदायोंके रूपमें नागा या नानकशाही, निर्मला, नामधारी, सेवापन्थी, सिंहधारी, भगतपन्थी, गुलाबदासी, निरंकारी तथा अकाली भी उल्लेखनीय हैं। नामधारीके प्रवर्तक लुधियानाके भाई रामसिंह थे, सथुराशाहीकी स्थापना सथुराशाहने की थी। इसी प्रकार कन्हैयाने सेवापन्थ, गुलाबदासने गुलाबदासी तथा दयालदासने निरंकारीकी स्थापना की।

'गुरु ग्रन्थसाहब' सिखोंका प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ है। गुरु अर्जुनदेवने भाई गुरुदास द्वारा आदिग्रन्थ लिखवाया था। नानककी रचनाओंमे विशेष प्रसिद्ध हैं 'जपुजी' तथा 'असा दी वार'। गुरु अगदने गुरुमुखी लिपिमें पहली बार नानककी रचनाओंको एकत्र करवाया। 'ग्रन्थसाहब'के महला २में गुरु अगदकी रचनाएँ संगृहीत हैं। गुरु अमरदासकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'आनन्' है। गुरुअर्जुनदेवने 'सुखमनी', 'बावन अखरी', 'बारामासा'की रचना की। गुरु गोविन्दसिंहकी रचना 'दसवाँ पातसाहका ग्रन्थ' नामसे प्रसिद्ध है। इनके दरबारमें ५२ कवियोंको आश्रय मिला। उन्होंने संस्कृतके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका अनुवाद भी करवाया। सिख धर्ममें अनेक कवियोंका आविर्भाव हुआ, जो प्रतिभा और साधनाकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

सिखधर्ममें साधना, वीरता और भावुकताका अद्भुत समन्वय उपलब्ध होता है। इस धर्मका इतिहास वीरताकी पृष्ठभूमिमें लिखा गया है।

[सहायक ग्रन्थ—(१) हिन्दीकाव्यमें निर्गुणसम्प्रदाय पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल, (२) उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा परशुराम चतुर्वेदी, (३) दी आदि ग्रन्थ. ट्रम्प]। —त्रि० ना० दी०

नामकरणवैचित्र्यवक्रता–दे०—'प्रबन्धवक्रता' पाँचवाँ नियामक।

नायक (नाटक)—सर्वप्रथम भरतके 'नाट्यशास्त्र'में नाटकके प्रमुख तत्त्वोंके रूपमें स्वीकृत नायकका वर्गीकरण नाटकीय कथावस्तुके आधारपर किया गया है। इसको नाट्यशास्त्रियोंने स्वीकार किया ही है, कई काव्यशास्त्रियोंने भी माना है, दे०—'नायक-भेद'। 'दशरूपक'में नायकके गुणोंको गिनाते हुए उसे नेता, विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवद, रक्तलोक, वाग्मी, रूढ़वश तथा स्थिर माना गया है। उसे बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा तथा कलावान् स्वीकार किया गया है। वह शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रदृष्टिवाला और धार्मिक कहा गया है। इस नायकको चार प्रमुख भेदोंमे बाँटा गया है—

धीरललित—धनजयके अनुसार—'निश्चिन्तो धीरललित कलासक्त सुखी मृदु' अर्थात् निश्चिन्त स्वभावका, कलाओंसे प्रेम रखनेवाला, कोमल स्वभाववाला तथा सुखी नायक धीरललित होता है (द०रू० २ ३)। उदा०—'स्वप्नवासवदत्ता' तथा 'रत्नावली'का नायक उदयन, 'मालविकाग्निमित्रका' अग्निमित्र। **धीरशान्त**—धनजयके अनुसार—'सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिक' अर्थात् सामान्य गुणोंसे युक्त ब्राह्मण अथवा वैश्यादिक नायकको धीरशान्त कहते हैं। उदा०—'मालतीमाधव'का नायक माधव तथा 'मृच्छकटिक'का चारुदत्त। **धीरोदात्त**—धनंजयके अनुसार—'महासत्त्वोऽतिगम्भीर क्षमावान-विकत्थन। स्थिरो निगूढाहकारो धीरोदात्तो दृढव्रत' धीरोदात्त नायक भावनाओंपर अधिकार रखनेवाला, गम्भीर, क्षमावान्, अपने मुँहसे अपनी प्रशसा न करनेवाला, स्थिर चित्तका, विनयी तथा दृढव्रती होता है (द०रू० २ ४)। उदा०—'नागानन्दका'का नायक 'जीमूतवाहन' तथा 'उत्तररामचरित'के नायक राम। **धीरोद्धत**—धनजयके अनुसार—'दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायण। धीरोद्धतस्त्वहकारी चलश्चण्डो विकत्थन' अर्थात् इस नायकमें ईर्ष्या और दर्प अधिक होता है, माया और छल करनेमें चतुर होता है, चचल, क्रोधी और आत्मप्रशंसक होता है। (द०रू०. २ ५)। उदा०—रावण।

हिन्दी साहित्यके मध्ययुगमे नाटकों और नाट्यशास्त्रका नितान्त अभाव रहा है। आधुनिक कालमें नाटकका विकास संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्यके आधारपर हुआ है, पर क्रमश उसके तत्त्वोंमें आधुनिक विचारधाराके कारण पाश्चात्य प्रभाव ही बढता गया है। इसके साथ ही नायकोंकी यह मध्ययुगीन कल्पना नाटकोंमें स्वीकृत नहीं हो सकी है। भारतेन्दुयुगमें नाटकके विन्यासमें संस्कृत नाट्यशास्त्रसे प्रभाव ग्रहण भी किया गया था, पर प्राय· कथानक आधुनिक समाजसे लिये गये थे, इस कारण उनमें नायकका यह रूप नहीं मिलता। बादके हिन्दी नाटकोंमें ऐतिहासिक पुरुषोंका चरित्र भी आधुनिक आदर्शोंसे अनुप्राणित रहा है। —सं०

नायक-नायिका-भेद (शास्त्र)–प्रमुखत इस विषयके अन्तर्गत शृंगार रसके आलम्बन-विभावके रूपमें नायक-नायिकाओंका विवेचन और वर्गीकरण किया गया है। नायक-नायिका-भेदका विषय नाट्यशास्त्रसे आरम्भ होता है, क्योंकि सर्वप्रथम नाटककी कथावस्तु तथा उसके प्रधान रसकी दृष्टिसे नायकका विभाजन किया गया था। (दे०—'नायक' (नाटक)) संस्कृत नाट्यशास्त्रके साथ काव्यशास्त्रके अन्तर्गत नायक-नायिका भेदका विकास शृंगार रसके आलम्बनके रूपमें हुआ है। जहाँतक हिन्दी साहित्यके अन्तर्गत इस विषयका सम्बन्ध है, नाटकका आधार बिलकुल नहीं लिया जा सका है। इसका प्रमुख कारण हिन्दी साहित्यमें उस समय नाट्यसाहित्य और नाट्यशास्त्र दोनोंका नितान्त अभाव है। हिन्दीमें यह विषय शृंगारके आलम्बनके रूपमें ही लिया गया है। वस्तुत संस्कृतमें भी जब यह विषय रति-भावनाके अन्तर्गत आता है, उस समय शृंगार रसके सन्दर्भमें ही इसका विस्तार प्रस्तुत किया गया है।

शृंगार रस जिस रति स्थायी भावपर आधारित है, वह भाव स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें ही अभिव्यक्त होता है। अतएव शृंगारके आलम्बनके रूपमें स्त्री-पुरुषके रति-सम्बन्धकी ही अनेक स्थितियाँ आती हैं और इन्हींके आधारपर नायक-नायिका-भेदका विकास हो सका है। शृंगार रसके आधारके

कारण इस विषयकी सीमाएँ भी उसीसे निर्धारित होती हैं और प्रायः इस विषयके आचार्य कवियोंने इनका अतिक्रमण नहीं किया है। इस विषयकी सामान्य स्वीकृत बातें इस प्रकार रखी जा सकती हैं—१ इस विषयके अन्तर्गत सामान्य तथा स्वाभाविक रति-भावनाको अर्थात् स्त्री-पुरुषके रति-सम्बन्धको ही लिया गया है। अन्य समस्त प्रकारकी अस्वाभाविक, अप्राकृतिक तथा सहजाति योनि सम्बन्धोंपर आधारित रतिभावनाको स्वीकार नहीं किया गया है। २ यौवनयुक्त तथा आकर्षक स्त्री-पुरुषोंके प्रेमको ही स्वीकार किया गया है। ३ रसबोधकी दृष्टिसे सामाजिक मर्यादाका भी सामान्यतः ध्यान रखा गया है। केशवने 'रसिकप्रिया'में इस प्रकारकी स्त्रियोंकी सूची दी है, जिनसे रति-सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाना चाहिये। ४ स्त्री-पुरुष, दोनोंमें रतिभावना अनिवार्य मानी गयी है, बिना इसकी पारस्परिक स्थितिके रसकी निष्पत्ति सम्भव नहीं है। ५ प्रेमके अतिरिक्त अन्य कोई प्रसंग इसके अन्तर्गत नहीं लिया गया है। इस प्रकार नायक-नायिका-भेदका विषय सीमित क्षेत्रके अन्तर्गत विकसित हुआ है और उसके अध्ययनके लिए इस बातको ध्यानमें रखना आवश्यक है।

सम्भवतः इस विषयका सर्वप्रथम विवेचन और प्रतिपादन वात्स्यायनके 'कामसूत्र'में किया गया है, परन्तु उसका दृष्टिकोण नितान्त भिन्न है। नायक, नायिका, सखी तथा दूतियोंका सविस्तर वर्णन 'कामसूत्र'में है, परन्तु यह काव्यशास्त्रसे भिन्न है। 'कामसूत्र'के अनुसार स्वकीयाका महत्त्व नहीं है, क्योंकि उसके दृष्टिकोणसे नायिकाको प्राप्त करना होता है, जब कि काव्यशास्त्रमें प्रेमकी स्थिति स्वीकार किये बिना कोई स्त्री नायिका नहीं कही जा सकती। स्वकीया(विवाहिता)का वात्स्यायनने विचार नहीं किया है, केवल गृहस्थ जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्तव्योंकी शिक्षा दी है। 'कामसूत्र'में नायक-नायिकाओंका विभाजन कामशास्त्रकी दृष्टिमें रखकर किया गया है। हिन्दीके नायक-नायिका-भेदमें कुछ ही लेखकोंने कोक्कोकके 'रतिरहस्य'के आधारपर नायिकाओंके पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी जैसे विभाजन किये हैं। 'कामसूत्र'में परिस्थिति तथा व्यवहारपर आधारित नायक-नायिकाओंके भेदोंको नहीं लिया गया है। इसी प्रकार 'कामसूत्र'में दूतीका प्रमुख कार्य नायिकाको प्रलोभन देकर नायकके पास ले जाना है, जब कि नायक-नायिका-भेदके अन्तर्गत ऐसा दृष्टिकोण नहीं है।

नाट्यशास्त्रके अन्तर्गत रससिद्धान्तका विकास हुआ है। रस नाटकका प्रधान अंग माना गया है। नाटकमें रसकी निष्पत्ति करानेमें उसका प्रधान पात्र सहायक होता है, अतः उसे नायककी संज्ञा दी गयी। परन्तु भरतने आठ नाट्य रसोंको माना है और उनकी दृष्टिमें स्त्री-पुरुष अथवा नायक-नायिकाका विभाजन मात्र शृंगार रसपर आधारित नहीं है। इसी कारण उन्होंने सामान्यतः नाटकीय पात्रोंका विभाजन किया है, न कि शृंगार रसके आलम्बन विभावका। भरतके 'नाट्यशास्त्र'के बाद धनञ्जयके 'दशरूपक'में नाटकीय पात्रताकी दृष्टिसे विभाजन तो किया ही गया है, साथ ही उसमें काव्यशास्त्रीय विभाजन भी अपनाया गया है। उन्होंने प्रतिनायकका उल्लेख भी किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्रके 'नाट्यदर्पण'में नाट्यपरम्पराका विभाजन भी नहीं है, उसके स्थानपर केवल प्रधान, अप्रधान तथा प्रतिनायकका विभाजन किया गया है। परन्तु नाट्यशास्त्रके विभाजनको काव्यशास्त्रियों तथा रसशास्त्रियोंने भी अपनाया है, यद्यपि यह उतना महत्त्व नहीं पा सका, केवल परम्परा-पालनके रूपमें स्वीकार किया गया है।

नायक-नायिका-भेदके प्रमुख विषयका विवेचन वस्तुतः काव्यशास्त्र तथा रस सिद्धान्तके अन्तर्गत हुआ है। 'अग्नि-पुराण'(९वीं शती)में यह विषय शृंगार रसके अन्तर्गत लिया गया है। कालक्रमानुसार संस्कृतमें निम्नलिखित काव्यशास्त्रके ग्रन्थोंमें इस विषयका विस्तार है—'काव्यालङ्कारसूत्र'-रुद्रट (९वीं शती), रुद्रभट्टका 'शृंगारतिलक' (९वीं से ११वीं शतीतक) भोजका 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' (११वीं शती), वाग्भट प्रथमका 'वाग्भटालङ्कार' (१२वीं शती), हेमचन्द्रका 'काव्यानुशासन' (११वीं–१२वीं शती), शारदातनयका 'भावप्रकाश' (१२वीं शती पूर्वार्द्ध), भानुदत्तका 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' (१३वीं शती), विद्यानाथका 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' (१४वीं शती पूर्वार्द्ध), शिंगभूपालका 'रसार्णवसुधाकर' (१४वीं शती पूर्वार्द्ध), वाग्भट द्वितीयका 'काव्यानुशासन' (१४वीं शती), विश्वनाथका 'साहित्यदर्पण' (१४वीं शती), रूपगोस्वामीका 'उज्ज्वलनीलमणि' (१६वीं शती), केशव मिश्रका 'अलंकार-शेखर' (१६वीं शती उत्तरार्द्ध), अच्युत शर्माका 'साहित्यसार' (१९वीं शती)। इन समस्त ग्रन्थोंसे स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत काव्यशास्त्रकी व्यापक विवेचनाओंमें अथवा रसकी विवेचनाके अन्तर्गत इस विषयको प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी काव्यशास्त्रमें प्रमुखतः रसके अन्तर्गत ही इस विषयको लिया गया है और वह भी प्रायः शृंगार रसको विस्तारसे विवेचित करनेवाले ग्रन्थोंमें। कालक्रमानुसार हिन्दीके इस विषयसे सम्बद्ध ग्रन्थ इस प्रकार हैं—कृपारामकी 'हिततरंगिनी' (१५४१ ई०), सूरदासकी 'साहित्यलहरी' (सतिथि १५५० ई०), नन्ददासकी 'रसमंजरी' (१५६६ ई०), केशवदासकी 'रसिकप्रिया' (१५९१ ई०), रहीमका 'बरवै नायिका-भेद' (१६०० ई०), सुन्दरका 'सुन्दरशृंगार' (१६३१ ई०), तोषकी 'सुधानिधि' (१६३४ ई०), चिन्तामणिका 'कविकुलकल्पतरु' (१६५० ई०), जसवन्त सिंहका 'भाषाभूषण' (१६५३ ई०), मतिरामका 'रसराज' (१७१० ई०), कुलपति शास्त्रीका 'रसिकरसाल' (१७१९ ई०), देवके 'भावविलास', 'रसविलास', 'भवानीविलास' तथा 'सुखसागर तरंग' (१८वीं शतीका उत्तरार्द्ध), रसलीनका 'रसप्रबोध' (१७४२ ई०), भिखारीदासका 'शृंगारनिर्णय' (१७५० ई०), ब्रह्मदत्तका 'दीपप्रकाश' (१८०८ ई०), पद्माकरका 'जगद्विनोद' (१८१० ई०), बेनी प्रवीनका 'नवरसतरंग' (१८२१ ई०), प्रतापसाहिकी 'व्यंग्यार्थकौमुदी' (१८२५ ई०), चन्द्रशेखर वाजपेयीका 'रसिकविनोद' (१८४६ ई०), स्कन्दगिरिका 'रसमोदकहजारा' (१८४८ ई०), नन्दरामका 'शृंगारदर्पण' (१८७२ ई०), लछिरामका 'महेश्वरविलास' (१८०९ ई०), प्रतापनारायण सिंहका 'रसकुसुमाकर' (१८७२ ई०), दौलतरामका 'रससौर'

(१८९७ ई०), गगाप्रसाद अग्निहोत्रीकी 'रसवाटिका' (१९०३ ई०), जगन्नाथप्रसाद 'भानु'का 'काव्यप्रभाकर' (१९१० ई०), वाबूराम वित्थरियाका 'हिन्दी काव्यमें नवरस' (१९२६ ई०), श्यामसुन्दर दासका 'रूपकरहस्य' (१९३१ ई०), हरिऔधका 'रसकलश' (१९३१ ई०), गुलाबरायका 'नवरस' (१९३४ ई०), विहारीलाल भट्टका 'साहित्यसागर' (१९३७ ई०), कन्हैयालाल पोद्दारका 'काव्यकल्पद्रुम (१९४१ ई०) और प्रभुदयाल मीतलका 'व्रजभाषा साहित्यका नायिका-भेद' (१९४८ई०)। छैलविहारीलाल गुप्त 'राकेश' का 'स्टडीज इन नायक-नायिका-भेद' (अप्रा०) इस विषयका एक वैज्ञानिक अनुशीलन है। हिन्दीमें इस अध्ययनका आधार सस्कृत काव्यशास्त्र अवश्य रहा है, परन्तु उसमें मौलिकता, विस्तार तथा नवीनता पर्याप्त मात्रामें पायी जाती है। वस्तुत हिन्दी साहित्यके अन्तर्गत शृगारके महत्त्वके साथ ही इस विषयका विशद विवेचन किया गया है। अधिकाश ग्रन्थोंमें रसचर्चाकी अपेक्षा नायक-नायिकाओंके वर्गीकरण और वर्णनका विस्तार अत्यधिक है। इससे रीतिकालमें इस विषयकी लोकप्रियताका पता चलता है।

नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी विवेचनाओंके साथ दूती और सखियोंका वर्गीकरण और विवेचन भी किया गया है। वस्तुत दूती और सखियाँ उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत आती हैं। परन्तु इनका सम्बन्ध नायक तथा नायिकाओंसे है, उद्दीपनरूपमें ये रसके इन्हीं आलम्बनोंकी सहायता करती हैं। अतएव इस विषयके अन्तर्गत इनको स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार नायिकाओंके अलकार तथा हाव, जो प्राय अनुभावके रूपमें स्वीकार किये गये हैं, इसी विषयके अन्तर्गत आये हैं। नायकके सात्त्विक गुणोंकी स्थिति भी इस विषयके अन्तर्गत स्वीकार की गयी है। वस्तुत नायिकाओंके अलकार तथा नायकके सात्त्विक गुण केवल उद्दीपनके रूपमें और नायिकाके हाव उद्दीपन तथा अनुभाव, दोनों ही रूपोंमें (उसकी आलम्बन अथवा आश्रयकी स्थितिके अनुसार) प्रस्तुत विषयके अन्तर्गत आते हैं। (विशेष जानकारीके लिए इन्हीं शब्दोंको देखें।) —रा० गु०

नायक-नायिका-भेद (साहित्य)—हिन्दी नायिका भेद-साहित्यके दो प्रमुख स्रोत हैं, एक सस्कृतका काव्यशास्त्र तथा दूसरा कृष्ण-साहित्य। वस्तुत कृष्णभक्तिके विकासमें रससिद्धान्तका प्रभाव देखा जा सकता है। रससिद्धान्तके अन्तर्गत शृगारको अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है और कृष्णभक्तिका आधार रतिभाव ही है। इन दोनों परम्पराओंने एक-दूसरेको प्रभावित किया है। कृष्ण, गोपी तथा बादमें राधाकी कल्पनाके साथ नायक तथा नायिका भावका विकास होता रहा है। इनकी प्रेम-क्रीडाओंमें गोपियों तथा राधाका चरित्र अनेक नायिकाओंके रूपमें अकित हुआ है। 'हरिवश'के 'हल्लीशक्रीडन' अध्यायमें कृष्ण तथा गोपियोंके प्रेम-प्रसगका वर्णन है। 'पद्मपुराण'के उत्तरखण्डमें कृष्ण-कथा है, पर उनकी प्रेमक्रीडाका वर्णन नहीं है। चौथे पातालखण्डमें कृष्ण, राधा तथा गोपियोंके आध्यात्मिक अर्थकी व्याख्या अवश्य की गयी है। 'विष्णुपुराण'के पाँचवें खण्डमें कृष्णका सम्पूर्ण जीवनवृत्त है, पर गोपियोंके साथ उनकी प्रेमक्रीडाका विस्तार दो अध्यायों (१३, १४)में है। इसका सबसे अधिक विस्तार 'भागवतपुराण'के दसवें स्कन्धमें है। इसमें कृष्ण और गोपियोंके प्रेमका पूरा विकास दिखाया गया है। गोपियाँ कृष्णके प्रति आकर्षित होती हैं, उनकी आकाक्षा करती हैं, विरहका अनुभव करती हैं और अन्तत रासलीलामें भाग लेती हैं। कृष्णके मथुरा जानेके बाद गोपियाँ विरहमें निमग्न हो जाती हैं, उद्धवके सन्देश लानेपर उपालम्भशील होती हैं। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'के चौथे खण्डमें कृष्णलीलाका वर्णन है, जिसमें कृष्णके साथ राधाका विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। पुराण-साहित्यके साथ ही दक्षिणके आलवार सन्तोंने गोपी-कृष्णकी प्रेमलीलाओंका वर्णन किया है और अनेक बार स्वत अपनी प्रेम-लीलाओंकी भावाभिव्यक्ति की है। इन भक्तोंने प्रेमकी कुछ अन्य परिस्थितियोंको भी उपस्थित किया है, जैसे, पूर्वानुराग-के लिए दूतीकी सहायता। परन्तु इन आलवार भक्तोंमें भावोंकी तीव्रता प्रधान है, शारीरिक सम्बन्धोंकी तीव्रता कम। भक्ति आन्दोलनके प्रवर्तक आचार्योंने दक्षिणके इन भक्तोंकी भक्तिभावनासे प्रेरणा ग्रहण की है। रामानुजने दार्शनिक पीठिका प्रस्तुत की है, पर वल्लभ, निम्बार्क तथा चैतन्यने कृष्णभक्तिकी स्थापना की। इन्होंने गोपी या राधा-कृष्णकी रतिक्रीडाको भक्तके अनन्य समर्पणके रूपमें स्वीकार किया और लीलाके माहात्म्यको प्रतिपादित किया। वल्लभने वात्सल्य-भक्तिको अधिक महत्त्व दिया है, पर 'भागवतपुराण'की स्वीकृतिके साथ माधुर्य-भक्तिको स्थान दिया है। वस्तुत इस भक्तिपरम्पराका प्रत्यक्ष प्रभाव चैतन्यके प्रमुख शिष्य रूपगोस्वामी द्वारा काव्यशास्त्रके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। इनके 'भक्ति-रसामृत सिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि'में भक्तिके आधारपर रसका निरूपण हुआ है और विभिन्न भक्तियोंमें 'प्रेमाभक्ति' उज्ज्वल अथवा माधुर्य रसके रूपमें विस्तार पा सकी है। 'उज्ज्वलनील-मणि'में विभिन्न गोपियों तथा उनकी विभिन्न स्थितियों नायिका-भेदका आधार प्रस्तुत करती है। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलनके साथ माधुर्य-भक्तिका रूप और काव्यशास्त्रके विवेचनमें शृगार रसके महत्त्वका अद्भुत सयोग हिन्दी साहित्यके मध्ययुगमें उपस्थित हुआ था।

काव्यशास्त्रमें शृगार रसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेदका विस्तृत विवेचन हुआ है और उसीके सामानन्तर भक्ति-साहित्यमें गोपियों तथा राधाकी कृष्णके प्रति माधुर्य-भावनाके आधारपर विभिन्न नायिकाओंकी स्थिति विकसित हुई है। १२वीं शतीके उत्तरार्द्धमें जयदेवके 'गीतगोविन्द'में कृष्ण और गोपियोंके प्रेमका सजीव तथा चित्रमय वर्णन है। इस काव्यमें गोपियाँ परकीया नायिकाएँ हैं, जो प्रगल्भाके रूपमें अकित हैं। राधामें भी मुग्धाभाव नहा है। प्रेमलीलाके प्रसगमें गोपियोंके तथा राधाके मनोभावोंका चित्रण किया गया है, जिनके आधारपर अनेक नायिकाओंके भेदोंकी कल्पना की जा सकती है। राधा सखीकी सहायता भी लेती है। जयदेवकी राधा कामवासनासे अत्यन्त विह्वल जान पडती है। बगला कवि चण्डीदासकी राधामें परकीया-भावकी चरम परिणति देखी जा सकती है। राधा किसी अन्यकी विवाहिता है, पर वह कृष्णके प्रेममें वेदना और पीडा सह रही है। जयदेवकी राधाकी अपेक्षा चण्डीदासकी

राधामें मानल काम-पीडाके स्थानपर वेदनाजन्य भावाकुलता अधिक है, यहाँतक कि मिलनके क्षणोंमें भी वह वियोगकी सम्भावनासे विकल जान पडती है। विद्यापतिने अपनी नायिका राधाका वर्णन वय सन्धिमे प्रारम्भ किया है। कविने मुग्धाभावमें काम-चेतनाका जागरण बहुत कोमल तथा सहज रूपमें उपस्थित किया है। यहाँ राधाका प्रेयसीरूप प्रधान है। विद्यापतिने दूती तथा अभिसार-प्रसगको पर्याप्त विस्तार दिया है। उनकी राधामें मासल वासनाका उद्वेग तथा भावाकुलता एक साथ चित्रित की गयी है।

उपर्युक्त कवियोंमें चण्डीदासने परकीया-भावके चरमोत्कर्षमें माधुर्य-भक्तिका आधार ग्रहण किया है, उनकी राधाकी अनन्यता और भावाकुलता इसमे सहायक सिद्ध हुई है। पर अन्य दोनो कवियोंमें लौकिक प्रेमका शारीरिक विलास तथा उद्वेग अधिक है, आध्यात्मिक भूमिका भी पर्याप्त नहीं है। सूरने बडे विस्तारसे गोपियों, राधा तथा कृष्णके प्रेमका वर्णन किया है। इनमें स्वकीया-भावकी प्रधानता है। सूरके सयोगपक्षमें वासनाके मासल चित्र अवश्य है, उनका तीव्र उद्वेग भी है, पर वियोगपक्षमे उनकी गोपियाँ तथा राधा पीडा और वेदनाके सूक्ष्म मनोभावोंमें अकित है। अपनी इस भावस्थितिमें वे प्रेमके बहुत ऊँचे स्तरतक उठी है। उनकी विरहव्यथामें, आत्मनिवेदनमें, उपालम्भशीलतामें परम विरहासक्तिका आध्यात्मिक आधार है। साथ ही सूरने कथा और आध्यात्मिकताका जो व्यापक आधार प्रस्तुत किया है, वह उनके प्रेमके वासनापूर्ण चित्रोंको भी अलौकिक कर देता है। अष्टछापके नन्ददास तथा कृष्णदास आदि कवियोंने इस सम्बन्धमें प्रेरणा 'भागवत' अथवा सूरसे ग्रहण की है। अन्य भक्त कवियोमें हितहरिवंशने अपने राधावल्लभीय सम्प्रदायमें राधा-कृष्णकी प्रेमक्रीडापर ध्यान केन्द्रित करना परमानन्दकी प्राप्ति माना है। इन्होने अपने पदोंमें राधा-कृष्णकी प्रेमलीलाका तन्मयताके साथ वर्णन किया है। हरिदासके सखी-सम्प्रदायमें भी राधा-कृष्णकी प्रेमक्रीडाको सखी-भावसे अवलोकनको परम काम्य माना गया है। मीरॉबाईके कृष्णके प्रति प्रेमका उल्लेख भी यहाँ किया जा सकता है।

इस प्रकार माधुर्य-भाव भक्तिके अन्तर्गत शृगार रसको अलौकिक आधार भक्तियुगमें मिल सका था और राधा तथा अन्य गोपियोंकी अभिव्यक्तिमें अनेकानेक नायिकाओंके भेदका विकास इसी युगमें हो चुका था। स्वकीया तथा परकीयाके विविध रूपोंका बडा सजीव अकन भक्ति-साहित्यमें मिलता है। स्थितिके अनुसार तथा अवस्थाके अनुसार नायिकाओंके विभिन्न रूपोंका चित्रण भी कोमल तथा भावपूर्ण है। रीतिकालके नायिका-भेद साहित्यपर इस भक्ति-साहित्यका प्रभाव अवश्य माना जायगा। जैसा पहले कहा गया है, भक्ति-साहित्यने स्वत शृगार रसके काव्यशास्त्रीय आधारको ग्रहण किया था और रीतिकालके शृगार रसके विवेचनमें पुन इस भक्ति-साहित्यने प्रभाव डाला। रीतियुगके अन्तर्गत विकसित होनेवाले नायिका-भेद-साहित्यमे व्यापक रूपमे नायक कृष्ण तथा नायिकाओंमें राधा तथा गोपियाँ स्वीकृत हुई हैं। ऐसा नहीं कि इन रीतिकालीन कवियोंने केवल इनके नाम लिये है, वरन् ये भक्तियुगीन भावनासे पूर्ण परिचित हैं और इसी परम्परासे नायक-नायिकाके रूपमें इन्हें स्वीकार किया है। केशवदासने कृष्णको 'परमपुरुष' और राधाको 'माया' माना है और 'जग नायककी नायिका' (र० प्रि० : ३ ७४) कहा है। देवने भी 'प्रेमचन्द्रिका'मे 'मायादेवी नायिका, नायक पूरुष आप' कहा है। दासके दास तथा द्विजदेव जैसे आचार्योंने 'राधिका कन्हाई सुमिरनको बहानो' अथवा 'न तरु सदा सुखदानि श्री राधा हरि को सुजस'की घोषणा की है। इस सम्पूर्ण साहित्यके अध्ययनसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि यह काव्यशास्त्रकी परम्परामे एक ओर शृगारकी महत्ताका द्योतक है और दूसरी ओर भक्तिभावनाकी परम्परामे मात्र शृगारिक मनोवृत्तिकी स्वीकृतिका सूचक है।

आधुनिक कालके सामाजिक जागरण तथा राष्ट्रीय चेतनाके साथ हिन्दी साहित्यमें रीतिकालीन, विशेषकर नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी शृगारिक काव्यके प्रति वितृष्णाका भाव दिखाई देता है। पुनरुत्थान कालके लेखकों और आलोचकोंमें सामाजिक आदर्शवादका अधिक आग्रह था और उनसे प्रेरित होकर उन्होंने इस साहित्यकी तीव्र आलोचना की है। महावीरप्रसाद द्विवेदीने 'नायिका-भेद' नामक निबन्ध(र० र० . पृ० ५७, ६३)में स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि इस साहित्यका भक्तिसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, इसके कवियोंका उद्देश्य अपने सरक्षकोंको प्रसन्न करके पुरस्कार प्राप्त करना था, इनके आश्रयदाता राजा-महाराजाओंको विलासी होनेके कारण इस प्रकारका काव्य पसन्द था तथा इस साहित्यमें केवल परकीया तथा सामान्याके चरित्रका वर्णन है जो नैतिक आचरणकी दृष्टिसे अनुचित है। इसी युगके प्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्तने अपने 'भारत भारती'(पृ० १२०-२१)में इस युगकी शृगारिक कविताकी प्रतारणा की है और अपने युगके कवियोंको नवीन आदर्शोंकी ओर उन्मुख होनेकी प्रेरणा दी है। छायावादी युगके प्रमुख कवि सुमित्रानन्दन पन्तने भी अपनी 'पल्लव'की भूमिकामें इस साहित्यको नग्न तथा अश्लील बताया है और उनके अनुसार इसमें भारतीय सरल नारीको प्रगल्भ तथा विदग्धा परकीया नायिकाके रूपमे ही चित्रित किया गया है। रामचन्द्र शुक्लका मत भी उदार नहीं है—'शृगारके वर्णनको बहुतेरे कवियोंने अश्लीलताकी सीमातक पहुँचा दिया है। इसका कारण जनताकी रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा-महाराजाओंकी रुचि थी, जिनके लिए कर्मण्यता और वीरताका जीवन बहुत कम रह गया था' (हि० सा० इ० पृ० २६८)। श्यामसुन्दर दासने भी इस साहित्यको अनैतिक माना है (हि० वि० · पृ० ३२३, ३३४)। ऐसा ही नहीं वरन् रीति-साहित्यके समर्थक विचारकोंने भी इस विशिष्ट साहित्यको अति शृगारिक, वासनाप्रवण तथा सकुचित माना है। परन्तु हरिऔधने इसका कारण फारसी साहित्य तथा दरबारी वातावरण माना है। विश्वनाथ मिश्रने इस युगके आश्रयदाता राजाओंको विषयी तथा ऐश्वर्यप्रिय माना

है और कवियोंको धनलोलुप। प्रभुदयाल मीतलने इस साहित्यका विस्तृत अध्ययन करके इसकी विशेषताओंकी ओर ध्यान आकर्षित किया है, पर फिर भी यह माना है कि इस साहित्यमें भक्तोंका आध्यात्मिक प्रेम लौकिक प्रेममें बदल गया है, यह युग ऐश्वर्यविलासका युग था और विलासप्रिय राजाओंका आश्रय पानेके लिए इस प्रकारकी काव्यरचना आवश्यक थी (व्रजभाषा साहित्यका नायिका-भेद)।

इन सब आरोपोंका प्रत्याख्यान करनेका प्रयत्न राकेश गुप्तने अपने प्रबन्ध 'स्टडीज इन नायक-नायिका-भेद'में किया है। वस्तुत इनके साथ यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस सीमित साहित्यके आधारपर सम्पूर्ण युगजीवन-को भोग-विलासप्रिय नहीं कहा जा सकता है। परन्तु उनके तर्कोंके आधारपर यह भी कहा जा सकता है कि भक्ति-आन्दोलनके साथ माधुर्य-भावका प्रचार जनतामें हो चुका था और जनताके बीच आध्यात्मिक स्तरपर शृगारी-साहित्यको पढ़ने अथवा सुननेका प्रतिबन्ध नहीं रह गया था। राकेश गुप्तने यह सिद्ध भी किया है कि इस- युगके राजा-महाराजा केवल ऐश्वर्यप्रिय और विलासी ही नहीं थे, वे वीर शासक भी थे। इसके अतिरिक्त पिछले युगोंके राजा या सम्राट् कम ऐश्वर्य-विलासप्रिय नहीं रहे हैं। वस्तुत यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि सामन्ती युगोंमें शृगारी भावना वीर भावनाके साथ ही चलती है, दोनोंमें कोई विरोध नहीं होता। इस कारण यह कोई महत्त्वपूर्ण तर्क नहीं है। इसके अतिरिक्त राजाश्रयप्राप्त संस्कृत-साहित्य भी शृंगारप्रधान है। यह बात भिन्न है कि गुप्तकालमें ऐश्वर्य-विलासके साथ स्वस्थ कलाका दृष्टिकोण भी था, जो तत्कालीन संस्कृत साहित्यके महाकाव्योंमें अभिव्यक्त हुआ है। इन महाकाव्योंकी शृगारभावना विराट् कथा और सौन्दर्यकी पीठिकापर आधारित है, जब कि रीतिकालीन काव्यकी शृगारिकतामें इस पीठिका तथा वातावरणका अभाव है, साथ ही भक्तिसाहित्यकी परम्परामें होकर भी उसकी लौकिकता अधिक उभरी है। रीतिकाव्यके मुक्तकोंमें महाकाव्य-शैलीकी वह गरिमा नहीं जो अपने विस्तारमें शृगारके सूक्ष्म चित्रणोंको स्वस्थ ढगसे आत्मसात् कर ले, और न इसमें भक्तिसाहित्यकी आध्यात्मिक पीठिका है जिसके आधारपर कृष्ण, गोपी तथा राधाकी समस्त रतिक्रीड़ा भक्तकी उल्लासमयी भावनामें डूब जाय। नायिका-भेद-साहित्यके रतिविलाससे न तो संस्कृतके श्रेष्ठ महाकाव्योंमें चित्रित रतिक्रीडाकी तुलना की जा सकती है और न भक्तिसाहित्यके कृष्ण, राधा और गोपियोंके रास-विलास की। किसी काव्यकी अभिव्यक्तिको उसकी पीठका, वातावरण तथा सौन्दर्यबोधकी पूर्ण उपलब्धिसे अलग करके नहीं देखा जा सकता। संस्कृत महाकाव्योंका रतिविलास सम्पूर्ण कथाका अग है, योजनाका अश है। मानवजीवनके सम्पूर्ण क्रममें यह एक सहज स्थितिके रूपमें आता है और प्रकृतिके व्यापक सौन्दर्यके वातावरणमें उसकी नग्नता भव्य हो जाती है। इनमें नग्नता अपने आपमें काव्यकी उपलब्धि नहीं है। इसी प्रकार कृष्ण-भक्त कवियोंके लीला और रासके वर्णनोंमें व्यापक आध्यात्मिक पीठिका है, कथाका भी विस्तार है और पग-पगपर कृष्णके परब्रह्मतत्त्व-की स्थापना है। इस आधार और वातावरणमें रतिक्रीडाका वर्णन निश्चय एक भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेता है। रीतिकालके शृगारी काव्यमें ऐसा कुछ नहीं है। इस युगके कवियोंने काव्य-शास्त्र तथा भक्ति-भावना, दोनोंकी परम्पराओंको एक रूप प्रदान किया है। एकके माध्यमसे वे आश्रयदाताओंके मनोरजनका साधन जुटा सके और दूसरेसे उनको जनताके बीच प्रतिष्ठित भक्तिभावनामें भी स्थान मिल सका। इतना अवश्य है कि उस युगमें इस काव्यको सहज स्वीकृति मिल सकी और उसमें अश्लीलता आदिका वह रूप नहीं माना गया जिसकी ओर आधुनिक आलोचकोंने बार-बार ध्यान आकर्षित किया है।

हिन्दीका सम्पूर्ण नायक-नायिका भेद-साहित्य काव्यकी दृष्टिसे महत्त्वका है। यद्यपि वह समस्त काव्य बहुत उन्नत तथा उच्च परम्परा और स्तरका साहित्य नहीं माना जा सकता, फिर भी काव्यात्मक सौन्दर्यके अनेक पक्ष इसमें अभिव्यक्त हुए हैं। यह सारा काव्य मुक्तकोंमें लिखा गया है, इस कारण रसके अन्तर्गत आते हुए भी उक्ति-वैचित्र्य-प्रधान है। यह वाग्विदग्धता इस युगके दरबारी वातावरणसे प्रभावित है, पर इसमें सौन्दर्यके अनेक स्थल हैं। इस काव्यका कलापक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसमें माधुर्य गुण, व्यग्यार्थ, छन्दप्रवाह तथा अलकारोंका सुन्दर प्रयोग आदि आता है। कवियोंने सूक्ष्म कल्पनाशीलनाका परिचय दिया है। इस कमनीय कल्पनाका प्रयोग कवियोंने नायिका-के सौन्दर्यवर्णन, उसकी मानसिक स्थितियोंके चित्रण तथा अनेक प्रेमसम्बन्धी स्थिति-परिस्थितियोंके निर्माणमें किया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न भेदोंके उदाहरणोंमें कवियोंने मानवजीवनके रति सम्बन्धी सूक्ष्म मनोविज्ञानका परिचय भी दिया है।

इस काव्यमें नायिकाके रूपसौन्दर्यका कल्पनाशील वर्णन है जो अपने अद्भुत आकर्षणमें भी स्वाभाविक है। मतिरामके इस रूपवर्णनमें सौन्दर्यका यही नवोन्मेषकारी अंकन है—'कुन्दनको रँग फीको लगै झलकै अस अगन चारु गुराई। ज्यों ज्यों निहारिऐ नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निखरै सी निकाई।' (रसराज ६)। देवकी नायिकाके सौन्दर्यको देखकर नायन चकित रह जाती है—'देव स्वरूपकी रासि निहारति पाँयते सीसलौं सीसते पाँयनि। ह्वै रही ठौरई ठाढी ठगी-सी हँसै कर ठोड़ी दिये ठकुरायन।' (व्र० भा० सा० ना० १ . १०)। भावात्मक चित्रणके स्थानपर अलकृत वर्णन भी कवियोंने किये हैं। केशवमें वैचित्र्यका अधिक मोह है—'भौंरसे भँवत अभिलाप लाख भाँति दिव्य, चपेकी सी कली वृषभानकी कुमारिका।' (र० प्रि० ३ ३)। कहीं-कहीं परिस्थितिका सहज सौन्दर्य भी अकित हुआ है—'घाँघरेकी घूमन सुऊरून दुबीचै दावि आँगी हूँ उतारि सुकुमारि मुख मोरै है। दन्तनि अधर दावि दूनरि भई सी चापि चौवर पचौवरकै चूनरी निचोरै है।' (पद्माकर जगद्वि० १ १४)। इन कवियोंने मुग्धा नायिकाकी कोमलता, लज्जाशीलता तथा वय सन्धि आदिका भावपूर्ण अकन किया है। मतिराम यौवनके प्रवेशका वर्णन करते हैं—

'कानन लौं लागे मुस्कान प्रेम पागे लौने, लाज भरे लागे लोल लोचन अनग ते। पानिप अमलकी झलक झलकन लागी, काईकी गई है लरिकाई कढ़ि अग ते।' (रसराज ११)। परन्तु इन समस्त वर्णनोंमें उक्तिका आग्रह विशेष है तथा मानसिक भावोंके स्थानपर शारीरिक विकासका चित्रण अधिक हुआ है। सेनापति भावपरिवर्तनका संकेत देते हैं—'लरकाईके खेल पछेल कछूक सयानि सखीन पत्यान लगी। पिय नाम सुने तिय घौसकनें दुरिकै मुरिकै मुस्क्यान लगी।' (ब्र० भा० सा० ना० ' १ १०)। मध्याके चित्रणमें यौवनकी मादकता तथा लज्जाका भाव संघर्षके रूपमें व्यंजित हुआ है। विहारी इस भावस्थितिके संघर्षको व्यंजक रूपमें प्रस्तुत करते हैं—'देखत बनै न देखिवौ अनदेखे अकुलाहिं। इन दुखिया अँखियानको सुख सिरज्यौई नाहिं।' (सतसई)। हरिऔधके इस चित्रमें लज्जा और उल्लासका संयोग है—'नार नवाइ सकाइ रही मुसकाइ रही घन मोरि लजाइ कै।' (ब्र०भा०सा०ना० . २ १३)। धीरादिक भेदोंके उदाहरणोंमें नायिकाके दोष, व्यंग्य तथा उदासीनता आदिका वर्णन है, जिनमें उक्तिवैचित्र्यका विशेष आश्रय लिया गया है। परकीयाकी भावस्थितिके चित्रणमें इन कवियोंने उसकी वेदना, पीड़ा, क्लेश, आवेग, उद्वेग तथा उसकी लोक-लज्जा आदिका मार्मिक वर्णन किया है। वस्तुत इस युगके प्रेमी कवियोंकी मुक्त भावाभिव्यक्तिमें परकीयाकी वेदनाकी गहरी अनुभूति है। घनानन्दकी नायिकाको—'जानौं प्रीति ताहि निठुराई सों निपट नेह' और वह वेचारी 'कैसें करि जियकी जरनि सों जताइये' उसको 'आँखिनके उर आरति' सदा रहती है और वह उपालम्भ देती है—'काहू कलपायहै सु कैसें कलपाय है' (सु० सा० ७ ८ ९)। रसखानके प्रेमकी भी यही स्थिति है—'चित्र लिखी सी गई सब देह न बैन कढ़ै मुख दीननि दुहाई। कैसि करौ जित जाउँ तितै सब बोलि उठें जे तो बावरि आई' (सुजान रसखान)। ठाकुरकी नायिका लोक-लाजकी अवहेलनामें दृढ़ताका परिचय देती है—'कवि ठाकुर प्रीति करी है गुपाल सों टेरै कहौं सुनौ ऊँचे गलै। हम नीकी लगी सो करी हमनें तुम्हें नीकी लगौ न लगौ तौ भलै।' (ब्र० भा० सा० ना० . १ १०)।

इस साहित्यमें गर्विता नायिकाकी उक्तिमें आकर्षण है, अन्यसम्भोगदु खिताके उपालम्भमें तीखा व्यंग्य है; स्वाधीनपतिकाके हृदयमें उल्लास और संकोच है, वासक-सज्जाओंके वर्णनोंमें आनन्दोल्लास तथा उत्सुकता है तथा उत्कण्ठिताकी प्रतीक्षामें व्याकुल उत्कण्ठा है। अभिसारिकाओंके शृंगारमें मनोरथका आन्दोलन तथा मिलनका संकल्प है और विप्रलब्धाकी निराशामें हृदयकी व्याकुलता है। खण्डिता वचनाके कारण ईर्ष्यालु है; कलहान्तरिताके मनमें पश्चात्ताप है तथा गच्छत्पतिका वियोगकी आशंकासे विह्वल है। प्रोषितपतिकाकी विरहव्यथामें मार्मिक पीड़ा और भावविह्वलता है। इस नायिकाकी भावाभिव्यक्तिका आश्रय घनानन्द तथा रसखान जैसे प्रेमी कवियोंने अधिक लिया है। विरहकी तन्मयताके कारण इनका प्रेम आध्यात्मिक स्तर पा सका है। घनानन्दका यह कवित्त मार्मिक-संवेदनके लिए बहुत प्रसिद्ध है—'बहुत दिनानिकी अवधि आसपास परे, खरे अखरनि भरे हैं उठि जान कौं'। इसी प्रकार आलमकी इस विरह-उक्तिमें व्यथा छिपी है—'आलम जौनसे कुंजनमें करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं। नैननमें जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।' (आ० के०)। रीतिकालीन कवियोंने ऋतुओंके उद्दीपक रूपका इस नायिकापर पड़नेवाले घातक प्रभावका विस्तारसे वर्णन किया है—'चातक न गावैं मोर सोर ना मचावें, घन घुमडि न छावैं जौ लौं लाल घर आवें ना।' (ब्र० भा० सा० ना० १ . १०)। अन्तमें आगतपतिकाओंकी उल्लासपूर्ण प्रतीक्षा है, जिसमें नायिका उत्सुक हृदयसे शकुन मनाती हुई और आये हुए पतिसे मिलनेके लिए अपने भावावेगको सँभाले हुए अंकित हुई है। तोषकी नायिका कौवेको मना रही है—'करती करार तीन पहिलै करौंगी तब, आपने पियाकों फिरि पाछे अंक भरिहौं।' (ब्र०भा०सा०ना० : १ १०)। मतिरामकी आगतपतिकाका भावसंघर्ष सुन्दर बन पड़ा है—'भीतर भौनके द्वार खरी सुकुमार तिया तन कंप विसेखै। घूँघटकी पट ओट दिये पट ओट किये पियको मुख देखै।' (रसराज ' ६३०)। परन्तु इस सम्पूर्ण काव्यमें भावसौन्दर्यके स्थानपर उक्ति-वैचित्र्य तथा आलंकारिक चमत्कारकी प्रवृत्ति तथा स्थूल वर्णनोंका आग्रह अधिक है।

[सहायक ग्रन्थ—नगेन्द्र · रीतिकाव्यकी भूमिका। प्रभुदयाल मीतल ' ब्रजभाषा-साहित्यमें नायिका भेद। राकेश गुप्त ' स्टडीज इन नायक नायिका-भेद (अप्रा०)। —र०

नायक-भेद—नायिका-भेदकी अपेक्षा नायक-भेदका विस्तार इस साहित्यमें बहुत कम है। किसी एक भी कवि अथवा आचार्यने नायक-भेदको नायिका-भेदकी अपेक्षा छठे अंशसे अधिक स्थान नहीं दिया है। महावीरप्रसाद द्विवेदीने कहा है कि इस नायक-भेदको भी नायिका-भेदके समान विस्तार दिया जा सकता था (र० र० : ना०)। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान और योनिविज्ञान इस बातका साक्षी है कि पुरुषकी अपेक्षा नारीका रति सम्बन्धी मनोभाव अधिक विषम और जटिल होता है। इसके आधारपर यह कहा जा सकता है कि नायक-भेदका विस्तार-संकोच स्वाभाविक ही था। स्त्रीकी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थितिके कारण नायिकाके नायककी अपेक्षा इस शास्त्रके अन्तर्गत अनेकानेक भेद-प्रभेद विकसित हुए हैं।

नाट्यशास्त्रके वर्गीकरणका आधार भिन्न था, उसमें नाटकीय कथावस्तुकी पात्रताकी दृष्टिसे धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत चरित्रके आधारपर नायकोंका विभाजन किया गया है। इस नाटकीय विभाजनको काव्यशास्त्रके अन्तर्गत महत्त्व नहीं मिला। परन्तु कुछ आचार्योंने इस विभाजनको परम्पराके रूपमें स्थान अवश्य दिया है। 'अग्निपुराण' तथा 'दशरूपक'के बाद भोजने अपने 'शृंगारप्रकाश'में धीरोदात्तको धर्म-शृंगारका नायक, धीरोद्धतको अर्थ-शृंगारका नायक, धीरललितको काम-शृंगारका नायक तथा धीरप्रशान्तको मोक्ष-शृंगारका नायक माना है। मस्कनके हेमचन्द्र, शारदातनय, विद्यानाथ, शिंगभूपाल, वाग्भट द्वितीय, विश्वनाथ, रूपगोस्वामी तथा

अच्युत मिश्र आदि आचार्योंने इस विभाजनको भी रखा है, परन्तु विना किसी विशेषताके। हिन्दीमें इस विभाजनको कुमारमणि जैसे अप्रसिद्ध आचार्यने 'साहित्यदर्पण' तथा 'दशरूपक'के आधारपर अपने ग्रन्थमें स्थान दिया है। इसके बाद केवल आधुनिक कालमें हरिऔध तथा गुलावरायने इस विभाजनको स्वीकार किया है। श्यामसुन्दर दासका 'रूपकरहस्य' तो नाट्यशास्त्रका ग्रन्थ ही है।

भोजने नायक, प्रतिनायक, उपनायक तथा अनुनायकका विभाजन प्रस्तुत किया था, यह विभाजन भी कथानकपर आधारित है, अतएव हिन्दीके किसी आचार्यने इसे स्वीकार नहीं किया। भोजने मूल प्रकृतिके आधारपर नायकका विभाजन सात्त्विक, राजस और तामसमें किया है। इसी प्रकार एक स्त्री और अनेक स्त्रियोंके विचारसे उन्होंने साधारण तथा असाधारण नायकका भेद भी किया है। परन्तु इन विभाजनोंको संस्कृत काव्यशास्त्रमें ही स्वीकृति नहीं मिल सकी। इसी कारण हिन्दीमें ये नहीं आ सके। भानुदत्तका दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्यका विभाजन केवल रसलीन तथा श्यामसुन्दर दास द्वारा स्वीकृत हुआ है।

काव्यशास्त्रका स्वीकृत विभाजन पति, उपपति तथा वैशिकका है, जो स्त्री-पुरुषके सामान्य सम्बन्धपर आधारित है। संस्कृतमें यह अधिक प्रचलित नहीं रहा है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख भानुदत्तने १३वीं शतीमें किया है। संस्कृतमें शिंगभूपाल तथा रूपगोस्वामीके सामान्य उल्लेखके अतिरिक्त वादमें यह विभाजन अधिक प्रचलित नहीं रहा। परन्तु हिन्दीमें इसकी प्रमुख विभाजनके रूपमें स्वीकृति रही है। सर्वप्रथम रहीमने और उनके वाद मतिराम तथा पद्माकर जैसे नायिका-भेदके आचार्योंने इसे स्वीकार किया है। नन्ददास और केशवने इसको नहीं लिया है और देवने वैशिकके स्थानपर साधारणका उल्लेख किया है। यहाँ देवका भाव भी किंचित भिन्न है, उनके अनुसार यदि नायकको प्रथम दो वर्गोंमें नहीं रखा जा सकता तो वह 'साधारण' कहा जायगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण विभाजन अनुकूल, दक्षिण, शठ तथा धृष्ट नायकका है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख 'अग्निपुराण'में हुआ है। वस्तुत 'नाट्यशास्त्र' के विभाजन दक्ष, ज्येष्ठ, मध्यम, अधम तथा सप्रवृद्धमें और इसमें समता है। ये दोनों पुरुषके स्त्रीके प्रति व्यवहारपर आधारित हैं। कुछ आचार्योंने इसको स्वतन्त्र विभाजन माना है और कुछने इसे प्रथम विभाजनोंसे अनेक रूपोंमें सम्बद्ध किया है। प्रथम मतके प्रवर्तक संस्कृतमें रुद्रट, रुद्र भट्ट, वाग्भट तथा केशव मिश्र हैं और हिन्दीमें इनका अनुसरण नन्ददास, केशव तथा देवने किया है। 'अग्निपुराण'में इन चारों भेदोंका विचार धीरोदात्त आदिके अन्तर्गत किया गया है, हिन्दीमें कुमारमणि तथा श्यामसुन्दर दासने इसका अनुसरण किया है। वाग्भट द्वितीयने केवल धीरललितमें यह विभाजन माना है, क्योंकि उनके अनुसार वही रतिभावनासे सम्बद्ध है। भानुदत्तने अपनी 'रसमंजरी'में पति तथा उपपतिका विभाजन अनुकूल आदिमें माना है और इसका अनुसरण शिंगभूपाल तथा रूपगोस्वामीने किया है। परन्तु हिन्दीमें सम्भवत केवल दास इस मतके हैं। अन्य सभी एकमत हैं कि यह चार प्रकारका अनुकूल आदिका विभाजन केवल पतिके सम्बन्धमें लागू हो सकता है।

एक अत्यन्त सामान्य प्रकारका विभाजन उत्तम या ज्येष्ठ, मध्यम, अधम या कनिष्ठमें किया गया है। यद्यपि यह विभाजन नायिकाओंके सम्बन्धमें अधिक प्रचलित है, फिर भी संस्कृतमें इसका प्रचलन दो रूपोंमें पाया जाता है। एक रूपमें इसके अन्तर्गत नायकके गुणोंके आधारपर विभाजन किया गया है और दूसरे रूपमें वैशिकके उपभेदके अर्थमें (रसार्णव)। हिन्दीमें इसका प्रयोग बहुत कम हुआ है और वह भी सामान्य विभाजनके रूपमें। इस सन्दर्भमें इसका आधार नायकके गुण न होकर उसका नायिकाके प्रति व्यवहार है। सुन्दरके अनुसार उत्तम हर प्रकारसे नायिकाको प्रसन्न करता है, मध्यम न तो उसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न करता है और न रुष्ट ही करता है और अधम नायिकाके मानके प्रति उपेक्षाशील रहता है—'उत्तम तियको लेत रस मध्यम समय विचार। अधम पुरुष सो जानिये, निलज निसंक अगार। (सुधानिधि पृ० ७७)। तोष और रसलीनकी परिभाषाएँ इसके समान हैं।

नायक-भेदका विवेचन मानी, चतुर, अनभिज्ञ तथा प्रोषितके रूपमें भी किया गया है। मानी और चतुरका सम्बन्ध केवल शठसे माना गया है और अनभिज्ञको नायकाभासके रूपमें ही स्वीकार किया गया है (भानुदत्त)। नायिकाओंके आठ प्रकारोंमें केवल एक प्रोषित नायकको स्वीकार किया गया है। चतुरके दो भेद—वचनव्यंग्यसमागमचतुर और चेष्टाव्यंग्यसमागमचतुर, जिनको सामान्यत वचनचतुर और क्रियाचतुर कहा गया है, माने गये हैं। हिन्दीके बहुतसे लेखकोंने इसी विभाजनको माना है, पर उनके विवेचनमें पर्याप्त अन्तर है। जिन्होंने इनको स्वतन्त्र रूपमें लिया है उनमें रहीम, तोष, मतिराम, नन्दराम, विहारीलाल भट्ट हैं। चतुरके दोनों भेदोंका सम्बन्ध कुछ लेखकोंने अन्य विभाजनोंसे जोड़ा है। दासने दक्षिण नायकके उपभेद माने हैं और इनको वेनी प्रवीन, प्रतापनारायण सिंह, भानु आदिने उपपतिके भेद माने हैं। चन्द्रशेखरके अनुसार दोनों चतुर और मानी केवल शठके उपभेद हैं और यहाँ उन्होंने भानुदत्तका अनुसरण किया है। मानी और प्रोषित प्राय उनके द्वारा भी स्वतन्त्र रूपमें स्वीकार किये गये हैं, जिन्होंने चतुरको किसी अन्य विभाजनके अन्तर्गत रखा है। सुन्दरने मानीको रूपगर्व मानी और 'अपनी गाँको मानी', दो उपभेदोंमें बाँटा है। रसलीनने इसके स्थानपर रूपमानी और गुनमानी माना है और स्वयंदूत-नायकका भेद भी स्वीकार किया है। भानुदत्तके अनुसरणपर पद्माकरने अनभिज्ञ नायकको नायकाभास माना है, पर सुन्दर, स्कन्दगिरि, लछिराम और दौलतरामने इसे स्वतन्त्र भेद माना है। भानु, वावूराम तथा हरिऔधने अनुकाल आदिके साथ पाँचवाँ स्थान दिया है। केशवने वाग्भटके आधारपर शृंगारके दोनों भेदों, वियोग तथा संयोगको प्रच्छन्न तथा प्रकाशमें विभाजित किया है और फिर नायक-नायिकाओंका विभाजन भी इस आधारपर किया है। कुमारस्वामीने

इनको केवल शठ नायकके सम्बन्धमें माना है। मिश्रबन्धुओंके अनुसार यह विभाजन सभी रसोंके सन्दर्भमें लग सकता है।

रसलीन अकेले ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने उपपतिके विभेद—गूढ़, मूढ़ और आलसमें और वैशिकके भेद—अनुरक्त और मत्तमें किये हैं। मत्त भी तीन प्रकारका हो सकता है—काममत्त, सुरामत्त तथा धनमत्त। भानुदत्तने पद्मिनी आदि नायिकाओंके समानान्तर, वृषभ, मृग तथा अश्वमें नायकोंका विभाजन किया है, जिसका आधार कामशास्त्र जान पड़ता है। राकेश गुप्तने अपने प्रबन्धमें नायक-भेदके चार वैधानिक आधार स्वीकार किये हैं—१ सामाजिक सम्बन्धके आधारपर—पति तथा उपपति। २ नायिकाओंके बीच अपने प्रेम-विभाजनके आधारपर—अनुकूल आदि। ३ सम्बन्धकी परिस्थितिके आधारपर—वियोगी, संयोगी तथा अपराधी। ४ प्रकृतिके आधारपर—उत्तम, मध्यम तथा अन्य। —रा० गु०

नायक(शृंगार)—शृंगार रसका आलम्बन-विभाव। विशेष विभाजनके लिए दे०—'नायक-भेद'। इस रूपमें नायककी स्वीकृति 'नाट्यशास्त्र'में भी मिलती है, यद्यपि उसमें प्रधान दृष्टिकोण नाट्य कथावस्तु है। इसी कारण नायकके गुणोंकी चर्चा कथावस्तुके आधारपर की गयी है। शृंगार रसके प्रसंगमें इसे—'तरुन सुबर सुन्दर सकल काम कलानि प्रवीन। नायक सो मतिराम कहि कवित गीत रस लीन।' कहा गया है (रसराज २३७)। 'कविता राग रसज्ञ' प्राय इसे कहा गया है। **पति**—सर्वप्रथम इसका उल्लेख भानुदत्तने किया, हिन्दीमें प्राय स्वीकृत। भानुदत्तके अनुसार 'विधिवत्पाणिग्राहकः' अर्थात् जिसका विधिवत् पाणिग्रहण हुआ हो उसे पति कहते हैं (र० म० : पृ० १६५)। **अनुकूल पति**—सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'में उल्लिखित। भानुदत्तके अनुसार 'सार्वकालिकपरांगनापराङ्मुखत्वे सति सर्वकालमनुरक्तोऽनुकूल' अर्थात् जो नायक सदा-सर्वदा दूसरी स्त्रियोंसे विमुख होकर अपनी प्रियामें अनुरक्त रहता है। मतिरामकी परिभाषामें यही भाव है—'सदा आपनी नारि सों राखै अति ही प्रीति। परनारी तें विमुख जो।' (रसराज २४४)। रहीमका अनुकूल नायक—'करत न हिय अपरधवा सपनेहु पीय। मान करनकी बिरियाँ रहिगो हीय।' (बरवै० ७५)। **दक्षिण नायक**—सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'में उल्लेख किया गया है। भानुदत्तके अनुसार—'सकलनायिकाविषयकसमसहजानुरागो दक्षिण' अर्थात् जो नायक सभी नायिकाओंके विषयमें समान अनुरागका व्यवहार करता है। मतिरामने ऐसा ही कहा है—'एक भाँति सब तियन सों जाको होय सनेह।' (रसराज २४७)। देवने 'प्यारी हैं सब सो मिलै' कहकर अधिक स्पष्ट किया है। नायक कृष्ण सब गोपियोंके मानकी रक्षा करते हैं—'आपनि आपनि पौरि बताय कै बोल कह्यो सिगरीनि नवेलो। त्यों हँसिके ब्रजराज कह्यो अब आज हमारिहि पौरिमें खेलो।' (वही २४८)। **शठ नायक**—सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'में उल्लेख। भानुदत्त द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—'कामिनीविषयककपटपटु' अर्थात् जो स्त्रियोंके विषयमें कपट व्यवहार करनेमें चतुर हो उसे शठ नायक कहते हैं। 'रसार्णव'में इसे 'गूढापराधकृत्' माना गया है। मतिरामकी परिभाषामें दोनों बातें आ जाती हैं—'टरै करत अपराध नहि करै कपटकी प्रीति' (रसराज २५०)। पद्माकरने इसकी व्याख्यामें अधिक विस्तार दिया है—'सहित काज मधुरै मधुर बैननि कहै बनाइ' (भा० वि० ना०)। रहीमका शठ नायक—'छूटल लाज डगरिया औ कुल कानि। करत जात अपरधवा परि गइ बानि' (बरवै० ७७)। पद्माकरका शठ नायक चतुराईसे क्षमा माँगता है—'हौं न कियो अपराध बलि वृथा तानियतु भौंह। तुव उरसिज हरि परनि कै करत रावरी सोंह।' (जगद्वि० १ २९७)। **धृष्ट नायक**—सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'में उल्लेख किया गया है। भानुदत्तके अनुसार—'भूयो निःशङ्ककृतदोषोऽपि भूयो निवारितोऽपि भय प्रश्रयपरायणो धृष्ट' अर्थात् जो बार-बार दोष करनेपर भी निश्शक रहे तथा मना करनेपर भी अनुनय करनेमें चतुर हो ऐसा नायक धृष्ट है। मतिरामने लगभग ऐसा ही लक्षण दिया है—'करै दोष निरसंक जो टरै न नियके मान। लाज धरै मनमें नहीं नायक धृष्ट निदान।' (रसराज २६३)। देव ऐसे नायकका उदाहरण देते हैं—'द्वार ते दूरि करो बहु बारनि हारनि बाँधि मृणालनि मारी। छाडतु ना अपनो अपराधु असाधु सुभाइ अगाधु निहारी।' (भा० वि० ना०)। नायिकाके व्यंग्यमें इस नायकका चरित्र स्पष्ट उभरा है—'जहवाँ जात रइनियाँ तहवाँ जाहु। जोरि नयन निरलजवा कत मुसुकाहु।' (रहीम - बरवै० ७८)। **उपपति**—सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा स्वीकृत विभाजनका एक भेद—'आचारहानिहेतु', अर्थात् आचारहीनताके कारण पतिको उपपति कहा गया है (र० मं० : पृ० १७१)। इसी बातको मतिराम 'जो परनारिको रसिक' कहकर व्यक्त करते हैं। यह नायक अनेक स्त्रियोंसे प्रेम करता है—'मन्द हँसनि घ्यकोर लखि बस कर लेत प्रवीन। छिन बिछुरें गति होति यौं ज्यों जल बिछुरत मीन।' (मतिराम रसराज २७९)। **वैशिक**—भानुदत्तने ही इसको 'बहुलवेश्योपभोगरसिक', अर्थात् जो अनेक वेश्याओंका उपभोग करनेवाला हो ऐसा नायक माना है। मतिरामने भी 'प्रीति करै गनिकान सा' कहा है तथा पद्माकरने इसे 'अलज अभीत' भी माना है। मतिराम ऐसे नायकका वर्णन करते हैं—'बार-बार भ्रमि बारवधू बार भौरनमें, माँगकी मुकुतमाल-गगमें मगन भो।' (रसराज २६०)। **मानी**—भानुदत्तके द्वारा शठके अन्तर्गत स्वीकृत, पर हिन्दीमें प्राय स्वतन्त्र नायकका एक भेद। मतिरामने 'करत मन अभिमान' कहा है और पद्माकरने 'करै जु तिय पै मान' कहा है। नायिकाकी उक्तिके रूपमें रहीम कहते हैं—'अब भरि जनम सहेलिया तकब न ओहि। ऐठलिगो अभिमनियाँ तजिगो मोहि।' (बरवै० ७९)। सखी नायकको मना रही है—'ऐसे मनभावन गुमान है जु मन भायो, प्यारीके मनाइबे कों तुमको मनाइये।' (मतिराम रसराज २६४)। **वचनचतुर**—भानुदत्तने इसे शठके अन्तर्गत ही माना है, पर हिन्दीमें प्राय सामान्य भेदके रूपमें मान्य। मतिराम, पद्माकर आदिने इसे वचनोंमें चतुराई करनेवाला माना है। रहीमका नायक जिस चतुराईसे

नायिकाको सकेत देता है—'सघन कुज अमरैया सीतल छाँह। झगरति आय कोइलिया पुनि उडि जाइ।' (वरवै० ८०।) **क्रियाचतुर**—भानुदत्तने वचनचतुरके साथ रखा है—'वचनचेष्टाव्यग्यसमागमश्चतुर ।' (र० म० पृ० १७८)। हिन्दीके आचार्योंने क्रियाकी चतुराईसे सकेत करनेवाला कहा है। रहीमके कृष्ण किस चतुराईसे नायिकाका सामीप्य प्राप्त कर लेते है—'खेलत जानिसि टोलवा, नन्दकिसोर। छुइ वृषभान कुँअरिया होइ गइ चोर।' **प्रोषित**—पति आदिक विभेदोंमें यह नायक हो सकता है (भानुदत्त)। हिन्दीमें इसे भी प्राय स्वतन्त्र रूपमें माना है। मतिरामके अनुसार 'नायक होय विदेस मैं जो वियोग अकुलाय' उसे प्रोषित कहते हैं। नायिकाकी सुधिमें नायक सन्तोष प्राप्त करता है—'ह्वै है तव निसा मेरे लोचन चकोरनिको, जब वाको आनन अमल इन्दु देखिहौं।' (रसराज २७३)। —र०

नायिका—सामान्य अर्थ है नायककी पत्नी या प्रिया। नाट्यशास्त्रके अर्थमें नाटककी प्रधान पात्री, काव्यशास्त्रमें शृगार रसका आलम्बन। वह सुन्दरी तथा यौवनपूर्ण स्त्री जिसके देखनेसे रति स्थायी भाव जागरित हो, जिसका विस्तार ही शृंगार रस होता है। मतिराम कहते है—'उपजत जाहि विलोकि कै चित्त बीच रस भाव। ताहि बखानत नायका जे प्रवीन कविराव।' (रसराज ५)। पद्माकरने इसी प्रकारकी परिभाषा देते हुए 'शृगार'का उल्लेख विशेष रूपमे किया है। नायिकाके सौन्दर्यवर्णनमें रीतिकालीन कवियोंने उत्कर्ष प्राप्त किया है। मतिराम, देव, बिहारी तथा द्विजदेव जैसे कवियोंने नायिकाओंके सौन्दर्यवर्णनमें मात्र शरीरको महत्त्व नहीं दिया है, उन्होंने उसके भावसौन्दर्यको भी अभिव्यक्त किया है। पर बादके पद्माकर आदि अन्य कवियोंने नायिकाओंके शारीरिक हाव-भावका अधिक वर्णन किया है, इनमें वर्णनवैचित्र्य भी अधिक है। पुराने कवियोंमें इनके साथ केशवका नाम लिया जा सकता है। नायिकाके वर्णनमें उसकी सुकुमारता, भावप्रवणता तथा भावावेगका सजीव चित्रण हुआ है। मतिरामके सौन्दर्यवर्णनमें कोमल भावसौन्दर्य तथा सुकुमारता है—'कुन्दनको रग फीको लगै झलकै अस अगन चारु गुराई। आँखिनमें अलसानि चितौनिमें मजु विलासनकी सरसाई। को बिन मोल विकात नहीं मतिराम लहै मुसकानि मिठाई। ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निखरै सी निकाई।' (रसराज ७)। सौन्दर्यको नवनव उन्मेष ग्रहण करनेवाला कहा गया है, उसको देखनेमे नये-नये भावस्तर उभरते है। रूपसौन्दर्यवर्णनकी दृष्टिमे विद्यापतिने राधाके रूपका वर्णन यौवनकी चचलता और मानसिक उद्वेगके साथ किया है। सूरने राधाके सौन्दर्यवर्णनमें रूपात्मक सौन्दर्यके साथ भावात्मक सौन्दर्यका अकन भी किया है। उत्प्रेक्षाओंके माध्यमसे वे सौन्दर्यकी अनेकानेक स्थितियाँ और परिस्थितियाँ चित्रित कर सके है। तुलसीने सीताका रूपवर्णन मर्यादाके साथ किया है, जो सूक्ष्म सौन्दर्यबोध प्रस्तुत करता है—'सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छविगृह दीपसिखा जनु बरई।' इसी प्रकार गीतावलीमें—'अँग अग तरग उठै दुतिकी परिहै मनो रूप अबै धर च्वै।' पद्मावतीका रूपसौन्दर्यवर्णन करते समय जायसीने उसे अलौकिक कर दिया है। वस्तुत प्रेममार्गी कवियोंकी 'सौन्दर्य योजना रूपको पकड़नेका प्रयास है, उसको सीमामें घेरनेका प्रयास है। नारीके प्रतीकात्मक सौन्दर्यसे यह व्यापक सौन्दर्य प्रकृतिमें फैलकर आध्यात्मिक सकेत ग्रहण कर लेता है।' (रघुवश प्रकृति और काव्य हिन्दी पृ० २६३)। कबीर आदिक सन्त कवियोंने भी रूपका अत्यन्त सूक्ष्म आधार अपने अलौकिक प्रेमके लिए ग्रहण किया है। आनन्दघन जैसे प्रेमियोंने रीतिकालीन शैलीमें अपने आलम्बनके सौन्दर्यका वर्णन किया है। आनन्दघनके सौन्दर्यवर्णनमें भावात्मक व्यजना अधिक सूक्ष्म है—'लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाय भरी, लसति ललित लोल चख तिरछीनमैं। छबिको सदन गोरो बदन रुचिर भाल, रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानमैं।' (सु० भा० ३)। रीतिकालीन उक्तिवैचित्र्यके विकासके साथ नायिकाके सौन्दर्यवर्णनमें भी इसका प्रभाव परिलक्षित होता है—'कोमल कमलके गुलाबनके दलके सुजात गड़ि पायन बिछौना मखमलके।' (पद्माकर जगद्वि० भा० १ १२)। आधुनिक कालके छायावादी काव्यमें सौन्दर्यबोधका स्तर सूक्ष्म हो गया और उसके साथ ही नारीसौन्दर्यकी कल्पना अशरीरी और वायवी हो गयी है। बहुत कुछ आलम्बनके इसी सूक्ष्म रूपके कारण भी इस काव्यमें आध्यात्मिक रहस्यका आभास मिलता है।—र०

नायिका-भेद—नायक-नायिका भेद सम्बन्धी समस्त अध्ययन और काव्यरचनामें नायककी अपेक्षा नायिकाका महत्त्व प्रारम्भसे रहा है। स्पष्टत उसका कारण पुरुषकी अपेक्षा नारीका रतिभावनाके क्षेत्रमें अधिक महत्त्वपूर्ण होना है। इस सम्बन्धमें आधुनिक मनोविज्ञान तथा शरीरविज्ञान-(कामशास्त्रके सन्दर्भमें)का साक्ष्य दिया जा सकता है कि कामभावनाके क्षेत्रमें नारीकी स्थितियाँ और प्रतिक्रियाएँ अधिक विविध, जटिल तथा विषम होती है। यही कारण है कि इस विषयके अन्तर्गत नायिका-भेदका विस्तार अत्यधिक है और उसमें ही आचार्यों तथा कवियोंने अपनी विवेचनात्मक शक्ति और काव्यात्मक प्रतिभाका परिचय दिया है। हिन्दी साहित्यके रीतिकालके अन्तर्गत यह सारा काव्यसाहित्य एक प्रकारसे स्वतन्त्र रूपमें विकसित हुआ है, क्योंकि प्रारम्भमें रसका विवेचन तो गौण ही जान पड़ता है। अधिकाश काव्य-ग्रन्थोंका उद्देश्य नायिका-भेद प्रस्तुत करना रहा है और विस्तार तथा महत्त्वकी दृष्टिसे इसमें भी नायिका-भेद प्रधान है, अतएव कुछ ग्रन्थोंमें तो केवल नायिका-भेद ही प्रस्तुत किया गया है, उदा०—कृपाराम 'हिततरंगिणी', चिन्तामणि 'कविकुलकल्पतरु', देव 'रसविलास' आदि। वस्तुत इन रीतिकालीन कवियोंने शृगार रसके आलम्बनरूपमें नायिकाओंके विविध भेद-प्रभेद वर्णन करके उनके विविध पक्षोंका चित्रण ही किया है। यही कारण है कि यह सारा शृंगार रसका विस्तार इस रूपमें नायिका-भेदके नामसे प्रसिद्ध हुआ। हिन्दी रीतिसाहित्यके सन्दर्भमें नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी सम्पूर्ण काव्य नायिका-भेदके नामसे ही अभिहित है।

सर्वप्रथम तथा सर्वमान्य नायिकाओंका विभाजन स्वकीया,

परकीया तथा सामान्यामें किया गया है, जो नायकके साथ उसके सामाजिक सम्बन्धपर आधारित है। संस्कृतमें इसके कई अन्य रूप भी पाये जाते हैं, भरतने कुलजा, वेश्या, कन्यका माना है और 'अग्निपुराण' में उपर्युक्त विभाजनमें पुनर्भूको जोड़ा गया है। वाग्भट तथा केशव मिश्रने अनूढ़ा, स्वकीया, परकीया तथा पणांगना माना है। 'नाट्यदर्पण'में कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया तथा पण्यकामिनी कहा गया है तथा रूपगोस्वामीने केवल स्वकीया और परकीयाको माना है। संस्कृतमें विद्यानाथके अतिरिक्त तथा हिन्दीमें सभीने इस विभाजनको स्वीकार किया है। कुमारमणिने स्वकीया और पतिव्रतामें अन्तर माना है, क्योंकि पतिव्रता पतिपर क्रोध नहीं कर सकती अतएव उसके खण्डिता जैसे भेद नहीं किये जा सकते। परकीयाकी परिभाषा केवल केशवने भिन्न प्रकारसे की है उनके अनुसार परकीया परब्रह्मकी प्रेमिका होती है। यद्यपि बादके अधिकांश कवियोंने कृष्णको नायक माना है, पर उन्होंने परकीयाकी यह परिभाषा नहीं दी। हिन्दीमें कृपाराम, कुमारमणि, रसलीन तथा भानुके अतिरिक्त अन्य सभीने सामान्या अथवा गणिकाका बहुत संक्षेपमें उल्लेख किया है। केशवने एक बार इसका उल्लेख करके फिर चर्चा नहीं की, कुमारमणिके अनुसार यह केवल रसाभासका आलम्बन हो सकती है, दासने साधारणकी परिभाषा इससे भिन्न दी है।

संस्कृतमें स्वकीयाके भेद रुद्रटके अनुसार मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा (प्रौढ़ा) हैं, जिनका आधार प्राय अवस्था (वय क्रमानुसार) है। इस मतको बादके आचार्योंने स्वीकार किया है। भोज तथा रूपगोस्वामी जैसे कुछ आचार्योंने इस विभाजनको परकीयाके साथ भी लगाया है। प्रथम हिन्दी आचार्य कृपारामने इस विभाजनको स्वकीयाके साथ सामान्याके लिए भी लगाया है। नन्ददास, दास तथा ब्रह्मदत्तने इसको तीनों रूपोंके साथ लगाया है और गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीने इसको स्वतन्त्र विभाजनके रूपमें स्वीकार करके एक प्रकारसे इसी मतको माना है। कुमारमणिने भी परकीयामें मध्या और प्रौढ़ाके भेद माने हैं। परन्तु अधिकांश आचार्योंने इस विभाजनको प्रमुखत स्वकीयामें ही स्वीकार किया है और इनमें प्रमुख हैं—केशव, रहीम, चिन्तामणि, मतिराम, देव, पद्माकर और हरिऔध।

सर्वप्रथम भानुदत्तने मुग्धाका विभाजन किया है, एक दृष्टिसे उन्होंने अज्ञातयौवना तथा ज्ञातयौवना और दूसरी दृष्टिसे नवोढा तथा विश्रब्धनवोढा माना है। संस्कृतमें रूपगोस्वामी तथा विश्वनाथने मुग्धाके भेद करके भी भानुदत्तका विभाजन स्वीकार नहीं किया है, पर हिन्दीमें अधिकांशने उनका अनुसरण किया है और जो कुछ आचार्य इस मतके नहीं हैं, उन्होंने विश्वनाथ तथा रूपगोस्वामीको भी नहीं माना है। मुग्धाके भेद करनेवालोंमें जब कि संस्कृतमें केवल तीन आचार्य हैं, हिन्दीमें दो-तीन ही होंगे जिन्होंने इसका विभाजन नहीं किया है। इस विभाजनको हिन्दीमें तीन प्रकारसे किया गया है। प्रथम—एक ही विभाजनके अन्तर्गत उपभेदोंके रूपमें। कृपाराम, तोष, दौलतराम और कन्हैयालाल पोद्दारने यह विभाजन अपनाया है। कृपारामने नवोढाके तीन भेद और माने हैं, ललिता, वय सन्धि तथा उदितयौवना। तोष और ब्रह्मदत्तने मुग्धाके विभाजनमें विश्रब्धनवोढाको स्वीकार नहीं किया है। दौलतरामने आक्रूनयौवना या अकुरितयौवनाको इस सूचीमें जोड़ा है। देवने अपने नवमुग्धा, नवलवधू, नवयौवना, नवअनंगा तथा सलज्जारतिके विभाजनके साथ इसको भी स्वीकार किया है और भानुदत्तके भेदोंमें केवल वय सन्धिको और जोड़ा है। द्वितीय—स्वतन्त्र विभाजनको भानुदत्तके अनुकरणपर स्वीकार करनेवाले आचार्योंमें नन्ददास, मतिराम, दास, पद्माकर तथा गुलाबराय हैं। इनमें किसीने भी इस बातका उल्लेख नहीं किया है कि इन दोनों विभाजनोंमेंसे कोई किसी दूसरेके अन्तर्गत विभाजित हो सकता है। तृतीय—इस वर्गके लेखकोंने दोनों विभाजनोंको एक दूसरेसे सम्बद्ध किया है—बेनी प्रवीन, प्रताप, भानु, हरिऔध तथा सीतल। इन्होंने मुग्धाको अज्ञातयौवना तथा ज्ञातयौवनामें विभाजित किया है, फिर ज्ञातयौवनाको नवोढा तथा विश्रब्धनवोढामें।

कुछ कवियोंने अपने स्वतन्त्र विभाजन प्रस्तुत किये हैं, जो पूर्ण रूपसे किसीके द्वारा ग्रहण नहीं किये गये। केशवने इसके चार भेद नववधू, नवयौवना, नवलअनंगा तथा लज्जाप्राया किये है। चिन्तामणिके अनुसार छ भेद—वय सन्धि, अविदितयौवना, अविदितकामा, विदितमनोभवा यौवना, नवोढा, विश्रब्धनवोढा माने है। कुमारमणिने नवमदना, नवयौवना, लज्जावती, भूषणरुचि, रतिवामा, वय सन्धि, तथा विश्रब्धनवोढामें विभाजित किया है, देवके स्वतन्त्र विभाजनका उल्लेख किया जा चुका है। रसलीनने अपने विभाजनमें पिछले सभी भेद-उपभेदोंको स्वीकार किया है। उनके अनुसार पाँच भेद इस प्रकार हैं—अंकुरितयौवना, शैशवयौवना, नवयौवना, नवलअनंगा, नवलवधू, पुन नवयौवनाके अज्ञात तथा ज्ञातयौवना नामक दो भेद, नवलअनंगाके अविदितकामा तथा विदितकामा नामक दो भेद और नवलवधूके नवोढा, विश्रब्धनवोढा तथा लज्जासक्ता-रतिकोविदा नामक तीन भेद किये हैं। बिहारीलाल भट्टने अलग ढंग अपनाया है, उन्होंने पहले केशवका वर्गीकरण दिया है, फिर नवलवधूके अज्ञात तथा ज्ञातयौवना नामक भेद दिये हैं और अन्तमें नवोढा तथा विश्रब्धनवोढाको स्वतन्त्र रूपमें रखा है।

रुद्रटने मध्या और प्रगल्भाका विभाजन धीरा, मध्या और अधीरामें, फिर ज्येष्ठा और कनिष्ठामें किया है। भानुदत्तने इनके विभाजन नहीं किये और हिन्दीके अधिकांश कवियोंने भी उनका अनुसरण करके मध्याका विभाजन नहीं किया है। परन्तु कृपाराम, तोष, केशव, चिन्तामणि, कुमारमणि, देव, रसलीन तथा नन्दराम आदिने विभाजन किया है। कृपारामने अतिविश्रब्धनवोढाका उल्लेख मध्याके साथ किया है। तोषने इनके साथ प्रगल्भवचनाको और एक भेद माना है। अन्योंने विश्वनाथके मध्याके भेदोंको स्वीकार किया है—विचित्रसुरता, प्ररूढस्मरा, प्ररूढयौवना, ईषत्प्रगल्भवचना और मध्यमव्रीडिता। केशवदासने इसके जो चार भेद किये है वे विश्वनाथके आधारपर ही है, केवल शब्दोंमें कुछ अन्तर है, जैसे, दूसरेके लिए प्रादुर्भूत

मनोभवा, तीसरेमें प्ररूढ़के स्थानपर आरूढ और चौथेमें ईषत् अधिक है। पांचवाँ भेद केशवमें नहीं है, पर कुमारमणि तथा रसलीनका पाँचवाँ भेद लघुलज्जा इससे मिल जाता है। चिन्तामणि, देव, नन्ददासने प्राय केशवके वर्गीकरणको क्रम तथा नामके किंचित् हेर-फेरके बाद स्वीकार कर लिया है। प्रगल्भाका विभाजन नन्ददास, रहीम, मतिराम तथा दासने नहीं किया है। कृपाराम, तोष, रसलीन, पद्माकर, बेनी प्रवीन, चन्द्रशेखर, प्रतापनारायण सिंह, भानु तथा हरिऔधने इसके रतिप्रिया और आनन्दसम्मोहिता, दो भेद किये है। स्वतन्त्र विभाजन करनेवालोंमें केशव प्रमुख हैं, जिन्होंने प्रौढाको समस्तरसकोविदा, विचित्रविभ्रमा, आक्रमित तथा लुब्धापति भेद माने हैं। चिन्तामणिने प्रौढयौवना, मदनमत्ता, रतिप्रीतिमती और सुरतिमोदपरवशा भेद किये हैं। इसमें अन्तिम दोनों कृपाराम आदिकके भेदके समान हैं। कुमारमणिके पाँच भेदोंमेंसे सकलतारुण्या, विविधभावा तथा लघुलज्जा विश्वनाथके गाढतारुण्या, भावोन्नता और दरव्रीडाके समान हैं तथा अधिककामा और रतिमोहनी केशवकी रतिप्रिया और विचित्रविभ्रमासे भिन्न नहीं हैं। देवने आक्रमितके स्थानपर आक्रान्त देकर केशवके विभाजनको ही प्रस्तुत कर दिया है। रसलीनने प्रौढाको उद्भटयौवना, मदनमत्ता, लुब्धापति और रतिकोविदामें तथा नन्दरामने समस्तरसकोविदा, विचित्रविभ्रमा, आक्रामितप्रौढ़ा और लज्जाप्रायारतिमें विभाजित किया है। ये सभी भेद परिचित हैं, केवल रसलीनका प्रथम विश्वनाथके गाढतारुण्याका तथा नन्दरामका अन्तिम उनके दरव्रीडाका ही रूपान्तर है।

संस्कृतमें भोजको छोड़कर रुद्रटसे लेकर रूपगोस्वामीतक, सबने नायिकाके अपने अपराधी पतिके प्रति व्यवहारके आधारपर किये गये विभाजन धीरा, मध्या या धीराधीरा और अधीराको केवल मध्या तथा प्रगल्भाके साथ स्वीकार किया है। अधिकाश हिन्दी कवि भी इसी मतके हैं, फिर भी कुछ अपवाद हैं। कृपारामने इसे स्वतन्त्र रूपसे मानवतीका विभाजन माना है और मध्या तथा प्रौढाके साथ परकीया और सामान्याको भी स्वीकार किया है। जसवन्त सिंहने भोजके अनुसरणमें इसे स्वतन्त्र विभाजन माना है। कुमारमणि, दास तथा ब्रह्मदत्तने इसे खण्डिताका विभाजन मानकर एक प्रकारसे स्वतन्त्र ही माना है। अन्य अधिकाशने प्रौढाधीराके अन्तर्गत आकृतिगुप्ताका विभेद भी स्वीकार किया है। रसलीनने इसे मध्य धीराधीरासे सम्बद्ध किया है और खण्डितासे इनको (धीरादिकको) भिन्न माना है। रुद्रट तथा संस्कृतके बादके आचार्योंने ज्येष्ठा तथा कनिष्ठाको भी मध्या और प्रौढाका विभाजन स्वीकार किया है, पर हिन्दीके कवियोंमें केवल मतिराम, देव, रसलीन तथा पोद्दार आदि कुछने ऐसा स्वीकार किया है। अधिकाशने इसे स्वीकयामात्रका विभाजन माना है। कृपारामने इनके साथ समाहिताका एक भेद और स्वीकार किया है। दासने इसको दक्षिण, शठ तथा धृष्टनायकोंके साथ अलग-अलग दिखलाया। नन्ददास, रहीम, केशव जैसे कुछ कवियोंने इसका उल्लेख नहीं किया है।

स्वकीयाके अन्य भेदोंमें, देवने वयके आधारपर—देवी (७ वर्ष), देवगन्धर्वी (७ से १४ वर्ष), गन्धर्वी (१४ से २१ वर्ष), गन्धर्वमानुषी (२१ से २८ वर्ष), मानुषी (२८ से ३५ वर्ष)का विभाजन किया है। केवल रसलीनने इस प्रकारका विभाजन किया है—गौरी (१० वर्षतक), लक्ष्मी (सवा १२ से साढे २४ वर्ष) और सरस्वती (३५ वर्षतक)। एक दूसरे प्रकारका स्वकीयाका विभाजन रसलीन तथा दौलतरामने दु खिताके अन्तर्गत किया है—मुधापतिदु खिता, बालपतिदु खिता, वृद्धपतिदु खिता। दौलतरामने चौथा भेद नपुसकपतिदु खिता और जोडा है। अनभिज्ञ नायकके समान इन नायिकाओंको भी रसका आलम्बन नहीं माना जा सकता है, क्योंकि यहाँ रतिका अभाव है। दासने ऊढा-अनूढाके भेदको, स्वकीयाके साथ भी माना है, पर अन्योंके द्वारा स्वकीया सदा विवाहिता स्वीकार कर ली गयी है।

सस्कृतमें परकीयाका जितने भी विभाजन किया है उसने इसके ऊढा तथा अनूढा भेदोंको भी माना है। परन्तु हिन्दीमें नन्ददास, सुन्दर, जसवन्त सिंह तथा ब्रह्मदत्त जैसे कुछ कवियोंने परकीयाका विभाजन करके भी इस विभेदको स्वीकार नहीं किया। कृपाराम परोढाको पुन परप्रिया और परविवाहितामें विभाजित किया है। अन्य कवियोंने परोढा(ऊढा)को मात्र परविवाहिता माना है। तोषने परकीयाके दो विभाजन प्रस्तुत किये हैं, एकके अनुसार—दृष्टिजेष्टा, असाध्या तथा साध्या और दूसरेके अनुसार—उद्‌बुद्धा तथा उद्बोधिता। असाध्याको पाँच प्रकारसे विभाजित किया है—गुरुजनभीता, दूतीवर्जिता, धर्मसभीता, अतिकान्ता तथा खलधिष्ठिता, और साध्याको चार प्रकारसे—वृद्धवधू, बालकवधू, रोगीवधू तथा ग्रामवधू। रसलीनने इनमेंसे प्रथम विभाजनसे दृष्टिजेष्टाको छोड दिया है, असाध्याको उसके समस्त भेदों सहित दिया है और सुखसाध्या(साध्या)मेंसे ग्रामवधूको छोड़कर उसके ये भेद और जोड दिये हैं—नपुसकवधू, विधवावधू, गुनीवधू, गुनरिझावती, सेवकवधू तथा निरकुस। रसलीनका दूसरा विभाजन भी समान है, केवल नाममें किंचित् अन्तर है—उद्‌भूता तथा उद्‌भूदिता और उन्होंने उद्‌भूताके साथ स्वयदूतीको सयुक्त किया है। बादके कुछ कवियोंने तोषका दूसरा विभाजन स्वीकार किया है, उदा०—प्रतापनारायण सिंह और हरिऔध। दासने कुछ नवीनता जोड़नेका प्रयत्न किया है, उद्‌भूताकी दो स्थितियाँ अनुरागिनी तथा प्रेमासक्ता तथा उद्बोधिताकी असाध्या और दु खसाध्या और मानी है।

भानुदत्तने परोढ़ाको गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना तथा मुदितामें विभाजित किया है, पुन गुप्ताका विभाजन वृत्तसुरतगोपना, वर्त्तिष्यमाण सुरतगोपना तथा वृत्तवर्त्तिष्यमाण सुरतगोपनामें किया है, विदग्धाका वाग्विदग्धा और क्रियाविदग्धामें तथा अनुशयानाका प्रथम, द्वितीय और तृतीयमें किया है। बहुत कम शाब्दिक परिवर्तनोंके साथ यह विभाजन अधिकाश हिन्दीके लेखकोंके द्वारा स्वीकार किया गया है, उदा०—रहीम, सुन्दर, पद्माकर, चन्द्रशेखर, नन्दराम, प्रतापनारायण सिंह, भानु, हरिऔध, मीतल आदि। जसवन्त सिंह, चिन्तामणि, मतिराम और

देवने गुप्ताके भेदोंको छोड़कर उन्हें पूर्णतः स्वीकार किया है। तोष, बेनी प्रवीन तथा गुलाबरायने लक्षिताके दो उपभेद और जोड़े हैं, हेतुलक्षिता और सुरतिलक्षिता। कृपाराम, नन्ददास, कुमारमणि रसलीन, भानु तथा ब्रह्मदत्तने इस स्वीकृत विभाजनमें बहुत भिन्न रूप स्वीकार किया है। कृपारामने स्वयंदूतीको सातवाँ भेद माना है, लक्षिताके अन्तर्गत तीन भेद लिये हैं, क्रिया, वचन तथा प्रत्यक्ष-लक्षिताएँ और गुप्ताके भेदमें वर्तमानसुरतगोपना एक चौथा भेद जोड़ा है। नन्ददासने परकीयाका सुरतिगोपना, वाग्विदग्धा तथा लक्षितामें, सरल विभाजन किया है। कुमारमणिने प्रथम निपुना, रतिगोपना तथा लक्षिता नामक प्रधान भेद दिये हैं, पुनः निपुना (विदग्धा) और रतिगोपना (गुप्ता)के क्रमशः दो तथा तीन सामान्य स्वीकृत भेद किये हैं। उन्होंने निपुनाके साथ स्वयंदूतीका उल्लेख भी किया है। लक्षिताको प्रच्छन्न तथा प्रकाशमें विभाजित किया है। प्रकाशलक्षिताके तीन भेद मुदिता, अनुशयाना तथा साहसिकाने माने हैं। अनुशयानाके तीन प्रचलित भेद प्रस्तुत करनेके बाद प्रथम विघटितसंकेताको वर्तमान तथा भविष्यत्संकेताके रूपमें विकसित किया है। इस प्रकार कुमारमणिने कुलटाको छोड़कर अन्य सभी भेद-उपभेदोंमें भानुदत्तके वर्गीकरणको ग्रहण कर लिया है, कुलटा सम्भवतः रसाभासको उत्पन्न करनेके कारण गृहीत नहीं हो सकी। रसलीनने इस विभाजनको अत्यधिक बढ़ाया है, यहाँतक कि कुछ भेद बिलकुल अपरिचित हैं। छः भेदोंके उल्लेखके बाद इन्होंने सुरतिगोपनाके चार भेद कृपारामके आधारपर कहे हैं, वचनविदग्धाके साथ पुनः स्वयंदूतीका उल्लेख किया है तथा क्रियाविदग्धाके अन्तर्गत पतिवंचिता और दूतीवंचिता, दो नये भेद दिये हैं। लक्षिताके दो भेदोंमें सुरतिलक्षिता तो तोष आदिके द्वारा उल्लिखित हो चुकी है; दूसरी प्रकाशलक्षिता है। अनुशयानाको सामान्य तीन भेदोंमें विभाजित किया गया है, पर इसके तीसरे भेदको पुनः दो भेदोंमें बाँटा गया है, जो अस्पष्ट है। रसलीनने एक भेद प्रमनोरथाका भी दिया है, पर उसका सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है।

दासने इस विभाजनमें कुलटाको छोड़ दिया है और गुप्ताको विदग्धाके भेदके रूपमें रखा है। विदग्धा, गुप्ता तथा अनुशयानाके भेद सामान्य हैं, पर लक्षिताको सुरति-लक्षिता, हेतुलक्षिता तथा धीरलक्षितामें विभाजित किया गया है और इस विभाजनको छोड़कर दासका सारा विभाजन विदग्धाका ही विस्तार हो जाता है, क्योंकि उन्होंने मुदिता तथा अनुशयानाके उदाहरण विदग्धाके साथ भी प्रस्तुत किये हैं। ब्रह्मदत्तने क्रियाविदग्धा, वाग्विदग्धा, स्वयंदूतीको परकीयाके स्वतन्त्र भेद माने हैं और केवल अनुशयानाके उपभेद किये हैं। इस प्रसंगमें यह ध्यान रखने-की बात है कि भानुदत्तने केवल अपना विभाजन ऊढ़ाको लेकर किया था, पर हिन्दीमें इस मतको केवल चिन्तामणि और देवने पूर्णतः स्वीकार किया है। अन्योंने या तो इनके सम्बन्धमें कुछ कहा ही नहीं, अथवा दोनोंमें स्वीकार किया है। रसलीनने एक नया भेद दिया है, जो स्वकीया तथा परकीयामें समान रूपसे लागू होता है, कामवती, प्रेम-अशक्ता और अनुरागिनी। तोषने इनके पहले ही अपने एक स्वतन्त्र विभाजनमें इन भेदोंको स्वीकार किया है। दासने उद्बुद्धाकी प्रथम स्थितियोंके रूपमें इनके अन्तिम दो भेदोंको माना है और उनका भाव तोषके समान है।

सामान्याके सम्बन्धमें स्वकीयाके भेदोंको स्वीकार करनेवालोंमें अकेले कृपारामने ही इन भेद-उपभेदोंके उदाहरण भी दिये हैं। इन्होंने मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा सामान्याका विचार किया है, मुग्धाके चारों भेदोंके साथ सुरत और सुरतान्तका विवेचन तीनों नायिकाओंका किया है। मुख्यतः सामान्याका विभाजन करनेवालोंमें भोजने ऊढ़ा, अनूढ़ा, स्वयंवरा, स्वैरिणी तथा वेश्या माना है और वेश्याके तीन भेद गणिका, विलासिनी तथा रूपजीवा स्वीकार किया है। शिंगभूपाल तथा विश्वनाथने इसके केवल दो भेद रक्ता और विरक्ता माना है। हिन्दीमें सम्भवतः किसी-ने भी इनका अनुसरण नहीं किया है। कुमारमणिने स्वतन्त्रा, जनन्याधीना तथा नियमिता भेद दिये हैं, रसलीन-ने इसमें प्रेमदुःखिताको और जोड़ा है तथा भानुने केवल पहले दो भेदोंको स्वीकार किया है।

स्वकीया आदिकके विभाजनके बाद भानुदत्तने नायिकाका एक स्वतन्त्र विभाजन इस प्रकार किया है—अन्यसम्भोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता, मानवती पुनः मानवतीके लघु, गुरु तथा मध्य मानवती और वक्रोक्ति-गर्विताके प्रेम तथा सौन्दर्यगर्विता उपभेद। नन्ददास, केशव, चिन्तामणि तथा कुछ अन्य कवियोंको छोड़कर अधिकांश हिन्दी लेखकोंने इस विभाजनको किसी-न-किसी रूपमें प्रस्तुत किया है। कुछ लेखकोंने इन भेदोंमेंसे कुछ छोड़ दिये हैं और उनमें रहीम, मतिराम, देव, पद्माकर, भानु तथा हरिऔध प्रधान हैं। इन्होंने मानवतीके तीन भेद दिये हैं। परन्तु इन लेखकोंमेंसे प्रमुखने इस विभाजनको वियोग शृंगारके तीन या चार भेदोंके साथ अलग प्रस्तुत किया है। मतिराम, देव तथा सन्दराम आदिने वक्रोक्ति-गर्विताके दो उपभेदोंको स्वतन्त्र भेदोंके रूपमें लिया है। परन्तु इन उपभेदोंमें कृपाराम, कुमारमणि, रसलीन तथा दास आदिने गुणगर्विता और जोड़ा है। कृपाराम तथा रसलीनने इन तीनोंके पुनः भेद किये हैं, वक्रोक्ति तथा सरलोक्ति या सुधागर्विता। कुमारमणिने चौथी यौवनगर्विता भी मानी है और दासने नायिकाके आठ अंगोंके साथ गर्विताएँ भी आठ प्रकारकी मानी हैं। तोषने भानुदत्तके तीनके विभाजनमें कामवती, अनुरागिनी तथा प्रेम-अशक्ता-को जोड़कर संख्या छः कर दी है। भानुदत्त तथा अधिकांश हिन्दी लेखकोंने भी इसे सामान्य विभाजन माना है, जो किसी भी वर्गकी नायिकाओंमें लगाया जा सकता है। परन्तु कुछ हिन्दी कवियोंने ऐसा नहीं किया है। कृपारामके अनुसार अन्यसम्भोगदुःखिता केवल स्वकीया और सामान्यामें लग सकता है, परकीयामें नहीं। प्रतापनारायण सिंहके अनुसार ये समस्त भेद केवल प्रौढ़ाके हो सकते हैं और इन्होंने प्रौढ़ाके अन्तर्गत परकीया तथा सामान्या, दोनों-को लिया है। भानुने मुग्धाको छोड़कर सबमें इस भेदको स्वीकार किया है। हरिऔधने माना है कि इसका उचित प्रयोग मध्या और प्रौढ़ाके सम्बन्धमें ही हो सकता है, पर

परकीया तथा स्वकीयाके सम्बन्धमें भी लग सकता है। मीतलने इसे मध्या और प्रौढाका भेद ही माना है। यद्यपि हिन्दीके अधिकाश कवियोंने इस विभाजनको स्वतन्त्र माना है, पर बहुत समयतक वे इसके लिए कोई आधार नहीं प्रस्तुत कर सके। प्रतापनारायण, भानु, हरिऔध तथा पोद्दार जैसे नये लेखकोंने इसे स्वभावपर आधारित माना है और मीतलने इसे दशानुसार माना है। इस विभाजनको उचित आधार देनेकी भावना पहले भी देखी जा सकती है। कुमारमणिने गर्विताको स्वाधीनपतिका तथा मानवती और अन्यसम्भोगदु:खिताको खण्डिताके अन्तर्गत रखा है। दासने कुमारमणिका अनुसरण किया है, केवल अन्यसम्भोगदु:खिताको उन्होंने विप्रलब्धासे संयुक्त किया है। विहारीलालने भी कुमारमणिका अनुसरण किया है, पर ब्रह्मदत्तने अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनके अन्तर्गत इन तीनों भेदोंको रखा है।

भरत द्वारा अवस्थानुसार किये गये नायिकाओंके आठ भेदोंको इतना महत्त्व प्राप्त हुआ है कि इस विभाजनको किसी भी महत्त्वपूर्ण कवि या लेखकने नहीं छोड़ा है। भरतके विभाजनमें वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनपतिका, कलहान्तरिता, खण्डिता और विप्रलब्धा इन छ भेदोंको प्राय लेखकोंने ऐसे ही स्वीकार कर लिया है, केवल प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिकाका विस्तार आदि किया है। प्रोषितभर्तृकाकी विभिन्न स्थितियोंके आधारपर बादमें या तो उसके उपभेद किये गये अथवा उनको स्वतन्त्र रूपमें भेदोंके साथ स्वीकार कर लिया गया है। प्रोषितभर्तृकाके साथ इससे मिलते-जुलते दो रूप प्रवत्स्यत्पतिका तथा आगतपतिका और माने गये हैं। भानुदत्तने पहलेके लिए प्रोष्यत्पतिका नाम देकर नवें भेदके रूपमें स्वीकार किया है। इन दोनोंको स्वतन्त्र भेदके रूपमें बहुत अधिक लेखकोंने स्वीकार किया है, उदा०—कृपाराम, रहीम, तोष, मतिराम, पद्माकर, लछिराम, प्रताप, भानु, हरिऔध तथा मीतल। नन्ददास, सुन्दर तथा जसवन्त सिंहने भानुदत्तके समान नवाँ भेद प्रवत्स्यत्पतिकाको ही बढाया है। वेनी प्रवीन और गुलाब रायने ग्यारहवाँ भेद आगमिष्यत्पतिकाको माना है। ब्रह्मदत्तने गर्विता आदिक भेदोंको साथ रखकर तेरहकी सख्या पूरी की है। केशव और चिन्तामणिने किंचित् नामभेदके साथ इन आठ भेदोंको स्वीकार किया है। कुमारमणि, देव, रसलीन, दास, चन्द्रशेखर, श्यामसुन्दर, विहारीलालने अन्य भेदोंको उपभेदोंके रूपमें स्वीकार कर लिया है। कुमारमणिके अनुसार एष्यत्पतिका (आगत) वासकसज्जाके अन्तर्गत स्वीकार की गयी है और प्रोषितपतिकाको प्रवत्स्यत्पतिका, प्रवसतपतिका और प्रवसितपतिकामें विभाजित किया है। देवने इसके चार भेद किये हैं, प्रवत्स्यत्पतिका, शुद्धप्रोषितपतिका, आगतपतिका तथा चौथेका नाम नहीं दिया है। रसलीनने पाँच भेद इसके अन्तर्गत दिये हैं, गमिष्यत्, गच्छत्, आगमिष्यत्, अगच्छत् तथा आगतपतिका, इन्होंने आगतपतिकाके साथ सयोगगर्विताका उल्लेख किया है। वस्तुत अधिकाश लेखकोंने आगतपतिकाके अन्तर्गत उसकी तीनों स्थितियाँ आगमिष्यत्, आगच्छत् तथा आगत स्वीकार कर ली हैं। दासने इसका विभाजन (प्रोषितभर्तृकाका) प्रवत्स्यत्प्रेयसी, प्रोषित, आगच्छत् तथा आगतमें किया है, इसमें अन्तिमका उल्लेख वासकसज्जाके अन्तर्गत भी हुआ है। चन्द्रशेखर, श्यामसुन्दरने विरहिणीका विभाजन भूता, भविष्या या भावी तथा वर्तमानामें किया है।

भानुदत्तने अभिसारिकाके अन्तर्गत ज्योत्स्ना, तमिस्रा और दिवसा अभिसारिकाके भेद माने हैं, समयसूचक इस भेदको हिन्दीके अधिकाश कवियोंने स्वीकार किया है। परन्तु जब पद्माकर, लछिराम, दौलतराम तथा भानु आदिने अभिसारिकाके साथ सामान्य रूपसे इनको सम्बद्ध किया है, मतिराम, रसलीन, वेनी प्रवीन, हरिऔध और मीतलने इनको परकीया या अभिसारिकाका भेद माना है। कृपाराम, रहीम, दास और स्कन्दगिरिने केवल दो भेद दिये हैं और नन्ददास, जसवन्त सिंह, देव, श्यामसुन्दर दास तथा पोद्दारने इसके भेदोंका बिल्कुल उल्लेख नहीं किया है। अभिसारिकाके इन तीनों भेदोंके अतिरिक्त केशवने अनुभूतिके आधारपर उसके तीन भेद और दिये हैं, प्रेमा, गर्वा तथा कामा। तोषने भानुदत्तके प्रथम दो भेदोंके साथ अभिसारिकाका उल्लेख और किया है। कुमारमणिने इसके साथ चौथा भेद व्याजाभिसारिका जोड़ा है। नन्दरामने रंग(वस्त्र)के आधारपर अरुणा, पीता तथा हरिताभिसारिका और गिनाये हैं।

जैसा कहा गया है, प्रथम छ भेदोंको अधिक विस्तार नहीं मिल सका, केवल कुमारमणिने उत्कण्ठिता, विप्रलब्धा और कलहान्तरिताके भेद दिये हैं। इनके अनुसार उत्कण्ठिता या तो क्रियाविलम्बिता सुरता होती है या अनुत्पन्नसम्भोगा। यह दूसरा भेद पुन स्थितिभेदके अनुसार साक्षाद्दर्शना, गुणश्रवणदर्शना, चित्रदर्शना तथा स्वप्नदर्शनानुतापामें विभाजित किया गया है। विप्रलब्धाका पतिवंचिता तथा सखीवंचितामें और कलहान्तरिताका ईर्ष्या तथा प्रणयकलहान्तारितामें विभाजन किया गया है। जहाँतक इस विभाजनके अन्य विभाजनमें प्रयुक्त होनेकी बात है, अधिकाश लेखकोंने मुग्धा, प्रौढा, मध्या, परकीया और सामान्यामें इनके उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। कुछने इन अवस्थाओंका उदाहरण देते समय स्वकीयाको केवल एक रूपमें माना है और कुछने केवल इनके सामान्य उदाहरणभर दिये हैं। केशवने अपने शृंगारके दोनों—प्रच्छन्न तथा प्रकाश—भेदोंमें इन अवस्थाओंके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं और केवल अभिसारिकाको स्वकीया, परकीया तथा सामान्यामें स्वीकार किया है। देवने अपने पहले ग्रन्थोंमें इनको स्वतन्त्र विभाजनके रूपमें माना है, पर 'भवानीविलास'में केवल मध्या स्वकीयाके अन्तर्गत माना है। दासने इनको दो भागोंमें बाँटा है, स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा तथा अभिसारिकाको सयोग-शृंगारसे सम्बद्ध किया है और शेषको वियोग-शृंगारमें। श्यामसुन्दर दासने हेमचन्द्र तथा शारदातनयका अनुसरण करते हुए माना है कि इनमें तीन—विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका तथा विप्रलब्धाका ही सम्बन्ध परकीयासे है। साथ ही गुलाब रायके साथ इन्होंने अभिसारिकाके अन्तर्गत प्रेष्या और दासीका उल्लेख भी किया है।

नायिकाके उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा नामक भेदोंको हिन्दीमें अधिकांश नायक-नायिका-भेदके लेखकोंने अपनाया है। नन्ददास, जसवन्त सिंह, कुमारमणि तथा श्यामसुन्दर दास ऐसे कुछ लेखकोंने अवश्य इस विभाजनको ग्रहण नहीं किया है। हरिऔधने उत्तमाके आठ प्रकार दिये हैं— पति, परिवार, जाति, देश, जन्मभूमि, धर्म-प्रेमिका तथा निजतानुरागिनी और लोकसेविका। मध्यामें व्यग्यविदग्धा, नर्मपीडिता दो भेद माने गये हैं, पर हरिऔधके ये विभिन्न विभाजन शृंगारके आलम्बन-विभाव-रूप नायिकाके नहीं माने जा सकते। शरीर-मनोविज्ञानके आधारपर नायिकाके पद्मिनी, शंखिनी, हस्तिनी तथा चित्रिणी नामक भेद संस्कृतके काव्यशास्त्रके ग्रन्थोंमें नहीं मिलते। हिन्दीमें केशवने इनका प्रवेश किया है, जिसका आधार संस्कृतके कामशास्त्रके ग्रन्थ हैं। हिन्दीमें भी यह अधिक प्रचलित नहीं हो सका, मतिराम, कुमारमणि, दास, पद्माकर जैसे कवियोंने इसे छोड़ दिया है। भानुदत्तका दिव्या, अदिव्या तथा दिव्यादिव्याका विभाजन हिन्दीके लेखकोंमें केवल रसलीन तथा भानु द्वारा स्वीकार किया गया है। देवने अपने 'रसविलास'में नायिकाओंका विभाजन जातियों तथा पेशोंके अनुसार भी किया है और चौंतीस नायिकाएँ देशके अनुसार बतायी हैं। वैद्यकमें उल्लिखित शरीरकी प्रकृतिके अनुसार भी देवने कफ, पित्त तथा वात-प्रकृतिकी नायिकाएँ बतायी हैं। भरतके शीलपर आधारित विभाजनके अनुकरणपर देवने नायिकाओंका विभाजन देवसत्त्व, मनुष्य, गन्धर्व, यक्ष, पिशाच, नाग, कपि तथा काक आदि सत्त्वोंमें किया है। —रा० गु०

नार्म–यह अँग्रेजी शब्द मूल लातीनी धातुसे आया है, जिसका अर्थ है आदर्श माप-दण्ड। इसीसे आगे 'नार्मल', 'सब-नार्मल' आदि शब्द बने। जो विज्ञान आदि सत्ताके 'सत्'को ही परखते हैं वे भौतिक विज्ञान बने, और जो शास्त्र-सत्ताकी भूतमात्रा और सम्भावनाओंको परखते हैं वे 'नार्मटिव' शास्त्र बने। अतः नार्म वह 'जो होना चाहिये'-की दिशा बताये। नीतिशास्त्र आदि ऐसे ही आदर्शशास्त्र हैं। प्रश्न इतना ही है कि सौन्दर्यका कौन-सा नर्म है। साहित्य-कलामें ऐसा कोई सार्वजनीन माप-दण्ड जो सर्वव्यापी और सर्वसम्मत हो, निश्चित करना कठिन है। —प्र० मा०

नासूत–दे०—'सूफीमार्ग'।

निघंटु–[नि+घटि+उ=निश्चयेन घण्टयति पठति शब्दान् इति निघण्टु] इस पदकी व्युत्पत्ति निरुक्तकारने पाणिनिके उणादि प्रकरणके शब्दोंकी भाँति की है। यह त्रिविध है। एक तो नि+गम्‌से 'निगन्तु' शब्द और फिर वर्ण-व्यापत्तिके द्वारा गके स्थानमें घ तथा तके स्थानमें ट करके 'निघण्टु' शब्द सिद्ध करते हैं। इसके अनुसार वैदिक शब्दोंके कोषका 'निघण्टु' नाम पड़नेका यह कारण है कि इसमें उन शब्दोंका संग्रह है जो मन्त्रार्थके निगमक या ज्ञापक हैं, अर्थात् जिनका अर्थ अत्यन्त गूढ़ है और जिनका ठीक-ठीक अर्थ जाने बिना मेधावियोंको भी मन्त्रार्थ अज्ञात या अस्पष्ट ही रहेगा। दूसरी व्युत्पत्ति पाठार्थक 'हन्' धातुसे पूर्वमें सम उपसर्ग लगाकर तथा उपसर्ग-व्यत्ययसे उसके स्थानमें नि उपसर्ग लाकर एवं पूर्वोक्त वर्ण-व्यापत्तिके द्वारा हके स्थानमें घ तथा तके स्थानमें ट करके की है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार गूढ़ वैदिक शब्दोंके इस कोषमें पठित होनेके कारण इसका नाम 'निघण्टु' है। इस व्युत्पत्तिमें सम्‌के साथ आङ् उपसर्गके भी अर्थका अध्याहार निरुक्तकारने किया है, वह यह प्रदर्शित करनेके लिए कि जितने शब्द 'निघण्टु'में पठित हैं, केवल उतने ही वेदार्थज्ञानके लिए विशेष रूपसे ज्ञातव्य हैं। तीसरी व्युत्पत्ति 'हृ' धातुसे की है। शेष समस्त प्रक्रिया द्वितीय व्युत्पत्तिकी है। इसके अनुसार वैदिक शब्दोंका इस कोषमें समाहार होने अर्थात् उनके इस कोषमें इकट्ठा कर दिये जानेके कारण इसका नाम 'निघण्टु' है।

इस वैदिक कोषमें पाँच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्यायोंमें एकार्थक शब्द (अर्थात् एक-एक शब्दके अनेक पर्याय), चतुर्थ अध्यायमें अनेकार्थक या नानार्थक शब्द (अर्थात् एक-एक शब्दके अनेक अर्थ) तथा पञ्चममें देवतावाचक शब्द विशेष रूपसे संगृहीत हैं। वर्तमान समयमें उपलब्ध निघण्टुपर ही यास्कका निरुक्त है।

आगे चलकर यह शब्द आयुर्वेदके शब्द-कोषके लिए भी प्रयुक्त हुआ। धीरे-धीरे यह शब्द शब्द-कोषमात्रका वाचक रह गया। हिन्दीमें यह इसी अर्थमें प्रयुक्त होता है। —आ० प्र० मि०

नित्यप्रिया–दे०—'गोपी'।

नित्यलीला–दे०—'लीला'।

निदर्शना–सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्राचीनोंने स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार। इसका अर्थ है दृष्टान्तकरण अथवा उदाहरण-प्रदर्शन। उद्भटके अनुसार इसका लक्षण है—'अभवन् वस्तु सम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत्। उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना।' (का० सा० सं० ५ १०), अर्थात् वस्तुमें सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्धकी कल्पना कर लेना तथा उपमान और उपमेयत्वका कथन करना निदर्शना है। मम्मटके लक्षणपर उद्भटका प्रभाव है, 'अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक' और उन्होंने वामनके लक्षण—'क्रियाके द्वारा ही अपना और अपने प्रयोजनके सम्बन्धका बोध करना' (का० सू० वृ० ४ ३. २०)को इसका भेद स्वीकार किया है। विश्वनाथने परिभाषाको अधिक विस्तार दिया है—'वस्तुओंके सम्भव अथवा असम्भव भी सम्बन्धमें जहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव निहित हो' (सा० द० . १० . ५१–५२) और इसी भावको जयदेव तथा अप्पय दीक्षितने इस प्रकार रखा है— 'वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना' (चन्द्रालोक ५ ५८) अर्थात् जिसमें दो परस्पर भिन्न वाक्योंमें भावसाम्यके कारण एकताका आरोप किया जाय।

हिन्दीके आचार्योंने मुख्यतः 'कुवलयानन्द'के तीन भेदोंको स्वीकार कर लिया है, परन्तु कई बार अन्य भेदोंको भी स्वीकार किया है। भेदोंके लक्षण अलग-अलग दिये गये हैं।

प्रथम—जहाँ वाक्य अथवा पदके अर्थके असम्भव सम्बन्धके लिए उपमानकी परिकल्पना की जाय—'सदृश वाक्य जुग अर्थको, नहाँ एक आरोप।' (ल० ल० १४८)। भूषण,

पद्माकर आदिकी प्रथम निदर्शना यही है, पर दासका लक्षण भिन्न शब्दावलीमें है—'सम अनेक वाक्यार्थको, एक कहै धरि टेक।' (का० नि० ८)। उदा०—'रावरे तेजको पुज प्रचण्ड सो आतप सूरजमें रुचि साजै। जो नृप भाऊके हाथ कृपान सो पारथके कर वान विराजै।' (ल० ल० १४९)। अथवा—'ससिमें लसत जो जोन्ह छवि, नरमें सुमति प्रकाश।' (पद्मा० ८६), यहाँ असम्भव-सम्बन्धमें कल्पित उपमासे सम्बन्ध स्थापित किया गया है। जो, सो, तो, जे, ते आदि वाचक शब्दोंसे असमान वाक्यों-की एकता प्रकट की जाती है।

द्वितीय—जहाँ उपमेयका गुण उपमानमें और उपमान-का गुण उपमेयमें आरोपित हो—'वर्न्य धर्म जु अवर्न्यमें थपै जु वर्न्यहु माँहि।' (पद्मा० ८७) उदा०—'तुव वचननकी मधुरता, रही सुधा महँ छाइ। चारु चमक चल मीनकी, नैननि गही बनाइ।' (वही ८८)। यहाँ प्रथममें उपमेयका गुण उपमानपर तथा दूसरेमें उपमानका गुण उपमेयपर आरोपित है।

तृतीय—अपने स्वरूप और अपने स्वरूपके कारणका सम्बन्ध अपनी सत्-असत् क्रिया द्वारा बोध कराना—'करत असत सत अर्थको एक क्रियासों बोध।' (ल० ल० १५२)। दासने इसीको प्रथम निदर्शना माना है—'एक क्रिया ते देति जहँ, दूजी क्रिया लखाइ। सत असत हूँ ते कहत हे।' (का० नि० ८)। उदा०—'दै सु फूल फल दल जु द्रुम, यह उपदेसत ज्ञान। लहि सुख सम्पति काजिये, आयेको सनमान।' (पद्मा० ९०), यहाँ सत् क्रियासे सत्का बोध कराया गया है। इसी प्रकार—'दीप जोति सिर धुनि सुसुकि, पौनहि सों घर होइ। यह उपदेसत सवनकों, कुसको हितू न कोइ।' (वही ९१), यहाँ असत् क्रियासे असत्का बोध होता है।

दृष्टान्तमें दो निरपेक्ष वाक्य रहते हैं, यद्यपि उसमें भी उपमेय और उपमान-वाक्योंका परस्पर विम्ब-प्रतिविम्बभाव दिखाया जाता है तथा केवल उपमानके वाक्यार्थमें दृष्टान्त दिखाकर उपमेय वाक्यार्थका निश्चय कराया जाता है। निदर्शनामें दोनों वाक्य सापेक्ष रहते हैं, क्योंकि उपमेय वाक्यमें उपमान वाक्यके अर्थका आरोप किया जानेके कारण परस्पर सम्बन्ध रहता है। —र०

निद्रा—प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी भाव। मनकी निवृत्तिको प्राय निद्रा कहा जाता है। (दशरूपक—'मन - सम्मीलनम्' ४ २३)। भरतने इसके विभावों एव अनु-भावोंको निम्नलिखित प्रकारसे दिया है—दुर्वलता, परिश्रम, मदिरा इत्यादिके पान, आलस्य, चिन्ता, अधिक आहार इत्यादि विभावोंसे निद्रा सचारी भाव होता है। मुँह भारी होने, अगोंको सहलाने, आँखोंके विलोड़नसे और जँभाई लेनेसे, उच्छ्वास, शिथिल गात्रों, आँखोंको बन्द करने इत्यादिसे इस भावकी अभिव्यक्ति होती है (नाट्य० ७ ७१ ग)। इस गद्यके साथ 'नाट्यशास्त्र'की आर्यामें, रातके जागरणसे भी निद्राका होना बताया है। विश्वनाथने इसी वातको स्वीकार किया है—'चेत सम्मीलन निद्रा श्रमक्लममदादिजा। जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभगादिकारणम्।' (सा० द० ३ २५७)। निद्राके प्रभावसे आँखें आधी बन्द होना एव वार्तालापके समय धीरे-धीरे तथा सार्थक और निरर्थक शब्दों-का प्रयोग इस भावका भली भाँति प्रदर्शन करते ह।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने अनुसरण करके भी प्राय स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है—'चिन्ता आरस खेदतें, बसे तुचा चितु जाय। सुपन दरस अवयव चलन, एकउ नींद सुभाय।' (भाव० संचारी०)। इसमें तथा अन्य कई आचार्योंमें भाव आ गया है, पर पद्माकर तथा भानु आदिने तो केवल 'सपन कहावत सोइवो वहै सु निद्रा होइ' भर कहा है (जगद्वि० ५३८)।

हिन्दीके आचार्योंने उदाहरणमें भी प्राय सोती हुई नायिकाका वर्णन किया है जब कि वस्तुत' इस सचारीका भाव वास्तविक निद्रासे न होकर अलसतासे सम्बद्ध है। देव इसके अन्तर्गत स्वप्नका उल्लेख करते हैं—'देव अबै लगि आँखिनतें वह बाँकी चितौनि टरै नहीं टारे। सापनेमें चित चोरि लियो वह मोर री मोरपखौंवनवारे।' (भा० स०)। रामदहिन मिश्रने वियोगीहरि द्वारा वर्णित जयचन्दके इस सचारीका उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है—'चिन्तामग्न राजा घूमता है उपवनमें, होकर विदेह-सा बिसार आत्मचेतना, बन्द हुई आँखें हुआ शिथिल शरीर भी।' (का० द०)।

इस सचारी भावका विशदतम लक्षण रामचन्द्र गुणचन्द्रने 'नाट्यदर्पण'में दिया है। उनके अनुसार (ना० द० ३ १३८) निद्रा उस समय होती है जब इन्द्रियाँ अपने विषयोंका ग्रहण नहीं कर पातीं। इसीकी व्याख्या करते उन्होंने कहा है कि स्पर्शनादि इन्द्रियोंकी 'अव्यावृत्ति'का अर्थ है विषयग्रहणके व्यापारका विराम होना, क्योंकि मन तो निद्रावस्थामें भी व्यापारशील रहता है। यह उदासीन मनोभाव अवश्य है, पर मनकी विशेष स्थिति होनेसे शारीरिक अवस्था नहीं। —ज० कि० व०

निबंध—इसका मौलिक अर्थ नि+बन्ध (बाँधना)+घञ् (सग्रह) रोकना (वाचस्पत्यम्) या (नि+बन्ध (बाँधना) +अच्) नीमका वृक्ष और उसके सेवनसे कोष्ठ-रोग रोध है (जटाधर)।

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें निबन्ध (निबन्धो द्रव्यमेव) द्रव्यके लिए प्रयुक्त हुआ है। हेमचन्द्रने सग्रह-ग्रन्थ, मूत्ररोधरूप रोग, बन्धनके अर्थमें इसका प्रयोग किया है। गीता (निबन्धायासुरी मता १६, ५) में भी यह बाँधनेकी क्रियाके अर्थमें आया है। निबन्धका प्रयोग लिखे हुए भोजपत्रोंको सँवारकर बाँधने या सीनेकी क्रियाके लिए भी होता था, किन्तु कालान्तरमें अर्थसकोचके रूप केवल साहित्यिक कृतिके लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा।

संस्कृतमें निबन्धका समानार्थी किन्तु, अधिक व्यापक शब्द प्रबन्ध है, जिसका मूल अर्थ (प्र+बन्ध (बाँधना)+अच्) सन्दर्भ या ग्रन्थ रचना है। आधार(कथा-विषय)-पर कल्पनासे ग्रन्थ-रचना करना भी प्रबन्ध कहा जाता था। दूसरे शब्दोंमें, परम्परानुमोदनके साथ किसी विषय या कथाका गद्य या पद्यमें प्रस्तुतीकरण प्रबन्ध कहलाता था। धीरे-धीरे यह शब्द आख्यान या कथाके सम्यक तारतम्यपर आधारित केवल काव्यके लिए प्रयुक्त होने लगा और **प्रबन्ध-काव्य**के लिए रूढ़ हो गया। वाल्मीकि-

रामायण प्रबन्ध-काव्य है । दण्डीका 'दशकुमारचरित' प्रबन्ध-काव्यात्मक है । किन्तु आज निबन्ध और प्रबन्ध, दोनों ही अपने मूल या रूढ अर्थोंमें प्रयुक्त नहीं होते हैं । प्रबन्धका प्रयोग आज उस गद्य-रचनाके लिए होता है, जिसमें लेखक किसी विषयका सांगोपांग विस्तारके साथ अपनी भाषाशैलीमें विवेचन करता है । इसे अंग्रेजीके 'ट्रीटाइज' और 'थीसिस'का समानार्थी कहा जा सकता है । हिन्दीमें निबन्धका प्रयोग गोस्वामी तुलसीदासने प्रबन्ध-काव्यके लिए ही किया है (भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति) । (दे०—'प्रबन्ध-काव्य' ।)

निबन्धके पर्यायके रूपमें प्रबन्धके अतिरिक्त **लेख**, **सन्दर्भ**, **रचना** और **प्रस्ताव** शब्द भी प्रचलित हैं । **लेख** मूल अर्थमें समस्त लिखी सामग्रीके लिए आता है, किन्तु वास्तवमें यह उस गद्यरचनाके लिए प्रयुक्त होने लगा है जिसमें लेखक प्रमुखतया निर्वैयक्तिक ढंगसे किसी विषयपर शास्त्रीय ढंगसे प्रकाश डालता है । इसे अँग्रेजीका **आर्टीकल** कह सकते हैं । **सन्दर्भ**का अर्थ पिरोना, प्रसंग, सम्बन्ध-निर्वाह, एक साथ बाँधना या बुनना है, संकलन करना, व्यवस्थित करना, साहित्यिक रचना या वह ग्रन्थ है, जिसमें किसी ग्रन्थके दुरूह स्थलोंका अर्थ दिया गया हो । यह लेखसे कम व्यापक है । निबन्धके पर्यायके रूपमें यह वह गद्य रूप है जिसमें किसी विषयके किन्हीं प्रसंगोंपर विचार प्रकट किये जाते हैं । **रचना**का मूल अर्थ कृतिके लिए होता है । निबन्धके अर्थमें यह किसी विषय या वस्तुपर उसके स्वरूप, प्रकृति, गुण-दोष आदिकी दृष्टिसे लेखककी गद्यात्मक अभिव्यक्ति है । अँग्रेजीका **कम्पोजीशन** इसके समान अर्थ रखता है । (दे०—'रचना' ।)

किन्तु आज निबन्ध अपने मूल और रूढ अर्थोंसे भिन्न अर्थमें प्रयुक्त होता है । वह अपने सभी समानान्तर पर्यायोंके मौलिक तथा परम्परानुमोदित अर्थोंसे भी भिन्न अस्तित्व रखता है । वास्तवमें यह आज लैटिनके 'एग्जीजियर'-(निश्चिततापूर्वक परीक्षण करना)से निकले फ्रेंचके 'ऐसाइ' तथा अँग्रेजीके 'एसे'का पर्याय हो गया है, जिनका शाब्दिक अर्थ प्रयत्न, प्रयोग या परीक्षण होता है और प्रयोगकी दृष्टिसे जो लघु अथवा समर्याद दीर्घ कलेवरकी उस अनवस्थित गद्यरचनाके लिए प्रयुक्त होता है जिसमें निबन्धकार आत्मीयता या अनात्मीयता, वैयक्तिकता या निर्वैयक्तिकताके साथ किसी एक विषय या उसके किन्हीं अंशों या प्रसंगोंपर अपनी निजी भाषाशैलीमें भाव या विचार प्रकट करता है । अँग्रेजीकी तरह ही हिन्दीमें निबन्धका विकास सामयिक पत्र-पत्रिकाओंके माध्यमसे हुआ है । ऐसा नहीं है कि वह अँग्रेजी 'एसे'-रूपके अनुकरणमात्रसे विकसित हुआ हो । यही कारण है कि हिन्दीमें मौन्तेनकी परम्परामें अब्राहम काउली, स्विफ्ट, लैम्ब, हैजलिट, स्टील, गोल्डस्मिथ, ली हण्ट, स्टीवेन्सन जैसे न तो व्यक्तिप्रधान निबन्धकार हैं और न बेकनकी परम्परामें बेनजानसन, सेल्डन, एडीसन, जानसन, जेफरी, डी० क्विन्सी, मैकाले, वाल्टर पेटर जैसे विषय-प्रधान निबन्धकार ही हैं । प्रायः एक ही लेखकके दोनों प्रकारके निबन्ध मिलते हैं । —वि० रा०

११वीं शताब्दीके बाद संस्कृतमें टीकाओं—सूत्र, वृत्ति, भाष्य, समीक्षाके संग्रहके लिए निबन्ध शब्दका प्रयोग होने लगा था । निबन्धके साथ इसी अर्थमें प्रायः **प्रबन्ध** शब्दका भी प्रयोग हुआ है, अन्तर कदाचित् यह है कि किसी एक विषयपर अनेक व्याख्याओंके संग्रहको निबन्ध तथा अनेक विषयोंपर अनेक मतोंके संग्रहको प्रबन्ध कहते हैं । परन्तु हिन्दीमें संग्रह-ग्रन्थको नहीं, एक विशिष्ट साहित्यरूपको निबन्धकी संज्ञा दी गयी है । निश्चय ही यह आधुनिक कालका रूपविधान है और बहुत कुछ अँग्रेजी 'एसे'के अर्थमें रूढ हो चला है ।

यों तो किसी भी साहित्यरूपकी सर्वसम्भव परिभाषा देना कठिन है, परन्तु निबन्धको परिभाषामें बाँधना कदाचित् काव्यको परिभाषित करनेसे भी कठिन है । इस दृष्टिसे निबन्ध अपने शाब्दिक अर्थके विपरीत बन्धनहीन है । अँग्रेजीमें 'एसे' भी, जिसका शाब्दिक अर्थ 'प्रयास' है, परिभाषाओंमें नहीं बाँधा जा सका है और अनेक लेखकोंने 'एसे' (निबन्ध) एसे-लेखक(निबन्धकार)की कृति है यही कहकर सन्तोष किया है । कारण यह है कि इस 'प्रयास'के अन्तर्गत छोटी-बड़ी, सरल गम्भीर, गद्य पद्यमें लिखी हुई अनेक प्रकारकी रचनाएँ आ जाती हैं, जिनके समान लक्षणोंका निरूपण असम्भवप्राय है । 'एसे'की अर्थव्याप्ति अत्यन्त विस्तृत है; परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह कोई स्वतन्त्र साहित्यरूप ही नहीं है । अनेक ऐसे लेखक हैं जो निबन्धकारके रूपमें ही विश्वविख्यात हैं और उनके निबन्ध साहित्यकी स्थायी सम्पत्ति हैं ।

'एसे' या निबन्धकी परिभाषा देनेमें जानसनके इन शब्दोंको प्रायः दुहराया जाता है—'मुक्त मनकी मौज, अनियमित, अपक्व-सी रचना, न कि नियमबद्ध और व्यवस्थित कृति ।' इसीके आधारपर कहा गया है कि निबन्धमें कलात्मक परिष्कारका अभाव रहता है । उसमें लेखक स्वच्छन्दतापूर्वक अपने मनकी बात कहता जान पड़ता है, जिसमें उसे मनमानी उछल-कूद करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, वह किसी विधि, पद्धति, विषय या विचारका बन्धन नहीं मानता । 'एसे'की इन विशेषताओंके निरूपणमें फ्रान्सीसी लेखक माइकेल दि मौन्तेन (सोलहवीं शती) तथा अँग्रेजी 'एसे'के जनक अब्राहम काउली (सत्रहवीं शती), अठारहवीं शतीके और प्रसिद्ध अँग्रेजी निबन्धकार रिचार्ड स्टील और जोजेफ एडीसनकी कृतियोंको ही विशेषतया ध्यानमें रखा गया है । निबन्धके लक्षणोंमें स्वच्छन्दता, सरलता और आडम्बरहीनता तथा घनिष्ठता और आत्मीयताके साथ लेखकके वैयक्तिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोणका भी उल्लेख किया जाता है । परन्तु ये लक्षण विभिन्न लेखकोंकी कृतियोंमें कितने विविध रूपोंमें मिलते हैं इसे स्मरण रखना आवश्यक है । निबन्धकारकी स्वच्छन्दता उच्छृंखलता नहीं है । उसकी अनियमिततामें भी एक नियम है और उसकी अव्यवस्थामें भी एक व्यवस्था । जान पड़ता है कि वह कलात्मक प्रयास नहीं करता, परन्तु वास्तवमें ऐसा भ्रम पैदा करनेके लिए उसे स्वतः अपनी मौलिक पद्धति खोजनी पड़ती है । अतः निबन्ध एक ऐसी कलाकृति बन जाता है जिसके नियम लेखक द्वारा ही आविष्कृत होते हैं । इसी प्रकार सहज, सरल, आडम्बरहीन

आत्माभिव्यक्तिके लिए एक परिपक्व और विचारशील गम्भीर व्यक्तित्वकी अपेक्षा है, यद्यपि उसकी कृतिमें प्राय रचनाकी परिपक्वताका अभाव-सा दिखाई देता है। परन्तु पाठकके साथ लेखककी निकटता और आत्मीयता वास्तविक होती है। इसके अभावमें सफल कलात्मक निवन्ध-रचना सम्भव नहीं है। लेखक बिना किसी सकोच-के अपने पाठकोंको अपने जीवन-अनुभव सुनाता है और उन्हें आत्मीयताके साथ उनमें भाग लेनेके लिए आमन्त्रित करता है। उसकी यह घनिष्ठता जितनी सच्ची और सघन होगी, उसका निवन्ध पाठकोंपर उतना ही सीधा और तीव्र असर करेगा। इसी आत्मीयताके फलस्वरूप निवन्ध-लेखक पाठकोंको अपने पाण्डित्यसे अभिभूत नहीं करना चाहता और अधिकाधिक ऋजु और उदार रूपमें प्रकट होता है। निवन्धकी वैयक्तिकता या आत्मनिष्ठता भी इसी आत्मीय दृष्टिकोणका परिणाम कही जा सकती है। स्वभावत इसके भी अनेक रूप और प्रकार हो सकते हैं। अनेक ऐसे निवन्ध-लेखक हैं जिनकी रचनाएँ निर्वैयक्तिक कही गयी हैं और वे विषयवस्तुपर तटस्थरूपमें विचार प्रकट करते दिखाई देते हैं। परन्तु वास्तवमें निवन्ध-लेखककी आत्मनिष्ठ वैयक्तिकता व्यक्ति-सापेक्ष्य है। उसकी मात्रामें न्यूनता हो सकती है, उसका सर्वथा अभाव हो, ऐसा सम्भव नहीं है। निवन्ध-लेखककी विचार-प्रगल्भता, अनुभवशीलता और प्रौढताका परिचय देता है, परन्तु वह एक विशेष मनोदशा (मूड)में लिखा जाता है। इसलिए उसमें परिपूर्णता स्वभावत नहीं होती। परन्तु ऐसा नहीं कि वह लेखकके किसी विषय-सम्बन्धी विचारोंका सक्षेप या सार होता हो, प्रत्युत सीमित दृष्टिकोणसे किसी विशेष मनोदशाके अन्तर्गत लेखक उसमें अपने विचार प्रकट करता है। परिणामस्वरूप निवन्धका आकार साधारणतया अधिक लम्बा नहीं हो सकता।

निवन्धके ये लक्षण केवल उस प्रकारकी कृतियोंको ध्यानमें रखकर दिये गये हैं जिनका आदर्श मौन्तेन और अँग्रेजीके उपर्युक्त लेखक हैं। ऐसे निवन्धोंके विषय भी अधिकसे अधिक गम्भीर और गहन तथा अत्यन्त क्षुद्र और तुच्छ हो सकते हैं। परन्तु विषय कोई हो, एवरेस्टकी चोटी या साँपकी बाँबी अथवा उद्जन बम-विस्फोटका मानवताके लिए सकट या खटमलों और मच्छरोंके कारण रातका जागरण, पाठककी रुचि तो लेखककी प्रतिक्रिया, उस प्रतिक्रियाके प्रकाशनमें उसकी वचन-भगिमा, उसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्तिकी मार्मिकता—सक्षेपमें उसके व्यक्तित्वके प्रकाशनमें होती है। प्राय विषय पीछे छूट जाता है, परन्तु पाठककी रुचिको लेखक मन्त्र द्रष्टाकी तरह बाँधे रहता है और एक विलक्षण प्रभाव छोड़कर अपनी बात समाप्त करता है।

परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, निवन्धका एक ही रूप नहीं है। यों तो उपर्युक्त लक्षणोंके अन्तर्गत भी अनेकानेक रूपके निवन्ध हो सकते हैं, परन्तु इन लक्षणों-का न्यूनाधिक अतिक्रमण करनेवाली रचनाएँ भी उत्कृष्ट कोटिके निवन्ध कही जाती हैं। यदि निवन्धोंके इस आधारपर भेद किये जायँ तो उन्हें प्रधान रूपसे तीन वर्गोंमें रखा जा सकता है—१. कथात्मक (आख्यानात्मक—नैरेटिव), २. वर्णनात्मक (डिस्क्रिप्टिव) और ३ चिन्तनात्मक (रिफ्लेक्टिव)। कथात्मक निवन्धमें कोरे काल्पनिक इतिवृत्त, पौराणिक आख्यान, आत्मचरितात्मक वृत्तान्त अथवा ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक, काल्पनिक आदि अनेक प्रकारकी कहानियोंका उपयोग किया जा सकता है। वर्णनात्मक निवन्धमें प्राकृतिक दृश्य अथवा मानव-जीवन सम्बन्धी किसी भी घटनाका वर्णन हो सकता है। चिन्तनप्रधान निवन्धोंके विषयोंके लिए मानव-जीवनके अनन्त कार्यों और व्यापारोंकी राशि खुली पड़ी है, उनका सकेत करना भी व्यर्थ है। परन्तु चिन्तन-प्रधान निवन्धोंमें लेखक अपनी प्रवृत्ति, स्वभाव या परिस्थितिके अनुसार भावनाको मुख्य आधार बना सकता है या विचारको अथवा भावना और विचारका सहज समन्वय करके पाठकके हृदयको द्रवीभूत करते हुए उसकी बुद्धिको प्रेरित कर सकता है।

आधुनिक युगमें जो गद्यका युग कहा जाता है, निवन्धका महत्त्व अत्यधिक हो गया है, क्योंकि इसके माध्यमसे गद्यकी शैलियोंके निखार और विकासकी अनन्त सम्भावनाएँ हैं। 'निवन्ध ही गद्यकी कसौटी है' यह कहना अत्युक्ति न होगी, क्योंकि निवन्ध-लेखक एक ऐसे पथका अनुसरण करता है जो किसीका जाना-समझा नहीं है। उसे अपनी भाषाकी शक्तिसे ही प्रमाणित करना पडता है कि यह अनजाना पथ उसके लिए सर्वथा परिचित और अपना है।

अन्तमें इतना कह देना और आवश्यक है कि इस साहित्यरूपके नामकी ओटमें ऐसी अनेकानेक रचनाएँ चलती हैं जिनमें साहित्यिक कृतित्व बिल्कुल नहीं है, जो रचनात्मक प्रवृत्तिसे रहित हैं, भले ही वे विषय-प्रतिपादन-की दृष्टिसे मूल्यवान् हों। ऐसे लेखोंके लिए लेख या यदि वे अधिक गुरु-गम्भीर हों तो प्रबन्धकी संज्ञा अधिक उपयुक्त है। —ब्र० व०

साहित्यरूपकी दृष्टिसे हिन्दीमें निवन्धका जन्म और विकास आधुनिक युगकी देन है। राष्ट्रीय जागरणकी स्फूर्ति, उत्साह, उमग, देशप्रेम, जनवाद, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, अन्तर-राष्ट्रीयता, वैज्ञानिक कलोंका प्रयोग, आवश्यकताओंकी वृद्धि, गद्यका प्रचलन, मुद्रणकलाका प्रचार, समाचार-पत्रोंका प्रकाशन और उनके माध्यमसे लेखक और पाठकमें आत्मीय सम्बन्धकी स्थापना, अँग्रेजी साहित्यका सम्पर्क आदि अनेक कारणोंसे साहित्यके अनेक रूपोंके साथ निवन्ध-रूपका भी आविर्भाव हुआ। इसके प्रारम्भिक प्रचार और विकासमें प्रमुख प्रोत्साहन और साहाय्य 'कविवचनसुधा', 'हिन्दी प्रदीप', 'ब्राह्मण', 'आनन्दकादम्बिनी', 'हिन्दुस्थान' आदि प्रमुख पत्रोंसे मिला। इनके पृष्ठोंमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, बालमुकुन्द गुप्त, जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, श्रीनिवास दास, केशवराम भट्ट तथा राधाचरण गोस्वामी जैसे निवन्धकारोंकी प्रतिभाएँ प्रकाशमें आयीं। संयुक्त रूपसे इन सभीके निवन्धोंकी मूल प्रेरणा मनोविनोद और समकालीन समाजके नैतिक और राजनीतिक जीवनके स्तरको उच्च बनानेकी भावना है। अतएव इनके निवन्धोंमें जीवन, चेतना, समाजसुधार, राष्ट्र-प्रेम, देशभक्ति, अतीत गौरवका

प्रेम, विदेशी शासनके प्रति मधुर आक्रोश, हास्य, विनोद और व्यंग्यपूर्ण शैलीमें सजीव चित्रण प्राप्त होता है। व्यक्तित्वका सहज समावेश होनेके कारण इस प्रारम्भिक उत्थानके निबन्धोंकी प्रमुख विशेषता आत्मनिष्ठता है। वे गम्भीर और विवेचनार्थ न होकर हलके, रससिक्त, चुटकी और चिकोटीसे भरे पड़े हैं। प्रायः उनकी शैली आगमन या निष्कर्ष निकालकर शिक्षापूर्ण निर्देश और उपदेश देनेकी है। यद्यपि भाषा मुहावरों, लोकोक्तियों, तत्सम, तद्भव और अरबी-फारसी-उर्दूके शब्दोंसे भरी है, किन्तु वह शिथिल है और व्याकरणकी त्रुटियोंसे निर्दोष नहीं है।

इतिहासकी दृष्टिसे बालकृष्ण भट्ट हिन्दी निबन्धके जनक हैं। उनकी, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालमुकुन्द गुप्त और अम्बिकादत्त व्यासकी शैली इस युगके निबन्धोंका पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। बालकृष्ण भट्टने 'चारुचरित्र', 'साहित्य जनसमूहके हृदयका विकास है', 'चरित्रपालन', 'प्रतिभा', 'आत्मनिर्भरता' जैसे विचारात्मक, 'आँसू', 'मुग्ध माधुरी', 'पुरुष अहेरीकी स्त्रियाँ अहेर हैं', 'प्रेमके बागका सैलानी', 'हमारे मनकी मधुपवृत्ति' इत्यादि भावात्मक, 'संसार महानाट्यशाला', 'चन्द्रोदय', 'पोगण्ड या कैशोर', 'शंकराचार्य' और 'नानक' जैसे वर्णनात्मक, 'आँख', 'नाक', 'कान', 'बातचीत' जैसे साधारण विषयोंपर विविध निबन्ध लिखे हैं, जिनमें उनकी रुचि अरुचि, स्वभाव और उनके जनजीवनको देखनेके दृष्टिकोणका, हास्य एवं व्यंग्यकी उद्धरण और उदाहरणपूर्ण चुटीली शैलीमें, समावेश मिलता है। प्रतापनारायण मिश्रने जहाँ एक ओर 'माँ', 'बुढ़ापा', 'होली', 'धोखा', 'मरेको मारे शाह मदार' जैसे विनोद और सूक्ष्मपूर्ण निबन्ध लिखे हैं, वहाँ दूसरी ओर 'शिवमूर्ति', 'काल', 'स्वार्थ' जैसे गम्भीर विषयोंपर भी लेखनी चलायी है। बालमुकुन्द गुप्तके 'शिवशम्भुका चिट्ठा'-के आठों चिट्ठे बड़े व्यंग्य, मीठी हँसीसे पूर्ण शैलीमें देशभक्ति-की भावनासे ओतप्रोत हैं। अम्बिकादत्त व्यासने 'धैर्य', 'क्षमा' जैसे मनोवैज्ञानिक और 'ग्रामवास', 'नगरवास' जैसे वर्णनात्मक निबन्ध लिखे हैं।

हिन्दी निबन्धका द्वितीय उत्थान 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' तथा 'सरस्वती'के प्रकाशनसे प्रारम्भ होता है। महावीरप्रसाद द्विवेदीने 'सरस्वती'में अनेक प्रकारके उपयोगी, ज्ञान-विषयक, ऐतिहासिक, पुरातत्त्व-समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध और लेख लिखे। उन्होंने गद्यकी अनेक शैलियोंका प्रवर्तन तथा भाषाका संस्कार किया। अँग्रेजीके 'बेकन'के निबन्धोंका अनुवाद भी 'बेकन विचार-रत्नावली'के नामसे प्रस्तुत किया, जिनसे हिन्दीके अन्य अनेक लेखकोंको निबन्ध लिखनेकी प्रेरणा मिली और इस क्षेत्रमें माधवप्रसाद मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गोपालराम गहमरी, अध्यापक पूर्ण सिंह, गणेशशंकर विद्यार्थी, सियारामशरण गुप्त, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, यशोदानन्दन अखौरी, चतुर्भुज औदीच्य, केशवप्रसाद सिंह, पार्वतीनन्दन, वेंकटेशनारायण तिवारी जैसे अनेक निबन्धकार सम्मुख आये। इस युगके निबन्ध प्रमुखतया साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक समाचारपत्रोंके लेखों, प्रचारपत्रों (पैम्फलेट), पुस्तकोंकी भूमिकाओं और पुस्तकोंके रूपमें प्रस्तुत हुए। वास्तवमें यह युग बढ़ती हुई राष्ट्रीय जागर्ति, विश्वप्रेम, सामाजिक एकता, भारत और पश्चिमके सम्पर्क, अतीत-गौरव, सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा भाषाके परिष्कारका युग है। अतः बीसवीं शतीके इस चतुर्थांशमें निबन्धोंमें विषयोंकी विविधता, विचारोंकी गम्भीरता, भाषाकी सशक्त स्वच्छता अधिक मिलती है। जीवनको सांगोपांग और गहराईसे देखनेके कारण विनोद और हास्यकी मात्रा कम होती गयी है और व्यंग्य भावनाके स्पर्शसे तरल हो गया है। रूपकी दृष्टिसे इस कालमें निबन्धने गद्य गीत और चरितात्मक कहानीके रूपोंको भी अपनेमें समेटकर विकसित किया है। रायकृष्ण दासकी 'साधना', वियोगीहरिकी 'तरंगिणी', लक्ष्मण गोविन्द आठलेकी 'वर्षाविजय' तथा गणेशशंकर विद्यार्थीका 'प्रताप चरित' आदि इसके उदाहरण हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदीके कार्यको रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, गुलाब राय आदिकी निबन्ध-प्रतिभाओंने और अधिक बढ़ाया। शुक्लजी गम्भीर विचारक और विनोदी स्वभावके व्यक्ति थे। अतः उन्होंने प्रायः विचारपूर्ण विषयोंको ही निबन्धका विषय बनाया है। उनके निबन्धोंमें सूत्र या निगमन-शैलीका प्रयोग हुआ है। वे प्रारम्भमें ही किसी सिद्धान्तको उपस्थित कर देते हैं और अन्ततक उसकी विवेचनामें लीन रहते हैं। श्यामसुन्दर दास तथा गुलाब राय आगमन-शैलीके निबन्धकार हैं। तथ्योंकी व्याख्याके साथ सारांश निकालते चलते हैं और अन्तमें उद्दिष्ट सत्यका उद्घाटन करते हैं। इन निबन्धकारोंने प्रायः तत्सम, देशी, तद्भव शब्दोंसे पूर्ण भाषा लिखी है, किन्तु भावप्रकाशनकी सुगमताके लिए विदेशी—अंग्रेजी, अरबी, फारसीके शब्दोंको भी सहजभावसे अपना लिया है।

बीसवीं शतीके इस उत्थानमें विभिन्न विषयोंपर निबन्ध लिखे गये हैं, जैसे १ सांस्कृतिक—माधवप्रसाद मिश्रके 'होली', 'श्रीपंचमी', 'रामलीला', 'व्यासपूजा', 'अयोध्या', 'द्वारका', 'मथुरा' आदि और चन्द्रधर शर्मा गुलेरीका 'संगीत'। २ मनोवैज्ञानिक—रामचन्द्र शुक्लके 'क्रोध', 'क्षमा', 'ग्लानि', 'करुणा' आदि। ३ समीक्षात्मक—महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'कवि और कविता', 'साहित्यकी महत्ता' आदि, रामचन्द्र शुक्लके 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद', 'कविता क्या है' आदि, गुलाब रायके 'सर्वोत्तम काव्य', 'हास्यरस', आदि, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदीके 'अनुप्रास अन्वेषण', 'हमारी शिक्षा किस भाषामें हो' आदि, सुमित्रानन्दन पन्तके 'पल्लव'का 'प्रवेश' आदि, 'निराला'के परिमलकी 'प्रस्तावना' आदि। ४ विचारप्रधान—माधव सप्रेका 'जीवन संग्राममें विजय पानेके उपाय', मिश्रबन्धुका 'आत्मशिक्षा', रामचन्द्र शुक्लका 'आदर्श जीवन', पूर्ण सिंहका 'पवित्रता', चन्द्रधर शर्मा गुलेरीका 'कछुआधर्म', आदि। ५ भावप्रधान—चतुर्भुज औदीच्यका 'कवित्व', चन्द्रधर शर्मा गुलेरीका 'मारेसि मोहिं कुठाँव', पूर्ण सिंहके 'सच्ची वीरता', 'मजदूरी और प्रेम', मातादीन शुक्लका 'आशा', चतुरसेन शास्त्रीका 'कहाँ जाते हो', रायकृष्ण दासकी 'साधना'के गद्यगीत, लक्ष्मण गोविन्द आठलेका 'वर्षा-विलास', वियोगीहरिका 'तरंगिणी'के गद्यगीत, पद्मसिंहका

'गणपति शर्माकी मृत्युपर'। ६. वर्णनप्रधान—मिश्रबन्धुका 'रूस-जापानका युद्ध', जी० पी० श्रीवास्तवका 'चुम्बन'में मेलेका वर्णन, महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'एक योगीकी साप्ताहिक समाधि' और 'अद्‌भुत इन्द्रजाल', जगमोहन सिंहका 'श्यामास्वप्न', कृष्णवलदेव शर्माका 'बुन्देलखण्ड पर्यटन'। ७. आत्मचरितात्मक—यशोदानन्दन अखौरीका 'इत्यादिकी आत्मकहानी', महेन्द्रलाल गर्गका 'पेटकी आत्मकहानी', पार्वतीनन्दनका 'तुम हमारे कौन हो'। ८ स्वप्नकथात्मक—केशवप्रसाद सिंहका 'आपत्तियोंका पहाड़—एक स्वप्न'। कमलाप्रसादका 'क्या था', लल्ली-प्रसाद पाण्डेयका 'कविता-दरबार'।

बीसवीं शतीके द्वितीय चतुर्थांशमें निबन्धने अनेक साहित्यरूपोंको अपनेमें आत्मसात् करके विकास किया है। अत इस इस कालके निबन्धोंमें जीवनकी वास्तविकता, कहानीकी संवेदना और जिज्ञासा, नाटककी नाटकीयता, उपन्यासकी चारु कल्पना, गद्यकाव्यकी भावातिशयता, महाकाव्यकी गरिमा, विचारोंकी उत्कृष्टता—सभी कुछ एक साथ प्राप्त होती है। इस कालके निबन्ध प्राय समाचारपत्रोंके लेख, गद्यगीत (रायकृष्ण दास—छायापथ), पत्र, (रामनाथ 'सुमन'—भाईके पत्र), भाषण, (राहुल—साहित्य निबन्धावलि, रामचन्द्र शुक्ल—काव्यमें अभिव्यञ्जनावाद), संस्मरण (महादेवी—स्मृतिकी रेखाएँ), प्रचारप्रपत्रों (पैम्फलेट), पुस्तकोंकी भूमिकाओं, (रघुवीर सिंहकी 'शेष स्मृतियाँ'की भूमिका) और पुस्तकों-(सद्‌गुरुशरण अवस्थी—भ्रमित पथिक)के रूपमें प्राप्त होते हैं। इनकी रचना मनस्तुष्टि, सामाजिक सुधार, व्यक्तिके चारित्रिक उत्थान, प्राचीन साहित्य और इतिहासकी खोज, अध्ययन और पाण्डित्य-प्रदर्शन, मनके रहस्योद्घाटन, हास्य, व्यंग्य, विनोद तथा शिक्षा एव उपदेश देनेकी प्रेरणाओंसे हुई है। इस कालके निबन्ध अधिकाधिक गम्भीर, साहित्यिक, प्रौढ विवेचनापूर्ण, शास्त्रीय और तर्कसकुल हो गये हैं। इनमें भारतेन्दुयुगीन निबन्धोंकी-सी न तो वैयक्तिकता है और न हृदयको खिलानेवाली भावनाकी तरलता है। सम्भवत इसका कारण जीवनको अधिक गम्भीरतापूर्वक देखनेकी प्रवृत्ति है। इस उत्थानके प्रमुख निबन्धकार ये हैं—'प्रसाद', पन्त, 'निराला', माखनलाल चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा, धीरेन्द्र वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पीताम्बरदत्त वडथ्वाल, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, जैनेन्द्र, नगेन्द्र, सत्येन्द्र, गुलाव राय, इलाचन्द्र जोशी, रघुवीर सिंह, रायकृष्ण दास, पदुमलाल पुन्नालाल वख्शी, सियारामशरण गुप्त, राहुल, मोहनलाल महतो, रामकुमार वर्मा, हरिऔध, रामनाथ 'सुमन', सम्पूर्णानन्द, भगवान् दास, उमेशचन्द्र मिश्र, वियोगीहरि, प्रभाकर माचवे, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, पद्म सिंह, पूर्ण सिंह, हरि भाऊ उपाध्याय, किशोरी-लाल मशरुवाला, काका कालेलकर, रामदास गौड आदि। इनमें हजारीप्रसाद द्विवेदी और महादेवी वर्माके निबन्धोंमें व्यक्तित्व और आत्मीयताकी झलक अधिक है। महादेवी निगमन एवं द्विवेदी आगमन चित्रशैलीके निबन्धकार हैं। उनके 'अशोकके फूल', 'वसन्त आ गया', 'श्रृखलाकी कड़ियाँ' इसके अच्छे उदाहरण हैं।

इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् निबन्ध पुन व्यक्तिप्रधानताकी ओर वढा है और वह विचारोंके प्रकट करनेका प्रमुख एव सशक्त माध्यम वनता जा रहा है। उसका आकार भी लघुतर होता जा रहा है। भाषा वोलचालकी-सी हो रही है। उसमें तत्समताके स्थानपर तद्भव और देशी शब्दोंका प्रचुर प्रयोग हो रहा है। अब कोई भी विषय निबन्धका विषय वन जाता है। विषय तो जैसे विचारोंको प्रकट करनेका बहाना-सा वन रहा है। यद्यपि आज हिन्दीमें निबन्ध विकासके उच्च शिखरपर है, फिर भी निबन्धकी आत्मा पहचानकर लिखनेवाले अभी अधिक निबन्धकार नहीं हैं।

इस तृतीय उत्थानके निबन्धोंकी अनेक कोटियाँ हैं, जैसे १ विचार प्रधान—'प्रसाद'का 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', श्यामसुन्दर दासके साहित्यिक निबन्ध, रामचन्द्र शुक्लके 'चिन्तामणि'के निबन्ध, धीरेन्द्र वर्माके 'विचारधारा'के निबन्ध, पीताम्बरदत्त वडथ्वालका 'योगप्रवाह', हजारीप्रसाद द्विवेदीके 'विचार और वितर्क', 'अशोकके फूल' और 'गतिशील चिन्तन', सद्‌गुरुशरण अवस्थीका 'भ्रमित पथिक', नगेन्द्रके 'विचार और अनुभूति' तथा 'विचार और विवेचन', सम्पूर्णानन्दका 'शिक्षाकी समस्या', जगन्नाथप्रसाद शर्मा 'मिलिन्द'का 'चिन्तनकण', इलाचन्द्र जोशीका 'विवेचना', 'अज्ञेय'का 'चिन्ता', रघुवीर सिंहका 'शेष स्मृतियाँ'की भूमिका, महादेवी वर्माका विवेचनात्मक गद्य, जैनेन्द्रका 'राही' और 'समाज', उमेशचन्द्र मिश्रका 'सफलता', जयविजयनारायण सिंहका 'चरित्रविकास' और भगवान् दासका 'समवन्य'। २ भावप्रधान गद्यगीतात्मक निबन्ध—विश्वम्भर मानवका 'सोनेसे पहले', सत्यनारायण शर्माका 'जीवनयात्रा', रायकृष्ण दासका 'छायापथ', दिनेश-नन्दिनी चोरड्याका 'शबनम', तारा पाण्डेयका 'रेखाएँ', माखनलाल चतुर्वेदीका 'साहित्य देवता', सियारामशरणका 'हाँ, नहीं'। ३ प्रतीकात्मक—रायकृष्ण दासके 'सलाप', 'सागर और मेघ', 'सोना और लोहा'। ४ मनोवैज्ञानिक—'अज्ञेय'का 'चिन्ता', जगन्नाथप्रसाद शर्मा 'मिलिन्द'का 'चिन्तनकण'। ५. कथात्मक-पदुमलाल पुन्नालाल वख्शीके 'चर्चा', 'एक पुरानी कथा', 'बन्दरकी शिक्षा', सियाराम-शरणका 'झूठ-सच', ब्रजलाल वियाणीका 'कल्पनाकानन'। ६. संस्मरणात्मक—पदुमलाल पुन्नालाल वख्शीके 'रामलाल पण्डित', 'कुजविहारी', सियारामशरणका 'हिमालयकी झलक', महादेवीका 'स्मृतिकी रेखाएँ'। ७ हास्य-व्यग्या-त्मक—सियारामशरणका 'घोड़ाशाही', आनन्दकुमारका 'वातचीत', वियोगीहरिके 'पगली', 'मेरी हिमाकत', प्रभाकर माचवेका 'मुँह'। ८ वर्णनप्रधान—(यात्रा) महादेवी वर्माका 'वदरीनाथकी यात्रा', राहुलके यात्रा सम्बन्धी निबन्ध, धीरेन्द्र वर्माका 'यूरोपके पत्र'। —वि० रा०

निम्न-मध्यवर्ग—इस वर्गके अन्तर्गत दफ्तरके साधारण क्लर्क, वावू आदि आते हैं, जिनकी जीविका साधारण माहवारी वेतनपर आधारित है। —रा० कृ० त्रि०

निम्नवर्ग—यह समाजका वह भाग है जो अपनी जीविका-का उपार्जन श्रमसे करता है और अधिकतर इस वर्गका ही शोषण किया जाता है। इस वर्गके अन्तर्गत किसान,

मजदूर, क्रिया चलानेवाले लोग आते हैं। —रा० कु० त्रि०

नियतश्राव्य–संवादके विचारसे रूपककी **कथावस्तु**-का यह एक भेद है। यदि किसी पात्रकी उक्तिको **रंगमंच**पर उपस्थित कुछ ही पात्र सुनें तो उसे नियतश्राव्य कहते हैं। नियतश्राव्यका अर्थ है नियत पात्रोंके ही सुनने लायक।

स्वगतकी भाँति नियतश्राव्य भी कृत्रिम और अमनोवैज्ञानिक है। रंगमंचपर उपस्थित किसी पात्रकी उक्तिको कुछ नियत पात्रोंका सुनना और शेषका न सुनना सर्वथा अस्वाभाविक है।

नियतश्राव्यके दो भेद हैं—**जनान्तिक** और **अपवारित**। (दे०) —व० सिं०

नियताप्ति–रूपककी पाँच अवस्थाओंमें चौथी अवस्था। 'अपायाभावत: प्राप्तिर्नियताप्ति: सुनिश्चिता' (द० रू० १ . २१)। विघ्न-बाधाओंके हट जानेपर फलप्राप्तिके निश्चयकी स्थितिको नियताप्ति कहते हैं। प्राप्त्याशामें नायक फलप्राप्तिके सम्बन्धमें आशंकाओंसे ग्रस्त रहता है, पर नियताप्तिमें उसे फलप्राप्तिका पूर्ण निश्चय हो जाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटकमें निरीह शकोंके वधपर सामन्त-कुमारका यह कथन 'मैं सच कहता हूँ कि रामगुप्त जैसे राजपदको कलुषित करनेवालेके लिए मेरे हृदयमें तनिक श्रद्धा नहीं' फलप्राप्तिका ऐकान्तिक निश्चय करा देता है। यहींपर नियताप्ति अवस्था समझनी चाहिये। —व० सिं०

नियम–दे०—'हठयोग'।

नियमपरिवृत्त–दे०—'अर्थदोष', अठारहवाँ।

निरंगरूपक–दे०—'रूपक', छठा प्रकार।

निरंजन–निरंजनका अर्थ है अंजन-रहित अर्थात् निर्लिप्त, मायाविनिर्मुक्त। कई धर्मसाधनाओंमें यह शब्द समान रूपसे आदर पा रहा है। 'हठयोग-प्रदीपिका'में नादानुसन्धानके बाद साधकके चित्त और मारुतका निरंजनमें विलीन होना बताया गया है। 'गोरक्ष-सिद्धान्त संग्रह'में भी निरंजनका साक्षात्कार ही परमपद माना गया है। कतिपय विद्वानोंका मत है कि उड़ीसाका उत्तरी भाग, रीवाका प्रदेश, छोटा नागपुर और पश्चिमी बंगालमें आदिवासियोंका एक सम्प्रदाय प्रचलित था जिसका आराध्य देवता **धर्म** या निरंजन था और वहाँसे उसकी शाखाएँ राजस्थानतक गयीं। उस सम्प्रदायके कुछ अवशिष्ट उपलब्ध ग्रन्थ 'शून्य पुराण', 'धर्माष्टक' आदिमें इस निरंजनकी व्याख्या मिलती है। उसमें भी इसका स्वरूप शून्य, निराकार, निषेधात्मक है। अलक्ष्य होनेके नाते कालान्तरमें **अलखनिरंजन** भी प्रचलित हो गया।

सिद्धोंने भी निरंजन शब्दका व्यवहार शून्यरूपके अर्थमें किया है। तिलोपाने कहा है कि साधकको यह विचार करना चाहिये कि 'हँउ जग, हँउ बुद्ध, हँउ निरंजन।' काण्हपाने शून्य तत्त्वको निरंजन कहा है, क्योंकि वह अंजनविरहित है। (दोहाकोष प्र० च० बागची)

नाथोंके साहित्यमें भी निरंजनका सर्वोच्च स्थान माना गया है। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल कुछ निरंजनियोंकी बानीके आधारपर निर्गुण साहित्यकी एक निरंजनी धाराको मान्यता दिलानेके पक्षमें थे (दे०—योगप्रवाह पी० द० बड़थ्वाल)। कबीरने निरंजनको सम्मानपूर्वक स्मरण किया है, पर उन्होंने आदिपुरुषको वृक्ष और निरंजनको उसकी डाल माना है (बीजक कबीर), किन्तु बादमें ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मसम्प्रदायकी प्रतिद्वन्द्विताके कारण निरंजनका अनादर कबीरपन्थमें हुआ और परवर्ती कबीरपन्थी साहित्यमें निरंजनको कबीरका प्रतिद्वन्द्वी चित्रित किया गया, जो साधकों और जिज्ञासुओंको सदा भटकाता रहता है। **अलखनिरंजन**को मायावी मान लिया गया, जो सृष्टि उत्पन्न कर समस्त संसारको भटकाता रहता है। किन्तु कबीरका निजी मत ऐसा नहीं था (दे०—कबीर ' हजारीप्रसाद द्विवेदी)। —ध० वी० भा०

निरंजनी संप्रदाय–निरंजनी सम्प्रदायका नामकरण उसके संस्थापक स्वामी निरंजन भगवान्‌के नामपर हुआ। निरंजन भगवान्‌के जन्म और परिचयके विषयमें कुछ भी नहीं ज्ञात है। हिन्दीके विद्वानोंमें पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल तथा परशुराम चतुर्वेदीका मत है कि निरंजनी सम्प्रदाय नाथ-सम्प्रदाय और निर्गुण सम्प्रदायकी एक लड़ी है। इस सम्प्रदायका सर्वप्रथम प्रचार उड़ीसामें हुआ और प्रसारक्षेत्र पूर्व दिशा बनी। राघोदासने अपने 'भक्तमाल'में लिखा है कि जैसे मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, रामानुजाचार्य तथा निम्बार्क महन्त चक्कवेके रूपमें चार सगुणोपासक प्रसिद्ध हुए उसी प्रकार कबीर, नानक, दादू और जगन निर्गुण-साधनाके क्षेत्रमें ख्यातिके अधिकारी बने और इन चारोंका सम्बन्ध निरंजनसे है।

निरंजनी सम्प्रदायके बारह प्रमुख प्रचारक हुए। इनके नाम हैं १ लपट्यौ जगन्नाथदास, २ स्यामदास, ३ कान्हडदास, ४ ध्यानदास, ५ षेमदास, ६ नाथ, ७ जगजीवन, ८ तुरसीदास, ९ आनन्ददास, १०. पूरणदास, ११ मोहनदास, १२ हरिदास। राघोदासके अनुसार जगन्नाथदास थरोलीके निवासी थे, स्यामदास दत्तवासके, कान्हडदास चाड़सके रहनेवाले थे, आनन्ददासका निवास-स्थान लिवाली था। मोहनदासका स्थान देवपुर, तुरसीदास का स्थान शेरपुर, पूरणदासका भम्भोर, षेमदासका सिवहाट, नाथका टोटा, ध्यानदासका झारि तथा हरिदासका डीडवाणेमें था। निरंजनी सम्प्रदायके इन सभी साधकोंमें हरिदास-का स्थान श्रेष्ठ है। हरिदासजी बड़े अनुभवी थे। इनका निधन-समय संवत् १७०० है। दादूने भी हरिदासकी बड़ी प्रशंसा की थी। गोरखनाथ और कबीरदासपर इनकी बड़ी श्रद्धा थी। भर्तृहरि और गोपीचन्दके प्रति भी हरिदास बड़े श्रद्धालु थे।

निरंजनी सम्प्रदायकी साधनामें उलटी रीतिको प्रधानता दी गयी है। साधकको अपनी बहिर्मुखी वृत्तियोंको अन्तर्मुखी करके मनको निरंजन ब्रह्ममें नियोजित करना चाहिये। उलटी डुबकी लगाकर अलखकी पहिचान कर लेनी चाहिये तभी गुण, इन्द्रिय, मन तथा वाणी स्ववश होती हैं। इडा और पिंगला नाड़ियोंकी मध्यवर्तिनी सुषुम्नाको जाग्रत् करके अनहदनाद श्रवण करता हुआ बंकनालिके माध्यमसे शून्यमण्डलमें प्रवेश करके अमृतपान करनेवाला सच्चा योगी है। नाम वह धागा है जो निरंजनके साथ सम्पर्क या सम्बन्ध स्थापित करता है। परमतत्त्व या निरंजन न उत्पन्न होता है, न नष्ट। वह एकमात्र और निर्लिप्त होकर

अखिल चराचरमें व्याप्त है। निरंजन अगम, अगोचर है। वह निराकार है। वह नित्य और अचल है। घट-घटमें उसकी मायाका प्रसार है। वह अप्रत्यक्ष रूपसे समस्त सृष्टिका सचालन करता है। निरंजन अवतारके बन्धनमें नहीं दँधता है। इस सम्बन्धमें हरिदासकी निम्नलिखित पक्तियाँ पठनीय हैं– 'दस औतार कहो क्यूं भाया, हरि औतार अनत करि आया। जल थल जीव जिता अवतारा। जलससि ज्यूँ देखो तनसारा ॥' (श्री हरिपुरुषकी वाणी पृ० २३५)।

निरजनी सम्प्रदाय वेदान्तसे प्रभावित नाथ-सम्प्रदायका विकसित रूप है। इसका दृष्टिकोण उदारतासे पूर्ण है। इसमें सहनशीलता और अविरोधकी प्रचुरता मिलती है।

हरिदास निरंजनी सम्प्रदायके सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनकी कविताओंका सग्रह 'श्री हरिपुरुषजीकी वाणी' शीर्षकसे प्रकाशित हो चुकी है। निपट निरजन महान् सिद्ध थे और इनके नामपर दो ग्रन्थ, 'शान्त सरसी' तथा 'निरजन सग्रह' प्रसिद्ध हैं। भगवानूदास निरजनीने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमेंसे 'अमृतधारा' (रचनाकाल कार्त्तिक कृष्ण ३ सं० १७२८), 'प्रेमपदार्थ', 'गीता महात्म्य' (रचनाकाल स० १७४०) उल्लेखनीय हैं। इन्होंने 'भर्तृहरिशतक'का हिन्दी अनुवाद भी किया था। तुरसीदास निरजनी सम्प्रदायके बडे समर्थ कवि थे। इनकी ४२०२ साखियों, ४६१ पदों और ४ छोटी-छोटी रचनाओंका सग्रह पीताम्बरदत्त बडथ्वाल द्वारा किया गया था। सेवादासकी ३५६१ साखियों, ४०२ पदों, ३९९ कुण्डलियों और १० ग्रन्थोंका उल्लेख बडथ्वालने किया है। निरजनी सम्प्रदायमें कई अच्छे और समर्थ कवि हुए हैं। इनकी रचनाएँ अच्छी कवित्व-शक्तिकी परिचायक हैं।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा परशुराम चतुर्वेदी]। —त्रि० ना० दी०

निरति–लिप्त होनेका भाव। लीन होनेका भाव। निरतिके साथ ही सुरति शब्दका प्रयोग सन्त साहित्यमें बहुधा होता है। 'सुरति समानी निरतिम निरति रही निरधार। सुरति निरति परचा भया तब खुले स्यम्भु दुआर।' (कबीर ग्रन्थावली १४)। (दे०—'सुरति'।)

निरर्थक–दे०—'शब्द-दोष', सातवाँ 'पद-दोष'।

निराशावाद–आदर्शोन्मुख साहित्य जब अपने स्थापित मूल्योंसे च्युत हो जाता है और यथार्थकी वास्तविक स्थितिसे उसका साक्षात्कार होता है तो उसे उन विस्थापित स्थितियोंमें जो निराशा होती है, उसका प्रभाव साहित्यपर भी पड़ता है। बहुधा यह निराशा केवल गौण रूपमें ही पायी जाती है, किन्तु यह भी देखा गया है कि यही गौण रूप वास्तविक भाव-भूमिको ग्रहण न करनेके बाद आत्मोन्मुख कुण्ठा और विवशतामें उससे घोर निराशा और उपहासमें भी परिवर्तित हो जाता है और जब यह आत्मोन्मुख कुण्ठा केवल रिक्ततासे टकराती है अथवा जब आदर्शवादकी कल्पना-भूमिसे गिरती है और अपने लिए किसी नयी भाव भूमिका निर्माण नहीं कर पाती तो उसकी समस्त चेतनामें एक व्यापक असन्तोष, एक प्रकारकी मानसिक विक्षिप्तता प्रवेश कर जाती है। छायावादकालमें ही हिन्दी साहित्यमें एक प्रकारकी निराशावादी भावधारा विकसित हो रही थी, जो धीरे-धीरे सम्पूर्ण छायावादी काव्यपर छा गयी और जिससे मुक्त होकर प्राय कुछ ही कवि होंगे, जिन्होंने छायावादकी विचलित उत्सुकता, वैभवप्रियताके समक्ष अपने अस्तित्वकी सार्थकताका आग्रह किया हो। ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि जिस उदात्त एव अज्ञात रहस्यबोधसे द्रवित होकर छायावादी कविता विकसित हुई थी, उसमें ऐसे तत्त्व निहित थे जो आत्मपीडा और आत्मोन्मुखताके ऐसे स्थल थे, जहाँसे समस्त चेतनाको केवल एक हल्के स्पर्शसे निराशाकी ओर ले जाया जा सकता था।

मनोविज्ञानके अनुसार निराशावाद एक मानसिक रोग है जिसे मैलकोलिया (melancholia) भी कहते हैं। इस रोगके दो मुख्य कारण हैं। पहला कारण तो आत्मोन्मुख विकृति है और दूसरा कारण आत्मविश्वासके अभावमें आस्थाहीनताका विकास है। मैलकोलियाका लक्षण वर्तमानकी अपेक्षा भविष्यकी आशकासे अधिक सम्बद्ध है। निराशाकी पृष्ठभूमिमें वर्तमानसे असन्तोषके साथ-साथ भविष्यकी अनास्था उसी प्रकार सम्बद्ध है, जैसे आदर्शोन्मुख साहित्यके साथ केवल अनावश्यक स्वर्णस्वप्नका दिवालोक और उसकी प्रतिक्रियामें नैतिक विरोधाभास उस प्रवृत्तिकी प्रकृतिमें पिरोया हुआ रहता है।

हिन्दी साहित्यमें यह निराशावाद तीन कारणोंसे विकसित हुआ। प्रथम तो यह कि आदर्शोन्मुख भावधारा जब विकसित भावबोधको ग्रहण करनेमें असमर्थ सिद्ध हुई, और उसके बाद **छायावाद**(दे०)की स्वच्छन्द प्रवृत्तिको मजबूर होकर यथार्थकी ओर उन्मुख होना पडा तो उसके संस्कारोंकी रिक्तताको अन्तिम रूपमें समस्त वेदनाओंके साथ यथार्थको भी स्वीकार करना पड़ा। इन दो विरोधी तत्त्वोंमें जिस भावनाका सहज ही प्रस्फुट न होना अनिवार्य था, वह था निराशावाद।

निराशावादी प्रवृत्तियोंके अवतरित होनेका दूसरा कारण था देश-कालके प्रति उपेक्षा। सारी छायावादी काव्यधारामें गत्यवरोध मात्र इस कारण उत्पन्न हुआ कि उसने देशकालकी सीमाके परे अपनी समस्त सौन्दर्यानुभूति और बौद्धिक चेतनाको निष्क्रिय और निष्प्रयोजन रूपमें प्रस्तुत करनेकी चेष्टामें अपनी सारी जागरूकता लगा देनी चाही। छायावादकी बौद्धिक चेतनाको उस दायित्वके प्रति कोई बोध ही नहीं हो सका जो वर्तमानके प्रति क्रियाशील बनकर भविष्यमें आस्था प्रदान कर सकती। इसीलिए उसकी समस्त रहस्यमयता और उसका चमत्कार-वैभव केवल एक सीमातक विकसित हो पाया, उसके बाद उसकी समस्त सम्भाव्य शक्तियोंको अन्तर्मुखी होकर स्वय अपनेसे ही जूझकर टूटना पड़ा।

एक तीसरा कारण जिससे इस निराशावादको शीघ्रतापूर्वक हिन्दी काव्यके क्षेत्रमें विकसित होनेका अवसर मिला, स्वय वह परिवेश था जिसमें एक ओर यथार्थ अपने कटु सत्योंके साथ उभरकर सामने आ रहा था और दूसरी ओर वह बौद्धिक अकर्मण्यता थी, जो उसके तत्त्वोंको स्वीकार करनेमें असमर्थ थी। आदर्शोन्मुख साहित्यधाराके

टूटनेका यही कारण था। छायावादियोंने जिस आदर्शवादी विचारधाराका विरोध किया था, उसी भावधाराके अयथार्थ रूपको इन्होंने स्वय अपना लिया।

छायावादी कवियोंमेंसे 'प्रसाद' और महादेवीमें यह निराशावाद विशेष रूपसे मिलता है। 'प्रसाद'का 'आँसू' उस मलंकोलियाका ज्वलन्त प्रमाण है, जिसमें निराशाकी इतनी तीव्र व्यजना है कि स्वय वह निराशावादी मानसिक स्थिति एक आनन्दविशेषका उद्रेक करने लगती है।

निराशावाद इन्हीं मन स्थितियोंको अभिव्यक्ति देता है। छायावादकी भव्य विशाल कल्पनाने जिस चमत्कार और चकाचौंधको प्रस्तुत करना चाहा था वह मानवीय सन्दर्भमे और उसके यथार्थसे वचित होनेके नाते केवल गहन वेदना और मिथ्या पीडा विलासका एक प्रतिरूप बनकर रह गया। 'कामायनी'में निरूपित 'प्रसाद'के आनन्दवादतकको एक सीमातक केवल सक्रिय निराशावाद ही कहा जा सकता है। अन्तर केवल इतना है कि 'प्रसाद'के गीतोंमे विशेषकर 'आँसू'में जो वेदना मिलती है, उसमें काव्यका प्राढ रूप मिलता है और उनके बाद जो निराशावाद विकसित हुआ उसमे न काव्य है, न प्रौढता है और न मुक्तभोगीकी अनुभूति।

उत्तर-छायावादकालमें यह निराशावाद पतनोन्मुख कवियों और गीतिकारोंमें तो इस वेगके साथ अवतरित हुआ कि समस्त काव्य-बोध और उसके साथ उस काल-विशेषके कवियोंकी अनुभूति केवल एक मुद्रानुभूति बनकर रह गयी। निराशावादने मन स्थितिमे अधिक विशिष्ट शिल्पका रूप ग्रहण कर लिया और उससे सारी भाव-भगिमा ही इस अतिरेकसे टूटी हुई रीतिमें बँध गयी कि विशुद्ध अनुभूतियोंका ह्रास और पतन सा अनुभव होने लगा।

किन्तु ऐसा नहीं है कि यथार्थवादी इस प्रवृत्तिसे मुक्त रहे हों। गजानन माधव मुक्तिबोध और 'तार सप्तक'के अन्य कवियोंकी मनोवैज्ञानिक स्थिति यह स्पष्टत सिद्ध करती है कि नये यथार्थने छायावादके निराशावादसे कविको मन स्थितिको मुक्त तो कर दिया था, किन्तु जिस शकाकुल स्थितिमें परम्पराओंको तोड़कर नयी काव्यचेतना विकसित हो रही थी, उसमें कम निराशा नहीं थी। प्रगतिवादने जिस रेचन भाव(catharsis)को अपना लिया था, उसमें भी यही निराशा कार्य कर रही थी और उसने भी उसे सन्दिग्धता और घुटनके विषमें सराबोर कर दिया था। भाव-भूमि तो बदल गयी थी, किन्तु भाव-बोधमें निराशा थी।

निराशावादकी परिणति पतनोन्मुख प्रवृत्तिमें होती है, क्योंकि वस्तु-दृष्टिके अभावमें व्यापक निष्ठा नहीं पनप पाती। व्यापक निष्ठा जब पूर्णत सकुचित हो जाती है तब कलाकारकी दृष्टि भी कुठित एव सकीर्ण हो जाती है। निराशावाद, इस प्रकार दो रूपोंमें व्यक्त होता है, एक तो मैलकोलियाके रूपमें, जिसमें दृष्टि नकारात्मक तत्त्वोंमें विकृत हो जाती है और दूसरे, बहुधा उस व्यापक दृष्टिके अभावमें भी जो वस्तुपरक न होनेके कारण केवल आत्मलीन होकर रह जाती है। यदि मैलकोलिया विकृतिकी मिथ्या-रूपमें विकसित दृष्टि है तो दृष्टिहीनता उन नकारात्मक तत्त्वोंकी प्रतिष्ठा है जो किसी भी परम्परा या रीतिके रूपमें समस्त चेतनाको कुण्ठित कर देती है। अस्तु, निराशावाद सतत साहित्यमें पतनोन्मुख परम्पराको ही प्रतिष्ठित करता है। —ल० का० व०

निरुक्त–[निर्+वच्+क्त—निश्चयेन उच्यन्ते शब्दाः अस्मिन्निति] (क) साधारण अर्थ–१ कथित, उच्चारित, व्याख्यात। २ उद्घोषित (महाभारत)। ३ स्पष्ट निर्दिष्ट या विहित (आश्वलायन गृह्यसूत्र)। ४ व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ (छान्दोग्य० ८।३।३)। (ख) विशिष्ट अर्थ—वैदिक शब्दोंका व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ या व्याख्यान करनेवाले ग्रन्थ जो वेद-विद्याके अध्ययनके आवश्यक अग होनेके कारण छ वेदागोंमेसे एक कहे जाते हैं। छ वेदाग ये हैं—'शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त ज्योतिषा गति। छन्दोविचितिरि-त्येते षडगो वेद उच्यते॥' २ यास्काचार्यकृत निरुक्त। यास्कके ही कथनसे ज्ञात होता है कि वे निरुक्तकारोंकी परम्परामें चौदहवें थे। उनके पूर्व तेरह निरुक्तकार हो चुके थे और प्रत्येकके अपने-अपने निघण्टु, वैदिक शब्दसग्रह थे। वर्तमान निघण्टु जिसपर यास्कका निरुक्त है, यास्ककृत ही है। पर कुछ लोग इसे यास्ककृत नहीं मानते। अन्य निरुक्तोंके अभावमें अब निरुक्त वेदागसे यही यास्ककृत निरुक्त गृहीत होता है।

निघण्टुके प्रथम तीन अध्यायोंका व्याख्यान निरुक्तके प्रथम तीन अध्यायोंमें, चतुर्थ अध्यायका अग्रिम तीन अध्यायोंमें तथा पचमका निरुक्तके अन्तिम छ अध्यायोंमें हुआ है। ये क्रमश नैघण्टुक, नैगम तथा दैवत काण्डके नामसे प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार यह निरुक्त द्वादशाध्यायी ग्रन्थ है। अन्तमें दो अध्यायोंका परिशिष्ट है। तेरहवेंमें अतिस्तुति तथा चौदहवेंमें ऊर्ध्वमार्गगतिका निरूपण है। (ग) हिन्दीमें यह शब्द व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ या व्याख्यानका वाचक है। —आ० प्र० मि०

निरुक्ति–एक गौण अर्थालकार। निरुक्तिका सामान्य पर्याय शब्द-व्युत्पत्ति है, पर कवि शब्दोंका विश्लेषण भी चमत्कारितासे करता है और तब यह अलकार हो जाता है। अप्पय दीक्षितने कहा है—'निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्व-प्रकल्पनम्।' (कुवलयानन्द ९७), अर्थात् यदि अर्थविशेषके अभिधायक शब्दोंका योगवश दूसरा ही अर्थ लगाया जाय और वह अर्थ व्याख्यात्मक हो तो निरुक्ति अलकार होता है। हिन्दीके आचार्योंने भी इसी प्रकार लक्षण दिये हैं—'जहाँ जोगतें नामको अर्थ कल्पना और।' (ल० ल०, ३८४) अथवा—'जहाँ नामके जोग तें, कियो अरथ कछु आन।' (पद्मा०, २७२)। उदा०—'ताप करत अबलानको दया न कछु चित आनु। तुम इन चरितन साँच ही दोषा-कर दिख्यातु।' (अ० म० ६२९)। कहनेका तात्पर्य यह है कि चन्द्रमाका नाम दोषाकर है—अर्थात् रजनीकर। परतु चन्द्रमा विरहिणी नारियोंके लिए दु खकर होता है और इसीलिए दोषाकर शब्दकी व्याख्या ऊपरके उदाहरणोंमें अन्यथा–दोषोंका आकर (कोष)–हुई। और उस शब्दकी व्याख्याकी दृष्टिसे ही यहाँ निरुक्ति अलकार हुआ। अथवा—'कविगनको दारिद द्विरद, याही दल्यो अमान।

यातें श्री सिवराजको, सरजा कहत जहान।' (शि० भू० ३४६), यहाँ सरजाकी व्याख्यासे अर्थकी सिद्धि होती है। —ज० कि० व०

निरूपक–दे०—'रेडियो नाटक'।

निर्गुणधारा–हिन्दी साहित्यके इतिहासके अन्तर्गत भक्तिकाल(दे०)की एक विशेष शाखा। दे०—'निर्गुण-सम्प्रदाय', ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी शाखा।

निर्गुण-संप्रदाय–'निर्गुण' शब्द, अपने पारिभाषिक रूपमें सत्त्वादि गुणोंसे रहित या उनसे परे समझी जानेवाली किसी ऐसी अनिर्वचनीय सत्ताका बोधक है, जिसे बहुधा परमतत्त्व, परमात्मा अथवा ब्रह्म जैसी संज्ञाओं द्वारा अभिहित किया जाता है। परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भमें, 'सम्प्रदाय' शब्दके पूर्व आ जानेके कारण, यह उन व्यक्तियोंकी ओर भी संकेत कर सकता है जो उक्त प्रकारकी शक्तिमें विश्वास करते हों और तदनुसार उन्हींके समुदायको 'निर्गुण-सम्प्रदाय' भी सूचित कर सकता है। इसी प्रकार जहाँ 'सम्प्रदाय' शब्दका अर्थ गुरुपरम्परागत उपदेश होगा वहाँ 'निर्गुण-सम्प्रदाय'से अभिप्राय उस पद्धतिका हो सकता है, जिसमें उक्त प्रकारकी सत्तामें आस्था रखनेका उपदेश दिया जाता हो अथवा जहाँ इस सम्बन्धमें विशिष्ट नियम प्रचलित हों। ऐसे लोगोंकी विचारधाराको 'निर्गुण मत' कहा जाता है और उसी अभिप्रायको ओर भी अधिक स्पष्ट करनेके लिए कभी-कभी 'निर्गुण-सन्तमत' भी कह दिया जाता है। निर्गुण-मतको माननेवाले तथा इस प्रकार निर्गुण-सम्प्रदायमें सम्मिलित सदस्योंको कुछ लोगोंने 'निर्गुनिया' शब्द द्वारा भी अभिहित किया है। इस दृष्टिसे 'निर्गुण-सम्प्रदाय'को ही, दूसरे शब्दोंमें, हम निर्गुनियोंका सम्प्रदाय भी कह सकते हैं। 'निर्गुण-सम्प्रदाय' शब्दके पर्यायरूपमें 'निर्गुण-पन्थ' एवं 'निर्गुण-मार्ग' शब्दोंके भी प्रयोग दीख पड़ते हैं और ये दोनों ही उक्त निर्गुण मतका प्रचार करनेवाले साम्प्रदायिक मण्डलीविशेषके उस संघटनको सूचित करते हैं, जिसका निर्माण वैसे उद्देश्यके अनुसार किया गया हो। इसे कभी-कभी 'सन्त-सम्प्रदाय' भी कह देते हैं।

'निर्गुण' शब्द 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (६ ११) में उस अद्वितीय 'देव'(परमात्मा)का एक विशेषण बनकर आया है जो सभी भूतोंमें अन्तर्हित है, सर्वव्यापी है, सभी कर्मोंका अधिष्ठाता है, सबका साक्षी है, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला तथा निरुपाधि भी है। उसीकी ओर संकेत करते हुए श्रीकृष्ण द्वारा 'गीता'(१३-१४)में भी कहलाया गया है, 'उसमें सब इन्द्रियोंके गुणोंका आभास है, पर उसके कोई भी इन्द्रिय नहीं है, वह सबसे असक्त रहकर अर्थात् अलग होकर भी सबका पालन करता है और निर्गुण होनेपर भी गुणोंका उपभोग किया करता है।' तथा इसी प्रकार, श्रीकृष्णने अन्यत्र (७ १२ ३) भी कहा है–'यह समझ लो कि जो कुछ सात्त्विक, राजस या तामस भाव अर्थात् पदार्थ हैं वे सब मुझसे ही हुए हैं, किन्तु वे मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूँ। इन तीन गुणात्मक भावोंसे अर्थात् पदार्थोंसे मोहित होकर यह सारा संसार इनसे परेके (अर्थात् निर्गुण) मुझ अव्ययको नहीं जानता।' अतएव, जो कुछ भी पदार्थ त्रिगुणात्मक रूपमें दीख पड़ता है वह 'गुणमयी' मायाका अंश है, जैसा इसके आगेवाले श्लोकसे ध्वनित होता है और जो परमात्मतत्त्व है उसे 'मायातीत' भी कह सकते हैं। प्रसिद्ध 'नासदीय सूक्त'के अन्तर्गत भी यही बात इस प्रकार कही गयी है कि 'जब सृष्टिका आविर्भाव नहीं था, तब न सत् था, न असत् था और न रजस् ही था' इत्यादि।

सन्त कबीर 'निर्गुण' शब्दका एक पर्याय 'अगुन' भी देते जान पड़ते हैं (क० ग्र० पद १८३)। वे उसके द्वारा सूचित किये जानेवाले तत्त्वको 'गुन अतीत' बतलाते हैं और फिर उसे 'निर्गुण ब्रह्म' भी कहकर उसकी उपासनाका उपदेश देते हैं (प० ३७५)। वे उसे अन्यत्र 'निरगुण राम'की भी संज्ञा देते हैं और उसकी 'गति'को अगम्य ठहराते हैं (प० ४९) तथा उसे केवल 'निरगुण' कहकर भी, उसी प्रकार, अकथनीय बतलाते हैं (प० १८६)। परन्तु एक स्थल(प० १८४)पर वे इसके विषयमें इस प्रकार भी कहते हैं, 'राजस, तामस और 'सातिग' (सात्त्विक) ये तीनों ही उसकी माया हैं तथा वह इन तीनोंसे परेका 'चौथा पद' है। वह गुणातीत होनेके कारण 'निर्गुण' कहलाता है, नहीं तो वह वस्तुत निर्विषय नहीं ठहराया जा सकता तथा उसे समझ लेना धोखेकी बात होगी। गुणमें ही निर्गुण है और निर्गुणमें गुण है, जो बात बहुत सीधी-सादी-सी है और ऐसा न कहना सच्चे मार्गको छोड़कर बहकते फिरना है। लोग उसे 'अजर' कहते हैं और उसे 'अमर' भी बतलाते हैं, किन्तु सच्ची बात तो यह है कि वह 'अलख' होनेके कारण, अनिर्वचनीय है। यह ठीक है कि उसका कोई रूप नहीं और न उसका कोई वर्ण ही है, किन्तु इसके साथ यह भी एक तथ्य है कि वह घट घटमें व्याप्त है। पिण्ड और ब्रह्माण्डकी भी बातें कही जाती हैं, परन्तु, चाहे पिण्ड हो, चाहे ब्रह्माण्ड हो, ये सभी देश और कालतक सीमित हैं, किन्तु उसका न तो आदि है और न अन्त ही है। कबीरका हरि इन सभीसे विलक्षण है' (प० १८०)। फिर 'वह जैसा समझ लेनेमें ही आनन्द है, उसे वस्तुत न जानते हुए भी, उसका कथन करना ठीक नहीं' तथा इसी कारण, कबीरने अपनेको उसे 'सरगुन'की अपेक्षा 'निरगुन' रूपमें ही जाननेवाला कहा है।

'निर्गुणपन्थ'के लिए कहा गया है कि वह सर्वप्रथम मुसलमानोंके भारतमें आकर बस जानेकी नवीन परिस्थितिमें एक 'सामान्य भक्तिमार्ग'के रूपमें चला था और यह उस कालकी प्रचलित सगुणोपासनासे भिन्न एक ऐसी साधनाको लेकर विकसित हुआ था, जो एकेश्वरवादके किसी अनिश्चित स्वरूपके ऊपर आधारित रही और वह कभी ब्रह्मवादकी ओर ढलता था तो कभी पैगम्बरी खुदावादकी ओर। इसकी ओर ले जानेवाली सबसे पहली प्रवृत्ति ऊँच नीच और जाति-पाँति सम्बन्धी भावके त्याग एवं ईश्वरभक्तिके लिए मनुष्यमात्रके समान अधिकारकी स्वीकृतिमें दीख पड़ी थी। इसके सिवाय इस 'निर्गुण-मार्ग'-का प्रधान प्रवर्तक कबीरको समझा गया है, जिन्होंने इस कथनके अनुसार एक ओर तो भारतीय अद्वैतवादकी कुछ स्थूल बातें ग्रहण कर ली थीं और दूसरी ओर कुछ सूफी फकीरोंके संस्कार भी प्राप्त कर लिये थे। उनका उद्देश्य

यह था कि उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियोंसे ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्ममें भेदभाव फैला हुआ है, शुद्ध ईश्वरप्रेम और सात्त्विक जीवनका प्रचार किया जाय। इसके परिणाम-स्वरूप, भक्तिकाव्यके अन्तर्गत, सगुण और निर्गुण नामसे दो भिन्न-भिन्न धाराएँ, विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्तिम भागसे लेकर सत्रहवींके अन्ततक समानान्तर चलती रहीं और निर्गुणधारा भी दो शाखाओंमें विभक्त हुई, जिन्हें 'ज्ञानाश्रयी' और 'शुद्ध प्रेममार्गी' नाम दिये गये हैं। इस प्रकार 'निर्गुणधारा' एक साहित्यिक प्रवृत्ति है जो 'निर्गुण-पन्थ' या 'निर्गुण-सम्प्रदाय'के प्रभावमें, सन्त कवियोंकी ही रचनाओंमें ही नहीं, अपितु सूफी कवियोंकी प्रेमगाथाओंमें भी पायी जाती है।

निर्गुण-सम्प्रदायको अपना रूप धारण करनेकी प्रेरणा देनेवाले विकासक्रममें स्वामी रामानन्दसे बहुत बल मिला था, किन्तु जिन बातोंको इसने इसलामी आधारोंकी ओरसे ग्रहण किया था वे जितनी निषेधात्मक थीं उतनी विधेयात्मक नहीं। स्वामी रामानन्द और उनके गुरु राघवानन्दकी उपलब्ध रचनाओंमें ऐसी अनेक बातें मिलती हैं जो निर्गुण-सम्प्रदायकी विशेषताओंका बीजरूप समझी जाती हैं। परन्तु प्रायः वैसी ही बातें जयदेव तथा नामदेवकी भी बहुत-सी पंक्तियोंमें दीख पड़ती हैं जो उन दोनोंके पूर्ववर्ती हैं। इसके सिवाय, जहाँतक दार्शनिक विचारधाराका प्रश्न है, इन सभीके मूल स्रोतोंका पता प्राचीन उपनिषदोंमें चल जाता है। 'निर्गुण-सम्प्रदाय'तक आते-आते वे सभी बातें अधिक स्पष्ट रूप धारण कर लेती हैं और वे यहाँ पूर्ववत् केवल प्रासंगिक-सी ही लक्षित न होकर प्रचारकार्यका प्रमुख विषयतक बन जाती हैं। इसी प्रकार जिन विशिष्ट उक्तियोंको यहाँ इस्लाम धर्मके अनुयायियों द्वारा प्रभावित समझा जाता है उनमेंसे भी बहुतोंका पता हमें अन्य स्रोतोंमें मिल सकता है। निर्गुण-सम्प्रदायके प्रचलित होनेसे पूर्व, लगभग पाँच-छः शताब्दियोंके समयसे ही, बौद्ध सिद्धों एवं जैन मुनियोंकी रचनाओंमें वैसी आलोचनाएँ दीख पड़ने लगी थीं। वास्तवमें निर्गुण-सम्प्रदायकी प्रायः सारी बातोंका मूल स्रोत किसी-न-किसी परम्परागत विचारधारामें ढूँढा जा सकता है। इस कारण इसे हम न तो सर्वथा नवीन सिद्धान्तोंका प्रचारक ठहरा सकते हैं और न इसके साहित्यको ही नितान्त अपूर्व कह सकते हैं।

इसी प्रकार निर्गुण-सम्प्रदायका कबीरके प्रयत्नों द्वारा सवटित किया जाना भी सिद्ध नहीं होता। उनकी रचनाओंसे पता चलता है कि उन्होंने न तो प्रचलित सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको अपनाना आवश्यक समझा और न उनके मतका पुनरुद्धार कर किसी नवीन पन्थकी ही नींव डाली। उन्होंने अपने समयके प्रमुख धर्मोंका नाम अवश्य लिया, किन्तु ऐसा करते समय भी उन्होंने केवल उनके अनुयायियोंकी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति एवं तदनुकूल आचरणकी खरी आलोचना की तथा उन्हें बाह्य बातोंकी अपेक्षा धर्मके वास्तविक स्वरूपकी ओर अधिक ध्यान देनेका उपदेश दिया। उन्होंने किसी मान्य धर्मग्रन्थको भी केवल उतना ही महत्त्व देनेके लिए कहा जितना उसकी बातोंके विवेककी कसौटीपर कसे जानेपर सच्चा सिद्ध होना सम्भव था। व्यर्थके पक्षपात, अन्धानुसरण, बाह्याडम्बर, शास्त्रीय विडम्बना जैसी धर्मके नामपर प्रदर्शित की जानेवाली बातोंको उन्होंने हानिकर ठहराया और प्रत्येक व्यक्तिके लिए अपने-अपने हृदयकी सचाई एवं स्वानुभूतिका सर्वाधिक महत्त्व भी बतलाया। तदनुसार कबीर साहबकी दृष्टिसे यह किसीके भी लिए अनिवार्य नहीं था कि वह अपने धार्मिक सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेके लिए किसी एक जनसमूह या समुदायका सदस्य भी बन जाय। ऐसी दशामें और विशेषकर इसके विरुद्ध पुष्ट प्रमाणोंके अभावमें भी, कदाचित् यही कहना अधिक युक्ति-सगत है कि उन्होंने साम्प्रदायिक सघटनकी अपेक्षा विचार-स्वातन्त्र्यको ही विशेष महत्त्व दिया और उनके समयतक निर्गुण सम्प्रदाय जैसे किसी धार्मिक सघटनका सूत्रपात भी नहीं हुआ था। पीछे गुरु नानक, दादू अथवा स्वयं उनके अनुयायियोंने भी अपनी-अपनी संस्थाएँ स्थापित कीं जो विविध पन्थोंके नामसे प्रसिद्ध हुईं, किन्तु इनका भी कोई ऐसा सम्मिलित सघटन कभी नहीं बन सका जिसे निर्गुण-सम्प्रदाय जैसे किसी एक नाम द्वारा अभिहित किया जा सके।

अतएव जान पड़ता है कि निर्गुण-सम्प्रदाय अथवा उसके पर्याय शब्द निर्गुण-पन्थका प्रयोग पहले, सगुणोपासक भक्तोंके सम्प्रदायोंने इसकी भिन्नता प्रकट करनेके लिए हुआ और निर्गुणमतका सर्वप्रमुख प्रचारक होनेके नाते सन्त कबीर साहबको इसकी स्थापनाका श्रेय भी प्रदान कर दिया गया। इसी प्रकार इस शब्दको किसी ऐसे जनसमुदायका द्योतक भी समझा गया, जिसमें निर्गुणमतवाले उपर्युक्त सभी पन्थोंके अनुयायी सम्मिलित हों और कभी-कभी तो इस शब्दके अर्थकी व्यापकता यहाँतक पहुँचती दीख पड़ी कि निर्गुणोपासनाके नाते इसके द्वारा शुद्ध प्रेममार्गी सूफियोंतकका भी बोध करा दिया गया। फलतः निर्गुणधाराकी प्रवृत्ति भी इन सभीकी रचनाओंमें व्यक्त होती देखी गयी और भक्तिकालीन हिन्दी साहित्यमें उन्हें तदनुसार विशिष्ट स्थान भी दिया गया।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दीकाव्यमें निर्गुण-सम्प्रदाय पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल] —प० च०

निर्गुणा (गोपी)—दे०—'गोपी'।

निर्गुणी भक्ति—श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें इसका उल्लेख है। भगवान् कहते हैं कि जो मेरे गुणोंको सुनते ही मनकी गतिको अविच्छिन्न रूपसे गगाके समुद्रकी ओर अखण्ड रूपसे प्रवाहित होनेके समान मुझ अन्तर्यामीमें सचरित कर देते हैं और मुझमें अहेतुक प्रेमभाव रखते हैं, वे निर्गुणा भक्तिके साधक कहलाते हैं (अ० २९, श्लोक ११-१२)। —वि० मो० श०

निर्गुन—भक्तिभावनासे ओत-प्रोत गीतोंको 'निर्गुन' कहते हैं। यद्यपि भजन तथा निर्गुनके गीतोंका वर्ण्य विषय एक ही है, परन्तु निर्गुन एक विशेष लयमें गाया जाता है, जिसमें हृदयद्रावकताकी मात्रा प्रचुर परिमाणमें पायी जाती है। ये गीत बड़े ही मधुर होते हैं और श्रोताओंको आनन्द-सागरमें डुबो देते हैं। इन गीतोंकी दूसरी विशेषता यह है

कि इनकी प्रत्येक दूसरी पंक्ति 'आहो रामा' अथवा 'कि आहो मोरे रामा'से प्रारम्भ होती है और इनका अन्त 'हो राम'से होता है। जैसे 'पाँच दे पचीस कोमे वसेले महाजन हो। कि आहो मोरे रामा, कवना अवगुनवा हरि मोरे रूसेले हो राम ॥'

कबीरदासकी वाणी, जिसमें निराकार ईश्वरकी उपासनाका उपदेश दिया गया है, 'निर्गुन'के नामसे प्रसिद्ध है। कबीरके निरगुनिये पदों तथा इन गीतोंका वर्ण्य विषय प्राय: एक ही है। अत: इनकी भी संज्ञा 'निर्गुन' पड गयी। लोककवियोंने इन गीतोंकी रचना करते समय इनकी महत्ताको बढ़ानेके लिए 'कबीरदास'का नाम इनमें पिरो दिया है। परन्तु वास्तवमें बीजकके कर्ता कबीर इन गीतोंके रचयिता नहीं है।

निर्गुन लिखनेकी परम्परा कबीरदासके समयसे चली आ रही है। भोजपुरीके अनेक सन्त कवियोंने निर्गुन पदोंकी रचना की है। निर्गुनके गीत रहस्यवादी भावनाओं-से भरे हैं। इनमें कहीं तो ईश्वरको 'महाजन' कहा गया है और कहीं 'छयला' कहकर सम्बोधित किया गया है। रूपकालंकारके माध्यमसे आत्मा और परमात्माके पारस्परिक सम्बन्धका मधुर चित्रण इन गीतोंमें उपलब्ध होता है। बँगलाके बाउल गीतोंमें जो रहस्यात्मकता उपलब्ध होती है उसका दर्शन निर्गुन गीतोंमें मिलता है। —कृ० दे० उ०

निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली–दे०—'निश्चयात्मक आलोचना-प्रणाली'।

निर्माणचक्र–दे०–'हठयोग'।

निर्मुक्त पुनरुक्त–दे०—'अर्थ-दोष', सोलहवाँ।

निर्वहण संधि–रूपककी **पंच-सन्धियोंमें** पाँचवी सन्धि। दशरूपककारने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है, 'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्। ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।' (द० रू० १ ४८) अर्थात्, जहाँ एक ही प्रमुख प्रयोजनमें **कार्य** और **फलागम**के साथ ही अन्यान्य अर्थोंका पर्यवसान हो जाता है, वहाँ निर्वहण सन्धि होती है। प्रधान अर्थकी परिसमाप्तिके कारण इसे निर्वहण सन्धि कहा जाता है।

'स्कन्दगुप्त'में जहाँ भटार्क अपने सुधारका संकल्प कर लेता है और विपत्तियाँ टल जाती हैं वहाँसे आगे निर्वहण सन्धि आरम्भ हो जाती है। अब विरोधी शिविरके लोग या तो नायकके अनुकूल होने लगते हैं या फिर अपनी इहलौकिक लीला सवरण कर लेते हैं। 'चन्द्रगुप्त'में सेल्यूकस-के परास्त होनेके पश्चात् जो सन्धि होती है वह निर्वहण सन्धिका ही रूप है।

इसके निम्नलिखित सन्ध्यंग हैं—सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति।

इन सन्ध्यंगोंके प्रयोग प्राय: नहीं किये गये हैं। (दे०—'सन्धि') —व० सिं०

निर्वाण–निर्वाण बहुत प्राचीन शब्द है, जिसका प्रयोग गीतामें भी हुआ है। उसमें ब्रह्म-निर्वाण उस अवस्थाको बताया गया है जहाँ योगी इन्द्रियजित् और वासनामुक्त होकर पहुँचता है (श्रीमद्भगवद्गीता—अध्याय ५)। बौद्धोंने इस शब्दको अपनाया और साधकके प्राप्य परमपदके रूपमें इसीका व्यवहार किया। शून्यवाद और विज्ञानवाद, दोनोंकी निर्वाण सम्बन्धी अपनी पृथक् मान्यताएँ थीं (दे०—'शून्यवाद', 'विज्ञानवाद'), किन्तु सिद्धोंने यह माना था कि सहजावस्था भव और निर्वाण, दोनोंसे परे है और उसमें प्राप्त होनेवाला **महासुख** ही साधकका लक्ष्य होना चाहिये। 'आइ ण अन्त ण मज्झ ण, णउ भव णउ णिव्वाण, एहु सो परम महासुह णउ पर णउ अप्पाण'। ('दोहाकोष' प्र० च० बागची) नाथ-पन्थमें आत्मानुभवको ही निर्वाण बताया गया है जिसे नाद साधनासे प्राप्त किया जाता है—'नासिका अग्रे पवन लुकाइवा, तब रहि गया पद निरवान। नाद हीं ते पाइये परम निरवाना।' (गो० बा० पी० द० बड़थ्वाल)। सन्तोंने भी परमपदकी संज्ञा निर्वाण मानी है—'आपा पदुनिरवानु न चीन्हिआ इन विधि अभिउन चूकै।' (सन्त कबीर रामकुमार वर्मा)। शब्द या नाद द्वारा प्राप्त होनेके कारण इसे शब्द-निर्वाण भी कहा जाता था। परवर्ती कबीरपन्थी साहित्यमें निर्वाणको आदिपुरुषका विशेषण मानकर निर्वाणपुरुषको सहजपुरुषके भी आगे मान लिया गया था (प० मु० सा०)। कहीं-कहीं इसे साधनामात्र माना गया और इसके द्वारा सामीप्य मुक्तिकी उपलब्धि बतायी गयी (ज्ञा० स्वि० बो०, 'बोधासागर')। —ध० वी० भा०

निर्वेद १– तैंतीस सचारियोंका नामोल्लेख करते हुए भरतने सर्वप्रथम निर्वेद संचारीका नाम लिया है। इसके सम्बन्धमें आचार्योंने विविध तर्क दिये हैं। उनका कहना है कि भरतने स्थायी भावोंके ठीक बाद और सचारियोंके ठीक पहले निर्वेदका उल्लेख विशेष प्रयोजनसे किया है। लौकिक विषयोंसे उदासीन रहनेके कारण यह अमंगलत्वका द्योतक है। मांगलिक मुनि इस प्रकारका अमांगलिक विधान नहीं कर सकते। इसके मूलमें कोई रहस्य है। यद्यपि यह अमंगलत्वका बोधक है, फिर भी इसका प्रथम उल्लेख किया गया है, क्योंकि यह स्थायी भाव भी है (अ० न० भा० २६९–९०, ३३४)।

स्थायी भाव होनेसे इसका पूर्वनिर्देश हो चुका है, अत: अमंगलत्वका परिहार हो जाता है। कुछ लोगोंने निर्वेदको 'देहरी-दीप'की संज्ञा दी है। राघवन् (दी नम्बर ऑव रसाज)का कहना है कि भरतके विचारसे इसे स्थायी और संचारी दोनों ओर परिगणित करना चाहिये। वस्तुस्थिति यह है कि भरतने आठ ही रस माने हैं और शान्त रसको भी उन्हींके नामपर चालू करनेके प्रलोभनसे ही उपर्युक्त तर्कोंकी उद्भावना की गयी है।

निर्वेद संचारीकी व्याख्या करते हुए भरतने निर्वेदोत्पादक कई कारणोंका उल्लेख किया है—दारिद्र्य, व्याधि, इष्टजनवियोग, तत्त्वज्ञान आदि (नाट्य० ७ २८)। कुछ आचार्योंका कहना है कि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद ही शान्तका स्थायी भाव है। दारिद्र्य, व्याधि, क्रोध, इष्टजनवियोग आदि जन्य निर्वेद सचारी है। शारंगदेवका कहना है—'स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानोद्भवो यदि। इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ।' इससे इतना तो स्पष्ट है कि एक सम्प्रदायके विचारक निर्वेदको शान्त रसका

स्थायी माननेको तैयार नहीं है तथा दूसरे संस्थानके आचार्य उसे शान्तके स्थायीके रूपमें प्रतिष्ठित करनेको कटिबद्ध हैं। पर भरतके आधारपर सभी लोगोंने इसे संचारीके रूपमें स्वीकार किया है। विश्वनाथ (१४ श० ई०) और धनञ्जय(१० श० ई०)ने भरतके अनुरूप इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्। तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनता।' (द० रू० ४ · ९), अर्थात् तत्त्वज्ञान, आपत्ति या ईर्ष्याके कारण स्वयका तिरस्कार, निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव कहलाता है। चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य, उच्छ्वास तथा दीनता इसके अनुभाव हैं।

रीतिकालीन कवियोंने भी संस्कृत आचार्योंकी ही उद्धरणी प्रस्तुत की है। देव(१६–१७ श० ई०)के अनुसार 'चिन्ता, अश्रु, प्रकाश करि अपनोई अपमानु। उपजहिं जहँ सो निर्वेद बखानु।' (भाव० संचारी) और पद्माकर (१७–१८ श० ई०) परिभाषा देते हुए लिखते तथा उसके अनुभावोंको प्रस्तुत करते हैं—'उर उपजै कछु खेद लहि, विपति ईरषाज्ञान, ताही तें निज निदरिबो, सो निरवेद बखान। अति उसास अरु दीनता, विवरन अश्रु-निपात। निरवेदहु तें होत है, ये सुभाव निज गात।' (जगद्वि० ४७२ · ७२) और उन्हींका उदाहरण है—'यों मन लालची लालचमें लगि लोभ तरंगनमें अवगाह्यो। त्यों पद्माकर देहके गेहके नेहके काज न काहि सराह्यो। पाप किये पै न पातकी पावन जानिकै रामको प्रेम निबाह्यो। चाह्यो भयो न कछू कबहूँ जमराजहूसे वृथा बैर बिसाह्यो।' (वही ४७३)। —व० सिं०

निर्वेद २–शान्त रसका स्थायी भाव निर्वेद है। निर्वेदका सामान्य अर्थ है सांसारिक विषयोंसे विराग या विरक्ति। यह चित्तकी अभावात्मक वृत्ति है जो संसारके भौतिक आनन्दों एवं सुखोंकी ओरसे उसे मोड़कर परमार्थ अथवा ईश्वरकी ओर उन्मुख करती है। इस रूपमें निर्वेद रतिका ठीक विरोधी है तथा उसकी चरम परिणति मानसिक किं वा आध्यात्मिक शान्तिमें होती है।

लेकिन, शान्त रसके स्थायी-रूपमें 'निर्वेद'के अतिरिक्त, विस्मय-शम, उत्साह, जुगुप्सा तथा धृति भी माने गये हैं। किन्तु 'विस्मय' सभी रसोंमें संचार करता है तथा वह अद्भुत रसका स्थायी भाव है ही। जुगुप्सामें केवल मन संकोच होता है तथा उससे विरक्तिकी कोई शक्तिमती प्रेरणा नहीं मिलती। उत्साह, धृति इत्यादि ऐसी चित्तवृत्तियाँ हैं जो मनको लौकिक सुखोपभोगकी ओर प्रवृत्त करती हैं। अतएव शान्त रसका स्थायी निर्वेद ही है। मम्मट प्रभृति आचार्योंने निर्वेदको शान्त रसका स्थायी स्वीकार किया है, यद्यपि वह व्यभिचारी भी होता है। नाट्याभिनयके लिए अनुपयुक्त समझनेके कारण भरतने निर्वेदको पहले स्थायित्वका गौरव नहीं दिया, लेकिन बादको शान्त रसको स्वीकार करनेके साथ तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न निर्वेदको भी स्थायी स्वीकार किया है। पण्डितराजने निर्वेदकी यों परिभाषा दी है—'जिसकी (वेदान्त आदिके द्वारा) नित्य और अनित्य वस्तुओंके विचारसे उत्पत्ति होती है और जिसका नाम विषयोंसे विरक्ति है उसे 'निर्वेद' कहते हैं। लेकिन यह निर्वेद इष्टवियोग, अनिष्टप्राप्ति तथा गृहकलह इत्यादिसे भी उत्पन्न हो सकता है और तब वह 'व्यभिचारी' होता है, स्थायी नहीं। तत्त्वज्ञानसे उद्भूत निर्वेद ही 'स्थायी' संज्ञाका अधिकारी है, क्योंकि तभी उसमें उत्कटत्व इत्यादि गुणोंका सन्निवेश हो सकता है।

विश्वनाथने शान्त रसका स्थायी 'निःस्पृहताकी अवस्थामें आत्माके विश्रामसे उत्पन्न सुख'को माना है, जिसकी संज्ञा 'शम' कही गयी है। वास्तवमें यह 'शम' निर्वेद(विरक्ति)की ही प्रसूति है और व्यावहारिक दृष्टिसे इन दोनोंमें कोई भेद नहीं मानना चाहिये।

धृति, मति, उद्वेग, ग्लानि, जड़ता, इत्यादि निर्वेद स्थायीके संचारी हैं। उदा०—'सबहिं सुलभ नित विषय सुख, क्यों तू करत प्रयास। दुर्लभ यह नर तनु समुझि, करहु न वृथा विनास।' (पोद्दार · र० म०)।

वैराग्यका उपदेश होनेसे यहाँ 'निर्वेद' भावमात्रकी व्यंजना है, स्थायीकी पुष्टि नहीं हो सकी है। —र० ति०

निर्वैयक्तिकतावाद–इस आलोचनात्मक दृष्टिकोणका विवेचन अज्ञेयने 'त्रिशंकु'में किया है। 'इलियटकी उक्ति है कि कलाकार, जो भोगता है, उससे पृथक् है जो सर्जन करता है' और यह पार्थक्य जितना बड़ा है उतना ही बड़ा वह कलाकार होता है। भाव-दशा और रस दशाके अन्तरवाला, अनुभूतिके परिपक्व बननेकी प्रक्रियावाला अन्तर ही यहाँ प्रधान नहीं है, बल्कि कलाकार या साहित्यकारके ताटस्थ्यका प्रश्न प्रधान है। इस बातका दूसरा पहलू यह भी है कि दिन ब-दिन ज्यों-ज्यों जगत् और जीवन अधिक यन्त्र-संकुल, विज्ञान-चालित और रागहीन होता जा रहा है, मनुष्यके अहं और उसके आसपासके परिवेशके बीच, अहं और काम(ईगो और इड)के बीच तनाव, खिंचाव और कहीं-कहीं विघटन और खाई भी बढ़ती जा रही है। कविकर्म अब निरा व्यक्ति-रंजन नहीं रहा, उससे अधिक उसका दायित्व है और उसके लिए आवश्यक है कि कवि अपने आपको भी निरपेक्ष दूरीसे विश्लेषित कर सके। निर्वैयक्तिकता इसीमेंसे जागी। 'आब्जेक्टिव' दृष्टिकोण कहीं हावी हो गया और 'सब्जेक्टिविज्म' प्रायः लापता हो गया, परन्तु वह भी सही स्थिति नहीं थी। सही स्थिति व्यक्तिकी यह एक साथ दोहरी चेतना है। वह व्यक्ति भी है और निर्वैयक्तिक भी है। सन्त कवि ज्ञानेश्वरने कहा है कि 'इन्द्रियोंके बिना संवेदन, अचेतनमें चेतना (इन्द्रियेंविण संवेदिजे। नेणिवेत जाणिजे) यही परम साध्य स्थिति है। —प्र० मा०

निर्हेतु–दे०—'अर्थ-दोष', आठवाँ।

निशिपालिका–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृतपैंगल'(२ १६०)में इस छन्दका लक्षण है, भ ज स न र के योगसे यह वृत्त बनता है (SII, ISI, IIS, III, SIS), यह वृत्त स्रग्विणी परिवारका है, क्योंकि इन दोनों छन्दोंकी मात्रिक लय समान है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'काम बन राम सब बास तरु देखियो। नैन सुखदैन मन मैनमय लेखियो।' (रा० चं० · २ १९)।

निश्चय-अलंकार—अपह्नुतिकी जातिका अर्थालंकार । प्रकृत(मूल वर्ण्य)का निषेध करके अन्य(अप्रस्तुत)की स्थापना अपह्नुति है, इसके विपरीत अन्य अप्रस्तुतका निषेध करके प्रकृत प्रस्तुतकी स्थापना निश्चय-अलंकार कहलाती है । प्रतिष्ठापक विश्वनाथके अनुसार लक्षण है—'अन्यन्निषिध्य प्रकृत-स्थापनं निश्चय पुन' (सा० द० १० ५७) । निश्चयान्त सन्देह-अलकार रससे भिन्न है, उसमें जिसको सन्देह होता है उसीको अन्तमें निश्चय हो जाता है, यहाँ एकको सन्देह रहता है, परन्तु दूसरेको प्रारम्भसे ही निश्चय होता है । गीतगोविन्दके रचयिता जयदेवका 'हृदिविसलना हारो नाय भुजङ्गमनायक' आदि इसका प्रसिद्ध उदाहरण है । दूसरा उदाहरण विद्यापतिका यह छायानुवाद पद है—'कत न वेदन मोहि देसि मदना । हर नहिं वला, मोहि जुवति जना । विभूति भूषन नहिं, चाननक रेनू । वघछाल नहिं, मोरा नेतक वसनू ।' —ओ० प्र०

निश्चयात्मक आलोचना-प्रणाली—यह शब्द अँग्रेजीके 'जुडीशियल'का समानार्था है । जुडीशियलका अर्थ है—निष्पक्ष निर्णयसे सम्वन्धित, न्याय-सगत आदि । अग्रेजीके इस शब्दके लिए हिन्दीमें प्रचलित तथा मान्य शब्द—**निर्णयात्मक** है, और उपयुक्त ही है ।

अँग्रेजीका 'क्रिटिसिज्म' शब्द जिस ग्रीक धातुसे आया है उसका अर्थ होता है—निर्णय करना । पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रका प्रारम्भिक स्वरूप निर्णयात्मक ही था और उसके निर्णयके मानदण्ड नैतिक थे । परन्तु ज्यों-ज्यों आलोचना-शास्त्रका विकास होता गया, आलोचना व्याख्यात्मक होती गयी । वस्तुत आलोचककी तीन सीढियाँ हो सकती हैं । पहली अवस्थामें आलोचक रमज्ञ पाठककी तरह कृतिसे आनन्द प्राप्त करता है, दूसरी अवस्थामें वह तटस्थ होकर कृतिका अध्ययन-मनन करता है तथा तीसरी अवस्थामें वह निर्णय देता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि निर्णय देना वहुत ही कठिन व्यापार है, क्योंकि आलोचक तो कलाकार-से अधिक सामाजिक उत्तरदायित्वका भार वहन करता है । आलोचक ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ साहित्यकी रुचि अपने पाठकोंमें जगाता है । इस प्रकार आलोचकका निर्णय वहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जायगा । अत निर्णयकी स्थिति आलोचनाकी अन्तिम तथा उत्कृष्टतम स्थिति है । आलोचक साहित्य-क्षेत्रका श्रेष्ठ प्रवन्धकर्ता है और वस्तुत आलोचना निर्णयका एक मानदण्ड है । आई० ए० रिचर्ड सके शब्दोंमें आलोचना साहित्यिक अनुभूतिके विवेकपूर्ण विश्लेषणोपरान्त मूल्याकनका एक अङ्ग है, एक साधन है । इसी प्रकार सभी आलोचकोंने निर्णयको सर्वाधिक महत्त्व दिया है ।

इस प्रणालीका इतिहास वड़ा लम्वा है । चाहे निर्णयका जो भी स्वरूप रहा हो, यूनानी तथा रोमीय आलोचकोंसे लेकर आजके आलोचकोंतक इस पद्धतिका इतिहास पाया जा सकता है । प्लेटो कलात्मक उत्कृष्टताके मूल्याकनका मानदण्ड सत्यकी अनुकूलताको मानता है । अरस्तू कलाके मूल्याकनका मानदण्ड आदर्श मानता है । लाजायनस साहित्यके गुण जाँचनेके मानदण्डको आनन्दका स्वरूप देता है । सेण्ट्सवरी तुलनाको श्रेष्ठतर आलोचना मानता है । इसी प्रकार टाल्स्टाय, पी० ई० ह्यम, रिचर्ड्स, टी० एस० ईलियट आदि सवने एक स्वरमे निर्णयको आलोचनाकी अन्तिम परिणति माना है ।

सस्कृत साहित्यशास्त्रमें भी इस पद्धतिका इतिहास उपलब्ध है । सस्कृतके आचार्योंने भी निर्णयको ही आलोचनाका मूल स्वरूप माना है । भरत मुनिसे लेकर राजशेखरतक सवने किसी-न-किसी तरह इसे अपनाया है । प्रारम्भमें मानदण्डके आधार नैतिक रहे, फिर साहित्यके वाह्य तत्त्व हुए, फिर रूढि हुए । तत्पश्चात मूल्याकनके मानदण्ड धीरे-धीरे वैज्ञानिक होते गये ।

हिन्दीमें भी निर्णय आलोचनाका प्रमुख अग वना रहा । मिश्रवन्धु, भगवानदीन आदि प्रारम्भिक आलोचकोंने सस्कृतके रीतिकालीन मानदण्ड अपनाये, तो रामचन्द्र शुक्लने रसवादी तत्त्वोंको अपनी आलोचनाका मानदण्ड वनाया । इस प्रकार हिन्दीकी अधिकाश आलोचनामें इस पद्धतिको प्रश्रय मिला ।

सच पूछा जाय तो आलोचना निर्णयके अभावमें सच्चे अर्थोंमें कोई महत्त्व नहीं रखती । साहित्य यदि जीवनके सत्यकी अभिव्यक्ति है तो आलोचना साहित्य द्वारा अभिव्यक्त मानवीय मूल्योंकी निर्णायक है । परन्तु आलोचनाका एकमात्र यही कर्तव्य नहीं है, यह तो उसका अन्तिम कर्तव्य है । —रा० कृ० स०

निष्काम-भक्ति-भगवान्‌के प्रति कामनासे किया जानेवाला प्रेम सकाम-भक्ति कहलाता है । आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु-की सकाम-भक्ति कहलाती है । भगवान्‌के प्रति कामना-रहित किया जानेवाला प्रेम निष्काम-भक्ति कहलाता है । मर्यादिकी भक्तिमें फलाकाक्षाका प्राधान्य रहनेसे वह सकाम और पुष्टि भक्तिमें केवल अनुग्रह-भाव रहनेसे वह निष्काम-भक्ति कही जाती है । पुष्टिमार्गमें **मुक्ति**की भी कामना नहीं की जाती । (नैयायिक जन्म-मरणके दु खसे विमोक्षको अपवर्ग 'मुक्ति' मानते हे । मीमासाकार आत्माके 'प्रपंच-सम्वन्धविलय'का नाम मोक्ष, वेदान्ती प्रपचविलयको ही तथा वैष्णव 'ब्रह्मभावापत्ति'—'ब्रह्मके साथ एकात्म भाव'को मोक्षकी सज्ञा प्रदान करते हैं । —वि० मो० श०

निहालदे—निहालदे राजस्थान और व्रजके जन-जीवनमें रमी हुई लोकगाथा है, जो गीतोंमें वद्ध होकर प्राय सावन-के दिनोंमें गायी जाती है । यह अपनी विशेष धुनके कारण स्वतन्त्र लोकराग भी कहलाता है । राजकुमार सुलतानने अपने पिता द्वारा देशनिकाला पाकर एक राज्यमें शरण पायी । वहीं निहालदेसे उसका विवाह हुआ । विवाहके पश्चात् उसे फिर भागना पड़ा । नरवरगढ जाकर उसे फिर आश्रय मिला । उसने ढोलाकी पत्नी मरवणको भी अपनी धर्म वहन वनाया । इधर निहालदेने अपने पतिके पास अनेक सन्देश भेजे । जव सुलतान निहालदेसे मिलनेके लिए पहुँचा तो वह विरहमें तप्त होकर चितारोहित हो चुकी थी । राजस्थानी गीतमें निहालदेकी विरहावस्थाका सजीव चित्रण हुआ है । व्रजमें एक दूसरी ही कथा इस गीतमें निवद्ध है । निहालदे चन्द्रावलीकी भाँति माँके मना करनेपर भी झूला झूलनेके लिए वागमें जाती है । वहाँ

[illegible] रूपमें प्रकट किये। इनमें भाई [illegible] [illegible]। निहितके मुक्तकोंके नैतिक [illegible] [illegible] हैं। 'निहितके मुक्तकोंके नामसे कविता [illegible] [illegible] प्रकाशित हुआ है। —[illegible]

निहितार्थ—दे०—'[illegible]' पाँचवीं [illegible]।

नीतिकाव्य—'नीति' शब्दका सम्बन्ध संस्कृतके 'नी' धातुसे है, जिसका अर्थ है ले जाना या 'मार्गदर्शन करना' होता है। इस प्रकार व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे नीति वह है जो 'ले जाय' या 'आगे ले जाय'। पर यह नीति शब्दका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है और यदि इसे लेकर चलें तो धर्म, विज्ञान और दर्शन आदिकी सभी ज्ञान-शाखाएँ नीतिके अन्तर्गत आ जायँगी, क्योंकि वे मनुष्यको किसी-न-किसी क्षेत्रमें आगे ले जाती हैं। प्रस्तुत सन्दर्भमें प्रयुक्त 'नीति' शब्द इतना व्यापक अर्थ नहीं रखता। उसकी स्थूल परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है—'समाजके व्यक्ति एवं समुदाय उचित व्यवहार करने एवं धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षकी उचित रीतिसे प्राप्ति करनेके लिए जिन विधि-निषेधमूलक सामाजिक, सांस्कृतिक, व्यावहारिक, धार्मिक तथा राजनीतिक आदि नियमोंका विधान देश, काल और पात्रके सन्दर्भमें किया जाता है, उसे 'नीति' शब्दसे अभिहित करते हैं। इस अर्थमें 'नीति' शब्दके प्राचीन प्रयोग 'महाभारत' तथा 'मनुस्मृति' आदिमें मिलते हैं। इस प्रकार ५०० ई० पू० के आसपास यह शब्द इस अर्थमें प्रयुक्त होने लगा था।

नीतिके अन्तर्गत आनेवाली इस प्रकारकी बातोंसे युक्त काव्य 'नीतिकाव्य' है। 'नीतिकाव्य'को 'औपदेशिक' या 'उपदेशात्मक' काव्य भी कहा जाता है, पर यथार्थतः केवल औपदेशिक शैलीमें लिखी गयी नीतिकविताओंके लिए ही ये नाम अधिक उपयुक्त हैं। व्यंग्यात्मक तथा अन्य शैलियोंमें लिखी गयी नीतिकविताओंमें काव्यगुण अपेक्षाकृत अधिक होते हैं, अतएव उन्हें औपदेशिक शैलीसे अलग रखना ही ठीक होगा। ऐसी स्थितिमें औपदेशिक (या उपदेशात्मक) काव्यको 'नीतिकाव्य' का पर्याय न मानकर, उसकी एक शाखा (विशिष्ट शैलीगत अभिव्यक्ति) मानना कदाचित् अधिक समीचीन होगा।

भारतीय साहित्यमें नीतिकाव्यके दर्शन अत्यन्त प्राचीन कालसे होते हैं। इसका प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद इससे शून्य नहीं है। उसकी बहुत-सी सूक्तियाँ तथा आख्यायिकाएँ नीतिपरक हैं। वहाँसे यह परम्परा संस्कृत ('चाणक्यनीति', 'विदुरनीति', 'बृहस्पतिनीति', 'शुक्रनीति', 'कामन्दकनीति', भर्तृहरिका 'नीतिशतक' तथा 'कामन्दकनीति' आदि), पालि ('जातक' तथा 'धम्मपद' आदि), प्राकृत ('[illegible]', '[illegible]', 'गाहासत्तसई' तथा 'वज्जालग्ग' आदि) तथा अपभ्रंश ('पाहुड दोहा', 'सावयधम्म दोहा', 'उपदेश रसायन' तथा 'प्राकृतपैंगलम्'में संकलित पद्य आदि)से होती हिन्दीमें आयी है। नीतिकाव्यके क्षेत्रमें भारतीय साहित्य विश्वसाहित्यमें अपना अनुपमेय स्थान रखता है। विश्वके [illegible] स्पष्ट शब्दोंमें इसे स्वीकार किया है।

नीतिकाव्यका उद्भव और विकास सामाजिक और वैयक्तिक जीवनकी आवश्यकताओंके कारण हुआ है। अतः उसके अनुरूप ही आचरणिक एवं नियमोंकी इसमें अभिव्यक्ति की गयी है, जो व्यष्टि और समष्टि दोनोंका (एक दूसरेका ध्यान रखते हुए) पथ प्रशस्त कर सकें। इसी कारण इसमें समयानुसार परिवर्तन और परिवर्धन भी होते रहे हैं। इस रूपमें नीतिकाव्यका महत्त्व उसकी उपयोगिताके कारण ही विशेष है। इसीलिए यह काव्यकी अन्य धाराओंकी तुलनामें कम रुचिर तथा रसहीन है। कुछ लोगोंने इसी आधारपर नीतिके कवियोंको कवि तथा नीतिकाव्यको काव्य कहना ठीक नहीं समझा है (रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दीसाहित्यका इतिहास, सं० १९९९, पृ० ३५५)। किन्तु ऐसा कहना न्याय नहीं है। 'नीतिकाव्य' काव्य अवश्य है, पर रसकाव्यकी भाँति बहुत उच्च कोटिका नहीं है।

नीतिकाव्यका सामान्य मूल्यांकन ऐतिहासिक तथा विषयगत, दोनों ही दृष्टियोंसे किया जा सकता है। आदिकालीन हिन्दी साहित्यमें प्राप्त नीति-अंश युगके अनुकूल शौर्य तथा राजनीतिसे विशेष सम्बद्ध हैं। केवल नाथोंमें धर्म और आचारकी कुछ बातें हैं। भक्तिकालमें कबीर तथा तुलसी आदिका नीतिकाव्य विशेष रूपसे धर्म और तदुचित आचारसे सम्बद्ध है। तुलसीकी दृष्टि समाजपर व्यापक रूपसे पड़ी थी, इसीलिए उसमें राजनीति और व्यवहार-नीतिका भी समावेश है। पर इसी कालके रहीम नर्त्तकों दुनियासे बहुत दूर हैं, अतः उनका नीतिकाव्य समाज और व्यवहार-नीतिको अधिक व्यापक और व्यावहारिक रूपमें समाहित कर सका है। रीतिकालमें अन्य धाराओंकी भाँति ही नीतिकाव्यमें भी परम्परागत भावोंको ही विशेष रूपसे अभिव्यक्ति मिली है। कबीर, रहीम या तुलसी जैसी स्वानुभूतिकी पृष्ठभूमि इसमें कम है, इसीलिए उस गाम्भीर्यका भी अभाव है। साथ ही वह (रीतिकालीन नीतिकाव्य) तत्कालीन समाजसे भी कबीर और तुलसी आदिकी तुलनामें प्रायः असम्पृक्त है। आधुनिक युगका नीतिकाव्य युगरुचिके अनुकूल न होनेके कारण मात्रामें अत्यल्प है तथा विशेष रूपसे आधुनिक राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलनों (स्वतन्त्रता, स्त्रीशिक्षा, राष्ट्रप्रेम, अछूतप्रेम, वीरता, मानवता, जातिव्यर्थता तथा उद्योग आदि)के प्रधान विषयोंपर ही आधारित है। परम्परागत नीतिकी बातें उसमें अधिक नहीं हैं। इसे वातावरणका प्रभाव या युगकी आवश्यकता माना जा सकता है।

नीतिकी परिमाण देते समय जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, नीतिकाव्यमें धर्म आचार (ईश्वर, दया, परोपकार, अहिंसा तथा सत्यासत्य आदि) व्यवहार (कुल, पड़ोसी, शत्रु, मित्र, स्त्री, पुत्र, माता-पिता, भाई, परिचित-अपरिचित तथा बड़े-छोटे आदि), राजनीति (राजा तथा उसका विभिन्न वर्गोंके प्रति कर्त्तव्यादि) तथा अन्य अनेकानेक सामान्य विषयों (जैसे स्वास्थ्य, जवानी, गुण, अवगुण, विदेश, व्यापार, भाग्य, धन, मूर्खता तथा विद्या आदि)के सम्बन्धमें देश, काल और पात्रके सन्दर्भमें करणीय और अकरणीय बातोंपर प्रकाश डाला गया है। नीतिकाव्यकी भावभूमि इतनी विस्तृत है कि देशकी नैतिक परम्पराके अनुकूल व्यक्ति और समाजके समुचित विकासके लिए आवश्यक

जितनी भी सामान्य वातें हैं, सभी इसमें समाविष्ट है। नीतिके कवियोंने विभिन्न परिस्थितियोंमें जीवनको तथा उसकी सफलताओं-असफलताओं, उपलब्धियों एव सम्भावनाओंको बहुत निकटमे देखा है, इसीलिए उनकी वातें कहीं भी कल्पनापर आश्रित नहीं हैं। या तो वे स्वानुभूति है या परम्परानुभूति (इस दृष्टिसे हिन्दी नीति साहित्य संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रश तथा फारसीसे पर्याप्त मात्रामें प्रभावित है)। यही कारण है कि भारतीय जीवनमें उनकी उपयोगितापर प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

हिन्दी नीतिकाव्यको शैलीकी दृष्टिसे प्रमुखत तीन वर्गों—उपदेश, अन्योक्ति और सूक्तिमें रखा जा सकता है। इनमें उपदेशात्मक शैलीका नीतिकाव्य शिल्पकी दृष्टिसे निकृष्टतम श्रेणीका है। इसमें उपदेशकी वातें सीधे शब्दोंमें विना वाग्वैदग्ध्यके रखी गयी हैं। कवीर, तुलसी, घाघ, भड्डरी तथा गिरिधर कविरायने इस शैलीका विशेष रूपसे प्रयोग किया है। अन्योक्ति शैलीका नीतिकाव्य यों तो थोड़ा-बहुत रहीम, तुलसी, विहारी, वृन्द, रामचरित उपाध्याय तथा भगवानदीन आदि प्राय सभी प्रमुख नीतिकारोंमें मिल जाता है, पर दीनदयालने विशेष रूपसे इसका प्रयोग किया है। अन्योक्ति एक अलकार है, जिसके सहारे कही गयी नीतिकी वातें 'शूगर-कोटेड पिल्स'की तरह अरुचिकर न लगते हुए अपना पूरा प्रभाव डालती हैं। कलाकी दृष्टिसे सूक्ति-शैलीमें लिखा गया नीतिकाव्य श्रेष्ठतम है। इसमें अर्थान्तरन्यास, उदाहरण, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, लोकोक्ति, विशेषोक्ति, सार, कारणमाला, एकावली तथा विनोक्ति आदि अलकारोंका आधार लेनेके कारण अभिव्यक्ति वड़ी सुन्दर तथा प्रभविष्णु हुई है। रहीम, वृन्द, दीनदयाल तथा भगवानदीनने इसका विशेष प्रयोग किया है, यों तुलसी, रत्नावली, विहारी तथा रामचरित उपाध्याय आदि अन्य कवियोंमें भी इसके प्रयोग मिल जाते है।

नीतिकाव्यमें प्रमुख रूपसे व्रजभाषाका और गौण रूपसे खड़ीवोली तथा डिंगलका प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा कुछ अपवादोंको छोड़कर सरल, सशक्त और प्रवाहपूर्ण है। इसमें मुहावरोंका तो कम, पर लोकोक्तियोंका समुचित प्रयोग हुआ है।

नीतिकाव्यके प्रिय छन्द दोहा और कुण्डलियाँ हैं, पर गौण रूपसे छप्पय, चौपाई, सवैया तथा कवित्त आदिका भी प्रयोग हुआ है।

नीतिकी कुछ-न-कुछ वातें यों तो प्राय सभी कवियोंमें मिल जाती हैं, विशेषत वीरवल, गग, रत्नावली, अग्रदास, दादू, मनोहर, जमाल, सुन्दरदास, विहारी, रसनिधि, जान, भड्डरी, वैताल, छत्रसाल, वाँकीदास, रामसहायदास, विश्वनाथ सिंह, सम्मन, प्रतापनारायण मिश्र, रामप्रसाद तिवारी, शिवसम्पति, रामचरित उपाध्याय तथा दुलारेलाल भार्गव आदिके काव्यमें तो इसके वड़े सुन्दर उदाहरण हैं, पर नीतिके प्रमुख कविके रूपमें कवीर, नरहरि, तुलसी, घाघ, रहीम, वृन्द, गिरिधर, दीनदयाल तथा भगवानदीनके ही नाम लिये जा सकते है। यहाँ इनके अत्यन्त सक्षिप्त परिचय दिये जा रहे हैं।

कवीर (१३९८-१५१८ ई०)—कवीर यों तो निर्गुण-धाराके कवि है, पर नीतिकाव्यको भी उनकी देन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनकी अधिकाश साखियाँ नीति और उपदेशकी है। कवीरकी साखियोंका सवसे वडा सग्रह गुजरातसे प्रकाशित हुआ है, जिसमें लगभग १८०० साखियाँ हैं, पर उनमें कितनी साखियाँ कवीरकी है और कितनी प्रक्षिप्त हैं, यह कहना कठिन है। किसी अन्य अधिक प्रामाणिक सस्करणके अभावमें श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित 'कवीर-ग्रन्थावली'को ही प्रामाणिक मानते हुए कहा जा सकता है कि कवीरके प्रधान नीति-विषय गुरु, सशय, प्रेम, क्रोध, काम, गर्व, मन, नारी, धन, हँसी, निन्दा, आडम्वर, सग, दुख, अह, साधु, कपट तथा आशा आदि हैं। इनमें उपदेशात्मक शैली तथा धर्म और आचारसे सम्वन्धित नीतिविषयोंका ही प्राधान्य है।

नरहरि (१५०५—१६१० ई०)—अकवरके दरवारी साहित्यकारोंमें नरहरि सवसे अधिक वयोवृद्ध थे। इनको अकवरने 'महापात्र'की उपाधि दी थी। ये असनी, फतेहपुरके रहनेवाले थे। कहा जाता है कि इनके एक छन्दको सुनकर अकवरने गोवध वन्द करा दिया था। नरहरिका सम्वन्ध सूरीवशमे भी था। शेरशाहके उत्तराधिकारी सलीमशाहने भी इनका यथोचित सम्मान किया था। इनका नीतिसम्वन्धी ग्रन्थ 'छप्पयनीति' है जो पूरा नहीं मिलता। अवतक इसके केवल ६० छप्पय मिले हैं। इनमें अधिकतर अकवरको सम्वोधित करके उसे नीतिकी शिक्षा देनेके लिए लिखे गये हैं। नरहरिके नीतिकाव्यके प्रधान विषय राजा, प्रजा, दान, मित्र, शत्रु, दुष्ट, प्रेम, लोभ तथा नारी आदि हैं।

तुलसी (१५३२—१६२३ ई०)—रामभक्तिशाखाके प्रमुख कवि तुलसीका नीतिके कविके रूपमें भी अप्रतिम स्थान है। इनकी नीतिकी सूक्तियाँ उत्तरी भारतकी हिन्दू जनताकी जवानपर हैं और जीवनके हर क्षेत्रमें वे पथप्रदर्शन करती हैं। जीवनकी जितनी अधिक परिस्थितियोंका स्पर्श तुलसीके नीतिकाव्यने किया है उतनी और किसी भी नीतिकविके काव्यने नहीं किया। नीतिकी दृष्टिसे तुलसीके प्रधान ग्रन्थ 'रामचरितमानस' तथा 'दोहावली' हैं। इनके प्रधान विषय भक्ति, धन, मित्र, स्त्री, माता पिता, परिवार, गर्व, ससार, मोह, माया, सन्तोष, उपकार, सग, विश्वास, दुख-सुख, स्वामी, नौकर, राजा, मन्त्री, सज्जन, दुर्जन, भाग्य, मन, ऋण, मूर्ख तथा समय आदि हैं।

घाघ (१७ वीं शती वि०)—घाघ कन्नौजके रहनेवाले दुवे ब्राह्मण थे। ये अकवरके समकालीन थे। अकवरने इन्हें चौधरीकी उपाधि दी थी और उसीकी आज्ञासे इन्होंने 'अकवरावाद सराय घाघ' नामक गाँव वसाया था, जो अव 'चौधरी सराय' नामसे प्रसिद्ध है और जिसका अव भी कागजातमें नाम 'सराय घाघ' है। घाघका नीतिकाव्य कहावतके रूपमें वहुत प्रचलित है। इसकी कोई पुरानी पोथी नहीं मिलती। रामनरेश त्रिपाठीने मौखिक परम्परासे इनके ३२३ छन्द एकत्र किये हैं, जिनमें वहुतोंकी केवल एक पक्ति ही मिली है। मौखिक परम्परासे प्राप्त होनेके कारण यह कहना वड़ा कठिन है कि इनमें कितने

छन्द इनके हैं और कितने अन्यके। त्रिपाठीजीके संग्रहके आधारपर कहा जा सकता है कि घाघने अपने छन्दोंमें व्यवहार, स्वास्थ्य, खेती तथा व्यापारके सम्बन्धमें बड़ी पतेकी बातें कही हैं। ये बातें प्रायः सीधे शब्दोंमें बिना किसी अलंकरणके कही गयी हैं।

रहीम (१५५६-१६२६ ई०)—रहीम अकबरी दरबारके सबसे बड़े कवि थे। इनका नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था और 'रहीम' इनका तखल्लुस था। रहीमकी दोहावली नीतिका बड़ा ही सुन्दर ग्रन्थ है। कुछ लोगोंका अनुमान है कि इन्होंने कोई सतसई लिखी थी, प्राप्त दोहावली जिसका एक अंश है, पर इस अनुमानके लिए किसीने कोई पुष्ट आधार नहीं दिया है। रहीमकी दोहावलीमें २८७ छन्द हैं, जिनमें ८ सोरठे हैं और शेष दोहे। इनके नीति-विषय राजा, नारी, ऋण, सज्जन, नीच, मित्र, संग, मूर्ख, धन, समय, पुत्र, चापलूसी, गर्व, गुण, संसार, ईश्वर, प्रेम तथा भाग्य आदि हैं। इन्होंने सूक्ति-शैलीमें ही अधिक लिखा है।

वृन्द (१६४३-१७२३ ई०)—मेड़तेके वृन्दावनको हिन्दी संसार वृन्द नामसे जानता है। ये जोधपुरनरेश जसवन्त सिंह, किशनगढ़के राजा राज सिंह तथा औरंगजेबके कृपापात्र थे। इनका नीतिविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दृष्टान्तसतसई' है, जिसका प्रचलित नाम 'वृन्द सतसई' है। इसमें ७००से कुछ अधिक छन्द हैं। वृन्दकी नीति-कविताका क्षेत्र व्यापक है और इसके प्रमुख विषय वैर, देना, समय, उपहार, संग, प्रेम, सत्य, उद्योग, प्रकृति, मन, सज्जन, दुर्जन, स्थान, शत्रु मित्र तथा राजा आदि हैं। कलापक्षकी दृष्टिसे वृन्द हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ नीतिकार ठहरते हैं।

गिरिधर (जन्म १६४३ ई०)—इनके जीवनके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। इनका नीति-ग्रन्थ 'कुण्डलियाँ' है, जिनमें साढ़े चार सौसे कुछ अधिक कुण्डलियाँ गाँव-गाँवमें प्रसिद्ध हैं। इनकी कुछ कुण्डलियोंमें 'साँई' शब्द प्रारम्भ तथा अन्तमें आया है। लोगोंका कहना है कि ये कुण्डलियाँ इनकी स्त्रीकी बनायी हुई हैं। इनके नीति-छन्दोंके प्रधान विषय पिता, पुत्र, गुण, नारी, यश, चिन्ता, वैर, विश्वास, संग, शत्रु, धन, लाठी तथा कमरी आदि हैं। इनमें व्यावहारिक बातें अधिक हैं। इन्होंने सीधे शब्दोंमें उपदेश या आदेशके ढंगसे अधिक बातें कही हैं। इसीलिए रामचन्द्र शुक्लने इन्हें कवि या सूक्तिकार न कहकर 'पद्यकार' कहा है।

दीनदयाल गिरि (कविताकाल १८२२-१८५५ ई०)—ये काशीनिवासी एक संन्यासी तथा संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी नीतिकी तीन पुस्तकें—'अन्योक्तिकल्पद्रुम' 'अन्योक्तिमाला' और 'दृष्टान्ततरंगिणी' मिलती हैं, जिनमें 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' ही अधिक प्रसिद्ध है। 'अन्योक्तिकल्पद्रुम'में लगभग पौने तीन सौ छन्द हैं। इसमें शाखान्तोंके दोहोंको छोड़कर कुण्डलिया छन्दोंमें बड़ी ही सुन्दर अन्योक्तियाँ हैं। 'अन्योक्तिमाला'में कुण्डलिया-छन्दमें लिखी ११० अन्योक्तियाँ हैं। 'दृष्टान्ततरंगिणी'में नीतिके २०६ दोहे हैं। गिरिकी अन्योक्तियोंके प्रस्तुत विषय नल, अजर, सूर्य, चन्द्रमा, दीपक, बादल, समुद्र, नदी, पवन, करील, सुमन, चौसर तथा धन आदि हैं। इनके नीति-विषय राजा, भले, बुरे, सूम, मित्र, समय, मूर्ख, नारी, सन्तोष, भाग्य, विद्या, गर्व, परोपकार, यश, विश्वास तथा संसार आदि हैं। इनमें नवीनता कम है, प्रायः संस्कृतके कवियोंका इन्होंने आधार लिया है। प्रस्तुतोंके चयनमें अवश्य ये बहुत सफल हैं। दे०—'प्रबोध-काव्य', 'दृष्टान्त-काव्य'। —भो०ना०ति०

नीर—सन्तोंने सहस्रारसे झरनेवाले रससे आकाशमें बरसनेवाले जलकी तुलना करते हुए इस जलमें अपने भीजने एवं सारी सृष्टिके हरे होनेकी चर्चा की है—'आगासी सरु भरिआ नीरु। तामहिं कवलु बहुत बिस्थीरु।' (नानक० प्रा० म० १)। कहीं-कहीं नीर भवजल(भौजल)के अर्थमें भी प्रयुक्त हुआ है। —उ० शं० शा०

नूर—नूरका अर्थ ज्योति है। सूफी कहते हैं कि परमात्माको सृष्टिके द्वारा अपनेको अभिव्यक्त करनेकी जब इच्छा हुई तब परमात्माने अपनी ही ज्योतिसे एक ज्योतिका निर्माण किया। यह ज्योति 'नूरे-मुहम्मद' या 'नूरे-अहमद' अथवा 'नूरुल-मुहम्मदिया' कही जाती है। यह ज्योति ही सृष्टिका आदि कारण है। इसी ज्योतिके लिए परमात्माने सृष्टि की तथा इसी ज्योतिके द्वारा ब्रह्माण्डका निर्माण किया। —रा० पू० ति०

नृत्यगीत—संगीत और नृत्य तो परस्पर अविच्छिन्न रूपसे सम्बद्ध हैं, काव्यका भी उन दोनोंसे आदिकालसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। समाजशास्त्रियोंका कहना है कि मानव विकासकी प्रारम्भिक अवस्थामें नृत्य, संगीत और काव्य, तीनोंका प्रारम्भ एक ही साथ हुआ। उस समय तीनों कलाएँ अविच्छिन्न थीं। आदिम अवस्थामें मानव-समूह (कबीले) अपनी प्रसन्नता, उत्साह, शोक तथा धार्मिक भावनाओंकी अभिव्यक्ति सामूहिक रूपमें करते थे। यह भावाभिव्यक्ति सामूहिक नृत्यगीतके रूपमें होती थी। आज भी आदिम जातियोंमें इस प्रकारके समवेत नृत्यगीतकी प्रथा प्रचलित है। स्काटलैण्ड और फ्रान्समें समवेत नृत्यगीतको पहले 'कैरोल' कहा जाता था, इटलीमें उसका नाम 'बेलारे' था। यूरोपीय 'बैले'(एक नृत्य)का मूल स्रोत यह 'बेलारे' ही है। साथ ही अँग्रेजोंके 'बैलेट' नामक काव्यरूप और बैलेड शब्दका विकास भी इसी 'बेलारे'-(समवेत नृत्यगीत)से ही हुआ है।

नृत्यगीतके स्वरूपमें भी आदिकालसे अबतक निरन्तर विकास होता आया है। आदिम समाजमें सामाजिक या धार्मिक उत्सवोंके अवसरपर होनेवाले नृत्यगीतका स्वरूप क्या था, इस सम्बन्धमें नृतत्त्वशास्त्रियों और समाजशास्त्रियोंका यह अनुमान है कि उसमें सामूहिक नृत्यके साथ कुछ थोड़ेसे, बहुधा अर्थहीन शब्दोंकी आवृत्ति, स्वरालाप, सम्बोधन और विस्मयादिबोधक शब्द होते थे। गानेके साथ ही वे लोग पदसंचालन भी करते थे, जिसमें सामंजस्यपूर्ण गति होती थी। यह पदसंचालनकी गति ही उनके गीतके स्वर नियत करती थी, जिससे गीतमें भी लय और तालकी योजना स्वतः हो जाती थी। इस तरह सामूहिक नृत्यगीतसे ही नृत्य, संगीत और छन्दका विकास हुआ। धीरे-धीरे चेतनाके विकास और धार्मिक या अन्य प्रकारकी प्रवृत्तियोंके उदयके साथ गीतमें सार्थक शब्दोंका प्रयोग अधिक हो गया। इस तरह एक गीतमें किसी एक

भावना, प्रार्थना, घटना या कथाका वर्णन किया जाने लगा। कालान्तरमें ये भावनापरक गीत ही गीति (लिरिक), प्रार्थनापरक गीत (स्तोत्र–हिम) और घटना या कथा सम्बन्धी आख्यानगीत या लोकगाथा (बैलेड)के रूपमें विकसित हुए। किन्तु विकासकी पूर्णावस्थामें ये काव्यरूप सामूहिक नृत्यगीतसे पूर्णत स्वतन्त्र हो गये, यद्यपि नृत्य अथवा संगीतसे उनका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूपमें बना रहा और आज भी बना हुआ है। (दे०—दि बैलेड इन लिटरेचर, टी० एफ० हेण्डरसन, पृ० २, ए हैण्ड बुक ऑफ पोएट्री, एफ० बी० गमियर, पृ० ९ और दि इंगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोएट्री, एन० मैकनील डिक्सन, पृ० २८,२९)

हिन्दीमें कुछ लोगोंने लोकगाथा या बैलेडके लिए भी नृत्यगीत शब्दका प्रयोग किया है, पर यह शब्द भ्रामक है। जैसा पहले कहा जा चुका है, सामूहिक नृत्यगीतका नाम 'बेलारे' और 'बैले' भी था, पर बैलेडका विकास बादमें हुआ। बैलेडमें सामूहिक नृत्य अथवा एकाकी नृत्य आवश्यक नहीं रह गया, यद्यपि कहीं-कहीं उसका गान नृत्यके साथ बादतक भी होता रहा और अब भी होता है। ऐसे नृत्यको आख्यानक नृत्य या बैलेड डान्स कहा जाता था, बैलेड नहीं। अत नृत्यगीत बैलेड नहीं बल्कि बैलेडका पूर्व या आदिरूप है। हिन्दी प्रदेशोंकी सामान्य जनतामें अनेक प्रकारके नृत्यगीत अब भी प्रचलित है, जैसे जौनपुर जिलेमें कहारोंका चौरसिया नृत्य, मिर्जापुर जिलेमें आदिवासियोंका करमा नृत्य और शैला नृत्य। इनमें चौरसिया नृत्य आख्यानक नृत्य (बैलेड डान्स) और शेष दोनों नृत्यगीत (बैले) है। (दे०—'लोकगाथा', 'साहित्यिक लोकगाथा')। —शं०ना०सिं०

नेउता—इसे न्यौरता भी कहा जाता है। 'न्यौरता' अथवा 'नौरता' अथवा 'नेउता' सम्भवत 'नौरात्र (आश्विन)'का अपभ्रंश रूप है। नौ दुर्गा अथवा गौरीके कुमारी रूपकी पूजा इसके अन्तर्गत कुमारियों द्वारा की जाती है। ब्रज, बुन्देलखण्ड और मध्य प्रदेशके कुछ स्थानोंमें न्यौरता खेला जाता है। अन्य प्रान्तोंमें इसके भिन्न रूप उपलब्ध है। ब्रजमें न्यौरताकी पृष्ठभूमिमें कुमारिकाओंकी मनोकामना-पूर्तिका आदर्श है। 'सुअटा' राक्षसकी कथा भी कही जाती है। कहते है, राक्षस कुमारियोंको कष्ट दिया करता था। पार्वतीने प्रसन्न होकर कुमारियोंकी रक्षाके लिए उसका वध कर दिया। तभीसे यह त्यौहार प्रचलित हुआ। 'न्यौरता' मिट्टीकी उस आकृतिको भी कहते हैं, जो इस त्यौहारके निमित्त बनायी जाती है।

बुलावेके गीतोंको भी 'नेउता' कहा जाता है। उसका ब्रजमें प्रचलित 'न्यौरता'से कोई सम्बन्ध नहीं —दे्या० प०

नेपाली (भाषा तथा साहित्य)—नेपाल राज्यकी भाषा 'नेपाली' कही जाती है। नेपाली शब्द 'नेपाल'से बना है। नेपाल शब्दकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें कई मत प्रचलित है। बौद्ध मतके अनुसार 'ने'का अर्थ निर्देशात्मक है। स्वयम्भू आदि बुद्धको 'ने'की संज्ञा दी गयी है, क्योंकि स्वयम्भू 'स्वर्गका मार्ग'का निर्देशक है। अतएव नेपाल उस देशका द्योतक है जिसका रक्षक स्वयम्भू है। यह भी कहा जाता है कि 'ने' नामक मुनिके नामपर नेपाल शब्द बना। यह भी सम्भव है कि नेपाल शब्द 'नेपार' शब्दसे बना हो, क्योंकि प्राचीन मागधी भाषामें 'र'के स्थानपर 'ल'का प्रयोग सामान्यतया प्रचलित था। अतएव नेपाल नेपार शब्दका अपभ्रंश रूप हुआ। काठमाण्डूके निकटवर्ती क्षेत्रमें किरातोंकी नेपार नामक उपजाति पायी जाती है, सम्भव है, इसी जातिपर नेपाल देशका नामकरण हुआ हो। आज भी इस जातिके लोगोंको 'न्यांपा' कहा जाता है।

'नेपाल' शब्दका सर्वप्रथम उपयोग कौटिल्यके 'अर्थशास्त्र'में किया गया है। समुद्रगुप्तकी प्रयाग-प्रशस्तिमें नेपालनरेशको 'प्रसन्तनृपति'की संज्ञा दी गयी है। प्रसिद्ध चीनी-यात्री हुएनत्सागने भी नेपालके राजा तथा देशका वर्णन किया है।

भारतमें प्रचलित अनेक भाषाओंके सदृश नेपाली-भाषाका भी मूल स्रोत संस्कृत ही है, फिर भी इसे सीधी संस्कृतसे निकली भाषा नहीं कहा जा सकता। विचार करनेपर इसे प्राकृतके विकृत रूपसे निर्गत मानना पड़ता है। वस्तुत इसे संस्कृतसे चौथी पीढ़ीमें ही मानना पड़ेगा। इतना होनेपर भी नेपाली भाषामें संस्कृत शब्दोंका मुक्त प्रचलन है।

चौदहवीं शतीके आरम्भमें अलाउद्दीन खिलजीने चित्तौड़ विजय किया था। इसी समय राणा रत्न सिंहके वंशज कुमाऊँ पर्वत-श्रेणीके मार्गसे होकर पाल्पामें अधिकारूढ हुए। कालान्तरमें इसी वंश-शाखाके पृथ्वीनारायण शाहने आधुनिक नेपाल-शासनकी नींव डाली। इतिहासकार सूर्यविक्रम रावालीके मतानुसार मध्य राजस्थानसे पर्वतखण्ड आये हुए ये राजपूत राजस्थानी भाषा ही बोलते थे। इन्होंने पर्वतखण्डके निवासी गुरूङ मगरोंको पराजित किया और विजयी राजपूतोंकी भाषा ही राजभाषा हो गयी। ११वीं १२वीं शतीमें नेपालराज्यमें मिथिलादेशका भी एक भाग समाविष्ट था, फलत नेपाली भाषा मागधी प्राकृतसे भी प्रभावित हुई।

नेपाली भाषा पहले 'गोरखाली भाषा'के नामसे भी प्रचलित थी। आरम्भमें यह भाषा पर्वतखण्डमें प्रधानतया पाल्पा, डोरी, सल्यान, तनहुँ आदि क्षेत्रोंमें प्रचलित रही। परन्तु नेपाल-क्षेत्रमें इसके प्रसारका श्रेय पृथ्वीनारायण शाहको ही है। काठमाण्डूको राजधानी बनानेके बाद राज्यकार्य भी इसी भाषामें होने लगा। पश्चात् पश्चिमके गुरूङ, मगर, पूर्वके राई, लिम्बू आदि जिलोंमें प्रचलित नेवारी भाषाका इसमें सम्मिश्रण हुआ और वर्तमान गोरखाली भाषा बनी, जो समस्त नेपालकी राष्ट्रभाषा मानी जाती है। ब्रिटिश सत्ताकालमें पर्वतक्षेत्रके निवासियों तथा उनकी बोल-चालकी भाषाको गोरखाली कहा जाता था, परन्तु १९३२ ई० में गोरखाली शब्दके बदले नेपाली शब्द व्यवहृत किया गया।

उत्तरमें भोट, पूर्वमें सिकिम, दार्जलिङ, मचीनदी, पश्चिममें महाकाली नदी और दक्षिणमें कोसी नदी नेपालकी प्राकृतिक सीमा है। नेपाल राज्य उत्तरमें भोट (तिब्बत) और अन्य तीनों ओरसे भारतसे संलग्न है। इसका क्षेत्रफल प्राय ५६००० वर्गमील और जनसंख्या २६ लाख है। नेपाली भाषाकी लिपि देवनागरी ही है।

नेपाली भाषामें क्रियाके अन्तमें 'छ', 'छन्' और 'छुन' वर्तमान कालको निर्दिष्ट करते है। इसकी विशेषता यह है

कि योगी (अव्यय) शब्दसे पृथक् कभी नहीं रहता। यह साथ-साथमें लगा रहता है। संस्कृतके सदृश नेपालीमें भी तीन लिंग हैं। सामान्यतया ओकारान्त शब्द पुलिंग, इकारान्त स्त्रीलिंग और उकारान्त शब्द नपुंसकलिंग होते हैं। सामान्यतया 'न्' और 'हरु' लगानेसे बहुवचन होता है। इनमें केवल दो ही वचन होते हैं। एक वचनसे बहुवचन बनानेके लिए संज्ञा और सर्वनाम शब्दोंमें 'हरु' और क्रियामें 'न्' प्रयुक्त होता है।

नेपाली भाषाके प्राचीन स्वरूपके बारेमें ठीक-ठीक पता अभी नहीं लग पाया है। सबसे प्राचीन लेख १५४२ ई० तकका महाराज द्रव्यशाहके प्रसिद्ध लाल-मुहर ताम्रपत्रमें अंकित मिला है। प्राय २७५ वर्ष पूर्वका एक शिलालेख भी मिला है, जो काठमाण्डूके राजा प्रतापमल्लने नेपाली भाषामें तैयार कराया था। इस भाषाको 'खस' भाषा कहते हैं। नेपाली भाषामें प्राचीन ग्रन्थ सुलभ न होनेका यह भी कारण समझा जाता है कि संस्कृतमें ही अधिकांश ग्रन्थ तैयार किये जाते थे और भाषा-ग्रन्थोंको सामान्यतया गौरव प्राप्त नहीं था। नेपालके प्राचीन लेखक प्रेमनिधि पन्त हैं, परन्तु उनका कोई लेख अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है। इनकी पुस्तक 'प्रायश्चित्तप्रदीप' में यदा-कदा नेपाली भाषाका प्रयोग मिलता है। गुमानी कविके श्लोकोंमें तीन पाद संस्कृतमें तथा चतुर्थ नेपालीमें पाया जाता है। परन्तु इनके भी लेख अधिक नहीं मिलते। बादके लेखकोंमें वीरशाली पन्त, रघुनाथ, वसन्त, इन्दिरम, विद्यारण्य केसरी और यदुनाथ पोखरेलके नाम उल्लेख्य हैं। इन्होंने प्रधानतया खण्डकाव्य और अनुवाद-ग्रन्थ ही प्रस्तुत किये हैं। इन्दिरमके ग्रन्थ तो अभी भी दुष्प्राप्य हैं। वैष्णव होनेके कारण वीरशालीकी कविता भक्तिरससे आप्लावित है। भक्तिस्रोतमें इन्होंने यदा-कदा छन्दोभंगका भी ध्यान नहीं रखा है। 'द्रौपदीविलाप' और 'गोपिका-स्तुति' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। रघुनाथका 'सुन्दरकाण्ड', वसन्त कविका 'कृष्णचरित', विद्यारण्यके 'द्रौपदी-स्तुति' 'युगल गीत' और 'गोपिकाको स्तुति' और यदुनाथका 'कृष्ण-चरित' प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

भानुभक्त आदर्श कवि हैं। इनका जन्मकाल १८११ ई० है। इन्होंने नेपाली भाषामें सम्पूर्ण रामायण लिखी। 'वधूशिक्षा', 'भक्तमाला' आदि इनके सरस ग्रन्थ हैं। इन्होंने स्फुट कविताएँ भी लिखी हैं। स्वदेश-प्रेम जाग्रत् करनेवाले ये नेपालके श्रेष्ठ कवि हैं। इनकी रामायणका नेपालमें वही मान है जो भारतमें तुलसीकृत 'रामचरितमानस'का है। इसीलिए इनको आदि-कवि भी कहते हैं।

भानुभक्तके पश्चात् पतञ्जलि गजुरेल, राजीवलोचन आदि अनेक कवि हुए। राजीवलोचनका 'केदारकल्प' और कुछ रचनाएँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं। पतञ्जलि गजुरेलके 'मत्स्येन्द्रनाथको कथा', 'हरिभक्तमाला' और 'गोपालवाणी' ग्रन्थ हैं।

मोतीराम भट्ट एक प्रसिद्ध नेपाली कवि थे। भानुभक्तके बाद इनकी ही गणना की जाती है। इन्होंने ही भानुभक्तकी रामायणको प्रकाशित कराया। साहित्योन्नतिके सम्बन्धमें इनका उत्साह इतना प्रबल रहा कि इन्होंने पाशुपत प्रेस खोलनेकी प्रेरणा दी और नेपाली साहित्यकी पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके समकालीन और मित्र भी थे। इन्होंने अँग्रेजीमें इण्टरमीडिएटतक शिक्षा प्राप्त की थी। ३१ वर्षकी अवस्थामें ही इनका स्वर्गवास हो गया। इनके समकालीन लेखकोंमें लक्ष्मीदत्त, गोपीनाथ तीर्थराज, मरीचिमानसी, वीरेन्द्र केसरी प्रभृति उल्लेख्य हैं।

शिखरनाथ एक प्रसिद्ध नेपाली कवि थे। इनकी ख्याति समस्त नेपालमें फैली हुई है। इनकी कवितामें प्रौढताके साथ अर्थालंकारका अद्भुत पुट देखा जाता है। 'रामाश्वमेध', 'तीर्थयात्रावर्णन' आदि पुस्तकें काफी लोकप्रिय हैं। शम्भुप्रसाद कवि इनके समकालीन थे, पर वे अधिक लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सके। कविता बनानेमें अतिशय शीघ्रता देखते हुए इनको 'आशुकवि' कहा जाता है। 'रत्नावली नाटिका'का नेपाली अनुवाद इन्होंने ७ दिनमें पूरा किया था। इनके स्फुट भजन भी प्रचलित हैं।

वर्तमान नेपाली कवियोंमें लेखनाथ सर्वमान्य हैं। इनकी कवितामें पदलालित्य लोकप्रसिद्ध है। इन्होंने 'बुद्धिविनोद', 'ऋतुविचार', 'लक्ष्मीपूजा नाटक', 'सत्यकलि-संवाद', 'लालित्य', 'तरुणतपस्वी' गीताके संक्षिप्त पद्यानुवाद, पंचतन्त्र और मर्मस्पर्शी स्फुट कविताओंकी रचना की है। शार्दूलविक्रीडित छन्दमें कविता प्रस्तुत करनेकी परिपाटी छोड़कर इन्होंने वसन्ततिलका और अनुष्टुप् छन्दमें ग्रन्थ लिखकर नयी साहित्यिक अभिरुचिका प्रवर्तन किया। इनके विचारोंमें मौलिकता स्पष्ट है। 'बुद्धिविनोद' पढ़नेसे नये विचारोंका स्फुरण होता है। 'तरुणतपस्वी' आध्यात्मिक विचारोंसे ओत-प्रोत है। प्राचीन संस्कृत साहित्यके पुटके साथ ही नवीन विचारसारिणीका आलोक प्रस्तुत करनेवाले आप प्रथम कवि हैं। इनकी पद्यरचना कलात्मक और शैली भावात्मक है। अतएव इन्हें नेपालका कविसम्राट् कहानेका श्रेय प्राप्त है। सोमनाथने भी 'आदर्शराघव' उच्च कोटिका काव्यग्रन्थ लिखा है। इनकी कविता भी भावपूर्ण होती है। हेमराजने 'चन्द्रिका' नामक व्याकरण-ग्रन्थ लिखकर ४ भागोंमें प्रकाशित किया और निःशुल्क वितरित किया है।

बालकृष्ण सम प्रसिद्ध कवि और नाटककार हैं। इन्होंने पद्यमय नाटककी परम्परा स्थापित की है। इनकी कवितामें पदलालित्यका पुट अधिक मात्रामें उपलब्ध नहीं, परन्तु भाव-गाम्भीर्यके कारण ये अत्यन्त उत्कृष्ट माने जाते हैं। इनकी प्रणाली ओजपूर्ण और नवीन विचारधाराकी प्रसारक है। 'मुटुको कथा', 'ध्रुव', 'मुकुन्द', 'इन्दिरा', 'प्रह्लाद', 'अन्धवेग' आदि पद्यमय नाटक और 'ऊनी भरेथी देनन्', 'भक्तभानुभक्त', 'म' आदि गद्यनाटक इनकी प्रधान रचनाएँ हैं। इन्होंने कई सरस कहानियाँ भी लिखी हैं। लक्ष्मीप्रसादकी कृति 'मुनामदन', 'शाकुन्तल महाकाव्य', 'सुलोचना', 'लक्ष्मी निबन्धसंग्रह', 'भिखारी', 'सावित्री-सत्यवान' आदि हैं। इनकी गद्य तथा पद्य दोनोंमें ही समान गति है। सर्वतोमुखी प्रतिभावान् होनेके साथ ही इनकी कविताओंमें विचार-गाम्भीर्य भी पाया जाता है। धरणीधर लेखनाथके समवयस्क हैं। इनकी काव्यधारामें

नवीनताके साथ ही जातिभाषा और राष्ट्रोन्नतिकी प्रेरणा सन्निहित है। 'नैवेद्य' तथा स्फुट कविताएँ इनकी अबतक प्रकाशित हुई हैं। सिद्धिचरण, भिक्षु, भीमनिधि, प्रेमराज, ध्रुव आदि नेपालके ख्यातनामा कवि हैं।

रुद्रराज पाण्डेय प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। संस्कृत-बहुल गद्य-शैलीके स्थानपर इन्होंने नवीन शैली प्रचलित की है और ये लोकभाषामें ही लिखते हैं। इसी कारण ये अधिक लोकप्रिय हैं। सामाजिक चरित्र-चित्रणमें ये अद्वितीय हैं। इनके ऐतिहासिक नाटक भी बड़ी रुचिसे पढ़े जाते हैं। इन्होंने 'रूपमती', 'चम्पाकाजी', 'प्रायश्चित्त', 'प्रेम', 'नवरत्न', 'हाम्रो नेपाल', 'सैढेजग' आदि पुस्तकोंकी रचना की है। रूपनारायणका 'भ्रमर', भवानीप्रसादकी 'यौवनकी अन्धी' और वागदेलके भी कुछ उपन्यास प्रकाशित हुए हैं।

कथाकारोंमें विश्वेश्वरप्रसाद, गुरुप्रसाद मैनाली, पुष्कर समसेर, गोविन्दबहादुर 'गोढाले' आदि प्रसिद्ध हैं।

राष्ट्रभाषा हिन्दीके साथ नेपाली भाषाका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीन तथा आधुनिक नेपालीमें हिन्दीके अधिकाश शब्दोंका प्रचलन है। १९वीं शतीके मध्यतक नेपालमें अवधी, भोजपुरी और मागधी भाषा विद्वानोंमें अधिक प्रचलित थी। संस्कृत कवि वाणीविलास पाण्डेयने भोजपुरी-अवधी भाषामें कविता की है। उदाहरणार्थ —'केहरसिंह गाजी भये बाजी दसरिस नाम। सतहूके मयदानमों करिभूपको छाम।' इन्दिरस और विद्यारण्य केसरीने नेपाली भाषामें कविता लिखी है, परन्तु इनमें हिन्दीका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

हिन्दी भाषाका प्रभाव वसन्त और रघुनाथकी कवितामें भी पाया जाता है, परन्तु उतनी अधिकतासे नहीं। भानुभक्त और उनके बादके कवियोंमें यह प्रभाव नहीं पाया जाता। आजकलकी नेपाली भाषामें भी हिन्दीके बहुतसे शब्द पाये जाते हैं। —तो० रा० पा०

नेयार्थ—दे०—'शब्द-दोष', ग्यारहवाँ 'पद-दोष'।

नैरात्मा—दे०—'महामुद्रा'।

नैरात्म्य दर्शन—दे०—'विज्ञानवाद'।

नैरेटर—दे०—'रेडियो नाटक'।

नैरेशन—दे० 'रेडियो नाटक'।

नैसर्गिक आलोचना-प्रणाली—यह ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आलोचना-प्रणालीसे भिन्न है, जो आलोचककी स्वाभाविक प्रवृत्तिका प्रतिबिम्ब प्रकट करती है। इसमें आलोच्य कृतिपर ही आलोचककी दृष्टि होती है। वह न तो कृतिकारके जीवनचरित्रका अन्वेषण करता है और न कृतिकी सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक आदि पृष्ठभूमियोंका विश्लेषण कर उनके कृतिपर पड़नेवाले प्रभावकी ही चिन्ता करता है। इस प्रणालीमें कृति और आलोचकके मध्यमें कोई साधक या बाधक उपकरण प्रस्तुत नहीं होता। ऐसी आलोचनाकी उत्कृष्टता आलोचकके कला-सम्बन्धी उच्च मानसिक परिष्कारपर ही अवलम्बित रहती है। उसमें आलोचक प्रायः 'कला कलाके लिए' सिद्धान्तका अनुसरण करता है। यह प्रभाववादी आलोचनाके निकट प्रतीत होती है (दे०—'प्रभाववादी आलोचना')। —वि० मो० श०

नौटंकी—स्वाँग और लीलाके समान ही नौटंकी भी लोकनाट्यका प्रमुख रूप है। इसका प्रारम्भ मुगलकालसे पहलेका है। रासलीलाके समान इसका रंगमंच भी अस्थिर, कामचलाऊ और निजी है। इसमें छोटे-छोटे बालक स्त्रियोंका वेश धारण करते और उनका अभिनय किया करते हैं। दृश्योंके अभावमें सूत्रधार मंचपर आकर दृश्योंके घटित होनेके स्थान एवं समय और पात्रोंके विषयमें दर्शकोंको सूचना दिया करता है। इनकी कथाओंका सम्बन्ध पौराणिक आख्यानोंसे न होकर लौकिक वीर, प्रणयी, साहसिक, भक्त पुरुषोंके कार्योंसे होता है। उन्हींका प्रदर्शन इनमें किया जाता है। पंजाबमें गोपीचन्द, पूरन भक्त और हकीकतरायका सांगीत अत्यधिक लोकप्रिय है।

आज नौटंकीका रूप बदला हुआ है। इसका रंगमंच प्रायः उठाऊ और साधारण होता है। जिसका निर्माण खुले मैदानमें लट्ठों, बाँसों और कपड़ोंकी चादरोंसे किया जाता है। दर्शकोंके लिए दूरतक चाँदनी तान दी जाती है और रंगभूमि बड़े-बड़े तख्तोंसे बनायी जाती है। प्रायः एक परदेका व्यवहार किया जाता है जो अभिनेताओंके रंगभूमिमें आनेपर उठता है और उनके चले जानेपर गिरता है। कभी-कभी कार्य-व्यापार चलते समय पात्रोंका प्रवेश नेपथ्यसे अथवा मैदानसे दर्शकोंके बीचसे होकर हो जाता है। इसका प्रेक्षागृह इतना बड़ा बनाया जाता है कि चाँदनीके नीचे सैकड़ों दर्शक बैठ जायँ, और न बैठ सकनेपर पासके खुले मैदानको उपयोगमें लाया जाता है। अब इसमें अनेक दृश्य होने लगे हैं, किन्तु प्रत्येक दृश्यके कार्यकी सूचना सूत्रधार ही देता है। वही प्रारम्भमें लीला या कहानीके लेखक, पात्र तथा कथा आदिके विषयमें दर्शकोंको सूचना देता है और उनमें उनके प्रति उत्सुकता तथा जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है।

नौटंकीका कथानक प्रणय, वीरता, साहसपूर्ण घटनाओंसे भरा रहता है। वह किसी लोकप्रसिद्ध वीर या साहसी या भागवत पुरुषकी जीवनकथापर अवलम्बित रहता है। इसमें अनेक स्त्री पुरुष पात्र होते हैं। स्त्री-पात्रोंका अभिनय या तो विवाहिता या कुमारी स्त्रियाँ करती हैं अथवा वेश्याएँ करती हैं। वेश्याएँ दृश्यान्तमें मंचपर आकर अपने नृत्य-गान, हाव-भाव, मुद्राओंसे जनताका मनोरंजन करती हैं और नेपथ्यमें अभिनेताओंको रूपसज्जा आदि करनेका अवकाश देती हैं। रंगभूमिमें एक ओर गायकों, वाद्य-वादकोंका समूह भी रहता है जो अभिनय, संवाद, नृत्यकी तीव्रता, उत्कटता बढ़ाता रहता है। तबला और नगाड़ेका विशेष प्रयोग होता है। तबलेके तालों और नगाड़ेकी चोटोंकी गूँज रातमें मीलों सुनाई पड़ती है, जिसके आकर्षणसे सोते हुए ग्रामीण भी नौटंकी देखने पहुँच जाते हैं। रुचि-वैचित्र्यके समाधान, स्वादके परिवर्तन और शान्ति-व्यवस्था बनाये रखनेके लिए हास्यपूर्ण प्रसंगोंकी योजना रहती है, जिसमें नारी-पुरुषके रूपमें पात्र प्रहसन उपस्थित करते हैं। प्राय संवाद पद्यप्रधान होते हैं। अभिनेता मंचपर दर्शकोंकी ओर जा-जाकर उत्तर-प्रत्युत्तर देते हैं और प्रश्न करते हैं। इस प्रकार संवाद प्रायः प्रश्नोत्तरात्मक होते हैं। उनमें उत्तेजना, साहस और

दर्पपूर्ण उक्तिका बाहुल्य और प्रेम-प्रसंगोंका आधिक्य रहता है। अधिकतर किसी वीर नायकको प्यारके फाँदमें फँसा दिखाया जाता है, जिसके कारण उसका पतन हो जाता है। अन्तमें परिणाम उपदेशपूर्ण दिखाया जाता है। 'सुल्ताना डाकू'की नौटकी उदाहरणके रूपमें ली जा सकती है। जहाँ भक्तचरितको दिखाया जाता है वहाँ भक्तके मार्गमें अनेक कठिनाइयाँ दिखायी जाती हैं, अन्तमें उसकी विजय प्रदर्शित की जाती है। यद्यपि नौटकीके समाप्त होनेतक उद्देश्य प्रकट कर दिया जाता है, तथापि सूत्रधार अन्तमें फिर मंचपर आकर भलाई करने और बुराईसे बचने, सत्य-धर्मके निबाहनेकी शिक्षा देता है। प्रकाशकी योजना आद्यन्त एक समान रहती है। नौटकीके प्रारम्भ होनेका समय रातके ८ बजेसे और समाप्त होनेका समय प्रात ५ बजेतक है। कभी-कभी कथाके विस्तार या जमी हुई भीड़के कारण कार्यक्रम सूर्योदयतक चलता रहता है।

प्राय नौटकी कार्तिक-मार्गशीर्ष अथवा चैत्र-वैशाखके महीनोंमें हुआ करती है। मेलोंके अवसरोंपर इनका विशेष आयोजन होता है। उत्तरप्रदेशके पश्चिमी जिलों—फर्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, कानपुर, एटा, इटावा, मैनपुरी, मेरठ, सहारनपुर आदिमें इसका विशेष प्रचार है। उधर त्रिभुवन-मण्डलीकी नौटकी विशेष प्रसिद्ध है। ग्वालियरकी नौटकी भी प्रख्यात है। रासमण्डलियोंके सदृश नौटकीकी भी मण्डलियाँ होती हैं, जो एक स्थानसे दूसरे स्थानोंपर घूम-घूमकर नौटकीके प्रदर्शन किया करती हैं। नौटंकी ग्रामीण जनताकी नाट्यवृत्तियोंका समाधान करनेवाले मुख्य साधनोंमें अत्यधिक महत्त्वशाली है। इसपर पारसी थियेटरों तथा नाटकीय रगमचका विशेष प्रभाव है। परन्तु आज चलचित्र-के व्यापक प्रसारसे इनकी वृद्धि और इनके प्रभावमें अन्तर आ गया है। —वि० रा०

नौटंकी २–नौटकी, स्वाँग भगत, प्राय पर्यायवाची हैं। वस्तुत भगत शब्द बताता है कि यह कभी भक्तिकी अभिव्यक्तिका माध्यम होगी, किन्तु आज भगतमें भक्तिका अथवा धार्मिक तत्त्वका स्थान उसके आरम्भिक अनुष्ठानोंमें अथवा आरम्भिक मंगलाचरणमें रह गया है। आरम्भिक अनुष्ठानमें साधारणत शक्तिपूजाके अवशेष दिखाई पड़ते हैं। स्वाँगके साथ वह अनुष्ठान भी नहीं, केवल आरम्भिक सरस्वती-वन्दना मिलती है। शेष स्वाँगका धार्मिकतासे सामान्यत कोई सम्बन्ध नहीं रहता। स्वाँग या भगत मूलत संगीतरूपक है। इसमें यों तो कोई भी प्रसिद्ध लोककथा लेली जा सकती है, पर शृंगार-रस-प्रधान अथवा प्रेमगाथाकी कोटिकी रचनाएँ ही प्रधानता पाती रही हैं। प्रेमलीला अथवा रोमासका स्पर्श किसी-न-किसी रूपमें होना ही चाहिये। इसीको नौटकी भी कहा जाता है। नौटकी मूलत किसी प्रेम-कहानीकी केवल नौ टंक तोलवाली कोमलांगी नायिका होगी। वही संगीत रूपकमें प्रस्तुत की गयी और वह रूप ऐसा प्रचलित हुआ कि अब प्रत्येक संगीत-रूपक या स्वाँग ही नौटकी कहा जाने लगा है। नौटकी, भगत अथवा स्वाँगका मुख्य छन्द चौबोला है। इस चौबोलेके दो रूप मिलते हैं, एक छोटी तानका, दूसरा लम्बी तानका। प्रत्येक चौबोलेका आरम्भ दोहेसे होता है, जिसका अन्तिम चरण कुण्डलियाकी भाँति आगेके चौबोलेसे कुण्डलित रहता है। इसके सहकारी वाद्यवृन्दोंमें नगाड़ा अनिवार्य है। भगतका रंगमच बल्लियोंके स्तम्भ बनाकर आदमीसे ऊँची बाड़ बाँधकर बनता है। बाड़ोंकी एक ऐसी वीथिका बनायी जाती है, जिसके बीचमें स्थान खाली रहता है। इन बाड़ोंपर अभिनेता एक स्थानसे चलकर चारों ओर घूम आता है। हर ओर उसे चौबोला दुहराना पड़ता है। स्वाँगका रंगमच सादा होता है। भूमिसे कुछ ऊँचा एक लम्बे-चौड़े तख्त जैसा चारों ओर खुला होता है। प्रसिद्ध स्वाँगोंमें स्याहपोश अमरसिंह राठौर, पूरनमल, हरिश्चन्द्र आदि गिने जाते हैं। —स०

न्याय–प्रमाणों द्वारा विषयोंके परीक्षणको न्याय कहते हैं। नीयते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्याय'।'

वेदोंके अर्थोंको निश्चित करनेके लिए मीमासाकी तरह न्यायका भी उद्भव हुआ। मीमासा वेदोंके वाक्योंके अर्थका निर्धारण करती है, न्याय उनके पदार्थों और प्रमाणोंका। उद्भवकालसे ही जहाँतक एक ओर इसका कार्य वैदिक दर्शनको अपने ढगसे समन्वित करना था, वहीं दूसरी ओर बौद्ध दर्शनका खण्डन करना भी था। इसके प्रथम आचार्य अक्षपाद गौतम हैं, जिन्होंने न्यायसूत्रों(३री शती ई० पू०)की रचना की। वात्स्यायन(४०० ई०)ने इसपर भाष्य लिखा और उद्योतकर(६वीं शती ई०)ने फिर भाष्यपर वार्तिक लिखा। वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट तथा उदयनाचार्य न्यायके अन्य प्रसिद्ध आचार्य हैं। लगभग १२०० ई० के आसपास गगेश उपाध्यायने 'तत्त्वचिन्तामणि' लिखकर नव्य न्यायकी स्थापना की, जिसके अन्य महान् आचार्य कालान्तरमें रघुवश शिरोमणि, जगदीश भट्टाचार्य और गदाधर भट्टाचार्य हुए।

पहले न्याय और वैशेषिक पृथक्-पृथक् मत थे, पर बादको दोनो एक हो गये। न्यायका मुख्य कार्य प्रमाण-मीमासा हो गया और वैशेषिकका पदार्थ-मीमासा।

प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान इन १६ तत्त्वोंके ज्ञानसे नि श्रेयसकी प्राप्तिका विधान न्यायशास्त्रमें किया गया है। दु खजन्य प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञानके उत्तरोत्तर व्यतिक्रमसे नष्ट होनेपर अपवर्ग होता है, जो नि श्रेयस है।

प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। कुछ नैयायिक उपमानको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं, अनुमानके अन्दर इसका अन्तर्भाव करते हैं। अनुमान स्वार्थानुमान और परार्थानुमान, दो प्रकारका होता है। केवल अन्तिम पचावयव होता है, अर्थात् उसके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये पाँच अवयव होते हैं।

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय इन्द्रियार्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (जन्मान्तर), फल, दु ख और अपवर्ग, ये प्रमेयज्ञानके विषय हैं।

नैयायिक तार्किक होते हैं। वे सशय करते हैं और तर्कसे सशयको दूर करना ही उनका मुख्य कार्य है। इसीलिए कहा जाता है 'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्याय'

प्रवर्तते, अर्थ तु सदिग्धे', अर्थात् निर्णीत और अनुपलब्ध अर्थमें न्याय नहीं चलता, सिर्फ संदिग्ध विषयपर चलता है।

ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध करनेके लिए नैयायिक प्रमाण देते हैं। वे एक परमात्मा तथा अनेक आत्माको मानते हैं। ज्ञानको वे आत्माका एक गुणमात्र मानते हैं। ईश्वरको उनमें जगत्का निमित्त कारण-मात्र माना जाता है।

नव्य न्यायमें परिभाषा या लक्षणको अधिकाधिक प्रमाणित बनानेका प्रयास किया जाता है।

न्याय यथार्थवादी या वस्तुवादी दर्शन है। यह बहुत्ववादी भी है। इसे प्रायः साधारण मनुष्यका सुसंगत दृष्टिकोण समझना चाहिये।

हिन्दी साहित्यपर न्यायका प्रभाव बहुत कम पड़ा है। वर्तमान युगके पूर्वतक तो इसका प्रभाव प्रायः शून्य ही था। हिन्दीके लेखक प्रायः साधक हुआ करते थे और या तो केवल साहित्यिक। ये दोनों ही वर्ग न्यायके प्रभाव-क्षेत्रसे दूर थे। वे तर्कको महत्त्व नहीं देते थे और अनुभूति तथा कल्पनाको अधिक महत्त्व देते थे। ईश्वरकी सिद्धिके प्रमाणोंके विषयमें प्रायः यही कहा जाता रहा है कि ईश्वर बुद्धि या तर्कका विषय न होकर अनुभूतिका ही विषय है। नैयायिकोंको कोरा तार्किक समझकर उपेक्षित किया जाता रहा है।

वर्तमान समयमें जब कि प्रत्ययवाद या आदर्शवादके स्थानपर वस्तुवादको मान्यता मिल रही है और जीवनके मूल्यों तथा नाना अन्य ध्येयोंके अस्तित्वमें संशय उत्पन्न हो रहा है तो न्यायकी मान्यता बढ़ रही है। पर यह न्याय अधिकतर पाश्चात्य दर्शन तथा मनोविज्ञानके रूपमें ही आज प्रभावशाली है। भारतीय न्यायका प्रभाव अब अत्यल्प है और जो कुछ है भी, वह पाश्चात्य न्यायके द्वारा है। —स० ला० पा०

न्यूनपद–दे०—'शब्द-दोष', तीसरा 'वाक्य-दोष'।

पंकजवाटिका–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'(२ . १४८)में इसे पंकावली नाम दिया गया है। यह छन्द भगण, नगण, जगण, जगण और लघुके योगसे बनता है (ऽ।।, ।।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।), इसकी लय चौपाईके समान है। केशवने इस वृत्तका प्रयोग किया है। उदा०—'नारि न तजे मरे भरतारहिं। ता संग सहहि धनंजय झारहिं। जो कहु विधि करतार जियावहिं। तो केहि कहँ यह बात बतावहिं।' (रा० चं० . ९ . १७) —पु० शु०

पंचक–दे०—'मुक्तकाव्य'।

पंच चामर–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, 'प्राकृतपैंगलम्'(१४ श० ई० २ . १६८)में नाराच और 'छन्दोऽनुशासन'(११ जयकीर्ति)में महोत्सव नाम दिया गया है। ८ लघु-गुरुओं ज र ज र ज गके योगसे यह वृत्त बनता है। 'रामचन्द्रिका'में नागस्वरूपिणी (६ प्र० . २३) और नागराज (२ प्र० . १६) भी नाम दिये गये हैं। केशव (३ प्र० . २ . राम०), गुप्त (वही मनुष्य है कि जो मनुष्यके लिए मरे, मनुष्यता) और 'प्रसाद'-(हिमाद्रि तुंग शृंगसे प्रबुद्ध शुद्ध भारती; चन्द्रगुप्त)ने प्रयोग किया है। उदा०—'विचारमान ब्रह्मदेव अर्चमान मानिये, अदीयमान दुःख सुक्ख दीयमान जानिये।' (रा० चं० ३ . ३)।

नाराच छन्द वीर रसके लिए विशेष उपयुक्त है। तुलसीने इसका प्रार्थनाओंके लिए प्रयोग किया है। संस्कृतका प्रसिद्ध शिवस्तोत्र इसीमें है। हम्मीर रासोमें वसन्तका वर्णन इस छन्दमें है। तुलसीका प्रयोग—'नमामि भक्त-वत्सलं, कृपालु शीलकोमलं।' (रा० च० मा०) —पु० शु०

पंचायतन–(पचानामुपास्यदेवरूपानामायतनाना समाहारं) पाँच देवताओंकी प्रतिमाओंका समुदाय पञ्चायतन कहलाता है। पाँच उपास्य देवताओंमें शिव, सूर्य, शक्ति, विष्णु और गणेशकी गणना होती है। किसी विशिष्ट देवताकी उपासनाके समय भी उपर्युक्त पचदेवताओंकी स्तुतिकी प्रथा प्रायः पायी जाती है। मिथिलामें तो किसी प्रकारकी पूजामें इन पंचदेवताओंकी प्रथम स्तुति करनेका सामान्य चलन है। इसी आधारपर महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्रीने विद्यापतिको पचदेवोपासक माना था (दे०—'कीर्तिलता'की भूमिका पृ० १९), परन्तु विद्यापतिके पदोंमें सूर्यका स्तुतिपरक एक भी पद अभीतक प्राप्त नहीं हुआ।

तुलसीदासकी 'विनयपत्रिका'के प्रारम्भिक पदोंमें उल्लिखित पाँच देवताओंकी स्तुति की गयी है। यथा—(क) शिव–'देव बड़े दाता बड़े भोरे, किये दूर दुख सबनिके जिन्ह कर जोरे।' (पदसंख्या ८)। (ख) सूर्य–'दीनदयालु दिवाकर देवा। कर मुनि मनुज सुरासर सेवा।' (पदसंख्या २)। (ग) शक्ति–'दुसह दोष दुख दलनि, करु देवि दाया।' (पदसंख्या १५)। (घ) विष्णु–यों तो 'विनयपत्रिका'का विष्णुके अवतार रामके प्रति ही विनयनिवेदन है फिर भी हरि-शंकरी शीर्षक पद (क्रमांक ४९)में भगवान् विष्णु और शिवकी स्तुति की गयी है और हरिहरमें अभेद स्थापित किया गया है। (ङ) गणेश–'गाइये गणपति जगवन्दन। शंकर सुवन भवानी नन्दन॥ सिद्धि सदन गज-बदन विनायक। कृपासिन्धु सुन्दर सब लायक॥' (विनयपत्रिका)। तुलसीके समान भक्त परमतत्त्व भगवान्की सत्ताको व्यापक मानकर उसके प्रत्येक आविर्भूत रूपके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं, परन्तु अपने मनको उसके विशिष्ट विग्रहरूपमें सघनतासे केन्द्रित करते हैं। तुलसीने यद्यपि पंचदेवताओंकी स्तुति की है, पर उनसे भी अपने रामकी ही भक्तिकी याचना की है। उदाहरणार्थ, श्रीगणेशकी स्तुतिके अन्तमें वे कहते हैं—'माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं राम सिय मानस मोरे॥' (पदसंख्या १)। पचायतन-पूजा तन्त्रमार्गमें भी विहित है। 'तन्त्रसार'में पचायतन-दीक्षाके सम्बन्धमें लिखा है कि उसमें उपर्युक्त पाँच देवताओंके पाँच मन्त्र बनाकर उनमें शक्ति, विष्णु, शिव, सूर्य और गणेशकी पूजा की जाती है। (विस्तारके लिए दे०—'तन्त्रसार')। —वि० मो० श०

पंचालिका रीति–दे०—'रीति', पाँचवीं।

पंचोपासना–देव-प्रतिमा-पूजनके पाँच प्रकार पचोपचार या पचोपासना कहलाते हैं। यह अर्चना-भक्तिका एक अंग है। यदि प्रतिमा-पूजनके सोलह उपचार किसी कारण सम्भव न हो सकें तो साधक पंचोपचारसे भी सन्तुष्ट हो

सकता है। इसमें इष्टदेवको गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य अर्पित करनेका विधान है। ये क्रमशः पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश तत्त्वोंके प्रतीक माने जाते हैं। पञ्चोपचार द्वारा भक्त भगवान्‌की विभिन्न रूप-धारिणी शक्तिके साथ तारतम्य स्थापित करता है।

निर्गुणी सन्त बाह्योपचारकी आवश्यकता अनुभव नहीं करते, वे बाह्योपचारपर व्यंग्य भी करते हैं। रैदास कहते हैं—'दूध त बछरै थनहु बिटारिउ, फूल भँवरि, जलु मीनि बिगारिउ। माई गोविन्द पूजा कहा लै चरावउ। अवरु न फूल अनूपु न पावउ। मन ही पूजा, मन ही धूप, मन ही सेउँ सहज सरूप॥' (सन्तकाव्य · परशुराम चतुर्वेदी पृ० २१५)। उनकी अर्चनाका रूप इस प्रकार है—'ऐसी आरती त्रिभुवन तारै। तेज पुंज तहाँ प्रान उतारै। पाती पंच पहुप करि पूजा। देव निरंजन और न दूजा। तन मन सीस समरपन कीन्हा। प्रगट जोति तहाँ आतमलीना। परम प्रकास सकल उजियारा। कहै कबीर मैं दास तुम्हारा॥' (सन्तकाव्य · पृ० १९५)। —वि० मो० श०

पंजाबी (भाषा तथा साहित्य)—दिल्लीके आसपासके प्रदेश, पूर्वी पंजाबके कुछ जिले और पहाड़ी प्रदेशको छोड़कर पंजाबकी भाषा पंजाबी है। चाहे वह पंजाब पाकिस्तानमें है, चाहे भारतमें।

सन् १९३२ ई० में स्थापित की गयी पंजाब युनिवर्सिटी इन्क्वायरी कमेटीकी रिपोर्टके अनुसार इंडो-एरियन भाषाओंमेंसे निकली सब बोलियोंमेंसे पंजाबी शायद सबसे पुरानी भाषा है। महात्मा बुद्ध और महावीरको हुए आज लगभग २५०० वर्ष हो चुके हैं। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थोंमें सैकड़ों ऐसे शब्द मिलते हैं जो ठीक उसी रूपमें आज पंजाबवासियोंकी दैनिक भाषामें प्रचलित हैं। हिन्दी या बँगलामें उन शब्दोंका जो रूप चला हुआ है वह अधिकसे अधिक एक हजार वर्ष पुराना कहा जाता है। पंजाबके लोग पिछले पचीस सौ वर्षोंसे दुध, नक, कन, हथ, पिठ, सत और अठ कहते आये हैं और जो लोग उत्तरप्रदेश या बंगालमें बसते हैं, उनके पूर्वज पहले पन्द्रह सौ वर्षोंतक तो इन शब्दोंको पंजाबियोंकी भाँति उच्चारण करते रहे, किन्तु पिछले एक हजार वर्षसे उनको इन्होंने दूध, नाक, कान, हाथ, पीठ, सात और आठ बोलना आरम्भ कर दिया है। बौद्ध धर्मग्रन्थ 'धम्मपद'में, जैनियोंके प्राचीन साहित्यमें और कालिदासके 'शकुन्तला' आदि नाटकोंमें हमें पंजाबीके शब्द हेठों, रुख, पुत, अख आदि तो मिलते हैं, पर इनके हिन्दीरूप—नीचे, पेड़, पूत, आँख आदि कहीं नहीं मिलते। हिन्दी और पंजाबीका सम्बन्ध दो बहनोंका सम्बन्ध है।

गुरु नानकदेवके आगमनके समय पंजाबमें कई लिपियाँ प्रचलित थीं। देवनागरी, जो अधिकतर संस्कृतके लिए प्रयोग की जाती थी और पुरानी दिल्लीकी कमिश्नरीमें प्रादेशिक बोलीके लिए भी। लंडे या महाजनी, जो व्यापारी हिसाब किताबके लिए प्रयोग करते थे, टाकरी या ठाकरी, जो पहाड़ी प्रदेशमें प्रयोगमें आती थी और जिसमें खुदे हुए कई शिलालेख काँगड़ेमें मिले हैं और शारदा, जो कश्मीरकी लिपि थी, किन्तु पड़ोसी होनेके नाते पंजाबमें भी कहीं-कहीं प्रयोगमें आती थी।

कई लोग यह भी समझते हैं कि पंजाबी साहित्य केवल सिख-जातिका अपनाया हुआ है। इस बातसे इनकार नहीं कि पिछले तीस वर्षोंसे इसकी ओर अधिक रुचि सिखोंकी है, किन्तु पंजाबी साहित्यके निर्माणमें गैर-सिख लेखकोंने कहीं अधिक भाग लिया है। पंजाबीके प्राचीनतम लेखक, जिनका काव्य हमें मिलता है, फरीद शकरगंज मुसलमान थे। इस तरह पंजाबीके इतिहासमें एक समय ऐसा आया, जब सिख-जातिकी प्रतिभा संस्कृत और प्राकृतकी ओर अधिक अग्रसर हुई। गुरु गोविन्द सिंहके दरबारी कवि पुरातन भाषाओंमें लिखकर प्रसन्न थे। गुरुजीने स्वयं पंजाबीमें बहुत कम कविता लिखी है। ऐसे समयमें गैर-सिखोंने ही इस भाषाको आश्रय दिया।

पंजाबी भाषाका शब्दकोश चाहे कितना पुराना हो, किन्तु जिस बोलीको आज हम पंजाबीके नामसे पुकारते हैं उनका पहला लेखक, जिसका कलाम हमारे हाथ लगा है, वह फरीद शकरगंज है। बाबा फरीद अपने समयके प्रसिद्ध फकीर थे। इनका पूरा नाम हजरत फरीदुद्दीन मसऊद शकरगंज था। इनका जन्म सन् ११७३ ई०में हुआ। फरीदकी कवितामें लहंदीका स्थानिक रंग है। फारसी भाषाका भी कुछ-कुछ प्रभाव है, इसलिए कि इन लोगोंको काबुलसे पंजाब आये अभी थोड़ा समय ही हुआ था। फरीदकी सारी कवितामें एक भावुकता है जो भक्तियुगके बाद सूफियोंका उन्माद बनकर प्रकट हुई। प्रकृतिका प्रेम और परमात्माका प्रेम फरीदकी कविताके कुछ विशेष विषय हैं। फरीदने अधिकतर श्लोक लिखे हैं।

पंजाबी भाषाकी शैलीको और अधिक निखारनेवाले भक्ति-युगके कवि थे। इनमें गुरु नानक, गुरु अर्जुन और भाई गुरुदासकी बहुत सी कविताएँ मिलती हैं। इन सबका एक अपना रंग है, एक अपना स्वाद है। भक्ति-युगके कवियोंने भगवान्‌की एकतापर जोर दिया। राम-रहीममें उन्होंने कहा—कोई फर्क नहीं। कट्टर ब्राह्मण मत और इसलाममें भक्ति आन्दोलन एक प्रकारका समझौता था। इन कवियोंकी शैली सादी और मँजी हुई है। भक्ति-युगमें पुरानी रूढ़ियोंको तोड़नेपर बड़ा जोर दिया गया। चाहे ये रीतियाँ धार्मिक थीं, चाहे साहित्यिक थीं अथवा चाहे साधारण जीवनके प्रति थीं। कवितामें इस प्रकार कवित्त, सवैया आदि पुराने छन्दोंके स्थानपर बारहमाह, वार, सद, घोड़ी आदि साधारण जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले छन्दोंको अपनाया गया। यह वह समय था जब पंजाबमें मुगलोंके आक्रमण हो रहे थे या अभी होकर हटे थे।

इस प्रकार भगवान्‌के गुण गानेवाले गुरुओंके पश्चात् गुरुओंके शिष्य उत्पन्न हो गये। ईश्वरके प्रेमसे मनुष्योंमें दिखाई देते ईश्वर-प्रेमसे सूफी मतको जन्म दिया। यथार्थमें सूफी मत इस्लामका वह अंग है, जिसपर भारतके भक्तिमत और वेदान्तका बड़ा प्रभाव पड़ा। इस सूफी वातावरणके कारण छायावाद आया। बुल्लेशाह, शाहहुसैन, सुल्तान बाहुअली हैदर, करमअली शाह, शेख शरफ, गुलाम जीलानी, हाशिम हिदायतुल्ला और गुलामरसूल इस समयके कुछ प्रसिद्ध कवि थे। बुल्लेशाहके काफियोंमें वर्णन चाहे

घरेलू वस्तुओंका और साधारण हृदयोंका होता है, किन्तु उनके पीछे हमेशा कोई उच्च अर्थ अथवा गहरा भेद होता है। सूफी कविता इश्क-हकीकीकी कविता थी, किन्तु इस ईश्वरके प्रेमको सांसारिक प्रेमके परदेमें रखकर गाया जाता था।

इस प्रकारके ईश्वरप्रेमके वातावरणमें उत्पन्न हुई कविताके पश्चात् यह आवश्यक था कि इसकी प्रतिक्रिया होती और इस प्रकार पंजाबी कवितामें एक नया युग आरम्भ हुआ। इस युगके लगभग सबके सब कवियोंने इश्क-मजाजीका वर्णन किया है। उन्होंने हीर-राझाँ, मिर्जा-साहिबाँ, सस्सीपूनूँ, कामरूप, सोहनी-महिवाल आदि किस्से लिखे। इन कवियोंकी वर्णनशैली बहुत सुन्दर है। दामोदर-का लिखा हुआ हीरका किस्सा सबसे पुराना माना जाता है। अपनी कवितामें वह बार-बार कहता—'आख दामोदर मैं अखीं डिठां।' ऐसे प्रतीत होता है कि यह कवि हीर-राझाँका समकालीन था। वारिसशाहने ३५ वर्षकी अवस्थामें हीरका किस्सा लिखना आरम्भ किया। कहते हैं भागमरी नामकी एक लड़कीको यह कवि प्रेम करता था और हीर-राझाँके किस्सेमें उसने अपने प्रेमको गाया है। वारिसशाहकी शैली अभीतक पजावीमें अत्यन्त लोक-प्रिय है।

कविके रूपमें हाशिम वारिसशाहसे कदापि कम नहीं था। हाशिमने शीरीं-फरहाद, लैला-मजनूँ, सोहनी-महिवाल, सस्सी-पुन्नू आदि कई किस्से और कुछ दोहरे लिखे। शब्दों-का संयम, वर्णनका बहाव और पात्रोंके हृदयके कोमल भावोंका ज्ञान हाशिमकी कविताकी विशेषतायें है। विरहके भावको हाशिमने जहाँ कहीं भी अंकित किया है, बहुत सफलतासे किया है।

शाह मुहम्मदके साथ हम उन्नीसवीं शतीके मध्यमें पहुँच जाते हैं। शाह मुहम्मद महाराजा रणजीत सिंहका दरबारी कवि था। शाह मुहम्मदने पहली बार पंजाबीमें ऐसी कविता लिखी, जिसे ठीक देश-प्रेमकी कविता कहा जा सकता है। पंजाव देशसे प्रेम, पंजावकी धरतीसे प्रेम, पंजावकी परम्परासे प्रेम, पजावके सिपाहियोंसे प्रेम, पजाव-के सरदारोंसे प्रेम। पजावके शत्रु शाह मुहम्मदके शत्रु थे, चाहे वे मुसलमान ही क्यों न हों।

नवीन पजाबी साहित्य उस मानसिक वातावरणका परिणाम है, जो प्रथम महायुद्धने विशेष रूपसे उत्पन्न किया था। युद्ध-प्रचार और पजाबी सिपाहियोंके मनोरजनको सामने रखकर साहित्य-निर्माण किया गया। युद्धमें बाहर गये पजाबी सिपाहियोंने दूसरोंके जीवनमें झाँका, उनके मनोरजनोंका अध्ययन किया, लौटे हुए पंजाबियोंको अवकाश था, प्रान्तका साहित्य इस वातावरणमें निखरकर प्रगतिशील हुआ।

प्रथम महायुद्ध अभी समाप्त ही हुआ था कि सिंह-सभाकी लहर जोर पकड़ गयी। इस लहरका मन्तव्य था—सिख-मत और सिख-सभ्यताका प्रचार और इनको अलग करके विभिन्न रूपोंसे दर्शाना। इस जमानेमें गैर-सिखोंसे वाद-विवाद हुए, ट्रैक्ट छपे, समाचारपत्रों द्वारा जनतामें जागर्ति उत्पन्न की गयी।

साहित्यिक दृष्टिकोणसे इसका यह लाभ हुआ कि पंजाबी गद्य निखर गया। इससे पहले प्राचीन गद्य-रचनामें कविता-सा स्वाद है।

इसके पश्चात् अकाली लहरका युग आरम्भ हुआ, यह एक प्रगतिशील युग था। जहाँ सिखोंने अपनी सभ्यता-संस्कृति और अपने सम्प्रदायके लिए रक्तपात करके अपने गौरवको सुरक्षित रखा, वहाँ अपने प्रान्तके साहित्यमें भी उन्होंने प्राण फूँक दिये।

इन दोनों लहरोंके साथ स्कूलोंकी सख्या पजाबमें बढ रही थी। पश्चिमकी नवीन प्रवृत्तियोंके साथ जनताका परिचय बढ़ रहा था और एक ताजगी-सी पंजाबी जीवनमें आ रही थी।

ठीक इसी समय भाई वीर सिंह और भाई मोहन सिंह वैद्यने अपने साहित्यिक जीवनका आरम्भ किया। वीर सिंह नवीन पजाबी साहित्यके प्रथम कवि हैं और कविता जैसी आकर्षक, परन्तु सरल-सीधी गद्य-शैलीमें इन्होंने सिख-इतिहास और सिख-दर्शनको जनताके सामने रखा। स्पष्टता और सरलता वीर सिंहके काव्यकी भी विशेषताएँ हैं। उन्होंने पजाबीमें मुक्तक कविताको जन्म दिया और पहली बार एक लम्बी काव्य-रचना सिरखण्डी छन्दमें की। 'राणा पूत सिंह' एक सफल रचना है। 'विजलियाँ दे हार लहरों दे हार', 'मटक हुलारे', वीर सिंहकी कविताके कुछ-एक सग्रह हैं, जिनमें कविका दर्शन और काव्य-कला अपने शिखरपर पहुँच गयी है। वीर सिंहसे पहले पजाबी कवितामें कवित्त, वैंत आदि जैसे लम्बे छन्द ही प्रयोगमें लाये जाते थे। भाई साहबने सिख-गुरुओंके अनन्तर पहली बार पश्चिमी प्रवृत्तियोंसे प्रभावित होकर छोटे और सरल रूपसे निवाहे जानेवाले छन्दोंमें कविता लिखी। वीर सिंहके दर्शन सम्बन्धी विचार सिख दर्शनसे भिन्न नहीं। कवि जीवन-को उल्लास समझता है और सूफी कवियोंके समान जब वह अपने इष्टके लिए व्याकुल होता है तो उसकी आवाजमें सूफियोंसे कहीं अधिक धरतीका स्पन्दन सुनाई देने लगता है।

उधर मोहन सिंह वैद्य एक गद्य-लेखक थे, जिन्होंने हर विषयपर रचनायें कीं और एक एकेडेमी स्थापित की जिसके द्वारा ससारकी लगभग दो सौ पुस्तकें पजाबीमें रूपान्तरित करवायी गयीं। पजाबीमें इस आन्दोलनके कारण विज्ञान और अन्य विषयोंपर भी पुस्तकें मिलती हैं। वैद्यजीकी लेखन-शैली सरल थी। इन्होंने कुछ उपन्यास भी लिखे हैं, जो केवल लम्बी कहानियोंके प्रयासतक ही सीमित है। वास्तवमें भाई वीर सिंह और मोहन सिंह वैद्य नये पंजाबी साहित्यके प्रारम्भिक स्तम्भ हैं।

इन दोनों कलाकारोंकी छायामें पला और पनपा हुआ साहित्य प्राय परम्परागत रहा है। हमेशा यह प्रयत्न किया जाता था कि किसी उद्देश्यको पेश किया जाय और कोई शिक्षा सुझायी जाय। फिरोजदीन शरफ, विधाता सिंह तीर और ज्ञानी गुरुमुख सिंह मुसाफिरकी कविता इसी तरहकी थी। अधिकसे अधिक ये कलाकार अपने कला-कौशलसे जनताको झकझोर सकते थे और बस। इनकी कविताके भाव-विषय देश-प्रेम, अँग्रेजी राजमें नौकरशाही-

की पुराणपंथिनक ही सीमित थे या फिर प्रेमपूर्ण गाथाओंका ही वर्णन होता था।

लाला किरपासागरने 'लेडी आफ दी लेक'के आधारपर 'लक्ष्मीदेवी' शीर्षक एक प्रबन्धकाव्य लिखा, जो दो भागोंमें प्रकाशित हुआ। विवरण-शैलीके दृष्टिकोणसे यह एक अमूल्य रचना है। इसी युगमें 'शकुन्तला' और 'विक्रमोर्वशीय' आदि नाटकोंका अनुवाद हुआ जो अत्यन्त सफल है। अनुवादक संस्कृतका ज्ञाता होनेके कारण कालिदासके साथ न्याय कर पाये। मौलिक नाटककारोंमें ईश्वरचन्द्र नन्दा-लिखित 'सुभद्रा' और 'लिलेदा व्याह', ब्रजलाल शास्त्री-लिखित 'सावित्री सुकन्या' और 'पूरणनाटक' तथा बाबा बुधसिंहरचित 'दामिनी' और 'नार नवेली' जनसाधारणमें लोकप्रिय हुए। इन नाटकोंके विषय रहे हैं—विधवा-विवाह और अछूतोद्धार आदि। सरदार नानक सिंहने लगभग दो दर्जन उपन्यास लिखे हैं। इस लेखकने जनसाधारणकी रुचिको ध्यानमें रखकर लिखा है। इसने तीन गल्प-संग्रह भी प्रकाशित किये, जो उसके उपन्यासोंके समान कथानकके चुनावकी विशेषताके कारण लोकप्रिय हैं।

आधुनिक पंजाबीका सम्पूर्ण साहित्य उर्दू और हिन्दीके साहित्यसे सर्वथा अछूता रहा है। साहित्यिक पंजाबी साहित्यके निर्माणमें सीधे अँग्रेजोंसे ही प्रभावित होते रहे हैं। खालसा कालेज, अमृतसर सिखोंकी सबसे बड़ी संस्था होनेके साथ-साथ बहुत दिनोंसे पंजाबी साहित्यकारोंका केन्द्र भी रहा है। प्रिंसिपल जोध सिंह, प्रिंसिपल तेजा सिंह, प्रिंसिपल गुरुबचन सिंह तालिब, प्रोफेसर मोहन सिंह पिछले बीस वर्षोंसे पंजाबी साहित्यको यहींसे समुज्ज्वल करने और नये लेखकोंको उत्साह देते आये हैं। इन सबने अँग्रेजी साहित्यकी लेखन-शैलीका ही अनुकरण किया है। नये उभरनेवाले कलाकारोंकी रचनाओंको भी अँग्रेजी भाव-शैलीके अनुसार ही आलोचनाकी कसौटीपर जाँचते आये हैं।

१९३६ ई० में प्रगतिशील साहित्यिकोंकी एक कान्फ्रेंस लखनऊमें हुई। प्रायः उसी समय 'लिखारी' नामक एक मासिक पत्र मोहन सिंहके सम्पादकत्वमें निकाला गया। नये पंजाबी साहित्यके पुरानेसे पुराने नमूने इसी पत्रमें मिलते हैं। आजकलके प्रगतिशील कलाकारोंने पहली बार 'लिखारी'में ही लिखना आरम्भ किया था। मोहन सिंहकी प्रगतिशील कविताएँ भी सबसे पहले इसी पत्रमें प्रकाशित हुईं। संत सिंह सेखोंकी नयी शैलीकी कहानियाँ 'प्रेमी दे नियाणे' और 'मँझधार' आदि 'लिखारी' में ही सबसे पहले छपीं। 'पंज दरया' नामक पत्र मोहन सिंहकी उसी लगनका एक दूसरा उदाहरण है। वास्तवमें कुछ दिनों बाद 'लिखारी'का नाम बदलकर 'पंज दरया' पाठकोंको भेजा जाने लगा था।

इस समयतक नये लेखकोंने यह बात पूरी तरह अनुभव कर ली थी कि जिस तरहकी कविता पौनेनदीन तरफ लिखता है, जिस प्रकारकी कहानियाँ जोशुआ फज़लदीनने लिखीं और जो नाटक किरपासागरने प्रस्तुत किये, वे प्रगतिशील साहित्यके मापदण्डोंपर पूरे नहीं उतरते। लेकिन जो परिवर्तन आ गया और जिसे लखनऊमें सामने लाया गया, उसे न पाश्चात्य लेखक अमीरतक हृदयंगम कर सके थे और न हमारे देशके कलाकार ही।

नये पंजाबी लेखकोंमें अमृता प्रीतमने प्रतीकात्मक शैलीका शायद सबसे अधिक प्रयोग किया है, इसलिए कि वे नारी हैं। एक नारीको जो कवि है और अपनी कविताओंमें जीवनपर व्यंग्य करती है, कहीं ऐसी बात कहनी होती है जिसे यदि हमारे समाजकी कोई साधारण नारी कहे तो अच्छा नहीं समझा जाता।

पंजाबीमें कहानीका जन्म सही अर्थोंमें सन् १९३५-३६ में ही हुआ था। इस युगकी पंजाबी कविताकी प्रतीकात्मक शैलीने गद्यमें चेतनाकी अन्तर्धारा (stream of consciousness)का रूप ग्रहण किया। किसी पात्रसे कुछ कहलवाना इतना सरल नहीं, जितना उसकी उपचेतनाका अध्ययन करके उसमें समा जाना। इस तरह समय, स्थान और वास्तविकताके बन्धनोंसे ऊपर उठकर कई बार लेखक कमसे कम शब्दोंमें, वह कुछ कह सकता है जो यों ही किसी पात्रसे कहलवाना असम्भव-सा प्रतीत होता है। पाश्चात्य देशोंमें इस शैलीका कवितामें भी प्रयोग किया गया। हमारे देशके उर्दूके कवि मीराजीने चेतनाकी धाराको अपनी रचनाओंमें बड़ी सुन्दरतासे निखारा। पंजाबीमें इस तरहकी कविता कम लिखी गयी, किन्तु पंजाबी कहानीमें इस नवीनताको ग्रहण करके उसके सुन्दर प्रयोग किये गये। जब उर्दूमें हसन अस्करीकी प्रसिद्ध कहानी 'हरामजादी' छपी, उससे पहले पंजाबीमें इस प्रकारकी कहानियाँ छप चुकी थीं। हमारे देशमें चेतनाकी धाराकी चर्चा पाश्चात्य उपन्यासकार जेम्स जॉयसके प्रसिद्ध उपन्यास 'यूलिसिस'के द्वारा हुई थी। 'सवेर सार' कहानी-संग्रहमें इसी नामकी कहानी चेतनाकी धाराके आधारपर ही लिखी गयी। एक सुबह एक नौजवान नौकर उठता है। पलँगपर लेटे-लेटे उसे जो जो ख्याल आते हैं, उन्हीं ख्यालोंकी लड़ी अन्तमें एक कहानी बन जाती है। 'आन्द्रा' नामक उपन्यासमें जमींदारको यह पता लगता है कि जिसको वह मरवा रहा है, वह उसीके खूनका खून है, उसीके अंगका अंग है—इस द्वन्द्व, इस उलझनको लेखकने चेतनाकी लहरके द्वारा ही व्यक्त किया है।

नये लेखकोंने यह भी सोचा कि साहित्यको जीवनके निकट होना चाहिये। हमारा साहित्य सामान्य जीवनका, वह जैसा भी है, दर्पण होना चाहिये। फलतः हमारे नये लेखकों और कलाकारोंने जीवनकी साधारणसे साधारण घटनाओंको, घिनौनेसे घिनौने पहलुओंको, भद्देसे भद्दे पात्रोंको चित्रित करना आरम्भ कर दिया। इस तरह एक तो वे यह दिखाना चाहते थे कि उन्होंने पुराने बन्धनोंको तोड़ फेंका है और दूसरे यह प्रमाणित करना चाहते थे कि हमारे चारों ओर धूलि-धूसरित जीवन भी कलाका विषय बन सकता है। बस, वे जिन्दगीकी नालियोंको टटोलने लगे। सुन्दर और सुन्दरको उखाड़कर उसके नीचेकी मुद्दतोंकी गन्दगीको सजा-सँवारकर, उस भद्देपन और उलझनको सविस्तर प्रस्तुत करने लगे।

सन् १९४८में एक बार दृष्टिकोण फिर बदला और यह फैसला किया गया कि प्रगतिशील साहित्य वह है जिसमें प्रतिदिनके साधारण जीवनको विकासोन्मुख दिखाया जाय,

जिसमें जीवनकी स्वस्थ भावनाका चित्रण हो, जीवनके स्वस्थ मूल्योंको उभारा जाय, लूट खसोट, गन्दगी, अन्धविश्वास, अज्ञान, भूख और बीमारियोंके प्रति घृणा पैदा की जाय। स्वस्थ साहित्य वह है, जिसमें इन्सानकी इन्सानियतको उसके सारे उपकरणोंके साथ सजा-सँवारकर प्रस्तुत किया जाय, कला और जनसाधारणके बीच जो खाई है, उसे पाट दिया जाय। स्वस्थ साहित्यमें नकारात्मक चरित्र नहीं होते, गन्दी बात करके मजा नहीं लिया जाता। स्वस्थ साहित्यमें जीवनकी वास्तविकताको उसकी सुन्दरता और उसके स्वस्थ उद्देश्योंके साथ चित्रित किया जाता है। 'लहू-मिट्टी' नामक उपन्यासके पात्रोंमें आम आदमियोंकी सामान्य सुन्दरता झलकती है। इस उपन्यासके पात्र इसलिए अच्छे नहीं कि वे निर्धन, भूखे हैं और उनके प्रति हमारे हृदयमें दया पैदा होती है, वरन् इसलिए कि वे पुराने बन्धनों, रीतियों और जीवनके अस्वस्थ मूल्योंकी उपेक्षा करके नयी राहोंपर विचरना चाहते हैं।

देशके विभाजन और उसके साथ हुए अत्याचारोंने कई प्रगतिशील साहित्यिकोंकी कड़ी परीक्षा ली। उर्दूके प्रसिद्ध साहित्यिक सआदत हसन मण्टो और हसन अस्करी जैसे मुस्लिमलीगी हो गये, हमारे कुछ पजाबी साहित्यिकोंने भी पकिस्तानी नमक और फलोंका बायकाट कर दिया। साम्प्रदायिक झगड़ोंकी बाबत पजाबी साहित्यमें कुछ लेखकोंने सारा अपराध मुसलमानोंपर थोपा है, किन्तु इसमे समझदार पाठक सन्तुष्ट नहीं हो पाता। कइयोंने जहाँ मुसलमानोंको बुरा-भला कहा है वही साथ साथ हिन्दू और सिखोंकी भी निन्दा की है। इस तरह जान-बूझकर केवल दोनों पार्टियोंमें अपराधको बाँटना कुछ बनावटी-सा मालूम होता है। कइयोंने इस अत्याचारका उत्तरदायित्व आदमीके अन्दरकी पैशाचिक प्रवृत्तिको ठहराया है, नेताओंके माथे दोष मढ़ा है। अमृता प्रीतमकी साम्प्रदायिक झगड़ोंके बारेमें प्रसिद्ध कविता इस विषयपर एक सुलझा हुआ उदाहरण है—

'अज आखाँ वारिस शाह नूँ किते कबराँ विच्चो बोल
— — — — — — —
इक रोई सी धी पजाब दी, तूँ लिख लिख मारे वैण
अज लक्खाँ धीआँ रोंदियाँ, तैनूँ वारिस शाह नूँ कैहण
वे दर्दमन्दाँ दया दर्दिया उठ तक अपना पंजाब
अज बेले लाशाँ विच्छियाँ, ते लहू दी भरी चिनाव।'
[आज वारिस शाहसे कहती हूँ कहीं कब्रोंमेंसे बोलो
— — — — — — —
एक रोई थी बेटी पजाब की, तुम करुण गान लिखते चले गये,
आज लाखों बेटियाँ रोती हैं, वारिस शाह, और तुमसे कहती हैं,
ओ दुखियोंके हमदर्द उठ देख अपना पंजाब
आज जगलमें लाशें बिछी हुई हैं और चनाब खूनसे भरपूर है।]

'अग खाणवाले' नामक कहानी-सग्रहमें साम्प्रदायिक झगड़ोंके बारेमें ही लिखा गया है। इसमें रावलपिण्डी-काण्डसे लेकर महात्मा गान्धीकी हत्यातकके रक्तिम युगका चित्रण है। नानक सिंहके दो उपन्यासोंका विषय भी यह साम्प्रदायिक भावना ही है।

अगस्त, सन् १९४७ में देश स्वतन्त्र हुआ। लाखों बेघर हो गये, लाखों जानें चली गयीं। मन्दिरोंको जलते हमने देखा, मस्जिदोंकी ईंटसे ईंट हमारे सामने बजायी गयी। अमृता प्रीतमने 'मेरी इकरारोंवाली रात' नामक एक कविता लिखी, पर मोहन सिंह मानते हैं कि सही स्वतन्त्रता तभी मिलेगी जब हम इस भुखमरीके अभिशापसे मुक्त होंगे, जब हमारी दरिद्रताकी काली चादर उतर जायगी।

स्वतन्त्रताका एक लाभ अवश्य हुआ। हमारे साहित्यकोंने स्वतन्त्र देशके लेखकोंकी तरह सोचना आरम्भ कर दिया। मोहन सिंह, प्रीतम सिंह सफीर, अमृता प्रीतम, कर्तार सिंह दुग्गल आदि साहित्यिक जनसाधारणके पास आकर खड़े हो गये हैं और उनके साथ हो रहे अन्यायकी बात दुनियाको पुकार-पुकारकर सुनाने लगे हैं।

नया पजाबी साहित्य आज बड़े योग्य और समर्थ हाथोंमें है। प्रथम बार साहित्यके सभी अगोंकी समान रूपसे उन्नति हो रही है। जहाँ आज सुरेन्द्रसिंह नरुला पंजाबी जीवनको सुचारु रूपसे अपने उपन्यासोंमें चित्रित कर रहा है, जहाँ बलवन्त गार्गी पजाबी रहन-सहनको अपने नाटकोंमें स्वस्थ ढगसे अंकित कर रहा है, वहाँ मोहन सिंह सफीर, अमृता प्रीतम आदि पजाबीके कवि ऐसे काव्यका सर्जन कर रहे हैं, जिसपर कोई भी साहित्य गर्व कर सकता है। —क० सिं० दु०

पक्षधर साहित्य (partison literature)—पक्षधर साहित्य वस्तुत साहित्य नहीं होता, किन्तु मार्क्सवादियोंके अनुसार हर एक साहित्य पक्षधर साहित्य है। इस साहित्यका मापदण्ड वे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रवृत्तियाँ हैं, जो इसकी प्रेरक शक्तियाँ हैं।—रा० म० त्रि०

पतत्प्रकर्ष—दे०—'शब्द-दोष', सातवाँ 'वाक्य दोष'।

पताका—यह प्रासंगिक कथाके दो प्रकारोंमेंसे एक है। रूपकमें दूरतक चलनेवाली जो सानुबन्ध कथा आधिकारिक कथाके सहायतार्थ आती है वह पताकाके नामसे अभिहित की जाती है। दशरूपककारने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है 'सानुबन्धपताकाख्य प्रकरी च प्रदेशभाक्' (१।१३)। रामायणकी कथामें सुग्रीव एव विभीषणका वृत्तान्त पताका है, वह दूरतक चलती रहती है, वह नायक या अधिकारीके पताका-चिन्हकी भाँति आधिकारिक कथाका पोषण करती है। पताकाका नायक अपना होता है और वह पताका-नायक कहलाता है। 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त'में मालवकी कथा पताका है और उसका नायक बन्धुवर्मा पताका-नायक है। —व० सिं०

पताकास्थानक—दशरूपककारने **पताका**के साथ ही पताकास्थानककी व्युत्पत्ति करते हुए बतलाया है—'प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्। पताकास्थानकम् तुल्यसंविधानविशेषणम्॥' (द० रू० १।१४)। भावार्थ यह कि 'जहाँ किसी प्रसग द्वारा आगेकी कथा सूचित की जाती है वहाँ 'पताकास्थानक' होता है। कहीं तो यह अन्योक्ति-पद्धतिपर होता है, कहीं समासोक्ति-पद्धतिपर।' 'दशरूपक'की 'चन्द्रकला' टीकामें इसे अच्छी तरह स्पष्ट

किया गया है। कभी-कभी रूपकमें भावी घटनाका संकेत किया जाता है। यह संकेत पताका या ध्वजकी तरह भावी वृत्तका सूचक होता है। यह सूचना दो प्रकारसे दी जाती है, एक तो घटनाओंकी समानताके आधारपर और दूसरी प्रस्तुत और भावी घटनाओंके वर्णनमें प्रयुक्त समान विशेषणोंके आधारपर। प्रथममें अन्योक्ति या अप्रस्तुत-प्रशंसाका आश्रय ग्रहण किया जाता है और दूसरीमें समासोक्तिका। दशरूपककारने अन्योक्ति-आश्रित पताकास्थानकका उदाहरण 'रत्नावली'से उद्धृत किया है 'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवति प्रतिबोधनीया। प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥' अर्थात्, 'हे कमल-से नेत्रवाली, मेरे जानेका समय आ गया है, मैं जा रहा हूँ, प्रातःकाल मैं ही तुम्हें जगाऊँगा। अस्ताचलके शिखरपर आखिरी किरणोंको रखे हुए सूर्य पद्मिनीको इसी प्रकार प्रतिबोधित करता हुआ अपने प्रत्यावर्तनका विश्वास दिला रहा है।'

यहाँ सूर्यपद्मिनीके अन्योक्तिमय वर्णन द्वारा उदयन-रत्नावली वृत्तान्तकी व्यंजना पताकास्थानक है।

समान विशेषणपर आधृत पताकास्थानकका उदाहरण भी दशरूपककारने 'रत्नावली' से ही दिया है—'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुरुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणादायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः। अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ।' 'मैं नटखटी कलियोंवाली, पीले रंगवाली, खिलती हुई इस उपवन लताको देख रहा हूँ जो वायुके निरन्तर वेगके कारण अपनी विशालताको व्यक्त कर रही है तथा मदन नामक पौधोंसे आवृत है। इसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मैं कामवासनासे उत्कण्ठित, पीली पड़ी हुई, जँभाई लेती हुई, सकाम दूसरी स्त्रीको देख रहा हूँ जो निरन्तर निःश्वास ले-लेकर अपनी कामपीड़ाको व्यक्त कर रही हो। अतः मैं ऐसी कल्पना करता हूँ कि इस लताको देखकर मैं अन्य स्त्रीको देखनेके समान देवी वासवदत्ताका अपराध कर रहा हूँ तथा इस अपराधसे मैं निश्चय ही देवीके मुखको क्रोधसे आरक्त कान्तिवाला बना दूँगा।'

यहाँ लताका वर्णन करते हुए समान विशेषणोंके आधारपर जिस नायिकाकी सूचना दी गयी है वह 'रत्नावली'से सम्बद्ध भावी वृत्तका सन्देह करती है। यह दूसरे प्रकारका पताकास्थानक है।

ऊपर 'दशरूपक'के आधारपर पताकास्थानकके दोनों भेदोंका उल्लेख किया गया। किन्तु भरत और विश्वनाथने पताकास्थानकके चार भेद माने हैं। 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथने एक प्रकारसे भरतकी ही उद्धरणी प्रस्तुत की है। भरतके मतानुसार पताकास्थानक निम्नलिखित चार स्थानोंपर होता है—(१) जहाँ अकस्मात् प्रेमानुकूल उपचारके कारण उत्कृष्ट प्रयोजन सिद्ध हो, (२) जहाँ श्लिष्ट शब्दों द्वारा नायिकादिके मंगलकी सूचना प्राप्त हो, (३) जहाँ वक्ताका अर्थ तो अव्यक्त हो, पर श्लेषत्वेन एक निश्चयकी सूचना देता हो, (४) जहाँ दो अर्थोंवाले श्लिष्ट वचन-विन्यासकी योजना हो और प्रधानेतर अर्थकी प्रतीति होती है। (ना० शा० : २१ ३४ ३५)।

विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इसके चार भेदोंका उल्लेख करते हुए लिखा है—'सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपचारतः । पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ वचः सातिशयश्लिष्टनानाबन्धसमाश्रयम् । पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् । श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ॥ द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः । प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम् ॥' (सा० द० : ६ ४६ . ४९)।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि विश्वनाथने भरतकी उद्धरणी प्रस्तुत की है। विश्वनाथके चार भेद वे ही हैं जिनका उल्लेख भरतने किया है (इनके उदाहरणके लिए 'साहित्यदर्पण'का तत्सम्बन्धी प्रकरण देखिये)। हिन्दी नाटकोंमें पताकास्थानकके भेदोंको ढूँढ़ निकालना कदाचित् असम्भव ही है। —द० सिं०

पति—दे०—'नायक' (शृंगार)।

पत्रगीति—दूरस्थ प्रियके पास पत्र लिखकर सन्देश भेजनेकी प्रथा प्राचीन है। प्राचीन-काव्यमें मेघ, हंस आदिको दूत बनाकर सन्देश भेजनेके निदर्शन हुए हैं। इस प्रकारके सन्देशोंमें मनोगत भाव, आकुल दशा और शारीरिक क्षीणताकी अभिव्यक्ति हुई है। सन्देश-काव्य पत्रगीतिका पूर्वरूप है। सन्देश-काव्योंमें 'मेघदूत' अधिक प्रसिद्ध है, जिसका व्यंग्यात्मक रूप 'रेल-दूत' नामक हिन्दी रचनामें प्रकट हुआ है। पत्रगीतिके रूपमें भी शकुन्तलाका दुष्यन्तको पत्रलेखन महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि वह स्वतन्त्र अथवा मुक्तक न होकर नाटकका अंशमात्र है। कबीरदासको पत्र लिखनेकी अपेक्षा नहीं हुई, क्योंकि 'प्रीतमको पतियाँ लिखूँ जो कहूँ होय विदेस। तनमें मनमें नैनमें ताको कहा सन्देस।' मीराने भी इसे स्वीकृत करते हुए कहा था—'सबके पिय परदेस बसतु है लिखि लिखि भेजें पाती। मोरा पिया हिरदयमों बसता, गूँज करूँ दिन राती।' सूरकी गोपियोंने जो सन्देश भेजे वे लिखित नहीं थे, क्योंकि 'मसि खूटी, कागद जल भीज्यौ, सरदी आगि जरै।' श्रीकृष्ण ने गोपियोंको पत्र लिखा था, जिसके सम्बन्धमें सूरकी उद्भावना है—'निरखत अंक स्यामसुन्दरके बारि बारि लावत छाती, लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गयी स्याम स्यामकी पाती।' आधुनिक कालमें भी रवि वर्माके चित्रोंका परिचय देते हुए मैथिलीशरण गुप्तने 'शकुन्तलाका पत्र-लेखन' शीर्षक कविता लिखी थी, किन्तु उसमें गीतिकाव्यात्मकता नहीं। प्रकृत पत्रगीति जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'ने 'टूटा हार' (६ अक्टूबर, १९२७ ई०) शीर्षकसे लिखी, जो 'चाँद'के पत्राकमें प्रकाशित हुई थी और जिसकी प्रथम पंक्ति थी—'देव, मेरी दुनियाके देव।' छायावादकालमें पत्रगीतियोंको अधिक प्रेरणा मिली, किन्तु यह रूप अधिक विकसित न हो सका। उदाहरणोंके लिए दे०—'गीतिकाव्य'। —रा० खे० पा०

पत्र, पत्रसाहित्य—हिन्दीमें अखबारको समाचारपत्र और विविध प्रकारकी मैगजीनोंको साहित्यिक पत्र, धार्मिक पत्र, राजनीतिक पत्र आदि कहा जाता है। अखबारों-मैगजीनोंके साथ पत्र शब्द जोड़ देनेका कारण सम्भवतः यह होगा कि पत्र अर्थात् लेख किसी बातको एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्तितक

या एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचानेका माध्यम है। पत्र शब्दका प्रयोग प्रस्तुत सन्दर्भमें लेटरके ही अर्थमें किया जा रहा है।

जब व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिके पास कोई प्रत्यक्ष सन्देश भेजे तो उसे पत्र कहेंगे। आधुनिक पत्र सामान्यत लिखित होता है, बातचीतकी शैलीमें लिखा जाता है और डाक द्वारा भेजा जाता है। प्राचीन कालमें पत्र किसी मध्यस्थके हाथों भेजे जाते थे और यह मध्यस्थ—सन्देशवाहक, पत्रवाहक, दूत या कासिद—सन्देश पानेवालेको सन्देश पढ़कर सुनाता था।

पत्र आत्मीय वार्तालापका स्थान तभी ले सकता है जब भेजनेवाले और पानेवालेके बीच कोई तीसरा व्यक्ति न हो। मध्यस्थके होनेपर पत्रकी सहज अनौपचारिकता तथा हार्दिकता नष्ट हो जाती है और पत्र केवल औपचारिक सन्देश रह जाता है। यों प्रत्येक पत्र अनौपचारिक या निजी नहीं होता, बहुतसे पत्र खुले अथवा सार्वजनिक भी होते हैं। ये भले ही किसी एक व्यक्तिको सम्बोधित हों, पर पत्र-लेखकका उद्देश्य यही रहता है कि सब इन्हें पढ़ सकें। ऐसे पत्रोंमें या तो किसी विषयका विवेचन होता है या ये पत्र उपदेशात्मक होते हैं।

डेमेट्रियसके अनुसार पत्रमें मैत्रीपूर्ण भावना अन्तर्निहित होनी चाहिये और शैलीकी दृष्टिसे पत्र सच्चा, सरल, संक्षिप्त और सादा होते हुए भी भव्य होना चाहिये। मध्य युगमें, पश्चिममें, पत्र-लेखनको लेकर काफी साहित्य रचा गया। मैत्रीपूर्ण भावना और शैलीके स्थानपर पत्रमें वक्तृत्व-कला और अलंकरणको स्थान दिया जाने लगा। पत्र बोझीले और शैलीप्रधान हो गये, क्योंकि पत्र लिखते समय पत्र पानेवालोंकी मर्यादाका ध्यान रखना आवश्यक समझा जाने लगा।

सन्तोषका विषय यह है कि आधुनिक समयमें पत्रने मैत्रीभाव और सादी शैलीको पुन अपनाकर अपना सम्बन्ध क्लासिकल परम्परासे जोड़ लिया है।

हिन्दीमें बहुत कम पत्र-साहित्य पुस्तक रूपमें प्रकाशित हुआ है, किन्तु पत्र-पत्रिकाओंमें महत्त्वपूर्ण लोगोंके पत्र यदा-कदा उद्धृत होते रहते हैं। पत्रोंको हम दो वर्गोंमें बाँट सकते हैं। एक तो निजी पत्र, जो प्रकाशनके उद्देश्यसे नहीं लिखे जाते और दूसरे ऐसे पत्र जो बाह्यत पत्र होते हुए भी वास्तवमें साहित्यिक कृतिके रूपमें लिखे तथा काशित किये जाते हैं। हिन्दी पत्रिकाओंमें प्रकाशित होनेवाले ऐसे जिस पत्र साहित्यको ख्याति मिली, उसमें बालमुकुन्द गुप्तके 'भारतमित्र'में प्रकाशित 'शिवशम्भुके चिट्ठे' और विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक द्वारा 'चाँद'में प्रकाशित 'दुबेजीकी चिट्ठी' प्रमुख हैं। तत्कालीन-वायसराय लार्ड कर्जनके नाम लिखे गये 'शिवशम्भुके चिट्ठों'ने उस समयके पाठकोंमें तहलका मचा दिया था। इन चिट्ठोंमें देशके सर्वोच्च शासक, वायसरायकी बड़ी तीव्र आलोचना की गयी थी।

महात्मा गान्धी द्वारा लिखे गये २५,००० के लगभग पत्र गान्धी-स्मारक निधि द्वारा एकत्र किये गये हैं। इस समय इनकी सूक्ष्म-वीक्षणयन्त्रसे फिल्में और फोटो प्रतियाँ तैयार की जा रही हैं। व्यवस्थित और सम्पादित हो जानेके

बाद ये पत्र समस्त प्रादेशिक भाषाओंमें प्रकाशित किये जायँगे।

किसी व्यक्ति और उसके जीवनको समझनेके लिए उसके पत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं। हमारे देशमें पत्रोंका यह महत्त्व धीरे-धीरे पहचाना जाने लगा है और प्रमुख लेखकों, नेताओं तथा अन्य विभूतियोंके पत्रोंके सकलनका कार्य प्रगति कर रहा है।

[सहायक साहित्य—पिताके पत्र पुत्रीके नाम · जवाहरलाल नेहरू। द्विवेदी पत्रावली ' स० बैजनाथ सिंह 'विनोद'। बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ सं० झाबरमल्ल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी। गुप्तजीने जो पत्र लिखे और पाये थे, उनमेंसे कुछका सकलन। पद्म सिंह शर्माके पत्र बनारसीदास चतुर्वेदी।] —अ० कु०

पदपरार्धवक्रता (प्रत्ययवक्रता)—(प्रत्यय = सुप् और लिंग + वक्रता = वैचित्र्य) पदके पूर्वार्धके अर्थात् प्रातिपदिक और धातुके प्रयोग वैचित्र्यकी भाँति पदके परार्ध अर्थात् सुप् और लिंग प्रत्ययका विचित्र प्रयोग भी काव्य-कलाकी एक विशेषता है। 'प्रत्ययवक्रता'के कई एक प्रकार हैं, जिनमें सस्कृतके कवि सिद्धहस्त हैं। प्रत्ययवक्रताका पहला प्रकार **संख्यावैचित्र्य** (सख्यावैचित्र्यविहितप्रत्ययवक्रता) है, जिसमें वचनके विचित्र विन्याससे काव्य-बन्धकी शोभावृद्धि हुआ करती है, जैसे, 'फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणी सरोजाकरा' 'उसकी आँखें खिले नील कमलोंकी वीथियाँ है और हाथ लाल कमलोंके झुण्डके झुण्ड'। इसमें द्विवचन और बहुवचनका समानाधिकरण सहृदयोंके कल्पना-नेत्रके सामने एक अद्भुत सौन्दर्यका दृश्य उपस्थित कर रहा है।

कारकके विन्यास-वैचित्र्यके कारण दूसरे प्रकारकी प्रत्ययवक्रता (कारकवैचित्र्यविहितप्रत्ययवक्रता) की सृष्टि होती है, जिसमें रसभावके परिपोषके लिए चेतन पदार्थके योग्य क्रियाके कर्ताके रूपमें चेतन पदार्थका उपनिबन्ध किया जाता है, जैसे, 'बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं'-(सूरदास)में चेतन पदार्थके योग्य 'बैरी होने—शत्रुता करने'की क्रियाके कर्ताके रूपमें 'कुंजों'(अचेतन पदार्थ)का उपनिबन्ध किया गया है, जिससे विप्रलम्भका एक चमत्कारपूर्ण परिपोष हो रहा है।

प्रत्ययवक्रताका तीसरा प्रकार वह है जिसे '**पुरुष-वैचित्र्यविहित**' प्रत्ययवक्रता कहा गया है और जो कवियोंके ऐसे प्रयोगोंमें दिखाई दिया करती है जिनमें भावपरिपोषके लिए मध्यम और उत्तम पुरुषके बदले अन्य पुरुष अथवा प्रातिपादिकका प्रयोगचमत्कार रहा करता है, जैसे, 'साकेत'के कविकी इस सूक्ति—'हे आर्य! रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी? मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब तब भी?'में मुझेके बदले 'उसे'के प्रयोगसे भरतकी आत्म-निर्वेद-भावना अत्यधिक उत्कटतासे प्रकाशित की जा रही है।

प्रत्ययवक्रताका चौथा प्रकार जिसे **पदमध्यप्रत्यय-वक्रता** कहा गया है, वह है जिसमें पदके मध्यमें आये कृत् प्रभृति प्रत्यय वर्ण्य विषयके औचित्य और सौन्दर्यके वर्धक प्रतीत हुआ करते हैं (प्रस्तुतौचित्यविच्छित्ति

स्वमहिम्ना प्रकाशयन्। प्रत्ययः पदमध्येऽन्यामुल्लासयति वक्रताम्।' (व० जी० २ १७)। उदाहरणके लिए, इस मस्कृत काव्यसूक्ति—'दोर्मूलावधिसूत्रितस्तनभुरः स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ' में 'स्निह्यत्कटाक्षे' पदके मध्यमें वर्तमानकालवाचक 'शतृ' (अत्) प्रत्ययके प्रयोगसे किसी सुन्दरीकी तत्कालरमणीय तिरछी चितवनोंवाली आँखोंकी सुन्दरताका हृदयहारी दृश्य उपस्थित किया जा रहा है।

प्रत्ययवक्रताका पाँचवाँ प्रकार **कालवैचित्र्यवक्रता** है जिसमें तिङ् आदि प्रत्ययके वाच्यार्थ वर्तमान आदि काल, वर्ण्य विषयके सौन्दर्यके परिपोषक होनेसे स्वयं सुन्दर प्रतीत हुआ करते हैं—'औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम्। याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता।' (व० जी० २ २६) जैसे कि सूरदासकी इस सूक्ति—'उपमा हरि तन देखि लजाने। कोउ जलमें कोउ बनहिं रहे दुरि कोऊ गगन समाने।'में 'लजाने'-(लजा गये)के 'ने'(प्रत्यय)के वाच्यार्थ भूत कालके वैचित्र्यने कृष्णके अगसौन्दर्यके उपमानोंकी वर्तमान और भविष्य सम्बन्धी सभी सम्भावनाएँ दूर की जा रही हैं।

प्रत्ययवक्रताका छठा प्रकार वह है जिसे **उपग्रहवैचित्र्यवक्रता** कहा गया है। 'उपग्रह' कहते हैं आत्मनेपदी और परस्मैपदी धातुओंके यथानियम किं वा प्रसंगोचित प्रयोगको (व० जी० २·३०)। इस प्रकार वर्ण्य विषयके औचित्यसे आत्मनेपद अथवा परस्मैपदके प्रयोगवैचित्र्यका नाम उपग्रहवक्रता है (पदयोरुभयोरेकमौचित्याद् विनियुज्यते। शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम्।' (व० जी० २ ३१)। जैसे कि कालिदासकी इस सूक्ति (रघुवंश ९·५७)—'तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः, कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः। त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः, प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥' अर्थात्, 'शिकारी दशरथकी बाणपर कसी मुट्ठी मृगोंके आगे पड़ते ही खुल जाती रही, क्योंकि उनके त्रस्त और चचल नेत्र मृगनयनी अन्तःपुरकी नारियोंके कटाक्षोंकी याद दिला-दिलाकर महाराजको आत्मविस्मृत करने लगे'में 'बिभिदे'के आत्मनेपदके प्रयोगवैचित्र्यसे 'मुट्ठीके स्वयं खुल खुल जाने'का जो अभिप्राय प्रकाशित हो रहा है उससे यह समस्त काव्यबन्ध सुरभित और मनोहर बन उठता है।

सातवाँ प्रत्ययवक्रता प्रकार **प्रत्ययान्तरवैचित्र्यवक्रता** है, जिसे तिङ् आदि प्रत्ययसे विहित अन्य प्रत्ययके प्रयोगसौन्दर्यमें देखा जा सकता है—'विहित प्रत्ययादन्यः प्रत्ययः कमनीयताम्। यत्र कामपि पुष्णाति सान्या प्रत्ययवक्रता।' (व० जी० २ ३२)। जैसे कि इस संस्कृत सूक्ति—'लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते, निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा बहिः। वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुनर्यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः ॥' अर्थात्, 'उन दोनों प्रकारके कवियोंकी वन्दना करता हूँ जिनमें एक तो अपनी कवितासे सूक्ष्म सुन्दर वस्तुओंके निगूढ स्वभावसौन्दर्यको बाहर प्रकाशित कर देता है और दूसरा उसके ऊपर एक विचित्र चमत्कारकी सृष्टि कर डालता है। किन्तु उनसे भी बढ़े उस सहृदयकी और भी वन्दना करता हूँ जो इन दोनों प्रकारके कवियोंकी कृतियोंका मर्म जानता है और उनके परिश्रमका मोल समझता है'में 'वन्दे'के तिङ् प्रत्ययसे विहित 'तरप्' प्रत्ययका विचित्र विन्यास 'सहृदयता'के प्रति यहाँ कविकी उन-उन भावनाओंका प्रकाशन कर देता है जिन्हें वह अपने मनमें सँजोये पड़ा है। —स० ब्र० सिं०

पदपूर्वार्धवक्रता–(पद=सुबन्त अथवा तिङन्त+पूर्वार्ध=प्रातिपदिक अथवा धातु+वक्रता=विन्यासविचित्रता) 'पदपूर्वार्धवक्रता'का अभिप्राय है 'प्रातिपदिक' अथवा 'धातु' शब्दका विन्यासवैचित्र्य। यह भी काव्यकी एक पहचान है। इसका विश्लेषण काव्यसूक्तिमें होता है और इसके विश्लेषणसे कविकी काव्यकला-कुशलताका पता चलता है। इसके अनेकानेक प्रकार हैं, जिनमें १ **रूढिवैचित्र्यवक्रता** रूढिशब्दोंके ऐसे प्रयोगोंमें दिखाई दिया करती है जिनसे सहृदय काव्य-पाठकके हृदयमें उन शब्दोंके वाच्यार्थसे विलक्षण अर्थ भासित हुआ करते हैं। रूढिशब्दोंके विचित्र विन्यासकी दो विशेषताएँ हैं–पहली वह, जिसे 'धर्मिगत' रूढिवैचित्र्यवक्रता कहा गया है और दूसरी वह, जो 'धर्मगत' रूढिवैचित्र्यवक्रता कही गयी है। 'धर्मिगत' रूढिवैचित्र्यवक्रतामें सज्ञाशब्दोंके लोकप्रसिद्ध 'व्यक्ति'रूप अर्थ, यथावसर, नानाविध अभिव्यग्य धर्मोंसे सर्वथा ओत-प्रोत लगा करते हैं और 'धर्मगत' रूढिवैचित्र्यवक्रतामें रूढिशब्द अपने वाच्य 'व्यक्ति'रूप पदार्थके अद्‌भुत, अलौकिक धर्म अथवा स्वभावके प्रकाशक प्रतीत हुआ करते हैं। रूढिवैचित्र्यवक्रताका कारण कविकी एक विचित्र इच्छा है जो किसी उद्देश्यसे, कभी किसी वस्तुके प्रति अलौकिक सम्मान भावना प्रकट किया करती है—'लोकोत्तरतिरस्कारश्लाघ्योत्कर्षाभिधित्सया।' (व० जी० २ : ९)। उदाहरणके लिए, आनन्दवर्धनकी सूक्ति–'तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते। रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि।' यहाँ कमलपदमें 'रूढिवैचित्र्यवक्रता' है, क्योंकि कवि कहता है—'वे ही कमल कमल हैं जो सूर्यकी किरणों द्वारा अनुगृहीत होते हैं।' यहाँ यह स्पष्ट है कि 'कमल' शब्दसे जलजमात्रका अर्थ विवक्षित नहीं, अपितु अलौकिक मगलमयता, विचित्र रमणीयता आदिकी विशेषताओंसे विशिष्ट कमलका अर्थ अभिप्रेत है।

पदपूर्वार्धवक्रताका दूसरा प्रकार **पर्यायवक्रता** है, जिसकी अनेक अपनी विशेषताएँ हैं। 'पर्यायवक्रता'की एक विशेषता यह है कि जिसमें कोई पर्याय शब्द—वह शब्द जिसके समानार्थक और भी शब्द व्यवहृत हो सकते हैं—अपने वाच्य अर्थका अन्तरग मित्र-सा—'अभिधेयान्तरतमः पर्यायः, (व० जी० २·१०) लगा करता है। जैसे कि तुलसीकी इस उक्ति 'अब चित चेतु चित्रकूटहि चलु'(वि० ५०)में 'चित' पद। यहाँ मन आदि और समानार्थक शब्दोंके होते हुए भी कविने 'चित' पद ही प्रयुक्त किया है, क्योंकि यही पद ऐसा है जो सचेत किये जानेवाले चिन्तनप्रवण अन्तःकरणके अर्थका अन्तरग सा लग रहा है। पर्यायवक्रताकी दूसरी विशेषता वह है जिसे पर्याय शब्दका, अपने अभिधेय अर्थको, उसके लोकोत्तर उत्कर्षसे पोषित करना कहा गया है—'अभिधेयस्यातिशयपोषकः पर्यायः' (व० जी० २ १०)। सूरदासकी इस सूक्ति—'जब मोहन मुरली अधर

धरी। गृहव्यवहार थके आरजपथ तजत न सक करी।'में 'मोहन' पद अपने अभिधेय 'कृष्ण' अर्थको उसके लोकोत्तर उत्कर्ष—स्वर्गीय संगीत नैपुण्य, गोपीहृदयवशीकरणसामर्थ्य आदिसे भरता प्रतीत हो रहा है। यह भी पर्याय-वक्रताका ही एक प्रकारवैचित्र्य है कि कोई पर्याय शब्द, स्वयं अथवा अपने विशेषणपदके सम्पर्कसे, अपने अभिधेय अर्थको, अपने अन्य रमणीय अर्थ-वैचित्र्यसे विभूषित करता प्रतीत हो—'स्वयं विशेषणेनापि रम्यच्छायान्तर-स्पर्शात् अभिधेयमलंकर्तुमीश्वर पर्याय·' (व० जी० २ १०)। उदाहरणके लिए, 'साकेत'की इस उक्ति—'हा लाल! उसे भी आज गँवाया मैंने'में 'लाल' पद स्वयं अपने अभिधेय 'पुत्र'रूप अर्थको, अपने अन्य अर्थ—जैसे कि बहुमूल्य पद्मरागमणि आदिकी कमनीयतासे अलंकृत करता हुआ कैकेयीकी दीनताको और भी दयनीय बना रहा है।

पर्यायवक्रताकी तीसरी विशेषता 'उपचारवक्रता' है। काव्य-साहित्यमें 'उपचारवक्रता'के अनेक रूप दिखाई देते हैं। इसका एक रूप है जिसमें वर्ण्य पदार्थपर दूसरे पदार्थके धर्मका आरोप दिखाई दिया करता है, जिससे सौन्दर्य-प्रेमी कविकी समदृष्टिका परिचय मिला करता है। अचेतन पदार्थ-पर चेतन पदार्थके धर्मका आरोप, मूर्तपर अमूर्तके सौन्दर्यका आरोप, द्रव पदार्थपर तरल पदार्थके स्वभावका आरोप आदि इस उपचारवक्रताके बहुविध वैचित्र्य हैं। जैसे कि सूरदास-की इस सूक्ति—'अँखियाँ हरिदरसनकी भूखी'में 'आँखों'पर चेतन प्राणीके धर्म 'भूख'का आरोप एक काव्यात्मक वैचित्र्य है, क्योंकि इसीसे हरिदर्शनके लिए आँखोंकी बेचैनी-का निगूढ अभिप्राय प्रकाशित हो सकता है। उपचारवक्रता-का दूसरा रूप वह है जो रूपक प्रभृति अलंकारोंके चमत्कार-का प्राणरूप हुआ करता है—'यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिर-लंकृति' (व० जी० २ १४)। जैसे कि तुलसीदास-की सूक्ति—'एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास'में 'राम'पर 'श्याम घन' तथा 'तुलसीदास'पर 'चातक'के आरोपसे दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें जो अभेदभावना प्रकाशित हुई है उसमे 'उपमेय' और 'उपमान'की अभेद-कल्पनाको प्रोत्साहन मिल रहा है, जिसमे राम-रतिकी अभिव्यक्ति अनायास, किं वा उत्कट रूपमे हो उठती है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि पूर्वनिर्दिष्ट उपचारवक्रता-में तो एक पदार्थपर दूसरे पदार्थके धर्मका आरोप हुआ करता है जिसका कारण उन पदार्थोंका किंचिन्मात्र सादृश्य हो सकता है, किन्तु यहाँ दो स्वभावत भिन्न पदार्थोंमें अभेद-भावनाका पोषण किया जाता है जो कि उनके पर्याप्त साम्य-दर्शनसे ही सम्भव है।

पर्यायवक्रताकी चौथी विशेषता 'विशेषणवक्रता'के रूपमें दिखाई देती है। विशेषणवक्रता महाकवियोंकी शैलीकी एक बहुत बड़ी विशेषता है। विशेषणवक्रतामें कारक-विशेषण और क्रिया-विशेषण दोनोंके विचित्र विन्यास-का अभिप्राय अन्तर्भूत है। 'विशेषण'के विन्यास-वैचित्र्यसे क्या वस्तु-स्वभाव, क्या रस-समुन्मेष और क्या अलंकार-सौन्दर्य, सभीके सभी अत्यधिक मनोहर लगा करते हैं। उदाहरणके लिए, इस सूक्ति—'मुरली लकुटवारे चन्द्रिका मकुटवारे, दुरित हमारे दरौ राधिका रमनजू'में 'राधिकारमन'-(कृष्ण)के लिए प्रयुक्त 'मुरली लकुटवारे' और 'चन्द्रिका मकुटवारे' इन विशेषण-पदोंकी 'वक्रता' स्पष्ट है, क्योंकि इन्हींकी महिमासे यहाँ 'राधिकारमन'के प्रति कविका प्रेयसी-प्रेम और राधिकाके सौभाग्यके प्रति स्वर्गीय ईर्ष्याभाव एक विचित्रतासे झलक उठता है। इसी भाँति एक भाव-समाहित कविकी इस उक्ति 'सह न सके जब वे चिर सजग व्योमकी क्रान्ति', 'एक दिन ढूँढने निकले दो विहग'में 'चिरसजग'का विचित्र विशेषण-विन्यास 'व्योम'के उस अनिर्भेद्य रहस्यका उन्मीलन कर देता है जिसके उद्भेदनमें इन्द्र और वृत्र-युद्धकी वैदिक कल्पना उत्पन्न हुई थी।

पदपूर्वार्धवक्रताका तीसरा प्रकार **संवृतिवक्रता** है। संवृतिवक्रताका अभिप्राय किसी वस्तुके लिए, उसके अलौकिक सौन्दर्यके प्रकाशनार्थ वाचक पदके बदले 'सर्वनाम' पदका प्रयोग-वैचित्र्य है। एक कविकी इस उक्ति—'क्या प्यारके वे पल ही जगका महान् कलक'में 'वे'का प्रयोग इसका एक सुन्दर उदाहरण है, क्योंकि इसीकी महिमासे 'प्यारके पलें'की अनुभूत, किन्तु अवर्णनीय उत्कण्ठा, उत्कट रूपसे अभिव्यक्त हो उठती है।

पदपूर्वार्धवक्रताका चौथा प्रकार **वृत्तिवैचित्र्यवक्रता** है, जिसका अभिप्राय विषय अथवा भाव-सौन्दर्यके अनुरूप समास, कृत् आदि वृत्तिके प्रयोगका वैचित्र्य है।

पदपूर्वार्धवक्रताका पाँचवा प्रकार **लिंगवैचित्र्यवक्रता** है। इसके भी कतिपय रूप-वैचित्र्य हैं, जिनमें एकार्थवाची भिन्न लिंगवाले पदोंमें स्त्रीलिंग पदका प्रयोग विशेष महत्त्व रखता है। जैसे कि तुलसीदासकी इस सूक्ति—'नयन सरोज मयन सरसीके'(गीतावली)में 'सर'के बदले 'सरसी'का प्रयोग 'लिंगवक्रता'का एक सुन्दर निदर्शन है, क्योंकि रामके बाल-रूपके प्रति वात्सल्यभावकी सुकुमार योजना जितनी इससे सम्भव है उतनी इसके समानार्थक पुलिंग पदके प्रयोगमे नहीं।

पदपूर्वार्धवक्रताका एक और भी सुन्दर प्रकार है, जिसे **क्रियावैचित्र्यवक्रता** कहा गया है और जिसके रूप-पंचकमें कविकी क्रियायोजनाका सौन्दर्य दिखाई दिया करता है। इसका प्रथम रूप 'क्रिया' पदकी योजनाका वह वैचित्र्य है जिसमें 'क्रिया' पद 'कर्ता'का अन्तरंग-सा प्रतीत होता है 'कर्तुरत्यन्तरंगत्वम्'(व० जी० २ २४)। जैसे कि 'उपमा एक न नैन गही' (सूरदास)में 'गही'का जो प्रयोग है वह यहाँके विषयकी औचित्य-महिमामे, 'नैन'-(रूपग्राहक इन्द्रिय)के प्रति अत्यन्त अन्तरतम-सा लग रहा है। 'क्रियावैचित्र्यवक्रता'का द्वितीय रूप वह है जहाँ कोई 'क्रिया' कर्तृपदके योगसे विचित्र लगा रखती है। जैसे कि 'नीले वितानके तले दीप बहु जागे'(साकेत)में 'जागे'की क्रियाका 'सौन्दर्य' इसके कर्तृपद 'दीप'के सम्बन्धसे विलक्षण बन जाता है, जिससे यहाँ प्रस्तुत निस्तब्ध वातावरणकी विचित्रता और भी अधिक झलक उठती है। क्रियावैचित्र्य-वक्रताके तीसरे रूपमें क्रियाविशेषणके द्वारा 'क्रिया'में सौन्दर्यका आधान दिखाई देता है। जैसे कि 'फहर रहे थे केतु उच्च अट्टोंपर फर फर'(साकेत)में 'फर-फर'के

क्रियाविशेषणसे पताकाओंके 'फहरने'की क्रियाका सौन्दर्य पूरा निखर उठता है। क्रियावैचित्र्यवक्रताका अति सुन्दर रूप वह है जिसमें क्रियापदसे उपचार-सौन्दर्य झलका करता है। जैसे कि 'जीती जीती है रन बसी'(सूरदास)में 'बसी'के लिए प्रयुक्त 'रण जीतने'की क्रियासे 'बसी'पर 'प्रेयसी व्यवहार'का आरोप स्पष्ट झलक उठता है और कविकी कृष्णरतिका आनन्द वह निकलता है। —स० व्र० सिं०

पदमध्यप्रत्ययवक्रता—दे०—'पदपरार्धवक्रता', चौथा प्रकार।

पदवक्रता (अव्युत्पन्न पद : उपसर्ग और निपात-वक्रता)—पदपूर्वार्ध और पदपरार्धवक्रता तो उन पदोंके विचित्र विन्यासमें देखी जाया करती हैं जो 'नाम' और 'आख्यात' रूप पद हैं, किन्तु 'उपसर्ग' और 'निपात' पद भी, जिन्हें अव्युत्पन्न पद कहा जाता है, क्योंकि प्रकृति-प्रत्यय विभागकी सम्भावनासे परे रहा करते हैं, अपने विचित्र उपनिबन्धसे रसभावके विचित्र परिपोषक हुआ करते हैं। रसभावके विचित्र परिपोषमें समर्थ 'उपसर्ग' और 'निपात' पदोंकी विन्यास-विच्छित्तिका ही नाम 'पदवक्रता' (अव्युत्पन्न पद : उपसर्ग और निपातवक्रता) है जैसा कि कुन्तक(वक्रोक्तिजीवितकार)ने कहा है—'रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः। वाक्यैकजीवितत्वेन साऽपरा पद-वक्रता।' (२ ३३) अर्थात् पदके पूर्वार्ध और अपरार्धकी वक्रता अथवा विचित्रतासे अनूठी वह पदवक्रता है, जिसमें 'उपसर्ग' और 'निपात'के ही द्वारा काव्य-बन्धमें व्याप्त रसभाव छलक पड़ता है। उदाहरणके लिए, सूरदासकी इस सूक्ति—'अँखियाँ अतिहि अजान भई' में 'अतिहि' पद (अव्युत्पन्न) अत्यधिक चमत्कार-कारक है, क्योंकि इसीकी महिमासे मोहनकी रूप-माधुरीके प्रति विस्मित कवि-हृदयका रहस्य खुल निकलता है। —स० व्र० सिं०

पद-शैली—यह कह सकना सरल नहीं है कि किस निश्चित समय काव्य-रचनाकी यह गेय शैली प्रचलित हुई। सिद्धोंके चर्या-पदोंसे इसका इतिहास जोड़ा जा सकता है। परन्तु इसके विकासका मूल स्रोत लोक-गीतोंकी परम्परा ही मानी जा सकती है। वस्तुतः हिन्दीके मात्रिक छन्दोंके विकासमें भी लोक-छन्दोंका आधार था और मात्रिक छन्द लोक-गीतोंकी प्रकृतिसे पूरा मेल रखते हैं। हिन्दी पद शैलीमें विभिन्न छन्दोंका प्रयोग उनके अनेक मिश्रित रूपोंमें हुआ है, इनका निश्चित चिह्न—'टेक' भी मात्रिक छन्दका ही चरण रहता है। पद-शैलीके साथ दूसरी समस्या संगीतशास्त्रकी है। प्रायः पदोंके साथ किसी-न-किसी 'राग'का निर्देश मिलता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कविने पद-रचनाका आधार राग विशिष्ट रखा था या पदविशेष उसी रागमें गाया जा सकता है। आधुनिक संगीतज्ञ तो इन पदोंको भिन्न रागोंमें ही निश्चित करते हैं। वस्तुतः इन निर्देशोंका अभिप्राय यही हो सकता है कि सम्प्रदायमें इन पदोंको गाये जानेकी यह विशिष्ट पद्धति रही है। इन पदोंमें संगीतका समन्वय अवश्य है, पर ये राग प्रधान नहीं माने जा सकते, क्योंकि राग स्वर और तालप्रधान होते हैं, परन्तु इनमें प्रधानता भावाभिव्यक्तिकी है। इन पदोंमें सामान्य छन्दोंसे अधिक मार्मिकता तथा व्यंजनाके साथ रूप-सौन्दर्य तथा भाव-सौन्दर्यको अंकित किया गया है। पदोंकी प्रकृति सामान्य मुक्तकोंसे भिन्न है। 'टेक' इसका विशेष अंग है और इसमें पदके भाव-सूत्रका केन्द्र रहता है। किसी भी पदकी 'टेक'में यह देखा जा सकता है। सम्पूर्ण पदमें इस भाव-केन्द्रका प्रसार होता रहता है। मुक्तकमें, विशेषकर रीतिकालके प्रसिद्ध छन्द कवित्त-सवैयामें भावोत्कर्ष क्रमिक रूपसे अग्रसर होकर अन्तिम चरणमें परिसमाप्त होता है। परन्तु पद-शैलीमें भाव-चित्र अथवा मूल संवेदना गुम्फित होती हुई अपने प्रसारमें पाठकको या श्रोताको अभिभूत कर लेती है।

हिन्दी साहित्यमें पद-शैलीकी दो निश्चित परम्पराएँ मिलती हैं। एक सन्तोंके 'सबदों'की जो वास्तवमें पद-शैलीमें ही प्रायः लिखे या गाये गये हैं। इस परम्पराका सम्बन्ध सिद्धोंके चर्या-पदोंसे सरलतासे देखा जा सकता है, क्योंकि सन्तोंने भावना तथा प्रतीकोंके क्षेत्रमें सिद्धों और नाथोंसे बहुत कुछ ग्रहण किया है। दूसरी परम्परा कृष्ण भक्तोंकी पद-शैली है जिसका आधार लोक-गीतोंकी शैली होगा। विद्यापतिके पदोंके अत्यधिक लोक-प्रचलित रूपसे यह अनुमान लगाया जा सकता है, परन्तु यह नहीं माना जा सकता कि ये दोनों परम्पराएँ किसी स्तरपर समान नहीं हैं। लगभग सभी आधुनिक भारतीय भाषाओंमें भक्ति-भावनाकी अभिव्यक्तिके लिए पद-शैलीका प्रयोग मध्य युगमें हुआ है और इससे भी यही सिद्ध होता है कि पद-शैलीका विकास तत्कालीन लोक-गीतोंसे ही हुआ है।

कबीर, दादू, नानक तथा सुन्दरदास आदि अनेक सन्त कवियोंने पद-शैलीका प्रयोग अपनी गम्भीर तथा सघन भावाभिव्यक्तिके लिए किया है। इन्होंने साखियों-का प्रयोग प्रायः सत्य-निरूपण, उपदेश, ज्ञानचर्चा आदिके लिए किया है, परन्तु पदोंका प्रयोग अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति(प्रेम-विरह)के लिए किया है। यही कारण है कि जिन सन्तोंमें कवित्व तथा भाव-प्रवणता विशेष है वे अधिक सुन्दर पदोंकी रचना कर सके हैं। कबीर और दादूके पदोंका विशेष महत्त्व है। इन कवियोंने 'उलटबाँसियों'की रचना भी पद-शैलीमें की है।

कृष्ण-काव्यमें विद्यापतिने सर्वप्रथम पदशैलीका बहुत ही सुन्दर और सफल प्रयोग किया है। यौवनके स्फुरण, सौन्दर्य तथा उद्वेगजनक प्रेम-विरहके चित्र उनके पदोंमें इस सजीवताके साथ अंकित हुए हैं कि जनता उनसे भाव-विह्वल हो उठी। इनके बाद सूरका सारा काव्य व्यक्तित्व पदशैलीमें ही निर्मित है। उनके 'सूरसागर'का सम्पूर्ण कवित्वपूर्ण और सजीव भाग पदोंमें है। 'सूरसागर'में कथाका सूत्र लेकर भी सूरकी मौलिक प्रकृति मुक्त है और वे सौन्दर्य तथा भावनाके कुशल कवि हैं। पदशैली उनकी इसी प्रकृतिके अनुकूल है। वे सौन्दर्य-चित्रोंके अनेक पक्षोंको और भावनाके अनेक सूक्ष्म और सघन क्षणोंको अपने पदोंमें मार्मिकता तथा कुशलताके साथ अभिव्यक्त कर सके हैं। परमानन्ददास, कृष्णदास, नन्ददास आदि अष्टछापके कवियोंपर सूरकी स्पष्ट छाप है। पर पुष्टिमार्गके बाहरके कवियोंने भी पदशैलीमें ही अपनी भक्ति-भावनाको व्यक्त किया है। इनमें मीराँबाईका महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि

इनकी पदशैलीमें स्वच्छन्द मुक्ति है और सहज भावावेग है। अपने पदोंके माधुर्यके लिए हितहरिवंशका नाम भी प्रसिद्ध है। आधुनिक कालमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके पदोंमें सूरकी मार्मिकता मिलती है और सत्यनारायण कविरत्नके पदोंमें भी कोमल भावशीलता है।

राम-काव्यके अन्तर्गत तुलसीदासने अपनी कुछ रचनाएँ पदशैलीमें की हैं। 'कृष्णगीतावली'में उन्होंने कृष्णकी कथापर आधारित पद लिखे हैं, 'गीतावली'में राम-कथा पदोंमें गायी गयी है और यह तुलसीकी उत्कृष्ट रचनाओंमें है। इसमें भावोंकी मार्मिकता 'रामचरितमानस'से अधिक प्रभावशाली है, यह पदशैलीकी ही विशेषता है। उनकी 'विनयपत्रिका'-का अधिकांश पदशैलीमें है (प्रारम्भमें स्तोत्रशैली है)। तुलसीको पदशैलीमें समानरूपसे सफलता प्राप्त हुई है, इसमें सन्देह नहीं है। यद्यपि वर्तमान कालमें पदशैलीका प्रचार बिलकुल नहीं है, पर सामान्य जनता और सुशिक्षित जनोंमें सामान्य रूपसे इनका प्रचार और आकर्षण है। इससे इस शैलीकी शक्तिका अनुमान लगाया जा सकता है। —र०

पदार्थस्वरूपवक्रता–दे०—'वाक्यवक्रता'।

पद्धरि–मात्रिक समछन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'में पज्झलिया नामक छन्द दिया गया है जिसके प्रत्येक चरणमें १६ मात्राएँ तथा अन्तमें जगण (ISI) कहा गया है (१ १२६)। हिन्दीमें यही छन्द पद्धरि कहलाया है। भिखारीदासने पद्धरि छन्दके प्रत्येक चरणको १६ मात्राका माना है और अन्तमें यगण(ISS)का निर्देश किया है, परन्तु उदाहरणमें जगणका प्रयोग ही किया है—'नभ रैनि सघन तमभय विलास, पद अटकत कण्टक दर्भजाल।' (छन्दो० : पृ० २६)। भानु कविने अवश्य पद्धरिकी परिभाषा यही देकर पज्झरिया नामक छन्द भिन्न माना है (छ० प्र० पृ० ४८)। हिन्दीमें इस छन्दका व्यापक प्रयोग हुआ है, चन्द (पृ० रा०), सूर (सू० सा०), तुलसी (गीतावली), केशव (रा० च०), मान (रा० वि०), सदानन्द (रा० म०), सूदन (सु० च०), गुलाब (क० रा०) तथा बोधराज (ह० रा०)। चारणोंमें वीर रसके प्रसंगोंमें, विशेषकर युद्धवर्णनके लिए इसका प्रयोग हुआ है। अपभ्रंशमें इस छन्दमें सामान्य वर्णनकी परम्परा थी। हिन्दीके कवियोंने भी वीर रसके अतिरिक्त अन्य प्रसंगोंमें इसका उपयोग किया है। मानने दहेजकी सामग्री, आभूषण, सूदनने वीरोंकी वंशपरम्परा तथा नामावली, जोधराजने आश्रयदाताकी प्रशंसा, ऋतु आदिका वर्णन इस छन्दमें किया है। तुलसीने 'गीतावली'में होली-वर्णनके लिए पदमें इस छन्दका प्रयोग किया है–'देखत वसन्त राजाधिराज। देखत नभ कौतुक सुर समाज।' (७ १०३)। सूदनका प्रयोग–'यों परयो सोर दिल्ली अपार। पुर लोग पुकारत बार बार।' (सु० च० ३१ १२, ६)। इस छन्दमें ८-८ पर यति लगानेका नियम भी रहा है, पर हिन्दीके कवियोंने इसमें पर्याप्त छूट ली है। कभी-कभी १०, ६ पर यति है, कभी किसी चरणमें ठीक यति है और अन्यमें नहीं। केशवके इस छन्दमें—'कपि शोभित सुभट अनेक संग। ज्यों पूरन शशि सागर तरंग।' (रा० च० २१ ५६)में यतिका नियम लग सकता है। —स०

पद्म–दे०—'कमल'।

पद्मावती–मात्रिक समछन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'-के अनुसार यह ३२ मात्राके चरणवाला छन्द है, जिसमें १०, ८, १४ पर यति होती है। भानुने इसीके आधारपर अन्तमें दो गुरु (SS) तथा चौकलमें जगण(ISI)के न पड़नेका निर्देश किया है। परन्तु 'पैंगलम्'में गुरुका आदेश यतियोंपर ही है, अन्तमें नहीं, यह उदाहरणसे स्पष्ट है (१ १४४-५)। इस छन्दका प्रयोग केशवने किया है—'यद्यपि जग कर्ता, पालक हर्ता, परिपूरण वेदन गाये। (रा० च०)।

पद्मिनी–दे०—'महामुद्रा'।

पद्य–संस्कृत साहित्यशास्त्रमें श्रव्य काव्यका एक भेद। दे०—'साहित्यरूप'। काव्य गद्य, पद्य या गद्य-पद्यके मिश्रित रूपमें लिखा जा सकता है। पद्य-काव्यसे तात्पर्य है छन्दोबद्ध काव्य-**महाकाव्य, खण्डकाव्य, पद्य निबन्ध, मुक्तक, गीति** आदि। इस प्रकार पद्यका अर्थ होता है छन्दोबद्ध रचना। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे पदयुक्त अर्थात् गण-मात्रायुक्त रचनाको पद्य कहते हैं। इस प्रकार पद्य शब्द रचनाके बाह्य रूपका बोध कराता है, उसकी आन्तरिक प्रकृतिका कोई संकेत नहीं देता। अरस्तूने पद्य और कविताका अन्तर करके इसी ओर लक्ष्य किया है (दे०—'कविता', 'काव्य')।

परन्तु पद्य शब्दका प्रयोग कविताके लिए भी होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे अँग्रेजीके वर्सका शाब्दिक अर्थ छन्दोबद्ध रचना (मीट्रिकल कम्पोजीशन), कोई एक छन्द या कोई एक छन्दोबद्ध पंक्ति होता है, फिर भी उसका प्रयोग कविता(पोएट्री या पोएम)के अर्थमें भी होता है। इसका कारण यह है कि काव्यकी अर्थ-व्याप्तिमें गद्य-रचनाओंके समावेशके बावजूद कविता और पद्य बहुत-कुछ अभिन्नसे मान लिये गये हैं। पद्य और काव्यके अन्तरको स्पष्ट करनेके लिए न जाने कितना ऊहापोह हुआ है, परन्तु फिर भी दोनोंमें सम्बन्धकी कुछ ऐसी अनिवार्यता हो गयी है कि गद्यकी काव्यात्मक अर्थात् सौन्दर्यवृत्तिपर आधारित संवेदनशील और रसात्मक रचनाओंको गद्य विशेषण जोड़कर गद्य-कविता, गद्य-काव्य या गद्य-गीति नामसे अभिहित करना पड़ता है। —व्र० व०

पद्य-निबंध–दे०—'पद्य प्रबंध'।

पद्य-प्रबंध–प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रमें प्रबन्धका अर्थ सर्गबन्ध कथात्मक काव्य या कथा आख्यायिका माना जाता था। रुद्रटने इसी अर्थमें प्रबन्ध शब्दका प्रयोग करते हुए लिखा है–'सन्ति द्विधा प्रबन्धा काव्यकथाख्यायिकादय।' इस तरह प्राचीन भारतीय आलंकारिकोंके अनुसार **महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथा, आख्यायिका, धर्मकथा, परिकथा** आदि रसात्मक तथा वर्णनात्मक कथाएँ प्रबन्ध हैं। हेमचन्द्रने प्रबन्धको **प्रबन्ध-काव्य**से भिन्न एक स्वतन्त्र काव्य-रूप माना है और 'परप्रबोधनार्थ' लिखी गयी नीति या धर्म-सम्बन्धी उपदेशात्मक कथाओं, जैसे, 'नलोपाख्यान' आदिको प्रबन्ध कहा है। परवर्ती कालमें ऐतिहासिक और विशिष्ट व्यक्तियोंसे सम्बन्धित निजन्धरी या कल्पित घटनाओं-पर आधारित लघु कथाओंको प्रबन्ध कहा जाता था, जैसे 'प्रबन्धकोश', 'भोजप्रबन्ध' और 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह'के

प्रबन्ध। किन्तु आधुनिक युगमें प्रबन्ध शब्दका अर्थ परिवर्तित हो गया है। आजकल विचारात्मक, विश्लेषणात्मक और विवेचनात्मक गद्यबद्ध रचनाओंको, चाहे वे समीक्षात्मक हों या सैद्धान्तिक, प्रबन्ध कहा जाता है। अब यह शब्द अँग्रेजीके 'थीसिस' शब्दके अर्थमें प्रयुक्त होता है। कभी-कभी प्रबन्ध शब्दका प्रयोग निबन्ध (एसे) शब्दके समानार्थीके रूपमें भी होता है, किन्तु सामान्यतया निबन्ध और प्रबन्धका यह भेद मान्य हो गया है कि निबन्ध आकारमें लघु, अत्यधिक सघटित और समास-शैलीमें लिखा गया होता है और प्रबन्ध बड़े आकारका तथा व्याख्यात्मक होता है। इस तरह आजकलकी साहित्यिक मान्यताके अनुसार प्रबन्ध और निबन्ध विचारक्षेत्रके शब्द हैं, काव्य या कथा-क्षेत्रके नहीं। यद्यपि प्रबन्धकाव्य शब्दका व्यवहार आज भी होता है, पर केवल प्रबन्ध शब्द आज प्रबन्धकाव्य या कथा-आख्यायिकाका बोधक नहीं रह गया है।

प्राचीन भारतीय आलंकारिकोंने पद्य-प्रबन्ध नामक कोई काव्यरूप नहीं माना है। पद्य-बद्ध शास्त्र-ग्रन्थ तब भी लिखे जाते थे, पर उन्हें काव्य या साहित्यके अन्तर्गत नहीं माना जाता था। आधुनिक युगमें गद्य प्रधानतया विचार-विवेचनाका और पद्य भावाभिव्यंजनका माध्यम बन गया है। अत आज गद्य-काव्य या गद्य गीतके अतिरिक्त सारा काव्य पद्य-बद्ध होता है। प्राचीन कालमें नाटक और कथा-आख्यायिकाको भी काव्य ही माना जाता था, पर अब उन्हें काव्य नहीं, गद्य साहित्यके अन्तर्गत माना जाता है। फिर भी इस युगमें ऐसी पद्य बद्ध रचनाएँ लिखी गयी हैं जिन्हें न तो विशुद्ध काव्य ही माना जा सकता है और न पद्य-बद्ध शास्त्र ही कहा जा सकता है। ऐसी रचनाओंको पद्य प्रबन्ध या पद्य-निबन्ध कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें आधुनिक युगमें गद्यमें लिखे गये विचारात्मक या भावात्मक प्रबन्धके गुण पाये जाते हैं। अँग्रेजी साहित्यमें एलेक्जेण्डर पोपकी रचनाएँ, 'एसे आन क्रिटिसिज्म' और 'एसे आन मैन' पद्य-प्रबन्धके उदाहरणके रूपमें रखी जा सकती हैं: पद्य-बद्ध होते हुए भी ये दोनों रचनाएँ क्रमश समीक्षा और दर्शनकी विवेचना प्रस्तुत करती हैं और उन्हें विशुद्ध काव्यकी कोटिमें नहीं रखा जा सकता। पद्य-प्रबन्धमें बौद्धिक विवेचन और तर्क-पद्धतिका अधिक सहारा लिया जाता है और सूक्ष्म भावाभिव्यंजन तथा मार्मिक अनुभूतियों और दृश्योंके चित्रणका उनमें अभाव होता है। हिन्दीमें द्विवेदीयुगकी बहुत-सी पद्य-बद्ध रचनाएँ जैसे 'भारत-भारती', 'हिन्दू' आदि अपनी इतिवृत्तात्मकता, उपदेशात्मकता और बौद्धिक विवेचनाके कारण पद्य प्रबन्धकी कोटिमें आती हैं। वर्तमान युगके कवि रामधारी सिंह 'दिनकर'के काव्य-ग्रन्थ 'कुरुक्षेत्र'को भी कुछ विद्वानोंने पद्य-प्रबन्ध या काव्य-प्रबन्ध कहा है। 'कुरुक्षेत्र'में कथा-प्रबन्धका नितान्त अभाव है, फिर भी वह प्रबन्ध काव्योंके समान लम्बा काव्य है, मुक्तक काव्य नहीं है। कथा-विहीन होनेपर भी उसका आकार बडा होनेका कारण यह है कि उसमें युद्ध और शान्तिकी समस्या तथा गान्धीवाद, समाजवाद, निष्काम कर्म और सन्यास आदि विविध विषयोंपर बहुत ही विशदता और तर्कपूर्ण ढगसे विचार किया गया है। कविके शब्दोंमें ही 'वस्तुत कुरुक्षेत्र युद्धकी मीमांसा है।' 'दिनकर'ने इस काव्यकी भूमिकामें स्वय कहा है, 'मुझे जो कुछ कहना था, वह युधिष्ठिर और भीष्मका प्रसग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, किन्तु तब यह रचना शायद प्रबन्धके रूपमें नहीं उतरकर मुक्तक बनकर रह गयी होती, तो भी यह सच है कि इसे प्रबन्धके रूपमें लानेकी मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी। यही नही, 'इस प्रबन्ध कविता'में व्यास और महाभारतका भी बन्धन नहीं है।' इस उद्धरणमें 'प्रबन्ध-कविता' शब्दका व्यवहार प्रबन्ध-काव्यके लिए नहीं बल्कि पद्य प्रबन्ध या काव्य-प्रबन्धके अर्थमें हुआ है और 'प्रबन्ध' शब्दसे कविका अभिप्राय कथा-प्रबन्ध नहीं बल्कि विषयप्रधान विचारात्मक और विवेचनात्मक प्रबन्ध या निबन्ध (थीसिस) से है। पद्य-प्रबन्ध नामक काव्यरूप अधिक प्रचलित नहीं है और सम्भवत इसीलिए हिन्दीके आधुनिक साहित्यशास्त्रियों द्वारा भी इस शब्दका प्रयोग अधिक नहीं होता है (दे०—'कविता')।—श०ना०सिं०

पनिहारिन—जातिविशेषका गीत, पनहरों या पनभरोंकी एक जाति होती है जो गाँवके घरोंमें पानी भरती है, उक्त गीत इसी जातिसे सम्बद्ध है, पनभरोंकी एक जातिका नाम कँहार है—इनके गीतको कँहरवा कहते हैं। पनिहारिनके गीत कँहरवासे बहुत भिन्न नहीं होते। —र० भ्र०

परपरावाद—रूढिवाद या सनातनीपन या शाश्वतवादके नामसे परम्परावाद चला आ रहा है। यह विभिन्न रूपोंमें लकीर पीटनेवाला दर्शन बना है। साहित्यमें यह 'ट्रैडिशनैलिज्म' अँग्रेजीमें 'एज आफ रीजन'के कालमें 'इनसाइक्लोपीडिक्ट्स' रूपमें मिलता है। नन्ददुलारे वाजपेयी, गुलाब राय, नगेन्द्र इत्यादि स्पष्टत परम्परावादी हैं। वे प्राचीन काव्यशास्त्रका आधार लेते हैं या व्याख्या करते हैं तो केवल नवीनका विरोध करनेके लिए। ये आलोचक 'स्टेट्स-को-इज्म' (एतादृशत्व) के संस्थापक होते हैं। नवीनमें जो भी प्रयोगशील, साहसिक या प्रगति-उन्मुख हो, वह उन्हें अच्छा नहीं लगता। इस परम्परा-प्रतिष्ठाके मोहमें कई बार मिथ्या प्रतिष्ठा और 'मीडियाक्रेसी' भी दाद पाने लग जाती है, क्योंकि परम्पराके कुछ अश जीवित रहते हैं जो सप्राण नवीनतममें घुल-मिल जाते हैं, जब कि परम्पराका बहुत-सा हिस्सा काईकी तरह सड जाता है या सिर्फ जग चढाता रहता है। वे पीले पत्ते या मृत सिद्धान्त आगे स्फूर्ति या प्रेरणा जगा नहीं सकते, चाहे उन्हें स्वर्णाभ कह लो या 'ममियों'की भाँति शब्द-रसायन मसालोंसे सजा-सँवारकर रखो। —प्र० मा०

परंपरित रूपक—दे०—'रूपक', सातवाँ प्रकार।

परकीया (नायिका)—सामाजिक सम्बन्धोंके आधारपर नायिकाका दूसरा भेद; जो स्त्री किसी अन्य पुरुषसे प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करे। भरतने इसके स्थानपर कन्यका शब्द दिया है। 'अग्निपुराण'मे इस भेदका निश्चित उल्लेख मिलता है। यह विभाजन सर्वस्वीकृत है। भानुदत्तने भी 'परगामित्वात्' परकीया माना है। केशवने इसे कृष्णके सम्बन्धसे 'परमब्रह्म परमात्माकी प्रिया' माना है—'सबतें पर परसिद्ध जग ताकी प्रिया जु होइ' (र० प्रि० प्र० ३ ६७)। पर अन्य सभी आचार्योंने 'प्रेम करै परपुरुषसों'

(मतिराम), 'परपुरुषरत' (पद्माकर) माना है । किंचित् दृष्टिकोणका अन्तर अवश्य जान पडता है । कुछ लेखकोंने परपुरुषमे प्रेमके उल्लेखके साथ अपने पतिकी अवहेलनाकी बात भी कही है—'जाकी गति उपपति सदा पति सों रति गति नाहिं ।' (देव भा० वि० परकीया) अथवा 'शृंगारदर्पण'में भी कहा गया है—'निजपतिवंचन' । इस परिभाषाके अन्तर्गत अनूढाकी स्थिति नहीं रह जायगी । संस्कृत नाट्यशास्त्रके ग्रन्थोंमें परकीयाको स्थान नहीं मिला, 'दशरूपक'में अन्य स्त्रीका उल्लेख अवश्य है । वस्तुत संस्कृतके सम्पूर्ण साहित्यमें परकीयाका चित्रण प्रधान रूपसे अथवा महत्त्वपूर्ण ढगमे नहीं हुआ है । काव्यशास्त्र-ग्रन्थोंमेंसे भी कुछमें परकीयाका प्रेम रसाभास माना गया है (मम्मट) । पर परकीयाका प्रेम अपनी गहराई तथा तीव्रतामें अधिक व्यक्त होता है, अत काव्यशास्त्रियोंने रसाभासकी सीमामें केवल अत्यन्त अनुचित स्थलोंको माना है ।

हिन्दी साहित्यका रीतिकाल परकीया-प्रेमसे भरा हुआ है,'परन्तु इस सम्पूर्ण साहित्यमें नायक कृष्णको माना गया है । कृष्ण साहित्यमें गोपियोंका प्रेम परकीया-भावका प्रेम ही है । विद्यापतिकी राधा परकीयाके समान ही भावविह्वल और उद्विग्न चित्रित की गयी है । जयदेवका 'गीतगोविन्द' उनका आधार है, जिसमें राधा स्वत परकीयाके रूपमें अंकित है । जयदेवने राधाके परकीया-रूपका मासल तथा वासनामय चित्र प्रस्तुत किया है, जो अपनी सौन्दर्यानुभूति तथा प्रत्यक्ष और सशक्त शैलीके कारण भक्तिभावनाकी प्रेरणा दे सका है । विद्यापतिकी राधामें शरीरके साथ भावना भी प्रधान है, उसमें वासना-की पीड़ा और वेदनाके साथ प्रेमकी अनुभूति भी अभिव्यक्त हुई है । बंगाली कवि चण्डीदासकी भावशीलता और प्रेमकी पीड़ा एक सीमातक विद्यापतिकी राधामें है,पर चण्डीदासकी राधामें शरीरके स्थानपर हृदय ही प्रधान है । वस्तुत चण्डीदासकी प्रेमभावना इसी कारण भक्तिके अधिक निकट है । सूरदासने राधाको स्वकीयाके रूपमें प्रस्तुत किया है और उनके आधारपर हिन्दीके अन्य भक्त कवियोंमें अनेकने ऐसा ही किया है, पर उनकी गोपियोंमें परकीया-भाव है । इन भक्त कवियोंने 'भागवतपुराण'का आधार इस प्रसगमें लिया है । गोपियाँ कृष्णको परपुरुषके रूपमें स्वीकार करती हैं, पर वे उनकी दृष्टिमें अलौकिक पुरुष अथवा परमपुरुष हैं । रीतिकालके कवियोंने नायकरूपमें कृष्णको स्वीकार अवश्य किया है, पर आध्यात्मिक विस्तृत भूमिकाके अभावमें उनका काव्य परकीयाकी लौकिक प्रेमलीलासे ऊँचा नहीं उठ सका । यद्यपि इस साहित्यमें उसके नानाविध भावोंका सुन्दर और विशद चित्रण हुआ है, विशेषकर रीतिकालके प्रभावमें आनेवाले उन्मुक्त भक्त कवियोंमें परकीया-भाव अधिक भावशील तथा उद्वेगशील है । रसखान, आलम, घनानन्द, शेख आदिने अपने प्रेमको इस स्तरपर प्रकट किया, पर उनमें भावतन्मयताकी गहरी अभिव्यक्ति है । रसखानने गोपियोंके माध्यमसे अपने प्रेमको प्रकट किया है—'मेरो सुभाव चितैनेको माइ री लाल निहारिकै बसी बजायी । या दिन तें मोहि लागी ठगी री लोग कहैं कोउ बावरी आयी । यों रसखान घिर्‍यो सिगरो ब्रज जानत वै कै मेरो जियराई । जो कोउ चाहै भलौ अपनौ तौ सनेह न काहूसों कीजिये माई ॥' (मीतल ब्र० ना० ख० ३ . २०९) । इसी प्रकार घनानन्दमे परकीया-भावकी उद्विग्नता स्फुरित होती है । इसके अन्य भेद १ अनूढा, २ ऊढा तथा १ मुदिता, २. विदग्धा, ३ अनुशयाना, ४ गुप्ता, ५ लक्षिता, ६ कुलटा हैं । (इनको इन्हीं शब्दोंके अन्तर्गत देखें ।) विभाजन-विस्तारके लिए दे०—'नायिका-भेद' । —र०

परदेसिया—परदेसियाके गीत वे मनोहर गीत हैं, जिनमें परदेशमें गये हुए पतिके वियोगमें उसकी पत्नीकी विरह-वेदना मुखरित हो उठी है । इन गीतोंकी रचना 'विदेसिया'के तर्जपर की गयी है और इनका वर्ण्य विषय भी वही है, जो विदेसियाके गीतोंमें पाया जाता है । इन गीतोंकी प्रत्येक पंक्तिमें 'विदेसिया'की जगह 'परदेसिया' शब्द उपलब्ध होता है । जैसे 'घरी राति गइली पहर राति गइलीसे, दुअरा करेले ठाढ सोर परदेसिया ।' भिखारी ठाकुरकृत विदेसिया गीतोंकी नकलपर 'परदेसिया'की रचना हुई है । दे०—'विदेसिया' । —कृ० दे० उ०

परपीडन—परपीडन(sadism)की उत्पत्ति सामान्य व्यवहारमें ही मिलती है । मनुष्यमें स्वाभाविक आक्रामक-वृत्ति होती है, क्रोध उससे सम्बद्ध सवेग है । फ्रायड और अन्य मनोविश्लेषकोंके अनुसार यह मूल प्रवृत्ति कामवृत्तिसे भी सम्बन्धित हो जाती है, क्योंकि यौन व्यापारमें विषयके प्रतिरोधपर विजय पाना जैवी आवश्यकता है, पशुजीवनमें नरको मादासे युद्ध करके अपने वशमें लाना पड़ता है । सामान्य मनुष्यके यौन व्यापारमें भी इस आक्रामक वृत्तिका थोड़ा मिश्रण रहता है । जब यह अंश अत्यन्त प्रबल रूप ले लेता है और यौन व्यापारके प्रमुख उद्देश्यको पृष्ठभूमिमें करके स्वतन्त्र अस्तित्व पा जाता है तो इसे कामवृत्तिकी विकृति मानते हैं । इस अवस्थामें कामोत्तेजनाके विषयको पीड़ा पहुँचाकर ही व्यक्तिको तृप्ति मिलती है ।

परपीडन और आत्मपीडन दोनों घनिष्ठ रूपसे सम्बन्धित हैं, वृत्ति एक ही है, रूप दो हैं । आत्मपीडन परपीड़नका ही अधिक विकृत रूप है । स्त्रियों और स्त्रैण स्वभाववाले पुरुषोंकी परपीडनकी इच्छा प्राय आत्मपीड़नका रूप ले लेती है । —प्री० अ०

परपुरप्रवेशप्रतिम—दे०—'काव्य-हरण', 'अर्थ-हरण'का भेद ।

परमार्थ—दे०—'विज्ञानवाद' ।

पराभक्ति—ईश्वरके प्रति अनुरक्तिका नाम पराभक्ति है, 'सापरानुरक्तिरीश्वरे' (शाण्डिल्य-सूत्र) यह अहैतुकी और अव्यवहित होती है, 'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तम ।' (श्रीमद्भागवत २९ १२) । इसे साध्या भक्ति भी कहते हैं । साध्यज्ञान और परा भक्तिमें कोई भेद नहीं है । 'वह सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, कैवल्य, निर्वाण आदि किसी प्रकारका भी लाभ या मुक्ति नहीं चाहता । पराभक्तियुक्त साधक भगवत्-सेवाके अतिरिक्त कुछ नहीं चाहता । शाण्डिल्य सूत्रमें जिस मुख्य भक्तिका उल्लेख है वह परा भक्ति ही है । गीतामे भी कहा है—'य इमं परम गुह्य मद्भक्तेष्वभिधास्यति । भक्तिं मयि परां कृत्वा ।'

(१८।६८)। 'कहा करौं वैकुण्ठहि जाय'—परमानन्द (अष्टछापके कवि—पृ० १८०)। 'तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान'—(सू० ना० न० प्र० सं० १६९) (परा भक्तिके विस्तृत लक्षणोंके लिए देखिये भागवत ३।२९।११-१०)—वि०मो०श०

परिकर—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका विशेषण-वैचित्र्य सम्बन्धी अर्थालंकार इसका शब्दार्थ है उपकरण, शोभा बढ़ानेवाली सामग्री। इसका विवेचन रुद्रटने प्रारम्भ हुआ, ऐसा लगता है। इसके सम्बन्धमें दो मत रहे हैं। मम्मट, रुय्यक, जयरथ, विद्याधर तथा विश्वनाथके अनुसार इस अलंकारमें एकसे अधिक विशेषण होने चाहिये। दूसरी ओर 'प्रदीप','उद्योत' और जगन्नाथके अनुसार यद्यपि एकसे अधिक विशेषण होनेपर व्यंग्यकी अधिकताके कारण चमत्कार अधिक होता है, पर एकसे अधिक विशेषणके बिना भी इसका प्रयोग हो सकता है। एक भी साभिप्राय विशेषणके प्रयोगसे यह अलंकार होता है। मम्मटके अनुसार 'जिसमें साभिप्राय विशेषणोंके द्वारा प्रकृत अर्थका प्रतिपादन किया जाय' (का०प्र० १० . ११८)। विश्वनाथ इसी मतको दुहराते हैं—'उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः' (सा०द० १० ५७)। हिन्दीके आचार्योंने प्राय 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'के आधारपर 'आसय लिये जहाँ विसेसन होय' (भा०भू० . ९५) अथवा 'साभिप्राय विसेषननि' (शि०भू० १६०। ल०ल० १६४। का०नि० १६) दिया है और परिकरांकुरको स्वतन्त्र अलंकार माना है। वस्तुत इसमें साभिप्राय विशेषणोंसे विशेष्यका कथन किया जाता है अर्थात् वक्ताका अभिप्राय विशेषणोंसे व्यक्त होता है। उदा०—'भालमें जाके कलानिधि है वह साहब ताप हमारो हरैगो। अंगमें जाके विभूति भरी वह भौनमें सम्पति भूरि भरैगो।' (का०नि० : १६) अथवा—'क्यों न फिरै सब जगतमें करत दिगविजै मार। जाके दृग सामन्त हैं कुवलय जीतनहार।' (ल०ल० . १६६), यहाँ विशेषणोंका प्रयोग साभिप्राय है।

आचार्योंने एक प्रश्न उठाया है—अभिप्रायरहित विशेषणका होना 'अपुष्टार्थ' दोष माना जाता है, अत उनका साभिप्राय प्रयोग उस दोषका निराकरणमात्र हुआ। जगन्नाथ आदि एक विशेषणके प्रयोगमें भी यह चमत्कार मानते हैं और साथ ही उनका कहना है कि अपुष्टार्थ दोषके अभाव और परिकर अलंकारके विषयमें अन्तर है। सौन्दर्ययुक्त उत्कर्षक विशेषण होना परिकरका लक्षण है और चमत्कारके अपकर्षका अभाव अपुष्टार्थ दोषका परिहार है। परिकरके विशेषणोंमें जो अभिप्राय अन्तर्निहित होते हैं, वे गौण व्यंग्यार्थ होते हैं, उनमें विशेषणोंका वाच्यार्थ ही प्रधान रहता है, क्योंकि वाच्यार्थमें ही चमत्कार होता है। दे०—'काव्य'। —शि० प्र० सिं०

परिकरांकुर—परिकरमें अन्तर्भूत होनेवाला उसी वर्गका अर्थालंकार। इसको जयदेव, विद्याधर तथा अप्पय दीक्षित द्वारा स्वीकृति मिली है। 'उद्योत'के अनुसार 'विशेषण' शब्द इतना व्यापक है कि उसमें विशेष्य भी आ जाता है, अतएव इसे स्वतन्त्र अलंकार माननेकी आवश्यकता नहीं है (पृ० १०८)। 'चन्द्रालोक'के अनुसार इसका लक्षण 'साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्' (५ ४०), 'कुवलयानन्द'में इसीका अनुसरण है। हिन्दीके आचार्योंने भी इसी रूपमें इसे ग्रहण किया है—'साभिप्राय विशेष जब' (भा० भू० . ९६) अथवा 'साभिप्राय विसेष्यनै' (ल० ल० १६४)। साभिप्राय विशेष्यके कथनको यह अलंकार माना गया है—'वामा भामा कामिनी कहि बोलौ प्रानेस। प्यारी कहत खिसात नहिं पावस चलत विदेस।' (वि० र० . ७०३), अथवा—'होते कहूँ क्रूर तौ न जानो करते धौं कहा, एतो क्रूर करम अक्रूर ह्वै कमायौ जो।' (उ०श०)। इसमें प्रथममें 'भामा' आदि तथा द्वितीय में 'अक्रूर' विशेष्यका प्रयोग साभिप्राय है। —शि० प्र० सिं०

परिचय (आलोचना)—परिचयसे तात्पर्य है **पुस्तक-परिचय**। पुस्तकको पढ़कर उसके विषयके सम्बन्धमें पाठकोंको 'रिपोर्ट' दे देना वास्तवमें 'पुस्तक-परिचय' है। पुस्तकके विषय, विषयविस्तार आदिके सम्बन्धमें, अर्थात् पुस्तकमें क्या है, केवल इतना बता देना परिचयका उद्देश्य है। रिपोर्ट देनेवालेकी भाँति परिचयका लेखक अपनेको अलग रखता है। यदि वह व्यक्तिगत दृष्टिकोण देने लगेगा तो **पुस्तक-समीक्षक**के निकट आ जायगा। व्यावहारिक रूपमें पुस्तक-परिचय और **पुस्तक-समीक्षा**में कोई अन्तर नहीं किया जाता, किन्तु दोनोंमें भेद है, यद्यपि दोनोंका पत्र-पत्रिकाओंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है और ये दोनों प्रणालियाँ तथा स्वय आलोचना भी मुद्रणकलाके फलस्वरूप प्रचलित हो सकी हैं। पुस्तकका परिचय देते समय पुस्तकके आकार-प्रकार, छपाई, गेट अप, मूल्य, जिल्द, पुस्तक मिलनेके पते आदिका भी उल्लेख कर दिया जाता है। वास्तवमें पुस्तक-परिचय विज्ञापनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पाठकों और लेखकोंके बीच मध्यस्थता और लोकरुचि परिष्कृत करना, ये उद्देश्य पुस्तक-परिचयके नहीं हैं। (दे०—'पुस्तक-समीक्षा')। —ल० सा० वा०

परिणाम १—सादृश्यगर्भ अभेदप्रधानके आरोपमूलक अर्थालंकारका एक भेद। इसका शब्दार्थ है अवस्थान्तर होना। इसका विवेचन रुय्यकसे प्रारम्भ हुआ, ऐसा जान पड़ता है। विश्वनाथके अनुसार—'विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि' (सा० द० . १० . ३४) अर्थात् जहाँ उपमान उपमेयपर आरोपित होकर उसके कार्यको करनेमें समर्थ होता है। वस्तुत विश्वनाथ अपनी परिभाषामें बहुत स्पष्ट नहीं हैं। अप्पय दीक्षितने 'चित्रमीमांसा'में स्पष्ट कहा है कि जहाँ उपमान (आरोप्यमाण) किसी कार्यके उपयोगमें असमर्थ होकर उस सामर्थ्यको प्राप्त करनेके लिए उपमेयसे अभिन्न रूप होता है, परिणाम अलंकार स्वीकार किया जाता है (पृ० ५५)। जगन्नाथने भी माना है कि जहाँ स्वतन्त्र रूपसे कार्यसाधनमें असमर्थ उपमान उपमेयसे अभिन्न होकर समर्थ होता है (र० ग० पृ० २४८)। हिन्दीमें जसवन्त सिंहने परिणामका लक्षण और उदाहरण 'कुवलयानन्द'के आधारपर दिया है। मतिरामने—'विषयी विषय अभेद सौं जहाँ करत कछु काज।' (ल० ल० . ७५) लक्षण दिया है, जिसमें विश्वनाथके लक्षणके समान अस्पष्टता है। भूषणके अनुसार अभेद होकर और (उपमान) 'स्वै' काम करता है (शि० भू० . ६७)। इसमें 'स्वै' अस्पष्ट है, उपमान वास्तवमें उपमेयका कार्य

करता है। उदा०—'हाथिन विदारिवेकों हाथ है हथ्यार तेरे, दारिद विदारिवेकों हाथिये हथ्यार है।' (ल० ल० ७६) या—'दूर करे मेरे दुरित गौरीके पदकंज।' (पोद्दार र० म०) अथवा—'मेरा शिशु संसार वह दूध पिये परिपुष्ट हो।' (मै० श० गु०)। इन उदाहरणोंमें हथ्यार, कमल तथा संसारके विना अपने उपमेयमें एकरूप हुए कार्य नहीं हो सकता है।

परिणाम और रूपकमें समता जान पड़ती है। जगन्नाथके अनुसार परिणाममें उपमान स्वयं कार्य करनेमें असमर्थ होनेके कारण उपमेयसे एकरूप होता है और रूपकमें उपमान स्वयं कार्य करनेमें समर्थ होता है। रुय्यकने इस मतसे उलटा मत प्रतिपादित किया था। 'अलंकारसर्वस्व'में उन्होंने कहा कि रूपकमें उपमानका किसी कार्यके करनेमें औचित्यमात्र रहता है और परिणाममें उपमेय आरोपके विना कार्य नहीं कर सकता। स्पष्टतः यह मत पण्डितराजके मतसे अलग है और इसमें उलटा दृष्टिकोण है। विद्याधरने 'एकावली'में रुय्यकका अनुसरण किया है, पर उनके 'अलंकारसर्वस्व'में परिणामका लक्षण—'परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोग' है और यह उपर्युक्त परिभाषाओंसे विलकुल एकरूप है। —र०

परिणाम २—नाटककी **कथावस्तु**की अन्तिम स्थिति, जिसमें संघर्षका अन्त हो जाता है और नाटकका फल हमारे सम्मुख आ जाता है, परिणाम (कनक्लूजन) कहलाता है। उदाहरणके लिए, 'स्कन्दगुप्त' नाटकके पाँचवें अंकमें उस स्थलको लीजिये जहाँ पर्णदत्तकी साधनासे साम्राज्यके सभी बचे रत्न एकत्र होकर स्कन्दगुप्तकी छत्रच्छायामें एक बार पुनः आर्यावर्तकी रक्षाका उद्योग करते हैं और वह उद्योग सफल हो जाता है। खिंगिल वन्दी बनाया जाता है और सिन्धुके इस ओर फिर कभी न आनेका पणबन्ध लेकर स्कन्दगुप्त उसे मुक्त कर देता है। इस प्रकार आर्यावर्त एवं उसके गौरवकी रक्षा होती है। दूसरी ओर, युद्ध-क्षेत्रमें ही पुरगुप्तको रक्तका टीका लगाकर वह गृहकलह और कौटुम्बिक अशान्तिको भी पूर्ण रूपसे मिटा देता है। नाटकीय संघर्षके पश्चात्की यह स्थिति परिणाम कही जायगी।

आधुनिक उपन्यासों एवं नाटकोंमें हमें प्रायः ऐसी कथा भी मिलती हैं जिसमें परिणाम कुछ नहीं निकलता। कथावस्तुमें इस परिणामहीनताका बहुतसे यथार्थवादी यह कहकर अनुमोदन करते हैं कि नाटक एवं उपन्यासको जीवनका सच्चा चित्रण करना चाहिये और वास्तविक जीवनमें अन्तिम् परिणाम होता ही नहीं, क्योंकि प्रत्येक स्थितिमें नवीन कार्योंकी सम्भावनाएँ निहित होती हैं। यह तर्क सैद्धान्तिक रूपसे सही है, किन्तु वास्तवमें पाठक या प्रेक्षक स्वभावतः कथाके अन्तमें परिणामकी कामना करते हैं, जिसमें **कथानक**के सभी सूत्र आकर मिल जायँ, कुछ छूटा नहीं रहे।

परिणामकी दृष्टिसे नाटकोंका **सुखान्त** एवं **दुःखान्त**, दो वर्गोंमें विभाजन सर्वज्ञात है। सुखान्तका अन्त सुखमय होना है, जिसमें नायकके इष्टफलकी प्राप्ति होती है। दुःखान्तका अन्त दुःखमय होता है, जिसमें नायकका अमंगल होता है। किन्तु इस विषयमें कोई सटीक नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। कभी-कभी ऐसा होता है कि अन्तमें कथाके वास्तविक उद्देश्यकी क्षति होती है, जब कि उसके अधिकांश सत्पात्रोंका भाग्य फलता है। इसी प्रकार दुःखान्त नाटकमें परिणामसे उत्पन्न शोकानुभूति इस बातके प्रदर्शनसे कुछ हलकी हो जाती है कि वास्तविक विजय आदर्शोंकी ही हुई तथा सत्पात्रोंकी भौतिक पराजय व्यर्थ नहीं गयी। उदाहरणके लिए, 'रोमियो एण्ड जूलिएट'में हमारी करुणानुभूति उस समय कुछ हलकी हो जाती है जब हमें यह ज्ञात होता है कि वह पारिवारिक शत्रुता जिसने रोमियो तथा जूलिएटके प्रेमका दुःखद अन्त किया था, स्वयं भी उसी प्रेमके कारण नष्ट हो गयी, जीत प्रेमकी ही हुई।

अरस्तूके मतानुसार परिणामका स्वाभाविक होना आवश्यक है। यदि नाटकका परिणाम कार्य-कारणके सिद्धान्तके अनुसार न होकर केवल संयोगपर आधारित हो तो वह निम्न कोटिका माना जायेगा। —श्या० मो० श्री०

परिपंथिर सांगपरिग्रह—दे०—'रस दोष', तीसरा।

परिप्रेक्ष्य—दे०—'प्रक्षेपण'।

परिवृत्ति—वाक्यन्यायमूल अर्थालंकार (दे०—'अर्थालंकारोंका वर्गीकरण'), जिसमें पदार्थोंका सम और असमके साथ विनिमय होता है। इसमें वस्तुओंका परस्पर आदान-प्रदान किया जाता है। इसीको 'विनिमय' भी कहते हैं। यह अलंकार प्राचीनों(भामह, दण्डी)से ही स्वीकृत चला आया है। मम्मटके अनुसार इसमें 'परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः' सम और असम वस्तुओंका विनिमय (का०प्र० १०, ११३) होता है। विश्वनाथके शब्दोंमें प्रस्तुत अलंकारकी परिभाषा इस प्रकार है—'परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्' अर्थात् समान, न्यून और अधिकके साथ विनिमय (सा० द० १०, ८)। प्रारम्भमें भामहने इस अलंकारमें 'अर्थान्तरन्यास'का रहना आवश्यक माना था (का० लं० ३, ३९)। वामन और परवर्ती आचार्योंने यह नहीं माना है। वामनने 'विसदृश' कहकर तथा विश्वनाथने सम, न्यून तथा अधिकका उल्लेख करके इसी बातको स्पष्ट किया है।

हिन्दीके आचार्योंमें प्रायः सभीने इस अलंकारको स्वीकार किया है। एक या दो भेदोंका उल्लेख किया गया है—'थोड़ा देकर बहुत अथवा बहुत देकर थोड़ा लेना'के रूपमें। 'भाषाभूषण' और 'कविकुलकण्ठाभरण'में थोड़ा देकर बहुत लेनेमें, 'ललितललाम'में 'घाटि वाढि द्वै बातको जहाँ पलटिवो होय' (२७७) और 'शिवराजभूषण'में एक बात देकर दूसरी बातको लेने(२४५)के रूपमें एक ही भेद स्वीकार किया गया है। 'पद्माभरण'में पद्माकरने 'दै थोरो लिय अधिक जहँ' तथा 'दै बहु थोरो लेत जहँ' (१८६,१८७) दो भेद स्वीकार किये हैं। 'रसरहस्य'में कुलपतिका लक्षण स्पष्ट है—'अर्थनको जहँ बदलिवो विनिमय कहिये सोय। सम असमके भेद करि सो पुनि द्वै विधि होय।' कुलपतिने इसे **विनिमय** कहा है।

स्पष्ट है कि परिवृत्ति दो प्रकारकी होती है सम और असम अथवा विषम। सम तथा असमके भी आगे चलकर दो-दो भेद हैं। **१ सम परिवृत्ति**–(क) उत्तम विनिमय

अर्थात् उत्तम वस्तु देकर उत्तम वस्तुका ग्रहण, (ख) न्यून विनिमय—न्यून वस्तु देकर न्यूनका ही ग्रहण। २ विषम परिवृत्ति—(क) उत्तमसे न्यूनका विनिमय, उत्तम वस्तु देकर न्यूनका ग्रहण, (ख) न्यूनसे उत्तमका विनिमय, न्यूनका प्रदान और उत्तमका ग्रहण। इनके उदाहरण क्रमश इस प्रकार हैं—(क) उत्तम विनिमय—'मृदु सौरभ अर्पण करती है सुरभित मलय पवन, तरुशाखाएँ उसे चढ़ाती हैं फल पत्र सुमन' (कादम्बिनी)। (ख) न्यून विनिमय—'श्रीशंकरकी सेवारत भक्त अनेक दिखाते हैं, किन्तु वस्तुत उनसे क्या वे कुछ भी लाभ उठाते हैं। अस्थिमालमय अपने तनको अर्पण वे कर देते हैं, मुण्डमालमय तन उनसे वस परिवर्तनमें पाते हैं।' (का० क० द्रु०)। इसमें 'अस्थिमाल' और 'नरमुण्डमाल' दोनों न्यून गुणयुक्त वस्तुओंका विनिमय है। यह 'व्याजस्तुति' मिश्रित 'परिवृत्ति' है। (ग) उत्तमसे न्यूनका विनिमय—'कह्र कहाँ हौं कौन सौं आयी हौं इहकाइ। सुधि-बुधि हरि सब हरि लई दीन्हीं विरह बलाइ।' (का० कु० क० त०)। 'क्रान्ति हो चुकी शान्ति भेट अब आ मैं व्यंजन करूँगी, मोती न्यौछावर करके अब श्रमकण बीन धरूँगी।' (का० द०)। (घ) न्यूनसे उत्तमका विनिमय—'मो मन मेरी बुद्धि लै करि हरको अनुकूल। लै त्रिलोककी साहिबी दै धतूरको फूल।' (ल० ल० - २७१)। 'मेरे अतिथिदेव आवें तो मैं सिर माथे लूँगी। उसने मुझको देह दिया म उसे प्राण भी दूँगी।' (मैं०श० गु०), इसमें देह न्यूनसे उत्तम प्राणका परस्पर विनिमय है।

परिवृत्ति अलकारमें यह बात विशेष रूपसे स्मरणीय है कि इसमें कविकल्पित विनिमय ही होता है, वास्तविक नहीं। जहाँ वास्तविक विनिमय होता है वहाँ इस अलकारकी स्थिति सम्भव नहीं हो सकती। जहाँ अपनी ही वस्तुका त्याग और ग्रहण हो, वहाँ यह अलकार नहीं माना जाता। इस अलंकारका प्रयोग रीतिकालमें कम हुआ और उदाहरणोंमें न्यूनधिकताका विनिमय ही है, जैसा उन्होंने लक्षणमें स्पष्ट कहा है।

रीतिकालीन आचार्य देवने अपने 'भाव-विलास'में 'परिवृत्ति'का जो उदाहरण दिया है, वह वस्तुत इस अलंकारसे सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि वहाँ विनिमय दूसरेके साथ नहीं है। यहाँ पर्याय अलकारकी स्थिति मानी जा सकती है। केशवके 'परिवृत्ति'के लक्षणमें विनिमयका भाव भी स्पष्ट नहीं है—'और कछु कीजै जहाँ उपजि परै कछु और' (कविप्रिया - १३ ९) जो 'विषादन'का लक्षण है। उदाहरणमें केवल एक पंक्तिमें प्रस्तुत अलकारका उदाहरण है 'दै परिरम्भन मोहनको मन मोहि लियो सजनी सुखदाई।' (वही १३ - ४१)। —वि० स्ना०

परिसंख्या—वाक्यन्यायमूल अर्थालंकार जिसमें किसी वस्तुका एक स्थानसे प्रश्नपूर्वक अथवा प्रश्नरहित, व्यंग्यरूपसे निषेध करके किसी अन्य स्थानमें स्थापन किया जाय। यह निषेध कहीं तो प्रतीयमान अर्थात् व्यंग्य होता है और कहीं वाच्य अर्थात् उसका शब्द द्वारा कथन होता है। अत इसके चार प्रकार हैं—१ प्रश्नपूर्वक प्रतीयमान निषेध, २ प्रश्नपूर्वक वाच्य, शब्द द्वारा कथन, निषेध, ३ प्रश्नरहित प्रतीयमान व्यंग्य निषेध; ४ प्रश्नरहित वाच्य निषेध। रुद्रटसे इस अलकारकी स्वीकृति रही है। 'परिसंख्या' शब्दका अर्थ 'जिसमें निषेध ही किया जाय' है। मम्मटके शब्दोंमें परिसंख्या अलकारकी परिभाषा इस प्रकार है—'किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते। ता दृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता' (का०प्र० १० - ११९) अर्थात् पूछी गयी अथवा न पूछी गयी किसी बातका ऐसा शब्दत प्रतिपादन हो जो अन्तमें अपने समान किसी अन्य वस्तुके निषेधमें परिणत हो जाय। विश्वनाथका लक्षण मम्मटके समान है, केवल इन्होंने इस निषेधको वाच्य तथा व्यंग्य, दो प्रकारका और कहा है।

जयदेवने 'चन्द्रालोक'में किंचित् भिन्न लक्षण दिया है—'निषिध्यैकमन्यस्मिन्वस्तुयत्रन्' अर्थात् किन्हीं दो वस्तुओंके समान गुणका एकमें अभाव बताकर दूसरेमें आरोप करना। हिन्दीमें इनके और अप्पय दीक्षितके आधारपर प्राय इसी लक्षणका प्रचार हुआ। 'भाषाभूषण'का लक्षण यही है—'इक थल वरजि दूजे थल ठहराइ'। मतिराम, भूषण, पद्माकर आदिके लक्षण इसके समान हैं। कुलपति मिश्रने 'रसरहस्य'में परिसंख्याका लक्षण-निरूपण मम्मट तथा विश्वनाथके आधारपर किया है—'पूछ्यो अनपूछ्यो कछुक, कह्यो मानि जहँ लेइ। वा सम और न करनको, परिसंख्या कहि देइ।' उदा०—प्रश्नपूर्वक प्रतीयमान व्यंग्य-निषेध—'हेत कहा जगमे जसको परकाज सँवारयोई निसिवासर। काहे तें आनँद होत हिये मनभावते साजनके रहिबे घर।' (चिन्तामणि)। प्रश्नपूर्वक वाच्य निषेध—'आज कुटिलता कौनमें, राज मनुष्यन माहिं? देखौ वृक्षि विचारिकै, व्याल वसमें नाहिं।' (का०नि० - १७)। प्रश्नरहित प्रतीयमान निषेध—'मूलन ही को जहाँ अधोगति केशव गाइय। होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय। दुर्गति दुर्गन ही जो कुटिल गति सरितन ही में। श्रीफलको अभिलाष प्रकट कविकुलके जीमें।' (रा०च०)। अथवा—'देहमें पुलक, उरोंमें भार, भ्रुवोंमें भंग, दृगोंमें वाण। अधरमें अमृत, हृदयमें प्यार, गिरामें लाज, प्रणयमें मान।' (सुमित्रानन्दन पन्त), इसमें पुलक, भार, भंग, बाण आदिके एक-एक स्थानपर स्थापन द्वारा इनकी अन्यत्र स्थितिका प्रश्नरहित प्रतीयमान निषेधसूचक परिसंख्या अलंकार है। प्रश्नरहित वाच्य निषेध—'मुक्ति वेनि ही में वसै, अमी वसै अधरानि। सुख सुन्दरि संजोग ही, और ठौर जनि जानि।' (का०नि० - १७) अथवा—'जहाँ वक्रता सर्पके चालमें थी, प्रजामें नहीं थी न भूपालमें थी। नरोंमें नहीं, कालिमा थी घनोंमें, जनोंमें नहीं शुष्कता थी वनोंमें।' (का०द०)। इसमें एक स्थानसे गुणका अन्यत्र स्थापन है, जो वाच्य है। अत प्रश्नरहित निषेधवाच्य होनेके कारण परिसंख्या अलकार है।

चिन्तामणिने श्लिष्ट शब्दोंके आधारपर परिसंख्याके चार भेद और भी माने हैं और इनका उदाहरणसहित लक्षण-निरूपण 'कविकुलकल्पतरु'में किया है—१ शब्दगत वर्जनीया प्रश्नपूर्विका श्लेषमूल परिसंख्या, २ प्रश्नपूर्विका अर्थगत वर्जनीया श्लेषमूल परिसंख्या, ३ शब्दगत वर्जनीया अप्रश्नपूर्विका श्लेषमूलक परिसंख्या, ४. अर्थगत

वर्जनीया अप्रश्नपूर्विका श्लेषमूलक परिसख्या। उन्होंने अन्तिम भेदका उदाहरण इस प्रकार दिया है—'मति मरीचमय द्वारिका, हरि नगरी अवदात। सुनी त्रिगुन वर वाहिमें, जामें तमकी बात।'

दासने तीन भेद, प्रश्नपूर्वक व्यग्य, प्रश्नपूर्वक वाच्य तथा विना प्रश्न व्यग्य माने हैं तथा 'प्रश्नपूर्वक', 'विना प्रश्नपूर्वक' और 'प्रश्न अप्रश्नपूर्वक'के रूपमें उदाहरण दिये हैं। केशवका यह प्रिय अलकार है। 'रामचन्द्रिका'में इसका प्रचुर रूपमें प्रयोग मिलता है। —वि० स्ना०

परिहास–दे०—'सखीकर्म'।

परुषा वृत्ति–दे०—'वृत्ति', दूसरी।

परोक्षवाद–वर्कलेसे लगाकर काण्टतक सब आदर्शवादी या विज्ञानवादी दार्शनिक किसी-न-किसी अज्ञात, अज्ञेय, अपरिभाषेय, अपरिमेय परोक्ष-सत्तामें विश्वास करने लगे। धर्मने पहले जो जादूई विश्वनियन्ता दिया था, उसे तार्किक-आध्यात्मिक समर्थन प्राप्त हुआ। फिर यूरोपमें एक प्रत्यक्षवादी लहर आयी—डार्विन, मार्क्स, रसेलतक यह बात चली। परन्तु बर्गसॉ, वाइटहेड आदि एक अज्ञात जीवन-शक्तिको मानते रहे। परोक्षवादको पुष्टि मिलकर एक प्रकारका नव्य-रहस्यवाद पनपा। अपने देशमें इसका उत्तम उदाहरण अरविन्दवादी दर्शन है। वह मानवकी अपरिमित सम्भावनाओंमें एक परम-मानव और उसकी ऊर्ध्व-चेतनाकी परिकल्पना करता है। —प्र० मा०

पर्यस्तापह्नुति–दे०—'अपह्नुति', तीसरा भेद।

पर्याय–वाक्यन्यायमूल अर्थालकार। पर्याय शब्दका अर्थ है—अनुक्रम। पर्याय अलकारमें एक ही आधेयकी क्रमश, कालभेदसे एक साथ नहीं, अनेक आधारोंमें स्वत स्थिति होती है अथवा अन्य द्वारा की जाती है। 'विशेष' अलकार-से इसका पृथक्करण कालभेद शब्दके द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि 'विशेष'में एक आधेयकी एक ही कालमें अनेक आधारोंमें स्थितिका वर्णन होता है। इसका विवेचन रुद्रटमें मिलता है। पर मम्मटकी व्याख्या अधिक स्वीकृत हुई। विश्वनाथके शब्दोंमें 'पर्याय'का लक्षण है—'क्वचिदेकमनेक-स्मिन्ननेक चैकग क्रमात्। भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते।' (सा० द० १० ८०) अर्थात् जहाँ एक वस्तु क्रमसे अनेक आधारोंमें अथवा अनेक वस्तुएँ क्रमसे एक आधारमें स्थित हों या की जायँ। मम्मटने भी दोनों रूपोंको स्वीकार किया है।

हिन्दीके आचार्योंमें जसवन्त सिंहने 'भाषाभूषण'में 'कुवलयानन्द' तथा 'चन्द्रालोक'के आधारपर इसका लक्षण तथा उदाहरण दिया है। मतिराम तथा भूषणके लक्षण संक्षेपके कारण अस्पष्ट हैं—'कै अनेक है एकमैं कै अनेकमैं एक।' (ल० ल० . २६७) अथवा 'एक अनेकनमैं रहै एक हि मैं कि अनेक।' (शि०भू० २४२)। कुलपतिका काव्यलक्षण स्पष्ट और पूर्ण है—'एक अनेकनमें रहै क्रम परजायसु और। सो दूजोरु अनेक जहँ रहत एक ही ठौर।' (र० र० : १५७)। चिन्तामणि तथा पद्माकर आदिने ऐसा ही लक्षण दिया है। भिखारीदासने इस आश्रय-त्यागको 'घटती बढती देखिकै' सकोच तथा विकास, दो रूपोंमें कहा है। हिन्दीके आचार्योंने इन दोनों भेदोंमें 'स्वत स्थित' अथवा 'अन्य द्वारा'का अन्तर नहीं किया है।

प्रथम पर्याय–(क) स्वतःसिद्ध अनेक आधार–'हालाहल तोहि नित नये, किन सिखये ये ऐन। हिय अम्बुधि हरगर लग्यो, बसत अबै खल वैन।' (म०श० ४ . अनु०)। इसमें हलाहल-रूप एक आधेयके समुद्र-हृदय, महादेवका कण्ठ और दुर्जन-वचन-रूप अनेक आधार अनुक्रमके साथ कहे गये हैं और ये आधार स्वत सिद्ध हैं। इसी प्रकार महादेवीकी पंक्तियोंमें—'तेरी आभाका कण देता अगणित दीपक दान। दिनको कनक राशि पहनाता विधुको चाँदीका परिधान।' (का० द०)। यहाँपर एक आभाकी स्थितिका ताराओंमें, दिवसके प्रकाशमें और चन्द्रमाकी उज्ज्वलतामें वर्णन है। (ख) अन्य द्वारा अनेक आधार—'जीत रही औरगमें, सबै छत्रपति छाँडि। तजि ताहूको अव रही, सिवसिरजा कर माँडि।' (शि० रा० भू० २४३) और—'अलि कहाँ सन्देश भेजूँ, मैं किसे सन्देश भेजूँ। नयन पथसे स्वप्नमें मिल प्यासमें घुल। प्रिय मुझीमें खो गया, अव दूतको किस देश भेजूँ।' (महादेवी . का० द०)।

द्वितीय पर्याय—जहाँ अनेक वस्तुओं(आधेयों)की एक आधारमें स्वत स्थिति हो अथवा अन्य द्वारा की जाय। 'द्वितीय समुच्चय'में भी अनेक वस्तुओंकी एक आधारमें स्थितिका वर्णन होता है, किन्तु 'द्वितीय पर्याय'में अनेक आधेयोंकी एक आधारमें क्रमश स्थितिका वर्णन होता है और 'द्वितीय समुच्चय'में एक ही कालमें। उदा०—'प्रति वासर हरि होतु है, हियके सुघर सुभाय। छुती लरकई अगसों, वही तरुनई आय।' (र० पी० नि० १९५)। यहाँ एक शरीर-रूप आधारमें 'लरकई' आदि अनेक आधेयों-की स्थितिका वर्णन किया गया है अथवा 'अमृत भरे दरमैं प्रथम, मधुर खलनके वैन। दुख दायक पाछै वनै, अन्तर विष दुख ऐन।' (अ० म० ४४०)। यहाँ अमृत और विष, दोनों वस्तुओंकी एक आधाररूप खलके वचनमें स्थिति है। वस्तुत यह अलंकार वर्णन सौन्दर्यसे सम्बद्ध है, इसलिए इसका प्रयोग भक्तिकाल, रीतिकालसे आधुनिक कालतक निरन्तर हुआ है।

दासके 'सकोच पर्याय'का उदाहरण—'सब जग ही हेमन्त है, सिसिर सु छाँडन मीत। रितु वसन्त सब छाँडि-कै, रही जलारौ सीत।' और 'विकास पर्याय'का उदाहरण—'असुँवनते वौ नद कियौ, नदते कियौ समुद्र। अब सिगरौ जग जलमई, करन चहत है रुद्र।' (का० नि० . १८)। पहलेमें क्रमश आधारका क्षेत्र सीमित और दूसरेमें विस्तृत हो गया है। —वि० स्ना०

पर्यायवक्रता–दे०—'पदपूर्वार्धवक्रता', दूसरा प्रकार।

पर्यायोक्ति–सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालकार। शब्दार्थ है पर्याय अर्थात् दूसरी तरहसे वैचित्र्यके साथ कहना। भामहके अनुसार–'यदन्येव प्रकारेणाभिधीयते।' (काव्याल० ३.८) इसका लक्षण है, जिसको दण्डी तथा उद्भटने अधिक स्पष्ट किया है। मम्मटने अनुसरण तो प्राचीनोंका किया है, पर उनकी अपनी विशेषता भी है—'इसमें वाच्यार्थका एक ऐसा प्रतिपादन होता है जो वाच्य-वाचकभावसे भिन्न हुआ करता है।' (का०प्र० १० ११५)। भामह, दण्डी आदिमें

'अन्य प्रकार' या 'प्रकारान्तर का भाव स्पष्ट नहीं है, पर मम्मटने वृत्तिमें 'अवगमन व्यापार' कहकर इसे स्पष्ट किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि व्यंजना द्वारा वाच्यार्थका कथन पर्यायोक्तिमें आवश्यक है। यहाँ व्यंजनाके द्वारा वाच्यार्थका कथन ध्वनि द्वारा नहीं सिद्ध होता है, वरन् जो चमत्कार है वह उक्तिवैचित्र्यका है। विश्वनाथने रुय्यकके आधारपर इसको 'भग्यागम्यम्' कहा है (सा० द० . १० . ६१), जिसका अर्थ है प्रकारान्तरसे कथन। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जो गम्य है वह उसी स्थानपर वाच्य कैसे हो सकता है? रुय्यकके अनुसार 'गम्य अपने कार्यके द्वारा व्यक्त होता है और कार्यकारणका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अत कार्यके व्यक्त होनेसे कारणका सकेत अपने-आप मिल जाता है।' (अ० स० पृ० १११)। हिन्दीके आचार्योंने प्राय 'कुवलयानन्द'का अनुसरण किया है और इसके भेदोंका उल्लेख किया है।

प्रथम–अभीष्ट अर्थका दूसरे प्रकारसे कथन–'गम्य अर्थ प्रगटै तहाँ और वचन रचनानि।' (ल० ल० . १४७) अथवा 'सुगम्य जहँ, फुरै वचन रचनानि।' (पद्मा० . १२३)। उदा०–'महाराज सिवराज तेरे वैर देखियतु, घन-वन ह्वै रहे हैं हरम हबसीनके।' (शि० भ० . १७३) यहाँ शिवाजीकी धाकसे 'हरम खाली हो गये हैं' कहना अभीष्ट है पर कहा अन्य प्रकारसे गया है। अथवा–'वनका व्रत हम आज तोड सकते कहीं। तो मामीकी भेंट छोड सकते नहीं।' (सा० : का० ८०) यहाँ भी बातको अन्य प्रकारसे कहा गया है। द्वितीय–इसको 'कुवलयानन्द'में व्याजसे इष्टसाधन कहा गया है।–'जहाँ कपटसों करत है रुचिर मनोरथ काज।' (ल० ल० . १८०) अथवा–'साधव मिसि करि काज' (पद्मा० . १२३)। परन्तु दण्डी आदिके अनुसार इसमें अपने इष्टार्थकी सिद्धिके लिए प्रकारान्तरसे (बहानेसे) कथन किया जाता है। उदा०–'तुलसी अवलम्ब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू। वरु मारिये मोहिं बिना पग धोये हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू।' (क० . ७) यहाँ केवटका इष्टार्थ प्रकारान्तरसे व्यक्त हुआ है अथवा–'देखन मिस मृग बिहँग तरु फिरहिं बहोरि-बहोरि।' (रा० च० मा० . का० ८०)। —शि० प्र० सिं०

पर्यालोचना–'पर्यालोचना'का अर्थ है 'चारों ओरसे देखना', **समीक्षा** आदि। इस शब्दका प्रयोग **आलोचना** या **समीक्षा**के पर्यायरूपमें होता है, किन्तु यह प्रयोग अत्यन्त विरल है। साथ ही 'पर्यालोचना' शब्दका प्रयोग **रिव्यू** या 'पुस्तक-समीक्षा'के लिए भी होता है। दे०–'आलोचना', 'रिव्यू'। —ल० सा० वा०

पलना–'पलना' या 'पालना', जन्मोत्सवमें छठीके दिन गाये जानेवाले जच्चाके विविध गीतोंमेंसे एक, व्रजलोक और अवधलोकमें प्रचलित। इसमें शिशुको पालना झुलाने और सम्बन्धियों द्वारा उसके नेग-न्योछावरका उल्लेख रहता है। —र० त्र०

पलायन–पलायनका वैज्ञानिक रूप–'यदस्ति'(जो है)से यन्नास्ति(जो नहीं है, नवीन)की ओर जानेकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको पलायन कहते हैं। यह आधुनिक उत्क्रान्तिवाद-(एमर्जेण्ट एवोल्यूशन)की विचारधारा है जो प्रकृति और पुरुषमें विकास तथा उत्तरोत्तर नवीन रूपोंके आविर्भावको पलायन-प्रवृत्तिका परिणाम मानती है। मानव-स्तरपर असन्तोष इसीका दूसरा रूप है। यही वर्तमान स्वभाव-सिद्ध और 'वास्तविक'से 'अनागत, संकल्प-साध्य' तथा काल्पनिक-की ओर ले जानेकी प्रेरणाका मूल है। इस प्रकार पलायन जीवन और जगत्की व्यापक मूल प्रवृत्ति है।

दार्शनिक स्तरपर 'पलायन'का रूप काल और देशकी सीमाओंमें बद्ध और परिमित स्वरूपको त्यागकर असीम और अनन्त ब्रह्म (बृहत) स्वरूपको पानेकी इच्छा 'पलायन' है। यह 'पलायन' वैदिक साहित्यकी अनेक प्रार्थनाओंमें निहित है, जैसे 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।' आगे चलकर, वेदान्त-दर्शनके निर्वेद और बौद्ध-दर्शनके वैराग्यका मूल यही पलायन है।

साहित्य और कलामें पलायन नवीनके प्रति उत्साह तथा प्राचीनके प्रति निराशाकी भावनाओंको जाग्रत् करता है। उत्साह और निराशा पलायनवादके दो मूल तत्त्व हैं। किन्तु विरोधी होनेके कारण इनका समन्वय जितना आवश्यक है उतना कठिन भी है। साहित्य और कलाके इतिहासमें ऐसे युग बीते हैं जिनमें या तो अनेक साधनों द्वारा उत्साह, प्रसन्नता, वैभव, शक्ति, विजयोल्लास आदि भावनाओंकी अभिव्यक्ति कलाकारोंने की है या इन्होंने निराशा, विनाश, समर्पण (जो भक्तिका मूल तत्त्व है), वैराग्य, त्याग आदिसे अपनी रचनाओंको भावित किया है।

प्रथम महायुद्धके अनन्तर विश्वकी नैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था और आदर्शोंमें ह्रास हुआ, जिसके प्रतिक्रियास्वरूप यूरोपीय कला और साहित्यमें पलायन-वादका उदय हुआ। निराशा और वेदनासे भावित एक ओर यथार्थवादी कला तथा नव-निर्माणकी कल्पनासे प्रसन्न दूसरी ओर प्रगतिवादी कलाके दो मिश्रित रूप प्रकट हुए। इन्हीं दोनोंके विकास और विस्तारका इतिहास पिछले पचास वर्षोंकी रचनाओं और कला-कृतियोंका इतिहास है। भारतीय साहित्य और कला इस प्रभावसे अछूती नहीं रही। किन्तु अपनी निजी सांस्कृतिक पृष्ठभूमिके कारण इनमें दार्शनिक निराशावाद, अलौकिक आनन्द, अतीत इतिहासमें जीवनके आदर्शोंकी शोध आदिकी भावनाएँ हैं तथा नव-निर्माणके लिए उत्साह और प्रयोगके लिए रुचि विद्यमान है। आधुनिक प्रयोगवाद (experimentalism) इसी प्रवृत्तिका चरम-विकास है। किन्तु जीवनके अनेक क्षेत्रोंमें विविध और विरोधी तत्त्वोंका समावेश और समन्वय जो इस युगकी माँग और चेतावनी है, अभी हमारी कृतियोंमें नहीं है। —ह० ला० श०

पलायनवाद–मूल शब्द जीवशास्त्रका है जिसका आशय यह है कि समस्त चेतन सेल्सके बीच ऐसे सेल्स भी होते हैं, जो विकाससे बच निकलते हैं और फिर समस्त चेतनामें विकृति पैदा कर देते हैं। साहित्यमें इसका प्रयोग मुख्यत उस प्रवृत्तिको व्यक्त करनेके लिए किया जाता है जिसमें वस्तुस्थिति और यथार्थसे कतराकर या जीवन और उसकी अनिवार्यताओंकी उपेक्षा करके किसी दिवास्वप्न या स्वप्न-लोक या अयथार्थ काल्पनिक स्थितियोंमें साहित्यकार रस

और आनन्द लेकर जीवनको अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढंगसे विता देना श्रेयस्कर समझता है। जीवन और यथार्थसे पदच्युत एव स्स्कारहीन तत्त्वोंसे विस्थापित मनोवृत्तिको व्यक्त करनेवाला साहित्य पलायनवादी साहित्य कहा जाता है। वस्तुस्थिति और यथार्थका साक्षात्कार करनेसे जो साहित्य वञ्चित करे अथवा जो उनके विना भी जीवित रहनेकी प्रेरणा दे, वह समस्त साहित्य भी मुख्यत नहीं तो अंशत पलायनवादी होता है।

पलायनवादी प्रवृत्ति किसी भी साहित्यिक धारामें पायी जा सकती है। हिन्दीमें छायावाद (दे०) और उसके वादके गीतिकारोंमें यह प्रवृत्ति विशेपत पायी जाती है। हिन्दी साहित्यमें इसका मुख्य काल हमें प्रगतिवाद और छायावादके वीचमें अधिक मिलता है। इसका मुख्य कारण यह है कि छायावादकी स्वच्छन्दवादी भावभूमिका आधार जितना उदात्त और नैसर्गिक था, उसे वहन करनेके लिए जहाँ उतने ऊँचे व्यक्तित्वकी आवश्यकता थी, वहीं उसके भाववोधको स्वीकार करनेके लिए एक विशिष्ट सन्दर्भका भी आग्रह था।

'प्रसाद'ने एक स्थानपर लिखा है–'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक, धीरे-धीरे। जिस निर्जनमें सागर-लहरी, अम्वरके कोनेमें गहरी, निश्चल प्रेमकथा कहती हो तज कोलाहलकी अवनी रे।' पलायनवादकी यह प्रवृत्ति यद्यपि छायावादमें भी थी, फिर भी उसमें इतनी निहित थी कि जव उसकी वास्तविक अनुभूति उसके अनुकरणकारी कवियोंमें नहीं रह गयी तो उसका पतनोन्मुख रूप ही उसके वादके काव्यमें अधिक तीव्रताके साथ उभरकर आया, जिससे साहित्यिक गति विधिमें एक अनावश्यक रीति ऐसी पनपी कि वह न तो छायावादकी होकर रह सकी और न यथार्थवादकी।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यह प्रवृत्ति एक और कारणसे भी विकसित हुई और वह यह कि छायावादने जिस काव्य-दृष्टिको प्रश्रय दिया वह न तो देशकालके दायित्वसे सम्वन्धित थी और न युगके यथार्थसे ही सम्वन्धित थी। छायावादके वादके गीतिकारोंने तो इस भाव-धाराको इस सीमातक पहुँचा दिया जहाँ कि इस ससार और इसके जीते-जागते सौन्दर्यका तिरस्कार करके उन्होंने अपनी समस्त भाव-चेतनाको एक विचित्र कुहासेके वातावरणमें छिपा दिया और स्वय अपने दिवास्वप्नोंमें लीन हो गये।

प्रस्तुत सन्दर्भमें पलायनवादके दो रूप हो गये। एक तो वह जिसमें उच्छृङ्खल हृदयवाद प्रश्रय पाकर विकसित हुआ और दूसरा वह जो घोर निराशावादमें वदलकर एक विभिन्न प्रकारकी पतनोन्मुख भावधाराको प्रश्रय देने लगा। वच्चनका हालावाद अथवा अन्य गीतिकारोंका हृदयवाद या इसी प्रकारकी कविताएँ पलायनवादकी विभिन्न दिशाएँ हैं।

किसी भी साहित्यका दुर्भाग्य उस समय अपनी चरम सीमापर होता है, जव कि उसमें दृष्टिहीन कवियोंकी सख्या अधिक होती है। पलायनवाद उन्हीं विकृतियोंमेंसे एक है। —ल० का० व०

पवाडा–'पवाडा' अथवा 'पोवाड़ा' महाराष्ट्रका प्रसिद्ध लोकछन्द है। अपनी शैली और विपयवस्तुकी दृष्टिसे राजस्थानी चारणोंकी विरुदावली-शैलीके समस्त तत्त्वोंसे पूरित होकर विशुद्ध वीरगीतके रूपमें सामान्यत मान्य है। पवाडा 'डफ' और 'तुनतुनिया' वाद्योंके सहयोगसे ऊँची आवाजमें गाया जाता है। महाराष्ट्र शब्दकोशमें पवाड़ा (पोवाडा) वीरोंके पराक्रम, विद्वानोंकी वुद्धि अथवा सामर्थ्य, गुण, कौशलके काव्यात्मक वर्णन, प्रशस्ति, स्तुति-स्तोत्र अथवा पराक्रम या कीर्तिके अर्थमें लिया गया है। यह शब्द लगभग एक हजार वर्ष पूर्वसे मराठी भाषामें प्रयुक्त होता रहा है। वैसे 'पवाड़ा' शब्द 'प्रवाद'का विगडा रूप प्रतीत होता है। प्रवादका अर्थ है जोरसे कहना, जनरव, किसीको दी जानेवाली सूचना, अपवाद आदि। मराठी 'ज्ञानकोश'के अनुसार यह प्राकृत शब्द है। रूढार्थमें यह शब्द ऐतिहासिक व्यक्तिके किसी चरित्र-प्रसग-वर्णनके लिए मराठीमें प्रयुक्त होता है। व्रजमें यही लोकछन्द 'पमारा', मालवामें 'पँवारा' और वुन्देलखण्डमें एक लम्वी कहानीके लिए प्रचलित है। व्रजमें 'पमारा' सभी अवदानके रूपमें हैं। कहते हैं, पँवारों अथवा परमारोंके प्रशस्ति-गीतको ही सम्भवत 'पँमारे' कहा जाता था। व्रजमें 'जगदेवका पँवारा', 'जयमल-पत्तेका पँमारा', मालवामें 'कुँवर चेन सिंहका पँमारा', 'कुँवर सिंहका पँमारा' उल्लेखनीय लोकगीत हैं। महाराष्ट्रमें तो पँवारोंका वाहुल्य है। —श्या० प०

पश्चिमी हिन्दी–आधुनिक आर्यभाषाओं तथा वोलियोंका वर्गीकरण करते समय मध्य-उपशाखाके वीचके समुदायकी वोलियोंके लिए ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तावित नाम। हिन्दी वोलियोंको ग्रियर्सनने दो समूहोंमें विभक्त किया है। **पूर्वी हिन्दी** (दे०) तथा पश्चिमी हिन्दी (लिंग्विस्टिक सर्वे भाग १ खण्ड १)। उनकी प्रवृत्ति पश्चिमी हिन्दीको ही स्टैण्डर्ड हिन्दी माननेकी रही है। पश्चिमी हिन्दीकी वोलियाँ मुख्यत मध्यदेशमें वोली जाती हैं। इस समूहकी वोलियोंके नाम हैं—(१) खडीवोली, (२) वाँगरू, (३) व्रजभाषा, (४) कन्नौजी तथा (५) वुन्देली। खड़ीवोली या सिरहिन्दी, मुख्यत जिसके आधारपर आजकी स्टैण्डर्ड हिन्दी प्रतिष्ठित है, पश्चिम रुहेलखण्ड, गगाके उत्तरी दोआव तथा अम्वाला जिलेकी वोली है। वाँगरू वोली जाटू या हरियानीके नामसे प्रसिद्ध है। यह दिल्ली, कर्नाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा तथा झींदमें वोली जाती है। व्रजभाषाका क्षेत्र वैसे तो वहुत व्यापक है, परन्तु विशुद्ध रूपमें यह वोली मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुरमें वोली जाती है। कन्नौजी वोलीका क्षेत्र व्रजभाषा और अवधीके वीचमें है और वुन्देली वुन्देलखण्डकी वोली है। धीरेन्द्र वर्मा कन्नौजी तथा वुन्देलीका अलग अलग अस्तित्व नहीं मानते। उनके अनुसार कन्नौजी तथा वुन्देली वस्तुत व्रजभाषाके ही प्रादेशिक उपरूप हैं।

पश्चिमी हिन्दीकी वोलियाँ शौरसेनी अपभ्रशसे विकसित हुई हैं। साहित्यकी दृष्टिसे मध्यकालीन तथा किसी हदतक आधुनिक व्रजभाषा भी अत्यन्त समृद्ध रही है। अपने मध्यकालीन साहित्यके कारण व्रजको भाषा कहकर आदृत किया गया। खडीवोली हिन्दीके पूर्व व्रजभाषा ही लगभग समस्त हिन्दी प्रदेशकी साहित्यिक भाषा थी। पश्चिमी हिन्दीकी अन्य वोलियोंमें कोई महत्त्वपूर्ण प्राचीन साहित्य नहीं है। —रा० स्व० च०

पहेलियाँ–पहेलियोंको संस्कृतमें ब्रह्मोदय भी कहा जाता है। पहेलियाँ केवल बच्चोंके मनोरंजनकी वस्तुएँ नहीं, ये समाजविशेषकी मनोदशाको प्रकट करती हैं और उसकी रुचिपर प्रकाश डालती हैं। ये बुद्धिमापक भी हैं। ये सभ्य और असभ्य, सभी कोटिके मनुष्यों और जातियोंमें प्रचलित हैं। भारतवर्षमें तो वैदिक कालसे ब्रह्मोदयका चलन मिलता है। अश्वमेध यज्ञमें तो ब्रह्मोदय अनुष्ठानका ही एक भाग था। अश्वकी वास्तविक बलिसे पूर्व होता और ब्राह्मण ब्रह्मोदय पूछते थे। इन्हें पूछनेका केवल इन दोको ही अधिकार था। इस प्रकार पहेलियोंका आनुष्ठानिक प्रयोग भारतमें ही नहीं, संसारके अन्य देशोंमें भी मिलता है। फ्रेजर महोदयने बताया है कि पहेलियोंकी रचना अथवा उदय उस समय हुआ होगा, जब कुछ कारणोंसे वक्ताको स्पष्ट शब्दोंमें किसी बातको कहनेमें किसी प्रकारकी अड़चन पड़ी होगी। भारतके मूल निवासियोंमेंसे मण्डलाके गोंड और प्रधान तथा बिरहौर जातियोंके विवाहके अनुष्ठानोंमें पहेली बुझाना भी एक आवश्यक बात मानी गयी है।

पहेलियाँ यथार्थमें किसी वस्तुका वर्णन करती हैं—ऐसा वर्णन जिसमें अप्रकटके द्वारा प्रकटका संकेत होता है। अप्रकट इन पहेलियोंमें बहुधा वस्तु उपमानके रूपमें आता है। यह स्वाभाविक ही है कि गाँवकी पहेलियोंमें ऐसे उपमान भी ग्रामीण वातावरणसे ही लिये गये हैं।

पहेलियाँ एक प्रकारसे वस्तुको सुझानेवाले उपमानोंसे निर्मित शब्दचित्रावली हैं जिनमें चित्र प्रस्तुत करके यह पूछा जाता है कि यह किसका चित्र है। पर इससे यह न समझना चाहिये कि उपमानोंके द्वारा यह चित्र पूर्ण होता है। उपमानों द्वारा जो चित्र निर्मित होता है वह अस्पष्ट होता है, उससे अभिप्रेत वस्तुका बहुत अधूरा संकेत मिलता है, पर वह संकेत इतना निश्चित होता है कि यथासम्भव उससे किसी अन्य वस्तुका बोध नहीं हो सकता। —स०

पाचालमध्यमा प्रवृत्ति–दे०—'प्रवृत्ति', दूसरी।

पांचाली रीति–दे०—'रीति', तीसरी।

पाठालोचन–'पाठालोचन'के लिए अँग्रेजीमें शब्द 'टेक्सचुएल क्रिटिसिज्म' है, जिसका आशय होता है पाठ-सम्बन्धी विवेचना। किसी रचनाका वास्तविक पाठ क्या रहा होगा और किन कारणोंसे वैसा रहा होगा, इसी विषयका विवेचन पाठालोचन हुआ करता है। प्रकट है कि इस प्रकारके विवेचनकी आवश्यकता उन्हीं रचनाओंके सम्बन्धमें पड़ सकती है जिनके पाठका प्रकाशन आधुनिक मुद्रणके प्रचारके पूर्व हुआ हो, अथवा जिनका मुद्रण लेखकके निर्देशनमें न हुआ हो।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पाठालोचनका उद्देश्य लेखकके वास्तविक पाठका निर्धारण या पुनर्निर्माण हुआ करता है। किन्तु वास्तविक पाठ भी दो प्रकारका हो सकता है—एक वह जो लेखककी लेखनीसे लिपिबद्ध हुआ हो और दूसरा वह जो उसका अभीष्ट रहा हो, भले ही उसको लिपिबद्ध करनेमें लेखकसे कोई लेखन प्रमाद हो गये हों। पाठालोचन उक्त पहले प्रकारके पाठका निर्धारण करके उक्त दूसरे प्रकारके पाठतक पहुँचनेका भी प्रयास करता है।

पाठालोचनकी सामग्री दो प्रकारकी होती है—एक तो वह जो रचनाकी प्रतियोंके रूपमें पायी जाती है और दूसरी वह जो उससे सम्बन्धित होती है और इतर रूपोंमें हमारे सामने आती है। यह दूसरे प्रकारकी सामग्री टीकाओं, अनुवादों, संकलनों, उदाहरणों, विवेचनों, परिचयों, संक्षेपों, छाया-रचनाओं आदिके रूपमें पायी जाती है। प्रथम प्रकारकी सामग्रीके अभाव अथवा त्रुटित होनेपर इसका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है, किन्तु वैसे भी कभी-कभी इससे पाठ-निर्धारणमें सहायता मिलती है।

प्रतियाँ भी कई प्रकारकी होती हैं—एक तो वे होती हैं जो स्वयं लेखककी लिखी होती हैं, दूसरी वे होती हैं जो लिखी अन्यकी, किन्तु लेखकके द्वारा शुद्ध की हुई होती हैं। तीसरी इनकी प्रतिलिपियाँ होती हैं और चौथी प्रतिलिपियोंकी भी उत्तरोत्तर की हुई प्रतिलिपियाँ होती हैं। इनमेंसे प्रथम दो लेखककी स्वहस्तलिपियाँ कहलाती हैं और इनके प्राप्त होनेपर पाठालोचनका कार्य प्रायः नहींके बराबर रह जाता है। ऐसी प्रतियोंके पाठमें हस्तक्षेपका अधिकार पाठालोचकको उन्हीं स्थलोंपर होता है जहाँपर स्पष्ट लेखन-प्रमाद होता है, अन्यथा इन प्रतियोंका पाठ ज्योंका त्यों गृहीत होता है। किन्तु ऐसी प्रतियाँ नितान्त दुर्लभ होती हैं। उपर्युक्त तीसरी प्रकारकी प्रतियाँ इनके अभावमें सबसे अधिक मूल्यवान् होती हैं। उनके अभावमें भी चौथी प्रकारकी प्रतियोंसे काम लिया जाता है।

प्रतिलिपि-क्रियाके दौरानमें रचनाके पाठमें विकृतियोंका होना स्वाभाविक है। प्रतिलिपिकी पीढ़ियोंके अनुसार ही विकृतियाँ भी बढ़ती जाती हैं—अर्थात् ये प्रतिलिपियाँ मूलसे जितनी ही दूरकी पीढ़ीमें आती हैं उतनी ही पाठ-विकृतियाँ भी उनमें अधिक होती हैं। इसलिए इन प्रतिलिपियोंका पीढ़ी निर्धारण आवश्यक हुआ करता है। यह पीढ़ी-निर्धारण इन्हीं विकृतियोंकी सहायतासे होता है।

पुनः, मूलसे जब एकसे अधिक प्रतिलिपियाँ होती हैं और उन प्रतिपियोंकी प्रतिलिपि परम्पराएँ चलती हैं, तो रचनाके पाठकी उतनी ही स्वतन्त्र शाखाएँ बन जाती हैं जितनी मूलसे प्रथम प्रतिलिपियाँ हुई रहती हैं। स्वभावतः इन शाखाओंकी विकृति-परम्पराएँ भी चलती हैं और इन्हीं विकृति-परम्पराओंकी सहायतासे शाखा निर्धारण होता है।

प्रतिलिपि-परम्पराओंमें कभी-कभी पाठ-मिश्रण हो जाया करता है और यह पाठ-मिश्रण भी दो प्रकारका हो सकता है। एक तो वह जो एक ही शाखाकी दो या अधिक प्रतियोंके पाठोंको लेकर किया जाता है और दूसरा वह जो दो या अधिक शाखाओंकी प्रतियोंके पाठोंको लेकर किया जाता है। पाठ-मिश्रणकी इन प्रतियोंका महत्त्व तभी होता है, जब पहले प्रकारका मिश्रण किसी ऐसी प्रतिके पाठको लेकर किया जाता है, जिसके बराबर या पूर्वकी स्थितिकी प्रति विद्यमान नहीं होती है अथवा जब दूसरे प्रकारका मिश्रण किसी ऐसी शाखाकी प्रतिके पाठको लेकर किया जाता है, जिसकी कोई अन्य प्रति, अथवा कमसे कम उस स्थिति या उससे पूर्वकी स्थितिकी कोई प्रति प्राप्त नहीं होती है, जिस स्थितिकी प्रतिके पाठको लेकर पाठ-मिश्रण किया गया हुआ होता है।

इस सम्पूर्ण प्रतिलिपि-परम्परा—अर्थात् पाठकी शाखाओं और पीढ़ियोंके निर्धारणके अनन्तर मूलका पाठ-निर्धारण सुगम और बहुत कुछ निरापद हो जाता है। जो पाठ किन्हीं भी दो या अधिक ऐसी प्रतियोंमें मिलता है जिनमें परस्पर किसी प्रकारका विकृति सम्बन्ध नहीं होता है, समान रूपसे पाया जाता है, स्वभावत मूलका होता है। कठिनाई ऐसे पाठोंके सम्बन्धमें पड़ती है जो दो या अधिक शाखाओंमें परस्पर सर्वथा भिन्न होते हैं। ऐसी दशामें यदि पाठकी दो ही शाखाएँ प्राप्त हैं और एक शाखाका पाठ इस प्रकारका नहीं प्रमाणित होता है जिससे बिगडकर दूसरीका पाठ बन सकता हो, तो लेखकके प्रयोगों-का सूक्ष्म अध्ययन और समस्त प्रकारकी सगतियोंके ऊहापोहके अनन्तर दोनोंमेंसे उसे ही स्वीकार करना होगा जो निश्चित रूपसे लेखककी उक्त रचना अथवा अन्य रचनाओंसे प्रयोगसम्मत प्रमाणित हो और अधिक सगत हो। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी पाठालोचकके सामने आती है जब कि दोनों शाखाओंके पाठ दोनों अर्थात् लेखकके प्रयोगों और सगतियोंके अनुसार समान रूपसे अधिकृत प्रतीत होते हैं। ऐसी दशामें उस शाखाका पाठ ग्रहण करना सामान्यत अधिक निरापद होता है जिस शाखाका पाठ ऐसी अन्य स्थितियोंमें भी प्राय अधिक प्रयोगसम्मत और सगत प्रमाणित हुआ हो।

किसी रचनाके पाठकी तीन या अधिक शाखाएँ प्राप्त होनेपर इस पाठ-चयनमें बहुत सुगमता हो जाती है, जहाँपर दो शाखाओंका पाठ एक हो और शेष एकका भिन्न अथवा शेष अनेकका परस्पर भिन्न, वहाँपर दो शाखाओंके समान पाठको निरापद रूपसे ग्रहण किया जा सकता है। इस सिद्धान्तके प्रयोगमें तभी कठिनाई पड़ती है जब कि विभिन्न शाखाओंका पाठ स्वय लेखक द्वारा किये हुए विभिन्न पाठ-सुधारों(सस्करणों)की स्थितियोंका पाठ प्रस्तुत कर रहा हो। ऐसी दशामें यह सम्भव है कि समान पाठवाली दो या अधिक शाखाएँ एक स्थितिकी हों और भिन्न पाठ-वाली भिन्न स्थितिकी और तब लेखक-कृत पाठ-सुधारों-(सस्करणों)की इन विभिन्न स्थितियोंका निर्धारण नितान्त आवश्यक हो जाता है। यह पाठालोचककी एक अत्यन्त जटिल समस्या है। पाठालोचकको इसके निपटारेके लिए ऐसे प्रत्येक सस्करणकी स्थितिका पाठ निर्धारित करना पडता है और तदनन्तर उन समस्तके तुलनात्मक अध्ययन-के आधारपर, जिसमें लेखककी पाठ सुधारकी प्रवृत्तियोंका अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन करना अपेक्षित होता है, उक्त विभिन्न सस्करणोंका पूर्वापर क्रम निर्धारित करना होता है।

पाठालोचकके सामने कभी कभी एक स्थिति और आती है, विभिन्न पाठोंमेंसे कोई भी ऐसा नही होता जो एक साथ लेखकके प्रयोगोंसे अनुमोदित सभी प्रकारसे सगत और यदि रचना छन्दोबद्ध है तो उसकी छन्द-कल्पनासे समर्थित हो। ऐसी दशामें पाठालोचकको ऐसे सम्भव पाठकी कल्पना करनी पड़ती है जो किसी भी कारण विकृत होकर प्राप्त पाठों अथवा उनमेंसे किसीमें परिवर्तित हो गया हो, साथ ही प्रयोगसम्मत, सभी प्रकारसे सगत और छन्दोऽनुमोदित हो। इस सशोधनका अधिकार पाठालोचकको अवश्य है, किन्तु इसका प्रयोग उसे तभी करना चाहिये जब पाठ-चयनके द्वारा पाठ-निर्धारणके सभी सम्भव उपाय व्यर्थ जाते हों, अन्यथा उसे पाठ-चयनसे ही सन्तोष करना चाहिये।

हिन्दीमें ग्रन्थोंका सम्पादन बहुत हुआ है और कभी-कभी अच्छा भी हुआ है, किन्तु पाठालोचनकी जिस वैज्ञानिक पद्धतिका निरूपण ऊपर किया गया है, उस पद्धतिपर कार्यका अभी प्रारम्भ ही हुआ है। इस कार्यमें द्रष्टव्य निम्नलिखित हैं—प्रस्तुत लेखक द्वारा लिखित 'अर्धकथाका पाठ', हिन्दी अनुशीलन' आश्विन-मार्ग स० २०००, पृ० ५, 'कान्हडदे प्रबन्ध और उसका पाठ' आलोचना, जनवरी, १९५५, पृ० ६८, लेखक द्वारा सम्पादित 'तुलसी ग्रन्थावली' भाग १ (दो खण्डोंमें) हिन्दुस्तानी एकेडमी, यू० पी०, प्रयाग, 'जायसी ग्रन्थावली' हिन्दुस्तानी एकेडमी, यू० पी०, प्रयाग, 'बीसलदेवरासो', हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, 'छिताई वार्ता' (प्रकाशनीय) नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी तथा पारसनाथ तिवारी 'कबीर-वाणी पाठ-समस्या और पाठ' (प्रकाशनीय)।

(विशेष जानकारीके लिए दे०–पाश्चात्य-साहित्या-लोचन'—लीलाधर गुप्त)। —मा० प्र० गु०

पात्र—कथात्मक साहित्यका अन्यतम तत्त्व, चरित्र—वे व्यक्ति जिनके द्वारा कथाकी घटनाएँ घटती हैं अथवा जो उन घटनाओंसे प्रभावित होते हैं। इन्हीं व्यक्तियोंके क्रिया-कलापसे कथानक और कथावस्तुका निर्माण होता है। अत भले ही किसी कृतिमें घटनाओंकी बहुलता और प्रधानता हो, पात्रों या चरित्रोंका उसमें अभाव नही हो सकता। कथाकी कल्पनामें ही पात्रोंकी विद्यमानता निहित है।

कथाके पात्रोंको किस प्रकार उपस्थित किया जाय यह कलाकृतिके रूप, लेखककी रुचि तथा योग्यता और उसकी कृतिके उद्देश्यपर निर्भर है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदिमें पात्रोंके प्रयोग अर्थात् चरित्र-चित्रणके अपने-अपने ढग और विधान होते हैं। सब मिलाकर पात्रोंका चरित्र-चित्रण तीन प्रकारसे हो सकता है—१ पात्रोंके कार्योंके द्वारा, २ उनकी बातचीतके द्वारा तथा ३ लेखकके कथन और व्याख्या द्वारा। पहले दोको नाटकीय या अप्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण कहते हैं और तीसरेको विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण। नाटकमें साधारणतया अप्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण द्वारा ही अर्थात् पात्रोंके कार्यों और उनकी तथा उनके विषयमें दूसरोंकी बातचीतके सम्मिलित प्रभावके द्वारा ही हम उनके चरित्रके विषयमें कोई धारणा बना सकते हैं—साधारणतया इसलिए कि कभी-कभी किसी पात्रविशेषके विषयमें लेखक किसी अन्य पात्रके माध्यमसे चारित्रिक विश्लेषण उपस्थित करके उस पात्रको समझनेमें दर्शकोंकी सहायता करता है। परन्तु नाटकके चरित्र-चित्रणमें अप्रत्यक्ष या नाटकीय ढग ही स्वाभाविक और समीचीन है। इस प्रकारके चरित्र-चित्रणकी खूबी यह है कि दर्शक या पाठक तथा पात्रोंके बीच सीधा सम्बन्ध रहता है और पात्रोंके सम्बन्धमें धारणा बनानेकी

पाठक या दर्शकको पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। नाटकीय चरित्र-चित्रण जितना ही व्यंजनापूर्ण और संक्षिप्त होगा है उतना ही अधिक प्रभावशाली। परन्तु चरित्रकी आन्तरिक सूक्ष्मताओं और मनोवैज्ञानिक रहस्योंको इस शैलीमें उतने स्पष्ट और असन्दिग्ध रूपमें उपस्थित नहीं किया जा सकता जितना विश्लेषणात्मक शैलीमें सम्भव है। उपन्यासके चरित्र-चित्रणमें अभिनयात्मक तथा विश्लेषणात्मक शैलियोंको मिलाकर चरित्र-चित्रण अधिक विशद रूपमें किया जा सकता है। उपन्यासके चरित्र-चित्रणमें लेखकको व्याख्या और टीका टिप्पणी करनेकी इतनी स्वतन्त्रता होती है कि वह चारित्रिक विशेषताओंके उद्घाटनमें नाटककी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तार और गहनता ला सकता है। नाटक और उपन्यासके चरित्र-चित्रणका यह अन्तर स्पष्ट ही इस बातका सूचक है कि नाटकमें कार्यकी प्रधानता होती है, जब कि उपन्यासका महत्त्व चारित्रिक अध्ययनमें ही अधिक माना जाता है। कार्य या घटनाको प्रमुखता देनेवाले उपन्यास उच्च कोटिके नहीं बन पाते। इसके विपरीत नाटकमें चरित्र-चित्रणका आधिक्य यदि कार्य-व्यापारको दबा दे तो नाटकीयताको क्षति पहुँच सकती है। नाटकमें देश और कालकी सीमाओंके कारण चरित्रका विकास भी उतनी स्वतन्त्रतासे नहीं दिखाया जा सकता। उपन्यासमें चरित्रको धीरे-धीरे विकसित होता हुआ दिखाकर विभिन्न परिस्थितियोंमें उसके उत्थान-पतनके अगणित परिवर्तनोंको चित्रित किया जा सकता है। सुविधानुसार उपन्यासकार नाटकीयता और विश्लेषणका समुचित समन्वय करके मानवीय मनोवेग, भावावेश, विचार, भावना, उद्देश्य, प्रयोजन आदिका सूक्ष्मसे सूक्ष्म आकलन कर सकता है। गतिशील चरित्रोंकी सृष्टि ही कथासाहित्यकी महत्ताकी कसौटी है। एक ही पात्रके स्वभाव तथा उसके आधारपर किये गये कार्योंमें मनोविज्ञानसम्मत परिवर्तन तथा कभी-कभी आश्चर्यजनक विरोधका चित्रण करके कथा साहित्यमें जिस सौन्दर्यकी सृष्टि की जा सकती है वह साहित्यके अन्य रूपोंके लिए ईर्ष्याकी बात हो सकती है। आर्नल्ड बेनेटके शब्दोंमें हम कह सकते हैं कि कथासाहित्यका मूलाधार चरित्र-चित्रण ही है, अन्य कुछ नहीं। कथाकी घटनाएँ तो प्रायः पात्रोंके स्वभाव और प्रकृतिसे ही प्रसूत होती हैं। उसके वातावरण या देशकालका निर्माण चरित्रोंको स्वाभाविकता और वास्तविकता प्रदान करनेके लिए ही किया जाता है। कथनोपकथन घटनाओंसे भी अधिक चरित्रको ही व्यंजित और प्रकाशित करता है तथा कथाके उद्देश्यकी महत्ता भी चरित्रमें ही निहित होती है। मनोविज्ञानको साहित्यमें जो महत्ता मिली है उसका आधार भी चरित्र-चित्रण ही है। (दे०–'उपन्यास', कार्य)। –ल०

पात्रप्रवृत्तिवक्रता–दे०–'प्रकरणवक्रता', पहला नियामक।

पादाकुलक–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्'में १६ मात्राके चरणवाले इस छन्दका विवेचन किया गया है (१ . १३०)। भानुने ४ चौकलके चरणवाले छन्दोंको पादाकुलक कहा है (छ० प्र० : पृ० ४८)। इनमेंसे प्रमुख, जिनका प्रयोग हिन्दीमें हुआ है, अरिल्ल, पद्धरिया तथा डिल्ला हैं (दे०)। तुलसीने चौपाइयोंके मध्यमें, सूरने पदोंमें, केशव (रा० च०) सूदन (सु० च०) तथा श्रीधर(जगनामा)ने इसका प्रयोग किया है। सूरकी इस चौपाई–'उमा कहाँ मैं तो नहीं जानी, अरु निवहूँ मो सों न बखानी'(पद २२६ : सभा स०)के दोनों चरणोंमें चार-चार चौकल होनेसे पादाकुलक है। इसी प्रकार तुलसीकी इस चौपाईके चारों चरणोंमें चौकल हैं, अतएव इसे पादाकुलक कहा जायगा–'गुरु पद, रज मृदु, मंजुल, अंजन। नयन अमिय दृग, दोष विभंजन' (रा० च० मा० १ . १)।

भानुने पद पादाकुलकको इसका भेद स्वीकार करते हुए माना है कि इसकी १६ मात्राओंके आदिमें द्विकल (ऽ या ॥) अवश्य रहता है और त्रिकल (।ऽ, ऽ।, ।।।) कदापि नहीं आता, समकल आदिसे अन्ततक चलते हैं। इसकी चाल तोटकवृत्तसे मिलती है। पादाकुलकके समान ही हिन्दीमें इस छन्दरूपका प्रयोग भी हुआ है। इस छन्दमें चौपाई छन्दकी अपेक्षा चंचलता अधिक रहती है। उदा०–'ब्रजमें हरि होरी खेलि रहे, गण ग्वाल अबीरहिं मेलि रहे' (भानु : छ० प्र० पृ० ५१)। –म०

पादावृत्ति यमक–दे०–'यमक'।

पारमिता–महायानमें ६ प्रकारकी पारमिताओंकी साधनाका विधान है। दान, शील, क्षान्ति (सहनशीलता), वीर्य (आध्यात्मिक शक्ति), ध्यान तथा प्रज्ञा अथवा परमार्थज्ञान। इन छवोंकी साधना **बोधिचित्त**को उत्पन्न करनेके लिए की जाती है। इनमेंसे **प्रज्ञापारमिता** अन्तिम है और सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसकी साधनाके बाद ही **बोधिचित्तोत्पाद** होता है और उसमें शून्यता, ज्ञान तथा करुणा समन्वित हो जाती है। –व० बी० भा०

पाराती–प्रातःकालमें जो गीत गाये जाते हैं उन्हें 'पाराती' कहते हैं। इस शब्दकी व्युत्पत्ति 'प्रात'से है। ग्रामीण स्त्रियाँ किसी पर्व आदिके अवसरपर जब गंगा-स्नान करनेके लिए प्रातःकाल झुण्ड बनाकर जाती हैं, तब वे समवेत स्वरमें 'पाराती'के गीतोंको गाती जाती हैं। ये गीत भक्तिप्रधान होते हैं। इनमें भगवान्, राम, गंगा अथवा किसी अन्य देवताकी स्तुति होती है। भक्तिके रसमें सराबोर इन गीतोंमें भावुक भक्तकी भावनाका उद्गार बड़ी सुन्दर रीतिसे हुआ है। कहीं तो भगवान् रामकी महिमा गायी गयी है तो कहीं प्रियतमको रामसे प्रेम करनेका उपदेश दिया गया है। इन गीतोंको 'प्रातकाली' भी कहते हैं, क्योंकि ये प्रातःकालमें ही गाये जाते हैं। इनमें ग्रामीण जनताकी भक्तिभावनाका चित्रण हुआ है। –कृ० दे० उ०

पालि (भाषा तथा साहित्य)–पालि शब्दका सम्बन्ध विद्वानोंने 'पंक्ति', 'परियाय', 'पल्लि', 'पाटलिपुत्र' आदिसे बतलाया है, किन्तु इनकी वास्तविक व्युत्पत्ति 'रक्षा करने'के अर्थमें 'पा' धातुसे मानना युक्तियुक्त है। जिसमें बुद्ध-वचनोंकी रक्षा की गयी है वह पालि है–पा रक्खतीति बुद्धवचन इति पालि।

पालि भाषा मूलतः किस प्रदेशकी भाषा है, इस सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें पर्याप्त मत-भेद है, किन्तु यह निर्विवाद है कि इसमें व्याकरणका ढाँचा मध्यदेशकी भाषा-

का है। इसमें मगध प्रदेशकी भाषाके भी अनेक शब्द अवश्य आ गये हैं।

पालिमें ही तिपिटक(स० त्रिपिटक)की रचना हुई है। बुद्धके समस्त उपदेश मौखिक थे। उनके शिष्य उन्हें कण्ठस्थ कर लेते थे। इन्हीं उपदेशोंका सकलन त्रिपिटकमें किया गया है। ये सीलोन(लका)के थेर(स्थविर)वादियोंके मुख्य ग्रन्थ हैं। परम्पराके अनुसार इनका सकलन तथा सगायन भगवान् बुद्धकी मृत्युके पश्चात् ईसाके ४८३ वर्ष पूर्व राजगह(राजगृह)की प्रथम सगीति(सभा)में महाकस्सप (महाकाश्यप)के अधिनायकत्वमें हुआ था। वैशाली-निवासी वज्जिपुत्तक (वृजिपुत्र) भिक्षुओंने विनयके विरुद्ध आचरण आरम्भ किया, अतएव व्यवस्थाके लिए प्रथम सगीतिके सौ वर्ष बाद ही वैशालीमें दूसरी सगीति हुई, जिसमें महास्थविर रैवत तथा सर्वकामी मुख्य थे। तीसरी संगीति अशोक-(ई० पू० २६४-२२७)की प्रेरणासे हुई, जिसमें पिटकोंको एक प्रकारसे अन्तिम रूप मिला। इस सगीतिमें ही 'सुत्त-पिटक'के उपदिष्ट सिद्धान्तोंके आधारपर 'अभिधम्म' (अभिधर्म) पिटक अस्तित्वमें आया तथा अशोकके गुरु मोग्गलिपुत्त-तिस्सने 'कथावत्थुप्पकरण'का सगायन किया। यह तीसरी सगीति इस दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके प्रस्तावानुसार बौद्ध धर्मके प्रचारके लिए अनेक प्रचारक पडोसके देशोंमें भेजे गये। परम्पराके अनुसार अशोक-पुत्र महिन्द(महेन्द्र)-को धर्मप्रचारार्थ सीलोन (लका) जाना पड़ा था। वे ही अपने साथ त्रिपिटक भी ले गये थे।

दीर्घ कालतक सीलोनमें त्रिपिटककी मौखिक परम्परा ही चलती रही, किन्तु 'दीपवस' तथा 'महावस'के अनुसार वट्टगामिनीके राजत्वकाल(ई० पू० २९-१)में 'अट्ठ (अर्थ) कथाओं' सहित उसे लिपिबद्ध किया गया। समस्त त्रिपिटक मूल बुद्ध-वचन ही है, इसमें विद्वानोंमें मतभेद है। इसमें कुछ गाथाओंके प्रक्षिप्त होनेकी बात तो पुराने आचार्योंने भी स्वीकार की है। किन्तु इसमें मूल बुद्ध-वचन पूर्ण रूपमे सुरक्षित हैं। सूत्रोंकी शैली अत्यधिक सजीव है तथा प्रत्येक सूत्रके आरम्भमें उस स्थानका नाम भी है जहाँ भगवान् बुद्धने उनका उपदेश किया था।

त्रिपिटकके अन्तर्गत 'सुत्त', 'विनय' तथा 'अभिधम्म'-पिटक आते हैं। सुत्त(सूत्र)पिटकमें साधारण बातचीत-के ढगपर दिये गये भगवान् बुद्धके उपदेशोंका संग्रह है। इसमें सारिपुत्त तथा मोग्गलान आदि द्वारा भी उपदिष्ट कतिपय सूत्र सम्मिलित कर लिये गये हैं जिनका अनुमोदन भगवान्ने अन्तमें कर दिया है। सुत्तपिटकके अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच निकाय हैं—१ दीघनिकाय, २ मज्झिम-निकाय, ३ सयुत्तनिकाय, ४ अंगुत्तरनिकाय, ५ खुद्दक-निकाय। खुद्दकनिकायमें पन्द्रह ग्रन्थ हैं—१ खुद्दकपाठ, २ धम्मपद, ३ उदान, ४ इतिवुत्तक, ५ सुत्तनिपात, ६ विमानवत्थु, ७ पेतवत्थु, ८ थेरगाथा, ९ थेरीगाथा, १० जातक, ११ निद्देस, १२ पटिसम्भिदामग्ग, १३ अपा-दान, १४ बुद्धवस, १५ चरियापिटक।

'सुत्तपिटक'के ग्रन्थोंको पाँच निकायोंमें विभक्त करनेमें सूत्रोंके विषयका नहीं, अपितु उनके आकार-प्रकारका विचार किया गया है। 'दीघनिकाय'में लम्बे और 'मज्झिम-निकाय'में मध्यम आकारके सूत्रोंका सग्रह है। 'सयुत्त' तथा अगुत्तरनिकाय वस्तुत अन्य निकायोंके पूरक रूप हे। ये दोनों दीघ तथा मज्झिम निकायोंसे बडे हैं। खुद्दक-निकाय छोटे-छोटे सूत्रोंका सग्रह है।

विनयपिटकमें भगवान् बुद्धकी उन शिक्षाओंका सग्रह है जो उन्होंने समय-समयपर सघ-सचालनको नियमित करनेके लिए दी थीं। इस पिटकमें निम्नलिखित विभाग हैं—(१) सुत्तविभग—(क) पाराजिक, (ख) पाचित्तिय। (२) खन्धक—(क) महावग्ग, (ख) चुल्लवग्ग, (३) परिवार।

'सुत्तपिटक'के उपदिष्ट सिद्धान्तोंके आधारपर ही वस्तुत 'अभिधम्मपिटक'का विकास हुआ है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सात ग्रन्थोंकी गणना है—(१) धम्मसगिनि, (२) विभग, (३) कथावत्थु, (४) पुग्गलपञ्ञत्ति, (५) धातुकथा अथवा धातुकथापकरण, (६) यमक, (७) पट्ठानप्पकरण अथवा महापट्ठान। ये बौद्धधर्मके दर्शनके ग्रन्थ कहे जाते हैं, किन्तु वे उस रूपमें दर्शन-ग्रन्थ नहीं हैं जिस रूपमें ब्राह्मण दर्शन-ग्रन्थ। बौद्ध-धर्म आत्माके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार मनुष्य, चित्त (माइण्ड) और शरीर(मैटर)का सघातमात्र है। शरीर ही रूप कहलाता है और चित्तमें चार आकार हैं—वेदना (feeling), सञ्ञा (conceptual knowledge), सखार(synthetic mental stages), विञ्ञान (consciousness)। इन सघातकी अवस्थाओंको ही 'धम्म' कहते हे। 'अभिधम्मपिटक'के सर्वाधिक प्राचीन एव महत्त्वपूर्ण-ग्रन्थ 'धम्मसगिनि'में इन धर्मोंका पूर्ण विश्लेषण एवं विभाजन किया गया है, जैसे—'कुसल धम्मा', 'अकुसलाधम्मा', 'अव्याकताधम्मा' आदि। 'अभिधर्मपिटक'-के शेष छ ग्रन्थोंमें इन्हीं धर्मोंके स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध-पर विचार किया गया है। धर्मोंका वर्गीकरण भी चार भागोंमें किया गया है। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित गाथा उल्लेखनीय है—'तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो। चित्त चेतसिक, रूप, निब्बानमिति सब्बथा।' अर्थात् परमार्थ-की दृष्टिसे अभिधर्मके चार विषय बतलाये गये हैं—१—(किसी वस्तुका जाननेवाला) चित्त, २—(चित्तसे सयुक्त रहनेवाला) चैतसिक, ३—(विकार स्वभाववाला) रूप और ४—(तृष्णासे विमुक्त) निर्वाण।

त्रिपिटकेतर साहित्यके दो युग—प्रथम युग और द्वितीय युग किये जा सकते हैं।

प्रथम युगकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना 'मिलिन्दपन्हो' (मिलिन्दप्रश्न) है। इसमें राजा मिलिन्द तथा भिक्षु नागसेनके प्रश्नोत्तर है। यद्यपि इस ग्रन्थकी गणना त्रिपि-टकके अन्तर्गत नहीं है फिर भी इसकी प्रामाणिकता उससे कम नहीं मानी जाती। अट्ठकथाचार्य बुद्धघोषतकने कई बातोंको पुष्ट करनेके लिए स्थान स्थानपर 'मिलिन्दप्रश्न'का प्रमाण दिया है। यह ग्रन्थ पूर्ण रूपसे स्थविरवादी दृष्टिकोण-का प्रतिनिधि है और बौद्ध जनतामें इसका आदर है। यहाँ मिलिन्दसे तात्पर्य बैक्ट्रियाके राजा मिनाण्डरसे है। 'मिलिन्दप्रश्न'के सम्बन्धमें सबसे बडी कठिनाई यह है कि इसके प्रणेताका नाम अभीतक ज्ञात नहीं। इस ग्रन्थकी शैली पालिकी अपेक्षा सस्कृतके अधिक निकट है।

पालिमें त्रिपिटकेतर-साहित्यका दूसरा युग ५वीं से ११वीं शताब्दीतक माना जाता है। इस द्वितीय युगका आरम्भ त्रिपिटककी अट्ठकथाओं(अर्थकथाओं)से होता है। पालि अट्ठकथाओंका आधार प्राचीन सिंहलीमें लिखित अट्ठकथाएँ हैं। इस अट्ठकथा-साहित्यके प्रणेता आचार्य बुद्धघोष बतलाये जाते हैं, जिनका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी निश्चित है। बुद्धघोषने निम्नलिखित अट्ठकथाएँ लिखीं—१-विनयपिटक—(क) समन्तपासादिका-विनयपिटकका अट्ठकथा, (ख) कंखावितरणी—पातिमोक्खकी अट्ठकथा। २-सुत्तपिटक—(ग) सुमंगलविलासिनी—दीघनिकायकी अट्ठकथा, (घ) पपञ्चसूदनी—मज्झिम-निकायकी अट्ठकथा (ङ) सारत्थपकासिनी—संयुत्त-निकायकी अट्ठकथा; (च) मनोरथपूरणी—अंगुत्तरनिकायकी अट्ठकथा, (छ) परमत्थजोतिका—खुद्दकनिकायके खुद्दकपाठ तथा सुत्त-निपातकी अट्ठकथा। ३-अभिधम्म पिटक—(ज) अट्ठसालिनी—धम्मसंगणीकी अट्ठकथा (झ) सम्मोहविनोदिनी—विभंगकी अट्ठकथा; (ट) पञ्चप्पकरणट्ठकथा—अभिधम्मपिटककी 'धातुकथा', 'पुग्गलपञ्ञत्ति', 'कथावत्थु', 'यमक' तथा 'पट्ठानप्पकरण'की अट्ठकथा।

अट्ठकथाओंके अतिरिक्त बुद्धघोषकी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'विसुद्धिमग्ग' (विशुद्धिमार्ग) है। इसमें बौद्धधर्मके सिद्धान्तोंका स्पष्टीकरण किया गया है। यदि इसे बौद्ध-सिद्धान्तोंका कोश कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि 'जातकट्ठकथा'-(जातककी अर्थकथा)के प्रणेता भी आचार्य बुद्धघोष ही हैं।

बुद्धघोषके साथ साथ बुद्धदत्तका भी उल्लेख आवश्यक है। परम्परानुसार ये बुद्धघोषके समकालीन थे। कहा जाता है कि इन्होंने 'बुद्धवंस'पर 'मधुरत्थविलासिनी' अथवा 'मधुरत्थपकासिनी' नामक अट्ठकथाकी रचना की थी। इनकी अन्य अनेक रचनाएँ भी कही जाती हैं।

बुद्धदत्तके बाद आनन्दका नाम आता है। ये भारतीय थे और 'मूलटीका' तथा 'अभिधम्मटीका'के रचयिता थे। धम्मपालकी 'परमत्थदीपनी' टीका और उनके अन्य ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। बुद्धघोषके पश्चात् धम्मपाल ही पालि-साहित्यके सर्वाधिक प्रसिद्ध टीकाकार हैं। बहुत सम्भव है कि धम्मपाल नामके अन्य टीकाकार भी हुए हों और उनकी कृतियाँ विख्यात टीकाकार धम्मपालके नामसे ही प्रचलित हो गयी हों। धम्मपालका समय भी विवादग्रस्त है।

पालि साहित्यके प्राचीन टीकाकारोंकी सूचीमें चुल्ल-धम्मपाल, उपसेन महानाम, कस्सप, वजिरबुद्धि, खेम, अनुरुद्ध आदि अन्य नाम भी गिनाने योग्य हैं।

विनयपिटक सम्बन्धी दो और ग्रन्थोंका उल्लेख भी आवश्यक है। ये हैं—धम्मसिरि-रचित 'खुद्दसिक्खा' तथा महासामि द्वारा रचित 'मूलसिक्खा'। इनमें भिक्षुओंके लिए संघ सम्बन्धी नियमोंके संग्रह हैं और कण्ठाग्र करनेके लिए पद्य बद्ध किये गये हैं। इनकी भाषा तथा शैलीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये रचनाएँ ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वकी नहीं हैं।

पालि साहित्यमें 'दीपवंस' तथा 'महावंस' इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। ये दोनों वस्तुतः सिंहलके इतिहास हैं। इन दोनोंके विषय भी एक ही हैं। दोनोंमें केवल विषयकी ही समानता नहीं है बल्कि दोनोंका वर्णन क्रम भी एक ही है। 'महावंस' 'दीपवंस'के पीछेकी रचना है, परन्तु काव्यकी दृष्टिसे 'दीपवंस' जहाँ नीरस और शुष्क है वहाँ 'महावंस' एक सरस तथा श्रेष्ठ महाकाव्य है।

त्रिपिटक साहित्य विशाल है। बर्मी, सिंहली, स्यामी तथा रोमन लिपियोंमें मूल त्रिपिटक प्रकाशित हो चुका है, किन्तु नागराक्षरोंमें यह उपलब्ध नहीं है। इधर जबसे कलकत्ता तथा सारनाथमें बौद्ध विहार बने और कतिपय भारतके निवासियोंने भी बौद्धधर्मकी दीक्षा ली तबसे मूल त्रिपिटक और उसके अनुवादको हिन्दीमें प्रकाशित करनेका प्रश्न स्वाभाविक रूपमें उनके सामने आया। ऐसे लोगोंमें राहुल सांकृत्यायन अग्रणी हैं। सर्वप्रथम आपने 'सुत्तपिटक'के दो निकायों—मज्झिम तथा दीघ—एवं विनयपिटकका हिन्दी अनुवाद महाबोधि सभा, सारनाथने प्रकाशित किया। इसके अनन्तर बर्माके भिक्षु उत्तमकी सहायतासे आपने 'खुद्दकनिकाय'के ग्यारह ग्रन्थोंको मूल रूपमें भी प्रकाशित किया। राहुलके मार्गका अनुसरण भदन्त आनन्द कौसल्यायनने किया, आपने 'जातक'का हिन्दी अनुवाद लगभग छः खण्डोंमें हिन्दी साहित्य सम्मेलनसे प्रकाशित किया। अभीतक यह कार्य पूरा नहीं हो सका है। इधर राष्ट्रीय महत्त्वकी दृष्टिसे त्रिपिटकको नागराक्षरोंमें प्रकाशित करनेका भार भारतीय सरकारने अपने ऊपर ले लिया है। यह कार्य 'नालन्दा पालि इन्स्टीट्यूट'के अवैतनिक डाइरेक्टर त्रिपिटकाचार्य भिक्षु जगदीश काश्यपके तत्त्वावधानमें चल रहा है। —उ० ना० ति०

पाशुपत—(पशुपति+अण्) वैसे यजुर्वेदके 'पशूनापति'से लेकर 'महाभारत'तक शिवका पशुपतिरूपमें वर्णन और पाशुपत सम्प्रदायका संकेत मिलता है, पर ईसाकी आरम्भिक शताब्दीमें कुषाणयुगमें पाशुपत सम्प्रदायके महाचार्य लकुलीशका प्रादुर्भाव हुआ। इनका मत माधवके 'सर्व-दर्शन-संग्रह'में नकुलीश पाशुपतके नामसे उद्धृत है। लकुलीश श्रीकण्ठके शिष्य और महेश्वरके अन्तिम अवतार कहे जाते हैं और वे हमेशा शिवलिंगके साथ ही शिल्प आदिमें द्योतित कहे जाते हैं। लकुलीशके आचार्य सम्प्रदायके प्रवर्तनका व्यापक प्रभाव तमिल शैवोंपर पड़ा और इसीकी शाखाके रूपमें **कापालिक**, **कालमुख** और भैरव, वीर शैव, **रसेश्वर** आदि सम्प्रदाय विकसित हुए। इस पाशुपत सम्प्रदायको शाक्त मतसे जोड़नेका काम सोमसिद्धान्तने किया। तमिल शैव मतका सबसे प्रमाणित ग्रन्थ मेयकण्टारकृत 'शैवज्ञानबोधम्' है जो १२ सूत्रोंमें पाशुपत मतको व्यक्त करता है। तीन ही सत्ताएँ हैं—पशुपति, पाश और पशु, इन तीनोंमें परस्पर सम्बन्ध है, पशुका पाशसे मुक्त होनेका उपाय है और इस मोक्षका विशिष्ट स्वरूप है। इस मतका विस्तार बृहत्तर भारतमें हुआ। फाह्यानने जावामें इसकी उपस्थितिका उल्लेख किया है। कम्बोज और चम्पामें भी इसका विस्तार मिलता है। वैसे 'अथर्वशिर' और 'कैवल्य' उपनिषदोंमें भी इस सिद्धान्तकी विवेचना है। मोहनजोदड़ोके योगीकी मूर्तिको भी पाशुपतकी कल्पनासे जोड़ते हैं। —वि० नि० मि०

पिंगल—छन्द-शास्त्रका प्रचलित पर्याय। पिंगल नामक

एक प्राचीन आचार्य द्वारा विरचित 'छन्द सूत्र' ग्रन्थ छन्द-शास्त्रका आदि ग्रन्थ माना जाता है और पिंगलाचार्य आदि आचार्य। ए. बी कीथने अपने सस्कृत साहित्यके इतिहासमें इनका सम्भावित समय ई० पू० २०० निर्धारित किया है। कालान्तरमें छन्द-शास्त्र अपने आदि आचार्यके नामसे ही अभिहित किया जाने लगा और पिंगल शब्द उसका समानार्थी हो गया। 'प्राकृतपैंगलम्' नामक प्राकृत छन्दोंसे सम्बद्ध शास्त्र-ग्रन्थ मगलाचरणमें पिंगलाचार्यकी वन्दना करता है। बादके छन्द-ग्रन्थोंमें भी इसी प्रकार मगलाचरणोंमें पिंगलाचार्यका स्मरण सादर किया जाता रहा।

जगन्नाथप्रसाद 'भानु'के 'छन्द प्रभाकर'में भी परम्पराका अनुसरण करते हुए लिखा है 'जय पिंगल गुरुराय, कर्ता छन्द प्रबन्धके। तुव चरणनि चित लाय, छन्द प्रभाकर कहतु हौं।' इतना ही नहीं, अन्तमें 'आरती' भी दे दी गयी है 'जै जै जै पिंगल गुरुराया। सन्तत मोपर कीजिये दाया।'

इस विषयमें 'भुजगप्रयात' छन्दके श्लेषार्थपर आधारित एक कथा भी प्रचलित है जिससे शेषनाग आत्मरक्षाके लिए गरुडको छन्द-शास्त्र सुनाते हैं और बादमें 'भुजगप्रयात' कहते-कहते जलमग्न होकर गरुडके आतंकसे मुक्ति पाते हैं। पौराणिक पद्धतिसे कल्पित की गयी इस कथासे पिंगलाचार्य या पिंगलशास्त्रकी स्थितिपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता वरन् स्थिति और भी अस्पष्ट हो जाती है। —ज०गु०

पिंगलकाव्य—'पिंगल' मूलत 'छन्द सूत्रों'के रचयिता आचार्यका नाम था, जिन्हें नाग भी कहा गया है। पीछे छन्द-सूत्रों और उन सूत्रोंपर आधारित छन्द-शास्त्रको ही 'पिंगल' कहा गया है। ये छन्द-ग्रन्थ प्राय सस्कृतमें प्रयुक्त वृत्तोंका ही निरूपण करते थे, केवल कुछ बहुप्रचलित प्राकृत वृत्तोंके भी लक्षणादि दे दिया करते थे। किन्तु कालान्तरमें इस बातकी आवश्यकता प्रतीत हुई कि प्राकृत-अपभ्रंशके छन्दोंका एक स्वतन्त्र लक्षण ग्रन्थ बने और 'प्राकृतपिंगल' या 'प्राकृतपैंगल'ने उसीकी पूर्ति की। इसके रचयिता भी पिंगल या नाग ही कहे गये हैं, किन्तु यह रचना चौदहवी शती विक्रमीयसे पूर्वकी नहीं है, क्योंकि इसमें रणथम्भौरके हम्मीर तथा मिथिलाके चण्डेश्वर राणातकके सम्बन्धके छन्द उदाहरणोंमें आते हैं।

'पिंगल' शब्दका प्रयोग भाषाके लिए कबसे प्रारम्भ हुआ, इसका निश्चयपूर्वक कथन कठिन है। किन्तु सत्रहवी शतीसे उन्नीसवीं शती विक्रमीयतक पिंगल या उसके समानार्थी 'नाग' भाषाके उल्लेख मिलते हैं। सत्रहवीं शती विक्रमीयमें लिखते हुए मिर्जा खाँने अपने ब्रजभाषा-व्याकरण 'तुहफतुलहिन्द'में 'नागबानी'का उल्लेख किया है, अठारहवीं शती विक्रमीयमें आचार्य भिखारीदासने 'नागभाषा'का उल्लेख किया है। पुन अठारहवीं विक्रमीयमें गुरु गोविन्द सिंहने और उन्नीसवीं शती विक्रमीयमें बाँकीदास, बुधाजी तथा सूरजमल आदि अनेक राजस्थानी कवियोंने 'पिंगल' भाषाका उल्लेख किया है। प्रश्न यह है कि 'पिंगल' भाषासे इन लेखकोंका क्या अभिप्राय है।

गुरु गोविन्द सिंह तथा राजस्थानके कवियोंने जिसे 'पिंगल' कहा है, वह तो ब्रजभाषा ही है, किन्तु मिर्जा खाँ तथा आचार्य भिखारीदासने जिसे 'नागबानी' या 'नागभाषा' कहा है, वह कदाचित् सामान्य ब्रजभाषासे भिन्न है। भिखारीदासने तो 'ब्रज' भाषाके साथ-साथ 'नागभाषा'का नाम लिया है। अत कुछ विद्वानोंका विचार है कि 'पिंगल' उस देशी प्राकृतको कहते थे जिसके उदाहरण 'प्राकृत-पिंगल' या 'प्राकृतपैंगल'में मिलते हैं। इसके विरोधमें यह कहा जा सकता है कि 'प्राकृतपिंगल' अथवा 'प्राकृतपैंगल' नाममें 'पिंगल' अथा 'पेंगल' शब्द पिंगल(आचार्य)की कृतिके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, 'पिंगल' भाषाके अर्थमें नहीं। भाषाके लिए तो रचनाके नाममें 'प्राकृत' शब्द ही है। दूसरे, यह भी कि 'प्राकृतपिंगल'में किसी एक प्रदेशकी देश्य प्राकृत नहीं है, जहाँ एक ओर राजस्थानकी देशी प्राकृतके रूप हैं, वहाँ मिथिलाकी भी देशी प्राकृतके रूप मिल जायगे। फिर भी यह असम्भव नहीं है कि आधुनिक आर्यभाषाओंके साहित्यक्षेत्रमें पूर्ण रूपसे प्रतिष्ठित होनेके पूर्व जब अपभ्रंश बोलचालकी भाषा नही रह गयी थी, एक मध्यवर्ती देश्य प्राकृत काव्य-भाषाके रूपमें व्यापक रूपसे व्यवहृत होने लगी हो और पीछे काव्य-भाषा होनेके नाते यही 'पिंगल' नामसे कही जाने लगी हो। शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश पूर्वसे काव्य-भाषाएँ रह चुकी थीं, इसलिए शौरसेनी देश्य प्राकृत और तदनन्तर ब्रजप्रदेशसे बाहर काव्यक्षेत्रमें उसकी उत्तराधिकारिणी 'ब्रजभाषा'को यदि 'पिंगल' कहा गया हो, तो कुछ अनहोनी बात नहीं है।

काव्यक्षेत्रमें 'पिगल'का स्थान 'ब्रजभाषा'ने कब ग्रहण किया, इस सम्बन्धमें नितान्त निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, किन्तु कृष्णभक्ति आन्दोलनके जड पकड़नेके पूर्व ब्रजकी जनभाषाको साहित्यिक या काव्यभाषाका पद प्राप्त हुआ होगा, इसकी सम्भावना बहुत कम है। यह कृष्णभक्ति-आन्दोलन १४९३ ई०के लगभग जड़ पकड़ता है, इसलिए ब्रजप्रदेशके साहित्यमें 'पिंगल'के स्थान रिक्त करनेका समय भी १४९३ ई०के लगभग माना जा सकता है। ब्रजप्रदेश और कृष्णभक्ति साहित्यके बाहर 'पिंगल'का स्थान बोलचालकी 'ब्रजभाषा'को मिलनेमें कुछ और समय लगा होगा, इसलिए वहाँ उसकी अवधि १५४३ ई०के लगभग मानी जा सकती है। १५४३ ई०के बादकी तथाकथित 'पिंगल'की रचनाएँ वास्तवमें 'ब्रजभाषा'की ही रचनाएँ अथवा कभी-कभी 'पिंगलाभास'की रचनाएँ हैं और इनकी गणना 'ब्रजभाषा' साहित्यके अन्तर्गत होनी चाहिये। राजस्थानमें 'पिंगल'की जो रचनाएँ निश्चित रूपसे इस तिथिके बादकी मिलती हैं और ऐसी रचनाएँ कई सौ कही गयी हैं (दे०—मोतीलाल मेनारिया-लिखित 'राजस्थानका पिंगल साहित्य') वे प्राय ब्रजभाषामें ही हैं। उनमेंसे कुछमें राजस्थानीका कुछ पुट अवश्य मिल जाता है, किन्तु यह उसी प्रकार है जैसे अवधी या बुन्देली प्रदेशोंकी ब्रजभाषाकी रचनाओंमें कभी-कभी अवधी या बुन्देलीके तत्त्व मिल जाते हैं। नाभादास, जसवन्त सिंह, बिहारी, प्रियादास, नागरीदास, वृन्दावनदास, पद्माकर और अम्बिकादत्तको 'पिंगल' भाषाके कवि, राजस्थानमें उस समय 'पिंगल

भाषा'से जो अर्थ लिया जाता था उसकी दृष्टिसे भले ही कहा जाये, जैसा मेनारियाने कहा है, किन्तु यह बहुत उचित नहीं जँचता है और इसलिए पिंगल काव्य-परम्परामें यहाँ उनका उल्लेख करना भी उचित न होगा।

(१) 'प्राकृतपिंगल' अथवा 'प्राकृतपैंगल' (१४वीं १५वीं शती ई०) जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, इस परम्पराकी प्राचीन रचनाओंके परिचयके लिए सबसे उत्कृष्ट साधन है। इसने उस भाषाके ऐसे अनेक कवियोंकी रचनाएँ विविध छन्दोंके उदाहरणके रूपमें संकलित की हैं, जिनकी रचनाएँ हमें अन्य प्रकारसे अथवा अन्यत्र प्राप्त नहीं हैं। खेदका विषय है कि इस ग्रन्थका अध्ययन अभीतक इस दृष्टिसे नहीं किया गया है।

(२) 'पृथ्वीराजरासो' (१५वीं शती ई०), इसका रचयिता अपनेको चन्द कहता है और पृथ्वीराजका आश्रित कवि बताता है। इसीलिए यह रचना पृथ्वीराजकी समकालीन और तेरहवीं शताब्दीकी भी मानी गयी है। किन्तु अभीतक इसके जितने भी पाठ प्राप्त हुए हैं, उनमें अनैतिहासिकता इतनी है कि पृथ्वीराजकी समकालीन रचना यह नहीं मानी जा सकती है। फिर भी इसका कोई-न-कोई रूप १५वीं शती ई० तक निर्मित हो चुका था, यह इस बातसे प्रमाणित है कि चन्दके दो छप्पय जो वर्तमान 'पृथ्वीराजरासो'में भी हैं, एक पुराने जैन प्रबन्ध-संग्रहमें 'पृथ्वीराजप्रबन्ध'के अन्तर्गत मिलते हैं और इस प्रबन्ध-संग्रहकी एक प्रतिलिपि १४७१ ई०की है।

(३) इसी प्रकार उक्त प्राचीन जैन प्रबन्ध-संग्रहमें जल्ह-रचित दो छन्द 'जयचन्द-प्रबन्ध'के अन्तर्गत प्राप्त हुए हैं और इनमेंसे एक वर्तमान 'पृथ्वीराजरासो'में चन्दके नामसे संकलित है। असम्भव नहीं कि 'पृथ्वीराजरासो' जैसी कोई रचना जयचन्दसे सम्बन्धित भी रही हो, जिसका रचयिता अथवा चन्दकी भाँति तथाकथित रचयिता जल्ह रहा हो और यह भी असम्भव नहीं है कि उस एक छन्दकी भाँति, जो चन्दके नामसे 'पृथ्वीराजरासो'के वर्तमान संस्करणमें पाया जाता है, कुछ अन्य छन्द भी उस कृतिके वर्तमान 'पृथ्वीराजरासो'के इस पाठमें ले लिये गये हों। इस जल्हका समय फलतः यदि उपर्युक्त चन्दके आस-पास हो तो कुछ आश्चर्य नहीं।

(४) 'बुद्धिरासो' (१४वीं-१५वीं शती ई०), इसका रचयिता भी जल्ह है और यह जल्ह रचनाकी भाषा आदिकी दृष्टिसे जयचन्दविषयक उपर्युक्त छन्दोंके रचयिता जल्हसे भिन्न होगा, ऐसा माननेका कोई कारण नहीं है। यह रचना एक कल्पित प्रेमकथा है, जिसमें एक राजकुमार जलधितरंगिनी नामक एक सुन्दरीसे प्रेम करने लगता है और उसको लेकर समुद्रतटपर रहने लगता है। कुछ समय पश्चात् वह किसी कार्यवश बाहर जाता है और अवधि समाप्त होनेपर भी नहीं लौटता है। ऐसी दशामें नायिका बहुत व्यथित होती है। उसकी माता इस प्रसंगमें युवावस्था और विलास-वैभवकी महत्ता प्रतिपादित कर उसे उसके प्रेमपथसे विरत करना चाहती है, किन्तु नायिका उससे सहमत नहीं होती है। इतनेमें ही नायक वापस आ जाता है और नायक-नायिका पुनः बड़े सुखके साथ जीवन व्यतीत करते हैं।

(५) 'छिताई वार्ता' (१५वीं शती विक्रमीय), वर्तमान रूपमें यह दो लेखकोंकी है—नारायणदास तथा रतनरंगकी। मूलतः यह नारायणदासकी रचना थी, जिसमें रतनरंगने कुछ और विस्तार किया, ऐसा प्रस्तुत रचनाके एक उल्लेखसे प्रकट है। इसमें अलाउद्दीनके द्वारा देवगिरिके यादव राजा रामदेवकी कन्या छिताईके अपहरणकी कथा है। अलाउद्दीनके समसामयिक इतिहासलेखक इसामीने लिखा है कि सन्धि करके रामदेवने अपनी कन्या छिताई अलाउद्दीनको दे दी थी। इसलिए यह रचना इतिहासके एक तथ्यपर आधारित है। यह अवश्य है कि इस रचनामें छिताईका विवाह पहले ही समरसी नामक एक राजकुमारसे हो चुका था, जो उसे अलाउद्दीनसे अपने संगीत-कौशलसे मुग्ध कर पुनः प्राप्त कर लेता है, जब कि इसामीके अनुसार छिताई अलाउद्दीनके हरममें रही और अलाउद्दीनकी मृत्युके अनन्तर उसका अल्पवयस्क पुत्र कुछ समयके लिए गद्दीपर बैठा था। उस समय छिताई राजमाताके रूपमें उसकी अभिभाविका थी। यह ऐतिहासिक कहानी अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वकी है। यह विविध छन्द-समन्वित रासो-परम्परामें नहीं है, पूरी कथा चउपईमें कही गयी है, केवल बीच-बीचमें इने-गिने स्थलोंपर वस्तुबन्ध तथा दोहा आदि दो-तीन छन्द प्रयुक्त हुए हैं। कथा-विकासकी दृष्टिसे यह पूर्णतः भारतीय परम्परामें आती है। भाषाकी दृष्टिसे यह ऊपर आयी हुई पिंगल-रचनाओंका अनुसरण करती है।

(६) 'मधुमालतीकथा' (१४४३ ई० के लगभग), इसके रचयिता चतुर्भुजदास निगम हैं। १५५३ ई० के लगभग इस रचनामें भी उसी प्रकार किन्हीं माधव शर्माने कुछ सुधार किया, जिस प्रकार उपर्युक्त 'छिताई वार्ता'में रतनरंगने किया, यह उसकी एक प्रतिके पाठसे ज्ञात होता है। किन्तु अन्य प्रतियोंका पाठ अन्य प्रकारसे और अन्य व्यक्तियों द्वारा अज्ञात रूपसे प्रक्षिप्त हुआ है। इसलिए यह रचना बहुत कुछ अपने मूल रूपमें पुनर्निमित की जा सकती है। यह रचना भी उपर्युक्त 'छिताई वार्ता'की भाँति अत्यन्त महत्त्वकी है। उपर्युक्त 'बुद्धिरासो'की भाँति इसमें भी एक कल्पित प्रेमकथा है, किन्तु यह रासो-परम्पराके बाहर पड़ती है। उपर्युक्त 'छिताई वार्ता'की भाँति यह भी चउपई छन्दमें कही गयी है, किन्तु दोहा तथा सोरठा छन्द भी इसमें बहुतायतसे मिलते हैं। इस प्रेमकथाकी परम्परा भी सर्वथा भारतीय है।

उपर्युक्त रचनाओंके अतिरिक्त और भी अनेक रचनाएँ इस काव्य परम्पराकी होंगी। बहुत-सी रचनाओंकी भाषा समयके प्रवाहमें बदल गयी, इसलिए कभी-कभी पुरानी तिथियाँ उनमें मिलती भी हैं तो उनकी प्राचीनतापर विश्वास नहीं होता है। कुछ इसी प्रकार बादके प्रक्षेपोंके कारण ऐसी विकृत हो गयी हैं कि आधुनिक लगती हैं। कुछमें रचना तिथियाँ नहीं दी हुई हैं और प्राप्त प्रतियोंकी तिथियोंके आसपास बिना पर्याप्त कारणके उनकी रचना-तिथि भी मान ली गयी है और अनेक रचनाएँ अभी विस्मृतिके गर्भमें विलीन हैं, क्योंकि उन्हें किसी प्रकारका राजाश्रय अथवा सम्प्रदायाश्रय नहीं मिला।—मा० प्र० गु०

पिंगला–दे०—'हठयोग'।

पिंड–तन्त्र और योग-पद्धतियोंमें पिण्ड या मनुष्यके शरीरको वस्तुत ब्रह्माण्डका ही प्रतिरूप माना गया है, अत प्रतीक रूपमें समस्त नदियों, पर्वत, आकाश, नक्षत्र आदिकी स्थिति भी शरीरके अन्दर मानी गयी है। यही नहीं वरन् इसीलिए सिद्धोंसे लेकर सन्तोंतकने यह बार-बार घोषित किया है कि काया या पिण्डके अन्दर ही सारे तीर्थ हैं, सारी पवित्र नदियाँ हैं, सारे नक्षत्र हैं। **इड़ा(ललना)**-को **गंगा**, **पिंगला(रसना)**को **यमुना** मानकर **सुषुम्ना**-(अवधूतिका)को सरस्वती माना गया और ब्रह्मरन्ध्रमें उनके सगमस्थल प्रयागकी परिकल्पना की गयी। तालुमूलमें **चन्द्रमा**की स्थिति मानी गयी और नाभिमूलमें **सूर्य**की और यह बताया गया है कि तालुमूलस्थ चन्द्रमासे झरनेवाला अमृत नाभिमूलस्थ सूर्य सोखता रहता है, जबतक योगी उसे श्वास निरुद्ध कर रोक न दे। इसी प्रकार पिण्डमें ही कैलास, मानसरोवर आदिकी कल्पना की गयी। तात्पर्य यह था कि बाह्यस्थित ससार तो मिथ्या है, माया-जन्य है, वास्तविक ससार तो शरीरके अन्दर है। साधक उसपर विजय प्राप्त करे तभी वह परमतत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है। दे०—'देहस्थ पीठ'। —ध० वी० भा०

पिड़िया–पिड़ियाका व्रत कार्त्तिक शुक्ल प्रतिपदसे प्रारम्भ होकर अगहन शुक्ल प्रतिपद्–पूरे एक मासतक किया जाता है। कार्त्तिक शुक्ल प्रतिपद्‌के दिन 'गोधन'की जो गोबरकी मूर्ति बनाकर पूजा की जाती है, उसी गोबरमेंसे थोड़ा-सा अंश लेकर कुँवारी लड़कियाँ 'पिड़िया' लगाती हैं। घरकी किसी दीवारपर गोबरकी छोटी-छोटी सैकड़ों मनुष्यकी आकृतियाँ बनायी जाती हैं। इसके साथ ही आटेको पानीमें घोलकर ऐपनके द्वारा दीवारपर चित्रकर्म भी किया जाता है। इस समस्त प्रक्रियाको 'पिड़िया लगाना' कहते हैं। 'पिड़िया' शब्दकी निरुक्ति 'पिण्ड'से है, जिसमें लघुवाची 'इया' प्रत्यय जोड़ा गया है। अत 'पिड़िया' गोबरके उन छोटे-छोटे गोल पिण्डोंको कहते हैं, जो दीवालपर लड़कियों द्वारा चिपकाये जाते हैं।

केवल कुँवारी कन्याएँ ही इस व्रतको अपने प्रिय भाई-की मगलकामनाके लिए किया करती हैं। वे प्रतिदिन प्रात काल पिड़ियाकी कथा सुनती हैं। इसके बाद ही वे भोजन कर सकती हैं, अन्यथा नहीं। अगहन शुक्ल प्रतिपद्-को, पूरे एक मासके पश्चात् इस व्रतकी समाप्ति होती है। इस दिन लड़कियाँ नये चावल तथा गुड़की बनी हुई खीर, जिसे 'रसिआव' कहते हैं, खाती हैं। इसके दूसरे दिन गोबरके उन पिण्डोंको किसी नदीमें प्रवाहित कर दिया जाता है।

पिड़ियाके गीतोंमें भाई और बहिनके अकृत्रिम तथा अलौकिक प्रेमका वर्णन पाया जाता है। 'तोहरी बधइया भइया पिड़िया बरतिया हो' इस पक्तिमें बहिनका भ्रातृस्नेह झलकता है। कहीं-कहीं पिड़ियाके व्रत किये जानेवाले विविध विधानोंका उल्लेख इनमें उपलब्ध होता है। ये गीत भाई और बहनके आदर्श प्रेमकी सूचना देते हैं।—कृ०दे०उ०

पिटक–[पिट् (भ्वादि) शब्दसघातयो + कुवन् (उणादि) —पेटति शब्दं करोति सर्वं समाहरति इति]–(क) साधारण अर्थ—१ विस्फोट, फोडा। २. पिटारी, पेटी, मजूषा, टोकरी। (ख) विशेष अर्थ–१. पालि आगमोंके तीन भेद—'विनयपिटक' जिसमें बौद्ध श्रमणों तथा भिक्षुओंके सघके विनय अर्थात् अनुशासन—आचार सम्बन्धी नियम दिये गये हैं। 'सुत्तपिटक' जिसमें धम्म (धर्म) अर्थात् बौद्ध-सिद्धान्तोंका भगवान् बुद्धके सुत्तों (जिससे पालिका 'सुत्त' शब्द निकलता है)—सद्‌वचनों द्वारा निरूपण किया गया है एव 'अभिधम्मपिटक', जिसमें अभिधम्म अर्थात् अधिक धर्म(अतिरिक्त सिद्धान्तों अथवा पूरक उपदेशों)का निरूपण किया गया है। इसीलिए ये पालि पिटक 'त्रिपिटक' कहलाते हैं। प्रथमके **पातिमोक्ख**, **खन्धक** तथा **परिवार** नामक तीन भाग हैं। द्वितीयके **दीघ**, **मज्झिम**, **संयुत्त**, **अंगुत्तर** तथा **खुद्दक** नामक पाँच भाग हैं। ये निकाय कहे जाते हैं। तृतीयके **धम्मसंगनी**, **विभंग**, **धातुकथा**, **पुग्गल-पञ्ञत्ति**, **कथावत्थु**, **यमक** एव **पट्ठान** नामक सात भाग हैं। —आ० प्र० मि०

पितृप्रधान समाज (patriarchal society)–पितृ-प्रधान समाजका निर्माण मातृसत्ताक व्यवस्थाके बाद हुआ। कालके प्रभावसे नारीकी शारीरिक अवस्था दुर्बल हो गयी और पुरुष धीरे धीरे शक्ति-सचय करता गया और एक दिन वह परिवारका स्वामी बन बैठा। अब कुटुम्बकी व्यवस्था बदल गयी। उसका नेता पुरुष और पिता था और उसीका नेतृत्व कुटुम्बपर चलने लगा। जो स्थिति कुल-परिवारमें पहले नारी या माताकी रही थी वही अब पुरुष या पिताकी हुई। चल-अचल धन-सम्पत्तिकी दाय या बरासत भी अब मातासे कन्या या पुत्रीकी जगह पितासे पुत्रकी ओर प्रवहमान हुई। अब ब्याहकर नारी पुरुषके परिवारमें आने लगी, इसी व्यवस्थाका नाम पितृसत्ताक समाज पड़ा। —भ० श० उ०

पिपीलिका-मार्ग–योगकी साधनामें दो मार्गोंकी चर्चा है—१ पिपीलिका, २ विहगम-मार्ग। प्राणायाम द्वारा पट्‌चक्रोंको वेधकर धीरे-धीरे योगी लोग प्राणोंको ब्रह्माण्डमें चढाते हैं। पिपीलिका-मार्गके साधक क्रमश आगे बढते हैं और विहगम-मार्गके साधक (जिस प्रकार पक्षी एक वृक्षसे उड़कर दूसरे वृक्षपर थोड़े ही परिश्रमसे जा बैठता है) बिना अधिक काया-क्लेशके अपने मूल स्थानपर पहुँच जाते हैं। इसलिए पिपीलिका-मार्गको लोगोंने बहुत उत्तम नहीं माना है—'पाँव न टिके पपीलिका राई ना ठहराय। तहाँ कबीरा घर किया पल आवै पल जाय॥' (कबीर साखी-सग्रह)। —उ० श० ना०

पिहित–रुद्रटके अनुसार अतिशय-वर्गका अर्थालंकार। यद्यपि मम्मट तथा रुय्यकने मीलित अलकारका उल्लेख किया और पिहितका नहीं, रुद्रटने पिहित अलकारका महत्त्व समझा। उनके अनुसार (का० अ० ९ ५०) एक ही अधिकरणका कोई गुण अपने गौरवसे, असदृश अन्याविर्भूत गुणका आच्छादन कर ले तो पिहित अलकार होता है। यहाँपर उन्होंने असमान शब्दका प्रयोग इस अलकारको मीलितसे भिन्न बतानेके लिए किया, क्योंकि मीलित अलकारमें समान गुणसे ही अन्य वस्तुका आच्छादन होता है। रुद्रटके पिहितका उदाहरण—'मृदु ससि-कला-कलाप

सम, सखि नव तन-दुति माँहि। यह कृसता प्रिय-विरहकी काहूको न लखाहि।' (छाया, अ० म०से) यहाँ अगकी कान्ति एव कृशताका आश्रय (अधिकरण) एक ही है, पर दोनों एक दूसरेसे भिन्न है, अग-कान्ति द्वारा कृशताका आच्छादन हो रहा है।

'चन्द्रालोक' (५-१०९) एव 'कुवलयानन्द'(८५)में परिभाषा और उदाहरण समान हैं। वहाँ कहा है कि 'दूसरेके गुप्त आचरणको चेष्टा द्वारा प्रकट करनेपर पिहित अलकार होता है', पर यह लक्षण 'काव्यप्रकाश' द्वारा दिये सूक्ष्म अलकारका है। (दे० का० प्र० १०-१२२)। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने इन्हींके आधारपर इसका लक्षण स्वीकार किया है—'जानि परायी वृत्ति जहँ क्रिया सहित आकूत।' (ल० ल० ३५६) अथवा—'जहाँ छिपी पर बातकों, जानि जनावे कोइ।' (का० नि०, १६)। उदा०—'लखि मोरहि पियको जु तिय, मुकुर दिखायो आज।' (पद्मा०, २७०)। यहाँ नायकके गुप्त आचरणको नायिकाने मुकुर दिखाकर प्रकट किया है। परन्तु इसमें सूक्ष्मसे भेद नहीं रह जाता। —ज० कि० व०

पीठमर्द—दे०—'नर्म-सचिव', नायक।

पुन -पुन दीप्ति—दे०—'रस-दोष', चौथा।

पुनरुक्त—दे०—'अर्थ-दोष' चौथा।

पुनरुक्तवदाभास—एक शब्दालकार, शब्दका अर्थ 'पुन. कहे हुएकी तरह आभासमात्र' होता है।' जहाँ पुनरुक्ति-सी प्रतीत हो, परन्तु वस्तुत पुनरुक्ति न हो, दूसरे शब्दोंमें, जहाँ पुनरुक्तिकी मिथ्या प्रतीति हो। सर्वप्रथम उद्भटके 'काव्यालकारसारसग्रह'में इसका स्वतन्त्र विवेचन मिलता है—'पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्विवोभासिभिन्नरूपपद पदम्' (२ १), दो विभिन्न रूप-पदोंकी एक अर्थप्रतीति। उद्भटने स्पष्टत इसको शब्दालकार नहीं कहा है। मम्मटके आधार-पर परिभाषा इस प्रकार हो सकती है—'जहाँ भिन्न आकार-वाले भिन्नार्थक पदोंमें वस्तुत अर्थसाम्य न होनेपर भी अर्थसाम्य प्रतीत हो।' (काव्य० ९ ८६)। इसके अनुसार यह शब्दगत तथा शब्दार्थगत होता है तथा शब्दगत भी अभग और सभग, दो प्रकार होता है। जयदेवने इसीको 'पुनरुक्तप्रतीकाश' माना है। साहित्यदर्पणकारने मम्मटका अनुसरण किया है। रुय्यकने इसे अर्थालकार माना था। हिन्दीके प्रसिद्ध आचार्योंमें चिन्तामणि, भूषण, कुलपति, भिखारीदास आदिने इसको शब्दालकारोंमें स्वीकार किया है तथा आधुनिकोंमें मुरारिदीनको छोड़कर सभीने इसका विवेचन किया है। इनमें चिन्तामणिका लक्षण अधिक स्पष्ट है—'भिन्न पदनमें एक सों जहाँ अर्थ आभास'। भूषण तथा दासने 'पुनरुक्ति लगनेपर भी पुनरुक्ति न हो' ऐसा कहा है। प्राय भेद नहीं किये गये हैं। कन्हैयालाल पोद्दार-ने भेद भी दिये हैं।

भिखारीदासने इस अलकारकी परिभाषा इस प्रकारसे की है—'कहत लगै पुनरुक्ति सो, पै पुनरुक्ति न होइ। पुनरुक्तिवदाभास तेहि, कहत सकल कवि लोइ।' इसके दो भेद हैं—१ शब्दगत—पुनरुक्तिके आभासका शब्दके आश्रित होना। इसमें शब्द परिवर्तन कर देनेपर पुनरुक्तिका आभास नहीं रहता। यह सभंग और अभग, दो प्रकारका होता है। (२) शब्दार्थ उभयगत—इसमें पुनरुक्ति शब्द और अर्थ, दोनोंके आश्रित रहती है। इसका प्रथम भेद शब्दगत है, जिसमें आभास शब्दपर आश्रित होता है। इसमें भी (क) शब्दगत सभग—'सहमारथि सूत सु लसत तुरग आदि पट नैन। अरिवधदेह सरीर हो नृप तुम धीरज ऐन।' (अ० म०)। यहाँ 'सारथि' और 'सूत' आदि शब्दोंमें पुनरुक्ति-सी प्रतीत होती है। 'सहसारथिसूत'का सहसा, रथी, सूत इस प्रकार भग करके इनके स्थानपर पर्यायवाची अन्य शब्द रख देनेसे पुनरुक्तिका आभास नहीं रहता, अत यह शब्दाश्रित है। (ख) शब्दगत अभग-का दासका सुन्दर उदाहरण है—'अली भमर गुजन लगे होन लग्यौ दल-पात। जहँ तहँ फूले वृच्छ-तरु, प्रिय पीतम कित जात'। (का० नि० : २०), यहाँ 'अली' और 'भमर' आदि शब्द यद्यपि भिन्न आकारवाले हैं, किन्तु इनका अर्थ एक ही प्रतीत होता है। यहाँ 'अली'का अर्थ है सखी और 'भमर'का अर्थ भौंरा है। इसमें शब्दोंको भग किये विना ही भिन्न-भिन्न अर्थोंकी प्रतीति होती है। (ग) शब्दार्थ उभयगत—'सरजा सिवाजी जस जगत जहानमें' (शि० रा० भू० ३६८)। 'जगत' शब्दके स्थानपर 'उदित' आदि अन्य पर्यायवाची शब्द रख देनेसे पुनरुक्ति नहीं रहती अत शब्दाश्रित है और 'जहान'का पर्याय 'लोक' रख देनेपर भी 'पुनरुक्ति'का आभास होता है अत अर्थगत है। 'यमक' अलकारमें समान आकारवाले भिन्नार्थक शब्दोंको और 'पुनरुक्तवदाभास'में भिन्न आकारवाले भिन्नार्थक शब्दोंका प्रयोग होता है। रीतिकालीन कवियोंने भाव और भाषासौष्ठवकी वृद्धिके लिए इस अलकारको बड़े मनोनिवेशसे अपनाया है। —वि० स्ना०

पुनरुक्ति—एक शब्दालकार। 'पुनरुक्ति'से तात्पर्य है एक वार कही गयी बातको पुन कहना। अत जहाँ अपने अभीष्ट भावको रुचिकर बनानेके लिए एक ही शब्दकी अनेक बार आवृत्ति की जाय, वहाँ पुनरुक्ति होती है। इसे 'पुनरुक्ति-प्रकाश' भी कहते हैं। 'पुनरुक्ति-प्रकाश'में समान आकार-वाले, समानार्थक शब्दकी एक या दो बार आवृत्ति होती है। यह सस्कृत तथा रीतिकालके आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलकार नहीं है। आधुनिक विवेचकोंमें भगवानदीन, विहारीलाल तथा रामदहिनने विशेष रूपसे इसे स्वीकार किया है।

भिखारीदासने 'काव्यनिर्णय'में इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—'एक शब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ। पुनरुक्ती परकाश गुन, बरनै बुद्धि समर्थ।' इन्हींका यह सुन्दर उदाहरण है—(क) 'मधुमासमें दास जू बीस विसे मनमोहन आइहै आइहै आइहै।', (ख) 'विहग-विहग, फिर चहक उठे ये पुजपुज, चिर सुभग-सुभग।' (पन्त), (ग) 'इसमें उपजा यह नीरज सित, कोमल-कोमल लज्जित मीलित, सौरभ सी लेकर मधुर पीर।' (महादेवी का० द०)। आधुनिक कवियोंमें इसका सुन्दर प्रयोग मिलता है। —वि० स्ना०

पुनरुत्थान काल—आधुनिक हिन्दी साहित्यके इतिहासमें भारतेन्दु-काल पुनरुत्थान-कालका प्रथम चरण कहा जाता है, क्योंकि इसी समय देशवासी मध्ययुगीन पौराणिकतासे बाहर निकलकर देशके प्राचीन गौरवके अनुभवके साथ-साथ

भविष्यके आशापूर्ण स्वप्न देखने लगे थे। इस नवचेतनाके फलस्वरूप गद्य और काव्य-साहित्यमें नवीन भावों एवं विचारोंका आविर्भाव और सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रोंमें गतिशीलताका जन्म हुआ। द्विवेदीयुग इसी पुनरुत्थान-कालका द्वितीय चरण कहा जाता है। रामचन्द्र शुक्लने आधुनिक गद्य और काव्य साहित्यकी दृष्टिसे स० १९२५-५० तकके कालको प्रथम उत्थान, स० १९५०-७५ तकके कालको द्वितीय उत्थान और स० १९७५के बादके कालको तृतीय उत्थान कहा है। आधुनिक साहित्यके विकासकी दृष्टिसे शुक्लजीका यह विभाजन उचित ही जान पड़ता है। जिन कालोंको शुक्लजीने प्रथम, द्वितीय और तृतीय उत्थान कहा है उन्हींको क्रमसे अभ्युत्थान-काल, परिष्कार-काल और उत्कर्ष काल भी कहा जाता है। —ल० सा० वा०

पुनर्जागरण–दे०—'नवजागरण'।

पुराणकथा–दे०—'चरितकाव्य', 'कथाकाव्य'।

पुराणकाव्य–दे०—'चरितकाव्य', 'कथाकाव्य', 'महाकाव्य'।

पुरुषवैचित्र्यवक्रता–दे०—'पदपरार्धवक्रता', तीसरा प्रकार।

पुरुषावतार–व्यापक ब्रह्म (भूमापुरुष) जब शुद्ध सत्त्वको आधार बनाकर अपने परमधामसे इस लोकमें आविर्भूत होता है तब उसे पुरुषावतार कहते हैं। —वि० मो० श०

पुष्टि–दर्शनक्षेत्रमें वल्लभाचार्यका मत शुद्धाद्वैत कहलाता है और भक्तिक्षेत्रमें उनकी साधना-व्यवस्था **पुष्टिमार्ग** कहलाती है। उनका दार्शनिक मत विष्णु स्वामी-प्रेरित कहा जाता है, परन्तु पुष्टिमत उनका अपना चिन्तन फल है, जो श्रीमद्भागवतके 'पोषण तदनुग्रह' तत्त्वपर आधारित है। यह पूर्वाचार्योंके मर्यादा-मार्गसे भिन्न मार्ग है। मर्यादामार्गमें शास्त्रविहित ज्ञान-कर्मके आचरणकी अपेक्षा रहती है, परन्तु पुष्टिमार्गमें कर्मनिरपेक्ष हो भक्त भगवान् श्रीकृष्णके प्रति आत्मसमर्पण कर सुखी होता है, वह फलकी कामना नहीं करता। पुष्टिमार्गीय भक्तिको प्रेमलक्षणा भक्ति भी कहते हैं। सूरदासमें इसका उल्लेख है—'श्रवण कीर्तन पादरत, अरचन वन्दन दास। सख्य और आत्मनिवेदन, प्रेम लक्षणा जास।' (सू० सा०, वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण, पृ० ५ ६९)।

वल्लभसम्प्रदायी विशेषकर **अष्टछाप**के कवियोंने पुष्टिमार्गके सिद्धान्तोंका अपने पदोंमें निरूपण किया है। सूर तो 'पुष्टिमारगका जहाज' ही कहे गये हैं (सूरदासकी वार्ता प्रसंग ११)। 'नारदीय भक्ति सूत्र'में प्रेमरूपा भक्तिको कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठ कहा है—'सा नु कर्मज्ञान योगेभ्योऽप्यधिकतरा' (२५), क्योंकि यह भक्ति फलरूपा है—'फलरूपत्वात्' (वही २६)। भक्तिमें दृढ़ता लानेके लिए प्रीति आवश्यक है। 'प्रीति बिना नहिं भगति दृढाई। जिमि खगेस जलकी चिकनाई।' (रा० च० मा०)। यह भक्ति-साधना विषय-त्याग और कुसंग त्यागसे सम्पन्न होती है (ना० भ० सू० ३५)। भगवान्के भजन, गुण-श्रवण, कीर्तन तथा महापुरुषोंके संगसे यह साधित होती है (ना० भ० सू० ३६ ३७ ३८)।

भगवान्के 'अनुग्रह'से ही मुक्ति प्राप्त होती है, यह सिद्धान्त सूत्ररूपसे उपनिषदोंमें भी विद्यमान है। 'कठोपनिषद्'में परमात्माके प्रसाद(अनुग्रह)से उसके साक्षात्कारका स्पष्ट संकेत है। (१ २ २०) —वि० मो० श०

पुष्टिजीव–शुद्धाद्वैतके अनुसार जीव सच्चिदानन्द ब्रह्मका सत् और चित् अंश है, आनन्द अंश उससे तिरोहित रहता है। समस्त जीवसृष्टिको उन्होंने अपने **पुष्टिमार्ग**के निरूपणमें **दैवी** और **आसुरी**, दो वर्गोंमें बाँटा है। दैवी जीव पुन पुष्टिजीव और मर्यादाजीवमें विभाजित हो जाते हैं। पुष्टिजीव चार प्रकारके होते हैं—शुद्धपुष्ट, पुष्टिपुष्ट, मर्यादापुष्ट और प्रवाहपुष्ट। ये चारों प्रकारके जीव भगवान्की सेवाके हेतु जन्म धारण करते हैं। इनमें शुद्धपुष्ट तो सिद्धावस्थाके भक्त होते हैं जो नित्य परमानन्द ब्रह्म श्रीकृष्णके साथ रहते हैं। पुष्टिपुष्ट भगवान्के सहज अनुग्रहभाजन भक्त होते हैं। भक्तिमार्गके ये ही वास्तविक अधिकारी हैं। मर्यादापुष्ट और प्रवाहपुष्ट जीवोंको मर्यादा और प्रवाहमार्गकी स्वाभाविक न्यूनताके साथ-साथ भगवान्के अनुग्रहकी आशा रहती है। दे०—'पुष्टिमार्ग'।—ब्र०व०

पुष्टिपुष्ट–दे०—'पुष्टिजीव', 'पुष्टिमार्ग'।

पुष्टिभक्ति–दे०—'पुष्टिमार्ग'।

पुष्टिमार्ग–महाप्रभु वल्लभाचार्यने अपने **शुद्धाद्वैतवाद** (दे०)के आधारपर भक्तिका जो सम्प्रदाय स्थापित किया उसीका नाम पुष्टिमार्ग है। इसीको **वल्लभ-सम्प्रदाय** या वल्लभमत भी कहते हैं। भागवतके 'पोषण तदनुग्रह' (२ १०)के आधारपर वल्लभाचार्यने भगवदनुग्रहके अर्थमें ही पुष्टि शब्दका प्रयोग किया है। **प्रवाहमार्ग** और **मर्यादामार्ग**से भिन्न पुष्टिमार्ग भक्तिमार्गका ही समानार्थी है। प्रवाहमार्ग सासारिक विषयभोगके जीवनका ही दूसरा नाम है, जिसमें पड़कर जीव निरन्तर जन्म-मरणके प्रवाहमें पड़ा रहता है। वेद-विहित कर्मका अनुसरण करना तथा ज्ञानप्राप्तिका प्रयत्न करना **मर्यादामार्ग** कहा जाता है। पुष्टिमार्गकी प्राचीनता प्रमाणित करनेके लिए 'मुण्डकोपनिषद्'की 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य' श्रुतिको उद्धृत किया जाता है, जिसमें आत्माकी उपलब्धि केवल कृपाके द्वारा बतायी गयी है। 'कठोपनिषद्'(१, २, २०)में भी भगवान्के प्रसादसे ही आत्मदर्शन सम्भव बताया गया है। 'श्रीमद्भागवत'में तो भगवान्के अनुग्रहकी महिमा स्थान-स्थानपर बतायी गयी है। शुद्धाद्वैतके अनुसार ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप है। उसके मुख्य तीन स्वरूप हैं—(१) पूर्ण पुरुषोत्तम रस अथवा आनन्दस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण रूप, (२) अक्षर ब्रह्म जो गणितानन्द है और वह पुन दो प्रकारके रूपोंमें परिणत होता है—एक पूर्ण पुरुषोत्तमका अक्षर धाम और दूसरा काल, कर्म, स्वभावरूपमें प्रकट होनेवाले प्रकृति, जीव तथा अनेक देवी-देवताओंका रूप तथा (३) अन्तर्यामी रूप। मर्यादामार्ग अक्षर ब्रह्मकी वाणीसे उत्पन्न हुआ है, उसका साधक ज्ञानके द्वारा अक्षर धामकी सायुज्य मुक्तिको ही ध्येय बनाता है। इस मार्गमें भगवान् साधन-परतन्त्र रहता है, अर्थात् साधकके वेद-मर्यादित साधनोंके अनुसार ही फल देता है। मर्यादाकी रक्षा करना उसके लिए आवश्यक होता है, परन्तु पुष्टिमार्ग

साक्षात् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके शरीरसे उत्पन्न हुआ है। उसका अनुयायी आत्मसमर्पणयुक्त रसात्मक प्रेमके द्वारा भगवान्की आनन्दलीलामें लीन होनेका इच्छुक होता है। पुष्टिमार्ग एकमात्र भगवान्के अनुग्रहपर निर्भर है।

भगवान् जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही अवतार-रूपमें प्रकट होते हैं। उनके अवतार धारण करनेका हेतु साधुओंका परित्राण या दुष्टोंका विनाश नहीं, वरन् साधन-निरपेक्ष मुक्ति प्रदान करना है। उनका यह अनुग्रह भी उनकी **लीला** (दे०) मात्र है; जिसका उससे बाह्य कोई अन्य प्रयोजन नहीं है। वह उनकी नित्यलीलाका एक प्रमुख रूप है। इस अनुग्रहपर आश्रित पुष्टिभक्ति नवधा भक्तिसे भिन्न है। नवधा भक्ति साधन-भक्ति या मर्यादा-भक्ति है, उसमें भजन, पूजन आदिकी अपेक्षा होती है। पुष्टिभक्ति रागात्मिका या **रागानुगा** भक्ति है जो भगवत्-कृपासे प्राप्त भगवत्प्रेमपर ही आश्रित है। इसीलिए इसे प्रेम-लक्षणा भक्ति भी कहते हैं।

जीवको भगवान्के अनुग्रह या पोषणकी आवश्यकता क्यों होती है, इसका उत्तर वल्लभाचार्यने जीवसृष्टिका स्वरूप समझाते हुए दिया है। लीला-विलासके लिए ब्रह्मकी जब एकसे अनेक होनेकी इच्छा होती है तब अक्षर ब्रह्मसे असंख्य असंख्य जीव उत्पन्न हो जाते हैं। सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्मके चित् अंशसे असंख्य निराकार जीव, सत् अंशसे जड प्रकृति तथा आनन्द अंशसे अन्तर्यामी रूप अग्निसे स्फुलिंग निकलनेकी तरह प्रकट होते हैं। जीवमें केवल सत् और चित् अंश होता है, आनन्द अंश तिरोहित रहता है। इसी कारण वह भगवान्के छ गुणों—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—से हीन होता है, परिणामस्वरूप वह दीन, हीन, पराधीन, दु खी, जन्म-मरण-के दोषसे युक्त, अहंकारी, विपरीत ज्ञानमें भ्रमित और आसक्तिग्रस्त रहता है। यही उसकी क्षीणता या दुर्बलता है। भगवान् अपने अनुग्रहसे उसे पुष्ट करते हैं, उसकी क्षीणता दीनतामें बदल जाती है।

परन्तु सभी जीव इस अनुग्रह या पोषणके अधिकारी नहीं बन सकते। इस सम्बन्धमें वल्लभाचार्यने जीवोंके प्रकार-भेद गिनाये हैं। प्रथमत जीव दो प्रकारके होते हैं—दैवी और आसुरी। दैवी जीव पुन दो प्रकारके होते हैं—पुष्टिजीव और मर्यादाजीव। पुन पुष्टिजीव चार प्रकारके होते हैं—शुद्धपुष्ट, पुष्टिपुष्ट, मर्यादापुष्ट और प्रवाह-पुष्ट। ये ही चार प्रकारके पुष्टिजीव भगवान्की सेवा-(भक्ति)के अधिकारी होते हैं। उनका जन्म ही सेवाके हेतु होता है। मर्यादाजीव पूर्ण पुरुषोत्तमकी सेवा(भक्ति)के योग्य नहीं होते। वे जैसा कि पहले बताया जा चुका है, केवल कर्म और ज्ञान द्वारा स्वर्गादि लोक या अक्षर-सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। आसुरी जीव प्रवाहशील होते हैं। इनमेंसे अज्ञ आसुरी जीव तो भगवान्के प्रति उत्कट वैर-भाव रखनेके फलस्वरूप संहारके द्वारा उद्धार प्राप्त करते हैं, परन्तु दुर्ज्ञ आसुरी जीवोंका कभी उद्धार नहीं होता, वे निरन्तर जन्म-मरणके बन्धनमें पड़े रहते हैं।

पुष्टिजीवोंमें शुद्धपुष्टिजीव तो नित्य और मुक्त होते हैं, वे भगवान्के षड्गुण अप्राकृत शरीरसे भगवान्की नित्य सेवाका आनन्दलाभ करते हैं। अवतार-दशामें वे भी भगवान्के साथ अवतरित होते हैं, उनकी स्थिति सिद्ध अवस्थाकी होती है। शेष तीन प्रकारके पुष्टिजीवोंकी भक्ति तीन प्रकारकी होती है और वे उसीके अनुसार पुन पुष्टिपुष्ट, मर्यादापुष्ट और प्रवाहपुष्ट—तीन प्रकारके होते हैं। भगवान्के आनन्दकायसे उत्पन्न ये पुष्टिजीव भी पाप और अहन्ता-ममतामय संसारमें लिप्त हो सकते हैं, परन्तु उनमें भक्तिका बीज सहज ही अंकुरित हो जाता है जो फलीभूत होकर अन्तमें उन्हें अभीष्टकी प्राप्ति कराता है। सर्वभावसे भगवान्की कृपापर ही निर्भर रहते हुए वे आनन्द-रूप श्रीकृष्णकी आराधनामें रत रहते हैं और चातककी तरह अनन्य भावसे निरन्तर उन्हींका ध्यान करते रहते हैं।

इसी प्रेमभक्तिके आधारपर अंशरूप जीव अंशी ब्रह्मके साथ जो सम्बन्ध स्थापित करता है वही **ब्रह्म-सम्बन्ध** है। पुष्टिमार्गमें दीक्षित होते समय ही भक्त गुरुके आदेशसे 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्रका उच्चारण करके श्रीकृष्णको अपने तन, मन, धन, पुत्र, कलत्र आदिके समर्पणका संकल्प करता है और इस प्रकार समस्त सांसारिक दोषोंसे निवृत्ति प्राप्त करता है। इसके बाद भक्त किसी भी वस्तुको भगवान्-को समर्पित किये बिना ग्रहण नहीं कर सकता। इस सर्वात्मसमर्पणके भावको दृढ करके तीन प्रकारकी सेवा की जाती है—(१) तनुजा, अर्थात् अपने तथा अपने पुत्र, स्त्री आदिके शरीरको भगवत्की सेवामें लगाना, (२) वित्तजा, अर्थात् धन, यश आदिको भगवान्के निमित्त अर्पित करना और (३) मानसी अर्थात् मनका निरोध करके निरन्तर भगवान्में लीन रखना। मानसी सेवा ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और कठिन है।

वल्लभाचार्यने भक्तिके सामान्य लक्षणोंमें प्रेम-भक्तिके साथ-साथ भगवान्के माहात्म्यके ज्ञान और उसके निरन्तर ध्यानका भी उल्लेख किया है—'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोधिक। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।' (त० दी० नि० शा० प्र० ४६) तथा योग आदिको भी प्रारम्भिक स्थितिमें स्वीकृति दी है। परन्तु वस्तुत पुष्टिमार्गीय भक्ति ऐकान्तिक और एकात्मक है। श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्तिका अन्तिम सोपान आत्मसमर्पण उसका प्रथम सोपान है। भक्तोंके सत्संग, उनके चरित्रोंके श्रवण-मनन आदिसे आत्मसमर्पणका भाव दृढ होता है। इस प्रकार निरन्तर अभ्याससे जब भगवान्के प्रति माहात्म्य-ज्ञानयुक्त उत्कट प्रेम दृढ हो जाता है, तभी समझना चाहिये कि भगवान्का अनुग्रह प्राप्त हो गया। यह प्रेम वियोगका अनुभव प्राप्त होनेपर और अधिक प्रबल होता जाता है तथा मनमें श्रीकृष्ण-मिलनकी आकांक्षा और अधिक तीव्र होती जाती है। श्रीकृष्णके प्रति प्रेम-विरहकी दैन्यपूर्ण विकलताके अनुभवसे संसारका मोह नष्ट हो जाता है और उसे संसारके प्रति अनासक्ति हो जाती है। इस स्थितिको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें **रागविनाश**की स्थिति कहते हैं। श्रीकृष्ण-प्रेमके विकासकी दूसरी स्थिति **आसक्ति**की स्थिति है। इस स्थितिमें गृहादिसे अरुचि हो जाती है तथा स्त्री-पुरुष आदि सांसारिक सम्बन्ध बाधक प्रतीत होने लगते हैं। आसक्ति कई प्रकारकी होती है। 'नारदभक्तिसूत्र' में वर्णित

एकादश आसक्तियोंको इस सम्बन्धमें उद्धृत किया जाता है—(१) गुणासक्ति या माहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) कान्तासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयतासक्ति और (११) परमविरहासक्ति। वस्तुत ये आसक्तियाँ विकासक्रमके अनुसार दी गयी हैं। माहात्म्यासक्ति आसक्तिकी प्रारम्भिक अवस्था है तथा परमविरहासक्ति अन्तिम। आसक्तिके उपरान्त विकासकी तीसरी स्थिति **व्यसन** कहलाती है। इसीको **निरोध** या आत्मविस्मृतिकी स्थिति भी कहते हैं, जो प्रेमभक्तिकी अन्तिम और पूर्ण परिणति है। इस स्थितिमें एक प्रकारसे आत्माका नाश हो जाता है, अत उसे आत्मनिवृत्ति भी कहते हैं। भक्तका भगवान्‌के साथ प्रेममय एकीकरण हो जाता है। वह प्रेमके लिए ही प्रेम करता है तथा उसका प्रत्येक अनुभव ठीक उसी प्रकार होता है जैसा कि स्वयं भगवान्‌का अनुभव हो सकता है।

यह पुष्टिमार्गीय प्रेम-लक्षणा भक्ति 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र'के शब्दोंमें 'परानुरक्तिरीश्वरे' ईश्वरमें अति अनुरक्ति या 'नारदभक्तिसूत्र'की शब्दावलीमें 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च' कही गयी है। प्रेमके अनेक भाव हैं, अत भक्ति भी किसी भी भावसे की जा सकती हैं। भक्तिके भाव-विस्तारको इतना व्यापक माना गया है कि भागवतके 'काम क्रोध भय स्नेहमैक्य सौहृदमेव च। नित्य हरौ विदधतो यान्ति तन्मयता हि ते।'के अनुसार काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य अथवा सौहार्द किसी भावसे नित्य ध्यान धरनेसे भगवन्मय होनेका विश्वास प्रकट किया गया है। सूरदासने भी भागवतके उक्त वचनका प्रमाण देते हुए गोपियोंकी कान्तारतिकी व्याख्या की है—'काम क्रोधमें नेह सुहृदता कोई विधि करै कोई। धरै ध्यान हरिको जो हठ करि सूर सो हरि सों होई।' वल्लभाचार्यने 'सुबोधिनी'में उक्त श्लोककी व्याख्या करते हुए लिखा है कि काम स्त्रीभावमें, क्रोध शत्रु भावमें, भय वधिक-भावमें, स्नेह सम्बन्धियोंके भावमें, ऐक्य ज्ञान-अवस्थामें और सौहार्द सख्य भावमें होता है, किसी भी भावसे भजन करनेसे वह भाव भगवन्मय हो जाता है। परन्तु वल्लभाचार्यने गोवर्धनके मन्दिरमें श्रीनाथजीकी सेवा-पद्धतिकी जो व्यवस्था की थी वह बालभावकी थी। आज भी वह परम्परा सम्प्रदायमें चली आ रही है। सूरदास और परमानन्ददास(दे०—अष्टछाप)को सम्प्रदायमें दीक्षित करते समय उन्होंने गोपालकृष्णके ही वात्सल्यभावके पद गानेका आदेश दिया था। इससे भी प्रमाणित होता है कि पुष्टिमार्गमें प्रारम्भमें वात्सल्यभावकी भक्तिका ही विशेष माहात्म्य था। परन्तु वल्लभाचार्यने सख्य और कान्तारतिको स्वीकार न किया हो, यह बात नहीं है। एक स्थलपर स्वय उन्होंने यह आकाक्षा व्यक्त की है कि मेरे हृदयमें गोपियोंके विरहका दु'ख पैदा हो जाय। उनके भक्तों, विशेषत सूरदास, परमानन्ददास आदिकी रचनाओंमें तो सख्य और कान्तारतिका बहुत अधिक विस्तार है और उससे असदिग्ध रूपमें प्रमाणित हो जाता है कि पुष्टिमार्गीय भक्ति-पद्धतिमें कमसे कम गोसाई विट्ठलनाथके समय सख्य और कान्तारतिका माहात्म्य कहीं अधिक हो गया था। वार्ताके अनुसार सूरदास, परमानन्ददास और कुम्भनदास—वल्लभाचार्यके तीनों प्रधान शिष्य निकुजलीलाका ही ध्यान करते हुए राधाभावमें तन्मय होकर गोलोक सिधारे थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य चैतन्य महाप्रभुके समकालीन थे। चैतन्यके साथ उनकी दो-एक बार भेंट भी हुई थी तथा उन्होंने गौडीय वैष्णवोंको श्रीनाथजीकी सेवामें नियुक्त किया था। अत यह स्वाभाविक है कि वे चैतन्यके गौडीय सम्प्रदायमें प्रचलित कान्तारति और गोपीभावकी महत्तासे भली भाँति परिचित थे। उनके समकालीन राधावल्लभी और हरिदासी वैष्णव सम्प्रदाय भी लोकप्रिय हो रहे थे। इनमें कान्तारतिकी एकान्त रूपसे मान्यता थी। अत अपने सम्प्रदायमें वात्सल्यभावकी भक्ति पद्धति प्रतिष्ठित करते हुए उन्होंने कान्ताभावकी सम्भावनाओंको अवश्य स्वीकार किया होगा। फिर भी श्रीनाथजीकी आठ दैनिक सेवाओं—मंगलादर्शन, शृगार, गोचारण, राजभोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्या, शयन—में, जिनमें आरतीके साथ श्रीनाथजीके नित्यकर्मोंका विधान है, कान्ताभावकी सेवाका समावेश नहीं है। वल्लभाचार्यने राधाको भी मान्यता नहीं दी थी, किन्तु उनके द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथने श्रीनाथजीकी सेवाके मण्डानमें राधाको भी दैनिक सेवाओंमें तो नहीं, ब्रह्मोत्सवोंके रूपमें सम्मिलित किया। श्रीकृष्णके जन्मोत्सवकी तरह राधाका जन्मोत्सव भी मनाया जाने लगा। कदाचित् विट्ठलनाथके समयमें मधुर भावकी भक्तिका प्रभाव गौडीय, राधावल्लभी और हरिदासी सम्प्रदायोंके प्रभावसे बहुत अधिक हो गया था और यही कारण है कि सूरदास तथा अन्य सभी अष्टछापके कवियोंकी रचनाओंमें राधा तथा राधाकृष्णके युगल रूपकी भक्तिसे सम्बन्धित पदोंकी प्रचुरता है। विट्ठलनाथने 'स्वामिन्याष्टक', 'स्वामिनीस्तोत्र' तथा 'शृगाररसमण्डन'की रचना करके राधा तथा दाम्पत्य रतिकी महत्ता प्रतिपादित की है। यद्यपि पुष्टिमार्गमें रागानुगा भक्तिकी उस प्रकारकी विवेचना नहीं मिलती जैसी गौडीय वैष्णव सम्प्रदायके 'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' आदि ग्रन्थोंमें मिलती है, फिर भी इस सम्प्रदायकी भक्ति-पद्धति और अनुयायी कवियोंकी, विशेष रूपसे सूरदासकी कृतियोंसे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि पुष्टिमार्गमें भी दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य, चारों प्रकारकी रति भक्तिपद्धतिमें समाविष्ट है तथा भावावेश और घनिष्ठताकी दृष्टिसे सबसे अधिक महत्त्व माधुर्य भावकी कान्तारतिका ही है, जिसकी आदर्श स्वय स्वामिनी राधाजी हैं। पुष्टिमार्गके आदर्श भक्त नन्द, यशोदा, गोप और गोपी हैं, जिन्होंने अपने-अपने भावके अनुसार भक्ति प्राप्त की थी। भक्तिका माधुर्य भाव अलौकिक काम-भावना है, जिसमें वासनाका अभाव है। यह भाव भगवान्‌की असीम कृपासे ही प्राप्त होता है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति स्वत पूर्ण है। भक्तिके अतिरिक्त भक्तको और किसी बातकी आकाक्षा नहीं होती। फिर भी, भक्ति सिद्ध हो जानेपर भक्तको अनायास और अकस्मात् अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। स्वय भगवान् भक्तको अपना स्वामी मानने लगते हैं। भगवान्‌के साथ एकीकरण

तथा सेवा उपयोगी देह—पुष्टिभक्तिके ये ही फल कहे जा सकते हैं।

सेवाके सम्बन्धमें ऊपर कुछ उल्लेख किया गया है। वस्तुत सच्ची सेवा तो भक्ति ही है। परन्तु पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें सेवाके रूपमें बहुत-सा कर्मकाण्ड तथा प्रचुर विधि-विधान विकसित हो गया है। आठ दैनिक सेवाओंका ऊपर उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त अनेक व्रतोत्सवों और वर्षोत्सवोंके रूपमें विशेष 'सेवाएँ' भी होती रहती हैं। 'सेवा'के अवसरोंपर श्रीनाथजीका शृंगार किया जाता है, उनका मन्दिर सजाया जाता है, उनका वेश-विन्यास होता है, उनकी आरती की जाती है और तरह-तरहके उत्सवों मनोरंजनोंका आयोजन होता है। पुष्टिमार्गमें भगवान्के परमानन्दरूपको उपास्य माना गया है। वे सौन्दर्य, आनन्द और रसके आगार हैं। अत पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंकी 'सेवा'के विकासक्रममें अनेक कलाओंको प्रोत्साहन मिला है। पाककलापर ही पुष्टिमार्गमें प्रचुर साहित्य तैयार हुआ है और मन्दिरोंमें भिन्न-भिन्न समयोंपर जो भोग तैयार होता है, उसकी प्रशंसा कर सकना कठिन है। वेश-विन्यास, गृह-प्रसाधन, संगीत और काव्य, सभीको पुष्टिमार्गीय तत्त्वावधान और संरक्षणमें अभूतपूर्व उन्नति करनेका अवसर मिला। प्रत्येक अवसरकी आरतीके लिए विभिन्न रागोंका निर्देश किया गया है, जैसे, मंगला आरतीपर भैरव, विभास, रामकली वीणा, सितार आदिके साथ, फिर लगभग ९ बजे शृंगारके समय विलावल, मध्याह्न राजभोगके समय सारंग, अपराह्न उत्थापनके समय सोरठ, फिर भोगके समय गौड़ी और पूर्वी, उसके अनन्तर यमन और फिर विहाग। अष्टछाप कवियोंको इन्हीं अवसरोंके लिए प्रतिदिन नये पद रचकर गानेकी प्रेरणा मिलती होगी। विशेष अवसरों—व्रतोत्सवों आदिके लिए वे विशेष रचना करते होंगे।

वल्लभाचार्यने पुष्टिमार्गकी स्थापना समयकी आवश्यकताका अनुभव करके की थी। अपने 'कृष्णाश्रय' नामक प्रकरण-ग्रन्थमें उन्होंने उस समयका विशद चित्रण किया है। समस्त देश म्लेच्छाक्रान्त था, गंगादि तीर्थ भ्रष्ट हो रहे थे, उनके अधिष्ठाता देवता अन्तर्धान हो गये थे, वेद-ज्ञानका लोप हो गया था, यज्ञ-यागका अनुष्ठान सम्भव नहीं था। ऐसे अवसरपर भक्तिका मार्ग ही एकमात्र शेष रह गया था। उन्होंने भक्तिका मार्ग राजमार्गके समान प्रशस्त बनाया और उसपर उन सबको भी चलनेके लिए आमन्त्रित किया जो धर्मके अधिकारी नहीं समझे जाते थे। फलत पुष्टिमार्गमें ब्राह्मणसे लेकर शूद्रतक सभी श्रेणियों और वर्गोंके स्त्री और पुरुष सम्मिलित हुए। हिन्दू ही नहीं, कुछ मुसलमानोंने भी भक्तिका यह सहज मार्ग ग्रहण किया और कृष्ण-भक्तिके आन्दोलनको व्यापकता प्रदान की। संक्षेपमें पुष्टिमार्गीय भक्ति सहज, निष्काम प्रेमभक्ति है, जिसे भगवदनुग्रहका प्रत्यावर्तित रूप कह सकते हैं, क्योंकि वह एकमात्र भगवत्कृपापर ही आश्रित है। प्रेमभक्ति स्वत परिपूर्ण है, उसमें किसी प्रकारकी प्रार्थना विहित नहीं है, क्योंकि प्रार्थनाकी पूर्तिके लिए भगवान्को कष्ट उठाना पड़ता है। भक्त भगवान्को कष्ट देना सहन नहीं कर सकता। पुष्टि-भक्तिमें प्रेमको गोप्य रखना आवश्यक है, अत अहंकार न पैदा हो जाय, इसलिए प्रेम छिपानेके लिए दम्भ करना पड़ता है। कर्मकाण्डकी नितान्त उपेक्षा प्रेम-भक्तिका लक्षण है। इस मार्गमें साधु-सन्यासी नहीं होते। धार्मिक आचार्य भी पूर्ण गृहस्थ होते हैं। इसमें त्यागका नहीं, समर्पणका महत्त्व है। समर्पणसे ही मानसिक वैराग्य दृढ होता है। सदाचारका भी इसमें कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, क्योंकि भगवन्मय जीवनमें वह स्वत सिद्ध है। इस प्रकार पुष्टिमार्ग एक प्रवृत्ति-मार्ग है, जिसमें मानसिक निवृत्तिपर ही विशेष बल दिया गया है।

पुष्टिमार्ग प्रस्थान-त्रयीके स्थानपर 'प्रस्थान-चतुष्टय' मानता है, क्योंकि व्यासकी 'समाधिभाषा'–'भागवत' उसका प्रधान आधार-ग्रन्थ है।

[सहायक ग्रन्थ—(१) अणुभाष्य वल्लभाचार्य, (२) श्रीसुबोधिनी वल्लभाचार्य, (३) तत्त्वदीप-निबन्ध सम्प्रदायप्रदीप · गदाधरदास द्विवेदी, (४) अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय दीनदयालु गुप्त, (५) भागवत धर्म बलदेव उपाध्याय।]

पूँजीवाद १—उत्पादनके साधनोंपर वैयक्तिक अधिकारके सिद्धान्तपर आधारित एव सामन्तशाहीके ध्वंसपर प्रतिष्ठित अर्थ-व्यवस्था पूँजीवादके नामसे प्रसिद्ध है। 'पूँजीवाद' शब्दकी उद्भावना उन्नीसवीं शतीके पूर्वार्द्धमें इस अर्थ-व्यवस्थाके समाजवादी आलोचकोंने की थी। यूरोपमें प्राय औद्योगिक क्रान्ति(१८वीं तथा १९वीं शतीके भाग)के समयसे इस व्यवस्थाका श्रीगणेश माना गया है। तत्कालीन समाजमें पूँजीकी सत्ता और महत्ता बढ़ जानेके कारण ही समाजवादियोंने नयी अर्थ-व्यवस्थाको पूँजीवादकी संज्ञा दी थी। कुछ लोगोंको पूँजीवाद शब्दपर आपत्ति है। वे इस व्यवस्थाको स्वतन्त्र अनुष्ठान (free enterprise) कहकर, पुकारना पसन्द करते हैं। कई एक इसे उपभोक्तृतन्त्र अथवा उपभोक्ताओंका लोकतन्त्र(consumer's democracy)का महनीय अभिधान प्रदान करते हैं।

पूँजीवाद वैयक्तिक सम्पत्ति और पूँजीका हिमायती है। वह मशीनों, खानों, वाणिज्यों, व्यवसायों, उद्योगों आदिपर व्यक्ति अथवा सदस्योंके निजी हितोंके सम्पादनार्थ संयोजित संस्थाओं अथवा कम्पनियोंके सर्वाधिकार तथा राज्यके पूर्ण अहस्तक्षेप(laissez faire)की नीतिका प्रतिपादन करता आया है। **साम्यवाद** (दे०) और **समाजवाद** (दे०), दोनों इस नीतिका प्रबल विरोध करते हैं। वे प्राय पूँजीके राष्ट्रीयकरण अथवा समाजीकरणमें आस्था रखते हैं और उसपरसे व्यक्तिका अधिकार उठा देना चाहते हैं। समसामयिक पूँजीवादका राज्यके अहस्तक्षेपके सिद्धान्तपर अब उतना आग्रह नहीं रहा। अब गमनागमनके साधन, डाक, तार, रेल, टेलीफोन, रेडियो, बैंक, मौलिक उद्योग आदिको राज्य धीरे-धीरे स्वायत्त करता जा रहा है। अत अब पुराने ढर्रेके, अप्रतिहत व्यक्तिवादी पूँजीवादके बदले नियन्त्रित अथवा सीमित पूँजीवाद ही देखनेको मिलता है। कार्ल पॉपर पूँजीवादके इस अभिनव रूपको लोकतन्त्रीय अथवा आर्थिक हस्तक्षेपवाद (democratic or economic interventionism) नामसे अभिहित करता है।

वस्तुत आज पूँजीवाद और समाजवादके बीचकी खाई उतनी चौडी नहीं रही जितनी पहले थी।

पूँजीवाद पूँजीपति और श्रमिक नामके दो बडे वर्गोंको जन्म देता है। इनके साथ ही साथ एक मध्यमवर्गकी भी स्थिति देखनेको मिलती है, जो दिनानुदिन अधिकाधिक व्यापक होता जाता है। साम्यवादी पूँजीपति और श्रमिक-वर्गोंको परस्पर विरोधी मानते हैं और श्रमिकों द्वारा पूँजीपतिवर्गसे सत्ता छीनकर साम्यवादकी प्रतिष्ठा करना चाहते हैं।

सामन्तशाही(दे०)में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं था। उसमें व्यक्तित्व चेतना, स्वाधिकार-चेतना तथा स्वातन्त्र्य-चेतनाका विकास नहीं हो सका था। यह विकास पूँजीवादके हाथों सम्पन्न हो सका है। **व्यक्ति-स्वातन्त्र्य**(दे०)की लहरने लोकतन्त्रका पथ प्रशस्त किया। उधर कला और साहित्यके क्षेत्रमें इस लहरने स्वच्छन्दतावाद(romanticism)का रूप लिया। भारतमें स्वच्छन्दतावादकी धारा सर्वप्रथम बँगलाके विश्वकवि रवीन्द्रने प्रवाहित की, जिससे आप्लावित होकर हिन्दी कवियोंने **छायावाद**-काव्यका मजुल स्वर अलापा। प्राय सुमित्रानन्दन पन्त तथा जयशंकर 'प्रसाद'को हिन्दीमें छायावादका प्रवर्तक समझा जाता है। अवश्य ही छायावाद-में सब कुछ अँग्रेजी या बँगलाका ही नहीं है, बहुत कुछ मौलिक भी है। छायावादकी केन्द्रीय प्रेरणा राष्ट्रीय और सास्कृतिक है और वह राष्ट्रीय जागर्तिकी हलचलमें फूला-फला है।

पूँजीवाद-युगमें विकसित व्यक्तिवादमें सामन्ती रूढियोंके प्रति विद्रोहकी भावना देखनेको मिलती है। इस भावनाका उन्मेष साहित्यमें भी दिखाई देता है। उन्नीसवीं शतीके उत्तरार्द्धसे लेकर बीसवीं शतीके आरम्भकालतककी अवधिमें हिन्दीकी रीतिकालीन कविताके विरुद्ध जो विद्रोह-भावना देखनेको मिलती है, उसका एक मुख्य कारण भारतमें पूँजीवादका समारम्भ ही है। इस विद्रोह-भावनाके अनेक रूप देखनेको मिलते हैं—काव्य-भाषामें परिवर्तन, नये छन्दोंका विधान, देश और समाजके प्रति प्रेम, व्यक्तिवादी स्वच्छन्दता, बौद्धिकता, इत्यादि, इत्यादि।

छायावादी कविकी उत्कट व्यक्तित्व-चेतनाका ही यह परिणाम है कि वह अपने 'स्व'का बाह्य वस्तुओंपर आरोप करता पाया जाता है। वह स्वप्न-द्रष्टा होता है और अपने स्वप्नों, अपनी दमित वासनाओं, कुण्ठाओंमें रमना पसन्द करता है। प्रकृति 'स्वायत्त' होकर ही उसकी कविताका उपजीव्य बनती है। छायावादमें व्यक्तित्व-चेतना इस सीमातक बढ गयी थी कि कवि निजी सुख-दु ख और वासनाओंमें इतना उलझ गया कि उसे **सामाजिक दायित्व**-(दे०)की ओर ध्यान देनेका अवकाश ही नहीं रहा। छायावादी कवितामें सामाजिक पक्षके अभावका यही कारण है।

छायावाद-युग गत द्वो महायुद्धोंके बीच फूला-फला था। इसका काव्य-साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। जयशकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा इस प्रवृत्तिके प्रमुख कवि हैं।

[सहायक ग्रन्थ—कैपिटलिज्म, सोशलिज्म एण्ड डेमोक्रेसी : शूम्पटर] —ह० ना०

पूँजीवाद २—पन्द्रहवीं शताब्दीमें भौगोलिक अन्वेषणोंके नाते स्थानीय व्यापार समुद्री जल-मार्गोंसे दूर-दूरतक फैलने लगे। इस कारण उपभोक्ताओंकी माँग बढने लगी और उत्पादनमें अधिक वृद्धिकी आवश्यकता हुई। सामन्तवादी उत्पादन-व्यवस्था उस माँगकी पूर्ति नहीं कर सकती थी। इसीलिए उसका स्थान पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्थाने लिया, जिसमें अधिक गत्यात्मकता थी। प्रारम्भमें इस व्यवस्थाकी उत्पत्ति दो निश्चित परिस्थितियोंसे हुई। पहली परिस्थिति है कि कुछ लोग ऐसे हों, जिनके पास धन और उत्पादनके साधनों हों और जो मजदूरोंसे मजदूरी करवानेके लिए तैयार हों। दूसरी परिस्थिति है कि कुछ लोग ऐसे भी हों जिनके पास उत्पादनके साधन नहीं और जो अपनी श्रम-शक्तिको मजदूरी लेकर बेच सकें। पूँजीवादका उदय इन्हीं दोनों परिस्थितियोंसे होता है। इसीको कार्ल मार्क्सने 'आरम्भिक सग्रह' अर्थात् 'ओरिजिनल एक्यूमुलेशन'की सज्ञा दी है। इस अवस्थामें कृषकोंका श्रमिकोंमें परिवर्तन हो जाता है। साथ ही साथ पूँजीवादी समाज अपने धनसे इनके श्रमको खरीदना प्रारम्भ करता है, जिसके फलस्वरूप मजदूरोंका उत्तरोत्तर शोषण बढता है। पूँजीवादके आरम्भिक दिनोंमें पूँजीवादी मुल्क प्रतियोगिताके नियमोंमें विश्वास करता है, किन्तु जब पूँजीवादका अधिक विकास हो जाता है तो पूँजीवादी प्रतियोगिता दो परिस्थितियोंको जन्म देती है। पहली परिस्थिति है वर्ग-संघर्ष। इसके अन्तर्गत श्रमिक और पूँजीवादके आन्तरिक संघर्ष आरम्भ होते हैं। दूसरी परिस्थिति है अन्तर्वर्गीय सघर्ष। इस परिस्थितिमें स्वत पूँजीपतियोंमें आपसमें विरोध हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्रतियोगितामें ऊँचा पूँजीपति छोटे पूँजीपतियोंको नष्ट कर देता है। इस प्रवृत्तिको कार्ल मार्क्सने पूँजीवादी एकच्छत्रता 'कैपिटलिस्टिक मोनोपली'के नामसे अभिहित किया है। मार्क्सके अनुसार पूँजीवादकी तीन विशेषताएँ हैं—(१) वस्तु-उत्पादन अर्थात् 'कमोडिटी प्राडक्ट'—वस्तु-उत्पादन पूँजीवादी व्यवस्थामें बहुत व्यापक हो जाता है और विनिमयके लिए इसका प्रयोग बहुत अधिक मात्रामें किया जाता है, (२) अतिरिक्त मूल्यका सिद्धान्त अर्थात् थियरी आफ सरप्लस वैल्यू।' इसके अनुसार पूँजीपति अनिवार्य रूपसे श्रमिकका शोषण करता है और उसीसे अपने लाभकी प्राप्ति करता है, (३) मुक्त श्रम अर्थात् 'फ्री लेबर।' पूँजीवादमें श्रम इसलिए मुक्त और निर्बन्ध है कि वह स्वतन्त्र रूपसे अपने श्रमको कहीं बेच सकता है। दास-प्रथामें और किसानोंको इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी।

सक्षेपमें समूचा पूँजीवाद वह आर्थिक व्यवस्था है जो निश्चित धनको पूँजीका रूप देकर वस्तुमें परिवर्तित करता है और फिर उसी वस्तुको धनमें परिवर्तित करता है, किन्तु इस बार धनकी मात्रा पहलेसे अधिक होती है। मार्क्सने इस प्रवृत्तिको निम्नलिखित सूत्रमें व्यक्त किया है—'एम' अर्थात् 'मनी', 'सी'—अर्थात् 'कमोडिटी'—एम-सी-एम। अन्तिम 'एम'—उस धनकी ओर सकेत करता है जो वस्तुके विनिमयसे प्राप्त होता है और जिसकी मात्रा पहले 'एम'से अधिक होती है। —रा० म० त्रि०

पूँजीवादी एकच्छत्रता–जब पूँजीवाद अधिक विकसित हो जाता है तब पूँजीवादी वर्गके भीतर सम्ग्रहण अर्थात् 'कन्सेण्ट्रेशन' और केन्द्रीकरण अर्थात् 'सेण्ट्रलाइजेशन'की प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि छोटी-छोटी पूँजीवादी फर्में आपसमें मिल जाती हैं, जिसके फलस्वरूप छोटी प्रतियोगी फर्में नष्ट हो जाती हैं। बड़ी फर्में छोटी फर्मोंकी अपेक्षा अधिक सफल होती हैं, क्योंकि वे वस्तुको सस्ता करके बेच सकती हैं। धीरे-धीरे व्यापार केवल कुछ फर्मोंके हाथोंमें शेष रह जाता है। इसी प्रकार धीरे-धीरे व्यापार-विशेषके क्षेत्रमें केवल एक फर्मका ही आधिपत्य शेष रहता है। इस प्रवृत्तिको कार्ल मार्क्सने पूँजीवादी एकच्छत्रता अर्थात् 'कैपिटलिस्ट मोनोपली' कहा है। —रा० कु० त्रि०

पूर्णोपमा–दे०—'उपमा', पहला प्रकार।

पूर्वचेतन–यह शब्द फ्रायडके मनोविज्ञानके 'प्रीकान्शस' शब्दको व्यक्त करनेके लिए हिन्दीमें प्रयुक्त होता है। वे अचेतन इच्छाएँ, वासनाएँ या प्रतिक्रियाएँ जो तत्काल अचेतनसे चेतन अवस्थामें बदल सकती हैं, फ्रायडके अनुसार, 'पूर्वचेतन' हैं अर्थात् जो सुप्त हैं और केवल वर्णनकी दृष्टिसे अचेतन हैं, गतिशीलताकी दृष्टिसे नहीं, पूर्वचेतन कहलाता है। अचेतन और पूर्वचेतनमें अन्तर यह है कि अचेतन दमित और गतिशील है, पूर्वचेतनमें दमन आवश्यक नहीं। अहका बौद्धिक अंश पूर्वचेतन होता है। पूर्वचेतन और चेतनमें कोई मूलगत वैषम्य नहीं है। इस अर्थमें फ्रायडका पूर्वचेतन अन्य मनोवैज्ञानिकोंका 'अचेतन' या 'उपचेतन' है। फ्रायडीय विचारधारासे प्रभावित साहित्यिक 'पूर्वचेतन' शब्दका प्रयोग करते हैं। —प्री०अ०

पूर्व-मध्यकाल–हिन्दी साहित्यके **मध्यकाल**(दे०)को इतिहासकारोंने साहित्यिक प्रवृत्तियोंके आधारपर पुनः दो भागोंमें विभाजित किया है। मध्यकालका पूर्वार्ध **पूर्व-मध्यकाल** तथा उत्तरार्ध **उत्तर-मध्यकाल** कहा जाता है। पूर्व-मध्यकालका प्रारम्भ कबसे हुआ यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि कौन-सी प्रवृत्ति कब आरम्भ हुई और कब उसका अन्त हो गया इसकी ठीक-ठीक तिथि निश्चित कर सकना असम्भव है। प्रवृत्तिके आधारपर पूर्व-मध्यकाल **भक्तिकाल** (दे०) कहा जाता है जो न केवल इस कालमें रचे गये साहित्यसे समर्थित है, वरन् सामाजिक जीवनकी सभी चेष्टाओं द्वारा प्रमाणित होता है। उत्तर भारतमें भक्तिके सबसे प्रथम शक्तिशाली सन्देशवाहक स्वामी रामानन्द थे। कुछ हिन्दीके पद भी मिले हैं जो उनके रचे हुए कहे जाते हैं। अनुमानसे रामानन्दका समय चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी माना जाता है। उनके निर्गुणोपासक शिष्योंमें सबसे अधिक प्रसिद्ध कबीर हुए, जिनका समय चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी है। अतः पूर्व-मध्यकालका आरम्भ अधिकसे अधिक चौदहवीं शताब्दीसे माना जा सकता है। रामचन्द्र शुक्लने संवत् १३७५ वि०से इसका आरम्भ माना है। इस कालके अन्तिम कवियोंमें हितहरिवंशके अनुयायी ध्रुवदासका रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दीके मध्यतक माना गया है। केशवदास भी सत्रहवीं शताब्दीके प्रथम चरणमें जीवित थे तथा सेनापतिका कविताकाल भी सत्रहवीं शताब्दी है। पूर्व-मध्यकालकी अन्तिम सीमा मोटे तौरपर सत्रहवीं शताब्दीका मध्य कही जा सकती है। दे०—'भक्तिकाल'। —ब्र० व०

पूर्वरंग–धनिकने अपनी कारिकामें लिखा है–'पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरंगः नाट्यशाला' अर्थात् जिसमें सामाजिकोंको पहले आनन्द मिले। इस तरह पूर्वरंगका अर्थ नाट्यशाला है।

किन्तु विश्वनाथने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है, 'यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रंगविघ्नोपशान्तये। कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरंगः स उच्यते॥' (सा० द० ६. २२)। अर्थात् **नाट्यवस्तु**(अर्थ)के पूर्व **रंग(रंगशाला)**के विघ्नोंको दूर करनेके लिए नर्तक लोग जो कुछ करते हैं उसे पूर्वरंग कहते हैं। यद्यपि **प्रत्याहार** आदि इसके अनेक अंग हैं तथापि विघ्नोंकी शान्तिके लिए **नान्दी** अवश्य करना चाहिये। विश्वनाथकी परिभाषा अधिक सुस्पष्ट और प्रामाणिक प्रतीत होती है। —व० सिं०

पूर्वराग–दे०—'विप्रलम्भ शृंगार'।

पूर्वरूप–लोकन्यायमूल अर्थालंकार (दे०—'तद्गुण')। प्रतिष्ठापक जयदेवके अनुसार 'पूर्वरूप' दो प्रकारका है। दूसरेसे आये हुए गुणको दूर करके पुनः अपने गुणको प्रकट करना प्रथम पूर्वरूप है, 'पुनः स्वगुणसम्प्राप्तिर्विज्ञेया पूर्वरूपता' (चन्द्रालोक ५. १०३)। द्वितीय पूर्वरूपमें किसी वस्तुके नष्ट हो जानेपर भी दूसरी वस्तुके कारण पूर्ववस्तुका गुण विद्यमान ही रहता है—'पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि' (कुवलयानन्द १४३)। मम्मट आदिने इसको 'तद्गुण'से अलग अलंकार नहीं माना। हिन्दीमें जसवन्त सिंहने इसकी व्याख्या की है। भिखारीदास तथा कन्हैयालाल पोद्दारने पूर्वरूपको तद्गुणमें अन्तर्भुक्त माना है, परन्तु मतिराम तथा भूषणने इसे तद्गुणसे भिन्न स्वीकार किया है—'जहाँ औरको रंग तजि, बहुरि आपनो होत' (ल० ल० २३३)। यह प्रथम पूर्वकी परिभाषा है, द्वितीयमें 'प्रगटित पूरन दसहिंको जहँ अनुवर्तन होय' ऐसा माना है (वही. २३५)। भूषणकी पूर्वरूपकी परिभाषा स्पष्ट नहीं है–'प्रथम रूप मिटि जात जहँ, फिरि वैसोई होइ' (शि० भू० २९०)। मतिरामका प्रथमका उदाहरण परम्परापर आधारित है—'मुकुत हार हरिके हिये मरकत मनिमय होत। पुनि पावत रुचि राधिका, मुख मुसकानि उदोत।' (ललि० ३३४)। द्वितीयका उदाहरण—'अथए हू ससि हँसनिकी छायी जोन्ह अनूप' (पद्मा० २३९)। —ओ० प्र०

पूर्वी हिन्दी–पूर्वी हिन्दीका क्षेत्र पश्चिमी हिन्दीके पूर्वमें है। इसकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंशसे मानी जाती है। इसकी भाषावैज्ञानिक स्थिति पश्चिमी हिन्दी तथा बिहारी भाषाओंके बीचकी है। दोनों बोलियोंके समूहोंकी विशेषताएँ इसमें पायी जाती हैं। पूर्वी हिन्दीकी तीन बोलियाँ हैं—१ अवधी, २. बघेली, ३ छत्तीसगढ़ी। इनमेंसे अवधीका साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। बघेली तथा छत्तीसगढ़ीमें प्रायः लोक-साहित्य ही मिलता है। पूर्वी हिन्दीकी लिपि सामान्यतः देवनागरी है।

पृथ्वी–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलछन्दःसूत्र' (७. १७) तथा 'प्राकृतपैंगलम्'(२. १७७)के अनुसार ज, स, ज, स, य, ल, गसे यह वृत्त बनता है (।ऽ।,

।।ऽ, ।ऽ।, ।।ऽ, ।ऽऽ, ।ऽ) और इसमें ८, ९ वर्णों-पर यति होती है। भरतने इसका नाम **विलम्बितगति** दिया है (नाट्य० : १६ ८७)। केशव (रा० च० १४·११) और मैथिलीशरण गुप्त(साकेत स० ९ पृ० २०२)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'अगस्त ऋषिराज जू वचन एक मेरी सुनो' (रा० च० ११ · १४)। 'निहार सखि सारिका कुछ कहे विना शान्त-सी' (साकेत स० ९)। —पु० शु०

पेती वूर्जुआ–यह शब्द फ्रेंच भाषाका है। इसका तात्पर्य उस वर्गसे है जो पूर्ण रूपसे व्यावसायिक सभ्यताका उच्च वर्ग तो नहीं है, किन्तु अपने दृष्टिकोण, स्वभाव, मनोविज्ञान-के नाते उच्च वर्गसे मेल खाता है। —रा० म० त्रि०

पैगंबर–यह फारसीका शब्द है जिसका अर्थ सन्देशा लानेवाला है। मनुष्योंतक अपना सन्देशा पहुँचानेके लिए परमात्मा जिसे चुनता है वह पैगम्बर है। इसके लिए अरबीमें नबी, रसूल आदि शब्दोंका प्रयोग होता है। इन शब्दोंके लिए फारसीमें पैगम्बरका ही प्रयोग करते हैं। मुसलमानोंका विश्वास है कि परमात्मासे उसका सीधा सम्बन्ध है। उनका विश्वास है कि हजरत मुहम्मदका परमात्माके साथ साक्षात्कार हुआ था और उन्होंने परमात्माके वचनोंको सुना था और मनुष्योंके लिए प्रकट किया था। अन्य धर्मोंमें भी पैगम्बर होनेकी बात मुसलमान स्वीकार करते हैं लेकिन हजरत मुहम्मदको अन्तिम और परमात्माका परम प्रिय मानते हैं। —रा० पू० ति०

पैंफ्लेट–पैम्फ्लेट अपने मूल रूपमें वह लघु प्रबन्ध या निबन्ध है जिसपर प्रकार, गुण या स्वरूपका कोई बन्धन न हो। कालान्तरमें पैम्फ्लेटको ऐसी छोटी रचना समझा जाने लगा जो सामान्यत लोकप्रिय रीतिसे लिखी गयी हो और किसी ऐसे तात्कालिक विषयसे सम्बन्धित हो जिसकी ओर लेखक पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहे। यूरोपमें इस बीच पैम्फ्लेटकी प्रतिष्ठा कम हुई है, उसे सतही, अनगढ, अविदग्धतापूर्ण जैसे विशेषणोंसे अभिहित किया जाने लगा है। कदाचित् पत्रकारिताके विकास तथा बृहत् आकारकी मुद्रित पुस्तकें सुलभ होनेके कारण आजके युगमें पैम्फ्लेटका महत्त्व कम हो गया है, अन्यथा उत्तर-पश्चिमी यूरोपमें, बहुत पहलेसे सामाजिक-राजनीतिक विषयोंकी चर्चामें पैम्फ्लेटोंने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। ब्रिटेनमें १६वींसे लेकर १९वीं शताब्दीतक पैम्फ्लेट प्रचुर मात्रामें और निरन्तर लिखे जाते रहे। फ्रासमें राजनीति तथा सत्ताकी डॉवाडोल परिस्थितियोंमें बहुत-से लेखक महत्त्वपूर्ण पैम्फ्लेट लिखते रहे हैं। ऐसा जान पडता है कि पुराणपन्थी अथवा सुस्थिर युगोंमें पैम्फ्लेट साहित्यका अधिक पनपना सम्भव नहीं होता, क्योंकि एक तो पैम्फ्लेट सामयिक हलचलोंसे सम्बद्ध रहते हैं और दूसरे पैम्फ्लेट लेखनमें स्वतन्त्र वृत्तिकी प्रधानता रहती है। पैम्फ्लेटमें युग-जीवनपर लेखकके निजी विचार प्रकट होते हैं और यही कारण है कि अक्सर पैम्फ्लेटोंकी भाषा बडी तीखी और चुटीली रहती है। कभी कभी तो पैम्फलेट लिखनेवालेके लिए पैम्फ्लेटियर शब्दका प्रयोग करके अवज्ञासूचक भाव व्यंजित किया जाता है।

पर, अभी कुछ समय पूर्वतक अँग्रेजी भाषामें पैम्फ्लेटकी बड़ी प्रतिष्ठा थी और उसे न केवल सम्पादकीय मुख-लेख वरन् प्लेटफार्मका भी दायित्व निभाना पडता था और ऐसी रचनामें सिद्धहस्त जोनाथन स्विफ्टको अपने समय-का सबसे बडा पैम्फ्लेटियर माना गया था।

हिन्दीमें विवादास्पद राजनीतिक-धार्मिक विषयोंपर पुस्तिकाएँ प्रकाशित होती रहती हैं, पर पैम्फ्लेट नामक साहित्यकी पूरी शक्ति तथा उपयोगिताका अनुभव अभी हिन्दीके लेखकों पाठकोंको नहीं हुआ है। कौन-सी विशेष रचना पैम्फ्लेट है और कौन नहीं—यह भी हिन्दीमें ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता। कुछ लोग पैम्फ्लेट तथा ट्रैक्टमें कोई खास अन्तर नहीं मानते और कुछ लोग इन दोनोंको ही **निबन्ध**के अन्तर्गत रखते हैं। यद्यपि जान्सन पचके अजिल्द पृष्ठोंको भी पैम्फ्लेट माननेके लिए तैयार थे, पर मोटे तौरपर कहा जा सकता है कि पैम्फ्लेट निबन्ध-कोटिकी लघु गद्य-रचना है।

[सहायक साहित्य–ब्रिटिश पैम्फ्लेट्स फ्राम द सिक्सटीन्थ टु द ट्वण्टीयथ सेंचुरीज (दो भाग), इग्लिश ट्रैक्ट्स, पैम्फ्लेटस एण्ड प्रिण्टेड शीट्स—म० जे० एच० ब्लूम। पैम्फ्लेटियर मन्थली—न्यूयार्कका मासिक पत्र।] —अ०कु०

पैरोडी–दे०—'व्यग्यगीति',।

पोष्यपोषकभाव–दे०–'रसनिष्पत्ति', आरोपवादके अन्तर्गत।

पौराणिक काव्य–दे०–'चरितकाव्य', 'कथाकाव्य','महाकाव्य'।

प्रकरण–नाटकमें **प्रख्यात कथावस्तु** होती है, किन्तु **प्रकरण**में **उत्पाद्य**। भरत मुनि प्रकरणका लक्षण बताते हुए कहते हैं कि प्रकरण भी नाटककी तरह रसाश्रित और **पंचसन्धि**-समन्वित होता है। इसमें विप्र, वणिक्, सचिव, पुरोहित, अमात्य, सार्थवाहके चरित वर्णित होते हैं, जिसका नायक न तो उदात्त पुरुष होता है और न दिव्य-चरित, जिसमें राजसम्भोगका वर्णन नहीं होता, जिसमें दास, विट्, श्रेष्ठी, वेशस्त्री (वेश्या), हीन-कुलवधूका चरित होता है। जिस अकमें मन्त्री, श्रेष्ठी, ब्राह्मण, पुरोहित, अमात्य, सार्थवाहकी गृहवार्ता हो उसमें वेश्याका प्रवेश वर्जित है। जिस अकमें वेश्याके साथ कोई पुरुष दिखाई पड़े उसमें कुलवधुओंका प्रवेश निषिद्ध है। (भरत ना० शा० ३१८ अ० ९८-१०३)।

'दशरूपक'में प्रकरणका उक्त विवरण अल्प परिवर्तनके साथ प्राप्त होता है। प्रकरणका नायक मन्त्री, ब्राह्मण अथवा वणिक्मेंसे कोई हो सकता है। नायकका **धीरशान्त** होना आवश्यक है। उसकी कार्य-सिद्धिमें अनेक आपदाएँ आनी चाहिये। धर्मकामार्थमें तत्पर दिखाई पडता है। **सन्धियाँ** और **रस** नाटकके समान ही होते हैं। नायिका कुलीन स्त्री अथवा गणिका होती है। कहीं-कहीं दोनों दिखाई पडती हैं। प्रकरणकी नायिका इन दोनोंके अतिरिक्त नहीं हो सकती। पुरुष पात्रोंमें धूर्त भी रहते हैं। नायिकाकी दृष्टिसे प्रकरण तीन प्रकारके होते हैं–१ जहाँ केवल वेश्या नायिका हो, जैसे 'तरंगदत्तप्रकरण', २ केवल कुलवती स्त्री हो, जैसे 'पुष्पदूतिका', ३ जहाँ सकीर्ण नायिकाएँ हों, जैसे 'मृच्छकटिक'।

नाट्यदर्पणकारका मत भरत मुनि और धनंजयसे प्राय मिलता है। अन्तर केवल इतना है कि वे प्रकरणका नायक **धीरप्रशान्त** ही नहीं, **धीरोदात्त** भी मानते हैं। नायिकाके सम्बन्धमें उनका मत है कि वह नीच जातिकी भी हो सकती है (ना० द० रामचन्द्र गुणचन्द्र-विरचित, पृष्ठ १७७)। प्रकरणका वर्गीकरण करनेमें नाट्यदर्पणकार धनंजयसे पूर्ण सहमत नहीं हैं। वे तीन भेदोंके स्थानपर प्रकरणके २१ भेद बताते हैं। अभिनव गुप्तने भी २१ प्रकारका प्रकरण माना है। रामचन्द्र गुणचन्द्रने तो इतने प्रकारके प्रकरणोंका अभिनय देखा था। (ना० द० : पृ० १९)।

शारदातनयने प्रकरणका नायक **धीरशान्त** ही माना है। भाषाके सम्बन्धमें उनका मत है कि यदि नायिका वेश्या हो तो उसकी भाषा प्राकृत होनी चाहिये और कुलनायिका हो तो भाषा संस्कृत उचित है। शारदातनय प्रकरणमें शकार, कुट्टिनी, चेटी, धर्मशास्त्र बहिष्कृत विट, चेट आदिका होना आवश्यक मानते हैं। (भा० प्र०, ८वाँ अधि०, पृ० २४२)।

साहित्यदर्पणकारने प्रकरणमें शृंगार रसपर बल दिया है और नायकका ब्राह्मण, मन्त्री अथवा वैश्य होना आवश्यक माना है। वे नायकको **धीरप्रशान्त** ही मानते हैं। उन्होंने ब्राह्मण नायकके लिए 'मृच्छकटिक', अमात्य नायकके लिए 'मालतीमाधव' और वैश्य नायकके लिए 'पुष्पदूतिका'का नामोल्लेख किया है। (सा० द० ४६,२२४,२२६)।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने संक्षेपमें प्रकरणका लक्षण इस प्रकार किया है—यह और बातोंमें नाटकके तुल्य होना चाहिये, किन्तु इसका उपाख्यान लौकिक हो, नायक कोई मन्त्री, धनी या ब्राह्मण हो। इसकी नायिका मन्त्रिकन्या, किसीके घरमें आश्रितभावसे रहनेवाली एवं वेश्या हो। प्रथमावस्थामें **शुद्ध** और द्वितीयावस्थामें प्रकरणकी **संकर** संज्ञा होती है, उदाहरण, 'मल्लिकामारुत', 'मालती-माधव' और 'मृच्छकटिक'।

राघवन्‌ने प्रकरणपर विशेष रूपसे विचार करते हुए संस्कृतके इस रूपकमें त्रासद तत्त्वोंकी खोज की है। उनका मत है कि भारतीय मतकी सीमाके अन्तर्गत प्रकरणमें त्रासद तत्त्व पर्याप्त मात्रामें विद्यमान हैं। प्रकरणमें कैशिकी-वृत्तिका अभाव इसका प्रमाण है। 'मृच्छकटिक', 'तरंगदत्त', 'मालतीमाधव' आदि प्रकरणोंके पर्यवेक्षणसे यह सिद्ध होता है कि प्रकरणमें त्रासद तत्त्वका होना अनिवार्य है। अश्वघोषके 'शारिपुत्रप्रकरण'से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रकरणको धार्मिकताका रूप भी दिया जाता था। इस प्रकरणमें बुद्धकी जीवनीके साथ सारिपुत्र, ब्राह्मण मौद्गल्यायन एवं विदूषक भी पात्रके रूपमें आते हैं (दि सोशल प्ले इन संस्कृत, पृ० ५–६)।

निष्कर्षरूपमें कहा जा सकता है कि प्रकरणका कथानक लौकिक और कविकल्पित होता है। उसका नायक धीर और शान्त होता है, अर्थात् वह मन्त्री, ब्राह्मण या वैश्य हो सकता है, धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्तिके लिए वह तत्पर रहता है और कई विघ्न-बाधाओंका सामना करते हुए अपने अभीष्टकी प्राप्ति करता है। प्रकरणमें नायिका कुल-कन्या या वेश्या होती है और कहीं कहीं दोनों भी। इस दृष्टिसे प्रकरणके तीन भेद माने गये हैं—(१) जिसमें नायिका कुल-कन्या हो वह शुद्ध, (२) जिसमें वेश्या हो वह विकृत और (३) जिसमें दोनों हों, वह संकीर्ण। 'तरंगदत्त' और 'मालतीमाधव' शुद्ध प्रकरण हैं, 'पुष्पदूतिका' विकृत है, 'मृच्छकटिक' संकीर्ण है। संकीर्ण प्रकरण धूर्त्त, जुआरी, विट, चेटादि पात्रोंसे संकुल रहता है। **रस, सन्धि, प्रवेशक** आदि बातोंमें प्रकरण नाटकके ही समान होता है। इसमें त्रासद तत्त्वोंका बाहुल्य होता है। इस प्रकार अँग्रेजीके **ट्रैजेडी**का रूप इसमें प्राय देखनेको मिलता है। —उ० ओ०

प्रकरणवक्रता–(प्रकरण=काव्य-प्रबन्धका एक देश+वक्रता =विन्यासविचित्रता)–'प्रकरणवक्रता'का अभिप्राय काव्य प्रबन्धके एकदेशकी रमणीयता अथवा चमत्कारिता है। यदि किसी काव्य-प्रबन्धके कतिपय अंग रमणीय लग गये तो 'अंगी'-रूपसे अवस्थित काव्य-प्रबन्धकी रमणीयता अनायास सिद्ध हो गयी। प्रकरणवक्रताका मूल कारण कवि-कला है, जिसके विश्लेषणमें प्रकरणकी रसनिर्भरता और औचित्यमयता (एक शब्दमें 'वक्रता') आदिके नियामक तत्त्वोंका विश्लेषण किया जा सकता है। काव्य अथवा नाटकके प्रकरणों अथवा अंगोंकी वक्रताका सर्वप्रथम नियामक **पात्रप्रवृत्ति** है। पात्रप्रवृत्तिका अभिप्राय काव्य अथवा नाट्यके पात्रोंका ऐसा व्यक्तित्व-प्रदर्शन है, जो कवि-प्रतिभासम्भूत होते हुए भी स्वाभाविक और उत्साहपूर्ण प्रतीत हुआ करता है। संस्कृतके जितने भी प्रसिद्ध काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्ध हैं उनके रचनाकारोंने पात्रप्रवृत्तिके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकरणोंको रसमय बनाया है और अपने काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धकी रसमयताको आकस्मिकतासे बचाया है। इस दृष्टिसे प्रकरण-वक्रतामें हिन्दीके महाकवि भी पीछे नहीं। उदाहरणके लिए, 'साकेत'में कैकेयीकी उक्ति—'यदि मैं उकसायी गयी भरतसे होऊँ। तो पति-समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ।' और रामकी प्रत्युक्ति—'हे अम्ब तुम्हारा राम जानता है सब। इस कारण वह कुछ खेद मानता है कब?' में जो पात्रप्रवृत्ति है उसकी महिमासे यह निर्वेद प्रकरण रसनिर्भर हो उठा है और 'साकेत'की रस-सरिताको अपने रससे भर रहा है।

प्रकरणवक्रताका दूसरा नियामक वह है जिसे **उत्पाद्य** कथा (उत्पाद्यलवलावण्य) कहा करते हैं। उत्पाद्यकथा-लावण्यका अभिप्राय काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धके प्रसिद्ध इतिवृत्तमें ऐसे कल्पित कथांशकी योजनाका सौन्दर्य है जो रसभावका अधिकाधिक उद्दीपक हुआ करता है। कवि अथवा नाटककारकी कृति कथा-वस्तुका निर्वाहमात्र नहीं, अपितु रसभावकी सृष्टि है। इस दृष्टिसे कवि अथवा नाटककार प्रसिद्ध इतिवृत्तमें अपनी कल्पनासे कुछ जोड़ भी सकता है जो रसोपयोगी हो और प्रसिद्ध इतिवृत्तसे कुछ हटा भी सकता है, जो कि रसोपयोगी न हो। उदाहरणके लिए, संस्कृतके कवि भवभूतिके 'उत्तररामचरित' नाटकके प्रथम अंकमें 'चित्रशालामें राम और सीता'के वृत्तान्तकी जो मौलिक योजना है वह इसीलिए है कि जिससे नाटककी करुण धारा, उसमसे अन्ततक, सहृदय-हृदयको अपनी ओर खींचती रहे। वक्रोक्तिके प्रतिष्ठापक आचार्यने इसीलिए कहा

है—'निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भरा । गिर कवीना जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिता ।' (व०जी० ४), अर्थात् काव्य अथवा नाट्य-कृतिकी सफलता इतिवृत्त वर्णनमें नहीं, अपितु ऐसे सन्दर्भों अथवा प्रकरणोंके विन्यास-वैचित्र्यमें है जो रसभाव रमणीय हुआ करते हैं। रसभावके समुन्मीलनके लिए कवि नवीन कथांशकी कल्पना किं वा प्राचीन इतिवृत्तके परिवर्तन, दोनोंमें स्वतन्त्र है।

प्रकरण वक्रताका तीसरा नियामक **उपकार्योपकारक भाव** है। यदि काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धके भिन्न भिन्न प्रकरणोंमें परस्पर 'उपकार्योपकारकभाव' न हो तो जहाँ-तहाँ प्रकरण-सौन्दर्य होनेपर भी प्रबन्ध सौन्दर्य नहीं हो सकता। 'प्रकरण'का सौन्दर्य अपने लिए नहीं, अपितु प्रबन्धके लिए हुआ करता है। वक्रोक्तिजीवितकारने इसीलिए कहा है—'प्रबन्धस्यैकदेशाना फलबन्धानुबन्धवान्। उपकार्योप कर्तृत्वपरिस्पन्द परिस्फुरन्। असामान्यसमुल्लेखप्रतिभा प्रतिभासिन । सूते नूतनवक्रत्वरहस्य कस्यचित्कवे ।' (व० जी० ४ ५–६), अर्थात् प्रबन्ध-काव्यके प्रकरणोंकी परस्पर सुसंश्लिष्टता महाकवियोंकी प्रतिभा और कलाकी एक अनुपम विशेषता हुआ करती है। जिस काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धके प्रकरणोंमें 'अनुग्राह्यानुग्राहकभाव' (उपकार्योपकारकभाव) विराजमान रहा करता है, जिससे प्रत्येक प्रकरण एक दूसरेके समर्थक लगा करते हैं और प्रबन्धके प्रधान विषय अथवा रसभावका परिपोषण किया करते हैं, उस काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धमें कवि-कलाका एक विचित्र वैभव झलका करता है, उदाहरणके लिए, विशाखदत्तके 'मुद्राराक्षस'के प्रकरणोंका परस्पर उपकार्योपकारकभाव। 'मुद्राराक्षस'के कई एक प्रकरण हैं, जिनमें पहले अकमें 'मुद्रालाभ'(महामात्य राक्षसकी अँगूठीका चाणक्यके हाथ लगने)का प्रकरण है। इस प्रकरणकी 'मुद्रालाभ'की घटना नाटकके पॉचवें अंकके 'राक्षसनिकार' नामक प्रकरणकी राक्षस-विग्रह घटनाका मूल स्रोत है और नाटकके मुख्य कार्य अर्थात् राक्षस-वशीकरणका मूल बीज है।

वस्तुत काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धमें 'उपकार्योपकारकभाव' ही वह वज्रलेप (प्लास्टर) है जो प्रत्येक प्रकरणको सुघटित सुसश्लिष्ट बनाये रहता है, जिससे काव्य अथवा नाट्यका भवन टिकाऊ हुआ करता है और अपने सौन्दर्य-औचित्यमें परिपूर्ण लगा करता है।

प्रकरणका चौथा नियामक **आवृत्ति** अथवा काव्य-नाट्य प्रबन्धके प्रत्येक प्रकरणमें एक वस्तु स्वरूपकी नयी-नयी दृष्टि और नयी-नयी भावभगिमाके साथ औचित्यपूर्ण पुन -पुन योजना है—'प्रतिप्रकरणं प्रौढप्रतिभाभोगयोजित । एक एवाभिधेयात्मा बध्यमान पुन पुन । अन्यूननूतनोल्लेखरसालकरणोज्ज्वल । बध्नाति वक्रतोद्भेदभगीमुत्पादिताद्भुतम् ।' (व० जी० ४ ७–८)। वर्ण्य वस्तुकी आवृत्ति पुनरुक्ति नहीं, अपितु प्राचीनतामें नवीनता और नवीनतामें रमणीयता है। प्रतिभा-सम्पन्न कवि अथवा नाटककार ही अपने काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धके प्रत्येक प्रकरणमें एक वस्तुकी पुनर्वर्णनामें रमणीयता और रसमयताकी सृष्टि कर सकता है। उदाहरणके लिए, जयशंकर 'प्रसाद'के 'अजातशत्रु'के पहले अक(दूसरे दृश्य)में महाराज बिम्बिसारकी जो मन स्थिति रेखाकित है—'मनुष्य व्यर्थ महत्त्वकी आकाक्षामें मरता है, अपनी नीची, किन्तु सुदृढ परिस्थितिमें उसे सन्तोष नहीं होता, नीचेसे ऊँचे चढना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या ?' वही दूसरे अक(छठे दृश्य)में भी चित्रित हुई है—'प्रत्येक असम्भावित घटनाके मूलमें यही बवण्डर है। सच तो यह है कि विश्वभरमें स्थान स्थान-पर वात्याचक्र है, जलमें उसे भँवर कहते हैं, स्थलपर उसे बवण्डर कहते हैं, राज्यमें विप्लव, समाजमें उच्छृखलता और धर्ममें पाप कहते हैं।' और उसीके तीसरे अंक(नवें दृश्य)में पुनश्चित्रण है—'हाय रे मानव, क्यों इतनी दुरभिलाषाएँ बिजलीकी तरह तू अपने हृदयमें आलोकित करता है ? क्या निर्मल-ज्योति तारागणकी मधुर किरणोंके सदृश सद्वृत्तियोंका विकास तुझे नहीं रुचता ? भयानक भावुकता और उद्वेगजनक अन्त करण लेकर क्यों तू व्यग्र हो रहा है ?' किन्तु यह सब पुनरुक्ति दोष नहीं अपितु इस नाटकके प्रकरणोंमें एक वस्तुस्वरूपकी ऐसी पुनरावृत्ति अथवा पुनर्योजना है जिसमें औचित्य है और सहृदय-हृदयको रह रहकर आकर्षित करनेकी सामर्थ्य है। जहाँ प्रथम चित्रमें बिम्बिसारके उद्वेगजन्य निर्वेदकी झलक मिलती है और दूसरेमें इस 'निर्वेद'की मूकता भयकर चीत्कारमें बदल जाती है, वहाँ तीसरेमें 'निर्वेद'का यह उद्वेग 'आत्मावमानन'की शान्तिमें सोता दिखाई देता है।

प्रकरणवक्रताका पॉचवाँ नियामक **प्रासंगिक** अथवा प्रस्तुतोचित सूर्योदय, सूर्यास्तमय प्रभृति प्रसगोंकी ऐसी योजना है जो प्रबन्धके सौन्दर्य-वैभवको समृद्ध किया करती है, जैसे कि 'अजातशत्रु'(तीसरा अक तीसरा दृश्य)में मेघवर्णनका यह प्रसग—'अलकाकी किस विकल विरहिणीकी पलकोंका ले अवलम्ब, सुखी सो रहे थे इतने दिन, कैसे हे नीरद निकुरम्ब।' एक प्राकृतिक दृश्यका वर्णनमात्र नहीं, अपितु 'शैलेन्द्र-मल्लिका-प्रकरण'में शैलेन्द्रके हृदय परिवर्तनका सूचक है और नाटकके रसभावका एक सुन्दर उन्मीलन है।

प्रकरणवक्रताके छठे नियामकके रूपमें **प्रकरणरस** दिखाई देता है। प्रकरणरसका अभिप्राय प्रकरणमें (काव्यके सर्ग अथवा नाटकके अकमें) प्रबन्ध-रसके निष्पन्नभूत और साथ ही साथ प्रबन्ध रसके परिपोषक रसभावकी योजनाका औचित्य है जैसा कि वक्रोक्ति सिद्धान्तके प्रवर्तकका कहना है—'यत्रागिरसनिष्यन्दनिकष कोऽपि लक्ष्यते। पूर्वोत्तरैरसम्पाद्यसाकादे काऽपि वक्रता ।' (व० जी० ४ १०)। अर्थात् प्रकरण अथवा काव्यके किसी सर्ग और नाटकके किसी अककी वक्रता अथवा विन्यास-विचित्रता कवि कलाकी एक अतिरिक्त ही विशेषता है, जिसका कारण वह प्रकरण-रस है जो कि पूर्व किंवा उत्तरवर्ती सर्गों और अकोंके रसभावसे सर्वथा विलक्षण रूपमें चमत्कारजनक लगा करता है और प्रब ध-रसके प्रवाहका प्राण-सा प्रतीत हुआ करता है। उदाहरणके लिए, कालिदासके 'विक्रमोर्वशीय'के 'उन्मत्ताक'का प्रकरण रस, जो कि 'विक्रमोर्वशीय'के विप्रलम्भ-शृगारकी सुन्दरतम अभिव्यक्तिकी मूल प्रेरणा सा प्रतीत होता है।

प्रकरणवक्रताका सातवाँ नियामक **अवान्तरवस्तुयोजना** अथवा **वस्त्वन्तरवैचित्र्ययोजना** है। वक्रोक्तिजीवितकारने स्पष्ट कहा है—'प्रधानवस्तुनिष्पत्त्यै वस्त्वन्तरविचित्रता। यत्रोल्लसति सोल्लेखा साऽपराप्यस्य वक्रता।' अर्थात् एक नवीन प्रकारकी प्रकरणवक्रता वह है जो कि ऐसी वस्त्वन्तरविचित्रताकी योजना (अवान्तरवस्तु-योजना)से निष्पन्न हुआ करती है, जिससे काव्य नाट्य-प्रबन्धका प्रधान इतिवृत्त सुन्दर और सरस बन जाया करता है।

अवान्तरवस्तुयोजनाके द्वारा प्रकरणवक्रताके उदाहरण-रूपमें संस्कृतके कवि विशाखदत्तकी कृति 'मुद्राराक्षस'के छठे अंकका वह प्रसंग लिया जा सकता है, जिसमें महामात्य राक्षस और आत्महत्याका अभिनय करनेवाले चाणक्यके गुप्तचरके वृत्तान्तका वर्णन है। इस 'अवान्तरवस्तु'की योजनासे चन्दनदासके प्राणरक्षणके लिए राक्षसके आत्मसमर्पण करनेके निश्चय और चाणक्यकी विजय, दोनोंका अनायास परिपोष हो जाता है, जिससे नाटकका रस निरर्गल रूपसे प्रवाहित होकर सहृदय-हृदयमें प्रविष्ट हो जाता है।

प्रकरणवक्रताका आठवाँ नियामक काव्य-नाट्य-प्रबन्धके किसी प्रकरणमें **प्रकरणान्तरकी** योजना है—'सामाजिकजनाह्लादनिर्माणनिपुणैर्नटैः। तद्भूमिकां समास्थाय निर्वर्तितनटान्तरम्।' (व० जी० ४. १२-१३), अर्थात् किसी नाट्य प्रबन्धके किसी प्रकरणमें 'अन्त प्रकरण' (जैसे कि नाटकके किसी अंकमें गर्भांक) ऐसा लगता है जैसे वह समस्त रूपकका प्राणभूत रूपक हो। अन्त प्रकरणकी योजना उसी रूपक-प्रबन्धमें सम्भव है, जिसमें नाटककारकी कला स्फूर्तिशीलतासे भरी रहा करती है। रूपक-प्रबन्धके किसी अंकमें विन्यस्त गर्भांकके प्रदर्शनमें रूपकके प्रधान नट तो सामाजिक बन जाते हैं और अन्य नट अभिनय किया करते हैं। इस दृश्यके दर्शनसे नाटकके सामाजिकोंको एक अद्भुत आनन्दका अनुभव हुआ करता है। अन्त प्रकरणकी योजनासे प्रकरणवक्रताके उदाहरणरूपमें राजशेखर-रचित 'बालरामायण'के चतुर्थ अंकका 'गर्भांक' लिया जा सकता है।

प्रकरणवक्रताका अन्तिम, किन्तु एक प्रमुख नियामक वह है जिसे **सन्ध्यंगविनिवेश** कहा जाता है—'मुखादिसन्धिसन्ध्यंगसंविधानकबन्धुरम्। पूर्वोत्तरादिसंगत्या भगाना विनिवेशनम्। वक्रतोल्लेखलावण्यमुल्लासयति नूतनम्।' (व० जी० ४. १४-१५)। अर्थात् काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धकी प्रकरणवक्रतामें सन्धि-सन्ध्यंग-योजनाकी देन अनुपम हुआ करती है। पूर्ववर्ती प्रकरण उत्तरवर्ती प्रकरणके रसभावको समुल्लसित करते चलते हैं और काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धमें सर्वत्र ऐसी रसोचित संगति दिखाई देने लगती है, जिसमें सहृदय सामाजिक अपने रसानुभवका युक्तियुक्त विश्लेषण कर सकता है।

प्रकरणवक्रताके सन्दर्भमें यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रबन्ध-निर्माण-निपुण कवि या नाटककारकी प्रबन्धकला ही प्रकरणके वैचित्र्य और सौन्दर्य किंवा औचित्य और चमत्कारकी जननी है। प्रकरण-सौन्दर्य वह तरंग है, जिसे प्रबन्ध सौन्दर्यके सागरमें क्रीडा करते देखा जा सकता है। —स० प्र० सिं०

प्रकरणरसवक्रता—दे०—'प्रकरणवक्रता', छठा नियामक।

प्रकरणांतरवक्रता—दे०—'प्रकरणवक्रता', आठवाँ नियामक।

प्रकरणिका—प्रकरणकी सजातीया है। इसमें नायक व्यापारी होता है, नायिका उसकी अपनी सजातीया होती है। शेष बातें प्रकरणके समान होती हैं। उदाहरण प्राप्य नहीं है। —वि० रा०

प्रकरी—प्रासंगिक कथाके दो भेद होते हैं—**पताका** और प्रकरी। प्रकरी उन छोटी-छोटी कथाओंको कहते हैं जो समय-समयपर उपस्थित होकर मुख्य कथाकी सहायता कर समाप्त हो जाती है। प्रकरीका वृत्त अत्यधिक संकुचित होता है, यह एक ही प्रदेशतक सीमित रहती है, जैसे 'प्रसाद'के 'चन्द्रगुप्त' नाटकमें चन्द्रगुप्त और दाण्डायनका मिलन। —व० सिं०

प्रकाशितविरुद्ध—दे०—'अर्थ दोष', पन्द्रहवाँ।

प्रकृतिवाद—ग्रीसके प्रारम्भिक हेलोजोइस्ट (hylogoisi) दार्शनिकोंके अनुसार प्रकृतिका अर्थ अस्तित्वमात्र था। सोफिस्टों (sophists)ने प्रकृतिको विश्वसर्जनके रूपमें ग्रहण किया है और प्राकृतिकको मौलिक स्वीकार किया है, जिसके विपरीत मनुष्यकृत माना जा सकता है। आगेके युगमें प्लेटो और ईसाई धर्मके प्रभावसे प्रकृति वस्तुके रूपमें स्वीकृत हुई और प्रकृतिवाद भौतिकवादका समानार्थी माना गया। यूरोपके पुनरुत्थान-युगके दार्शनिकों, विचारकों तथा कवियोंने पुन प्रकृतिको अति प्राचीन ग्रीक अर्थमें सर्वव्यापक सर्जन-शक्तिके रूपमें प्रतिष्ठित किया है। परन्तु दार्शनिक पद्धतियोंमें इस विचार और भावनाको कई रूपोंमें स्वीकृति होनेपर भी इस नामको प्रतिष्ठा नहीं मिली है। इन्होंने प्रेरणाका कार्य किया है और वास्तवमें प्रकृतिवादकी स्वीकृति १८वीं तथा १९वीं शतीके अँग्रेजी, अमेरिकन तथा यूरोपियन कवियोंमें रही है। उन्होंने प्रकृतिका मानवीकरण किया, उसको सचेतन रूप दिया है। इन प्रकृतिके कवियोंने उसे केवल एक विशिष्ट स्तुतिके रूपमें नहीं माना, वरन् एक ऐसे मौलिक सत्य (सिद्धान्त)के रूप में ग्रहण किया है, जो सर्जनमें परिव्याप्त है। उन्होंने बाह्य प्रकृतिमें सौन्दर्यके विविध रूपोंके साथ विश्वके नियम और व्यवस्थाके दर्शन किये। एक ओर इन विविध सौन्दर्यरूपोंसे सौन्दर्यानुभूतिका आनन्द प्राप्त हुआ और दूसरी ओर इन्हींसे ऐक्य तथा नियमकी दार्शनिक भावनाको भी प्रेरणा मिली।

इस प्रकृतिवादका सम्बन्ध रोमासिक भावधारासे घनिष्ठ रहा है। (प्राकृतवादी जीवन क्रमको सर्वाधिक महत्त्व देनेवाले साहित्यकारोंको प्राकृतवादी (naturalist) कहा जाता है; (दे०—'प्राकृतवाद') यही कारण है कि इन कवियोंके प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोणमें भी मुक्तिकी भावना अन्तर्निहित है। प्रारम्भमें रूढिवादी धर्मके विरोधकी भावना अवश्य थी। आध्यात्मिक धर्म-विश्वासोंके स्थानपर इनका आग्रह प्रकृतिपर विश्वास करनेकी ओर था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ये धार्मिक भावनासे हीन थे। वस्तुत इनकी दृष्टिमें प्रकृति सामान्यत मानवके प्रति दयालु, सहानुभूतिशील है। कुछके अनुसार इसमें किसी शीलवान् तथा बुद्धिमान्

देवताका आभास भी मिलता है। वास्तवमें ये दोनों भाव-धाराएँ एक-दूसरीसे प्रभावित तथा एक-दूसरीमें समन्वित हुई हैं। इस धार्मिक भावनाके कारण ही रोमांसिक कवियोंके प्रकृतिवादमें रहस्यवादका रूप भी विकसित हुआ। अँग्रेजी रोमांसिक कवियोंमें इस प्रकृतिवादका स्पष्ट रूप पाया जाता है। वर्ड्सवर्थ (१७७०-१८५० ई०), शेली (१७९२-१८२२ ई०) तथा जर्मन कवि गेटे (१७४९-१८३२ ई०) आदि प्रकृतिवादी हैं, जो प्रकृतिके सौन्दर्यमें अनन्त जीवन और सर्जनके स्फुरणका अनुभव करते हैं। वर्ड्सवर्थने प्रारम्भमें तो प्रकृतिको मानव-जीवनका एकमात्र प्रेरणा-स्रोत माना है। वह मानव लिए शिक्षक है और निर्देशक भी, उसके सामीप्यमें ही मानव कल्याणशील है। परन्तु क्रमशः वर्ड्सवर्थने प्रकृतिके अन्तरालमें किसी व्यापक नियन्तृ-शक्तिका आभास पाया है। शेलीके प्रकृति सम्बन्धी सौन्दर्य-बोधमें यह आभास सदा ही मिलता है। शेलीकी प्रकृतिमें सौन्दर्यके साथ एक व्याप्त शक्ति और गति भी है, जो उसकी आन्तरिक शक्तिका ही प्रतीक है। गेटेकी प्रकृतिमें विराट् तत्त्व सन्निहित है। इसके बाद कॉलरिज (१७७२-१८३४), इमर्सन (१८०३-८२) तथा ह्विटमैन (१८१९-९२ ई०)के प्रकृतिवादमें एक परात्पर (transcendental) सत्यका आरोप किया गया है और इस प्रकार इनमें धार्मिक भावनाकी प्रेरणा भी विशेष रूपसे पायी जाती है। इनके लिए प्रकृति उस आध्यात्मिक सत्यका माध्यम अथवा अभिव्यक्तीकरण है। विक्टोरियन युगतक प्रकृतिके सम्बन्धमें दृष्टिकोण बहुत कुछ बदल चुका था। विकासवाद और विज्ञानवादके प्रभावसे प्रकृतिका वह आकर्षण और सचेतनता अर्थहीन हो चली थी। मैथ्यू आर्नाल्ट (१८२२-८८ ई०) तथा टेनिसन (१८०९-९२ ई०)में प्रकृति बहुत-कुछ मानव-जीवनकी पृष्ठभूमि अथवा घटनास्थली-के रूपमें अंकित है, जो मानव-जीवनके प्रति निरपेक्ष और उदासीन भी हो सकती है। फिर भी इस युगमें, विशेषकर ब्राउनिंग (१८०६-६१), स्वीनबर्न (१८३७-१९०९) तथा मेरेडिथ (१८२८-१९०९ ई०)में प्रकृतिके प्रति सौन्दर्य सम्बन्धी आकर्षण है। वर्तमान युगके कविके लिए नये सन्दर्भोंमें प्रकृतिका सारा आकर्षण और सौन्दर्य निरर्थक हो गया। वह जीवनकी विशेषताओंकी उलझनोंमें इस प्रकार घिर गया है कि उसके चतुर्दिक् विकर्षक, स्वादहीन और जुगुप्सित ही अधिक है।

भारतीय विचारधारामें वैदिक युग एक ऐसा युग अवश्य माना जा सकता है, जिसमें प्रकृतिवादी भावनाकी एक सीमातक अभिव्यक्ति हुई थी। वैदिक गीतात्मक काव्यमें प्रकृतिका उन्मुक्त वातावरण है और उसके साथ सहज सम्बन्ध भी स्थापित किया गया है। उस युगमें वैदिक कवि प्रकृतिके चतुर्दिक् फैले हुए राशि-राशि सौन्दर्यको विमुग्ध तथा चमत्कृत दृष्टिसे देखता और आनन्द तथा कौतूहलसे विभोर होता था। ऋग्वेदका कवि प्रकृतिके रूपको तन्मय होकर देखता है, प्रकृतिकी गति और क्षण-क्षण बदलनेवाले रूपोंमें किसी व्यापक और नियामक शक्तिका आवाहन करता हुआ उल्लसित होता है। वह प्रकृतिके बिखरे हुए सौन्दर्य और चैतन्यमें अपने जीवनकी अनुरूपता पाता है और उसमें आह्लादके साथ प्राण-प्रतिष्ठा करता है।

परन्तु आगेके युगोंमें प्रकृतिवादको स्थान नहीं मिला। वैदिक भावनामें ब्रह्मकी कल्पनाके साथ ही प्रकृतिका सारा वैभव, आकर्षण तथा दैवत्व विलीन हो गया। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म जीवनके प्रति क्षणवादी तथा निराशावादी है। प्रकृतिका उल्लास और आकर्षण उनकी प्रकृतिके नितान्त विपरीत था। इनकी धार्मिक गाथाओंमें व्यापक करुणा और विरागके साथ प्रकृति आनन्द और उल्लासके विषयके रूपमें यत्र-तत्र अंकित है। कहीं किसी स्थलपर प्रकृतिके साथ भाव-तादात्म्य भी मिलता है। परन्तु उनकी वैराग्य-भावनामें प्रकृतिका सारा सौन्दर्य क्षणिक है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्यमें प्रकृतिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु इन कवियोंके लिए प्रकृतिका स्थान ब्रह्म कल्पना तथा मानव-भावनाके नादका है। संस्कृत महाकाव्योंमें प्रकृतिके कोमल तथा विशद सौन्दर्यका व्यापक चित्रण मिलता है, विशेषकर कालिदास, बाण, भवभूति और प्राकृत कवि प्रवरसेनमें प्रकृति-सौन्दर्यके नाना रूप विस्तृत योजनाके साथ अंकित हैं। कालिदासके महाकाव्यों, नाटकों तथा 'मेघदूत'में प्रकृतिके प्रति अनन्त सहानुभूति तथा आत्मीयताके दर्शन होते हैं। प्रकृतिके प्रति मानवीय तथा पारिवारिक आत्मीयताका भाव भारतीय काव्यकी विशेषता है। कालिदासके 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' तथा भवभूतिके 'उत्तररामचरित'में प्रकृतिका यह कोमल तथा करुण रूप अभिव्यक्त हुआ है। बाणकी 'कादम्बरी'-में प्रकृतिके सौन्दर्यके बहुत चित्रमय और विविध रूप वर्णित हैं, ऐसे रूप-रंगका अंकन अन्यत्र कम ही मिलेगा। प्रवर-सेनके 'सेतुबन्ध'में प्रकृतिकी कल्पनाका विराट् वैभव मिलता है। बादके महाकाव्यों—माघके 'शिशुपाल-वध', भारविके 'किरातार्जुनीय' तथा श्रीहर्षके 'नैषध' आदिमें प्रकृतिका अंकन रूढ़िवादी होता गया है। संस्कृत साहित्यमें प्रकृतिके इतने विशिष्ट स्थानके होनेपर भी संस्कृत कविके लिए प्रकृतिवादी दृष्टिकोणका महत्त्व नहीं है। प्रकृति उसके लिए कोई प्रेरणा अथवा सन्देशका स्रोत नहीं है। कालिदास तथा भवभूतिको व्यापक अनुभूति तथा आत्मीयताके कारण प्रकृतिवादी दृष्टिकोणके निकट माना जा सकता है। इसी प्रकार बाण तथा प्रवरसेन आदिको उनके सौन्दर्यबोधके कारण प्रकृतिवादके निकट देखा जा सकता है।

हिन्दी साहित्यके मध्ययुगमें प्रकृतिका स्थान काव्यमें अत्यन्त गौण रहा है। भक्ति काव्यमें ब्रह्म तथा प्रभुकी भावनाके अन्तर्गत प्रकृति केवल माया या उसकी अभिव्यक्ति-के रूपमें ग्रहण की गयी है। रीतिकालके काव्यमें प्रकृति केवल मानवीय भावनाओंको उद्दीप्त करनेके लिए प्रयुक्त हुई है। संस्कृतके काव्य तथा काव्य शास्त्र, दोनोंमें प्रकृतिको उद्दीपनरूपमें माना गया था और हिन्दीमें यही दृष्टिकोण मध्ययुगमें व्यापक रूपमें स्वीकृत रहा। वस्तुत प्रकृतिवादी सौन्दर्योपासना और सगुणवादी रूपोपासनाके दृष्टिकोणमें मौलिक अन्तर है। भारतीय भक्ति-युगके साहित्यमें भगवान्-की प्रत्यक्ष भावनाके कारण प्रकृतिवादको स्थान नहीं मिल सका। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकृतिका सौन्दर्य-भाव आध्यात्मिक प्रेरणाका किसी रूपमें विषय नहीं बना। प्रकृतिका राशि-राशि विकीर्ण सौन्दर्य भक्तोंकी भावनाका आलम्बन हुआ है। पर यह समस्त सौन्दर्य उनके आराध्यके

रूप-निर्माणको लेकर ही है। सन्त तथा सूफी प्रेमी साधकोंमें अपने उपास्यके आकारका आग्रह नहीं है। इस कारण उनकी सौन्दर्य-योजनामें प्रकृतिका रूप अरूप तथा अतिप्राकृतकी ओर झुका हुआ है। लेकिन सगुण भक्तोंकी रूपभावनामें प्रकृतिके सौन्दर्यका मूर्त रूप ही प्रत्यक्ष होकर सामने आया है। प्रकृतिवादी तथा वैष्णव सौन्दर्योपासनामें एक प्रकारकी अनुरूपता मिलती है, जो समानान्तर होकर भी प्रतिकूल दिशामें चलती है। प्रकृतिवादी कवि प्रकृतिके फैले हुए सौन्दर्यके प्रति सचेष्ट और आकर्षित होकर उसकी क्रियाशीलतापर मुग्ध होता है। उसके माध्यमसे किसी अज्ञात सत्ताकी ओर वह अग्रसर होकर उसकी सहानुभूति प्राप्त करता है। वैष्णव भक्तके लिए यही अज्ञात ज्ञात है, परिचित है। उसका साक्षात् उसके लिए पूर्वनिश्चित है। वह अपने आराध्यके व्यक्तित्व आकारमें जिस सौन्दर्यका अनन्त दर्शन पाता है, उसमें प्रकृतिका सारा सौन्दर्य अपने-आप प्रत्यक्ष हो उठता है। उसके रूप-सौन्दर्यके विभिन्न रूप प्रकृतिवादी भावनाके समान स्थिर, सचेतन और सप्राण, अनन्त और अलौकिक रूपोंसे सम्बन्धित हैं। प्रकृतिवादी दृष्टिकी तुलना रूप सौन्दर्यतक ही सीमित नहीं है, वरन् प्रकृति-चित्रणमें प्रतिबिम्बित आह्लाद और उल्लासकी भावनामें भी देखी जा सकती है। प्रकृतिवादी रहस्यवादी प्रकृतिके सचेतन-सप्राण सौन्दर्यमें एक ऐसा सम प्राप्त करता है जो तर्कसे परे होकर आन्तरिक आनन्दका कारण बन जाता है। इसीके विपरीत वैष्णव भक्त कवि अपने आराध्यकी प्रत्यक्ष सौन्दर्य-भावनामें ऐसा सम स्थापित करता है कि उस क्षण प्रकृति भी आनन्द-भावनासे उल्लसित हो उठती है।

आधुनिक कालमें भारतेन्दु-युगसे ही रोमासिक भावधाराके दर्शन होने है, जिसका किंचित् विकास द्विवेदी-युगकी मुक्त धाराके कवियोंमें परिलक्षित हुआ है और श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पाण्डेय आदि कवियोंमें प्रकृतिके प्रति एक विशेष आकर्षण तथा सौन्दर्यबोध भी पाया जाता है, जो प्रकृतिवादके निकट है। रामचन्द्र शुक्लने प्रकृतिके आलम्बन-रूपका सबल समर्थन किया और उसको उद्दीपनमात्र मानना संकुचित दृष्टिकोण माना है। उनके अनुसार प्रकृतिका अनन्त सौन्दर्य मानव-मनको परिष्कृत और उदात्त बनाता है। इस प्रकार उनके मतमें एक प्रकारसे प्रकृतिवादका समर्थन है। छायावादी कवियोंमें प्रकृति-सौन्दर्यके प्रति विशेष आकर्षण है। 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' तथा महादेवी, सभीके काव्यमें प्रकृतिका सौन्दर्य अनेक रूपोंमें व्यंजित हुआ है। परन्तु पन्तको छोड़कर अन्योंमें प्रकृतिपर प्राय मानवीय भावनाओंका, जीवनका और उसकी मधु-क्रीडाओंका आरोप पाया जाता है। पन्तको अवश्य प्रकृतिके सहज सौन्दर्यने विशेष रूपसे आकर्षित किया है। उनकी प्रकृतिका अपना जीवन है, अपनी चेतना है। वह मानव-सहचरीके रूपमें भी अंकित की गयी है। उसमें अनन्त प्रेरणाएँ भी है। परन्तु पन्तकी प्रथम युगकी कविताओंमें ही प्रकृतिका सहज सौन्दर्यस्फुरण मिलता है। बादमें पन्त भी प्रकृतिवादके प्रभावसे मुक्त हो गये है और उनमें भिन्न प्रकारका जीवन-दर्शन विकसित हो गया है। नयी कवितामें प्रकृतिको जो यथार्थ तथा प्रभाववादी रूप मिला, उसमें आजके युगके मनुष्यकी संवेदनाओंकी उलझनें ही अधिक हैं, प्रकृतिका स्वतन्त्र और मुक्त रूप नहीं।

[सहायक ग्रन्थ—(१) दि कानसेप्ट ऑफ नेचर इन नाइनटीन्थ सेनचुरी इंगलिश पोइट्री · जॉसेफ वारेन बीच, (२) नेचुरलिज्म इन इंगलिश पोइट्री · स्टफोर्ड ए० ब्रुक्स, (३) प्रकृति और काव्य रघुवंश।] —र०

प्रकृतिविपर्यय–दे०—'रस-दोष', नवाँ।

प्रकृतिविरोध–दे०—'वर्णन-दोष', पहला।

प्रख्यात वस्तु–इतिवृत्तके मूलके विचारसे नाटककी वस्तुके तीन भेद किये जाते हैं–प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र। प्रख्यात वस्तु इतिहास, पुराणादिसे ग्रहण की जाती है। जयशंकर 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', लक्ष्मीनारायण मिश्रके 'वितस्ताकी लहरें', प्रेमीके 'रक्षाबन्धन' आदिकी वस्तु इतिहाससे ली गयी है। 'प्रसाद'के 'जनमेजयका नाग यज्ञ', उदयशंकर भट्टके 'अम्बा'की वस्तु 'महाभारत'से गृहीत है।

प्रख्यात इतिवृत्तको कवि या नाटककार ज्योंका त्यों नहीं ग्रहण कर सकता। इस प्रख्यात वस्तुपर भी कवि या नाटककार अपनी कल्पनाका रंग चढ़ा देता है, पर वह रंग ऐसा होना चाहिये कि मूलभूत कथा या वृत्तकी वास्तविकता लुप्त या विकृत न हो जाय।

'प्रसाद'ने अपने ऐतिहासिक नाटकोंमें कल्पनाका जो पुट दिया है उससे ऐतिहासिक इतिवृत्तमें कोई विकार नहीं उत्पन्न हो पाया है, पर उससे नाटकीय अन्वितिमें पूर्णता आ गयी है। संस्कृत नाटककारोंने नायकके धीरोदात्तत्वकी रक्षाके निमित्त नयी परिस्थितियोंकी कल्पना कर ली है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल'में दुर्वासाके शापकी कल्पना ऐसी ही है। भवभूतिके 'महावीरचरित'में वालि-वधकी घटनामें थोड़ा हेर फेर कर दिया गया है। रामने वालिका छलसे वध किया, यह प्रख्यात वृत्त है। पर यह रसके औचित्य तथा रामके औदात्यके अनुकूल नहीं है। अत भवभूतिकी कल्पनाके अनुसार वालि रामसे लड़ने आया और मारा गया। 'प्रसाद'के ऐतिहासिक इतिवृत्तमें कल्पनाका जो पुट दिखाई पड़ता है वह या तो बिखरे हुए वृत्तसूत्रोंको एकान्वित करनेके लिए हुआ है अथवा पात्रोंके शील-निरूपणके लिए। ऐसा करनेके लिए उन्हें अनेक अनैतिहासिक पात्रों तथा घटनाओंकी सृष्टि करनी पड़ी है। 'स्कन्दगुप्त'के शर्वनाग, चक्रपालित और मातृगुप्तके नाटकीय व्यापार सर्वथा इतिहाससम्मत नहीं हैं, पर नाटकीय प्रवाह और अन्वितिके रक्षार्थ वैसा कल्पित कर लिया गया है। किन्तु इससे इतिहासके मूल वृत्तमें किसी तरह विक्षेप नहीं आ पाया है। विजया, देवसेना आदि कल्पित पात्रोंका सर्जन स्कन्दगुप्तके शील-निरूपणके लिए हुआ है।—व०सिं०

प्रगति युग–प्रगति अँग्रेजीके 'प्रोग्रेस'का रूपान्तर है। प्रोग्रेसका अर्थ होता है आगे बढ़ना, एक ऐसा परिवर्तन लाना जो किसी वस्तु, गुण या परिमाणमें वृद्धि ला सके। निश्चय ही साहित्यमें यह शब्द हमारे जीवनसे सम्बद्ध होकर प्रयुक्त हुआ है।

जीवनके प्रति दृष्टिकोण बदलते ही साहित्यके क्षेत्रमें नया आन्दोलन खड़ा होता है। छायावादकालतक हिन्दीके

साहित्यकारका दृष्टिकोण भावात्मक था। वैसे छायावादने भी परम्पराके प्रति विद्रोह किया, किन्तु छायावादियोंका यह विद्रोह प्राय वैयक्तिक स्तरतक ही उठ सका। छायावादके प्रतिक्रियास्वरूप प्रगतिवादी आन्दोलनकी आवश्यकता हुई।

१७वीं शताब्दीके बादसे होनेवाली वैज्ञानिक उन्नति चिन्तनको धीरे-धीरे बदल रही थी। मनुष्यका अन्धविश्वास टूटने लगा था और तर्कपर उसकी आस्था बढ़ रही थी। फलत आदमीके मनमें यह बात बैठ गयी थी कि प्रगतिके लिए, आगे बढनेके लिए, कठिनाइयों और मुसीबतोंसे होड लेनेके लिए मनुष्यको किसी अतिमानव या अलौकिक शक्तिकी आवश्यकता नहीं। सामाजिक वैषम्य प्राकृतिक विधान नहीं, बल्कि यह मनुष्य द्वारा निर्मित है। कार्ल मार्क्सने यह घोषित किया कि मनुष्य सर्वोपरि है और यह विश्व ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं है। इन विचारोंके फलस्वरूप **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद**की प्रतिष्ठा हुई। विज्ञान युगका नेतृत्व करने लगा। नूतन समाजकी कल्पना स्पष्ट हो उठी। इस कल्पनामें ईश्वर और शैतान, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, कुछ भी शेष नहीं रहे, दुनिया खुशहाल हो गयी, सबको समान अवसर मिलने लगा। कोई वर्ग नहीं, कोई धर्म नहीं। सब समान और बराबर हो गये। दुनिया व्यक्तिके लिए नहीं रही, बल्कि दुनियामें व्यक्तिका समाहार हो गया।

स्पष्ट है, इन्हीं स्वप्नोंने साहित्यके क्षेत्रमें लोकचेता साहित्यकारोंको प्रेरित किया। भारतमें मेरठ-षट्यन्त्र केसके बाद ही रूसकी वर्गहीन सामाजिक व्यवस्था आकर्षणका केन्द्र बन गयी। मजदूरोंमें सघटनका भाव भरने लगा। ट्रेड यूनियनोंकी जड़ें जमने लगीं। सन् १९३४के लगभग भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी तथा समाजवादी दलकी स्थापना हुई। इस युगकी परिस्थितियाँ अधिक यथार्थ और समस्याएँ अधिक रुक्ष होकर हमारे सामने आयीं। छायावाद हमारी नयी समस्याओं और परिस्थितियोंके प्रति सवेदनशील नहीं हो सका। फलत सन् १९३६ ई० में मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीरके उद्योगसे 'भारतीय प्रगतिशील लेखक-संघ'की स्थापना हुई। इसके पहले अभिवेशनके सभापति प्रेमचन्द हुए, दूसरेके रवीन्द्रनाथ ठाकुर। यहींसे प्रगतियुगका क्षीण प्रारम्भ माना जा सकता है। 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसियेशन' एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था है और इसीसे सम्बद्ध भारतवर्षमें यह अधिवेशन हुआ। १९३५ में इस सस्थाका पहला अधिवेशन ई० एम० फार्स्टरके सभापतित्वमें हो चुका था। 'जोश' मलीहाबादी तथा सरदार जाफरीने भी इस आन्दोलनका साथ दिया। शिवदान सिंह चौहानने सन् १९३७ के मार्चके 'विशाल भारत'में 'भारतमें प्रगतिशील साहित्यकी आवश्यकता' लेख लिखा, जिसमें हिन्दी कवियों एव लेखकोंको उन्होंने ललकारा—'हमारा सहित्यिक नारा कला कलाके लिए नहीं, वरन् कला ससारको बदलनेके लिए है। इस नारेको बुलन्द करना प्रत्येक प्रगतिशील साहित्यिकका फर्ज है।'

अब छायावादियोंके पैर डगमगाये। सामने कई सैद्धान्तिक प्रश्न आ खडे हुए। साहित्य किसलिए? स्वयके लिए अथवा दूसरोंके लिए? साहित्यका अन्तिम प्रयोजन क्या है—आत्मतुष्टि या समाज-कल्याण? साहित्यकी श्रेष्ठताका मापदण्ड क्या है? स्वयं साहित्यकारकी उपलब्धि क्या है? इन प्रश्नोंने छायावादी कवियोंको आत्म-अन्वेषणके लिए बाध्य किया। कहना नहीं होगा कि इस कालमें छायावादी प्रवृत्तियाँ प्राय ह्रासोन्मुखी हो चुकी थीं। इस तथ्यको सबने स्वीकार किया। 'विशाल भारत'में इलाचन्द्र जोशीने 'छायावादका विनाश क्यों हुआ'—शीर्षक लेख लिखा। 'आधुनिक कवि'की भूमिकामें पन्तने लिखा—'छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्यके लिए उपयोगी, नवीन आदर्शोंका प्रकाश, नवीन भावनाका सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारोंका रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलकृत सगीत बन गया था।' इसी प्रकार महादेवीने 'आधुनिक कवि'की भूमिकामें प्रगतिवादियोंको छूट देते हुए उनके साथ एक तरहका समझौता किया—'न वही काव्य हेय है जो अपनी साकारताके लिए केवल स्थूल और व्यक्त जगतपर आश्रित है और न वही, जो अपनी सप्राणताके लिए रहस्यानुभूतिपर।' इतना ही नहीं १९३७ ई० में ही पन्तने लिखा—'गा कोकिल, बरसा पावक कण, नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन' अथवा 'द्रुत झरो जगतके जीर्ण पत्र' (युगान्त)। इधर राष्ट्रीय कविताओंमें भी प्रगतिवादी तत्त्व विद्यमान थे। वर्गकी भावनाकी ओर सकेत करनेवाले बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा 'दिनकर'की कविताएँ सन् १९३२ से ही देशभरमें लोकप्रिय थीं। व्रजभाषामें रामेश्वर करुणके ७०० दोहोंका सकलन 'करुणा सतसई'के नामसे प्रकाशित हो चुका था। ये दोहे रूसी साम्यवादसे प्रभावित थे। इनमें सम्पत्तिपर वैयक्तिक अधिकारको ध्वस करनेकी तेज माँग थी और ये दोहे नये समाज-निर्माणके पक्षपाती थे। इसी समय दिनकर 'रेणुका'के साथ आये। 'रेणुका'का प्रकाशन १९३५ में हुआ। १९३४ में नरेन्द्रका 'शूल-फूल' और १९३६ में 'कर्णफूल' प्रकाशित हुआ। भगवतीचरण वर्माका 'प्रेमसगीत' १९३७ में प्रकाशित हुआ। परन्तु इन काव्य-सग्रहोंमें प्रगतिवादी तत्त्व विद्यमान होते हुए भी, प्रगतिवादी दर्शनका सुस्पष्ट रूप नहीं मिलता। इसीलिए पन्तकी 'युगवाणी'-को खडीबोलीमें प्रथम प्रगतिवादी ग्रन्थ कहलानेका श्रेय मिला।

इन्हीं दिनों द्वितीय महायुद्ध छिड़ा। राष्ट्रीयताकी भावनासे सारा देश जग उठा। स्वातन्त्र्य आन्दोलनने जोर पकड़ा। इधर बंगालमें अकाल आया। आजाद हिन्द फौजके सिपाहियोंपर मुकदमे चलाये गये। विश्व-युद्धमें रूसकी विजय और पराजय, हिटलर और मुसोलिनीकी नृशसता आदिने भारतीयोंको एक विचित्र द्विधामयी स्थितिमें डाल दिया। सन् १९३६-४७के भीतर घटनाएँ बड़ी जल्दी-जल्दी घटीं और ये घटनाएँ ऐसी घटित हुईं कि उनसे कोई भी उदासीन रहकर अलग चिन्तन नहीं कर सकता था।

अस्तु, अनेक कवि प्रगतिवाद-प्रेरित नये जीवन-आदर्शों एव लोक कल्याणके उत्साहसे उत्प्रेरित होकर साहित्य-क्षेत्रमें आये—'निराला', पन्त, 'दिनकर', सुभद्राकुमारी चौहान आदि भी इसी कोटिमें रखे जा सकते हैं, क्योंकि इन्होंने शोषणके विरुद्ध जनताके पक्षमें स्वर बुलन्द किया। आधुनिक

प्रगतिशील कवियोंमें 'सुमन', केदार, गिरिजाकुमार माथुर, नागार्जुन, मुक्तिबोध, भवानीप्रसाद, शमशेर, महेन्द्र भटनागर, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, त्रिलोचन तथा रामविलास शर्मा उल्लेखनीय हैं। छायावादके कई प्रमुख कवियोंने बादमें प्रगतिवादी विचारधाराके साथ सहयोग किया। प्रगतिवादी कथाकारोंमें यशपालका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है।

'सुमन' क्रान्तिकारी हैं। उनके काव्यमें युगचेतना जाग्रत् है और वे विश्वके साथ चलकर समुन्नत होनेकी कामना करते हैं। 'हिल्लोल'में युवा-हृदयकी उत्तेजनाके साथ क्रान्तिके दबे हुए स्वर हैं, जीवनके गानमें कवि वर्तमान परिस्थितियोंसे असन्तुष्ट और क्षुब्ध होकर विद्रोह करता है, 'प्रलय-सृजन'में कवि विप्लवी हो जाता है। सुमनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी है। 'मास्को अब भी दूर है' और 'चली जा रही है बढ़ती लाल सेना', इनकी प्रगतिशील काव्यधाराकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। मानववाद इनका मूल धरातल है और मनुष्यकी जनवादी परम्परामें इनका अखण्ड विश्वास है।

केदारनाथ अग्रवाल छायावादी भाव-भूमिसे विकसित होकर 'युगकी गंगा'तक पहुँचे हैं। 'युगकी गंगा'में इनकी जनवादी आकांक्षाएँ और गुप्त अन्तर्विरोध अभिव्यक्त हुए हैं। इन्होंने जन-जीवनकी कठोरता, संघर्ष, आर्थिक वैषम्य आदिको यथार्थवादी ढंगसे चित्रित किया है। नागार्जुन साम्राज्यवादकी संस्कृतिके विनाशमें विश्वास करते हैं। इनके काव्यमें मजदूरकी संघर्षशील चेतना समुन्नत होकर अभिव्यक्त हुई है।

नरेन्द्र आधुनिक हिन्दी काव्यमें एक शक्ति हैं। समाज सुखके वे स्रष्टा हैं। उनके काव्यमें गहरा यथार्थवाद है। देशकी दरिद्रता, पाखण्ड, शोषण, दुर्दशा और वीभत्सताको उन्होंने स्पष्ट स्वर दिया है।

'अंचल' भारतीय जीवनकी वास्तविक अन्तर्दृष्टि लेकर प्रगतिवादी सिद्धान्तोंको अपनाते हैं। युगोंसे बद्धमूल अस्वस्थ रूढ़िवादी संस्कारोंके विरुद्ध जनवादी विद्रोह उनका मुख्य स्वर है। 'मधूलिका' और 'अपराजिता'में जीवन और क्रान्तिके कुछ ही लक्षण दीख पड़ते हैं, परन्तु 'किरण-वेला'में आकर प्रगतिशील दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। 'करील'की कविताओंमें समष्टिगत चेतना और जनवादी शक्तियाँ अभिव्यक्त हुई हैं। ध्यान रखनेकी बात है कि 'अंचल' मार्क्सवादी सिद्धान्तोंकी ठुकी-पिटी लकीरमें विश्वास नहीं करते। उनकी प्रगतिकी प्रेरणाका केन्द्र मानव है। वे उसीके लिए क्रान्ति चाहते हैं।

प्रगतियुगकी उपलब्धियाँ नवजीवन तथा जागतिके मन्त्र फूँककर हमारी रूढ़िवादी विचारधाराको बदलनेमें हैं। प्रगतिवादने भाषाको निश्चित रूपसे एक नयी दिशा दी है। परन्तु, इतना होते हुए भी, राजनीतिके साथ गठबन्धन होनेके कारण यह सशक्त आन्दोलन विकसित नहीं हो सका। —रा० कु० स०

प्रगतिवाद–प्रगतिवाद **सामाजिक यथार्थवाद**(दे०)के नामपर चलाया गया वह साहित्यिक आन्दोलन है, जिसमें जीवन और यथार्थके वस्तु-सत्यको उत्तर-छायावादकालमें प्रश्रय मिला और जिसने सर्वप्रथम **यथार्थवाद**(दे०)की ओर समस्त साहित्यिक चेतनाको अग्रसर होनेकी प्रेरणा दी। प्रगतिवादका उद्देश्य था साहित्यमें उस सामाजिक यथार्थवादको प्रतिष्ठित करना जो छायावादके पतनोन्मुख कालकी विकृतियोंको नष्ट करके एक नये साहित्य और नये मानवकी स्थापना करे और उस सामाजिक सत्यको, उसके विभिन्न स्तरोंको साहित्यमें प्रतिपादित होनेका अवसर प्रदान करे। वर्ग-संघर्षकी साम्यवादी विचारधारा और उस सन्दर्भमें नये मानव, 'नये हीरो'की कल्पना इस साहित्यका उद्देश्य था। इसकी मूल प्रेरणा **मार्क्सवाद**(दे०)से विकसित हुई थी। इसका उद्देश्य और लक्ष्य जनवादी शक्तियोंको सवटित करके मार्क्सवाद और भौतिक यथार्थवादके आधारपर निर्मित मूल्योंको प्रतिष्ठित करना था। उसकी आत्मा **साम्यवाद**(दे०)में थी, दृष्टि रूसके साहित्यिक इतिहासकी ओर थी, प्रेरणा राजनीतिक मन्तव्यों द्वारा अनुशासित थी और कल्पना प्रोलेतेरियत सत्ताशाहीसे अनुप्राणित थी। उसकी खोज उस नये मानवकी थी, जो समस्त पतनशील प्रवृत्तियोंके विरोधमें उपर्युक्त स्थापनाओंको विकसित करके एक प्रोलेतेरियत शासनसत्ताको उभरनेका अवसर दे। इसकी मूल स्थापना सैद्धान्तिक रूपसे प्रगतिशील थी, इसलिए इस साहित्यिक आन्दोलनको प्रगतिशील आन्दोलनके नामसे भी जाना जाता है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे जिस प्रकारका **आदर्शोन्मुख यथार्थवाद** (दे०) प्रेमचन्दके उपन्यास और अन्य कलाकृतियोंमें विकसित हो रहा था, उसमें काफी अंश उस बौद्धिक जागरूकताका था जो रूसकी क्रान्तिके बादसे समस्त बौद्धिक जनोंके मानसिक स्तरोंको आन्दोलित कर रहा था। १९३६ ई०में प्रेमचन्दके सभापतित्वमें 'प्रगतिशील लेखक संघ'की स्थापना हुई और धीरे-धीरे इसका सम्पूर्ण गठन समस्त देश और विभिन्न भाषा-भाषी प्रान्तोंमें फैलाया गया। प्रारम्भिक कालमें इसके सभी आग्रहोंमें जिस मानव-मुक्ति और मानवताकी बात उठायी गयी थी उसका मेल उस समयकी राष्ट्रीय चेतना एवं यथार्थवादी चेतनाके सन्दर्भमें बड़ा ही प्रभावपूर्ण लगा। किसान, मजदूर, समाजका उपेक्षित वर्ग, पददलित वर्ग चेतना और वर्ग-भावनाके यथार्थने भी लेखकोंको प्रभावित किया। इसने एक ओर छायावादकी पतनोन्मुख प्रवृत्तिका खण्डन किया, दूसरी ओर उस आदर्शोन्मुख यथार्थवादका समर्थन किया, जो प्रेमचन्दके उपन्यासोंमें व्यक्त हो रहा था। एक ओर इसने पतनशील तत्त्वोंके विरोधमें स्वर उठाया और दूसरी ओर उस नियोजित यथार्थवादको प्रतिष्ठित करनेका प्रयास किया, जो मन्तव्यपूर्ण, परिकल्पित साम्यवादके अन्तर्गत था।

स्थापनाओंकी दृष्टिसे प्रगतिवाद मूल रूपसे साम्यवादी विचारधाराकी स्थापना करनेका एक सशक्त माध्यम था। इसकी स्थापनाएँ भी उसीसे अनुप्राणित और स्थापित थीं। मार्क्सवादने जिस प्रकार राजनीतिको प्रभावित करके पाश्चात्य शासन प्रणाली एवं राजनीतिक विचारधाराको प्रभावित किया था उसी प्रगतिवादने साहित्यके क्षेत्रमें साहित्यिक विचारधाराको भी प्रभावित करके उसको एक निश्चित साधन बनानेका प्रयास किया था।

भारतीय जीवनमें प्रगतिवाद अनुभूतियोंके स्तरपर

देश-काल और समसामयिक यथार्थकी अवहेलना ही करता रहा है। इसीलिए उसे वह आत्मशक्ति नहीं मिल सकी जो उसका उद्देश्य था और उसकी सम्पूर्ण भाव-भूमिको सदैव उस मरुस्थलके समान रहना पड़ा जो केवल जलकी मरीचिकाएँ उत्पन्न करता है और स्वय एक यथार्थको स्वीकार करनेमें असमर्थ होता है।

वास्तविक सन्दर्भमें देखनेसे प्रगतिवाद केवल एक अयथार्थवादी भावधारामात्र रह जाता है। यथार्थके प्रति उसका कोई दायित्व नहीं है, क्योंकि वह यथार्थकी सीमित और संकुचित परिधिको ही देखना चाहता है, उसको भी अपने रगीन चश्मेसे। वह यह नहीं चाहता कि जो भी यथार्थवादी दृष्टि विकसित हो, उसमें सामान्य मानवानुभूतियोंकी विविधता हो। वह चाहता है कि सारी विविधताको एकरूपतामें बदलकर प्रस्तुत किया जाय, यह एकरूपता भी ऐसी जिसमें एक साम्प्रदायिक गन्ध हो, एक राजनीतिक मन्तव्य हो, एक ऐसी अनुदार भावस्थिति हो जिसमें दृष्टिको विस्तार न मिलकर परिबद्धता मिले। इसलिए वह भाव एवं विचार-अनुशासन(thought-regimentation)का भी समर्थक है। प्रगतिवादके लिए देश-कालके दायित्वसे भी बढकर पार्टीका नारा है, सकुचित मन्तव्यकी वाह्य अनुशासित अनुभूति है।

किन्तु यह सब होते हुए प्रगतिवादने जो यथार्थोन्मुख दृष्टि उत्तर-छायावादकालमें विकसित की, उसका ऐतिहासिक महत्त्व घटता नहीं। उस समय सारी साहित्यिक चेतना जिस पतनोन्मुख प्रवृत्तिमें घुट रही थी, उसको यथार्थकी दृष्टि देनेका श्रेय प्रगतिवादको है और उस दायित्वका निर्वाह उसने जिस रूपमें भी किया हो, उसको इतना महत्त्व तो देना ही पड़ेगा कि उसने समस्त चेतनाको एक बार झकझोरनेका प्रयास किया, प्रयास भी ऐसा कि जिसने समस्त संकीर्णताओंके बाद भी वस्तुस्थितिका परिचय कराया, उसे समझनेकी दिशा दी।

[सहायक ग्रन्थ–(१) प्रगतिशील साहित्यके मानदण्ड: रांगेय राघव, (२) प्रगतिवाद—एक समीक्षा: धर्मवीर भारती]

—ल० का० व०

प्रगतिवादी आलोचना-प्रणाली—अँग्रेजीमें मार्क्सिस्ट तथा प्रोग्रेसिव और हिन्दीमें मार्क्सवादी, प्रगतिवादी या द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी। प्रवर्तक जर्मन दार्शनिक कार्ल मार्क्स। साहित्यमें इस वादका प्रवेश १९३० ई० के लगभग आरम्भ हुआ है। साहित्यके गतिशील तथा ऐतिहासिक सम्बन्धको उद्घाटित करते हुए सचेतन रूपमें समाजको बदलनेवाले साहित्यकी सृष्टिकी ओर ध्यान आकर्षित करानेवाली समाज-शास्त्रीय आलोचना ही मार्क्सवादी दार्शनिक आलोचना है। मार्क्सके जीवन-दर्शनके आधारपर ही इसकी रचना हुई है। उनके दर्शनको द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं। इसका उद्देश्य तर्ककी द्वन्द्वात्मक प्रणालीसे जगत्के वास्तविक सत्यका ज्ञान प्राप्त करना है। मार्क्स वस्तुको चरम सत्य तथा बुद्धि, विचार अथवा आत्माको उसका प्रतिविम्बमात्र मानते हैं। इस दर्शनके अनुसार जगत्की सभी वस्तुएँ अन्योन्याश्रित, अत परस्पर अविच्छिन्न हैं। यह जगत् परिवर्तनशील है। जागतिक सभी वस्तुओंमें स्वत उपस्थित विरोधी तत्त्वोंका सघर्ष भी सतत वर्तमान रहता है। वस्तुमें ही उसके विनाशके तत्त्व भी निहित हैं, अत वह विकासशील तथा मरणशील, दोनों प्रकारकी है। वस्तुका परिवर्तन सदैव उन्नतिके लिए होता है। इस प्रकार प्रत्येक परवर्ती वस्तु पहलीसे अधिक प्रौढ और विकसित होती है। विरोधजनित सघर्ष ही विकास है, परिवर्तन क्रान्ति है। वस्तुका विकास पहली स्थितिका विनाश करके नये रूपमें होता है। इस आधारपर समाजके ऐतिहासिक विकास एवं व्यक्तियोंके पारस्परिक या व्यक्ति और समाजके सम्बन्धोंका अध्ययन ही ऐतिहासिक भौतिकवादकी संज्ञा पाता है। भौतिक परिस्थितियाँ ही समाज और व्यक्तिगत चेतनाका निर्माण करती हैं। अतएव जीवनके साथ परिवर्तमान भौतिक मूल्योंके आधारपर ही साहित्यमें अभिव्यक्त काल-विशेषकी चेतनाका मूल्याकन किया जाना चाहिये, यही इस प्रणालीका सिद्धान्त है। भौतिक जीवन तथा मूल्योंमें जीविकोपार्जनके प्रकार तथा उत्पादनकी पद्धतिके सर्वप्रधान होनेके कारण अर्थ ही वास्तविक मापदण्ड ठहरता है। वही व्यक्तिके पारस्परिक सम्बन्धों, आचारशास्त्र आदिको प्रभावित करके व्यक्तिको वर्गोंमें विभाजित कर देता है। फलस्वरूप साहित्य भी वर्गगत रूपमें उपस्थित होता है। ये वर्ग दो हैं—शोषक और शोषित। अर्थ और उत्पादनका स्वामी शोषक वर्ग अपनी स्वार्थसिद्धिमें तत्पर रहता है और अर्थ-नीतिसे प्रभावित रहनेके कारण तत्कालीन साहित्य भी उसी वर्गका निर्मित हुआ करता है। वर्गहीन साहित्यकी रचना केवल वर्गहीन समाजमें ही सम्भव है। अत मार्क्सवादी सामूहिक भावकी अभिव्यक्तिको ही साहित्यिकका लक्ष्य बताता है। उसके विचारसे चिरस्थायी साहित्यका वर्ण्य विषय सामाजिक तथा सामूहिक होना चाहिये। वह साहित्यमें मानवसापेक्ष चित्रणको ही उचित मानता है और केवल सुन्दर पक्षका उद्घाटन लेखककी पूँजीवादी प्रवृत्तिका द्योतक माना जाता है। आनन्द काव्यका लक्ष्य नहीं, अपितु साधनमात्र माना जाता है। क्रान्ति तथा नवीन रचनाके लिए उत्साहित करना ही काव्यका उद्देश्य है। साहित्यको, मार्क्सवादीके अनुसार, ज्ञानका पथ-प्रदर्शक होना चाहिये, केवल रसावह नहीं। इसी प्रकार शैलीकी ऊहात्मकता या चमत्कारप्रधानता एवं भाषाकी कोमलता-अलंकारिकता भी मार्क्सवादी समीक्षामें सामाजिक ह्रासका चिह्न स्वीकार की जाती है। भारतमें इस प्रणालीकी स्थापना सन् १९३६ में मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहीरके प्रयत्नसे प्रेमचन्दके सभापतित्वमें 'प्रगतिशील लेखक-सघ'की स्थापनाके साथ हुई। हिन्दी आलोचकोंमें शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, अमृतराय तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त इस शैलीके वर्तमान समर्थक हैं। इग्लैण्डमें हर्बर्ट रीड, सी० डे० लेविस, स्टीफेन स्पेण्डर और अमेरिकामें वी० एफ० कालवर्टन, ग्रैन्विल हिक्स, माइकेल गोल्ड, जोजफ फ्रीमैन, बर्नार्ड स्मिथ आदि विचारक इसी प्रणालीके समर्थक रहे हैं। (दे०—'सामाजिक यथार्थवाद', 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद')

—आ० प्र० दी०

प्रगल्भता–दे०—'अयत्नज अलंकार', पाँचवाँ प्रकार।

प्रगीतकाव्य–दे०—'गीतिकाव्य'।

प्रणयगीति–दे०–'भावगीति'।

प्रतिकूल वर्ण–दे०–'शब्द-दोष', पहला 'वाक्य-दोष'।

प्रतिक्रांति (counter revolution)–क्रान्तिके बढ़ने चरणको रोकनेके लिए जिन शक्तियोंका प्रयोग किया जाता है उन शक्तियोंका सामूहिक स्वरूप ही प्रतिक्रान्ति है। अत प्रतिक्रान्ति वह प्रवृत्ति है, वह नयी शक्ति है, जो कई शक्तियोंके सयोगसे बनता है। किन्तु जब ये शक्तियाँ मिल-जुलकर कार्य करती हैं तो उनका स्वरूप गुणात्मकरूपमें परिवर्तित हो जाता है। प्रतिक्रान्ति उन्हीं वर्गो द्वारा की जाती है जिनका अस्तित्व समाजकी सीढ़ियाँ हैं।–रा० कु० त्रि०

प्रतिक्रियावादी (reactionary)–यह शब्द भी प्रतिक्रान्तिकी तरह क्रान्ति और प्रगतिका विरोधी है। इसकी भी प्रवृत्ति विकासोन्मुख नहीं है और यह भी पुरानी रूढ़ियों, रीतियों, परम्पराओं और विचारोंकी स्थापनाका समर्थक है। —रा० कु० त्रि०

प्रतिध्वनि–भरतका प्रसिद्ध रससूत्र 'विभावानुभाव-सचारियोगाद्रसनिष्पत्ति·' (=विभाव, अनुभाव, सचारी भावोंके योगसे रसकी निष्पत्ति होती है), ऐसी अवस्थाकी कल्पना करता है जिसमे शरीर और चित्त, दोनों ही विकारको प्राप्त होकर रसकी सृष्टि करते हैं। वस्तुत· स्थायी भावके उदबोधनके समय चित्तमें अनेक छोटे-मोटे भावोंका सचरण तथा शरीरमें तज्जन्य विविध प्रकारकी चेष्टाओंका उदय रसनिष्पत्ति और रसानुभूतिको तीव्र करनेमें अप्रतिम सहायक सिद्ध होता है। इस चित्त और शरीरकी रसोद्रेक–प्रक्रियामें सहकारिताको सौन्दर्यात्मक प्रतिध्वनि (asthetic resonance) अथवा अनुरणनात्मक ध्वनि कहते हैं। —ह० ना०

प्रतिबिंबकल्प–दे०–'काव्यहरण', 'अर्थ-हरण'का भेद।

प्रतिभा–मनुष्यकी नवोन्मेषशालिनी शक्तिको प्रतिभा कहते हैं। 'पूर्व' अनुभवके आधारपर 'अपूर्व'का सर्जन करना नवोन्मेष है। कलाके क्षेत्रमें इस प्रतिभाके द्वारा 'सुन्दर' वस्तुका आविष्कार किया जाता है। 'नवीनता' सौन्दर्यानुभूतिका एक तत्त्व है, अतएव सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिभाका एक लक्षण 'नवोन्मेषशीलता' है। किन्तु सौन्दर्य-की नवीनता 'अक्षय' और 'नित्य' और क्षण-क्षणमें 'वर्द्धनशील' होनी चाहिये। यह उसी समय सम्भव है जब सुन्दर वस्तु जीवनके क्षणिक, परिमित और परिचित अशको व्यक्त न करके इसी सनातन वेदना और रसिका, इसकी अनन्त और अपरिमित शक्तियोंका तथा अपरिचित और अज्ञेय, किन्तु ज्ञान और भावनाके प्रबल केन्द्रका प्रतीकों द्वारा उद्घाटन करे। अतएव प्रतिभाका कार्य ससीमके द्वारा असीम-की, परिमित और प्रत्यक्षके द्वारा अपरिमित और परोक्षकी तथा ज्ञेयके द्वारा अज्ञेयकी अभिव्यक्ति करना है। अलौकिक और आनन्दमयी अभिव्यजना प्रतिभाका मुख्य कार्य है। कलामें सुन्दर वस्तु किसी बाह्य पदार्थकी प्रतिच्छाया नहीं होती, अपितु यह कलाकारके मानसिक और आध्यात्मिक अनुभवोंकी व्यवस्थाको, उसके जीवनकी वेदना, शालीनता, गम्भीरता तथा उसकी कल्पनाके स्वातन्त्र्य, शक्ति और उज्ज्वलताको अनुभवमें आनेवाले साधारण उपकरणों द्वारा व्यक्त करती है। 'अनुभूति'को 'पार्थिव','आध्यात्मिक'-को 'भौतिक', 'आन्तरिक'को 'बाह्य' रूप देना प्रतिभाका कर्तव्य है। प्रकृतिने शब्द, ध्वनि, रंग, रेखा, पत्थर, लकड़ी आदि अनेक द्रव्य प्रदान किये हैं, जिनकी आध्यात्मिकता प्रकट नहीं होती। प्रतिभा इन द्रव्योंको अपनी अनुभूतियोंका माध्यम बनाती है जिससे इन पदार्थोंमें दया, प्रेम, ओज, शालीनता, आत्म-विजय, उल्लास, लज्जा आदि ही नहीं, वरन् इनसे भी अधिक गम्भीर अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष हो उठती हैं। इस प्रकार वह सौन्दर्य-सर्जनके क्षेत्रमें 'आदि'से लेकर 'इति'तक कई क्रियाएँ सम्पन्न करती हैं। इन क्रियाओंके थोड़े अन्तरसे रसास्वादन भी सम्भव होता है। दे०–'काव्यहेतु', प्रथम हेतु। —ह० ला० श०

प्रतिमा-सौंदर्यानुसंधायिनी–प्रतिमाका साधारण अर्थ किसी मूलवस्तुकी प्रतिकृति, प्रतिच्छाया या प्रतीक होता है, जैसे, विष्णुकी प्रतिमा। किन्तु सौन्दर्यकी अनुभूतिमें प्रतिमा कलाकारका वह मानस प्रत्यक्ष है, जिसमें ताल, लय, गति, विन्यास, सन्तुलन आदि सम्पूर्ण अगों सहित सुन्दरका आविर्भाव होता है। सर्जन-क्षणमें यह प्रतिमा मौलिक होती है। यह कलाकारकी अपूर्व अनुभूति होती है, अनुकृति नहीं। कलाकार अपने चेतन प्रयत्नोंसे इसकी सृष्टि नहीं करता, अपितु उसकी सौन्दर्य-साधनाके फलस्वरूप यह प्रतिमा जीवनके अन्तरालसे स्वयमेव उदय होती है। मौलिक (प्राइमार्डियल), सम्पूर्ण (आर्गनिक) और स्वयम्भू–ये सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिमा(एस्थेटिक इमेज)के विशेष लक्षण हैं।

प्रतिमा केवल दृश्य अनुभूति नहीं है, अपितु वर्ण, ध्वनि, शब्दार्थ आदि माध्यमके गुणोंके अनुसार चित्र, सगीत, साहित्य आदि कलाओंमें इसके अनेक रूप होते हैं। आत्म-शक्तिकी रसनीयता (रसनीयतात्मशक्ते·–एमोशन-लाइजेशन ऑफ सेल्फ) इस प्रतिमाका प्राण होता है।

कलाकार सर्जनकालमें सौन्दर्यका अनुसन्धान करने-वाली प्रतिमाका मानस प्रत्यक्ष करके अपने कौशल द्वारा उसे मूर्त वस्तुकी स्थिति प्रदान करता है। यह वस्तु 'सुन्दर' होती है। कलाकारके लिए 'प्रतिमा' वस्तुका पूर्वरूप होती है, जैसे, ताजमहलके स्रष्टा द्वारा इसके वास्तविक निर्माणसे पहले इसकी मानस सृष्टि। —ह० ला० श०

प्रतिमुखसंधि–रूपककी पचसन्धियोंमें दूसरी सन्धि। इस सन्धिमें **बिन्दु** नामक अर्थ **प्रकृति** तथा **प्रयत्न** नामक **अवस्था**का मिश्रण होता है। 'लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्', उस बीजका जो मुखसन्धिमें बोया जाता है किंचित् लक्ष्य और किंचित् अलक्ष्य रहकर उद्भिन्न होना प्रतिमुखसन्धि है। जिस तरह पहले-पहल निकलनेवाला, उगनेवाला बीजांकुर कुछ अस्पष्ट अवस्थामें रहता है, उसी तरह मुखसन्धिमें बीज बोया जाता है और प्रतिमुखसन्धिमें वह अकुरित होता हुआ भी अस्पष्टावस्थामें ही रहता है। 'स्कन्दगुप्त'में 'जहाँ हूण परास्त होते हैं, वहाँसे प्रतिमुख-सन्धिका आरम्भ हो जाता है, क्योंकि फिर तो मुखसन्धि-में दिखलाये हुए बीजका लक्ष्य-अलक्ष्य-रूपसे उद्भेद प्रारम्भ हो जाता है। हूणोंकी पराजय और राज्याभिषेक प्रसंगमें फलप्राप्तिविषयक बातें हैं और तुरन्त ही फिर प्रपचबुद्धिके प्रपचमें पड़े हुए शर्वनाग और भटार्ककी कुचक्र-

रचनासे फलावरोध दिखाई पड़ने लगता है। महादेवीकी हत्याकी योजना और फिर उनका वचना, राज्याभिषेकमें जयमालाका विरोध करना, फिर अनुकूल हो जाना इत्यादि वार्तें की लक्ष्यालक्ष्य-उद्भेदक ही तो हैं। इस स्थितिका विस्तार वहाँतक चलता है जहाँ स्कन्दगुप्त देवसेनाको प्रपंच-बुद्धिके चंगुलसे छुड़ाता है।' (जगन्नाथ शर्मा 'प्रसाद'के नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन)

प्रतिमुखसन्धिके सन्ध्यंग निम्नलिखित हैं—विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, उपन्यास और वर्णसंहार।

इन सन्ध्यंगोंको प्रायः प्रयोगमें नहीं लाया गया है। (दे०—'सन्धि') —व० सिं०

प्रतिवस्तूपमा—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका अर्थालंकार। इसका अर्थ है वह अलंकार जिसमें प्रत्येक वाक्यार्थमें उपमा अर्थात् साधर्म्यका कथन हो। भामह तथा दण्डीने इसको उपमाके अन्तर्गत ही माना है। सम्भवतः उद्भटने इसको सर्वप्रथम स्वतन्त्र रूपमें स्वीकार किया। वामनके अनुसार—'उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु।' (का० सू० वृ० ४ ३. २) अर्थात् उपमेयके कथनपर उसके समान अन्य वस्तुका वर्णन होना। वृत्तिमें वामनने स्पष्ट करनेके लिए कहा है कि समान वस्तु वाक्यार्थरूप होनी चाहिये। रुद्रट और वामनके मतको रुय्यक तथा मम्मटने अधिक स्पष्टता प्रदान की है—'जिसमें एक ही साधारण धर्म की, उपमान वाक्य और उपमेय वाक्य—दोनों वाक्योंमें दो बार स्थिति हो।' (का० प्र० १०. १०२)। विश्वनाथने इसीको और भी स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—'अन्तर्निहित साम्यवाले दो वाक्योंमें एक सामान्य धर्मका अलग शब्दोंमें कथन किया जाना'। (सा०द० १० ५०)। 'चन्द्रालोक'-का लक्षण संक्षेपमें इसी भावको व्यक्त करता है, 'कुवलयानन्द'में इसकी व्याख्यासे यह स्पष्ट है।

हिन्दीके आचार्योंमें कुछने मम्मट और विश्वनाथसे इसका लक्षण लिया है और कुछने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितसे—'वाक्यनको जुग होत जहँ, एकै अरथ समान।' (शि० भू० १३४) अथवा—'उपमान'रु उपमेयपर, वाक्य दोयको जत्र। धर्म इकै पद जुदन महँ' (पद्मा०. ८०)। उदा०—'राजत मुख मृदु बानि सों, लसत सुधा सों चन्द। निर्झर सों नीको सु गिरि, मद सों भलो गयन्द।' (वही० ८१), यहाँ 'राजत' और 'लसत', 'नीको' और 'भलो' समान धर्म भिन्न शब्दोंमें कहे गये हैं। अथवा —'एक समय जो ग्राह्य दूसरे समय त्याज्य होता है। उष्मामें हिमके कम्बलका भार कौन ढोता है।' (मै० श० गु० का० द०)। प्रतिवस्तूपमा गुणके निषेधमें भी रह सकती है, 'साहित्यदर्पण' तथा 'कुवलयानन्द' आदिमें 'वैधर्म्य'के उदाहरण हैं। उदा०—'विश्व जननको अमित श्रम, जानत हैं नर विज्ञ। प्रसव वेदना दुसह मों बाँझ न होइ अभिज्ञ।' (अ० म० २७३) यहाँ 'जानत हैं' विधि रूप धर्म है और 'न होइ अभिज्ञ' निषेधरूप धर्म।

उपमासे इसका अन्तर यह है कि उपमामें साधारण धर्मका कथन एक बार होता है, न कि शब्द-भेदसे दो बार। दृष्टान्तमें उपमावाचक शब्दोंका प्रयोग इसीके समान नहीं होता है, पर उसमें उपमेय, उपमान और समान धर्मका बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव रहता है। प्रतिवस्तूपमामें केवल समान धर्मका कथन शब्दभेदसे होता है। दीपक तथा तुल्ययोगितामें एक बार एक शब्दसे कथन किया जाता है और इसमें दो बार भिन्न शब्दोंसे। —शि० प्र० सिं०

प्रतिषेध—एक गौण अर्थालंकार। विधि एवं प्रतिषेध अलंकारोंका उल्लेख भी अप्पय दीक्षितने किया है। उन्होंने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—'प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम्।' (कुवलयानन्द . ९८) अर्थात् यदि कोई वस्तु पहलेसे ही निषिद्ध हो और वह निषेध प्रसिद्ध हो, तो उस निषेधकी पुनश्चर्चासे यह अलंकार होता है। परन्तु यह चमत्कारपूर्ण होगा तभी सार्थक होगा। हिन्दीके कुछ आचार्योंने 'कुवलयानन्द'के अनुसरणपर इसे स्वीकार किया है—'जहाँ प्रसिद्ध निषेधको अनुकीरतन प्रकास।' (ल० ल० ३८७) अथवा—'जो प्रसिद्ध प्रतिषेध है, ताको बहुरि निषेध।' (पद्मा० २७४)। उदा०—'छुटी न गाँठि जु राम सों, तियनि कह्यो तिहि ठाहिं। सिय कंकनको छोरिबो, धनुष तोरिबो नाहिं।' (पद्मा० २७५), यहाँ धनुष तोड़ना और कंकणकी गाँठ खोलना प्रसिद्ध निषेध है, जिसकी चर्चा चमत्कारके साथ पुनः हुई है। —ज०कि०व०

प्रतीक—दे०—'संधा भाषा', 'प्रतीकवाद'।

प्रतीक कथाकाव्य—दे०—'रूपक कथाकाव्य' और 'दृष्टान्त-काव्य'।

प्रतीक काव्य—दे०—'रूपक कथात्मक काव्य।'

प्रतीकवाद—प्रतीक शब्दका प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तुके लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषयका प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्यके कारण करती है। अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तरकी समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तरके विषयका प्रतिनिधित्व करनेवाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषयका प्रतीक प्रतिविधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है। जैसे अदृश्य या अप्रस्तुत ईश्वर, देवता अथवा व्यक्तिका प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिमा या अन्य कोई वस्तु कर सकती है। साधारण तौरसे कहा जा सकता है कि प्रतीकोंके माध्यमसे किसी विषयका प्रतिविधान करना प्रतीकवाद है। अपने मौलिक अर्थमें प्रतीकवाद किसी व्यक्ति, विषय, घटना अथवा क्रियाकी ओर ध्यान करनेवाले पदार्थों और चिह्नोंतक ही सीमित था। किन्तु उसके अर्थके क्रमिक विस्तारकी प्रक्रियामें उसके अन्तर्गत रुकने और चलते जानेका संकेत देनेवाले लाल और हरे रंगों जैसे तुच्छ पदार्थोंसे लेकर राष्ट्रोंकी ध्वजाएँ, धार्मिक कर्मकाण्डके विविध उपकरणतक सम्मिलित हो गये हैं। शब्द, लिपि, गणित और संगीतमें प्रयुक्त होनेवाले चिह्नों और सूत्रोंका भी समावेश उसकी सीमामें हो जाता है। मनुष्यके सामाजिक और धार्मिक व्यवहारका अधिकांश प्रतीकात्मक होता है। मनोविश्लेषण अवचेतन जीवन और स्वप्नोंकी व्याख्या करनेमें प्रतीकवादका प्रयोग करता है। साहित्य और कलाके क्षेत्रमें प्रतीकवाद एक विशिष्ट भावधाराका आन्दोलन और अभिव्यक्ति है, जिसका वर्णन आगे किया

प्रणयगीति–दे०–'भावगीति'।

प्रतिकूल वर्ण–दे०–'शब्द-दोष', पहला 'वाक्य-दोष'।

प्रतिक्रांति (counter revolution)–क्रान्तिके बढ़ते चरणको रोकनेके लिए जिन शक्तियोंका प्रयोग किया जाता है उन शक्तियोंका सामूहिक स्वरूप ही प्रतिक्रान्ति है। अतः प्रतिक्रान्ति वह प्रवृत्ति है, वह नयी शक्ति है, जो कई शक्तियोंके संयोगसे बनती है। किन्तु जब ये शक्तियाँ मिल-जुलकर कार्य करती हैं तो उनका स्वरूप गुणात्मकरूपमें परिवर्तित हो जाता है। प्रतिक्रान्ति उन्हीं वर्गों द्वारा की जाती है जिनका अस्तित्व समाजकी सीढ़ियाँ हैं। —रा० छ० त्रि०

प्रतिक्रियावादी (reactionary)—यह शब्द भी प्रतिक्रान्तिकी तरह क्रान्ति और प्रगतिका विरोधी है। इसकी भी प्रवृत्ति विकासोन्मुख नहीं है और यह भी पुरानी रूढ़ियों, नीतियों, परम्पराओं और विचारोंकी स्थापनाका समर्थक है। —रा० छ० त्रि०

प्रतिध्वनि–भरतका प्रसिद्ध रससूत्र 'विभावानुभावसञ्चारियोगाद्रसनिष्पत्तिः' (=विभाव, अनुभाव, संचारी भावोंके योगसे रसकी निष्पत्ति होती है), ऐसी अवस्थाकी कल्पना करता है जिसमें शरीर और चित्त, दोनों ही विकारको प्राप्त होकर रसकी सृष्टि करते हैं। वस्तुतः स्थायी भावके उद्बोधनके समय चित्तमें अनेक छोटे-मोटे भावोंका संचरण तथा शरीरमें तज्जन्य विविध प्रकारकी चेष्टाओंका उदय रसनिष्पत्ति और रसानुभूतिको तीव्र करनेमें अप्रतिम सहायक सिद्ध होता है। इस चित्त और शरीरकी रसोद्रेक–प्रक्रियामें सहकारिताको सौन्दर्यात्मक प्रतिध्वनि (asthetic resonance) अथवा अनुरणनात्मक ध्वनि कहते हैं। —ह० ना०

प्रतिबिंबकल्प–दे०–'काव्यहरण', 'अर्थ-हरण'का भेद।

प्रतिभा–मनुष्यकी नवोन्मेषशालिनी शक्तिको प्रतिभा कहते हैं। 'पूर्व' अनुभवके आधारपर 'अपूर्व'का सर्जन करना नवोन्मेष है। कलाके क्षेत्रमें इस प्रतिभाके द्वारा 'सुन्दर' वस्तुका आविष्कार किया जाता है। 'नवीनता' सौन्दर्यानुभूतिका एक तत्त्व है, अतएव सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिभाका एक लक्षण 'नवोन्मेषशीलता' है। किन्तु सौन्दर्यकी नवीनता 'अक्षय' और 'नित्य' और क्षण-क्षणमें 'वर्द्धनशील' होनी चाहिये। यह उसी समय सम्भव है जब सुन्दर वस्तु जीवनके क्षणिक, परिमित और परिचित अंशको व्यक्त न करके इसी सनातन वेदना और गतिका, इनकी अनन्त और अपरिमित शक्तियोंका तथा अपरिचित और अमेय, किन्तु ज्ञान और भावनाके प्रबल केन्द्रका प्रतीकों द्वारा उद्घाटन करे। अतएव प्रतिभाका कार्य ससीमके द्वारा असीमकी, परिमित और प्रत्यक्षके द्वारा अपरिमित और परोक्षकी तथा मेयके द्वारा अमेयकी अभिव्यक्ति करना है। अलौकिक और आनन्दमयी अभिव्यंजना प्रतिभाका मुख्य कार्य है। कलामें सुन्दर वस्तु किसी बाह्य पदार्थकी प्रतिच्छाया नहीं होती, अपितु वह कलाकारके मानसिक और आध्यात्मिक अनुभवोंकी व्यवस्थाको, उसके जीवनकी वेदना, शालीनता, गम्भीरता तथा उसकी कल्पनाके स्वातन्त्र्य, शक्ति और उन्मुक्तताको अनुभवमें आनेवाले साधारण उपकरणों द्वारा व्यक्त करती है। 'अनुभूति'को 'पार्थिव', 'आध्यात्मिक'को 'भौतिक', 'आन्तरिक'को 'बाह्य' रूप देना प्रतिभाका कर्तव्य है। प्रकृतिने शब्द, ध्वनि, रंग, रेखा, पत्थर, लकड़ी आदि अनेक द्रव्य प्रदान किये हैं, जिनकी आध्यात्मिकता प्रकट नहीं होती। प्रतिभा इन द्रव्योंको अपनी अनुभूतियोंका माध्यम बनाती है जिससे इन पदार्थोंमें दया, प्रेम, ओज, शालीनता, आत्म-विजय, उल्लास, लज्जा आदि ही नहीं, वरन् इनसे भी अधिक गम्भीर अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष हो उठती हैं। इस प्रकार वह सौन्दर्य-सर्जनके क्षेत्रमें 'आदि'से लेकर 'इति'तक कई क्रियाएँ सम्पन्न करती है। इन क्रियाओंके थोड़े अन्तरसे रसास्वादन भी सम्भव होता है। दे०–'काव्यहेतु', प्रथम हेतु। —ह० ला० श०

प्रतिमा-सौंदर्यानुसंधायिनी–प्रतिमाका साधारण अर्थ किसी मूलवस्तुकी प्रतिकृति, प्रतिच्छाया या प्रतीक होता है, जैसे, विष्णुकी प्रतिमा। किन्तु सौन्दर्यकी अनुभूतिमें प्रतिमा कलाकारका वह मानस प्रत्यक्ष है, जिसमें ताल, लय, गति, विन्यास, सन्तुलन आदि सम्पूर्ण अंगों सहित सुन्दरका आविर्भाव होता है। सर्जन-क्षणमें यह प्रतिमा मौलिक होती है। यह कलाकारकी अपूर्व अनुभूति होती है, अनुकृति नहीं। कलाकार अपने चेतन प्रयत्नोंसे इसकी सृष्टि नहीं करता, अपितु उसकी सौन्दर्य-साधनाके फलस्वरूप यह प्रतिमा जीवनके अन्तरालसे स्वयमेव उदय होती है। मौलिक (प्राइमार्डियल), सम्पूर्ण (आर्गनिक) और स्वयम्भू–ये सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिमा(एस्थेटिक इमेज)के विशेष लक्षण हैं।

प्रतिमा केवल दृश्य अनुभूति नहीं है, अपितु वर्ण, ध्वनि, शब्दार्थ आदि माध्यमके गुणोंके अनुसार चित्र, संगीत, साहित्य आदि कलाओंमें इसके अनेक रूप होते हैं। आत्म-शक्तिकी रमणीयता (रमणीयतात्मशक्तेः–एमोशनलाइजेशन ऑफ सेल्फ) इस प्रतिमाका प्राण होता है।

कलाकार सर्जनकालमें सौन्दर्यका अनुसन्धान करनेवाली प्रतिमाका मानस प्रत्यक्ष करके अपने कौशल द्वारा उसे मूर्त वस्तुकी स्थिति प्रदान करता है। यह वस्तु 'सुन्दर' होती है। कलाकारके लिए 'प्रतिमा' वस्तुका पूर्वरूप होती है, जैसे, ताजमहलके स्रष्टा द्वारा इसके वास्तविक निर्माणसे पहले इसकी मानस सृष्टि। —ह० ला० श०

प्रतिमुखसंधि–रूपककी पंचसन्धियोंमें दूसरी सन्धि। इस सन्धिमें बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति तथा प्रयत्न नामक अवस्थाका मिश्रण होता है। 'लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्', उस बीजका जो मुखसन्धिमें बोया जाता है किंचित् लक्ष्य और किंचित् अलक्ष्य रहकर उद्भिन्न होना प्रतिमुखसन्धि है। जिस तरह पहले-पहल निकलनेवाला, उगनेवाला बीजांकुर कुछ अस्पष्ट अवस्थामें रहता है, उसी तरह मुखसन्धिमें बीज बोया जाता है और प्रतिमुखसन्धिमें वह अंकुरित होता हुआ भी अस्पष्टावस्थामें ही रहता है। 'स्कन्दगुप्त'में 'जहाँ हूण परास्त होते हैं, वहाँसे प्रतिमुखसन्धिका आरम्भ हो जाता है, क्योंकि फिर तो मुखसन्धिमें दिखलाये हुए बीजका लक्ष्य-अलक्ष्य-रूपमें उद्भेद प्रारम्भ हो जाता है। हूणोंकी पराजय और राज्याभिषेक प्रसंगमें फलप्राप्तिविषयक बातें हैं और तुरन्त ही फिर प्रपंचबुद्धिके प्रपंचमें पड़े हुए शर्वनाग और भटार्ककी कुचक-

रचनासे फलावरोध दिखाई पड़ने लगता है। महादेवीकी हत्याकी योजना और फिर उनका वचना, राज्याभिषेकमें जयमालाका विरोध करना, फिर अनुकूल हो जाना इत्यादि बातेंकी लक्ष्यालक्ष्य-उद्भेदक ही तो हैं। इस स्थितिका विस्तार वहाँतक चलता है जहाँ स्कन्दगुप्त देवसेनाको प्रपंच-बुद्धिके चगुलसे छुड़ाता है।' (जगन्नाथ शर्मा 'प्रसाद'के नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन)

प्रतिमुखसन्धिके सन्ध्यग निम्नलिखित हैं—विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, उपन्यास और वर्णसहार।

इन सन्ध्यगोंको प्राय· प्रयोगमें नहीं लाया गया है। (दे०—'सन्धि') —व० सिं०

प्रतिवस्तूपमा–सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका अर्थालकार। इसका अर्थ है वह अलकार जिसमें प्रत्येक वाक्यार्थमें उपमा अर्थात् साधर्म्यका कथन हो। भामह तथा दण्डीने इसको उपमाके अन्तर्गत ही माना है। सम्भवत उद्भटने इसको सर्वप्रथम स्वतन्त्र रूपमें स्वीकार किया। वामनके अनुसार—'उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यास प्रतिवस्तु।' (का० सू० वृ० ४ ३ . २) अर्थात् उपमेयके कथनपर उसके समान अन्य वस्तुका वर्णन होना। वृत्तिमें वामनने स्पष्ट करनेके लिए कहा है कि समान वस्तु वाक्यार्थरूप होनी चाहिये। रुद्रट और वामनके मतको रुय्यक तथा मम्मटने अधिक स्पष्टता प्रदान की है—'जिसमें एक ही साधारण धर्म की, उपमान वाक्य और उपमेय वाक्य—दोनों वाक्योंमें दो बार स्थिति हो।' (का० प्र० १० १०२)। विश्वनाथने इसीको और भी स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—'अन्तर्निहित साम्यवाले दो वाक्योंमें एक सामान्य धर्मका अलग शब्दोंमें कथन किया जाना'। (सा०द० १० ५०)। 'चन्द्रालोक'-का लक्षण सक्षेपमें इसी भावको व्यक्त करता है, 'कुवलयानन्द'में इसकी व्याख्यासे यह स्पष्ट है।

हिन्दीके आचार्योंमें कुछने मम्मट और विश्वनाथसे इसका लक्षण लिया है और कुछने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितसे—'वाक्यनको जुग होत जहँ, एकै अरथ समान।' (शि० भू० १३४) अथवा—'उपमान'रु उपमेयपर, वाक्य दोयको जत्र। धर्म इकै पद जुदन महँ' (पद्मा० . ८०)। उदा०—'राजत मुख मृदु वानि सों, लसत सुधा सों चन्द। निर्झर सों नीको सु गिरि, मद सों भलो गयन्द।' (वही० ८१), यहाँ 'राजत' और 'लसत', 'नीको' और 'भलो' समान धर्म भिन्न शब्दोंमें कहे गये हे। अथवा —'एक समय जो ग्राह्य दूसरे समय त्याज्य होता है। उष्मामें हिमके कम्वलका भार कौन ढोता है।' (मै० श० गु० का० द०)। प्रतिवस्तूपमा गुणके निषेधमें भी रह सकती है, 'साहित्यदर्पण' तथा 'कुवलयानन्द' आदिमें 'वैधर्म्य'के उदाहरण हैं। उदा०—'विघ्न जननको अमित श्रम, जानत हैं नर विज्ञ। प्रसव वेदना दुमह सो वाँझ न होइ अभिज्ञ।' (अ० म० २७३) यहाँ 'जानत हैं' विधि रूप धर्म है और 'न होइ अभिज्ञ' निषेधरूप धर्म।

उपमासे इसका अन्तर यह है कि उपमामें साधारण धर्मका कथन एक बार होता है, न कि शब्द-भेदसे दो बार। दृष्टान्तमें उपमावाचक शब्दोंका प्रयोग इसीके समान नहीं होता है, पर उसमें उपमेय, उपमान और समान धर्मका विम्व-प्रतिविम्व-भाव रहता है। प्रतिवस्तूपमामें केवल समान धर्मका कथन शब्दभेदसे होता है। दीपक तथा तुल्ययोगितामें एक वार एक शब्दसे कथन किया जाता है और इसमें दो वार भिन्न शब्दोंसे। —शि० प्र० सिं०

प्रतिषेध–एक गौण अर्थालकार। विधि एव प्रतिषेध अलकारोंका उल्लेख भी अप्पय दीक्षितने किया है। उन्होंने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है–'प्रतिषेध प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम्।' (कुवलयानन्द . ९८) अर्थात् यदि कोई वस्तु पहलेसे ही निषिद्ध हो और वह निषेध प्रसिद्ध हो, तो उस निषेधकी पुनश्चर्चासे यह अलकार होता है। परन्तु यह चमत्कारपूर्ण होगा तभी सार्थक होगा। हिन्दीके कुछ आचार्योंने 'कुवलयानन्द'के अनुसरणपर इसे स्वीकार किया है—'जहाँ प्रसिद्ध निषेधको अनुकीरतन प्रकास।' (ल० ल० ३८७) अथवा—'जो प्रसिद्ध प्रतिषेध है, ताको वहुरि निषेध।' (पद्मा० . २७४)। उदा०—'छुटी न गाँठि जु राम सों, तियनि कह्यो तिहि ठाहि। सिय ककनको छोरिवो, धनुष तोरिवो नाहिं।' (पद्मा० २७५), यहाँ धनुष तोड़ना और ककणकी गाँठ खोलना प्रसिद्ध निषेध है, जिसकी चर्चा चमत्कारके साथ पुन हुई है। —ज०कि०व०

प्रतीक–दे०—'सधा भाषा', 'प्रतीकवाद'।

प्रतीक कथाकाव्य–दे०–'रूपक कथाकाव्य' और 'दृष्टान्त-काव्य'।

प्रतीक काव्य–दे०—'रूपक कथात्मक काव्य।'

प्रतीकवाद–प्रतीक शब्दका प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तुके लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषयका प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्यके कारण करती है। अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तरकी समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तरके विषयका प्रतिनिधित्व करनेवाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषयका प्रतीक प्रतिविधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है। जैसे अदृश्य या अप्रस्तुत ईश्वर, देवता अथवा व्यक्तिका प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिमा या अन्य कोई वस्तु कर सकती है। साधारण तौरसे कहा जा सकता है कि प्रतीकोंके माध्यमसे किसी विषयका प्रतिविधान करना प्रतीकवाद है। अपने मौलिक अर्थमें प्रतीकवाद किसी व्यक्ति, विषय, घटना अथवा क्रियाकी ओर ध्यान करनेवाले पदार्थों और चिह्नोंतक ही सीमित था। किन्तु उसके अर्थके क्रमिक विस्तारकी प्रक्रियामें उसके अन्तर्गत रुकने और चलते जानेका सकेत देनेवाले लाल और हरे रगों जैसे तुच्छ पदार्थोंसे लेकर राष्ट्रोंकी ध्वजाएँ, धार्मिक कर्मकाण्डके विविध उपकरणतक सम्मिलित हो गये हैं। शब्द, लिपि, गणित और सगीतमें प्रयुक्त होनेवाले चिह्नों और सूत्रोंका भी समावेश उसकी सीमामें हो जाता है। मनुष्यके सामाजिक और धार्मिक व्यवहारका अधिकाश प्रतीकात्मक होता है। मनोविश्लेषण अवचेतन जीवन और स्वप्नोंकी व्याख्या करनेमें प्रतीकवादका प्रयोग करता है। साहित्य और कलाके क्षेत्रमें प्रतीकवाद एक विशिष्ट भावधाराका आन्दोलन और अभिव्यक्ति है, जिसका वर्णन आगे किया

गया है।

प्रतीकीकरण मनुष्यका सहज स्वभाव है। भाषाका प्रारम्भिक रूप विविध मुद्राओंयुक्त और अनुकरणप्रधान था। पशुओं तथा ध्वनि उत्पन्न करनेवाले विषयोंका नकल आदिम मनुष्य उनके सदृश आवाज उत्पन्न करके करता था। पेजेटका मत है कि प्रायः सभी शारीरिक मुद्राओंके साथ-साथ स्वर-यन्त्रमें गति होती रहती है और इस सहचारी स्वरको अलग करके उसे उस मुद्राविशेषका प्रतीक बना लेना स्पष्ट ही अधिक सुविधाजनक और अल्पश्रमी उपाय था। मनुष्यने रेखाएँ और चित्र खींचना भी शीघ्र ही सीख लिया था। उसकी ध्वन्यात्मक मुद्राओंके प्रतीकोंसे शब्द, शब्दोंके योगसे व्याकरणयुक्त वाणीका और उसके चित्रमय प्रतीकोंसे पहले चित्रलिपि और अन्ततः चित्रलिपिसे वर्णलिपिका विकास हुआ। इस प्रकार सभी शब्द प्रतीक हैं।

प्रतीकोंकी दो विशेषताएँ होती हैं। प्रतीक सदैव किसी-न-किसी मध्यस्थ प्रकारके व्यापारका प्रतिनिधि होता है। इसका आशय यह है कि सभी प्रतीकोंमें ऐसे अर्थ निहित होते हैं, जिनको केवल प्रत्यक्ष अनुभवके सन्दर्भसे नहीं जाना जा सकता। दूसरी यह कि प्रतीक शक्तिको घनीभूत कर देता है, प्रतीककी तुच्छता और उसके द्वारा निर्दिष्ट वास्तविक महत्त्वके परिमाणमें कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रतीक दो प्रकारके होते हैं—सन्दर्भीय और सघनित। सन्दर्भीय प्रतीकोंके वर्गमें वाणी और लिपिसे व्यक्त शब्द, राष्ट्रीय पताकाएँ, तारोंके परिवहनमें प्रयुक्त होनेवाली संहिता, रासायनिक तत्त्वोंके चिह्न आदि हैं। सघनित प्रतीकोंके उदाहरण धार्मिक कृत्योंमें और स्वप्न तथा अन्य मनोवैज्ञानिक विवशताओं जन्य प्रक्रियाओंमें मिलते हैं। ऐसे प्रतीक प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति या व्यवहारके स्थानापन्नोंके सघनित रूप होते हैं और चेतन या अचेतन संवेगात्मक तनावोंके मुक्त प्रसरणमें सहायता देते हैं। व्यावहारिक जीवनमें इन दोनों प्रकारके प्रतीकोंका मिश्रण मिला करता है। सन्दर्भीय प्रतीक सहज ही संवेगात्मक महत्त्व और कर्मकाण्डसे युक्त हो जाते हैं।

मनुष्यका समस्त जीवन प्रतीकोंसे परिपूर्ण है। वस्तुतः मनुष्य मूलतः प्रतीकोंके माध्यमसे ही सोचता है, अमूर्त चिन्तन अधिक विकसित स्तरका लक्षण है। कुछ प्रतीक सार्वभौम होते हैं, जैसे, सिंह वीरताका, श्वेत रंग पवित्रताका, शृगाल कायरताका और लोमड़ी चतुरताका प्रतीक है। कबीलों, जातियों, समाजों और राष्ट्रोंके सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवनमें महत्त्व रखनेवाले अपने-अपने प्रतीक हो जाते हैं। आदिम समाजमें कोई विशिष्ट पशु, वृक्ष या अन्य वस्तु कबीलेका प्रतीक हराम या हलाल बन जाती है। भारतवर्षमें पीपल, बरगद, आँवला, तुलसी आदि वृक्ष और वनस्पतियाँ, गाय और सुअर ऐसे ही प्रतीकोंके अवशेष हैं। प्रत्येक राष्ट्रकी पताका उसके अस्तित्व, गौरव और एकताका प्रतीक होती है। राष्ट्रकी ध्वजासे राष्ट्रका बोध होने लगता है। कभी-कभी कोई फूल, पशु या अन्य विषय भी राष्ट्रका प्रतीक बन जाता है। जैसे कमल भारतका, गुलदाउदी जापानका, कंगारू आस्ट्रेलियाका प्रतीक हो गया है। राष्ट्रीय ध्वजाका अर्धोत्तोलित फहराना राष्ट्रीय शोकका प्रतीक है। सार्वभौमिक उपयोगिताकी दृष्टिसे अनेक नये प्रतीक भी स्वीकार कर लिये जाते हैं। वैमानिक उड्डयनमें प्रयुक्त होनेवाले ऐसे अनेक प्रतीक हैं। कुछ प्रतीक ऐतिहासिक सन्दर्भके कारण विशेष अर्थके सूचक बन जाते हैं, जैसे, भारतमें विभीषण, जयचन्द और मीर जाफरके नाम देशद्रोहके प्रतीक हैं, सीता और सावित्री आदर्श पातिव्रतकी, भीष्म दृढ़प्रतिज्ञता और ब्रह्मचर्यके प्रतीक हैं। सिन्दूर और चूड़ियाँ सौभाग्यकी और राखी भाई-बहिनके पवित्र सम्बन्धकी प्रतीक है। इसी प्रकार अन्य देशोंमें भी विशिष्ट अर्थ देनेवाले असंख्य प्रतीक हैं। राजनीति, साहित्य, कला, शिष्टाचार, सामाजिक व्यवहारमें अनन्त प्रतीक खोजे जा सकते हैं। नये अर्थोंसे युक्त नये प्रतीकोंका निर्माण होता रहता है।

धार्मिक क्षेत्रमें प्रतीकोंका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। धार्मिक संस्कार और कर्मकाण्ड, प्रतिमाओं, मन्दिरों आदिका निर्माण एवं रूपाकारका एक विशिष्ट अर्थ और महत्त्व होता है। ईश्वर निराकार है, उसका नाम और उसकी प्रतिमा उसका प्रतीक है। हिरण्यगर्भ, ओंकार, स्वयम्भू, विश्वकर्मा, सच्चिदानन्द आदि शब्द उसके शाब्दिक प्रतीक हैं। सूर्य सभी देशोंमें ईश्वरका प्रमुख व्यक्त प्रतीक माना जाता है और ज्योति या प्रकाश ज्ञानका। आस्तिक त्रिदेवोंके भी भिन्न-भिन्न प्रतीक हैं। शंख, चक्र, गदा, पद्म, गरुड, शालग्राम, श्रीवत्स विष्णुके प्रतीक हैं। नन्दी, त्रिशूल, नवल चन्द्र, उपस्थ शिवके प्रतीक हैं। हंस ब्रह्माका प्रतीक है तथा सरस्वती और नीर-क्षीर-विवेकी आत्माका भी। उपनिषदोंमें आत्माका प्रतीक पक्षी माना गया है। देवताओंके वाहन स्वयं देवताओंके प्रतीक माने जाते हैं, जैसे चूहा गणेशका, मयूर कार्त्तिकेयका। अत्यन्त शिश्नोदर-परायण होनेके कारण बकरा व्यक्तिकी अतृप्त काम-पिपासा और क्षुधाका प्रतीक माना गया है। इसी प्रकार भैंसके स्वरूपवाला महिषासुर क्रूरता और पशुभावका प्रतीक है। वैदिक तथा पौराणिक कथाओंको उनके प्रतीकोंके वास्तविक अर्थ जाने बिना सम्यक् प्रकारसे समझा ही नहीं जा सकता। गोपियाँ आत्माकी प्रतीक हैं, उनके वस्त्र उनकी अस्मिताके, चीरहरणकी विख्यात (और सामान्य दृष्टिसे कुख्यात) लीलाका प्रतीकात्मक अर्थ आत्माके द्वारा अस्मिताका परिपूर्णतम समर्पण और निरसन है। कर्मकाण्डमें प्रयुक्त आसन, मुद्रा, कवच, न्यास आदिका प्रतीकात्मक अर्थ होता है, वह अर्थ भले ही अन्धविश्वासपर आधारित और अवैज्ञानिक हो। इसी प्रकार संस्कारोंका भी प्रतीकात्मक महत्त्व है। ईसाई धर्ममें भी प्रतीकोंकी प्रचुर संख्या है। उसके अनेक प्रतीक आशा और भयसे प्रेरित मरणोपरान्त जीवनके सम्बन्धमें हैं। रोममें भूगर्भीय गुफाओंसे प्राप्त चित्रोंमें इस प्रतीकवादके उदाहरण मिलते हैं। कब्रोंपर लगाये हुए गुलाब तथा फूलनेवाले अन्य पादप स्वर्गके प्रतीक हैं। मंगलमय मेषपाल (गड़ेरिया) मृतकोंका अधिरक्षक है, भेड़ें मृतक हैं। उनमेंसे एक मेषको वह अपने कन्धेपर बिठाये है। मछली ईसासे तादात्म्यका प्रतीक है। तसले या 'जग'से पानी पीती हुई पेंडुकी (पण्डुक) जीवन द्रवसे अपनेको तृप्त करती आत्मा है। बारहसिंघा आत्माका प्रतीक

है। जहाज धर्ममषका, मेप और सिंह ईसाके, मयूर अमरताका, फीनिक्स पुनरुज्जीवनका और साँप शैतानका प्रतीक है। मछली भी ईसाके लिए प्रयुक्त प्रथम प्रतीकोंमेंसे एक है। इसी प्रकारका प्रतीकवाद अन्य धर्मोंमें भी मिलता है और उनका कर्मकाण्ड, सस्कार, मूर्ति और मन्दिर-निर्माण उनके प्रतीकवादपर अवलम्बित होता है।

रहस्यवादियोंने प्रतीकोंका विपुल प्रयोग किया है। उनके साध्य और उनकी अनुभूतिका स्वरूप भाषामें अप्रेषणीय होनेके कारण इन दोनों विषयोंके सम्बन्धमें उन्होंने जो कहा है वह प्रतीकोंके माध्यमसे ही। इस कारण उनकी भाषा दुरूह 'सन्धाभाषा' हो गयी है, जिसके प्रतीकोंका अर्थ जाने विना कोई अदीक्षित व्यक्ति उसे समझ ही नहीं सकता। यही कारण है कि अनेक मर्मियोंकी अभिव्यक्ति साधारण पाठकको उद्दाम प्रणय, अभिसार और उत्कट मिलनकी अभिव्यक्ति लगती है, उनकी उलटवासियाँ प्रलाप प्रतीत होती हैं।

आधुनिक मनोविश्लेषण प्रतीकवादका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थमें करता है। (दे०—'मनोविश्लेषण', 'स्वप्न-प्रतीक'।)

साहित्यमें प्रतीकवादका उपयोग कई प्रकारसे होता है—(१) सर्वजीववाद—'ऐ नभकी दीपावलियो, तुम क्षणभरको वुझ जाना, मेरे प्रियतमको भाता है तमके पर्देमें आना।' इस पंक्तिमें नक्षत्रोंको जीवन्त मानकर अनुरोध किया गया है। (२) रूपक—'सखी नीरवताके कन्धे रक्खे हाथ, उतर रही मन्ध्या सुन्दरी।' (३) उपमा—'विखरीं अलकें ज्यों तर्कजाल।' (४) चरित्रोंको किसी भाव या विचारविशेषका प्रतिनिधि वनाकर उनके माध्यमसे भाव या विचार व्यक्त करना, जैसे, कामायनी, कुरुक्षेत्र, डिवाइन कमेडी। (५) जो साधारण भाषामें अव्यक्त और अनिर्वचनीय है उसे प्रतीकोंके माध्यमसे व्यक्त करना।

प्रतीक कई कार्य कर सकते हैं—(१) किसी विषयकी व्याख्या करना, (२) उसको स्वीकृत करना, (३) पलायनका पथ प्रस्तुत करना, (४) सुप्त या दमित अनुभूतिको जाग्रत करना, (५) अलंकरण या प्रदर्शनका साधन होना।

साहित्य और कलाके एक आन्दोलनके रूपमें प्रतीकवादका आविर्भाव विगत शताव्दीके अन्त(१८८५ ई०)में फ्रान्समें हुआ। उसके उद्भवकी पृष्ठभूमिपर सक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक है। कलात्मक अनुभूतिके दो पक्ष हैं—प्रतिमा द्वारा सीधा प्रत्यक्षीकरण और प्रतीकके द्वारा आदर्शात्मक व्याख्याकरण। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्ततक विज्ञान अपने चरम विन्दुतक जा पहुँचा था और उसमे पश्चिमकी मनीषा गम्भीर रूपसे प्रभावित एव निर्मित हो रही थी। अतएव उन्नीसवीं शताब्दीमें सभी यथार्थवादकी ओर उन्मुख थे। इसके परिणामस्वरूप चित्रकलामें इम्प्रेशनिज्म और साहित्यमें प्राकृतवादका जन्म हुआ। इन दो वादोंके विरुद्ध आदर्शवादी प्रतिक्रियाके रूपमें साहित्य और कला, दोनोंके क्षेत्रमें १८८५ ई०में तथा उसके आगे प्रतीकवादका विकास हुआ। कवियों और चित्रकारोंने वाह्य जगत्‌का यथातथ्य चित्रण करना छोड़कर प्रतीकात्मक सन्दर्भों और प्रचुर अलकरणोंके माध्यमसे अपने स्वप्नोंके कल्पनात्मक संकेतोंको प्रस्तुत करना आरम्भ किया। प्रतीकवादके इतिहासमें १८८६ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष है। कवि जीन मोरेआसने इसी वर्ष 'फिगारो' नामके प्रसिद्ध पत्रके १८वीं सितम्बरके अकमें प्रतीकवादका घोषणापत्र प्रकाशित किया, जिसमें उसने यह कहा कि प्रतीकवाद ही केवल ऐसा शब्द है जो कलामें आजकल भी सर्जनात्मक प्रवृत्तिको पर्याप्त रूपसे व्यक्त कर सकता है। सभी कलाओंके सम्बन्धमें उसका प्रधान सूत्र यह था—विचार या भावको सवेदनात्मक रूप देना। शीघ्र ही अनेक पत्रिकाएँ और निकलीं, जिन्होंने कलाके इस अभिनव सिद्धान्तका प्रचार किया और प्रतीकवादी साहित्य तथा कलाकृतियोंको प्रकाशित किया। कलाके क्षेत्रमें उसी वर्ष प्रतीकवादी चित्रोंका प्रदर्शन काफे वोलिपिनीमें आयोजित 'इम्प्रेशनिस्त' चित्र प्रदर्शिनीमें हुआ।

आलोचक अलवर्ट ओरिएटने १८९१में प्रकाशित अपने एक लेखमें चित्रशिल्प सम्बन्धी प्रतीकवादकी परिभाषा की जिसपर काफी वाद-विवाद हुआ। उसने लिखा—'किसी भी कलाकृतिके लिए आवश्यक है कि (१) वह भावात्मक हो, क्योंकि उसका लक्ष्य उस भावको व्यक्त करना है, (२) प्रतीकवादी हो, क्योंकि वह भावको रूपों-आकारोंके माध्यमसे प्रस्तुत करेगी, (३) सश्लेषणात्मक हो, क्योंकि वह रूपाकारोंको सामान्य प्रेषणीयताके लिए उपयुक्त प्रकारसे खचित करेगी, (४) विषयीपरक हो, क्योंकि उसमें विषय कभी विषयके रूपमें न ग्रहण किया जाकर विषयी द्वारा गृहीत किसी भावके सकेतके रूपमें ग्रहण किया जायगा और परिणामस्वरूप, (५) वह अलंकरणात्मक हो, क्योंकि सम्यक् प्रकारकी आलकारिक चित्रकला, जैसा कि उसे प्राचीन मिस्री, यूनानी और आदिवासी समझते थे, विषयीपरक, सश्लेषणात्मक, प्रतीकात्मक और भावात्मक कलाको छोड़कर और कुछ भी नहीं है।'

कलाके क्षेत्रमें गोगिन, रोनार्ड, विलार्ड, रुजेल, मारिस, डेनिस, गस्तैव मोव्य, केवेन्स और रोदाँ प्रमुख प्रतीकवादी चित्रकार हैं।

साहित्यके क्षेत्रमें प्रतीकवाद शब्दका प्रयोग १८८० ई०के आसपास फ्रेन्च भाषाके देशी और विदेशी कवियोंके एक वर्गविशेषके लिए किया जाता है। उनके लिए एक दूसरा शब्द 'डिकेडेण्ट'—'क्षयोन्मुख' भी प्रयुक्त होता है। १८८६में इन क्षयोन्मुख कवियोंने जीन मोरेआसके नेतृत्वमें अपने घोषणापत्रको 'फिगारो'में प्रकाशित किया, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है। इस घोषणामें यह भी था कि प्रतीकवादी कविता भावको एक संवेद्य परिधान पहिनाना चाहती है, किन्तु उस परिधानका उद्देश्य परिधान ही नहीं है। इस प्रकार इस कलामें सभी मूर्त घटनाएँ प्राथमिक प्रत्ययोंके साथ अपनी गुह्य वन्धुता प्रदर्शित करनेवाली सवेदनात्मक प्रतीतियाँमात्र हैं। यह प्रतीकवादी आन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दीके (दार्शनिक) आदर्शवाद, स्वच्छन्दतावाद और नव्य-प्लेटोनिकवादी रहस्यवादसे प्रभावित था। मूलत वह विज्ञानजन्य प्राकृतवाद और पारनेसियनवाद-(फ्रेन्च कविताका एक वाद)के विरुद्ध, जिन्हें वे अति स्थूल और अति सुस्पष्ट मानते थे, तरुणोंका विद्रोह था। तरुण कवि और कलाकार एड्गर एलेन पो, वोदलेयर, वाग्नर

और पूर्व-रेफेलाइटोंमें अनिर्वचनीयका एक स्पर्श पा चुके थे और उसे व्यक्त करनेका माध्यम खोज रहे थे। उनका लक्ष्य घोषणा करना, वर्णन या अंकन करना न होकर अनुभूतिके क्षणभंगुर स्वरोंकी ओर संकेत करना था। प्रतीकवादके सर्वश्रेष्ठ कवि रिम्बो, कोरबिएर और मालार्मे हैं। मालार्मेने प्रतीकवादको उनका सौन्दर्यदर्शन प्रदान किया और उसकी साप्ताहिक गोष्ठियोंमें उसके वार्तालापसे इस आन्दोलनपर सम्भवत सबसे अधिक प्रभाव डाला। अन्य प्रमुख प्रतीकवादी लेखकोंमें रोटेनबाख, लाफ़ार्ग, ग्रिफिन' गूरमाँ, मेटरलिंक, क्लाउडेल, हाउजमैन आदिकी गणना की जाती है।

प्रतीकवादी आन्दोलनका प्रभाव फ्रांसके बाहर और भी अधिक पड़ा और कला तथा साहित्यके क्षेत्रोंमें वह अभी भी महान् प्रेरक और प्रभविष्णु शक्तियोंमेंसे एक है। इंग्लैण्डमें ईलियट, जेम्स जायस, आयरलैण्टमें यीट्स, सिंज, कैरल आदि प्रमुख प्रतीकवादी हैं। इनके अतिरिक्त गेखाफ, यूजीन और नील आदि अनेक प्रख्यात प्रतीकवादी हैं। —आ०

प्रतीकवादी आलोचना-प्रणाली—अंग्रेजीमें इसे सिम्बोलिज्म कहते हैं। सन् १८७० तथा १८८६ ई० के मध्य फ्रान्समें पारनेशनिज्म एवं यथार्थवाद(रियलिज्म)के विरोधमें वेग्नरके संगीतसे प्रभावित होकर जिस नवीन कविता-धाराका उद्भव हुआ वह प्रतीकवादके नामसे प्रसिद्ध हुई। इसीके आधारपर प्रतीकवादी आलोचनाके मान निर्धारित हुए हैं। इस कविता-धाराको बोदलेयर, वर्लेन, मालार्मे, रिम्बो, क्लाउडेल तथा वालेरी आदि कवियोंने वादके रूपमें अपनाया। इनका प्रभाव जर्मन कवि रिल्के, रूसी लेखक ब्लोक, आयरिश कवि यीट्स, अमेरिकन हरथौर्न तथा वाल्ट ह्विटमैन आदिपर भी पड़ा। मालार्मे ही इसके प्रधान अधिनायक स्वीकार किये जाते हैं।

इस धाराको जर्मनीकी आदर्शोन्मुख दर्शनकी धाराने भी प्रभावित किया है, इसलिए हीगेल तथा शोपेनहावरके प्रभावसे इस धारामें रहस्यवृत्ति तथा अस्पष्टताको गुणके रूपमें स्वीकार कर लिया गया है। इस धाराके लेखकोंका मत है कि दृश्य जगत् वास्तविक सृष्टिका मिथ्या रूपमात्र है। वास्तविक सृष्टि अलौकिक और शाश्वत है। उस सृष्टिके सम्बन्धमें कुछ भी कहनेके लिए रहस्य और अस्पष्टताका सहारा लेना पड़ता है। किन्तु जिन रचनाओंमें दृश्य जगत्-की बात कही जायगी उनमें दुर्बलता, निराशा और कुत्साका प्रवेश हो जायगा। यही इनकी ऐसी रचनाओंमें प्रकट भी हुए हैं। बोदलेयरने विषय-वस्तु और रूप तत्त्व, दोनोंको अखण्ड क्रिया माना था, किन्तु मालार्मेने शब्द-संकेतको प्रधान मानकर अभिव्यक्तिको महत्त्व दिया। उन्होंने रोमांच-(सिन्सेशन)को प्रधानता देकर भावना तथा बुद्धिका तिरस्कार कर दिया। ध्वनि तथा सुगन्धकी सूक्ष्मतम तथा विचित्र अनुभूतियाँ और रूप प्रस्तुत किये गये। इसके साथ ही मुक्त-वृत्त तथा संगीतको अपनाया गया। हिन्दीकी वर्तमान प्रयोगशील कवितापर प्रतीकवादका प्रभाव स्वीकार किया जाता है। रामचन्द्र शुक्लने इसे 'चित्रभाषावाद' भी कहा है। —आ० प्र० दी०

प्रतीत्यसमुत्पाद—दे०—'शून्यवाद'।

प्रतीप—लोकन्यायमूल अर्थालंकार। 'प्रतीप' शब्दका अर्थ है विपरीत। इस अलंकारमें उपमा अलंकारकी अपेक्षा विपरीत स्थिति होती है, क्योंकि उपमा अलंकारमें उपमेयकी अपेक्षा उपमानकी उत्कृष्टताका वर्णन किया जाता है, किन्तु इस अलंकारमें उपमानका अपकर्ष वर्णित होता है। प्रसिद्ध उपमानको उपमेयरूपमें कल्पित किया जाता है। रुद्रटने इसे स्वरूप साम्यवर्गमें स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार इस अलंकारमें या तो उपमानका निषेध अथवा निन्दन होता है या तिरस्कार करनेके लिए उपमानका उपमेयरूपसे वर्णन किया जाता है (का० प्र० १० · १३३)। जयदेवने उपमानकी हीनताका उल्लेख किया है और अप्पय दीक्षितने इसमें केवल उपमानकी उपमेयरूपमें कल्पना करना माना है—'प्रतीपमुपमानस्याप्युपमेयत्वकल्पनं' (कुवलयानन्द)। विश्वनाथने इनमें और जोड़ा है कि उपमानका व्यर्थ कहा जाना भी प्रतीप है,(सा०द० · १० ८८)। 'कुवलयानन्द'-में इसके पाँच प्रकार हैं। जसवन्त सिंहने 'कुवलयानन्द'के आधारपर प्रतीपके लक्षण दिये हैं। अधिकतर आचार्योंने प्रतीपके भेदोंके अलग-अलग लक्षण दिये हैं। भिखारीदासने मम्मटके आधारपर लक्षण दिया है—'सो प्रतीप उपमेयको जब कीजै उपमान। कै काहू विधि वर्न्यकौ करौ अनादर ठाँन' (का० नि० · ८)।

'प्रतीप' अलंकारमें 'उपमान'का अपकर्ष पाँच प्रकारसे वर्णित किया जाता है। अत इस दृष्टिसे 'प्रतीप'के पाँच भेद किये जा सकते हैं। **प्रथम प्रतीप**—जहाँ प्रसिद्ध उपमानको उपमेयरूपमें कल्पित किया जाय—'जँह प्रसिद्ध उपमान-कौ पलटि कहत उपमेय' (ल० ल० ५७)। सोमनाथका उदा०—'देन मुकति सुन्दर हरषि सुनि परताप उदार। है तेरी तरवार सी कालिंदीकी धार।' (र० पी०)। इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्तने इसका सुन्दर प्रयोग किया है—'कौन जाने, जायगा न यों ही दिन दूसरा, आयी तुझ सी यह सन्ध्या धूलि-धूसरा' (यशोधरा)। **द्वितीय प्रतीप**—प्रसिद्ध उपमानको उपमेयरूपमें कल्पित करके वर्णनीय उपमेयका निरादर किया जाय—'जहाँ और उपमान लहि वर्न्य अनादर होय' (ल० ल० : ६६)। भूषण प्रसिद्ध उपमान वडवानलको उपमेयरूपमें रखकर प्रस्तुत उपमेय 'सिव प्रताप'का निरादर करते है—'सिव प्रताप तव तरनि सम, अरि पानिप हर मूल। गरब करत केहि हेत है, वडवानल तो तूल।' (शि० भू० ४४)। **तृतीय प्रतीप**में उपमेयकी उपमानरूपमें कल्पना करके प्रसिद्ध उपमानका निरादर किया जाता है। प्राय हिन्दीके आचार्योंके लक्षण अस्पष्ट है—'जहाँ अनादर आनको उपावर्न्य उपमेय' (ल० ल० ६१)। भूषणका उदाहरण स्पष्ट और व्यंजक है—'गरब करत कत चाँदनी, हीरक छीर समान। फैली इती समाज गत, कीरति सिवा खुमान।' (शि० भू० ४६)। **चतुर्थ प्रतीप**में पहले उपमेयकी उपमानसे समता की जाती है, किन्तु बादमें उस उपमानको उपमेयके अयोग्य कहते हैं, अर्थात उपमेयकी उपमानसे समताका खण्डन करते हैं। इसके लक्षण भी प्राय स्पष्ट नहीं दिये गये। भूषणके अनुसार—'पाय वरन उपमानको जहाँ न आदर और' (शि० भू० · ४७), पर पद्माकरके

लक्षणमें भाव अधिक स्पष्ट है—'जु उपमान उपमेयकी समता जोग न होत' (पद्मा० ३१)। तुलसीके वर्णनमें इसका सुन्दर प्रयोग है—'बहुरि विचार कीन्ह मन माहीं। सीय वदन सम हिमकर नाहीं।' (रा० च० मा०)। **पंचम प्रतीप**में उपमेयके रहते हुए उपमानकी स्थितिको व्यर्थ अथवा अनावश्यक सिद्ध किया जाता है। लक्षणके सम्बन्धमें इसकी स्थिति भी स्पष्ट नहीं है—'हीन होय उपमानसों नष्ट होत उपमान' (शि० भू०, ४९)। भूषणके समान ही मतिरामका लक्षण—'कहा कछु न उपमानको यों जहँ करत बखान' (ल० ल० ६५)। दास और पद्माकरमें अपेक्षाकृत स्पष्टता है—'लखि उपमेयहिको जहाँ वृथा होत उपमान' (पद्मा० ३२)। सोमनाथका इसका उदाहरण सुन्दर और उचित है—'तिय तो मुख ही सों सदा रहै उजास अमन्द। कहिये कहा विरचिसों वृथा रच्यो है चन्द।' (र० पी० नि०)। मतिरामने उदाहरण द्वारा अपना लक्षण स्पष्ट किया है—'राव भावसिंहजूके दानकी बड़ाई देखि, कहा कामधेनु है, कछू न सुरतरु है।' (ल० ल० ६६)

व्यतिरेकसे इसका भेद स्पष्ट है। दोनोंमें उपमेयका उत्कर्ष दिखाया जाता है, पर 'प्रतीप'में उपमेय उपमानमें बदल जाता है और इसके विपरीत व्यतिरेकमें इस प्रकारका परिवर्तन नहीं होता, वरन् उपमेयमें कुछ गुणोंके निर्देशसे उसका उत्कर्ष प्रकट किया जाता है। जगन्नाथके अनुसार 'प्रतीप'के प्रथम तीन भेद उपमाके अन्तर्गत आ जाते हैं, चतुर्थ अनुक्त धर्मरूपसे व्यतिरेकका ही अंग है, फिर भी यह तथा पंचम **आक्षेप**में समा जाते हैं।

प्रायः इस अलंकारका प्रयोग वीर रसके नायकोंकी प्रशंसा अथवा नायिकाके सौन्दर्यके उत्कर्षके लिए किया गया है। आधुनिक युगमें इस अलंकारका प्रयोग प्रकृतिवर्णनके प्रसंगमें हुआ है। —वि० स्ना०

प्रतीयमान अर्थ—व्यंजना द्वारा ध्वनित अर्थ। दे०—'व्यंजना-शक्ति'।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा—दे०—'उत्प्रेक्षा', चौथा भेद।

प्रत्यक्षवाद—दर्शनमें 'एम्पेरिसिज्म' या इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वस्तुओंपर अनुभवको आधारित करना प्रत्यक्षवाद कहलाता है। परन्तु यह प्रत्यक्ष-ज्ञान हमें कितनी दूरतक ले जा सकता है? क्षण क्षणपर हम देखते हैं कि दृष्टि ज्ञानकी मर्यादा है, दृष्टि-ज्ञान थोड़ा-थोड़ा है। क्षितिजके पार क्या, अँधेरेमें भी दृष्टि नहीं जाती और प्रत्येक इन्द्रिय-प्रत्यक्षके लिए वस्तुका वस्तुपन आवश्यक होता है। ऐसे समय प्रत्यक्षसे परोक्ष, उपमान, अनुमान, शब्द इत्यादि प्रमाणोंका सहारा लेना होता है। जब अन्धविश्वास टूटने लगे और वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा प्रज्ञावादकी प्रतिष्ठा हुई तो प्रत्यक्षवादका भी महत्त्व बढ़ा। कोई भी चीज तबतक सहसा मानने योग्य नहीं मानी गयी, जबतक कि उसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न मिल गया। —प्र० मा०

प्रत्यनीक—लोकन्यायमूल अर्थालंकार, साक्षात् शत्रुका प्रतीकार न कर सकनेपर शत्रुके सम्बन्धीका तिरस्कार किया जाना। दूसरे शब्दोंमें 'जहाँ प्रत्यक्षतः शत्रुका प्रतीकार करनेमें असमर्थ होनेपर, वैरनिवारणके हेतु शत्रुके पक्षवालोंका तिरस्कार किया जाय। सामान्यतः इसका विवेचन रुद्रटसे प्रारम्भ हुआ। मम्मटने प्रतिपक्षका तिरस्कार असमर्थतावश नहीं किया जा सकता', ऐसा माना है (का० प्र० १० : १२९)। विश्वनाथने भी शत्रुके सहायकका ऐसा तिरस्कार करना माना है जो शत्रुके उत्कर्षका कारण हो 'प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि। तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः।' (सा० द० १० ८६.८६)। 'प्रत्यनीक' शब्दका निर्वचन इस प्रकार किया जा सकता है—प्रति+अनीक। 'प्रति'से यहाँ अभिप्राय है 'प्रतिनिधि' (अमरकोष) और 'अनीक'का अर्थ है 'सैन्य' (मेदिनीकोष)। अतः सम्पूर्ण रूपसे 'प्रत्यनीक'का अर्थ हुआ 'सैन्य'का प्रतिनिधि। प्रस्तुत प्रकरणमें सैन्यका अर्थ लक्षणा द्वारा 'शत्रु' ग्रहण किया गया है, अर्थात् 'शत्रुका प्रतिनिधि'। जगन्नाथने 'प्रत्यनीक'को 'हेतूत्प्रेक्षा' माना है, पर 'हेतूत्प्रेक्षा'के सन्निहित होनेपर भी पक्षवालोंके तिरस्कारादिक वर्णनमें अपना अलग चमत्कार है। अतः इसे स्वतन्त्र अलंकार माना है।

हिन्दीमें जसवन्त सिंहने 'प्रत्यनीक'का लक्षण 'कुवलयानन्द'से लिया है—'प्रत्यनीक सो प्रबल रिपु ता हित सों करि जोर' (भा० भू० १५०)। हिन्दीके मतिराम, भूषण, दास तथा पद्माकर आदि आचार्योंने इस लक्षणको केवल इसी रूपमें दिया है—'प्रबल सत्रुके पक्षपर जहँ बिक्रम उल्लास' (ल० ल०. २८५)। चिन्तामणिने अपने लक्षणमें अवश्य मम्मटका आश्रय लिया है—'जाइ लियो नहिं बैर जहँ पर सो प्रबल बिचारि। ऐकौ अपकार जो प्रत्यनीक निरधार।' (क० कु० क० त०)। दासने लक्षण भिन्न रूपमें दिया है—'सत्रु मित्रके पक्षतें, कियें बेर औ हेत' (का०नि० : १४)। इससे स्पष्ट है कि मित्र पक्षवालोंसे मित्रताका व्यवहार करनेमें भी 'प्रत्यनीक' अलंकारकी स्थिति होती है। कन्हैयालाल पोद्दारने सम्बन्धी दो प्रकारके मानकर इसके दो भेद किये हैं—साक्षात् सम्बन्धी तथा परम्परागत सम्बन्धी।

भिखारीदासके इस उदा०—'मदन गरब हर हरि कियो, सखि परदेस पयान। वहै बैर नाते अली, मदन हरत मो प्रान।' (का० नि० १७)में मम्मटकी छाया है। यह नायिकाका कथन सखीके प्रति है। अपनेसे अधिक सौन्दर्यशाली नायकको जीतनेमें असमर्थ कामदेव नायकमें अनुरक्ता नायिकाका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, अतः साक्षात् सम्बन्धीका तिरस्कार है। मतिरामके उदाहरणमें यह सम्बन्ध मात्र परम्पराका है—'तो मुख छबिसों हारि जग, भयो कलंक समेत। सरद-इन्दु-अरविन्द-मुखि! अरविन्दनि दुख देत।' (र० रा० २८६)। भिखारीदासने मित्रपक्षका उदाहरण भी दिया है—'रावरे अंगको रंग विचारि तमालकी डार भुजा भरि भेंटति।' (का० नि० १७), गोपियाँ कृष्णके रंगकी भावनासे तमालको भेंटती हैं।

हिन्दीके रीतिकालमें उक्तिवैचित्र्यके आग्रहसे इस अलंकारका निर्वाह नायिका-वर्णन-प्रसंगोंमें हुआ है। प्रकृतिके उद्दीपन रूपके वर्णनोंमें इसका विशेष उपयोग हो सका है। आचार्य कवियोंके अतिरिक्त बिहारीने भी सुन्दर प्रयोग किये हैं। आधुनिक महाकाव्योंमें, विशेष रूपसे रामचरित उपाध्याय और अयोध्यासिंह उपाध्यायके

काव्योंमें, यह अलकार प्रयुक्त हुआ है। —वि० स्ना०

प्रत्यभिज्ञा–फिरसे पहचान, पुन स्वरूपप्राप्ति। शैव दर्शनमें आगम-शास्त्र, स्पन्द-शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र नामसे त्रिक प्रसिद्ध हैं। आगम-शास्त्रमें अनुश्रुति है, स्पन्द-शास्त्रमें सिद्धान्तका विस्तार है और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्रमें इन सिद्धान्तोंका तर्कबद्ध रूपमें समर्थन है। इस शास्त्रके प्रवर्तक वसुगुप्त और उनके शिष्य सोमानन्द हैं, जिन्होंने 'शिव-दृष्टि' ग्रन्थकी रचना की है। इस ग्रन्थपर उत्पलाचार्यने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' या 'प्रत्यभिज्ञासूत्र' नामकी सक्षिप्त कृति प्रस्तुत की और ये ग्रन्थ इतने प्रख्यात हुए कि कश्मीर शैव मतका नाम ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पड गया। इस ग्रन्थपर प्रसिद्ध साहित्य-शास्त्री तथा दार्शनिक अभिनव गुप्तने 'प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' और 'प्रत्यभिज्ञा-विवृत्ति-विमर्शिनी' नामसे दो टीकाएँ लिखीं, भास्करने अभिनवगुप्तकी टीकापर 'भास्करी' नामकी टीका की। स्वीकृत ग्रन्थके रूपमें इस दर्शनके अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थोंके नाम हैं—'परमार्थ-शास्त्र' और 'तन्त्र-सार', 'तन्त्रालोक' (अभिनवगुप्तकृत) तथा 'प्रत्यभिज्ञा-हृदय', (क्षेमराजकृत)। 'तन्त्रालोक'पर जयरथकी प्रसिद्ध टीका भी उपलब्ध है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शनने शैवागमकी द्वैत-मूलक स्थापनापर अद्वैतकी भित्ति खडी की। सम्भवत यह शकरके अद्वैतका प्रभाव था, पर साथ ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शनने अद्वैतवादमें एक नयी कडी जोडी है, वह कडी थी दृश्य-गोचर और पार्थिव जगत्की स्वीकृति। इस दर्शनने मायाको अनिर्वचनीय न मानकर सत् माना तथा शक्तिको जड न मानकर चित् माना। इसने मोक्षसे भी बडा पुरुषार्थ स्व-विमर्शको माना। सोमानन्दने बतलाया कि स्वातन्त्र्य अर्थात् मोक्ष प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यावहारिक जीवनमें अपने स्वरूपकी पहचान द्वारा प्राप्त कर सकता है। वस्तुत स्वातन्त्र्य व्यक्तिकी आन्तरिक सत्ता है, वही शक्ति है, वही विमर्श है। जब शिव शक्तिमें प्रतिबिम्बित होते ह तभी सबके हाथ अह विमर्श जगता है। यह अहम् विमर्श ही मूल बिम्ब है और इसीके प्रतिबिम्ब या आभास-रूपमें विश्वकी स्थिति है। विश्व ग्राहक और ग्राह्य दोनों है। शिव और शक्तिमें तादात्म्य या सामरस्य सम्बन्ध है। जीव मलकी सीमासे परिवेष्टित रहनेके कारण बद्ध बना रहता है और वह अज्ञानमें पड़ा रहता है। प्रकाश और विमर्शसे अर्थबोध और स्वातन्त्र्यसे विरहित रहता है। शिवत्वयोजना ही उसे बोधित और मुक्त कर सकती है। इसके चार उपाय हैं—अनुपाय, शाम्भव, शाक्त और आणव उपाय। एक प्रकारसे साख्यकी आत्मगत और वस्तुगत, इन दोनों बोधोंपर आधारित दृष्टि और अद्वैत-वेदान्तका निरपेक्ष ब्रह्मवाद इन दोनोंके बीच प्रत्यभिज्ञा दर्शन सामजस्यकी स्थिति लेता है। इसका बहुत ही व्यापक प्रभाव साहित्य-शास्त्रकी मान्यताओंपर है और विशेष रूपसे रसवादकी प्रतिष्ठा प्रत्यभिज्ञाकी ही पीठिकापर हुई है। रसवादमें रसकी वही स्थापना है जो वहाँ शिवकी है। इसीलिए वह मित और अमित दोनों प्रकारके योगियोंके ध्यानसे परे स्व-सविद्का गोचर माना गया है। व्यक्तिको उसकी सीमासे विमुक्त करके उसकी विराट्ताका बोध कराना ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शनका मूल लक्ष्य है और यही प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्रका भी क्रमश चरम प्रतिपाद्य बना। यह सयोगकी ही बात थी कि उस साहित्य-शास्त्रके विकासका चरम उत्कर्ष भी उस प्रदेशमें हुआ जहाँ प्रत्यभिज्ञा-दर्शन विकसित अवस्थामें अपने उत्कर्षपर पहुँच रहा था। —वि० नि० मि०

प्रत्यांतरवैचित्र्यवक्रता–दे०—'पदपरार्धवक्रता', सातवाँ प्रकार।

प्रत्यालोचना–आलोचनाकी आलोचना प्रत्यालोचनाके नामसे अभिहित की जाती है। प्रत्येक आलोचकका अपना-अपना दृष्टिकोण होता है और आलोचना क्षेत्रमें ही विभिन्न सम्प्रदाय होते हैं। आलोचकको यह भी अधिकार है कि वह किसी कृतिके दोषोंका दिग्दर्शन कराये, उसे उपहासास्पद बताये और दोषोंका तर्कपूर्ण स्पष्टीकरण करे। ऐसी परिस्थितिमें मत-वैभिन्य अनिवार्य परिणामके रूपमें दृष्टिगोचर होता है और स्वय कवि या कलाकारको और अन्य आलोचकोंको अपने पक्षसमर्थनमें उत्तर देनेका पूर्ण अधिकार रहता है। प्रत्यालोचनाके अन्तर्गत मूल कृति आलम्बन नहीं रह जाती, यद्यपि उसकी पूर्णत- अवहेलना भी नहीं की जा सकती। उसका स्थान आलोच्य आलोचनाके अन्तर्गत प्रकट किये गये तर्क, मूल्य-निर्धारण, आलोचकका दृष्टिकोण आदि बातें ग्रहण कर लेती हैं। प्रत्यालोचना करते समय काफी सतर्कताकी आवश्यकता है, अन्यथा प्रत्यालोचकका मार्ग-भ्रष्ट हो जाना सम्भव है। प्रतिपक्षी समालोचकके विचारोंकी आलोचना केवल सैद्धान्तिक दृष्टिसे की जानी चाहिये। प्रतिपक्षी आलोचकको नीचा दिखानेकी भावना भी निहित रह सकती है, किन्तु उसके व्यक्तित्व और जीवनसे सम्बन्धित बातोंको लेकर आलोचना करना प्रत्यालोचनाको दूषित बना सकता है। प्रत्यालोचना केवल प्रलापमात्र नहीं होनी चाहिये। प्रतिपक्षी आलोचककी त्रुटियोंपर प्रकाश डालना और विचार विनियमका एक स्वस्थ वातावरण प्रस्तुत करना प्रत्यालोचनाका मुख्य ध्येय होना चाहिये। हो सकता है, दोनों पक्षोंमें कोई समझौता न हो सके। किन्तु रुचिवैचित्र्यका विद्वेषहीन रूप सुन्दर एव स्वस्थ वातावरण निर्मित करनेमें सहायक होता है। विशुद्ध प्रत्यालोचना वही होगी जो प्रतिपक्षीके केवल तर्कोंको परखे। पाठकोंको प्रत्यालोचना समझनेके लिए मूल आलोचनाको पढना और समझना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्यालोचना द्वारा प्रवर्तित वाद-विवादसे कुछ उपयोगी सिद्धान्त या निष्कर्ष निकल सकते हैं और वे दूसरोंका पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। द्विवेदी-युगमें 'देव और बिहारी' सम्बन्धी वाद-विवादमें और आधुनिक पत्र पत्रिकाओंमें आलोचना-प्रत्यालोचनाके दर्शन होते ह।—ल० सा० वा०

प्रत्यावर्तन–सामाजिक-सास्कृतिक प्रवृत्तियोंके पुनरुत्थान अथवा पुनरुद्धारको ही प्रत्यावर्तन कहते हैं। प्रत्यावर्तनका कारण प्राय अतीतका मोह होता है। प्राय- देखा गया है कि जिस व्यक्ति अथवा जातिका वर्तमान उज्ज्वल नहीं वह अतीतके गौरवका स्मरण कर अपनी हीनता-ग्रन्थिसे मुक्त होनेकी चेष्टा करती रहती है और यदि उसे कुछ कर सकनेकी शक्ति आयी तो वह वर्तमानको अतीतके रूपमें परिणत कर देना चाहती है। इस प्रवृत्तिके फलस्वरूप पुराने रीति-रिवाजों,

संस्कारों, विद्याओं आदिका प्रत्यावर्तन होने लगता है। आर्यसमाज आन्दोलनके मूलमें प्राय यही भावना काम करती पायी जाती है कि अतीत सर्वांग सुन्दर था और कि वर्तमान कुछ नहीं है। वस्तुत जब कोई व्यक्ति या राष्ट्र सांस्कृतिक निद्रा अथवा दासतासे मुक्त होता है तो वह सबसे पहले अपने अतीतका ध्यान करता है, जिसे ही वह अपना सच्चा स्वरूप मानता है। हाँ, यदि उसमें सर्जन-शक्ति पर्याप्त मात्रामें हुई तो वह अतीतसे भी सन्तुष्ट नहीं रह सकता और नवनिर्माणकी ओर अग्रसर हो जाता है। इस नवनिर्माणके प्रयत्नमें वह अतीतसे पर्याप्त सहायता अवश्य लेता है, किन्तु उसकी दासता स्वीकार नहीं कर सकता। यूरोपके नवजागरणकालमें ठीक ऐसी ही घटना घटी थी। उस समय, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यूनानी-रोमीय विद्याका उपयोग एक नयी संस्कृतिके निर्माणमें किया गया, जो अतीतकी संस्कृतियोंसे भिन्न थी। प्रत्यावर्तन और नवजागरणमें यही भेद है। —ह० ना०

प्रत्याहार–प्रत्याहार **पूर्वरंग**(दे०)का अंग है–'प्रत्याहारादिकान्यगान्यस्य भूयांसि यद्यपि। तथाप्यवश्य कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये।' (सा० द० ६ २४)। दे०–'हठयोग'। —व० सिं०

प्रत्युत्तरकाव्य–यह भी गोचारणका ही एक रूप है जिसे अँग्रेजीमें 'एँकलाग' कहा जाता है। इसे हम नाटकीय शैली-का काव्य कह सकते हैं, जिसमें स्वगत-भाषण या कथोपकथनकी पद्धति तो अपनायी जाती है, पर नाटकीय कार्यों या अभिनेय घटनाओंका अभाव होता है। साथ ही उसमें वातावरण या दृश्यका वर्णन था तो कवि स्वय करता है या किसी पात्र द्वारा कराता है। नाटकमें दृश्य-निर्देशन पहले तो होता ही नहीं था और आधुनिक युगमें कथोपकथनसे अलग दृश्य या अंकके प्रारम्भमें गद्यमें संक्षेप या विस्तारसे किया जाता है। प्रत्युत्तरकाव्यमें दृश्य-निर्देशन न होकर दृश्य या वातावरणका चित्रण होता है, जो अभिनेताओंके लिए निर्देशके रूपमें नहीं, बल्कि पाठकोंके लाभके लिए होता है। प्रारम्भमें **गोचारणकाव्य** और प्रत्युत्तरकाव्यका रूप एक ही था। बादमें जब **ग्राम्य नाटक** और **ग्राम्य कथाकाव्य** (पेस्टोरल ड्रामा और रोमांस) लिखे जाने लगे तो प्रत्युत्तरकाव्यको एक अलग काव्यरूप मान लिया गया और ग्राम्य वातावरण और गोचारण सम्बन्धी विषयवस्तुपर आधारित काव्यको गोचारणकाव्य तथा किसी भी विषय-वस्तुको लेकर प्रत्युत्तर या संवाद-शैलीसे लिखे गये काव्यको प्रत्युत्तरकाव्य कहा जाने लगा। इस तरह एक विशेष शैलीका नाम प्रत्युत्तरकाव्य हो गया। हिन्दीमें इस शैलीका काव्य नहीं मिलता। —श०ना०सिं०

प्रपत्ति–प्रपत्तिका अर्थ अनन्य भक्ति है, जो भगवान् के 'अनुग्रह'से उत्पन्न होती है, और भगवान्के अनुग्रहको अपनी ओर प्रवृत्त करनेका उपाय शरणागति है, जिसे वल्लभ-सम्प्रदायमें प्रपत्ति कहा गया है। गीतामें प्रपत्तिका संकेत है–'यच्छ्रेय स्यान्निश्चित ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' (२ ७)। अर्थात् कायरताके दोषसे उपहत स्वभाववाला तथा धर्मसम्मूढचित्त मैं आपसे पूछता हूँ कि आप जो कुछ निश्चित कल्याणकारक साधन हो वह कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ। आपकी शरण आया हूँ। मुझे शिक्षा दीजिये।

शरणागतिके छ प्रकार माने गये हैं–(१) 'आनुकूल्यस्य संकल्प' (भगवान्के अनुकूल बने रहनेका संकल्प), (२) 'प्रतिकूलस्यवर्जनम्' (भगवान्के प्रतिकूल भावादिसे अपनेको रोकना), (३) 'रक्षिष्यतीति विश्वास' (भगवान् रक्षा करेंगे, यह विश्वास), (४) 'गोप्तृत्व-वरणम्' (भगवान्का रक्षकरूपमें वरण), (५) 'आत्मनिक्षेप' (आत्मसमर्पण), (६) 'कार्पण्यम्' (दैन्य)। रामानुज-मतमें भी प्रपत्ति(शरणापन्नता)को भक्ति-का सार कहा गया है। उसमें प्रपत्तिके तीन आकार या विशेषण कहे गये हैं–(१) अनन्यशेषत्व, (२) अनन्यसाधनत्व तथा (३) अनन्ययोगत्व। 'अनन्यशेषत्व'का अर्थ है भगवान्का ही दास होना। 'अनन्यसाधनत्व'से तात्पर्य है एकमात्र भगवान्को ही तत्प्राप्तिमें उपाय मानना तथा 'अनन्ययोगत्व'का अभिप्राय है अपनेको एक भगवत्के ही योग्य समझना। 'इन तीनों आकारोंसे विशिष्ट होनेपर ही प्रपत्तिमें पूर्णता आती है, परन्तु दैववश एक-दो आकारोंमें न्यूनता होनेपर भी भगवदनुग्रहसे फलमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं आती।' (भागवत सम्प्रदाय पृ० १८) अपने विश्वासके अनुसार परमात्माके, मुख्यत राम-कृष्णके प्रति अनन्य भावसे भक्त कवियोंने भी आत्मसमर्पणकी भावना व्यक्त की है। निर्गुण भक्त कवियोंने भी अपने प्रतीकोंके प्रति आत्मार्पण अथवा शरणागतिकी भाव-व्यंजना की है। अत प्रपत्ति भक्तिका सर्वोच्च एवं सर्वमान्य भाव है। —वि० मो० श०

प्रपद्यवाद–दे०–'अतियथार्थवाद'।

प्रबंध–दे०–'निबंध'।

प्रबंध-काव्य–(दे०—'कथा-काव्य') प्रबन्ध-काव्य श्रव्य प्रबन्धका एक भेद है। वह पद्य-बद्ध तथा सर्ग-बद्ध कथात्मक-काव्य होता है, पर कुछ प्रबन्ध-काव्य सर्गों या अध्यायोंमें विभक्त नहीं होते हैं। यह कथा-काव्य और इतिवृत्तात्मक कथासे भिन्न काव्यरूप है। केवल पद्य-बद्ध, सर्ग-बद्ध अथवा रसात्मक होनेसे ही कोई काव्य प्रबन्ध-काव्य नहीं हो जाता, क्योंकि इतिहास-पुराण, दर्शन और शास्त्रके ग्रन्थ भी पद्य-बद्ध तथा अध्यायोंमें विभक्त होते हैं, पर वे काव्य नहीं कह-लाते। प्रबन्धात्मक कथाएँ भी यदि अनलंकृत, अरसात्मक या इतिवृत्तात्मक हों तो उन्हें काव्य नहीं कहा जा सकता। प्रबन्धकाव्य कथाकाव्यके अधिक निकट है, क्योंकि दोनोंमें अलंकृत शैली और रसात्मक कथा होती है, किन्तु इन दोनों काव्यरूपोंमें भी उद्देश्य, दृष्टिकोण और विषय-वस्तु सम्बन्धी मौलिक भेद होता है। इन दोनों काव्यरूपोंमें बाह्यत जितनी समानता दिखाई पड़ती है, उनकी अन्तरात्मा-में उतना ही अन्तर भी है। रामचन्द्र शुक्लने प्रबन्ध-काव्यके सम्बन्धमें लिखा है, 'प्रबन्धकाव्यमें मानव-जीवनका पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओंकी सम्बद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रमके ठीक-ठीक निर्वाहके साथ हृदयको स्पर्श करनेवाले—उसे नाना भावोंका रसात्मक अनुभव करानेवाले—प्रसंगोंका समावेश होना चाहिये। इतिवृत्तमात्रके निर्वाहमे रसानुभव नहीं कराया जा सकता।' (जायसी ग्रन्थावली, प्रथम संस्करणका वक्तव्य :

पृष्ठ ६८)। इस परिभाषाने प्रबन्ध-काव्य और इतिवृत्तात्मक कथासाहित्य—परिकथा, धर्म-कथा, सकल-कथा, खण्ड-काव्य आदिका भेद तो स्पष्ट हो जाता है, पर प्रबन्ध-काव्य और रसात्मक कथा-काव्यका मौलिक भेद नहीं स्पष्ट होता। संस्कृतके आलंकारिकोंमें केवल रुद्रटने इस भेदकी ओर ध्यान दिया है और स्पष्ट रूपमें प्रबन्धके भेद—प्रबन्ध-काव्य और कथा-आख्यायिका (कथा-काव्य) निर्दिष्ट किये हैं और कथा-काव्यकी रोमानिकता, उसके प्रेमाख्यानक स्वरूप तथा उनके कथा-शरीरके जटिल सघटनकी ओर संकेत कर दिया है (रुद्रट : काव्यालंकार, १६ वाँ अध्याय, पृ० २० से २३ तक)। इन परिभाषासे स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकारके रोमासिक कथा-काव्यसे भिन्न जो रसात्मक प्रबन्ध हों, उन्हें ही प्रबन्ध-काव्य—महाकाव्य खण्डकाव्य मानना चाहिये। पाश्चात्य देशोंमें प्रबन्धों-(नैरेटिव्स)के दो रूप—महाकाव्य और कथा-काव्य (रोमान्स) बहुत पहले ही मान लिये गये थे, किन्तु लघु प्रबन्ध-काव्यों-(खण्डकाव्य)को वहाँ भिन्न नाम दिया गया, उसे नैरेटिव पोयट्री (प्रबन्ध-काव्य) ही कहा जाता था, रोमांसिक कथा-काव्य (रोमास) नहीं।

प्रबन्ध-काव्यकी निजी विशेषताएँ, जो उसे कथा-काव्य और इतिवृत्तात्मक कथासे भिन्न करती हैं, ये हैं—(१) प्रबन्ध-काव्य, चाहे वह महाकाव्य हो या खण्ड-काव्य, उद्देश्य-प्रधान होता है। उसका लक्ष्य कथा-काव्यकी तरह केवल मनोरंजन और कुतूहलवृत्तिको शान्त करना नहीं होता। राष्ट्र-प्रेम, जातीय-भावना, धर्म-प्रेम या आदर्श जीवनकी प्रेरणा देना ही उसका उद्देश्य होता है। किन्तु यह उद्देश्य परिकथा या धर्मकथाकी भाँति नग्न और अरसात्मक नहीं होता, वह कलात्मक आनन्दके भीतर निहित रहता है। (२) उसमें बौद्धिक ऊँचाई, भावोंकी गम्भीरता और व्यापकता तथा दृष्टिकोण एकांगी और जीवनके कुछ विशेष क्षेत्रोंतक ही सीमित नहीं होता और न भावुकता और काल्पनिकताकी अतिशयता ही होती है। (३) उसमें रोमासिक तत्त्वों और असम्भव तथा अतिप्राकृत शक्तियों, कार्यों और वस्तुओंका या तो अभाव होता है या उनकी अधिकता नहीं होती। यदि ये तत्त्व होते भी हैं तो बौद्धिक ऊँचाई, मर्मस्पर्शी और रसात्मक वस्तु-वर्णन तथा महान् चरित्रोंकी योजनाके कारण संयमित होते हैं। (४) उसकी कथा यथार्थ जीवनपर आधारित होती है, इससे उसमें असम्भव और काल्पनिक कथाका चमत्कार नहीं, बल्कि यथार्थ जीवनके विविध पक्षोंका स्वाभाविक और औचित्यपूर्ण चित्रण होता है। कथा-काव्योंमें भावुकतापूर्ण या एकांगी प्रेम, तज्जन्य युद्ध, भयंकर यात्रा और मार्गके भीषण अवरोध तथा उनपर नायककी विजय, अलौकिक और अप्राकृत शक्तियों द्वारा उनकी सहायता या उनसे मुठभेड़ आदिका ही विशेष वर्णन होता है। प्रबन्ध-काव्यमें ये बातें बहुत कम और कभी-कभी बिलकुल नहीं होतीं। (५) उसका कथानक नाटकीय सन्धियोंकी योजनाके कारण अन्वितियुक्त और सुश्रृंखलित होता है; इससे वह कथाकाव्योंके कथानककी तरह जटिल (कम्प्लेक्स) और उलझा हुआ नहीं होता, न उसमें अवान्तर कथाओंकी भरमार ही होती है। उसमें घटनाप्रवाह और वस्तुवर्णन या भाव-चित्रणपर समान रूपसे बल दिया जाता है, जिससे उसमें कसावटके साथ-साथ कार्यान्विति भी बहुत अधिक होती है। (६) उसके नायक प्रायः आदर्श या अन्य दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण होते हैं और उनका चरित्र यथार्थ जीवनपर आधारित होता है। कथाकाव्योंके चरित्रोंकी तरह वे प्रमुख रूपसे धीरललित और काल्पनिक चरित्रवाले नहीं होते। कथाकाव्योंके चरित्र बहुत सामान्य या काल्पनिक होनेके कारण अद्भुत और असामान्य होते हैं। प्रबन्ध-काव्यके चरित्रोंकी असामान्यता काल्पनिक या अनौचित्यपूर्ण नहीं होती। कथाकाव्योंकी तरह उनका जीवन एकांगी और एकदेशीय नहीं होता। (७) उसमें कथाकाव्योंकी तरह लोकतत्त्वों और कथानक-रूढ़ियोंकी अधिकता नहीं होती, जिससे उसमें कथाकाव्योंकी तरहकी एकरूपता और एकरसता नहीं होती। शिष्ट और नागर समाजकी जीवन-विधि और शिक्षित तथा काव्यदीक्षित पाठकवर्गकी रुचिको ध्यानमें रखनेके कारण प्रबन्ध-काव्यके कविमें अपनी मौलिक काव्यप्रतिभासे नवीनता लाने या पाण्डित्य-प्रदर्शन करनेकी प्रवृत्ति अधिक होती है। इससे प्रबन्ध-काव्यमें परम्परा और नवीनता, सहजता और पाण्डित्य, मनोरंजन और सोद्देश्यता तथा यथार्थ और कल्पनाका सुन्दर सामंजस्य दिखाई पड़ता है। (८) उसकी शैली अलंकृत, उदात्त और गरिमामयी होती है और उसमें कविकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्तिके फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक चित्रण, विवृत वस्तुवर्णन और तत्त्वनिरूपणकी प्रवृत्ति अधिक होती है। (दे०—'महाकाव्य', 'चरितकाव्य')

—शं० ना० सिं०

प्रबंध-वक्रता—(प्रबन्ध=काव्य अथवा नाट्य प्रबन्ध+वक्रता=निर्माण-विचित्रता)—प्रबन्ध-वक्रता वस्तुतः कवि अथवा नाटककारकी प्रतिभा और निर्माण-कुशलताकी असली कसौटी है। पद-पदांश-वाक्यादिकी वक्रताएँ प्रबन्ध-सौन्दर्यमें बुद्बुद-वीची-तरंगकी भाँति उन्मग्न निमग्न हुआ करती हैं। महाकविका महनीय पद प्रबन्ध-वक्रताकी देन है। जिस कविकी कला प्रबन्ध-वक्रताकी परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाय उसीकी कृति सहृदय-हृदयपर एकाधिकार रख सकती है।

प्रबन्ध-वक्रताके कई एक नियामक हैं, जिनके विश्लेषणमें इसके कई एक प्रकार सिद्ध होते हैं। प्रबन्ध-वक्रताका पहला नियामक **रस-परिवर्तन** है। जिस काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धमें रस-परिवर्तन रहा करता है उसका सौन्दर्य अमिट हुआ करता है। वक्रोक्तितत्त्वदर्शी आचार्यकी दृष्टिमें रस-परिवर्तनका यह अभिप्राय है—'इतिवृत्तान्यथावृत्तरससम्पदुपेक्षया। रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्॥ तस्या एव कथामूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः। विनेयानन्दनिष्पत्त्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता॥' (वक्रोक्तिजीवित . ४ १६-१७)। अर्थात् पहली प्रबन्ध-वक्रता वह है जिसे 'रस-परिवृत्ति'के द्वारा काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धकी सरस समाप्तिका चमत्कार कह सकते हैं। मूल कथावस्तुके रसभावका अनुसरण करके भी जब कोई कवि या नाटककार अपने प्रबन्धको किसी रसभावकी ओर ले जाता है तब ऐसा लगता है जैसे समस्त काव्य अथवा नाट्यशरीर नवीनता और रमणीयतासे भर उठा है और सहृदय-हृदयको आनन्द-विस्मयसे द्रवित करने

लगा है। आदिकविकी 'रामायण'के रसमें डूबते-उतराते अनेक महाकवियोंने काव्य अथवा रूपक-प्रबन्धोंकी रचना की है, किन्तु सबने अपने प्रबन्धका अन्त रामायणके रसभावसे भिन्न रसभावमें ही किया है। क्या 'रघुवंश', क्या 'उत्तररामचरित', क्या 'रामचरितमानस' और क्या 'साकेत'—सबमें रसपरिवृत्तिजन्य प्रबन्ध-वक्रता विराजमान है और इसीलिए ये सब सहृदय-हृदयकी भाँति अमर हैं और अपने रचनाकारोंको भी अमर बनाये हुए हैं।

प्रबन्ध-वक्रताका दूसरा नियामक **समापन** सौन्दर्य है जिसका विश्लेषण कुन्तकने इन शब्दोंमें किया है—'त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा। इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समापनम्। तदुत्तरकथावर्तिविरसत्वजिहासया। कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रस्य वक्रता।' (व० जी० ४ १८-१९)। अर्थात् जब कोई कवि या नाटककार अपने प्रबन्धमें मूल कथावस्तुके निर्वाहका आग्रह न कर ऐसे कथाभागसे प्रबन्धका समापन करता है, जिसमें चरितनायकके व्यक्तित्वका चमत्कारजनक उन्मीलन हुआ करता है और प्रबन्ध-रसमें विचित्र तीव्रता आ जाया करती है, तब यही समझना उचित है कि उसने अपने प्रबन्ध-समापनमें मौलिकता दिखायी है और प्रबन्धको काव्यात्मक सौन्दर्यमें भर दिया है। 'रामायण' अथवा 'महाभारत'के कथानकके आधारपर कई एक कवियोंने काव्य अथवा नाटक रचे हैं, किन्तु इनमें महाकविका पद उन्हें ही मिला है जो अपने प्रबन्धके रसभावकी दृष्टिसे, 'रामायण' अथवा 'महाभारत'के कतिपय नीरस प्रतीत होनेवाले वृत्तोंको छोड़-छाड़कर, उसी वृत्तसे अपनी रचना समाप्त करते हैं जिसमें रस-परिपोषकी शक्ति सर्वाधिक प्रतीत हुआ करती है। इस प्रकारकी प्रबन्ध-वक्रताके उदाहरण संस्कृत अथवा हिन्दीके सभी महाकवियोंके काव्य अथवा नाटक-कृतियाँ हैं। संस्कृतके महाकवि भारविके 'किरातार्जुनीय'में प्रबन्धकी वक्रता अथवा सहृदय-हृदय-सम्मत काव्यात्मक रमणीयताका एक अन्यतम निदान यही समापन-वैचित्र्य है। भारविका महाकाव्य महाभारतके अन्तिम अर्थात् स्वर्गारोहणके वृत्तमें नहीं समाप्त होता। इसकी समाप्ति किरात (शिव) और अर्जुनके द्वन्द्व युद्धमें ही हो जाती है और इसलिए हो जाती है जिसमें अर्जुनका अदम्य उत्साह सहृदय-हृदयको वीर रससे प्रदीप्त और प्रज्वलित करके ही शान्त हो।

प्रबन्ध-वक्रताका तीसरा नियामक **कथाविच्छेद-वैचित्र्य** है जैसा कि कुन्तकका विश्लेषण है—'प्रधानवस्तुसम्बन्धतिरोधानविधायिना। कार्यान्तरान्तरायेण विच्छिन्नविरसा कथा॥ तत्रैव तस्य निष्पत्तेर्निर्निबन्धरसोज्ज्वलाम्। प्रबन्धस्यानुबध्नाति नवां कामपि वक्रताम्॥' (व० जी० ४ २०-२१)। अर्थात् कथाविच्छेद-वैचित्र्यसे प्रबन्धमें एक ऐसी सुन्दरता आ जाती है जो पूर्वोत्तर कथा-निर्वाहके द्वारा कदापि नहीं आ सकती। यह कथाविच्छेद वहाँ प्रबन्ध-सौन्दर्यका कारण होता है, जहाँ चरितनायक अपने व्यक्तित्वके अनुरूप, अपने मुख्य उद्देश्यके स्थानपर, किसी ऐसे आनुषंगिक उद्देश्यकी ओर उन्मुख चित्रित किया जाया करता है, जिससे अन्ततोगत्वा वस्तुतः मुख्य उद्देश्यकी ही सिद्धि सूचित हो जाती है। कथाविच्छेदमें भी एक रस हुआ करता है और ऐसा हुआ करता है जो पहले तो प्रबन्ध-रससे अनुप्राणित रहा करता है और प्रबन्ध-रसके चमत्कारका भी परिपोषक बन जाता है। कथाविच्छेद-वैचित्र्यके द्वारा प्रबन्ध-वक्रताके उदाहरण-रूपमें संस्कृतके महाकवि माघके 'शिशुपालवध' महाकाव्यको लिया जा सकता है।

प्रबन्ध-वक्रताका चौथा प्रकार वह है जिसे **आनुषंगिक फल-योजना** द्वारा प्रबन्धमें सौन्दर्यका आधान कहा गया है। कुन्तकने स्पष्ट कहा है—'तत्रैव फलसम्पत्तिसमुद्युक्तोऽपि नायकः। फलान्तरेष्वनन्तेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु। धत्ते निमित्ततां स्फारयशःसम्भारभाजनम्। स्वमाहात्म्यचमत्कारात्सापरा चास्य वक्रता।' (व० जी० ४ २३-२४)। अर्थात् काव्य अथवा नाट्य प्रबन्धकी एक विचित्र वक्रता वह है जो मुख्य फलके प्रति उद्योगशील रूपसे चित्रित नायककी अन्य आनुषंगिक फल-प्राप्तिके वर्णनमें रहा करती है। कवि अथवा नाटककार अपने प्रबन्धके नायकको किसी एक फलके प्रति समुद्युक्त चित्रित कर रहा है, किन्तु नायकका महनीय व्यक्तित्व इस प्रकार विकसित होने लगता है कि अन्य भी अनेक फल उसे अनायास मिलने लगते हैं। आनुषंगिक फल-योजनाका अभिप्राय वस्तुतः चरित-नायकके व्यक्तित्व किं वा उससे भी सम्बद्ध रसभावकी व्यापकताका अभिप्राय है। उदाहरणके लिए, संस्कृतके नाटक 'नागानन्द'की प्रबन्ध-वक्रता, जिसका अन्यतम कारण आनुषंगिक फल-योजना है। इस नाटकके नायक जीमूतवाहनका चरित्र-चित्रण एक आदर्श पितृभक्तके रूपमें किया जा रहा है, किन्तु नायकका व्यक्तित्व इतना महान् है कि वह जीवदया और विश्वमैत्रीकी साधनामें आत्म-समर्पण करनेके लिए तत्पर हो जाता है जिससे नाटककार इसे इस रूपमें ही विशेषतया चित्रित करनेमें लग जाता है। इस प्रकार आनुषंगिक फल-योजना 'नागानन्द'के प्रबन्ध-सौन्दर्यका निदान बन जाती है।

प्रबन्ध-वक्रताका पाँचवाँ नियामक **नामकरण-वैचित्र्य** है। नामकरण-वैचित्र्यका अभिप्राय यह है—'आस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यं काव्ये कामपि वक्रताम्। प्रधानमविधानाकनाम्नाऽपि कुरुते कविः।' (व० जी० ४ २४)। अर्थात् काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धका एक वह भी विलक्षण सौन्दर्य है जो कि उसके ऐसे नामकरणमें झलका करता है, जिसमें उसके मुख्य इतिवृत्तको प्रेरित करनेवाली किसी घटनाकी सूक्ष्म रूपरेखा आभासित हुआ करती है। जैसे कि संस्कृतके रूपक-प्रबन्धोंके 'अभिज्ञानशाकुन्तल,' 'मुद्राराक्षस,' 'कुन्दमाला,' आदि नाम ऐसे नाम हैं जो सहृदयको अपने प्रति यों ही आकृष्ट कर लेते हैं और जब सहृदय इनके इतिवृत्तसे परिचित होने लगते हैं तब उनका आकर्षण आनन्द-विस्मयमें बदलता चलता है। हिन्दीके काव्य और नाट्य-प्रबन्धोंमें 'साकेत,' 'पूर्वकी ओर,' 'राखीकी लाज' आदि भी नामकरण-वैचित्र्य-जनित प्रबन्ध-वक्रताके सुन्दर निदर्शन हैं।

प्रबन्ध-वक्रताका छठा नियामक **कथासाम्य** (वस्तुतः एक मूल कथामें संक्षेपविस्तारके द्वारा वैलक्षण्य) है, जैसा कि आचार्य कुन्तकका कथन है—'अप्येककथया वद्धा-

काव्यवद्धा' कवीश्वरैः। पुष्णन्त्यनर्घामन्योन्यवैलक्षण्येन वक्रताम्।' (व० जी० ४.२५)। अर्थात् काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धोंका यह भी एक अन्यतम सौन्दर्य है कि मूल वृत्त चाहे एक ही हो, किन्तु भिन्न-भिन्न रुचि और भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिवाले कवि या नाटककार, अपने-अपने प्रबन्धमें कहीं विस्तीर्ण वृत्तको संक्षिप्त कर और कहीं संक्षिप्त वृत्तको विस्तीर्ण कर, चित्र-विचित्र रूपसे नयी-नयी वस्तु-योजना करते दिखाई दिया करते हैं, उदाहरणके लिए, 'उत्तररामचरित', 'वीरचरित,' 'बालरामायण' आदि संस्कृत रूपक-प्रबन्ध। इन रूपक-प्रबन्धोंके रचनाकार एक ही कथामार्गपर चलनेवाले हैं, किन्तु इनका प्रत्येक पद, प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक प्रकरण ऐसा विलक्षण है कि सहृदय-हृदयके लिए सभी नये-नये प्रबन्ध प्रतीत होते हैं और नयी-नयी भावभंगीमें नये-नये रसका वितरण करते चलते हैं। —स० प्र० सिं०

प्रबोधक काव्य–प्रबोधक काव्य कोई निश्चित काव्यरूप नहीं बल्कि शैली, विषय-वस्तु और उद्देश्यकी दृष्टिसे एक विशिष्ट काव्य-प्रकार है। अँग्रेजीमें इसे 'डाइडेक्टिक पोयट्री' कहा जाता है। ऐसा काव्य जिसका उद्देश्य सीधे-सीधे उपदेश देना और पाठकोंका सुधार करना हो और जिसका कलात्मक पक्ष उसके नैतिक या उपदेशात्मक पक्षसे बिलकुल दब गया हो, प्रबोधक काव्य कहा जाता है। कुछ कविताओंमें कवि स्पष्ट शब्दोंमें किसी विशेष विषय या वस्तुके सम्बन्धमें पर्याप्त सूचनाएँ देते या अपने ज्ञानका प्रदर्शन इसलिए करते हैं कि पाठक उससे लाभ उठायें। ऐसा काव्य भी प्रबोधक काव्यकी श्रेणीमें ही आता है। इस दृष्टिसे मध्यकालीन हिन्दी साहित्यका वह समस्त **नीतिकाव्य**, जिसका उद्देश्य नीतिका उपदेश देकर पाठकोंको प्रबुद्ध या सचेतन करना था, प्रबोधक काव्य ही माना जायगा। आधुनिक कालमें द्विवेदी-युगके बहुतसे कवियोंने देश, समाज और धर्म-सुधारके लिए अभिधात्मक शैलीमें जो कविताएँ लिखीं, वे भी प्रबोधक काव्यकी कोटिमें ही आती हैं। मैथिलीशरण गुप्त-रचित 'भारत-भारती' प्रबोधक काव्यका उत्कृष्ट उदाहरण है। स्थूल आदर्शवाद और पुनरुत्थानकी प्रवृत्तिके कारण तथा आर्यसमाजकी अतिशय सुधारवादी भावनाके प्रभावसे द्विवेदीयुगीन कवितामें खण्डन-मण्डन, बौद्धिक तर्क-वितर्क और सीधे सीधे उपदेश देनेकी पद्धति विशेष रूपसे अपनायी गयी और कलात्मक मूल्योंसे अधिक नैतिक मूल्योंपर बल दिया गया। इस कारण उस युगकी कविताएँ अधिकांशतः वर्णनात्मक, स्थूल, उपदेशात्मक और नीरस हैं। वे प्रायः सभी प्रबोधक काव्य हैं। अँग्रेजीमें ड्राइडेन और पोपकी बहुत सी कविताएँ तथा वर्ड्सवर्थकी कुछ उत्तरकालीन कविताएँ प्रबोधक काव्यकी कोटिमें मानी जाती हैं।

प्रबोधन या उपदेश देना काव्यका प्राथमिक उद्देश्य है या नहीं, इस सम्बन्धमें प्राचीन कालसे लेकर अबतक साहित्य-शास्त्रियोंमें बहुत मतभेद रहा है। व्यापक दृष्टिसे देखनेपर तो काव्यमात्र प्रबोधक होता है, क्योंकि प्रत्येक कवितासे मनुष्यका किसी-न-किसी रूपमें लाभ होता ही है। परन्तु कुछ विचारक काव्यका सर्वप्रथम उद्देश्य प्रबोधन मानते हैं। प्लेटो तो स्पष्ट शब्दोंमें काव्यको उपदेश या नैतिक शिक्षणका साधन मानता था और विशुद्ध लिखनेवालोंको वह अपने आदर्श गणराज्यमें स्थान देनेतकको तैयार नहीं था। रोमन कवि और साहित्यशास्त्री हॉरेसने प्रबोधनको काव्यका महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानते हुए भी उसे एकमात्र उद्देश्य नहीं माना। उसके अनुसार कवि अपनी कविता द्वारा या तो शिक्षा देता है या आनन्द प्रदान करता है या दोनों कार्य करता है। आधुनिक युगके विचारक रस्किन, टॉल्सटाय और महात्मा गान्धी काव्यका उद्देश्य प्रबोधनात्मक ही मानते हैं। भारतीय आलंकारिक मम्मटने काव्यका प्रयोजन इस प्रकार बताया है–'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।' इस प्रकार मम्मट भी मानते हैं कि काव्यसे व्यावहारिक ज्ञानकी शिक्षा मिलती है, पर उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह उपदेश उसी प्रकार मधुर और आकर्षक रूपमें होना चाहिये, जैसे पत्नी अपने पतिको माधुर्यवेष्टित शैलीमें उपदेश देती है। अतः मम्मट भी हॉरेसकी तरह उपदेश और आनन्द दोनोंको ही काव्यका उद्देश्य मानते हैं, किन्तु उपदेश इतना सीधा और स्पष्ट नहीं होना चाहिये कि श्रोता उसे प्रारम्भमें ही समझ जायँ। हॉरेसके शब्दोंमें काव्यगत उपदेश बच्चेको दी जानेवाली प्यालेकी कड़वी दवा है और उसका माधुर्य प्यालेके छोरपर लिपटा शहद है। जैसे शहदके सहारे बच्चा कड़वी दवा पी लेता है, उसी तरह माधुर्य और आनन्दके माध्यमसे पाठक या श्रोता उपदेश ग्रहण करते हैं। अतः जिस कवितामें उपदेश माधुर्य या काव्य-सौन्दर्यसे पूर्णरूपेण आवेष्टित नहीं होता, उसे प्रबोधक काव्य समझना चाहिये। (दे०–'दृष्टांत काव्य'।) —श० ना० सिं०

प्रभाववाद (impressionism)–प्रभाववाद अँग्रेजी 'इम्प्रेशनिज्म'का हिन्दी पर्याय है। इसका उदय, विकास और समापन-काल १९वीं शती ईसवीके उत्तरार्धके अन्तर्गत आता है। यूरोपीय चित्रकलाके विकास-क्रममें प्रभाववादकी स्थिति शास्त्रीय यथातथ्याङ्कन (academic naturalism) तथा अभिव्यञ्जनावाद (expressionism)की मध्यवर्ती है। आधुनिक चित्रकलाका आरम्भ प्रभाववादी आन्दोलनने ही बताया जाता है। इस वादकी प्रेरणासे किस प्रकारके चित्रोंकी सृष्टि हुई इसका बोध निम्नलिखित परिभाषासे हो जाता है। प्रभाववाद शब्द अथवा प्रभाववादी चित्र एक विशेष प्रकारके चित्रणका बोध कराता है, जो बिन्दु-विनिर्मित होनेके कारण रेखाबद्ध तथा छायाकार चित्रकी तुलनामें किंचित् रूपहीन होता है। (एन्साइक्लोपीडिया ऑफ पेण्टिंग, मायर्स पृ० २४३)।

बिन्दुमूलक (pointilistic) चित्रण-पद्धति प्रभाववादी चित्रोंकी सबसे प्रमुख विशेषता है। इस पद्धतिका आविर्भाव वैज्ञानिक चिन्तन द्वारा हुआ। विज्ञान युगका यह सर्वप्रथम प्रभाव था जिसने यूरोपीय चित्रण-शैलीको मूलतः आक्रान्त करके एक विशेष दिशाकी ओर मोड़ दिया। प्रभाववादी चित्रकारोंने अपनी वर्ण-योजनाको साधारण प्रचलित परिपाटीसे भिन्न करते हुए उसे रूढ़ियोंसे मुक्त अर्द्धवैज्ञानिक आधारपर पुनः संयोजित किया। हेमहोल्ट्ज तथा अन्य शोधकोंने रंगों और प्रकाश-किरणोंका वैज्ञानिक अध्ययन

करके जो निष्कर्ष निकाले, उनका कलाके क्षेत्रमें चित्रकारों द्वारा साग्रह उपयोग किया गया। वृक्ष हरे ही बनाये जायँ, शाखाएँ और तने भूरे रंगसे चित्रित किये जायँ और आकाशको सर्वत्र नीला ही अंकित किया जाय, इन रूढ़िवादी धारणाओंको प्रभाववादने प्रकृतिके मुक्त वातावरणसे प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभवों तथा वैज्ञानिक चिन्तनसे अनुप्रेरित तर्कों द्वारा उन्मूलित कर दिया। यह वैज्ञानिक तथ्य कि परस्पर असम्बद्ध, तीव्र एवं शुद्ध वर्ण-विन्दु दूरसे देखनेपर आपसमें सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, विन्दुमूलक चित्रणको व्यापक बनानेमें विशेष सहायक हुआ। इस प्रकारकी वर्णयोजना, सीधे घोलकर पोते हुए रंगोंकी अपेक्षा, कहीं अधिक जीवन्त प्रभाव उत्पन्न करती है। वास्तवमें यह यथातथ्यांकनकी ही वृत्ति थी जिसने वैज्ञानिकताके आश्रयसे अपनेको नवीन रूपमें व्यक्त किया। इस दृष्टिसे प्रभाववाद 'यथार्थ चित्रण'-(realistic painting)-का ही परिविस्तार माना जाना चाहिये और 'आधुनिक कला'के समारम्भका श्रेय प्रभाववाद-के स्थानपर उत्तर-प्रभाववाद(post impressionism)-की प्रवृत्तियोंको मिलना चाहिये, जिसकी परिणति अभि-व्यंजनावाद(expressionism)में हुई।

उक्त विन्दुमूलक वैज्ञानिक वर्णयोजनाके अतिरिक्त प्रभाववादकी अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है प्रकृतिके मुक्त वातावरणके बीच क्षणविशेषमें परिलक्षित दृश्यका प्रभावो-त्पादक अंकन। प्रभाववादियोंसे पूर्व यूरोपीय चित्रांकन कला-कक्षों(studios)के कृत्रिम प्रकाशमें हुआ करता था। परिणामतः निर्मित चित्रोंमें गहरे मिश्रित तथा अन्धकारका आभास देनेवाले धूमिल रंगोंका ही आधिक्य रहता था। शुद्धता और उज्ज्वलतासे हीन वर्ण-नियोजना द्वारा जो कल्पित प्राकृतिक दृश्य अंकित किये जाते थे वे एकरस तथा निर्जीव लगने लगे थे। इस अन्धकार, घुटन और जीवनहीनताकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाके रूपमें ही प्रभाव-वादका उदय हुआ। उसने मुक्त प्राकृतिक वातावरणको एक विशेष आकर्षणके साथ अपनाया। इसीलिए प्रभाववाद-को 'प्लेन एयर स्कूल ऑफ पेंटिंग' भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है स्वच्छ उन्मुक्त वायुमें चित्रण करनेवाला सम्प्रदाय। प्रभाववादी कलाकार कला-कक्षोंको छोड़कर प्रकृतिके विस्तृत प्रांगणमें खुली हवामें साँस लेनेके लिए आ गये। दृश्योंका चित्रण प्रकाशमय दृश्यस्थलोंपर ही किया जाने लगा। यूरोपकी पूर्वपरम्पराके परिप्रेक्ष्यमें यह बड़ी भारी क्रान्ति थी, जिसको पर्याप्त संघर्षके बाद ही व्यवस्थित मान्यता प्राप्त हुई। दृश्यके क्षण-प्रभावको विशिष्ट वर्णयोजनाके रूपमें संघटित करके प्रभाववादी चित्रकारोंने सजीव दृश्यचित्रों(landscapes)के अंकनकी एक नवीन परम्पराका सूत्रपात किया। स्थूल दृश्यके स्थानपर दृश्य-दर्शनसे उत्पन्न तात्कालिक प्रभावको अंकित करना उनका ध्येय बन गया। प्रभाववादकी सत्तासे पूर्व भी ऐसे चित्रणके अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें तूलिकाका मुक्त एवं अरूढ़ प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, वेलाजक्विज भवनके रोमन भित्तिचित्रोंमें तथा सुंगकालके चीनी दृश्य-चित्रोंमें प्रभाववादके अनेक तत्त्व उपलब्ध होते हैं। फ्रांस, जहाँसे आधुनिक कलाके प्रायः सभी प्रमुख वाद उद्भूत हुए हैं, उन्नीसवीं शतीके प्रारम्भमें शास्त्रीय परिपाटीके पुनरुद्धार-की चिन्तामें ग्रस्त था, तथापि बीच-बीचमें ऐसे दो-एक कलाकारोंका कृतित्व सामने आ जाता था जिनमें नवीन दिशाओंकी खोजकी प्रवृत्ति थी। डेविड और इन्ग्रीसके बाद ही डेलाक्रोस्सका आगमन ऐसा ही है। उसने निरपेक्ष शास्त्रीयतामें मानवीयता तथा नाटकीयताका समावेश किया और उस पथका उद्घाटन कर दिया जिसपर चलनेसे लगभग पचास वर्ष बाद प्रभाववादका आविर्भाव हुआ। डेलाक्रोस्सने इंग्लैण्डके कान्स्टेबुल तथा टर्नर प्रभृति यथार्थवादी दृश्य चित्रकारोंकी वर्णयोजनाका स्वयं अध्ययन करके वर्णविन्यासकी नयी विधाका फ्रान्सीसी चित्रकलाके क्षेत्रमें प्रवेश किया। पेरिसके प्रभाववादी चित्रकारों और इंग्लैण्डके उक्त प्रकृति-प्रेमी कलाकारोंके बीच डेलाक्रोस्सका व्यक्तित्व एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्धसूत्र बन सका।

कला और साहित्यके क्षेत्रमें बहुतसे वादोंके नाम विरोधी वर्गके आग्रहसे ही पड़े हैं। 'इम्प्रेशनिज्म' या प्रभाववादके साथ भी यही घटित हुआ। मॉनेका सूर्यास्तविषयक एक चित्र जो सन् १८७४ ई०की 'ग्रुप' प्रदर्शिनीमें प्रदर्शित हुआ था, इसका आधार बना। चित्रका नाम था 'इम्प्रेशन सेटिंग सन।' आज यह चित्र कठिनाईसे आधुनिक कहा जा सकेगा, पर अपने समयमें इसके विरोधमें इतनी तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि लगभग पूरे दशकतक इसके रचयिता क्लॉड मॉनेको दुर्भावनापूर्ण व्यंग्य और परिहासके आघात सहन करने पड़े। इस चित्रके शीर्षकमें जो 'इम्प्रेशन' शब्द आया वही सारे प्रभाववादी आन्दोलनका आधारविन्दु बन गया। चित्रमें सूर्यकी जलगत आलोक प्रतिच्छायाको मुक्त तूलिका-भंगों(free brush stroks)से कुछ स्फुट और कुछ अस्फुट रूपमें लाल-पीले रंगोंमें अंकित किया गया था। आगे कदाचित् यही स्फुट विन्दुवाद (pointilism)का मूल प्रेरक सिद्ध हुआ। प्रतिविम्बों और प्रतिच्छायाओंके प्रति प्रभाववादी चित्रकारोंका विशेष मोह रहा है और यह तत्त्व भी मॉनेकी इस कृतिमें स्पष्ट रूपसे उपलब्ध हो जाता है। कुछ चित्रोंमें विम्बकी अपेक्षा प्रतिविम्बके अंकनको इतना महत्त्व दिया जाता था कि यदि चित्रको उलटा करके देखा जाय तो भी वह यथार्थ लगता रहे। सन् १८६०से लेकर १८८०तक पेरिस-निवासी विविध देशोंके चित्रकारोंके बीच न्यूनाधिक मात्रामें प्रभाववादी चित्रणशैली प्रचलित रही। पेरिसके ये चित्रकार-आन्दोलन एक प्रकारसे विश्वव्यापी हो गये। आधुनिक कलाके बहुतसे प्रमुख संस्थापकोंकी कृतियोंका मूल स्रोत इसी कालमें मिलता है। विषयवस्तुकी अपेक्षा अंकन-प्रणालीको अधिक महत्त्व देते हुए प्रभाववादियोंने नागरिक, ग्रामीण और प्राकृतिक तत्त्वोंसे मुक्त एक ऐसे वातावरणकी सृष्टि की जो सुरुचि और संस्कारकी दृष्टिसे मध्यवर्गीय था। उच्चवर्गीय चित्रकारोंकी तुलनामें प्रभाववादी चित्रकारोंके पास सम्पत्ति और साधन अत्यन्त सीमित थे और कुछ कलाकार तो निश्चित रूपसे क्षुधाग्रस्त रहकर कार्य करते थे। वस्तुजगतकी सत्ताके प्रति विश्वास और अवकाशके क्षणोंको जीवन्त रंगालेखनमें बाँधते रहनेकी अदम्य आकांक्षा ही उनका सम्बल थी। लोकापवाद और आर्थिक कठिनाइयोंके बीच उनका साहसपूर्ण संघर्ष

कलाके क्षेत्रमें अपना स्वतन्त्र इतिहास रखता है। उन्होंने प्रकृतिको आत्मीयता प्रदान करते हुए उसे ऐसी वात्यात्मक भावमयतामें चित्रित किया जो सर्वग्राह्य हो सकी। वस्तु-विन्यासमें प्रभाववादियोंने क्षणिक अनुभूतिकी तरह क्षणिक सघटनपर बल दिया। मनुष्य-मनुष्यके बीचके अस्थिर क्षुद्र सम्बन्धोंकी निस्सारता और नागर जीवनकी अर्थहीन सकुलताको उन्होंने अपने तूलिकाभगोंसे ध्वनित किया। उदाहरणके लिए, पिसरो अथवा डेगसके कतिपय चित्रोंको प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रभाववादी चित्रकारोंने अपने जीवनकी रिक्तताकी पूर्ति अपनी वर्णसंवेदना द्वारा की। वर्णोंकी सतरगी इन्द्रधनुषी आभा उनकी आत्मतृप्तिका प्रमुख साधन बनी और उसीको चित्रफलकपर विविध प्रकारसे अवतीर्ण करनेमें वे सलग्न रहे। बहुतसे चित्र मात्र वर्ण-विन्यासके स्फुरणयुक्त आह्लादकी उपलब्धिके लिए बनाये गये।

प्रभाववादी आन्दोलनके साथ सम्बद्ध प्रमुख कलाकारोंमें जिनकी गणना होती है, उनमें मॉने, रेनुआ, पिसरो, सिस्ले तथा बेजील आदिके नाम महत्त्वपूर्ण हैं। मॉने और डेगसने भी प्रभाववादियोंके साथ ही मिलकर काम किया। उत्तर प्रभाववादके अन्तर्गत आनेवाले तत्कालीन तरुण कलाकार सेजॉं, गोगॉं, वानगफ तथा स्युरट, जिनको अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई, उक्त प्रभाववादी चित्रकारोंसे गम्भीर रूपमें अनुप्रेरित हुए। स्युरट और वानगफकी चित्रण-शैलीमें विन्दुवादका स्पष्ट समावेश है, जो प्रभाववादियोंसे रिक्थकी तरह उन्होंने उपलब्ध किया और आत्मप्रेरणासे अधिक सवेदनशील बना दिया। वानगफकी कला इस दृष्टिसे अधिक प्रशसनीय है।

इस आन्दोलनकी जड़ें 'सैलून दे रिफ्यूजेन्'मे मिलती हैं, जहाँ सन् १८६३के लगभग उपर्युक्त अनेक चित्रकारोंके चित्र प्रदर्शित होते रहते थे। मॉनेने केफ गेरगसको केन्द्र बनाकर इन स्वतन्त्र-चेताओंका नेतृत्व ग्रहण करनेकी चेष्टा की, परन्तु मॉने, रेनुआ, बेजील और सिस्लेने ग्लेयर्स स्टूडियोको छोड़कर मुक्त वातावरणमें चित्रणकी परम्परा चलायी। इनका कार्यक्षेत्र अधिकतर फॉण्टेनेब्ल्यूके समीपवर्ती भागमें रहता था। 'फ्रैंको प्रशियन' युद्धने इस चित्रकारवर्गको बिखरा दिया। कुछ इग्लैण्ड अथवा अन्यत्र चले गये और कुछ नये प्रभावोंमें आ गये। सन् १८७४–८६के बीच लगभग सभी दलोंके कलाकार विशिष्ट प्रभाववादी चित्र-प्रदर्शनियोंमें सम्मिलित होते रहे। इन प्रदर्शनियोंका आयोजन प्राचीन परम्परावादी सैलूनोंकी चित्र-शैलीके विरुद्ध किया जाता था। मुख्य संघर्षकाल १८८० तक रहा, जिसके पश्चात् बहुतसे कलाकारोंकी स्थिति सुधर गयी और प्रभाववाद स्थिर रूप ग्रहण करने लगा। विकासकी चरम सीमाके बाद बहुतसे चित्रकार प्रभाववादी धारासे अलग होकर अभिव्यजनाकी नयी दिशाओंकी खोजमें लग गये और रूप तथा गठनके तत्त्वोंपर विशेष बल देने लगे। प्रभाववाद एक सीमातक बढ़कर उत्तर-प्रभाववादमें परिणत होने लगा। मॉने, जिसने सघर्षकालमें प्रभाववादियोंका सुदृढ नेतृत्व किया, परिवर्तनसे सबसे कम प्रभावित हुआ। कहा जा चुका है कि वास्तवमें प्रभाववाद यथातथ्याकनकी वृत्तिका ही परिविस्तार है और आधुनिक कलाका बीज उसकी अपेक्षा उत्तर-प्रभाववादकालीन चेतनामें निहित मिलता है। प्रभाववादने आधुनिक कलाके बीजको धारण करनेके योग्य भूमि तैयार की, साधारणतया यूरोपीय कला-समीक्षक ऐसा नहीं मानते। वे प्रभाववादके अन्तर्गत् आधुनिक कलाका बीज खोजते हैं। प्रभाववादके अन्तर्गत विचार करनेपर कुछ तत्त्व ऐसे अवश्य मिलते हैं जिन्हें आधुनिक कलामें भी अपनाया गया है, जैसे, क्षण-विशेषकी अनुभूतिका महत्त्व, परम्परासे विरत होकर जीवनको अवतरित करनेके लिए नयी चित्रण-प्रणालीका ग्रहण तथा सामान्य जीवनमें प्रवेश करके विषयवस्तुका सकलन आदि। परन्तु प्रभाववादियोंकी मूल दृष्टि आधुनिक नहीं थी, क्योंकि उनका ध्यान चित्रकारके भावात्मक व्यक्तित्वकी उपलब्धिकी ओर नहीं गया था और न उन्होंने अपनी कलाको ऐसे किसी उद्देश्यसे समन्वित किया था। वस्तुजगत्के दर्शनसे उत्पन्न मनोरागों अथवा मानसिक भाव-सवेदनके स्थानपर वे 'दृश्य'के वैज्ञानिक वर्णांकनको ही अपना साध्य बनाये रहे। अपने पूर्ववर्ती यथार्थवादी कलाकारोंकी चित्रण-पद्धतिका नये वैज्ञानिक ज्ञानके सन्दर्भमें सशोधन करना मानो उनका प्रधान साध्य हो। इसी मौलिक अन्तरके कारण, जो प्रवृत्तिगत है, प्रभाववादको आधुनिक कलाका मूल माननेकी अपेक्षा प्राचीन यथार्थवादका एक परिविस्तार मानना अधिक युक्तिसंगत है।

चित्रकलाके क्षेत्रमें प्रभाववाद उन्नीसवीं शताब्दीतक ही सीमित रहा, परन्तु साहित्यमें बीसवीं शतीके प्रारम्भमें इसका प्रभाव परिलक्षित हुआ। कमिंग्स तथा लोवेल आदिके द्वारा साहित्य, विशेषत• कविताके क्षेत्रमें प्रभाववादी रचनाओंकी सृष्टि हुई। जिस प्रकार चित्रकार वर्णयोजनासे प्रभावको अकित करते थे, उसी तरह कविगण छन्दों, शब्दों तथा अक्षरोंके विशिष्ट अनमेल सघटनसे मानसिक प्रभावको व्यक्त करने लगे। स्थायी तथा वास्तविक तथ्यके स्थानपर अस्थायी क्षणिक विशेषकी प्रतीतिका अंकन साहित्यमें भी प्रभाववादका मुख्य लक्षण बना रहा। शीघ्र ही ह्रासोन्मुख होकर साहित्यिक प्रभाववाद वैचित्र्य-प्रदर्शनमात्र रह गया। उसके सशक्त तत्त्वोंको आगे आनेवाली प्रयोगवादी धाराने आत्मसात् कर लिया। —ज० गु०

प्रभावात्मक आलोचना-प्रणाली–आलोच्य कृतिका आलोचकके मनपर जो प्रभाव अकित होता है उसे ईमानदारीके साथ प्रस्तुत कर देना प्रभावात्मक आलोचना-प्रणालीका वैशिष्ट्य कहा जाता है। इसे अँग्रेजीमें 'इम्प्रेशनिस्टिक क्रिटिसिज्म' कहते हैं। इम्प्रेशन शब्द चित्रकलाकी शब्दावलीसे ग्रहण किया गया है। सफल कला-कृति भावुक और सवेदनशील व्यक्तियोंकी चेतना-शक्तिको उद्बुद्ध करती है। परिणामत प्रत्येक सवेदनशील समीक्षक अपनी उद्बुद्ध चेतनाकी प्रतिक्रियाको व्यक्त कर कृतिका मूल्यांकन करता है। यह स्पष्ट है कि ऐसी समीक्षा कृतिके सम्पूर्ण रूपका वर्णन न होकर उसके द्वारा आलोचकके मनपर पड़नेवाले न्यूनाधिक प्रभावकी ही निर्देशिका होगी। अत• एक ही कृतिकी भिन्न-भिन्न समीक्षकोंके मनपर पड़नेवाले भिन्न-भिन्न प्रकारोंके अनुसार अनेक प्रकारकी आलोचनाएँ हो सकती

है। इसके अतिरिक्त प्रभाववादी आलोचक अपने मनपर अंकित प्रभावोंको इस रूपमें चित्रित करता है जो स्वयं साहित्य बन जाता है। एक कला-कृतिकी समीक्षा स्वय कला बन जानेके कारण पुनः आलोचनाका विषय बन जाती है।

इस प्रणाली द्वारा हम साहित्यके प्रति आकृष्ट होते हैं। प्रभाववादी समीक्षक तीव्र संवेदनशील होनेके कारण कृतिके मर्मस्थलोंको सहज ही स्पर्श कर लेता है और अपनी उर्वर कल्पनाशक्तिके सहारे उनका उत्फुल्ल भावसे अंकन कर पाठकको अपने साथ ले जाता है। इसीमें उसकी सफलता निहित है। नीति और समाज-हितका साहित्य-कलासे कोई प्रयोजन है, इस ऊहापोहमें वह नहीं पड़ता। वह कलाको कलाके रूपमें ही स्वीकार करता है।

यह आलोचना-प्रणाली रचनात्मक आलोचना, आत्मप्रधान आलोचना और स्वतन्त्र आलोचना-प्रणालीके बहुत सन्निकट है। **रचनात्मक आलोचनामें** कला-कृति आलोचकके मनको क्रियाशील कर देती है और मन रचनात्मक प्रक्रियाको दुहराकर एक नयी रचनाकी सृष्टि कर देता है (पाश्चात्य साहित्यालोचनके सिद्धान्तः गुप्त पृ० ८४)। दोनोंमें अन्तर यह है कि एकमें समीक्षक अपने मनके सभी प्रभावोंकी अपेक्षा विशिष्ट प्रभावको चित्रित करनेमें आनन्द अनुभव करता है और दूसरीमें सभी प्रभावोंका समन्वित रूप उपस्थित करता है। यह प्रणाली प्रशंसावादी आलोचना-प्रणालीके समकक्ष तभी आती है जब उसमें अंकित प्रभाव प्रशंसात्मक होते हैं। प्रशंसात्मक आलोचनामें हर स्रोतसे आनन्द-रसको संचित कर कल्पनाप्रचुर भाषामें चित्रित किया जाता है (दे०—स्टडीज एण्ड एप्रीसियेशन)। दोनों प्रणालियोंमें इतना ही अन्तर है कि जहाँ प्रशंसावादी आलोचना सदैव कृतिकी प्रशंसा करेगी वहाँ प्रभाववादी आलोचना आलोचकके मनपर पड़नेवाले विपरीत प्रभावके कारण उसकी घोर निन्दा भी कर सकती है। रामचन्द्र शुक्ल प्रभाववादी आलोचनाको कोई ठीक-ठिकानेकी वस्तु ही नहीं मानते (हिन्दी साहित्यका इतिहास) और हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे 'सामान्य मानदण्डके रास्तेमें विघ्न' स्वरूप समझते हैं (दे०—साहित्यका साथी, द्वितीय सस्करण, पृ० १४६)। हिन्दीमें प्राचीन कालसे ही इस प्रणालीके चिह्न मिलते हैं, जिसका पूर्ण विकास छायावादी युगमें दृष्टिगोचर हुआ है। प्राचीन कालमें 'सूर'की रचनाओंपर किसी प्रभाववादीकी यह उक्ति सर्वविश्रुत है—'किधौं सूरको सर लग्यौ, किधौं सूरकी पीर। किधौं सूरको पद लग्यो, बेधंत सकल सरीर।' (विशेषके लिए दे०—'द न्यू क्रिटिसिज्म'-स्पिनगार्न)। हर्बर्ट डिंगले अपनी 'साइंस एण्ड लिटरेरी क्रिटिसिज्म'में लिखते हैं, "अनुकृतिकी वस्तु है तो हमें उसका अनुभवमात्र करना चाहिये, उसपर लिखनेका यह कारण देनेकी आवश्यकता नहीं कि अमुक कविता क्यों अच्छी लगती है। यदि साहित्यमें समालोचनाका अस्तित्व आवश्यक है तब कोई वजह नहीं कि उसे साहित्यकी प्रवृत्तिके अनुसार वैज्ञानिक रूप क्यों न दिया जाय?' टी० एस० इलियट भी प्रभाववादी आलोचनाका प्रशंसक नहीं है, वह समीक्षामें विश्लेषणकी क्रियाको आवश्यक मानता है। —वि० मो० श०

प्रमाणिका या नगस्वरूपिणी—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरतने इसे मत्तचेष्टित (ना० १६ १५), विरहांकने नाराचक, दामोदर मिश्र, जयदेव तथा देवने प्रमाणिका नाम दिया है। तुलसीने अरण्यकाण्डमें इस छन्दका संस्कृतमें प्रयोग किया है—'नमामि भक्तवत्सलम्'; केशवने नगस्वरूपिणी नाम दिया है, जो प्राचीन नाम ही है जिसे उन्होंने ग्रहण किया है। इसमें लघु-गुरु-क्रमसे ८ वर्ण होते हैं। उदा०—'भलो बुरो न तू गुनै, वृथा कथा कहै सुनै। न रामदेव गाइहै, न देवलोक पाइहै' (रा० च० १. १६)। —पु० शु०

प्रयत्न—दे०—'यत्न'।

प्रयाणगीत—वीरगाथात्मक गीतोंका ही यह विभेद है, यद्यपि यह नामकरण आधुनिक है। रण-भूमिकी ओर प्रयाण करनेवाली सेनाका उल्लासोद्दीप्त **समवेत गान** ही प्रयाणगीत है। उस अवसरपर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा गाये जानेवाले गीतको भी प्रयाणगीत कहते हैं। 'प्रसाद'कृत 'हिमाद्रि तुंग शृंगसे' सर्वश्रेष्ठ प्रयाणगीत है, यद्यपि इस प्रकारकी रचनाके कई प्रयास किये गये हैं। स्वयसेवकों द्वारा गाया जानेवाला गीत भी प्रयाणगीत है। राष्ट्रगानका भी प्रयाणगीतकी भाँति उपयोग होता है। —रा० खे० पा०

प्रयोग (experiment)—मूल शब्द विज्ञानके अन्वेषण-कार्य-विधिसे लिया गया है। इसकी प्रकृतिमें यह तथ्य निहित है कि किसी भी वस्तुकी मान्य प्रकृति (accepted nature)का ज्ञान प्रयोग द्वारा पुन अनुभव किया जा सकता है और नयी उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। प्रयोगकी प्रक्रिया द्वारा मान्य एव निर्धारित तथ्योंके अतिरिक्त नये तथ्य भी प्राप्त किये जा सकते हैं। साथ ही प्रयोग यह मानकर किया जाता है कि प्रयोगकर्ताकी उपलब्धियाँ सही भले ही न हों, किन्तु महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं। इसलिए प्रत्येक प्रयोगका महत्त्व है और प्रयोगकर्ताकी स्थापनाओंका उपयोग है। दूसरे शब्दोंमें प्रयोगका उद्देश्य है मान्य सत्यका परीक्षण और फिर परीक्षण द्वारा सत्यके नये आयामोंका अन्वेषण।

इस परीक्षण और अन्वेषणकी प्रक्रियामें प्रयोगकर्ता किसी भी निर्धारित तथ्यको विभिन्न परिस्थितियोंमें रखकर उसका अध्ययन करता है। विज्ञानमें परीक्षणकी प्रक्रियामें प्रयोगकर्ता किसी भी वस्तुको विभिन्न परिस्थितियोंमें रखकर उसके व्यवहार(behaviour)का अध्ययन करता है, उसकी वास्तविक प्रकृतिका ज्ञान प्राप्त करता है, उसकी सीमाओं और सम्भावनाओंको आँकता है। इन समस्त परिस्थितियोंके अध्ययनके बाद वह कुछ निष्कर्ष निकालता है और उन निष्कर्षों द्वारा सत्यके नये आयामोंका साक्षात्कार करके उन्हें स्थापित करता है। आधुनिक मानव-जिज्ञासा वैज्ञानिक और विवेकपूर्ण है, इसलिए आज ज्ञानके प्रत्येक क्षेत्रमें इसके महत्त्वको स्वीकार कर लिया गया है। वैज्ञानिक दृष्टि किसी भी निर्धारित मान्यताको अन्तिम सत्यके रूपमें नहीं स्वीकार करती और न वह किसी भी निर्धारित मान्यताके प्रति शंका उत्पन्न करनेमें वर्जनाओंको प्रश्रय देती है, इसीलिए वैज्ञानिक दृष्टिमें कोई भी वस्तु

कभी भी पुन प्रयोगकी कसौटीपर चढ़ाया जा सकता है और उसे फिरसे जाचा जा सकता है। देश-कालके साथ उसकी जितनी मान्यता उचित होती है उसे स्वीकार किया जा सकता है, जितनी गलत होती है उसे अस्वीकार किया जाता है और जितनी नयी उपलब्धियाँ होती है उन्हें स्थापित किया जाता है। वैज्ञानिक दृष्टिवाला व्यक्ति किसी भी परम्पराको बिना उसकी समसामयिकता जाँचे वहन नहीं करता। वह परीक्षण, अन्वेषण, सीमा और सम्भावनाको अन्य किसी भी वस्तुकी अपेक्षा महत्त्वपूर्ण मानता है।

इस प्रकारसे प्रयोग, परीक्षण एव विभिन्न तथ्योंके अन्वेषण करनेकी विधि है। इन्हीं परीक्षणोंके आधारपर वह किसी निष्कर्षपर पहुँचता है। ये निष्कर्ष ही उपलब्धियोंके रूपमें कार्य करते हैं। प्रयोग इन्हीं कारणोंसे किसी भी सत्यको अन्तिम सत्य नहीं मानता। साथ ही वह प्रत्येक सत्यको परिस्थितियोंकी सापेक्षतामें देखनेका प्रयास करता है। परीक्षण प्रयोगकी जिज्ञासा है। अन्वेषण उपलब्धि है। प्रयोग स्वय सत्यके नये आयामोंको जाननेका माध्यम है।

वैज्ञानिक दृष्टिके साथ-साथ यह स्पष्ट हो जाता है कि आजका ज्ञान केवल परम्परा और रूढिके बलपर पूर्ण नहीं हो सकता। सर्वमान्य सत्यकी भी परीक्षा की जा सकती है, उसको नये सन्दर्भमें, आधुनिकताके सन्दर्भमें रखकर उसका वास्तविक तथ्य जाना जा सकता है। जिस सीमा-तक इस वैज्ञानिक दृष्टिको हम स्वीकार करते हैं उस सीमा-तक हम प्रयोगके समर्थक कहे जा सकते हैं। प्रयोगको इस रूपमें स्वीकार करनेके बाद ही उसकी उपयोगिताका ज्ञान हो सकता है।

अस्तु प्रयोगकी मूल प्रवृत्ति परम्परागत स्थापनाओंसे आगे बढकर नयी दिशाओंकी स्थापना है। साथ ही प्रयोग यथार्थको जीवनके परिप्रेक्ष्यमें देखनेका साधन है। प्रयोगकी वास्तविक दृष्टि विवेकके आधारपर विकसित होती है। विवेककी प्रवृत्ति परीक्षण और उपलब्धिका बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इसीके द्वारा सत्यके नये माध्यमको जाना जा सकता है।

किन्तु प्रयोगकी प्रक्रियामें कई स्थितियाँ हैं और उन स्थितियोंका ज्ञान आवश्यक है। प्रयोग यह स्वीकार करता है कि परम्परा अपने सम्पूर्ण तत्त्वोंके साथ बिना विवेक-पूर्ण दृष्टिके सत्यको वहन करनेमें असमर्थ होती है। प्रयोग यह भी स्वीकार करता है कि रूढियों द्वारा स्थापित सत्य जीवनको विकास नहीं दे पाता इसलिए उन रूढियोंके स्थानपर हमें नये अन्वेषण करनेका अधिकार है। प्रयोग जीवनकी उदात्त भावनाओंका प्रतिनिधित्व करता है इसलिए उसके साधन हैं—जिज्ञासा, दृष्टि (vision) और इनके साथका विकसित यथार्थ। अस्तु, (१) प्रयोग किसी भी निर्धारित सत्यको अन्तिम सत्य नहीं मानता। सत्यका वैज्ञानिक परीक्षण और परिशोधन किया जा सकता है। इसलिए सत्यका जीवन्त तत्त्व देश, काल और यथार्थके साथ विकसित होता है। इस विकासको जाननेकी प्रक्रिया प्रयोग है। (२) किसी भी वस्तुका व्यवहार (behaviour) उसकी प्रकृति (nature) निर्धारित करती है, किन्तु प्रकृति परिस्थितियों द्वारा शासित होती है। इस बदलती परिस्थितिकी जागरूकता ही ज्ञान और दृष्टि, दोनोंका अभिवर्धन करती है। प्रयोग इन परिस्थितियोंकी स्वीकृतिके साथ उनकी सीमाओं और सम्भावनाओंको जाननेकी प्रवृत्ति है। (३) सीमाओं द्वारा हमें एक स्थापित मर्यादा सस्काररूपमें मिलती है। सम्भावनाओं द्वारा हम एक नयी मर्यादा मिलती है। स्थापित मर्यादाके जीवन्त तत्त्वोंको स्वीकार करना और नयी मर्यादाकी सम्भावनाओं-को विकसित करना प्रयोगका धर्म है। पुरानी मर्यादाएँ हमें सस्कार देती हैं, नयी मर्यादाएँ विकासकी ओर प्रेरित करती है। इसलिए प्रयोग पुरानी मर्यादाके उस अशको स्वीकार करता है जो नयी मर्यादाके विकासमें योग देती हैं। नयीके प्रति आस्थावान् होना प्रयोगकी प्रकृति है। (४) प्रयोग चमत्कारको कोई स्थान नहीं देता, क्योंकि चमत्कार विवेकको नष्ट करके अन्धविश्वासको प्रश्रय देता है। प्रत्येक अन्धविश्वास मानव-क्षमताका खण्डन करके स्थापित होता है, इसलिए प्रयोगका चमत्कारके साथ कोई सामजस्य होना कठिन है। परीक्षण और अन्वेषणकी प्रवृत्ति स्वत यह सिद्ध करती है कि स्थापित रूढि और आधुनिक सन्दर्भ इन दोनोंको शुद्ध विवेक ही दृष्टि प्रदान कर सकता है। चमत्कार (miracle) आधुनिकता और विवेक, दोनोंको अस्वीकार करके ही स्थापित होता है। प्रयोगकी वैज्ञानिक प्रक्रिया इसीलिए चमत्कारका विरोध ही नहीं करती, वरन् उसका खण्डन करती है। (५) क्षण-प्रतिक्षणकी अनुभूतिका महत्त्व प्रयोगको गतिशीलता प्रदान करता है। किसी भी वस्तुस्थितिकी मूल प्रकृति सापेक्ष सत्य और सापेक्ष यथार्थका सवरण करती है। परम्परा केवल अशसत्यको ही निर्धारित करती है। पूर्ण सत्य (whole truth)की ओर जिज्ञासु बौद्धिक जागरूकता इस बातके लिए प्रेरणा देती है कि आशिक सत्यसे पूर्ण सत्यकी ओर उन्मुख होकर हम उसके नये आयामोंको जाननेकी चेष्टा करें। यह चेष्टा ही प्रयोगकी गति है। प्रयोग अपनेमें पूर्ण नहीं होता। वह मात्र एक प्रक्रिया है, जिससे किसी भी वस्तुका या किसी भी सत्यका व्यावहारिक और वैज्ञानिक अर्थ एव सन्दर्भ जाना जा सकता है। प्रत्येक जीवन-वस्तु या परिस्थितिकी गतिशीलता (dynamics) सदैव अपने व्यवहार और अपनी प्रकृति द्वारा सत्य और यथार्थके प्रति नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। प्रयोग इन दृष्टिकोणोंको व्यर्थ नहीं मानता वरन् उनके माध्यमसे नये स्तरोंका अन्वेषण करनेका प्रयास करता है। इसलिए सत्य अन्वेषण है, प्रयोग केवल एक माध्यममात्र ही रह जाता है।

माध्यमकी एक विशेषता होती है, क्योंकि उसके सामर्थ्यपर ही अन्वेषण हो सकता है। प्रयोगकी विशेषता आजके आधुनिकतम प्रबुद्ध व्यक्तिके लिए इसलिए और भी अधिक है कि प्रयोग द्वारा ही स्थापित मान्यताओंका विवेकपूर्ण खण्डन प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रयोग जहाँ सत्यकी व्याख्या प्रस्तुत करता है वहाँ उसके नये धरातलों और आयामोंको भी प्रस्तुत करता है। प्रयोग इसीलिए केवल प्रक्रियाविशेष है, लक्ष्यविशेष नहीं। खण्डन वह इसलिए करता है कि देश-कालके विकासके साथ स्थापित मान्यताका सम्पूर्ण रूप सन्दर्भहीन होता है और आवश्यकता

इस बातकी होती है कि स्थापित मान्यताका केवल उतना ही अंश लिया जाय जो आजके सन्दर्भमें उचित सिद्ध हो जाय ।" —ल० का० व०

प्रयोग-युग—सन् १९४३में 'अज्ञेय'ने अपने छ मित्रोंके साथ 'तार सप्तक'का प्रकाशन किया। इन कवियोंका एक साथ खड़े होनेका प्रयोजन था—"उनके तो एकत्र होनेका कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूलके नहीं हैं, किसी मंजिलपर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहोंके अन्वेषी।" तात्पर्य यह कि इनका काव्यके प्रति एक अन्वेषीका दृष्टिकोण था और इसी दृष्टिकोणने इन्हें एक सूत्रमें ग्रथित किया था। 'तार सप्तक'का प्रकाशन हिन्दी साहित्यकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाओंमेंसे एक है।

प्रयोग-युगका सूत्रपात यहींसे माना जाता है, यद्यपि प्रयोगवाद नामसे 'तार सप्तक'के सम्पादक 'अज्ञेय' सहमत नहीं, बल्कि उन्होंने 'दूसरा सप्तक'(१९५१)की भूमिकामें इसका विरोध भी किया है, "प्रयोगका कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने आपमें इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविताका भी कोई वाद नहीं है; कविता भी अपने-आपमें इष्ट या साध्य नहीं है। अत हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।" परन्तु जिस प्रकार छायावादियोंके नहीं चाहनेपर भी, छायावादकी संज्ञा निरर्थक होकर भी हिन्दी पाठकों, आलोचकोंके बीच प्रचलित हो गयी, उसी प्रकार प्रयोगवाद भी चल पड़ा।

इन नये कवियोंके सम्मुख वर्तमान युगकी जटिल संवेदनाएँ एव उलझी मानव-समस्याएँ थीं। सम्पूर्ण जीवन बड़ी तेजीसे बदल रहा था। मशीनी सभ्यता और संस्कृतिमें पल्लवित होनेवाला समाज अपने पूर्वसमाजसे सर्वथा भिन्न था। प्रगतिवादतक आते-आते युगका दृष्टिकोण यथार्थमूलक हो सका था, वैज्ञानिक नहीं। निस्सन्देह आजके वैज्ञानिक युगमें जिन्दगीका पूरा ताना-बाना उलट-पलट गया है। मानवीय सम्बन्ध, मानवीय मूल्य पहलेकी अपेक्षा अधिक जटिल, संकुल और अस्त-व्यस्त हैं। आर्थिक कठिनाइयाँ, राजनीतिक संघर्ष और वैज्ञानिक आविष्कार आज समाजको बड़ी तेजीके साथ बदलते जा रहे हैं। यह ठीक है कि मनुष्यके स्थायी भाव वे ही हैं जो आजसे ५०० या १००० वर्ष पहले थे, परन्तु प्रत्येक युगमें युगका अपना परिवेश होता है, उसकी अपनी विशेषताएँ होती हैं और साथ ही उसकी अपनी कमियाँ होती हैं। इसीलिए हर एक युगमें नये साहित्यकी आवश्यकता पड़ती है। प्रयोगवाद अपने समर्थनमें यह नहीं कहता कि उसका अभीष्ट एव सिद्धि प्रयोगमात्र है; बल्कि उसका आग्रह है कि प्रयोगके माध्यमसे ही आजकी जटिल एवं अस्त-व्यस्त संवेदनाकी अभिव्यक्ति हो सकती है। प्रयोगशीलताकी मूल प्रेरणाके सम्बन्धमें अज्ञेय कहते हैं—"जो व्यक्तिका अनुभूत है उसे समष्टितक कैसे उसकी सम्पूर्णतामें पहुँचाया जाय, यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलताको ललकारती है, क्योंकि कवि अनुभव करता है कि भाषाका पुराना व्यापकत्व नहीं है। नयी परिस्थितिसे नया रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करनेके उद्देश्यसे ही नये कवि एक जगह इकट्ठे हुए थे और इसीलिए इन कवियोंने घोषित किया 'नवोन्मेषसे विस्फूर्जित और उत्तेजित कल्पनाकी हिन्दी कवितामें कमी है। उसके लिए हमें अपना अलकार-विधान आमूल बदलना होगा, उपमान माँजने होंगे, रूपकोंकी कलई खोलनी होगी, उत्प्रेक्षाएँ सचमुच भावके उत्ससे उत्प्रेरित है या नहीं, यह देखना होगा।'

यहाँ यह दोहराना अनपेक्षित नहीं होगा कि प्रगतिवाद-कालकी परिस्थितियाँ आजकी परिस्थितियोंसे बहुत भिन्न नहीं थीं और इसीलिए उस कालके बहुतेरे कवि इस खेमेमें आ गये। वस्तुत• प्रगतिवादियोंने यथार्थ जीवनके बदलते हुए अनेक पक्षोंमेंसे एक पक्षको चुना—वह पक्ष था आर्थिक वैषम्य एव वर्ग-सघर्षका। जीवनके अन्यान्य पक्ष उनकी दृष्टिमें उपेक्षित रह गये थे। फलत नये कवियोंकी आवश्यकता आ पड़ी, जिन्होंने अपने काव्यके उपादानके क्षेत्रको विस्तृत किया और बहुपक्षी जीवनको अंकित करनेका प्रयत्न किया।

'तार सप्तक'(१९४३)के कवियोंमें गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा तथा 'अज्ञेय' आते हैं। 'दूसरा सप्तक' १९५१में प्रकाशित हुआ, जिसमें भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेरबहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीर सहाय तथा धर्मवीर भारतीकी रचनाएँ संगृहीत हैं। 'प्रतीक' पत्रका प्रकाशन जुलाई, १९४७से हुआ, जिसने प्रयोगवादको काफी बल दिया। इसके सम्पादक 'अज्ञेय' थे। पटनासे प्रकाशित 'पाटल'ने भी इस धाराको पुष्ट किया। तत्पश्चात् जगदीश गुप्त तथा रामस्वरूप चतुर्वेदीके सम्पादकत्वमें 'नयी कविता'का प्रकाशन १९५४में हुआ। बिहारसे 'कविता' नामक पत्रका प्रकाशन १९५५में हुआ। इस बीच कुछ अन्य सग्रह भी आये, जैसे, 'विविधा, 'कविताएँ १९५४'। प्रारम्भमें इस धाराकी गति अवश्य मन्द थी, परन्तु धीरे-धीरे इसने हिन्दी काव्यको व्यापक रूपसे प्रभावित किया। आज हिन्दीमें प्रकाशित होनेवाली प्राय सभी पत्र-पत्रिकाओंमें इस धाराकी कविताओंको उचित प्रतिष्ठा मिलने लगी है। इस नयी धाराके कवियोंमें कुछ निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक है। 'अज्ञेय' सबसे पहले आते हैं। इनके छ कविता-सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'भग्नदूत', 'चिन्ता', 'इत्यलम्', 'हरी घासपर क्षणभर', 'बावरा अहेरी', और 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये'। अन्तिम तीन सकलन विशेषत प्रयोगवादी हैं।

दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि हैं भवानीप्रसाद मिश्र, जिनका 'गीतफरोश' नामसे एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनके काव्यकी शक्ति असाधारण तथ्यपर निर्भर नहीं करती बल्कि साधारणको असाधारण बनाकर पाठकके हृदयको छूनेमें विश्वास करती है।

गिरिजाकुमार माथुरके अबतक तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'मंजीर', 'नाश और निर्माण' तथा 'धूपके धान'। इनकी अभिव्यजनापर छायावादी शैलीका प्रभाव स्पष्ट है। इनकी भावना रगीन और रोमासिक है।

धर्मवीर भारती अपेक्षाकृत अधिक मौलिक और स्वत•-स्फूर्त है। इनकी अबतक दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

'ठण्डा लोहा' तथा 'अन्धा युग'। 'ठण्डा लोहा' इनकी स्फुट कविताओंका संग्रह है और 'अन्धा युग' एक दृश्य-काव्य है। 'अन्धा युग' निश्चय ही हिन्दी काव्य-क्षेत्रमें एक नया कदम है।

अन्य प्रमुख कवियोंमें नरेशकुमार मेहता, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन, शमशेरबहादुर सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन सबके काव्य-संग्रह प्रकाशित नहीं हो सके है।

प्रयोगवादके विकसित रूप **नयी कविता**-वर्गके कवियोंमें लक्ष्मीकान्त वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, बालकृष्ण राव, विजयदेवनारायण साही, जगदीश गुप्त, कुँवरनारायण, दुष्यन्तकुमार आदिके नाम लिये जायेंगे।

प्रयोगवादपर अनेक आक्षेप लगाये जाते है। नन्ददुलारे वाजपेयी साधारणीकरणकी शिकायत करते हैं, तो शिवदान सिंह चौहान पाश्चात्य साहित्यके प्रतीकवादका अनुकरण-मात्र मानते है। पर सारे विरोधों तथा संघर्षोंके बावजूद प्रयोग-युग अभी समाप्त नहीं हुआ है। प्रयोगवादने **नयी कविता** (दे०)का अधिक पुष्ट तथा विकसित रूप धारण कर लिया है, जो अब धीरे-धीरे नवलेखनके व्यापक आन्दोलनमें परिणत हो रहा है। —रा० कु० स०

प्रयोगवाद—एक विशेष साहित्यिक प्रवृत्ति जिसका जन्म हिन्दीके काव्य-क्षेत्रमें 'तार सप्तक'(१९४३ ई०)के प्रकाशनके साथ माना जाता है। 'तार सप्तक'में 'अज्ञेय'ने प्रयोगकी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए अपनी कविताओंके वक्तव्यमें कहा हैं, 'प्रयोग सभी कालोंके कवियोंने किये हैं, यद्यपि किसी एक कालमें किसी विशेष दिशामें प्रयोग करनेकी प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रोंमें प्रयोग हुए हैं उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रोंका अन्वेषण करना चाहिये, जिन्हें अभी नहीं छुआ गया है या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।' (तार सप्तक, पृ० ७५)

उपर्युक्त सन्दर्भसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोगकी अनुभूति उन क्षेत्रोंकी अन्वेषण प्रवृत्ति है, जिन्हें अभेद्य या निरपेक्ष या अन्वेषणेतर मानकर छोड़ दिया गया था। प्रयोगवाद ज्ञातसे अज्ञातकी ओर बढ़नेकी बौद्धिक जागरूकता है। यह जागरूकता 'व्यक्ति-सत्य' और 'व्यापक सत्य'के स्तरोंपर व्यक्तिकी अनुभूतिकी सार्थकताको भी महत्त्वपूर्ण मानती है। प्रयोगवाद व्यक्ति-अनुभूतिकी शक्तिको मानते हुए समष्टिकी सम्पूर्णतातक पहुँचनेका प्रयास है। परम्परा केवल यही सिखाती है कि व्यक्ति-अनुभूतिका कोई विशेष महत्त्व नहीं है, महत्त्वकी वस्तु व्यापक सत्य, समष्टिका सत्य ही है। इसीलिए परम्परा अपनी रूढ़िमें अन्वेषण और परीक्षणको महत्त्वहीन मानती है। परम्परावादी स्थापित सत्यके आगे बढ़नेमें शंकाएँ प्रस्तुत करता है। प्रयोगवाद व्यक्ति-सत्य और व्यापक सत्य अथवा व्यक्ति-अनुभूति और समष्टि अनुभूतिको एक ही सत्यके दो रूप मानता है। प्रयोगवाद एक ओर व्यक्ति-अनुभूतिको समष्टि-अनुभूतितक उत्सर्ग करनेका प्रयास है, तो दूसरी ओर वह रूढ़िका विरोधी और अन्वेषणका समर्थक भी है।

अस्तु, प्रयोगवादका सम्बन्ध समस्त परम्पराओंका खण्डन करना नहीं है, वरन् उसके निर्जीव तत्त्वोंके स्थानपर नये जीवन्त तत्त्वोंका अन्वेषण करना है। देश और कालके अनुसार प्रत्येक परम्परा मूलतः प्रयोगात्मक रूपमें ही विकसित होती है। जब वह देश और कालकी प्रगतिके साथ आगे विकसित होना बन्द कर देती है तो उसका रूप रूढ़िका हो जाता है। जिस क्षण कोई भी बौद्धिक जिज्ञासा परम्पराकी रूढ़िको स्वीकार करके नये माध्यमोंको अपनानेकी प्रवृत्ति अपनाती है, वह प्रयोगशीलताकी ओर अग्रसर होती है। दूसरे शब्दोंमें, रूढ़िकी तीव्र अक्षमता ही प्रयोगके नये अंकुरोंको विकसित होनेके लिए बाध्य करती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि समयके साथ विकसित यथार्थ भाव-बोध स्थापित मान्यताओंसे इतने आगे होते हैं कि वे इस यथार्थके सम्पूर्ण भाव-स्तरको वहन करनेमें असमर्थ होते है। प्रयोगवाद, यदि इस दृष्टिसे देखा जाय, तो परम्पराकी असमर्थतामें साहित्यकारकी जिज्ञासा-मय अभिव्यक्तिका साधन है।

हिन्दीमें प्रयोगवादका जन्म एक विशेष स्थितिमें हुआ। प्रयोगवाद या प्रयोगकी आवश्यकता साहित्यमें उस समय उपस्थित होती है जब कविताकी प्रेषणीयता इतनी अभिधापूर्ण हो जाती है कि उसमें कोई रस विशेष नहीं मिल पाता अथवा कोई रागात्मक सहानुभूति नहीं मिल पाती। प्रयोगकी सार्थकता सदैव इसमें ही निहित रहती है कि कवि एक रूढ़िको त्यागकर नये स्तरपर रागात्मक सम्बन्धोंको ढूँढता है और यह प्रयास करता है कि वे माध्यम जो अपनी प्रेषणीयता नष्ट कर चुके हैं अथवा जो अत्यधिक अभिधात्मक हो गये है, उनके अतिरिक्त माध्यमों-को स्थापित करे। हिन्दीमें इस विशिष्ट विचारधाराके जन्मके कुछ कारण थे। प्रथम तो यह कि छायावादने अपने शब्दाडम्बरमें बहुतसे शब्दों और बिम्बोंके गतिशील तत्त्वों-को नष्ट कर दिया था। दूसरी ओर प्रगतिवादने सामाजिकता-के नामपर विभिन्न भाव-स्तरोंको एवं शब्द-संस्कारोंको अभिधात्मक बना दिया था। ऐसी स्थितिमें नये भाव-बोधको व्यक्त करनेके लिए न तो शब्दोंमें सामर्थ्य था और न परम्परासे मिली हुई शैलीमें। परिणामस्वरूप उन कवियों-को, जो इनसे पृथक् थे, सर्वथा नया स्तर और नये माध्यमों-का प्रयोग करना पड़ा। ऐसा इसलिए और भी करना पड़ा, क्योंकि भाव स्तरकी नयी अनुभूतियाँ विषय और सन्दर्भमें इन दोनोंसे सर्वथा भिन्न थीं।

प्रयोगवाद बौद्धिकस्तरपर यह स्वीकार करके चलता है कि अनुभूतियोंकी अभिव्यक्तिके लिए माध्यमकी उपयोगिता है, न कि माध्यमकी सीमाओंके अनुसार अभिव्यक्तिकी काँट-छाँटकी। अनुभूतियोंके स्तरपर प्रयोगवाद यह स्वीकार करता है कि कोई भी अनुभूति अपने क्षणमें उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कि समूचे जीवनके मुक्त विस्तारमें। इसलिए उस क्षणका भी महत्त्व है जिसमें हम किसी अनुभूतिका साक्षात्कार करते हैं। यदि समूचे जीवनके सन्दर्भमें वह क्षण छोटेसे छोटा है तो भी उसकी अपनी उपयोगिता है, उसे समूचे जीवनके सन्दर्भके आधारपर त्यागा नहीं जा सकता। समूचे जीवनकी अनुभूतिके स्तरके नाते न तो व्यक्तिकी अनुभूति त्याज्य समझी जा सकती है

और न क्षणको एकदम नगण्य माना जा सकता है।

यथार्थके नये सन्दर्भमें प्रयोगवाद यथार्थ और जीवनकी सापेक्षताको अधिक व्यापक स्तरपर देखनेकी चेष्टा करता है। प्रयोगवाद यह मानकर नयी दिशाओंका अन्वेषण करना अनिवार्य समझता है कि वे तथ्य जो केवल संस्कारबद्ध हो चुके हैं, उनमें न तो आधुनिकता है और न यथार्थकी गतिशील शक्तिको सहन कर सकनेकी क्षमता। यथार्थ विकासशील है, जीवन विकासशील है, अनुभूतियोंमें नये स्तर ग्रहण करनेकी शक्ति है, अभिव्यक्तिको अनुभूतियोंके अनुकूल नये माध्यमोंका प्रयोग करनेका अधिकार है।

साथ ही प्रयोगवाद यह मानकर चलता है कि किसी भी अनुभूतिकी एक बौद्धिक पृष्ठभूमि होती है और वह पृष्ठभूमि भी काव्यात्मक है। बौद्धिकता भी काव्यका अंग है, क्योंकि वह अनुभूतिका जीवित अंश है। किसी भावका बोध एक बौद्धिक प्रक्रिया है। हृदयवादी इस बौद्धिकताका बहिष्कार करके उसे सर्वथा त्याज्य बनानेकी चेष्टा करते हैं। प्रयोगवाद इस त्याज्य विभाजनको नहीं स्वीकार करता। वह मानता है कि प्रत्येक अनुभूतिका अर्थ और उसका सन्दर्भ एक बौद्धिक व्यक्तिकी अनुभूति है, इसलिए बौद्धिकताको काव्यानुभूतिसे पृथक् करके नहीं देखा जा सकता।

शिल्पकी दृष्टिसे प्रयोगवादी काव्य-पद्धतिमें प्रत्येक विषयके साथ-साथ उसका शिल्प स्वयं विकसित होता है। शिल्पको विषय-वस्तुसे पृथक् करके देखना उसकी वास्तविकताको न समझना है। विषयके अनुकूल शिल्प अनिवार्य रूपसे प्रस्तुत होता है। विषयवस्तु और शिल्प, दोनों अविभाज्य अंग हैं। दोनोंका विकास एक साथ होता है। बहुधा कविता विषयके साथ ही एक रूप लेकर प्रस्तुत होती है और वह जिस रूपमें प्रस्तुत हो वही उसका वास्तविक शिल्प है।

इसके साथ यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी नये विषयको पुराने शिल्पके माध्यमसे नहीं व्यक्त किया जा सकता। यदि विषय-वस्तु नयी है तो प्रयोगवाद यह मानता है कि उसकी नवीनता ही उसके शिल्पको नया आकार देनेके लिए बाध्य करेगी। शिल्प न तो ऊपरसे लादा जा सकता है और न उसको खींच-तानकर हर अनुभूतिको व्यक्त करनेके लिए फैलाया या सिकोड़ा जा सकता है। अस्तु, प्रयोगवाद शिल्पके लिए किसी रीतिकी अनिवार्यता नहीं मानता।

कुछ आलोचक प्रयोगवादको केवल शिल्प-चमत्कार ही मानते हैं। उनकी यह धारणा भ्रमपूर्ण है, क्योंकि प्रयोगवाद जिस तथ्यका समर्थन करता है उसमें यह निहित है कि भावनाओंके लिए कोई रूपविशेष नहीं चाहिये। भावनाएँ स्वयं अपनी शक्तिसे अपना रूप धारण करती हैं और जिस रूपको वह स्वाभाविकताके अनुसार ग्रहण करती हैं, वही उनका वास्तविक शिल्प होता है।

प्रयोगवादी रचनामें शिल्पका एक और भी अर्थ है। शिल्पको प्रयोगवाद शिल्पीके व्यक्तित्वका अंग मानता है। यही कारण है कि प्रयोगवादी रचना-प्रक्रिया उस व्यक्तित्वकी पूर्ण अभिव्यक्तिको काव्य-शिल्पका महत्त्वपूर्ण अंग मानकर स्वीकार भी करती है। जितना बड़ा व्यक्तित्व शिल्पीका होगा उतना कुशल शिल्प उसकी रचनाओंमें व्यक्त होगा। रीतिमें व्यक्तित्वकी सत्ता और उसका महत्त्व नष्ट होता है। प्रयोगवाद कविके व्यक्तित्वकी स्वतन्त्रताको स्वीकार करता है इसीलिए वह किसी भी ऐसी रीतिका समर्थक नहीं है, जिससे काव्यका वास्तविक रूप नष्ट हो जाय अथवा उसकी वास्तविक मर्यादा नष्ट होकर संकुचित हो जाय।

काव्यमें प्रयोगवाद साहित्यक चेतनाकी सजीवता प्रदर्शित करता है। साथ ही वह उस धरातलका निर्माण भी करता है जहाँ यथार्थ एवं मूल्योंके नये परिप्रेक्ष्य स्पष्ट रूपमें प्रस्तुत हो सकें। सजीवताका आशय ही यह है कि हम अपनी अनुभूतियोंके प्रति अधिकसे अधिक ईमानदारीका व्यवहार रख सकें। कोई भी कविता अच्छी या बुरी अपनी ईमानदारीके नाते ही हो पाती है। यदि यह ईमानदारी कवितामें सुरक्षित है तो उसकी प्रेषणीयता और उसका प्रयोग भी सफल प्रयोग है।

प्रेषणीयताके प्रश्नपर प्रयोगवाद जहाँ ज्ञानके विशेषीकरणको सत्य मानता है वहीं वह यह भी स्वीकार करता है कि प्रत्येक विशेषीकरण और साधारणीकरणकी समस्या दोनोंके तिरस्कारसे नहीं सुलझ सकती। विशेषीकरण यदि आजके युगका स्थापित सत्य है तो साधारणीकरण विगत युगका अभिधात्मक सत्य है। काव्य-रचना न तो केवल विशेषीकरण द्वारा प्रेषणीय हो सकती है, न मात्र साधारणीकरण द्वारा उसको सफलता मिल सकती है। प्रयोग इन दोनोंकी वास्तविक मर्यादाकी रक्षा करनेका प्रयास होता है।

[सहायक ग्रन्थ—'तार सप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक'की भूमिकाएँ] —ल० का० व०

प्रयोगशील–(दे०–'प्रयोग', 'प्रयोगवाद') प्रयोगवाद शब्दको भ्रामक सिद्ध करते हुए 'अज्ञेय' द्वारा हिन्दीकी इसी नामकी काव्यधाराके लिए प्रस्तावित नाम। प्रयोगशील वह है जो आधुनिकताका समर्थन करते हुए नये भावबोधको अधिकसे अधिक अन्वेषणकी ओर अग्रसर करे। अन्वेषण मानव-प्रकृतिका सहज गुण है। इस गुणके साथ ही मानव-स्वभावकी अभिरुचि और उसका सौन्दर्य-बोध, दोनोंका गहरा सम्बन्ध है। अभिरुचिमें विकास होना, उसका बदलना और नयेके प्रति जागरूक होना स्वतः यह सिद्ध करता है कि जो सर्वमान्य अथवा प्रचलित है, उसमें कहीं-न-कहीं जीर्णता है, रुकावट है अथवा प्रेषणीयताकी कमी है। इस प्रेषणीयताका तथा नयी अभिरुचि और नये सौन्दर्यबोधके साथ अधिकसे अधिक नये आयामोंका अन्वेषण ही प्रयोगशीलताकी प्रवृत्ति है, जो उसको अधिक नया बनाये रखती है।

प्रयोगशीलताकी समस्या है व्यक्ति-अनुभूतिको समष्टि-अनुभूतितक पहुँचाना। यह समस्या प्रयोगशील रूपमें इसलिए प्रस्तुत होती है, क्योंकि शब्दों, भावों और अनुभूतियोंके संस्कार नष्ट हो जानेके कारण प्रयोगशील नये माध्यमोंको स्वीकार करता है और ये माध्यम साधारणतः इतने अपरिचित अथवा नवीन होते हैं कि सहसा उचित रूपमें वह सहज बोध नहीं प्रस्तुत कर पाते जो परम्परागत शैली द्वारा सम्भव हो सकता है। इस विषयमें प्रयोगशीलता-

की व्याख्या करते हुए 'अज्ञेय'ने कहा है, 'जो व्यक्तिका अनुभूत है उसे समष्टितक कैसे उसकी सम्पूर्णतामें पहुँचाया जाय, यही समस्या है जो प्रयोगशीलताको ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएँ हैं कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा है, घटिया या बढ़िया है, सामाजिक या असामाजिक, ऊर्ध्व या अध या बहिर्मुखी है, इत्यादि।' (तार सप्तक, पृष्ठ ७५)। 'अज्ञेय'के इस कथनका आग्रह यह स्पष्ट कर देता है कि प्रयोगशीलताका केवल प्रयोगतक सम्बन्ध नहीं है। उसका सम्बन्ध उन समस्त तत्त्वोंसे है जो कविके अहम्को सुरक्षित रखते हुए उसे अपनी बात कह सकनेकी शक्ति देते हैं। कविका काव्य और व्यापक सत्यमें कोई अन्तर नहीं है। व्यापक सत्य या समष्टि सत्य व्यक्तिसापेक्ष है और इसी प्रकार व्यक्ति-सत्य या आत्मसत्य भी समाज-सापेक्ष होता है। प्रयोगशीलताका समर्थक व्यक्ति सत्यके माध्यमसे व्यापक सत्यकी उपलब्धिको श्रेयस्कर समझता है। —ल० का० व०

प्रयोगातिशय–यह रूपकगत प्रस्तावनाका एक भेद है। 'वह आ रहा है' इस प्रकार वचनका प्रयोग करते हुए जहाँ सूत्रधार किसी पात्रका प्रवेश कराता है वहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना होती है, जैसे, 'अभिज्ञानशाकुन्तल'में 'जैसे यह राजा दुष्यन्त'की सूचना प्रयोगातिशय है। —व० सिं०

प्रयोजनवतीलक्षणा–लक्षणाके प्रमुख भेदोंमें एक, मुख्य अर्थके बाधित होनेपर जब किसी प्रयोजनके लिए—किसी विशेष अभिप्रायसे—मुख्य अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले किसी भिन्न (लक्ष्यार्थ) अर्थको ग्रहण किया जाता है, तो उसे प्रयोजनवती लक्षणा कहा जाता है। मम्मट और विश्वनाथ, दोनोंने उदाहरण दिया है–'गंगायां घोष', यहाँ गंगा शब्दका मुख्यार्थ 'गंगाका प्रवाह' बाधित है, क्योंकि गंगाकी धारापर गाँवका होना सम्भव नहीं है। तदनन्तर गंगाके सम्बन्धसे इसका अन्य अर्थ 'गंगाका तट' ग्रहण किया जाता है। लक्ष्यार्थ तटका मुख्य अर्थ प्रवाहके साथ सामीप्य-सम्बन्ध है और साथ ही यहाँ इस अर्थ-ग्रहणका कारण रूढ़ि न होकर प्रयोजन है। 'गंगापर बस्ती' कहनेका तात्पर्य गाँवकी पवित्रता तथा शीतलता आदिकी विशेषताकी सूचना देना भी है। 'गंगाके तटकी बस्ती' कहनेसे यह भाव व्यक्त नहीं हो सकता था, क्योंकि शीतलतादि गुण गंगाप्रवाहमें हैं, न कि तटमें। प्रयोजनवती लक्षणाके भेदोपभेदके लिए दे०—'लक्षणा शक्ति'। काव्यगत उदा०—'तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल, हे चिर पुराण, हे चिर नवीन।' (पन्त), यहाँ गान्धीजीको निर्विकार तथा अत्यन्त पवित्र सिद्ध करनेके प्रयोजनसे ही उन्हें 'आत्मा' कहा गया है। —र०

प्ररूढयौवना–दे०–'मध्या', नायिका।

प्ररूढस्मरा–दे०–'मध्या', नायिका।

प्रलय–दे०–'सात्त्विक अनुभाव', आठवाँ।

प्रवक्ता–दे०–'रेडियो नाटक'।

प्रवत्स्यत्प्रेयसी (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद, विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्तने इस नायिकाको स्वीकृति दी है—'यस्या पतिरग्रिमक्षणे देशान्तर यास्यत्येव सा' अर्थात् जिसका पति या प्रिय आगे विदेश जानेवाला है, वह नायिका। प्रवत्स्यत् शब्दका अर्थ होता है प्रवासमें जाने ही वाला। मतिरामने इस स्थितिमें 'विकल होय जो बाल' भी कहा है, यद्यपि पद्माकरने केवल भानुदत्तका भाव लिया है—'चलन चहै परदेशको'। नायिकाकी इस अवस्थाके अन्तर्गत स्वकीयाके मुग्धादिक भेद, परकीया तथा सामान्याको स्वीकार किया गया है। रहीमकी मुग्धा मौन भावसे अविभूत हो गयी है—'परिगा कान सखियवा पिय कर गौन। बैठी कनक पलँगिआ होइकै मौन।' (ब्र० मा० ना० : २ . ५३६)। वह अपनी व्यथाको लाजवश व्यक्त नहीं कर पाती—'सोवति न रैन दिन रोवति रहति बाल, बूझेते कहत मायकेकी सुधि आयी है।' (रसराज मतिराम २०७)। मध्या अपनी लज्जा सँभालनेमें असमर्थ हो रही है—'अबहीं लै मिलि मोहि सखि चलत आज ब्रजराज। अँसुवन राखति रोकि कै जियहि निकासति लाज।' (वही . २०९)। प्रौढ़ा स्वत प्रियसे निस्संकोच होकर अपने विरहका निवेदन करती है—'रावरी तियाको तरवर सरवरनके, किसलै कमल है है वारक बिछावने।' (वही २१०)। वह अपनी आकांक्षा भी प्रकट करती है—'वे उलहे वन बाग निहारि निहारि जबै अकुलैहै। जैहै न फेरि फिरे वर ऐहै सु गाँवतें बाहर पाउँ न दैहै।' (पद्माकर जगद्वि० १ २५२)। परकीया-की वेदना भी घनी है और वह प्रियको रोकनेके लिए आतुर है—'मितवा चलेउ बिदेसवा मन अनुरागि। पियको सुरति गगरिया रहि मग लागि।' (र० . बरवै० ६४)। घनानन्दने परकीयाभावके रूपमें गहरी वेदनाकी व्यंजना की है—'पहिलैं अपनाइ सुजान सनेह सौं क्यों फिर नेहको तोरिये जू। रस प्याइ अधार ढँधार मँझार दई गहि बाँह न बोरिये जू'। (सु० सा० . १६)। सामान्याके उदाहरणोंमें कुछ कवियोंने धन तथा आभरण आदिका उल्लेख किया है—'जैहै कहा कछु रावरेको हमरे हियको तो हरा हरि जैहै।' (पद्माकर जगद्वि० १ २५६)। इसमें फिर भी 'हार'के व्यंग्यार्थमें बहुमूल्य वस्तु ली जा सकती है, पर—'लै ऐहौ आभरण' कहकर मतिरामने सामान्याको प्रेमके आलम्बनरूपमें नहीं लिया है। रहीमने इस नायिकामें भी प्रेमका निर्वाह किया है—'पीतम इक सुमिरिनियाँ मुहि देइ जाहु। जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु।' (बरवै० ६५)। रीतिकाव्य तथा इस कालके घनानन्द, रसखान, आलम जैसे प्रेमी कवियोंने विरहकी सम्भावनाका चित्रण नाना भावावेगोंके साथ किया है। —र०

प्रवर्तक–यह रूपकगत प्रस्तावनाका एक भेद है। दश-रूपककारके अनुसार 'प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तक' अर्थात् प्रस्तुत कार्यसे सम्बद्ध उद्योगका परित्याग कर जहाँ किसी अन्य कार्यको किया जाय वहाँ 'प्रवर्तक' होता है, जैसे, संस्कृतके 'महावीरचरित'में रामकी वीरतासे विस्मित परशुराम उनसे युद्ध न कर उनका आलिंगन करना चाहते हैं। यही प्रवर्तक है। —व० सिं०

प्रवास-विप्रलंभ–दे०—'विप्रलम्भ शृंगार',।

प्रवाह जीव–दे०—'प्रवाहमार्ग', 'पुष्टजीव', 'पुष्टिमार्ग'।

प्रवाहपुष्ट–दे०—'पुष्टिजीव', 'पुष्टिमार्ग'।

प्रवाहमार्ग–यह वस्तुत कोई साधन-मार्ग नहीं है, प्रत्युत मोक्षके लिए किसी प्रकारका साधन न करके सासारिक सुख-भोगके लिए प्रयत करते रहनेको ही वल्लभाचार्यने अपने पुष्टिमार्गके निरूपणमें प्रवाहमार्ग कहा है। इस मार्गपर चलनेवाले जीव निरन्तर बन्धनमें पडे रहते है अर्थात् वे बार-बार जन्म लेते और मरते हैं।

जीवोंके वर्गीकरणमें वल्लभाचार्यने दैवी और आसुरी, दो प्रधान भेद किये हैं। आसुरी जीव ही प्रवाहशील अर्थात् जन्म-मरणके चक्रमें बहनेवाले होते हैं। इनमें भी दो प्रकारके जीव होते हैं—एक अज्ञ आसुरी जीव और दूसरे दुर्ज्ञ आसुरी जीव। अज्ञ जीव तो भगवान्के प्रति उत्कट वैरभावके फलस्वरूप उद्धार प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु दुर्ज्ञ आसुरी जीव नित्य प्रवाहशील रहते हैं, उनका कभी उद्धार नहीं होता। प्रवाहजीव ससारी भी कहे जाते हैं। (दे०—'पुष्टिमार्ग')। —ब्र० व०

प्रवाहवाद–अँग्रेजी कथा-विधानकी 'स्ट्रीम ऑफ कान्शसनेस' प्रणालीका हिन्दी रूपान्तर। अँग्रेजी साहित्यमें इस शिल्पके प्रवर्तक तथा प्रचारक जेम्स जायस तथा वर्जीनिया वुल्फ रहे हैं। जायसका उपन्यास 'युलिसिस' इस कथा-विधानका अन्यतम उदाहरण है। कथाकी इस टेकनिकमें पात्र एक अविच्छिन्न चेतना-प्रवाहमें समय तथा स्थानसे परे बहते रहते हैं। अपनी सभी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमिके बावजूद यह प्रणाली सदैव बहुत सगत नहीं लगती। वर्जीनिया वुल्फका प्रसिद्ध लघु उपन्यास 'औलैण्टो' तो मात्र एक फैण्टेसी लगता है। इस शिल्प-प्रणालीका प्रथम व्यवस्थित प्रयोग १८८७में दुजार्दिनने किया था।

हिन्दीमें इस कथा-विधानका अभी कोई उल्लेखयोग्य प्रयोग नहीं हुआ, यद्यपि साहित्यके सिद्धान्त-विवेचनमें इस प्रणालीकी चर्चा तत्र-यत्र अवश्य मिल जाती है। —रा० स्व० च०

प्रवृत्ति–प्रवृत्तिका सम्बन्ध केवल भाषासे ही नहीं है। भरत(४ श० ई०)का प्रवृत्तिके सम्बन्धमें मत है—'पृथिव्या नाना देशवेशभाषाचारवार्ता ख्यापयतीति प्रवृत्ति' (नाट्य० १४ ३६) अर्थात् पृथ्वीके विभिन्न देशोंके वेश, भाषा तथा व्यवहारकी वार्तोको जो प्रकट करे, वह प्रवृत्ति है। इस प्रकार प्रवृत्ति व्यापक अर्थमें प्रयुक्त हुई है और इसके साधन भी अनेक है। जहाँ वृत्ति एक प्रकारसे शब्दों द्वारा अभिव्यजना-पद्धति है, वहाँ प्रवृत्ति रहन-सहनको पूर्णतया प्रकट करनेकी पद्धति है। प्रवृत्ति आचार-व्यवहार, वेशादि, रहन-सहनको प्रकट करनेकी पद्धति है। अत प्रवृत्तिका सम्बन्ध केवल अभिनयसे है, जब कि वृत्तिका सम्बन्ध नाट्य और काव्य, दोनोंसे ही है। वृत्तिका सम्बन्ध आन्तर व्यापारसे अधिक है, जब कि प्रवृत्ति बाह्य व्यापारसे अधिक सम्बन्ध रखती है। राजशेखर(९-१० श० ई० का० मी०)ने इसे केवल 'वेशविन्यास'के रूपमें ही ग्रहण किया है। भरतने नाट्यप्रयोगसे चार प्रवृत्तियाँ मानी हैं—आवन्ती, दाक्षिणात्य, पाचाली तथा औड्रमागधी। यह विभाजन प्रदेशोंकी विशेषताओंके आधारपर है।

१ **औड्रमागधी**–भरत मुनिने और उनके आधारपर राजशेखरने नाना देशोंके वेष-भाषा-आचार-वार्ताकी द्योतक सज्जाको प्रवृत्ति माना है। यह विभिन्न देशसमूहोंके विचारसे भिन्न-भिन्न नामकी है। अंग, वग, कलिंग, पुण्ड्र, नेपाल, वत्स, ब्रह्मोत्तर, प्राग्ज्योतिप्, पुलिन्द, विदेह, ताम्रलिप्ति आदि देशोंके वेशविन्यासक्रमकी द्योतक प्रवृत्तिका नाम औड्रमागधी है (नाट्य० १४ ४३-४५)। इसमें चन्दन, सूत्रहार, दूर्वा आदिका प्रयोग वेश-भूषाके लिए रहता है। उड्र और मगधके समीपवर्ती देशोंकी वेशविन्यास-प्रवृत्ति है औड्रमागधी।

२ **पांचालमध्यमा**–पाचाल, शूरसेन, कश्मीर, हस्तिनापुर, वाह्लीक, शल्य, मद्र, कुशीनगर आदि गगाके उत्तरस्थित जनपदोंकी वेशभूषा-आचार-वार्ता सूचक प्रवृत्तिका नाम पाचालमध्यमा है। राजशेखरके अनुसार पाचालकी सुन्दरियोंका कपोलमण्डल सोनेके कर्णाभूपणोंके हिलनेसे तरगित होता है। सुन्दर मोतियोंकी माला गलेमें नाभितक लटकती है। सुन्दर उत्तरीय श्रोणीसे एडीतक शोभाय मान है। ये सात्वती और आरभटी वृत्तियोंपर आश्रित जन है। स्वल्प गीतवाद्यका प्रयोग करनेवाले और अप्रदक्षिण होते हैं। इनकी वेश भूषा, आचारवार्ताकी प्रतिपादक प्रवृत्ति पाचालमध्यमा है (नाट्य० १४ ४७-४८)।

३ **आवन्ती**—अवन्ति, विदिशा, सौराष्ट्र, मालवा, अर्बुद, भृगुकच्छ, सिन्धु, सुवीर, दशार्ण, त्रिपुर आदि देशोंकी वेश-आचार-भूषावार्ता आदिकी द्योतक प्रवृत्ति आवन्ती या आवन्तिकी कही गयी है। इसमें पाचाल और दाक्षिणात्य प्रवृत्तियोंका मिश्रण देखा जाता है। यहाँके पुरुषोंकी वेशरचना पाचालके समान है, परन्तु स्त्रियोंकी दक्षिण देशके समान है। इसी प्रकार दोनोंकी समन्वित विशेषता उनकी भाषा और आचारमें भी देखनेको मिलती है (नाट्य० १४ ४०-४१)।

४ **दाक्षिणात्या**—महेन्द्र, मलय, मेकल, केरल, महाराष्ट्र, कालपजर, सह्य आदि देशोंकी वेश-भूषा-आचार-वार्ता आदिकी द्योतक प्रवृत्ति दाक्षिणात्या है। यहाँ स्त्रियोंकी कुन्तलराशि चरणोंतक शोभायमान है। भालप्रदेश सिन्दूर-मण्डित और कटिप्रदेश पूर्णतया आच्छादित है, यह केरल प्रदेशकी स्त्रियोंकी वेशभूषा है। इस प्रदेशमें विचित्र नृत्य, गीत, वाद्य आदिका विलास रहता है, जो कैशिकी वृत्तिपर आश्रित है। इनकी रीति वैदर्भी है। श्रुत्यनुप्रासयुक्त वाणी है। यह ललित कलाओंकी लीलाभूमि दक्षिणप्रदेशकी प्रवृत्ति है। किन्हीं किन्हीं विद्वानोंके मतानुसार कैशिकी वृत्तिकी उदयभूमि विदर्भ है। अत इस प्रवृत्तिका केन्द्र भी विदर्भको मानना चाहिये (नाट्य० १४ ३७-३९)। —म० मि०

प्रवेशक–यह **अर्थोपक्षेपक**का एक भेद है। **विष्कम्भ**की तरह प्रवेशक भी भूत और भावी कथाशोंका सूचक है। इसमें औदात्यपूर्ण उक्तिका प्रयोग नहीं होता। इसकी भाषा प्राकृत ही होती है—शिष्ट प्राकृत नहीं। इसमें नीच पात्रोंका प्रयोग होता है। प्रवेशककी योजना सर्वदा दो अकोंके बीच की जाती है।

प्रवेशकका स्पष्टीकरण करनेके लिए आवश्यक है कि

विष्कम्भमें इसका जो मुख्य अन्तर है उसका उल्लेख हो जाय। यद्यपि दोनों ही भूत और भविष्यके कथांशोंके सूचक हैं, तथापि रूपकमें इनके स्थान, इनकी भाषा, पात्रोंके प्रयोगकी दृष्टिसे इनमें पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है।

प्रवेशकका प्रयोग दो अङ्कोंके बीचमें ही हो सकता है। रूपकके प्रथम अंकके आदिमें इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। प्रथम अंकमें इसके लिए कोई स्थान नहीं है। पर **विष्कम्भ (विष्कम्भक)**का प्रयोग रूपकके प्रथम अंकके प्रारम्भमें भी हो सकता है और दो अंकोंके बीचमें भी (जैसे, शकुन्तलाके चौथे अंकके आदिमें)।

जहाँतक भाषाके प्रयोगका प्रश्न है, प्रवेशकमें संस्कृतका प्रयोग नहीं किया जाता। इसमें निम्न कोटिकी प्राकृत—मागधी, आभीरी, पैशाची आदिके प्रयोगका विधान है। पर **विष्कम्भ (विष्कम्भक)**में संस्कृत और शौरसेनीका प्रयोग करना चाहिये।

प्रवेशकके सभी पात्र (एक या दो) निम्न श्रेणीके होते हैं, जब कि **विष्कम्भ (विष्कम्भक)**में कमसे कम एक पात्र मध्यम श्रेणीका होता है। —द० सिं०

प्रशस्तिगीति—वैदिक स्तोत्रसे प्रशस्तिगीति और प्रशस्ति-काव्यका विकास हुआ है। प्रशस्तिगीतिमें किसी लौकिक व्यक्तिकी प्रशस्ति गायी जाती है। वैदिक देवताओंकी स्तुतियोंमें लोकनायकोंकी प्रशस्तियोंके संकेत देखे जा सकते हैं। **गौरवगीति** स्तोत्रोंकी प्रत्यक्ष उत्तराधिकारिणी है, क्योंकि इनमें देवताओंके गौरवकी गाथा गायी गयी थी, किन्तु बादमें मानवोंकी गौरवगीतियाँ गायी गयीं क्योंकि उन्होंने देवत्व लाभ किया। दारयवहुश्क (ई० पू० ५२२-४८६)के बिस्तून शिलालेखमें गौरवगीतिका मूल रूप मिलता है, यद्यपि यह गौरवगान गद्यात्मक है। राजकवियोंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें इस प्रकारकी रचनाएँ की हैं। समुद्रगुप्त (राज्यकाल ३३०-३७५ ई०) सम्बन्धी हरिषेण-विरचित प्रशस्तिकाव्य प्रयागके प्रस्तरस्तम्भपर उत्कीर्ण है। इसके प्रथम चार चरण पूर्णतया नष्ट हो गये हैं। तीसरा छन्द स्रग्धरा है—[स]त्काव्य-श्री विरोधान्बुध-गुणित-गुणाज्ञाहतानेव कृत्वा। [वि]द्वलोके (ऽ) वि[ना][शि] स्फुटबहु-कविता-कीर्ति-राज्यं भुनक्ति।' प्रशस्तिकाव्यके कवि राजाश्रित होते हैं। लोकभाषाओंको राजसभाओंमें जब स्थान मिलने लगा तो प्रशस्तिगीतिका अधिक प्रचलन हुआ। राष्ट्रीय नेताओंकी प्रशंसामें अनेकानेक प्रशस्ति-गीतियाँ लिखी गयीं और भारत-भूमिके गौरवकी गाथा गौरव-गीतियोंमें गायी गयी। —रा० से० पा०

प्रसादगुण—दे०—'गुण', तीसरा प्रकार।

प्रसिद्धविरुद्ध—दे०—'अर्थ-दोष', नवाँ।

प्रसिद्धित्याग—दे०—'शब्द-दोष', पन्द्रहवाँ 'वाक्य-दोष'।

प्रस्तावना—रूपकमें जहाँ **नटी, विदूषक** अथवा **पारिपार्श्विक सूत्रधार**के साथ अपने कार्यके सम्बन्धमें विचित्र वाक्योंका प्रयोग करते हुए इस तरह बात करे कि प्रस्तुत कथा सूचित हो जाय वहाँ प्रस्तावना होती है। इसे आमुख भी कहते हैं। प्रस्तावनाके पाँच भेद होते हैं—**उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक** और **अवगलित**।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकी 'प्रेमजोगिनी' नाटिकामें **सूत्रधार** और **पारिपार्श्विक**का वार्तालाप प्रस्तावना ही है।—व० मि०

प्रस्तुत—उपमाके चार प्रमुख उपादानोंमेंसे एक उपादान, 'उपमेय'का एक पर्याय। वर्णनीय विषयको अलंकार-शास्त्रमें प्रस्तुत नामसे अभिहित किया जाता है। उदा०—'हरि पद कोमल कमलसे' इसमें 'पद' प्रस्तुत है, क्योंकि इसीका वर्णन विषय है और 'कमलकी कोमलता'से इसीकी समता की गयी है। इसी प्रकार 'अरी नीच कृतघ्नते! पिच्छल शिलासंलग्न। मलिन काई-सी करेगी हृदय कितने भग्न।' ('प्रसाद'-कामायनी), यहाँ 'कृतघ्नता' प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु है, जिसकी 'काई'से समानता की गयी है।

मम्मटने अपने 'काव्यप्रकाश'में इसका उल्लेख 'प्रस्तुत' और 'प्रकृत' नामसे किया है। यथा—'अप्रस्तुतप्रशंसा सा या सैव प्रस्तुताश्रया' या—'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' (का० प्र० · १०. ९८ ९२)। हिन्दीमें रामचन्द्र शुक्लने उपमेयके लिए 'प्रस्तुत' और 'उपमान'के लिए 'अप्रस्तुत' शब्दका प्रयोग किया है। —वि० स्ना०

प्रस्तुतांकुर—'अप्रस्तुतप्रशंसा'की जातिका अर्थालंकार। अप्रस्तुतसे प्रस्तुतके बोधका नाम 'अप्रस्तुतप्रशंसा' (प्रशंसा-कथन) है, उसमें अभिधा शक्तिसे अप्रस्तुत वृत्त और व्यंजना शक्तिसे प्रस्तुत वृत्तकी प्रतीति होती है। परन्तु 'प्रस्तुतांकुर'में एक प्रस्तुत अर्थसे दूसरे प्रस्तुत अर्थकी प्रतीति होती है। प्रतिष्ठापक अप्पय दीक्षितके अनुसार प्रस्तुतांकुरका लक्षण है—'प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुर' (कुवलयानन्द ६७)। इसीके आधारपर हिन्दीके जसवन्त सिंह, मतिराम, दास तथा पद्माकर आदिने अपने लक्षण प्रस्तुत किये हैं—'प्रस्तुत करि प्रस्तुत जहाँ प्रकट होत मतिराम' (ल० ल० १७५) अथवा 'प्रस्तुत करि प्रस्तुत फुरै' (पद्मा० · १२१)। उदा०—प्रियतमके साथ उद्यानमें विहार करती हुई नायिकाने भृगसे कहा—'हे भ्रमर! मालतीको छोड़कर तुम कंकटपूर्ण केतकीके पास क्यों जाते हो?' यहाँ भ्रमर तथा नायक दोनों प्रस्तुत हैं और प्रथम प्रस्तुतके प्रति कथनसे द्वितीय प्रस्तुतके प्रति कथनका बोध होता है—'कुलीन वधूके रहते हुए भी वेश्यागमन क्यों करते हो?' अथवा—'सुबरन बरन सुबासजुत सरस दलनि सुकुमार। चम्प कलीकौं तजत अलि, तैंहीं होन गँवार।' (ल० ल० · १७६)। —ओ० प्र०

प्रस्थानक—इसमें दो अंक और दस नायक होते हैं। हीन पुरुष नायक और दासी नायिका होती है। कैशिकी और भारती वृत्तियोंका प्रयोग होता है। सुरा-पानसे उद्देश्यकी प्राप्ति की जाती है, उदा०—'शृंगारतिलक'। शेष सब बातोंमें नाटकसे समानता है। —वि० रा०

प्रहर्षण—अर्थालंकार, यह अपेक्षाकृत गौण अलंकार है। अतः 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदि संस्कृतके प्रामाणिक काव्य-ग्रन्थोंमें इसका समावेश नहीं है। जयदेवने अपने 'चन्द्रालोक'में इसे स्वीकार किया है—'वाञ्छितार्थाधिक-प्राप्तिर्यत्नेन' (५ ४९), जिसको भूषणने इस प्रकार रखा है—जहँ मन-वाछित अरथतें, प्रापति कछु अधिकाय।' (शि० भू० · २१५)। 'कुवलयानन्द'में इसके तीन भेद दिये गये हैं, जिनका अनुसरण हिन्दीके अन्य आचार्योंने प्रायः

किया है। प्रहर्षणका शाब्दिक अर्थ हुआ प्रकृष्ट हर्षण। जिस प्रसगमें अत्यन्त अधिक हर्ष अथवा हर्षकारी पदार्थकी प्राप्तिका वर्णन हो, वहाँ प्रहर्षण अलकारकी उपस्थिति होगी। प्रहर्षण अलंकार विषादनका प्रतियोगी अथवा विरोधी अलकार है।

प्रथम प्रहर्षण वहाँ होता है जहाँ इष्ट अर्थकी सिद्धि विना किसी उपायके ही सम्पन्न हो जाय। मतिरामके अनुसार—'जहँ उत्कण्ठित अर्थकी विन उपाय ही सिद्धि।' (ल० ल० ३०२)। उदा०—'मंजु मनोरथ फैलि फल्यो पर आने सबै तप पूरन पागे। मोंज मढे उमडे करुना खड़े श्रीरघुनाथ जटायुके आगे।' (लछिराम)। यहाँ जटायुके सामने रामके आ जानेसे उसके मनोरथ विना प्रयत्नके सिद्ध हुए हैं। **द्वितीय प्रहर्षण** वहाँ होता है जहाँ वाछित अर्थकी अपेक्षा अधिक लाभ अथवा सिद्धि होनेका वर्णन हो—'जहँ मन इच्छित अर्थतें, अधिक सिद्धि मतिराम।' (ल० ल० : ३०५)। उदा०—'रजतकी हौस किये हेम पाइयतु जासों हयनकी हौस किये हाथी पाइयतु है।' (शि० भू० २१६)। यहाँ शिवाजीके दरबारमें चाँदीकी कामना करनेवाले कवियोंको सोना और घोड़ेकी कामना करनेवाले कवियोंको हाथीकी प्राप्तिका वर्णन है। **तृतीय प्रहर्षण** उस स्थानपर होता है जहाँ उपाय अथवा साधनकी खोजके द्वारा फल अथवा साध्यकी प्राप्तिका वर्णन हो—'जहाँ अर्थकी सिद्धिको, जतनहि ते फल होय।' (ल० ल० ३०८)। उदा०—'हरिकी सुधिको राधिका, चली अलीके भौन। हँसत बीच ही मिलि गये, बरनि सकै कवि कौन।' (वही · ३०९)।

काव्यप्रकाशके टीकाकार वामन भट्टने प्रहर्षणके तीनों प्रकारोंको समाधि अलकारमें अन्तर्विष्ट माना है, क्योंकि अकस्मात् इष्ट-लाभ, यत्नकी मात्रासे अधिक लाभ अथवा उपायकी सिद्धिका यत्न करनेपर साक्षात् फलका लाभ, ये तीनों अनायास कार्य-सौकर्यके ही अवान्तर रूप हैं और जहाँ कार्य-सौकर्य होता है वहाँ समाधि अलकार होता है। केशवकी 'रामचन्द्रिका'के इस छन्दमें प्रहर्षणका एक सुन्दर उदाहरण है—'ज्यों अति प्यासो माँगि नीर लहै गंग जलु। प्यास न एक बुझाइ, बुझै त्रैताप वलु।'

—ध० म० शा०

प्रहसन—भरत मुनिने प्रहसनके दो भेदोंमें इसकी परिभाषा की है। उनका मत है कि जब भगवत्, तापस, भिक्षु, श्रोत्रिय आदि किसी (पाखण्डी) नायक और नीच व्यक्तियों द्वारा परिहास किया जाता तो **शुद्ध प्रहसन** होता है। इसमें भाषा और कथानकको आद्योपान्त समान रूपसे पाखण्डी व्यक्तियोंके यथार्थ जीवनके उपयुक्त नियोजित किया जाता है। यह परिहासके आभूषणोंसे युक्त होता है। दूसरा भेद **संकीर्ण प्रहसन** है। सकीर्ण प्रहसन उसे कहा जाता है जिसमें वेश्या, चेट, नपुसक, विट, धूर्त, बन्धकी-(दुराचारिणी)के अशिष्ट वेश, भाषा और चेष्टाओंका अभिनय प्रदर्शित किया जाता है। इसमें सामान्य जनतामें प्रचलित किसी दुराचरण एव दम्भ-पाखण्डका प्रदर्शन अनिवार्य है। (ना० शा० · १८ · १५४, १५८)। भरत मुनिके आधारपर धनजयने प्रहसनका लक्षण लिखते हुए कहा है कि भाणसे मिलते-जुलते इस रूपक-प्रकारमें जब पाखण्डी और जाति-प्रतापसे पूज्य बना, नीच प्रकृतिवाला, चेट, चेटी एव विटसे घिरा हुआ वेश और भाषामें उन्हींके सदृश चेष्टा करनेवाला, उपहासास्पद व्यवहारोंसे युक्त नायक होता है तो यह शुद्ध प्रहसन कहलाता है। उन्होंने इसके दो और भेद—**वैकृत** और **संकर** नामसे किये है।

शारदातनयने इसकी अक सख्या और सन्धियोंका भी उल्लेख किया है। उनका मत है कि प्रहसनमें एक अंक होता है और मुख एव निर्वहण सन्धि होती है। उन्होंने 'सागरकौमुदी'को शुद्ध प्रहसन, 'सैरन्ध्रिका'को सकीर्ण एव 'कलिकेलि'को विकृत प्रहसन माना है। (भा० प्र० · पृ० २४७)।

'रसार्णवसुधाकर'में शिगभूपालने **भाण**के समान प्रहसन-में **अवगलित, अवस्कन्द, व्यवहार, विप्रलभ, उपपत्ति, अनृत, विभ्रान्ति, भय, गद्गद वाक्** और **प्रलाप** नामक दस विशेषताओंका होना आवश्यक माना है। उनका मत है कि इसमें दो अक भी हो सकते हैं। (सा०द० ६ २६७)। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने प्रहसनका नायक राजा, धनी, ब्राह्मण या धूर्त माना है। **भाण**में एक पात्र होता है, किन्तु प्रहसनमें अनेक पात्र आते हैं। उनका मत है कि 'यद्यपि प्राचीन रीतिसे इसमें एक ही अंक होना चाहिये, किन्तु अब अनेक दृश्य दिये विना नहीं लिखे जाते, उदाहरण 'हास्यार्णव','वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अँधेर नगरी'।

गुलाब रायने केवल तीन बातें आवश्यक मानी हैं—(१) हास्यरसकी प्रधानता, (२) एक अक और (३) **मुख** और **निर्वहण** सन्धियाँ।

उपर्युक्त सभी मतोंका समाहार करते हुए प्रहसनका लक्षण इस प्रकार दिया जा सकता है—

भाणके समान ही प्रहसन भी होता है, पर इसमें हास्य रसका आधिक्य होता है। वीथीके तेरहों अंगोंकी अवस्थिति इसमें हो सकती है। इसका हास्य उच्च कोटिका नहीं होता और प्राय कविकल्पित होता है। इसमें **आरभटी** वृत्ति तथा **विष्कम्भक** और **प्रवेशक**का प्रयोग नहीं होता। प्रहसनमें तपस्वी, सन्यासी अथवा पुरोहित नायक होता है।

प्रहसन तीन प्रकारका होता है—**शुद्ध, विकृत** और **सकर**। प्रथम प्रकारके प्रहसनोंके नायक पाखण्डी, सन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित होते हैं। **चेट, चेटी** आदि नीच पात्र भी इसमें होते हैं। इसका बहुत-कुछ प्रभाव वेश-भूषा तथा बोलनेके ढगसे जाना जा सकता है। हास्यपूर्ण उक्तियोंका इनमें बाहुल्य होता है। द्वितीय प्रकारके प्रहसनों-में नपुसक, कचुकी और कामुकोंके रूपमें तपस्वी होते हैं और अपनी चेष्टाओं द्वारा प्रेक्षकोंका मनोरजन करते हैं। तीसरे प्रकारके प्रहसनोंमें हँसी-दिल्लगीकी बहुत विशेषता होती है, नायक बहुधा धूर्त, छली, प्रपंची हुआ करते हैं तथा अधिवल (स्पर्धायुक्त बातें), नायिका (अव्यक्तार्थ परिहास-वचन), असत्प्रलाप (बेसिर-पैरकी बातें), व्याहार (हँसी उड़ाना) और मृदव (गुणको अवगुण और अवगुणको गुण बनाकर कहना)—इन **वीथ्यंगों**का अधिकतासे व्यवहार किया जाता है। हिन्दीमें भारतेन्दुकी 'अन्धेर नगरी','वैदिकी

हिंसा हिंसा न भवति', बालकृष्णके 'शिक्षादान', देवकीनन्दन त्रिपाठीके 'रक्षाबन्धन', 'एक-एकके तीन-तीन', 'स्त्री-चरित', 'वेश्या-विवाह', 'वेल द' टकेको', जयनाथ सिंहके 'नैकडोंमें दश-दश', 'कलियुगी जनेऊ', खड्गबहादुर मल्लके 'भारत-भारत', देवकीनन्दन तिवारीके 'कलियुगी विवाह प्रहसन', गोपालराम गहमरीके 'जैनेकी-तैना', विजयानन्द त्रिपाठीके 'महा अन्धेर नगरी', देवदत्त शर्माके 'अति अन्धेर नगरी' जैसे प्रहसनके उदाहरण हैं। (द्वि० ओ०)—श्या० मो० श्री०

प्रहेलिका या प्रहेलि—चित्रकी जातिका शब्दालंकार। च्युताक्षर, दत्ताक्षर तथा च्युतदत्ताक्षर भेदवाली, अनेकार्थ-धातुओंसे युक्त पद यमकजनित उक्तिका चमत्कार प्रहेलिका है। भामहके अनुसार इसके आदि व्याख्याता रामशर्माच्युत हैं (काव्याल० २ १९)। प्रहेलिकाका स्वरूप है—'नाना-धात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी।' भामहने इसका खण्डन किया है, क्योंकि यह शास्त्रके समान व्याख्यागम्य है (काव्याल० २ २०)। दण्डीने काव्यदोषसे पूर्व और यमक चित्र आदिके अनन्तर प्रहेलिकाके १६ पूर्वाचार्यकृत, १४ नवीन भेदोंका वर्णन किया है (काव्याद० ३. १०६)। विश्वनाथने प्रहेलिकाको उक्ति-वैचित्र्यमात्र माना है, अलंकार नहीं, क्योंकि यह अलंकारके मुख्य कार्य—रस परिपुष्टिमें योग नहीं देती, प्रत्युत रसमें विघ्न डालती है (सा० द० १० १७)। केशवके अनुसार प्रहेलिकाका लक्षण है—'बरनिय वस्तु दुराय जहँ, कौनहुँ एक प्रकार। तासों कहत प्रहेलिका कवि कुल बुद्धि उदार।' (क० प्रि० . १३ ३०)। —ओ० प्र०

प्राकृत—भारतीय आर्य भाषाओंको प्राचीन, मध्य और आधुनिक, तीन कालोंमें विभाजित किया गया है। 'प्राकृत' मध्य-कालीन भाषाओंका प्रतिनिधित्व करती है। प्राकृत भाषा कोई एकाएक प्रयोगमें नहीं आ गयी। अपने नैसर्गिक रूपमें यह वैदिक कालके पूर्व भी वर्तमान थी। वैदिक भाषाको स्वयं उस कालमें प्रचलित प्राकृत बोलियोंका साहित्यिक रूप माना जाता है। प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो'-का यह उल्लेख 'सयलाओ इमं वाया विसन्ति एत्तो य णेंति वायाओ एंति समुद्दच्चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं' अर्थात् जिस प्रकार जल समुद्रमें प्रवेश करता है और भाप बनकर पुनः समुद्रसे बाहर जाता है, उसी प्रकार प्राकृतसे सब भाषाओंका उद्गम होता है और उसीमें सब भाषाएँ फिर समाहित हो जाती हैं। यह सर्वथा ठीक जान पड़ती है। यह प्राकृतका व्यापक अर्थ है। भाषाका यही स्वच्छन्द रूप स्थानगत और कालगत विभिन्नताओंके कारण ७०० ई० पू० से १००० ई० तक पालि, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओंके रूपमें विकसित हुआ। प्राकृत उस कालमें लोकप्रिय भाषा बन गयी थी, जैसा, राजशेखरने स्पष्ट भी किया है कि प्राकृत भाषा स्त्रीके सदृश सुकुमार और संस्कृत पुरुषके समान कठोर है। वैयाकरणोंने सम्भवतः संकुचित अर्थमें साहित्यिक प्राकृतका मूल आधार संस्कृत भाषाको माना है। यद्यपि यहाँपर संस्कृतका आशय प्राचीन आर्य-भाषाके स्वच्छन्द रूप वैदिकसे लेना युक्तिसंगत होगा, क्योंकि संस्कृत तो स्वयं ही लोकभाषाका संस्कार किया हुआ रूप है। व्यापक अर्थके अनुसार प्राकृतका प्रारम्भिक रूप पालि, मध्यकालीन रूप प्राकृत तथा उत्तरकालीन रूप अपभ्रंश कहा गया है। मध्यकालीन रूपके अन्तर्गत साहित्यिक प्राकृत एक विशिष्ट रूप है। इसके मुख्य भेद शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री, पैशाची हैं, जिनका उद्भवकाल १०० ई० से ६०० ई० तक माना जाता है। इनके अतिरिक्त नाटकीय प्राकृत, शिलालेखी प्राकृत, नियप्राकृतका भी विभाजन किया गया है। संस्कृतके शब्दोंमें पर्याप्त ध्वनिपरिवर्तन, विभक्तियोंमें एकीकरण, कतिपय व्याकरण-सिद्ध रूपोंका ह्रास आदि प्राकृतकी मुख्य विशेषताएँ हैं। तृतीया, चतुर्थी तथा पंचमी, षष्ठीके समान विभक्तियाँ मिलती हैं। —स० प्र० अ०

प्राकृत, अर्धमागधी—यह शौरसेनी-प्रभावित मागधी प्राकृत है, पूर्ण मागधी न होनेके कारण भी इसे यह संज्ञा दी गयी है। इसका क्षेत्र मागधी और शौरसेनीके बीचका क्षेत्र माना जाता है। अपनी साहित्यिक तथा धार्मिक महत्ताके कारण यह 'आर्ष' प्राकृतके नामसे अभिहित की गयी है। इसके पुराने और नये, दो रूपोंका अनुमान किया गया है। जैन धर्मकी यह प्रधान भाषा थी। विशुद्ध जैन साहित्यका प्राकृत वाङ्मयमें अत्यधिक महत्त्व है। जैन धर्म तथा बौद्ध धर्मोंको व्यापक बनानेमें इस भाषाका विशेष हाथ रहा है। —स० प्र० अ०

प्राकृत, पैशाची—वैयाकरणोंने पैशाचीको शौरसेनी-प्रभावित भाषा माना है। यह प्राचीन प्राकृत मानी गयी है, पिशाच क्षेत्रमें प्रचलित होनेके कारण इसका यह नाम पड़ा। पिशाच सम्भवतः अनार्य जाति थी और द्रविडोंसे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसका क्षेत्र भारतका पश्चिमोत्तर भाग था। आधुनिक पश्चिमोत्तरी बोलियाँ तथा भाषाएँ कश्मीरी, सीना, दरदी, काफरी, चित्राली, इसकी उत्तराधिकारिणी कही गयी हैं। इसकी प्राचीन रचना गुणाढ्य रचित 'बृहत्कथा'का उल्लेख परवर्ती आचार्यों और लेखकोंकी कृतियोंमें हुआ है, किन्तु यह अब उपलब्ध नहीं होती। क्षेमेन्द्र-रचित 'बृहत्कथामंजरी', सोमदेवकृत 'कथासरित्सागर', बुद्धस्वामिन्-रचित 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' आदि ग्रन्थोंमें इसके संस्कृत रूपान्तरित अंश मिलते हैं। इसकी एक उपभेद चूलिका पैशाची भी है। —स० प्र० अ०

प्राकृत, महाराष्ट्री—महाराष्ट्रीको महाराष्ट्र प्रदेशकी भाषा मान लेना युक्तिसंगत न होगा। हार्नलेके मतानुसार 'महाराष्ट्र'का आशय महान् राष्ट्रसे लेना चाहिये। यह ठीक भी है, क्योंकि मध्यकालमें महाराष्ट्री व्यापक क्षेत्रकी भाषा थी। वैयाकरणोंने सम्भवतः इसलिए महाराष्ट्रीको प्रधान प्राकृत मानकर अन्य प्राकृतोंकी कतिपय निजी विशेषताएँ देकर शेषको महाराष्ट्रीके सदृश कह दिया है। 'शेषम् महाराष्ट्रीयवत्।' महाराष्ट्रीको स्टैण्डर्ड प्राकृत भी कहते हैं। सम्भवतः महाराष्ट्री सदृश प्राकृतको लक्ष्य करके ही संस्कृतकी अपेक्षा प्राकृतको सुकुमार भाषाकी संज्ञा दी गयी। विद्वानों द्वारा यह महाराष्ट्री उत्कृष्ट प्राकृत मानी गयी है। 'महाराष्ट्रीसमा भाषा प्रकृष्टं प्राकृतम् विदुः' महाराष्ट्रीका पद्य साहित्य काफी सम्पन्न है। सुरोंका बाहुल्य होनेके कारण काव्यरचनाके लिए यह बहुत उपयुक्त भाषा सिद्ध हुई। इसमें लौकिक तथा धार्मिक, दोनों प्रकारकी विशेष साहित्यिक

रचनाएँ मिलती है। इसका विस्तृत परिचय प्राकृतोंके साहित्यिक प्रकरणमें दिया गया है। —स० प्र० अ०

प्राकृत, मागधी–पूर्वमें विहारप्रदेशके प्राचीन 'मगध' राज्यके नामपर इसका नामकरण हुआ। अर्वाचीन बिहारी बोलियोंमें मगहीका इससे नामसाम्य है। पूर्वी क्षेत्रोंमें मागधी व्यापक प्राकृत थी। यह गौतम बुद्धके उपदेशोंकी भाषा कही जाती है और 'पालि' भाषाका मूल स्रोत भी यही है। इसका कोई स्वतन्त्र साहित्य उपलब्ध नहीं होता। केवल पूर्वी क्षेत्रके शिलालेखों तथा संस्कृत नाटकोंमें निम्न श्रेणीके पात्रोंकी भाषाके रूपमें यह सुरक्षित है। इसके उपभेद शाकारी चाण्डाली, ढक्की, शाबरी मुख्य हैं। व्याकरणोंमें इसका मुख्य आधार शौरसेनी प्राकृत माना है। —स० प्र० अ०

प्राकृत, शौरसेनी–प्राचीन आर्य-भाषाकालमें मध्यप्रदेश शिष्ट तथा साहित्यिक भाषाका क्षेत्र रहा है। अत वहाँकी भाषा 'मध्यदेशी'के नामसे अभिहित की गयी। यही बादमें शौरसेनी प्राकृतका क्षेत्र हुआ। प्राचीन 'शूरसेन' जनपदके नामपर इसका नामकरण किया गया। मथुरा इसका केन्द्र था। इसी क्षेत्रमें शौरसेनीका कालान्तरमें विकास अर्वाचीन लोकव्यापी व्रजभाषाके रूपमें हुआ। शौरसेनी न केवल अपने क्षेत्रकी व्यापक भाषा थी वरन् अन्य प्राकृतोंके भाषा-क्षेत्रोंको भी इसने यथेष्ट रूपमें प्रभावित किया तथा कई उत्तर और पश्चिमोत्तर भाषाओंके उद्भवमें सहायता की। इस क्षेत्रमें अधिक राजनीतिक उथल-पुथल होनेके कारण इसका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। केवल संस्कृत नाटकों तथा जैन धर्मके ग्रन्थोंमें यह सुरक्षित मिलती है। वररुचि तथा हेमचन्द्रने इसकी विशेषताओंका विस्तृत परिचय दिया है। —स० प्र० अ०

प्राकृत (साहित्य)–ब्राह्मण धर्मके ह्रासके साथ साथ संस्कृत भाषाका महत्त्व भी घटा और लोकप्रचलित भाषाओं-को प्रश्रय मिला। वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्धने अर्द्ध-मागधी प्राकृतोंको अपने उपदेशोंका माध्यम बनाया तथा शिक्षित वर्गमें भी प्राकृत भाषाका प्रयोग होने लगा। अत भारतीय मध्ययुगकी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि तथ्योंकी सम्यक् जानकारी प्राकृत वाङ्मयसे जितनी सम्भव है उतना किसी अन्य साहित्यसे नहीं। प्राकृत साहित्यका इस दृष्टिसे विशेष महत्त्व है।

शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्द्धमागधी, पैशाची मुख्य प्राकृत-भाषाएँ हैं। इन प्राकृतोंके अतिरिक्त महाराष्ट्रीका उपभेद जैन-महाराष्ट्री तथा शौरसेनीका जैन-शौरसेनी है, जिनका नामकरण पाश्चात्य विद्वान् हरमन याकोबीने किया। प्राकृतके अन्य भी कई भेद-उपभेद हैं, किन्तु साहित्यिक दृष्टि-से उनका कोई महत्त्व नहीं है। उक्त पाँच प्राकृतें ही इस दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अनेक शिलालेख भी प्राकृत भाषामें मिलते हैं, किन्तु इनकी गणना प्राकृतके साहित्यिक रूपके अन्तर्गत नहीं की जाती। संस्कृत और प्राकृतके संक्रान्तिकालमें संस्कृत प्रभावित प्राकृतका रूप 'गाथा' अथवा 'पापुलर संस्कृत'के नामसे अभिहित किया गया है, किन्तु उसमें उपलब्ध साहित्य शुद्ध प्राकृत साहित्यके अन्तर्गत परिगणित नहीं होता। उस कालमें जैन धर्म तथा जन-साधारणके कार्य-व्यवहारकी भाषा प्राकृत थी। उपलब्ध धार्मिक तथा लौकिक प्राकृत साहित्य न्यून ही है, उसका कुछ साहित्य आज कालकवलित हो चुका है अथवा अन्धकारके गर्भमें लुप्त पड़ा है।

धार्मिक साहित्य किसी भी भाषाके साहित्यका महत्त्व-पूर्ण अंग होता है। उसकी उपेक्षा किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। प्राकृत साहित्यके अन्तर्गत इसका और भी महत्त्व है, क्योंकि तत्सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य प्रचुर मात्रामें है और साहित्यिक दृष्टिसे उच्च कोटिका है। लगभग १०० ई०से लेकर ७०० ई०तक साहित्यिक प्राकृतका उद्भव-काल माना जा सकता है, यद्यपि इसके बाद सात-आठ शताब्दियोंतक प्राकृत-ग्रन्थ लिखे जाते रहे। महावीर स्वामीकी स्थिति तो बहुत पहलेकी है, किन्तु उनके उपदेशों-का संकलन बहुत बादमें हुआ। ई० शताब्दीके बादसे इन ग्रन्थोंका रचना काल निर्धारित किया जा सकता है। जैन धर्मसे सम्बन्धित विविध-विषयक रचनाएँ जो गद्य तथा पद्य-शैलियोंमें समय-समयपर रची गयीं, काफी सम्पन्न हैं। अनेक प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्य भी इस कालमें स्वतन्त्र रूपमें लिखे गये, जिनकी टक्करकी रचनाएँ संस्कृतमें भी नहीं मिलतीं। इनके अतिरिक्त प्राकृत भाषाका प्रयोग संस्कृत नाटककारोंने अपने नाट्यग्रन्थोंमें किया। कुछ नाटक तो पूर्णतया प्राकृतमें ही लिखे गये। अतएव प्राकृत साहित्यका विभाजन लौकिक काव्य तथा धार्मिक साहित्यके रूपमें किया जा सकता है। यहाँ सर्वप्रथम लौकिक काव्यके प्रमुख ग्रन्थोंपर विचार किया जा रहा है।

पहले कहा जा चुका है कि उस कालमें महाराष्ट्री काव्यकी प्रधान भाषाके रूपमें प्रचलित हो गयी थी। काव्य-रचनाएँ प्राय महाराष्ट्रीमें ही उपलब्ध होती हैं। प्रबन्ध-काव्यके अन्तर्गत महाकाव्य तथा खण्डकाव्य–'रावणवहो', 'लीलावई', 'सिरिचिंधकव्वं','उसाणिरुद्धकसवहो' आदि दोनों प्रकारके ग्रन्थ उपलब्ध हैं। 'गाहासत्तसई', 'वज्जालग्ग' आदिके अतिरिक्त फुटकर गीतोंका कतिपय संकलन रीति-शास्त्रके ग्रन्थों तथा संस्कृत एवं प्राकृत नाटकोंमें मिलता है। इनका अभी समुचित संग्रह नहीं हुआ है।

'रावणवहो' (रावणवध) महाराष्ट्री प्राकृतका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसका अनुवाद संस्कृतमें 'सेतुबन्ध'के नामसे हुआ है। इसका अन्य नाम 'दहमुहवहो' भी है। यह सातवीं शताब्दीके पूर्वकी रचना है, क्योंकि बाण-रचित 'हर्ष-चरित'की भूमिकामें 'सेतु' नामसे इसका उल्लेख मिलता है। दण्डीने 'काव्यादर्श'में इसे बाणसे काफी पूर्वकी रचना माना है। सुशीलकुमार दे इसे पाँचवीं शताब्दीकी रचना मानते हैं। कश्मीरके राजा प्रवरसेन द्वितीयको इसका लेखक माना जाता है। कुछ विद्वान् इसमें शंका करते हैं। वे इसे राजा प्रवरसेनके किसी राज्याश्रित कविकी कृति मानते हैं। ग्रन्थ १५ अश्वासोंमें विभाजित है। पूर्वार्धमें सेतु बाँधनेका वर्णन है और उत्तरार्धमें रावण-वध तथा रामके राज्याभिषेक-तककी कथाका विस्तार है। पूर्वार्धमें प्राकृतिक दृश्योंका मनोरम वर्णन हुआ है और उत्तरार्धमें मानवीय प्रकृतिके सूक्ष्म चित्रणमें कविकी कुशलता प्रकट होती है। ग्रन्थमें समासप्रधान शैली तथा आर्या छन्दको प्रश्रय मिला है।

वर्ण्यविषय, भाषा तथा शैलीकी दृष्टिसे प्राकृत साहित्यकी यह अनुपम रचना है। इसका प्रकाशन संस्कृत, जर्मन आदि भाषाओंमें हुआ है।

महाराष्ट्री प्राकृतका दूसरा महाकाव्य 'गउडवहो' है, जिसके रचयिता 'वप्पइराअ' (वाक्पतिराज) हैं। ये कन्नौजके राजा यशोवर्मन्के आश्रित कवि थे, जिनका उल्लेख कविने छन्द-संख्या ७९९में किया है। ग्रन्थका रचना-काल आठवीं शताब्दी माना जाता है। यह १२०९ आर्या छन्दोंमें लिखी हुई उत्कृष्ट रचना है। वर्ण्य विषय ऐतिहासिक है। इसमें राजा यशोवर्मन् द्वारा गौड देशपर आक्रमण तथा मार्गमें पड़नेवाले कई पूर्वी प्रदेशोंकी विजय आदिका वर्णन किया गया है। ग्रन्थमें घटना-योजना सश्लिष्ट और क्रमबद्ध रूपमें न होनेके कारण इसे सफल महाकाव्यकी कोटिमें नहीं रखा जा सकता, फिर भी भाषा, अलंकार तथा चित्ताकर्षक वर्णनोंका इसमें सुन्दर संघटन मिलता है।

कविकी दूसरी प्राकृत रचना 'महुमहविअअ' उपलब्ध नहीं है। इस कृतिका उल्लेख स्वयं कविके काव्य तथा 'ध्वन्यालोक', 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि काव्यशास्त्रके ग्रन्थोंमें मिलता है।

'लीलावई' ग्रन्थमें कविका वंश-परिचय तो मिलता है, कोई नाम नहीं मिलता। किन्तु कुछ छन्दोंमें 'कोऊहल'की छाप तथा एक टीकाकारके उल्लेखके आधारपर विद्वानोंका अनुमान है कि इनके रचयिता महाराष्ट्र-निवासी 'कुतूहल' नामके कोई ब्राह्मण हैं। इसका रचना-काल १००० ई० अनुमान किया जाता है। यह एक प्रेम-काव्य है, जिसमें मुख्यतया प्रतिष्ठानके राजा सातवाहन तथा सिंहलकी राजकुमारीकी प्रेमकथाका विस्तार है। साथ ही गन्धर्वलोकके कतिपय पात्रोंकी प्रेमकथाका भी इसमें प्रासंगिक वर्णन है। इसलिए कविने स्वयं ही अपनी कृतिको 'दिव्य-मानुषी' बताया है। सर्गबद्ध न होनेपर भी ग्रन्थमें कविकी अनोखी प्रबन्ध-पटुता प्रकट होती है। मानव-प्रेम तथा प्राकृतिक छटाके वर्णनमें कविको पूर्ण सफलता मिली है।

सिरिचिन्ध (श्रीचिह्न) प्रबन्ध-काव्य है, जिसके आठ सर्ग कवि कृष्णलीला शुक तथा अन्तिम ४ सर्ग कविके शिष्य दुर्गाप्रसाद द्वारा रचे गये हैं। इसमें कृष्णलीलाके साथ कतिपय प्राकृत व्याकरणोंकी व्याख्या भी है। कृष्णलीलासे सम्बन्धित एक अन्य रचना १६वीं शताब्दीके कवि श्रीकृष्णरचित 'सोरि-चरित्र' है, जिसकी भाषा कृत्रिम और भाव दुरूह हैं।

खण्डकाव्यके अन्तर्गत 'उषाणिरुद्ध' तथा 'कंसवहो' मुख्य रचनाएँ हैं, जिनके रचयिता केरल-निवासी रामपाणिवाद हैं। इनका रचना-काल १७५० ई०के लगभग माना जाता है। पहलेमें उषा-अनिरुद्धके प्रेम-प्रसंग तथा विवाहका वर्णन २८० छन्दों तथा दूसरेमें कृष्णकी बाल-क्रीडा तथा कंसवधका वर्णन २३३ छन्दोंमें हुआ है। प्राकृतके अन्य प्रबन्ध ग्रन्थोंका नामोल्लेख मिलता है, जैसे, 'हरिविजय', 'रावणविजय', 'कुणालयाश्वचरित' आदि, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि ये ग्रन्थ या तो नष्ट हो गये या कहीं लुप्त पड़े हैं और इनकी खोजकी आवश्यकता है।

मुक्तक काव्यके अन्तर्गत 'गाहासत्तसई' (गाथासप्तशती), 'वज्जालग्ग' प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। दोनोंमें सात सौसे ऊपर गाथाएँ संगृहीत हैं। 'गाहासत्तसई' किसी एक कविकी रचना न होकर कई कवियोंकी कृतियोंका संग्रह है। इसके संग्रहकर्ता दक्षिणके कोई महाराज सातवाहन अथवा कवि वत्सल (हाल) माने जाते हैं, जिनका उद्भवकाल ६९ ई० माना गया है। इसकी गाथाओंका उल्लेख अलंकार-ग्रन्थोंमें हुआ है। इसीके अनुकरणपर संस्कृतमें 'आर्यासप्तशती' लिखी गयी। इसमें विविध नायक-नायिका सम्बन्धी शृंगारिक वर्णनोंकी प्रधानता है। प्राकृतिक दृश्योंकी छटा भी दर्शनीय है। नीति तथा साधारण ज्ञान सम्बन्धी तथ्योंकी भी चर्चा है। विषयकी मौलिकता तथा भाषा एवं अलंकार-सौष्ठवकी दृष्टिसे यह एक अनूठी कृति है। दूसरी रचना 'वज्जालग्ग' है। इसके एक छन्दसे स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ अनेक कवियोंकी रचनाओंका संग्रहमात्र है और संकलनकर्ता जयवल्लभ हैं। इसके अनेक छन्दोंका उल्लेख अलंकार-ग्रन्थोंमें हुआ है। ग्रन्थके ७९५ छन्द ४८ परिच्छेदोंमें विभाजित हैं। इसमें शृंगारके अन्तर्गत आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी, नख शिख आदिका विशद वर्णन मिलता है। साथ ही रीति-नीति, सज्जन, दुर्जन आदि तथा मानव स्वभावसे सम्बन्धित प्रसंगोंका विस्तारसे चित्रण किया गया है। अनेक सुभाषित छन्द भी अनुकरणीय हैं। आनन्दवर्धनाचार्य-रचित 'विषमबाणलीला' का उल्लेख 'ध्वन्यालोक'में हुआ है। जैसा ग्रन्थके नामसे ही स्पष्ट है कि यह शृंगार रसकी रचना है, किन्तु यह अनुपलब्ध है। गोपाल मिश्ररचित मुकुट नामक रचना अधूरी उपलब्ध है। इसमें ८१ छन्दोंका उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त प्राकृतके अनेक फुटकर पद्य, कई अलंकार-ग्रन्थों—'ध्वन्यालोक', 'सरस्वतीकण्ठाभरण', 'दशरूपक', 'काव्यालंकार', 'काव्यादर्श','काव्यानुशासन','रस-गंगाधर' आदिमें उपलब्ध होते हैं। ये पद्यात्मक रचनाएँ विविध-विषयक हैं, जिनमें शृंगार और नीतिकी प्रधानता मिलती है। भरत-रचित 'नाट्य-शास्त्र'में भी महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृतके सैकड़ों छन्द मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि १०० ई०के लगभग प्राकृत भाषाकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो गयी थी। उक्त सभी प्रसिद्ध रचनाओंका अनुवाद संस्कृत तथा जर्मन आदि भाषाओंमें किया गया है। इनसे प्राकृत काव्यकी विशिष्टताका बोध होता है।

जैन धर्म सम्बन्धी अधिक रचनाएँ अर्धमागधी प्राकृतमें उपलब्ध होती हैं। इसमें सिद्धान्त-ग्रन्थ तथा टीकाएँ, दोनों सम्मिलित हैं। विद्वानोंने सिद्धान्त-ग्रन्थोंको आगम साहित्य (canonical) तथा इतर सिद्धान्त-ग्रन्थोंको आगमेतर (non-canonical) साहित्यके अन्तर्गत विभाजित किया है। वर्धमान महावीरने अर्धमागधीमें अपने उपदेश दिये, इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। आगम ग्रन्थोंका विभाजन अंग, उपांग, सूत्र आदि भेदोंमें मिलता है। अंगकी संख्या १२ है। इनमें गद्य-पद्य, दोनोंका व्यवहार किया गया है। दृष्टान्तों द्वारा जैन धर्मकी व्यवहारोपयोगी बातों या तीर्थंकरोंकी जीवनी, ब्राह्मण तथा अन्य धर्मोंके खण्डन, निर्वाण, मोक्ष आदिका विवेचन मिलता है। उक्त अंगोंके १२ उपांग हैं। इनमें मृत्यु, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, आत्मा, नक्षत्रलोक,

भूगोल, स्वर्ग, नरक आदिकी दृष्टान्तों सहित विवेचना की गयी है।

सिद्धान्त-ग्रन्थोंके अन्तर्गत छेयसुत्त और मूल सूत्र हैं। प्रथमकी सख्या छ है। इनमें जैन धर्म सम्बन्धी आचार-व्यवहार, तप आदिका विधान प्रस्तुत किया गया है। मूल सूत्र चार हैं। इनमें व्रत, अनुशासन आदि धार्मिक विषयोंका विशद वर्णन है। पइण्ण (प्रकीर्ण)-ग्रन्थोंकी सख्या १० है। इनमें मनुष्यके जन्म, रोग सम्बन्धी उपचार, त्याग, मरण, जीवन आदिकी विधियाँ दी गयी हैं। दो चूलिकासूत्र हैं। इन्हें जैन धर्मका ज्ञानकोश कहा जा सकता है। ये सभी आगम ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टिसे भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमेंसे अनेकमें आलकारिक भाषा तथा समास-शैलीका प्रयोग हुआ है।

कालान्तरमें जैन-धर्म श्वेताम्वर तथा दिगम्बर—दो शाखाओंमें वँट गया। श्वेताम्बर शाखाके अनुयायिओंने महाराष्ट्री तथा दिगम्बरने शौरसेनी प्राकृतमें साहित्यका निर्माण किया। इन प्राकृतोंको जैन-महाराष्ट्री तथा जैन-शौरसेनीकी सज्ञा दी गयी है। इनमें गद्य-पद्य, सभी प्रकारकी रचनाएँ लिखी गयी हैं। गद्य-साहित्यका विभाजन निवन्ध, आख्यायिका, उपन्यास, कथा-चरित आदि विधाओंमें किया गया है।

जैन-महाराष्ट्रीमें कथासाहित्यके अन्तर्गत 'समराइच्चकहा' (समरादित्यकथा), 'कथाकोशप्रकरण', 'धूर्ताख्यान', 'कथामहोदधि', 'विजयचन्द्रकेवलिन्' आदि प्रसिद्ध आख्यायिका-ग्रन्थ हैं। इनमें बाणकी कादम्बरीके समान समास-शैलीके उत्कृष्ट नमूने यत्र-तत्र मिलते हैं। 'तरंगवती', 'सुरसुन्दरीचरिअ', 'कालकाचार्यकथानक', 'सिरिसिरिवालकहा' (श्रीपालकथा), 'रयनसेहरकहा' (रत्नशेखरकथा) आदि प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ हैं, जिनमें कहीं-कहीं पद्यात्मक शैलीका भी प्रयोग है। चरितसाहित्यके अन्तर्गत 'पउमचरिय' (पद्मचरित), 'वसुदेवहिण्डी', 'कुमारपालचरित' आदि मुख्य रचनाएँ हैं। इन रचनाओंका काल तीसरी शताब्दीसे लेकर १४वीं शताब्दीतक निर्धारित किया गया है।

जैन-शौरसेनीमें दिगम्बर साम्प्रदायिकोंकी कई प्रसिद्ध रचनाएँ मिलती हैं। 'पवयणसार' (प्रवचनसार), 'समयसार', 'नियमसार', 'छप्पाहुड' (षट्प्राकृत), 'कत्तिगेयाणुपेक्खा', 'मूलाचार', 'मूलाराधना', 'श्रावकाचार', 'दर्शनसार', 'आराधनासार', 'जीवविचार' आदि पद्यात्मक रचनाएँ हैं। 'षट्खण्डागम', 'कषाय' प्रभृत प्रसिद्ध सूत्र-ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंमें जैन धर्मके सिद्धान्तोंका विशद निरूपण मिलता है। प्राकृतमें महावीर स्वामी तथा अन्य तीर्थंकरों तथा जैन-गुरुओंसे सम्बन्धित स्तुतिग्रन्थ (स्तोत्र) भी लिखे गये, जैसे, 'ऋषभ-पचासिका', 'महावीर', 'शान्तिनाथस्तवन' आदि। जैन धर्म सम्बन्धी अनेक रचनाएँ, जैसे, स्तोत्र, नाटक आदि सस्कृतमें भी मिलती हैं। यद्यपि सस्कृत लोक-व्यापक भाषा नहीं रह गयी थी, फिर भी उसका प्रयोग सीमित वर्गके द्वारा वरावर होता रहा। कालान्तरमें गुप्त-वशके राजाओंने ब्राह्मण धर्मका पुनरुत्थान किया तथा संस्कृत भाषाको विशेष प्रश्रय दिया। किन्तु वे अन्य धर्मों तथा प्राकृत भाषाओंके प्रति भी उदार थे। अत जैन धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ उस कालमें भी लिखे गये।

शौरसेनी तथा मागधी प्राकृतोंकी स्वतन्त्र रचनाएँ उपलब्ध नहीं होतीं, किन्तु सस्कृत नाटकोंमें इनका व्यापक व्यवहार हुआ है। तत्कालीन समाजमें कतिपय वर्गके लोगोंकी भाषा प्राकृत थी और इसलिए सस्कृत नाटककारोंने उन पात्रों द्वारा प्राकृत भाषाका ही प्रयोग कराया है। नाटकोंमें निम्न स्तरके लोग जैसे मछुए, दुष्ट, चाण्डाल, राक्षस, महावत, नाई, म्लेच्छ आदि प्राय मागधी वोलते हैं तथा महिलाएँ, विदूषक, गुप्तचर, गणिका, अप्सराएँ, राजमहिषी, चेटी आदिकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है। राजा, राजगुरु, मन्त्री आदिकी भाषा सस्कृत है। कहीं-कहीं इसका अपवाद भी मिलता है। कुछ स्वतन्त्र नाटक भी प्राकृतमें लिखे गये होंगे, किन्तु सस्कृतमें रूपान्तरित होनेके वाद सम्भवत· वे नष्ट हो गये। इसीलिए वे आज उपलब्ध नहीं होते। अश्वघोष रचित 'सारिपुत्तप्पकरण' (सारिपुत्र-प्रकरण), राजशेखर-रचित 'कर्पूरमजरी' ऐसी ही रचनाएँ थीं, यह अनुमान किया जाता है। भास-रचित 'चारुदत्त', कालिदासके 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय', श्रीहर्षके 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली', शूद्रकके 'मृच्छकटिक' आदि नाटकोंमें प्राकृतका प्रचुर प्रयोग हुआ है। इन सस्कृत नाटकोंमें प्राकृत भाषाका व्यवहार स्वाभाविक कहा जा सकता है, क्योंकि उनके कालमें प्राकृत लोकभाषाके रूपमें प्रतिष्ठित थी। नाटकका एक भेद सट्टक है, जिसमें स्त्री-पात्रोंकी प्रधानता होती है और पूर्ण रचना प्राकृतमें होती है। 'कर्पूरमजरी', 'रम्भामंजरी', 'चन्दलेहा' (चन्द्रलेखा), 'शृगारमजरी', 'आनन्दसुन्दरी' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। सस्कृत नाटकोंमें प्राकृत भाषाका प्रयोग एक शैली रूपमें प्रचलित हो गया था, इसलिए प्राकृत जब लोकभाषा नहीं रह गयी तो भी सस्कृत नाटकोंमें कतिपय पात्रोंके द्वारा प्राकृत भाषाका प्रयोग कृत्रिम रूपमें कराया जाता था। प्राकृतके कृत्रिम प्रयोग सम्बन्धी कई ग्रन्थोंका उल्लेख मिलता है, किन्तु वे अभीतक उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

प्राकृतमें ऐसे अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हे, जिनमें भारतीय भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनकी विशद सामग्री मिलती है। भाषा-शास्त्रके वैज्ञानिक अध्ययनमें इनका विशेष महत्त्व है। ५०० ई० पू० के लगभग जो राजनीतिक तथा धार्मिक उथल-पुथल प्राकृतके उद्भवका कारण हुई, वैसी ही ११०० ई० की उथल-पुथल आधुनिक आर्य भाषाओंके उद्भव और विकासका कारण बनी। भारतीय आर्य भाषाओंके विकासका सम्यक् ज्ञान प्राकृत भाषा और साहित्यके अध्ययनसे ही सम्भव हो सकता है। विविध प्राकृत भाषाओंका आधार लेकर ६०० ई० के लगभग अनेक अपभ्रंश भाषाओंका उद्भव हुआ और उन्हीं अपभ्रंशोंमे विकसित होकर आज अर्वाचीन आर्य भाषाओंका एक जाल-सा विछ गया है।

लोकभाषा प्राकृतसे भाषाके साहित्यिक रूपोंका तथा साहित्यिक रूपोंसे पुन लोकभाषाका विकास कैसे सम्भव होता है, यह हमें प्राकृत साहित्यके अध्ययनसे ज्ञात होता है। प्राकृतके कथा-साहित्य, सत्तसई-साहित्य आदिका

प्रभाव संस्कृत तथा द्रविड भाषाओंपर तो पड़ा ही, साथ ही आधुनिक आर्य-भाषाओंपर उनका प्रभाव मिलता है। इस प्रकार हिन्दीके ऐतिहासिक विकास तथा काव्य-परम्पराओंकी पूरी जानकारी प्राकृत साहित्यके अध्ययनसे सम्भव है। हिन्दीका प्रेमाख्यानक काव्य तथा सतसई-साहित्य इसीसे अनुप्राणित है।

[सहायक ग्रन्थ—प्राकृत विमर्श - सरयूप्रसाद अग्रवाल।] —म० प्र० अ०

प्राकृतवाद–प्राकृतवाद अँग्रेजी शब्द 'नेचुरलिज्म'का हिन्दी पर्याय है। प्रकृति सम्बन्धी काव्य अथवा साहित्यसे भिन्न अर्थमें प्राकृतवादका प्रयोग होता है। अन्य बहुतसे कला-आन्दोलनोंके समान प्राकृतवाद मुख्यतः फ्रान्समें विकसित हुआ। प्राकृतवादको व्यापक दृष्टिकोणसे ही एक निकाय कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोणके अनुसार मानवीय मस्तिष्ककी समस्त प्रक्रियाएँ इन्द्रियजन्य हैं। फलत प्राकृतवादी विचारधारामें अध्यात्मके लिए कोई स्थान नहीं रहता, जो कुछ है, सब इन्द्रियों द्वारा उद्भूत है। प्राकृतवाद एक प्रकारसे फ्रेंच यथार्थवादका ही विकसित रूप है।

प्राकृतवादका प्रमुख उन्नायक प्रसिद्ध फ्रेंच उपन्यासकार एमिली जोला(१८४०-१९०२ ई०)को माना जाता है। प्रस्तुत सन्दर्भमें इस शब्दका प्रथम प्रयोग भी जोलाने ही किया था (१८६८ ई०)। इसके बादसे प्राकृतवादको कलात्मक ईमानदारीका प्रतीक माना जाने लगा। प्राकृतवादी कलाकार अपनी समस्त अनुभूतियों तथा विश्वासोंको बिना किसी बन्धन तथा सामाजिक नियमोंको माने हुए स्वच्छन्द भावसे अभिव्यक्त करते थे। साहित्यके क्षेत्रमें प्राकृतवादी विचारधाराका विरोध भी बहुत हुआ। यह आन्दोलन प्राय १८९० ई०तक तो चलता ही रहा, पर इसके बाद भी वह फ्रेंच कथा साहित्यमें किसी-न-किसी रूपमें अभिव्यक्ति पाता रहा है। प्रसिद्ध आधुनिक फ्रेंच लेखक ज्याँ पाल सार्त्रकी कृतियोंमें प्राकृतवादका प्रभाव स्पष्ट रूपसे देखा जा सकता है।

फ्रेंच प्राकृतवादके साथ-ही-साथ यूरोपीय साहित्यमें जर्मन प्राकृतवादका भी विशिष्ट स्थान है। जर्मनीमें प्राय १८८० ई०से इस विचारधाराका प्रभाव बढ़ना आरम्भ हुआ। वहाँ यह आन्दोलन मुख्यत जोलाके समर्थन, विरोध अथवा व्याख्याको लेकर ही उदित हुआ। इसके उपरान्त परम्परागत जर्मन साहित्यके विरोधके रूपमें भी प्राकृतवादी विचारधाराका समर्थन किया गया।

हिन्दी साहित्यमें प्राकृतवाद किसी एक निश्चित तथा सुव्यवस्थित निकायके रूपमें कभी विकसित नहीं हुआ। प्राकृतवादी प्रवृत्तिया अवश्य ही कुछ आधुनिक लेखकोंमें मिलती है—विशेष रूपसे कथाकारोंमें। इलाचन्द्र जोशी, बेचन शर्मा 'उग्र' तथा 'अज्ञेय'के नामोंका उल्लेख इस प्रसंगमें किया जा सकता है। हिन्दीके प्रगतिवादी आन्दोलनके साथ भी कुछ प्राकृतवादी प्रवृत्तियाँ साहित्यमें दृष्टिगोचर हुई थीं। नागार्जुनका उपन्यास 'रतिनाथकी चाची' इसी प्रकारकी कृति है। कविताके क्षेत्रमें बच्चन, 'अचल' तथा नरेन्द्र शर्माके कृतित्वमें प्राकृतवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड जाती हैं। बच्चनकी प्रसिद्ध कविता 'कह रहा जग, वासनामय हो रहा उद्गार मेरा' प्राकृतवादका सक्षम समर्थन है।

यौन चित्रणोंका भरपूर उपयोग होनेके कारण प्राकृतवादके अन्तर्गत अश्लीलताकी सीमा निर्धारित करना कठिन है। हिन्दीमें प्राकृतवादी प्रवृत्ति भाषागत सीमाओंके कारण शुद्ध रूपमें प्राय गृहीत नहीं हो पाती। यह स्मरणीय है कि हिन्दीमें प्राकृतवाद विदेशी प्रभावके रूपमें अपेक्षाकृत कम आया है। वस्तुत मध्यकालीन रीतिकाव्यके रूपमें तो हिन्दी प्राकृतवादकी परम्परा काफी प्राचीन सिद्ध होती है। —रा० स्व० च०

प्रागैतिहासिक युग (prehistoric age)–लिखित इतिहाससे पहलेके युगको प्रागैतिहासिक युग कहते हैं। समाजका लिखित इतिहास अपेक्षाकृत हालका ही है। उसके पहलेके इतिहासका अनुमान इमारती अवशेषोंसे करते हैं। इतिहास-पूर्वकी सामाजिक अवस्था वस्तुत असभ्य और बर्बर है। इतिहास यथार्थ रूपमें सभ्य जातियोंका ही होता या हो सकता है, क्योंकि इतिहास परिवर्तनका प्रतीक है और परिवर्तन आदिम, असभ्य और बर्बर जातियोंमें नहींके बराबर होते हैं। पूर्व और नव-प्रस्तरयुग इसी प्रागैतिहासिक युगके काल-मान हैं। तबके मनुष्य पत्थर आदिके औजार-हथियार काममें लाते थे और ऐसा भी नहीं कि उनमें कला आदिकी प्रवृत्ति न रही हो। आखिर स्पेनके अल्तामाइरा, दक्षिण फ्रान्स और मिर्जापुर आदिकी गुफाओंमें जो आदिम मनुष्यके बनाये चित्र मिले हैं उनसे उनके कलात्मक प्रयासोंकी सूचना मिलती है। फिर खेतीका आरम्भ, उससे पहले अग्निकी खोज, पशुपालन, पहियेका निर्माण, चाकपर बर्तनोंका बनाना, हथियारोंकी मुट्ठियोंपर भाँति-भाँतिके चित्रण आदि भी आदिम मनुष्यकी कलात्मक प्रवृत्तिके परिचायक हैं। धार्मिक और नैतिक विचार भी उस युगमें रूपपर चढे थे। फिर भी प्रमाणत ऐतिहासिक युगसे प्रागैतिहासिक युगमें सभ्यताकी प्रगति कम हुई। इसका एक विशेष कारण यातायातके साधनों और फलत जातियों-के सम्पर्ककी कमी थी। इनका विकास ऐतिहासिक युगमें हुआ, जब मानव सभ्यताकी काया पलट गयी।—भ० श० उ०

प्राणायाम—दे०—'हठयोग'।

प्राथमिक साम्यवाद–मार्क्सके अनुसार यह वह आर्थिक व्यवस्था है जो 'सभ्य और संस्कृत जातियोंके इतिहासके उषाकालमें प्राप्त होती है।' इसमें उत्पादन सामूहिक, श्रम-संयुक्त कृषि और घरेलू उद्योग-व्यवसाय रहते हैं, श्रम-विभाजन अवस्था और लिंग-भेदपर आधारित होता है। इस व्यवस्थाके विनाशका कारण व्यक्तिगत सम्पत्तिका उदय है। —रा० कु० सि०

प्राप्त्याशा—रूपककी पाँच अवस्थाओंमेंसे तीसरी अवस्था। 'उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भव' (द० रू० : चौखम्भा पृ० १५) जहाँ फलप्राप्तिकी सम्भावना तो हो, किन्तु उपाय और विघ्न, दोनोंकी आशंकाओंके कारण फलप्राप्तिका ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता है वहाँ प्राप्त्याशा अवस्था होती है। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटकके द्वितीय अंकमें प्राप्त्याशाका प्रसंग चलता है। शकराजके वधके पश्चात ही फल प्राप्तिकी आशा उत्पन्न

होती है। इस वधसे जो बल उसे प्राप्त हुआ है उसीके आधारपर ध्रुवस्वामिनी अपने प्राप्यकी ओर अग्रसर हो सकी है। —व० सिं०

प्रायकी वीभत्स–दे०—'वीभत्स रस'।

प्रारंभिक घटना–प्रस्तावना (इण्ट्रोडक्शन) और आरम्भिक घटना(इनीशियल ऐक्शन)में अन्तर यह है कि प्रस्तावना नाटकके कार्य-व्यापारसे पृथक् तथा उसकी भूमिका है। नाटककी कथा वस्तु वहाँ आरम्भ होती है, जहाँ प्रस्तावना समाप्त होती है। नाटकके प्रारम्भिक भागमें प्रथम अंककी समाप्तिसे पूर्व, अधिकतर प्रथम दृश्यमें ही नाटकीय कार्यका किसी मानसिक अथवा बाह्य घटना द्वारा आरम्भ होता है जो कि नाटकीय संघर्षका सूत्रपात करता है। इसे आरम्भिक घटना कहते हैं। उदाहरणके लिए, शेक्सपीयरके 'रोमियो एण्ड जूलिएट'में जूलिएटके माता-पिताका अपनी पुत्रीका विवाह काउण्टी पेरिससे करनेका निश्चय नाटकीय संघर्षको जन्म देता है, अत प्रारम्भिक घटना है। इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' नाटकके प्रथम अंकमें अनन्तदेवी, पुरगुप्त और भटार्कके कुचक्रमें सम्राट्का निधन होता है। साथ ही साम्राज्यके परम हितैषी पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार और दण्टनायक आत्महत्या कर लेते हैं। इन व्याघातोंका कर्तव्योन्मुख स्कन्दगुप्तकी चेष्टाओंपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। वह महान् उद्देश्यकी पूर्तिके निमित्त अग्रसर होकर मालव-रक्षामें संलग्न होता है। लक्ष्य-प्राप्तिके साधनका भी यहींसे आरम्भ हो जाता है। अत इसे प्रारम्भिक घटना समझना चाहिये।

यदि नाटकमें दो या दोसे अधिक कथाएँ हों तो उनमेंसे प्रत्येककी एक प्रारम्भिक घटना होगी। ये प्रारम्भिक घटनाएँ नाटकके एक ही स्थलपर भी घटित हो सकती हैं तथा अलग-अलग स्थलोंपर भी। उदाहरणके लिए, 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस'के प्रथम अंकमें मुख्य कथाओंकी प्रारम्भिक घटनाएँ लगभग एक ही समयपर प्रारम्भ होती हैं, जब कि प्रासंगिक घटना-चक्रकी प्रारम्भिक घटना तीसरे अंकके दूसरे दृश्यमें जाकर मिलती है। —श्या० मो० श्री०

प्रार्थनागीत–दे०—'स्तुतिगीत', 'भजन'।

प्रासंगिक वक्रता–दे०–'प्रकरणवक्रता', पाँचवाँ नियामक।

प्रासंगिक वस्तु–दृश्यकाव्यमें नायक या अधिकारीकी दृष्टिसे वस्तुके दो भेद किये गये हैं–**आधिकारिक** और **प्रासंगिक**। अधिकारीसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा मूल कथा होती है, पर इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी गौण कथाएँ भी आती हैं, जो विशेष प्रसंगोंमें **आधिकारिक कथा**की सहायता करती हैं, अत इन्हें **प्रासंगिक** कथा कहते हैं। दशरूपककारने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है–'प्रासंगिक-परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगत' (द०रू० १ १३ की प्रथम पंक्ति) अर्थात् जो कथा दूसरे(आधिकारिक)के प्रयोजनके लिए होती है, किन्तु प्रसंगसे जिसका स्वयका फल भी सिद्ध होता है, वह प्रासंगिक कथा है। प्रासंगिक कथाका मुख्य प्रयोजन आधिकारिक वृत्तकी फलनिर्वहणतामें सहायता पहुँचाना है, किन्तु प्रसंगत उसका स्वयका भी फल होता है। उदाहरणार्थ, सुग्रीवकथाका प्रयोजन वालिवध और राज्यलाभ है तथा विभीषणकथाका ध्येय लंकाकी राज्यप्राप्ति है। 'प्रसाद'के 'अजातशत्रु'में उदयन और प्रसेनजित्के कथानक प्रासंगिक कथाएँ हैं।

प्रासंगिक वस्तुके प्रसंगमें सबसे अधिक ध्यान देनेकी बात यह है कि इनकी नियोजना इस प्रकार होनी चाहिये कि वे आधिकारिक वस्तुके अनिवार्य अंग बनकर उसे गति प्रदान करें। आधिकारिक वस्तु अंगी हो, प्रासंगिक अंग। इस अंगांगिभावसे वक्रगतिसे चलते हुए कथानकको एक लय मिलती है। —व० सिं०

प्रिया छंद–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, सगण और लघु-गुरुके योगसे इस वृत्तका चरण बनता है (।।ऽ, ।ऽ)। इस छन्दका प्रयोग केवल केशवने किया है। भानुने इसका रति नाम दिया है। केशवका उदाहरण है—'सुख कन्द हैं, रघुनन्द जू। जग यों कहै, जगवन्द जू।' (रा० चं० १ १३)। —पु० शु०

प्रेंखण—इसमें एक अंक, गर्भ और विमर्श सन्धियोंका निर्वाह, विष्कम्भक, प्रवेशक, सूत्रधारका अभाव, नायकहीन पुरुष होता है। नान्दी और प्ररोचना नेपथ्यसे पढ़ी जाती है। अभिनयमें युद्ध और सम्फेट रहता है। सभी वृत्तियोंका प्रयोग मिलता है, उदा०–'वालिवध'। —वि० रा०

प्रेमगर्विता–दे०—'गर्विता', नायिका।

प्रेमगीति–दे०—'भावगीति'।

प्रेममार्गी–प्रेममार्गी शब्दका प्रयोग सूफी साधकों अथवा कवियोंने नहीं किया है। हिन्दी साहित्यके इतिहास लिखनेवालोंने इस शब्दका प्रयोग सूफी साधकों और कवियोंके लिए किया है। सूफी साधक प्रेमको अपनी साधनामें बहुत बड़ा स्थान देते हैं। उनके मतसे प्रेमका अस्तित्व साधनाके प्रारम्भमें तो रहता ही है, उसकी परिणति भी प्रेममें ही होती है। परम प्रियतम परमात्माको प्रेम द्वारा पाना सूफी साधनाका अंग-विशेष है।

सूफियोंका विश्वास है कि भगवत्कृपासे ही साधकके हृदयमें प्रेम उत्पन्न होता है। परमात्मा जिससे स्वय प्रेम करता है उसीके हृदयमें प्रेम होता है। सूफी साधक बायजीद बिस्तामीका कहना है कि 'मैं समझता था कि मैं परमात्मासे प्रेम करता हूँ, लेकिन गौर करनेपर मैंने देखा कि मेरे प्रेम करनेके पहलेसे ही वह मुझसे प्रेम करता है।' सूफियोंका विश्वास है कि इस प्रेमको पाकर प्रेमी और प्रियतम, दोनों सन्तुष्ट होते हैं। प्रेमके द्वारा जब प्रेमीके सारे अन्तर्द्वन्द्वों, सभी वासनाओंका अन्त हो जाता है तब वह आगे बढ़ता है और उसे परमात्माके दर्शन होते हैं। —रा० पू० ति०

प्रेमलक्षणा भक्ति–जिस भक्तिमें प्रेम अथवा रागकी प्रधानता होती है उसे प्रेमलक्षणा भक्ति कहते हैं। पुष्टिमार्गीय भक्ति इसी कोटिकी है (विस्तारके लिए दे०–'पुष्टिमार्ग')। भागवत सम्प्रदायोंमें प्रेमलक्षणा भक्तिका अत्यन्त महत्त्व है। वल्लभाचार्यके पुष्टिमार्गमें गोपी-प्रेमको प्रेमलक्षणा भक्तिका आदर्श माना गया है। 'नारदीय भक्तिसूत्र'में प्रेमरूपा भक्तिका उदाहरण देते हुए व्रजगोपिकाओंके प्रेमको प्रस्तुत किया गया है 'यथा व्रजगोपिकानाम्', 'श्रीमद्भागवत'में व्यासने स्वयं श्रीकृष्णके मुखसे कहलाया है कि 'हे गोपिकाओ, तुमने

गृहस्थाश्रमकी शृंखलाओंको तोड़कर जो मेरा भजन किया है इसके लिए मैं तुम्हारे उपकारका बदला नहीं चुका सकता।' (१०।३२।२२) (गोपी-प्रेमकी विविध दशाओंके लिए देखिये 'श्रीमद्भागवत' १०।४४।१५, १०।४७।५८, ६० ६२, १०।८६-४-६)। गोपियोंकी तीन श्रेणियाँ हैं—(१) कुमारिका, जो कात्यायन व्रतादि द्वारा परम सेव्य श्रीकृष्णकी पतिके रूपमें कामना करती है' (२) गोपांगना, जो लोक और शास्त्राचारकी अवहेलना कर एकान्तभावसे श्रीकृष्णके प्रेममें व्याकुल रहती है, (३) व्रजांगना, जो वात्सल्यभावसे श्रीकृष्णके प्रति प्रेम धारण करती हैं। गोपी-प्रेममें श्रीकृष्णके माहात्म्य और प्रभावका ज्ञान, उनके प्रति व्याकुलताका भाव, सर्वस्व-समर्पण और उनके सुखसे सुखी रहनेकी इच्छा मुख्य है (ना० भ० सू० १५-२४)। पुष्टिमार्गीय प्रेमलक्षणा भक्तिमें जाति (स्त्री-पुरुष) वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र), देश आदिका भेद-भाव नहीं है (हरिरायकृत प्र० र० पृ० १८, २४)। इस मार्गमें भगवान् अपने शरणागतको अनुग्रहमात्रसे प्रपंचमुक्त कर देते हैं (ब्र० सू० ३।३।२९ का अणुभाष्य)।

वल्लभ-सम्प्रदायी सूर तथा अन्य अष्टछापके कवियों तथा अन्य भागवत कवियों—विद्यापति आदिमें गोपी-प्रेमकी विविध दशाओंके प्रचुर उदाहरण मिलते हैं (सू० सा०; नन्ददासकृत 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवरगीत, 'अष्टछाप-पदावली', 'अष्टछाप परिचय', विद्यापतिकी 'पदावली')। सूफी कवियों—जायसी, मझन आदि और निर्गुण भक्तोंमें भी प्रेमकी प्रचुर पीर प्रज्वलित हुई। हिन्दीके प्रथम निर्गुण भक्त कवि नामदेवमें यह पीर सर्वप्रथम व्यक्त हुई है। तत्पश्चात् कबीर, दादू, सुन्दरदास, रैदास आदि सभी अपने रामके लिए व्याकुल हैं। —वि० मो० श०

प्रेमाख्यान काव्य–प्रेम-कथानकोंका आधार लेकर काव्यकी रचनाकी परम्परा इस देशमें बहुत पुरानी है। पहलेके बहुतसे इस प्रकारके काव्योंका परिचय मिलता है, जैसे, 'रत्नावली', 'पद्मावती', 'लीलावती' आदि। लोकप्रचलित कथाएँ ही सम्भवत: इन काव्योंका आधार रही हैं। इन कहानियोंके नायक ऐतिहासिक पुरुष भी हो सकते थे, वैसे इन कहानियोंमें ऐतिहासिकताका होना जरूरी नहीं था। कल्पनाका सहारा लेकर उन प्रेमकहानियोंको मांसल बनाया जाता था। ऐतिहासिक राजाओंमें उदयन, शूद्रक, विक्रमादित्य आदिके नामसे बहुत-सी कल्पित प्रेमकहानियाँ प्रचलित हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा नाना प्रादेशिक भाषाओंमें इस तरहकी कहानियाँ वर्तमान हैं। ऐतिहासिक पुरुषोंको छोड़कर कल्पित नायकोंके नामसे भी प्रेमकथाएँ प्रचलित हैं, जो अत्यन्त लोकप्रिय हैं। इनमें 'माधवानल-कामकन्दला', 'हीर राँझा', 'सारंगा-सदावृज', 'ढोला-मारवणी' आदिका उल्लेख किया जा सकता है।

इन प्रेमकहानियोंमें प्रेमी और प्रेमिकाके उत्कट प्रेम, उनके मिलनके मार्गकी बाधाएँ, मिलनके लिए नाना प्रकारके प्रयत्न तथा अन्तमें उनके मिलनका वर्णन बड़े रोचक ढंगसे होता है। इन लौकिक प्रेमकहानियोंका उपयोग सूफी कवियोंने भी किया है। सूफी कवियोंने इन कहानियों द्वारा अपने मतका प्रचार किया है। ईस्वी सन्की सोलहवीं शताब्दीसे इन प्रेमाख्यानोंमें प्रतीकात्मकताका समावेश हुआ, जो सूफी कवियोंकी देन है। सूफी काव्यमें प्रतीकोंका सहारा लिया गया है। इन सूफियोंके अतिरिक्त अन्य सन्तोंने भी प्रेमकथानकोंको अपनाया। सूफी साधकोंकी तरह उन्होंने भी अपने सिद्धान्तोंका प्रचार इन कथानकोंके सहारे किया। —रा० पू० ति०

प्रेमाश्रयी शाखा–भक्तिकालकी निर्गुण शाखाके उन भक्त-कवियोंकी रचनाओंको, जिन्होंने परमात्माको पानेके लिए प्रेमको साधन माना है, प्रेमाश्रयी शाखाके अन्तर्गत रखा जाता है। इस शाखाके प्रमुख कवि सूफी साधक थे। सूफी परमात्माको प्रेम स्वरूप मानते हैं और उसे प्रेम द्वारा ही पानेकी बात कहते हैं।

इस शाखाके सबसे अधिक ख्यात कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं। इनका 'पद्मावत' इस शाखाकी प्रतिनिधि-रचना कहा जा सकता है। जायसी ईस्वी सन्की सोलहवीं शताब्दीमें वर्तमान थे, वैसे ईस्वी सन्की चौदहवीं शताब्दीमें ही इस प्रकारकी रचनाओंके लिखे जानेका पता चलता है। मुल्ला दाऊदका 'चन्दायन' सन् १३७० ई० की रचना है और सम्भवत: इस शाखाका यह प्रथम काव्य है। इस शाखाके अन्य कवियों तथा रचनाओंमें निम्नलिखित उल्लेखयोग्य हैं—कुतुबन (ईस्वी सन्की पन्द्रहवीं शताब्दीका अन्त तथा सोलहवींका प्रथम भाग)की 'मृगावती', मझनकी 'मधुमालती' (रचनाकाल सन् १५५४ ई० के लगभग), उसमानकी 'चित्रावली' (रचनाकाल सन् १६१३ ई०), जान कवि (ईस्वी सन्की सत्रहवीं शताब्दी)की 'कनकावती', 'मधुकरमालती' आदि, कासिमशाह (ईस्वी सन्की अट्ठारहवीं शताब्दी)की पुस्तक 'हंस जवाहर' तथा नूरमुहम्मदकी 'इन्द्रावती' (रचनाकाल सन् १७४४ ई०)।

सूफी साधकोंके भारतवर्षमें आनेका पता ईस्वी सन्की ग्यारहवीं शताब्दीमें ही चलता है, लेकिन बारहवीं शताब्दीमें सूफी सम्प्रदायोंका प्रवेश हुआ। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दीमें सूफी साधकों तथा सूफी सम्प्रदायोंका पूरा जोर रहा। ये सूफी साधक अत्यधिक उदार थे तथा इनकी करामातोंकी कहानियाँ खूब प्रचलित थीं, इसलिए जनतामें इनका प्रभाव व्यापक रूपसे पड़ा। इस देशकी जनतासे घनिष्ठ सम्पर्क होनेके कारण इन सूफी साधकोंने यहाँकी प्रचलित कहानियोंको लेकर काव्यकी रचना की। इन कहानियोंके सहारे उन्होंने परोक्ष सत्ताके प्रति प्रेमका वर्णन किया है। सूफी काव्य अत्यन्त हृदयग्राही है।

इस कालकी रचनाएँ प्राय: तद्भव शब्दावली-प्रधान अवधीमें हैं और दोहा-चौपाईकी प्रबन्ध-परम्परामें होते हुए भी फारसीकी मसनवी-शैलीमें लिखी गयी हैं। इन सूफी प्रेमाख्यानक-काव्योंकी कथाएँ आध्यात्मिकताको लिये हुए हैं। उनमें योगियोंका प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। लगभग सभी कथाओंमें नायक योगी होकर घरसे निकल पड़े हैं और अन्तत: योग-साधनासे ही उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है। जनतामें बहुचर्चित गोरखनाथ, गोपीनाथ तथा भर्तृहरिके उल्लेख इन रचनाओंमें प्राय: मिलते हैं।

यह एक विचित्र तथ्य है कि बहुप्रचलित लोक-कहानियोंको काव्यका वर्ण्य विषय बनानेपर भी यह

साहित्यधारा जनतामे अधिक लोकप्रिय नहीं हुई। कुछ इतिहासकारोंने इस स्थितिके कारण इन तथ्योंमें देखे है–(क) इन सूफी कवियोंकी रचनाओंकी मूल प्रतियाँ प्राय फारसी लिपिमें हैं, (ख) इन काव्योंके रचयिताओंका दृष्टिकोण प्रचारात्मक भी था, (ग) सूफी कवियोंका मुख्य प्रेरणा-स्रोत फारसी-साहित्य था, (घ) अध्यात्मके क्षेत्रमे इस शाखाके कवियोंने ब्रह्मके निर्गुण स्वरूपका चित्रण किया था। इन्हीं कारणोंसे ठेठ अवधीमें अत्यन्त लोकप्रिय ढगसे प्रस्तुत की जानेपर भी सूफियोंकी ये प्रेम-कथाएँ जनतामें अधिक प्रचलित न हो सकीं। दे०—'सूफी आख्यान-काव्य'।

[सहायक ग्रन्थ–सूफीमत और हिन्दी साहित्य विमलकुमार जैन] —रा० पू० ति०

प्रेयस् (प्रेय)–दे०–'रसवत्' आदि।

प्रेषणीयता–वह प्रक्रिया जिसके द्वारा कोई लेखक या विचारक अपनी भावनाएँ या विचार पाठकोंतक पहुँचाता है, प्रेषण (कम्युनिकेशन) कहलाती है। लिखित या अभिव्यक्त अनुभूतिकी वे विशेषताएँ, जिनके द्वारा प्रेषण सम्भव होता है, उस अनुभूतिकी प्रेषणीयताका आधार होती है। प्रेषणका व्यापार बड़ा जटिल है, उसमें स्वभावत कठिनाइयाँ होती हैं। लेखक किसी चीजको अपने विशिष्ट दृष्टिकोण एवं ढगसे देखता है। लेखक होनेके नाते उसकी समस्या यह होती है कि वह अपने पाठकोंको ठीक उसी दृष्टिकोण और ढंगसे देखनेकी प्रेरणा दे। ऐसा करनेमें सफल होकर ही लेखक पाठकोंमें वह रागात्मक स्पन्दन, जिसका उसे अनुभव हो रहा है, पैदा कर सकता है। प्राचीन साहित्य-शास्त्रमें एक विशेष रागात्मक स्पन्दनके उन्मेषकी क्रियाको रसानुभूतिकी स्थिति कहा गया है। इस स्थितिको पैदा करनेके लिए साहित्यकार उपयुक्त विभावों, अनुभावों आदिकी योजना करता है। इसका मतलब यह हुआ कि साहित्यकार उन वस्तु रूपोंके विशिष्ट चित्र उपस्थित करता है जो उसे सार्थक लगे हैं, वे चित्र पाठकोंमें स्वभावत सम्बद्ध भावनाओंको उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार भावनाओंका प्रेषण एव रसपरिपाक सम्भव होता है, इसका एकमात्र कारण यही होता है कि लेखककी अन्त प्रकृति एव पाठकोंकी अन्त प्रकृतिमें तात्त्विक समानता है।

वस्तुओं तथा स्थितियोंमें अनेक विशेषताएँ होती हैं। एक खास अनुभवकी एक खास स्थितिमें लेखक और उसके साथ पाठक वस्तु-स्थितिके खास धर्मोंको ही देखते हैं, ये खास धर्म मनुष्यकी विशिष्ट भावनाओंसे सम्बन्धित रहते हैं। साहित्य-शास्त्रमें विशिष्ट भावना-पुंजोंको विभिन्न स्थायी भावोंसे सम्बद्ध किया गया है। उदाहरणके लिए, रति नामक स्थायी भावका सम्बन्ध मानवीय भावनाओंके एक खास समूहसे है।

लेखक प्रेषण-क्रियामें असफल होता है, जब उसके देखनेका ढग इतना व्यक्तिगत हो जाता है कि उसका सम्बन्ध मूल अन्त प्रकृतिसे नहीं जुड पाता। ऐसा तब होता है जब लेखक स्थिति-विशेषको केवल बौद्धिक धरातलपर एक निराले, असाधारण ढगसे देखता है। बड़े लेखक अपनी असाधारण प्रतीतियोंको भी कुछ इस प्रकार मानव-प्रकृतिकी गहराइयोंसे सम्बन्धित कर लेते है कि वे पाठकोंके लिए सवेद्य बन जाती है। इसके विपरीत मामूली लेखकोंकी असाधारण प्रतीतियाँ केवल हल्का चमत्कार उत्पन्न करके रह जाती है।

प्रेषणमें एक दूसरे कारणसे भी बाधा पड सकती है, विशेषत चिन्तनके क्षेत्रमें। जब लेखक और पाठकके बौद्धिक धरातलोंमें अथवा उनके विचारोंकी पृष्ठभूमिमें अधिक दूरी होती है तो वे एक-दूसरेको समझना कठिन पाते हे। जीवन-मूल्योंके क्षेत्रमें लेखक और पाठकोंकी सास्कृतिक दूरी भी प्रेषणमें बाधक बन सकती है। किन्तु सास्कृतिक दूरीके बावजूद यदि हम विदेशी साहित्यकारोंकी कृतियोंमें रस ले सकते है तो इसका कारण वही है, जिसका ऊपर सकेत किया गया है—साहित्यकारोंकी प्रतीतियोंका मनुष्यकी मूल अन्त प्रकृतिमें अनुस्यूत होना। —दे० रा०

प्रोषित नायक–दे०—'नायक', शृंगार।

प्रोषितपतिका (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद, विशेषके लिए देखें–'नायिका-भेद'। भरतने 'प्रोषितभर्तृका'के नामसे उल्लेख किया है। प्रोषितका अर्थ है विदेश गया हुआ। भानुदत्तके अनुसार–'देशान्तरगते प्रेयसि सन्तापव्याकुला प्रोषितभर्तृका।' (र० म० ९०) अर्थात् पति अथवा प्रियके विदेश चले जानेपर दु खित नायिका। नायिकाकी इस अवस्थाके अन्तर्गत स्वकीयाके मुग्धादिक भेद, परकीया तथा सामान्याको स्वीकार किया गया है। मतिरामने इसकी परिभाषा दी है–'जाको पिय परदेशमें विरह विकल तिय होय।' (र० रा० . १११)। मुग्धा अपनी वियोगवेदनाको छिपाना चाहती है–'आँसू सकै मोचि न सकोच बस आलिन उलही विरह बेलि दुलही दुरावै है।' (पद्मा० ज० वि० १ १४५)। मध्या अपनी विरहव्यथाकी अभिव्यक्ति सलज्ज भावसे करती है–'इक मीन विचारो विध्यो बनसी पुनि जालके जाइ दुमाले परयौ। मन तो मनमोहनके सँग गो तन लाज मनोजके पाले परयौ।' (वही १ १४८)। विरहका सवेदनात्मक वर्णन रसलीनने किया है—'तिय उसाँस पिय विरहतें उससि अधर लौं आइ। कछु बाहर निकसति कछुक भीतरको फिरि जाइ।' (ब्र० भा० ना० २ ५६३)। प्रोढाकी पीडा अधिक उद्वेगपूर्ण है–'कासों कहौं सन्देसुवा पिय परदेसु। लगेहु चइत नहि फूले तेहि बन टेसु।' (र० ब० ३८)। यह नायिका विरह निवेदनमें अधिक मुखर होती है–'कैसें धरौं धीर वीर त्रिविध समीर तब, तरजि गयी तो फेरि तरजन लागी री। घुँमडि घमण्ड घटा घनकी घनेरी आवे, गरजि गयी तो फेरि गरजन लागी री।' (ब्र० भा० ना० २ ५८३ पद्मा०)। परकीयाकी वियोगपीडामें मार्मिक उद्वेग तथा क्लेश है–'घनआनँद जीवन दायक हौ कछु मेरियौ पीर हिएँ परसौ। कबहूँ वा विसासी सुजानके आँगन मो अँसुआँनहि लै बरसौ।' (सु०सा० १३१)। सामान्याको शृगार करना है, पर वह क्लेशप्रद है–'आली सिंगारति है हठसौं पर लागत अग सिंगार अँगारी।' (मतिराम र० रा० १२०)।

प्रोषितपतिकाका बहुत विस्तृत और भावमय वर्णन हिन्दी साहित्यमें मिलता है। शृगारमें वियोग-पक्षको सवेदनशीलताकी दृष्टिसे अधिक महत्त्व मिला है। इसके

अन्तर्गत वर्णनोंमें भावात्मक विस्तार अधिक है और वेदनाके माध्यमसे प्रेमको गरिमा भी प्राप्त हो सकी है। बंगला कवि चण्डीदासकी राधा वियोगिनीके रूपमें अत्यधिक भावविह्वल है यद्यपि विद्यापतिकी राधामें शारीरिक उद्वेग अधिक है फिर भी वियोगिनीके रूपमें वे पीड़ाका अनन्त स्वाद सहन कर रही हैं। सूरकी राधा तथा गोपियाँ वियोगकी स्थितिमें भावविह्वल हैं। उनकी मनोदशाका बहुत कोमल और सूक्ष्म चित्रण कविने किया है। कबीरने भी विरहिणीके रूपमें अपनी पीडा और क्लेशका मार्मिक अकन किया है। जायसी और उनके साथके अन्य प्रेमी सूफी कवियोंने नायिकाके विरहका, विशेषकर बारहमासा प्रसगमें, भावपूर्ण और सवेदक चित्रण किया है। रीतिकालके कवियोंने प्रोषितपतिकाका विस्तारसे वर्णन किया है। वियोगकी वेदना, क्लेश, उद्वेग, पीडा तथा व्यथाका उक्तिवैचित्र्यपूर्ण चित्रण किया गया है। ऋतुओंके उद्दीपक रूपका उपयोग इन वर्णनोंमें सुन्दर रूपमें किया जा सका है। सेनापतिने ऋतुओंके साथ वियोगका अकन भावपूर्ण किया है। घनानन्द, आलम, रसखान, ठाकुर तथा बोधा जैसे मुक्त प्रेमी कवियोंने वियोगजन्य भावस्थितियोंका सुन्दर व्यजनापूर्ण अकन किया है। घनानन्दकी व्यजना अधिक लाक्षणिक है। हरिश्चन्द्रने भक्ति तथा रीति परम्पराओंका समन्वय करते हुए प्रेमके वियोग-पक्षमें नायिकाकी इस स्थितिका भावाकुल चित्रण किया है। वर्तमान छायावादी कवियोंमें वियोग-वर्णनके साथ विरहिणीके विरह-निवेदनका सूक्ष्म तथा रहस्यपरक चित्रण है, यद्यपि इनकी रहस्यात्मकता केवल आलम्बनके अशरीरी होने तथा भावोंके सूक्ष्म चित्रणतक सीमित है। —र०

प्रौढा (नायिका)—इसके लिए दूसरा प्रचलित शब्द 'प्रगल्भा' है। संस्कृतमें रुद्रटसे लेकर भानुदत्तने इसके लिए इसी शब्दका प्रयोग किया है, विद्यानाथ तथा आगेके आचार्योंने प्रौढा शब्दका प्रयोग किया है। हिन्दीमें इसी शब्दका प्रयोग प्रायः किया गया है। प्रगल्भका अर्थ है विश्वस्त, साहसी, वाक्चतुर, पूर्ण विकसित, चतुर और इसीलिए इस सन्दर्भमें साहसिक तथा चतुर नारीका भाव है। भानुदत्तने इसे 'केलिकलाकलापकोविदा' कहा है। प्रौढाका अर्थ भी पूर्ण विकसित, मानी, अवस्थाप्राप्त तथा शक्तिशाली आदि है, जो पहलेके निकट है। मतिरामने परिभाषा इस प्रकार दी है—'निज पतिसौं रति-केलिकी सकल कलानि प्रवीन।' (र०रा० ' २३)। यहाँ 'निज पति' भानुदत्तका 'पतिमात्र' है। देवने 'मति गति रति पतिसों' कहा है, पर पद्माकर आदिने 'ललित लाज'का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार लज्जा कम, काम अधिक और रतिकलामें जो परम प्रवीण हो ऐसी नायिका प्रौढा मानी जायगी। इस नायिकाके वर्णनमें कवियोंने रतिविलासका सकेतपूर्ण और व्यजक चित्र अंकित किया है—'होत प्रभात चल्यो चहै प्रीतम सुन्दरिके हियमें दुख भारे। चन्द सो आनन दीप-सी दीपति स्यान सरोजसे नैन निहारे।' (मतिराम : वही : ३४), परन्तु रीतिकालीन काव्यमें बाह्य रतिक्रीड़ाका वर्णन भी इस सन्दर्भमें हुआ है। भक्त-कवियोंमें विशेष रूपसे विद्यापति, सूर तथा जायसीने नायिकाके इस रूपका भी चित्रण किया है।

इसके भेदविस्तारके लिए देखें 'नायिका भेद'। अधिक प्रचलित भेदोंमें **रतिप्रीता** है, जिसे रतिप्रीतिमती भी कहा गया है। भानुने इसे रतिमें अत्यन्त प्रीति करनेवाली माना है और मीतलके अनुसार 'पतिके साथ रतिकेलिमें अत्यन्त रुचि' लेनेवाली होती है। उदा०—'करति केलि पिय हिय लगी कोककलनि अवरेखि। विमुद कुमुद लौं ह्वै रही चन्द मन्ददुति देखि।' (पद्मा० . जगद्वि० . भा० ' १ . ५०)। **आनन्दसम्मोहिता**—जो नायिका अपने पतिके रतिसुखम निमग्न हो जाय (मीतल)। उदा०—'भई मगन यों नागरी सुलहि सुरति आनन्द। अँग अँगोहि भूषन बसन पहिरावत नँदनन्द।' (वही . ५३)। **समस्तरसकोविदा**—केशव द्वारा उल्लिखित, देवने रतिकोविदा नाम दिया है। विश्वनाथने इस विभाजनको स्वीकार किया है। 'जो रस भावै प्रीतमहि ताही रसकी दानि' (केशव ' र० प्रि० ३ . ५१)। देवने केशवकी अपेक्षा भावपूर्ण चित्र अकित किया है—'छेदि काछकी कारनि सों गुन पतिको मन मानिक पोहै' (भा० वि० नायिका०)। **विचित्रविभ्रमा**—केशवके इस भेदको देवने सविभ्रमा कहा है, सम्भवत यह विश्वनाथकी भावोन्नता है। केशवके अनुसार जिसकी 'दीपति दूतिका' उसको अपने प्रियसे मिलाती है। अर्थात् यह नायिका अपने सौन्दर्यसे नायकको आकर्षित कर लेती है—'है गति मन्द मनोहर केसव आनँदकन्द हिये उलहे हैं। भौंह विलासनि कोमल हासनि अग सुवासनि गाढे गहे हैं।' (वही . ५४)। **आक्रमित**—केशवके इस भेदको देवने आक्रान्ता कहा है। केशवके अनुसार यह नायिका मनसा-वाचा-कर्मणा 'वस कीनो मित्त' होती है। इस भेदमें नायककी स्थितिका अधिक बोध होता है—'तो हित गाइ बजावत नाचत बार अनेक सिंगार बनायो' (वही . ५६)। देवने भी नायक द्वारा शृंगारका वर्णन किया है। रीतिकाव्यमें इस प्रकारके चित्रण बहुत हुए हैं, पर विद्यापति तथा सूरमें भी ऐसे स्थल हैं। **लुब्धापति**—लब्धापति भी। केशवके अनुसार—'कानि करै पति कुल सबै प्रभुता प्रभुहि समान।' (वही . ५७), इस नायिकाका पतिपर पूरा प्रभुत्व होता है, यह भेद भी नायककी स्थितिसे सम्बद्ध है। उदा०—'स्यामके सग सदा हम डोलैं जहाँ पिक बोलैं अलीगन गुंजैं।' —र०

प्रौढोक्ति—गम्यौपम्याश्रय वर्गका अर्थालकार। सम्भवत जयदेवने प्रथम बार प्रौढोक्तिको स्वतन्त्र स्थान दिया। इनका अनुकरण 'कुवलयानन्द'के लेखक अप्पय दीक्षित और फिर 'रसगगाधर'के लेखक जगन्नाथने किया। लेखकोंने इस अलकारकी गणना अभेद-प्रधान वर्गके अन्तर्गत सम्बन्धातिशयोक्तिमें की है। 'रसगगाधर'में अतिशयोक्तिके सम्बन्धमें कहा है कि 'अतिशय'का अर्थ है 'निगरणम्'। इस मूलार्थके विचारसे प्रौढोक्ति भिन्न हुई। प्रौढोक्तिमें किसी उत्कर्षका होना आवश्यक है चाहे वह कृत्रिम हो अथवा काल्पनिक, और इस उत्कर्षका कारण किसी ऐसी वस्तुको बताया जाय जो वास्तवमें असमर्थ है। अतएव जयदेवने सम्बन्धातिशयोक्तिका लक्षण पृथक् एव प्रौढोक्तिका पृथक् किया है। उनके अनुसार—'प्रौढोक्तिस्तदशक्तस्य तद्धेतुत्वाऽवकल्पनम्।' (चन्द्रालोक ५ ४७), अर्थात्

किसी एक कार्यके अयोग्य पदार्थको उसके योग्य कह देना ही प्रौढोक्ति है। उन्होंने ही इसका एक सुन्दर उदाहरण भी दिया है–'कलिन्दजातीररुहा श्यामला सरलद्रुमा।' अर्थात् यमुनाके तीरपर होनेसे सरल नामक वृक्ष नीले है, पर यमुनाके तीरमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह वृक्षोंको नीला कर दे। हिन्दीमें प्राय आचार्योंने 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसका लक्षण दिया है–'जो अहेतु उत्कर्षको ताहि बखानत हेत।' (ल० ल० २९४)। उदा०–'गग नीर विधु-रुचि झलक, मृदु मुसकानि उदोति। कनक भौनके दीप लौं, जगमगाति तन जोति।' (वही २९५)। यहाँ तन-जोतिके उत्कर्षका जो कारण नहीं है, उसे ही कारण कहा गया है। –ज० कि० व०

प्लवंगम–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'-के अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें २१ मात्राएँ और अन्तमें ल ग (IS) माना गया है (१ १८६)। भिखारीदासने प्लवगका जो उदाहरण दिया है वह इसके समान है–'एक कोऊ मलयागिरि खोदि वहावती' (छन्दो० पृ० २८)। इसके अन्तमें जगण तथा गुरु (ISIS) भी है। भानुके अनुसार इस छन्दमें ८, १३ पर यति आदि ग (S) तथा अन्तमें ज ग (ISIS) रहता है (छ० प्र० पृ० ५५)। इस छन्दका प्रयोग हिन्दीमें सुन्दर तथा सूदनने किया है। सूदनने 'सुजानचरित'में यतिको ११, १० पर माना है और ज ग-का प्रयोग भी विकल्पसे स्वीकार किया है। उदा०–'पावन हरि जन सग सदन मान दीजिये' (छ० प्र० पृ० ५५)। —सं०

प्लाट–दे०—'कथावस्तु'।

फना–'फना'का अर्थ लय हो जाना है। इस शब्दकी नाना प्रकारसे व्याख्या की गयी है। सूफी साधकोंमें इस शब्दको लेकर पूरा मतभेद है। वैसे साधारणत 'फना'से यह समझा जाता है कि साधक सतत चेष्टाके द्वारा अपने आपको मिटाकर परमात्मामें लय हो जाता है। वह स्व-ज्ञानसे परे हो जाता है। आत्मा जब परमात्माके अनन्त सौन्दर्यको प्रत्यक्ष करती है तब वह इन्द्रियजगत् विषयोंसे परे हो जाती है तथा प्राणिजगत् सम्बन्धी उसके समस्त ज्ञान तिरोहित हो जाते हैं। सूफी मार्गपर अग्रसर होता हुआ जब साधक अपनी समस्त वासनाओंको मिटाकर सभी इच्छाओंसे परे हो जाता है तो आत्मा परमात्मामें लीन हो जाती है। इसीको 'फना' कहते हैं। उसमें अपने-परायेकी भावना नहीं रह जाती। उस समय उसके लिए सुख-दु खका कोई अर्थ नहीं रह जाता। उसके व्यक्तिगत जीवनकी कोई सार्थकता नहीं रहती। परमात्माको लेकर ही वह मस्तमौला बना रहता है। मजहबके नियम-कानूनों-का उसके लिए कोई अर्थ नहीं रह जाता।

सूफी कहते हैं कि 'फना'की अवस्थामें आत्मा परमात्मा-में विलीन हो जाती है। ऐसा कहनेका वे यह अर्थ लगाते है कि वह सर्वव्यापक सत्तामें विलीन होकर उसका अग बन जाती है। उनके अनुसार आत्मा-विशेषका नाश नहीं होता, अतएव वे मानते हैं कि 'फना'में आत्माकी स्थिति वही है जो महासागरमें एक बूँदकी होती है। बहुत दिनोंतक सूफी साधक इसे ही चरम लक्ष्य मानते रहे। —रा० पू० ति०

फलागम–रूपककी पाँच **अवस्थाओं**मेंसे पाँचवीं **अवस्था**। सम्पूर्ण फलकी प्राप्तिको फलागम अवस्था कहा जाता है। अधूरा फल प्राप्त होनेपर **नियताप्ति**की अवस्था ही मानी जानी चाहिये। यहींपर (फलागम अवस्थामें ही) नायकादिके अभीष्टकी सिद्धि हो जाती है। सस्कृतकी 'रत्नावली नाटिका'में उदयनको रत्नावली तथा चक्रवर्तित्व-का जो लाभ होता है वह नाटिकाका फलागम है। 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त' नाटकका फलागम है हूणोंकी पराजयसे आर्यावर्तकी गौरव-रक्षा और पुरगुप्तको युद्धक्षेत्रमें ही टीका लगाकर गृह-कलहका शमन। —व० सिं०

फलोत्प्रेक्षा–दे०—'उत्प्रेक्षा', तीसरा भेद।

फारसी (साहित्य)–फारस-निवासी अपने देशको ईरान और अपनेको एव अपनी भाषाको ईरानी कहते हे। फार्स, जिसका पुराना नाम पार्स है, ईरानका एक प्रान्तमात्र है। ईरानके दो परम प्रतापी और सुविख्यात राजवश (ई० पू० छठी शताब्दीमें अखामन्शी और ईसाकी तीसरी शताब्दीमें सासानी) इसी प्रान्तके थे, इसलिए ईरानके बाहर पूरे देशका ही नाम फारस और वहाँकी भाषाका फारसी पड गया।

प्राचीन ईरानी या फारसीका, जो हिन्द-यूरोपीय भाषाकी ही एक शाखा होनेके कारण सस्कृतसे बडी समानता रखती थी, सबसे प्राचीन ग्रन्थ पारसियोंका धर्मग्रन्थ 'आवेस्ता' है। ई० पू० ५५९के पहले फारस या ईरानमें मीदियोंका राज्य था। 'आवेस्ता'के अतिरिक्त उस समयके किसी साहित्यका अब पता नहीं है। ई० पू० ५५९से ई० पू० ३३०में यवनराज अलक्षेन्द्रके आक्रमणके समयतक ईरानमें अखामन्शी राजवशका शासन रहा। कुछ शिलालेखोंको छोड, जिनका महत्त्व ऐतिहासिक अधिक और साहित्यिक कम है, इस समयका अन्य कोई साहित्य अब उपलब्ध नहीं है। ई० पू० ३३०से ईसवी सन् २२६तकके भी किसी साहित्यका अब पता नहीं है। ईसवी सन् २२६में ईरानपर सासानी राजवशका शासन प्रारम्भ हुआ, जो ६५१ ई०तक रहा। सासानियोंके शासनकालमें, जब ईरान ससारके प्रमुख शक्तिशाली राज्योंमें गिना जाता था, जरथुस्त्री या पारसी धर्मका, जो विदेशी शासनके कारण इतने दिनोंसे दबा पडा हुआ था, फिरसे उदय हुआ और ईरानियोंकी राष्ट्रीय भावना भी पुनर्जागरित हुई, जिसके कारण साहित्यका भी, मुख्यतया धार्मिक साहित्यका उत्कर्ष हुए बिना नहीं रहा। सासानियोंका शासन आते-आते विदेशी प्रभावके कारण ईरानकी भाषामें पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था और पहलवी लिपिमें लिखी जानेके कारण उसका नाम भी पहलवी पड गया था। इस कालके धार्मिक साहित्यमें 'आवेस्ता'पर लिखा गया भाष्य 'जेन्द' और लौकिक साहित्यमें 'यात्कारे ज़रीरान', जिसका दूसरा नाम 'शाहनामे गुतास्प' भी है और 'कारनामके आरतखशीरे पापकान' विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

ई० सन् ६५१में ईरान अरबों द्वारा आक्रान्त होकर उनके शासनाधीन हो गया, जिसके परिणामस्वरूप अरबोंने शीघ्र ही फारसीको दबा लिया और फारसी साहित्यका

विकास शताब्दियोंके लिए रुक गया, फारसी भाषाका आर्य-स्वरूप अरबी सम्मिश्रणके कारण बहुत कुछ बदल गया और फारसीकी लिपि भी पहलवीसे अरबी हो गयी। इस कालका अधिकांश साहित्य फारसीमें न होकर अरबीमें ही है।

ईसाकी नवीं और दसवीं शताब्दीके बीच अरब शासनाधीन अनेक राज्य एक-एक करके स्वतन्त्र हो गये और तभी फारसी साहित्यका नये सिरेसे उदय हुआ। आदिमें तो इस नये युगके फारसी काव्यकी शैली और छन्द-योजना पूर्णतया अरबी ही थी, किन्तु आगे चलकर ईरानी कवियोंने स्वतन्त्र रूपसे गजल, रुबाई, मस्नवी आदि कई नये छन्दों और काव्य-शैलियोंका आविष्कार और विकास किया।

आधुनिक फारसी साहित्यका महाकवि, रुबाईका आदिस्रष्टा, रूदगी था। इसने रुबाई, गजल और प्रशस्ति-रचनामें बड़ी ख्याति पायी और कदाचित् मस्नवीकी रचना भी पहले-पहल इसीने की, किन्तु उसकी कोई मस्नवी अब उपलब्ध नहीं है। यह ई० सन् ९४० में जीवित था। उसके बाद हुए तो अनेक कवि, किन्तु फारसी भाषाका महान् कवि होनेका सौभाग्य 'शाहनामा' या ईरानकी राजतरंगिणीके रचयिता फिरदौसीको ही, जो महमूद गजनवीके दरबारी कवियोंमें था, प्राप्त हो सका। महमूदके दरबारका राजकवि उंसुरी कसीदा-रचनामें रूदगीसे भी बढ़ा-चढ़ा था। उस कालका एक अन्य सुविख्यात कवि अविसेन्ना था, जिसने अनेक गजलों और रुबाइयोंके अतिरिक्त 'दानिश्नामय अलाई' नामक एक विश्वकोशकी भी रचना की।

११वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें फारसके एक बहुत बड़े भागपर सैल्जुकी तुर्कोंका शासन प्रारम्भ हुआ जो १२वीं शताब्दीके अन्ततक रहा। सैल्जुकोंके समयमें फारसी साहित्यने विशेष उन्नति की। उनका प्रधानामात्य निजामुलमुल्क अबू अलीउल हसन बड़ा विद्यानुरागी और विद्याव्यसनी था। उसने स्वयं शासनकलापर 'सियासतनामा' नामक एक ग्रन्थकी रचना की। इस कालका गद्य-साहित्य अधिकतर अरबीमें ही है। फारसीके गद्य-ग्रन्थोंमें 'सियासतनामा'के अतिरिक्त हुजवीरीका सूफीमत-प्रतिपादक ग्रन्थ 'काशिफुलमहजूब', गजालीका रहस्यवादी ग्रन्थ 'कीमियाए सआदत' और निजामिए अरूजिए समरकन्दीका राजधर्म, काव्यकला, ज्योतिष और चिकित्सा-शास्त्र-विषयक सुविख्यात ग्रन्थ 'चहार मकाला' ही उल्लेखनीय हैं। इस कालके पद्य-साहित्यमें परिमाणकी दृष्टिसे कसीदोंका ही स्थान सर्वोपरि है। अनवरी खुरासानी, खाकानी शीराजी और निरमीजके अदीब साबिर इस कालके प्रसिद्ध कसीदाकारोंमें थे। इस कालमें सूफीवादका भी, जिसने लगभग समग्र फारसी-काव्यको प्रभावित और सुवासित कर रखा है और जो हिन्दीकी भी सूफी काव्यधाराका स्रोत है, विशेष उत्कर्ष हुआ। इस कालका सबसे बड़ा कवि, जो फारसके अमर कवियोंमें गिना जाता है, निजामी (११४१–१२०३ ई०) था, जिसने खम्सा या पंचगंज (पचरत्न) नामसे विख्यात पाँच अत्यन्त सुन्दर मस्नवियोंकी रचना की। इसी कालमें अँग्रेजी कवि फिट्जेरल्ड द्वारा अनूदित उमरखैयाम (मृत्यु ११२३ ई०)ने भी मदिरा और कामिनीकी प्रशंसामें अपनी सुललित रुबाइयोंकी सरिता बहायी।

सैल्जुकी तुर्कोंका शासन १२वीं शताब्दीके लगभग अन्ततक रहा। उसके बाद लगभग आधी शताब्दीकी अराजकताके बाद १२५८ ई० में चंगेज खाँके पौत्र हलाकू खाँने ईलखानी राजवंशकी नींव डाली। उपर्युक्त आधी शताब्दीके सन्धिकालमें चंगेज खाँने फारसी-साहित्य और संस्कृतिके दो बहुत बड़े प्रान्तों खीवा और खुरासानको पूर्णतया ध्वस्त कर दिया था और शेष ईरानको २०–२२ वर्षतक आतंकित करता रहा था। इसी सन्धिकालमें ईरानमें दो ऐसे सूफी कवि हुए जिनकी कीर्ति आज भी ईरानके बाहरतक फैली हुई है। ये थे प्रसिद्ध मस्नवीकार मौलाना जलालुद्दीन रूमी (१२०७–१२७३ ई०) और उपदेशात्मक ग्रन्थों 'बूस्ताँ' और 'गुलिस्ताँ'के प्रसिद्ध लेखक शेख सआदी शीराजी (११८४–१२९१ ई०)।

फारसमें बगदादके अब्बासी खलीफाओंका प्रभाव यद्यपि नहींके बराबर रह गया था, तथापि १२५८ ई० तक समस्त फारस उन्हींके साम्राज्यके अन्तर्गत समझा जाता था। १२५८ ई० में हलाकू खाँने खलीफाओंके साम्राज्यका अन्त कर दिया, जिससे ईरान अरबके राजनीतिक प्रभावसे सर्वथा मुक्त हो गया और फारसीने वहाँकी राजभाषाका आसन पुनः ग्रहण किया। इसका प्रभाव फारसी साहित्यकी उन्नतिपर भी पड़े बिना न रहा।

ईरानमें मुगलोंका राज्य, पहले हलाकू खाँके वंशजों, ईलखानियोंके हाथ और फिर तैमूर और उसके वंशजों, तैमूरियोंके हाथ चौदहवीं शताब्दीके मध्यतक रहा। मुगलोंके कालमें जितने इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये उतने काव्य-ग्रन्थ नहीं। गीत-काव्योंके अमर रचयिता हाफिज शीराजी और यूसुफ-जुलेखा आदि ७ मस्नवियों, ३ दीवानों और कई ग्रन्थोंके रचयिता हैं। फारसके दूसरे अमर कवि मुल्ला नुरुद्दीन अब्दुर्रहमान जामी (जन्म १४१४ ई०) इस कालके सबसे बड़े कवियोंमें थे। ये सब कवि सूफी थे और इनकी सभी कृतियोंपर तसव्वुफका पूरा रंग है।

फारसी काव्य-जगत्के ७ सर्वोत्कृष्ट रत्नोंमेंसे फिरदौसी पुरैतिहासिक काव्यके लिए, निजामी प्रेम-गाथाओंके लिए, रूमी रहस्यवादी कविताके लिए, सआदी सामान्य नीति विषयक छन्दोंके लिए, हाफिज गीतोंके लिए और जामी इन सभी प्रकारकी काव्य-कृतियोंके लिए विख्यात हैं।

तैमूरियोंका राज्य समाप्त होनेके बाद आधी शताब्दीतक फारसमें काफी अराजकता रही, जिसके बाद १४९९ ई० में सफावी नामक एक ईरानी राजवंश ईरानके सिंहासनपर आसीन हुआ। यह राजवंश ईरानी होनेके साथ ही शिया मतानुयायी भी था। इसके सिंहासनपर आते ही शिया धर्म ईरानका राजधर्म हो गया और ईरानियोंकी राष्ट्रीय भावनाको भी बल मिला। तबसे अबतक राजवंश तो कई बदले, लेकिन रहे सब ईरानी ही।

फारसपर सफावी राजवंशका राज्य १४९९ ई० से १७३६ ई० तक रहा। इसी बीच भारतमें मुगल साम्राज्यका उदय हुआ और वह अपने चरमोत्कर्षपर भी पहुँचा। इस कालमें फारस और भारतका परस्पर सम्पर्क अत्यन्त घनिष्ठ

रहा और अनेक फारस निवासी कवि और लेखक भारत आकर मुगल दरबारकी शोभा बढ़ाते रहे। इस देशमें भी अत्युत्कृष्ट फारसी विद्वानों, कवियों और लेखकोंने जन्म लेकर फारसी साहित्यकी अमूल्य सेवा की। मुसलमानी ईरानका सबसे बड़ा शासक सफावी वंशोत्पन्न अब्बास महान् (१५८७-१६२९ ई०) मुगल सम्राट् अकबर महान्-(१५५६-१६०५ ई०)का समकालीन था और दोनोंके ही दरबारोंमें कवियों और लेखकोंका बड़ा मान था।

सोलहवीं शताब्दीका सबसे बड़ा ईरानी कवि हातिफी था, जिसने पुरैतिहासिक काव्य 'तैमूरनामा' और 'लैला उ मजनूँ', 'खुसरौ उ शीरीं' आदि कई मस्नवियोंकी रचना की। इस शताब्दीके अन्य लेखकोंमें 'तोहफमे सामी' नामक कवियोंकी जीवनीके रचयिता साम मिर्जाका नाम भी उल्लेखनीय है।

सत्रहवीं शताब्दीमें कई अच्छे कवि और इतिहास-लेखक हुए, किन्तु कवियोंमें कोई ऐसा नहीं हुआ जो प्रथम श्रेणीका समझा जा सके। इतिहासकारोंमें शाह अब्बास प्रथम(महान्)के इतिहास-लेखक मुन्शी इस्कन्दर बेग तथा शाह अब्बास द्वितीयके वजीर और इतिहास-लेखक ताहिर वहीदके ही नाम उल्लेखनीय हैं। ताहिर वहीद इंशा-(साहित्यिक पत्र-व्यवहारके) भी सिद्धहस्त कलाकार थे।

अठारहवीं शताब्दीमें भी कोई अच्छा कवि नहीं हुआ। इस कालके लेखकोंमें शेख अली हजीन (जिसका देहान्त १७६६ ई० में काशीमें हुआ था) और 'आतशकदा' तथा मस्नवी 'यूसुफ उ जुलैखा'के रचयिता लुत्फ अली आजुरके ही नाम उल्लेखनीय हैं। 'आतशकदा'में फारसके आठ सौसे ऊपर कवियोंके जीवनचरित और वृत्तान्त दिये हैं। उन्नीसवीं शताब्दीके सर्वोत्कृष्ट कवि मिर्जा हबीबुल्लाह, उपनाम 'कानी' (मृत्यु १८५३ ई०) समझे जाते हैं। १९वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध फारसमें साहित्यिक क्रान्तिका युग था। इस कालमें फारसके तत्कालीन बादशाह नासिरुद्दीन शाह(१८४८–१८९६)ने फारसमें दारुल्फुनून-(विज्ञान-मन्दिर)की स्थापना की और अपनी यूरोप-यात्राओं-के भी वृत्तान्त प्रकाशित किये। इस कालमें फारसका यूरोपीय देशोंसे काफी सम्पर्क रहा, जिसका प्रभाव उसके साहित्यपर भी पड़े बिना नहीं रहा। इस कालमें सानिउद्दौला-(मृत्यु १८९६ ई०)ने अनेक भूगोल और इतिहास-ग्रन्थ लिखे और लिखवाये तथा मिर्जा जाफरने फ्रांसीसी साहित्य-से प्रभावित अनेक तुर्की नाटकोंका अनुवाद किया। इसके पहले फारसी साहित्यमें नाटकोंका नितान्त अभाव था और उक्त अभाव अब भी बहुत-कुछ चला ही आ रहा है। यद्यपि कुछ स्वतन्त्र नाटकोंकी रचना होने लगी है। यही बात उपन्यासोंके विषयमें भी है।

बीसवीं शताब्दीमें यूरोपीय प्रगतिवादिता और अतियथार्थवादितासे प्रभावित एक नयी काव्यधाराका आविर्भाव हुआ, किन्तु उसीके साथ पुरानी धारा भी अबाधित बहती ही जा रही है। इस शताब्दीके पुरानी शैलीके कवियोंमें इराज मिर्जा (मृत्यु १९२६ ई०), अदीबी पेशावरी (मृत्यु १९३१ ई०), युवा कवयित्री परवीन (मृत्यु १९४१ ई०), रशावी और मलिकुल शोअरा बहारके तथा नयी शैलीके कवियोंमें इस्की (मृत्यु १९२५ ई०) तथा लाहूती (जन्म१८८७ ई०)के नाम उल्लेखनीय है। १९२५ ई० में वर्तमान पहलवी राजवंशने शासनकी बागडोर सँभाली और तबसे ईरानमें साहित्यिक अनुशीलन और सम्पादनके कार्यमें अभूतपूर्व प्रगति हो रही है। ईरानमें इधर अनेक पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलने लगी हैं और वहाँका आधुनिक साहित्य अधिकतर उन्हींमें प्रकाशित होता है।

फारसी साहित्यकी अभिवृद्धि और विकास भारतमें भी कुछ कम नहीं हुआ। यहाँके सर्वप्रथम फारसी कवियोंमें अमीर खुसरौ(जन्म १३२५ ई०)का नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है, जिन्होंने अनेक शृंगार-रसात्मक छन्द, पुरैतिहासिक काव्य एवं गीतों तथा निजामीकी ही टक्करके खम्सा(पंच-काव्य संग्रह)की रचना की। मुगलकालके फारसी कवियोंमें उर्फी शीराजी (मृत्यु १५९०), फैजी (मृत्यु १५९५ ई०), जुहरी (मृत्यु १५१६ ई०), जहाँगीरके राजकवि तालिब आमूली (मृत्यु१६२६ ई०) और शाहजहाँके राजकवि अबू तालिब कलीम मुख्य थे। मुगलोंके ही कालमें रामायण, महाभारत, गीता, पुराण, उपनिषद् आदि संस्कृत ग्रन्थोंका भी फारसीमें अनुवाद हुआ और बदायुनी, अबुल फजल, फिरिश्ता, सुजान राय, नवाब आकिल खाँ आदिने अपने प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थोंकी रचना की। आधुनिक कालके एतद्देशीय फारसी कवियोंमें सर मुहम्मद इक़बालका ही नाम उल्लेखनीय है। इनकी सूफी रचना 'असरारे खुदी' फारसके साहित्य-भण्डारमें एक विशिष्ट स्थान रखती है।

मुसलमानी कालमें इस देशमें ऐसे भी अनेक फारसी ग्रन्थोंकी रचना हुई जिनका महत्त्व हिन्दीकी दृष्टिसे अब भी बहुत है। इस प्रकारके अद्यावधि ज्ञात ग्रन्थोंमें औरंगजेब-के शासनकालमें मिर्जा मुहम्मद द्वारा रचित 'तोहफतुल हिन्द' और १८वीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें मीर गुलामअली 'आजाद' द्वारा रचित 'सर्वे आजाद' विशेष रूपसे उल्लेख-नीय हैं। 'तोहफतुल हिन्द'में नागरी वर्णमाला और लिपि एवं व्याकरण, अलंकार, पिंगल, रस, नायिका-भेद आदि अनेक विषयोंका वर्णन और विवेचन है और अनेक हिन्दी काव्योंके छन्द भी उद्धृत हैं। इस ग्रन्थका अंगीभूत व्याकरण स्यात् हिन्दी भाषाका सर्वप्रथम व्याकरण है। 'सर्वे आजाद'में अनेक फारसी कवियोंके जीवनवृत्तोंके अतिरिक्त ८ हिन्दी कवियोंके भी जीवनवृत्त दिये गये हैं। इसी प्रकारके और भी अनेक तज्किरे तथा अन्य ग्रन्थ फारसीमें विद्यमान हैं।

फारसीमें कविताके चार मुख्य रूप या प्रकार हैं—कसीदा, गजल, रुबाई और मस्नवी। इनमेंसे कसीदा फारसीको अरबीकी देन है और शेष तीनों स्वयं फारसी कवियोंकी ईजादें हैं। हिन्दीकी उर्दू शैलीने कविताके इन सभी रूपोंको फारसीके समस्त पिंगल और अलंकार सहित ज्योंका त्यों ले लिया है। यही नहीं, वह एतद्देशीय भाषाओंमें प्रयुक्त उपमाओं और रूपकोंका आश्रय न लेकर फारसीमें प्रयुक्त और फारसके ही भूगोल, इतिहास और संस्कृतिसे प्रभावित उपमाओं और रूपकोंका प्रयोग करती आ रही है। किन्तु हिन्दीकी विशुद्ध शैलीकी स्थिति इससे

भिन्न है। इस शैलीके अपने छन्द, अपने अलंकार और अपनी परम्परा है, जो उसके मुसलमान कवियोंके हाथों भी अक्षुण्ण रही है। हिन्दीके सूफ़ी कवियोंने फारसीकी तुकान्त मस्नवीका अनुकरण अवश्य किया है, किन्तु इनके लिए फारसीके तुकान्त मस्नवी छन्दोंका प्रयोग न करके पहलेसे चले आ रहे चौपाई और दोहा छन्दोंका ही आश्रय लिया है। हिन्दीकी इस विशुद्ध शैलीमें कुछ गजलोंकी भी रचना हुई है और लाला भगवानदीन एवं कुछ अन्य कवियोंने एकाध और भी फारसी छन्दोंका प्रयोग किया है। अब कुछ दिनोंमें कुछ कवियोंका ध्यान रुबाइयों और फारसी ढगके गीत-काव्योंकी ओर भी गया है। गजलोंका प्रयोग अधिकतर सामान्य कोटिकी रचनाओंमें ही मिलता है और ये रुबाइयाँ एवं गीतकाव्य फारसी रुबाइयों और गीतकाव्योंके अनुरूप न होकर बिलकुल अपने ही ढगके है। हरिगीतिका आदि कुछ हिन्दी छन्द तदनुरूप फारसी छन्दोंके समान हैं, किन्तु उनमेंसे अधिकतर यहाँ कदाचित् पहलेसे ही विद्यमान थे, और जो फारसीसे इधर आये भी वे हिन्दी पिंगलके साँचेमें ही ढल गये और फारसी अरूज-का अनुकरण न करके हिन्दी छन्द-शास्त्रके नियमोंका ही पालन करते है। जहाँतक उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं और ऐतिहासिक एवं पौराणिक दृष्टान्तोंका सम्बन्ध है, हिन्दीके मुसलमान कवियोंने भी एतद्देशीय दृष्टान्तों, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओंका ही अधिकतर प्रयोग किया है और यदि किसीने किसी स्थानपर किसी फारसी उपमा आदिका प्रयोग किया भी है (जैसे 'अनुराग बाँसुरी'में नूर मुहम्मदने 'नरगिस फूल बिलोकि सयाना। ओहि लोचनके ध्यान भुलाना') तो वही दूसरे स्थानपर भारतीय उपमा या उत्प्रेक्षाका प्रयोग करना नहीं भूला है (जैसे नूर मुहम्मदने ही इसी ग्रन्थमें—'अजन नैन देत जब सोई। खजन देखि बियाकुल होई')। —गो० च० सिं०

फॉर्मलिज्म (formalism)—फॉर्मलिज्म या रूपवाद वह प्रयोग या सिद्धान्त हैं, जो निर्धारित या बाह्य रूपोंका कट्टर अनुगामी या उसपर निर्भर कहा जाता है, विशेष रूपसे धार्मिक विषयोंमें और इसका कोई भी उदाहरण बाह्य धार्मिक रूपोंको बिना धर्मकी प्रवृत्ति या जीवनके उसका उपयोग करना या अनुसरण करना है। नाटकमें यह उस नाटकीय प्रतिनिधित्वको कहा जाता है, जो उत्पादनके सभी तत्त्वोंको, साधारण या स्वतंत्र शब्दोंमें, अर्थस्थायी रचनात्मक पृष्ठभूमिका उपयोग करके, प्राय॰ रंगमंचकी सीमाओंका विचार न करते हुए, उसे सीमाबद्ध कर देता है। ललित कलाओंमें इस व्यवस्थाके लिए दी गयी दृढता या सतर्कताको कहते हैं, विशेष रूपसे चित्रकला या मूर्तिकलामें निर्धारित या परम्परागत रचनाके नियमोंको।

रूपवादकी स्थापना सबसे पहले रूसमें आलोचनाके क्षेत्रमें सन् १९२० ई०में हुई। लगभग एक दशाब्दतक वहाँ इसकी प्रधानता रही। इस सिद्धान्तके आधारपर कलामें शिल्पका ही विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है। इसीलिए कोई कलाकार शिल्प-विधानमें जिस कलाका प्रयोग करता था या जिस रूपकी योजना करता था, उसीका महत्त्व होता था।

आकार या रूप किसी उद्देश्यकी विशेषताको कहते हैं जो अनुभव की गयी हो, या वह रचना जिसमें किसी अनुभव या किसी वस्तुके तत्त्वोंको सयोजित किया गया हो। रूपविषयक धारणा उस आलोचनात्मक सिद्धान्तके प्रारम्भिक लेखोंमें प्राचीनतर है और पूर्वमें भी उतनी ही सामान्य है, जितनी पश्चिममें, विशेष रूपसे सृष्टि-निर्माणकी विधिके विचारके विषयमें, जिसमें बनायी जानेवाली वस्तुके विषयमें मानसिक विचार या कल्पनाको उस वस्तुका रूप या रूपका सिद्धान्त माना जाता है। प्लेटोके अनुसार रूप या किसी भी वस्तुके विचार अपनी सासारिक उत्पत्तिसे अलग, पूर्ण रूपसे पूर्व-स्थित होते हैं, और जो इस प्रकार एक अनुकरण होता है। प्लेटो तथा अरस्तूके सिद्धान्तोंपर आधारित रूपका आधुनिक अर्थ किसी स्वाभाविक प्रवृत्तिका एक उदाहरण है। किसी वस्तु या अनुभवकी विशेषता या रचनाके सन्दर्भमें इनके विश्लेषण या वर्णनका तात्पर्य रूप शब्द है, जिस प्रकार वह एक आकार या रूप प्रदान करता है।

अरस्तूके विचारमें रूप उन चार कारणोंमेंसे एक है, जो पूर्णतया किसी वस्तुके अस्तित्वका आधार होते हैं। कारण चार होते हैं—(१) उत्पादक, (२) उद्देश्य, (३) विषय और (४) रूप। इनमेंसे प्रथम दो बाह्य होते हैं और अन्तिम दो आन्तरिक। विषय उसे कहते है, जिससे कोई वस्तु बनती है और रूप उसे कहते हैं, जो उसे आकार देता है। इसलिए अरस्तूके अनुसार रूप केवल आकार ही नहीं है, बल्कि आकार प्रदान करनेवाला भी है, केवल रचना या विशेषता ही नहीं है, वरन् रचनाका सिद्धान्त भी है, जो विशेषता देता है। अत अरस्तूकी धारणा है कि किसी कलाकृतिमें रूप केवल रचना नहीं है (संकुचित अर्थमें), लेकिन वह सब-कुछ है, जो किसी उल्लेख्य विशेषताका निर्धारण करता है। अर्थ या अभिव्यक्ति और रचना भी बाह्य तत्त्व हैं। इस प्रकार किसी साहित्यिक कृतिके विषयको सामान्य रूपमें उसकी वस्तुके समान माना जाता है, जिसके लिए किसी कृतिका अर्थ या एक सन्दर्भ होता है या स्वय उस अर्थके साथ, और रूप तब केवल वही हो सकता है, जो एक कृतिकी विशेषतामेंसे शेष रह गया हो, जब कि उसका अर्थ निकाल दिया गया हो, अर्थात् केवल उसकी भौतिक रचना और विशेष रूपसे उसकी ध्वनि-रचना।

जिस विषयमे कोई कवि अपनी कविता तैयार करता है, वह उसके समय या स्थानकी भाषा होती है। लेकिन, जब कोई कवि अपना कार्य करता है, यह भाषा किसी भी प्रकारसे एक रूपहीन विषय नहीं होती, बल्कि यह स्वय कलासे उत्पन्न होती है और मनुष्य द्वारा युगोंतक रूपका वस्तुके ऊपर लादा जाना होती है। जब एक लेखक अपना कार्य आरम्भ करता है, तब उसकी सामग्री बाह्य तत्त्वसे मुक्त होती है, लेकिन चूँकि ये सदैव बाह्य तत्त्व रहते हैं, जैसा कि उसके समाप्त हो गये कार्यसे लक्षित होता है, वे सब उसके लिए उस विषयका एक अग है, जो उसे स्पष्ट करना है। उसके कार्यका आकार वह आकार है, जो वह अपने आकारोंके समूहपर लादता है और उन अधिक शुद्ध

विषयोंपर उसे सम्पूर्ण रूपसे एक रचनाका आकार और स्वयं अपने द्वारा विचारे गये अर्थ देनेके द्वारा। जो आकार वह लादता है, वह उसके द्वारा कहे गये वक्तव्यकी एक अनोखी पूर्ण विशेषता होती है। जबतक उसका कार्य समाप्त नहीं हो जाता, यह नया आकार, जो वह अपनी भाषापर लादता है, एक विचार होता है, थोडा या बहुत, अस्पष्ट रूपमें उसके मस्तिष्कमें विचाररूपमें आता है, किसी वस्तुका विचार, जो वक्तव्य किया जाता है।

किसी बातको अभिव्यक्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि किसी रूपको किसी विषयपर लादा जाय और इस प्रकार रूपका किसी विषयपर लादा जाना उस विषयको स्पष्ट करना है, जो कोई बात अभिव्यक्त करता है। हम किसी पूर्ण कृतिमें इस बातकी प्रशसा नहीं करते कि विषय और आकार एकमें सयुक्त कर दिये गये हैं, लेकिन उस प्रशंसनीय आकारकी करते हैं, जो विषयके साथ सयुक्त कर दिया गया है।

[सहायक ग्रन्थ—फॉर्म एण्ड स्टाइल इन पोइट्री डब्लू० पी० केर] —प्र० ना० ट०

फासिज्म—आधुनिक युगमें धर्म द्वारा प्रतिष्ठापित देवताओंका स्थान नये देवताओंने ले लिया है। इन नये देवताओंमें शायद सबसे बडा देवता राष्ट्र है और उसकी प्रतिष्ठा करनेवाला नया धर्म है राष्ट्रवाद। राष्ट्रवादके विकरालतम रूपकी प्राणप्रतिष्ठा मार्च, १९१९ ई० में बेनिटो मुसोलिनी द्वारा इटलीमें फासिज्म नामसे चलाये गये आन्दोलनमें हुई, जिसने अक्तूबर, १९२२ ई० में इटलीकी शासन-सत्ता भी हस्तगत कर ली। बादमें इस प्रकारके सर्वत्र प्रचलित आन्दोलनोंके लिए 'फासिज्म' नाम रूढ हो गया। इतालीय मूल शब्द 'फासिज्मो' लैटिनके फासीज(fasces)से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है पोटली या गट्ठा। प्राचीन रोमके मजिस्ट्रेटोंके आगे-आगे अधिकारके प्रतीक रूपमें एक कुठारसे युक्त दण्डोंकी एक पोटली चला करती थी। 'फासिज्म' शब्दका इसी भावनासे सम्बन्ध है।

फासिज्म एक व्यापक मनोदशा है। इसके उद्भवकी व्याख्या कई प्रकारसे की जाती है। कुछ लोग कहते हैं कि जनतन्त्रमें असाधारण व्यक्तियोंको अपनी प्रतिभा और शक्तिका प्रदर्शन करनेका पूरा अवसर नहीं मिलता, उन्हें यह भावना सताती रहती है कि उन्हें व्यर्थ ही अयोग्य बहुसंख्याके हाथकी कठपुतली बने रहना पड़ता है। अत उनका जनतन्त्रसे असन्तोष स्वाभाविक ही है। वे ऐसी व्यवस्थाकी कामना करने लगते हैं जिसमें उन्हें कार्य करनेका पूरा अवसर मिल सके। इसके विपरीत अन्य अनेक व्यक्तियोंकी यह दशा है कि वे जनतन्त्रके लिए आवश्यक उत्तरदायित्वका निर्वाह नहीं कर सकते। जनतन्त्र, जिसकी आयु अभी प्राय ३०० वर्षकी है, सबसे कठिन व्यवस्था है, क्योंकि इसमें वैयक्तिक उत्तरदायित्व बढ जाता है, जिसके लिए एक निश्चित प्रौढता और परिपक्वताकी अपेक्षा होती है। कुछ लोगोंका विचार है कि फासिज्म इस कठिनाईसे पलायनका एक अच्छा मार्ग है। फासिज्ममें व्यक्ति अपना सारा उत्तरदायित्व अधिनायकको सौंपकर छुट्टी पा लेता है। इसके अतिरिक्त फासिज्ममें आर्थिक प्रगति और सामाजिक सुरक्षाकी भी अधिक गारण्टी है।

साम्यवादियोंके अनुसार फासिज्म ह्रासोन्मुख पूँजीवादकी अन्तिम अवस्था है। शक्तिशाली श्रमिक-दलको छूट देते-देते पूँजीवाद अब इस स्थितिको पहुँच गया है कि यदि वह राजनीतिक लोकतन्त्रका चोगा उतारकर श्रमिकोंका खुल्लम-खुल्ला शोषण नहीं करे तो उसका नाश निश्चित है। जेम्स बर्नहमने अपनी पुस्तक 'मैनेजीरियल रेवोल्यूशन'में यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि फासिज्म व्यवस्थापकीय (मैनेजीरियल) समाज-व्यवस्थाका प्रथम रूप है।—ह० ना०

फिक्शन—दे०—'कथा-साहित्य', 'उपन्यास'।

फीचर—दे०—'रेडियो रूपक'।

फ्लैशबैक—रेडियो नाटक या फिल्म नाटकमें किसी पात्रके द्वारा विगत जीवनका जो दृश्य प्रस्तुत किया जाता है, उसे फ्लैशबैक कहते हैं। इसे **स्मृति-दृश्य** या **विगताख्यान** भी कहा जाता है। —मि० कु०

बंकनाल—शंखिनी नाडी। दे०—'हठयोग'।

बँगला (भाषा तथा साहित्य)—बँगला-भाषाके आदि स्वरूपकी रचना आठवींसे बारहवीं शतीके बीच हुई। बंगदेशमें आर्योंका आगमन ईसा पूर्व तीसरी शतीसे आरम्भ हुआ और ईसाकी पाँचवी शतीतक वे बसते-बसाते रहे। इनकी भाषा सस्कृत थी। भाषाके विकासक्रममें बँगला आदि आधुनिक भाषाओंका स्तर तीसरा पडता है। पहले वैदिक और रामायण आदिकी संस्कृत, उसके बाद बौद्धोंकी पालि-प्राकृत, फिर बँगला तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ। हार्नले साहबने आधुनिक भाषाओंका नाम दिया है गौडीय भाषा और इसका सूत्रपात वे आठवीं शतीमें मानते हैं, जब कि बौद्ध प्रभाव विलुप्त होकर हिन्दू धर्मका पुनरुत्थान आरम्भ होता है।

बँगलाका आरम्भिक रूप सस्कृतबहुल रहा है। राजशेखरने 'काव्यमीमासा'में लिखा भी है कि गौड या बंगाल देशमें लोग सस्कृतसे अधिक रुचि रखते थे। बीम्सने भी स्वीकार किया है कि गौडीय भाषाओंमें बँगला और मराठी ही संस्कृतके ज्यादा समीप हैं। 'साहित्यदर्पण'में अठारह प्राकृतोंकी चर्चा है और गौड़ देशकी प्राकृतका दण्डीने 'काव्यादर्श'में उल्लेख किया है—'शौरसेनीय गौडीय लाटी चान्या च तादृशी।' किन्तु वररुचिने शौरसेनी और मागधी इन दोको ही माना है। इनमेंसे पहली पश्चिमी हिन्दीके पूर्वरूपकी और दूसरी बँगलाकी जननी है। मागधी प्राकृत ही वास्तवमें मूल बँगलाका प्राचीन रूप है। डाक और खनाके वचन, परागली महाभारत और हरप्रसाद शास्त्री द्वारा अन्वेषित 'बौद्ध गान ओ दोहा'में बँगलाका वह प्राथमिक रूप है, जब वह प्राकृतका केंचुल छोडकर अपना स्वतन्त्र रूप ले रही थी। एक उदाहरण—'बुढा बुझिया एढ़िव लुंड। आगल हैले निवारिव तुट॥'

हरप्रसाद शास्त्रीने दसवीं-ग्यारहवीं शतीके कुछ ग्रन्थोंकी खोज नेपालमें की। वे हैं, 'चर्याचर्य-विनिश्चय', 'बोधिचर्यावतार', 'डाकार्णव'। उनकी रायमें इन ग्रन्थोंमें हजार साल पहलेकी बँगलाका आरम्भिक रूप है, मगर इनकी भाषा दुरूह तो है ही, बँगलासे इसकी खासी दूरी भी है। यों परिचित प्राकृतमें बँगलाकी पूर्वावस्थाका बहुत

अधिक मान्य तो नहीं है, पर उसके अनेक शब्द मिलते हैं। जैसे ये कुछ क्रियाएँ जो सहज ही बँगला बन जाती हैं—जान (जाना = जानना) चिण (चेना = चीन्हना), बुझ (बोझा = बूझना), गाव (गाओया = गाना)। शुनियाका शुनिया, करियका करिया भी आसानीसे बन जाता है।

बँगला पहले प्राकृत नामसे ही परिचित थी। सञ्जय-रचित 'महाभारत'की दो सौ साल पुरानी एक पोथीमें है—'भारतेर पुण्यकथा श्रद्धा दूर नहे। पराकृत पद बंधे राजेन्द्रदास कहे॥' लोचनदासके 'चैतन्यमंगल'में—'इहा वलि गीतार पड़िल एक श्लोक। प्राकृत प्रबन्धे कोह शुन सर्वलोक॥' 'गीतगोविन्द'के एक अनुवादमें, 'इति श्री गीतगोविन्द महाकाव्ये प्राकृत भाषाया स्वाधीनभर्तृका-वर्णने सुप्रीत पीताम्बरो नाम द्वादश सर्ग।'

ग्रियर्सनने बँगला बोलनेवालोंकी संख्या ४,१३,४०,००० बतायी थी। १९२१ ई०की मर्दुमशुमारीमें यह संख्या ४,९२,९४,०९९ हुई और १९३१ ई०की मर्दुमशुमारीमें बंगाल और बंगालके बाहर बँगला बोलनेवालोंकी संख्या ५,३८,०८,१०० बतायी गयी।

भारतकी सर्वापेक्षा प्राचीन लिपि ब्राह्मी है, उसीके अनेकानेक परिवर्तनोंसे विभिन्न भारतीय लिपियाँ बनीं। प्रसिद्ध पुरातात्त्विक बुहलर साहबके मतानुसार पूर्वभारतीय नागरी लिपिने ग्यारहवीं शतीके अन्तमें बँगला लिपिने अपना स्वतन्त्र रूप ग्रहण किया, गोकि बहुतोंको यह बात मान्य नहीं। सच तो यह है कि ब्राह्मी लिपिके कालान्तरमें तीन रूप हुए। उत्तर-भारतमें शारदा, दक्षिण-पश्चिममें नागर और पूर्वमें कुटिल। इसी कुटिलसे बंगाक्षरका रूप स्थिर हुआ। सन् १८७० ई०में बोधगयामें महाराज अशोकचल्ल-का जो शिलालेख प्राप्त हुआ और १८४२ ई०में जो राजा दामोदर प्रदत्त ताम्रशासन चटगाँवमें मिला, उनमें बँगला अक्षरका प्राचीनतम रूप है। 'ललितविस्तर'में ऐसा उल्लेख आया है कि बुद्धदेव अध्यापक विश्वामित्रसे वंगलिपि सीख रहे हैं। ऐसा हो, तो यह ईसापूर्वकी बात है। बगुड़ा जिलेके महास्थान गढ़में मौर्ययुगकी जो लिपि पायी गयी है, उससे वंगलिपिके अति प्राचीन रूपका परिचय मिलता है।

बँगला आदि आधुनिक भाषाओंको गौड़ीय भाषा कहनेकी एक और सार्थकता है। मुसलिम विजयके कुछ पहलेतक विन्ध्यगिरिका उत्तरी और प्राग्ज्योतिषपुरका विराट् भूभाग पाँच भागोंमें बँटा हुआ था—सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड, मिथिला और उत्कल। इसे पंचगौड कहते थे। इनमेंसे मिथिला सभी दृष्टियोंसे बंगालका सर्वश्रेष्ठ शिक्षक रहा था। मैथिली अक्षरको बंगालने अपनाया था। विद्यापतिके पदोंकी भाषाके अनुरूप बंगालमें ब्रजबुलीकी सृष्टि हुई थी, जिसमें सारा वैष्णव साहित्य है। यहाँतक कि अति आधुनिक कालमें रवीन्द्रनाथने भी इसी भाषामें 'ठाकुर भानुसिंहेर पदावली' रची। कन्नौजने बंगालको पंचब्राह्मण और पंचकायस्थोंका ही दान नहीं दिया, पांचालके आदर्शसे ही बँगलाकी आरम्भिक गीतधारा अनुप्राणित हुई। ब्रजबुलीको छोड़ भी दें तो भी बँगलापर हिन्दी-मैथिलीका प्रभूत प्रभाव है।

बँगला वर्णमाला ग्यारह स्वर और छत्तीस व्यंजनोंकी है। इसकी एक विशिष्टता है कि वर्णके नामके ऊपर निर्भर न करके एक विशेषणका आश्रय लेना पड़ता है। प्रत्येकको समझानेकी अलग ध्वनि नहीं है। वर्णकी मूल ध्वनिसे बँगलाकी ध्वनिमें विभिन्नता है, फलस्वरूप बहुत बार भूल होती है। यथा गिरिश और गिरीश, दिनेश और दीनेश समान हैं। इसी त्रुटिसे यहाँ लोग सुतपुत्र वर्ण लिख देते हैं, सुर और सूरन भ्रान्ति हो जाती है।

बँगलाकी सबसे पहली पोथी अभिनन्दरचित 'रामचरित' मानी जाती है, जो आठवीं शतीकी है। इसी नामकी दूसरी पोथी सन्ध्याकर नन्दीकी है। इनका समय है दसवीं शतीका शेष भाग। किन्तु वास्तवमें साहित्यकी अनुप्रेरणा बँगलामें जयदेवके 'गीतगोविन्द'से हुई। जयदेव बारहवीं शतीके अन्तमें हुए। उपर्युक्त तीनों ही पुस्तकें संस्कृतकी हैं। सच तो यह है कि चौदहवीं शतीतक बँगलाके लिखित साहित्यका कोई नमूना नहीं मिलता। लोककथा, लोक-गाथाएँ कुछ-कुछ जरूर चलती रहीं। 'श्यामराय', 'आँधा बन्धु', 'गोपार पाठ' आदि कुछ ग्राम-गीतिकाएँ, कुछ व्रत-कथा आदि मौखिक लोकसाहित्यका परिचय मिलता है।

बँगला साहित्यको हम पाँच युगोंमें बाँट सकते हैं—आदिकाल—नवींसे बारहवीं शती। प्रारम्भिक विकास-काल या चैतन्यपूर्वकाल—तेरहवींसे पन्द्रहवीं शती। विकासकाल या चैतन्योत्तरकाल—सोलहवींसे अठारहवीं शती। आधुनिक काल—आधी अठारहवीं शतीसे रवीन्द्रनाथ-तक, अत्याधुनिक या रवीन्द्रोत्तरकाल।

बारहवीं शतीतक लोक-कथा, व्रतकथा, धर्मपूजा, पल्ली-गीतिकाएँ, लोकमुख-प्रचलित निधियाँ ही साहित्यसर्वस्व रहीं। चैतन्यपूर्वकालमें मुसलमानी दरबारसे बँगलाको आश्रय मिला और उसकी श्रीवृद्धि शुरू हुई। बँगलामें 'महाभारत'का पहला अनुवाद नासिर शाहने, फिर परागल खाँने कवीन्द्र परमेश्वरसे कराया, जो 'परागली महाभारत'के नामसे मशहूर है। इसमें १७ हजार श्लोक हैं। सन् तारीखसे युक्त बँगलाका जो पहला काव्य मिलता है, वह मालाधर बसुका 'कृष्णलीला काव्य' है। १४८० से ८७ तक, सात वर्षोंमें यह लिखा गया।

प्रारम्भिक विकासकालमें धर्म-भावनाकी प्रबलता रही। 'शिवायन', 'चण्डीमंगल', 'मनसामंगल', 'पदावली' आदिमें वही अभिव्यक्ति है। चैतन्यपूर्वकालसे ही 'रामायण', 'महाभारत', 'भागवत'का अनुवाद शुरू हुआ और उन पदा-वली-साहित्यका भी यहींसे सूत्रपात हुआ, जिसने बंगालके समस्त लोक-जीवनको उद्बुद्ध किया। सुप्रसिद्ध कृत्तिवासी रामायणकी रचना पन्द्रहवीं शतीमें हुई। रामायण, महा-भारत, भागवत काव्यकी परम्परा लम्बे अरसेतक चलती रही। बँगलामें महाभारतकार कई हुए। इतिहासमें सबसे पहले 'महाभारत' लिखनेवालेका नाम सञ्जय मिलता है—'भारतेर पुण्य कथा नाना रसमय। सञ्जय कहिल कथा, रचिल सञ्जय।' विजय पण्डित, नित्यानन्द घोष आदिके भी महाभारत मिलते हैं। लेकिन बँगलामें सबसे ज्यादा लोकप्रिय हुआ काशीराम दासका महाभारत। बंगालके हर आदमीकी जबानपर आज भी ये पंक्तियाँ हैं, 'महा-

भारतेर कथा अमृत समान। काशीराम दास कहे, शुने पुण्यवान्।' ,

यह सत्रहवीं शतीके अन्तमें लिखा गया। आरम्भिक विकासकालकी सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना है विद्यापति और चण्डीदासका आविर्भाव। विद्यापतिसे वँगला साहित्य बहुत प्रेरित-प्रभावित हुआ और उनकी गीत-धाराके अनुरूप बहुत दिनोंतक काव्य-सृष्टि होती रही। पदकर्ताओंमें चण्डीदास, ज्ञानदास, गोविन्ददास, बलरामदास आदि ही बहुत प्रसिद्ध हुए। इनमें भी सबसे अधिक सशक्त हुए चण्डीदास। चण्डीदास भी वँगलामें तीन हुए—बडू चण्डीदास, दीन चण्डीदास, द्विज चण्डीदास।

पद-रचनाओंकी बाढ़से बंगाल तीन शतियोंतक प्लावित होता रहा। विकास-युगकी अपनी विशेषता चरित-काव्यकी है। काव्यने देवी-देवताओंके आख्यानोंके बजाय मानवजीवनकी कथाकी भित्ति बनायी। महाप्रभु चैतन्यके जीवनपर अनेक काव्य लिखे गये–'चैतन्य भागवत','चैतन्य मंगल', 'श्रीकृष्ण चैतन्य चरितामृत', 'चैतन्य चरितामृत' आदि। मंगल-काव्यकी परम्परामें भी इस युगमें अभिनव कड़ी जुड़ती रही। 'मनसा मंगल'पर वँगलामें लगभग ६२ काव्य मिलते है। 'मनसा मंगल'के पहले कवि काणा हरिदत्त माने जाते हैं, पर पहला लिखित 'मनसा मंगल' विजयगुप्तका है, जो १४९५ की रचना है। 'मनसा मंगल'में सबसे प्रसिद्ध केतकादास क्षेमानन्द काव्य है, जिसमें २६०० श्लोक है। द्विज जनार्दन(पन्द्रहवीं शती)की चलायी चण्डी मंगल-परम्परामें भी कई उल्लेखयोग्य काव्य लिखे गये। इन सबमें कवि कंकणमुकुन्दराम चक्रवर्तीकी रचना ही सर्वश्रेष्ठ है। कृष्ण मंगल-काव्य, षष्ठी मंगल और टाप मंगल काव्यके अतिरिक्त इस युगकी एक देन और है, विद्यासुन्दर-काव्य। विद्यासुन्दरके कवि कई हुए, लेकिन भारतचन्द्र राय गुणाकर और रामप्रसाद सेन कविरजनके काव्यकृतित्व ही सर्वश्रेष्ठ हैं। श्यामा संगीत, बाउल संगीत और कविगानकी लोकप्रियता बढ़ी।

अठारहवीं-उन्नीसवीं शतीके सन्धिकालसे गद्य-युगका सूत्रपात और साहित्यके सौभाग्यकी सूचना होती है।

सन् १७७८ ई० में वँगला टाइपमें हालहेड साहब लिखित वँगलाकी पहली पुस्तक वँगला व्याकरण निकली। १८०० ई० में फोर्ट विलियम कालेजकी स्थापना हुई। उसके अध्यक्ष विलियम कैरीने पण्डितोंसे पुस्तकें लिखायीं और स्वयं कोश, व्याकरण, इतिहासमाला आदि लिखे। अनुवादोंकी बाढ़-सी आयी। उस बाढ़से साहित्यकी निजस्वधाराको वेग और प्राजलता देनेवाले हुए राजा राम-मोहन राय। इस युगमें बंगला-भाषाके दो समर्थ सेवक और संस्कारक हुए—वंकिमचन्द्र चटर्जी और ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर। वँगलाका पहला मासिक पत्र १८१८ ई० में निकला 'दिग्दर्शन'। उसके बाद 'समाचार-दर्पण', 'बंगाल गजट', 'समाचार-चन्द्रिका', 'संवादकौमुदी', 'बंगदर्शन', 'आर्यदर्शन','बान्धव','भ्रमर','ज्ञानांकुर','भारती','साधारणी', 'प्रचार साधना' आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओंने जाग्रति उत्पन्न की। बंकिम बाबूने वँगला उपन्यासोंकी नींव डाली। उन्होंने 'दुर्गेशनन्दिनी', 'कपालकुण्डला', 'विषवृक्ष', 'इन्दिरा', 'राजसिंह', 'आनन्दमठ', 'देवी चौधरानी' आदि अनेक उपन्यास लिखे। इनके पहले वँगलाके दो उपन्यास थे, जिनका वंकिमपर प्रभाव पड़ा। वे थे टेकचन्द ठाकुरका 'आलालेर घरेर दुलाल' और भूदेव मुखोपाध्यायका 'ऑगठीर विनिमय'। इनके समसामयिक औपन्यासिकोंमें तारकनाथ गंगोपाध्याय और रमेशचन्द्र दत्त हैं।

वँगला नाट्यशालाका उद्भव उन्नीसवीं शतीके बीचसे होता है। पाचाली गान, झूमर, यात्रा और तब नाटक। वँगलाकी पहली रंगशाला हेरासिम लेवेडेफने कायम की और बंगालियोंकी निजस्व पहली रंगशाला उसके ४० वर्ष बाद सन् १८३१ ई० में बनी। शुरूमें अँग्रेजी और संस्कृत नाटकोंके अनुवाद ही खेले जाते रहे। १८७३ ई० में नेशनल थियेटरकी स्थापनासे मौलिक नाट्यलेखनकी प्रचेष्टा शुरू हुई। 'कीर्तिलता', 'भद्रार्जुन' और 'भानुमतीविलास'में ही पहले पहल मौलिकताके दर्शन होते हैं। फिर तो माइकेल मधुसूदन दत्त, दीनबन्धु मित्र, मनोमोहन वसु, ज्योतिरीन्द्र-नाथ ठाकुर, गिरीशचन्द्र घोष, क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद, अमृतलाल वसु, द्विजेन्द्रलाल राय जैसे समर्थ नाटककार हुए।

गीतोंकी जो धारा आदियुगसे प्रवाहित हुई, वह विभिन्न रूपोंमें बहती आयी—वैठकी गीत, तर्जो, कविगानसे सशक्त गीतोंने जन्म लिया। काव्यमें भी माइकेल मधुसूदन और रवीन्द्रनाथ युगान्तर लाये। नये छन्दोंकी योजना और नवीन भावोंके समावेशसे एक नये युगका जन्म हुआ। मधुसूदनके दो सफल अनुयायी हुए हेमचन्द्र और नवीन-चन्द्र सेन। दोनोंने कई उल्लेखनीय रचनाएँ कीं। वँगलाके अन्यतम श्रेष्ठ कवि विहारीलाल हैं। इनकी कविताओंमें सौन्दर्य और गीतिमत्ताका अपूर्व समन्वय है। विहारीलालकी सृष्टिकी भूमिकापर ही रवीन्द्रकी बहुमुखी और विविधतामयी प्रतिभाका अभ्युदय हुआ। रवीन्द्रके व्यक्तित्वकी दिशाएँ बहुत हैं। काव्यमें उनकी तीन दिशाएँ हैं—प्रकृति, प्रेम और आध्यात्मिकता और उनकी रचनाओंकी मुख्यतया तीन प्रवृत्तियाँ हैं—अन्तर्मुखी, वहिर्मुखी और ऊर्ध्वमुखी। गीत, कविता, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नृत्यनाट्य, गीत-नाटिका, सब-कुछ उन्होंने अधिकारपूर्वक लिखकर बंग-सरस्वतीका भण्डार भरा। रवीन्द्रके समसामयिक गद्य-पद्य लेखकोंमें प्रमुख हैं—अक्षयकुमार बड़ाल, सत्येन्द्रनाथ दत्त, कालिदास राय, रजनीकान्त सेन, यतीन्द्रमोहन बागची, मोहितलाल मजुमदार, प्रभातकुमार मुखोपाध्याय, काजी नजरुल इस्लाम, राखालदास वन्द्योपाध्याय, रामेन्द्र-सुन्दर त्रिवेदी आदि। औपन्यासिकोंमें शरच्चन्द्र चट्टोपाध्यायने प्रभूत यश अर्जन किया। उनके 'देवदास', 'चरित्रहीन', 'शेष प्रश्न', 'दत्ता', 'पथेर दावी', 'देना-पावना', 'विप्रदास' आदि उपन्यास बहुत ही प्रसिद्ध हुए।

रवीन्द्रके साथ वँगला साहित्यका एक युग समाप्त होता है और अनेक प्रवृत्तियोंकी नवीन चेतनासे उद्दीप्त नये युगका प्रारम्भ होता है। इस युगमें एक वैचित्र्य है और अनेक वादोंकी यह भावभूमि है। बंगलाके वर्तमान काव्यका आकाश तो वैसा उद्भासित नहीं, किन्तु कथा-साहित्यकी गति अबाध है और उसमें अनेक ओजस्विनी

प्रतिभाओंके दर्शन होते हैं। विभूतिभूषण बन्द्योपाध्याय ('आरण्यक', 'पथेर पाचाली' आदिके लेखक), ताराशंकर बन्द्योपाध्याय (रचना–'राजकमल' 'धरता देवता', 'आरोग्य-निकेतन आदि), विभूतिभूषण मुखोपाध्याय ('नीलांगुरीय' 'स्वर्गादपि गरीयसी' आदिके लेखक), वनफूल ('जंगम', 'मानदण्ड', 'दाना' आदिके लेखक), परशुराम ('गड्डलिका', 'कज्जली', 'हनुमानेर स्वप्न'), रवीन्द्र मैत्र ('त्रिलोचन कविराज', 'मानमयी', 'गर्ल्स स्कूल'), शैलजानन्द मुखोपाध्याय ('कयला कुठी', 'वाल्मीकि', 'नरमेध', 'धरती') आदिने उपन्यास-साहित्यकी श्रीवृद्धि बढ़ायी है। प्रबोध सान्याल, अन्नदाशंकर राय, अचिन्त्यकुमार सेनगुप्त, बुद्धदेव वसु, प्रेमेन्द्र मित्र, विमल मित्र, मानिक बन्द्योपाध्याय, शरदिन्दु बन्द्योपाध्याय, सतीनाथ भादुड़ी, अनलादेवी, प्रमथनाथ विशी, मनोज वसु आदि कथा-साहित्यका भण्डार भरनेमें दत्तचित्त हैं। साहित्यके अन्य अंगोंमें भी अनेक उल्लेखनीय प्रतिभाएँ सेवानिरत हैं।

मध्यकालीन बँगला काव्यपर हिन्दी(ब्रजभाषा)के प्रभावका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। आधुनिक कालमें पाश्चात्य साहित्यका हिन्दीपर प्रभाव बँगलाके माध्यमसे ही पड़ा। काव्यमें रवीन्द्रनाथका प्रभाव हिन्दीके छायावादी कवियोंपर स्पष्ट दिखाई देता है। गद्यके क्षेत्रमें डी० एल० रॉय (नाटक) तथा रवीन्द्र और शरत् (उपन्यास)ने हिन्दीका कथा-साहित्य पर्याप्त प्रभावित हुआ है। —ह० कु० ति०

बंगाली–चर्यापदोंमें वीर नायक जब अद्वयज्ञानकी प्राप्ति कर लेता है (दे०–'चण्डाली') तब उसे बंगाली कहा जाता है और उसे चण्डालीका स्वामी माना जाता है। —ज० वी० भा०

बंद–उर्दूमें जब किसी नानाकित विषयपर लिखी गयी कविता(नज़्म)को एक ही तरहके कुछ टुकड़ोंमें बाँट दिया जाता है तो उसके हर टुकड़ेको 'बन्द' कहते हैं। इन बन्दोंका आकार कविकी इच्छापर निर्भर होता है। —न०

बंध–जब अमूर्त वर्णोंकी रचना खड्ग आदि आकारमें प्रकट होती है तब 'चित्र' नामक शब्दालंकारके वे रूप 'बन्ध' कहलाते हैं। दण्डीने 'गोमूत्रिका', 'अर्धभ्रम', 'सर्वतोभद्र' चित्रोंका वर्णन किया है (का० द० . ३ : ७८-८२)। 'अग्निपुराण'में बाण, बाणासन, व्योम, खड्ग, मुद्गर, शक्ति, मृद्ग, पद्म, मुसल, अंकुश आदिको देकर इनकी अनन्तता दिखलायी गयी है–'एते बन्धास्तथा चान्येऽप्येवं ज्ञेयाः स्वयं बुधैः।' मम्मटने 'कष्टकाव्य' कहकर खड्ग, मुरज, पद्म तथा सर्वतोभद्रका ही उदाहरण दिया है। केशवकी 'कविप्रिया'में अन्तिम 'षोडश प्रभाव' चित्रालंकारके ही निमित्त लिखा गया है, जिसमें निरोष्ठ आदि ७, नियमिताक्षरी, बहिर्लापिका, गूढोत्तर आदि ७ तथा गोमूत्रिका आदि ७ और चक्र आदि ८ का वर्णन है। 'काव्यनिर्णय के इक्कीसवें उल्लासमें दास कविने केशवके समान ही चित्रालंकारका विस्तृत परिचय दिया है। काशिराजकी 'चित्रचन्द्रिका' हिन्दीमें इस विषयकी सबसे पूर्ण रचना है। —ओ० प्र०

बक़ा–'बक़ा'का अर्थ स्थिति है। 'परमात्मामें स्थिति'को सूफ़ी बक़ा कहते हैं। 'परमात्मामें वास करना'. 'सर्वव्यापी सत्ताके साथ आत्माका एकमेक होना' आदिका बोध 'बक़ा' शब्दसे होता है। बादके सूफ़ी इसे ही चरम लक्ष्य मानने लगे। सूफ़ियोंका कहना है कि 'बक़ा' फ़नाके बादकी स्थिति है। फ़नाकी अवस्थामें 'अहं' भाव तिरोहित हो जाता है। इस प्रकारसे 'फ़ना'में एक ओर तो साधकका अस्तित्व, उसका आत्मभाव जाता रहता है और दूसरी ओर बक़ामें स्वात्मकी मृत्युकी पूर्णाहुति परमात्मामें शाश्वत जीवनकी प्राप्तिके साथ होती है। उसका अवास्तविक, क्षणस्थायी जीवन समाप्त हो जाता है और वास्तविक, शाश्वत जीवन प्राप्त होता है। अब साधक केवल परमात्माके 'एकत्व'का ध्यान करता हुआ उल्लाससे पूर्ण, उन्मत्त बना हुआ नहीं रहता बल्कि अपने पिछले गुणोंको विशुद्ध और दिव्य रूपमें प्राप्त कर 'परमात्मामें वास' करने लगता है। उसकी विशुद्ध सत्ता परमसत्ताका अंग बनकर वर्तमान रहती है। यह शान्तावस्था है। बक़ामें आत्मा अपनी इच्छासे, जो क्षणिक है, परे हो जाता है। बक़ामें आत्माका सर्वव्यापी सत्तासे इसी प्रकार अभेद होता है जिस प्रकार वर्षाकी बूँदें जब समुद्रमें पड़ती हैं तो उनका अस्तित्व नष्ट नहीं होता, लेकिन उनका अपना एक अलग अस्तित्व भी नहीं होता। —रा० पू० ति०

बघेली–यह नाम बघेलखण्डमें सामान्य जनकी बोलीका द्योतक है। यह बोली पूर्वी हिन्दी(दे०)के अन्तर्गत आती है। उच्चारण और पदरचनाकी दो एक विशेषताओंको छोड़कर अवधीसे इसका कोई भेद नहीं है और इसीलिए बाबूराम सक्सेनाने इसको पृथक् बोली न मानकर अवधीकी ही एक बोली माना है। रीवाँ राज्यके नरेशोंके संरक्षणमें बघेलीमें कुछ काव्यरचना हुई थी, किन्तु कोई विशिष्ट साहित्य नहीं मिलता। —बा० रा० स०

बधावा–(बधाईके गीत) पुत्रजन्मके अवसरपर गाये जानेवाले गीत बधावा कहलाते हैं। अन्य मांगलिक अवसरोंके कुछ गीत भी बधावे कहलाते हैं। सभी जनपदोंमें बधाई-गीत बधावे, बधावा, बधाई अथवा बढ़ावा कहलाते हैं, इनकी निश्चित शैली नहीं है। —श्या० प०

बन्ना–इसे बना या बरना भी कहते हैं, विवाहगीत–बरातकी निकासीसे पहले वरपक्षकी महिलाओं द्वारा गाया जाता है, उत्तर-पश्चिमके कुछ ज़िलोंमें विशेष रूपसे प्रचलित, हिन्दीके जिन कतिपय लोकगीतोंको मुसलिम संस्कृति और उर्दू-फ़ारसी भाषाके प्रभावका द्योतक माना जा सकता है, उनमेंसे एक; यह गीत मुसलमानोंके यहाँ भी निकाहके अवसरपर बड़े सुन्दर ढंगसे गाया जाता है। इसमें बन्ना(वर)के रूप-गुण आदिका वर्णन रहता है। बना नामका एक मात्रिक छन्द भी होता है, जिसमें १०, ८ और १४ के विरामसे ३२ मात्राएँ होती हैं। —र० अ०

बन्नी–या बनी या बरनी, बन्नाका एक रूप-प्रकार, इसमें बन्नी अर्थात् वधूके रूप-गुण और शृंगार आदिका उल्लेख रहता है। —र० अ०

बरवै–मात्रिक अर्द्धसम छन्द। इस छन्दके पहले, तीसरे पादोंमें १२, १२ और दूसरे, चौथे चरणोंमें ७, ७ मात्राएँ होती हैं। सम पादोंके अन्तमें प्रायः जगण या तगण आता है। इस छन्दका नाम प्राकृत-अपभ्रंश छन्दोंकी

चर्चा करनेवाले ग्रन्थोंमें नहीं मिलता। हिन्दीके छन्दोंकी चर्चा करनेवाले प्राचीन ग्रन्थोंमें भी इसका उल्लेख नहीं मिलता–जैसे भिखारीदासके 'छन्दार्णव' ग्रन्थमें बरवैका विवरण नहीं दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि यह छन्द लोकगीतोंके रूपमें प्रचलित था और पीछे इसको साहित्यमें अपनाया गया। हिन्दीमें तुलसीदासकी इसी छन्दके नामपर प्रसिद्ध कृति 'बरवै रामायण'में सम्भवतः सबसे पहले इसका साहित्यिक प्रयोग मिलता है। उनके बाद भी यह छन्द-साहित्यमें बहुत लोकप्रिय नहीं हो सका। रहीमने अपने 'बरवै नायिका-भेद'में इसका बहुत सजीव प्रयोग किया है। सुन्दरदासके 'पूर्वाभास बरवै', रघुराज सिंहके 'रामस्वयंवर' तथा सेवकके 'नखसिख'में इसका प्रयोग हुआ है। रहीमने बरवैमें बहुत सुन्दर लघु चित्र प्रस्तुत किये हैं–'लहरत लहर लहरिया, लहर बहार। मोतिन जरी किनरिया, बिथुरे बार।'–और तुलसीका—'सात दिवस भये साजन, सकल बनाउ।' —रा० सिं० तो०

बहिर्मुखी–दे०—'मनोविश्लेषण'।

बहुदेवतावाद–बहुदेवतावाद कर्ममीमासाका सिद्धान्त है। देवताका यहाँ तात्पर्य यज्ञका देवता है, जिसको हवि दी जाती है। यह देवता एक काल्पनिक सत्ता है, जिसका अभिधान, केवल यज्ञके लिए किया जाता है। यज्ञ न होता, यदि कोई देवता न माना जाता, जिसको कि हवि दी जाती है। इस प्रकार यह देवता याग या यज्ञके अधीन है। इसके भौतिक शरीर नहीं होता, कोई आकार नहीं होता। यह कुछ खाता नहीं है। यह न दण्ड दे सकता है, न पुरस्कार। दण्ड या पुरस्कार तो कर्म या यज्ञसे उत्पन्न अपूर्व देता है। जितने याग हैं, उतने ही देवता हैं। इस प्रकार ऐसे देवताओंकी सख्या बहुत है और इस वादको बहुदेवतावाद कहा जाता है।

बहुदेवतावाद बहुदेववादसे भिन्न है। बहुदेवतावाद वस्तुतः नास्तिकवाद है, क्योंकि देवताओंकी वास्तविक सत्ता नहीं, केवल काल्पनिक है। बहुदेववाद आस्तिकवाद है, जिसमें देवोंकी वास्तविक सत्ता मानी जाती है। देव दण्ड या पुरस्कार देता है, वह साकार होता है, शरीरी होता है, वह यज्ञके परतन्त्र नहीं होता। वह पुरुषोंकी नियतिका चितेरा है। देवता यह सब नहीं है। अस्तु, बहुदेवतावाद और बहुदेववादमें मौलिक अन्तर है। —स० ला० पा०

बहुदेववाद–बहुदेववाद शब्द अँग्रेजीके 'पॉलिथीज्म' शब्दके लिए हिन्दीमें गढ़ लिया गया है। अँग्रेजीमें 'पॉलिथीज्म' शब्दसे एक ऐसे देवता-विधानका बोध होता है, जिसमें बहुतसे छोटे-बड़े देवता, जिनकी छोटाई-बड़ाई निश्चित रहती है, एक महादेवताके अधीन रहते हैं। प्लेटो अपने ग्रन्थोंमें ग्रीस देशके बहुदेवता-विधानको ऐसा ही बतलाता है। इसका बड़ा देवता जिऊस या जूपिटर है। तुलसीदासकी 'विनयपत्रिका'में भी ऐसे देवता-विधानका परिचय मिलता है। वे रामको सबसे बड़ा देवता, देवता-सम्राट् मानते हैं। उनकी 'पत्रिका' उन्हींके पास जा रही है। पर रामके पहले अनेक कर्मचारी-देवताओंके पास उनकी पत्रिका जाती है। गणपति, सूर्य, ब्रह्मा, शिव, भैरव आदि रामके ही दरबारके सामन्त या कर्मचारी हैं। इस प्रकारका बहुदेववाद सामन्तशाही और साम्राज्यशाही समाजकी उपज है। प्लेटोके समय ग्रीसमें सामन्तशाही थी और तुलसीदासके समय भारतमें साम्राज्यशाही। दोनोंने परम ईश्वरको सबसे बड़े शासक और अन्य देवोंको उसके अधीन कर्मचारीके रूपमें देखा।

उपर्युक्त बहुदेववादसे भिन्न वेदोंका बहुदेववाद है। वैदिक ऋषि अनेक देवोंकी ओर आकृष्ट हुए थे। वे प्रकृतिके तेजोदृप्त रूपसे उल्लसित होते थे और जिस वस्तुसे उनको यह उल्लास मिलता था उसे वे 'देव' या देवता कहते थे। उषा, सविता, द्यावा, पृथिवी, जल, तेज, वायु, पर्जन्य, वरुण, इन्द्र, सूर्य, अग्नि इत्यादिको उन्होंने इसी अर्थमें देवता कहा। उन्होंने इनकी स्तुतियाँ कीं और इनसे बल, आयु, विद्या, धन-धान्य, वृष्टि, पुत्र आदिकी याचना की। उस समय वैदिक आर्योंमें उल्लास था, उत्सुकता थी, शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा थी और थी सभी श्रेष्ठ वस्तुओंका उपयोग करनेकी कामना। अपनी इस प्रवृत्तिके कारण उन्होंने नाना देवोंकी कल्पना की और उनसे उनकी शक्ति लेनेकी चेष्टा की। पर उन्होंने प्रत्येक देवको स्वतन्त्र रखा जैसे कि वे स्वयं स्वतन्त्र थे। जिस किसी देवकी वे स्तुति करते थे, वे उसको सर्वश्रेष्ठ समझते थे। इस कारण उनके नाना देव किसी सम्राट् देवके अन्तर्गत नहीं थे। उनका सघ स्वतन्त्र था। वे वस्तुओं या भावोंके तत्त्व या शक्तिके रूपमें सोचे गये थे। मैक्स-मूलरने इस प्रकारके बहुदेववादके लिए 'हेनोथीज्म' या 'कैथैनोथीज्म' शब्दका प्रयोग किया है। इसको हम एकैकदेववाद कह सकते हैं। यह बहुदेववाद या पॉलिथीज्म नहीं है। यह सर्वेश्वरवाद या पैनथीज्म भी नहीं है। ऐसा वेदके सभी अर्वाचीन पण्डितोंने स्वीकार किया है। पर नामकरण कर देनेसे कठिनाई दूर नहीं हो जाती। इसके भावको समझना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

भाव यह है कि वैदिक ऋषि अनेक देवोंको देव इसलिए कहते थे कि उनमें 'देवत्व' था। देवत्वकी कल्पना सर्वत्र एक है। जिसमें शक्ति और तेजस्विता हो, जो महनीय और प्रार्थनीय हो, जो करुणावरुणालय और न्यायनिष्ठ हो, उसमें देवत्वकी कल्पना की जाती थी। शक्ति एक थी। अनेक रूपोंमें उसके होनेसे उसके अनेक नाम भी हो गये, पर प्रयत्न इस बातका किया गया कि बाह्य रूप भिन्न होनेपर भी सभी देवोंकी आन्तरिक एकता होनेके कारण उनको एक समान ही देव समझा जाय, छोटा या बड़ा नहीं। इस भावनाके फलस्वरूप वैदिक बहुदेववादकी कल्पना हुई।

उपर्युक्त भावको कुछ आधुनिक पण्डित उस कालकी प्रवृत्ति मानते हैं जब कि वैदिक ऋषियोंका ध्यान अद्वैत या एकतत्त्वकी ओर चला गया था। उनके मतसे वैदिक ऋषि आरम्भसे ही अद्वैत-तत्त्वके ज्ञाता नहीं थे। उन्हें पहले पृथक् पृथक् देवोंका ज्ञान हुआ, पृथक् पृथक् देवोंकी उन्होंने उपासना की और कालान्तरमें सभी देवोंमें 'देवत्व'का सामान्य गुण देखकर सबको एक अद्वैत-तत्त्वका ही नामान्तर बतलाया। कुछ भी हो, पर इतना निर्विवाद है कि वैदिक बहुदेववादमें प्रत्येक देव पूर्ण रूपसे, समान रूपसे, देव है,

वह किसी अन्य देवका अनुचर नहीं है।

वैदिक बहुदेववादको ही लेकर मध्ययुगीन भारतमें एकेश्वरवादके अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए। वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य और ब्राह्म इनमें मुख्य हैं। इन सभी धर्मोंका समन्वय स्मार्त धर्ममें हुआ जो आज भी बहुदेववादके रूपमें चल रहा है। स्मार्त बहुदेववाद कभी-कभी अनुयायियोंकी प्रवृत्तिके कारण अंग्रेजीके पॉलिथीज्मके अर्थमें मान लिया जाता है। पर उसका वास्तविक अर्थ वही है जो वैदिक बहुदेववाद या एकैकदेववादका है। किसी भी देवताको इष्ट मान लेनेपर उसकी उपासनामें ही अवान्तर रूपसे अन्य सभी देवोंकी उपासना हो जाती है। मध्य युगमें वैष्णवों, शैवों, शाक्तों आदिमें परस्पर उपास्य देवको लेकर झगड़े होते थे। पर स्मार्त आचार्योंके प्रयत्नोंसे उनका विरोध शान्त हो गया और भारतके सामान्य गृहस्थ हिन्दू सब देवोंको तुल्यबल मानने लगे।

यास्कने स्थान-विभागकी दृष्टिसे देवताओंको तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया है—पृथ्वी स्थान, अन्तरिक्ष-स्थान तथा द्यु-स्थान। पृथ्वी स्थान देवोंमें अग्नि, नदी-देवता, वनस्पति-देवता (जैसे सोम) आदि हैं। अन्तरिक्ष-स्थान देवोंमें इन्द्र, उषा, पर्जन्य आदि हैं। द्यु स्थान देवोंमें सूर्य, सविता, विष्णु आदि हैं। भाव-दृष्टिसे कुछ देव नीति-रक्षक हैं, जैसे, वरुण, इन्द्र, पूषा आदि और कुछ प्रकृति-देव हैं, जैसे, अग्नि, सूर्य, उषा आदि। जब वैदिक ऋषियोंका ध्यान आधिभौतिकसे आध्यात्मिक श्रेयकी ओर गया तो वे मन, प्राण, वाक्, विज्ञान, आनन्द, आत्मा आदिको देवता मानने लगे।

देवताओंकी संख्या कितनी है, इसका उत्तर देना कठिन है। पहले तो यही सिद्ध करना कठिन है कि देवता हैं कि नहीं। यदि उसका अस्तित्व सिद्ध हो जाय तो फिर यह बताना और भी कठिन है कि वह एक है या अनेक। एकेश्वरवादी एक देवता मानते हैं। पर उनका मानना अन्धविश्वास या श्रद्धाकी वस्तु है। यदि देवता है तो स्वतन्त्र विचारकको, जो किसीका अन्धभक्त नहीं है, अनेक देव मानना पड़ेगा। यही कारण है कि यूनान और भारतमें अनेक देव माने गये। यहूदी, ईसाई और इसलाम धर्मके अनुयायियोंने स्वतन्त्र विचारक होनेके स्थानपर अन्धभक्त होना ही स्वीकार किया। अतः वे अपने प्रवर्तककी अनुभूतिके अनुसार एकदेववादी ही रहे। सच्चा एकेश्वरवाद रहस्यवाद है। यूनान तथा भारतके भी रहस्यवादियोंने एकेश्वरवादका ही समर्थन किया है। पर धर्म रहस्यवादसे पृथक् है, यद्यपि रहस्यवाद उसका प्राण है। धर्मको सार्वजनिक होना है। रहस्यवाद कभी सार्वजनिक नहीं हो सकता, क्योंकि वह व्यक्तिगत अनुभूति है। ऐसी स्थितिमें धर्म रहस्यवादपर आधारित हो या तर्कपर? तर्कपर आधारित होनेसे धर्मका वही विकास होगा जो यूनान और भारतमें हुआ। रहस्यवादपर आधारित होनेसे उसका वही रूप होगा जो इसलाम, ईसाई और यहूदी धर्मोंमें है। रहस्यवादी धर्मोंमें स्वतन्त्र चिन्तनकी हत्या होती है और अन्ध-भक्ति या श्रद्धाका प्राबल्य रहता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे इस मतसे अच्छा बहुदेववाद है, यद्यपि वह भी विज्ञानके समुन्नत होनेपर बहुत टिक नहीं सकता।

देवताओंकी संख्याका प्रश्न जटिल है। इस प्रसंगमें 'बृहदारण्यक' उपनिषद्‌में निम्नलिखित संवाद उल्लेखनीय है—शाकल्य—'याज्ञवल्क्य, कितने देवगण हैं?' याज्ञ०—'तीन हजार तीन सौ छः।' शा०—'ठीक है। कितने देवगण हैं?' या०—'तैंतीस।' शा०—'ठीक। तो याज्ञवल्क्य, कितने देवगण हैं?' या०—'छः।' शा०—'ठीक है। हाँ, कितने देव हैं?' या०—'तीन।' शा०—'ठीक। कितने देव हैं?' या०—'दो।' शा०—'ठीक। कितने देव हैं?' या०—'डेढ़।' शा०—'ठीक। कितने देव हैं?' या०—'एक।'

इसपर शंकराचार्यका कहना समीचीन प्रतीत होता है कि पृथ्वी आदिके सूक्ष्म तारतम्य क्रमसे पूर्व-पूर्व पदार्थका उत्तरोत्तरवर्ती पदार्थमें ओतप्रोत भाव बतलाते हुए याज्ञवल्क्यने सर्वान्तर ब्रह्मको प्रकाशित किया है। इसीलिए संख्याएँ अधिकसे कम होते-होते एक हो गयी हैं और उस ब्रह्मका नामरूपात्मक द्वैतप्रपंचमें नियन्तृत्व बतलाया गया है। स्मार्त धर्ममें ब्रह्मा, विष्णु और महेश (पत्नियों सहित)—इन तीन देवोंकी तुल्य मान्यता है। परमेश्वरको इनमें त्रैत रूपमें देखा गया है। कुछ लोग इसे ईसाई मतके त्रैतभावका प्रभाव मानते हैं, पर भारतीय धर्म-साधनाके इतिहाससे स्पष्ट है कि यह बाह्य प्रभावके बिना ही ब्राह्म, वैष्णव और शैवके पारस्परिक समझौतेसे सम्भव हुआ है। इन देवोंके अतिरिक्त शक्ति, गणेश और सूर्यकी भी पूजा स्मार्त धर्ममें बराबर होती है। इस समय ब्रह्माकी पूजा बन्द हो गयी है और स्मार्त धर्ममें पंचदेवोंकी (विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य, शक्ति)की ही उपासनाकी व्यवस्था है।

ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिसे धर्मके इतिहासमें बहुदेववाद एक आवश्यक कड़ी है। वनस्पति-पूजा, पशु-पूजा, वीर-पूजा, रहस्यानुभूति तथा एकेश्वर-पूजा प्राकृतिक धर्मके विकासमें मुख्य स्तर हैं।

रहस्यवादियोंमें मनोवैज्ञानिक भिन्नताओंके कारण उनकी एकेश्वरानुभूतिमें भी भिन्नताएँ हो जाती हैं। कोई शिवकी, तो अन्य विष्णु, राम, रुद्र, करीम, ईसा मूसा, आदिकी अनुभूति करते हैं। इन रहस्यानुभूतियोंको ब्रह्मवादकी दृष्टिमें एक ही ठहरा दिया गया। जो ऐसा नहीं मानते उनमें या तो अन्ध-एकेश्वरवाद आ गया और या तो साधारण बहुदेववाद। फिर एकेश्वरवाद और बहुदेववादके समन्वयसे अवतारवादकी कल्पना की गयी। यदि बहुदेववाद न होता, तो अवतारवादकी कल्पनाका उद्रेक असम्भव था। निर्गुण सन्त यद्यपि घोर एकेश्वरवादी थे, तो भी वे अवतारवादसे प्रभावित थे। उनका ब्रह्म सभी अवतारोंके नामसे पुकारा जाता है।

अनेक देवोंकी पूजासे भारतमें सालभर प्रतिमास कुछ-न-कुछ पूजा, उत्सव, पर्व आदि होते रहते हैं। इससे जीवनमें आमोद-प्रमोद तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण आता है। धर्मसहिष्णुता, जो भारतका प्रधान गुण है, सम्भवतः बहुदेववादके फलस्वरूप ही है। साहित्य, संगीत, स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला और नृत्यकलाको बहुदेववादसे बहुत गति-शक्ति मिली। वैदिक युगमें बहुदेवता-विधानके अन्दर यज्ञ होते थे। यज्ञोंके होनेसे गणितशास्त्र, खगोल, ज्योतिषि,

रसायनशास्त्र आदिका विकास हुआ। भारतमें प्रत्येक विद्याका उद्भव धार्मिक कृत्योंसे ही हुआ—यह अधिकाश विद्वानोंका मत है।

भारतमें बहुदेववाद सदैव साधारण जनताका धर्म रहा है। सभी साधक, भक्त, सन्त, विद्वान् और दार्शनिक बहुदेववादसे ऊपर उठकर एकेश्वरवाद या ब्रह्मवादको मानते हे, पर इनमें दो दल हो गये है। एक दल बहुदेववादको धर्म-साधनामें अनावश्यक बतलाता है तो दूसरा आवश्यक। हिन्दीमें निर्गुण सन्तों और वेदान्तियोंने बहुदेववादको अनावश्यक बतलाया। सगुण भक्तोंने इसे आवश्यक माना, यद्यपि एकेश्वर-प्राप्तिको उन्होंने भी बहुदेव-पूजामे श्रेष्ठ बतलाया। तात्त्विक दृष्टिसे बहुदेववाद ब्रह्मवादके रूपमें ही ठीक कहा जा सकता है, पर धार्मिक दृष्टिसे दोनोंमें पर्याप्त अन्तर है। बहुदेववादमें ब्रह्म-पूजाका विधान है और ब्रह्मवादमें आन्तरिक या मानसिक पूजा अथवा भक्तिका। प्राचीन बहुदेववादमें यज्ञ-विधान और वर्तमान बहुदेववादमें मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन आदिकी व्यवस्था है। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोणने इन सबके महत्त्वको कम कर दिया है। आधुनिक दर्शन अद्वैतवादकी शिक्षा देता है और विज्ञान भौतिकवादकी। इस प्रकार दोनों बहुदेववादपर ही नहीं वरन् धर्म-सामान्यपर घोर प्रहार कर रहे हैं।

[सहायक ग्रन्थ—(१) भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय, (२) मध्ययुगकी धर्म-साधना हजारीप्रसाद द्विवेदी] —स० ला० पा०

बहुरा—बहुराका व्रत भाद्रपद मासकी कृष्णपक्षकी चतुर्थीको किया जाता है। इसे बहुला भी कहते हैं। इस व्रतकी कथाका प्रधान पात्र बहुला है, इसीलिए इसे बहुला या बहुरा कहा जाता है। इस दिन कन्याएँ तथा युवती स्त्रियाँ दिनभर व्रत रखती हैं। सायकालको किसी नदी या तालाबमें स्नानकर बहुला नामक गाय, उसके बछडे तथा सिंहकी बालूकी प्रतिमा बनाकर स्त्रियाँ पुष्पादिसे उनकी विधिवत् पूजा करती हैं। तदनन्तर जौके सत्तू तथा गुड खाती हैं। यह व्रत सन्तानको देनेवाला तथा ऐश्वर्यको बढानेवाला माना जाता है।

बहुला नामक गायको, जो जगलमें चरनेके लिए गयी थी, किसी सिंहने पकड़ लिया। गायके इस आश्वासन देनेपर कि मैं अपने पुत्रको सान्त्वना देकर पुन जगलको लौट आऊँगी, सिंहने उसे छोड़ दिया। बहुला अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार पुन जगलको लौट आयी। सिंह उसकी सत्यवादिताको देखकर बडा प्रसन्न हुआ और उसे मुक्त कर दिया। सक्षेपमें बहुलाकी यही कथा है। इस कथासे पुत्रके प्रति माताका प्रगाढ प्रेम और प्रतिज्ञा-पालनका पता चलता है। परन्तु इस अवसरपर जो गीत गाये जाते हैं उनमें ये बातें नहीं पायी जातीं।

बहुराके गीतोंमें साम और वधूका शाश्वत विरोध, पति पत्नीका प्रेम तथा किसी स्त्रीके अतिशय सौन्दर्यको देख उसपर मोहित होनेका उल्लेख उपलब्ध होता है। रेशमी नामक कोई रूपयौवनसम्पन्न स्त्री बाजार जा रही है, उसके लावण्यको देखकर राजाके मोहित होनेका वर्णन सुन्दर रीतिसे किया गया है। बहुराके गीत भी झूमरके समान शृंगार रससे लबालब भरे हुए हैं। —कृ० दे० उ०

बहर—अरबी-फारसीके ढगपर उर्दूमें जिन छन्दोंका व्यवहार होता है, उन्हें बहर कहते हैं। (दे०—'गजल')। अवरोह(आहग)के लिहाजसे शब्दोंकी आवाजोंको सामने रखकर कुछ पैमाने नियत कर दिये गये हैं; इन्हींको बहर कहते है। हर बहरमें भिन्न-भिन्न रुक्न (चरण या अंग्रेजी छन्द-शास्त्रके फीट) होते हैं। ये रुक्न भी आपसमें छोटे-बडे होते हैं। जैसे अँग्रेजी पिंगलमें आयम्बिक तथा डैक्टइलके दो और तीन स्वराघात होते हैं और उन्हींसे छन्दकी पहचान की जाती है, वैसे ही उर्दूमें भी फ़ारसीके समान फेलुन, फायेलातुन, फायलुनकी नापसे बहरें मुकर्रर हैं। बहरोंकी छोटाई-बड़ाई और उतार-चढावसे उनके नाम रखे गये हैं। यहाँतककी सबसे बड़ी बहरका जो **बहरे-तवील** कहलाती है, एक-एक मिसरा, पचास शब्दोंसे अधिक होनेपर भी एक बहरमें होता है।

कुछ बहरें **रुबाई**(दे०) और **मसनवी**(दे०)के लिए नियत हैं। उर्दू पिंगलकी किताबोंमें तो बहुत-सी बहरें लिखी हैं, जिनमें शायरोंने शेर भी कहे है, परन्तु प्रधानत. उर्दूमें प्रचलित सात बहरें है। —म०

बाउल—बंगालके गाँवोंमें गीत गा गाकर जीवनयापन करनेवाला एक सम्प्रदाय जिसके अनुयायियोंमेंसे कुछ हिन्दू होते हैं, कुछ मुसलमान। हिन्दू बाउल अधिकतर वैष्णव हैं और मुसलिम बाउल सूफी। दोनों दिव्य-प्रेमके मार्गके गायक हैं। 'बाउल' शब्दका हिन्दी रूप बाउर, बावला, बौरा, बावरा है, जिसे वातुल या व्याकुल इन दोनों शब्दोंका विकसित रूप माना जा सकता है। नरहरि नामक बाउलकी कुछ पक्तियाँ ('मिडीवल मिस्टीसिज्म ऑफ इण्डिया'में क्षितिमोहन सेन द्वारा उद्धृत) इनकी सामान्य प्रकृतिकी परिचायिका हैं—'अरे भाई मे बाउल इसलिए कहलाता हूँ कि मैं न तो किसी मालिककी आज्ञा मानता हूँ, न किसीका शासन मानता हूँ, न किसी विधि-निषेध एव परम्परागत आचार-व्यवहारकी पाबन्दीका कायल हूँ।' इनका सर्वप्रथम परिचय १५वीं शताब्दीके आसपास मिलता है। पश्चिमी बंगालमें इनका प्रधान केन्द्र नदियाके आसपास है। ये अपनेको मानव जातिका न कहकर पक्षियोंकी जातिका कहते हैं, जो पृथ्वीपर चलनेकी अपेक्षा आकाशमें उड़नेके अभ्यस्त होते हैं। इनके गीतोंकी कोई लिखित परम्परा नहीं है।

बाउलोंके बहुतसे सिद्धान्त तो ऐसे है जो बौद्ध सिद्धोंसे लेकर सूफी साधकोंतकमें प्राप्त होते हैं, पर कुछ उनकी अपनी निजी विशेषताएँ हैं। वे 'मनेर मानुष'के खोजी हैं और उसके सम्बन्धमें आतुर होकर कहते हैं, 'कोथाय पाब तारे, आमार मनेर मानुष ये रे।' (हारामणि—मुहम्मद मसूर उद्दीन)। यह 'मनेर मानुष' वास्तवमें कोई मानवोपरि परमात्मा नहीं वरन् मनुष्यका ही एक आदर्श रूप प्रतीत होता है। उल्टी साधना, गुरुका महत्त्व, मानव-देहका महत्त्व आदि तत्त्व तो सहज-साधना-पद्धतिके अवशिष्ट चिह्न है, किन्तु 'मनेर मानुष'की स्थापना इनकी मौलिक देन है, जिसे रवीन्द्रनाथ ठाकुरतकने स्वीकार किया है।

(दे०—द रेलिजन ऑफ मैन : रवीन्द्रनाथ टैगोर । आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स : शशिभूषणदास गुप्त) । —र० बी० भा०

वाण–दे०—'अहेरी' ।

बारहमासा–बारहमासा लोक-गीतोंका वह प्रकार है जिसमें किसी विरहिणी स्त्रीके वर्षके प्रत्येक मासमें अनुभूत दुःखों तथा हार्दिक मनोवेदनाओंकी विवृति पायी जाती है । चूँकि इन गीतोंमें सालके बारहों मासोंके दुःखोंका वर्णन होता है, अतः इनको बारहमासाकी संज्ञा प्राप्त हुई है । इन गीतोंकी परम्परा प्राचीन जान पड़ती है । जायसी-ने 'पद्मावत'में नागमतीके वियोगका वर्णन बारहमासाके द्वारा बड़ी ही मार्मिक रीतिसे किया है । बहुत सम्भव है कि जायसीने लोकमें प्रचलित इन गीतोंकी मधुरताको देखकर ही इन्हें नागमतीके विरह-वर्णनका माध्यम बनाया हो । सेनापतिके बारहमासे भी सुन्दर हैं । संस्कृतमें षट् ऋतुओंका वर्णन महाकाव्यका एक आवश्यक अंग माना जाता है । परन्तु प्रत्येक मासका पृथक् निर्देश कर पति-वियोगके कारण अनुभूत दुःखोंका वर्णन हिन्दी बारहमासों-की निजी विशेषता है ।

लोक-साहित्यमें प्रचलित बारहमासे प्रायः आषाढ़ माससे प्रारम्भ होते हैं । कहीं-कहीं वर्षके प्रथम मास चैत्रसे भी शुरू होते हैं । इनमें विरहिणीके कष्टोंका उल्लेख मासके क्रमसे होता है । जिसमें वियोगिनीके केवल छः मासों या चार मासोंकी दुःखानुभूतिका चित्रण उपलब्ध होता है, उसे छमासा या चौमासा कहते हैं । बँगला लोक-साहित्य-में भी ये गीत उपलब्ध होते हैं और 'बारमाशी'के नामसे प्रसिद्ध हैं । व्रज, अवधी, मैथिली, मालवी तथा भोजपुरी—इन सभी बोलियोंमें ये गीत पाये जाते हैं, परन्तु भोजपुरीके बारहमासोंमें करुण तथा विषादकी बड़ी गहरी रेखा दिखाई पड़ती है । —कृ० दे० उ०

बालयोगी–हठयोगका वर्णन करते हुए 'सेकोद्देशटीका'में साधकोंकी चार श्रेणियाँ बतायी गयी हैं—बाल, प्रौढ़, वृद्ध और प्रजापति । बालयोगी प्रारम्भिक अवस्थामें होता है, अतः उसका अधिकार **महामुद्रा**के पयोधरोंतक ही होता है । **महासुखकमल**की साधनासे साधकको जिस रसकी प्राप्ति होती है वह बालयोगीके वशकी बात नहीं, क्योंकि वह तो केवल प्रारम्भिक साधक होता है, जो बोधिचित्तकी साधना करता है । —ध० बी० भा०

बावरीपंथ–'बावरी' शब्दका सामान्य अर्थ होता है पगली अथवा बावली । बावरीपन्थके विषयमें लिखनेवाले कवयित्री बावरी साहिबाका निम्नलिखित सवैया उद्धृत करते हैं । इस सवैयासे बावरी शब्दका अर्थ कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है—

'बावरी रावरीका कहिये, मन ह्वैके पतंग भरे नित भाँवरी ।
भाँवरी जानहिं सन्त सुजान, जिन्हें हरि रूप हिये दरसावरी ।
साँवरी सूरत मोहनी मूरत, दै करि ज्ञान अनन्त लखावरी ।
खाँव री सौंह तेहारी प्रभू, गति रावरी देखि भई मति बावरी ।'

कवयित्री निवेदन करती हैं कि 'प्रभु ! आपकी लीलाके सम्बन्धमें मैं क्या कहूँ ? मेरा मन तो आपके चारों ओर पतंगके सदृश भाँवरें, चक्कर लगाया करता है । इस भाँवर लगानेका रहस्य केवल उसीको ज्ञात है जिसने आपकी रूप-माधुरीका पान किया है । सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि आपकी गतिविधि देखकर मैं तो बावली हो गयी हूँ ।' अतः बावली या बावरी शब्दका यहाँपर अर्थ होता है प्रभुकी अद्भुत लीला देखकर चकित रह जानेवाली ।

बावरीपन्थकी संस्थापिका बावरी साहिबा थीं । बावरी साहिबाके पूर्व इस सम्प्रदाय या पन्थके संघटनकी रूपरेखा क्या थी, इसके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं ज्ञात है । बावरी साहिबासे पहले इस विचारधाराका पोषण करनेवाले तीन साधक हुए । परन्तु इन साधकोंने न तो संघटनकी ओर ध्यान दिया और न प्रचारकी ओर । बावरी साहिबाका आविर्भाव इन साधकोंके अनन्तर चतुर्थ स्थानपर आता है । ये साधनाके क्षेत्रमें बड़ी कुशल थीं । इसीलिए इनके अनन्तर होनेवाले साधकोंने इस पन्थका नाम बावरीपन्थ रखा । पन्थके छठे व्यक्ति यारी साहबने पन्थको सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया और इसके प्रचारके लिए भी प्रशंसनीय प्रयत्न किया ।

बावरी साहिबाकी परम्पराका प्रारम्भ गाजीपुर जिलेके पटना गाँवके निवासी रामानन्दसे माना जाता है । रामानन्दके शिष्य दयानन्द हुए और दयानन्दके शिष्य मायानन्द । मायानन्दके अनन्तर बावरी साहिबाका स्थान है । बावरीकी प्रेरणा और दीक्षासे बीरू साहबने साधनामें ख्याति प्राप्त की । बीरूके बाद यारी साहब या यार मुहम्मद, केशोदास, बूला साहब (ई० १६३२ से १७०९), गुलाल साहब (मृत्यु ई० १७५९), भीखा साहब (मृत्यु ई० १७९१), चतुर्भुज साहब (मृत्यु ई० १८१८), नरसिंह साहब (मृत्यु ई० १८९७), जै नारायण साहब (मृत्यु ई० १९२४) आदि प्रसिद्ध विचारक और सन्त हुए । इन्होंने बावरीपन्थकी परम्पराओंको बल दिया ।

बावरीपन्थमें व्यक्तिगत सदाचार और नैतिकताकी ओर अधिक ध्यान दिया गया है । इसी कारण इस पन्थमें आचार और आचरणकी शुद्धता अपना विशेष महत्त्व रखती है । इस पन्थके प्रचार और प्रसारमें साधकों तथा शिष्योंने विशेष ध्यान नहीं दिया । इसी कारण इस पन्थका विशेष प्रसार नहीं हो सका । परन्तु इतना अवश्य है कि इस पन्थने अच्छे विचारक और कवियोंको जन्म दिया, जिनमें यारी साहब, बूला साहब, जगजीवन साहब, गुलाल साहब, पलटू साहब तथा भीखा साहबका नाम विशेष आदरके साथ लिया जाता है । इस पन्थके कवियोंपर वेदान्त और सूफी दर्शनका प्रचुर प्रभाव पड़ा ।

बावरीपन्थमें अजपाजापकी स्वाभाविक क्रियाको बहुत महत्त्व दिया गया है । सद्गुरुकी कृपासे अगम्य ज्योति तथा परमतत्त्वकी उपलब्धि होती है । स्वानुभूति, सुरति-शब्दयोग या चतुर्थ पदकी प्राप्ति सद्गुरुकी कृपा और निर्देशके द्वारा हो सकती है । सुरतिका सम्बन्ध काल या शब्दतत्त्वके साथ जोड़ रखना नितान्त आवश्यक है । ब्रह्मका साक्षात्कार नाम-जपसे होता है । सुरति-शब्दयोग, इस प्रकारके साक्षात्कारमें बड़ा सहायक है । योगका सच्चा ज्ञाता ही इस सुरति-शब्दयोगके रहस्यको समझ सकता है । आत्म-विचार ज्ञानयोगकी आधारशिला है । आत्मानुभूति एवं एकात्मता आत्म-विचारके बिना सम्भव नहीं है ।

सत्संगकी महिमा अवर्णनीय है। ब्रह्म ही अविनाश दूल्हा है। वह चेतन एव निरन्तर शून्य है। एक ही तत्त्वकी अनेकरूपता सर्वत्र प्रतिभासित है। सोना एक ही होता है, परन्तु उससे निर्मित आभूषणोंके आकार-प्रकारमें विभिन्नता होती है। उसी प्रकार एक ही सर्वात्मा समस्त सृष्टिका मूल स्रोत है। बावरीपन्थके उज्ज्वल रत्न पलटू साहबने ब्रह्मकी अद्वैत सत्ता स्पष्ट करते हुए कहा है, जोई जीव सोई ब्रह्म एक है'। सक्षेपमें बावरी साहिबामें आध्यात्मिक दीवानापन, यारी साहबमें सूफी संस्कार, गुलाल एवं भीखा साहबमें वेदान्ती तत्त्व तथा पलटू साहबमें ये सभी तत्त्व समन्वित होकर अभिव्यक्त हुए हैं।

बावरीपन्थमें प्राय· डेढ़ दर्जन उत्कृष्ट कवि हुए। इनमें विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं—बीरू साहब, यारी साहब, केशवदास, बूला साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब तथा पलटू साहब। यारी साहबकी कविताओंका सग्रह 'रत्नावली' और केशवदासका 'अमीघूँट' प्रयागसे प्रकाशित हो चुका है। बूला साहबका 'शब्दसागर', गुलाल साहबकी बानी भी उक्त प्रेससे प्रकाशित हुई है। गुलाल साहबकी दो और पुस्तकों—'ज्ञानगुष्टि' तथा 'रामसहस्रनाम'का उल्लेख हुआ है। भीखाकी 'राम कुण्डलियाँ', 'राम सहस्रनाम', 'रामसबद', 'रामराग', 'रामकवित्त' तथा 'भगतवच्छावली'का प्रकाशन बेलविडियर प्रेससे 'भीखा साहबकी बानी' नामसे हो चुका है। हरलाल साहबके नामपर चार ग्रन्थ 'शब्द', 'चतुरमासा', 'कुण्डलियाँ' तथा 'पदसग्रह' प्रसिद्ध हे। पलटू साहबकी कविताओंका सग्रह तीन भागोंमें प्रयागके बेलविडियर प्रेससे प्रकाशित है। इसमें लगभग १००० पद सग्रहीत हैं। नेवलदास, खेमदास, देवीदास, पहलवानदास, देवकीनन्दन आदिकी रचनाएँ अप्रकाशित हैं। इनमेंसे पलटू साहब सबसे सामर्थ्यवान् कवि थे। इनमें प्रचुर काव्यप्रतिभा थी। विचारोंकी स्पष्टता और भावोंकी सुष्ठु अभिव्यंजना इनकी विशेषता है।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा परशुराम चतुर्वेदी] —त्रि० ना० दी०

वा-शरा–वे सम्प्रदाय जो **शरीअत**को मानकर चलते हैं। बहुत दूरतक ये सनातन-पन्थी इसलामके आचार-विचारको ध्यानमें रखकर चलते हैं। प्राय सभी प्रमुख सूफी-सम्प्रदाय और उप सम्प्रदाय इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। —रा० पू० सि०

वासोख्त–उर्दूके जिस काव्यमें प्रेमी अपनी प्रेमिकासे बिगड़कर उसे बातें सुनाता है, उसको बेवफा ठहराता है, उसपर यह दोषारोपण करता है कि तुम अब मुझसे बेपरवाह हो गयी हो, उसे वासोख्त कहते हे। गजलमें भी आशिक अपने माशूकको बेवफा कहता है, उससे बेपरवाही-की शिकायत करता है, परन्तु उसमें आशिक सदैव नम्रताका भाव रखता है। वासोख्तमें वह यह दोष देकर कि माशूक उससे बेवफाई कर रहा है, वह तो यह जताता है कि पहले तुम कुछ नहीं थे, तुमको मैंने आज इतना महान् बनाया है, मेरे ही कारण तुमको यह प्रसिद्धि प्राप्त हुई है और अब तुम इस गौरवको प्राप्त कर नये-नये चाहनेवालोंमें पड़ गये हो। मुझको कमी नहीं है, मैं तुमसे भी अच्छा और सुन्दर माशूक ढूँढ निकालूँगा। फिर उसमे मेरा परिचय घनिष्ठ होगा। प्रेमकी बातें होंगी, सुखपूर्वक दिन व्यतीत होंगे।

फारसीमें वासोख्तका रिवाज नहीं था। मीर तकी मीरने उर्दूमें वासोख्त लिखे। उनके अतिरिक्त सौदा, जुरअत, सदासुख, निसार तथा मोमिन आदिने दिल्लीमें वासोख्त लिखे। किन्तु वासोख्तका अत्यधिक प्रचार उस समय हुआ जब लखनऊके नवाबोंने वहाँके जीवनमें कविता, गायन, नृत्य तथा अन्य ललित कलाओं-को प्रोत्साहन दिया। वर्क, वहेर, अमानत, रिन्द, नवाब, मिरजा शौक, सहेर, जवाहर सिंह 'जौहर', तोताराम 'शमा' आदिने बड़े जोरदार वासोख्त लिखे, जिनमें 'अमानत' लखनवीको सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। परन्तु अब लोक-रुचि बदल गयी है और बीसवीं शताब्दीमें लोगोंका ध्यान इसकी ओरसे बिलकुल हट गया है।

वासोख्त और गजलमें एक अन्तर रूपका भी है। गजलमें प्रत्येक शेर पृथक्-पृथक् अर्थ रखता है और इसमें एक ही 'काफिया' और 'रदीफ'(तुकान्त)की पाबन्दी होती है। वासोख्त मुसद्दस(छ-छ शेरोंके बन्द)में लिखी जाती है और इसमें विषयका क्रमश वर्णन किया जाता है। उसकी लम्बाई अनिश्चित होती है। अमानतके प्रसिद्ध वासोख्तमें २५० से अधिक बन्द हैं। —म०

बाह्यवादी (काव्य)–दे०—'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

बाह्यार्थनिरूपक (काव्य)–दे०—'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

बाह्यार्थपरक (काव्य)–दे०—'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

बाह्यार्थमूलक (काव्य)–दे०—'वस्तु निष्ठ' (काव्य)।

बाह्यार्थव्यंजक (काव्य)–दे०—'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

विंदु १–अर्थ प्रकृतिकी पाँच स्थितियोंमेंसे दूसरी स्थिति। 'अवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम्' अर्थात् किसी दूसरे अर्थ या कथासे विच्छिन्न हो जानेपर इतिवृत्तके जोड़ने या आगे बढानेके कारणको विन्दु कहा जाता है। जैसे तेलकी बूँद पानीमें फैल जाती है वैसे ही विन्दु भी नाटकीय कथा-वस्तुमें फैल जाता है। 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त'-के प्रथम अकके 'अन्तिम दृश्यमें विन्दु अर्थ-प्रकृतिका आरम्भ हो जाता है, क्योंकि मुख्य कथावस्तु अविच्छिन्न बनी ही रहती है और अवान्तर, जो मालव-विजयका प्रसग है, वहाँ अग्रसर होती हुई दिखाई पड़ती है। इसके पश्चात् अवान्तर कथा तो उत्तरोत्तर अग्रसर होती जाती है और आधिकारिक कथा भी बराबर चलती रहती है। इस प्रकार बिन्दुका प्रसार तृतीय अकके प्रथम दृश्यकी समाप्तितक चलता है।' ('प्रसाद'के नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन जगन्नाथ शर्मा)। —व० सिं०

विंदु २–शब्द-साधनामें ससारमे व्याप्त **अनाहत नाद**को पिण्डमें भी स्थित माना गया है। नादसे प्रकाश होता है और प्रकाशका व्यक्त रूप है विन्दु, जो तेजका प्रतीक है। विन्दुके तीन प्रकार हैं—इच्छा, ज्ञान, क्रिया। नाद और विन्दुकी यह क्रीड़ा ब्रह्माण्डमें व्याप्त है। पिण्डमें यही विन्दु वीर्यबिन्दुके रूपमें है और हठयोगी साधक उसी विन्दुको कारणसे बचाकर ऊपरकी ओर उन्मुख करता है। बौद्ध तथा शाक्त तान्त्रिक साधनाओंमें बजोली, सहजोली

आदि कई क्रियाएँ ऐसी थीं, जिनमें साधक मुद्रासे समागम करते हुए भी बिन्दुको स्खलित नहीं होने देता था बल्कि उसे ऊपर खींचता था। ऐसे योगीको ही ऊर्ध्व-रेतस् कहा जाता है। —ध० वी० सा०

बिंब–दे०–'प्रतिमा'(सौन्दर्यानुसन्धायिनी), 'बिंबविधान'।

बिंबप्रतिबिंबोपमा–दे०—'उपमा', पाँचवाँ प्रकार।

बिंबविधान–मनुष्यके जीवनमें बिम्बविधान अथवा कल्पनाका बड़ा महत्त्व है। प्रस्तुत परिवेशके संवेदनों और प्रत्यक्षके अतिरिक्त उसके मानसमें अतीतकी, तथा कभी अस्तित्व न रखने, न घटनेवाली वस्तुओं और घटनाओंकी असंख्य प्रतिमाएँ भी रहती हैं। बिम्ब शब्द इसी मानस प्रतिमाका पर्याय है। इन बिम्बों या प्रतिमाओंका वर्गीकरण दो प्रकारसे किया जाता है। उद्भवके आधारपर प्रतिमाएँ दो प्रकारकी मानी जाती हैं—स्मृतिजन्य और स्वरचित, और ज्ञानेन्द्रियोंके आधारपर दृष्टि, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श प्रतिमाएँ आदि अनेक प्रकारकी होती हैं। स्मृतिजन्य बिम्ब पूर्वगामी अनुभूतिका पुनरुत्पादमात्र होता है, जैसे अपने किसी मित्रको याद करनेपर उसके रूप, स्वर आदिकी दृष्टि और शब्द-प्रतिमाएँ हमारे मनमें आ जाती हैं। स्वरचित प्रतिमाएँ अपेक्षाकृत नूतन और मौलिक होती हैं, यद्यपि उनके निर्मायक घटक हमारे अनुभवमें अलग-अलग आ चुके होते हैं। जैसे 'मेघदूत' स्वयं कविकी स्वरचित नूतन प्रतिमा है, वह हमारे प्रत्यक्ष अनुभवमें न कभी आया है, न आ सकेगा। हाँ, हमने मेघ और दूतको अलग-अलग अवश्य देखा है। यह नूतन प्रतिमा-निर्माण या बिम्बविधान समस्त काव्य, कला, संगीत और नवनिर्माणका मूलाधार है। भाषा और चिन्तनके मूल उपादान बिम्ब ही हैं।

व्यक्तियोंकी बिम्बविधान सम्बन्धी क्षमतामें बड़ा अन्तर होता है। दृष्टि सम्बन्धी बिम्बविधान या कल्पनाकी क्षमता प्रायः सभी व्यक्तियोंमें मिलती है। दूसरा स्थान शाब्दिक बिम्बविधानकी क्षमताका है। गन्ध, रस, स्पर्श सम्बन्धी कल्पनाकी क्षमता अपेक्षाकृत कम लोगोंमें मिलती है। कुछ व्यक्तियों तथा दससे पन्द्रह वर्षतककी आयुके अधिकांश बालकोंमें एक विशिष्ट प्रकारकी शक्ति होती है। जटिलसे जटिल दृश्यको एक बार कुछ सेकण्डोंतक देख लेनेके बाद वह उनके मनपर अत्यन्त तीक्ष्णतासे अंकित हो जाता है। यहाँतक कि उद्दीपकके हटा लिये जानेपर भी वे उस दृश्यके सूक्ष्मतम ब्यौरेका इस तरह वर्णन कर सकते हैं कि जैसे वह उनके प्रत्यक्ष सामने हो। कुछ कवियों और कलाकारोंमें यह क्षमता होती है।

साहित्य-रचनामें बिम्बविधानका स्वरूप बहुत-कुछ कवि या लेखकके अपने व्यक्तित्वपर निर्भर करता है। रचनाकी शैलीसे ही व्यक्तिके विषयमें अनुमान नहीं किया जा सकता, उसके बिम्बविधानसे भी किया जा सकता है। वाल्मीकि, कालिदास और अश्वघोषका बिम्बविधान उत्कृष्ट होते हुए भी विशिष्ट प्रकारका है। कबीर, सूर और तुलसीदासकी रचनाओंमें भी यही बात मिलती है। 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' और महादेवीका बिम्बविधान उनके व्यक्तित्वके अनुसार अपने ढंगका है। —आ० रा० आ०

विदेसिया–उत्तरप्रदेशके पूर्वी जिलोंमें, विशेषकर बलिया, देवरिया तथा बिहारके पश्चिमी जिलों(आरा और छपरा)में 'विदेसिया'के गीत अत्यन्त लोकप्रिय हैं। ये साधारण जनताकी जिह्वापर सदा नाचते रहते हैं। इन सुप्रसिद्ध 'विदेसिया' गीतोंके रचयिता भिखारी ठाकुर हैं, जो बिहारके छपरा जिलेके निवासी हैं। इन्होंने अपना परिचय देते हुए स्वयं लिखा है कि 'जातिके हजाम मोर कुतुबपुर ह मोकाम, छपराते तीन मील दियरामें बाबूजी। पुरुबके कोनापर गंगाके किनारेपर, जाति पेसा बाटे विद्या नहीं बाटे बाबूजी॥' इससे पता चलता है भिखारी ठाकुर एक अनपढ़ लोककवि हैं। परन्तु इनकी प्रतिभा बड़ी विलक्षण है।

भिखारी ठाकुरने 'विदेसिया' नामक नाटककी रचना की है, जिसकी कथा संक्षेपमें इस प्रकार है—कोई व्यक्ति जीविकोपार्जनके लिए विदेश (कलकत्ता, रंगून) जाता है। वहाँ जाकर वह अपने घरकी सभी सुध-बुध भूल जाता है। उसकी स्त्री उसके वियोगके कारण अनेक कष्ट सहन करती है। अन्तमें किसी बटोहीके द्वारा वह अपना दुःखद सन्देश पतिके पास भेजती है, जिसे सुनकर वह अपनी नौकरी छोड़कर घर लौट आता है। इस कथाको भिखारी ठाकुरने बड़ा ही सुन्दर नाटकीय रूप दिया है। इसी नाटकमें वह सुप्रसिद्ध गीत उपलब्ध होता है जो 'विदेसिया' गीतके नामसे प्रख्यात है। चूँकि इस गीतकी प्रत्येक पंक्तिमें 'विदेसिया'का नाम आता है, अत: इन लोकगीतको 'विदेसिया'के नामसे अभिहित किया जाता है। इस गीतकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—'गवना कराइ सइयाँ घर बइठवले से अपने चलेले परदेस रे विदेसिया। चढ़ली जवनियाँ बैरिन भइली हमरी से के मोर हरिहैं कलेस रे विदेसिया॥ दिनवाँ बीते ला सइयाँ बटिया जोहत तोर रतिया बितेली जागि-जागि रे विदेसिया। घरी राति गइले पहर रात गइले से धधके करेजवामें आगि रे विदेसिया॥' इस गीतमें विरहकी तीव्र व्यंजना पायी जाती है। लोककविने विरह-वेदनाकी जो अनुभूति दिखायी है उसकी उपलब्धि अन्यत्र कठिन है। समस्त गीत करुण रससे ओतप्रोत है, जिसका प्रभाव श्रोताओंके हृदयपर अमिट रूपसे पड़ता है।

भोजपुरी प्रदेशमें विदेसिया नाटकका इतना अधिक प्रचार है कि सहस्रोंकी संख्यामें ग्रामीण जनता इसके अभिनयको देखनेके लिए उपस्थित होती है। अपनी युवावस्थामें भिखारी ठाकुर इन अभिनयोंमें स्वयं भाग लेते थे। अब उनके शिष्योंने अनेक नाटक मण्डलियोंकी स्थापना की है, जो इस नाटकका अभिनय करती हैं। भिखारीके 'विदेसिया' नाटककी नकलपर अनेक 'विदेसिया' नामक नाटकोंकी रचना भी हो गयी है, जिनमेंसे नाथशरण पाण्डेयकी कृति अधिक प्रसिद्ध है। भिखारीने इस नाटकको लिखकर उस नाटक-सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा की है, जो 'विदेसिया'के नामसे विख्यात है।

इस नाटकमें सामाजिक बुराइयों, विशेषकर बालविवाह और वृद्धविवाहकी ओर जनताका ध्यान उन्हींकी बोली भोजपुरीमें आकर्षित किया गया है। इसकी भाषा बड़ी प्रांजल, सरस एवं मधुर है। यही कारण है कि यह नाटक जनताको इतना प्रिय है। —कृ० दे० उ०

विरहा–विरहा अहीरोंका जातीय लोकगीत है। लोकगीतोंमें उसका स्थान उसी तरह महत्त्वपूर्ण है जिस तरह संस्कृतमें द्विपदी, प्राकृतमें गाथा और हिन्दीमें बरवैका है। 'न विरहाकी खेती करै, भैया, न विरहा फरै डार। विरहा बसलै हिरदयामें हो, राम, जब तुम गैले तब गाव।' विरहाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें भोजपुरी बिरहाकी उक्त पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। यह मुख्य रूपसे प्रेम और विरहकी उपयुक्त व्यंजनाके लिए सार्थक लोकछन्द है। विप्रलम्भ शृंगारको अधिकाश विरहामें स्थान प्राप्त है। कहते हैं, इसका जन्म भोजपुरी प्रदेशमें हुआ। गड़रिये, पासी, धोबी, अहीर और अन्य चरवाह जातियाँ कभी-कभी होड़ बदकर रातभर विरहा गाती हैं। विरहामें पहले देवी-देवताओंकी स्तुति की जाती है, तत्पश्चात् कौटुम्बिक जीवनके विभिन्न सम्बन्धोंका स्वाभाविक वर्णन, ग्रामजीवनके चित्र, प्रेम और विरहके कोमल प्रसग, नैहर और ससुरालकी मीन-मेख, नायिकाओंकी प्रणय-उमगें, अनब्याही ग्रामीण नारीकी व्यथा, सास-बहूके झगडे, ननद-भावजकी चुहल आदि विषयोंके वर्णन मुखर होते हैं। यद्यपि विरहा भोजपुरकी धरतीमें उपजा है, तथापि आजके लोक-जीवनमें विरहाने समस्त कृषक जातियोंके गीतोंमें अपना स्थान बना लिया है। गाते समय उठनेवाली आवाजकी ऊँचाईसे दूर-दूरतक वन-प्रान्तरमें हृदयकी टीस गूँजने लगती है। यह दो कड़ियोंकी रचना है। जब एक पक्ष अपनी बात कह लेता है तो दूसरा पक्ष उसी छन्दमें उत्तर देता है। मात्राओंकी सख्या इसमें सीमित नहीं होती। गानेवालेकी धुनपर मात्राएँ घट-बढ जाती हैं। —श्या० प०

विहारी–विहारी बोलियोंका समूह जिसके अन्तर्गत भोजपुरी, मैथिली तथा मगहीकी गणना होती है। विहारी भाषाओंकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रशसे मानी जाती है। विहारी भाषाके प्रदेशमें साहित्यिक भाषाके रूपमें हिन्दीका प्रयोग होता है। विहारीके लिए तीन लिपियोंका प्रयोग होता है। मुद्रण आदिके लिए देवनागरी लिपिका प्रयोग होता है, लिखनेमें सामान्यत कैथी व्यवहारमें आती है तथा मैथिल ब्राह्मणोंके व्यक्तिगत व्यवहारकी मैथिली लिपि अलग है। —स०

विहुला–विहुलाकी लोकगाथा करुण रससे परिपूर्ण है। उत्तरप्रदेशके अतिरिक्त विहार तथा बगालमें भी इसका प्रचार पाया जाता है। संक्षेपमें इसकी कथा निम्नांकित है–

चन्दू साहु नामक एक सुप्रसिद्ध सौदागर था। इसके लड़केका नाम बाला लखन्दर था। यह रूप-यौवनसे सम्पन्न तथा सुन्दर युवक था। अवस्था प्राप्त होनेपर इसका विवाह-सम्बन्ध विहुला नामक परम सुन्दरी कन्यासे किया गया। चन्दू साहुके छ लड़के विवाहके अवसरपर कोहवरमें साँपके काटनेसे मर चुके थे। अत बाला लखन्दरके विवाहके समय इस बातका विशेष ध्यान रखा गया कि पूर्व दुर्घटनाकी पुनरावृत्ति न होने पाये। इस विचारसे ऐसा मकान बनानेका निश्चय हुआ जिसमें कहीं भी छिद्र न हो। विषहरी नामक ब्राह्मण, जो चन्दू सौदागरसे द्वेष रखता था, बड़ी ही दुष्ट प्रकृतिका व्यक्ति था। उसने मकान बनानेवाले कारीगरोंको घूस देकर उसमें सर्पके प्रवेश करने योग्य एक छिद्र बनवा दिया। विहुला भी इस दुर्घटनाको रोकनेके लिए बड़ी सचेष्ट थी। उसने अपने मायकेसे पहरेदार भी चौकसी रखनेके लिए बुलवाये थे। विवाहके पश्चात् जब वह बाला लखन्दरके शयनकक्षमें गयी तो देखा कि वह अचेत सो रहा है। सर्पदशसे रक्षाके लिए उसने उसकी चारपायीके चारों पायोंमें कुत्ता, बिल्ली, नेवला तथा गरुड़को बाँध दिया और स्वय चौकसी करती हुई लखन्दरके सिरहाने बैठ गयी। जिस कमरेमें बाला सो रहा था उसमें प्रकाशके लिए नौ मन तेलका अखण्ड दीप जल रहा था।

दुर्भाग्यसे कुछ देरके बाद विहुलाको भी नींद लगने लगी और लखन्दरके पास ही वह सो गयी। इसी बीचमें विषहरी ब्राह्मणके द्वारा भेजी गयी एक नागिन आयी और उसने लखन्दरको डँस लिया। जब प्रात काल विहुलाकी नींद खुली तो वह क्या देखती है कि उसका पति मरा पड़ा हुआ है। उसकी लाशको देखकर उसने बड़ा करुण क्रन्दन किया। वह बहुत रोयी तथा अपने भाग्यपर पश्चात्ताप करने लगी।

अन्तमें वह नेतिया नामक धोबिनके पास गयी और उसकी सलाहके अनुसार काम करके उसने बडी युक्तिसे अपने पति तथा चन्दू साहुके अन्य छ पुत्रोंको जीवित कर लिया।

विहुलाकी गाथा बड़ी कारुणिक है। जब गवैये स्वरके साथ विहुलाका विलाप गाने लगते हैं उस समम श्रोताओंकी आखोंसे अश्रुपात होने लगता है। यदि 'आल्हा' वीर रसका बैलेड है तो 'विहुला' करुण रसकी कथा है, जिसे सुनकर मन मुग्ध हो जाता है। विहुलाके विलापका वर्णन करता हुआ लोककवि कहता है कि "ए राम स्वामी स्वामी हाय स्वामी कहे गे दइया छाती पीटि रोदनिया करे ए राम। ए राम कोहवरमें रोवे सती विहुला रे दइया सुनि लोगके छाती फाटे ए राम॥"

करुण रससे ओत-प्रोत विहुलाकी उक्त कथाको सुनकर पाषाणहृदयका भी चित्त द्रवित हो उठता है। यही कारण है कि इस लोकगाथाका इतना व्यापक प्रचार हो सका है। इस गाथाको लेकर अनेक छोटी-छोटी पुस्तकोंकी रचना भोजपुरीमें हुई है, जिनमेंसे 'विहुला-विषहरी' और 'विहुला-गीत' नामक पुस्तकें प्रसिद्ध हैं।

बंगालमें विहुलाकी कथाका बड़ा प्रचार है, जो वहाँ 'मनसामंगल'के नामसे प्रसिद्ध है। बगालमें 'मनसा' सर्पोंकी अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है। अत इसकी पूजाके अवसरपर ये गीत गाये जाते हैं। 'मनसामंगल'के गीतोंका कथानक कुछ थोडेसे परिवर्तनके साथ वही है जो 'विहुला'का है। बँगला भाषाके अनेक कवियोंने 'मनसामंगल'की रचना की है, जिनका प्रकाशन कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा 'बंगीय साहित्यपरिषद्' द्वारा हुआ है।

बगप्रान्तमें 'मनसा' देवीकी पूजा बडे प्रेमसे की जाती है। इस अवसरपर इस कथाको नाटकीय रूप देकर अभिनय भी किया जाता है, जिसे देखनेके लिए दर्शकोंकी भीड़ लग जाती है। इस उल्लेखसे पता चलता है कि विहुलाकी कथा कितनी लोकप्रिय और व्यापक है। —कृ० दे० उ०

बीज–अर्थ-प्रकृतिकी पाँच स्थितियोंमेंसे पहली स्थिति।

'दशरूपक'के अनुसार 'स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीज विस्तार्यनेकधा।' अर्थात् रूपकके आरम्भमें स्वल्पसंकेतित वह हेतु जो अनेक विधि विस्तृत होता हुआ इष्ट या फलका कारण होता है, बीज है। जैसे बीजसे अनेक शाखाओं और पल्लवोंसे युक्त वृक्ष उत्पन्न होता है वैसे ही प्रारम्भमें उल्लिखित हेतुका भी नाटकमें काफी विस्तार होता है। इसीलिए इसे भी 'बीज'की संज्ञा दी गयी है। 'स्कन्दगुप्त'के प्रथम दृश्यमें बीज उस स्थलपर दिखाई पड़ता है 'जहाँ स्कन्दगुप्तके पूछनेपर कि 'अधिकारका उपयोग करें! वह भी किसलिए?' पर्णदत्तने अधिकार युक्त वाणीसे उत्तर दिया है 'किसलिए! त्रस्त प्रजाकी रक्षाके लिए, शिशुओंको हँसानेके लिए, सतीत्वके सम्मानके लिए, देवता, ब्राह्मण और गौओंकी मर्यादामें विश्वासके लिए, आतंकसे प्रकृतिको आश्वासन देनेके लिए आपको अधिकारोंका उपयोग करना होगा।' इसी स्थलसे अधिकारी उदात्त कार्यव्यापारोंकी ओर संलग्न हुआ है। अधिकारकी मर्यादा ही उस कार्यका बीज रूप है, जिसकी सिद्धिके लिए सब व्यापार किये गये हैं।' ('प्रसाद'के नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन : जगन्नाथ शर्मा)। —व० सिं०

बीजाक्षर–सभी तान्त्रिक पद्धतियोंने बीजाक्षरोंका महत्त्व स्वीकार किया था। बौद्ध-तन्त्रोंमें इनका विकास और भी रोचक है। बौद्धोंके साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें सूत्र-शैलीका प्रयोग होता था। बादमें स्थविरवादियोंने धरणियोंको अपने साहित्यमें स्थान दिया। जो साधक सभी सूत्रोंको समझ नहीं पाते थे उनकी सुविधाके लिए छोटी-छोटी धरणियाँ रची गयीं। (दे०—'वज्रयान') कालान्तरमें यही धरणियाँ तान्त्रिक प्रभावमें मन्त्र और बीजाक्षर-रूपमें परिवर्तित हो गयीं। मन्त्रको जिस एक अक्षरमें घनीभूत किया गया उसे बीजाक्षर कहते हैं। जैसे वैरोचनका अ, अक्षोभ्यका 'ध', रत्नसम्भवका 'र', अमिताभका 'म' अमोघसिद्धिका बीजाक्षर 'ल' था। इन बीजाक्षरोंमें देवताओंकी कल्पनाके पीछे मीमांसकोंका शब्दसिद्धान्त था, जिसमें कहा गया है कि शब्द शाश्वत है, अक्षररूपमें वर्णमालामें सदैव विद्यमान रहता है। अर्थकी स्थिति शब्दमें है, ज्ञातामें नहीं। अर्थ शब्दकी ही विवृति है और इसीलिए तन्त्रोंमें लगातार शब्द-ब्रह्मकी कल्पना मिलती है, जिससे समस्त मानवों और देवोंकी सृष्टि हुई है।

सन्तोंने इन बीजाक्षरोंको मान्यता नहीं दी थी, किन्तु परवर्ती कबीरपन्थी साहित्यमें इनका उल्लेख मिलता है। 'स्वसवेदबोध'में सात बीजाक्षरों तथा उनके साथ अंकुरोंका उल्लेख है। उन्हींसे सात करोड़ महामन्त्रोंका उद्भव होता है, जिनसे सात सिद्धियाँ मिलती हैं। —ध० वी० भा०

बीभत्स रस–बीभत्स रस काव्यमें मान्य नव रसोंमें अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसकी स्थिति दुःखात्मक रसोंमें मानी जाती है। इस दृष्टिसे करुण, भयानक तथा रौद्र, ये तीन रस इसके सहयोगी या सहचर सिद्ध होते हैं। शान्त रससे भी इसकी निकटता मान्य है, क्योंकि बहुधा बीभत्सताका दर्शन वैराग्यकी प्रेरणा देता है और अन्ततः शान्त रसके स्थायी भाव शमका पोषण करता है।

भरत(३ श० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'में बीभत्स रसको चार मुख्य उत्पत्ति-हेतुक रसोंमें माना गया है—'बीभत्साच्च भयानकः' (६ : ३९)। इसके अनुसार बीभत्स रस भयानक रसका उत्पादक है। बीभत्स रसका स्थायी भाव जुगुप्सा है, जो भयानक रसके स्थायी भयका मूल प्रेरक रहता है (६ : ४१)। भय यद्यपि आतंक आदि अनेक कारणोंसे भी उत्पन्न हो सकता है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे भयजनित पलायनके मूलमें ऐसी किसी-न-किसी स्थितिकी कल्पना अवश्य निहित प्रतीत होती है जो भीतरसे घृणा या जुगुप्साका भाव जगाती है। धनंजय(१० श० ई०)ने रसोंमें कार्य कारण-सम्बन्ध माननेका विरोध किया है। वे उक्त हेतुभावको 'सभेद'की अपेक्षा द्वारा सिद्ध मानते हैं (द० रू० : ४ : ४४–४५)। बीभत्स रस शृंगार रसका विरोधी समझा जाता है, क्योंकि जुगुप्सा उत्पन्न करनेवाले प्रसंगके आ जानेसे शृंगार रसमें रसाभासकी स्थिति आ जाती है (दे०—'रसाभास')। शृंगार 'हृद्य' है और बीभत्स 'अहृद्य' अर्थात् हृदय द्वारा अग्राह्य। बीभत्स रसका परिचय देते हुए भरतने उसकी उत्पत्ति अहृद्य, अप्रियावेक्ष, अनिष्ट-श्रवण, अनिष्ट-दर्शन तथा अनिष्ट-परिकीर्तन आदि विभावोंसे बतायी है। सर्वांगसंहार अर्थात् सब अंगोंकी निष्क्रियता, मुख-नेत्र-विघूर्णन अर्थात् मुख-नेत्रका संकुचित होना, वमन, कम्पन आदिको अनुभाव माना गया है। संचारी या व्यभिचारियोंमें अपस्मार, वेग, मोह, व्याधि, मरण आदिकी गणना की गयी है। पुनः अनभिहितदर्शन, रसगन्धस्पर्श-शब्ददोष, उद्वेजन आदिसे भी बीभत्सकी उत्पत्ति निर्दिष्ट की गयी है तथा नयननासाप्रच्छादन, अवनमित, होनेपर एवं अव्यक्तपादपतनके द्वारा उसके अभिनयका आदेश दिया गया है (नाट्य० : ६ : ७३–७८)। 'नाट्यशास्त्र'में ही बीभत्स रसका देवता महाकाल (६ : ४५) तथा वर्ण नील (६ : ४३) माना गया है। शैलीकी दृष्टिसे उसके वर्णनमें गुरु अक्षरोंका प्रयोग उचित बताया गया है। करुण रसमें भी यही विधान है (१९ : ११०)।

करुण रसकी तरह बीभत्स रसको लेकर भी आनन्दोपलब्धिकी समस्या उठायी गयी है। आधुनिक मराठी लेखकोंमें वाटवेका मत तो यह है कि 'स्वतन्त्र आस्वादनके अभाव'में इसे रस-व्यवस्थासे निकाल ही देना चाहिये। द० के० केल्करने भी लगभग इसका समर्थन किया है। डि० के० बेडेकरकी धारणा है कि यह बात बीभत्स रसको आधुनिक मनोविज्ञानकी कसौटीपर तौलने और भरत-प्रणीत रस-व्यवस्थाका मूल आधार न समझनेके कारण ही हुई है। भरतने रसोंकी कल्पना द्वन्द्वरूपमें की है और इस प्रकार बीभत्स रस शृंगार रसके साथ मिलकर एक अविच्छेद्य 'द्वन्द्व'की सृष्टि करता है (दे०—'आलोचना' : अंक ४)।

अपने 'नाट्यशास्त्र'में भरतने बीभत्स रसके विभाजनकी भी व्यवस्था कर दी है, यथा—'बीभत्सः क्षोभजः शुद्ध उद्वेगी स्यात्तृतीयकः। विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभजो रुधिरादिजः।' (६ : ८१)। इस कथनके अनुसार बीभत्स रसके तीन भेद होते हैं—१ क्षोभज, २ शुद्ध, ३ उद्वेगी। 'क्षोभज'की उत्पत्ति रुधिरादिके देखनेसे मनमें क्षोभका संचार होनेपर होती है और 'उद्वेगी' विष्ठा तथा कृमिके सम्पर्क द्वारा उद्भूत होता है। 'शुद्ध' बीभत्सकी व्याख्या

भरतके इस विभाजनमें नहीं मिलती। जुगुप्साका सामान्य भाव ही कदाचित् उसका उत्पादक है, जिसमें किसी तात्कालिक स्थूल वस्तुकी अपेक्षा नहीं रहती। 'भावप्रकाश' नामक संस्कृत ग्रन्थके रचयिता शारदातनय(१३ श० ई०)-ने उक्त भेदोंमेंसे केवल 'क्षोभज' और 'उद्वेगी'को ही मान्यता प्रदान की है। 'शुद्ध' उन्हें मान्य नहीं हुआ। धनजय (१० श० ई०)ने 'दशरूपक'में भरतके तीनों भेदोंको यथावत् स्वीकार कर लिया है। भानुदत्त(१३-१४ श० ई०)ने 'रसतरंगिणी'में करुण रसकी तरह वीभत्स रसके भी 'स्वनिष्ठ' और 'परनिष्ठ', दो रूप माने हैं। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ(१४ श० ई०)ने भरत द्वारा निर्दिष्ट वार्तोंको तो ज्योंका त्यों वीभत्स रसके लक्षणमें समाविष्ट कर लिया है, पर उसके भेदोंका कोई उल्लेख नहीं किया है।

वीभत्स रसके स्थायी भाव जुगुप्साकी उत्पत्ति दो कारणोंसे मानी गयी है, एक विवेक और दूसरा अवस्था-भेद। पहलेको 'विवेकजा' और द्वितीयको 'प्रायकी' संज्ञा दी जाती है। विवेकजा जुगुप्सासे शुद्ध बीभत्स तथा प्रायकी-से क्षोभज और उद्वेगी बीभत्सको सम्बद्ध किया जा सकता है।

अधिकाश हिन्दी काव्याचार्योंने 'जुगुप्सा'के स्थानपर 'घृणा'को वीभत्स रसका स्थायी भाव बताया है। भिखारी-दासने लिखा है—'घिनते है बीभत्स रस' (का० नि० : ४-८)। पर कहीं-कहीं कवियोंने दोनों शब्दोंका प्रयोग किया है, जैसे, देवने 'वस्तु घिनौनी देखि सुनि घिन उपजे जिय माँहि। छिन बाढ़े वीभत्स रस, चितकी रुचि मिट जाँहि। निन्द्य कर्म करि निन्द्य गति, सुनै कि देखै कोइ। तन सकोच मन सम्भ्रमरु द्विविध जुगुप्सा होइ।' (श० र०)।

इससे सिद्ध होता है कि घृणा या घिनको कवियोंने 'जुगुप्सा'का पर्याय समझकर ही प्रयुक्त किया है। देवने यहाँ जुगुप्साकी द्विविध उत्पत्ति मानी है, पर वह विवेकजा और प्रायकीके समान्तर नहीं है।

कभी कभी वीभत्स रसका कुछ अन्य रसोंसे पृथक्करण कठिन हो जाता है। शान्त और भक्ति रसके प्रसंगोंमें भी नारीके प्रति वैराग्य-भावना व्यक्त करनेकी दृष्टिसे अथवा क्षणभंगुर शरीरके प्रति मोह कम करनेके लिए इनका वीभत्सतापूर्ण चित्रण किया जाता है और सस्कृतके स्तोत्रोंमें 'नारीस्तनभरणाभिनिवेशम् एतन्मासवसादिवि-कारम्', अर्थात् नारीके विविध अंग मास-मज्जाके विकार-मात्र हैं, कहा गया है, अथवा जैसे सूरदासने लिखा है—'जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं। ता दिन मैं तनकै विष्ठा कृमिकै है खाक उड़ैहैं।' ऐसे स्थलोंपर जुगुप्सा स्वय स्थायी भाव न होकर शमका सहायक संचारी जैसा प्रतीत होता है, अतएव यहाँ वीभत्स रस नहीं माना जायगा।

हिन्दी काव्योंमें बीभत्स रस मुख्यतया युद्ध-वर्णनके प्रसगोंमें मिलता है। पौराणिक परम्पराकी कथाओंके अन्तर्गत राक्षसों और दानवोंके क्रिया-कलाप तथा नरक आदिके चित्रणमें भी वीभत्सताका विशेष समावेश रहता है और काव्यमें उनका वर्णन भी प्रायः वीभत्स रसकी कोटिमें आता है। 'कवितावली' रामायण'में तुलसीने, वीभत्सका एक स्थलपर अच्छा चित्रण किया है—'ओझरीकी झोरी काँधे, आँतनिकी सेल्ही बाँधे, मूँडके कमण्डल, खपर किये कोरिकै। जोगिनी झुटुण्ड झुण्ड-झुण्ड बनी तापस-सी, तीर-तीर बैठीं सो समरसरि खोरि कै।' (लका)। वीर काव्योंमें युद्धभूमिके वर्णनोंमें इसका विशेष उपयोग हुआ है। इसी प्रकार हरिश्चन्द्रने अपने नाटक 'हरिश्चन्द्र'में श्मशान-भूमिका चित्रण किया है। —ज० गु०

बुंदेली—ग्रियर्सनके अनुसार पश्चिमी हिन्दीकी पाँच बोलियोंमेंसे एक, जो ब्रजभाषा तथा कन्नौजीके साथ पश्चिमी हिन्दी बोलियोंका दक्षिणी वर्ग बनाती है। बुन्देली बुन्देल-खण्डकी बोली है। शुद्ध रूपमें यह उत्तरप्रदेशमें झाँसी, जालौन, हमीरपुर जिलों तथा मध्यप्रदेशमें ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, सागर, नृसिंहपुर, सिवनी तथा होशगाबाद जिलोंमें बोली जाती है। इसके मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिन्दवाड़ाके कुछ भागोंमें पाये जाते हैं। बुन्देली बोलनेवालोंकी सख्या ग्रियर्सनने ६९ लाखके लगभग मानी थी। हिन्दी साहित्यके इतिहासके मध्यकालमें बुन्देलखण्ड साहित्यका प्रसिद्ध केन्द्र रहा, किन्तु यहाँके कवियोंने ब्रजभाषामें ही कविता लिखी, यद्यपि उनकी ब्रजभाषापर बुन्देली बोलीका प्रभाव जहाँ-तहाँ मिलता है। —धी० व०

बुझौवल—इसका सीधा अर्थ है 'बूझ', परीक्षासे सम्बन्धित उक्ति। शब्दार्थकी दृष्टिसे बुझौवल और पहेलीमें कोई अन्तर नहीं। कहीं-कहीं पहेलीके लिए बुझौवलका ही उपयोग होता है, पर पारिभाषिक दृष्टिसे दोनों शब्द अलग-अलग हैं। बुझौवल सप्रसग, साभिप्राय होता है। इसमें किसी व्यक्तिसे हम अभिप्रायविशेषसे पहेलीरूपमें कोई बात कहकर अपना इष्ट साधते हैं। फलत बुझौवलके लिए प्रसंग प्रस्तुत करनेके लिए एक कहानीकी आवश्यकता हो जाती है। उस कहानीमें बुझौवलका उपयोग केवल उक्ति-चमत्कारके लिए नहीं होता, अभिप्राय सिद्ध करनेके लिए होता है। ऐसी बुझौवलोंका एक प्रकार ऐसा हो सकता है जिसमें सिद्धान्तपरीक्षण हो, किसीको कोई बात सिद्धान्तके रूपमें दे दी गयी और उसने फिर उसकी परीक्षा करके उसे सत्य पाया। दूसरे प्रकारकी बुझौवलमें किसी पदार्थके रूपमें पहेली बूझी जाती है। पहेली बुझौवलमें उन बातोंकी परीक्षा प्रकृत परिस्थितियोंसे हो जाती है। दूसरी बुझौवलमें किन्हीं बातोंको सिद्ध करनेके लिए परिस्थितियाँ पैदा की जाती है। कहीं किसी विचित्र दृश्य अथवा घटनाको देखकर पृच्छा उत्पन्न होती है और उसके समाधानके लिए कहानी प्रस्तुत की जाती है, जैसे, गगाराम पटेलकी कहानियाँ। जहाँ कहानियोंमें एक समस्या खड़ी हो जाती है और उसका समाधान किसीसे पूछा जाता है, ऐसी बुझौवल बैताल-विक्रमकी कहानियोंमें है। कहीं बुझौवल किसी बातको गुप्त रखने या गुप्त प्रकारसे किसीको कोई बात ज्ञात करानेके लिए उपयोगमें आती है। बुझौवलके द्वारा वार्तालाप भी हो सकता है। बुझौवलके उपयोगके ऐसे ही कितने ही रूप हो सकते हैं। विना प्रसग अथवा कहानियोंके बुझौवलका एक रूप उस साकेतिक भाषामें मिलता है, जिसमें एक पेशेवाला अपनी बात अपने साथी-

को बताता है। सुनारोंकी 'पारसी' इसका उदाहरण है। कपड़ेवाले कपड़ेके भावोंको आपसमें ऐसी ही विलक्षण शब्दावलीसे प्रकट करते हैं। वस्तुतः तो ये बुझौवल है नहीं, क्योंकि इनका अर्थ जिसे ग्रहण करना है, वह उनका अर्थ जानता होता है। उनमें कोई सांकेतिक अर्थ नहीं रहता। बुझौवलमें अभिधार्थसे काम नहीं चलता, बुद्धिका उपयोग आवश्यक होता है। —सं०

बुत—'बुत'का अर्थ मूर्ति है। पहले लोग समझते थे कि यह शब्द फारसीका है और अरबीमें 'बुद' हो गया है। वास्तवमें यह शब्द 'बुद्ध'से बना है। ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीके पहलेतक मध्य एशिया, खुरासान, अफगानिस्तान आदिमें बौद्ध धर्मका प्रचार था। सन् ईसवीकी दसवीं शताब्दीमें बुखारा बौद्ध धर्मका एक केन्द्र था। सालभरमें दो बार वहाँ मेला लगता था, जहाँ बुद्धकी मूर्तियाँ बिकती थीं। इन्हीं मूर्तियोंसे मूर्ति शब्दका पर्याय अरबीमें 'बुद' और फारसीमें 'बुत' हो गया। प्रेमपात्रके लिए इस शब्दका प्रयोग करते हैं। सूफी साहित्यमें इसका प्रयोग कभी परम सौन्दर्य(परमात्मा)के लिए, तो कभी मुर्शिद(गुरु)के लिए किया गया है, कभी कामिल(पूर्ण मानव)के लिए किया गया है। परमात्माके सिवा कभी-कभी अन्य उपास्यके लिए भी इसका प्रयोग हुआ है। —रा० पू० ति०

बुत-परस्ती—मूर्ति-पूजा। परमात्माके प्रेमी साधकके लिए भी इसका प्रयोग हुआ है। (दे०—'बुत') —रा० पू० ति०

बुद्धिवाद—सामान्यतया बुद्धिवाद शब्दका प्रयोग एक ऐसे व्यापक दृष्टिकोणके अर्थमें किया जाता है, जो जीवन और जगतको समझने तथा उसकी व्याख्या करनेमें मनुष्यकी बुद्धिको सर्वोपरि महत्त्व देता है। वह परम्परा, आप्त-वचन, धार्मिक पवित्र पुस्तकों आदिमें अन्धश्रद्धाके विरुद्ध विद्रोह है। ज्ञान और श्रेयकी खोजमें वह मानवीय बुद्धिको ही उच्चतम स्थान देता है। आभ्यन्तर और बाह्य प्रकृतिकी व्याख्या करनेमें वह ईश्वर जैसी पराप्राकृतिक मान्यताओंमें विश्वास नहीं करता वरन् वह विज्ञान द्वारा प्रस्तुत ज्ञानको स्वीकार करता है। जो तथ्य वैज्ञानिक विचारणा और पद्धतिकी कसौटीपर पूरा नहीं उतरता उसे वह सत्य नहीं मानता। इस प्रकार वह विशुद्ध प्रकृतिवादी, इन्द्रिय-प्रत्यक्षपरक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। स्पष्ट है कि ऐसा दृष्टिकोण ईश्वर, परम्परीण धर्म, परलोक, पुनर्जन्म, आत्मा आदिको अन्धविश्वास समझता है।

मानवीय संस्कृतिके इतिहासमें बुद्धिवादी दृष्टिकोण समय-समयपर व्यक्त होता रहता है। प्राचीन भारतमें चार्वाक और उसके अनुचरोंकी आस्था इसी प्रकारके दर्शनमें थी। प्राचीन ग्रीस और रोममें भी बुद्धिवादी थे। निर्वाणको जीवनका परम श्रेय बतलानेवाले बुद्ध तत्त्वतः और बहुत बड़ी सीमातक विशुद्ध बुद्धिवादी थे। विज्ञानकी सफलता और प्रधानताके कारण आधुनिक युगकी प्रवृत्ति बुद्धिवादी ही है।

बुद्धिवाद शब्दका प्रयोग प्राचीन ग्रीस और रोममें प्रचलित उस मान्यताके लिए भी होता है, जिसके अनुसार मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। प्लेटोके अनुसार बुद्धि आत्माका सर्वोच्च अंश है और उसका कार्य शरीरपर शासन करना है। अरस्तू भी बुद्धिको आत्माकी सर्वोच्च शक्ति मानता है। इस दृष्टिकोणके अनुसार बुद्धिमान् या विवेकशील मनुष्य ही सदाचारी है, क्योंकि सत्को जानना उसपर आचरण करना है, पाप अज्ञानका परिणाम होता है।

(पश्चिमी) दर्शनशास्त्रमें बुद्धिवाद शब्द एक विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त होता है। इस मतके अनुसार बुद्धि सत्यकी खोज कर सकनेमें स्वतः ही समर्थ है। सत्य-ज्ञानकी प्राप्ति बुद्धिसे ही होती है। केवल इन्द्रियप्रत्यक्षसे संगत और सार्विक ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता। दृष्टि, शब्द, स्पर्श, स्वाद और गन्धकी संवेदनाएँ तथा अनुभूतियाँ ज्ञान नहीं हैं। वह ज्ञान तभी होती है जब बुद्धि उनको सुसंघटित करती है। सत्य-ज्ञान संवेदनोंसे नहीं वरन् प्रत्ययों, सिद्धान्तों और नियमोंसे प्राप्त होता है। मनुष्यकी बुद्धि ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सकती है, जो इन्द्रिय-प्रत्यक्षकी सीमासे परे है। इस प्रकारके बुद्धिवादका अतिवादी रूप यह विश्वास करता है कि मनुष्य इन्द्रियोंकी सहायतासे नितान्त स्वतन्त्र होकर परम सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ है। देकार्त्, स्पिनोज़ा, लाइबनित्ज और काण्ट आदि प्रमुख बुद्धिवादी दार्शनिक हैं। बीसवीं शतीके उन्नत साहित्यमें प्रायः सर्वत्र बुद्धिवादको प्रधानता देखी जा सकती है। —आ०

बूर्ज्वा—यह शब्द फ्रेंच भाषाका है और इसका तात्पर्य है पूँजीपति, किन्तु साधारण बोलचालकी भाषामें यह आधुनिक व्यवसायी समाजके उच्च वर्गकी ओर संकेत करता है। —रा० कु० त्रि०

बेशरा—वे सम्प्रदाय जो शरीअतका पालन करनेमें शिथिलता दिखलाते हैं। ये इसलामके आचरण-विचारपर ध्यान नहीं देते। धर्मके मामलेमें ये बड़ी स्वतन्त्र प्रकृतिका परिचय देते हैं। नाना प्रकारके चमत्कारोंके बलपर ये लोगोंको अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इन सम्प्रदायोंके अधिकांश साधक अशिक्षित हैं। अध्ययनकी आवश्यकता वे नहीं समझते। सनातनपन्थी इसलामके अनुयायी इन सम्प्रदायोंको अच्छी निगाहसे नहीं देखते, फिर भी साधारण जनतामें इनका खूब प्रभाव है। —रा० पू० ति०

बैल—योग-साधनामें मन या बोधिचित्तको बैलकी उपमा देते हैं। चूँकि मनसे संसार उत्पन्न होता है, अतः उसीको बैलके प्रसवकी चमत्कार-योजना मानते हैं—'बलद बिआअल गविआ बाँझ' (चर्यापद ३३), 'बैल बियाय गाय भै बंझा' (क० ग्र०)। —ध० वी० भा०

बैलेड—दे०—'नृत्यगीत', लोकगाथा और साहित्यिक गाथा।

बैसवाड़ी—यह नाम कभी-कभी अवधी भाषाके लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इस नामका प्रयोग बैसवाड़ेकी बोलीके लिए अधिक उपयुक्त है। बैसवाड़ा अवध-प्रान्तका एक क्षेत्र है, जिसके भूभाग, उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली और फतेहपुर जिलोंमें पड़ते हैं। इस क्षेत्रके निवासी अपनी आनपर डटनेवाले तथा स्वाभिमानी होनेके लिए प्रख्यात हैं। भाषाके लक्षणकी दृष्टिसे यहाँकी बोली बैसवाड़ी बोली मध्यवर्ती 'अवधीके अन्तर्गत समझनी चाहिये। प्रमुख भेदक लक्षण ये हैं—ह्रस्व ए और ओके लिए य और व

और दीर्घ ऐ और औके लिए या और वा इस बोलीमें पाया जाता है, उदाहरणके लिए, केरकी जगह क्यार और चोरकी जगह च्वार। —वा० रा० स०

बोधक–दे०—'स्वभावज अलकार', बीसवाँ।

बोधिचर्या–दे०—'महायान'।

बोधिचित्त–महायानमें साधना-पद्धतिका आधारविन्दु बोधिचित्तको माना था (दे०–'महायान')। वज्रयानी साधनाओंमें भी बोधिचित्तका महत्त्व विकसित होता गया। सिद्धोंने यह कहा है कि चित्त साधनाका आधार है। जबतक इसमें सहज सम्बोधि नहीं जागती तबतक वह चचल रहता है, **मूषक**के समान और कालमें प्रवेश कर जाता है। जब यह नैरात्म्यज्ञानके प्रति जाग्रत् होकर करुणा या उपायसे समन्वित हो जाता है तब यह उस **गजेन्द्र**की भाँति हो जाता है जो नलिनीवनमें विहार करता है। प्रज्ञोपाय-साधनामें प्रवृत्त होनेके पूर्व इसका रूप स्पन्दरूप है और प्रवृत्त होनेके बाद वज्ररूप हो जाता है। जब प्रज्ञोपायका युगनद्ध सम्पन्न कर लेता है तब यही चित्त **सहजचित्त** हो जाता है।

विज्ञानवादी परम्परामें भवजालसे मुक्त कर चित्तको करुणामे समन्वित कर साधना-पथमें अग्रसर करनेकी प्रणालीको **बोधिचित्त-समुत्पाद** कहते थे। यह साधना-महारम्भ, चित्तका महा उदय, साधकका महा उत्साह कहलाता था। वज्रयानी सिद्धोंमें केवल एकाध स्थलपर समुत्पाद या महा उदयका चित्रण है, जब चित्तवृत्तियोंका अस्त होनेके बाद प्रज्ञा या शून्यकी शीतल रजनीका उदय होता है, वही प्रज्ञाज्ञानाभिषेकदानका समय है, उसमे बोधिचित्त नवचन्द्रके रूपमें विहार करता है। किन्तु अधिकतर सिद्धोंने इस प्रक्रियाके लिए समुत्पादके स्थानपर **चित्तविशोधन** शब्दका प्रयोग किया है। कहीं-कहीं **चित्तहनन** या **चित्तमारण** शब्दका भी प्रयोग है। यह विशोधन शब्द रसायनशास्त्र और उसपर आधारित प्राचीन तान्त्रिक शब्द है, जो वस्तुत गुह्य साधनामें पारेके विशोधन और उसके द्वारा अमरत्व लाभ करनेके अर्थमें प्रयुक्त होता था। चित्त पारदवत् चचल है और पारेके लिए भी मारण शब्दका प्रयोग है, पारेका मारण या हनन अर्थात् पारेकी चंचलता नष्ट कर देना। सिद्ध लोग इस साधनाका सम्बन्ध बुद्धकी **धर्मकाया**से भी जोड़ते हैं। धर्मकाया धर्मधातुसे निर्मित होती है। चित्तका विशोधन कर उसे धर्मधातुमें परिवर्तित-कर बुद्धकी धर्मकायामें लीन कर देते हैं।

इसीको **अमनसिकार** या अमनस्कार-साधना भी कहते हैं। बोधिसत्त्व मनके स्वभावको अमनस्कार कहते हैं। 'महायान-सूत्रालकार'में इस अमनस्कार-प्रणालीकी सम्यक् विवेचना है। सर्वास्तिवादी दशभूमिक चैत्त धर्मोंमें एक मनस्कार मानते थे, जिसका अर्थ था ससारमें प्रवृत्त होना। विज्ञानवादियोंने इसे दसमें एक गौण वृत्ति न मानकर, सर्वप्रमुख वृत्ति मान लिया, अत मनस्कारका निषेध करना बोधिचित्तसमुत्पादकी प्रथम प्रक्रिया हो गयी। अमनस्कारमें विज्ञानवादियोंने **ध्यान-साधना**को विशेष सहायक माना, जो चित्तकी एकाग्रतासे सम्पन्न होती थी।

ध्यान-साधनामें 'अर्हन' शब्दको अपने मनमें धारण कर उसपर ध्यान एकाग्र करना चाहिये। अर्हन बीजाक्षर है, जिसके तीनों अक्षर बुद्ध, धर्म और सघ(त्रिरत्न)के प्रतीक हैं। बादमें चित्तमें पंच महाभूतोंका उदय होता है, जिन्हें ऊर्ध्वोन्मुख कर चक्रोंमें स्थापित किया जाता है। वज्रयानी सिद्धोंने अर्हनके स्थानपर एवको बीजाक्षररूपमें ग्रहण करने का आदेश दिया, जिसके दोनों अक्षर प्रज्ञा और उपायके प्रतीक हैं। इस साधनामें सिद्धोंने बोधिचित्तका उदय शुक्रतारकके रूपमें माना है। (दे० 'बौद्धधर्म-दर्शन' नरेन्द्रदेव। 'सिद्ध-साहित्य' धर्मवीर भारती)—ध०वी०भा०

बोधिचित्तसमुत्पाद–दे०–'बोधिचित्त'।

बोधिसत्त्व–दे०–'महायान'।

बोल-कक्कोल-योग–बोधिचित्तको जाग्रत् कर प्रज्ञा और उपायके **युगनद्ध**की साधनाको सिद्धोंने बोल-कक्कोल-योग की संज्ञा भी दी है। यह गुह्य तान्त्रिक साधना थी, जिसके कुछ प्रतीकोंपर प्रबोधचन्द्र बागची ने प्रकाश डाला है (दे० स्टडीज इन तन्त्राज)। यह रस साधना **कर्पूर**के किसी प्रयोगसे सम्बद्ध थी। कर्पूरके रूपमें सहजकी सिद्धि-का संकेतात्मक उल्लेख तिल्लोपाके 'दोहाकोष'की टीकामें मिलता है। कक्कोल(कमल, प्रज्ञा)में बोल(कुलिश, वज्र, उपाय)का प्रक्षेपण कर उसका कुन्दुरु योग करे तो उससे कर्पूररूपी सहजकी उत्पत्ति होती है। 'प्रज्ञोपायविनिश्चय-सिद्धि'में बोधिचित्ताभिषेकके समय कर्पूरका उल्लेख किया गया है। 'दोहाकोष'की टीकामें ही इसका प्रयोग कर्ममुद्रामें मैथुनके समय बताया जाता है। —ध० वी० भा०

बोलशेविक–यह शब्द रूसकी कम्युनिस्ट पार्टीसे सम्बन्धित है, जिसने बादमें चलकर समाजवादकी स्थापना की। बहुत दिनोंतक रूसमें कम्युनिस्ट पार्टीके नामके आगे बोलशेविक शब्द जुड़ा रहता था, किन्तु अब उसे हटा दिया गया है। —रा० म० त्रि०

बौद्ध भार्याएँ–महायानी सम्प्रदायोंमें पाँच ध्यानी बुद्धों-की कल्पना की गयी है। ये पाँच ध्यानी बुद्ध हैं वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य। तान्त्रिक-पद्धतिके अनुसार इनकी पाँच भार्याओं या शक्तियोंकी भी कल्पना की गयी—मोहरति, ईर्ष्यारति, रागरति, वज्ररति, वेषरति। ये पच भार्याएँ या रतियाँ ही पंच कुलों-को उत्पन्न करती थीं, जो मोह, ईर्ष्या, राग, वज्र और द्वेष कहलाते थे। समस्त वज्रयानी देवशृखला ध्यानी बुद्ध तथा भार्याओंसे उद्भूत हुई है। इन्हीं शक्तियोंको वज्रधाती-श्वरी, लोचना, मामकी, पाण्डरा तथा आर्यतारा भी कहते थे। —ध० वी० भा०

ब्रजबुलि–ब्रजबुलि बंगाल, आसाम तथा उड़ीसा प्रदेशके मध्यकालीन (१५वीं–१६वीं शती) कृष्णभक्त वैष्णव-कवियों द्वारा प्रयुक्त एक कृत्रिम-सी भाषा है। इसका मूल ढाँचा मैथिली तथा बगालीके सयोगसे बना है। कुछ शब्द मथुरा-वृन्दावनकी बोलीके इसमें मिश्रित रहते हैं। ब्रजबुलिका पद-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। आधुनिक समयमें प्रसिद्ध बंगाली कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने भानु सिंहके नामसे ब्रजबुलिमें कुछ पदोंकी रचना की है। —रा० स्व० च०

ब्रजभाषा–पश्चिमी हिन्दी(दे०)की पाँच बोलियोंमेंसे एक मुख्य बोली। ग्रियर्सनके अनुसार इसका प्रसार

निम्नलिखित प्रदेशोंमें है—उत्तरप्रदेशके मथुरा, अलीगढ़, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायूँ तथा बरेलीके जिले, पूर्वी पंजाबमें गुड़गाँव जिलेकी पूर्वी पट्टी, राजस्थानमें भरतपुर, धौलपुर, करौली तथा जयपुरका पूर्वी भाग, मध्यप्रदेशमें ग्वालियरका पश्चिमी भाग। धीरेन्द्र वर्मा कन्नौजी बोलीको भी व्रजभाषाके अन्तर्गत रखते हैं, अतः उत्तरप्रदेशके पीलीभीत, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा और कानपुरके जिले भी उन्होंने व्रजप्रदेशमें सम्मिलित कर लिये हैं। आधुनिक व्रजभाषा १ करोड़ २३ लाख जनताके द्वारा बोली जाती है और लगभग ३८,००० वर्गमीलके क्षेत्रमें फैली हुई है।

व्रजभाषाका साहित्यमें प्रयोग १६वीं शताब्दीके प्रारम्भसे मिलता है, जब व्रजप्रदेशमें गौड़ीय वैष्णव और वल्लभसम्प्रदाय अथवा पुष्टिमार्गके केन्द्र स्थापित हुए। सूरदास साहित्यिक व्रजभाषाके सर्वश्रेष्ठ कवि थे। उनके उपरान्त हिन्दी प्रदेशके लगभग समस्त कृष्णभक्त कवियोंने अपनी रचनाएँ व्रजभाषामें ही लिखीं, जिसके फलस्वरूप व्रजभाषा हिन्दी प्रदेशकी प्रमुख साहित्यिक भाषा बन गयी। १७वीं और १८वीं शताब्दीका हिन्दी रीति-साहित्य भी व्रजभाषामें ही लिखा गया। यह भक्तिकालकी व्रजभाषाका अधिक परिमार्जित और साहित्यिक रूप है तथा इसपर पूर्वी व्रज(कन्नौजी)का प्रभाव कुछ अधिक मिलता है। व्रजभाषाकी साहित्यिक परम्परा २०वीं शताब्दीमें भी क्षीण रूपमें चल रही है।

व्रजभाषाके वर्तमान लोक-साहित्यका अध्ययन सत्येन्द्र द्वारा हुआ है। इसमें व्रजभाषाका वर्तमान ग्रामीण रूप मिलता है।

ऐतिहासिक विकासकी दृष्टिसे व्रजभाषाका सीधा सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश तथा शौरसेनी प्राकृतसे है। कुछ विद्वानोंका मत है कि साहित्यिक तथा वैदिक संस्कृतका मूलाधार भी शूरसेन जनपदकी ही समकालीन बोली थी। शूरसेन जनपदकी सीमाएँ वर्तमान व्रजप्रदेशसे मिलती-जुलती रही होंगी। इसका केन्द्र मथुरा रहा है।

यह बोली प्रारम्भमें 'पिंगल' तथा 'भाखा' नामोंसे प्रसिद्ध थी। निश्चित रूपसे 'व्रजभाषा' नामका उल्लेख १८वीं शताब्दीसे पूर्व नहीं मिलता है। बंगाली कवियोंकी 'व्रजबुलि' व्रजभाषा नहीं थी, बल्कि मैथिली बोलीसे मिली हुई हिन्दी शब्दों तथा हिन्दी व्याकरणके ढाँचेमें ढली हुई बंगालीकी ही एक शैली थी। —धी० व०

ब्रह्मनाड़ी—दे०—'हठयोग'।

ब्रह्मरंध्र—दे०—'हठयोग'।

ब्रह्मवाद—ब्रह्म शब्द बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्यमें इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है और ब्रह्म सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तोंका विशद वर्णन है। आरम्भमें ब्रह्म शब्दका अर्थ धन, वाक् और प्रार्थना था, किन्तु इन अर्थोंका प्रचलन शीघ्र इसकी व्युत्पत्ति द्वारा बन्द हो गया। व्युत्पत्तिसे ब्रह्म शब्द बृह (बढ़ना) धातुसे बना है। जो बृहत्तम या महत्तम हो, जो सबसे बड़ा-चढ़ा हो, जिसमें 'बढ़ना' क्रियाके सभी अर्थ शामिल हों, उसे ब्रह्म कहा जाता है। शंकर, रामानुज आदि ब्रह्मवादियोंने अपने भाष्योंमें ब्रह्म शब्दकी यही व्युत्पत्ति की है। शंकरके मतानुयायियोंने बृहत्तम या महत्तमके अर्थकी विशद व्याख्या करते हुए ब्रह्मके स्वरूपपर प्रकाश डाला है। जो देश, काल और वस्तुसे सीमित हो, जो अनित्य तथा परिवर्तनशील हो, जो गुणहीन और दोषयुक्त हो, जो जड़ तथा अज्ञानी हो, जो परतन्त्र तथा बद्ध हो, उसे महत्तम या ब्रह्म नहीं कहा जा सकता, वह तो 'अल्प' है। अतः ब्रह्म अनन्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। 'ब्रह्म'को ही 'भूमा' कहते हैं, क्योंकि दोनों समानार्थक हैं। 'छान्दोग्योपनिषद्'में कहा गया है कि जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं जानता तथा कुछ और नहीं सुनता वह भूमा है, किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है वह 'अल्प' है। जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वही मर्त्य है। इस प्रकार भूमा या ब्रह्मको अनानात्व या अद्वैत कहा गया है। यदि ब्रह्म दो हैं तो फिर वे ब्रह्म या बृहत्तम अथवा असीम और अनन्त नहीं हो सकते, वे अपरमापेक्ष्य होंगे और इस कारण ब्रह्म न होकर अल्प होंगे। अनन्तता, निरपेक्षता, स्वतन्त्रता तथा अद्वितीयता ब्रह्मके अनिवार्य लक्षण हैं, क्योंकि बृहत्तम होनेसे वह सान्त, सापेक्ष, परतन्त्र तथा सद्वितीय नहीं हो सकता।

'तैत्तिरीय उपनिषद्'में कथा है कि भृगु अपने पिता वरुणके पास गया और बोला—भगवन्, मुझे ब्रह्मका बोध कराइये। तब वरुणने कहा—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति' अर्थात् जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर जिसके आश्रयसे वे जीवित रहते हैं और अन्तमें विनाशोन्मुख होकर जिसमें वे लीन होते हैं, उसे विशेष रूपसे जाननेकी इच्छा कर, वही ब्रह्म है।

'छान्दोग्य उपनिषद्'में शाण्डिल्यने ब्रह्मकी उपर्युक्त परिभाषाके अर्थमें ही सूत्रवत् 'तज्जलान' कहा है। ब्रह्म तज्जलान है, क्योंकि वह तज्ज, तल्ल और तदन है। तत्+ज+ल+अन्‌से तज्जलान बनता है। क्योंकि समस्त भूत ब्रह्मसे जात या उत्पन्न होते हैं इसलिए वह तज्ज है, सभी भूतोंका उसी ब्रह्ममें लय होता है अतः वह तल्ल है, फिर समस्त भूत अपने स्थितिकालमें उसी ब्रह्ममें अनन्त या प्राणन यानी चेष्टा करते हैं, इसलिए ब्रह्म तदन है। अन्तमें तीनोंको मिलाकर ब्रह्म तज्जलान हो जाता है, जो ब्रह्मका प्रथम लक्षण है। ब्रह्मसूत्रकार बादरायणने इसी लक्षणको 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र०सू० १ : १ : २) कहा है, जिसका शाब्दिक अर्थ है कि जिससे समस्त भूतोंके जन्म आदि (आदिसे अभिप्राय स्थिति और लयसे है) होते हैं, वही ब्रह्म है। इस परिभाषाका बादमें चलकर बड़ा आदर हुआ, जिसके फलस्वरूप 'जन्माद्यस्य यतः' शताब्दियोंसे आजतक ब्रह्मका लक्षण माना जाता है। प्राविधिक शब्दावलीमें इसे ब्रह्मका तटस्थ लक्षण कहते हैं। इस लक्षणमें तीन बातें उल्लेखनीय हैं। पहली, ब्रह्मसे सृष्टि आरम्भ होती है। इस कारण जगत्‌के मूल कारणको ब्रह्म कहते हैं। दूसरी, ब्रह्म सृष्टिमें अन्तर्व्याप्त है। वह अन्तर्यामी है और सभी वस्तुओंकी आधारभूत और नियामक सत्ता है। तीसरी,

ब्रह्ममें ही सृष्टिका अन्त होता है अर्थात् ब्रह्म ही सृष्टिका साध्य भी है। इससे सिद्ध होता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है। यहाँ स्मरण रहे कि ब्रह्म 'प्रकृति'के अर्थमें जगत्का मूल कारण नहीं है। किसी वस्तुके मुख्यतः दो कारण होते हैं, उपादान कारण और निमित्त कारण। घड़ेका उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्भकार। प्रकृतिवादी प्रकृतिको केवल जगत्का उपादान कारण मानते हैं। निमित्त कारण कार्यको गति, आकार तथा प्रयोजनता प्रदान करता है और उपादान कारण कार्यकी वस्तु-सामग्री है। ब्रह्मके उपर्युक्त लक्षणसे सिद्ध है कि वह जगत्का उपादान और निमित्त दोनों कारण है, क्योंकि जगत्का उसीसे आरम्भ होता और उसीमें स्थिति है इसलिए वह जगत्का उपादान कारण है, फिर वह जगत्को अपनी स्वतन्त्रतासे रचकर नियन्त्रित करता है, शासित करता है और अपनेमें ही उसका विलय करता है इसलिए वह जगत्का निमित्त कारण है। जगत्के उपादान कारण और निमित्त कारण, दोनों एक ही ब्रह्ममें होनेके कारण ब्रह्मवाद प्रकृतिवाद और ईश्वरकारणवादसे पृथक् है। ब्रह्मवाद अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद है अर्थात् एक और अद्वितीय ब्रह्म ही जगत्का निमित्त और उपादान, दोनों कारण है। प्रकृतिवाद केवल जगत्का उपादानकारणवाद है और ईश्वरकारणवाद केवल निमित्तकारणवाद। सांख्यदर्शन प्रकृतिवाद, न्याय-वैशेषिक ईश्वरकारणवाद और वेदान्त ब्रह्मवादको मानता है। यद्यपि ब्रह्मवादियोंमें ब्रह्मके स्वरूपपर मतभेद है, पर ब्रह्मका यह लक्षण और उसकी अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता सबको मान्य है।

सूक्ष्म-रूपसे विचार करनेपर ज्ञात होगा कि ब्रह्मको इस प्रकार समझनेपर उसे सब वस्तुओंका सत्, सब चैतन्यधारी जीवोंका चैतन्य तथा अनन्त मानना पड़ेगा। इस कारण 'तैत्तिरीय उपनिषद्'में ब्रह्मको 'सत् चित् आनन्दम्' कहा गया है। फिर अनन्त होनेके कारण ही वह निर्दोष तथा दुःखशून्य है इसलिए उसे आनन्द भी कहा जाता है। सत्-चित्-आनन्दको मिलाकर सच्चिदानन्द बनता है, जो ब्रह्मका दूसरा लक्षण समझा जाता है। इसको स्वरूपलक्षण कहते हैं। तटस्थ लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' या 'तज्जलान' ब्रह्मकी परिभाषा जगत्के माध्यमसे देता है और स्वरूप-लक्षण 'सच्चिदानन्द' या 'सच्चिदनन्त' उसकी परिभाषा बिना जगत्के माध्यमसे स्वतः ब्रह्मके सद्भाव या स्वरूपमात्रसे देता है।

ब्रह्म क्या है? इस प्रश्नका उत्तर ब्रह्मकी परिभाषा निश्चित हो जानेपर भी सरल नहीं है। औपनिषद् दार्शनिकोंने विभिन्न रूपोंमें ब्रह्मको समझनेकी चेष्टा की है। स्वतन्त्र विचारकका ध्यान पहले बहिर्मुखी हो जाता है और बादमें अन्तर्मुखी। अतः पहले बाहरी वस्तुएँ—जैसे, आदित्य, चन्द्रमा, पर्जन्य, पृथ्वी आदि ब्रह्म मानी गयीं। फिर शरीर और इन्द्रियोंमेंसे प्रत्येकको ब्रह्म समझा गया। अन्तमें सारी खोजका पर्यवसान 'प्रत्यगात्मा ब्रह्म है' इस सिद्धान्तमें हुआ (दे०—'आत्मवाद')।

इस खोजमें भृगुका नाम अमर है। ऊपर कहा गया कि 'तैत्तिरीय उपनिषद्'में भृगुने अपने पितासे ब्रह्म जाननेकी चेष्टा की। पिताने उन्हें तपस्या करनेको कहा। तपस्याके उपरान्त भृगुने पहले अन्नको ब्रह्म समझा, क्योंकि निश्चय ही अन्नसे ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर अन्नसे ही जीवित रहते हैं तथा प्रयाण करते समय अन्नमें लीन होते हैं। 'अन्न'का यहाँ अर्थ पृथ्वी और पार्थिव वस्तु है। इसे हम मिट्टी भी कह सकते हैं।

कुछ और तप करके भृगुने प्राणको ही ब्रह्म माना, क्योंकि प्राणसे ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर प्राणसे जीवित रहते हैं और मरणोन्मुख होनेपर प्राणमें ही लीन हो जाते हैं।

तीसरे, फिर तप करनेपर भृगुको ज्ञात हुआ कि विज्ञान ब्रह्म है, क्योंकि विज्ञानसे ही सब जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर विज्ञानके द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय विज्ञानमें ही समा जाते हैं।

अन्तमें पुनः तप करनेपर भृगुको ज्ञात हुआ कि आनन्द ब्रह्म है, क्योंकि आनन्दसे ही सब जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर आनन्दके द्वारा ही जीवित रहते हैं और मृत्युके समय आनन्दमें ही लीन हो जाते हैं।

'तैत्तिरीय उपनिषद्'की 'आनन्दवल्ली'में अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दको ब्रह्मका कोष कहा गया है। ब्रह्मको क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय माना गया है। इनमें परवर्तीको पूर्ववर्तीका आधार दिखलाया गया है। इससे आनन्दमय सबका आधार सिद्ध होता है। बादमें 'ब्रह्म पुच्छप्रतिष्ठा' (ब्रह्म पुच्छप्रतिष्ठा है अर्थात् ब्रह्म सबका आधार है) यह कहकर आनन्दमयसे भी परे ब्रह्मको निश्चित किया गया है।

भृगुके निश्चयसे सभी ब्रह्मवादी सहमत हैं कि आनन्द ब्रह्म है। सच्चिदानन्दमें आनन्द शब्द प्रविष्ट ही है, पर 'आनन्दवल्ली'के निष्कर्षपर वेदान्तियों या ब्रह्मवादियोंका विवाद है। शंकराचार्य और उनके अनुयायी आनन्दमयको ब्रह्म नहीं मानते। अन्य सभी वेदान्तियोंका कहना है कि अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष तथा विज्ञानमय कोषका खण्डन करके 'आनन्दवल्ली'ने निश्चय किया है कि ब्रह्म आनन्दमय है अर्थात् आनन्दसे बना हुआ है (मय प्रत्ययका अर्थ निर्मित होता है), आनन्दसे निर्मित होनेके कारण ब्रह्ममें स्वगत भेद है अर्थात् आन्तरिक भिन्नताएँ हैं। पर शांकर अद्वैतवादियोंका कहना है कि अन्य कोषोंकी भाँति आनन्दमय भी कोष है और जैसे अन्य कोषोंका खण्डन किया गया है, वैसे आनन्दमय कोषका भी खण्डन अभिप्रेत है। ब्रह्म इन कोषोंकी प्रतिष्ठा है, न कि इनमेंसे कोई एक। आनन्दमय न होकर आनन्दघन अर्थात् आनन्दकी प्रचुरता है। मय प्रत्ययका प्रयोग प्राचुर्य अर्थमें भी होता है (द्रष्टव्य पाणिनि तत्प्रकृतवचने मयट् ५ ४ २१)। इससे ब्रह्ममें स्वगत भेदों या आन्तरिक भिन्नताओंकी सत्ता नहीं सिद्ध होती।

भेद या भिन्नता तीन प्रकारकी होती है—स्वगत भेद, सजातीय भेद और विजातीय भेद। यदि ब्रह्मसे भिन्न कोई विजातीय द्रव्य उसके साथ ही हो तो ब्रह्ममें विजातीय भेद मानना पड़ेगा। यदि ब्रह्म एकसे अधिक हो तो उसमें सजातीय भेद मानने पड़ेंगे। यदि ब्रह्म आनन्दमय या शरीरी या पौरुषेय हो तो उसमें स्वगत भेद मानने पड़ेंगे। सभी ब्रह्मवादी ब्रह्ममें सजातीय और विजातीय भेदका

निराकरण करते हैं। अद्वैतवादी और चैतन्य-मतानुयायी स्वगत भेद भी नहीं मानते। अन्य सभी वेदान्ती उक्त स्वगत भेद मानते हैं। इस भेदको माननेसे ब्रह्म भिन्नताओं-की एकता होगा, अर्थात् वह अंगी या शरीरी होगा और भिन्नताएँ उसका अंग या शरीर होंगी। इस कारण अद्वैत-वादियोंको छोड़कर अन्य समस्त वेदान्ती शरीरी ब्रह्मको मानते हैं। भिन्नताएँ गुण हैं, अतएव वे सगुण ब्रह्मको मानते हैं और शंकर निर्गुण ब्रह्मको। फिर सगुण ब्रह्मको अद्वैतवादियोंसे भिन्न सभी वेदान्ती विष्णु या विष्णुका अवतार-विशेष मानते हैं। इसलिए उन्हें वैष्णव या वैष्णव-वेदान्ती कहा जाता है। दार्शनिक दृष्टिसे शंकरका मत समीचीन है और धार्मिक दृष्टिसे वैष्णवोंका मत बहुत आवश्यक है।

ब्रह्म जगत्की सृष्टि वस्तुतः करता है कि माया? इसपर सभी वेदान्तियोंमें मतभेद है। (दे०—'विवर्तवाद')।

शंकराचार्यने ब्रह्मके अस्तित्वके लिए तीन प्रमाण दिये हैं—

(क) सभी वस्तुओंका कोई मूल कारण होता है। वे अपने मूल कारणसे उत्पन्न होती हैं। इस कारणका भी कारण होनेपर अनवस्था दोष आ जायगा। फिर कार्य-कारण-शृंखला अनन्ततक जायगी और जबतक सभी कारणोंका ज्ञान न हो जाय तबतक किसी कार्यका ज्ञान असम्भव है, क्योंकि कार्यका ज्ञान कारण-ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। पर अनवस्थाके कारण अनन्त कारणोंका जानना अशक्य है। अतः किसी कार्यभूत वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु यह अनुभवके प्रतिकूल है। हमें वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होता है। अतः हमें उनका मूल कारण भी कुछ ज्ञात है और वह मूल कारण अर्थात् अजन्मा, अनुत्पन्न कारण या ब्रह्म है। वह असत् नहीं हो सकता, क्योंकि असत्से सत्की उत्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती है।

(ख) जगत्में वस्तुओंकी अपनी क्रमिकता है। वे परस्पर संघटित और संयोजित हैं। उनका अनुक्रम, संघटन या संयोजन किसी अचेतन मूल कारणसे, जैसे प्रकृतिसे उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः उनका आदि कारण चेतन है, न कि जड-प्रकृति, अर्थात् ब्रह्म है।

(ग) ब्रह्म प्रत्यगात्मा होनेके कारण सबको सर्वदा अनुभव होता है कि 'मैं हूँ'। इस 'मैं हूँ'में वही ब्रह्म है।

अन्य वेदान्ती प्रथम दो प्रमाण ही मानते हैं।

'तत्त्वमसि' इस उपनिषद् वाक्यमें तत् पदसे ब्रह्म या परमात्माका और त्वम् पदसे आत्मा या जीवात्माका बोध होता है। इसमें दोनोंका सम्बन्ध दिखलाया गया है। पर इसकी विविध व्याख्या सम्भव होनेके कारण दोनोंमें विविध सम्बन्धोंकी खोज की गयी है। (क) शंकर प्रभृति अद्वैतवादी दोनोंमें अभेद-सम्बन्ध मानते हैं और 'तत्त्वमसि'-का सीधा अर्थ कि 'तू (त्वम्) तत् (ब्रह्म) है' करते हैं। (ख) मध्व जैसे द्वैतवादी दोनोंमें शाश्वत भेद मानते हैं और वाक्यकी व्याख्या यों करते हैं—तस्य त्वम् असि अर्थात् उसके तुम हो। वह तुम्हारा स्वामी है और तुम उसके सेवक हो। तत्त्वमसि वाक्यमें ये लोग 'तत्त्वम्'में समास मानते हैं। (ग) रामानुज जैसे विशिष्टाद्वैतवादी दोनोंमें भेदसे विशिष्ट अभेदका सम्बन्ध मानते हैं। इनके मतसे वाक्यका विग्रह 'तत् त्वम् असि' वह तू है—यही है। पर जीवात्मा देह या अंग है और ब्रह्म देही या अंगी। जैसे 'तुम ब्राह्मण' हो, 'तुम मनुष्य हो' आदि वाक्योंमें 'तुम' पदसे वाच्य जीवात्माको ब्राह्मण जातिका, मनुष्यतासे युक्त समझा जाता है, वैसे हम भी जीवात्मासे युक्त हैं। इस प्रकार इनके मतमें दोनोंमें अंगांगिभावका सम्बन्ध निश्चित होता है। (घ) निम्बार्क जैसे द्वैताद्वैतवादी भेद तथा अभेद, दोनों मानते हैं। तत्त्वमसिकी व्याख्या तत् त्वम् असि—वह तू है—यही है। पर इसका बोध 'स्फुलिंग अग्नि है' 'किरण सूर्य है' आदि वाक्योंकी भाँति है। जैसे स्फुलिंग और अग्नि अथवा किरण और सूर्य परस्पर अभिन्न तथा भिन्न दोनों हैं, वैसे जीवात्मा और परमात्मा परस्पर भिन्न तथा अभिन्न, दोनों हैं। (ङ) वल्लभाचार्य जैसे शुद्धाद्वैतवादी तत्त्वमसिकी व्याख्या तस्मात् त्वमसि—तुम उससे हो, ऐसी करते हैं। उनके मतमें जीवात्मा परमात्मासे उत्पन्न है और परमात्मा कारणरूपसे अपने कार्यरूप जीवात्मामें रहता है। इस प्रकार दोनोंमें आत्यन्तिक अभेद नहीं है, क्योंकि परमात्मा अनुत्पन्न है और जीवात्मा उत्पन्न, तथापि दोनोंमें अभेद है। (च) चैतन्य जैसे अचिन्त्य-भेदाभेदवादी दोनोंमें अचिन्त्य-भेदाभेद मानते हैं। इनके मतमें ब्रह्म या परमात्मामें अचिन्त्य शक्तियाँ हैं, जिनमें तीन मुख्य हैं, स्वरूपशक्ति, तटस्थशक्ति या जीवशक्ति और मायाशक्ति। इस प्रकार जीवात्मा परमात्माकी शक्ति है। वह परमात्मासे न तो बिल्कुल भिन्न है और न अभिन्न, क्योंकि वह अचिन्त्यशक्ति है। उनको भिन्न और अभिन्न, दोनों पृथक्-पृथक् माननेमें तार्किक दोष है। दोनोंका समन्वय तो व्याघात है। अतः उनमें अचिन्त्यभेदाभेद ही मानना चाहिये।

ब्रह्मवादका हिन्दी-साहित्यपर दूरगामी प्रभाव पड़ा है। सन्त-साहित्य और भक्ति-साहित्यकी मूल प्रेरणा ब्रह्मवादमें है। इसके अतिरिक्त आधुनिक रहस्यवाद तथा छायावाद तथा रीतिकालीन कवियोंका ईश्वरवाद किसी-न-किसी रूपमें ब्रह्मवाद ही है। निर्गुण ब्रह्मवाद और सगुण ब्रह्मवादपर तो हिन्दी-साहित्यमें अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। कबीरपन्थमें निर्गुण ब्रह्मवाद है, तो रैदासी सम्प्रदाय और तुलसीदास तथा सूरदासमें सगुण ब्रह्मवाद। हिन्दी कवियोंने ब्रह्मवादको नूतन दिशामें मोड़ा भी है। सगुण और निर्गुणसे परे और दोनोंका साक्षी उनके मतसे 'नाम' है। तुलसीदासने स्पष्ट कहा है कि 'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी', 'मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते।' कबीर और रैदास जैसे सन्त नामसे भी आगे अनाम तथा अबोलतक जाते हैं। सगुण ईश्वरके पूर्व वे मूर्ति तथा विराट्को भी ब्रह्म मानते हैं। कुछ सन्त 'सत्'मात्र ही ब्रह्म मानते हैं। कुछ विष्णुको तो कुछ उनके अवतार राम तथा कृष्णको ब्रह्म मानते हैं। कबीर आदि रामको ब्रह्म मानते हुए भी अपने रामको दशरथ-सुत अवतारी रामसे भिन्न मानते हैं। अधिकांश सन्त सर्वेश्वरवादी हैं। वे मुख्यतः रहस्यवादी भक्त कवि हैं। 'अलख', 'निरंजन', 'निर्गुण' आदि शब्द हिन्दी-साहित्यमें घर कर गये हैं। उनके पीछे अनेक सार-गर्भित सिद्धान्त हैं। ब्रह्मके स्वरूपपर इतना प्रचुर प्रकाश डालनेके अतिरिक्त हिन्दीके दार्शनिकोंने ब्रह्म तथा जीवके सम्बन्धपर भी बहुत मनन और अनुभव किया है। कबीर,

तुलसी, सूर, रविदास, दादू, नानक, सुन्दरदास आदि दार्शनिक कवियोंने इस सम्बन्धपर नूतन प्रकाश डाला है। 'तुम और मैं' नामसे वर्तमान युगमें भी निराला जैसे रहस्यवादी दार्शनिक कविने इस सम्बन्धकी नयी व्याख्या की है। प्रायः हिन्दी साहित्यमें जीवात्मा और परमात्माका सम्बन्ध उदाहरणों और रूपकों द्वारा किया जाता है, पर उनके अन्तरालमें दार्शनिक सिद्धान्त छिपे रहते हैं। सिद्धान्तोंके अतिरिक्त साधनामें भी हिन्दीके सन्तों, भक्तों और दार्शनिकोंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। —सं०लां०पा०

ब्रह्मसमाज–आधुनिक भारतके निर्माणमें नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारोंका प्रमुख हाथ रहा है। इस दृष्टिसे ईसाकी उन्नीसवीं शताब्दी आधुनिकताका वपनकाल है और ब्रह्मसमाजके संस्थापक राजा राममोहन राय सर्वप्रथम आधुनिक भारतीय थे। उत्तरभारतमें बंगालका ही पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान और संस्कृतिसे सर्वप्रथम सम्पर्क स्थापित हुआ था। यह समय उन्नीसवीं शताब्दीका प्रारम्भिक काल था। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानका बंगीय विचारधारापर ही प्रभाव नहीं पड़ा, वरन् प्रेस, रेल आदि वैज्ञानिक आविष्कारोंसे परम्परागत रूढ़िग्रस्त सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थामें भी परिवर्तनके चिह्न प्रकट होने लगे थे। ये परिवर्तनशील शक्तियाँ ब्रह्मसमाज-(१८२८ ई०)में आकर केन्द्रीभूत हुईं और राजा राममोहन रायने उसका नेतृत्व ग्रहण किया। ब्रह्मसमाजने धर्म-शिथिल भारतवासियोंको विशुद्ध हिन्दू धर्मका ज्ञान करानेका प्रयत्न किया और धीरे-धीरे परम्परागत कट्टरता और पौराणिकताका लोप होने लगा। किन्तु कट्टरताके लोपके साथ-साथ ब्रह्मसमाजकी विचारधारापर पाश्चात्य प्रभाव बहुत तीव्र रूपमें पड़ा; वास्तवमें पाश्चात्य प्रभाव तो उसपर प्रारम्भसे ही था। ज्यों-ज्यों यह प्रभाव बढ़ता गया, त्यों-त्यों कट्टर हिन्दू इस आन्दोलनसे अलग भी रहने लगे। बंगालके नव-शिक्षित समाजपर उसका जो प्रभाव पड़ा, उसे स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपनी बंगाल-यात्रामें देख आये थे। राजा राममोहन राय संस्कृत, फारसी, अँग्रेजी आदि भाषाओंके ज्ञाता थे और ईसाई मिशनरियोंसे भी उनका सम्पर्क था। उन्होंने विविध मतोंका गहन अध्ययन और उपनिषदों तथा वेदान्तका बँगलामें अनुवाद किया। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और एकेश्वरवादपर जोर दिया। वास्तवमें ब्रह्मसमाजका मूल तो हिन्दू धर्ममें ही था, किन्तु उसका बाह्य रूप पाश्चात्य था। यही कारण है कि उसने नवीन उपदेश-प्रणाली, संगीतके सहारे सामूहिक आराधना-प्रणाली, नारी-शिक्षा और स्वतन्त्रता, अन्तर्जातीय विवाह आदिको प्रोत्साहन प्रदान किया। उसमें विश्व-बन्धुत्वकी भावना ओतप्रोत थी और उसने ईसाई प्रभावको आत्मसात् करते हुए धर्म और समाजके विश्लेषणार्थ बौद्धिक दृष्टिकोण प्रदान किया।

जहाँतक हिन्दी भाषा और साहित्यसे सम्बन्ध है, ब्रह्मसमाजका ऋण एक प्रकारसे नगण्य है। राजा राममोहन रायने वेदान्तपर हिन्दीमें थोड़ा लिखा, ऐसा कहा जाता है। किन्तु उसके उपलब्ध अंशकी भाषाको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उसमें खड़ीबोली हिन्दी गद्यकी शैली और रूपको प्रभावित करनेकी शक्ति नहीं थी। उसमें अरबी-फारसी शब्दोंका मिश्रण भी आवश्यकतासे अधिक है। ९ मई, सन् १८२९ ई० को 'बंगदूत' नामक जो पत्र निकला उसमें अलग-अलग कालमोंमें अँग्रेजी, बँगला, फारसी और हिन्दी, चार भाषाएँ रहती थीं। उसका प्रकाशन राजा राममोहन राय, द्वारिकानाथ ठाकुर, प्रसन्नकुमार ठाकुर प्रभृति सज्जनों द्वारा होता था, यद्यपि उसमें प्रमुख भाग राजा राममोहन रायका था। हिन्दी पत्रकारिताको प्रोत्साहन प्रदान करनेकी दृष्टिसे राजा राममोहन रायका ऋण स्वीकार किया जा सकता है। आगे चलकर ब्रह्मसमाजके कुछ प्रधान समर्थकोंको हिन्दी राष्ट्रभाषा पद भी मान्य था, किन्तु इतना सब कुछ होनेपर भी खड़ीबोली हिन्दी गद्य-शैली और रूपको ब्रह्मसमाजकी देन नहींके बराबर है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जब बंगाल गये थे उस समय वहाँ ब्रह्म समाजका प्रचार जोरोंसे था। बंगालमें जो कुछ हो रहा था उसे उन्होंने स्वयं देखा। उनसे पहलेके खड़ीबोली हिन्दी गद्यके लेखकोंमेंसे कुछ कलकत्तामें रहे थे या वहीं रहकर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे, किन्तु उनकी गद्य-शैली या विचारधारापर ब्रह्मसमाजका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। सम्भवतः उन्होंने ब्रह्मसमाजका कहीं उल्लेख नहीं किया। उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें जब हिन्दी साहित्यमें सुधारकी आवाज बुलन्द हुई, उस समय भी ब्रह्मसमाजका उल्लेख एकाध स्थलपर, वह भी नाममात्रके लिए, मिलता है। हिन्दीके उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्धके साहित्यिकोंका ब्रह्मसमाजकी विचारधारासे प्रभावित होना वैसे भी असम्भव था। वे न तो दयानन्दी बन जाना चाहते थे और न किरिस्तान। उनका मार्ग मध्यम मार्ग था, अर्थात् परम्परागत सनातन धर्ममें देश, काल, परिस्थितिके अनुसार आवश्यक सुधार प्रस्तुत करना उनका ध्येय था। ऐसी परिस्थितिमें पाश्चात्य प्रभावसे ग्रस्त ब्रह्मसमाजका उनपर प्रभाव पड़ना सम्भव नहीं था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीनिवास दास, राधाकृष्ण दास आदिके जो नारी-शिक्षा तथा विविध सुधारोंसे सम्बन्धित विचार थे, वे हिन्दी प्रदेशमें प्रचलित पाश्चात्य शिक्षा आदिके फलस्वरूप स्वतन्त्र रूपसे उत्पन्न हुए थे और वे उनके अपने विचार थे। स्वयं सुधार और परिवर्तनकी प्रेरणा उन्होंने बंगालसे ली, यह दूसरी बात है, किन्तु उन सुधारों और परिवर्तनोंके मार्गका निर्देश उन्होंने अपने अनुभवके आधारपर किया। उनका दृष्टिकोण अनुकरणमूलक कदापि नहीं था। बीसवीं शताब्दीके हिन्दी लेखक और कवि स्वयं संसारके नवीन विचारोंका प्रभाव स्वीकार करते जा रहे थे और जा रहे हैं। रवीन्द्रनाथ या शरत्का प्रभाव उन्होंने उसी प्रकार स्वीकार किया था जिस प्रकार अँग्रेजीके रोमैण्टिक कवियोंका। इस सन्दर्भमें ब्रह्मसमाजका योगदान कहीं भी नहीं आता।

[सहायक ग्रन्थ—(१) लाइफ एण्ड लेटर्स ऑफ राजा राममोहन राय ' मिस एस० डी० कोलेट, (२) आधुनिक हिन्दी साहित्य · लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय] —ल० सा० वा०

ब्रह्मानंदसहोदर–भरतके रससूत्रकी व्याख्या करते

हुए भट्टनायक(१० श० ई०)ने सर्वप्रथम रसास्वादके लिए 'ब्रह्मास्वादसदृश'का प्रयोग किया है (दे०—'रसनिष्पत्ति')। उनके अनुसार भावकत्व द्वारा रज तथा तमके नष्ट होनेपर सत्त्वोद्रेकके साथ जो काव्यानन्द प्राप्त होता है वह अनुभूतिमें ब्रह्मानन्दके सदृश है। अभिनवगुप्त(१०,११ श० ई०)ने रसकी अनुभूतिको लोकोत्तर माना है। मम्मट(११ श० ई०)ने अभिनवकी व्याख्या करते हुए स्वीकार किया है—'ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी रस' (का० प्र० ४ २८ वृ) अर्थात् रस ब्रह्मानन्द सदृश अनुपम अनुभूति प्रदान कर अलौकिक चमत्कारका जनक होता है। वस्तुत विश्वनाथ द्वारा रसास्वादके वर्णनमें इस कल्पनाको सबसे अधिक प्रत्यक्ष आधार मिला है—'यह रस सत्त्वोद्रेकके कारण अखण्ड है, स्वप्रकाशसे आनन्दरूपमें उद्भासित है, द्वैधमूलक ज्ञानसे शून्य है, ब्रह्मास्वादसहोदर है और लोकोत्तर चमत्कारसे अनुप्राणित है' (सा० द० ३ २,३)। इसमें प्रयुक्त स्वप्रकाशित आनन्द तथा ब्रह्मास्वादको एक साथ रखकर सम्भवत ब्रह्मानन्दकी कल्पना की गयी है।

आधुनिक हिन्दीके विचारकोंने काव्यको इसी आधारपर ब्रह्मानन्दसहोदर माना है। केशवप्रसाद मिश्र तथा श्यामसुन्दर दासने इसकी व्याख्याके लिए 'मधुमती भूमिका'(दे०)की स्थापना की है। ब्रह्मानन्दके कारण कुछ विद्वानोंने इसको अतीन्द्रिय कहा तथा योगकी भूमि माना है। पर यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि आचार्योंने रसको ब्रह्मानन्द न मानकर उसके सदृशमात्र माना है। रामचन्द्र शुक्लने इसी कारण रसको प्रत्यक्ष अनुभूतिसे भिन्न माननेका विरोध किया है। मम्मटके सामने यह स्पष्ट था, इसी कारण उन्होंने ब्रह्मास्वादसहोदरकी विलक्षणताका ध्यान करके उसे निर्विकल्पक समाधिसे सम्बन्धित नहीं किया है (का० प्र० ४ २८ वृ)।

वस्तुत इस कल्पनाके विकासका आधार भारतीय दर्शनका काव्य-सिद्धान्तपर प्रभाव है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्'-में कहा गया है—'रसो वै स' अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है। अतएव आगे चलकर जब रसको संविद्विश्रान्तिके रूपमें प्रतिपादित किया गया, तब उसे ब्रह्मानन्दके समकक्ष मानना सहज हो गया। भारतीय दर्शनोंमें यद्यपि न्याय दर्शन ब्रह्मको आनन्दसे परे मानता है, पर नव्य नैयायिक ब्रह्मको ज्ञानके साथ आनन्दमय भी स्वीकार करते हैं। सांख्यकी प्रकृति-पुरुषकी कल्पनामें यद्यपि ब्रह्मके साथ आनन्दका समावेश नहीं है, पर हिन्दी साहित्यमें प्रकृति-पुरुषकी कल्पना अत्यधिक प्रिय रही है और उनके साथ लीलाके आनन्दकी कल्पनाका विकास भी हुआ है। योगदर्शनकी 'मधुमती भूमिका'से आकर्षित होकर आधुनिक विचारकोंने इसे ही रसभूमि माना है (दे०)। परन्तु योगदर्शनके अनुसार उत्कृष्ट स्थितिमें अतिक्रान्त भावनीय होता है अर्थात् योगी सम्पूर्ण लौकिक भावनाओंसे परे हो जाता है। अद्वैतदर्शनके अनुसार ब्रह्मानुभूतिमें उपभोक्ता तथा उपभोग्यका अन्तर ही नष्ट हो जाता है। ब्रह्म और जीवकी अलग स्थिति ही नहीं रहती, अतएव ब्रह्मास्वादकी अनुभूति जीवको किस प्रकार हो सकती है? मायाके तिरोहित होते ही साधक ब्रह्मानन्दमें निमग्न हो जाता है। अतएव अद्वैतके ब्रह्मानन्दकी स्थिति वासनातीत है। लेकिन रसके आनन्दको ब्रह्मानन्द न कहकर उसका सहोदर कहनेमें यह भाव व्यंजित है ही कि वह उसके समकक्ष नहीं है। वह ऐन्द्रिय न होकर भी इन्द्रियातीत तो नहीं है।

विशिष्टाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत आदि वादके वेदान्तोंमें आनन्द तथा लीलाकी कल्पना अधिक सम्बद्ध है, जिससे हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओंका भक्ति-साहित्य अनुप्राणित है। इस पृष्ठभूमिपर रसके ब्रह्मानन्दसहोदर होनेकी भावना अधिक प्रत्यक्ष हो सकती है। भक्त-कवियोंने तो अपनी साधना तथा काव्यात्मक अभिव्यक्तिमें इस तथ्यको पूर्णत प्रतिपादित किया है। तुलसी, सूर, कबीर, जायसी जैसे भक्त-कवियोंके काव्यमें ब्रह्मानन्द तथा काव्यानुभूति सहोदर जैसी ही है। शैव सिद्धान्तकी आनन्दकी भावना भी इस सिद्धान्तके अनुकूल है। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा सांसारिक बन्धनरूप मलोंसे छूटकर ब्रह्मको प्राप्त करती है। इससे मुक्त होकर आत्मा अपने वास्तविक रूपसे आनन्दमय हो जाती है। वस्तुत इस मत द्वारा प्रतिपादित विचारधाराके आधारपर अभिनवने ममत्व-परत्व आदिके त्यागकी व्याख्या की है। जिस प्रकार लोकके बन्धनोंसे मुक्त होकर साधक ब्रह्मानन्दको प्राप्त करता है, उसी प्रकार हृदयकी मुक्तिसे सहृदय काव्यानन्दकी अनुभूति ग्रहण करता है। —र०

भक्ति १—भज् धातुसे इसकी उत्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ भजना है। 'नारद'के अनुसार वह 'परमप्रेमरूपा' और अमृतस्वरूपा है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा च' (भ० सू० २ ३), 'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति' (भ० सू० ४)। पाराशर-पुत्र व्यास पूजादिमें अनुराग तथा गर्ग कथादिमें अनुरक्तिको भक्ति कहते हैं। 'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य। कथादिष्विति गर्ग।' (भ० सू० १६–१७)।

भगवान्‌को प्राप्त करनेके साधनोंमें कर्म, ज्ञान, योग और भक्तिमार्गकी गणना होती है। सहज साध्य होनेके कारण आचार्योंने भक्तिमार्गको प्रमुखता दी है—'अन्यस्मात् सौलभ्य भक्तौ।' (भ० सू० ५८)। भक्तिमार्गका प्रमुख सम्प्रदाय भागवत धर्म है, जिसका उदय ईसाके लगभग १४०० वर्ष पूर्व अनुमाना जाता है। उससे पूर्व ऋग्वेदके वरुण-सूक्त तथा उसकी अन्य ऋचाओं(४ १९ ६। ७ ८८ ६)में भक्तिकी कल्पनाका आभास मिलता है। ब्राह्मण-कालमें कर्मकाण्डकी प्रबलताके कारण भक्तिका प्रवाह कुण्ठित हो गया था। उपनिषद्-युगमें निर्गुण ब्रह्मकी अनुभूतिके लिए मन, आकाश, सूर्य, अग्नि, यज्ञ आदि सगुण प्रतीकोंकी उपासनाके स्पष्ट संकेत मिलते हैं। 'मैत्र्युपनिषद्', 'छान्दोग्योपनिषद्', 'मुण्डकोपनिषद्', 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' आदि उपनिषदोंमें शिव, रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण आदिको परमात्माके रूप कहकर उनकी उपासनाका निर्देश है।

उपनिषद्-कालके अनन्तर 'महाभारत'में प्रवृत्तिमय भक्तिका रूप परिलक्षित होता है। पाणिनीय सूत्रोंमें 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्'से प्रतीत होता है कि पाणिनिके पूर्व

वासुदेव-भक्ति प्रचलित हो गयी थी। पाणिनिका समय ईसा पूर्व चौथी शताब्दी माना जाता है, अतएव भक्तिका प्रचार निश्चय ही उससे पूर्व हुआ होगा। भक्ति-मार्गमें सर्वप्रथम वासुदेव-भक्तिका प्राधान्य था। बुद्धोत्तरकालमें भक्तिका स्वरूप विस्तृत हो गया। भिन्न-भिन्न देवताओं और विभूतियोंकी उपासना प्रारम्भ हो गयी। निर्गुण, निराकार ब्रह्मकी प्रतीकोपासना, जिसे उपनिषत्कारोंने प्रचलित करना चाहा था, सगुण-उपासना होते हुए भी अव्यक्त थी, जो सामान्य जनके लिए कष्टकर तथा अग्राह्य प्रतीत हुई, अतएव व्यक्त मानवदेहधारीकी उपासनाकी कल्पना अस्तित्वमें आयी। प्रत्यक्ष नामरूपात्मक उपासना ही भक्तिमार्ग कहलायी। भक्तिको भागवत धर्मका बल मिला। श्रीकृष्णावतारके पूर्व इसके ऐकान्तिक, नारायण, पांचरात्र, सात्वत आदि नाम रूढ थे। महाभारतके शान्तिपर्वमें ऐकान्तिक धर्मकी उत्पत्तिकी कथा है। नर और नारायण नामक दो ऋषियोंने इस धर्मका सर्वप्रथम प्रारम्भ किया। इसीलिए ऐकान्तिक धर्म नारायणी धर्म कहा जाने लगा। इसी नारायणी धर्मका श्रीकृष्णको सात्वत जातिमें प्रचार हुआ। अत॰ यही सात्वती धर्मके नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्रीकृष्णके पश्चात् यह **भागवत धर्म** कहलाने लगा। श्रीकृष्णका काल ईसाके लगभग १४०० वर्ष पूर्व माना जाता है।

भागवत-धर्म अपनी प्रथमावस्थामें ऐकेश्वरी भक्तिका प्रतिपादक था, क्योंकि उसके पूर्व सांख्य तथा योग-मत प्रचलित थे, जिनका प्रभाव उसपर स्वभावत पड़ा था। द्वितीयावस्थामें ब्राह्मण-धर्मके प्राबल्यके कारण इसमें बहु-देवोपासनाका समावेश हो गया। ईसाकी आठवीं शताब्दीमें शांकर मत(अद्वैतवाद)के प्रसारने भागवत धर्मकी गति कुण्ठित कर दी। परन्तु शंकराचार्यके पश्चात् दक्षिणमें रामानुजाचार्य और मध्वाचार्यने इसका पुनरुद्धार किया। संक्षेपमें इस धर्मकी मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

जगत्का उत्पादक एक परमेश्वर है। उसके नारायण, वासुदेव, भागवत नाम हैं। वह अनन्त, अविनाशी, अच्युत है। वह प्रकृतिसे समस्त जगत्का निर्माण करता है। जीवात्मा उसका अंश है। पर-पुरुषने ही ब्रह्मा, शिव आदि देवताओंको जन्म दिया है। जब-जब भक्तोंपर संकट पड़ता है तब-तब वह अवतार धारण करता है। अवतारोंमें राम और कृष्ण प्रमुख अवतार हैं। **वासुदेव**, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध उसके **चार व्यूह** हैं। भक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति-का साधन है। भक्ति वासुदेव या उनके अवतारोंकी करनी चाहिये। निष्काम कर्मसे चित्त-शुद्धि होती है। जीव ४ प्रकारके हैं—(१) बद्ध, (२) मुमुक्षु, (३) केवल और (४) मुक्त। मुक्त जीव पार्थिव शरीर त्यागकर लिंग-देह धारण करता है। लिंग-देहके नष्ट हो जानेपर उसका परमानुभूतमें रूपान्तर हो जाता है। तत्पश्चात् वह क्रमशः अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेवमें लीन हो जाता है, परन्तु जीव वासुदेव नहीं बन जाता। उनकी एक कलाके नाते उनके सतत निकट रहता है।

इस पुनरुज्जीवित **भागवत धर्म**के ४ उपभेद हैं—(१) श्री-सम्प्रदाय : रामानुजाचार्य द्वारा संस्थापित, (२) ब्रह्म-सम्प्रदाय : मध्वाचार्य द्वारा संस्थापित, (३) रुद्र-सम्प्रदाय : विष्णु स्वामी द्वारा संस्थापित, (४) सनकादिक-सम्प्रदाय : निम्बार्काचार्य द्वारा संस्थापित। ये चारों सम्प्रदाय शंकराचार्यके अद्वैत-सिद्धान्त और मायावादका खण्डन करते हैं और भगवान्को सगुण मानकर उनकी भक्तिपर बल देते हैं। देशमें 'श्रीमद्भागवत'के रचनाकालतक भक्तिके विकासका संकेत भागवतकारने इस प्रकार किया है—'उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्नाटके गता। क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता। तत्र घोरकलेर्योगात् पाखण्डैः खण्डितांगका। दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्। वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी। जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्।' (मैं द्रविड़में उत्पन्न हुई, कर्नाटकमें बढ़ी, कभी-कभी महाराष्ट्रमें मेरा पोषण हुआ, गुर्जरमें जीर्ण हो गयी, वहाँ घोर कलिके कारण खण्डितांग हो गयी, दुर्बलताको प्राप्त हो पुत्रों सहित धीरे-धीरे वृन्दावन-में आयी, जहाँ मैं सुन्दर रूप प्राप्त कर युवती हो गयी और अब उत्कृष्ट रूपवाली हूँ।) (श्रीमद्भागवतमाहात्म्य अध्याय १ . श्लोक ४८, ४९, ५०)।

भागवत धर्म और भक्तिके ग्रन्थोंमें 'श्रीमद्भगवद्गीता', 'महाभारत'का शान्तिपर्व, 'पांचरात्र-संहिता', 'सात्वत-संहिता', 'शाण्डिल्यसूत्र', 'भागवत-पुराण', 'हरिवंशपुराण', 'नारदीय भक्तिसूत्र', 'नारदपांचरात्र', रामानुजाचार्य आदि आचार्योंके ग्रन्थ प्रमुख हैं।

भक्ति, भाव है या रस—इस सम्बन्धमें साहित्याचार्योंने थोड़ा-बहुत विवेचन किया है। रससम्प्रदायाचार्य भरत मुनिने अपने 'नाट्यशास्त्र'में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त रसको ही मान्यता दी है। भक्तिका उल्लेख नहीं किया। देव-विषयक रतिका नाम ही भक्ति है। मम्मटने 'काव्य-प्रकाश'में सर्वप्रथम देव-विषयक रतिको स्वतन्त्र भावकी संज्ञा प्रदान की है। पण्डितराज जगन्नाथने 'रसगंगाधर'में भक्तिको रस न माननेके सम्बन्धमें प्रश्नमात्र उठाया है। भरतादि मुनियों-की रस-व्यवस्थाको भंग करना कदाचित् उन्हें अभीष्ट न था। कन्हैयालाल पोद्दारने भक्तिको केवल भाव न मानकर रस माना है। (द्रि॰—कल्याण : श्रीवेदान्तांक' : पृ॰ ५१५)। वल्लभ-सम्प्रदायी ग्रन्थ 'हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु'(श्रीरूप-गोस्वामी-विरचित)में **भक्ति-रस**का शास्त्रीय विवेचन मिलता है।

आलवार सन्तोंने 'नामसंकीर्तन-भक्ति-धारा'से दक्षिणको रस-सिक्त कर भक्तिकी मधुर हिलोर उत्तरकी ओर बहायी। ये राम-कृष्णके भक्त थे। इन्हींकी परम्परामें रामानुजाचार्य हुए। रामानुजाचार्यने जहाँ ब्राह्मण और अब्राह्मणोंके लिए भक्तिके वेदानुकूल भक्ति और तान्त्रिक तथा पौराणिक भक्ति नामक दो भेद निरूपित किये वहाँ उन्हींकी परम्पराको उत्तरभारतमें संचारित करनेवाले स्वामी रामानन्दने भक्तिके क्षेत्रमें भेदकी दीवारको खड़ा नहीं रहने दिया। उन्होंने भक्तिको स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-अब्राह्मण सबके लिए सेव्य बना दिया। रामानन्द दास्य भक्तिके अनुयायी थे। इसीको हिन्दीके भक्त कवि तुलसीदासने 'विनय-पत्रिका'में चरम सीमापर पहुँचा दिया है। 'काव्यशास्त्र'में

८, ९, १० भिन्न-भिन्न संख्या रसोंकी मानी गयी है। किन्तु वैष्णव शास्त्रकारोंने रति स्थायी भावके पाँच भेद करके उतने ही रस माने हैं। वे हैं—शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता या माधुर्य। जब इन पंचविध स्थायी भावोंका विकास होता है तो इन्हींसे पाँच रस उत्पन्न होते हैं, जो शान्त, प्रीति, सख्य, वात्सल्य, **मधुर** या **उज्ज्वल** कहलाते हैं।—जब भगवान्‌के साथ व्यक्तिगत प्रिय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तब यह विकसित होनेपर प्रेमाभक्ति कहलाती है। इसे सामान्यतः 'दास्य रस' कहते हैं (भागवत धर्म हरिभाऊ उपाध्याय, पृ० १३४)। अतः 'विनय-पत्रिका'में 'दास्य रस'की अच्छी निष्पत्ति हुई है। रामानुजाचार्यका तारक 'राममन्त्र' रामानन्दने ग्रहण कर उसका सगुणियों और निर्गुणियोंमें खूब प्रचार किया। तुलसी कहते हैं—'राम एक तापस तिय तारी। नाम अमित खल कुमति उधारी॥' (रा० च० मा०)। भगवान्‌का राम ही नहीं, कोई भी नाम भक्तोंके कण्ठका हार बन गया। सूर कहते हैं—'सोइ सुकृत सोई पुनीत सोई कुलवन्ता। जाको निसिदिन रहे कृष्ण नाम चिन्ता॥ योग, यज्ञ, तीर्थ, व्रत कृष्ण नाम पाहीं। बिना कृष्ण नाम कलि उद्धार और नाहीं॥' (सू० सा०)। निर्गुणी सन्तोंने **भक्ति रस**का स्वाद लिया है। प्रसिद्ध है—'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द। परगट किया कबीरने सप्त द्वीप नव खण्ड॥' यद्यपि कबीरकी रामानन्दकी शिष्य-परम्परामें गणना है, पर उनकी भक्ति रामानन्दकी भक्ति-साधनाके साथ अन-प्रतिशत मेल नहीं खाती। उन्होंने उनके तारकमन्त्र 'राम'को पूर्ण रूपसे अपना लिया है, पर उससे सम्बद्ध दाशरथी रामको साक्षात् ब्रह्म या भगवान् नहीं माना। 'राम' उनके लिए सर्वव्यापक ब्रह्मका प्रतीकमात्र है, जिसे उन्होंने हरि, केशव, कृष्ण, सारंगपानि, गोपाल, विट्ठल आदि नामोंसे भी अभिहित किया है। उसे वे घट-घटमें ज्योतित पाते हैं। 'सूर'के समान रामानन्दने भी प्रेमलक्षणा भक्तिको अपनाकर **नवधा** भक्तिको **दशधा** बना दिया है। निर्गुणी सन्तोंने **प्रेमलक्षणा भक्ति**को, जो निष्काम होती है, बड़े उत्साहसे स्वीकार किया है। कबीरका कथन है—'जब लगि भगति सकामता तब लगि निर्फल सेव। कहे कबीर वे क्यूँ मिलै, निहकामी निज देव॥' भक्तोंके प्रति भगवान्‌का अनुग्रह होता है, इसे सभी निर्गुणी सन्तोंने माना है और अनुग्रह-प्राप्त पौराणिक भक्तोंके प्रति उनका श्रद्धाभाव भी व्यक्त हुआ है। सच्चे वैष्णवोंकी उन्होंने स्तुति ही की है। भक्तिका मुक्ति(प्रवृत्ति)से विरोध नहीं है। श्रीमद्‌भागवतकारने कहा है कि अनिमित्त भावसे अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका पालन कर अहिंसा सहित पूजा-अर्चा आदि अनुष्ठान करनेवाला भक्त और गुणोंके श्रवण मात्रसे ही मुझमें लीन हो जाता है (अ० २९ : स्क० ३ : श्लो० १५-१९)। गीतामें भी प्रायः इसी भावकी पुनरावृत्ति है (अ० १९ : ४६)। निर्गुणियोंकी **सहज-साधना** इसी कोटिकी है। वे विहित कर्म करते हुए अपने ब्रह्ममें लीन रहते हैं, उनकी अपने 'राम'के प्रति तन्मयासक्ति **लौ** अथवा 'ल्यौ' कहलाती है। वे न 'वैकुण्ठवास' चाहते हैं और न मुक्ति। कबीरके उद्गार हैं—'चलन-चलन सबको कहत हैं, नो जानौ वैकुण्ठ कहाँ है? जोजन परमिति परमनु जानैं, बातनि ही वैकुण्ठ बषानैं। जब लगिहै वैकुण्ठकी आसा। तब लगि नहिं हरि चरन निवासा॥ कहै कबीर यहु कहिये काहि। साधु-सगति वैकुण्ठहि आहि॥' अथवा—'राम मोहि तारि कहाँ लै जैहौं। जो मेरे जीव कोई जानत हौ तो मोहि मुकति बताओ। एकमेक रमि रह्या सबनिमैं तौ काहे भरमाओ। तारण तिरण जबै लगि कहिये तब लग तत न जाना। एक राम देख्या सबहिनमें कहै कबीर मनमाना॥ (सन्तकाव्य : पृ० १८३)।

विधि-निषेधकी मर्यादाको लाँघकर निर्गुणी भक्त या सन्त ब्रह्मरूप हरिका गुणानुकथन कर मुक्त होते हैं (श्रीमद्भागवत : अ० १ : स्क० ७ : श्लो० ७)। भक्ति सगुणी और निर्गुणी, दोनों साधकोंका 'परमतत्त्व'को प्राप्त करनेका साधन है, उनकी साधना-प्रणालीमें ही किंचित् भेद है। जहाँ सगुण भक्त परमतत्त्व(ब्रह्म)के सगुण और निर्गुण रूप, दोनोंको स्वीकार करता है और उसके अवतारोंकी प्रतीक-प्रतिमाओंका बाह्य साधनोंसे पूजन भी करता है, वहाँ निर्गुणी भक्त या सन्त उसके निर्गुण रूपपर ही मुग्ध है और अपनी मुग्धताको उसके अवतार-नामोंके माध्यमसे व्यक्त करता है। उनके श्रीविग्रह(रूप-प्रतिमा)की बाह्य अर्चा उसे मान्य नहीं है, क्योंकि वह उसे अपनेमें अनुभव करता रहता है। भक्तिके सम्बन्धमें भागवतकारका यह मत प्रत्येक साधन-पथमें मान्य है कि 'जिस प्रकार रूप, रस, गन्ध आदि गुणोंका आश्रयभूत एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा विविध रूपसे अनुभूत होता है, उसी प्रकार शास्त्रके विभिन्न मार्गों द्वारा एक ही भगवान्‌की अनुभूति होती है।' (दि०—श्रीमद्भागवत : अ० ३३ : स्क० ३ : श्लो० ३३)

—वि० मो० श०

भक्ति २—भक्ति रसका स्थायी भाव 'भक्ति' है। शाण्डिल्य 'भक्तिसूत्र'के अनुसार, ईश्वरमें परम अनुरक्ति ही भक्ति है—'सा परानुरक्ति ईश्वरे'। अतएव, यह ईश्वरविषयक अनुरक्ति भक्ति रसका स्थायी भाव ठहरती है। कतिपय प्राचीन आचार्योंने भक्तिकी रसोन्मीलकताकी उपेक्षा की है। भरत मुनिने भक्तिको शान्त रसके अन्तर्गत माना है। लेकिन शान्त रसके स्थायी निर्वेदसे भक्तिका स्पष्ट विरोध है, क्योंकि भक्ति भगवद्विषयक प्रेमरूप है। मम्मटाचार्यने भी देवादिविषया रतिको केवल भाव-रूपमें स्वीकार किया है। लेकिन साधु-सन्तोंने भगवान्‌के प्रति जैसे मर्मविगलित आत्मोद्गार किये हैं तथा अनेक धर्मबुद्धि व्यक्ति आज भी जो ईश्वरानुरागमें मस्त भ्रमण करते दृष्टिगोचर होते हैं, उनसे भक्तिभावकी उत्कट आस्वाद्यता भली भाँति सिद्ध होती है। भक्तकी भगवान्‌के प्रति जो पूज्य-भावना होती है, उसमें श्रद्धा, प्रेम, भीति इत्यादि कई चित्त-वृत्तियोंका सयोग होता है। इनके कारण भक्तिभावकी चर्वणीयतामें वृद्धि हो जाती है। पुरुषार्थोपयोगिता एव उचितविषयनिष्ठत्व-के तत्त्व तो इसमें स्पष्ट ही विद्यमान हैं। रेनो इत्यादि मनस्तत्त्वविदोंने धर्मभावनाको मूलभूत चित्तवृत्ति निरूपित किया है, अतएव भक्तिभावका सर्वजनसुलभत्व भी सिद्ध हो जाता है।

औत्सुक्य, गर्व, हर्ष, निर्वेद, मति, धृति इत्यादि भक्ति स्थायीके व्यभिचारी भाव हैं तथा रोमांच, विह्वलता,

अश्रुपात इत्यादि अनुभाव है। उदाहरण—'राधा मोहन लालको जाहि न भावत नेह। परियौ मुठी हजार दस ताकी आँखिन खेह।' (मतिराम); यहाँ भक्तिभावकी व्यंजना है, स्थायीका पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हुआ है, क्योंकि वह तो परिपाकमें ही सम्भव है। —रा० ति०

भक्तिकाल–हिन्दी साहित्यका **पूर्व-मध्यकाल** (दे०) साहित्य-रचनाकी ही नहीं, सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना और प्रमुख सामाजिक चेष्टा एवं कलात्मक अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे भक्तिकाल कहा गया है। उस कालके प्रमुख कवि कबीर, रैदास, नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास, कुतवन, मंझन, जायसी, उसमान, नूरमुहम्मद, सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, नन्ददास, हित हरिवंश, हरिदास, रसखान, ध्रुवदास, मीराँबाई, तुलसीदास, अग्रदास, नाभादास आदि सभी अपने-अपने भावके अनुसार मूलत भक्त थे। भक्तिकी प्रेरणासे ही इनकी जन्म-जात प्रतिभा काव्यके रूपमें प्रस्फुटित हुई। कुतवन, मझन आदि मुसलमान सूफी कवियोंको छोड़कर इन सभी भक्त-कवियोंको भक्तिके विभिन्न सम्प्रदायोंने अपने प्रचारके लिए अपनाया और उनकी रचनाओंका युग-धर्मके निर्माणमें उपयोग किया। सच तो यह है कि इतिहासके तत्कालीन युग-निर्माता ये कवि ही हैं और उन्होंने जिस उच्च नैतिक चेतनाको जगाया था वह आज भी किसी न-किसी अंशमें उत्तरभारतके अधिकाश जन-समूहके चित्तमें आरूढ़ है।

आलोचकोंने लक्षित किया है कि भारतीय इतिहासमें पहली बार समूचा देश एक भाव धारामें आन्दोलित हो उठा। ग्रियर्सनने कहा है, 'हम अपनेको ऐसे धार्मिक आन्दोलनके सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनोंसे कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्षने कभी देखा है, यहाँतक कि बौद्ध धर्मके आन्दोलनसे भी अधिक विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। इस युगमें धर्म ज्ञानका नहीं बल्कि भावावेशका विषय हो गया था। यहाँसे हम रहस्यवाद और प्रेमोल्लासके देशमें आते और ऐसी आत्माओंका साक्षात्कार करते हैं जो काशीके दिग्गज पण्डितोंकी जातिके नहीं बल्कि जिनकी समता मध्य-युगके यूरोपियन भक्त बर्नार्ड ऑफ क्लेयर वाक्स, थामस ए० केम्पिस और सेण्ट थेरेससे है।'

उत्तरभारतमें भक्तिका यह उन्मेष ग्रियर्सनके शब्दोंमें 'बिजलीकी चमकके समान अचानक' कैसे हुआ, इसपर विद्वानोंने तरह-तरहके मत प्रकट किये हैं। ग्रियर्सन तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानोंका यह मत कि भक्ति-आन्दोलन ईसाई प्रभावका परिणाम है, अब असन्दिग्ध रूपसे निराधार प्रमाणित हो चुका है। ताराचन्दका यह मत कि यह इसलामके प्रारम्भिक कालमें ही पश्चिमी समुद्रतटपर आ बसे अरबोंकी देन है, कभी भी स्वीकार नहीं किया गया। एक तीसरा मत कि यह मुसलिम आक्रमणकारियोंके अत्याचारों तथा उससे उत्पन्न हुई सामाजिक व्यवस्था और अरक्षाकी भावनाके प्रतिक्रियास्वरूप अचानक उमड़ उठा था, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यकी हीनताका सूचक है। वस्तुतः तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियोंने उस प्रक्रियाको तीव्र और व्यापक बनानेमें सहायता अवश्य की, जो इसलामके आनेके पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी और जिसके लिए वर्धन-साम्राज्यके पतनके बादकी राजनीतिक विशृंखलता और बौद्ध धर्मकी तान्त्रिक परिणति एवं समस्त धार्मिक मतवादोंपर उसके प्रभावसे उत्पन्न हुए धार्मिक अधःपतनने पहलेसे ही उर्वर क्षेत्र तैयार कर रखा था। एक जीवित जाति जब अधोगतिकी सीमापर पहुँच जाती है तब उसीके भीतरसे पुनर्निर्माणकी शक्तियाँ उदय होती हैं और वह प्राचीन मूल्यों और जीवनादर्शोंको नयी परिस्थितिमें, नये रूपमें खोज सकनेमें समर्थ होती है। भारतीय समाज इतिहासकी ऐसी अनेक संक्रान्तियोंके बीचसे गुजर चुका है। भक्ति-आन्दोलनके पूर्व न केवल राजनीतिक अव्यवस्था और उत्पीड़न तथा सामाजिक सुरक्षाका अभाव था, वरन् सामाजिक जीवन बहुत पहलेसे विच्छिन्न और क्षीण होता आया था, अनेक प्रकारकी कुप्रथाओंने घर कर लिया था तथा धर्म बाह्याडम्बर और निरर्थक कर्मकाण्डसे आक्रान्त हो गया था, उसका उद्देश्य उच्च आध्यात्मिकतासे च्युत हो गया था। शिक्षा और स्वाध्यायके अभावमें ज्ञानमार्गका अनुसरण सम्भव नहीं था, उसकी परिणति तो वेदान्तियोंके दम्भ और पाखण्डके रूपमें होना अवश्यम्भावी थी। कर्ममार्गके लिए सामाजिक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं। वल्लभाचार्यने अपने 'कृष्णाश्रय' में कहा है कि 'देश म्लेच्छाक्रान्त है, गंगादि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं, अशिक्षा और अज्ञानके कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है, सत्पुरुष पीड़ित तथा ज्ञान विस्मृत हो रहा है, ऐसी स्थितिमें एक मात्र कृष्णाश्रयमें ही जीवनका कल्याण है।' तुलसी, सूर तथा अन्य भक्त-कवियोंकी रचनाओंमें कलिकालके चित्रणके रूपमें तत्कालीन दारुण अवस्थाके सजीव चित्र मिलते हैं। इसी परिस्थितिमें दक्षिणभारतसे उठी भक्तिकी लहरने समस्त देशको आप्लावित कर दिया।

दक्षिणभारतमें आलवार भक्तोंके बीच भक्तिमार्ग (दे०–'भागवत धर्म') का पाँचवीं-छठी शताब्दीसे नवीं शताब्दीतक पूर्ण उत्कर्ष था। दसवीं शताब्दीमें आलवारोंके प्रपत्तिपूर्ण ऐकान्तिक भक्तिधर्मको तमिलप्रदेशके कुछ विद्वान् आचार्योंने शास्त्रीय आधार प्रदान किया और उसे वेद-प्रतिपादित ज्ञान और कर्मसे समन्वित किया।

रामानुज (ई० १०२७-११३७), मध्व (तेरहवीं शती), निम्बार्क (मृत्यु ई० ११६२) ने अद्वैतवाद-मायावादका अपने-अपने ढंगसे खण्डन करते हुए भक्तिका मार्ग प्रशस्त किया और अपने अपने सम्प्रदायोंकी स्थापना करके उसके संघटित प्रचारका उपक्रम किया। इन सभीने उत्तरभारतमें अपने केन्द्र स्थापित करके भक्ति-आन्दोलनको प्रगति दी। रामानुजकी परम्परामें स्वामी रामानन्द हुए, जिन्हें उत्तर और मध्यभारतके भक्ति-आन्दोलनका सबसे प्रथम और सबसे अधिक शक्तिशाली नेता कह सकते हैं। उत्तरभारतकी सामाजिक परिस्थिति दक्षिणसे भिन्न थी, वहाँ वर्णाश्रमधर्मके छुआछूत सम्बन्धी कठोर नियम नहीं चल सकते थे। स्वामी रामानन्दकी क्रान्तिदर्शी दृष्टिने यह तत्काल समझ लिया और उन्होंने रामानुजसे भिन्न एक नये सम्प्रदायकी स्थापना की जिसमें छुआछूतके नियम उतने

कड़े नहीं थे (द्र०–'रामानन्दी सम्प्रदाय')। सीतारामको इष्टदेव मानकर उन्होंने राम नामके मन्त्रका देशव्यापी प्रचार किया। उन्होंने हिन्दीको अपने उपदेशका माध्यम बनाया तथा कुछ पदोंकी रचना भी की। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दीमें ही 'महाराष्ट्र के सन्त नामदेवने उत्तरभारतमें भक्तिके प्रचारमें रामानन्दका सहयोग किया। हिन्दीमें रचे हुए उनके कुछ पद मिले हैं। पंजाबकी ओर उनका विशेष प्रभाव था। सोलहवीं शताब्दीमें तैलंग ब्राह्मण वल्लभाचार्यने तथा बंगालके चैतन्यदेवने कृष्णभक्तिके प्रचारके लिए सघटित प्रयत्न किये। कृष्णभक्तिके और भी कई एक सम्प्रदाय, जैसे हित हरिवंशका राधावल्लभी (द्र०) और हरिदासका सखीसम्प्रदाय (द्र०), मथुरा-वृन्दावनके केन्द्रसे भक्तिका प्रचार करने लगे।

इन अनेक प्रयत्नोंके फलस्वरूप भक्तिके विविध रूप सामने आये। कालक्रमकी दृष्टिसे सबसे पहला रूप निर्गुण भक्तिका था। जिसके आदि प्रवर्तक कबीरदास (१३९९-१५१८ ई०) माने जाते हैं। कबीरके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी परस्पर विरुद्ध धारणाएँ प्रचलित हैं। यह तो सर्वमान्य है कि उन्होंने शास्त्रीय शिक्षा नहीं प्राप्त की थी, हो सकता है कि वे निरक्षर ही हों। जन्म या प्रारम्भिक जीवनके वातावरणमें उनमें कुछ मुसल्मानी संस्कार भी वर्तमान थे। परन्तु यह धारणा कि उन्होंने मात्र सुनी-सुनायी बातोंके आधारपर हिन्दू वेदान्ती, मुसलमानी, सूफी और नाथपन्थी विचारोंका अनगढ़ बेजोड़ सम्मिश्रण करके अपने धार्मिक और सामाजिक विचारोंका निर्माण किया था, अब बहुत कम लोगोंमें रह गयी है। सिद्ध-साहित्य तथा सम्प्रदाय (द्र०) और नाथपन्थ(द्र०)का जबसे विस्तृत अध्ययन हुआ है, यह बात स्पष्ट हो गयी है कि कबीरने सिद्ध और नाथ-परम्पराओंका भरपूर उपयोग किया था। उनके विचारोंका मूलाधार वही है। कदाचित् वे स्वयं नाथपन्थी जुगीवंशमें पैदा हुए थे। कबीरका विलक्षण अद्वैतवाद, उनकी रहस्यात्मक साधना-पद्धति, धार्मिक दम्भ और आडम्बरपूर्ण विद्वत्ताके प्रति तीव्र विरोधकी भावना तथा समाजमें प्रचलित जाति-पाँति और ऊँच-नीचकी भावनाका खण्डन–यह सब उन्होंने उसी परम्पराके संस्कारके रूपमें प्राप्त किये थे, जो कमसे कम इतनी पुरानी थी जितना बौद्ध धर्म। कबीरकी मौलिकता और दूरदर्शिता इस बातमें है कि उन्होंने दायमें प्राप्त संस्कारोंका सामयिक आवश्यकताओं-की दृष्टिसे उपयोग किया। नाथपन्थी प्रयोगियोंकी नीरस और कष्टकार्य साधनाको उन्होंने रामानन्दसे प्राप्त भाव-भक्तिके द्वारा सरस और सरल बनाया। हठयोगी रहस्य-वादको उन्होंने सूफी प्रेमभक्तिमें प्राप्त अनुभूतिपूर्ण रहस्यवाद(द्र०)में बदल दिया। कबीरने निर्भीकतापूर्वक हिन्दू और मुसल्मान, दोनोंमें प्रचलित पाखण्ड और मिथ्याचारका खरे शब्दोंमें खण्डन किया। अपने विचार, जो उन्होंने हार्दिक अनुभूतिके वश तथा प्रचारकी सुविधाके लिए सूक्तिशैली-प्रधान दोहों और गेय शैलीके पदोंमें व्यक्त किये, सहज ही काव्यमय बन गये। कहा जाता है कि कबीर कवि नहीं थे, केवल साधक और समाज सुधारक थे। परन्तु यह कथन कविकर्मके सम्बन्धमें सकुचित धारणापर आधारित है। निश्चय ही कबीर कवि-व्यवसायी नहीं थे। उनका उद्देश्य सभी कवियोंकी तरह लोगोंका मनोरंजन अथवा चमत्कार-प्रदर्शन नहीं था वरन् वे एक क्रान्तदर्शी सन्देशवाहक थे। उनकी वाणीमें काव्यका वह नैसर्गिक गुण है, जिसका सम्बन्ध काव्यशास्त्रके अनुशीलनसे नहीं, हृदयकी सच्ची अनुभूतिको सम्पूर्ण प्राणपणके साथ व्यक्त करनेकी क्षमतासे है। अन्य धार्मिक तथा सामाजिक सस्कारोंकी तरह अभिव्यक्तिकी भाषा और शैलीको भी उन्होंने सिद्ध और नाथपन्थी जोगियोंसे प्राप्त करके अपने उपयोगके अनुकूल निखार लिया था। उन्होंने साखी, सबद और रमैनी दोहा, पद और चौपाईकी शैलियाँ परम्परासे प्राप्त की थीं। अतः यह कहना भी उचित नहीं है कि कबीरके पीछे भाषा और साहित्यकी कोई परम्परा नहीं थी। केवल आधुनिक कालमें कबीरकी देनका उचित मूल्याकन हो सका है और यह देखा गया है कि उनके विचारोंमें मानवताके शाश्वत मूल्य और सार्वजनिक मर्यादाएँ निहित हैं। हिन्दी साहित्यमें उनकी गणना चोटीके कवियोंमें की जाती है। मध्ययुगके भक्तिकालमें उन्होंने अद्वितीय गौरव प्राप्त किया है।

कबीरके अतिरिक्त निर्गुणवादी सन्तोंकी परम्परामें रैदास, कमाल, नानक (१४६९–१५३९), दादू (१५४४–१६०३), मलूकदास (१५७४–१६८२), सुन्दरदास (१५९६–१६८९) आदि अनेक भक्त हुए हैं, जिनमें अधिकांश समाज-के निम्न वर्णोंके थे। सर्वसाधारणकी भाषामें उन्होंने भक्तिका सन्देश उन लोगोंतक पहुँचाया, जिनके लिए धर्मका द्वार सदा बन्द था। इनमें नानक तो एक प्रसिद्ध सम्प्रदायके प्रवर्तक हुए, दादूकी वाणी उनके स्वभावकी नम्रता, अनुभूतिकी रहस्यात्मक गम्भीरताका स्थायी प्रभाव डालती है तथा सुन्दरदास सन्त-कवियोंमें अपने साहित्यिक सौष्ठव और काव्यशास्त्रीय ज्ञानके एकमात्र प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं।

रामानन्दी भक्तोंकी दूसरी श्रेणी सवर्णोंकी थी। ये सगुणोपासक थे। इनमें अकेले तुलसीदास(१५३२–१६२३) का व्यक्तित्व और कृतित्व इतना महान् है कि उन्होंने (राम) भक्तिके प्रचारमें जो सफलता पायी वह किसी सघटित सम्प्रदायको भी नहीं मिल सकी। कबीर और तुलसी, दोनोंका उद्देश्य अपने समयके जर्जर जीवनमें जीवनी-शक्ति फूँककर उसे प्रगति पथपर अग्रसर करना था, यद्यपि दोनोंके दृष्टिकोणमें अन्तर था। कबीर समाजकी टूटी हुई व्यवस्थाको समाप्त करके उसे मानवताके आधारपर नवनिर्मित करना चाहते थे। तुलसी पुरातन व्यवस्थाको ही पुनर्जीवित करनेके पक्षमें थे। कबीरने कहा था–'दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। रामनामका मरम है आना।' परन्तु तुलसीने इन्हीं दशरथ-सुत राममें जिनका चरित आदिकवि वाल्मीकिने पहले-पहल काव्यके रूपमें वर्णित किया था, परम ब्रह्मत्व और पूर्ण मानवत्वकी प्रतिष्ठा की और अत्यन्त मनोहर लोकभाषामें 'रामचरितमानस'की रचना करके रामका नाम और जीवनके सभी क्षेत्रोंके प्रतिमान प्रस्तुत करनेवाले उनके चरित्र जन-जनके हृदयमें रमा दिये। तुलसी पुराण, शास्त्र, काव्य आदिमें निष्णात ब्रज और अवधी, दोनों भाषाओंपर अद्‌भुत अधिकार

रखनेवाले, पूर्ववर्ती और समसामयिक भाषा-कवियोंके सम्पूर्ण कृतित्वके पारखी, कविकर्मकी समस्त कठिनाइयोंके प्रति जागरूक एक ऐसे कवि थे, जिन्होंने नम्रतावश अपनेको सर्वथा अयोग्य मानते हुए भी काव्यकी एक नवीन कसौटीकी घोषणा की—'कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥' कविताकी यह कसौटी कि वह सहृदयोंको मात्र आनन्दित करे, भक्तिकालके किसी कविको स्वीकृत न थी; सभीके सम्मुख यही आदर्श था कि उनकी वाणी जन-जनका कल्याण करे। भक्तिकालके इसी आदर्शको तुलसीने मार्मिक ढगसे व्यक्त किया है। तुलसीने प्राकृत जनोंका गुणगान करनेवाले कवियोंको धिक्कारा है। इस कालके सभी कवि इसी आदर्शपर चले हैं। परन्तु जनकल्याणकी भावना प्रधान होते हुए भी तुलसीमें काव्य-सौन्दर्यका जो उत्कर्ष है, उसका उदाहरण मिलना असम्भव है। तुलसीकी दृष्टिमें व्यापकता और गहराई, दोनों असाधारण हैं, उनकी सहृदयता और संवेदनशीलता पण्डित और मूर्ख, दोनोंको हिला देनेकी शक्ति रखती है। युग-पुरुषकी दूरदृष्टि, दार्शनिककी गहरी पैठ और सच्चे कविकी रससिद्ध वाणीसे सम्पन्न यह अकेला कवि भक्ति-कालको हिन्दीका 'स्वर्णयुग' सिद्ध करानेमें समर्थ है। तुलसीने अपने समयतक प्रचलित चौपाई-दोहाकी वर्णनात्मक शैली, विविध छन्दोंके गीति-पदोंकी स्तोत्रात्मक तथा भावात्मक शैली, सूक्ति-प्रधान दोहा-शैली, छप्पयकी वीरकाव्य-शैली, कवित्त-सवैयाकी मुक्तक शैली, सभी काव्य-शैलियोंका प्रयोग करके तथा रामकथाके चरित्रोंमें उच्च आदर्श तथा मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकताका अद्वितीय समन्वय करके रामभक्ति-काव्यके भावी कवियोंके लिए कुछ भी कहनेको नहीं छोड़ा। रामभक्ति शाखा(दे०)के अन्य कवियोंमें अग्रदास और नाभादास भक्त ही अधिक हैं, कवि नहीं, प्राणचन्द चौहान और हृदयरामने नाटक-शैलीका प्रयोग किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। आगे चलकर इस धारामें या तो धार्मिक स्तवनादिकी रचनाएँ हुईं या कृष्ण-भक्ति शाखा(दे०)के भद्दे अनुकरणमें राम-सीताके संयोग-शृंगारके वर्णन लिखे गये।

रामानन्द और तुलसीके द्वारा रामकी मर्यादा-भक्तिका सामान्यत व्यापक प्रचार हुआ। परन्तु राम-भक्तिका सघन क्षेत्र रामकी जन्मभूमि अवधप्रदेश ही रहा। भक्तिके जिस रूपने आसाम-बगालसे गुजराततकके बड़े भूभागको रसमग्न कर दिया, वह था कृष्ण-भक्तिका प्रेम-प्रधान रूप, जिसकी कई संघटित सम्प्रदायोंने कृष्णकी जन्मभूमि गोकुल-वृन्दावनको प्रधान केन्द्र बनाकर देशभरमें प्रचार किया तथा जो कई शताब्दियोंतक सगीत, काव्य, चित्र आदि कलाओंको प्रेरणा, विषय-वस्तु और उद्देश्य प्रदान करता रहा। हिन्दी काव्यकी कृष्ण-भक्ति शाखा इतनी समृद्ध और उत्कृष्ट है कि हम उसे न केवल भक्ति-कालकी प्रधान काव्यधारा कह सकते हैं, वरन् सम्पूर्ण मध्ययुगमें तथा उसके अनन्तर कमसे कम आधी शताब्दीतक हम कृष्ण-काव्य(दे०)की ही प्रमुखता पाते हैं।

हिन्दीमें कृष्ण-काव्यके प्रथम कवि विद्यापति (चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती) कहे जाते हैं, जिनके मैथिल पद कृष्ण-भक्ति-आन्दोलनके वेगके पूर्व ही रसिक जनोंका चित्त हरने लगे थे। परन्तु वास्तवमें हिन्दी कालकी इस शाखाके प्रवर्तक सूरदास हैं, जिन्हें पुष्टिमार्ग(दे०)के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्यने दीक्षा देकर अपना लिया और उनकी काव्य-प्रतिभाका भक्तिके प्रचारार्थ उपयोग किया। इस सम्प्रदायके अनेक भक्त कवित्वशक्तिसम्पन्न थे, जिनमें अष्टछाप(दे०)के कुम्भनदास, परमानन्ददास और नन्ददास तथा अन्य भक्त-कवियोंमें रसखान विशेष प्रसिद्ध हुए। पुष्टिमार्गके अतिरिक्त गोसाईं हितहरिवंश (जन्म १५०२) द्वारा राधावल्लभी सम्प्रदाय (दे०), बंगालके महाप्रभु चैतन्यदेव (जन्म १४८५) द्वारा स्थापित गौडीय वैष्णवसम्प्रदाय (दे०) इस कालमें कृष्ण-भक्तिका संघटित प्रचार करनेमें काव्यके माध्यमका भी सफल उपयोग कर रहे थे। इनसे पहले स्थापित हुए यादव और निम्बार्कके ब्रह्म तथा सनकादि सम्प्रदायोंके केन्द्र तो मथुरा-वृन्दावनमें थे ही। कुछ नवीन सम्प्रदायों—गौडीय वैष्णव सखी और राधावल्लभीके प्रवर्तक भी पहले इन सम्प्रदायोंसे सम्बन्धित रहे थे। हितहरिवंश स्वयं अत्यन्त सरस कवि थे तथा हरिदास कविके साथ-साथ प्रसिद्ध संगीताचार्य भी थे। इन सभी सम्प्रदायोंके अनुयायी सैकड़ों प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध कवियोंने भक्ति-कालको हिन्दी साहित्यका सर्वाधिक सम्पन्न काल बनानेमें योग दिया। परन्तु भक्ति-कालके समस्त कृतित्वमें काव्यका चरम उत्कर्ष सूरदासमें पाया जाता है। वस्तुतः वे ही कृष्ण-काव्यधाराकी भाषा, शैली, विषय, वस्तु, भाव और विभाव-दर्शनके आदि और अक्षय स्रोत हैं। व्रजभाषा काव्यको एक साथ ही ऐश्वर्य और शोभा, महिमा और सौन्दर्य, गरिमा और श्रीसे सम्पन्न करके सूरदासने विना किसी धूमधाम और नेतृत्वकी सजग भावनाके चुपचाप काव्यके सहज गुप्त ढगसे युग जीवनकी आत्माको जितनी गहरायी और स्थायित्वसे प्रभावित किया है उतना कोई दूसरा कवि नहीं कर सका। उनकी सफलता-का रहस्य यही है कि उन्होंने सच्चे कवि होनेके नाते मनुष्यकी सौन्दर्य-वृत्तिको ही परिष्कृत और उदात्त बनानेका उपक्रम किया। यही इस बातका भी कारण है कि उनका नाम युगनेताके रूपमें कभी प्रसिद्ध नहीं हुआ, यद्यपि धर्म, दर्शन और नीतिके सभी उत्कृष्ट सिद्धान्त उनकी रचनामें निहित हैं। उनका उपदेश सच्चे अर्थमें कान्तासम्मित उपदेश है। वे सोलह आने कवि और सोलह आने भक्त हैं। विश्वके बहुत थोड़ेसे चुने हुए कवियोंमें उनका स्थान सुनिश्चित है।

इन सम्प्रदायोंसे अलग स्वतन्त्र साधना और काव्य-रचना करनेवाले भी अनेक भक्त कवि हो गये ह। मीराँबाई ऐसी ही थीं। उनकी भक्ति-पद्धतिमें साम्प्रदायिकताका तनिक भी आग्रह नहीं है, यहाँतक कि उनमें निर्गुण और सगुणका स्वाभाविक समन्वय पाया जाता है। मीराँके पदोंकी गीति-भावना भक्तिकालके काव्यमें बेजोड़ है।

भक्तिकालकी एक और शाखा प्रेममार्गी (सूफी) काव्य-(दे०) की है। इस शाखाके सभी कवि मुसलमान हैं। वे अन्य भक्त कवियोंकी तरह भक्तिके प्रचारक नहीं कहे जा सकते। उनका प्रभाव-क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। उनके

विचारोंकी पृष्ठभूमि तथा वातावरण विदेशी होते हुए भी उनके दार्शनिक चिन्तनमें वेदान्तसे अद्भुत समता पायी जाती है। उनकी भक्तिका स्वरूप भी प्रपत्ति और प्रेमकी भावनासे ही प्रधानतया निर्मित हुआ है, अतः वैष्णव भक्तिसे उसमें अधिक अन्तर नहीं है, केवल प्रतीक और अभिव्यक्तिकी शैलीमें ही भेद है। सूफी प्रेमभक्तिने निर्गुण सन्तोंकी भक्तिको तो प्रभावित किया ही था, वैष्णव भक्तिके साथ भी उसके आदान-प्रदानकी सम्भावना असम्भव नहीं है। परन्तु सूफी काव्यधाराका महत्त्व उनके सामाजिक पक्षमें इससे अधिक और कुछ नहीं है कि इसने भक्तिके प्रेमपूर्ण, उदार मानववादी, श्रद्धामय वातावरणके निर्माणमें सहायता की। इन काव्यधाराका शुद्ध काव्यकी दृष्टिसे ही विशेष महत्त्व है। सूफी कवियोंने प्राचीन कालसे प्रचलित मध्ययुगीन लोक-कथाओंको कथाकाव्य या प्रेम-रोमान्सका अत्यन्त मनोहर रूप देकर कथाके लौकिक प्रेममें गूढ़ आध्यात्मिक प्रेमके संकेत किये हैं। कुतुबनकी 'मृगावती' (१५०१), मंझनकी 'मधुमालती', मलिक मुहम्मद जायसीका 'पदमावत' (१५२०-१५४०), उसमानकी 'चित्रावली' (१६१३) तथा 'ज्ञानदीप' (शेखनबी), 'हंस जवाहिर' (कासिमशाह) और 'इन्द्रावती' (नूरमुहम्मद) आदि अनेक प्रेमाख्यानक काव्य (दे०) सर्वसाधारणके नित्यप्रतिके जीवनकी प्रेम-भावनाओंमें ऐसी रहस्यमयी पारलौकिक व्यंजनाएँ करते हैं कि काव्यका चमत्कार सहज ही कई गुना बढ़ जाता है। इन कवियोंमें जायसी बड़ी सरलतासे सर्वश्रेष्ठ कवियोंमें स्थान पानेके अधिकारी हैं। उनका 'पदमावत' महाकाव्य कहा जाता है। उनकी बहुत बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दीके अन्य भक्तिकालीन काव्य-ग्रन्थोंकी तरह उसमें किसी प्रकारका सिद्धान्तवाद या धार्मिक आग्रह नहीं है। कविके द्रवणशील हृदयकी निर्मल सरस निर्झरिणीकी भाँति निःसृत होकर 'पदमावत' एक महाकार गम्भीर सरिताके रूपमें प्रवाहित होता हुआ अनंख्य मानवीय भावधाराओंको आत्मसात् करता हुआ अध्यात्मके असीम महासागरमें मिलकर एकाकार हो जाता है। उसमें अवगाहन करनेवाले जितना ही गहरे पैठते हैं उतने ही मूल्यवान् रत्न उपलब्ध कर सकते हैं। शुद्ध काव्यकी दृष्टिसे 'पदमावत' अद्वितीय महाकाव्य है।

इस प्रकार भक्तिकालकी चारों—निर्गुण, सूफी, राम और कृष्ण-काव्यकी धाराओंने काव्यका चतुर्मुखी विकास करके हिन्दी साहित्यको तो गौरवान्वित किया ही, भारतके इस युगको इतिहासके स्वर्णिम काल कहे जानेमें भी अद्वितीय योग दिया। दार्शनिक पृष्ठभूमि, चिन्तन-पद्धति और साम्प्रदायिक आचार और कर्मकाण्ड आदि अनेक बातोंमें पर्याप्त अन्तर होते हुए भी इन चारों धाराओंमें विलक्षण साम्य दिखाई देता है। ब्रह्मकी अद्वैतता और एकतामें अपने अपने ढंगसे सभीका विश्वास है। व्यक्तिगत ईश्वरकी कल्पना, इष्टदेवके प्रति अनन्य भाव, उसके नाम और रूप-(या अरूप)के प्रति आत्मीय अनुराग, उसके प्रति किसी-न-किसी भावके प्रेमका सम्बन्ध, उसी प्रेमकी परिपूर्णता और व्यापकतामें आस्था, गुरुके प्रति इष्टदेव जैसी श्रद्धाका भाव आदि प्रवृत्तियाँ सभी भक्ति-सम्प्रदायोंमें पायी जाती हैं। परन्तु समस्त भक्तिकालीन साहित्यको एक सूत्रमें बाँधनेवाली सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि विविध विश्वासों और आचारिक पद्धतियोंवाले इन अगणित कवियोंने मानव-जीवनके लिए जिन मूल्योंकी खोज की, उनमें पूर्ण समानुरूपता है तथा उनके आधारपर स्थापित व्यक्तिगत और सामाजिक मर्यादाओंमें भी कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

[सहायक ग्रन्थ—(१) हिन्दी-साहित्यका इतिहास रामचन्द्र शुक्ल, (२) हिन्दी साहित्यकी भूमिका हजारी-प्रसाद द्विवेदी] —व्र० व०

भक्ति-काव्य—दे०—'भक्ति-काल'।

भक्ति रस—भरत(३ श० ई०)से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ(१७-१८ श० ई०)तक संस्कृतके किसी प्रमुख काव्याचार्यने 'भक्ति रस'को रस-शास्त्रके अन्तर्गत मान्यता प्रदान नहीं की। जिन विश्वनाथने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'के सिद्धान्तका प्रतिपादन किया और 'मुनि-वचन'-का उल्लंघन करते हुए वात्सल्यको नव रसोंके समकक्ष सांगोपांग स्थापित किया, उन्होंने भी भक्तिको रस नहीं माना। भक्ति रसकी सिद्धिका वास्तविक स्रोत काव्य-शास्त्र न होकर भक्ति-शास्त्र है, जिनमें मुख्यतया 'गीता', 'भागवत', 'शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र', 'नारद-भक्तिसूत्र', 'भक्ति-रसायन' तथा 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' प्रभृति ग्रन्थोंकी गणना की जा सकती है।

भक्तिको रस मानना चाहिये या भाव, यह प्रश्न इस बीसवीं शताब्दीतकके काव्य मर्मज्ञोंके आगे एक जटिल समस्याके रूपमें आता रहा है। कुछ विशेषज्ञ भक्तिको बलपूर्वक रस घोषित करते हैं। कुछ परम्परानुमोदित रसोंकी तुलनामें उसे श्रेष्ठ बताते हैं, कुछ शान्त रस और भक्ति रसमें अभेद स्थापित करनेकी चेष्टा करते हैं तथा कुछ उसे अन्य रसोंसे भिन्न, सर्वथा अलौकिक, एक ऐसा रस मानते हैं, जिसके अन्तर्गत शेष सभी प्रधान रसोंका समावेश हो जाता है। उनकी दृष्टिमें भक्ति ही वास्तविक रस है, शेष रस उसके अंग या रसाभासमात्र हैं। इस प्रकार भक्ति रसका एक स्वतंत्र इतिहास है जो रस तत्त्व-विवेचनकी दृष्टिसे महत्ता रखता है।

'नाट्यशास्त्र'के सर्वप्रधान व्याख्याता अभिनवगुप्त-(१०-११ श० ई०)ने भरतके रस सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए शान्तको तो नवाँ रस सिद्ध कर दिया, पर नव रसोंके अतिरिक्त अन्य किसी रसकी स्वतन्त्र स्थितिको स्वीकार नहीं किया। नवका नौमेंसे ही किसी-न-किसी रसमें अन्तर्भाव मान लिया और—'एवं भक्तावपि वाच्यमिति' लिखकर वही बात भक्तिपर भी लागू कर दी। यही नहीं, उन्होंने भक्तिको रस माननेका स्पष्ट निषेध भी किया है। यथा—'अत एवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्य-नुप्रविष्टेऽन्यथैवागमिति न तयो पृथग्रसत्वेन गणनम्।' (अभिनवभारती), अर्थात् अतएव ईश्वरोपासना-विषयक भक्ति और श्रद्धा, स्मृति, मति, धृति, उत्साह आदिमें ही समाविष्ट होनेके कारण अंगरूप ही हैं, अतः उनका पृथक् रसरूपमें परिगणन नहीं होता। मम्मट(१२ श० ई० पूर्वा०)ने भक्तिका न तो शान्त रसमें अन्तर्भाव माना और न स्वतन्त्र रसरूपमें ही वे उसे स्थापित कर सके। अभिनवगुप्तकी

उक्त धारणासे भी वे सन्तुष्ट नहीं हुए, अतएव मध्यम मार्गका अनुसरण करते हुए उन्होंने भक्तिकी मूल भावना 'देवादिविषयक रति'को व्यभिचारी भावोंसे पुष्ट भाव-विशेषके रूपमें स्पष्ट मान्यता दे दी—'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जित । भाव प्रोक्त ।' (का० प्र० ४: ३५)।

क्या रस इतने (नौ) ही है, इस प्रश्नको सामने रखकर जगन्नाथ(१७-१८ श० ई०)ने अपने पूर्वपक्षका निरूपण करते हुए भक्तिको रस माननेवाले मतके आधारसे पूरी अभिज्ञता प्रदर्शित की—'भगवान् जिसके आलम्बन हैं, रोमाच, अश्रुपातादि जिसके अनुभाव हैं, भागवतादि पुराण श्रवणके समय भगवद्भक्त जिसका प्रकट अनुभव करते हैं और भगवान्‌के प्रति अनुरागस्वरूपा भक्ति ही जिसका स्थायी भाव है उस भक्ति रसका शान्त रसमें अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुराग और विराग परस्पर विरोधी है। किन्तु भक्ति देवादिरति-विषयसे सम्बन्ध रखती है अतएव वह भावके अन्तर्गत है और उसमें रसत्व नहीं माना जा सकता'। (र० गं० पृ० ४५-४६)। पहले तो लेखकने भक्ति रसके विभाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थायी सभी रसांगोंका उल्लेख करके उसका पूरा स्वरूप खड़ा किया, फिर रसोंके नवत्वकी रूढ़िके आग्रहसे उसने शान्त रसमें भक्ति रसके अन्तर्भावपर विचार किया है। तदनन्तर 'मुनि-वचन'का उल्लघन न हो जाय यह सोचकर भक्तिको रस न मानकर भाव माननेके पक्षका ही समर्थन कर दिया। तर्क यह दिया कि देवादिविषयक रतिके आधारपर भक्ति रसको माना जायेगा तो पुत्रादिविषयक रतिके आधारपर भी स्वतन्त्र रस (वात्सल्य) मानना पड़ेगा। यही नहीं, इससे आगे 'जुगुप्सा' और 'शोक'को स्थायी भाव न मानकर शुद्ध भाव ही मनवानेका आग्रह किया जा सकता है, जिसके परिणामस्वरूप सारा रसशास्त्र विश्रृंखल हो जानेकी आशंका होती है (इत्यखिलदर्शन व्याकुली स्यात्), अतएव मुनि-वचनसे नियन्त्रित रसोंकी नवत्व गणना ही मान्य होनी चाहिये। यहाँ पण्डितराजने निश्चय ही संकीर्ण परम्परावादी दृष्टिकोणका परिचय दिया है। अनुराग और विरागके विरोधकी जो महत्त्वपूर्ण समस्या उन्होंने उठायी, उसका भी समुचित विश्लेषण-विवेचन नहीं किया गया। भक्तिमें अनुराग ईश्वरके प्रति और विराग संसारके प्रति रहता है, अत आलम्बन-भेद होनेसे दोनोंका वैसे विरोध सिद्ध नहीं होता जैसे 'रसगगाधर'के रचयिताने परिकल्पित कर लिया।

भामह (७ श० ई० पूर्वा०), दण्डी (७वीं श० ई०) आदि द्वारा मान्य 'प्रेयम्' अलकारमें जिन रत्यादिक भावोंका समावेश होता था उनमें पुत्रविषयक रतिकी तरह देवादिविषयक रतिकी भी गणना की जा सकती है, इसका सप्रमाण निर्देश करते हुए भक्ति रसके विकासका कुछ सम्बन्ध उक्त अलकारसे भी बताया गया है (स० सा० इ० क० पोद्दार पृ० ९०-९१)। भक्ति-शास्त्रमें गीता-उपनिषद्‌के अन्तर्गत ब्रह्मके रसमय तथा आनन्दमय होनेका अनेक स्थलोंपर उल्लेख मिलता है। गीतामें भक्ति और भक्तोंको विशेष महत्ता प्रदान की गयी है, किन्तु 'भागवत-पुराण'को ही भक्तिको व्यापक एवं श्रेष्ठ रसरूपमें प्रतिष्ठापित करनेका मौलिक श्रेय है। 'भागवत'के प्रारम्भमें ही भगवद्विषयक अलौकिक रस तथा उसके रसिकोंका उल्लेख मिलता है—'निगमकल्पतरोर्गलितं फल शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् । पिवत भागवत रसमालयम् मुहरहो रसिका भुवि भावुका ।' (१ . ३)। भक्ति रसकी महत्ता तथा उसका स्वरूप 'भागवत'में स्थान-स्थानपर व्यक्त किया है, (दे० श्लोक—४ . ९ १०, ६ १२ २२, ११ . ३ ३२ आदि)। शाण्डिल्य भक्ति-सूत्रमें भक्तिको 'परानुरक्तिरीश्वरे' रूपमें परिभाषित करते हुए उसे द्वेषकी विरोधिनी तथा 'रस'से प्रतिपाद्य होनेके कारण भी रागस्वरूपा माना गया है—'द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च राग' (६)। इसी तरह 'नारद भक्ति-सूत्र'में भक्तिको 'परमप्रेमरूपा' कहा गया है। इन सूत्र-ग्रन्थोंमें ज्ञान और भक्तिके पारस्परिक सम्बन्ध तथा राग और विरागकी भावनाके भक्तिगत अविरोधपर भी सूक्ष्म प्रकाश डाला गया है। भक्तिकी उपलब्धि अमृतत्व, तृप्ति और सिद्धिकारक होती है तथा उससे शोक, द्वेष, रति और उत्साह आदिका शमन होता है (ना० भ० ४-५)। इसे बताकर शान्त और भक्ति रसके बीच जो द्वैध खड़ा करनेकी चेष्टा की जाती है उसका तात्त्विक निषेध किया गया है।

मधुसूदन सरस्वतीके 'भक्तिरसायन' नामक ग्रन्थमें भक्तिके अलौकिक महत्त्व और रसत्वका विशद निरूपण करते हुए उसे एक ओर दसवाँ रस बताया गया है तो दूसरी ओर सब रसोंसे श्रेष्ठ भी माना गया है। उसके रसांगोंका निर्देश भी 'भक्तिरसायन'में मिलता है। 'भगवद्भक्तिचन्द्रिका' नामक ग्रन्थके रचयिताने भी पराभक्तिको रस कहा है—'पराभक्ति प्रोक्ता रस इति' (अमृतरसोल्लास)।

गौडीय सम्प्रदायके प्रतिष्ठित आचार्य रूपगोस्वामी (१५–१६ श० ई०)कृत 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु'में काव्यशास्त्रीय दृष्टिसे भक्ति रसका विस्तार एक सुनिश्चित व्यवस्थाके साथ किया गया है। 'भागवत'के बाद भक्ति रसकी मान्यताका सर्वाधिक श्रेय रूपगोस्वामीको ही है। उन्होंने भक्तिके पाँच रूप माने—१ शान्ति, २ प्रीति, ३. प्रेय, ४. वत्सल, ५ मधुर। ये शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य पाँच भाव-भक्तिके मूल है। उत्कृष्टताके आधारपर भक्ति रस पराकोटि और अपराकोटिका माना गया है। इन भावोंका मूल 'भागवत'की नवधा भक्ति तथा 'नारद-भक्ति-सूत्र'की एकादश आसक्तियोंमें मिल जाता है। ग्रन्थके दक्षिण विभागमें भक्तिके रसांगोंका विवेचन विस्तार सहित किया गया है। चैतन्य महाप्रभु गौडीय भक्ति-सम्प्रदायके प्रवर्तक थे। उनकी उपासनाका आधार रसप्लावित तीव्र प्रेमानुभूति रही है, अतएव उन्हींके सम्प्रदायमें भक्ति रसका विशद विस्तार हुआ, यह स्वाभाविक ही था।

हिन्दीमें रीतिकालीन काव्याचार्योंने भक्तिमूलक काव्यकी तो रचना की, परन्तु काव्य रसके रूपमें भक्तिकी प्रतिष्ठाका कदाचित् कोई भी प्रयास उन्होंने नहीं किया। देवने अवश्य भक्ति रसपर विचार करते हुए उसके प्रेम, शुद्ध तथा प्रेमशुद्ध नामक तीन भेद किये हैं और प्रेमाश्रयी

भक्तिके अन्तर्गत शान्तकी गणना की है।

आधुनिक लेखकोंमें हरिऔधको इस स्थितिसे सबसे अधिक क्षोभ हुआ जो उनके 'वात्सल्य रस' शीर्षक निबन्धमें भक्तिविषयक प्रसंगान्तर बनकर तीव्रतासे व्यक्त हुआ। भक्ति रसका महत्त्व अन्य रसोंकी तुलनामें बताते हुए उन्होंने लिखा—'परमात्माका नाम रस है। श्रुति कहती 'रसो वै सः'। रस शब्दका अर्थ है—'यः रसयति आनन्दयति स रसः।' वैष्णवोंको माधुर्य उपासना परम प्रिय है अतएव भगवदनुरागरूपा भक्तिको रस मानते हैं। ' मेरा विचार है कि वत्सलमें उतना चमत्कार नहीं जितना भक्तिमें।' हरिश्चन्द्रने 'भक्ति वा दास्य' लिखकर उसे दास्यतक परिमित कर दिया है, किन्तु भक्ति बहुत व्यापक और उदात्त है, साथ ही उसमें इतना चमत्कार है कि शृंगार रस भी इसकी समता नहीं कर सकता (को० रमा० नं०, पृ० ४२५–२६)। इसी प्रकार कन्हैयालाल पोद्दारने भी इस समस्यापर विचार करते हुए कि 'भक्ति भाव है या रस', अपना मत बलपूर्वक भक्तिके रसत्वके पक्षमें दिया है—'दुःख और आश्चर्य है कि जिन साध्यमान शृंगारादि रसोंमें चिदानन्दके अंशांशके स्फुरण मात्रसे रसानुभूति होती है, उनको रस संज्ञा दी जाती है और जो साक्षात् चिदानन्दात्मक भक्ति रस है उसे रस न मानकर भाव माना गया है। यही क्यों, क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि स्थायी भावोंको (जो प्रत्यक्षतः सुख-विरोधी हैं) रौद्र, करुण, भयानक और वीभत्स रसकी संज्ञा दी गयी है (सा० सु० पृ० ७२–७३)। पोद्दारने भक्ति रसके रसांगोंकी व्याख्या निम्नलिखित रूपमें निर्धारित की है और नवको अलौकिक माना है। स्थायी भाव—भगवद्विषयक अनुराग। आलम्बन विभाव—भगवान् राम, कृष्ण आदिके अखिल-विश्व-सौन्दर्य-निधि दिव्य विग्रह। अनुभाव—भगवान्के अनन्य प्रेमजन्य अश्रु, रोमाञ्च आदि। व्यभिचारी भाव—हर्ष, सुख, आवेग, चपलता, उन्माद, चिन्ता, दैन्य, धृति, स्मृति और मति। शान्त रसकी तरह ही उन्होंने भक्ति रसको वास्तविक ब्रह्मानन्द-सहोदर बताया है। रति स्थायी आलम्बन-भेदसे ही रस या भाव होता है, अतएव अलौकिक आलम्बन होनेसे तो यह अलौकिक भक्ति रस होगा ही।

आधुनिक मराठी रस-शास्त्रियोंने भक्ति रसकी समस्यापर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। वाटवेने वीभत्स तथा रौद्र रसको कम करके नव रसोंमें उनके स्थानपर वात्सल्य और भक्ति रसको स्थापित करनेका प्रस्ताव किया है (रसविमर्श)। दी०के० वेडेकरने इसमें भरतके रस-चतुष्टयकी व्यवस्था भंग होती हुई देखकर वाटवेके मतका तीव्र विरोध किया है। उनकी धारणा है कि रस-व्यवस्थाका मूल आधार 'देवासुर-कथा' है और रौद्र और वीभत्सको निकाल देनेसे वह बिना रावणके रामायण जैसी एकपक्षी हो जाती है (आलोचना अंक ४, पृ० ८६)। मा० दा० आलतेकर भक्तिका शृंगारमें अन्तर्भाव करते हैं, इसी तरह कृ० कोल्हटकर अद्भुतमें। आनन्दप्रकाश दीक्षितने इनके मतका सतर्क विरोध किया है। द० सा० पंगु निर्जीव आलम्बन होनेसे, डा० श्रीजोग भक्तिकी अव्यापकता तथा उसके मूल भावना न होनेसे तथा रा० हिंगणेकर भक्तिके विक्रियाहीन होनेसे उसको रसत्वका अधिकारी नहीं मानते। शिवराम पन्तने भक्तिके विविध रूपोंकी कल्पना करके 'देशभक्ति'को स्वतन्त्र रस बनाया है, जिसका स्थायी भाव उन्होंने 'देशाभिमान' निर्धारित किया है।

वस्तुतः भक्ति रसका आलम्बन लौकिक न होकर अलौकिक ही मानना समीचीन होगा। भक्तिशास्त्रमें निराकार-निर्गुण ब्रह्मकी अवतारवादके आधारपर इस प्रकार सगुण साकार कल्पना की गयी कि वह भक्ति-भावनाका वास्तविक आलम्बन बन सका। निश्चय ही भक्ति-काव्यमें भावनाका जो विस्तार भारतीय साहित्यमें मिलता है उसको देखते हुए भक्तिको रस न स्वीकार करना वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करना है। यह अवश्य है कि महत्त्वके साथ भक्ति रसकी अपनी अनेक सीमाएँ भी हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भारतकी सभी प्रमुख प्रान्तीय भाषाओंमें भक्तिका साहित्य उपलब्ध होता है। हिन्दी साहित्यमें सूर, तुलसी, मीरां आदिकी रचनाएं भी भक्ति रसका श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। निर्गुणधाराके काव्यमें जहाँतक वैष्णव भावनाका प्रवेश हुआ है वहींतक भक्ति रसकी व्याप्ति है, अन्यथा नहीं। विशेषके लिए दे०—'उज्ज्वल रस' तथा 'माधुर्य रस'। —ज० गु०

भक्तिवाद—'ध्वन्यालोक'में उल्लिखित तीन ध्वनि-विरोधी मतोंमेंसे दूसरा। ध्वनिकारका कथन है कि कुछ लोग ध्वनिको भाक्त (गौण अथवा लक्षणागम्य) भी कहते हैं। लक्षणाके तीन तत्त्व माने जाते हैं और उन्हीं तीनों तत्त्वोंके आधारपर भक्ति शब्दकी तीन प्रकारकी व्युत्पत्ति की जाती है—'मुख्यार्थस्य भंगो भक्तिः'(भक्ति–पृथक्-पृथक् भाग)से मुख्यार्थ बाध, 'भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मो भक्तिः'से सामीप्य आदि अर्थान्तरकी सिद्धि तथा 'प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो भक्तिः'से प्रयोजनकी सिद्धि सूचित होती है और इन तीनों तत्त्वोंसे आगत लक्ष्य अर्थको भाक्त कहते हैं—तत आगतः भाक्तः। मीमांसकोंने लक्षणाके दो भेदों—गौणी तथा शुद्धामें गौणीको एक स्वतन्त्र शब्दव्यापार माना है और भक्ति पदसे वे गौणी वृत्तिका ही द्योतन करते हैं (विशेषके लिए दे०—हिं० ध्व० पृ० १२)।

उपर्युक्त अलंकारशास्त्रियों एवं मीमांसकोंने व्यंग्यार्थका निषेध नहीं किया। वे उसकी स्थितिको स्वीकार करते हैं, किन्तु लक्षणाके अन्तर्गत ही उसका अन्तर्भाव कर लेते हैं। इनके पक्षको सन्देहमूलक कहा गया है, क्योंकि ये दृढ़ताके साथ व्यंग्यार्थका विरोध नहीं करते हैं। सभी ध्वन्याचार्योंने भाक्तवादियोंकी स्थापनाको भ्रामक सिद्ध किया है। उनका प्रधान तर्क यह है कि लक्षणामें मुख्यार्थ बाधित होनेके उपरान्त लक्ष्यार्थका बोध होता है, पर जिस प्रयोजनकी प्रतीति उत्पन्न करानेके लिए लक्षणाका सहारा लिया जाता है उसकी प्रतीति ऐसी होती है जिसमें व्यंजनाव्यापारके अतिरिक्त और कोई भी व्यापार समर्थ नहीं होता है (यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते। फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजना नापरा क्रिया—का० प्र० २ १८)। —उ० शं० शु०

भगवती नैरात्मा–नैरात्मा वस्तुत शून्यताकी संज्ञा है। 'गुह्यसिद्धि'में बताया गया है कि बुद्ध भगवान्‌के रूपमें भगवती नैरात्माके साथ निवास करते हैं। **बोधिचित्त** जाग्रत् होकर उपायके रूपमें नैरात्मामें विलीन होकर शून्यता-लाभ करता है। **युगनद्ध**में महामुद्रा ही भगवती नैरात्माका प्रतीक मानी जाती है। (दे०—'महामुद्रा')—ध० वी० भा०

भग्न-प्रक्रम–दे०—'शब्द-दोष', सोलहवाँ 'वाक्य-दोष'।

भजन–स्तुति, स्तोत्र और स्तवनका लोकरूप ही भजन है। उपासनापरक गीतोंकी सज्ञा 'भजन' है। सगुणोपासनाके कारण इस विधानको अधिक प्रसार मिला। **स्तोत्रग्रन्थ,** धर्म-सम्बन्धी **पंचक, अष्टक, दशकादि** रचनाएँ इस पद्धतिके अन्तर्गत हैं, यद्यपि ये भजन नहीं हैं। 'भज गोविन्द भज गोविन्द गोविन्द भज मूढमते' इस पद्धतिकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। बौद्ध, जैन और तत्पश्चात् पौराणिक हिन्दू धर्मने यह रचना-विधि अपनायी। लोक-रचना-विधिका यह धार्मिक अभियान है। भजनके लिए न तो कोई विशेष छन्द है और न गेयताकी दृष्टिसे कोई राग विशेष। स्तोत्र-काव्य जहाँ विशेष रूपसे छन्दात्मक हैं, वहाँ भजन गेय पदाश्रित है। प्रात काल गाये जानेवाले भजनको 'प्रभाती' कहते हैं। संस्कृतमें भी 'प्रभात-स्तोत्र' हैं, जिनमेंसे श्रीहर्ष-कृत 'सुप्रभातस्तोत्र'में बुद्धकी प्रार्थना 'स्रग्धरा' वृत्तमें है। यामुनाचार्य(अनुमानत सन् १००० ई०)ने लक्ष्मी और विष्णुकी स्तुतिमें रचनाएँ की थीं। स्वामी रामानन्दके कारण उत्तरी भारतमें भक्तिकी जो धारा बही उससे गेय पदोंमें भजनोंकी रचनाको प्रोत्साहन मिला। भजनमें इष्टका रूप-कीर्तन अथवा गुण-कीर्तन होता है। अपने दैन्य और इष्टदेवकी वत्सलताके वर्णन इसमें मिलेंगे। भजनका एक विभेद 'आरती' है। 'गोरखवानी'में सगृहीत 'आरती'की प्रथम पंक्ति है 'नाथ निरंजन आरती गाऊँ। गुरुदयाल अग्याँ जो पाऊँ'। प्रभातीमें 'जागिये ब्रजराज कुँवर पंछी बन बोले' महत्त्वपूर्ण रचना है। मिथिलामें शिवोपासनापरक गीतोंकी सज्ञा 'नाचारी' है। भजनोंका विभेद 'निर्गुन' भी है, जिसमें वैराग्यमय जीवनका उत्कर्ष वर्णित रहता है। इसमें सगुणोपासनापरक गेय पद भी आते हैं। वल्लभ सम्प्रदायने भजनके स्थानमें **कीर्तन**को अधिक महत्त्व दिया, जिसमें इष्टदेवके रूप-गुण-कीर्तनकी ओर अधिक ध्यान रहता है। कीर्तनमें सामूहिकताका अंश अधिक है और भजनमें वैयक्तिक साधनाका तत्त्व, यद्यपि कीर्तन वैयक्तिक भी हो सकता है और भजन सामूहिक भी। (दे०—'पद') —रा० खे० पा०

भय–भयानक रसका स्थायी भाव भय है। 'नाट्यशास्त्र'में लिखा है–'भयका सम्बन्ध स्त्रियों तथा नीच प्रकृतिके लोगोंसे है। यह अपनेसे श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा राजाके प्रति किये गये अपराध, वनमें भ्रमण, हाथी या सर्प देख लेना, शून्य गृहमें ठहरना, गुरुजनोंकी भर्त्सना, बरसातकी अँधेरी रात, उलूक तथा रातको बाहर निकलनेवाले जानवरोंके शब्दका श्रवण इत्यादि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है।' (ना० शा० ७ २१ ग)। 'साहित्यदर्पण'के अनुसार किसी रौद्र(सिंहादि)की शक्तिसे उत्पन्न, चित्तको व्याकुल करनेवाला भाव 'भय' कहलाता है (३ १७८)। हरिऔधका कथन है, 'अपराध, भयंकर शब्द, विकृत चेष्टा और रौद्रमूर्ति जीवादि द्वारा जो मनोविकार उत्पन्न होता है, उसका नाम भय है।'

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडुगलके अनुसार, जिसने प्रवृत्तिमूलक कतिपय प्रधान भावोंका निरूपण किया है, भयका भाव किसी वस्तुसे बच निकलने अथवा भागनेकी सहज प्रवृत्तिसे सम्बन्धित है। भय पहुँचानेवाली वस्तु अपनी विकरालतासे मनुष्यका मनोबल ध्वस्त कर देती है और वह पलायन अथवा अन्य प्रकारसे दैन्य-प्रदर्शन करनेके लिए बाध्य हो जाता है। भयका कारण कोई गोचर वस्तु ही नहीं होती, अपितु कल्पनागृहीत विचार भी होता है। मूल तत्त्व है अपकार या अनिष्टकी निश्चित सम्भावना। लेकिन जहाँ इष्टहानि एव अनिष्टका अनुमान हो, वहाँ शका नामक सचारी भाव होता है, भय स्थायी नहीं।

भय तथा त्रासका अन्तर भी समझ लेना चाहिये। भरतके अनुसार, बिजलीकी चमक, उल्का, गर्जन, भूकम्प, बादल, बड़े-बड़े जानवरोंका घोष इत्यादि कारणोंसे त्रास उत्पन्न होता है। अर्थात् किसी रूप या शब्दके गोचर होनेपर तत्क्षण कँपा देनेवाला मनोवेग त्रास है। भयसे आलम्बनकी निश्चित भावना होती है तथा उसका लक्ष्य भी निश्चित होता है, जब कि त्रासमें विषयकी स्पष्ट भावना नहीं होती और न कोई उसका लक्ष्य ही होता है। इसलिए त्रास सचारी है, स्थायी नहीं। रूपगोस्वामीके अनुसार 'गात्रोत्कम्पो मन कम्प सहसा त्रास उच्यते। पूर्वापरविचारोत्थ भयं त्रासात् पृथक् भवेत्।' (ह० भ० र० सिं०), अर्थात् त्रासमें सहसा कम्प होता है, किन्तु भय पूर्वापरके विचारसे उत्पन्न होता है।

शंका, चिन्ता, ग्लानि, त्रास, दीनता इत्यादि भयके व्यभिचारी भाव हैं। उदा०—'काली हद काली लख्यो बनमाली ढिग आतु। मन्द-मन्द गति भीत ज्यों चलन लग्यो बिकुलातु।' (पोद्दार र० म०) 'भीत ज्यों'से भय भावमात्रकी व्यजना है, स्थायीका प्रस्फुटन नहीं हुआ है। —र० ति०

भयानक रस–भानुदत्तके अनुसार, 'भयका परिपोष' अथवा 'सम्पूर्ण इन्द्रियोंका विक्षोभ' भयानक रस है। अर्थात् भयोत्पादक वस्तुओंके दर्शन या श्रवणसे अथवा शत्रु इत्यादिके विद्रोहपूर्ण आचरणसे जब हृदयस्थ 'भय' स्थायी भाव परिपुष्ट होकर आस्वाद्य बनता है, तब वहाँ भयानक रस होता है। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। हिन्दीके आचार्य सोमनाथने 'रसपीयूषनिधि'में भयानक रसकी यह परिभाषा दी है— 'सुनि कवित्तमें व्यंगि भय जब ही परगट होय। तहीं भयानक रस बरनि कहैं सबै कवि लोय।' भरत मुनिने इसका रंग काला तथा देवता कालदेवको बताया है। भानुदत्तके अनुसार इसका वर्ण श्याम और देवता यम है।

'नाट्यशास्त्र'में भयानक रसको प्रधान रसोंमें न परिगणित कर, बीभत्स रससे उत्पन्न बताया गया है। बीभत्स रसका स्थायी भाव जुगुप्सा है। अप्रिय वस्तुके दर्शन, स्पर्शन अथवा स्मरणमे उत्पन्न घृणाका भाव

जुगुप्सा कहलाता है। अपराध, विकृत रव अथवा विकृत प्राणीसे उत्पन्न मनोविकार भय कहा गया है। भरतने वीभत्सके दर्शनसे भयानककी उत्पत्ति मानी है। लेकिन आधुनिक मनोविज्ञानने भय एव जुगुप्सा, दोनोको प्रवृत्ति-प्रेरित प्रधान भावोंमें गिनाया है। वास्तवमें भयानकको वीभत्ससे उत्पन्न बतानेका कोई समीचीन मनोवैज्ञानिक आधार प्रतीत नहीं होता। अपितु, भय घृणाकी तुलनामें अधिक आदिम (primitive) मनोवृत्ति प्रतीत होता है। नृतत्त्वविदोंने मानव-विकासका अध्ययन करते हुए भयको मानवी सस्कृतिके एक बहुत बडे भागका प्रधान कारण सिद्ध किया है। भरतने भयानकके कारणोंमें विकृत शब्दवाले प्राणियोंका दर्शन, गीदड, उलूक, व्याकुलता, खाली घर, वन-प्रदेश, मरण, सम्बन्धियोंकी मृत्यु या बन्धनका दर्शन, श्रवण या कथन इत्यादिको निर्दिष्ट किया है, जब कि वीभत्सके विभावोंमें असनोहर तथा अप्रियका दर्शन, अनिष्टका श्रवण, दर्शन या कथन इत्यादिको परिगणित किया है। इस उल्लेखसे ही स्पष्ट होता है कि भयके उद्रेकके लिए जुगुप्साकी अपेक्षा अधिक अवसर तथा परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं, अर्थात् भयका क्षेत्र जुगुप्साकी तुलनामें अधिक व्यापक है और इसीलिए भय जुगुप्साकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली मनोविकार सिद्ध होता है। पुन भयके मूलमें सरक्षणकी प्रवृत्ति कार्यशील होती है। प्राणिमात्रमें यह वर्तमान रहता है तथा मनपर इसका सर्वाधिक प्रभाव पडता है। अतएव भयानक रसको वीभत्ससे उत्पन्न बताना युक्तिसगत प्रतीत नहीं होता।

'साहित्यदर्पण'में भयानक रसको 'स्त्रीनीचप्रकृति' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि इस रसके आश्रय स्त्री, नीच प्रकृतिवाले व्यक्ति, बालक तथा कोई भी कातर प्राणी होते हैं—'भयानको भवेन्नेता बाल स्त्रीकातर पुन' (अकबरसाहि · शृ० ट०)। अपराध करनेवाला व्यक्ति भी अपने अपराधके ज्ञानसे सभीत होता है।

भयानकके आलम्बन व्याघ्र इत्यादि हिंसक जीव, शत्रु, निर्जन प्रदेश, स्वय किया गया अपराध इत्यादि हैं। शत्रुकी चेष्टाएँ, असहायता उद्दीपन हैं तथा स्वेद, विवर्णता, कम्प, अश्रु, रोमाच इत्यादि अनुभाव हैं। त्रास, मोह, जुगुप्सा, दैन्य, सकट, अपस्मार, चिन्ता, आवेग इत्यादि उसके व्यभिचारी भाव हैं।

हिन्दीके आचार्य कुलपतिने इन सभी उपादानोंको एकत्र समेटकर भयानक रसका यों वर्णन किया है—'बाघ व्याल विकराल रण, सूनो वन गृह देख। जे रावर अपराध पुनि, भय विभाव यह लेख। कम्प रोम प्रस्वेद पुनि, यह अनुभाव बखानि। मोह मूरछा दीनता, यह सचारी जानि। इनतें नृत्य कवित्तमें, अति भय परगट होय। कवि सहृदयको मन गमन, कहै भयानक सोय।' (र० र०)। भानुदत्तने 'रसतरगिणी'में भयानक रसके दो भेद किये हैं—पहला स्वनिष्ठ तथा दूसरा परनिष्ठ। स्वनिष्ठ भयानक वहाँ होता है जहाँ भयका आलम्बन स्वय आश्रयमें रहता है और परनिष्ठ भयानक वहाँ होता है जहाँ भयका आलम्बन आश्रयमें वर्तमान न होकर उससे बाहर, पृथक् होता है। स्वनिष्ठ भयानक अपराधजन्य भयसे उत्पन्न होता है, अर्थात् आश्रय स्वय अपने किये अपराधसे ही डरता है। उदा०—'कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है। कुरुराज चिन्ताग्रस्त मेरा जल रहा सब गात है। अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिये। या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिये।' (मैथिलीशरण गुप्त ज० व०)। अपने वधके लिए अर्जुनकी प्रतिज्ञा सुनकर जयद्रथने ये वचन दुर्योधनसे कहे हैं। अभिमन्यु-वधका अपराध आलम्बन है, अर्जुनका प्रण उद्दीपन है, त्रास इत्यादि सचारी हैं तथा जयद्रथका चिन्तित होना, गात्र जलना तथा किंकर्तव्यविमूढ होना अनुभाव हैं। इन उपादानोंसे पुष्ट होकर भय स्थायी भयानक रसकी निष्पत्तिमें समर्थ हुआ है। परनिष्ठ भयानक रसका उदा०—'एक ओर अजगरहिं लखि, एक ओर मृगराय। विकल बटोही बीच ही, पर्यो मूरछा खाय।' (का० ट०), यहाँ अजगर और सिंह आलम्बन हैं, इन दोनों जीवोंकी भयानक आकृति तथा चेष्टाएँ उद्दीपन हैं, स्वेद, कम्प, रोमाच आदि सचारी हैं और मूर्च्छा, विकलता आदि अनुभाव हैं। इन सबसे भय स्थायी पुष्ट होकर भयानक रसकी प्रतीति कराता है।

लेकिन कहीं-कहीं भय स्थायी होनेपर भी भयानक रस नहीं होता है, क्योंकि वहाँ कविका अभीष्ट कुछ और भी होता है, यथा—'सुनि सुनि सानि पठावतु है निज फौज लखे मरहट्टन केरी। औरँग आपुनि दुग्ग जमाति विलोकन तेरिए फौज दरेरी। साहि-तनै सिवसाहि भई भनि भूषन यों तुव धाक घनेरी। रातहु द्यौस दिलीस तकै तुव सेन कि सूरति सूरति घेरी।' (भूषण)। यहाँ शिवाजी आलम्बन, उनके पराक्रमका स्मरण उद्दीपन, औरंगजेबको अपनी ही सेनामें शिवाजीकी सेनाका भ्रम होना अनुभाव तथा चिन्ता, त्रास इत्यादि सचारी हैं। इन सभी अवयवोंसे भय स्थायीकी अभिव्यक्ति होती है, परन्तु कविका अभीष्ट यहाँ शिवाजीकी प्रशसा करना है, अतएव यहाँ भय 'राजविषयक रतिभाव'में मिल गया है और गौण बन गया है। इसलिए यहाँ भयानक रसकी निष्पत्ति नहीं मानी जायगी।

भयानक रसका शृगार, वीर, रौद्र, हास्य एव शान्तके साथ विरोध बताया गया है। वीरगाथात्मक 'रासो' ग्रन्थोंमें युद्ध, रण, प्रयाण, विजय आदि अवसरोंपर भयानक रसका सुन्दर वर्णन मिलता है। 'रामचरितमानस'में लकाकाण्डमें भयानकके प्रभावशील चित्र अंकित हैं। हनुमान् द्वारा लकादहनका प्रसग भयानक रसकी प्रतीतिके लिए पठनीय है। रीति-कालीन वीरकाव्योंमें भी भयका सचार करनेवाले अनेक प्रसग हैं। भूषणकी रचनाएँ इस सम्बन्धमें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। भारतेन्दु द्वारा प्रणीत 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटकमें श्मशान-वर्णनके प्रसगमें भयानक रसका सजीव प्रतिफलन हुआ है। इस सम्बन्धमें 'रुरुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनिकै नर-नारी'से प्रारम्भ होनेवाला पद्य-खण्ड द्रष्टव्य है। वर्तमान कालमें मैथिलीशरण गुप्त, श्यामनारायण पाण्डेय, दिनकर इत्यादिकी विविध रचनाओंमें भयानक रसका उल्लेख्य प्रयोग हुआ है। छायावादी काव्यकी प्रकृतिके यह रस प्रतिकूल है, परन्तु नवीन काव्यमें वैचित्र्यके साथ यत्र-तत्र इसकी भी झलक मिलती है।

—र० ति०

भरथरी–राजा भरथरीकी लोकगाथा सारगी वजाकर भिक्षाकी याचना करनेवाले जोगियों द्वारा वडे प्रेमसे गायी जाती है। ये जोगी इस गाथाको गाकर किसीको पूरा नहीं लिखाते। उनका विश्वास है कि इस सम्पूर्ण गाथाको लिखने तथा लिखानेवाले दोनों व्यक्तियोंका सर्वनाश हो जाता है। सस्कृतके सुप्रसिद्ध कवि राजा भर्तृहरिको कौन नहीं जानता, जिन्होंने शृंगार, नीति तथा वैराग्य-शतकोंकी रचना कर अमरताको प्राप्त किया है। लोकगीतोंमें वर्णित भरथरी तथा राजा भर्तृहरि, दोनों एक ही व्यक्ति हे, यह कहना कठिन है, परन्तु दोनोंके कथानकोंमें वहुत कुछ साम्य है। भरथरीकी कथा सक्षेपमें इस प्रकार है–

उज्जैनमें राजा इन्द्रसेन राज्य करते थे, जिनके लड़केका नाम चन्द्रसेन था। भरथरी इन्हींके पुत्र थे। इनकी माताका नाम रूपदेई और स्त्रीका नाम सामदेई था, जो सिंहल द्वीपकी राजकुमारी थी। विवाहके पश्चात् जव भरथरी शयनकक्षमें गये, तव उन्होंने अपनी खाटको टूटा पाया तथा इसका कारण अपनी स्त्रीसे पूछा, जिसका सन्तोषजनक वह उत्तर न दे सकी। ससारकी झझटोंसे ऊवकर भरथरी गुरु गोरखनाथके चेला वन जाते हैं, परन्तु सन्यास-धर्ममें दीक्षित होनेके पहले अपनी स्त्रीसे भिक्षा माँगकर लाना उनके लिए आवश्यक था। वे भिक्षाकी याचना करनेके लिए अपने घर गये। सामदेईने यह पहचानकर कि भिक्षुक अन्य कोई व्यक्ति नहीं वल्कि मेरा पति ही है, भिक्षा देना पहले अस्वीकार कर दिया, परन्तु वहुत अनुनय-विनयके पश्चात् इस प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया। भरथरीने गोरखनाथसे दीक्षा ग्रहण कर कामरूप (आसाम) देशकी यात्रा की। इस प्रकार वे अन्ततक भ्रमण करते हुए यति-धर्मका पालन करते रहे।

भरथरीकी लोकगाथा भी कुछ कम प्रचलित नहीं है। उत्तरप्रदेशके पूर्वी जिलोंमें नाथपन्थी जोगी, जिन्हें 'साँई' भी कहते हैं, सारगी वजाकर इस गीतको गाते फिरते हैं। भरथरीकी गाथामें गोपीचन्दके समसामयिक होनेका उल्लेख पाया जाता है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे दोनोंके समयमें वड़ा ही अन्तर है। लोकगाथाओंमें गोपीचन्द तथा भरथरी, दोनों ही गोरखनाथके शिष्य वतलाये गये हे। सम्भवतः इसीके आधारपर दोनोंके समसामयिक होनेकी कल्पना की गयी हो।

भरथरीकी गाथामें शृंगार तथा करुण, दोनों रसोंका पुट पाया जाता है। जव राजा भरथरी अपनी स्त्रीसे भिक्षा माँग रहे हैं उस समयका दृश्य वड़ा मनोमोहक है। कहीं-कहीं शान्त रसकी छटा भी देखनेको मिलती है। लोकगाथा-साहित्यमें इस गाथाका विशेष स्थान है। —कृ० दे० उ०

भविष्यवाद–भविष्यवाद (फ्यूचरिज्म) आधुनिक चित्रकलाकी एक शैली है। वस्तुत यह चित्रशैली कम, आन्दोलन अधिक है। इटलीके राजनीतिक शक्तिह्रासके दिनों इसका प्रादुर्भाव हुआ। आन्दोलनका अभिप्राय यह था कि भविष्य हमारा (इटलीका) है। इस आन्दोलनका प्रवर्तक इटलीका प्रसिद्ध कवि मारीनेत्ती था। उसके कवि होनेसे ही यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह आन्दोलन केवल चित्रकलातक ही सीमित न था वरन् साहित्य और सगीतमें भी उसका साका चला। मारीनेत्तीने जैसे उस आन्दोलन या शैलीका साहित्यमें प्रयोग किया, रुस्सोलोने वैसे ही उसका प्रयोग संगीतमें किया।

भविष्यवाद शक्ति-आन्दोलन अथवा साहित्य-सगीत-कलामें उसके आभासका प्रतीक था। इस शैलीके चित्रकार रात्रि-जीवनके भक्त थे और अधिकतर उसी सम्वन्धके विषय अपने अंकनके लिए चुना करते थे। भागती हुई मोटरें, दौड़ती हुई रेलें, कौंधती हुई विजली, वजते हुए वाजे, गति और स्वरके सभी साधन इनके वर्ण और रेखाओंकी परिधिमें आये और रूपायित हुए। चलती हुई चीजों—पहिये और चक्के, गतिमान चरण, हिलते पदार्थमें ही इनकी रति हुई, यद्यपि अकनकी दृष्टिसे इन्हें विशेष सफलता न मिली। मिलती भी कैसे ? प्रयास देश(सतह)की कलाको कालकी कलामें वदलनेका किया गया था, जो सम्भव न था। इसके स्रष्टाओंने अपने चित्रणमें चलचित्रका प्रभाव लानेका प्रयत्न किया। परन्तु समतलपर गतिका आभास उत्पन्न कर सकना असम्भव था। उस आभासके लिए उन्होंने वार-वार एक ही रेखाको चित्रित किया, पर रेखाको गति न मिली। दृष्टि गतिकी मायामें वँध न सकी।

भविष्यवाद वस्तुत घनवाद(दे०)की ही एक शाखा है, यद्यपि भविष्यवादी घोषणापत्रमें यह सम्वन्ध स्वीकार नहीं किया गया है। दोनोंमें वस अन्तर इतना है कि घनवाद जहाँ गतिहीन है, भविष्यवाद वहाँ गतिमान् है। भविष्यवादी चित्रकारोंने गतिका आभास उत्पन्न करनेके लिए कुछ 'शक्ति-रेखाओं'का आविष्कार किया। आडी, तिरछी, काँपती-घूमती, गोल-लहरिया, शूल, शकु या खूँटोंकी-सी रेखाओंका उन्होंने निर्माण किया, जिससे गतिकी दिशा प्रकटित हो सके या अकित रूपका विसघात उन्हीं रेखाओंके तलपर आधारित हो सके। इस शैलीके चित्रणमें कुछ स्थितियाँ स्वभावत स्वीकार कर ली जाती हैं, जैसे अकित सन्दूक चाहे जिस खूवीसे भी क्यों न वन्द हो, उसका भीतर और उसमें रखी वस्तुएँ साफ दिखाई देती रहेंगी। वस्तुत इस शैलीके चित्रके ऊपर दर्शक केवल दृष्टि टालकर उसका रूप नहीं ग्रहण करता, वरन् उसे चित्रके भीतर वर्ण और रेखाओंको भेदकर देखना होता है। स्वय दर्शकको चित्रित वस्तुओंका ही भाग वन जाना पडता है। प्रभाववादियोंने जिस प्रकार दर्शकको वर्ण और प्रकाशके सम्पुजनसे प्रभावका आभास दिया था, उसी प्रकार भविष्यवादियोंने रेखाओंके कम्पनसे उसे गतिका आभास देना चाहा है। भविष्यवादियोंने अपने चित्रित रूपको अनेकधा तोड़ा और विभाजित किया और अन्तर्गामी प्रकाश-स्तम्भों द्वारा चित्रफलकपर चचल गतिका आभास एक मात्रामें उत्पन्न किया।

भविष्यवादी आन्दोलनका प्रवर्तक कवि मारीनेत्ती था, जिसने पेरिसके पत्र 'फिगारो'में आन्दोलनका पहला घोषणापत्र (फरवरी २०, १९०९ ई०के अंकमें) प्रकाशित किया। ११ फरवरी, १९१० ई० को दूसरा घोषणापत्र प्रकाशित हुआ, जिसपर वोचिओनी कर्रा, वल्ला, सेवेरीनी आदि चित्रकारोंके हस्ताक्षर थे। एक तीसरा घोषणापत्र मूर्ति-कला(तक्षण)के क्षेत्रमें भी १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ।

चित्रकारोंके तरुण परिवारने अपने घोषणापत्रमें मारीनेत्ती-प्रमुख विद्रोही कवियोंके भविष्यवादी दृष्टिकोणका सक्रिय शब्दोंमें समर्थन किया। उन्होंने कलाकी प्राचीन मचार-गतिहीन शैलियोंसे विद्रोह करते हुए एलान किया कि उनकी कला अतीतका अंकन त्याग उस सावधि और समसामयिक जीवनकी शालीनता प्रदर्शित करेगी, जो विज्ञानके आविष्कारोंसे निरन्तर रद्द होता जा रहा है।

भविष्यवाद बीसवीं सदीका आन्दोलन था और इसके प्रधान नेता और चित्रकार इटलीके ही थे। वैसे इटलीके बाहरके देशोंमें भी इसका प्रचार हुआ और अँग्रेज चित्रकार नेविन्सनने इंग्लैण्डमें इस शैलीके कुछ सशक्त चित्र लिखे। इसके कुछ मूर्धाभिषिक्त चितेरोंके विवरण यहाँ दे देना समुचित होगा।

रोमका चितेरा गियाकोमो बल्ला (१८७१ ई०) बोचिओनी और सेवेरीनीका गुरु है। १९१० ई० के भविष्यवादी घोषणापत्रपर उनके भी हस्ताक्षर थे और तत्सम्बन्धी कार्यक्रमका उसने प्रायः पचीस वर्षोंतक निर्वाह किया। फिर उसने अपनी कलाको भविष्यवादकी जकड़से कुछ मुक्त कर लिया। गतिके प्रदर्शनमें उसने कुछ दावाले प्रयोग किये। न्यूयार्कके माडर्न आर्ट म्यूजियममें संगृहीत उसका चित्र 'गतिमान् जजीर' (दौड़ता कुत्ता) काफी प्रसिद्ध है। उम्बर्तो बोचिओनी चितेरा और मूर्तिकार, दोनों ही था। उसने भी भविष्यवादियोंके मिलानवाले पहले घोषणापत्र(१९१० ई०)पर हस्ताक्षर किये थे। भविष्य-वादी चितेरोंमें सबसे अधिक प्रबुद्ध और जागरूक वही था। मूर्तिकार भी वह पहले दरजेका था और तक्षण तथा रस-सिद्धान्तकी समझमें वह बेजोड़ था। सन् १९१२ ई०-में उसने मूर्तिकलाका भविष्यवादी घोषणापत्र प्रकाशित किया। उसने तक्षणविज्ञानमें एक नयी गतिशीलता निर्मित की—एक रूपाकृतिसे दूसरीमें अविरल बहती गतिकी। वह मेधावी कलावन्त चौंतीस वर्षकी अल्पायु(१८८२-१९१६ ई०)में ही मर गया। उसका चित्र 'फुटबाल खिलाड़ीकी गतिशीलता' काफी ख्याति प्राप्त कर चुका है।

कार्लो कर्रा (१८८१ ई०) अवस्थामें बोचिओनीसे कुल एक साल बड़ा है। वह भी १९१० ई० के पाँच घोषणाकारोंमेंसे था। उसने कुछ कालतक तो बड़ी निष्ठासे भविष्यवादी कार्यक्रमके अनुसार चित्रण किया, पर पाँच वर्ष बाद वह मध्यकालीन चित्रशैलीकी ओर आकृष्ट हुआ और पुनर्जागरण-कालके कलावन्तोंकी परम्परामें अंकन करने लगा। वह कुछ कालतक प्रसिद्ध ग्रीक-इटालियन चित्रकार गिरकोका भी सहकारी रहा। उसके चित्रोंमें काफी आकर्षण है। 'अनार्किस्तकी अन्त्येष्टि क्रिया' नामक उसका चित्र न्यूयार्कके माडर्न आर्ट म्यूजियममें अनेक दर्शकोंको आकृष्ट करता है। नेविन्सन (१८८९-१९४६ ई०) अँग्रेज भविष्यवादी चित्रकार था। १९१२ ई० में लन्दनमें भविष्यवादी चित्र-प्रदर्शिनीके बाद उसने पहली बार इंग्लैण्डमें इस शैलीके चित्रोंका समारम्भ किया। उसने इस शैलीसे प्रथम महासमरके अपने अनुभवोंको मनुष्यपर मशीनके घातक प्रभावके रूपमें अंकित किया। फिर वह इंग्लैण्डके कारखानोंके जीवनकी ओर मुड़ा और उसने अपने अगले चित्रोंमें मशीनी आकृतियों द्वारा जीवनकी आध्यात्मिक रिक्तता प्रदर्शित की।

लुइगी रस्सोलो(१८८५ ई०)ने भी सन् १९१० ई० के घोषणापत्रपर हस्ताक्षर किये थे। उसने चित्रण और संगीत, दोनोंमें भविष्यवादी दृष्टिकोण अपनाया। संगीतके क्षेत्रमें तो गति उत्पन्न करनेके लिए एक ध्वनि मशीनका आविष्कार ही कर डाला, जिससे अनेक प्रकारकी ध्वनि निकला करती थी। उसके चित्रोंमें भी तलों और रेखाओंका परस्पर अन्तरावर्तन अंकित है।

गिनो सेवेरीनी (१८८३ ई०) भी सन् १९१० ई० के पाँच घोषणाकारोंमेंसे था। उसका आकर्षण विशेषतः कावरे-(थियेटर)से सम्बन्धित विषयोंमें था। पेरिसमें बस जानेके बाद उसने वहाँके रात्रि-जीवनके चित्र प्रस्तुत किये। नवप्रभाववादी पोन्तिलिस्त (बिन्दु=पुंजन) सुराका उसपर गहरा प्रभाव पड़ा। इसीसे उसके चित्रोंके रंग अन्य भविष्यवादी चित्रोंसे कहीं अधिक शोख हो गये। प्रथम महासमरके बाद सेवेरीनी नव क्लासिसिज्मका समर्थक बन गया। अभी भविष्यवादका आन्दोलन मरा नहीं है। उस शैलीके अनेक चित्रकार जाग्रत् हैं। उनका दावा है कि भविष्य उनका है, गतिमानोंका। —भ० श० उ०

भागवत—विष्णुकी संज्ञा भगवत् भी है। अतः जो विष्णु अथवा उसके आकारोंकी उपासना या सेवा (वल्लभ-मतमें उपासनाके स्थानपर 'सेवा' शब्द ग्राह्य है) करता है वह भागवत कहलाता है। —वि० मो० श०

भागवत धर्म—वैष्णव धर्म या वैष्णव सम्प्रदायका प्राचीन नाम भागवत धर्म या पांचरात्र मत है। इस सम्प्रदायके प्रधान उपास्य देव वासुदेव हैं, जिन्हें ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य और तेज—इन छः गुणोंसे सम्पन्न होनेके कारण भगवान् या 'भगवत्' कहा गया है (दे०—'सगुण सम्प्रदाय') और भगवत्के उपासक भागवत कहलाते हैं। इस सम्प्रदायकी पांचरात्र संज्ञाके सम्बन्धमें अनेक मत व्यक्त किये गये हैं। 'महाभारत' शान्तिपर्व(३३९ ११–१२)-के अनुसार चार वेदों और सांख्ययोगके समावेशके कारण यह नारायणीय महोपनिषद् पांचरात्र कहलाता है। नारद-पांचरात्रके अनुसार इसमें ब्रह्म, मुक्ति, भोग, योग और संसार—पाँच विषयोंका 'रात्र' अर्थात् ज्ञान होनेके कारण यह पांचरात्र है। 'ईश्वरसंहिता', 'पाद्मतन्त्र', 'विष्णुसंहिता' और 'परमसंहिता'ने भी इसकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे व्याख्या की है। 'शतपथब्राह्मण' (१३ : ६ . १)के अनुसार सूत्रकी पाँच रातोंमें इस धर्मकी व्याख्या की गयी थी। इस कारण इसका यह नाम पड़ा। इस धर्मके 'ऐकान्तिक' और 'सात्वत' नाम भी प्रचलित रहे हैं।

अनुमान है कि लगभग ६०० ई० पू०, जिस समय ब्राह्मण ग्रन्थोंके हिंसाप्रधान यज्ञोंकी प्रतिक्रियामें बौद्ध-जैन सुधार-आन्दोलन हो रहे थे, उससे भी पहलेसे अपेक्षाकृत शान्त, किन्तु स्थिर ढंगसे एक उपासनाप्रधान सम्प्रदाय विकसित हो रहा था, जो प्रारम्भमें वृष्णि-वंशीय क्षत्रियोंकी सात्वत नामक जातिमें सीमित था। वैदिक परम्पराका इसने सीधा विरोध नहीं किया, प्रत्युत अपने अहिंसाप्रधान धर्मको वेद-विहित ही बताया। इसलिए तथा

इस कारण भी कि उसकी प्रवृत्ति बौद्ध और जैन सुधार-आन्दोलनोंकी भाँति खण्डनात्मक और प्रबल प्रचारात्मक नहीं थी, इस सम्प्रदायकी वैसी धूम नहीं मची। ई० पू० चौथी शतीमें पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी'के 'वासुदेवार्जुनाभ्या वुन (४ ३ ९८) सूत्रसे वासुदेवके उपासक 'वासुदेवकों'-का प्रमाण मिलता है। ई० पू० तीसरी-चौथी शतीसे पहली शतीतक वासुदेवोपासनाके अनेक प्रमाण प्राचीन साहित्य और पुरातत्त्वमें मिले हैं। जैनोंके सलाक पुरुषोंमें वासुदेव और वलदेव भी हैं तथा अरिष्टनेमि और वासुदेवके सम्बन्ध-का भी उल्लेख प्राचीन जैन साहित्यमें मिलता है। बौद्ध-जातकों(घट और महा उमग)में वासुदेवकी कथा कही गयी है। बौद्ध साहित्यके 'चुल्लनिद्देस'में आजीवक, निगठ, जटिल, वलदेव आदि श्रावकोंके साथ वासुदेवको पूजनेवाले वासुदेवकोंका भी उल्लेख हुआ है, जिससे सूचित होता है कि यह सम्प्रदाय तीसरी-चौथी शती ई० पू० में विद्यमान था। इसी कालमें चन्द्रगुप्त मौर्यकी राजसभाके यूनानी राजदूत मेगास्थनीजने 'सौरसेनाई' (शौरसेनी) जातिमें जो 'जोवेरीज' (यमुना) नदीके किनारे बसती थी और 'मेथोरा' (मथुरा) और क्लोसोवारा (कृष्णपुर) जिसके प्रधान नगर थे, हेराक्लीज(कृष्ण)के विशेष रूपसे पूजे जानेका उल्लेख किया है। २०० ई० पू० के वेसनगर(भिलसा)के एक स्तम्भलेखके अनुसार बैक्ट्रियाके राजदूत हेलियाडोरस-ने देवाधिदेव वासुदेवकी प्रतिष्ठामें गरुडस्तम्भका निर्माण कराया था। वह अपनेको भागवत कहता था (एपि० इ० १०, ६३)। ई० पू० पहली शतीके नानाघाटके गुहाभिलेखमें अन्य देवताओंके साथ सकर्षण और वासुदेवका भी नामोल्लेख है। इसी समयका एक और शिलालेख चित्तौड़-गढके समीप घोसुण्डीमें मिला है, जिसमें कण्ववशी राजा सर्वतात द्वारा अश्वमेध यज्ञके अवसरपर भगवान् सकर्षण और वासुदेवके मन्दिरके लिए 'पूजाशिला-प्राकार' बनवाये जानेका उल्लेख है (एपि० इ०)। मथुराके एक महाक्षत्रप शोडाश(ई० पू० ८०-५७)के समयके एक शिलालेखके अनुसार वसु नामक एक व्यक्तिने महास्थान(जन्मस्थान मथुरा)में भगवान् वासुदेवका मन्दिर बनवाया था। इन प्रमाणोंसे सूचित होता है कि भागवत धर्मका सबसे पहला नाम वासुदेवधर्म या वासुदेवोपासना है, भागवत नाम भी कमसे कम ई० पू० दूसरी-तीसरी शतीमें प्रचलित हो गया था। प्रारम्भमें यह उपासना-मार्ग शूरसेन(आधुनिक ब्रजप्रदेश)में बसनेवाली सात्वत जातिमें सीमित था, परन्तु इसका प्रचार कदाचित् सात्वतोंके स्थानान्तरणके फलस्वरूप ई० पू० दूसरी-तीसरी शताब्दियोंमें ही पश्चिमकी ओर भी हो गया था तथा कुछ विदेशी (यूनानी) लोग भी इसे मानने लगे थे।

दक्षिणके प्राचीन तमिल साहित्यमें वासुदेव, सकर्षण तथा कृष्णके अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। इन सन्दर्भोंके आधारपर अनुमान किया गया है कि उपर्युक्त सात्वत लोग, जो वैदिक पुरुवंशके एक जातिविशेषके थे, मगधके राजा जरासन्ध द्वारा आक्रान्त होनेके कारण कुरुपाचालके शूरसेनप्रदेशसे पश्चिमी सीमान्तप्रदेशकी ओर चले गये। मार्गमें इनमेंसे कुछ लोग मालव और उसके दक्षिणकी ओर बस गये और वहींसे दक्षिण देशके सम्पूर्ण उत्तरी क्षेत्र तथा कोंकणमें फैल गये। इन्हींमेंसे कुछ और दक्षिणकी ओर चले गये। दक्षिणके आवर, अण्डार, इटैयर जातियोंके लोग पशुपालक अहीर या आभीरोंके समकक्ष हैं। सात्वत जाति भी पशुपालक क्षत्रियोंकी जाति थी। 'ऐतरेयब्राह्मण'में दक्षिणके सात्वतों द्वारा इन्द्रके अभिषेकका उल्लेख मिलता है। अत जान पडता है सात्वतोंका दक्षिणगमन उससे पहले हो चुका था। वे अपने साथ अपनी धार्मिक परम्पराएँ भी अवश्य लेते गये होंगे।

भागवत धर्म भी प्रारम्भमें क्षत्रियों द्वारा चलाया हुआ एक अब्राह्मण उपासना-मार्ग था। परन्तु कालान्तरमें सम्भवत अवैदिक और नास्तिक जैन-बौद्ध मतोंका प्राबल्य देखकर ब्राह्मणोंने उसे अपना लिया और वैष्णव या नारायणीय धर्मके रूपमें उसका विधिवत् सघटन किया। 'महाभारत' शान्तिपर्वके नारायणीय उपाख्यानमें इस नवीन धर्मको वैष्णव यज्ञ कहा गया है और यज्ञप्रधान वैदिक कर्मकाण्डके प्रवृत्ति-मार्गके विपरीत इसे निवृत्ति-मार्ग बताया गया है। इस वैष्णव यज्ञमें पशुवधका स्पष्ट रूपमें निषेध तथा तप, सत्य, अहिंसा और इन्द्रियनिग्रहका विधान किया गया था। 'महाभारत'में ही वासुदेवको वैदिक देवता विष्णुसे अभिन्न बताया गया तथा साथ ही कृष्णको भी द्वितीय वासुदेवके रूपमें उन्हींका अवतार प्रसिद्ध किया गया।

ऋग्वेदमें विष्णु-सम्बन्धी जो थोडी-सी ऋचाएँ मिलती हैं उनमें उनका अत्यन्त भव्य वर्णन हुआ है। वे त्रिविक्रम ह तीन पाद-प्रक्षेपोंमें समग्र ससारको नाप लेते हैं (१ १ ५४ २), इसीलिए वे उरुवाय (विस्तीर्ण गतिवाले) और उरुक्रम (विस्तीर्ण पाद-प्रक्षेपवाले) कहे गये हैं। उनका तीसरा पद क्रम सबसे ऊँचा है। उसके परमपदमें मधुका उत्स है। विष्णु पृथ्वीपर लोकोंके निर्माता हैं, ऊर्ध्वलोकमे आकाशको स्थिर करनेवाले हैं तथा तीन डगोंसे सर्वस्वको नापनेवाले हैं। ऋग्वेदमें विष्णुको अजेय गोप विष्णुर्गोपा अदाभ्य (१ २२ १८) भी कहा गया है। उनके परम-पदमें भूरिशृंगार चचल गायोंका निवास है (१ १५४ ६)। उनका वह सर्वोच्च लोक गोलोक कहलाता है। यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण-कालमें विष्णुका महत्त्व बढता गया। उन्हें स्वय 'यज्ञ'की सज्ञा दी गयी। उनकी अपेक्षा वैदिक देवता अग्निको हीन बताया गया है। 'ऐतरेयब्राह्मण'में उल्लेख है कि विष्णुने असुरोंसे छीनकर समस्त पृथ्वी इन्द्रको दे दी थी ऐतरेयब्राह्मण (८ ३ १५), 'शतपथब्राह्मण' (१ ९, ३ ९) में भी इसी प्रकारका एक उल्लेख है। इस प्रकार सर्वाधिक शक्तिशाली वैदिक देवता इन्द्रकी अपेक्षा विष्णुकी महत्ता ब्राह्मण-कालसे ही बढने लगी थी। ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे विष्णुके अवतारों—वामन, वराह, मत्स्य और कूर्म सम्बन्धी प्रमाण भी एकत्र किये गये हैं। जो हो, पशु-यज्ञ विरोधी नवीन धर्मके उपास्य बननेके लिए वैदिक देवताओंमें विष्णु ही सबसे अधिक उपयुक्त थे और इसीलिए 'महाभारत'में उन्हें वासुदेवसे अभिन्न बताया गया तथा वासुदेवोपासक—सात्वत धर्मको वैष्णव धर्मके नामसे प्रसिद्ध किया गया।

कृष्ण मूल वासुदेव या पर वासुदेवसे भिन्न हैं, ऐसा अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध किया गया है। कृष्ण सम्बन्धी

वैदिक उल्लेखों—अगिरस् ऋषि, कृष्ण और कृष्णासुरके उल्लेखों—में उनके वासुदेव होनेका कोई सकेत नहीं है (दे०—'कृष्णकाव्य')। 'छान्दोग्य उपनिषद'के देवकी-पुत्र कृष्ण घोर अगिरसके शिष्य है और वे गुरुसे ऐसा ज्ञान-उपलब्ध करते है जिससे फिर कुछ भी जाननेको शेष नहीं रहता तथा यज्ञकी एक ऐसी सरल रीति सीखते है, जिसकी दक्षिणा तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य है (३ १७ ४ ६)। इससे स्पष्ट विदित होता है आगिरस गोत्रका ऋषि घोर अगिरस्‌का उत्तराधिकारी था। आगिरसोंमें सबसे प्रमुख बृहस्पति कहे गये है, जिन्हें किसी समय पाचरात्रका ज्ञान सौंपा गया था। घोर अगिरस्‌ने देवकी-पुत्र कृष्णको जो उपर्युक्त यज्ञकी विधि बतायी थी वह भी भागवत यज्ञ या वैष्णव यज्ञ ही थी, अत देवकी पुत्र कृष्ण या वासुदेव कृष्ण भागवत धर्मके आदि प्रवर्तक नहा थे। यह बात स्वय गीता 'वृष्णीना वासुदेवोऽस्मि' (१० ३७)से प्रमाणित होती है कि कृष्णसे भिन्न कोई और वासुदेव पहले हो चुका था। 'महाभारत' शान्तिपर्वमें वर्णित उपर्युक्त वैष्णव यज्ञके उपास्यका असली नाम नारायण है, जिन्हें विष्णुसे अभिन्न कहकर बताया गया है कि यही नारायण वासुदेव हैं और यही दुरात्मा कसका नाश करनेके लिए द्वापर और कलियुग-की सन्धिमें मथुरामें जन्म लेंगे। उस समय लोग कहेंगे कि महात्मा नर और नारायण ससारका हित करनेके लिए अर्जुन और कृष्ण के रूपमें प्रकट हुए हैं। यही नारायण हस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण और कल्कि अवतार लेंगे (शान्ति पर्व, अध्याय ३४०)। इन तथा अन्य अनेक प्रमाणोंसे यह स्पष्ट विदित होता है कि महाभारतके समयतक अध्यात्म तत्त्वके देवता नारायण, ऐतिहासिक पूज्य पुरुष वासुदेव, वैदिक देवता उरुवाय विष्णु एकाकार होकर भारत-युद्धके कृष्णमें समन्वित होने लगे थे और नाना प्रकारसे यह उद्योग होने लगा था कि कृष्ण ही एकमात्र द्वितीय वासुदेव नारायण, हरि, भगवत् और विष्णुके अवतार हैं। हरिवश तथा अनेक पुराणोंमें कृष्णके एकमात्र द्वितीय वासुदेव होनेके, शृगाल वासुदेव और पौण्ड्र वासुदेव सम्बन्धी आख्यान मिलते है। महाभारत और पुराणोंमें कृष्णको सात्वतर्षभ कहा गया है, जिससे कृष्णके भी वृष्णिवशीय सात्वत होनेकी सूचना मिलती है। इस प्रकार सात्वतोंके कुल-धर्मको महाभारत और पुराणोंकी सहायतासे एक व्यापक लोकधर्म बनानेका सतत उद्योग किया गया। कदाचित् भागवत धर्मकी यह परिणति चौथी-पाँचवी शताब्दीमें गुप्तवशके राज्यकालमें हुई। गुप्त सम्राट् अपनेको परमभागवत घोषित करनेमें गर्वका अनुभव करते थे। उन्होंने पौराणिक वैष्णव धर्मको पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। फिर भी गुप्तवशकी उदार धार्मिक नीतिके फल-स्वरूप शैव और बौद्ध धर्म भी यथेष्ट उन्नति कर रहे थे। वैदिक ब्राह्मण धर्मका स्मार्त रूप, जिसमें विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश—इन पच देवताओंकी पूजा विहित थी, व्यापक प्रचार पा रहा था। वैष्णव धर्मके प्रचारसे ही अहिंसा और अवतारवादके सिद्धान्तका व्यापक रूपमें प्रचलन हो गया था। इस प्रकार लगभग १५०० ई० पू० से ५०० ई० तक भागवत धर्मके प्रथम उत्थानकालमें ही उसके प्रचारके साधन प्रचुर पौराणिक साहित्यके रूपमें तैयार हो गये थे। रामायण और महाभारतकी भी वैष्णव परिणति हो चुकी थी।

परन्तु छठी शताब्दीसे चौदहवीं शताब्दीकी लगभग समाप्तितक उत्तरभारतमें भागवत धर्म उन्नति नहीं कर सका। स्मार्त वैदिक धर्म और बौद्ध धर्ममें लोकरुचिको आकृष्ट करनेकी होड़-सी हो रही थी। इसी प्रतिस्पर्धामें बौद्ध धर्मने एक ओर वैष्णव धर्मकी अनेक बातें अपना ली तथा दूसरी ओर लोक-विश्वासों और लोक प्रथाओंको अपनाता हुआ वह महायान, मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान आदि रूपोंमें परिणत होता हुआ धीरे-धीरे नाम-शेष हो गया और पौराणिक धर्म और शंकराचार्यके उद्योग भी बौद्ध धर्मको नष्ट करनेमें धीरे-धीरे सफल होने लगे थे। परन्तु इस कालमें दक्षिणभारतमें भागवत धर्मका उत्कर्ष हो रहा था। दक्षिणके आलवार भक्तोंकी परम्परा नवीं शताब्दीतक अविच्छिन्न चलती रही। उनकी भक्तिमें प्रपत्तिकी भावना और भगवान्‌के अनुग्रहका सबसे अधिक महत्त्व है। आलवारोंकी सख्या बारह मानी जाती है। इनके भावपूर्ण गीत तमिलके 'प्रबन्धम्'में सगृहीत हैं, जिन्हे तमिलवेदकी सज्ञा दी जाती है। इन आलवार भक्तोंमें गोदा या अण्डाल नामकी एक प्रसिद्ध स्त्री भक्त भी हुई है। इन प्रपत्तिभावप्रधान भक्तोंने विष्णु वासुदेव या नारायण तथा उनके अवतार राम और कृष्णके प्रति अनन्यभावका प्रेम प्रकट किया है तथा कृष्ण और गोपियोंकी आनन्द-क्रीड़ाओंका तन्मयतापूर्वक वर्णन करते हुए उनके प्रति दास्य, वात्सल्य और माधुर्य भावकी भक्ति प्रकट की गयी है।

आलवारोंकी भक्तिभावपूर्ण गीति-रचनाओंमें केवल भक्तिके साधनपक्षका उद्घाटन मिलता है। नवीं-दसवीं शतीमें तमिल प्रदेशमें ही आलवारोंके भक्ति आन्दोलनको वैदिक और शास्त्रीय रूप देनेवाले आचार्योंका उदय हुआ। शाकर मायावाद-अद्वैतवादके साथ भक्तिका सामजस्य कैसे हो यह एक विकट समस्या थी। अत अद्वैतके स्थानपर विशिष्टाद्वैतका प्रतिपादन किया गया और मायावादका प्रबल तर्कोंके आधारपर खण्डन किया गया। सबसे पहले आचार्य रगनाथ मुनि (८२४–९२४ ई०) हुए जो नाथ मुनिके नामसे प्रसिद्ध हैं। लुप्तप्राय तमिल वेद(भक्तिपूर्ण गीति-काव्य)का उद्धार करके उन्होंने श्रीरंगम्‌के प्रसिद्ध मन्दिरमें उसके गायनकी व्यवस्था की। 'योगरहस्य' और 'न्याय-तत्त्व' नामक इनके दो सस्कृत ग्रन्थ भी कहे जाते है, जिनमें विशिष्टाद्वैतका प्रतिपादन हुआ है। नाथ मुनिके पौत्र यामुनाचार्य (आलवदार) हुए, जिन्होंने 'गीतार्थ-सग्रह', 'सिद्धित्रय', 'महापुरुष-निर्णय' और 'आगम-प्रामाण्य' आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना करके विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तका समर्थन, मायावादका खण्डन, विष्णुकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन तथा पाचरात्र-सिद्धान्तकी वैदिक प्रामाणिकताकी स्थापना की। परन्तु वैष्णव आचार्योंमें सबसे अधिक प्रसिद्ध श्री रामानुजाचार्य (१०१६-११३७) हुए। उन्होंने ब्रह्मसूत्रपर 'श्रीभाष्य' लिखा। इसके अतिरिक्त 'वेदार्थसंग्रह' 'वेदान्तसार', 'वेदान्तदीप', 'गद्यत्रय' और 'गीताभाष्य'की रचना करके इन्होंने

शाकर अद्वैत और भेदाभेदवादी भास्कर मतका खण्डन अपने मायाविरहित विशिष्टाद्वैत (दे०) तथा उसपर आधारित प्रपत्तिपूर्ण भक्ति-धर्मका प्रतिपादन किया। रामानुज द्वारा स्थापित भक्ति-धर्म श्रीवैष्णव (दे०) कहा जाता है, क्योंकि विश्वास किया जाता है कि इसका प्रवर्तन स्वय श्री(लक्ष्मी)के द्वारा हुआ है। लक्ष्मीनारायण इसके उपास्य देव हैं।

रामानुजकी मृत्युके सौ वर्षके भीतर दक्षिणमें एक अन्य आचार्य मध्व हुए, जिनके नामपर माध्व मत प्रसिद्ध हुआ। मध्वाचार्यका आध्यात्मिक सिद्धान्त भेदवाद या द्वैतवाद (दे०) है। भक्तिके प्रचारके लिए उन्होंने ब्रह्म सम्प्रदायकी स्थापना की, क्योंकि उसके मूल प्रवर्तक स्वय ब्रह्म माने जाते हैं। मध्वाचार्यने स्पष्ट रूपमें मायावाद-अद्वैतवादका खण्डन करके भक्तिका पथ प्रशस्त किया। दक्षिणभारतमें इस भक्ति-सम्प्रदायने, विशेष रूपसे कर्नाटक और दक्षिणी महाराष्ट्रमें कृष्णभक्तिका व्यापक प्रचार किया। बगालका गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय भी माध्व मतकी एक शाखा कहा जाता है। मध्वाचार्यका एक नाम आनन्दतीर्थ भी था। इनके लिखे तीस ग्रन्थ कहे जाते हैं, जिनमें 'गीताभाष्य', 'ब्रह्मसूत्रभाष्य', 'अणुभाष्य', 'अनुपाख्यान', 'दशोपनिषद्-भाष्य', 'गीतातात्पर्यनिर्णय', 'भागवततात्पर्यनिर्णय', 'महाभारततात्पर्यनिर्णय' मुख्य हैं।

दक्षिणके ही एक और आचार्य निम्बार्क या निम्बादित्य प्रसिद्ध हैं। रामगोपाल भण्डारकरके अनुसार इनका समय बारहवीं शताब्दी (मृत्यु ११६२ ई०) है। कुछ लोगोंका विचार है कि ये इससे भी पूर्व हुए थे और इनका भक्ति-सम्प्रदाय सबसे प्राचीन है। जातिके ये तैलग ब्राह्मण और बेलारी जिलेके निवासी बताये जाते हैं। परन्तु दक्षिणमें निम्बार्ककी कोई परम्परा नहीं मिलती। इनके सम्प्रदायका प्रधान केन्द्र वृन्दावन ही है तथा गोवर्धनके समीप निम्ब गाँव इनका प्रधान स्थान कहा जाता है। इनका असली नाम नियमानन्द था, निम्बादित्य या निम्बार्क नाम एक चमत्कारके फलस्वरूप मिला था। कहते हैं, स्वय देवर्षि नारदने इन्हें गोपालमत्रकी दीक्षा देकर कृष्णोपासनाका उपदेश दिया था। अपने 'वेदान्तपारिजातसौरभ'में इन्होंने बिना किसीका खण्डन किये ब्रह्मसूत्रकी सक्षिप्त वृत्तिके रूपमें अपने द्वैताद्वैत-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। 'दशश्लोकी', 'श्रीकृष्णस्तवराज', 'मन्त्ररहस्यषोडशी', 'प्रपन्नकल्पवल्ली' आदि इनकी कुछ और छोटी-छोटी रचनाएँ हैं। भक्तिके प्रचारके लिए अपने द्वैताद्वैतवाद(दे०)पर आधारित 'सनकादि-सम्प्रदाय' स्थापित किया। इसे हस सम्प्रदाय, सनातन सम्प्रदाय और देवर्षि-सम्प्रदाय भी कहते हैं।

दक्षिणके उपर्युक्त तीन आचार्योंके अतिरिक्त विष्णुस्वामी नामके एक और आचार्य प्रसिद्ध हैं। परन्तु उनके समय, स्थान तथा धार्मिक विश्वासके सम्बन्धमें इतना अधिक मतभेद है तथा उसे दूर करनेकी सामग्री इतनी स्वल्प है कि उनके सम्बन्धमें कुछ भी निश्चित रूपसे कह सकना सम्भव नहीं जान पड़ता। कहा जाता है कि विष्णुस्वामी द्रविड देशके किसी राजाके मत्रीके पुत्र थे। बाल्यकालसे ही उनके हृदयमें धार्मिक सस्कार दृढ हो गये थे। स्वय वशीधारी किशोर श्यामने उन्हें दर्शन देकर बताया था कि निराकार रूपके अतिरिक्त मेरा साकार रूप भी होता है। मुझे प्राप्त करनेका सुगम उपाय साकारकी भक्ति ही है। फलत विष्णुस्वामीने बालकृष्णकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा करायी और भक्तिका उपदेश देना प्रारम्भ किया। भण्डारकरने 'भक्तमाल'(नाभादास, छप्पय ४८)के उल्लेखके आधारपर विष्णुस्वामीका समय १३वीं शती अनुमान किया है, परन्तु यह निर्णय बहुत मान्य नहीं कहा जा सकता। विष्णुस्वामी नामके कमसे कम तीन भक्तोंका पता चला है। इनमेंसे कौन विष्णुस्वामी शुद्धाद्वैत (दे०)मतके प्रतिपादक तथा भक्तिके 'रुद्रसम्प्रदाय'के सस्थापक थे, यह कहना सम्भव नहीं है। वस्तुस्थिति यह जान पड़ती है कि शुद्धाद्वैतकी प्राचीनता प्रमाणित करनेके लिए ही उसका सम्बन्ध विष्णुस्वामीसे जोड़ा जाता है।

दसवींसे तेरहवीं-चौदहवीं शतीतक इस प्रकार भक्तिका आन्दोलन दक्षिणमें शास्त्रीय रूप धारण करके तथा आध्यात्मिक पक्षमें दृढ होकर पुन उत्तरकी ओर आया और चौदहवीं शताब्दीसे उन्नीसवीं शताब्दीतक प्रबल वेगके साथ देशके विस्तृत भूभागमें महाराष्ट्र, गुजरात, पजाब, मध्यदेश, मगध, उत्कल, आसाम और बगदेशमें फैलकर व्यापक लोकधर्म बन गया। उत्तरभारतमें इसका नवीन रूपमें प्रचार करनेवाले सबसे प्रथम और सबसे अधिक शक्तिशाली स्वामी रामानन्द (दे०—'रामानन्दी सम्प्रदाय') हुए, जिन्होंने आध्यात्मिक दृष्टिसे रामानुजके विशिष्टाद्वैतको ही मानते हुए भक्तिका पृथक् सम्प्रदाय स्थापित किया, जिसमें दाक्षिणात्य श्रीवैष्णवोंकी तरह स्पर्शास्पर्शके नियम कठोर नहीं थे। लक्ष्मीनारायणके स्थानपर उन्होंने सीतारामको उपास्य देव बनाया। रामानन्दी वैष्णव वैरागी वैष्णव कहे जाते हैं। रामानन्दकी दो प्रकारकी शिष्य-परम्पराएँ थीं। एकमें निम्न जातियोंके लोग थे और दूसरीमें सवर्ण लोग। मध्ययुगमें भक्तिका प्रचार करनेवाले भक्त-कवियोंमें एकके प्रतिनिधि कबीर और तुलसीदास हुए। (दे० भक्तमाल।)

चौदहवीं पन्द्रहवीं शतीमें कबीर, रैदास आदि निर्गुणोपासक सन्तोंकी भक्ति अधिक प्रबल रही (दे०—'निर्गुण-सम्प्रदाय'), परन्तु आगेकी शताब्दियोंमें वल्लभाचार्य-(१४७८–१५३०)के शुद्धाद्वैत(दे०)पर आधारित **पुष्टिमार्ग** (दे०), निम्बाचार्य द्वारा प्रतिपादित और उत्तरभारतमें उनके शिष्य श्रीनिवासाचार्य, औदुम्बराचार्य, गौरमुखाचार्य और लक्ष्मण भट्ट द्वारा प्रचारित सनकादि-सम्प्रदाय, मध्वाचार्यके **ब्रह्म** या **माध्व सम्प्रदाय** (दे०), गोसाईं हितहरिवश(१५०२)के **राधावल्लभीय सम्प्रदाय** (दे०), स्वामी हरिदासके **हरिदासी** या **सखी सम्प्रदाय** (दे०) तथा चैतन्य महाप्रभुके **गौडीय वैष्णव सम्प्रदायने** कृष्णभक्ति-आन्दोलनोंके रूपमें भागवत धर्मको समयके आवश्यकतानुसार नवीन रूप दिया और समग्र लोक-जीवनको आमूल प्रभावित करके उसे नयी आशा, उमग और क्रियात्मक शक्तिसे अनुप्राणित किया। दूसरी ओर गोस्वामी तुलसीदासने रामभक्तिके रूपमें प्रेमभक्ति और मर्यादा-भक्तिका अपूर्व समन्वय करके भक्ति-धर्मको एक नवीन

सामाजिक शक्ति प्रदान की। मध्ययुगमें भक्तिका प्रचार करनेवाले सभी सम्प्रदायों और उनके अनुयायी भक्त कवियोंने 'श्रीमद्भागवत पुराण'का सबसे अधिक अनुसरण किया है। एक प्रकारसे 'श्रीमद्भागवत' ही मध्ययुगीन भागवत धर्मका अक्षय स्रोत है। वल्लभ-सम्प्रदायमें तो उसे प्रस्थानत्रयीके साथ सम्मिलित करके 'प्रस्थानचतुष्टय' भक्ति धर्मका आकर माना गया है।

[सहायक सामग्री—(१) वैष्णविज्म, शैविज्म आर० जी० भण्डारकर, (२) इण्ट्रोडक्शन टु परम संहिता (गायकवाड़ संस्कृत सीरीज) दीवान बहादुर एस० कृष्णस्वामी एयंगार, (३) भागवत धर्म बलदेव उपाध्याय।]—व्र० व०

भाग्यवाद—व्यक्तिके हिस्से(भाग)में जो कुछ करना और भोगना रहता है, उसे भाग्य कहते हैं। भाग्यके ही अपर पर्याय दैव, विधि, नियति, ईश्वरेच्छा, भवितव्यता और प्रारब्ध हैं। *विधिलेख या ललाटलेखसे* इसीका बोध होता है। भवितव्यताको ही 'होनी' कहते हैं। कभी-कभी इसीको 'करमगति' या कर्मगति कहते हैं, पर दार्शनिक दृष्टिसे कर्मगति और भाग्यमें अन्तर है।

भाग्यवाद वह सिद्धान्त है, जिसके अनुसार जो कुछ भी होता है या हो सकता है, वह सब भाग्यानुसार ही होता है। इसकी अभिव्यक्ति निम्नलिखित श्लोकमें मिलती है 'यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म। तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥' अर्थात् जिससे, जिसके द्वारा, जैसे, जब कभी, जो कुछ, जितना, जहाँ शुभाशुभ कर्म होता है, उससे, उसके द्वारा, वैसा, तब वह उतना, वहाँ विधिके वशसे ही होता है।

भाग्यवाद या दैववाद दैवीकारणवाद है। जैसे प्रकृति-जगत्में वर्तमान विज्ञानके अनुसार सब घटनाएँ कार्य-कारणकी शृंखलामें सुसम्बद्ध रहती हैं, वैसे दैववादके अनुसार प्रकृतिजगत् तथा नीतिजगत्, दोनोंको कार्य-कारणकी शृंखलामें बाँधनेवाला दैव या विधि है। प्राकृतिक घटनाओं या वस्तुओंकी भाँति मनुष्यके कर्म भी कार्य-कारणकी शृंखलामें बँधे हैं। वेदोंमें इस दैवी विधानको ऋत कहा गया और इसके गोप्ताको वरुण। वैशेषिक दार्शनिकोंने इस ऋत या दैवी विधानको ही अदृष्ट कहा और माना कि इसी अदृष्टके कारण मौलिक परमाणुओंमें गति आती है, जिसके फलस्वरूप वे संसारकी रचना करते हैं और यही अदृष्ट मनुष्योंके जीवनका भी नियन्ता है। वैशेषिक दर्शनमें अदृष्टकी यह कल्पना ईश्वरसे भिन्न की गयी। मीमांसामें इसीको अपूर्व कहा गया है। अपूर्व केवल कर्म और उसके विपाकका सम्बन्ध करानेवाला तत्त्व यहाँ माना गया। ईश्वरवादी दर्शनोंमें इसको ईश्वरेच्छा माना गया और इसका काम एकमात्र मनुष्य तथा अन्य जीवोंके कर्मोंका निर्धारण करनेवाला तत्त्व निश्चित किया गया। ईश्वरको उच्छृंखल, निर्विवेक तथा अन्धाधुन्ध न्याय करनेवाला माना गया। वह अपने इच्छानुसार ही लोगों या जीवोंको फल देता है और कर्म करवाता है। भाग्यवाद प्रायः इसी दैववादके अर्थमें अधिक प्रयुक्त होता है। 'भाग्य फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्', 'ईश्वरेच्छा बलीयसी', 'फल भाग्यानुसारत', 'होनी होके रही' आदि उक्तियाँ भाग्यवादको पौरुषवाद या प्रयत्नवादके विरोधमें लेती हैं। पौरुष या प्रयत्न व्यर्थ है, भाग्य जो चाहेगा, वही होगा। इस भाग्यकी गति विचित्र है, वह गुणको दोष और दोषको गुण बना सकती है। वह मूर्खको विद्वान् और राजाको रंक करती है या कर सकती है। असम्भवको वह सम्भव कर देती है और सम्भवको असम्भव बनाती है। भाग्य ईश्वरकी रहस्यमयी इच्छा या शक्ति है। इसे कोई जान नहीं सकता। इसका होना अवश्यम्भावी रहता है। वह किसीके द्वारा टाला नहीं जा सकता। यही वास्तवमें सब कुछ करता है, मनुष्य या अन्य जीव इसके हाथमें कठपुतली हैं। इस प्रकार भाग्यवाद मानव-स्वतन्त्रता तथा वैज्ञानिक कार्य-कारणवाद, दोनोंका विरोधी है।

भौतिक विज्ञानने जगत्की वस्तुओंको भौतिक कार्य-कारणकी शृंखलामें बँधा सिद्ध किया। नीतिने मनुष्यको भाग्यकी कठपुतली नहीं, वरन् स्वतन्त्र प्राणी सिद्ध किया। इस प्रकार दोनोंने भाग्यवादका निराकरण किया।

पर विज्ञान जिन घटनाओंको कार्य-कारणके नियमके अनुसार घटित न सिद्ध कर सका, उनको उसने सायोगिक या आकस्मिक मान लिया। नीति, जो यह मानती है कि सत्कर्मका फल अच्छा होता है और दुष्कर्मका फल बुरा होता है, यह सिद्ध न कर पायी कि क्यों सत्कर्मी दुःख उठाते हैं और दुष्कर्मी सुख भोगते हैं।

इन सब परिस्थितियोंको देखकर भाग्यवाद, सयोगवाद, कर्मकालवाद और वैज्ञानिक कार्य-कारणवाद—सबमें कुछ-न-कुछ दोष मिलते हैं। भाग्यवादियोंने इन परिस्थितियोंके कारण अपने दैववादको कर्मवादमें बदल दिया।

कर्मवादके अनुसार विधि 'प्रतिनियतकर्मकफलद' है अर्थात् वह व्यक्तियोंको उनके कर्मके अनुसार ही फल देती है। पर चूँकि इस लोकमें सत्कर्मी दुःखी और दुष्कर्मी सुखी देखे गये हैं और कर्मफलको अटल मानना नीतिके लिए आवश्यक है, इसलिए कर्ममें कई प्रकार माने गये और जन्मान्तरवादकी कल्पना की गयी। इस लोकमें जो सुख या दुःख पाता है, वह वस्तुतः अपने पूर्वजन्मके कर्मके अनुसार उसको पाता है। यह उसका प्रारब्ध कर्म है। इस लोकमें किये गये अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिए उसे पुनर्जन्म लेना पड़ेगा, उसका क्रियमाण कर्म अभी अनारब्ध है अर्थात् अभी उसका फल मिलना आरम्भ नहीं हुआ। प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मोंके अतिरिक्त संचित कर्म भी होते हैं जो पूर्वजन्ममें किये गये हैं और उनका अभी फल मिलना शुरू नहीं हुआ। प्रारब्ध कर्म संचित कर्मोंसे इस बातमें भिन्न हैं कि उनका फल मिलना शुरू हो गया है और इस बातमें समान हैं कि दोनों पूर्वजन्मके कर्म हैं। इस प्रकार क्रियमाण कर्म और संचित कर्म अनारब्ध कर्म हैं और इससे प्रारब्ध पृथक् होनेके कारण हम कर्मोंको प्रारब्ध और अनारब्ध, दो वर्गोंमें बाँट सकते हैं।

कर्मवादमें भाग्य प्रारब्ध कर्म हो गया। पर भाग्यवादको कर्मवादमें बदलनेके लिए जन्मान्तरवादको मानना आवश्यक है। ईसाई, मुसलमान और यहूदी जन्मान्तरवादको नहीं मानते हैं। अतः वे भाग्यवादको दैववादके रूपमें

ही लेते है, न कि कर्मवादके रूपमें।

पर भारतीयोंने प्राय भाग्यवादको प्रारब्धवाद या कर्मवादके ही रूपमें लिया है। केवल कुछ आलसियोंने इसको दैववादके रूपमें माना है। विचारकोंने तो प्राय इसे कर्मवाद ही समझा है। 'स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोक', 'कर्मानुगो गच्छति जीव एक', 'बुद्धि कर्मानुसारिणी', 'करम गति टारे नाहिं टरी' आदि अत्यन्त प्रचलित उक्तियाँ इस कर्मवादको प्रख्यात करती हैं।

कर्मवाद नीतिकी अनिवार्यतापर जोर देता है और कर्म तथा उसके विपाकमें अवश्यम्भावी सम्बन्ध मानता है। यह पौरुषकी निन्दा नहीं करता, उल्टे कर्मवादको ही न मानना कायरता है, क्योंकि अपने कृत कर्मके फलसे डरना सचमुच सबसे बडी कायरता है। पर चूँकि कर्मवादका अनिवार्य आधार जन्मान्तरवाद है, अत इसका समर्थन जन्मान्तरवादके समर्थनसे ही हो सकता है। आज भारतमें कुछ-कुछ और पाश्चात्य देशोंमें अधिकाधिक जन्मान्तरवादको असिद्ध ठहराया जा रहा है और इस कारण कर्मवादको भी अमान्यता मिल रही है।

जैनियों और हिन्दुओंके अनुसार कर्मवादकी एक और आधारशिला है नित्य आत्माको मानना। बौद्ध इसको नहीं मानते है। वे जन्मान्तरवादको मानते हैं और इस कारण कर्मवादको भी मानते हैं। उनके अनुसार नित्य आत्मामें विश्वास रखना कर्मवादके लिए आवश्यक नहीं है। कृत कर्मके फलको पानेके लिए एक ही आत्माको दोनों परिस्थितियोंमें कार्यावस्था और फलावस्थामें रहना अनिवार्य नहीं है। कार्यावस्थाकी आत्मा और फलावस्थाकी आत्मा सन्तति-रूपसे सुसम्बन्ध हैं, दोनों एक ही सन्तानमें आती हैं, अत यद्यपि आत्मा नित्य परिवर्तनशील है, तथापि कर्मवादके अनुसार कर्म और विपाकका सम्बन्ध उसमें हो सकता है।

कर्मवाद कोई यान्त्रिक नियम नहीं है। यह अपने कर्मोंका ही नियन्त्रण है। इस कारण यह हमारी स्वतन्त्रताके प्रतिकूल नहीं है। हमारी स्वतन्त्रताके दो रूप हैं—(१) वरणकी स्वतन्त्रता और (२) अपने कर्मके फल पानेकी अनिवार्यता। कर्मवादमें ये दोनों रूप मिलते हैं। पूर्वकृत कर्म अवश्य अपने कर्ताको फल देगा, यही व्यक्तिको स्वकर्मकी अनिवार्यतासे बद्ध करता है। फिर व्यक्ति अपने भविष्यको सुधार सकता है। वह अपने सचित कर्मोंको क्रियमाण कर्मोंसे जला सकता है और इस तरह केवल प्रारब्ध कर्मोंके ही फलको भोग करके कर्मके बन्धनसे मुक्त हो सकता है। कर्मवादका यह पहलू मनुष्यकी वरणशक्तिको सिद्ध करता है।

कर्म और फलके बीचकी अवस्थामें कर्मकृत प्रभाव या आशय कहाँ रहते है? इस प्रश्नपर भारतीय दार्शनिकोंमें पर्याप्त मतभेद है। कोई उनका आश्रय कर्ता आत्मामें, कोई अदृष्टमें, कोई अपूर्वमें, कोई ईश्वरमें तो कोई कार्यमें ही मानता है, पर इन सबका तात्पर्य यह है कि कर्माशयका आश्रय चाहे जो अभ्यूहित हो, पर कर्म और विपाकमें मध्यान्तर रहता है और उस अवस्थामें कर्माशयका आश्रय कोई नैतिक प्रत्यय ही हो सकता है, उसके विशेष नामकरणमें फिर चाहे मतभेद ही क्यों न हो।

वेदोंसे लेकर आजतक भारतीय सस्कृतिमें कर्मवादको किसी-न-किसी रूपमें माना गया है। सिर्फ चार्वाक-दर्शनमें ही कर्मवादकी हत्या कर दी गयी है, पर यह दर्शन बहुत पहले लुप्त हो गया। पहले भाग्यवादका सिद्धान्त बना या कर्मवादका, इसमें मतभेद हो सकता है, पर भाग्यवाद कर्मवादसे सरल है। अत लगता है कि पहले वैदिक ऋषियोंने दैववाद या भाग्यवादकी ही ओर दृष्टि दौड़ायी। फिर जब यज्ञोंका बोल वाला हुआ तो इसको कर्मवादमें बदल दिया गया, पर यहाँ सत्कर्म सिर्फ यज्ञ ही समझे गये। बुद्धने यज्ञके कर्मवादके विरोधमें अपना धर्मचक्र चलाया और नैतिक मूल्योंकी स्थापना की। इस प्रकार यद्यपि कर्मके बाहरी रूपका परिवर्तन हुआ, तो भी कर्मवाद-कर्मविपाकका आभ्यन्तर सम्बन्ध अक्षुण्ण रहा। स्मृति और पुराणके युगोंमें कर्मवादको ईश्वरके साथ सम्बन्धित कर दिया गया। फिर तबसे लेकर कभी भाग्यवाद अधिक मान्य रहा, तो कभी कर्मवाद। प्राय देशके राजनीतिक पतनकी दशामें भाग्यवादका ही अधिक बोल-बाला रहा है, पर उस समय भी ज्ञानी लोगोंने कर्मवादको ही सच्चा सिद्धान्त ठहराया है और भाग्यवादको ईश्वरयदृच्छावादके रूपमें नहीं लिया है।

हिन्दीके सन्त कवियोंने, सगुणोपासक और निर्गुणोपासक दोनोंने, भाग्यवाद और कर्मवादकी अभिव्यक्तियाँ प्रचुर-मात्रामें की हैं। पर इस ओर उनकी विशेष देन यह है कि उन्होंने कर्मवाद और भाग्यवादको आध्यात्मिक जीवनका प्रेरक माना है।

सूरदासने देखा कि कर्म और उसके फलमें महान् अन्तर दिखाई पडता है—'ऊधो धनि तुम्हरो व्यवहार। आम कटावत बबुर लगावत चन्दन झोंकत भार। चोर बसावत साहु भगावत, चुगलनिकौ एतबार॥ सूरदास धनि तुम्हरी कचेरी, अन्धाधुन्ध दरबार॥' और 'दयानिधि तेरी गति लख न परै। पिता वचन मेटै सो पापी सो प्रहलाद करै। सूरदास बल जात चरनकी कैसे सूर तरै।'

यहाँ कर्म और विपाकके विरोधको देखकर आध्यात्मिक जीवननिर्वाह करनेकी बात है। साधक देखता है कि भगवत्कृपाके बिना उसके कर्मों द्वारा उसे मोक्ष नहीं मिल सकता, क्योंकि ईश्वरका दरबार अन्धाधुन्ध है।

ऐसी ही परिस्थितियोंसे जर्मन दार्शनिक काण्टने सिद्ध किया कि भविष्य-जीवन होता है, जिसमें कर्म और विपाकका अन्तर न रह जाय, और इस कारण आत्माको अमर मानना चाहिये। फिर भविष्यमें इसका विधान करनेवाला विधाता अर्थात् ईश्वर भी होना चाहिये।

मीराँ कर्म और उसके फलको दैवी पाकर कहती हैं—'करम गति टारे नाहिं टरै। मीराँके प्रभु गिरिधर नागर, विषसे अमृत करै।' जिसने दैववाद या कर्मवादका यह फल प्रत्यक्ष देख लिया कि विषका फल अमृतका स्वादन हो जाता है, वह भला क्यों अपने जीवनको भौतिकवादमें डुबो रखेगा?

कबीर, तुलसी तथा अन्य सन्तोंने भी भाग्यवाद और कर्मवादसे ईश्वरभक्तिकी प्रेरणा ली है, मानवजन्मको

दुर्लभ बतलाया है और इसके सदुपयोगकी शिक्षा दी है।

आध्यात्मिक रससे वंचित रहनेवाले विद्वानोंने यह दिखलानेका प्रयास किया है कि चूँकि हिन्दीके सन्त-साहित्यका आविर्भाव उस कालमें हुआ जब कि भारतीय जनता मुसलमानी शासकोंके अत्याचारपूर्ण शासनसे परेशान थी, इसलिए इसमें भाग्यवाद या कर्मवादकी अभिव्यक्ति अनिवार्य थी। यह विचार भ्रान्त है, क्योंकि बहुतसे मुसलमान भी सन्त हुए हैं और बहुतसे मुसलमान शासकोंके शासनमें अत्याचार नहीं हुआ। दार्शनिक और आध्यात्मिक सिद्धान्त किसी युगकी प्रतिध्वनिमात्र नहीं होते।

[सहायक ग्रन्थ—(१) टी पाथने द गाड इन हिन्दी लिटरेचर रामचन्द्र दत्तात्रेय, (२) इण्डियन फिलॉसफी (दो भाग) राधाकृष्णन्।] —मं० ला० पा०

भाण—भरत मुनिने भाणका लक्षण बताते हुए इसके दो भेद किये हैं—(१) आत्मानुभूतशंसी और (२) परसंश्रय-वर्णन। प्रथम प्रकारके भाणमें कलानिपुण धूर्त या विट किसी धूर्त अथवा विटकी विविध अवस्थाओंका आत्मानुभवके बलपर वर्णन करता है और दूसरे प्रकारके भाणमें वह अन्य व्यक्तिके कृत्योंकी सुनी सुनायी वार्तोंका उद्घाटन करता है। (ना० शा० २० श्लो० १०७-११०)। भाणमें केवल एक ही पात्र होता है और वह आकाशभाषित (काल्पनिक पात्र)के सहारे 'किं ब्रवीमि' कहता हुआ सम्बोधन, उक्ति-प्रत्युक्ति आदिके द्वारा वीर रस-सूचक शौर्य एवं शृंगार रस-द्योतक घटनाओंका प्रदर्शन करता है। इसमें केवल एक अंक होता है। इसमें भारती वृत्ति, अंगोंके सहित मुख या निर्वहण सन्धियोंमेंसे एक सन्धि, कल्पित वस्तु और लास्यके दसों अंग होते हैं (द० रू० ३. ४९-५१)। ऐसा ही मत विश्वनाथका भी है (सा० द० ६. २२७-२३०)।

भाणमें धूर्त चरित्रकी प्रधानता होनेसे सम्भवतः यह रूपक-प्रकार विद्वन्मण्डलीमें अधिक समादृत न हो पाया। इसी कारण 'काव्यानुशासन'में इस रचनाका उद्देश्य साधारण लोगोंका मनोरंजन माना गया है। इसके प्रधान रसके सम्बन्धमें आचार्योंमें मतभेद रहा है। नाट्यदर्पणकार इसमें शृंगार रस प्रधान तथा वीर एवं हास्यको गौण मानते हैं। किन्तु भावप्रकाशकार शारदातनय इसमें एकमात्र शृंगार रस स्वीकार करते हैं। सागरनन्दी किसी रसका नामोल्लेख नहीं करते। उनका मत है कि जिस रूपकमें परवचन (आकाशभाषित) और आत्म-वचन सान्तरग्रथित हों और जिसमें धूर्त एवं विटकी सुख-दुःखात्मक नाना अवस्थाएँ एक अंकमें सन्निविष्ट हों वह भाण कहलाता है—'यत्र परवचनमात्मवचनं सान्तरैर्ग्रथितं वाच्यं च भवेत्। आकाशपुरुषा यत्र व्याहरन्ति धूर्तविटाना सम्प्रयोगो नानावस्थाभिः सुखदुःखात्मकाभिश्चोपेत एकाङ्कश्च भाणः।'

शारदातनयने भाणपर विस्तारसे विचार किया है। उन्होंने भाणके निम्नलिखित दस भेद किये हैं—१ **गेयपद**, २ **स्थितपाठ्य**, ३ **आसीन**, ४ **पुष्पगण्डिका**, ५ **प्रच्छेदक**, ६ **त्रिमूढ**, ७ **सैन्धव**, ८ **द्विमूढक**, ९ **उत्तमोत्तमक**, १० **भाव्य**। उन्होंने प्रत्येक प्रकारके भाणके लक्षण भी बताये हैं (भा० प्र० ८ पृ० २४४, २४६)।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने संस्कृत आचार्योंके मतके आधार-पर संक्षेपमें भाणका लक्षण इस प्रकार बताया है—'भाणमें एक ही अंक होता है। इसमें नट ऊपर देख-देखकर, जैसे किसीसे बात करे, आप ही सारी कहानी कह जाता है। बीचमें हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना इत्यादि आप ही दिखलाता है। इसका उद्देश्य हँसी, भाषा उत्तम और बीच-बीचमें संगीत भी होता है। उदा०—'विषस्य विषमौषधम्' (नाटक, भारतेन्दुनाटकावली भाग २ पृ० ४२४)।

गुलाब रायने इसके लक्षणोंका और भी संक्षिप्ती-करण किया है। उन्होंने भाणका लक्षण इस प्रकार लिखा है—'यह एक ही अंकका होता है। इसमें एक ही पात्र होता है, जो ऊपरको मुँह उठाकर आकाशभाषितके ढंगसे किसी कल्पित पात्रसे बातचीत करता है। इसमें धूर्तोंका चरित्र रहता है और खूब हँसाया जाता है।' (हिं० ना० वि० पृ० ५१)।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और गुलाब रायकृत भाणके लक्षणोंसे संस्कृत आचार्योंकी सारी विशेषताएँ स्पष्ट नहीं होतीं, अतः अल्प-विस्तारके साथ भाणका लक्षण इस प्रकार दिया जा सकता है—भाणमें एक अंक और एक ही पात्र होता है। यह पात्र कोई बुद्धिमान् विट होता है। वह अपने तथा दूसरोंके धूर्ततापूर्ण कृत्योंको वार्तालापके रूपमें प्रकाशित करता है। वार्तालाप किसी कल्पित व्यक्तिके साथ होता है, जो ऊपर आकाश-स्थित होकर बातें करता है। रंगमंचपर आकर नायक आकाशकी ओर देखता हुआ सुननेका नाट्य करके कल्पित पुरुषकी उक्तियोंको स्वयं दुहराता है और उनका उत्तर देता है। स्वयं प्रश्न करता है और स्वयं ही उसका उत्तर देता है तथा शौर्य और सौन्दर्यके वर्णनसे वीर एवं शृंगार रसका आविर्भाव करता है। भाणमें प्रायः भारती वृत्तिका आश्रय लिया जाता है, कहीं-कहीं कैशिकी वृत्तिका भी प्रयोग होता है। इसमें अंगोंके सहित मुख और निर्वहण, दो सन्धियाँ होती हैं। लास्यके दस अंग भी इसमें व्यवहृत हो सकते हैं। इसका उदाहरण 'लीलामधुकर' है। इसके १० प्रकार होते हैं। हिन्दीमें भारतेन्दुकृत 'विषस्य विषमौषधम्' भाणका उत्तम उदाहरण है। —द० ओ०

भाणिका—इसमें एक अंक होता है। नायक मन्दमति होता है और नायिका प्रगल्भा होती है। उसमें मुख-निर्वहण सन्धियोंका प्रयोग और भारती-कैशिकी वृत्तियोंका निर्वाह होता है। भाणिका भाणका सजातीय उपरूपक है। भाणके १. उपन्यास (प्रसंगपर कार्यका कीर्तन करना), २ विन्यास (निर्वेद-सूचक वाक्य), ३ विबोध (समझाना या भ्रान्तिका नाश), ४ साध्वस (मिथ्याकथन), ५ समर्पण (कोपसे उपालम्भनके वचन कहना), ६ निवृत्ति (दृष्टान्तका कीर्तन करना), ७ संहार (कार्यकी समाप्ति)—इन सात अंगोंका प्रभाव भाणिकामें रहता है। उदा०—'कामदत्ता'। —वि० रा०

भारत-यूरोपीय—एक भाषा-परिवारका नाम है। इस परिवारकी भाषाएँ अधिकांश भारतवर्षमें, ईरानमें, आरमी-नियामें, प्रायः सारे यूरोप महाद्वीपमें, अमेरिका महाद्वीपमें

तथा अफ्रीकाके दक्षिण-पश्चिम कोने और आस्ट्रेलियामें बोली जाती है। बोलनेवालोंकी संख्या, क्षेत्रविस्तार, साहित्य आदि सभी बातोंको देखते हुए इस परिवारका संसारके भाषा-परिवारोंमें सर्वप्रमुख स्थान है। वस्तुस्थिति तो यह है कि इस परिवारकी ही कुछ भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे भाषाविज्ञानका आविर्भाव हुआ।

इस परिवारका नाम सबसे पहले इण्डोजर्मनिक पड़ा। पिछले दो-ढाई सौ वर्षोंसे जर्मन विद्वान् बराबर भाषा-विज्ञानके अध्ययनमें लगे रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट देखा कि ये परस्पर सम्बद्ध भाषाएँ एक ओर पूर्व दिशामें भारतमें बोली जाती हैं और इस ओर पश्चिम छोरपर जर्मनीमें (जर्मनीके पश्चिमवाले देशोंमें बोली जानेवाली अंग्रेजी, डच आदि भाषाएँ भी जर्मनी शाखाकी हैं)। इसलिए इण्डोजर्मनिक नाम रखना स्वाभाविक ही था। पर आयरलैण्ड और वेल्समें बोली जानेवाली केल्टी शाखाकी भाषाएँ जर्मनी शाखाकी नहीं थीं। इसलिए इण्डोजर्मनिक नाम अनुपयुक्त समझा गया और इण्डोकेल्टिक सुझाया गया। पर यह नाम बिलकुल न चल सका। परिवारकी मुख्य भाषा संस्कृतके कारण सांस्कृतिक भी सोचा गया। पर इस निश्चयके कारण कि संस्कृत सभीका आदि स्रोत नहीं है, यह छोड़ दिया गया। इंजीली सम्प्रदायके अनुसार सामी, हामीके वजनपर हजरत नूहके तीसरे बेटे जैफके नामपर जैफाईट भी रखनेका विचार हुआ, पर यह भी आगे न बढ सका। इनके अलावा दो नाम और पेश किये गये—आर्य और इण्डोयूरोपियन। इंग्लैण्ड, फ्रान्स आदि देशोंके विद्वानोंने इण्डोयूरोपियन नाम पसन्द किया और इसीका व्यवहार करते हैं। इनका कहना है कि भारत और यूरोप इन्हीं दो महादेशोंमें ये भाषाएँ गौरवको पहुँची हैं, इसलिए ये नाम ठीक है। पर जर्मनीवाले अब भी इण्डोजर्मनिक शब्दका ही प्रयोग करते हैं।

आर्य शब्दके व्यवहारके विरुद्ध यूरोपके विद्वान् दो तर्क उपस्थित करते हैं—(१) इस नामसे इस परिवारकी भाषाओं और उनके बोलनेवालोंकी जातिका समकक्षत्व होता है अर्थात् यह भ्रम होता है कि इस परिवारकी भाषाओंके बोलनेवाले आर्य जातिके हैं, (२) आर्य शब्दका व्यवहार इस परिवारकी हिन्दी-ईरानी शाखाके लिए अधिक उचित है, क्योंकि इन दोनों देशोंवाले अपनेको आर्य कहते हैं और इस शब्दका निरन्तर प्रयोग अपने साहित्यमें पाते हैं। पहला तर्क बिलकुल लचर है। यदि सामी, चीनी आदि भाषाओंके नामोंसे सामी आदि जातिके विषयमें भ्रम नहीं पैदा होता तो आर्य नामसे ही क्यों होने लगा? दूसरे तर्कमें कुछ सार है, किन्तु इस शाखाके लिए हिन्द-ईरानी नाम ही अधिक उपयुक्त है। अन्य शाखाओंके नाम भी उन देशोंके नामपर रखे गये हैं। परिवारभरके लिए आर्य शब्द ही अधिक उपयुक्त है। इण्डोयूरोपीय नाम बड़ा भारी है। प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक जैसपर्सन भी आर्य शब्दको पसन्द करते हैं, किन्तु यह भी प्रचलनमें नहीं आया। भारतीय विद्वानोंमें बाबूराम सक्सेनाने भी इसी नामको पसन्द किया है।

भारत यूरोपीय इण्डोयूरोपियनका हिन्दी अनुवाद है और यही नाम भारतीय भाषाओंमें लिखे हुए भाषा-वैज्ञानिक ग्रन्थोंमें अधिकतर प्रयोगमें आया है। श्यामसुन्दर दासने इसका संक्षिप्त रूप भारोपीय सुझाया था, पर यह प्रचलित न हो सका।

इस परिवारकी प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओंका सूक्ष्म अध्ययन करके यह कल्पना की जाती है कि इन भाषाओंका मूल स्रोत कोई आदि भाषा रही होगी। संस्कृत, आवेस्ती, ग्रीक और लैटिनके सबसे पुराने लेखों द्वारा इन भाषाओंका जो स्वरूप मिलता है उससे ही इस आदि भाषाकी कल्पना हो सकी है। इन भाषाओंकी परस्पर तुलना की गयी और फलस्वरूप यह मालूम हुआ कि आदिम आर्य भाषामें अमुक-अमुक ध्वनियाँ रही होंगी, अमुक-अमुक सन्धिनियम रहे होंगे, संज्ञा, सर्वनाम आदिके रूप इस प्रकार चलते होंगे, क्रियाके ये रूप रहे होंगे, इत्यादि। इस आदिम भाषामें कवर्ग, तवर्ग, पवर्गके स्पर्शवर्ण, दन्त ऊष्म ध्वनि (स्), अन्तस्थ व्यंजन (य्, र्, ल, व्, न्, म्), अन्तस्वर (ई, ऋ, उ, ॠ, ऌ), उदासीन स्वर तथा मूल ह्रस्व (अ, ए, ओ), मूल दीर्घ स्वर (आ ऐ, ओ) तथा मूल स्वरों और अन्तस्थ स्वरोंके सम्मिश्रणसे १८ मिश्र ह्रस्व स्वर और १८ मिश्र दीर्घ स्वर उपस्थित थे।

आदिम आर्य भाषामें पदमें तीन अंश हो सकते थे—धातु, पूर्वप्रत्यय और परप्रत्यय और इन तीन अंशोंमेंसे कोई भी एकाक्षर या अनेकाक्षर हो सकता था। संज्ञा और क्रियाके अलावा आदिम भाषामें क्रियाविशेषण, उपसर्ग और समुच्चयबोधक आदि अव्यय थे। आदिम आर्य भाषामें तीन बातें और थीं—समास, स्वरक्रम और सुर। सुरके अलावा बलाघातका भी अनुमान किया जाता है। सिंहावलोकन करनेसे आदिम आर्य भाषामें संश्लिष्ट योगात्मक अवस्था, परप्रत्ययोंका बाहुल्य और उनके द्वारा सम्बन्धतत्त्वका बोधन, पदके तीन अंश, धातुका अभ्यास, उपसर्ग और मध्य-प्रत्ययका अभाव, समास, स्वरक्रम और सुर, ये मुख्य लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

इस आदिम भाषाके बोलनेवालोंके मूल निवासस्थानके विषयमें बहुत विवाद है और भारत, मध्यएशिया, त्रिविष्टप (तिब्बत), उत्तरी ध्रुवप्रदेश, यूरोपके पूर्वी हिस्सेका कोई प्रदेश तथा एशियामें यूराल पर्वतका दक्षिणी प्रदेश—इन भागोंको किसी-न-किसी प्रतिष्ठित विद्वान्ने आर्योंका मूल निवासस्थान माना है। इनमेंसे अन्तिम अर्थात् यूराल पर्वतका दक्षिणी प्रदेश इस समय अधिक सम्मत समझा जाता है। अनुमान है कि आदिम आर्योंका प्रथम सम्पर्क उत्तरी मेसोपोटामियाकी तत्कालीन सभ्य जातियोंसे ईसाके पूर्व २३वीं या २२वीं शतीमें हुआ, ईसापूर्व २००० वर्ष पूर्वके आसपास उनकी स्थिति मेसोपोटामियामें पायी जाती है। प्राय १४०० ई० पू० के 'बोगाज कोई'(एक गाँव)के अभिलेखमें आर्योंका प्रथम सर्वत स्पष्ट उल्लेख है।

आदिम आर्य भाषा संस्कृत, आवेस्ती (तथा प्राचीन फारसी), ग्रीक, लैटिन, जर्मन, केल्टी, स्लावी, बाल्टी, आर्मीनी, अल्बेनी, तुखारी और हिट्टाइट—इन सभी भाषाओं-का आदि स्रोत समझी जाती है। इस परिवारकी वर्तमान प्रमुख भाषाएँ हिन्दी, फारसी, जर्मन, अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी

है। भारतमें इस परिवारकी भाषाओंके बोलनेवालोंकी संख्या भारतकी जनसंख्याका प्राय ३।४ भाग है।—बा० रा० स०

भारती वृत्ति–दे०—'नाट्य वृत्ति', चौथी।

भारतेंदु-काल–हिन्दी साहित्यके इतिहासमें १८५० से १९०० ई० तकका समय भारतेन्दु-कालके नामसे अभिहित किया जाता है। प्रभावशाली व्यक्तित्व होनेके कारण और साहित्यक्षेत्रमें नेतृत्व प्रदान करनेके कारण इस कालका नामकरण युगपुरुष भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके नामके आधारपर किया जाता है। प्राचीनसे नवीनके संक्रमण-कालमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतवासियोंकी नवोदित आकांक्षाओं और राष्ट्रीयताके प्रतीक थे, वे भारतीय नवोत्थानके एक अग्रदूत थे। मध्ययुगीन पौराणिक वातावरणसे जीवन और साहित्यको बाहर निकालकर उन्हें आधुनिक रूप प्रदान करनेकी उन्होंने सतत चेष्टा की। भाषा, भाव, साहित्यिक रूप आदिकी दृष्टिसे उन्होंने गद्य और काव्य, दोनों क्षेत्रोंमें हिन्दीभाषियोंका नेतृत्व किया। उनके व्यक्तित्वका प्रतिबिम्ब अन्य कवियों और लेखकोंकी रचनाओंमें बराबर मिलता है। अत इस कालका नाम भारतेन्दु-काल उपयुक्त ही है।

भारतेन्दु-कालमें साहित्यके नये-नये मार्ग खुले। नाटक, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना, समीक्षा, जीवनी, साहित्यिक इतिहास आदिका तथा खड़ीबोली कविताका वपनकाल यही है। गद्य भी पुष्ट होकर अपना स्वरूप स्थिर करने लगा। अनेक नवीन साहित्यिक विषयोंके अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान तथा उपयोगी साहित्यकी रचना भी इस कालमें हुई। हिन्दी साहित्य, जो अबतक वास्तविक जीवनसे अलग पुराने रास्तेपर पड़ा हुआ था, बहुत जल्दी विज्ञान, इतिहास, भूगोल, धर्म, पुराण, जीवनी, उपन्यास, नाटक, अर्थशास्त्र, यात्रा, गणित, राजनीति, गवेषणा-सम्बन्धी आदि नये-नये गम्भीर विषयोंकी ओर पहलेकी अपेक्षा अधिक तीव्र गतिसे प्रवृत्त हुआ। जिन हिन्दी लेखकोंने अपनी चौमुखी प्रतिभाका परिचय देकर यह गद्य-कार्य सम्पन्न किया उनमें राजा लक्ष्मण सिंह (१८२६-१८९६ ई०), राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द (१८२३-१८९५ ई०), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०), श्रीनिवास दास (१८५१-१८८७ ई०), बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४ ई०), प्रतापनारायण मिश्र, १८५६-१८९४ ई०), राधाकृष्ण दास (१८६५-१९०७ ई०), स्वामी दयानन्द (१८२४-१८८३ ई०), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५-१९२३ ई०), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२ ई०), तोताराम वर्मा (१८४७-१९०२ ई०), देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३ ई०) आदिके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु-कालके हिन्दी गद्यके सम्बन्धमें यह स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्धकी अपेक्षा उसका विकास नवोदित राष्ट्रीयता और नवोत्थानकी भावनाके अन्तर्गत हुआ था। इस भावनाने एक ओर जहाँ धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रमें सजीवता एवं सप्राणताका संचार किया, वहाँ दूसरी ओर भाषाके प्रचारके लिए भी लोगोंको प्रेरित किया। आर्यसमाज-आन्दोलन और कांग्रेसकी स्थापनाके फलस्वरूप उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राष्ट्रीयताके साथ-साथ हिन्दी-प्रचारकार्य निरन्तर आगे बढ़ता गया। पत्र-पत्रिकाओंने इस पुनीत कार्यमें भरपूर योग दिया।

भारतेन्दु-कालमें जिस उपन्यास-साहित्यका जन्म हुआ, वह कुछ-कुछ प्राचीन कथाओंके समीप होते हुए भी उनसे भिन्न है, उसपर पश्चिमका प्रभाव है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासोंकी ओर ध्यान दिया। कहा जाता है, 'चन्द्रप्रभा' और 'पूर्णप्रकाश' उपन्यासोंका अनुवाद कराकर उन्होंने उसे स्वय शुद्ध किया। उनके इस कार्यमें किशोरीलाल गोस्वामीने 'त्रिवेणी', 'स्वर्गीय कुसुम', 'हृदयहारिणी', 'लवगलता' आदि, श्रीनिवासदासने 'परीक्षा गुरु', बालकृष्ण भट्टने 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान', देवकीनन्दन खत्रीने 'चन्द्रकान्ता', 'नरेन्द्र' आदि कृतियाँ लिखकर तथा अन्य लेखकों, जैसे, राधाचरण गोस्वामी, गदाधर सिंह, राधाकृष्ण दास, लज्जाराम शर्मा आदिने अनेक ग्रन्थ लिखकर सहयोग प्रदान किया। इस कालकी उपन्यास-कला अपनी प्राथमिक अवस्थामें है। सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और राष्ट्रीय शिक्षा देना इस युगके उपन्यासकारोंका प्रधान उद्देश्य रहता था।

उपन्यास साहित्यकी भाँति नाटक-साहित्यका जन्म भी भारतेन्दु-कालमें हुआ। भारतेन्दुसे पहले हिन्दीमें नाटकोंका एक प्रकारसे अभाव था। उस समय रासलीलाएँ, रामलीलाएँ, पारसी थियेटर आदि ही जनताके मनोरंजनके साधन बने हुए थे। भारतेन्दु तथा अन्य साहित्यिकोंकी दृष्टिमें वे भ्रष्ट थे। हिन्दी-नवोत्थानकी भावनाके अन्तर्गत साहित्यिकोंका ध्यान प्राचीन भारतीय नाट्य साहित्यके अध्ययनसे इस ओर गया। इससे पूर्व महाराज विश्वनाथ सिंह-कृत 'आनन्द रघुनन्दन', बाबू गोपालचन्द्र, उपनाम गिरधरदास-कृत 'नहुष नाटक' और राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा अनूदित 'शकुन्तला नाटक' उल्लेखनीय नाटकीय कृतियाँ मिलती हैं। स्वत हरिश्चन्द्रने 'चन्द्रावली', 'भारत-दुर्दशा' और 'नील देवी' जैसे मौलिक नाटकों और 'विद्यासुन्दर', 'कर्पूरमंजरी', 'मुद्राराक्षस' आदि अनूदित या रूपान्तरित नाटकों और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अन्धेर नगरी' जैसे प्रहसनों तथा 'विषस्य विषमौषधम्' जैसे भाणकी रचना की। उनकी रचनाओंमें या तो ईश्वरोन्मुख प्रेम मिलता है या देशप्रेम मिलता है। अन्य नाटककारोंकी विचारधारा भी भारतेन्दुकी विचारधाराके लगभग समान थी। श्रीनिवासदासने 'रणधीर-प्रेममोहिनी', 'तप्तासंवरण', 'संयोगिता-स्वयंवर', 'दु खिनी बाला', 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप', किशोरी गोस्वामीने 'मयंकमंजरी महानाटक', राव कृष्णदेवशरण सिंहने 'माधुरी रूपक' केशवदास भट्टने 'सज्जाद-सुम्बुल', 'शमशाद-सौसन', देवकीनन्दन त्रिपाठीने 'बैल छ टकेको', 'एक-एकके तीन-तीन', 'स्त्री-चरित्र', 'सैकड़ेमें दस-दस' आदि, विजयानन्द त्रिपाठीने 'महाअन्धेरनगरी' आदि लिखकर भारतेन्दु द्वारा स्थापित नाटकों और प्रहसनोंकी परम्परा आगे बढ़ायी। आत्मोन्नति और देशोन्नतिकी इन लेखकोंमें प्रबल आकांक्षा थी। पारसी थियेटरोंकी निन्दा करते हुए भी उनपर थोड़ा-बहुत पारसीका प्रभाव अवश्य

पाया जाता है। रचना-पद्धतिकी दृष्टिसे उनमें प्राचीन और नवीन (पाश्चात्य) नाट्यशास्त्रके सिद्धान्तोंका समन्वय दृष्टिगोचर होता है, जिसका प्रतिपादन स्वय भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने अपने 'नाटक' नामक ग्रन्थमें किया था। भारतेन्दु-कालमें यदि एक साधु रगमचकी स्थापना भी हो जाती तो यह हिन्दी-भाषियोंका सौभाग्य होता।

भारतेन्दु-कालमें साहित्यिक निबन्धोंकी रचनाकी दृष्टिसे बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्रके नाम उल्लेखनीय हैं, जिनकी रचनाएँ स्वसम्पादित क्रमश 'हिन्दी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' पत्रोंमे प्रकाशित हुई। किन्तु इस कालके निबन्धकारोंके उपादान, विषय-विस्तार और शैली सीमित रही। जीवनी साहित्य बहुत थोड़ा और साधारण कोटिका है। भारतेन्दु, रमाशकर व्यास, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्ण दास, बालमुकुन्द गुप्त, मुशी देवीप्रसाद मुसिफ आदिने जीवनी साहित्यको समृद्ध बनानेमें योगदान दिया।

पत्र-पत्रिकाएँ १८२६ ई०मे युगलकिशोर शुक्ल द्वारा स्थापित परम्पराका विकसित रूप प्रस्तुत करती है। भारतेन्दु-कालका लगभग प्रत्येक प्रसिद्ध लेखक या कवि किसी-न-किसी पत्रका सम्पादक था। पत्रोंमे सुधारवादी आन्दोलनों और निबन्ध-साहित्यको प्रोत्साहन मिला। भारतेन्दु द्वारा सम्पादित 'कविवचनसुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' आदि, बालकृष्ण भट्टद्वारा सम्पादित 'हिन्दी प्रदीप', प्रतापनारायण मिश्र द्वारा सम्पादित 'ब्राह्मण' और 'प्रेमघन' द्वारा सम्पादित 'आनन्दकादम्बिनी' पत्रोंके नाम विशेषत हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं।

समालोचना साहित्यका सम्बन्ध भी कुछ-कुछ पत्रोंसे है। प्रारम्भमें समालोचना केवल पुस्तकपरिचय या समीक्षाके रूपमें रही। १८७७ ई० में श्रीनिवास दासके 'सयोगिता-स्वयवर'की आलोचना की गयी। इसके उपरान्त प्रबन्ध, शास्त्रीय नियम और सिद्धान्त आदिकी परीक्षा भी होने लगी। १८९७ ई० में नागरीप्रचारिणी पत्रिकाके प्रकाशनसे हिन्दी समालोचना-साहित्यकी विशेष वृद्धि हुई और पिछली प्रणालियोंके साथ-साथ नूतन प्रणालियोंका जन्म हुआ।

भारतेन्दु-कालका सूत्रपात होनेके समय हिन्दीकी काव्य-सम्पत्ति प्राचीन ब्रजभाषा कविता थी। यद्यपि आगे चलकर ब्रजभाषा और गौणत खड़ीबोली-काव्यने जीवनकी परिस्थितियोंका अनुसरण किया, तो भी प्राधान्य ब्रजभाषाकी प्राचीन काव्य-शैलीका ही बना रहा। प्राचीन परम्पराके अन्तर्गत भारतेन्दु, द्विजदेव, सरदार, हनुमान, द्विजकवि मन्नालाल, सेवक, रघुराज सिंह, भुवनेश, ललितकिशोरी तथा अनेक अन्य कवियोंने शृगार रस, अलकार, पिंगल, नायक-नायिका-भेद, रामभक्ति, कृष्ण भक्ति, वीर रस, प्रेम आदिसे सम्बन्धित रचनाएँ प्रस्तुत कीं। किन्तु कवियोंको अब कविताका यह प्राचीन आदर्श खटकने लगा था, अत धीरे-धीरे हिन्दी कविताकी नवीन धाराका जन्म हुआ।

नवीन कवितामें यथार्थवाद प्रधान है। वह समकालीन इतिहासको दोनों भुजाओंसे आवृत किये हुए है। नवशिक्षित कवियोंको देशका अध पतन, देशकी रूढ़िप्रियता, पाश्चात्य सभ्यताका अन्धानुकरण, पुलिस और अदालती लोगोंकी लूट खसोट, भारतकी निर्धनता, पारस्परिक कलह आदि बातें देखकर मर्मान्तिक पीड़ा होती थी। नवीन कवितामें देशभक्ति, लोकहित, सामाजिक एवं धार्मिक पुनर्निर्माण, मातृभाषोद्धार, स्वतन्त्रता आदिका स्वर उच्च हुआ। उसमें राजनीतिक चेतना है और अँग्रेजोंकी साम्राज्यवादी नीति, आर्थिक शोषण, काले-गोरेका भेदभाव आदिका विरोध है। इस कार्यमें नवशिक्षित मध्यम-वर्गका विशेष योग था। भारतेन्दु-कालकी काव्यगत राजनीतिक चेतना देशप्रेमका सन्देश देती है। भारतके दु ख-दारिद्र्यपर सन्ताप प्रकट करती है। शासन-सम्बन्धी सुधारों और जनसत्तात्मक प्रणालीकी माँग करती है। अन्तमें पारस्परिक भेदभाव भूलकर भारतवासियोंको स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिए सघटित होनेकी प्रेरणा प्रदान करती है। इस कालकी कविताके प्रकृति-वर्णनमें भी शैलीगत परिवर्तन होता है। काव्यकी भाषाके रूपमें ब्रजभाषाका प्राधान्य रहा, यद्यपि भारतेन्दुकी मृत्युके बाद खड़ीबोलीने काव्यके क्षेत्रमें पदार्पण करना शुरू कर दिया था। हिन्दी कवितामे जन-शैलीका प्रादुर्भाव भी इसी समय हुआ। भारतेन्दु-कालमें हिन्दी काव्य नवीन क्षेत्रों और विषयोंसे प्रभावित हुआ दृष्टिगोचर होता है। ज्ञान-सचयकी प्रबल आकाक्षा लेकर और नीर-क्षीर-विवेक ग्रहण कर भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, राधाकृष्ण दास, बालमुकुन्द गुप्त आदिने देशकी मानसिक प्रगति और उसके भावी प्रशस्त जीवनकी आधारशिलाका निर्माण किया। वस्तुत आधुनिकताकी दृष्टिसे भारतेन्दु-कालका ऐतिहासिक और साहित्यिक, दोनों प्रकारका महत्त्व है।

[सहायक ग्रन्थ—आधुनिक हिन्दी-साहित्य लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय] —ल० सा० वा०

भारोपीय—दे०—'भारत-यूरोपीय'।

भाव—भरत(४ श० ई०)ने रस-सम्बन्धी विभाव-अनुभाव आदिकी चर्चाके प्रारम्भमें 'भाव'पर विचार किया है। उन्होंने व्यापक अर्थमें इसकी व्याख्या की है। निश्चय ही उनकी व्याख्याका सन्दर्भ प्रमुखत नाट्य-प्रदर्शन है। भरतने स्वत प्रश्न उठाया है कि ये 'भाव' क्यों कहलाते हैं? क्या ये 'भावयन्ति' (परिव्याप्त) होनेके कारण 'भाव' कहलाते हैं? उत्तरमें कहा गया है—ये भाव इसलिए कहलाते हैं कि अनुभावोंके वाचिक, सात्त्विक, आगिक तथा आहार्य प्रदर्शन द्वारा ये नाटकके अर्थको 'भावयन्ति' अर्थात् व्यजित करते हैं। 'भाव'का अर्थ कारण है, क्योंकि यह भावित, वासित तथा कृतका समानार्थक है और इसकी मूल धातु 'भावय'का अर्थ है परिव्याप्त होना। इस प्रकार जब विभाव तथा अनुभावका अर्थ दर्शकके मनमें परिव्याप्त किया जाता है (गमयते), तो इन्हें 'भाव' कहते हैं (ना०शा० ७ १-२ ३)। वस्तुत भरतके अनुसार मानसिक अवस्थाओंका व्यजक प्रदर्शन ही 'भाव' है। और इसी मौलिक शब्दके आधारपर विभाव (दे०), अनुभाव (दे०) तथा सचारी भाव(दे०)की स्थापना की गयी है।

रसकी चर्चामें भरतने यह प्रश्न भी उठाया है कि रससे भावकी उत्पत्ति सम्भव है या भावसे रसकी? कुछका कथन है कि ये दोनों परस्परके सम्बन्धसे उद्भूत होते हैं, पर भरतने स्पष्ट स्वीकार किया है कि भावोंसे रसोंकी

उत्पत्ति ही सम्भव है। रसोंकी उद्भावना भावोंके प्रदर्शनसे होती है, पर भावोंके पूर्व रसकी कल्पना नहीं की जा सकती है और भावोंके अनुवर्ती रस निश्चय ही होंगे और नाटकीय प्रदर्शनके मध्यमें ये पारस्परिक सम्बन्धके आधारपर व्यंजित होते हैं। भरतने वृक्ष और बीजके दृष्टान्त द्वारा इनके सम्बन्धको स्पष्ट किया है—'वृक्ष बीजसे उत्पन्न होता है और फूल फल वृक्षसे उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार रस सम्पूर्ण भावोंके मूल हैं और इसी प्रकार भाव सम्पूर्ण रसोंके स्रोत हैं।' (ना० शा० ६ ३८)।

आगे चलकर 'भाव'का एक विशिष्ट अर्थ और विकसित हुआ। धनंजय(१० श० ई०)ने आश्रयकी सुख-दुःख आदिक भावस्थितियोंके ज्ञापनको 'भाव' माना है (द० रू० ४ ४)। वस्तुतः धनंजयने आन्तरिक भावस्थितियोंके भावयन(ज्ञापन)को 'भाव' कहा है, जो 'नाट्यशास्त्र'की परम्परामें है। पर रस निष्पत्ति-विषयक विवेचनाके साथ रसकी सीमाओंपर विचार किया गया और इसके साथ रस और भावमें अङ्गाङ्गिक्रमकी स्थिति स्वीकार की गयी। मम्मट(११ श० ई०)ने 'रसध्वनि' और 'भावध्वनि'का अलग अलग विवेचन किया है—'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः' (का० प्र० ४ ३५)। देवादि-विषयक रति आदि - स्थायी भावोंकी वर्णना और व्यभिचारी भावोंकी स्वतन्त्र अभिव्यंजनामें 'भावध्वनि' कही जाती है। इसी बातको विश्वनाथ(१४ श० ई०)ने और स्पष्टताके साथ कहा है—'सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः। उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।' (सा० द० ३ २६०–२६१), अर्थात् जब सञ्चारियोंका वर्णन किसी स्थायीका सहायक न होकर स्वतन्त्र तथा प्रधान होता है, देवादि-विषयक रति तथा उद्बुद्धमात्र स्थायी भावका वर्णन 'भाव' मात्र कहलाता है। रसके आस्वादनमें विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावसे परिपुष्ट स्थायी भाव उद्रेकके सौन्दर्यको प्राप्त करता है, पर इन तीनों स्थितियोंमें आचार्योंके अनुसार रसास्वादनकी यह स्थिति प्राप्त नहीं होती। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने रसाभास, भावाभास आदिपर विचार किया है, पर 'भाव'का स्पष्ट विवेचन कम किया है। देव(१६-१७ श० ई०)ने 'भाव'को भरतके व्यापक अर्थमें धनंजयके आधारपर ग्रहण किया है—'तातें सुख-दुखको सदा रस सिंगारु सिंगार। ताके कारण भाव हैं तिनको करत विचार।' (भाव० स्थायीभाव)। आधुनिक विवेचकोंने संस्कृत आचार्योंके आधारपर 'भाव'पर विचार किया है।

वस्तुतः बादके आचार्योंका यह 'भाव' सम्बन्धी विवेचन बहुत वैज्ञानिक नहीं है। भरतकी स्थिति स्पष्ट है। पर अन्योंकी सीमा इस बातसे स्पष्ट है कि देवादि-विषयक रतिमेंसे भक्ति तथा वात्सल्यको स्वतन्त्र रसकी स्थिति प्राप्त हो सकी है। यदि स्थायी भावके उद्बोधनमात्रमें अथवा व्यभिचारीकी स्वतन्त्र वर्णनामें कविको सफलता मिल सकेगी तो अनेक सन्दर्भोंकी व्यंजनासे मूलतः इनका रसास्वादन ही किया जा सकेगा। आचार्योंने अप्रधान स्थितिके कारण ही इस प्रकारके आस्वादको 'भाव'की संज्ञा दी है जिस प्रकार रसाभास(दे०)में रसके सम्पूर्ण अंगोंके प्रस्तुत रहनेपर भी अनुचित प्रवृत्तिके कारण अपूर्ण परिपाक माना है, जब कि वैज्ञानिक दृष्टिसे यह सत्य नहीं है। रामचन्द्र शुक्लने प्रकृतिके आलम्बनत्वके विषयमें बहुत बल दिया है।

देवता-विषयक रतिके उदाहरणमें सूर तथा तुलसीके विनय-सम्बन्धी पदोंको प्रस्तुत किया जा सकता है—'अबकी राखि लेहु भगवान। हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारधि साधे बान।' (सू० सा०)। तुलसीका गुरु-विषयक रतिका उदा०—'बन्दौं गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।' (रा०च०मा०)। राज-विषयक रतिके उदाहरण रीतिकालीन कवियोंकी आश्रयदाताओंकी प्रशंसामें लिखी गयी कवितामें मिलेंगे—'राखी हिन्दुवानी हिन्दुवानको तिलक राख्यो, अस्मृति पुरान राखे बेद बिधि सुनी मैं।' (भूषण - शि० बा० १८)। इसमें महाराज शिवाजीके विषयमें भूषणका श्रद्धा-भाव व्यंजित है।

उद्बुद्धमात्र स्थायी भावके उदाहरणमें रामदहिन मिश्रने 'रामचरितमानस'के परशुराम-संवादसे उद्धृत किया है—'कर कुठार मैं अकरुन कोही। आगे अपराधी गुरु द्रोही। उतर न देत छाड़ौं बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे।' (१ . २७५)। इसमें आलम्बन, उद्दीपन और अनुभाव आदिके होते हुए भी क्रोध स्थायीकी पुष्टि नहीं हुई है। बिहारीके इस दोहेमें 'शंका' संचारी प्रधानतया व्यंजित है—'सटपटाति सैं ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि। पावक झर सी झमकिकै, गयी झरोखा झाँकि।' (बि० र० . ६४६)। दे०—'अंगज अलंकार'। —र०

भावक–'भावक'का अर्थ है काव्यका अधिकारी पाठक। संस्कृत काव्य-शास्त्रमें 'भावक'के पर्यायके रूपमें 'सहृदय' शब्दका भी व्यवहार किया गया है। राजशेखरने अपने कविशिक्षा (दे०) सम्बन्धी ग्रन्थमें चार प्रकारके भावक बताये हैं–आरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी तथा तत्त्वाभिनिवेशी (का० मी० : अ० ४)। **आरोचकी**का अर्थ है वस्तुओंके भले-बुरेको पहचानकर उनका सेवन करनेवाला, लक्षणासे इसका अर्थ हुआ 'विवेकी'। **सतृणाभ्यवहारी**का अर्थ है कूड़ा-कबाड़ सब कुछ खा जानेवाला, लक्षणासे इसका अर्थ हुआ 'अविवेकी'। **मत्सरी** वे भावक होते हैं जो ईर्ष्यावश काव्यके गुणोंको जान बूझकर छिपाते हैं, क्योंकि दूसरोंके गुणोंका बखान उनके स्वभावके विरुद्ध बात है। **तत्त्वाभिनिवेशी** वह भावक है जो 'शब्द-गुम्फनका विवेचन करता है, सूक्तियोंसे मुदित होता है, काव्यरसामृतका पान करता है और कविके तात्पर्यको ग्रहण करता है।' (का० मी० : अ० ४)। —स० प्र० ल०

भावकत्व-शक्ति–दे०—'रसनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत।

भावगीति–गीतिकाव्यके लिए वैयक्तिक अनुभूतिकी तीव्रता और सर्गात्मक आवेशकी अपेक्षा स्वीकृत की गयी है। गीतिकाव्य पाण्डित्य और अतिबौद्धिकताका भार वहन नहीं कर सकता, यद्यपि विचार-प्रधान और बौद्धिकता मूल गीतियाँ होती हैं। गीतिमें भावोन्मेषके बौद्धिक चेतनासमर्की ओर गति रहती है। 'भाव' शब्दके कई अर्थ हैं–स्थायी भाव, अर्थात् मानवीय वासनात्मक संस्कार अथवा प्रबन्धमें निर्दिष्ट

मूल भाव, सचारी भाव अर्थात् मूल भावसे सम्बद्ध क्षणस्थायी भाव एवं अस्फुट रस। देवादि-विषयक रतिको साहित्य-शास्त्रमें भाव माना गया है। काव्य-विषयको भी 'भाव'की संज्ञा दी गयी है और इसके आधारपर भाव-पक्ष और कला-पक्षकी कल्पनाएँ की गयी हैं। 'भावगीति' जैसे अभिधानमें भावका अर्थ भावनोत्कर्ष और मानसिक उद्वेग है, अत इन्हें कल्पनात्मक बिम्बता देनेवाली गीति रचना भावगीति कही जाती है। जीवनके हास अश्रु, विषादोल्लास, उन्मादोद्वेग सहज भावसे अबाधित रूपमें अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकारकी गीतियोंके कई वर्ग हैं—शृंगारिक, भक्तिपरक, वीर-गाथात्मक। शृगारिक भावगीतियोंमें सयोग-वियोगजन्य भावानुभूतियोंकी विवृत्ति रहती है। कबीरके पदोंमें सयोग और वियोगके गीत हैं। विप्रलम्भका एक रूप **उपालम्भ-गीति** है जिसका आदर्श सूर-कृत **भ्रमरगीत**मे है। **व्यंग्यगीतों**के भी वहाँ उदाहरण हैं। 'निस दिन बरसत नैन हमारे'में विषाद और उद्वेगकी अभिव्यक्ति हुई है। **प्रणयगीत** शृगारात्मक गीतोंका एक विभेद है, जिसमें प्रणयकी याचना रहती है। 'बाला आओ हमारे गेह रे'में प्रणययाचनाका रूप है। सूरके राधाकृष्ण-विषयक पदोंमें प्रणय सम्बन्धी अधिकाधिक पद हैं। मानवती राधिकाके मान और मानभग सम्बन्धी पद इसी कोटिमें आयेंगे। 'प्रसाद'-कृत 'तुम कनक किरणके अन्तरालसे' शीर्षक गीति भी इसी वर्गकी है।

प्रेमगीतिके दो भेद हैं—लौकिक और आध्यात्मिक, यद्यपि आध्यात्मिक प्रेमकी सज्ञा भक्ति दी गयी है। भक्ति और आध्यात्मिक प्रेममें फिर भी अन्तर है। **प्रणयगीति**की पूर्ण परिणति प्रेमगीतिमें देख पड़ती है। विरह और मिलन, दोनोंके रूप प्रेममें मिलते हैं। कबीरमें 'गगन गरज बरसै अमी'में मिलनकी अखण्डता अभिव्यक्त है और अखण्डित मिलन ही सूरके 'राधामाधव भेंट भई'में है। भावगीतिमें उन्माद, उच्छ्वास, आवेग, दीप्ति, चिन्ता और विषादकी उच्छ्वसित और उच्छृखल धारा रहती है। 'प्रसाद'-कृत 'आँसू'(प्रथम संस्करण)में यह धारा है। मीरोंके पदोंमें भी तरल उच्छ्वास है। प्रेमगीतिमें आकुल उच्छ्वासके स्थानमें सचेत आस्था और आश्वस्त अटिगता रहती है।

गीतिविधानमें भावगीतिकी ही प्रधानता है, क्योंकि गीतिकाव्यमें भावात्मक सस्पर्शको ही वाणी दी जाती है। वस्तुतथ्यसे भिन्न भाव-सत्यकी ही इसमें अभिव्यक्ति होती है। अत्यन्त आधुनिक कालमें विचारप्रधान गीत लिखे जा रहे हैं। यद्यपि सन्त-साहित्यमें भी सिद्धान्तोंका निरूपण है, किन्तु उन निरूपणोंमें भावात्मक सस्पर्श निहित है। साहित्यमें नव रसोंके नव स्थायी भाव प्रसिद्ध हैं—रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, भय, शोक, विस्मय और शम। वात्सल्य और भक्तिकी रसात्मकता सिद्ध होनेपर बाल-रति और इष्टदेव-विषयक रतिको भी स्थायिभावत्व मिला। भावगीतिमें इन भावोंको अभिव्यक्ति मिली है। रतिके विभिन्न रूपोंके आधारपर विभिन्न वर्गोंकी कल्पना की जाती है। मानव-रति-विषयक रचनाओंमें विरह और मिलनके भाव रहते हैं और इन्हें शृगारिक गीति कहते हैं। इनका आध्यात्मिक सयोजन भक्तिका मूल तत्त्व है, जिसके दास्य, सख्य, वत्सल और मधुरादि भेदोंकी कल्पना होती है। अत भावगीतिके दो व्यापक वर्ग हुए—लौकिक और आध्यात्मिक। विभावोंके वर्णन द्वारा भी भावात्मक अभिव्यक्ति होती है। गीतिकाव्यका प्रकृत रूप भावगीतियोंमें ही प्रकट होता है। —रा० खे० पा०

भावतादात्म्य–दे०—'अनुभूति'।

भावनाट्य–भावनाट्यको अँग्रेजीमें **मेलोड्रामा** कहते हैं। मेलोड्रामा यूनानी भाषाके दो शब्दोंसे मिलकर बना है, जिनके क्रमश अर्थ हैं गीत एव नाटक।

रूसोने भावनाट्यकी परिभाषा इस प्रकार की है—'भावनाट्य वह आलकारिक रचना है, जिसके साथ सगीत हो।' इसका प्रारम्भ इटलीमें प्राचीन यूनानी नाटकोंके शैली-अनुकरणके फलस्वरूप हुआ। रिननसिनीने सर्वप्रथम १५९९ में 'डैफ्ने' नामक भावनाट्य लिखा जिसके सगीतके प्रस्तुतकर्ता थे जे० पिएरी और कैक्सिनी। इसके लगभग १०० वर्ष बादतक भावनाट्य तथा गीति-नाट्यके बीच कोई अन्तर नहीं समझा जाता था। १७७५ में रूसोने 'पिगमेलियन' लिखा जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। इस भावनाट्यका पात्र गैलेशियाकी प्रतिमाको सम्बोन्धित करके **एकपात्रीय अभिनय** करता है और अन्तमें प्रतिमा सजीव होकर उसकी बाहोंमें आ जाती है। बहुतसे नाट्यकारोंने पात्रोंकी सख्या एव सवाद बढ़ाकर अनेक भावनाट्य लिखे और सगीतको अधिक महत्त्व दिया। बीस वर्षके भीतर ही भावनाट्य रोमाचकारी घटना, तीव्र भाव-बोध एव सुखद अन्तसे युक्त नाटकके एक प्रमुख भेदके रूपमें प्रतिष्ठित हो गया। अधिकाश भावनाट्योंमें नाटकीय कार्योंकी व्यजना-में वाद्य-वृन्द (आर्केस्ट्रा) सगीतसे सहायता ली जाती थी, उदाहरणके लिए, शोककी व्यजनाके लिए कोमल सगीत बजता था। विषय-वस्तुके सम्बन्धमें भी कोई बन्धन नहीं रह गया। काल्पनिक एव यथार्थवादी, दोनों ही प्रकारके विषयोंपर भावनाट्य लिखे गये। अनेक उपन्यासोंको भी भावनाट्य बनाकर उन्हें रगमचपर अभिनीत किया गया। भावनाट्यों द्वारा नाट्य-कलाकी बहुत उन्नति हुई, क्योंकि इसकी शैलीको उच्च कोटिके कलाकारों(ह्यूगो, ड्यूमा इत्यादि)ने अपनाया। भावनाट्योंमें अभिनयका विशेष महत्त्व है। अभिनेताओंका सम्पूर्ण कुशलताके साथ अभिनय करना अभीष्ट है। भावनाट्योंका सम्बन्ध हृदयसे अधिक है, मस्तिष्कसे कम। इसमें उच्च कोटिकी साहित्यकला भी बहुत कम मिलती है। प्रतीकात्मक एव व्यजनात्मक भाषाका भी इसमें अपेक्षाकृत कम ध्यान रखा जाता है। बस, तीव्र सवेगात्मकता ही इसकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। हिन्दीमें गोविन्दवल्लभ पन्तके 'वरमाला', 'अन्त पुरका छिद्र', उदयशकर भट्टके 'अम्बर', चतुरसेन शास्त्रीके 'राधाकृष्ण', मुरारिशरणके 'मीराँ' जैसे भावनाट्योंका प्रणयन हुआ मिलता है। विभिन्न पात्रोंके कुल-शीलके साथ प्रधान मनोवृत्तियोंका परिचय तो मिलता ही है, इसके अतिरिक्त कार्य व्यापारकी अधिकताके कारण आद्यन्त आकर्षण भी बना रहता है। यहीं नाटकके लक्ष्य फल और साध्य विषयका परिचय भी स्पष्ट प्राप्त हो जाता है।

भावना-व्यापार–दे०–'रसनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत।

भाव-पक्ष—भाव-पक्षसे तात्पर्य साहित्य या काव्यके अन्तरंगसे है, जिसे एक प्रकार कविताकी 'आत्मा' कह सकते हैं। भाव पक्षका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप रसनिष्पत्ति है। भाव रसकोटिपर पहुँचकर ही आस्वाद्य बनते हैं। फलतः, साहित्य या काव्यके अन्तरमें भावकी ही प्रतिष्ठा है। रस-निष्पत्ति मुख्यतः भावनाके परिपोषण और उसके आस्वादनपर अवलम्बित है। मानवीय अन्तःकरणमें अनेक भावनाओंका एक समुद्र सदैव हिल्लोलित है। इस भाव-समुद्रमें अनेकानेक लहरियाँ उठा करती है, परन्तु सभी क्षुद्र और क्षणजीवी भावनाएँ 'रस' नहीं बन पातीं। जो भावना स्थायी, मूलभूत और व्यापक होगी, वही परिपुष्ट होकर रसनिष्पत्तिमें समर्थ होगी। साहित्यके अन्तर्गत स्थायी भावके रूपमें रति, क्रोध, शोक, हास, भय, जुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद और वात्सल्य भावोंकी प्रतिष्ठा है, जो रस-स्थितिपर पहुँचकर क्रमशः शृंगार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त और वात्सल्यका रूप धारण करते हैं। स्थायी भावको रसकी स्थितितक ले जानेमें प्रमुख (या रसके अंग) आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी (व्यभिचारी) भाव हैं। जैसे-जैसे हम नवीन युगमें प्रवेश करते हैं, वैसे-वैसे रसके सम्बन्धमें हमारा दृष्टिकोण बदलता जाता है। मानस शास्त्रके आविर्भाव और विकासने रस व्यवस्थाको अपूर्ण सिद्ध कर दिया और 'नवरस'के बाद भी कुछ अन्य रसोंकी कल्पना हुई। साथ ही गीतिकाव्यकी प्रधानताके कारण रसदृष्टिमें भी अन्तर पड़ा, क्योंकि 'गीति'में रसके समस्त अवयवोंकी समाहृति सम्भव नहीं है। गीति-काव्यमें रस केवल व्यंजित ही हो सकता है। अनेक गीतोंमें केवल उद्दीपन अथवा अनुभाव अथवा संचारी भाव वर्णित है। ऐसी स्थितिमें या तो 'रस'को व्यंजित माना जाये या भाव-संवेदनको ही काव्यकी परिणति समझ लिया जाये। आधुनिक मनोविज्ञानने 'रस' सम्बन्धी हमारी मान्यताको बेतरह झकझोरा है, क्योंकि वह किसी भी लोकोत्तर तत्त्वमें आस्था नहीं रखता। उसके अनुसार काव्य-पाठ या काव्य-श्रवणसे मनमें एक 'वृत्ति' (ऐटीट्यूट)का जन्म होता है, जिसे 'रस' कह दिया गया है। यह वृत्ति रसिकके मनमें पहलेसे ही तैयार होती है और उसीके अनुसार वह काव्यसे रस ग्रहण करता है। काव्यगत शोक रसिकके लिए हर्षका विषय बन जाता है, क्योंकि शोकके विषयमें उसकी एक अपनी कल्पना है। उसके अनुरूप जीवन-स्थिति या काव्य-स्थितिसे उसमें तादृशी भावनाका जन्म होता है, जो सुखका कारण होती है। जहाँ रसिककी मनःकल्पनाके विपरीत काव्यगत कल्पना सामने आती है वहाँ तद्विरोधी कल्पना उद्दीप्त होती है, जिनसे संघर्षमूलक प्रक्षोभका जन्म होता है। फलतः नये साहित्यमें प्रक्षोभ ही संवेद्य बन गया है।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि कवि अपने मनकी भावना अथवा कल्पनासे वाचक या श्रोताको आक्रान्त करता है और उसे नयी दृष्टि देता है। भौतिक सृष्टिमें मन अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंका इन्द्रजाल है, परन्तु कवि उनमें कुछ विशिष्ट क्षणोंकी मनःस्थिति, वातावरण, भावना, कल्पना, सुख-दुःख लेकर अनेक मनोंको संक्रान्त करता है। कलाको संसर्गकारण और संस्कारक्षम कहा गया है, इसीलिए कि कलाके माध्यमसे कलाकारके मनके विशिष्ट क्षण पाठक या श्रोताके विशिष्ट क्षण बन जाते हैं। कवि अपनी चित्त-वृत्ति व्यक्त करनेके लिए अनेक विषयों, प्रसंगों, व्यक्तियों और वातावरणोंका उपयोग करता है। इन विशिष्ट प्रसंगों, चरित्रों एवं वातावरण सन्दर्भोंसे पाठक या श्रोतामें वह विशिष्ट वृत्ति निर्मित होती है, जिसे 'रस' कहते हैं। इसी दृष्टिसे काव्य-विषयका महत्त्व है। वह रसोद्रेक या भावोद्रेकका साधनमात्र है। प्राचीन काव्यमें मानव-जीवनकी अन्य स्थितियों एवं प्रकृतिके अनेक रूपोंको ही काव्य-विषय माना गया था, परन्तु आज काव्य या साहित्यका कोई निश्चित विषय नहीं है। आज कोई भी विषय कवि अथवा साहित्यकारकी रस संवेदनाको छूकर काव्य अथवा साहित्य-का विषय बन सकता है।

काव्यके भाव-पक्षमें एक अन्य वस्तुका भी अपरिसीम महत्त्व है। वह है कल्पना। कल्पनाका लक्ष्य है अपूर्वत्वकी स्थापना। यहीं कहीं यह अपूर्वत्व चमत्कारका रूप ग्रहण कर लेता है और हीन काव्यकी सृष्टि करता है, परन्तु जहाँ यह भाव-पक्ष या विचार-पक्षको पुष्ट करता है, वहाँ निश्चय ही श्लाघ्य है। श्रेष्ठ-काव्य या श्रेष्ठ साहित्यमें भावना, कल्पना अथवा विचार अन्यतम रीतिसे एकीकृत हो जाते हैं, परन्तु जहाँ ऐसे आदर्श समन्वयकी स्थापना नहीं होती, वहाँ हम काव्यको भावना-प्रधान, कल्पना-प्रधान अथवा विचार-प्रधान मान लेते हैं। काव्यमें विचार-की अपेक्षा भावना या कल्पनाका अधिक महत्त्व है। जहाँ विषयकी सज्जामात्रके लिए कल्पनाका उपयोग होता है वहाँ वह रसाविष्कारमें सफल नहीं होती और कल्पना-मात्र बनकर रह जाती है। परन्तु रसानुकूल सज्जामें कल्पना सहायक ही होती है। उदाहरणके लिए, हम 'मेघदूत'को ले सकते हैं। 'मेघदूत'का हेतु विरह-भावनाका चित्रण है, परन्तु इस विरह-भावनाकी अभिव्यक्तिके लिए कविको मेघों द्वारा यक्षपत्नीको सन्देश पहुँचानेकी कल्पना करनी पड़ी है और इससे विरह-भावनाको मूर्त रूप मिल सका है। 'प्रसाद'के 'आँसू'में इसी भावनाका चित्रण है, परन्तु कल्पनाका सहारा न पाकर वह भावना कुछ अस्पष्ट रह गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि काव्यमें कल्पनाका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्भाव्य, सुसंगत और रसानुकूल कल्पनासे ही काव्यका कलात्मक स्वरूप पुष्ट होता है।

कलात्मक कल्पना और सत्यमें अन्तर हो सकता है, परन्तु कल्पनाको हम मिथ्या नहीं मान सकते, क्योंकि उससे भाव पक्षकी पुष्टि ही होती है। सत्यके दो रूप हैं, एक वस्तु-जागतिक, दूसरा भाव-जागतिक। इन दोनों रूपोंमेंसे कौन अधिक सत्य है, यह कहना असम्भव है। वास्तवमें वस्तु-जगत् और भाव-जगत्में बराबर आदान-प्रदान चला करता है। सत्य और कल्पनाके मिश्रणमें ही कलाकी स्थिति है। व्यावहारिक जीवनके तथ्यों, घटनाओं, अनुमानों इत्यादिमें एक संगति लाना ही कल्पनाका काम है। इस प्रकार सम्भाव्य और संगति (साम्य)के आधारपर कल्पना जिस मनोज्ञ काव्य-मूर्तिका निर्माण करती है वह

कविके भाव-जगत्का सत्य होनेके कारण भ्रामक नहीं कही जा सकती। कल्पना सत्यपर आधारित होनेके कारण ही सार्थक होती है। कवि अपने मनकी भावना या विचारोंके वलिष्ठ आरोपके द्वारा कल्पनानिष्ठ जगत्को वस्तु-जगत्से अधिक वास्तव और ठोस वना लेता है और भौतिक सृष्टिको एक नितान्त अभिनव अर्थ देनेमें समर्थ होता है। अपनी भावना अथवा अपने विचारको सुसज्जित करनेके लिए ही कवि रूपक या प्रतीककी सहायता ग्रहण करता है, परन्तु उसे यह शका नहीं रहती कि इससे सत्यकी हानि होगी। सच तो यह है कि कल्पनाके अन्तर्गत वास्तवकी ही प्रतिष्ठा है और उसके द्वारा ही वास्तव अद्भुत, रसात्मक और सहजग्राह्य बनता है। भावात्मक या विचारात्मक सत्य अद्भुतका स्पर्श पाकर ही लोकोत्तर आनन्दकी सामग्री वनता है और अतिशयोक्तिके माध्यमसे हृदयगत होता है।

रूपक और प्रतीक कल्पनाके दो प्रमुख उपकरण हैं। इनकी योजनासे वस्तु-सत्य प्रभावशील और मनोरम बनता है। अपने मनके आशयको सुस्पष्ट सज्जा देनेके लिए कवि रूपकका आश्रय ग्रहण करता है। रूपकको हम अलकार-मात्र न समझकर पद्धति-विशेष भी मान सकते हैं। प्रकाश-का आधार स्वरूपसाम्य है। उसमें मानवेतर सजीव एवं निर्जीव जगत् मनोमय बनकर मानवीयता प्राप्त करता है। रूपकके परम्परित रूपमें साम्यका एक ही पहलू प्रदर्शित होता है, परन्तु उसके सागरूपक-रूपमें साम्यके एकसे अधिक पार्श्व उद्घाटित होते हैं। जो हो, यह निश्चित है कि भाव बोधका एक अत्यन्त सशक्त रूप 'रूपक-पद्धति' है और उसमें कल्पनाका जो प्रौढ़ और सयत रूप समाविष्ट है, उसकी उपेक्षा करना श्रेष्ठ कविके लिए असम्भव है।

प्रतीकात्मक काव्यमें रूपक जैसे विस्तारकी आवश्यकता नहीं है। सूक्ष्मता और व्यजकता 'प्रतीक'के विशिष्ट गुण हैं। जिस प्रकार ध्वजा जैसी अल्प वस्तु महान् राष्ट्रका प्रतीक बन जाती है, उसी प्रकार छोटी-छोटी वस्तुएँ और घटनाएँ महान् आशयोंकी व्यजना करती हैं। प्रतीककी योजनामें ही कवि-कौशलके दर्शन होते हैं। प्रणयकी उत्कटता दिखलानेके लिए दीप-पतंग जैसे प्रतीक आदिम कालसे चले आते हैं। नये-नये प्रतीकोंकी खोज और पुराने प्रतीकोंका नये सन्दर्भमें उपयोग कविताकी भाव-पक्ष सम्बन्धी वृद्धिके लिए अनिवार्य है। प्रतिमाका अर्थ ही 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षम प्रज्ञा' है और यह अपूर्वता रूपक और प्रतीक-पद्धतिमें स्पष्ट ही झलकती है।

जीवनकी घटनाओं और अनुभूतियोंका पृथक्करण और अपनी विशिष्ट हेतुपूर्तिके लिए उनका स्वतन्त्र रूपसे सयोग कल्पनाका काम है। इसीको कवि-प्रतिभा कहा गया है। वास्तवमें कवि-प्रतिभा और कल्पना साम्यवाची बन गये हैं और 'कल्पना' काव्यका अनिवार्य अग है। अत कल्पनाको हम पृथक्करण-संकलन-शक्ति कह सकते हैं। अनुभूति और स्मृति अनेक उपकरणोंकी कल्पना नये योगायोगोंमें बाँधकर एक अभिनव स्वप्नलोककी सृष्टि करती है, जो वास्तविक जगत्से भी अधिक सुन्दर और चमत्कारक है। विभिन्नताओंमें सगति बिठलाना भी कल्पनाका ही काम है। इस प्रकार उसके द्वारा विग्रहीकरण(इण्टर-प्रिटेशन)की क्रिया भी सम्पादित होती है।

सामान्यत यह विश्वास किया जाता है कि काव्यके प्रमुख तत्त्व भावना और कल्पना हैं और विचार अथवा विद्वत्ता तथा काव्यको परस्पर शत्रु माना जाता है। इसी विरोधके आधारपर गम्भीर और ललित वाङ्मयका विभाजन है और यह कहा जाता है कि बुद्धिमत्ताके विस्तार अथवा सभ्यताके विकासके साथ काव्यका ह्रास होता जाता है। इस प्रकारके अनेक विचार हैं। परन्तु इस समस्त विचार-सरणीमें छोटा मोटा हेत्वाभास है। काव्य विचार-प्रधान नहीं है, परन्तु विचारशून्य भी नहीं है। तर्क और भावना-को दो—अनन्यत विरोधी समझना भ्रान्ति है। यह कहा जाता है कि किसी वस्तुके सम्बन्धमें शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे उसका भावनात्मक आकर्षण लुप्त हो जाता है। यदि यह सिद्धान्त मान लें तो कोई भी ध्वनि-शास्त्रज्ञ सगीत कला प्रवीण नहीं हो सकेगा। भावनात्मकता और तर्कमूलकता मानवीय व्यक्तित्वके दो अग हैं। एक ही व्यक्तिमें दोनोंका विकास सम्भव है। वास्तवमें ये वस्तु-मुखताके दो दृष्टिकोण हैं। शकराचार्य जैसे दार्शनिकने 'सौन्दर्यलहरी'की सृष्टि की है और कालिदास जैसे सौन्दर्य-निष्ठ कविका विचार-पक्ष भी अत्यन्त सजीव एव सबल है। काव्यात्मक दृष्टिकोण मुख्यत भावनात्मक और कल्पना-निष्ठ होनेपर भी विचारसरणीका परित्याग नहीं कर सकता। सच तो यह है कि विचारका अपना सौन्दर्य है और कल्पना एवं भावनाके योगसे उसके सौन्दर्य एव रूप-सघटनमें समृद्धि ही होती है। प्राचीन काव्य-लेखमें शास्त्रीय ज्ञानका विशद योग हुआ है और आजके विज्ञान-युगमें भी उसकी अनिवार्यता स्पष्ट है। आधुनिक काव्यमें विचारका महत्त्व बढा ही है। काव्यको गम्भीरता प्रदान करनेमें अथवा भावनाको स्थिरता देनेमें विचार निरन्तर सहायक हुआ है। काव्य-लेखनके क्षणोंमें भी तर्कयुक्त विचारसरणी सहायक सिद्ध होती है। काव्य-रसिक केवल भावुक प्राणी नहीं है, वह विदग्ध और पण्डित रसिक है। परन्तु यह समझ लेना होगा कि काव्यगत विचार भावना-गर्भित होता है। यह तादात्म्य ही विचारको भाव-पक्षकी चीज बनाता है। काव्यगत विचार तर्क-शुद्धतापर पूरा न उतरनेपर हमें सत्यकी झलक देनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार भाव-पक्षके अन्तर्गत भावना, कल्पना और विचार—तीनोंका विवेचन अपेक्षित है। काव्यके अन्तरगमें इन तीनोंकी समग्रगत समन्वयात्मक प्रतिष्ठा ही वाछनीय है। —रा० भ०

भावप्रधान काव्य—दे०—'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

भावलय—'भावलय'को 'अर्थलय'से पृथक् करना कठिन है, क्योंकि भावात्मकताके कारण ही अर्थ लयान्वित होता है और अर्थलयकी स्थिति उत्पन्न होती है। फिर भी कुछ अन्तर अवश्य किया जा सकता है, क्योंकि भावकी कल्पना विचाररहित अवस्थामें भी की जा सकती है जब कि अर्थमें भाव और विचार, दोनोंकी संश्लिष्टता रहती है। विचारोंसे निरपेक्ष जहाँ शुद्ध भावात्मक धरातलपर लयकी प्रतीति हो वहाँ 'भावलय'की सत्ता मानी जायगी अन्यथा उसे अर्थलय-में ही समाविष्ट करना होगा। —ज० गु०

भाव-विरोध—दे०—'वर्णन-दोष', चौथा ।

भावशवलता—जहाँ एकके पश्चात् एक, इस प्रकार शृंखलाबद्ध क्रमसे अनेक भाव प्रकट हो जायँ अथवा अनेक भावोंका एक साथ मिश्रण दिखाई दे वहाँ भावशवलता मानी जाती है। आगे आनेवाला भाव अपनेसे पिछले भावको मर्दित करता हुआ प्रतीत हो, इसीमें भावशवलताका चमत्कार निहित रहता है और हिन्दीके अनेक आचार्योंने इस विशेषतापर बल दिया है। बेनी प्रवीन—'एक एकको मरदिकै, उपजत भाव अनेक। भावसबलता कहत हैं, जिनकी बुद्धि विवेक ॥' (न० र० त० . पृ० ५५)। पद्माकर—'पूरब पूरबके मरदि होत जहाँ बहु भाव।' (पद्मा० पृ० ७७)। दूलह—'पूर्व पूर्व मर्दिके जहाँ ही बहु भाव होय, तहाँ भावसबलता भाषत गिरा मेरे।' (क० कु० क० : पृ० ७५)। पर भिखारीदासने जो लक्षण दिया है वह इस परम्परासे भिन्न प्रतीत होता है—'बहुत भाव मिलिकै जहाँ प्रगट करैं इक रंग। सबल भाव तासों कहैं, जिनकी बुद्धि उतंग।' (का० नि० ५ ५०)।

यह परिभाषागत अन्तर संस्कृतके आचार्योंमें ही था, जिसकी छाया उक्त उद्धरणोंमें दिखाई देती है। 'रसगंगाधर'-में पण्डितराज जगन्नाथने पूर्वभावको उपमर्दित करते हुए अन्य भावके प्रकट होनेकी पूर्वाचार्यों द्वारा कही हुई बात-को खण्डित करके ऐसी स्थितिके पक्षमें अपना मत दिया जहाँ अनेक भाव-खण्ड रसोंकी तरह मिश्रित होकर विलक्षण आस्वाद प्रदान करते हैं।

इसके किसीका अंग होनेपर 'भावशवलवत्' अलंकार होता है। 'काव्यनिर्णय'में भावशवलताका निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है—'हरि संगति सुख मूल सखी ! ये परपंची गाउँ। तू कहि तौ तजि संक उत ढग बचाइ द्रुत जाउँ।' (५ . ५१)। —ज० गु०

भावशांति—जहाँ पहलेसे वर्तमान किसी भावकी शान्ति चमत्कारपूर्वक सहसा हो जाय वहाँ भावशान्तिकी अवस्था मानी जाती है। दूसरे भावके उदयकी अपेक्षा पूर्वस्थित भावकी शान्ति ही अधिक महत्त्व एवं चामत्कारिक होनी चाहिये, अन्यथा 'भावोदय'की प्रधानताके कारण भावशान्ति-की स्थिति गौण हो जायगी। हिन्दी कवियोंने इसके लक्षण इस प्रकार दिये हैं—बेनी प्रवीन—'भाव जहाँ केहु भावते, तत्क्षण उपसम होइ। भावसान्ति तहँ कहत है, कवि कोविद सब कोइ।' (न० र० त० पृ० ५४)। चिन्तामणि—'उपसम पावै भाव जो भावसान्त सो जान।' (क० कु० क०-त० . पृ० २१४)। भिखारीदास—'भाव सान्ति सो है जहाँ मिटत भाव अन्यास।' (का० नि० . ५ . ५२)। स्पष्ट है कि बेनी प्रवीन और चिन्तामणिने पूर्वाभासके तत्क्षण शमनपर विशेष बल दिया है कि जब कि दासने शमनके अनायास होनेको विशेष महत्त्वपूर्ण माना है।

मतिरामके छन्दकी निम्नलिखित पंक्ति भावशान्तिका एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करती है—'आँखिन ते गिरे आँसुके बूँद सु हास गयो उड़ि हंसकी नाई।' (रसराज)। जब भावशान्ति किसीका अंग होकर आती है तो समाहित अलंकार माना जाता है—'काहूको अँग होत है, जहँ भावनकी सान्ति। समाहितालंकार तह कहै सुकवि बहु भाँति।' (का० नि० . ५ . १६)। (विशेषके लिए दे०—'रसाभास') —ज० गु०

भावसंधि—जिनका उत्कर्ष परस्पर समान रूपमें अवस्थित हो ऐसे दो भावोंके बीचकी स्थितिको भावसन्धि कहा जाता है। इस सन्धिस्थलका चामत्कारिक होना अपेक्षित माना जाता है। आवश्यक नहीं है कि जिन भावोंकी सन्धि हो वे अविरोधी अथवा एक प्रकृतिके ही हों, भिन्न प्रकृतिके विरोधी भावोंके बीच भी भावसन्धि हो सकती है। ऐसे स्थल कभी-कभी अधिक चामत्कारिक भी होते हैं।

कालिदासकी प्रसिद्ध उक्ति 'न ययौ न तस्थौ' भावसन्धि-की अवस्थाको ही द्योतित करती है। बिहारीकी निम्नलिखित उक्ति भी सकोच और स्नेहके भावोंका मिलन व्यक्त करती है—'छुटै न लाज न लालचौ, प्यौ लखि नैहर गेह। सटपटात लोचन खरे, भरे सकोच सनेह ॥' (वि० स०)। नायिकाभेदमें मध्या नायिकाके अनेक उदाहरण इसी रूपमें मिलते हैं।

पंचवटीमें राम-भरत मिलनके अवसरपर लक्ष्मणकी मन स्थितिका चित्रण भावसन्धिका एक उत्कृष्ट उदाहरण है—'बन्धु सनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब सेवा बस जोरा। मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकवि लखन मनकी गति भनई।' (अयोध्याकाण्ड)। यद्यपि आगे स्वाभिमान विजयी होता है, पर यहाँ भावसन्धि ही है।

एकका किसीका अंग हो जानेपर (भावसन्धिवत्) अलंकार माना जाता है। (विशेषके लिए दे०—'रसाभास')—ज० गु०

भावाभास—भावाभासकी स्थिति रसाभासके ही समानान्तर मानी गयी है और आचार्योंने प्राय: दोनोंका निरूपण साथ-साथ किया है। रसकी अपेक्षा भाव सीमित अनुभवको व्यक्त करता है। अत भावाभासकी व्याप्ति भी रसाभासकी तुलनामें सीमित रहती है। अनौचित्य ही भावाभासका भी कारण होता है। 'साहित्यदर्पण'में भावाभासका लक्षण दिया है—'भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात्' (३ . २६६)। पद्माकर द्वारा दिया गया लक्षण इसीका सवर्धित अनुवाद है—'जु रिपु सराहै सु रिपुको, लज्जा गनिकनि माँहि। कवि पण्डित बर्नन करत, भावाभास तहाँहि ॥' (पद्मा० . पृ० ७५)। हिन्दीके अन्य काव्याचार्यों द्वारा अनुचित स्थलपर भाव-प्रकाशनको भावाभास माना गया है। बेनी प्रवीन—'होत अनूचित सो कछू, क्यहुँ थल भावप्रकास। ताही सौं सब कहत है, कविकुल भावाभास।' (न० र० त० : पृ० ५५)। भिखारीदास—'भाव जु अनुचित ठौर हैं, सोई भावा-भास।' (का० नि० : पृ० ४२)। चिन्तामणि आदिने भी ऐसे ही लक्षण दिये हैं।

कन्हैयालाल पोद्दारने अपने 'काव्यकल्पद्रुम'(पृ० २८६ ७)में भावाभासकी स्थितिपर विचार करते हुए लिखा है कि 'व्यभिचारी जबतक किसी रसके पोषक रहते हैं, तबतक वे व्यभिचारी हैं, जब वे प्रधानतासे प्रतीत होते हुए भाव-अवस्थाको प्राप्त होकर दूसरे किसी आभासके अंग हो जाते हैं, तब वे भी भावाभास कहलाते हैं।' इस परिभाषामें अनौचित्यकी अपेक्षा प्रधानतापर अधिक बल दिया गया है।

भावाभास और रसाभास, दोनों अनौचित्यपर आधारित होनेके कारण काव्य-दोषोंसे निकटता रखते दिखाई देते हैं, पर प्राचीन काव्य-शास्त्रमें रसाग बन जानेपर भामह, दण्डी आदिके द्वारा उन्हें 'ऊर्जस्वी' नामसे अलकार-रूपमें ग्रहण किया गया है। यह मान्यता हिन्दीमें भी बनी रही, जैसे, 'कविकुलकण्ठाभरण'में दूलह कविने लिखा है—'जहाँ अनुचितमें प्रवृत्त रस भाव, रसाभास, भावाभास तहाँ ऊर्जसि गनायो है।' मिश्रबन्धुओंने 'ऊर्जस्वी'के दो भेद माने हैं, एक रसाभास सम्बन्धी, दूसरा भावाभास सम्बन्धी। (सा० पा० पृ० ४३६ ८)

भावाभासके उदाहरणरूपमें मानसकी निम्नलिखित अर्द्धाली ली जा सकती है—'हुमकि लात तकि कूबर मारा। परि मुँह भरि महि करत चिकारा।' (अयोध्याकाण्ड)। यहाँ आलम्बनके विकलाग होनेसे क्रोधके मूल भावके साथ हासका मिश्रण हो जाता है और परिणामत क्रोध न रहकर भावाभास लगने लगता है।

'काव्यप्रकाश'में मम्मट(१२ श० ई० पूर्वा०)ने अभिधा-मूलक असलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनिके भेदोंका निर्देश करते हुए एक कारिका दी है—'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिर-क्रम'। भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थिति।' (४ २६), अर्थात् शृंगारादि रस, विविध भाव, रसाभास और भावाभास तथा भावशान्ति, भाव-सन्धि, भावोदय एव भाव-शबलता इत्यादि रसवत् आदि अलंकारोंसे भिन्न अलकार्यकी स्थितिमें आते हैं। इस कारिकासे भावाभासकी रस, भाव आदिसे सम्बद्ध अन्य प्रकारोंके बीच सापेक्षिक स्थिति स्पष्ट होती है तथा उसके अलकारसे भिन्न अलकार्य होनेकी पुष्टि भी होती है। —ज० गु०

भाविक–गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अर्थालंकार, जहाँ भूत और भविष्यत् भावों अथवा पदार्थोंका प्रत्यक्षवत् दर्शन किया जाय वहाँ भाविक अलंकार होता है। भावका तात्पर्य हुआ कविका आशय-विशेष, उससे संसृष्ट हुआ भाविक। साहित्य-दर्पणकारने इसकी परिभाषा दी है—'अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यत। यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदा-हृतम्।' (सा० द० ९३ ९४)। यह भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्योंसे स्वीकृत चला आनेवाला अलकार है। भामहने भाविकको व्यापक प्रबन्ध-सौन्दर्य माना है—'प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविन।' (काव्या-लकार ३ ५३) अर्थात् जिसमें भूत और भविष्य प्रत्यक्ष हो जाते हैं। साथ ही उन्होंने इसमें शब्दकी अनुकूलता, अर्थकी विचित्रता और उदात्तता भी अपेक्षित मानी है। रुद्रटकी भाविक सम्बन्धी धारणा किंचित् बदली हुई है, फिर भी 'अत्यद्भुता स्यात्तद्वाचामनाकूल्येन भाविकम्' (का० सा० स० ६ ६)में व्यापक काव्य-गुणकी स्वीकृति है। रुय्यक तथा मम्मटने इसको वाच्य सौन्दर्य अर्थात् अलकारके रूपमें प्रतिष्ठित किया, अतीत और अनागत पदार्थोंका प्रत्यक्षके समान वर्णन (का० प्र० १० ११४)। इसमें प्राचीनोंके आधारपर बढ़ा दिया गया है कि उस पदार्थमें वैचित्र्य भी होना चाहिये। हिन्दीके आचार्योंने प्राय जयदेवके आधारपर इस अलकारका लक्षण दिया है—'जहाँ भयो भावी अरथ, बरनत है परतच्छ।' (ल० ल० ३७४)। भूषण, दास, पद्माकर आदिके लक्षण समान हैं। बिहारीका यह दोहा भूतार्थप्रत्यक्षका उदाहरण है—'यों दलिमलियतु निरदयी, दई कुसुमसौ गातु। करु धरि देखौ धरधरा, अजौ न उरते जातु।' (बि० र० ६५१)। द्वितीय भाविकका उदाहरण मतिरामसे—'जनि चलाइये चलनकी चर्चा स्याम सुजान। मैं देखति हौं वाहि यह बात सुनत बिन प्रान।' (ल० ल० ३७६)। आधुनिक कवियोंमेंसे प्रथम तथा द्वितीय भाविकके क्रमश इसी प्रकार—'अरे मधुर हैं कष्टपूर्ण भी जीवनकी बीती घड़ियाँ। जब नि सम्बल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ।' (महादेवी) अथवा—'हृदयमें खिल उठता तत्काल अधखिले अंगोंका मधुमास। तुम्हारी छविका कर अनुमान, प्रिये प्राणोंकी प्राण।' (पन्त)।

उद्योतकारके अनुसार भाविकमें भूत और भविष्य क्रमश भूत और भविष्यके रूपमें ही निर्दिष्ट होते हैं, अत यह भ्रान्तिमानसे भिन्न है और स्वभावोक्तिसे इस कारण भिन्न है कि जहाँ स्वभावोक्तिमें प्रकृत वस्तुका धर्मवैचित्र्य व्यापक है वहाँ भाविकमें कविका अभिप्राय।—ध० व्र० शा०

भावोदय–जहाँ एक भावका शमन करके दूसरा भाव उदय हो और उसमें ही चमत्कार निहित हो वहाँ भावोदय-की अवस्था होती है। बेनी प्रवीन द्वारा दिया गया इसका लक्षण विशेष स्पष्ट है—'काहू भाव विभावते, भाव उदै जो होइ। ताहीसों सब कहत हैं, भाव उदै कवि लोइ।' (न० र० त० पृ० ५४)। जब यह किसीका अग होता है तो भावोदयवत् अलकार माना जाता है। मैथिलीशरण गुप्तकी निम्नलिखित पंक्तियोंमें विषाद-भावका उदय चामत्कारिक रूपसे होता है, अत यहाँ भावोदय कहा जा सकता है—'विहग समान यदि अम्ब पख पाता मैं। एक ही उड़ानमें तो ऊचे चढ जाता मैं। किन्तु बिना पंखोंके विचार सब रीते हैं। हाय पक्षियोंसे भी मनुष्य गये-बीते हैं।' (यशोधरा)। विशेष दे०—'रसाभास'। —ज० गु०

भावोदय आदि–रसवत् आदिके साथ स्वीकृत अलकारों-का वर्ग। रससे सम्बन्धित इन अलकारोंको रुय्यकने सम्भवत स्वीकृति दी है और बादमें विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित आदिने भी इनका उल्लेख किया है। सामान्यत इनको संस्कृत अथवा हिन्दी, दोनोंमें स्वीकृति नहीं मिल सकी। इनको गुणीभूत व्यग्यके अन्तर्गत ही माना गया है। हिन्दीके प्रमुख आचार्योंमें केवल पद्माकरने रसवत् आदिके साथ इनकी चर्चा भी की है।

विश्वनाथने इनके सम्बन्धमें—'भावस्य चोदये सन्धौ मिश्रत्वे च तदाख्यका' कहकर परिभाषा दी है (सा० द० १० ९७), अर्थात् भावके उदय होनेपर, भावोंकी सन्धि अथवा मिश्रण होनेपर भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता नामक अलकार होते हैं। **भावोदय**—भावका उत्कर्ष जहाँ दूसरे भावका अग हो जाता है, वहाँ यह अलकार होता है—'उदित होत ही भावके, भावोदय पहिचान। सो अँग हुव जहँ औरको, अलकार वह मान।' (पद्मा० ३००)। उदा०—'तन मृग-मदकी बासतें, समुझि अँधेरे माँह। तियहि लाय हिय हरषिकै, ब्रजरसिकनके नाँह।' (वही ३०१)। यहाँ विबोधरूप भावोदय हर्षरूप भावका अंग हो

गया है, अत भावोदय अलंकार है। **भावसन्धि**—भावकी सन्धि जहाँ दूसरे भावका अंग हो जाती है, वहाँ यह अलंकार होता है—'विरुध भाव द्वैकी वहस, भावसन्धि उर आन। होत जु अंग जहँ औरको, अलंकार तहँ मान।' (पद्मा० ३०२)। उदा०—'रही धीर धरि लरि पियहि, रिस उरम न समाति। भरि दृग आसुन ही कह्यो, रमे कहाँ तुम राति।' (वही ३०३)। यहाँ परस्पर विरोधी धृति तथा अमर्षरूप भावसन्धि विषादरूप सचारी भावका अंग अथवा शृंगार रसका अंग हो गया है, अत भावसन्धि अलंकार है। **भावशबलता**—अनेक भावोंकी एक साथ प्रतीति रूप भावशबलता जहाँ अन्य भावका अंग हो वहाँ यह अलंकार होता है—'पूरव-पूरवके मरदि, होत जहाँ बहु भाव। भाव शबलता सो जु अँग, परको भूषन गाव।' (पद्मा० ३०४)। उदा०—'धिक मोहि जु न पियसो मिली, वह विहारकी चोप। हाय कहा5व करौं सखी, गयो न उरते कोप।' (वही ३०५)। यहाँ निर्वेद-स्मृति-चिन्ता आदि भावशबलता अमर्षरूप सचारी भावका अंग अथवा अमर्ष सहित भावशबलता विप्रलम्भ-शृंगार रसका अंग हो गयी है, अत भावशबलता अलंकार माना जा सकता है।—सं०

भाषण कला—इसके लिए वक्तृत्व-कला शब्दका प्रयोग भी किया गया है। भारतीय साहित्यमें इस कलाके सम्बन्धमें विशेष चर्चा नहीं हुई। दे०—'काव्य-लक्षण'। यूरोपमें इस कलाका प्रचार यूनानके प्राचीन गौरव-कालमें अत्यधिक रहा है और यूनानी विचारकोंने इसके विवेचनको शास्त्रकी गरिमा प्रदान की है। पश्चिमका अलंकार-शास्त्र भाषण-शास्त्र(rhetorics)मे विकसित हुआ है। यूनानमें प्लेटोके पूर्व गौर्जियास तथा थ्रेसीमेक्सने वक्तृत्व-कलामें आकर्षण तथा अलंकारोंकी आवश्यकता बतायी थी और वाक्‌शैलीको साधारण बोल-चालके स्तरसे उठानेका प्रयत्न किया। प्लेटोने इस कलाका विरोध किया, क्योंकि उनके अनुसार इस कलाका उपयोग सत्यकी अवहेलनाके लिए किया जाता है। इन्होंने अपनेसे पूर्वके शास्त्रियों द्वारा कहे गये वक्तृत्व-कलाके विभिन्न उपकरणोंकी कटु आलोचना की, जिनमें आवेदन, विवरण, प्रमाण, सम्भाविकता तथा स्वीकृति प्रधान हैं। भरत द्वारा उल्लिखित काव्य-लक्षणों(दे०)मे इनकी समता देखी जा सकती है। प्लेटोने इस कलाके तीन आधार बतलाये हैं—प्रवृत्ति, ज्ञान तथा अभ्यास। वक्तृताके साथ ही इन्होंने गद्य-शैलीमें भी विषय प्रस्तुत करनेमें स्पष्टता, क्रम, तारतम्य तथा सामजस्यके नियमोंकी स्थापना की है। आइसाक्रेटीज(३९२ ई० पू०)ने अपने शास्त्रीय विवेचनमें इस कलाकी स्थापना तार्किकताके क्षेत्रसे दार्शनिक क्षेत्रमें की। इन्होंने भाषण-शास्त्रके मानवीय, राष्ट्रीय, सास्कृतिक तथा साहित्यिक महत्त्वको प्रतिपादित किया। इनके द्वारा यह कला काव्यके समकक्ष मानी गयी। इन्होंने वक्तृत्व तथा गद्य-शैलीपर एक साथ विचार किया है और विषय, औचित्य, भाषा-प्रयोग, अलंकारोंके प्रयोग, छन्दोंकी गति लय आदिके प्रयोगके सम्बन्धमें विवेचन किया है। इन्होंने ही भाषण अथवा वक्तृताके चार अंग—प्राक्कथन, वर्णन, प्रमाण तथा उपसंहार प्रतिपादित किये। अरस्तूने इस कलाका और वैज्ञानिक विवेचन किया। अरस्तूने भी विषयके चयनपर बल दिया है और आइसाक्रेटीजके अंगोंको माना है। इन्होंने शैलीका महत्त्व भी प्रतिपादित किया और माना है कि पहले-पहल कवियोंने भाषण-शैलीकी ओर ध्यान दिया। इन्होंने श्रेष्ठ शैलीके गुण स्पष्टता और औचित्यको माना है। स्पष्टताके लिए वाक्य तथा शब्द-विन्यास और शब्द-चयनका महत्त्व है। शब्दोंका प्रयोग सर्वजन सुलभ होना चाहिये। परन्तु अप्रचलित प्रयोग वर्जित नहीं है। वक्ता वक्तृताको सुन्दर, आकर्षक तथा गौरवान्वित बनानेके लिए अप्रचलित शब्दोंका प्रयोग कर सकता है और इनके द्वारा नवीनता और चमत्कार, दोनोंका विकास भी होगा (एस० पी० खत्री - आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त पृ० ६५)। आलंकारिक प्रयोगोंके द्वारा वक्ता स्पष्टता, सौष्ठव, चमत्कार आदि गुण अपनी वक्तृतामें लाता है। अरस्तूने अलंकारोंके प्रयोगपर महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। उनके अनुसार अलंकार मात्र चमत्कृत करनेवाले प्रयोग नहीं हैं, उनके सौन्दर्यसे मानसिक उल्लास प्राप्त होता है। परन्तु अरस्तूने इनके प्रयोगके सम्बन्धमें सतर्क भी किया है। यदि सौन्दर्यकी अनुभूति देना उद्देश्य है तो अलकारोंका चुनाव जीवनके गौरवित स्तरों और और सौन्दर्य-प्रसारक स्थलोंसे होना चाहिये (वही ' वही)। इस चुनावके लिए आवश्यक है कि अलंकार परिचित हों और विषयसे उनका सहज सम्बन्ध हो। भारतीय दृष्टिके लिए दे०—'अलंकार'।

अन्य अनेक शास्त्रों और कलाओंके समान वक्तृत्व-कला तथा भाषण-शास्त्रका विस्तार तथा विवेचन यूनानके बाद रोममें हुआ और साथ ही उनके एतद्विषयक सिद्धान्तोंका मूलाधार भी यूनानी चिन्तन ही है, पर रोमके विचारकोंने इन्हें रोमीय समाजके उपयुक्त बनानेका प्रयत्न अवश्य किया है। इनमें प्रधान विचारक सिसरो (१०वीं शती) है। रोमके वाग्मियोंने भाषाकी शुद्धतापर बल दिया है और वक्तृतामें लम्बे वाक्यों, द्विरुक्तियों, तुकबन्दियोंसे सतर्क रहनेका आग्रह किया है। इन्होंने अलंकारोंका समुचित प्रयोग वक्तृतामें प्रभावोत्पादकता तथा शालीनता लानेके लिए स्वीकार किया है। सिसरोने वक्तृत्व-कलाको मानवीय विकासके लिए महत्त्वपूर्ण कला माना है। तर्क-चातुर्य तथा शब्दजालको इन्होंने श्रेष्ठ कला नहीं माना है। इन्होंने वक्तृताका सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य प्रभावपूर्ण विषय-विवेचन तथा इसके आधार विचारक्रम, दर्शन तथा मनोविज्ञानका ज्ञान माना है। औचित्य गुणको भाषण-शैलीका प्रधान गुण स्वीकार किया गया है। इन्होंने भाषा सम्बन्धी अनेक प्रयोगोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया है, ध्वनि-सामजस्य, स्वर और व्यंजन-ध्वनिका मधुर प्रयोग, विरोधालकार आदि। सिसरोने वक्तृताओंमें आलंकारिक और प्रभावपूर्ण शब्दों तथा समासोंके प्रयोगका प्रतिपादन किया, जिसे बादके वाग्मियोंने स्वीकार किया है। द्वितीय शतीमें रोमकी भाषण-कलामें समरूपता, शैथिल्य, कृत्रिमता तथा अतिशयोक्तिपूर्ण आलंकारिकता आदि दोष आ गये थे, यद्यपि शास्त्रियोंका आग्रह यूनानी भाषण-शास्त्रको अपनानेका ही था।

अनेक शताब्दियोंके अन्धकारके बाद यूरोपमें १४वीं-

१५वीं शतियोंमें पुनर्जागरण(रेनेसाँ)का युग आया, जिसमें अन्य अनेक दिशाओंके समान भाषण-कलाका नव निर्माण हुआ। पिछले युगोंमें भाषण-कला और शास्त्रमें विशृंखलता आ गयी थी, शब्दाडम्बरके कृत्रिम उपायोंसे प्रभाव उत्पन्न करना मात्र इस कलाका लक्ष्य रह गया था, परन्तु इस युगमें इसका उद्देश्य शिक्षा, प्रबोधन तथा उत्तेजना प्रदान करना माना गया। वक्तृताका प्रधान तत्त्व शैलीको स्वीकार करके भी विचारके महत्त्वको प्रतिपादित किया गया है। विचार शैलीकी आत्मा है। शब्दप्रयोगके औचित्यपर भी बल दिया गया। कहा गया कि वक्तृताको अलकार, विस्तार, कहावतों, उपमाओं, हितोपदेशों और पौराणिक कथाओंसे प्रभावशील बनाया जा सकता है। स्पष्टता तथा संक्षिप्त कथन भाषण-शैलीके प्रधान गुण हैं। अलकारोंके सन्तुलित प्रयोगपर बल दिया गया। पन्द्रहवीं शतीके साहित्यकारोंकी दृष्टिमें भाषण-शास्त्र तथा काव्यमें केवल रूपका अन्तर माना गया है। इसीलिए उसमें अनेक अलकारोंका प्रयोग तथा शब्द जाल स्वीकृत था। १६वीं शतीमें दृष्टिकोण बदला और यूनानी तथा रोमके शास्त्रियोंके सिद्धान्तोंका अनुशीलन अधिक श्रद्धासे किया गया। इस युगमें विषयको भाषणका आधार माना गया, इसे यूनान तथा रोमके शास्त्रियोंने भी स्वीकार किया था। व्यापक ज्ञानकी आवश्यकताकी ओर ध्यान गया तथा शब्दोंके श्रेष्ठ चुनावपर भी बल दिया गया। वक्तृताको देश, काल तथा परिस्थितिके अनुकूल होना चाहिये। इस युगमें विषय और अभिव्यजनाके अभिन्न सम्बन्धको सामान्य रूपसे माना गया, प्रकृतिके सुव्यवस्थित नियमोंके अनुसरणका आग्रह किया गया तथा शैलीके आकर्षणको भी स्वीकृत किया गया। स्पष्ट ही ये सम्पूर्ण सिद्धान्त यूनान तथा रोमके शास्त्रियोंके प्रतिपादित नियमोंसे उद्भूत हैं। इसके बाद भाषण-कलाका विकास और उसका अनुशीलन साहित्यके क्षेत्रसे अधिकाधिक अलग पड़ता गया। १९वीं तथा २०वीं शताब्दीमें भाषण-कलाका क्षेत्र राजनीतिसे अधिकाधिक सम्बद्ध हो गया। परन्तु साथ ही बहुतसे वक्ता साहित्यिक हुए हैं और उनके भाषण उच्च कोटिकी साहित्यिक कृतियोंमें गिने जाते हैं।

हमारे देशमें अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता हो गये हैं। राजनीतिक पराधीनताकी स्थितियों, राष्ट्रीय जीवनके जागरण और उन्नयनने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, विपिनचन्द्र पाल, बालगगाधर तिलक, चित्तरजन दास, मदनमोहन मालवीय, लाजपतराय, राजगोपालाचारी, श्रीनिवास अयगार आदि अनेक कुशल वक्ताओंको जन्म दिया तथा इन वक्ताओंने राष्ट्रीय भावनाके प्रचार-प्रसारमें चिरस्मरणीय योग दिया। इनके भाषणोंमें भाषा और भावसम्बन्धी अनेक विशेषताएँ पायी जाती हैं तथा उनमेंसे अनेकका भाषण-कलाकी दृष्टिसे स्थायी महत्त्व है। सामयिक परिस्थितिके कारण ये अधिकतर अँग्रेजीमें ही हैं, केवल महामना मालवीय अँग्रेजीके ही समान हिन्दीके भी अच्छे वक्ता थे और उनकी वक्तृत्व-कलाकी महात्मा गान्धीतकने प्रशसा की थी। राजनीतिक नेताओंके अतिरिक्त कुछ धार्मिक और सास्कृतिक विचारकोंने भी भाषण-कलाके द्वारा प्रसिद्धि पायी है। उन्नीसवीं शताब्दीमें आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वतीमें अद्भुत वाककुशलता थी और वे वाणीके बलपर ही बहुधा बड़े-बड़े पण्डितोंको परास्त कर देते थे। उनकी विशेषता यह थी कि वे गुजराती होते हुए भी हिन्दीमें बोलते थे। हम उन्हें हिन्दीका प्रथम प्रभावशाली वक्ता कह सकते हैं। स्वामी विवेकानन्दने अपने भाषण-कौशलसे ही देशमें बाहर भी अपनी और अपने देशकी धाक जमायी थी। वर्तमान युगमें सर्वपल्ली राधाकृष्णन् वाणीके वरद पुत्र हैं और उनकी भाषण-कला अद्भुत है।

हिन्दी साहित्यके आधुनिक युगमें गद्यके प्रयोगके साथ उसकी अनेक शैलियोंका विकास हुआ है, जिनमें भाषण-कलाके तत्त्वोंका सन्निवेश है। भारतेन्दु-युगमें आर्यसमाजके आन्दोलनमें हिन्दी गद्य-शैलीके विकासको नयी दिशा मिली। दयानन्दके 'सत्यार्थप्रकाश'की शैलीका प्रधान रूप यही है। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेयके अनुसार 'इससे भाषामें गहनसे गहन विषयोंपर वाद-विवाद करनेकी शक्ति आ गयी। भाव-व्यजनामें भी इससे सहायता मिली और तर्क-शैलीके साथ-साथ भाषामें व्यग्य तथा कटाक्ष करनेकी शक्तिका आविर्भाव हुआ (आधुनिक हिन्दी साहित्य गद्य)। इसी युगमें निबन्ध-लेखनकी परम्पराका जन्म हुआ, जिसका रूप स्वगत भाषण अथवा बातचीतके समान होता है (दे०—'निबध')। निबन्ध-शैलीके भावावेश, भावोत्पादकता, हास्य, व्यग्य तथा विषयका स्वच्छन्द प्रतिपादनपर भाषण कलाका एक अशतक प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालमुकुन्द गुप्त आदि इस युगके निबन्धकारोंने भाषाको व्यापक बनानेकी दृष्टिसे उसे सुगम तथा भाव-वहनके योग्य बनाया, साथ ही भाव-प्रकाशनकी शक्तिसे युक्त भी किया। इनकी भाषा और शैलीमें भाषण-कलाके तत्त्व विद्यमान हैं। अगले द्विवेदी-युगमें भाषा अधिक सयत और परिष्कृत हुई, अतएव इस युगकी गद्य-शैलीमें भाषण कलाके तत्त्वोंका विकास अधिक सम्भव हो सका। निबन्धकारोंमें महावीरप्रसाद द्विवेदीने इसके रोचक कथा-तत्त्वको अपनाया, चन्द्रधर शर्मा गुलेरीने प्रसगगर्भत्वके गुणका विकास किया तथा हास्य-व्यंग्यका आश्रय भी लिया। पूर्ण सिंह तथा गणेशशकर विद्यार्थीमें भाषण-शैलीका भावावेग तथा प्रभावोत्पादकता विशेष रूपसे परिलक्षित है। अन्य लेखकोंमें पद्मसिंह शर्मामें आलकारिकताके साथ भाषाका प्रवाह है, रामचन्द्र शुक्लमें विषयप्रतिपादनकी गम्भीरता, स्पष्टता, औचित्य आदि गुण हैं और ये तत्त्व भाषण कलासे गद्य शैलीमें आये माने जा सकते हैं। इस युगमें धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक नेताओंके भाषण प्रसिद्ध हो चुके थे, स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द, मदनमोहन मालवीय, मोहनचन्द गान्धी आदि ऐसे ही व्यक्तित्व हैं।

वर्तमान युगमें कई निबन्धकार तथा लेखक भाषण-शैलीका समुचित प्रयोग अपनी रचनाओंमें करते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल साकृत्यायन, रामवृक्ष बेनीपुरी आदिके कई निबन्ध और लेख इस शैलीमें लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त अनेक राजनीतिज्ञों, विचारकों तथा साहित्यकारोंके भाषण प्रकाशित भी हो रहे हैं।

भाषणको वक्तृता भी कहते हैं। व्याख्यान, प्रवचन, उपदेश तथा कुछ समानार्थी अँग्रेजी और अरबी-फारसी शब्दोंका प्रयोग भी इसीसे मिलते जुलते अर्थमें होता है। परन्तु भाषण और वक्तृताको भले ही समानार्थी माना जाय, व्याख्यान, प्रवचन और उपदेश भिन्न अभिप्राय व्यक्त करते हैं। व्याख्यानमें किसी विषयका विस्तारके साथ स्पष्टीकरण किया जाता है। उसमें किसी पक्ष-विपक्षका समर्थन या खण्डन अपेक्षित नहीं होता, वरन् प्रस्तुत विषयके सभी आवश्यक पक्षोंपर तटस्थ, किन्तु प्रामाणिक रूपमें तर्कसम्मत विचार प्रकट किये जाते हैं। व्याख्यान वक्ता और श्रोतामें पण्डित और जिज्ञासु अथवा गुरु और शिष्यके सम्बन्धकी भी कल्पना करता है। प्रवचनमें किसी धार्मिक या नीति सम्बन्धी विषयका दृष्टान्तों, उदाहरणों, शास्त्रीय प्रमाणों, उद्धरणों और आख्यानोंसे पुष्ट सरल शैलीमें विशदीकरण किया जाता है। व्याख्यान और प्रवचनमें प्रयोजनका भी अन्तर है। जहाँ व्याख्यान श्रोताओंकी जिज्ञासा शान्त करके उनका ज्ञानवर्धन करता है, वहाँ प्रवचन उन्हें आचरणकी प्रेरणा देता है। उपदेशका प्रयोजन भी यही है और उसका विषय भी धार्मिक और नीति सम्बन्धी होता है। अतः प्रवचन और उपदेश पर्याय कहे जा सकते हैं। परन्तु दोनोंकी शैली और विषय-विवेचनके ढंगमें अन्तर है। प्रवचनकी शैली अधिक स्निग्ध, शान्त और मधुर होती है जब कि उपदेशमें ये गुण भी हो सकते हैं, परन्तु इनके साथ उसमें ओज, आग्रह और आत्मविश्वासपूर्ण दर्प भी न्यूनाधिक मात्रामें आभासित हो जाता है। व्याख्यान, प्रवचन और उपदेश—सभीके लिए प्रस्तुत विषयके सम्यक् ज्ञान और उसे क्रम-व्यवस्थित करनेकी योग्यता, भाषापर पूर्ण अधिकार और विषय, पात्र तथा अवसरके अनुकूल उसके प्रयोग करनेके समुचित अभ्यास तथा अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करनेके लिए श्रोताओंके साथ मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध स्थापित करनेकी प्रज्ञा अपेक्षित होती है। परन्तु भाषा-प्रयोगके ये रूप साधारणतया साहित्यकी परिधिमें नहीं आते, क्योंकि इनके प्रयोजनमें ज्ञान, आचरण और क्रियाकी स्पष्ट स्वीकृति है। भाषण या वक्तृता इनसे भिन्न है। प्रभावकी अपेक्षा उसमें भी होती है और उस भाषणमें श्रोतागण प्रायः विचलित होने लगते हैं, जिसमें वक्ता भाषासौन्दर्य और आलंकारिक वर्णनमें अधिक उलझकर विषयसे बहकने लगता है। लोग 'कैसा कहा'की ही सराहना करते हुए उठते हैं। भाषण करनेकी जन्मजात प्रतिभा होती है, परन्तु वह एक कला है जो अन्य कलाओंकी तरह संस्कार और अभ्याससे परिष्कृत होती है।

[सहायक ग्रन्थ—अरस्तू : रेट्रिक। ब्लेयर ह्यू : रेट्रिक। स्पेन्सर हर्बर्ट : फिलासफी ऑफ स्टाइल। एस० पी० खत्री : आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त।] —र० तथा व्र० व०

भाषाधारा–हिन्दीके आदिकालीन साहित्यको दो शाखाओंमें भाषागत दृष्टिकोणसे विभाजित किया गया है—अपभ्रंश-धारा तथा भाषाधारा। भाषाके अन्तर्गत चारण-साहित्य तथा अन्य समसामयिक आरम्भिक हिन्दीके साहित्यकी गणना होती है।

भाष्य–[भाष्+यत्] (क) साधारण अर्थ—१. वचन, उक्ति, २. कोई व्याख्यान-ग्रन्थ, जैसे, सायणकृत ऋग्वेद-भाष्य, महीधरकृत यजुर्वेद-भाष्य इत्यादि, ३. भाषा-ग्रन्थ [वाजसनेयी प्रातिशाख्य, गृह्यसूत्र तथा हरिवंश और मोनियर विलियम्स], इस अर्थमें 'भाष्य' शब्द 'भाषा'से निकला हुआ प्रतीत होता है। जनभाषा या लोकभाषाके अर्थमें 'भाषा'का हिन्दीमें प्रयोग तो 'भाषा भनिति मोरि मति थोरी' इत्यादिसे स्पष्ट ही है, पर संस्कृतमें भी इसका यह अर्थ प्राचीन प्रतीत होता है। (ख) विशेष अर्थ—१ सूत्र-ग्रन्थोंके विशिष्ट शैलीमें लिखे गये भाष्य, जैसे, शंकराचार्य-कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य, शबरकृत मीमांसा-भाष्य, अष्टाध्यायीका पतंजलि-कृत महाभाष्य इत्यादि। इस शैलीके व्याख्यानमें पहले सूत्र, पदोंका संक्षिप्त सूत्रात्मक वाक्योंमें अर्थ देकर फिर उन वाक्योंके पदोंका भी विशेष व्याख्यान किया जाता है और इस प्रकार समस्त सूत्रार्थ स्पष्ट किया जाता है, जैसा कि 'भाष्य'के निम्नलिखित प्राचीन लक्षणसे ज्ञात होता है—'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।' (ग) हिन्दीमें इसका अर्थ सामान्यतः कोई भी व्याख्यान-ग्रन्थ लिया जाता है। (घ) उपर्युक्त व्यापक अर्थमें इसके पर्याय टीका, व्याख्यान आदि होंगे। (ङ) 'ग' में दिया गया अर्थ व्यापक तथा 'विशिष्ट शैलीका सूत्र-व्याख्यान' अर्थ सीमित है। —आ० प्र० मि०

भुजग–कुण्डलिनी रूपी नागिनका स्वामी। शबरपा इसीलिए साधकको भुजंग कहते हैं— (चर्यापद २८)। —ध० वी० भा०

भुजंगप्रयात–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र'(१६ . ५५)में अप्रमेया नामसे यह छन्द दिया गया है। 'पिंगलसूत्र'(६ . ३८)में लक्षण दिया है। चार यगणोंसे यह वृत्त बनता है (ISS, ISS, ISS, ISS), संस्कृतका प्रचलित छन्द है। 'प्राकृतपैंगलम्' (२ . १२६) तथा हेमचन्द्रके 'छन्दोनुशासन'(२ . १७०)में यही लक्षण है। 'रामचन्द्रिका' (६ : १३), 'सिद्धार्थ' (पृ० ३६), 'साकेत' (पृ० १९६), 'जन्मभूमि'(कामताप्रसाद गुरु)में इस वृत्तका प्रयोग हुआ है। संस्कृतके स्तोत्रोंमें इसका विशेष प्रयोग हुआ, 'मानस'में भी तुलसीने उत्तर-काण्डमें संस्कृत भाषाकी वन्दनामें (नमामीशमीशान निर्वाणरूपम्—रुद्राष्टक) इसी छन्दका प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त चन्द, सुन्दर तथा रघुराजने भी प्रयोग किया है। हिन्दीमें यह छन्द वीर रस तथा प्रार्थनाके लिए प्रयुक्त हुआ है। अपनी विलम्बित गतिके कारण यह इनके लिए उपयुक्त है। वीर रसमें सूदनका प्रयोग—'घमण्डै घने दन्ति घण्टान वारे। उमण्डे मनो सघते मेघ कारे' (सु० च० २ . २ . ७)। आधुनिक साहित्यका उदा०—'कभी आँखसे आँख तेरी लड़ेगी। कभी कण्ठमें व्याहमाला पड़ेगी। कभी चित्तकी ग्रन्थिको खोल कोई। तुझे स्थान देगी, मुझे मान देगी।' (सिद्धार्थ पृ० ३६)। —पु० शु०

भुजंगी–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, भानुके 'छन्दप्रभाकर'(पृ० ११८)में उल्लिखित तीन यगणों और

लघु-गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है (ISS, ISS, ISS, IS), इसके अन्तमें गुरु वर्ण जोड़नेसे भुजगप्रयात बन जाता है। इस छन्दका प्रयोग हिन्दीमें अधिक नहीं हुआ है। मैथिलीशरण गुप्तने 'साकेत' और 'स्वर्गीय संगीत'में इस छन्दका प्रयोग किया है—'यही वाटिका थी, यही थी मही, यही चन्द्र था, चाँदनी थी यही। यही वल्लकी थी मे लिये गोदमें, उसे छेड़ती थी महामोदमें।' (साकेत ९)। —पु० शु०

भुजरियाँ–हरियाली तीजपर व्रज और उसके निकटवर्ती प्रान्तोंमें 'भुजरियाँ' सिरायी जाती हैं। भुजरियाँ स्त्री-गीतोंका एक प्रकार होते हुए भी, गेहूँकी उन बालियोंको भी कहते हैं जो सिरानेके निमित्त, तीजके अवसरपर, फसलकी प्राणप्रतिष्ठाके रूपमें, छोटी टोकनियोंमें उगायी जाती हैं। इन्हें 'फुलरिया', 'धुधिया', 'धैंगा' और 'जवारा' (मालवा) भी कहते हैं। भुजरियाँ बोनेकी प्रथा आठवीं शताब्दीसे प्राचीन प्रतीत होती है। पृथ्वीराज चौहानके कालकी लोक-प्रचलित गाथाके अनुसार चन्द्रवंशी राजा परिमालकी पुत्री चन्द्रावलीको उसकी माता सावनमें झूला झुलानेके लिए बागमें नहीं ले जाती। पृथ्वीराज अपने पुत्र ताहरसे उसका विवाह करना चाहता था। आल्हा-ऊदल उस समय कन्नौजमें थे। ऊदलको स्वप्नमें चन्द्रावलीकी कठिनाईका पता चलता है। वह योगीके वेषमें आकर उसे झूला झूलनेका आश्वासन देता है। पृथ्वीराज ठीक ऐसे ही अवसरकी ताकमें था। अपने सैनिकोंको भेजकर वह चन्द्रावलीका अपहरण करना चाहता है। युद्ध होता है। ताहर चन्द्रावलीको डोलेमें बैठाकर ले जाना चाहता है, तभी ऊदल, इन्दल और लाखन चन्द्रावलीकी रक्षा करके, उसकी भुजरियाँ मनानेकी इच्छा पूर्ण करते हैं। नागपंचमी-को भी 'भुजरियाँ' उगायी जाती हैं। उसे पूजाके पश्चात् 'भुजरियाँ' गाते हुए नदी अथवा तालाब या कूएँमें सिराया जाता है। —श्या० प०

भूचरी–योगशास्त्रके अनुसार समाधि अगकी एक मुद्रा, जिसका निवास नाकमें है और जिसके द्वारा प्राण और अपान वायु, दोनों एकत्र हो जाती हैं–'नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा गन्ध विगन्ध ले उतपनी। गन्ध विगन्ध समोकृतवा, मुद्रा तौ भई भूचरी।' (अष्टमुद्रा, गोरखबानी)—उ०ना०शा०

भूत–दे०—'जगतानुबोध'।

भूदान–गान्धीके सबसे बडे शिष्य विनोबा भावेने गान्धीवादका एक नया प्रयोग आरम्भ किया है, जिसे भूदान-आन्दोलन कहा जाता है। तिलगानामें साम्यवादियोंकी ओरसे जो हिंसात्मक आन्दोलन चला था उसे देखकर विनोबाके मनमें भूदान आन्दोलनका विचार उदित हुआ था। भूदानका अर्थ है स्वेच्छासे भूमिहीनोंके लिए भूमि-प्रदान। दानका अर्थ विनोबा प्रदान या सविभाग (=समान वितरण) ही लेते हैं, दान-पुण्य नहीं। विनोबा एव उनके शिष्य गाँव-गाँव यात्रा कर भू-स्वामियोंसे भूमि प्राप्त करते फिरते हैं। उन्हें इस कार्यमें आशातीत सफलता भी मिल रही है। वे शीघ्र ही अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेनेकी आशा करते हैं।

भूदान-आन्दोलनसे दो महत्त्वपूर्ण शाखायें फूटी हैं—सम्पत्तिदान और ग्रामदान। इसीसे सम्बन्धित जीवनदान भी है। जीवनदानी अपना सम्पूर्ण जीवन विनोबाजी द्वारा चलाये आन्दोलनमें लगा देनेका व्रत लेता है।

इस आन्दोलनकी सफलताके फलस्वरूप विनोबा सर्वोदय-समाजके उदयकी आशा करते हैं। वस्तुत ऐसा विलक्षण, अहिंसात्मक आन्दोलन मानवताने कभी नहीं देखा था। सफल होनेपर यह विश्वको एक नयी ज्योति प्रदान कर सकता है। —ह० ना०

भेदकातिशयोक्ति–दे०—'अतिशयोक्ति', दूसरा भेद।

भोगवाद–दे०—'रसनिष्पत्ति', तीसरा सिद्धान्त।

भोग-व्यापार–दे०—'रसनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत।

भोजकत्व-शक्ति–दे०—'रसनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत।

भोजकी वृत्तियाँ–दे०—'नाट्यवृत्ति', पाँचवीं तथा 'वृत्ति'।

भोजपुरी–बिहारके शाहाबाद जिलेमें भोजपुर परगनेके नामपर इस बोलीका नामकरण हुआ है। पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा बिहारके व्यापक भू-भागमें यह बोली जाती है। साहित्य प्राय नहीं है, पर लोक-साहित्यकी परम्परा समृद्ध है। आधुनिक समयमें सजग रूपसे कुछ साहित्य-प्रणयनकी चेष्टा अवश्य की जा रही है। सामान्यत भोजपुरी प्रदेशकी साहित्यिक भाषा हिन्दी है। मुद्रण आदिके लिए नागरी लिपिका व्यवहार होता है। लिखनेमें कैथीका प्रयोग किया जाता है। भोजपुरीकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंशसे मानी जाती है। —स०

भोज्यभोजक भाव–दे०—'रसनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत।

भौतिकवाद–भौतिकवाद दर्शनका एक प्रस्थान अथवा निकाय (school) है, जिसकी तीन मौलिक मान्यताएँ हैं। प्रथम, यह कि बाह्य जगत् हमारे प्रत्ययों, मानोंका समुच्चयमात्र न होकर एक स्वतन्त्र सत्ता है। दूसरे, यह कि यह कि वह किसी चेतन तत्त्वका परिणाम न होकर भूतों, भौतिक तत्त्वों, जड़ पदार्थों अथवा अचेतन द्रव्योंसे मिलकर बना है और तीसरे, यह कि मनुष्यमें जो चेतना दिखाई देती है, वह भौतिक द्रव्योंका ही परिणाम है।

प्राचीन भौतिकवादके अनुसात ससार अनविच्छेद्य रूपसे परस्पर गुँथी हुई दो चरम सत्ताओंका परिणाम है, जिन्हें भूत (matter) और शक्ति (energy) कहा गया है। किन्तु समसामयिक विज्ञानने अन्तिम रूपमे सिद्ध कर दिया है कि भूत शक्तिसे तत्त्वत भिन्न नहीं है, वह शक्ति-का घनीभूत रूपमात्र है। अत अब शक्ति ही सृष्टिका मौलिक उपादान सिद्ध होती है। अतएव आधुनिक चिन्तकों-की दृष्टिमें 'भौतिकवाद' शब्द पुराना पड़ चुका है।

चेतनाकी व्याख्यामें भौतिकवादी एकमत नहीं। पुराने यान्त्रिक भौतिकवादके अनुसार चेतना शरीरमें उत्पन्न होनेवाला एक नया गुणमात्र है, जब कि उद्भववाद-(epiphenomenalism)के अनुसार भूतोंसे चेतनाकी उत्पत्ति, गुणात्मक परिवर्तनकी प्रक्रियासे, एक स्वतन्त्र द्रव्यके रूपमें होती है। समसामयिक उद्भवमूलक भौतिकवादी (emergent materialist) सी० डी० ब्रॉड तो यहाँतक कहता है कि उद्भूत चेतन तत्त्व–आत्मा–शरीरके

विघटनके बाद भी कुछ कालतक अपना जीवन बनाये रखता है।

कार्ल मार्क्सका भौतिकवाद 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद'-(दे०)के नामसे प्रसिद्ध है।

भारतमें अति प्राचीन चार्वाक-दर्शन भौतिकवादी दर्शन था। आधुनिक भारतमें मार्क्सके ही भौतिकवादका अधिक प्रभाव पड़ा है।

भौतिकवादने साहित्यके क्षेत्रमें 'यथार्थवाद'(दे०)को जन्म दिया है। 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' समाज-शास्त्रके क्षेत्रमें 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' (दे०) तथा वर्गवादके रूपमें अवतीर्ण हुआ, जिसका साहित्यिक रूप 'प्रगतिवाद'(दे०)के नामसे विख्यात है। हिन्दी-साहित्यमें प्रगतिवादी काव्यधारा सन् १९४० ई० से लेकर १९४८ ई० के बीच विशेष रूपमें प्रवाहित हुई। कथा-साहित्यके क्षेत्रमें तो प्रगतिवादका प्रभाव बढ़ता ही जाता है।

[सहायक ग्रन्थ—(१) हिस्टरी ऑफ मैटीरियलिज्म - लैंग, (२) माइण्ड ऐण्ड इट्स प्लेस इन नेचर सी० डी० ब्रॉड] —ह० ना०

भ्रम (Illusion)—भ्रम और भ्रान्तिके विषयमें भारतीय दर्शनमें बहुत विचार हुआ है। रज्जुमें सर्प, शुक्ति या सिकतामें रजतके आभासके उदाहरण तथा उनका दार्शनिक महत्त्व सुपरिचित है। आधुनिक मनोविज्ञानकी दृष्टिमें भ्रम या भ्रान्ति किसी वस्तु अथवा स्थितिका मिथ्या अथवा दोषपूर्ण प्रत्यक्ष है। कुछ भ्रम मानवमात्रको होते हैं, जैसे, सीधी छड़ी पानीमें डुबोनेपर तिरछी प्रतीत होती है, रेलकी समानान्तर पटरियाँ आगे चलकर मिलती नजर आती हैं, उदित होता हुआ सूर्य किंचित् अण्डाकार लगता है। इसी प्रकार ज्यामितीय भ्रमोंमें समान लम्बाईकी रेखाएं छोटी-बड़ी, समानान्तर रेखाएँ असमानान्तर प्रतीत होती हैं। इनके अतिरिक्त दैनन्दिन जीवनमें घटित होनेवाले भ्रम भी होते हैं। धुँधले प्रकाशमें वस्तुएँ कुछकी कुछ लगने लगती हैं। गहन अन्धकारमें सड़कके किनारे पेड़का ठूँठ भूत या डाकू लग सकता है। ईर्ष्या, द्वेष अथवा सन्देह और पूर्वाग्रहोंसे आक्रान्त व्यक्ति दूसरोंके आचरणका मनमाना अर्थ कर लेता है। ऐसे भ्रम बाह्य स्थिति और अधिकतर व्यक्तिगत उपादानोंपर निर्भर होते हैं। थके होनेकी तथा उद्विग्न अवस्थामें और रोगी होनेपर भ्रान्तियाँ अधिक होने लगती हैं। दरवाजेकी आवाज, चूहोंकी चूँ-चूँ या उछल-कूद, सूखी पत्तियोंकी खड़खड़का व्यक्ति विचित्र अर्थ कर लेता है। सम्बद्ध विचारोंकी शृंखलाओंके उत्तेजित हो जानेसे ऐसा होता है। (दे०-'विभ्रम')।—आ०रा०शा०

भ्रमर—भ्रमरकी मकरन्द-प्रियताके कारण कवियोंने कभी-कभी इसको उस चंचलमन रसिक नायकका उपमान माना है जो केवल एकमें अनुरक्त नहीं रहता। सन्त कवियोंने इसे चंचल मनका प्रतीक माना है जो विषय-रसमें लिप्त होनेके कारण कमलमें बन्दी हो जाता है। कहीं कहीं चक्रोंको **कमल** मानकर साधकके मनको भी भ्रमर बताया गया है। उसी अर्थमें ब्रह्मरन्ध्रको **भ्रमर गुफा** भी कहा गया है। —उ० ज० शा०

भ्रमरगीत—श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्द्धके सतालीसवें अध्यायमें, जहाँ गोपियाँ कृष्णके दूत उद्धवके सम्मुख अत्यन्त प्रेम-विह्वल होकर लोकलाज छोड़कर रोती हुई कृष्णकी चर्चा करती हैं, यह कहा गया है कि एक गोपी किसी भौंरेको अपने निकट गुन-गुन करते देखकर उसे कृष्णका भेजा हुआ दूत मानकर कहने लगी, हे धूर्तके बन्धु मधुकर ! तुम हमारे चरण न छुओ, तुम्हारी मूछोंमें सौतके वक्षस्थलपर विहार करनेवाली मालाका कुंकुम लगा है। मधुपति कृष्ण ही यादवोंकी सभामें उपहास करानेवाले इस प्रसादको धारण करें, हम इसे नहीं चाहते। तुम्हारी और कृष्णकी बन्धुता ठीक ही है, क्योंकि जैसे तुम सुमनोंको रस लेकर छोड़ जाते हो वैसे ही एक बार मोहिनी अधर-सुधा पिलाकर वे भी एकाएक हमको छोड़कर चले गये, (श्लोक ११, १२, १३)। इसके बाद सभी गोपियाँ मधुकरको लक्ष्य करके प्रेमभरे उपालम्भसे कृष्णके कपट-प्रेम, निष्ठुरता, क्रूरता, अकृतज्ञता, अव्यवस्थित चित्त और विरक्तिकी सोदाहरण आलोचना करने लगीं और इस प्रकार विपरीत व्यंजनासे उन्होंने उद्धवके मनपर अपनी कृष्ण-भक्तिकी दृढ़ता और अनन्यताका इतना प्रभाव डाल दिया कि उद्धवने उन्हें संसारमें परम पूजनीय कहकर सराहा। भागवतमें यह प्रसंग उपर्युक्त अध्यायके बारहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक चलता है। इसमें गोपियोंकी तीव्र विरहानुभूति भ्रमरकी अन्योक्तिके सहारे अत्यन्त ललित, हृदयावर्जक और संगीतमय पदोंमें वर्णित है, इसलिए इसे 'भ्रमरगीत' कहा गया है।

भ्रमरगीतकी कल्पना भागवतकारकी अद्भुत काव्य-प्रतिभाकी परिचायक है। वर्ण, गुण, कर्म और स्वभावमें भ्रमर और श्रीकृष्णमें ऐसी समता है कि अन्योक्तिमें अत्यन्त स्वाभाविकता और मार्मिकता आ गयी है। साथ ही, भ्रमरमें दूतत्वका आरोप करके गोपियाँ अपने नुकीले व्यंग्य-वचनोंसे कृष्णके दूत उद्धवको भी लक्ष्य बना लेती हैं। परन्तु इस समस्त प्रसंगमें भागवतकारने गोपियोंके प्रेमको पार्थिवतापर नहीं उतरने दिया। गोपियाँ हरिकी कथाको सर्वनाशिनी—संसारसे पूर्ण वैराग्य उत्पन्न करनेवाली जानकर भी उसमें सर्वभावेन आसक्त हैं और उसे दुरत्याज्य मानती हैं (श्लोक १८)।

भागवतमें वर्णित भ्रमरगीतका प्रसंग उसके पूर्वप्रसंग उद्धव-व्रज-आगमन और उद्धव-सन्देशके साथ प्रायः सभी कृष्णभक्त कवियोंने गीति-पदोंके रूपमें गाया है। सबसे पहले विद्यापतिकी पदावलीमें इस विषयके कुछ पद मिलते हैं, जिनमें विरहिणी राधा मधुकरको सम्बोधित करके कृष्णकी निष्ठुरताका प्रेममय उलाहना देती हैं। परन्तु हिन्दीमें कृष्णकाव्यकी परम्पराके प्रवर्तक सूरदास ही कृष्ण-काव्यके अन्यतम विषय—कदाचित् सर्वाधिक लोकप्रिय विषय—भ्रमरगीत-परम्पराके भी प्रवर्तक हैं। कृष्णलीलाके अन्य प्रसंगोंकी तरह इस प्रसंगको भी उन्होंने 'भागवत'से कथासूत्र लेकर अत्यन्त मौलिक रूपमें अनेक नवीन उद्भावनाओंसे सवलित किया है।

सूरसागरके उद्धवका व्यक्तित्व 'भागवत'के उद्धवसे बहुत भिन्न चित्रित किया गया है। 'भागवत'के उद्धव श्रीकृष्णके प्रिय सखा, साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य, महामतिमान्

वृष्णिवंशीय यादवोंके मान्य मन्त्री हैं। श्रीकृष्ण उन्हें माता-पिताको प्रसन्न करने तथा अपना सन्देश सुनाकर गोपियोंके वियोगरोगको शान्त करनेके लिए व्रज भेजते हैं (भागवत १० पू० ४६.१ २)। 'सूरसागर'के उद्धव भक्ति-मार्गके विरोधी हैं, वे अद्वैतवादी, अहंकारी ज्ञानमार्गी हैं। उनके हृदयमें भक्तिकी सरसता नहीं है। वे योग-साधनमें विश्वास करते हैं। श्रीकृष्ण उनका अहंकार भंग करनेके लिए तथा उन्हें प्रेम-भक्तिकी महत्ता समझानेके लिए गोपियोंके पास भेजते हैं। सूरदासने ज्ञान और योगके अतिरिक्त जप, तप, कर्मकाण्ड आदि भक्तिसे भिन्न सभी मार्गोंका प्रतिनिधित्व उनपर आरोपित किया है। भागवतमें तो उनका रथ और उनकी वेश-भूषा ही कृष्णके सदृश बतायी गयी है, सूरसागरमें उनका रंग भी कृष्ण और भ्रमरकी भाँति काला बताकर भ्रमरपर की गयी अन्योक्तियोंमें कृष्णके साथ उन्हें भी समेटा गया है। वस्तुत: गोपियोंके कटाक्ष कृष्णकी अपेक्षा उद्धवको अधिक लक्ष्य करते हैं।

'सूरसागर'के भ्रमरगीतके दो पक्ष हैं—एक काव्य-पक्ष और दूसरा धार्मिक पक्ष। धार्मिक पक्षकी दृष्टिसे देखनेपर वैष्णव भक्ति आन्दोलनके समयकी धार्मिक अवस्थाका यथातथ्य चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है। मायावाद-अद्वैतवादका आतंक, अनेक लौकिक देवी-देवताओंकी पूजा, शिवाराधनाका विकृत रूप, अलखवादी हठ-योगियोंका पाखण्डपूर्ण धर्माचार, अनधिकारी निर्गुणवादियों द्वारा मिथ्याका प्रचार—इन सबसे भक्ति-धर्मको संघर्ष करना पड़ा था। भ्रमरगीतकी गोपियाँ इस धर्मकी सहजता, समर्थता और सफलताको वचन और प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा प्रमाणित करती हैं। वे निर्गुणका विरोध तो करती दिखायी गयी हैं, परन्तु मूलत: उसका खण्डन करना उन्हें अभीष्ट नहीं है। उनका तात्पर्य यह है कि सगुणके द्वारा ही, उसकी प्रेम भक्तिके साधनसे ही निर्गुण अद्वैतकी सच्ची अनुभूति हो सकती है। भक्तिमार्गमें, जो राजमार्गके समान प्रशस्त है, ज्ञान और कर्मके मार्ग समाहृत हैं, साधन और साध्यकी एकरूपता है। 'सूरसागर'का भ्रमरगीत सूरदासके सामाजिक दृष्टिकोणको स्पष्ट करता है तथा यह प्रमाणित करता है कि वे अपने समयकी परिस्थितिके प्रति कितने जागरूक थे तथा तत्कालीन समस्याओंका समाधान वे किस उपायसे करना चाहते थे।

भ्रमरगीतका यह खण्डन-मण्डनात्मक पक्ष अत्यन्त काव्यमयी शैलीमें उपस्थित किया गया है। सूरदासकी गोपियाँ नीरस दार्शनिक वाद विवादमें नहीं पड़तीं। उनके तर्क हार्दिक वृत्तिपर आधारित हैं, अत: उनकी उक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक बन गयी हैं। भ्रमरगीतके इस धार्मिक पक्षने ही वस्तुत: सूरसागरके इस अंशको श्रेष्ठ संवेदनात्मक व्यंग्य-काव्य बना दिया है। गोपियोंके उपालम्भोंमें सूरदासकी तीव्र संवेदनशीलता, प्रेम भक्तिकी गम्भीरता तथा अभिव्यक्तिकी चरम कलात्मकता प्रकट हुई है। भ्रमरगीतमें व्यंग्य-परिहासके प्रधान विषय हैं—(१) कृष्ण, मधुकर और उद्धव तथा उनके साथ मथुराके सभी व्यक्तियोंमें रंग, रूप, प्रकृति और स्वभावकी समानता तथा कृष्ण वर्णके प्रति गोपियोंका तीव्र अनुराग जो अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनिके द्वारा व्यक्त हुआ है, (२) उद्धवके व्यक्तित्वमें सरलता, गम्भीरता, प्रचण्ड पाण्डित्य और परम आत्मसन्तोषके साथ विनोदवृत्ति, हार्दिकता और सहज बोधवृत्तिका एकान्त अभाव, जिसके कारण उनका पाण्डित्य एक बोझमात्र हो गया है तथा उनकी विद्वत्ता मूर्खताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, (३) निर्गुणकी शून्यता, आधारहीनता और प्रयोजनहीनता तथा इन सबकी श्यामसुन्दरके समक्ष हीनता और उससे असंगति, (४) योग और उद्धवके प्रेम-ज्ञान और योग मार्गकी गोपियोंके गुण-कर्म-स्वभावसे असंगति तथा सामयिक परिस्थितिमें उसकी अनुपयोगिता तथा (५) कुब्जा और कृष्णके विचित्र संयोगकी असंगति और कुब्जा द्वारा गोपियोंके लिए भेजा गया कटाक्षपूर्ण सन्देश। इन विषयोंको लेकर सूरदासने जो अपना अद्भुत काव्य-कौशल दिखाया है, उसकी कदाचित् सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अत्यन्त सूक्ष्म संकेतोंके द्वारा विस्मयकी मधुर व्यंजना करते हुए मानव-मनकी विविध पार्थिव वृत्तियोंको उठाकर आध्यात्मिक स्तरपर पहुँचाते जाते हैं।

'सूरसागर'(सभा)में उद्धवके व्रज-आगमनसे प्रारम्भ होकर उद्धवके मथुरा लौटनेतकके (पद ४०२८से ४७७७तक) साढे सात सौ पदोंके प्रसंगके अन्तर्गत भ्रमरगीतका प्रसंग ४११५ पदसे प्रारम्भ होता है और ४६७०वें पदतक गोपियाँ उसे बीच-बीचमें बराबर उठाती जाती हैं तथा मधुकरको सम्बोधित करके उद्धव और कृष्णपर कटाक्ष करती हुई अपनी विरहजन्य मर्मव्यथा व्यंजित करती हैं।

सूरदासके बाद अष्टछापके एक अन्य कवि नन्ददासने 'भँवरगीत'की रचना की। उसकी छन्द-शैली तो 'सूरसागर'-से ली गयी है, परन्तु उसमें पुष्टिमार्गीय भक्ति सिद्धान्त तथा दार्शनिक पक्ष अधिक मुखर हो गया है। नन्ददास 'भागवत'-की ओर भी अधिक झुकते दिखाई देते हैं। नन्ददासका 'भँवरगीत' अपेक्षाकृत बहुत छोटी रचना है। सूरदासके भ्रमरगीतमें 'भँवरगीत'के आकार-प्रकारके कमसे कम दो प्रसंग पृथक् और स्वतन्त्र रूपमें इंगित किये जा सकते हैं। अष्टछापके अन्य कवियोंने भी भ्रमरगीतके प्रसंगपर पद-रचना की है, परन्तु सम्यक् प्रबन्धके रूपमें किसीका भ्रमरगीत नहीं मिलता। कृष्णदासके रचे हुए भ्रमरगीतका नामोल्लेख अवश्य हुआ है, परन्तु वह रचना प्राप्त नहीं हुई।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि भ्रमरगीत कृष्णकाव्यका अन्यतम लोकप्रिय विषय रहा है और केवल उन कवियोंको छोड़कर जिन्होंने विरह भावको नहीं अपनाया, यथा राधावल्लभीय भक्त-कवि, प्राय: सभी कृष्ण विषयक काव्य-रचना करनेवाले कवियोंने इस प्रसंगपर थोड़ा-बहुत अवश्य लिखा है। रीतिकालमें भी भिन्न वातावरण और काव्यशैलीके साथ भ्रमरगीतका विषय कवियोंको प्रिय रहा और आधुनिक कालतक वह परम्परा चली आयी है। भ्रमरगीत उपालम्भ-काव्यका एक रूप है। हिन्दीमें तो वह उसका अक्षय स्रोत है, अत: उपालम्भ-काव्यके रूपमें उसकी दीर्घ और अखण्डित परम्परा मिलती है। दे०—'उपालम्भ-काव्य'।

—व्र० व०

भ्रमर-गुफा–ब्रह्मरन्ध्र। (दे०—'भ्रमर', 'हठयोग')।

भ्रांतापह्नुति–दे०—'अपह्नुति', चौथा भेद।

भ्रांतिमान–सादृश्यगर्भ, अभेदप्रधान, आरोपमूलक अर्थालकारोंका एक भेद। सर्वप्रथम रुद्रटने औपम्य अलंकारोंमें इसे स्वीकार किया है। मम्मटने इसे 'प्रस्तुतके दर्शनमें, अप्रस्तुतके साथ उसके सादृश्यके कारण, जहाँ अप्रस्तुत-(उपमान)की प्रतीति निरूपित की जाय' ऐसा माना है (का० प्र० . १० : १३२)। परन्तु भ्रान्तिके सौन्दर्यके लिए इसमें सादृश्यके साथ कवि-प्रतिभाका हाथ भी होना चाहिये। रुय्यक तथा विश्वनाथने इसका निर्देश किया है—'सादृश्यहेतुकापि भ्रान्तिर्विच्छित्त्यर्थं कविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते।' (अ० सू०)। जगन्नाथने इसके नामके औचित्यपर प्रश्न उठाया है और कहा है कि यह नाम औपचारिक है, क्योंकि इसमें किसी व्यक्तिके भ्रमकी अभिव्यक्ति होती है। सम्भवतः इसी भावनाके कारण इसके भ्रान्ति और भ्रम नाम भी प्रचलित हुए।

हिन्दीके जसवन्त सिंह, मतिराम, दास तथा पद्माकर आदि आचार्योंने जयदेवके आधारपर केवल नामको लक्षण-रूपमें स्वीकार किया है। भूषणने मम्मट आदिके आधारपर लक्षण दिया है—'आन बातको आनमें, होत जहाँ भ्रम आय। (शि० भू० : ७६)। उदा०—'अन्त मरैंगे चलि जरे, चढ़ि पलासकी डार। फिरि न मरै मिलिहैं अली, ए निरधूम अँगार। (वि० र० ' ३८३) अथवा—'अति सशंकित और सभीत हो, मन कभी यह था अनुमानता। व्रज समूल विनाशको खड़े, यह निशाचर हे नृप कंसके।' (प्रि० प्र०)। भ्रान्ति तथा रूपकका भेद स्पष्ट है, क्योंकि रूपकमें आहार्य ज्ञान (व्यंग्य, काल्पनिक) और भ्रान्तिमें अनाहार्य ज्ञान (स्वाभाविक) रहता है अर्थात् रूपकमें जो उपमेय-उपमानकी एकरूपता रहती है, उसमें दोनोंका बोध अलग-अलग बना रहता है, जब कि भ्रान्तिमें उनकी अलग चेतना नहीं रहती, उपमेयमें उपमानका भ्रम होता है।–र०

मंगल-पाठ–दे०—'नांदी'।

मंजरी (गोपी)–दे०—'गोपी'।

मंजरी सवैया–दे०—'सवैया', वामका पर्याय।

मंडन–दे०—'सखी-कर्म'।

मंडल-चक्र–तन्त्रोंमें मण्डल गुह्य अनुष्ठानोंका एक अंग था और गुह्य साधनाओंमें मण्डल-चक्रके अनुष्ठानोंसे ही साधकको दीक्षा दी जाती थी। बादमें यह भी माना जाने लगा कि उत्तम मण्डल स्वतः तथागत और उनकी शक्तिका युगनद्ध मण्डल है। अनुत्तर-साधनामें यह भी मान लिया गया था कि सहज अथवा अनुत्तरकी उपलब्धिके उपरान्त साधक वाह्य मण्डल-कर्मोंसे विमुक्त होकर स्वयं अपनी कायामें शून्य तथा वज्रका युगनद्ध सम्पन्न कर घरमें ही मण्डल स्थापित करता है। यह मण्डल कर्म पवनके निरोधसे सम्पन्न होता था। सन्तोंने शून्यके साथ मण्डल शब्दका प्रयोग किया है, किन्तु उनका प्रयोग इस शब्दकी तान्त्रिक परम्पराको बहिष्कृत कर केवल परम्परा-निर्वाहके रूपमें ही है। —ध० वी० भा०

मंत्र–[मन्त्रि (चुरादि०) गुप्तभाषणे+अच् (तारानाथकृत शब्दस्तोममहानिधि), घञ् (भानुजीदीक्षितकृत अमरकोष टीका रामाश्रयी) वा।] (क) साधारण अर्थ—१ वैदिक सूक्तों या प्रार्थनाओंकी प्रत्येक इकाई। इसके तीन प्रकार होते हैं—ऋच् अर्थात् ऋग्वेदके मन्त्र जो छन्दोबद्ध हैं और उच्च स्वरसे पाठ करनेके लिए हैं, यजुस् अर्थात् यजुर्वेदके मन्त्र जो गद्यात्मक हैं और निम्न स्वरमें उच्चारण करनेके लिए हैं तथा सामन् अर्थात् सामवेदके मन्त्र जो उच्च स्वरसे गाये जानेके लिए हैं। २. वेदोंका वह भाग जिसके अन्तर्गत संहिताएँ (ऋक्-संहिता, यजु-संहिता तथा साम-संहिता) आती हैं। ये संहिताएँ मन्त्रकाण्ड या मन्त्रभाग कहलाती हैं और वेदोंके ब्राह्मणभागसे भिन्न हैं। ३ गुप्त भाषण। ४ परामर्श, विचार। ५ नीति। (ख) विशेष अर्थ—१ जादू, टोना। २. अभीष्ट देवताकी सिद्धिके लिए तन्त्रोंमें कहे गये गूढ़ात्मक मन्त्र, जैसे, 'ॐ नमः शिवाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इत्यादि। (ग) हिन्दीमें यह शब्द ऋक्, यजु तथा सामके लिए सामूहिक रूपसे भी और पृथक्-पृथक् भी प्रयुक्त होता है। ऊपर भाग (ख)में दिये गये दोनों विशेष अर्थ भी होते हैं। —आ० प्र० मि०

मंत्रयान–बौद्धधर्मका तीसरा यान (मार्ग) मन्त्रयानके नामसे प्रसिद्ध था। इस शब्दका अर्थ अपनेमें ही स्पष्ट है। मन्त्र तथा यान दो शब्दोंसे यह बना हुआ है। वह यान (मार्ग) जिसमें मन्त्रका प्रयोग होता है। 'तत्त्वरत्नावली'में यह कहा गया है कि महायान दर्शनके दो अंग थे—(१) पारमितायान, (२) मन्त्रयान। इसे (पिछले यानको) योगाचार तथा माध्यमिक दर्शन द्वारा वर्णित किया जा सकता है। मन्त्रयान शून्यवादके सूक्ष्म विवेचनको लेकर आरम्भ हुआ था। बुद्ध-धर्म एक असाधारण मत था, जिसके सभी सूक्ष्म दार्शनिक विचारोंको समझनेमें लोग असमर्थ थे, अतएव भिक्षुओंके सामने जनताको निर्वाणका वास्तविक तत्त्व समझानेमें कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगीं। इसी कारणसे उस निर्वाणका नाम शून्य रख दिया गया। जहाँतक बुद्ध वचनके ग्रहण करनेका प्रश्न था, सभी साधक (अनुयायी) उपदेशोंको स्मरण नहीं कर पाते थे तथा उच्चारण करनेमें भी असमर्थ थे। अतएव अर्थरहित कुछ शब्दोंको जनताके सामने रखा गया, जिसके बार-बार उच्चारण करनेसे ही निर्वाणकी प्राप्ति (शून्य) हो सकती थी। उसे 'धरणी'का नाम दिया गया और तत्पश्चात् उसीके छोटे रूपको 'मन्त्र'की संज्ञा दी गयी। यही कारण है कि मन्त्रके मार्गसे मोक्ष-प्राप्ति करनेवाला मत 'मन्त्रयान'के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

पुराने ढंगका विनय तथा ज्ञान-प्राप्तिके मार्ग पूर्वमध्ययुगमें लोगोंको आकर्षित न कर सके, इसीलिए मन्त्र, मुद्रा तथा मण्डल(व्यूहचक्र)का समावेश बुद्ध-धर्ममें किया गया। इस मार्गसे अन्तिम लक्ष्य(निर्वाण)तक पहुँचनेका विश्वास जनतामें जाग्रत् हो उठा। अतः मन्त्र, मुद्रा तथा मण्डलके प्रयोगसे महायानके पश्चात् बुद्ध धर्म मन्त्रयान अथवा साधारणतया तन्त्रयानके नामसे प्रसिद्ध हो गया। मन्त्रयान तन्त्रयानकी पहली सीढ़ी थी, जिसमें महायान (दे०) मतमें प्रचलित पूजा तथा रीतिको अपनाना पड़ा और धीरे-धीरे उसका रूप परिवर्तित हो गया।

यों तो १०० ई० के लगभग नागार्जुनने 'शून्य'-

सिद्धान्तको प्रतिपादित किया था, परन्तु बुद्ध-धर्ममें तन्त्रयान (मन्त्र-तन्त्रका प्रयोग)का समावेश करनेका श्रेय असगको दिया जाता है, जो नागार्जुनके समकालीन थे। उन्हींके महायान 'सूत्रालकार' ग्रन्थमें वासनायुक्त तान्त्रिक विधियोंका उल्लेख पाया जाता है। परन्तु यह कहना कठिन है कि मन्त्रका प्रयोग बुद्ध-धर्ममें किस व्यक्तिने आरम्भ किया। धरणी (धार्यते अनया इति धरणी) यानी गुप्त अक्षरोंके समूहसे ही मन्त्र विकसित हुए थे। बीज मन्त्रकी उत्पत्ति अष्टमाहसिक प्रज्ञापारमितामें पायी जाती है। अत इस आधारपर यह कहना उचित होगा कि मन्त्रका आरम्भ ईसाकी पहली शतीमें अवश्य हो गया था। वसुबन्धुने भी उसी शताब्दीमें 'बोधसत्त्व-भूमि' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि धरणीकी अर्थहीनता ही वास्तविक मन्त्र माना जा सकता है। अर्थहीन मन्त्र ही वास्तविक शक्ति रखते थे, जिनके बल द्वारा साधक लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता था। उस समयके बौद्ध-मन्त्र हिन्दू-तन्त्रसे सर्वथा मिलते जुलते हैं। मन्त्रके साथ मुद्राका भी समावेश इस यानमें किया गया। इस परिस्थितिमें मन्त्र या धरणी अथवा गुप्त रूपसे जादू, मोहिनी मन्त्र तथा इन्द्रजाल आदि कार्योंने बुद्ध-धर्मकी आचार-पद्धतिमें परिवर्तन ला दिया।

मन्त्रयानका कई नामोंसे साहित्यमें उल्लेख मिलता है। जादू, मोहिनी मन्त्र तथा यन्त्रके प्रयोगसे इसका दूसरा नाम तन्त्रयान भी प्रसिद्ध हो गया। पूर्व-मध्ययुगमें जब पालवंशी नरेश पूर्वी भारतमें शासन कर रहे थे, नागार्जुनके 'शून्य'को 'वज्र'का नाम दिया गया। वह लक्ष्य (निर्वाण) वज्रकी तरह अभेदनीय है, उसे नष्ट नहीं किया जा सकता। अतएव उस लक्ष्य वज्रकी प्राप्तिके लिए उपासकोंने अपने पथको वज्रयान(दे०)का नाम दिया। यही मार्ग आगे चलकर कालचक्रयान तथा सहजयानके नामसे विख्यात हुआ। साहित्यके आधारपर यह ज्ञात होता है कि बौद्ध-तन्त्रको तीन श्रेणियोंमें विभाजित किया गया था—वज्रयान, कालचक्रयान तथा सहजयान। वैडेलका कथन है कि १०वीं शतीमें तान्त्रिक आचारका प्रचार उत्तरी भारत, कश्मीर तथा नेपालमें पूर्ण रूपसे हो गया था। मन्त्रयानका तीसरा नाम कालचक्रयान पड़ा, जिस(बुद्धमत)में आदि बुद्धका सिद्धान्त समाविष्ट किया गया। इसमें आदि बुद्ध तथा शक्ति(काली)के मिलनसे संसारकी उत्पत्ति मानी जाती है। आदि बुद्ध ध्यानावस्थित होकर सम्भर या डाकिनी ऐसी भयकर शक्तियोंको पैदा करते हैं। अतएव उस पैशाचिक कार्यकी भयकरताके कारण ही मन्त्रयान कालचक्रयानके नामसे परिवर्तित हो गया, जिसका अर्थ है 'समयका चक्र' या 'नाशका चक्र'। कालको समय, मृत्यु तथा नाशके अर्थमें प्रयोग किया गया था। कालान्तरमें इस यानको सहजयानका भी नाम दिया गया। 'सहज'को 'वज्र' या 'शून्य'के अर्थमें प्रयोग करते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार लक्ष्य(मोक्ष)की प्राप्ति अध्ययन, उपवास, स्नान, मूर्ति-पूजा या नाना प्रकारके आचार अथवा वज्रयानकी क्रियासे नहीं हो सकती। सहजयानमें वज्रयानसे इस रूपमें अन्तर था कि सहज या सत्यकी प्राप्तिके लिए तत्त्वकी दीक्षा तथा योगका अभ्यास आवश्यक समझा जाना था। इस यानमें अन्तिम ध्येयकी प्राप्तिके निमित्त मनुष्य-शक्तियोंपर अनुचित बल देना अनावश्यक समझा गया है और सहजयानवालोंको विश्वास है कि स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ स्वत उस मार्गपर मनुष्यको ले जायँगी। अतएव सहजयानके नामकरण तथा प्रयोगका औचित्य समझा जा सकता है।

महायानके 'शून्यता'के विचारको 'वज्र'की धार्मिक भावना दी गयी। 'वज्र'के साथ 'सत्त्व' यानी चेतनाको सम्मिलित कर मन्त्रयानमें वज्रसत्त्वकी स्थिति घोषित की गयी, जो वज्रयानमें परमदेव माने गये हैं। तन्त्र तथा मन्त्रका उपयोग पूजामें होने लगा। साधनमालामें पुष्प, दीप तथा धूप आदिके प्रयोगका उल्लेख पाया जाता है। धार्मिक भावनाकी जागर्तिके साथ वज्रयानमें नये देवताओं तथा देवियोंकी प्रतिमाएँ निर्मित हुईं। आदि बुद्धको परमब्रह्म मानकर प्रज्ञापारमिताको शक्तिका स्थान दिया गया। वह विश्वशक्ति तथा शक्तिमान्‌के परस्पर मयोगका फल है। पाँच ध्यानी बुद्ध तथा उनकी शक्ति तारासे ससारकी उत्पत्ति समझी जाती है। ध्यानी बुद्ध तथा ताराके मिलनसे ही सारे देवी-देवताओंका अविर्भाव हुआ। वैरोचन, रत्नसम्भव, अभिताभ, अमोघसिद्धि तथा अक्षोभ्य, इन पाँच ध्यानी बुद्धोंके पुरोहित वज्रसत्त्वको भी कलामें स्थान दिया गया। वज्रसत्त्व अधिकतर शक्तिको आलिंगन करते दिखलाये गये हैं, जिसके कारण दोनोंके मिलनको इस मतके अनुयायी 'यवयम'के नामसे पुकारते हैं। मन्त्रयानमें इसको 'भगवान्' भी कहते थे, जो सब जीवोंमें व्याप्त है। इसे हर-गौरीकी प्रतिमाके सदृश मान सकते हैं। प्रत्येक ध्यानी बुद्धका एक परिवार होता है। इस प्रकार कलात्मक उदाहरणोंके अध्ययनसे हजारों देवी-देवताओंकी उत्पत्ति मानी जा सकती है। पाल-युगमें मन्त्रयान (वज्रयान) सम्बन्धी अनगिनत मूर्तियाँ मगधमें बनती रहीं। प्रस्तरके अतिरिक्त धातु-प्रतिमाओंके ढालनेका कार्य भी होता रहा। नालन्दा वज्रयानका प्रधान केन्द्र था, जहाँ प्रतिमाओंके निर्माणमें धीमान् तथा विटापाल नामक कारीगर व्यस्त रहे। मगधसे लेकर बगालतक खोदाईमें निकली मूर्तियाँ अधिकतर वज्रयानसे सम्बद्ध हैं।

वज्रयानका सिद्धान्त तथा जीवन-लक्ष्य महायानसे भिन्न था। जगत्‌की दो शक्तियाँ शिव-शक्ति या पुरुष-प्रकृति आदि शब्द द्वन्द्वके बोधक हैं। शिव-शक्तिका आलिंगन आनन्दका अवसर समझा जाता है, जिसे वज्रयान-(मन्त्रयान)में वज्रसत्त्वकी प्रतिमा द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। वज्रयानमें शिवशक्तिको प्रज्ञा तथा उपायसे व्यक्त किया जाता है, क्योंकि प्रज्ञा तथा उपायका सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है। तन्त्र-ग्रन्थोंमें प्रज्ञाको भगवती, युवती या डोम्बी आदि शब्दोंसे उल्लिखित किया गया है। उपायको स्वामी, पुरुष मानकर ही प्रज्ञोपाय द्वारा ससारको महासुखकी उपलब्धि करायी जाती है।

मन्त्रयान(वज्रयान)का साहित्य तीनों भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशमें पाया जाता है। उस साहित्यको सगीति प्रकारका कहते हैं, जिसमें स्वय बुद्ध द्वारा उपदेश देनेकी बात कही गयी है। तन्त्र-साहित्यका आरम्भ निम्न-लिखित वाक्यसे होता है—'एव मया श्रुत, एकस्मिन् समये

भगवान् सर्वतत्त्वागत काय-वाक-चित्त-हृदय-वज्र-योषितभगेषु विजहार।'

बौद्ध तन्त्र-साहित्यकी उपलब्धि नेपाल तथा तिब्बतसे अधिकतर हुई है, जिसका समुचित प्रकाशन नहीं हो सका है। गुह्यसमाज-तन्त्र, गुह्यसिद्धि, महाकाल-तन्त्र तथा हेवज्र-तन्त्रके नाम लिये जा सकते हैं, जिनके रचयिताओंके विषयमें विशेष ज्ञात नहीं है। चौरासी सिद्धोंमें ऐसे नाम मिलते हैं, जिनके ग्रन्थोंमें वज्रयानी सिद्धान्तोंकी विवेचना मिलती है। चर्यापद (दे०) तथा सरहपाद और कान्हपादके दोहा नामक साहित्यमें अनेक सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है। उदाहरणार्थ, समरस(मिलन)पर दोहा साहित्यमें विवेचन है, जिसकी हिन्दू तन्त्रके सामरस्यके साथ तुलना की जा सकती है। भुसुकपादके एक गानमें योगिनी शक्तिपर विचार किया गया है। चर्यापदमें वज्र-जपका वर्णन आता है। —वा० उ०

मंथान या मंथना—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका भेद; 'प्राकृतपैंगलम्'(२ . ५०)में इसका मन्थान नाम दिया है, इसके प्रत्येक चरणमें तगण २ (SSI, SSI) होते हैं, जिसे भानुने भी माना है। 'वाग्वल्लभ'में मन्थानक नाम दिया गया है। केवल केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'वाणी कही वान; कीन्हीं न सो कान। अद्यापि आनीन, रे वादि कानीन।' (रा० च० ४ ७)।—पु०शु०

मंदाक्रांता—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। हेमचन्द्रके 'छन्दोनुशासन' (२ : २८९) तथा 'पिंगलछन्द सूत्र'-(७ १९)के अनुसार म, भ, न, त, त, ग-गके योगसे यह वृत्त बनता है (SSS, SII, III, SSI, SSI, SS), इस छन्दमें ४, ६, ७ वर्णोंपर यति होती है। कालिदासने मेघदूतमें इस छन्दका आदिम प्रयोग किया था। हरिऔध (प्रि० प्र०, सर्ग ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, १२, १४, १५, १६, १७), अनूप शर्मा (सिद्धार्थ, सर्ग ५, ६, ११, १३, १६) और मैथिलीशरण गुप्त(पत्रावली, पृ० १२-१५)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'प्यारा वृन्दाविपिन उनको आज भी पूर्व-सा है। वे भूले हैं न प्रिय जननी औ न प्यारे पिताको। वैसी ही हैं सुरति करते श्याम गोपांगनाकी। वैसी ही है प्रणय-प्रतिमा बालिका याद आती।' (प्रि० प्र० १४ १६)। यह छन्द अपनी मन्द-मन्थर गतिके कारण वियोग-शृंगारके अनुकूल है। —पु० शु०

मकड़ी—मकड़ीकी भाँति अपनी प्रवृत्तियोंसे ही जगज्जाल बुन लेनेवाला मन—'अवधू यो मन जात है याही तें सब जाणि। मन मकड़ीका ताग ज्यूँ उलटि अपूठो आणि।' (गो० बा०)। परिशुद्ध मनसे उत्पन्न होनेवाले तार(सुरति)से ही परम पदकी प्राप्ति भी मानी जाती है। —उ० ना० श्री०

मकरंद सवैया—दे०—'सवैया', वामका पर्याय।

मगही—मगहीका केन्द्र पटना और गया है। बोलीमें साहित्यका सर्वथा अभाव है। लिखनेके लिए कैथी लिपिका प्रयोग होता है। मगहीकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंशसे है।

मणि—वज्रयानकी केन्द्रीय कल्पना वज्र ही है। वज्र इन्द्रका आयुध है और अश्म तथा मणिके अर्थमें भी प्रयोग होता है। मणियोंको अथर्ववेदमें सुख, समृद्धि, रक्षा आदि-का साधन बताया है। अभीवर्त नामक मणिका उल्लेख मिलता है, जिसे धारण करनेसे इन्द्र दिग्विजयी हुआ था। अनेक साधनाओंमें वज्रका वैभवदाता मणिके रूपमें उल्लेख मिलता है। —य० वी० भा०

मणिपूर—दे०—'हठयोग'।

मति—प्रचलित तैंतीस संचारियोंमें एक। वाग्भट एवं हेमचन्द्रके काव्यानुशासनोंसे ज्ञात होता है कि एक बातका निर्णय कर लेना मति है। भरतकी परिभाषासे यह स्पष्ट नहीं होता कि यह संचारी भावके अन्तर्गत क्योंकर हो सकती है। भरतने मतिके विभाव एवं अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे दिये हैं—अनेक शास्त्रोंके मनन, पक्ष एवं विपक्षका निरीक्षण करनेसे मति उत्पन्न होती है। शिष्योंको उपदेश, विचार एवं संशय दूर करनेसे इसकी अभिव्यक्ति होती है (ना०शा० ७ ८२ ग)। धनंजय एवं रामचन्द्र गुणचन्द्रने यह स्पष्ट कर दिया कि 'भ्रान्तिका नाश' ही मति है। परन्तु 'दशरूपक'में दिये गये उदाहरणसे भी स्पष्ट नहीं होता कि इसकी गणना संचारियोंमें कैसे हो सकती है। धनिकने 'किरातार्जुनीय'के दूसरे सर्गसे वह उदाहरण लिया है, जब युधिष्ठिर कहते हैं कि किसी भी कामको बिना सोचे-समझे नहीं करना चाहिये इत्यादि। यह सामान्य कथन है। अतः विश्वनाथने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'का वह श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें दुष्यन्त शकुन्तलाकी ओर आकृष्ट होनेको अन्तःकरणकी प्रवृत्तिका आश्रय ले उचित मानते हैं। इसी उदाहरणको हेमचन्द्रने भी दिया है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः 'शास्त्रचर्चासे भ्रमनाश'को ही मति संचारी माना है—'शास्त्र चिन्तनाते जहाँ होइ यथारथ ज्ञान। करैं शिष्य उपदेश जहँ, मति कहि ताहि बखान।' (भाव० सचारी०)। देवकी नायिका मनको समझाती है—'ज्यों न निगोडों तबैं समुझौ कवि देव कहा अब जो पहिचानो। धन्य जियैं जगमें जनते जिनको मनमोहनतें मन मानो।' (वही)। रामदहिन मिश्रने विद्यापतिकी इन पंक्तियोंको प्रस्तुत किया है—'अपनहि नागर अपनहि दूत। से अभिसार न जान बहूत। की फल तेसर कान जनाय। आनत नागर नयन बझाय।' (का० द०)। इसमें उल्लिखित मिलनको सब नहीं जानते, फिर किसी तीसरेको जनाकर क्या करना है, यह भाव 'मति' है। —ज० कि० व०

मत्तगयंद सवैया—दे०—'सवैया', दूसरा प्रकार।

मत्तगयंद सुंदरी—दे०—'सवैया', उपजाति।

मत्तमातंग लीलाकर—साधारण दण्डकका एक भेद। हेमचन्द्र(१४ श० ई०)ने 'छन्दोनुशासन' अध्याय २, पंक्ति ३९४में इसका लक्षण दिया है 'यथेष्ट रामत्तमातंग'। भानुने 'रौनौवाऽधिक' (पृ० २१० छ० प्र०) दिया है अर्थात् रगण नौ या अधिक। 'रामचन्द्रिका'(के० ग्र० भा० २ पृ० ४२८)में केशवदासने आठ रगणवाले छन्दको भी 'मत्तमातंग दण्डक' माना है, किन्तु पिंगलके मतका उल्लेख करते हुए उन्होंने आठ रगणको पिंगलानुसार लक्ष्मी छन्द कहा है—'रचि-भुजगवसु यगनकी लक्ष्मी रगनै आठ। आठ भ कहत किरीट है आठ स दुर्मिल पाठ।' किंतु यह उचित मत केशवदासका नहीं लगता, क्योंकि २६ अक्षरके ऊपरवाले वृत्त ही दण्डक कहलाते हैं, अस्तु नौ रगणसे

कममें इसका लक्षण नहीं दिया जा सकता।

हेमचन्द्रने इस दण्टकका उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है कि इसका प्रयोग उनके पूर्व होता रहा होगा, यद्यपि सस्कृत-काव्योंमें दण्डकका प्रयोग यदा-कदा ही मिलता है। दण्डक और मात्रिक छन्दोंका पूर्ण प्रयोग प्राकृत और अपभ्रंश-कालमें ही हुआ है। केशवदासने 'मत्तमातग'का दूसरा नाम गगोदक (के० ग्र०, भा० २ पृ० ३१४) दिया है, किन्तु वह आठ रगणका ही है। इसलिए कहा जा सकता है कि इस दण्टक वृत्तका प्रयोग मध्यकालीन हिन्दी साहित्यमें भी नाममात्रको रहा होगा। सस्कृतमे आठ रगणके वृत्तका नाम 'स्वैरिणीक्रीटन' रहा है, जिसका भाव 'मत्तमातग लीलाकर'के अर्थमें आ जाता है अर्थात् उन्मुक्तता। सम्भव है, इसके विकासमें उक्त छन्दका योग रहा हो—एक रगणके योगमात्रसे। छन्दकी स्वैरवृत्ति द्रष्टव्य है—'योग ज्ञाना नहीं यज्ञ दाना नहीं वेद माना नहीं या कली माहिं मीता कहूँ।' यद्यपि सत्य तो यह है ९ रगणमें छन्दकी गति बढी लगती है और छन्दकी शोभा बिगड जाती है। छन्द ८ रगणमें ही पूर्ण हो जाता है, इसलिए इसे दण्टकके अन्तर्गत रखकर समवृत्त चतुष्पदीके ही अन्तर्गत रखना चाहिये अथवा ९ रगणका बन्धन हटाकर हेमचन्द्रकी परिभाषाके अनुसार यथेष्ट रगणका लक्षण ही देना चाहिये। —ह० मो०

मत्सरी–दे०—'भावक'।

मद–प्रचलित तेंतीसमेंसे एक सचारी, भरतकी नाट्य-प्रदर्शनके उपयुक्त व्याख्या(ना० शा० ३८–४६)को भाव-रूपमें ग्रहण करते हुए विश्वनाथने इसके सम्बन्धमें लिखा है—'सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगज।' (सा० द० ३ १४६)। जिसमें सम्मोहन और आनन्दका मिश्रण हो वह मदकी अवस्था कहलाती है। यह मद्य आदिके सेवनसे पैदा होती है।

धनंजयकी परिभाषा विश्वनाथकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। उन्होंने 'दशरूपक'में लिखा है—'हर्षोत्कर्षो मद पानात्स्खलदगवचोगति' (४ २१), अर्थात् मद्यपानसे प्रादुर्भूत हर्षको 'मद' कहते हैं, उसमें अग, वचन और गतिका स्खलन होता है, उनपर कोई नियन्त्रण नहीं रह जाता। इसके उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद भरतमे ही स्वीकृत रहे हैं, जिनका सम्बन्ध निद्रा, हास और रुदनसे जोडा गया है। विश्वनाथने मद्यपान आदि कहकर इसकी व्यापकताको सीमित नहीं किया है, पर धनजयने केवल मद्यपान-जन्य मदको ही मद सचारीके नामसे अभिहित किया है। अत इनकी व्याख्या सकीर्ण और सीमित हो गयी है।

हिन्दी रीतिकालमे दोनों परम्पराओंका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। देवने—'सो मद जहँ आसव पिये, हर्ष होत हिय बीच।'(भाव० सचारी०)में केवल मद्यपान कारण माना है और इसके विपरीत पद्माकरने 'धन यौवन रूपादितें' (जगद्वि० ४८४) भी स्वीकार कर लक्षणको अधिक व्यापक बनाया है। तीन भेद हिन्दीमें भी प्राय मान्य हुए हैं। प्रेमके आवेगमें प्रेमी अनियन्त्रित ढंगसे बातें करते हैं। रामचन्द्र शुक्लने इसे गर्वका भी सचारी माना है, क्योंकि अभिमानके जोर करनेपर भी लोग बहकी-बहकी बातें करते हैं। मद सचारीको प्रकृतिगत व्यंजना—'छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गन्ध। ठौर ठौर झौरन झँपत, भौंर झौंर मधु अन्ध।' (बिहारी रत्ना० ४९६) और दूसरा उदाहरण मधुपान-जन्य सचारीका है—'पूस निसामें सु वारुनी लै बनि बैठे दुहूँ मदके मतवाले। छाक छकी छवि ही कों पियें मद नैननके किये प्रेमके प्याले।' (जगद्वि० ४८५)। दे०–'स्वभावज अलकार', ग्यारहवाँ। —व० सिं०

मदनमनोहर–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्त दण्डकका एक भेद। म, ज, स, न, भ, ज, स, न, भ, ज, ग, (SIII×७ +ऽ।ऽ)के योगसे यह वृत्त बनता है, १६, १५ वर्णोंपर यति होती है। यह घनाक्षरीका वृत्तात्मक एक भेद है। केशवने इस नवीन घनाक्षरीका प्रयोग किया है। उदा०—'आवत विलोकि रघुवीर लवुवीर तजि, व्योम गति भूतल विमान तब आइयो' (रा० च० २१ ३०)। —पु० शु०

मदनमल्लिका या मल्लिका–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, गुरु लघु क्रमसे आठ वर्ण इस वृत्तके चरणमें होते हैं। हेमचन्द्र (छन्दो० २ ८३), जयकीर्ति-(छन्दो० २ ६६)ने समानी और दामोदर मिश्र (वा० भू० २ ६७)ने मल्लिका नाम दिया है। केशवने इसका प्रयोग किया है—'देश-देशके नरेश, शोभिजैं सबै सुवेश। जानिये न आदि अन्त, कौन दास कौन सन्त।' (रा० च० २ ५)। —पु० शु०

मदनहरा–मात्रिक सम दण्टक छन्दोंका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'के अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें १०, ८, १४, ८ की यतिसे ४० मात्राएँ होती हैं। आदिमें दो ल (।।) अथवा ग (ऽऽ) तथा अन्तमें ग (ऽ) रहता है (१ २०६)। भानुने आदिमें केवल दो ल (।।) माने हैं (छ० प्र० पृ० ७७)। ऐसा जान पड़ता है कि दो-दो यतियोंकी तुकका प्रयोग भी प्रचलित रहा है, जैसा कि 'प्राकृतपैंगलम्' तथा 'छन्दप्रभाकर'के उदाहरणोंसे स्पष्ट है। इसका प्रयोग केशव (रा० च०) तथा सूदन(सु० च०)ने किया है। केशवने भी आदिमें दो ल तथा ग दोनोंका प्रयोग किया है। उदा०—'सग सीता लक्ष्मण, श्रीरघुनन्दन, मातनके शुभ पाँय परे, सब दु ख हरे। आँसुन अन्हवाये, भागनि आये, जीवन पाये अक भरे अरु अक धरे।' (रा० चं०)

मदिरा दुर्मिल–दे०—'सवैया', उपजाति।

मदिरा सवैया–दे०—'सवैया', पहला प्रकार।

मधुमती भूमिका–योगदर्शनके अनुसार साधनाकी एक भूमि है। केशवप्रसाद मिश्रने 'मेघदूत'के अनुवादकी भूमिकामें इसकी व्याख्या रस-सिद्धान्तके सम्बन्धमें की है। श्यामसुन्दर दासने अपने 'साहित्यालोचन'में उन्हींके आधारपर इसे रस निष्पत्तिकी भूमिकाके रूपमे स्वीकार कर लिया है। केशव मिश्रके अनुसार 'मधुमती भूमिका चित्तकी वह विशेष अवस्था है, जिसमें वितर्ककी सत्ता नहीं रह जाती पार्थक्यानुभवको अपर-प्रत्यक्ष कहते है। जिस अवस्थामें सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तुमात्रका आभास मिलता रहता है, उसे पर-प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। चित्तकी यह समापत्ति सात्त्विक वृत्तिकी प्रधानताका परिणाम है।

जिस समय हमको वस्तुओंका पर-प्रत्यक्ष होता है, उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकारकी वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावोंका आलम्बन बनकर उपस्थित होती हैं' (सा० रो पृ० २८०-८१)। इस प्रकार केशव मिश्रने योगकी मधुमती भूमिका तथा कविकी काव्यात्मक कल्पनाको एक स्तरपर स्थापित किया है। इन दोनोंमें उन्होंने यह अन्तर स्वीकार किया है कि साधक यथेष्ट कालतक इस भूमिकापर स्थिर रहता है, जब कि कवि तथा काव्यानन्दका आस्वाद करनेवाला पाठक अनिष्ट रजस या तमसके नीचे उतरते ही उससे नीचे उतर पड़ता है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने योगशास्त्रके आधारपर इस मधुमती भूमिकाका खण्डन किया है। 'योगसूत्रमें वर्णित चार प्रकारकी योग-स्थितियोंमें मधुभूमिक द्वितीय है। योगशास्त्रके अनुसार मधुमती भूमिकामें ब्रह्मविद्की सत्त्वशुद्धिको देखकर देवगण उस स्थानके योग्य मनोरम भोग दिखलाते हैं। वस्तुतः इसके बाद योगकी दो स्थितियाँ प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्त-भावनीय और हैं। आनन्दप्रकाशके अनुसार—यह भूमि साधकका परीक्षा भूमि है, सिद्धि-भूमि नहीं। परीक्षा-भूमिपर अधिक देरतक स्थिर रहनेकी चेष्टाका प्रश्न नहीं उठता। यदि यह भूमि अन्तिम भूमि नहीं है तो ब्रह्मानन्दका प्रश्न भी यहाँ नहीं उठ सकता' (काव्यमें रस अप्रा० प्रब० पृ० ३००)। वस्तुतः विवेचकोंने मधुमती भूमिकाको व्यापक ब्रह्मानन्दकी भूमिके रूपमें स्वीकार करके उसके आधारपर ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानुभूतिकी व्याख्या की है। उपर्युक्त विशिष्ट अर्थमें उसका इस रूपमें प्रयोग भ्रामक माना जायगा। —र०

मधुर रस—दे०—'भक्ति'।

मध्यकाल—साधारणतः चौदहवीं पन्द्रहवींसे उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यतकका काल हिन्दी-साहित्यके इतिहासमें मध्ययुग या मध्यकाल कहा जाता है। आदि, मध्य और आधुनिक—इतिहासके इस त्रिकाल-विभाजनकी सार्वभौम प्रवृत्तिने हिन्दी-साहित्यके इतिहासकारोंको भी प्रभावित किया है। विश्वके इतिहासका मध्यकाल सातवीं-आठवीं शताब्दीसे प्रारम्भ होता है। भारतीय इतिहासमें भी मध्ययुगीन प्रवृत्तियाँ वर्धन-साम्राज्यके पतनके बाद इसी कालमें प्रारम्भ हो जाती हैं। सातवीं शताब्दीसे विश्व-इतिहासमें सत्रहवींके अन्त, किन्तु भारतमें उन्नीसवींके मध्यतक बारह सौ वर्षोंका काल-विस्तार मध्यकाल या मध्ययुगकी संज्ञा पाता है। इस युगके पुनः दो विभाग किये जाते हैं—पूर्व-मध्ययुग और उत्तर मध्ययुग। पूर्व-मध्ययुग बारहवीं शताब्दीके अन्ततक तथा उत्तर-मध्ययुग तेरहवींसे उन्नीसवीं शताब्दीतक चलता है। इतिहासमें मध्ययुगकी यह कल्पना व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनकी समस्त प्रवृत्तियोंके आधारपर की गयी है। इन प्रवृत्तियोंमें ह्रास और पुनरुत्थान, दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। मोटे तौरपर हम कह सकते हैं कि पूर्व-मध्ययुग और उत्तर मध्ययुगका अन्तर इसी बातपर आधारित है कि पूर्व-मध्ययुग समष्टिगत दृष्टिसे प्रायः ह्रासोन्मुख है और उत्तर मध्ययुगमें पुनरुत्थानकी प्रवृत्तियाँ उदय हुई हैं।

हिन्दी साहित्यका प्रारम्भ इतिहासके उत्तर-मध्ययुग (१२००-१८५७)से होता है और उसके आदि और मध्यकाल इसीमें परिसीमित हैं। अतः हिन्दी साहित्यके मध्यकालकी ही प्रवृत्तियाँ नहीं, आदिकालकी प्रवृत्तियाँ भी इतिहासके उत्तर मध्यकालकी प्रवृत्तियोंमें निहित हैं। इतिहासके इसी कालकी विविध राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियोंने आधुनिक भाषाओंको साहित्यिक पदपर प्रतिष्ठित होनेका अवसर दिया।

हर्षवर्धनकी मृत्युके बाद राजनीतिक सत्ताका जो विघटन प्रारम्भ हुआ, उसीके परिणामस्वरूप तेरहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें उत्तरभारतमें हिन्दू राज्य-शक्तिका सदाके लिए लोप होकर मुसलिम केन्द्रीय शासनका सूत्रपात हुआ। राजनीतिकी ओरसे जनसमाजकी उदासीनता जो युगों पहले जनपदीय गणराज्योंके विनाश और साम्राज्योंकी स्थापनाके बाद केवल राज-भक्तिके रूपमें सीमित होकर गहरी होती आयी थी, अब प्रायः घृणामें परिणत हो गयी। गंगा-यमुनाकी घाटीमें कवियोंके राजाश्रय पानेकी सम्भावनाएँ नष्ट हो गयीं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशके राजाश्रित कवियोंकी वीर-चरित-काव्य लिखनेकी परम्परा राजस्थानमें ही अपभ्रंश और हिन्दीके रासो-काव्यके यत्र-तत्र प्रणयनमें अवशिष्ट रह गयी। परन्तु उसमें जनताकी मनोभावनाओंका कोई योग न था। राजनीतिक पराभव और सामाजिक दुरवस्थाकी स्थितिमें कुछ दिनोंतक तो साहित्यिक शून्यता-सी दिखाई देती है। परन्तु इसी शून्यताने पुनर्जीवनकी शक्तियोंके उदय होनेकी भूमिकाका निर्माण किया। तेरहवीं शताब्दीके आरम्भसे सोलहवींके प्रथम चरणतक एक प्रकारका निरंकुश सैनिक शासन रहा। परन्तु मुगल-शासन-कालमें धीरे-धीरे सभ्य प्रशासन-व्यवस्थाकी स्थापना होने लगी। अकबरकी उदार धार्मिक नीति तथा सुव्यवस्थाके फलस्वरूप समाजको सर्वांगीण उन्नति करनेका अवसर मिला। उसने तथा उसके उत्तराधिकारियोंने हिन्दी कवियोंको भी प्रश्रय दिया, परन्तु इस कालके सर्वोत्कृष्ट भक्त कवियोंका राजदरबारसे कोई सम्बन्ध नहीं था। यह इस कालकी साहित्यकी अद्वितीय विशेषता है कि उसके सर्वोत्तम रूपकी रचना जन-कवियों द्वारा हुई।

इतिहासके उत्तर-मध्ययुगमें राजनीतिका नहीं, धर्मका प्रभुत्व था। उत्तरभारतमें सातवींसे बारहवीं शताब्दीतकका समय राजनीतिक सत्ताके ही विघटनका नहीं, धार्मिक शक्तियोंके स्खलनका भी काल है। सांस्कृतिक दृष्टिसे यह काल तान्त्रिक काल कहा जाता है। तान्त्रिक गुह्य साधनाओंमें जिनमें शारीरिक भोगवादकी पराकाष्ठा थी, न केवल पतनोन्मुख बौद्ध महायान, मन्त्रयान और वज्रयानकी क्रमागत परम्परासे आये हुए सहजयानको आक्रान्त किया, वरन् शैव, शाक्त—यहाँतक कि वैष्णव मतमें भी तान्त्रिक साधनाएँ अशतः प्रविष्ट हो गयीं। यह विचित्र सा लगता है कि जहाँ एक ओर तान्त्रिक भोगवादने जघन्य रूप धारण कर लिया था, वहाँ दूसरी ओर ठीक इसके विपरीत शंकराचार्यके मायावादी अद्वैतवादने वैराग्यकी भावनाको पराकाष्ठापर पहुँचा दिया था। यद्यपि इस धार्मिक दुरवस्थाको सुधारनेका प्रयत्न वज्रयानी सिद्ध-सम्प्रदायसे ही विकसित नाथ-पन्थके जोगियों द्वारा आरम्भ हो गया था, परन्तु

उसमें वह शक्ति नहीं आयी थी जो समूचे जनसमाजको आन्दोलित कर सके। इसी समय महत्त्वाकांक्षी मुसलिम आक्रमणकारियों तथा उनके सहायक धर्मान्ध मुल्लाओंका अस्त्र बनकर एक ऐकान्तिक बहिष्कारपूर्ण कट्टर धर्म संस्कृतिने प्रवेश करके नयी समस्याएँ पैदा कर दीं। भारतीय समाजको भीतर और बाहर, दोनों ओरकी चुनौतीका सामना करना पड़ा। ऐसे अवसरपर एक जीवित जाति होनेके नाते हिन्दुओंने अपनी जीवन-शक्तिको एक नये रूपमें पुनः जाग्रत् किया तथा भक्ति-आन्दोलनके बहाने उन मानव-मूल्योंकी प्रतिष्ठा की जिनमें सामयिक समस्याओं-के समाधानके साथ जीवनके शाश्वत सत्य निहित थे।

इस धार्मिक आन्दोलनकी कदाचित् सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जहाँ एक ओर ऐसी विविधताएँ और साम्प्रदायिक संकीर्णताएँ दिखाई देती हैं, जिनकी संगति मिलना असम्भवप्रायप्राय जान पड़ता है, वहाँ इतनी मूलभूत एकता और व्यापकता है जो मानवमात्रको ही नहीं, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, जड़ चेतन सभीको एक सूत्रमें बाँधकर समेटती चलती है। कारण यह है कि इसे मात्र तात्कालिक परिस्थितियोंने आपद्धर्मके रूपमें जन्म नहीं दिया, वरन् इसकी जड़ें अत्यन्त गहरी, इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा इसकी भूमिका अत्यन्त पुष्ट और दृढ थी। चाहे नाथ-पन्थी अलखवादी जोगियोंकी परम्पराको व्यापकता देनेवाले कबीर, रैदास, नानक, दादू आदि निर्गुणिये सन्त हों या अनलहकके द्रष्टा सूफियोंके अनुयायी प्रेममार्गी कुतबन, मझन, जायसी, उसमान आदि हों, चाहे रसावतार श्रीकृष्ण और रसेश्वरी राधाका कीर्तन करनेवाले प्रेमभक्तिके प्रचारक वल्लभ, चैतन्य, हरिवंश, हरिदास, सूरदास, नन्ददास आदि हों या मर्यादापुरुषोत्तम पूर्ण ब्रह्म राम और जगज्जननी सीताके उपासक मर्यादा-भक्तिके प्रतिष्ठापक तुलसीदास हों—सभी समान रूपसे सांसारिक भोग-विलास-के जीवनकी निरर्थकताको हेय और त्याज्य सिद्ध करके उसे अपने ढंगसे प्रवृत्ति और निवृत्तिके उचित सामंजस्यके द्वारा आध्यात्मिकता और इहलौकिकताके उच्च धरातलपर प्रतिष्ठित करनेका सन्देश देते हैं। सभी जीवनके बाह्या-डम्बरकी—चाहे वे सांसारिक वैभवका प्रदर्शन करें या धार्मिक पाषण्डका—घोर विगर्हण करते हैं। सभी जीवनकी बाह्याभ्यन्तर शुद्धता और निर्मलतापर जोर देते हैं। सभी प्रेमके विविध भावोंका भूत-दया और विश्व-मैत्रीकी उदात्त भूमिपर परिष्करण करनेका उपाय बताते हैं। सभी वर्णाश्रम धर्मसे भ्रष्ट, शास्त्रीय मर्यादासे च्युत, विशृंखल सामाजिक जीवनको पुनस्संघटित करनेकी उमंग और स्फूर्तिपूर्ण प्रेरणा देते हैं। सभी जीवनकी समग्रतापर दृष्टि रखते हुए मनुष्य-को जीने योग्य बनानेका मार्ग दिखाते हैं। फलस्वरूप समाजमें चेतनाकी एक नयी लहर दौड़ जाती है और प्रसुप्त क्रियात्मक शक्तियाँ नवीन प्राणवेगसे जागकर साहित्य, संगीत तथा कलाओंकी सर्जनामें प्रवृत्त होने लगती हैं और समाजके सर्वोच्च वर्गोंसे लेकर निम्नतम वर्गोंतकमें उत्साह भर देती है। रामचन्द्र शुक्लने मध्ययुगमें भक्ति काव्यकी प्रेरक शक्तियोंमें मुसलिम आक्रमणकारियों द्वारा राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक विध्वंससे उत्पन्न निराशाको वास्तविकतासे अधिक महत्त्व दिया है। शुक्लजी-के हिन्दी साहित्यके इतिहासके आधारपर लिखे गये अनेक इतिहास ग्रन्थोंमें यह विचार इतनी बार गलत ढंगसे दुहराया गया कि भक्ति साहित्यके सम्बन्धमें यह धारणा बद्धमूल-सी होने लगी कि यह साहित्य हताश जातिकी पलायन-प्रवृत्तिका प्रतिनिधि साहित्य है। परन्तु हजारी-प्रसाद द्विवेदी प्रभृति अन्य इतिहासकारोंने इस दृष्टिकोणका विरोध किया है। तात्कालिक परिस्थितियोंने भक्ति-आन्दो-लनके लिए अनुकूल वातावरण अवश्य उपस्थित कर दिया, परन्तु उसकी प्रेरणा सर्जनात्मक और घनात्मक थी, प्रति-रक्षात्मक और अभावात्मक नहीं थी।

भक्ति-धर्मका यह आन्दोलन इतिहासके उत्तर मध्य-युगकी सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है, अतः इसे सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टिसे **भक्तिकाल**के नामसे अभिहित किया जाना है। इसकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसके प्रचार-का माध्यम आधुनिक आर्य भाषाएँ हैं, जिनमें हिन्दी व्यापकता और सार्वदेशिकताकी दृष्टिसे प्रमुख है। हिन्दी साहित्यके इतिहासका यह मध्यकाल कहा जाता है, जो लगभग चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दीसे उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यतक चलता है। शुक्लजीने मध्यकालको पूर्व-मध्य और उत्तर-मध्यकालोंमें विभक्त करके उनका समय क्रमशः संवत् १३७५-१७०० वि० तथा १७००-१९०० वि० निर्धारित किया है। यह समय ईसाकी चौदहवीं शताब्दीसे उन्नीसवीं शताब्दीके लगभग मध्यतक पड़ता है। किन्तु वास्तवमें यदि कबीरके समयसे मध्यकालका आरम्भ माना जाय तो उसे चौदहवीं शताब्दीसे पहले ले जाना कठिन है, क्योंकि कबीरका रचना-काल चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी ही है।

हिन्दी साहित्यके इस मध्यकालमें, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, निर्गुण सन्त-भक्ति, प्रेममार्गी सूफी-भक्ति, प्रेम-लक्षणा कृष्ण-भक्ति तथा मर्यादामार्गी राम-भक्ति-की प्रेरणासे हिन्दीके सर्वोच्च साहित्यकी रचना हुई। भक्तिका यह आन्दोलन उत्तरभारतमें—पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियोंमें अपनी पराकाष्ठापर था और उसके सबसे प्रबल सन्देशवाहक कवि ही थे, जिनमेंसे कुछका उल्लेख ऊपर किया गया है। (अन्य कवियोंके लिए दे०—**भक्ति-काल**)। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें इन ढाई-तीन सौ वर्षोंको **पूर्व-मध्यकाल** या **भक्तिकाल**का नाम दिया गया है। इसके बादकी दो-ढाई शताब्दियाँ भी यद्यपि इतिहासमें भक्तिकालके अन्तर्गत आती हैं, परन्तु क्योंकि भक्तिका प्रथम क्रियात्मक उन्मेष अपना प्रबल वेग खोने लगा था और भक्ति-आन्दोलन बहुत कुछ सम्प्रदाय-बद्ध होकर कर्मकाण्ड और बाह्य आडम्बर अपनाने लगा था, अतः उसकी प्रेरणा समाप्तप्राय हो गयी थी, और सबसे अधिक शोचनीय बात यह थी कि कविगण कृष्णाश्रय, रामाश्रय, धर्माश्रय या जनाश्रय छोड़कर राजाओं, सामन्तों, जमींदारों और ठाकुरोंकी शरण खोजने लगे थे तथा राधाकृष्णके आध्यात्मिक रसानन्दको आश्रयदाताओंके वासनात्मक प्रेम-विलासका रूप देने लगे थे और हार्दिक संवेदना और अनुभूतिका स्थान वाक्चातुर्य और अलंकरणने लिया था।

इसलिए हिन्दी साहित्यके इतिहासकार इतिहासके उत्तर मध्यकालके इन अन्तिम दो सौ वर्षों अर्थात् साहित्यके इतिहासके **उत्तर मध्यकाल**को ह्रासका युग मानकर उसे **रीतिकाल**, अलंकृत या शृंगारकालका नाम देते हैं। इस कालमें इतिहासके पूर्व-मध्ययुगकी उन प्रवृत्तियोंकी पुनरावृत्ति सी देखी जाती है, जिन्होंने संस्कृतके अलंकृत काव्य, अलंकारशास्त्रके विवेचन, टीका और निबन्ध-साहित्यको जन्म दिया था। कवियोंमें अन्तःप्रेरणाके अभावमें अनुकरण और पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्ति प्रबल हो गयी थी तथा जीवन क्रियाशीलताके स्थानपर भोग-विलासकी ओर उन्मुख होने लगा था। प्रायः प्रत्येक क्रान्तदर्शी आन्दोलनके बाद ऐसा देखा जाता है। अतः इस उत्तर-मध्यकालको हम मध्यकालका उतार कह सकते हैं। परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि इस कालमें भी हिन्दी साहित्यकी अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई और रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त शृंगारके अतिरिक्त वीरकाव्य, नीतिकाव्य आदिकी भी रचना हुई। यदि पूर्व-मध्यकालके कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्त-कवि विश्व-साहित्यिकोंमें गिने जाते हैं, तो उत्तर-मध्यकालके एक कवि—बिहारीकी ख्याति तो हिन्दीके बाहर और किसी अंशमें देशके बाहर हुई है। बिहारीके अतिरिक्त केशव, देव, मतिराम, भूषण, घनानन्द आदि कवियोंने हिन्दी साहित्यकी अनेकधा श्रीवृद्धि की है। व्रजभाषाके प्रसार और परिमार्जनके क्रमको इन कवियोंने जारी रखा और उसे हिन्दी क्षेत्रके बाहरतक प्रतिष्ठित किया।

उत्तर-मध्यकालके कुछ विरक्त भक्त कवियोंको छोड़कर लगभग सभी किसी-न-किसी आश्रयदाताके संरक्षणमें रहकर काव्य रचना करते थे, वे पूर्व-मध्यकालके कवियोंसे भिन्न शुद्ध कवि थे, कवि-कर्म उनका जीवन-व्यवसाय था। ऐसे कुछ कवि पूर्व-मध्यकालमें भी हुए हैं, जैसे अकबरी दरबारके नरहरि, वन्दीजन, गंग, मुगल दरबारके नवरत्न रहीम, टोडरमल, बीरबल भी हिन्दीमें कविता करते थे तथा कहा जाता है कि स्वयं अकबरको काव्य रचनाका शौक था। केशवदास ओड़छा दरबारकी शोभा बढ़ाते थे। इनके अतिरिक्त आलम, मुबारक, बनारसीदास, सेनापति स्वतन्त्र रूपमें काव्य रचनामें प्रवृत्त थे। अकबरके शासन-कालकी सांस्कृतिक समृद्धि साहित्यके क्षेत्रमें भी देखी जा सकती है।

जहाँतक जीवनादर्शोंका सम्बन्ध है, भक्त-कवियों द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श ही जनसाधारणका पथ-प्रदर्शन और नियमन करते रहे। वस्तुतः भक्ति-काव्य द्वारा स्थापित मूल्य और मर्यादाएँ आधुनिक कालतक मान्य रही हैं। उत्तर-भारतके जन-समाजका मानस आजतक बहुत-कुछ उसीके आधारपर गठित हुआ है। (दे०—'भक्ति-काल', 'रीतिकाल')।

[सहायक ग्रन्थ—(१) हिन्दी साहित्यका इतिहास: रामचन्द्र शुक्ल, (२) हिन्दी भाषा और साहित्य : श्यामसुन्दर दास, (३) हिन्दी साहित्यकी भूमिका: हजारीप्रसाद द्विवेदी, (४) हिन्दी साहित्य: हजारीप्रसाद द्विवेदी, (५) उत्तरी भारतकी सन्तपरम्परा: परशुराम चतुर्वेदी, (६) अकबरी दरबारके हिन्दी कवि: सरयूप्रसाद अग्रवाल।] —व्र० व०

मध्यदेश–प्राचीन कालमें उत्तरभारत अथवा आर्यावर्त्त पाँच भागोंमें विभक्त माना जाता था अर्थात् प्राची, दक्षिण, प्रतीची, उदीची और मध्य। इस अन्तिम मध्यभागकी संज्ञा आगे चलकर मध्यदेश हुई। मध्यदेशका द्योतक पहला संकेत 'ऐतरेय ब्राह्मण'में मिलता है। इसके बाद इस शब्दका निरन्तर प्रयोग संस्कृत साहित्यमें हुआ है।

उत्तरभारतमें जैसे-जैसे आर्योंका विस्तार होता गया वैसे-वैसे आर्यावर्त्तकी सीमाएँ बदली गयीं, फलस्वरूप मध्यदेशकी सीमाओंमें भी परिवर्तन हुआ। उदाहरणके लिए, मनुस्मृतिके अनुसार हिमालय और विन्ध्यके मध्यमें और विनशन(सरस्वती नदीके लुप्त होनेका स्थान)से पूर्व तथा प्रयागके पश्चिममें मध्यदेश था। 'विनयपिटक'के अनुसार मध्यदेशकी पूर्वी सीमा प्रयागसे हटकर भागलपुरके निकट मानी जाने लगी थी।

मध्यदेश शब्दका प्रयोग लगभग बारहवीं शताब्दीतक होता रहा। मुसलिम शासनकालमें इसके लिए 'हिन्दुस्तान' शब्दका प्रयोग होने लगा था। वर्तमान कालमें हिन्दीप्रदेश इसका पर्यायवाची माना जा सकता है। नेपालमें हिन्दीप्रदेशके रहनेवाले आज भी अपने पुराने नाम मदेसिया अर्थात् मध्यदेशीयसे पुकारे जाते हैं।

उत्तरभारतके इस मध्यभाग अर्थात् हिन्दीप्रदेशके लिए कोई उपयुक्त नाम न होनेके कारण मध्यदेश शब्दका प्रयोग फिर धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—मध्यदेश : धीरेन्द्र वर्मा] —धी० व०

मध्यम मार्ग–दे०—'त्रिमार्ग-सिद्धान्त', तीसरा प्रकार।

मध्यमा (नायिका)–गुण अथवा प्रकृतिके अनुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद, विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। भरतसे यह विभाजन स्वीकृत होता आया है। भानुदत्तके अनुसार 'हिताहितकारिणि प्रियतमे हिताहितचेष्टावती' अर्थात् प्रियके द्वारा हित अथवा अहितका व्यवहार देखकर हित अथवा अहितका व्यवहार करनेवाली नायिका मध्या है (र० मं० पृ० १५३)। मतिरामने इसी भावको ग्रहण किया है—'पियसों हितते हित करै अनहित कीने मान।' (र० रा० २३१)। पद्माकर आदिने 'गुनाह' तथा 'दोष' शब्दोंका प्रयोग अहित शब्दके लिए किया है। स्पष्टतः अहित अर्थात् अप्रेम दोष या अपराध ही है। इस नायिकाका क्रोध तथा अनुराग बहुत शीघ्र परिवर्तित होता रहता है—'रिसहीके आँसू रस आँसू भये आँखिनमें, रोसकी ललाई सो ललाई अनुरागकी।' (वही वही २३२) उसका आक्रोश प्रियके नमित होते ही शान्त हो जाता है—'सोहैं पेख पीको बिहसौंहैं भये दोऊ दृग भ्रुनि भौंहैं गयीं उतरि कमानैं सी।' (पद्माकर: जगद्वि०)।—म०

मध्यवर्ग–पूँजीवादी व्यवस्थाने समूचे समाजको तीन भागोंमें विभाजित किया है—१–बूर्जुआ, २–मध्यवर्ग अर्थात् मिडिल क्लास, ३–निम्नवर्ग। मध्यवर्ग सामन्तवादी व्यवस्थामें पाया नहीं जाता, क्योंकि उस समय जमींदार और किसानका सम्बन्ध सीधा था, किन्तु पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थाने समाजको इतना जटिल कर दिया है कि एक मध्यवर्गकी भी आवश्यकता हुई जो इस जटिल व्यवस्थाके संघटनसूत्रको सँभाल सके। इस वर्गमें नौकरी-

पेशा शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते हैं। मध्यवर्ग विशेषत बुद्धिप्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रान्तिके प्राय समस्त विचारोंका सर्जन मध्यवर्गमें ही होता है। मध्यवर्गमें भी दो भाग हैं—उच्च मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग। —रा० कृ० त्रि०

मध्यव्रीडिता–दे०—'मध्या' (नायिका)।

मध्या (नायिका)–अधिकाश आचार्योंके अनुसार स्वकीयाका भेद, विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। लज्जा और कामकी मध्यस्थितिके कारण इस नायिकाको मध्या नाम दिया गया है—'समानलज्जामदना मध्या'। भानुदत्तने आगे इसे अति विश्वास और विनय(अतिप्रश्रयात्)के कारण ही अतिविश्रब्धनवोढा माना है (र०म० पृ० १८)। अधिकाश हिन्दीके आचार्योंने भानुदत्तकी परिभाषा शब्दश स्वीकार कर ली है, मतिराम, देव, पद्माकर तथा भानु आदिने 'लज्जा' और 'मदन' शब्दोंका प्रयोग इसी रूपमें किया है। वस्तुत इस नायिकाको विश्रब्धनवोढाकी अगली स्थिति माना जा सकता है, क्योंकि इसमें लज्जाकी स्थितिके साथ कामभावनाका उदय हो जाता है। रहीमने इस नायिकाका सुन्दर भावचित्र अकित किया है—'रहत नयनके कोरवा चितवनि छाय। चलत न पग पैंजनियाँ मग अहटाय।' (व० . ८)। द्विधाकी भावनाका चित्र सुन्दर बन पड़ा है—'केलि भवनकी देहरी, खरी बाल छवि नौल। काम-कलित हियकौ लहै, लाज-कलित दृग कौल।' (र० रा० ३२)। पद्माकरकी मध्याके नेत्रोंमें 'मदन-लाज' समाहित हो रहा है। विद्यापतिने राधाके मध्या रूपका विकास सहज क्रममें प्रस्तुत किया है और सूरने भी राधाके इस रूपका चित्रण किया है। जायसी आदि सूफी प्रेमी कवियोंने भी अपनी नायिकाओंकी अवस्थाका क्रमिक विकास दिखाया है। रीतिकालीन काव्यमें नारीकी इस मन स्थितिका उसके उद्वेग और विकलताके साथ चित्रण किया गया है, पर इनमें भावोंसे परिस्थितियाँ अधिक हैं।

इसके भेद-विस्तारके लिए दे०—'नायिका-भेद'। **अतिविश्रब्ध**—कृपारामने इस भेदका उल्लेख किया है, पर वस्तुत भानुदत्तने मध्याकी व्याख्या इसी रूपमें की है। **प्ररूढयौवना**—केशवने इसे पूर्ण युवती (भाग सुहाग भरी), तथा 'कन्तके मनको भानेवाली' कहा है। यह अपने तारुण्यके प्रति पूर्ण सचेष्ट है—'चन्दकोसो भाग भाल भृकुटी कमान ऐसी, मैन कैसे पैने सर नैननि विलासु है।' (र० प्रि० ३ ३४), सम्भवत यह सचेष्टता ही इसकी विशेषता है। इसे आरूढ तथा रूढयौवना भी कहा गया है। **प्ररूढस्मरा**—हिन्दीमें केशवदास आदिने प्रादुर्भूतयौवनाके रूपमें लिया है—'तन मन भूषित सोभियै केसव काम कलानि।' (वही ३ ३७)। इसमें तारुण्यका किंचित् अधिक उत्कर्ष माना जा सकता है—'एक ही वक विलोकनि ऊपर वारौं विलोकि त्रिलोक निकाई।' (वही ३८)। देवके उदाहरणसे भी यही लगता है–'आपने आगे औ पीछे तिरीछे ह्वै देहको देखि सनेहसों भीजै।' (भा०वि० ना०)। **ईषत्-प्रगल्भवचना**–हिन्दीमें प्रगल्भवचना है। केशवके अनुसार 'वचननि माहि उराहनो देह दिखावै त्रास।' (वही वही ३७) यह भेद नायिकाके अधिक विश्वस्त होनेका सकेत देता है। लज्जाका स्थान प्रगल्भता ले लेती है—'कान्ह भले जु भले दृग लागे भले इन्ह नैननिके रँग रागे।' (वही वही ३६)। उलाहनाके साथ अधिक आत्मविश्वास व्यक्त हुआ है—'मोहनको मुख चूमि भटू तब हौं अपनो मुख चूमन दैहौं।' (देव भा० वि० ना०) **विचित्रसुरता** अथवा सुरत विचित्रा केशवके अनुसार जिसका 'सुरत विचित्र' हो। इसमें एक प्रकारसे लज्जाका भाव नहीं रह गया है, अतएव इसे मध्याके अन्तर्गत स्वीकार करना अधिक उचित नहीं जान पड़ता। **मध्यव्रीडिता**—हिन्दीमें लघुलज्जा। —स०

मनजा सेवा–दे०—'सेवा'।

मनहरण–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। इस नवीन वृत्तका प्रयोग केशवने किया है। कवित्तका नाम भी मनहरण है (दे०)। भानुने पाँच सगण(।।ऽ)के वृत्तका भी नाम मनहरण दिया है। यह स्रग्विणी-परिवारका छन्द है, क्योंकि इसका आधार रगणात्मक है। न, स, ३ रगणोंके योगसे यह वृत्त बनता है (।।। ।।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ)। उदा०—'अति निकट गोदावरी पाप सहारिणी। चल तरग तुगावली चारु सचारिणी।' (रा० च ११ २३)—पु०शु०

मनोग्रंथियाँ–मनोग्रन्थियाँ किसी अंशत या पूर्णत दमित, सवेगाविष्ट विचार या विचारोंका पुज होती हैं, जिनके साथ व्यक्तिके द्वारा स्वीकृत अन्य विचारोंका सतत सघर्ष होता रहता है। मनोग्रन्थिको दमित स्थायी भाव भी कहा जाता है, जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति विचित्र व्यवहार करता है। मनोग्रन्थि **अवचेतन**को पराभूत कर लेनेवाला एक ऐसा विशिष्ट विचार होती है, जिसके आसपास दमित **आदिम संवेगो**की एक गुत्थी-सी बन जाती है। मनोग्रन्थियाँ **चेतन, अचेतन** या **क्वचिच्चेतन** किसी भी प्रकारकी हो सकती हैं, किन्तु कुछ अधिकारी विद्वान् मनोग्रन्थि शब्दका प्रयोग अचेतन विचारों, भावनाओं और प्रेरणाओंके लिए ही करते हैं।

मनोग्रन्थियोंके अनेक प्रकार होते हैं। किसी विचित्र वैज्ञानिक पद्धतिमें विश्वास करना, किसी विशेष वाद या मतको ही पूर्ण समझना और उसके द्वारा समस्त मानवीय व्यापारों एव इतिहासकी व्याख्या करना, सौ वर्ष कैसे जीयें, विश्वलिपि-निर्माण या ऐसी ही कोई और सनक, प्राकृतिक जीवन, नग्नतावाद, भोजनके सम्बन्धमें कोई विचित्र विश्वास या आग्रह आदि बौद्धिक मनोग्रन्थियोंके उदाहरण हैं। कलाके क्षेत्रमें विचित्र फैशन या वाद सौन्दर्यात्मक मनोग्रन्थियाँ हैं। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्रमें विचित्र सुधारोंके आन्दोलन, विचित्र आदर्शोंमें भक्ति, सदा यह प्रतीति कि लोग हमारा अपमान कर रहे हैं, हमपर अन्याय हो रहा है, हम शहीद हैं आदि सामाजिक मनोग्रन्थियोंके दृष्टान्त हैं। धर्मके क्षेत्रमें भी मनोग्रन्थियोंकी कमी नहीं है। विचित्र धार्मिक विश्वासोंसे विचित्र सम्प्रदायोंकी स्थापना हो जाती है। नाना प्रकारके व्रत, तपश्चर्या, अनुष्ठान, सस्कार, स्वर्ग-नरकमें विश्वास, कुम्भीपाकका त्रास, स्वर्गकी अप्सराओं और गिलमोंका आनन्द, कल्पवृक्ष और कामधेनु, अपनेको इष्टदेवकी प्रिया मानकर पुरुषका भी स्त्रीवत् आचरण—ऋतुमती होनेका अभिनयतक—करना, भावाविष्ट होकर नाचना-कूदना, अतीतकी किसी एक घटनाकी वार्षिक

स्मृतिके अवसरपर गममें लोहेकी जंजीरोंसे अपनी छाती पीट-पीटकर लहू-लुहान हो जाना आदि धार्मिक मनोग्रन्थियोंके ही रूप हैं।

इन मनोग्रन्थियोंका व्यक्तिके जीवनपर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है। जीवनमें आया हुआ कोई व्यक्ति, कोई स्थिति, कोई प्रिय या अप्रिय घटना, कोई अनुभूति या स्मृति कभी भी संयोगवश मनोग्रन्थिमें परिवर्तित हो सकती है और मनुष्यके अवचेतनमें प्रविष्ट होकर उसके समस्त चेतन व्यवहारको आजीवन प्रभावित करती रह सकती है। व्यक्तिके चरित्र और भाग्यके निर्माणमें उनका बड़ा हाथ रहता है। व्यक्तिको प्रायः अपनी मनोग्रन्थियोंका आभास नहीं होता और यदि होता या कराया जाता है तो वह उन्हें स्वीकार नहीं करता। व्यक्तिके न चाहनेपर भी वे उसके व्यवहारको संचालित करती हैं, व्यक्ति उनसे विवश जैसा हो जाता है। जिन मनोग्रन्थियोंकी साधारणतया अभिव्यक्ति नहीं हो पाती वे स्वप्नों, मानसिक विकारों और अस्वाभाविक व्यवहारोंमें प्रकट होती हैं।

मनोग्रन्थियाँ हमारी मूल प्रवृत्तियोंके समान ही अदम्य और प्रबल होती हैं। प्रकाशित और कृतार्थ होनेके लिए वे भी मौलिक एषणाओंकी तरह विकल रहती हैं, किन्तु मनके अन्तरालमें विविध प्रेरणाओं और मनोग्रन्थियोंमें सतत चलनेवाले संघर्षके कारण ऐसा नहीं हो पाता। इस परस्पर द्वन्द्वके कारण व्यक्ति किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और परिणामस्वरूप उसे किसी अंगका पक्षाघात अथवा कोई अन्य रोग हो जाता है। मनोविश्लेषणने प्रचुर प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे अधिकांश रोगोंका वास्तविक कारण ये ही मनोग्रन्थियाँ हैं। अतएव स्पष्ट है कि इन अनिष्टकारी मनोग्रन्थियोंके कारण व्यक्तिका स्वास्थ्य, सुख और शान्ति नष्ट हो जाती है, उसके व्यक्तित्वका सम्यक् विकास नहीं हो पाता। मनोग्रन्थियोंका पता लगाकर उन्हें जड़से नष्ट करना और व्यक्तिको सम्यक् सुख, शान्ति और स्वास्थ्यके पथपर ले आना मनोविश्लेषणात्मक चिकित्साका प्रधान कार्य है।

आधुनिक मनोविश्लेषणने मनुष्यमात्रमें व्याप्त और उसके जीवनमें आत्यन्तिक महत्त्व रखनेवाली कुछ विशिष्ट मनोग्रन्थियोंका पता लगाया है। इनमें ईडिपस, आत्महीनता, अपराध, प्रतिशोध आदि मनोग्रन्थियाँ प्रमुख हैं।

ईडिपस मनोग्रन्थि मनुष्यको सबसे अधिक प्रताड़ित और विशृंखल करनेवाली होती है। आधुनिक युगमें फ्रायडने ही सर्वप्रथम इसकी खोज की है। उसके अनुसार इस मनोग्रन्थिका आरम्भ बचपनके प्रारम्भिक दिनोंमें होता है। यह प्रायः अचेतन होती है और अपनी माताके प्रति पुत्रकी आत्यन्तिक आसक्ति (जो यौन होती है), पिताके प्रति ईर्ष्या तथा तज्जन्य अपराधकी भावनासे इस ग्रन्थिका निर्माण होता है। फ्रायडीय मनोविश्लेषण इस मनोग्रन्थिको सर्वसामान्य मानता है। सभी परिवारोंमें, सभी पुत्रोंमें इस ग्रन्थिका उद्भव होता है। अतः सभी लड़कोंमें इसके लक्षण मिलते हैं। साधारणतया किशोरावस्था प्राप्त करनेपर लड़के इस मातृ-आसक्तिसे मुक्त हो जाते हैं। लेकिन कुछ व्यक्ति आजीवन ईडिपस मनोग्रन्थिसे आक्रान्त रहते हैं। ऐसे व्यक्तियोंके अचेतनमें रहकर वह अनेक मानसिक विकारों, प्रवृत्तियों और यौन विकृतियोंका कारण बनती है। स्त्रियोंमें इस ग्रन्थिके प्रतिरूप पिताके प्रति (यौन) अत्यासक्ति, मातासे ईर्ष्याको फ्रायडने एलेक्ट्रा मनोग्रन्थिका नाम दिया है।

ईडिपस यूनानी पुराणोंमें वर्णित एक राजा है। उसका जन्म होनेपर भविष्यवक्ताने उसके पिता राजा लाइअसको सावधान किया कि उसकी मृत्यु उसके पुत्र ईडिपस द्वारा होगी। लाइअसने भयभीत होकर ईडिपसको फेंकवा दिया, लेकिन वह बच गया और उसका पालन-पोषण अन्यत्र हुआ। युवा होनेपर उसने संयोगवश अनजाने ही अपने पिताकी हत्या कर दी और अनजाने ही अपनी विधवा माता जोकेस्टासे विवाह कर लिया। आगे चलकर सत्य ज्ञात होनेपर ईडिपसने अपनी आँखें फोड़ लीं और जोकेस्टाने आत्महत्या कर ली। इसी प्रकार राजकुमारी एलेक्ट्राकी कथा यूराइपिटीजमें मिलती है, जिसने अपनी मातासे पिताकी हत्याका बदला लिया था। फ्रायडने ईडिपस और एलेक्ट्राको माताके प्रति पुत्रकी और पिताके प्रति पुत्रीकी आसक्तिका प्रतीक मानकर इन मनोग्रन्थियोंको यह नाम दिया।

दूसरी महत्त्वपूर्ण मनोग्रन्थि आत्महीनताकी है। इसपर ऐडलरने बहुत बल दिया है और वह इसे मनुष्यकी प्रधान प्रेरक शक्ति मानता है। इसमें व्यक्ति अपने शरीर, रूप, बौद्धिक क्षमता, पारिवारिक सामाजिक स्तर, आर्थिक स्थिति आदिमें किसी वास्तविक या काल्पनिक हीनताके कारण दूसरोंकी दृष्टिमें अपनेको तुच्छ समझने लगता है। आत्महीनताकी मनोग्रन्थिसे प्रेरित होकर अपनी तथा दूसरोंकी दृष्टिमें अपना आत्मसम्मान स्थापित करनेके लिए व्यक्ति बड़ा प्रयास करता है, किसी-न-किसी क्षेत्रमें विशेष सफलता और यश प्राप्त करके नैसर्गिक क्षतिकी पूर्ति कर लेना चाहता है। यह मनोग्रन्थि चेतन और अचेतन, दोनों प्रकारकी हो सकती है। चेतन होनेपर व्यक्तिमें आत्मविश्वासका अभाव रहता है और अपने सम्बन्धमें सदैव तुच्छ भावोंसे आक्रान्त रहता है। अचेतन होनेपर व्यक्ति अपने सम्बन्धमें एक झूठी श्रेष्ठ भावना तथा आक्रमणात्मक और अहंकारी व्यवहार द्वारा अपनी हीनताकी क्षतिपूर्ति करता है। अपनी श्रेष्ठता, अपने सद्‌गुणों और नैतिक उच्चताकी प्रशंसा और प्रचार स्वयं करते रहनेवाले व्यक्ति वस्तुतः अपनी आत्महीनताकी ही निष्कृति किया करते हैं। इस मनोग्रन्थिका आरम्भ अधिकतर बचपनमें ही होता है और व्यक्तिकी जीवनशैली, चरित्र, योग्यता और सफलतापर उसका गम्भीर प्रभाव पड़ता है। आत्यन्तिक स्थितिमें उससे मानसिक विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं।

अपनेको अपराधी या पापी माननेकी मनोग्रन्थिका उद्भव किसी नैतिक च्युतिकी अनुभूतिसे होता है। यह भी चेतन अथवा अचेतन, दोनों प्रकारकी हो सकती है और उससे प्रेरित होकर व्यक्ति विचित्र व्यवहार करने लगता है। व्यक्तिके जीवनमें अत्यधिक शुद्धतावाद प्रायः किसी पूर्वकृत नैतिक अपराधकी चेतन अथवा अचेतन स्मृति या उसके निमित्त प्रायश्चित्तका द्योतक होता है। अपराधकी

मनोग्रन्थिसे कभी कभी जटिल मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। प्रतिशोध-मनोग्रन्थिसे पीडित व्यक्ति बदला लेनेकी उद्दाम भावनासे आक्रान्त हो जाता है। जाने-अनजाने वह ऐसे काम कर बैठता है, जिससे वह अपनी अप्रसन्नता या कोपके भाजनको हानि पहुँचाकर उससे बदला लिया करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-प्रकृतिका सम्यक् परिचय प्राप्त करनेके लिए मनोग्रन्थियोंका अध्ययन बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। मनोविश्लेषण-युगके पूर्व मनुष्यके हृदयके गुप्त स्तरोंमें केवल महान् प्रतिभा ही पैठ सकती थी, किन्तु मनोविश्लेषण द्वारा उपलब्ध ज्ञानके आधारपर हम स्वयं अपनेको तथा समकालीन व्यक्तियों और सहयोगियोंको ही नहीं, अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों और कृतियोंको भी अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। महाभारतकालके कर्ण और एकलव्य आत्महीनताकी भावनासे ग्रस्त अपनी श्रेष्ठताको सिद्ध करनेवाले व्यक्ति हैं। यदि कालिदास और शेख सादीके सम्बन्धमें किंवदन्तियाँ सत्य हों तो निश्चय ही आत्महीनताकी भावनाने उनको क्षतिपूर्तिके निमित्त उत्कट प्रयास करनेके लिए विवश किया होगा। भूषण अपनी भाभीके स्त्रियोचित तानेपर घर छोड़कर चले गये थे और अन्तत अपनेको परिवारका सर्वश्रेष्ठ कमाऊ सदस्य सिद्ध करके अपनी भाभीके पास एक लाख रुपयेका नमक भेजा था। यह भी आत्महीनताकी भावनासे प्रेरित होकर कुछ कर दिखानेका दृष्टान्त है। शेक्सपीयरकी लेडी मैकबेथका सोते-सोते हाथ धोना उसकी अपराध-मनोग्रन्थिकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। नित्य नूतन प्रेमिकाओंके प्रेममें पड़नेवाला दुष्यन्त भारतीय डान जुआन कहा जा सकता है। मनोविश्लेषणके अनुसार ऐसे व्यक्ति ईडिपस मनोग्रन्थिसे पीडित होते हैं और अपनी प्रेमिकाओंमें अपनी माताका प्रतिरूप खोजा करते हैं। अपनी मातासे कुछ भी मिलती-जुलती नारी मिलते ही वे उसपर मुग्ध हो जाते हैं और अपनी भूल अनुभव करते ही उनका प्रेम उड़ जाता है। मनोविश्लेषणने बीसवीं शताब्दीकी कला और साहित्यको बहुत प्रभावित किया है। हिन्दी साहित्यपर भी उसका प्रभाव पड़ा है। —आ० रा० शा०

मनोरमा—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। इस नवीन छन्दका प्रयोग केशवने किया है। मनोरमा नामका एक अन्य वृत्त (न, र, ज, ग) प्राप्त है, जो इससे भिन्न है। सूदनने इसी नामसे ३ तगण और गुरु(सु० च० . पृ० २२५)का एक छन्द और प्रयुक्त किया है, पर इसमें चार सगणों और दो लघुओंका योग होता है। (IIS, IIS, IIS, IIS, II), उदा०—'नृप रावणकी भगिनि गनि मो कहँ। जिसकी ठकुराइन तीनिहु लोकहँ। (रा० च० ११ ३५)। —पु० शु०

मनोविकार—मनुष्य विविध प्रकारके मानसिक रोगों-मनोविकारोंसे पीडित होता है। इनमेंसे कुछका कारण शारीरिक और कुछका मानसिक होता है। पागलपन कभी-कभी मस्तिष्कमें क्षति पहुँचनेसे, किसी विषके प्रभावसे अथवा पैतृकताके कारण उत्पन्न हो जाता है। कण्ठग्रन्थि-(थायराएड ग्लैण्ड)की प्रक्रियाके आत्यन्तिक विभेदनसे बालक लगभग जड बुद्धिका हो जाता है। इसी प्रकार पक्षाघात, थकान, विराग, विरुचि, नपुंसकता आदि नितान्त शारीरिक कारणोंसे भी होते हैं और इन्हें मौलिक मनोविकार कहा जा सकता है, किन्तु आधुनिक मनोविज्ञानने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्यके अधिकांश शारीरिक रोग और मनोविकार मानसिक संवेगात्मक कारणोंसे होते हैं। ऐसे मानसिक विकारोंको व्युत्पन्न मनोविकार कहा जा सकता है। इनके अन्तर्गत मनोदौर्बल्य, स्नायविक रोग, कल्पनाग्रह, हठप्रवृत्ति, भीतिरोग, चिन्तारोग, उन्माद, स्थिरभ्रम, असामयिक मनोह्रास, उत्साह-विषाद-चक्र-मनोदशा आदि विकार आते हैं। मनोविश्लेषण सम्बन्धी प्रकरणोंमें यह संकेत किया जा चुका है कि व्युत्पन्न मनोविकारोंका कारण अतृप्त और दमित मूल प्रवृत्तियाँ और मनोग्रन्थियाँ होती हैं। व्यक्तिके मानसिक स्वास्थ्यके लिए यह आवश्यक है कि उसकी मौलिक प्रवृत्तियों और स्थायी भावोंको सामाजिक ढंगसे व्यक्त और कृतार्थ होनेका अवसर मिलता रहे, अन्यथा व्यक्ति कुण्ठित हो जाता है, अनेक मनोग्रन्थियाँ उसके अचेतनको आक्रान्त करके उसे शारीरिक रोगों और मनोविकारोंका शिकार बना देती हैं। (दे०—'मनोग्रथियाँ') —आ० रा० शा०

मनोविश्लेषण (psychoanalysis)—अपने प्रमुख और प्रारम्भिक रूपमें मानसिक और स्नायविक रोगोंकी चिकित्साकी विशेष विधि है, जिसके आस-पास मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंका संघटन हो गया है। इसके जन्मदाता सिग्मण्ड फ्रायड थे और उन्होंने इसका उपयोग चिकित्साशास्त्रमें ही किया। परन्तु चिकित्साकी यह विधि जिन मूल सिद्धान्तोंपर आधारित है, उन सिद्धान्तोंके स्पष्टीकरण, समर्थन-विरोध, अन्य सिद्धान्तोंकी स्थापना आदिसे फ्रायडके समयसे अबतक मनोविश्लेषणने इतनी प्रगति की है कि आधुनिक युगकी कोई भी विचारधारा इसके प्रभावसे अछूती नहीं रह सकी है। मानसिक स्नायविक रोगोंकी चिकित्सा करते समय फ्रायडने देखा कि सम्मोहन-क्रिया (hypnotism) अथवा वार्तालापमें स्वच्छन्द-विचार-साहचर्यसे बहुतसे पुराने अनुभव पुनरुज्जीवित हो उठते हैं। उन्होंने यह भी पाया कि इन अनुभवोंका मूल कारण कामवृत्ति और उसका अचेतन रूपसे दमन है। इस प्रकार वे जिस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तपर पहुँचे उसका सार तीन शब्दोंमें व्यक्त हो सकता है—शैशवीय दमित कामवृत्ति। उनके अनुसार यह जीवनमें मुख्य प्रेरक शक्ति है, यह शिशुके जन्मसे ही कार्यशील रहती है और इसका प्रकाशन मानवके समस्त व्यवहारमें परोक्ष रूपसे होता है। इस शक्तिको अधिक व्यापक अर्थ देनेके लिए वे 'लिबिडो' शब्दका प्रयोग करते हैं। शैशवमें जब मानसमें केवल 'इड' ही विकसित रहता है, दमनका प्रश्न नहीं उठता, किन्तु सामाजिक और नैतिक दबावोंके कारण अहं और सुपर ईगो या 'आदर्श अहम्'का विकास होने लगता है और स्वाभाविक कामेच्छाओंका दमन होता जाता है। इन दमित इच्छाओंसे अचेतन मानसका निर्माण होता है। इच्छाओंके दमनका सिद्धान्त दो विचारोंपर आधारित है, एक तो यह कि जो निषिद्ध है वह इच्छाका विषय होता है, दूसरे यह कि

जिससे भय लगता है, वह भी इच्छाका विषय है। प्रबल इच्छाका दमन ही चेतन मनमें भयका रूप ले लेता है। इन विचारोंके फलस्वरूप फ्रायडके सिद्धान्तमें यह माना गया है कि शिशुकी कामवृत्ति अपने माता-पिता और भाई-बहनोंकी ओर प्रेरित होती है, परन्तु नैतिक निषेधोंके कारण इस वृत्तिका दमन होता रहता है और व्यक्तिके मनमें कुण्ठाएँ बन जाती हैं। **ईडिपस कुण्ठा** (अथवा भावग्रन्थि) फ्रायडके सिद्धान्तमें विशेष महत्त्वपूर्ण है। ग्रीक नायक ईडिपस(जिसने अपने पिताकी हत्या करके अपनी मातासे विवाह किया था)के नामसे फ्रायड यह व्यक्त करते हैं कि शिशुके मनमें विपमलिंगी जनकके प्रति कामेच्छा और समलिंगी जनकके प्रति ईर्ष्या अवश्य होती है। इन दोनोंका दमन करके नैतिक और सामाजिक रूपसे स्वीकृत प्रेम और आदरके भाव प्रकाशित किये जाते हैं। यदि व्यक्तित्व-का संघटन दुर्बल हो और कोई संवेगात्मक आघात लगे तो यह ईडिपस कुण्ठा अनेक मानसिक रोगोंको जन्म देती है। साधारण स्वस्थ जीवनमें भी ये दमित वासनाएँ और कुण्ठाएँ अपनेको व्यक्त करनेका प्रयत्न करती रहती हैं, परन्तु **आदर्श अहम्** (सुपर ईगो) द्वारा निर्मित प्रतिरोधके कारण ये अपने स्वाभाविक रूपमें व्यक्त नहीं हो पातीं और कपट वेशोंमें प्रकट होती हैं। ये कपट रूप स्वप्न और जाग्रत् जीवनकी भूलें हैं। अधिक प्रबल होनेपर हिस्टीरिया, खण्डित व्यक्तित्व, अपराध-भावना आदि बहुतसे मानसिक-स्नायविक रोग हो जाते हैं। फ्रायडके मनोविश्लेषण-सिद्धान्तमें यह सिद्धान्त भी निहित है कि मानवका छोटेसे छोटा व्यवहार भी सप्रयोजन होता है, मानसिक जीवनमें कुछ भी अकारण अथवा निष्प्रयोजन नहीं होता। फ्रायडके अनुसार प्रयोजन या प्रेरणा प्रमुखत कोई कामेच्छा होती है, जिसे हम मनोविश्लेषणके द्वारा जान सकते हैं। इस प्रकार **मनोवैज्ञानिक अभिप्राय** या प्रयोजन भी फ्रायडके सिद्धान्तका आधार है।

मनोविश्लेषणके जन्मदाता फ्रायड थे, अत प्रमुख रूपमें मनोविश्लेषणसे उन्हींके सिद्धान्तका बोध होता है। कला और साहित्यपर भी उनके विचारोंका बहुत ही प्रभाव पड़ा है। फ्रायडके सिद्धान्तको यौनवाद भी कह सकते हैं। फ्रायडके अनुसार कला और धर्म, दोनोंका उद्भव अचेतन मानसकी संचित प्रेरणाओं और इच्छाओंसे ही होता है—इस कामशक्तिके उन्नयनके फलस्वरूप कलाकार सर्जन करता है। मानसिक जीवनमें यथार्थ और सुखेच्छाके बीच जो संघर्ष होता है, उसका समाधान कलाकार कलाके द्वारा करता है। फ्रायडके कलाविषयक सिद्धान्तोंने कलाके आलोचकोंको काफी सीमातक प्रभावित किया है और उनके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंने आधुनिक कथा-साहित्यको बहुत प्रेरणा दी है, किन्तु मनोविश्लेषण केवल फ्रायडतक ही सीमित नहीं है, अन्य मनोविश्लेषकोंने अपने अनुसन्धानों द्वारा कुछ नये सिद्धान्त भी दिये हैं। फ्रायडके ही सहकारियों और शिष्योंमें ऐडलर और युंगने फ्रायडसे भिन्न सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है।

ऐडलरके मनोविज्ञानमें **लिबिडो** अथवा **कामवृत्ति**का उतना महत्त्व नहीं है जितना **अहम्**का। उनका मत है कि फ्रायड कामवृत्तिको अनावश्यक महत्त्व देते हैं, मानसिक-स्नायविक रोगोंका मूल कारण कामवृत्तिके अतिरिक्त अहकी माँग भी हो सकती है। प्रत्येक व्यक्तिमें स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति अहंस्थापन(self assertion)की होती है। इस अहंस्थापनकी इच्छा और जीवनके यथार्थका विरोध ही मानसिक जीवनकी मुख्य समस्या है। यह इच्छा-जीवनके तीन क्षेत्रोंमें व्यक्त होती है—समाज, व्यवसाय और विवाह। इस प्रकार ऐडलरके मनोविज्ञानमें आत्मस्थापनकी प्रवृत्ति ही प्रमुख है, कामवृत्ति नहीं। मानसिक-स्नायविक रोगका मूल कारण हीनत्व-कुण्ठा है, यथार्थसे संघर्षके कारण व्यक्तिके आत्मस्थापनको सन्तोष नहीं मिल पाता और उसमें हीनत्वभावना विकसित हो जाती है। इस भावनासे मुक्ति पानेके लिए व्यक्ति प्रयत्न करता है, इसका दमन करता है। दमनके परिणामस्वरूप कुछ व्यक्तियोंमें अत्यधिक गर्व आ जाता है, जिसे हम हीनत्वकुण्ठाका कपट-रूप मान सकते हैं। हीनत्वभावनासे बचावके लिए व्यक्ति कुछ सरल साधन खोज लेता है, वह साधन कोई विशेष 'जीवन-शैली' होती है। जीवन-शैली जीवनके प्रारम्भिक वर्षोंमें ही निश्चित हो जाती है और परिवारमें व्यक्तिकी स्थितिसे निश्चित होती है। ऐडलरके अनुसार एकलौते बच्चे, प्रथम सन्तान, द्वितीय सन्तान, अन्तिम सन्तान, सबकी जीवन शैली पारिवारिक वातावरणसे निश्चित होती है। ऐडलरके इन सिद्धान्तोंका साहित्य और अन्य विचार-क्षेत्रोंपर उतना प्रभाव तो नहीं पड़ा, जितना फ्रायडके मतका, फिर भी उनके दिये हुए तथ्य मानसिक जीवनकी समस्याओंको सुलझानेमें काफी सहायक सिद्ध हुए हैं और साहित्यमें भी उनका उपयोग होता है।

युंगने भी मनोविश्लेषणके सिद्धान्तोंमें कुछ सुधार करके अपना मत दिया है। वह भी फ्रायडके इस मतके विरोधी थे कि जीवनकी प्रमुख प्रेरक शक्ति काम है। उन्होंने **लिबिडो** शब्दका अधिक विस्तृत अर्थ लिया, जिसमें फ्रायडकी कामवृत्ति और ऐडलरकी आत्मस्थापन-प्रवृत्ति, दोनों ही सम्मिलित हैं। वह उसे जीवनकी वह प्रारम्भिक और सामान्य प्रेरक शक्ति मानते हैं, जो मानवके सभी व्यवहारोंमें व्यक्त होती है। यह शक्ति 'जीवन-शक्ति' या 'मन शक्ति' कही जा सकती है। यह वह मूल शक्ति है जो विकास, क्रिया और जनन, तीनों लक्ष्योंमें अपनेको व्यक्त करती है। युंगके मनोविज्ञानका दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उनके अनुसार यह शक्ति एक अन्तिम साम्यावस्थाकी ओर उन्मुख रहती है। फ्रायड सदा वर्तमानको अतीतकी दृष्टिसे देखते थे, युंग भविष्यकी दृष्टिसे देखते हैं।

युंगका सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त व्यक्तित्वके प्रकारोंका सिद्धान्त है। उनके अनुसार व्यक्ति मुख्यत दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जिनका ध्यान और शक्ति अपनेपर ही केन्द्रित रहती है, दूसरे वे जिनकी शक्ति सामाजिक और भौतिक वातावरणकी ओर प्रकट होती है। पहले प्रकारके व्यक्ति **अन्तर्मुखी** और दूसरे प्रकारके **बहिर्मुखी** होते हैं। अन्तर्मुखी व्यक्ति विचारों और भावनाओंमें केन्द्रित होनेके कारण अधिक भावुक, कल्पनाशील, एकान्तप्रिय और अव्यावहारिक होते हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति व्यवहार-कुशल,

समाजप्रिय और क्रियाशील अधिक होते हैं।

मनोविश्लेपणका सिद्धान्त विचार-जगत्में न्यूटन-कोपरनिकस, आईन्स्टाइन और मार्क्सके सिद्धान्तोंकी भाँति क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है। वह बीसवीं शताब्दीमें विश्व-मनीषाका एक अन्यतम महत्त्वपूर्ण तथा अविभाज्य अंग बन गया है। मनुष्यके हृदय तथा उसकी वास्तविक प्रेरणाओंका जो ज्ञान पहले केवल प्रतिभाशाली अन्तर्दृष्टिके लिए ही सम्भव था वह अब सामान्य ज्ञानका विषय है। साहित्य और कलापर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। कलाके क्षेत्रमें डाडाइज्म, सुररियलिज्म जैसे नूतन आन्दोलनोंको उसने प्रेरित किया है। नैतिकता और उसके प्रतिमानोंपर उसने नया प्रकाश डाला है और स्वच्छन्द विचारकोंकी एक नयी पीढ़ीको जन्म दिया है। अँग्रेजी साहित्यमें डी०एच० लारेन्स और जेम्स जॉएस इस प्रवृत्तिके प्रतिनिधि लेखकोंमें हैं, यद्यपि मनोविश्लेपणसे उनका सीधा सम्बन्ध नहीं है। हिन्दी साहित्यमें इलाचन्द्र जोशी प्रमुख लेखक हैं, जिन्होंने मनोविश्लेपण और उसकी पद्धतिसे प्रत्यक्ष प्रेरणा ग्रहण की है। 'सन्यासी', 'प्रेत और छाया' तथा 'पर्देकी रानी' आदि उनके मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासोंके श्रेष्ठतर उदाहरण हैं। —प्री० अ०

मनोवैज्ञानिक अभिप्राय–दे०—'मनोविश्लेपण'।

मनोहंस–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। स ज ज भ र के योगसे यह वृत्त बनता है (IIS, ISI, ISI, SII, SIS)। 'प्राकृतपैंगलम्'में इसका मनोहस (२ १६२) नाम दिया है, पर जाने किस कारण केशवने इस छन्दका नाम भी कलहस दिया है और स ज स स ग (IIS, ISI, IIS, IIS, S, रा० च० १५ १४) लक्षणवाले छन्दका नाम भी कलहस दिया है। 'छन्दकोस्तुभ'में दूसरे छन्दका नाम कलहंस दिया है (२ ९६), अत सम्भव है, पहले मनोहसका कलहंस नाम भूलसे दिया गया हो। उदा०—'तहँ ताहि दै बरुको चले रघुनाथ जू। अति सूर सुन्दर यों लसै ऋपि साथ जू।' (रा० च० ५ ७)। —पु० शु०

मरजिया भाव–मरकर जीनेका भाव। ससारके लिए साधक मृतके समान होकर परमात्माके प्रेमको लेकर जीवित रहता है। ससारके सभी प्रपचोंसे वह दूर हो जाता है। उसकी अपनी कोई कामना, अपनी कोई वासना नहीं रह जाती। अपने 'अहं'को मिटाकर परमात्माका प्रेम प्राप्त करनेके लिए सब कुछ करनेको वह तैयार रहता है। सूफी साधक अबू मजीदने कहा है कि 'संसारसे शत्रुता कर मैं परमात्माके पास भागा, लेकिन उसके प्रेमने इस प्रकारसे मेरे ऊपर काबू कर लिया कि मैं स्वय अपना दुश्मन बन गया।' इसी प्रकारसे अल शिवलीने कहा है कि 'प्रेम हृदयमें अग्निके समान है जो परमात्माकी इच्छाके सिवा अन्य सभी वस्तुओंको गलाकर भस्मीभूत कर देता है।' ऐसी अवस्थामें वह प्रेमके लिए पागल बना रहता है और उसकी प्राप्तिके लिए किसी प्रकारके कष्टको कष्ट नहीं समझता। विशुद्ध ज्ञान और प्रेम दोनोंकी प्राप्ति इसी प्रकारके साधकके लिए सम्भव है और बिना इन दोनोंके परमात्माके साथ 'एकमेक' होना सम्भव नहीं। —रा० पू० तिं०

मरण (मृति)–सचारी भावोंमें इसकी गणना होनेसे प्रश्न उठ सकता है कि यदि भरतने मरणके प्रदर्शनका निपेध किया तो उन्होंने स्वयं ही सचारियोंके अन्तर्गत इसकी विवेचना क्यो की? इसका समाधान 'नाट्यदर्पण' एवं 'काव्यानुशासन'में किया गया है। वहाँ बताया है कि 'मरणकी पूर्वावस्था मृति है। क्योंकि मरणका अनुभव साक्षात् सम्भव नहीं।' 'नाट्यदर्पण'में कहा गया है कि 'मृत्युका सकल्प' यहाँ अभिप्रेत है, कारण कि कोई भी ऐसा भारी अनर्थ हो जाता है जिससे व्यक्तिकी समझमें आता है कि इसका कोई प्रतिकार सम्भव नहीं अत 'मैं अवश्य मर जाऊँगा'। यह निश्चय ही मनमें आना मरणका द्योतक है और प्राणोंका उत्सर्गरूप मरण नाट्यमें निषिद्ध है इसलिए उसके विभाव एव अनुभावोंकी चर्चा नहीं करते (ना० द० ३ १३७)। जगन्नाथ भी 'रसगगाधर'में 'मरण'का यही अर्थ लगाते हैं। भरतने कहा है कि 'मरण' दो प्रकारसे हो सकता है- 'व्याधि'से अथवा 'आघात'से (ना० शा० . ७ ८ ६ग), और उन्होंने इन दोनों प्रकारके मरणके विस्तारसे विभावों एवं अनुभावोंका वर्णन किया है। इस भावसे अभिभूत व्यक्तिकी इन्द्रियाँ विकल हो जाती हैं, गात्र शिथिल हो जाते हैं। यद्यपि इस मनोभावका प्रभाव शरीरपर अथवा शारीरिक अनुभावोंपर होता है, तथापि इसको शारीरिक अवस्था नहीं कहा जा सकता। धनजयने तो इसकी परिभाषा भी नहीं दी, पर धनिक द्वारा दिये उदाहरणसे स्पष्ट है कि यह मनकी ऐसी अवस्था है जब कि विरहमें व्यक्ति मरणासन्न-सा रहता है। उदाहरणमें, प्रोषितभर्तृकाको प्रियतमसे मिलनेकी उत्कट अभिलाषा है, लौटनेके निश्चित दिवसपर उसके न आनेपर वह ऐसा व्यवहार करती है मानों अब शीघ्र ही वह इस ससारसे प्रस्थान कर देगी। इस उदाहरणके साथ धनिककी व्याख्याका भी ध्यान रखना होगा। वह कहते हैं कि शृगारके आलम्बनमें मरणका वर्णन नहीं हो सकता, यद्यपि अन्य रसोंमें इसका यथेष्ट वर्णन सम्भव है।

हिन्दीके आचार्योंने प्राय उपर्युक्त मतको ही स्वीकार किया है। देवके अनुसार—'प्रगटहिं लच्छन मरनके, अरु विभाव अनुभाव।' उन्होंने शृगारमें अभाव भी माना है और 'निर्वेदादिक भाव सब, बरनै सरस सुभाइ' (भाव० संचारी) भी कहा है, पर अन्य कईने 'प्रान त्याग कहिये मरन' कहकर 'सो न बरनिबे जोग' (जगत० ५४६) कहा है। देवका उदाहरण—'चेति मरू करिके चितई जब चारि घरी लों मरी सी धरी रही (भाव० सचारी)। वस्तुत मृत्युके समान कष्टका अनुभव हो, पर इस प्रकारकी मृत्युका दु ख न हो—'आज पतिहीना हुई, शोक नहीं इसका, अक्षय सुहाग हुआ, मेरे आर्य पुत्र तो आज अमर हैं सुयशके शरीरमें।' (का० द० पृ० २०)—ज० कि० व०

मरसिया–अरबी-फारसीकी पद्धतिपर उर्दूका वह शोकगीत जो किसी मृत व्यक्तिकी यादमें लिखा जाय, 'मरसिया' कहलाता है। परन्तु इसका विशिष्ट अर्थ भी है। उर्दू काव्यमें जब केवल मरसिया शब्दका प्रयोग किया जाय तो प्राय उसका तात्पर्य हजरत मुहम्मद साहबके नवासे इमामहुसेन और उनके साथियोंकी स्मृतिमें लिखे शोकगीतसे होता है, जो कर्बलाके मैदानमें सत्यकी रक्षामें शहीद

हुए थे। परन्तु मरसियेका महत्त्व केवल इस धार्मिक कारणसे नहीं है, बल्कि इस ढाँचेमें उर्दू कवियोंने बहुतसे विषय सम्मिलित करके इसे काव्यका बहुत महत्त्वपूर्ण रूप बना दिया है।

मरसिये उर्दूमें प्रारम्भिक कालमे ही पाये जाते हैं। कुछ लोगोंका तो यह मत है कि उर्दूमें काव्य-रचनाका आरम्भ मरसियेसे ही हुआ। 'सौदा' और 'मीर'के युगसे कई सौ वर्ष पूर्वके मरसिये भारत और इंगलिस्तानके भिन्न-भिन्न पुस्तकालयोंमें सुरक्षित हैं।

लखनऊ स्कूलके पहले उर्दूमें मरसियोंका कोई रूप निश्चित नहीं था। लोग मुरब्बा (चार मिसरे), मुनल्लस (तीन मिसरे) और गजल इत्यादिके माध्यमसे ही मरसिये कहते थे। लखनऊमें मुसद्दसकी आकृति मरसियेके लिए निश्चित हो गयी और इसके पश्चात् मरसिया मुसद्दसमें ही लिखा जाने लगा।

प्रेम और आशिकीके विषयसे अलग होकर उर्दू मरसियेने यह दिखाया कि मानव-सम्बन्धोंमें बहुतसे ऐसे भी सम्बन्ध हैं, जिनका लगाव यौन आकर्षणके आधारपर नहीं है, जैसे, भाई-बहनका प्रेम, स्वामी-सेवकका प्रेम आदि। इन सब सम्बन्धोंको मरसियेने उभारा, नहीं तो मानव-जीवनके कितने ही पहलुओंसे उर्दू-काव्य वंचित रह जाता।

मरसियेमें यद्यपि प्राय इमाम हुसेनके घरानेकी उन घटनाओंका वर्णन होता है जो कर्बलाके मैदानमें घटित हुई, परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उन मरसियोंमें १९वीं शताब्दीके ऊँचे घरानोंकी सभ्यता और संस्कृतिकी झाँकियाँ मिलती हैं। छोटा भाई बडे भाईका जैसा आदर करता है, भानजे मामाके प्रति जिस प्रकारकी श्रद्धा रखते हैं, वृद्ध जिस प्रकार अपने छोटोंसे पेश आते हैं, एक परिवारमें सब लोग एक-दूसरेके प्रति सहानुभूति और शुभचिन्तना करते हैं, स्त्रियाँ जिस प्रकार बातचीत करती हैं—इन सबका वर्णन मरसियेमें इस प्रकार किया गया है कि उन्नीसवीं शताब्दीके नवाबी घरानोंके चित्र दृष्टिके सामने आ जाते हैं। यात्राकी तैयारी, विवाह और उसके रस्म-रिवाज इत्यादि वर्णनोंके द्वारा मरसिया सामाजिक जीवनके ऐसे नमूने पेश करता है जो उर्दू कवितामें और कहीं नहीं मिलते।

प्रकृति-वर्णन उर्दूमें मरसियेमें ही मिलता है। बहार और खिजाँ (पतझड), प्रात और सन्ध्या, गर्मी और धूपके सैकडों दृश्य पेश करके उर्दूमें दृश्य-चित्रणकी वृद्धि मरसिये द्वारा ही हुई है और वीरता, साहस तथा युद्धके कार्योंका ऐसे ढंगसे वर्णन किया गया है कि उर्दूमें महाकाव्य-(रजमिया)का श्रीगणेश हुआ। यह नहीं कि युद्धके मैदानका चित्र और बाजोंका जोर-शोर दिखाकर ही यह क्रम समाप्त हो जाता है, बल्कि मरसियोंमें लड़ाईके दृश्य विस्तारपूर्वक वर्णन किये गये हैं, जिनमें लडनेवालोंका मैदानमें आना, नारा लगाना, शत्रुओंका सामना करना, लडनेवालोंका दूसरोंपर वार करना, भिन्न-भिन्न हथियारोंके प्रयोग आदिका वर्णन मरसियेमें मिलता है।

मरसियेने उर्दू-काव्यको एक सकुचित दुनियासे निकालकर विस्तृत ससार दिखाया। चरित्र चित्रण, कथनोपकथन या सलाप, स्वाभाविक शिक्षा, नये शब्दों और मुहाविरोंके प्रयोगसे उसे विस्तृत रूप दिया गया है। युद्धक्षेत्रका वर्णन लिखकर उसने गजलमे पैदा हुए विलासिताके वातावरणमें उत्साह, उमग और पौरुषके भाव प्रविष्ट किये हैं। सक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि मरसियेने उर्दू शायरीको जिस उच्चतापर पहुँचाया, उसको जितने गुणोंसे सम्पन्न किया, किसी और काव्यके रूपने नहीं किया। —म०

मरहटा—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'में इसका लक्षण १०, ८, ११ की यतिसे २९ मात्राका चरण और अन्तमें ग ल (ऽ।) दिया है (१ . २०८)। भिखारीदासने (छन्दो० · पृ० ३७) इसका उदाहरण दिया है और भानु(छं० प्र० : पृ० ६९)ने इसी रूपमें इसे स्वीकार किया है। इस छन्दका प्रयोग केशव (रा० च०) तथा सूदन (सु० च०) आदिने किया है। उदा०—'इक दिन रघुनायक, सीय सहायक, रतिनायक अनुहारि। शुभ गोदावरि तट, विमल पंचवट, बैठे हुते मुरारि।' (रा० चं०)।

मराठी (भाषा तथा साहित्य)—मराठी भाषाका 'मराठी' नाम कैसे व्यवहृत हुआ, इसके सम्बन्धमें विद्वानोंके विभिन्न मत हैं। 'प्राकृतप्रकाश'का अन्तिम सूत्र है, 'शेष महाराष्ट्रिवत्'। अर्थात् शेष सब महाराष्ट्री भाषाके अनुसार ही। इसका सम्बन्ध उन सभी प्राकृत भाषाओंसे है, जो व्याकरणके नियमोंमें 'महाराष्ट्री' प्राकृत भाषासे बहुत समानता रखती हैं। 'शौरसेनी' भाषाके उन नियमोंको बता देनेपर जो 'महाराष्ट्री' भाषाके नियमोंसे कुछ भिन्न हैं, शेष नियमोंके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि वे महाराष्ट्रीके समान ही हैं। इससे यह निर्णय लगाया जा सकता है कि प्राकृत भाषाओंमें उस समय 'महाराष्ट्री' अग्रसर थी। यह 'महाराष्ट्री' प्राकृत अति प्राचीन मराठी है। कात्यायनके अन्तिम सूत्रमें 'प्राकृत' और 'महाराष्ट्री', ये दोनों शब्द करीब करीब समानार्थक ही हैं। इसी 'महाराष्ट्री' प्राकृतसे 'महाराष्ट्री' अपभ्रंश भाषा बनी और उससे आधुनिक मराठी। अत यह नामकरण उतना ही पुराना है जब भारतमें प्राकृत भाषाओंमें साहित्य लिखा जाता था, प्राकृत भाषाएँ बोली जाती थीं। इस 'महाराष्ट्री'-का नामकरण किसी विशेष भौगोलिक प्रदेशके कारण नहीं हुआ होगा, बल्कि वह बाकी राष्ट्रोंकी अपेक्षा अधिक विस्तृत महाराष्ट्रमें बोली जानेवाली भाषा हुई होगी। लेकिन बादमें वह देश महाराष्ट्र कहा जाने लगा होगा। प्रख्यात विद्वान् राजाराम शास्त्री भागवतने भी अपना मत इसीके अनुकूल दिया है।

मराठी भाषा बोलनेवाले अधिकतर महाराष्ट्रमें ही रहते हैं; जिस देशके उत्तरमें नागपुर, पश्चिममें अरबसागर, पूर्वमें भण्डारा, चाँदा जिले तथा मराठवाडा और दक्षिणमें बेलगाँव जिला है। इसके अलावा जहाँ-जहाँ मराठे लडाई जीत गये वहाँ-वहाँ आजतक मराठी बोलनेवालोंकी सख्या बहुत है, जैसे, तंजोर, इन्दौर आदि। लेकिन इनको हम महाराष्ट्र नहीं कह सकते। थोडेमें अगर कहा जाय तो गुजरातको छोडकर और बेलगाँव और गोवाको जोडकर जो आजका बम्बई राज्य है, वही महाराष्ट्र है।

१९४१ की गणना(मर्दुमशुमारी)के अनुसार मराठी बोलनेवालोंकी संख्या २,०८,८९,६५८ थी और कोंकणी, जो मराठीकी ही एक उपभाषा है, बोलनेवालोंकी संख्या ४,७१,७३५ थी। इस तरह कुल मिलकर संख्या २,१३, ६१,३९३ होती है, जो अब १९५१ तक करीब २ करोड़ ८० लाखतक बढ़ी है।

लिपिके सम्बन्धमें हिन्दी और मराठी बहुत ही पासकी भाषाएँ हैं। देवनागरी लिपिमें ही मराठी भाषा भी लिखी जाती है।

ध्वनिगत विशेषताएँ—(१) वर्त्स्य-स्पर्श व्यंजन च्, छ्, झ् ये मराठीमें अधिक हैं जो हिन्दीमें नहीं हैं, (२) लेकिन इनको स्पर्श संघर्षी तालव्य च्, छ्, ज् और झ् से अलग दिखानेके लिए स्वतन्त्र लिपि-चिह्न नहीं है। इनमें 'ज्' वर्त्स्य स्पर्शका उच्चारण हिन्दी 'ज'(नुक्तावाला)के समान होता है। (३) हिन्दीके संघर्षी व्यंजन क़्, ख़्, ग़् मराठीमें नहीं हैं। (४) उसी प्रकार ड़ ड, ढ़ ढ, फ़ फ, ख़ ख, ग़ ग, क़ कके उच्चारणोंमें भेद दिखानेवाले ध्वनिचिह्न मराठीमें नहीं है। इनमेंसे क़, ख़ और ग़, फ़ ध्वनियाँ मराठीमें है ही नहीं।

व्याकरणगत विशेषताएँ—(१) संज्ञा तथा सर्वनामके तीन लिंग होते हैं। (२) संज्ञामें विभक्ति-प्रत्यय लगनेके पूर्व संज्ञाका मूल रूप बदलता है। उसमें आगम लगाकर सामान्य रूप बनाया जाता है और बादमें विभक्ति-प्रत्यय लगते है। जैसे घोड़ा (संज्ञा)—ला (द्वितीया एकवचनका प्रत्यय), इसकी प्रक्रिया ऐसी होती है—घोडा+ला=घोड्+या+ला= घोड्या+ला=घोड्याला। (३) विभक्ति-प्रत्यय संज्ञा-सर्वनामके रूपका अंगमात्र बन जाता है, अतः उनसे अलग नहीं लिखा जाता, साथ ही लिखा जाता है। (४) भविष्यकालके क्रियारूपोंसे लिंगका बोध नहीं होता जैसे कि हिन्दीमें होता है।

मराठी साहित्यका कालविभाजन स्थूल रूपसे निम्नलिखित रूपसे किया जाता है—१ प्रारम्भकाल या आदिकाल या अपभ्रंशकाल, २ प्राचीनकाल या ज्ञानेश्वर-नामदेवकाल, ३ पूर्वमध्य या एकनाथकाल, ४ उत्तरमध्य या तुकाराम-रामदासकाल, ५ मोरोपन्तकाल, ६ शाहीरी-काल या प्रभाकर-राम जोशीकाल, ७ आधुनिक काल—(अ) पेशवेकालीन साहित्य, (आ) सद्य कालीन साहित्य, १ छत्रे-युग (१८००से १८३६ ईसवी) २ दादोबा-युग (१८३६से १८५७ ईसवी),३ शास्त्री-युग (१८५७से १८७४ ईसवी), ४ मालाकार-युग (१८७४से १९०० ईसवी), ५ केलकर-कोल्हटकर युग (१९००से १९२५ ईसवी), ६ फडके-खाडेकर-युग (१९२५से १९४८ ईसवी), ७ पेंडसे-दाँडेकर-युग, मढेकर-गाडगिल-युग (१९४८से आजतक)।

मराठी भाषाके अस्तित्वका पता कुछ सूक्ष्म लक्षणोंमें हमें ईसवी सन् ४८८के मंगलवेढे ग्रामके ताम्रपटमें मिलता है। सन् ७३६ ईसवीके चिकुर्डेके ताम्रपटमें भी उस भाषाके कुछ लक्षण विदित होते है। लेकिन मैसूरके पासके श्रवण बेलगोलाके गोमतेश्वरके ९८३ ईसवीके शिलालेखमें मराठीके स्पष्ट वाक्य मिलते हैं। 'चावुडराएँ करवियलें' एवं 'गंगासुत्तराएँ करवियलें' ये दोनों वाक्य सम्पूर्ण मराठीके है। ११वीं शताब्दीका 'राजीमती-प्रबोध' नामका ग्रन्थ प्राप्त है, जिसमें महाराष्ट्री स्त्रीका वर्णन करते समय यह कहा गया है, 'मी कॉई साधओ, गोमटी सुह', ये मराठीके वाक्य हैं। ११२९के 'मानसोल्लास' ग्रन्थमें 'जेणें', 'मत्स्यरूपें', 'आणियलें', 'वाणियलें', 'रावो', 'नारायणु' आदि मराठी छायावाले शब्द मिलते है। ११८७के परलके शिलालेखमें शपथ खोली हुई है 'अथ तु जो कोणु हुविद शासन लोपी तेया श्रीवैद्यनाथ देवाची भाल सकुटुम्बिआ पड़े, तेयाची माय गाढवे।' १२०६के चालीसगाँवके पासके भवानी मन्दिरके शिलालेखमें (पाटणके) यह वाक्य मिलता है—'इयाँ पाटणीं जे केणे उधटे तेहाचा असि आउँ जो राउला होता ग्राहकापासी तो मढा दीन्हला।' १२७३के पढरपुरके शिलालेखमें ये शब्द हैं—'स्वस्ती श्री सकु ११९५ श्री मुख संवत्सरे फागनी पूर विरुलदेव रायासि तिसा सिति फुले, दोंडे आचन्द्रार्क चालविआ नाना भक्त मालीआँ दत्त वैकाचा विवरु।'

भाषाकी परम्परा यद्यपि बहुत प्राचीन मिलती है, फिर भी हाल सातवाहनकी सप्तशतीमें मराठी प्राकृत या अपभ्रंशका मूल मानी जाती है। यह ग्रन्थ महाराष्ट्रीमें लिखा हुआ है। नमूनेके तौरपर एक गाथा यहाँ दी जाती है—'दुग्गअ कुडुम्ब अट्ठी कहँणु गए धोइएण सोढव्वा। दसिओ सरन्त सलिलेणं उहअ रुण्ण एव पडएण॥' (गाथा १८, स० आ० जोगलेकर, नया संस्करण) अर्थात् दरिद्री कुटुम्बमें कपड़ों-वस्त्रोंकी इतनी दुर्दशा होती रहती है कि जब वह धोया जाता है और सूखनेके लिए टाँगा जाता है तब वह दुर्दशाके असह्य हो जानेके कारण उसी वस्त्रके छोर-छोरसे गिरनेवाली पानीकी बूँदोंके मिस रो पड़ता है।

महानुभाव-काल—मराठीका आदिकवि होनेका सम्मान मुकुन्दरायको ही है। इनका काल ११२८ ईसवीसे ११९८ ईसवीतक है। इनके ग्रन्थोंमें 'विवेकसिन्धु' प्रधान ग्रन्थ माना जाता है, जो मराठीका आद्य ग्रन्थ है। इसके सिवा 'परमामृत' नामका भी इनका एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। 'विवेकसिन्धु'के पूर्वार्धमें सद्गुरु सच्छिष्य-लक्षण, काम-क्रोधादि रिपुओंका दमन, आत्मानात्म विचार आदि विषय और उपदेशपरक बहुतसे अन्य विषय भी सम्मिलित हैं। इसके उत्तरार्धमें शरीरपतनके बादकी अवस्थाओंसे सम्बद्ध स्थूल सूक्ष्म काल महाकारण देहका वर्णन है।

इनके अनन्तर महानुभाव-सम्प्रदायका साहित्य प्रभावी हुआ है। महात्मा चक्रधर इस सम्प्रदायके प्रणेता थे। इस सम्प्रदायमें 'सातीग्रन्थ' (सात ग्रन्थ) प्रमाण, अतएव सम्प्रदायके आधारभूत माने जाते हैं। वे ये हैं—१ 'शिशुपाल-वध', ११९५, रचयिता भास्कर भट्ट बोरीकर, २. 'एकादश स्कन्ध', ११९६, रचयिता भास्कर भट्ट बोरीकर, ३ 'वत्स-हरण', १२००, रचयिता दामोदर, ४ 'रुक्मिणी स्वयंवर', १२१०, रचयिता नरेन्द्र कवि, ५ 'ज्ञानबोध', १२५३, रचयिता विश्वनाथ बालापूरकर, ६ 'सह्याद्रिवर्णन' (दत्त-लीलाचरित्र), १२५४, रचयिता रवलो व्यास, ७ 'अद्धपूर-वर्णन', १२८५, रचयिता नारो व्यास अर्थात् नारायण बहालिये।

अहिंसा, सन्यास, सगुणोपासना, भक्ति, सदाचार

और परोपकार, ये इस सम्प्रदायके प्रमुख सिद्धान्त हैं।

ज्ञानदेव-नामदेव-काल—इसके बाद नाथसम्प्रदायके प्रख्यात कवि ज्ञानेश्वरका काल आता है। इस कालके प्रमुख भक्त कवियोंमें नामदेव, ज्ञानदेव, गोरा कुंभार, नरहरि सोनार, बंका महार, साँवता माली आदि कवि आते हैं। नामदेव परमभक्त थे। इन्होंने पंजाबमें घूमकर भक्तिका प्रचार किया था। अतः इनकी वाणी 'ग्रन्थसाहब'में भी संगृहीत है। ज्ञानेश्वर और नामदेव समकालीन थे। ज्ञानेश्वर-लिखित 'भावार्थदीपिका' (अथवा ज्ञानेश्वरी) भी 'भगवद्गीता'की ओवीबद्ध टीका है। दृष्टान्तोंसे भरी हुई, अपनी काव्यकल्पनाओंके कारण बेजोड़ 'ज्ञानेश्वरी' मराठी साहित्यका अलौकिक भूषण है। ज्ञानेश्वरीमें उपमा आदि अलंकारोंकी भरमार है। घरकी फूटका वर्णन और उसका परिणाम दिखानेवाली ओवियाँ पढ़ने लायक हैं—जैसे, 'काष्ठें काष्ठ मथिजे। तेथ वन्हि एक उपजे। तेणें काष्ठजात जालिजे। प्रज्वलोनि। तैसा गोत्रींचि, परस्परें। जरी वध घडे मत्सरें। तरी तेणें महादोषें घोरें। कुळचि नासे।' या पङ्क्तियोंके वर्णनमें कितना जोश है, देखें—'ज्ञानविधीचें भुजंग। विषय दरीचे वाघ। भजन मार्गींचे माँग। मारक हे॥ हे देह दुर्गींचे घोंट। इन्द्रिय ग्रामीचें कोंड॥'

एकनाथ-काल—ज्ञानेश्वरके बादका काल अवनतावस्थाका है। एकनाथतकका काल साहित्यकी दृष्टिसे विशेष उल्लेखनीय नहीं है। एकनाथने ही ज्ञानेश्वरीका संशोधन किया, प्रचार किया और उसका महत्त्व बढ़ाया। 'श्रीमद्भागवत' के ११वें स्कन्धपर टीका लिखकर अपना 'एकनाथी भागवत' घर घर पढ़ने लायक बनाया। समाजके भिन्न वर्णों तथा वर्गोंमें भक्तिका, सद्गुण, सगुणका प्रचार किया और अपने प्रभावसे जातीय अन्धताको दूर करनेका परिश्रम किया। इसलिए एकनाथ जबर्दस्त समाजसेवक, त्यागी, शूर तथा उच्च कोटिके भक्त थे।

इनके बाद मुक्तेश्वरका काल आता है जो अपने भारत-परक ग्रन्थोंके लिए प्रसिद्ध हैं। उनका 'वनपर्व', 'सभापर्व', 'विराट्पर्व', 'मौसिक पर्व' तथा अन्य मुक्तक तथा खण्डकाव्य प्रसिद्ध हैं।

तुकाराम-रामदास काल—अब शिवकाल अपना महत्त्व बढ़ाता है। शिवाजी महाराजके समसामयिक सन्त समर्थ रामदास स्वामी तथा तुकाराम अपनी बोधपर तथा प्रासादिक कविताके लिए प्रसिद्ध हैं। श्री समर्थ रामदास निरे निवृत्ति-मार्गी नहीं थे। वे घर-गृहस्थीका उपदेश देते थे और फिर भी ईश्वर-भक्ति तथा अद्वैत तत्त्वज्ञानकी ओर लोगोंका हृदय आकर्षित करते थे। उनका कहना था, 'आधीं प्रपंच करावा नेटका। मग घ्यावें परमार्थ विवेका। येथें आळस करूँ नका। विवेकी हो।'—गृहस्थी छोड़कर परमार्थके ही पीछे लगनेसे मनुष्य अन्न खानेसे भी वंचित रहेगा। 'प्रपंच सोडून परमार्थ केला। तरी अन्न मिळेना खायाला।'

रामदास स्वामीने शिवाजीकी बड़ी सहायता की थी। उनका 'दासबोध' ग्रन्थ और 'मनाचे श्लोक' बहुत ही अच्छे और प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

तुकाराम विठ्ठलभक्त थे। वे विरक्त थे और बड़ी ही प्रसादगुणपूर्ण कविता उन्होंने लिखी। उनकी वेदना और तड़पकी समानता मराठी ही क्यों, अन्य भाषाओंके साहित्यमें भी शायद ही कोई कवि कर सकता है।

मोरोपन्त-वामन पण्डित-काल—शिवकालके रामदास और उनके शिष्य कल्याण, दिनकर गोसावी, गिरिधर, उद्धव आदिकी साहित्य-सेवाके बाद वामन पण्डितका पण्डिताईका काल आता है। इस कालमें पुराने भक्तोंकी गाथाएँ आख्यानोंके रूपमें गायी जाने लगीं। पाण्डित्य अधिक था, कवित्व-भावना कम थी। अलंकारोंकी भरमार, शब्दचयनकी उत्कृष्टता तथा काव्य-कौशलका कमाल उस समय दिखाया जाता था।

पेशवे-काल—इसी कालमें मोरोपन्तकी कविताका भी समावेश करना चाहिये। यों तो उत्तर-पेशवेकालीन साहित्य शाहीरी साहित्य है। उस समय प्रभाकर, सगन-भाऊ, हैबती, होनाजी, बाळा, राम जोशी आदि कई लावणी-कार शाहीर निर्माण हुए और मराठी साहित्य शृंगारमें डूब गया। वीर रसके पोवाडे भी उस समय गाये जाते थे, लेकिन प्रधान भावना शृंगारकी थी।

आधुनिक काल—इसका प्रारम्भ छत्रे-युगसे होता है। सदाशिव काशीनाथ छत्रेको गद्य-साहित्यका पिता कहते हैं। इस युगके प्रधान लेखकोंमें बालशास्त्री जाम्भेकर भी हैं, जिन्होंने नीतिकथाएँ लिखीं। हिन्दुस्तान तथा इंग्लैण्डके इतिहास भी उन्होंने लिखे हैं।

दादोबा-युगके प्रवर्तक हैं दादोबा पाण्डुरंग तर्खडकर व्याकरणकार। वे महाराष्ट्रके पाणिनि कहलाते हैं। आद्य व्याकरणकारके नाते इनका मराठी साहित्यमें बहुत सम्मान है। इनके समसामयिक हरि केशवजी, भाऊ महाजन, लोकहितवादी अच्छे गद्य-लेखक हुए हैं। लोकहितवादीके 'शतपत्र' काफी मशहूर हैं। इन्होंने अँग्रेजीके वैभव और यशसे प्रभावित होकर आत्मनिरीक्षण किया और अपने समाजके दोषोंको अपने पत्रोंमें स्पष्ट किया।

इनके शतपत्रोंके जबर्दस्त विरोधक बादमें पैदा हुए। लेकिन शास्त्री-युगमें अनुवाद बहुतसे हुए। कृष्णशास्त्री चिपलूणकर, परशुराम गोडबोले, कृष्णशास्त्री राजवाड़े आदि अनेक साहित्यकारोंने अनुवादों और स्वतन्त्र रचनाओंके द्वारा मराठी साहित्यका गद्यविभाग खूब सँभाला।

मालाकार-युगमें मराठी भाषाके शिवाजी विष्णुशास्त्री चिपलूणकरकी निबन्धमाला बहुत प्रभावी हुई, अँग्रेजोंके गुणोंका अनुकरण और दोषोंकी निन्दा उन्होंने की। इस युगमें मराठीके लेखकोंने राजकीय तथा सामाजिक सुधारोंके लिए बड़े ही प्रयत्न किये। राजकीय सुधारके प्रवर्तक लोकमान्य तिलक थे तथा सामाजिक सुधारोंके प्रवर्तक गो० ग० आगरकर थे। जबर्दस्त जोशीली शैलीमें लिखने-वाले शिवराम महादेव परांजपे भी राजकीय-विषयक उपरोधात्मक निबन्ध लिखकर इसी कालमें अपना कार्य कर चुके हैं।

उसके बादसे लेकर कोल्हटकर-युगमें भारताचार्य चिं० वि० वैद्य, साहित्यसम्राट् न० चि० केळकर, विनोदमूर्ति कृ० कोल्हटकर, सूक्ष्म तत्त्वज्ञ टीकाकार (समालोचक) वा० म० जोशी, हरिभक्ति-परायण साहित्यके इतिहास तथा

चरित्रलेखक ल० रा० पागारकर आदि सुयोग्य साहित्यकारोंने मराठी साहित्य सुसम्पन्न कर दिया ।

उपन्यासकारोंमें वि० स० खाँडेकर, ना० सी० फडकेने बहुत काम किया । ऐतिहासिक उपन्यासोंमें जो काम ह० ना० आपटेने किया वही काम सामाजिक क्षेत्रमें इन दोनों साहित्यकारोंने किया । खाँडेकर कलाका ध्येयवादी उपयोग करनेमें अग्रसर हुए, फड़के कलाके लिए पक्षपाती थे ।

आजका युग पेंडसे-दाँडेकरका है, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक कथाओंका निर्माण किया । इनका लेखन अद्यतन है ।

कवियोंमें भा० रा० ताम्बे, यशवन्त, गिरीश, माधव ज्यूलियन, श्री० बा० गद्रे, अनिल, ग० ह० पाटील, साधुदास, बा० ना० देशपाण्डे, कुसुमाग्रज आदि कवियोंने नये युगका निर्माण किया । नवकाव्यके प्रथम पुरस्कर्ता मढेकरका अनुकरण हुआ और विन्दा करन्दीकर, य० द० भावे, मुक्तिबोध आदिने बड़ा ही नाम कमाया । पाडगाँवकर और वसन्त बापट भी आजके मान्य कवि हैं ।

बहुत प्राचीन कालसे उत्तरी भारतसे दक्षिणभारतका घना सम्बन्ध तीर्थक्षेत्रोंके कारण है । काशीक्षेत्र, प्रयागका त्रिवेणी-संगम तथा अन्य क्षेत्रोंके कारण दक्षिणी भारतके ही क्यों, सभी हिन्दुओंका गमन वहाँपर होता आया है । अत प्राचीन कालसे भाषाओंका आदान-प्रदान भी होता रहा । नामदेव जब उत्तरभारतमें घूमते थे, विशेषत पंजाबमें, तब उन्होंने प्रचारकार्य किया, अत 'ग्रन्थसाहब'में उनकी कविता भी संगृहीत है । वह कविता हिन्दीमें है । इसी तरह ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि अनेक सन्तोंने हिन्दी भाषामें अपने भजन गाये हैं तथा उपदेश-गीतोंकी रचना की है । निर्गुण अद्वैतका प्रचार, सगुण-भक्तिसे ज्ञान तथा मोक्षप्राप्ति, सज्जनता, नीतिमत्ता तथा शील-सरंक्षणकी रक्षा, उपदेश आदि विचारोंमें हिन्दी साहित्य तथा मराठी साहित्यमें काफी समानता है । खासकर मराठी सन्तोंने अपने विचार उत्तरभारतकी यात्रामें हिन्दीमें प्रकट किये हैं । इस तरह मराठीने हिन्दीको बहुत-कुछ दिया है ।

हिन्दीसे भी मराठीने बहुत कुछ लिया है । कबीर आदि सन्तोंके भजनोंका उपयोग भगवत् कीर्तन-करनेवाले हरिदास अपने कीर्तनोंमें इतना करते हैं कि बिना उनके कीर्तनका 'पूर्वरंग' सफल ही नहीं होता ।

नाथपन्थके साहित्यका प्रभाव ज्ञानेश्वरके गुरु तथा ज्येष्ठ बन्धु निवृत्तिनाथपर भी हुआ । ये सभी भाई नाथपन्थी कहे जाते हैं ।

कबीरकी उलटबाँसियोंके समान ही एकनाथके 'भारूड' हैं । उन्होंने ईश्वरभक्तिको 'भूत' कहा है, जो किसीके शरीरमें प्रवेश करता है और उसकी सारी जिन्दगी बरबाद कर देता है । नामदेव भी उलटबाँसियाँ तथा गूढार्थक अभंग लिखनेमें सिद्धहस्त हैं । —रा० बा० चि०

मर्यादाजीव–दे०–'मर्यादामार्ग', 'पुष्टिजीव', 'पुष्टिमार्ग' ।

मर्यादापुष्ट–दे०—'पुष्टिजीव', 'पुष्टिमार्ग' ।

मर्यादाभक्ति–दे०—'मर्यादामार्ग' ।

मर्यादामार्ग–वल्लभाचार्यने अपने पुष्टिमार्गके निरूपणमें जीवोंके लिए तीन मार्गोंके अनुसरणका उल्लेख किया है—पुष्टिमार्ग, प्रवाहमार्ग और मर्यादामार्ग । मर्यादामार्ग वैदिक या शास्त्रोक्त धर्मका मार्ग है । उसकी उत्पत्ति अक्षर ब्रह्मकी वाणीसे हुई है । इस मार्गके अनुयायी ज्ञान और विधि-निषेधयुक्त कर्मका अनुसरण करके सायुज्य मुक्तिकी प्राप्तिका उद्योग करते हैं । उनके लिए भगवान् साधन-परतन्त्र होता है अर्थात् वेद-विहित मर्यादाकी रक्षा उसके लिए आवश्यक होती है, उसीके अनुसार आचरण करनेपर वह फल दे सकता है, अन्यथा नहीं । मर्यादामार्गका सिद्धान्त है—कर्मानुरूप फल । भक्ति भी मर्यादामार्गीय हो सकती है, जिसे **साधन भक्ति** भी कह सकते हैं । भक्तिके श्रवण-कीर्तन आदि नौ भेद मर्यादाभक्तिके ही हैं, भजन, पूजन आदि साधनोंकी सहायतासे ही इस भक्तिकी उपलब्धि हो सकती है । वल्लभाचार्यने **प्रपत्ति**(आत्मसमर्पण)के भी (जो भक्तिके लिए नितान्त आवश्यक है) दो भेद किये हैं—मर्यादाकी प्रपत्ति और पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति । मर्यादाकी प्रपत्तिमें कर्मका अनुष्ठान आवश्यक होता है । इसके विपरीत पुष्टिमार्गीय प्रपत्तिमें कर्मकी तनिक भी अपेक्षा नहीं होती, केवल भगवान्का अनन्य आश्रय ही भक्तका एकमात्र सहारा होता है । **रागानुगा (रागात्मिका या प्रेम-लक्षणा)** भक्तिसे भिन्न जो कृष्णभक्ति सम्प्रदायोंमें प्रचलित रही है तथा तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित रामकी भक्ति **मर्यादा-भक्ति** कही गयी है । उसके उपास्य राम मर्यादावतार थे जब कि कृष्णका अवतार लीलावतार था ।

जीवोंके विविध प्रकार बतलाते हुए वल्लभाचार्यने एक प्रकारके मर्यादाजीव भी बताये हैं, जो मर्यादामार्ग(कर्म और ज्ञान)के पालन हेतु ही जन्म लेते हैं और स्वर्गादि लोक या अक्षर सायुज्य मुक्तिके अधिकारी कहलाते हैं । वे पूर्ण पुरुषोत्तमकी सेवा(भक्ति)के योग्य नहीं होते । (दे० 'पुष्टिमार्ग' ।) —व्र० व०

मर्यादावतार–भगवान्के जिस अवतारकी लीला(चरित्र)-में मर्यादा पायी जाती है उसे मर्यादावतार कहते हैं । रामका मर्यादावतार माना जाता है । —वि० मो० श०

मलकूत–दे०—'सूफीमार्ग' ।

मलयालम (भाषा तथा साहित्य)–पर्वत और सागरके बीचमें केरल भूमि फैली है । एक दन्तकथा प्रचलित है कि इसे परशुरामजीने अपना परशु फेंककर बनाया था । अत भार्गव-क्षेत्रके नामसे यह प्रख्यात है । हजारों वर्षोंसे यह मलबार कहलाती आयी है । इसका प्रमाण आज भी मिलता है । ईसाके ५४५ वर्ष पहले ही विदेशियोंने 'मला' शब्दका प्रयोग करना आरम्भ किया था । बिशप काल्डवेल-की राय है कि अरबियोंकी ओरसे इसको 'मलाबार' नाम प्राप्त हुआ । ११५० ई० में इडरिसीने 'मणिबार' और १२७० ई० में कास्विनीने 'मलबार' शब्द केरलके लिए प्रयुक्त किया था ।

इसका पहला नाम मलयाण्मा या मलयाय्म था । अर्थ है मलयालियोंकी रीति । यह शब्द बादको मलयाल बन गया । 'अल'का अर्थ है राज्य । सह्यमाला(पर्वत)के पश्चिमभागकी भूमि होनेसे नाम सार्थक है और पहाड़की तराई होनेके कारण 'मलाबार' नाम भी अर्थपूर्ण है । आज

यह नाम केरल और उसकी भाषाके लिए प्रयुक्त होता है।

मलयाल भाषा द्राविटगोत्रकी है। केवल भाषाके अर्थमें जो तमिल शब्द प्रचलित था उसका तद्भव रूप है द्राविड> तमिऴ्>तमिल>दमिल>दमिड>द्रविट। मलयाल भाषाकी उत्पत्तिके बारेमें कई मत हैं। कुछ लोगोंकी राय है कि संस्कृतसे इसका जन्म हुआ है। विभक्ति, प्रत्ययरूप, सर्वनाम आदि ही तो भाषाकी भिन्नताको प्रकट करनेवाले अंश हैं। इन बातोंमें सर्वथा अलग रहनेके कारण मलयालम को संस्कृतकी सन्तान कहना बिलकुल गलत है। मलयालम को तमिलकी बेटी कहनेवाले भी कम नहीं है। लेकिन भाषाविज्ञानके विद्यार्थियोंके आगे यह राय मूल्यहीन है।

तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम जैसी प्रमुख द्राविड भाषाओंके लिए एक मौलिक भाषा तो विद्यमान थी। यही 'मूल द्रविड भाषा' राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन, जलवायु और देश-प्रकृतिके कारण परिवर्तित और स्वतन्त्र बनी। उसीसे इन भाषाओंका विकास हुआ है। व्याकरणकी बातोंमें वे अपने परिवारका अनुसरण करती हैं। चेन्तमिल्-की उत्पत्तिके पहले ही मलयालम अपनी अलग सत्ता जमाने लगी थी। इसी आशयको प्रकट करते हुए गुण्डरटने कहा है कि द्रमिल नामवाली तमिल्की शाखा मलयालम है। काल्टवैलके इस कथनका भी कि मलयालम तमिलकी उपशाखा है, यही आशय है।

काल्डवैल और स्टुवर्ट रावर्टसन, दोनों इस बातसे सहमत हैं कि तमिलमें व्याकरणका विकास होनेके पहले ही मलयालम स्वतन्त्र भाषा बन चुकी थी। केवल द्रविट भाषाओंके बीच सहोदर-भावना ही है। यही आजकलका सिद्धान्त है। पश्चिमी पर्वत-पंक्तियोंके पश्चिममें, कन्नटकी दक्षिणी सीमाके दक्षिणमें चार सौ मीलकी लम्बाई और १५५० मीलके व्यासमें स्थित प्रकृति-कोमल केरलकी मातृभाषा ही मलयालम है। ईसाकी चौथी शतीमें यह भाषा स्वतन्त्र बनी थी। लेकिन कई वर्षोंके बाद ही इसने साहित्य-निर्माण शुरू हुआ।

केरलमें दो तरहकी लिपियाँ प्रचलित थीं। 'वट्टेपुत्तु' और 'कोलेपुत्तु'। विदेशियोंकी सरानिसे इसको 'वट्टेपुत्तु' नाम मिला। असलमें यह तमिल लिपियोंसे भी अधिक पुरानी है। 'वट्टेपुत्तु'का शब्दार्थ है 'गोल लिपियाँ'। ये अपने नामको सार्थक करती हैं। 'चिलप्पनिकारम्' जैसा तमिलग्रन्थ पहले इसी लिपिमें लिखा गया था। वर्णलके मतानुसार एरामिक या फिनिशियन लिपिसे इसका जन्म हुआ था, लेकिन बहुमतका स्वीकृत सिद्धान्त है कि अशोककी ब्राह्मी लिपिसे 'वट्टेपुत्तु'का विकास हुआ।

ईसाकी तीसरी शतीमें मार्कोपोलोने केरलका भ्रमण किया था। उन्होंने लिखा है कि केरलका अपना लिपि-समूह है। आर्य द्राविडमकरसे जब संस्कृत शब्दोंका प्रयोग होने लगा तो नये 'ग्रन्थाक्षर' उधार लेनेकी आवश्यकता पडी। 'वीरराघवप्पट्टय' जैसी रचनाएँ इस बातकी सबूत हैं। नये शब्दोंके लिए नयी लिपियाँ बनने लगीं। 'वट्टेपुत्तु'-का रूपान्तर हुआ। इन्हीं सर्ग-विकास परिणामोंसे आजकी मलयालम लिपिका जन्म हुआ। द्राविड रीतिके अनुसार वर्गके खरानुनासिकोंका प्रयोग ही मलयाली भी करते थे। संस्कृत शब्दोंके समावेशसे बादमें अनिखर मृदु घोषोंका जन्म हुआ। यह परिवर्तन 'मणिप्रवाल' भाषाकी उत्पत्तिको भी व्यक्त करता है। इसमें कुल लिपि-चिह्नोंकी संख्या ५१ है। अँग्रेजीकी-सी वर्णमाला नहीं, बल्कि अक्षरमालाका प्रयोग ही केरलीयोंने स्वीकार कर लिया है।

व्याकरण और उच्चारणमें मलयालम भाषा हमेशा मितव्ययिता और प्रयत्नलाघवका पालन करती है।

जहाँ चेतना प्रव्यक्त है वहीं लिंग व्यवस्था है। अचेतनों-को नपुंसककी सीमामें डाल दिया गया है। नामोंके पहले लिंग द्योतक शब्द लगा दिये जाते हैं।

मलयालममें केवल एकवचन और बहुवचन है। विशेषण-विशेष्योंको लिंगसमताकी जरूरत नहीं।

उत्तम पुरुष सर्वनामके दो बहुवचन रूप हैं। एक केवल वक्ताको और दूसरा वक्ता और श्रोता, दोनोंको प्रकट करता है। क्रियाओंके विधिरूप और निषेधरूप हैं। संस्कृत और अँग्रेजी जैसी भाषाओंमें जिस व्याक्षेपक सर्वनामका प्रयोग है, वह इसमें नहीं है, कर्मणि और भावेप्रयोग भी नहीं है।

जब भाषाका स्वतन्त्रतासे विकास होने लगा तो वह साहित्यको जन्म देने लगी। साहित्यके उदयानुसार स्थान-निर्णय लिया जाय तो यथाक्रम तमिल, कन्नट, तेलुगु और मलयालम कह सकते हैं। किन्तु काल्टवैल, नरटकनोव जैसे पण्डितोंकी राय है कि बोलचालकी भाषामें सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ मलयालम भाषामें पाये जाते हैं।

आरम्भमें केरलपर तमिल राजाओंका शासन था। इस समय मलयालियोंने 'चिलप्पनिकारम्' जैसे तमिल ग्रन्थ रचे। प्राचीन शिला-लेखोंमें भी तमिल भाषा दिखाई देती है, क्योंकि तमिल उस समयकी राजभाषा थी। धीरे धीरे पाट्ट (गीत) और मणिप्रवाल नामकी दो शाखाओंसे साहित्य-का विकास हुआ। 'रामायण'के युद्धकाण्डकी कथाके आधार-पर एक प्राचीन तिरुविताङ्कोरके राजाने 'रामचरित' नामक काव्य-ग्रन्थ रचा। यह मलयालम भाषाका प्रथम काव्यग्रन्थ है। द्राविड लिपियोंमें रची हुई इस पुस्तकमें तमिलका अंश पाया जाता है। ईस्वी सन् बारहवीं शतीमें इसका निर्माण हुआ। इसमें जनताकी व्यवहार-भाषा नहीं, बल्कि विकासोन्मुख मलयालमकी मधुरता है। 'रामचरित'के चार शताब्दी पहले ही मलयालममें ललित गान और प्राचीन कथाओंका प्रचार हो गया था।

१४वीं शतीमें 'कण्णिश्श रामायण' रचा गया। इसमें भी तमिल मिली हुई है। सप्रत्यय संस्कृत शब्दोंके प्रयोग भी पाये जाते हैं। प्रतिभाशाली कवि रामप्पणिक्करने भावगम्भीर, किन्तु गेय छन्दोंमें रामायणकी कथा रची है। 'उण्णुनीली सन्देश' भी इसी कालकी रचना है। 'विभक्त्यन्त संस्कृत शब्द और मलयालमके सामञ्जस्यसे उत्पन्न मणिप्रवाल शैलीमें यह सन्देश-काव्य रचा गया है। इससे यह बात एकदम विदित हो जाती है कि संस्कृतका प्रभाव धीरे-धीरे भाषामें बढ़ता आ रहा था, किन्तु ५वीं शतीमें जो 'रामकथा पाट्ट' रची गयी उसमें तमिलकी बहुलता दिखाई देती है।

'कण्णिश्श रामायण'के जमानेमें चेरुश्शेरि नपूतिरीने जो 'कृष्णगाथा' लिखी वह मलयालम भाषामें भी यह

उसकी ललित-मधुर शैलीकी अनर्घसम्पदा है। कृष्णकथाके आधारपर आपने जो महान् रचना की, उसमें मलयालम भाषा और मलयालम साहित्यकी पौर्णमी प्रस्फुटित हुई है।

देशके वीर साहसिक नेताओंकी वीरताका वर्णन करते हुए उत्तरकेरलके अज्ञात कवियोंने ओजभरी भाषामें 'वटक्कन पाट्टकल' रचे हैं। इनमें भी कृष्णगाथाकी-सी अकलंक ललित मलयालम शैलीका रूप प्रस्फुटित है। केरलमें भाषाके प्रादेशिक भेद मौजूद थे। अत कालमें समानता होनेपर भी इन कृतियोंकी भाषामें किसी तरहकी समता नहीं दीखती। 'रामचरित' जैसे गीत और 'उण्णुनीली सन्देश' जैसे मणिप्रवाल काव्य १२वीं शतीके पहले ही लिखे गये थे।

धीरे-धीरे गीत और मणिप्रवालके लक्षण प्रकट करनेवाले रीति-ग्रन्थ 'लीलातिलकम्'की रचना हुई। यद्यपि इसकी रचना सस्कृतमें की गयी है, तो भी उदाहरणके लिए अमरत्य सुन्दर श्लोक मलयालम काव्योंसे उद्धृत हे। कालानुसार मलयालम साहित्यका निम्नलिखित विभाजन सर्वमान्य है—(१) प्राचीनकाल ईसाकी १४वीं शतीतक, (२) नवीनकाल ईसाकी १४वीं शतीसे।

धार्मिक आचार-विचारोंकी व्याख्या करनेवाले 'भद्रकालिप्पाट्ट', 'सर्पप्पाट्ट', 'तीयाट्टपाट्ट', 'कृपिप्पाट्ट', आदि गीत तथा 'तम्पुरानपाट्ट', 'कणियाकुल तुपोर' जैसी वीरगाथाएँ आरम्भकालकी रचनाएँ हे। 'भारत' और 'रामायण'की कथाओंके आधारपर, 'रामचरित', 'कण्णश्श-रामायण', 'भाषा भगवद्गीता', 'कृष्णगाथा', 'भारतमाला' जैसी भावपूर्ण साहित्यिक रचनाएँ इसी युगमें हुई। 'गीता'का प्रथम अनुवाद भी इसी समय मलयालम भाषामें हुआ।

इसी बीचमें मणिप्रवाल साहित्य भी विकसित होने लगा था। आर्य-द्राविड सस्कृतियोंके सामंजस्यका गहरा प्रभाव इसमें दिखाई देता है। देशमें सस्कृतका प्रचार हुआ। केरल नम्पूतिरि ब्राह्मणोंने इसमें बडा योग दिया। तमिलका जो प्रभाव भाषापर पड़ा था, उसे सस्कृतने मिटा दिया। धीरे-धीरे कवियोंने विभक्त्यन्त सस्कृत शब्द और मलयालम शब्द मुक्ता-विद्रुमोंके समान गूँथकर श्लोक, कीर्तन, चम्पू जैसी रचनाएँ करनी शुरू कीं। ज्योतिष, शिल्पशास्त्र आदिपर गद्य ग्रन्थ भी रचे गये।

कोट्टारक्कर तम्पुरानने रामायण कथा आठ भागोंमें बॉटकर कथावली साहित्यकी नींव डाली। उण्णायिवार्यर, कोट्टयतम्पुरान, इटयिम्मन वम्पि जैसे महान् कवियोंने इस शाखाको सम्पन्न किया। उण्णायिवार्यरका 'नलचरितम्' अभिनययोग्यता, शिल्पसुभगता एव सुकुमार भावोंके लिए विख्यात है। केरलकी यह कला विश्व कला मण्डपका अमूल्य उपहार है।

सत्रहवीं शतीमें कविकुलगुरु श्रीतुचत्तेपुत्तश्शनका रगप्रवेश हुआ। आपने मणिप्रवाल भाषाका परिष्करण किया, एक सार्वदेशिक भाषा-शैली सामने रख दी और 'भारत', 'अध्यात्मरामायण' आदि सस्कृत ग्रन्थोंका भक्तिपूर्ण तथा भावोज्ज्वल भाषामें अनुवाद किया। उन्होंने द्राविड़ छन्दोंका विकास किया। सक्षेपमें ये भाषा और भाव, दोनोंके सुधारक थे।

केरलके अप्रतिम हास्यकवि कुचनय्यार चेरुश्शेरी, एषुत्तछन आदि पूर्वज कवियोंके समान स्मरणीय हैं। आपने नृत्त और गान दोनोंको मिलाकर 'तुल्लल' नामक कलारूप-की स्थापना की। पुरातन कथाओंमें नवीन चेतना मिलाकर केरलीय जीवनकी ओर उन्होंने तीखे परिहासके तीरोंकी वर्षा कर दी। उनकी वाणियोंका यह प्रभाव था कि चोट खानेपर भी लोग हॅसते-हसते लोट-पोट हो जाते थे। उनके बारेमें कई आलोचकोंने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि विश्व-साहित्यके हास्यरचना करनेवालोंमें उनका स्थान कभी दूसरा नहीं हो सकता। कविताको राज-दरबारों और पण्डितोंके बीचमेंसे निकालकर जनताके समक्ष लानेमें आपने जो महान् परिश्रम किया है, वह स्मरणीय रहेगा। सस्कृत नाटकोंके अनुवाद और पौराणिक कथाके आधारपर नयी मौलिक रचनाएँ इस समय अधिकतासे होने लगीं।

उन्नीसवीं शतीके उत्तरार्द्धमें अँग्रेजी भाषाका प्रचार होने लगा। मुद्रणालयोंकी स्थापना भी हो गयी। विश्व साहित्यकी विभिन्न प्रवणताओंका परिचय प्राप्त हुआ। इस नये अनुभव-ने मलयालम साहित्यका कायापलट कर दिया। केरलवर्म वलिय कोयित्तम्पुरानके समयमे केरलमें 'सांकेतिक साहित्य' क्षीण हुआ और काल्पनिक साहित्यकी प्रगति होने लगी। पौराणिक कथाका रोमन्थ छोड़ दिया गया। रूप और भावमें नवीनता आने लगी। अभिव्यजना, विषय तथा जीवन प्रकृतिके प्रति दृष्टिकोणमें परिवर्तन हुआ। भावतीव्रता इस नयी प्रवणताकी जान बन गयी। कहानी, उपन्यास, नाटक जैसे कलारूपोंकी प्रचुरता होने लगी। कुमारनाशन्, वल्लत्तोल नारायण मेनोन, उल्लूर परमेश्वरय्यर आदि कवियोंकी प्रतिभासे भावगीतों और खण्डकाव्योंका विकास हुआ। शकर कुरुप, चगम्पुपु कृष्ण पिल्लैने भाषा कवितामें नयी जान फूंक दी। वल्लत्तोलने अपने भावगीतोंसे नौजवानोंकी आत्मामें स्वतन्त्रताकी तृष्णा जगा दी। प्रेमगायक कुमारानाशन्ने प्रेमकी महनीयताका यशोगान किया और हिन्दू जनताके दिलोंसे जातिको दूर करनेकी सफल चेष्टा की। सियेविनाकूरके इतिहासको वातावरण बनाकर सी० वी० रामन पिल्लैने ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। स्व० ई० वी० कृष्ण पिल्ले, के० सुकुमारन् आदिने कहानी-कलाकी नींव डाली। स्व० ओ० चन्तुमेनवनने 'इन्दुलेखा', 'शारदा' जैसे सामाजिक उपन्यासोंका निर्माण किया। मलयालम साहित्यके प्रारम्भकालीन सामाजिक उपन्यासोंमें इनका स्थान अद्वितीय है।

१९४० ई०तक आकर साहित्यकी दिशा बिलकुल बदल गयी। साहित्य-रगमण्डपमें सकीर्णता और राजनीति-का विकास होने लगा। रूसकी क्रान्ति, दूसरे महा-युद्धका विनाशकारी परिणाम, गुलामीकी जजीरोंमें जकड़े हुए राष्ट्रोंकी विवशता, विज्ञानकी अपथयात्रा आदिने आधुनिक कवियोंकी आत्माको सचेत किया। फलत उनकी आत्मामें विश्वमानवका विराट् रूप प्रकट हुआ। अपनी काल्पनिक कविताके गौरीशकर शकरकुरुपने इसी विश्व-मानवको खडा किया है। बालामणि अम्माने नारीकी आत्माका अलौकिक परिवेश कवितामें दरसा दिया है।

नौजवान कवियोंमें वैलोप्पिल्लि श्रीधर मेनवन, इडश्शेरि गोविन्दन नायर, पी० भास्करन्, अक्कितम नम्पूतिरी, ओलप्पमण्णा, वयलार रामवर्मा, पालानारायण नायरके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वैलोप्पिल्लिकी कविताएँ शत-प्रतिशत केरलीय हैं। उनकी भावना केरलीय जीवनकी शिराओंके समान फैली है। मानव हृदयकी अव्यक्त वेदनाको प्रकाशमें लाने और उसे कलासुभग करनेमें इडश्शेरी अप्रतिम हैं।

एन० वी० कृष्णवार्यरका क्षेत्र बिलकुल अलग है। आप केरलीय कवितामें प्रयोगवादके प्रचारक हैं। आपकी मौलिक कविताएँ आधुनिकताकी डोरी पकड़कर चिरनवीन हो जाती हैं। भावोचित भाषाके प्रयोगमें उनकी निपुणता प्रशंसनीय है।

समालोचनाकी सभी शाखाएँ मलयालम साहित्यमें विकसित हो गयी हैं। विषयप्रधान समालोचनामें पी० शंकरन् नम्पयर, पी० दामोदरन् पिल्लै और एम० गुप्तन् नायरने युगान्तर कर दिया है। विषयिप्रधान समालोचनामें कुट्टिकृष्ण मारार प्रमुख हैं। आपकी पैनी दृष्टि और व्यंग्य-भरी ओजपूर्ण शैली प्रशंसनीय है।

तुलनात्मक समालोचनाके आचार्य ए० बालकृष्ण पिल्लै हैं। आपकी सर्वतोमुखी प्रतिभा अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानती। इसी शाखामें प्रो० मुण्डश्शेरीने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। दार्शनिक एवं वैज्ञानिक समालोचकके नाममें भास्करन् नायर प्रख्यात हैं। एन० वी० कृष्णवार्यर और के० सुरेन्द्रन् मनोवैज्ञानिक समालोचनाकी सफलताके प्रतीक हैं।

आजकल केरलके प्रत्येक गाँवमें नाटकोत्सव मनाया जाता है। केरलीय जनताके बीचमें नाटकका अभूतपूर्व प्रचार है। सिद्धहस्त नाटक-रचयिताओंकी यहाँ कमी नहीं। एन० कृष्ण पिल्लै इब्सनके पदचिह्नोंपर चलते हैं। गाँवका जीवन इडश्शेरीमें मुखरित होता है। जे० टॉमस, टी० एन० गोपिनाथन् नायर, के० टी० मुहम्मद और एन० पी० मुहम्मदके नाटक अधिक जनप्रिय हैं। नाटक शाखाके विकासके लिए उत्तर और दक्षिणमें दो कला-समितियाँ स्थापित भी हो चुकी हैं।

कहानी और उपन्यासका क्षेत्र पर्याप्त रूपमें विकसित है। आरम्भकालमें मोपासाँ, चेखव, माँम आदिकी प्रेरणा रही, लेकिन बादको यह कला अपने पैरों आगे बढ़ी। कहानी और उपन्यासकी कला दिन-प्रतिदिन नवीन हो रही है। तकषि, देव, बशीर, कारूर, वर्कि, एस० के० पोट्टेक्काट जैसे भावुक कलाकार इस क्षेत्रमें प्रमुख हैं। प्रतिभाशाली नौजवान लेखकोंकी संख्या तो असंख्य है।

जीवनीके क्षेत्रमें ए० डी० हरिशर्मा, सीतारामन्, पी० के० परमेश्वरन् नायर और के० सुरेन्द्रन्की लेखनीने सफलता प्राप्त की है। भ्रमण सम्बन्धी साहित्यमें एस० के० पोट्टेक्काड अद्वितीय हैं। निबन्धमें के० पी० केशवमेनवन, के० दामोदरन्, सी० जे० तोमस और एम० गोविन्दन्की सेवाएँ कृतज्ञतासे स्मरणीय हैं। हास्य-साहित्यकी मेखला इ० वी० कृष्ण पिल्लै, सञ्जयन, आनन्दकुट्टन्, राजराजवर्मा और एन० पी० चेल्लप्पन् नायरसे सम्पन्न है।

आजकल केरलमें सैकड़ों मासिक पत्रिकाएँ और साप्ताहिक पत्र निकल रहे हैं। इनमें मौलिक और अनूदित कथा, कविता, लेख आदि प्रकाशित हो रहे हैं। हिन्दी, बँगला, मराठी जैसी भाषाओंका परिचय बढ़ता जा रहा है। विश्व-साहित्यकी नवीन प्रवणताओंसे केरल परिचित है। सिद्धहस्त भावुक कलाकारोंकी एक नयी पीढ़ी आगे बढ़ रही है। निस्सन्देह उनकी लेखनी केरलकी कला और साहित्यमें अभूतपूर्व क्रान्ति उत्पन्न करेगी। —ए० च०

मसनवी—मसनवीका शाब्दिक अर्थ 'दो' होना है। यह काव्यका ऐसा रूप है, जिसके हर शेरके दोनों मिस्रे एक ही **रदीफ** और **क़ाफियेमें** होते हैं। हर शेरका रदीफ और क़ाफिया आपसमें अलग-अलग भी हो सकता है। इसलिए मसनवीमें शायरको क्रमबद्ध विषयवर्णनमें बड़ी आसानी होती है। कसीदा या गजलमें सब शेरोंमें एक ही रदीफ और क़ाफियेकी पाबन्दीके कारण क्रमबद्ध वर्णन कठिन होता है, परन्तु मसनवीमें यह पाबन्दी नहीं है।

मसनवीके लिए सात बहरें नियत हैं। इन्हीं सात बहरोंमें मसनवी लिखी जा सकती है। मसनवीमें शेरोंकी संख्याकी कोई सीमा नहीं है। छोटी मसनवियाँ आठ, दस, बारह शेरोंकी भी हैं और बड़ी मसनवियोंमें शेरोंकी संख्या हजारोंतक पायी जाती है। फारसीमें फिरदौसीका प्रसिद्ध 'शाहनामा' मसनवी ही है। इसमें साठ हजार शेर हैं।

मसनवीमें विषयकी भी कोई सीमा नहीं है। कवि जिस विषयपर चाहे, मसनवी लिख सकता है। उर्दू मसनवी लिखनेवालोंने मसनवियोंमें आख्यान भी लिखे हैं, भगवान्की प्रशंसा भी की है तथा साहित्यिक तत्त्वों और प्राकृतिक दृश्योंको भी चित्रित किया है।

'मसनवी'की खूबी यह है कि जिस घटना या वृत्तका वर्णन किया जाय उसे सरलता तथा विस्तारके साथ इस प्रकार वर्णित किया जाय कि वह घटना आँखोंके सामने फिरने लगे और पूरा वातावरण चलचित्रकी तरह सामने आ जाय।

उर्दूकी मसनवियोंसे हमको साहित्यिक तत्त्वोंके साथ बहादुरीकी घटनाओं तथा उन सामाजिक स्थितियोंका ज्ञान होता है जो तत्कालीन रहन-सहन, रीति-रिवाजका यथातथ्य परिचय देती है।

उर्दूके अधिकतर कवियोंने छोटी-बड़ी मसनवियाँ लिखी हैं। इनमें 'मीर', 'मीर हसन', दयाशंकर 'नसीम', मिर्जा 'शौक' और 'कलक' मशहूर हैं। 'रामायण' तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता'के उर्दूमें जितने अनुवाद हुए हैं वे सब 'मसनवी'के रूपमें ही हैं। उर्दूके नये कवियोंने भी मसनवियाँ लिखी हैं। उनमें नयी सामाजिक और राजनीतिक चेतना मिलती है। इनमें इकबालका 'साकीनामा' और सरदार जाफरीका 'नयी दुनियाको सलाम' अधिक प्रसिद्ध है।

हिन्दीके प्रेमाख्यानक काव्यकी परम्परामें इसी काव्य-रूपको अपनाया गया है। जायसीका 'पद्मावत' मसनवी ही है। इस दृष्टिसे मसनवीको भी एक ऐसे कथाकाव्यका प्रतिरूप कह सकते हैं, जो महाकाव्यके निकट पहुँच सकता है। —म०

महफिल–सांकेतिक रूपसे उपासना अथवा साधनाका स्थान। जगत्‌के अर्थमें भी सूफी कवि इसका प्रयोग करते हैं। —रा० पू० ति०

महाकरुण–दे०—'करुण रस'।

महाकाव्य–महाकाव्यकी परिभाषा निश्चित करनेवाले प्राचीनतम भारतीय आलंकारिक भामह (पाँचवीं शताब्दी ई०) हैं। उनके अनुसार लम्बे कथानकवाला, महान् चरित्रों-पर आश्रित, नाटकीय पंचसन्धियोंसे युक्त, उत्कृष्ट और अलंकृत शैलीमें लिखित तथा जीवनके विविध रूपों और कार्योंका वर्णन करनेवाला सर्गबद्ध सुखान्त काव्य ही महा-काव्य (काव्याल० १ १९ - २१) होता है। दण्डी-(छठी शताब्दी ई०)ने भामहकी परिभाषाको समेटते हुए भी महाकाव्यके स्थूल बाह्य लक्षणोंपर अधिक जोर दिया है (काव्यादर्श १ १४ १९)। उनके अनुसार महाकाव्य वह है जिसका कथानक इतिहास या कथासे उद्भूत हो, जिसका नायक चतुर और उदात्त हो, जिसका उद्देश्य चतुर्वर्गफलकी प्राप्ति हो, जो अलंकृत, भावों और रसोंमे भरा हुआ और बड़े आकारका, सर्गबद्ध और पंचसन्धियोंसे युक्त काव्य हो। दण्डीने महाकाव्यके प्रारम्भ, वर्णनीय वस्तु-व्यापार तथा सर्ग और छन्दके सम्बन्धमें विशेष ध्यान दिया है। इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनके लक्ष्य-ग्रन्थ 'महाभारत', 'रामायण' नहीं, बल्कि अश्वघोष और कालिदासके महाकाव्य थे। दण्डीकी परिभाषा ही आगे चलकर अधिक प्रचलित हुई और हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ कविराजने उसीमें कुछ बातें जोड़कर अपने लक्षण बनाये। हेमचन्द्र(बारहवीं शताब्दी ई०)ने यद्यपि रामायण-महा-भारतको ध्यानमें नहीं रखा, पर संस्कृतके अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंशके महाकाव्योंकी ओर उनकी दृष्टि गयी थी। 'पद्यं प्राय संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्य-वृत्तसर्गाश्वाससन्ध्यवस्कन्धकबन्धं सत्संधिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्य' (काव्यानु० अ० ८), फिर भी उनकी परिभाषा दण्डीकी परिभाषासे अधिक भिन्न नहीं है। उनकी परिभाषामें नवीनता इतनी ही है कि उन्होंने लक्षणोंको शब्दवैचित्र्य और अर्थवैचित्र्य और उभयवैचित्र्यमें रसानुरूप सन्दर्भ, अर्थानुरूप छन्द, समस्त लोक-रंजकता आदिका होना आवश्यक माना है (काव्यानु० अ० ८)। उन्होंने 'देश-काल-पात्रचेष्टा कथान्तरानुपंजम्' कहकर महाकाव्यमें जीवनके व्यापक अनुभवों और कार्योंका चित्रण करनेकी आवश्यकता बतायी है। सम्भवत यह लक्षण उन्होंने प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृतके पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमासिक शैलीके महाकाव्योंको ध्यानमें रखकर निर्धारित किया है। विश्वनाथने पूर्ववर्ती सभी आचार्योंके मतोंका समाहार करके, पर विशेष रूपसे दण्डीकी परिभाषाके आधारपर, अपने लक्षण निर्धारित किये हैं (सा० द० ६ ३१५-३२८)। उनके आदर्श ग्रन्थ माघ, भारवि और श्रीहर्षके महाकाव्य हैं। इसलिए उन्होंने अपनी परिभाषामें महाकाव्यके बाह्य या स्थायी लक्षणोंका ही अधिक निर्देश किया है, उसके मूल तत्त्वोंपर आधारित स्थायी लक्षणोंका नहीं। उन्होंने यह शर्त भी लगा दी कि महाकाव्यका नायक कुलीन क्षत्रिय या देवता होना चाहिये और महाकाव्यमें आठ या आठसे अधिक सर्ग होने चाहिये। रुद्रट(सातवीं शताब्दी ई०)की महाकाव्य सम्बन्धी मान्यता उपर्युक्त सभी आचार्योंकी मान्यताओंसे अधिक व्यापक है। (काव्याल० अ० १६ २–१९)। उन्होंने संस्कृतके परवर्ती महाकाव्योंके अतिरिक्त रामायण-महाभारत तथा प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृतके पौराणिक रोमासिक महाकाव्योंको भी ध्यानमें रखकर महाकाव्यके लक्षण निर्धारित किये हैं। उन्होंने पद्यबद्ध कथाके उत्पाद्य और अनुत्पाद्य तथा महत् और लघु, ये दो प्रकारके भेद करके केवल महत्प्रबन्धको ही महाकाव्य कहा है, चाहे उसकी कथा उत्पाद्य हो या अनुत्पाद्य। उन्होंने अवान्तर कथाओंकी आवश्यकताके साथ युग-जीवन-के विविध रूपों, पक्षों और घटनाओंको चित्रित करनेकी बात बहुत स्पष्ट रूपमें और विस्तारसे कही है। उनके अनुसार महाकाव्यका नायक द्विजकुलोत्पन्न, सर्वगुणसम्पन्न, महान् वीर, विजिगीषु, शक्तिमान्, नीतिज्ञ, कुशल राजा होता है और अन्तमें उसीकी विजय होती है। साथ ही, महाकाव्यमें प्रतिनायक और उसके कुलका भी वर्णन रहता है। उत्पाद्य कथानकवाले महाकाव्योंमें रुद्रटके मतमे प्रारम्भ-में सन्नगरी-वर्णन और नायकके वंशकी प्रशंसा होती है और उसमें अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वोंका भी समावेश रहता है। ये बातें प्राय कथा-आख्यायिकामें मिलती हैं। अत रुद्रटने कथात्मक (पौराणिक-रोमासिक) महाकाव्योंकी स्थिति भी स्वीकार की है, जिसे अन्य आचार्योंने नहीं माना है। इस तरह पद्यबद्ध कथाका, जिसे पाश्चात्य देशोंमें रोमान्स या रोमासिक कथाकाव्य कहा जाता है, महाकाव्य-पर जो प्रभाव पड़ा है, उसे केवल रुद्रटने ही परिलक्षित किया है।

प्राचीन पाश्चात्य काव्यशास्त्रियोंमें अरस्तूने महाकाव्यके सम्बन्धमें सबसे अधिक विचार किया है। यूनानमें उस समय काव्यके तीन रूप, महाकाव्य, गीतिकाव्य और दु खान्त नाट्यकाव्य प्रचलित थे। अरस्तूके अनुसार महाकाव्य वह काव्यरूप है, जिसमें कथात्मक अनुकरण होता है, जो षट्पदी छन्द(हेक्सामीटर)में लिखा जाता है, जिसका कथानक दु खान्त नाटकके समान अन्वितियुक्त और किसी सम्पूर्ण आद्यन्त घटनाका वर्णन करनेवाला होता है और कथानकका आदि, मध्य और अन्तयुक्त जीवन्त विकास दिखाया जाता है, जिससे वह जीवित प्राणीकी तरह पूर्ण इकाई प्रतीत होता है। महाकाव्यमें समुचित आनन्द प्रदान करनेकी क्षमता होती है। उसका रूप-गठन इतिहाससे बहुत भिन्न होता है, क्योंकि कवि महाकाव्यकी सामग्रीका इतिहाससे इस प्रकार चयन करता है कि उसमें सम्बन्धयुक्त अन्विति दिखलाई पड़ती है जो इतिहासमें नहीं होती। अरस्तूके अनुसार कवि पूर्वकालीन या समकालीन घटनाओं-का वर्णन भी महाकाव्यमें अवान्तरकथाके रूपमें कर सकता है अथवा विविध वस्तु-व्यापारोंका विवरणात्मक वर्णन कर सकता है, जिससे युग-जीवनके विविध पक्षों और रूपोंका सम्यक् उद्घाटन हो सके। उन्होंने महाकाव्यमें नाटकीय तत्त्वों, अतिप्राकृत और अलौकिक कार्यों या घटनाओं, कथानकमें प्रयुक्त कल्पना और सम्भावनापर आधारित तथ्यों, तथा महाकाव्यकी भाषा और शब्द चयनपर भी विचार

किया है। इस तरह उनकी परिभाषा गाथाचक्रोंसे विकसित विकसनशील महाकाव्योंके आधारपर निर्मित हुई है जो यूरोपके परवर्ती अलंकृत महाकाव्योंपर पूर्णतया घटित नहीं होती।

प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्योंमें अनिवार्य रूपसे रोमासिक तत्त्व रहा करते थे। उन महाकाव्योंमें रोमासिक कल्पनाएँ अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वों तथा कथानक-रूढियोंका आश्रय लेकर प्रयुक्त हुई हैं। वर्जिलने शास्त्रीय शैलीके जिन महाकाव्योंका प्रारम्भ किया, उनमे ये रोमासिक तत्त्व अधिक नहीं होते। इसी कारण आगे चलकर महाकाव्य और रोमासिक कथाकाव्य (रोमास), ये दो भिन्न काव्यरूप हो गये। मध्ययुगमें यूरोपकी परिस्थितियाँ ऐसी थीं, जिनमें रोमासिक कथाकाव्योंका बहुत अधिक प्रचार हुआ और महाकाव्यका उदात्त काव्यरूप भुला दिया गया। किन्तु पुनर्जागरण युगमें महाकाव्यका सम्मान फिर बढा और दाँते, एरियास्टो, स्पेन्सर, कैमास, टैसो, स्पेन्सर और मिल्टनने उसे चरमोत्कर्षपर पहुँचाया। इनमेंसे कुछके महाकाव्योंपर रोमासिक कथाकाव्यका प्रभाव बहुत अधिक है। पुनर्जागरण-युगके आलोचकोंमें इस प्रश्नपर बहुत मतभेद था कि महाकाव्यमें रोमासिक तत्त्वोंका क्या स्थान होना चाहिये। इटलीका प्रसिद्ध लेखक टावेनाँत तो शास्त्रीय महाकाव्योंका इतना पक्षपाती था कि वह एरियास्टो और दाँतेके महाकाव्योंको, उनकी रोमासिक प्रवृत्तिके कारण, महाकाव्य माननेको तैयार नहीं था। इसके विपरीत टैसोने, जिसने स्वय रोमासिक शैलीका महाकाव्य लिखा है, अपनी आलोचनाओंमें एरियास्टोका जोरदार समर्थन किया है। उसने महाकाव्यको शास्त्रीय नियमोंके बन्धनमें जकडनेवालोंका विरोध करते हुए कहा कि महाकाव्य और रोमासिक कथाकाव्यमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। सोलहवीं शताब्दीतक तो टैसोका यह सिद्धान्त मान्य रहा, पर सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दीके आलोचकोंने दोनोंको भिन्न काव्यरूप माना और महाकाव्यकी उदात्तता, गम्भीरता, अन्विति और आदर्शोंपर अधिक जोर दिया। बॉसूका नाम विशेष उल्लेखनीय है।

आधुनिक युगके पाश्चात्य आलोचकोंने महाकाव्यकी परिभाषाको अधिक व्यापक बनानेका प्रयत्न किया है। डब्ल्यू० पी० करके मतमे 'महाकाव्यमें चरित्रोंकी कल्पना बहुत ही स्पष्ट और सम्पूर्ण रूपमें की जाती है, अत उनकी विभिन्न मन स्थितियों और समस्याओंके चित्रणके कारण महाकाव्यमें नाना प्रकारके दृश्यों और गुणोंका चित्रण स्वभावत हो जाता है। इस प्रकार इसमें समग्र जीवनके कार्य-कलाप जीवन-कथाका रूप धारण कर लेते हैं। महाकाव्यकी सफलता कविकी कल्पना शक्ति और चरित्र-चित्रणपर निर्भर होती है। कुछ महाकाव्योंमें कथानक यद्यपि नाटकीय गुणोंसे युक्त नहीं होता और नायक महत्त्वहीन होता है, फिर भी ऐसे कथानकोंमें एक विशेष गरिमा होती है जिससे वे महाकाव्य माने जाते हैं' (एपिक एण्ड रोमास पृ० १७)। अँग्रेजीके एक अन्य आलोचक एबर क्रोम्बीका कहना है कि बडे आकारके कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। जब उसकी शैली महाकाव्यकी शैली होगी, तभी उसे महाकाव्य माना जायगा और वह शैली कविकी कल्पना, विचारधारा तथा उनकी अभिव्यक्तिमें जुडी रहती है। इस शैलीके काव्य (महाकाव्य) हमें एक ऐसे लोकमें पहुँचा देते हैं जहाँ कुछ भी महत्त्वहीन और असारगर्भित नहीं होता। महाकाव्यमें एक पुष्ट, स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है जो उसकी गतिका आयन्त सचालन करता है (दि एपिक, पृ० ४१-४२)। सी० एम० बावराने महाकाव्यकी परिभाषा निश्चित की है, 'महाकाव्य बृहदाकार कथात्मक काव्यरूप है, जिसमे कुछ महत्त्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओंका वर्णन होता है और जिसमें कुछ चरित्रोंके क्रियाशील और भयकर कार्योंमे भरे जीवनकी कथा होती है। उसके पढनेसे हमें एक विशेष प्रकारका आनन्द प्राप्त होता है, क्योंकि घटनाएँ और पात्र हमारे भीतर मनुष्यकी महत्ता, गौरव और उपलब्धियोंके प्रति दृढ आस्था उत्पन्न करते हैं' (फ्राम वर्जिल टु मिल्टन : पृ० १)। अन्तमें यहाँ स्वच्छन्दतावादके प्रवर्तक वाल्टेयरका मत दिया जा रहा है, जिसे मैकनील टिक्सनने महाकाव्यकी सबसे व्यापक और समीचीन परिभाषा मानकर उद्धृत किया है—'ऐसे काव्य-ग्रन्थ ही महाकाव्य नामके अधिकारी हैं जिनमें किसी महती घटनाका वर्णन होता है और जिन्हें समाज व्यवहारत महाकाव्य मानने लगते हैं। चाहे उसकी घटना सरल हो या जटिल, चाहे एक स्थानपर घटित होनेवाली हो या उसका नायक ससारभरमें भटकता फिरे, चाहे उसमें एक नायक हो या अनेक, चाहे उसका नायक अभागा हो या सौभाग्यशाली, भयकर क्रोधी हो या धर्मात्मा, चाहे वह राजा हो या सेनापति या इनमेंसे कुछ भी न हो, चाहे उसके दृश्य महासागरके हों या धरतीके, स्वर्गके हों या नरकके, इससे कुछ नहीं बनता बिगडता। इसके बावजूद कोई मान्य महाकाव्य तबतक महाकाव्य कहा जाता रहेगा जबतक आप उसके गुणोंके अनुरूप उसका कुछ और नामकरण नहीं कर देते।' (इगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्री : पृ० ९)।

वाल्टेयरका अभिप्राय यह है कि महाकाव्यमें कुछ ऐसे गुण होते हैं जो भले ही शब्दोंमें व्यक्त न किये जा सकें, पर समाज अपनी सहज बुद्धि द्वारा उन्हें पहिचानता है। अत किसी काव्यका महाकाव्य होना कुछ बाह्य लक्षणों या परम्परागत रूढियोंके अपनाये जानेपर नहीं, बल्कि समाजकी स्वीकृतिपर निर्भर है। उस स्वीकृतिके लिए वाल्टेयरने केवल एक शर्त रखी है और वह है महाकाव्यमें घटनाका महती या गरिमामयी होना। इस तरह वाल्टेयरने यह सिद्ध किया है कि सकीर्ण मानदण्डसे महाकाव्यका स्वरूप-निर्णय नहीं हो सकता। मैकनील टिक्सनने भी इसी मतका समर्थन करते हुए लिखा है—'यद्यपि महाकाव्यका एक निश्चित स्वरूप होता है, पर उसे सकीर्ण लक्षणोंके बन्धनमें नहीं बाँधा जा सकता। उदाहरणार्थ, शास्त्रीय महाकाव्यका यह नियम कि उसमें कल्पित और अविश्वसनीय आश्चर्यके तत्त्व नहीं होने चाहिये यदि दृढतापूर्वक स्वीकृत किया जाय तो अनेक महान् महाकाव्योंको महाकाव्यकी श्रेणीसे निकाल देना पड़ेगा।' (वही, पृ० १८-१९)। वस्तुत महा-

काव्यकी ऐसी व्यापक परिभाषा होनी चाहिये जिसके अनुसार शास्त्रीय, रोमासिक, नाटकीय, मनोवैज्ञानिक, प्रतीकात्मक आदि सभी प्रकारके तथा सभी देशों और कालों-के महाकाव्योंकी परख हो सके। ऐसी एक परिभाषा यह हो सकती है—'महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है, जिसमें क्षिप्र कथा प्रवाह या अलकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रणसे युक्त ऐसा सुनियोजित, सागोपाग और जीवन्त लम्बा कथानक हो, जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करनेमें पूर्ण समर्थ हो सके, जिसमें यथार्थ, कल्पना या सम्भावनापर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रोंके महत्त्वपूर्ण जीवनवृत्तका पूर्ण या आशिक रूपमें वर्णन हो जो किसी युगके सामाजिक जीवनका किसी-न-किसी रूपमें प्रतिनिधित्व कर सके, जिसमें किसी महत्प्रेरणासे अनुप्राणित होकर किसी महदुद्देश्यकी सिद्धिके लिए किसी महत्त्वपूर्ण, गम्भीर अथवा रहस्यमय और आश्चर्योत्पादक घटना या घटनाओं-का आश्रय लेकर सश्लिष्ट और समन्वित रूपसे जातिविशेष या युगविशेषके समग्र जीवनके विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं और कार्योंका वर्णन और उद्घाटन किया गया हो और जिसकी शैली इतनी गरिमामयी और उदात्त हो कि युग-युगान्तरतक महाकाव्यको जीवित रहने-की शक्ति प्रदान कर सके।'

महाकाव्यकी इस परिभाषामें विभिन्न युगों और देशोंके विभिन्न शैलियोंके महाकाव्योंमें प्राप्त स्थायी लक्षणोंका समावेश हो गया है। उन्हें मोटे तौरपर महाकाव्यके निम्नलिखित अवयवोंके स्वरूपमें विभाजित करके उपस्थित किया जा सकता है—१ महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा, २ गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व, ३ महाकार्य और युगजीवनका समग्र चित्रण, ४ सुसघटित जीवन्त कथानक, ५. महत्त्वपूर्ण नायक तथा अन्य पात्र, ६ गरिमामयी उदात्त शैली, ७. तीव्र प्रतिभान्विति और गम्भीर रस-व्यजना, ८ अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता।

ये तत्त्व या लक्षण सर्वांश या अधिकाशमें जिन काव्योंमें प्राप्त होंगे वे ही वास्तविक रूपमें महाकाव्य-पदके अधिकारी हो सकते हैं। यों तो महाकाव्य-रूपमें लिखे गये या माने गये प्रबन्धकाव्य प्रत्येक देशमें बहुत अधिक मिलते हैं, पर उनमें सभी वास्तविक महाकाव्य नहीं होते। महाकाव्यके लक्षणोंका अनुसरण करके अथवा प्रसिद्ध महाकाव्योंका अनुकरण करके लिखे जानेके कारण ही कोई काव्य महा-काव्यकी श्रेणीमें नहीं प्रतिष्ठित हो सकता। ऐसे न जाने कितने बृहदाकार ग्रन्थ भारत और यूरोपमें लिखे जा चुके हैं, पर उनमेंसे अधिकतर या तो महाकाव्य माने नहीं गये या महाकालने उन्हें विस्मृतिके गर्भमें ढकेल दिया। दूसरी ओर ऐसे काव्य जिनके कवि या तो अज्ञात हैं अथवा जो न जाने कितने हाथोंकी रचना हैं, और ऐसे काव्य-लेखकोंने कभी सोचा भी नहीं था कि वे महाकाव्य लिख रहे हैं, कालान्तरमें व्यापक प्रभाववाले महाकाव्यके रूपमें मान्य हुए हैं। ऐसे काव्योंने युग युगतक किसी विशेष देश, जाति या समाजके जीवनको प्रभावित और आनन्दित किया है। यही कारण है कि नाटक, कथाकाव्य, इतिहास-पुराण और गीतिकाव्यके ग्रन्थोंकी जहाँ कोई गणना नहीं हो सकती, वहाँ किसी भाषाके महाकाव्योंके नाम उँगलियोंपर गिने जा सकते हैं और उस भाषाके जाननेवाले अधिकाश लोग उन्हें अच्छी तरह जानते रहते हैं। ऐसा इसलिए है कि महाकाव्य हर समय और हर कवि द्वारा नहीं लिखा जा सकता। उसका एक उपयुक्त समय होता है और जब कोई विराट् चेतनावाला महान् कवि उस उपयुक्त अवसरको पहिचानकर तत्कालीन सामाजिक आवश्यकताओंकी पूर्ति अनजाने ही करनेकी चेष्टा करता है तब सच्चे महाकाव्यका निर्माण होता है।

ससारके सभी देशोंमें जहाँ महाकाव्यकी रचना हुई है, उसकी परम्परा दो धाराओंमें विभक्त होकर प्रवाहित होती आ रही है—मौखिक परम्परावाली धारा और लिखित परम्परावाली धारा। यद्यपि इन दोनोंमें बहुत अन्तर है, पर वस्तुत दोनों महाकाव्यकी ही धाराएँ हैं, क्योंकि दोनोंके मूल तत्त्व एक ही हैं। पहले प्रकारके महाकाव्योंको प्राकृत या विकसनशील महाकाव्य (ऑथेंण्टिक एपिक या एपिक ऑफ ग्रोथ) कहते हैं और दूसरे प्रकारके महाकाव्यों-को साहित्यिक या अनुकृत अथवा अलंकृत महाकाव्य (लिटरेरी या इमिटेटिव एपिक या एपिक ऑफ आर्ट)। अनेकानेक अज्ञात कवियोंकी प्रतिभाके योगसे कण्ठानुकण्ठ विकसित होनेवाले महाकाव्य प्रथम धारामें और विशिष्ट कवियों द्वारा अपनी प्रतिभा और कला-प्रदर्शनका करनेकी दृष्टिसे लिखे गये महाकाव्य द्वितीय धारामें आते हैं। यूरोप-के प्राचीनतम महाकाव्य 'इलियड' और 'ओडेसी' हैं जो होमर-कृत बताये जाते हैं, पर वस्तुत जिनका मौखिक परम्परामें सैकड़ों वर्षोंमें विकास हुआ था। इग्लैण्टका 'बियोवुल्फ', जर्मनीका 'निबुलगेनलीड', फ्रासका 'साग ऑफ दि रोलाँ' इसी प्रकारके कण्ठानुकण्ठ विकसित महा-काव्य हैं। पहली शताब्दीमें वर्जिलने होमरके महाकाव्योंके अनुकरणपर, किन्तु शास्त्रीय शैलीमें 'इनीड' नामक महा-काव्य लिखा और परवर्ती कवियोंने प्राय वर्जिलकी शास्त्रीय शैलीका ही अनुकरण किया। ये सभी लिखित महाकाव्य दूसरी धारामें आते हैं। इसी तरह भारतमें 'महाभारत' और 'रामायण' विकसनशील महाकाव्य हैं, जिनके निर्माणमें न जाने कितने अज्ञात कवियोंकी प्रतिभाका योग रहा है और न जाने कितनी शताब्दियोंतक निरन्तर विकसित होते हुए उन्होंने अपना वर्तमान रूप प्राप्त किया है। किन्तु अश्वघोष, कालिदास, माघ, भारवि, स्वयभू, पुष्पदन्त, तुलसी आदि कवियोंके महाकाव्य अनुकृत या अलकृत हैं, क्योंकि इस प्रकारके महाकाव्योंका प्रारम्भ 'रामायण' और 'महाभारत' के अनुकरणपर ही हुआ था, यद्यपि उनकी शैली विशिष्ट कवियोंकी वैयक्तिक प्रतिभाके योगके कारण रामायण-महा-भारतसे भिन्न प्रकारकी है। इस प्रकार मौखिक और लिखित (विकसित और रचित) परम्पराके कारण ही महाकाव्यके दो रूप हो गये हैं। प्रारम्भमें तो अनुकृत या अलकृत धाराके भीतर सर्वत्र शास्त्रीय शैलीके महाकाव्य ही लिखे गये, पर बादमें शास्त्रीय शैलीके बन्धनोंकी प्रतिक्रिया हुई, फलस्वरूप रोमासिक, ऐतिहासिक और पौराणिक शैलीके महाकाव्य भी लिखे जाने लगे। ऐसे महाकाव्योंपर विकसनशील महा-

काव्योंकी रोमानिक और आश्चर्योत्पादक प्रवृत्तिका तथा लोक-जीवनके विश्वासोंका अधिक प्रभाव था ।

समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक विकासक्रमकी दृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट ज्ञान होता है कि महाकाव्यके विभिन्न रूपों और शैलियोंका विकास समाजके विकासक्रमके अनुरूप हुआ है । विकसनशील महाकाव्य अनिवार्यतः प्रारम्भिक वीर-युग (हीरोइक एज) और सामन्ती वीर-युग (एज ऑव शिवेल्री)में ही विकसित हुए । विकासोन्मुख सामन्त-युग या सामन्ती साम्राज्य-युगमें विशेष रूपसे शास्त्रीय या 'संस्कृत' शैली (क्लासिकल)के महाकाव्योंकी रचना हुई । ह्रासोन्मुख सामन्त-युगमें रूढ़िवादी प्रवृत्तियोंकी संकीर्णता और कठोरता तथा सामन्ती मनोवृत्तिके कारण एक ओर तो अतिशय अलंकृत, रूढ़िवाद और चमत्कारप्रधान महाकाव्य लिखे गये, दूसरी ओर लोकाश्रित धर्म और लोक-विश्वासोंका आश्रय लेकर तथा सामन्ती बन्धनोंके प्रति विद्रोही भावनाके कारण रोमानिक, ऐतिहासिक और पौराणिक शैलीके महाकाव्य लिखे गये । सामन्त-युगके उपरान्त पूँजीवाद-युग वैयक्तिक विद्रोह, राष्ट्रीयता और स्वच्छन्दताकी भावना लेकर अवतरित हुआ, जिसके फलस्वरूप आधुनिक युगमें स्वच्छन्दतावादी शैलीके महाकाव्य लिखे गये । इस शैलीके अन्तर्गत, **रूपककथात्मक (एलीगोरिकल)**, मनोवैज्ञानिक, नाटकीय, प्रगीतात्मक आदि कई शैलियाँ आ जाती हैं, पर सबकी मूल प्रवृत्ति सामन्ती युगकी रूढ़ियों और शास्त्रीय महाकाव्यके लक्षणोंके कठोर बन्धनोंके प्रति विद्रोहकी है । इस तरह महाकाव्य मुख्यतः दो प्रकारके होते हैं—१ साहित्यिक परम्परामें विकसित और २. लोक-कण्ठमें रहकर विकसित लोक-महाकाव्य (फोक एपिक) । अलंकृत महाकाव्यकी मुख्यतः निम्नलिखित शैलियाँ हैं—१ शास्त्रीय, २. रोमानिक, ३ ऐतिहासिक, ४ पौराणिक, ५ रूपककथात्मक, ६. नाटकीय, ७ प्रगीतात्मक, ८ मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक । हिन्दीमें 'पृथ्वीराजरासो' साहित्यिक परम्परामें विकसित विकसनशील महाकाव्य और 'आल्हखण्ड' लोक-महाकाव्य हैं । इनके अतिरिक्त 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' क्रमशः रोमानिक, पौराणिक और रूपककथात्मक शैलीके महाकाव्य हैं । कामायनीमें मनोवैज्ञानिक और प्रगीतात्मक शैलियोंका भी सामंजस्य हुआ है । केशवकी 'रामचन्द्रिका' और लाल कविका 'छत्रप्रकाश' यदि महाकाव्य होते तो उन्हें क्रमशः नाटकीय और ऐतिहासिक शैलीका महाकाव्य माना जाता । —श० ना० सिं०

हिन्दीमें यद्यपि लम्बे आकारके अनेक सर्गबद्ध काव्य-ग्रन्थोंकी रचना हुई, किन्तु उनमेंसे केवल कुछको ही महाकाव्य कहा जा सकता है और सच्चे अर्थमें तो महाकाव्यका प्रायः अभाव ही समझना चाहिये । वास्तवमें हिन्दी भाषाके सम्पूर्ण विकास-कालमें महाकाव्यकी रचनाके लिए उपयुक्त वातावरणका अभाव रहा है ।

हिन्दीका आदि काल भारतीय इतिहासमें युद्ध और संघर्षका समय था । केन्द्रीय राजसत्ताके अभाव तथा राष्ट्रीयता और देशभक्तिकी भावनाके लोपके कारण अराजकता तथा अनिश्चयका ही साम्राज्य था । धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टिसे भी यह युग संक्रान्ति तथा परिवर्तनका युग था । बौद्ध और जैन धर्म लुप्तप्राय हो चले थे, ब्राह्मण-धर्मका पुनरुत्थान नयी शक्तिके साथ हो चला था । विचार और दर्शनके क्षेत्रमें कोई नयी उद्भावना नहीं हुई, इसके विपरीत चिराचरित रूढ़ियोंके पालनका आग्रह ही अधिक दिखाई पड़ता है । यह राष्ट्रके पतनका युग था ।

'पृथ्वीराजरासो' तथा 'आल्हखण्ड' इस कालके दो प्रसिद्ध महाकाव्य हैं, पहलेको हम साहित्यिक परम्पराका विकसनशील महाकाव्य और दूसरेको लोक-महाकाव्यकी संज्ञा दे सकते हैं ।

रासोका बृहत्तम रूपान्तर जो नागरीप्रचारिणी सभासे प्रकाशित है, ६९ समय(सर्ग)का विशाल ग्रन्थ है । इसमें अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहानके जीवन वृत्तके साथ सामन्ती वीर-युगकी सभ्यता, रहन-सहन, मान-मर्यादा, खान-पान तथा अन्य जीवन-विधियोंका इतना ब्योरेवार और सही वर्णन हुआ है कि इसमें तत्कालीन समग्र युगजीवन अपने समस्त गुण-दोषोंके साथ यथार्थ रूपमें चित्रित हो उठा है । अध्यात्म, राजनीति, धर्म, योग, कामशास्त्र, मन्त्र-तन्त्र, युद्ध, विवाह, मृगया, मन्त्रणा, दौत्य, मानवीय सौन्दर्य, संगीत-नृत्य, वन-उपवन-विहार, यात्रा, पशु-पक्षी, वृक्ष, फल फूल, पूजा-उपासना, तीर्थ-स्नान, देवता-मुनि, स्वर्ग, राज-दरबार, अन्तःपुर, उद्यान-गोष्ठी, शास्त्रार्थ, वसन्तोत्सव तथा सामाजिक रीति-रिवाज—तात्पर्य यह कि तत्कालीन जीवनका कोई पहलू ऐसा नहीं बचा है, जो रासोमें न आया हो । किन्तु इन विषयोंमें भी युग-प्रवृत्तिके अनुसार सबसे अधिक उभार मिला है युद्ध, विवाह, भोग-विलास तथा मृगयाके ही वर्णनोंको और यही कारण है कि 'पृथ्वीराजरासो'में चारित्र्यकी वह गरिमा नहीं आ पायी है जो आदर्श महाकाव्यके लिए आवश्यक है । रासोके ६५वें समयमें पृथ्वीराजकी रानियोंके नाम गिनाये गये हैं, जिनकी संख्या तेरह है । इनमेंसे केवल चारके विवाह उभय पक्षकी स्वेच्छासे हुए, शेष सबको बलात् हरण किया गया था, जिनके लिए युद्ध भी करने पड़े थे । इन विवाहोंके वर्णन रासोमें अत्यधिक विस्तारसे मिलते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि ये ही उक्त महाकाव्यके प्रमुख विषय हैं । शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणोंके समय पृथ्वीराज इतना विलासी हो गया था कि संयोगिताके महलसे बाहर निकलता ही नहीं था । उसकी सहायताके लिए रावल समर सिंह दिल्ली आकर ठहरते थे, किन्तु पृथ्वीराजको इनकी सूचना लेनेकी भी फुर्सत नहीं थी । प्रजामें कष्ट और असन्तोष बढ़ता है । अन्तमें वह शहाबुद्दीन द्वारा बन्दी बनाकर गजनी ले जाया जाता है, जहाँ चन्दके संकेतसे गोरीका वधकर स्वयं भी मर जाता है । इस प्रकार रासो हमारे पतन और शर्मकी कहानी है ।

रासोमें कथानककी शिथिलता, विशृंखलता तथा असन्तुलित योजना भी अत्यधिक खटकती है । कथानकका जो एक क्षीण तन्तु है भी वह बीच बीचमें विवाह, मृगया आदिके उबा देनेवाले लम्बे वर्णनोंके कारण टूट जाता है । कथानकमें सुनिश्चित योजना तथा समानुपातिक संघटनके अभावका कारण कदाचित् यह भी है कि उसके वर्तमान

रूपान्तरमें मूल रचनाके अतिरिक्त प्रक्षेप भी अत्यधिक परिमाणमें हुए हैं।

अत 'पृथ्वीराजरासो' उत्कृष्ट कोटिके महाकाव्योंकी श्रेणीमें रखे जानेके योग्य नहीं जान पडता।

'आल्हखण्ड'में महोबेके दो प्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल(उदय सिंह)का विस्तृत वर्णन है। कई शताब्दियोंतक मौखिक रूपमें चलते रहनेके कारण उसके वर्तमान रूपमें जगनिककी मूल रचना खो सी गयी है, किन्तु अनुमानत उसका मूल रूप तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दीतक तैयार हो चुका था। आरम्भमें वह वीर रस-प्रधान एक लघु लोक-गाथा (बैलेड) रही होगी, जिसमें और भी परिवर्धन होनेपर उसका रूप गाथाचक्र(बैलेड साइकिल)के समान हो गया जो कालान्तरमें एक लोक-महाकाव्यके रूपमें विकसित हो गया।

रासोके सभी गुण-दोष 'आल्हखण्ड'में भी वर्तमान हैं। दोनोंमें अन्तर केवल इतना है कि एकका विकास दरबारी वातावरणमें शिष्ट, शिक्षित-वर्गके बीच हुआ और दूसरेका अशिक्षित ग्रामीण जनताके बीच। 'आल्हखण्ड'पर अलकृत महाकाव्योंकी शैलीका कोई प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता। शब्द-चयन, अलकार-विधान, उक्ति-वैचित्र्य, कम शब्दोंमें अधिक भाव भरनेकी प्रवृत्ति, प्रसग गर्भत्व तथा अन्य काव्य-रूढ़ियों और काव्य-कौशलका दर्शन उसमें बिलकुल नहीं होता। इसके विपरीत उसमें सरल स्वाभाविक ढंगसे, सफाईके साथ कथा कहनेकी प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु साथ ही उसमें ओजस्विता और शक्तिमत्ताका इतना अदम्य वेग मिलता है जो पाठक अथवा श्रोताको झकझोर देता है और उसकी सूखी नसोंमें भी उष्ण रक्तका सचार कर साहस, उमग और उत्साहसे भर देता है। उसमें वीर रसकी इतनी गहरी और तीव्र व्यंजना हुई है और उसके चरित्रोंको वीरता और आत्मोत्सर्गकी उस ऊँची भूमिपर उपस्थापित किया गया है कि उसके कारण देश और कालकी सीमा पार कर समाजकी अजस्र जीवनधारासे 'आल्हखण्ड'की रसधारा मिलकर एक हो गयी है। इसी विशेषताके कारण उत्तरभारतकी सामान्य जनतामें लोकप्रियताकी दृष्टिसे 'रामचरितमानस'के बाद 'आल्हखण्ड'का ही स्थान है और इसी विशेषताके कारण वह सदियोंसे एक बड़े भू भागके लोक-कण्ठमें गूँजता चला आ रहा है।

मध्यकालमें, जब कि हिन्दी भाषाका गौरव-सूर्य मध्याह्नका, चरम बिन्दुका स्पर्श करने जा रहा था, हिन्दीके दो सिद्धहस्त कवियों द्वारा दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गये, जिनमें उत्कृष्ट महाकाव्यके अनेक गुण समाहित हो सके हैं। वे हैं—मलिक मुहम्मद जायसी-कृत 'पद्मावत' तथा गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस'। दोनोंमें सुप्रसिद्ध कथानकोंका आधार लिया गया है, जिनमें जीवनके सभी पहलुओंके सर्वांगीण अनुभव भरनेके पर्याप्त अवसर आये हैं और उनका सूक्ष्मतासे उपयोग भी किया गया है। दोनों महाकवियोंकी भाषा तथा शैलीमें विलक्षण शक्ति है और दोनोंने अपनी भास्वर प्रतिभाकी सहायतासे इस महान् देशके उस उत्थानशील युगके उत्कृष्टतम विचारोंको समेटकर अपनी-अपनी रचनाओंमें मुखरित करनेका सफल प्रयास किया है। किन्तु महाकाव्यकी दृष्टिसे विचार करनेपर दोनोंमें कुछ कमियाँ भी खटकती हैं। 'मानस'में पौराणिकताका अत्यधिक प्रभाव रहनेके कारण कहीं कहीं शिथिल कथानक और अवान्तर कथाओं तथा प्रसगोंका आधिक्य हो गया है (विशेषतया बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्डमें), इसके अतिरिक्त माहात्म्य और स्तोत्र, देवताओं द्वारा विभिन्न अवसरोंपर पुष्प वर्षा आदिके वर्णनोंकी पुनरावृत्ति, सैद्धान्तिक विवेचनों और प्रचारात्मक उपदेशोंका आधिक्य, सब मिलाकर 'मानस'-के काव्यात्मक पक्षको कुछ दबा देते हैं। किन्तु विचित्रताकी बात यह है कि धर्म-परायण भारतीय जनताकी मनोवृत्तिके अनुकूल होनेके कारण उसके दूषण भी भूषण हो गये हैं और इन्हीं विशेषताओंके कारण यह महाकाव्यके साथ साथ धर्म-ग्रन्थ भी बना हुआ है। 'रामचरितमानस' ही ससारका ऐसा अकेला महाकाव्य है, जिसका करोड़ों व्यक्तियोंके बीच धर्मग्रन्थ और काव्य, दोनों ही रूपोंमें आदर है और अकेले इस ग्रन्थने लोक-जीवनको जितनी गहराईतक प्रभावित किया है उतना ससारके किसी भी महाकाव्यने शायद ही कभी किया हो।

'पद्मावत'के नायक रतनसेनके जीवनमें—विशेषतया उसके उत्तरार्द्धमें—कुछ ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं, जिनसे एक आदर्श चरितनायकके योग्य उत्कर्षका अभाव उसमें खटकता है। अलाउद्दीन और देवपालके युद्धोंका कारण पद्मावती दिखायी गयी है और अन्तमें उसीके कारण रतन-सेनकी पराजय तथा मृत्यु भी दिखायी जानेसे एक ओर जहाँ प्रेम-मार्गमें आत्मोत्सर्गका आदर्श सिद्ध होता है वहीं दूसरी ओर भारतीय आदर्शका हनन भी होता है। राजनीतिक अथवा सामाजिक क्षेत्रमें भी रतसेनको हम कोई उच्च आदर्श स्थापित करते हुए नहीं देख पाते। उसमें मानव-सुलभ दुर्गुण—जैसे द्रव्यलोभ, रूपलोभ, धनमद, अदूर-दर्शिता, उतावली आदि—भी दिखाई पड़ते हैं। इसलिए स्वाभाविक रूपसे उसके प्रति पाठककी वैसी श्रद्धा नहीं जाग्रत् होती—जैसी राम, कृष्ण, भीष्म पितामह, राणा प्रताप आदि वीरश्रेष्ठोंके प्रति होती है। यद्यपि जायसीने वहाँ ऐतिहासिक सत्यकी रक्षा करते हुए सामन्तकालीन प्रवृत्तियोंका यथातथ्य वर्णन किया है, किन्तु इससे महाकाव्यकी उत्कृष्टतापर आघात अवश्य लगता है।

हिन्दी साहित्यका उत्तर-मध्यकाल फिर महाकाव्य-निर्माणके लिए अनुर्वर सिद्ध हुआ। दरबारी वातावरणमें काव्य-ज्ञान-प्रदर्शन द्वारा अधिकसे अधिक सम्मान और धन प्राप्त करनेके लिए इस कालके कवियोंमें काव्य-शास्त्रोंके आधारपर रस, अलकार, छन्द तथा नायिका-भेदके विस्तृत निरूपण द्वारा पाण्डित्य-प्रदर्शन और चमत्कार-प्रियताकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ गयी थी कि लोक-जीवनको प्रभावित करनेवाले किसी महत् उद्देश्यको लेकर काव्य रचनाके लक्ष्य-की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। यही कारण है कि रीतिकालीन काव्यधारा विशेषतया मुक्तक-प्रधान रही, प्रबन्ध काव्योंकी रचना प्रबन्ध काव्यके अनुपातमें कम हुई। जो बड़े आकारवाले प्रबन्ध-काव्य हैं उनमेंसे कुछ तो ऐसे हैं जिनमें ऐतिहासिक इतिवृत्त ही प्रधान हैं और विषय-वस्तु, काव्य-शैली, चरित्र-चित्रण तथा उद्देश्यकी महात्ताकी दृष्टिसे जिनका अधिक महत्त्व नहीं है। कुछ पौराणिक-शैली-

के प्रबन्ध-काव्य हैं, जिनकी रचना 'महाभारत', 'रामायण' अथवा 'रामचरितमानस'के अनुकरणपर हुई है। प्रथम कोटिकी रचनाओंमें मान-कृत 'राजविलास', गोरेलाल-कृत 'छत्रप्रकाश', सूदन कृत 'सुजान चरित' तथा जोधराज-कृत 'हम्मीररासो'के नाम लिये जा सकते हैं और द्वितीय कोटिकी रचनाओंमें सबल सिंह चौहानका 'महाभारत', व्रजवासीदास-का 'व्रजविलास', मधुसूदनदासका 'रामाश्वमेध', पद्माकरका 'रामरसायन', विश्वनाथ सिंह-कृत 'रामायण', गुमान मिश्रकी 'कृष्णचन्द्रिका' और केशवदासकी 'रामचन्द्रिका' प्रमुख हैं। इनमेंसे अधिकांशको भ्रमवश महाकाव्य कह दिया जाता है। वस्तुत महाकाव्यके गुण किसीमें नहीं है।

'राजविलास' ऐतिहासिक शैलीका चरित-काव्य है जिसमें संस्कृतके प्रशस्तिमूलक चरित-काव्य तथा हिन्दीके 'पृथ्वीराजरासो'की काव्य-पद्धति अपनायी गयी है। इसमें महाराणा राजसिंहके वंशकी उत्पत्ति, उनके पूर्वपुरुषोंका इतिहास, राणाके जन्म, विवाह, युद्ध आदिके साथ उनके पराक्रम तथा औदार्य आदिका वर्णन हुआ है। असमयमें ही राजसिंहकी मृत्यु (सन् १६८० ई०)के कारण ग्रन्थकी रचना भी आगे न बढ सकी और वह अपूर्ण रह गया है। इसमें कुल १८ विलास हैं, किन्तु ऐतिहासिक वृत्त-वर्णन ही इसका प्रधान उद्देश्य ज्ञात होता है। इनमें न तो कथानक-की अन्विति है और न वीर रसके अतिरिक्त अन्य रसोंकी अगरूपमें योजना ही हुई है। नायकको जीवनकी विविध परिस्थितियोंमें रखकर उसके चरित्रका पूर्ण उत्कर्ष दिखानेमें भी ग्रन्थकार सफल नहीं हो सका है और न भाषा तथा शैलीमें ही महाकाव्योचित गरिमाकी झलक मिल पाती है। इन कारणोंसे 'राजविलास'को महाकाव्य नहीं माना जा सकता।

'छत्रप्रकाश'में छत्रसाल बुन्देलेकी कीर्तिका वर्णन है और यद्यपि इसमें कुल छब्बीस अध्याय हैं, किन्तु पूरे ग्रन्थमें नीरस ऐतिहासिक इतिवृत्तात्मकता ही दिखाई पड़ती है, सरस मार्मिक स्थलोंके चुनावके साथ जिस मर्मस्पर्शी भाव-व्यंजनाकी महाकाव्यमें आवश्यकता होती है, उसका इसमें नितान्त अभाव है। इतिहासकी दृष्टिसे 'छत्रप्रकाश' महत्त्वकी पुस्तक है, क्योंकि उसमें सब घटनाएँ सच्ची और सब ब्योरे ठीक-ठीक दिये गये हैं, किन्तु इसे महाकाव्य मानने-का कोई आधार नहीं दिखाई पड़ता।

'सुजान-चरित'में सुजान सिंह जाटके जीवन तथा युद्धों-का वर्णन है, किन्तु उनका चरित्र इतना उदात्त तथा लोक-प्रसिद्ध नहीं कि उसके आश्रयपर महाकाव्यकी रचना हो सके। 'सुजान-चरित' अत्यन्त साधारण कोटिकी रचना है, जिसमें न तो जीवनके विविध पक्षोंका ही समावेश हो सका है और न उसकी शैली तथा उसकी शब्द-योजनामें ही सजीवताके कोई लक्षण वर्तमान हैं।

'हम्मीररासो' उन्नीसवीं शताब्दीकी रासो-परम्परामें सम्भवत अन्तिम महत्त्वपूर्ण काव्यग्रन्थ है। यद्यपि यह ९७९ छन्दोंका एक बडा ग्रन्थ है, किन्तु सर्गोंमें विभक्त नहीं है। जोधराजने अपने आश्रयदाता राजा चन्द्रभानके अनुरोधसे उनके पूर्वज हम्मीरदेवके चरित्रका वर्णन करनेके लिए इस काव्यकी रचना की। यद्यपि इसमें महा-काव्यकी वस्तु-वर्णन सम्बन्धी अनेक रूढियों, जैसे, प्रकृति, युद्ध, संयोग तथा विप्रलम्भ, कुमारोदय, नगरावरोध, मृगया, यत्न, मन्त्रणा, दौत्य, नगर, देश आदिके वर्णनकी पद्धति भी अपनायी गयी है, फिर भी उद्देश्यकी महत्ता, महत्प्रेरणा, कथानककी सघटित योजना, तीव्र प्रभावान्विति, अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति आदिके अभावमें महाकाव्य नहीं माना जा सकता। नायककी पराजय तथा मृत्युके कारण यह दु खान्त भी हो गया है।

दूसरी कोटिकी रचनाओंमें सबल सिंह-कृत 'महाभारत', विश्वनाथ सिंह-कृत 'रामायण' तथा व्रजवासीदास कृत 'व्रज-विलास' यद्यपि पर्याप्त बड़े और लोकप्रिय ग्रन्थ हैं, पर उनमें काव्यात्मकता तथा मौलिकताका अभाव है। साधारण श्रेणीके भक्त पाठकोंके लिए ही उनका महत्त्व है। पद्माकरका 'रामरसायन' वाल्मीकि-रामायणके आधारपर 'रामचरित-मानस'की शैलीमें लिखा गया बड़ा चरितकाव्य है, किन्तु काव्यात्मकता इतनी निम्न कोटिकी है कि विद्वानोंको इसे पद्माकरकी रचना माननेमें भी सन्देह होता है। 'रामाश्वमेध' रीतिकालके अधिकांश प्रबन्धकाव्योंकी अपेक्षा अधिक परिमार्जित शैलीका काव्य है। उसमें 'पद्मपुराण' तथा 'वाल्मीकि-रामायण'के उत्तरकाण्डकी कथाका आधार ग्रहण किया गया है और रामके अश्वमेध यज्ञको केन्द्रविन्दु बनाकर कथा-वस्तुका विन्यास हुआ है। मधुसूदनदासने इस ग्रन्थकी रचनामें 'रामचरितमानस'की शैलीका अनुकरण किया है, जिसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। किन्तु उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव तथा उदात्त शैली होते हुए भी उसमें उद्देश्यकी वह महत्ता, जीवनकी वह समग्रता तथा प्रतिभाकी वह उत्कृष्टता नहीं दिखाई पड़ती जो मानसमें है। रामके जीवनकी एक लघु कथाका ही आश्रय लेकर कविने वस्तु-वर्णन—ह्रास-कथानकका अनावश्यक विस्तार किया है, किन्तु केवल बृहत् आकारके आधारपर 'रामाश्वमेध'को महाकाव्य मानना उचित नहीं है।

'रामचन्द्रिका'में कुल ३९ प्रकाश या सर्ग हैं और यद्यपि उसमें भारतीय साहित्यके सर्वोत्कृष्ट नायक 'रामचन्द्र'का समस्त जीवन वृत्त वर्णित है, किन्तु उसका उपयोग केवल छन्द-वैविध्य, पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा अलकार आदिकी योजनामें ही हुआ है—उसके द्वारा केशव न तो किसी महत्कार्यका आदर्श रख सके, न जीवनके विविध पक्षोंका उद्घाटन ही कर सके। केशवकी कल्पना ऐसी विराट् नहीं है जो समस्त युग-समाजके सदसत् रूपोंकी विवेचना और प्रत्यक्षीकरण कर सके। 'रामचन्द्रिका'में कथानककी जीवन्तताका नितान्त अभाव है। वस्तु-वर्णनमें देश-काल-स्वभावके औचित्य अथवा प्रबन्ध-कौशलका तनिक भी ध्यान नहीं रखा गया है। अनपेक्षित वर्णनोंकी भरमार है, जिससे काव्य-सौन्दर्य नष्ट हो गया है। अतिशय क्लिष्ट और अस्वाभाविक कल्पनासे उद्भूत सस्कारोंके प्रयोग, अत्यधिक वस्तु-परिगणनाकी प्रवृत्ति, नाना प्रकारके छन्दोंके प्रभाव-हीन प्रयोग और पाण्डित्य-प्रदर्शनके आडम्बरके कारण 'राम-चन्द्रिका' अत्यन्त दुरूह और कृत्रिम काव्य हो गया है। अत उसको महाकाव्य क्या, एक सफल प्रबन्ध काव्य भी नहीं माना जा सकता।

गुमान-कृत 'कृष्णचन्द्रिका'का यद्यपि उतना प्रचार नहीं हुआ, किन्तु कई दृष्टियोंसे वह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण काव्य है। उसमें 'रामचन्द्रिका' और 'मानस'की शैलियोंका सुन्दर समन्वय हुआ है। शास्त्रीय लक्षणोंकी दृष्टिसे उसमें महाकाव्यके सभी लक्षण वर्तमान हैं—केवल एक अभाव है, वह यह कि एक सर्गमें एक ही छन्दका प्रयोग नहीं हुआ है। यह सब होते हुए भी महाकाव्यके नायकमें जो महत्ता होनी चाहिये वह 'कृष्णचन्द्रिका'के कृष्णमें नहीं मिलती। उसमें उनके जीवन-व्यापी कार्योंका वर्णन नहीं मिलता। उसकी शैली यद्यपि निर्दोष और आकर्षक है, किन्तु उसमें महाकाव्योचित उदात्तता और गम्भीरता नहीं है, जो कविकी महाप्राणता, विराट् कल्पना और गम्भीर दृष्टिसे उद्भूत होती है।

हिन्दीका वर्तमान काल सामन्त-युगके अन्त और पूँजीवादी प्रवृत्तियोंके उदयके साथ अवतरित हुआ। व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके बढते हुए आन्दोलनने इस कालके साहित्य और सस्कृतिको भी एक नयी दिशा दी और प्रेरित किया, जिसके फल-स्वरूप काव्यमें भी व्यक्तिगत चिन्तनके साथ आत्मानुभूतिने जोर पकड़ा। आधुनिक वैज्ञानिक खोजोंके प्रकाशमें पुराने विश्वासों, आचारों तथा मान्यताओंकी मनुष्यने नये ढगसे व्याख्या की।

वर्तमान कालमें हिन्दीमें लम्बे आकारके प्रबन्ध-काव्योंकी बाढ़-सी आ गयी। उनमेंसे अधिकाशको स्वय उनके रचयिताओंने महाकाव्यकी संज्ञा दी है और कुछको उनके आकार आदिके कारण भ्रमवश महाकाव्य माना जाता है। इस प्रकारकी रचनाओंके अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थोंका नाम लिया जा सकता है—१ 'राम-स्वयवर'—महाराज रघुराज सिंह, २ 'रामचन्द्रोदय'—रामनाथ ज्योतिषी, ३ 'रामचरित-चिन्तामणि'—रामचरित उपाध्याय, ४ 'कोशल-किशोर'—बलदेवप्रसाद मिश्र, ५ 'वैदेही-वनवास'—अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', ६. 'मेघनाद-वध'—माइकेल मधुसूदन दत्त-कृत मूल बँगलासे अनुवाद मैथिलीशरण गुप्त-कृत ७ 'साकेत सन्त'—बलदेवप्रसाद मिश्र, ८ 'नूरजहाँ'—गुरुभक्त सिंह, ९ 'दैत्यवश'—हरदयालु सिंह, १० 'सिद्धार्थ'—अनूप शर्मा, ११. 'वर्द्धमान'—अनूप शर्मा, १२ 'जननायक'—रघुवीरशरण मित्र, १३ 'हल्दीघाटी'—श्यामनारायण पाण्डेय, १४ 'जौहर'—श्यामनारायण पाण्डेय, १५ 'आर्यावर्त'—मोहनलाल महतो 'वियोगी', १६ 'मेधावी'—रागेय राघव, १७ 'कुरुक्षेत्र'—'दिनकर', १८ 'विक्रमादित्य'—गुरुभक्त सिंह, १९. 'गान्धीचरित-मानस'—विद्याधर महाजन, २० 'पार्वती'—रामानन्द तिवारी, २१ 'अगराज'—आनन्दकुमार।

इन काव्योंमें वह शक्ति नहीं है, जो उन्हें अमरता प्रदान कर सके। अनाकर्षक तुकबन्दी, अशक्त भाषा, उपयुक्त शब्दोंके चयनकी अक्षमता, गम्भीर जीवन-दर्शनका अभाव और कल्पना-शक्तिकी हीनताके कारण न तो उनमें गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व आ सका है और न शैली ही महाकाव्योचित गरिमा और उदात्ततासे युक्त हो सकी है। साथ ही एक विचित्रता यह है कि उक्त ग्रन्थोंके रचयिताओंमें-से अधिकाशने इन प्रबन्ध-काव्योंकी रचना महाकाव्यकी ही दृष्टिसे की है और उन्हें महाकाव्य माननेका प्राक्कथन आदिमें स्वयमेव कर भी दिया है। ऐसे ही महाकवियश-प्रार्थी महानुभावोंके प्रति रवीन्द्रनाथ ठाकुरने लिखा है कि इस समयके कवि जैसे 'आओ एक एपिक लिखा जाय' कहकर सरस्वतीके साथ पहलेसे ही बन्दोबस्त करके एपिक लिखने बैठ जाते हैं, प्राचीन कवियोंमें ऐसा फैशन न था (मेघनाद-वधके हिन्दी अनुवादकी भूमिका पृ० १५७, झाँसी, प्र० सं०, म० १९८४)।

महाकाव्यकी दृष्टिसे आधुनिक कालके केवल चार ग्रन्थ विचारणीय हैं। वे हैं—१ हरिऔध-कृत 'प्रियप्रवास', २. मैथिलीशरण गुप्त-कृत 'साकेत', ३ जयशकर 'प्रसाद'-कृत 'कामायनी', ४ द्वारकाप्रसाद मिश्र कृत 'कृष्णायन'। 'प्रियप्रवास' तथा 'साकेत'में आधुनिक बौद्धिकतावादका प्रभाव भली भाँति दिखाई पड़ता है। एकमें यदि 'श्रीमद्भागवत'-की कथाका बौद्धिकीकरण और कृष्ण-राधा आदिके चरित्रोंका उदात्तीकरण है, तो दूसरेमें रामायणके उपेक्षित पात्रोंको प्रकाशमें लाकर उसके देवत्वगुण युक्त पात्रोंको मानव-जीवनके सामान्य धरातलपर उपस्थित करनेका प्रयास किया गया है। किन्तु एकमें कृष्णके प्रवासपर गोपियोंके विरह-वर्णनको और दूसरेमें प्राचीन कवियों द्वारा उपेक्षिता उर्मिलाके विरह-वर्णनको अत्यधिक महत्त्व देनेके कारण दोनोंका दृष्टिकोण एकागी हो गया है। मानव-जीवनके अन्य आवश्यक अग या तो अछूते रह गये हैं या केवल नाममात्र-को ही उनकी चर्चा मिल पाती है। गम्भीर जीवन दर्शनके अभावमें इन कवियों द्वारा उपस्थापित चरित्रोंमें महत्ताका वह उच्च आदर्श नहीं आ सका है जो प्राचीन महाकवियों द्वारा उन्हीं पात्रोंके चरित्राकनोंमें पाया जाता है। नवीन युगकी आरम्भिक रचनाएँ होनेके कारण भाषा-शैली आदिका निखार भी उच्चतर स्थितितक नहीं पहुँच सका है, और यद्यपि आरम्भमें जनताने बड़े चावसे अपनाया, किन्तु समयकी प्रगतिके साथ उनका मूल्य निरन्तर बढ़नेकी अपेक्षा घटता हुआ ही दिखाई पड़ रहा है। समग्र-जीवनके चित्रणकी दृष्टिसे 'कृष्णायन'में अवश्य ही कुछ विशिष्टता दिखाई पड़ती है, किन्तु उसमें शैलीकी उदात्तता, गम्भीर रसवत्ता, तीव्र प्रभावान्विति, काव्यात्मक उत्कृष्टता तथा जीवनी-शक्तिका अभाव खटकता है। 'मानस'की भाँति 'कृष्णायन' भी सामान्य जनता द्वारा अपनाया जायगा, इसमें सन्देह ही है, क्योंकि इसमें कृत्रिमता तथा अनुकरण-प्रियता ही अधिक है। इस प्रकार उक्त तीनों प्रबन्ध-काव्योंको हम महाकाव्यकी कोटिमें नहीं रख सकते।

'कामायनी' आधुनिक हिन्दी साहित्यका एक ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें आधुनिक युगकी प्रवृत्तियों और विशेषताओंका पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है और जो अनेक दृष्टियोंसे हिन्दीके ही नहीं, अपने युगके पूर्ववर्ती समस्त भारतीय महाकाव्योंसे भिन्न एक निराले स्थानका अधिकारी है। 'प्रसाद'ने वर्तमान युगके बुद्धिवादका दुष्परिणाम दिखानेके लिए शतपथ-ब्राह्मणमें वर्णित एक आख्यानका आधार लिया है, जिसमें प्राचीन जल प्लावनके उपरान्त मनु सृष्टिके पुनर्विधानका उपक्रम करते हैं। रूपककी भावनाके अनुसार कामायनी अथवा श्रद्धा विश्वास-

समन्वित रागात्मिका वृत्ति है, जो मनुष्यको जीवनमें शान्ति प्रदान कर उसे कल्याण-मार्गपर अग्रसर करती है। इडा व्यवसायात्मिका बुद्धि है जो मनुष्यको तर्क-वितर्कके निर्मम जालमें उलझाकर सुख शान्तिसे दूर ढकेल ले जाती है। इसके अतिरिक्त, चिन्ता, लज्जा, काम, वासना आदि नाना चित्तवृत्तियोंको कल्पनाकी जिस मधुमती भूमिकापर सजाया गया है उससे 'प्रसाद'की उत्कृष्ट कवित्व-शक्तिका परिचय मिलता है।

'कामायनी'की प्रेरणा-शक्ति भारतीय संस्कृतिकी वह उदार कल्याणाभिनिवेशी दृष्टि है, जिसका केन्द्रबिन्दु समन्वय है। उसमें 'प्रसाद'ने भारतीय संस्कृतिको विश्वमानवकी संस्कृतिमें, व्यक्ति चेतनाको समष्टि-चेतनामें विलीन करके मानवतावादका नवीन और आदर्श रूप उपस्थित किया है। एक सफल द्रष्टाकी भाँति उसमें उन्होंने मानव-जीवनको आदिसे अन्ततक हस्तामलकवत् देखकर उसके मूल रहस्यका उद्घाटन किया है। उद्देश्यकी इसी महत्ताके कारण उसमें वह गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व भी आ सका है जिसके कारण कोई काव्य महाकाव्य कहलाता है।

वस्तु-वर्णन तथा भाव-व्यंजनामें यद्यपि 'प्रसाद'ने महाकाव्यके शास्त्रीय लक्षणों और चिराचरित रूढ़ियोंका पालन नहीं किया और उसमें मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जन-चिन्ता आदि प्रस्तावना सम्बन्धी ब्योरों तथा सामाजिक सम्बन्धों, उत्सवों और रीति-रिवाजोंका वर्णन नहीं मिलता, किन्तु आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट कुछ वस्तुओं–जैसे, नगर, समुद्र, नदी, वन, पर्वत, स्वर्ग, यात्रा, ऊषा, सन्ध्या, रात्रि, चन्द्र-सूर्य-नक्षत्रादि, वसन्त, युद्ध, विप्रलम्भ-संयोग, कुमारोदय, विवाह, राज्याभिषेक आदिका बड़ा ही विशद और सांगोपांग वर्णन हुआ है। इनमें भी सबसे अधिक उल्लास कविने प्राकृतिक उपकरणों तथा शृंगारके विविध अवयवोंके वर्णनमें दिखाया है।

उक्त विशेषताओंके साथ ही 'कामायनी'की एक भारी त्रुटि यह है कि उसका कथा-तन्तु अत्यन्त क्षीण है और उसमें भी दार्शनिकता तथा मनोवैज्ञानिकताका इतना जटिल जंगल है कि वह केवल ऐसे पाठकोंतक ही सीमित रह जाता है जिनका बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर सामान्य धरातलसे पर्याप्त ऊँचा हो। भारतीय संस्कृतिके मूल तत्त्वों, विशेषतया अद्वैतवाद तथा शैवागमके प्रत्यभिज्ञादर्शनके साथ ही साथ आधुनिक मनोविज्ञानके प्रमुख तत्त्वों–फ्रायडके काम-सिद्धान्त, मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, डार्विनके विकासवाद आदि—से जिनका सामान्य परिचय भी न होगा वे निश्चय ही 'कामायनी'में उतना आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते। यही कारण है कि उसे वैसी लोकप्रियता कदाचित् नहीं प्राप्त हो सकती, जैसी 'रामचरितमानस' अथवा 'पद्मावत'को प्राप्त है, किन्तु उसका निरालापन भी यही है कि वह घटना-प्रधान और इतिवृत्तात्मक महाकाव्य नहीं है। वह भाव-प्रधान मनोवैज्ञानिक महाकाव्य है, अत स्वभावत उसमें मानव-मनके विविध पक्षोंका उद्घाटन और व्याख्या ही प्रधान वस्तु है, घटना-वैविध्य नहीं। इस अभावके होते हुए भी अपनी अन्य विशेषताओंके कारण कामायनीको हिन्दीके उत्कृष्ट महाकाव्योंकी कोटिमें स्थान मिलता है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि हिन्दीमें वास्तविक महाकाव्य केवल पाँच—'पृथ्वीराज रासो', 'आल्हखण्ड' 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' हैं। अन्य प्रबन्ध-काव्य जिन्हें आकारकी विशालता तथा महाकाव्य सम्बन्धी अन्य रूढ़ियोंके पालनकी दृष्टिसे महाकाव्य माना जाता है, वास्तविक महाकाव्य नहीं, महाकाव्याभास मात्र हो सकते हैं। (दे०–'प्रबन्ध काव्य' और 'चरित-काव्य')। —पा० ना० ति०

महाभुजंगप्रपात सवैया–दे०—'सवैया', तेरहवाँ प्रकार।

महामुद्रा–बौद्ध तन्त्रोंमें मण्डलचक्र और मुद्रा-मैथुनमें स्त्रियोंका उपभोग आवश्यक अनुष्ठान माना जाता था, यद्यपि वे इस साधनाको भौतिक रूपमें ग्रहण नहीं करते। 'मुद्रा' अर्थात् 'मोद देनेवाली' इस व्याख्यासे मुद्राको नारी रूपमें कल्पित किया गया। सिद्धोंने भगवती नैरात्माको महामुद्राके रूपमें परिकल्पित किया। महामुद्राकी साधना सबसे कठिन साधना मानी जाती थी, इस साधनामें निष्णात होनेके उपरान्त ही साधककी गणना सिद्धाचार्योंमें होती थी। अपनी समकक्ष किसी योगिनीको महामुद्रा-रूपमें वरण कर साधक गुरुके पास जाता है। वहाँ उसे अभिषिक्त किया जाता है, फिर साधक महामुद्राके साथ **मण्डल-चक्र**में प्रवेश करता है। 'गुह्यसमाजतन्त्र'के अनुसार नारी महामुद्राके तनमें भी पंच तथागतोंका वास है अत उसकी साधना कर लेनेवालेको तथागत-चक्री भी कहते हैं। इसीलिए महामुद्राकी साधना कर लेनेवाला फिर समस्त बाह्य अनुष्ठानोंसे मुक्त हो जाता है।

महामुद्राको अन्य अनेक रूपों और भागोंमें भी बाँटा गया है। सिद्धोंके कालमें नायिका-भेद भी महामुद्राके अन्य रूपोंके आधारपर किया गया है, यद्यपि इस विभाजन अथवा विभिन्न नामोंके पीछे काव्यशास्त्रकी कोई परम्परा न होकर **हठयोग** तथा **मुद्रा-मैथुन** सम्बन्धी गुह्य संकेत ही है। इन अन्य नायिकाओंमेंसे **डोम्बी**में अद्वैतभाव प्रधान रहता है। क्योंकि यह ज्ञानसे सम्बद्ध है इस कारण **नैरात्मा प्रज्ञा**को भी डोम्बी कहते हैं। डोम्बीको वायुतत्त्वसे संलग्न माना गया है जो प्राण तथा अपान वायुके निरोधसे सम्बद्ध है। डोम्बी परिशुद्धावती है, इसके नायकको **कापालिक** कहते हैं।

मणिमूलमें सम्पुटीकरणके उपरान्त **चण्डाग्नि** प्रज्वलित कर साधक अवधूतिकाके द्वारा उसे ऊपरकी ओर प्रवाहित करता है। इसी चण्डाग्निको ग्रहण करनेके कारण **अवधूतिकाको चाण्डाली** कहा जाता है। महामुद्रा **नैरात्मा**को इस प्रतीकके द्वारा प्राय प्रकट किया गया है। चाण्डाली सारे चक्रोंको पार कर ललाट-स्थित **कमलचक्र**तक पहुँचकर आनन्द उत्पन्न कर पुन नाभिचक्रमें वापस आ जाती है। यही चाण्डाली अपनी ऊर्ध्व गतिमें डोम्बी और उष्णीष कमलमें पहुँचनेपर **सहज सुन्दरी** कहलाती है। काण्हपा तो प्रज्ञा-महामुद्राको **गृहिणी**रूपमें भी वर्णित करते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि 'जैसे नमक पानीमें घुल जाता है उसी प्रकार अपनी गृहिणीको अपने चित्तमें धारण

करो' (दोहाकोप)। बादमें वैष्णवोंमें परकीया रूपपर जो इतना आग्रह मिलता है उसका सिद्धोंमें सर्वथा अभाव है। उन्होंने नायिकाके स्वकीया-रूपपर विशेष बल दिया है। वे उसे 'वधू'-रूपमें भी अभिहित करते हैं। परिणयके लिए वरयात्राकी सारी सज्जाका प्रचुर वर्णन मिलता है। सिद्धों द्वारा वर्णित विभिन्न नायिकाओंमें **शुण्डिनी** भी एक है—जो दो घड़ोंमें वल्कल-चूर्णसे मदिरा खींचती है। उसके मदिरालयके कई द्वार हैं, जिनमेंसे दशम **वैरोचन द्वारसे** ग्राहक चिह्न दिखाकर आते हैं, जिन्हें वह मदिरा पिलाकर सन्तुष्ट करती है। एक नायिका **मातंगी** भी है, जो गंगा तथा यमुनाके बीचसे नाव खेकर ले जाती है और सभी यात्रियोंको नावपर बिठाकर बारी-बारीसे उतारती है। सिद्धोंके पदोंमें नायिकाओंका मुग्धात्व, मध्यात्व तथा प्रौढ़ात्व, तीनों ही प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। शवरपाकी **शवरी** संसारसे दूर ऊँचे पर्वतपर मोर-पंखोंसे शृंगार किये हुए अबोधप्रकृति बालिकाकी भाँति रहती है। उसकी जिन चेष्टाओंका विवरण शवरपाने दिया है उनसे उसका मुग्धात्व प्रकट होता है (चर्यापद)। कुक्करीपा द्वारा वर्णित वधू-रूपमें मध्यात्व और महामुद्राकी प्रौढा प्रवृत्तिका संकेत योगिनीमें मिलता है, जो रतिप्रिया प्रौढा है एवं नायकको पूर्णतया आनन्द देनेमें समर्थ है (चर्यापद)। कृष्णाचार्यपा इसीको डोम्बी वधू बताते हुए उसके साथ विवाह-समारोह रचाते हैं और इसीको **कामचण्डाली**की संज्ञा भी देते हैं। आधी रातको कमल खिलता है, बत्तीस योगिनियाँ उसके दलोंपर क्रीडा करती हैं, उनकी नायिकाको **पद्मिनी** कहा जाता है, क्योंकि मृणाल बनकर वह कमलरसको प्रवाहित कर रही है। यही **अवधूतिका** है जो मृणाल बनकर कमलरसको प्रवाहित करती है, इसे **कमलिनी** भी कहा जाता है। बौद्धोंकी भावसाधनाके अन्तर्गत बोधिचित्त और शून्यताकी प्रणयकेलिमें विभिन्न रूपकोंको व्यक्त करनेके लिए नायक तथा नायिकाके रूपमें तथागत और **भगवती नैरात्मा**को माना गया, अर्थात् तथागतकी नायिकाको नैरात्मा कहा जाता है। उसी विश्वव्याप्त प्रणयकेलिको साधक बोधिचित्तको नायक और नैरात्मज्ञानको नायिका मानकर अपने चित्तमें आयोजित करता है। —ध०वी०भा०

महायान—महायान शब्दका वास्तविक अर्थ इसके दो खण्डों(महा+यान)से स्पष्ट हो जाता है। 'यान'का अर्थ मार्ग और 'महा'का श्रेष्ठ, बड़ा या प्रशस्त समझा जाता है। तात्पर्य उस ऊँचे या प्रगतिशील मार्गसे था, जो हीनयानसे बढ़कर था। यह लोकोत्तर मार्ग था, जिसका ऊँचा आदर्श था और इसीके कारण ईसापूर्व पहली शताब्दीमें ही बुद्धधर्ममें विभेद हो गया। वैशाली-संगीतिमें पश्चिमी तथा पूर्वी बौद्ध पृथक्-पृथक् हो गये, जिन्होंने त्रिपिटकमें कुछ परिवर्तन किया। पूर्वी शाखाको महासंघिकका भी नाम दिया जाता है, जिससे आगे चलकर महायानका नामकरण किया गया। बुद्धधर्ममें महायानके आरम्भकी तिथि निश्चित करना कठिन है। परमार्थके कथनानुसार कनिष्ककी चौथी संगीतिमें भी महायानकी पूर्वस्थितिका अनुमान लगाया जा सकता है। तिब्बती इतिहासलेखक तारनाथने लिखा है कि कनिष्कके पुत्रके राज्यमें (दूसरी शतीमें) महायानका काफी प्रसार हो गया था। उस सम्बन्धमें साहित्य भी तैयार हो रहा था। पालि साहित्य(हीनयान साहित्य)में कुछ ऐसा सन्दर्भ आता है, जिससे ज्ञात होता है कि महायानके विचार लोगोंमें काम कर रहे थे। महायान ग्रन्थ 'प्रज्ञापारमिता'में अनेक दार्शनिक सिद्धान्त उल्लिखित हैं। इस ग्रन्थका चीनी अनुवाद १४८ ई०में लोकरक्षाने किया था। अतएव इस आधारपर यह कहा जा सकता है कि ईसवी सन्‌की पहली शतीमें महायानका प्रचार अवश्य हो गया था, तभी तो 'प्रज्ञापारमिता'की रचना हुई। इस मतका आरम्भ महासंघिकमतकी स्थितिसे ही कहा जाता है, जो महायानका पूर्वगामी मत था। इसके समर्थनमें अन्य प्रमाण भी उपस्थित किये जाते हैं। महायान-दर्शनके सर्वप्रथम लेखक नागार्जुनका जन्म बुद्धनिर्वाणके चार सौ वर्षों बाद यानी पहली शतीमें हुआ था। अत गौण रूपसे यह स्वत प्रमाणित हो जाता है कि महायानका प्रारम्भ इसके पहले ही हो चुका था। सम्भव है कि महायानका नामकरण बादकी घटना हो। ईसवी सन्‌की तीन शताब्दियोंतकके लेख यह घोषित करते हैं कि महायान-मत अधिक लोकप्रिय हो गया था। इसका विस्तार उत्तर-पश्चिमसे दक्षिण-भारततक हो चुका था (नासिक तथा कार्लेके लेख)।

दक्षिणभारतमें कृष्णा नदीकी घाटीमें भी इस मतका प्रसार हो गया था, इस कारण 'अन्धक' शब्दका प्रयोग भी महायानके लिए यत्र-तत्र मिलता है। इस नामका भौगोलिक कारण था। कृष्णा नदीकी घाटी आन्ध्र देशके नामसे विख्यात है। इसलिए महायानके पूर्व महासंघिकको 'अन्धक' नामसे उल्लिखित किया गया। बोधसत्त्वकी भावनाके कारण महायान बोधिसत्त्वयानके नामसे भी उल्लिखित है।

कुछ विद्वानोंका मत है कि महायानका जन्म दक्षिण भारतमें हुआ और वहींसे वह उत्तरभारतमें फैला। जहाँतक शब्दके प्रयोगका विचार है, सम्भवत महायान तीसरी शतीके बाद प्रयुक्त किया गया। सातवाहन राजाओंके लेखोंमें महासंघिक शब्दका ही प्रयोग मिलता है। हीनयान शब्दके प्रयोगके साथ ही महायानका प्रयोग आवश्यक हो जाता है। फाहियानने इसका प्रयोग किया है। साहित्य-ग्रन्थोंमें हीनयान(दे०)के साथ महायानका प्रयोग स्वाभाविक था ताकि दोनों मतोंकी विभिन्नता स्पष्ट रूपसे व्यक्त हो सके। उदाहरणके लिए, 'सद्धर्मपुण्डरीक'में जहाँ श्रावक तथा प्रत्येकबुद्धका उल्लेख आता है वहाँ महायानका नाम मिलता है। महावस्तुमें भी तीन यानका वर्णन मिलता है। 'दिव्यावदान'में बोधिसत्त्वजातिक भिक्षुओंका वर्णन है, जो दूसरे शब्दोंमें महायान भिक्षु कहे जा सकते हैं। उनको हीनयानवाले स्नेहकी दृष्टिसे नहीं देखते थे। कहनेका तात्पर्य यह है कि महायानका प्रयोग हीनयान अथवा श्रावकयान-(दे०)के साथ होता रहा।

यदि महायानके दार्शनिक सिद्धान्तोंका अनुशीलन किया जाय तो उसकी विशेषताएँ निम्नलिखित रूपमें उल्लिखित की जा सकती हैं—सर्वप्रथम महायानवालोंने बोधिसत्त्वकी भावनाका बुद्धधर्ममें समावेश किया। वह सदाचार, परोपकार तथा उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न

माना जाता है, जो ससारके निर्वाणके लिए प्रयत्नशील रहता है। बोधिसत्त्व महामैत्री तथा करुणामे सम्पन्न होता है तथा जगत्के प्रत्येक प्राणीको क्लेशसे मुक्त तथा निर्वाणमें प्रतिष्ठित करना उसका लक्ष्य होता है।

त्रिकायकी कल्पना महायानकी दूसरी विशेषता है। धर्मकाय, सम्भोगकाय तथा निर्वाणकाय महायानको मान्य थे।

दशभूमिकी कल्पना तीसरी विशेषता है। हीनयानके मतानुसार अर्हत्-पदकी प्राप्ति केवल चार भूमियोंसे मानी गयी है, परन्तु महायानमें निर्वाणकी उपलब्धि दशभूमियोंसे होती है।

निर्वाणकी कल्पनामें भी महायान अपनी विशेषता रखता है। हीनयानी निर्वाण दु खाभाव-रूप है, परन्तु महायानी निर्वाण आनन्द-रूप है। उनके विचारमें बुद्धत्वकी प्राप्ति ही सर्वोपरि लक्ष्य था। उनका कथन था कि पुद्गल-शून्यता तथा धर्मशून्यताके कारण वे क्लेशावरणसे रहित हो सकते हैं।

महायान-मतका अभ्युदय भक्तिको लेकर हुआ था। बुद्ध साधारण मानव न होकर लोकोत्तर पुरुष थे। उनकी भक्ति करनेसे ही मानव इस दु ख-बहुल ससारसे पार जा सकता है। भक्तिको प्रश्रय देनेसे ही महायानके समयमें बुद्धकी प्रतिमाका निर्माण होने लगा। अत महायानके कारण चित्र तथा मूर्तिकला(बौद्ध कला)की विशेष उन्नति हुई। महायानके ऊपर ब्राह्मण धर्मके सिद्धान्तोंका प्रभाव ही भक्ति-भावनाका कारण था। प्राचीन आचार्य असगने 'सूत्रालकार'में लिखा है कि महायान-धर्म हीनयानके साथ ही उत्पन्न हुआ। इसे पीछे किसीने प्रचारित नहीं किया। यह भी बुद्धवचनपर आधारित है। उनके मतानुसार यदि शाक्यमुनिने इसका प्रवर्तन नहीं किया तो ऐसा कौन बुद्धत्व-प्राप्त व्यक्ति था, जो धर्मचक्रप्रवर्तनकी सामर्थ्य रखता हो। आधुनिक विद्वान् इसे माननेमें असमर्थता प्रकट करते हैं। असगका तर्क जितना भी बल रखता हो, परन्तु हीनयान या महायानकी समकालीन उत्पत्ति तथा विकासकी बातें पुष्ट नहीं हो पातीं। साराश यह है कि महायान-धर्म हीनयानसे कई विषयोंमें भिन्न विचार रखता था जो कालान्तरमें समाविष्ट हुए।

महायान-पन्थने सामाजिक उन्नतिके लिए पारमिताकी ओर गृहस्थोंका ध्यान आकर्षित किया। पारमिता अथवा पारमी उपासकोंके हृदयमें प्रेम तथा बुद्धधर्मकी ओर श्रद्धा उत्पन्न करती है। इन्हें कथानक, उपाख्यान अथवा कहावतकी सज्ञा दे सकते हैं। 'शिक्षासमुच्चय' नामक ग्रन्थमें बोधिसत्त्व-के कर्तव्यका उल्लेख मिलता है, जिसका तात्पर्य यह है कि गृहस्थको वैसा ही करना चाहिये। महायान-मतावलम्बियोंका कथन था कि गृहस्थोंमें दानकी भावना तृष्णा, भय, चिन्ताको दूर करती है। अतएव गृहस्थको अत्यधिक दान देना चाहिये। सामाजिक प्राणीको समचित्त होना चाहिये। ज्ञान-प्राप्तिके उचित मार्गका अवलम्बन तथा अनानात्वचारित-(जो किसीमें विभेद उत्पन्न न करे)की भावना आवश्यक है। गृहस्थको पुत्रको शत्रु मानना चाहिये, क्योंकि वह अधिक प्रेम तथा आकर्षणका पात्र है, इसीके कारण पिता बुद्ध-वचनसे विमुख हो जाता है। प्रेम उचित मार्गसे पृथक् कर देता है। गृहस्थमें सम भावना होनी चाहिये तथा गृही बोधिसत्त्व किसी भी पदार्थको अपना न समझे। उसे सासारिक वस्तुओंको त्यागना चाहिये ताकि मृत्युके समय वह तृष्णारहित सुखका अनुभव करे।

गृहस्थको मदिराका प्रयोग न करना चाहिये, वीभत्स तथा अश्लील दृश्य न देखना चाहिये, क्रोध न करना चाहिये तथा गम्भीर विचारवाला होना चाहिये। वह गृहस्थ दुराचारसे विमुख होकर भी स्त्रीमें लीन न रहे। परोपकारकी भावना इतनी जाग्रत् हो कि वह अपना स्वार्थ त्याग कर दे। गृहस्थको बुद्धत्वप्राप्तिके लिए पूजा करना आवश्यक है। इस तरहके अनेक उच्च विचारोंको महायानने समाजमें प्रसारित किया ताकि जनताका कल्याण हो सके।

महायान-धर्म भक्ति तथा पूजाकी भावनासे जनतामें लोकप्रिय होता गया तथा लोग उसकी ओर आकर्षित होते गये। बुद्ध तथा बोधिसत्त्वकी पूजाका आरम्भ हुआ और कलामें लक्षणके स्थानपर बुद्ध तथा बोधिसत्त्वकी प्रतिमाएँ तैयार होने लगीं। गान्धार-शैलीमें बौद्धमूर्ति निर्मित होने लगी। बुद्धको योगी और भिक्षुके रूपमें तथा बोधिसत्त्वको राजकुमारके वेशमें (वस्त्रालकारयुक्त) दिखलाया गया। शुग-युगकी कलामें बुद्धके नाना प्रतीक प्रधान स्थान प्राप्त कर चुके थे। भरहुत, बोधगया तथा साँचीकी कला लाक्षणिक थी। कनिष्कके समयमें गान्धारमें सर्वप्रथम बुद्धमूर्ति बनने लगी। कुमारस्वामीका मत है कि गान्धार तथा मथुराके कलाकेन्द्रोंमें बुद्धप्रतिमाका निर्माण स्वतन्त्र रूपसे हुआ। दोनों शैलियोंमें किसीका प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। भगवान् बुद्धकी प्रतिमाएँ ध्यान तथा बुद्धत्व-प्राप्तिकी अवस्थामें दिखलायी गयी हैं। सारनाथमें बुद्धने धर्मचक्रप्रवर्तन किया था, अतएव धर्मचक्रको हटाकर भगवान् द्वारा पाँच साधुओंको दीक्षित करनेका दृश्य प्रतिमा द्वारा प्रदर्शित किया गया। इसी प्रकार स्तूपसे परिनिर्वाण-का ज्ञान न कराकर स्वय बुद्धकी प्रतिमा शयनावस्थामें तैयार की गयी। बुद्धप्रतिमा सर्वथा चीवरके साथ बनने लगी। ऐतिहासिक घटनाओंको साकार बुद्धप्रतिमासे प्रदर्शित कर लाक्षणिक कलाको प्राय समाप्त कर दिया गया। चैत्य-गुफाओंमें भी स्तूपके आगे बुद्धकी मूर्ति जोड़ दी गयी जिसके कारण प्रतीक गौण हो गये। बुद्धकी प्रतिमा आसन (बैठी), स्थानक (खडी) तथा शयन (लेटी) अवस्थामें दिखलाई पड़ती है। उनमें हाथोंकी विभिन्न मुद्राएँ (ध्यान, भूमिस्पर्श, धर्मचक्रप्रवर्तन, अभय, वरद तथा व्याख्यान) स्पष्ट रूपसे व्यक्त की गयी है। गान्धार, मथुरा तथा सारनाथके कलाकेन्द्र इस तरहकी मूर्तियोंके लिए प्रसिद्ध हैं। गान्धारमें महापुरुषके लक्षणों(जालागुली, ऊर्णा, लम्बे कान आदि)का प्रदर्शन मिलता है। मथुरामें विशालकाय स्थूल भावनाके साथ बुद्धप्रतिमा बनायी गयी तथा सारनाथमें ध्यानावस्थित, गम्भीर भावना तथा मननशील एव दार्शनिक विचारयुक्त मूर्तियाँ तैयार हुईं। सारनाथकी धर्मचक्रप्रवर्तनयुक्त बुद्धप्रतिमा इतनी लोकप्रिय हुई कि गुप्त-युगके पश्चात् मगध तथा बगालमें उसका अनुकरण होता रहा। साराश यह है कि महायान-मतके

कारण शुग-युगकी लाक्षणिक पद्धतिके स्थानपर बौद्ध प्रतिमाएँ कलामें प्रतिष्ठित होने लगीं। कुषाण-युगमें गुप्तकालपर्यन्त बौद्धकलामें जो कुछ परिवर्तन दिखलाई पड़ता है उसका श्रेय महायान मतको है।

महायान साहित्यके निर्माणकर्ताओंमें अश्वघोष, नागार्जुन तथा असगके नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। अश्वघोषने, जो कनिष्कके समकालीन थे, 'सूत्रालंकार' नामक ग्रन्थ लिखा। पीछेके दो आचार्योंके विषयमें चीनी तथा तिब्बती आधारपर जो ज्ञान होता है वह स्पष्ट नहीं है। नागार्जुनको तान्त्रिक उपदेशक तथा कीमियागिरीमें निपुण व्यक्ति कहकर उल्लेख किया गया है। नागार्जुन दक्षिणभारतके ब्राह्मणकुलके भूषण थे, जो कालान्तरमें नालन्दामें संघके मठाधीश हो गये थे। पंचविंशति साहसिक प्रज्ञापारमितापर उनकी टीका सर्वप्रसिद्ध है। असग भी पेशावरके ब्राह्मणकुलोत्पन्न उपदेशक थे। इन्होंने योगाचार-दर्शनका प्रतिपादन किया था। भ्राता वसुबन्धुके साथ इनका नाम लिया जाता है। महायानके प्रधान ग्रन्थोंमें 'बुद्धचरित', 'महायानसूत्र' (सद्धर्मपुण्डरीक),'लंकावतारसूत्र' तथा 'प्रज्ञापारमिता'के नाम लिये जाते हैं। अवदान-ग्रन्थ भी महायान-मतानुयायियोंने लिखा था। महायान-ग्रन्थ सस्कृतमें लिखे गये थे। —वा० उ०

महाराग–वज्रयानी साधनामें सम्बोधिका वास्तविक लक्षण महाराग है। यह राग तरुणी महामुद्राके प्रति साधकका अटूट स्नेह है, जिसके बिना इस जन्ममें बोधि मिलना असम्भव है। यह महाराग केवल एकपक्षीय नहीं होता। भगवती प्रज्ञा भी महामुद्राके रूपमें साधकसे उतना ही प्रेम करती है और नायक-नायिकाके रूपमें उपाय तथा प्रज्ञा, मन तथा वाक्, बोधिचित्त तथा नैरात्मा या साधक तथा महामुद्रा इस महाराग-रूप स्थायी भावके आलम्बन थे। सासारिक राग और विरागका परित्याग कर इस महारागके स्वरूपको पहचानना ही मोक्षका कारण है। केवल शून्यताज्ञान ही यथेष्ट नहीं, क्योंकि बोधिचित्त शून्यता और करुणाके अद्वयसे उत्पन्न होता है और करुणा ही राग है। चूँकि राग करुणाका प्रतीक है और शून्यतासे मग्न करनेके लिए उन्मुख है, अत उसे वज्रराग कहा गया है। यही वज्रराग महामुद्राके प्रति अनुरक्त होनेसे महाराग कहलाता है और बन्धनसे मुक्त कर देता है। सासारिक बुद्धिसे ग्रहण किये जानेपर यही बन्धनका कारण होता है और महामुद्राके प्रति अनुरक्त होनेपर महारागके रूपमें मोक्षप्रदाता होता है। —ध० वी० भा०

महाशून्य–दे०—'शून्य'।

महासंस्थान–मूल्यों, मानों, प्रतिमानों एव आदर्शोंकी चेतना (मानव) सस्कृतिकी वह विशेषता है जो उसे पशु-समाजसे भिन्न करती है। इन मूल्यों, मानों, प्रतिमानों एवं आदर्शोंकी समष्टिको पितिरिम ए० सोरोकिन महासस्थान (सुपरसिस्टम) नामसे पुकारता है। प्रत्येक सस्कृतिका महासस्थान उसमें व्यापक जीवन दृष्टिसे अनुप्राणित होता है। समाजकी जीवन-दृष्टिमें परिवर्तन आनेपर महासस्थान भी परिवर्तित हो जाता है।

सोरोकिनने जीवन-दृष्टियोंकी संख्या पाँच निश्चित की है—(१) यह कि परमतत्त्व इन्द्रियगोचर है (इन्द्रियवाद, प्रत्यक्षवाद अथवा इहलोकवाद), (२) यह कि परमतत्त्व अतीन्द्रिय है (अतीन्द्रियवाद, परोक्षवाद अथवा परलोकवाद), (३) यह कि परमतत्त्व उभयात्मक है (अध्यात्मवाद), (४) यह कि परमतत्त्व अज्ञात और अज्ञेय है (अज्ञेयवाद) और (५) यह कि परमतत्त्वका प्रतीयमान रूप ज्ञात है और तात्त्विक रूप अज्ञात और अज्ञेय (सशयवाद)। इनमें अन्तिम दो दृष्टियाँ नकारात्मक होनेके कारण कभी समाजके बड़े भागको अपील नहीं कर सकतीं। अत प्रथम तीन दृष्टियाँ ही समाज-दर्शनकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इन तीनों दृष्टियोंके अनुरूप तीन प्रकारके महासस्थान देखनेको मिलते हैं–(१) इन्द्रियवादात्मक, प्रत्यक्षवादात्मक अथवा इहलोकवादात्मक (सेन्सेट), (२) अतीन्द्रियवादात्मक, परोक्षवादात्मक अथवा परलोकवादात्मक (आइडिएशनल) और (३) अध्यात्मवादात्मक (आइडियलिस्टिक)। इनके अतिरिक्त एक चौथा गौण भेद भी है—मिश्र (एकलेक्टिक), जो उक्त तीन मुख्य भेदोंकी खिचडी (न कि समन्वय या सामंजस्य) है।

महासस्थानका वहन अनेक सास्कृतिक-सामाजिक संस्थान किया करते हैं। सास्कृतिक सस्थान मुख्यत पाँच हैं—(१) भाषा-संस्थान, (२) विज्ञान-संस्थान, (३) धर्म-सस्थान, (४) ललितकला-संस्थान और (५) आचार-संस्थान। इनके अतिरिक्त एक छठा गौण संस्थान भी होता है, जिसे सोरोकिन मिश्र या खिचड़ी संस्थान कहते हैं। आचार सस्थानमें कानून-सस्थान, राजनीति सस्थान तथा अर्थ सस्थान सम्मिलित हैं। ललितकला-सस्थान चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य-कला, सगीत, साहित्य और नाट्यकला नामसे प्रसिद्ध उपसस्थानोंसे मिलकर बना है। समाजमें महासस्थान तथा तदगभूत विविध सास्कृतिक सस्थानों; उपसंस्थानोंके अतिरिक्त उनके साधनभूत अनेक सामाजिक सस्थान भी होते हैं, जैसे, परिवार, राज्यसस्था, श्रमिक-सघ इत्यादि।

उपर्युक्त सामाजिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण तीनों जीवन-दृष्टियोंमेंसे कोई भी पूर्ण सत्य नहीं है। अत समाजके लिए सदा एक ही जीवन-दृष्टिसे सन्तुष्ट रहना सम्भव नहीं। मानवता पहले एक जीवन दृष्टि अपनाती है, किन्तु कालक्रमसे जब उसकी अपूर्णता प्रकाशमें आती है तब वह उसे छोड़ विरोधी दृष्टि अपना लेती है। इस प्रकार उसका महासस्थान भी बदल जाता है और महासस्थानके बदलनेसे ही समाज बदला करता है। महासंस्थानगत परिवर्तन शीघ्र ही सास्कृतिक और सामाजिक सस्थानोंमें प्रतिफलित होने लगता है। इस प्रकार महासस्थानोंका चक्र चल पड़ता है।

सोरोकिनके महासस्थानवादके अनुसार हिन्दू, चीनी और मिस्रीय सस्कृतियोंका महासस्थान सदासे परलोकवादात्मक रहा है, जब कि यूरोपमें महासंस्थानत्रयके अबतक दो चक्र चल चुके हैं। हमारे देखते-देखते यूरोपमें इहलोकवादात्मक संस्थानका पतन हो रहा है और परलोकवादात्मक महासस्थानका उदय।

अन्तमें यह बतला देना आवश्यक है कि सोरोकिनने यत्र-तत्र इस बातका संकेत किया है कि उपर्युक्त अपूर्ण

अथवा अशत' सत्य जीवन-दृष्टियोंके अतिरिक्त एक पूर्णतर समन्वित (इण्टीग्रल) जीवन-दृष्टि भी है। इसे हम समन्वय-वाद (इण्टीग्रलिज्म) कह सकते हैं। तो फिर इस पूर्णतर दृष्टिपर आधारित एक पूर्णतर महासंस्थान क्यों नहीं ? यह समस्या सोरोकिनने कहीं नहीं उठायी है।

सोरोकिनके अतिरिक्त अनेक अन्य समाजदार्शनिकोंने भी अपनी अपनी लाक्षणिक भाषामें महासंस्थान सम्बन्धी धारणाएँ प्रस्तुत की हैं। समाज ए० कास्टके अनुसार सामाजिक (सोशल) और वैचारिक (आइडियालाजिकल) नामके, अल्फ्रेड वेबर, मैक आइवर आदिके अनुसार सभ्यता (सिविलिजेशन) और संस्कृति (कल्चर) नामके, आगवर्न, वेब्लेन आदिके अनुसार भौतिक और निर्भौतिक नामके और कार्ल मार्क्सके अनुसार आधार और प्रासाद नामके महासंस्थानोंकी समष्टि है। सामाजिक, भौतिक अथवा आधारभूत महासंस्थानका परिवर्तन अथवा विकास-क्रम रेखाकार होता है, न कि चक्राकार। वैचारिक, सांस्कृतिक अथवा प्रासादभूत महा-संस्थानमें इतर महासंस्थानके विकास-क्रमसे स्वतन्त्र कोई अपना विकास-क्रम प्राय. नहीं होता। यद्यपि ये महासंस्थान एक-दूसरेको प्रभावित करते रहते हैं, तथापि सामाजिक आदि नामोंसे अभिहित महासंस्थानमें अधिक प्रभविष्णुता होती है। —ह० ना०

महासुख—यह समरस है, सहजानन्द है, जो न तो श्रवणसे सुन पडता है, न नयनसे देख पडता है, न पवन उसे हिला पाता है, न अग्नि उसे जला पाती है, न जल-वर्षासे वह आर्द्र होता है, न वह बढता है, न घटता है, न वह अचल है, न वह गतिशील है। उपनिषदोंके ब्रह्मकी भाँति इसकी नेतिपरक व्याख्या दी जा सकती है। किन्तु साथ ही यह केवल नेतिपरक नहीं है, क्योंकि जिस भवमें लगकर व्यक्ति मरता है, उत्पन्न होता है, बन्धनमें पडता है, उसीमें लगकर वह परम महासुखको भी सिद्ध कर लेता है। इसलिए इसकी तो केवल अनुभूतिकी अगम्यताके कारण वह व्याख्याके परे हो जाता है। महासुखकी व्याख्या नहीं की जा सकती। केवल गुरु ही शिष्यको इस मार्गमें प्रवृत्त करा सकता है। (विस्तारके लिए दे० इण्ट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म : शशिभूषणदास गुप्त) —ध० वी० भा०

महासुखचक्र—दे०—'हठयोग'।

मातंगी—दे०—'महामुद्रा'।

मातृनिष्ठ समाज (matriarchal society)—आज हम पितृसत्ताक समाजमें रह रहे हैं, जिसमें पिता परिवार या कुलका स्वामी और प्रधान होता है। यह स्थिति इतनी पुरानी है कि हमें इनका गुमान भी नहीं होता है कि इससे अन्य भी कोई सामाजिक स्थिति हो सकती है। पर एक समय था जब हमारा समाज पिताकी प्रधानतामें नहीं, माताके नेतृत्वमें व्यवस्थित था। वह मातृनिष्ठ समाज था। उसमें माता ही परिवारकी स्वामिनी थी। कुटुम्बकी देख-भाल, उसका नियन्त्रण आदि वही करती थी। तब वह आजकी भाँति अबला भी न थी। उसके शिराव्यंजित अंगाग शक्तिके परिचायक थे और परिवारके सारे पुरुष, उसका नरतक, उसका लोहा मानते थे। आज भी मातृसत्ताक व्यवस्था नागा-खासी आदि आसाम और बर्माकी आदिम जातियोंमें है। हमारे सभ्य समाजमें भी मलाबार(केरल)में मातृसत्ताक व्यवस्था है, जिसमें स्वामी पुरुष नहीं, नारी है। नारी अपनी माताके परिवारमें ही रहती है और पुरुष वहीं उसके पास जाता है। दाय या वरासत भी पिता-पुत्रत न चलकर माता-कन्यातः चलती है। परिवारकी चल और अचल धन-सम्पत्ति कानूनी तौरपर मातासे पुत्रीको मिलती है, पितासे पुत्रको नहीं। —भ० श० उ०

मात्रा—'मात्रा' शब्द उच्चरित ध्वनिके परिमाणकी इकाई-का बोधक है। 'मत्ता','मत्त','कला' और 'कल' इसके पर्याय-वाची माने गये हैं। 'ह्रस्व' और 'दीर्घ', इसके ये ही दो भेद होते हैं और दीर्घका उच्चारणकाल ह्रस्वका दूना स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार ह्रस्व (।) अर्थात् लघु वर्णमें एक मात्रा और दीर्घ (ऽ) अर्थात् गुरु वर्णमें दो मात्राएँ गिनी जाती हैं। विशेषके लिए दे०—'वर्ण'। —म०

मात्रिक गण—वर्णिक गणोंकी तरह मात्रिक गणोंकी कल्पना भी छन्द शास्त्रके अनेक आचार्यों द्वारा की गयी है, जैसे, सुखदेव मिश्रके 'वृत्तविचार'के छन्दोंका रूप वर्णिक वृत्तोंकी तरह विजडित एवं सुस्थिर नहीं होता। कदाचित् इसीसे न तो मात्रिक गणोंका उतना प्रचलन ही हुआ और न वे उतने परिचित हो सके। इनकी संख्या पाँच है, यथा—१ टगण, ६ मात्राओंका, १३ उपभेद। २ ठगण, ५ मात्राओं-का, ८ उपभेद। ३ डगण, ४ मात्राओंका, ५ उपभेद। ४ ढगण, ३ मात्राओंका, ३ उपभेद। ५. णगण, २ मात्राओंका, २ उपभेद।

इनके उपभेदोंके नाम-रूपका परिचय भी दिया गया है (दे०—'छन्द प्रभाकर' : पृ० ४२ - जगन्नाथप्रसाद 'भानु') —ज० गु०

मात्रिक छंद—मात्रा गणनापर आधारित छन्द मात्रिक छन्द कहे जाते हैं। इनमें वर्णोंकी संख्या भिन्न हो सकती है, परन्तु उनमें निहित मात्राएँ नियमानुसार होनी चाहिये। वर्ण-संख्याको छोडकर केवल मात्रा-संख्यापर आधारित होने-के कारण इन छन्दोंकी प्रकृति वर्णवृत्तोंकी तुलनामें अधिक मुक्त तथा तरल रही है। लोक-प्रचलित आधुनिक भाषा-रूपोंमें तथा प्राचीन प्राकृत और अपभ्रंशमें इन्हीं छन्दोंका व्यापक प्रयोग मिलता है। गेयताके भी ये अधिक अनुरूप सिद्ध होते हैं। हिन्दी साहित्यमें मात्रिक छन्दोंका विशेष प्रमुत्व रहा है। दोहा, चौपाई, रोला, सोरठा, वीर और हरिगीतिका आदिका प्रबन्धकाव्योंमें और दोहा, कुण्डलिया, छप्पय आदिका मुक्तककाव्यमें मुख्यतया व्यवहार हुआ है। सम्पूर्ण पद-साहित्य मात्रिक छन्दोंके शुद्ध और मिश्रित रूपोंका ही विस्तार है।

कुछ शास्त्रकारोंने वृत्त शब्दको सामान्य छन्दवाची मानकर मात्रिक छन्दके स्थानपर 'मात्रावृत्त' या मात्रिक वृत्त भी लिखा है—'मत्तवृत्त इक दूसरो वर्णवृत्त पुनि आन।' (दशरथ वृत्तविचार : १७)। 'वृत्ततरंगिनी'में १से ३२ मात्राके समस्त मात्रिक छन्दोंकी संख्या ९२२७४६३ बतायी गयी है।

माधवी सवैया—दे०—'सवैया', वामका पर्याय।

माधुर्य—दे०—'अयत्नज अलंकार', चौथा प्रकार तथा 'सात्त्विक गुण', नायक।

माधुर्य गुण—दे०—'गुण', पहला प्रकार।

माधुर्य रस—'माधुर्य रस' और 'उज्ज्वल रस' परस्पर पर्यायवत् हैं। माधुर्यको 'उज्ज्वलनीलमणि'में रूपगोस्वामीने भक्तिका सर्वश्रेष्ठ भाव माना है। उनकी दृष्टिसे मधुर ही वास्तविक भक्ति रस है—'मधुराख्यो भक्तिरस।' (११३)। राधा-कृष्णकी अलौकिक पारस्परिक प्रीति ही माधुर्य रसका मूल है। उसे 'भक्तिरसराट्'की पदवी दी गयी है। दे०—'उज्ज्वल रस', 'भक्ति रस'। —ज० गु०

माध्यमिक—दे०—'शून्यवाद'।

मानवती (नायिका)—अवस्थानुसार स्वतन्त्र विभाजनका एक भेद, विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। यह विभाजन सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अपने प्रियको अन्य स्त्रीके प्रति आकर्षित जानकर ईर्ष्यासे मान करनेवाली नायिका। मतिरामने 'ईरषासों लाज' करनेवाली कहा है, पर पद्माकरने केवल 'पियसों करे जु मान' माना है। 'रसिकविनोद'में 'लखि नायक औगुन' ईर्ष्या करके मान करनेवाली कहा है। रीतिकालीन कवियोंके उदाहरणोंमें मानकी परिस्थिति और उसके दूर करनेके उपायोंका वर्णन अधिक है—'नाम कढ्यौ पियके मुखतें तिय औरकौ सो सुनिकै उर ऐंठी। देवजू ऊ हँसि सौंहे करी रिसकी सिसकी भरि भौंह अमैठी।' (ब्र० भा० नायिका० २ . ३७०)। कम ही स्थलोंपर उसका भाव-चित्र उभर सका है—'लाज लची मृगलोचनिकौ चित सोच सँकोच भयौ सरकौहैं। आँखिनतें खिसके अँसुआँ रिसके अधरा सिसके फरकौहैं।' (वही : ३७१)। अन्यत्र मानवतीको सखियाँ समझाती हैं—'नेह जरावनको महा दीप-बाति जिय जानि', अत मान करना उचित नहीं है। (मतिराम रसराज १७९)। कोई सखी नायकको सन्तोष देती है—'धीर धरो किन मेरे गुविन्द घरीकमें जो या घटा घहरैहै।' (पद्माकर जगद्वि० १ १३२)।

मानववाद—दे०—'नवमानववाद'।

मान विप्रलंभ—दे०—'विप्रलम्भ शृंगार'।

मानवीकरण—'अमानव'में 'मानव'-गुणोंके आरोप करनेकी साधारण प्रवृत्ति या प्रक्रियाको मानवीकरण कहा जाता है। सब वस्तु जीवित है (सर्वजीवन्तवाद, एनिमिज्म) सब वस्तु मनसे युक्त है (पैन साइकिज्म) तथा सब वस्तुएँ रागद्वेष आदि मानव-गुणोंसे सम्पन्न हैं (सर्वमानववाद, एन्थ्रापामार्फिज्म) इसी प्रवृत्तिके रूपान्तर हैं। विज्ञानके लिए दोष होते हुए भी ये वाद मनुष्यके स्वभावसे नि सृत होते हैं और मनुष्यके स्वभावपर आश्रित होनेके कारण, कला और साहित्य इनके आधारपर कई अलंकारों और गुणोंका आविष्कार करते हैं।

कलाकी भाँति धर्म भी धार्मिक भावनाके आधारके लिए प्रतीकोंकी सृष्टि करता है। मानवीकरण इस प्रक्रियाका सार है।

इसके अतिरिक्त कलामें अभिव्यक्तिका मुख्य माध्यम स्वयं कलाकार है। उसके माध्यमसे मूर्ति, चित्र, भवन आदिमें अभिव्यक्त होनेवाली कला कलाकारकी मानवताको भी अभिव्यक्त करती है। इसीसे कलाकृतिमें मार्मिकताका आविर्भाव होता है। प्रकृतिके पुष्प और कलाकारके पुष्पमें मानव-माध्यमसे व्यक्त होनेके कारण मार्मिकताका ही अन्तर होता है। यही कलात्मक अनुभूतिकी विशेषता है। कला मानवीकरण द्वारा प्रकृतिको रूपान्तरित करती है। हमारे देशकी सिंह, हाथी, वराह आदिकी मूर्तियोंमें मानवता और मार्मिकताकी स्पष्ट झलक है। —ह० ला० श०

मानवीय मूल्य—दे०—'मूल्य'।

मानस—इस शब्दसे विचारों, संवेदनाओं, अनुभूतियोंके सघटन और आधारस्वरूप एक सत्ताका बोध होता है। सामान्य भाषामें जिसे हम मन कहते हैं, मानस उसीका साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे परिष्कृत रूप कहा जा सकता है। इस सामान्य अर्थमें 'मानस' शब्दका प्रयोग प्राचीन हिन्दी साहित्यमें प्रचलित रहा है, परन्तु आधुनिक साहित्यमें विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थमें इसका प्रयोग अधिक होता है। अँग्रेजी भाषामें जिसे 'माइण्ड' कहते हैं उसीका हिन्दी रूपान्तर मानस है। 'मन' शब्दका प्रयोग भी कभी-कभी इसी अर्थमें होता है। मानसकी धारणा मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणकी प्रगतिके साथ-साथ परिवर्तित और संशोधित होती रही है। आरम्भमें मानसका अर्थ बहुत-कुछ 'आत्मा'के समान था, अर्थात् वह अदृश्य, अस्पष्ट, चेतन सत्ता जो हमारे अनुभवोंका आधार है, जो परम शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इस अर्थमें मानस दार्शनिकोंका विवेच्य विषय अधिक था, साहित्यिकों और मनोवैज्ञानिकोंका कम। मनोविज्ञानके विकासके साथ-साथ मानसकी धारणा भी बदल गयी। उन्नीसवीं शताब्दीमें शक्ति-मनोविज्ञान-(faculty psycholosy)के प्रभावसे 'मानस'से उस सघटनका बोध होता है, जिसके विभिन्न विभाग अथवा शक्तियाँ (falculties) हैं। इस धारणामें मनकी अविच्छिन्न एकता और सम्पूर्णताकी उपेक्षा निहित थी। धीरे-धीरे इसपर भी ध्यान गया और मानससे उस सम्पूर्ण सघटित सत्ताका बोध होने लगा जो चेतनाके विभिन्न रूपोंमें व्यक्त होती है। इस धारणाके अनुसार मानस पूर्णत चेतन होता है, क्योंकि चेतना मानसका स्वरूप है। मनोविश्लेषणके प्रवर्तक फ्रायडकी खोजोंसे यह सिद्ध हो गया कि मानसके कई पक्ष होते हैं—चेतनपक्ष उनमेंसे एक है, इससे हम सबसे अधिक परिचित भी होते हैं, पर मानसके अन्य पक्ष भी हैं, जैसे, अचेतन, अवचेतन या अर्द्धचेतन आदि। ये सभी पक्ष किसी-न-किसी प्रकार मनुष्यके व्यक्तित्वको प्रभावित करते हैं और उसके व्यवहारमें व्यक्त होते हैं। फ्रायडके बाद उसके अनुयायियों और अन्य दार्शनिकों-मनोवैज्ञानिकोंने भी मानसके विभिन्न क्षेत्रों अथवा स्तरोंका विवेचन-विश्लेषण किया। इस प्रकार आधुनिक साहित्यमें मानसके कई पक्षोंकी धारणा ही प्रचलित है। इन पक्षोंके नाम और संख्याके विषयमें मनोवैज्ञानिक एकमत नहीं हैं, फलस्वरूप साहित्यमें भी बहुतसे नाम प्रचलित हैं, जिनमेंसे कुछ तो समानार्थक ही हैं। —प्री० अ०

मानसरोवर—दे०—'हठयोग'।

मानसिक अनुभाव—दे०—'अनुभाव'।

मानसिक विजडीकरण—यदि व्यक्तिमें किसी मूल प्रवृत्तिका विकास सहज सामान्य ढगसे नहीं होता, तो इस दमित विकासके कारण वह अपने शिशुकालीन स्तरपर ही

रुक जाती है। ऐसी स्थितिमें व्यक्ति अपनी अवस्थाके समरूप विषयों और व्यक्तियोंमें न रुचि ले पाता है और न उनमें रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर पाता है। मनोविश्लेषणकी भाषामें इसी दशाको मानसिक विजडीकरण कहते हैं और विशेषकर इसका सम्बन्ध व्यक्तिके कामुक प्रेम-जीवनसे होता है। शिशुके प्रारम्भिक जीवनमें स्वमुग्धता, आत्मरति, माता अथवा पिताके प्रति प्रेमका स्थान प्रधान रहता है। यदि उसका संवेगात्मक विकास सामान्य तौरपर होता रहता है तो वयस्क होनेपर वह किसी विषमलिंगी व्यक्तिको अपने प्रेमका पात्र बना लेता है तथा उसका रागात्मक जीवन अभीष्ट रूपसे समायोजित हो जाता है। ऐसा न होनेपर वह स्वमुग्धता, आत्मरति या माता-पिताके प्रेममें ही विजड़ित हो जाता है, सामान्य-जीवन नहीं बिता पाता। समलिंगी कामुकता स्वमुग्धता और आत्मरतिका ही रूप है। इस विकृतिसे आक्रान्त व्यक्ति अपनी जननेन्द्रियको बहुत महत्त्व देता है, उसपर मुग्ध होता है और अपनी जैसी ही जननेन्द्रियसे रहित व्यक्तिको अपने प्रेमका पात्र नहीं बना पाता। इसके अतिरिक्त, समलिंगी कामुक व्यक्ति अपने प्रेमपात्रके माध्यमसे स्वयं अपने शिशुकालीन रूपको ही प्यार करता है। इस प्रकार उसका मानसिक विजडीकरण शिशुकालीन स्तरपर हो जाता है। शिशुकी प्रथम प्रेमपात्री माता होती है। ईडिपस और एलेक्ट्रा मनोग्रन्थियोंके विकासकालमें पुत्रका यौन प्रेम माताके प्रति और पुत्रीका पिताके प्रति हो जाता है। संयोग और परिस्थितिवश कभी-कभी व्यक्ति अपनी इस बाल्य-वृत्तिमें ही जडीभूत हो जाता है और फिर पुरुष किसी अन्य स्त्रीसे तथा स्त्री किसी अन्य पुरुषसे रागात्मक सम्बन्ध-में बँधनेमें समर्थ नहीं हो पाती। (दे०–'मनोविश्लेषण', 'मनोग्रन्थियाँ') —आ० रा० शा०

मानिनी सवैया–दे०—'सवैया', बारहवाँ प्रकार।

मानी नायक–दे०—'नायक' (शृंगार)।

मारिफ़त–मारिफतका अर्थ ईश्वरीय, आध्यात्मिक ज्ञान है। सूफी साधक मानते हैं कि मारिफ (आध्यात्मिक सच्चा ज्ञान) परमात्माके 'एकत्व'का बोध है। इसके द्वारा मनुष्य समझ पाता है कि 'भिन्न'की प्रतीति होना मिथ्या है। इस ज्ञानके सहारे मनुष्य अपने-आपको जान पाता है और अपने-आपको जानना परमात्माको जानना है। इस प्रकार परमात्मा-विषयक सूफियोंके तन्मय ज्ञानको 'मारिफ' कहते हैं। सूफी इसे प्रकाश मानते हैं, जिससे हृदय आलोकित हो उठता है। मारिफत ज्योतिस्वरूप परमात्माके प्रकाशसे ही प्रकाशवाला है। इसीके सहारे साधक परमात्माके 'एकत्व'को देखनेमें समर्थ होता है। (दे०—'सूफी मार्ग')। —रा० पू० ति०

मार्क्सवाद–यह शब्द अँग्रेजीके 'मार्क्सिज्म' शब्दका हिन्दी पर्याय है। चिन्तनके इतिहासमें इसका उद्भव कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०)के विचारोंसे होता है। मार्क्स-वाद जीवनका सम्पूर्ण दर्शन माना जाता है। पर केवल दर्शन माननेसे मार्क्सवादके सम्पूर्ण तथ्योंकी अभिव्यक्ति नहीं होती। इसीलिए कुछ विद्वान् मार्क्सवादको क्रियात्मक दर्शनके रूपमें भी स्वीकार करते हैं। कार्ल मार्क्सने स्वत फायरबाखपर अपनी 'थीसिस' में लिखते समय इस तथ्यपर प्रकाश डाला था कि अबतक दार्शनिक सृष्टिकी केवल व्याख्या करते रहे हैं, किन्तु अब वह समय आ गया है कि हम उसका परिवर्तन करें। परिवर्तन मूलत क्रियाशीलताका प्रतीक है। इसलिए जिस दर्शनका लक्ष्य परिवर्तन है, वह मूलत क्रियात्मक है। इस प्रकार मार्क्सवादके दो स्वरूप हैं–पहला, सृष्टि और समाजका विश्लेषणात्मक अध्ययन और दूसरा, उसी सचित अध्ययनके आधारपर सामाजिक परिवर्तनका प्रयास।

मार्क्सवाद समाजवादी विचारधारा है। किन्तु समाज-वाद(दे०)के इतिहासमें मार्क्सवादको वैज्ञानिक समाजवाद-की श्रेणी प्राप्त हुई है। वैज्ञानिक समाजवाद एंगिल्सके अनुसार वह समाजवाद है जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित करनेके पहले उन तमाम वैज्ञानिक नियमोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है जिनके आधारपर सामाजिक परिवर्तन होते हैं। एंगिल्सका कहना है कि सामाजिक गत्यात्मकता नियमविहीन नहीं होती। यदि हम इन नियमोंको जान लें तो उसीके अनुरूप समाजवादी परिवर्तन कर सकेंगे। वैज्ञानिक समाजवाद जिस स्थानपर खडा है वह स्वप्नों और भावनाओंकी कोमल भूमि नहीं है, वरन् सत्य और परिस्थितिका कठोर धरातल है।

मार्क्सवाद, जैसा कहा जा चुका है, सृष्टि और समाजका समन्वित दर्शन है। अत मार्क्सवादका अपना एक दार्शनिक दृष्टिकोण भी है। इसी दृष्टिकोणकी पृष्ठभूमिमें समूचा मार्क्स-वाद समझा जा सकता है।

मार्क्सवादके दार्शनिक दृष्टिकोणको द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद (दे०) कहते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है जिसके अनुसार सृष्टिका मूल सत्य पदार्थ है, किन्तु जो निरन्तर परिवर्तनशील अवस्थामें होनेके नाते द्वन्द्वात्मक प्रणालीसे ही जाना जा सकता है। भौतिकवादी प्रत्यय और पदार्थमें पदार्थको प्रथम स्थान देते हैं। उनके अनुसार प्रत्यय पदार्थके पश्चात् ही सृष्टिमें आया। अत पदार्थकी सृष्टि प्रत्ययसे न होकर प्रत्ययकी सृष्टि पदार्थसे हुई है। प्रत्ययवादी शाश्वत चेतनाको ही सृष्टिका उद्गम-स्थान मानता है और उसके अनुसार पदार्थके जितने भी परिवर्तन हैं, वे केवल चेतना-जगत्में होनेवाले प्रत्यय-विकासकी छाया हैं। अत शुद्ध भौतिकवादकी दृष्टि बहिर्मुखी है।

भौतिकवादके कई रूप हैं। हर एक भौतिकवादी इतना तो मानता ही है कि प्रत्यय पदार्थ-प्रसूत है, किन्तु प्रत्यय और पदार्थमें क्या सम्बन्ध है, इस विषयपर भौतिकवादियोंमें मतभेद है। कुछ भौतिकवादी, जिन्हें यान्त्रिक भौतिकवादी अर्थात् मैकेनिकल मैटीयरिलिस्ट कहते हैं, यह मानते हैं कि प्रत्ययका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। यह हर एक क्षण अपने अस्तित्वके लिए पदार्थपर ही अवलम्बित है, अत प्रत्यय क्रियाशील नहीं है। जब प्रत्यय क्रियाशील नहीं है तो मानव-मस्तिष्क सक्रिय न होकर बाह्यगत अनुभवोंका मात्र संचित कोष है। मानव-मस्तिष्ककी निष्क्रियता अनुभवात्मक मनोविज्ञान-की एक महान् विशेषता है और यान्त्रिक भौतिकवादी

मस्तिष्ककी इसी निष्क्रियतापर जोर देते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपनी बुद्धि और सचित अनुभवोंका प्रयोग कर प्रकृति और पदार्थकी रूपरेखाओंका परिवर्तन नहीं कर सकता। वह हर एक क्षण पदार्थकी कठोर श्रृखलामें जकड़ा हुआ है। यान्त्रिक भौतिकवाद जब इस प्रकार मानव और मानव-मस्तिष्कको अनन्त अनुभवोंका निष्क्रिय भोक्ता मानता है, तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पदार्थ-प्रसूत प्रत्ययको एक स्वतन्त्र अस्तित्वके रूपमें देखता है। इतना ही नहीं, वह प्रत्ययको क्रियाशील भी मानता है और उसके अनुसार बाह्य जगत्का समूचा परिवर्तन पदार्थ और प्रत्ययके अन्तरावलम्बनका इतिहास है। अन्तरावलम्बन द्वन्द्व-सिद्धान्तपर आधारित है। इसीलिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हर एक परिवर्तनको द्वन्द्वात्मक दृष्टिसे देखता है। द्वन्द्वात्मकमें सघर्ष अनिवार्य है, और संघर्ष केवल दो मूल विरोधी शक्तियोंमें होता है। इसी नाते द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके अनुसार सृष्टिका मूल सत्य परिवर्तन है, जो सदैव दो विरोधी शक्तियोंके सघर्षसे होता रहता है। द्वन्द्व-सिद्धान्त हीगेलके द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद अर्थात् 'डायलेक्टिकल आइडियलिज्म'से लिया गया है।

हीगेल प्रत्ययके इतिहासमें ही सघर्षका इतिहास देखता था, किन्तु मार्क्सके अनुसार प्रत्यय गौण है और पदार्थ प्रधान। इसलिए संघर्षका इतिहास पदार्थमें है, न कि प्रत्ययमें। इसीलिए मार्क्स कहा करता था कि हीगेलका द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त सिरके बल चलता है। इस प्रकार हीगेलसे द्वन्द्व-सिद्धान्त और फायरबाखसे भौतिकवाद लेकर मार्क्सने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादका शिलान्यास किया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी कुछ मूलभूत मान्यताएँ हैं। इसकी पहली मान्यता यह है कि हर एक वस्तुके विरोध उसी वस्तुमें सीमित रहते हैं, किन्तु वे कुछ कालतक दबे रहते हैं। इस परिस्थितिको वाद कहते हैं। इसकी दूसरी मान्यता यह है कि कालान्तरमें वाद परिस्थितिका विरोध वे ही तत्त्व करने लगते हैं जो उसमें सन्निहित थे। इस परिस्थितिको प्रतिवाद कहते हैं। किन्तु द्वन्द्व-सिद्धान्तके अनुसार किसी भी नयी परिस्थितिका जन्म दो विरोधी परिस्थितियोंके सघर्षसे होता है। इसलिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी तीसरी मान्यता यह है कि जब वाद और प्रतिवादका संघर्ष होता है तो एक तीसरी परिस्थितिकी सर्जना होती है, जो उन दोनों परिस्थितियोंसे भिन्न होती है और जिसमें दोनों परिस्थितितियोंके कुछ अच्छे अश उपस्थित रहते हैं। इस तीसरी परिस्थितिको सवाद अथवा प्रतिवादका प्रतिवाद कहते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी चौथी मान्यता यह है कि वादसे सवादतकका विकास मात्रात्मकसे गुणात्मक परिवर्तनकी ओर होता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके प्रकाशमें जब मानव-समाजके इतिहासका अध्ययन किया जाता है तो मनुष्यके समूचे अतीतको एक व्यवस्थित अर्थसूत्र प्राप्त हो जाता है। उस समय इतिहास इधर-उधर बिखरी घटनाओंका सकलन नहीं होता। उसके चरणोंको निश्चित गति और लय प्राप्त होती है। उसका जीवन निश्चित ऐतिहासिक नियमोंमें बँध जाता है। उन्हीं निश्चित ऐतिहासिक नियमोंके समन्वित रूपको ऐतिहासिक भौतिकवाद (दे०) कहते हैं। ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार मनुष्यके सारे कर्तव्योंकी प्रेरणा उत्पादन है। इसी लक्ष्यको लेकर मनुष्य सामाजिक सम्बन्धोंकी स्थापना करते हैं। अत मनुष्यके समूचे सामाजिक सम्बन्ध उसके उत्पादन-सम्बन्धोंपर आधारित हैं। जब उत्पादन-सम्बन्धमें परिवर्तन होगा तो उसके सामाजिक सम्बन्ध भी परिवर्तित हो जायँगे। अत समाजके दो ढाँचे हैं। पहला ढाँचा है आधारभूत ढाँचा, जो उत्पादन-सम्बन्धोंपर आधारित है और दूसरा वह ढाँचा है जो आधारभूत ढाँचेपर आश्रित है। दूसरे ढाँचेके अन्तर्गत समाज, साहित्य, कला, दर्शन एव संस्कृति सम्बन्धी तत्त्व आते हैं। इस नाते कविकी काव्यप्रेरणा, दार्शनिककी ज्ञान-जिज्ञासा; कलाकारका कलात्मक लक्ष्य और संस्कृतिका मूल उद्देश्य, सब-कुछ आर्थिक व्यवस्था द्वारा अनुशासित होता है।

समाजकी उत्पादन-प्रणालीका परिवर्तन भी दो विरोधी शक्तियोंके सघर्षसे होता है। इस सघर्षको कार्ल मार्क्सने वर्ग-संघर्ष कहा है। वर्ग-सघर्ष दो वर्गोंमें होता है। इसमेंसे एक वर्ग, जिसे शोषक वर्ग कहते हैं, समाजका आर्थिक और राजनीतिक शासन करता है। दूसरा वर्ग, जिसे शोषित वर्ग कहते हैं, उन लोगोंका वर्ग है जो शारीरिक श्रम तो अवश्य करते हैं, किन्तु उस शारीरिक श्रमका फल उनको न प्राप्त होकर शोषकवर्गको प्राप्त है। इसलिए शोषित और शोषक वर्गमें सघर्ष अनिवार्य हो जाता है। और इसी संघर्षके मूलमें विकासस्थिति है।

मार्क्सवादके अनुसार अबतक समाजमें चार प्रकारकी सामाजिक व्यवस्थाएँ प्राप्त हो सकी हैं। पहली व्यवस्था है आदिम साम्यवादकी, जिसमें लोग स्वतन्त्र थे और उनका समष्टि-जीवनसे कोई सम्पर्क नहीं था। दूसरी व्यवस्था है दास-व्यवस्था, इसके अन्तर्गत कुछ शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति शक्तिहीनोंपर शासन करते थे, किन्तु जब कुछ दासोंने क्रान्ति की तो सामन्तवादी व्यवस्थाने उसका स्थान लिया। सामन्तवादी व्यवस्थामें भी जब वर्ग संघर्ष प्रारम्भ हो गया तो उसका स्थान एक नयी विकसित आर्थिक व्यवस्थाने लिया जो आज भी जीवित है। इसे पूँजीवाद कहते हैं। किन्तु पूँजीवादमें भी वर्ग-सघर्ष चल रहा है और मजदूर सम्पत्तिपर सामूहिक नियन्त्रणका प्रयास कर रहा है। कुछ देशोंमें तो पूँजीवाद समाप्त हो गया है और उसके स्थानपर समाजवादकी स्थापना हो रही है। इस नयी व्यवस्थाको साम्यवाद (दे०) कहते हैं। कार्ल मार्क्सने सामाजिक व्यवस्थाओंकी इन्हीं रेखाओंकी ओर सकेत किया है, जो अबतक इतिहासके विकासमें दृष्टिगत हो रही हैं।

मार्क्सके अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था शोषणपर आधारित है। यह शोषण सर्वहाराका है, क्योंकि सर्वहारा शारीरिक श्रमसे उत्पादन करता है, किन्तु उसका लाभ पूँजीपतियों या स्वामियोंके हाथमें जाता है। दैनिक जीवनके इस साधारण अनुभवको कार्ल मार्क्सने अर्थशास्त्रके जटिल रूपमें व्यक्त किया है। इसे मूल्यका सिद्धान्त अथवा 'थ्योरी ऑफ वैल्यू' कहते हैं। मार्क्सका कहना है कि जब आधुनिक वैज्ञानिक साधनोंसे युक्त मजदूर किसी वस्तुका उत्पादन करता है, तभी उस वस्तुको विनिमय-मूल्य प्राप्त होता है। किसी वस्तुका विनिमय-मूल्य कितना है, यह

उस वस्तुपर लगाये गये श्रमके बराबर है, किन्तु जब पूँजीपति मजदूरको मजदूरी देता है तो वह उसके द्वारा ही मजदूरका शोषण करता है। मजदूरको जो मजदूरी प्राप्त होती है वह उसके द्वारा किये गये श्रमके बराबर नहीं होती, अत मजदूर जितने मूल्यका सर्जन करता है और जितने मूल्यका वह दाम पाता है, उसके अन्तरको कार्ल मार्क्स अतिरिक्त मूल्य या 'सरप्लस वेल्यू' कहता है। यह अतिरिक्त मूल्य भी मजदूर द्वारा निर्मित हुआ है, क्योंकि मजदूर मूल्यकी रचना करता है, किन्तु मिल-मालिक इस 'सरप्लस वैल्यू'को अपना लाभ समझकर अपने पास रख लेता है। इस प्रकार कार्ल मार्क्सने यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि पूँजीवादी व्यवस्थामें यह स्वाभाविक है कि मिल मालिक मुनाफा करे और जिस धनपर मजदूरका नैतिक अधिकार है उसको हड़प ले।

मार्क्सवादके अनुसार राज्य भी इन आर्थिक व्यापारोंका निरपेक्ष द्रष्टा नहीं है। एक समय था जब पूँजीवादियोंने आर्थिक क्षेत्रमें राज्यसे हस्तक्षेप न करनेकी माँग की थी। वह युग 'लैसेज फेयर' नीतिका युग था। किन्तु पूँजीवादकी शक्तियाँ जब शिथिल होने लगीं तो उन्होंने राजनीतिक शक्तिका सहारा लिया। राज्य मार्क्सके अनुसार वर्ग-सघर्षका प्रतीक है। इसलिए मार्क्स समाजवादी क्रान्ति द्वारा राज्यका भी उन्मूलन करना चाहता है।

समाजवादी क्रान्ति केवल सर्वहारा ही कर सकता है। मार्क्सने क्रान्तिकी पद्धतियों और साधनोंपर विशद रूपसे अपने विचार व्यक्त किये हैं। उसके अनुसार केवल व्यावसायिक श्रम-वर्ग ही शक्ति, साहस और बुद्धि रखता है जो क्रान्तिके लिए नितान्त आवश्यक है। क्रान्ति सफल हो जानेपर साम्यवादकी सृष्टि होती है, किन्तु क्रान्तिकी सफलता और साम्यवादकी स्थापनाके बीच समयका लम्बा अन्तराल आता है। इस बीच पूँजीवादी राज्यको नष्ट करके मजदूर-राज्यकी स्थापना होनी है। यही मजदूर-राज्य शान्तिमय ढगसे सारे समाजको साम्यवादकी ओर ले जाता है।

आधुनिक साहित्य तथा साहित्य-चिन्तनपर मार्क्सवादकी गहरी छाप है। हिन्दी साहित्यमें मार्क्सवाद द्वारा प्रेरित साहित्यको प्रगतिवाद(दे०)की सज्ञा दी गयी है। —रा० कु० त्रि०

मालती—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भानु-(छ० प्र० पृ० १५८)के अनुसार नगण, २ जगण और रगणके योगसे यह वृत्त बनता है (III, ISI, ISI, SIS)। जयकीर्ति(छन्दो० २ . १३९)ने इसे वरतनु नाम दिया है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'विपिन विराध बलिष्ठ देखियो। नृप तनया भयभीत लेखियो। तब रघुनाथ (सु) बाण कै हयो। निज निरवाण पन्थको ठयो।' (रा० च० . ११ . ८)। —पु० शु०

मालती (प्रमोद)—वर्णिक समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्य-शास्त्र'में मालती नामका दो जगणका छन्द मिलता है (ISI, ISI)। इसे केशव और भानुने मालती तथा देवने प्रमोद नाम दिया है। 'प्राकृतपैंगलम्' और 'वाणीभूषण'में सुमालती नाम दिया गया है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'जु पै जिय जोर, तजौ सब शोर। सरासन तोरि, लहौ सुख कोरि।' (रा० च० . ४ . ८)। —पु० शु०

मालादीपक—'दीपक'से सम्बद्ध शृंखलामूलक अर्थालंकार। इस अलंकारमें पूर्वोक्त वस्तुओंसे उत्तरोत्तर वर्णित वस्तुओंका सम्बन्ध एक धर्ममे स्थापित किया जाता है। इस अलंकारमें जगन्नाथ तथा अप्पय दीक्षितके अनुसार पूर्व-वर्णित पदार्थोंमें और उत्तरोत्तर पदार्थोंमें परस्पर प्रस्तुत-अप्रस्तुत अथवा उपमेय-उपमानभाव (सादृश्य) सम्बन्ध नहीं रहता। मम्मट तथा रुय्यकमें यह अलंकार मिलता है। मम्मटने दीपकके प्रकार-रूपमें इसकी परिभाषा दी है—'मालादीपकमाद्य चेद्यथोत्तरगुणावहम्' अर्थात् इसमें पूर्व-वर्णित वस्तु उत्तरोत्तर वर्णित वस्तुमें उत्कर्षका आधान करती प्रतीत होती है (का० प्र० . १० १०४)। रुय्यकने इसी बातको अधिक स्पष्ट किया है—'पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे' (अ० स० पृ० १४१)। 'विश्वनाथ'का लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं है। मम्मटने 'दीपक'के बाद इसपर विचार किया है, पर रुय्यकने कारणमालाके बाद। हिन्दीमें रुय्यकका अनुसरण हुआ है।

हिन्दीके सभी प्रमुख आचार्योंने 'कुवलयानन्द'के आधारपर दीपक और एकावली अलंकारोंके सयोगसे मालादीपक अलंकार माना है—'दीपक एकावलि मिलें मालादीपक जान' (का० नि० १८)। जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण, सोमनाथ तथा पद्माकर, सभीके लक्षण समान हैं।

भिखारीदासका उदा०—'जगकी रुचि ब्रजवास, ब्रजकी रुचि ब्रजचन्द हरि। हरि रुचि बसी दास, बँसी रुचि मन बाँधिबो।' (का० नि० : १८)। यहाँ प्रथमकथित 'जग'-से उसके उत्तरकथित 'ब्रजवास'का, 'ब्रजवास'से 'ब्रजचन्द' आदिका 'बाँधिबो' इस एक क्रियारूप धर्मसे सम्बन्ध स्थापित किया गया है। अत 'मालादीपक' अलंकार है। आधुनिक कवि जयशकर 'प्रसाद'ने अपने 'आँसू' काव्यमें इसका सुन्दर प्रयोग किया है—'घनमें सुन्दर बिजली-सी, बिजलीमें चपल चमक-सी। आँखोंमें काली पुतली, पुतलीमें श्याम झलक सी। प्रतिमामें सजीवता-सी, बस गयी सुछवि आँखोंमें। थी एक लकीर हृदयमें, जो अलग रही लाखोंमें।'

मालादीपक और कारणमाला, दोनों अलंकारोंमें पूर्व-पूर्वकथित पदार्थोंका उत्तरोत्तरवर्णित पदार्थोंसे सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, पर पहलेमें प्रत्येक पूर्वकथित पदार्थ बादवालेका कारण कहा जाता है और दूसरेमें प्रत्येक पूर्व-पदार्थ बादवालेके साथ विशेषण-विशेष्यके सम्बन्धमें उपस्थित होता है। दे०—'दीपक', तीसरा प्रकार। —वि० स्ना०

मालिनी—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। पिंगलाचार्यके अनुसार इसकी परिभाषा है—'मालिनी नौ म्यौ य्(७ १४) अर्थात् न, न, म, य, यके योगसे यह वृत्त बनता है। बादमें ८, ७ वर्णोंपर यतिका नियम भी विकसित हुआ। भरतने इसका नाम नान्दीमुख (ना० शा० १६ ७३) दिया है। हिन्दी साहित्यमें इसका प्रयोग केशव (रा० चं० १३ . २७), रहीम (मदनाष्टक), सूदन (सु०

नं०), हरिऔध (प्रि० प्र० स० ४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, १३, १५, १७), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली पृ० १६–१९) और अनूप शर्मा(सिद्धार्थ स० १ १३, १६ एव वर्द्धमान पृ० ७०)ने किया है। उदा०—'जय रतिपति तेरी हो, तुझे सर्वदा ही' (वर्द्धमान स० १ . १४०)।

हिन्दी कवियोंने इसमें विशेष नवीन प्रयोग किया है। चन्दने इस छन्दको तोड़कर नवीनता प्रदान की है और इसका नाम 'काव्य जाती' रखा है। उनके प्रयोगके अनुसार नया छन्द न न SS और र र S में विभक्त जान पड़ता है। यह परिवर्तन यतिके प्रयोगपर बल दिये जानेसे सिद्ध हुआ है। चन्दने तो यतिका प्रयोग किया था, पर दीनदयाल गिरि तथा सूदनने इन यतियोंपर तुकका प्रयोग भी किया—विशद बकुल-माला, शोभती यों विशाला' (अ० क० . १५)। —पु० शु०

मालोपमा—दे०—'उपमा', सातवाँ प्रकार।

माहिया—पजाबीका अत्यन्त लोक-प्रचलित शृगार तथा करुण रससे ओतप्रोत लोकगीत। शृंगारके विरह-पक्षकी इसमें मार्मिक अनुभूति मिलती है। पजाबी शिष्ट साहित्यके ऊपर भी इस लोक-परम्पराकी रचनाका यत्र-तत्र प्रभाव दिखाई देता है। —स०

मिथ्याध्यवसित—कार्य-कारणमूलक अर्थालकार। जहाँ किसी अर्थको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए किसी अन्य सिद्ध मिथ्याकी कल्पना की जाय। जयदेवने 'मिथ्याध्यवसाय' नामक लक्षणका निरूपण किया है कि इसमें कार्य और कारणकी मिथ्या कल्पना करके कार्यसिद्धिका वर्णन होता है—'स्यान् मिथ्याध्यवसायश्चेदसती साध्यसाधने' (चन्द्रालोक ३ . ७)। परन्तु अप्पय दीक्षितने 'मिथ्याध्यवसित' अलंकार माना है। इसका लक्षण है—'किंचिन् मिथ्यात्व-सिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम्' (कुवलयानन्द १२७)।

हिन्दीके जगत सिंह, मतिराम, भूषण, दास, पद्माकर आदि आचार्योंने 'कुवलयानन्द'के आधारपर प्राय इसके लक्षण दिये हैं—'झूठ अर्थकी सिद्धिको, झूठो वरनन आन।' (शि० भू० २७२), अथवा—'एक झुठाई सिद्धि कौ, झूँठो वरनत और।' (ल० ल० २९८), अर्थात् मिथात्व सिद्ध करनेके लिए किसी दूसरे मिथ्या अर्थकी कल्पना—'धरै जु माला नभ कुसुम, करै सु परतिय प्रीति।' अथवा—'जो आँजै नभ कुसुम रस, लखै सु अहिके कान।' (पद्मा० २१५)। यहाँ 'परतिय प्रीति' तथा 'अहिके कान'-को झूठा सिद्ध करनेके लिए असत्य कल्पनाएँ की गयी हैं। इस अलकारकी समीपता निदर्शना और अतिशयोक्ति अलकारोंसे है। उद्योतकारने इसे अतिशयोक्ति तथा जगन्नाथ-ने प्रौढोक्तिके अन्तर्गत माना है। —ओ० प्र०

मिश्र वस्तु—इतिवृत्तकी दृष्टिसे यह नाटककी वस्तुके तीन भेदों—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र—मेसे एक है। इसमें इतिवृत्तकी पृष्ठभूमि तो प्रख्यात रहती है, पर अनेकानेक कथाएँ कल्पित होती हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्रके 'नारदकी वीणा'के इतिवृत्त 'आर्यों और अनार्योंका संघर्ष'की पृष्ठभूमि प्रख्यात है, किन्तु कथाओंकी सर्जना नाटककारकी अपनी कल्पना है। —व० सिं०

मिसरा—उर्दू कवितामें छन्दका एक चरण मिसरा कहलाता है। जब शब्दोंको किसी खास बहूर छन्दके वजन-(माप)पर लिख दिया जाय तो उसे एक मिसरा कहते हैं। बहूरकी लम्बाईके हिसाबसे मिसरे छोटे-बड़े होते हैं। जिस बहूरकी जो माप नियत है उसपर हर मिसरेको पूरा उतरना चाहिये। अगर मिसरा उस मापसे छोटा होगा या उसका आहग (लय-अवरोह) बहूरके समान न होगा, तो उस मिसरेको अनुपयुक्त समझा जायगा। यह दोष हिन्दीमें छन्दोभंग कहा जाता है। (दे०—'बहूर', 'शेर')। —म०

मीमांसा—(क) मीमासाका शाब्दिक अर्थ गवेषणा अथवा विवेचन है। प्राचीन कालमें तथा वर्तमान समयमें मीमासा-का प्रयोग प्राय. इसी अर्थमें होता है।

(ख) परन्तु दर्शन-जगत्में खाली मीमासासे वेदमीमासा, कर्ममीमासाका ही बोध होता है। वेदोंकी मीमासा धर्म-कर्ममें होनेके कारण ही इसे धर्ममीमासा या कर्ममीमासा कहते हैं। इससे मीमासाका प्रयोजन भी मालूम हो जाता है—जो धर्मका निरूपण करता है—'धर्माख्य विषय वस्तु मीमासाया प्रयोजनम्' (कुमारिल श्लो० वा० ११)।

(ग) मीमासा कर्ममीमासा और ज्ञानमीमासा, कर्म-काण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंके लिए प्रयुक्त होता है। इसी-लिए प्रथमको 'पूर्वमीमासा' और द्वितीयको 'उत्तरमीमासा' कहते हैं। पूर्व और उत्तर शब्दोंसे स्पष्ट है कि वस्तुत ये दोनों शास्त्र एक ही दर्शनके अंग हैं। यह अगिदर्शन वैदिक दर्शन है।

मीमासाके इन त्रिविध अर्थोंके बावजूद यह शब्द पूर्वमीमासा या कर्ममीमासाके अर्थमें रूढ हो गया है। हिन्दीमें सामान्यत मीमासा शब्दका प्रयोग समीक्षाके अर्थमें होता है।

अन्य सभी भारतीय दर्शनोंकी भाँति मीमासाका उद्भव भी वेदोंसे हुआ। पर अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा यह अधिक वैदिक दर्शन है। इसका विषय वेदोक्त धर्मकी व्याख्या है। गौतम बुद्धने वेदोक्त धर्मके कर्मकाण्ड-पक्षपर प्रहार किया था। फलस्वरूप वेदज्ञोंने अपने धर्मको सुव्यवस्थित रूपसे रखनेका प्रयास किया। इन प्रयासोंमें जैमिनि(४०० ई० पू०)का प्रयास सर्वोत्तम रहा और 'कर्ममीमासासूत्र' मीमासा-का मौलिक ग्रन्थ हो गया। शबर(२०० ई०)ने इसपर अपना भाष्य लिखा। कुमारिल और प्रभाकर(७वी शती)ने इस भाष्यकी व्याख्या की और बौद्ध धर्मके सिद्धान्तोंका खण्डन करते हुए उसके प्रभावको देशभरमें बिलकुल क्षीण कर दिया। कुमारिल और प्रभाकर मीमासाके क्रमश भट्टमत तथा गुरुमतके सस्थापक हे। कालान्तरमें मुरारि मिश्रका भी एक तीसरा मत चल पड़ा।

बौद्ध धर्मके उन्मूलनमें मीमासाका प्रमुख हाथ रहा है। इसने वेदोंकी कर्मपरक व्याख्या की और अवैदिक धर्मोंकी कटु आलोचना की। बौद्ध धर्मके भारत छोड़ देनेके बाद मीमासाका विरोध न्यायवैशेषिकसे हो गया। मीमासामें किसी ईश्वरका विधान नहीं है, न्यायवैशेषिकमें है। मीमासा सभी प्रमाणोंको स्वत प्रामाण्य मानती है, तो न्यायवैशेषिक परत प्रामाण्य। मीमासा वेदोंको अपौरुषेय मानती है तो न्यायवैशेषिक पौरुषेय। मीमासा पहले निरीश्वरवादी थी। जैमिनि ईश्वर और आत्माके विषयमें कुछ नहीं कहते।

कुमारिल और प्रभाकर भी ईश्वरकी मान्यताके विरोधी नहीं प्रतीत होते। अत मीमांसाको प्राय निरीश्वरवादी न कहकर लोग अज्ञेयवादी कहते हैं। कालान्तरमें आपदेव और लोगाक्षि भास्कर(१७वीं शती)ने मीमांसाको ईश्वरवाद-की ओर उन्मुख किया। वेदान्तदेशिककी 'सेश्वर मीमांसा'में तो 'पूर्वमीमांसा' और 'उत्तरमीमांसा', दोनों मिल गयीं, और मीमांसामें ईश्वरको स्थान मिल गया, पर कुमारिलका मीमांसाका अधिक प्रचलित मत है।

मीमांसा वेदोंका तात्पर्य निश्चित करनेके लिए सहायक श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या, इन षट् प्रमाणोंको मानती है। इसमें वेदके दो भाग माने जाते हैं, मन्त्र और ब्राह्मण-'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। विषयके विचारसे वेदोंके ५ विभाग हैं-१ विधि, २ मन्त्र, ३ नामधेय, ४ निषेध और ५ अर्थवाद। 'स्वर्गकामो यजेत', इस प्रकारके वाक्योंको विधि कहते हैं। अनुष्ठानके अर्थ-स्मारकोंको मन्त्र कहते हैं। यज्ञोंके नामकी संज्ञा नामधेय है। अनुचित कर्मसे विरत होनेको निषेध कहते हैं और किसी पदार्थके सच्चे गुणोंके कथनको अर्थवाद कहते हैं। इन पाँच विषयोंके होनेपर भी वेदोंका तात्पर्य विधि-वाक्योंमें ही है। विधि चार प्रकारकी होती है। कर्मके स्वरूपको बतलानेवाली उत्पत्तिविधि, अंग तथा प्रधान अनुष्ठानके सम्बन्धको बतलानेवाला विनियोगविधि, धर्मसे उत्पन्न फलके स्वामित्वको व्यक्त करनेवाली अधिकारविधि है तथा प्रयोगके प्राशुभाव(शीघ्रता)की बोधक विधिको प्रयोगविधि कहते हैं।

ज्ञानके साधनों या प्रमाणोंमें प्रभाकरके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान तथा अर्थापत्ति हैं। कुमारिलके मतमें इनके अतिरिक्त छठा प्रमाण अभाव या अनुपलब्धि है।

तत्त्ववादमें कुमारिलके अनुसार पदार्थ पाँच हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, जाति और अभाव। द्रव्य ११ हैं—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा, मन, तम और शब्द। गुण २४ हैं।

कर्म तीन हैं-नित्य, नैमित्तिक और काम्य। प्रथम दो अनिवार्य हैं। उनके न करनेसे प्रत्यूह होता है। प्रातः और सायं उपासना या प्रार्थना करना नित्यकर्म है। ग्रहणके अवसरपर गंगास्नान करना नैमित्तिक कर्म है। काम्य कर्म वे हैं जो किसी कामनासे किये जायँ, जैसे पुत्रेष्टियज्ञ, अश्वमेधयज्ञ आदि। काम्य कर्मके कर्ताको सच्चा अधिकारी होना चाहिये।

कर्म और उसके फलमें अनिवार्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्धका संस्थापक ईश्वर नहीं है, बल्कि अपूर्व है। अपूर्व एक शक्ति है। कर्मसे अपूर्व होता है। अपूर्वसे उस कर्मका फल उत्पन्न होता है। प्रभाकरने इसीको नियोग कहा है। कुमारिलके मतमें अपूर्व कर्म हो जानेपर नित्य आत्मामें उत्पन्न हो जाता है और जब वह फल दे देता है तो फिर वह नष्ट हो जाता है। प्रभाकरके मतमें अपूर्व नित्य आत्मामें नहीं, किन्तु कर्ममें ही रहता है, नियुज्य रहता है, इसीलिए वे इसे नियोग कहते हैं।

भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे मीमांसाके दो मत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—अभिहितान्वयवाद (कुमारिलका) और अन्विताभिधानवाद (प्रभाकरका)। एकके अनुसार आकांक्षा, योग्यता और सान्निध्यके कारण पदोंके अर्थोंका भली भाँति अन्वय हो जानेपर उन पदोंमेंसे प्रत्येकके अर्थसे भिन्न वाक्यका एक विशेष तात्पर्यार्थ होता है। दूसरा यह है कि पदोंके वाक्य-अर्थोंसे ही वाक्यार्थका बोध होता है।

मीमांसाको लोग प्राय प्राचीन कर्मकाण्डमात्र समझते हैं और इस कारण इसकी कटु आलोचना करते हैं। कबीर जैसे निर्गुण सन्तोंने इसी अर्थमें मीमांसाकी तीव्र आलोचना की है। पर मीमांसाका वास्तविक रूप कर्मकाण्ड नहीं है। वह कर्मवाद है। यह कर्म और उसके फलको बिना ईश्वरके, अपूर्व या नियोगकी मददसे सम्बन्धित करती है और निष्काम कर्म करनेपर जोर देती है। इस अर्थमें मीमांसाकी शिक्षाएँ सदा ग्राह्य हैं। 'करम गति टारे नाहिं टरी' जैसे पदोंमें मीमांसाके तथाकथित खण्डन करनेवाले कबीर आदिने वास्तवमें मीमांसाके कर्मवादका अनुपम समर्थन किया है। तुलसीदास जब लोकमर्यादाकी स्थापना करते हैं तो वस्तुत वे मीमांसाके ही अमूल्य कर्मवादकी व्याख्या करते हैं। लोकमान्य तिलकने तो 'गीता-रहस्य'मे ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग और योगमार्गको असम्मवित करते हुए निष्काम कर्मयोगको ही निकाला था। महात्मा गान्धी भी मीमांसाके नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको मानते थे। उनकी रचनाओंमें यज्ञका, जिसका अर्थ वे परोपकारार्थ कार्य कहते थे प्रभाव स्पष्ट है। वस्तुत॰ कर्मका उच्छेद नहीं हो सकता और इसलिए किसी-न-किसी अर्थमें कर्म-मीमांसाकी भी मान्यता सदैव रहेगी। मीमांसक, विशेषत कुमारिल, कर्म और ज्ञानके समुच्चयपर जोर देते हैं। साधु निश्चल-दासने भी अपने दादूपन्थी साधनमार्गमें इस समुच्चयको माना है-'धर्ममीमांसाके द्वादश अध्याय हैं (मीमांसासूत्रके) जैमिनि नाम ताका कर्ता है। कर्म-अनुष्ठानकी रीतितामें प्रतिपादन करी है। याते विधिसे कर्ममें प्रवृत्ति धर्म-मीमांसाका फल है। कर्ममें प्रवृत्तिसे अन्तःकरण-शुद्धि, तसे ज्ञान और ज्ञानते मोक्ष, इस रीतिसे धर्ममीमांसाका मोक्षफल है।'

[सहायक ग्रन्थ—पूर्वमीमांसा - गंगानाथ झा]।

—सं॰ ला॰ पा॰

मीलित—लोकन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें किन्हीं दो पृथक् वस्तुओंमें स्वाभाविक अथवा आगन्तुक-तुल्य धर्मके कारण भेद लक्षित न हो, अर्थात् एक वस्तुका दूसरेमें विलय हो जाना मीलित अलंकार है। मीलितका अर्थ है मिल जाना। इसमें नीर-क्षीर-न्यायसे एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें तिरोभाव हो जाता है। सर्वप्रथम प्रयोग रुद्रटके 'काव्यालंकार'में हुआ। मम्मटका लक्षण इस प्रकार है—'समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते। निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्।' (का॰ प्र॰ १० . १३०), अर्थात् जिसमें किसीके द्वारा किसी वस्तुका किसी दूसरी वस्तुसे किसी स्वाभाविक अथवा आकस्मिक चिह्नके कारण तिरोधान अथवा छिपाना वर्णित हो। विश्वनाथकी परिभाषा सरल है—'मीलित वस्तुनो गुप्ति केनचित्तुल्यलक्ष्मणा।' (सा॰ द॰ . १० ८९), अर्थात् जब कोई वस्तु समान

लक्षणके कारण दूसरी वस्तुको तिरोभूत कर ले। वस्तुत इसमें मम्मटके स्वाभाविक तथा आकस्मिक चिह्नके स्थानपर सादृश्यमात्रका उल्लेख है। 'कुवलयानन्द'के आधारपर हिन्दीमें जसवन्त सिंहने सादृश्यके कारण अभेदकी बात कही है—'मीलित सोइ सादृश्यतें भेद जबै न लखाय।' (भा० भू० १७४)। फिर आगे हिन्दीके आचार्योंने इसी प्रकार लक्षण दिया है। मतिराम तथा सोमनाथके लक्षण अस्पष्ट हैं तथा भूषण और पद्माकरने सादृश्यसे भेद न जान पड़नेकी बात कही है। वस्तुत यह सादृश्य, जैसा कि मम्मटने कहा है, स्वाभाविक अथवा आकस्मिक लक्षणोंपर आधारित है, अतएव निगूहन (छिपाना) दो प्रकारसे माना गया है।

बिहारीके इस वर्णनमें स्वाभाविक कान्ति द्वारा अँगिया-की कान्तिका तिरोभाव है—'भई जु छबि तन बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन। आँग ओप आँगी दुरी, आँगी आँग दुरै न।' (सतसई १८९)। दासने आगन्तुक धर्मों द्वारा तिरोभावका उदाहरण इस प्रकार दिया है—'केसरिया पट कनक तन कनकाभरन सिंगार। गत केसर केदारमें जानी जाति न दार।' (का० नि० १४)।

मतिरामने भी इस अलंकारका उक्तिपूर्ण प्रयोग किया है—'होति न लखाई निसि चन्दकी उज्यारी मुख, चन्दकी उज्यारी तन छाहौं छपि जाति है' (ल० ल० ३४२)। भूषणके उदाहरणमें उक्तिका चमत्कार है—'पावत न हेरे तेरे जस मैं हिराने निज गिरिको गिरीस हेरैं गिरिजा गिरीमको' (शि० भू० ३०२)। इसी प्रकार महादेवीकी इन पंक्तियोंमें इसका सुन्दर प्रयोग है—'वे आभा बन खो जाते शशि किरणोंकी उलझनमें, जिससे उनको कण-कणमें ढूँढ़ पहिचान न पाऊँ।'

हिन्दीमें 'मीलित' अलंकारका प्रयोग प्राय सभी रीतिकालीन एव कतिपय आधुनिक कवियोंने रूप और भावकी संवेदनाको तीव्र करनेके लिए किया है। बिहारीने मीलित अलंकारका जितना काव्यपूर्ण प्रयोग किया है, उतना रीतिकालीन अन्य कवियोंने नहीं। यह उनका प्रिय अलंकार है। शृंगार रसमें नायिकाओंके रूपको अधिक संवेदनीय बनानेके लिए कविने इसी अलंकारका अपेक्षाकृत अधिक प्रश्रय लिया है। जायसीने नायिकाके अलौकिक रूप-सौन्दर्य-वर्णनके लिए इस अलंकारका भी प्रयोग किया है।

तद्गुण, भ्रान्ति तथा मीलितमें वास्तविक अन्तर है। तद्गुणमें साधारण (सदृश) लक्षणवाली वस्तुका तिरोभाव नहीं होता, वरन् उत्कृष्ट गुणवाली वस्तुका गुण प्राप्त किया जाता है, भ्रान्तिमें एकके स्थानपर दूसरेका भ्रम होता है, दोनों उपस्थित नहीं रहते, मीलितमें समान गुण एक-दूसरे-में तिरोधान हो जाते हैं, अर्थात् दोनों रहते हुए भी एक-दूसरेमें छिप जाते हैं। दण्डीने मीलितको अतिशयोक्तिका एक भेद माना है तथा यह रुद्रटके पिहित अलंकारके समान है। —वि० स्ना०

मुकरी–यह लोकप्रचलित पहेलियोंका ही एक रूप है, जिसका लक्ष्य मनोरंजनके साथ-साथ बुद्धिचातुरीकी परीक्षा लेना होता है। इसमें जो बातें कही जाती हैं वे द्व्यर्थक या श्लिष्ट होती हैं, पर उन दोनों अर्थोंमेंसे जो प्रधान होता है उससे मुकरकर दूसरे अर्थको उसी छन्दमें स्वीकार किया जाता है, किन्तु यह स्वीकारोक्ति वास्तविक नहीं होती। हिन्दी-में अमीर खुसरोने इस लोककाव्य-रूपको साहित्यिक रूप दिया। अलंकारकी दृष्टिसे इसे छेकापह्नुति कह सकते हैं, क्योंकि इसमें प्रस्तुत अर्थको अस्वीकार करके अप्रस्तुतको स्थापित किया जाता है। (दे०–'अपह्नुति') —शं०ना०सिं०

मुक्तक काव्य–मुक्त शब्दमें कन् प्रत्ययके योगसे मुक्तक शब्द बनता है, जिसका अर्थ अपने-आपमें सम्पूर्ण या अन्य-निरपेक्ष वस्तु होता है (मुक्तकमन्येनालिंगितं तस्य संज्ञायां कन्, ध्वन्यालोककी लोचन टीका ३ ७)। ध्वनि-सिद्धान्तके आधारपर ही मुक्तकको काव्यमें आदरणीय स्थान मिला है। 'ध्वन्यालोक'के अनुसार जिस काव्यमें पूर्वापर-प्रसंग निरपेक्ष रस-चर्वणाका सामर्थ्य होता है वही मुक्तक कहलाता है। अत मुक्तक काव्यसे उस काव्य-रूपका बोध होता है, जिसमें कथात्मक प्रबन्ध या विषयगत बहुत लम्बे निबन्धकी योजना नहीं होती। हेमचन्द्राचार्यने केवल मुक्तक शब्दका व्यवहार न करके मुक्तकादि शब्द प्रयुक्त किया है और उसका सामान्य लक्षण यही बताया है कि जो अनिबद्ध हों वे मुक्तकादि हैं (अनिबद्ध मुक्तकादि काव्यानु० आठवाँ अध्याय)। अत मोटे तौरपर प्रबन्धहीन या स्फुट, सभी पद्यबद्ध रचनाएँ मुक्तक काव्यके अन्तर्गत आ जाती हैं। दण्डीने इस प्रकारके अनेक अनिबद्ध या प्रबन्धकाव्यके अंश जैसे काव्यरूपोंको एक ही साथ रखा है, यद्यपि उनका एक नाम मुक्तक या मुक्तकादि नहीं दिया है–'मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः। सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः॥' (काव्यादर्श १ १३)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दण्डी सर्गबन्ध या प्रबन्धकाव्यके सभी रूपों, महाकाव्य, खण्डकाव्य आदिको एक श्रेणीका काव्य और अनिबन्ध या सर्गबन्ध काव्यके अंश-के रूपमें प्रतीत होनेवाले अन्य सभी रूपोंको अन्य श्रेणीका काव्य मानते थे, यद्यपि उन्होंने उन सबका एक नाम 'मुक्तक काव्य' नहीं बताया है। वस्तुत अपनेमें पूर्ण, अन्य निरपेक्ष एक छन्दवाली रचनाको ही सभी आचार्योंने मुक्तक कहा है, पर चूँकि अन्य-निरपेक्ष एकाधिक छन्दोंवाली रचनाएँ भी अनिबद्ध या कथाहीन होती हैं, अत उन सबको मुक्तकादि कहकर प्रबन्धकाव्यकी तरह मुक्तक काव्यको भी एक सामान्य काव्य-रूप मान लिया गया। इस प्रकार जैसे प्राचीन यूनानी साहित्यमें छन्दोबद्ध श्रव्य काव्यके दो भेद थे महाकाव्य (एपिक) और गीतिकाव्य (लिरिक), उसी तरह प्राचीन भारतीय साहित्यमें भी छन्दोबद्ध श्रव्य काव्य-के दो भेद मान्य हो गये–प्रबन्धकाव्य और मुक्तक काव्य।

संस्कृतके आचार्योंने इस अनिबद्ध या मुक्तक काव्यके कई भेद किये हैं। दण्डीने तो मुख्य भेदोंका ही नाम लिया है—मुक्तक, कुलककोश और संघात, पर अन्य आचार्योंने उसके अन्य भेद भी माने हैं। 'ध्वन्यालोक'में आनन्दवर्धनने मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक और पर्यायबन्ध—छ नाम लिये हैं (ध्व० लो० का० ३ ७)। 'अग्निपुराण'ने इनमें प्रथम पाँच भेद ही माने हैं और सन्दानितककी जगह युग्मक नाम दिया है। हेमचन्द्रने मुक्तादि अर्थात् मुक्तक काव्यके ये भेद माने हैं—मुक्तक,

सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, कोश, प्रघट्टक, विकीर्णक और सघात (काव्यानु० ८ . १०)। विश्वनाथ कविराजके अनुसार मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक, कुलक, कोश और अन्या अनिबद्ध काव्य हैं (सा० द० . ६ . ३१४, १५)। ये भेद श्लोकसख्या, रचनाकार अथवा विषयके अनुसार किये गये है, जो इस प्रकार हैं—१ मुक्तक—सज्जनोंको चमत्कृत करनेवाला अपने-आपमें पूर्ण अर्थ व्यक्त करनेवाला एक श्लोक—'मुक्तक श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षम सनान्' (अग्निपुराण) तथा 'एकेन छन्दसा वाक्यार्थसमाप्तौ मुक्तकम्' (काव्यानु० ८, १०)। २ युग्मक या सन्दानितक—दो श्लोकोंमें पूर्ण अर्थ करनेवाली या क्रिया समाप्त होनेवाली रचना। ३. विशेषक—तीन श्लोकोंवाली रचना। ४ कलापक—चार श्लोकोंवाली रचना। ५ कुलक—पाँच श्लोकोंवाली रचना (पचभि कुलक मतम्, सा० द०), पर कुछ आचार्योंने इसमें श्लोकसख्या अधिक मानी है। हेमचन्द्रके अनुसार इसमें पाँचसे चौदहतक श्लोक होते हैं (पचमिश्चतुर्दशान्तै कुलक)। 'अग्निपुराण'के अनुसार पाँचसे अधिक श्लोकोंवाली रचना, जिसका अन्वय एकमें हो, कुलक है। ६ कोश—ऐसे श्लोकोंका सग्रह जो परस्पर सम्बद्ध न हों। यह मुक्तकोंका समूह होता है। (कोश श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षक, सा० द० . ६ ३२९)। हेमचन्द्राचार्यके अनुसार किसी एक कवि या अनेक कवियोंकी सूक्तियों-(मुक्तकों)के समुच्चयका नाम कोश है, जैसे सतसई आदि (स्वपरकृतसूक्तिसमुच्चय कोश सप्तशतकादि, (काव्यानु० आठवाँ अध्याय)। ७ प्रघट्टक—एक कविकृत श्लोकसमूह या मुक्तक-समुच्चय(कोश)का नाम प्रघट्टक है। (काव्यानु० आठवाँ अध्याय), जैसे,'विहारी सतसई' या 'गाथासप्तशती'। ८ विकर्णक—अनेक कवियों द्वारा लिखित मुक्तकोंका संग्रह। यह भी कोशका ही एक भेद है, जैसे 'दोहाकोश', 'सुभाषितकोश' आदि। ९ सघात या पर्यायबन्ध—एक कवि द्वारा एक विषयपर रचित छन्दोंको सघात कहते हैं (एकार्थविषय एककर्तृकपद्य सघात, काव्यादर्श-टीका १. १३)। आनन्दवर्द्धनने 'ध्वन्यालोक' (कारिका ३ ७)में इसे पर्यायबन्ध कहा है।

राजशेखरने सर्वप्रथम स्पष्ट शब्दोंमें काव्यके विषयानुसार दो भेद किये हैं—प्रबन्धकाव्य और मुक्तक काव्य—'स पुनर्द्विधा मुक्तक प्रबन्धविषयत्वेन', (का० मी० ९)। उन्होंने उनमें प्रत्येकके विषयगत भेदके अनुसार पाँच भेद माने हैं—१ शुद्ध, २ चित्र, ३. कथोत्थ, ४ सविधानक और ५ आख्यानकवान्, किन्तु यदि विषयकी दृष्टिसे विभाजन किया जाय तो मुक्तकके अनन्त भेद हो सकते हैं। सख्याके आधारपर भी जो विभाजन किया जाता है वह वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि उसमें भी असख्य भेद हो सकते है। वस्तुत मुक्तक काव्यके अन्तर्गत जितने भी काव्यरूप प्रचलित हो चुके हों, चाहे वे सख्याके आधारपर निर्मित हुए हों, चाहे विषय, छन्द या रागके आधारपर, उन सबको मुक्तक काव्यका भेद मान लेना चाहिये, यद्यपि ऐसे भेदोंकी सख्या अनिश्चित ही रहेगी, क्योंकि समाज और साहित्यके विकासके साथ-साथ काव्यरूपोंमें भी परिवर्तन और विकास होता चलता है। पुराने काव्यरूप लुप्त हो जाते हैं और नये-नये विकसित होकर प्रचलित होते रहते हैं। कालभेदकी तरह देश-भेदके अनुसार भी काव्यरूपोंमें भिन्नता होती है। अत मुक्तक काव्यके अन्तर्गत जो भी काव्यरूप किसी भी देश या किसी भी कालमें प्रचलित थे या हैं, उन्हें मुक्तक काव्यके भेदके रूपमें स्वीकार करना चाहिये। उदाहरणके लिए, यूरोपीय साहित्यमें ठीक मुक्तक (एक श्लोकवाली रचना) जैसा काव्यरूप प्रचलित नहीं था, पर वहाँ महाकाव्य, नाट्यकाव्य, कथाकाव्य(नेरेटिव या रोमान्स)के साथ गीतिकाव्य(लिरिक पोयट्री)को मान्यता मिली थी और उसके भी अनेक भेदोपभेद प्रचलित थे। प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रियोंने मुक्तक काव्यको तो माना है, पर गीतिकाव्यका उल्लेख उन्होंने नहीं किया, यद्यपि विश्वनाथ कविराजके पूर्व ही जयदेवके 'गीतगोविन्द'की रचना हो चुकी थी। मध्ययुगमें हिन्दीके पद्य-साहित्यकी रचना बहुत हुई, जो गीतिकाव्यका ही एक रूप है। आधुनिक युगमें उर्दू और फारसीके कई काव्यरूप, जैसे, गजल, रुबाई या चतुष्पदी तथा अँग्रेजी साहित्यके प्रभावसे पाश्चात्य गीतिकाव्यके विविध रूप, जैसे, सम्बोधगीति, शोकगीति, सॉनेट आदि भी हिन्दीमें अपनाये गये हैं। ये सभी मुक्तक काव्यके ही अन्तर्गत माने जाते हैं।

अस्तु, हिन्दीमें मुक्तक काव्यके जितने रूप मिलते हैं उनके विकास और मूल स्रोतोंके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तक काव्यके केवल उतने ही भेद नहीं हो सकते जितने सस्कृतके साहित्यशास्त्रियोंने गिनाये हैं। सस्कृत साहित्यमें ही मुक्तक काव्यके जितने रूप प्रचलित थे उन सबका उल्लेख आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें नहीं किया है। कहा जा सकता है कि कोश और सघातके अन्तर्गत अन्य सभी प्रकारके मुक्तक काव्यरूपोंका समावेश हो जाता है, पर इसे श्रेणी-विभाजन ही कहा जा सकता है, मुक्तक काव्यरूपोंका वर्गीकरण नहीं। काव्य-क्षेत्रमें जितने भी मुक्तक काव्य-रूप मिलते हैं उन सबकी कुछ निजी विषयगत या रूपगत विशेषताएँ होती हैं और उन काव्यरूपोंके स्वतन्त्र विकासका इतिहास भी है। सस्कृतके आचार्यों द्वारा बताये गये मुक्तकके उपर्युक्त रूपभेदोंमें उन विशेषताओं तथा विकासक्रमपर प्रकाश नहीं पड़ता है और न मुक्तकके विभिन्न काव्यरूपोंका पूर्ण परिचय ही मिल पाता है। सस्कृतमें मुक्तक काव्यके जितने रूप प्रचलित थे, हिन्दीमें उनमेंसे कुछको अपनाया गया और कुछको छोड दिया गया। उदाहरणार्थ, युग्मक, विशेषक और कलापक नामक मुक्तक काव्यरूप हिन्दीमें नहीं मिलते और कुलकका नाम छोडकर पचक, अष्टक, दशक आदि सख्यावाचक नाम स्वीकार कर लिये गये हैं। इसी तरह कोश नाम प्रचलित नहीं है, पर पचासा, बावनी, सतसई, हजारा आदि सख्यावाचक या दोहावली, पदावली आदि छन्दवाचक नाम प्रचलित हो गये हैं जो कोशके रूपमें माने जा सकते हैं। फारसी और अँग्रेजीके सम्पर्क तथा अपभ्रंशकी काव्यपरम्पराको ग्रहण करनेके कारण भी हिन्दीमें बहुतसे ऐसे नये मुक्तक काव्यरूप आ गये हैं जो सस्कृतमें नहीं थे। प्राचीन हिन्दी साहित्य लोकाश्रित रहा है। इससे

लोकभाषाओंमें प्रचलित अनेक मुक्तक काव्यरूपोंको भी हिन्दीमें अपना लिया गया है। इन सब काव्यरूपोंको मोटे तौरपर निम्नलिखित वर्गोंमें विभाजित किया जा सकता है—१ संख्यावाचक या संख्याश्रित मुक्तक—(क) मुक्तक—(एक छन्दवाला)—(ख) कुलक—१ पंचक, २ अष्टक, ३ दशक, (ग) कोश—बीसी, बाईसी, चौबीसी, पचीसी, इकतीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, चालीसा, पचाशिका या पचासा, बावनी, सत्तरी, बहोत्तरी, शतक या सप्तशती, हजारा आदि। २ वर्णमालाश्रित—मातृका, कक्क, ककहरा, बारहखडी। ३ छन्दाश्रित—चौपाई या चौपई, दूहा या दोहा, दोहावली, छप्पय, कुण्डलिया, कवित्त, कवितावली, अमृतध्वनि, आदि। ४ रागाश्रित—रास, लावणी, गरवा, पद, कजरी, धमाल, गीता, गीतावली आदि। ५ ऋतु और उत्सवमूलक—फाग, होली, चर्चरी या चाँचर, चौमासा, बारहमासा, षट्ऋतु, मंगल, सोहर, गारी, ब्याहलो, बधावा आदि। ६ पूजाश्रित, धर्माश्रित—स्तुति, स्तोत्र, विनय, स्तवन, विनती, पूजा प्रभाती, साँझ या साँझी, निर्गुन, भजन, महिमा, महात्म्य, रमैनी, साखी, सबद, उलटबाँसी आदि। ७ लोकाश्रित—मुकरी, पहेली, कहावत, ढकोसला आदि। ८ फारसी काव्यरूप—गजल, रुबाइयाँ, चतुष्पदी (चौपदे) आदि। ९ अँग्रेजी काव्यरूप—द्विपदी (कप्लेट), चतुर्दशपदी (सॉनेट), सम्बोध-गीति (ओड), शोकगीति (एलिजी), गीत (साँग), गीति या प्रगीत मुक्तक (लिरिक)। १० साहित्य-शास्त्राश्रित—छन्द, रस, ध्वनि और नायक-नायिका भेदके लक्षण और उदाहरणके छन्द। ११ अन्य फुटकर काव्यरूप—अष्टयाम, दूतकाव्य, या सन्देशकाव्य, गोष्ठी, सवाद, नख-शिख आदि।

ऊपर जो नाम गिनाये गये हैं वे सभी मुक्तक काव्यके अन्तर्गत आते हैं, भले ही उनमेंसे कुछको काव्य-रूप न मानकर काव्य-सज्ञा कहा जाय। काव्य-सज्ञाएँ छन्द-शैली, सख्या या विषयके आधारपर प्रचलित होती हैं और उन्हींमेंसे जिनका रूप निश्चित हो जाता है और अनेक कवि उसकी रूपगत पद्धतियोंका समान रूपसे कड़ाईसे पालन करने लगते हैं तो उन्हें काव्य-रूप कहा जाता है। उपर्युक्त काव्य-सज्ञाओं या काव्य-रूपोंमेंसे बहुतसे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशसे हिन्दीमें गृहीत हुए हैं और अनेक ऐसे हैं जो परवर्ती अपभ्रंशमें ही अधिक हैं, हिन्दीमें नहीं या बहुत कम मिलते हैं। अत परवर्ती अपभ्रंशको हिन्दीका ही प्रारम्भिक रूप मानकर उनको उपर्युक्त सूचीमें सम्मिलित किया गया है। जो अत्यन्त प्रचलित और महत्त्वपूर्ण मुक्तक काव्य-रूप हैं उनका परिचय और उदाहरण अलग दिया गया है। यहाँ कुछ सामान्य काव्य-रूपोंका ही उदाहरण दिया जा रहा है।

१. संख्याश्रित मुक्तक काव्य—'कुलक' हिन्दीमें कुलकसंज्ञक काव्य नहीं मिलते, यद्यपि परिभाषाके अनुसार कुलक बहुत मिलेंगे। अपभ्रंशमें कुलकसंज्ञक काव्य ये हैं—देवसूरिका उपदेश कुलक, जिनदत्त सूरिका कालस्वरूप कुलक, प्रद्युम्नका दानादि कुलक, जिनप्रभ सूरिके आत्मसम्बोधन कुलक, धर्माधर्म कुलक और नवकारफल कुलक, विवेक कुलक आदि। 'कोश'—कोशसंज्ञक काव्य भी हिन्दीमें नहीं, प्राकृत अपभ्रंशमें ही हैं, जैसे, सातवाहन हालकी गाथासप्तशती या गाथाकोश, कण्ह और सरहके दोहाकोश, पर हिन्दीके सतसई, हजारा, पचासा, बावनी आदि सज्ञावाले काव्य भी वस्तुत कोश ही हैं। 'हजारा'—एक हजार मुक्तक छन्दोंका संग्रह, जैसे, रसनिधिका 'रतन-हजारा', कालिदासका 'कालिदास-हजारा'। 'शतक' या 'शतिका'—इसमें एक ही विषयपर एक जातिके सौ या सौसे अधिक छन्द होते हैं, जैसे, संस्कृतमें भर्तृहरिके शतक-त्रय, हिन्दीमें देव कविका नीति-शतक, मुबारकके अलक और तिल शतक, खुमानका लक्ष्मण-शतक, आदि। 'पचाशिका' या 'पचासा'—एक ही विषयके पचास छन्दोंवाले काव्य, जैसे, वृन्द कविकी भाव-पंचाशिका, पद्माकरका प्रबोध-पचासा, मण्डनका नैन-पचासा आदि। 'चौवनी'—ध्रुवदासकी प्रीति-चौवनी। 'बावनी'—केशवकी रतन-बावनी, भूषणकी शिवा-बावनी, अग्रदासकी उपदेश उपखाणा-बावनी। 'चालीसा'—हनुमान चालीसा आदि। 'चौंतीसी'—जनकराजकिशोरीशरणकी सिद्धान्त-चौंतीसी, विश्वनाथ सिंहकी वसन्त-चौंतीसी। 'बत्तीसी'—द्विजदेवकी शृंगार-बत्तीसी। 'छबीसी'—मनियार सिंहकी हनुमत-छबीसी। 'पचीसी'—देव कविकी देव-पचीसी, ब्रह्म-पचीसी, तत्त्व-पचीसी और आत्म-पचीसी, खुमानकी हनुमत-पचीसी और नृसिंह पचीसी, नागरीदासकी पावस-पचीसी आदि। 'बाईसी'—प्रीतम कविकी खटमल-बाईसी। 'दशक'—भूषणका छत्रसाल-दशक। 'अष्टक'—रहीमका मदनाष्टक (संस्कृत), नागरीदासके आनन्द लग्नाष्टक, अरिलाष्टक और फाग गोकुलाष्टक, ग्वालका राधाष्टक आदि। 'पंचक'—खुमानका हनुमान-पचक।

२ वर्णमालाश्रित मुक्तक काव्य—इसमें प्रत्येक पंक्ति वर्णमालाके अक्षरक्रमसे प्रारम्भ होती है। इसके कई नाम प्रचलित हैं। 'मातृकासंज्ञक'—अपभ्रंशमें दोहा मातृका, शालिभद्रमातृका, संवेगमातृका आदि। 'कक्कसंज्ञक'—अपभ्रंशमें पद्म शालिभद्र कक्क। 'ककहरा'—महाराज विश्वनाथ सिंहका ककहरा, रामसहाय दासका ककहरा। 'अखरावट'—जायसीका अखरावट। 'बारहखडी'—जनकराजकिशोरीशरणकी बारहखडी, अपभ्रंशमें महाचन्द्रका बारहखडी दोहा।

३ छन्दाश्रित—ऐसे छन्द जो बहुत लोकप्रिय हो जाते हैं, कवियों द्वारा विशेष रूपसे गृहीत होते हैं और कविगण इन छन्दोंके नामपर अपने मुक्तकोंके कोश या संग्रहका नामकरण भी करते हैं। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। 'दोहा'—अपभ्रंशमें राम सिंहका पाहुड दोहा, महाचन्द्रका बारहखडी दोहा, देवसेनका सावयधम्म दूहा। हिन्दीमें 'ढोला-मारूरा दूहा'के दोहे भी वस्तुत मुक्तक ही हैं। 'दोहावली'—तुलसीदासकी दोहावली, दुलारेलालकी दुलारे-दोहावली। 'कुण्डलिया'—गिरिधरदास, दीनदयालगिरि और बैतालकी कुण्डलिया। 'छप्पय'—छप्पय रामायण, नरहरि वन्दीजनकी छप्पय नीति। 'सोरठा'—रहीमका शृंगार सोरठा। 'बरवा'—तुलसीका बरवै रामायण, यशोदानन्दनका बरवै नायिकाभेद, रहीमका बरवै नायिका-भेद। 'कवित्त'—नागरीदासके रामके कवित्त, छूटकके

कवित्त, चाँदनीके कवित्त आदि। सेनापतिका कवित्त-रत्नाकर, तुलसीदासकी कवितावली। तुलसीने घनाक्षरी, सवैया और छप्पय सबको कवित्तके अन्तर्गत माना है।

४ रागाश्रित—संगीतशास्त्रके प्रभावसे अथवा लोकप्रचलित गीतोंकी लयसे प्रभावित होकर भी बहुमसे मुक्तक काव्य-रूपोंका विकास हुआ है। इनमेंसे पद और गीतका विचार गीतिकाव्यके अन्तर्गत किया जायगा। शेषमेंसे कुछके उदाहरण दिये जा रहे हैं। 'रास'—अपभ्रंशमें मुक्तक काव्यके रूपमें रासनामक काव्य बहुत मिलते हैं, यद्यपि हिन्दीमें रास या रासो नामसे प्रबन्धकाव्य ही लिखे गये हैं। रासक या रासा नामक एक छन्द भी होता है, पर रासनामक काव्योंमें वह अनिवार्य नहीं रह गया था। जैन मन्दिरोंमें लगुडरास और तालरास नामक गीति-नृत्य प्रचलित था। सम्भवतः बादमें उसमेंसे नृत्य वाद्यका अंश निकल गया और वह एक विशुद्ध गेय काव्यरूप बन गया। अपभ्रंशके रास, उपदेश रसायनरास, सपपति समरारास आदि। नटेशरासकके बहुतसे छन्द भी मुक्तक जैसे ही हैं। हिन्दीमें मुक्तक रासो, रसिक गोविन्दका कलयुगरासो। 'लावनी'—यह एक लोकप्रचलित राग है जो वाद्यके साथ गाया जाता है। हिन्दी कवितामें इसे भी एक भिन्न काव्य-रूपकी भाँति कवियोंने अपनाया, जैसे, नवलसिंह कायस्थकी रहस लावनी, तुकन गिरि गोसाईं, रिसाल गिरि और देवी सिंहकी लावनियाँ। 'रेखता' नागरीदासका रेखतो, नजीर अकबराबादीके रेखते।

५ ऋतु-उत्सव-आश्रित—'चर्चरी' या 'चाँचर' एक लोक-प्रचलित राग है, जिसे प्रायः स्त्रियाँ वर्षाऋतुमें नृत्यके साथ गाती हैं। अपभ्रंशमें इसका नाम चर्चरी मिलता है, जिससे पता चलता है कि यह गेय काव्य-रूप था, जैसे, अपभ्रंशमें जिनदत्त सूरि, जिनप्रभ सूरि और सोलणकी चर्चरियाँ। हिन्दीमें नागरीदासकी चाँचरी। 'फाग होरी'—फाग-काव्यकी परम्परा अपभ्रंशसे ही मिलने लगती है, जैसे, आदिनाथ फाग, नेमिनाथ फाग, स्थूलिभद्र फाग आदि। हिन्दीमें फाग और होरी, दोनों नामोंसे काव्य मिलते हैं, जैसे, नागरीदासका फाग-विलास, होरीकी माँझ, फाग-विहार आदि। 'ऋतु और बारहमासा'—दे० 'षटऋतु' और 'बारहमासा'।

६. पूजा-धर्म-आश्रित—अपभ्रंशमें स्तोत्र, स्तुति, महिमा नामक बहुतसे काव्य हैं, जैसे, देवसेनकी ऋषभ जिनस्तुति, जिनप्रभसूरिकी जिनमहिमा और अन्य धर्मसूरिस्तुति, मलयसूरिस्तुति, महावीरस्तोत्र आदि। ये अधिकतर जैन पुरुषों और गुरुओंसे सम्बन्धित हैं। हिन्दीमें भी इस प्रकार-के स्तुतिमूलक मुक्तक मिलते हैं, जैसे, गिरिधरदास-(गोपालदास)का दनुजारिस्तोत्र, शिवस्तोत्र, गोपालस्तोत्र, एकादशी-माहात्म्य आदि। साँझी और भजन भी गेय धार्मिक मुक्तक काव्य हैं, जैसे, नागरीदासकी साँझी, विश्वनाथ सिंहके भजन। **रमैनी, साखी, सबद** और **निर्गुन**का विवरण अन्यत्र दिया गया है। —क० ना० सिं०

मुक्त छंद—मुक्त छन्दका प्रयोग हिन्दी काव्यक्षेत्रमें एक विद्रोहका प्रतीक रहा है। इसे स्वच्छन्द छन्द भी कहा गया है। अतुकान्त कविता उतनी विद्रोहात्मक सिद्ध नहीं हुई जितना मुक्त छन्द, क्योंकि अतुकान्तके पक्षमें संस्कृतका विपुल काव्यसाहित्य उद्धृत किया जा सकता था, परन्तु 'मुक्त छन्द' छन्द शास्त्रके अनेक परम्परागत सर्वस्वीकृत नियमोंका उल्लंघन करता हुआ दिखाई दिया। चरणोंकी अनियमित, असमान स्वच्छन्द गति और भावानुकूल यति-विधान, यही मुक्त छन्दकी मुख्य विशेषताएँ हैं, जिन्हें प्राचीन शास्त्रीय दृष्टिसे विहित नहीं माना गया और मुक्त छन्दका प्रयोग करनेवाले कवियोंपर नाना प्रकारके व्यंग्य विद्रूप होते रहे। मुक्त छन्दकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिका परिहास करते हुए इसे रबड़ छन्द, केंचुआ छन्द, कगारू छन्द इत्यादि अनेक नाम दिये गये, फिर भी छन्द-स्वातन्त्र्य-भावनाके युगानुरूप होनेके कारण इसकी सत्ता उन्मूलित नहीं की जा सकी। अँग्रेजी (blank varse) और बँगला साहित्यने विकसित उन्मुक्त छन्द-प्रणालीने हिन्दी मुक्त छन्दकी उद्भावना और स्थितिमें पर्याप्त प्रेरणा एवं सहयोग दिया। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानन्दन पन्तको मुक्त छन्दको हिन्दीकाव्यमें संस्थापित करनेका श्रेय है। 'प्रसाद'ने भी कुछ कविताएँ मुक्त छन्दमें रचीं, जैसे, 'पेशोलाकी प्रतिध्वनि', परन्तु व्यापक रूपसे वे मुक्त छन्दको स्वीकार न कर सके। 'निराला'ने अपने 'परिमल'-की भूमिकामें इसका परिचय निम्नलिखित रूपमें दिया है—'मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्दकी भूमिमें रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तकके तीसरे खण्डमें जितनी कविताएँ हैं, सब इसी प्रकारकी हैं। इनमें कोई नियम नहीं। केवल प्रवाह कवित्त छन्दका-सा जान पड़ता है। कहीं-कहीं आठ अक्षर आप ही आप आ जाते हैं। मुक्त छन्दका समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियमराहित्य उसकी मुक्ति।' पन्तकी सुप्रसिद्ध पंक्तियाँ स्वयं छन्दोबद्ध होते हुए भी मुक्त छन्दका उन्मुक्त उद्घोष करती हैं—'खुल गये छन्दके बन्ध, प्रासके रजत पाश। अब गीत मुक्त औ, युगवाणी बहती अयास।' (नवदृष्टि)। पन्तने मुक्त छन्दका आधार मात्रिक संगीतको भी माना, परन्तु 'निराला'का आग्रह रहा कि मुक्त छन्द केवल वर्णिक अथवा अक्षर-छन्दपर ही आधारित होना चाहिये, क्योंकि उसकी प्रकृति स्त्री-प्रकृति न होकर पुरुष-प्रकृति है। दोनों-ने इस सम्बन्धमें पर्याप्त वाद-विवाद भी चला, जिसका परिचय 'निराला'की 'पन्त और पल्लव' नामक रचनासे मिलता है। कुछ अंश द्रष्टव्य है—'पन्तजीकी कविताओंमें स्वच्छन्द छन्दकी एक लड़ी भी नहीं, परन्तु वे कहते हैं, 'पल्लव'में मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छन्दमें हैं, जिनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी हैं। यदि गीतिकाव्य और स्वच्छन्द छन्दका भेद, दोनोंकी विशेषताएँ पन्तजीको मालूम होतीं तो वे ऐसा न लिखते। पन्तजीने जो लिखा है कि स्वच्छन्द छन्द ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक संगीतपर चल सकता है, यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। स्वच्छन्द छन्दमें 'आर्ट ऑफ म्यूजिक' नहीं मिल सकता, वहाँ है 'आर्ट ऑफ रीडिंग', वह स्वरप्रधान नहीं, व्यंजन-प्रधान है। वह कविताकी स्त्री सुकुमारता नहीं, कवित्वका पुरुष गर्व है' (पृ० ४४)। 'निराला'की उपर्युक्त स्थापनाएँ इस बातका प्रमाण हैं कि वे हिन्दीमें मुक्त छन्दके सबसे

अधिक ओजस्वी प्रवक्ता रहे हैं और इस सम्बन्धमें उनकी धारणाएँ स्वतन्त्र महत्त्व रखती हैं। 'निराला'के व्यक्तित्वमें मुक्त छन्दने अपनी सार्थकता उपलब्ध की इसमें सन्देह नहीं। 'निराला'की 'जागरण' शीर्षक कवितामें मुक्त छन्दकी व्याख्या मुक्त छन्दमें ही की गयी है—'अलकार लेश रहित, श्लेषहीन। शून्य विशेषणोंसे—। नग्न नीलिमा-सी व्यक्त। भाषा सुरक्षित वह वेदोंमें आज भी—। मुक्त छन्द, सहज प्रकाश वह मन का—। निज भावोंका प्रकट अकृत्रिम चित्र।' (परिमल पृ० २६४)। महावीरप्रसाद द्विवेदीने अतुकान्त कविताका तो पक्ष लिया, परन्तु मुक्त छन्दका समर्थन वे न कर सके और 'आजकलकी कविता' नामक एक निबन्धमें उन्होंने मुक्त छन्दके प्रयोक्ता कवियोंको अहवादी घोषित किया। उनका विरोध भी मुक्त छन्दकी प्रगतिको कुण्ठित न कर सका। छायावादोत्तरकालमें हिन्दी कविताकी एक प्रमुख धाराने मुक्त छन्दको अपनाया और अब अधिकाश प्रयोग मुक्त छन्दमें ही हो रहे हैं, जिनसे उसके स्वरूपमें वैविध्य और सामर्थ्यमें विकास परिलक्षित होने लगा है।

मुक्त छन्दके लिए कहा गया है कि 'यह पश्चिमी वीणका पूर्वी अकुर है' (लक्ष्मीनारायण सुधाशु : जीवनके तत्त्व और काव्यके सिद्धान्त)। इस कथनमें बहुत कुछ सत्य है, क्योंकि पश्चिमी मुक्त छन्दकी कविताओंने आधुनिक भारतीय कविताके रूपविधानको अवश्य प्रभावित किया है। अमेरिकी कवि वाल्ट ह्विटमैन(१८१९–१८९२)ने अपने कवितासग्रह 'घासकी पत्तियाँ' (leaves of grass)में, जिसे वह जीवनभर परिवर्धित करता रहा, मुक्त छन्दका आग्रहपूर्वक व्यवहार किया है। उस कालमें अँग्रेजीके प्रचलित छन्दविधानके विरुद्ध उसका मुक्त छन्द एक क्रान्तिकारी तत्त्वके रूपमें सामने आया। मुक्त छन्दकी पक्तियाँ घासकी पत्तियोंकी तरह असमान होते हुए भी सहज सौन्दर्यसे युक्त होती हैं, कदाचित् इसी सादृश्यसे ह्विटमैनने अपने सग्रहका उक्त नामकरण किया होगा, ऐसी कल्पना की जाती है। 'दी म्यूजिक ऑफ पोयट्री' शीर्षक निबन्धमें टी एस ईलियटने लिखा है कि 'मुक्त छन्दके नामसे बहुत-सा अपरिपक्व गद्य भी लिखा गया है, जो अनपेक्षित है। मुक्त छन्दका स्वागत उस काव्य-रूपको पुनरुज्जीवित करने या नये रूपको विकसित करनेकी दृष्टिसे ही आविर्भूत हुआ। बाह्य एकताके विरुद्ध कविताकी आन्तरिक एकतापर मुक्त छन्द बल देता है जो प्रत्येक काव्यरचनाके लिए सत्य है। कविता अपने 'रूप'से पूर्व ही जन्म ले चुकती है, इस अर्थमें कि 'रूप' कुछ कहनेसे ही उत्पन्न होता है।'—ज०गु०

मुक्तपदग्राह्य यमक–दे०—'यमक'।

मुक्तहरा सवैया–दे०—'सवैया', सातवाँ प्रकार।

मुक्ति–संसारमें दु ख है, इस तथ्यको स्वीकार करते हुए उसकी आत्यन्तिक निवृत्तिको भारतीय दर्शनमें मुक्ति कहा गया है। परन्तु मुक्ति या मोक्षकी कल्पना भारतीय दर्शन और ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके विविध साधन-मार्गोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे की गयी है। सबसे सीधी और सरल कल्पना चार्वाक दर्शनकी है, जिसमें अन्य दर्शन-सिद्धान्तोंके समान आत्यन्तिक दु ख-निवृत्तिको भी मुक्ति माना गया है, परन्तु इस शरीरको ही दु खका कारण मानते हुए 'मरणमेवापवर्ग' मरणको ही अपवर्ग (मोक्ष) कहा गया है, क्योंकि शरीरसे भिन्न और कोई सत्ता नहीं है, शरीरके नाश होते ही सब दु ख दूर हो जाते हैं। जैन दर्शनमें कर्मके आत्यन्तिक क्षयको ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष प्राप्त कर लेनेपर जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा और अनन्त शान्ति–अनन्त-चतुष्टय—की सब उपलब्धि करके अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूपमें आ जाता है। मोक्ष या कैवल्यकी प्राप्ति पृथ्वीपर सशरीर जीवित रहनेकी अवस्थामें भी हो सकती है, अर्थात् जैन दर्शन जीवन्मुक्तिमें विश्वास करता है। स्वय भगवान् बुद्धने केवल आत्यन्तिक दु ख-निवृत्तिको 'निर्वाण' (मोक्ष) कहा है और इसे उन्होंने दु ख-निरोधके नामसे अपने चार आर्य सत्योंमें सम्मिलित किया है। आर्य-अष्टागिक मार्गके आचरणसे प्रज्ञाके होते ही सब निर्वाणकी प्राप्ति होती है। शील—गृहस्थोंके लिए पचशील तथा भिक्षुओंके लिए दशशील—समाधि और प्रज्ञा निर्वाण-प्राप्तिके लिए आवश्यक हैं। प्रज्ञाके अनुष्ठानसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, मनोमय शरीरका निर्वाण हो जाता है तथा दिव्य श्रोत्र, दिव्य चक्षु, पूर्वजन्म स्मरण, परचित्त-ज्ञान तथा ऋद्धियोंकी उपलब्धि हो जाती है। फलस्वरूप दु खके विनाशका अनुभव हो जाता है और चित्त अज्ञानमें पड़ने तथा जन्म लेने और भोग करनेकी इच्छासे सदाके लिए मुक्त हो जाता है। यही बौद्ध निर्वाणका रूप है। बुद्ध भगवान्‌के बाद बौद्ध धर्ममें अनेक दार्शनिक वाद पैदा हो गये और उनमें निर्वाणकी भी भिन्न भिन्न कल्पनाएँ की गयीं। वैभाषिक मतमें जिसका सम्बन्ध हीनयान सम्प्रदायसे है, निर्वाण दो प्रकारका होता है—सोपाधि-शेष तथा निरुपाधि-शेष। सोपाधि-शेष **जीवन्मुक्ति**की अवस्था है और निरुपाधि-शेष **विदेहमुक्ति**की। यही मत प्राचीन मत है। महायान सम्प्रदाय प्रवृत्ति-प्रधान और भक्तिवादको माननेवाला सम्प्रदाय है। अपने विकास-क्रममें महायानकी परिणति क्रमश मन्त्रयान, वज्रयान और सहजयानमें होती गयी और इन सबमें निर्वाण सुखकी अत्यन्त आकर्षक और मनोरजक कल्पनाएँ की गयीं।

वैदिक षड्दर्शनोंमें न्याय 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग' दु खसे अत्यन्त विमोक्षको अपवर्ग कहता है। गृहीत जन्मका नाश तथा भविष्य जन्मकी अनुत्पत्ति ही 'अत्यन्त' विमोक्ष या मुक्ति है। मुक्त होकर आत्मा अपने नौ विशेष गुणों—बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा सस्कारसे छुटकारा पा जाती है। नैयायिकोंके मतमें मुक्त आत्मामें सुखका भी अभाव होता है। सुखका रागसे अनिवार्य सम्बन्ध है और राग बन्धनका कारण है। अत मोक्ष दशामें सुखकी विद्यमानता नहीं मानी जा सकती। नि श्रेयस् या मुक्ति दो प्रकारकी होती है—अपर और पर। आत्मतत्त्वकी प्रत्यक्ष अनुभूति होनेपर अपर-नि श्रेयस या जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है, परन्तु प्रारब्ध कर्म तब भी नष्ट नहीं होते। इनके क्षीण हो जानेपर ही पर-नि श्रेयस्‌की प्राप्ति हो सकती है। वैशेषिक दर्शनमें भी न्यायकी भाँति दु खकी अत्यन्त निवृत्ति तथा आत्माके विशेष गुणोंके उच्छेदको ही मुक्ति माना है, यद्यपि आनन्द

या सुखके अभावकी बात उस तरह उन्होंने नहीं उठायी है।

सांख्यके अनुसार दुःख प्रकृति-जन्य है। पुरुष स्वभावतः मुक्त और निःसंग है। परन्तु अविवेकके कारण प्रकृतिके साथ उसका संयोग होता है और उसमें दुःखका प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे वह संसार या दुःखभोगको प्राप्त होता है। 'द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः'(सां०सू० ३ ६५)के अनुसार प्रकृतिसे वियुक्त होकर पुरुषका एकाकी हो जाना ही कैवल्य या मोक्ष है। वस्तुतः बन्धन और मुक्ति, दोनों प्रकृतिके ही धर्म हैं। पुरुष इनसे परे है। उसके मोक्षका तात्पर्य है उसके प्रतिबिम्ब-रूप मिथ्या दुःखका नाश, जो विवेक द्वारा यह ज्ञान लेनेसे सिद्ध होता है कि मैं अमरणशील, अपरिवर्तनशील, नित्य और सत्य हूँ। सांख्यके अनुसार मुक्ति दो प्रकारकी होती है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें पुरुष प्रकृतिकी निवृत्ति हो जानेपर भी ठीक उस प्रकार प्रारब्ध कर्ममें संलग्न रहता है, जैसे कुम्हारका चाक बर्तन बनाकर उतार लेनेके बाद भी कुछ देरतक घूमता रहता है। परन्तु तीन तापोंका नितान्त विनाश शरीरके नाश होनेपर विदेहमुक्तिमें ही सम्भव है। सुख और दुःख सापेक्षिक शब्द हैं, अतः मुक्तिमें दुःखकी तरह सुखका भी अभाव मानना पड़ेगा। इस सम्बन्धमें सांख्यका मत न्यायके अनुरूप है। योगदर्शन भी सांख्यकी तरह मोक्षको कैवल्य नामसे अभिहित करता है। कैवल्यका अर्थ है केवल या एकाकी स्थिति। यहाँ सांख्यकी प्रकृतिके स्थानपर बुद्धिसे पुरुषके सम्बन्ध-विच्छेदकी अपेक्षा बतायी गयी है। ऐसा होनेपर ही पुरुष चित् रूपमें प्रतिष्ठित होता है और कैवल्यकी प्राप्ति करता है। पुरुषार्थ-शून्य होनेसे उसके गुणोंका अपने कारणमें लय हो जाता है। जब त्रिगुणका नाश हो जाता है तब योगी अतिक्रान्त मानवीय दशाको अर्थात् चिन्तनयोग्य पदार्थोंकी सीमाको पार करके परम पदकी स्थितिको प्राप्त कर लेता है।

मीमांसकोंने मोक्षके विषयमें अधिक सूक्ष्मतासे विचार किया है, अतः उनमें परस्पर मत-भेद पाया जाता है। इस विषयमें तो ऐकमत्य है कि दृश्य जगत्के साथ आत्माके सम्बन्धका विनाश ही मोक्ष है (प्रपञ्च-सम्बन्ध-विलयो मोक्षः—शा० दी०)। जीव संसारका भोग करनेवाले शरीर, भोगके साधन इन्द्रिय और भोगके विषय पदार्थ—इस त्रिविध बन्धनमें बँधा रहता है। इस बन्धनके 'आत्यन्तिक विनाश'का ही नाम मोक्ष है। मुक्तावस्थामें आनन्दकी अनुभूति होती है या नहीं, इस सम्बन्धमें दो मत हैं। एक मतके अनुसार मुक्तावस्थामें आत्माके शुद्ध स्वरूपके उदय होनेपर नित्य सुखकी अभिव्यक्ति अवश्य होती है, यद्यपि बाह्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध न रहनेसे बाह्य सुखकी अनुभूति नहीं रहती। दूसरे मतके अनुसार मुक्तावस्थामें सुखका भी आत्यन्तिक विलय हो जाता है। आत्माको प्रिय या अप्रिय, हर्ष या शोकका स्पर्श नहीं होता।

अद्वैतवेदान्त दर्शन आत्मा तथा ब्रह्मकी एकता मानता है। अतः आत्मैक्य ज्ञान उत्पन्न होते ही सद्यः आनन्दका उदय हो जाता है और 'प्रपञ्च-विलय' हो जाता है। प्रपञ्च-विलय ही वेदान्तकी मुक्तावस्था है। संसारका यह प्रपञ्च स्वप्नकी भाँति अविद्या-निर्मित और मिथ्या है। ब्रह्म-ज्ञान होनेसे अविद्याका विनाश हो जाता है और जगत्‌की सत्ता नहीं रहती। तभी अद्वैतकी अनुभूतिमें मोक्षकी आनन्दानुभूति होती है। वेदान्तकी इस सम्बन्धमें मीमांसासे भिन्नता है। मीमांसाके अनुसार तो केवल प्रपञ्चके सम्बन्धका विलय होता है, परन्तु वेदान्त स्वयं प्रपञ्चका विलय मानता है, क्योंकि उसके अनुसार प्रपञ्चकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है।

उपर्युक्त दार्शनिक मतवादोंके अतिरिक्त साधना मार्गोंमें भी मोक्षके सम्बन्धमें विविध धारणाएँ हैं। वैष्णव भक्ति-धर्म-पाञ्चरात्रके अनुसार 'ब्रह्मभावापत्ति' ही मोक्ष है अर्थात् जीव ब्रह्मके साथ एकाकार होकर निःशेष आनन्दका उपभोग करता है और कभी संसारमें लौटकर नहीं आता। मुक्त दशामें जीव भगवान्‌के पर रूपके साथ परम व्योम वैकुण्ठमें आनन्द-क्रीडा करता है। वैकुण्ठमें अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन आदि नित्य जीव निवास करते हैं। मुक्त जीव वहींपर त्रिकालाबाधित रूपसे भगवान्‌के सेवा-भजनमें लीन रहता है।

भागवत धर्ममें भगवान्‌की भक्तिको परिपूर्ण माना गया है। श्रीमद्भागवतमें वर्णित साधनरूपा भक्तिसे भिन्न साध्यरूपा भक्ति, जो रागानुगा होती है, स्वतः कमनीय है, साधकको उसके अतिरिक्त किसी बातकी, लौकिक-अलौकिक सिद्धियों या मोक्षकी कामना नहीं रहती। भगवान्‌के साथ नित्य वृन्दावनमें विहारकी कामना इतनी मनोहर है कि उसके आगे मुक्ति नीरस और शुष्क है, परन्तु इस सामान्य धारणाको स्वीकार करते हुए वैष्णव दर्शनमें मुक्तिके सम्बन्धमें कुछ-न-कुछ अवश्य कहा गया है। विशिष्टाद्वैत मतमें जीव और ब्रह्मकी उस प्रकारकी अभिन्नता नहीं मानी गयी है जैसी शांकर अद्वैतवादमें, अतः विशिष्टाद्वैतवादी मुक्त जीवको ब्रह्मसे अभिन्न नहीं, उसके समान हुआ मानते हैं। उसे ब्रह्मके स्वरूप और गुणकी प्राप्ति हो जाती है, ब्रह्मके साथ मिलकर वह एकाकार नहीं होता। वह सर्वत्र और सत्य-संकल्प तो हो जाता है, परन्तु उसमें सर्वकर्तृत्व नहीं आता। रामानुजके मतमें जीवन्मुक्ति मान्य नहीं है। वे केवल विदेहमुक्ति ही मानते हैं। वैकुण्ठमें भगवान्‌का दासत्व ही परम मुक्ति है।

कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायोंमें द्वैतवादी माध्व मत भगवान्‌की कृपा और उनसे प्रेम करनेके फलस्वरूप प्रकृति या अविद्याके बन्धनसे छूटनेको ही मुक्ति मानता है। उसके अनुसार मुक्ति चार प्रकारकी होती है—(१) कर्मक्षय अर्थात् संचित पाप-पुण्यका विनाश, परन्तु इस अवस्थामें प्रारब्ध कर्मोंका नाश नहीं होता, (२) उत्क्रमण-लय, जिसमें प्रारब्ध कर्मके क्षयके बाद जीव ब्रह्मनाडीका उत्क्रमण करता हुआ सुषुम्ना-पदको पार कर लेता है और उसे जीवत्वका बोध नहीं होता, विष्णुतेजसे जीवके हृदयका द्वार (ब्रह्मद्वार) खुल जाता है और हृदयस्थ भगवान् जीवको वैकुण्ठलोकमें ले जाकर अपने तुर्य रूपका साक्षात्कार कराते हैं, (३) अर्चिरादिमार्ग, जिसमें जीव देहादि प्रतीकके आश्रयसे ज्ञानलाभ करता है और सुषुम्नाकी पार्श्ववर्ती नाडीसे ऊर्ध्वगमन करते हुए अर्चिरादि लोक और फिर वायुलोक होते हुए ब्रह्माके लोकमें जाता है। वहाँ वह ब्रह्माके भोगावसानके बाद परम पद

लाभ करता है और (४) **भोग** जिसमें प्रारब्ध कर्मोंका क्षय होनेपर एक गुणोपासक ज्ञानी देह त्यागकर पृथ्वी आदिपर परमानन्दका भोग करता है, उसे श्वेतद्वीपवासी नारायणका दर्शन मिलता है और वह नारायणकी आज्ञासे पृथ्वीपर विचरण कर सकता है। मुक्तिकी इन चार अवस्थाओंके अतिरिक्त माध्व मतमें मुक्ति-भोग भी चार प्रकारका माना गया है—**सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य** और **सारूप्य**। सालोक्य मुक्ति भोगमें जीव भगवान्‌के लोकमें पहुँचकर वहाँ इच्छानुकूल भोग करता हुआ निवास करता है। सामीप्यमें भगवान्‌के समीप रहकर वह आनन्द-लाभ करता है। सारूप्यमें भगवान्‌के समान रूप और गुण प्राप्त करके आनन्द प्राप्त करता है। सायुज्य मुक्तिका भोग भगवान्‌में प्रविष्ट होकर भगवद्देह द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु यह मुक्ति-भोग केवल देवगण ही पाते हैं। प्रलय-कालकी अवस्थामें अवश्य लक्ष्मीको छोड़कर सभीको भगवद्देहमें प्रविष्ट होना पड़ता है। अन्य कालोमें जीवको पहले तीन मुक्ति-भोग ही प्राप्त होते हैं, जिनमें स्त्रियोंके साथ जल-केलि, प्रासादोंमें आनन्द-क्रीड़ा, यज्ञादि अनुष्ठान, भगवान्‌के गुण-कीर्तन तथा उनके समीप रहकर नृत्य आदिकी कल्पना की गयी है। जीवको परमानन्दकी प्राप्ति सारूप्य अवस्थामें नहीं होती, वह केवल शुद्ध सत्त्वमय लीला-शरीरसे क्रीडाका आनन्द ही भोग सकता है।

द्वैताद्वैतवादी निम्बार्काचार्यके मतमें मुक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—**क्रममुक्ति** तथा **सद्योमुक्ति**। निष्काम-कर्म-युक्त विधि-निषेधका पालन करते हुए जीवको अर्चन वन्दन आदिके द्वारा स्वर्गादि लोककी प्राप्ति होती है, फिर वह सत्यलोकमें जाता है और जब प्रलयावस्था आती है तब वह ब्रह्ममें **सायुज्य**-लाभ करता है। यही क्रममुक्ति है। इससे भिन्न श्रवणादि भक्तिके आचरण द्वारा जिन जीवोंका संसारका बन्धन टूट जाता है और भगवत्कृपाकी प्राप्ति हो जाती है उन्हें सद्योमुक्तिका लाभ होता है। वे हरिपद या कृष्णलोकमें पहुँच जाते हैं। यही मुक्ति निम्बार्कके सनकादि-सम्प्रदायमें अभीष्ट बतायी गयी है। परब्रह्म श्रीकृष्णके दो स्वरूप हैं—एक ऐश्वर्यप्रधान और दूसरा आनन्दप्रधान। सकाम भक्तिसे हरि-पदकी प्राप्ति होनेपर भगवान्‌के ऐश्वर्यादिजनक आनन्दकी प्राप्ति होती है तथा निष्काम सेवा और प्रेममयी भक्तिके फलस्वरूप भगवान्‌के समीप रहकर उनकी सेवा करनेका आनन्द मिलता है। भगवान्‌के सामीप्यसे मुक्त जीवोंको उन्हींके समान गुण प्राप्त हो जाते हैं और उन्हें नित्यसिद्ध देह मिल जाती है। यह देह निर्विकार और भगवत्सेवा-योग्य होती है। निम्बार्क-सम्प्रदायी मुक्तिके ही समान वल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतकी मुक्तिका विचार है। उन्होंने भी क्रममुक्ति और सद्योमुक्तिका इसी प्रकार भेद बताया है। उनके अनुसार भी मर्यादामार्गका अनुयायी ज्ञानके द्वारा अक्षर-सायुज्य मुक्तिको प्राप्त करता है। यही क्रममुक्ति है। परब्रह्म परमानन्दकी प्राप्ति तो भगवान्‌के अनुग्रह(पुष्टि)प्राप्त भक्तोंको ही हो सकती है। तभी उनमें तिरोहित आनन्द-अंश पुन प्रादुर्भूत हो जाता है और जीव भगवान्‌मे अभेद प्राप्त कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है, अर्थात् उसकी देह, इन्द्रिय और अन्त करणमें भगवदानन्दकी स्थापना हो जाती है। अत वल्लभ सम्प्रदायी सद्योमुक्ति स्वरूपापत्तिरूपी है।

चैतन्यके गौडीय वैष्णव सम्प्रदायमें भी जड मायासे मुक्त होकर ब्रह्म-सायुज्य कैवल्य-मुक्तिकी कल्पना की गयी है और भक्तिके द्वारा स्वरूपानुभवसे वैकुण्ठ और भगवान्‌के गोलोककी प्राप्ति बतायी गयी है। वैधी भक्तिसे, जो कि भगवान्‌का ऐश्वर्यमार्ग है, भगवान्‌का मथुरा-द्वारका धाम मिलता है और रागानुगा भक्तिके माधुर्यमार्गके अनुगामी भगवान्‌के माधुर्य रूपके समीप गोलोकमें जाते हैं। इसका क्रम इस प्रकार है कि मृत्युके बाद स्थूल शरीर छोड़कर सूक्ष्म शरीरसे भक्त सूर्य-मण्डलमें जाता है। फिर वह विरजा नदीमें निमग्न होकर अपना कारण शरीर छोड देता है। अन्तमें वह दिव्य स्वरूप धारण कर वैकुण्ठमें पहुँचता है, जहाँ भगवान् उसे स्वय निज धाममें ले लेते हैं।

कृष्ण-भक्तिके हरिवंशी (राधावल्लभी) और हरिदासी (सखी) सम्प्रदायोंमें सिद्धान्त-निरूपण बहुत कम हुआ है। फिर भी हितहरिवंशका मुक्तिके सम्बन्धमें यह विचार जान पड़ता है कि जब जीवनकी द्वैतबुद्धि नष्ट हो जाती है और वह हित(प्रेम)रूपसे अद्वयका भाव प्राप्त कर लेता है, तब वह नित्य वृन्दावन-विहारका आनन्द लाभ करता है, जहाँ वृन्दावन, राधा, श्रीकृष्ण और सखियों—ये चार उपकरण एक तत्त्वके रूप हैं। ये सब उपकरण प्रेमरूप हैं, जीव भी प्रेमरूप हो जाता है। सखी-सम्प्रदायमें सिद्धान्त-पक्षका नितान्त अभाव होनेसे, हम उसमें स्वीकृति मुक्तिका विचार निम्बार्क-सम्प्रदायके ही समान मान सकते हैं, क्योंकि यह सम्प्रदाय उसीकी एक शाखा कहा जा सकता है।

मुक्ति, कैवल्य, मोक्ष, निर्वाण, नि श्रेयस् सम्बन्धी उपर्युक्त विचारोंका विवेचन हिन्दी साहित्यके भक्ति-काव्यके अध्ययनके लिए उपयोगी हो सकता है, क्योंकि भक्त कवियोंने काव्यकी रचना पुरुषार्थ-चतुष्टयके अन्तिम सोपान—मोक्षके लक्ष्यसे ही की है। परन्तु यह ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है कि इन भक्तोंने भक्तिको ही साधन और साध्य, दोनों माना है और प्राय इस सम्बन्धमें उदासीनता दिखायी है कि भक्तिका फल क्या होता है। दु खकी निवृत्ति, संसारके बन्धनका नाश, उद्धार आदिकी कामना उन्होंने अवश्य की, परन्तु साधन और कर्तव्यपर ही उनका ध्यान विशेष रूपसे रहा है, सिद्धिकी उन्होंने अधिक चिन्ता नहीं की। —व्र० व०

मुखसंधि—रूपककी **पंच-सन्धियों**(दे०—'संधि')में पहली सन्धि। 'मुख बीजमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा' (द० रू० १ २४)। मुखसन्धिमें अनेक तरहके रसोंको उत्पन्न करनेवाली बीजोत्पत्ति पायी जाती है। यह बीज ***अर्थ-प्रकृति*** और ***आरम्भ*** कार्यावस्थाको जोड़ता है। उदाहरणार्थ, 'स्कन्दगुप्त' नाटकमें मुखसन्धि वहाँपर होती है जहाँ 'बीज अर्थ प्रकृतिकी उत्पत्तिके साथ ही स्कन्दगुप्त मालव दूतको आश्वासन देता है, 'दूत! केवल सन्धि-नियमसे ही हम बाधित नहीं हैं, किन्तु शरणागत-रक्षा भी क्षत्रियका धर्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त पुष्यमित्रोंकी गति, समस्त सेना लेकर रोकेंगे। अकेले

स्कन्दगुप्त मालवकी रक्षा करनेके लिए सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्राका सुख लो। स्कन्दगुप्तके जीते, मालवका कुछ न बिगड़ सकेगा।' इसपर पर्णदत्त कहता है, 'युवराज! आज यह वृद्ध हृदयसे प्रसन्न हुआ। कोई चिन्ता नहीं, गुप्त साम्राज्यकी लक्ष्मी प्रसन्न होगी।' यहींसे मुखसन्धिका आरम्भ मानना चाहिये। प्रारम्भ नामक अवस्थाके साथ बीज अर्थ-प्रकृतिकी उत्पत्ति इसी स्थलमे दिखाई पड़ती है। इसका विस्तार प्रथम अंकके समाप्ति-स्थलतक चलता है।' (जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसादके नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन)।

मुखसन्धिके कुल १२ सन्ध्यंग हैं—उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, उक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, भेद तथा करण। —व० सिं०

मुख्य कथावस्तु—दे०—'आधिकारिक वस्तु'।

मुग्धा (नायिका)—अधिकांश आचार्योंके अनुसार स्वकीया नायिकाका एक भेद। इनके विषयमें विस्तारके लिए दे०—'नायिका-भेद'। एक सीमातक यह भेद परकीयाका भी माना जा सकता है, विशेषकर अनूढाका। यह भेद वय क्रमपर आधारित माना जाता है, पर यह नायिकाकी लज्जाशीलताके अनुपातमें किया गया भी कहा जा सकता है। यह सर्वप्रथम रुद्रट द्वारा दिया गया है। 'मुग्ध' शब्दके अर्थ हैं, स्तब्ध, विमूढ़, सरल, भ्रमित, विभ्रान्त तथा सुन्दर, और इस नायिकामें इन समस्त गुणोंको माना गया है। ऐसी नायिका, जिसके शरीरमें यौवनका नवसंचार हुआ हो, जो लज्जाशीला अपनी रतिभावनासे परिचित हो रही हो—'तत्राकुरितयौवना मुग्धा' (भानुदत्त : र०मं० : पृ० ७) अथवा—'नववय कामा रतौ वामा मृदु क्रुधि' (शिंगभूपाल : रसार्णव, पृ० ९६)। किशोरावस्थामें तारुण्यके प्रकट होनेकी बात इस नायिकाके सम्बन्धमें अधिक कही गयी है—'अभिनव यौवन आगमन जाके तनमें होय।' (मतिराम : रसराज : १४) तथा—'झलकन आवै तरुनई नयी आसु अँग अग'। (पद्माकर : जगद्वि० मा० १ : २१)।

प्रस्तुत नायिकाके वर्णनमें कवियोंने इसी भावको प्रधानता दी है और नायिकाकी यह अवस्था रीतिकालीन कवियोंके लिए विशेष आकर्षणका विषय रही है। अवस्था-विशेषमें नारीमें जो आकस्मिक परिवर्तन परिलक्षित होने लगते हैं उनका सुन्दर भावपूर्ण वर्णन इन कवियोंने किया है—'नैक मन्द मधुर कपोल मुसक्यान लागे, नैक मन्द गमन गयन्दनकी चाल सौं।' (मतिराम : रसराज : १५)। पद्माकरने भी इसी चढती हुई मधुराईका चित्रण किया है—'ये अलि या बलिके अधरानमें आनि चढी कछु माधुरई'। (जगद्वि० मा० १) विद्यापति और सूरने राधाका मुग्धारूपमें वर्णन बहुत भावपूर्ण किया है। राधा कृष्णके प्रति प्रारम्भमें इसी भावसे आकर्षित होती है। इस भावस्थितिके चित्रणमें विद्यापतिने यौवनके स्फुरणका और सूरने भावोंके स्पन्दनका अंकन किया है। आधुनिक छायावादी कवियोंमें प्रकृतिपर मुग्धा नायिकाका भावारोप बहुत सुन्दर बन पड़ा है। इसका सामान्य विभाजन इस प्रकार है—१ अज्ञातयौवना, २ ज्ञातयौवना और पुन १ नवोढा, २ विश्रब्ध नवोढा। (विशेष इन्हीं शब्दोंके अन्तर्गत देखें। अन्य प्रकारके विभाजन-विस्तारके लिए दे०—'नायिका भेद')। —र०

मुदिता (नायिका)—परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद। विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा उल्लिखित। परपुरुष-सम्बन्धी प्रेमकी अभिलाषा-पूर्ति होते देखकर मुदित होनेवाली नायिका। मतिरामने 'चित चाही सुन बात लखि' मुदित होना कहा है और पद्माकर बातके साथ 'घात' भी जोड़ते हैं। वस्तुत परकीया नायिकाके सन्दर्भमें मनचाही स्थिति एक बातके रूपमें ही उसे प्राप्त हो सकती है—'बिछुरत रोवत दुहुनकौ सखि यह रूप लखै न। दुख असुआँ पिय नैन हैं सुख अँसुआ तिय नैन।' (मतिराम : रसराज : ८४), अथवा रहीमने नायिकाका उल्लास अंकित किया है—'जस मदमातल हथिया हुमकत जाति। चितवत जाति तन्नियाँ मन मुसुकाति।' (बरवै० : २६)। स्थितिका वर्णन पद्माकर इस रूपमें प्रस्तुत करते हैं—'तव लगि झुकि आयी घटा अधिक अँधेरी रैन।' (जगद्वि० १ : ११२)।

मुद्रा १—एक गौण अर्थालंकार। 'कुवलयानन्द'में अप्पय दीक्षितने इस अलंकारका सम्भवत प्रथम बार उल्लेख किया है। इस अलंकारकी चर्चा इस तथ्यका प्रतीक है कि प्राय साहित्य-शास्त्रके सिद्धान्त प्रत्यक्ष उदाहरणोंपर आश्रित होते हैं। भासकृत 'प्रतिमा' नाटकमें इसका अति प्राचीन उदाहरण मिलता है। अप्पय दीक्षितने इसकी परिभाषा की है कि 'मुख्यार्थसमन्वित शब्दोंके द्वारा जब सूच्य कथावस्तुकी सूचना हो तो मुद्रा अलंकार होता है' (७३), जैसे, 'प्रतिमा' नाटकमें 'राम सबकी रक्षा करें', इस प्रकारके मंगलवाक्यमें न केवल रामके विशेषणोंका उल्लेख है, अपितु 'प्रतिमा' नाटककी कथाकी सूचना भी मिलती है। हिन्दीमें अप्पय दीक्षितका अधिक अनुसरण करनेवाले आचार्योंने इसका विवेचन किया है—'प्रकृत अर्थ पर पदनिसौ सुद्ध प्रकासत अर्थ।' भूषण तथा दास आदिने इसे स्वीकार नहीं किया है। उदा०—'करुणे क्यों रोती है? उत्तरमें और अधिक तू रोई। मेरी विभूति है जो, उसको भवभूति क्यों कहे कोई।' (साकेत, अ० म० से)। मुद्रा लक्ष्य-निर्देशका वाची है, अत इस अलंकारका यह नाम पड़ा, जैसे, नक्षत्रमालामें अग्नि एव अन्य देवताओंके नामसे नक्षत्रोंकी सूचना होती है। —ज० कि० ब०

मुद्रा २—मुद्राके कई अर्थ साधना-पद्धतियोंमें लिये गये हैं—(क) शारीरिक अंगों, उँगलियों आदिकी अनेकविध स्थितियाँ, जैसे, भूस्पर्श मुद्रा, अभय मुद्रा आदि, (ख) विष्णुके आयुधोंके जो चिह्न भक्तगण अपने शरीरपर धारण करते हैं, तिलक आदिके रूपमें, (ग) गोरखपन्थी साधुओंके पहननेका एक कर्णाभूषण, जो प्राय काँच या स्फटिकका होता है। यह कानके बीचमें एक छेद करके पहना जाता है जिसके कारण इन्हें कनफटेकी संज्ञा दी गयी है, (घ) हठयोगमें विशेष अंगविन्यास, जैसे, **खेचरी मुद्रा** आदि, (ङ) तान्त्रिक गुह्य साधनाओंमें वह रमणी जो तान्त्रिक अनुष्ठानोंमें सहसाधिका रहती है।

तान्त्रिक मुद्राका अर्थ मोद देनेवाली (मुद्+रा) करते

है। नाथोंके कुछ पदोंमें ऐसा संकेत मिलता है कि सम्भवत वज्रयानी साधनाओंके प्रभावसे कुछ अन्तर्भुक्त शाखाओंमें तान्त्रिक अर्थमें मुद्रा-साधना विद्यमान थी, पर अधिकतर नाथ-साधक केवल हठयोगके अर्थमें मुद्रा-साधना करते थे। वज्रयानी साधनामें गुह्य-साधना-परक अर्थ प्रचलित था। 'श्रीसम्पुट'में भगवान् बुद्धको चार चक्रोंमें अपनी चार कायाओंने क्रमश लोचना, मामकी, पाण्डरा और तारासे सम्भोग करते हुए बताया गया है। (दे०—'महामुद्रा')।

कुण्डलोंका उल्लेख भी सिद्धोंने किया है। चर्यापदमें काण्हपाने कापालिक-वेश धारण करते समय सूर्य-चन्द्र-रूपी कुण्डल धारण किये हैं। नाथ-सम्प्रदायमें भी ये कुण्डल सूर्य-चन्द्रके प्रतीक माने जाते हैं और साधनाकी एक स्थिति पार करनेके उपरान्त ही साधक इन्हें पहन पाता है।

बौद्धतन्त्र-ग्रन्थोंमें स्पष्ट मुद्राओंकी आयु, जाति, रूप आदिका सागोपाग विवेचन आदि मिलता है। उनकी **मण्डलचक्र**-साधनाओंमें यह गुरुका दायित्व था कि वह उपयुक्त मुद्राओंका चुनाव करे। 'सेकोद्देश टीका'में दीक्षित करते समय मुद्राकी आयु बीस वर्षतककी बतायी गयी है। 'प्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि'में कहा गया है कि मुद्राके आलिंगनसे साधकमें वज्रावेश जागता है, किन्तु ये चुम्बन, आलिंगन, समागमादि क्षुब्ध, आसक्त और विषयी मनसे नहीं करने चाहिये, अन्यथा ये बन्धनके कारण बन जाते हैं। —ध० वी० मा०

मुरली—हरिवंश-वर्णित हल्लीस-नृत्य तथा विष्णु, भागवत आदि पुराणोंके रास-नृत्यके वर्णनमें उल्लेख है कि कृष्णने शरद् पूर्णिमाकी प्रफुल्ल रजनीमें यमुनाके पुष्पसुवासित पुलिनपर रास नृत्य करनेके लिए पहले मधुर वंशी-वादन करके व्रज गोपिकाओंका आह्वान किया था। कृष्णका वंशी-नाद सुनकर गोपियाँ अपना गृहकार्य, अपने पति, दूध पीते शिशु—अपने समस्त पारिवारिक उत्तरदायित्व छोड़कर, कुल-मर्यादा और लोक-लज्जाको तिलांजलि देकर कृष्णके निकट खिंची चली आयी थीं। इस सन्दर्भके आधारपर मध्ययुगके कृष्ण-भक्त-कवियोंने विशेष रूपमें कृष्णकी मुरलीका इस प्रकार वर्णन किया है कि वह कृष्णकी योगमाया-शक्ति या नाद-ब्रह्मकी प्रतीक बन गयी है। कृष्णकी यह शक्ति उनके पूर्ण पुरुषोत्तम परमानन्द परब्रह्म रूपमें ही प्रकट होती है। रासके प्रसंगमें सूरदास कहते हैं—'मुरलीकी धुनि वैकुण्ठमें पहुँची जिसे सुनकर नारायण और कमलाके हृदयमें बड़ी रुचि पैदा हुई। (नारायणने कहा) 'प्रिये यह अद्भुत वाणी सुनो नन्द नन्दन जो रासविलास करते हैं वह हमसे बहुत दूर है (सू० सा० ना० प्र० स० पद १६८२)। कृष्णकी मुरलीरूपी **योगमाया** ही रासके अद्भुत रसकी कुंजी है। सूरदास कहते हैं—'रास रस मुरलीसे ही जाना है। श्यामके अधरपर बैठकर मुरलीने जो नाद किया उससे चन्द्रमा अपना मार्ग भूल गया, पृथ्वीपर जल-थलके जीव मोहित हो गये, नभ-मण्डलमें देवता थक गये, तृण, द्रुम, सलिल और पवनके भी श्रवणमें शब्द पड़ा, वे भी अपनी गति भूल गये, पाताल और रसातल भी नहीं बचे। यह ऐसा अपार रास रस उत्पन्न किया जो कभी न देखा था और न सुना था। नारायण इस धुनिको सुनकर ललचाने लगे (वही पद १६८७)।' मुरली-नाद सुनकर अचर चलने लगते हैं और चर स्थगित हो जाते हैं, पत्थरोंसे जल झरने लगता है, विफल वृक्ष फल जाते हैं। इस प्रकार सबकी गति विपरीत हो जाती है, तभी तो गोपियाँ लोक-विरुद्ध आचरण करने लगती हैं। कृष्णकी इस मोहक योगमायाका प्रभाव गोपियोंको सहज ही ससारसे विमुख करके कृष्णोन्मुख कर देता है। कृष्णकी यह मोहिनी शक्ति उनसे अभिन्न है, वे उसे कभी अलग नहीं करते। इसीलिए गोपियाँ ही नहीं, स्वय राधा भी उससे ईर्ष्या करती हैं और कृष्णका वैसा ही सामीप्य प्राप्त करनेके लिए लालायित रहती हैं। कृष्ण अपने इस मधुर नादसे, जो नित्य और अनाहत है, सम्पूर्ण व्रजको—वहाँके आबालवृद्ध-नरनारी, तृण-वीरुध, द्रुम-लता, नदी-निर्झर, वन-पर्वत—सभी चराचर पदार्थोंको आप्लावित कर देते हैं। रस-रूप नाद-ब्रह्म ही मानों स्वत अणुको आनन्दसे परिपूर्ण कर देता है। इसीलिए व्रजकी आनन्दक्रीड़ाओंकी परिसमाप्तिपर कृष्णके मथुरागमनके पूर्व उनके सखा कहते हैं, 'छबीले मुरली नैकु बजाउ। बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि, अधर-सुधा-रस प्याउ। दुर्लभ जनम लहब बृन्दावन, दुर्लभ प्रेमतरग। ना जानिबे, बहुरि कब ह्वैहै, स्याम तिहारो सग।' (वही, पद १८३४)। परब्रह्म श्रीकृष्णके परमानन्दरूपकी यह लीला व्रज-वृन्दावनमें ही सीमित है। —व्र० व०

मुसम्मत—उर्दूमें किसी नामांकित विषयपर लिखी गयी कविता(नज्म)को कभी-कभी एक तरहके कई टुकड़ोंमें बाँट दिया जाता है। जब किसी नज्मके हर **बंद**(दे०)में तीन-तीन मिसरे हों तो उसे **मुसल्लस** कहते हैं, चार-चार मिसरें हों तो **मुरब्बा**, पाँच-पाँच मिसरे हों तो **मुखम्मस** और छ-छ मिसरे हों तो **मुसद्दस** कहते हैं।

मुसम्मतके ऊपर लिखे पहले तीन रूपोंमें हर बन्दका आखिरी मिसरा एक ही **रदीफ** और **काफिये**(तुकान्त)में होना चाहिये। केवल **मुसद्दस**में पहले चार मिसरे एक ही रदीफ और काफियेमें और आखिरके दो मिसरे दूसरे **रदीफ** और **काफिये**में होते हैं। —म०

मुहावरा-दोष—दे०—'शब्द-दोष', एक्कीसवाँ 'वाक्य-दोष'।

मूल कथावस्तु—दे०—'आधिकारिक वस्तु'।

मूल प्रवृत्तियाँ (instincts)—मूल प्रवृत्तियाँ अथवा आदिम वृत्ति शब्दका प्रयोग साहित्य और सामान्य भाषामें बड़े ही विरल और अनिश्चित अर्थमें किया जाता है। स्वय मनोवैज्ञानिकोंमें भी मूल प्रवृत्तियोंकी परिभाषा, संख्या और स्वरूपके विषयमें बड़ा मतभेद है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कतिपय मौलिक संवेगोंको अनुभव करने तथा कतिपय लक्ष्योंको प्राप्त करनेकी जन्मजात प्रवृत्तियाँ मनुष्य-मात्रमें परिव्याप्त हैं। बुद्धि, शिक्षा और संस्कृतिके समाधानके फलस्वरूप लक्ष्यों तथा उनके प्राप्ति-साधनोंके मौलिक आदिम रूपोंका उदात्तीकरण और प्रस्फुटन हो सकता है, किन्तु मूल प्रवृत्ति परिष्कृत और संस्कृत कितनी ही क्यों न हो जाय, उसका नाश कभी नहीं होता। मानवीय चरित्र, साहित्य, कला, धर्म आदिकी नींवकी ईंटें मूल प्रवृत्तियाँ हैं।

लायड मार्गनके अनुसार मूल प्रवृत्ति सम्पूर्ण प्राणी द्वारा सम्पादित ऐसी क्रियाओंकी जटिल श्रृंखला है जो समस्त जातिके लिए हितावह होती है और जिसे उस जातिके समस्त प्राणी एक ही ढंगसे, विना सीखे हुए करते हैं। यह परिभाषा कीट, पतंग, पशु-पक्षियोंके व्यवहारपर आधारित है और मानवीय स्तरपर मूल प्रवृत्तियोंकी व्याख्या नहीं कर पाती। मैक्डूगलने मूल प्रवृत्तिकी परिभाषा इस प्रकार की है–'मूल प्रवृत्ति वह नैसर्गिक प्रवृत्ति है जिससे प्रेरित होकर प्राणी किसी पदार्थ अथवा स्थितिकी ओर आकृष्ट होता है, उसकी उपस्थितिमें एक विशिष्ट संवेगका अनुभव करता है और उसके प्रति एक विशिष्ट प्रकारका आचरण करता है।' मैक्डूगलकी परिभाषा लायड मार्गनके मतकी पूरक है और यद्यपि वह सर्वमान्य नहीं है, वह मूल प्रवृत्तिके स्वरूपपर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

आहार, निद्रा, भय आदि तथा दारैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा आदिके रूपमें भारतीय साहित्यमें भी मूल प्रवृत्तियाँ स्वीकार की गयी हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंमें मूल प्रवृत्तियोंकी संख्या जेम्सने ३०, थार्नडाइकने ४०से १०० तक, ड्रेवरने २ (बुभुक्षात्मक और प्रतिक्रियावादी) और फ्रायडने केवल १ (यौन प्रवृत्ति तथा आगे चलकर आत्मसंरक्षण और मृत्युकी मूल प्रवृत्ति) स्वीकार की है। विलियम मैक्डूगल मनुष्यमें चौदह मूल प्रवृत्तियाँ और उनके सहगामी चौदह संवेग मानता है–

मूल प्रवृत्ति	संवेग
१–युयुत्सा	क्रोध
२–प्रतिकूलता	जुगुप्सा
३–जिज्ञासा	आश्चर्य
४–दैन्य	आत्महीनता
५–आहारकी खोज	भूख
६–यौन प्रवृत्ति	कामुकता
७–सन्तानैषणा, सन्ततिरक्षा	वात्सल्य, स्नेह
८–संघ-प्रवृत्ति	एकाकीपन
९–पलायन	भय
१०–शरणागति	कातरता
११–आत्मप्रदर्शन	गौरव
१२–सर्जना	रचनात्मक आनन्द
१३–परिग्रह	प्रभुत्वका सुख
१४–हास्य	आमोद

–आ० रा० शा०

मूलबंध–दे०–'हठयोग'।

मूलाधार–दे०–'हठयोग'।

मूल्य–मूल्य शब्द वस्तुतः नीतिशास्त्रीय 'वैल्यू'का पर्यायवाची है। अर्थशास्त्रमें वह 'बाजारदर'के अर्थविनिमयके एक आवश्यक प्रतिमानके अर्थमें प्रयुक्त होता है। मानवीय क्रियाओंमें, आचार-व्यवहारमें अच्छाई या शिवत्वका मूल्य क्या है, इसपर नीतिशास्त्रने बहुत विचार किया है। कुछ लोगोंके अनुसार ऐसा सर्वव्यापक, सर्वसम्मत मूल्य-निर्धारण असम्भव है। उदाहरणार्थ, कहीं पातिव्रतकी महिमा है, कहीं पत्नी-व्रतकी, कहीं एकपत्नीत्वकी, कहीं बहुपत्नीत्वकी और कहीं केवल क्षणिक स्त्री-पुरुष-सम्बन्धोंकी। ऐसी स्थितिमें 'अधिकोंका हित' यह उपयोगितावादी कसौटी कुछ नीतिशास्त्रियों(मिल, जोन्स)ने प्रस्तुत की, तो कुछ लोगोंने नैतिक क्रियाके मूलमें जो हेतु या कारण सरणी है उसकी मीमांसा करके सोद्देश्य कर्ममें ही 'मानवको अपने आपमें साध्य' यानी उसे श्रेष्ठतम और नैतिक कर्म माना (काण्ट)। आदर्शवादी नीतिका अन्तिम मूल्य मानव-कल्याण और उसकी अधिकाधिक अनासक्तिको ही मानते रहे (बुद्ध, ग्रीन, गान्धी)। नीतिशास्त्रमें तो उपनिषदोंके श्रेय-प्रेय विवेचनसे या सुकरातके सत्यके लिए जहर पीनेसे लेकर आजतक यह प्रश्न बार-बार उठा है और कई बार इसके कई उत्तर दिये जा चुके हैं।

साहित्यशास्त्रमें 'मूल्य' शब्द समाजकल्याण या मानवहितवाले व्यापक अर्थतक सीमित नहीं है, अन्यथा समस्त धर्मग्रन्थ ही सर्वश्रेष्ठ साहित्य माने जाते। कई बार साहित्यमें वर्णित आचरण, घटना या व्यक्ति नीतिसम्मत नहीं होते, फिर भी उसका अपना मूल्य होता है। दुष्यन्तका शकुन्तलाको छोड देना या भुला देना अच्छी बात नहीं, परन्तु उसी घटनामें शाकुन्तलका मूल करुण स्वर उभरता है या ईडिपसके जीवनकी निर्मम नियति या 'अन्ना' या 'चरित्रहीन' या ऐसे सैकडों उदाहरण विश्वसाहित्यमें दिये जा सकते हैं। देवता या असुर, स्त्री या पुरुष अमुक प्रकारका बाह्यतः अनैतिक जान पड़नेवाला पापाचरण करते हैं, परन्तु घटनाओंके तर्कमें या वर्णनकी विशेषतासे वही बात उस क्षणके लिए पाठक या दर्शकके मनमें विश्वास जगा देती है कि वह अनीतिमान् नहीं है या पापकी रूढ परिभाषामें नहीं आती। यहीं 'शिव' और 'सुन्दर'का द्वन्द्व शुरू होता है। (दे० 'ब्यूटी ऐज ए वैल्यू'–अलेक्जैण्डर)। एक मत उनका है जो सत्य-शिव-सुन्दर तीनों मूल्योंको एक ही सत्ताके तीन पहलूमात्र मानते हैं। दूसरा मत उन सौन्दर्यवादियोंका है, जो सौन्दर्यको ही अन्तिम मूल्य समझकर चलते हैं, नीति-प्रचारक 'शिव'को और वैज्ञानिक या वास्तववादी निरे 'सत्य'को।

मूल्य और प्रतिमान समानार्थी शब्द हैं। दोनों ही मानवनिर्मित निकष या कसौटियाँ हैं, जिनके सहारे साहित्यकी परख की जाती है। मनुष्य चूँकि पहले व्यक्ति है, इकाई है—उसके अपने कुछ मूल्य होते हैं। परन्तु व्यक्ति-मनुष्य एक बृहत्तर मानव समाजका, परिवार, नगर, प्रदेश, प्रान्त, राष्ट्र या संसारका सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अंग भी है, अतः उसके प्रत्येक विचार, कर्म और कल्पनामें मूल्यका प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

पहले पारिवारिक मूल्य लें। वे व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें सहायक या बाधक होते हैं। एक व्यक्ति परिवारका प्रथम पुरुष है या अन्तिम, उसकी सभी बहनें हैं या सब भाई हैं या वह अकेला है या अविवाहित है या अन्य प्रकारकी जो भी स्थितियाँ हैं वे उसकी साहित्यिक अभिरुचि, शिक्षा-संस्कार आदिको निर्णीत करती हैं। इन्हींमेंसे एक विशिष्ट प्रकारकी मूल्य-संहिता (value pattern) व्यक्ति बनाता है। वह उसके साहित्य-निर्माण और साहित्य-निर्णयको निश्चित करती है।

इन मूल्योंकी टकराहट (या समाहार) परिवारमें बड़े

जाति, मुहल्ला, नगर, समाज, राष्ट्र या भाषा-दल या अन्य प्रकारके गुटोंकी संस्थाओंके मूल्योंसे होती है। व्यक्ति बनता है, बिगड़ता है, बिखरता है। उसके साहित्य-मूल्य भी उसी मात्रामें बनते, बिगड़ते, बिखरते जाते हैं। इन सब विविध मूल्योंके बाद भी एक बड़ा मूल्य बचा रहता है, जो एक प्रकारसे इन सबका सार है और वह है मानवीय मूल्य। यद्यपि मानवतावादको भी विशेषणोंसे परिमापित किया गया है, यथा वैज्ञानिक, क्रान्तिकारी, नव्य आदि, मानवीय मूल्य ही अन्तत साहित्यमें विवेकके बढ़ानेकी दिशामें सहायक हो सकते हैं।

सामाजिक मूल्य एक विशिष्ट प्रकारके अर्थशास्त्रीय-राजनीतिक दृष्टिकोणसे प्रयुक्त किया हुआ शब्द है। शेक्सपीयर या कालिदासके नाटकोंमें चाहे सामाजिक या दलगत मूल्य बहुत कम हों, फिर भी वे श्रेष्ठ साहित्य इसीलिए माने जाते हैं कि उनमें साहित्यिक मूल्य अधिक है। अत इन दोनों मूल्योंका समीकरण मानना आवश्यक नहीं है। ऐसा भी पाया गया है कि बहुत-से असामाजिक जान पडनेवाले व्यक्तियोंने श्रेष्ठ साहित्य रचा है, और वैसे तो दलगत मूल्योंके कारण कई अच्छे लेखक भी सकुचित हो गये हे, उनके लेखनका नयापन प्राय नष्ट हो गया है या कि उभर ही नहीं पाया है। दल तो स्वतन्त्र विचार या कल्पनावाली सृष्टिका शत्रु है। अब साहित्यमें यह माना जाने लगा है कि अन्तत वे व्यक्ति-मूल्य ही प्रधान हैं, जो समाज-मूल्यके विरोधी न होकर उनके पोषक हों। वे ही सच्चे मानवीय मूल्य भी हैं। —प्र० मा०

मूषक–चचल मन जो अज्ञानके अन्धकारमें चूहेकी भाँति विचरण करता है। कालरूपी सर्प उस चूहेको खा जाता है—'निसि अंधारी मूमा आचारा' (चर्यापद, २१)। मूसा पैठा बाबिमें' (क० ग्रं०)। —ध० वी० भा०

मेंढक–मनका प्रतीक। 'बेगम साँप बढिल जाअ' (चर्यापद ३३)। 'भीटक सोने सॉप पहरइया' (क० ग्र०)। —ध० वी० भा०

मैथिली–गगाके उत्तर दरभगा(बिहार)के आसपास बोली जाती है। प्रख्यात मैथिल पण्डितोंकी बोली होनेके कारण विशेष रूपसे प्रख्यात है। मैथिलीका अपना विशिष्ट प्राचीन साहित्य है, जिसमें विद्यापतिका नाम अन्यतम है। आधुनिक समयमें मैथिलीमें साहित्यरचना अभी हालमें प्रारम्भ हुई है। मैथिलीकी अपनी अलग लिपि है, जो बँगलासे बहुत मिलती-जुलती है। उत्पत्तिकी दृष्टिसे मैथिली-का सम्बन्ध मागधी अपभ्रशसे है। —स०

मैथुन–दे०—'गुह्य साधना', 'मुद्रा', 'युगनद्ध'।

मोटनक–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र'(१६ २९)में इस वृत्तका मोटक नाम दिया गया है। इसमें तगण, दो जगण और लघु-गुरुका योग होता है (ऽऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है–'सोहैं घन स्यामल घोर घने। मोहैं तिनमें बकपाँति भने। सखावलि पी बहुधा जल स्यों। मानों तिनको उगिलैं बक त्यों।' (रा०च० १३ १३)।—पु०शु०

मोटिफ–किसी कृतिकी योजनाका वैशिष्ट्य, कोई शब्द या विचारका प्रतिरूप, जिसकी समान स्थितिमें बार-बार आवृत्ति होती है या जो समान मनोदशा जागरित करनेके लिए किसी एक कृतिमें या एक ही जातिकी अनेक कृतियोंमें बार-बार दुहराया जाता है। लोक-कथामें इसका प्रयोग विशेष रूपमें देखा जाता है। इस प्रकारकी पुनरावृत्तियोंके कारण एक प्रकारकी आन्तरिक सगीतात्मकताकी सृष्टि होती है। दे०–'लोककथा', 'कथानक-रूढि'। —स०

मोट्टायित–दे०—'स्वभावज अलकार', छठा।

मोदक–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्'(२ १३६)के अनुसार ४ भगण इस वर्णिक वृत्तमें होते हैं (ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।)। 'मन्दारमरन्दाचम्पू'(९ ५)-में इसका नाम भामिनी दिया है। केशवने इसका नाम सुन्दरी दिया है, अन्य आचार्योंने मोदक। सूदन (सु० च० पृ० २१३) और केशवने हिन्दीमें इसका प्रयोग किया है। उदा०–'राज वहै वह साज वहै पुरु। नाम वहै वह धाम वहै गुरु। झूठ सो झूठहिं बाँधत हो मन। छोड़त हो नृप सत्य सनातन।' (रा० च० ३० २२)। —पु० शु०

मोह–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी, भरतके अनुसार इसके विभाव हैं–आकस्मिक आघात, आपत्ति, रोग, भय, उद्वेग तथा गत शत्रुताका स्मरण आदि और अनुभाव निश्चेष्टता, गिरना, झुकना तथा ठीक-ठीक न देख पाना आदि (ना० शा० ७ ५२)। विश्वनाथकी व्याख्याके अनुसार–'मोहो विचित्रताभीतिदु खावेगानुचिन्तनै। मूर्च्छ-नाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत्।' (सा० द० ३ १५०), अर्थात् भय, दु ख, घबराहट, अत्यन्त चिन्ता आदिके कारण उत्पन्न चित्तकी विकलता मोह है। मूर्च्छा, अज्ञान, पतन, चक्कर आना, दिखाई न देना आदि इसके अनुभाव हैं। हिन्दी रीतिकालीन आचार्योंमें कुछने 'नाट्यशास्त्र'की परम्पराका अनुसरण किया है। देवका लक्षण ऐसा ही है–'अद्भुत दरसन बेग भय, अति चिन्ता अति कोह। जहाँ मूर्च्छा बिसमरन लम्भतादि कहु मोह।' (भाव० सचारी०)। पर अन्य कुछ आचार्य इसे–'बिरह-दु ख चिन्ता जनित'मात्र कहते हैं, जिसमें 'आपुहि अपनी देहको ज्ञान जबै नहि होइ।' (जगद्वि० ५०७)।

रामचन्द्र शुक्लने जडता और मोहको मिलती-जुलती मानसिक अवस्थाएँ माना है। उनका कहना है कि 'जडता है एकदम ठप हो जाना, जिसमें मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक, दोनों क्रियाएँ एक क्षणके लिए बन्द-सी हो जाती हैं। यह अवस्था इष्ट और अनिष्ट, दोनोंके दर्शनसे हो सकती है। इसमें चित्तकी व्याकुलता नहीं रहती। मोह दु खावेगके कारण ही होता है और उसमें चित्तकी व्याकुलता और मूर्च्छा होती है' (र० मी० पृ० २२३)। पर जब मोहके अनुभावकी व्यजना मूर्च्छाके रूपमें होती है तब यह जडतासे मिलता-जुलता प्रतीत होता है। मोह और जडतामें एक मौलिक अन्तर यह है कि मोह जहाँ केवल दु खावेगमें ही होता है वहाँ जडता दु खावेग और सुखावेग, दोनोंमें दिखाई पड़ती है। सुखके आतिशय्यसे भी लोग कभी कभी जड-से हो जाते हैं। पद्माकर प्रेमकी विह्वलताका वर्णन करते हैं–'दोउनको सुधि है न कछू बुधि बाढ़ि बलाहमें बूडि बही है। मोहन मोहि रह्यो कबको कबकी वह मोहनी मोहि रही है।' (जगद्वि० ५०८)। तुलसीदासने सीताके

दुःखमें उत्पन्न मोहका चित्रण किया है—'रामको रूप निहारत जानकी कंकनके नगकी परछाहीं। याते सबै सुधि भूलि गयी कर टेक रही पल टारत नाहीं' (क०)।—व० सिं०

मोहन १–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। इस नवीन छन्दका प्रयोग केशवने किया है। इसमें सगण, नगण, जगण और यगणका योग होता है (SII, III, ISI, ISS)। उदा०— देखहु भरत चमू सजि आये। जानि अबल हमको उठि धावे। हौं सुन हय बहु बारन गाजे। दीरघ जहँ तहँ दुन्दुभि बाजे।' (रा० च० · १० : २६)। —पु० शु०

मोहन २–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, 'वाग्वल्लभ' में इसका मधुमारक नाम दिया गया है। इस छन्दका प्रयोग केशवने किया है। इसमें सगण और जगणके योगसे छन्द बनता है (ISS, ISI)। उदा०—'धरि चित्त धीर, गये गग तीर। शुचि है शरीर पितु तर्पि नीर।' (रा० च० . १० · ३०)। —पु० शु०

मोहनक–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, दो गुरु और तीन सगणोंके योगसे यह वृत्त बनता है। केशवने इसका प्रयोग किया है। उदा०—'आये दशरत्थ बरात सजे, दिग्पाल गयन्दनि देखि लजे। चारयो दल दूलह चारु बने। मोहे सुर औरनि कौन गने।' (रा० च० ६ · ३)। —पु० शु०

मोहनी–मात्रिक अर्द्धसम छन्द। मात्रायुक्त छन्दोंके अध्यायमें भिखारीदासने 'छन्दार्णव'में एक मोहनी छन्दके लक्षण दिये हैं। भानु कविने 'छन्दप्रभाकर'में मात्रिक अर्द्धसम प्रकरणमें इसका लक्षण दिया है कि विषम पदमें १२ और सममें ७ मात्राएँ होती हैं, अन्तमें सगण होता है। भिखारीदास द्वारा दिये गये लक्षणवाला मोहनी इससे भिन्न है। मोहनीका प्रयोग बहुत विरल हुआ है। सुन्दरदासने 'रामाष्टक'में इसका प्रयोग किया है। उदा—'शम्भु भक्तजन त्राता, भवदुख हरें। मन वांछित फलदाता, मुनि हिय धरें।' (छ० प्र० पृ० ८१)। —रा० सिं० तो०

मौक्तिक दाम–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'(२ . १३४)में इसका लक्षण है, इस वृत्तमें चार जगण होते हैं (ISI, ISI, ISI, ISI)। चन्द (पृ० रा०), जोधराज (ह०रा०), सूदन (सु०च०) तथा केशव(रा०च०)ने इसका प्रयोग किया है। अपनी द्रुत गतिके कारण वीर रसमें विशेष रूपसे प्रयुक्त हुआ है। उदा०—'रहौ चुप है सुत क्यों बन जाहु। न देखि सकै तिनके उर दाहु। लगी अब बाप तुम्हारेहि बाय। करै उलटी विधि क्यों कहि जाय।' (रा० च० : ९ ८)। —पु० शु०

मौग्ध्य–दे०—'स्वभावज अलंकार', तेरहवाँ।

यत्न–रूपककी पाँच अवस्थाओंमेंसे दूसरी अवस्था। 'प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वित' (द० रू० · १ २०), फलप्राप्तिके लिए अत्यन्त त्वरायुक्त जो व्यापार किये जाते हैं उन्हें यत्न कहते हैं। 'स्कन्दगुप्त'के द्वितीय अंकमें प्रयत्नावस्था है। 'ध्रुवस्वामिनी'में प्रयत्न नामक कार्यावस्था वहाँ आरम्भ होती है जहाँ उसने अपना यह मन्तव्य व्यक्त किया है–'तो कुमार! (चन्द्रगुप्त) हम लोगोंका चलना निश्चित ही है। अब इसमें विलम्बकी आवश्यकता नहीं।' शकराजका सामना करनेका यह निश्चय फलप्राप्तिके लिए प्रयत्नरूपमें है। इसी प्रवाह और प्रसंगमें पूर्वोक्त अनुरागोदय भी पुष्ट रूप धारण करता है। इसी प्रयत्नके लिए वह कहती है–'हम दोनों ही चलेंगे। मृत्युके गह्वरमें प्रवेश करनेके समयमें भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जानेकी कामना रखती हूँ।' (जगन्नाथ शर्मा · 'प्रसाद'के नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन) —व० सिं०

यथार्थवाद–साहित्यकी एक विशिष्ट चिन्तन-पद्धति, जिसके अनुसार कलाकारको अपनी कृतिमें जीवनके यथार्थ रूपका अंकन करना चाहिये। यह दृष्टिकोण वस्तुत आदर्शवाद(दे०)का विरोधी माना जाता है। पर वस्तुत तो आदर्श उतना ही यथार्थ है जितनी कि कोई भी यथार्थवादी परिस्थिति। जीवनमें अयथार्थकी कल्पना दुष्कर है। किन्तु अपने पारिभाषिक अर्थमें यथार्थवाद जीवनकी समग्र परिस्थितियोंके प्रति ईमानदारीका दावा करते हुए भी प्राय सर्वत्र मनुष्यकी हीनताओं तथा कुरूपताओंका चित्रण करता है। यथार्थवादी कलाकार जीवनके सुन्दर अंशको छोड़कर असुन्दर अंशका अंकन करना चाहता है। यह एक प्रकारसे उसका पूर्वग्रह है।

यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ सब देशोंके साहित्यमें विभिन्न कालोंमें मिलती हैं। वस्तुत यथार्थवाद सुधारक साहित्यका प्रथम अस्त्र है। किसी भी सामाजिक स्थितिके प्रति विद्रोह करते समय साहित्यकार उसका यथार्थवादी चित्र उपस्थित करता है। इस प्रकार वह अपने पाठकके मनमें उस आक्रोशको जन्म देना चाहता है, जिसके बिना किसी भी सुधार, परिवर्तन अथवा क्रान्तिकी कल्पना नहीं की जा सकती। हिन्दी साहित्यमें यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ मध्यकालमें ही दिखाई देने लगती हैं। कबीर एक प्रकारसे हिन्दीके प्रथम यथार्थवादी कवि हैं। उनके समाजमें जो खोखलापन घर कर गया था उसका अत्यन्त सशक्त चित्रण उन्होंने अपने काव्यमें किया है। जीवनकी विकृतियाँ तथा कुरूपताएँ सर्वत्र उनके आक्रोशका लक्ष्य बनी हैं। कबीरके उपरान्त तुलसीमें भी किसी हदतक यथार्थवादकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। अपने दृष्टिकोणमें आदर्शवादी होते हुए भी वे सामाजिक जीवनकी कटुताओंकी ओरसे अपनी आँखें नहीं फेर सके थे। 'रामचरितमानस'के उत्तरकाण्ड तथा 'विनयपत्रिका'के कुछ पदोंमें तुलसीकी यथार्थवादी दृष्टि गहरेतक पैठी है।

आधुनिक अर्थमें यथार्थवादका हिन्दी साहित्यमें प्रथम विकास प्रगतिवाद(दे०)के माध्यमसे हुआ। द्विवेदीयुगीन आदर्शप्रियता तथा छायावादी काल्पनिक जगत्के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसने प्रगतिवादी साहित्य-सर्जनमें यथार्थवादको एक अपरिहार्य अंग बना दिया। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सभी रूपोंमें आधुनिक जीवनके गहरे सवर्षों, विद्रूपों, अन्तर्द्वन्द्वों तथा कुरूपताओंका अंकन हुआ। इस युगके दो मनीषी—मार्क्स तथा फ्रायडने अपने-अपने ढंगसे यथार्थवादके विकासमें सहयोग दिया। मार्क्सने सामाजिक जीवनके कटु यथार्थकी ओर संकेत किया और फ्रायडने वैयक्तिक जीवनकी गर्हित कुण्ठाओंकी ओर ध्यान दिलाया। कुछ तो समयकी आवश्यकता ने और कुछ इन दो चिन्तकोंकी विचारधाराने

यथार्थवादको युगकी अनिवार्य प्रवृत्ति बना दिया। हिन्दी साहित्यमें प्रगतिवादकी मौलिक शक्ति सम्भावना यथार्थवादको ही लेकर विकसित हुई थी।

प्रगतिवादके उपरान्त प्रयोगवादको भी यथार्थवादका दाय मिला। एक प्रकारसे प्रयोगवादमें यथार्थवादकी प्रवृत्ति कुछ और गहरी हुई। जीवनकी तुच्छसे तुच्छ परिस्थितिको भी साहित्यमें चित्रित करने योग्य समझा गया। द्वितीय महायुद्धने यथार्थवादको साहित्यमें और अधिक ग्राह्य बनाया और इस प्रकार प्रयोगवादने इस मौलिक प्रवृत्तिको अपनी आधार शिलाके रूपमें स्वीकार किया। पर प्रयोगवादी यथार्थवादके साथ एक व्यापक तथा उदार मानवतावादकी भावना संयुक्त थी, जो आगे नयी कविताके आन्दोलनके साथ और अधिक विकसित हुई। वस्तुत हिन्दीका आधुनिक यथार्थवाद साम्प्रदायिक न रहकर उक्त मानवतावादी प्रवृत्तियोंके संयोगमें साहित्यके क्षेत्रमें अधिक कलात्मक तथा सामाजिक बन सका है।–रा०स्व०च०

यथासख्य–वाक्यन्यायमूलक अर्थालंकार, 'यथासंख्य'से अभिप्राय है संख्या अर्थात् क्रमके अनुसार, जहाँ क्रमश कथित पदार्थोंका उसी क्रमसे, आगेके पदार्थोंसे अन्वय किया जाय। इसीको 'क्रम' अथवा 'यथाक्रम' अलकार भी कहते हैं। यथासख्य अलकार 'क्रम'का पर्याय है। यह प्राचीन अलकार भामहके समयसे सदा स्वीकृत रहा है। भामहने सूचना दी है कि उनके पूर्व मेधाविन्ने इसको सख्यान नामसे कहा है। दण्डीके शब्दोंमें इसकी परिभाषा इस प्रकार है—'उद्दिष्टानां पदार्थानामनुदेशो यथाक्रम। यथासख्यमिति प्रोक्तम् स्यान क्रम इत्यपि।' (काव्यादर्श २७३), अर्थात् पहले कहे हुए पदार्थोंका उसी क्रमसे फिर दुहराया जाना। वामनने इसे 'क्रम' कहा है। मम्मट तथा विश्वनाथने पदार्थोंके क्रमिक सम्बन्धको स्वीकार किया है–'यथासख्य क्रमेणैव क्रमिकाणा समन्वय' (का० प्र० १० १०८), अर्थात् पदार्थ जिस क्रमसे वर्णित हों उसी क्रमसे आगे उल्लिखित पदार्थोंके साथ उनका सम्बन्ध प्रदर्शित करना।

हिन्दीमें प्राय यह अलंकार सर्वमान्य रहा है। मतिराम तथा भूषणके लक्षण स्पष्ट नहीं हैं—'क्रमसों कहि तिनके अरथ क्रमसों बहुरि बनाय' (शि० रा० भू० २४०)। पद्माकरने इस क्रमको 'अन्वय'से युक्त कहा है। चिन्तामणिने 'क्रम क्रमकौ अन्वइ जहाँ वरन्यों अनुक्रम संग' (क० कु० क० त०) कहकर संस्कृतके आचार्योंका अर्थ व्यक्त किया है।

रसलीनका यह प्रसिद्ध दोहा इसका सुन्दर उदाहरण है—'अमी हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार। जियत मरत झुकि झुकि परत जिहि चितवत एक बार।' अयोध्या सिंह उपाध्यायका यह वर्णन भी—'वसन्तने सौरभने परागने, प्रदान की थी अति कान्त भावसे। वसुन्धराको, पिकको, मिलिन्दको, मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता।' (प्रि० प्र०)। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंके पूर्ववर्ती कतिपय भक्त तथा शृगारी कवियोंकी रचनाओंमें भी इस अलकारका स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। आधुनिक कवियोंने भी काव्य-सौन्दर्यकी अभिवृद्धिके निमित्त इस अलकारको यथोचित रूपमें अपनाया है।

केशवका क्रम (यथासख्य) अलकारका लक्षण अस्पष्ट है (कविप्रिया ११)। इस अलकारके उदाहरणोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि जिसे केशवने क्रम कहा है, परवर्ती आचार्योंने उसीको एकावली माना है। कन्हैयालाल पोद्दारने इनके एक उदाहरणको एकावलीके अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। —वि० स्ना०

यम–दे०—'हठयोग'।

यमक–एक शब्दालंकार, यमकका अर्थ है युग्म या जोड़ा। इसमें भिन्नार्थके साथ वर्णावृत्ति या शब्दावृत्ति होती है। 'यमक' अलकारमें आवृत्त शब्द या तो निरर्थक होते हैं या सार्थक। यदि सार्थक हों, तो वे सभी भिन्नार्थक होते हैं। भरतके समयसे इस अलकारको मान्यता प्राप्त रही है। भरतने 'शब्दाभ्यास'मात्रको यमक माना है और उसके दस भेद किये हैं (ना०शा० १६ ६३)। भामहने 'सुननेमें समान प्रतीत होनेवाले, पर अर्थमें भिन्न वर्णोंकी पुनरुक्ति या आवृत्ति'को यमक माना है (काव्याल० २ १७)। दण्डी तथा वामन आदिका मत ऐसा ही है—'पदमनेकार्थमक्षरं वाऽऽवृत्त स्थाननियमे यमकम्' (काव्यालं०सू० वृ० ४ १ १), स्थान नियमके साथ अनेकार्थक पद अथवा अक्षरकी आवृत्ति। वस्तुत किसी भी पदमें आवृत्त वर्णोंका क्रम समान माना गया है, जैसे 'सर' 'सर'। 'सर' 'रस में यमक नहीं हो सकता, क्योंकि वर्णोंका उपस्थापन क्रमानुसार नहीं हुआ है। मम्मटने इसी बातको यों रखा है–'अर्थे सत्यर्थभिन्नाना वर्णाना सा पुन श्रुति' (का० प्र० ९ ८३), अर्थ होनेपर भिन्न-भिन्न अर्थवाले वर्ण अथवा वर्णसमूहका बार-बार सुनाई देना। विश्वनाथका भाव समान है। 'चन्द्रालोक'के लेखक जयदेवने परिभाषा संक्षिप्त कर दी है—'किसी भी दो-तीन अक्षरोंके समूहकी आवृत्ति' (५ ८)।

हिन्दीमें भी यह अलंकार सर्वस्वीकृत रहा है। केशवकी 'कविप्रिया'में १५वाँ प्रभाव यमक-विषयक है। जसवन्त सिंहने–'जमक, सब्दको फिरि स्रवन, अर्थ जुदा सो जानि' (भा० भू० २००) कहकर मम्मटका अनुसरण किया है। चिन्तामणि, भूषण, दूलह तथा दासके लक्षण लगभग समान हैं। चिन्तामणिने 'फिरि स्रवन'का उल्लेख किया है, अन्योंने 'आवृत्ति'का कथन किया है। केशवने अव्यपेत तथा सव्यपेत भेद माने हैं, जिनके आधार प्राचीन आचार्य हैं। हिन्दीमें इसके विशिष्ट भेदोंका उल्लेख नहीं है, किसी-किसीने भग तथा अभग पदोंकी आवृत्तिके कारण इसके दो भेद किये हैं। दासने अनेक भेद अवश्य स्वीकार किये हैं।

यमक अलकारमें आवृत्ति तीन प्रकारसे हो सकती है–(१) किसी पदमें केवल निरर्थक वर्णोंकी आवृत्ति, (२) निरर्थक तथा सार्थक, दोनों प्रकारके वर्णोंकी, (३) केवल सार्थक वर्णोंकी। भूषणका उदा०–'पूना वारी सुनिकै अमीरनकी गति, लई भागिवेको मीरन समीरनकी गति है' (शि० भू० ३६६)। देव कविका सुन्दर उदा०—'अनुरागके रगनि रूप तरगनि अगनि मोद मनों उफनी। कवि देव दिये सियरानी सबै सियरानीको देख सुहाग सनी'। दासका उदा०–'मुकत विराजत नाकमें, मिलि बेसर मुख माँहि। मुकत विराजत नाकमें, मिलवे सर-सुख माँहि।' (का० नि० १९)।

रीतिकालमें भूषण, देव, दास, पद्माकर तथा आधुनिक ब्रजभाषा-कवि रत्नाकर आदि अनेकने इस अलंकारका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है, किन्तु देवका यह प्रिय अलंकार है। देवने अपने पदबन्धोंकी सजावट तथा कसावटके लिए इसको अपनाया है।

पादावृत्ति यमक–पूरे पादकी जहाँ आवृत्ति होती हो। भूषणने इसके सुन्दर उदाहरण 'शिवाबावनी'में प्रस्तुत किये हैं–'नगन जड़ातीं ते वै नगन जड़ाती हैं' (२६), इसमें 'नग जड़ाना' तथा 'नंगे जाड़ा खाना' भिन्न अर्थ हैं। इसी प्रकार 'ऐसी परी नरम हरम बादशाहनकी, नासपाती खातीं ते बनासपाती खाती हैं' (२८)। **भागावृत्ति यमक**—जहाँ पादके आधे भागकी अथवा तीसरे या चौथे भागकी आवृत्ति होती है, वहाँ 'भागावृत्ति यमक' होता है। उदा०—'दिवि रमनी रमनीय कित, है रति रति नमहीन। हरि बनिता बनिताहि छिन, मनमथ मथ बस कीन।' (अ० म०), इसमें रमनी', 'रति', 'बनिता' और 'मथ'की उन्हीं पादोंके तीसरे भागमें आवृत्ति है। **सिंहावलोकन**—इसमें सिंहके सदृश मुड़-मुड़कर देखनेके समान किसी शब्दकी छन्दके आदि और अन्तमें आवृत्ति होती है। इसमें किसी छन्दके प्रथम चरणके प्रारम्भिक शब्दकी छन्दके अन्तिम चरणमें आवृत्ति होती है, अर्थात् जो शब्द छन्दके प्रारम्भमें वर्तमान रहता है, वही शब्द छन्दके अन्तमें। इसीको **मुक्तपदग्राह्य** यमक भी कहते हैं।

देवने 'सिंहावलोकन यमक'का उल्लेख अपने 'शब्द-रसायन'में किया है, परन्तु उसे स्वतन्त्र अलंकार न मानकर अनुप्रासका एक भेद माना है। भिखारीदासने अपने 'काव्य-निर्णय'में 'सिंहावलोकन यमक'को यमकका एक भेद माना है और उसीको 'मुक्तपदग्राह यमक' कहा है। दासके अनुसार—'चरन अन्त अरु आदिके, जमक कुण्डलित होइ। सिंह-विलोकन है वहै, मुक्तक पद ग्रस सोइ।' (१९)। देवके 'शब्दरसायन'का उदा०—'लाल है भाल सिन्दूर भरयो मुख सिन्धुर चारु औ बाँह विसाल है। साल है सत्रुनको कवि देव सुसोभित सोमकला धरे भाल है।' दासके 'काव्यनिर्णय'का उदा०—'सरसो बरसो करैं नीर अली धुन लीन्हें अनंग पुरन्दर सों। दरसो चहुँ ओरन-ते चपला करि जाती कृपानके ओझरसों।'

'अग्निपुराण'के अनुसार यमकके दो भेद हैं–'अव्यपेत' और 'व्यपेत'। 'यमक'में जिन पदों या वर्णोंकी आवृत्ति होती है, वे आवृत्त पद या वर्ण यदि एक-दूसरेके समीप हों, तो 'अव्यपेत यमक' होता है। व्यपेतका तात्पर्य है पदोंके बीचमें व्यवधान होना, अर्थात् यमकमें 'आवृत्त' पद या वर्ण जब एक-दूसरेके समीप न हों तब 'व्यपेत यमक' अलंकार होता है। जैसे (क) 'सजनी सज नीरद निरखि, हरषि नचत इत मोर।' (कविप्रिया १५ ९६)। इसमें 'सजनी' 'सजनी' एक दूसरेके समीपस्थ हैं, अत 'अव्यपेत यमक' है। (ख) 'माधवसो धव राधिका, पावहु कान्ह कुमार। पूजहु माधव नियमसों, गिरिजाको भरतार।' (वही १५ १११)। इसमें 'माधव' और 'धव' आवृत्त शब्द हैं, परन्तु इनके बीचमें अन्य शब्दोंका व्यवधान (अन्तर) पड़ा है, अत 'व्यपेत यमक' है। इन दो भेदोंका उल्लेख 'काव्यादर्श' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में भी है। हिन्दीमें केशवदासने भी 'कविप्रिया'में इन दोनों भेदोंका उल्लेख किया है। 'कविप्रिया'के टीकाकार भगवानदीन 'दीन'ने इन दो भेदोंको लिपि-भ्रमके कारण 'अव्ययेत' और 'सव्ययेत'के नामसे लिख दिया है।

लाटानुप्रासमें एकार्थक शब्दोंकी आवृत्ति होती है और यमकमें आवृत्त शब्द या तो निरर्थक होते हैं, अथवा यदि सार्थक हों, तो भिन्नार्थक होते हैं। —वि० स्ना०

यमुना–दे०—'हठयोग'।

यात्रा-साहित्य–मनुष्य-जातियोंका इतिहास उनकी यायावरी प्रवृत्तिसे सम्बद्ध है। सम्भवत यह मानवकी एक मूल प्रवृत्ति है। प्रारम्भमें यह उसके लिए आवश्यक भी थी। परन्तु उसके सौन्दर्यबोधके विकासके साथ चतुर्दिक फैले हुए जगत्का आकर्षण भी उसके लिए बढ़ता गया है। यहाँके देशोंमें विविधता है, ऋतुओंमें परिवर्तन होता है और साथ ही प्रकृतिके रूपोंमें विभिन्नता और सौन्दर्यका वैचित्र्य है। इसके अतिरिक्त सर्जनमें स्वत एक गति है जिसके साथ ताल मिलाकर चलना स्वत एक उल्लास है। इस प्रकार सौन्दर्यबोधकी दृष्टिसे उल्लासकी भावनासे प्रेरित होकर यात्रा करनेवाले यायावर एक प्रकारसे साहित्यिक मनोवृत्तिके माने जा सकते हैं और उनकी मुक्त अभिव्यक्तिको यात्रा-साहित्य कहा जाता है। साहित्यिक यायावरको एक अद्भुत आकर्षण अपनी ओर खींचता है, वह मन्त्र-मुग्धकी भाँति उसकी ओर खिंच जाता है। संसारके लोग इस पुकारको सुन नहीं पाते या सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं। वे चलते हैं, यात्रा करते हैं, पर वे तेलीके बैलकी तरह अपने भारके साथ कोल्हूके चारों ओर घूमनेमें ही अपने परिश्रमकी सार्थकता मान बैठते हैं। पर साहित्यिक यायावर मुक्त मनोवृत्तिके साथ घूमता है, उसकी यात्रा–घुमक्कड़ीका अर्थ अपने आप पूर्ण होता है।

संसारके बड़े-बड़े यायावर अपनी मनोवृत्तिमें साहित्यिक थे। फाहियान, ह्वेनत्सांग, इत्सिंग, इब्न बतूता, अलबरूनी, मार्कोपोलो, बर्नियर और टैवर्नियर आदि जितने प्रसिद्ध घुमक्कड़ हुए हैं अथवा देश-विदेशके साहसी अन्वेषक हुए हैं, सबमें साहित्यिक यायावरका रूप रक्षित है। वे नि सग-भावसे घूमते रहे हैं, घूमना ही उनके लिए प्रधान उद्देश्य रहा है। यात्रा करने मात्रसे कोई साहित्यिक यायावरकी संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता और न यात्राका विवरण प्रस्तुत कर देना मात्र यात्रा-साहित्य है। पिछले युगोंके यात्रियोंमें राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टिको प्रधानता मिली है, परन्तु इनके बीचमें ऐसे संस्मरणीय अंश भी हैं जिनसे उनकी आन्तरिक प्रेरणाका आभास मिल जाता है। भारतमें यात्रियोंकी कमी नहीं रही है, क्योंकि तिब्बत, चीन, ब्रह्मा, मलाया और सुदूर पूर्वके द्वीपोंमें भारतीय धर्म और संस्कृतिका सन्देश इन यात्रियोंके पीछे गया होगा, पर भारतीय दृष्टिमें इतिहास, विवरण, संस्मरण तथा आत्मचरितके प्रति विचित्र अनास्था आरम्भसे रही है। सम्भवत यही प्रधान कारण है कि भारतीय साहित्यमें उपर्युक्त अंगोंके साथ यात्रा-विवरणोंका नितान्त अभाव है। परन्तु कालिदासके विभिन्न देशों तथा प्रकृतिके

रूपोंके वर्णनोंसे उनकी यायावरी मनोवृत्तिका परिचय मिलता है। बाणकी घुमक्कड़ प्रवृत्तिकी अभिव्यक्ति उनके 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी'के देश-देशकी प्रकृति और नाना प्रकारके लोगोंके वर्णनोंमें हुई है।

आधुनिक हिन्दी साहित्यमें यह साहित्यिक रूप भी कई अन्य रूपोंके साथ पाश्चात्य साहित्यके सम्पर्कमें आनेके बाद ही विकसित हुआ है। प्रारम्भिक लेखकोंने यात्रा विवरण लेखरूपमें प्रस्तुत किये हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने इस प्रकारके उल्लेख किये हैं। परन्तु यात्रा-साहित्यका विकास शुद्ध निबन्धोंकी शैलीसे माना जा सकता है। निबन्ध-शैलीके व्यक्तिपरकता, स्वच्छन्दता तथा आत्मीयता आदि गुण यात्रा-साहित्यमें भी पाये जाते हैं। निबन्धकार जिस प्रकार अपने विषयको अपनी मानसिक सवेदक स्थितिमें ग्रहण करता और उसीकी प्रेरणासे विस्तार भी देता है, बिलकुल उसी प्रकार यात्री भी अपनी यात्राके प्रत्येक स्थल और क्षणोंमेंसे उन्हीं क्षणोंको सँजोता है जिनको वह अनुभूत सत्यके रूपमें ग्रहण करता है। वह सर्वसाधारणकी दृष्टिसे प्रत्येक बातका विवरण देकर नहीं चलता और यदि विवरण तथा विस्तार देना ही होता है तो वह उन्हे अपने भावावेशमें प्रस्तुत करता है अथवा आत्मीयताके वातावरणमें उपस्थित करता है। यात्री अपने साहित्यमें संवेदनशील होकर भी निरपेक्ष रहता है। ऐसा न होनेपर यात्राके स्थानपर यात्रीके अधिक प्रधान हो उठनेकी सम्भावना है। यात्रामें स्वत स्थान, दृश्य, प्रदेश, नगर, गाँव मुखरित होते हैं, उनका अपना व्यक्तित्व उभरता है। इस पथपर मिलनेपर मिलनेवाले नर-नारी, बच्चे-बूढे अपने नानाविध चरित्रोंके साथ उनके व्यक्तित्वको अधिक स्पन्दित और मुखरित करते हैं। मार्गमें पड़नेवाले मन्दिरों, मसजिदों, मीनारों, विजय-स्तम्भों, स्मारकों, मकबरों, किलों और पुराने महलोंसे संस्कृति, कला और इतिहासके उपकरणोंको जुटाकर यात्राकी पीठिका तैयार होती है। फिर भी अपनेको अदृश्य भावसे सर्वत्र रखना ही होता है, यात्री अपनी यात्राको मानसिक प्रतिक्रियाओं रूपमें ही ग्रहण करता है। अपनेको केन्द्रमें रखकर भी प्रमुख न होने देना साहित्यिक यायावरका कर्तव्य है, क्योंकि यदि लेखकका व्यक्तित्व उभरेगा तो अन्य सब गौण हो जायगा और यात्रा-साहित्य न होकर आत्मचरित ही रह जायगा, यात्रा-संस्मरण न रहकर आत्म-संस्मरण हो जायगा।

यात्रीमें प्रगीतोंके गायकोंका भावावेश और निबन्धकार-की मस्ती रहती है। वह लापरवाही और मौजसे जीवनके प्रति एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। इस बातको आधुनिक यात्रा साहित्यके यात्रियोंने मुक्त कण्ठसे घोषित भी किया है। राहुलके अनुसार 'जिसने एक बार घुमक्कड़ धर्म अपना लिया, उसे पेंशन कहाँ, उसे विश्राम कहाँ? आखिरमें हड्डियाँ कटते ही बिखर जायँगी।' (किन्नर देशमें)। देवेन्द्र सत्यार्थी यात्राके आह्वानको सुन रहे है, 'मेरा पथ मेरे सामने है। मैं जीवित मानवका पक्ष लेता हूँ। 'जीवन आज उसी यात्राके लिए आह्वान कर रहा है।' (रथके पहिये)। देवेशचन्द्र दास यात्राको मुक्तिके रूपमें ग्रहण करते है,'आज छुट्टी है, छुट्टी। मन ही मन जिस वसन्त-व्याकुलताका अनुभव करता था उससे आज बन्धनमुक्त होऊँगा। कामकी बाधा दूर हो गयी, वह किसी प्रकार क्यों न हुई हो—आँधीमें उड़कर अथवा वर्षामें घुलकर—और मैं अनिर्दिष्ट पथपर बाहर निकल आया हूँ।' (यूरोपा)। अज्ञेय जीवनको यायावरका चिरन्तन पथ मानकर कहते हैं, 'यायावरको भटकते चालीस बरस हो गये, किन्तु इस बीच न तो वह अपने पैरों तले घास जमने दे सका है, न ठाठ जमा सका है, न क्षितिजको कुछ निकट ला सका है उसके तारे छूनेकी तो बात ही क्या। यायावरने समझा है कि देवता भी जहाँ मन्दिरोंमें रुके कि शिला हो गये, और प्राण-सचारकी पहली शर्त है गति। गति। गति।' (अरे यायावर, रहेगा याद)।

यात्रा-साहित्य विभिन्न शैलियोंमें लिखा गया है और उसके विभिन्न रूप पाये जाते हैं। इस विषयमें कुछ ऐसा साहित्य है जो केवल यात्रोपयोगी साहित्य कहा जा सकता है और जिसका उद्देश्य विभिन्न देशों अथवा स्थानोंका विस्तृत और व्यापक परिचय देना रहता है। इनमें भी कुछ परिचयात्मक अधिक रहता है और कुछ यात्राके लिए अन्योंको प्रेरणा देनेके लिए होता है। राहुल साकृत्यायन (हिमालय-परिचय, मेरी यूरोप-यात्रा आदि), स्वामी प्रणवानन्द (कैलास-मानसरोवर), शिवनन्दन सहाय (कैलास-दर्शन), गोपाल नेवटिया (भूमण्डल-यात्रा), भिक्षु धर्मरक्षित (नेपाल-यात्रा, लका-यात्रा) आदिका यात्रा-साहित्य इस कोटिमें आता है। परन्तु इनके यात्रा-वर्णनोंमें भी स्थान-स्थानपर भावावेग, उल्लास, आत्मीयता आदिकी अभिव्यक्ति पायी जाती है। कुछ यात्रियोंका उद्देश्य देश-विशेषके व्यापक जीवनको उसके सम्पूर्ण परिप्रेक्षमें उभारना रहता हैं। इनमें सत्यनारायण (आवारेकी यूरोप-यात्रा), यशपाल (लोहेकी दीवारके दोनों ओर), जगदीशचन्द्र जैन (चीनी जनताके बीच), राजवल्लभ ओझा (बदलते दृश्य), गोविन्द दास (सुदूर दक्षिण-पूर्व) आदि लेखक हैं। इन्होंने देशके प्राकृतिक रूप और सास्कृतिक जीवनको एक साथ अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न किया है, देशकी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थितियोंपर अपने निजी विचारों या प्रभावोंको व्यक्त किया है। इन लेखकोंकी शैली प्राय यथार्थ चित्रणकी है और ये क्रमश यात्रामें पड़नेवाले नगरों, स्थानों, दृश्योंका वर्णन प्रस्तुत करते चलते हैं और उन स्थानोंके जीवनपर भी प्रकाश डालते हैं। परन्तु इनमे कई स्थलोंपर लेखक अपने प्रभावों और भावात्मक प्रतिक्रियाओंका भी समावेश करता है।

अधिकतर यात्रा-साहित्य संस्मरणात्मक होता है और इसमें यात्री अपने प्रभावों, प्रतिक्रियाओं और सवेदनाओंको महत्त्व देता है। भगवतशरण उपाध्याय (वो दुनिया), अमृतराय (सुबहके रग), रागेय राघव (तूफानोंके बीच) तथा रामवृक्ष बेनीपुरी (पैरोंमें पख बाँधकर तथा हवापर) आदि इसी कोटिके लेखक हैं, जिन्होंने अपनी यात्रामें अपनी दृष्टि, अपनी प्रतिक्रियाओं तथा संवेदनाओंको अधिक महत्त्व दिया और देशके जीवन, परिस्थितियों तथा पात्रोंको इसी दृष्टिसे देखा है। इसी कारण अपेक्षाकृत इन कृतियोंमें अधिक साहित्यिक आकर्षण है। कुछ यात्री प्रकृति-सौन्दर्य तथा उसके जीवनसे अधिक आकर्षित तथा अभिभूत होते हैं, उनके साहित्यमें उसीकी अभिव्यक्ति

प्रधान होती है। काका कालेलकरकी 'हिमालय-यात्रा', हसकुमार तिवारीका 'भूस्वर्ग कश्मीर', श्रीनिधकी 'शिवालककी घाटियोंमें अधिकतर यही सौन्दर्य है। सामान्यत यात्रा-साहित्यमें प्रकृतिका सौन्दर्य सर्वत्र एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कुछ ऐसे यायावर हैं जो अपने यात्रा-साहित्यको समग्र जीवनकी अभिव्यक्तिके रूपमें ग्रहण करते हैं। उनके लिए प्रकृति सजीव है, यात्रामें मिलनेवाले पात्र आत्मीय, स्वजन हो जाते हैं। वे देशकी आत्माका साक्षात्कार करते हैं। वे देश-देशमें बिखरे हुए इतिहासको, संस्कृतिको, समाजको अपनी अनुभूतिका अग बनाकर अभिव्यक्त करते हैं। उनके यात्रा-साहित्यमें महाकाव्य और उपन्यासका विराट् तत्त्व, कहानीका आकर्षण, गीतिकाव्यकी मोहक भावशीलता, संस्मरणोंकी आत्मीयता, निबन्धोंकी मुक्ति, सब एक साथ मिल जाती है। उत्कृष्ट यात्रा-साहित्य ऐसा ही होता है। अज्ञेयके 'अरे यायावर, रहेगा याद'में ऐसा ही सौन्दर्य तथा आकर्षण है। इसके साथ देवेशचन्द्र दासकी 'यूरोपा' तथा 'रजवाडे', मोहन राकेशकी 'आखिरी चट्टान-तक' आदिका नाम भी लिया जा सकता है। —र०

युक्ति–साधर्म्य-बीज अर्थालकार। अपने मर्मको छिपानेके लिए क्रिया द्वारा दूसरेका वचन 'युक्ति' अलकार है। जयदेवने इसका लक्षण-निरूपण करते हुए लिखा कि उत्कृष्ट धर्मके सम्बन्धसे उपमानमें उपमेयकी अपेक्षा किसी चमत्कारी अर्थकी सिद्धि युक्ति है (चन्द्रालोक • ३ • ९)। जयदेवका युक्तिका लक्षण अन्य आचार्योंके 'व्यतिरेक' नामक अलकारसे मिलता-जुलता है। अप्पय दीक्षितने युक्ति नामक अलकार माना है, जिसका लक्षण है 'युक्ति परातिसन्धान क्रियया मर्मगुप्तये' (कुवल० १५६)। दीक्षितकी युक्ति व्याजोक्तिके समान ही है, परन्तु व्याजोक्तिमें गोपन उक्ति द्वारा होता है, युक्तिमें क्रिया द्वारा, व्याजोक्तिमें आकार-गोपन होता है, युक्तिमें अनुराग आदिका गोपन।

हिन्दीके मतिराम, दास, पद्माकर आदि आचार्योंने अप्पय दीक्षितके आधारपर स्वीकार किया है–'मरम छिपावनको जहाँ क्रिया आन सन्धान।' (ल० ल० • ३६८) अथवा–'क्रिया चातुरीसों जहाँ, करे बातको गोप।' (का० नि० १६)। आधुनिक विवेचकोंने इसे स्वीकार नहीं किया है। परन्तु रीतिकाव्यके अन्तर्गत नायिका-वर्णनों(मुग्धा, प्रवत्स्यत्पतिका)में इसका बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। उदा०—'गेह चलीं सखियाँ सिगरी चित सुन्दर साँवरे रूप लुभायो। आँखिन पूरि कटीले कपोलन कण्टक कोमल पाँइ चुभायो।' (ल० ल० ३६७)। परन्तु तुलसीके इस वर्णनमें इसका सुन्दर और सहज प्रयोग है—'बहुरि बदन बिधु अचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी। खजन मजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिनहि सिय सयननि।' (रा० च० मा० • २ • ११६)। —ओ० प्र०

युगनद्ध–बौद्ध धर्ममें तान्त्रिक प्रवृत्तियोंका प्रवेश होनेके बाद शिव और शक्तिके सम्मिलनके समानान्तर युगनद्धकी कल्पनाका विकास हुआ। 'पंचक्रम'मे युगनद्धकी व्याख्या तत्त्वदर्शनके आधारपर करते हुए कहा गया है कि 'पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्यकी एकता ही युगनद्ध है, सवृत्ति और परमार्थकी एकता युगनद्ध है, करुणा और उपायका एकता युगनद्ध है।' 'अद्वयवज्रसग्रह'में शून्यता और करुणाके ऐकात्म्यको युगनद्धकी सज्ञा दी गयी है—'शून्यता नारी है और करुणा पुरुष, और दोनोंका अद्वय ही युगनद्ध है, वही धर्मकाया है।' इसी सिद्धान्तके अनुसार विभिन्न वज्रयानी देवताओंको अपनी शक्तियोंके साथ समागम करते हुए वर्णित किया गया है। भगवान् वज्रधर अपनी शक्ति भगवती प्रज्ञा(नैरात्मा, वज्रवाराही, वज्रधात्वीश्वरी)के साथ रहते हैं। हेरुक अपनी शक्ति वज्रवैरोचनीके आलिंगनमें आबद्ध हैं। पाँच ध्यानी बुद्ध अपनी-अपनी भार्याओंके साथ अद्वयस्थितिमें हैं (दे०—'बौद्ध भार्याएँ')। इन मूर्तियोंको तिब्बतमें 'यब-युम' कहते हैं। साधक भी जब वज्रधरकी अवस्थामें पहुँच जाता है तो अपनी मुद्राके साथ मैथुन-साधनामें प्रवृत्त हो युगनद्ध-साधना करता है। इसीको **प्रज्ञोपाय साधना** भी कहा गया है। —ध० वी० भा०

युगसत्य–जर्मन शब्द 'जाईटजीस्ट' (कालकी आत्मा) या युग-चिन्ताके अर्थमें आजकल हिन्दीमें यह शब्द प्रयुक्त होता है। परन्तु 'युग' शब्दके काल सापेक्ष होनेसे यह कहना कठिन है कि निश्चित रूपसे युगसत्य एक राष्ट्र या समाज-विशेषके लिए कौन-सा है? द्विवेदी-युगके सत्य क्या छायावादी युगमें नष्ट हो गये या छायावादी युगसत्य प्रगतिवादी युगसत्यमें बदल गया? सत्य इस प्रकारसे अपना चोला नहीं बदला करता। सत्य यदि विवेकाश्रित कोई आस्था है तो प्रगतिमान् हो सकता है, ऊर्ध्वगामी हो सकता है, बढ सकता है, विकसित हो सकता है, पर पूर्णत नष्ट होकर, केंचुल बदलकर नयी केंचुल धारण करे, ऐसा कम होता है। अत युगसत्यको समझने या परखनेमें जल्दबाजी नहीं की जा सकती, क्योंकि इस प्रकारसे यदि किसीके लिए गान्धीवाद युगसत्य हो जाता है, तो कुछ दिनों बाद मार्क्सवाद या अरविन्दवाद भी सहज, सुविधाके अनुसार युगसत्य बनता जाता है। युगसत्यके साहित्यमें तबतक कोई अर्थ नहीं है जबतक वह व्यक्तिका अपना निजी सत्य नहीं हो जाता। —प्र० मा०

युद्धवीर–दे०—'वीर रस'।

योग–'योग' शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें होता है—(क) योगका सामान्य अर्थ 'सम्बन्ध' है। (ख) दर्शनमें योग प्राय जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धको कहते हैं। इस सम्बन्धको प्राप्त करनेके उपायको भी योग कहा जाता है। इस अर्थमें योग शब्द मार्ग या प्रणालीका पर्याय है, जैसे, भक्तियोग या भक्तिमार्ग, ज्ञानयोग या ज्ञानमार्ग, कर्मयोग या कर्ममार्ग। (ग) योग चित्तवृत्तिके निरोधके अर्थमें अब रूढ हो गया है। पतंजलि(२ शती ई० पू०)ने सर्वप्रथम योगसूत्रकी रचना की, जिसमें इन्होंने ऐसे ही योगको परिभाषित किया 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध।' पतजलिके योगको राजयोग भी कहा जाता है। राजयोगसे भिन्न हठयोग है, जिसका मूल तन्त्र-ग्रन्थोंमें है। योगके ये ही दो भेद अधिक प्रचलित हैं, यद्यपि योगकी प्रणालियाँ अनेक हैं।

कुछ लोगोंने योगको वेदमूलक माना है, कुछने इसे

जैनागमोंसे निकला बताया है, कुछने बौद्ध-दर्शनसे इसका सम्बन्ध जोड़ा है और अन्तमें कुछ लोगोंने योगकी इन सबसे स्वतन्त्र परम्परा प्राचीन कालसे ही आजतक मान रखी है। प्राय यह माना जाता है कि उक्त चारों परम्पराओंमें चार प्रकारके योग हैं। राजयोग वैदिक है, तो हठयोग किसी स्वतन्त्र परम्पराका है, जिसे हम तन्त्र-शास्त्र कहते हैं। जैन और बौद्ध योगोंको इन दो योगोंसे भिन्न समझना चाहिये। राजयोग और हठयोग, दोनोंके स्वतन्त्र प्रवाह आद्योपान्त चलते रहे, कभी-कभी कुछ साधनोंमें दोनोंका मेल हो जाता था। जहाँ दोनोंका समन्वय होता था वहाँ यह जाना जाता था कि हठयोग प्रथम सोपान या साधन है तो राजयोग द्वितीय सोपान या साध्य। हठयोगका सम्बन्ध अधिकतर शरीर-विकास और कायाकल्पसे है और राजयोगका सम्बन्ध मुक्ति या मोक्षसे है। हिन्दीके सन्तोंने राजयोग-प्राप्त समाधिको सहज समाधि कहा और हठयोगसे प्राप्त समाधिको हठ-समाधि कहा। गोरखपन्थी योगियोंको हठयोगी समझा जाता है और निर्गुणसन्तों तथा अद्वैतवादियोंको राजयोगी।

योगसूत्रमें चार पाद हैं। निश्चलदासने अपने 'विचारसागर'में इसके राजयोगको सक्षेपमें व्यक्त किया है, 'प्रथम पादमें चित्तवृत्तिका निरोधरूप समाधि और ताके समाधान, अभ्यास, वैराग्यादिक कहे हैं। तैसे चित्तविक्षिप्त समाधिके साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ समाधिके अंग द्वितीय पादमें कहे हैं, तृतीय पादमें योगकी विभूति कही है, चतुर्थ पादमें योगका फल मोक्ष कहा है। इस रीतिसे योगशास्त्र भी ज्ञानसाधन, निदिध्यासनकूँ सम्पादन द्वारा मोक्षका हेतु है।' अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ये पाँच यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम हैं। स्थिर तथा सुखपूर्वक बैठनेके प्रकारको आसन कहते हैं, 'स्थिर-सुखमासनम्'। श्वास प्रश्वासकी गतिका विच्छेद प्राणायाम है। यह चार प्रकारका होता है, रेचक (कोष्ठ्य वायुको बाहर निकालकर बाहरीको रोक देना), पूरक (नासारन्ध्रसे बाहरी वायुको बाहर निकालकर बाहरीको रोक देना)), कुम्भक (एक ही प्रयत्नसे वहाँ श्वास-प्रश्वासकी गति रोकी जाय) और केवल कुम्भक। इन्द्रियोंको उनके विषयोंमें हटाकर निरुद्ध करना प्रत्याहार है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरंग साधन हैं। अन्तिम तीन ध्यान, धारणा और समाधि अंतरंग साधन हैं।

'देशबन्धस्य चित्तस्य धारणा' अर्थात् किसी स्थानपर चित्तको लगाना धारणा है। उस स्थानपर ध्येय वस्तुका ज्ञान जब एकाकार रूपसे प्रवाहित होता है और उसे दबानेके लिए कोई अन्य ज्ञान नहीं होता तब इसे ध्यान कहते हैं। जब ध्यान और ध्येय वस्तु एकमेल हो जाते हैं तो उसे समाधि कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है—सम्प्रज्ञात समाधि, जिसमें ध्येय वस्तुका ज्ञान बना रहता है और असम्प्रज्ञात समाधि, जिसमें ध्येय, ध्यान तथा ध्याताका ऐकात्म्य हो जाता है। पहलीको सबीज या सविकल्पक समाधि भी कहते हैं और दूसरीको निर्बीज या निर्विकल्पक।

योगका तत्त्ववाद सेश्वरसाख्य है। यहाँ ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशयसे शून्य पुरुषविशेष है।

सूरदासने अष्टागयोगसाधनाको भक्तिका साधन बताया है—'भक्तिपन्थ मौं जो अनुसरै। सो अष्टाग योगकौं करै। यम नियमासन प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम। प्रत्याहार धारना ध्यान। करै जु छाँडि बासना आनि। क्रम-क्रम सौं पुनि करै समाधि। सूर स्याम भजि मिटै उपाधि।' पर इन्हीं सूरदासने गोपियोंसे योगका खण्डन कराया है—'ए अलि कहा जोगमैं नीको। तजि रस रीति नन्दनन्दनकी, सिखवत निरगुन फीकौ।' (सू० सा०, १०) और 'फिरि-फिरि कहा सिखावत मौन। बचन दुसह लागत अलि तेरे, ज्यौं पजरेपर लौन। सृंगी, मुद्रा, भस्म, त्वचामृग, अरु अवराधन पौन।' (वही)।

इससे स्पष्ट है कि सूरदासको पातंजल सेश्वर योग इष्ट है, पर निरीश्वर योग तथा हठयोग इष्ट नहीं है।

गोरखनाथ हिन्दीमें हठयोगके प्रवर्तक हैं। उनके नाथसम्प्रदायके कनफटा जोगी हठयोगी ही हैं। इसके अनुसार महाकुण्डलिनी शक्ति विश्वमें व्याप्त है। व्यक्तिमें इसके रूपको कुण्डलिनी कहते हैं जो अग्निचक्रमें रहती है। व्यक्तिमें प्राणके साथ यह जन्मना आती है। अग्निचक्रके ऊपर मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपुरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धाख्यचक्र, आज्ञाचक्र और सहस्रार-चक्र हैं। अन्तिमको शून्यचक्र या कैलास भी कहते हैं। यहाँ सदा अमृत चूता रहता है। योगीका कर्तव्य साधना द्वारा कुण्डलिनीको जगाकर क्रमश इसी चक्रतक ले जाना और अमृत पिलाना है। शरीरमें ७२ हजार नाड़ियाँ हैं, पिंगला, सुषुम्ना आदि। सुषुम्ना शाम्भवी शक्ति है। इसीके बीचसे कुण्डलिनी उठकर ऊपर जाती है। उसके उठनेपर शब्द होता है, जिसे 'नाद' कहते हैं और नादसे प्रकाश होता है जिसके प्रकट रूपको बिन्दु कहते हैं। कुण्डलिनीको जगानेके लिए धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति, इन ६ कर्मोंसे शरीरको शुद्ध करना पड़ता है। इनके अतिरिक्त आसनों, मुद्राओं, प्राणायामों, ध्यानों और समाधिको करना पड़ता है।

कबीर कभी कभी हठयोगकी पदावलीका व्यवहार करते हैं, पर उनका मत हठयोगसे भिन्न है। इसकी वे स्पष्ट निन्दा करते हैं।

कबीरका योग पातजल योग तथा हठयोग, दोनोंसे भिन्न है। उनका योग भक्तियोग है और वह भी नामभक्ति ही। हिन्दी निर्गुणोपासक सन्तोंने प्राय कबीरकी निर्गुण-भक्तिके योगको ही अपनाया है। सगुणभक्तोंने भक्ति और पातंजल योगका समन्वय किया है। कुछ सगुणभक्तोंने यद्यपि पातजल योगका अभ्यास नहीं किया, केवल भक्ति की है, पर उन्होंने योगका खण्डन भी नहीं किया।

हठयोग कठिन है। नामभक्तिका योग पूर्ण रहस्यवाद है, जिसको बिरले ही कर सकते हैं। भक्तिके लिए भी पहले अन्त करण-शुद्धि चाहिये। अत पातजल योगकी आवश्यकता है, क्योंकि यह सुगम है और अन्त करण शुद्ध कर देता है। यही कारण है कि वर्तमान युगमें भी इसका

बहुत प्रभाव है। महात्मा गान्धीने भी पातंजल योगको मान्यता दी है।

[सहायक ग्रन्थ—(१) पातंजलयोगदर्शन : गीता प्रेस, गोरखपुर, (२) कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी, (३) विचार-सागर : निश्चलदास]। —ह० ला० पा०

योग-अग्नि—साधक अपने शरीरसे एक ऐसी शक्ति या ज्वाला उत्पन्न कर लेता है, जिसमें वह स्वयं जलकर भस्म हो जाता है। यह परम्परा साहित्यमें काफी दूरतक चली है। 'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। भयउ सकल मख हाहाकारा (रा० च० मा०) —उ० शं० शा०

योगधारा—दे०—'नाथ-साहित्य'।

योगमाया—'भगवद्गीता के सातवें अध्यायमें भगवान् कृष्ण कहते हैं—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥' अर्थात् 'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके सम्मुख प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, अतः यह अज्ञानी जन मुझ अजन्मा, अविनाशीको नहीं जानता है।' यहाँ उस नाम गुण-रूपात्मक आवरणको योगमाया नामसे अभिहित करते हैं जिसे 'इच्छा-द्वेषसे उत्पन्न हुए द्वन्द्व-मोहसे आवृत प्राणी' हटाकर तत्त्वरूपको नहीं देख पाते हैं। यह गुणमयी (सत्त्व, रज, तम—तीन गुणोंसे युक्त) माया दुस्तर है तथा इसे तरनेमें वे ही समर्थ हैं जो भगवान्‌को ही निरन्तर भजते हैं (गीता, ७, १४)। **भागवत धर्मके** शास्त्रीय विवेचनमें आचार्योंने भगवान्‌की इस मायाको प्रायः दो रूपोंमें देखा है। एक वह है जो अज्ञान या अविद्याजन्य है। यह मिथ्या है और मात्र भ्रम जन्य है। वल्लभाचार्य इसे अविद्या-माया और अहन्ता-ममतामय मिथ्या संसारको जन्म देनेवाली कहते हैं। परन्तु अद्वैतमें प्रायः विशिष्टता, शुद्धता या द्वैताद्वैतता-परक-विश्वास करते हुए भी वे आचार्य जगत् या व्यक्त प्रकृतिकी ब्रह्ममयी सत्ताको स्वीकार करते हैं और उसे ही ब्रह्मकी शक्तिरूपा माया मानते हैं। इसी माया-शक्तिके रूप ब्रह्म लीला-विलासके लिए एकसे अनेक होनेकी इच्छापूर्ण करता है और नाना रूपात्मक जगत्‌के रूपमें अंशतः व्यक्त होता है। इस मायाको जो सच्चे रूपमें, अर्थात् ब्रह्मकी शक्तिके रूपमें जान लेते हैं वे ही ज्ञानी हैं और जो इसके बाह्य नाम, रूप और गुणके द्वारा मोहमें पड़ जाते हैं वे मूढ़ या अज्ञानी हैं।

विशिष्टाद्वैतवादके अनुसार यह नानारूपात्मक प्रकृति जड अक्षर ब्रह्मका एक व्यक्त रूप है। परन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम आनन्दरूप श्रीकृष्ण परब्रह्म भी, जो गोलोकमें अपनी नित्य आनन्दकी क्रीडामें मग्न रहते हैं, ब्रजमण्डल वृन्दावन धाम-में पृथ्वीपर अवतरित होकर अपनी आनन्दमयी लीलाका विस्तार करते हैं। लीला-विलासके लिए वे अपनी ही आनन्दिनी या आह्लादिनी शक्तिको राधाके रूपमें व्यक्त करते हैं। यह आह्लादिनी शक्ति कृष्ण पुरुषकी अभिन्न प्रकृति उन्हींकी माया या योगमाया है, जो उनसे अभिन्न है। राधा और कृष्ण तो एक हैं ही, गोपियाँ और गोप भी उनकी इसी माया नामक शक्तिका विस्तार ही हैं। सूरदासने कृष्णकी मुरली(दे०)को भी उनकी योगमायाके रूपमें चित्रित किया है। 'श्रीमद्भागवत'में भी कृष्णकी मुरली कृष्णसे अभिन्न उनकी आकर्षणशक्तिके प्रतीकके रूपमें वर्णित की गयी है, परन्तु सूरदासने मुरलीके प्रभावका अत्यन्त अलौकिक और विस्मयजनक वर्णन किया है, जिससे यह सन्देह नहीं रहता कि वे उसे कृष्णकी योगमाया शक्तिके रूपमें ही कल्पित करते हैं। दानलीलामें एक स्थलपर कृष्ण अपनी कमरीके सम्बन्धमें गोपियोंसे कहते हैं—'इस कमरीको कमरी समझती हो। जिसकी जितनी बुद्धि होती है वह उसे उतना ही समझ पाता है। इसके एक रोमपर चीर-पटम्बर निछावर हो सकते हैं। तुम इसकी निन्दा करती हो। यह तीन लोककी आडम्बर है। इसी कमरीके बलसे असुरोंका संहार किया है, इसी कमरीसे सब योग किये हैं। यही मेरी जाति-पाँति, यही सब योग है।' योगमायाका आवरण, जिसका उल्लेख कृष्णने गीतामें किया है, अज्ञानियोंको भ्रममें डालता है, परन्तु भक्तोंके लिए वही प्रेमका अतीव आकर्षण बन जाता है। इसीके द्वारा कृष्णने अर्जुनको अपना विस्मयकारी विराट् रूप दिखाया था।

'श्रीमद्भागवत' और अन्य पुराणोंमें यशोदाके गर्भसे उत्पन्न हुई उस कन्याको योगमाया कहा गया है, जिसे वसुदेव कृष्णसे बदल ले गये थे (भागवत : १० ७० ३ : ४७-४८) तथा जिसे कंसने देवकीसे छीनकर शिलाके ऊपर पटका था। वह विष्णुकी अनुजा देवी योगमाया आकाशमें जाकर दिव्यायुधधारिणी अष्टभुजा मूर्तिसे विराजमान हुई तथा कंसको चेतावनी देकर अन्तर्हित हो गयी और वाराणसी आदि अनेक स्थानोंमें अनेक नामोंसे प्रसिद्ध होकर अवस्थित हुई (वही ४ ९ १२)। वैष्णव पुराणोंमें इस प्रकारके और भी सन्दर्भ हैं, जिनमें शक्तिको कृष्ण(विष्णु)की योगमाया बताया गया है। —ब्र० व०

योग-संप्रदाय—दे०—'नाथ-सम्प्रदाय'।

योग-साहित्य—दे०—'नाथ-साहित्य'।

योगिनी—दे०—'महामुद्रा'।

योगी—दे०—'नाथ'।

यौथिकी (गोपी)—दे०—'गोपी'।

यौन वर्जना—वर्जनाका मनुष्यके मनोवैज्ञानिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकासमें बहुत महत्त्व है। सभी मनो-वैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्यमें स्वाभाविक कामवृत्ति होती है और वह अपने मौलिक रूपमें संयत भी नहीं होती। मनोविश्लेषक तो इस वृत्तिको सर्वव्यापक मानते हैं। परन्तु हमारा नैतिक और सामाजिक वातावरण यौन वृत्तिके नियन्त्रणपर जोर देता है, अतः वर्जनाकी उत्पत्ति होती है। यौन वृत्तिकी तृप्तिकी इच्छाके साथ ही परित्यागकी भी एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, यद्यपि इसमें सुख नहीं मिलता, पर व्यक्ति स्वयं ही कुछ अज्ञात भयोंसे प्रेरित होकर उस ओरसे हट जाता है। यह विराग और परित्याग कई कारणोंसे हो सकता है, पर वे प्रायः अज्ञात रहते हैं, जैसे, व्यावहारिक कठिनाइयाँ, सुपर ईगोका आदेश, सामा-जिक दण्डका भय। इस प्रकार स्वयं व्यक्तिका मानस ही यौन वृत्तिके उच्छृंखल परितोषके विरुद्ध वर्जनाएँ बना लेता है। लेकिन वर्जना यदि 'उच्च अहम्' (सुपर ईगो) द्वारा निर्मित हो तो उसके अनुसार चलनेमें व्यक्तिको सन्तोष ही मिलता है।

वर्जना एक दूसरे प्रकारकी भी हो सकती है, एक वर्बरतायुक्त निषेध जो किसी वाह्य अधिकारी द्वारा व्यक्तिपर लादा गया हो। यह निषेध या वर्जना (taboo) व्यक्तिकी प्रवलतम प्रवृत्तिपर होती है। वर्जनामें कुछ संकटमय, भयानक, कुरूप और निषिद्धका भाव रहता है। धर्म और नीतिके प्रभावसे कुछ यौन वर्जनाएँ सभीके लिए स्वाभाविक हो गयी हैं और इनके विरुद्ध जानेका विचार-मात्र भयानक लगता है, पाप लगता है। मनोविश्लेषकोंके अनुसार इस प्रकारकी वर्जनाओंका उल्लंघन करनेकी इच्छा भी अचेतन रूपसे सदा उपस्थित रहती है। वर्जनाका पालन स्वाभाविक परित्याग (instinctive renunciation)की प्रवृत्तिके कारण होता है। व्यक्ति सामान्य धार्मिक, सामाजिक, नैतिक वातावरणमें विशेष वर्जनाएँ या निषेध आरोपित कर लेता है और उनका पालन उतनी ही कट्टरतासे करता है, जितनी कट्टरतासे वर्बर जातियाँ अपनी जातिगत वर्जनाओंका करती हैं। इन वर्जनाओंकी उत्पत्ति रहस्यमय होती है और उसमें किसी वाह्य दण्डका अनावश्यक भय होता है, क्योंकि व्यक्तिके मनमें भय रहता है कि उल्लंघन करते ही कुछ अत्यन्त भयानक आपत्ति अवश्य आयेगी। कुछ विशेष मानसिक रोगियोंमें अत्यन्त विचित्र प्रकारकी वर्जनाएँ देखी जाती हैं। कभी-कभी वर्जनाका थोड़ा उल्लंघन करनेके वाद व्यक्ति किसी विशेष क्रिया द्वारा पापका प्रभाव नष्ट करनेका प्रयत्न करता रहता है। इन क्रियाओंको 'आब्सेसिव ऐक्ट्स' कहते हैं। —प्री० अ०

यौन विकृति–स्वाभाविक यौन वृत्ति और यौन व्यापारके स्थानपर अत्यन्त अस्वाभाविक रूपमें यदि मनुष्य यौन तृप्ति पाये तो वही यौन विकृति है। ये विकृतियाँ एक ओर तो दमन, वर्जना और अवरोधका परिणाम हैं और दूसरी ओर स्वाभाविक विकासकी वियोजित या विच्छिन्न (disociated) अवस्थाएँ हैं। अत्यन्त स्वाभाविक यौन व्यापारमें भी मानवीय स्तरपर कुछ विशिष्ट क्रियाएँ हो सकती हैं, पर इन्हें विकृति नहीं मानते। विकृति संज्ञा तभी दी जाती है जब ये क्रियाएँ अत्यन्त प्रवल होकर यौन व्यापारके प्रमुख उद्देश्यकी उपेक्षा कर देती हैं। यौन विकृति दो प्रकारकी हो सकती है–एक तो कामेन्द्रियोंका अन्यथा उपयोग, दूसरे, कामोत्तेजनाके विषयके साथ स्वाभाविक क्रिया न करके अन्य अस्वाभाविक ढंगोंसे तृप्ति पाना। **परपीडन** और **आत्मपीडन** दूसरे प्रकारकी यौन विकृतियाँ हैं। आत्मरति तथा समलिंगी रति सामान्यत काम-विकासकी स्वाभाविक अवस्थाएँ हैं, पर जब व्यक्तिका विकास इन अवस्थाओंमें स्थिर हो जाता है तो ये भी यौन विकृतियाँ मानी जाती हैं।

यौन विकृतियाँ सम्पूर्ण व्यक्तित्वके विकास और संघटनको व्यक्त करती हैं। यदि थोड़ी मात्रामें भी ये उपस्थित हों तो व्यक्तित्व विशेष प्रकारका हो जाता है और वहुत-सी सामाजिक तथा नैतिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी समस्याओंका निरूपण आधुनिक साहित्यमें प्राय होता है। (दे०—'मनोविश्लेषण') —प्री० अ०

यौन वृत्ति–दे०—'मनोविश्लेषण'।

रंगद्वार-कृत्य–रूपकको आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम **कायिक, वाचिक** आदिका अभिनय अवतरित होता है। इससे नाटकके आरम्भकी सूचना होती है।—व० सिं०

रंगमंच–वह मंच जिसपर प्रेक्षकोंके सम्मुख नाटकका अभिनय प्रदर्शित किया जाता है। अब इससे प्रेक्षागृह तथा नाटक, दोनोंका ही बोध होता है। आधुनिक रंगमंचके मुख्यत ४ भाग होते हैं–१ नेपथ्य, २. पार्श्व या पक्ष, ३. दृश्य सामग्री अर्थात् दृश्य नियोजनमें प्रयुक्त वे वस्तुएँ जो आसानीसे मंचपरसे हटायी या उसपर रखी जा सकें, जैसे, मेज, कुर्सियाँ, कृत्रिम वृक्ष, पर्वत आदि और ४ मंचका अग्र भाग जो प्रेक्षकोंको मंचसे पृथक् करता है। —श्या० मो० श्री०

रचना–गद्य अथवा पद्यमें भावों अथवा विचारोंका सबद्ध रूप। अरस्तूने रचनाके दो रूप माने हैं—कविता (पोइट्री) और अभिभाषण (रिटारिक)। इन दोनोंमें भेद यह रखा गया था कि कविता अनुकृति थी और अभिभाषणमें विचारके धारणा-पक्षका प्राधान्य था। वैज्ञानिक रचनाके रूपमें अरस्तूने एक अन्य श्रेणीकी भी योजना की थी। इस प्रकार रचनामें सर्जनात्मक अथवा कल्पनानिष्ठ, प्रेरणात्मक और सूचनात्मक, तीनों प्रकारकी सृष्टियाँ आ जाती हैं, जिनसे क्रमश आनन्द, कर्म और ज्ञानके पक्षोंका समर्थन होता था। सभी गद्य-पद्य-रचनाएँ इन तीनों वर्गोंके अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। सामान्य अर्थोंमें रचनासे निवन्ध या प्रवन्धका वोध होता है, जिनके चार प्रकार या अंग हैं–विवरण, वर्णन, वितर्क और व्याख्या। रचनामें इनमेंसे जिस तत्त्वकी प्रधानता होती है उसीके आधारपर उसका नामकरण होगा। (दे०–'कृति', 'सर्जन') —रा०म०

रचनात्मक शक्ति–कवि, कलाकार, चिन्तक अथवा साहसीकी वह शक्ति है, जिसके द्वारा ये व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्रोंमें अपूर्व और अद्भुत प्रतिमाओंका आविष्कार करते हैं तथा अपने कौशलसे अनुकूल माध्यम द्वारा उन मानसिक अनुभूतियोंको मूर्त करते हैं। यह शक्ति स्वाभाविक अथवा साधना-जन्य हो सकती है। इसके दो रूप होते हैं–कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री–जैसे, बुद्धकी शान्ति, शम दम युक्त अथवा विष्णुकी वैभव, शक्ति-सौम्य-युक्त मूर्तिका शिलाके माध्यमसे निर्माण करनेकी शक्ति। भावयित्री—मूर्तिके दर्शनमें इन आध्यात्मिक विभूतियोंका अनुभव करनेकी शक्ति। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रोंमें भी। —ह० ला० श०

रति–शृंगार रसका स्थायी भाव 'रति' है। 'प्रकृतिवाद'में रतिका अर्थ किया गया है, स्मरप्रिया, कामपत्नी, अनुराग, आसक्ति, क्रीड़ा, रमण, सन्तोष। इस तालिकासे रति शब्दसे व्यंजित तीन प्रसिद्ध अर्थोंकी विज्ञप्ति होती है, प्रथम, रति कामदेवकी पत्नीका नाम है। द्वितीय, रति अनुराग अथवा प्रेमका सूचक है। तृतीय, रति क्रीडा अथवा रमण अर्थात् स्त्री-पुरुषके एक दूसरेके प्रति नैसर्गिक आकर्षणकी एक विशिष्ट प्रकारकी प्रमोदपूर्ण अभिव्यंजनाका वाचक है।

कामदेवकी प्रियाके रूपमें कालिदासने 'कुमारसम्भव'में जो प्रसिद्ध रति विलाप वर्णित किया है उससे रति सहृदय काव्यानुरागियोंके मानसमें इपविष्ट हो गयी है। 'कामसूत्र'में

'काम' शब्दका पहले सामान्य अर्थ 'आत्मासे मुक्त मन द्वारा कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा एव घ्राणका अपने-अपने विषयानुकूल प्रवृत्त होना' वतलाया गया है और पुन 'स्त्री-पुरुषके पारस्परिक स्पर्श द्वारा जनित आभिमानिक सुखोंके विषय-बोध'को प्रधान काम निश्चित किया है। इस प्रकार काम रतिके उपर्युक्त तीसरे अर्थका व्यंजक बन जाता है। अर्थात्, काम और रति रमणेच्छाके सूचक पर्याय बन जाते हैं। रतिका दूसरा अर्थ अनुराग अथवा प्रेम बताया गया है। इस अर्थमें रति व्यापक क्षेत्रमें शासन करती है, वह स्त्री-पुरुषके दैहिक ससर्गकी सकुचित सीमाका अतिक्रमण कर मनुष्य-जीवनके सम्पूर्ण प्रेय और श्रेयकी नियामिका प्रवृत्ति बन जाती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैकडुगलने मनुष्यकी मूल प्रवृत्तियोंमें यौन ससर्गकी प्रवृत्तिको भी परिगणित किया है तथा उससे सम्बद्ध भावको 'लस्ट' (lust) कहा है। फ्रायडका 'लिबिडो' (libido) भी यही 'लस्ट' है, जिसे रतिका समानार्थक समझा गया है। यह 'लिबिडो' परिष्कृत होकर व्यापक प्रेमका स्वरूप ग्रहण कर लेता है। रतिके जो अर्थ ऊपर दिये गये हैं, उनमें भी उनके विकसित होने एव विषयके अनुकूल स्वरूप ग्रहण कर लेनेका भाव सन्निहित है।

साहित्यशास्त्रियोंने रतिकी परिभाषामें कहीं-कहीं उसके व्यापक अर्थकी ओर भी सकेत किया है। 'नाट्य-शास्त्र'में रतिको 'आमोदात्मक भाव' बताकर उसे 'इष्टार्थ विषयकी प्राप्ति'से उत्पन्न कहा गया है। मम्मटका कथन है कि—'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जित । भाव प्रोक्त । आदि शब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया । कान्ताविषया तु व्यक्ता शृगार ।' (का० प्र० ४ . ३५ तथा वृ०) अर्थात् देवता आदिके विषयमें उत्पन्न होनेवाली रति (प्रीति) और अंजित (प्रधानतया व्यक्त) व्यभिचारीको भाव नामसे पुकारते हैं। मूल कारिकामें 'आदि' शब्दसे मुनि, गुरु, नृप, पुत्र, शिष्य आदि विषयिणी रति (प्रीति) समझनी चाहिये। कान्ताविषयिणी प्रधानतया वर्णित (व्यक्ता) रति तो शृगार ही है।

यहाँ मम्मटने रतिका व्यापक अर्थ लिया है तथा कान्ताविषयक रतिको शृगारका साध्य कहा है। विश्वनाथ प्रिय वस्तुमें मनके प्रेमपूर्ण उन्मुख होनेको रति मानते हैं—'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनस प्रवणायितम् ।' (सा० द० . ३ १७६)। मनोनुकूल अर्थकी सीमा निश्चय ही व्यापक है, यद्यपि उसमें स्त्री-पुरुषकी एक-दूसरेके प्रति मानसिक अनुकूलताका भाव भी समाविष्ट है।

सुधासागरकारने रतिको उस सकुचित अर्थमें ग्रहण किया है जिस अर्थमें वह शृगारी काव्यमें चित्रित हुई है—'स्मरकरन्वितान्त करणयो स्त्रीपुंसो परस्पर रिरसा रति स्मृता ।' अर्थात्, स्त्री-पुरुषके कामवासनामय हृदयकी परस्पर रमणेच्छाका नाम 'रति' है, पण्डितराजने भी कहा है कि स्त्री-पुरुषकी एक-दूसरेके विषयमें प्रेम नामक जो चित्तवृत्ति होती है, उसे 'रति' स्थायी भाव कहते हैं।

हिन्दी आचार्योंमें देवने 'प्रेमचन्द्रिका'में पाँच प्रकारके प्रेमका वर्णन किया है, यथा—'सानुराग प्रेम जो शृंगारमय कहा गया है, सौहार्द जो इष्ट-मित्र, स्वजन-परिजनमे सम्बन्धित है, भक्ति; वात्सल्य तथा दु खसे आर्द्र होकर किया गया प्रेम जो 'कार्पण्य' कहा गया है। उसमें सानुराग प्रेम अर्थात् शृगारपूर्ण प्रेमके सम्बन्धमें 'रति'को स्थायी भाव कहा गया है, यथा—'प्रेमाकुर सो रति कहत रस-सिंगार थिति भाव ।' (भ० वि०)। उपर्युक्त विवेचनमे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि रतिके क्षेत्रमें देवादि-विषयक प्रीतिको भी समाविष्ट किया गया है, तथापि शृगार रसका स्थायी भाव बताकर उसे स्त्री-पुरुष विषयक रमणमूलक स्वाभाविक मनोवेगके ही रूपमें अन्तिम स्वीकृति मिली है। भरतका कथन है कि यह आमोदात्मक भाव ऋतु, माल्य, अनुलेपन, आभरण द्वारा उत्पन्न होता है तथा स्मित आनन, मधुर वचन, भ्रूक्षेप, कटाक्ष इत्यादि अनुभावों द्वारा प्रकाश पाता है।

'हरिऔध'ने 'रसकलश'में तीन प्रकारकी रति बतायी है—१ उत्तम रति, अर्थात् सदा एकरस रहनेवाली अनन्य प्रीति, २. मध्यम रति, अर्थात् अकारण परस्पर प्रीति, जिसम मैत्रीभावकी प्रधानता होती है तथा ३. अधम रति, अर्थात् जिसमें स्वार्थकी प्रधानता होती है। उनकी उत्तमा, मध्यमा एव अधमा नायिकाएँ इस त्रिविध रतिका प्रतिनिधित्व करती हैं। उदा०—'लाल अलौकिक लरिकई लखि-लखि सखी सिहाँति । आज कालि मैं देखियतु उर उकसौंहीं भाँति ।' (वि० स० १९५), यहाँ रतिभावकी व्यञ्जना है, स्थायीका पूर्ण स्फुटन नहीं हो सका है, क्योंकि वह तो रसपरिपाककी ही दशामें सम्भव है। दे०—'स्वभाव अलकार', उन्नीसवाँ। —र० नि०

रतिप्रीता–दे०—'प्रौढा', नायिका।

रत्नावली–एक गौण अर्थालकार। अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में ही इसका उल्लेख किया है। जयदेवके 'चन्द्रालोक'मे अधिक सत्तरह अलकारोंमेंसे यह भी एक है। अप्पय दीक्षितने इसका लक्षण दिया है—'क्रमिक प्रकृतार्थाना न्यास रत्नावली विदु ।' (कुव० ७४), अर्थात् मुख्यार्थ-समन्वित शब्दों द्वारा क्रमानुसार किसी तथ्य-का वर्णन करनेसे रत्नावली अलंकार होता है। हिन्दीके उन्हीं आचार्योंने इसे स्वीकार किया है जिन्होंने अप्पय दीक्षितका अधिक अनुसरण किया है—'प्रस्तुत अर्थनको जहाँ क्रमते थापन होय ।' (ल० ल० . ३२९)। इसका 'कुवलयानन्द'में दिया हुआ उदाहरण—'नव-नील सरोजन-कों इहिंके जुग-दीरघ-नैनन पत्र दियो । गज-कुम्भनसों इहिंके कुच-कुम्भन पूरव पक्ष स दक्ष ठयो। अति वंक नियक भई भृकुटी स्मरके धनुको अनुवाद ह्यो। पुनि हास विलास भरे मुखसों इन खण्डन चन्द्र प्रकास कियो ।' (अ० म०)। नारी-वर्णनके सारगर्भित शब्दों द्वारा यहाँपर बुधजनके शास्त्रार्थके प्रसिद्ध क्रमका वर्णन हुआ है, पत्र देना, पूर्वपक्ष करना, प्रतिपक्षीके लेखका अनुवाद करना और तत्पश्चात् खण्डन करना, यह शास्त्रार्थका क्रम प्रसिद्ध है। —ज० कि० व०

रथोद्धता–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, 'पिंगल-सूत्र' (६७ · २३) और भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ ३५)के अनुसार रगण, नगण, रगण और लघु-गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है (SIS, III, SIS, IS), ६-७ वर्णोंपर यति होती

है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—'चित्रकूट तव रामजू तज्यौ। जाय यज्ञ थल अत्रिको भज्यौ। राम लक्ष्मण समेत देखियो। आपुनो सफल जन्म लेखियो। (रा० च० ११ १)। —पु० शु०

रदीफ—उर्दू कवितामें अन्त्यानुप्रास या तुकान्तको रदीफ कहते हैं। किसी नज्म या गजल आदिमें हर शेरके आखिर-में जो शब्द हर वार आ जायँ उन्हें रदीफ कहते हैं।—म०

रमण छंद—वर्णिक समवृत्तका एक भेद। इसके प्रत्येक चरणमें एक सगण होता है (।।ऽ)। इस छन्दका प्रयोग केवल केशवने किया है—'दुख क्यों, हरि है। हरिजू, हरि-है' (रा० च० १ ११)। —पु० शु०

रस—व्युत्पत्तिके अनुसार इसके दो अर्थ होते हैं—१ आस्वाद, 'रस्यते आस्वाद्यते इति रस ', २ द्रवत्व, 'सरते इति रस '। साधारण रूपमें इसके अनेक भिन्नार्थक प्रयोग हुए हैं, जैसे, षट्रस, इन्द्रियसुख, दूध, शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्शादि गुणोंमेंसे एक आनन्द। आयुर्वेदमें रसायन, पारद, वीर्य, जल अथवा जलीय पदार्थ तथा रसनेन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थके लिए इसका प्रयोग हुआ है। वेदोंमें सोमरस, वनस्पतियोंका द्रव, दूध, जल, स्वाद और गन्धके लिए, शतपथ ब्राह्मणमें मधुके लिए, उपनिषदोंमें प्राणतत्त्व या स्वादके लिए, रामायणमें जीवन-रस, पेय तथा विष और महाभारतमें जल, सुरा, गन्ध, काम एव स्नेहके लिए इसका प्रयोग मिलता है।

साहित्य-शास्त्रमें इसका प्रयोग काव्यास्वाद अथवा काव्यानन्दके लिए हुआ है। सबसे पहले नाट्यके सम्बन्धमें इसका उल्लेख किया गया था। उपलब्धिके विचारसे भरत मुनि(३ श० ई०)का 'नाट्यशास्त्र' ही पहली रचना है जिसमें इसका स्वरूप बताया गया है। भरतके 'विभावा-नुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति ' सूत्रके अनुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। भरतने इन तीनों अगोंके भेदादिका वर्णन करते हुए स्थायी भावोंका पृथक् रूपसे नाम लिया है। इन सबके आधारपर उक्त सूत्रकी विद्वानों द्वारा की गयी विस्तृत व्याख्याओंमेंसे अभिनवगुप्त(१०-११ श० ई०)-की व्याख्याके आधारपर काव्यप्रकाशकार मम्मट(१२ श० ई०)ने कहा है कि आलम्बनविभावसे उद्बुद्ध, उद्दीपनसे उद्दीप्त, व्यभिचारी भावोंसे परिपुष्ट तथा अनुभावों द्वारा व्यक्त हृदयका स्थायी भाव ही रसदशाको प्राप्त होता है। काव्य पढने, सुनने या अभिनय देखनेपर विभावादिके संयोगसे निष्पन्न होनेवाली आनन्दात्मक चित्तवृत्ति ही रस है। उदाहरणार्थ, पुष्पवाटिकामें राम घूम रहे हैं, एक ओरसे मैथिली आ जाती हैं। स्थल नितान्त एकान्त है, प्रात कालका सुखद समीर शरीर और मनको उत्साहित कर रहा है, पुष्पोंकी छटा मनको मोहित किये ले रही है। ऐसी दशामें राम सीताको देखकर मोहित हो जाते हे और उनकी ओर आकर्षित होते हैं। उन्हें रोमाच हो जाता है। कटाक्षपात करते हैं, वार-बार रुक-रुककर देखते हैं, उनकी ओर बढनेकी चेष्टा करते हैं। उनके द्वारा हर्ष, लज्जा आदिका प्रकाशन होता है। इस दृश्यको देख, पढ़ या सुनकर सहृदयके हृदयमें वासनारूपमे संस्थित रति नामक स्थायी भाव जाग्रत् होकर इस सीमातक उद्दीप्त हो जाता है कि वह देश-कालका ज्ञान भूलकर उसी घटनामें तन्मय हो जाता है। इस प्रकार सीता आलम्बन विभाव, एकान्त तथा वाटिकाका मनोरम दृश्य उद्दीपन विभाव, कटाक्षादि आश्रयगत अनुभाव एव लज्जा तथा हर्ष आदि व्यभिचारी भावके संयोगसे रति नामक स्थायी भाव जिस आनन्दमयी तन्मयावस्थाको उपस्थित करता है वही रस है।

सहृदयगत यह रस केवल उस समयतक वर्तमान रहता है जबतक कि विभाव आदि विद्यमान रहते हे, इसीलिए उसे 'विभावादि जीवितावधि' कहा गया है। विभावादिमेंसे किसी एकके भी न रहनेपर उस समयतक रसकी निष्पत्ति नहीं हो सकती जबतक वर्णन या दृश्यके किसी सकेतसे अभावका आक्षेप न कर लिया जाय। इसी अनिवार्य सयोगके कारण भरत मुनिने रसकी तुलना पानक रससे की है, अर्थात् जिस प्रकार गुड, मिरिच, खटाई, नमक आदि आनुपातिक परिमाणमें मिलाकर पीनेपर वह एक विलक्षण प्रकारका स्वाद देता है और इनमेंसे पृथक-पृथक् रूपमें केवल किसी एकका भी स्वाद नहीं आता उसी प्रकार काव्यरस भी एक प्रकारकी विलक्षण, अलौकिक एव अनिर्वचनीय अनुभूति है जो लोक-व्यवहारसे भिन्न है और केवल आनन्द देती है। इसका आस्वाद ही किया जा सकता है, 'आस्वाद्यत्वात् रस·'। इसीलिए इसकी अनुभूति-को रसास्वाद, रसचर्वणा आदि कहा गया है। विशेषके लिए दे०—'रस-निष्पत्ति'।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ(१४ श० ई०)ने सत्त्वोद्रेकको रसका हेतु बताया है और रसको अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मानन्दसहोदर तथा लोकोत्तर चमत्कारप्राण कहा है। लोकव्यवहारमें जिस प्रकार किसीको शोक, भय आदिकी अनुभूति होती है वैसी लौकिक अनुभूति काव्यके द्वारा नहीं होती, अपितु एक विलक्षण आनन्द ही सब प्रकारके दृश्योंमें प्राप्त होता है। इस कारण इसे अलौकिक कहा गया है। इसकी अनुभूति निर्विघ्न दशामें ही अबाध रूपसे होती है। इसलिए इसे अखण्ड कहते हैं। यह लोक-स्वार्थोंसे ऊपर उठाता है, अत स्वप्रकाशानन्द, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य तथा चिन्मय आदि कहा जाता है। यह आनन्दायी भी है और विलक्षण भी, अतएव लोकोत्तर चमत्कारप्राण कहा गया है। रससे उत्पन्न होनेवाला आनन्द वाह्येन्द्रियगत, अनुकूलसवेदना-जन्य आनन्दसे सर्वथा भिन्न प्रकारका है। वह मानस-प्रत्यक्ष कहा गया है। इसकी अलौकिकताके आधारपर ही विभावादिको रस-हेतु न कहकर उनको विभावादि जैसा विलक्षण नाम दिया गया है। रस न ज्ञाप्य है, न कार्य, न साक्षात् अनुभव है, न परोक्ष, न वह निर्विकल्पक ज्ञान है, न सविकल्पक। उसकी कोई विशेष सीमा नहीं निधारित की जा सकती, वह अनिवर्चनीय है।

रसके सम्बन्धमें ब्रह्मानन्द(दे०—'ब्रह्मानन्द-सहोदर')-की कल्पनाका मूल स्रोत 'तैत्तिरीय उपनिषद्' है। 'रसो वै स ' कहकर इस उपनिषद्में ब्रह्मको ही आनन्द या रसरूप बताया गया है। इसके अनुसार आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्दमय ब्रह्म ही समस्त भूतमात्रका जनक है। आनन्द

ही प्राणस्वरूप है, जिसे धारण करनेपर सब जीवित रहते हैं और आनन्दमें ही लय भी होते हैं। इसीके आधारपर योगी द्वारा अनुभूत ब्रह्मानन्दसे तुलना करके काव्यानन्दको ब्रह्मानन्दसहोदर कह दिया गया है।

रस आस्वादरूपमें एक होकर भी उपाधि-भेदसे मुख्यत आठ प्रकारका माना गया है। शृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, वीभत्स, भयानक तथा अद्भुत, इन आठ रसोंकी कल्पना ही दृश्य काव्यके प्रसगमें की गयी थी। बादमें शान्त भी जोड दिया गया, जिसे निर्वेद स्थायीके कारण क्रियाहीन अत अनभिनेय मानकर नाट्यमें अप्रयोज्य ठहराया गया था। उसका सम्बन्ध श्रव्य काव्यके साथ दृश्यसे भी स्थिर किया गया। कालान्तरमें वात्सल्य और भक्तिको भी स्वीकृति मिली, किन्तु लौल्य, सख्य, अक्ष, व्यसन, दु:ख, उदात्त, उद्धत, पारवश्य, कार्पण्य, व्रीडनक आदि रस स्वीकृति न पा सके। एक ही रसमें कई रसोंके अन्तर्भावका प्रयत्न भी निष्फल रहा। शृंगार रसराज मान लिया गया। —आ० प्र० दी०

रस-दोष—दोषोंके विस्तृत विवरणके लिए दे०—'काव्य-दोष'। रस-दोषको समझनेके लिए रसकी परिभाषा जान लेना आवश्यक है। रसका आस्वाद वेद्यान्तरसम्पर्क-शून्य होता है, अर्थात् यह किसी अन्य वस्तुके सम्बन्धसे रहित होता है। रसका प्राण एकमात्र आस्वाद ही है और उसकी अवधि विभावादिकोंपर निर्भर है। रस वाच्य नहीं है, वरन् विभावादि द्वारा प्रतीत होनेवाला व्यंग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ वाच्य नहीं होता, किन्तु ध्वनि द्वारा ध्वनित होता है। साहित्यमें ध्वनिकी प्रधानता स्थापित हो जानेपर रस ध्वनिकी काव्यात्माके रूपमें प्रतिष्ठित हो गया। फलस्वरूप रसौचित्यको काव्यकी मुख्य कसौटी माना गया और उसके गुण-दोषका विवेचन तदनुसार किया जाने लगा। इस प्रकार रस-दोषोंका आविर्भाव हुआ। रसौचित्यके आधारपर रस दो प्रकारके माने गये हैं—१. नित्य और २ अनित्य। वे दोष जो सभी अवस्थाओंमें काव्यकी आत्माका अपकार करते हैं, नित्य दोष हैं। अनित्य दोषका सम्बन्ध रूप और आकारसे है। इस प्रकार रस दोष नित्य तथा शब्द-दोष और अर्थ-दोष अनित्य है।

भामह और दण्डीने दोषोंके गुणत्व-साधनकी ओर सकेत किया है। इसको आधार मानकर आनन्दवर्धन तथा दूसरे ध्वनिवादियोंने रस-दोषोंका वैज्ञानिक एव सूक्ष्म विवेचन किया है। इसी पद्धतिपर रसका अपकर्ष करनेवाले तत्त्व दोष कहलाते हैं यह धारणा स्थिर की गयी है। 'ध्वन्यालोक'में रस-दोषोंके निरूपणमें 'दोष'के स्थानपर 'अनौचित्य' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'ध्वन्यालोक'का अनुसरण करते हुए क्षेमेन्द्रने इसी विषयपर 'औचित्यविचार-चर्चा' नामक ग्रन्थ लिखा है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश'में ध्वनिवादियोंकी रससिद्धान्त-पद्धतिपर रस-दोषका विवेचन किया है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में मम्मटका अनुकरण किया है। तोषनिधिने 'सुधानिधि'में रस-दोषका वर्णन किया है। कुलपति मिश्र-कृत 'रस-रहस्य', देव-कृत 'काव्य-रसायन', भिखारीदास-कृत 'काव्य-निर्णय', जनराज-कृत 'कविता-रस-विनोद', उजियारे कवि-कृत 'रसचन्द्रिका', हरिऔध-कृत 'रस-कलस'में रस-दोषोंका अच्छा विवेचन किया गया है।

रसके आस्वादमें बाधा डालनेवाले तत्त्वोंको रस-दोष कहते हैं। रसविषयक कुछ ऐसे दोष हैं, जो एक पद्यमें नहीं, वरन् काव्य या नाटककी प्रबन्धरचनामें ही हो सकते हैं। इन दोषोंके उदाहरणोंमें मम्मटने अनेक सुप्रसिद्ध महाकाव्यों और नाटकोंका नामोल्लेख किया है। उनके उत्तरकालवर्ती प्राय सभी आचार्य इस विषयमें उनसे सहमत हैं। रस-दोषोंकी संख्या मम्मटके अनुसार दस है, जो इस प्रकार है—१ स्वशब्दवाच्य (रस-दोष), २ कष्ट-कल्पना (विभाव-अनुभावकी), ३. परिपन्थिरसागपरिग्रह (रस-दोष), ४ पुन -पुन दीप्ति (रसकी), ५. अकाण्डप्रथन (रसका), ६ अकाण्डच्छेदन (रसका), ७ अंगभूत रसकी अतिवृद्धि, ८ अननुसन्धान (अगीकी विस्मृति), ९ प्रकृति-विपर्यय, १० अनगवर्णन, (रस-दोष)।

१. स्वशब्दवाच्य—मम्मट, विश्वनाथ तथा भिखारीदास आदिके अनुसार रसकी प्रतीति व्यजना द्वारा होनी चाहिये, न कि शब्दवाच्यता द्वारा। जहाँ अपने ही शब्द (शब्दवाच्य) द्वारा रस, स्थायी भाव तथा सचारी भावका कथन किया जाता है वहाँ स्वशब्दवाच्य रस-दोष होता है (का० प्र० ७ : ६०, सा० द० : ७ : १२)। (क) रसकी स्वशब्दवाच्यताका दोष—'अंचल ऐंचि जु सिर धरत, चचलनैनी चारु। कुच कोरनि हिय कोरि कै, भरयो सुरस शृगार।' (का० नि० · २५)। यहाँ शृगार रसका वर्णन है, पर 'शृगार'का नामोल्लेख कर दिया है अत· रस-दोष है। इस दोषका निवारण इस प्रकार किया गया है 'कुच कोरनि हिय कोरिकै, दुख भरि गयी अपार।' (ख) स्थायी भावकी स्वशब्दवाच्यता—'अकनि अकनि रन परस्पर, असि प्रहार झनकार। महा महा योधन हिये, बढ़त उछाह अपार।' (वही), यहाँ वीर रसका वर्णन है अतएव उछाह (उत्साह) स्थायी भावके कथनसे उक्त दोष आ गया है। (ग) व्यभिचारी भाव(संचारी भाव)की स्वशब्दवाच्यता—'आनँद और रस लल्न गयन्दकी खालन· पै करुनानि मिलाई।' (वही), यहाँ 'लज्जा' आदि सचारी भावोंको वाच्यमें कहा गया है, अत यह दोष है। यह दोषपरिहार इस प्रकार किया जा सकता है—'आनन लोमपै हैकै निचोही गयन्दकी खालपै है जलमाई।' कहीं-कहीं वाचक शब्द आ जानेपर भी रस-दोष दोष नहीं रहता है, यथा—'जात जगायो है न अलि, आँगन आयो भानु। रसमोयो सोयो दोऊ, प्रेम समोयो प्रानु।' (वही)। यहाँ नायिकाका स्वभाव व्यभिचारी भाव-वर्णन है, जो शब्दवाच्यता है। 'सोने'को और भाँतिसे कहना श्रेष्ठ रस नहीं और प्रेमकी शब्दवाच्यता है। वह अत्यन्त रसिकता और प्रतीतिका कारण है। अपराग होकर व्यन्यमें नखीको दोनोंके प्रति प्रीति स्थायी भाव है, यह गुण है। अत यहाँपर दोष नहीं है।

२ कष्ट-कल्पना (विभाव-अनुभावकी)—मम्मट और साहित्यदर्पणकारका मत है कि जहाँ विभाव और अनुभावका ठीक-ठीक ज्ञान न हो सके कि किस रसका यह विभाव है अथवा अनुभाव, वहाँ यह दोष होता है (का०

प्र० ७ ६०)। जहाँ विभाव और अनुभावकी कल्पना करनेके लिए कष्ट या कठिनाईका अनुभव हो वहाँ यह दोष होता है। (क) विभावकी कष्टकल्पना—'उठति गिरति फिरि फिरि उठति, उठि उठि गिरि गिरि जाति। कहा करौ कासों कहौ क्यों जीवै यहि राति।' (का० नि० २५)। यहाँ नायिकाकी विरहदशाका वर्णन है, वह व्याधिके बहाने और ही लगती है, इससे विभावकी कष्ट-कल्पना स्पष्ट है। कहीं-कहीं यह गुण होता है, यथा—'कै चलि आगि परोसकी, दूरि करौ घनश्याम। कै हमको कहि दीजिये, बसैं और ही ग्राम।' यहाँ छिपाकर कहनेसे भी यह नायक नायिकाकी विरहाग्नि विदित होती है, प्रत्यक्ष आग नहीं, अत यह गुण है, दोष नहीं। (ख) अनुभावकी कष्टकल्पना—'भावती भावते ओर चितै सहजै ही में भूमि निहारन लागी।' (वही)। यहाँ प्रेमका कुछ अनुभाव कहना उचित था, स्वभावत भूमि अवलोकनसे प्रेम नहीं जाना जाता। इस प्रकारसे कहना चाहिये—'आँखिन कै ललचौहीं लजौहीं प्रिया प्रिय ओर निहारन लागी।'

३ परिपन्थिरसांगपरिग्रह—विश्वनाथने मम्मटके 'प्रतिकूल विभावादिग्रह'को यह नाम दिया है। इसीको भिखारीदासने 'अन्य रस-दोष' कहा है। जहाँ प्रकृत रसके विरुद्ध विभाव, व्यभिचारी आदिका वर्णन किया जाता है वहाँ यह दोष होता है, अर्थात् जिस रसका वर्णन हो रहा है उसके विरोधी रसकी सामग्रीका वर्णन करना परिपन्थिरसागपरिग्रह दोष होता है। (क) प्रकृतरस-विरुद्ध विभावका वर्णन—'अरी खेलि हँसि बोलि चलु, भुज प्रीतम गल डारि। आयु जात छिन छिन घटी, छीजै घट सों वारि।' (का० नि० २४)। यहाँ श्रृंगारके वर्णनमें 'आयु घटनेका ज्ञान' शान्त रसका विभाव वर्णित है, अत उक्त दोष है। (ख) प्रकृत रस-विरुद्ध अनुभावका वर्णन—'बैठी गुरुजन बीच सुनि बालम बंसी चारु। सकल छोड़ि बन जाउँ यह, तिय हिय करति बिचारु।' (वही), यहाँ नायिकामें उत्कण्ठाका वर्णन है। 'सब छोड़कर वनमें जाना' निर्वेद स्थायी भाव शान्त रसका है, अत विरुद्धता-दोष है। यह इस प्रकार होना चाहिये—'कौने मिस बन जाउँ यह तिय हिय करति विचारु।'

४ पुन -पुनः दीप्ति (रसकी)—मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार किसी रसका परिपाक हो जानेपर, अर्थात् 'रस'-विशेषका प्रसग समाप्त हो जानेपर उस रसका फिर वर्णन (दीप्ति) करना (का० प्र० ७ ६१, सा० द० ७ १४)। भिखारीदासका मत है कि जहाँ बार-बार दीप्तिका ही उल्लेख किया जाता है और उपमादिका कुछ वर्णन नहीं करते हैं वहाँ यह दोष होता है। यथा—'पकज पायनि पैंजनियाँ कटि घाँघरो किंकिनिया जरवीली। ईंगुरकी सुरकी -दुरकी नथ भालमें बालके बेंदी छबीली।' (का० नि० २५)। इसी प्रकार कालिदासने 'कुमारसम्भव'में रति-विलापके प्रसगमें करुण रसका वर्णन (सर्ग ४, १) समाप्त करके फिर उस(सर्ग ४, ४)में दीप्त किया है। यहाँ यह दोष है। उक्त प्रसगमें रस-ध्वनिके दार्शनिकोंको जो दोष दिखलाई दिया करता है वह दोष है अंगभूत रसकी अभिव्यक्तिकी अविच्छिन्न धारावाहिकताका दोष। यहाँ मम्मटने रसध्वनितत्त्वज्ञानियोंकी इस मान्यताका पुष्टीकरण किया है। पर जहाँ अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोकलोचन पृ० ३६५, चौखम्भा) कालिदासके महाकवि होनेके कारण उनकी रति-विलाप-वर्णनाके इस दोषका यथाकिंचित् परिहार करना चाहते हैं, वहाँ मम्मट इसे स्पष्टत रस-दोष मान लेते हैं।

५. अकाण्डप्रथन (रसका)—आनन्दवर्धनके आधारपर मम्मटने इस दोषको अनवसरमें रस-वर्णना तथा अकाण्ड-प्रथम नामोंसे पुकारा है (का०प्र० ७ ६१ वृ०)। विश्वनाथने यही नाम दिया है (सा० द० ७ १४)। भिखारीदासने 'असमै जुक्ति कथन' कहा है (का० नि० २५)। जहाँ प्रस्तुतको छोड़कर अप्रस्तुत रसका विस्तार किया जाय वहाँ अकाण्ड-प्रथन दोष होता है। यथा—'सजि सिंगार सर पै चढ़ी सुन्दरि निपट सुवेस। मनों जीति भुवलोक सब चली जितन दिवि देस।' (वही)। यहाँ सहगामिनीको देखकर शान्त रस तथा दया-वर्णन उचित है, श्रृंगार नहीं। इसी प्रकार 'वेणीसहार' नाटकके दूसरे अकमें अनेक वीरोंके विनाशके समय बीचमें ही रानी भानुमतीके साथ दुर्योधनके प्रेम-प्रलापके वर्णनमें यह दोष है। वहाँ श्रृगार रसका वर्णन असामयिक है। इस प्रसगमे मम्मटने अभिनवगुप्तकी मान्यताको स्पष्ट किया है।

६ अकाण्डछेदन (रसका)—आनन्दवर्धनाचार्यने इसे 'अनवसरमें रसविच्छित्ति' (ध्वन्यालोक ३ १९) कहा है। किसीके वर्णनमें अचानक बिना अवसरके रसका विच्छेद कर देना अर्थात् उसके विरुद्ध रसकी अवतारणा कर देनेसे यह दोष होता है (का० प्र० ७ ६१ वृ०)। यथा—'राम आगमन सुनि कह्यो, राम बन्धुसों बात। ककन मोहि छोराइबे, उतै जाहु तुम तात। (का० नि० २५)। यहाँ रामका परशुरामके पास जाना न कहकर 'ककन खोलने'की बात कही गयी है। इसमें उनकी कादरता व्यक्त होती है। इसी प्रकार भवभूति-कृत 'महावीरचरित'-के द्वितीय अकमें जहाँ राम और परशुरामका युद्धोत्साह अविच्छिन्न रूपसे अभिव्यक्त हो रहा है, वहाँ रामका 'ककणमोचनके लिए जा रहा हूँ' कहकर युद्धोत्साहसे विरत हो जाना वर्णित है। इससे रामगत वीर रसके आस्वादमें विघ्न पड़ गया है। अत यह दोष है।

७ अंगभूत रसकी अतिवृद्धि—प्रत्येक काव्य और नाटकमें एक मुख्य रस रहता है जिसे अगी कहते हैं और उनके काव्यरस अग कहलाते हैं। जहाँ अंग अथवा अप्रधान (प्रतिनायक आदि) रस-वर्णनाके उपकरणोंका आवश्यकतासे अधिक विस्तारसे वर्णन किया जाता है वहाँ अगभूत रसकी अतिवृद्धि रस-दोष होता है (का० प्र० ७ ६२ वृ०)। यथा—'दासीसों मण्डन समै, दर्पन माँग्यो बाम। बैठि गयी सो सामुहे, करि आनन अभिराम।' (का० नि० २५)। यहाँ नायिका अंगी है, दासी अग है। इससे दासीका अति शोभा-वर्णन दोष है। इसी प्रकार महाकवि भारविके 'किरातार्जुनीय' महाकाव्यके आठवें सर्गमें अप्सराओंकी विलासक्रीड़ाके श्रृगारात्मक विस्तृत वर्णनमें यह दोष है, क्योंकि 'किरातार्जुनीय' श्रृगार रस-प्रधान नहीं है।

८ अनुसन्धान या अंगीकी विस्मृति–मम्मटके अनुसार अंगी अर्थात् प्रधान रूपसे अवस्थित नायक आदिको अवान्तर विषयोंके वर्णनमें भूल-सा जाना दोष कहलाता है (का० प्र० : ७ · ६३ वृ०)। अभिप्राय यह है कि समस्त रचनामें प्रतिपाद्य रसकी विस्मृति न होनी चाहिये और उसके पोषणका बराबर ध्यान बना रहना चाहिये। रसके अनुभवका प्रवाह आलम्बन और आश्रयपर ही निर्भर है। उनका आवश्यक प्रसंगपर अनुसन्धान न होनेसे रस-भंग हो जाता है। जैसे, श्रीहर्षकी 'रत्नावली' नाटिकाके चतुर्थ अंकमें बाभ्रव्य (सिंहलेश्वरके कञ्चुकी)के आगमनसे सागरिका-(जो प्रधान नायिका है)का (नायक वत्सराज द्वारा) एक प्रकारसे विस्मरण, जिससे नाटिकाका प्रतिपाद्य शृंगार रस विच्छिन्नप्राय हो गया है। भिखारीदासने इसका उदाहरण दिया है–'पीतम पठै नहेट निज, खेलन अटकी जाय। तकि तेहि आवत उतहिंते, तिय मन-मन पछिताय।' (का० नि० ७५)। यहाँ खेलमें नायकसे बढ़कर प्रेम ठहराया गया है। अत उक्त रस-दोष है। आनन्द-वर्धनने प्रबन्धकी रस व्यंजकताके निमित्तोंमें 'अंगीके अनुसन्धान'को भी एक निमित्त माना है (ध्वन्यालोक पृ० ३४१ · चौखम्भा)। मम्मटने प्रबन्धकी रस-व्यंजकताकी इस विशेषताके विपर्ययको ही अंगीके विस्मरणरूप (अंगिनोऽननुसन्धानम्) रस-दोषके रूपमें मान लिया है।

९ प्रकृति-विपर्यय–मम्मटके अनुसार जिस प्रकृतिके लिए जो वर्णन अनुचित हो, उसका वहाँ वर्णन प्रकृति-विपर्ययरूप रस-दोष है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति-(नायक आदि)के तीन प्रकार हुआ करते हैं—१ दिव्य (देवतारूप इन्द्र आदि), २ अदिव्य (मनुष्यरूप वत्सराज आदि) और ३ दिव्यादिव्य (मनुष्यरूपमें अवतीर्ण देवभूत राम, कृष्ण आदि)। इन तीनोंके भी धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त ये चार भेद हैं, जो वस्तुत वीर रस प्रधान, रौद्र रस-प्रधान, शृंगार रस-प्रधान और शान्त रस-प्रधान इन चार प्रबन्ध-नायक भेदोंसे सम्बन्ध रखते हैं। पुन यह द्वादशविध प्रकृति-भेद (गुणोत्कर्ष-गुणापकर्ष और गुणोत्कर्षापकर्षके कारण) उत्तम, मध्यम और अधम रूपसे ३६ प्रकारका है। इस प्रकृतिगत औचित्य-के निर्वाहके लिए आवश्यक यह है कि रति, हास, शोक और अद्भुत आदिका वर्णन दिव्य प्रकृतियों (इन्द्र आदि नायकों)के सम्बन्धमें भी उसी प्रकार किया जाना चाहिये जिस प्रकार अदिव्य उत्तम (मनुष्यरूप वत्सराज आदि) प्रकृतिके सम्बन्धमें किया जाया करता है। किन्तु दिव्य प्रकृतियों (देवरूप नायकों)में भी जो उत्तम दिव्य प्रकृति-भेद है, उसके प्रसंगमें, सम्भोग-शृंगाररूप रतिका वर्णन कदापि नहीं किया जाना चाहिये, क्योंकि उत्तम दिव्य प्रकृतिगत सम्भोगका वर्णन उतना ही अनुचित है जितना कि अपने माता-पिताके सम्भोगका वर्णन (का० प्र० ७ ६३ वृ०)। भिखारीदासका वर्णन इसीपर आधारित है।

कालिदासके 'कुमारसम्भव'में शंकर और पार्वतीके सम्भोग-शृंगारके वर्णनमें यह दोष है। इसी प्रकार स्वर्ग, पाताल आदि गमन, समुद्र-उल्लंघन आदि कार्य भी दिव्य या दिव्यादिव्य प्रकृतिके ही वर्णनीय हैं, न कि अदिव्य प्रकृतिके, क्योंकि अदिव्य प्रकृतियोंके अमानुषिक कार्योंके वर्णनमें प्रत्यक्ष असत्यकी प्रतीति होनेके कारण रसास्वाद नहीं हो सकता है। मम्मटने 'प्रकृति-विपर्यय'-रूप रस-दोषको आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा निर्दिष्ट प्रबन्ध सम्बन्धी रस-व्यंजकताके निमित्त 'भावौचित्य'(ध्वन्यालोक ३ : १०)के प्रतिकूल आचरण करनेमें माना है। यहाँपर यह स्पष्ट है कि रस-दोष-प्रसंगमें 'प्रकृति-विपर्यय'-रूप रस दोष-प्रकारका जो अनुसन्धान मम्मटने किया है उसमें उनकी ध्वनि-मर्मज्ञता और रसतत्त्ववेदिता वस्तुत झलक उठी है।

१०. अनंग-वर्णन—मम्मटके अनुसार अनंग अर्थात् अमुख्य अथवा रसके अनुपकारकका वर्णन भी एक प्रकारका दोष है (का० प्र० ७ ६३ वृ०)। ऐसे वर्णनसे प्रधान-भूत रसको कोई लाभ नहीं होता है। उदाहरणार्थ, 'कर्पूर-मंजरी' (प्रथम जवनिकान्तर)में नायिका विभ्रमलेखा द्वारा और स्वयं नायक चण्डपाल द्वारा किये गये वसन्त वर्णनकी उपेक्षा करके चारण-वर्णित वसन्त-वैभवकी ही राजा (नायक चण्डपाल) द्वारा प्रशंसा, जिसमें प्रकृत सम्भोग-शृंगाररूप रसकी अभिव्यक्तिमें कोई सहायता नहीं मिलती। —टी० सिं० तो०

रसना–दे०—'हठयोग'।

रसनिष्पत्ति–रसके साथ निष्पत्ति शब्दका प्रयोग भरत (४ श० ई०)से निश्चित रूपसे मिलता है—'विभावानुभाव-सचारीसयोगाद्रसनिष्पत्ति '(ना०शा० ६ ३२)। 'निष्पत्ति'-का शब्दार्थ है प्रकाशन, उत्पत्ति, पूर्णता अथवा परिपक्वता। पर 'रसनिष्पत्ति' काव्यशास्त्रके अन्तर्गत काव्यकी सौन्दर्या-नुभूतिके समकक्ष स्वीकृत शब्द रहा है और इसकी व्याख्या तथा विवेचनमें अनेक विद्वानोंने मौलिक प्रतिभा-का परिचय दिया है। वस्तुत 'काव्यानुभूति', 'काव्यानन्द' आदि शब्द एक प्रकारसे 'रसनिष्पत्ति'के समानार्थी है और इस सम्बन्धमें जितना गम्भीर तथा विवादपूर्ण चिन्तन हुआ है वह सब काव्यकी अन्तर्भूत प्रकृति तथा तद्विषयक अनुभूतिकी सूक्ष्म तथा जटिल स्थितिके कारण ही।

भरतके सूत्रमें 'निष्पत्ति' तथा 'संयोग' प्रमुख शब्द रहे हैं, जिनकी व्याख्या विभिन्न आचार्योंने अपने-अपने मतके अनुसार की है। भरतके शब्दोंमें विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावोंके संयोगसे रसनिष्पत्ति होती है। भरतने छ प्रकारके विभिन्न स्वादोंवाली वस्तुओंके मेलसे बने हुए आपानकसे इसकी तुलना करके समझानेका प्रयत्न किया है और आस्वाद्य होनेके कारण इसे 'रस' माना है। आगे भरतने स्थायी भावके आस्वादनको 'रसनिष्पत्ति'के रूपमें ग्रहण किया है। भाव तथा रसके सम्बन्धपर विचार करके भी वे यही कहते हैं कि रस और भाव एक-दूसरेपर अन्योन्याश्रित ह (दे०—'भाव')। भरतने रसत्वके लिए नाना भावोंके 'उपगत' होनेका उल्लेख किया है, जिसका अर्थ है कि विभाव, अनुभाव, सचारी आदि भाव यहाँ स्थायी भावके समीप आकर अनुकूलता ग्रहण करते हैं। आनन्दप्रकाश दीक्षितने अभिनवगुप्तकी 'अभिव्यक्ति'का मूलाधार भरतके 'एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव 'में माना है (काव्यमें रस अ० प्रव० . पृ० १८८)। इन्होंने भरतके

'आस्वादयन्ति मनसा'(ना० शा० ६ ३३)में साधारणीकरणका संकेत भी स्वीकार किया है।

वस्तुत भरतकी इस परिभाषाको आगेके प्रमुख आचार्योंने कुछ भिन्न शब्दावलीमें प्रस्तुत किया है। धनंजय(१० श० ई०)ने कहा है—'विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि· । आनीयमान स्वाद्यत्व स्थायी भावो रस स्मृत ।' (द० रू० ३ १)। धनजयने 'सात्त्विक भावों'का विशेष उल्लेख किया है और साथ ही स्पष्टत स्थायी भावको आस्वाद्य रूपमें व्यक्त करनेको रस माना है। मम्मट(११ श० ई०)ने रति आदि स्थायीके कारण, कार्य तथा सहकारीके रूपमें विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावोंको मानकर—'व्यक्त स तैर्विभावाद्यै स्थायी भावो रस स्मृत' (का० प्र० ४ २८), अर्थात् इन्हीं विभावादिसे व्यक्त हुआ स्थायी भाव ही रस कहा जाता है। इस बातको विश्वनाथ(१४ श० ई०)ने इस प्रकार रखा है—'रसतामेति रत्यादि स्थायीभाव सचेतसाम्' (सा० द० ४ · १), विभावादिकसे रति आदि स्थायी भाव रसत्वको प्राप्त करता है। इन्होंने भी प्रपानक रसके समान रसास्वाद्यको कहा है। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंमें अधिकने रसविवेचनके सम्बन्धमें रुचि नहीं दिखलायी और जिन्होंने कुछ कहा है, उन्होंने सस्कृतकी परम्परासे भाव ग्रहण किया है—'मिलि विभाव अनुभाव पुनि सचारिनके वृन्द । परिपूरन थिर भाव यों सुर स्वरूप आनन्द ।' (पद्माकर जगद्वि० ६०४)। आधुनिक विवेचकोंने रसके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार किया है और भरतसे लेकर अभिनवगुप्तककी रसविवेचनकी परम्पराको आगे भी बढाया है।

भरतके सूत्रके आधारपर रसकी व्याख्या करनेवाले आचार्योंमें भट्ट लोल्लट (९ श० ई० पूर्वा०) प्रथम माने जाते हैं। इनके ग्रन्थका पता नहीं लग सका है, केवल 'अभिनवभारती'में अभिनवगुप्तके द्वारा प्रस्तुत इनका मत आगेके आचार्योंके लिए भी इनके सिद्धान्तके विषयमें तर्क-वितर्कका आधार रहा है। 'अभिनवभारती'के अनुसार भट्ट लोल्लटका मत है—'विभावादिका स्थायी भावसे संयोग होनेपर रसनिष्पत्ति होती है। विभाव रसके कारण-स्वरूप हैं। इनके द्वारा स्थायी भावकी 'उपचित' अवस्थाका नाम रस है। यह रस मूलत अनुकार्य अर्थात् रामादिक ऐतिहासिक पात्रोंमें ही होता है, किन्तु उनके रूपादिके अनुसन्धानसे अनुकर्ता—नटमें भी विद्यमान होता है' (अ० भा० पृ० २७४)। इस प्रकार भट्ट लोल्लटके अनुसार 'निष्पत्ति'का अर्थ 'उत्पत्ति' या 'पुष्टि' है। इस दृष्टिसे इनके सिद्धान्तको **उत्पत्तिवाद** कहा गया है। मम्मट(१२ श० ई०)ने भट्ट लोल्लटके मतको इस प्रकार उद्धृत किया है—आलम्बन, उद्दीपन विभावोंके कारण उत्पन्न रति आदि भाव, अनुभाव-कार्योंसे प्रतीति योग्य होकर, व्यभिचारी सहकारियोंसे उपचित होकर रसरूपको प्राप्त होते हैं, जो मुख्यत अनुकार्यमें होता है, किन्तु अनुसन्धानवश नटमें प्रतीयमान होते हैं, (का० प्र० ४ २८)। वस्तुत मम्मटने 'प्रतीयमान' शब्दके प्रयोगसे प्रस्तुत मतको नवीनता प्रदान की है। गोविन्द ठक्कुरने इसकी व्याख्यामें कहा है—'नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशादारोप्यमाण सामाजिकाना चमत्कारहेतु' (का० प्र० · पृ० ८८), अर्थात् नटमें अनुकार्यकी तुल्यताके अनुसन्धानके कारण सामाजिक उन्हींपर अनुकार्यका आरोप कर लेता है और चमत्कृत होता है। इसीके आधारपर इस व्याख्याको **आरोपवाद** कहा गया है। भट्ट लोल्लटने 'सयोग'को तीन अर्थोंमें स्वीकार किया है—स्थायी भाव विभावके साथ उत्पाद्य-उत्पादक-सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं, अनुभाव अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्धसे उनकी अनुमिति कराते हैं तथा सचारी भाव पोषक-पोष्य-भाव-सम्बन्धसे उनको रस-रूपमें पुष्टि करते हैं। इस रसकी अवस्थिति यद्यपि मूल रूपमें अनुकार्यमें ही होती है, पर अभिनेताके कौशलपूर्ण अभिनयके कारण दर्शक उसीपर अनुकार्यका आरोप करता है।

भट्ट लोल्लटके रस सिद्धान्तकी आलोचना अनेक दृष्टियोंसे की गयी है। मीमासा (दे०) दर्शनपर आधारित इस सिद्धान्तका खण्डन न्यायदर्शन(दे०)की दृष्टिसे किया गया। न्यायके अनुसार कारण कार्यका नियमत पूर्ववर्ती है तथा कारणका नाश भी कार्यको प्रभावित नहीं करता। इस दृष्टिसे विभाव और स्थायी भावके बीच इस प्रकारका सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि रस भावादिके साथ ही स्थिर होता है और नष्ट होता है। ऐसी स्थितिमें 'निष्पत्ति'-का अर्थ 'उत्पत्ति' नहीं हो सकता। सामानाधिकरण्य-सिद्धान्तके अनुसार कार्य तथा कारणकी स्थिति एकमें ही मानी जायगी, पर प्रस्तुत सिद्धान्तमें रसकी अवस्थिति रामादि अनुकार्यमें कही गयी है और उसका आस्वादन प्रेक्षकके द्वारा स्वीकार किया गया है, जो बिलकुल भिन्न है। शकुकने भट्ट लोल्लटके 'स्थायी भावकी उपचितावस्था'-का खण्डन किया है। उनके अनुसार यदि स्थायी भावकी उपचितावस्थाको रस तथा अनुपचितावस्थाको भावमात्र मानेंगे तो उसकी मन्द, मन्दतर, मन्दतम तथा मध्यस्थादि स्थितियोंकी व्यर्थ कल्पना करनी होगी। यदि उपचित स्थायी भाव ही रस है तो हास्यके स्मित, अपहसित आदि ६ भेदोंको किस आधारपर माना जा सकता है? इसके अतिरिक्त क्रोध, उत्साह, शोक आदि स्थायी भाव क्रमश क्षीण, क्षीणतर और क्षीणतम होते जाते हैं और उनके उपचित होनेकी स्थिति ही नहीं आ सकेगी। अतएव इसके आधारपर 'रसनिष्पत्ति'की व्याख्या ठहर नहीं सकती। आरोपमें सदृश वस्तुके ज्ञानके साथ उस वस्तुका स्मरण भी अनिवार्य है। पर पौराणिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक अनुकार्योंसे प्रेक्षकका परिचय सम्भव नहीं हो सकता, फिर अपरिचित रहकर भी प्रेक्षक नटपर उनका आरोप किस प्रकार कर सकता है? साथ ही भावोंका अनुकरण न होकर केवल बाह्य रूपादिका अनुकरण ही सम्भव है। भट्टनायक(१० श० ई० म०)ने इस सिद्धान्तकी एक भिन्न स्थिति स्वीकार करके इसका खण्डन किया है। प्रेक्षक द्वारा आरोपके माध्यमसे विभावादिको अपना ही विभावादि समझना भी सगत नहीं है, पौराणिक अथवा ऐतिहासिक विभाव शक्ति और क्षमता-भेदके कारण प्रेक्षकके नहीं हो सकते। इसी प्रकार ऐतिहासिक पात्रोंके प्रति पूज्यादि भावोंके कारण भी यह आरोपकी स्थिति सम्भव नहीं होगी।

करण रस सम्बन्धी शोकादिक भावोंके आरोपमें प्रेक्षकको आनन्द मिल सकता है, इस विषयमें भी शंका की गयी। आरोप-सिद्धान्तमें रसस्थितिके ज्ञानमात्रमें प्रेक्षकके आनन्दकी सम्भावना स्वीकार की गयी है, पर रस ज्ञानगम्य नहीं, आस्वादनीय है। किसी वस्तुस्थितिके ज्ञानमें हम निश्चिन्त, तटस्थ, विरक्त अथवा अनुरक्त हो सकते हैं, पर आरोपके ज्ञान-मात्रसे आनन्द(रस)की सम्भावना कैसे मानी जा सकती है? गोविन्द ठक्कुरने स्पष्ट कहा है—'राम-सीतामें रति है, ऐसा समझ लेनेमात्रसे हमें आनन्द नहीं आ सकता। इसके लिए हमारा अपना साक्षात्कार आवश्यक है' (का० प्र० पृ० ८३)। अनुकर्ता नट एकमात्र अनुकार्यमें आश्रित रसका तटस्थभावसे प्रदर्शन कर सकता है, इसपर भी आपत्ति की गयी है।

आधुनिक विचारकोंमें कान्तिचन्द्र पाण्डेयके अनुसार भट्ट लोल्लटने 'अनुसन्धान' शब्दका प्रयोग मीमांसकोंके अनुकूल 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा'-सिद्धान्तके अनुसार 'योजन' अर्थमें किया है। उनकी दृष्टिमें रंगमंचकी व्यावहारिकता विशेष थी, प्रेक्षकका दृष्टिकोण नहीं (कम्परेटिव एस्थेटिक्स • भा० १ पृ० २९, ३०)। आनन्दप्रकाश दीक्षितने भी स्वीकार किया है कि 'उन्होंने प्रेक्षककी दृष्टिसे विचार नहीं किया है। यदि हम यह स्वीकार कर लें तो भट्ट लोल्लटका सिद्धान्त बहुत-से तत्सम्बन्धी आक्षेपोंसे बच जाता है और आरोपवादकी कल्पना परवर्ती आचार्यों द्वारा निर्मित हवाई महलके समान निस्सार सिद्ध हो जाती है, (काव्यमें रस • अप्र० प्रव० • पृ० २००)। आगे इन्होंने यह भी माना है कि 'अनुकार्यको ही वास्तविक रसाश्रय मानकर भट्ट लोल्लटने कविवर्णित अनुकार्यकी ओर संकेत करते हुए कविकल्पनाको श्रेय देनेका प्रयत्न किया है' (वही)।

भरतने काव्यके पाठक या नाटकके प्रेक्षकके मानसमें रसनिष्पत्तिकी स्थितिका रूप स्पष्ट नहीं किया है, पर उनकी व्याख्या तथा रसके विभिन्न अंगोंके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि उन्होंने रसानुभूतिके लिए मानसकी भावात्मक प्रक्रिया(emotional tendency and expression) का आधार ग्रहण किया है। वास्तवमें भट्ट लोल्लटने रसकी व्याख्या इस सामान्य भावात्मक प्रक्रियासे अधिक भिन्न अर्थमें नहीं की है। कान्तिचन्द्र पाण्डेयके मतका समर्थन भी इस विषयमें लिया जा सकता है। रंगमंचके व्यावहारिक दृष्टिकोणके कारण सम्भवत: इस आचार्यके सम्मुख अनुकार्यकी सामान्य भावात्मक स्थिति प्रधान रही है और उन्होंने रसकी व्याख्या बहुत कुछ इसी अर्थमें की है। रसको मुख्यतया अनुकार्योंमें उपचित माननेका भाव यही है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने भट्ट लोल्लट द्वारा कविकल्पनाको श्रेय देनेकी बात कही है, परन्तु काव्यवृत्तकी कल्पना करनेवाले कविकी स्थितिका स्पष्ट विवेचन इन आचार्योंने नहीं किया है। प्रस्तुत सन्दर्भमें वृत्तका अर्थ है 'काव्यवृत्त', जिसकी कवि कल्पना करता है। कविकी इस कल्पनाका आधार जगत् है, पर यह कविके प्रत्यक्षबोध, स्मृतियों तथा विचारोंके स्वतन्त्र संयोग-रूप कल्पनापर आधारित है। इस प्रकार जिन चरित्रों अथवा स्थितियोंको उसने अपनी चमत्कारजन्य कल्पनामें स्थान-काल-प्रमेयकी सीमामें बाँधा है वे वास्तवमें उसके अपने अनुभवजगत्से गृहीत हैं। यह काल्पनिक वृत्त (ऐतिहासिक आदि भी, इसी रूपमें) काव्यमें वर्णित या नाटकमें अभिनीत होता है। इस प्रकार जब आचार्य कहते हैं कि रसकी स्थिति अनुकार्य(चरित्र)में है, तो वे चरित्रकी भावात्मक प्रक्रियाके मनोवैज्ञानिक सत्यको स्वीकार करते हैं। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि काव्यात्मक रसानुभूतिके सम्बन्धमें उनकी दृष्टि सीमित है (रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान • अनुशीलन • व० ३ • अं० २)।

रससूत्रकी व्याख्या करनेवाले दूसरे आचार्य शंकुक (९ श० ई० उत्त०) हैं, जिन्होंने न्यायदर्शनके अनुमान प्रमाणके आधारपर **अनुमितिवाद**की स्थापना की है। अभिनवगुप्त(१०, ११ श० ई०)के अनुसार इनका मत इस प्रकार है—'विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य, व्यभिचारी भावादि सहचारियोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होनेपर वास्तविक रामादिगत स्थायी भाव, अनुमानके बलसे अनुकरणरूपमें अनुकर्तामें कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हुए प्रतीयमान होता है। विभावोंका काव्यके द्वारा, अनुभावोंका शिक्षाके द्वारा तथा व्यभिचारी भावोंका अनुभवज्ञानके द्वारा अनुसन्धान (अर्थप्रतीति) होता है। स्थायी भावकी अर्थप्रतीति काव्य द्वारा नहीं की जा सकती। भरतने अपने सूत्रमें 'स्थायी भाव'का उल्लेख नहीं किया है। इसलिए अनुक्रियमाण रति स्थायी भाव ही अभिनयसे शृंगार है और इस प्रकार उसका (शृंगार रसका) तदात्मकत्व (स्थायी भावसे) तथा तत्प्रमत्व (स्थायी भावमूलक होना) युक्त है। रामके सुखी होनेके अभिनयमें नर्तक (अभिनेता) सुखी है, ऐसी प्रतिपत्ति नहीं होती। ये राम नहा हैं अथवा ये रामके समान हैं, इस प्रकारकी प्रतिपत्ति नहीं होती। किन्तु सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्यमूलक जो प्रतिपत्तियाँ होती हैं, उनसे विलक्षण चित्र-तुरग—आलिखित अश्व-न्यायसे—जो सुखी राम है 'वह यह है' इस प्रकारकी प्रतीति होती है' (अ० भा० पृ० २७४)। मम्मट (१२ श० ई०)ने भी शंकुकके अनुमितिवादको प्रस्तुत करते हुए नट रामकी प्रतीतिकी व्याख्या की है। यह प्रतीति 'चित्र-तुरग'के समान न सम्यक् प्रतीति है, न मिथ्या-प्रतीति, न संशय-प्रतीति और न सादृश्य-प्रतीति, अपितु एक विलक्षण, अलौकिक, कलात्मक प्रतीति ही कही जा सकती है। काव्यार्थोंके आधार-भूत चरित-नायकके रूपमें अपने-आपको ढालनेकी शक्ति रखनेवाला नट अभिनय-कलाकी शिक्षा और अभ्यासके बलपर जो प्रदर्शन करता है वह जीवनकी दृष्टिसे भले ही अवास्तविक अथवा अस्वाभाविक हो, पर सामाजिककी कलात्मक दृष्टिसे, जिसमें वह 'नट' नहीं अपितु 'राम' दिखाई दिया करता है, कृत्रिम नहीं लगता। वास्तविक जीवनमें रामादिके हृदयके रति-भावका अनुमान, उनका साक्षात्कार करनेवाले लोग इसीलिए किया करते हैं कि उन्हें रामके हृदयके रति भावके कारण, कार्य और सहकारी रूप अनुमापक साधनोंका ज्ञान हो जाया करता है। इसी प्रकार रंगमंचके 'नट राम'के हृदयके रत्यादि रूप स्थायी भावका अनुमान, सहृदय सामाजिक जन इसीलिए किया करते हैं कि उन्हें

'नट राम'के हृदयके रत्यादिरूप स्थायी भावके अनुमापक पदार्थोंका साक्षात्कार रंगमंचपर हुआ ही करता है, क्योंकि 'नट राम'के स्थायी भाव यदि 'गम्य' है—लोक-विलक्षण अनुमेय हैं तो रंगमंचपर प्रदर्शित सीतादिरूप विभाव, अनुभाव और संचारी भाव उसके 'गमक' हैं। सामान्य जीवनमें रामकी चित्तवृत्तिका अनुमान 'रस' नहीं माना जाता, किन्तु 'नट राम'के रत्यादिकरूप स्थायी भावका अनुमान एकमात्र 'रस'का आस्वादन होता है (का० प्र० ४ ४६ का०)।

वस्तुत शंकुकका यह मत न्याय-सिद्धान्तके अनुमान-प्रमाणपर आधारित है, जिसमें पहले देखी गयी वस्तुका, किसी समय साक्षात् न देखकर भी, उससे साहचर्य-सम्बन्ध रखनेवाली किसी अन्य वस्तुको देखकर ज्ञान प्राप्त होता है। ऊपर कहा गया है कि शंकुकने इसको संशयादिसे भिन्न माना है। जब हमारे ज्ञानको कोई अन्य वस्तु बाधा पहुँचाती है अथवा हमारा ज्ञान किसी अन्य ज्ञानके आधार-पर अप्रामाणिक सिद्ध होता है तब उसे मिथ्या कहते हैं। रसास्वादके प्रसंगमें इस प्रकारकी बाधा नहीं उपस्थित होती, क्योंकि जितने समयतक हम प्रदर्शनको देखते (काव्यका पाठ करते) हैं, उतनी देरतक उसमें किसी कारण बाधा नहीं उपस्थित होती। नाट्यप्रदर्शन जिस रूपमें है वह अयथार्थ भी नहीं कहा जा सकता। शंकुकके अनुसार यदि उसे एक क्षणके लिए अयथार्थ मान भी लें तो उसके कारण आनन्दानुभूतिमें शंका नहीं होनी चाहिये। संशयकी स्थितिमें व्यक्ति किसी निश्चयपर नहीं पहुँचता, पर रसात्मक बोधमें ऐसी स्थिति भी नहीं रहती और क्योंकि इसमें अनुकार्य-अनुकर्ताके पृथक्त्वका ज्ञान लुप्त हो जाता है, अत सादृश्य-ज्ञानकी स्थिति भी स्वीकार नहीं की जा सकती। यह अनुमिति-ज्ञान है जिसे शंकुकने 'चित्र-तुरग'-न्यायसे समझाया है। अर्थात् चित्रांकित तुरगके समान अभिनय वास्तविक पात्रका अनुकरणमात्र है और अभिनेता वास्तविक पात्र न होकर अनुकर्तामात्र।

परवर्ती आचार्योंने शंकुकके 'अनुमितिवाद'का खण्डन किया है। अनुमान तो वास्तविकताके आधारपर किया जा सकता है, कृत्रिम विभावादिके द्वारा इसकी सिद्धि कैसे हो सकती है? ऐसा नहीं कि शंकुकका अपने सिद्धान्तके इस पक्षकी ओर ध्यान न हो। उन्होंने स्वय अभिनेताके कौशलके सहारे अनुमानकी सिद्धि मानी है, साथ ही उन्होंने दूरकी उठी हुई धूलको धुआँ समझकर अग्निके अनुमानकी बात कही है। सामने प्रत्यक्ष रंगमंचके अभिनयके सम्बन्धमें इस प्रकारका अनुमान नहीं किया जा सकता। दर्शक पहलेसे ही जानता है कि अभिनयके पात्र वास्तविक नहीं हैं। अत उसके रसास्वादनको समझनेके लिए अनुमान पर्याप्त कारण नहीं हो सकता। कहा गया कि सामान्य जगत्‌के कारणके स्थानपर विभावादिके संयोग-पर रसास्वाद आधारित है, पर ये विभावादि प्रेक्षकके नहीं हैं, उनसे उसका सीधा सम्बन्ध ही नहीं। यथार्थ जगत्‌में वस्तुसौन्दर्यसे रसानुभूतिको स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि अविद्यमान रहनेपर भी अनुमानमात्रसे रसास्वादकी सिद्धि होती तो विद्यमान होनेपर उसकी सिद्धिमें किसी प्रकारकी शंका नहीं होनी चाहिये। पर लोकमें रति आदिको प्रत्यक्ष देखकर आनन्द नहीं होता, ऐसी स्थितिमें अनुमानसे कैसे माना जा सकता है? शंकुकके सिद्धान्तपर क्षणिकवादका आरोप भी लगाया गया। नैयायिक परिणामवादके साथ अनुभवको क्षणिक मानते हैं। रसानुभूतिको क्षणिक माननेसे काव्यके आकर्षणमें बाधा उपस्थित होगी। शंकुकने प्रेक्षकके तन्मयीभावके कारण रसानुभूतिको धारावाहिक माना है। वह तन्मयावस्थाम प्रदर्शित रत्यादिका अनुसन्धान करता है और बार-बार शंका करता हुआ अनुमान नहीं करता। पुनः पुन अनुसन्धान करना ही 'चर्वणा' है। रसप्रदीपकारका आरोप है कि एक बार वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर पुन अनुमान नहीं किया जा सकता। प्रेक्षक 'रसका अनुमान' नहीं करता, वरन् अनुभव करता है। शंकुकके द्वारा भी नटमे रसकी स्थिति स्वीकार नहीं की गयी, अत उनके सिद्धान्तमें तटस्थताका दोष आ गया है (र० प्र० पृ० २४, २५)। इसके अतिरिक्त अनुकरण बाह्य व्यवहारका भी बहुत सम्भव नहीं होता और आन्तरिक भावोंका अनुकरण तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि अनुकरणके सामर्थ्यको मान भी लें तो करुण आदिक दृश्यमें आनन्दकी उपलब्धि किस प्रकार स्वीकार की जा सकती है? वस्तुत भट्ट लोल्लटके समान शंकुकने भी प्रेक्षकके आनन्दका कारण उससे असम्बद्ध माना है, प्रेक्षक प्रदर्शित विभावादिकका केवल अनुमान करता है। अभिनवगुप्तके गुरु भट्ट तोतने कहा है कि सादृश्यानुमानमें अनुमान फलके अनुसार होता है और अनुमानकर्ताको सादृश्यका अनुभव होता है। परन्तु अभिनेता द्वारा प्रदर्शित भावनाएँ उसके मनमें वर्तमान किसी सादृश्यपर आधारित नहीं हैं और प्रेक्षक भी ऐसा नहीं मानता। प्रेक्षक जानता है कि यह ऐसा अभिनेताके दीर्घकालीन अभ्यासके कारण प्रतीत होता है। उनका कहना है कि ज्ञान या तो निश्चित रूपसे सत्य होता है या मिथ्या। इन दोनोंसे भिन्न कहना भ्रामक है। 'चित्र-तुरग-न्याय'में सादृश्य ज्ञानमात्र है, उसे तुरग कहते हुए भी हम जानते हैं कि वह वास्तविकके सदृशमात्र है (अ० भा० १ पृ० २७७)।

आधुनिक विवेचकोंमें राकेश गुप्तने 'चित्र-तुरग-न्याय'-को चारों प्रकारका ज्ञान सिद्ध किया है। वे भट्ट तोतके समान उसे केवल सादृश्य-ज्ञान ही नहीं मानते। उनका कहना है कि दर्शक 'चित्रलिखित तुरग'को चित्रलिखितमात्र मानता है और लक्षणाके आश्रयसे उसके कहनेका अर्थ भी यही होता है। वास्तविकताका ज्ञान न होनेवालेको भ्रम होगा, या तो वह अश्व मान लेगा या संशयमें रहेगा। आनन्दप्रकाश दीक्षितके अनुसार राकेश गुप्तने चित्रकला-अनभिज्ञ दर्शककी कल्पना की है और दूर रखे हुए चित्रका उदाहरण दिया है। नाटकमें अथवा काव्यमें इन दोनों स्थितियोंको स्वीकार नहीं किया जा सकता। दीक्षितका कहना है, 'सारांश यह है कि अनुकर्ता अन्तर्भावोंका नहीं, बाह्य अनुभावोंमात्रका अनुसरण करता है और अपने शिक्षाभ्यासादिके साथ-साथ हृदयसंवादके बलपर काव्यका उचित स्वर तथा बलके साथ याचन करते हुए अपनी ओरसे

यथाशक्ति उस स्थितिमें उत्पन्न हो सकनेवाले भावोंको व्यक्त करता है। इस प्रकारकी प्रतीतिको अनुकरण नहीं कहा जा सकता। उसमें अनुकर्ताका शिक्षा तथा कल्पनाका योग स्वीकार किया गया है। इस प्रकार उसकी तटस्थता दूर हो जाती है।' (काव्यमें रस अप्रका०प्रव० पृ० ५१५)।

शंकुकने भट्ट लोल्लटकी अपेक्षा अपने सिद्धान्तमें अधिक मनोवैज्ञानिक आधार ग्रहण किया है। उन्होंने वास्तविक पात्रमें भावात्मक प्रक्रिया द्वारा स्थायी भावका उद्बोध माना है और प्रेक्षक द्वारा अभिनेताओंमें अनुकरणके अनुमानमे वही भाव-स्थिति रसरूपमें आस्वादित होती है, ऐसा स्वीकार किया है। इस सिद्धान्तकी सम्पूर्ण विवेचनाको समझनेके लिए रसकी दो स्थितियोंको जान लेना चाहिये—एक, साधारण जीवनमें भावात्मक प्रक्रियाकी उद्बुद्ध घटना और दूसरी काव्यानुभूतिमें रसनिष्पत्ति'। एकको 'रसस्थिति' और दूसरीको 'रसनिष्पत्ति'की स्थिति मानना अधिक वैज्ञानिक है। शंकुकने 'चित्र-तुरग-न्याय' द्वारा अभिनय-(काव्यकला भी)का प्रत्यक्ष बोध तथा स्मृतिसे संयुक्त कल्पनाका आधार स्वीकार किया है। चित्रांकित तुरग केवल तुरगका चित्ररूपमें प्रत्यक्ष बोधका विषय नहीं है (जैसी राकेश गुप्तकी भ्रामक स्थापना है), उसमें तुरगत्वके साथ जो कल्पना और स्मृतिका संयोग है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अभिनय सौन्दर्य(काव्य-सौन्दर्य)के द्वारा प्रेक्षक या पाठकके मनपर जो प्रभाव पड़ता है, वह प्रत्यक्ष बोधसे कहीं व्यापक है। जिस प्रकार प्रेक्षक आरोप करनेके लिए अपने अनुभव और संस्कारोंका सहारा लेता है, उसी प्रकार वह अपनी कल्पनाके आधारपर नाटकीय घटना(नाटककारकी कल्पना)का अनुमान कर सकेगा। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे इस सिद्धान्तके सम्बन्धमें यह आक्षेप महत्त्वपूर्ण है कि यदि प्रेक्षक आश्रयकी मन स्थितिसे तादात्म्य स्थापित करके रसकी प्रतीति करता है तो उसे आश्रयके समान अपनी भावस्थितिमें दु ख सुख, दोनोका अनुभव होना चाहिये। परन्तु शंकुकके मतमें तादात्म्यका उल्लेख इस प्रकार नहीं है। इसके अतिरिक्त आचार्यके अनुसार यदि प्रेक्षक भावात्मक घटनाको सत्य मानकर अपने अस्तित्वसे घटनाओंको सम्बन्धित मान ले तो वह संस्कृत, भावज्ञ प्रेक्षक या पाठक नहीं समझा जायगा। ऊपरकी विवेचनामें इस आक्षेपका भी उल्लेख किया गया है कि विभावादि, जो अतीतसे सम्बन्धित हैं, वे प्रेक्षक अथवा पाठकके अनुमानके विषय कैसे होंगे। परन्तु यह आक्षेप इसी आधारपर ठहर सकता है, यदि अनुमानको स्मृतिसे सम्बन्धित प्रत्यक्ष बोधोंके रूपमें सादृश्यके आधारपर ही स्वीकार किया जाय। कल्पनाके तत्त्वको स्वीकार कर लेनेपर स्मृतिके स्वतन्त्र संयोगोंकी सम्भावना सहज ही सकती है। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे प्रमुख आक्षेप यह माना जा सकता है कि शंकुकने अपने मतमें स्मृति और अनुभवको स्वीकार किया है, पर कल्पनाकी स्थापना स्पष्ट नहीं कर सके हैं (रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान अनुशीलन · व० ३ . अं० २)।

भरतके रससूत्रकी व्याख्या करनेवाले तीसरे आचार्य भट्टनायक (१० श० ई०) हैं, जिनका सिद्धान्त **भोगवाद** है। भट्टनायकने रसके पूर्ववर्ती व्याख्याकारोंके मतोंका खण्डन करते हुए स्वमतकी स्थापना की है। 'अभिनव-भारती'में उद्धृत उनका मत इस प्रकार है—'काव्यमे दोषाभाव, गुण तथा अलङ्काररूप और नाटकमें चतुर्विध अभिनयरूप विभावादि कारणके द्वारा अभिधार्थसे ग्रहण किये गये निविड निजत्वका मोह तथा संकट आदिको निवारण करनेवाली भावकत्वरूपमें शब्दकी दूसरी शक्ति साधारणीकरण तथा अपने भावन-व्यापारसे इस निजत्वके मोहको दूर करके रसको भावनावान् करती है और भावन-योग्य बनाती है। फिर भोगशक्ति, जो अनुभव, स्मृति आदिसे विलक्षण है, रजस् और तमस्‌के अनुवेधके वैचित्र्यके बलसे वृद्धि, विकास तथा विस्ताररस्वरूप है, हृदयके विस्तार और विकासके लक्षणवाली है, सत् गुणके उद्रेकके कारण प्रकाशमान् आनन्दसे सकल्प-विकल्पसे भिन्न (विलक्षण) है, उससे परब्रह्मास्वादके समान रस अनिर्वाच्य रूपसे भोगा जाता है' (अ० भा० प्र० . पृ० २७८)। मम्मट-(११ श० ई०)ने इसी बातको संक्षेपमें दुहरा दिया है—'काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणी-करणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमान स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति' (का० प्र० ४ २६), अर्थात् काव्य और नाटकमें अभिधासे भिन्न दूसरी भावकत्वशक्ति अपने व्यापारसे विभावादिकको साधारणीकृत रूपमें प्रस्तुत कर स्थायी भावको भाव्यमान या भावन-योग्य बनाती है। फिर तीसरी भोग-शक्ति साधारणीकृत भाव्यमान् स्थायी भावको आनन्दमय तथा एकरसरूपमें आस्वादन योग्य बनाती है। इस स्थितिमें 'सत्त्व'-सुख और प्रकाशका उद्रेक इतना प्रबल हो जाता है कि रजस् और तमस् (मनकी चंचलता और मूढता) अभिभूत हो जाया करते हैं।

भट्टनायकके पूर्व ध्वनि-सिद्धान्तकी स्थापना हो चुकी थी और शब्दकी अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना नामक तीन शक्तियाँ स्वीकृत की जा चुकी थीं। परन्तु भट्टनायकने रसनिष्पत्तिके लिए अभिधाके साथ दो नयी शक्तियोंकी स्थापना की—**भावकत्व** तथा **भोजकत्व**। अभिधाको आचार्यने उस शक्तिके रूपमें स्वीकार किया है जिससे इसकी नाटक अथवा काव्यमे प्रस्तुत अथवा वर्णित अर्थका बोध होता है। इसीके द्वारा हम यह समझनेमें समर्थ होते हैं कि किन पात्रों अथवा परिस्थितियोंका उल्लेख किया गया है। इसके द्वारा कथाके व्यक्तिविशेष अथवा घटना-विशेषका बोध होता है। आचार्यके अनुसार यह बोध रसनिष्पत्तिकी बाधा है और उन्होंने इसके स्थानपर व्यक्ति-निरपेक्ष बोधकी आवश्यकता मानी है। उनका कहना है कि अभिधासे व्यक्ति अथवा परिस्थितिविशेषका बोध हो जानेपर भी कलात्मक नाटकीय प्रदर्शन अथवा काव्यकी सुन्दर अभिव्यक्ति(शब्दचयन, पद-विन्यास, अलंकार आदि)-के कारण प्रेक्षक तथा पाठकका मन इस विशिष्टताके बोधको भूलने लगता है और जितना ही वह भूलता जाता है उतना ही उस व्यक्ति या स्थितिका वह निरपेक्ष चिन्तन करनेमें समर्थ होता है। इस रूपमें सामाजिक नाटकमें, प्रदर्शित अथवा काव्यमें वर्णित विभावादिकको केवल किसी

विशिष्ट व्यक्तिका न मानकर सामान्य रूपमें ग्रहण करता है। इस स्थितिकी प्राप्ति भट्टनायकके अनुसार 'भावकत्व-शक्ति'से होती है। यह रसास्वादनके पूर्वकी स्थिति मानी गयी है। इसके द्वारा सामाजिक देश-कालकी सीमाओं तथा लोक-मर्यादाओंके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। उसके लिए राम अतीतके पात्र नहीं रह जाते। उनकी सीताविषयक रति सामाजिकके लिए बाधा नहीं उपस्थित करती। इस प्रकार आचार्यके अनुसार 'भावकत्व-शक्ति' और 'साधारणी-करण'-व्यापार(दे०)से ताटस्थ्य तथा आत्मगतत्व सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं। इसके अनन्तर तीसरी भोजकत्वशक्ति द्वारा सामाजिक भावित स्थायी भावादिका रस-रूपमें भोग करता है जो अपनी विलक्षणतामें परब्रह्मास्वाद(दे०)के समान लौकिक अनुभव तथा स्मृति ज्ञानसे नितान्त भिन्न है। उपर्युक्त विवेचनासे स्पष्ट है कि भट्टनायकके अनुसार 'निष्पत्ति'का अर्थ 'भोग' है, जिसमें विभावादिक स्थायीके भोजक हैं और स्थायी भोज्य, जिसका विभावादिके द्वारा 'भोग' किया जाता है। यहाँ विभावादि तथा स्थायी भावका सम्बन्ध भोज्य-भोजक-भावका माना जायगा।

भट्टनायकका भोगवाद साख्यदर्शन (दे०)पर आधारित है। साख्यके अनुसार सृष्टि त्रिगुणात्मक प्रकृतिकी अभिव्यक्ति है और निर्विकल्प ब्रह्म भी इसके चक्रमें त्रिगुणमय हो जाता है और अनेक रूपोंमें अपनेको व्यक्त करता है। सत्त्व, रज तथा तम ये गुण हैं, जिनसे शरीर प्रकाशित है। सत्त्वमें प्रीति, रजमें अप्रीति तथा तमोगुण विषादात्मक है। साख्य द्वारा प्रतिपादित प्रकृतिके इस त्रिगुणात्मक स्वरूपकी कल्पना भट्टनायकके सत्त्वोद्रेकके समान है। परन्तु साख्यमें पुरुष प्रकृतिके बन्धनमें अपने-आपको भूल जाता है और अन्य दोनों गुणोंको विजय करके ही सत्त्वोद्रेकके सहारे पुरुष मुक्तस्वरूप होता है। अपने आत्मस्वरूपकी परम स्थितिको कैवल्यपद कहा गया है जो मध्यस्थकी स्थिति मानी गयी है, जिसमें पुरुष स्वत साक्षी, द्रष्टामात्र रहता है। भट्टनायकके भोगवादका आधार यह सिद्धान्त अवश्य है, पर भोगकी स्थितिसे कैवल्यपदकी स्थितिका मौलिक अन्तर है, यद्यपि सत्त्वोद्रेककी स्थिति दोनोंमें स्वीकार की गयी है। साख्यके अनुसार मध्यस्थकी स्थिति उदासीनकी स्थिति है, जिसमें वह सुख दु खसे परे होता है। इस मुक्तिकी स्थितिमें पुरुष सभी गुणोंसे हीन हो जाता है, यद्यपि इस स्थितिको प्राप्त करनेमें सत्त्वोद्रेकका सहारा मिलता है। साख्यका कैवल्य भोगका विरोधी है और भट्टनायकने उसीका प्रतिपादन किया है। भट्टनायकने इस भोगको परब्रह्मास्वादके सदृश मानकर सम्भवत' यह सिद्ध किया है कि यह रसस्थिति लौकिक अनुभवगम्य स्थितिसे भिन्न है और साथ ही यह ब्रह्मास्वाद भी नहीं है, केवल उसके समान है। वास्तवमें रसानुभूति संवित् (चित् स्वभाव) है, जो विश्रान्तिमें परिणत होती है। परन्तु दार्शनिक स्थितिमें शुद्ध चित् स्वभाव अहकारशून्य होकर सुख-दु खकी सम्पूर्ण भावनाओंसे मुक्त हो जाता है। परन्तु इस प्रकारकी निरपेक्ष स्थिति रसास्वादके क्षेत्रमें सम्भव नहीं है। काव्यजगत् लौकिक जगत्से भिन्न है और यह अहकार वासनाको जागरित नहीं करता है, क्योंकि काव्यकी कल्पित वस्तुएँ विशेषसे सम्बद्ध न होकर पूर्णत निर्वैयक्तिक होती हैं और इन निर्वैयक्तिक रूपोंके कारण काव्यानन्द प्राप्त करनेवाला व्यक्ति निजत्वके मोह-बन्धनोंसे अलग रह सकता है। परन्तु उसकी बुद्धिनिरपेक्ष स्थिति थोड़े ही कालके लिए सम्भव हो सकती है। (एस० के० दे० हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स भा० २ पृ० १५८)।

भट्टनायकके मतकी प्रधान आलोचना इस रूपमें की गयी है कि लक्षणा और व्यजनाके रहते हुए भी उन्होंने भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो नवीन शक्तियोंकी स्थापना की। इस मतके आलोचकोंने भट्टनायकके भावकत्व-व्यापारको व्यर्थ माना और कहा कि इसका कार्य लक्षणासे चल सकता है। पर इस मतके समर्थकोंका उत्तर है कि लक्षणाका व्यापार कठिन है, जिसको ग्रहण करनेमें सभी सामाजिक समर्थ नहीं हो सकते और भरतकी दृष्टिमें नाट्यकलाको सर्वसाधारणके योग्य बनाना है। लक्षणासे अर्थ ग्रहण करनेके लिए कुशाग्रबुद्धिके अतिरिक्त काव्या-नुशीलनका अभ्यास भी आवश्यक है। ऐसा मानकर चलना नाट्यकी सार्वजनिकतामें बाधक होगा। इस प्रकार काव्यानुशीलनकी कई कोटियाँ भी माननी पड़ेंगी, योग्यतानुसार व्यक्ति लक्षणा-व्यापारसे अर्थ ग्रहण करेगा। इसके अतिरिक्त लक्षणाका अर्थग्रहण एक क्रमसे होता है, जिसमें पौर्वापर्यका सम्बन्ध परिलक्षित होता है, पर रसास्वाद इस क्रममें उपस्थित नहीं होता। काव्यके सहज रसास्वादनके लिए भावन तथा भोगकी शक्तियाँ अधिक उपयुक्त हैं। (काव्यमें रस अप्रका० प्रव० पृ० २२३)। इस मतके समर्थकोंका यह भी कहना है—'लक्षणाका व्यापार विभावादिके साधारणीकरणतक मान भी लिया जाय तो भी स्थायी भावके साधारणीकरणमें लक्षणा किस प्रकार काम दे सकेगी? लक्षणा अभिधापर आश्रित है, किन्तु अभिधा मानसिक भावोंको समझानेमें सर्वथा अनुपयोगी है, अत यहाँ वह किस प्रकार अपना कार्य सम्पन्न कर सकेगी? इस प्रश्नका उत्तर अभिधावादी लोग न दे सकेंगे। अत भावकत्वको अनिवार्य रूपसे स्वीकार करना पड़ेगा।' (वही • पृ० २२३)।

भट्टनायकके मतके आलोचकोंका कहना है कि स्थायी भावोंके भावनका काम यदि लक्षणा-शक्तिसे नहीं चलता तो व्यजनासे सरलतापूर्वक हो सकता है। अभिनवगुप्तने व्यजनाको स्वीकार कर भट्टनायकके द्वारा प्रतिपादित दोनों शक्तियोंको निरर्थक माना है। रस-व्यजनाके अन्तर्गत इनका अन्तर्भाव हो जाता है। भरतके कथन—'काव्यार्थान् भावयन्तीति भाव'में भावकत्व भावकी मौलिक शक्ति माना गया है। अत स्थायी तथा सचारी भाव अपनी इस योग्यतासे स्वत साधारणीकृत रूपमें अलौकिक रसास्वाद-के हेतु होते हैं। अभिनवगुप्तने भट्टनायक द्वारा रस-प्रतीतिका विरोध भी स्वीकार नहीं किया है। अनुमानके अर्थमें प्रतीतिको भले ही अस्वीकार किया जाय, पर ज्ञानके अर्थमें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रतीतिके अतिरिक्त भोगका अर्थ क्या हो सकता है? 'रमन व्यापार' कहकर भी उसे प्रतीतिसे भिन्न नहीं सिद्ध किया जा सकता। स्थायी भावका ही भोग हो सकता है, उसकी प्रतीति चित्तमें बनी

रहती है। अतीत अथवा अनुपस्थित वस्तुका भोग नहीं किया जा सकता। भोग भी व्यवहार है, अतएव उसके माननेसे प्रतीति भी आपसे-आप स्वीकृत हो जाती है (अ० भा० . प्र० भा० पृ० २७९)। भट्टनायकने स्थायी भावकी प्रतीतिको असम्भव माना है, पर अभिनवगुप्त इन्हाकी प्रतीतिपर विश्वास करते हैं। यह बात दूसरी है कि इस सन्दर्भमें प्रतीति चर्वणा, आस्वाद अथवा भोग आदि नामोंसे पुकारी जाती है (ध्वन्यालोक पृ० १८७)। अभिनवने भोग-व्यापारको अन्तत व्यंजना अथवा ध्वनन-व्यापार माना है।

परवर्ती आचार्योंकी आलोचनाके बावजूद भट्टनायकका सिद्धान्त बहुत दूरतक सत्यपर आधारित है। इस आचार्यकी मौलिकता तथा सूक्ष्म दृष्टिको स्वीकार करना पड़ा है। इनके द्वारा प्रतिपादित सत्त्वोद्रेक, विश्रान्ति, साधारणीकरण आदि शब्दोंको आगेके आचार्योंने स्वीकृति दी है। रसानुभूतिको ब्रह्मास्वादसहोदर (दे०) कहनेकी परम्परा इसी आचार्यसे प्रारम्भ हुई है। साधारणीकरणका सिद्धान्त (दे०) रस-व्याख्याके क्षेत्रमें इनका सबसे महत्त्वपूर्ण योग माना जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्टनायकने अपना सिद्धान्त नाटक और काव्य, दोनोंको दृष्टिपथमें रखकर स्थापित किया है, फिर भी नाट्यप्रदर्शन उनके सामने अधिक प्रत्यक्ष है। वस्तुत वास्तविक जीवनमें स्थायी भावकी उद्बुद्ध स्थिति और रसनिष्पत्तिके अन्तरको सर्वप्रथम भट्टनायकने ही स्पष्टत स्वीकार किया है। सामान्य अभिधार्थसे आचार्यका तात्पर्य प्रत्यक्ष ज्ञान (काव्यवर्णित वस्तुका पर प्रत्यक्ष) है। इस स्तरपर विभावादिकका अर्थ केवल लौकिक जीवनकी भावात्मक प्रक्रियासे सम्बद्ध माना जा सकता है और इस आधारपर काव्यात्मक रसकी व्याख्या नहीं की जा सकती जैसा पिछले आचार्योंके मतोंके सम्बन्धमें देखा जा चुका है। अतएव आचार्यने भावकत्व-शक्तिकी स्थापना की। उनके अनुसार इस शक्तिसे एक ओर प्रेक्षक निजत्व-मोहकी स्थितिसे मुक्त होता है और दूसरी ओर इसीसे विभावादि उसके मानसमें साधारणीकृत स्थितिमें प्रत्यक्षीभूत होते हैं, इस प्रकार यह शक्ति प्रेक्षकमें रसको भाव्यमान करती है। वस्तुत प्रत्येक भावात्मक प्रक्रियामें इच्छाशक्तिका स्थान रहता है। आचार्य द्वारा स्वीकृत भावन-व्यापार इच्छाशक्तिका रूप ही जान पड़ता है। प्रेक्षकके मनमें नाटकीय कथावस्तुके प्रति जो उत्सुकता जाग्रत् होती है वह इच्छाशक्तिकी प्रेरणासे ही सम्भव है और यह इच्छाशक्ति न तो नाटकीय विभावोंके प्रति क्रियाशील है और न अनुभावोंसे सम्बन्धित है—वह तो कथावस्तुके प्रदर्शनके प्रति उत्सुक और इच्छुक है। सम्भवत इसी कारण राकेश गुप्तने भ्रमवश समस्त काव्यानुभूतिकी भावात्मक प्रक्रियाको काव्यात्मक उत्सुकता-मात्र माना है। वह नाटकीय प्रदर्शन न तो जीवनका प्रत्यक्ष बोध है और न स्मृति-संयोग, इसी आधारपर उत्पत्तिवाद तथा अनुमानवादको अस्वीकार किया गया है। इस कलात्मक मानसिक घटनामें प्रत्यक्ष बोध (concepts) से हम कल्पनात्मक सृष्टि कर लेते हैं, जिसमें स्मृति और अनुभवोंका आधार अवश्य है, पर संयोगका क्षेत्र मुक्त है। इसीको आचार्यने भोगशक्ति माना है और इसे अनुभव, स्मृतिसे विलक्षण (भिन्न) स्वीकार किया है। भोगशक्तिसे प्रत्यक्ष बोधको कल्पनात्मक स्तर मिलता है और अनुभूत्यात्मक (affective) वैचित्र्य (चमत्कार)के रूपमें आस्वादनका आनन्द भी मिलता है। इस कल्पनात्मक स्तरकी स्थिति निश्चय ही प्रत्यक्ष जगत्से भिन्न (विलक्षण) है। काव्य अथवा नाटककी कल्पनात्मक स्थितिमें प्रेक्षक (जो सहृदय तथा संस्कृत भी होता है) अपनी भावनात्मक प्रक्रियामें भी सुख-दु:खसे भिन्न अनुभूति ग्रहण करेगा। आगे भावनाशक्ति 'इच्छा शक्ति'के साथ यह अनुभूति चमत्कार-सौन्दर्यमें अधिकाधिक बढ़ेगी। प्रश्न उठ सकता है कि यदि यह अनुभूति सुख-दु:ख-(रजस्-तमस)से भिन्न है तो उत्सुकता इच्छाशक्तिको आकर्षित कैसे करती है? आचार्यके शब्दोंमें उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—इच्छाशक्तिकी गति ही ऐसी है, सौन्दर्यबोध (सत्त्वगुण) भी संकल्प-विकल्पसे हीन, आनन्दमय है और वह आनन्द स्वयं आकर्षित करता है। इस इच्छाशक्तिरूपी भावन-शक्तिमें निजत्वका भाव नहीं रह सकता, क्योंकि कथावस्तुमें प्रस्तुत या प्रदर्शित भावनात्मक प्रक्रियाके प्रति प्रेक्षक या पाठक तटस्थ ही है। लेकिन यह तटस्थता क्रियाशक्ति तथा इच्छाशक्तिसे प्रेरित है। इच्छाशक्तिकी इस प्रेरणाके कारण काव्यात्मक भावस्थितिमें स्थायी भाव सम्बन्धी सुख दु ख अलग रहेंगे। इच्छाशक्तिकी प्रेरणा इस स्थितिमें वस्तुवैचित्र्यकी ओर रहती है। साथ ही, जिस कल्पनाके आधारपर प्रेक्षक या पाठक कथावस्तुको ग्रहण करता है, उसमें विभावादिको स्मृतिके अनुभवात्मक संयोगसे साधारणीकृत रूपमें ग्रहण किया जाता है और कल्पनाके स्वतन्त्र संयोगोंका व्यापार ही साधारणीकरण (दे०) है।

अभिनवगुप्त (१०-११ श० ई०) भरतके रससूत्रके चौथे व्याख्याता हैं। वस्तुत इनकी 'नाट्यशास्त्र'पर 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोक'पर 'लोचन' नामक टीकाओंके आधारपर रस-सिद्धान्तके अन्य आचार्योंके मतोंकी स्थापना भी की जा सकी है। अभिनवगुप्तका सिद्धान्त **अभिव्यक्तिवाद**के नामसे प्रसिद्ध है, जो प्राय शैव दर्शनपर आधारित माना जाता है। ऊपर भट्टनायकके भोगवादकी आलोचनाके प्रसंगमें कहा गया है कि अभिनवगुप्तने उनकी शक्तियोंकी कल्पनाको अस्वीकार करके यह माना है कि यह कार्य लक्षणा तथा व्यंजनासे सम्पादित हो जाता है। इस प्रमुख अन्तरके अतिरिक्त अभिनवगुप्तने भट्टनायकके मतकी अन्य बातोंको स्वीकार किया है। परन्तु उनका इस विषयमें महत्त्वपूर्ण योग है—सामाजिकोंके अन्त करणमें वासनारूपसे स्थायी भावोंकी स्वीकृति। भट्टनायककी विवेचनामें इस बातका कोई संकेत नहीं है कि प्रेक्षक अथवा पाठकके स्वयके भावोंसे रसास्वादनका कोई तात्त्विक सम्बन्ध है। प्रेक्षक या पाठककी स्वयकी मन स्थितिमें रसनिष्पत्तिके लिए क्या कोई मनोवैज्ञानिक आधार है? इस प्रश्नका उत्तर अभिनवके पूर्वकी व्याख्याओंके आधारपर नहीं दिया जा सकता। अभिनवगुप्तने सामाजिकके अन्त करणमें वासनारूप संस्कारोंकी कल्पना

करके रसका सामाजिकके भावोंसे सीधा सम्बन्ध स्वीकार किया है। उनके अनुसार रसनिष्पत्तिके लिए सामाजिकमें अनादि वासना अनिवार्य है और यह वासना सबमें होती है। वासना-सवाद ही रसका हेतु है। इन्हीं संस्कारोंको स्थायी भावकी सज्ञा दी गयी है। ये सभी सामाजिकोंमें जन्मसे होते हैं और किसी-न-किसी स्थितिमें सदैव बने रहते हैं। इनके बिना कोई भी प्राणी नहीं होता (अ० भा० प्र० भा० २८९)। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक सामाजिक इसी कारण रसास्वादनका समान अधिकारी माना जा सकता है। भरतके द्वारा सामाजिकोंके लिए प्रयुक्त 'सुमनस्' शब्दका उल्लेख किया गया है, अभिनवने इसीके आधारपर उसके लिए 'सहृदय' शब्दका प्रयोग किया है। सहृदयताके लिए काव्यानुशीलन तथा अभ्यासकी पहली शर्त है। काव्यानुशीलनके अभ्याससे सामाजिकका मन-मुकुर स्वच्छ और विशद हो जाता है और उसपर प्रदर्शित अथवा वर्णित भावोंका प्रभाव गम्भीर होकर पड़ता है और इस स्थितिमें सामाजिक तन्मय होकर हृदयसवाद द्वारा रसास्वाद करता है (अ० भा पृ० २८६)।

अभिनवने सहृदयके रसास्वादमें विघ्नों(दे०)को भी माना है और उनके दूर करनेका उपाय विभावोंके प्रदर्शन तथा वर्णनके चमत्कारको स्वीकार किया है। यही अद्भुत चमत्कार भोगरूप अथवा स्पन्दरूप होता है। यह दशा न लौकिक है और न मिथ्या। न इसे अनिर्वचनीय कह सकते हैं, न लौकिकके सदृश और न आरोपमात्र (अ० भा० पृ० २८१)। अभिनवगुप्तने विभावादिके रसास्वाद होनेकी योग्यताके लिए भट्टनायकके साधारणीकरण (दे०) सिद्धान्तको स्वीकार किया है। उन्होंने रसनिष्पत्तिके सम्बन्धमें चार स्थितियोंकी कल्पना की है। पहली स्थितिमें रगमंचपर (दृश्य काव्यमें) व्यक्ति अथवा स्थितिविशेषका प्रत्यक्ष बोध होता है। इसके बादकी स्थितिमें रगमचके वातावरण(काव्यकी वर्णना)से कथावस्तुका यह विशेषका भाव दूर होने लगता है और पात्र तथा स्थितियाँ सामान्य रूपमें आती हैं। इस स्थितिमें व्यक्तिविशेषका बोध तो नहीं होता, किन्तु द्वैत बना रहता है। तीसरी अवस्थामें चित्तमें अवस्थित स्थायी भाव न तो उसके अपने रह जाते हैं और न किसी अन्यसे उनका किसी प्रकारका सम्बन्ध रहता है। विभावादिके विशेषत्व-लोपके साथ अन्त करणमें स्थित स्थायी भाव साधारणीकृत होकर उद्बुद्ध होने लगते हैं। अन्तिम स्थितिमें निर्विघ्न होकर सहृदय साधारणीकृत रूपमें उद्बुद्ध स्थायीका रसरूपमें आस्वादन करता है (अ० भा० प्र० भा० पृ० २०९)। अभिनवके अनुसार 'निष्पत्ति'का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है। विभाव विभावना-व्यापारके द्वारा स्थायी भावको अकुरित करता है, अनुभाव अनुभावना-व्यापारसे इस स्थायीको अनुभवयोग्य बना देते हैं और संचारी भाव अनुरजन व्यापारके द्वारा उसे पूर्णतया व्यजित कर देते हैं। इस प्रकार प्रेक्षक अथवा पाठकके स्थायी भाव रसरूपमें प्रकट अथवा व्यक्त होते हैं।

अभिवनगुप्तका अभिव्यक्तिवाद शैव दर्शन(दे० पर आधारित है, जो स्वत अद्वैतवादी (दे०) है। इस सिद्धान्तमें परम शिवको मायाजनित देश-कालकी सीमासे मुक्त माना गया है और इस मुक्तावस्थाके कारण इसे चमत्कार भी कहा गया है। अभिनवगुप्तने विघ्नविनिर्मुक्त, संवित्, चमत्कार, रसना, आस्वाद आदिको पर्याय कहा है। विमर्श तथा चमत्कार एक ही माने गये हैं, अतएव अभिनवके अनुसार आस्वाद आदि विमर्शके भी पर्याय है। उन्होंने इस आस्वादको विश्रान्ति, समापत्ति तथा विघ्नविनिर्मुक्त कहकर परम शिवकी मुक्तावस्था अथवा आत्मस्थ स्थितिकी ओर संकेत किया है। यही विमर्श है। अभिनव द्वारा प्रतिपादित स्थायी भावोंकी वासनारूपमें अन्त करणमें स्थिति तथा रसकी निर्विघ्न प्रतीति इस दार्शनिक सिद्धान्तके अनुकूल है। शिवकी आन्तरिक इच्छाशक्तिसे सृष्टिकी अभिव्यक्ति होती है और उनकी इच्छाशक्ति निर्विघ्न है। इसी प्रकार सहृदयके अन्त करणमें वासनारूपमें अवस्थित स्थायी भाव निर्विघ्न होकर रसरूपमें अभिव्यक्त होते हैं। भट्टनायकके सत्त्व, रज तथा तमसे सम्बद्ध भोगवादको अभिनवने अस्वीकार कर ब्रह्मास्वादसहोदररूप रसानुभूतिको गुणातीत ही माना है। इसीसे उसे व्यक्ति तथा स्थिति-सम्बन्धसे मुक्त मानकर 'परम भोग' तथा 'विश्रान्ति' माना गया है। इसकी आत्मस्थ अवस्था ही निरपेक्ष आनन्द है। भोगकी स्थिति वास्तविक आनन्द नहीं मानी जा सकती। भोगकी अवस्थामें भोगमें ही लीन हो जाना तथा विषयको विस्मृत कर केवल स्वानुभूतिमें स्थित होना आनन्द कहा जायगा (काव्यमें रस पृ० २३७)।

अभिव्यक्तिवादके आलोचकोंने अभिव्यक्ति स्वीकार कर लेनेका अर्थ रसकी पूर्वस्थिति स्वीकार कर लेना माना है। बिना किसी वस्तुकी पूर्वस्थितिके उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। वस्तुत इस आरोपका उत्तर अभिनवगुप्तने स्वय दिया है—जैसे चावल भातके रूपमें आ जाता है, उसी प्रकार स्थायी भाव रसरूपमें अभिव्यक्त होता है। दूसरा आरोप है कि यदि स्थायी भाव अपनी सूक्ष्म स्थितिमें विभावानुभावादिके सयोगसे रसरूपमें अभिव्यक्त होते हैं तो रसकी कोटियाँ माननी पड़ेंगी। परन्तु वस्तुत यह सयोग विभावानुभावादिकका एक साथ स्थायीके साथ घटित होकर रसरूपमें व्यजित होता है, उनके पृथक् पृथक् संयोग-से नहीं। कुछ आलोचकोंने इस प्रकार विभावादि तथा रसमें कारण-कार्य-सम्बन्धके साथ विभावादिमें पौर्वापर्य भी माननेकी बात कही है। अभिनवके द्वारा साहचर्य-सम्बन्ध माना गया है, अतएव कार्य कारण सम्बन्ध मानना उचित न होगा। परिणामत कार्य-कारणपर आधारित अभिव्यक्तिवाद भी स्वीकृत नहीं हो सकता। इस आरोपके प्रत्याख्यानके लिए परवर्ती आचार्योंने 'दीपघटन्याय'का आश्रय लिया है। दीपक अन्धकारमें रखे हुए घटको प्रकाशित करता है, दीपके साथ-साथ वह भी गोचर हो जाता है। इस प्रकार यहाँ दीपक घटको प्रकाशित करनेका उसी प्रकार कारण है जिस प्रकार रस विभावादिके साथ ही व्यंजित हो जाता है, उनमें पौर्वापर्य सम्बन्धकी आवश्यकता नहीं। परन्तु यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि दीप और घटकी स्थिति समकालिक होकर भी उनमें पृथक्त्वका बोध बना रहता है, पर रसप्रतीति विभावादिकी 'संवलिता-प्रतीति' है। इसमें विभावादिका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं रहता। अभिनवने

इसी विचित्रताके कारण रसको अलौकिक मान लिया है (आनन्दप्रकाश दीक्षित : काव्यमें रस · पृ० २४०)। महिमभट्टने 'व्यक्तिविवेक'में अभिव्यक्तिके तीन प्रकारोंकी कल्पना करके उसका खण्डन किया है। पहली स्थिति कारणमें कार्यको निहित माननेकी है, जैसे, दूधमें दहीकी अभिव्यक्ति। दूसरी स्थिति कार्यके रहते बिना कारणके अभिव्यक्त न होनेकी स्थिति, जैसे, दीप और घटका उदाहरण। इन दोनोंको ध्वनिके अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनमें ध्वन्यर्थ तो प्रत्यक्ष ही है। तीसरी स्थितिमें पूर्व अनुभूत विषयकी स्मृति द्वारा अभिव्यक्ति हो सकती है, जैसे, धुएँसे आगकी व्यजना। महिमभट्ट इसे ही रसप्रतीतिका उदाहरण मानते हैं और इसके आधारपर यह सिद्ध करते हैं कि इस रस-ध्वनिकी प्रतीति भी परिणाम-स्वरूप है, क्योंकि असंलक्ष्यक्रममें भी किसी-न-किसी रूपमें क्रम स्वीकृत है। अतएव उनके विचारसे रसप्रतीतिको अभिव्यक्ति कहनेका कोई अर्थ नहीं है (व्य० वि० · पृ० ७८)। आनन्दप्रकाश दीक्षितका कहना है कि महिमभट्टके आक्षेपोंका कारण उनके द्वारा प्रस्तुत अभिव्यक्तिकी परिभाषा है तथा उन्होंने जिन उदाहरणोंको लिया है वे अभिनव द्वारा स्वीकृत नहीं हैं। घट-दीपकका उदाहरण मात्र इस बातको व्यक्त करनेके लिए दिया गया था कि व्यजितकी अनुभूति व्यंजक-निरपेक्ष नहीं है।

पहले ही कहा जा चुका है कि भट्टनायकके भोगवादमें मनोविज्ञानका पर्याप्त आधार है। वस्तुत भट्टनायकके सामने नाटकका आदर्श अधिक प्रत्यक्ष लगता है और अभिनवगुप्तके सामने काव्यका। मानसिक प्रक्रियाका भोगवादकी शक्तियोंमें अधिक स्पष्ट उल्लेख है। वैसे अभिधाके प्रत्यक्ष बोध और परप्रत्यक्ष (concept), लक्षणामें स्मृतिके विभिन्न सयोग और व्यजना द्वारा कल्पनाके स्वतन्त्र सयोगोंकी व्याख्या हो जाती है। इसमें मानसके केवल ज्ञानात्मक पक्षपर अधिक बल दिया गया है। इस आधारपर यह व्याख्या सत्य भी है, पर इसमें मानसिक प्रक्रियाके दो पक्षोंका अर्थात् अनुभूति (रागात्मक) और इच्छाशक्ति(चिकीर्षा)का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। अतएव भोगवादी व्याख्या रसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्याके अधिक निकट है। पर इसमें रसनिष्पत्तिका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है, इसका उत्तर नहीं मिलता। प्रेक्षककी कल्पनातक उसमें स्वीकृत है, पर उसमें भावात्मक रसास्वादका आधार क्या है, जिसकी प्रेक्षक या पाठक भावना द्वारा अनुभूति करता है और भोग द्वारा कल्पित और आस्वादित करता है? दूसरा एक और प्रश्न उठता है, काव्यार्थके वैचित्र्यसे प्रेक्षक या पाठकके मनकी चमत्कृत स्थितिके अतिरिक्त रसनिष्पत्तिके लिए साध्य क्या है? इन प्रश्नों और जिज्ञासाओंका समाधान अभिव्यक्तिवादसे अवश्य होता है। इसमें रसनिष्पत्तिके लिए कल्पनाकी ओर सकेत किया गया है। सामाजिककी भावस्थितिमें वासनारूपसे जो स्थायी भावोंका सस्कार अभिनवगुप्तने स्वीकार किया है, उसके आधारपर सामाजिक साधारणीकृत विभावादिसे भावात्मक स्थिति(emotional tendency)की कल्पना करनेमें समर्थ होता है। जिस प्रकार हम प्रत्यक्ष बोधोंके सचित अनुभव-कोशके आधारपर वस्तुस्थितियोंकी स्मृति और कल्पना करते हैं, उसी प्रकार वासनामें स्थायी भावोंके संचित सस्कारोंके आधारपर प्रेक्षक या पाठक भावनात्मक स्थितियोंकी कल्पना करनेमें सफल होता है। अब सम्भावित शका रह जाती है कि इस कल्पनामें भावात्मक स्थितिके प्रत्यक्षीकरणसे आनन्दकी अनुभूति ही क्यों होती है? पहली बात है कि कवि और नाटककारके मनमें कथावस्तुकी कल्पना इसी आनन्दानुभूतिके साथ होती है और प्रेक्षक-पाठक उसीका पुनः प्रत्यक्षीकरण करता है। इसके अतिरिक्त कलात्मक और साधारण कल्पनामें जो अन्तर है उससे उनकी अनुभूतियोंमें भी अन्तर हो जाता है। काव्यकी कल्पनामें प्रेक्षक-पाठकमें वास्तविक जीवनसे सम्बद्ध भावनाओंका उद्बोधन नहीं होता। आचार्योंने काव्य अथवा नाटकसे भावतादात्म्य करनेवाले अर्थात् उसे अपने जीवनकी घटनाओंके रूपमें समझ लेनेवाले पाठक या प्रेक्षकको संस्कृत भावकी कोटिमें माना ही नहीं है। साधारण जीवनकी कल्पनामें अपने जीवनका सम्बन्ध होता है और इस कारण व्यक्ति उसके प्रति अपनी कल्पना-शक्तिको इस प्रकार निरपेक्ष नहीं कर पाता, जो काव्य और कलाकी विशेषता है। दूसरी बात है जिसका समाधान अभिव्यक्तिवादसे ही सम्भव हो सका है। साधारणीकरणकी प्रक्रिया कथावस्तुको कल्पनामें ग्रहण करानेमें ही सहायक नहीं होती, वरन् प्रेक्षक या पाठक उस भावात्मक स्थितिको अपने वासनारूप स्थित स्थायी भावोंकी साधरणीकृत स्थिति-(दे०) में ग्रहण करता है। साधारणीकरणको दोनों पक्षोंमें स्वीकार करनेसे एक ओर कल्पना करनेके लिए आधार मिलता है तो दूसरी ओर पाठकके मनमें भावात्मक स्थिति साधारणीकृत स्थायी भावोंकी ओर सकेत करती है, अर्थात् यह भावात्मक स्थिति पूर्वसचित स्थायी भावोंके व्यापक आधारपर सम्भव होती है। इससे हमारे दूसरे प्रश्नका उत्तर भी मिल जाता है। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि काव्यके अर्थग्रहणमें पाठक(प्रेक्षक)के मनमें कल्पनाके सहारे भावनात्मक स्थिति व्याप्त हो जाती है, जो काव्यके सौन्दर्य-चमत्कारके साथ आनन्दानुभूतिसे सम्बन्धित हो जाती है। भट्टनायकके भोगवादके सम्बन्धमें कहा गया है कि पाठककी इच्छाशक्ति निरपेक्ष क्रियाशीलतामें इस समस्त मानसिक घटनाका अनुभूतिपक्ष है और भावनात्मक स्थितिकी कल्पना उसका आधार है। आचार्योंने कार्य-कारण-का क्रम न स्वीकार करके रसनिष्पत्तिको एक पूर्ण मानसिक घटना माना है। यहाँ अलौकिक (काव्यात्मक) शब्दको मनोवैज्ञानिक अर्थमें लौकिक घटनाके प्रत्यक्षोंसे भिन्न काल्पनिक अर्थमें मानना आचार्यका अभिप्राय है। आस्वादको रसनिष्पत्तिमें स्वीकार करके आचार्यने काव्य-सौन्दर्यके उद्बोधमें इच्छाशक्तिका सचेष्ट होना स्वीकार किया है, और सकल्प-विकल्पसे रहित मानकर काव्य द्वारा व्यंजित भावनात्मक स्थितिको कल्पनात्मक सौन्दर्यसे सम्बन्धित किया गया है। इस प्रकार अभिव्यक्तिवादने रसनिष्पत्तिके उन मनोवैज्ञानिक आधारोंको उद्घाटित किया है, जो भोगवादतक स्पष्ट नहीं हो सके थे (रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान · हिन्दी अनुशीलन · वर्ष ३

भा० २)।

आगेके आचार्योंमें अभिनवगुप्तका अभिव्यक्तिवाद स्वीकृत रहा। मम्मट(११ श० ई०)ने उनके मतको ही प्रतिष्ठा प्रदान की है। जगन्नाथ(१७-१८ श० ई०)ने अपने 'रसगगाधर'में भी इसीका आधार ग्रहण किया है। जगन्नाथने अभिनव द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तको वेदान्त-दर्शनका आधार प्रदान करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने सामाजिकके अन्त करणमें संचित सस्काररूप वासनाको माना है, पर आत्माको इस स्थितिमें अज्ञानोपहित माना है। उनके अनुसार 'व्यक्त'का अर्थ है अज्ञानरूप आवरण-का नष्ट हो जाना। अज्ञानरूप आवरणके नष्ट होनेका अभिप्राय वास्तवमें चैतन्यका विषय होना अथवा उसके द्वारा प्रकाशित होना माना गया है। किसी आच्छादनसे ढँका हुआ दीपक उससे मुक्त हो जानेपर चारों ओरके पदार्थोंको प्रकाशित करता है और स्वत भी प्रकाशित होता है, इसी प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा विभावादिसे मिश्रित रति आदिको प्रकाशित करती है और स्वयं प्रकाशित होती है। ससारके पदार्थोंको अन्त करणसे युक्त आत्मा भासित करती है और अन्त करणके रत्यादि धर्म उसके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं (हि० र० ग० पृ० ५५-५८)। इस व्याख्याके सम्बन्धमें कठिनाई प्रस्तुत हुई कि अन्त करणमें वासनारूपसे स्थित रत्यादिका प्रकाशन कहाँतक सम्भव है? स्थायीका मान भी लिया जाय तो विभावादि तो अन्त करणसे बाह्य हैं, उनका प्रकाशन आत्मा द्वारा कैसे होगा? दूसरी बात यह भी है कि अन्त करणके धर्मके रूपमें इनका प्रकाशक रस नित्य होना चाहिये, जैसा वह नहीं है। जगन्नाथने स्वप्नमें देखे हुए अश्व तथा राँगेमें चाँदी-की प्रतीतिके उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि विभावादिका साक्षिभास्य हो सकता है, अर्थात् वे आत्मचैतन्यके द्वारा प्रकाशित हो सकते हैं और रसकी नित्यताके सम्बन्धमें उनका मत है कि वस्तुत रस विभावादिके सम्बन्धके कारण अनित्य माने जाते हैं। ये विभावादि नष्ट और प्रस्तुत होते हैं। इसके साथ ही अज्ञानरूप आवरण कभी नष्ट हो जाता है और कभी नहीं और इसीके अनुसार रस भी व्यक्त और विलीन होता है।

जगन्नाथकी व्याख्याका एक दूसरा रूप है, जिसमें रसनिष्पत्तिके लिए अलौकिक क्रियाका आश्रय नहीं लिया गया है। सहृदयकी चित्तवृत्ति विशेष योग्यताके कारण अपने सम्मुख प्रस्तुत विभावादिके द्वारा उद्दीप्त अपनी कल्पनामें स्थायी भावसे युक्त आत्मानन्दमें तल्लीन हो जाती है। वह किसी अन्य पदार्थका बोध उस समय नहीं कर पाती। वस्तुत इस स्थितिमें आचार्यने आवरणहीन चिद्विशिष्ट स्थायी भावोंकी स्थितिको ही रस स्वीकार किया है (हि० र० ग० पृ० ६०-६१)। इस आनन्दको लौकिक सुखोंके समान नहीं माना जा सकता। अन्य सुख अन्त करणकी वृत्तियोंसे युक्त हैं, जब कि यह शुद्ध चैतन्य-रूप है, इसीलिए आनन्दमय भी है। इस प्रकार जगन्नाथ-की पहली व्याख्याके अनुसार ज्ञानरूप आत्माके द्वारा प्रकाशित होनेवाले स्थायी भावको रस स्वीकार किया गया है और दूसरी व्याख्याके अनुसार स्थायी भावके विषयमें चित्तवृत्ति सम्बन्धी तल्लीनता(ज्ञान)को रस माना गया है। आनन्दप्रकाश दीक्षितका कहना है कि 'चाहे भग्नावरण-चिद्विशिष्टको रस-चर्वण माना जाय अथवा अन्त करण वृत्ति-की आनन्दमयताको—दोनों पक्षोंमें किसीको भी माननेपर रसकी आनन्दमयता असन्दिग्ध ठहरती है' (काव्यमें रस पृ० २४८)। आनन्दमय होकर भी रसास्वाद ब्रह्मानन्दसे भिन्न है। समाधिजन्य ब्रह्मानन्द विषयसे असम्पृक्त होनेपर प्राप्त होता है, जब कि रसास्वादमें विभावादि विषयोंका संयोग परमावश्यक है। जगन्नाथने रसास्वादको व्यंजनाके अर्थमें शाब्दी कहा है, अर्थात् यह काव्यके शब्दार्थपर निर्भर है। साथ ही इसका अनुभव आन्तरिक है, अतएव इसे अपरोक्षात्मिकता भी कहा गया है।

जगन्नाथके 'रसगगाधर'में नवीनोंके नामपर एक मत दिया गया है, जो उनके द्वारा प्रस्तुत ग्यारह मतोंमें है। इस सिद्धान्तमें दोषदृष्टिकी प्रधानता है। सर्वप्रथम व्यंजना-वृत्तिसे आलम्बनविषयक आश्रयकी रतिका ज्ञान सहृदयको होता है। इसके बाद सहृदयताके कारण पाठकके मनमें एक दोषभावना जागरित होती है, जिससे उसकी अन्तरात्मा कल्पित विभावादिसे आच्छादित हो जाती है और उसमें सीपके टुकडेमें चाँदीकी प्रतीतिके सदृश इस दोषके कारण अनिर्वचनीय सत्-रूप रत्यादि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन्हीं चित्तवृत्तियोंके आत्मचैतन्य द्वारा प्रकाशित होनेको रसास्वाद कहते हैं। यह रसनिष्पत्ति दोषका कार्य है और उसके साथ ही नष्ट हो जाती है। इनके अनुसार यह न सुखरूप है, न व्यग्य है और न इसका वर्णन हो सकता है। फिर भी इसे सुखरूप कहा जाता है, क्योंकि प्रतीतिके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले सुखसे इसका अन्तर नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार इसे व्यग्य और वर्णन करने योग्य भी मान लिया जाता है (हि० र० ग० पृ० ६७-६८)। इन सिद्धान्तवादियोंने साधारणीकरणको दोषपर आधारित माना है, क्योंकि जब रत्यादि स्थायी भाव विशेषसे सामान्य होकर हमारे-जैसे लगते हैं, तब वस्तुत विभावादि हमको आच्छादित ही कर लेते हैं और वासना-रूपमें स्थायियोंकी स्थिति भी दोष कल्पना ही है। अपनी प्रत्यक्ष सीमाओंके कारण यह सिद्धान्त मान्यता नहीं प्राप्त कर सका। जगन्नाथने भ्रमवादी सिद्धान्तका भी उल्लेख किया है। इसके अनुसार आलम्बन(शकुन्तलादि)के सम्बन्धमें रत्यादि स्थायी भावयुक्त आश्रय(दुष्यन्तादि)के साथ अभेदका मन कल्पित ज्ञान ही रस है (वही पृ० २७)। पर इस प्रकार तो स्वप्नज्ञान भी रस कहा जायगा। कल्पित मन स्थितियोंके अनुभव किस आधारपर सम्भव हो सकते हैं? इसके अतिरिक्त भ्रम केवल ज्ञानरूप है, उसका आस्वाद किस प्रकार हो सकता है? (काव्यमें रस पृ० २५९)।

हिन्दीके मध्यकालमें रसनिष्पत्तिके सम्बन्धमें कोई चर्चा नहीं हुई। आधुनिक हिन्दीके विचारकोंमें रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, गुलाबराय, केशव मिश्र, रामदहिन मिश्र तथा नगेन्द्र आदिने रस-सिद्धान्तकी विवेचना की है और उसको महत्त्व भी प्रदान किया है। प्राय रसनिष्पत्ति सम्बन्धी उनके विचार अभिनवके सिद्धान्तको स्वीकार करते

है, पर साधारणीकरण(दे०)की स्थितिके सम्बन्धमें मौलिक ढंगसे सोचनेका प्रयत्न किया गया है। रामचन्द्र शुक्लने अपनी साधारणीकरणकी व्याख्याके अनुसार रसास्वादकी विभिन्न कोटियाँ स्वीकार कीं—उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट, जो एक प्रकारसे प्राचीन आचार्योंके रसाभास, भावाभासके समान हैं। पर रामचन्द्र शुक्लका दृष्टिकोण लोक कल्याणके आदर्शपर प्रतिष्ठित है और उनके रस सम्बन्धी आलम्बनके साधारणीकरण और इस प्रकार आश्रयसे तादात्म्यके सिद्धान्तके मूलमें यही आदर्श है। इसके विपरीत नगेन्द्रने कविकी मन स्थितिसे तादात्म्य मानकर रसकी व्याख्या की है। रामचन्द्र शुक्लकी व्याख्याको आनन्दप्रकाश दीक्षितने स्वीकार किया है, क्योंकि उनके अनुसार कवि सहृदय सामाजिकको अन्तत दृष्टिमें रखकर अपने काव्यकी रचना करता है। (विशेषके लिए दे०—'साधारणीकरण'।)

रामचन्द्र शुक्लकी व्याख्यामें रसको मूल भावनात्मक प्रक्रियाके समकक्ष समझनेका भ्रम अवश्य है, अन्यथा न तो उन्हें रसकोटियोंकी स्थापना करनी पड़ती और न लोक-कल्याणके विरुद्ध आश्रयके भावोंसे तादात्म्य स्थापित करनेकी कठिनाई ही सामने आती। एक प्रकारसे रामचन्द्र शुक्लने शंकुककी अनुमितिप्रतीतिको साधारणीकरणके सिद्धान्तके आधारपर स्थापित किया है। राकेश गुप्तने तो एक प्रकारसे रसास्वादनमें भ्रमात्मक अनुमानको स्वीकार किया है। वस्तुत इन विचारकोंने अपने विचारमें साधारण पाठक अथवा दर्शकोंके मानसिक स्तरको सामने रखनेका प्रयत्न किया है। अपने-अपने विभिन्न मानसिक स्तरों, संस्कारों तथा अभ्यासके अनुसार काव्य अथवा नाटकके रसका, विभिन्न पाठक अथवा दर्शक कई स्तरोंपर रसास्वाद प्राप्त करते हैं। यह ठीक है। इन विभिन्न स्तरोंके कारण ही रामचन्द्र शुक्लने रसानुभूतिके कई स्तर स्वीकार किये हैं और राकेश गुप्तने रसनिष्पत्तिको अत्यन्त साधारण तथा असंस्कृत जनकी दृष्टिसे समझनेका प्रयत्न किया है। यह ठीक है कि अनेक लोग आश्रयसे अपना तादात्म्य (आरोप) कर लेते हैं और उसके सुख-दुःखको ग्रहण करते हैं, उसके क्रोध-आवेगमें प्रवाहित होते हैं। ऐसे लोगोंकी भी कमी नहीं है (जैसे आजके सिनेमा-दर्शक), जो कथाके स्थानपर मात्र आश्रय और आलम्बन-विषयक भावनाओंमें डूबते-उतराते रहते हैं। पर नाटक अथवा काव्यके वास्तविक रसास्वादनको इस रूपमें नहीं ग्रहण किया जा सकता। इस रसनिष्पत्तिमें दर्शक अथवा पाठकका कथावस्तुके अभिनय अथवा वर्णनके प्रति जो आकर्षण है, वह प्रदर्शन अथवा अभिव्यक्तिके सौन्दर्यका होता है, घटनात्मक कौतूहलजन्य नहीं। इसके साथ ही उसकी मन स्थिति प्रदर्शित अथवा वर्णित पात्रों और घटनाओंके प्रति असम्पृक्त (सविद्विश्रान्त) ही रहती है। इस प्रसगमें अभिनवगुप्तकी व्याख्या सबसे अधिक वास्तविकताके निकट है और उनके साधारणीकरणका भाव विभावादिकसे अथवा उनके भावोंके साथ तादात्म्यसे नहीं लिया जा सकता (दे०)।

रसनिष्पत्तिका मूलाधार सौन्दर्यानुभूति है, या यह भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्यकी अनुभूतिके आनन्दसे भिन्न रसास्वादका अर्थ कुछ नहीं है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी आदिका वर्णन, विवेचन तथा विस्तार मात्र इसलिए है कि रससिद्धान्त काव्यकी व्याख्या मनुष्यके मनोभावोंके आधारपर करनेका प्रयत्न करता है। रसानुभूतिके क्षणमें सब स्थायी समान हैं, विभाव समान हैं, अनुभाव और संचारी समान हैं। रसानुभूतिकी तीव्रता आदिमें काव्याभिव्यक्तिके कारण कमी हो सकती है, पर न तो दो रसोंमें तात्त्विक भेद होता है और न रसके स्तर अथवा कोटियाँ ही सम्भव हैं (रघुवंश प्रकृति और काव्य भाग १ . ५)।

[सहायक ग्रन्थ—१ एस० के० दे० . हिस्ट्री ऑव पोएटिक्स। २ ए० शंकरन् . दि थ्योरी ऑफ रस एण्ड ध्वनि। ३ आनन्दप्रकाश दीक्षित . काव्यमें रस (अप्रकाशित प्रबन्ध)। —र०

रसनोपमा—दे०—'उपमा', छठा प्रकार।

रसपरिवर्तनवक्रता—दे०—'प्रबन्धवक्रता', पहला नियामक।

रसराज—शृंगार रसको आचार्यों द्वारा 'रसराज'की उपाधि प्रदान की गयी है। भरत मुनिका कथन है कि संसारमें जो कुछ पवित्र, उज्ज्वल एव दर्शनीय है, वह शृंगारके भीतर समाविष्ट हो सकता है। 'अग्निपुराण'में कहा गया है कि रतिमूलक शृंगार ही एकमात्र रस है तथा अन्य सभी रस उससे ही प्रसूत हुए हैं—'तद्भेदा काममितरे हास्याद्या अप्यनेकश।' प्रकृतिवादी शृंगारको 'आद्य रस' मानते हैं। हिन्दीके आचार्योंने शृंगारकी रसराजताका तन्मयतापूर्वक व्याख्यान किया है। केशव नवरसोंमें शृंगारको 'नायक' कहते हैं। मतिरामने उसे स्पष्ट 'रसराज' कहा है तथा अपनी प्रसिद्ध शृंगारी रचनाको 'रसराज'का नाम ही प्रदान किया है। सरदार कविने अपने ग्रन्थ 'साहित्य-सुधानिधि'में शृंगारके रसराजत्वका तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है। वर्तमान कालमें रामचन्द्र शुक्लने रतिको एकमात्र शुद्ध स्थायी मानते हुए शृंगारकी प्रधानता स्वीकार की है (र० मी० : पृ० १७३)।

निम्नलिखित कारणोंसे शृंगार रसराज माना गया है—
१ **शृंगारभावकी व्यापकता**—शृंगारका मूल भाव रति अथवा काम, समस्त विश्वमें व्याप्त है। क्या नर-नारी, क्या पशु-पक्षी, क्या लता-पादप—सृष्टिके सकल जगम-स्थावर इस भावकी अनुभूतिसे अनुप्राणित हैं, क्योंकि प्रजनन तथा स्व-वंश-रक्षणकी निसर्गज प्रवृत्तिको इस भावसे अनुमोदन एव परिपोषण प्राप्त होता है। 'बृहदारण्यक'में तो पुरुष-(भगवान्)को ही काममय कहा गया है। आचार्योंने काम-भावकी हृद्यता तथा सकलजातिसुलभताका उल्लेख किया है। रुद्रटने कहा है कि शृंगार रस (आस्वाद्यमान कामभाव) आबालवृद्ध सभीमें व्याप्त है, अत इसकी रचना सम्यक रूपसे करनी चाहिये। २ **उत्कट आस्वाद्यता**—अन्य रसोंकी तुलनामें शृंगार रस अधिक चर्वणीय है। इसका स्थायी रति मानव-हृदयस्थ 'अहंकार' अथवा 'अस्मिता'से उत्पन्न बताया गया है। अतएव, मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे रतिका चित्रण अन्य भावोंकी अपेक्षा अधिक आस्वादित हो सकता है। ३ **अन्य रसोंको समाहृत करनेकी योग्यता**—वीभत्स, करुण, रौद्र, भयानक तथा शान्त रसोंसे शृंगारका विरोध बताया गया है। लेकिन आचार्योंने विरोध-

परिहारकी व्यवस्था की है। हिन्दीके आचार्य देवका यह कथन है कि 'श्रृंगार रस'की छत्रच्छायामें सभी रस एकत्र दिखलाई पड़ सकते हैं। देवके निम्नलिखित दोहे द्रष्टव्य हैं—'निर्मल स्याम सिंगार हरि, देव अकास अनन्त। उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस, विवस न पावत अन्त। भाव सहित सिंगारमें, नवरस झलक अजल। ज्यों कंकनमनि कनकको, ताहीमें नवरल। भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार। जो सम्पति दम्पतिनुकी, जाको जग विस्तार।' (भ० वि०)। **४ सभी संचारियों एवं सात्त्विकोंको आत्मसात् करनेकी सामर्थ्य**—आचार्योंके अनुसार, त्रास, आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा एव मरण श्रृगारमें निषिद्ध हैं। लेकिन, श्रृगारी रचनाओंमें इन त्याज्य व्यभिचारियोंका सुन्दर एवं सफल प्रयोग मिलता है। वियोगकी कामदशाओंमें मरण या मृति गृहीत ही है। श्रृंगारमें होनेवाले स्तम्भ, रोमाच, स्वरभग, कम्प तथा निर्वलताका हेतु भय अथवा त्रास भी होता है। उसी प्रकार जृम्भा आलस्यजनित ही है। विब्बोक हाव श्रृंगारमें गृहीत है और इसमें उग्रता एवं जुगुप्सा, दोनों पाये जाते हैं। प्रौढ़ा अधीरा एव मानिनी नायिकाओंमें ये दोनों सचारी अनेक अवसरोंपर उग्र रूप धारण करते दीखते हैं। इस तरह सभी सचारी श्रृगारमें प्रविष्ट होते हैं, जब कि अन्य रसोंके सचारियोंकी संख्या परिमित है। सात्त्विक भावोंका पूर्ण सामजस्य तथा 'हाव' नामक कुछ अन्य दशाएँ भी श्रृगारमें ही घटती हैं। इन्हीं विशेषताओंके कारण भोजराजने 'श्रृगारप्रकाश'में कहा है कि रति आदि उनचास भाव श्रृगारको घेरकर उसे वैसे ही समृद्ध करते हैं जैसे किरणें सूर्यको घेरकर उसकी दीप्तिको उद्दीपित करती हैं। **५ विभावोंकी विशेषता**—श्रृगारके आलम्बन नायक-नायिका हैं, जिनके साथ पाठक या श्रोता पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। अन्य रसोंके अलम्बनोंमें यह विशेषता नहीं होती। श्रृगारके उद्दीपन विभाव भी अन्य रसोंकी तुलनामें अधिक व्यापक, रमणीय एव हृदयावर्जक हैं। जैसा सरदार कविका कथन है, अन्य-रसोंके उद्दीपन अधिकतर मानुषी हैं, जब कि श्रृंगारके उद्दीपन मानुषी एव दैवी (प्राकृतिक, यथा, ऋतु-रमणीयता इत्यादि), दोनों हैं। श्रृंगारके उद्दीपन सर्वत्र तथा वारहों मास सुलभ हैं, जब कि अन्य रसोंमें ऐसी वात नहीं है। सयोग एव विप्रलम्भके समान भेद भी अन्य रसोंमें नहीं होते। अतएव, मानव-हृदयकी जितनी अधिक वृत्तियोंके चित्रणका अवसर इस रसमें उपलब्ध है, वह अन्यत्र सम्भव नहीं है। भोजराजने ठीक ही कहा है—'श्रृगारी चेत्कवि काव्ये जात रसमय जगत्। स एव चेदश्रृगारी नीरस सर्वमेव तत्।' (स० क० ५ ३)। —र० ति०

रसवत् आदि—रसवत् आदि वर्गके प्राचीनों द्वारा स्वीकृत अलकार। भामह, दण्डी तथा उद्भटने अलकारोंके अन्तर्गत इस रूपमें रस, भाव आदिको स्वीकार किया है। वादके आचार्योंने इनको अलकार नहीं माना है और अपरागव्यग्यके अन्तर्गत इनकी स्थिति स्वीकार की है। परन्तु रुय्यक, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षितने इनका विवेचन अवश्य कर दिया है। हिन्दी अलकारशास्त्रके अन्तर्गत इनकी व्यापक रूपमे उपेक्षा की गयी है। किसी प्रधान आचार्यने इनको अलकारोंमें नहीं गिनाया है, केवल पद्माकरने इनका विवेचन एक अलग अलकार-प्रकरणमे किया है। आधुनिक विवेचकोंने भी इनको अलकार न मानकर अपरागव्यग्य(गुणीभूत व्यग्य)का विषय माना है (कन्हैयालाल पोद्दार अ० म० पृ० ४२४)।

विश्वनाथके अनुसार इनका लक्षण है—'जब रस, भाव, रसाभास-भावाभास, भावप्रशम प्रधान न रहकर गुणीभूत (अप्रधान) बन जाते हैं तो क्रमश रसवत्, प्रेय (प्रेयम्), ऊर्जस्वी तथा समाहित अलंकार माने जाते हैं। (सा० द० १० ९५-९६)। **रसवत्**—जब एक रस किसी दूसरे रसका अथवा भाव, रसाभास, भावाभास आदिका अग हो जाता है, तब उसे रसवत् अलकार कहते हैं। पर पद्माकरके अनुसार—'सो रस जहँ अँग औरको, है रसवत तिहि ठाम।' (पद्मा० २८८)। उदा०—'जिहि राखी ब्रजमण्डली, जु गिरि सुकरपर छाइ। तजि गुमान तासों भटू, मिलै हिये हरषाइ। (पद्मा० २८९), यहाँ दयावीर रस प्रधान न रहकर श्रृगारका अंग हो गया है। **प्रेयस्**—जहाँ एक भाव किसी अन्य भावका अंग हो जाता वहाँ प्रेयस् अलकार होता है। पद्माकरके अनुसार—'भाव अग रस भावको, जहँ तहँ प्रेयम् ठान।' (पद्मा० २९०)। उदा०—'प्रभु-पद-सौंह करें कहत, वाहि तुच्छ इक तीर। लखत इन्द्रजितकों हनहु, तौ तुम लछमन वीर।' (पद्मा० २९१), यहाँ गर्व व्यभिजारी भाव क्रोध स्थायी भावका अग हो गया है। **ऊर्जस्वी**—रसाभास तथा भावाभासका प्रधान न रहकर अन्य भाव आदिका अग हो जाना ऊर्जस्वी अलंकार माना जाता है। पद्माकरने रसाभास तथा भावाभासके आधारपर परिभाषा दी है—'दुहूँ जहाँ अंग औरके, सु ऊर्जस्वि पहिचान।' (पद्मा० २९५)। उदा०—'लखि वन फिरत सुद्द नृप, तुव रिपु-रमनीन सौं। करतु विलासु पुलिन्द, तजि निजप्रिय वनितानकों।' (र० म० ३३६)। यहाँ भीलों तथा रिपु-रमणियोंमें उभयनिष्ठ रति न होनेसे रभाभास है और यह कविकी राज-विषयक रति-भावका अग है। अत भावका रसाभाम अग होनेसे ऊर्जस्वी अलंकार है। भावाभासका उदा०—'ताहि अनूप वखानहीं, सकल कविनके गोत। मुख सरोज जा को निरखि, सोति-नयन अलि होत।' (पद्मा० २९७), यहाँ स्वपत्नीनिष्ठ भावाभाम श्रृगार रसका अंग होनेमे अलकार है। **समाहित**—जब भाव-शान्ति प्रधान न रहकर किसी अन्य भाव आदिका अग वन जाता है, तब उसे समाहित अलकार कहते हैं। पद्माकरके अनुसार—'सो अँग है जहँ औरको, वहै समाहित जान।' (पद्मा० २९८)। यहाँ सोका अर्थ भावशान्ति है। उदा०—'आयो भ्रात लिवाइवे, निरखि उठी हरपाइ। सुनि धुनि चातककी तवहिं चली भाजि अकुलाइ।' (वही २९९), यहाँ हर्षरूप भावशान्ति त्राम-भावका अग हो गया है, अत समाहित अलकार है।—र०

रस-विघ्न—अभिनवगुप्त(१०-११ श० ई०)ने सर्वप्रथम अपनी रसनिष्पत्ति(दे०)की व्याख्यामें कहा है कि रसात्मक अनुभूति वीतविघ्न भी होनी चाहिये (सर्वथा रसनात्मक-वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रस। अ०भा० पृ० २८१)। रसास्वादकी योग्यता यदि सामाजिकमें अपेक्षित है तो

कविके लिए भी आवश्यक है कि वह उसमें पूर्ण सहायक हो। जिस प्रकार भावककी सहृदयताकी कमी रसास्वादकी बाधक है, उसी प्रकार कविकी कमियाँ भी। इन्हींको रस-विघ्न माना गया है। इनकी संख्या सात मानी गयी है—१ **प्रतिपत्तिमें अयोग्यता या सम्भावना-विरहता**—कवि कल्पनाके आधारपर अपनी कथावस्तुका निर्माण करता है, उसकी सम्पूर्ण उद्भावना तथा अभिव्यक्ति कल्पनापर आश्रित होती है, परन्तु इसका भाव यह नहीं है कि वह जीवनके यथार्थपर आधारित न हो। यदि कथावस्तु अथवा वर्णित विषय-वस्तुके सम्बन्धमें पाठकके मनमें यथार्थ जीवन-का विश्वास न जम पाया तो वर्ण्य या अभिनयमें उसका चित्त नहीं लग सकेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि काव्यमें पाठकके अपने जीवनके स्तरसे भिन्न वर्ण्य विषय न हो। वस्तुत जीवनके यथार्थमें वह सब आता है जिसका अनुभव हम किसी रूपमें कर सकते हैं। कविका यथार्थ तथ्यात्मक न होकर सत्यपर आधारित होता है। २, ३. **स्वगतत्व-परगतत्व-नियमेन देशकालविशेषावेश** अर्थात् अपने और परायेके नियमसे देश और कालका आवेश होना। काव्यमें वर्णित अथवा नाटकमें प्रदर्शित भावोंको यदि सामाजिक स्वय अपने मान लेंगे तो उनसे वे उदासीन हो जायेंगे। ये मेरे ह, अथवा ये दूसरेके हैं, इस प्रकारकी देश तथा काल सम्बन्धी भावना काव्यके रसास्वादमें बाधक होगी। जबतक पाठक अपने परायेके स्वार्थ-सम्बन्धोंसे मुक्त होकर काव्यमें रुचि न लेगा, वह लौकिक दु खादिसे नहीं छूट सकता। अतएव रसास्वादके लिए व्यक्तिविशेष तथा देश-काल-सापेक्ष अनुभूतियाँ बाधा मानी गयी है। साधारणीकरण(दे०) व्यापारमे ही यह निरपेक्षता सम्भव होती है। ४ **निजसुखदु खादिविवशीभाव**—अर्थात् अपनी व्यक्तिगत भावनाओंसे विवश हो जाना। उपर्युक्त स्थितिमें वर्ण्य विषयके प्रति पाठकके व्यक्तिगत सम्बन्धोंकी बात है और यहाँ उसके अपने व्यक्तिगत जीवनकी भावनाओंका प्रश्न है। यदि पाठककी मन स्थिति अपने व्यक्तिगत सुख-दु खकी अनुभूतिसे आक्रान्त है तो यह उसके रसास्वादके लिए बाधास्वरूप है। यह अवश्य है कि कविकी अभिव्यक्ति-का सौन्दर्य पाठकके मनको आकर्षित करता है, उसको नविश्रान्तिकी स्थितिमें पहुँचानेका प्रयत्न करता है, पर पाठक अथवा दर्शककी अपनी मन स्थितिपर भी बहुत कुछ निर्भर है। ५ **प्रतीत्युपायवैकल्पस्फुटत्वाभाव**—अर्थात् प्रतीतिके उपायोंकी विकलता और उसका स्पष्ट न होना भी रसास्वादकी बाधा है। जिन काव्यात्मक अथवा नाटकीय उपकरणोंमे रसप्रतीति सम्भव होती हैं, यदि वे पूर्ण नहीं है अथवा स्पष्टत प्रयुक्त नहीं है तो रसास्वादमें बाधा पड़ना अनिवार्य है। यहाँ अभिनवका भाव है कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति अथवा नाटकीय प्रदर्शन पूर्ण कलात्मक होना चाहिये, उसके बिना रसनिष्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती। भावोंके अभिव्यक्तीकरणमें विभावादिक अधिक प्रत्यक्ष तथा मूर्त रूपमें उपस्थित होने चाहिये। इसकी असफलता रसकी बाधा है। ६ **अप्रधानता**—अर्थात् किसी अप्रधान तत्त्वको रस-व्यञ्जनामे महत्त्व देनेसे रसास्वादमें बाधा ही उपस्थित होती है। नाटकीय कथाविधानमें यदि नाटककार अप्रधान चरित्रों अथवा घटनास्थितियोंको महत्त्व देता है तो दर्शकके रसास्वादमें विघ्न उपस्थित होगा। इसी प्रकार प्रधान स्थायी भावके स्थानपर यदि कवि विभाव, अनुभाव तथा सचारी आदिके चित्रणको अधिक महत्त्व देता है तो रसका पूर्ण सयोजन नहीं उपस्थित हो सकेगा। वस्तुत कथात्मक अथवा भावात्मक सन्तुलनका अभाव काव्यके प्रभावको क्षीण ही कर देगा। ७. **संशययोग**—अर्थात् अभिव्यक्तिके सम्बन्धमें पाठक अथवा दर्शकके मनमें किसी प्रकारका सशय अथवा सन्देह होना भी रसास्वादके लिए उचित नहीं है। यहाँ सशयसे कथात्मक कौतूहलका भ्रम नहीं करना चाहिये, क्योंकि कौतूहल सौन्दर्यानुभूतिकी वृद्धिमें सहायक सिद्ध होता है और सशय बाधास्वरूप माना गया है। एक स्थायी भावके विभाव, अनुभाव तथा सचारी आदि दूसरेके भी हो सकते हैं और यदि प्रदर्शित अथवा वर्णित विभावादिकसे यह सशय उत्पन्न हो कि शोककी अभिव्यक्ति है अथवा रतिकी तो निश्चय इस रूपमें रसनिष्पत्तिमें अर्थात् पाठक या दर्शकके रसास्वादमें बाधा उपस्थित होगी। वस्तुत इस संशयकी स्थितिमें साधारणीकरण सम्भव नहीं हो सकता।

अभिनव द्वारा प्रतिपादित इन विघ्नोंपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि यदि काव्यात्मक रसानुभूतिमें किसी प्रकारकी अपूर्णता है तो उसका कारण यह नहीं है कि सौन्दर्यानुभूतियाँ भिन्न भिन्न प्रकारकी होती हैं या रसनिष्पत्तिकी कई कोटियाँ हैं (दे०—'रसनिष्पत्ति')। वस्तुत रसनिष्पत्तिके सम्बन्धमें जो अनेक स्थितियोंकी कल्पना की जाती रही है अथवा की जाती है, उसका मुख्य कारण है कि हम एक ओर असफल तथा दोषपूर्ण काव्य-कृतियोंपर सफल कृतियोंके स्तरपर ही विचार करते हैं तथा पाठक या दर्शककी सभी कोटियोंको रसास्वादनके एक ही स्तरपर रखना चाहते हैं। वस्तुत अभिनवके अनुसार शुद्ध काव्यके (कलाको भी सम्मिलित किया जा सकता है) रसास्वादनको उपर्युक्त सीमाओंपर ध्यान रखकर ही समझा जा सकता है। —र०

रसव्यंजना–दे०–'रसनिष्पत्ति' तथा 'असलक्ष्यक्रमव्यग्य'।

रस शास्त्र—वह शास्त्र जिसमें साहित्यमें प्रयुक्त रसका सागोपाग शास्त्रीय विवेचन किया गया हो। इस शास्त्रमें अनेक प्रश्नोंका सुविवेचित वर्णन रहता है, जैसे, रस क्या है, रसका क्या स्वरूप है, रसका काव्यमें क्या महत्व है? साहित्यके उत्तम स्वरूपगठनके लिए अलकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि आदि मार्गोंमे रसका क्या सम्बन्ध है और उसका इनके साथ कैसा प्रयोग होना चाहिये, इनमेंसे किसी एकको काव्यमें विशेष महत्त्व दिया जाय अथवा रसको ही उसमें प्रधान माना जा सकता है? रसके अग कौनसे हैं तथा उनका स्वरूप क्या है, रसकी निष्पत्ति कैसे होती है? रसका सम्बन्ध कवि, नट, मूल पात्र अथवा पाठकमेंसे किससे है, रसका मनोविज्ञानसे क्या सम्बन्ध है? रसके अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न विभाव, अनुभाव आदिके भेद कौनसे हैं और उनकी सख्या कितनी है? परस्पर इन सब व्यभिचारी तथा स्थायी भाव आदिका क्या सम्बन्ध है? रसका विभिन्न दार्शनिक मतोंमे क्या सम्बन्ध

है, साधारणीकरणका क्या स्वरूप है, रसास्वादका अधिकारी कौन है, रसास्वादमें किसी प्रकारका विघ्न तो नहीं होता, होता है तो क्यों और कितने प्रकारका तथा उसे कैसे दूर किया जा सकता है ? रसको अलौकिक क्यों कहा जाता है, रस केवल आनन्दात्मक ही होता है या करुण आदि रसोंसे दुःखका भी अनुभव होता है, नहीं होता तो क्यों नहीं होता, रस एक ही है अथवा उसके भेद किये जा सकते हैं, भेदोंकी सख्या किस आधारपर निश्चित की जाय और उसे घटाया या बढ़ाया जा सकता है कि नहीं ? प्रत्येक रसके कितने भेदोपभेद हो सकते हैं और उनके उदाहरण क्या हैं ? रसराज कौन है, रसोंका अन्तर्भाव एक-दूसरेमें हो सकता है कि नहीं, परस्पर कौनसे रस मित्र और कौनसे रस विरोधी हैं, एक साथ किनका प्रयोग हो सकता है और किनका नहीं ? रसाभास क्या है और उसके कितने भेद हैं, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावशवलता तथा रसालंकारका स्वरूप क्या है ? रसके साथ किस शब्द-शक्तिका सम्बन्ध है, उसे सलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहा जाय या असलक्ष्यक्रमव्यंग्य या अभिधेय ? काव्यके अनेक स्वरूपोंकी आलोचना करनेके लिए रस-सिद्धान्त कहाँतक उपयोगी हो सकता है ? आदि । —आ० प्र० दी०

रस-संप्रदाय—रसवाद । रसके सम्बन्धमें विचार करते हुए उसका महत्त्व प्रतिपादित करनेवाले लेखकोंका समूह या रस-विवेककी वैचारिक पद्धति ।

लिखित रूपमें रसका सर्वप्रथम वर्णन भरत मुनि(३ श० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'के छठे तथा सातवें अध्यायोंमें पाया जाता है । सम्पूर्ण नाट्यशास्त्रमें विभिन्न स्थलोंपर रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, गुण, अलकार तथा नाट्यधर्मों आदिके प्रसगमें रसका महत्त्व स्थापित किया गया है । भरत तथा अन्य लेखकोंके उल्लेखोंसे उनके पूर्ववर्ती सदाशिव, ब्रह्मा, तण्डु, नन्दिकेश्वर, वासुकि, नारद, भरतवृद्ध, आदिभरत, शौद्धोदनि आदि कई आचार्योंका पता चलता है, किन्तु उनके किसी ग्रन्थके अभावमें उनके विचारोंका पता नहीं चलता । राजशेखर(ई० ९२५)ने नन्दिकेश्वरको तथा केशव मिश्र(१६वीं शती)ने शौद्धोदनिको रसका पुरस्कर्ता माना है । भरतने ब्रह्माको महत्त्व दिया है । ब्रह्माने ही आठ नाट्यरसोंको प्रस्तुत किया । ऋग्वेदसे पाठ, सामवेदसे गीत, यजुर्वेदसे अभिनय तथा अथर्ववेदसे रस लेकर पाँचवें वेद नाट्यशास्त्रकी रचना की गयी । चौथे अध्यायमें बताया गया है कि ब्रह्मा भरत और उनकी शिष्यमण्डलीके साथ कैलासपर्वतपर शिवके पास गये थे जहाँ उनके द्वारा प्रस्तुत त्रिपुरदाहके अभिनयपर प्रसन्न होकर शिवने उन्हें नाटकके पूर्वरंगोंके साथ ताण्डवके करणों और अगहारोंके प्रयोगकी सम्मति दी और तण्डुको शिक्षाके लिए नियुक्त कर दिया । शारदातनय(१२वीं शती)का कथन है कि विष्णुके कहनेपर नन्दिकेश्वरने ब्रह्माको नाट्यवेदकी शिक्षा दी और ब्रह्माने भरतको शिक्षा दी । शारदातनयने वासुकि, नारद, व्यास तथा वाल्मीकिकी एक परम्परा और बतायी है, जिसमें शान्त रस भी स्वीकार किया गया था । किन्तु किसी रचनाके अभावमें भरत ही प्रथम पुरस्कर्ता स्वीकार किये जाते हैं ।

रसको अलकारवादी, रीतिवादी, ध्वनिवादी, नाट्यशास्त्र-कर्ता तथा ध्वनिविरोधी सभीने महत्त्व दिया है, भामह-(५वीं ६ठी शती)ने रसको अलकारके ही अन्तर्गत रखा और रस सम्बन्धी रसवत्, प्रेयस् तथा ऊर्जस्वी नामक तीन अलकारोंका वर्णन किया । यह अलकार क्रमश रस, भाव तथा उनके आभासकी अवस्थाएँ हैं, तथापि उनका यह कथन कि रसके प्रयोग द्वारा काव्य सुस्वादु हो जाता है, उसकी शास्त्रीयताकी कटुता नष्ट हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप पाठक उसे भेषजके समान ग्रहण कर लेते हैं, इस बातका द्योतक है कि वे रसके आस्वादनीय रूपसे तो परिचित ही थे । दण्डी (६–७ श० ई०)ने 'काव्यादर्श'-में गुणोंका रससे सम्बन्ध स्वीकार किया । उन्होंने 'काव्य-शोभाकर धर्म'को अलकार कहकर रसादि सभीको अलकार तो माना, किन्तु रसयुक्त मधुर वचनोंको पुष्परसके समान मादक बताया और सानुप्रास पद रचनाको रसावह माना । उन्होंने काव्यमें 'रसभावनिरन्तरता'को आवश्यक माना है । रीति-सिद्धान्तके प्रतिपादक वामन(८ श० ई०)-रूपकको ही काव्यमें सर्वश्रेष्ठ मानकर नाट्यसे रसका सम्बन्ध मानते हैं । उन्होंने गुणोंको काव्यशोभाकर धर्म, अलकारों-को शोभावर्धक तथा रसको गुणोंकी कान्ति कहा है । रस ही गुणोंके मूलमें हैं । उद्भट(८ श० ई०)ने पहली बार रसालंकारोंमें 'समाहित'को स्वीकार किया तथा नाट्यमें शान्त रसकी प्रतिष्ठा की । उद्भटके पश्चात् रुद्रट तथा रुद्रभट्ट-का नाम लिया जाता है । उन्हें कुछ विद्वान् पृथक् दो व्यक्ति मानते हैं और रुद्रटको ९वीं शताब्दीमें तथा रुद्रभट्टको ९०० से ११०० ई० के बीच हुआ बताते हैं और कुछ विद्वान् दोनोंको एक ही मानते हैं । रुद्रटने 'काव्यालकार'की रचना की और रुद्रभट्टने 'शृगारतिलक'की । काव्यालंकारमें रसको नाटकतक ही सीमित रखनेका विरोध किया गया और रसहीन समस्त काव्यको शास्त्रकी श्रेणीमें रखनेका आग्रह किया गया । इसमें शान्त तथा प्रेयान् नामक रसोंको भी स्वीकार किया गया तथा पूर्ण उत्कृष्टताको पहुँचे हुए व्यभिचारी भावोंका भी शृगारादि रसोंके समान प्रभावशाली अनुभव स्वीकार किया गया । इसी प्रकार 'शृगारतिलक'में भी शृगार रसको प्रधान माना गया है, शान्तको स्वीकार किया गया है तथा रसको नाट्येतर काव्यमें भी स्वीकार कर लिया गया है ।

आनन्दवर्धन(८४० ८७० ई० के बीच)ने ध्वनि-सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए वस्तु तथा अलकारके साथ रसको भी ध्वनिके अन्तर्गत स्वीकार करके इन दोनोंसे अधिक रसध्वनिको महत्त्व दिया और रसध्वनिवाले काव्यको सर्वश्रेष्ठ घोषित किया । ध्वनिको काव्यात्मा मानकर भी उन्होंने रसको प्रेरक और साररूप माना तथा वाल्मीकि-रामायणको रसका आदिकाव्य स्वीकार किया । श्रव्य काव्यके साथ साथ नाट्यमें भी उन्होंने शान्त रसको प्रयोज्य माना है और रसको असलक्ष्यक्रमव्यग्य कहा है । आनन्दवर्धनके अनन्तर 'अग्निपुराण'में रसका अत्यन्त सक्षिप्त उल्लेखमात्र मिलता है । विशेषता यह है कि इसमें शृगारको सर्वाधिक महत्त्व मिला है । छठी शताब्दीमें भी 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'-में रसकी भरतके आधारपर सक्षिप्त चर्चा हुई थी, जिसमें

कोई नवीनता नहीं जान पड़ती। पुराणोंके नाममात्रके उल्लेखोंके समान ही ९वीं शताब्दीके लेखक राजशेखरको केवल इस बातका महत्त्व दिया जा सकता है कि उन्होंने 'काव्यमीमांसा'में रस-चर्चाको न रखते हुए भी काव्य-पुरुषोत्पत्तिके प्रसंगमें रसको काव्यात्माके रूपमें मान लिया है। इन सब लेखकोंमें विस्तार और गम्भीरताकी दृष्टिसे आनन्दवर्धनका सबसे अधिक महत्त्व है। अलंकारोंको 'कटककुण्डलवत्' कहकर रसको अत्यधिक महत्त्व देनेका इन्होंने अभूतपूर्व प्रयत्न किया। किन्तु ध्वनिके विरोधमें प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, धनंजय, धनिक तथा महिम-भट्टने अनेक तर्क उपस्थित किये, जिनका आगे चलकर अभिनवगुप्तने प्रतिवाद किया। इन ध्वनिविरोधियोंने भी रसके महत्त्वको स्वीकार किया है। प्रतिहारेन्दुराज (१०वीं शती) स्वयं रसको काव्यात्मा मानने तथा रसको अलंकारोंसे पृथक् रखनेके पक्षमें थे। भट्टनायक(१००० ई०)ने तो रसनिष्पत्ति-सूत्रकी सांख्यवादी व्याख्या भी की और ध्वनिके स्थानपर रससंचारको ही पाठककी दृष्टिसे काव्यमें प्रधान माना। इस प्रकार इन्होंने रसको काव्यात्मा सिद्ध किया। धनंजय(९९४ ई०)ने 'दशरूपक'में तथा धनिकने उसकी 'अवलोकटीका'में भट्टनायकका अनुसरण किया, रसका सम्बन्ध तात्पर्य-शक्तिसे सिद्ध किया और ध्वनिको व्यर्थ बताया। उन्होंने काव्य तथा रसका सम्बन्ध व्यंग्य व्यंजक न मानकर भाव्य-भावकभावका माना और भट्टनायकके मत 'भुक्तिवाद'की प्रतिष्ठा की। १०२० ई० के आस पास महिमभट्टने न्याय-सिद्धान्तके आधारपर रसकी अनुमितिका सिद्धान्त प्रतिपादित किया और ध्वनिके स्थानपर काव्यानु-मितिकी प्रतिष्ठा की। इतना विरोध होते हुए भी ध्वनिका सिद्धान्त जीवित रहा और रसकी प्रतिष्ठा हर प्रकारसे अक्षुण्ण बनी रही। ८वीं शतीसे ११वीं शतीके बीच रसको सर्वप्रधान सिद्धान्तके रूपमें मानकर भरतके रससूत्रकी व्याख्याके चार प्रमुख प्रयत्न हुए, जिनके कारण रसको और भी अधिक विशदता और विस्तारसे समझनेकी प्रेरणा मिली। रस-सम्प्रदायके इतिहासमें इन चार व्याख्याओंका सर्वाधिक महत्त्व है। ये व्याख्याएँ भट्ट लोल्लट (८वीं शती), शंकुक (९वीं शती), भट्ट नायक (११वीं शती) तथा अभिनव-गुप्त(११वीं शती)के द्वारा क्रमश मीमांसा, न्याय, सांख्य तथा शैव सिद्धान्तके आधारपर की गयीं और उत्पत्ति या आरोपवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवादके नामसे विख्यात हैं (दे०—'रसनिष्पत्ति')।

कालान्तरमें १०वीं शतीमें वक्रोक्तिवादके प्रतिपादक कुन्तक, ११वीं शतीमें औचित्य-सिद्धान्तके पुरस्कर्ता क्षेमेन्द्र, 'काव्यप्रकाश'के लेखक मम्मट, १२वीं शतीमें 'भावप्रकाश'-के लेखक शारदातनय, 'काव्यानुशासन'के लेखक हेमचन्द्र, १३वीं शतीमें 'संगीतरत्नाकर'के लेखक शारंगदेव, १४वीं शतीमें 'रसार्णवसुधाकर'के रचयिता शिंगभूपाल तथा १६वीं शतीमें 'रसप्रदीपकार' प्रभाकर आदि अनेक लेखकोंने रस-सिद्धान्तका निरूपण और पोषण किया। किन्तु ११वीं शतीमें भोजराज, १२वीं शतीमें रामचन्द्र गुणचन्द्र, १४वीं शतीमें भानुदत्त, विश्वनाथ कविराज, १६वीं शतीमें रूपगोस्वामी तथा १७वीं शतीमें पण्डितराज जगन्नाथका नाम ही महत्त्वपूर्ण दिखाई देता है। भोजराजने रसको सर्वोपरि मानकर 'शृंगारप्रकाश' ग्रन्थमें उसका गम्भीर एवं व्यापक विवेचन करते हुए रसको एक ही सिद्ध किया। काव्यको रसवत् कहनेका उनका अभिप्राय उसे रसयुक्त बताना था, अलंकार बताना नहीं। उन्होंने रसकी उत्पत्ति अहंकारसे बतायी है। अहंकार, शृंगार तथा रस तीनोंमें इनके विचारसे कोई अन्तर नहीं है। अहंकार रसकी प्रथमावस्था है, जिससे विभिन्न भाव उत्पन्न होते हैं। दूसरी अवस्थामें स्थायी, संचारी तथा सात्त्विकोंकी गणना है। यह सभी रसदशातक पहुँच सकते हैं। तीसरी अवस्थामें अहंकार प्रेमका रूप धारण कर लेता है। रामचन्द्र गुणचन्द्रने 'नाट्यदर्पण'में नाट्यके प्रसंगमें रसको दो प्रकारका बताया है। वह करुण, भयानक, बीभत्स और रौद्रको दुःखकारक मानते हैं और शेषको सुखकारक। इसी नवीनताके लिए उनकी प्रसिद्धि है। भानुदत्तने 'रसतरंगिणी'में मुख्यतः शृंगार रसका वर्णन करते हुए रसके लौकिक, अलौकिक तथा मानोरथिक आदि भेद बताये हैं और छल तथा जृम्भा जैसे नवीन भावोंकी कल्पना की है। उन्होंने वात्सल्य, लौल्य, भक्ति तथा कार्पण्य रसको अन्य प्रतिष्ठित रसोंमें अन्तर्भुक्त कर लिया है। उनके पश्चात् विश्वनाथ कविराज ही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने रसादिका विचार करते हुए रसको काव्यात्मा घोषित किया और अद्भुतमें ही अन्य रसोंके अन्तर्भावकी चर्चा की। चैतन्य सम्प्रदायके अनुगामी रूपगोस्वामीने 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि'में भक्ति रसकी प्रतिष्ठा की और 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में उसके मुख्य तथा गौण भेदोंके अन्तर्गत सभी रसोंको ले आनेका प्रयत्न किया। भक्तिका स्थायी 'कृष्णरति' बताया है। अतः भक्ति रस कृष्णका शृंगार वर्णन-सा ही है। पण्डितराजने काव्यशास्त्रका विवेचन करते हुए रसध्वनिके अन्तर्गत काव्यात्मा रसको अत्यन्त प्रतिष्ठा प्रदान की और वेदान्त-सिद्धान्तके अनुकूल यह बताया कि रस निज स्वरूपानन्द है, जो चित्तके भग्नावरण होनेपर प्रकट होता है, भग्नावरणकी सिद्धि विभावादि द्वारा होती है। इनके पश्चात् संस्कृत काव्यशास्त्रमें नवीन विचार-के लिए कोई मार्ग नहीं दीखता। मम्मटके साथ ही काव्यशास्त्रका सैद्धान्तिक निरूपण एक प्रकारसे बन्द हो गया था। रसको पण्डितराजतक आते-आते पूर्ण प्रतिष्ठा मिल चुकी थी और रस ध्वनिके अन्तर्गत आकर भी आगे प्रधान ही बना रहा।

हिन्दीमें रस-विचारका प्रवर्तन संस्कृतके भरतके 'नाट्यशास्त्र', भानुदत्तकी 'रसमंजरी' तथा 'रसतरंगिणी', भोजके 'शृंगारप्रकाश' एवं विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण'के आधारपर हुआ। वस्तुतः इन ग्रन्थोंकी रचना या तो दरबारमें फारसी कवितासे टक्कर लेनेके लिए तथा उदाहरण ढूँढनेके लिए हुई या ज्ञानप्रदर्शन या अल्पज्ञोंको शिक्षा देनेके लिए। रसका विचार या तो केवल रसविषयक ग्रन्थों-में नायिका भेदके साथ हुआ है या रस तथा ध्वनिका एकत्र विचार करनेवाले ग्रन्थोंमें अथवा समस्त काव्यशास्त्रके विवेचक ग्रन्थोंमें। मुख्यतः शृंगार रसका ही वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थोंमें उदाहरण तो ललित प्रस्तुत किये गये

है, किन्तु विवेचनका कोई प्रयत्न संस्कृतके पूर्व तथा उत्तरपक्षके समान नहीं दीखता। हिन्दीमें केशव, देव, उजियारे कवि, रामसिंह, ग्वालकवि, भारतेन्दु, हरिऔध तथा रामचन्द्र शुक्लने नवीन चिन्तनका मार्ग दिखाया है। भारतेन्दुसे आधुनिक कालका उन्मेष हुआ है। रीतिकालमें केशवने भोज द्वारा कथित अनुरागके प्रकाश तथा प्रच्छन्न नामक दो भेदोंके अनेक प्रसंगोंपर घटित करनेकी असफल चेष्टा की और इसी प्रकार शृंगारके अन्तर्गत अन्य रसोंके अन्तर्भावका उनका प्रयत्न भी निष्फल रहा। देवने भानुदत्तके समान रसके लौकिक, अलौकिक तथा उनके भी शृंगारादि नौ रस एवं स्वाप्निक, मानोरथ, औपनयिक भेद किये। वह शृंगारको ही एकमात्र रस मानते हैं। धर्मसे अर्थ, अर्थसे काम, कामसे सुखकी उत्पत्ति मानते हुए सुखका रस शृंगार बताया गया है और शृंगारके प्रति उत्साहसे वीर आदि, निर्वेदसे शान्त, बीभत्स आदिकी उत्पत्ति मानी है। काव्य, जीवन और रसका सम्बन्ध स्थापित करके उन्होंने जीवनके लिए काव्यकी उपयोगिता और उसमें रसको सार तत्त्व बताया है। भानुदत्तके अतिरिक्त भोज तथा भरतका प्रभाव भी इनपर दिखाई पड़ता है। इनके बाद उजियारे कवि(१७८० ई०)ने 'जुगलरसप्रकाश' ग्रन्थमें प्रश्नोत्तर-शैली अपनाकर केवल नौ रसोंकी ही प्रतिष्ठा की है और उन्हींके अन्तर्गत वात्सल्य, भक्ति, कार्पण्य आदिको मान लिया है। वस्तुतः नवीन चिन्तनकी दृष्टिसे १७८२ ई०के आसपास रामसिंहका 'रसनिवास' ग्रन्थ उल्लेखनीय है। इन्होंने मनोविकार तथा भावका अन्तर बताते हुए भानुदत्तके अनुकरणपर रसानुकूल मनोविकारमात्रको ही भाव माना है। हास्य रसका स्थायी हास न बताकर 'हसता' कहा गया है और उसके 'नाट्यशास्त्र'के अनुकूल स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ, दो भेद किये गये हैं। भरतने जिस प्रकार हास्यके हसित, उपहसित आदि भेद किये हैं उसी प्रकार नामान्तरसे इन्होंने मुसुकानि, हसनि, विहसनि, उपहसनि, अपहसनि तथा अतिहसनि, छ भेद बताये हैं। इनमेंसे दो-दोको क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम कहा गया है। भानुदत्तके समान शान्त रसके साथ मिथ्या ज्ञानरूप स्थायीके आधारपर माया रसकी कल्पना भी की गयी है, किन्तु विवेचन वैसा नहीं है। मुख्य विशेषता यह है कि रसके आधारपर काव्यको अभिमुख, विमुख तथा परमुख नामक तीन कोटियाँ की गयी हैं। परमुखके प्रधान दो भेद हैं—अलंकारमुख एवं भावमुख। विमुख रसहीन काव्य होता है और अभिमुख रसपूर्ण। ये भेद क्रमशः गुणीभूत व्यंग्य, अव्यंग्य तथा ध्वनि-भेदोंके समान हैं। देवके समान रसके लौकिक तथा अलौकिक भेदोंको भी इन्होंने स्वीकार किया है और शृंगारादिको लौकिक ही बताया है। इनके पश्चात् ग्वाल कवि(१८४७ ई०)ने 'रसरंग' ग्रन्थमें अलौकिक भेदके स्वाप्निक, मानोरथिक तथा औपनयिक भेदोंमेंसे शृंगारादि नौरसोंको औपनयिकका भेद बताया है। एक और नवीनता यह है कि इन्होंने प्रत्येक इन्द्रियके आठ आठ सात्त्विक माने हैं, जो तर्कसंगत और व्यावहारिक नहीं है। इनके दोनों विचारोंमें इसी प्रकारकी असंगति है।

हाव-भावके क्षेत्रमें भी कुछ नवीनता लानेका प्रयत्न किया गया था। हावोंमें भिखारीदास(१८वीं शती)ने 'साहित्यदर्पण'की अठारह नायिका अलंकारोंके साथ 'बोधक' तथा 'हेला' भी जोड़ दिये हैं, जिनमें हेला तो अंगज अलंकार है ही और बोधकका आधार केशवका 'बोध' हाव है। भावोंमें केशवने जुगुप्सा स्थायीके स्थानपर अशक्त शब्द 'निन्दा'का प्रयोग किया और दासने रुद्रटके प्रेयान्‌के आधारपर प्रीतिको ही भाव माना। देवने भानुदत्तके आधारपर छल संचारीकी स्थापना की और वितर्क संचारीके विप्रतिपत्ति, विचार, संशय, अध्यवसाय नामक भेद किये। इन्होंने काम-दशाओंके अनेक भेद भी प्रस्तुत किये और आठों सात्त्विकोंका स्मरणमें ही अन्तर्भाव कर दिया। संचारियोंके शारीर तथा आन्तर भेद करके क्रमशः सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावोंका वर्णन किया गया। यह भेद भी वस्तुतः 'रसतरंगिणी'से प्रभावित है। इस प्रकार हिन्दी रीतिकालमें नवीनता प्रदर्शनकी चेष्टा तो रही, किन्तु वस्तुतः वह जहाँ तहाँसे संस्कृतके आधारपर ही हुई। साथ ही गहन विवेचनका अभाव भी रहा।

आधुनिक कालमें भारतेन्दुका नाम दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर तथा आनन्द रसोंकी अवतारणाकी दृष्टिसे उल्लेख्य है। उनके पश्चात् हरिऔधने 'रसकलस'में वात्सल्य रसका प्रबल समर्थन किया तथा शृंगारादि रसोंके उदाहरणके साथ रसका विशद निरूपण करनेकी चेष्टा की। कन्हैयालाल पोद्दार, भानु, गुलाब राय आदिके रस-विवेचनके ग्रन्थोंके प्रकाशनसे संस्कृत-पद्धतिका पुनरुत्थान हुआ और गुलाब रायके 'नवरस' ग्रन्थमें आधुनिक मनोविज्ञानके प्रकाशमें भी प्रत्येक रसका थोड़ा बहुत विचार किया गया। हिन्दीके पुराने लेखकोंमें संस्कृत लेखकोंके विचारोंकी तुलना भी हुई, किन्तु निष्पत्ति और साधारणीकरण अथवा नवीन रसोंकी उद्भावना और रसाभासका विशद और विस्तृत विचार न हुआ। इस कामको गुलाब रायने अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' ग्रन्थमें एक सीमातक पूरा किया। आधुनिक कालमें वास्तविक महत्त्वके अधिकारी रामचन्द्र शुक्ल हैं, जिन्होंने रसका न केवल मनोविज्ञानके प्रकाशमें विवेचन किया, अपितु आधुनिक विदेशी काव्यकी परिस्थितियोंके विचारसे भी रसके भारतीय स्वरूपकी स्थापना की। साधारणीकरणके प्रश्नपर आपने विदेशी और देशी अध्ययनके आधारपर मौलिक चिन्तनकी धाराका सूत्रपात किया। रस और रसानुभूतिके स्वरूप, उसके प्रकार और कोटियोंपर उनके विचार उल्लेखनीय हैं (दे०—'साधारणीकरण')। रसकी ऐसी स्थापना दीर्घ कालके पश्चात् हुई। इनके पश्चात् इधर पुनः इस अध्ययनकी प्रवृत्ति जाग्रत् हुई जो नगेन्द्र आदिके शोध-प्रबन्धोंके रूपमें प्रकट हो रही है। इन प्रबन्धोंमें यूरोपीय अध्ययनके साथ भारतीय चिन्ताधाराके सम्यक् सन्तुलनकी चेष्टा की जा रही है और आधुनिक काव्यमें रसका महत्त्व परखा जा रहा है।

—आ० प्र० दी०

रसांतर्य–यह सौन्दर्यशास्त्रका शब्द है, जिसे हरद्वारीलाल शर्माने अपनी पुस्तक 'सौन्दर्यशास्त्र'में प्रयुक्त किया है। इस शब्दका अँग्रेजी पर्याय 'एस्थेटिक डिस्टेन्स'

है। अभिनवगुप्तने रसानुभूतिकी सात बाधाओंका निरूपण किया है, जिनमेंसे एकका नाम है 'स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेश-' अर्थात् प्रेक्षकका 'स्व' पर, देश-काल, आदिकी विशेषतासे इतना आविष्ट होना कि वह उसे भुला ही नहीं पाये। नाटक आदि देखते समय जो प्रेक्षक अपने और प्रेक्षणीय वस्तुके भेदको भुला नहीं पाता, वस्तुमें तन्मय नहीं हो जाता, उसके साथ एक प्रकारका तादात्म्य अथवा साधारण्य स्थापित नहीं कर लेता, उसमें रसोद्रेक सम्भव नहीं। लेकिन प्रेक्षक और वस्तुके बीच अत्यन्त अभेदकी समापत्ति भी रसोद्रेकमें बाधक ही है। जब प्रेक्षक सारी घटनाओंका आरोप अपनेमें करने लगता है तो उसकी स्थिति उस सामान्य व्यक्तिकी-सी हो जाती है जो स्वयं सुख-दुःख भोग रहा हो। अतः जिस प्रकार वह सामान्य व्यक्ति अपने ऊपर घटित घटनाओंमें रसास्वादन नहीं कर सकता उसी प्रकार वह प्रेक्षक भी नाटक आदिमें रसानुभूति नहीं कर पाता। अतः कुशल प्रेक्षक अपनेको वस्तुसे उचित अन्तरपर रखकर ही रसास्वादनमें समर्थ होता है। इस अन्तरको 'रसान्तर्य' की संज्ञा दी गयी है। —ह० ना०

रसाभास–रसनिष्पत्तिके लिए अपेक्षित पूर्ण औचित्यके आंशिक अभावमें जब सहृदयको रसके स्थानपर रसके आभासकी प्रतीति हो अथवा रस-परिपाक न होकर रस केवल आभासित होकर ही रह जाय, उस अवस्थामें प्राचीन आचार्यों द्वारा 'रसाभास'की स्थिति मानी गयी है। अभिनवगुप्त(१०-११ श० ई०)ने अपने 'ध्वन्यालोकलोचन'में रसाभासको 'शुक्तौ रजताभासवत्' अर्थात् सीपीमें रजतके आभास जैसा बताया है। रसाभास होनेपर रस-दशा बनी रहती है या नष्ट हो जाती है, इस मौलिक प्रश्नपर आचार्यों-में मतभेद रहा है। रस और रसाभासके आधारभूत औचित्य-अनौचित्य परस्पर विरोधी हैं, अतः एक मत रसाभासको रसका विरोधी मानता है। परन्तु जगन्नाथ (१७-१८ श० ई०) और उनसे पूर्व अभिनवगुप्त, दोनोंने अनेक तर्क देकर सिद्ध किया कि रसाभासमें पूर्णतया रसका अभाव नहीं होता। अपने प्रतीतिकालमें रसाभास रस जैसा ही आस्वाद्य रहता है, पर जब बुद्धि अनौचित्यतक पहुँच जाती है तो सारी रसानुभूति रसाभास बनने लगती है। ध्वनि-मतके प्रतिपादकोंने कदाचित् इसीलिए रस और रसाभास, दोनोंको ही ध्वनिके अन्तर्गत रखा है। मूल रसकी अनुभूतिसे रसाभास आ-जानेपर अन्य रसकी प्रतीति भी उसके द्वारा हो सकती है, ऐसी सम्भावना अभिनवगुप्तने मानी है।

तेरहवीं शती ईसवीके एक संस्कृत काव्याचार्य शिंग-भूपालके 'रसार्णवसुधाकर' नामक ग्रन्थमें रसाभासपर विशेष विचार किया गया है। रसाभासके परिभाषा-स्वरूप इसमें लिखा है कि जब 'अंग रस' अविनीत अमात्य-की तरह बढ़कर अपने स्वामी 'अंगी रस'को आच्छादित कर ले तो रसाभास हो जाता है। शिंगभूपालने रसाभासके भेद भी प्रदर्शित किये हैं, जैसे, शृंगार-रसाभास चार प्रकार-का बताया गया है—१ अराग, २ अनेक राग, ३. तिर्यक् राग, ४ म्लेच्छ राग। तेरहवीं शतीके ही एक अन्य आचार्य शारदातनयने 'भावप्रकाशन'में रसाभासकी निम्नलिखित परिभाषा दी है जो पूर्वोक्त परिभाषाकी ही अधिक निश्चयात्मक परिणति-सी है—'भागद्वय प्रविष्टस्य प्रधानस्यैकभागता। रसाना दृश्यते यत्र तत्स्याद्रसाभासलक्षणम्।', अर्थात् जहाँ अप्रधान रसके दो भाग हो जायँ और प्रधान एक ही भाग रह जाय वहाँ रसाभास लक्षित होता है। 'भाव-प्रकाशन'के षष्ठाधिकारमें बताया गया है कि शृंगार रसका रसाभास हास्यके मिश्रणसे, हास्यका बीभत्ससे, वीरका भयानकसे, अद्भुतका बीभत्स तथा करुणके सश्लेषसे, रौद्रका शोक और भयके आवेशसे, बीभत्सका अद्भुत तथा शृंगारके सम्मिलनसे, भयानकका वीर तथा रौद्रके संयोगसे तथा इसी प्रकारका अन्य परस्पर विरोधी रसोंके अनौचित्य-पूर्ण सम्मिश्रणसे रसाभास उत्पन्न होता है।

रसमें अनौचित्य किस-किस प्रकारसे और कैसे-कैसे हो सकता है, इसका व्यापकतासे विचार किया गया और उसके नैतिक एवं सामाजिक पक्षकी ओर भी दृष्टि डाली गयी। 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथ(१४ श० ई०)ने रसाभास-की समस्यापर इसी दृष्टिकोणसे प्रकाश डाला है। लगभग ऐसी ही दृष्टि 'रसगंगाधर'में पण्डितराजकी भी रही है। उन्होंने विभावमें अनौचित्य न मानकर रत्यादिक स्थायी भावोंके अनुचित रूपमें प्रवृत्त होनेसे रसाभासकी उत्पत्ति बतायी है। इस सम्बन्धमें विशेष विवेचन 'काव्यमें रस' शीर्षक शोध-प्रबन्धमें आनन्दप्रकाश दीक्षितने किया है (नवम अध्याय)।

हिन्दीके आचार्य कवियोंने रसाभासकी जो परिभाषाएँ दी हैं वे अधिकतर परिपाटीबद्ध हैं—१ कुलपति मिश्र—'अनुचित है रसभाव जहँ, ते कहिये आभास।' (र० र० पृ० ३०)। २ चिन्तामणि त्रिपाठी—'अनुचित विषय करति जु है सोई रस आभास।' (क० कु० क० त० पृ० २१४)। ३ पद्माकर—'रसाभास अनुचित करम, करव अजोग्य विलास। हास्य करव गुरु निगमको, सुत पितुसो रत नाम।' (पद्मा० पृ० ७५)। ४ भिखारीदास—'रस सो भासितु होतु है, जहाँ न रसकी बात। रसाभास तासों कहे जे हैं मति अवदात।' (र० सा०)। ५ प्रतापसाहि—'जहँ अनुचित रस भावको, रसाभास तहँ जानि। रस-ग्रन्थन अवगाहिके कविजन कहत बखानि।' (का० वि० ३)। इन परिभाषाओंसे रसाभासकी स्थितिका कठिनाईसे सामान्य बोध हो पाता है। किसीने मौलिक प्रश्नको नहीं उठाया। प्रायः सभी कवियोंने संस्कृतके पूर्ववर्ती आचार्योंकी अनौचित्यकी बातको दोहरा दिया है।

गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीकी 'रसवाटिका'की चतुर्थ क्यारी-(पृ० १२७-१२८)में अनुचित प्रसंगके सम्बन्ध तथा अयोग्य वर्णन, दोनोंसे ही रसाभास होनेका उल्लेख है। लेखकने राधाकृष्णके प्रेमको राधाके परकीया-भावके कारण शृंगारका रसाभास मान लिया है। और भी कुछ मतोंके अनुसार कृष्णचरितमें ऐसे अनेक तत्त्व पाये जाते हैं, जैसे, कृष्णका बहुनायकत्व तथा अल्पावस्था आदि, जिनके कारण कृष्णकाव्यके बहुतसे स्थल रसका सचार न करके रसाभास उत्पन्न करते हैं। सहृदयकी विवेकशक्ति और संस्कारके अन्तरसे भी अनुभूति भिन्न हो सकती है। एक ही वर्णन

किसी सहृदयको रस और किसीको रसाभाससे युक्त लग सकता है। अत. रसाभासके लिए कोई निश्चित नियम बना देना कठिन है। (विशेषके लिए दे०—'भावाभास')। —जु० ग०

रसाभिव्यक्ति—दे०—'रसनिष्पत्ति', एक पर्याय।

रसिया—सगीतज्ञोंकी धारणा है कि रसिया ध्रुपद-घरानेकी चीज है। रसिया ब्रजके लोकगीतोंमें अपने वैशिष्ट्यके कारण प्रसिद्ध और प्रिय है, जो सभी अवसरोंपर अपना प्रभाव डालनेकी क्षमता रखता है। ध्रुपदकी शैलीको सम्भवत लोक-प्रचलित रसियाका शास्त्रीय सस्कार कहा जा सकता है। हिन्दुस्तानी सगीतको जो देय ब्रजभाषा तथा स्वामी हरिदाससे प्राप्त हुआ उसका श्रेय बहुत कुछ रसियाके लोक और शास्त्रीय, दोनों स्वरूपोंको है। 'आईने अकबरी'में दो प्रकारके गीतोंका उल्लेख है—मार्ग और देशी। देशी शैलीमें ध्रुपद विशेषत उल्लेखनीय है, जो चार चरणोंके द्वारा विना छन्द और मात्राकी बन्दिशोंके शृगारप्रधान विषयको व्यक्त करनेकी सामर्थ्य रखता है। 'आईने अकबरी'में जिस ध्रुपदका उल्लेख है वह कदाचित् रसियासे सम्बन्धित हो।

रसिया होलीका प्रमुख गीत है। होलीके अनेक गीत रसियाकी ढालोंमें गाये जाते हैं। लोककवि घासीराय, सनेहीराय, छीतरमल आदि कवियोंके ब्रजभाषामें अनेक रसिये प्रचलित हैं। हिन्दीके प्रसिद्ध सन्त कवियोंने भी राधा और कृष्णकी लीलाओंके वर्णनमें रसियाको प्रभावित किया है। शृंगार प्रधान विषय रसियामें खिले हैं। बरसानेकी होली, राधा और कृष्णके मनोविनोद और प्रेम-प्रसग प्राय रसियामें वर्णित हैं। रसियाका तर्ज सीधा और सामूहिक गानके अतिरिक्त व्यक्ति-परक अभिव्यक्तिके अनुरूप है। —श्या० प०

रसेश्वर-दर्शन—(रस=द्रव। रसेश्वर=द्रवोंका राजा पारद। रसेश्वर-दर्शन=पारद-साधनपर आश्रित दर्शन) शैवागमोंमें और शैव पुराणोंमें पारदको शिवका वीर्य कहा गया है, इसीलिए प्रसिद्ध दार्शनिकोंने भी पारद-साधनमें गहरी रुचि ली। पतजलिने दूसरी शती ईसाके पूर्व पारदके रसायनपर प्रकाश डाला। नागार्जुनने पारदके प्रयोगपर सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कार्य किया, इसके बाद शाक्त और शैव दर्शनोंके सर्जनात्मक युग(६०० ई० से १३०० ई० तक)में इसका वैज्ञानिक प्रणालीपर विकास हुआ, यही रसेश्वर-दर्शनके रूपमें माधवके 'सर्वदर्शनसंग्रह'में प्रख्यात हुआ। १२वीं शतीमें लिखे गये 'रसार्णव' और १४वीं शतीमें लिखे गये 'रसरत्नसमुच्चय'में भस्मीकरण, जारण, मारण, अध पतन, ऊर्ध्वपातन, स्वेदन, स्तम्भन जैसी जटिल प्रक्रियाओंका विशद निरूपण किया गया है और साधकके लिए साधनावस्थामें कैसे रहना चाहिये, इसपर भी प्रकाश डाला गया है। यह दर्शन-तन्त्र और आगमोंकी शाखा है, क्योंकि इसकी दार्शनिक मान्यता बहुत-कुछ तन्त्रकी ही है, शब्दावली भी लगभग वही है, तत्त्वमीमासा भी वही है, केवल पारदकी बिन्दुप्रतीकताका विस्तार और विश्वके भौतिक सुखके ऊपर विशेष ध्यान इसकी अपनी विशेषता है। —वि० नि० मि०

रहस्यवाद—अपनी अन्त स्फुरित अपरोक्ष अनुभूति द्वारा सत्य, परम तत्त्व अथवा ईश्वरका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करनेकी प्रवृत्ति रहस्यवाद है। यह प्रवृत्ति मनुष्यकी प्रकृतिका एक अवियोज्य अग रही है और रहस्यानुभूति सम्भवत मनुष्यकी श्रेष्ठतम एवं उदात्ततम अनुभूति है। इसकी अभिव्यक्ति सभ्यताके प्राय सभी स्तरों, देशों और कालोंमें होती रही है। रहस्यवाद उतना ही पुरातन है जितनी कि स्वय मानवता। रहस्यवाद और रहस्यवादी किसी जाति, धर्म या देशविशेषमें सीमित नहीं रहे हैं। रानडेके शब्दोंमें सभी देशों और सभी युगोंके मर्मियों(रहस्यवादी साधकों)-का एक अथवा शाश्वत समाज है, जो जाति, धर्म और राष्ट्रगत सीमाओंसे नितान्त रहित है। उनकी मर्मानुभूतिकी असीमता और चिरन्तनता देश-कालके परे है।

मनुष्यकी यह प्रवृत्ति अद्वितीय है। यह उसको सामान्य जीवनके विषयोंसे विमुख एव विरक्त कर देती है और जिस प्रकार पादपकी जड़ स्वत ही पृथ्वीके केन्द्रकी ओर चलती है, उसी प्रकार उसकी चेतनाको स्वयं अपने भीतर, अपने मूल उत्सकी ओर जानेके लिए विवश कर देती है। रहस्यवादी साधकके लिए रहस्यानुभूतिका सत्य उतना ही असन्दिग्ध होता है जितना कि स्वयं उसका अपना अस्तित्व, अथवा साधारण मनुष्यके लिए जितना असन्दिग्ध यह गोचर जगत् है। अतएव रहस्यानुभूति व्यक्तिगत धर्मका आधार बनती आयी है। अनुभूतिके उन परम क्षणोंमें आत्मा एक नयी शक्तिसे ओत-प्रोत, नूतन और असीम आनन्दसे आक्रान्त और अभिभूत, एक अनन्त सुहृद् शिव और सुन्दर तत्त्वमें निमज्जित, मुक्त और पवित्रीकृत अनुभव करती है। कभी-कभी ऐसी मर्मानुभूतिके साथ-साथ अलौकिक शब्द, ध्वनि आदि सुनाई पड़ती है, अलौकिक ज्योति अथवा रूपोंके दर्शन होते हैं, अन्य विचित्र शारीरिक परिवर्तन घटित होते हैं। किन्तु ऐसी बातें अन्य तीव्र मानसिक प्रक्रियाओंके साथ भी कभी-कभी घटती हैं। अत उन्हें सन्तोंकी मर्मानुभूतिका अनिवार्य लक्षण नहीं माना जा सकता। श्रेष्ठ प्रकारकी रहस्यानुभूतिसे श्रेष्ठतम स्तरके जीवनका उद्भव होता है। परम उदात्त, नि स्व, निरहकार, असीम प्रेम और करुणायुक्त, पवित्रतम, सन्तका-सा जीवन, उत्कृष्ट रहस्यानुभूतिका अवश्यम्भावी परिणाम होता है। सच्ची रहस्यानुभूतिके उपरान्त व्यक्तिका आमूल दिव्य परिवर्तन-सा हो जाता है।

मर्मी साधक परम सत्यकी खोज करता है, किन्तु अपनी इस खोजमें वह ज्ञानप्राप्तिके सामान्य साधनोंका उपयोग न करके एक दूसरे ही साधनका प्रयोग करता है। ज्ञानकी प्राप्ति साधारणतया आप्त वचनो, ज्ञानेन्द्रियों एव बौद्धिक प्रक्रियाओंसे की जाती है। मर्मी इन सभी साधनोंको अपूर्व और अपर्याप्त मानता है। उसकी धारणा है कि परम सत्यका वास्तविक ज्ञान मनुष्यकी अपनी एक शक्तिविशेष द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, और वह है सहज ज्ञान, अन्त स्फुरित, अपरोक्षानुभूति द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकनेकी शक्ति। अपनी इस शक्तिको विकसित और सक्षम करनेके लिए वह अनेक साधन करता है, लेकिन वह बुद्धि, सकल्प और भावनात्मक पक्षोंका विरोधी नहीं होता, न उनका बहिष्कार ही करता है। शंकर और

एकहार्ट जैसे महात्माओंने बुद्धिका सम्यक् प्रयोग सिद्धान्त-पक्षमे किया है, और यह तो मर्मी साधकोंकी सर्वसामान्य मान्यता है कि संकल्प और भावनाओंका सम्यक् परिष्कार और समायोजन किये बिना कोई भी साधना नहीं हो सकती और न ईश्वरका दर्शन ही हो सकता है। इसीलिए प्रायः सभी सन्त अपनी सामान्य नैसर्गिक प्रवृत्तियोंसे क्षुब्ध और उनके परिमार्जन तथा उदात्तीकरणमे दत्तचित्त दिखलाई पड़ते है। कभी वे 'मोसों कौन कुटिल खल कामी', 'मैं पतितनको टीको', 'ममता तू न गयी मन मोते' कहकर अपनी भर्त्सना करते हैं, कभी 'कबहुँक ऐसी रहनि रहौंगो'-का संकल्प करते हैं और कभी 'चदरिया'को जैसीकी तैसी रख देनेपर वात्सुलभ उल्लाससे भर उठते हैं। सगुणोपासक मर्मी साधक तो अपनी भाव और भक्ति-सम्पदाका आश्रय ग्रहण करके ही इष्टदेवकी कृपाका भागी बनता है। इस प्रकार यद्यपि मर्मी इन तीनो पक्षोंका समुचित उपयोग कर लेता है, फिर भी अपरोक्षानुभूति ही उसका प्रधान साधन रहती है। रहस्यवादका आग्रह केवल इतना ही है कि बुद्धिकी समस्त भाग-दौड़के उपरान्त परम तत्त्वम रहस्यका एक ऐसा अंश रह जाता है जो उसके लिए अगम्य है और जिसे अन्तःस्फुरित सहज ज्ञानके द्वारा ही जाना जा सकता है। रहस्यानुभूतिका सत्य स्वतन्त्र है। बौद्धिक स्तरपर किसी दर्शनके खण्डन मण्डनपर वह निर्भर नहीं है। उसके निकट ईश्वर ज्ञानका विषय नहीं, अनुभूति है। रहस्यानुभूतिमें ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं। वहाँ ज्ञान बुद्धिके विश्लेषणसे नहीं, वरन् ज्ञेय और ज्ञाताके तादात्म्यसे प्राप्त होता है।

दार्शनिक दृष्टिसे रहस्यवाद शब्द बहुत व्यापक है और किसी एक विशिष्ट दार्शनिक मतके लिए उसका प्रयोग करना उचित नहीं प्रतीत होता। रहस्यवादी साधकोंके अन्तर्गत निर्गुण ब्रह्मवादी, उपनिषदोंके ऋषि, लाओ त्जे, प्लोटिनस, शंकर और एकहार्ट, सगुण ईश्वरके उपासक प्रभु ईसा, वैष्णव, ईसाई और मुसलमान सन्त तथा किसी भी निर्गुण या सगुण परम तत्त्व अथवा ईश्वरमें विश्वास न करनेवाले, किन्तु फिर भी योगसाधनाका आश्रय लेनेवाले बौद्ध और जैन साधकोंको कुछ विद्वानोंने सम्मिलित किया है। इस व्यापक स्तरपर रहस्यवादकी सर्वसम्मत दार्शनिक मान्यताओंको सूत्रबद्ध कर सकना कठिन है। अपेक्षाकृत संकीर्णतर दृष्टिकोणसे रहस्यवादकी कुछ व्यापक धारणाएँ मानी जा सकती हैं।

अपनी विधिमे रहस्यवाद अनुभववादी और यथार्थवादी है। वह किसी आप्त वचनमें विश्वास न करके स्वयं अपनी प्रत्यक्ष और असन्दिग्ध अनुभूतिमें विश्वास करता है। अपनी साधनाके साध्य ईश्वर, ब्रह्म, परम तत्त्व, ताओ आदिके अस्तित्वको पूर्ण स्वतन्त्र मानता है। उसकी सत्ता रहस्यवादी-के लिए स्वयं अपनी सत्ताकी भाँति अथवा साधारण मानवके निकट इस जगत्‌की सत्ताकी भाँति असन्दिग्ध है। वह ईश्वरके अस्तित्वमें श्रद्धामात्र नहीं रखता, वह उसके प्रत्यक्ष ज्ञानका दावा करता है। उस परम तत्त्वका साक्षात्कार सम्भव है। परमतत्त्व एक और अद्वितीय है। ईश्वर, मन, वाणी, इन्द्रियों और बुद्धिके परे है, अनिर्वचनीय और वर्णनातीत है। उसका वर्णन 'ऐसा नहीं' 'ऐसा नहीं'—नेति-नेति द्वारा निषेधात्मक रूपमें ही किया जा सकता है। उसके सभी वर्णन अपूर्ण हैं और अपूर्ण रहेंगे। वह नाम-रूप तथा बुद्धिके समस्त प्रवर्गोंसे रहित है। मनुष्यकी आत्मा भी ठीक इसी तरहकी है। वर्णनातीत और इन्द्रियातीत है। परम तत्त्व यानी विराट् ब्रह्म और व्यष्टि आत्मा अभिन्न है। 'तत्त्वमसि' वही तू है, 'सोऽहं' मैं वही हूँ, 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, आदि उपनिषद्-वचन और सूफियोंका 'अनलहक' इसी सत्यको व्यक्त करनेवाले चिरन्तन वाक्य हैं। अतएव आत्मा परम तत्त्वका साक्षात्कार अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्, दोनोंमें समान रूपसे कर सकती है। जो बाहर है वही भीतर है। दोनोंमे पूर्ण तादात्म्य है। सम्यक् साधना द्वारा यह ज्ञान प्राप्त कर सकना सम्भव है और यह ज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके जीवनका परमतम निःश्रेयस् है। उसकी उपलब्धिका पथ नैतिक और आत्मिक साधना है।

रहस्यवादकी सर्वव्यापकताके सम्बन्धमें ऊपर कहा जा चुका है। आदिम समाजोंमें रहस्यवादका उत्कृष्ट रूप नहीं मिलता। उनमें यह विश्वास अवश्य प्रचलित है कि देवता, भूत-प्रेत तथा अन्य दैवी शक्तियाँ मनुष्यकी चेतनापर अधिकार करके उसे विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न बना देती हैं। पवित्रताकी भावना, और उन शक्तियोंसे सम्पर्क स्थापित करनेके लिए विश्वास किया जाता है कि दैवी शक्तियाँ कुछ चुने हुए व्यक्तियोंको अपना यन्त्र बना लेती हैं। मेलेनेसिअनोंकी माना और आइरोक्वॉयोंकी ओरेण्डा नामक शक्तियाँ इसी प्रकारकी हैं। जहाँतक साधनोंके द्वारा व्यक्तिको इन शक्तियोंके सम्पर्कमें लाने और उनसे अपनेको पूरित कर लेनेका प्रश्न है, हम उसे आरम्भिक प्रकारका रहस्यवाद कह सकते हैं। इसी प्रकार साइबेरियाके शामानवादी समाजोंमें इष्टदेवतासे सम्पर्क स्थापित करनेके लिए आदिम कर्मकाण्डकी व्यवस्था है। विविध उपाय करके समाधि जैसी अवस्था उत्पन्न की जाती है। उनका विश्वास है कि ऐसी दशामें मनुष्यकी आत्मा शरीर छोड़कर चली जाती और देवतासे संयुक्त हो जाती है। प्रायः अन्य सभी आदिम समाजोंमें ओझा लोग किसी-न किसी प्रकारसे रहस्यवाद अथवा योगका प्रयोग करते हैं।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, बौद्ध धर्म ब्रह्म या ईश्वर जैसे किसी परम तत्त्व और मनुष्यकी आत्मामें विश्वास नहीं करता और न ब्रह्मके साक्षात्कारको मनुष्यके जीवनका ध्येय मानता है। भगवान् बुद्धने मनुष्यका लक्ष्य निर्वाण और उसका साधन आर्य-अष्टांगिक मार्ग बतलाया है। इसके अतिरिक्त, बुद्ध अत्यन्त बुद्धिवादी और उपयोगितावादी थे। अतएव सामान्य प्रकारके रहस्यवादका स्थान, जिसका लक्ष्य किसी परम तत्त्व या ईश्वरका साक्षात्कार है, बौद्ध धर्ममें नहीं है। किन्तु यदि रहस्यवादके अन्तर्गत पराबौद्धिक प्रज्ञा या बोधिकी प्राप्ति तथा उसके निमित्त योगाभ्यास जैसे साधनोंका प्रयोग भी मान लिया जाय तो उसमें भी हमें रहस्यवादका व्यावहारिक रूप मिल जायगा। बुद्धोपदिष्ट स्वयं आर्य-अष्टांगिक मार्गका अन्तिम पद समाधि है। स्वयं बुद्धको भी प्रज्ञा अथवा बोधिकी प्राप्ति अपरोक्षानुभूति द्वारा ही हुई थी। बौद्धचर्यामें योगाभ्यास, मानसिक

एकाग्रता, समाधि जैसी दशा उत्पन्न करनेके लिए विविध साधनोंकी व्यवस्था है। श्रेष्ठ बौद्ध साधक शील-सम्पदाका ही अर्जन नहीं करता, वह उत्तम योगी भी होता है। चीन और जापानमें विकसित तथा अब भी प्रचलित बौद्ध धर्मकी ध्यानसम्प्रदाय-शाखामें परम सत्यके स्वरूपकी अपरोक्षानुभूति, उसमें आकस्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेनेपर ही बल दिया गया है। महायान बौद्ध धर्ममें अमिताभ बुद्धकी उपासना आरम्भ होनेसे उसमें रहस्यवादका सामान्य तत्त्व भी सम्मिलित हो गया। बौद्ध धर्मके तान्त्रिक विकासमें भी रहस्यवादका तत्त्व वर्तमान था।

चीनमें लाओ त्जेके सिद्धान्त भारतीय रहस्यवादसे मिलते हैं। उसने परम 'तत्त्वको 'ताओ' अथवा मार्गका नाम दिया। उसके अनुसार ताओ स्वर्गसे उच्चतर और पूर्वतर है, कालके भी पूर्व उसकी सत्ता थी, व्यक्त ईश्वरके पहले भी वह वर्तमान था। वह प्रकृतिका विधान है, शाश्वत, अपरिवर्तनशील, अगोचर, प्रथम हेतु, सर्वव्यापक है। उसका वर्णन निषेधात्मक–नेति-नेति–ढंगसे ही किया जा सकता है। उसको प्राप्त करना मनुष्य-जीवनका परम ध्येय है। इसके निमित्त लाओ त्जेने निवृत्ति, पूर्ण शून्यता, इच्छाके आत्यन्तिक नाश और अपनी सम्पूर्ण सत्ताको ताओके अधीन एवं समर्पित कर देनेका उपदेश दिया है। लाओ त्जेने ईश्वरका किंचित् भी वर्णन नहीं किया है। वह मनुष्यका परम कर्तव्य अपनी इच्छा और अपनी सत्ताको ताओको समर्पित करके उसका यन्त्र बन जाना ही मानता है।

प्राचीन यूनानकी प्रधान प्रवृत्ति यद्यपि बौद्धिक और ऐहिक थी, फिर भी रहस्यवादका सूत्र वहाँ भी मिलता है। दार्शनिक पाइथागोरस रहस्यवादी था। आरफिक रहस्यवादी विविध रहस्योंसे सम्बन्धित कर्मकाण्ड किया करते थे। सुकरातके समाधि जैसी अवस्थामें जाने और दिव्य शक्तिसे पूरित हो उठनेका वर्णन मिलता है। प्लेटोने अपने संलापोंमें आरफिक रहस्यवादियोंका मजाक उड़ाया है और उनके कुछ विचारोंको स्वीकार भी किया है। प्लेटो स्वयं एक महान् रहस्यवादी था। अपने 'सिंपोसिअम' नामक संलापमें उसने रहस्यानुभूतिका प्रतीकात्मक वर्णन दिया है। प्लेटोके शिष्य प्लोटिनसकी भी गणना संसारके महान् रहस्यवादियोंमें होती है। उसने रहस्यवादको दार्शनिक पृष्ठभूमि दी और अरब तथा यूरोपके रहस्यवादियोंपर महान् तथा व्यापक प्रभाव डाला।

ईसाई धर्मके प्रवर्तक प्रभु ईसामसीहका जीवन आदर्श रहस्यवादीका जीवन है। उनके शब्द ईश्वरके प्रत्यक्ष साक्षात्कार और सान्निध्यजन्य अमित गम्भीरता और बलसे व्याप्त हैं। स्वयं बाइबिल रहस्यवादका एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसके एपिसिल्स नामक अंशोंमें ईश्वरके प्रत्यक्ष साक्षात्कारकी दिव्यानुभूतिका वर्णन है। सन्त पालकी श्रद्धा, आस्था और विश्वासका आधार यह दिव्य साक्षात्कार ही है। ईसाई धर्मके अन्तर्गत रहस्यवादी सन्त और साधक प्रायः सदैव ही होते रहे हैं। ईसाई रहस्यवादपर प्लोटिनस और नव्य प्लेटोवादियोंका बहुत प्रभाव पड़ा है। छद्मनामी डायोनाइसस, जान स्कोटस एरिजेना, क्लेरवोके बर्नार्ड, माइस्टर, एकहार्ट, होलर, सूसो, टेरेसा, कूसाके निकोलस, ब्रूनो, साइलेसिअस, बोएम, दाँते, ब्लेक, क्रूसके सन्त जान, सेलसके फ्रांसिस, मैडम गुयाँ मोलिनोज आदिकी गणना प्रमुख ईसाई रहस्यवादियोंमें होती है।

इस्लाम धर्ममें रहस्यवादी साधनाका सूत्र स्वयं हजरत मुहम्मदके जीवनमें मिलता है। उन्होंने तापसी साधनों, रात्रिजागरण, व्रत, प्रार्थनाओं आदिकी उपयोगितापर बल दिया है। इन साधनोंका प्रयोग वे स्वयं भी करते थे। किन्तु एक आन्दोलनके रूपमें इसलामके अन्तर्गत रहस्यवादका सूत्रपात सूफीवादमें हुआ। आरम्भिक सूफी इसलामसे घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध थे। आगे चलकर दूसरी शती हिजरीमें बसराकी महिला सन्त रबिआने रहस्यवादी प्रेमका सिद्धान्त प्रचारित किया। तदनन्तर ईश्वरके प्रति भक्ति और उससे मिलनके रहस्योंकी अभिव्यक्ति लौकिक प्रमाण और सुरापानकी शब्दावलीमें होने लगी। तीसरी शती हिजरीमें इसलामके ईश्वरवादके विरोधी सर्वेश्वरवादी सिद्धान्तका विकास हुआ। आगे चलकर सीरियामें अबू सुलेमान अल दारानीने ज्ञान और आनन्दके माध्यमसे रहस्यानुभूतिके सिद्धान्तकी स्थापना की। ईरानके अबू याजिद(८७४ ई०)ने सर्वेश्वरवाद स्वीकार करके फनाका सिद्धान्त प्रतिपादित किया। तीसरी शती हिजरीतक सूफी सम्प्रदाय (दे०) सुसघटित हो गया। साधनाके पथ-प्रदर्शक ग्रन्थोंकी रचना हुई। साधनामें अनेक सीढियाँ पार करनी होती हैं–प्रायश्चित्त, परिवर्जन, त्याग, दरिद्रता, धैर्य, ईश्वरमें विश्वास, ईश्वरेच्छामें सन्तोष आदि। इनके उपरान्त आध्यात्मिक अनुभूतिकी भय, आशा, प्रेम, ध्यान और साक्षात्कारकी दशाएँ आती हैं। सूफी साधनासे दरिद्रता, तप और पवित्रतायुक्त जीवन तथा सद्गुरुकी कृपा अनिवार्य है। गजाली, जलालुद्दीन रूमी, हाफिज, उमर खैयाम, निजामी, सादी और जामी प्रसिद्ध ईरानी सूफी कवि हैं। सूफियोंका प्रभाव भारतवर्षमें भी पड़ा और यहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफी सन्त और कवि हुए हैं।

रहस्यवाद और रहस्यवादी साधनाका प्रमुख देश भारत है। अत्यन्त प्राचीन कालसे लेकर आधुनिक समयतक इस देशमें रहस्यवादी साधना होती रही है। वैदिक युगमें विशुद्ध रहस्यवादी साधना प्रमुख नहीं थी और ऋग्वेदमें उसके संकेत प्रचुर मात्रामें नहीं मिलते, किन्तु तप, ऋत और पुरुष सम्बन्धी विचारोंमें उसके बीज अवश्य उपलब्ध होते हैं। किन्तु उपनिषदें भारतीय रहस्यवादका हृदय हैं। उपनिषदें वह हिमालय हैं, जिनसे वेदान्तकी विविध गंगाओंकी धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। उपनिषदोंमें ही परम तत्त्व और व्यष्टिकी आत्माके वास्तविक स्वरूपपर प्रकाश डाला गया है। वह परम तत्त्व एक और अद्वितीय, शान्त और अनन्त, सत्-चित्-आनन्द, अलक्षण और निर्विकार, समस्त जगत्का अधिष्ठान, ब्रह्म है। मनुष्यकी आत्मा भी वैसी ही और उससे अभिन्न है। इसीलिए ऋषि श्वेतकेतुसे कहता है–'तत्त्वमसि'–वही तू है। उपनिषदोंमें कोई एक सुस्पष्ट दार्शनिक विचारधारा नहीं मिलती। शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि आचार्योंने अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओंके अनुसार उपनिषदोंका भाष्य

किया है। वस्तुतः उनमें सर्वेश्वरवाद, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत आदि सभी मतोंके अनुकूल उक्तियाँ मिल जाती हैं। किन्तु जहाँतक व्यावहारिक साधना-पक्षकी बात है, उपनिषदोंका आग्रह प्रत्यक्ष रहस्यानुभूति और ज्ञान प्राप्त करनेपर है। त्याग, वैराग्य, श्रद्धा, तप, पवित्र जीवन और योगाभ्यास साधनके रूपमें स्वीकार किये गये हैं। उपनिषदोंको मुख्यतया ज्ञानमार्ग, निर्गुण उपासनाका प्रतिपादक माना जाता है।

सगुणोपासक भक्ति-सम्प्रदायके रहस्यवादकी परम्परा भी बड़ी प्राचीन है। उपनिषदोंकी उपासनामें भक्तिपर विशेष बल नहीं दिया गया है, किन्तु भक्तिमार्ग आत्म-समर्पण और भक्तिके द्वारा उसी लक्ष्यपर पहुँचना चाहता है। 'भगवद्गीता में भक्तिको बहुत महत्त्व दिया गया है और उसमें श्रीकृष्णने ज्ञानी भक्तको अपना सर्वाधिक प्रिय कहा है। दक्षिणके आलवार सन्तों और वैष्णव आचार्योंने सगुण रहस्यवादी साधनाका प्रचार देशभरमें कर दिया। मध्य-युगमें भक्ति-आन्दोलनका अभूतपूर्व प्रस्फुटन हुआ। वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, रामानन्द, तुलसीदास, सूरदास, मीराँबाई, तुकाराम, नरसी मेहता आदि प्रमुख मध्ययुगीन भक्त हैं।

मध्ययुगमें रहस्यवादकी निर्गुण शाखाका भी विशेष प्रस्फुटन हुआ। इसके प्रमुख प्रतिनिधि कबीर, नानक, रैदास, धर्मदास, दादू इत्यादि हैं। नाथ-सम्प्रदायकी परम्परामें गोरखनाथका नाम अग्रगण्य है।

आधुनिक कालमें भी भारतमें रहस्यवादकी धारा प्रवाहित रही है। भारतीय पुनरुत्थान-युगके अग्रणी राजा राममोहन राय औपनिषदिक रहस्यवादमें आस्था रखते थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर विख्यात रहस्यवादी साधक थे। रामकृष्ण परमहंसके प्रादुर्भावसे रहस्यात्मक साधनाको और भी बल प्राप्त हुआ। उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य शिष्योंने उनका सन्देश देश-विदेशमें फिर विकसित किया। ब्राह्मसमाज भी ऐसी ही साधनाका पोषक था। उत्तरभारतमें स्वामी रामतीर्थ और ईसाई सन्त साधु सुन्दर सिंहके नाम इस सम्बन्धमें उल्लेख-नीय हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर मर्मी साधक थे। दक्षिणमें श्री रमण महर्षिने निर्गुण रहस्यवादकी साधनाका मार्ग विशेष रूपसे आलोकित किया। प्रयाग विश्वविद्यालयके दर्शन विभागके भूतपूर्व अध्यक्ष रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे अपने जीवन और साहित्यसे रहस्यवादका प्रतिपादन करते रहे। अरविन्दकी साधना-पद्धतिमें भी रहस्यवादके तत्त्व हैं। रहस्यवादी आधारपर स्थापित होनेवाला एक नया सम्प्रदाय राधास्वामी-मत है, जिसका प्रधान केन्द्र दयालबाग, आगरामें है।

रहस्यवादने समग्र मानवीय संस्कृतिपर व्यापक प्रभाव छोड़ा है। वस्तुत वह मानवीय चेतनाके प्रमुख और उदात्ततम निर्णायक तत्त्वोंमेंसे है। उसने साहित्य और कलाको प्रेरणा दी है और संस्कृतिके निर्माणमें योग दिया है। रहस्यवादी भावनासे प्रेरित साहित्यका परिमाण विशाल है। पश्चिममें प्लेटोके तद्विषयक सलाप, प्लोटिनस-की कृतियाँ, दाँतेकी डिवाइन कॉमेडी, सन्तोंके आत्मचरित तथा साधनाविषयक ग्रन्थोंकी प्रचुर संख्या है। रहस्यानु-भूतिका वर्णन वर्ड्सवर्थ और टेनिसनकी कविताओंमें भी मिलता है। दूसरे महायुद्धके उपरान्त पश्चिमके बौद्धिकोंमें रहस्यवादके प्रति एक नयी अभिरुचि उत्पन्न हुई है। इनमें एल्डस हक्सले और क्रिस्टोफर आइशर वुडके नाम प्रमुख हैं। पूर्वमें रहस्यवादसे प्रेरित साहित्य और भी प्रचुर है। ईरानके सूफी कवियोंका नाम ऊपर लिया ही जा चुका है। भारतमें उपनिषद्,'ब्रह्मसूत्र','भगवद्गीता' तथा इन तीनों-पर विविध आचार्योंके भाष्य, 'योगवाशिष्ठ', 'महाभारत'के अंश, 'भक्तिसूत्र', 'श्रीमद्भागवत' आदि रहस्यवादके प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ हैं। शंकराचार्य तथा अन्य आचार्यों और विद्वानोंकी तत्सम्बन्धी कृतियोंकी संख्या प्रचुर है। यदि तन्त्रोंके उदात्त पक्षको रहस्यवादी साधना माना जा सके तो विशाल तन्त्र-साहित्य भी इसके अन्तर्गत आ सकता है। हिन्दीके आरम्भिक कवि रहस्यवादी सिद्ध ही हैं। मध्ययुगमें निर्गुण और सगुण धाराओंके रहस्यवादियोंकी कृतियाँ तो हिन्दी साहित्यकी अक्षय निधि हैं। कबीर, नानक, दादू, सूरदास, तुलसीदास, मीराँबाई आदि सैकड़ों रहस्यवादी कवियोंने हिन्दी साहित्यको अमूल्य कृतियाँ दी हैं। अन्य भारतीय भाषाओंमें भी रहस्यवादका विशाल साहित्य है। आधुनिक कालमें रामकृष्ण परमहंसके उपदेश, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रमण महर्षि, अरविन्द, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रामचन्द्र द० रानडे आदिकी कृतियोंसे भारतका रहस्यवादी साहित्य समृद्ध हुआ है। हिन्दीके क्षेत्रमें इधर कोई काव्य-प्रतिभा-सम्पन्न सच्चा रहस्यवादी साधक नहीं हुआ। रवीन्द्रनाथ-की विश्वव्यापी ख्यातिसे प्रभावित होकर छायावादी युगमें कुछ कवियोंने रहस्यवादी शैलीमें कविता अवश्य की, किन्तु सच्ची अनुभूति और जीवनसे प्रेरित न होनेके कारण उसे कृत्रिम रहस्यवाद ही कहा जा सकता है। —आ०रा०शा०

रहस्यानुभूति—लौकिकतासे विमुख होकर जब किसी अज्ञात, रहस्यमय अलौकिक शक्तिके प्रति राग, उत्सुकता, विस्मय, जिज्ञासा, लालसा एवं मिलनानुभव व्यक्त किया जाने लगता है तब उस अनुभव-वेद्य अवस्थाको रहस्यानुभूति-की अवस्था कहते हैं। इसे दिव्यानुभूति भी कह सकते हैं, क्योंकि उसका सम्बन्ध अलौकिक शक्तिसे होता है। अंग्रेजीमें इसे 'मिस्टिक फीलिंग' कहेंगे। ज्ञानी जिस रहस्यको साधनाके द्वारा सुलझाता है, अनुभूतिप्रवण उसीको निवेदन और रागानुभवके द्वारा प्रकट करता है। दोनों एक ही शक्तिको आलम्बन स्वीकार करते हैं, किन्तु दूसरा व्यक्ति उससे अनेक रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर विरहानुभूति भी व्यक्त करता है, कभी वह उससे एकाकारिताका अनुभव करता है। यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल इसे भारतीय काव्यमें रवीन्द्रनाथ ठाकुरके माध्यमसे यूरोपीय प्रभावमात्र मानते हैं और अलौकिक शक्तिके प्रति लालसाकी अभिव्यक्तिको झूठा या कृत्रिम रहस्यवाद मानते हैं, तथापि 'प्रसाद'ने इसे वैदिक कालसे आगत भारतीय विचारके रूपमें ही स्वीकार किया है। भारतीय सन्तों, सूफियों, रहस्यवादी कवियोंमें इस आध्यात्मिक रहस्यानुभूतिकी प्रभावशालिनी अभिव्यक्ति दीख पड़ती है। 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' तथा

महादेवी वर्मा आदि इस प्रकारके हिन्दी काव्यके प्रतिनिधि कवि हैं। —आ० प्र० दी०

रागानुरागसंबंधरूपा भक्ति–यह रागके द्वारा भगवान्‌से सम्बन्ध स्थापित करानेवाली भक्ति है। रूप गोस्वामीने गौणी भक्तिके एक उपभेदके अन्तर्गत ही इस भक्ति-प्रकारको रखा है। (भ० र० सि०, पू० वि० · २ · ६२) भक्त और भगवान्‌के मध्य सम्बन्धके विचारसे इसके चार प्रकार हैं–(१) दास्य, (२) सख्य, (३) वात्सल्य, (४) दाम्पत्य। हनुमान्‌को दास्य, सुदामा, उद्धव और अर्जुनको सख्य, नन्द-यशोदाको वात्सल तथा राधा एवं रुक्मिणीको दाम्पत्य-भावका आदर्श माना जाता है। (हिन्दी काव्यमें वर्णित इन भावोंके उदाहरणोंके लिए दे०—'आसक्तियाँ') —वि० मो० श०

राजचर्या–राजशेखरने अपने कविशिक्षा (दे०) ग्रन्थ 'काव्यमीमासा'के दसवें अध्यायमें राजाओं द्वारा आयोजित कवि-परिषदोंका विस्तृत वर्णन किया है। राजशेखरका कहना है कि राजा लोग कवियों और काव्यों तथा अन्य विद्वानोंकी परीक्षाके लिए ब्रह्म-सभाका आयोजन करें। उज्जयिनीमें ऐसी ही ब्रह्म-सभाओंमें कालिदास, मेण्ठ, भारवि जैसे कवियोंकी परीक्षा हुई थी और पाटलिपुत्रकी सभाओंमें उपवर्प, वर्प, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि, पंतजलि जैसे आचार्योंकी परीक्षा हुई थी। इन परिषदोंसे तत्कालीन राजदरबारोंके वातावरणका आभास मिलता है और उनमें कवियोंके स्थानका रूप भी स्पष्ट होता है। —म० प्र० ल०

राजसी भक्ति–दे०—'गौणी भक्ति'

राजस्थानी–राजस्थानकी बोलियोंका समूह, हिन्दीभाषी प्रदेशके सीमान्तपर अवस्थित है। राजस्थानी बोलियाँ मौलिक दृष्टिसे पश्चिमी हिन्दीसे बहुत भिन्न नहीं हैं। राजस्थानीकी चार बोलियाँ हैं—१ मेवाती—अहीरवाटी—यह अलवरमें तथा दिल्लीके दक्षिणके प्रदेशमें गुड़गाँवके आस-पास बोली जाती है। २ मालवी—इस बोलीका केन्द्र मालवा प्रदेश है। ३ जयपुरी–हाड़ौती–यह जयपुर, कोटा और बूँदीमें बोली जाती है। ४ मारवाड़ी–मेवाड़ी—यह मारवाड़ तथा मेवाड़ प्रदेशकी बोली है।

राजस्थानी प्रदेशकी साहित्यिक भाषा हिन्दी है तथा मुद्रण आदिके लिए नागरी लिपिका प्रयोग होता है। राजस्थानके निवासी अपने व्यवहारमें नागरीके ही एक उपरूप 'महाजनी'का प्रयोग करते हैं, जिसका प्रचार मारवाड़ियोंके व्यापारके साथ-साथ प्राय समस्त उत्तर-भारतमें हो गया है। —सं०

राधावल्लभी सम्प्रदाय–मध्ययुगके कृष्णभक्ति-सम्प्रदायोंमें अन्यतम राधावल्लभी सम्प्रदायके संस्थापक गोसाईं हित हरिवंश थे। 'हित' उनका उपनाम था। इसलिए इस सम्प्रदायको **हरिवंशी सम्प्रदाय** भी कहते हैं। इस सम्प्रदायका कोई दार्शनिक मतवाद नहीं है, अत यह केवल साधनमार्ग है, तात्त्विक दृष्टिसे इसके अनुयायियोंने भी बहुत दिनोंतक कोई विचार नहीं प्रकट किये। इसके सम्बन्धमें जो भी जानकारी प्राप्त हो सकती है वह हित हरिवंशकी रचनाओं—'हित चौरासी' और 'राधा-सुधानिधि'(संस्कृत)से अथवा उनके अनुयायी हरिराम व्यास और ध्रुवदासकी रचनाओंसे। नाभादासने 'भक्तमाल'में हरिवंश गोसाईंकी भजनकी रीतिको अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमयी कहा है। इसे वस्तुत भली भाँति तो वही जान सकता है जो उनके पन्थका अनुयायी हो। नाभादास केवल इतना जानते हैं कि इसमें विधि और निषेधके लिए कोई स्थान नहीं है। राधाके चरणोंकी उपासना और राधा-कृष्णके केलि-कुंजकी खवासी—चाकरी करना ही भक्तका एकमात्र कर्तव्य है। (भक्तमाल छ० ९०) प्रियादासने भी 'भक्तमाल'के इस कथनकी टीका करते हुए कहा है कि 'हित'-जीकी रीतिको कोई लाखोंमें एक जान पाता है। इस भक्ति-मार्गमें राधाको ही प्रधानता दी जाती है, कृष्णका ध्यान उसके बाद किया जाता है। इस भक्तिका भाव अत्यन्त विकट है। स्वभावकी अनुकूलता तथा कृपाकी प्राप्तिसे ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। प्रेमकी ही उसमें प्रधानता है, जिससे विधि और निषेध उपेक्षणीय हैं।

राधावल्लभी सम्प्रदायके साहित्यमें अध्यात्मपक्षका विवेचन बहुत कम हुआ है, भक्तिका प्रकाशनमात्र उसमें मिलता है। कवियोंने राधा-कृष्णकी कुंज क्रीड़ा और सुख-विलासका ही मधुर और ललित चित्रण किया है। कर्म और ज्ञान-मार्गका इसमें स्पष्टतया खण्डन करके प्रेम-भक्तिका प्रतिपादन किया गया है। भक्तके लिए यही अपेक्षित है कि राधा-कृष्णकी नित्य-केलिका सतत ध्यान करता हुआ आनन्दमग्न रहे। राधावल्लभी मतमें केवल संयोग-सुखकी लीला ही स्वीकृत है, वियोगकी भावना मान्य नहीं है। निकुंज-लीलाका मनन ही परम रस माधुरी भाव है। इसी भावका चित्रण 'हित-चौरासी' तथा सम्प्रदायके अन्य ग्रन्थोंमें हुआ है।

सम्प्रदायकी पारिभाषिक शब्दावलीमें 'हित' शब्द सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है मांगलिक प्रेम जो परात्परतत्त्व है, अद्वय है, युगलरूप है, श्यामा-श्याम या राधा-कृष्ण है। राधा-कृष्ण अभिन्न तत्त्व हैं, वे प्रेमरूप हैं, प्रेमके कारण भी हैं और कार्य भी, वे जलतरंगकी तरह एक-दूसरेमें ओतप्रोत हैं। हरिवंशने अपना रस-सिद्धान्त बताते हुए कहा है—'यत्किंचिद् दृश्यते सृष्टौ सर्वं हितमयं विदु' अर्थात् सृष्टिमें जो कुछ जड़-चेतन दिखाई देता है वह सब एक ही वस्तु 'हित' प्रेम समझो। प्रेम-तत्त्वके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी सत्ता हरिवंश स्वीकार नहीं करते। उन्हें सर्वत्र अपनी प्रेम-स्वरूपा आराध्याका ही दर्शन होता है—'सर्वान् वस्तुनया निरीक्ष्य परम स्वाराध्य बुद्धिर्मम।' 'हित'जीका यह प्रेमाद्वैतका सिद्धान्त श्रुतिके 'रसो वै स' वचनसे समर्थन पा सकता है। इस रसरूप ब्रह्मका अवतार श्रीकृष्ण ही है और उनका पूर्ण रस-रूप राधाके साथ मधुर केलिमें ही प्रकट होता है। राधावल्लभका यह रसमय रूप दो प्रकारका होता है—एक ब्रज-रस और दूसरा निकुंज-रस। ब्रज रसमें गोपियोंका उपपति-प्रेम (जार-प्रेम) होता है, अर्थात् यह रस परकीया-भावका होता है। यह केवल अवतार दशामें प्रकट होता है, अत यह अनित्य है। इससे भिन्न निकुंज-रस नित्य अखण्ड, सदा एकरस रहनेवाला है। उसमें 'स्व' और 'पर'का कोई भेद नहीं है।

वह 'रस' केवल वृन्दावनमें दृष्टिगोचर होता है, अत उस नित्य रसको 'श्रीवृन्दावन-रस' भी कहते हैं। श्रीवृन्दावन-रति उसका स्थायी भाव है। परम तत्त्व—रस-रूप राधावल्लभ ही नित्य, सत्य और सच्चिदानन्दघन है। सौन्दर्य, माधुर्य रस और आनन्दकी वे सीमा है। वे ही परब्रह्म—ब्रह्मके भी ब्रह्म है। वे अवतारी है, अवतार नहीं, अग्निस्फुलिंगवत् सब अवतार उन्हींसे नि सृत होते हैं। सृष्टि, पालन और प्रलयसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वे नित्य रस-मग्न हुए निजरूपा स्वामिनी श्रीराधाके साथ नित्य आनन्द-विहार करते रहते है। 'हित'जीके अनुसार राधा और कृष्ण अद्वय है, एक ही तत्त्व है। राधा ही नहीं, विहारके अन्य अग वृन्दावन तथा सखियाँ भी अभिन्न है, एक प्रेम-तत्त्वरूप है। इस नित्य विहारमें विरहकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह विहार दिव्य धाम श्रीवृन्दावनमें अनादि-अनन्त रूपसे निरन्तर होता रहता है। श्रीकृष्ण, राधा और सखियोंकी तरह वृन्दावन भी स्थूल और सूक्ष्म दोनोंसे परे, अनिर्वचनीय है। इस प्रकार इस मतमें 'हित' ही ब्रह्म है, जड-जगम समस्त सृष्टि भी 'हित'का ही स्थूल रूप है, अर्थात् वह नित्य 'हित' इन नाना स्थावर-जगम रूपोंमें जड़ता सचारी भावको प्राप्त हो गया है। वस्तुत सभी जीव और जड सृष्टि उसी एक 'हित-मित्र' प्रेमतत्त्वके चित्रमात्र है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, राधावल्लभी मतमें वियोग मान्य नहीं है, उसके अनुसार परकीया और स्वकीया, दोनों भाव अपूर्ण है, क्योंकि स्वकीयामें मिलनका ही सुख है, विरह नहीं है तथा परकीया भावमें मिलनका पूर्ण सुख नहीं है। ये दोनों भावनाएँ एकदेशीय और एकागी है। हरिवशने सारस और चकईके सवादमें इन दोनों भावोंकी न्यूनता प्रदर्शित की है। प्रियके विरहमें भी चकईका जीवित रहना प्रेमकी न्यूनताका द्योतक है तथा सारसका नित्य मिलन-सुखका प्रेम विरहानुभवके विना एकागी है। हरिवशके अनुसार प्रेमकी पूर्णता वह है जिसमें मिलना-वस्थामें भी विरहकी उत्सुकता और आकाक्षा वनी रहे, जिससे प्रेमकी लवलेशमात्र क्षीणता न हो, प्रत्युत वह नित्य नूतन होता रहे, उसमें निरन्तर आकाक्षा और उमगकी लहरें उठती रहें। उन्होंने उसे 'प्रेम विरहा' नामसे अभिहित किया है, मिलनमें विरहका भाव नित्य अतृप्तिके अनुभवसे जाग्रत् रहे। अवियुक्त मिलनमें भी सदैव यह अनुभव होता रहे कि कभी मिले ही नहीं, यही 'प्रेम विरहा'-की स्थिति है।

राधावल्लभी मतमें कृष्ण और राधा पुरुष और प्रकृति-रूप हैं। नित्य-विहारी श्रीकृष्ण एकमात्र पुरुष है तथा उनकी निजरूपा 'ह्लादिनी' प्रेमशक्ति राधा परम प्रकृति है। समस्त जगत् इन्हीं युगलकिशोरका प्रतिविम्व है। राधा ही जड और जीव, दोनों प्रकारकी प्रकृतिमें सर्वत्र व्याप्त हैं। वे ही सखी है, वे ही गोपी। समस्त जीव प्रेम-रूपा गोपी ही है। उनमें वे दिव्य गुण विद्यमान हैं जो श्रीकृष्णकी अभिन्न-तत्त्व सखियोंमें है। केवल वे निज-स्वरूपको भूल गये हैं, इसी कारण जन्म-मरणके भ्रममें पड गये है। निज-स्वरूपके स्मृति-मात्रसे वे प्रेम रूपको प्राप्त कर सकते है। निजरूपका स्मरण कैसे हो सकता है, इसके लिए वताया गया है कि प्रेम-रसकी साधनामें भक्तके दो शरीर होते हैं—एक साधन-शरीर, दूसरा सिद्ध या दिव्य शरीर। साधन-शरीरके द्वारा मनमें प्रेमभावको दृढ करनेका उपाय किया जा सकता है। वह उपाय यह है कि भक्त मनमें अपने किसी दिव्य शरीरकी भावना करता रहे। परम सौन्दर्य और माधुर्यके आगार श्रीकृष्णकी अपार लावण्यमयी सखीके रूपके शारीरिक सौन्दर्य, मनोहर वस्त्राभरण तथा हार्दिक अनुरागका ध्यान करते हुए अपने ऊपर उसका पूर्ण भावसे आरोप करनेसे ही यह सम्भव हो सकता है। अत राधावल्लभी भक्ति-पद्धतिमें इसी सखी-भावका विधान किया गया है। किशोरीरूपमें अपनेको कल्पित करनेसे ही युगल-किशोरकी रस-भावना सम्भव है। भक्त स्वामिनीजीके पार्श्वमें पहुँचनेके लिए उन्हींके समान स्वरूपानुसन्धान करता है और अपनेको उनकी चतुर सुकुमारी किशोरी परिचारिका वनाकर धन्य मानता है। यही स्वरूपानुसन्धान भक्तका दिव्य या सिद्ध शरीर है। इसीके आधारपर राधावल्लभलालकी रस-लीलासे पूर्ण साधर्म्य स्थापित हो सकता है। इसी रूपमें भक्त आकाक्षा करता है कि जो रस श्यामा-श्याममें प्रवाहित रहता है उसका एक कण मेरे हृदयमें भी प्रस्फुटित हो जाय।

हित हरिवश (सन् १५०२-१५५२ ई०) श्रीकृष्णकी वशीके अवतार कहे जाते हैं। पहले वे मध्व-सम्प्रदायके अनुयायी थे, फिर निम्वार्क-सम्प्रदायमें सम्मिलित हुए। एक वार जव वे अपने निवासस्थान देववन्द(सहारनपुर)से वृन्दावन जा रहे थे तो रास्तेमें एक ब्राह्मणने उन्हें अपनी दो कन्याएँ और एक कृष्णमूर्ति भेंट की। वृन्दावन आकर उन्होंने राधावल्लभ नामसे उस मूर्तिको स्थापित किया और उसपर एक मन्दिर वनवाया। कहते हैं, स्वय श्रीराधिकाजीने इन्हें वृन्दावन आकर स्वतन्त्र सम्प्रदाय स्थापित करनेका स्वप्नमें आदेश दिया था। सन् १५३४ में राधावल्लभकी मूर्तिका 'पट-महोत्सव' हुआ और उसके वाद इन्होंने अपनी राधावल्लभीय भक्ति-पद्धतिका संघटित प्रचार प्रारम्भ किया। ठेठ व्रजका यह कृष्णभक्ति-सम्प्रदाय अपने प्रभाव और प्रसारमें कदाचित् वल्लभ-सम्प्रदायके वाद ही आता है। इसने भी काव्य, सगीत और प्रसाधनकला आदिको सरक्षण और प्रोत्साहन दिया तथा भक्तिकालीन समृद्धिमें अन्यतम योग दिया। 'हित-चौरासी' काव्यकी दृष्टिसे भी उच्च कोटिकी रचना है। हित हरिवशके भक्तिपूर्ण व्यक्तित्वका इतना प्रभाव था कि गौडीय वैष्णव सम्प्रदायके अनुयायी हरिराम व्यास (अनुमानत सन् १४९० १५९३ ई०), जो सस्कृतके शास्त्रार्थी विद्वान् थे, राधावल्लभी मतमें सम्मिलित हो गये। उनकी रचनाका सम्प्रदायकी दृष्टिसे भी महत्त्व है और साहित्यिक दृष्टिसे भी। इसी प्रकार ध्रुवदास (अनुमानत १५७३-१६४३ ई०) स्वप्नमें ही हितजीके शिष्य वन गये थे। इनके छोटे-वडे चालीस ग्रन्थ मिले हैं, जिनका माधुर्य भक्तिके प्रचारमें महत्त्वपूर्ण योग रहा है। राधावल्लभी मतके कुछ प्रसिद्ध भक्त कवि रीतिकालमें भी हुए हैं, जिनमें चाचा हित वृन्दावनदास (अनुमानत- १७००-१७८७) और श्री हठीजी अधिक प्रसिद्ध है। हित वृन्दावनदासके

बीस हजार पद और छन्द मिले हैं। गुण और परिमाण, दोनों दृष्टियोंसे इस सम्प्रदायने व्रजभाषा-काव्यमें महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

[सहायक ग्रन्थ–(१) हित-चौरासी और राधा-सुधानिधि ' हित हरिवंश, (२) व्यासवाणी हरिराम व्यास, (३) भागवत सम्प्रदाय बलदेव उपाध्याय, (४) अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय ' दीनदयालु गुप्त, (५) राधावल्लभ-सम्प्रदाय–सिद्धान्त और साहित्य ' विजयेन्द्र स्नातक।] —व्र० व०

रामकथा–वैदिक कालके पश्चात् सम्भवत छठी शताब्दी ई० पू० में इक्ष्वाकुवंशके सूतों द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं-के आधारपर रामकथा-विषयक गाथाओंकी सृष्टि होने लगी थी। इसके फलस्वरूप चौथी शताब्दी ई० पू० तक रामका चरित्र लेकर स्फुट आख्यान-काव्यका प्रचुर साहित्य उत्पन्न हुआ था, जो कोसल प्रदेशतक सीमित न रहकर उत्तर-भारतमें फैलने लगा था। उस समय आदिकवि वाल्मीकिने इस आख्यान-काव्यके आधारपर १२००० श्लोकोंके एक विस्तृत प्रबन्ध-काव्यकी रचना की, जिसमें रामके निर्वासन-से लेकर अयोध्यामें उनके प्रत्यागमनतक अर्थात् प्रचलित रामायणके अयोध्याकाण्डसे लेकर युद्धकाण्डतककी कथा-वस्तुका वर्णन था। आदिरामायण नर-काव्य ही था, इसमें राम आदर्श मानव और वीर क्षत्रियके रूपमें प्रस्तुत किये गये थे।

वाल्मीकिकृत आदिरामायणका रूप स्थिर नहीं रह सका। वह कई शताब्दियोंतक मौखिक रूपसे ही प्रचलित था। अत काव्योपजीवी कुशीलव अपने श्रोताओंकी रुचिका ध्यान रखकर लोकप्रिय अंग बढ़ाने तथा कथानकमें नवीन सामग्री, विशेषकर अद्भुत रसकी सामग्रीका समावेश करने लगे। प्रमुख प्रक्षेप ये हैं—कनकमृगका वृत्तान्त, लंकादहन, हनुमान्‌का औषध पर्वत ले आना, सीताकी अग्नि-परीक्षा। इसके अतिरिक्त राम कौन थे, सीता कौन थीं, इनका जन्म और विवाह कहाँ, कब और किस प्रकार हुआ था, रावण कौन था, रावण वधके बाद राम-सीताका जीवन कैसा बीता, उनके कौन-कौन सन्तति उत्पन्न हुई आदि—ये अत्यन्त स्वाभाविक प्रश्न थे। जनताकी इस जिज्ञासाको सन्तुष्ट करनेके उद्देश्यसे बालकाण्ड और उत्तरकाण्डके प्रारम्भिक रूपकी रचना कर ली गयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि विकासका प्रथम सोपान यह है कि रामकथा रामका अयन अर्थात् रामका पर्यटन न रहकर पूर्ण रामचरितके रूपमें परिणत हुई।

अवतारवादकी भावना पहले-पहल 'शतपथब्राह्मण'में परिलक्षित होती है। प्रारम्भमें विष्णुकी अपेक्षा प्रजापतिको इस सम्बन्धमें अधिक महत्त्व दिया जाता था। बादमें वासुदेव कृष्ण विष्णुके अवतार माने जाने लगे, जिसके फलस्वरूप अवतारवादको बहुत प्रोत्साहन मिला। साथ-साथ विष्णुका महत्त्व बढ़ने लगा और अवतारवादकी सारी भावना धीरे-धीरे विष्णुमें केन्द्रीभूत होने लगी। दूसरी ओर रामकथाके प्रसारके साथ-साथ रामका महत्त्व भी बढ़ने लगा था। परिणाम यह हुआ कि सम्भवत पहली शताब्दी ई० पू० से लेकर राम और उनके भाई विष्णुके अंशावतार माने जाने लगे। अत रामायणके कई स्थलोंपर रामावतार-विषयक सामग्री और बालकाण्ड तथा उत्तर-काण्डमें बहुत-सी पौराणिक कथाएँ प्रक्षिप्त की गयीं—इस तरह प्रचलित वाल्मीकि रामायणका वर्तमान रूप उत्पन्न हुआ।

रामकथाकी लोकप्रियता ध्यानमें रखकर बौद्धों और जैनियोंने भी रामको अपने-अपने धर्ममें एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया। इस प्रकार रामकथा भारतीय संस्कृतिमें इतनी व्याप्त हो गयी कि रामको उस समयके तीन प्रचलित धर्मोंमें एक निश्चित स्थान मिला—ब्राह्मण-धर्ममें विष्णुके अवतारके रूपमें, बौद्ध धर्ममें बोधिसत्त्वके रूपमें और जैन धर्ममें आठवें बलदेवके रूपमें, जो त्रिषष्टि महापुरुषोंमेंसे एक हैं।

अवतारवादके कारण रामकथामें अलौकिकताकी मात्रा अवश्य धीरे-धीरे बढ़ने लगी, फिर भी इसका प्रमुख दृष्टिकोण धार्मिक न बनकर शताब्दियोंतक साहित्यिक ही रहा। अत एक ओर बारहवीं शताब्दीतकके धार्मिक साहित्यमें रामकथाका स्थान अपेक्षाकृत गौण है, दूसरी ओर भारतीय तथा भारतके निकटवर्ती देशोंके ललित साहित्यमें इसकी व्यापकता अद्वितीय है (दे०—'रामकाव्य')। इन बहुविध साहित्यिक रचनाओंमें 'आदिरामायण'की आधिकारिक कथा-वस्तुमें प्राय कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया है। लेकिन बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्डके कथानकका अत्यधिक विकास हुआ, उदाहरणार्थ—सीता और हनुमान्‌की विभिन्न जन्म-कथाएँ, सीतात्याग, कुश-लवचरित तथा रामकथाके निर्वहणके विविध रूप।

अत विकासका द्वितीय सोपान यह है कि रामकथा आदर्श क्षत्रिय रामका चरित्र न रहकर विष्णुकी अवतार-लीलामें परिणत हुई और उसी रूपमें किंचित् परिवर्तन तथा पर्याप्त परिवर्द्धन सहित समस्त भारत तथा इसके निकटवर्ती देशोंमें फैल गयी।

बारहवीं शताब्दी ई० के बाद रामभक्ति पूर्ण रूपसे पल्लवित होकर रामकथाके स्वरूपपर प्रभाव डालने लगी (दे०—'रामभक्ति')। १४वीं शताब्दी ई० से लेकर समस्त भारतीय रामकथा-साहित्य भक्ति-भावसे ओत-प्रोत है। (उस समयके पूर्व ही रामकथा विदेशमें फैल गयी थी, अत विदेशी रामकथा-साहित्यमें भक्तिका अभाव है। (दे०—'राम-काव्य')। उस भक्तिभावके फलस्वरूप रामकथाका वाता-वरण बदलने लगा। प्रारम्भमें राम, भरत आदि चारों भाई विष्णुके अंशावतार थे, अब राम परब्रह्मके पूर्णावतार माने जाने लगे और लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न क्रमश शेष, शंख तथा सुदर्शनके अवतार। सीता पहले लक्ष्मी-अवतार, किन्तु बादमें परा शक्ति अथवा मूल प्रकृतिके रूपमें स्वीकृत होने लगीं।

रामकथाकी आधिकारिक कथावस्तुमें भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे। सीता राक्षसके वश हुई थीं। यह विचार भक्तोंको असह्य और असम्भव प्रतीत हुआ, अत उपास्य देवीकी मर्यादाकी रक्षाके लिए भक्तिभावने सीताकी एक छायामात्रका हरण स्वीकार किया। मूल रामकथामें रावणने कामवासनासे प्रेरित होकर सीताहरण किया था और दण्डस्वरूप वह राम द्वारा मारा गया था। रामकथाके

विकासके द्वितीय सोपानमें दुष्ट राक्षस रावणका नाश ही रामावतारका उद्देश्य है। रामभक्तिके पूर्ण पल्लवित होनेके साथ यह भावना उत्पन्न हुई कि जो कोई राम द्वारा मारा जाय वह रामका पद प्राप्त कर लेता है, अत यह माना गया कि रावणने मोक्ष पानेके उद्देश्यसे सीताका अपहरण किया था तथा रामके हाथसे मरकर सायुज्य मुक्ति प्राप्त की थी। इसी तरह कथानकके अन्य गौण प्रसंगोंका दृष्टिकोण भी बदल गया तथा विभिन्न पात्रोंकी उग्रता तथा कुटिलता रामभक्तिमें लीन कर दी गयी है।

अब रामभक्तिके प्रादुर्भावके पश्चात् रामकथाकी सम्पूर्ण कथावस्तुका वर्णन एक नवीन दृष्टिकोणसे किया गया है। यह रामकथाके विकासका तृतीय सोपान है—विष्णुकी अवतार-लीलामात्र न रहकर रामकथा भक्तवत्सल भगवान् रामके गुण-कीर्तनमें परिणत हुई।

इस प्रकार रामकथा अनेक रूप धारण करते हुए शनै-शनै सम्पूर्ण भारतीय साहित्य तथा निकटवर्ती देशोंमें भी फैलकर ऐशियाई संस्कृतिका एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गयी है। कारण यह है कि मानव-हृदयको द्रवीभूत करनेकी जो शक्ति रामकथामें है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त रामकथामें लोकसंग्रहकी भावना आदर्शप्रिय भारतीय जनताको शताब्दियोंसे प्रभावित करती चली आ रही है। भारतकी समस्त आदर्श-भावनाएँ रामकथामें, विशेषकर मर्यादापुरुषोत्तम राम तथा पतिव्रता सीताके चरित्रचित्रणमें केन्द्रीभूत हो गयी हैं। फलस्वरूप रामकथा भारतीय संस्कृतिके आदर्शवादका उज्ज्वलतम प्रतीक बनकर भारतकी जनताके लिए अत्यन्त कल्याणकारी सिद्ध हुई है।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा : कामिल बुल्के।]—का०बु०

रामकहानी—दे०—'आत्मकथा'।

रामकाव्य—आदिकवि वाल्मीकिके अनेक शताब्दियों पूर्व रामकथाको लेकर आख्यान-काव्यकी सृष्टि होने लगी थी, किन्तु वह साहित्य अप्राप्य है। अत वाल्मीकिकृत रामायण प्राचीनतम उपलब्ध रामकाव्य है, इसकी रचना सम्भवत चौथी शताब्दी ई० पू० के अन्तमें हुई थी। बहुत समयतक मौखिक रूपमें प्रचलित रहनेके कारण इसका रूप स्थिर नहीं रह सका, रामकथाके प्रारम्भिक विकासके साथ-साथ इसमें परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किया गया है। समस्त बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्डके अतिरिक्त अन्य काण्डोंमें भी बहुत-सी प्रक्षिप्त सामग्रीका समावेश हुआ, यहाँतक कि 'आदिरामायण'का कलेवर दूना हो गया (दे०—'रामकथा')। प्रचलित 'वाल्मीकिरामायण'के तीन भिन्न पाठ मिलते हैं—१. दाक्षिणात्य पाठ (गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई तथा दक्षिणके संस्करण)। २. गौडीय पाठ (गोरेसियो द्वारा सम्पादित तथा पेरिसमें सन् १८४३ ई०में प्रकाशित, कलकत्ता संस्कृत सिरीजका संस्करण)। ३ पश्चिमोत्तरीय पाठ (दयानन्द महाविद्यालय, लाहौरका संस्करण)। प्रत्येक पाठमें बहुतसे श्लोक, बड़े-बड़े अवतरण तथा पूरे सर्गतक ऐसे हैं, जो किसी एक या अन्य दो पाठोंमें नहीं पाये जाते। इसके अतिरिक्त जो श्लोक दो या तीन पाठोंमें मिलते हैं उनमें भी पर्याप्त मात्रामें अन्तर है तथा श्लोकोंका क्रम भी दो अथवा तीनों पाठोंमें अलग-अलग है। इस वैभिन्यका कारण यह है कि वाल्मीकिके कई शताब्दियों बाद रामायणको अलग परम्पराओंके आधारपर लिपिबद्ध किया गया है। पाठोंके तुलनात्मक अध्ययनसे पता चलता है कि गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठोंमें अपेक्षाकृत अधिक समानता पायी जाती है। इन दोनोंमें दाक्षिणात्य पाठके बहुतसे आर्ष प्रयोग एक ही तरहसे सुधारे गये हैं और बहुतसे अन्य स्थलोंपर भी दोनोंका पाठ दाक्षिणात्य संस्करणसे भिन्न होते हुए भी एक है। अत प्रतीत होता है कि प्रारम्भमें सम्भवत पहली शताब्दी ई० से रामायणके दो पाठ धीरे-धीरे भिन्न होने लगे थे—उदीच्य तथा दाक्षिणात्य। बादमें उदीच्य पाठने दो शाखाओंमें विभक्त होकर गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठोंको जन्म दिया। यद्यपि इन तीनों पाठोंमें पर्याप्त मात्रामें अन्तर पाये जाते हैं। फिर भी आधिकारिक कथावस्तुके दृष्टिकोणसे वे गौण ही हैं (दे०—'वाल्मीकि रामायणके तीन पाठ' : नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८, अंक १-२, पृ० १-३५)।

वाल्मीकिकी प्रतिभाने रामकथाको एक ऐसा चित्ताकर्षक तथा मर्मस्पर्शी रूप प्रदान किया था कि आगे चलकर भारतकी काव्यधारा रामकथाको लेकर चलती रही। इसके अतिरिक्त निकटवर्ती देशोंमें भी प्रचुर रामकाव्यकी सृष्टि हुई है। प्रस्तुत परिचयमें क्रमश: बौद्ध तथा जैन साहित्य, संस्कृत-प्राकृत-ललित साहित्य, अन्य भारतीय भाषाओंके साहित्य और विदेशी साहित्यमें रामकाव्यका सिंहावलोकन किया जायगा।

बौद्धोंने ईसवी सन्के कई शताब्दियों पूर्व रामको बोधिसत्त्व मानकर, रामकाव्यको अपने जातक-साहित्यमें स्थान दिया है। इस प्रकार 'दशरथजातक', 'अनामकंजातकम्' तथा 'दशरथकथानम्', ये तीन जातक उत्पन्न हुए। इनका मूल स्रोत सम्भवत: रामकथा सम्बन्धी प्राचीन आख्यान-काव्य है। आगे चलकर बौद्धोंमें रामकथाकी लोकप्रियता घटने लगी, अत अर्वाचीन बौद्ध साहित्यमें रामकाव्यका अभाव है।

बौद्धोंकी भाँति जैनियोंने भी रामकथाको अपनाया, लेकिन जैन साहित्यमें इसकी लोकप्रियता शताब्दियोंतक बनी रही, जिसके फलस्वरूप एक अत्यन्त विस्तृत जैन रामकाव्यकी सृष्टि हुई। विमल सूरिने पहले-पहल ईसवी सन्की तीसरी शताब्दीमें 'पउमचरिय' (प्राकृतमें) लिखकर रामकथाको जैन धर्मके साँचेमें ढालनेका प्रयत्न किया। इसका संस्कृत रूपान्तर रविषेणने सन् ६६० ई० में किया था, जो 'पद्मचरित'के नामसे प्रसिद्ध है (हिन्दी खडीबोली-गद्यके इतिहासमें इस 'पद्मचरित'का स्थान महत्त्वपूर्ण है—सवत् १८१८ में दौलतरामने इसका भाषामें अनुवाद किया)। आगे चलकर जैन कवियोंने रविषेणके आधारपर रामकाव्यकी रचना की है। प्रमुख काव्य-ग्रन्थ इस प्रकार हैं—संस्कृतमें हेमचन्द्रकृत 'जैन रामायण (१२वीं श० ई०), जिनदासकृत 'रामपुराण' (१५वीं शताब्दी ई०) तथा पद्मदेवविजयगणिकृत 'रामचरित' (१६वीं श० ई०); अपभ्रंशमें स्वयम्भूदेवकृत 'पउमचरिय (८वीं श० ई०); कन्नड भाषामें नागचन्द्रकृत 'पम्परामायण' (११वीं श० ई०),

कुमुदेन्दु-कृत 'रामायण' (१३वीं श० ई०), तथा देवप्प-कृत 'रामविजयचरित' (१६वीं श० ई०)।

जैन रामकथाका एक दूसरा रूप हमें पहले-पहल गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' (९वीं श० ई०) में मिलता है। इसके आधारपर भी संस्कृत, प्राकृत तथा कन्नडमें बहुतसे ग्रन्थोंकी रचना हुई है।

संस्कृत ललित साहित्यके स्वर्णकालमें अधिकाश कवियोंने रामकथाके आधारपर महाकाव्यों अथवा नाटकोंकी सृष्टि की है। बादमें संस्कृत साहित्य बहुत-कुछ निर्जीव कृत्रिमताकी शृंखलाओंमें बँध गया, किन्तु रामकथा-विषयक श्लेषकाव्य, विलोमकाव्य, चित्रकाव्य तथा शृगारिक खण्ड-काव्य इस बातका प्रमाण देते हैं कि रामकथाकी लोकप्रियता अक्षुण्ण रही।

रामकथा सम्बन्धी प्राचीन महाकाव्योंमें वाल्मीकीय कथानकको ही आधार माना गया है। उन रचनाओंकी एक सामान्य विशेषता यह है कि रामायणकी अपेक्षा उनमें शृगारको अधिक स्थान मिला है। 'सेतुबन्ध' तथा 'भट्टिकाव्य'में यह वर्णन राक्षसोंकी शृगार-चेष्टाओंतक सीमित रहा, किन्तु 'जानकीहरण'में राम-सीताका सम्भोग-वर्णन भी 'कुमारसम्भव'के अनुकरणपर किया गया है। निम्नलिखित महाकाव्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—कालिदासकृत 'रघुवंश'में समस्त रामचरितके अतिरिक्त अन्य रघुवंशीय राजाओंका भी चरित्र वर्णित है। फिर भी रामको इस महाकाव्यका प्रधान नायक माना जा सकता है। यद्यपि कालिदासने परम्परागत कथानकमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया, फिर भी उनकी प्रतिभाने एक मौलिक युक्ति द्वारा उनको वाल्मीकिके अन्धानुकरणसे बचा लिया है। अयोध्याको लौटते समय राम पुष्पकपर बैठकर सीताको वनवासके स्थल दिखलाते हैं और अतीतके सुख-दु:खका स्मरण दिलाकर रामकथाकी अधिकाधिक कथावस्तुका एक मर्मस्पर्शी, करुण रससे ओतप्रोत चित्र प्रस्तुत करते हैं। बादके रामकाव्यमें इस युक्तिका बहुत अनुकरण किया गया है। महाराष्ट्री प्राकृतमें लिखित 'रावणवह' अथवा 'सेतुबन्ध'की रचना सम्भवत· कश्मीरमें राजा प्रवरसेन अथवा उनके दरबारमें किसी कवि द्वारा, ५वीं अथवा ६ठी शताब्दी ई० में हुई थी। इसके १५ सर्गोंमें रामायणके युद्धकाण्डकी कथावस्तुका अलंकृत शैलीमें वर्णन किया गया है। ६ठी अथवा ७वीं शताब्दी ई० में भट्टिने 'रावणवध' लिखा, जो 'भट्टिकाव्य'के नामसे प्रसिद्ध है। इसके २२ सर्गोंमें व्याकरणके नियमोंके निरूपणके साथ-साथ प्रचलित रामायणके प्रथम छ काण्डोंकी कथावस्तुका वर्णन किया गया है। भट्टिका पाण्डित्य असन्दिग्ध है, किन्तु उनकी काव्य-प्रतिमा उनकी रचनाकी कृत्रिमतासे दब गयी है। कुमारदासकृत 'जानकीहरण'में बालकाण्डसे युद्धकाण्ड-तक कथानकका वर्णन है। कुमारदासने कालिदासकी शैलीका अनुकरण किया है, रचनाकी विशेषता यह है कि इसमें शृंगारात्मक स्थलोंका बाहुल्य है। आधुनिक समालोचक कुमारदासको सिंहलद्वीपका राजा न मानकर उसे ८०० ई० के लगभगका कवि समझते हैं। अभिनन्दकृत 'रामचरित' (नवीं शताब्दी ई०) के ३६ सर्गोंमें राम-लक्ष्मणके प्रस्रवण-पर्वतपर वर्षा-निवाससे लेकर कुम्भ-निकुम्भ-वध-तककी कथा वाल्मीकिके आधारपर दी गयी है। रावणके सम्भोग-शृंगारका विस्तृत वर्णन इस काव्यकी विशेषता है। भीम नामक कविने ४ सर्गोंके परिशिष्टमें युद्धकाण्डका कथानक पूरा किया है। रचना साधारण है। क्षेमेन्द्रकृत 'रामायण-मजरी' (१०३७ ई०) के ५३८६ श्लोकोंमें रामायणके पश्चिमोत्तरीय पाठका सक्षेप मिलता है। काव्यके दृष्टिकोणसे इसका कोई भी महत्त्व नहीं है। 'उदारराघव'की रचना १४वीं शताब्दी ई० में साकल्यमल्ल द्वारा हुई थी, इसके १८ सर्गोंमेंसे केवल नौ सर्ग सुरक्षित हैं, जो कथानकको शूर्पणखाके वृत्तान्ततक पहुँचा देते हैं। इसकी शैली अलंकृत एव कृत्रिम है। १२वीं शताब्दीके बाद बहुतसे राम-विषयक महाकाव्योंका उल्लेख मिलता है। लेकिन ये प्राय· अप्रकाशित हैं और कम साहित्यिक महत्त्व रखते हैं।

रामकथा सम्बन्धी नाटकोंके अभिनयकी प्रथा प्राचीन कालसे चली आ रही है (दे०—'हरिवंश', विष्णुपर्व, अध्याय ९३)। उन प्राचीनतम नाटकोंका लोप हुआ, लेकिन आगे चलकर भी राम-विषयक नाटकोंकी रचना शताब्दियोंतक होती रही। महाकाव्योंकी अपेक्षा इन नाटकोंमें परम्परागत कथानकमें अधिक परिवर्तन किया गया है तथा अनेक नवीन पात्रोंकी भी कल्पना कर ली गयी है। राम-नाटकोंकी सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—विस्तृत वर्णन तथा सवाद, जिससे इनमें प्राय· गतिका अभाव है, शृंगार रसकी व्यापकता (राम-सीताका पूर्वानुराग), आदर्शवादका प्रभाव (बालिवधका परिवर्तित रूप, कैकेयीका दोषनिवारण), अद्‌भुत रसकी सामग्रीका प्रवेश (दे०—'आश्चर्यचूडामणि', 'अद्‌भुतदर्पण'), पात्रोंका एक-दूसरेका रूप धारण करनेकी प्रवृत्ति (दे०—'महावीरचरित', 'अनर्घराघव', 'बालरामायण', 'महानाटक' आदि)। १४वीं शताब्दीतक निम्नलिखित रामकथा-सम्बन्धी नाटक उपलब्ध हैं। बादके नाटक साहित्यिक दृष्टिकोणसे बहुत कम महत्त्व रखते हैं।

भासकृत माने जानेवाले दो रामनाटक मिलते हैं—'प्रतिमा' नाटक तथा 'अभिषेक' नाटक। अधिक सम्भव है कि दोनों कालिदासके बाद किसी दक्षिणभारत-निवासी कवि द्वारा रचित हुए हों। 'प्रतिमा' नाटकमें अयोध्याकाण्ड तथा अरण्यकाण्डकी कथावस्तुका सात अंकोंमें वर्णन किया गया है। कैकेयी तथा भरत इस नाटकके प्रमुख पात्र हैं, दशरथ-मरणके चित्रणमें करुण रसका अच्छा परिपाक है। कैकेयीको निर्दोष ठहरानेके लिए एक नयी कल्पना की गयी है। किसी ऋषिके शापके फलस्वरूप पुत्रवियोगके कारण दशरथका मरण अनिवार्य जानकर कैकेयीने वसिष्ठसे परामर्श लेनेके बाद रामको किसी और विकट विपत्तिसे बचानेके उद्देश्यसे उनको वनवास दिलाया। 'अभिषेक' नाटकमें नाटकीय एकताका अभाव है, इसमें बालिवधसे लेकर रामके अभिषेकतककी घटनाओंका वर्णन है। कविने बालि तथा रावणका सहानुभूतिपूर्वक चित्रण किया है। आठवीं शताब्दी ई० पूर्वार्द्धमें भवभूतिने 'महावीरचरित'के सात अंकोंमें राम-सीता-विवाहसे लेकर रामाभिषेकतककी कथा प्रस्तुत की है। इसमें एकता लानेके उद्देश्यसे रामके प्रति रावणका द्वेष नाटकका मुख्य विषय बना दिया

गया है। रावण एक दूत द्वारा सीताके साथ विवाहका प्रस्ताव भेज देता है और इस प्रस्तावकी अस्वीकृतिपर वह अपमानका प्रतिशोध करनेका सकल्प करता है। राम-नाटकोंमें 'महावीरचरित'का स्थान ऊँचा है, फिर भी वीर रसके उग्र भावोंकी अपेक्षा भवभूति शृगार तथा करुणके कोमल भावोंकी अभिव्यक्तिमें कहीं अधिक सफल हुए हैं। 'उत्तररामचरित' न केवल भवभूतिकी उत्कृष्ट रचना है, जिससे वह कालिदासकी समता कर सकता है, परन्तु वह समस्त रामकाव्यका सर्वोत्तम नाटक भी है। इसमें प्रचलित रामायणके उत्तरकाण्डकी कथावस्तुका एक नवीन रूप प्रस्तुत है। लोकापवादके कारण सीताके निर्वासित किये जानेके पश्चात् भवभूतिने नाटकको सुखान्त बनानेके लिए वाल्मीकिके आश्रममें राम तथा अयोध्याकी जनताके सामने सीता-चरित-सम्बन्धी एक नाटकके अभिनयकी मौलिक कल्पना की है। इसके फलस्वरूप प्रेक्षकगणको सीताकी निर्दोषताका विश्वास हो जाता है और सीता रामके साथ अयोध्या लौटती है। काव्य सौन्दर्यसे प्लावित आदर्श दाम्पत्य-प्रेमका जो करुणात्मक तथा मर्मस्पर्शी चित्रण 'उत्तररामचरित'में प्रस्तुत है, वह सम्भवत ही विश्वसाहित्य-में कहीं अन्यत्र मिल सके। 'कुन्दमाला'की कथावस्तु 'उत्तररामचरित'से मिलती-जुलती है। इसकी रचना धरिनाग द्वारा सम्भवत नवीं शताब्दीमें हुई थी। वाल्मीकि-आश्रमके निकट पहुँचकर राम एक कुन्दमाला देख लेते हैं जिसकी बनावट सीताके सान्निध्यका प्रमाण देती है। इस घटनासे इस नाटकका नामकरण हुआ। मुरारिकृत 'अनर्घराघव'(९०० ई०)में विश्वामित्रके आगमनसे युद्धकाण्ड-तकका वृत्तान्त वर्णित है। कथानकमें जो परिवर्तन किये गये हैं, वे प्राय 'महावीरचरित'पर निर्भर हैं। इस रचनामें नाटकीय तत्त्वोंका अभाव है, मुरारि पहले कवि सिद्ध होते हैं, नाटककार बादमें। राजशेखरकृत 'बालरामायण' (१०वीं श० ई०) सबसे विस्तृत राम-नाटक है, दस अकोंमे सीतास्वयवरसे रामाभिषेकतककी समस्त कथा भवभूति और मुरारिके अनुकरणपर प्रस्तुत की गयी है। लम्बे-लम्बे वर्णनों तथा भावुकतापूर्ण पदोंके बाहुल्यके कारण यह नाटक रगमंचके योग्य नहीं रह गया है। महानाटकके दो पाठ मिलते है—बगालमें मधुसूदन तथा अन्यत्र दामोदर मिश्रका, जो मूलरचनाके अधिक निकट ह। इस रचनामें १४वीं शताब्दीतक प्रक्षेप किये गये हैं। यह रगमचके उद्देश्यसे नहीं लिखा गया, अधिक सम्भव है कि यात्राओंमें इसका पाठ होता था। मायुराजकृत 'उदात्तराघव' (८वीं श० ई०) हालमें प्राप्त हुआ है और अबतक अप्रकाशित है। शक्तिभद्रकृत 'आश्चर्यचूडामणि' दक्षिणभारतमें नवीं शताब्दी-का माना जाता है, लेकिन इसकी इतनी प्राचीनता सन्दिग्ध है। इसमें शूर्पणखाके आगमनसे सीताकी अग्निपरीक्षातककी कथा है, अद्भुत रसकी प्रधानता तथा पात्रों द्वारा एक-दूसरेका रूप धारण करनेके कारण इस रचनामें गाम्भीर्यका अभाव है। 'प्रसन्नराघव'(१२वीं अथवा १३वीं श० ई०)की रचना महादेवके पुत्र जयदेव द्वारा हुई थी। सीता-स्वयवरसे युद्धकाण्डतककी समस्त कथा सात अंकोंमे वर्णित है। यद्यपि जयदेवके काव्य कौशलके सम्बन्ध-में सन्देह हो ही नहीं सकता, फिर भी 'प्रसन्नराघव' उत्कृष्ट नाटक नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'अनर्घराघव'के अन्धानुकरणके साथ साथ इसमें नाटकीय एकताका नितान्त अभाव खटकता है। हस्तिमल्लकृत 'मैथिलीकल्याण' (१३वीं श० ई०) शृगार रस प्रधान चार अंकोंका नाटक है, जिसमें राम-सीताके पूर्वानुरागका चित्रण है। सोमेश्वरकृत 'उल्लासराघव'(१३वीं श० ई०)के आठ अंकोंमें विवाहके पश्चात् सीताकी विदासे लेकर युद्धकाण्डके अन्ततककी कथा वर्णित है। सुभट्टकृत 'दूतागद'(१३वीं श० ई०)में अंगदका दूतकार्य आधिकारिक कथावस्तु है। 'उन्मत्तराघव' (१४वीं श० ई०) नामक प्रेक्षणकमें भास्करभट्टने 'विक्रमोर्वशीय'के चतुर्थ अकके अनुकरणपर राम द्वारा सीताकी खोजका वर्णन किया है।

सस्कृत साहित्यका प्रथम श्लेषकाव्य रामकथासे सम्बन्ध रखता है। सन्ध्याकर नन्दिकृत 'रामचरित'(१२वीं श० ई०)के २२० आर्या छन्दोंमें रामकथा तथा साथ-साथ बगालके राजा रामपालका चरित्र वर्णित है। १५वीं शताब्दीतक इस प्रकारकी और तीन रचनाएँ मिलती हैं—धनंजयकृत 'राघव पाण्डवीय', माधवभट्टकृत 'राघव-पाण्डवीय' तथा हरदत्त सूरिका 'राघवनैषधीय'। प्रथम रामकथा-विषयक विलोमकाव्य १६वीं शताब्दीका सूर्यदेवकृत 'रामकृष्णविलोमकाव्य' है, इसके बादके दो 'यादवराघवीय' नामक काव्योंका भी उल्लेख मिलता है। दो अप्रकाशित चित्रकाव्योंके नाम ये हैं—कृष्णमोहनकृत 'रामलीलामृत', वेंकटेशकृत 'चित्रबन्धरामायण'। शृगारिक खण्डकाव्यके क्षेत्रमें प्राय 'मेघदूत' और 'गीतगोविन्द'का अनुकरण किया गया है। 'मेघदूत'की परम्परामें वेंकटदेशिककृत 'हससन्देश' अथवा 'हसदूत' (सीताके प्रति रामका सन्देश), रुद्र वाचस्पतिका 'भ्रमरदूत', वासुदेवका 'भ्रमरसन्देश' आदि; 'गीतगोविन्द'के अनुकरणपर 'रामगीतगोविन्द', 'गीता-राघव', 'जानकीगीता', 'सगीतरघुनन्दन'। इसके अतिरिक्त साहित्यदर्पणकार विश्वनाथका 'राघवविलास', सोमेश्वर-कृत 'रामशतक', मुद्गलभट्टका 'रामार्याशतक', कृष्णेन्द्रकृत 'आर्यारामायण' आदि रचनाएँ रामकाव्यकी व्यापकताका प्रमाण देती है।

विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओंका प्रथम महाकाव्य अथवा सबसे लोकप्रिय काव्यग्रन्थ प्राय कोई रामायण है। इसके अतिरिक्त बहुत-सी अन्य रचनाएँ भी रामकथासे सम्बन्ध रखती हैं। यहाँ केवल अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण सामग्रीका उल्लेख सम्भव है।

द्राविड भाषाओंमें प्राचीनतम प्राप्त राम-काव्य कम्बन-कृत 'तमिल रामायण' है, जिसकी रचना ११वीं शताब्दी ई० में हुई थी। 'वाल्मीकिरामायण'के अतिरिक्त 'जानकी-हरण' इस काव्यके कथानकका आधार है। कम्बनने सस्कृत तथा तमिल काव्य-शैलियोंका समन्वय कर और तमिल साहित्यमें एक नये युगके प्रवर्तक बनकर, तमिल कवियोंमें ही नहीं, भारतीय कवियोंमें भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। तेलुगु साहित्यमें बहुत रामकथा-विषयक सामग्री मिलती है, किन्तु निम्नलिखित तीन रचनाएँ विशेष रूपमे उल्लेखनीय हैं—१ 'रगनाथरामायण', १२वीं शताब्दीमें

बुद्धराजु द्वारा 'छिपदा' छन्दमें रचित तथा रगनाथ नामक सामन्तको समर्पित, २. 'भास्कररामायण', तेलुगुमें सबसे कलात्मक रामकाव्य (१४वीं श० ई०); ३. 'मोला-रामायण' (१६वीं श० ई०), मोला नामक कुम्हारिन द्वारा रचित। यह जनसाधारणमें अत्यधिक लोकप्रिय है। मलयालम रामकाव्यकारोंने मौलिकताका प्रदर्शन नहीं किया है। 'रामचरित' (१४वीं श० ई०) मलयालम साहित्यकी प्राचीन रचना है, जिसमें प्रचलित रामायणके युद्धकाण्डकी कथावस्तु वर्णित है। बादमें 'वाल्मीकिरामायण'के दो अनुवाद किये गये हैं—'कण्णश्श-रामायण' तथा 'केरल वर्मा-रामायण'। वहाँका सबसे लोकप्रिय रामकाव्य लगभग १६०० ई० का एजुत्त चन द्वारा 'अध्यात्मरामायण'का अनुवाद है। जैन रामकाव्यके अन्तर्गत कन्नड़ भाषाके प्राचीनतम रामकाव्य-का ऊपर उल्लेख हुआ है। ब्राह्मण रामसाहित्यकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'तोरवेरामायण' है, जिसकी रचना १६वीं श० ई० में तोरवे नामक ग्रामके निवासी नरहरि द्वारा हुई। इन्होंने 'मैरावण-काव्य' भी लिखा है, जिसमें हनुमान् द्वारा मैरावण-वधका वर्णन है।

आधुनिक आर्य-भाषाओंका रामकाव्य राम-भक्तिके पूर्ण विकासके पश्चात् ही उत्पन्न हुआ है, अत इसपर प्राय राम भक्तिकी गहरी छाप है। उत्तरभारतमें तुलसीकृत 'रामचरितमानस' तथा 'कृत्तिवासीय' रामायण, दोनों अपने-अपने भाषा-क्षेत्रमें अत्यन्त लोकप्रिय हैं तथा शताब्दियोंसे जनसाधारणको आध्यात्मिक तृप्ति एवं नैतिक बल प्रदान करते चले आ रहे हैं। कृत्तिवासने १५वीं श० ई० में पयार छन्दमें अपनी रामायणकी रचना की थी। इसके बादके बंगाली रामकाव्यकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं—चन्द्रावतीकृत 'रामायण' (१६वीं श० ई०), रामानन्दकृत 'रामलीला' (१७वीं श० ई०), कविचन्द्रकृत 'अगद रैबर' (१८वीं श० ई०), रघुनन्दन गोस्वामीकृत 'रामरसायन' (१८वीं श० ई०)। हिन्दी रामकाव्यका परिचय प्रस्तुत कोशमें अन्यत्र मिलेगा (दे०—'हिन्दी राम-साहित्य')। असमिया तथा गुजराती साहित्यमें रामकथाकी अपेक्षा कृष्णकथाको अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिल गया है, फिर भी इन दोनों भाषाओंका रामकाव्य नगण्य नहीं है। १४वीं श० ई०में माधव कन्दलिने 'वाल्मीकि-रामायण'-का असमिया भाषामें पद्यानुवाद तथा दुर्गावरने 'गीति-रामायण'की रचना की थी। असमिया साहित्यके वैष्णव कालके सर्वश्रेष्ठ कवि शकरदेवने 'रामविजय' नाटक लिखा है। गुजराती साहित्यमें भालणका 'सीतास्वयंवर' अथवा 'रामविवाह' (१५वीं श० ई०) प्राचीनतम रामकाव्य माना जाता था, किन्तु हालमें आशासनकी रामलीला-विषयक पदावली प्रकाशमें आयी है, जिसकी रचना १४वीं श० ई० में हुई थी। आजकल गुजरातमें १९वीं शताब्दीकी गिरधरदासकृत 'रामायण' सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है और सबसे लोकप्रिय भी है। मराठीका प्राचीनतम तथा सबसे प्रचलित रामकाव्य एकनाथकृत 'भावार्थ रामायण' है, जिसकी रचना १६वीं शताब्दीमें हुई थी। उड़िया साहित्य-में सबसे प्रसिद्ध रामायणके तीन नाम मिलते हैं—'जगमोहन-रामायण' (कविका दिया हुआ), 'बलरामदास रामायण' (कविके नामपर) तथा 'दाण्डिरामायण' (छन्दके नामपर), जिसकी रचना १५०० ई० के लगभग हुई थी। उड़ियाकी दो और रामायण प्रसिद्ध हैं—शारलादासकृत 'विलका-रामायण' (१५वीं श० ई०) और एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन रचना, जिसका नाम 'विचित्ररामायण' है। 'कश्मीरी रामायण'की रचना १८वीं श० ई० के अन्तमें दिवाकर प्रकाश भट्ट द्वारा हुई थी तथा नेपाली भाषामें भानुभट्टने 'अपना रामायण' १९वीं शताब्दीमें लिखी है।

विदेशमें रामकथाका प्रसार पहले-पहल बौद्धों द्वारा हुआ था। 'अनामजातकम्' तथा 'दशरथकथानम्'का क्रमश तीसरी और पाँचवीं श० ई० में चीनी भाषामें अनुवाद हुआ था। इसके बादका प्राचीनतम विदेशी रामकाव्य 'तिब्बती रामायण' है, जिसकी रचना सम्भवत आठवीं श० ई० में हुई थी। पूर्व-तुर्कीस्तानका 'खोतानी रामायण' नवीं श० ई० की है। इन दोनोंमें पर्याप्त मात्रामें समानता है और इनका बृहत्कथा तथा गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण'मे सम्बन्ध असन्दिग्ध है।

हिन्देशिया तथा हिन्दचीनमें 'वाल्मीकि-रामायण' प्राचीन कालसे ज्ञात है, किन्तु उस समयका कोई साहित्य सुरक्षित न रह सका। हिन्देशियामें आजकल रामकथाके दो रूप मिलते हैं—१ जावाके १२वीं श० ई० के रामायण काकाविनका रूप, जिसका प्रधान आधार भट्टिकाव्य है, २. अर्वाचीन हिकायत सेरी राम(१५वीं श० ई०)का रूप, जो कहीं अधिक लोकप्रिय है, इसके आधारपर आधुनिक समयतक रामकाव्यकी सृष्टि तथा राम-नाटकोंका अभिनय हुआ है। यद्यपि सेरी रामका कथानक 'वाल्मीकि-रामायण'से बहुत-कुछ भिन्न है, फिर भी इसकी आधिकारिक कथावस्तुमें कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अथवा अपरिवर्द्धन नहीं मिलता, जो अर्वाचीन भारतीय रामकथाओंमें विद्यमान न हो। हिन्दचीन, श्याम तथा ब्रह्म देशमें प्रचलित राम-कथा मुख्यतया सेरी रामपर आधारित है। कम्बोडियाके 'रामकेर्ति' (१६वीं श० ई०) तथा श्यामके 'राम कियेन' (१६वीं श० ई०) में बहुत समानता है, दोनोंमें वाल्मीकि-रामायण' तथा सेरी रामका समन्वय करनेका प्रयत्न किया गया है। ब्रह्मदेशका रामकाव्य अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। राम-नाटकोंका अभिनय वहाँ १८वीं श० ई० के उत्तरार्द्धमें श्यामसे लाये हुए कैदियों द्वारा प्रारम्भ हुआ था। १८०० ई० में यू तोने 'राम यागन'की रचना की थी, जो ब्रह्मदेश-का सबसे महत्त्वपूर्ण काव्यग्रन्थ माना जाता है।

'रामायण महाकाव्यमादौ वाल्मीकिना कृतम्। तन्मूल सर्वकाव्यानामितिहासपुराणयो ॥' 'बृहद्धर्मपुराण'(अध्याय २५, २८)के इस कथनमें अतिशयोक्तिकी मात्रा कम है। रामायण न केवल संस्कृत साहित्यका प्रथम महा-काव्य है, जिसकी शैली(विशेषकर प्रकृतिचित्रण तथा अलकारविधान)से अन्य कवि प्रभावित हुए, वरन् उसकी कथावस्तु भी समस्त साहित्यके विभिन्न अगोंमें व्याप्त है। साहित्यकारोंने भी इस बातका अनुभव किया है। 'प्रसन्नराघव'की प्रस्तावनामें सूत्रधारसे पूछा जाता है कि सब कवि क्यों रामचरित्रका पुनः-पुनः वर्णन करते हैं और वह उत्तरमें कहता है—यह कवियोंका

दोष नहीं है, गुणोंका दोष है, जिन्होंने रामको ही अपना एकमात्र आश्रय बना लिया है। इसमें कवियोंका दोष हो अथवा न हो, किन्तु वास्तवमें इसका कारण वाल्मीकिकी प्रतिभा ही है। बौद्ध रामकथाओंको छोड़कर उपर्युक्त समस्त रामकाव्यपर इनकी छाप स्पष्ट है। अत यह निर्विवाद है कि विश्वसाहित्यके इतिहासमें शायद ही किसी अन्य कविका प्रादुर्भाव हुआ हो, जो प्रभावकी दृष्टिसे भारतके आदिकवि वाल्मीकिकी तुलना कर सके। हिन्दीके राम-काव्यके लिए दे०—'हिन्दी राम-साहित्य'।

[सहायक ग्रन्थ–रामकथा : कामिल बुल्के।]—का०बु०

राम-भक्ति—भारतीय भक्ति-भावना तथा वैष्णव धर्ममें राम-भक्तिकी व्यापकता देखकर इस तथ्यपर सहज ही विश्वास नहीं होता कि भक्ति-मार्ग तथा वैष्णव धर्मकी उत्पत्ति और विकासके बहुत शताब्दियों बाद राम-भक्तिका जन्म हुआ था।

यज्ञप्रधान ब्राह्मण-धर्मके प्रतिक्रियास्वरूप भागवत धर्म उत्पन्न हुआ था, जिसमें पहले-पहल भारतीय भक्ति-मार्ग पल्लवित हो सका। बादमें भागवतोंके इष्टदेव वासुदेव कृष्ण वैदिक देवता विष्णुके अवतार माने गये हैं और इस प्रकार भागवत तथा ब्राह्मण धर्मके समन्वयसे वैष्णव धर्मकी उत्पत्ति हुई। इस समयसे लेकर भक्ति-भावना विष्णु नारायण वासुदेव कृष्णमें केन्द्रीभूत होकर उत्तरोत्तर विकसित होने लगी। ईसवी सन्‌के प्रारम्भसे राम भी विष्णु के अवतारके रूपमें स्वीकृत होने लगे (दे०—'रामकथा'), किन्तु शताब्दियोंतक राम-भक्तिका कहीं निर्देश नहीं मिलता। गोपाल भण्डारकरका कहना है कि भक्तिके क्षेत्रमें रामकी प्रतिष्ठा विशेष रूपसे ग्यारहवीं शताब्दी ई०के लगभग प्रारम्भ हुई।

वास्तवमें राम-भक्तिकी पहली अभिव्यक्ति काव्यमें हुई थी। तमिल आलवारोंकी 'नाल्यिर-प्रबन्ध' नामक रचनामें भगवान् विष्णु तथा उनके अवतारोंके प्रति असीम भक्ति तथा पूर्ण आत्मसमर्पणके उद्गार मिलते हैं। कृष्णको उन पदोंमें अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु पहले आलवारोंसे लेकर रामका भी निरन्तर उल्लेख मिलता है तथा कुलशेखर-(नवीं शताब्दी ई०)के पदोंमें प्रौढ राम-भक्ति अंकित की गयी है। ११वीं शताब्दीसे लेकर राम-भक्ति सम्बन्धी काव्य-रचनाओंकी संख्या बढने लगी, जिनमें स्तोत्रोंका स्थान प्रमुख है, जैसे, श्रीरामसहस्रनामस्तोत्र, रामरक्षास्तोत्र आदि। १५वीं शताब्दीसे लेकर समस्त रामकाव्य भक्ति-भावसे ओत-प्रोत होने लगा। (दे०—'राम काव्य')

राम-भक्तिकी काव्यात्मक अभिव्यक्तिके बाद ही, इसका श्रीसम्प्रदायमें शास्त्रीय प्रतिपादन भी किया गया है। शास्त्रका यह सहारा पाकर राम-भक्तिकी प्रतिष्ठा और इसके क्षेत्रका विस्तार भी दिनों-दिन बढने लगा।

श्रीसम्प्रदाय उन चार सम्प्रदायोंमेंसे एक है, जो शंकराचार्यके मायावादके प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुए और अवतारवादको स्वीकार कर भक्तिका दार्शनिक आधार प्रस्तुत करते हैं। श्रीसम्प्रदायके प्रवर्तक रामानुजने राम-भक्तिके विषयमें तो कुछ नहीं लिखा है, उनकी भक्ति नारायणमें केन्द्रीभूत थी, फिर भी उन्होंने अपने श्रीभाष्यमें अवतारोंमें राम और कृष्ण, दोनोंका उल्लेख किया है। बादमें उनके सम्प्रदायमें पहले-पहल परमपुरुषके अवतार राम तथा मूल प्रकृति सीताकी दास्य-भक्तिका प्रतिपादन किया गया है। निम्नलिखित राम-भक्ति सम्बन्धी संहिताएँ सुरक्षित हैं—'अगस्त्यसंहिता', 'कलिराघव', 'बृहद्राघव' और 'राघवीय संहिता'। इसके अतिरिक्त श्रीसम्प्रदायमें तीन उपनिषदोंमें राम-पूजाका भी निरूपण मिलता है—प्रचलित 'रामपूर्वतापनीय' (११वीं श० ई०), 'रामोत्तरता-पनीय' तथा 'रामरहस्योपनिषद्'।

यद्यपि रामानन्द (१४०० ई०के लगभग)के पूर्व महाराष्ट्र-में नामदेव और त्रिलोचन तथा उत्तरभारतमें सदन और वेनी राम-भक्तिका प्रचार कर चुके थे, फिर भी जनसाधारण-में राम-भक्तिकी अद्वितीय लोकप्रियताका श्रेय बहुत-कुछ रामानन्दको है (दे०—'रामानंद-सम्प्रदाय')। रामानन्द श्रीसम्प्रदायमें दीक्षित हुए थे, किन्तु वे उस सम्प्रदायकी राम-भक्तिको एक नया रूप देकर रामावत-सम्प्रदायके प्रवर्तक बन गये। उनकी प्रामाणिक रचनाएँ 'श्रीवैष्णव-मताब्धभास्कर' और 'श्रीरामार्चनपद्धति' हैं। श्रीसम्प्रदायमें विष्णुके सब अवतारोंका ध्यान रखा जाता था। रामानन्दने रामको ही अपना इष्ट माना और राम-नामको अपनी साधनाका मूल मंत्र बना दिया है। साथ साथ उन्होंने सब जातियोंको दीक्षा लेनेका अधिकार दिया तथा संस्कृतके स्थानपर भाषामें भी राम-भक्तिका प्रचार किया। इससे राम-भक्तिको बहुत प्रोत्साहन मिला और वह उत्तरभारतके कोने-कोनेमें फैलने लगी। यहाँतक अन्ततोगत्वा जनसाधारण-की धार्मिक चेतनामें इसका स्थान प्रधान ही रहा। इसमें तुलसीदासकी प्रतिभा अधिक सहायक सिद्ध हुई, फिर भी रामानन्द हिन्दी राम-भक्ति-साहित्यके मूल प्रेरक माने जा सकते हैं।

राम-भक्तिके विकासके साथ-साथ रामकथाको भक्तिके साँचेमें ढालनेकी आवश्यकताका भी अनुभव हुआ, फलस्वरूप बहुत-सी साम्प्रदायिक रामायणोंकी सृष्टि होने लगी, जिनमें 'अध्यात्मरामायण', 'आनन्दरामायण', 'अद्भुत-रामायण तथा 'भुशुण्डीरामायण' प्रमुख हैं। इनमेंसे 'अध्यात्मरामायण' निर्विवाद रूपसे सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसका रचनाकाल सम्भवत १५वीं शताब्दी है। इसका स्पष्ट उद्देश्य है शंकराचार्यके सुप्रसिद्ध वेदान्तके आधारपर राम-भक्तिका प्रतिपादन करते हुए वाल्मीकि-रामकथाको किंचित् परिवर्तनके साथ प्रस्तुत करना। इसमें रामानुज द्वारा प्रतिपादित समुच्चयवादका स्पष्ट शब्दोंमें विरोध किया गया है और विशिष्टाद्वैतका कहीं भी समर्थन नहीं मिलता। अत ऐसा प्रतीत होता है कि 'अध्यात्मरामायण'की रचना श्रीसम्प्रदाय तथा रामावत-सम्प्रदायसे अलग रहते हुए किसी स्वतन्त्र दार्शनिक कवि द्वारा हुई थी। बादमें 'अध्यात्मरामायण' रामावत सम्प्रदायमें प्रतिष्ठा पाने लगी और 'रामचरितमानस'का मुख्य आधार-ग्रन्थ भी बन गयी है।

राम-भक्तिकी एक अन्तिम विशेषताका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। इस भक्तिपर कृष्ण राधा सम्बन्धी साहित्य-का प्रभाव भी पड़ा और बादमें उत्तरोत्तर बढ़ने लगा।

'अध्यात्मरामायण'में केवल बाललीलाके वर्णनमें कृष्णकाव्यका प्रभाव पाया जाता है, किन्तु 'आनन्दरामायण', 'सत्योपाख्यान' आदिमें राम और सीताकी विलास क्रीड़ाओंका भी विस्तृत वर्णन मिलता है और बादमें रामकी रासलीलाका भी चित्रण किया गया है, उदा०–'हनुमत्संहिता', 'बृहत्कोशलखण्ड', 'भुशुण्डीरामायण' आदि। साधनाके क्षेत्रमें भी यह प्रभाव दृष्टिगोचर है। राम-भक्ति प्रधानतया दास्यभावकी न रहकर कुछ सम्प्रदायोंमें मधुरोपासनामें परिणत हुई।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा कामिल बुल्के]—का० बु०

रामलीला–जनश्रुति है कि हिन्दीमें नाटकोंका अभाव देखकर गोस्वामी तुलसीदासने रामलीलाका प्रारूप बनाया और काशीमें सबसे पहली रामलीला उन्हींकी प्रेरणासे हुई। रामलीलाके जन्ममें हिन्दुओंकी धर्म-प्राणता, लोक-नायककी मान्यता और नाट्य-प्रेम ही प्रमुख है। भक्तिकालमें इसका प्रचार जोरोंपर था। अवध, काशी और मिथिला इसके प्रधान केन्द्र थे, जहाँ आश्विनभर रामलीला नाटकके रूपमें दिखलायी जाती थी। राजपूताना, मथुरा वृन्दावन, गोकुल, आगरा, अलीगढ़, मैनपुरी, एटा, इटावा, फर्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, कानपुरमें भी इसका प्रचार था। यह दक्षिणमें बरार, मैसूर और रामेश्वरम्तक प्रचलित थी। रीतिकालमें मानवीय शृंगारकी ओर प्रवृत्ति होनेके कारण रामलीलामें शिथिलता आ गयी। आधुनिक कालमें आज भी उक्त स्थानोंमें इसका प्रचार है और यह नागरिक, विशेषतया ग्रामीण जनताकी नाट्य-वृत्तियोंकी पोषक बनी हुई है। इसीका प्रदर्शन प्रतिवर्ष क्वारके दशहरा या चैतकी रामनवमीके मेलोंके अवसरोंपर किया जाता है।

रामलीलाका आधार पौराणिक रामकथा है और 'रामचरितमानस'की दोहे-चौपाइयाँ ही उसका प्राण हैं। यह पद्यात्मक संवादोंमें ही परिपूर्ण होती है। अत संवादरूप रामलीलामें काव्यमयता, गम्भीरता और प्रगल्भता रहती है। धनुषयज्ञके दृश्य, सीता-स्वयंवर, परशुराम-लक्ष्मण-संवाद, राम-वनगमन, सीताहरण, लंकादहन, अंगद-रावणके संवाद, लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध, राम-कुम्भकरण-रावण-युद्ध, भरतमिलाप तथा रामका राज्याभिषेक आदि इसके प्रमुख अंश हैं, जिनके प्रदर्शनको जनता मन्त्रमुग्ध होकर देखती है। युद्ध और संवादोंमें अनुकार्योंकी अवस्थाओं और रूपोंका अनुकरण अनुकर्ता बड़ी सफलताके साथ करते हैं। नायक मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम और नायिका जगज्जननी सीता होती हैं। वीर, करुण, अद्भुत, भयानक, शृंगार रसकी प्रधानता रहती है। कथानकके विस्तारके कारण स्थान, काल, कार्यकी त्रिकसंगति नहीं रह पाती और न नाटकादिकी भाँति इसका रंगमंच परिसीमित रह पाता है। वह विस्तृत खुला मैदान होता है, जहाँ हजारों नर-नारी लीला देखते हैं। फिर भी रस्सियों, तारोंसे मैदानके आयताकार भागको घेर लेते हैं, जिसमें लीलाके कार्य सम्पन्न होते हैं, जिन्हें जनता चारों ओर बैठकर या खड़ी होकर देखा करती है। इसमें जहाँकी लीला होती है वहाँके स्थानका दृश्य उपस्थित किया जाता है—अवधपुरी, जनकपुरी, लंकापुरी आदि।

रामलीला दिन और रात, दोनोंमें सम्पन्न होती है। दिनकी रामलीलामें अनेकों लीलाएँ दिखायी जाती हैं। संवादोंमें गति, अभिनेताओंको निर्देश और रंग-व्यवस्थाके लिए सूत्रधार रहता है, जो 'रामचरितमानस'के सम्बन्धित स्थलोंको पढ़ता जाता है।

कथाप्रसंगसे सम्बन्धित अनेक चौकियाँ और लागें भी रंगमंचके घेरेमें लायी जाती हैं, जिनमें सम्बन्धित चरित्रोंके स्वरूप और आकार बड़ी कुशलतासे सँवारे-सुधारे हुए होते हैं। लीला करनेवाले किशोर, युवा, प्रौढ और वृद्ध पुरुष होते हैं। वे नारी पात्रोंका भी अभिनय करते हैं। दिनकी लीला प्राय १-२ बजेसे ५-६ बजे दिनतक चलती है। रातकी लीलाका कार्यक्रम ८-९ बजेसे १२ या २-३ बजेतक चलता है। रातकी लीलाका रंगमंच भी खुलेमें होता है, किन्तु रंगभूमि अपेक्षाकृत छोटी होती है, जो तख्तोंको बिछाकर बनायी जाती है, आसपास बाँसों और कपड़ेकी चादरोंसे घेर देते हैं। इसमें प्राय एक ही परदा होता है। नेपथ्यसे लीला करनेवाले आते रहते हैं अथवा दर्शकोंके बीचसे भी आ जाया करते हैं। पात्रोंका प्रवेश सूत्रधार ही कराता है। प्रारम्भमें ही वह श्रीरामकी स्तुति करनेके बाद खेली जानेवाली लीलाके विषयमें संक्षेपमें बता देता है। पश्चात् लीलाका कार्यक्रम समाप्त हो जाता है। सूत्रधार प्राय रंगभूमिमें ही उपस्थित रहता है और संवादोंका संचालन करता है। सम्बन्धित स्थलोंको 'रामचरितमानस'से पढ़ता जाता है और परिवर्तनके स्थलोंकी ओर भी संकेत करता जाता है। परदेके पीछेसे निर्देशक लीला करनेवालोंको पद्य आदिके भूलनेपर सहायता करता रहता है। रातमें एक-दो चौकियाँ ही निकाली जाती हैं। रासलीलाकी भाँति रामलीलामें नृत्य और संगीतकी प्रधानता नहीं होती, वरन् उसका सम्पूर्ण वातावरण चरितनायककी शालीनता, गम्भीरता और मर्यादासे व्याप्त रहती है। लीलाके अन्तमें रामायणकी आरती होती है, जिसे पासके बैठे दर्शक भी लेते हैं। पश्चात् लीलाका कार्य समाप्त हो जाता है। रामलीलाके ये आयोजन स्थानीय ही होते हैं। रासलीलाकी भाँति इसकी मण्डलियाँ नहीं होतीं।

रामलीलाका एक अन्य रूप इलाहाबाद, ग्वालियर, रामपुर, जयपुर और जोधपुरमें दशहरेके अवसरपर देखा जाता है, जिसमें चौकियोंपर सम्बन्धित कथानायकोंके सजीव रूप बनाये जाते हैं, जो न बोलते हुए भी रामलीला करते होते हैं। यह रामलीलाका मूक स्वरूप है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाट्यरूपमें रामलीलाका रूप संवादात्मक ही है, जो आज चलचित्रका प्रसार होनेपर भी नागरिक, विशेषतया ग्रामीण जनताका मनोविनोद और उसकी रुचिका परिष्कार करता है।

रामलीलाको रूपकोंमें समवकार और व्यायोग तथा उपरूपकोंमें उल्लाप्य, प्रेंखण और संलापकका परिवर्तित मिश्रण कहा जा सकता है। —वि० रा०

रामानंद-संप्रदाय–रामानन्द-सम्प्रदायकी स्थापना आजसे लगभग ६०० वर्ष पूर्व हुई थी। विलसन, रूपकला, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, मैकालिफ, परशुराम चतुर्वेदी तथा रामानन्दी

विद्वान् रामटहलदासके मतसे इस सम्प्रदायके प्रवर्तक स्वामी रामानन्दका पूर्वसम्बन्ध रामानुज सम्प्रदायसे था और अपने मतकी पुष्टिमें प्राय सभी विद्वानोंने 'भक्तमाल'का साक्ष्य लिया है। रामटहलदासने हर्याचार्यकृत 'रामस्तवराज-भाष्य', 'रसिकप्रकाश', 'भक्तमाल', 'सम्प्रदायदिग्दर्शन' आदि ग्रन्थों, प्राचीन गद्दियोंकी गुरु-परम्पराओं, सम्प्रदायके महात्माओं एव सन्तोंके मतोंका उल्लेख भी उपर्युक्त मतकी पुष्टिमें किया है। अन्य विद्वानोंने रामानन्द द्वारा स्वतन्त्र सम्प्रदायके निर्माणका कारण बतलाते हुए कहा है कि देश-भ्रमणसे लौटनेपर रामानन्दके गुरु-भाइयोंने यह कहकर कि अपने भ्रमणकालमें उन्होंने खान-पान सम्बन्धी भेदको स्वीकार न किया होगा, रामानन्दके साथ भोजन करनेमें आपत्ति की। फलत गुरुकी आज्ञा पाकर रामानन्दने एक नवीन सम्प्रदायकी स्थापना की, जो अपने दृष्टिकोणमें पर्याप्त उदार था। फर्कुहरके मतसे रामानन्द परम्परामे चले आते हुए किसी रामावत-सम्प्रदायके ही सदस्य थे, जिसके मान्य ग्रन्थोंमें 'अध्यात्मरामायण' तथा 'वाल्मीकिरामायण' विशेष उल्लेखनीय हैं।

सम्प्रदायके आधुनिक विद्वानो—स्वामी रघुवराचार्य तथा भगवदाचार्यके अनुसार आदिकालमें एक ही श्रीसम्प्रदाय था। कालान्तरमें मन्त्र, उपास्य, उपासनादि आचारोंकी भिन्नताके कारण इसकी दो शाखाएँ हो गयीं। एकमें भगवान् रामको प्रधानता मिली, दूसरीमें भगवान् नारायणको। समयवश शिथिल होती हुई रामशाखाका उद्धारमात्र स्वामी रामानन्दने किया था। अपने मतके समर्थनमें उन्होंने अग्रदासकृत एक परम्परा उद्धृत की है, जिसके अनुसार रामानन्दकी गुरुपरम्परा यों होगी—राम-सीता-हनुमान-ब्रह्मा-वसिष्ठ-पराशर-व्यास-शुक-पुरुषोत्तम-गगाधर-सदारामेश्वर-द्वारानन्द-देवानन्द-श्यामानन्द-श्रुतानन्द चिदानन्द-पूर्णानन्द-श्रियानन्द-हर्यानन्द-राघवानन्द-रामानन्द। खेद है इस परम्पराको प्रमाणिक सिद्ध करनेवाली सामग्रीका आजतक अभाव ही है, सम्प्रदायके तथा बाहरके अनेक विद्वान् इसे कल्पित एव नवनिर्मित मानते हैं। स्वय 'रामार्चन-पद्धति' ग्रन्थमें रामानन्दने अपनी एक गुरु-परम्परा दी है। अधिकाश विद्वान् उसीको प्रामाणिक मानते हैं। परम्परा यों है—राम-सीता पृतनापति-शठकोपनाथ-पुण्डरीकाक्ष-श्रीराम मिश्र-यामुन-पूर्णरामानुज-कूरेश-कोपदेव-माधवाचार्य-देवाधिप पुरुषोत्तम-गगाधर सदारामेश्वर-द्वारानन्द-देवानन्द-श्रियानन्द-हर्यानन्द-राघवानन्द-रामानन्द। यह परम्परा सम्प्रदायकी सभी मान्य एव प्राचीन परम्पराओंसे मिलती है, अत इसकी प्रामाणिकता अधिक साक्ष्य-सगत है। रामानन्दके समयतक कदाचित् श्रीसम्प्रदाय उत्तरभारतकी समस्याओंके सुलझानेमें अक्षम सिद्ध हो गया था। इसी कारण उन्हें एक नवीन सम्प्रदाय-की स्थापना करनेकी आवश्यकता अनुभूत हुई, जो अपने दृष्टिकोणमें अधिक उदार एवं साधनापक्षमें कर्मकाण्डकी रूढ़ियों एव जटिलताओंसे अधिक मुक्त था।

'अगस्त्यसहिता' एव 'भक्तमाल'से प्राप्त सूचनाओंके आधारपर रामानन्दके जीवन-वृत्तका निर्माण निम्नलिखित ढगसे किया जा सकता है—रामानन्दका जन्म प्रयागमें पुण्यसदन शर्माके घर स० १३५६ वि० माघ कृष्ण सप्तमी, सूर्यके सात दण्ड चढनेपर, सिद्धि योग, चित्रा नक्षत्र, कुम्भ लग्नमें हुआ था। माताका नाम सुशीला देवी था। उनके गुरु स्वामी राघवानन्दजी थे। रामानन्दने विस्तृत तीर्थयात्राएँ कर अपना केन्द्रमठ काशी, पचगगाघाटपर स्थापित किया। वहाँ उन्होंने कबीरादिको अपना शिष्य बनाया। स० १४६७ वि० मे काशीमें ही उनका देहावसान हो गया। स्वामीजीके जीवनपर प्रकाश डालनेवाले अन्य ग्रन्थों—'प्रसगपारिजात', 'भविष्यपुराण', 'वैश्वानरसहिता', 'रसिकप्रकाश', 'भक्तमाल' आदिकी प्रामाणिकता नितान्त सन्दिग्ध है।

विद्वानोंने 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' तथा 'श्रीरामार्चन-पद्धति'को ही स्वामी रामानन्दकी प्रामाणिक रचनाके रूपमें स्वीकार किया है। 'आनन्दभाष्य', 'सिद्धान्तपटल', 'रामरक्षास्तोत्र', 'योगचिन्तामणि' आदि उनके नामपर प्रचलित ग्रन्थमात्र हैं। 'गीताभाष्य', 'उपनिषद्भाष्य', 'श्रीरामाराधन', 'रामानन्दादेश' तथा 'वेदान्तविचार' आदि अभीतक न तो प्रकाशमें ही आ सके हैं और न उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ ही प्राप्त हैं। रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री 'अध्यात्मरामायण'को भी स्वामीजी-कृत मानते हैं, पर उनका यह मत प्रामाणिक नहीं सिद्ध होता। काशी नागरीप्रचारिणी सभामें रामानन्दके नामपर कुछ हस्तलेख सुरक्षित हैं, किन्तु उनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध नहीं कही जा सकती। 'आदिग्रन्थ', 'सर्वांगी' आदिमें उपलब्ध रामानन्दके हिन्दी पदोंका सम्प्रदायमें कोई प्रचार नहीं, अत उन्हें उनकी प्रामाणिक रचना मान लेनेका विशेष आधार नहीं मिलता। 'शिवरामाष्टक' तथा 'हनुमानस्तुति' भी इसी कोटिकी रचनाएँ हैं। फिर भी 'श्रीवैष्णव-मताब्जभास्कर' और 'श्रीरामार्चन-पद्धति'के साथ ही 'आनन्दभाष्य'को आधुनिक रामानन्द-सम्प्रदायका दर्पण कहा जा सकता है। भगवदाचार्यकृत 'त्रिरत्नी' भी सम्प्रदाय-का मान्य ग्रन्थ है। साम्प्रदायिक भाष्योंमें 'जानकीभाष्य' तथा भगवदाचार्यकृत 'वेदान्तभाष्य' भी प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वानों एव कवियोंके ग्रन्थों एवं रचनाओंने रामानन्द-सम्प्रदायको प्रभावित किया है।

पीछे कहा जा चुका है कि रामानन्दका सम्बन्ध रामानुज-सम्प्रदायसे ही था। उनके पश्चात पचगगामठके अधिपति अनन्तानन्द हुए। यों तो रामानन्द स्वामीके द्वादश शिष्य 'भक्तमाल', 'अगस्त्यसहिता' आदिमें माने गये हैं, किन्तु परशुराम चतुर्वेदी जैसे विद्वानोंके अनुसार कबीर, सेन, धना, पीपा और रैदासको निस्सन्दिग्ध रूपसे उनका शिष्य मानना उचित नहीं। इनका यह मत इन भक्तोंके सम्बन्धमें प्रचलित समस्त परम्पराओंकी अवहेलना करता है, अत इसे स्वीकार कर लेनेमें अनेक बाधाएँ हैं। अन्य शिष्योंमें अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, पद्मावती, नरहर्यानन्द, सुरसुरी और भावानन्द आदि प्रमुख हैं। सम्प्रदायके विकासमें अनन्तानन्द तथा उनके शिष्योंका ही अधिक हाथ रहा। मध्ययुगमें उनके शिष्य कृष्णदास पयोहारीने अपने यौगिक चमत्कारों द्वारा योगियोंको परास्त कर राजस्थानके गलता स्थानमें सम्प्रदाय

की पहली प्रमुख गादी स्थापित की। पयोहारीजीके तीन प्रमुख शिष्यों अर्थात् कील्ह, अग्र और टीलाने मध्ययुगमें सम्प्रदायकी मर्यादाका विस्तार किया और उसे पर्याप्त दृढता दी। मध्ययुग तथा उसके अनन्तर सम्प्रदायकी अनेक गादियोंकी स्थापना हुई, जिनमेंसे ३५ द्वारागादियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। ये द्वारागादियाँ अनन्तानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, सुखानन्द, राम कबीर, भावानन्द, पीपा, योगानन्द, अनभयानन्द, कील्ह, अग्र, टीला, भगवन्नारायण, केवलबूवा आदिके नामने स्थापित हुई। सम्प्रदायके प्रसिद्ध स्थान हैं गलता, रेवासा, डाकोर, चित्रकूट, अयोध्या और मिथिला।

रामानन्द-सम्प्रदायमें योगके प्रवर्तक कील्ह थे और द्वारकादासने उसे पर्याप्त पल्लवित किया। आज भी कुछ रामानन्दी साधु इसी कारण अवधूत नामसे पुकारे जाते है। इनके प्रमुख ग्रन्थ 'योगचिन्तामणि', 'रामरक्षास्तोत्र' और 'सिद्धान्तपटल' है।

सम्प्रदायमें माधुर्य भावके प्रचारक अग्रदास कहे जाते हैं, किन्तु आधुनिक युगमें अयोध्यामें जानकीघाटके महन्त रामचरणदासने इसका विशेष प्रचार किया। इस शाखामें स्वसुखके प्रचारक थे रामचरणदास और तत्सुखविधानकर्ता थे कृपानिवास। पहले मतवाले चारुशीलाको माधुर्यका आद्याचार्य मानते हैं, दूसरे मतके अनुयायी चन्द्रकलाको। इस शाखाके प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—'हनुमत्सहिता', 'अमररामायण', 'भुशुण्डीरामायण', 'महारामायण', 'कोशलखण्ड', 'रागनवरत्न', 'महारासोत्सव', 'लोमश-सहिता', 'वाल्मीकिसहिता', 'सदाशिवसहिता', 'रामरहस्योपनिषद्', 'मन्त्ररामायण', 'आनन्दरामायण' और 'शाण्डिल्यसहिता'। इनमेंसे कोई भी रचना प्राचीन एव प्रामाणिक नहीं कही जा सकती।

सम्प्रदायमें दिगम्बर, निर्वाणी, निर्मोही, खाकी, निरावलम्बी, सन्तोषी, महानिर्वाणी आदि सात अखाड़े हैं। इनमें साधुओंकी छ श्रेणियाँ हैं—यात्री, छोरा, बन्दगीदार, मुरीठिया, नागा और अतीत। इनकी तीन अनियाँ होती है। नासिक, प्रयाग, उज्जैन और हरद्वारमें कुम्भके अवसरपर नागा साधु बनाये जाते हैं। सम्प्रदायमें डाकोर, डॉडिया, नन्दराम, त्यागी और महात्यागी आदि पाँच खालसे भी बन गये है। मठोंका प्रबन्ध महन्त, गोलकी और साधारण सभा द्वारा होता है।

कबीरपन्थ, रैदासपन्थ, सेनपन्थ आदि इस सम्प्रदायसे दूरीसे सम्बद्ध पन्थ हैं।

रामानन्द-सम्प्रदायमें विशिष्टाद्वैतको ही मान्यता प्राप्त है। स्वय रामानन्दने अपने मतको इस नामसे कहीं भी अभिहित नहीं किया है, फिर भी उनका तत्त्ववाद विशिष्टाद्वैत-सम्मत ही है। आगे चलकर 'आनन्दभाष्य' आदिमें तो इस दर्शन प्रणालीकी पूर्ण प्रतिष्ठा भी की गयी है। रामानन्द-सम्प्रदायकी दार्शनिक विचारधाराको स्पष्ट करनेके लिए 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर', 'श्रीरामार्चन-पद्धति', 'आनन्द-भाष्य' और भगवदाचार्य-कृत 'त्रिरत्नी'को आधार बनाया जा सकता है। इस सम्प्रदायके आराध्य हैं द्विभुज भगवान् रामचन्द्र। ये असख्य लावण्य, शक्ति और शीलके केन्द्र है। ससारके एकमात्र कर्ता, पालक एव सहर्ता वे ही है। जीव उनका ही शेष है। 'आनन्दभाष्य'का तो स्पष्ट मत है कि 'ब्रह्म शब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीय निरस्ताखिल-दोषमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगण भगवन्त श्री-राममेवाह'। 'आनन्दभाष्य'के मतमें वेदान्तका प्रतिपाद्य अद्वैत नहीं, विशिष्टाद्वैत है और अद्वैतवादकी प्रतिष्ठा करनेवाली समस्त श्रुतियाँ नकारात्मक प्रणालीसे विशिष्टाद्वैत-का ही प्रतिपादन करती ह। 'त्रिरत्नी'में भगवान्के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार आदि रूपोंका भी वर्णन किया गया है। सीताजीको भगवान्की अनादि सहचरी एव पुरुषकारभूता कहा गया है।

जीवको नित्य, ईश्वरकी अपेक्षा अश, चेतन, अज, सूक्ष्म, अनेक, जिज्ञासुओं द्वारा वेद्य कहा गया है। बद्ध, मुक्त आदि उसके अनेक भेद भी माने गये है।

प्रकृतिका प्रयोग इस सम्प्रदायमें साख्यके ही अर्थमें है। जगत्का कारण ब्रह्म ही है, प्रधानादि नहीं। सकल्प-मात्रसे ब्रह्म उसकी रचना करता है। सृष्टिमें जो क्रम रहता है, प्रलयमें ठीक उसका उलटा हो जाता है। भगवदाचार्यके मतसे सृष्टिविकास सप्तीकरणके ढगसे नहीं है, त्रिवृत्करणके ढगसे है।

सासारिक बन्धनोंसे मुक्त होकर साकेतलोकको प्रयाण कर सायुज्यकी प्राप्तिको मोक्ष माना गया है। 'आनन्द-भाष्य'में मोक्षको परमपुरुषानुभवरूप ही माना गया है। जीव सुषुम्ना नाड़ीसे निकलकर ब्रह्मको प्राप्त होता है। मुक्ति सद्य नहीं होती, क्रमसे होती है। जीव ब्रह्म-सुखका अनुभव कर सकता है, ब्रह्मकी भाँति जगत्की सृष्टि, पालन एव सहारका अधिकारी नहीं। 'साम्यमुपैति'का अर्थ भोगसाम्य ही है।

भक्तिको रामानन्द-सम्प्रदायमें मोक्षका साधन कहा गया है। प्रपत्ति और न्यास इसके दो प्रमुख अग हैं। ध्येय द्विभुज राम ही हैं। भगवत्कृपाप्राप्तिके नवधा साधन इस सम्प्रदायमें भी मान्य हैं। सम्प्रदायकी मुख्य भक्ति-पद्धति दास्यभावकी है। आधुनिक कालमें माधुर्य, सख्य, वात्सल्य एव शान्ता भक्ति-प्रणालियाँ भी चल पड़ी हैं। 'आनन्दभाष्य'के मतसे भगवदितर वस्तुओंमें वितृष्णापूर्वक परम प्रिय भगवान्में अनुराग ही भक्ति है। भक्तको वास्तविक तत्त्वका अनुसन्धान करना ही चाहिये। मन आदि प्रतीकोंमें आत्मबुद्धि नहीं रखनी चाहिये।

भक्तिके अधिकारी सभी हैं। 'आनन्दभाष्य'में अवश्य ही शूद्रोंको वेदाध्ययनका अधिकार नहीं दिया गया है।

कर्मकाण्डको भी इस सम्प्रदायमें विशेष मान्यता नहीं मिली। फिर भी आह्निक कर्म नियमसे किये जाने चाहिये। वैष्णवोंको पच सस्कारोंसे युक्त भी होना चाहिये। आजकल अष्टयामीय पूजा-पद्धतिका भी सम्प्रदायमें पर्याप्त प्रचार है।

हिन्दी कवियोंमें तुलसीदास, कबीर और मैथिलीशरण गुप्तपर रामानन्द-सम्प्रदायका सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। यों तो तुलसीदास सम्प्रदायसे, विशेष रूपसे गुरुशिष्य-रूपमें सम्बद्ध नहीं प्रतीत होते, किन्तु उनकी दार्शनिक एव भक्ति सम्बन्धी धारणाओंपर रामानन्दका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। उनके राम रामानन्दके रामकी ही

भाँति जगत्के स्रष्टा, रक्षक तथा लयकर्ता हैं। वे ज्ञान-स्वरूप, स्वप्रकाश, अविनाशी, नित्य, तपस्यादिसे दुर्लभ, स्वतन्त्र एवं उपनिषत्प्रतिपाद्य हैं। अपूर्व शक्ति, लावण्य एवं शीलके आगार हैं। वे असंख्य कल्याणगुणोंके आकर, शरणागतरक्षक, उदार एवं भक्तवत्सल हैं। उनमें और जीवमें पिता-पुत्र, रक्ष्य-रक्षक, सेवक-स्वामी तथा सेव्य-सेवकादि अनेक सम्बन्ध हैं। सीताजी पुरुषकारभूता हैं। गोस्वामीजीने जीवोंको ईश्वरकी अपेक्षा अज्ञ, चेतन, अमल, सहज सुखकी राशि, स्वकर्मफलभोक्ता, अनेक एवं आनन्द-स्वरूप माना है। किन्तु वे जीवको अणु-परिमाणवाला नहीं मानते। जीव-भेदका भी निरूपण उन्होंने विस्तारसे नहीं किया। सम्प्रदायकी प्रकृति सम्बन्धी धारणाओंका भी प्रभाव तुलसीपर पड़ा है। उनके मतसे भी प्रकृति नित्य, अज्ञ, अचेतन, सम्पूर्ण विश्वका कारण, स्वतन्त्र, व्यापारहीन एवं महदहंकारादिकी सृष्टिकर्त्री है। किन्तु ईश्वराधीन होकर ही वह जगत्की सृष्टि करती है। विषमता और संहारका कारण कर्म ही है। जगत् भगवान्की लीला है। आगे चलकर 'आनन्दभाष्य'में भी यही मत लिया गया है। भाष्यमें जहाँ प्रकृतिको ब्रह्मका अचिदंश और प्रपंचको सत्य माना गया है, वहीं तुलसीदासने इस संसारको असत्य एवं स्वप्नवत् माना है, ब्रह्मके अचिदंशका वास्तविक परिणाम नहीं। सायुज्य मुक्तिमें तुलसीका विश्वास था, किन्तु न तो उन्होंने साकेतका आध्यात्मिक चित्र ही प्रस्तुत किया है और न अर्चिरादि मार्गोंका ही विवेचन किया है। उनके रामको वैकुण्ठसे भी अधिक अवध प्रिय है।

कबीरदासने जहाँ अपने रामको निर्गुण एवं निरंजन कहा है, वहाँ उन्होंने उनके गुणोंका भी वर्णन किया है और वहाँ वे 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर'की विचारधारासे प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। फिर भी अवतारी राममें उनका विश्वास नहीं था। जीवतत्त्वके विवेचनमें भी कबीर-पर रामानन्दकी अपेक्षा अद्वैतका प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। प्रकृतिको विश्वमात्रकी अधिष्ठात्री, त्रिगुणात्मिका, ईश्वराधीन, महदहंकारजननी आदि कहनेके साथ ही उन्होंने संसारको असत्य एवं मिथ्या भी कहा है। सायुज्य-मुक्ति अथवा अर्चिरादि मार्गमें उनकी कुछ भी आस्था नहीं थी। साकेतलोकके सम्बन्धमें भी वे मौन हैं।

मैथिलीशरण गुप्तकी आस्था दाशरथी राममें ही है। उनके भी मतसे सीताजी पुरुषकारभूता हैं। यद्यपि गुप्तजीने जीव और जगत्के सम्बन्धमें अपना मत व्यक्त नहीं किया, फिर भी इस सम्बन्धमें सम्प्रदायका प्रभाव उनपर स्पष्ट परि-लक्षित होता है। सायुज्य मुक्तिमें उनका विश्वास है, किन्तु अर्चिरादि मार्गोंकी चर्चा वे नहीं करते। साकेतधामका चित्र तो उन्होंने पूर्ण रूपसे प्रस्तुत किया है, किन्तु साकेत-लोकका उल्लेख वे नहीं करते।

सम्प्रदायकी भक्ति पद्धतिका भी प्रभाव उपर्युक्त कवियों-पर पड़ा है। पंच संस्कारोंमें इन कवियोंकी आस्था नहीं है, किन्तु भक्तिके अन्य आवश्यक अंगोंके सम्बन्धमें उनकी अधिकांश धारणाएँ रामानन्दी ही हैं। नवधा भक्ति, प्रपत्ति और न्यासमें प्रायः इन सभी कवियोंने अपनी आस्था व्यक्त की है। कबीर इनके मानसी पक्षपर ही अधिक बल देते हैं। प्रपत्तिके छओं अंगोंका भी इन कवियोंने वर्णन किया है। भक्तिके अन्य आवश्यक अंगों अर्थात् भगवत्कथा-श्रवण, गुणकथन, नाम-स्मरण, भगवदैंकर्म, निरभिमानिता, विश्वभरमें भगवान्का रूपदर्शन, गुरु-सेवा, सत्संग, काम-क्रोध आदिका परित्याग तथा अहिंसाको प्रायः इन सभी कवियोंने महत्त्व दिया है। कबीरदासने तो अहिंसापर बहुत ही बल दिया है। महाव्रतोंमें इन कवियोंकी कोई आस्था नहीं है। प्रायः इन सभी कवियोंकी भक्ति दास्य-भावकी है। तुलसी और कबीरने माधुर्य भावका भी विस्तृत निरूपण किया है। अर्चावतारमें तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्तकी विशेष आस्था है। भक्तिके क्षेत्रमें जाति-पाँतिका भेदभाव रामानन्दकी ही भाँति इन कवियोंको भी मान्य नहीं है। इस सम्बन्धमें 'आनन्दभाष्य'की विचारधारा इनके मेलमें नहीं है। ये कवि भक्तिको ज्ञानसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं, विशेषतया वैष्णवी भक्तिमें इन सभी कवियोंकी पूरी आस्था थी। तुलसीने गोरखके योगकी निन्दा की और कबीरने शाक्तोंकी। मैथिलीशरण गुप्तको भक्ति एक संस्काररूपमें मिली है। वह रामके चरणोंमें उनकी अद्भुत आस्था बनकर सामने आयी।

सम्प्रदायसे प्रभावित अन्य कवियोंमें अग्रदेव, अवध-भूषणदास, कृपानिवास, कामदेन्द्रमणि, गोमतीदास, चित्र-निधि, जनकराजकिशोरीशरण, जनकलाडिलीशरण, जीवनराम, जानकीरसिकशरण, नाभादास, प्रेमसखी, बाल अली, मधुर अली, युगलानन्यशरण, रसरंगमणि, रामचरणदास, रामप्रियाशरण, रामसखे, रूपकिशोर, सुधामुखी आदिपर माधुर्य भावका अधिक प्रभाव पड़ा है। राधावल्लभी सम्प्रदायने भी इन कवियोंको पर्याप्त रूपसे प्रभावित किया है। —व० ना० श्री०

राष्ट्रगीत—अँग्रेजी-राज्यकी स्थापनाके साथ ही भारतवर्षमें इंग्लैण्डका जातीय संगीत (नेशनल ऐन्थम) प्रचलित हुआ। सन् १८८३ ई०में विलायतमें जातीय संगीतसभा (नेशनल ऐन्थम सोसाइटी)की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य था कि 'गाड सेव दि क्वीन'का भारतवर्षकी बीस भाषाओंमें अनुवाद कराया जाय और उन्हें समयानुसार गवाया जाय। फारसके मिरजा मुहम्मद बाकर खाँने अरबी तथा फारसीमें, मैक्स मूलर और राजा सुरेन्द्रमोहनने संस्कृतमें, सुरेन्द्रमोहनने बँगलामें, महाराजा ट्रावनकोरने मलयालममें, के० एन० कविराजीने गुजरातीमें, बी० वालाजी नेनीने मराठीमें और भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने हिन्दीमें अनुवाद प्रेषित किया। भारतेन्दुका अनुवाद था—

'प्रभु रच्छहु दयाल महरानी, बहु दिन जिये प्रजा सुखदानी,
हे प्रभु रच्छहु श्रीमहरानी। सब दिसमें तिनकी जय होइ,
रहै प्रसन्न सकल भय खोइ, राज करे बहु दिन लौं सोइ,
हे प्रभु रच्छहु श्रीमहरानी।'

सन् १८८५ ई०में भारतीय राष्ट्रीय-महासभा (इण्डियन नेशनल कांग्रेस)की स्थापना हुई, किन्तु उस समय कांग्रेस राजभक्त संस्था थी और उसने इंग्लैण्डके राष्ट्रगीतको ही अपनाया था। बंकिमचन्द्र चटर्जीने 'आनन्दमठ' नामक उपन्यासमें 'वन्दे मातरम्' शीर्षक गीत लिखा था। लार्ड कर्जनने बंगालको दो भागोंमें विभक्त किया—पूर्वी और

पश्चिमी बंगाल। बंगालने इसका एकस्वरसे तीव्र रूपमें विरोध किया और फलस्वरूप एक प्रबल आन्दोलनने जन्म ग्रहण किया। स्वदेशी सभाएँ स्थापित हुई। इन सभाओंमें बंकिमचन्द्रके 'वन्दे मातरम्'को राष्ट्रगीतका गौरवान्वित पद मिला। स्वदेशी आन्दोलनके प्रसारके साथ ही यह गीत समग्र भारतमें राष्ट्रगीतके रूपमें प्रचलित हुआ।

प्रथम असहयोग आन्दोलनकी विफलताके पश्चात् हिन्दू-मुसलिम राजनीतिकी साम्प्रदायिकताको स्पष्टता मिलने लगी और कुछ लोगोंको इस गीतमें साम्प्रदायिकताकी और 'तोमारं प्रतिमा गढ़ि मन्दिरे मन्दिरे'में मूर्तिपूजाकी गन्ध मिलने लगी, किन्तु स्वराज्य-प्राप्तितक किसी न-किसी रूपमें यह राष्ट्रगीतके रूपमें समादृत रहा। अँग्रेजी सरकारकी दृष्टिमें जहाँ 'गॉड सेव दि किंग' अथवा 'क्वीन' राष्ट्रगीत (नेशनल ऐन्थम) था, वहाँ देशभक्तोंकी दृष्टिमें 'वन्दे मातरम्'। भारतवर्षको स्वराज्य-प्राप्तिके पश्चात् विधाननिर्माणका अधिकार मिला और विधानसभाकी स्थापना हुई। राष्ट्रगीतकी समस्यापर विचार करनेके लिए विधानसभाने एक उपसमिति संघटित की और उस समितिने रवीन्द्रनाथ ठाकुर-रचित 'जनगण-मन-अधिनायक'को राष्ट्रगीतके लिए उपयुक्त माना, फलत' विधानसभाने इसे राष्ट्रगीतके रूपमें स्वीकृत किया। इस समय यही भारतीय सघका राष्ट्रगीत है। राष्ट्रगीतको जातीय संगीत और राष्ट्रीय गीत भी कहा जाता है, किन्तु 'जाति'का प्रयोग एक विशेष अर्थमें होनेके कारण 'राष्ट्रगीत' ही उपयुक्त है और राष्ट्रीय गीतमें विशेष-प्रकारके गीतोंकी परिगणना होगी (दे०—'राष्ट्रीय गीत')। —रा० खे० पा०

राष्ट्रीय कविता—'राष्ट्रीय' शब्द साहित्यमें दो-तीन अर्थोंमें प्रयुक्त किया जाता है। प्रथम अर्थमें राष्ट्रीय कविताके अन्तर्गत उन रचनाओंको लिया जा सकता है, जिनमें देशको एक इकाई मानकर काव्यसर्जन किया गया हो। इस प्रकारकी रचनाएँ किसी सीमातक एक विशिष्ट कालमें संस्कृति और सभ्यताकी जो स्थिति होती है, उसका प्रतिनिधित्व करती हैं। जातीय जीवनमें उनका विशिष्ट स्थान रहता है। उनकी मूल प्रेरणा देश और जाति होती है और उन्हें अभिव्यक्ति देना ही इस प्रकारकी कविताओंका प्रमुख उद्देश्य रहता है। महाकाव्यका लेखक राष्ट्रीय कविताका निर्माता ही कहा जायगा, क्योंकि वह एक सभ्यता और संस्कृतिको लिपिबद्ध करनेका प्रयास करता है• (एबरक्रॉम्बीका 'द एपिक' लेख)। जब कभी विश्व-साहित्यमें प्रतिनिधित्वका प्रश्न आता है, तब राष्ट्रीय काव्य-को प्रस्तुत किया जाता है। वह जातीय गौरवका प्रतीक है। जिन देशोंमें सभ्यता और संस्कृतिका पर्याप्त विकास हुआ है, उनमें इस प्रकारकी कविता सहजसुलभ है। गिलबर्ट हिटेने अपनी पुस्तक 'द क्लासिकल ट्रेडिशियन'-(पृ० २२)में लिखा है कि '१००० ई० के काफी पूर्व ही इग्लैण्डमें मौलिक, बहुमुखी, समृद्ध और जीवन्त राष्ट्रीय साहित्यका निर्माण हो रहा था। रोमन साम्राज्यके पतनके अनन्तर ही उसका आरम्भ हुआ और समस्त बाधाओंके बावजूद उसका विकास होता रहा। इस दृष्टिसे विश्वकी समस्त विकसित सभ्यताओंमें राष्ट्रीय काव्यका सर्जन हुआ है। राष्ट्रीय कविताका आरम्भिक स्वरूप लोकगीतोंमें देखा जा सकता है। जनतासे सीधा सम्पर्क होनेके कारण इनमें कलात्मक सौन्दर्य भले ही न हो, किन्तु इनमें उस देश और सभ्यताकी आन्तरिक भावधारा स्पष्ट होती है। एक भूखण्डमें, कई भाषाओंके प्रचलनसे कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही कथा सभी भाषाओंमें अभिव्यक्ति पाती है। लोकगीतोंके निर्माता प्राय• अज्ञात होते हैं। इन जन-कवियोंमें कलाका इतना विकास नहीं होता कि वे अपनी रचनाओंको लिपिबद्ध कर सकें। आगे चलकर कोई महाकवि बिखरी हुई परम्पराके आधारपर अपने महाकाव्यकी सृष्टि करता है। होमरका 'इलियड', 'ओडेसी', वर्जिलका 'इलियड', दाँतेकी 'डिवाइन कॉमेडी', गेटेका 'फाउस्ट', मिल्टनका 'पैराडाइज लॉस्ट', वाल्मीकिकी 'रामायण', व्यासका 'महाभारत' आदि प्राचीन काव्य राष्ट्रीय कविताके अन्दर रखे जाते हैं। हिन्दीमें तुलसीके 'रामचरितमानस'को राष्ट्रीय काव्यके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है।

राष्ट्रीय कविताका व्यापक प्रयोग देशभक्तिकी कविताओं-के लिए किया जाता है। इनमें देश और जातिके प्रति एक ममताका भाव रहता है। यों तो प्रत्येक युगमें ऐसे कवि होते हैं, जो राष्ट्रीय भावनाओंकी कविता लिखते हैं, किन्तु विशेष परिस्थितियोंमें इस प्रकारका काव्य-सर्जन बढ जाता है। परतन्त्र देशोंमें राष्ट्रीय भावनाओंके विकासके साथ-साथ देश-भक्तिकी कविताओंकी मात्रामें वृद्धि होती जाती है। जब कभी किसी देशपर विदेशी आक्रमण होता है, उस अवसरपर भी युद्धगीतके रूपमें देश-भक्ति सम्बन्धी कविताओंकी सृष्टि की जाती है। विश्व-इतिहासमें कुछ ऐसे भी विशिष्ट अवसर आये हैं, जब राष्ट्रीय भावनाओंकी कविताओंका सर्जन पर्याप्त मात्रामें हुआ है। अमेरिकाकी क्रान्ति, फ्रान्सकी राज्य-क्रान्ति, रूसकी साम्यवादी क्रान्ति, चीनका गृह-युद्ध आदि अवसरोंपर इस प्रकारकी कविताएँ लिखी गयी हैं। ऐसे अवसरोंपर दोनों पक्ष अपनेको राष्ट्रभक्त कहते हैं। चीनके गृह-युद्धमें अधिकाश काव्य अतिशय भावुकताप्रधान और आवेशपूर्ण लिखा गया है। उत्साह ही उसका मूल प्रेरक भाव है। इसमें जीवनके शाश्वत भाव नहीं होते, जो काव्यको स्थायित्व प्रदान करते हैं। महान् कवि प्राय राष्ट्रीय भावनाओंके काव्य-सर्जनमें तत्पर नहीं होते। एक बार जर्मनीके ड्यूकने जब गेटेसे युद्धगीत लिखनेको कहा था तो उसने उत्तर दिया था कि 'मैं मानवको घृणा नहीं करता, इस कारण मेरे लिए युद्धगीत लिखना सम्भव नहीं' (गेटे • एमाइल लुडविग)। इस प्रकार-का काव्य सद्भावनासे प्रेरित होनेके कारण स्तुत्य होता है, किन्तु स्थायी भावोंसे वंचित होनेके कारण महान् काव्यकी सज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता। अधिकाश राष्ट्रीय भावनाओं-की कविताएँ जिस उद्देश्य-पूर्तिके लिए लिखी जाती हैं, उनकी पूर्ति करनेमें किसी सीमातक सफल होती हैं, तत्पश्चात् वे विस्मृतिके गर्भमें चली जाती हैं। राष्ट्रीय कविताओंके विविध पक्ष हो सकते हैं। एक तो उसका ऐतिहासिक एवं सास्कृतिक पक्ष है, जिसमें देशके प्राचीन इतिहासके प्रति आदरका भाव प्रकट किया जाता है। इटलीकी राष्ट्रीय भावनाओंकी कविता रोमन साम्राज्यका

स्मरण कराती है। इस प्रकारकी कविताओंमें देशकी सभ्यता-संस्कृतिके प्रति एक मोह रहता है। राष्ट्रीय कविताओंके लेखकका अन्य पक्ष सुधारवादी भी हो सकता है, जिसमें कवि अपने देशकी वर्तमान परिस्थितिसे असन्तुष्ट होकर उसमें सुधार चाहते हैं। हिन्दीमें भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युगके अधिकांश कवियोंका काव्य सुधारवादी दृष्टिकोणसे लिखा गया है।

हिन्दी कवितामें राष्ट्रीय भावनाका आरम्भिक स्वरूप वीरगाथा-कालकी कविताओंमें प्राप्त होता है। इसकी दो-तीन मुख्य प्रेरणाएँ हैं। एक तो यह कि देशपर विदेशी आक्रमण हो रहे थे, जो एक अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा परिचालित थे। इसी कारण वीरगाथा-कालकी राष्ट्रीय भावना धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक अधिक है। उसमें हिन्दुत्वका भाव प्रबल है। विदेशी आक्रमणोंके अभावमें देशके राजा आपसमें भी टकरा जाते थे। इस अवसरपर उनके दरबारी कवि अपने-अपने आश्रयदाताकी स्तुतिमें लग जाते थे। इस प्रकारकी कविता राष्ट्रीय कविताका अत्यन्त संकुचित और विकृत रूप है। उसे चारण-काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। वीरगाथा-कालकी राष्ट्रीय कविताओंमें शृंगारका पुट भी स्थान-स्थानपर दिखाई देता है। इसका कारण यही है कि उस समय अधिकांश कविता राजाश्रित थी और राजाओंकी मनोवृत्ति भोगविलासकी थी। 'पृथ्वीराजरासो', 'हम्मीररासो', 'बीसलदेवरासो' आदि इस समयके प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ हैं। वीरगाथा-कालकी ही मनोवृत्ति किंचित् सामान्य परिवर्तनोंके साथ रीतिकालमें मिलती है। चन्द बरदाईने पृथ्वीराजकी यशोगाथाके रूपमें जिस प्रबन्ध-काव्यका सर्जन किया था, उस परम्पराका पालन रीतिकालके कवि किसी महान् व्यक्तित्वके अभावमें न कर सके। इस समय भूषण-ने शिवाजीकी अभ्यर्थनामें जो कवित्त लिखे हैं, उनमें जो राष्ट्रीय-भावना है, उसमें हिन्दुत्वकी भावना ही प्रमुख है।

राष्ट्रीय भावनाओंका पूर्ण प्रतिफल भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राममें दिखाई देता है। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें जिस राष्ट्रीय आन्दोलनका आरम्भ हुआ, वह क्रमशः संघटित होता चला गया। बीसवीं शताब्दीके आरम्भमें जिस द्विवेदी-युगका पूर्ण विकास हुआ, उसकी मूल प्रेरणा राष्ट्रीय ही कही जायगी। इस युगके दो प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' हैं। इन दोनों कवियोंकी राष्ट्रीय-भावना आदर्शवादी है और उसमें सुधारकी प्रवृत्ति है। राम और कृष्णके पुरातन कथानकके रूपमें एक आदर्श नेताकी कल्पना है। राष्ट्रीय भावनाओंका अत्यन्त स्पष्ट रूप मैथिलीशरण गुप्तकी 'भारतभारती' में दिखाई देता है। 'जग जायँ तेरी नोकसे, सोये हुए हों भाव जो' कविकी इस पंक्तिसे ही उसके उद्देश्यका ज्ञान हो जाता है। इसीके अनन्तर छायावादका काव्य सर्जन अपनी प्रौढ़ अवस्थापर आया। इसकी देशभक्ति सम्बन्धी चेतना अधिक सांस्कृतिक है। मैथिली-शरणको सम्भवतः इसी कारण 'राष्ट्रकवि' कहा जाता है, क्योंकि उनमें राष्ट्रीय भावना अधिक स्पष्ट है। इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामधारी सिंह 'दिनकर', सुभद्राकुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी आदिमें भी राष्ट्रीय भावना अधिक स्पष्ट है, किन्तु छायावाद-के कवियोंने अपनी देशभक्तिको एक सांस्कृतिक आवरणसे मण्डित किया है। उसमें केवल आवेश ही नहीं, किन्तु एक अधिक स्थायी ताप है। 'निराला'का 'भारती जयविजय करे' गीत भारतमाताका एक सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करता है, जिसका आधार प्रकृतिका सौन्दर्य है। सुमित्रानन्दन पन्तने भारतमाताके कई चित्र 'ग्राम्या' और 'युगवाणी'में प्रस्तुत किये हैं। 'प्रसाद'के 'हिमालयके आँगनमें उसे प्रथम किरणोंका दे उपहार' नामक प्रसिद्ध गीतमें भारतीय इतिहासका गौरवपूर्ण चित्र है। महात्मा गान्धीके पदार्पणने साहित्यके आवेशको किसी सीमातक कम किया। अहिंसा-वादने काव्यको भी प्रभावित किया। इसी कारण छायावाद-युगमें देशभक्ति सम्बन्धी कविताएँ ऐसी भी हैं, जिनमें स्थायित्व है। कलात्मक दृष्टिसे उनमें परिपक्वता है। वे किसी राष्ट्रसेवीका आवेशमात्र नहीं है। उत्तर-छायावाद-युगमें कुछ कवियोंने सन् १९४२ ई०की अगस्त क्रान्ति, आजाद हिन्द फौज और अन्तमें स्वतन्त्रता-प्राप्तिसे प्रेरित होकर अनेक ऐसी कविताएँ लिखीं, जिनमें देशभक्तिकी उफान है। इनमें अत्यधिक आवेशके कारण भाषण-शैलीका प्रयोग हुआ है। सुभद्राकुमारी चौहानकी प्रसिद्ध कविता 'बुन्देले हरबोलोंके मुँह हमने सुनी कहानी थी, खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसीवाली रानी थी', आदि कविताएँ बहुत लोकप्रिय हुई थीं। वास्तवमें इस प्रकारकी कविताएं अपनी सरल अभिव्यक्तिके कारण जन-काव्य बन जाती हैं। श्यामनारायण पाण्डेयका प्रबन्धकाव्य 'हल्दी-घाटी', रामनरेश त्रिपाठीके खण्डकाव्य 'पथिक' और 'मिलन' भी देशभक्तिसे अनुप्राणित हैं। गान्धीके व्यक्तित्वसे प्रेरणा लेकर भी जो अनेक कविताएँ लिखी गयीं, उनमें राष्ट्रीय भावनाका स्वर है। सोहनलाल द्विवेदीने इस प्रकारकी बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं। गान्धीके निधनके बाद 'सूतकी माला' (बच्चन) आदि कविता-संग्रह प्रकाशित हुए। राष्ट्रीय कविताका एक अन्य पक्ष है, जिसमें प्रगति-शीलताका अंश अधिक है। इन कवियोंमें सामाजिक विषमताके प्रति विक्षोभका भाव दिखाई देता है। आर्थिक और सामाजिक समताको ही वे सच्ची स्वतन्त्रता मानते हैं। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', शिवमंगलसिंह 'सुमन' और नागार्जुन आदि ऐसे ही कवि हैं। पर्याप्त अंशमें वे मार्क्स-वादी विचार-पद्धतिसे प्रभावित हैं। इस प्रकार हिन्दीमें राष्ट्रीय कविताका इतिहास काफी प्राचीन न होकर भी संख्याकी दृष्टिसे पर्याप्त है। कभी-कभी राष्ट्रीय कविताका प्रयोग परम्परागत काव्य-प्रणालीके लिए भी किया जाता है। अँग्रेजीके 'क्लासिकल' शब्दके समीप उसे रखा जा सकता है, किन्तु इस प्रकारका प्रयोग बहुत कम मिलता है।

[सहायक ग्रन्थ—(१) आधुनिक काव्यधाराका सांस्कृतिक स्रोत केसरीनारायण शुक्ल, (२) हिन्दी कवितामें युगान्तर सुधीन्द्र।] —प्रे० श०

राष्ट्रीय गीत—राष्ट्रीय आन्दोलनके सूत्रपातके साथ देश-भक्तिपूर्ण गीतोंका अधिक प्रचलन हुआ। हिन्दीमें 'मर्यादा', 'प्रभा' और 'प्रताप'के कारण ऐसे गीतोंको अधिक प्रोत्साहन

मिला। राष्ट्रीयताके किसी अंगविशेषसे इनका सम्बन्ध रहता है और उनमें जातीय जीवन और संस्कृतिका प्रतिफलन होता है। अतीत-गौरवके प्रति मोहको अभिव्यक्त करनेवाले गीतोंके प्रथम प्रणेता भारतेन्दु थे। वर्तमानकी करुण स्थितिके भी गीत उन्होंने गाये थे। जयशंकर 'प्रसाद'ने अतीतके मोहको काव्यात्मक रमणीयता दी। जन्मभूमिके प्रति प्रेम, अशेष श्रद्धा और निष्ठाकी अभिव्यक्ति इस प्रकारके काव्यमें होती है और इसके सहज आकर्षण और सौन्दर्यको मुखरित करनेवाले प्राथमिक कवियोंमें श्रीधर पाठक अग्रगण्य हैं। इसमें भविष्यकी आशाको वर्तमानके असन्तोषके कारण अधिक बल मिलता है। राजनीतिक मुक्तिके पश्चात् राष्ट्रीय गीतोंका स्वर बदल गया है। —रा० खे० पा०

राष्ट्रीय साहित्य—राष्ट्रीय शब्द 'राष्ट्र'का विशेषण है और राष्ट्र अँग्रेजी शब्द 'नेशन'के पर्यायरूपमें हिन्दीमें प्रयुक्त होता है। इस प्रकार राष्ट्रीय शब्दको 'नेशनलिस्टिक'के समीप रखा जा सकता है। विश्वमें राष्ट्रीय भावनाका साहित्यसे अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध रहा है। यूनानके नगर-राज्योंमें इसके बीज प्राप्त होते हैं। स्पार्टा, एथेन्स आदिकी सभ्यता-संस्कृति प्रसिद्ध है। राष्ट्रीय भावनाकी सहायतासे एक जन समूह संघटित होता है। जिमरनने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीयता और सरकार'में लिखा है—'मेरी दृष्टिमें राष्ट्रीयताका प्रश्न सामूहिक जीवन, सामूहिक विकास और सामूहिक आत्मसम्मानसे सम्बद्ध है।' विश्व-सभ्यताके विकासमें कुछ अवसर ऐसे आये हैं जब राष्ट्रीय भावनाने जोर पकड़ा। यूरोपकी व्यावसायिक क्रान्तिका राष्ट्रीय भावनाके विकासमें पर्याप्त सहयोग है। लगभग १५०० ई० के अनन्तर सभी देशोंके साहित्यमें इस भावनाने प्रमुखता प्राप्त की। प्रत्येक देश अपनी जातिगत विशेषताओंको लेकर साहित्य सर्जनमें अग्रसर हुआ। ग्रीक और लैटिनकी प्रभुता कम हो गयी। इटलीमें मैकियावेली, टासो आदि, फ्रांसमें मौते, रेसिन आदि, स्पेनमें सर्वेण्टिस, इंग्लैण्डमें स्पेन्सर, शेक्सपीयर, जॉन्सन, बेकन, मिल्टन आदि तथा जर्मनीमें फ्लेमिंग आदि लेखकोंने राष्ट्रीय साहित्यका सर्जन किया। इस समय राष्ट्रीय भावनाकी जो धारा प्रवाहित हुई वह सकीर्ण नहीं है, इसी कारण उसे मानववाद(humanism)की संज्ञा दी गयी है। इस साहित्यमें देशके जन-जीवनको चित्रित किया गया है, किन्तु उसका दृष्टिकोण व्यापक और उदार है। शेक्सपीयरका साहित्य इसका प्रमाण है। रूसी और फ्रांसकी राज्य-क्रान्ति(१८वीं शताब्दी)ने राष्ट्रीय भावनाको समस्त यूरोपमें प्रसारित कर दिया। इसी आधारपर अर्नेस्ट रेनानने लिखा है कि व्यक्तियोंकी एक साथ मिलकर रहनेकी अदम्य इच्छा ही राष्ट्रीयताकी जननी है। फ्रांसकी क्रान्तिने स्वतन्त्रता, बन्धुत्व, समानता(liberty, fraternity, equality)-का जो सन्देश दिया, वह साहित्यमें व्यापक रूपसे प्रतिफलित हुआ। रॉबिन्सनका कथन है कि नेपोलियन यूरोपकी राष्ट्रीय भावनाका पिता है। अँग्रेजी स्वच्छन्दतावादी कवियोंमें वर्ड्सवर्थपर इसका सीधा प्रभाव पड़ा। वर्ड्सवर्थकी आलोचना करते हुए हर्बर्ट रीडने इसकी चर्चा की है।

राष्ट्रीय साहित्य किसी एक ही अर्थका द्योतक नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रीय साहित्यके अन्तर्गत वह समस्त साहित्य लिया जा सकता है, जो किसी देशकी जातीय विशेषताओंका परिचायक हो। इस प्रकारके साहित्यमें जातिका समस्त रागात्मक स्वरूप, उसके उत्थान-पतन आदिका विवरण आ सकता है। उसका होना एक प्रकारसे अनिवार्य ही है। 'महाभारत' और 'रामायण' भारतके राष्ट्रीय काव्य हैं। मिल्टनका 'पैराडाइज लॉस्ट' राष्ट्रीय काव्यके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। रूसके प्रसिद्ध लेखक बेलन्स्कीने एक बार रूसी लेखकोंसे यह शिकायत की थी कि वे राष्ट्रीय साहित्यका सर्जन नहीं करते। उनपर विदेशोंकी प्रबल छाया है। इसका आशय यही है कि लेखक अपने देशकी परम्पराका पालन नहीं करते। राष्ट्रीय साहित्यके अन्तर्गत किसी देशकी लोक-कथाएँ, लोकगीत आदि भी आ जाते हैं। प्रत्येक समृद्ध साहित्यमें इस प्रकारकी सम्पत्ति होती है। कभी-कभी महाकवि इस बिखरी हुई सामग्रीका उपयोग करते हैं। होमरने अपने महाकाव्योंमें यूनानकी एक बिखरी हुई परम्पराको एक सूत्रमें बाँध दिया है। विभिन्न देशोंके राष्ट्रगान भी इसी साहित्यके अन्तर्गत आ जायँगे। विशेष उत्सवोंपर राष्ट्रगान गाया जाता है। इसमें पूर्वजोंके गौरवकी भावना रहती है। होरेसमें राष्ट्रीय भावना प्रबल है, क्रूसेड्स अथवा धर्मयुद्धके समय जो साहित्य लिखा गया, उसमें धार्मिक भावना अधिक है। भारतका 'जनगणमन' (रवीन्द्र), ग्रेट ब्रिटेनका 'गॉड सेव द किंग' (१७३९ ई०), ग्रीसका 'सन्स आव ग्रीस, कम एराइज' (१८२१ ई०, बायरनका अनुवाद) आदि राष्ट्रगान हैं। राष्ट्रीय साहित्यके अन्तर्गत हिन्दीमें तुलसीके 'रामचरितमानस' और प्रेमचन्दके समस्त साहित्यको रखा जा सकता है। 'प्रसाद'के नाटक भी इसी कोटिमें रखे जा सकते हैं। रवीन्द्रनाथकी अधिकांश कृतियाँ राष्ट्रीय जन-जीवनसे अनुप्राणित हैं। हिन्दीमें राष्ट्रीय साहित्यकी समृद्ध परम्परा अभीतक कई कारणोंसे सुदृढ़ न हो सकी। स्वतन्त्रताके पूर्व हिन्दी भारतकी एक बहुसख्यक जनताकी भाषा होकर भी राजभाषा नहीं थी। बंगाली, मराठी, गुजराती आदि भाषाओंमें पर्याप्त साहित्य-सर्जन हुआ है, जो अपने प्रदेशका जन-जीवन चित्रित करता है।

परम्पराके प्रति आग्रहके रूपमें भी कभी-कभी राष्ट्रीय साहित्यका व्यवहार होता है। अँग्रेजीमें इसके लिए कभी-कभी 'क्लासिकल' शब्द प्रयोगमें लाया जाता है। टी० एस० इलियटने अपनी पुस्तक 'क्लासिक क्या है'-(What is a classic)में इसका विवेचन किया है। गिलबर्ट हिवेटने अपने ग्रन्थ 'द क्लासिकल ट्रेडिशन'में विस्तारसे क्लासिकल परम्परापर विचार किया है। हिन्दीमें राष्ट्रीय साहित्यके रूपमें क्लासिकल साहित्यको अपेक्षाकृत कम ही स्वीकार किया गया है।

राष्ट्रीय साहित्यका सर्वाधिक प्रयोग उस साहित्यके लिए किया जाता है, जिसमें देश-प्रेमकी भावना प्रबल रहती है। इस प्रकारकी रचनाएँ विशेष प्रकारकी राजनीतिक परिस्थितियोंमें प्रस्तुत की जाती हैं। जब दो देश अथवा दो जातियाँ आपसमें सघर्षरत होती हैं तब इस प्रकारकी

साहित्य-सृष्टि होती है, यहाँतक कि युद्धगीत (war song) भी लिखे जाते हैं। एक परतन्त्र देशमें जागरणके साथ-साथ राष्ट्रीय-भावना प्रबल होने लगती है। देशभक्तिसे अनुप्राणित साहित्यमें एक आवेग, उत्साह और साथ ही साथ वीरत्वका भाव प्रबल रहता है। इसमें अतीत-गौरवका गान किया जाता है। पूर्वजोंकी दुहाई दी जाती है। देशकी महिमाका अंकन होता है। किन्तु साथ ही इस प्रकारके साहित्यमें साधारण घृणा और उपेक्षाका भाव भी परिलक्षित होता है, जो विजितकी विजेताके प्रति एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। इस प्रकारका साहित्य एक उद्देश्यकी पूर्ति करता है। मार्क्सवादी समीक्षक इसको गरिमामय तथा महत्त्वशाली कह सकते हैं, किन्तु इस प्रकारकी रचनाओंमें स्थायित्व होना सम्भव नहीं। उसमें साहित्यकी उच्च अभिव्यंजना शक्तिकी खोज करना भी उचित नहीं। एक भारी जनसमुदायमें चेतना लानेके लिए इसकी सृष्टि की जाती है। प्रथम कोटिका साहित्यकार भी देशभक्तिसे अनुप्राणित होकर रचनाएँ कर सकता है, किन्तु उसकी ये रचनाएँ प्राय साधारण कोटिकी ही होंगी। जारके विरुद्ध संघर्षरत लेनिनकी लाल सेनाके लिए इस प्रकारका पर्याप्त साहित्य रचा गया था, किन्तु वह गोर्कीके राष्ट्रीय साहित्यकी समता नहीं कर सकता। उसे दास्तोएव्स्कीकी रचनाओंका-सा गौरव नहीं मिल सकता। देशभक्तिके साहित्यमें जातीय भावनाको कभी-कभी प्रश्रय मिलता है। आयरलैण्ड जब स्वतन्त्रता चाहता था तो उस देशके साहित्यकारोंने अपनेको एक अलग इकाई घोषित कर दिया था। भारतमें जातीय वैमनस्यके कारण इस प्रकारकी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। राष्ट्रीय भावनाओंपर आधारित देशभक्तिका साहित्य एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। मैथिलीशरण गुप्तकी 'भारतभारती' राष्ट्रीय भावनाओंकी प्रतिनिधि रचना है, किन्तु उसे उच्च काव्यकी संज्ञा नहीं दी जा सकती।

हिन्दी साहित्यमें राष्ट्रीय-भावनाको आरम्भसे ही देखा जा सकता है। बहुत समयतक भारत एक अखण्ड देश रहा है, इसी कारण संस्कृत साहित्यमें जोशीली राष्ट्रीय भावनाके दर्शन नहीं होते। विदेशी आक्रमणोंके कारण साहित्यमें यह भावना प्रबल होती चली गयी। वीरगाथा-कालके साहित्यमें जो राष्ट्रीय भावना मिलती है, उसमें हिन्दुत्वका भाव प्रमुख है। रासोकी परम्परामें वीरभावका प्राधान्य है। इस युगमें जो देशभक्तिका भाव है, वह कभी-कभी दूषित रूपमें भी प्रकट हुआ है। जब राजा आपसमें टकराते थे, तो उनके दरबारी कवि अपने-अपने राजाओंकी अभ्यर्थनामें लग जाते थे। वास्तवमें हिन्दीमें राष्ट्रीय साहित्यकी गतिशील धारा भारतेन्दु-युगसे आरम्भ होती है। भारतेन्दुकी समस्त रचनाओंकी प्रेरणाके मूलमें इस भावनाको देखा जा सकता है। उस समयके निबन्धलेखक प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदिके निबन्धोंपर एक दृष्टि डालनेसे यह सत्य प्रकट हो जाता है कि एक ओर यदि वे समाजसुधारकी भावनासे प्रेरित थे, तो साथ ही वे विदेशी राजसत्ताके घोर विरोधी थे। रामचन्द्र शुक्लने भारतेन्दुका मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि उनका सबसे ऊँचा स्वर देशभक्तिका है (हि० सा० इ० पृ० ४००)। इस समयके प्रमुख पत्र 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (आठ संख्याओंके बाद जिसका नाम 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' हो गया) की फाइलें इस बातका प्रमाण है कि उस समयकी प्रमुख भावना राष्ट्रीय है। कांग्रेस-आन्दोलनकी प्रगतिके साथ-साथ राष्ट्रीय भावना प्रबल होती गयी। द्विवेदी-युगका हिन्दी साहित्य इसीसे ओत-प्रोत है। इस समय देशमें जो विभिन्न राष्ट्रीय आन्दोलन हुए उनका प्रत्यक्ष प्रभाव भारतकी गति-विधिपर दिखाई देता है। पट्टाभि सीतारामैयाने अपनी पुस्तक 'कांग्रेसका इतिहास' में कहा है कि कांग्रेस-आन्दोलनोंका प्रभाव लगभग सभी साहित्योंपर पड़ा है। भारतीय राजनीतिमें गान्धीके प्रवेशसे राष्ट्रीय भावनामें किंचित् महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। राजनीतिमें अहिंसा और सत्यको प्रधानता मिली। हिन्दी साहित्यमें उत्साह, वीरता, शौर्य आदिके स्थानपर अपेक्षाकृत नैतिक और सांस्कृतिक रचनाएँ आने लगीं। राष्ट्रीय भावना प्रत्यक्ष न होकर किसी सीमातक परोक्ष हो गयी। हरिकृष्ण 'प्रेमी' के नाटकोंमें देशभक्तिका जो स्वर है, उसमें जातीय एकताका भी आग्रह है। इस भावनाका विकास होता गया और वह विश्व-भावनातक पहुँच गयी। छायावाद-युगकी कविताओंमें इसी विश्व-मानवताका स्वर है। स्वतन्त्रता-प्राप्तिके अनन्तर देश-प्रेमकी भावनाने एक और करवट ली। इस नयी दिशामें पूर्वके प्रगतिशील विचार भी सम्मिलित हैं। मार्क्सवादी लेखकोंकी रचनाओंमें जो राष्ट्रीय भावनाएँ मिलती हैं, उनमें वर्ग-संघर्षकी भावना प्रमुख स्थान प्राप्त करती है। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें जो राष्ट्रीय भावना प्राप्त होती है, उसमें विविधता है। भारतके राजनीतिक जीवनमें जो परिवर्तन हुए हैं, उन्होंने साहित्यकी गति-विधिको पर्याप्त प्रभावित किया है। आरम्भमें जो वीरताका भाव था, वह वीर-पूजाका रूप है। सन् १८५७ ई०की क्रान्तिके अनन्तर देश-प्रेमका स्वर प्रबल हुआ। देशके सभी विचारशील व्यक्तियोंने एक स्वरसे विदेशियोंका विरोध किया। गान्धीके आगमनने उस भावनाको संस्कृतिनिष्ठ और नैतिक बनाया। अन्य विचार-धाराओंका भी इसपर प्रभाव पड़ा।

[सहायक ग्रन्थ–(१) आधुनिक काव्यधाराका सांस्कृतिक स्रोत : केसरीनारायण शुक्ल, (२) हिन्दी कवितामें युगान्तर : सुधीन्द्र] —प्रे० श०

रास–रास रसके बहुवचन, ब्रह्म, महारासमें गोपिकाओंके बीच एक कृष्णके अनेक रूप, स्त्रियों और पुरुषोंके परस्पर हाथ बाँधकर मण्डलाकार-नृत्य, कृष्ण-गोपियोंके हस्तबद्ध वृत्ताकार नृत्य, प्राचीन पशुपालक नृत्य (चिह्नाहट) में संगीतके योगसे विकसित नाट्यरूप, रासलीलामें परिवेष्टित चन्द्रकी चन्द्रिकापर मुग्ध होकर कृष्ण-गोपिकाओंकी क्रीड़ा, रहस्यलीला और देश-भाषाके शब्द 'रास' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ माना गया है। आज 'रास' से लोकनाट्यके एक रूपका बोध होता है, जिसमें राधा-कृष्ण-गोपियोंकी मण्डलाकार रूपमें गीति और नृत्यके साथ शृंगारिक क्रीड़ाएँ दिखायी जाती हैं। अतः यह रासलीलाके लिए भी रूढ़ है।

नाट्यरूपकी दृष्टिसे यह रास संस्कृतके नाट्यरासक,

गोष्ठी, काव्य, श्रीगदित और हल्लीश उपरूपकोंके अधिक निकट है, विशेषतया नाट्यरासककी और रासकी प्रकृतिमें दूरतक साम्य है। इस दृष्टिकोणसे रासका सकेत भासके 'बालचरित' नाटक, बाणके 'हर्षचरित', भट्टनारायणके 'वेणीसहार' तथा 'भागवत'के दशम स्कन्ध(१९से २३ अध्याय)के 'रास'में मिलता है। बारहवीं शतीके मन्दिरोंमें भी इसके स्वरूपका पता लगता है।

रास रास, रासक या रासोके रूपमें काव्यका रूप भी रहा है। जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरिके निर्देशों, कवकसूरिकृत 'उपकेश-गच्छ पदावली' (हस्तलिखित) तथा 'खरतर-गच्छ पदावली'से ज्ञात होता है कि बारहवीं शतीमें रास या रासकका प्रचार था और रासक-ग्रन्थोंका निर्माण भी प्रारम्भ हो गया था। ये रासक-ग्रन्थ सैकड़ोंकी सख्यामें मिलते हैं। 'पृथ्वीराजरासो', 'खुमानरासो', बीसलदेवरासो' भी इसी परम्परामें हैं। ये रासक-काव्य ग्रन्थ अपभ्रंश और गुर्जर-मिश्रित राजस्थानी भाषामें लिखे गये हैं। इनका प्रारम्भ जैनाचार्योंके द्वारा ही हुआ है। उन्होंने जैन धर्मके प्रचारके लिए राम-नाटकोंको आधार बनाया। रास-ग्रन्थोंसे स्पष्ट है कि आगे चलकर रासकी नृत्यगीतपूर्ण श्रृगारप्रधान तथा नृत्यगीतहीन धर्मप्रधान दो धाराएँ हो गयीं। नृत्य और सगीतकी प्रमुखताके कारण श्रृगारप्रधान धारा लोक-प्रसिद्ध और प्रचलित हो गयी। जैनेतर ग्रन्थोंमें यही धारा मिलती है। सोलहवीं शतीमें वल्लभाचार्य तथा हित हरिवशने इसी श्रृंगारमूलक रासमें धर्मके अंगके साथ नृत्यकी पुन स्थापना की तथा उसका नेता रासरसिक-शिरोमणि कृष्णको बनाया। इस प्रकार काव्यका रूप फिर नाट्यरूप पा गया।

रासकी दूसरी नाट्यशैली भी प्राप्त है, जिसमें बोधिसत्त्व तथा जीमूतवाहनके आत्मोत्सर्गका संगीत तथा नृत्यके साथ अभिनय किया गया। हर्षका 'नागानन्द' रासकी इसी शैलीमे लिखा गया है। —वि० रा०

रासक—इसमें एक अंक, पाँच पात्रोंका विधान, मुख, प्रतिमुख, निर्वहण सन्धियोंका प्रयोग होता है। कैशिकी, भारती वृत्तियोंका निर्वाह होता है। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। विभिन्न प्रकारकी प्राकृतोंका प्रयोग किया जाता है। सूत्रधारका अभाव रहता है। उदात्त भावोंका उत्तरोत्तर विकास किया जाता है। वीथ्यंग और कलाएँ रहती है। उदाहरण—'मेनकाहित'। इसके अतिरिक्त 'भाव-प्रकाश'में नान्दीके सुश्लिष्ट होनेका भी निर्देश है। —वि० रा०

रासधारी—राजस्थानी नृत्यनाट्यकी विशेष शैली। इसमें धार्मिक लोकनायकोंके चरित्र कथानकोंके माध्यमसे अभिनीत किये जाते ह। बहुधा राम और कृष्ण रासधारीके मुख्य विषय हैं। गीत ओर नृत्य कथाके विस्तारमें सहायक होकर प्रमुख स्थान पाते हैं। रासधारीके गीत परम्परागत हैं। साधारणसे मंचपर, लोक-जीवनके प्रचलित मनोविनोद-के हेतु नाट्यमण्डलियाँ लोकनाट्यकी शैलीमें रासधारीका आयोजन करती हैं। रासधारीमें ब्रजके रासका थोड़ा प्रभाव लक्षित होता है। —श्या० प०

रासलीला—सोलहवीं शतीमें श्री वल्लभाचार्य तथा हित हरिवशादि महात्माओंने लोकप्रचलित जिस श्रृंगारप्रधान रासमें धर्मके साथ नृत्य, सगीतकी पुन स्थापना की और उसका नेतृत्व रसिकशिरोमणि श्रीकृष्णको दिया था, वही राधा तथा गोपियोंके साथ कृष्णकी श्रृंगारपूर्ण क्रीड़ाओंसे युक्त होकर रासलीलाके नामसे अभिहित हुआ।

रासलीला लोकनाट्यका एक प्रमुख अग है। भक्ति-कालमें इसमें राधा-कृष्णकी प्रेम-क्रीड़ाओंका प्रदर्शन होता था, जिनमें आध्यात्मिकताकी प्रधानता रहती थी। इनका मूलाधार सूरदास तथा अष्टछापके कवियोंके पद और भजन होते थे। उनमें संगीत और काव्यका रस तथा आनन्द दोनों रहता था। लीलाओंमें जनता धर्मोपदेश तथा मनोरजन साथ-साथ पाती थी। इनके पात्रों—कृष्ण, राधा, गोपियों—के सवादोंमें गम्भीरताका अभाव और प्रेमालापका आधिक्य रहता था, कार्यकी न्यूनता और सवादोंका बाहुल्य होता था। इन लीलाओंमें रगमच भी होता था, किन्तु वह स्थिर और साधारण कोटिका होता था। प्राय रामलीला करनेवाले किसी मन्दिरमें अथवा किसी पवित्र स्थान या ऊँचे चबूतरेपर इसका निर्माण कर लेते थे। देखनेवालोंकी सख्या अधिक होती थी। रास करनेवालोंकी मण्डलियाँ भी होती थीं, जो पूना, पजाब और पूर्वी बगालतक घूमा करती थीं।

किन्तु उन्नीसवीं शतीमें रीति-कविताके प्रभावसे रास-लीलाओंकी धार्मिकता, रस और सगीतको धक्का लगा। अत उनमें न तो रसका प्रवाह रहा और न सगीतकी शास्त्रीयता। उनमें केवल नृत्य, वाग्विलास, उक्तिवैचित्र्यकी प्रधानता हो गयी। उनका उद्देश्य केवल मनोरजन रह गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकी 'श्रीचन्द्रावली नाटिका'पर रास-लीलाका प्रभाव है और आधुनिक कालमें वियोगी हरिकी 'छद्मयोगिनी नाटिका' भी रासलीलासे प्रभावित है। आज भी उत्तरप्रदेशके पश्चिमी जिलों—फर्रुखाबाद, मैनपुरी, इटावा—विशेषतया मथुरा वृन्दावन, आगराकी रासलीलाएँ प्रसिद्ध हैं। ये प्राय कार्तिक-अगहन, चैत्र वैशाख और सावनमें हुआ करती हे।

आज भी रासलीलाका रगमच साधारण होता है। वह प्राय मन्दिरोंकी मणिपर, ऊँचे चबूतरों या ऊँचे उठाये हुए तख्तोंपर बाँसों और कपड़ोंसे बनाया जाता है। उसमें एक परदा रहता है। पात्र परदेके पीछेसे आते रहते हैं। दृश्यान्तरकी सूचना पात्रोंके चले जानेपर कोई निर्देशक देता है। रगभूमिमें एक गायक और वादक बैठे होते हैं और सामने प्रेक्षकोंके लिए खुले आकाशका प्रेक्षागृह रहता है, कभी-कभी चाँदनी या चँदोवा भी तान दिया जाता है। वास्तविक रासलीला प्रारम्भ होनेसे पूर्व आयी हुई जनताके मनोरजन और आनेवाली जनताके प्रतीक्षार्थ रगभूमिमें भजन-गान ढोलक, मँजीरा, हारमोनियम, सितारके साथ होता रहता है। लीलारम्भसे कुछ पहले सूत्रधारकी भाँति एक ब्राह्मण या पुरोहित व्यवस्थापकके रूपमें आता है, जो राधा-कृष्णकी दिखलायी जानेवाली लीलाका निर्देश करता है और उसके पात्रों और लीला (कथा)की प्रशसा कर प्रेक्षकोंको उनकी ओर आकृष्ट करता है। यह प्ररोचना और प्रस्तावना जैसा कार्य है। पश्चात् परदा उठता है और राधा कृष्णकी युगल छविकी आरती की जाती है। आरतीके

समय रंगभूमिके गायकादि तथा प्रेक्षक उठ खड़े होते हैं। परदा फिर गिरता है और उसके अनन्तर निश्चित लीलाका कार्यक्रम प्रारम्भ हो जाता है। पात्रोंमें राधा-कृष्ण तथा गोपिकाएँ रहती हैं। बीच-बीचमें हास्यका प्रसंग भी रहता है। विदूषकके रूपमें 'मनसुखा' रहता है, जो विभिन्न गोपिकाओंके साथ प्रेम एवं हँसीकी बातें करके कृष्णके प्रति उनके अनुरागको व्यंजित कराता है, साथ ही साथ दर्शकोंका भी मनोरंजन करता है। जब कभी परदेके पीछे नेपथ्यमें अभिनेताओंको वेशविन्यास या रूपसज्जा करनेमें विलम्ब होता है तो उस अवकाशके क्षणोंके लिए कोई हास्य या व्यंग्यपूर्ण दो पात्रोंके प्रहसनकी योजना कर ली जाती है, किन्तु यह कार्य लीलासे सम्बन्धित नहीं होता। रास-कार्य सम्पन्न करनेवाले रासधारी कहलाते हैं। वे प्रायः बालक और युवा पुरुष होते हैं। लीलामें हास्यका पुट और शृंगारका प्राधान्य रहता है। उसमें कृष्णका गोपियों, सखियों-के साथ अनुरागपूर्ण वृत्ताकार नृत्य होता है। कभी कृष्ण गोपियोंके कार्यों एवं चेष्टाओंका अनुकरण करते हैं और कभी गोपियाँ कृष्णकी रूपचेष्टादिका अनुकरण करती हैं और कभी राधा सखियोंके, कृष्णकी रूपचेष्टाओंका अनुकरण करती है। यही लीला है। कभी कृष्ण गोपियोंके हाथमें हाथ बाँधकर नाचते हैं और कभी वे मण्डलाकार गोपियोंसे घिरकर उनके बीचमें नाचते हैं। इन लीलाओंकी कथावस्तु प्रायः राधा कृष्णकी प्रेम-क्रीडाएँ होती हैं जिनमें सूरदास आदि कृष्णभक्त-कवियोंके भजन गाये जाते हैं। कार्यकी अधिकता नहीं वरन् पदप्रधान संवाद, सौन्दर्य, नृत्य, गीत, वेणुध्वनि, ताल, लय, रसकी अबाध धारा बहती रहती है। रंगसंकेतों-के लिए पर्देके पीछे निर्देशक रहता है, जो अभिनेताओंके भूल जानेपर संवादोंके वाक्य या भजन एवं पदकी पंक्ति स्मरण करा देता है। लीलामें अभिनय कम, संलाप अधिक रहता है। कृष्ण धीरललित नायक होते हैं जो समस्त कलाओंके अवतार माने जाते हैं। राधा उनकी अनुरंजन-कर्त्री शक्तिके रूपमें दिखायी जाती है। वही समस्त गुणों एवं कलाओंकी खान नायिका बनती है। गोपियाँ, सखियाँ—सभी गाढयौवना और भावप्रगल्भा होती हैं। उनमें शोभा, विलास, माधुर्य, कान्ति, दीप्ति, विलास, विच्छित्ति, प्रागल्भ्य, औदार्य, लीला, हाव, हेला, भाव आदि सभी अलंकार होते हैं।

लीलाके अन्तमें युगल छविकी पुनः आरती होती है। इस बार प्रेक्षक जनता भी आरती लेती है और आरतीके थालमें पैसे-रुपयेके रूपमें भेंट चढाती है। इस बार आरतीके बाद लीलाके विषयमें मंगलकामना की जाती है। यह एक प्रकारका भरतवाक्य है। पश्चात् लीलाका कार्यक्रम समाप्त हो जाता है और पटाक्षेप हो जाता है। रासलीला हल्लीश, श्रीगदित, काव्य, गोष्ठी, नाट्यरासकका ही लोकाश्रय द्वारा परिवर्तित नाट्यरूप है। —वि० रा०

रासो काव्य–'रासो' नामसे अभिहित कृतियाँ संस्कृत तथा प्राकृतमें नहीं मिलती हैं, वे पहले पहल अपभ्रंशमें और उसके अनन्तर हिन्दी और गुजरातीमें मिलती हैं। ये कृतियाँ दो प्रकारकी हैं—एक तो गीत-नृत्यपरक हैं और दूसरी छन्दवैविध्यपरक। गीत-नृत्यपरक धारा पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरातमें विशेष रूपसे समृद्ध हुई और छन्दवैविध्यपरक धारा पूर्वी राजस्थान तथा शेष हिन्दी प्रदेशमें अधिक विकसित हुई।

'रासो' नामके सम्बन्धमें अनेक व्युत्पत्तियाँ दी गयी हैं—'राजसूय', 'रहस्य', 'रसायण' आदि अनेक शब्दोंसे 'रासो'का विकास कहा गया है, किन्तु रासो साहित्यके इतिहास और भाषाशास्त्रके ध्वनि-विकासके नियमोंको देखते हुए इनमेंसे कोई भी ग्राह्य नहीं है। 'रासो' नामका विकास 'रास' और 'रासक'से हुआ है। 'रासो' या 'रासक' एक अति प्राचीन भारतीय नृत्य रहा है, जिसका सम्बन्ध कृष्णलीलासे भी रहा है। 'रास' और 'रासो' ग्रन्थ बारहवीं शती विक्रमीसे मिलने लगते हैं। फलतः इस समयके नाट्यशास्त्र और छन्दशास्त्रके ग्रन्थोंसे उपर्युक्त दोनों काव्यधाराओंकी उत्पत्तिपर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

तेरहवीं शती विक्रमीके एक प्रसिद्ध नाट्याचार्य शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन'में 'लास्य' नृत्यके चार भेद बताये हैं—शृंखला, लता, पिण्डी तथा भेद्यक और 'लता'के पुनः तीन भेद बताये हैं—दण्डरासक, मण्डल-रासक तथा नाट्यरासक। सम्भवतः इसी 'नाट्यरासक'से उस नामके उपरूपककी उत्पत्ति हुई, क्योंकि 'नाट्यरासक' नामक उपरूपकके भेदमें रागोंके साथ उपर्युक्त शृंखला, लता, पिण्डी तथा भेद्यक नृत्योंका प्रयोग होना भी बताया गया है। गीत-नृत्यपरक रासोकी उत्पत्ति इसी 'नाट्यरासक' नामक उपरूपकसे हुई है। इस धाराकी कृतियाँ विशेष अवसरों या पर्वोंपर नृत्यवाद्यादिके साथ गायी ही नहीं जाती थीं, कभी-कभी अभिनीत भी होती थीं, इस तथ्यके प्रमाण पर्याप्त मात्रामें मिलते हैं और इन कृतियोंमें प्रायः इनके गाये जाने और नृत्यके साथ प्रस्तुत किये जानेका माहात्म्य भी ग्रन्थान्तमें कहा गया है।

इसी प्रकार, उस युगके अपभ्रंश-छन्दशास्त्रियोंने 'रासक' और 'रासाबन्ध' काव्योंके लक्षणोंका निर्देश किया है। विरहांकने लिखा है कि जिस रचनामें अडिल्ला, दोहा, घत्ता रड्डा और ढोसा छन्द अधिकतासे पाये जाते हैं, वह 'रासक' कहलाता है। स्वयम्भूने लिखा है कि काव्योंमें 'रासाबन्ध' अपने घत्ता, छप्पय, पद्धडी तथा अन्य (विविध) रूपकोंके कारण जनमनअभिराम होता है। 'रासा' नामक एक प्रसिद्ध छन्द भी प्रायः सभी छन्द-ग्रन्थोंमें लक्षित मिलता है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि पहले रासाप्रधान छन्दवैविध्यपरक काव्यग्रन्थोंको 'रासाबन्ध' और 'रासक' कहा गया और बादमें सभी छन्दवैविध्य-परक काव्य 'रासक' कहलाने लगे। यह 'रासक' गीत, नृत्य, अभिनय द्वारा प्रस्तुत न होकर भाषित मात्र ही होता था। इस धाराकी सबसे प्रमुख प्राचीन रचना 'सन्देश-रासक'में एक स्थानपर नगरवर्णनके प्रसंगमें जो 'कह बहु रुवि णिबद्धउ रासउ भासियउ' कहा गया है, वह बहु (विविध) रूपनिबद्ध इसी धाराके 'रासक'के भाषित होनेके सम्बन्धमें है।

दोनों धाराओंके इस भेदपर ध्यान न देनेके कारण प्रायः समालोचकोंने भूलें की हैं। जिस प्रकार 'रासो'की व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें तरह-तरहकी कल्पनाएँ की गयी हैं,

उसी प्रकार 'रासो'की विषयवस्तु आदिके सम्बन्धमें भी। किन्तु दोनों धाराओंके परिशीलनसे ज्ञात होगा कि रासो काव्योंमें विषयवस्तु, रस, शैली आदिका कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उनके विषय धार्मिक भी हैं, लौकिक भी, जहाँ एक ओर शान्त रस ही एकमात्र रस है, उसी प्रकार दूसरी ओर वीर और शृंगार अंगी रस हैं। रचनाएँ एक ओर कथानकका विकास करती हैं, तो दूसरी ओर कोई कथानक उनमें है ही नहीं, केवल विषयनिरूपण है। कथानक भी कभी धार्मिक है, पौराणिक है, ऐतिहासिक है, तो कभी निरा कल्पित है। कोई रचनाएँ १००-१२५ पंक्तियोंकी ही हैं, तो कोई ५०,००० पंक्तियोंकी। नीचे दोनों धाराओं-की प्रमुख रचनाओंका जो संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है, उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी।

गीतनृत्यपरक रासो-धारा—(१) 'उपदेशरसायन' (११४३ ई०), इसके रचयिता जिनदत्त सूरि हैं और यह जैन धर्मोपदेशके लिए लिखी गयी है। इसमें कोई कथा नहीं है, कुल छन्दसंख्या ३२ है। (२) 'भरतेश्वर बाहुवली-रास' (११८४ ई०), इसके रचयिता शालिभद्र सूरि हैं। इसमें ऋषभदेवके दो पुत्रों—भरतेश्वर और बाहुवलिके बीच राजसत्ताके लिए हुए संघर्षकी कथा है। कुल छन्दसंख्या २०३ है। (३) 'बुद्धिरास' (११८४ ई०), इसके रचयिता भी उपर्युक्त शालिभद्र सूरि हैं। इसका विषय उपर्युक्त 'उपदेशरसायन'की भाँति जैन धर्मोपदेश है। रचना ६३ छन्दोंमें समाप्त हुई है। (४) 'जीवदयारास' (१२०० ई०), इसके रचयिता आसगु हैं। इसका विषय दयाधर्मका उपदेश है। (५) 'चन्दनबालारास' (१२०० ई० के लगभग), इसके भी रचयिता उपर्युक्त आसगु हैं। इसमें चन्दनबालाकी धार्मिक कथा कही गयी है। कुल छन्दसंख्या ३५ है। (६) 'जम्बूस्वामीरास' (१२०९ ई०), यह रचना धर्मसूरिकी है। इसमें महात्मा जम्बूस्वामीका चरित तथा गुण वर्णित है। (७) 'रेवन्तगिरिरासु' (१२३१ ई० के लगभग), यह कृति विजयसेन सूरिकी है। इसमें गिरनारके जैन मन्दिरोंके जीर्णोद्धारकी कथा है। कुल छन्दसंख्या ७२ है। (८) 'नेमिजिणन्दरासो' अथवा 'आबूरास' (१२३२ ई०), यह पाल्हणकी कृति है। इसमें नेमिनाथकी कथा कही गयी है। कुल छन्दसंख्या ५५ है। (९) 'गयसुकुमालरास' (१२४३ ई० के लगभग), यह देल्हणिकी कृति है। इसमें गयसुकुमारका चरित वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ३४ है। (१०) 'सप्तक्षेत्रिरासु' (१२७० ई०), इसके रचयिता अज्ञात हैं। इसमें जैन सप्तक्षेत्रों—जिन-मन्दिर, जिन प्रतिमा, ज्ञान, साधु, साध्वी, श्राव और श्राविकाकी उपासना वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ११९ है। (११) 'पेथडराम' (१३०३ ई० के लगभग), इसके रचयिता मण्डलिक हैं। इसमें संघपति पेथड़का चरित वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ६५ है। (१२) 'कच्छूलिराम' (१३०६ ई०), इसके रचयिताका नाम अज्ञात है। इसमें एक जैन तीर्थ कच्छूलि ग्रामका वर्णन है। कुल छन्दसंख्या ३५ है। (१३) 'समरारासु' (१३१४ ई०के बाद), इसके रचयिता अम्बदेव सूरि हैं। इसमें संघपति समराका चरित्र वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ११० है। (१४) 'वीसलदेवरास' (१२८१ ई०के लगभग), इसके रचयिता नरपति नाल्ह हैं। इसमें अजमेरके चौहान राजा वीसलदेवकी स्त्रीसे रूठकर उड़ीसा जानेकी कथा है। रचना कुल १२८ छन्दोंमें समाप्त हुई है।

उपर्युक्त रचनाओंमेंसे अन्तिम पश्चिमी राजस्थानीमें है और शेष अपभ्रंश तथा अपभ्रंश और आधुनिक आर्य भाषा हिन्दीकी विभिन्न मात्राओंमें मिश्रणकी शैलियोंमें हैं। अन्तिमको छोड़कर सभी धार्मिक उपदेशों और धार्मिक कथाओं अथवा चरितोंसे सम्बन्धित हैं। इस धाराकी बादकी रचनाएँ भी जैन धर्मकी ही हैं और सभी दृष्टियोंसे पूर्वोल्लिखित प्रथम तेरह रचनाओंकी परम्परामें हैं, इसलिए उनका उल्लेख अनावश्यक होगा। ये रचनाएँ संख्यामें कई सौ बतायी जाती हैं, इसलिए इनका संक्षिप्त उल्लेख भी प्रस्तुत लेखमें सम्भव न होगा। इस धाराकी समस्त धार्मिक रचनाओंमें काव्यके तत्त्व भी बहुत कम मात्रामें मिलते हैं, इसलिए साहित्यके इतिहासमें इनका महत्त्व काव्यरूपको ही समझनेमें अधिक है।

छन्दवैविध्यपरक रासो-धारा—(१) 'मुंजरास' (११४० ई०के पूर्व), यह रचना अभीतक नहीं प्राप्त हुई है। केवल इसके कुछ छन्द हेमचन्द्रके प्रसिद्ध प्राकृत व्याकरण (११४० वि०) तथा मेरुतुंगके 'प्रबन्धचिन्तामणि'-(१३०४ ई०)में उद्धृत हे। रचयिता अज्ञात है। 'प्रबन्ध-चिन्तामणि'में मुंज और मृणालवतीके प्रेमकी कथा भी दी गयी है, जिसमें मृणालवतीके विश्वासघातके कारण मुंजका प्राणान्त होता है। उद्धृत छन्द विविध प्रकारके ह, जिससे यह अनुमान सहजमें किया जा सकता है कि यह इसी धाराकी रचना है। (२) 'सन्देशरासक' (११४३ ई०के लगभग), इसके रचयिता अब्दुल रहमान हैं। इसमें एक प्रोषितपतिका विरहिणीकी ललित कथा है। इसमे कुल २२ प्रकारके छन्दोंका प्रयोग हुआ है, जिनमें रासा एक प्रमुख छन्द है। काव्यकी दृष्टिसे यह रचना बहुत उत्कृष्ट है। कुल छन्दसंख्या २२३ है। (३) 'पृथ्वीराजरासो' (चौदहवीं शती विक्रमी), यह रचना चन्दवरदायीकी कही जाती हे। इसमें पृथ्वीराजका चरित वर्णित है। इस रचनाके कई पाठ हैं, जिनमें छन्दसंख्या ३२५ के लगभगसे लेकर १०,००० के लगभगतक है। इन सभीमें चन्द पृथ्वीराजके राजकविके रूपमें आता है, किन्तु इन सभी पाठोंमें अनैतिहासिक तत्त्व विद्यमान ह, इसलिए यह रचना इनमेंसे किसी भी रूपमें पृथ्वीराजकी समसामयिक नहीं मानी जा सकती। काव्यकी दृष्टिसे यह रचना निस्सन्देह उत्कृष्ट है। (४) 'हम्मीररासो' (१२९३ ई०के लगभग), इस नामकी कोई रचना अभीतक मिली नहीं है, किन्तु 'प्राकृतपैंगलम्'में अनेक छन्द विविध वृत्तोंमें हम्मीरके सम्बन्धमें उद्धृत हैं, इसलिए इस बातकी यथेष्ट सम्भावना है कि कोई 'हम्मीररासो' भी लिखा गया था और उसीसे ये छन्द लिये गये हैं। इनका रचयिता अज्ञात है। ये छन्द वीर रसके हैं और काव्यकी दृष्टिसे बहुत उत्कृष्ट ह। (५) 'बुद्धिरासो' (चौदहवीं शती विक्रमी), इसका रचयिता जल्ह है। इसका विषय एक राजकुमार तथा जलधितरंगिनी नामक नायिकाकी एक कल्पित प्रेमकथा है। इसमें भी छन्दवैविध्य प्रकट है। कुल छन्दसंख्या

१४० है। जल्हके दो छन्द एक प्राचीन जैन प्रबन्ध-संग्रहमें, जिसकी हस्तलिखित प्रति सं० १५२८ की है तथा 'जयचन्द-प्रबन्ध'के अन्तर्गत मिलते हैं। असम्भव नहीं कि जिस प्रकार चन्दका 'पृथ्वीराजरासो' है उसी प्रकार जल्हका कोई 'जयचन्दरासो' भी रहा हो। (६) 'परमालरासो' (सोलहवीं शती विक्रमी), यह कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है। यह वस्तुतः 'पृथ्वीराजरासो'के महोबा-खण्डका ही, जो स्वतः एक प्रसिद्ध अंश है, और भी प्रक्षिप्त रूपान्तर है। (७) 'राउ जैतसीरोरासो' (१५४३ ई० के लगभग), इसका रचयिता अज्ञात है। इसमें बीकानेरके महाराजा राव जैतसीके युद्धका वर्णन है। कुल छन्दसंख्या ९० है। (८) 'विजयपालरासो' (१५४३ ई० के लगभग), इसके रचयिता नल्हसिंह भाट हैं। इसमें विजयगढ़के यदुवंशी राजा विजयपालकी दिग्विजयका वर्णन है। पूरी रचना नहीं मिली है। (९) 'रामरासो' (१६१८ ई०), इसके रचयिता माधवदास चारण है। विषय रामकथा है। कुल छन्दसंख्या १६०० के लगभग है। (१०) 'राणारासो' (१६१८ ई० के पूर्व), इसके रचयिता दयाल कवि हैं। इसमें सीसोदिया वंशके राजाओं-का चरित वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ८७५ है। (११) 'रतनरासो' (१६२३ ई० के लगभग), इसके रचयिता कुम्भकर्ण है। इसमें रतलामके महाराजा रतनसिंहका चरित वर्णित है। (१२) 'कायमरासो' (सं० १६३४-१६५३ ई०), इसके रचयिता न्यामत खाँ 'जान' हैं। इसमें कायम-खानी वंशके नवाबोंका चरित वर्णित है। (१३) 'शत्रुसाल-रासो' (१६५३ ई०के लगभग), इसके रचयिता राव डूँगरसी है। इसमें बूँदीके राव शत्रुसालका चरित वर्णित है। इसकी छन्दसंख्या ५०० के लगभग है। (१४) 'माँकण-रासो' (१७०० ई०), यह रचना कीर्तिसुन्दरकी है। इसमें माँकण(मत्कुण=खटमल)का चरित्र वर्णित है। यह रचना अपने विषयवैशिष्ट्यके कारण महत्त्व रखती है। इसमें कुल ३९ छन्द हैं। (१५) 'संगतसिंहरासो' (१६९८ ई० के लगभग), यह रचना गिरिधर चारणकी है। इसमें राणाप्रतापके भाई शक्ति सिंहका चरित्र वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ९४३ है। (१६) 'हम्मीररासो' (१७२८ ई०), यह रचना जोधराजकी है। इसमें रणथम्भौरके हम्मीरका चरित्र वर्णित है। इसकी कुल छन्दसंख्या १००० के लगभग है। (१७) 'खुमाणरासो' (विक्रमी १८वीं शती), इसके रचयिता दलपति विजय हैं। इसमें खुमाणके वंशका इतिहास है। यह खुमाण(८१३, ८३३ ई० के लगभग)के समयकी रचना मानी जाती है, किन्तु इसमें संग्राम सिंह द्वितीय(१७१०-१७३३ ई०)तकका चरित वर्णित है। इसकी छन्दसंख्या ५००० के लगभग है।

इस धारामें भी बहुत पीछेतक रचनाएँ होती रहीं, किन्तु उनमें इस धाराका निरन्तर ह्रास परिलक्षित होता है, इसलिए उनका उल्लेख अनावश्यक होगा। भाषाकी दृष्टिसे इस धाराकी प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ रचनाएँ अपभ्रंश तथा अपभ्रंश और आधुनिक आर्यभाषा हिन्दीकी मिश्र शैलियोंमें हैं। शेष सभी रचनाएँ आधुनिक आर्यभाषा हिन्दीमें हैं। इस धारामें जहाँ एक ओर ऐतिहासिक महा-पुरुषोंके चरित्र हैं, दूसरी ओर रामका अवतारी चरित्र भी वर्णित हुआ है, और तीसरी ओर खटमल भी इस धाराकी एक रचनाका विषय बन गया है। छन्दवैविध्य ही इस धाराकी एक अनिवार्य विशेषता है और इस धाराकी किसी भी रचनाका प्रणयन गीत, नृत्य, अभिनयकी दृष्टिसे नहीं हुआ है। काव्यके तत्त्व इस धाराकी रचनाओंमें प्रायः प्रचुरताके साथ मिलते हैं, अतः साहित्यकी दृष्टिसे वह धारा निस्सन्देह अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वकी है। —मा० प्र० गु०

रिपोर्ताज—रिपोर्ताज फ्रांसीसी भाषाका शब्द है और अँग्रेजी शब्द रिपोर्टसे इसका गहरा सम्बन्ध है। रिपोर्ट किसी घटनाके यथासाध्य वर्णनको कहते हैं। रिपोर्ट सामान्यतः समाचारपत्रके लिए लिखी जाती है और उसमें साहित्यिकता नहीं होती। रिपोर्टके कलात्मक और साहित्यिक रूपको ही रिपोर्ताज कहते हैं। वस्तुगत तथ्यको रेखाचित्रकी शैलीमें प्रभावोत्पादक ढंगसे अंकित करनेमें ही रिपोर्ताजकी सफलता है। आँखों-देखी और कानों-सुनी घटनाओंपर रिपोर्ताज लिखा जा सकता है, कल्पनाके आधार-पर नहीं। लेकिन तथ्योंके वर्णनमात्रसे रिपोर्ताज नहीं बना करता, रिपोर्ट भले ही बन सके। घटना-प्रधान होनेके साथ ही रिपोर्ताजको कथातत्त्वसे भी युक्त होना चाहिये। रिपोर्ताज-लेखकको पत्रकार तथा कलाकारकी दोहरी जिम्मे-वारी निभानी पड़ती है। साथ ही उसके लिए आवश्यक होता है कि वह जनसाधारणके जीवनकी सच्ची और सही जानकारी रखे और उत्सवों—मेलों, बाढ़ों, अकालों, युद्धों और महामारियों जैसे सुख-दुखके क्षणोंमें जनताको निकटसे देखे। तभी वह अखबारी रिपोर्टर और साहित्यिक रचनाकार-की हैसियतसे जन-जीवनका प्रभावोत्पादक इतिहास लिख सकेगा।

द्वितीय महायुद्धमें यह साहित्यिक गद्यरूप पाश्चात्य साहित्य और विशेषतः रूसी साहित्यमें बहुत लोकप्रिय और विकसित हुआ। एलिया एरनबर्गको रिपोर्ताज लेखकके रूपमें बड़ी ख्याति मिली। हिन्दीमें रिपोर्ताज साहित्य मूलतः विदेशी साहित्यके प्रभावसे आया, पर हिन्दीमें रिपोर्ताजकी शैली अभी मँज नहीं सकी है। बंगालके अकाल और जन-आन्दोलन आदि विषयोंको लेकर कुछ रिपोर्ताज लिखे अवश्य गये हैं, पर हिन्दीमें रिपोर्ताजको एक सुनिश्चित साहित्य-रूपकी प्रतिष्ठा अभी नहीं मिल सकी है। सर्वश्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, अमृतराय आदिने हिन्दीमें रिपोर्ताज लिखे हैं। —अ० कु०

रिव्यू—हिन्दीमें इसे **पुस्तक समीक्षा** कहते हैं। कुछ विद्वानोंने इसे पर्यालोचना नाम भी दिया है। संसारमें लगभग प्रत्येक देशमें पुस्तक-समीक्षाका प्रचार प्रेस और समाचारपत्रोंके कारण हुआ। प्रेसके प्रचलित हो जानेके फलस्वरूप साहित्य इतनी अधिक मात्रामें प्रकाशित होने लगा है कि सामान्यतः पाठकोंको उसकी पूरी जानकारी प्राप्त करना कठिन हो गया। साथ ही, जीवन इतना व्यस्त और संघर्षमय हो गया है कि प्रत्येक पाठकको प्रत्येक पुस्तकका अध्ययन करना और अपना निर्णय देना कठिन है। यूरोपमें सत्रहवीं शताब्दीके लगभग मध्यसे और हिन्दीमें उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्धसे पुस्तक-समीक्षाका

सूत्रपात होता है। प्रारम्भमें तो **पुस्तकपरिचय** ही अधिक रहता था। धीरे-धीरे पत्र-पत्रिकाओंके सम्पादक पाठकोंकी साहित्याभिरुचिके नियन्ता बने और प्राचीन तथा नवीन साहित्यकी प्राचीन कालमें तथा समयविशेषमें प्रचलित मानदण्डोंके आधारपर परीक्षा होने लगी। हिन्दीमें अधिकतर नवीन पुस्तकोंका परीक्षण ही होता था। यूरोपमें तो 'मैगजीन'से भिन्न 'रिव्यू' प्रकाशित हुए, जिनमें केवल पुस्तकपरिचय और समीक्षा ही रहती थी। पुस्तकसमीक्षाके प्रारम्भिक कालमें व्यक्तिगत आक्षेप, दलीय वैमनस्य आदि बातें भी रहती थीं, किन्तु शीघ्र ही उसमें शिष्टताका समावेश हुआ।

पुस्तकसमीक्षाका व्यावहारिक मूल्य तो है, किन्तु वह आलोचनासे भिन्न वस्तु है। यदि थोड़ी देरके लिए यह प्रश्न हटा दिया जाय कि समीक्षक कहाँतक अपनेको तटस्थ रख सकता है, तो केवल यही शेष रह जाता है कि प्रत्येक समीक्षामें पुस्तकका सक्षिप्त परिचय रहता है तथा केवल शैलीके थोड़ेसे सकेतमात्रसे आलोचना होनेका परिचय मिलता है। वास्तवमें आलोचना और पुस्तकसमीक्षामें तात्त्विक भेद है।

पुस्तकसमीक्षामें किसी ग्रन्थकारकी केवल एक ही रचनाका, वह भी ताजा प्रकाशितका, उल्लेख रहता है। किन्तु वैसे एक ही विषयसे सम्बन्धित कई जिल्दोंका उल्लेख रह सकता है। पुस्तकके बाजारमें आते ही या उससे पहले ही उसकी समीक्षा पत्रोंमें प्रकाशित होती है और वह एक समान बौद्धिक धरातलपर स्थित पाठकोंके लिए होती है। यह समीक्षा जब प्रकाशित होती है तो विज्ञापनकी दृष्टिसे प्रकाशित होती है, न कि पाठकोंकी माँगके फलस्वरूप। समीक्षक पुस्तकके मूल्य, जिल्द, टाइप आदिका भी उल्लेख करता है। पुस्तकसमीक्षामें लेखकके अध्ययन-क्षेत्र या स्वय लेखकके सम्बन्धमें कुछ नहीं रहता। वह केवल पाठकोंको विषयसे परिचित करा देती है। विभिन्न विषयोंसे सम्बन्धित पुस्तकोंकी समीक्षाकी भाषा भी भिन्न-भिन्न प्रकार होती है। साथ ही एक ही पत्रमें एक-से पाठकोंके लिए लिखते रहनेसे समीक्षक केवल अपनी रुचिको ही रुचि समझने लगता है और स्वेच्छानुसार किसीकी प्रशसा या निन्दा करने लगता है। समीक्षक पुस्तकों और पाठकोंके बीच सम्बन्ध स्थापित करता है और पुस्तकें छाँटनेमें पाठककी सहायता करता है। आधुनिक समयमें बहुतसे पाठक तो, बिना पुस्तक पढ़े ही, समीक्षाके आधारपर वाद-विवाद करने लगते हैं। समीक्षक जान-बूझकर जनताको वही चीज देता है जो जनता चाहती है–सूचना और मनबहलाव। कोई कोई समीक्षा तो बड़ी रोचक और आकर्षक होती है। उत्तम कोटिकी समीक्षामें पुस्तकका सक्षेप बहुत कम दिया जाता है। समीक्षक उद्धरण भी दे सकता है, किन्तु उनकी सीमा निर्धारित रहती है। अनेक समीक्षाओंमें केवल इधर उधरकी बातें रहती हैं और समीक्षक व्यापारमें व्यर्थकी टाँग अड़ाता है।

आलोचक तो बहुज्ञ और गम्भीर होता है। समीक्षकमें दायित्व और गम्भीरताके स्थानपर जल्दबाजी रहती है। ऐसे समीक्षकोंकी लेखकों और कवियोंने भर्त्सना की है। आधुनिक समयमें तो समीक्षकोंकी सख्या बहुत बढ गयी है और एक ही कृतिकी कई तरहकी समीक्षाएँ निकलती हैं। मतविभिन्नताके कारण कभी-कभी तो पाठक बेचारा चक्करमें पड़ जाता है। इससे पुस्तकसमीक्षाका उद्देश्य ही विफल होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। उसका कोई आलोचनात्मक मानदण्ड नहीं रह गया। वास्तवमें पुस्तक-समीक्षक यदि सचाई बरतें तो पाठकोंके लिए बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। कुशल समीक्षक लेखक और पाठकके बीच मध्यस्थ है। उसे अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिये, विशेषत आधुनिक वैज्ञानिक और व्यस्त युगमें जब कि उसकी मध्यस्थता अपरिहार्य-सी हो गयी है, वह लेखकके लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

पुस्तकसमीक्षा कभी-कभी **आलोचना**के निकट भी आ जाती है और यह उस समय जब कि समीक्षक निर्णय देने लगता है। हिन्दीमें उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें प्रारम्भिक आलोचना पुस्तकसमीक्षा द्वारा व्यक्त हुई और वह अनेक आलोचकोंके लिए शिक्षास्थल सिद्ध हुई। पश्चिममें भी ऐसा हुआ। इतनेपर भी पुस्तकसमीक्षा और आलोचना भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। पुस्तकसमीक्षाकी उपर्युक्त विशेषताओंमें आलोचनाके गुणोंका प्राय ह्रास देखा जाता है। आलोचक तो अपना सम्पर्क स्थापित कर कृतिका मूल्याकन करता है और समीक्षककी भाँति पुस्तकको खण्ड-खण्ड रूपमें न देखकर समग्र रूपमें देखता है। आलोचक पत्रकी बाधाओं और सीमाओंसे मुक्त रहता है। पुस्तक-आलोचक विभिन्न ग्रन्थों और लेखकोंकी तुलना कर सकता है। किन्तु यह कार्य पुस्तकसमीक्षककी परिधिसे बाहर है। आलोचक कलात्मक और सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी मूल्याकन करता है। —ल० सा० वा०

रीति–इसका शब्दार्थ है प्रणाली, पद्धति, मार्ग, पन्थ, शैली आदि। रीतिका अर्थ विशिष्ट कार्य-पद्धति होता है। सस्कृत साहित्यमें रीतिको काव्यकी आत्माके रूपमें स्वीकार किया गया है। यह रीति 'विशिष्ट पदरचना' मानी गयी है। यह विशिष्टता गुणोंपर आधारित है, जैसा कि रीति सिद्धान्तके प्रवर्तक वामन(९ श० ई० मध्य)का मत है। इस प्रकार रीति गुणोंसे सम्बन्धित है। रीतिका दूसरा सम्बन्ध पदरचनासे है, जो कि समासपर निर्भर है। अत कुछ आचार्योंने समासहीनता, स्वल्पसमासता, दीर्घ-समासताके रूपमें भी रीतिको देखा है। भरत(४ श० ई० नाट्यशास्त्र)ने नाट्यके प्रयोगसे विभिन्न प्रदेशोंके अनुसार जिस प्रकार आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाचाली, औड्रमागधी आदि प्रवृत्तियोंका वर्णन किया है (ना०शा० १४ ३६-४९), उसी प्रकार भामह और दण्डी(७-८ श० ई० काव्यालकार तथा काव्यादर्श)ने रीतिका भी देशोंसे सम्बन्धित रूपमें वर्णन किया है। कुन्तक(१०-११ श० ई० व० जी०)ने रीतिको मार्ग कहा है, जिसका आधार देश नहीं, वरन् कविस्वभाव है। विश्वनाथ(१४ श० ई० पूर्वा० सा० द०)ने इसे रसका उपकार करनेवाली (उपकर्त्री रसादीनाम्) कहकर व्यक्त किया है। उन्होंने इसे शैलीके रूपमें ग्रहण किया है, जिसका आधार वर्णसघटन, गुण और समास है। रीतिके भेद दो, तीन और चारतक

माने गये हैं। भामह और दण्डीने दो भेद—गौड़ी और वैदर्भी माने हैं। वामनने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली तथा रुद्रटने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी भेद किये हैं। कुन्तकने रीतिको मार्गके रूपमें ग्रहण किया है और उसका सम्बन्ध गुण और कविस्वभावसे स्थापित किया है। उनके द्वारा किये गये भेद हैं—सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इस प्रकार रीतिकी विवेचना समास, गुण, अलंकार और वैचित्र्य आदिके आधारपर की गयी है। आनन्दवर्धन (९ श० ई० उत्त०) और मम्मट (१२ श० ई० पूर्वा०) आदिने रीतिके नियामक तत्त्वोंमें वक्ता, वाच्य, विषय और रसकी अनुकूलता या औचित्यको स्वीकार किया है (ध्वन्या० तथा का० प्र०)। इस प्रकार रीति शब्द शैली या मार्गके विशिष्ट रूपमें गृहीत है।

रीति शब्दका हिन्दी साहित्यमें विशेष अर्थमें प्रयोग हुआ है। यहाँपर रीतिका तात्पर्य, लक्षण देते हुए या लक्षणको ध्यानमें रखकर लिखे गये काव्यसे होता है। इस प्रकार रीति काव्य (दे०) वह काव्य है जो लक्षणके आधारपर या उसको ध्यानमें रखकर रचा जाता है। अलंकार, रस, ध्वनि आदिको लेकर इनके उदाहरणरूपमें रचित हिन्दी काव्य इस साहित्यके अन्तर्गत हैं। शास्त्रीय परम्परामें चिन्तामणिने 'कविकुलकल्पतरु'(१६५० ई०)मे रीतिको काव्यका स्वभाव माना है, जो विधानाथ(१३-१४ श० ई०)के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'के आधारपर है और वृत्तिसे भिन्न है। कुलपतिने रीतिकी पर्यायवृत्तियोंपर 'रसरहस्य'में विचार किया है (१६७० ई०)। देवने अपने 'काव्यरसायन'में (१७०३ ई०) रीतिको काव्यद्वार माना है, जिसका भाव माध्यमसे है। देवने रीति और गुणका एक रूपमें वर्णन किया है, यह परम्परासे अलग बात है। गुण रीतिके आधार माने गये हैं, पर उन्हें अभिन्न किसीने नहीं माना है। वास्तवमें रीति अधिक व्यापक है। दासने 'काव्यनिर्णय'(१७४६ ई०)में मम्मटके आधारपर रीतियोंके स्थानपर केवल वृत्तियोंका वर्णन किया है। जगत सिंहने 'साहित्यसुधानिधि'(१८२८ ई०)में रुद्रटके आधारपर रीति-विभाजन किया है, केवल समासोंकी संख्यामें अन्तर है। आधुनिक विवेचकोंमें कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया तथा रामदहिन मिश्र हैं, जिनका आधार संस्कृत-रीतिशास्त्र है। नवीन दृष्टिके आलोचकोंने इसे वर्णनकी शैलीके रूपमें स्वीकार किया है। (और भी दे० 'गुण')।

१ वैदर्भी रीति—विदर्भ आदि देशोंमें प्रचलित रीति वैदर्भी मानी गयी है। इसके सम्बन्धकी धारणाओंमें कुछ विकास देखनेको मिलता है। यह रीतिकाव्यकी सर्वोत्तम रीति मानी गयी है। दण्डी श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि, इन दश गुणोंसे युक्त वैदर्भी रीति मानते हैं। वामनने भी इसे समग्र गुणोंसे युक्त माना है, परन्तु इसके साथ ही वे इसे वीणाके स्वरोंके समान मधुर और विलक्षण कान्तिसे युक्त मानते हैं। उनका कथन है 'अस्पृष्टा दोषमात्राभि समग्रगुणगुम्फिता। विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते' (का० सू० वृ० १ : २ ११ वृ०)। इस प्रकार वैदर्भी रीतिकी विलक्षण आभा है। रुद्रट और राजशेखर वैदर्भीको समासरहित शैलीके रूपमें ग्रहण करते हैं। रुद्रटके मतानुसार यह सुकुमार और कोमल गुणोंसे युक्त होनेके कारण शृंगार, करुण, प्रेयम् आदि रसोंके लिए उपयुक्त है। राजशेखर इसे स्थानानुप्रास और योगवृत्तिसे युक्त मानते हैं। कुन्तकने वैदर्भीको सुकुमार मार्गके रूपमें व्यक्त किया है। 'साहित्यदर्पण'में इसका पूर्ण स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—'माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैं रचना ललितात्मिका। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।' (९ २–३), अर्थात् माधुर्य गुणकी व्यंजना करनेवाले वर्णों द्वारा वृत्तिहीन (समासरहित) या अल्पवृत्तिवाली रचना वैदर्भी है।

२ गौडी रीति—गौड़ी ओजपूर्ण शैली है। दण्डीके मतानुसार दस गुणोंका समावेश इसमें नहीं होता है। वामनने इसे ओजकान्तिमयी शैलीके रूपमें ग्रहण किया है जिसमें उग्र पदों और समासकी बहुलता होती है। मधुरता और सुकुमारताका इसमें अभाव रहता है (का० सू० वृ० १ २ · १२)। रुद्रटने इसे दीर्घ समासवाली रीति माना है, जो कि रौद्र, भयानक, वीर आदि उग्र रसोंकी अभिव्यंजनाके लिए उपयुक्त होती है। राजशेखरके मतानुसार दीर्घ समासवाली, सानुप्रास तथा योगवृत्तिसम्पन्न गौड़ी रीति है। कुन्तकके विचित्र मार्गके भीतर इस रीतिका समावेश हो सकता है, परन्तु उनकी धारणा कुछ भिन्न है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इस रीतिका लक्षण निम्नांकित रूपमें दिया है—'ओज प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बर पुन। समासबहुला गौडी' (९ : ३–४)। इस प्रकार ओज गुण-प्रकाशक वर्णोंसे युक्त उद्भट रचना, जिसमें समास और विद्वत्तापूर्ण पदोंका अधिक प्रयोग होता है, गौड़ी रीति है।

३ पांचाली रीति—पांचाली रीतिका उल्लेख भामह और दण्डीने नहीं किया है। वामनने ही इसका उल्लेख प्रथम बार किया है। यह माधुर्य और सुकुमारतासे सम्पन्न रीति है और अगठित, भावशिथिल, छायायुक्त (कान्तिरहित), मधुर और सुकुमार गुणोंसे युक्त होती है। वामनका कथन है—'अश्लिष्टश्लथभावा ता पूरणच्छायया-श्रिताम्। मधुरा सुकुमाराञ्च पांचाली कवयो विदु।' (का० सू० वृ० १ · २ १३ वृ०)। रुद्रटके मतसे पांचाली लघु समासवाली होती है और राजशेखर भी यही मानते हैं। यह स्वल्पानुप्रास और उपचारवृत्तिसे युक्त मानी गयी है। कुन्तकके मध्यम मार्गमें इसकी विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। विश्वनाथने लिखा है—'समस्तपञ्चषट्पदो बन्ध' पांचालिका मता।' (सा० द० · ९ ४), यह पाँच छ समासयुक्त पदोंके बन्धवाली रचना पांचाली है। पांचाली इस प्रकार मध्यम रीति है।

४ लाटी—लाटीका उल्लेख वामनने भी नहीं किया है। रुद्रटने इसका वर्णन किया है। लाटी उनके मतसे मध्यम समासवाली, उग्र रसोंके वर्णनके लिए उपयुक्त है। अन्य आचार्योंने इसका उल्लेख नहीं किया। विश्वनाथने इसे वैदर्भी और पांचालीके मध्यकी रीति माना है—'लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपांचाल्योरन्तरे स्थिता।' (सा० द० ९ ५)। इस प्रकार लाटी रीतिकी कोई अलग विशेषता स्पष्ट नहीं हो पाती।

५ पंचालिका—पञ्चालिका, पांचाली रीतिका ही दूसरा

नाम है। इसका उल्लेख राजशेखरने अपने ग्रन्थ 'कर्पूरमंजरी'में किया है। 'कर्पूरमजरी'के मगलाचरण-श्लोकमें तीन रीतियोंका उल्लेख मिलता है—वच्छोमी, मागधी और पचालिका, परन्तु इनके लक्षण नहीं दिये गये हैं। अन्यत्र पाचाली रीतिका संकेत करते हुए राजशेखरने माना है कि शब्दार्थका समान सघटन करनेवाली समन्वयपूर्ण रीति है। वामनने भी वैदर्भी और गौडी रीतियोंकी विशेषताओंका समन्वय करनेवाली रीतिको पाचाली माना है। वही पचालिका रीति है। **मागधी**—मागधी रीतिका उल्लेख 'कर्पूरमंजरी'में हुआ है। राजशेखरने 'काव्यमीमासा'में वैदर्भी, पाचाली और गौड़ी तीन रीतियोंका उल्लेख किया है। अत यह मागधी, गौड़ीया रीति ही जान पड़ती है। भोजने मागधीको खण्टरीति माना है। अर्थात् जहाँ अन्य रीतियोंका अशत निर्वाह हो, वहाँ मागधी रीति है। यह भी सम्भव है कि 'बालरामायण'में उल्लिखित 'मैथिली' रीतिका पर्याय यह मागधी रीति हो, जैसा कि श्रीपादका भी मत है। **मैथिली**—मैथिली नामक रीतिका उल्लेख केवल दो विद्वानों, राजशेखर और श्रीपादने किया है। इसका उल्लेख राजशेखरकी 'काव्यमीमासा'में नहीं है, वरन् 'बालरामायण'में है। इस रीतिमें अर्थकी मतिशयता, परन्तु स्वाभाविकता, पूरे प्रबन्धमें सन्दर्भ तथा समासका अल्प प्रयोग तथा योग-परम्पराके अनुरूप उक्ति आदि विशेषताओंका होना आवश्यक है। इसे कुछ लोग मागधीका ही रूप मानते हैं। **वच्छोमी**—इस रीतिका उल्लेख राजशेखरने अपने ग्रन्थ 'कर्पूरमजरी'में किया है। यह वत्सगुल्मीका प्राकृत रूप है और वैदर्भी रीतिसे भिन्न नहीं है। वच्छोमी रीति वैदर्भीका ही पर्याय है। अत वच्छोमी रीति भी रसको उत्पन्न करनेवाली और प्रसार एव माधुर्य गुणोंसे सम्पन्न रीति है। —भ० मि०

रीति-आलोचना-प्रणाली—कृतिकी अन्तरात्मा, उसके भाव-विन्यास, तद्गत दृष्टिकोण तथा चेतनाको प्रधानता देकर कृतिके बाह्य रूप, उसकी शैली आदिको गौण माननेवाली वह आलोचना-प्रणाली, जो रचना द्वारा सभी पाठकोंपर समान प्रभावको ही उसकी श्रेष्ठताका मानदण्ड मानती है, रीति-प्रणाली कही जाती है। कृतिकी आलोचनाके मुख्य स्वीकृत आधार उसके बाह्याभ्यन्तर पक्ष ही हैं, किन्तु यह प्रणाली एकागी और वैषम्यमूलक होकर केवल कृतिकी अन्तरात्माको ही महत्त्व प्रदान करती है और बाह्य उपकरणोंको गौण मानकर चलती है। इस प्रणालीका आलोचक कृतिके आन्तरिक तत्त्वोंका दिग्दर्शन कराता हुआ उसका तीव्र अनुभव कराता है। —आ० प्र० दी०

रीतिकाल—हिन्दी-साहित्यका उत्तरमध्यकाल 'रीतिकाल' (१६५८–१८५७ ई०) कहलाता है। इस कालके काव्यकी प्रमुख धाराका विकास कविताकी रीतिके आधारपर हुआ। यह 'रीति' शब्द संस्कृतके काव्यशास्त्रीय 'रीति' शब्दसे भिन्न अर्थ रखनेवाला है। संस्कृत साहित्यमें रीतिको काव्यकी आत्मा माननेवाला एक सिद्धान्त है, जिसका प्रतिपादन आचार्य वामनने अपने ग्रन्थ 'काव्यालकारसूत्र'में किया था—'रीतिरात्मा काव्यस्य।' रीति काव्यकी आत्मा है और काव्यकी श्रेष्ठताकी कसौटी रीति है, यह मान्यता इस सिद्धान्तकी है। वैदर्भी, पाचाली, गौड़ी, लाटी रीतियाँ हैं। रीतिका आधार गुण है। सस्कृतकी रीति सम्बन्धी यह धारणा हिन्दी काव्यशास्त्रके कुछ ही ग्रन्थोंमें ग्रहण की गयी है। परन्तु रीतिको काव्य-रचनाकी प्रणालीके रूपमें ग्रहण करनेकी अपेक्षा प्रणालीके अनुसार काव्य-रचना करना, रीतिका अर्थ मान्य हुआ। इस प्रकार रीतिकाव्यका अर्थ हुआ ऐसा काव्य जो अलकार, रस, गुण, ध्वनि, नायिका-भेद आदिकी काव्यशास्त्रीय प्रणालियोंके आधारपर रचा गया हो। इनके लक्षणोंके साथ या स्वतन्त्र रूपसे इनके आधारपर काव्य लिखनेकी पद्धति ही **रीति** नामसे विख्यात हुई और यह पद्धति जिस कालमें सर्वप्रधान रही, वह काल 'रीतिकाल'के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

रीतिकाल स० १७०० से १९०० वि० तकका काल है। मोटे तौरपर शाहजहाँके शासनकी समाप्ति और औरगजेबके शासनके प्रारम्भ(१६५८ ई०)से लेकर प्रथम स्वाधीनता-सग्राम(१८५७ ई०)तक यह काल माना जाता है। इस युगमें भक्तिकालीन काव्यधाराओं, जैसे, सन्तकाव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, रामभक्तिकाव्य, कृष्णभक्तिकाव्य, वीरकाव्य, नीतिकाव्य आदिका विकास हुआ। परन्तु सबसे अधिक महत्त्व उसी रीतिकाव्यको प्राप्त हुआ, जो अलकारों, रसों, नायिका-भेदों, शब्द-शक्तियों, ध्वनि भेदों आदिके आधारपर लिखा गया। यह प्रवृत्ति इस युगकी नवीन चेतनाके रूपमें जाग्रत् हुई। इस कारण इसीके आधारपर यह नामकरण हुआ।

रीतिकाल समृद्धि और विलासिताका काल है। साधनाके काल भक्तियुगसे यह इसी बातमें भिन्नता रखता है कि इसमें कोरी विलासिता ही उपास्य बन गयी, वैराग्यपूर्ण साधनाका समादर न रहा। नवाब, जागीरदार, मनसबदार, सामन्त—सभीका उद्देश्य विलासिता और समृद्धिका जीवन था। इस समृद्धिके जीवनके लिए साधन किसी भी प्रकारके क्यों न हों, समृद्धिका अर्जन ही सामर्थ्यकी सार्थकता थी। ये उच्च वर्गके लोग कला और कविताके सरक्षक थे। कुछ तो स्वय कवि एव कलाकार थे। इस प्रकार इस काव्यमें ऐहिक जीवनमें सुख-भोगपर बल दिया गया। यह जीवनकी क्षणभगुरताको भुलाकर नहीं, वरन् इसलिए कि इस क्षणभगुर जीवनमें जितने ही दिन सुख-भोगके बीत सकें उतना ही अच्छा।

सजाव-शृंगारकी एक अदम्य लिप्सा इस युगके साहित्यमें प्रतिबिम्बित है। उपासनाके लिए जिन राम और कृष्णका चरित्र भक्तियुगमें अत्युत्कृष्ट रूपमें चित्रित हुआ, उनमें भी शृंगारिकताका आरोप कर शृंगारिक स्वरूपके उद्घाटनमें प्रतिभाको लगाया गया। लोकैषणाका सीमित और भोग्य रूप इस कालके यथार्थवादी धरातलका सकेत करता है। पर यह यथार्थवाद सामाजिक क्रान्तिके बीज बोनेवाले आधुनिक यथार्थवादसे भिन्न था। वह कला और कारीगरीका यथार्थ है, चिन्तना, ठेस, असन्तोषकी चिनगारी बिखेरनेवाला यथार्थ नहीं। इस कालकी कलात्मक उपलब्धियोंमें एकरसता है, विविधता नहीं।

हिन्दी रीतिकालके अन्तर्गत सामान्यत दो प्रकारकी रचनाएँ मिलती हैं। एक तो वे रचनाएँ, जिनमें मुख्यत-

काव्यशास्त्र-सिद्धान्तोंको छन्दोबद्ध किया गया है। स्पष्टतः हिन्दी कवियोंका यह प्रयास बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हो सका है। सिद्धान्त-प्रतिपादनकी दृष्टिसे इनका अधिक महत्त्व इस कारण नहीं है कि उनमें मौलिकताका अंश बहुत कम है। इस प्रकारके रीतिग्रन्थ अधिकतर संस्कृत लक्षण-ग्रन्थोंके अनुवाद है या फिर उनकी छायापर आधारित हैं। काव्य-रसकी दृष्टिसे भी इनका स्तर ऊँचा नहीं है, क्योंकि इन आचार्य कवियोंका मुख्य ध्येय काव्य-लक्षणोंको वर्णित करना था, स्वतन्त्र रूपसे अनुभूतिपरक काव्य-सर्जन करना नहीं। फिर भी यह अवश्य है कि इन कवियोंके उदाहरणोंमेंसे कुछ अंश शुद्ध काव्यके अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। दूसरे वर्गके अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं, जो काव्य-लक्षणोंको प्रतिपादित करनेकी दृष्टिसे नहीं लिखी गयीं। इस प्रकारके काव्यमें भाषा, भाव तथा शैली—सभीका अत्यन्त निखरा हुआ रूप मिलता है। यह लक्षण-मुक्त कविता ही वास्तवमें रीतिकालका प्राणतत्त्व है।

हिन्दीमें रीति-साहित्यके विकासके अनेक कारण हैं। एक कारण तो संस्कृतमें इसकी विशाल परम्परा है। जिस समय भाषा-साहित्यका प्रारम्भ हुआ, उस समय भी संस्कृतमें लक्षण या अलंकार-साहित्यकी रचना चल रही थी। दूसरा कारण भाषा-कवियोंको प्राप्त राज्याश्रय है। अकबरने सबसे पहले हिन्दी कवियोंको दरबारमें आश्रय दिया और इस प्रकार हिन्दी काव्यको प्रोत्साहन मिला। आगे चलकर अन्य राजाओंने भी इस प्रवृत्तिका अनुसरण किया। राजपूताना तथा मध्यभारतकी रियासतों, ओरछा, नागपुर आदिमें भाषा-कवियोंको राज्याश्रय प्राप्त हुआ और आगे इन्हें हिन्दू और मुसलमान, दोनोंके ही दरबारोंमें प्रतिष्ठा मिली। इनके फलस्वरूप व्यापक रीति-साहित्यकी रचना हुई।

हिन्दी रीति-साहित्यके विकासका एक तीसरा कारण भी सामने आता है, जो है कवि और काव्यके स्वतन्त्र रूपकी प्रतिष्ठा। इस क्षेत्रमें केशवदासका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसी कारण उनको आगेके युगमें दीर्घ कालतक इतना सम्मान प्राप्त हुआ।

रीति-काव्यके विकासमें तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियोंका महत्त्वपूर्ण योग रहा है। वस्तुतः ये परिस्थितियाँ इस प्रकारके काव्य-सर्जनके अनुकूल ही थीं। उस समयकी राजनीतिक उथल-पुथल और सत्ता एवं वैभवकी क्षणभंगुरताने जीवनके दो अतिरेकपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करनेमें सहायता दी। एकने जीवनके प्रति पूर्ण विरक्ति और त्यागका भाव जागरित किया, जब कि दूसरेने पूर्ण भोगका दृष्टिकोण। ऐहिक काव्यको इस प्रकारका विलासपूर्ण चित्रण करनेकी प्रेरणा देनेमें राजनीतिक स्थितिका भी हाथ था।

जहाँतक सामाजिक पक्षका सम्बन्ध है, मध्ययुगका समाज सामन्तवादी पद्धतिपर आधारित था, जिसमें सम्राट् शीर्षपर था, जिसके बाद उसके अन्तर्गत राजा, अधिकारी और सामन्त थे, जिन्हें समाजमें विशेष अधिकार और सम्मान प्राप्त थे। कवियोंको अपने इन आश्रयदाताओंकी रुचिके अनुसार या उन्हें प्रभावित करनेवाला काव्य लिखना आवश्यक था, जिससे उनकी ऐहिक सन्तुष्टि होती थी और प्रतिभाका भी कमसे कम एक क्षेत्रमें विकास होता रहता था। मध्यकालके ये अमीर और सामन्त अत्यन्त विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। एक राजा, अमीर अथवा सामन्तके यहाँ दो, तीन, चार या इससे भी अधिक रानियाँ रहती थीं, जिनका काम अपनेको अलंकृत करके पतिको रिझाना और उसके प्रसन्न होनेपर विलास-सामग्रीकी और वृद्धि करते रहनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। नारी उनके हाथोंमें भोग-विलासका एक उपकरणमात्र बनकर रह गयी थी।

मुगलकालीन भारतीय समाजके जीवनके एक पक्षका ऊपर संकेत किया गया है, जो कि रीतिकाव्यके सौन्दर्य और विलासपूर्ण चित्रणको प्रेरणा देनेवाला था। परन्तु इसका दूसरा पक्ष जन साधारणका है। नैतिकताकी दृष्टिसे जन साधारणका चरित्र इन विलासी दरबारियोंकी अपेक्षा कहीं अच्छा था, उसपर भक्ति-युगका प्रभाव था।

मध्ययुगीन मुगल-शासनके परिणामस्वरूप हमें कई बातें जीवनमें परिव्याप्त हुई दीखती हैं। प्रथम तो एक केन्द्रीय सुदृढ शासक होनेसे देशके भीतर तुलनात्मक दृष्टिसे शान्तिका वातावरण बन गया। द्वितीय, इस शान्तिके अवसरपर जीवनमें कला और संस्कृतिको विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। शिष्ट और सुसंस्कृत व्यवहारका सम्मान बढ़ा। तीसरी बात यह है कि इसी शान्ति और समृद्धिके परिणामस्वरूप कला-प्रेम और विलासिताकी भावना भी प्रखरतासे जाग्रत् हुई। जीवनमें धर्मको, चाहे वह संकीर्ण अर्थमें ही क्यों न हो, प्रमुख स्थान मिला। इसके अतिरिक्त चौथी बात यह है कि भाषा-साहित्यको राजाओं और सामन्तोंसे संरक्षण और आश्रय मिला। इन सभी बातोंका रीतिकालीन हिन्दी काव्यपर प्रभाव परिलक्षित होता है।

रीतिकालीन काव्यके सम्बन्धमें सामान्यतः दो प्रकारके मत हैं—एक उसे नितान्त हेय और पतनोन्मुख काव्य कहकर उसके प्रति घृणा और द्वेषका भाव जगाता है और दूसरा उसपर अत्यधिक रीझकर केवल उसे ही काव्य मानता है और अन्य रचनाओं, जैसे, भक्ति और आधुनिक युगकी कृतियोंको उत्तम काव्यमें परिगणित नहीं करता। वस्तुतः ये दोनों ही दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण हैं।

रीतिकालीन काव्यपर जो दोष लगाये जाते हैं वे ये हैं—अश्लीलता, समाजको प्रगति प्रदान करनेकी अक्षमता, आश्रयदाताकी प्रशंसा, विलासप्रियता और रूढिवादिता। रीतिकालीन समस्त काव्यको दृष्टिमें रखकर जब हम इन दोषोंपर विचार करते हैं तो हम कह सकते हैं कि ये समस्त दोष उस युगके काव्य या समस्त रीतिकाव्यपर लागू नहीं किये जा सकते हैं। साथ ही, इन दोषोंमेंसे अधिकांश प्रत्येक युगके काव्यमें किसी-न-किसी अंशमें पाये जाते हैं।

जहाँतक अश्लीलताका प्रश्न है, हम देखते हैं कि यह भावना वस्तुतः युगसापेक्ष है। एक ही प्रकारका वस्तु-रूप एक युगमें अथवा एक स्थिति या अवस्थामें अश्लील होता है और दूसरेमें नहीं। कालिदास तथा अन्य संस्कृत कवियोंकी रचनाओंमें शरीरके कुछ अवयवोंका काव्यमें वर्णन और उल्लेख उन दिनों अश्लील नहीं समझा जाता

था। आज वह अश्लील समझा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अश्लील सापेक्ष पद है। जिन शब्दों (जैसे, नीवी, नितम्ब, उरोज आदि) और जिन वर्णनोंको हम आज अश्लील कहते हैं, उन सबकी परम्परा संस्कृत काव्यमें गहराईके साथ रही है और बहुत-कुछ वहींसे उस शब्दावलीका प्रवेश हिन्दी साहित्यमें हुआ है।

दूसरा दोष प्राय यह लगाया जाता है कि यह काव्य समाजको प्रगति प्रदान करनेमें समर्थ नहीं है। रीतिकाव्य और कुछ प्रबन्धकाव्योंमें भी हमें व्यापक जीवन-दर्शन नहीं मिलता, इसमें कोई सन्देह नहीं। रीतिकाव्य वास्तवमें यौवनका मादक, विलासपूर्ण काव्य है। फिर भी उसमें ऐसी उक्तियाँ तथा स्थितियाँ मिलती हैं, जो जीवनका अनुभव और कभी-कभी आदर्श बताती हैं। अत आधुनिक दृष्टिसे सामाजिक प्रगतिकी प्रेरणा प्रदान न करते हुए भी, इसमें जीवनोपयोगी तथ्योंका अभाव नहीं है।

आश्रयदाताकी प्रशसामें उठी हुई काव्य-स्फूर्तिका सामाजिक तो नहीं, परन्तु ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। आश्रयदाताकी प्रशसा कला और काव्यके सरक्षण और आश्रयके कारण भी थी और इसके लिए उनकी उदार भावना सराहनीय है। ये राज्याश्रय, जिनमें रीतिकालीन कलाकृतियोंका विकास हुआ, कवि-प्रतिभाको प्रोत्साहित कर सके, साथ ही साथ दूर-दूरसे प्रतिभाओंको अपने गुणों और कला-प्रेमके कारण खींच सके। अत मध्ययुगीन राज्याश्रयने कला, काव्यके सरक्षण और प्रेरणाके लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, यह हमें मानना पड़ेगा।

जैसा पहले कहा गया, रीतिकालके अन्तर्गत विकसित होनेवाले रीतिसाहित्यके दो पक्ष हैं—शास्त्रीय और शास्त्र-निरपेक्ष। इन दोनों ही पक्षोंके प्रति दृष्टिकोणोंमें अन्तर है। लगभग एक-सी परिस्थितियोंमें और कहीं-कहीं तो एक ही कवि द्वारा लिखे जानेपर भी इन दोनों प्रकारकी काव्य-प्रवृत्तियोंमें अन्तर उनके कवियोंके दृष्टिकोणके कारण है। पहले वर्गके कवि अपनी प्रवृत्तिमें आचार्य अधिक थे। रीतिग्रन्थ उन्होंने या तो अपनी प्रेरणासे या अधिकाशत अपने आश्रयदाताकी इच्छासे लिखे थे। दूसरे वर्गके कवि आचार्य रहे हों या न रहे हों, कवि वे अवश्य ही थे।

रीतिशास्त्र या रीतिकाव्य लिखनेकी परम्परा हिन्दीको संस्कृतसे प्राप्त हुई। संस्कृत साहित्यशास्त्रके पाँच काव्य-सिद्धान्तोंमेंसे प्राय सभीका कुछ-न-कुछ प्रभाव हिन्दी रीतिशास्त्रपर पड़ा है। परन्तु जहाँतक शास्त्रीय विवेचनका प्रश्न है, वह रीति और वक्रोक्ति-सिद्धान्तोंके आधारपर अधिक नहीं लिखा गया। अलंकार, रस और ध्वनिके ही लक्षण और उदाहरण देनेका सामान्यत प्रयत्न देखनेको मिलता है। इन सिद्धान्तोंका भी विवेचनात्मक निरूपण कम हुआ है।

इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि हिन्दीमें रीतिशास्त्र लिखनेवाले कवियोंके पूर्ववर्ती तथा समकालीन संस्कृतके ऐसे विद्वान् आचार्य थे, जिन्होंने काव्यशास्त्रके एक या अधिक अंगोंको लेकर उनकी बड़ी ही विस्तृत और स्पष्ट व्याख्या की थी। ऐसी दशामें हिन्दी कवियोंके लिए कुछ भी मौलिक कार्य करना कठिन था। फिर हिन्दीमें लिखनेवाले सभी काव्यशास्त्री संस्कृत साहित्यके पूर्ण विद्वान् नहीं थे। इसके अतिरिक्त जिन लोगोंके लिए ये ग्रन्थ निर्मित किये जा रहे थे—अर्थात् कवियोंके आश्रयदातागण और सामान्य जनता—वे स्वय इस प्रकारके विवेचनमें रुचि नहीं रखते थे। वे मुख्यत अपने मनोरजनार्थ हिन्दी काव्य चाहते थे।

हिन्दीके रीतिशास्त्रका आधार पूर्ण रूपसे संस्कृत काव्यशास्त्र है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दीमें रीतिशास्त्र लिखनेवाले प्रत्येक लेखकने संस्कृत काव्यशास्त्रका पूरा अध्ययन किया था या किसी ग्रन्थको पूर्णत हिन्दीमें उतारा था। प्राय अपनी योजनाके अनुकूल हिन्दी रीतिशास्त्रके लेखकने अपने आधारभूत ग्रन्थका पठित या श्रुत ज्ञान प्राप्त किया था। इस कार्यके लिए जिन संस्कृत ग्रन्थोंका अधिकाश आधार लिया गया है, वे हैं भरतका 'नाट्यशास्त्र', भामहका 'काव्यालकार', दण्डीका 'काव्यादर्श', उद्भटका 'अलंकारसारसग्रह', केशव मिश्रका 'अलकारशेखर', अमरदेवका 'काव्यकल्पलताकृति', जयदेवका 'चन्द्रालोक', अप्पय दीक्षितका 'कुवलयानन्द', मम्मटका 'काव्यप्रकाश' आनन्दवर्धनका 'ध्वन्यालोक', भानुदत्तके 'रसमजरी', 'रसतरगिणी', विश्वनाथका 'साहित्यदर्पण' आदि।

हिन्दीके पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्यमें रीतिशास्त्रकी परम्परा नहीं रही। इसको प्रेरणा देनेवाला संस्कृत साहित्य ही है और इस परम्पराको हिन्दीमें डालनेवाले प्रमुख व्यक्ति आचार्य केशवदास (१५५० से १६१० ई०) हैं। केशवके पूर्व भी कुछ ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिन्हें हम रीति-शास्त्रके ग्रन्थ कह सकते हैं, परन्तु वे विशिष्ट रचनाएँ-सी ही हैं, प्रेरक प्रयासके रूपमें उन्हें हम ग्रहण नहीं कर सकते। 'शिवसिंहसरोज'के आधारपर जिस ग्रन्थका उल्लेख हमारे साहित्यके इतिहासकार सर्वप्रथम करते हैं, वह पुण्ड या पुष्य कवि है, जिसने ७१३ ई० के लगभग हिन्दी भाषामें संस्कृतके किसी अलंकारग्रन्थका अनुवाद किया था, परन्तु वह ग्रन्थ अभीतक किसीके देखनेमें नहीं आया। यदि वास्तवमें उस समयका कोई इस प्रकारका लिखा गया ग्रन्थ मिल जाता है तो वह न केवल रीतिशास्त्रका, वरन् हिन्दीका पहला ग्रन्थ ठहरता है। परन्तु अभीतक इस सम्बन्धकी कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नहीं हो सकी है।

ऐसी अवस्थामें रीतिशास्त्रपर प्राप्त सबसे पहला ग्रन्थ कृपारामका 'हिततरगिणी' ही है। इसकी रचना सन् १५४१ ई० में हुई। यह पाँच तरंगोंमें विभक्त है और प्राय भरतके 'नाट्यशास्त्र'के आधारपर है। इसके पश्चात् १५५९ ई० का लिखा मोहनलाल मिश्रका 'शृंगारसागर' ग्रन्थ रस और नायिका-भेदका विवरण प्रस्तुत करता है तथा अष्टछापके प्रसिद्ध कवि नन्ददासका लिखा 'रसमजरी' ग्रन्थ भी इसी समयके आस-पासका है। करनेस वन्दीजनके ग्रन्थ भी केशवके पूर्ववर्ती ग्रन्थोंमें ही रखे जा सकते हैं। परन्तु इन आचार्यों और ग्रन्थोंमें कोई भी विशेष महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखनेवाला नहीं है। अत हम कह सकते हैं कि रीतिशास्त्रीय परम्परा डालनेवाले पहले आचार्य केशव-

दास ही हैं।

केशव तथा उनके पूर्ववर्ती कवियोंका काव्य प्रवृत्तिकी दृष्टिसे तो रीतिकालमें आता है, परन्तु काल-क्रमकी दृष्टिसे नहीं। काल-विभाजनकी दृष्टिसे केशव (१५५० से १६१० तक), सुन्दर तथा चिन्तामणि(रचनाकाल १६४३ ई०के लगभग प्रारम्भ होता है)का स्थान भक्तिकालके ही अन्तर्गत हैं। केसवदासके ग्रन्थोंमें 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' हैं, प्रबन्ध-रचनाकी पद्धतिपर लिखा गया 'रामचन्द्रिका' हिन्दी महाकाव्योंकी पंक्तिमें समादृत है। केशव मूलत अलकार-सम्प्रदायके अनुयायी थे। रस-सम्प्रदायके अन्तर्गत सुन्दर तथा चिन्तामणि पूर्व-रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि है। चिन्तामणि त्रिपाठीकी गणना हिन्दी रीतिशास्त्रके उत्कृष्ट और बडे आचार्योंमें है। इनके प्राप्त ग्रन्थोंमेंसे 'पिंगल-शृंगारमंजरी', 'कविकुलकल्पतरु'का विशेष महत्त्व है।

रीतिकालके अन्तर्गत जिन कवियोंकी गणना की जाती है, वे प्रमुखत- सस्कृतके अलकार, रस तथा ध्वनि-सम्प्रदायोंके अनुयायी थे। रीति और वक्रोक्ति-सिद्धान्तके आधारपर हिन्दीमें कुछ विशेष नहीं लिखा गया।

अलकार-सम्प्रदायके अनुयायियोंमें केशवके उपरान्त काल-क्रमकी दृष्टिसे जसवन्त सिंहका नाम आता है। इनका सबसे अधिक प्रसिद्ध रीतिग्रन्थ 'भाषाभूषण' रहा है। मतिराम(१६१७ ई०)की प्रवृत्ति रसकी ओर अधिक है और लक्षणकारकी अपेक्षा वे कवि अधिक है, फिर भी उनके 'अलकारपंचाशिका' (१६९० ई०) और 'ललितललाम' ग्रन्थ अलकारपर हैं। भूषण (१६१३ से १७१५ ई०) मतिरामके भाई थे। इन्हें आलकारिक ही कहना चाहिये। यद्यपि इनकी उक्तियाँ वीर रसपूर्ण हैं, फिर भी इनके प्रधान ग्रन्थ 'शिवराजभूषण'(१६५३ ई०)में अलकारोंके ही लक्षण-उदाहरण हैं। भूषण महाराज शिवाजीके मित्र तथा उनके दरबारके कवि थे। इस सम्प्रदायके अन्य प्रमुख कवियोंमें गोप, रसिक, सुमति, गोविन्द, दूलह (रचनाकाल १७५० से १७५५ ई०), वैरीसाल, गोकुलनाथ तथा पद्माकर हैं। पद्माकर(१७५३से १८३२ ई०)को रीतिकालका अन्तिम आलकारिक कवि कहना चाहिये। कवि और रीति-ग्रन्थकार, दोनोंके ही रूपमें पद्माकरका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ।

रस-सम्प्रदायके अन्तर्गत तोष तथा मतिरामकी ख्याति विशेष है। तोष कविका १६३७ ई० का लिखा हुआ ग्रन्थ 'सुधानिधि' है। इसकी सरसता उदाहरणोंमें है। लक्षणोंमें कोई विवेचन सम्बन्धी नवीनता नहीं है। इसी प्रकारका ग्रन्थ मतिराम(१६१७ ई०)का 'रसराज' है। इसमें शृंगारका नायक-नायिका-भेदरूपमें वर्णन है। मतिरामके लक्षण महत्त्वपूर्ण नहीं, हाँ, उदाहरण अवश्य बड़े ही सरस, कोमल तथा कल्पनायुक्त हैं। रसके क्षेत्रमें सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य देव(१६७३-१७६८)का है। देवने रसपर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें अधिकतर शृंगार और नायिका-भेदकी ही चर्चा है और एक ही प्रकारके भाव अन्य ग्रन्थोंमें भी आये हैं। रस सम्बन्धी भावना प्रमुखत 'भावविलास', 'भवानीविलास' और 'काव्यरसायन'में प्रकट हुई है। देवने रसके दो भेद माने है—लौकिक और अलौकिक। देवके पश्चात् कालिदास, कृष्णभट्ट, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, उदयनाथ, 'कवीन्द्र' दास आदि अनेक आचार्योंने नायिका-भेद और रसपर लिखा है। परन्तु रसके सम्बन्धमें कोई महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट नहीं हुए हैं। इस सम्प्रदायके अन्य कवियोंमें रसलीन (अगदर्पण, रसप्रबोध), दास, रूपसाहि, समनेस, उजियारे, यशवत सिंह, रामसिंह (रसनिवास, १७८२ ई०), पद्माकर, रसिक, गोविन्द, वेनी प्रवीन तथा ग्वालके नाम विशेष उल्लेखनीय है। रसविवेचन तथा काव्य-सौन्दर्य, दोनों ही दृष्टियोंसे राम सिंह तथा ग्वालका कार्य महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी रीतिशास्त्रके अन्तर्गत ध्वनिके सर्वप्रथम आचार्य कुलपति मिश्र हैं। कूर्मवंशी जय सिंहके लिए इन्होंने 'रस-रहस्य'की रचना की। 'रसरहस्य'का रचनाकाल १६७०ई० है। कुलपतिके विचार प्रौढ और प्रामाणिक हैं, पर कोई नवीन विचार देखनेको नहीं मिलते। कुलपतिके बाद देवने ध्वनिपर लिखा है। इस कालके अन्य कवियोंमें सूरति मिश्र, कुमारमणि भट्ट, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि तथा रामदासके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। रीतिकालके आचार्य कवियोंमें भिखारीदास(रचनाकाल १७२८-१७५० ई०)का नाम प्रथमपाक्तेय है। दासने 'रससाराश', 'छन्दोर्णवपिंगल', 'काव्यनिर्णय' और 'शृंगार-निर्णय' ग्रन्थ काव्यशास्त्रपर लिखे। काव्यशास्त्रकी दृष्टिसे सबसे प्रौढ और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यनिर्णय' है, जिसमें ध्वनिका विवेचन और रस, अलकार, गुण, दोष आदिका वर्णन है।

हिन्दी रीतिकाव्य(लक्षणरहित काव्य)की परम्परा भक्तिकालसे ही प्रारम्भ हो जाती है। कृपाराम, ब्रह्म (बीरबल), गग, बलभद्र मिश्र, केशवदास, रहीम तथा मुबारक कालक्रमकी दृष्टिसे यद्यपि भक्तिकालके अन्तर्गत आते हैं, परन्तु उनकी काव्यपद्धति प्रायः रीतिप्रधान ही थी। उनके कृतित्वमें प्रमुख ध्यान काव्यरचनाका है और कोई उद्देश्य यदि है तो गौण। रीतिकाव्यकी प्रेरणा मुख्यत आचार्य केशवदास और अकबरके दरबारी कवियोंसे ही प्राप्त हुई थी। इस परम्पराके साथ काव्यकी एक स्वच्छन्द धाराका विकास हुआ, जिसके प्रवाहने रीतिकालमें समस्त काव्यरसिकोंको ओत-प्रोत कर दिया।

इस युगके रीति कवियोंमें सबसे प्रथम सेनापति (१५८९ ई०)का नाम आता है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवित्तरत्नाकर' है। सेनापतिकी विशेष प्रसिद्धि उनके प्रकृतिचित्रण तथा श्लेष-चमत्कारके कारण है। 'कवित्त-रत्नाकर'की रचना सन् १६४९ ई० में हुई। रीतिकाव्यकी इस प्रथम महत्त्वपूर्ण रचनाने हिन्दी रीतिकाव्यको अतिशय प्रेरणा प्रदान की, इसमें सन्देह नहीं।

बिहारीलाल (१६०३–१६६२ ई०) रीतिकाव्यके सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और उनकी यह ख्याति उनके अन्यतम ग्रन्थ 'सतसई'पर आधारित है, जिसे उन्होंने जयपुरके महाराज जयशाहके आदेशपर लिखा था। मुक्तक रचना होते हुए भी सतसईमें सतसईकारका ध्यान अलंकार, रस, भाव, नायिका-भेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि सबपर है और सभीके सुन्दर उदाहरण इसमें हैं।

रीति-परम्पराका पालन करते हुए और भाई होते हुए

भी भूषण(१६१३ से १७१५)की प्रकृति मतिरामके बिलकुल विपरीत है। भूषणका काव्य ओजपूर्ण और वीर रससे ओत-प्रोत है। अत रीतिकाव्यकी शृंगारिक परम्पराका अनुगमन न करके ये वीर-परम्पराका मार्ग प्रशस्त करनेवाले हैं। वीर रसपर लिखनेवाले तो रीतिकालमें और भी कवि हैं, पर रीति-परम्परापर वीरकाव्य लिखनेवाले भूषण अकेले हैं। शिवाजीकी वीरता तथा अन्य गुणोंसे प्रेरित भूषणका 'शिवराजभूषण' आलकारिक सौन्दर्यमे भरपूर है।

ललित शब्दावलीमें कोमल भावनाओंको व्यक्त करनेवाले सुकुमार कल्पनाके कवि मतिराम(१६१७ ई०)का काव्य रीतिकाव्यका प्रतिनिधित्व करता है। उनके ग्रन्थ 'ललितललाम', 'रसराज' 'अलकारपचाशिका' आदिमें यद्यपि लक्षण दिये हुए हैं, फिर भी प्रधानता उदाहरण-काव्यकी है। अत उनकी गणना रीतिशास्त्रियोंसे अधिक रीति-कवियोंमें होती है।

घनानन्द (रचनाकाल १६५८ ई०) प्रसिद्ध प्रेमी, भक्त और कवि थे। उनका ध्यान अलकार, रीति, वक्रोक्ति, नायिका-भेद, रस आदिकी ओर नहीं है, फिर भी इनकी रचनामें आलकारिक चमत्कार तथा शृगारके सयोग और वियोग, दोनों ही पक्षोंका इतना दक्षतापूर्ण वर्णन है कि रीति-परम्पराका प्रभाव उमसे स्पष्ट लक्षित होता है। घनानन्दका 'सुजानसागर' रीतिकाव्यके प्रमुख ग्रन्थोंमेंसे एक है।

देव(१६७३ ई०)को आचार्य और कवि, दोनों ही रूपोंमे सफलता प्राप्त हुई। उनके कृतित्वमें मौलिकता तथा कवित्व-शक्तिका विलक्षण सयोग हुआ है। भावकी पकड़, सूक्ष्म निरीक्षण, भाषापर अधिकार, छन्दकी गति, शब्दवर्ण-मैत्री, सरसता और उक्तिवैचित्र्य, सब मिलकर देवकी रचनाको स्मरणीय बनाते हैं। मानव-स्वभावका उन्हें बड़ा सूक्ष्म ज्ञान था। अपने ग्रन्थ 'भावविलास'की रचना देवने १६ वर्षकी अवस्थामें की थी।

भिखारीदास (रचनाकाल १७२८–१७५० ई०) आचार्य और कवि, दोनों ही रूपोंमें उत्कृष्ट हैं। जहाँ अपने ग्रन्थोंमें इन्होंने ध्वनि, अलकार, रस, नायिका-भेद, छन्द आदिके लक्षण और विवेचन प्रस्तुत किये हैं, वहीं उनके उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत कविता रीतिकाव्यका सुन्दर नमूना है।

भिखारीदासके समकालीन रसलीन(सैयद गुलाम नबी बिलग्रामी)का काव्य बड़ा ही चुटीला है और उक्ति-चमत्कारके कारण इनके दोहे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनके लिखे दो ग्रन्थ मिले हैं—'अंगदर्पण' और 'रसप्रबोध'।

बेनी प्रवीन (१७९९–१८१८ ई०)की रचना मतिराम और पद्माकरके टक्करकी है और 'नवरसतरग' शास्त्रीय-ग्रन्थ न होकर काव्य ही है। भाषा टकसाली व्रजभाषा है और ग्रन्थमें ललित और सुन्दर भावाभिव्यक्ति है। व्यग्य द्वारा अभिव्यक्त भाव बड़े सुन्दर हैं।

पद्माकर (१७५३–१८३३ ई०) रीतिकाव्यके अन्तिम प्रतिभासम्पन्न कवि हैं। इनके ग्रन्थ 'जगद्विनोद' तथा फुटकल छन्दोंमें रीतिकाव्यकी प्रवृत्तियोंका सुन्दर परिचय मिलता है। 'पद्माकर'में भावविवृतिकी विलक्षण शक्ति है।

ग्वाल (रचनाकाल १८२२–१८६१ ई०) भी पद्माकरकी परिपाटीपर हैं। इनकी भाषा अधिक प्राजल न होकर बाजारूपन लिये है। फिर भी इनके वर्णन सुन्दर है।

रीतिकालीन काव्य प्राय व्रजभाषा तथा उसके स्थानीय रूपोंमें लिखा गया। अधिकाश काव्य राजाश्रयमें लिखा गया था। अधिक प्रवृत्ति अलंकृत काव्य लिखनेकी रही है। शृंगारके अन्तर्गत काम-वासना और नारी-सौन्दर्यका चित्रण हुआ है, कहीं-कहीं भक्ति-भावना भी दिखाई दे जाती है। कुछ रचनाओंमें वीर-भावना, नीति-उपदेश, लोक-ज्ञान, व्यवहार आदिसे सम्बन्धित सामग्री मिलती है। इस युगके कवियोंका जीवनके प्रति दृष्टिकोण आध्यात्मिक न होकर ऐहिक अधिक है।

[सहायक ग्रन्थ—(१) रीतिकाव्यकी भूमिका · नगेन्द्र, (२) हिन्दी काव्यशास्त्रका इतिहास भगीरथ मिश्र, (३) हिन्दी रीतिसाहित्य भगीरथ मिश्र।] —भ० मि०

रीतिकाव्य–हिन्दी साहित्यके अन्तर्गत 'रीतिकाव्य' विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त होता है। रीतिकाव्य वह काव्य है जो अलकार, रस, नायिका-भेद, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्यके सिद्धान्तोंके आधारपर या इनको ध्यानमें रखकर लिखा जाय। हिन्दी साहित्यमें रीतिकाव्यकी परम्परा बड़ी सुदृढ है। इस काव्यकी परम्पराका प्रारम्भ आचार्य केशवदासके द्वारा माना जाता है। उसके बाद विभिन्न काव्य-सिद्धान्तोंको दृष्टिमें रखकर काव्यके जो उदाहरण लिखे गये, वे रीतिकाव्यके नमूने हैं। रीतिकाव्यको हम दो रूपोंमें पाते हैं– एक लक्षणयुक्त और दूसरा लक्षण-रहित। प्रथममें लक्षण और उदाहरण, दोनों ही रहते हैं और दूसरेमें लक्षणोंका ध्यान रखकर उदाहरणरूप उत्कृष्ट रचना की गयी है। सीमित अर्थमें रीतिकाव्यका अर्थ लक्षण-रहित काव्य-ग्रन्थोंसे लिया जाता है। इस सन्दर्भमें लक्षण-युक्त ग्रन्थोंको रीतिशास्त्रके अन्तर्गत रखा जाता है। परन्तु सामान्य अर्थमें रीतिकाव्यके अन्तर्गत लक्षणरहित तथा लक्षणयुक्त, दोनों ही प्रकारके काव्यग्रन्थोंका समावेश हो जाता है।

लक्षणयुक्त काव्य लिखनेकी परम्परा सस्कृतसे चली आती है। अलकार, रस, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनिको काव्यकी आत्मा या शोभाविधायक तत्त्वोंके रूपमें स्वीकार किया गया है, परन्तु हिन्दी काव्यमें अलकार, रस, भाव, नायिका-भेद, ध्वनिके लक्षण और उदाहरणकी परम्परा पड़ी है, रीति, वक्रोक्ति आदिकी नहीं। प्रधानतया रीति-काव्यके भीतर अलकार और रस एव नायिका-भेदके ग्रन्थ खूब मिलते हैं। लक्षणयुक्त ग्रन्थोंमें सस्कृत ग्रन्थोंके समान गम्भीर विवेचन नहीं मिलता। हिन्दीके इन लक्षणयुक्त ग्रन्थोंमें भी मौलिकता और रोचकता उदाहरणोंकी ही है, शास्त्र-विवेचनकी नहीं। हिन्दी रीतिकाव्यके लेखकोंके सम्मुख उद्देश्य ही भिन्न प्रकार था। विद्वानोंके लिए लिखना उनका उद्देश्य नहीं था। साहित्य-रसिकोंके लिए ही उन्होंने इन ग्रन्थोंका प्रणयन किया था और इनका आधार संस्कृतके ग्रन्थ थे।

जो लक्षणरहित रीतिकाव्य-ग्रन्थ हैं, उनका अधिक मौलिक महत्त्व है, क्योंकि उनके अन्तर्गत व्रजभाषा काव्यका

सुन्दर और प्राजल रूप मिलना है। सेनापति, विहारी, मतिराम, घनानन्द, दास, पद्माकर आदि कवियोंकी रचनाएँ, चाहे वे लक्षणोंके उदाहरणरूपमें हों चाहे स्वच्छन्द रूपमें, हिन्दी साहित्यकी अमूल्य निधि है।

हिन्दीका रीतिकाव्य अपनी निजी विशेषताएं रखता है। पहली विशेषता तो भाषा सम्बन्धी है। रीतिकाव्यमें व्रजभाषाका परिमार्जन प्रधान रूपसे हुआ। वर्ण-मवत्न, शब्दमैत्री, रोचक उपमानोंके साथ शरीरके अग-प्रत्यगोंकी रूपमाधुरीका वर्णन सजीव शब्दावलीमें किया गया है। दूसरी विशेषता भाव और चेष्टाओंके चित्रणकी है। सुकुमार भावों और ललित चेष्टाओंकी मार्मिक अभिव्यजना इस काव्यमें मिलती है। सीमित क्षेत्रमें भी इस काव्यमें मनोभावोंका सूक्ष्मसे सूक्ष्म चित्रण बड़ा ही हृदयग्राही है। यह काव्य यौवन या किशोरावस्थाका चित्रण करनेवाला काव्य है, जैसे इस युगके कवियोंके सामने जीवनके और पक्ष उपस्थित ही न रहे हों। ये कवि प्रमुखतया नायिकाओंके कवि है या यों कहें कि यौवनके कवि हैं। तीसरी विशेषता यह है कि इस काव्यमें जीवनकी विविधताके दर्शन नहीं होते। सघर्ष, साधना और वास्तविक समस्याओंका चित्रण यह काव्य नहीं करता। रीतिकाव्यके द्वारा सामन्तवादी युगमें भी साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत् हुई। ग्राम्य क्षेत्रोंमें भी इस काव्यका प्रचार हुआ और काव्य-सौन्दर्य, अलकार एव नायिका-भेद-विवेचन लोकव्यापी हो गया।

रीतिकाव्यकी परम्परा रीतिकालमें ही समाप्त नहीं हुई, आधुनिक युगतक चलती रही। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युगतक तो यह धारा चलती ही रही, आज भी इस परम्पराका काव्य चल रहा है और यत्र-तत्र सुन्दर रचनाएँ हो रही हैं। रीतिकाव्य प्राय व्रजभाषा काव्य ही है और इसी काव्यमें इस परम्पराका विकास हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी रीतिसाहित्य : भगीरथ मिश्र]। —भ० मि०

रीतिवाद—यह आधुनिक शब्द है। यह वह प्रवृत्ति है जो कि हिन्दी साहित्यके उत्तरमध्यकालमे प्रचलित हुई। इसके अन्तर्गत इस प्रकारके काव्यके लिखनेका आग्रह था, जिसमें कि प्रथम लक्षण देकर, फिर उसके अनुरूप अलकार, रस, नायिका-भेद आदिके उदाहरणरूपमें ही रचना की जाय। यह प्रवृत्ति आधुनिक युगतक भी प्रचलित रही। यह केवल प्रवृत्ति न रह पायी, क्योंकि इस प्रवृत्तिके पीछे प्रचारका आग्रह रहा और उस युगमें यही काव्य विशेष सम्मानित हुआ। यह बौद्धिक प्रचाराग्रह इस लक्षणगर्भ काव्यके प्रेरित करनेके कारण रीतिवादके रूपमें ग्रहण किया जाता है। विशेष दे०—'रीतिकाव्य'। —भ० मि०

रीति-सम्प्रदाय—आचार्यों, विवेचकों और लेखकोंका वह समुदाय अथवा वह परम्परा जो काव्यके अन्तर्गत रीतिके महत्त्वको स्वीकार करती है या जिन्होंने अपने शास्त्रीय ग्रन्थोंमें रीतिकी विवेचना की है, रीति-सम्प्रदाय कहलाता है। रीति-सम्प्रदायके प्रवर्तक वामन (९ श० ई० मध्य) हैं जिन्होंने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' (का० सू० वृ० : १ २. ६) अर्थात् रीति काव्यकी आत्मा है, इस रूपमे रीतिको प्रतिष्ठित किया। रीतिको काव्य-सिद्धान्तके रूपमें प्रतिष्ठित करनेवाले आचार्य ये ही हैं। वामनके पूर्व भी भामह और दण्डी(७ श० ई०)ने रीतिकी चर्चा की थी और गौडीय और वैदर्भमार्गके रूपमें इसे स्वीकार किया, पर यह वर्णन प्रासगिक ही था। पूर्ण सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा देनेका श्रेय वामनको ही है। वामनके बाद रुद्रट(९ श० ई० उत्त०. काव्यालकार)ने रीतियोंकी सख्याकी वृद्धि करके एक और जोड़ दी और इस प्रकार चार रीतियाँ मानी गयीं। कुन्तक(१०-११ श० ई०. वक्रोक्तिजीवित)ने रीतिका विवेचन दूसरे रूपमें किया, जो कि अधिक स्वाभाविक माना जा सकता है। उनके तीन मार्ग—सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग, वामनकी रीतियोंसे भिन्न हैं। यह मार्ग काव्यात्माके रूपमें कुन्तकने स्वीकार नहीं किये। कुन्तकके मार्ग वास्तवमें सुकुमार और विचित्र हैं। इनके आधारभूत गुणोंको भी इन्होंने माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्यके रूपमें रखा है, वामनके श्लेषादि दश गुणोंके रूपमें नहीं। आनन्दवर्धनने रीतिकी नहीं, गुणोंकी चर्चा की है। राजशेखर(९–१० श० ई० : काव्यमीमासा)ने रीतिका विवेचन समासके आधारपर किया। मम्मट(११ श० ई० उत्त० काव्यप्रकाश)ने दस गुणोंको तीन गुणोंमें ही समाविष्ट कर दिया। रीतिकी विवेचना विश्वनाथ(१४ श० ई० पूर्वा०. साहित्यदर्पण)की है। रीतिकी चर्चा करनेवाले यही सस्कृतके अन्तिम आचार्य हैं। इन्होंने अपने लक्षणोंमें मार्ग, रीति और वृत्ति, सबका समावेश कर दिया। इस प्रकार वैदर्भी, पाचाली और गौडी रीतियाँ ही रह गयीं। ध्वनि, वक्रोक्ति और रसकी प्रतिष्ठा हो जानेपर रीति-सिद्धान्त गौण रहकर पीछे पड़ गया और उसकी अधिक चर्चा नहीं हुई। हिन्दीमें रीति-सम्प्रदायका इस रूपमें कोई प्रभाव नहीं रहा है। विशेष दे०—'रीति', 'गुण'। —भ० मि०

रुद्रटकी वृत्तियाँ—दे०—'वृत्ति'।

रुबाई—रुबाईमें चार समवृत्त चरण होते है। कसीदा अथवा गजलके प्रारम्भिक चार पाद रुबाई हो जा सकते हैं। रुबाईके लिए विशेष छन्दोंका विधान है और उनमें मुख्य है 'हजाज'। परन्तु उर्दूमें 'इकबाल'ने इस नियमका पालन नहीं किया है। चार चरणों अथवा मिसरोंमेंसे प्रथम द्वितीय और चतुर्थ सम-तुकान्त अर्थात् एक ही काफिये और रदीफमें होते हैं, केवल तीसरा चरण भिन्नतुकान्त होता है। रुबाई मुक्तक है और अपने-आपमें पूर्ण भी। इसके चार चरणोंमें दो बैत होते हैं, इसलिए इसका नाम 'दो-बैती' है और चार मिसरे होते हैं अत रुबाई कहलाती है। रुबाई फारसीका सर्वाधिक लोकप्रिय रचनाविधान है। फारसीमें इसे 'तराना' भी कहते हैं। उमर खैयामकी 'रुबाइयात'के फिट्जजेराल्ड-कृत अँग्रेजी अनुवादको इग्लैण्ड और अमेरिकामें अधिक प्रशसा प्राप्त हुई और उमर खैयामकी रहस्यात्मकताका प्रचार हुआ। अपने देशमें उमर खैयामकी प्रसिद्धि गणितज्ञ, ज्योतिषी और दार्शनिकके रूपमें थी, फिट्जजेराल्टके कारण उनकी ख्याति रहस्यवादी कविके रूपमे भी हुई। हिन्दीमें भी फिट्जजेराल्ड-कृत अनुवादके अनेक अनुवाद हुए है और उनमे हरवश राय बच्चन-कृत 'खैयामकी मधुशाला'

अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुई। मैथिलीशरण गुप्तने इसका अनुवाद किया है। बच्चनकृत 'मधुशाला' इसी रचना-विधानमें है—'जितनी दिलकी गहराई हो उतना गहरा है प्याला, जितनी मनकी मादकता हो उतनी मादक है हाला, जितनी उरकी भावुकता हो उतना सुन्दर साकी है, जितना ही जो रसिक, उसे है उतनी रसमय मधुशाला।' यों तो रुबाईमे सब बातें कही जा सकती हैं, लेकिन उर्दूके शायरोंने इसमें ज्यादातर नैतिक बातें ही लिखी हैं। रुबाइयाँ करीब करीब उर्दूके सभी शायरोंने लिखी हैं, लेकिन इनमें अनीस, दबीर, इकबाल, जगतमोहन खाँ और जोश आदिने विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। हिन्दीमें उमर खैयामकी रुबाइयोंके अनेक अनुवाद हुए हैं और उनके प्रभावसे अनेक प्रसिद्ध कवियोंने रुबाइयाँ लिखी हैं। नये कवि 'मुक्तक' नाममे भी रुबाइयाँ लिखते हैं। रुबाइयोंमें प्राय सूक्ति या उक्तिवैचित्र्यकी प्रधानता रहती है।—रा०खे०पा०

रूढि लक्षणा—लक्षणाके दो प्रमुख भेदोंमें एक, जब मुख्य अर्थके बाधित होनेपर रूढिके कारण मुख्य अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। विश्वनाथका उदाहरण है—'कलिंग साहसिक' कलिंगका मुख्य अर्थ कलिंग देश है, पर यहाँ यह अर्थ बाधित है, प्रान्तमें साहस आदिक गुण नहीं होता। मुख्यार्थके अस्वीकृत होनेपर यहाँ कलिंगसे उस प्रान्तसे सम्बन्ध रखनेवाले (कलिंगके निवासी लोग)का भिन्न अर्थ ग्रहण किया जाता है। यहाँ लक्ष्यार्थ है कि कलिंग प्रान्तके निवासी साहसी हैं। यहाँ लक्षणाका तीसरा कारण रूढि है, क्योंकि किसी विशेष प्रयोजनके कारण ऐसा प्रयोग नहीं किया गया है, ऐसा कहना परम्परा अथवा रूढिमात्र है। काव्यगत उदाहरण—'फली सकल मन कामना, लूट्यौ अगनित चैन। आजु अँचइ हरिरूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन।' (दास)।

रूढिवैचित्र्यवक्रता—दे०—'पद पूर्वार्धवक्रता', पहला प्रकार।

रूपक—सादृश्यगर्भ अभेदप्रधान आरोपमूल अर्थालंकार, जिसमें अति साम्यके कारण प्रस्तुतमें अप्रस्तुतका आरोप करके अभेद दिखाया जाता है। इस शब्दका अर्थ है एकता अथवा अभेदकी प्रतीति। भरतने जिन ४ अलंकारोंका वर्णन किया है उनमेंसे यमक शब्दालंकार है तथा दीपक वाक्यालंकार, सामान्य सादृश्यजीवी अलंकार उपमा और रूपक ही है। गुण और आकृति दोनोंके आधारपर सादृश्यका नाम उपमा है, रूपकमें केवल गुणके आश्रयसे किंचित् सादृश्यको अपने 'विकल्प'से रूप प्रदान किया जाता है (ना० शा० : १६ · ४४ तथा ५७ ५८)। भामहने रूपकका निरूपण उपमासे पूर्व किया है। उनके मतमें रूपककी दो विशेषताएँ हैं—उपमेयकी उपमानसे एकरूपता तथा गुणोंकी समता। रूपकके २ भेद हैं—समस्त-वस्तुविषय तथा एक-देश-विवर्ति। उपमामें रूपकसे अन्तर करते हुए दो विशेषताएँ हैं—'गुण-लेश'के आधारपर तथा असमान उपमानसे 'साम्य'। (काव्यालंकार २ . २१-२२ तथा ३०)। दण्डीके अनुसार गुण, क्रिया, द्रव्य किसी भी प्रकारसे उद्भूत सादृश्यका नाम उपमा है, और जब उपमान उपमेयका परस्पर-भेद तिरोभूत हो जाता है तो उस सादृश्यको ही रूपक कह देते हैं। (काव्यादर्श २ १४ तथा ६६)। रूपकके २० भेद हैं—समस्त, असमस्त, समस्तव्यस्त, सकल, अवयव, अवयवी, एकांग, युक्त, अयुक्त, विषम, सविशेषण, विरुद्ध, हेतु, श्लिष्ट, उपमारूपक, व्यतिरेकरूपक, आक्षेपरूपक, समाधानरूपक, रूपकरूपक, तत्त्वापह्नवरूपक (काव्यादर्श . २ · ६७ से ९६ तक)।

वामनने रूपकको उपमाका प्रपंच मानते हुए इसका लक्षण किया है कि उपमानके साथ उपमेयके गुणका साम्य होनेसे उपमेयमें उपमानके अभेदका आरोप ही रूपक है—'उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम्' (का० सू०वृ० ४ ३ ६)। रुद्रटके मतमे उपमानमें सिद्ध गुणका उपमेयमें साध्य बनना तो उपमा अलंकार है (काव्या० ८ ४) और गुणोंके साम्यसे उपमान एवं उपमेयके अविवक्षित सामान्य भेदको रूपक कहते हैं (काव्या० ८ ३८)। प्राचीन आचार्योंने गुणलेशके चमत्कारी साम्यको उपमा माना है और गुणोंकी विशेष समताको रूपक।

मम्मटने उपमान और उपमेयके अभेदको रूपक बताया है (का० प्र · १० · ९३)। विश्वनाथने इसी लक्षणको स्पष्ट किया है कि निरपह्नव (बिना सत्यके गोपनके) विषयमें विषयीका रूपित आरोप रूपालंकार है (सा० द० १० ४१)। जयदेव (चन्द्रालोक . ५ : १८) और अप्पय दीक्षित (कुवल० १७)के लक्षण भी इन्हींसे मिलते-जुलते हैं। 'अलंकारसर्वस्व'में 'विषयिणा विषयस्य रूपवत करणाद् रूपकम्' (पृ० ३५) तथा एकावलीमें 'विषयी विषय रूपयति रूपवन्तं करोतीति अन्वर्थाभिधान रूपकम्', (पृ० २१२) लिखकर उपमेय और उपमानकी रूपवत्ताका ही आग्रह प्रकट किया गया है।

हिन्दीके आचार्योंमें केशवने दण्डीके आधारपर रूपकका लक्षण अत्यन्त प्राथमिक अवस्थाका दिया है—'उपमाके ही रूपसों, मिल्यो बरनियै रूप।' (क० प्रि० १३ १२)। जसवन्त सिंहने लक्षण नहीं दिया है। मतिराम, भूषण, दास तथा पद्माकर आदि अधिकांश रीतिकालीन आचार्योंने मम्मट और विश्वनाथके लक्षणका अनुसरण किया है—'बरनत विषयी विषयकों करि अभिन्न तद्रूप।' (ल० ल० . ६८) अथवा—'कहुँ कहियै यै दूसरौ, कहुँ न राखियै भेद।' (का० नि० १०)। कुलपतिने 'साहित्यदर्पण'-की कारिका तथा वृत्तिके आधारपर लक्षण दिया है—'उपमा अरु उपमेयकौ, भेद परै नहिं जान। समता व्यंग्य रहै जहाँ, रूपक ताहि बखान।' (र० र०), यहाँ व्यंग्य समता (वृत्तिसे)के कथनमे उनकी प्रौढताका परिचय मिलता है। आधुनिक विवेचकोंने भी मम्मट अथवा विश्वनाथके आधारपर लक्षण दिये हैं।

भरतने अलंकारोंके भेद नहीं बताये। भामहने रूपकके दो भेद किये हैं—समस्त-वस्तु-विषय तथा एक-देश-विवर्ति। आगे चलकर मम्मटने इन दोनों भेदोंको सांग (सावयव) रूपकके उपभेद मान लिया (का० प्र० १० ९३-९४)। दण्डीने उपमा और रूपकके भेदोंकी इयत्ता नहीं मानी। रूपकके मुख्य २० भेद दिये हैं। 'समस्त रूपक'में उपमान और उपमेयका समास हो जाता है, जैसे, 'बाहु-लता',

'पाणि-पद्म'। असमस्त समस्त रूपकका विपरीत है, जैसे, 'अँगुलियाँ पल्लव हैं'। समस्त-व्यस्त रूपकमें उपर्युक्त दोनों गुणोंका मिश्रण होता है, जैसे 'स्मित मुखचन्द्रकी ज्योत्स्ना है' यहाँ 'मुखचन्द्र'में समास है और 'स्मित ज्योत्स्ना है' वाक्यमें समास नहीं है। सकल रूपक अर्वाचीनोंका साग या सावयव रूपक है। अवयव रूपक अर्वाचीन आचार्योंके एक-देश-विवर्त्तिके समान है। अवयवी रूपक अर्वाचीन निरंगके समान है। इनमें वदनको ही पंकज कह दिया जाता है, उसके अंगोंको रूपता नहीं प्रदान की जाती। एकांग रूपकमें उपमेयके एक अंगको ही रूपित करते हैं, इसी प्रकार द्व्यंग, त्र्यंग आदि भेद हो सकते हैं। उपमेयके आधेयभूत अवयवोंके लिए जिन आरोप-विषय-भूत वस्तुओंका प्रयोग हो, उनमें यदि परस्पर सम्बन्धकी संगति है तो युक्त रूपक और यदि विरोध है तो अयुक्त रूपक अलंकार है। अंगीके रूपण तथा अंगोंमेंसे कुछके रूपण तथा कुछके अरूपणसे विषम रूपक बनता है। विशेषण-विशिष्ट पदार्थके आरोपसे सविशेषण रूपक है। उपमानके प्रसिद्ध कार्योंकी अक्रिया तथा अप्रसिद्ध कार्योंकी क्रियामें विरुद्ध रूपक, हेतु-प्रदर्शनपूर्वक अप्रस्तुतके आरोपमें हेतु रूपक (अर्वाचीनोंके उल्लेख अलंकारसे मिलता-जुलता), श्लिष्ट साधारण धर्मके प्रयोगमें श्लिष्ट रूपक, प्रस्तुत एवं अप्रस्तुतके साधर्म्यमें उपमा रूपक तथा वैधर्म्यमें व्यतिरेक रूपक अलंकार है। आक्षेप अलंकारकी सामग्रीसे आक्षेप रूपक तथा समाधानपूर्वक आरोपमें समाधान रूपक बनता है। रूपकके गर्भमें स्थित रूपकका नाम रूपक-रूपक तथा अपह्नुति-गर्भमें रूपकका नाम तत्त्वोपह्नव रूपक हो जाता है। जिस प्रकार भरतने उपमाके अनेक भेदोंको लोकसे ग्रहण करनेकी सम्मति दी है उसी प्रकार दण्डीने उपमा तथा रूपकके विकल्पोंमेंसे कतिपयकी ही व्याख्या की है, शेष पाठकोंके अनुमानपर छोड़ दिये हैं (काव्यादर्श . २ . ६६-९६)।

रुद्रटने रूपकके सावयव, निरवयव तथा संकीर्ण भेद करके सावयवके ३ उपभेद—सहज, आहार्य तथा सहजाहार्य माने हैं। निरवयवके ४ उपभेद हैं—शुद्ध, माला, रशना तथा परम्परित। एकदेशीय उपर्युक्त समस्त विषय-रूपकोंसे भिन्न है। अर्वाचीन आचार्योंमें मम्मटने प्रथम तो रूपकके २ भेद किये हैं—समस्त वस्तु-विषय तथा एक-देश-विवर्त्ति, परन्तु इन दोनों भेदोंको साग रूपकके ही अन्तर्गत मान लिया है। जो साग नहीं है वह शुद्ध निरंग रूपक है, माला रूपकमें अनेक अप्रस्तुतोंका एक प्रस्तुतमें आरोप होता है। परम्परितके ४ उपभेद श्लेषमूल, श्लेषरहित, केवलरूप तथा मालारूप हैं। रशना रूपकमें मम्मटने चमत्कार नहीं माना।

विश्वनाथने रूपकके भेदोपभेदोंको स्पष्ट किया है। रूपकके ३ भेद हैं—परम्परित, साग तथा निरंग, परम्परितके २ उपभेद हैं—श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट, और प्रत्येक उपभेद केवल तथा माला, दो प्रकारका है। इस प्रकार परम्परित रूपक ४ प्रकारका हुआ। सागके दो उपभेद हैं—समस्त वस्तु-विषयक तथा एक-देश-विवर्त्ति। निरंगके भी दो उपभेद हैं—मालानिरंग तथा केवलनिरंग। इस प्रकार रूपकके केवल ८ भेद हुए।

जयदेवने रूपकके ४ भेद किये—सोपाधि, साद्दश्य, आभास तथा रूपित रूपक। सोपाधि रूपकमें एक आरोप-प्रधान आरोपके प्रति कारण होता है। 'काव्यप्रकाश'में इसीको 'परम्परित' रूपक कहा गया है। साद्दश्य रूपक सावयव या साग रूपकका ही नाम है, इसमें उपमान और उपमेय, इन दोनोंका अलग-अलग पदोंसे साद्दश्य बतलाया जाता है। आभास रूपकमें रूपकका आभास होता है, किसी सौन्दर्यकी प्रतीति नहीं होती, 'अंगयष्टि' पदमें यष्टिका अंगपर आरोप केवल लम्बाईके कारण है, सौन्दर्यबोधके निमित्त नहीं। रूपित रूपकमें आरोपित पदोंका पुनः आरोप होता है, यह दण्डीका रूपक रूपक अलंकार है। अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में रूपकके २ भेद किये हैं—'अभेद' तथा 'तद्रूप' और प्रत्येक भेदके ३ उपभेद हैं—आधिक्य, न्यून तथा अनुभय।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः रूपकके अप्पय दीक्षितके ६ भेदोंको अपनाया है, उनके अनुभय उपभेदका नाम सम दिया है। केवल केशवदासने 'कविप्रिया'में रूपकके ३ भेद माने हैं—अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक तथा रूपक रूपक। अद्भुत रूपक दण्डीके व्यतिरेक रूपकका नामान्तर है, शेष दोनों भेद 'काव्यादर्श'में ज्योंके त्यों मिलते हैं। कुलपतिने मम्मट, विश्वनाथके आधारपर साग, शुद्ध, परम्परित तथा माला रूपक—चार भेद माने हैं। आधुनिक विवेचकोंने रूपकके भेदोंको नियम देनेका प्रयत्न किया है। कन्हैयालाल पोद्दारने रूपकके दो भेद—अभेद तथा तद्रूप मानकर दोनोंके सम, अधिक, न्यून भेद माने हैं; फिर समके सावयव (साग), निरवयव तथा परम्परित भेद किये हैं और इन तीनोंके भी क्रमशः समस्त वस्तु-विषय, एक देश-विवर्त्ति, श्लिष्ट, मालारूप, श्लिष्ट शब्द, भिन्न शब्द नामक दो-दो भेद किये हैं (अलं० म० : पृ० १३७)। इसमें उन्होंने मम्मट आदिके साथ अप्पय दीक्षितके विभाजनको मिलानेका प्रयत्न किया है। रामदहिन मिश्रने दूसरे प्रकारसे यह विभाजन दिया है—अभेद और मालाके दो प्रकार आहार्य और वास्तव माने हैं और तीन भेद केवल इसीके कहे गये हैं। सावयव आदि अपने भेदोंके सहित स्वतन्त्र हैं।

१ अभेद—अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में साद्दश्य-मूलक अलंकार रूपकके दो भेद माने हैं—अभेद तथा तद्रूप। जब विषयीका विषयमें अभेद-पर्यवसान हो तो अभेद रूपक होता है। हिन्दीमें प्रायः बिना लक्षण दिये केवल विभाजन करके उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें उपमेयमें अभेदरूपसे उपमानका आरोप किया जाता है और इसके तीन भेद 'कुवलयानन्द'के ही आधारपर हिन्दीके आचार्योंने माने हैं—न्यून, अधिक और सम। जहाँ उपमेयमें उपमानके आरोपके अनन्तर कुछ न्यूनता कही जाती है, न्यून कहलाता है। दूलह कविका उदाहरण है—'राम तुम लंकके विरोध बिन' (राममें लंका-विजयकी सामर्थ्य थी, तुममें नहीं है, तुम राममें न्यून हो)। या—'पच्छिन बिगिर विहग हैं, सुण्डन बिगिर मतंग।' (ल०ल० ७०)। अथवा—'निर्झरमें अक्षय स्वरप्रवाह है, पर वह विकल विराग नहीं' (मिलिन्द . का० ८०)। अधिक—

जहाँ उपमेयमें उपमानके आरोपके अनन्तर कुछ अधिकता कही जाती है—'राम अवियोगी तुम' (दूलह), अर्थात् राम वियोगी थे और तुम अवियोगी हो, अत रामसे अधिक हो या—'नव विधु विमल तात जसु तोरा, रघुवर किंकर कुमुद चकोरा। उदित सदा अँथइहिं कवहूँ ना, घटहिं न जग नभ दिन दिन दूना।' (रा० च० मा० २ २०९), इसमें चन्द्रमा घटता-बढ़ता है, पर यश सदा उदित रहता है, अधिक है। **सम**—जहाँ उपमेयमें उपमानकी न्यूनता या अधिकताके विना सम आरोप हो—'राम तुम यशपाल' (दूलह), राम भी यशपाल थे और तुम भी, अत अभेद समता है। या—'बीती विभावरी, जाग री। अम्बर पनघटमें डुवो रही ताराघट ऊषा नागरी।' ('प्रसाद'), इसमें अम्बरमें पनघट, तारामें घट तथा ऊषामें नागरीका अभेद-कथन है।

२. तद्रूप—'कुवलयानन्द'में स्वीकृत रूपकका एक भेद। भेदके रहते हुए भी सामान्य धर्मके आश्रयसे अप्रस्तुतका प्रस्तुतमें आरोप 'ताद्रूप' रूपक कहलाता है, यथा—'मुख दूसरा चन्द्र है।' 'मुख' और 'चन्द्र' अलग हैं, फिर भी सामान्य धर्मके साध्दश्यसे मुखपर चन्द्रका आरोप कर दिया गया है। अभेदके समान इसके भी तीन भेद माने गये हैं। **न्यून**—जहाँ इस आरोपमें उपमेय हीन कहा गया है—'विप्रनिके मन्दिरन तजि, करत ताप सब ठौर। भावसिंह भूपालको, तेज तरनि यह और।' (ल० ल० ७३)। **अधिक**—जिसमें तद्रूप आरोपके अनन्तर उपमेयमें कुछ अधिकता कही जाय—'अमिय झरत चहुँ ओर अरु, नयन ताप हरिलेत। राधा मुख यह अपर ससि, सतत उदित सुख देत।' (अ० मं० १४१), 'अपर ससि'में तद्रूप और 'सतत उदित'के कथनसे अधिकका भाव है। **सम**—जहाँ तद्रूपता समान हो 'भूमि पुरन्दर भाऊके हाथ पयोद नहीं वर काज ठये हैं। पथिनके पथ रोकिवेकौ घने वारिद वृन्द वृथा उनये हैं' (ल० ल० ७२)। अथवा—'सुधा सहित मुख ससि लख्यो, वृथा सरदको चन्द' (पद्मा० ३७)।

३ सांगरूपक—रूपक अलकारका एक भेद, जिसको सावयव रूपक भी कहते हैं। दण्डीका सकल रूपक भी यही भेद है। भामहने रूपकके समस्त वस्तु-विषय और एक-देश-विवर्त्ति, दो भेद किये थे, मम्मटने उन दोनोंका एक नाम 'सावयव' रूपक माना है और दोनों भेदोंको साग या सावयवका उपभेद वना दिया है। साग और सावयव दोनों नाम मम्मटके 'काव्यप्रकाश'से ही प्रचलित हो गये। श्लोकमें 'सावयव' शब्दका व्यवहार है (का० प्र० १० ९४ वृ०)।

जगन्नाथके अनुसार परस्पर सापेक्षसे सम्बद्ध रूपकोंका सघात सावयव रूपक है—'परस्परसापेक्षनिष्पत्तिकाना रूपकाणा संघात सावयवम्।' उदाहरण—'रक्त अँगुलियाँ ही पत्रपक्ति हैं, नख-किरणें ही केसर हैं, इस प्रकार आपके चरण तो साक्षात् कमल हैं' (अनुवाद)। विश्वनाथके अनुसार यदि अंगीका साग रूपण हो तो रूपक 'साग' कहलायेगा—'अगिनो यदि सागस्य रूपर्ण सागमेव तत्' (सा० द० १० : ३०)।

४. समस्त वस्तु-विषय—उपभेदमें आरोप्यमाण विषय शब्दोपात्त होकर सकल विषयोंको अन्तर्भूत कर लेते हैं, यथा, 'रावणरूपी अनावृष्टिसे क्लान्त मरुद्रूपी शस्यकी वाणीरूपी अमृतसे सींचकर विष्णुरूपी कृष्णमेघ शान्त हो गया' (अनुवाद)। वस्तुत इसमें उपमेयमें उपमानका आरोप अवयवों (अंगों) सहित होता है—'रनित भृंग घण्टावली, झरति दान मधु नीरु। मन्द मन्द आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज समीरु।' (वि० र० . ३८८)।

५ एक-देश-विवर्त्ति—साग रूपकमें आरोप्यमाण विषयका आरोप क्वचित् (एकदेशमें) शब्दोपात्त होता है और क्वचित् अर्थोपात्त, अर्थात् कहीं आरोप शब्द द्वारा किया जाय और कहीं अर्थके बलसे ज्ञात हो। यथा—'लावण्य-रूपी मधुमें पूर्ण इसके आननको लोकलोचनरूपी भ्रमर पीते हैं,' यहाँ रूप्यमाण विषय है मुखका पद्मत्व, जिसका आरोप शब्दोपात्त नहीं प्रत्युत 'लावण्यरूपी मधु'के अर्थसे सिद्ध होता है। अथवा—'तरल मोतीसे नयन भरे। मानस-से ले उठे स्नेह घन, कसक विद्यु-पलकोंके हिमकण। सुधि स्वातिकी छाहँ पलककी सीपीमें उतरे।' (महादेवी का० द०से), यहाँ आँसू उपमेयका शब्दसे कथन नहीं है, पर अन्य आरोपोंके द्वारा स्वत स्पष्ट है।

६. निरंग रूपक—रूपक अलकारका एक भेद। इसको निरवयव भी कहते हैं। निरग रूपकमें केवल अगीका ही आरोप होता है, उसके अंगोंका नहीं। यह भेद दण्डीके अवयवी रूपक भेदसे मिलता-जुलता है। उदाहरण—'वदन पकज है,' इस वाक्यमें वदनके अवयवोंपर पकजके अवयवोंका आरोप नहीं किया गया। 'निरग' रूपक दो प्रकारका है—शुद्ध तथा माला, शुद्ध-निरगको केवलनिरग भी कहते हैं, एक उपमेयमें अनेक उपमानोंका आरोप माला रूपक है। शुद्धका उदा०—'वर धामन वाम चढ़ी वरसैं मुसकानि सुधा घन सार घनी। सखियानके आनन इन्दुन तै अँखियानकी वन्दनवारि तनी।' (देव अ० म०), यहाँ मुसक्यानमें सुधाका, आननमें इन्दुका और अँखियानमें वन्दनवारका आरोप है। मालाका उदा०—'ओ चिन्ताकी पहली रेखा, अरे विश्ववनकी व्याली। ज्वालामुखी स्फोटके भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली।' ('प्रसाद' का० द० से), यहाँ चिन्तामें अनेक उपमानोंका आरोप है।

७. परम्परित रूपक—रूपकका एक भेद। प्रतिष्ठापक मम्मटके अनुसार—रूपकके केवल ३ भेद हैं—साग, निरग तथा परम्परित। विश्वनाथके अनुसार प्रस्तुतपर अप्रस्तुतका साग आरोप साग रूपक या सावयव रूपक है। 'निरंग'में केवल अगीका ही आरोप होता है, उसके अगोंका नहीं।

परम्परित भेदमें एक आरोप दूसरे आरोपका कारण होता है—'यत्र कस्यचिदारोप परारोपकारणम्' (सा० द० १० · ४३)। उदाहरण—'त्रैलोक्य-मण्डपकी आधार-स्तम्भ हरिकी भुजाएँ तुम्हारी रक्षा करें' (अनुवाद), यहाँ त्रैलोक्यमें मण्डपका आरोप करके जो रूपक बना, उसीके कारण भुजाओंमें आधारस्तम्भका आरोप करके परम्परित रूपक हुआ। यह दण्डीके रूपक रूपकसे अशत मिलता-जुलता है।

परम्परित रूपकके २ उपभेद हैं—श्लिष्ट शब्दमूलक तथा भिन्न शब्दमूलक। प्रथममें श्लिष्ट शब्दोंके प्रयोगमें रूपक होता है, द्वितीयमें श्लेषके विना ही भिन्न-भिन्न

शब्दोंमें आरोप होता है। श्लिष्टका उदा०—'सखि ! नील नभस्सरमें उतरा यह हंस अहो तरता तरता। अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता। अपने हिमबिन्दु बचे तब भी चलता उनको धरता धरता। गड न जायँ कटक भूतलके कर डाल रहा डरता डरता।' (मैथिलीशरण गुप्त : अ० म० मे), इनमें 'हंस' और 'कर' श्लिष्ट शब्द हैं (सूर्य तथा किरण) और इन्हींके कारण अन्य आरोप हैं। मिश्रका उदा०—'वाड़व ज्वाला सोती थी, इस प्रणय-सिन्धुके तलमें। प्यासी मछली-सी आँखें, थीं विकल रूपके जलमें।' ('प्रसाद' आँसू), इसमें आँखोंमें मछलीका आरोप, रूपमें जलके रूपकका कारण है।

रूपक उपमाके समान सहज सौन्दर्यबोधका अलंकार है। इसका प्रयोग सभी युगोंके श्रेष्ठ कवियोंने अनेक प्रकारसे किया है। सूर, तुलसी तथा जायसीने इसके प्रयोगमें विशेष सफलता प्राप्त की है। जायसीके साग रूपकोंमें प्रत्येक अंगके सादृश्य या साधर्म्यका क्षेत्र बहुत व्यापक तथा विविध रहता है। वे व्यापक प्रभावका ध्यान रखकर चलते हैं, किसी निश्चित योजनाको लेकर नहीं। सूरके साग रूपक प्राय उत्प्रेक्षापुष्ट हे, जिनके सहारे कवि सजीव और अलौकिक सौन्दर्यको चित्रित करता है। कार्य-स्थितियोंके वर्णनमें उसने साग तथा परम्परित रूपकों-का प्रयोग किया है तथा भावाभिव्यक्तिमें (विरह) रूपकोंका अत्यन्त व्यंजक तथा स्वाभाविक निर्वाह हुआ है। तुलसीने साग, निरंग तथा परम्परित रूपकोंका बहुत काव्यात्मक प्रयोग किया है। विस्तृत साग रूपक बहुत पूर्ण और प्रसिद्ध है (रामकथा, भक्ति, ज्ञान, रामचरितमानस आदिके रूपक)। वीर-काव्यमें रूपका प्रयोग युद्धवर्णन तथा अन्य युद्ध-सामग्रीके वर्णनमें किया गया है, जिनमें वर्षा, विवाह, तीर्थराज आदि प्रचलित रूपक अधिक हैं। आधुनिक छायावादी कवियोंमें इनका व्यापक तथा सुन्दर प्रयोग देखा जा सकता है। केवल उपमेय और उपमानके क्षेत्र बदले गये हैं, अधिक सूक्ष्म और मनोभावात्मक हो गये हैं। भक्ति-कालीन कवियोंका सौन्दर्य-बोध रूप-प्रधान ही था। —ओ० प्र०

रूपककथाकाव्य—(ऐलेगरी) वह कथात्मक प्रबन्ध है, जिसमें प्रस्तुत कथाके भीतर कोई अन्य अप्रस्तुत कथा भी अन्त सलिलाकी भाँति छिपी रहती है। काव्यमें ही नहीं, कथासाहित्य और नाटकमें भी रूपक कथा होती है। रूपककथाके कई प्रकार होते हैं और अँग्रेजीमें सबको एलेगरी कहा जाता है। एलेगरीके लिए हिन्दीमें **रूपक, प्रतीक, अन्योक्ति और उपमित कथा** शब्दोंका भी प्रयोग होता है। किन्तु यह अनुवाद भ्रामक है। रूपक एक अलंकार है, जिसमें उपमेय और उपमानका अभिन्नत्व दिखाया जाता है, परन्तु एलेगरीमें यह बात नहीं होती। रूपक नाटकका प्राचीन नाम भी है। अन- रूपक काव्यसे नाटक काव्यका भ्रम हो सकता है। इसी कारण कुछ लोगोंने एलेगरीको केवल रूपक न कहकर अध्यवसित रूपक कहा है जो अधिक उपयुक्त है। प्रतीक भी (सिम्बॉल) एलेगरीसे भिन्न अर्थका बोधक है, यद्यपि एलेगरीमें प्राय प्रतीकात्मकता भी रहती है। प्रतीकमें प्रस्तुत (वर्ण्य वस्तु) नगण्य होता है, उसका अप्रस्तुत या प्रतीयमान अर्थ ही साध्य होता है। अन्योक्तियाँ प्राय प्रतीकात्मक ही होती हे, किन्तु एलेगरीमें कभी-कभी अन्योक्ति नहीं, समासोक्ति होती है, जिसमें प्रस्तुत और प्रतीयमान दोनों अर्थोंका समान रूपमें महत्त्व होता है। चन्द्रबली पाण्डेने इसे उपमित कथा कहा है (अनुराग बाँसुरीकी भूमिका)। परन्तु उपमित कथासे दृष्टान्त कथा(पैरबिल)का बोध होता है, जो रूपककथासे भिन्न काव्यरूप है (दे०—'दृष्टान्त काव्य')। अत अंग्रेजीके एलेगरी शब्दमें जो व्यापकता है वह हिन्दीके रूपक, प्रतीक अन्योक्ति या उपमितकथा शब्दोंमें नहीं है। ये शब्द अलग-अलग और सीमित अर्थके द्योतक हैं। अध्यवसित रूपकसे कथात्मकताका बोध नहीं होता। अत वह भी पूर्ण अर्थ व्यक्त नहीं करता। अतएव एलेगरीके लिए हिन्दीमें रूपककथा ही सबसे अधिक उप-युक्त शब्द है।

रूपककथाके निम्नलिखित रूप-भेद प्राप्त होते हैं—१ जिसमें पात्र भावनाओं, विचारों या सूक्ष्म अशरीरी तत्त्वोंके मानवीकृत रूप होते हैं, जैसे, संस्कृतमें 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'मोहराजपराजय' आदि नाटक और हिन्दीमें 'प्रसाद'का 'कामना' नामक नाटक। ऐसी रूपककथाओंमें चरित्र-चित्रण, घटनाओंकी योजना आदिमें यथार्थता या स्वाभाविकता नहीं होती, क्योंकि उसके पात्र ही मानवीकृत होते हैं और मानवीकरण अपने आपमें एक अयथार्थ व्यापार है। २ जिसमें पात्र मानवीकृत तो नहीं होते, पर प्रतीकात्मक अवश्य होते हैं। मानवीकरणमें प्रस्तुत और प्रतीयमान एक ही होते हैं, अर्थात् प्रवृत्ति, भावना या सूक्ष्म तत्त्व नाम ही पात्रका नाम होता है। परन्तु प्रती-कात्मक पात्रमें पात्रका नाम चाहे जो भी हो, वह पात्र अपने गुणों या कार्यों द्वारा किसी प्रतीयमान तत्त्व या प्रवृत्तिका प्रतिनिधित्व करता है। ऐसी रूपककथामें पात्र ही नहीं, अधिकाश घटनाएँ और वर्ण्य वस्तुएँ प्रतीकात्मक या साकेतिक होती हैं, इस प्रकारकी रूपक-कथाएँ भी दो तरहकी होती हैं—(क) अन्योक्ति-मूलक, जिसमें प्रस्तुत कथा गौण या व्यर्थ और अप्रस्तुत कथा प्रधान होती है और (ख) समासोक्तिमूलक, जिसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों कथाएँ समान महत्त्वकी होती हैं। किन्तु इनमें यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक घटना या वस्तु प्रतीकात्मक या साकेतिक ही हो। उसमें अप्रस्तुत या प्रतीयमान कथा भी आद्यन्त नहीं मिलती, बीच-बीचमें ही मिलती है। जायसीका 'पद्मावत' समासोक्तिमूलक 'रूपक-कथा'-काव्य है। ३ जिसमें पात्र मानवेतर प्राणी या जड़ पदार्थ होते हैं। वे पात्र मानव-भाषा बोलते, समझते और मानवोंसे बातचीत करते दिखाये जाते हैं। 'पंचतन्त्र' और ईसपकी 'पशु-कथाएँ' (बीस्ट फेबिल्स) ऐसी ही हैं। धार्मिक या आध्यात्मिक तत्त्वनिरूपण या नैतिकता और व्यवहार-कुशलताका उपदेश देना ही इनका उद्देश्य होता है। हिन्दीमें 'प्रसादके' 'एक घूँट' और सुमित्रानन्दन पन्तके 'ज्योत्स्ना' नामक नाटकोंमें इसी ढंगकी रूपककथाएँ हैं, क्योंकि उनमें वृक्षों और जड़ वस्तुओंको भी मानवीकरण करके पात्र बनाया गया है। ऐसी कथाओंमें स्वाभाविकता

और यथार्थ जीवनका अभाव दिखाई पड़ता है। ४ जिसमें पात्र तो यथार्थ मानव होते हैं और घटनाएँ भी स्वाभाविक होती हैं, परन्तु उसका समग्र प्रभाव गूढ़ार्थव्यंजक और सांकेतिक होता है। उसमें कवि पात्रोंके जीवनका ऐसा मनोवैज्ञानिक और यथार्थ चित्र उपस्थित करता है और ऐसी घटनाओं और परिस्थितियोंका चुनाव करता है कि पूरी कथा मानव-जीवनसे सम्बन्धित किसी सूक्ष्म सत्य या महत्त्वपूर्ण घटनाकी ओर संकेत करती प्रतीत होती है। यह संकेत पूरी कथाके समन्वित प्रभावमें अधिक प्रतिफलित होता है। कथाके अवयवोंमें उतना नहीं। वेवरने 'वाल्मीकि-रामायण'की कथाको इसी प्रकारकी रूपककथा माना है। वैदिक और पौराणिक साहित्यमें इस प्रकारकी सांकेतिक या रूपकात्मक कथाएँ बहुत मिलती हैं। 'प्रसाद'के महाकाव्य 'कामायनी'की कथा भी इसी प्रकारकी रूपककथा है।

रूपककथा जब किसी प्रबन्ध-काव्यके माध्यमसे अभिव्यक्त होती है तो उस काव्यको रूपककथात्मक काव्य (एलेगॉरिकल पोइट्री) कहा जाता है। अंग्रेजीमें स्पेन्सरका 'फेयरी क्वीन' और ब्राउनिंगका 'आइडिल्स आफ द किंग' इसी प्रकारके रूपककथात्मक महाकाव्य माने जाते हैं। हिन्दीके मध्यकालीन प्रेमाख्यानक काव्योंमें प्राय सभी रूपककथात्मक काव्य हैं, जिनमें सर्वप्रमुख जायसीका 'पद्मावत' है। कुछ लोगोंने तुलसीके 'रामचरितमानस'में भी रूपककथा खोजनेका प्रयास किया है। आधुनिक कवियोंमें 'प्रसाद'की 'कामायनी' भी रूपककथात्मक महाकाव्य ही है। —श० ना० सिं०

रूपककाव्य–दे०—'रूपककथाकाव्य'।

रूपकातिशयोक्ति–दे०—'अतिशयोक्ति', पहला भेद।

रूपगर्विता–दे०—'गर्विता', नायिका।

रूपघनाक्षरी–मुक्तक दण्डकका एक भेद। इसमें ३२ अक्षर होते हैं और १६, १६ पर यति तथा अन्तमें लघु-गुरु होते हैं। भानुने 'छन्दप्रभाकर'(पृ० २१८)में 'छन्दोविनोद'का उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार ८, ८, ८, ८ पर विश्राम होना लिखा है। बात वही है। मनहरण छन्दकी ही भाँति रूपघनाक्षरी वृत्त भी ब्रजभाषा कविताका प्रिय छन्द रहा है। केशवदासने इसमें चतुराक्षर शब्दोंका प्रयोग अत्यन्त सुन्दरताके साथ किया है, पर वह मात्र प्रयोग है (कविप्रिया पृ० २१९)। ब्रजभाषाके प्राय सभी कवियोंने इस वृत्तका प्रयोग किया है। उदा०—'ब्रजकी कुमारिका वे लीनें सुक सारिका, पढावैं कोक कारिकानि केसव सबै निवाहि।' विशेषके लिए दे०—'घनाक्षरी'। —ह० मो०

रूपमाला १–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भानुके अनुसार प्रत्येक चरणमें २४ मात्रा तथा अन्तमें ग ल (ऽ।) रहता है। इसका अन्य नाम मदन भी दिया गया है। इस छन्दका उपयोग पद-शैलीमें प्राय मिलता है। सूर, तुलसी तथा मीराँने इसका प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त केशव (रा० च०) तथा रघुराज(रा० स्व०)में यह छन्द मिलता है। शोभन छन्द और इसमें विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि अन्तमें ग लके स्थानपर जगण (।ऽ।) होता है। इसी कारण प्राय इनका एक साथ प्रयोग होता है। सूरके इस छन्दमें ऐसा ही है—'तनक दै री माइ माखन, तनक दै री माइ। तनक करपर तनक रोटी, माँगत चरन चलाइ।' (सू० सा०, सभा स० पद ७८४)।

रूपमाला २–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। हिन्दीमें मात्रिक रूपमाला (ऽ।ऽऽ×३+ऽ।) बहुत प्रचलित है। केशवने इस छन्दका वर्णिक प्रयोग किया है। 'प्राकृतपैंगलम्'-(२ ८९)के इस नामके छन्दसे यह भिन्न है (तीन मगण)। र, स, ज, ज, भ, ग, लके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽ।ऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।।, ऽ।)। उदा०—'रावरे मुखको विलोकत ही भये दुख दूरि। सुप्रलापन ही रह्यो उर मध्य आनँद पूरि।' (रा० च० २३ ७)। —पु० शु०

रूह–सूफियोंके मतानुसार आत्माके दो भेद हैं—रूह और नफ्स। रूह सद्वृत्तियोंका उद्गमस्थल है। यह विवेकके द्वारा परिचालित उद्गम होती है। रूह आत्माको ऊपरकी ओर ले जाती है। परमात्मा सम्बन्धी वृत्तियोंका यह वासस्थान है। परमात्माका प्रेम रूहका ही विषय है। इसमें बुराई नहीं आ सकती। इब्नुल फरीदने रूहको अमर कहा है। जीलीके अनुसार परमात्माने अपनी ज्योतिसे रूहकी सृष्टि की और फिर उससे जगत्का निर्माण किया। हुजवीरीका कहना है कि रूह और शरीर दो अलग-अलग पदार्थ हैं और परमात्मा इन दोनोंको एकत्र करता है। (दे०—'नफ्स')। —रा० पू० ति०

रेख़्ता–रेखता शब्द फारसी मूल 'रेखतन्'से बना है, जो फारसीमें अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। (१) बनाने, ईजाद करने, (२) किसी चीजको कालिबमें ढालने या नयी वस्तु बनाने, (३) उपयुक्त बनाने या मौजूं करने आदि इसके अर्थ हैं। शेरानीके अनुसार जहाँ खुसरूने ईरानी और भारतीय छन्द शास्त्रके समन्वयसे अनेक नयी चीजें तैयार कीं वहाँ उन्होंने रेखताका भी आविष्कार किया। जिसमें फारसी ख्याल हिन्दीके मुताबिक हों और जिसमें दोनों जबानोंके सरुद एक राग और एक तालमें बँधे हों उसको रेखता कहते हैं। इस प्रकार रेखता छन्द या गीतकी एक नयी शैली थी, जिसमें फारसी और हिन्दी मिसरे ताल और रागके ऐतबारसे छन्द होते थे—यथा 'जहाल मस्कीं मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाय बतियाँ' (खुसरू)। अकबर कालीन फारसी कवि सादी भी (१५९६ ई०) रेखता-से गीतका अर्थ लेते हैं—'सादी कि गुफ्त रेखत दर रेखत दर रेखत। शीरो शकर आमे खत हम रेखत हम गीत है।' यही दक्षिणमें इस शब्दके प्रथम प्रयोक्ता कहे जा सकते हैं। रेखता हिन्दी छन्दोंमें भी पहुँच गया था। कबीर आदि निर्गुण सन्तोंने रेखते लिखे हैं, जो मध्यकालीन खड़ीबोलीमें हैं और जिनमें फारसी अरबीके प्रचलित शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

धीरे-धीरे छन्दके क्षेत्रसे निकलकर यह शब्द ऐसी पद्य-शैलीके लिए प्रयुक्त होने लगा, जिसमें दो भाषाओंका मिश्रण हो। इस प्रकार रेखताका अर्थ मिश्रित भाषाके लिए होने लगा। शेख बाजिन, जमाल, सादी आदिने रेखता शब्दका यही अर्थ लिया है—यथा, 'अँखियाँने झड़ लगाया ससवा करेंगी, आखिर, दर दा कि राज पिनहा ख्वाहिद शुदा सतरारों।' (ख्वाजा हाफिज १२वीं सदी हि०)। दक्खिनीके कवियोंने अपनी भाषाको हिन्दी, हिन्दवी,

गूजरी, दकनी कहा जो उत्तरकी खड़ी बाँगरूका ही रूप है। जब पद्यकी भाषामें फारसी तरकीबें भी मिलने लगीं तब इस प्रकारके पद्यके लिए रेखता शब्दका प्रयोग होने लगा—'वली तुझ हुस्नकी तारीफमें जब रेखता बोले।' यही अर्थ लेकर रेख़ता दकनसे उत्तर आया। वलीसे प्रेरणा प्राप्त करके फारसीका गाढ़ा रंग देकर फारसीदाँ मुसलमान कवियोंने रेखताको, जो अभीतक केवल पद्यके लिए प्रयुक्त होता था, 'ज़बान उर्दू ए मुअल्ला' बना दिया। रेखता और उर्दू कुछ दिनोंतक समानार्थक-से चले। उर्दूके हातिम (१७४६ ई०), मीर, सौदा, गालिबतकने इस शब्दका प्रयोग किया है, किन्तु धीरे-धीरे इसके स्थानमें उर्दू शब्द प्रचलित हो गया।

हिन्दीके गद्य-लेखक लल्लूलालने अपनी भाषाके तीन वर्ग किये—(१) खडीबोली, (२) ब्रजभाषा, (३) रेखतेकी बोली (उर्दू)। मुंशी दुर्गाप्रसाद 'रेखते'का मानी 'गिरे हुए-से लेते हैं। स्वर्गीय आजादके अनुसार 'इस जबानको रेखता कहते हैं, क्योंकि मुखतलिफ जबानोंने इसे रेखता किया, जैसे दीवारको ईंट, मिट्टी, चूना, सफेदी वगैरह पुख्त करते हैं, या रेखताके माने हैं गिरी-पड़ी परेशान चीज, क्योंकि इसमें अलफाज परेशान जमा हैं इसलिए इसे रेखता कहते हैं।

मूलतः रेखता खड़ीबोलीका ही विकसित रूप है। हिन्दुओंके रेखतोंमें केवल खड़ीबोलीका ढाँचा है। १७वीं शतीके बाद उत्तरी भारतमें मुसलमानोंके रेखते खड़ीबोली और फारसी तरकीबके मिश्रित रूपमें हैं। —मा० व० जा०

रेख़्ती—पर्देकी रसमके कारण पुरुष और स्त्रियोंकी सोसाइटी अलग-अलग हिस्सोंमें बँट गयी थी। इसीके प्रभावसे स्त्रियोंकी बोली ऐसी हो गयी थी, जिसमें उनके मुहावरे अलग हो गये थे और उनकी बोलचालका ढंग भी पुरुषोंसे अलग हो गया था। उसको बेगमाती जबान कहते थे। लखनऊमें जब शायरीका जोर हुआ और लोगोंको नयी-नयी चीजें सूझने लगीं तो 'रंगीन'ने बेगमाती जबानमें शेर कहने शुरू किये। उर्दूको रेखता कहते थे। इसलिए बेगमाती जबानकी शायरीको इसका स्त्रीलिंग बनाकर रेख़्ती कहने लगे। इसमें वक्ता सदैव स्त्री ही होती है और उसीकी ओरसे वर्णन किया जाता है। 'रंगीन'की यह नयी शायरी देखकर 'इन्शा'ने भी रेख़्तियाँ लिखीं। इनके अतिरिक्त मिरजा अलीबेग 'नाजनीं', मीर यार अली 'जान साहब', बेगम आदि रेख़्तीके प्रसिद्ध कवि हैं। बेगमोंकी विशेष बोली इकट्ठा और सुरक्षित करनेका रेख़्तीने बड़ा सफल काम किया। इनके पढ़नेसे लखनऊकी सभ्यताकी अगणित ऐसी बात मालूम होती हैं जो साहित्यके किसी और रूपमें नहीं मिलतीं। इस कालमें नवाबोंका लखनऊ भोग-विलासमें ऐसा डूबा हुआ था कि रेख़्तीका झुकाव भी इसी ओर हो गया। इसलिए गजलकी तरह भावनाओंके मधुर चित्र इसमें नहीं मिलते। उदाहरणार्थ—'हैं दिवालीसे सिवा आजका दिन आजकी रात, घरसे निकलो न जरा आजका दिन आजकी रात।' तीसरे दिन नहीं जाते हैं किसीके घरसे, और रह जाओ बुआ आजका दिन आजकी रात।' मुब्हको देखा है मुँह शाम बरनका मैंने, खैरसे काटे खुदा आजका दिन आजकी रात।', 'टोली मँगाके उनके घर आप हूँ मैं जाती, गैरोंके हाथ वाजी भेजूँ पयाम कबतक।', 'मंगलका दिन है साहब हो जायगी वह दुबली, बच्चीको मेरी देखो मारो न तुम थपेड़े।', 'बेकली दिलकी हुई तीज में पहनूँ गजरे, फूलोंके बोझसे दुखने लगे जनियाँ गजरे।' —म०

रेडियो डाकुमेंट्री—दे०—'रेडियो रूपक'।

रेडियो नाटक—रेडियो द्वारा प्रसारणार्थ लिखित नाटक रेडियो नाटक कहा जाता है। चूँकि यह मात्र श्रव्य होता है, अतः इसे श्रव्य नाटक भी कहते हैं और चूँकि इसमें ध्वनिकी प्रधानता होती है, अतः ध्वनि नाटक भी कहते हैं। पर रेडियो नाटक अथवा रेडियो नाट्य नाम ही अधिक प्रचलित एवं व्यवहृत है। इसकी संक्षिप्त रूपरेखाके कारण इसे **एकांकी** समझ लिया जाता है, पर ऐसा समझना निराधार है (दे०—'एकांकी')। रेडियो नाटकके सम्बन्धमें अंकका प्रश्न नहीं उठता। इसमें एक दृश्य भी रह सकता है, अनेक दृश्य भी हो सकते हैं। दृश्योंपर भी किसी प्रकारका बन्धन नहीं है, दो पंक्तियोंका भी दृश्य हो सकता है, दो सौ पंक्तियोंका भी। पंच अंकीय नाटकोंको भी रेडियो नाटक बनाकर प्रसारित किया जाता है। कुछ लोग इसे **रेडियो रूपक**का पर्याय समझते हैं, पर रेडियो रूपक रेडियो नाटकके अनेक प्रकारोंमेंसे एक है (दे०—'रेडियो रूपक')।

प्राचीन आचार्योंने जिस स्वरूपविधानको दृश्य कहा था, वह रेडियो नाटकके रूपमें मात्र श्रव्य हो गया है। साधनों एवं माध्यमके परिवर्तनके कारण रेडियो नाटक **रंगमंच-नाटक**से अनेक बातोंमें भिन्न है। रंगमंच-नाटक दृश्य भी है और श्रव्य भी। वह आंगिक अभिनयकी भी कला है, वाणीकी भी। उसमें वातावरण एवं परिस्थितियोंको सूचित करनेवाले दृश्य-साधन उपलब्ध हैं, पात्रोंके व्यक्तित्व-के सूचक परिधान, अलंकरण, मुद्रा आदि प्राप्त हैं, पर रेडियो नाटक इनसे पूर्णतः वंचित है। रंगमंचपर एक साथ ही अनेक पात्रोंकी उपस्थिति होनेपर भी पात्रों एवं उनके क्रिया-कलापोंका परिचय दर्शकोंके लिए कोई समस्या नहीं बनता, पर रेडियो नाटकमें क्षण क्षण इन बातोंपर ध्यान देनेकी आवश्यकता होती है, जिससे श्रोताओंके लिए वह सहज बोधगम्य हो सके। दृश्यतत्त्वके अभावमें रेडियो नाटकमें पात्रोंकी संख्या कम होती है, जिससे वे सरलतासे पहचाने जा सकें। इसी कारण उसका कथानक अपेक्षाकृत सरल होता है। स्पष्ट है कि रेडियो नाटक अधिक लम्बे नहीं हो सकते। आध घण्टेका रेडियो नाटक आदर्श कहा जा सकता है। दस-पन्द्रह मिनटके नाटक भी काफी लोकप्रिय होते हैं। एक घण्टेसे अधिकके नाटक प्रायः प्रसारणीय नहीं होते। क्रमशः प्रसारित होनेवाले नाटक भी साधारणतः पन्द्रहसे तीस मिनटके होते हैं। लेकिन जहाँ रेडियो नाटकपर इतने बन्धन हैं, वहाँ उसमें रंगमंचीय नाटकोंकी तुलनामें कुछ सुविधाएँ भी प्राप्त हैं। इसमें संकलनत्रयका कोई बन्धन नहीं है। रेडियो नाटककी घटनाएँ बड़ी सरलतासे उत्तरी ध्रुवसे दक्षिणी ध्रुव तथा गौतम बुद्धके कालसे गान्धीयुगतककी यात्रा कर सकती हैं, केवल एक बातको ध्यानमें रखकर कि प्रभावकी अन्विति सदा बनी रहे और नाटक अपने समग्र रूपमें श्रोताओंको प्रभावित कर सके।

साथ ही रेडियो नाटक मनोवैज्ञानिक चित्रणकी अनेक सुविधाएँ प्रदान कर नाटककारके लिए पात्रोंके मनकी गहराईमें भी उतर सकना सरल बना देता है। अत जहाँ रगमचकी सीमाओंके कारण रंगमचीय नाटक केन्द्रमुखी होकर सघनताकी ओर ही जानेका प्रयास करता है, वहाँ रेडियो नाटक विस्तारमें भी जा सकता है, गहराईमें भी। उसमें एक साथ ही सामाजिक जीवनकी विविधरूपिणी यथार्थता भी अकित हो सकती है, अन्तरको उद्वेलित करनेवाले द्वन्द्व भी अंकित हो सकते हैं। गतिशील दृश्योंका संयोजन भी बहुत अशोंतक रगमचकी परिधिके बाहर है, पर रेडियो नाटकके लिए यह बहुत सुकर है। दृश्यान्तर या दृश्यपरिवर्तन भी रेडियोके लिए बहुत आसान है। वाद्य-सगीत, ध्वनिप्रभाव या शान्तिके द्वारा उसमें बड़ी सरलतासे दृश्यान्तर सूचित कर दिया जाता है। रगमचपर सब प्रकारके दृश्य भी उपस्थित नहीं किये जा सकते, पर रेडियो नाटकमें समुद्रकी उत्ताल तरगोंपर डूबती-उतराती नौका भी चित्रित की जा सकती है, कारखानोंमें काम करते हुए मजदूर भी दिखाये जा सकते हैं। रगमंचपर अस्वाभाविक लगनेवाले प्रतीकात्मक पात्र भी सजीव स्वाभाविक प्राणी बन जाते हैं, भाव और विचार भी मानव-शरीर धारण कर लेते हैं तथा हास्यास्पद जैसे लगनेवाले मानवीकृत जड-पदार्थ भी प्राणवन्त हो उठते हैं। सुमित्रानन्दन पन्तकी 'ज्योत्स्ना'के पात्र रेडियोपर जितने स्वाभाविक लगेंगे, उतने रगमंचपर नहीं। रंगमचका अस्वाभाविक स्वगत-कथन भी माइक्रोफोनके स्पर्शसे पूर्णत स्वाभाविक हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ दृश्य साधनोंके अभावके कारण रेडियो नाटककी अनेक सीमाएँ हैं, वहीं इसे अनेक प्रकारकी सुविधाएँ भी प्राप्त हैं।

रेडियो नाटकका आधार ध्वनि है। ध्वनि भावाभिव्यक्तिका बहुत बड़ा साधन है। हम एक ही शब्दको भिन्न-भिन्न प्रकारसे उच्चारित करके प्रेम, घृणा, क्रोध आदि विभिन्न भावनाओंकी अभिव्यक्ति प्रतिदिन ही अपने व्यावहारिक जीवनमें करते हैं। रेडियो नाटकमें ध्वनिका उपयोग जिन तीन रूपोंमें होता है, वे हैं भाषा, ध्वनिप्रभाव और संगीत। भाषाका जो स्वरूप हमारे पढ़ने लिखनेके नहीं, बोलने और सुननेके काम आता है, वही रेडियो नाटकका मूल आधार है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रेडियो नाटककी भाषा सरल, स्वाभाविक, भावाभिव्यजक और अभिनेताओं द्वारा आसानीसे बोली जा सकनेवाली होनी चाहिये। रेडियो नाटकमें भाषाका व्यवहार दो रूपोंमें होता है—(१) **कथनोपकथन** या सलापके रूपमें और (२) **नैरेशन** या प्रवक्ताके कथनके रूपमें। नैरेशनसे तात्पर्य नाटकके उस अशसे होता है, जिसमें पात्र नाटकके क्रिया-कलापका वातावरण निर्मित करता है, आवश्यक विवरण देता है, घटनाओंकी शृखला जोड़ता है अथवा घटनाओंकी आलोचना करता है। ऐसे पात्रको **नैरेटर, सूत्रधार, प्रवक्ता, वाचक, वाचिका, निरूपक, प्रसारक, कथाकार, आलोचक, उद्घोषक, स्वर, स्त्री-स्वर, पुरुष-स्वर** आदि नाम दिये जाते हैं। इनमेंसे **नैरेटर, प्रवक्ता, वाचक** और **स्वर** नाम अपेक्षाकृत अधिक व्यवहृत होते हैं। ऐसे पात्रोंका काम नाटककी उन बातोंको कहना होता है, जो कथनोपकथनके अन्तर्गत नहीं आ पातीं। **रेडियो रूपक**में नैरेटर कुछ बहुलतासे आते हैं, पर रेडियो नाटकमें वह जितना ही कम आये, नाटक उतना ही कलात्मक समझा जाता है। यह अवश्य है कि उसकी उपस्थिति-अनुपस्थिति बहुत अशोंतक नाटकविशेष एव उसके प्रकारपर भी निर्भर होती है। नैरेटर दो प्रकारके होते हैं—१ वे नैरेटर, जिनके व्यक्तिगत जीवनका नाटककी घटनाओंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। वे नाटकके क्रिया-कलापके तटस्थ दर्शक एवं प्रवक्ता होते हैं। २ वे नैरेटर, जो नाटकके पात्र होते हैं और जिनके जीवनकी घटनाएँ नाटकसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती है। ऐसे नैरेटरको पात्र नैरेटर भी कहते हैं। उदाहरणके लिए, यदि कोई पात्र अपने जीवनकी कथा बीच-बीचमें नाटकीय प्रसगोंके लिए स्थान छोड़कर सुनाता है, तो वास्तवमें पात्र नैरेटर ही है। ऐसे नैरेटरको कभी कभी पहचान सकना कठिन भी होता है।

ध्वनिका तात्पर्य है रेल, तूफान, वर्षा, बादल, आदिकी ध्वनियाँ, जिनका व्यवहार नाटक प्रसारित करते समय किया जाता है। ध्वनिप्रभाव और वाद्य-संगीतकी आवश्यकता पात्रोंके कार्योंके लिए पृष्ठभूमि एव वातावरण-निर्माण, भावाभिव्यजन, दृश्यान्तर, देश काल-परिचय आदिके लिए होती है। इनके द्वारा नाटकमें सजीवता एव प्रभावोत्पादकता आती है।

शिल्पकी दृष्टिसे रेडियो नाटकके मुख्य भेद ये हैं—रेडियो नाटक, रेडियो रूपक, रेडियो रूपान्तर, रेडियो फैण्टेसी या अतिकल्पना, मोनोलाग या स्वगत नाट्य या एकपात्रीय नाटक, सगीत रूपक और झलकियाँ।

रेडियो नाटककारका काम केवल नाट्य लेखन है, अभिनेताओंको उचित निर्देश देकर, उनसे रिहर्सल कराकर उसे अन्तिम रूपमें प्रसारित करनेका काम **प्रोड्यूसर** करता है। कुछ लोग उसे **निर्देशक** या **संचालक** भी कहते हैं। प्रसारणके समय नाटकके अपेक्षित स्थलोंपर ध्वनि-प्रभावका नियोजन **ध्वनि-संयोजक** करता है।

हिन्दीमें रेडियो नाटकको प्रारम्भ हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए। सर्वप्रथम नाटक आल इडिया रेडियो, दिल्ली केन्द्रसे सन् १९३६ में प्रसारित हुआ था। वह भी मौलिक नाटक नहीं, रगमचके लिए लिखित एक बँगला नाटकका अनुवाद था। बंगालमें चूँकि रगमच-परम्परा पहलेसे थी, वहाँ नाटकोंका प्रसारण १९२८ से ही प्रारम्भ हो गया था। उस समय आल इण्डिया रेडियोकी स्थापना नहीं हुई थी। वे नाटक भी रगमचके ही होते थे और तीन-तीन घटेतक प्रसारित किये जाते थे। वास्तवमें, नया माध्यम होनेके कारण इस क्षेत्रमें सब जगह पहले प्रयोग ही हुए, पहले रंगमच-नाटक ही रेडियो द्वारा प्रसारित किये गये। इंग्लैण्टमें भी जो पहला नाटक रेडियो द्वारा प्रसारित हुआ था, वह शेक्शपीयरके 'जूलियस सीजर'का एक दृश्य था। फिर बादके अनुभवोंसे ज्ञात हुआ कि रेडियो नाटक रगमच-नाटकसे बिलकुल भिन्न है, और तब १९२७ में सिसिल डे लिविस द्वारा रूपान्तरित कारेडके उपन्यास 'लार्ड जिम' और उसी समय लिखित रिचर्ड ह्यूजेजके मौलिक रेडियो

नाटक 'टेंजर'के प्रसारणसे रेडियो नाटक रंगमंच-नाटकसे भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त कर सका। हिन्दी क्षेत्रने भी अपने अनुभवोंसे यह समझा कि रेडियो नाटक रंगमंच-नाटकसे भिन्न है और जागरूक लेखकों द्वारा रेडियो नाटक लिखे जाने लगे। रेडियो नाटक प्रगतिपर है और दो प्रकारसे इसका विकास हो रहा है। एक ओर रेडियोके लिए मौलिक नाटक लिखे गये हैं और दूसरी ओर देशी-विदेशी प्रसिद्ध रंगमंच-नाटकों, कहानियों और उपन्यासोंके रेडियो रूपान्तर प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

[सहायक ग्रन्थ—(१) रेडियो नाटक : हरिश्चन्द्र खन्ना, (२) रेडियो नाट्य शिल्प : सिद्धनाथ कुमार, (३) दि रेडियो प्ले : फेलिक्स फेल्टन, (४) दि राइट वे टु रेडियो प्ले राइटिंग : वाल जीलगुड, (५) रेडियो थियेटर : वाल जीलगुड, (६) रेडियो प्लेज एण्ड हाउ टु राइट देम : चार्ल्स हैटन, (७) हाउ टु राइट फॉर रेडियो : जेम्स व्हिप्ल, (८) क्रिस्टोफर कोलम्बस : लुई मैकनीस, (९) फाइव रेडियो प्लेज—इण्ट्रोडक्शन : वाल जीलगुड] —सि० कु०

रेडियो नाट्य—दे०—'रेडियो नाटक'।

रेडियो नाट्य रूपान्तर—दे०—'रेडियो रूपान्तर'।

रेडियो फीचर—दे०—'रेडियो रूपक'।

रेडियो फैंटेसी—रेडियो फैण्टेसी रेडियो नाटकका एक प्रकार है। इसे अतिकल्पना भी कहते हैं। फैण्टेसीका अर्थ है कल्पना और रेडियो फैण्टेसीमें काल्पनिक चित्रणकी प्रधानता रहती है। काल्पनिकता तो सभी नाटकोंमें होती है, लेकिन यहाँ काल्पनिक चित्रण एक विशेष अर्थमें प्रयुक्त किया जा रहा है। यथार्थ जगत्में जिन घटनाओंका होना सम्भव नहीं है, उन्हें रेडियो फैण्टेसीमें घटित होते चित्रित किया जाता है और उनके द्वारा किसी प्रभावशाली विचार या मार्मिक अनुभूतिकी अभिव्यक्ति की जाती है। इसमें अलौकिक और मानवेतर प्राणी भी आवश्यकतानुसार पात्र-रूपमें आते हैं। रंगमंचपर फैण्टेसीको प्रस्तुत करना कुछ कठिन है और प्रस्तुत होनेपर उसके अस्वाभाविक लगनेकी सम्भावना भी है, पर रेडियोपर फैण्टेसी बिल्कुल स्वाभाविक लगती है। हिन्दीमें रेडियो फैण्टेसीकी रचना अभी बहुत कम हुई है। —सि० कु०

रेडियो मोनोलाग—दे०—'रेडियो स्वगत नाट्य'।

रेडियो रूपक—रेडियो रूपक **रेडियो नाटक**के अनेक भेदोंमेंसे एक है। प्राचीन नाट्यशास्त्रके **रूपक**से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें रेडियो रूपक शब्द अँग्रेजीके **रेडियो फीचर**के लिए व्यवहृत किया जा रहा है, यद्यपि यह कह सकना कठिन है कि फीचरका अनुवाद रूपक क्यों, कब और कैसे कर लिया गया। अब तो फीचरके लिए रूपक शब्द रूढ़ हो गया है।

बी० बी० सी०में फीचर नाम डाकुमेण्ट्री 'यथातथ्य सूचनाओंपर आधारित रचना'के लिए व्यवहृत होता है। लगभग पच्चीस वर्ष पहले बी० बी० सी०में फीचर नामकी रचनाएँ नहीं होती थीं, लेकिन बी० बी० सी० का नाटक-विभाग रेडियो टेकनीकके सम्बन्धमें नये-नये प्रयोग करता रहा है। उसे विशेष अवसरोंके लिए विशेष कार्यक्रमोंका आयोजन करना पड़ता, ठीक वैसे ही, जैसे स्वाधीनता-दिवस, रवीन्द्र-दिवस, प्रसाद-जयन्ती आदि विशेष अवसरोंके लिए आल इण्डिया रेडियोके विभिन्न स्टेशनोंसे विशेष कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं और जिस प्रकार इन विशेष कार्यक्रमोंकी सूचनाएँ रेडियो हाइलाइट या 'विशेष कार्यक्रम' शीर्षकोंसे समाचारपत्रोंमें दी जाती हैं, उसी प्रकार बी० बी० सी०की विशेष कार्यक्रमोंकी सूचनाएँ पत्रोंमें निकलती थीं। इन कार्यक्रमोंको सामान्य कार्यक्रमोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता था और इन्हें 'फीचर्ड प्रोग्राम' कहते थे। बोलचालमें 'ड'का लोप हो गया और ये फीचर प्रोग्राम कहे जाने लगे। पहले फीचर प्रोग्रामका अर्थ वहाँ विशेष कार्यक्रम ही था, लेकिन धीरे-धीरे उसके अन्तर्गत वे सभी रचनाएँ आने लगीं, जो रेडियो टेकनीककी दिशामें कुछ नये प्रयोगोंके लिए लिखी जाती थीं। इन प्रयोगशील कार्यक्रमोंका झुकाव कल्पना-प्रधान रचनाओंकी ओर कम, तथ्यप्रधान रचनाओंकी ओर अधिक था। उन्हीं दिनों ग्रेट ब्रिटेनमें **डाकुमेण्ट्री** फिल्मोंका विकास हुआ और रेडियो प्रोग्रामोंसे सम्बद्ध कुछ व्यक्ति उनका अनुकरण करने लगे। वे आवाजको रिकार्ड करनेवाली मशीनोंके द्वारा यथातथ्य घटनाओंके रिकार्ड तैयार कर लेते और उन्हींके आधारपर नाटकीय रचनाएँ लिखकर प्रसारित करते। ये नये प्रकारकी रचनाएँ, जिन्हें **रेडियो डाकुमेण्ट्री** कहा जाता, बड़ी आकर्षक थीं। फलत इस दिशामें अनेक प्रयोग होते रहे और अब तो इनकी टेकनीक इतनी विकसित चुकी है कि बी० बी० सी०में नाटक-विभागसे पृथक् इनके लिए अपना एक स्वतन्त्र विभाग ही है।

अँग्रेजीके प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार लुई मेकनीसने, जो बी० बी० सी०से सम्बद्ध भी हैं, फीचरको वास्तविकताका नाटकीकृत रूप कहा है। वास्तविकताका मतलब यहाँ वास्तविक घटनाओं एवं तथ्योंसे है। यदि रूपककार दामोदर नदीकी योजनापर कोई रूपक लिखना चाहे, तो उसे उस योजनामें लगे हुए लोगों तथा उस क्षेत्रमें रहनेवालोंके विचार उन्हींके शब्दों और उन्हींकी आवाजमें प्राप्त करने होंगे। यह काम उन लोगोंसे बातचीत करके और उसका रिकार्ड तैयार करके किया जायगा और उन्हीं रिकार्डोंके आधारपर एक सजीव, मनोरंजक एवं नाटकीय रचना प्रस्तुत की जायगी। रेडियो रूपकोंमें सब प्रकारकी वास्तविकताओंका नाटकीकृत रूप उपस्थित किया जा सकता है। जिस प्रकार वास्तविकताओंकी कोई सीमा नहीं है, उसी प्रकार रूपकोंकी भी कोई सीमा नहीं है।

रेडियो रूपक वास्तवमें एक स्वतन्त्र कला है, जो नाटक आदिके स्वरूपविधानोंसे पूर्णत पृथक् है। एच० आर० विलियमशनका तो कहना है कि रेडियोके पास यदि कोई अपनी कला है, जिसका निर्माण केवल रेडियोने किया है, तो वह रूपक है। रेडियोसे प्रसारित की जानेवाली अन्य रचनाएँ तो बहुत अंशतक पहलेसे उपलब्ध रचनाओंके रूपान्तरस्वरूप हैं।

साधनोंके अभावमें रेडियो रूपककी कलाका हिन्दीमें अभी विकास नहीं हो सका है, यद्यपि उस ओर प्रयत्न किये जा रहे हैं। तथ्यप्रधान रूपक प्रसारित अवश्य किये जाते हैं, लेकिन उनमें तथ्य सम्बन्धी रिकार्डोंका व्यवहार नहीं

होता। तथ्यप्रधान ऐसी सामान्य रचनाओंको भी रेडियो रूपक ही कहा जाता है। इनसे पृथक्ता प्रदर्शित करनेके लिए उन रूपकोंको, जिनमें रिकार्डोंका पर्याप्त व्यवहार होता है और जो सही अर्थमें रेडियो फीचर या रेडियो डाकुमेण्ट्री कहे जा सकते हैं, **आलेखरूपक** या **वस्तुरूपक** कहा जाने लगा है। आलेखरूपक नाम अधिक प्रचलित है। —सि० कु०

रेडियो रूपांतर–रेडियोके श्रव्य माध्यमके लिए रंगमंच-नाटकों, कहानियों और उपन्यासोंके परिवर्तित स्वरूप-विधानको रेडियो रूपान्तर कहते हैं। इन रचनाओंको श्रव्य माध्यमके उपयुक्त बनानेके लिए कुछ आवश्यक परिवर्तनोंके द्वारा इन्हें रेडियो नाटक बना दिया जाता है। जिन कहानियों और उपन्यासोंमें नाटकीय तत्त्व नहीं होते, उनमें भी नाटकीय तत्त्वोंका समावेश करके ही सफल रेडियो रूपान्तर प्रस्तुत किये जाते हैं। नाटकीयताकी अनिवार्यताके कारण ही कुछ लोग रेडियो रूपान्तरको **रेडियो नाट्य रूपान्तर** कहते हैं। यह नाम भी सैद्धान्तिक दृष्टिसे ठीक है, पर रेडियो रूपान्तर नाम ही अधिक प्रचलित एव व्यवहृत है। आल इण्डिया रेडियोके विभिन्न केन्द्रोंसे अनेक सफल रेडियो रूपान्तर प्रसारित हुए हैं और हो रहे हैं, पर प्रकाशित रूपमें इने-गिने ही मिलेंगे।

[सहायक ग्रन्थ—रेडियो नाटक हरिश्चन्द्र खन्ना।]
—सि० कु०

रेडियो स्वगत नाट्य–रेडियो स्वगत नाट्य रेडियो नाटकका एक प्रकार है। इसे एकपात्री नाटक और रेडियो मोनोलाग भी कहते हैं। इसमें कोई कथोपकथन नहीं होता। प्रारम्भसे अन्ततक केवल एक ही व्यक्ति अपनी कहानी कहता है तथा अपनी भावनाओंको अभिव्यक्त करता है। कथोपकथनका नितान्त अभाव होनेके कारण इसे नाटक कहनेमें संकोच होता है, लेकिन नाटकमें अपेक्षित द्वन्द्व स्वगत नाट्यमें भी होता है, भले ही यह द्वन्द्व पात्रविशेषके अन्तर्जगत्‌का ही हो। नाटकके अन्तर्गत इसे रखनेका यही आधार है। जब इसे नाटक कहा जाता है, तब तात्पर्य केवल यह होता है कि स्वगतनाट्यमें नाटकका अपेक्षित द्वन्द्व है, और वह पढ़नेके लिए नहीं, अभिनयके लिए लिखा जाता है तथा कोई कुशल अभिनेता उसे नाटकीय ढंगसे प्रस्तुत कर श्रोताओंको प्रभावित कर सकता है।

[सहायक ग्रन्थ–रेडियो नाट्य शिल्प सिद्धनाथ कुमार] —सि० कु०

रोपनी–वर्षा ऋतुमें धानके बीज किसी खेतमें घने बो दिये जाते हैं। जब धानके पौधे कुछ बड़े हो जाते हैं तब उन्हें उस खेतसे उखाड़कर दूसरे खेतोंमें थोड़ी-थोड़ी दूरपर 'रोप' (गाड़) दिया जाता है। इस समय जो गीत गाये जाते हैं वे 'रोपनी'के नामसे प्रसिद्ध हैं। यह कार्य प्राय मुसहर तथा चमार लोगोंकी स्त्रियाँ करती हैं।

खेतमें पानी लगा है। कभी-कभी ऊपरसे जलवृष्टि भी हो रही है। नीचे भी जल और ऊपर भी जल। ऐसे समयमें मुसहरिनें धानके हरे पौधोंको लेकर खेतमें रोपती जाती हैं और कलकण्ठसे अमृतकी वर्षा करती जाती हैं। इन गीतोंको सुनकर श्रोताओंका हृदय रससिक्त हो जाता है।

गार्हस्थ्य जीवनका मधुर चित्रण इन गीतोंका प्रधान वर्ण्य विषय है। इनमें कहीं ससुरालके कष्टोंका सजीव चित्र उपलब्ध होता है तो कहीं पति पत्नीका घनिष्ठ प्रेम। कोई पति परदेश गया हुआ है। इसी बीच उसकी स्त्री अपने मायके चली जाती है। जब वह परदेशसे लौटता है तब अपनी स्त्रीको घरमें न पाकर बड़ा दु खी होता है। वह मनिहारीका भेष धारण कर उसे खोजने निकल पड़ता है और अन्तमें अपने लक्ष्यकी सिद्धि प्राप्त करता है।

सोहनीके गीतोंकी भाँति रोपनीके गीत भी बडे सरस और मनोरम होते हैं। —कृ० दे० उ०

रोमांच–दे०—'सात्त्विक अनुभाव', तीसरा।

रोमांचवादी आलोचना (romantic criticism)–यह एक प्रकारकी स्वच्छन्द आलोचना-प्रणाली है, जो शास्त्रीय नियमोंकी कट्टरताके विरोधमें प्रचलित हुई है। सोलहवीं शताब्दीमें अरस्तूके शास्त्रीय नियमोंका कट्टरतासे आग्रह होने लगा तब सिन्थियो जेराल्डीने रोमाचक स्वच्छन्दताको साहित्यालोचनके लिए उपयुक्त घोषित किया। पैट्रीजीने इस बातपर जोर दिया कि काव्यके लिए विषय-वस्तुकी विशेषता आवश्यक नहीं है, काव्यमय शैलीमें उसका निरूपणमात्र होना चाहिये। काव्यमय शैली शैलीके अनुसार कल्पनामूलक अभिव्यक्ति है, क्योंकि वह मानवकी जन्मजात प्रवृत्ति है। कल्पनाके द्वारा ही अमूर्त भाव मूर्त रूप धारण करते हैं। रोमाचवादीकी दृष्टिमें साहित्यकी सृष्टि अन्तस्तलमें सुप्त आनन्दको जाग्रत् करनेके उद्देश्यसे होती है। वह लोककी प्रकृत भावनाओंको लोकभाषामें व्यक्त करना चाहता है। वह साहित्यकी बद्ध रूढ़ियोंकी लीकपर नही चलना चाहता। वर्ड्‌सवर्थ, कॉलरिज और हैजलिट रोमाचवादी माने जाते हैं। वर्ड्‌सवर्थकी 'लीरिकल बेलेट्स'की भूमिकाके प्रकाशनसे रोमाचवादी आलोचनाका प्रारम्भ होता है, कालरिज, टी० एस० ईलियटके शब्दोंमें आगल साहित्यका आलोचक है, वह जर्मनीके सौन्दर्यवादियोंसे प्रभावित था। उसने भी रोमाचक आलोचना-शैलीको प्रचारित किया (दे०—हिस्ट्री ऑफ माडर्न क्रिटिसिज्म—द्वितीय भाग—रेनेवैलेक, बायाग्राफिका लिटरेरिआ कालरिज)। जहाँतक साहित्यशास्त्रकी नियमबद्धताके विरोधका प्रश्न है, रोमाचवादी समीक्षा प्रभाववादी आलोचनाका अनुसरण करती है। महादेवीकी 'मैं सजग चिर साधना ले' शीर्षक गीतकी आलोचना देवराजने इन शब्दोंमें की है—'कवयित्रीकी आत्मा जीवनके विशिष्ट दिव्य क्षणोंमें, या यों कहिये, अपनी उन्मुक्तावस्थामें सत् और चिन्मय तत्त्वके साथ तादात्म्यकी अनुकृतिमें अनुप्राणित हो उठी। उसे समझमें आया, अबतक मैं कितनी भूलमें थी। यदि हम दुनियाको और इसकी सारी हलचलको अपने प्रियसे मिलाकर देखें तो कहाँ दु ख, कहाँ ससीम और असीम। सारा विश्व एक आनन्दोल्लाससे थिरकता सा दिखलाई पड़ेगा। वह मौलिक सत् पदार्थ, जिसे आत्माने अपनी उन्मुक्तावस्थामें देखा था, उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति इसी रूपमें

हो सकती थी, जिस रूपमें वह काव्य-शरीर धारण कर खड़ी है' (रोमेण्टिक साहित्यशास्त्र)। हिन्दीमें रोमाचवादी नामक विशिष्ट नामसे कोई आलोचना-प्रणाली प्रचलित नहीं हुई, प्रभाववादी समीक्षामें ही वह समाविष्ट हो गयी है। —वि० मो० श०

रोमांटिसिज्म–रोमाण्टिसिज्म अथवा स्वच्छन्दतावाद सामान्यत एक प्रवृत्तिविशेषका द्योतक शब्द है। यह प्रवृत्ति किसी न किसी कालमें प्राय सभी साहित्योंमें परिलक्षित होती है। इस प्रवृत्तिकी मान्य परिभाषा है—'साहित्यिक उदारवाद ही रोमाण्टिसिज्म है।' अर्थात् प्राचीन शिष्ट तथा क्लैसिक परिपाटीके विरोधमें उठ खड़ी होनेवाली विचारधाराको रोमाण्टिसिज्म कहा जाता है।

एक सामान्य प्रवृत्तिका नाम होनेपर भी रोमाण्टिसिज्म शब्दका विशिष्ट प्रयोग १९वीं शतीके अँग्रेजी काव्यके लिए होता है, जिसके प्रमुख कवि थे वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, बायरन तथा काउपर। रोमाण्टिसिज्मकी विशेषताएँ हैं—उसका गहरा तथा आध्यात्मिक स्तरका प्रकृति-प्रेम, एक व्यापक तथा उदार मानवतावादमें विश्वास तथा काव्यकी मुक्त तथा स्वच्छन्द अभिव्यक्ति-प्रणाली।

१८वीं शतीके अँग्रेजी साहित्य नव-शास्त्रवादने अतीतके साहित्यको अपना आदर्श मानकर साहित्यिक नियमादिका निर्माण किया। इन लोगोंने अपने नूतन उत्साहमें साहित्यकी आत्माको उपेक्षित रखा। फलत नियम, टेकनीक, रचना-पद्धति आदिमें उलझकर वे रह गये। वे यह भूल गये कि पाँचवीं शतीका साहित्य अपने युग एव परिवेशमें निर्मित हुआ था और उन समस्त सम्भावनाओंको अपने युगमें एकत्र कर लेना असम्भव है। अत परिणाम यह हुआ कि इस कालके साहित्यिक ग्रीक साहित्यके मुखापेक्षी हो गये। इसलिए परम्परा-समर्थित साहित्यमें रमज्ञता या रस-निष्पत्तिपर जोर दिया गया, जो सामान्य होती है, विशेष नहा।

१७८९ ई०की फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिकी तिथि महत्त्वपूर्ण है। रूसो रोमाण्टिक धाराका प्रथम प्रतिनिधि था। स्वातन्त्र्यकी लालसा एव बन्धनोंका त्याग उसका मुख्य आग्रह था। प्राचीन धर्म, परम्परागत सामाजिक सस्कार आदि समाप्त हुए और रोमाण्टिसिज्मका जन्म हुआ। साहित्यको सीमा, नियम, आदर्श, उद्देश्य आदिसे निकालकर व्यापक बनाया गया। साहित्य जीवनकी तरह ही गतिशील है तथा युग एव परिवेशके अनुकूल परिवर्तनशील। इसका बोध होते ही साहित्यकारोंने परम्पराके प्रति विद्रोह किया तथा अनुकरणके बदले आन्तरिक प्रेरणाको महत्त्व दिया। फिलिप सिडनीकी 'एन एपॉलोजी फॉर पोयट्री', शेलीकी 'डिफेन्स ऑफ पोयट्री' तथा कालरिजकी 'बायाग्राफिका लिटरेरिया' आदि पुस्तकें इसी कोटिमें आयेंगी। बर्गसाँ, क्रोचे, फ्रॉयड और मार्क्सने आगे चलकर साहित्यके इसी गत्यात्मक स्वरूपका समर्थन किया।

सस्कृत साहित्यमें ऐसा बँटवारा नहीं हुआ है, पर रसवादियों तथा ध्वनिवादियोंको इम इसके अन्तर्गत मान सकते हैं। फिर भी इस कथनका महत्त्व वाह्यवादियोंकी तुलनामें ही है, क्योंकि वक्रोक्ति, रीति, अलकारवाले जहाँ साहित्यके बाह्य स्वरूपके सम्बन्धमें रूढ़ हैं, वहाँ रसवादी तथा ध्वनिवादी भावोंके सम्बन्धमें। इसलिए संस्कृत साहित्यशास्त्रमें ऐसी विचार-प्रणाली उपलब्ध नहीं है।

हिन्दीमें अवश्य ही इसका महत्त्वपूर्ण इतिहास उपलब्ध है। २०वीं शतीके प्रारम्भमें ही रीतिकाल तथा द्विवेदीयुगके विरुद्ध छायावादका उदय हुआ। छायावादी कवि अँग्रेजीके स्वच्छन्दतावादी आन्दोलनसे प्रभावित थे। इन लोगोंके विद्रोहका आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता थी।

छायावाद तथा रहस्यवाद अपनी विचार-पद्धति और रूप-विधान, दोनोंके ही लिए रोमाण्टिसिज्मका अत्यधिक ऋणी है। आध्यात्मिक स्तरका प्रकृतिप्रेम, उदार मानवतावाद तथा काव्यकी स्वच्छन्द अभिव्यक्ति-प्रणाली—रोमाण्टिसिज्मकी ये तीनों ही प्रमुख प्रवृत्तियाँ छायावाद तथा रहस्यवादमें मिलती हैं। रोमाण्टिसिज्मका यह प्रभाव कुछ तो प्रत्यक्ष था और कुछ रवीन्द्रनाथ ठाकुरके माध्यमसे आया था। छायावादी कवियोंमें रोमाण्टिसिज्मसे सबसे अधिक प्रभावित सुमित्रानन्दन पन्त हैं।

[सहायक ग्रन्थ—रोमाण्टिक साहित्यशास्त्र : देवराज उपाध्याय] —रा० कु० स०

रोमांस–दे०—'उपन्यास', 'कहानी' (रोमासिक)।

रोला–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'के अनुसार इस छन्दके प्रति चरणमें २४ मात्राएँ और अन्तमें ग (S) रहता है (१·९१)। भिखारीदासने केवल २४ मात्राके चरणका उल्लेख किया है और यति अनियमित बतलायी है (छन्दो० पृ० ३०) और उनके उदाहरणमें अन्तमें ग (S) भी नहीं है—'त्यों कारे कान्हहि लखि मनु न तिहारो पागत। हमको तो वाही ते जगत उज्यारो लागत।' (वही ३१)। प्रचलित परम्पराके अनुसार रोलामें ११, १३ पर यतिका विधान है (भानु छ० प्र० पृ० ६१)। हिन्दीमें इस छन्दका प्रयोग चन्द (पृ० रा०), सूर (सू० सा०), नन्ददास (रा० प०), केशव (रा० च०) तथा सूदन (सु० च०), रघुराज (रा० स्व०) आदिने किया है। यह छन्द प्रत्येक रसमें प्रयुक्त हो सकता है। इसमें वर्णनका सौन्दर्य अधिक हो जाता है। नन्ददासकी 'रासपचाध्यायी,' 'सिद्धान्तपचाध्यायी,' 'रुक्मिणीमगल'में इस छन्दके प्रयोगसे वर्णन-सौन्दर्य बहुत अच्छा बन पड़ा है। सूरने वर्णनात्मक अंशोंमें रोलाका अन्य छन्दोंके साथ उपयोग किया है। सूदनने इसमें विवरण दिये हैं, घोड़ोंका वर्णन तथा लूटकी सामग्री। नन्ददासकी दोनों 'पचाध्यायियाँ' तथा 'रुक्मिणीमगल' रोला छन्दमें हैं तथा 'भँवरगीत' और 'श्यामसगाई'में दोहा तथा १० मात्राकी टेकके साथ रोलाका प्रयोग किया गया है। नन्ददास जैसे रोला लिखनेमें सिद्धहस्त कविने भी यतिके नियमके पालनका सदा ध्यान नहीं रखा है। अन्य सभी कवियोंमें यतिका निश्चित अनुसरण नहीं मिलता, इससे स्पष्ट है कि इस विषयमें बहुत निश्चित नियम नहीं रहा है। उदा०—'सुनि पियके रस वचन, सबन रिस छाँड़ि दयो है। हँसि-हँसि अपने कण्ठनि, लाल लगाइ लियो है' (रा० प० प० ४४५-४४६)। इस छन्दमें यतिका नियम ठीक है, पर—'वन्दन करौ कृपानिधान, श्री सुक सुमकारी'—(वही प० १)में यति

१४, १० पर है ।

रौद्र रस—काव्यगत रसोंमें रौद्र रसका महत्त्वपूर्ण स्थान है । भरतने 'नाट्यशास्त्र'में शृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स, इन चार रसोको ही प्रधान माना है, अथ च इन्हींसे अन्य रसोंकी उत्पत्ति बतायी है, यथा—'तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसा· शृंगारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति ।' (६ · ३८ ग) । रौद्रसे करुण रसकी उत्पत्ति बताते हुए भरत कहते हैं कि रौद्र रसका कर्म ही करुण रसका जनक होता है, 'रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेय करुणो रस·' (६ ३९–४१) ।

रौद्र रसका स्थायी भाव क्रोध है तथा इसका वर्ण रक्त एव देवता रुद्र हैं । भानुदत्तने 'रसतरगिणी'में लिखा है—'परिपूर्ण क्रोधो रौद्र सर्वेन्द्रियाणामौद्धत्य वा । वर्णोऽस्य रक्तो दैवत रुद्र ।' अर्थात् स्थायी भाव क्रोधका पूर्णतया प्रस्फुट स्वरूप रौद्र है अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंका उद्धत स्वरूपका ग्रहण कर लेना रौद्र है । इसका रग लाल है तथा देवता रुद्र हैं । यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि यद्यपि रुद्रका रग श्वेत माना गया है, तथापि रौद्र रसका रग लाल बताया गया है, क्योंकि कोपाविष्ट दशामें मनुष्यकी आकृति, क्षोभके आतिशय्यसे रक्त वर्णकी हो जाती है ।

केशवदासने 'रसिकप्रिया'में भानुदत्तकी बात दुहरायी है—'होहि रौद्र रस क्रोधमें, विग्रह उग्र शरीर । अरुण वरण वरणत सबै, कहि केसव मतिधीर ।' (१४-२१) । रामदहिन मिश्रने विभावोंको भी समेटते हुए रौद्र रसकी परिभाषा दी है—'जहाँ विरोधी दलकी छेड़खानी, अपमान, अपकार, गुरुजन-निन्दा तथा देश और धर्मके अपमान आदिमे प्रतिशोधकी भावना जाग्रत् होती है, वहाँ रौद्र रस होता है' (का० द०) ।

भानुदत्तके परिपूर्ण क्रोध तथा इस प्रतिशोधमें कोई भेद नहीं है । वास्तवमें क्रोध स्थायीका प्रकाश क्रोधभाजनके प्रति बदला लेनेकी उग्र भावनामें ही होना है । पण्डितराज जगन्नाथके अनुसार क्रोध शत्रुविनाश आदिका कारण होता है । प्रसिद्ध मनस्तत्त्वविद् मैकडुगलने क्रोधको युयुत्साकी प्रवृत्तिसे व्युत्पन्न बताया है, जो भारतीय आचार्योंकी स्थापनाओंसे भिन्न नहीं कहा जायगा ।

भरत मुनिका कथन है कि रौद्र रस राक्षस, दैत्य और उद्धत मनुष्योंसे उत्पन्न होता है तथा युद्धका हेतु होता है । किन्तु बादमें वे कहते हैं कि अन्य लोगोंमें भी रौद्र रस उत्पन्न होना है, यद्यपि राक्षसोंका इसपर विशेष अधिकार होता है, क्योंकि वे स्वभावसे ही रौद्र अर्थात् क्रोधशील हैं । मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भलाईके बदले बुराई पानेवाले, अनादृत होनेवाले, अपूर्ण या अतृप्त आकाक्षावाले, विरोध सहन न करनेवाले तथा तिरस्कृत निर्धन व्यक्ति क्रोध करते हैं और वे रौद्र रसकी उत्पत्तिके कारण हो सकते हैं । इसी प्रकार क्रोधको उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति भी अनेक कोटियोंके हो सकते हैं ।

रौद्र रसके परिपाकके लिए क्रोध स्थायीकी आस्वाद्यताके निमित्त निम्नलिखित अवयवोंकी उपस्थिति अपेक्षित है । आलम्बन-विभाव—शत्रु तथा विरोध पक्षके व्यक्ति, उद्दीपन-विभाव—शत्रु द्वारा किये गये अनिष्ट कार्य, अधिक्षेप, अपमान, अपकार, कठोर वचनोंका प्रयोग इत्यादि । अनुभाव—मुख तथा नेत्रका लाल होना, भ्रूभंग, दाँत तथा होंठ चबाना, कठोरभाषण, शस्त्र उठाना, गर्जन, तर्जन, विरोधियोंको ललकारना इत्यादि । व्यभिचारी भाव—मद, उग्रता, अमर्ष, चचलता, उद्वेग, असूया, स्मृति, आवेग इत्यादि ।

रौद्र रस एव वीर रसमें आलम्बन समान होते हैं, किन्तु इनके स्थायी भावोंकी भिन्नता स्पष्ट है । वीरका स्थायी भाव उत्साह है, जिसमें भी शत्रुके दुर्वचनादिसे अपमानित होनेकी भावना सन्निहित है, लेकिन अवज्ञादिसे जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसमें 'प्रमोदप्रतिकूलता' अर्थात् आनन्दको विच्छिन्न करनेकी शक्ति वर्तमान रहती है, यथा, 'अवज्ञादिकृत प्रमोदप्रतिकूल परिमितो मनोविकार क्रोध ।' (र० त०) । अतएव इस स्फूर्तिवर्धक प्रमोद अथवा उल्लासकी उपस्थितिके ज्ञानसे वीर रस रौद्रसे पृथक् पहचाना जा सकता है । इसके अतिरिक्त नेत्र एव मुखका लाल होना, कठोर वचन बोलना इत्यादि अनुभाव रौद्र रसमें ही होते हैं, वीरमें नहीं, यथा—'रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरत' (सा० द० ३ २३१) । रौद्र रसका उदाहरण—'बोरौ सबै रघुवस कुठारकी धारमें बारन बाजि सरत्थहिं । बानकी वायु उडाइ के लच्छन लक्ष्य करौं अरिहा समरत्थहिं । रामहिं बाम समेत पठै बन कोपके भारमें भूजौं भरत्थहिं । जो धनु हाथ धर रघुनाथ तो आजु अनाथ करौं दसरत्थहिं' (रा० च०) । धनुषभगके प्रसगमें परशुरामने उक्त वचन कहे हैं । राम, लक्ष्मण इत्यादि विभाव हैं, धनुषका टूटना अनिष्ट कार्य है, जो उद्दीपन विभाव है । अमर्ष, गर्व, उग्रता इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं । गर्वदीप्त कठोर भाषण, जिसमें राम, भरत इत्यादिको ललकारा गया है, अनुभाव है । इन अवयवों द्वारा 'क्रोध' स्थायी भाव परिपुष्ट होकर आस्वादित होता है, अतएव यहाँ रौद्र रस निष्पन्न हुआ है । लेकिन इस पद्यमें रौद्र रसके अवयवोंके रहते हुए भी रौद्र रसकी निष्पत्ति नहीं हुई है—'सत्रुनके कुलकाल सुनी धनुभग धुनी उठि बेगि सिधाये । याद कियो पितुके बधको फरकै अधरा दग रक्त बनाये । आगे परे धनु-खण्ड बिलोकि प्रचड भये भृगुटीन चढ़ाये । देखत श्रीरघुनायकको भृगुनायक बन्दत हो सिर नाये' (र० म० ४ १९८) । यहाँ क्रोधके आलम्बन् रामचन्द्र हैं, अधरोंका फड़कना, नेत्रोंका रक्त होना इत्यादि अनुभाव हैं, पिताके बधकी स्मृति, गर्व उग्रत आदि सचारी भाव हैं । इस प्रकार रौद्र रसके सम्पूर्ण तत्त्व विद्यमान हैं, लेकिन यहाँ क्रोध गौण बन गया है और सभी उपादान परशुरामके प्रति कविके प्रेमभावके व्यजक बन गये हैं । अतएव प्रस्तुत पद्य मुनिविषयक रति भावका उदाहरण हो गया है और रौद्र रसकी निष्पत्ति नहीं हो सकी है । रौद्र रसका हास्य, शृंगार, भयानक तथा शान्तसे विरोध बताया गया है और वीर एव रौद्रमें मैत्रीभाव कहा गया है ।

रासो ग्रन्थोंमें वीर रसके साथ-साथ रौद्र रसके प्रचुर उदाहरण मिलते हैं । 'रामचरितमानस'में लक्ष्मण और परशुराम तथा रावण और अंगदके सवादोंमें रौद्र रसकी

भरपूर व्यंजना हुई है। चित्रकूटमें भरतके सेना सहित आगमनका समाचार सुनकर लक्ष्मणने जो भीषण क्रोध व्यक्त किया है, वह भी रौद्र रसका सुन्दर उदाहरण है। केशवदासकी 'रामचन्द्रिका'में रौद्र रसका उदाहरण पहले ही अंकित किया जा चुका है। भूषणकी रचनाओंमें भी रौद्र रसके उदाहरण मिल जाते हैं। वर्तमान कालमें श्यामनारायण पाण्डेय तथा 'दिनकर'की रचनाओंमें रौद्र रसकी प्रभावकारी व्यंजना हुई है। संस्कृतके ग्रन्थोंमें 'महाभारत' तथा 'वीरचरित', 'वेणीसंहार' इत्यादि नाटकोंमें रौद्र रसकी प्रभूत अभिव्यक्ति हुई है। —र० ति०

लक्षक शब्द–काव्यमें प्रयुक्त तीन प्रकारके शब्दोंमें दूसरा। जब वाचकरूप शब्द अपने मुख्य अर्थके बाधित होनेपर रूढ़ि अथवा प्रयोजनके कारण अपने मुख्य अर्थमे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थका प्रतिपादन करने लगता है, तब उसे लक्षक अथवा लाक्षणिक शब्द कहते हैं। लक्षक शब्दसे ही लक्षणा-शक्ति या व्यापार प्रतिपादित है और लक्षणा-शक्ति द्वारा लक्षित होनेवाले लाक्षणिक शब्दके अर्थको लक्ष्यार्थ कहते हैं।

लक्षण-लक्षणा–शुद्धा लक्षणाका दूसरा भेद, यहाँ 'लक्षणा'-का अभिप्राय है शब्दके मुख्य अर्थका अपने अमुख्य अर्थके लिए अपने आपको इसलिए समर्पित कर देना कि वह अमुख्य अर्थ सगत हो जाय (परार्थं स्वसमर्पणम्। का० प्र० २. १०)। विश्वनाथके अनुसार 'वाक्यके अर्थमें किसी वस्तुके दूसरी वस्तुमे अन्वय(तार्किक)सिद्धिके लिए मुख्यार्थको छोड़कर भिन्न अर्थका ग्रहण किया जाना, लक्षण-लक्षणा है' (सा० द० . २ . ६)। क्योंकि इस लक्षणामें शब्द अपना मुख्य अर्थ छोड़ देता है, अत इसे जहत्स्वार्था भी कहते हैं। अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनिमें यही लक्षणा होती है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण—'गंगायां घोष:' अर्थात् गंगापर बस्ती है, यहाँ मुख्य अर्थपरित्याग इसलिए है कि अपने अमुख्य अर्थ तटत्वके संकेतको ग्रहण कर सके। गंगा शब्दकी लक्षणा-वृत्ति सर्वथा स्वार्थसमर्पण—अपने अर्थके बिलकुल त्याग देनेके कारण है। विश्वनाथने रूढ़ि लक्षण-लक्षणाका उदाहरण भी दिया है—'कलिंग साहसी'; यहाँ मुख्यार्थका त्याग अमुख्य अर्थकी सिद्धिके लिए है, पर साथ ही यह परम्परामे सिद्ध प्रयोग है। काव्यगत उदा०—'हैं रिपोर्टोंमें कलेजा छप रहा, देशके आनन्द-भवनोंने कहा।' (का० द०)। यहाँ 'कलेजा' शब्द प्रसगके अनुरोधमे अपना अर्थ छोड़ देता है और 'दु:खपूर्ण गाथा'-का अर्थ देता है, अत इसमें लक्षण-लक्षणा है।

लक्षणा-शक्ति–काव्यमें तीन प्रकारके शब्दोंके अर्थ जिन शक्तियों द्वारा व्यक्त होते हैं, उनमेंसे दूसरी शक्ति। लक्षणा वहाँ होती है, जहाँ लक्षक अथवा लाक्षणिक (दे०) शब्दका प्रयोग हो। मम्मटके अनुसार—'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणा-रोपिता क्रिया।' (का० प्र० २ ९), अर्थात् मुख्य अर्थके बाधित होनेपर रूढ़ि अथवा प्रयोजनके कारण जिस क्रिया (शक्ति) द्वारा मुख्य अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाला अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा-व्यापार (शक्ति) कहते हैं। विश्वनाथकी परिभाषा मम्मटसे ली गयी है, केवल 'क्रिया'-के स्थानपर 'शक्ति' शब्दका प्रयोग मिलता है (सा० द० २ ५)। शब्द अपने मुख्य अर्थ द्वारा जो अमुख्य अर्थका प्रतिपादन करता है, वह शब्दके आरोपित काल्पनिक व्यापारसे सम्बद्ध है। इसको आरोपित व्यापार इसलिए कहा जाता है कि प्रत्यक्षमें यह मुख्यार्थका व्यापार है और अपने-आपमें अविवक्षित अथवा अन्तर्निहित यह मुख्यार्थ अपनेसे भिन्न, किन्तु किसी-न-किसी सम्बन्धसे सम्बद्ध लक्ष्यार्थ(अमुख्यार्थ)का बोधक हुआ करता है। अमुख्य अर्थका बोध करानेवाले इस शब्दके इस व्यापार-(लक्षणा)को व्यवहित व्यापार कहना सगत है, क्योंकि शब्द और उसके अमुख्यार्थके बीच मुख्यार्थका व्यवधान पड़ता है। इस प्रकार लक्षणाव्यापारकी तीन स्थितियाँ हैं—१ मुख्यार्थका बाध, २. मुख्यार्थका अमुख्यार्थ(लक्ष्यार्थ)-के साथ योग (सम्बन्ध) और ३ रूढ़ि अथवा प्रयोजन।

मम्मटके अनुसार लक्षणाके भेदोपभेद इस प्रकार हैं—लक्षणाके दो भेद—रूढ़ि-लक्षणा तथा प्रयोजनवती, प्रयोजनवतीके दो भेद—गौणी और शुद्धा, गौणीके दो भेद—सारोपा तथा साध्यवसाना, शुद्धाके चार भेद—उपादान, लक्षण, सारोपा, साध्यवसाना और ये छहों भेद गूढ़-व्यंग्य और अगूढ़-व्यंग्य, दोनोंमें होते हैं। विश्वनाथने शुद्धाके समान ही गौणीके भी चार भेद स्वीकार किये हैं और इस प्रकार गूढ तथा अगूढ़-व्यंग्यमें मिलाकर उनकी सख्या १६ है। ये सोलह पदगत तथा वाक्यगतके भेदसे ३२ और धर्मगत तथा धर्मिगत भेदसे ६४ प्रयोजनवती लक्षणाके भेद स्वीकार किये गये हैं। विश्वनाथने 'साहित्य-दर्पण'में रूढ़ि-लक्षणाका विभाजन इस प्रकार किया है—शुद्धा तथा गौणी, पुन: इनके उपादान तथा लक्षण-लक्षणा, और इन चारों भेदोंके सारोपा तथा साध्यवसाना दोनों प्रकार होनेसे आठ भेद होते हैं। ये आठों भी कहीं पदगत और कहीं वाक्यगत होनेसे १६ भेद कहे गये हैं। 'साहित्य-दर्पण'का विस्तार महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रमुख भेदोपभेदोंको यथास्थान देखा जा सकता है।

लक्षिता (नायिका)–परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद, विशेषके लिए दे०–'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्त-ने इसका उल्लेख किया है–जिसका परपुरुष-प्रेम सबपर प्रकट हो जाय–'होत लखाय सखीनका पियसों जाको प्रेम।' (मतिराम रसराज ७६)। पद्माकरकी परिभाषामें इस प्रकट प्रेमको जानकर 'कहै तिय आन'की शर्त भी है। वस्तुत यदि प्रेम प्रकट होगा तो उसका वर्णन करना भी अनिवार्य है। नायिकाके इस रूपात्मक वर्णनमें उसकी भावव्यंजना भी छिपी रहती है—'आजु नयनके कजरा औरै भाँति। नागर नेह नवेलिया सुदिने जाति।' (बरवै . १७) और उसके द्वारा उसका प्रेम व्यक्त हो जाता है—'बातके बूझत ही मतिराम कहा करिये यह भौंह तनैनी। मूँदि न राखत प्रीति भटू यह गूँदी गुपालके हाथकी बैनी।' (रसराज • ७७)। रीतिकाव्यमें इस प्रकारकी सखियोंकी उक्तियोंमें परकीयाकी प्रकट उद्विग्नता, अस्तव्यस्तता तथा भावाकुलता व्यंजित हुई है—'मोहि करत किन बावरी किये दुराव दुरै न। कहे देत रँग रातके रँग निचुरतसे नैन।' (बिहारी)।

लक्षी सवैया–दे०–'सवैया', गंगोदकका पर्याय ।

लघु उपन्यास–अँग्रेजीमें छोटे उपन्यासोंको नॉवेलेटकी संज्ञा दी जाने लगी है। यों तो उपन्यासके जन्मकालसे ही छोटे आकारके उपन्यास लिखे जा रहे हैं और जहाँ एक ओर ४००० पृष्ठोंका उपन्यास है, वहाँ दूसरी ओर केवल २०००० शब्दोंमें सम्पूर्ण उपन्यासकी कथा कह दी गयी है (दे०–'उपन्यास')। इन दो अतियोंके बीच आकारकी आश्चर्यजनक विविधता कथासाहित्यके इस एक संज्ञावाले रूपमे पायी जाती है। इसी विविधतामेंसे नावेलेट (लघु उपन्यास या उपन्यासिका) नामसे कथासाहित्यका एक पृथक् रूप पहचानकर निकालनेकी चेष्टा की गयी है। कथासाहित्यका एक अन्य रूप **कहानी** या **छोटी कहानी** भी उपन्याससे छोटे आकारकी रचना है, परन्तु उसकी उपन्याससे भिन्नता केवल इस बातमें नहीं है कि वह उससे बहुत छोटे आकारकी कृति है—वस्तुत लम्बी छोटी कहानियाँ (लाग शार्ट स्टोरीज) भी लिखी गयी हैं—वरन् उसकी भिन्नताका प्रधान कारण उसका स्वतन्त्र कला-विधान है। छोटी कहानीका विकास स्वतन्त्र रूपमें हुआ है, वह छोटे उपन्यासोंमेंसे पृथक करके नामाकित नही कर ली गयी, जैसा कि नॉवेलेटके सम्बन्धमें हुआ है। आकारकी दृष्टिसे ही देखें तो नॉवेलेट या **उपन्यासिका** अधिकतर उपन्यासोंसे आकारमें लघु और अधिकतर कहानियोंसे आकारमें बृहत् कथारूप है, साधारणतया उसका आकार ३०००० से ५०००० शब्दोंमें सीमित माना जा सकता है। परन्तु केवल आकारके आधारपर किसी साहित्यका निर्णय करना समीचीन नहीं है। उपन्यास नामसे प्रचलित असख्य ऐसी कृतियाँ हैं जो आकारमें लघु होती हुई भी लघु उपन्यास इसलिए नहीं कही जा सकतीं कि उनकी लघुता उनका दोष है, सफल कृति बननेके लिए उनके आकारमें भी वृद्धि आवश्यक थी।

लघु उपन्यास या उपन्यासिकामें कथानक एकात्मक होता है। उसमें उप-कथानक (अण्डर प्लाट) नहीं होता तथा प्रासगिक कथानक (एपिसोड) भी इतने कम और एकान्तत कथानकके अनुरूप होते हैं कि वे कथानककी एकात्मकता और सहितिमें व्यवधान न पैदा कर सकें। चरित्र-चित्रण किसी एक पात्र अथवा किसी चरित्रवैशिष्ट्यमें केन्द्रीभूत होता है। देश-काल अथवा वातावरणके विशद और सूक्ष्म चित्रणोंके लिए उसमें स्थान नहीं होता, वह कथानकके ही अनुरूप, अधिक व्यंजनापूर्ण और सूक्ष्म होता है। उसकी शैलीमें आत्माभिव्यजनका गुण कहीं अधिक रहता है, उपन्यासकार कथाके किसी-न-किसी पात्रके साथ अधिक महत्त्वपूर्ण सहानुभूतिके साथ एकाकार दिखाई देता है। उसकी सवेदना अधिक तीव्र और भावात्मक होती है। उपन्यासकी गति अन्तिम परिणति या उद्देश्य-सिद्धिकी ओर अधिक सीधी और द्रुत होती है। निश्चय ही लघु उपन्यास जीवनका खण्डचित्र उपस्थित करता है और इस खण्डचित्रका फलक अपेक्षाकृत छोटा होता है, उसमें विवरणोंकी संकुलता भी अधिक नहीं हो सकती। इन्हीं विशेषताओंके परिणामस्वरूप इस प्रकारके उपन्यासका आकार छोटा होता है। अत लघु उपन्यासका लघु होना उसके अपने विशिष्ट शिल्प-विधानका अनिवार्य परिणाम है।

लघु उपन्यासकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि लेखककी आत्माभिव्यक्ति अधिक वैयक्तिक होती है। बृहत् उपन्यासकी भाँति वह केवल कल्पनाके आधारपर नहीं लिखा जा सकता, उसमें चित्रित जीवनखण्डकी किसी-न-किसी रूपमें साक्षात् अनुभूति आवश्यक है। तभी लेखक अपनी कृतिमें भावनाकी वह तीव्रता ला सकता है जो लघु उपन्यासके लिए आवश्यक है। प्राय लघु उपन्यास किसी व्यक्तिगत मार्मिक अनुभूतिसे प्रेरणा पाकर रचा जाता है, जैसा कि गेटेने लोट ब्रफके गम्भीर प्रेमकी स्मृतिसे प्रेरित होकर 'सारोज ऑफ वर्थर' नामक लघु उपन्यास लिखा था। उसने स्वय स्वीकार किया है कि 'मेरी व्यक्तिगत अनुभूतियोंने इसे जन्म दिया है।' इसी प्रकार बेंजामिन कांस्टैण्टको 'एडाल्फ' नामक लघु उपन्यास लिखनेकी प्रेरणा अपने एक घनिष्ठ मित्रसे प्राप्त हुई थी। अत लघु उपन्यासका लेखक कहीं अधिक निकटताके साथ आत्म-परिचय दे देता है। उसमें स्वय उसके भाव और विचार अधिक प्रभावशाली रूपमें व्यक्त होते हैं।

लघु उपन्यास किसी एक प्रेरणासे लिखा जाता है, अत उसमें एक ही भावनाकी प्रमुखता रहती है। उसके कथानककी एकात्मकता और सहितिमें भी इसी कारण इतनी सघनता होती है कि उसमें वर्णन-विस्तारके लिए कोई स्थान नहीं रहता। पात्रोंकी सख्या उसमें कमसे कम होती है तथा उसमें किसी-न-किसी पात्रको इतनी अधिक प्रमुखता दी जाती है कि वही उपन्यासके समस्त उपकरणोंकी योजना तथा लेखक और पाठकके आकर्षणका केन्द्र बन जाता है, वही उपन्यासकी प्रमुख भावना (मोटिफ)का नियन्त्रण करता है। कह सकते हैं कि लघु उपन्यास अनिवार्यत नायक या नायिका-प्रधान उपन्यास होता है। अन्य पात्र अपनी कुछ ही विशेषताओंके साथ अवतरित हो सकते हैं, प्राय समग्र रूपमें उनके चरित्र-चित्रणका अवकाश उसमें नहीं रहता। परन्तु पात्रोंकी ये विशेषताएँ अत्यन्त सतर्कताके साथ अकित की जाती हैं, जिससे कि उनका व्यक्तित्व पहचाना जा सके। लघु उपन्यासके चरित्राकनमें मनोवैज्ञानिक कुशलता कहीं अधिक अपेक्षित है।

लघु उपन्यासका चलन और लोकप्रियता युगकी माँगका परिणाम कही जा सकती है। हमारा समाज इतना अधिक जटिल होता जा रहा है, उसकी समस्याएँ इतनी उलझी हुई लगती हैं कि किसी सवेदनशील भावप्रवण कथाकारके लिए यह अधिक सुविधाजनक है कि वह किसी एक प्रश्न या किसी एक समस्याको उठाकर उसका व्यक्तिगत स्तरपर तीव्र प्रभावान्वितिके साथ निरूपण करे। अन्ततोगत्वा जीवन और जगत्की ये समस्याएँ व्यक्तिके जीवनको ही प्रभावित करती हैं, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि समस्त युग-जीवनको चित्रित कर सकनेमें लेखककी असमर्थताने लघु उपन्यासको जन्म दिया है। लघु उपन्यासके कुछ लेखकोंके विषयमें जो अधिक आत्मनिष्ठ, सवेदनशील और भावप्रवण प्रवृत्तिके हैं, यह बात ठीक हो सकती है, परन्तु जिस लेखकने 'सारोज ऑफ वर्थर' लिखा, उसीने 'विल्हेलम मीस्टर'

जैसा बृहत् उपन्यास भी लिखा था। जिसने 'रंगभूमि' और 'गोदान' जैसे बड़े उपन्यासोंकी रचना की उसीने 'निर्मला' भी लिखा था। वास्तवमें लघु उपन्यास समस्याको जिस तीव्रता और गहनताके साथ सामने ला सकता है, वह बृहत् उपन्यासके विस्तारमें सम्भव नहीं है। बृहत् उपन्यासमें लेखकका दृष्टिकोण अत्यन्त तटस्थतापूर्ण प्रेक्षकका रहता है, जब कि लघु उपन्यासकार अपने पात्रोंकी संवेदनाओंको मानो स्वयं वहन करता है।

जिस प्रकार गीतिकाव्यको महाकाव्यकी तुलनामें प्रायः कम महत्त्व दिया जाता है, उसी प्रकार लघु उपन्यासके विषयमें कहा जाता है कि उसमें जीवनका कोई बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं सुलझाया जा सकता तथा उसमें भावनाकी प्रधानता होनेके कारण लेखकका दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित, प्रायः भावुकतापूर्ण और इसी कारण अस्वस्थ और रुग्ण-सा होता है। परन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया है, हमारे वर्तमान युगका जीवन ही कुछ ऐसा बनता जा रहा है कि यह विरले युगपुरुषका ही काम है कि उनके सम्बन्धमें किसी समग्रतापूर्ण जीवन-दर्शनका व्याख्यान कर सके। यदि लेखक अनुकरण, कृत्रिमता और आडम्बरको त्यागकर सचाईके साथ अपनी प्रतिक्रियाओंको एक लघु चित्र-फलकपर अधिक प्रभावशाली रूपमें अंकित कर सके तो उसका अधिक आदर होना चाहिये। लघु उपन्यास इस बातकी सुविधा देता है कि लेखक स्वयं अर्जित मान्यताओं और मूल्योंको अधिक स्पष्टताके साथ प्रस्तुत कर दे। साथ ही इस कथारूपमें उसे शिल्प-विधानके नये-नये प्रयोग करनेकी अधिक सुविधा है। समग्रता छोटी-छोटी इकाइयोंसे मिलकर बनती है, व्यष्टिके बिना समष्टिका कोई अस्तित्व नहीं है। अतः यदि जीवनकी समस्याएँ अपने सीमित रूपमें, किन्तु अधिक सचाई और तीव्रताके साथ सामने लायी जायँ तो वे बड़ी समष्टिगत समस्याओंके समाधानमें सहायक बन सकती हैं। निश्चय ही लघु उपन्यासकार अधिक महत्त्वाकांक्षी नहीं होता।

स्वयं लघु उपन्यासके अनेक रूप हो सकते हैं। यह स्वाभाविक है, क्योंकि इसमें लेखकका दृष्टिकोण अधिक स्वात्मपरक होता है। अनेक लघु उपन्यास अपनी वैयक्तिकताके कारण **आत्मकथा** जैसे बन गये हैं, अनेकमें भावनाकी तरलता इतनी अधिक है उनमें **गीति**के तत्त्व उभर आये हैं, कुछके कथाप्रसंग स्वयं इतने परिपूर्ण-से हो गये हैं कि वे **कहानियोंके संग्रह**से लगते हैं, यद्यपि उनमें सम्पूर्ण कथा तथा प्रभावकी अन्वितिमें एकात्मकता है। कुछ लघु उपन्यास संवादों तथा घटनाप्रसंगोंकी नाटकीयताके कारण **एकांकी**का आभास देते हैं। परन्तु ये और अनेक अन्य प्रयोग लघु उपन्यासके कथारूपका लचीलापन ही प्रकट करते हैं। उसमें प्रयोगोंके लिए उर्वर क्षेत्र है। ऐसा लगता है कि यह साहित्य रूप अधिक लोकप्रिय होता जायगा। (दे०—'उपन्यास') —ज० व०

लघु कथा—सम्भवतः लघु कथा शब्द अंग्रेजीके 'शार्ट स्टोरी' शब्दका सीधा अनुवाद है। वैसे कहानी शब्द भी अंग्रेजीके 'शार्ट स्टोरी'के ही लिए है। इस प्रकार लघु कथा और कहानीमें तात्त्विक दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता। व्यावहारिक दृष्टिसे 'लघु कथा' कहानीके छोटे रूप-(शार्ट शार्ट स्टोरी)से अपना तात्पर्य रखती है। पर यह कहना कि लघु कथा लम्बी कथाका सार रूप है, नितान्त भ्रमोत्पादक है।

लघु कथाएँ वस्तुतः दृष्टान्तोंके रूपमें विकसित हुई हैं। ऐसे दृष्टान्त मुख्यतया नैतिक और धार्मिक क्षेत्रोंसे प्राप्य हैं। इस प्रकार नैतिक दृष्टान्तोंके स्तरसे नैतिक लघु कथाएँ सर्वत्र मिलती हैं, जैसे, ईसपकी कहानियाँ, 'पंचतन्त्र'की कथाएँ, 'महाभारत', 'बाइबिल', 'जातक' आदिकी कथाएँ। इसी प्रकार धार्मिक दृष्टान्तोंके अन्तर्गत भी लघु कथाओंके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

पर आधुनिक कहानीके सन्दर्भमें 'लघु कथा'का अपना स्वतन्त्र महत्त्व एवं अस्तित्व है। प्रेमचन्द, 'प्रसाद'से लेकर जैनेन्द्र, अज्ञेयतक इस धाराकी एक शक्तिशाली गति है। प्रेमचन्दने अपनी कहानी-कलाके उत्कर्षकालमें लघु कथाओंके रूपमें कहानियाँ लिखी हैं, जैसे, 'नशा', 'मनोवृत्ति', 'जादू' और 'दो सखियाँ'। 'प्रसाद' इस दिशामें अपूर्व हैं। 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' संग्रहमें 'अघोरीका मोह', 'गुदड़ीके लाल', 'करुणाकी विजय', 'प्रलय', 'प्रतिमा', 'दुखिया और 'कलावतीकी शिक्षा' आदि लघु कथाओंके सुन्दरतम उदाहरण हैं। ये कथाएँ गद्यगीत और रेखाचित्रके शिल्पके अत्यन्त समीप पहुँचती हैं।

जीवनकी उत्तरोत्तर द्रुतगामिता और संघर्षके फल-स्वरूप उसकी अभिव्यक्तिकी संक्षिप्तताने आज कहानीके क्षेत्रमें लघु कथाओंको अत्यधिक प्रगति दी है। बँगला साहित्यमें टैगोर और आजकल 'वनफूल' इस क्षेत्रमें विशेष उल्लेखनीय हैं। हिन्दीमें सुदर्शन, रावी और कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदिकी कुछ लघु कथाएँ बड़ी मार्मिक हैं। रचनाकी दृष्टिसे लघु कथामें भावनाओंका उतना महत्त्व नहीं है जितना किसी सत्यका, किसी विचारका, विशेषकर उसके साराशका महत्त्व है। (दे०—'कहानी')। —ल०ना०ला०

लघु करण—दे०—'करुण रस'।

लघुलज्जा—दे०—'मध्या', (नायिका)। 'मध्यव्रीडिता'का हिन्दी पर्याय।

लज्जाप्राया—दे०—'विश्रब्धनवोढा'।

लय—लयकी निष्पत्ति गति, प्रवाह और यति, विरामके पारस्परिक एवं क्रमिक सघातसे होती है। लयका स्वरूप तत्त्वतः आवृत्तिमूलक है तथा उसकी व्याप्ति दिक् और काल, दोनोंमें है। संगीत और कवितामें लय कालसापेक्ष रहती है और चित्रकला, मूर्तिकला तथा वास्तुकलामें दिक्-सापेक्ष। इस प्रकार लयकी व्याप्ति सभी ललित कलाओंमें पायी जाती है। गायन, वादन और नृत्य, संगीतके इन तीनों अंगोंको परस्पर सूत्रबद्ध करनेवाली वस्तु लय ही है। काव्यमें यह शब्द संगीतके क्षेत्रसे ही आया प्रतीत होता है। संगीतशास्त्रमें लयके तीन भेद मिलते हैं—१ द्रुत, २ मध्यम, ३ विलम्बित। संस्कृत वृत्त द्रुत-विलम्बितको यह नाम इसलिए मिला कि उसके प्रत्येक चरणके प्रारम्भिक अंशमें द्रुत लय और अन्तिम अंशमें विलम्बित लय होती है। छन्दके प्रत्येक पादकी गति लय-समन्वित मानी गयी है, यथा—'पादन्यासो लयमनुगतः'।

लय तत्त्व अमूर्त और स्वयम्भू होता है ऐसा भी प्रतिपादित किया गया है, (दे० मराठी पत्रिका 'छन्द', जून ५६, लय-तत्त्व आणि संगीत)। लयकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी सम्भरणशक्ति (power of integration) है, जिसके द्वारा वह विभिन्न तत्त्वोंको सग्रथित करती हुई संश्लिष्टता प्रदान करती है। उसका एक और उल्लेखनीय गुण है अपने क्रमिक संस्पर्शसे भावावेगको उद्दीप्त करनेकी क्षमता।

कला, काव्य और संगीतसे ही नहीं, सामान्य जीवनमें भी लयतत्त्वकी घनिष्ठ व्याप्ति मिलती है। श्वास-प्रश्वास, हृद्गति, ऋतु-चक्र, दिन-रात आदिका अनुभव क्रमिक रूपमें लयात्मकताके साथ ही होता है। लय और जीवनकी यह घनिष्ठता ही कदाचित् कला आदिके क्षेत्रमें उसके विशेष आकर्षणका मूल कारण है।

आवृत्ति अनेक रूपोंमें होती है। स्थूल आवर्तनके अन्तर्गत सूक्ष्म आवर्तन और सूक्ष्मतर प्रत्यावर्तनोंकी स्थिति रह सकती है, जैसे, गतिशील जलमें एक बड़ी लहरके अन्तर्गत छोटी और छोटीके भीतर उससे भी छोटी, सूक्ष्म लहरोंका अन्तर्भाव रहता है। आवर्तन समान क्रमसे तो होता ही है, पर उसके अर्द्धसम, विषम तथा ऐसे ही अवान्तर विभेद-प्रभेद भी परिलक्षित होते हैं। हरिगीतिका छन्द इसी शब्दकी चार आवृत्तियोंसे बन जाता है और भुजंगप्रयात अपने नामकी दो आवृत्तियोंसे। सवैया छन्दमें भी आवृत्तिका क्रम प्रायः समान रहता है। परन्तु बहुतसे वृत्त और छन्द ऐसे होते हैं जिनमें आवृत्तिके क्रमको इतनी सरलतासे नहीं समझा जा सकता। उदाहरणार्थ, मन्दाक्रान्ताके प्रारम्भमें गुरु वर्णकी चार आवृत्तियोंसे एक लय बनती है फिर उसे सन्तुलित करनेके लिए चार लघु वर्ण आते हैं। इसके बाद जो लयखण्ड बचता है उसमें तीन यगणात्मक समान लघु लयांश आते हैं और इस प्रकार समष्टिरूपमें एक संघटित चरणकी सृष्टि होती है (SSSS, IIII, ISS, ISS, ISS), जिसकी पूरी पूरी चार आवृत्तियोंसे पूर्ण मन्दाक्रान्ता वृत्त बनता है। वर्णिक तथा मात्रिक छन्दोंकी लयका भी इसी तरह विश्लेषण किया जा सकता है। ऊपरसे देखनेपर केवल गणों या मात्राओंके विधानसे लयका वास्तविक रूप बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता।—ज० गु०

ललना–शिशुके लालन-पालनका गीत, जन्मोत्सव और ववाहोत्सवमें 'बधावा'के अवसरपर गाया जाता है। इस गीतकी टेकके रूपमें बहुधा—'आरे मोरे ललना हो, बाजैलीं बधइया कौनी ओर'—जैसी पंक्तियोंका व्यवहार होता है। इसी नामका एक वर्ण-वृत्त है, जिसके प्रत्येक चरणमें क्रमशः भगण, मगण और दो सगण होते हैं। दे०—'हठयोग'। —रा० अ०

ललित–एक गौण अर्थालंकार, जहाँ वर्णनीय वृत्तान्तको न कहकर उसका प्रतिबिम्ब वर्णित किया जाय वहाँ ललित अलंकार होता है। संस्कृतके प्रमुख आचार्योंने ललित अलंकारको स्वतन्त्र नहीं माना है, क्योंकि वे इसका अन्तर्भाव निदर्शनामें मानते हैं। संस्कृत आचार्योंमें अप्पय दीक्षितने इसे स्वतन्त्र अलंकार माना है। 'कुवलयानन्द'के आधारपर ही हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इसे स्वीकार किया है। मतिरामने इसकी परिभाषा दी है।—'वर्न्य वाक्यके अर्थको जहँ केवल प्रतिबिम्ब।' (ल० ल० ३००)। उदाहरण–'मेरी सीख सिखै न सखि, मोसों उठै रिसाय। सोयो चाहत नींद भरि, सेज अँगार बिछाय।' (वही ३०१) अथवा–'अरे विहगम लौट अब तेरा नीड रहा इस वनमें। छोड उच्च पदकी उड़ान वह क्या है शून्य गगनमें।' (मैथिलीशरण गुप्त का०द०), यहाँ नायिका तथा गोपीके द्वारा मुख्य बात छायारूपमें कही गयी है। जो आचार्य ललितको स्वतन्त्र अलंकार मानते हैं उनका कहना है कि यह अप्रस्तुत प्रशंसासे इसलिए भिन्न है, क्योंकि इसमें वाच्यार्थ प्रस्तुत होता है, समासोक्तिसे इसलिए भिन्न है कि इसमें अप्रस्तुतकी प्रतीति न होकर प्रतिबिम्ब वर्णित होता है, निदर्शनासे यह अन्तर है कि इसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुतमें एकताका आरोप नहीं होता। दे०—'सात्त्विक गुण', नायक, 'स्वभावज अलंकार', नवाँ। —ध० व्र० शा०

ललित कला–कलाओंको सामान्यतः दो वर्गोंमें विभक्त किया जाता है—ललित कला तथा **उपयोगी कला**। ललित कलाके अन्तर्गत वास्तुकला अथवा स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला, ये पाँच भेद माने जाते हैं। इनमेंसे प्रथम तीन अर्थात् वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकलाको दृश्य माना गया है तथा संगीतकला और काव्यकलाको प्रमुखतः श्रव्य कहा गया है। ललित कलाएँ मनुष्यके सौन्दर्य बोधकी विकसित अवस्थाओंकी परिचायक हैं। ललित कलाएँ गौण रूपसे उपयोगी भी हो सकती हैं, परन्तु प्रमुखतः वे अलौकिक आनन्दकी सिद्धिमें ही सहायक सिद्ध होती हैं। इस दृष्टिसे सामान्यतः कला कहनेसे ललित कलाओंका ही बोध होता है।

पाँचों कलाओंमें अपेक्षाकृत श्रेष्ठत्व किसी कलामें प्रयुक्त उपकरणोंकी सूक्ष्मताके आधारपर निर्धारित किया जाता है। इस कसौटीपर हीगेलके अनुसार स्थापत्य अथवा वास्तु कला सबसे निम्न स्तरकी ठहरती है तथा काव्यकला सर्वाधिक उत्कृष्ट सिद्ध होती है। वास्तुकलाको निकृष्टतम माननेका कारण यह है कि उसमें प्रयुक्त उपकरण ईंट, रोड़ा, चूना आदि एकदम मूर्त हैं, अतः कलाकारकी कल्पना उसमें पूरी अभिव्यक्ति नहीं पाती। वास्तुकलाके बाद मूर्तिकला आती है। इसके उपकरण पत्थर छेनी, आदि वास्तुकलासे तो कम मूर्त हैं, पर फिर भी उनमें सूक्ष्मताका अभाव है। चित्रकलाके उपकरण अपेक्षाकृत सूक्ष्म हैं, किन्तु कागज, रंग, कूची आदिका मूर्त स्वरूप काफी स्पष्ट है। संगीत कलामें केवल ध्वनिसंयोजनके आधारपर रससृष्टि होती है और काव्यकलामें तो केवल शब्द (जो मात्र प्रतीक हैं) शेष रह जाते हैं, जिनको उपकरण बनाकर कवि अपनी सृष्टि करता है।

कुछ विद्वान् काव्यकलाकी अपेक्षा संगीतकलाके उपकरणोंको अधिक सूक्ष्म मानते हैं और इस दृष्टिसे काव्यकलाकी तुलनामें संगीतको श्रेष्ठतर मानते हैं। इस मतके अनुयायियोंका कहना है कि शब्दोंका तो प्रतीक होनेपर भी निश्चित अर्थ होता है जो मूर्त पदार्थोंसे सम्बद्ध रहता है, पर संगीतमें तो केवल ध्वनियोंके आरोह-अवरोहसे ही

निश्चित रसकी सृष्टि की जाती है। —रा० स्व० च०

ललित साहित्य—प्राचीन साहित्यमें 'साहित्य'के पर्यायके रूपमें 'वाङ्मय' शब्दका उपयोग होता था और 'शास्त्र' तथा 'काव्य' उसके दो प्रकार थे। शास्त्रको आधुनिक परिभाषामें यदि हम 'उपयोगी साहित्य' कहें तो काव्यको 'ललित साहित्य' या 'सरस साहित्य' कहेंगे। 'ललित साहित्य'में साहित्यकी वे सब कोटियाँ आयेंगी जिनमें बोधपक्ष उतना प्रधान नहीं, जितना भावपक्ष, अर्थात् जिनमें बुद्धिकी अपेक्षा हृदयको स्पर्श करनेकी सामर्थ्य अधिक है। गद्य और पद्य, दोनोंमें ही ललित साहित्यकी सृष्टि सम्भव है, शर्त है लालित्य, अर्थात् सौन्दर्यनिष्ठा। काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, रेखाचित्र, वर्णनात्मक गद्य-पद्य ललित साहित्यके अन्तर्गत आयेंगे। ललित साहित्यमें शैलीगत लालित्यका आग्रह कदाचित् अधिक है। परन्तु वास्तवमें ललित कलामें जिस प्रकार उपयोगी कलाका वैपरीत्य है, उसी प्रकार कदाचित् इस विरोधको ध्यानमें रखते हुए 'ललित साहित्य' और 'उपयोगी साहित्य' शब्दोंका प्रचलन हुआ। प्राचीनतम युगोंसे साहित्यके दो उद्देश्य रहे हैं—कलात्मक सौन्दर्य और तज्जन्य आनन्द एवं उपयोगिता। ये दोनों प्रयोजन परस्पर विरोधी-से लगते हैं। ऊपरसे विचार करनेपर दोनों प्रयोजनोंमें कोई संगति नहीं दिखलाई देती और इसी विरोधके आधारपर ललित साहित्यको उपयोगी साहित्यसे पृथक् और विरोधी माना जाता है। परन्तु फिर भी यह निश्चित् रूपसे कहा जा सकता है कि साहित्यके ललित रूपमें भी एक सूक्ष्म ढंगकी उपयोगिता है, जिसकी विवेचना नीति और मानस-शास्त्रोंके आधारपर की जा सकती है। ललित साहित्यमें उस वृत्तिकी प्रधानता रहती है, जिसे भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'में 'क्रीडनीयक' कहा है। विश्रान्तिजनन अथवा विनोदकरण ललित साहित्यके अन्य हेतु कहे गये हैं। यह निश्चित है कि ललित साहित्यमें कलात्मकता, सौन्दर्यत्व, कल्पना-विलास, भावना-परिष्कार आदिका महत्त्व अधिक है और तत्त्वज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र और अन्य ज्ञानमूलक साहित्य-चेष्टाओंका बोध है। यह शब्द 'सरस साहित्य'के समानार्थ प्रयुक्त होता है। (दे०—'सरस साहित्य') —रा० भ०

लाँगुर—'लाँगुर' अथवा 'लँगुरिया' ब्रजमें गाये जानेवाले देवीके गीतोंका एक प्रकार है। 'लाँगुर' अथवा 'लँगुरिया' इन गीतोंमें एक पात्र बनकर आता है। वह अपने वैचित्र्यके कारण अधिक आकर्षक है। ब्राह्मणका बालक लाँगुर तुलसीके पेड़से उत्पन्न होकर माताका आज्ञाकारी पुत्र है। वह अधिक खाता है, गाँजेका बड़ा पिवैया है, गुजरियाको विलमाता है और अनोखे काम करता है। स्त्रियाँ अपने गीतोंमें उसपर पति-भावका आरोप करती हैं। कहीं वह छोटा है, तो कहीं बड़ा। लाँगुरका हर गीत 'लाँगुर' अथवा 'लँगुरिया'के शब्द टेकवत् धारण किये चलता है। हास्य, व्यंग्य, विनोद, प्रणय आदि सभी लाँगुर गीतोंमें व्यक्त हुए हैं। देवीका विशेष प्रिय होनेके कारण भक्तोंको भी कदाचित् लाँगुर इसीलिए प्रिय हो गया है। गीतोंके 'लाँगुर'-का आरोप एक-दो उदाहरणसे स्पष्ट है—(१) 'करौलीवाली नदिया बहाये लिये जाय। जब नदिया मेरे पाँयन आयी, सम्हारि वारे **लाँगुरिया**।' (२) 'टरदको मारौ **लाँगुरिया** मरि-मरि जाय। **लाँगुर** तुम लौटा हम डोर, नरकि आओ जायौ वनमें।' यों तो लाँगुर अथवा 'लाँगुरिया' देवीका पुत्र माना गया है, पर स्त्रियाँ भक्ति और श्रद्धाके साथ उसका नाम ले-लेकर रसिकताका आरोप करती हैं। —श्या० प०

लाटानुप्रास—शब्दालंकार, अनुप्रासका भेद 'लाट' एक देशविशेष तथा उसके निवासियोंका नाम है। लाट देशके निवासियोंको यह अलंकार अत्यन्त प्रिय रहा होगा, अतः उनके नामपर इनका नाम 'लाट' पड़ा।

'प्रायेण लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः' (सा०द० १०.६ वृ०)। इसमें अनेक शब्दोंकी आवृत्ति होती है, अर्थात् वाक्यकी भी और एक शब्दकी भी। जहाँ शब्द और अर्थकी आवृत्ति हो, अर्थात् जहाँ एकार्थक शब्दोंकी आवृत्ति तो हो, परन्तु अन्वयमें अभिप्रायकी भिन्नता हो। इसे शब्द या पदोंकी आवृत्तिके कारण शब्दानुप्रास या पदानुप्रास भी कहते हैं। इसका विवेचन भामहने अनुप्रासके अन्तर्गत और उद्भटने स्वतन्त्र भेदके रूपमें किया है। मम्मटने इसकी परिभाषा निम्नलिखित प्रकारसे की है—'शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः।' (का० प्र० ९ ८१), जिसमें समानार्थक किन्तु भिन्न तात्पर्यवाले शब्दोंका सादृश्य हो।

भिखारीदासकी परिभाषा इस प्रकार है—'एक सब्द बहु बार जहँ, सो लाटानुप्रास। तातपर्यते होत है, औरै अर्थ प्रकास।' (का० नि० १९)। हिन्दीमें जसवन्त सिंहने 'भाषाभूषण'में मम्मट तथा विश्वनाथके आधारपर 'शब्द अर्थके भेदसों, भेद विनाहू सोय' लक्षण दिया है। भूषणकी परिभाषा—'भिन्न अभिन्न पदन सों' (शि० भू० ३५५) अस्पष्ट है। कुलपतिने शब्दसाम्यका आधार माना है।

इस अलंकारमें कहीं-कहीं सम्पूर्ण वाक्यकी आवृत्ति होती है—'औरनके जाँचे कहा, नहिं जाँच्यो सिवराज। औरनके जाँचे कहा जो जाँच्यो सिवराज।' (शि० भू० ३६४)। इसमें दोनों वाक्योंमें अन्वयसे अर्थभेद है। पदोंकी आवृत्ति जो कभी स्वतन्त्र और कभी समासके होते हैं। पदका उदाहरण—'करि करुना करुनायतन' (का० क०) और समस्त पदका उदाहरण—'मन-मृगया करि मृग-दृगी, मृग-मद वेंदी भाल। मृगपति-लंक मृगांक-मुख, अंक लिये मृग-वाल।' (का० नि० १९)। इस अलंकारका प्रयोग चमत्कारवादी कवियोंमें ही मिलता है। छेक और वृत्ति अनुप्रासमें वर्णोंकी आवृत्ति होती है, परन्तु लाटमें शब्दोंकी। छेकमें अनेक वर्णोंकी एक ही बार आवृत्ति होती है और वृत्तिमें अनेक बार। यमक अलंकारमें भी पदों या शब्दोंकी आवृत्ति होती है, परन्तु आवृत्त पद या शब्द भिन्नार्थक होते हैं। लाटमें आवृत्त पद या शब्द एकार्थक ही होते हैं। —वि० स्ना०

लाटी रीति—दे०—'रीति', चौथी।

लावनी—'संगीत राग कल्पद्रुम'के अनुसार लावनी (लावणी) उपराग है—'लावणी जोगिया जंगी अड़ग सुहाना कोल्हिका'। यह देशी रागके अन्तर्गत है। देशी रागके सम्बन्धमें कहा गया है कि भिन्न भिन्न देशोंमें जो भिन्न-भिन्न नाम धारण करे वह देशी राग है—'देशे देशे भिन्ननाम तद्देशीगानमुच्यते' (रा० १. पृ० १७)। दीपक

रागकी भार्या देशी रागिनीसे इसमें भिन्नता है, क्योंकि देशी रागको ग्राम्य राग भी कहा जाता है। स्पष्ट है कि लोकगीतोंसे इसका विकास हुआ है, जिसका संस्कृतानुकरण लावणीमें मिलता है। इसका सम्बन्ध लावनी देश-(लावाणक)से था, जो मगधके समीप था एव उसी देशसे सम्बद्ध होनेके कारण इसका नाम लावनी पड़ा। मियाँ तानसेनने जिन मिश्रित रागिनियोंको शास्त्रीयता प्रदान की थी, उनमेंसे लावनी भी थी। कुछ लोगोंकी धारणा है कि निर्गुण भक्तिधाराके साथ इसका सम्बन्ध था। वस्तुत लोकरागिनी होनेके कारण इसे लोक-कवियोंने अपनाया। सगुण-निर्गुणका इसमें विभेद उपयुक्त नहीं है। लावनीके कई वर्ग होते हैं—लावनी भूपाली, लावनी देशी, लावनी जगला, लावनी कलागटा, लावनी रेखता आदि। कबीरके कुछ गीतोंकी परिगणना लावनीके अन्तर्गत हुई है, किन्तु ग्रन्थावलीमें यह नाम नहीं मिलता। प्राचीन कवियोंमें हस्तिराम, हरिदास, रसरग, कृष्णानन्द आदि लावनीके प्रसिद्ध कवि हुए है। लावनी रेखताका उदाहरण है—'गोरी एक बनी है हद बेश, शिरपर लटके लम्बे केश। अदासे चली है मुख मोर, अँचरा दिया है उरसे छोर।' वल्लभचन्द-लिखित लावनी कलागटा है—'हनूमान वीर बका, जिनका मुलकोंमें डका, हुक्म पाय कूदि गये लका, उठी जब रावणके शका।' भारतेन्दु-कालमें लावनीबाजोंके दगल होते थे और भारतेन्दुने भी लावनीकी रचनाएँ की थीं, जिनका सग्रह 'फूलोंका गुच्छा' नामक सकलनमें हुआ है। कुछ लावनियाँ 'प्रेमतरंग', 'प्रेम-प्रलाप' आदि ग्रन्थोंमें भी संकलित हैं। कुछ लावनियाँ रेखताके ढगकी हैं—'तुझे कोई काबेमें हाजिर कोई दैरमें बतलाता, भूले हैं सब अहमे बेशक इनके फर्क पडा।' और कुछ लावनियाँ प्रचलित भाषामें—'मोहिं छोडि प्रान-प्रिय कहूँ अनत अनुरागे।' प्रतापनारायण मिश्र भी लावनीबाजोंकी संगतिमें रहते थे और उन्होंने भी इसकी रचनाएँ की है। —रा० खे० पा०

लाहूत–दे० 'सूफी मार्ग'।

लिंगवैचिच्यवक्रता–दे०—'पदपूर्वार्ध वक्रता', पाँचवाँ प्रकार'।

लिट्रेचर–लिपिबद्ध सम्पूर्ण सामग्रीके लिए 'लिट्रेचर' शब्दका प्रयोग होता है, जिसे सस्कृत वाङ्मयका समानार्थक माना जा सकता है। सामान्य अर्थोंमें मुद्रित सूचना, उपयोगी साहित्य अथवा समग्र रचनाके लिए इस शब्दका उपयोग होता है, जैसे, किसी विशिष्ट विषयका साहित्य। टिनडेलने इस शब्दका इस सन्दर्भमें प्रथम बार उपयोग किया था। प्रतीकवादी कलाकार इस शब्दका उपयोग लाछनके अर्थमें करते हे, जिससे परम्पराबद्धता एव भावशून्य अर्थविवृतिकी ओर सकेत होता है। वर्लें जैसे प्रतीकवादी शुद्ध काव्यको ही वास्तविक मानते हैं, शेप जो कुछ है, लिट्रेचर-मात्र है। परन्तु इन दोनों अतियोंके बीचमे एक संकुचित अर्थ भी है, जिसके अनुसार 'लिट्रेचर' शब्द 'साहित्य' या 'काव्य'का द्योतक है। (दे०—'साहित्य', 'उपयोगी साहित्य', 'काव्य' 'काव्य-कला', 'ललित साहित्य', 'सरस साहित्य'।) —रा० भ०

लिबिडो–लिबिडो शब्द लैटिन भाषाका है, जिसका अर्थ कामुकता है। फ्रायडने आरम्भमें इस शब्दका प्रयोग उसके मौलिक अर्थमें ही किया, किन्तु आगे चलकर मनोविश्लेषणमें उसका प्रयोग शक्ति अथवा सम्पूर्ण जीवनी-शक्तिके सामान्य अर्थमें होने लगा। विशेष सन्दर्भोंमें, जैसे उभयलिंगी लिबिडो, समलिंगी-प्रेम, लिबिडोके विकासके स्तरोंके विवेचनमें यह शब्द अब भी मौलिक अर्थमें प्रयुक्त होता है। हिन्दी भाषामें अभीतक इस शब्दके लिए कोई उत्तम पर्याय रूढ नहीं हो सका है। व्यापक अर्थमें लिबिडो जीवन, प्रेम और क्रियाशीलताके प्रति अदम्य पिपासाको व्यक्त करती है और तृष्णा शब्द सम्भवत इस भावके समीपतम है। भगवान् बुद्धने तृष्णा शब्दका प्रयोग कुछ इसी अर्थमें किया है।

फ्रायडके अनुसार (दे०—'फ्रायडवाद', 'मनोविश्लेषण') लिबिडो केवल प्रौढ़ कामुकता नहीं है, वह सभी प्रकारका प्रेम है, चाहे वह प्रेम माता-पिता, भाई-बहन, मित्र, सन्तान, देश और आदर्शके लिए हो या स्वयं ईश्वरकी भक्ति हो। कला, साहित्य, धर्म, विज्ञान आदि लिबिडोसे ही अनुप्राणित है। लिबिडो—तृष्णा—की तृप्ति होती रहना मानसिक स्वास्थ्यके लिए अनिवार्य है। किन्तु फ्रायडका यह मत नहीं है कि उसकी तृप्ति केवल कामुकताके स्तरपर स्वेच्छाचार द्वारा ही हो सकती है। समाजमें कामुकताकी निर्बन्ध तृप्ति सम्भव नहीं है। यदि वह सम्भव भी होती तो व्यक्ति तथा समाजके लिए अन्तत हानिकर होती। अतएव जब लिबिडोका सम्यक् समाजीकरण (दे०) अथवा उदात्तीकरण नहीं हो पाता, व्यक्तिमें अनेक मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अनहद लिबिडो अवाछनीय मार्गोंसे फूट पड़ती है। शिशुकी भाँति आदिम मानव भी अपने शरीरमें ही प्रसूत सवेदनोंमें बड़ा रस लेता है। वह आत्मरति-प्रेमी होता है। विशिष्ट संवेदनोंको उत्पन्न करनेके लिए वह अपनी शक्तिका अपार क्षय किया करता है, जिससे समाजको कोई लाभ नहीं होता। इसलिए सभ्यता और संस्कृतिका एक प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत शक्तिके इस वासनात्मक क्षयको रोककर उसे समाजोपयोगी कार्योंमें लगाना है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सामान्य प्रौढ़ मानवके यौन जीवनकी पूर्ण उपेक्षा की जा सकती है। उसके दुष्परिणाम ही होते हैं। असम्यक् अति उदात्तीकरण अथवा तापस जीवनके अपने खतरे हैं।

फ्रायडने लिबिडोको तीन भागोंमें बाँटा है—ईडिपस या एलेक्ट्रा मनोग्रन्थि, स्वपीडन और परपीडन।

—आ० रा० शा०

लिरिक–दे०—'गीतिकाव्य'।

लीला १–वल्लभाचार्यने अपने शुद्धाद्वैतवाद और पुष्टि-मार्गी भक्ति-सिद्धान्तोंके आधारपर 'श्रीमद्भागवत'के तृतीय स्कन्धकी 'सुबोधिनी टीका'में भगवान्की लीलाकी व्याख्या की है। विलासकी इच्छाका ही नाम लीला है। कार्य-व्यतिरेकसे अर्थात् कार्यसे रहित यह कृतिमात्र है। इस कृतिके बाहर कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न किये गये कार्यमें कोई अभिप्राय नहीं होता। इसमें कर्ताका कोई प्रभाव भी नहीं उत्पन्न होता। किन्तु अन्त करणके पूर्ण आनन्दपूर्ण उल्लासमे कार्योत्पत्तिके सदृश कोई क्रिया उत्पन्न

होती है। यही भगवान्‌की लीला है। लीलाका लीलानन्दके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि और प्रलय भगवान्‌की लीला ही है।

पुष्टिमार्ग(दे०)के अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्मके मुख्य तीन स्वरूप होते हैं—१ पूर्ण पुरुषोत्तम रस अथवा आनन्द-रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण, २ अक्षर ब्रह्म जो गणितानन्द अर्थात् सीमित आनन्द वालरूप है। यह दो रूपोंमें प्रकट होते हैं—एक पूर्ण पुरुषोत्तमका अक्षर धाम तथा दूसरा काल, कर्म, स्वभावके अनुसार प्रकट होनेवाले जीव तथा अनेक देवी-देवताओंके रूपमें परिणत होनेवाला रूप और ३ अन्तर्यामी रूप। पूर्ण पुरुषोत्तम परम रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण गोलोक या अक्षर धाममें नित्य आनन्द-लीलामें मग्न रहते हैं। वहाँ नित्य वृन्दावन नित्य यमुना, नित्य गोपी, नित्य विहारका आनन्द रहता है। उनकी यह नित्यलीला अवतार दशाकी लीला कही जाती है। अवतारदशामें उनका गोलोक व्रजमें पृथ्वीपर उतर आता है और वे गोपानाओंके नाथ व्रजकी आनन्द-केलिमें मग्न दिखाई देते हैं। उनकी यह लीला भी बिना किसी प्रयोजनके लीलाके आनन्दके लिए ही होती है। इसलिए इसे अहेतु लीला कहते हैं। इस रूपमें श्रीकृष्ण रसेश और पुष्टिपुरुषोत्तम कहे गये हैं। वे लोक-वेदकी मर्यादासे अतीत हैं। श्रीकृष्णका इस रूपमें व्रजमें प्रकट होना न तो गुणावतार है, न अंशावतार या कलावतार। वे तो स्वयं साक्षात् भगवान् हैं। यह विचार 'श्रीमद्भागवत'के 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कथनपर आधारित है, जिसके अनुसार भगवान्‌के अन्य सभी अवतार अंश–कलावतार हैं। श्रीकृष्ण अवतार नहीं, स्वयं अवतारी हैं। परन्तु श्रीकृष्णके लीलावतार या रसावतारसे भिन्न वल्लभाचार्यने उनके मर्यादावतार-को भी स्वीकार किया है। इस रूपमें वे अन्य अवतारोंकी भाँति वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध-रूपसे चतुर्व्यूहात्मक हैं और मर्यादापुरुषोत्तम कहे जाते हैं। मर्यादापुरुषोत्तमरूपसे उनका प्रयोजन वेद-धर्मकी रक्षा तथा मर्यादाकी स्थापना होता है। श्रीकृष्णके चार व्यूहोंमें वासुदेव मोक्षदाता, संकर्षण दुष्टोंके संहारकर्ता, प्रद्युम्न सृष्टि-रक्षक और पालनकर्ता तथा अनिरुद्ध धर्म रक्षक और धर्मके उपदेष्टा हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णका अवतार दो रूपोंमें माना गया है। मथुरापति, द्वारकाधीश, देवकीनन्दन, वासुदेव कृष्ण मर्यादापुरुषोत्तम हैं। इसी रूपमें उन्होंने व्रजमें भी अनेक असुरोंका संहार किया था। परन्तु नन्द, यशोदा, गोप और गोपीके प्रिय कृष्ण सदा रसेश्वर पुष्टिपुरुषोत्तम हैं। वे व्रजमें अपनी अवतरित लीलाका विस्तार आनन्दके हेतु ही करते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह समग्र चराचर सृष्टि भी भगवान्‌की लीला है। यह सच्चिदानन्द ब्रह्मके अपार रूपसे उस समय प्रकट होती है जब पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म-को, जो अपने अपार धाम गोलोकमें नित्य एकरस आनन्दमें मग्न रहता है, एकसे अनेक होनेकी इच्छा होती है। सृष्टि सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत् अंशरूपा है, जो सत्त्व, रज और तम, तीन गुणोंसे मिलकर बनती है। ये गुण प्राकृत हैं, परन्तु स्वयं ब्रह्मकी सत् शक्तिके ये गुण अप्राकृत हैं और क्रमश: ब्रह्मा, विष्णु और महेश अपारब्रह्मके गुणावतार कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त अपारब्रह्मके अंशावतार या कलावतार भी अनेक हैं—वामन, वराह, मत्स्य, परशुराम, राम आदि अंशावतार ही हैं।

व्रजमें भगवान्‌की लीला भावभेदके अनुसार अनेक प्रकारकी होती है। मुख्य भाव दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य हैं। इनके आधारपर भक्तोंकी प्रीति प्रेम अनुरूपा है और कान्ता या मधुर रतिके लिए भगवान् अपनी अनेक प्रकारकी लीलाका विस्तार करते हैं। उनकी बाललीला प्रीति-रतिकी, गोचारण लीला प्रेम-रतिकी और कैशोर लीला, जो गुप्त और रहस्यपूर्ण है, कान्ता या मधुर रतिकी पोषक है। दास्य भावकी प्रीति-रति तो वस्तुत: भगवान्‌के ऐश्वर्य-रूपके प्रति होती है, अत: कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायोंमें उसे विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। फिर भी अन्य भावोंको सकलित करनेवाली लीलाओंमें प्राय: भगवान् अपने माहात्म्य-ज्ञानके हेतु अपना ऐश्वर्यरूप भी किंचित् झलका देते हैं और विभिन्न भावोंके भक्तगण उस क्षण उनके प्रति दैन्यकी भावना एक-एक प्रकारसे सचारी भावके रूपमें अनुभव करने लगते हैं।

यद्यपि पुष्टिमार्गमें गोपाल कृष्णके बालरूपकी ही प्रकटत: वैधानिक मान्यता है, परन्तु उनकी कैशोर भावकी उपासनाका भी विशद विस्तार पुष्टिमार्गीय भक्तोंके काव्योंमें मिलता है। वत्सलमत(दे०—'अष्टछाप')में मधुरभाव-के भक्त सखीरूप होते हैं। राधिका इन सखियोंमें सर्वोपरि हैं, वस्तुत: वे स्वामिनीजी ही कही जाती हैं। कृष्णके मुख्य सखा आठ हैं और उनकी सखियाँ भी आठ हैं। इनके अतिरिक्त असंख्य सखा और सखियाँ हैं। अष्टछापके कवि, जो कृष्णके अष्टसखा कहे जाते हैं, रात्रिकालीन कुंजलीलामें सखीरूप हो जाते हैं।

चैतन्य-सम्प्रदायके अनुसार भगवान् अपनी स्वरूप-शक्तिके साथ लीलामें प्रवृत्त होते हैं। वे अपनी आह्लादिनी शक्ति राधा तथा उनकी सखियों गोपियोंके साथ लीला करते हैं। यह लीला दर्पणमें प्रतिबिम्बके साथ बालककी क्रीड़ाके समान है। जीव भगवान्‌की इस लीलाका द्रष्टा रहता है। वह उस लीलारसमें तभी सम्मिलित हो सकता है जब वह गोपियोंकी सेविकाओंके पास पहुँचकर उनकी सेवा करके उनकी कृपाका अधिकारी बन जाय और गोपियाँ उसे कृपा करके हावभावमयी राधाके निकट पहुँचा दें। उस अवस्थामें उसका जीवत्व नष्ट हो जाता है और वह स्वरूप-शक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण लीलारसके विस्तारके लिए एक साथ ही बाल, पौगण्ड, किशोर और यौवन किसी भी अवस्थामें प्रकट हो सकते हैं। ये सब अवस्थाएँ एक साथ ही चलती हैं। भावके अनुसार वे तत्तत् अवस्थामें भक्तोंको प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु उनका किशोररूप ही कृष्ण-भक्तोंका सर्वाधिक प्रिय और वरेण्य रूप है। वे सदैव किशोर माने गये हैं।

श्रीकृष्णकी मुख्य रूपसे दो प्रकारकी किशोर-लीलाएँ हैं —एक कुंजलीला और दूसरी निकुंजलीला। कुंजलीलाका स्थायी भाव श्रीकृष्ण-रति है, आलम्बन श्रीकृष्ण तथा आश्रय

गोपियाँ हैं। गोपियाँ उपपति(जार)के रूपमें श्रीकृष्णसे परकीया-भावकी विरहप्रधान रति करती हैं। राधावल्लभीय सम्प्रदाय(दे०)में इस लीलाके रसको व्रज-रस कहा गया है। कुजलीलाका ही दूसरा नाम व्रजलीला भी दिया गया है। यह व्रज-रसका क्रीडा-विनोद श्रीकृष्ण-अवतारकी लीला है, अवतारीकी लीला नहीं। अत यह नित्य नहीं है, अवतार-दशामें ही प्रकट होती है। इससे भिन्न नित्य-विहारी श्रीकृष्णकी निकुजलीला देश और कालसे परे अखण्ड एक-रस होती है। निकुजलीलाका नाम निकुज रस या वृन्दावन रस है। यह लीला अत्यन्त गोप्य और रहस्यपूर्ण है। इस लीलामें प्रेमतत्त्वरूप श्रीकृष्ण अपने चार अगों—श्रीराधा, श्रीकृष्ण, श्रीवृन्दावन तथा सखियोंके साथ प्रकट होकर निरन्तर प्रेम-केलिमें मग्न रहते हैं। उस क्रीडामें वियोगका भ्रम भी नहीं पैदा हो सकता। स्व-परके भेदसे रहित नित्य मिलनका, अखण्ड आनन्दके रूपमें वृन्दावन-रस निष्पन्न होता है। राधावल्लभीय मतके अनुसार इस वृन्दावन-रसमें राधा-रति स्थायी भाव है, राधा आलम्बन तथा श्रीकृष्ण आश्रय हैं। इस प्रकार इसमें राधाकी प्रधानता है। परन्तु गौडीय वैष्णव मतमें निकुजलीलाकी भावाश्रय श्रीराधिका तथा आलम्बन श्रीकृष्ण माने गये हैं।

नित्य और अवतरित लीलाके अतिरिक्त लीलाका एक रूप अनुकरणात्मक भी है। इसमें भक्तगण श्रीकृष्णकी आनन्दलीलाका अभिनय करके अपने-अपने भावको दृढ करते हैं। अनुकरण-लीला श्रीकृष्णकी रासलीलाके रूपमें प्रस्तुत की जाती है। रासलीलामें केवल उसी रासका अभिनय नहीं होता जो श्रीकृष्णने 'भागवत'में वर्णित चीरहरण-लीलाके समय दिये गये वचनके अनुसार शरत्-पूर्णिमाकी रातमें गोपियोंके साथ किया था, वरन् श्रीकृष्णकी अन्य लीलाएँ—माखन-चोरी, गोवर्धन, कालियदमन, चीरहरण, सर्पदशन, पनघट, दान आदि भी अभिनीत होती हैं। रासमण्डलियाँ इन लीलाओंको प्रेमी भक्तोंके सम्मुख प्राय खुली रगशालामें प्रदर्शित करती हैं (दे०—'रासलीला')। —व्र० व०

लीला २—यौवन-कालमें स्त्रियोंके शरीरज, प्रयत्नज और स्वभावज वर्गोंमें विभक्त बीस अलकार माने गये हैं। दस स्वभावज अलकारोंमेंसे लीला भी एक अलकार है। नायिकाका अपने मधुर अगोंकी चेष्टाओं द्वारा प्रिय(नायक)के वाग्वेषचेष्टादिका शृगारिक अनुकरण करना लीला कहलाता है। आचार्यों ने लीलाके तीन भेद माने हैं—१ स्वगता—उपर्युक्त परिभाषा स्वगता लीलाकी ही है, २ सखीगता—जब नायिका सखीसे नायकके प्रेमालाप, वेशभूषा तथा चेष्टादिका अनुकरण करवाती है, ३ स्वप्रियता—जब नायिका नायकसे अपने रूप और चेष्टादिका अनुकरण करवाती है और स्वय भी नायकके वचन, वस्त्राभूषण, रूप और क्रियाओंका अनुकरण करती है।

लीला रासलीला, रामलीला और हनुमान्‌लीला जैसे लीलानाट्यरूपोंका भी अर्थ-ज्ञापन करती है। दे०—'स्वभावज अलकार', पहला। —वि० रा०

लीलावतार—परमात्मशक्तिके २४ अवतार, जिनका उद्देश्य ससारमें 'गीता'(अ० ४ ८)में वर्णित कार्य होता है, लीलावतार कहलाते हैं। (विस्तारके लिए दे०—'अवतार'।) —वि० मो० श०

लीलावती—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्'(१ · १७७)के अनुसार इसमें बिना गुरु-लघुके विचारके ३२ मात्रा प्रतिचरणमें होती है। यह छन्द पद्धरियाका दूना है। कई कवियोंने इसका नाम लीला दिया है, पर इस नामके दो भिन्न छन्द १२ तथा २४ मात्राके भिखारीदास (छन्दोर्णव पृ० २० ३१) और भानु(छ० प्र० पृ० ४४ ६०)ने माने हैं। प्रस्तुत छन्दका प्रयोग सूदन (सु० च०), सदानन्द (रा० म० सिं०) तथा रघुराज(रा० स्व०)ने किया है। उदा०—'ताको नित गैये सहजहिं लहिये चार पदारथ मन माये।' (छ० प्र० · पृ० ७३)।

लुप्तोपमा—दे०—'उपमा', चौथा प्रकार।

लुब्धापति—दे०—'प्रौढा', (नायिका)।

लेख—दे०—'निबध', 'आर्टिकिल'।

लेश—अप्रस्तुत प्रशसाके निकटका एक गौण अर्थालकार। सर्वप्रथम दण्डीने इस अलकारका उल्लेख करते हुए कहा—'लेशमेके विदुर्निन्दा स्तुतिं वा लेशत कृताम्।' (काव्या० २ · २६८), अर्थात् अशमात्रमें निन्दाको स्तुति एवं स्तुतिको निन्दा करना लेश अलंकार है। प्रतीत होता है कि इस परिभाषाके निन्दा एव स्तुति पदों द्वारा अन्य अलंकारोंसे भ्रम हो जानेकी सम्भावना निहित होनेके कारण रुद्रटने दोष एव गुण शब्दोंका प्रयोग किया (काव्या० ७ १००)। अप्पय दीक्षितके समयतक कदाचित् लेश एव अप्रस्तुत-प्रशसा और व्याज-स्तुतिमें भ्रम होने लगा होगा जिसकी व्याख्यामें लक्षणकारिकाके अतिरिक्त वृत्तिमें इन सबके भिन्न अर्थोंपर प्रकाश डाला गया है। हिन्दीके आचार्योंने प्राय इसका लक्षण इस रूपमें दिया है—'जहाँ दोष गुन होत है, जहाँ होत गुन दोष।' (ल०ल० : ३२४)। गुण तथा दोषके आधारपर इसके दो भेदोंका उल्लेख भी किया गया है। दासने दोनोंकी परिभाषा भी अलग दी है।

'कुवलयानन्द'का उदाहरण है—'यद्यपि सम्पूर्ण अन्य पक्षी स्वच्छन्दचारी रूपसे उड़ते हैं, पर हे शुक, तुम्हारी मधुर वाणीका फल यह हुआ कि तुम पंजरबद्ध हो।' (७२)। यह गुणसे दोषका उदाहरण है। और भी—'प्रतिबिम्बित तो बिम्बमें, भूतल भयो कलक। निज निर्मलता दोष यह मनमें मानि मयंक।' (ल० ल० ३२६)। दोषसे गुणका उदा०—'रहिमन विपदा हूँ भली, जो थोरे दिन होय। हित अनहित या जगतमें, जानि परतु सब कोय।' स्पष्टत जहाँ व्याजस्तुतिमें स्तुतिका गम्यार्थ निन्दा एव निन्दाकी स्तुति होती है वहाँ गुणविशेषकी अवगुणके रूपमें तथा दोषविशेषकी गुणके रूपमें अशमात्रमें कल्पना होनेसे लेश अलकार होता है। अब प्रश्न होता है कि लेशमें और अनुज्ञा एव तिरस्कारमें क्या भेद है? ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ अनुज्ञा तथा तिरस्कार व्यक्तिगत इच्छाकी प्रतीति कराते हैं वहाँ लेश उसकी कल्पनाकी। (दे०—'अनुज्ञा', 'तिरस्कार')। —ज० कि० व०

लोक—शब्दकोशोंमें लोक शब्दके कितने ही अर्थ मिलेंगे,

जिनमेंसे साधारणत दो अर्थ विशेष प्रचलित हैं। एक तो वह जिसमे इहलोक, परलोक अथवा त्रिलोकका ज्ञान होता है। वर्तमान प्रसगमें यह अर्थ अभिप्रेत नहीं। दूसरा अर्थ लोकका होता है जनसामान्य—इसीका हिन्दी रूप लोग है। इसी अर्थका वाचक 'लोक' शब्द साहित्यका विशेषण है। किन्तु इतनेमे लोकका वह अभिप्राय प्रकट नहीं हो पाता जो साहित्यके विशेषणके रूपमें वह प्रदान करता है।

वास्तवमें साहित्यको यह एक नया विशेषण मिला है। भाषाकी दृष्टिसे साहित्यका भेद हमें विदित है। हम हिन्दी साहित्य, बँगला साहित्य, अँग्रेजी साहित्य कहने और समझनेके अभ्यस्त हैं। वैसे ही स्थल-भेदसे भी साहित्य हमारे लिए अपरिचित नहीं, भारतीय साहित्य, यूरोपीय साहित्य आदि। भाषा और स्थलके भेद भौगोलिक हैं, किन्तु यह लोकसाहित्य किस प्रकारका साहित्य है? लोक विशेषण किस अन्य प्रकारके साहित्यकी सम्भावना मानता है? ये प्रश्न हैं। भारतीय साहित्यमें तो हमें परम्परासे 'लोक' और 'वेद'का कुछ विभेद विदित होता है। लोक-परिपाटी और वेद-परिपाटी जैसे दो पृथक् परिपाटियाँ हों। 'महाभारत'में लोक-वेद-विधिमें विरोधको बतानेवाले कई काव्य मिलते हैं—'वेदाच्च वैदिका· शब्दा सिद्धा लोकाच्च लौकिका।' 'भगवद्गीता'में—'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम'।' आदि'

लोक तथा वेदका पुराना अन्तर यह बताता था कि जो वेदमें स्पष्टत नहीं है, वह यदि लोकमें हो अथवा जो वेदमें है उसके अतिरिक्त लोकमें हो, वह लौकिक है। यहाँ साहित्यमें लोक अथवा लौकिक किसी अवहेलना अथवा उपेक्षाका भाव प्रकट नहीं करता। यद्यपि लोकसाहित्यका लोक वेदसे एक भिन्नताका भाव तो प्रकट करता है, फिर भी उस समस्त अर्थको प्रकट नहीं करता, जो ऊपर बताया गया है। यहाँ वैदिकसे भिन्न शेष समस्त बातें लौकिक कहलायेंगी। वाल्मीकिकी 'रामायण', कालिदासका 'शकुन्तला' नाटक, भारवि-माघ भवभूतिकी रचनाएँ सभी लौकिक कोटिकी होंगी। किन्तु लोकसाहित्यके अन्तर्गत इनका समावेश नहीं हो सकता।

वस्तुत हमें इनके लिए अन्यत्र देखना होगा, क्योंकि लोकसाहित्य शब्द अँग्रेजीका अनुवाद है। यह अँग्रेजीके जिस शब्दका अनुवाद है वह है 'फोक लिट्रेचर'। फोकका पर्याय लोक है और लिट्रेचरका साहित्य।

इस फोकके विषयमें 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'ने बताया है कि आदिम समाजमें तो उसके समस्त सदस्य ही लोक (फोक) होते हैं और विस्तृत अर्थमें तो इस शब्दसे सभ्य राष्ट्रकी समस्त जनसख्याको भी अभिहित किया जा सकता है, किन्तु सामान्य प्रयोगमें पाश्चात्य प्रणालीकी सभ्यताके लिए ऐसे सयुक्त शब्दोंमें, जैसे, लोकवार्ता (फोक लोर), लोकसगीत (फोक म्यूजिक) आदिमें इसका अर्थ सकुचित होकर केवल उन्हींका ज्ञान कराता है, जो नागरिक सस्कृति और सविधि शिक्षाके प्रवाहोंसे मुख्यत परे हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हें मामूली-सा अक्षरज्ञान है, ग्रामीण और गँवार।

हम अपनी दृष्टिसे यह कह सकते हैं कि 'लोक' मनुष्य-समाजका वह वर्ग है, जो आभिजात्य सस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्यकी चेतना और पाण्डित्यके अहकारसे शून्य है और जो एक परम्पराके प्रवाहमें जीवित रहता है। ऐसे लोककी अभिव्यक्तिमें जो तत्त्व मिलते हैं वे लोकतत्त्व कहलाते हैं। —स०

लोक-अपवाय—लोक-अपवाय अथवा लोअप्पवाय यह शब्द लोक अपवादसे व्युत्पन्न है। लोकापवादका हिन्दीमें आज अर्थ होता है 'लोक-निन्दा', किन्तु अपवादका अर्थ निन्दा ही नहीं होता। अपवादका एक अर्थ होता है नियमसे कोई विशिष्ट च्युति। लोकनियमोंका जहाँ उल्लघन होगा वहाँ लोकापवाद होगा। लोकापवाद अथवा लोक-अपवादका सीधा-सादा अर्थ है लोकमत। —स०

लोक-कथा—कथा शब्द सामान्यत कहानीका पर्यायवाची है, इस दृष्टिसे तो लोक-कथा और लोक-कहानीमें कोई अन्तर नहीं होगा, किन्तु ऐसा वस्तुत है नहीं। कथा शब्द प्रयोगमें एक विशेष प्रकारकी कहानीके लिए आता है। यह कहा जाता है कि 'रामायण'की कथा हो रही है या इसी प्रकार सत्यनारायणकी कथा, गणेश-चौथकी कथा आदि। इन प्रयोगोंसे प्रकट होता है कि कथा कोई ऐसी वार्ता है जो किसीके द्वारा कहकर सुनायी जाती है और उसे सुनानेका धार्मिक अभिप्राय होता है। उसे सुननेवालेको धार्मिक सन्तोष प्राप्त होता है, धर्मलाभ होता है, अन्य कोई मानता पूरी होती है या पूरी करनेके लिए वह सुनी जाती है। अत जो कहानी धार्मिक अभिप्रायसे अनुष्ठानके साथ सुनानेके लिए हो, वह कथा कही जायगी। जिसके साथ परम्परा जुड़ी हुई है और लोकमानसका तत्त्व जिसमें विशेष हो, वह लोक-कथा कही जायगी। ऐसी लोक कथाका बहुधा किसी-न-किसी रूपमे धर्मगाथा (दे०) या पुराण-कथासे सम्बन्ध होता है। एक पूजा-कहानी होती है, उसमें भी धार्मिक अभिप्राय रहता है, पर यह कहानी सामान्यत पूर्णरूपेण लोक-कहानी होती है, जिसमें देवी-देवता भी अपने अनोखे रूपमें आते हैं। ऐसे ही किसी-किसी कहानीमें कोई भी देवी-देवता नहीं होता। ये पूजा-कहानियाँ केवल स्त्रियोंमें चलती हैं और इनके अन्तर्गत करवा चौथ, अहोई आठें, भैया-दूज, अनन्त चौदस, स्याहू आदि अवसरोंपर कही-सुनी जानेवाली कहानियाँ आती हैं। लोक-कथाओंका विषय भी धार्मिक होता है, किसी-न-किसी रूपमें किसी देवी देवताके अवतारसे सम्बन्धित होता है।

लोक-कथाके इस पारिभाषिक प्रयोगके साथ एक मुहाविरेके रूपमें भी इसका प्रयोग होता है, वहाँ यह लोक-प्रवादका पर्यायवाची है। किसीके सम्बन्धमें जो चर्चा या चवैया लोकमें चलता रहता है वह भी लोक-कथा कहलाता है। —स०

लोक-कहानियाँ—लोकमें प्रचलित और परम्परासे चली आनेवाली, मूलत मौखिक रूपमें प्रचलित, कहानियाँ लोक-कहानियाँ कहलाती हैं। आज ऐसी कहानियाँ भी हैं जो लिखी जा चुकी हैं, पर इतनेसे ही वे लोक-कहानीका स्वरूप नहीं छोड़ देतीं। लिखी हुई लोक कहानियोंसे यह विदित हो जाता है कि वे मूलत मौखिक थीं। 'कथा-

सरित्सागर'में कहानियोंकी भूमिकासे ही सिद्ध होता है कि वे कहानियाँ सुनकर लिखी गयीं। उन कहानियोंके मूल प्रवक्ता शिव हैं। लोक-कहानियोंके सम्बन्धमें एक मत यह था कि ये मूलत धर्मगाथाएँ (दे०) ही है, समयके प्रभाव और मूल स्रोतसे दूर होकर इन्होंने धर्मगाथाओंके नाम-स्थान त्याग दिये है, यह मत आज मान्य नहीं है। कुछ कहानियाँ अवश्य ऐसी मिल सकती हें, जिनका मूल धर्मगाथामें हो, पर अधिकाश लोक-कहानियाँ ऐसी नहीं। कुछ समय पूर्व यह धारणा भी अत्यन्त बलवती थी कि विश्वभरकी लोक-कहानियोंका मूल एक स्थान है। वहींसे चलकर वे विश्वभरमें फैलीं। वेन्फीने यह सिद्ध किया कि वह मूल स्थान भारत है। उन्होंने भारतीय कहानियोंकी विश्वयात्राका क्रमवद्ध मार्ग भी निर्देशित किया। यह मत अशत आज भी मान्य है, पर सिद्धान्तत इसका खण्डन हो गया है। वस्तुत जबतक कहानियोंके अध्ययनका आधार कहानी-रूप 'टेल टाइप' रहा, यह विवाद चलता रहा। अब लोक-कहानियोंके अध्ययनका आधार रूढतन्तु अथवा अभिप्राय (मोटिफ) हो गया है। विश्वकी अधिकाश कहानियोंमें एकसे रूढतन्तु मिलते हैं। इन तन्तुओंका अध्ययन करनेमे विदित होता है कि वे सभी क्षेत्रोंमें स्वतन्त्र रूपसे निर्मित हो सकते हैं। लोक-कहानियोंके ये समस्त तुलनात्मक, ऐतिहासिक और रूढतन्तु-विषयक अध्ययन रोचक ही नहीं, महत्त्वपूर्ण भी हैं। इसमें शब्द-शास्त्रके लिए भी सामग्री है, और नृविज्ञानका तो यह एक आधार है। लोक-कहानीमें सांस्कृतिक सामग्री बहुत होती है और उसमें लोक-विश्वासों-का भी उल्लेख रहता है, पर ये कहानियाँ किसी भी प्रकार-की धार्मिक सन्तुष्टिसे सम्बन्ध नहीं रखतीं।

लोक कहानी शब्दका कभी कभी प्रयोग अँग्रेजी शब्द 'फोक टेल'के पर्यायवाचीके रूपमें भी होता है। अँग्रेजीमें यह शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है और इसमें अवदान, लोककथा, धर्मगाथा, पशु-पक्षियोंकी कहानियाँ, नीति-कथाएँ आदि लोकप्रचलित वार्ताएँ सम्मिलित की जा सकती हैं। —स०

लोकगाथा—यह अँग्रेजीके वैलेड शब्दका समानार्थी है। वैलेडके लिए हिन्दीमें ग्रामगीत, नृत्यगीत, आख्यानगीत, आख्यानक गीत, वीरगाथा, वीरगीत, वीरकाव्य आदि अनेक शब्दोंका प्रयोग विभिन्न लोगोंने किया है, पर इनमेंसे कोई भी शब्द वैलेड शब्दका पूर्ण और सही अर्थ नहीं व्यक्त करता। ग्रामगीत जिसे लोकगीत भी कहते हैं, कई प्रकार-का होता है और लोकगाथा उसका एक रूप है। लोकगाथामें कोई कथा अवश्य होती है। पर सभी लोक-गीतों या ग्रामगीतोंके लिए कथातत्त्व आवश्यक नहीं। आख्यानगीत या आख्यानक गीत भी वैलेडका सही अनुवाद नहीं है, क्योंकि इससे वैलेडके लोककाव्य होनेकी व्यजना नहीं होती। आख्यानक गीत साहित्यिक भी होते हे, पर उन्हें वास्तविक लोकगाथा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे लोकगाथाकी तरह मौखिक परम्परामें विकसित और लोक-प्रचलित या लोकोद्भूत नहीं होते। वीरगीतमे वीरता-व्यंजक गीतिकाव्यका बोध होता है, पर लोकगाथा गीति-काव्यके अन्तर्गत नहीं, आख्यानक काव्य या प्रबन्धकाव्यके अन्तर्गत आती है। वीरगाथा शब्द भी भ्रामक है, क्योंकि सभी लोकगाथाएँ वीरतापरक ही नहीं होतीं, उनमें कुछका वर्ण्य विषय प्रेम और शृगार और कुछका धर्म भी होता है। इसके अतिरिक्त वीरगाथा और वीरकाव्य शब्दोंसे उस लोक तत्त्वका बोध नहीं होता, जो लोकगाथाका अनिवार्य अग है। अत वैलेड शब्दका सबसे उपयुक्त हिन्दी रूपान्तर लोकगाथा ही है।

'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिया'के अनुसार इग्लैण्डमें वैलेड उस काव्यरूपका नाम है, जिसमें सीधे-सादे छन्दोंमें कोई सीधी, सरल कथा कही गयी हो। प्रसिद्ध अँग्रेज विद्वान् डब्ल्यू० पी० केरके मतके अनुसार वैलेड वह कथात्मक गेय काव्य है, जो या तो लोककण्ठमें ही उत्पन्न और विकसित होता है या लोकगाथाके सामान्य रूप-विधान-को लेकर किसी विशेष कवि द्वारा रचा जाता है, जिसमें गीतात्मकता (लिरिकल क्वालिटी) और कथात्मकता, दोनों होती हैं और जिसका प्रचार जन-साधारणमें मौखिक रूपमें एक पीढीसे दूसरी पीढीमें होता रहता है (फार्म एण्ड स्टाइल इन पोइट्री पृ० १)। जोजेफ टी० शिप्लेकी 'डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स'के अनुसार वैलेड शब्दका प्रयोग तीन अर्थोंमें होता है—१ साहित्यके क्षेत्रमें सीमित और विशिष्ट अर्थमें वैलेड मुख्यत एक लघु कथात्मक और प्रगीतात्मक काव्यका नाम है, २ सामान्य अर्थमें इस शब्दका प्रयोग किसी भी ऐसे लघु गीतके लिए होता है, जो हमारी भावात्मक सत्ताका स्पर्श करता है, ३ सगीतके क्षेत्रमें भी वैलेड शब्दका प्रयोग होता है, जो एकाकी वाद्य सहित या समवेत किसी भी प्रकारका होता है, अथवा जो नृत्यके साथ गाया जाता है। पियानों और वाद्यवृन्दपर गानेके लिए भी वैलेड लिखे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि पश्चिमी देशोंमें वैलेड शब्दका प्रयोग विविध अर्थोंमें होता है। किन्तु साहित्यशास्त्रियोंके बीच उसकी वह विशिष्ट और सीमित अर्थवाली परिभाषा ही मान्य है, जो डब्ल्यू० पी० केरने बतायी है। वह लोक-कण्ठमें निर्मित और विकसित होता है और उसमें छन्दोबद्ध कथा (गाथा) भी होती है, अत लोकगाथा ही उसका सबसे उपयुक्त और सार्थक नाम हो सकता है। लोकगाथा मानव-समाजका आदिम साहित्यिक रूप है। मानव जब कबीलोंमें रहता था तब उसकी सामाजिक मनोभावनाकी अभिव्यक्ति सामूहिक नृत्य-गीतके रूपमें होती थी। देवी देवताओं या पूर्वपुरुषों या टोटेमकी कल्पना उदित होनेपर उनसे सम्बन्धित आख्यान भी उन नृत्य-गीतोंके वर्ण्य विषय बन गये। ये ही आख्यानक नृत्य-गीत लोकगाथाके प्रारम्भिक रूप थे। सामूहिक नृत्य-गीतने बादमें समवेत नृत्य-गीत-(कोरल डास)का रूप धारण किया, जिसमें थोड़ेसे विशेषज्ञ व्यक्ति (स्त्री और पुरुष) नृत्य-गान करते और अन्य लोग देखकर आनन्द लेते थे। उसके बाद ज्यों-ज्यों समाजमें व्यक्ति-भावना विकसित होती गयी, सगीत, नृत्य और काव्य विच्छिन्न होते गये और उनके विशेषज्ञ भी समाजके और लोगोंसे विशिष्ट स्थान रखने लगे। समवेत नृत्य-गीतमें पहले सब साथ नाचते-गाते थे। बादमें कोई एक व्यक्ति अगुआ बनकर गाता या नाचता था और अन्य उसीका

अनुसरण करते थे। विशिष्ट प्रतिभा और स्मरणशक्तिवाले व्यक्ति नृत्य, सगीत और आख्यानमें अलग-अलग विशेषज्ञता प्राप्त करने लगे। इस तरह सामूहिक या समवेत नृत्य-गीतमे ही नृत्य सगीत और काव्य(गीत और गाथा)का अलग-अलग कलाओंके रूपमें विकास हुआ। इन्हीं गाथाविद् (गाथिन्) अगुओंने आगे चलकर कवि, चारण, सूत मागधादिका पेशागत या जातिगत विकास हुआ। प्राचीन लिखित साहित्य और आधुनिक युगमें सामान्य अशिक्षित जनता, विशेषकर आदिम जातियोंके मौखिक साहित्यमें उपर्युक्त कथन प्रमाणित होता है। ऋग्वेदके कुछ सवाद-सूक्तों और नाराशसी गाथाओंको प्राचीनतम लोकगाथा माना जा सकता है। पुराणों और महाभारतमें भी इस तरहकी लोकगाथाएँ शिष्ट साहित्यिक रूप धारण कर समाविष्ट हो गयी है।

लोकगाथाओंकी उत्पत्ति सर्वप्रथम तब हुई जब समाज अविभक्त और एक इकाईके रूपमें था। इस कारण लोकगाथाएँ प्रारम्भमें समूचे समाजकी सम्पत्ति थीं, सभी इन्हें गाते और अपनी ओरसे उनमें कुछ-न-कुछ जोडते-घटाते थे। इस तरह एक स्थानसे दूसरे स्थानमें और एक पीढीसे दूसरी पीढीमें कण्ठानुकण्ठ यात्रा करते रहनेके कारण उनका रूप नित्य परिवर्तनशील था। बादमें समाजके वर्ग विभक्त हो जानेपर उच्च वर्गोंके बीच कुछ विशेषज्ञों—कवि-चारण आदि—द्वारा साहित्यकी रचना होने लगी और साहित्य उनका वैयक्तिक कृतित्व माना जाने लगा, अब वह समूचे समाजकी सम्पत्ति नहीं रह गया। किन्तु सामान्य जनतामें, जो अभी भी एक इकाईके रूपमें थी और शिक्षा तथा शिष्ट सस्कारों द्वारा परम्परा-विरहित नहीं हुई थी, वे पुरानी लोकगाथाएँ कण्ठानुकण्ठ विकसित होती और नवीन गाथाएँ निर्मित होती रहीं। ऐसे समाजमें लिखने-पढनेकी प्रथा न होनेसे वे लोकगाथाएँ अलिखित रूपमें ही बनी रहीं। इसी कारण उनकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ नहीं मिलतीं।

लोकगाथाएँ गानेके लिए होती हैं। इनमेंसे कोई-कोई नृत्य या वाद्यके साथ गायी जाती है और जो नृत्य-वाद्यके साथ नहीं गायी जातीं उनका भी अपना-अपना अलग राग होता है। इन लोकगाथाओंके विशेषज्ञ ही इन्हें गाते हैं। पर इन गानेवालोंको भी गुरु या बाप-दादोंसे सीखी हुई गाथा ज्योंकी त्यों याद नहीं रहती, अत ये कथाके भीतर प्राय• नये प्रसग जोड देते हैं। इनमें आशु कविता करनेकी शक्ति होती है, वे गाथाकी भाषाको भी बदलते रहते हैं। इसी कारण किसी भी लोकगाथाका सर्वत्र एक जैसा पाठ नहीं मिलता।

लोकगाथाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें लोकसाहित्यके विशेषज्ञोंके मुख्यत तीन मत हैं—१ लोकनिर्मितिवाद, २ व्यक्तिनिर्मितिवाद और ३ विकासवाद।

१ लोकनिर्मितिवाद(कम्यूनल ऑथरशिप)के प्रवर्तक जैकब ग्रिम और विल्हेम ग्रिम तथा समर्थक स्टीनथाल टेनब्रिन्क आदिका कहना है कि भाषा, पौराणिक विश्वास, रीतिरिवाज और नीतिशास्त्रके समान लोकगाथाओंका किसी रहस्यमयी प्रक्रियासे विकास हुआ है, अर्थात् उनकी रचना पूरे समाज द्वारा हुई है, वे अपौरुषेय काव्य हैं। व्यक्तियों द्वारा उनकी रचना नहीं होती।

२ व्यक्तिनिर्मितिवाद (इनडिविडुअल ऑथरशिप) श्लेगेल, उहलैण्ड, टाल्बी, विशप परसी, रिस्टन, स्काट आदिका मत है। इनका कहना है कि प्रत्येक कविताके पीछे किसी-न-किसी कविका हाथ अवश्य रहता है। पूरे समाज द्वारा काव्य-रचना नहीं हो सकती, अलग-अलग व्यक्ति (कवि) ही काव्य निर्मित करते हैं। अत लोकगाथाओंकी रचना भी विशिष्ट कवि ही करते थे, समूचा समुदाय नहीं। रचना हो जानेके बाद अवश्य उनपर पूरे समाज या समुदायका अधिकार हो जाता था, रचनाकार अपना कार्य करके अलग हो जाता था। इन विद्वानोंमेंसे कुछका कहना है कि लोकगाथाका प्रारम्भ चारणों और गायकों द्वारा हुआ।

३ विकासवाद आधुनिक विद्वानोंने, जिनमें चाइल्ड, डब्ल्यू० पी० केर, गमियर और ऐण्ड्र लैण्ड प्रमुख हैं, प्रतिपादित किया है। इनका विचार है कि लोकगाथाओंकी रचना नहीं, उनका विकास हुआ है, अर्थात् अनेकानेक व्यक्तियोंके अलग-अलग प्रयत्नोंके फलस्वरूप वे विकसित हुई हैं। जैसे नदीके प्रवाहमें पत्थरके टुकडे घिस घिसाकर गोल और सुन्दर आकार धारण कर लेते हैं, उसी तरह लोकगाथाएँ जहाँ कहींसे, जिस किसीके द्वारा प्रारम्भ हुई हों, वे लोककण्ठमें युग-युगतक प्रवाहित होकर नित नवीन रूप धारण करती रहती हैं और तबतक विकसित होती रहती हैं, जबतक पढे-लिखे लोग उन्हें लिख या छापकर उनका रूप स्थिर नहीं कर देते।

लोकगाथाकी निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं, जिनका उल्लेख ए० बी० गमियरने अपनी पुस्तक 'ओल्ड इग्लिश बैलेड्स'की भूमिकामें किया है—

१ उसमें आत्मव्यजक तत्त्व(सब्जेक्टिव एलीमेण्ट)-का पूर्णत• अभाव होता है, अर्थात् वह अनिवार्यत वस्तु-व्यजक (आब्जेक्टिव) होता है। २ वह लोकका काव्य है। लोक द्वारा ही उसका निर्माण और विकास होता है। कण्ठानुकण्ठ प्रसार और प्रचार होनेके कारण उसका निश्चित पाठ नहीं होता और न उसकी लिखित प्रतियाँ ही होती हैं। ३ उसमें श्रमसाध्य कलात्मकता नहीं होती, किन्तु यथार्थ-चित्रणकी प्रवृत्ति अधिक होती है। उसमें आवश्यक भरतीकी सामग्री और वाग्जाल नहीं होता। ४ उसमें परम्परा-प्रेमकी भावना, सहजोच्छ्वास, भावात्मकता और सरल कल्पना(डाइरेक्ट विजन)की मात्रा जितनी अधिक होती है उतनी बौद्धिकता, कल्पनाशीलता और श्रमसाध्य कलात्मकताकी नहीं। ५ उसमें भाषा और विचारोंकी सरलता होती है और नैसर्गिता तो ऐसी होती है, जो केवल प्रारम्भिक मानव समाजमें ही मिलती है। ६ उसमें रूढ, अस्वाभाविक और श्रमसाध्य अलकारों और शब्दोंका अभाव होता है। उसमें प्रयुक्त अलकार और शब्द व्यावहारिक जीवनसे गृहीत होते हैं, परम्परागत साहित्यिक स्रोतोंसे नहीं। ७ उसमें कुछ विशेष अल्कारों, मुहावरों और विशेषणोंकी आवृत्ति बार-बार होती है। ८ उसका छन्द सीधा-सादा और सरल होता है और तुकोंपर विशेष ध्यान

नहीं दिया जाता। ९ उसमें गेयता होती है, परन्तु वह शास्त्रीय संगीतसे भिन्न, सरल होती है। १० उसमें कोई छोटी या बड़ी कथा अवश्य होती है।

लोकगाथाओंका प्रचार अधिकतर अपढ़ ग्रामीण लोगोंमें ही होता है। शिक्षाका प्रचार ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है लोकगाथाओंके प्रति पढ़े लिखे लोगोंकी रुचि कम होती जाती है। उस समय उनके संरक्षण अथवा समाजशास्त्रीय अध्ययनकी दृष्टिसे उनका संग्रह और प्रकाशन किया जाता है। छप जानेके बाद उनका रूप स्थिर हो जाता है। छपाईकी मशीनके आविष्कारके बाद लोक कवि पूर्वप्रचलित लोकगाथाओंके अनुकरणपर नयी-नयी गाथाएँ लिखकर छपाने और बाजारोंमें बेचने लगते हैं, पर ये कृत्रिम गाथाएँ हैं, वास्तविक लोकगाथा नहीं। अँग्रेजीमें इन्हें 'ब्रॉड साइड बैलेड' कहा जाता है।

हिन्दी भाषा-भाषी विभिन्न प्रदेशोंमें भिन्न-भिन्न लोकगाथाएँ पायी जाती हैं। कुछ लोकगाथाएँ ऐसी भी हैं, जो विभिन्न प्रदेशोंमें रूपभेदोंके साथ मिलती हैं, उनकी भाषा भिन्न हो गयी है, पर मूल कथा एक ही है। कुछ लोकगाथाएँ तो विकसित होकर गाथाचक्र और लोकमहाकाव्य-(फोक एपिक)का रूप धारण कर चुकी हैं। 'आल्हखण्ड' ऐसा ही महाकाव्य है। हिन्दीकी अन्य प्रमुख लोकगाथाएँ ये हैं—'लोरिकायन', 'सोरठी', 'विजयमल', 'भरथरी', 'गोपीचन्द' और 'कुँवर सिंह' (दे०–'नृत्यगीत', 'साहित्यिक लोकगाथा') —शं० ना० सिं०

लोकगीत–लोकगीत शब्दके ये अर्थ हो सकते हैं—१ लोकमें प्रचलित गीत, २ लोकनिर्मित गीत, ३ लोकविषयक गीत।

वस्तुत लोकविषयक गीत शब्दका अर्थ इस प्रसंगमें अभिप्रेत नहीं। लोकगीत लोकमें प्रचलित गीत ही होता है, पर इस प्रचलनके दो अर्थ ही हो सकते हैं, एक तो किसी समयविशेषमात्रमें प्रचलित। ऐसा होता है कि कभी-कभी कोई गीत कुछ समयके लिए लोकमें बहुत प्रचलित हो जाता है। यह प्रचलन अस्थायी होता है, कुछ समय उपरान्त वह समाप्त हो जाता है। ऐसे अत्यन्त अस्थायी गीत लोकगीतके अन्तर्गत नहीं आयेंगे। दूसरे अर्थमें ऐसा प्रचलन आता है, जिसकी एक परम्परा बनती है, जो कुछ पीढियोंतक चलती जाती है। किन्तु ऐसे गीतोंके भी दो प्रकार होते हैं। हमें आज भी तुलसी, सूर, कबीरके भजन परम्परासे पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आते मिलते हैं। ये गीत भी यथार्थत लोकगीतकी सीमामें नहीं आ सकते। लोकगीत तो वह प्रकार है, जिसको ऐसे किसी व्यक्तित्वसे सम्बन्धित नहीं किया जा सकता, जिसकी मेधा लोक-मानसकी स्वाभाविक मेधा नहीं। जब ऐसा है तभी यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि तो क्या लोकगीत लोक द्वारा निर्मित होते हैं?

अभाववादी व्यक्ति यह मानेंगे कि लोक कोई ऐसी सत्ता नहीं जो गीत बना सके। लोक तो मनुष्योंका ही समूह है, उसमेंसे कोई एक व्यक्ति ही गीत बना सकता है। इस कथनमें सत्य अवश्य है, पर लोकगीत वस्तुत वही हो सकता है, जिसमें रचयिताका निजी व्यक्तित्व नहीं होता। वह लोक मानससे तादात्म्य रखता है और ऐसी व्यक्तित्वहीन रचना करता है कि समस्त लोकका व्यक्तित्व ही उसमें उभरता है और लोक उसे अपनी चीज कहने लगता है। वह लोकका अपना गीत होता है, जो परम्परामें पड़ जाता है और परम्परा उसमें समय-समयपर अनुकूल परिवर्तन करती रहती है।

ऐसे लोकगीतोंमे एक ओर तो ऐसे गीत हो सकते हैं, जिनमें लोकवार्ता-तत्त्व समाविष्ट हो। ऐसे गीतोंमें भूविज्ञानविद्के लिए बहुत सामग्री रहती है। दूसरी ओर ऐसे भी गीत लोकगीत होते हैं, जिनमें लोक अपने मनोरंजनके उपकरण जुटाता है। इन दोनों प्रकारके गीतोंमें लोक-संस्कृतिके विविध चरण परिलक्षित होते हैं। एक ओर लोकगीत अपौरुषेय भी होते हैं, ऐसे गीत जिन्हें स्त्रियाँ भी गाती हैं। विविध अनुष्ठानोंके अवसरोंपर ये अपौरुषेय गीत गाये जाते हैं। दूसरी ओर केवल पुरुषोंके गानेके भी गीत होते हैं। ये प्राय लोकरंजक होते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर सामूहिक रूपमें भी गाते हैं। बच्चोंके गीतोंमें अद्भुत कल्पनाका छटाक्षेप होता है अथवा शिक्षा होती है। बालिकाओंके गीत भी अलग मिलते हैं। ये गीत उनके खेलोंसे सम्बन्धित रहते हैं। जैसे प्रत्येक अनुष्ठानके साथ कोई-न-कोई गीत रहता ही है, वैसे ही ऋतुओंके अनुकूल भी गीत होते हैं। गीतोंका सम्बन्ध मनुष्यके कामों और गतियोंसे भी रहता है। चक्की पीसते समय, पेर चलाते समय कोई-न-कोई गीत गाये जाते हैं। गीत छोटे भी होते हैं और बड़े भी, इतने बड़े हो सकते हैं कि कई दिन उनके गानेमें लगें। इन बड़े गीतोंमें प्राय कोई लम्बी कथा दी रहती है। ऐसे गीतोंके नाम उनके विषयके अनुरूप होते हैं और उनकी तर्जें भी बँध जाती हैं। 'ढोला' नामक गीत नलके पुत्र ढोलाके नामपर है और 'ढोला' गीतकी एक तर्जका भी नाम हो गया है, ऐसे ही 'आल्हा'। कुछ गीत किसी विशेष गायकवर्गसे सम्बन्धित होते हैं। यह वर्ग उन गीतोंको गा गाकर अपनी आजीविका चलाते हैं। भोपा 'भैरों'के गीत गा-गाकर भिक्षा एकत्र करते हैं। कुछ विशेष नामवाले लोकगीत भी हैं, जैसे, 'साके'। साकोंमें किसी वीरकी गाथा रहती है। 'पँवारा' भी ऐसा ही होता है।

लोकगीत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लोकाभिव्यक्ति हैं। विदेशोंमें लोकगीतोंका वैज्ञानिक अध्ययन बहुत आगे बढ़ गया है। भारतमें तो अभी संग्रहका काम भी पूरा वैज्ञानिक परिपाटीपर नहीं हो पाया है। उनकी लय, सुर, ताल, चरण, टेक, प्रकृति और प्रत्येकके इतिहास या विज्ञानका अध्ययन तो आगेकी बात है। लोकगीतोंको भी अभी साहित्यिक अनुसन्धानका विषय बनाया गया है, लोकवार्ता-विज्ञानकी दृष्टिसे इनका अनुसन्धान नहीं हो रहा है।—स०

लोक-जत्ता (लोक-यात्रा)–लोक-यात्राका अर्थ है लोककी यात्रा–(१) संसार-यात्रा, जीवन, (२) व्यवहार, (३) व्यापार। दण्डीने इस शब्दका प्रयोग अपने 'काव्यादर्श'-(१ ३)में यों किया है—'इह शिष्टानुशिष्टाना शिष्टानामपि सर्वथा। वाचमेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।' लोकयात्राका प्रधान अर्थ लोक-व्यवहार है। इस शब्दको लोक-साहित्यके क्षेत्रमें लेनेमे लोकका ऐसा समस्त व्यवहार

इसमें सिद्ध होगा, जो परम्परामें चला आ रहा है, जिसके लिए लोकप्रमाणके अतिरिक्त कोई दूसरा प्रमाण नहीं। व्यवहारके शब्दके माने इसमें आचारकी प्रधानता होगी, लोककी कलात्मक अभिव्यक्तिके अन्य रूप इसमें नहीं आयेंगे। —स०

लोक-ज्ञान—लोक सामान्यतः कितना ज्ञान रखता है, इसका अध्ययन ही लोक-ज्ञानके अन्तर्गत आता है। लोक-ज्ञानमें लोक-वस्तुनिकी मानसिक समृद्धिका पता लगाते हैं। —स०

लोकनृत्य—लोकनृत्य वस्तुतः प्राकृतिक नृत्य है। लोक-जीवनमें जहाँ भी भावुकताके क्षण आते हैं वहीं उसके अनुकूल किसी-न-किसी प्रकारके नृत्यका रूप प्रकट होने लगता है। इन नृत्योंमें कला तो स्वभावतः होती ही है, पर कलात्मक होनेका चैतन्य नहीं होता। अन- आदिम और जंगली जातियोंमें यह नृत्य जितना सशक्त होता है उतना अन्य जातियोंमें नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य क्षेत्रों अथवा जातियोंमें लोकनृत्य हो ही नहीं सकता। नहीं; सभ्यसे सभ्य जातियोंमें भी एक लोकमानसका अंश रहता है, अतः उसमें भी किन्हीं असावधान क्षणोंमें परम्पराके फलस्वरूप लोकनृत्य फूट पड़ते हैं। वे उतने सशक्त नहीं होते और कितने ही संशोधनोंसे युक्त हो जाते हैं। लोकनृत्योंका विषय जीवन-चक्र ही होता है। यौन संकेत, कृषि तथा सन्ततिवृद्धि, भूत-प्रेतनिवारण, जादू-टोना, ऋतु-आवाहन, विवाह, जन्म मृत्यु ये सभी किसी-न-किसी रूपमें संकेतमुद्राओं अथवा प्रतीक अभिप्रायोंसे नृत्योंके द्वारा प्रकट होते रहते हैं। साधारण लोकनृत्य सामूहिक होते हैं, पर व्यक्तिनिष्ठ भी हो सकते हैं। जीवन और प्रकृतिसे घनिष्ठतः सम्बन्धित होनेके कारण लोकनृत्यों-का रूप किसी वर्गके अपने व्यवसायके अनुकूल हो जाता है। कृषकोंका नृत्य, पशुपालकोंसे भिन्न हो जाता है और अहेरियोंका कुछ और ही होगा। लोकनृत्यका जन्म तीन वासनाओंकी प्रक्रियाओंसे हुआ है—आकर्षकको उपलब्ध करनेकी चेष्टासे, अनाकर्षकसे बचनेकी चेष्टासे तथा इन चेष्टाओंके लिए टोनेके रूपमें प्रत्येक नृत्यमें किसी-न-किसी प्रकारके टोना-संकेतसे। मेघ वर्षाके लिए नृत्य किये जाते हैं। अति वर्षा हो तो उसे रोकनेके लिए नृत्यविधान रहता है। देवी-देवताको प्रसन्न करनेके लिए नृत्य होते हैं। देवताका शरीरमें आवाहन करनेके लिए नृत्य होते हैं। फसल अच्छी हो इसलिए नृत्य होते हैं। ऐसे टोनेके नृत्यके साथ कोई-न-कोई टोटका या अनुष्ठान भी लगा रहता है। विवाहके अवसरपर भी आनुष्ठानिक नृत्य-का विधान रहता है। शास्त्रीय नृत्यका मूल लोकनृत्यमें रहता है। लोकनृत्यकी उद्दामताको अनुशासित करके और उसे ऐसे सिद्धान्तोंमें बाँधकर प्रस्तुत किया जाता है, जो उस आवेगको अभिप्रायकी दृष्टिसे सौन्दर्य-उपलब्धिके एक स्तरपर दृढ़ कर देते हैं। लोकनृत्य ऐसे किसी कृत्रिम सिद्धान्तकी सीमाएँ नहीं स्वीकार करता। —स०

लोक-परम्परा—लोगोंमें जो रीति-रिवाज परम्परासे चले आते हैं वे लोक-परम्परा कहलाते हैं। परम्परामें एक शृंखलाका भाव तो मिलता है, पर उसमें निहित समृद्धि अथवा सामग्री गौण हो जाती है। लोकवार्ता लोक-परम्परामें अपनी सामग्री ग्रहण करती है। लोक-परम्परा लोकवार्ताका सहायक तत्त्व है। —स०

लोक-प्रतिमा—प्रतिमा मानसिक और बौद्धिक विधायक तत्त्वको कहते हैं। लोकवार्तामें लोक प्रतिमा प्रकट होती है, उससे हम जान सकते हैं कि लोकने सामान्यतः सहज ही कितनी मेधा उपलब्ध कर ली है। लोक-प्रतिमा लोकवार्तासे निष्कर्षरूपमें जानी जा सकती है। न तो समस्त लोकवार्ता ही लोक-प्रतिमा है, न लोक-प्रतिमा लोकवार्ता है। —स०

लोक-प्रवाह—लोक-प्रवाह लोक-परम्पराके अर्थके निकट होते हुए भी प्रवाहके कारण केवल उन शक्तियोंसे युक्त गतियोंका अर्थ दे सकता है जो लोकको आन्दोलित किये रहती हैं। लोक-वार्ता एक छोटेसे मरणासन्न प्राचीन वर्गकी भी हो सकती है, पर प्रवाह केवल सशक्त पर-म्पराको ही महत्त्व देगा, और प्रवाह भावुकतासे भी युक्त होगा। लोकवार्ता तो लोकके अन्तरालमें जमकर बैठी हुई परम्परासे सम्बन्धित होती है। —स०

लोक मानस—लोक साहित्यके निर्माणके पीछे एक सामू-हिक लोक-मानसकी कल्पना अनेक विद्वानोंने की है। उनकी विचारधाराओंके अनुसार लोकगीतों तथा लोक-कथाओं आदिकी रचना समस्त लोक एक साथ करता है, उनके निर्माणमें लोक-प्रतिमाके सच्चे रूपका दर्शन होता है। प्रसिद्ध डेनिश भाषावैज्ञानिक जैसपर्सनने उक्त मतका खण्डन किया है। उसके अनुसार किसी भी प्रकारके लोक-साहित्यकी रचना अन्ततः कोई एक व्यक्ति करता है, बादमें परिवर्तन-परिवर्धन भले ही पूरा समाज करता रहे। इस दृष्टिसे लोक-साहित्य भी शिष्ट साहित्यकी भाँति मूल रूपसे अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा रचित होता है। मौखिक परम्परासे चलनेके कारण फिर लोक उसमें अनेक प्रकारके प्रक्षेपण कर लेता है। —रा० स्व० च०

लोक-वाङ्मय—कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि लोक-वार्ताके अन्तर्गत लोककी वही अभिव्यक्ति आनी चाहिये जो वाणीके द्वारा प्रकट होती है। ऐसी समस्त अभिव्यक्ति-को लोक-वाङ्मय कहा जाना चाहिये। लोक-वाङ्मय शब्द बहुत विस्तृत अर्थवाला है। लोककी व्यावसायिक और व्यापारिक ऐसी अभिव्यक्ति भी इसके अन्तर्गत आ सकती है, जो नैमित्तिक हो और परम्परा न रखती हो। —स०

लोकवार्ता—लोकवार्ता अँग्रेजी 'फोकलोर'का पर्यायवाची है और उसी शब्दकी भाँति लोक-'फोक' और वार्ता-'लोर'के संयोगसे बना है। लोकवार्ता एक विशेष अर्थका वाचक शब्द है। सन् १८४६ ई० में इस शब्दके अँग्रेजी पर्याय 'फोकलोर का प्रयोग इस विशेष अर्थमें डब्ल्यू० जे० थामसने किया था। उस समयसे लोकवार्ताके अन्तर्गत वह समस्त आचार-विचारकी सम्पत्ति आ जाती है, जिसमें मानवका परम्परित रूप प्रत्यक्ष हो उठता है। थामस महोदयने यह शब्द सभ्य जातियोंमें मिलनेवाले असंस्कृत समुदायकी प्रथाओं, रीति-रिवाजों तथा मूढाग्रहोंको अभिव्यक्त करनेके लिए गढ़ा था। कुछ समय उपरान्त ही लोकवार्ताका संग्रह-संकलन और अध्ययन होने लगा। इसीके परिणामस्वरूप

लोकवार्ताको विज्ञानका रूप देनेके प्रयत्न किये गये। इसके उपरान्त धीरे-धीरे लोकवार्ताको वैज्ञानिक महत्त्व मिलने लगा।

लोकवार्ताका प्रमुख तत्त्व है परम्परा। जो बातें परम्परासे प्राप्त हुई हैं, वे लोकवार्ता हैं, पर तभी जब उनमें मानसकी अभिव्यक्ति हो। परम्परा तो मनीषी अभिव्यक्तियोंकी भी हो सकती है। परम्पराका अर्थ अलिखित अथवा मौखिक परम्पराको माना जाय, तब भी ऐसी समस्त परम्परा लोकवार्ता नहीं मानी जा सकती। परम्पराके साथ दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व लोक मानस (दे०) ठहरता है। यह लोक-मानस समाज और उसके व्यक्तियोंको उत्तराधिकारमें प्राप्त होता है तथा इसका कुछ-न-कुछ अंश प्रत्येक व्यक्तिके पास होता है। यही कारण है कि लोकवार्ता किसी-न-किसी रूपमें अवश्य विद्यमान रहती है।

कभी यह समझा जाता था कि लोकवार्ता आदिम अभिव्यक्तियोंके परम्पराप्राप्त आधुनिक रूपोंका ज्ञान कराती है, किन्तु आज यह स्पष्ट हो गया है कि वर्तमान समाजमें मिलनेवाले आदिम तत्त्वोंका विवेचन नृविज्ञानका विषय है, लोकवार्ताका नहीं। लोक-मानसमें केवल आदिम मानस ही नहीं होता। आदिम मानसको युग-प्रवाहोंने अप्रत्यक्षत जिस रूपमें संस्कृत किया है, वह समग्र लोक-मानस है, और लोकवार्तारूपी उसकी अभिव्यक्तिमें आदिम तत्त्वका कुछ न-कुछ अंश किसी-न-किसी रूपमें रहता अवश्य है। उस आदिम मूलके चारों ओर समय उसके अनुकूल अन्य पर्त लगाता जाता है। इसलिए केवल आदिम कही जानेवाली जातियोंकी परम्पराओंको ही लोकवार्ता नहीं कहा जायगा, उस जैसी मनोवृत्तिके परिणामसे उत्पन्न सभ्यसे सभ्य समाजकी परम्परा और अभिव्यक्ति भी इसके अन्तर्गत होगी।

परम्पराकी चीज होते हुए भी यह कहना ठीक नहीं होगा कि लोकवार्ता सदा मौखिक या अलिखित ही होती है। 'कथासरित्सागर' लिखित ग्रन्थ है, जिसमें लोकवार्ताका भण्डार है। पर यह अवश्य है कि आरम्भमें लोकवार्ता मौखिक और अलिखित होती है और इसी रूपमें जन्म लेती है। वह लिखे जानेके लिए जन्म नहीं लेती बल्कि मानवकी सहजात अभिव्यक्तिके रूपमें प्रकट होती है। प्रकट भले ही किसी व्यक्तिविशेषके माध्यमसे हुई हो, प्रकट होते ही प्रत्येक लोकवार्ता लोकग्राह्य और लोकानुप्राणित होकर वह रूप प्राप्त कर लेती है, जिसे किसी एककी कृति नहीं, वरन् लोकमात्रकी चीज कहा जाता है।

यह कहना भी ठीक नहीं कि लोकवार्ता केवल मौखिक अभिव्यक्ति है। लोकवार्तामें जहाँ लोकगीत, लोक-कहानियाँ, लोक-विनोद, कहावतें, पहेलियाँ आदि आती हैं, वहीं लोक-विश्वास, मूढ़ग्राह, टोने-टोटके, रीति-रिवाज, परम्परागत लोक-नृत्य, लोक-चित्र भी आते हैं। लोकवार्तामें इनके स्वरूपकी प्रधानता रहती है, ऐतिहासिक अथवा मानसिक दृष्टिसे इस सामग्रीका मूल्यांकन अन्य क्षेत्रों और विज्ञानका विषय हो जाता है।

अत लोकवार्ताके मौखिक पक्षको प्रधानता देना उसके क्षेत्रको संकुचित करना है। इसलिए जहाँ लाक्षणिक भाषा-तत्त्व, संगीत, नृत्य, थापे तथा चित्रका अध्ययन स्वय एक अलग-अलग विद्याका विषय माना जा सकता है, वहाँ इनमें मिलनेवाले परम्परागत लोक-मानसका स्वरूप लोकवार्ताके अन्तर्गत आयेगा। यों कहना अधिक ठीक होगा कि ये सब अभिव्यक्तियाँ हैं तो लोकवार्ताके क्षेत्रकी चीजें, पर इन्हें अन्य विज्ञानोंके उपयोगकी सामग्री भी बनाया जा सकता है और बनाया गया है।

मोटे तौरपर लोकवार्ताके तीन सम्प्रदाय आज विद्यमान हैं—पहला, भारतिक सम्प्रदाय। इस सम्प्रदायके विद्वान् भाषातत्त्वविद् तथा मानविक हैं। ये संस्कृतके पण्डित रहे हैं और भारतसे सीधा सम्पर्क स्थापित कर इन्होंने भारतकी लोकवार्ताकी मौलिक परम्पराओंको जानकर संस्कृतके ज्ञान और भाषातत्त्वके सूत्रसे लोकवार्ताके अध्ययनकी महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्र की है और उसका मार्ग प्रशस्त किया है। लोकवार्ताके विविध अभिप्राय अथवा रूढ़तन्तु कब-कब और कहाँतक विद्यमान मिलते हैं और उनके तथा विविध तन्तुओं और मुहावरोंके अर्थोंमें क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं, यह इस सम्प्रदायने बतानेकी चेष्टा की है। स्पष्ट है कि बिना इसके लोकवार्ताको ठीक ठीक हृदयगत नहीं किया जा सकता।

दूसरा, मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय है। जैसा नामसे ही स्पष्ट है, इसका सम्बन्ध समाजशास्त्रीयतासे है। भाषा तत्त्वका सहारा यह भी लेता है, पर जहाँ भारतिक सम्प्रदाय लिखित भाषाके लोकवार्ता-तत्त्वको प्रधानता देता है, वहाँ यह सम्प्रदाय मौखिक तत्त्वको प्रधानता देता है। अत इस सम्प्रदायके अध्ययनका विषय वर्तमान भाषावर्गोंसे सम्बन्धित लोकवार्ता हो गयी है। फलत इसने नये-नये भाषावर्गोंके क्षेत्रोंका अनुसन्धान करके लोकवार्ताविषयक मौलिक तत्त्वोंका उद्घाटन करनेका प्रयत्न किया है।

तीसरा, मानविक सम्प्रदाय है। यह लोक-कथाओंके संग्रह और विविध कथाओंके अधिकाधिक संस्करणोंको प्राप्त करने तथा उनका वर्गीकरण कर लोकवार्ताके तुलनात्मक अध्ययनको महत्त्व देता है। यह लिखित अथवा मनीषी साहित्यकी भाँति अलिखित लोकवार्ताकी स्वतन्त्र स्थिति और विकासको मान्यता देता है। —स०

लोक-विद्या—लोक-विद्या लोकोपयोगी विद्या नहीं, पर वह विद्या है जो लोकके विविध व्यवसाय-व्यापारों और तद्विषयक अनुष्ठानोंकी परम्परासे सम्बन्धित हो। कृषिविज्ञान लोकोपयोगी विद्या है, पर कृषिकर्ममें प्रवृत्त होनेपर लोक किस प्रकारके आनुष्ठानिक व्यापार करता है और उसके कृषिकर्मका स्वरूप क्या है, यह लोक-विद्याके क्षेत्रके अन्तर्गत आता है। लोक-विद्याके अन्तर्गत टोने-टोटकोंसे चिकित्सा करना तथा बँधी परम्पराओंसे कार्य करनेकी शैलियाँ भी आयेंगी। लोक-विद्या भी लोकवार्ताका एक अंग हो सकती है। —स०

लोक-साहित्य—लोक-साहित्य शब्द 'लोक' और 'साहित्य', इन दो शब्दोंसे बना है। इसका वास्तविक अर्थ है लोकका साहित्य, लोक यहाँ अँग्रेजीके फोक (folk) शब्दका पर्यायवाची है। लोक-साहित्य भी अँग्रेजीके फोक-लिट्रेचरका अनुवाद है। फोकके पर्यायसे लोक-साहित्यके

कई अर्थ हो सकते हैं—१ उस लोकका साहित्य जो सभ्यता की सीमाओंसे बाहर है, सभ्य समाजमें जिनकी गिनती नहीं उनका साहित्य, २ जंगली जातियोंका साहित्य। फोक शब्दके अन्तर्गत वे ही लोग आ सकते हैं, जो आदिम परम्पराको सुरक्षित रखे हुए हैं, क्योंकि लोक-साहित्य-(फोक लिट्रेचर)का सम्बन्ध फोक-लोर लिट्रेचर अथवा लोकवार्ता-साहित्यसे है, ३ लोकसाहित्य ग्रामीण साहित्य है, ४ लोक-साहित्य वह युग-युगीन साहित्य है, जो मौखिक परम्परासे प्राप्त होता है, जिसके रचयिताका पता नहीं, जिसे समस्त लोक अपनी कृति मानता है; ५ लोक-साहित्य वह साहित्य है, जो लोक-मनोरंजनके लिए लिखा गया हो—उस लोकके लिए जो विशेष पढ़ा-लिखा नहीं।

वास्तवमें लोक-साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्तिने गढ़ी हो, पर आज जिसे सामान्य लोक-समूह अपना ही मानता है और जिसमें लोककी युग-युगीन वाणी-साधना समाहित रहती है, जिसमें लोक-मानस प्रतिबिम्बित रहता है। इसी कारण जिसके किसी भी शब्दमें रचनाचैतन्य नहीं मिलता, जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक स्वर, प्रत्येक लय और प्रत्येक लहजा सहज ही लोकका अपना है और उसके लिए अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है।

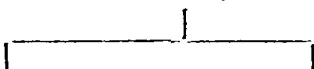
इस लोक-साहित्यके पर्यायके रूपमें कभी 'ग्राम-साहित्य' शब्दका भी प्रयोग किया गया है। किन्तु ग्राम-साहित्य और लोक-साहित्यमें अन्तर है। ग्राम साहित्य केवल ग्रामोंका साहित्य ही होगा, लोक-साहित्य नगर और शहरमें भी मिलता है। ग्राम-साहित्यके अन्दर वह साहित्य भी आ सकेगा, जिसे कोई ग्राम-निवासी ग्राम-रुचिके अनुसार आज भी रचता हो। ग्रामपर लिखा हुआ साहित्य भी ग्राम-साहित्य ही कहा जायगा। वस्तुत बहुत-सा ऐसा ग्राम-साहित्य हो सकता है, जो लोक-साहित्य न हो और बहुत-सा ऐसा लोक-साहित्य हो सकता है, जो ग्राम-साहित्य नहीं।

लोक-साहित्य जन-साहित्यसे एकदम भिन्न है। जन-साहित्य जन-साधारणका साहित्य है। जन लोककी अपेक्षा अधिक सुगठित और निजी सत्ताके प्रति चैतन्य समूह है और बहुधा राजनीतिक पृष्ठभूमिके साथ होता है, जन-साहित्य जन-कल्याणके भावसे भी प्रस्तुत किया जा सकता है, जनको किसी प्रकारकी शिक्षा देनेवाला भी हो सकता है, जनके अधिकारों और कर्तव्योंको भी अभिव्यक्त कर सकता है। यह लोक-साहित्यकी भाँति सहज, स्वाभाविक और कर्तव्यभावसे रहित नहीं हो सकता।

इसी प्रकार जनपदीय साहित्य भी केवल क्षेत्रीय विशेषताका द्योतक रह जाता है। वह लोक-साहित्यसे अभिहित व्यापक सामान्यताका बोध नहीं कराता।

लोक-साहित्यका क्षेत्र काफी विस्तृत है। इसके दो भेद तो प्रमुख किये जा सकते हैं।

लोक-साहित्य

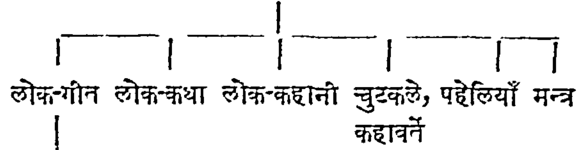


१ लोकवार्ता-साहित्य २ वाणी-विलास, इतर लोक-साहित्य।

लोकवार्ता-साहित्य वह साहित्य है, जिसमें किसी समुदायकी लोकवार्ता अभिव्यक्त हुई है अथवा जो स्वय लोकवार्ताका एक आनुष्ठानिक अंग हो। इस क्षेत्रसे बाहरका समस्त लोक साहित्य इतर लोक साहित्य है।

यह समस्त लोक-साहित्य सामान्यत निम्नलिखित भेदोंमें विभक्त किया जा सकता है—

लोक-साहित्य



१ बड़े गीत, २ स्वाँग गीत, भगत या नौटंकी गीत, ३ आनुष्ठानिक गीत, पूजा, जागरण, व्रत, त्योहार, संस्कार आदि, ४ अन्य

लोक-साहित्यके अन्य दृष्टियोंसे भी कई भेद किये जाते हैं। एक भेद है पुरुष-गीत और पुरुष-साहित्य, जो केवल पुरुषवर्ग द्वारा ही गाया-कहा जाता है। इसीको पौरुषेय वाङ्मय भी कहा गया है। स्त्रीवर्गका साहित्य अपौरुषेय वाङ्मय है, जो केवल स्त्रियों द्वारा ही प्रयोगमें आता है। बालक-बालिकाओंका लोक साहित्य एक अलग वर्गमें आयेगा। —स०

लोकोक्ति १—एक गौण अर्थालंकार। सम्भवत सर्वप्रथम 'कुवलयानन्द'में अप्पय दीक्षितने इसकी परिभाषा निम्नलिखित प्रकारसे की है—'लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।' (९०), अर्थात् लोकविख्यात किसी कहावतके अनुकरणसे लोकोक्ति अलंकार होता है। अनुकरण करनेका यहाँ अर्थ यह है कि उस कहावतका किसी भी पादमें उल्लेख करनेसे यह अलंकार होता है। जैसे—'सहस्व कतिचिन्मासान्मीलयित्वा विलोचने।' (वही), अर्थात् आँखें मीचकर कुछ दिन मेरे साथ रहो, विरह न होनेके लिए प्रार्थनामें 'विलोचने मीलयित्वा' लोकवादका अनुकरण है। हिन्दीमें इन्हीके आधारपर आचार्योंने इस अलंकारको स्वीकार किया है—'जहँ कहनावति अनुकरन लोक उक्ति।' (ल० ल० ३६६) अथवा—'जहँ लोककी कहनावति ठहराव।' (पद्मा० २५७)। उदा०—'मैं तून सो गन्यो तीनहु लोकनि, तू तृन ओट पहार छपावे।' (ल० ल० ३६७)। इसमें लोकोक्तिका प्रयोग है। भोजने छेकोक्ति और इस अलंकारको शब्दालंकार 'छाया'के अन्तर्गत माना है (के० राघवन् शृंगारप्रकाश पृ० ३८५)। —ज० कि० व०

लोकोक्ति २—मौखिक लोक-साहित्यमें लोकोक्ति-साहित्यका बहुत महत्त्व है। लोकोक्ति अन्य लोक साहित्यसे स्वभाव और प्रयोगमें भिन्न होती है। लोकोक्तिमें गागरमें सागर भरनेकी प्रवृत्ति काम करती है। इसमें जीवनके सत्य बड़ी खूबीसे प्रकट होते हैं। यह ग्रामीण जनताका नीतिशास्त्र है। लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञानके घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभवकी किरणें फूटनेवाली ज्योति प्राप्त होती है। लोकोक्तियाँ प्रकृतिके स्फुलिंग (रेडियो ऐक्टिव) तत्त्वोंको

भाँति अपनी प्रखर किरणें चारों ओर फैलाती रहती हैं। लोकोक्ति-साहित्य संसारके नीति साहित्य(विजडम-लिट्रेचर)का प्रमुख अंग है। सासारिक व्यवहारपट्ता और सामान्य बुद्धिका जैसा निदर्शन कहावतोंमें मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। लोकोक्तिके विषयमें इस चर्चासे प्रकट होगा कि कहाँतक लोकोक्तिका सकुचित अर्थ लिया गया है। लोकोक्ति केवल कहावत ही नहीं है, प्रत्येक प्रकारकी उक्ति लोकोक्ति है। इस विस्तृत अर्थको दृष्टिमें रखकर लोकोक्तिके दो प्रकार माने जा सकते हैं, एक पहेली, दूसरा कहावतें। पहेली भी लोकोक्ति है। लोक-मानस इसके द्वारा अर्थ-गोरवकी रक्षा करता है और मनोरजन प्राप्त करता है। यह बुद्धि परीक्षाका भी साधन है। यद्यपि पहेलियाँ स्वभावसे कहावतोंकी प्रवृत्तिसे विपरीत प्रणालीपर रची जाती हैं, क्योंकि पहेलियोंमें एक वस्तुके लिए बहुतसे शब्द प्रयोगमें आते हैं, भावसे इनका सम्बन्ध नहीं होता, प्रकटको गोप्य करनेकी चेष्टा रहती है, बुद्धि-कौशलपर निर्भर करती है, जब कि कहावतमें सूत्र-प्रणाली होती है, भावकी मार्मिकता घनीभूत रहती है, लघु प्रयत्नसे विस्तृत अर्थ व्यक्त करनेकी प्रवृत्ति रहती है। फिर भी पहेलियाँ उतनी ही उक्तियाँ हैं, जितनी कहावतें। कहीं-कहीं इन उक्तियोंके भी कुछ और रूप मिलते हैं। वे हैं अनमिल्ला, भेरि, अचका, औठपाव, खुसी, गहगड्डु, ओलना तथा ऐसे ही अन्य। ये पद्यात्मक होते हैं और निरर्थक और सार्थक, दो भागोंमें बाँटे जा सकते हैं। निरर्थक इनमेंसे अनमिल्ला होता है। वस्तुत अनमिल्लामें अर्थ अभिधार्थ तो होता है, पर वह अर्थ किसी प्रकार भी सन्तोष नहीं देता। अत वह अर्थ जो शब्दके पृथक्-पृथक् अर्थसे भिन्न सम्पूर्ण वाक्यसे मिलता है, जिससे वाक्य सार्थक होता है, अर्थ नहीं होता, किन्तु प्रभावार्थ अवश्य होता है। वह प्रभावार्थ वैलक्षण्य और अनमिल सम्बन्धसे प्रकट किया जाता है। शेष प्रकार सार्थक हैं। इन्हें हम कहावतके अन्तर्गत रखते हैं। —स०

लोरिक—लोरिक वस्तुत उस प्रेमकथाका नायक है, जो 'लोरिक और चन्दा'के नामसे उत्तरप्रदेश तथा छत्तीसगढ़ (म० प्र०) क्षेत्रमें प्रचलित है। कहीं-कहीं यह गीतकथा 'चन्दायिनी' कहलाती है। 'अर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट'-(पृ० ७९, खण्ड ८)के अन्तर्गत गयामें लिपिबद्ध की गयी सामग्रीके अनुसार लोरिक आभीर या रावत जातिका व्यक्ति था। उसी जातिकी 'चन्दा' अथवा 'चन्दायिनी' थी। लोरिकको छत्तीसगढ-क्षेत्रमें 'लोरी' भी कहा गया है। कहानीकी मोटी रूपरेखा इस प्रकार है—

चन्दा वीर बावनकी पत्नी थी। एक बार जब वह पतिके घरसे निकलकर अपने नैहर जा रही थी कि मार्गमें वीर भट्ठआ नामक चमारने उसका सतीत्व हरण करना चाहा। लोरिक इस अवसरपर वीर भट्ठआको हरा देता है। ब्याहता चन्दा लोरिकके शौर्यसे प्रभावित हो उसके प्रति प्रेम करने लगती है। अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। एक दिन अपने प्रयासमें चन्दा सफल होती है। कहानीके इस स्वरूपमें स्थानानुसार थोड़ा-बहुत अन्तर लक्षित किया गया है। लोरिकका चरित्र कहीं-कहीं उत्कृष्टरूपेण उभरा है, तो कहीं चन्दाका पति बीर बावन अधिक प्रभावी सिद्ध हुआ है। कुछ स्थानोंमें लोरिककी पूर्वपत्नी मजरिया भी गीतका एक पात्र बनी है। शाहाबादमें लिपिबद्ध किये गये कथाओंमें चन्दायिनीका पति वीर बावन न होकर 'सेवधर' है। कहते हैं, पार्वतीके अभिशाप-वश वह अपनी पत्नीसे वंचित हुआ। जब वह लोरी अथवा लोरिकसे युद्ध करने जाता है, तो पराजित होता है। लोरिकके साथ भागी हुई चन्दा अथवा चन्दायिनीको मार्गमें बाधाएँ प्राप्त होती हैं। महापतिया नामक चोर और जुआरीसे लोरिक हार जाता है, पर चन्दाकी चतुराईसे विजित होकर आगे बढ़ता है। ढोला-मारूणीकी राजस्थानी गीतकथाका प्रभाव भी 'लोरिक'-पर पड़ा है। शाहाबादके कथानुसार लोरिकका विवाह बचपनमें 'सतमनाइन'से हो गया था। चन्दाइनको लेकर जब वह आगे बढा तो हरदुईके राजासे युद्ध ठन गया। कलिंगका राजा हरदुई पहुँचा। लोरिक पकड़ा गया, पर दुर्गाके वरदानसे मुक्त हुआ। इस बीच सतमनाइन बड़ी हो गयी थी। प्रचलित लोककथा-परम्पराके ढगपर उसके सतीत्वकी परीक्षा करनेपर लोरिकने उसे अपना लिया। क्रूकने मीरजापुरमें लोरिककी एक कथाको लिपिबद्ध किया है। उसमें कहीं भी चन्दाइनका उल्लेख नहीं है। 'मजनी' नामक लोरिककी पत्नी ही प्रेमिकाके रूपमें आती है। कथा-स्वरूप यों है—सोन नदीके तीरपर आगोरीके किलेमें एक राजा राज्य करता था। उसके यहाँ चरवाहेकी लड़की 'मजनी' लोरिक नामक चरवाहेसे प्रेम करती थी। एक दिन दोनों वहाँसे भाग गये। राजाने अपने जगली हाथी-पर बैठकर पीछा किया। भयानक युद्ध हुआ और वीर लोरिक अन्तमें विजयी होकर 'मजनी'के साथ चैनसे रहने लगा। वेरियर एलविनने बिलासपुरमें इस कथाका एक सुघड़ रूप उपलब्ध किया है। अत कथाके भिन्न-भिन्न अश प्रान्तीय वैशिष्ट्यसे प्रभावित होकर भी एकरूप नहीं हैं। —श्या० प०

लोरी—शिशुओंको सुलानेके लिए गायी जानेवाली लयें लोरी कही जाती हैं। विश्वभरमें बच्चोंको सुलानेके लिए किसी-न-किसी प्रकारकी लयकी गुनगुनाहट माताएँ करती हैं। ऐसा करते हुए या तो बच्चेको पालनेमें हलके-हलके झुलाया जता है या गोदमें लेकर हलके-हलके हिलाया जाता है। पलँगपर लेटकर सुलाया जा रहा हो, तो 'दो दो' कहते हुए ही थपथपाया जाता है। यह सभी गुनगुनाहटें लोरी नहीं कही जा सकतीं। लोरियाँ लोकगीतोंका ही एक अग हैं और उनमें जबतक शब्द नहीं भरे जाते तबतक केवल लय या ध्वनि लोरी नहीं कही जा सकती। विश्व-लोकवार्तासे विदित होता है कि बहुधा विश्वमें विभिन्न स्थानोंपर कुछ शब्दविशेष बोले जाते हैं, जैसे,'लू-लू-लल्लय, लुल्लय, 'निन्न-नन्न','बो-व बो','दो-दो'। सुलाते समय अथवा थपथपाते समय ऐसे शब्दोंकी सगीतमय आवृत्ति भी लोरी नहीं कही जा सकती। लोरीमें कोई-न कोई अर्थ रहता है। भारतमें बहुधा नींदको बुलाया जाता है—'आ जा री नींदिया, मेरे लालाके नैनोंमें घुल-मिल जा।' नींदको प्रलोभन दिये जाते हैं, कहीं-कहीं लोरीमें देवी देवताओंसे मनौती की

जाती है कि वे बच्चेकी रातमें रक्षा करें। निंदासमरे वातावरणका कोमल वर्णन रहता है। कहीं-कहीं बच्चेके अच्छे-अच्छे गुणोंका बखान रहता है। उसे अच्छा होनेके प्रलोभन दिये जाते हैं। कुछ लोरियोंमें विषाद और थकान भी अभिव्यक्त होती है। लोरीमें माताएँ बच्चोंकी सुख-समृद्धिका टोटका मानती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे प्रतीत होता है कि लोरीसे एक तो बच्चेका ध्यान इधर-उधर बिखरनेसे रोक लिया जाता है, दूसरे बच्चेको आन्तरिक आश्वासन रहता है कि वह अकेला नहीं है और किसी-न-किसीका स्नेहपूर्ण संग उसे मिला हुआ है। यह आश्वासन उसके मनमें किसी भी भयका उदय नहीं होने देता। तालयुक्त ध्वनि और थपथपाहट या झूलन, मन और शरीर-को सुख भी पहुँचाते हैं। लोरीमें यों तो कोई भी विषय रह सकता है, क्योंकि माँ जानती है कि वह शिशु न तो उसे समझता है, न वह समझानेके लिए गायी जाती है। सूरदासने एक गीतमें बताया है कि कृष्णको पालनेमें सुलाते हुए यशोदा 'जोइ-सोइ कुछ गावै'। साथ ही वह नींदको बुलाते हुए कहती है—'मेरे लालको आउ निंदरिया, काहे न आनि सुआवै। तू काहे नहिं वेगहिं आवै, तोकों कान्ह बुलावै।'

सूरदासने लोरीमें बालदशाके कौतुक गाये जानेकी सूचना दी है। लोरीका उपयोग बाल-वर्णनोंके साहित्यमें मिलता है। यह लोकवार्तासे ही लिया गया है। —स०

लौ–लगन, चाह, चित्तकी वृत्ति—'खसम न चीन्हें बावरी परपुरुषै लौलीन, कहहिं कबीर पुकारिकै परी न बानी चीन्ह।' (कबीर बीजक)। लौलीन, किसीके ध्यानमें डूबा हुआ या मस्त—'लौ इनकी लागी रहै निज मन मोहन रूप। तातै इन रसनिधि ल्यौ लोयन नाम अनूप।' (रसनिधि) —उ० श० शा०

लौकिक छंद–लौकिक अर्थात् अवैदिक छन्दोंका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। समस्त मात्रिक छन्द इसी वर्गमें आते हैं। वर्णिक वृत्तोंमें यद्यपि १ से २६ वर्णनकके सभी वृत्त वैदिक बताये जाते हैं, परन्तु पाद-व्यवस्था वैदिक नियमोंके अनुसार न होनेपर वे भी लौकिक मान लिये जाते हैं। लौकिक छन्द सामान्यतया चार चरणोंके होते हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें लौकिक छन्द ही प्रयुक्त हुए हैं। आर्या आदि कुछ विशिष्ट प्रकारके छन्द भी इसी वर्गमें परिगणित होते हैं। लौकिक छन्दोंमें गेयताकी अपनी स्वतंत्र परम्परा रही है, विशेष रूपसे मात्रिक छन्दोंमें, जो स्वराघात और प्लुत ध्वनियोंके अभावमें वैदिक गेयतासे भिन्न प्रकारकी सिद्ध होती है। संस्कृत वर्णिक वृत्तोंको छोड़कर प्रायः शेष सभी लौकिक छन्दोंमें तुकान्तका विधान मिलता है, जो उनकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती है। वैदिक छन्दोंकी अपेक्षा इनमें नियमन और स्थिरताका अधिक आग्रह मिलता है। अनेकरूपता और तरलता मात्रिक छन्दोंमें सर्वाधिक मात्रामें मिलती है, जिसका प्रभाव संस्कृत छन्द-रचनापर भी पड़ा और उसमें भी अष्टपदी आदि गेयताप्रधान रूपोंका विकास हुआ। सभी लौकिक छन्दोंको किसी कोटिमें रखना कठिन है। उनमें परस्पर पर्याप्त विभेद एवं अन्तर दिखाई देता है।—ज०गु०

लौकिक शृंगार–दे०—'शृंगार'।

वंशवज्रा–वर्णिक छन्दोंमें अर्द्ध-सम वृत्तका एक भेद। मैथिलीशरण गुप्तने 'साकेत'में इन्द्रवंशा और इन्द्रवज्राके योगसे एक नवीन अर्द्ध-सम वृत्तका प्रयोग किया है। पूर्व आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट संज्ञाके अभावमें इस छन्दका वंशवज्रा नाम पुत्तूलाल शुक्लने दिया है। इसके प्रथम और तृतीय चरणमें त, त, ज, र, (SSI, SSI, ISI, SIS) एवं द्वितीय और चतुर्थ चरणमें त, त, ज, ग, ग (SSI, SSI, ISI, SS) रहते हैं। उदाहरण—'लेते गये क्यों न तुम्हें कपोत वे, गाते सदा जो गुण थे तुम्हारे? लाते तुम्हीं हा! प्रिय पत्र-पोत वे, दुःखाब्धिमें जो बनते सहारे।' (साकेत ९)।—पु०शु०

वंशस्थ–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ . ४) तथा 'पिंगलसूत्र'(६ २९)में लक्षण दिया है; जगण, तगण, जगण और रगणके योगसे यह वृत्त बनता है (ISI, SSI, ISI, SIS)। केशव (रा०च० ३ ११); हरिऔध (प्रि० प्र० ९ . ११ १३ . १५ : १६), अनूप शर्मा (सिद्धार्थ : ४ ६ . ८ १० . १३ . १४ १७) और 'वर्द्धमान'(प्राय आद्योपान्त)में इनका प्रयोग हुआ है। 'वर्द्धमान'के समान वंशस्थका कभी प्रयोग नहीं हुआ। इस छन्दमें ५-७ वर्णोंपर यति आती है। तुलसीदासने भी प्रयोग किया है। उदा०—'त्वदीय आलिंगन हेतु, हे प्रिये! हुआ न क्यों आज सहस्रबाहु मैं। विलोकनेको छवि अंग-अंगकी। बना न क्यों देवि सहस्रचक्षु मैं।' (वर्द्ध० २ ४७)।—पु० शु०

वक्रतासांकर्य–व्युत्पन्न पदके पूर्व और पर भाग और अव्युत्पन्न पदकी अपनी वक्रताका परस्पर सांकर्य किसी काव्यसूक्तिकी एक अद्भुत शोभासम्पत्ति है। काव्यकी यह अद्भुत शोभासम्पत्ति कविप्रतिभाके विचित्र विलासका परिणाम है—'परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्। प्रकारा जनयन्त्येता चित्रच्छाया मनोहराम्।' (व० जी० : २ . ३४)। उदाहरणके लिए यह काव्यसूक्ति—'सन्ध्या हो रही है नील नभमें शरदके। शुभ्र घन तुल्य, हरे वनमें, शिविरके। स्वर्णके कलशपर अस्तगत भानुका। अरुण प्रकाश पड झलक रहा है यों, छलक रहा हो भरा भीतरका वर्ण ज्यों। फहर रहा है केतु उसपर धीरेसे, वनके व्यजन राज मंगल-कलशका, जिसमें न टूट पड़े कोई विघ्न-मक्षिका, भंग करनेको रस-रंग कभी उसका।' (सिद्धराज)। यहाँ 'हो रही है'के क्रियापदमें 'काल-वैचित्र्यवक्रता' झलक रही है, जिससे 'सन्ध्या'के तत्काल रमणीय उद्भवके विद्ध चित्रपर आँखें टँगीकी टँगी रह जाती हैं। साथ ही 'छलकने'के क्रियापदकी 'उपचारवक्रता' इतनी मनोज्ञ है कि स्वर्ण-वर्णपर मद्यके आरोपसे सहृदय-हृदयमें उन्माद भर उठता है। इसके अतिरिक्त 'रसरंग'-पदकी 'पर्यायवक्रता' स्वर्ण-कलशके जिस मदिरोत्सवके दृश्यको सामने उपस्थित कर जाती है उसकी सुन्दरता भावना द्वारा शतधा प्रतिफलित हो उठती है। इस 'वक्रतासांकर्य'में कविकी सूक्ति एक विचित्र चित्र-सी सुन्दर लगने लगती है। —स० त्र० सिं०

वक्रोक्ति १ (शब्दालंकार)–यह 'वक्रोक्ति'की संकुचित सीमा है। भामहने अपने 'काव्यालंकार'में इसको अधिक महत्त्व दिया है। उसके अनुसार 'नितान्त' आदि शब्दों

द्वारा शब्द और अर्थकी उक्ति ही वाणी सौष्ठव नहीं हो जाती, वक्र शब्द और अर्थकी उक्ति ही वाणीका काम्य अलकार है। कुन्तकने 'वक्रोक्ति'को काव्यका जीवन ही माना है (दे०—'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय')। परन्तु क्रमश· इसका महत्त्व कम हो गया और रुद्रटने 'काव्यालकार'में इसे शब्दालकारके रूपमें स्वीकार किया है और इसके श्लेष तथा काकु, दो भेद भी माने हैं (२ १४ · १५)। मम्मटने इसे स्वीकार किया है—'यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते। श्लेषेण काका या ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।' (का०प्र० ९ ७८), किसीके अन्य अभिप्रायसे कहे हुए वाक्यका दूसरे व्यक्ति द्वारा श्लेष अथवा काकु उक्तिसे अन्य अर्थ कल्पित किया जाना। रुय्यक तथा जयदेवको छोड़कर अन्य बादके आचार्योंने भी इसे शब्दालकार माना है।

हिन्दीमें इस अलकारके सम्बन्धमें स्थिति स्पष्ट नहीं है। केशव, जसवन्त सिंह, भूषण तथा मतिराम आदिने इसे अर्थालकारके अन्तर्गत रखा है। चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ तथा दासने शब्दालंकारके रूपमें स्वीकार किया है, पर इनके लक्षणों तथा उदाहरणोंमें अस्पष्टता है, जिससे यह कहा नहीं जा सकता कि इन्होंने इसे शब्दालकार समझा है या अर्थालकार। प्राय· दोनों वर्गोंके आचार्योंके लक्षण उदाहरण समान प्रकारके हैं। कुलपतिकी परिभाषा 'साहित्यदर्पण'के अनुकरण पर है—'कहै बात औरै कछू, अर्थ करै कछु और। वक्र उक्ति ताको कहैं, श्लेष काक द्वै ठौर।' (र० र० ४)। भिखारीदासका लक्षण और उलझा हुआ है—'व्यर्थ काकुते अर्थको फेरि लगावै तर्क।' (का० नि० २१)।

श्लेष वक्रोक्ति—वक्ताके कथनका श्लिष्ट शब्दों द्वारा अन्य व्यक्तिसे भिन्न अर्थ कल्पित किया जाना। श्लिष्ट शब्द या पदका कभी भग होकर और कभी अभगरूपमें भिन्नार्थ किया जाता है। इस आधारपर इसके दो भेद माने गये हैं, भगपद और अभगपद। पहलेका उदाहरण—'अयि गौरवशालिनि, मानिनि, आज सुधास्मित क्यों बरसाती नहीं? निज कामिनीको प्रिय, गौ अवशा अलिनी भी कभी कहि जाती कहीं।' (का० क० द्रु०)। इसमें 'गौरवशालिनी' पदको 'गौ', 'अवशा' और 'अलिनी'में भग करके श्लेषार्थ निकलता है। दूसरेका उदाहरण—'एक कबूतर देख हाथमें पूछा कहाँ अपर है? उसने कहा अपर कैसा? उड़ है गया सपर है।' (गुरुभक्त सिंह नूरजहाँ)। इसमें 'अपर'का अर्थ 'दूसरे'से है और श्रोताने 'अपर'का अर्थ 'पर-रहित' लिया है।

काकु वक्रोक्ति—वक्ताके वाक्यसे अर्थात् कण्ठध्वनिकी विशेषतामें श्रोता द्वारा अन्य अर्थ कल्पित किया जाना। वस्तुत इस भेदको लेकर ही अधिक अस्पष्टता है। वस्तुत जहाँ अर्थपरिवर्तन मात्र कण्ठध्वनिपर निर्भर होगा वहाँ शब्दका महत्त्व नहीं रह सकता, अतएव यह अर्थालंकार हो जायगा। कन्हैयालाल पोद्दारने विभेद किया कि जहाँ शब्द बदलनेपर भी वक्रता बनी रहे वहाँ अर्थालकार मानना चाहिये और जहाँ नष्ट हो जाय वहाँ शब्दालकार। आचार्योंके उदाहरणमें प्राय वक्रता अर्थगत ही है। परन्तु इसको मम्मट आदि आचार्योंने सम्भवत कण्ठध्वनि अर्थात् कथन-शैलीके कारण शब्दालकार ही स्वीकार किया है। विहारीका उदाहरण—'लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर। भये न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर।' (सतसई ३४७)। इसमें 'भये न केते'का कथन शैलीके अनुसार दूसरेका अर्थ हो जायगा 'सभी हो गये'। —वि० स्ना०

वक्रोक्ति २ (अर्थालंकार)—अर्थ है वक्र उक्ति, वाणीके विलक्षण व्यापारको वक्रोक्ति माना गया है। भामहने समस्त अलंकारोंको वक्रोक्तिमूलक माना है। कुन्तकने इसे विशिष्ट अर्थमें ग्रहण किया है। परन्तु वामनने 'वक्रोक्ति'को उपमाप्रपचके अन्तर्गत अर्थालकार माना है—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति' (काव्या० सू० वृ० ४ ३ · ८)। इनके अनुसार जैसे रूपक आदिमें गौण अर्थका अलकारत्व होता है, उसी प्रकार लाक्षणिक अर्थका अलकारत्व हो सकता है और इसी सादृश्यसे 'लक्षणा-वक्रोक्ति' होती है। उदा०—'तनिक देरमें सरोवरके कमल खिल गये और क्षणभरमें कौरव भी बन्द हो गये' (वही)। इसमें नेत्रके धर्म उन्मीलन तथा निमीलनसे कमलोंके विकास आदिका लक्षणासे बोध होता है। आगे चलकर जयदेवने 'चन्द्रालोक'में 'वक्रोक्ति' अर्थालकारके रूपमें इस प्रकार लक्षण दिया है—'वक्रोक्ति श्लेषकाकुभ्या वाच्यार्थान्तरकल्पनम्' (५ · १११), श्लेष तथा काकु द्वारा वाच्यार्थ बदलनेकी कल्पना। मम्मट तथा विश्वनाथकी इसी शब्दालकारकी परिभाषामें विशेष अन्तर नहीं है, वस्तुत यह दृष्टिकोणका अन्तर है।

हिन्दीके आचार्योंमें केशव, जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण आदिने इसे अर्थालंकार माना है। केशवने 'वक्रोक्ति'को प्राच्योंके अनुकरणपर व्यग्यका पर्यायवाची माना है—'सूधी बातमें बरनिय टेढ़ो भाव' (क० प्रि० १२ ३)। अन्योंने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितका अनुसरण किया है—'श्लेष काकुसों अर्थकी रचना और जु होय।' (ल० ल० · ३६९)। भूषणने इसी भावको 'अरथ लगावै और' कहकर व्यक्त किया है। वस्तुत शब्दालकार माननेवालों तथा अर्थालकार माननेवालोंके मतोंमें स्पष्ट अन्तर नहीं है। कन्हैयालाल पोद्दारने दोनों रूपोंमें इसे स्वीकार किया है (द्र०—'वक्रोक्ति१')।

इसकी व्यापक परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—अर्थश्लेष तथा काकुके बलसे अन्य अभिप्रायसे कहे हुए वाक्यके दूसरेके द्वारा भिन्न अर्थकी कल्पना। केशवका उदाहण—'तैं जु कह्यो मुख मोहनको अरविन्द सो है सो तौ चन्द सो देख्यो।' (कवि० · १२ · ४)। इसमें 'चन्दके समान सकलंक है' यह दूसरा अर्थ अन्यके द्वारा लिया जायगा। इसी प्रकार विहारीके दोहे—'किती न गोकुल कुल वधू, किहिं न काहि सिख दीन। कौनैं तजी न कुल गली, ह्वै मुरली-सुरलीन।'(वि० र० ६५२)में 'सबको शिक्षा दी गयी' तथा 'सभीने कुल-गली त्याग दी' यह अर्थ दूसरेके द्वारा लिया जायगा। तुलसीका उदा०—'मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिवइ कि लवण पयोधि मराली। नव रसाल वन विहरणशीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला।' (रा० च० मा० २)।

रीतिकालमें इस अलंकारका अत्यधिक प्रयोग किया गया है। नायिकाओंके रूप तथा उनकी प्रेमकी विभिन्न स्थितियोंके चित्रणमें इसका प्रयोग चमत्कृत ढंगसे किया गया है। बिहारीको इन वर्णनोंमें विशेष उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। —म०

वक्रोक्तिवाद—दे०—'वक्रोक्ति-सिद्धान्त'।

वक्रोक्ति-संप्रदाय—दे०—'वक्रोक्ति-सिद्धांत'।

वक्रोक्ति-सिद्धांत—कुन्तक (१०-११ श० ई०)के 'वक्रोक्ति-जीवित'में प्रतिपादित एक प्रमुख काव्य-सिद्धान्त। इस आचार्यने अपनी मौलिक प्रतिभाके द्वारा अपने पूर्वके अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि तथा रस आदि प्रतिष्ठित सिद्धान्तोंके स्थानपर एकदम नवीन काव्य-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। कुन्तकने वक्रोक्तिको 'काव्यकी आत्मा'-के रूपमें स्वीकार किया है। वस्तुत उन्होंने इसको अत्यन्त व्यापक सिद्धान्तके रूपमें स्वीकार किया है। आचार्यने इसके अन्तर्गत प्रचलित सभी काव्य-सिद्धान्तोंका समाहार किया है और साथ ही समस्त काव्यांगों—वर्ण-चमत्कार, शब्द-सौन्दर्य, विषय-वस्तुकी रमणीयता, अप्रस्तुत-विधान, प्रबन्ध-कल्पना आदिको उचित स्थान दिया है। कुन्तकके अनुसार वक्रोक्ति केवल वाक्-चातुर्य अथवा उक्ति-चमत्कार नहीं है, वह कवि-व्यापार अथवा कवि कौशल है। नगेन्द्रके अनुसार आधुनिक शब्दावलीमें इसे कलावाद कह सकते हैं—अर्थात् काव्यका सर्वप्रमुख तत्त्व कला या उपस्थापन-कौशल है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने विषय-वस्तुका ही निषेध किया है। उन्होंने काव्य-वस्तुकी स्वाभाविक रमणीयताको स्वीकार किया है। परन्तु कविको वस्तुके सहृदय-रमणीय धर्मोंको व्यक्त करना चाहिये और यह कवि-प्रतिभासे ही सम्भव है। इस प्रकार उनके अनुसार अन्तत कवि-व्यापार ही प्रमुख है।

भारतीय काव्य-सिद्धान्तोंमें रस-सिद्धान्त अनुभूति अथवा भावनापक्षपर प्रतिष्ठित है और अलंकार-सिद्धान्त मौलिक रूपसे कवि-कल्पनापर आधारित है। वक्रोक्ति-सिद्धान्तका सम्बन्ध इस दृष्टिसे भी अलंकार-सिद्धान्तसे है। वस्तुत वक्रोक्तिमें अलंकारोंके कल्पना वैचित्र्यको अधिक व्यापक आधारपर स्वीकार किया गया है। यह कल्पना कवि-निष्ठ है, सहृदय-निष्ठ नहीं। ध्वनि तथा वक्रोक्तिका अन्तर भी यही है कि ध्वनिकी कल्पना सहृदय(पाठक)-निष्ठ है और वक्रोक्तिकी कल्पना काव्य-निष्ठ। अतएव ध्वनिका दृष्टिकोण व्यक्तिपरक है और वक्रोक्तिका वस्तु-निष्ठ। परन्तु कुन्तकने रसको वक्रोक्तिका प्राण-रस मानकर कल्पनाके साथ भावनाके महत्त्वको भी स्वीकार किया है। कुन्तकने रसको वक्रताका विशिष्ट अंग मानकर भी अंगी वक्रताको ही माना है। प्रत्यक्षत वक्रताके बिना रसकी स्थिति सम्भव नहीं है, जब कि रसके बिना वक्रताकी अपनी स्वतन्त्र स्थिति है। यद्यपि कुन्तकने ऐसी स्थितिको अधिक महत्त्व नहीं दिया है और रस-विहीन वक्रताको तिरस्कारयोग्य ही माना है।

कुन्तकका वक्रोक्ति-सिद्धान्त बहुत सीमातक व्यापक ही नहीं, समन्वयशील सिद्धान्त है। जैसा कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यसे स्पष्ट हो सकेगा कि इसकी उद्भावनाके मूलमें अलंकार-सिद्धान्तकी परम्पराके साथ ध्वनि-सिद्धान्त है। रसकी प्रतिष्ठाका उल्लेख किया गया है। अतएव कुन्तकके सिद्धान्तमें सम्पूर्ण काव्यको स्वीकृति मिली है। उनके सिद्धान्तमें बल भले ही कल्पपक्षपर हो, पर उनकी व्याख्याके अन्तर्गत वस्तुपक्ष तथा भावपक्षका पूरा समाहार हुआ है। रस अथवा भावके दीप्त होनेपर उक्ति अपने-आप दीप्त हो उठती है। अत यह नहीं कहा जा सकता कि रस-निष्पत्तिमें वक्रताका अभाव हो सकता है—कुन्तककी वक्रता ऐसी ही व्यापक है। रसवादी विवेचकोंका कहना है कि वक्रताकी अनिवार्यता निश्चित है, पर काव्यमें उसे भाव-व्यंजक ही होना चाहिये, क्योंकि भावनाका ही महत्त्व काव्यमें विशेष है। उनके अनुसार रस-विहीन काव्य भाव सौन्दर्यसे हीन केवल शब्द अथवा अर्थ-क्रीडाका चमत्कारमात्र होगा। परन्तु कुन्तकने उक्ति-वैचित्र्यको मात्र शब्द अथवा अर्थकी क्रीडा स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने इस प्रकार, कवि प्रतिभा तथा कवि-कौशलको काव्यगत अनिवार्य तत्त्वके रूपमें स्वीकार किया है। कुन्तकका वक्रोक्तिको काव्यका प्राण तत्त्व माननेका अभिप्राय भी यही है और काव्यके आधुनिक युगतकके विकासको देखते हुए यह भी स्पष्ट है कि रस-विहीन काव्यमें सौन्दर्यकी स्थिति एक सम्भव कल्पना है। यह कहना कि सारा सौन्दर्य हमारे भावात्मक (emotional) जीवनपर आधारित है, गलत है, हमारे सौन्दर्य-बोधके अनेकानेक स्तर बौद्धिक जीवनसे सम्बद्ध हैं। वैसे जीवनमें बुद्धि तथा भावनाकी प्रक्रियाएँ एक-दूसरेसे स्वतन्त्र नहीं हैं।

वक्रोक्ति-सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा तथा प्रतिपादन कुन्तकने अवश्य किया है, पर इसकी परम्परा काफी प्राचीन है। बाण तथा सुबन्धु आदि कवियोंमें इसके सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। परन्तु भामह(६-७ श० ई०)ने वक्रोक्तिका प्रयोग बहुत कुछ इसी व्यापक अर्थमें किया है। उन्होंने वक्रोक्तिमें शब्द और अर्थ, दोनोंका अन्तर्भाव माना है (काव्या० १ ६)। उन्होंने वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्तिका समान अर्थमें प्रयोग किया है। अतिशयोक्तिका अर्थ है 'लोकाति-क्रान्तगोचरता', अर्थात् जो लोकके सामान्य अर्थसे विचित्र हो (वही . २ . ८१-८४)। वक्रोक्तिको भामह इसी कारण मूल अलंकार मानते हैं। इसके बिना वाक्य काव्य न होकर वार्तामात्र रह जाता है। दण्डी(७ श० ई०)ने भी वक्रोक्तिको भामहके समान महत्त्व दिया है। परन्तु उनके अनुसार 'द्विधा भिन्न स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्' (काव्यादर्श २ . ३६३), अर्थात् वाङ्मयके दो भेद हैं—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति। भामहने स्वभावोक्तिको अस्वीकार किया था। दण्डीने भी वक्रोक्ति तथा अति-शयोक्तिको समस्त अलंकारोंके मूलमें स्वीकार किया है। यहाँ भी दोनों पर्याय हैं और उनका मुख्यार्थ भी समान है—'लोकसीमातिवर्तिनी विवक्षा' अर्थात् वस्तुके लोकोत्तर-वर्णनकी इच्छा। भामह और दण्डीमें केवल यह अन्तर है कि भामह स्वभावोक्तिको भी वक्रोक्तिकी परिधिमें स्वीकार करते हैं और दण्डी उसे भिन्न मानते हैं तथा वक्र कथनसे कम महत्त्वपूर्ण समझते हैं।

आगे चलकर इसके प्रयोगमें अर्थ-संकोच हुआ है।

वामन(९ श० ई०)ने अपने 'काव्यालकारसूत्रवृत्ति'में इसे अर्थालकारके रूपमें माना है—'सादृश्याल्लक्षणावक्रोक्ति' (४ ३ ८), अर्थात् लक्षणाके अनेक निवन्धोंमें सादृश्य-निवन्धना लक्षणा वक्रोक्ति है। वामनकी परिभाषाका मात्र ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि इसमें एक ओर दण्डीके समाधि गुण और दूसरी ओर परवर्ती आनन्दवर्धनकी ध्वनि-कल्पनाके तत्त्व सन्निहित हैं। अभिधासे भिन्न होनेके कारण लक्षणामें वक्रता तो होगी ही, पर इसमें लक्षणाके अन्य वक्रतर रूपोंका निर्देश नहीं हुआ है। रुद्रट(९ श० ई०)के समयनक वक्रोक्ति केवल अलकार रह गयी जो वाक्छलपर आश्रित है (दे०—'वक्रोक्ति' 'शब्दालकार' तथा 'अर्थालकार')। आनन्दवर्धनने वक्रोक्तिकी स्वतन्त्र व्याख्या नहीं की है। परन्तु उन्होंने इसको विशिष्ट अलंकार मानकर भी तीसरे उद्योतमें इसके सामान्य तथा व्यापक रूपको भी स्वीकार किया है। भामहके वक्रोक्ति सम्बन्धी मतको स्वीकार करते हुए आनन्दवर्धनने अतिशयोक्ति तथा वक्रोक्तिको पर्याय माना है और सभी अलकारोंको अतिशयोक्ति-गर्भित स्वीकार किया है। महाकवियों द्वारा व्यक्त यह अतिशय-गर्भिता काव्यमें अनिर्वचनीय शोभाका कारण होती है। इसीसे अलकारोंको शोभातिशयता प्राप्त होती है। इस वक्रताका प्रयोग विषयके अनुकूल ही होना चाहिये। वस्तुत ध्वनि-सिद्धान्तका प्रभाव वक्रोक्ति-विवेचनपर अत्यधिक पड़ा है। कुन्तककी 'वक्रोक्तिजीवित'की रूपरेखा मुख्यत 'ध्वन्यालोक'पर आधारित है। इसके अनेक प्रसगोंके विस्तारमें ध्वनि-विस्तारकी छाया है। वक्रोक्तिका विस्तार ध्वनिके समान ही वर्ण, प्रत्यय, विभक्ति आदिसे प्रारम्भ कर प्रवन्ध तथा नाट्यकाव्योंतक माना गया है। अनेक चमत्कार-भेद दोनोंमें समान हैं, कई उदाहरण भी समान हैं।

अभिनव(१०–११ श० ई०)ने वक्रोक्तिके सामान्य रूपको स्वीकार किया है। उनके अनुसार शब्द और अर्थकी वक्रताका आशय है उनकी लोकोत्तर स्थिति और इस लोकोत्तरका अर्थ अतिशय ही है। भोज(११ श० ई०)के 'शृगारप्रकाश'में वक्रोक्ति सम्वन्धी मान्यताओंका समन्वय किया गया है। भोजके वाद मम्मट (११ श० ई०) आदिने वक्रोक्ति(दे०—'अर्थालकार' तथा 'शब्दालंकार')को विशेष रूपमें ही स्वीकार किया है और रुद्रटके आधारपर प्राय इसके काकु तथा भंग श्लेष भेद माने गये हैं। रुय्यक(१२ श० ई०)ने इसको व्यापक रूपमें स्वीकार करके भी अर्थालकार-विशेष ही माना है। आगेकी परम्परामें विद्यानाथ तथा अप्पय दीक्षित(१७ श० ई०)ने अर्थालकार, विश्वनाथ (१४ श० ई०) आदिने शब्दालंकार माना है।

हिन्दी काव्यमें वक्रोक्तिका सुन्दर प्रयोग मिलता है, पर सिद्धान्त-रूपमें इसकी चर्चा आधुनिक कालसे पहले विलकुल नहीं की गयी। केशव(१६–१७ श० ई०)ने 'वक्रोक्ता उक्ति-रूप' शब्दालकार न मानकर 'विदग्ध उक्ति रूप' अर्थालकार माना है। अन्य परवर्ती आचार्योंने शब्दालकार ही माना है। जसवन्त सिंह (१७ श० ई०) तथा भूषण(१७ श० ई०)-ने अर्थालकारके अन्तर्गत इसपर विचार किया है और दास (१८ श० ई०)ने श्लेषार्थ अलकार-वर्गमें इसका निरूपण किया है। पर इस समस्त विवेचनका सम्बन्ध अलकार-रूपमें ही है, सिद्धान्तसे इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि रीतिकालके कवियोंमें विहारी तथा घनानन्द आदि कतिपय कवियोंमें वक्रोक्तिका प्रयोग व्यापक रूपमें हुआ है। हिन्दीमें वक्रोक्ति सिद्धान्तके प्रति आकर्षण आलोचना-पद्धतिके विकासके साथ उत्पन्न हुआ है। नगेन्द्रके अनुसार महावीरप्रसाद द्विवेदीके कला-चमत्कारके समर्थनमें एक प्रकारसे वक्रोक्तिको मान्यता प्राप्त हुई है। पर द्विवेदी-युगके काव्यमें काव्य-चमत्कारका नितान्त अभाव है। इस युगमें पद्मसिंह शर्मा, जगन्नाथ रत्नाकर तथा हरिऔध आदि प्राचीन काव्य-मर्मज्ञोंने वक्रोक्तिको मान्यता प्रदान की है। आगे चलकर रामचन्द्र शुक्लने रस-सिद्धान्तकी स्वीकृतिके साथ उक्ति-चमत्कारका विरोध किया। उनकी दृष्टिमें चमत्कारका अर्थ मनोरजन है। उनके अनुसार उक्ति वैचित्र्य काव्यका व्यापक लक्षण नहीं माना जा सकता। उनके अनुसार ऐसी अनेक मार्मिक उक्तियाँ हो सकती हैं, जिनमें वैचित्र्य अथवा वक्रता न हो, साथ ही वक्रतापूर्ण उक्तिमें भी भाव-व्यजनाका अभाव हो सकता है। स्पष्ट है, रामचन्द्र शुक्लने वक्रोक्ति-सिद्धान्तको सकुचित अर्थमें ग्रहण किया है। उन्होंने वक्रोक्ति तथा अभिव्यजनावाद(दे०)का एकीकरण भी किया है। परन्तु इन दोनों सिद्धान्तोंमें मौलिक अन्तर है और साथ ही दोनोंमें वस्तु-तत्त्वकी वैसी अवहेलना भी नहीं है जैसी रामचन्द्र शुक्लने वतलायी है।

छायावादी युगमें काव्य-शैलीमें वक्रताका विशेष महत्त्व स्वीकृत हुआ है। यह वक्रता मात्र शैलीगत न होकर वस्तुगत रूपमें भी परिलक्षित हुई है। 'प्रसाद'ने भी कुन्तकके वक्रोक्ति-सिद्धान्तको स्वीकार किया है—'इस लावण्यको सस्कृत साहित्यमें छाया और विच्छित्तिके द्वारा कुछ लोगोंने निरूपित किया था।' (काव्यकला तथा अन्य निवन्ध पृ०९०)। इस प्रकार 'प्रसाद'ने वक्रताको वास्तविक काव्य-गुण माना है। नगेन्द्रके अनुसार—'छायावादमें वक्रताके दोनों रूपों—विदग्धता और चारुताका ही वैभव मिलता है। 'प्रसाद' तथा पन्तमें जहाँ चारुताका चरम उत्कर्ष है, वहाँ 'निराला'में विदग्धताका। महादेवीके प्रणय-काव्यमें भाव-प्रेरित वक्रताका सुन्दर विकास है।' (भा० का० भू० पृ० ४५६)। इस युगमें लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', गुलाव राय तथा नगेन्द्रने वक्रोक्तिका व्यवस्थित रूपसे विवेचन किया है। 'सुधांशु'ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमें अभिव्यजनावाद में वक्रोक्ति-सिद्धान्त तथा पश्चिमके अभिव्यजनावाद, दोनोंकी समुचित विवेचना की है। उनके अनुसार कुन्तकका सिद्धान्त भामहसे विकसित हुआ है और उसके मूलमें अलकारोंका कल्पना-वैचित्र्य है। वक्रताके आधार-रूप लोकोत्तर वैचित्र्यका तद्विदाह्लादके साथ तादात्म्य कर कुन्तक रस सिद्धान्तको माननेके लिए प्रेरित होते हैं और साथ ही कुन्तकके सिद्धान्तमें ध्वनि-सिद्धान्तसे कतिपय वातें ली गयी हैं। 'सुधांशु'के मतसे वक्रोक्ति तथा अभिव्यंजनावादमें प्रकृतिगत भेद है। वक्रोक्तिसे अलकारका सम्बन्ध स्पष्टत स्वीकृत है, किन्तु अभिव्यजनाके लिए उसका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। अभिव्यंजनामें स्वभावोक्ति-

का भी नाम है, वक्रोक्ति-सिद्धान्तमें नहीं। नगेन्द्र इससे सहमत नहीं हैं, क्योंकि वक्रोक्तिमें स्वभावोक्तिके काव्य-तत्त्वका निषेध नहीं है, केवल अलंकारताका निषेध है। गुलाब रायने भी इन दोनों सिद्धान्तोंको अलग माना है। उनके अनुसार क्रोचेने उक्तिको प्रधानता दी है, उक्ति-वैचित्र्यको नहीं। क्रोचेके मतमें सफल अभिव्यक्ति या केवल अभिव्यक्ति कला है। इस अभिव्यक्तिमें स्वभावोक्ति और वक्रोक्तिका भेद नहीं है। उक्ति केवल एक ही प्रकारकी हो सकती है जो अभिव्यक्ति है। नगेन्द्रने इस मतका समर्थन किया है। उनके अनुसार अभिव्यंजनावादमें उक्तिका केवल एक ही रूप मान्य है—वह वक्र हो या ऋजु, उसमें वार्ता तथा वक्रताका भेद नहीं है। परन्तु वक्रोक्तिमें उक्तिके वैदग्ध्यपर बल दिया गया है। नगेन्द्रके अनुसार वक्रोक्ति-सिद्धान्तमें स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्तिमें वैपरीत्य नहीं है, वैपरीत्य वस्तुतः वार्ता और वक्रोक्तिमें है। वस्तुतः प्रगति-युगके ह्रास-युगके बाद प्रयोगवादी तथा नयी कवितामें वक्रोक्तिकी पुनः प्रतिष्ठा हुई है, नये सन्दर्भों तथा नये अभिनिवेशमें।

[सहायक ग्रन्थ—एस० के० डे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स। राघवन : भोजका शृंगारप्रकाश। नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्रकी भूमिका।]

वचनचतुर नायक—दे०—'नायक', शृंगार।

वचनविदग्धा—दे०—'विदग्धा', (नायिका)।

वज्र—सिद्धोंकी साधनामें शून्यका पूरक तत्त्व वज्र था—दृढता, अभेद्यता आदि वज्रके लक्षण शून्यतामें हैं अतः उसे वज्र नाम दिया गया। यह वज्र पुरुषरूपमें बोधचित्तमें जाग्रत् होकर नैरात्म्य-ज्ञानमें लीन होनेके लिए अग्रसर होता था। इसके मणि, अश्म तथा अस्त्र आदि वैदिक अर्थोंका परित्याग कर वज्रयानमें इसे परम तत्त्वके अर्थमें स्वीकार किया जाने लगा था। बादमें वज्रके साथ मुद्रा-मैथुन साधनाओंका जो विशेष सम्बन्ध रहा उसके कारण शुद्धतावादी गोरखपन्थियोंने इसको विशेष आदर नहीं दिया। सूफियोंमें कपाट, अग्नि, चित्तके साथ 'वज्र' विशेषणका प्रयोग हुआ है। 'पद्मावत'में एक स्थानपर आठ वज्रोंका भी उल्लेख है, जिससे यह ज्ञान होता है वज्रकी बौद्ध कल्पना किसी-न किसी रूपमें जीवित उस समय भी थी। किन्तु परवर्ती सम्प्रदायोंमें यह वज्र शब्द बिलकुल विस्मृत कर दिया गया। (दे०—'वज्रयान', 'मणि')

—ध० वी० मा०

वज्रधर—वज्र धारण करनेवाला अर्थात् कमल-कुलिश साधनामें निष्णात बौद्ध सिद्ध वज्रधर कहलाता था। बुद्ध-का एक वज्रयानी रूप वज्रधरका भी था, जिसमें वे अपनी शक्तिके साथ **युगनद्ध साधनामें** लीन रहते हैं।

—ध० वी० मा०

वज्रयान—बौद्ध धर्मका वह रूप, जो देवता, मन्त्र, गुह्य साधनाओं और अभिचार आदि तान्त्रिक प्रवृत्तियोंसे युक्त है और 'दोहाकोष' तथा 'चर्यापदों'के लेखक सिद्धाचार्य जिसके अनुयायी थे। वज्रयानका सूत्रपात कब और कैसे हुआ, अत्यन्त प्रामाणिक सामग्रीके अभावमें अभी भी यह अनुमानका ही विषय है। किन्तु ईसाकी छठी शताब्दीके बाद जब सारे देशमें तान्त्रिक प्रवृत्तियोंका आधिपत्य हो गया तब लगभग सभी धर्मसाधनाओंने किसी-न-किसी रूपमें तान्त्रिक प्रणालीको स्वीकार कर लिया। उसीके आस-पास वज्रयानका विकास-काल माना जा सकता है।

चमत्कारपूर्ण अतिप्राकृतिक सिद्धियोंका उल्लेख तो बुद्धके ही समयमें मिलता है और कुछ भिक्षुओंका झुकाव भी इन चमत्कारोंकी ओर था, किन्तु बुद्धने बराबर इनकी निन्दा की है। किन्तु बुद्धकी मृत्युके बाद धीरे-धीरे इनका समावेश होता रहा, यहाँतक कि 'दीघनिकाय'में आटानाटीय सूत्रमें ही गृध्रकूट पर्वतपर तथागतकी उपस्थितिमें उनकी सहमतिसे वैश्रवणको आटानाटीय रक्षा पढते हुए चित्रित किया गया, जो अमनुष्योंसे भिक्षुओंकी रक्षा करता है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार यह अंश प्रक्षिप्त है और जब सिंहलमें यह पिटक लिपिबद्ध किया गया तब इसका समावेश कर दिया गया। आगे चलकर महायानकी दो शाखाएँ हो गयीं—पारमिता-नय और मन्त्र-नय। वास्तवमें साधकोंकी सुविधाके लिए शतसाहस्रिका प्रज्ञा-पारमिताको पहले दशसाहस्रिका, फिर अष्टसाहस्रिका, फिर शतश्लोकी और अन्तमें केवल एक हृदय-सूत्रमात्रमें उसे सम्पुजित कर दिया गया। इस प्रकारके बहुतसे सूत्र, मन्त्र और धरणियोंका प्रचलन हुआ। उनके साथ ध्यानी बुद्धोंका भी सम्बन्ध जुड़ गया और इस प्रकार पारमिता नयकी अपेक्षा मन्त्र-नय अधिक लोकप्रिय होता गया और उसीमें गुह्य साधनाएँ जुड़ गयीं। दर्शनकी अपेक्षा क्रिया, चर्या, अनुष्ठानका विकास हुआ और धीरे-धीरे मन्त्रयान और उससे वज्रयानका विकास हुआ। कुछ विद्वान् मन्त्रयानको वज्रयानकी शाखा मानते हैं, किन्तु यह धारणा भ्रमात्मक प्रतीत होती है। वस्तुतः मन्त्रयान **महायानके** वज्रयानमें संक्रमणकी अवस्था था। वज्रयानके पूर्ण विकासके बाद भी मन्त्रयानको विस्मृत नहीं किया गया और अद्वयवज्र तथा अन्य सिद्धाचार्योंने भी इस नामका बहुधा स्मरण किया है। यद्यपि मन्त्रयान नामका तिरस्कार तो नहीं हुआ, किन्तु वज्रकी एक सर्वव्यापी कल्पना बौद्ध तन्त्रवादमें इतनी प्रबल हो उठती है कि स्वतः शून्यको ही वज्र कहा जाने लगा। देवता, समाधि, काय, वाक्, चित्त, मुद्राएँ, शक्तियाँ, ज्ञान, उपाय, योग, सभीके नाम 'वज्र'-समन्वित होने लगे। अद्वयवज्रने साधर्म्यके आधारपर शून्यताको वज्र कहा—'दृढसारमसौशीर्यमच्छेद्या-भेद्यलक्षणम्, अदाहि अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते।' इसी शून्यता-ज्ञानको वज्रज्ञानकी संज्ञा दी गयी और उसे प्राप्त करानेवाली धर्मसाधनाको वज्रयान कहा गया। किन्तु यह वज्रयान महायानसे पृथक् या मन्त्रयानसे पृथक् साधना न होकर अनुत्तर सम्यक्-सम्बोधिको प्राप्त करानेवाला वज्रप्रधान मार्ग था।

यह वज्रकी कल्पना आयी कहाँसे? वज्रको अश्म या **मणि** भी कहा जाता है और इन्द्रका आयुध वज्र है, जिससे वह शत्रुओंको पराजित करता है। बौद्ध-ग्रन्थोंमें कहीं-कहीं वज्रको इन्द्रके वज्रकी ही भाँति त्रिदन्त बताया गया है, तीन दन्त हैं—धर्म, बुद्ध और संघ। ज्ञात होता है कि ब्राह्मणोंने वैदिक देवता इन्द्रकी जितनी उपेक्षा की

उसका परिहार बौद्धोंने किया है। प्रज्ञापारमिताओंमें इन्द्रका नवरूप मिलता है जहाँ वे संगीतियोंमें तथागतके शिष्यरूपमें सम्मिलित होते हैं। ऐसा लगता है कि गुरु-दक्षिणामें बौद्धोंने उनका आयुध **वज्र** ले लिया। उसे शून्यता-ज्ञानवाले प्रतीकार्थ दे दिये और फिर तो उसका ऐसा महत्त्व बढ़ा कि पाँच ध्यानी बुद्धोंसे परे छठे वज्रसत्त्वकी कल्पना की गयी, जो प्रज्ञापारमिताके पति हैं ; जिनका अस्त्र अमोघ वज्र है, जो **युगनद्ध**-रूपमें सदा अपनी **शक्ति**के साथ समन्वित रहते हैं।

सातवीं शताब्दीसे दसवीं शताब्दीतक वज्रयानका स्वरूप निरन्तर विकसित होता गया। इस बीचमें इतने आचार्य हुए, उन्होंने इतने प्रकारकी पद्धतियोंका प्रचार किया, इस बीचमें वज्रयानका सम्पर्क चीन, जापान, गान्धार, आदि इतने देशोंसे हुआ, इतने नये देवी-देवता शाक्तों, वैष्णवों और बोन्पा आदि धर्मोंसे लिये गये, बुद्धके इतने कुलोंका विकास हुआ कि वज्रयानका एक श्रृंखलाबद्ध विवरण दे सकना असम्भव है। इतना स्पष्ट है कि चिन्तना, साधना, मन्त्र, देवता, तन्त्र, योग, आचार, भाषा, इन सभी दिशाओंमें बौद्ध धर्म इतना सर्वग्राही कभी नहीं रहा जितना इस कालमें। अन्तमें इन सभी प्रवृत्तियोंको एकसूत्रता प्रदान करनेके लिए वज्रयानके अन्तर्गत कई आम्नाय मान लिये गये और साधकको स्वतन्त्रता दी गयी कि वह अपनी प्रवृत्ति और गुरुके निर्देशके अनुसार साधना करे। साथ ही साधकके मानसिक विकासके अनुसार वज्रयानमें पहले क्रिया, फिर धर्म, फिर योग और अन्तमें अनुत्तरकी साधनाका विधान बताया गया। आचार्य अवधूतीपाने 'कुदृष्टिनिर्घातन्क्रम में दो प्रकारके साधक बताये हैं—'शैक्ष' तथा 'अशैक्ष'। शैक्ष अविकसित मनवाले होते हैं, अत उन्हें आचारके सभी नियम पालन करने पड़ते हैं और उनके लिए **क्रिया** तथा **चर्या**का विधान है। अशैक्ष विकसित होते हैं और **योग** तथा **अनुत्तर**की साधना करते हैं और उनको आचारगत स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, किन्तु अनुत्तरकी साधना करनेवाले सिद्ध अन्य पद्धतियोंका तिरस्कार नहीं करते थे, वे केवल **सहज-स्वभाव** धारण करनेपर अधिक बल देते थे। किन्तु यह मानना कि सहजयान वज्रयानसे पृथक् कोई सम्प्रदाय था, जिसमें अनुष्ठानों और गुह्य साधनाओंका अभाव था, भ्रान्त धारणा है, क्योंकि इस सन्दर्भमें **सहज**का अर्थ ही प्रज्ञोपायात्मक है, अर्थात् सहज वह अद्वय तत्त्व है, जो प्रज्ञा और उपायके सहगमनसे उद्भूत हो। जो इन दोनोंके अद्वय अनुत्तरको सिद्ध कर सामरस्यका अनुभव करता है और महासुखकी प्राप्ति करता है वह सहज **सिद्ध** है। अत सहजयान वज्रयानसे पृथक् कोई सम्प्रदाय नहीं था, उसीकी एक पद्धति-मात्र था। सम्प्रदायके लिए सहजयान शब्दका प्रयोग किसी पुराने ग्रन्थमें नहीं मिलता। आधुनिक विद्वानोंने सहजकी अत्यधिक महिमा देखकर यह नामकरण कर दिया है, ऐसा प्रतीत होता है। समस्त पुरानी उपलब्ध सामग्रीमें सहजयानका प्रयोग केवल एक स्थलपर मिलता है (१४वीं चर्याकी टीका)। वहाँ भी वह सम्प्रदायके लिए न प्रयुक्त होकर एक रूपकके अन्तर्गत सहजरूपी नौकाके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है और वहाँ उसका अर्थ अवधूतिका नामकी नाड़ी है।

'चक्र-सम्भार-तन्त्र'की भूमिकामें काजी दावा समदुपने वज्रयानके छ प्रमुख भेद बताये हैं—क्रिया-तन्त्र-यान, चर्या-तन्त्र-यान, योग-तन्त्र यान ; पुन इस योग-तन्त्र-यानके ३ प्रभेद हैं—महा-योग-तन्त्र-यान, अनुत्तर-योग-तन्त्र-यान, अति-योग तन्त्र-यान। ये भेद शायद तिब्बती परम्परामें प्रचलित हों। भारतीय परम्परामें पूर्वोक्त क्रिया, चर्या, योग तथा अनुत्तर, इन्हीं चारका प्रचलन था।

—ध० वी० भा०

वज्रा—दे०—'हठयोग'।

वटगमनी—वटगमनी मैथिली लोकगीतोंका एक प्रकार है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—पथपर गमन करनेवाली। मिथिलामें मेलों तथा उत्सवोंके अवसरपर ग्रामीण स्त्रियोंका समुदाय इसे बड़े प्रेमके साथ गाता है। वर्षा ऋतुमें बागोंमें झूलेपर बैठकर भी वटगमनी गायी जाती है, जिसे सुननेके लिए रसिक श्रोताओंकी भीड़ लग जाती है। कोई-कोई इस गीतको **सजनी** भी कहते हैं, क्योंकि गीतके प्रत्येक चरणके प्रथम और तृतीय वाक्यखण्डके अन्तमें सजनी शब्दकी पुनरावृत्ति पायी जाती है। वटगमनीके दो भेद होते हैं—(१) सयोग सुखान्त, (२) वियोग-दु खान्त। मैथिली लोकगीतोंके सम्पादक राकेश लिखते हैं कि वटगमनीके भावोंकी बन्दिश मैथिली है और तर्ज रोमाण्टिक ढाँचेमें ढली है। उसकी कल्पना वैशाख-सन्ध्या-सी शीतल और भाषा मिश्रीकी डलीकी तरह मीठी है। वटगमनीके कुछ गीतोंमें विद्यापतिका नाम पाया जाता है और कुछ तो उनकी पदावलीमें स्थान भी पा चुके हैं। भानुनाथ, दुखभजन, मेघदूत, फतुरलाल, कर्ण जयानन्द, चतुरानन आदि अनेक मैथिली कवियोंने इन गीतोंकी रचना की है। वटगमनीके गीत श्रृंगार रससे ओत-प्रोत हैं, जिन्हें सुनकर श्रोतागण मुग्ध हो जाते हैं। —कृ० दे० उ०

वधू—दे०—'महामुद्रा'।

वर्गगीत—दे०—'समूहगीत'।

वर्गगीति—दे०—'समूहगीत', 'गीतिकाव्य'।

वर्ग-नैतिकता—कार्ल मार्क्सके अनुसार नैतिक मानदण्डोंमें न कुछ शाश्वत है, न चिरन्तन। अच्छे और बुरेका मानदण्ड साधारणतया वर्ग-स्वार्थोंकी सापेक्षतामें ही किया जाता है। अत समाजमें जितने वर्ग हैं, उतने ही प्रकारकी वर्ग-नैतिकता होती है। इस नैतिकताके अनुसार हम उसी कार्यको अच्छा समझते हैं, जो हमारे वर्ग स्वार्थोंकी पूर्ति करता है। —रा० म० त्रि०

वर्ग-युद्ध—वर्ग सघर्ष (class struggle) जब समाजमें स्पष्ट और साकार रूप धारण करता है तो उसे वर्ग युद्ध कहते हैं। इस वर्ग-युद्धके कई रूप होते हैं। साधारण तौरपर ये हड़तालसे प्रारम्भ करते हैं और इसका अन्तिम स्वरूप विध्वसात्मक होता है, जिसमें तोड़ फोड़ भी शामिल है। वर्ग-युद्धके अन्तर्गत ही श्रेणी-सघर्ष और वर्ग वैषम्य आता है, क्योंकि वर्ग वैषम्यसे ही श्रेणी सघर्षका जन्म होता है और उसीसे वर्ग-युद्ध प्रारम्भ होता है। —रा० म० त्रि०

वर्ग-स्वार्थ—मार्क्सके अनुसार सारा समाज विभिन्न

आर्थिक वर्गोंमें बँटा हुआ है। इन विभिन्न आर्थिक वर्गोंकी विभिन्न आवश्यकताएँ हैं। इन्हीं आर्थिक आवश्यकताओंके अनुरूप उनके सांस्कृतिक, धार्मिक एवं नैतिक स्वार्थ भी हैं। अतः वर्ग-स्वार्थ वह धुरी है, जिसके चारों ओर अन्य सामाजिक स्वार्थ चक्कर काटते हैं। मार्क्सके अनुसार वर्ग-स्वार्थ एक बहुत बडी मनोवैज्ञानिक शक्ति है। पूँजीपति और श्रमिक जब कभी समाजके सम्बन्धमें कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करता है तो वह अपने वर्ग-स्वार्थकी प्रेरणासे ही प्रेरित होता है। —रा० म० त्रि०

वर्गहीन समाज–मार्क्सके अनुसार जब उत्पादनके साधनोंपर समाजका सामूहिक नियन्त्रण होता है तब समाजमें कोई भी वर्ग नहीं होता। फलस्वरूप उस समाजमें आर्थिक शोषण भी नहीं होता। उसी समाजको वर्गहीन समाज भी कहते हैं। प्राथमिक साम्यवाद अर्थात् 'प्रिमिटिव कम्युनिज्म', जिससे मनुष्यका इतिहास प्रारम्भ होता है, और कम्युनिज्म, जिसकी रचना पूँजीवादके उपरान्त होगी, वर्गहीन समाजके दो विभिन्न रूप हैं, जिनमेंसे प्रथम, समाज आदिम होनेके कारण कम विकसित है और दूसरा यान्त्रिक सभ्यताका उत्तराधिकारी होनेके नाते पिछली तमाम आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओंकी अपेक्षा अधिक विकसित है। —रा० म० त्रि०

वर्ण–नादके तात्त्विक चिरन्तन रूपको 'अक्षर' और उसके लिखित व्यक्त रूपको 'वर्ण' संज्ञा दी जाती है। व्यवहारमें अक्षर और वर्ण पर्यायकी तरह प्रयुक्त होते हैं। जैसे वर्ण-गणनापर आधारित वर्णिक छन्द कवित्तको घनाक्षरी कहा जाता है, पर लिखित ध्वनि समूहको देवनागरीमें–'वर्णमाला' ही कहते हैं। वर्ण दो प्रकारके माने गये हैं–'ह्रस्व' और 'दीर्घ'। छन्द शास्त्रमें ह्रस्वके लिए 'लघु' और दीर्घके लिए 'गुरु' शब्दका प्रयोग होता है।

गुरु अर्थात् दीर्घ वर्ण ह्रस्व या लघुकी तुलनामें दुगुनी मात्रा रखता है, ऐसा माना जाता है। मात्रिक छन्दोंका विधान इसी मान्यतापर आधारित है। वैज्ञानिक दृष्टिसे लघु-गुरुके उच्चारण-कालका अनुपात क्या होगा, इसपर विचार नहीं हुआ है। अभी यह मान्यता व्यावहारिक अनुमानपर ही अधिक आश्रित है। गुरु वर्णके लिए 'S' चिह्न प्रयुक्त होता है। मात्रिक छन्दोंमें मात्रा गणना करते समय किस वर्णको गुरु माना जाय, इस सम्बन्धमें प्राचीन विद्वानोंने विचार किया है और तत्सम्बन्धी नियम भी निर्धारित किये हैं। इस विषयमें कालिदासके 'श्रुतबोध' नामक छन्द-ग्रन्थकी यह आर्या विशेष प्रसिद्ध है–'संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्गसम्मिश्रम्। विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन।' इस सम्बन्धके नियम इस प्रकार हैं–१ संयुक्त अक्षरसे पूर्वके वर्ण गुरु होते हैं, उन स्थानोंको छोड़कर जहाँ संयुक्ताक्षरका उच्चारण स्वराघातसे हीन साधारण लघु वर्णकी तरह हो, जैसे, 'मल्हार', 'कन्हो', 'सुन्यो,' 'तुम्हें,' 'उन्हें,' 'मर्यो' आदि शब्दोंमें। संयुक्ताक्षरसे यदि नया शब्द प्रारम्भ हो तो हिन्दीमें उसका प्रभाव कुछ अपवादोंके अतिरिक्त पूर्ववर्ती शब्दके अन्तिम लघु अक्षरपर नहीं पड़ता, जैसे, 'वह भ्रष्ट'में 'ह' लघु ही रहेगा। २ अनुस्वारयुक्त वर्ण गुरु होते हैं। ३ विसर्गयुक्त वर्ण गुरु होते हैं। ४ चरणके अन्तमें आनेवाला वर्ण भी आवश्यकतानुसार गुरु स्वीकार कर लिया जाता है। ५ दीर्घ मात्राओंसे युक्त सभी वर्ण गुरु माने जाते हैं, यदि उनका उच्चारण लघुकी तरह न किया जाय, जैसे, 'तोहार', 'कहेउ' आदिमें। वस्तुतः उच्चारण ही किसी वर्णको गुरु बनानेका मुख्य आधार है।

लघु अर्थात् ह्रस्व वर्ण मात्रागणनाकी प्रमुख इकाई है। इसके लिए '।' विराम-चिह्न प्रयुक्त होता है। दो लघु वर्ण मिलकर एक गुरुके बराबर माने जाते हैं। जो वर्ण गुरु नहीं स्वीकार किये जाते उन्हें भी लघु समझ लिया जाता है। इस सम्बन्धके नियम इस प्रकार हैं–१ संयुक्ताक्षर स्वयं लघु होते हैं। २. चन्द्रबिन्दुसे युक्त लघु वर्ण लघु ही होते हैं। ३ ह्रस्व रूपमें उच्चरित गुरु वर्ण भी लघु होते हैं। ४ ह्रस्व मात्राओंसे युक्त सभी वर्ण लघु होते हैं। ५ हलन्त व्यंजन भी लघु मान लिये जाते हैं, केवल संस्कृतमें इनकी गणना नहीं होती है।

वर्णिक गण–वर्णिक वृत्तोंमें गुरु-लघु-क्रमसे वर्णोंकी व्यवस्था एवं गणना करनेके लिए तीन-तीन वर्णोंके आठ स्वतन्त्र समूहोंकी कल्पना की गयी और उन्हें गण कहा गया गया। विभिन्न गणोंके विभिन्न नाम, देवता, अवतार, फल और शुभाशुभ प्रभावको भी परिकल्पित किया गया, जो इस प्रकार है–

नाम	वर्णक्रम	देवता	फल	प्रभाव	अवतार
यगण	ISS	जल	आयु	शुभ	कच्छप
मगण	SSS	भूमि	लक्ष्मी	शुभ	मत्स्य
तगण	SSI	आकाश	शून्य	अशुभ	वामन
रगण	SIS	अग्नि	दाह	अशुभ	वाराह
जगण	ISI	सूर्य	रोग	अशुभ	परशुराम
भगण	SII	चन्द्रमा	यश	शुभ	रामचन्द्र
नगण	III	स्वर्ग	सुख	शुभ	कृष्ण
सगण	IIS	वायु	विदेश	अशुभ	नृसिंह

प्राचीन परम्परावादी कवि जो शास्त्रविधिसे काव्य-रचना करनेमें विश्वास रखते थे, इस बातके सम्बन्धमें सतर्क रहते थे कि काव्यके आदिमें कहीं 'अगण' अर्थात् अशुभगण न पड़ जाय, अन्यथा उन्हें उसका अशुभ फल भोगनेकी आशंका रहती थी।

संस्कृतमें गणोंका रूप पहचाननेके लिए यह श्लोक प्रचलित है–'मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो, भादि गुरुः पुनरादिलघुर्यः। जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः, सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः'। इसके अतिरिक्त एक और सूत्र 'यमाताराजभानसलगा' इधरके बहुतसे छन्दग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है, जो अधिक संक्षिप्त एवं स्मरणसाध्य है।

वर्णिक छंद–केवल वर्ण गणनाके आधारपर रचे गये छन्द वर्णिक कहलाते हैं। वृत्तोंकी तरह इनमें गुरु-लघुका क्रम निश्चित नहीं होता केवल वर्णसंख्याका ही निर्धारण रहता है और इनमें चार चरणोंका होना भी अनिवार्य नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टिसे वर्णिक छन्दोंकी परम्परा वैदिक कालतक जाती है। इनके दो भेद माने गये हैं–१ साधारण २ दण्डक। १ से २६ वर्णतकके छन्द 'साधारण' और २६ से अधिक वर्णवाले छन्द 'दण्डक' होते हैं। हिन्दीके

सुपरिचित छन्द घनाक्षरी (कवित्त), रूपघनाक्षरी और देवघनाक्षरी दण्डक भेदके अन्तर्गत आते है। 'साधारण'के अन्तर्गत 'अमिताक्षर' छन्दको लिया जा सकता है। वस्तुत यह घनाक्षरीके एक चरणके उत्तराशसे निर्मित होता है। इसमें १५ वर्ण होते हैं और ८,७ पर यति रहती है। इन वर्णिक छन्दोंमें लघु-गुरुमें अन्तर नहीं माना जाता और उनका व्यवहार समान रूपसे किया जाता है। गति और प्रवाहका निश्चय कविके लयबोधपर आश्रित रहता है। इस सम्बन्धमें कुछ नियम बनानेकी भी चेष्टा की गयी, परन्तु वह व्यावहारिक सिद्ध नहीं हुई।

वर्णिक वृत्त—वर्णिक छन्दका ही एक क्रमबद्ध, नियोजित एव व्यवस्थित रूप वर्णिक वृत्त होता है। वृत्त उस सम छन्दको कहते हैं, जिसमें चार समान चरण होते हैं और प्रत्येक चरणमें आनेवाले वर्णोंका गुरु-लघु-क्रम सुनिश्चित रहता है। गणोंके विधानसे नियोजित होनेके कारण इसे गणबद्ध या गणात्मक छन्द भी कहा जाता है। सस्कृत साहित्यमें ही विशेष रूपसे वर्णिक वृत्तोंका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। सस्कृतकी निममबद्ध प्रकृति ही इनके विकासका मूल है और उसीसे इनका पूर्ण सामंजस्य सिद्ध होता है। प्राकृत, अपभ्रश आदि मुक्त प्रकृतिकी भाषाओंमे इनकी सगति नहीं बैठ सकी। हिन्दीमें सस्कृत वर्णिक वृत्तोंके प्रयोगका सबमे अधिक आग्रह केशव तथा 'हरिऔध'ने दिखाया। सवैया भी वर्णिक वृत्त है, परन्तु गुरुको लघु पढ़ लेनेकी छूटके कारण इसका प्रयोग हिन्दीमें अन्य वर्ण-वृत्तोंकी तुलनामें अधिक मिलता है। शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, द्रुत-विलम्बित, वशस्थ, मालिनी इत्यादि ऐसे प्रमुख वर्णिक वृत्त हैं, जिनके साथ मध्यकालीन सस्कृत काव्यका गौरवपूर्ण इतिहास जुडा हुआ है।

दग्धाक्षर—जिस प्रकार गणोंके शुभाशुभ प्रभावकी कल्पना की गयी उसी प्रकार अक्षरोंको भी शुभ और अशुभ प्रभावसे युक्त माना गया है और तदनुसार उनका विभाजन भी किया गया है। क, ख, ग, घ, च, छ, ज, ड, द, ध, न, य, श, स, क्ष, ये १५ अक्षर शुभ और ङ, झ, ञ, ट, ठ, ढ, ण, त, थ, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, ष, ह, ये १९ अक्षर अशुभ वर्गमें आते हैं। इन अशुभ अक्षरोंमेंसे भी झ, ह, र, भ, ष, ये ५ अक्षर विशेष कुप्रभावयुक्त होनेसे दग्धाक्षर कहलाते है। यदि देवतादिके नाममें न आये हों तो छन्दके आदिमें इनका प्रयोग शास्त्रीय दृष्टिसे नितान्त वर्जित है। —ज० गु०

वर्णन-दोष—सस्कृत और हिन्दीके आचार्योंने काव्य-दोषोंका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया है। पद, पदाश, वाक्य, अर्थ, रस आदिके अन्तर्गत प्राय समस्त दोषोंका समावेश कर दिया गया है। ऐसा होते हुए भी आधुनिक काव्यमें नवीन विधाओं तथा स्वच्छन्दता आदिके कारण कुछ प्राचीन गौण दोष अधिक स्पष्ट रूपमे विकसित होने लगे हैं। कविगण अपनी रचनाओंमें सम्बन्ध-निर्वाहका समुचित ध्यान नहीं रखते हैं। उनके विषय-प्रतिपादनमें पदार्थों, घटनाओं और पात्रोंके स्वभाव एव मानसिक प्रवृत्तियोंके विरुद्ध चित्रणोंकी प्रधानता रहती है। वे शब्दोंके वास्तविक अर्थोंका ध्यान नहीं रखते हैं। साथ ही नये शब्दोंकी विचित्र रचनाएँ की जाने लगी हैं। शब्दोंके रूपों-को बिगाड़ा जा रहा है। अशुद्ध मुहावरोंका प्रयोग होने लगा है। प्रकृति-विरोधी वर्णन निस्संकोच भावसे होने लगे हैं।

भाषा और विषय-वर्णनके साथ स्वतन्त्रता और स्वच्छ-न्दताके नामपर मनमानी स्वेच्छाचारिताका परिचय दिया जाने लगता है। परिणामत विषय, भाव, अर्थ और भाषा, सभीका रूप विकृत होने लगा है। आधुनिक विवेचकों-(रामदहिन मिश्र का०द०)ने इन दोषोंकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है। इन दोषोंका इतना विकास हो चुका है कि इनके अस्तित्वको अलगसे स्वीकार करना आवश्यक हो गया है। यह निर्विवाद है कि उक्त त्रुटियोंसे सम्बन्धित ये दोष वर्णन-दोषके अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। कुछ प्रमुख वर्णन-दोषोंके नाम है—१ प्रकृति-विरोध, २ अर्थ-विरोध, ३. स्वभाव-विरोध, ४ भाव-विरोध, ५ अभिधेयार्थ विरोध।

१ प्रकृति-विरोध—यह दोष 'प्रसिद्धिविरुद्ध' अर्थ-दोषके अन्तर्गत समन्वित हो जाता है। प्रसिद्धि-विरुद्धका क्षेत्र 'प्रकृति-विरोध'-दोषकी अपेक्षा अधिक विस्तृत है। जहाँ प्राकृतिक सत्यके विरुद्ध वर्णन किया जाता है वहाँ प्रकृति-विरोध दोष होता है। यथा—'कहुँ केतकी कदली करौंदा कुन्द अरु करवीर हैं। कहुँ दाख दाडिम सेव कटहल तूत अरु जम्भीर हैं। कितहूँ कदम्ब कदम्ब कहुँ हिंताल ताल तमाल हैं। पीयूषमें मीठे फले कितहूँ रसाल रसाल हैं।' (भूषण शि० भू०)। रायगढका वर्णन करते समय भूषणने उक्त पक्तियोंका प्रयोग किया है। इन्होंने देश और कालका ध्यान न रखते हुए रायगढमें उन सभी वृक्षोंका उल्लेख कर दिया है, जिनका उत्पन्न होना रायगढमें सम्भव नहीं है, अत यहाँ प्रकृति-विरोध दोष है। अथवा 'विन्दुसारके परम पुण्यसे उपजा श्यामल विटप अशोक। स्निग्ध सघनता पल्लवके नीचे छाया चिर शीतल आलोक।' (कुणालसे)। पल्लवोंके नीचे अन्धकारके स्थानपर आलोकका वर्णन करना प्राकृतिक सत्यके विरुद्ध है, अत उक्त दोष है।

२. अर्थ-विरोध—इस दोषका समाहार 'प्रसिद्ध-विरुद्ध' नामक अर्थ-दोषमें हो जाता है। जहाँ स्वीकृत अर्थके विरुद्ध वर्णन किया जाता है वहाँ अर्थ-विरोध वर्णन-दोष होता है। यथा—'भूलि न जइयो पथिक ! तुम तिँहि सरिता पथ ओर। तरुनि पदाहत अकुरित नव असोक उहिँ ओर।' रक्त अशोकको देखकर विरहानुभवी किसी पथिककी अन्य पथिकमे उक्ति है। कामिनीके पादके आघातसे अशोकका पुष्पित होना ही कवि सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है, न कि अकुरोद्गमका होना। अत यहाँ अप्रसिद्ध बातका उल्लेख है, अर्थात् विरुद्ध-अर्थका वर्णन है। अथवा—'लगे कामना-के पक्षी दल करने मधुमय कलरव। लगीं वासनाकी कलिकाएँ बिखराने मधु वैभव।' कलिका पुष्पकी अविकसित अवस्था होती है। यहाँ कलिका द्वारा 'सुगन्ध' और 'मधु'की वर्षा करनेका वर्णन लोकप्रसिद्धि, स्वीकृत अर्थ एव वास्तविकताके विरुद्ध है, अत यहाँ अर्थ-विरोध वर्णन-

दोष है।

३ स्वभाव-विरोध–इस दोषका समन्वय, एक सीमातक, प्रसिद्धि-त्याग (प्रसिद्धिहत) नामक शब्द-दोषके अन्तर्गत हो जाता है। स्वभाव-विरोध दोषसे अभिप्राय है ऐसा कथन करनेसे, जो वर्ण्य विषयके स्वभावके विरुद्ध किया गया हो–'पता नहीं था सगरमें फिर पलक भाँजते चमक गया। वार किया, प्रहार किया, छिप गया अचानक चमक गया।' अथवा–'फोड़ फाड़कर कुम्भस्थल, मदमस्त गजोंको मर्दन कर। दौड़ा, सिमटा, जमा, उड़ा, पहुँचा दुश्मनकी गर्दनपर।' उक्त दोनों छन्द 'हल्दीघाटी' काव्यसे लिये गये हैं। महाराणा प्रतापके घोड़े 'चेतक'का वर्णन है। इस चित्रणमें स्वभाव-विरोधका आभास मिलता है। अतएव स्वभाव-विरोध वर्णन-दोष है।

४. भाव विरोध–इस दोषका आंशिक भाग, अप्रत्यक्ष रूपसे, प्रकृति विपर्यय रस-दोषके अन्तर्गत समन्वित हो जाता है। जहाँ वर्णित विषय या भावके विरुद्ध कोई चित्रण किया जाता है वहाँ भाव-विरोध दोष होता है। 'आँखोंमें था घन अन्धकार पदतल बिखरे थे अग्निखण्ड। वह चलती थी अंगारोंपर लेकरके जलते प्राण पिण्ड।' (कुणालसे), यहाँ 'आँखों'में घना अन्धकार छाया होनेपर चलना असम्भव था। यह वर्णन सम्बन्धित पात्रकी मानसिक दशाके विपरीत वर्णित है। कुणालमे तिरस्कृत होनेपर तिष्यरक्षिताके मनमें बदला लेनेकी भावना कार्य कर रही थी। ऐसी दशामें उक्त वर्णन भाव-विरोध-वर्णनसे दूषित है।

५ अभिधेयार्थ-विरोध–साक्षात् सकेतित अर्थका बोध करानेवाली मुख्य क्रिया(व्यापार)को अभिधा कहते हैं। इस प्रकार जिस अर्थका बोध होता है उसे अभिधेयार्थ कहते हैं। जहाँ शब्द अपने अभिधेयार्थमें प्रयुक्त नहीं होता है वहाँ अभिधेयार्थ-विरोध वर्णन दोष माना जाता है। प्राचीन समयसे ही इस प्रकारकी त्रुटियाँ कवि करते आये हैं। इसीलिए अनुचितार्थ-शब्द-दोषका आविर्भाव हुआ। अत एक प्रकारसे अभिधेयार्थ-विरोध-दोषका समन्वय अनुचितार्थ-शब्द-दोषमें हो जाता है। स्वच्छन्दतावादी आधुनिक युगमें यह प्रवृत्ति अधिक बढ गयी है। यह दोष (क) शब्दार्थ-परिवर्तन, (ख) शब्दोंके अंग-भग, (ग) मुहावरोंका अशुद्ध प्रयोग, (घ) अँग्रेजी आदिसे दोषपूर्ण अनुवाद आदि सभी प्रकारके साहित्यमें दृष्टिगोचर हो रहा है।

(क) शब्दार्थ परिवर्तन दोष–अजान और अनजान शब्द अपने मूल अर्थमें अज्ञात और अज्ञानीके लिए प्रयुक्त होते हैं, किन्तु अँग्रेजीके 'इनोसेण्ट' शब्दके अर्थमें भोलापन, निर्मल आदिके लिए पन्त द्वारा प्रयुक्त किये गये हैं। यथा–'सूर सिन्धु! तुलसीके मानस! मीराके उद्गास अजान!' अथवा–'धूलकी ढेरीमें अनजान। छिपे हैं मेरे मधुमय गान।' (ख) शब्दोंके अंग-भंग और नवीन अर्थकी उद्भावना–'मनोज' शब्द रूढ है, जिसका अर्थ कामदेव ही है, परन्तु पन्तने 'मन'से (शरीरसे विभिन्नता दिखानेके लिए) उत्पन्न, व्युत्पत्ति अर्थमें ही उसका प्रयोग किया है–'तुम आत्माके मनके मनोज।' (बापूके प्रति)। 'अछूत' शब्दका भी ऐसा ही प्रयोग किया गया है–'छू अमृत स्पर्शसे हे अछूत।'

पन्तने कुछ ऐसे शब्दोंका निर्माण किया है, जो अर्थबोधमें बाधा डालते हैं। (अ) 'पावसके उड़ते फणिधर' (बादल); (आ) 'तमके सुन्दरतम रहस्य' (तारे), (इ) 'इन्द्रजाल जननी' (रात्रि), (ई) 'स्वर्गके अग्रदूत' (देवता), (उ) कुसुमित सुभग सिंगार' (हरसिंगार)। इन प्रयोगोंसे अर्थबोधमें कठिनता उत्पन्न हो जाती है। पन्तने अँग्रेजीके ढाँचेमें ढालकर कुछ नये शब्द गढे हैं–यथा स्वप्निल, अनिर्वच आदि। (ग) अँग्रेजीसे अनुवादित शब्दावली और मुहावरे (अ) हे विधि! फिर अनुवादित कर दो'। यहाँ अनुवादित 'ट्रासलेटेड'का अनुवाद है। पन्तने 'गोल्डेन टच' और 'सिलवरी'से 'सुनहले स्पर्श' और 'रुपहरे' शब्दोंका निर्माण किया है। इस प्रकार बनाये हुए इनके शब्द हिन्दी भाषामें खप नहीं पाते। पन्तके अतिरिक्त 'निराला' आदि आधुनिक कवियोंकी रचनाओंमें भी इस प्रकारके अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनको देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये साहित्यकार अभिधेयार्थ आदि दोषोंकी ओर उचित ध्यान नहीं देते हैं। परन्तु साथ ही इनके द्वारा निर्मित सैकड़ों शब्द और वाक्यांश नवीन शक्ति तथा अभिव्यक्तिके वाहक भी हैं जिनसे हिन्दी भाषाकी व्यजकता अधिकाधिक बढी है। –टी० सिं० तो०

वर्णविन्यासवक्रता–(वर्ण = व्यजन + विन्यास = सन्निवेश + वक्रता-वैचित्र्य)। काव्य अथवा कविकर्मकी सबसे पहली पहचान वर्णोंकी विन्यास विचित्रता है, जिसे 'वर्णविन्यासवक्रता' कहा गया है। वर्णोंके विचित्र विन्यासमें कुशल कवि अपनी रचनामें चित्र और सगीतकी विशेषताओंका आधान किया करता है। काव्यके लिए वर्णसन्निवेशवैचित्र्य इसलिए आवश्यक माना गया है कि वर्णोंके 'ललित' और 'परुष' स्वभावका सम्बन्ध रसास्वादसे है। रसास्वादमें सहृदयका चित्त या तो पिघल पड़ता है या प्रज्वलित हो उठता है। चित्तके पिघलने (द्रुति) और प्रज्वलित होने(दीप्ति)में वर्णोंके 'लालित्य' और 'पारुष्य'-का बहुत बड़ा हाथ रहा करता है। इसीलिए वर्णोंके सन्निवेश-वैचित्र्यको सबसे पहला 'कविकर्म' कहा गया है। वर्णोंके विन्यास-वैचित्र्य(वर्णविन्यासवक्रता)के कई प्रकार काव्य साहित्यमें दिखाई देते हैं, जिनमें पहला वह है जिसमें कुछ थोड़े व्यवधानके साथ एक या दो या अनेक व्यजनोंका सन्निवेश सौन्दर्य प्रतीत हुआ करता है–'एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमाना पुन पुन। स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता'। (व०जी० २ १)। जैसे कि तुलसीदासकी इस सूक्ति अर्थात् 'फूलत फलत पल्लवित पलुहत विटप बेलि अभिमत सुखदायी। सरित सरनि सरसीरुह सकुल सदन सँवारि रमा जनु छायी।' (गीतावली)-में 'फ', 'प' 'व' और 'स'की, थोड़े-थोड़े व्यवधानके साथ, जो सन्निवेश-शोभा है उससे चित्रकूटकी सन्निवेश-शोभाका चित्र खिंच जाता है।

वर्णविन्यासवक्रताका दूसरा प्रकार वह है जो कि अनुनासिक वर्णोंसे सयुक्त 'क'से 'म' पर्यन्तके वर्ण, परस्पर सयुक्त 'त', 'ल', 'न' आदि तथा रेफ-सयुक्त अवशिष्ट व्यजनोंके औचित्यपूर्ण सन्निवेशका सौन्दर्य है। सस्कृत

कविता इस वर्णविन्यासवक्रतासे भरपूर है। हिन्दीके प्राचीन कवि इस प्रकारके विचित्र वर्णविन्यासके अपने वर्णनीय विषयको प्रभावशाली बनाते रहे हैं। उदाहरणके लिए, तुलसीदासकी यह सूक्ति—'तुलसी मनरजन रजित अजन नैन सुखजन जात कसे (कवितावली), यहाँ अनुनासिक-(अनुस्वार या ज)से सयुक्त 'ज'की ध्वनि-माधुरीसे वर्णनीय विषयका माधुर्य निसर उठता है।

वर्णविन्यासवक्रताका तीसरा प्रकार वह है जहाँ विना व्यवधानके भी, एक या दो अनेक व्यजनोंका विन्यास-वैशिष्ट्य हृदयावर्जक लगा करता है। स्वरोंका व्यवधान कोई व्यवधान नहीं माना जाता 'क्वचिदव्यवधानेऽपि मनोहारिनिवन्धना।' (व०जी० २ ३)। जैसे कि इस पक्ति—'एक ही लोल लहरके छोर'(सुमित्रानन्दन पन्त परिवर्तन)में 'ल'का अव्यवहित (विना किसी अन्य वर्णके बीचमें पडे) विन्यास, अर्थ-पर्यालोचनके बिना भी, चचलताके अभिप्रायका अभिव्यजक हो रहा है।

यही वर्णविन्यासवक्रता एक या दो या अनेक व्यजनोंके ऐसे औचित्यपूर्ण सन्निवेश-वैचित्र्यमें भी रहा करती है, जहाँ स्वरोंका वैसादृश्य वाधक नहीं माना जाया करता—'सा स्वराणामसारूप्यात् परा पुष्णाति वक्रताम्।' (व०जी० २ ३)। जैसे कि—'मोर मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल' (विहारी)में 'क' और 'ट'का विचित्र सन्निवेश यहाँके विषय-वैचित्र्यके लिए अत्यन्त उचित प्रतीत हो रहा है।

वर्णविन्यासवक्रताके चौथे प्रकारमें एक या दो या अनेक व्यजनोंकी व्यवहित या अव्यवहित आवृत्तिसे 'यमक'की झाँकी झलका करती है, जैसे कि—'धरि धीर कहैं चलु दिखये जाइ जहाँ सजनी रजनी रहि हैं'(कवितावली)में 'जनी जनी'का मनोहर यमकाभास इस वाक्यकी मुक्तावलीमें मणिकी भाँति रमणीय लग रहा है।

वर्णविन्यासवक्रताका पाँचवाँ प्रकार वह है जहाँ ऐसा लगता है जैसे एक सुकुमार वर्णको अनायास आवृत्त (दुहरा) कर छोड दिया गया और दूसरे सुकुमार वर्णकी आवृत्ति स्वय चल पड़ी—'नातिनिर्वन्धविहिता नाप्यपेशलभूपिता। पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला।' (व०जी० २ ४)। यह वर्णविन्यासवक्रता उस कविकी कला नहीं जो वृत्त्यनुप्रासमें सिद्धहस्त हुआ करता है, यह तो उस कविके वशमें रहा करती है जो रसभाव-समाहित हुआ करता है। 'सुकुमार', 'विचित्र' और 'मध्यम' तीनों मार्गोंके अनुयायी कवि माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणोंके अभिव्यजक वर्णविन्याससे इस वर्णविन्यासवक्रताको रग विरगकी वना दिया करते हैं। इस प्रकारकी वर्णविन्यासवक्रताके ही आधारपर काव्यकी उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियोंकी कल्पना की गयी है। उदाहरणके लिए, सूरदासकी इस मधुर सूक्ति—'देखो माई सुन्दरताको सागर। वुधि विवेक वल पार न पावत मगन होत मन सागर। तनु अति स्याम अगाध अम्बुनिधि कटि पट पीत तरग। चितवन चलत अधिक रुचि उपजत भँवर परत अँग-अंग। मीन मैन मकराकृत कुण्डल भुजवल सुभग भुजंग। मुकुट माल मिलि मानो सुरसरि द्वै सरिता लिये संग।'में एक व्यजनकी तान कानमें पहुँची नहीं कि दूसरे वर्णका सुन्दर आलाप छिड जाता है और 'सुन्दरताके सागर'-(वालकृष्ण) का ध्वनि चित्र सहृदय काव्य पाठकके हृदयपर अकित हो उठता है।

वर्णविन्यासवक्रताका छठा प्रकार वह है जो कि आदि या मध्य या अन्त या अन्य किसी नियत स्थानपर, एक या दो या अनेक सदृश श्रुतिवाले ऐसे वर्णोंके व्यवहित या अव्यवहित उपनिवन्धमें दिखाई दिया करता है, जिनका अर्थ भिन्न-भिन्न हुआ करता है और जो श्रुतिरजक होनेके साथ-साथ मनोरजक तथा वर्ण्य विषयके औचित्यसे पूर्ण रहा करते हैं—'समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम्। औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभि यत्॥ यमक नाम कोऽप्यस्या प्रकार परिदृश्यते।' (व०जी० २ ६,७)। इस वर्णविन्यासवक्रतासे यमक अलंकारका निर्माण हुआ करता है। जबतक यमक वर्णविन्यासवक्रताके रूपमें रहा करता है तवतक तो वह कुकुमके अगरागकी भाँति कविताके शरीर-सौन्दर्यमें घुला-मिला प्रतीत होता है, किन्तु जब वर्णविन्यासवक्रता यमक वन जाती है और कविका यमक-प्रेम एक व्यसन वन जाता है तव यह स्वाभाविक है कि कविताकी सुकुमारता यमक-भारसे कुम्हला जाय। रस-समाहित कवियोंके 'यमक'से वर्णविन्यासवक्रताकी छटा छिटका करती है। उदाहरणके लिए, भूपणकी इस सूक्ति—'धारापर पारा पारावार यों हलत है'में जो सुन्दर वन्ध है उसमें वर्णविन्यासवक्रताका यही प्रकार दिखाई दे रहा है। संस्कृतके कवियोंमें कालिदासके यमक-वन्ध (रघुवश वसन्तवर्णन) उनकी उपमाकी भाँति अनुपम हैं। —स० व्र० सिं०

वर्णिक गण—दे०—'वर्ण'।

वर्णिक छंद—दे०—'वर्ण'।

वर्णिक वृत्त—दे०—'वर्ण'।

वर्तिष्यमाणसुरतगोपना—दे०—'गुप्ता', (नायिका)।

वल्लभ-संप्रदाय—दे०—'पुष्टिमार्ग'।

वसंततिलका—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ १७) और 'पिंगलसूत्र'(७ ८)-के लक्षणके अनुसार तगण, भगण, २ जगण और २ गुरुके योगसे यह वृत्त वनता है (ऽऽ।, ऽ।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽऽ)। तुलसी, केशव (रा० चं० ९. ६), हरिऔध (प्रि०प्र०. सर्ग ५, ९, १२, १४, १५, १६), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली पृ० २४, २७) और अनूप शर्मा(सिद्धार्थ सर्ग २, ७, १२)ने इसका प्रयोग किया है। उदा०—'सारगने, सुमनने, नभने, पिकीने। पुष्पौघमें, पवनमें, महिमें, हियेमें। गुजारसे, सुरभिसे, छविसे, स्वरोंसे। उद्भ्रान्ति, क्रान्ति, शुचिता, मृदुता प्रचारी।' (सिद्धार्थ पृ० २०)। इस छन्दका काश्यपके मतसे सिंहोन्नता, और सैतवके मतसे उद्धर्षिणी (पिं०सू० ७ ९, १०) नाम है। —पु० शु०

वस्तु—दे०—'कथावस्तु'।

वस्तुनिष्ट (काव्य)—अँग्रेजीके 'आब्जेक्टिव'के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द। हिन्दीमें इसके लिए अन्य अनेक पारिभाषिक शब्दोंका चलन है, जैसे, वाह्यार्थ-निरूपक (शुक्ल), वाह्यार्थमूलक, वाह्यार्थव्यजक, वाह्यार्थपरक, वस्तु-

प्रधान, वस्तुपरक, वस्तुमूलक, विषयप्रधान, विषयपरक, वैषयिक, निर्वैयक्तिक और वाह्यवादी।

गीतिमूलक रचनाओंके आत्यन्तिक स्वात्मनिष्ठ दृष्टिकोणके आधारपर आधुनिक कालमें साहित्यको स्वात्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ—दो वर्गोंमें बाँटा जाता है। वस्तुनिष्ठ साहित्यकी यह विशेषता है कि उसमें रचयिता यथासाध्य पूर्णतया तटस्थ रहकर रचना करता है, अपने व्यक्तिगत राग-द्वेषसे उसे प्रभावित नहीं होने देता। महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि गम्भीर साहित्य-रूप अपनी वस्तुनिष्ठतामें ही महान् होते हैं।

परन्तु वस्तुनिष्ठता और स्वात्मनिष्ठताके दृष्टिकोण सापेक्षी होते हैं। वस्तुतः न तो कोई रचना पूर्ण रूपमें निर्वैयक्तिक हो सकती है और न पूर्ण रूपमें विषयनिरपेक्ष। वस्तुनिष्ठ रचनाओं—नाटक, महाकाव्य, उपन्यास आदिमें भी लेखक किसी-न-किसी रूपमें अपने व्यक्तित्वका उद्घाटन कर ही देता है। अन्तर केवल मात्रा और प्रकारका है। वस्तुनिष्ठ रचनाओंमें लेखकका आत्माभिव्यंजन प्रत्यक्ष नहीं होता, वह किसी भिन्न माध्यमसे प्रस्तुत किया जाता है। साथ ही उसकी सघनता और तीव्रता कहीं कम होती है। इस कारण वस्तुनिष्ठ रचनाएँ उतनी संवेगात्मक और भावप्रधान नहीं होतीं। वर्ण्य विषयसे वे असम्पृक्त नहीं हो सकतीं।

प्राचीनोंके निकट वस्तुनिष्ठता और निर्वैयक्तिकता साहित्यका परम आदरणीय गुण था। इसीके द्वारा वे महान् साहित्यकी रचना सम्भव मानते थे। परन्तु आधुनिक कालमें व्यक्तित्वका प्रकाशन साहित्यकी एक प्रमुख विशेषता हो गयी है। अब प्रत्येक रचनामें, चाहे वह रूपतः वस्तुनिष्ठ ही हो, लेखककी वैयक्तिक विशेषताओंके आकलन और विश्लेषण-विवेचनकी चेष्टा की जाती है। इस प्रकार वस्तुनिष्ठ साहित्यका एक वर्ग होनेके साथ-साथ वस्तुनिष्ठता एक गुण या विशेषता भी है। दे०—'स्वात्मनिष्ठ साहित्यरूप'। —ब्र० व०

वस्तुपरक (काव्य)–दे०—'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

वस्तुप्रधान (काव्य)–दे०—'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

वस्तुमूलक (काव्य)–दे०—'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

वस्तुरूपक–दे०—'रेडियो रूपक'।

वस्तुवक्रता–दे०—'वाक्य-वक्रता'।

वस्तुविन्यास–दे०—'कथानक', 'उपन्यास', 'कहानी'।

वस्तु-सत्य–वस्तु-सत्य ग्राह्य यथार्थका एक रूप है—विशेषकर ऐसा रूप, जिसमें वस्तु-विशेष और व्यक्ति-विशेषके रागात्मक सम्बन्धकी सम्भावनाएँ पूर्ण रूपसे एक-दूसरेको प्रभावित नहीं करतीं अथवा जिनका रागात्मक सम्बन्ध पूर्ण रूपसे विकसित नहीं हो पाया है। सौन्दर्यशास्त्र और कलाशास्त्रकी दृष्टिसे वस्तु-सत्यकी स्थितिके विषयमें मतभेद होते हुए भी यह तो मानना पड़ेगा कि वस्तु-सत्यका वास्तविक रूप वह यथार्थ है, जो आत्म-सत्यके अतिरिक्त भी व्याप्त है, प्रस्तुत है, किन्तु जो चेतन शक्ति द्वारा गृहीत होकर अनुभूतिके स्तरपर हमारे भाव, विचार, आदर्श और नैतिकता, सबको प्रभावित कर सकता है। वस्तु-सत्यका परिवेश और उसका विस्तार हमें प्रतिक्षण यथार्थका बोध कराता है। कलामें वस्तु-सत्य काल्पनिक सत्यको मर्यादित एवं अनुप्राणित करनेके साथ-साथ उसे सार्थकता भी प्रदान करता है। —ल० का० व०

वस्तूत्प्रेक्षा–दे०—'उत्प्रेक्षा', पहला भेद।

वस्त्वंतरवैचित्र्यवक्रता–दे०—'प्रकरणवक्रता', सातवाँ नियामक।

वाक्यगत लक्षणा–विश्वनाथके अनुसार सम्पूर्ण लक्षणाके भेदोपभेद पदगत तथा वाक्यगत होते हैं (सा० द० : २ : १२)। जहाँ वाक्यके अन्तर्गत अनेक पदोंके समूहमें लक्ष्यार्थ हो, वहाँ वाक्यगत लक्षणा मानी जाती है। उदा०—'कीन्ह कैकेयी सबकर काजू।'में लक्ष्यार्थ सम्पूर्ण वाक्यपर आधारित है, किसी एक पदपर नहीं।

वाक्यवक्रता–(वाक्य = परस्पर अन्वित पदसमुदाय + वक्रता = वैचित्र्य) 'वाक्यवक्रता' किसी पद अथवा पदांशकी शोभा नहीं, अपितु पदादि समुदायकी संवलित शोभा है, जिसके अनन्त रूप हैं। वाक्यवक्रताके प्रकारोंकी गणना असम्भव है, क्योंकि इसके मूलमें पड़ी कवि प्रतिभाके वैचित्र्य अगण्य हैं। वाक्यवक्रतामें समस्त अलंकार-वर्ग अन्तर्भूत हो जाते हैं। वाक्यवक्रताके रहस्यके ज्ञान लेनेपर उपमादि अलंकारोंका रहस्य स्वयं स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि सभी अलंकार इसीके विविध हाव-भावसे प्रतीत होते हैं।

वाक्यवक्रता वस्तुतः कविका निर्माण-कौशल है, जो काव्यके सभी उपकरणों और प्रसाधनोंसे परे एक अतिरिक्त काव्य-सौन्दर्य है। जैसे चित्रकी मनोहरता फलक, रेखा और रंगकारीमें नहीं, अपितु चित्रकारकी चित्रण-कुशलतामें रहा करती है, वैसे ही काव्यकी हृदयहारिता शब्द, अर्थ, गुण और अलंकारमें नहीं, अपितु कविकी निर्माण-कुशलतामें रहा करती है। क्या वस्तु-स्वभाव-वर्णन, क्या रस-भाव-समुन्मीलन और क्या अलंकार-वैचित्र्य-विन्यास, सर्वत्र जो भी मनोहारिता है, वह सब वाक्यवक्रता अथवा कवि-कौशलकी ही महिमा है—'मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालंकारसम्पदः। अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहितिजीवितम्। मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक्। चित्रस्येव मनोहारि कर्तुं किमपि कौशलम्।' (व०जी० : ३ : ३, ४), अर्थात् सुकुमार, विचित्र और मध्यम, तीनों कवि-मार्गोंकी जो भी शब्द-शोभा, अर्थ-शोभा और गुण-महिमा तथा अलंकार-सम्पत्ति है, उन सबसे भिन्न कविकी निर्माण-कुशलता अथवा 'वाक्यवक्रता' है। जैसे चित्रकी मनोहर शोभा चित्रकारके चित्रणमें रहा करती है, जो कि चित्रकी आत्मा है, वैसे ही काव्यकी रमणीयता-सम्पत्ति कविकी वर्णनामें रहा करती है, जो कि काव्यकी आत्मा है।

भाव-स्वभाव-वर्णनमें वाक्यवक्रताकी रूपरेखा इस सूक्तिमें देखिये—'अंकमें भर, तुम्ह, किसी दीपशिखाने शलभ, क्या सुनाया '—यहाँ यद्यपि कविने सहृदय-संवेद्य वस्तु-स्वभावका ही वर्णन किया है, किन्तु एक नवीन उल्लेखके कारण 'दीपशिखा' और 'शलभ'के अतिपरिचित और सर्वपरिचित व्यक्तित्वमें एक ऐसी नवीनता छा जाती है, जिसका विश्लेषण यहाँके मधुर और प्रसन्न अभिजात पदों और अर्थोंके विश्लेषणमें नहीं अपितु इन काव्योपकरणों और इनकी शोभाओंकी जननी कवि-प्रतिभाके विश्लेषणमें

ही सम्भव है। यहाँ जो वस्तु-स्वभाव-सौन्दर्य है वह इतना सुकुमार है कि, रूपक प्रभृति अलकारोंका भार सँभालनेमें असमर्थ-सा लग रहा है। इस सूक्तिकी मनोहारिता कविकी निर्माण-कुशलता(वाक्यवक्रता)में है, जो कविके उस सुकुमार स्वभावकी ओर सकेत करती है जो वस्तुओंको भावनाकी अगुलियोंसे छूना चाहता है, जिसमें उनका स्वभाव सौकुमार्य अक्षुण्ण बना रहे।

भाव-स्वभाव-वर्णनमें विचित्र स्वभावके कविकी वाक्यवक्रता एक दूसरे रूपकी ही हुआ करती है। जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—'रुधिरके है जगतीके प्रात, चितानलके ये सायकाल, शून्य-नि श्वासोंके आकाश, आँसुओंके ये सिन्धु विशाल, यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु, अरे, जग है जगका ककाल।'(सु० नं० प०)में जो वाक्यवक्रता है वह एक अमूर्त वस्तुको—क्योंकि यहाँका वर्ण्य विषय 'परिवर्तन' एक अमूर्त वस्तु है—मूर्त रूपमें प्रतिष्ठित कर रही है और इस मूर्त रूपके उस भीषण सौन्दर्यकी चित्रकारी कर रही है, जिसमें उत्प्रेक्षाकी रगकारी देखते ही बनती है। यहाँकी वाक्यवक्रतामे कविके विचित्र स्वभावकी वह झाँकी दिखाई दे जाती है, जिसमें कविकी प्रौढ कल्पना वस्तु और अवस्तुका भेद भुलाये अपनी सृष्टिमें निरत पड़ी है।

रस-भाव-समुन्मीलनमें वाक्यवक्रता एक विशेषता उत्पन्न किया करती है। उदाहरणके लिए, सूरदासकी इस सूक्ति—'कहाँ ला बरनौ सुन्दरताई। खेलत कुँवर कनक आँगनमें नैन निरखि छवि छायी। कुलहि लसत सिर स्याम सुभग अति बहुविधि सुरँग बनायी। मानों नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढायी। अति सुदेश मृदु चिकुर हरत मन मोहन मुख बगरायी। मानो प्रगट कजपर मजुल अलि अवली घिरि आयी।' आदिमें जो वाक्यवक्रता है, जिसमें, बालकृष्णकी मधुर-मूर्तिके चिन्तनमें काव्यात्मक उत्प्रेक्षाओंकी जननी कवि प्रतिभा तन्मय और तत्पर हो रही है, उसकी महिमासे वात्सल्यका आनन्द-विस्मय सहृदय-हृदयको स्निग्ध बना रहा है।

वैसे तो रसभाव-समुन्मेष अथवा भाव-स्वभाव वर्णनमें सर्वत्र कवि कौशल ही प्राणरूपसे संचरित हुआ करता है, किन्तु अलंकार-योजना तो एकमात्र कवि-कौशलकी ही देन है। बिना वाक्यवक्रता अथवा कवि-कौशलके अलकारोंकी सुन्दरता और विचित्रता असम्भव ही है।

वाक्यवक्रताकी मूल शक्ति तो कवि-प्रतिभा है ही, किन्तु **वस्तुवक्रता** इस मूल शक्तिके स्फुरणका एक निमित्त अवश्य है। वस्तुवक्रताके दो रूप हैं। पहली वस्तुवक्रता वह है, जिसमें कवि जिस वस्तुका वर्णन करता है उसके अत्यन्त रमणीय स्वभाव-सौकुमार्यका सर्वतोभद्र उन्मीलन किया करता है। वस्तु-स्वभावके सौकुमार्यको अक्षुण्ण रखनेके लिए वह ऐसे शब्दों और ऐसे अर्थोंका गुम्फन करता है, जो यथावसर वस्तु-सौन्दर्यका प्रतिपादन या अभिव्यजन करनेमें समर्थ हुआ करते हैं। वस्तु-स्वभावके सौकुमार्यका दर्शन चर्म-चक्षुओंसे नहीं अपितु भावना-दृष्टिसे ही सम्भव है। इस प्रकारकी वस्तुवक्रताका निदान कविकी वह स्वातन्त्र्यशक्ति है, जो प्रसगके औचित्यसे या तो वस्तुओंके स्वाभाविक सौन्दर्यकी साम्राज्य-रचना करना चाहती है या वस्तु-स्वभाव-सौन्दर्यकी उर्वरा भूमिपर रस-भावकी अमृत-वर्षामें आनन्द लेती है।

दूसरी वस्तुवक्रता पहली वस्तुवक्रतासे भिन्न प्रकारकी है। पहली वस्तुवक्रताको यदि **सहजा** अथवा **अनाहार्या** (स्वाभाविक) वस्तुवक्रता कह सकते हैं तो दूसरी वस्तुवक्रताको **आहार्या** (कविकौशल-निवर्तिता) वस्तुवक्रता कहा जा सकता है। कुन्तकने स्पष्ट कहा है—'अपरा सहजाहार्यकविकौशलशालिनी। निमितिर्नूतनोल्लेखलोकातिक्रान्तगोचरा।' (व०जी० ३ ?), अर्थात् पहली वस्तुवक्रता(भाव-स्वभावकी स्वाभाविक महिमा)के अतिरिक्त दूसरी वस्तुवक्रता वह है, जो शक्ति-व्युत्पत्ति और अभ्यासके परिपाकसे प्रौढ कवि-कौशलकी लोक-विलक्षण नवीन वस्तु-सृष्टि है। तभी तो कहा गया है—'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापति। यथास्मै रोचते विश्वं तथेद परिवर्तते।' अर्थात् काव्यके ससारका विधाता कवि है। कभी वह अपने काव्य-संसारमें सुन्दर स्वभाव-युक्त लोक-वस्तुओंका प्रतिरूप रचा करता है और कभी अपने काव्य-ससारको सर्वथा अलौकिक वस्तुओंके समुल्लेखसे सुन्दर बनाया करता है। इस दूसरे प्रकारकी वस्तुवक्रतामें अर्थालकारोंके समस्त वैचित्र्य और सौन्दर्यकी रूप-रचना अन्तर्भूत है।

वस्तुवक्रताका उपर्युक्त द्वैविध्य निर्मूल नहीं। वस्तुत **पदार्थस्वरूप** ही द्विविध है। प्रथम पदार्थस्वरूपमें लोकवर्ती समस्त चेतन और अचेतन पदार्थोंका वह स्वभाव-सौकुमार्य समा जाता है, जो कविके भावना-प्रत्यक्षका विषय हुआ करता है और जिसके समुचित समुल्लेखमें पहली वस्तुवक्रताका परिच्छेद और अनुभव सम्भव है। कुन्तकने इसीलिए कहा है—'भावानामपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम्। चेतनाना जडाना च स्वरूप द्विविधं स्मृतम्। मुख्यमक्लिष्टरत्यादिपरिपोषमनोहरम्। स्वजात्युचितहेत्वादमुल्लेखोज्ज्वल परम्।' अर्थात् चेतन (मुख्य चेतन मनुष्य आदि और अमुख्य चेतन पशु-पक्षी आदि) और अचेतन (ऋतु-नदी-पुष्प-लता आदि), दोनों श्रेणीके पदार्थोंका द्विविध स्वरूप है, जो कविके दर्शन और वर्णनका विषय हुआ करता है। इस द्विविध पदार्थस्वरूपमें पहला पदार्थ-स्वरूप वह है, जिसके दर्शनमें कविकी रस-साधना सिद्ध हुआ करती है और जिसका वर्णन कविकी रस-योजना-कुशलताकी कसौटी हुआ करता है। इसके अतिरिक्त दूसरा पदार्थ-स्वरूप वह है जो वस्तु-स्वभाव-समुल्लेख अथवा नूतन वस्तु-निर्मितिमें लीन कवि-प्रतिभा अथवा कवि-कल्पनाका आधार हुआ करता है।

कविकी वर्णनाका विषय पदार्थस्वरूप जो कि 'स्वभाव-प्राधान्य' और 'रस-प्राधान्य'के कारण दो प्रकारका हुआ करता है, द्विविध वस्तुवक्रता और साथ ही साथ वाक्यवक्रता-(कविकी निर्माण-कुशलता)का आधार है। जितने भी अलकार हैं या हो सकते हैं वे सभी इस द्विविध पदार्थ-स्वरूपके सौन्दर्य-वर्धक होनेसे ही 'अलकार' कहे जा सकते हैं। पदार्थस्वरूप अलकार्य है, अलकार नहीं। —स० प्र० सिं०

वाङ्मय—वाङ्मय शब्दकी परिभाषा उपस्थित करते हुए राजशेखरने 'काव्यमीमासा'के द्वितीय अध्यायमें उसके दो भेद किये हैं—शास्त्र तथा काव्य। इनके भेदों-

प्रभेदोंका भी ग्रन्थमें विस्तृत उल्लेख है। शास्त्रके अन्तर्गत अपौरुषेय शास्त्र 'श्रुति' और 'वेदांग' अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और अलंकार आते हैं। पौरुषेय शास्त्र हैं पुराण, आन्वीक्षिकी (न्याय), मीमांसा, स्मृति, तन्त्र। इस प्रकार शास्त्रके १४ भेद हुए—चार वेद, छ वेदांग, पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृति। इन्हींको विद्यास्थान कहा गया है। काव्यके अन्तर्गत वह सब सर्जनात्मक साहित्य आता है, जो कविता, नाटक, कादम्बरी (उपन्यास), कथा आदिके नामसे प्रचलित हैं। इस प्रकार वाङ्मयमें समस्त लिपिबद्ध मानव-चेष्टा आ जाती है। अँग्रेजीमें इस अर्थमें वाङ्मयका पर्याय 'लिट्रेचर' है।

पश्चिमी विवेचनामें शास्त्र और काव्यमें मौलिक भेद है और वाङ्मय इन दोनोंको लेकर ही पूर्ण है, परन्तु भारतीय साहित्य-विवेचना काव्य और शास्त्रके अन्तरावलम्बनको स्वीकार करती है। काव्यका आधार शास्त्र ही माना गया है। राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'के द्वितीय अध्यायकी पहली कारिकामें इस स्थापनाको प्रस्तुत किया है कि 'काव्य ज्ञानके लिए शास्त्रज्ञान आवश्यक है, जैसे बिना दीपकके पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शास्त्र-ज्ञानके बिना काव्य-ज्ञान असम्भव है। अत काव्योंके पहले शास्त्रोंका अभ्यास करना आवश्यक है।' वास्तवमें यह दृष्टि व्यावहारिक दृष्टि है। भारतीय विचारधारा श्रुतिको समस्त ज्ञानका आधार मानती है और शास्त्रके अन्तर्गत श्रुति और श्रुत्यंगोंका सम्पूर्ण समावेश करती है। फल-स्वरूप काव्य अनिवार्यत शास्त्रसे पोषित हो जाते हैं। काव्यके भेदोपभेदोंका विवेचन सामान्यत साहित्यशास्त्रका विषय नहीं है, परन्तु पश्चिममें विषय, रीति और वृत्तके आधारपर काव्यके अनेक भेद किये गये हैं। भारतीय विवेचना काव्यांगोंको महत्त्व देती है और रस, रीति, गुण, अलंकार, ध्वनि और औचित्यके भीतर काव्यके विभिन्न स्वरूपों और प्रक्रियाओंपर प्रकाश डालती है। राजशेखरने शब्द और अर्थके सहभावको लेकर चलनेवाली समस्त मानव-चेष्टाको वाङ्मय अथवा साहित्यकी संज्ञा दी है। उन्होंने शास्त्रोक्त ६४ कलाओंको साहित्यके ही अन्तर्गत रखा है और उन्हें उपविद्याएँ माना है। इस प्रकार वाङ्मयमें भाषाबद्ध समस्त ग्रन्थ-सम्पत्तिका समावेश हो जाता है अर्थात् गद्य-पद्यादि ग्रन्थ-समूहको वाङ्मय कहा जाता है। वास्तवमें वाङ्मय शब्दमें 'साहित्य' शब्दसे भी कुछ अधिक व्यापकता है और काव्य तथा शास्त्रके बीचकी चेष्टाएँ भी, जैसे, पत्रकारिता, उसके अन्तर्गत आ जाती हैं। विशेषणके रूपमें वाङ्मय शब्दका प्रयोग मूल वचन, प्रमाण अथवा वाचिक (शब्दमय) अर्थमें होता है। भारतीय दर्शनमें नाद ब्रह्मकी भी कल्पना है जो समस्त सृष्टिको शब्दमय (वाङ्मय) मानती है। (शास्त्रके भेदोपभेदके लिए दे०—'उपयोगी साहित्य')। —रा० र० भ०

वाचक, वाचिका—दे०—'रेडियो नाटक'।

वाचक शब्द—काव्यमें प्रयुक्त तीन प्रकारके शब्दोंमें प्रथम, मम्मटके अनुसार—'साक्षात्संकेतित योऽर्थमभिधत्ते स वाचक।' (का० प्र० २ ६), अर्थात् ऐसा शब्द जो साक्षात् संकेतित अर्थका बोधक होता है। यह शब्द ऐसे अर्थका प्रतिपादक है, जिसका उस शब्दके साथ सम्बन्ध वाच्यवाचक भावके रूपमें सहज ही सिद्ध रहता है। यहाँ 'संकेत'का अर्थ एक निश्चित प्रकारकी मान्यता है, जो किसी शब्दके निश्चित अर्थके सम्बन्धमें प्रचलित रहती है। बिना इस प्रचलित मान्यताको समझे शब्दका प्रयोग निरर्थक हो जायगा। वाचक शब्दमें संकेत, अर्थात् उसकी अर्थ-विषयक मान्यता साक्षात् भी होनी चाहिये। संकेत साक्षात् और असाक्षात्, दोनों प्रकारका हो सकता है। उदाहरणके लिए यदि गोवर्धन पर्वतको दिखाकर कहा जाय—'यह गोवर्धन है', तो यहाँ साक्षात् संकेत होगा। यदि उस पर्वतके समीपके गाँवको 'यह गोवर्धन है' कहा जाय तो यह संकेत परम्परा सम्बन्धसे ग्रहण किया जायगा। यह वाचक शब्द नहीं है, क्योंकि अर्थग्रहण साक्षात् नहीं है, वरन् लाक्षणिक है।

इस संकेतका 'ग्रहण' काव्यमें कई प्रकारसे होता है। सामान्यत यह अर्थग्रहण व्यवहारके द्वारा होता है। देख-सुनकर बालक बड़ोंके शब्द-अर्थके संकेतको समझ जाते हैं। बड़े लोग कहते हैं—'गैया ले आओ' और लड़का सेवकके द्वारा पशुविशेषको ही ले आया देखकर समझ लेता है कि गैया एक पशुविशेषके लिए संकेत है। आप्त-वाक्यों द्वारा भी संकेतग्रहण होता है। बड़े-बूढ़े बच्चोंको वस्तुओंका नाम सिखाते हैं और बच्चे उनके संकेतोंको याद कर लेते हैं। प्रसिद्ध शब्दके साहचर्यसे संकेतग्रहण इस रूपमें होता है कि कमलके साथ मधुकरका अर्थ भौंरा ही लिया जाता है, मधुमक्खी आदि नहीं। गैयाके समान नीलगाय होती है यह जानकर व्यक्ति जंगलमें देखकर उसे सादृश्य(उपमान)के आधारपर पहचान लेता है। इसी प्रकार व्याकरण तथा कोशके द्वारा भी संकेतग्रहण होता है।

विश्वनाथने मम्मटके आधारपर वाचक शब्द चार प्रकारके माने हैं—'संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च।' (सा० द० २ ४), अर्थात् ये जाति, गुण, द्रव्य तथा क्रियावाचक हैं। ये जाति, गुण, यदृच्छा (द्रव्य), क्रियावस्तु तथा पदार्थोंके धर्म-विशेष हैं और इन्हींमें उक्त शब्दोंके संकेतका ज्ञान होता है। जातिवाचक—जातिका बोध करानेवाला धर्म, जैसे, मनुष्यमें 'मनुष्यत्व' (मनुष्यका भाव) जाति है—मनुष्यका आकार-प्रकार तथा स्वभाव आदि उसकी मनुष्य जातिका सामान्य धर्म है, जो मनुष्यमात्रमें स्थित है। इसी प्रकार घोड़ा, हाथी गाय आदि जातिवाचक शब्द हैं। गुणवाचक—वस्तुकी विशेषताका बोध करानेवाला धर्म, अर्थात् एक ही जातिमें विभिन्न व्यक्तियोंके भेदको व्यक्त करनेवाला गुण। सभी गायोंके बीचमें किसी विशेषकी ओर संकेत करनेके लिए काली, सफेद, धौली आदि शब्दोंका प्रयोग गुणवाचक है। क्रियावाचक—जो शब्द-क्रियाको निमित्त मानकर प्रयुक्त होते हैं। पाचक, पाठक आदि शब्द क्रियावाचक हैं। यदृच्छा(द्रव्य)वाचक—जिनका प्रयोग केवल वक्ताकी इच्छापर निर्भर हो और उसीसे संकेतग्रहण करना हो। व्यक्तिके नाम व्यक्तिकी इच्छा पर निर्भर हैं। उनका प्रयोग जब प्रचलित हो जाता है तो उनको संकेतिक मान्यता प्राप्त हो जाती है। अत-

राम, श्याम, धर्मदत्त आदि यदृच्छावाचक शब्द हैं। जाति, गुण, यदृच्छा तथा क्रिया नामक चार वाचक शब्दोंके उदाहरण भिखारीदासने इस प्रकार दिये हैं–'जाति नाम जदुनाथ, अरु कान्ह जदिच्छा धारि। गुनते कहिये स्याम, अरु क्रिया नाम व्रसारि।' वाचक शब्दोंके अर्थको वाच्यार्थ कहते हैं, जो जाति, गुण, द्रव्य तथा क्रियापर आधारित है। मम्मटने इसे वैयाकरणोंका मत माना है। नैयायिकोंके अनुसार तो एकमात्र जाति वाच्यार्थ है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश'में विभिन्न दार्शनिक मतोंका सकेत देकर काव्यके प्रसगमें उन्हें अनुपयोगी माना है। —र०

वाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्य–गुणीभूत व्यंग्यका एक भेद। यह भेद वहाँ होता है जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थकी सिद्धि करता है। अपराग व्यंग्यमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थका सहायक होता है, किन्तु इसमें व्यंग्यार्थके विना वाच्यार्थ सिद्ध नहीं होता, असगत जान पड़ता है। 'करत प्रकास सु दिमिनको, रही ज्योति अति जागि। है प्रताप तेरो नृपति, वैरी-वस दवागि।' (का० क० पृ०–३१८), इस उदाहरणमें 'वैरी' शब्दके सामीप्यके कारण अभिधा द्वारा 'वंस' का अर्थ 'वश' हुआ, किन्तु 'वैरी वंश दावाग्नि है', इस कथनमें अर्थ-बाधा है। तदनन्तर व्यजनाके सहारे 'वैरीकुल बाँसके जगलके सदृश है' यह व्यंग्यार्थ ज्ञात हुआ। इस व्यंग्यार्थके सहारे ही वाच्यार्थ वैरी-वशका दावाग्नि होना सिद्ध होता है। —उ० श० शु०

वाच्योत्प्रेक्षा–दे०—'उत्प्रेक्षा', चौथा भेद।

वातावरण–दे०—'देश काल'।

वात्सल्य–वत्सल रसका स्थायी भाव है। माता-पिताका अपने पुत्रादिपर जो नैसर्गिक स्नेह होता है, उसे 'वात्सल्य' कहते है। मैकडुगल इत्यादि मनस्तत्त्वविदोंने वात्सल्यको प्रधान, मौलिक भावोंमें परिगणित किया है, व्यावहारिक अनुभव भी यह बताता है कि अपत्य-स्नेह दाम्पत्य रससे थोड़ी ही कम प्रभविष्णुतावाला मनोभाव है। सस्कृतके प्राचीन आचार्योंने देवादिविषयक रतिको केवल 'भाव' ठहराया है तथा वात्सल्यको इसी प्रकारकी 'रति' माना है जो स्थायी भावके तुल्य, उनकी दृष्टिमें चवर्णीय नहीं है (का० प्र० ४)। सोमेश्वर भक्ति एव वात्सल्यको 'रति'के ही विशेष रूप मानते हैं—'स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेष', लेकिन अपत्य-स्नेहकी उत्कटता, आस्वादनीयता, पुरुषार्थोपयोगिता इत्यादि गुणोंपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि वात्सल्य एक स्वतन्त्र प्रधान भाव है, जो स्थायी ही समझा जाना चाहिये। भोज इत्यादि कतिपय आचार्योंने इसकी सत्ताका प्राधान्य स्वीकार किया है। विश्वनाथने प्रस्फुट चमत्कारके कारण वत्सल रसका स्वतन्त्र अस्तित्व निरूपित कर 'वत्सलता-स्नेह'(वात्सल्य)-को इसका स्थायी भाव स्पष्ट रूपसे माना है—'स्थायी वत्सलतास्नेह पुत्राद्यालम्बन मतम्।' (सा० द० ३ २५१)।

हर्ष, गर्व, आवेग, अनिष्टकी आशका इत्यादि वात्सल्यके व्यभिचारी भाव हैं। उदा०—'चलत देखि जसुमति सुख पावै। ठुमुकि ठुमुकि पग धरनी रेंगत, जननी देखि दिखावै।' (सू० सा० सा० गो० ली० ७१) इसमें केवल वात्सल्य भाव व्यजित है, स्थायीका परिस्फुटन नहीं हुआ है। —र० ति०

वात्सल्य रस–वात्सल्य शब्द वत्ससे व्युत्पन्न और पुत्रादिविषयक रतिका पर्याय है। इसका प्रयोग रसकी अपेक्षा भावके लिए अधिक उपयुक्त है कदाचित् इसीलिए प्राचीन आचार्योंने 'वात्सल्य रस' न लिखकर 'वत्सल रस' लिखा और वत्सलता या वात्सल्यको उसका स्थायी भाव माना, यथा—भोजराज (११ श० ई० पूर्वा०)—'शृगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्न।' (शृ० प्र० १ ६)। विश्वनाथ(१४ श० ई० पूर्वा०)ने इसका लक्षण दिया है—'स्फुट चमत्कारितया वत्सलं च रस विदु। स्थायी वत्सलतास्नेह पुत्राद्यालम्बन मतम्।' (सा०द० ३ २५१), अर्थात् प्रकट चमत्कार होनेके कारण वत्सलको भी रस माना जाता है। वात्सल्य स्नेह इसका स्थायी भाव होता है तथा पुत्रादि आलम्बन। आगे उसका विस्तार देते हुए कहते हैं—'बाल सुलभ चेष्टाओंके साथ-साथ उसकी विद्या, शौर्य, दया आदि विशेषताएँ उद्दीपन है। आलिंगन, अगमस्पर्श, शिरका चूमना, देखना, रोमाच, आनन्दाश्रु आदि अनुभाव हैं। अनिष्टकी आशका, हर्ष, गर्व आदि सचारी माने जाते हैं। इस रसका वर्ण पद्मगर्भकी छवि जैसा और देवता लोकमाता या जगदम्बा है।' (सा० द० ३ २५३-५४)।

भोजराज(११ श० ई०)ने 'शृगार'को रसराज सिद्ध करनेके प्रसगमें अन्य रसोंकी गणना करते हुए उनकी सख्या 'वत्सल रस'को मिलाकर दस बतायी है, जिससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उनके समयतक नौ रसोंके समकक्ष वत्सलको भी मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण'में जिस सागोपाग रूपमें इसका निरूपण हुआ है उससे ज्ञात होता है कि काल-क्रममें इसको अधिकाधिक मान्यता एवं विकास प्राप्त होता गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि वात्सल्य रसका उद्गम-स्रोत दृश्य काव्यमें न होकर श्रव्य काव्यमें निहित है। भरत-(३ श० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'में ऐसा कोई सूत्र नहीं है जिससे इसकी सिद्धि हो सके। आठ नाट्यरसोंके साथ शान्तको मिलानेपर अधिकसे अधिक नौ रसोंको ही स्वीकृति उसमें मिलती है।

भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट जैसे आलकारिकों द्वारा मान्य 'प्रेयस्' नामक अलकारसे वात्सल्य रसके उद्गमका कुछ सम्बन्ध सम्भव दिखाई देता है। 'प्रेय प्रियतराख्यानम्' कहकर दण्डी(६ श० ई०)ने 'प्रेयस्' अलकारको प्रीति भावसे सम्बद्ध बताया। उद्भट (८-९ श० ई०)ने इसका जो उदाहरण दिया है उसमें 'सुतवाल्भ्यानिविशेषा स्पृहावती','मृगीकी गोदमें बैठे मृग-शावकका' भावपूर्ण चित्र समाविष्ट है, जिससे 'प्रेयस्'के वात्सल्य भाव होनेका आभास मिलने लगता है। रुद्रट(९ श० ई०)के 'काव्यालकार'से इसकी पुष्टि होती है। अभिनवगुप्त-(१०–११ श० ई०)ने 'अभिनवभारती'में नौ रसोंकी चर्चा करनेके उपरान्त अन्य रसोंकी सम्भावनाका संक्षिप्त उल्लेख तथा अपनी ओरसे उनका खण्डन करते हुए लिखा है कि 'बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्त।'

अर्थात् माता-पिताके प्रति बालकके स्नेहका अन्तर्भाव भयमें हो जाता है। आगे—'वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम्' अर्थात् इसी प्रकार वृद्धका पुत्रादिके प्रति स्नेह देखा जाना चाहिये। उनका तात्पर्य यह है कि वात्सल्य भावमात्र है और उसकी रसरूपमें स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जानी चाहिये। अभिनवगुप्तसे सहमति रखकर ही कदाचित् मम्मट(११ श० ई०)ने 'काव्यप्रकाश'में लिखा है—'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जित। भावः प्रोक्तः' (४ : ३५), देवता आदिके विषयमें उत्पन्न होनेवाली रति और प्रकटीकृत या व्यक्त व्यभिचारीको भाव कहा जाता है। मम्मटके रस-निरूपणसे पूर्व 'तद्विशेषानाह'की व्याख्या करते हुए 'बालबोधिनी' टीकाकारने जो टिप्पणी दी है उसमें पूर्वोक्त 'प्रेयन्'-विषयक अनुमानाश्रित धारणा प्रत्यक्ष हो जाती है—'किसीकी सम्मति है कि एक शृंगार रस ही रस है, किसीने प्रेयान्, दान्त, उद्धतके साथ वर्णित नव रसको द्वादश रस माना है। जिस रसका स्थायी भाव स्नेह हो उसको प्रेयास कहते हैं और इसीका नाम वात्सल्य है।' स्पष्ट ही यहाँ टीकाकारने भोजराजकी मान्यताका सन्दर्भ देते हुए प्रेयास-को ही वात्सल्य बताया है, जिसका संकेत 'वत्सलप्रकृते'के रूपमें 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में ही मिल जाता है। संस्कृत-काव्यशास्त्रमें वात्सल्यकी स्थिति किस प्रकार एक अलकारसे बढ़ते-बढ़ते रसतक पहुँच गयी, इसका कुछ आभास उपर्युक्त विवेचनसे हो जाता है।

वात्सल्यके स्थायीके सम्बन्धमें भी कहीं-कहीं भिन्न मत व्यक्त किया गया है। कवि कर्णपूरने 'ममकार'को, 'मन्दारमरन्दचम्पू'के रचयिताने कार्पण्यको इसका स्थायी भाव माना है। प्रारम्भमें वात्सल्यका अन्तर्भाव शृंगारके अन्तर्गत ही किया जाता रहा, क्योंकि वत्सलता रतिका ही एक विशिष्ट रूप है। सोमेश्वरने रतिके तीन भेद बताते हुए लिखा है—'स्नेह, भक्ति, वात्सल्य रतिके ही विशेष रूप है। तुल्योंकी अन्योन्य रतिका नाम स्नेह, उत्तममें अनुत्तमकी रतिका नाम भक्ति और अनुत्तममें उत्तम रतिका नाम वात्सल्य है।' (काव्यप्रकाशकी काव्यादर्श टीका)। यहाँ स्नेह, भक्ति और वात्सल्यमें भेद किया गया है। इससे वात्सल्य भक्तिकी भावनाका विलोम सिद्ध होता है। उत्तम और अनुत्तम शब्दोंमें कदाचित् श्रेष्ठताका अर्थ न लेकर छोटे-बड़ेका अर्थ ही लिया गया प्रतीत होता है। (दे०—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'का 'वात्सल्य रस' नामक लेख कोपोत्सव स्मारक संग्रह)।

केशवदास (१६-१७ श० ई०), चिन्तामणि (१७ श० ई० मध्य), भिखारीदास (१८ श० ई० पूर्वा०) आदि प्रायः सभी प्रमुख रीतिकालीन काव्याचार्योंने वात्सल्य रसकी उपेक्षा की है। उन्होंने इस विषयमें 'साहित्यदर्पण'का उदाहरण सामने न रखकर नौ रसोंकी रूढ परम्पराका पालन किया है। भारतेन्दु(१९ श० ई० उत्त०)ने अवश्य अपने 'नाटक' नामक ग्रन्थमें अन्य रसोंके साथ वात्सल्यको स्थान दिया है, पर उसका कारण भिन्न है। भारतेन्दुने वात्सल्यके साथ दास्य, सख्य और माधुर्यकी भी गणना की है, जिससे प्रकट हो जाता है कि उन्होंने इसकी अवतारणा गौडीय सम्प्रदायके भक्तिशास्त्रके आधारपर की, जो उनके समयतक वैष्णव भक्तिके क्षेत्रमें प्रायः सर्वमान्य हो चुका था। भक्तिशास्त्रके अनुसार भी वात्सल्य भाव ही सिद्ध होता है, क्योंकि रस तो भक्ति स्वय ही है जो उक्त चारों भावोंके द्वारा भावित होता है।

सूरदास द्वारा इस वात्सल्य भावका इतना विस्तार किया गया कि 'सूरसागर'को दृष्टिमें रखते हुए वात्सल्यको रस न मानना एक विडम्बना-सा प्रतीत होता है। हरिऔध-ने मूलतः इसी आधारपर वात्सल्यको रस सिद्ध किया है। यही नहीं, उन्होंने वात्सल्यको बीभत्स, हास्य आदि अनेक रसोंसे तर्कसहित श्रेष्ठ सिद्ध किया है।

कृष्ण-लीलाके अन्तर्गत सूरका वात्सल्य-वर्णन रसत्व-प्राप्तिके लिए अपेक्षित सभी अंगोपांगोंको अपनेमें समाविष्ट किये है। दूसरे, भक्तिकी दृष्टिसे वात्सल्य सूरका अपना भाव नहीं है। अतएव सूरसागरमें नन्द-यशोदा तथा अन्य वयस्क गोपियोंका बालकृष्णके प्रति प्रेम, आकर्षण, खीझ, व्यंग्य, उपालम्भ आदि सब कुछ वात्सल्य रसकी ही सामग्री है। कृष्णका सौन्दर्य-वर्णन तथा बाल क्रीड़ाओंका सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण भी इसीके अन्तर्गत आता है। तुलसी-की 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली' तथा 'कवितावली'में 'रामचरितमानस'से श्रेष्ठतर वात्सल्य रसकी कविता मिलती है। हरिऔधके 'प्रियप्रवास' और मैथिलीशरण गुप्तके 'साकेत' तथा 'यशोधरा'में नयी भूमिकाओंमें वात्सल्यका उद्रेक प्राप्त होता है।

कदाचित् किसी प्राचीन संस्कृत या हिन्दीके आचार्यने वात्सल्य रसके भेदोपभेद करनेकी चेष्टा नहीं की है। कारण स्पष्ट है कि अधिकतर उसे रस ही नहीं माना गया है। पर आनन्दप्रकाश दीक्षितने अपने शोधग्रन्थ 'काव्यमें रस'-में वात्सल्यके निम्नलिखित भेद माने हैं—१ गच्छत्प्रवास, २ प्रवासस्थित, ३ प्रवासागत, ४ करुण। यह चारों उपभेद वियोग-वात्सल्यके हैं, जो स्वयं एक भेद है। शृंगारकी तरह वात्सल्यके भी संयोग और वियोगके आधारपर दो भेद किये गये हैं, करुण वात्सल्य नामक विभेद करुण-शृंगार-के समानान्तर है। प्रवासपर आधारित विभेद वात्सल्य रसके वियोगपक्षमें उतने उपयुक्त नहीं लगते जितने विप्रलम्भ शृंगारमें, क्योंकि एक विशेष अवस्थातक शिशुमें प्रवाससामर्थ्य ही नहीं होती। (दे० 'काव्यमें रस', अप्र० प्र० पृ० ४९३-९६)। —ज० गु०

वाममार्ग—दे०—'तान्त्रिक मत'।

वाम सवैया—दे०—'सवैया', आठवाँ प्रकार।

वारिधर—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। इस वृत्तमें रगण, नगण और दो भगणोंका योग होता है (SIS, III, SII, SII)। आचार्योंने इस छन्दका निर्देश नहीं किया है, पर केशवने इसका प्रयोग किया है। उदा०—'राजपुत्रि यक बात सुनौ पुनि, रामचन्द्र मन माँह कही गुनि। राति दीह जमराम जनी जनु। जातनाति तन जानत कै मनु।' (रा० च० १३ ८९)। —पु० शु०

वार्तालाप—दे०—'कथोपकथन'।

वार्त्तिक—वृत्ति+ठक्—वृत्तौ साधु वार्त्तिक, 'वृत्तिरूपेण कृतो ग्रन्थो वार्त्तिकम्।' (क) साधारण अर्थ—१ व्यापार'

कुशल, वणिक् (क० स० सा०), २ वार्ताहर। (ख) विशेष अर्थ–१ मूलमें कथित, अकथित या अस्पष्ट कथित अर्थको स्पष्ट करनेवाले नियम, जैसा कि 'उक्तानुक्तदुरुक्तार्थव्यक्तिकारि तु वार्तिकम्' इस लक्षणसे ज्ञात होता है, २ वे ग्रन्थ जिनमें मूलका भाव स्पष्ट करनेवाले ऐसे नियम दिये गये हों। उपर्युक्त लक्षण पाणिनिकी अष्टाध्यायीपर कात्यायन द्वारा लिखे गये वार्तिकोंके विषयमें विशेष रूपसे घटित होता है और सम्भवत उन्हींको दृष्टिमें रखकर किया गया था। ये वार्तिक पाणिनिकृत सूत्रोंकी ही भाँति संक्षिप्त और गद्यात्मक हैं। पर इन्हें छोड प्राय अन्य सभी वार्तिक छन्दोबद्ध या पद्यात्मक ही हैं। ये सूत्रों तथा उनकी वृत्तिकी अपेक्षा सक्षिप्त होते हैं, पर इसका अपवाद भी मिलता है, जैसे कुमारिलके श्लोक-वार्तिक तथा तन्त्र वार्तिक, स्वामी शकराचार्यकृत 'बृहदारण्यकोपनिषद्'-भाष्यपर सुरेश्वराचार्यके वार्तिक भाष्योंसे छोटे नहीं, बहुत बडे हैं। उद्योतकारका न्यायवार्तिक भी वात्स्यायनके न्याय भाष्यपर लिखा गया है और कथमपि सक्षिप्त नहीं कहा जा सकता। फिर ये वृत्ति और भाष्यके बीचके नहीं, भाष्योंके बादके हैं। धर्मकीर्तिका प्रमाणवार्तिक व्याख्यान ग्रन्थ नहीं, मौलिक ग्रन्थ है। इसपर उनकी अपनी 'वृत्ति' है, पर यह 'वृत्ति' शब्द यहाँ टीका या व्याख्यानके सामान्य अर्थमें प्रयुक्त है।—आ० प्र० मि०

वासकसज्जा (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद, विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भरत द्वारा उल्लिखित। वासकका अर्थ है सुगन्धि और वस्त्र, सज्जाका अर्थ है आभूषित करना अर्थात् सुगन्धादि तथा वस्त्रादिसे अपनेको सुसज्जित करनेवाली नायिका। भानुदत्तके अनुसार 'अद्य मे प्रियवासर इति निश्चित्य या सुरतसामग्रीं सज्जीकरोति।' (र० म० पृ० १२३), अर्थात् अपने प्रियका निश्चित मिलन जानकर साज-श्रृंगार करनेवाली नायिका। मतिरामने इसी भावको व्यक्त किया है—'ऐहैं प्रीतम आजु यों निश्चय जाने वाम। साजे सेज सिंगार सुख ' (र० रा० १६७)। पर कुछ आचार्योंने केवल 'पिया मिलनके काज' (पद्माकर), इस सज्जाको माना है। इस परिस्थितिको स्वकीयाके मुग्धादिक भेदोंमें, परकीया तथा सामान्यामें प्राय स्वीकार किया गया है। मुग्धा वासकसज्जामें उचित लज्जा तथा सकोच है—'हरुउ गवन नवेलिया दीठि बचाइ। पौढी जाइ पलँगिया सेज बिछाइ।' (रहीम)। रसलीन मध्याकी सज्जाका वर्णन सुन्दर चित्रके रूपमें प्रस्तुत करते हैं—'लाल मिलन गुन तनु सजति बाल बदनकी जोति। खिनक कमल सी मलिन खिन अमल चन्द सी होति।' (ब्र० भा० ना० २ ४१५)। प्रौढाकी सज्जा और प्रतीक्षामें सकोचका अभाव है—'सब सिँगार सुन्दरि सजै बैठी सेज बिछाय। भयो द्रौपदीको बसनु बासर नाहिं बिहाय।' (मतिराम र० रा० १७३)। परकीयाने मिलनके अवसरको जानकर सज्जा की है—'फूल बिनन मिसि कुजमें पहिरि गुंजकी माल।' (पद्माकर जगद्वि० १ २११)। सामान्याकी इस परिस्थितिका चित्रण और भी स्वाभाविक बन पडा है—'सुन्दरि सेज सँवारिकै साजे सकल सिँगार। दृग कमलनके द्वारपै बाँधे बन्दनवार।' (मतिराम वही १७७)। इस नायिकाके रूपमें भक्त कवियोंने राधा तथा गोपियोंके मिलनके लिए श्रृंगार तथा साथ ही तदनुरूप मनोभावोंका वर्णन किया है। विद्यापति और सूरने राधाके वासकसज्जा-रूपका अकन भी किया है। रीतिकाव्यमें साज-सज्जा तथा मिलनोत्कण्ठाको एक साथ अकित किया गया है।

वाह्यवादी आलोचना-प्रणाली–प्रस्तुत शब्द अंग्रेजीके 'फॉर्म'के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'फॉर्म'के लिए हिन्दीमें 'शिल्प', 'रूप' प्रयुक्त होता है। इसीलिए कुछ विद्वानोंने इसको रूपात्मक, शिल्पगत तथा कलागत आलोचनाके नामसे अभिहित किया है। परन्तु आलोचनाके इतिहासकी पीठिकामें वाह्य शब्द ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि सस्कृतसे प्रभावित हिन्दी आलोचनामें रूप या शिल्पको वाह्य ही माना गया है। अत अंग्रेजीका 'फॉर्मल क्रिटिसिज्म' हिन्दीमें 'वाह्यवादी आलोचना'के नामसे अभिहित होता है।

जिस प्रकार हमारी आत्मा और शरीर, दोनों दो भिन्न वस्तुएँ है और भिन्न होकर भी अभिन्न हे (क्योंकि यदि शरीर न रहे तो आत्माके अस्तित्वका पता न चले और आत्मा न रहे तो शरीर निर्जीव हो जाय), उसी प्रकार साहित्यके भी दो तत्त्व हैं—आत्मा और शरीर, भाव और रूप, फॉर्म और मैटर अथवा वाह्य और अन्तर। साहित्यके ये दोनों तत्त्व एक होकर भी दो हैं। फलत साहित्यके आलोचकोंने इन्हें स्वतन्त्र रूपमें मान्यता दी है।

इस दृष्टिसे वाह्यवादी आलोचना, आलोचनाकी वह पद्धति कहलायेगी जो साहित्यके वाह्य पक्ष अर्थात् शिल्प और रूपको अधिक महत्त्व देती है।

इसका इतिहास बहुत पुराना है। यद्यपि प्लेटो और अरस्तूने फॉर्मको हेय माना, किन्तु व्यवहाररूपमें इन्होंने इसीका विवेचन किया। प्लेटोने काव्यकी अनुभूतिको ऐन्द्रिय अनुभूति मानकर उसे समाजका विरोधी ठहराया। अरस्तूने 'पोयटिक्स'में नाटक और महाकाव्यके सामान्यत वाह्यागका ही विवेचन किया। वैसे योरपमें नव्य-शास्त्रवादके कालको रीतिका काल कहा जा सकता है। पोपकी आलोचना अर्थको गौरव देकर भी शैली या रीतिको अधिक महत्त्व देती है। विक्टर ह्यूगो, पेटर, वाल्टर रेले आदिने इसी पद्धतिका अनुसरण किया। स्वय **अभिव्यंजनावाद** (जो कि मूलत वाह्यवादका विरोधी है) सौन्दर्यका अस्तित्व रूपसे भिन्न नहीं मानता। इसके कट्टर समर्थक तो वाह्यवादका पोषण ही करते हैं।

वस्तुत इस आलोचना-पद्धतिका जितना विशद एव पूर्ण विवेचन सस्कृत-साहित्यशास्त्रमें उपलब्ध है उतना यूरोपीय साहित्यशास्त्रमें नहीं। रीतिवादी, वक्रोक्तिवादी, अलकारवादियोंने स्पष्टतया काव्यके केवल वाह्यपक्षको ही महत्त्व दिया है। ऐसी निर्भीक घोषणाएँ अन्यत्र दुर्लभ हैं। यहाँतक कि रीतिवादियोंने रीतिको ही काव्यकी आत्मा माना तथा रीतिके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए वामनने लिखा—'इन तीन रीतियोंके भीतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओंके भीतर चित्र।' अलकार-सम्प्रदायवालोंने सालकार शब्द-अर्थको ही काव्यकी आत्मा माना।

हिन्दीमें संस्कृतके रीतिवादियोंका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा। फलतः हिन्दी आलोचनाका प्रथम उत्थानकाल इसी सिद्धान्तसे प्रभावित रहा। उसका नाम भी रीति युग दिया गया। केशवदास, सेनापति, चिन्तामणि, कुलपति, देव, दास आदि कवि आचार्योंने काव्यके बाह्यपक्षको ही अधिक महत्त्व दिया।

संक्षेपतः हिन्दी रीति-युग ही प्रस्तुत प्रणालीका सच्चा समर्थक माना जायगा। —रा० कु० सु०

विकल्प—वाक्य-न्यायमूल अर्थालंकार, शब्दका अर्थ है 'यह या वह'। इस अलंकारमें समान सामर्थ्ययुक्त परस्पर विरोधी पदार्थोंमें एक ही काल और स्थितिमें विरोध दिखाया जाता है, अर्थात् जहाँ 'यह या वह' इस प्रकारका कथन किया जाय—'अनेन वान्येनेति विकल्पः' (कौटिल्य अर्थशास्त्र)। सर्वप्रथम रुय्यकने इसका प्रतिपादन किया है और इसके मूलमें 'उपमा' मात्रको आवश्यक माना है—'औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्' (अल० सू० : पृ० १५३)। विश्वनाथने 'चन्द्रालोक'का आधार ग्रहण किया है—'विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुत।' (सा० द० १० : ८४), अर्थात् दो समान सामर्थ्यवाली वस्तुओंका चातुर्यपूर्ण विरोध-प्रदर्शन।

हिन्दीमें 'कुवलयानन्द'के आधारपर जसवन्त सिंहने इसको लिया है। इस परम्परामें लक्षण करनेवाले आचार्योंमें भूषण, सोमनाथ तथा दास आदिने 'कै वह कै यह'-(शि० रा० भू० : २४९)के विकल्पको अलंकार माना है, पर 'साहित्यदर्पण'के अनुसार लक्षण देनेवाले मतिराम हैं—'समबलजुत द्वै बातको बरनत जहाँ विरोध' (ल० ल० : २७५)। पद्माकरका ऐसा ही मत है।

हिन्दीके कई आचार्योंने उदाहरणमें केवल विकल्पका भाव रखा है और इस कारण अलंकारका उचित निर्वाह नहीं हुआ है। मतिरामका यह उदाहरण समुचित है—'बैर तो बढ़ायो कह्यो काहूको न मान्यो, अब दाँतनि तिनूका कै कृपान गहो करनें' (ल० ल० : २७६) इसमें 'या तो दाँतोंमें तिनका दबाओ या हाथमें तलवार धारण करो' इन दो समान बलयुक्त बातोंमें प्रत्यक्ष विरोध है। सन्धि-विग्रहवाली दोनों बातोंका साथ साथ एक ही कालमें होना असम्भव है। एकके पर्यवसानमें ही दूसरेका आश्रय लिया जा सकता है। मतिरामके सम्पूर्ण छन्दमें तो इस प्रकारकी तुल्यबल वस्तुओंका विरोध चार बार हुआ है। चारोंमें एक भी विरोधमें कहीं शैथिल्य नहीं है। आधुनिक ब्रजभाषा-कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर'ने अपने काव्यमें अनेक स्थलोंपर इसका सुन्दर निर्वाह किया है—'कै तो तव विजय जयद्रथ सुनैहै जाय, कै तो लै पराजय प्रलाप आप ऐहौ मैं।'

अथवा, ननरु, या, कि, किनो आदि इस अलंकारके वाचक हैं। इस अलंकारमें चार स्थितियाँ स्वीकार की गयी हैं—१ समान बलकी वस्तुएँ, २. दोनोंका सम्पादन एक साथ एक व्यक्तिके द्वारा न हो सके, ३ इच्छानुसार एकको वरण करनेकी छूट तथा ४ दोनोंमें कल्पित साम्य, जैसा कहा गया है, मात्र विकल्प होनेसे यह अलंकार सिद्ध नहीं होता। 'सन्देह' अलंकारमें अनिश्चय होता है, पर इसमें निश्चय। एक प्रकारसे यह 'समुच्चय'के विपरीत भी है। —वि० स्ना०

विकसनशील महाकाव्य—दे०—'महाकाव्य', 'कथाकाव्य'।

विकस्वर—अर्थान्तरन्यासमें अन्तर्भूत अर्थालंकार, यह अलंकार अपेक्षाकृत अर्वाचीन है, क्योंकि भामह, दण्डी आदि प्राचीन अथवा मम्मट, विश्वनाथ आदि अपेक्षाकृत अर्वाचीन आचार्योंने इस अलंकारका उल्लेख नहीं किया है। 'कुवलयानन्द'में इसका स्वतन्त्र उल्लेख है। वस्तुतः इसका अन्तर्भाव अर्थान्तरन्यासमें मानना चाहिये, जिसमें सामान्यका विशेषके द्वारा समर्थन होता है। उद्योतकारने ऐसा ही किया है। पण्डितराज जगन्नाथने विकस्वरके प्रथम प्रकारको उदाहरणके और दूसरेको अर्थान्तरन्यासके अन्तर्गत माना है। हिन्दीके अनेक आचार्योंने भी इसको स्वतन्त्र मान्यता नहीं दी है। उदाहरणतः भूषणने 'शिवराजभूषण'में इसका उल्लेख नहीं किया है। दास, पद्माकर आदिने अप्पय दीक्षितके अनुसरणपर अपनाया है। मतिरामने इसकी निम्नलिखित परिभाषा दी है—'कहि विशेष सामान्य पुनि कहिये बहुरि विसेष' (ल० ल० २९१), अर्थात् जहाँ विशेषका सामान्यसे समर्थन करके फिर उस सामान्यका उस विशेष द्वारा समर्थन किया जाता है वहाँ विकस्वर (विकसनशील) अलंकार होता है। उदा०—'मधुप मोह मोहन तज्यो, यह स्यामनकी रीति। करौ आपने काज लौं, तुम्हैं भाँति सौं प्रीति।' (ल०ल० : २९३)। यहाँ प्रथम चरणके पूर्वार्द्धमें जो विशेष है, उसका उसके उत्तरार्द्धमें प्रतिपादित सामान्य द्वारा समर्थन हुआ है और फिर द्वितीय पंक्तिमें सामान्यका एक अन्य विशेष द्वारा समर्थन हुआ है। कन्हैयालाल पोद्दारने विशेष द्वारा समर्थनकी इस अन्तिम प्रक्रियाको दो प्रकारसे वर्णित किया है—१ उपमा द्वारा और २ अर्थान्तरन्यास-रीतिसे। —ध० म० शा०

विकासवाद—व्यापक रूपसे विकासवादका अर्थ है वह मत जो प्रस्फुटन, व्यक्तीकरण, विकासमें विश्वास करता है। आधुनिक विज्ञानसे हमें नक्षत्रों और सौर मण्डल, पृथ्वी, अणुओं, समाजों, प्राणियों आदि तथा भाषा, धर्म, परम्परा और आदर्शोंके विकासका ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु सामान्यतया विकासवाद शब्दका प्रयोग वनस्पति और प्राणिवर्गके सम्बन्धमें किया जाता है। प्रस्तुत विवेचन उसके इस पक्षतक ही सीमित है।

विकास सम्बन्धी धारणाओंका इतिहास काफी पुराना है। भारत और ग्रीस, दोनों देशोंके दर्शनोंमें तत्सम्बन्धी आरम्भिक विचार मिलते हैं। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक युगमें विकासकी प्रक्रियापर सम्यक् रूपसे विचार और गवेषणा हो सकी है। वर्तमान युगमें विकासवाद-सिद्धान्तकी स्थापना करनेवाला प्रथम वैज्ञानिक ला मार्क (१७४४-१८२९ ई०) है। उसके अनुसार प्राणी जिन गुणोंको अपने जीवनकालमें अर्जित करता है, वे सन्ततिमें भी परिवहित हो जाते हैं। परिवर्तनकी प्रक्रिया इसी प्रकार होती है। जिन अंगों और पेशियोंका उपयोग होता रहता है वे पुष्ट और विकसित होती हैं, जिनका उपयोग नहीं होता वे क्षीण और दुर्बल हो जाती हैं। ला मार्कने व्यक्तिके प्रयास और इच्छाके महत्त्वको भी स्वीकार किया है। किन्तु इस

सिद्धान्तका पर्याप्त साक्षी न मिलनेसे अधिकाश वैज्ञानिकोंने उसे त्याग दिया है।

आधुनिक विकासवादके इतिहासमें दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम चार्ल्स डार्विन(१८०९-१८८२ ई०)का है। डार्विनने चार बातोंपर बल दिया है—१ आनुवंशिकता। समान माता-पितासे समान सन्ततिकी उत्पत्ति होती है। प्रकृति अत्यन्त उर्वरा है। कुछ प्राणियोंकी वशवृद्धि ज्यामितीय अनुपातमें होती है। २ परिवर्तिता—प्राणियोंमें व्यक्तिगत भेद होते हैं। ये भेद आगिक कारणों अथवा सयोगजन्य होते हैं। ३ अस्तित्वके लिए सघर्ष–प्राणियोंमें जीवनके लिए घोर सघर्ष होता है। ४ योग्यतमका अनि जीवित रहना—इस सघर्षमें योग्यतम प्राणी ही जीवित बच पाते हैं।

आगे चलकर वाइजमैन (१८३४-१९१४) और ह्यूगो डी व्राइसने भी अपने सिद्धान्तोंसे डार्विनके मतको परिपूर्ण किया। इधर लायड मार्गनके निर्गत विकासवाद(एमरजेण्ट इवोल्यूशन)के सिद्धान्तको विशेष मान्यता प्राप्त हुई है। इसके अनुसार जीवन और जगत्के विकासके मध्य नये गुणोंसे युक्त ऐसे नये रूपोंका उद्भव होता है, जिनकी व्याख्या पूर्वगामी स्तरोंसे नहीं की जा सकती (जैसे, भौतिक पदार्थ—जीवन—बुद्धि—मूल्य)। फ्रेंच दार्शनिक वर्गसाँने विकासवादके यान्त्रिक सिद्धान्तोंका प्रत्याख्यान करते हुए अपने सर्जनात्मक विकासवादका सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

विकासवादने मनुष्यकी विचारधारापर गम्भीर और व्यापक प्रभाव डाला है। उसने विचारजगत्में एक क्रान्ति ही कर डाली है और वह आधुनिक मनीषाका एक अविभाज्य अग बन गया है। विश्व, मनुष्य, ज्ञान और चेतना, नैतिकता और मूल्यों, धर्म और ईश्वरके प्रति मनुष्यकी धारणाओंको उसने लगभग बदल डाला है। सम्भवत विज्ञानकी अन्य किसी खोज या सिद्धान्तोंसे मनुष्यकी विचारणाओंपर इतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ा।

इस सिद्धान्तसे प्रभावित होकर मनुष्यको यह विचार त्याग देना पड़ा है कि समाज और जगत् स्थिर है। परिवर्तन, विकास, परिवर्धन और उन्नति उसके जीवन-सूत्र बन गये हैं। मानवताका दृष्टिकोण लोकपरक और ऐहिक हो गया है। मनुष्य अब अपनेको सृष्टिका केन्द्र और सर्वोच्च शिखर न मानकर इतर प्राणियोंकी भाँति एक पशुजाति मानने लगा है। मनुष्यकी चेतना और उसके द्वारा स्वीकृत चिरन्तन मूल्य अब उतने असन्दिग्ध नहीं रह गये। विकासवादके आधारपर नयी नैतिकता और नये मूल्योंका प्रस्फुटन हुआ है। नैतिकता किसी सत्य अथवा ऋत, किसी ईश्वर अथवा अवतारकी आज्ञा न रहकर मनुष्य और जीवनमें ही आधारित सिद्ध हुई है। स्वयं धर्म विकासकी प्रक्रियासे उत्पन्न हुआ है। धर्मका आधार मानवीय अनुभूति और बुद्धि है। ईश्वरने यह सृष्टि ऐसी ही किसी दिन नहीं उत्पन्न कर दी थी, उसका निर्माण प्रतिक्षण हो रहा है।

विकासवादके सिद्धान्तोंसे प्रभावित सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक नीत्शे है। उसने करुणा, बन्धुता, प्रेम आदिके पुरातन मूल्योंका अवमूल्यन करके जीवन-सघर्षमें विजयश्री प्रदान करनेवाले क्रूर एव निर्मम गुणोंको विकसित करनेपर बल दिया। नात्सी और फासिस्ट आन्दोलनोंका मूलाधार विकासवादी दर्शन है। पाश्चात्य मनीषापर विकासवादका इतना व्यापक प्रभाव पड़नेके कारण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपसे साहित्य भी उससे अछूता नहीं रह सका। जीवन तथा साहित्यके दृष्टिकोणको आधुनिक युगमें धार्मिकसे ऐहिक बनानेमें विकासवादका महत्त्वपूर्ण योग रहा है। —आ०

विक्षेप–दे०—'स्वभावज अलकार', चौदहवाँ।

विगताख्यान–दे०—'फ्लैशबैक'।

विघटन (disintegration)–जब सकटापन्न समाज सकटके आगे घुटने टेक देता है तब उसमें विघटन आरम्भ हो जाता है। सामाजिक विघटनका अर्थ है समाजका छिन्न-भिन्न हो जाना। सकट पाँच प्रकारके होते हैं—(१) प्रकृतिका कोप–भीषण सूखा, अकाल, जलप्लावन, महामारी, भूगर्भगत उपद्रव इत्यादि, (२) युद्ध—आक्रमणात्मक अथवा रक्षात्मक, (३) आन्तरिक अव्यवस्था—अशान्ति अथवा उपद्रव, (४) समाजकी जीवनी शक्तिका ह्रास और (५) मूल्यों अथवा आदर्शोंका पतन—आदर्शशून्यताकी स्थिति। प्रथम सकटका निवारण न कर सकनेपर जन-समाजका एक भाग नष्ट हो जाता है और शेष तितर-बितर होकर अन्य समाज अथवा समाजोंमें जा मिलता है। द्वितीय सकटका वारण न कर सकनेपर भी समाजका एक बड़ा भाग इसी प्रकार नष्ट अथवा अभिद्रुत हो जाता है और शेष आक्रामकका दास बनकर अपनी स्वतन्त्र सामाजिक सत्ता खो देता है। तृतीय सकटका वारण न कर सकनेपर भी समाजकी कुछ ऐसी ही दशा हो जाती है। चतुर्थ और पंचम सकट जितने महत्त्वपूर्ण हैं उतना ही जटिल उनका विश्लेषण और विवेचन। आगे जो कुछ लिखा जा रहा है उससे इनपर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ेगा।

विशेषत प्रथम महायुद्धके कालसे अबतक अनेक इतिहासज्ञ, दार्शनिक तथा अन्य प्रकारके विचारक यह घोषणा करते आ रहे हैं कि पाश्चात्य अथवा यूरोपीय सभ्यताका सूर्य या तो अस्त हो चुका है या शीघ्र ही अस्त होनेवाला है। इनमेंसे अनेकने सस्कृतियोंके जन्म और मरणके विषयमें व्यापक सिद्धान्तोंकी उद्भावना कर डाली है। इनमें ओस्वाल्ट स्पेंग्लर, आर्नाल्ड जे ट्वायनबीके अनुसार पहले भी अनेक सस्कृतियाँ विघटित और विनष्ट हो चुकी हैं, जिनमेंसे कई शव धरित्री अब भी वहन कर रही है।

संस्कृति अथवा सभ्यताका विघटन और विनाश क्यों और कैसे होता है? स्पेंग्लरका उत्तर है कि प्रत्येक सस्कृति एक सजीव प्राणी अथवा पौधेके समान जन्म लेती, बढ़ती और परिपक्व होती है और जब वह अपनी सम्पूर्ण सम्भावना-राशिका यथार्थ कर चुकती है तब विघटित और विनष्ट हो जाती है। विघटनके समय सस्कृतिकी पूरी मीनार धराशायी होने लगती है। पहले विश्व-नगर विघटित होते हैं, फिर प्रान्त और अन्तमें समूचा देश विघटित हो जाता है। बचे खुचे मनुष्य आदिम, बर्बर अथवा दासताकी अवस्थाको प्राप्त होकर रह जाते हैं।

ट्वायनबीकी मान्यता है कि सभ्यता जबतक परिसर (एनविरनमेण्ट) अथवा परिस्थितिकी चुनौतीका सफल प्रति-

कार करती रहती है तबतक सम्वर्द्धित होती रहती है और जब उसकी यह क्षमता नष्ट हो जाती है तब उसमें विघटन आरम्भ हो जाता है। सभ्यतामें सर्जन-शक्तिका एवंविध ह्रास ही विघटनका कारण है। विकास और ह्रासकी प्रक्रियाका लेखा यह है कि सभ्यताके उद्भव और विकासका कारण है परिसरकी चुनौती तथा समाजकी सर्जनशील अल्पसंख्या (क्रीएटिव माइनारिटी) द्वारा उसका सफल प्रतिकार। प्रत्येक नयी चुनौती नये उत्तर, नयी प्रतिक्रियाकी माँग करती है। जब यही सर्जनशील अल्पसंख्या सर्जन कार्यकी ओरसे उदासीन एवं आलस्य-प्रमादसे विजड़ित हो जाती है तब उसमें जनताकी श्रद्धा क्रमशः कम होने लगती है। अतः उस अल्पसंख्याको बल-प्रयोग द्वारा अपना महत्त्व रखना पड़ता है। इस प्रकार वह सत्ताधारी अल्पसंख्या (डोमिनेण्ट माइनारिटी) मात्र होकर रह जाती है। फलतः सभ्यताका आन्तरिक तनाव बढ़कर विघटन आरम्भ हो जाता है। ट्वायनबी सभ्यताके ह्रास-कालके तीन सोपान बतलाता है—१ पतन, २ विघटन और ३ विनाश। प्रथमसे तृतीय सोपानतक पहुँचनेमें कभी-कभी शतियाँ—सहस्त्रियाँ लग जाती हैं। ट्वायनबीमें इस बातके भी संकेत मिल जाते हैं कि यूरोपीय सभ्यता पतनोन्मुख है, यद्यपि वह इसे बचानेके लिए भगवान्से प्रार्थना भी करता एवं करनेकी सिफारिश करता है। स्पेंग्लर और ट्वायनबी, दोनोंका मत है कि विघटन एवं विनाशके बाद सभ्यता प्रायः शतियों-सहस्त्रियोंतक अपना प्रस्तरीभूत अस्तित्व बनाये रखती है, किन्तु वह विश्वके रंगमंचपर कोई भूमिका ग्रहण करने योग्य नहीं रह जाती।

सोरोकिनकी स्थिति निराली है। वह सम्पूर्ण समाजको पूर्णतः एकीभूत अवयवी माननेके पक्षमें नहीं है। अतः उसका कहना है कि जब सम्पूर्ण पाश्चात्य संस्कृति कभी संघटित ही नहीं रही तो विघटित कैसे होती? वह विघटन केवल महासंस्थानमें ही मान सकता है। उसकी मान्यता यह है कि पाश्चात्य संस्कृति जिस इन्द्रियवादी महासंस्थानके शासनमें है उसका विघटन हो रहा है और उसके विघटनसे तदधीन सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थान भी विघटित हो रहे हैं। वह इस बातको स्पष्ट कर देता है कि जो सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थान तथा समुदाय इस इन्द्रियवादात्मक महासंस्थानके अन्तर्गत नहीं हैं उनका विघटन न हो रहा है और न हो सकनेका कोई अर्थ है।

सोरोकिनकी धारणा है कि जब महासंस्थानमें विघटन आरम्भ हो जाता है तब समाजको एक महान् संकटकालसे गुजरता हुआ समझना चाहिये। ऊपर हमने पाँच प्रकारके संकट बताये हैं, उनमेंसे चौथे संकटकी मीमांसा स्पेंग्लर और ट्वायनबीके मतोंकी मीमांसाके साथ हो गयी है। सोरोकिनके मतका सम्बन्ध पाँचवें प्रकारके संकटसे है। उसकी समझमें इससे बड़ा दूसरा संकट नहीं। महासंस्थान समाजके मूल्यों एवं आदर्शोंकी समष्टिका नाम है।

संकटकालमें मनुष्यके मन, चरित्र, समूहों अथवा संस्थाओंमें जो अन्तर्विरोध निहित होते हैं, वे व्यक्त हो जाते हैं। इस स्थितिको सोरोकिन द्वन्द्वग्रस्तता (पोलराइजेशन) कहता है। जब द्वन्द्वग्रस्त व्यक्तिकी आन्तरिक दोनों परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ तुल्यबल होती हैं, तब वह खण्डित-व्यक्तित्व हो जाता है, जब इस प्रकारकी प्रवृत्तियोंकी संख्या अधिक होती है, तब उसके मन और व्यवहारमें अनेकदिक् विघटन आरम्भ हो जाता है और उसके फलस्वरूप वह असाधारण बन जाता है और यदि वे प्रवृत्तियाँ तुल्यबल नहीं हुईं तो प्रबलतर या प्रबलतम प्रवृत्ति विजयी होती है और फलतः उस व्यक्तिके मन और व्यवहारमें अब उस प्रवृत्तिकी दृष्टिसे पहलेसे अधिक सामंजस्य और दृढ़ता आ जाती है। उदाहरणार्थ, यदि पापोन्मुखता और पुण्योन्मुखताके युद्धमें पापोन्मुखताकी विजय होती है तो द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति संकटकालमें कहीं अधिक नियमित रूपसे पापकर्मा हो जाता है और यदि पुण्योन्मुखताकी विजय हुई तो वह संकटकालमें कहीं अधिक साधुवत् आचरण करने लगता है। इस प्रकार संकटापन्न समाज अतियोंसे ग्रस्त हो जाता है—उसमें बीचकी स्थिति, मध्यम पथका लोप हो जाता है।

संकटकालमें समाजके मूल्यों, मानों, प्रतिमानों एवं आदर्शोंका भी विघटन, विनाश और पुनस्संघटन देखनेको मिलता है। मूल्योंके आपसी संघर्षमें निर्बल मूल्य सर्वथा विघटित और विनष्ट हो जाते हैं, लेकिन यदि वे तुल्य बल हुए तो दोनों लड़कर नष्ट हो जाते हैं और या तो उनके स्थानपर एक तीसरा ही मूल्य आ धमकता है या एक शून्य उत्पन्न हो जाता है। मूल्यगत शून्य अथवा आदर्श-शून्यताकी अवस्था समाजके लिए अत्यन्त भयावनी है, क्योंकि इसके कारण समाजका सर्वतोमुखी विघटन आरम्भ हो जाता है। अन्ततः मूल्य अथवा आदर्श ही समाजके विभिन्न सदस्यों अथवा अंगोंको एकताके सूत्रमें आबद्ध किये हुए हैं। कहना न होगा कि आजकल प्रायः सभी पुराने मूल्य विघटित होते जा रहे हैं और मूल्य-शून्यताकी आशंका उत्पन्न हो गयी है। —ह० ना०

विचार-नियंत्रण—फासिस्ट तानाशाही विद्यालयोंपर पूरा नियन्त्रण रखती है, वह उन्हें शैक्षिक बैरक बनाकर छोड़ती है। उनमें विद्यार्थीको वही पढ़ना, सोचना, मानना, लिखना होता है जो राज्य द्वारा स्वीकृत है। स्वतन्त्रचेता व्यक्तियोंके लिए फासिस्ट राज्यमें कोई स्थान नहीं। एक फासिस्ट लेखक कहता है कि फासिस्ट राज्यमें वैज्ञानिकको वैसे ही सत्यकी खोजमें स्वतन्त्रता है जैसा कि राज्यको दिखाई देता है। ऐसे राज्यमें कलाकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। शिक्षाके समान कलाको फासिस्ट प्रचारका साधनमात्र बनकर रह जाना होता है। गोबेल्सने कहा था कि तटस्थ, अराजनीतिक कलाके लिए जर्मनीमें कोई स्थान नहीं होना चाहिये।

वस्तुतः फासिज्मको मानव-विवेकमें आस्था ही नहीं है। उसका सारा जोर विवेकशून्य सहज प्रवृत्तियों (instincts) और क्रियाशीलतापर है। यहाँतक कि वह शब्दशः शान्तिका शत्रु है और युद्धको वरदान समझता है। मुसोलिनीने कहा था, 'मैं नित्य, निरन्तर शान्तिमें विश्वास नहीं करता, यही नहीं कि मैं केवल इसमें विश्वास नहीं करता, बल्कि मैं इसे अवसादजनक तथा मनुष्यके समस्त मौलिक गुणोंका अभाव-स्वरूप मानता हूँ।' वस्तुतः

फासिज्म बुद्धिवाद-विरोधी विचारधाराओंमें अग्रगण्य है। वह ज्ञानमें नहीं, क्रियामें आस्था रखता है। जर्मन दार्शनिक हेडेगरने कहा था कि उसे दार्शनिकोंकी अपेक्षा कृषकोंसे अधिक ज्ञान प्राप्त होता है। फासिस्ट उससे भी आगे बढ़कर कहता है कि उसे खेतकी भी अपेक्षा युद्ध-क्षेत्रमें अधिक ज्ञान प्राप्त होता है। —इ० ना०

विचित्र–एक अर्थालंकार, यह अलंकार अपेक्षाकृत गौण अलंकारोंमें है और संस्कृतके बहुत थोड़े आचार्योंने इसे प्रश्रय दिया है। मम्मटने इस अलंकारको अपने ग्रन्थमें स्थान नहीं दिया। इस अलंकारकी प्रथम विवेचना रुय्यकने विरुद्ध फलके लिए प्रयत्न करनेके रूपमें की है (अ० स० : पृ० १३३)। इसीके आधारपर जयदेव, विश्वनाथ आदिने इसका विवेचन किया है—'तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत्।' (सा० द० १० . ७२), अर्थात् जहाँ इष्ट फलकी प्राप्तिके लिए विपरीत प्रयत्न किया जाय। हिन्दीके आचार्योंने प्राय इनके तथा 'कुवलयानन्द'के आधारपर लक्षण दिये हैं—'जहाँ करत हैं जतन फल, चित्त चाहि विपरीत।' (शि० भू० २१२)। यह अलंकार तब होता है जब, जो इष्ट फल है उसकी प्राप्तिके लिए उसके विपरीत प्रयत्न किया जाय। उदा०—'अमर बनें इस लोभसे रणमें मरते वीर। भवसागरके पारको बूँडे गगा नीर।' (रामदहिन मिश्र)। विचित्रका अर्थ है अद्भुत, विस्मय अथवा आश्चर्य। इष्ट फलके विपरीत प्रयत्न करनेमें एक अद्भुतता है और वही इस अलंकारका चमत्कार है। —भ० व्र० शा०

विचित्र मार्ग–दे०—'त्रिमार्ग-सिद्धान्त', दूसरा प्रकार।

विचित्रविभ्रमा–दे०—'प्रौढा' (नायिका)।

विचित्रसुरता–दे०—'मध्या' (नायिका)।

विच्छित्ति–दे०—'स्वभावज अलंकार', तीसरा।

विजयमल–विजयमल एक वीरगाथात्मक लोक-काव्य है। जिस प्रकार आल्हामें वीर रसकी प्रधानता पायी जाती है, उसी प्रकार इस गाथामें वीर रसकी धारा प्रवाहित होती है। विजयमलकी गाथा 'कुँवर विजयी'के नामसे भी प्रसिद्ध है। इसमें ऐतिहासिक तथ्य कितना है यह कहना कठिन है, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि किसी सत्य घटनाको लेकर ही इस लोकगाथाकी रचना की गयी है। विजयमलकी कथा संक्षेपमें इस प्रकार है—

विजयमलका जन्म रोहीदसगढ (रोहतासगढ) नामक स्थानपर हुआ था। इसके दादाका नाम बुटहूमल और पिताका नाम घोड़मल सिंह था। इसकी माता मैनावती वीर क्षत्राणी थी। विजयमलका भाई हिरवा तथा भावज सोभामती थी। जब विजयमल युवावस्थाको प्राप्त हुआ तब इसका विवाह बावनगढके राजा बावनसूबाकी लड़की तिलकीसे होना निश्चित हुआ। परन्तु विवाहके लिए जब बरात बावनगढ पहुँची तब वहाँके राजाने किसी कारणसे रुष्ट होकर सभी बरातियोंको जेलखानेमें बन्द कर दिया। कुँवर विजयी किसी प्रकारसे बचकर अपने देशको चला आया। यह बड़ा ही वीर तथा पराक्रमी व्यक्ति था। इसने बावनगढ़के राजासे अपमानका बदला चुकानेके लिए बहुत बड़ी सेना एकत्र की और उसपर आक्रमण कर दिया। बावनगढके राजकुमारका नाम मानिकचन्द था जो बड़ा वीर तथा युद्धकुशल था। बावनगढमें कुँवर विजयी और मानिकचन्दका बड़ा ही घनघोर युद्ध हुआ। सैरोघाट नामक स्थानपर भी इनमें संघर्ष हुआ, जिसमें कुँवर विजयीकी मृत्यु हो गयी। परन्तु देवीके आशीर्वादसे उसे पुन जीवन प्राप्त हो गया और अन्तमें युद्धमें इसकी विजय हुई। तिलकीसे विवाहके पश्चात् कुँवर विजयीके चार पुत्र उत्पन्न हुए। वह सपरिवार आनन्दसे राजसुखको भोगता हुआ अपने दिन बिताने लगा।

कुँवर विजयीकी गाथामें मैना और गोविना नामक दो प्रेमियोंकी कथा भी सम्मिलित है, परन्तु इनका आधिकारिक कथावस्तुसे कोई सम्बन्ध नहीं है। विजयमलकी गाथा भोजपुरी प्रदेशमें बहुत प्रचलित है। यह वीर रससे ओत-प्रोत है। जब गवैये इसे लयपूर्वक गाने लगते हैं तब श्रोताओंकी एक खासी भीड इकट्ठी हो जाती है। ग्रियर्सनने 'बंगाल एशियाटिक सोसाइटी'की पत्रिका (भाग ५३, पार्ट ३, सन् १८८४ ई०)में विजयमलके गीतके सकलन तथा सम्पादनके अतिरिक्त इसका अंग्रेजीमें अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। आजकल वर्तमान लोककवियोंके द्वारा लिखी कुँवर विजयीके गीतकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें आरा जिला निवासी महादेवप्रसाद सिंहकी लिखी पुस्तक प्रसिद्ध है। —कृ० दे० उ०

विजया १–मात्रिक सम दण्डक छन्दोंका एक भेद। भानुके अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें १०, १०, १०, १० पर यतिसे ४० मात्राएँ तथा अन्तमें कर्णमधुर होनेके लिए रगण (ऽ।ऽ) का प्रयोग होता है (छ० प्र० पृ० ७८)। केशव (रा० च०) आदिने इसका प्रयोग किया है—'चालि अचला अचल, भालि दिगपाल बल, पालि ऋषिराजके वचन परचण्डको।'

विजया २—मात्रिक सम दण्टक छन्दोंका एक भेद। इसके प्रत्येक चरणमें १२, १२, १८, ८ या १२, १२, १०, १० यतिसे ४४ मात्राएँ तथा अन्तमें प्राय रगण (ऽ।ऽ) होता है। तुलसीने विनयपत्रिकामें इसका प्रयोग किया है—'जय जय जग जननि देवि, सुर नर मुनि असुर सेवि, भुक्ति मुक्ति दायिनि, भयहरनि कालिका।' (प० १६)। इसकी गति स्तुतिके बहुत अनुकूल है और तुलसीने सफलता-पूर्वक इसका निर्वाह किया है। सूरने पदोंके अन्तर्गत इसका सुन्दर प्रयोग किया है—'चन्दन आँगन लिपाइ, मुतियन चौकैं पुराइ, उमँगि अँगनि सौं बजावौ।' (सू० सा० सभा स० प० ७१३)।

विजया ३–मात्रिक तथा मुक्तक दण्डका एक भेद। इसमें ३२ वर्ण होते हैं, ८,८ वर्णोंकी चार चौकड़ी, अन्तमें लघु-गुरु अथवा नगण भी होता है। कवित्तोंके विपरीत इस दण्डकमें सम-समके अतिरिक्त दो विषमोंके बीच सम पद भी आता है। केशवदासने 'रामचन्द्रिका'के २१वें अध्यायके ८वें छन्दमें विजयाका उदाहरण दिया है—'चढ़ीं प्रति मन्दिर सोभ बढ़ीं तरुनी अवलोकनको रघुनन्दन।' यह २६ वर्णका है और सवैयाकी गति है, इसलिए न तो यह दण्डक है और न कवित्त ही। भानुने इसे कवित्त छन्दका एक भेद माना है। मात्रिक छन्दके अन्तर्गत भी विजया नामका सम छन्द ४० मात्राओंका दण्डक होता है,

जिसमें १०, १०, १०, १० मात्राओंपर यति होती है, इसके अन्तमें रगण रखनेसे छन्दकी गति मधुर हो उठती है। मात्रिक विजया छन्दका प्रयोग दसवीं शताब्दीमें पुष्पदन्तके काव्यमें पाया जाता है—'वाहिल्ल ते मिल्ल ते भूअ ते लल्ल। ते पगु ते कुट वहिरध ते मण्ट' (राहुल साङ्कृत्यायन · काव्यधारा · पृ० २३६)। किन्तु घनाक्षरी अथवा मुक्तक दण्डकका विजया छन्द प्राय· कवित्तकी गतिका होता है और उसकी गणना मनहर, रूपघनाक्षरी, देवघनाक्षरी, कृपाण आदि छन्दोंमें की जाती है। उदा०—'कोऊ काइमें मगन कोऊ काऊमें मगन हम वाहीनें मगन जाकी लगी है लगन।' किन्तु मात्रिक और मुक्तक दण्डकके विजयामें अन्तर यही होता है कि मात्रिकमें अक्षरोंका योग समान नहीं होता। अक्षरोंका योग समान होनेपर मात्रिक विजया दण्डक भी मुक्तक दण्डकके अन्तर्गत मान लिया जाता है। —इ० मो०

विजोहा—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्'में इसका नाम 'द्वियोधा' (२ : ४५), 'वाणीभूषण'-(२ · ४५)में विमोहा और देवने रोचना नाम दिया है। इसके प्रत्येक चरणमें दो रगण होते हैं (SIS, SIS)। यह छन्द स्रग्विणी वृत्तका आधा है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—शम्भुको दण्ड टै, राजपुत्री कितै। टूक द्वै तीन कै, जाहु ल्का हितै।' (रा०च० · ४ : ४)।—पु०शु०

विज्ञप्तिमात्रता—दे०—'विज्ञानवाद'।

विज्ञान—दे०—'जगतानुवोध'।

विज्ञानवाद—महायानके दो दार्शनिक सम्प्रदाय हुए—शून्यवाद और विज्ञानवाद। शून्यवादके प्रमुख आचार्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित दर्शन अत्यन्त तर्कसम्मत होते हुए भी बहुत जटिल है और निषेधात्मक है (दे०—'शून्य-वाद')। विज्ञानवादने इस निषेधात्मकताका परिहार किया और 'भूततथता'के सिद्धान्तका प्रतिपादन किया तथा साधना-पद्धतिके रूपमें योग-प्रणालीको स्वीकार किया, अतः इसे 'भूततथतावाद' और 'योगाचार'-सम्प्रदाय भी कहते हैं।

इसके प्रमुख आचार्य अश्वघोष, वसुबन्धु, असग और मैत्रेय माने जाते हैं। कहा जाता है कि नागार्जुन(२ श० ई०)के लगभग एक शताब्दी बाद मैत्रेयने 'अभिसमयालकारकारिका' लिखकर विज्ञानवादको एक निश्चित दार्शनिक मोड दिया, जिसे पाँचवीं शताब्दीमें असगने पूर्ण रूपसे सुव्यवस्थित किया। शून्यवादी सभीको **शून्य** मानते हैं, किन्तु विज्ञानवादीका कहना है कि द्रष्टाके अनुभव, चित्त या विज्ञान परम्पराको शून्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि मानसिक दशाएँ और क्रियाएँ भी शून्य हैं तो शून्यवादीके तर्क भी शून्य हैं। अत मनोमय जगत्का अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा। किन्तु विज्ञानवादी मनोमय जगत्का अस्तित्व मानते हुए भी वाह्य विश्वका पूर्ण निषेध कर उसका अस्तित्व नहीं मानता है (दे०—'जगतानुवोध')। विश्व केवल विज्ञानों, चेतनाओं और प्रत्ययोंकी शृंखलामात्र है। चित्त **आलय-विज्ञान** है और इस आलय-विज्ञानके प्रवाहमें एक क्षणिक विज्ञान दूसरे विज्ञानको कार्य-कारण-शृंखलामें उत्पन्न करता चलता है। इसका अन्तिम विलयन विज्ञप्तिमात्रतामें होता है, इसीको **परमार्थ** या 'भूततथता' कहते हैं, यही **निर्वाण** है।

इसका उदाहरण विज्ञानवादी ग्रन्थोंमें यों दिया गया है कि चित्त अपनी स्मृतियों और अज्ञानजन्य कल्पनाओंको सगृहीत करता चलता है। वही ससार है। पर उसका नाश होनेपर चित्तका नाश नहीं होता, जैसे, वायुके शान्त होनेपर जलमें लहरें उठना बन्द हो जाता है, पर लहरोंके विलीन होनेसे जल विलुप्त नहीं हो जाता। वह जो विनष्ट नहीं होता, वही **परमार्थ** या भूततथता या **निर्वाण** है।

वज्रयानी सिद्धोंने शून्यवादी निर्वाणकी अपेक्षा तथताके सिद्धान्तको अधिक मान्यता दी है। कोंकणपा, नन्दीपा और काण्हपाने अपनी चर्याओंमें तथतारूपी निर्वाणको स्वीकृति दी है। इसी तथताको **नैरात्म्य-ज्ञान** भी कहा गया है, क्योंकि इसमें धर्म नैरात्म्य भी है अर्थात् सासारिक वस्तुओंका भी नैरात्म्य या शून्यता है और पुद्गलनैरात्म्य अर्थात् आत्मा जैसी किसी शाश्वत सत्ताका भी निषेध कर केवल **तथता** स्वरूप **चित्त**को ही स्वीकार किया है। —ध० वी० भा०

विट—दे०—'नर्मसचिव', नायक।

वितर्क (तर्क, विकल्प)—प्रचलित तैंतीस संचारियोंमेंसे एक। वितर्कमें अनुमान इष्ट एवं अनिष्ट, दोनों पक्षोंमें वारी-वारीसे हो सकता है। 'नाट्यशास्त्र'में सन्देह, अर्थात् उभया-वलम्बी सशय, विमर्श अर्थात् विशेष प्रतीत्यभिलाषा और विप्रतिपत्ति अर्थात् परस्पर सम्बद्ध ऊह एव अपोहको तर्कका विभाव बताया है। विविध विचारके प्रश्न, सिर एव भ्रूयुगल-के क्षेप और अगुलीके नर्तनमें इसकी अभिव्यक्ति होती है (नाट्य० ७ · ९२ ग)। कदाचित् परिभाषाको कम तार्किक बनानेके कारण धनजय इत्यादिने सन्देहको प्रधान स्थान देकर 'नाट्यशास्त्र'के विमर्श एव विप्रतिपत्ति शब्दोंको 'आदि' कहकर सन्तोष कर लिया। हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंमें कुछने 'नाट्यशास्त्र'की परम्पराका अनुसरण किया है—'विप्रतिपत्ति विचारु अरु ससय अध्यवसाइ। वितरक चौविध जानिये' (देव · भाव० सचारी०)। अन्योंने सामान्यत' 'उर उपजत सन्देह जहँ कीजे कछु विचार' (जगद्वि० ५६८) लक्षण दिया है।

महादेवीका उदाहरण—'दुखका जग हूँ या सुखकी पल, करुणाका धन या मरु निर्जन' (का०ट० पृ० ८०)। इसमें कविका आत्मगत ऊहापोहका वितर्क है। पद्माकरके इस उदाहरणमें विमर्श है—'भूल्यो मोह भालमें चुम्यो कै टेढी चालमैं, छक्यो कि छवि जालमैं कै बीध्यौ वनमाल-मैं।' (जगद्वि० · ५७०)। देवने इसके चार प्रकारके उदा-हरण दिये हैं। विप्रतिपत्तिका उदा०—'न सुने तवौ काहू कहूँ कवहूँ कि मयंकके अकमें पकज द्वै।' विचारका उदा०—'प्रान पियारे तु एहैं घरै पर प्रान पयान कै फेरि न ऐहैं।' सशयका उदा०— किधौं कौनके भौनकी दीप सिखा कौनके भाग है भालखची।' अध्यवसायका उदा०—'तिहि ऊपरको यह सोम नवोत्म तौम चहूँदिसि झलि रहैं।' (भाव० संचारी०)। —ज० कि० व०

वित्तजा मेवा—दे०—'मेवा'।

विदग्धा (नायिका)—परकीयाकी स्थितिके अनुसार

भेद, विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा उल्लिखित। परपुरुषके प्रति अपने अनुरागका सकेत चतुराईसे देनेवाली नायिका। १. **वचनविदग्धा**–वचनसे इस चतुराईका निर्वाह करनेवाली नायिका—'करै वचनसौं चातुरी।' (मतिराम)। पद्माकरने स्पष्ट करते हुए कहा है—'वचननकी रचनानिसों जो साधै निज काज।' (जगद्वि० १ ९५)। वाक्चातुर्यसे नायिका अपना मनोरथ पूरा करती हुई भी प्रेमभावको दूसरोंसे छिपा लेती है—'तनिक सि नाक नथुनियाँ मित हित नीक। कहति नाक पहिरावहु चित दै मीक।' (बरवै० १४)। रहीम सहज भावसे चातुर्यको व्यक्त कर सके हैं। अन्य उदाहरणोंमें परिस्थितिका स्थूल रूप ही प्रधान है—'नित साँझ सवेरे हमारी हहा हरि गैया भला दुहि जैवो करौ।' (पद्माकर जगद्वि० १ ९६)। २ **क्रियाविदग्धा**—क्रियाकी चतुराईसे जो अपने अनुरागको व्यक्त करनेमें समर्थ हो। 'क्रियासुजान' करके जो अपना 'काज साधे' ऐसी नायिका (पद्माकर)। कुछ चतुराईका कार्य करके यह नायिका अपना मनोरथ सिद्ध करती है—'नैन नमाय रही हियमालमें लालकी मूरति लालमें देख्यो।' (मतिराम र० रा० ७४)। रहीमकी नायिकाकी स्थिति अधिक यथार्थ है—'बाहिर लैकै दियवा वारन जाय। सासु ननद ढिग पहुँचत देति बुझाय।' (बरवै० १३)।

विदूषक–दे०—'नर्म-सचिव', नायक।

विद्याविरुद्ध–दे०—'अर्थ-दोष', दसवाँ।

विधि–एक गौण अर्थालकार। जैसे प्रतिषेध अलकारमें प्रसिद्धतया निषेधप्राप्त वस्तुका अन्यार्थ-गर्भित चमत्कारपूर्ण रीतिसे पुन कीर्तन होता है, वैसे ही प्रसिद्धतया सिद्ध वस्तुका अन्यार्थगर्भित चमत्कारपूर्ण रीतिसे पुन-कीर्तन करनेसे विधि अलकार होता है। सम्भवत सर्वप्रथम अप्पय दीक्षितने इस अलकारकी परिभाषा निम्नलिखित प्रकारसे की है—'सिद्धस्यैव विधान यत्तमाहुर्विध्यलङ्कृतम्।' (कुवल० ९९)। इसीके आधारपर हिन्दीके आचार्योंने भी इस अलकारको स्वीकार किया है—'जहाँ सिद्धि ही बातको करत प्रसिद्ध बखान।' (ल० ल० ३८९) अथवा—'सिद्धि अर्थहि बहुरि, सिद्ध कीजियतु जित्त।' (पद्मा० २७८)। उदा०—'उत्तररामचरित'(२ १०)में शूद्रके तप करनेसे अल्पवयस्क ब्राह्मणके मरनेपर उस शूद्रपर बाण छोड़ते हुए रामचन्द्रका कहना—'तजु कर सर मुनि सुद्र पर द्विज-सिसु जीवन-हेत। राम गात है जिन तजी सीता गर्भ समेत।' (छाया अ० म०, ३६५)। निश्चय हाथ रामका अंग है। यह बात सिद्ध है, पर फिर भी करुणाका अभाव बतानेके लिए कहते हैं कि तू वास्तवमें उस कठोरहृदय रामका हाथ है, जिसने सीताका परित्याग कर दिया। अर्थात् सिद्ध वस्तुकी यहाँ पुष्टि हुई है। अत विधि अलकार हुआ। अथवा—'खलनिके खण्डिवेकौं मंगनको मण्डिवेकौं, महावीर भावसिंह भावसिंह होत है।' (ल० ल० ३९०)। —ज० कि० व०

विधि-अयुक्त–दे०—'अर्थ-दोष', बाईसवाँ।

विनोक्ति–सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका अर्थालकार। सम्भवत मम्मट तथा रुय्यकने सर्वप्रथम इसे स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार इसमें एकके बिना दूसरेके अशोभन होने अथवा शोभन होनेका कथन अभिप्रेत होता है (का० प्र० १० ११३)। विश्वनाथका लक्षण इसीपर आधारित है—'यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा।' (सा० द० १० ५६), यहाँ शोभनके स्थानपर 'नासाधु' कहा गया है। जयदेवने केवल हीन भेद माना है, पर उनके टीकाकार अप्पय दीक्षितने विश्वनाथ आदिके दोनों भेदोंको स्वीकार किया है। हिन्दीके आचार्योंने प्राय 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसका लक्षण दिया है–'बिना कछू जहँ बरनिये, कै हीनो कै नीक।' (शि० भू० १५१)। दासने शोभन-अशोभनके स्थानपर 'सुभ-असुभ' कर दिया है (का० नि० १५)। इस अलंकारमें बिना, हीन, रहित आदि वाचक शब्दोंका प्रयोग होता है, परन्तु अनिवार्य नहीं है। उदा०—'प्राणनाथ तुम बिनु जगमाहीं। मोकहँ कतहुँ सुखद कछु नाहीं। जिय बिनु देह नदी बिनु वारी। तैसइ नाथ पुरुष बिनु नारी।' (रा० च० मा० २ ६५), यहाँ देह, नदी तथा सीताका अशोभन होना कथित है। अथवा—'देखत दीपति दीपकी, देत प्रान अरु देह। राजत एक पतगमें, बिना कपटको नेह।' (ल० ल० १६१), यहाँ कपटके बिना नेहको शोभन कहा गया है।—शि० प्र० सिं०

विपर्यय–दे०—'भ्रम', 'भ्रान्ति'।

विप्रलभ-श्रृंगार–भोजराजने विप्रलम्भ शृगारकी यह परिभाषा दी है–'जहाँ रति नामक भाव प्रकर्षको प्राप्त करे, लेकिन अभीष्टको न पा सके, वहाँ विप्रलभ-शृगार कहा जाता है।' (स०क० ५ ४५)।

भानुदत्तका कथन है—'युवा और युवतीकी परस्पर मुदित पंचेन्द्रियोंके पारस्परिक सम्बन्धका अभाव, अथवा अभीष्टकी अप्राप्ति विप्रलम्भ है।' (र०त० ६)। 'साहित्यदर्पण'में भोजराजकी परिभाषा ही दुहरायी गयी—'यत्र तु रति प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ।' (३ १८७)। इन कथनोंमें अभीष्टका अभिप्राय नायक या नायिकासे है। उक्त आचार्योंने अभीष्टकी अप्राप्ति ही विप्रलम्भकी निष्पत्तिके लिए आवश्यक मानी है। लेकिन पण्डितराजने प्रेमकी वर्तमानताको प्रधानता दी है। उनके अनुसार यदि नायक-नायिकामें वियोगदशामें प्रेम हो तो वहाँ विप्रलम्भ शृगार होता है। उनका कथन है कि वियोगका अर्थ है यह ज्ञान कि 'मैं बिछुडा हूँ', अर्थात् इस तर्कणासे वियोगमें भी मानसिक सयोग सम्पन्न होनेपर विप्रलम्भ नहीं माना जायगा। स्वप्न समागम होनेपर वियोगमें भी सयोग माना जाता है।

हिन्दीके आचार्योंमें केशव तथा सोमनाथने 'रसगगाधर'-की परिभाषा अपनायी है तथा चिन्तामणि और भिखारीदास 'साहित्यदर्पण'से प्रभावित हैं। केशव–'बिछुरत प्रीतमकी प्रीतिमा, होत जु रस तिहिं ठौर। विप्रलम्भ तासों कहै, केसव कवि सिरमौर।' सोमनाथ—'प्रीतमके बिछुरनि विषै जो रस उपजत आइ। विप्रलम्भ सिंगार सो कहत सकल कविराइ।' चिन्तामणि—'जहाँ मिलै नहिं नारि अरु पुरुष सु बरन वियोग।' भिखारी—'जहँ दम्पतिके मिलन बिन, होत विथा विस्तार। उपजत अन्तर भाव बहु, सो वियोग शृगार।'

विप्रलम्भके कई प्रकारसे भेद किये गये हैं। भोजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुण, ये चार भेद कहे हैं। परवर्ती आचार्योंमें विश्वनाथने इन्हीं भेदोंका कथन किया है। लेकिन मम्मटने विप्रलम्भके पाँच प्रकार बताये हैं—अभिलाषहेतुक, विरहहेतुक, ईर्ष्याहेतुक, प्रवासहेतुक तथा शापहेतुक। भानुदत्त और पण्डितराजने मम्मटके भेदोंको ही स्वीकार किया है। हिन्दीके आचार्योंमें केशव, देव, भिखारी इत्यादिने 'साहित्यदर्पण'का ही अनुसरण किया है। नवीन विद्वानोंमें कन्हैयालाल पोद्दारने 'काव्यप्रकाश'का तथा रामदहिन मिश्रने 'साहित्यदर्पण'का वर्गीकरण स्वीकार किया है। हरिऔध पूर्वानुराग, मान और प्रवास, तीन ही भेद स्वीकार करते हैं। मतिरामने भी 'रसराज'में ये ही तीन भेद माने हैं।

धनञ्जयने शृंगारके तीन भेद बताये हैं—अयोग, विप्रयोग तथा सम्भोग। इनमें अयोग और विप्रयोग विप्रलम्भके अन्तर्गत आते हैं। अयोगका अर्थ है नहीं मिल पाना और विप्रयोगका अर्थ है मिलकर अलग हो जाना। लक्षणके अनुसार अयोग पूर्वानुरागके समकक्ष है। कभी-कभी विप्रयोग और विप्रलम्भ पर्याय जैसे भी समझे जाते हैं।

मिलन अथवा समागमसे पूर्व हृदयमें जो अनुरागका आविर्भाव होता है उसे **पूर्वराग** या **पूर्वानुराग** कहा जाता है। इसके चार मार्ग या विधियाँ हैं—प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र-दर्शन, श्रवण-दर्शन, एवं स्वप्न-दर्शन। इनमें प्रियमूर्तिके भिन्न-भिन्न प्रकारसे दर्शन होनेका विधान है। पूर्वानुराग-को नियोग भी कहते हैं। कविराज विश्वनाथके अनुसार पूर्वानुराग तीन प्रकारका होता है—नीलीराग, जो बाहरी चमक-दमक तो अधिक न दिखाये, किन्तु हृदयसे कभी दूर न हो; कुसुम्भराग, जो शोभित अधिक हो, लेकिन जाता रहे और मञ्जिष्ठाराग, जो शोभित भी हो और साथ ही कभी नष्ट भी न हो।

प्रियापराधजनित कोपको **मान** कहते हैं। इसके भी दो भेद होते हैं—प्रणयमान और ईर्ष्यामान। दोनोंके हृदयमें भरपूर प्रेम होनेपर भी जब प्रिय-प्रिया एक-दूसरेसे कुपित हों, तब प्रणयमान होता है। इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि प्रेमकी गति कुटिल होती है, यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे ऐसा मान नायक-नायिका पारस्परिक अनुरागकी पुष्टिके हेतु करते हैं। यदि यह मान अनुनय-विनयके समयतक न ठहर सके, तो इसे विप्रलम्भ शृंगार न समझकर 'सम्भोगसंचारी' नामक भाव मानना चाहिये। पतिकी अन्य नारीमें आसक्ति देखने, अनुमान करने या किसीसे सुन लेनेपर स्त्रियों द्वारा किया गया मान 'ईर्ष्यामान' कहलाता है। निवृत्तिके अनुसार ईर्ष्यामानके भी तीन भेद कहे गये हैं—लघु मान, मध्यम मान और गुरु मान।

नायक-नायिकामेंसे एकका परदेशमें होना **प्रवास** कहलाता है। यह प्रवास कार्यवश, शापवश अथवा भयवश, तीन कारणोंसे होता है। प्रवास-वियोगमें 'नायिकाके शरीर और वस्त्रमें मलिनता, सिरमें एक साधारण वेणी एवं निःश्वास-उच्छ्वास, रोदन, भूमिपतन इत्यादि होते हैं। शापज (अथवा शापहेतुक) वियोगका प्रसिद्ध उदाहरण कालिदासका मेघदूत है, जिसमें कुबेरके शापके कारण यक्ष अपनी पत्नीसे वियुक्त हो गया है तथा मेघको दूत बनाकर अपना मर्मद्रावक प्रणय-सन्देश प्रियाके पास भेजता है।

नायक-नायिकामेंसे एकके मर जानेपर दूसरा जो दुःखी होता है, उसे **करुण-विप्रलम्भ** कहते हैं। लेकिन विप्रलम्भ तभी माना जायगा जब परलोकगत व्यक्तिके इसी जन्ममें, इसी देहसे पुनः मिलनेकी आशा बनी रहे। यदि प्रिय-मिलनकी आशा सर्वथा नष्ट हो जाय, तो वहाँ स्थायी भाव शोक होनेसे करुण रस होगा, करुण-विप्रलम्भ-शृंगार नहीं। 'रघुवंश'में इन्दुमतीके मर जानेपर महाराज अजका प्रसिद्ध विलाप करुण रस ही है, करुण-विप्रलम्भ नहीं। कादम्बरीमें पुण्डरीकके मर जानेपर महाश्वेताको करुण रसकी ही अनुभूति हुई, लेकिन आकाशवाणी सुननेपर प्रियमिलनकी आशा अंकुरित होनेके बादसे 'करुण-विप्रलम्भ' माना जाता है। वैसी दशामें भी, जहाँ प्रियसे मिलनेकी आशा नष्ट हो गयी है, लेकिन प्रिय जीवित है तथा मिलनकी भौतिक सम्भावना सर्वथा विलुप्त नहीं हुई है, करुण-विप्रलम्भ माना जायगा। 'सूरसागर'में कृष्णके व्रजसे चले जानेके अनन्तर गोपियोंकी वियोगानुभूति करुण-विप्रलम्भ ही है।

मम्मटके पंचविध विप्रलम्भ और विश्वनाथके चतुर्विध विप्रलम्भमें कोई मौलिक भेद नहीं है। मम्मटका अभिलाष-हेतुक वियोग 'साहित्यदर्पण'का पूर्वानुराग ही है, यद्यपि सामान्य काव्यानुरागियोंमें 'पूर्वराग' या 'पूर्वानुराग' शब्द अधिक लोकप्रिय है। 'ईर्ष्याहेतुक'का सम्बन्ध मानसे है। प्रवास एवं शाप, दोनों वर्गीकरणोंमें समान हैं। करुण-विप्रलम्भ प्रवासहेतुक वियोगके भीतर सन्निविष्ट किया जा सकता है। मम्मटका विरहहेतुक विप्रलम्भ अवश्य एक सुन्दर सूझ है। समीप रहनेपर भी गुरुजनोंकी लज्जा आदिके कारण समागम न हो तो वह विरहहेतुक वियोग माना जायगा। इसके अत्यन्त मर्मस्पर्शी उदाहरण लोकगीतोंमें मिल जाया करते हैं। बिहारीका यह प्रसिद्ध दोहा विरहहेतुक विप्रलम्भका सुन्दर उदाहरण है—'देखें बनै न देखतै अनदेखें अकुलाहिं। इन दुखिया अँखियानुकौं सुखु सिरज्यौई नाहिं।' (बि० स० : ६६३)।

वियोगसे सम्बन्धित दस काम-दशाएँ भी मानी गयी हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति या मरण। कितने ही लोग नौ काम-दशाएँ ही मानते हैं, मरणको नहीं। कितने मूर्च्छाको भी मिलाकर एकादश काम-दशाएँ स्वीकार करते हैं। प्रियसे तनसे मिलनकी इच्छा अभिलाष है, प्राप्तिके उपायोंकी खोज चिन्ता है; सुखदायी वस्तुएँ जब दुःखदायी बन जायँ तो उद्वेग है, चित्तके व्याकुल होनेसे अटपटी बातें करना प्रलाप है; जड-चेतनका विचार न रहना उन्माद है, दीर्घ निःश्वास, पाण्डुता, दुर्बलता इत्यादि व्याधि है, अंगों तथा मनका चेष्टाशून्य होना जड़ता है। अन्य दशाओंके अभिप्राय स्वतः स्पष्ट हैं। इनमें चिन्ता, स्मरण, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण संचारियोंमें भी वैसे ही गृहीत हैं। रसका विच्छेदक होनेसे मरणका वर्णन प्रायः निषिद्ध ठहराया जाता है, लेकिन विश्वनाथ कहते हैं कि

मरण-तुल्य दशा तथा चित्तसे आकांक्षित मरणका वर्णन ग्राह्य है और शीघ्र पुनर्जीवित होनेकी आशा हो, तो भी मरणका उल्लेख मान्य है। देवकी सलाह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—'मरनौ वा विधि वरनिये जाते रस न नसाइ।' भारतेन्दुकी निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—'एहो प्रान प्यारे विन दरस तिहारे भये, मुये हूँ पै आँखें ए खुली ही रह जायँगी।' 'मरण'के गृहीत हो जानेसे सम्पूर्ण व्यभिचारी भाव विप्रलम्भ या वियोग-शृंगारमें चले आते हैं।—र०ति०

विप्रलब्धा (नायिका)-अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद, विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम उल्लेख भरतने किया है। भानुदत्तके अनुसार 'सकेतनिकेतने प्रियमनवलोक्य समाकुलहृदया।' (र० म० पृ० १११), अर्थात् आडेटस्थलपर नायकको न पाकर व्याकुल होनेवाली नायिका विप्रलब्धा कही जाती है। मतिरामका भाव यही है—'मिलन आस करि जाय तिय मिले न पिय सकेत।' (रसराज १४४)। पद्माकर 'पिय विहीन सकेत' कहकर यही वात व्यक्त करते हे। रहीम मुग्धा विप्रलब्धाका अकन व्यजक रूपमें करते हैं—'मिलेउ न कन्त सहेटवा लखेउ डेराइ। धनियाँ कमल बदनियाँ गइ कुम्हिलाइ।' (बरवै० ५२)। नायिका अभी कोमल है। सहेटस्थलपर कन्तको न पाकर मतिरामकी मुग्धा भी व्याकुल हो जाती है—'नवल बालको कमल-सो गयो वदन कुम्भिलाय।' (रसराज १४६)। मध्या व्याकुल कम, व्यथित अधिक होती है—'तियको मिलो न प्रान प्रिय, सजल जलद तन मैन। मजल जलद लखिके भये सजल जलद-से नैन।' (वही १४८)। रहीमकी मध्या 'लै लै ऊँचि उसँसवा है विकरार।' (बरवै० ५३)। प्रौढ़ा विप्रलब्धा अपनी उद्विग्नता छिपानेका प्रयत्न भी नहीं करती—'निरखि सेज रँग-रँग भरी लगी उसाँसैं लैन। कछु न चैन चितमे रह्यो चढत चाँदनी रैन।' (पद्माकर · जगद्वि० १ १८७)। परकीया विप्रलब्धाको सहेटस्थलपर नायक नहीं मिलता तो वह भयाकुल हो उठती है—'साहस करि कुजन गयी, लख्यो न नन्दकिसोर। दीप शिखा सी थरहरी, लगी बयारि झकोर।' (मतिराम र०रा० १५३)। सामान्या विप्रलब्धामें वास्तविक दु खके स्थानपर खेदमात्र होता है—'करिके सोरह सिंगरवा अतर लगाय। मिलेउ न लाल सहेटवा फिरि पछताय।' (रहीम बरवै० ५६)। पर कवियोंने इस पछतानेको मात्र 'धनकी भई न धामकी'-तक सीमित रखा है। विद्यापतिने राधाको विप्रलब्धा-रूपमें भी अंकित किया है, जिसमें राधाकी मानसिक व्यथा व्यजित हुई है। भक्त कवियोंने गोपियोंके रासप्रसगमें कृष्णसे विछुड जानेका वर्णन किया है। रीति कवियोंने इस प्रसंगको विस्तारसे उपस्थित किया है और इसमें नारीके विविध मनोभावोंका चित्रण हुआ है। —र०

विबोध (प्रबोध एवं निबोध)-प्रचलित तैंतीसमें एक सचारी भाव। 'नाट्यशास्त्र' तथा तदनुवर्ती अन्य ग्रन्थोंमें 'विवोध', वाग्भटके 'काव्यानुशासन', 'अग्निपुराण' तथा 'नाटकलक्षण रत्नकोश'में 'प्रवोध' और 'नञ्जराजयशोभूषण'में इसको 'निवोध' कहा गया है। अन्वय द्वारा 'अग्निपुराण'में और व्यतिरेक द्वारा 'काव्यानुसाशन'में इस 'सचारी'का लक्षण दिया गया है—चेतनाका उदय होना एव निद्राका न होना क्रमश प्रवोध है अथवा निद्रा दूर होनेके बाद चेतनालाभको विवोध कहते हैं। 'नाट्यशास्त्र'के अनुसार निद्राभग होना, भोजनका कुपरिणाम, दु स्वप्न, तीव्र स्पर्श अथवा शब्दश्रवण इत्यादि विभावोंसे यह भाव उत्पन्न होता है। जँभाई लेना, आँखोंको मलना, शयनस्थानसे उठ खडा होना इत्यादि इसके अनुभाव हैं (७ ७७ ग), 'दशरूपक' तथा 'साहित्यदर्पण'में माघके शिशुपालवधके ग्यारहवें सर्गसे जो उदाहरण दिया गया है वह निद्रोच्छेदका है। पर इस अर्थके अतिरिक्त, 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'में प्रतापरुद्रके गुणोंके वोधको विवोध बताया गया है (४ ४३)। कदाचित् इसी कारण कालान्तरमें इसका अर्थ न केवल निद्रासे जागरण अवस्थामें आना रहा, पर अज्ञानसे ज्ञान प्राप्त करना भी हुआ हो।

हिन्दी रीतिकालके आचार्योंमें कतिपयने 'नाट्यशास्त्र'-की परम्परामें लक्षण दिया है—'नींद गये मीजै नयन, अग भग जमुहाइ। एक वार इन्द्रिय जगै, ते कउ नींद सुभाय।' (भाव० · सचारी)। पर अन्योंने केवल 'जागिवो'-के रूपमें स्वीकार किया है। देवका उदाहरण—'चौंकि परी तव कान्ह कहूँ न कदम्ब न कुज न कालिन्दीकौ तट।' (वही)। पद्माकर नींदमे जागी नायिकाका चित्र अकित करते हैं—'आँखैं अधखुलीं अधखुलौ खिरकी है खुली, अधखुले आननपै अधखुली अलकैं।' (जगद्वि० ५१३)। रामदहिन मिश्रने अज्ञानके मिटनेका उदाहरण प्रस्तुत किया है—'हाथ जोड बोला साश्रुनयन महीप यों। मातृभूमि इस तुच्छ जनको क्षमा करो। धोऊँगा कलक रक्त देकर शरीरका। आजतक खेयी तरी मैंने पापसिन्धुमें। अब खेऊँगा उसे धारमें कृपाणकी।' (का० द० से)। यह देशद्रोही जयचन्दके विबोधकी व्यजनाका उदाहरण है।

चेतनालाभ मानसिक अवस्था है, यद्यपि उसकी अभिव्यक्तिका सम्बन्ध शारीरिक अवस्थासे है। विबोधके समय इसके आधेय अथवा आश्रयकी अवस्था तो उदासीन ही होगी, चाहे कवि उसको सुखात्मक समझे, जैसा कि 'दशरूपक'के उदाहरणसे स्पष्ट है, अथवा अन्यथा।—ज० कि० व०

विब्बोक-दे०-'स्वभावज अलंकार', आठवाँ।

विभव-विभव भी अवतारका पर्याय है, भगवान्का प्रादुर्भाव है जिसके मुख्य और गौण, दो भेद हैं। मुख्य साक्षात् अवतार और गौण आवेशावतार कहलाते हैं। आवेशावतारके भी दो भेद हैं-(१) शक्त्यावेश (जिसमें केवल भगवान्की शक्तिका विकास होता है) और (२) स्वरूपावेश, जिसमें अप्राकृत विग्रह सहित भगवान् किसी चेतन शरीरमें आविर्भूत होते हैं।

विभवावतारोंकी सख्या ३९ मानी गयी है। मुक्तिप्राप्तिके लिए मुख्य विभवावतारोंकी और भुक्ति-प्राप्तिके लिए गौण विभवावतारोंकी उपासना की जाती है।—वि०मो०श०

विभाव-भरत(३-४ श० ई०)ने 'नाट्यशास्त्र'में विभावकी व्याख्या (७ ३-४) की है और इसे रसःनिष्पत्ति(दे०)के लिए आवश्यक तत्त्व माना है। वस्तुत भरतसे लेकर आधुनिक कालतक सस्कृत तथा हिन्दीके आचार्यों और विवेचकोंने विभावको इसी रूपमें माना है।

विश्वनाथका लक्षण है–'रत्याद्युद्बोधका लोके विभावा काव्यनाट्ययो' (सा० द० . ३ : २९), सामाजिकके अन्तर्गत रति-हास आदिको जो आस्वादनके योग्य उत्पन्न करते हैं। देव भी इसी प्रकार कहते हैं–'जे विसेष्य करि रसनिको उपजावत है भाव' (भा० वि० २३२)। जो व्यक्ति, पदार्थ अथवा बाह्य विकार अन्य व्यक्तिके हृदयमें भावोंको जाग्रत् करते हैं, उन भावोद्बोधक अथवा रसाभिव्यक्तिके कारणोंको विभाव कहते हैं। इनके आश्रयसे रस प्रकट होता है, अत यह कारण निमित्त अथवा हेतु कहलाते हैं। रसको अलौकिक माननेके कारण इन्हें भी कारण आदि नाम न देकर असाधारण रूपसे विभाव कहा जाता है। यह विभाव आश्रयमें भावोंको जाग्रत् भी करते हैं और उन्हें उद्दीप्त भी करते हे। इस कारण इसके 'आलम्बन' तथा 'उद्दीपन' नामक दो भेद किये गये हैं। उदाहरणत, पुष्पवाटिकामें राम और जानकी घूम रहे हैं। जानकीके साथ उनकी सखियाँ हैं और रामके साथ उनके अनुज। इन दृश्यका तुलसीदासने निम्नलिखित पक्तियोंमें ही चित्र उपस्थित किया है, उसमें राम सीताके हृदयमें जाग्रत् रति भावके आलम्बन तथा सीताकी सखियाँ, जो उन्हें रामके दर्शनमें सहायता पहुँचा रही हैं, उद्दीपन तथा सीताका सकोच, उनका चकित होना आदि अनुभाव हैं—'चितवत चकित चहूँ दिसि सीता, कहँ गये नृप किसोर मन चीता। जहँ बिलोक मृगसावक नैनी, जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी। लता ओट तब सखिन लखाये, स्यामल गौर किसोर सुहाये। देखि रूप लोचन ललचाने, हरपे जनु निज निधि पहिचाने।' (रा० च० मा० . १)। —आ० प्र० दी०

विभावना–विरोधमूलक अर्थालङ्कार यह अलकार अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण तथा प्रचलित अलकारोंमें है और भामह, दण्डीसे लेकर, मम्मट, विश्वनाथ आदि सभी सस्कृतके आचार्योंने इसका प्रतिपादन किया है। भामह तथा उद्भट-की इस परिभाषा—'क्रियाया· प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना'। (का० मा० स० . २ ९)का मम्मटपर प्रभाव है—'क्रियाया प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्ति' (का० प्र०; १० · १०७), अर्थात् जिसमें क्रियाका प्रतिषेध करके भी कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन हो। हिन्दीके आचार्योंने भी इसका व्यापकतासे उल्लेख किया है और रीति-ग्रन्थोंमें इसके उदाहरण पद-पदपर मिलते हैं। परन्तु उन्होंने विश्वनाथ और जयदेवके लक्षणका प्राय अनुसरण किया है। 'साहित्य-दर्पण'में इसकी परिभाषा है—'विभावनाविना हेतु कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।' (१० ६६), अर्थात् जहाँ विना कारण ही कार्यकी उत्पत्ति हो। विभावनाका अर्थ है कल्पना अर्थात् विदग्धता-पूर्वक प्रसिद्ध कारणके अभावमें कार्यकी उत्पत्तिकी कल्पना। मतिराम आदिने इस अलकारकी परिभाषा लगभग इस प्रकार दी है—'विना हेतु जहँ वरनिये, प्रगट होत है काज।' (ल० ल० १९६)। सस्कृतके आचार्योंने प्राय उक्त निमित्त और अनुक्त निमित्त, ये दो भेद विभावनाके दिये हैं, किन्तु हिन्दीके रीति-ग्रन्थोंमें प्राय छ भेद प्रतिपादित हुए हैं, जिसका प्रत्यक्ष आधार अप्पय दीक्षितका 'कुवलयानन्द' है। इस अलकारके मूलमें अभेद अध्यवसाय रहता है अर्थात् आरोपके विपयको न कहकर केवल आरोप्यमाणका उल्लेख किया जाता है।

प्रथम विभावना–कारणके अभावमें कार्यका होना—'विनु पद चलै सुनै विनु काना। कर विनु कर्म करै विधि नाना।' (रा० च० मा०), अथवा, 'सून भीतिपर चित्र रग नहिं तनु विनु लिखा चितेरे। धोये मिटै न मरै भीति दुख पाइय यही तन हेरे।' (वि०प०)। **द्वितीय विभावना**–अपर्याप्त अथवा असमग्र कारणसे कार्यकी उत्पत्ति–'तिय कित कमनैती पढी, विनु जिह भौंह कमान। चित वेधन चूकति नहीं, वक विलोचन वान।' (वि० स० ३५६)। यहाँ भौंह रूपी धनुष विना प्रत्यचाका है और वाण भी टेढ़े हैं, पर निशाना अचूक लगता है। दण्डीने काव्यादर्शमें विभावनाके इस भेदको विशेषोक्ति माना है। **तृतीय विभावना**–प्रतिबन्धकके रहते हुए भी कार्यकी उत्पत्ति–'मानत लाज लगाम नहिं, नैक न गहत मरोर। होत तोहिं लखि वालके, दृग तुरंग मुँहजोर।' (ल० ल० . २०१)। **चतुर्थ विभावना**–अकारण, जिस कार्यका जो कारण नहीं है उससे कार्यकी उत्पत्ति–'हँसति वालके वदनमें, यों छवि कछू अतूल। फूली चम्पक वेलितें, झरत चमेली फूल।' (ल० ल० २०३), यहाँ चम्पक लता-(अकारण)मे चमेली फूलकी उत्पत्ति वतायी गयी है। **पंचम विभावना**–विरुद्ध कारण द्वारा कार्यकी उत्पत्ति–'रहौं गुही वेनी लख्यो, गुहिवेको त्यौनार। लागे नीर चुचान ये, नीठ सुखाये वार। (वि० स०, ४८०)। यहाँ नायकके सत्स्पर्शसे स्वेदरूपी सात्त्विक भावका उदय होता है, जिस कारण सूखे हुए वालसे पानी चूने लगते हैं। **षष्ठ विभावना**–कार्यसे कारणकी उत्पत्ति–'भूषन भनत तेरो दान सकल्प जल, अचरज सकल महीमें लपटत है। और नदी नदनते कोकनद होत, तेरो कर कोकनद नदी नद प्रगटत हौ।' (शि० भू० १९४), यहाँ करकमल(काय)से दानाधिक्यके सकल्पके कारण नदी-नद (कारण) वह चलते हैं।

यह अलकार अपने उक्त चमत्कारके कारण सभी युगोंके काव्यमें प्रचलित रहा। जायसी, सूर और तुलसी जैसे भाव-सिद्ध कवियोंने भी इसका स्थल-स्थलपर उपयोग किया है। वीर-काव्यमें वीरता आदिके वर्णनोंमें इसका वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग मिलता है। रीतिकालके कवियोंकी प्रकृतिके तो यह अनुकूल ही है, विशेषकर नायिकाओंके प्रेम और विरहवर्णनके प्रसगोंके। आधुनिक छायावादी कवियोंमें इसका प्रयोग देखा जा सकता है परन्तु वहाँ व्यग्यार्थ भिन्न है। —ध० प्र० शा०

विभ्रम(hellucination)–दे०–'भ्रम'। भ्रम किसी वास्तविक विषयका अशुद्ध प्रत्यक्ष होता है, विभ्रममें किसी वास्तविक वाह्य पदार्थके विना ही उसका प्रत्यक्ष होना है। विभ्रम होनेपर व्यक्ति अप्रस्तुत वस्तुओं या व्यक्तियोंको देखना, अनुपस्थित शब्दोंको सुनना, गन्धोंको सूँघता-सा है। विभ्रम किसी ज्ञानेन्द्रियविशेषसे अथवा विविध ज्ञानेन्द्रियोंसे एक साथ सम्बद्ध हो सकता है। स्वप्नों और सन्निपातमें अनेक ज्ञानेन्द्रियोंसे सम्बद्ध विभ्रमोंका अनुभव होता है। साधारणतया किसी एक ज्ञानेन्द्रिय–जैसे, आँख, कान, नासिका–से सम्बद्ध विभ्रम ही अनुभवमें आते हैं।

दृष्टिगत विभ्रमोंमें बड़ी विविधता होती है। व्यक्तिको अनुपस्थित मित्र या सम्बन्धी, पशु, साँप, बिच्छू, भूत-प्रेत आदि दिखाई पड़ते हैं। सन्तों और मर्मियोंको होनेवाले इष्टदेवके दर्शन तथा उनकी अन्य रहस्यानुभूतियोंको मनोवैज्ञानिक विभ्रम ही मानते हैं।

अन्य सभी मानसिक प्रक्रियाओंसे विभ्रमोंका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। विभ्रान्त व्यक्तिके लिए विभ्रम प्रत्यक्षकी भाँति ही सत्य होता है। विभ्रमोंकी व्याख्या मनोवैज्ञानिकोंने अनेक प्रकारसे की है। विने भ्रम और विभ्रममें कोई अन्तर नहीं मानता। उसका कहना है कि विभ्रमको उत्पन्न करनेवाला कोई-न-कोई सूक्ष्म पदार्थ अवश्य होता है। अन्य अधिकारियोंका मत है कि विभ्रम ज्ञानेन्द्रियोंसे ही किसी कारण उत्पन्न हो जाते हैं। मनोविश्लेषकोंकी दृष्टिमें विभ्रम दमित इच्छाओंके प्रतीकात्मक रूप होते हैं। विभ्रमोंके माध्यमसे व्यक्ति अपनी अतृप्त यौन, अहन्ता सम्बन्धी तथा अन्य इच्छाओंकी पूर्ति कर लेता है। दे०—'स्वभावज अलंकार' चौथा। —आ० रा० शा०

विमर्श सधि–दे०—'अवमर्श संधि'।

विरहनिवेदन–दे०—'दूती कर्म'।

विरुद्धमतिक्रम–दे०—'शब्द-दोष', सोलहवाँ 'पद-दोष'।

विरेचक सिद्धांत–'कैथार्सिस' नामसे अरस्तूने यह सिद्धान्त सबसे पहले प्रचलित किया। ईसापूर्व चौथी शतीमें ट्रैजेडी या शोकान्त नाटककी व्याख्या करते हुए पाठक या दर्शकके मनपर जो प्रभाव होते हैं उनका विवेचन करते हुए अरस्तूने इस शब्दका प्रयोग किया। अरस्तूके शब्दोंमें—'ट्रैजेडी एक क्रिया है—वह हममें करुणा और भयकी भावना जाग्रत् करके हमारी भावनाओंको एक राह, एक प्रकारका व्यंजनामार्ग (आउटलेट) प्रस्तुत कर देती है।', जर्मन काव्यशास्त्री लेसिंग(सन् १७२९-८१)ने इस शब्दका अर्थ 'शुद्धि'के अर्थमें लिया। सामान्य जनोंके मनमें भय और अनुकम्पा कभी अधिक मात्रामें होती है या कम, परन्तु ट्रैजेडीके दर्शनसे उसकी भावनाएँ सन्तुलित हो जाती हैं। कुछ और आलोचकोंके मतमें हमारी भय और करुणाकी भावनाएँ ट्रैजेडी-दर्शनसे उदात्तीकृत हो जाती हैं। मूल शब्द 'कैथार्सिस' वैद्यकके विरेचन जैसा ही शब्द है, उसका धात्वर्थ भी साफ करना या चुनना, इसी निरुक्तसे मिलता है। पुराने जमानेमें यूनानी दवाफरोशोंमें यह आम रिवाज था कि बदनमेंसे उस चीजको बाहर निकाल दिया जाय, जो जरूरतसे ज्यादा हो। आधुनिक मनोविश्लेषणके द्वारा यह सिद्ध होता है कि मनमें दबी, उमड़ी और जमी भावनाओंको राह देना, उस भावनाके त्रासद दबावसे मुक्ति पाने जैसा ही है। बेनेदेत्तो क्रोचे(१८३२ ई०)ने अपने 'एस्थेटिक्स'में यह कहा है कि कलाकी क्रिया ऐसी है कि उसमें कलाकार अपने अनुभवको विस्तार देकर, अपनेसे अलग एक स्वतन्त्र सत्ता देकर उसे आस्वाद्य बनाता जाता है। यह प्रक्रिया स्वय ऐसी है कि तद्द्वारा मनुष्य निष्क्रियतासे युक्त होता है और करुण रससे आनन्द होनेका एक कारण यह भी है।

इस विषयमें भी यूरोपके कलाशास्त्रियोंमें मतभेद है कि ट्रैजेडीसे उत्पन्न कैथार्सिस अभिनेताके मनमें होता है या पाठक, दर्शकके। जर्मन महाकवि गेटे(सन् १७४९-१८३२)के अनुसार यह प्रभाव अभिनेताके मनमें होता है, तो लेसिंगके अनुसार यह प्रभाव पाठक-दर्शकके मनमें होता है। मिल्टनके अनुसार कैथार्सिसका अर्थ भावनाओंकी योग्य मर्यादा या सन्तुलनका निर्माण है। मिल्टनके अनुसार जैसे काँटेसे काँटा निकलता है वैसे ही भावनासे भावनाकी शुद्धि होती है। बुचरने इस शब्दकी चर्चामें और एक सूक्ष्म भेद सुझाया है। जीवनमें प्रत्यक्ष अनुभूतियोंमें जो त्रासद और कष्टकारी है उसे दूर करनेकी क्रिया विरेचन है। जब भय वास्तवसे कल्पनीयमें बदलता है, तो उसका रूप दूसरा हो जाता है। अनुकम्पामें भी वैयक्तिक दुःख-भाग बदलकर सार्वजनिक हो जाता है। 'परदुःख शीतल'—मराठीमें कहावत है। आई० ए० रिचर्ड्सने भावनाओंकी समघाततताको 'कैथार्सिस' कहा है। वस्तुतः भयसे हम भागते हैं, करुणा हमें पास खींचती है। इन दोनोंके बीचमें जो तनाव या परस्पर विरोध है उनका सन्तुलन ही वस्तुतः विरेचनजन्य आनन्द उत्पन्न करता है। —प्र० मा०

विरोध-निबंधना–दे० 'अप्रस्तुत प्रशंसा', तीसरा भेद।

विरोधाभास–विरोधमूलक अर्थालंकार, यह प्राचीनोंसे ही स्वीकृत चला आनेवाला अलंकार है। मम्मटके अनुसार—'अविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वच।' (का० प्र० १० ११०), अर्थात् जहाँ विरोध न होनेपर भी ऐसा वर्णन हो जिसमें विरोधकी प्रतीति हो। इसी प्रकार विश्वनाथने जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्यके विरोधके १० भेद माने हैं। हिन्दीके अधिकाश आचार्योंने विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षितके आधारपर विरोध तथा विरोधाभासको एक मानकर लक्षण दिया है। भूषणने जयदेवके अनुसार दो भेद स्वीकार किये हैं और विरोधमें द्रव्य, क्रिया, गुण आदिसे 'काज-विरोध' माना है तथा विरोधाभासमें 'जहँ विरोध-सो जानिये, साँच विरोध न होय।' (शि० भू० १८२, १८४) स्वीकार किया है। इन्हीं दोनोंका मिला रूप इस स्वीकृत अलंकारमें माना गया है, यद्यपि प्राय मतिराम, पद्माकर आदिने भूषणके विरोधाभासकी परिभाषाके समान ही परिभाषा दी है—'जहँ विरोध-सो लगत है, होत न साँच विरोध।' (ल० ल० १९४)। दासने अवश्य विरुद्धालंकार नामसे जाति, गुण, क्रिया आदिके आधारपर इसके भेदोंका उल्लेख किया है (का० नि० १३)।

जिस वर्णनमें वस्तुतः विरोध न रहनेपर विरोधका आभास हो उसमें विरोध या विरोधाभास अलंकार होता है। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यमें परस्पर एकका दूसरेके साथ विरोध होनेसे इस अलंकारके दस भेद होते हैं। कुछ आचार्योंने विरोध और विरोधाभासको अलग-अलग अलंकार माना है, जो अनावश्यक है। उदा०—'श्री सिवराज भने कवि भूसन तेरे स्वरूपको कोई न पावै। सूर सुवंसमैं सूर सिरोमनि ह्वै करि हू कुलचन्द कहावै।' (शि० भू० १८५), यहाँ सूर-सिरोमनि और कुलचन्दमें अर्थात् द्रव्य और द्रव्यमें विरोध है या—'लागत कुटिल कटाच्छ सर, क्यों न होंहि बेहाल। कढ़त जु हियो दुसार करि, तऊ रहत

नटसाल।' (वि० स० · १७५), यहाँ दुसार और नटसाल इन दो गुणोंमें परस्पर विरोध है। दुसार वह शर है जो आरपार निकल जाता है, किन्तु नटसाल वह है, जिसका कुछ अंश टूटकर शरीरमें रह जाता है। कटाक्षरूपी शरका 'दुसार' और 'नटसाल' दोनों होना विरोधाभास है। गुणसे गुणके विरोधका एक दूसरा उदाहरण मतिरामके पंचम विभावनाके उदाहरणमें है–'लोचन लोल विसाल विलोकनि को न विलोकि भयो वस नाई। वा मुखकी मधुराई कहा कहाँ मीठी लगै अँखियान लुनाई।' (ल० ल० २०६)। महादेवीकी ये पंक्तियाँ विरोधाभासका सुन्दर उदाहरण हैं–'आग हूँ जिससे ढुलकते बिन्दु हिमजलके। शून्य हूँ जिसमें बिछे हैं पाँवड़े पलके।' यहाँ द्रव्य और क्रियामें विरोध है। —भ० म० शा०

विलास–दे०—'सात्त्विक गुण', नायक, तथा–'स्वभावज अलंकार', दूसरा।

विलासिका–इसमें एक अंक, दस लास्यांग, तथा विदूषक, विट, पीठमर्द आदिके व्यापार रहते हैं। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियोंका अभाव रहता है। नायक निर्गुणी होता है तथा वस्त्राभूषणमें संलिप्त रहता है। वृत्तान्तकी स्वल्पता आवश्यक है। इसका उदाहरण प्राप्य नहीं है। शेष बातोंमें नाटकसे समानता है। —वि० रा०

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि—यह ध्वनिका दूसरा प्रधान भेद है। इसमें वाच्यार्थ बाधित न होकर विवक्षित (वाञ्छनीय) रहता है, किन्तु इसमें वह अन्यपरक—दूसरेके पीछे अथवा दूसरेका सहायक होता है–व्यंग्यार्थकी पुष्टि कराता है। इसमें पहले वाच्यार्थ ज्ञात होता है, तदनन्तर व्यंग्यार्थ। दीपककी भाँति वाच्यार्थ स्वतः प्रकाशित होता है और पुनः दूसरेको भी प्रकाशान्वित करता है। व्यंग्यार्थके वाच्यार्थपर आश्रित होनेके कारण इसे अभिधामूलक ध्वनि भी कहते हैं। इसके दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। इनमें पहलेके छः उपभेद तथा दूसरेके तीन प्रधान उपभेद होते हैं–शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव तथा शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव ध्वनि। ये तीन पुनः ४१ भेदोंमें विभक्त किये गये हैं। इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनिके सब मिलाकर ४७ भेद होते हैं। —उ० श० शु०

विवर्त्तवाद–जब किसी वस्तु 'क'से कोई वस्तु 'ह' उत्पन्न या प्रसूत होती है तो 'क'को हम कारण और 'ह'को कार्य कहते हैं। दोनोंके सम्बन्धको कार्य-कारण-भाव या कारणता कहा जाता है। उत्पत्तिसे पूर्व कार्यका अस्तित्व कारणमें है कि नहीं? इसका उत्तर विभिन्न दार्शनिकोंने विभिन्न रूपसे दिया है। बौद्ध, नैयायिक तथा वैशेषिक मानते हैं कि कारणमें उत्पत्तिसे पूर्व कार्यका अस्तित्व नहीं रहता। अतः उनके वादको असत्कार्यवाद कहा जाता है। सांख्य-योग-दार्शनिक तथा कुछ वेदान्ती और मीमांसक मानते हैं कि उत्पत्तिके पूर्व कारणमें कार्यका अस्तित्व रहता है। इस कारण उनका वाद 'सत्कार्यवाद' कहा जाता है। जैनियोंका मत सदसत्कार्यवाद है, क्योंकि वे कारणमें उत्पत्तिके पूर्व कार्यका अस्तित्व और अनस्तित्व या नास्तित्व, दोनों मानते हैं। अद्वैतवादियोंका मत सदसद्विलक्षणवाद कहा जाता है, क्योंकि उनके मतसे यह नहीं कहा जा सकता कि उत्पत्तिके पूर्व कार्य कारणमें रहता है या नहीं रहता है, या रहता है और नहीं भी रहता है। वस्तुतः कार्यका कारणमें रहना, न रहना, रहना और न रहना युक्तियुक्त नहीं दिखलाया जा सकता। अतः कार्यका कारणसे सम्बन्ध विलक्षण है। वह अनिर्वचनीय है, क्योंकि है, नहीं और दोनों(है तथा नहीं एक साथ)के द्वारा उसका वर्णन सम्भव नहीं है। इस कारण सदसद्विलक्षणवादका ही पर्याय अनिर्वचनीयतावाद है और इसीका दूसरा पर्याय विवर्त्तवाद है। एक और प्रकारसे विवर्त्तवादकी व्याख्या की जा सकती है। कारण और कार्य, दोनों पृथक्-पृथक् वास्तवमें सत् हैं कि नहीं? इस प्रश्नके भी विविध उत्तर हैं। वस्तुवादी बौद्धोंका मत है कि कारण असत् है और कार्य सत्, पर कार्य केवल प्रतीयमान है। उत्पत्ति केवल प्रातीतिक है। इस मतको प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। शून्यवादी बौद्धोंका कहना है कि कारण और कार्य, दोनों असत् हैं। यह मत असत्कारणवादके नामसे विख्यात है। कारण और कार्य, दोनों केवल प्रतीयमान हैं और उत्पत्ति भी प्रातीतिकमात्र है। नैयायिक और वैशेषिक कारण तथा कार्य, दोनोंको सत् मानते हैं। कार्यकी उत्पत्ति भी उनके मतसे सत् है। उत्पत्तिके पूर्व कार्य नहीं था। उत्पत्तिके पश्चात् वह सत् होता है। कार्यकी सत्ता उत्पत्तिके बाद आरम्भ होनेके कारण इस वादको आरम्भवाद कहा जाता है। इस मतसे कार्य कारणका अवस्थान्तर नहीं है, वरन् कार्य कारणसे बिलकुल भिन्न नयी वस्तु है। इसके विपरीत सांख्य-योग-दार्शनिकोंका कहना है कि कार्य कारणका ही रूपान्तर या परिणाम है, वह कारणसे बिलकुल भिन्न नयी वस्तु नहीं है। चूँकि सभी वस्तुओंका मूल कारण प्रकृति है और वस्तुएँ इस प्रकृतिका परिणाम है, इसलिए इस मतको प्रकृतिपरिणामवाद कहा जाता है। वैष्णव वेदान्ती जागतिक वस्तुओंका मूल कारण ब्रह्मको मानते हैं, इसलिए उनका मत ब्रह्मपरिणामवाद कहा जाता है। अद्वैतियोंके मतानुसार कार्य न तो कारणसे नये रूपमें अस्तित्वमें आता है, जैसा कि आरम्भवादमें है, और न तो वह कारणका परिणाम या विकार ही है। वास्तवमें कार्य कारणका 'विवर्त्त' है। यह केवल विवर्त्तमान, दृश्यमान या प्रतीयमान है। वह सत् न होकर असत् है। इस प्रकार विवर्त्तवाद कारणको सत् और कार्यको असत् मानता है। वह सत्कारणवाद है। जो वास्तविक सत् सभी दृश्यमान वस्तुओंका कारण है वह एक और अद्वितीय ब्रह्म ही है, इस कारण इस मतको ब्रह्मविवर्तवाद भी कहते हैं। इसीको मायावाद भी कहा जाता है। कभी-कभी इसीको लोग भ्रमवाद, भ्रान्तिवाद, आभासवाद आदि भी कह देते हैं। परन्तु ये नाम उचित नहीं हैं, क्योंकि विवर्त्तमान वस्तु या मायामय वस्तुकी सत्ता भ्रमित या आभासकी सत्ता नहीं है। पहलेकी सत्ता व्यावहारिक है और दूसरेकी प्रातिभासिक।

ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि कारण और कार्यके बीच होनेवाली प्रक्रियाको तीन रूपोंमें दार्शनिकोंने सोचा है। पहले, बौद्ध और अद्वैतवादी दार्शनिक इस प्रक्रियाको

प्रतीयमानता मानते हैं, अर्थात् उनके मतमें उत्पत्ति वास्तविक नहीं है, जैसे शुक्ति देखनेपर रजत प्रतीत होती है या रस्सी देखनेपर साँप प्रतीत होती है, वैसे ही कारण (बीज) देखनेपर कार्य (वृक्ष) प्रतीत होता है। वास्तवमें उत्पत्ति-है नहीं। दूसरे, न्याय-वैशेषिकको माननेवाले इस प्रक्रियाको 'आरम्भरण' या 'नूतनीकरण' कहते हैं। एक उदाहरण लीजिये, बीजसे अकुर होता है, अकुरमे पौधा, पौधेसे वृक्ष और वृक्षसे फल। बीजसे भिन्न बिलकुल नयी वस्तु अकुर है, अकुरसे भिन्न पौधा, पौधेसे भिन्न वृक्ष और वृक्षसे भिन्न फल है। हर अवस्थामें कार्य कारणसे बिलकुल नया है। कार्य कारणका ही रूपान्तर नहीं है। तीसरे साख्ययोगी और कुछ वेदान्ती इस प्रक्रियाको परिणमन या रूपान्तरण कहते हैं। दूसरे और तीसरेमें उत्पत्ति वास्तविक है। उदाहरणके लिए तिल और तेलको लीजिये, तेल तिलका ही रूपान्तर है। वह पहले अव्याकृत अवस्थामें तिल था, व्याकृत अवस्थामें वही तेल हो जाता है। इस तरह कारण परिणामी है। कारण और कार्यके बीच होनेवाली घटना 'आरम्भरण' और 'रूपान्तरण' न होकर प्रतीत्यसमुत्पाद (प्रातीतिक उत्पत्ति) है। इस बातपर विवर्त्तवाद और बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद एकमत हैं। भेद यह है कि विवर्त्तवादमें कारण सत् (ब्रह्म) है और प्रतीत्यसमुत्पादमें असत्। कार्यकी सत्ता कारणकी सत्तासे बिलकुल भिन्न है। इस बातपर आरम्भवाद और विवर्त्तवादमें मतैक्य है। भेद यह है कि आरम्भवादमें कार्य और कारण तत्त्वमें एक और गुणमें भिन्न हैं, जब कि विवर्तवादमें कार्य (जात) कारण(ब्रह्म)से तत्त्वत भिन्न है। कार्य (जात) कारण-(ब्रह्म)में अनिर्वचनीय रूपसे विद्यमान रहता है और अनिर्वचनीय रूपसे कारणमे विकसित होता है। इस बातपर परिणामवाद तथा विवर्त्तवाद सहमत हैं, भेद यह है कि परिणामवादमें रूपान्तरण तात्त्विक है और विवर्त्तवादमें अतात्त्विक।

ऋग्वेदसे लेकर आजतक विवर्त्तवादका इतिहास है। ऋग्वेदके 'रूप रूपं प्रतिरूप बभूव तदस्य रूप प्रतिचक्षणाम। इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरय शतादश।'—इस मन्त्रमे स्पष्ट है कि विवर्त्तवादका विचार ऋग्वेदकालीन है। 'छान्दोग्योपनिषद्'में तत्त्वज्ञानी आरुणिने माना कि एक तथा अद्वितीय सत् ही पहले था और उसीका नाम रूप करणके ढगसे 'बहुवचन' (बहुत वस्तुओंका होना) या जात है। उन्होंने 'वाचारम्भण विकारो नाधेयं' (सभी वस्तुएँ उस सत्के नाम और रूपमे ही है, न कि तत्त्वत विकार हैं) कहकर विवर्त्तवादका प्रवचन किया। औपनिषद् दर्शनके अनन्तर ही बौद्ध दर्शनमें विवर्त्तवादकी प्रचुर मीमासा की गयी। 'लंकावतारसूत्र' और प्रज्ञापारमिताशास्त्र में सर्वप्रथम इसपर दार्शनिक ढगसे विचार किया गया। नागार्जुन, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्धोंने विवर्त्तवादका ही समर्थन किया। कमलशीलके मतसे विवर्त्त और परिणाम, विवर्त्तवाद और परिणामवाद, दोनों समानार्थक या एकार्थक हैं। भवभूति भी इसी प्राचीन विवर्त्तवादको जानते थे, जिसके अनुसार विवर्त परिणामका पर्याय है—'एको रस करुण एव विवर्त्तभेदात्'से यही सिद्ध होता है।

विवर्त्तवादका नवीनतम अर्थ यह है जिसे हम परिणामवादसे भिन्न करते हे। वर्तमान दार्शनिक ढगमे सर्वप्रथम गौडपादने इसकी पुष्टि की और उनके परम शिष्य शकराचार्यने उसको विकसित तथा प्रचलित किया। तबमे लेकर आजतक विवर्त्तवाद अद्वैतवादका प्रमुख विषय बन गया है और सभी अद्वैतवादी ग्रन्थोंमें इसकी व्याख्या मिलती है।

जिस मायासे ब्रह्मका विवर्त या जगत् सिद्ध होता है, वह क्या है? इस प्रश्नकी अद्वैतवादमें बड़ी समीक्षा की गयी है। माया न तत्त्व है, न अतत्त्व है और न दोनों। वह न सत् है? न असत् और न दोनों। वह तत्त्व-अतत्त्वसे विलक्षण या सदसद्विलक्षण हे। वह अनिर्वचनीय है। नाम और रूप इसकी काया है। इसलिए इसे नामरूपात्मिका भी कहा जाता है। इसके दो कार्य हैं—आवरण और विक्षेप। पहले यह ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपका आवरण करती है, फिर ब्रह्ममें ही यह जातका विक्षेप या अध्यास करती है। उसीका नाम 'अविद्या' है। कुछ अद्वैती 'माया' और 'अविद्या'में भेद करते हैं। उनके मतमे माया ईश्वर या ब्रह्ममे सम्बन्धित है और अविद्या जीवसे, पर शकराचार्यने दोनोंको अभिन्न माना है। मायाकी निवृत्ति सम्भव हे ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप जान लेनेपर। यह निवृत्ति भी अनिर्वचनीय है। मायाकी अनिर्वचनीयता तथा मायानिवृत्तिकी अनिर्वचनीयता, दोनों दो प्रकारकी हे, एक प्रकारकी नहीं। मायानिवृत्तिका ही नाम मोक्ष हे।

मायाको ब्रह्मकी शक्ति नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा माननेपर मायाको सत् मान लेना पडेगा। अद्वैतवादियोंको छोडकर अन्य सभी वेदान्ती या तो मायाको मानते ही नहीं जैसे, वल्लभाचार्य और उनके अनुयायी, और या तो इसे सही मानते हे।

हिन्दी साहित्यमें अद्वैतवादकी मायाका विशेष उल्लेख मिलता है। कबीरने इसे अपने रामकी 'दुलहिन' और 'ठगिनी' बना दिया है। परमसत् या राम बाजीगर ह, माया बाजी या जादू है। साख्यकी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको अद्वैतवादकी मायामे अभिन्न करते हुए कबीर तथा अन्य अद्वैती सन्तोंने मायाको 'तिरगुनी' अर्थात् सत्त्व, रज और तम गुणोंसे युक्त भी कहा है। 'डाइनि,' विश्वमोहिनी सुन्दरी (सर्पिणी), काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, इन पुत्रोंकी जननी आदि रूपकों द्वारा सन्तोंने मायाका सुन्दर वर्णन किया है जिससे उसकी असत्ता या मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है। निर्गुणोपासक सन्तोंमें मायाका प्राय ऐसा ही वर्णन है। तुलसीदास जैसे सगुणोपासक भक्तोंने अद्वैतवादी माया और अन्य वेदान्तियोंकी मायाको समन्वित करते हुए यह दिखलाया है कि माया अनिर्वचनीय तत्त्व है, जो है तो मिथ्या, पर तो भी एक प्रकारका सत् ही है। मायावादसे प्रभावित रचनाएँ वर्तमान समयमें भी उपलब्ध हे, पर उनमें मायाका परम्परागत अर्थ ही नये रूपकों और उदाहरणोंके द्वारा अभिव्यक्त होता हे।

[सहायक ग्रन्थ—(१) भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय, (२) प्राच्यदर्शनसमीक्षा · साधु शान्तिनाथ, (३) उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा परशुराम चतुर्वेदी।]

—ए० ला० पा०

विवृतोक्ति–व्याजोक्तिकी कोटिका अर्थालंकार। शब्दार्थ है खुली हुई उक्ति। अप्पय दीक्षित द्वारा आविष्कृत सत्तरह अलंकारोंमेंसे एक यह भी है। इसकी परिभाषा उन्होंने निम्नलिखित प्रकारसे की है–'विवृतोक्तिः श्लिष्टगुप्तं कविनाविष्कृतं यदि।' (कुवल० ८८–१०१), अर्थात् श्लिष्ट शब्दों या अर्थशक्तिके चमत्कारसे जब कवि किसी रहस्यको अभिव्यक्त करता है तो यह अलंकार होता है। यथा, कारिकामें ही कवि द्वारा रहस्य वर्णित कराया है–'वृषापेहि परक्षेत्रादिति वक्ति ससूचनम्।' अर्थात् कवि कहता है कि हे वृष, पराये क्षेत्रसे दूर जा। 'कुवलयानन्द'का अनुसरण करनेवाले हिन्दीके आचार्योंने इसी प्रकार लक्षण दिया है–'जहाँ स्लेष-सों गुप्तसों सुकवि प्रकाशत अर्थ।' (ल० ल० : ३६२) अथवा–'जहाँ अरथ गूढ़ोक्तिकौ, कोऊ करै प्रकास।' (का० नि०, १६)। उदा०–'कबकी हौं टेरति न हेरे हरि पावति हौं, बछरा हिरान्यो सो हिराय नेक दीजिये।' (ल० ल० ३६३) अथवा–'जो गोरस चाहतु लियो तो आवहु मम धाम। यौं कहि याजक सौं हरिहि किय सूचन निज ठाम।' (अ० म०), यहाँ गोरस शब्द श्लिष्ट है। पूर्वार्धमें गोपीने श्रीकृष्णके प्रति रहस्यात्मक शब्द कहे। उनकी सूचना कविने उत्तरार्धमें दी है।

यह व्याजोक्तिसे भिन्न है। व्याजोक्तिमें किसी रहस्यके किसी प्रकार प्रकट हो जानेकी शंकासे उसको छिपानेका प्रयत्न किया जाता है, पर इसमें गुणीभूत व्यंग्य होनेके कारण इसको कुछ काव्यशास्त्री पृथक् अलंकार मानते हैं। —ज० कि० व०

विवेकजा बीभत्स–दे०—'बीभत्स रस'।

विवेचना–'विवेचन' या 'विवेचना'का अर्थ है 'भली-बुरी वस्तुका ज्ञान' अथवा 'भली भाँति परीक्षा करना।' विवेचनाका सम्बन्ध भी **आलोचना** या **समीक्षा**से है। किसी विषयके विभिन्न तत्त्वोंको समझना **आलोचना**का ही अंग है। जब हम विभिन्न तत्त्व समझनेकी चेष्टा करते हैं तो हमारी आलोचना विवेचनात्मक होती है। संसारकी अनेक प्रसिद्ध कृतियोंकी विवेचनाएँ मिलती हैं। यह आवश्यक नहीं कि विवेचना प्रशंसात्मक ही हो। विवेचना करनेसे पूर्व किसी कृतिके भीतर पैठना चाहिये। पूर्वाग्रहसे रहित होकर और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोणसे कलात्मक कृतिके सम्बन्धमें निर्णय देना अथवा सैद्धान्तिक निष्कर्ष प्रस्तुत करना ही विवेचनाका मूल कार्य है। दे०—'आलोचना'। —ल० सा० वा०

विशिष्टाद्वैतवाद–विशिष्टाद्वैतवादके कई अर्थ प्रचलित हैं। (क) दो विशिष्टोंका अद्वैत (तादात्म्य=अभेद), स्थूल चेतनता तथा अचेतनतासे विशिष्ट जीव और सूक्ष्म चेतनता तथा अचेतनतासे विशिष्ट परमात्माकी एकता ही विशिष्टाद्वैत है। या यों कहिये कि ब्रह्मके दो रूप हैं, कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म। कारणब्रह्म सूक्ष्म चित् और अचित्से विशिष्ट है। कार्यब्रह्म (जीवों सहित समस्त जगत्) स्थूल चित् तथा अचित्से विशिष्ट है। दोनोंका, कारणब्रह्म और कार्यब्रह्मका एकमेक विशिष्टाद्वैत है। (ख) उपर्युक्त अर्थको न मानते हुए कुछ लोग विशिष्टाद्वैतका अर्थ द्वैतसे विशिष्ट अद्वैत लेते हैं। द्वैतका अर्थ चित् और अचित् है। अद्वैतका अर्थ है अन्तर्यामी परमात्मा। द्वैत नियम्य है और अद्वैत नियामक।

आचार्य रामानुज (१०२७–११३७ ई०, जन्मस्थान दक्षिणभारतमें भूतपुरी अर्थात् वर्तमान श्रीपेरेम्बुदूरम्) इस विचारधाराके सर्वश्रेष्ठ प्रवर्तक हैं। इस दर्शनके दो उत्स हैं—संस्कृतवेद और तमिलवेद। इस कारण इसे उभयवेदान्त कहा जाता है। इसमें वेद, उपनिषद्, 'ब्रह्मसूत्र' और 'गीता'के अतिरिक्त तमिल देशके बारह आलवार भक्तोंके वाक्य भी प्रमाण हैं। इन आलवार भक्तोंका समय सातवीं शताब्दीसे नवीं शताब्दीतक माना जाता है। विशिष्टाद्वैतवादियोंने इन भक्तोंके भक्तिमार्ग और वेदोपनिषत्प्रतिपादित ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग तथा उपासनामार्गका सुन्दर समन्वय किया और प्रपत्तिमार्गकी प्रतिष्ठा करके एक नये वैष्णव मतको चलाया जो श्री या लक्ष्मीके प्रथम प्रवर्तक होनेके कारण श्रीवैष्णवके नामसे प्रसिद्ध है। इसके आद्य आचार्य रंगनाथमुनि या नाथमुनि (८२४–९२४ ई०) हैं, जिन्होंने तमिलवेदका पुनरुद्धार किया और 'योगरहस्य' तथा 'न्यायतत्त्व' जैसे ग्रन्थोंकी रचना की है। इनके पौत्र यामुनाचार्य या आलवन्दार थे, जिनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धित्रय', 'आगमप्रामाण्य' और 'आत्मवन्दारस्तोत्र' हैं। इन्हींके पौत्र शैलपूर्णके भागिनेय रामानुज थे। इन्होंने बादरायणके 'ब्रह्मसूत्र'पर श्रीभाष्य लिखा और 'वेदान्तसार', 'वेदार्थसंग्रह', 'गीताभाष्य' आदि ग्रन्थोंकी रचना की। इन्होंने अपने वेदान्त(वेदमूलक दर्शन)को प्राचीन परम्परापर आधारित दिखलाया। इनके मतसे वेदान्तके प्राचीन आचार्य बोधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दि, भारुचि आदि विशिष्टाद्वैतवादी ही थे। तर्क, अनुभव और श्रुतिसे इन्होंने शंकराचार्यके अद्वैतवाद और मायावादका खण्डन किया। इनके बाद वेंकटनाथ (१२६९–१३६९ ई०), वेदान्तदेशिक आदि इनके मतके विद्वान् अनुयायी हुए।

यह है विशिष्टाद्वैतका दक्षिणभारतमें इतिहास। उत्तरी भारतमें रामानन्द(१४वीं शताब्दी)ने विशिष्टाद्वैतवादका प्रचार किया। इनकी ही शिष्य-परम्परामें कबीर, दादू, तुलसीदास, आदि कवि-दार्शनिक हुए। कबीर, दादू आदि निर्गुणोपासक थे और उनकी विचारधाराने इस कारण अद्वैतवादका रूप धारण किया। तुलसीदास पक्के विशिष्टाद्वैतवादी थे। इस युगमें कुछ विद्वानोंने उन्हें अद्वैतवादी दिखलानेका प्रयास किया है, पर वे निश्चित रूपसे विशिष्टाद्वैतवादी ही थे, जैसा कि उनकी सगुण-भक्ति, गुरु-परम्परा और चिन्तन-प्रणालीसे सिद्ध होता है। पीताम्बरदत्त बड़थ्वालके मतसे शिवदयाल (जन्म १८१८ ई०, आगरामें) तथा उनके सभी अनुयायी (राधास्वामी सत्संग) विशिष्टाद्वैतवादी हैं। इनके अतिरिक्त वे प्राणनाथ, दोनों दरिया साहब, दीन दरवेश, बुल्लेशाह आदिको भी विशिष्टाद्वैतवादी बतलाते हैं। पर ये सिर्फ तत्त्ववादमें ही विशिष्टाद्वैतवादी हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायी (आर्यसमाजी) भी तत्त्ववादमें विशिष्टाद्वैतवादी हैं।

विशिष्टाद्वैतवादीके अनुसार तीन नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं—परमात्मा (ईश्वर), चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति)। परमात्मा अन्तर्यामी-रूपसे जीवन और प्रकृतिमें

विद्यमान है। वह अगी (अशी) है और जीव तथा प्रकृति उसके अग (अंश) है। 'ईस्वर अस जीव अविनासी' (तुलसीदास)। चित् और अचित्से विशिष्ट परमात्मा ही एकमात्र सत् है। चित् और अचित् द्रव्य तथा गुण, दोनों हैं। परमात्मा सगुण द्रव्य है। उसमें सजातीय और विजातीय भेद नहीं है, क्योंकि वह एक और अद्वितीय है। पर चित् और अचित्के गुण भी होनेके कारण उसमें स्वगत भेद हैं। ईश्वरका चित्-अचित्के साथ जो सम्बन्ध है, वह विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध है। इसकी पारिभाषिक सज्ञा अपृथक् सिद्धि है।

जैसे मकड़ी अपने भीतरसे ही जाला पैदा करती है, वैसे ही ईश्वर अपने अन्दरसे ही इस जगत्की सृष्टि करता है। वह जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। सृष्टि माया नहीं, वास्तविक है।

ईश्वर या ब्रह्म सत्, ज्ञान, अनन्त, अपहतपाप्मा, सुन्दर, आनन्दमय और आनन्द है। वह शरीरधारी है। वह चित् तथा अचित्का आधार, नियन्ता और शेषी है। चित् और अचित् आधेय, नियम्य और शेष हैं। ब्रह्म भुवनसुन्दर होनेके कारण उदात्त है।

चित् (जीव) अजड, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार और ज्ञानाश्रय है। हृदयमें उसका निवास है। क्योंकि उसमें शेषत्व है इसलिए वह सदा अपने शेषी ईश्वरपर निर्भर है। जीवसे मुक्त होनेपर भी ईश्वरसे उसकी भिन्नता बनी रहती है। उस समय भी वह ईश्वरकी भाँति सृष्टिका कर्ता और नियन्ता नहीं हो सकता। उसका अणुत्व भी अनश्वर है। इन गुणोंको छोड़कर अन्य समस्त गुणोंमें जीव मुक्तावस्थामें ईश्वरसे अभिन्न हो जाता है।

अचित् तत्त्व ज्ञानशून्य है। इसके तीन प्रकार हैं—शुद्ध सत्त्व, मिश्र सत्त्व और सत्त्वशून्य। शुद्ध सत्त्वका दूसरा नाम नित्यविभूति है। मुक्तावस्थामें जीवकी देह इसीसे बनती है। मिश्र सत्त्व रजोगुण और तमोगुणसे मिश्रित होनेके कारण जगत्का उपादान है। इसीको माया, प्रकृति या अविद्या कहा जाता है। सत्त्वशून्य तत्त्व काल है।

ब्रह्मके स्वरूपपर चिन्तन करनेसे उसको पानेकी इच्छा होती है। इसीको मुमुक्षा कहते हैं। मुमुक्षुको कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगसे मोक्ष मिलता है।

कर्मयोग निष्काम भावसे वैदिक तथा लौकिक कर्मोंको करता है। कर्मसे विरक्ति भगवान् भी नहीं ले सकता, जीवकी बात ही क्या है? निष्काम कर्म करनेसे अहकारका नाश होता है, विषयोंसे मन मुक्त होता है, सत्त्व शुद्ध होता है और चित्तमें स्थैर्य आता है। इसके अनन्तर कर्मयोग ज्ञानयोगका रूप धर लेता है। वैराग्य तथा अभ्याससे ज्ञाननिष्ठा होती है। सतत मननसे तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वका ज्ञान होनेपर कैवल्यकी प्राप्ति होती है। यह कैवल्य खो न जाय, इसलिए भक्तिकी आवश्यकता पड़ती है। भक्ति कर्म और ज्ञानकी पराकाष्ठा है। तत्त्ववादका ब्रह्म धर्ममें ईश्वर हो जाता है। ईश्वरपर अनवरत ध्यान करना भक्ति है। इस ध्यानके फलस्वरूप भक्त सब-कुछ छोड़कर भगवान्की शरणमें रहता है। यहाँसे प्रपत्ति-मार्ग आरम्भ होता है। प्रपत्ति (ईश्वरकी शरणमें जाना) भक्तिकी पराकाष्ठा है। प्रपत्तिके विषयमें विशिष्टाद्वैतवादियोंमें दो मत हैं। श्रीलोकाचार्य द्वारा संस्थापित 'टेंकलई'-मतके अनुसार प्रपत्तिके लिए कर्मानुष्ठान आवश्यक नहीं है। जैसे नि सहाय मार्जारकिशोर माँकी शरणमें जाकर विना कुछ प्रयत्न किये ही अपनी माँ द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचा दिया जाता है, उसी प्रकार भक्तके प्रति अहैतुकी कृपासे भगवान् उसके विना कुछ किये ही उसे अपनी शरणमें रख लेता है। आचार्य वेदान्तदेशिक द्वारा सस्थापित 'वडकलै'-मतके अनुसार प्रपत्तिके लिए भक्तोंको कर्म करना आवश्यक है। जैसे कपि किशोर-के स्वय प्रयत्न करके अपनी माँके पेटसे चिपक जानेपर वह उसके द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचा दिया जाता है, उसी प्रकार भक्तको प्रपत्तिके लिए स्वयमेव कुछ कर्म करके भगवान्को पकड़ना है और तब भगवान् उसे अपनी शरणमें रख लेगा। प्रपत्तिमार्गका प्रभाव हिन्दीके सन्तों और भक्तोंपर पड़ा है, उन्होंने एक स्वरसे 'आत्मनिवेदन'को ही भक्तिका प्राण बतलाया।

किन्हीं-किन्हींके मतसे जो लोग प्रपत्तिमार्गका भी अनुसरण नहीं कर सकते उनके लिए आचार्याभिमानयोग है। उन्हें आचार्य या गुरुकी शरणमें जाकर उसके आदेशानुसार चलना चाहिये। इससे भी वह मोक्षलाभ कर सकता है। इस गुरुभक्तिका भी प्रभाव हिन्दी सन्तों और कवियोंपर बहुत पड़ा। सबने गुरुके महत्त्वको माना। विना गुरुके न तो विवेक हो सकता है और न भक्ति ही आ सकती है।

इस मतमें ईश्वर पाँच प्रकारसे ध्येय है—पहला नारायण, परब्रह्म या परम वासुदेव नारायण वैकुण्ठमें पार्षदों सहित निवास करते हैं। श्री (लक्ष्मी), भू (पृथ्वी) और लीला उसकी तीन पत्नियाँ हैं। मुक्त जीव उसके पास रहते हैं। दूसरा ईश्वरके चार व्यूह वासुदेव (आत्मा), सकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहकार)। इन चार व्यूहोंको पूजा तथा सृष्टिके लिए ईश्वर धारण करता है। तीसरा विभवरूप है। विभवरूपमें ईश्वर मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि इन दस अवतारोंको धारण करता है। चौथा अन्तर्यामी है। अन्तर्यामीरूपसे ईश्वर सबके हृदयमें निवास करता है। इस रूपमें वह केवल योगियों द्वारा ही देखा जाता है। पाँचवाँ मूर्तिरूप है। भगवान् घर, गाँव, नगर आदिके मन्दिरोंमें भक्तों द्वारा स्थापित मूर्तियोंमें निवास करता है।

नारायण, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा मूर्ति, प्रत्येक रूपमें ईश्वरका ध्यान हो सकता है।

वैकुण्ठमें निवास करना सालोक्य मुक्ति है। वहाँ भगवान्का सामीप्य-लाभ करना सामीप्य मुक्ति है। भगवान् जैसा रूप पाना सारूप्य मुक्ति है। भगवान्के साथ ऐक्यलाभ करना सायुज्य मुक्ति है। सायुज्य मुक्ति ही इस मतमें कैवल्य मुक्ति है। इसमें ईश्वर तथा जीवके व्यक्तित्व भिन्न बने रहते हैं। नानात्व भी रहता है, पर उपर्युक्त द्वैत भाव और नानात्वकी दृष्टि नहीं रहती।

विशिष्टाद्वैतवादके कई रूप विद्वानोंमें प्रचलित हैं। (क) रामानुजके विशिष्टाद्वैतके सदृश ही शक्ति-विशिष्टाद्वैतवाद है। इसे वीरशैव मत भी कहा जाता है। परब्रह्मको इसमें शिव कहा गया है और चित् तथा अचित्को उसकी शक्ति। इस मतका आज भी कर्णाटकमें प्रचार है। (ख) श्रीकण्ठाचार्य-(१३वीं शताब्दी)ने शैव विशिष्टाद्वैतवादकी स्थापना की। इसमें भी ईश्वर शिवरूप माना जाता है। (ग) राम-विशिष्टाद्वैतवाद–रामानुजने नारायणको परब्रह्म कहा। तुलसीदासने रामको ही परब्रह्म माना। उनके मतको हम राम-विशिष्टाद्वैतवाद कह सकते हैं। यद्यपि यह पूर्ण रूपसे विशिष्टाद्वैतवाद ही है, तथापि इसमें और रामानुजके मतमें साम्प्रदायिक भेद है, जो तत्त्ववादकी दृष्टिसे नगण्य है। (घ) यूरोपमें तत्त्ववादकी दृष्टिसे ग्रीक दार्शनिक प्लाटिनसका मत विशिष्टाद्वैत ही था। वर्तमान नव हीगेलवादियोंमेंसे भी कुछ विशिष्टाद्वैतवादी हैं।

[सहायक ग्रन्थ—(१) 'कल्याण'का वेदान्तांक, (२) भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय, (३) हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।]—स० ला० पा०

विशुद्धाख्य–दे०—'हठयोग'।

विशेष–विरोधमूलक अर्थालंकार। जहाँ किसी विशेष विलक्षणताका वर्णन हो वहाँ विशेष अलंकार होता है। आचार्योंने इसके तीन प्रकार माने हैं। रुद्रट सम्भवतः इसके प्रथम विवेचक हैं। इनके और रुय्यकके आधारपर मम्मट तथा विश्वनाथके लक्षण हैं–१ 'बिना लोकप्रसिद्ध आधारके किसी आधेय वस्तुकी स्थिति प्रतिपादित की जाय, २ एक वस्तुकी अनेक वस्तुओंमें, एक ही समय, एक स्थितिका वर्णन किया जाय अथवा ३ कर्त्ताका, एक कार्य करते हुए, अन्य किसी अशक्य कार्यमें, पूर्वकार्यकी भाँति, क्षमताका वर्णन किया जाय।' (का० प्र० १० : १३६)। जयदेवने प्रथम भेदका लक्षण ही विशेषके लक्षणके रूपमें देकर एक भेद माना है, पर हिन्दीके आचार्योंने मम्मट, विश्वनाथके साथ अप्पय दीक्षितका अनुसरण किया है।

प्रथम विशेष–मतिराम आदिने लक्षण दिया है–'जहँ आधेय बखानिये, बिन प्रसिद्ध आधार।' (ल० ल० २४५)। उदा०—'चलौ लाल वाकी दसा, लखौ कही नहिं जाय। हियरे है सुधि रावरी, हियरो गयो हिराय।' (ल० ल० २४६)। यहाँ आधार(हृदय)के अभावमें भी आधेय-(सुधि)की स्थिति वर्णित है। **द्वितीय विशेष**—मतिराम आदिके अनुसार लक्षण है—'जहँ अनेक थलमें कछू बात बखानन एक।' (ल० ल० २४७)। उदा०—'गोपिन सँग निसि सरदकी, रमत रसिक रस रास। लहाछेह अति गतिनकी, सबनि लखे सब पास।' (वि० स० २९१)। यहाँ तो एक ही श्रीकृष्ण एक ही समयमें अनेक गोपियोंके साथ रास रचाते हैं। ध्यान देनेकी बात है कि पर्यायमें भी एक वस्तुकी अनेक स्थलोंमें स्थिति होती है, किन्तु अन्तर यह है कि उसमें वह स्थिति क्रमशः होती है, एक ही कालमें नहीं। **तृतीय विशेष**—मतिराम आदिके अनुसार लक्षण है–'करत कछू आरम्भते, जहँ असक्य कछु और।' (ल० ल० २४८), अर्थात् जहाँ किसी कार्यके करते हुए किसी दूसरे अशक्य कार्यका होना वर्णित हो। कालिदासका अज-विलापके प्रसंगमें यह पद्य इसका सुन्दर उदाहरण है–'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किन्न मे हृतम्।' (रघुवंश), अर्थात् कालने इन्दुमती-के हरण द्वारा केवल गृहणी ही नहीं, किन्तु सचिव, सखी, शिष्या, सर्वस्व हरण कर लिया, अथवा–'तिय तुव तरल कटाक्ष नर सहैं धीर उर धारि। सही मानियो तिन सहे, तुपक तीर तलवार।' (का० नि० ११)।—ध० प्र० शा०

विशेषक १–लोकन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें सादृश्यके कारण उत्पन्न भ्रम किसी प्रकार अपने-आप लक्षित हो जाय। यह अप्पय दीक्षित द्वारा सर्वप्रथम सामान्यके विरोधी रूपमें स्वीकृत हुआ है। इस अलंकारमें कुछ वर्णन 'उन्मीलित' जैसा रहनेपर भी 'सामान्य'की भाँति वस्तुओंकी स्थिति भिन्न रहकर किसी कारण पृथक् जानी जाती है। 'सामान्य'की सादृश्य सम्बन्धी एकात्मता होनेपर भी किसी प्रकार भेद लक्षित होना, यह अलंकार है। 'भाषाभूषण'में 'कुवलयानन्द'के आधारपर सर्वप्रथम हिन्दीमें उल्लेख हुआ। प्रायः मतिराम, दास तथा पद्माकर आदि कई हिन्दीके आचार्योंने इसकी परिभाषा 'सामान्य'में 'भेद पाने'के उल्लेखसे किया है। भूषणकी परिभाषामें कुछ स्पष्टता है—'भिन्न रूप सादृश्यमें लहिये कछू विसेख'। (शि० भू० ३०७)।

वस्तुतः उन्मीलित तथा विशेषकमें सूक्ष्म भेदमात्र है। उन्मीलितमें हेतुसे पृथक्ताका ज्ञान होता है और विशेषकमें समयकी अपेक्षासे अन्तर जान पड़ता है। मतिरामका उदाहरण—'आयी फूलनि लैनकौं, चलौ बागमें लाल। मृदु बोलनिसो जानिये, मृदु बोलनिमें बाल।' (ल० ल० ३४७)। मतिरामके उन्मीलित(दे०)के उदाहरणमें मसीरकी ध्वनि सहज हेतु है, पर यहाँ मृदु बोल अवसरकी अपेक्षा रखते हैं। पद्माकरने प्रसिद्ध उक्तिका आश्रय लिया है—'कागनमें मृदु बानितें, मैं पिक लियो पिछान'। (पद्मा० : २८५)। इस अलंकारका प्रयोग कम हुआ है। —सं०

विशेषक २–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, 'प्राकृत-पैंगलम्'में इसकी परिभाषा दी है (१७०)। ५ भगणों और गुरुके योगसे यह छन्द बनता है। भानु(छ० प्र० : पृ० १७९)ने इसके नाम नील, अश्वगीत और लीला दिये हैं। लीला छन्दका प्रयोग सुन्दर तथा रघुराजने भी किया है। उदा०—'श्याम दुऊ पग लाल लसै दुति यों तलकी। मानहु सेवनि जोति गिरा जमुनाजलकी।' (रा० च० : प्र० ६ ५७)। —पु० शु०

विशेषणवक्रता–दे०—'पदपूर्वार्धवक्रता', दूसरा प्रकार।

विशेष परिवृत्त–दे०—'अर्थ-दोष', बीसवाँ।

विशेषोक्ति–विरोधमूलक अर्थालंकार, यह अलंकार भामह आदिक प्राचीनोंसे स्वीकृत रहा है। भामह तथा उद्भटके अनुसार समस्त तथा समग्र शक्तियोंके उपस्थित रहनेपर भी फलप्राप्ति न होनेका कथन इसमें होता है। मम्मट तथा विश्वनाथने संक्षिप्त करके इसका लक्षण—'अखण्डेषु कारणेषु फलावचः' तथा 'सति हेतौ फलाभावो।' (का० प्र० १० : १०८, सा० द० १० : ६७) दिया है, अर्थात् समस्त

कारणोंके होते हुए भी कार्यके न होनेका कथन। मम्मटने इसके तीन और विश्वनाथने अन्योंका अनुसरण करके दो भेद दिये हैं। हिन्दीके आचार्योंने प्राय जयदेवके अनुकरण-में इसके भेद नहीं दिये हैं, पर उनके लक्षणोंपर मम्मट और विश्वनाथका प्रभाव है—'जहँ परिपूरन हेतुते प्रगट होत नहिं काज।' (ल० ल० २०९)। इसी प्रकारके लक्षण भूषण, दास, तथा पद्माकर आदिके हैं। जहाँ अविकल कारणके होते हुए भी कार्यका न होना वर्णित हो वहाँ विशेषोक्ति अलकार होता है। विभावनामें कारणके अभावमें भी कार्यकी उत्पत्ति कही जाती है और विशेषोक्तिमें कारणके रहनेपर कार्यकी अनुत्पत्ति कही जाती है। विशेषोक्ति तीन प्रकारकी होती है।

प्रथम विशेषोक्ति—**अनुक्तनिमित्ता**—जहाँ कार्यकी अनुत्पत्तिका कारण नहीं कहा जाता। उदा०—'लिखनि बैठि जाकी सबी गहि गहि गरव गरूर। भये न केते जगतके चतुर चितेरे कूर।' (वि०स० ३४७)। यहाँ चित्र न बनानेका कारण वर्णित नहीं है। द्वितीय विशेषोक्ति—**उक्तनिमित्ता**—जहाँ कार्यकी अनुत्पत्तिका कारण कहा जाय–'त्यों-त्यों प्यासोई रहत ज्यों-ज्यों पियत अघाइ। सगुन सलोने रूपकी जु न तृपा बुझाइ।' (वि० स० ४१७)। यहाँ आँखोंकी पिपासा शान्त न होनेका कारण वर्णित है। तृतीय विशेषोक्ति–**अचिन्त्यनिमित्ता**—जहाँ कार्यकी अनुत्पत्तिका कारण अचिन्त्य है–'जदपि चवायनि चीकनी चलति चहूँ दिसि सैन। तऊ न छाड़त दुहुनके हँसी हँसीले नैन।' (वि० स० ३३६), यहाँ व्याघात होते हुए भी नयनोंकी परस्पर सलग्नताका कारण वर्णित नहीं है। वस्तुत तृतीय भेद प्रथम भेदमें अन्तर्विष्ट माना जा सकता है और उनके आचार्योंने तो विशेषोक्तिका केवल एक ही प्रकार प्रतिपादित किया है। मम्मटने तीनों भेदोंका वर्णन किया है। इस अलकारकी व्याख्या करते हुए उद्योतकारने लिखा है कि इसमें एक विशेष, अर्थात् असाधारण कारणके रहते कार्यका अभाव प्रतिपादित किया जाता है। —ध० ब्र० शा०

विश्रब्धनवोढा (नायिका)–विश्रब्धका शब्दार्थ है विश्वस्त, निर्भीक, शान्त, दृढ तथा विश्वासप्राप्त। सर्वप्रथम भानुदत्तने मुग्धाके स्वतन्त्र भेदके रूपमें स्वीकार किया और इनके अनुकरणपर हिन्दीमें मतिराम, दास तथा पद्माकर आदिने। बेनी प्रवीन, भानु तथा सीतल आदिने इसे ज्ञात-यौवनाके भेदके रूपमें माना है। विशेषके लिए दे०–'नायिका-भेद'। भानुदत्तने इसे 'सप्रश्रया' लिखा है, जिसका अर्थ है विनय तथा विश्वासके सहित। मतिराम, जो नवोढा 'प्रीतम-सों परतीति' प्रकट करती है उसे विश्रब्धनवोढा मानते हैं। पद्माकरने शब्द बदल दिये हैं–'पतिकी कछु परतीति' जो हृदयमें धारण करे। इस नायिकामें भय तथा लज्जाका भाव कम हो जाता है और वह अपने पतिकी ओर किंचित् आकर्षित होती है। भानुके अनुसार इसके हृदयमें निकट रहनेपर भयप्रीति उत्पन्न होती है, पर दूर रहनेपर मिलन-लालसा बलवती होती है। मतिरामने परिस्थितिके माध्यमसे नायिकाके विश्रब्ध भावको अभिव्यक्त किया है–'कान्हके बोल मैं कान न दीनो सो गेहकी देहरीपै धरि आयी।' (रसराज २८)। पद्माकरने उदाहरणमें केवल परिभाषाकी व्याख्या की है–'जाहि न चाह कहूँ रतिकी सु कछू पतिको पतियान लगी है।' (जगद्वि० १ ४०)। **लज्जाप्राया अथवा सलज्जरति**–केशव और देवके ये भेद किंचित् अन्तरके साथ विश्रब्धनवोढा माने जा सकते हैं। पर इस भेदमें नायिका अधिक निर्भीक अकित की गयी है। केशवके अनुसार इस नायिकामें लाजके साथ पतिसे प्रीति बढानेकी बात होती है और इस प्रकार मुग्धत्वके साथ विश्रब्ध भावकी स्थिति स्वीकृत हुई है। केशवकी इस नायिकामें लज्जा और प्रीति समान है–'मैं भरि चित्त तऊ चितयो न रही गड़ि नैननि लाज निगोड़ी।' (र० प्रि० ३ २५), पर देवकी सलज्जरति नायिकामें लज्जा ऊपरी ही जान पडती है–'नेकहू क्यों न लला सकुचौ जिय जागत हैं गुरु लोग लजाहू।' (भा० वि० नायिका)। रीतिकाव्यमें विश्रब्धनवोढाके वर्णनमें नारीके रति सम्बन्धी प्रारम्भिक मनोभावोंका चित्रण किया गया है, पर भावात्मक अभिव्यक्तिके स्थानपर बाह्य परि-स्थितियोंका अंकन ही अधिक हुआ है।

विश्लेषण (analysis)–मोटे तौरपर किसी कृतिके विश्लेषणके अर्थ हैं उसके विभिन्न अवयवोंका अलग-अलग तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धोंका विवेचन। अर्थ-तत्त्वोंका निरूपण तथा स्पष्टीकरण विश्लेषणके व्याख्यात्मक पहलू हैं। स्पष्टीकरण(एक्सप्लिकेशन)का क्षेत्र एक तो शब्दोंके साधारण और निहित अर्थोंकी स्थापना, वाक्य-विन्यास, वैदग्ध्य आदिको विचारना है तथा दूसरा गूढ़ या संदिग्ध तात्पर्योंको सम्पूर्ण कृति या लेखककी मूल धारणाओं-के आधारपर निश्चित करना है। विश्लेषण द्वारा ही प्रतीकों या रूपकोंके विभिन्न अभिप्रायोंका संश्लेषण सम्भव होता है तथा वे तमाम तरीके जिनसे किसी शब्द-समूहका भाषामें सही अन्वय निर्धारित किया जाता है। आधुनिक वाक् विश्लेषण (वर्बल एनालिसिस) या अर्थ-विज्ञान-(सिमैण्टिक्स)के अन्तर्गत भाषाके विविध तत्त्व–शब्द, अर्थ, ध्वनि, प्रतीकात्मकता आदिका जो अध्ययन हो रहा है उसकी व्युत्पत्ति और परम्परा यद्यपि प्राचीन अलकार-शास्त्रसे सम्बन्धित है, तथापि उसकी नवीनतम प्रवृत्ति वैज्ञानिक विश्लेषणको अपनाती है।

सौन्दर्यशास्त्रमें—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे—सौन्दर्या-नुभूति मनकी सौन्दर्योन्मुख अवस्था-विशेषसे उपजती है, जिसमें हम अपने ललित पूर्वग्रहोंका आरोप रुचनेवाली वस्तुपर करते हैं, फलत इस अवस्थापर दो दृष्टिकोणोंसे विचार किया जा सकता है–(१) कला-वस्तुके उन रूपोंका विश्लेषण जो सौन्दर्योन्मुख मनको सौन्दर्यानुभूति कराते हैं तथा (२) सामान्य मानसिक अवस्थाके सन्तुलनमें सौन्दर्यो-न्मुख मनका विश्लेषण।

विश्लेषणकी, जो मूलत वैज्ञानिक पद्धति है, काफी आलोचना होती रही है। कुछ लोगोंका मत है कि विश्लेषण काव्यकी ऋजु सवेदनामें बाधक होता है और इसकी नीरस समीक्षा-विधि असाहित्यिक है। इस मतके विरोधी विश्लेषणके समर्थनमें दलील रखते हैं कि इसके द्वारा ही साहित्यके विविध अगोंपर सम्यक् प्रकाश डालकर हम कृति-

को अन्तरात्मानक पहुँच पाते हैं तथा व्यापक आनन्दके भागी होते हैं। विवादास्पद होते हुए भी विश्लेषण-पद्धति भाषाशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र तथा आधुनिक साहित्यालोचनामें (जिसका एक बड़ा हिस्सा मनोविज्ञानसे प्रभावित है) अपना विशिष्ट स्थान बना चुकी है। —कु० ना०

विश्लेषणात्मक आलोचना-प्रणाली—प्रस्तुत शब्द अँग्रेजीके 'एनालिटिकल'का समानार्थी है। अँग्रेजीका एनालिटिकल शब्द भी 'एनालिटिक' संज्ञाका विशेषण है, जिसका अर्थ होगा विश्लेषण सम्बन्धी, विश्लेषणात्मक। हिन्दीमें इसे विवेचनात्मक, वैज्ञानिक आदि कहा गया है।

साहित्यशास्त्रका बँटवारा कुछ विद्वानोंने शैलीके आधारपर किया है—विश्लेषणात्मक एवं **संयोगात्मक**। शब्दकी व्याख्यासे ही स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रणालीका मुख्य उद्देश्य होगा रचनाका बौद्धिक परीक्षण। इस प्रणालीका आलोचक भावना या आवेशकी अपेक्षा ज्ञान एवं विवेकसे अधिक काम लेता है। अकारण अथवा निराधार वह न तो किसीकी प्रशंसा करता है और न निन्दा। इसके लिए वह इतिहास, मनोविज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र एवं वैज्ञानिक नियमोंका अवलम्बन लेता है। कभी कलात्मक सौष्ठवपर विचार करते हुए सौन्दर्यवादी दृष्टिकोणको अपनाता है, तो कभी तन्त्रवादी आलोचनाका सहारा लेता है। नाराश यह कि इस पद्धतिमें अनेक प्रकारकी आलोचनाओंका समावेश हो जाता है।

प्रस्तुत आलोचना-प्रणाली कृतिकी परीक्षा दो पक्षोंसे करती है—१ कृतिके मूल विषय, भाव, विचार अथवा चिन्तनका परीक्षण, २ प्रकाशनकी रीति या अभिव्यक्ति-पक्षकी परीक्षा।

इस पद्धतिकी सीमाएँ स्पष्ट हैं। साहित्यका क्षेत्र विज्ञानके क्षेत्रसे भिन्न है। विज्ञान निर्धारित क्षेत्रमें काम करता है, साहित्य सम्भावनाओंके पीछे दौड़ता है। परिणामतः आलोचना निर्धारित सीमाओंके बीच घिर जानेसे एकांगी हो जाती है। इस प्रकार एकवर्गीय अध्ययनके कारण साहित्यका व्यापक और सुसंघटित स्वरूप विच्छिन्न हो जाता है।

रोमाण्टिक युगके बाद ज्ञानके अन्य क्षेत्रोंकी भाँति आलोचनापर भी विज्ञानका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। फ्रेंच आलोचकोंने डार्विनके **स्व-प्रगतिवाद**(self-evolution)-को आलोचनाके क्षेत्रमें ग्रहण किया। टैनने आलोचनाके लिए इतिहासका सहारा लिया। सेण्ट विएने व्यक्तिको प्रमाण माना। इस प्रकार वैज्ञानिक नियमोंके आधारपर साहित्यका वर्गीकरण हुआ और कार्य कारणके पारस्परिक सम्बन्धको महत्त्व दिया गया। रिचर्ड्सको मैडले जैसे समर्थ प्रतिपक्षीके सामने खड़ा होना था, फलतः उन्होंने इसी पद्धतिका अनुसरण किया। टी० एस० ईलियट, स्पेन्सर, काडवेल, ल्यूकस, मैथ्यू आर्नाल्ड आदि अनेक आलोचकोंने इस शैलीको विकसित किया।

संस्कृत साहित्यके पाँचों सम्प्रदाय वैज्ञानिक विश्लेषणके आधारपर ही खड़े हैं। संस्कृतमें केवल आलोचनाके क्षेत्रमें ही वैज्ञानिक होनेकी आवश्यकता नहीं समझी गयी वरन् सर्जनात्मक क्षेत्रमें भी समझी गयी। वामनने तो अविवेकीको काव्यका अधिकारी ही नहीं माना।

हिन्दीमें रामचन्द्र शुक्लका नाम सर्वप्रथम आयेगा। उनकी धारणा है कि कवियोंकी विशेषताओंका अन्वेषण और उनकी अन्तःप्रकृतिकी छानबीन करनेवाली उच्च कोटिकी समालोचनाका प्रारम्भ तृतीय उत्थानमें आकर हुआ। समीक्षाका अर्थ अच्छी तरह देखना और विचार करना है। वह जब होगी तब विचारात्मक ही होगी। इस तरह वे इस पद्धतिके सर्वश्रेष्ठ आलोचक ठहरते हैं। अन्य आलोचकोंमें कृष्णशंकर शुक्ल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गुलाब राय, रामकुमार वर्मा, सत्येन्द्र तथा देवराज प्रमुख हैं। उच्च शिक्षासे सम्बद्ध होनेके कारण इन लोगोंने विश्लेषणको ही अपनाया है। आजकी हिन्दी आलोचना निश्चय ही वैज्ञानिक होती जा रही है। —रा० कु० सु०

विषम—विरोधमूलक अर्थालंकार। मम्मटने इस अलंकारके जिन चार भेदोंकी चर्चा की है उनमेंसे दोका आधार रुद्रटका विषय निरूपण है (का० लं० ९ . ४५) तथा अन्य दोकी समता रुय्यकके लक्षणमें है (अ० स० पृ० १६७)। उनके अनुसार—१ जहाँ दो सम्बद्ध रूपसे विवक्षित पदार्थोंकी, उनकी विलक्षणताके कारण, परस्पर ही अनुपपन्नता प्रतीत हो, २ कर्ताको क्रियाका फल मिलना तो अलग रहा, उलटे जो मिले वह एक अनर्थ हो, ३ कार्यके गुणसे कारणके गुणका विरोध प्रतीत हो, ४ कार्यकी क्रियासे कारणकी क्रिया भी विपरीत लगे (का० प्र० : १० : १२६–१२७)। 'साहित्यदर्पण' तथा 'कुवलयानन्द'ने तीन भेद माने हैं—१ कार्य-कारणके गुण एक-दूसरेके विरोधी हों, २ प्रयत्न विफल हो, साथ ही कुछ अनिष्ट भी हो, ३ प्रतिकूल वस्तुओंमें सम्बन्ध (सा० द० १० · ७०)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इनका अनुसरण करके दूसरे तीन भेद माने हैं; भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्योंने इस अलंकारकी चर्चा नहीं की है। पीछे चलकर रुद्रट, मम्मट आदिने इसका वर्णन किया है। भोजने इसका अन्तर्भाव विरोधमें माना है। मतिरामके अनुसार इसके तीन भेद हैं—१. 'जहाँ न हैं अनुरूप द्वै, तिनकी घटना होय।' २ 'जहाँ वरनिये हेतुते, उपजन काज विरूप।' ३ 'इष्ट अर्थ उद्यम हि ते, तहँ अनिष्ट है जाय।' (ल० ल० . २२१, २२४, २२६)। जसवन्त सिंह, दास, पद्माकर आदि अनेक आचार्योंने इसी प्रकार लक्षण दिये हैं। भूषणने जयदेवके समान एक भेद दिया है।

उदा०—**प्रथम विषम**—'नाँघत नाँघत घोर घने वन हारि परे यों कहे मनो कूँचे। राजकुमार कहाँ सुकुमार कहाँ विकरार पहार वे ऊँचे ?' (शि० भू० · २०८)। यहाँ अन्तिम पक्तिमें कहाँके प्रयोग द्वारा कोमल राजकुमारों और कठोर पर्वतोंके बीचका वैषम्य प्रदर्शित किया है। **द्वितीय विषम**—'सहज सरूप सुघराई रीझ्यो मेरो मन, डोलत है तेरी अद्भुतकी तरंगमें। सेत सारी ही सों सब सौतें रँगी स्याम रंग, सेत सारी ही सों स्याम रँगे लाल रंगमें।' (ल० ल० २२५), यहाँ सेत सारीसे स्याम तथा लाल रंगमें रँगना वैषम्य है। **तृतीय विषम**—'अरे परै न करै हियो, खरे जरे पर जार। लावति घोरि गुलाबसों मलै मिलै घन सार।' (वि० र० . ७२९), यहाँ विरहिणी कहती है

कि मलय चन्दन और कपूरके शीतलोपचारसे उसकी जलन और भी बढ़ती है। अथवा–'तो कटाच्छ उर मम दुर्यो, तिमिर केसमें जाइ। तहँ वेनी व्याली टस्यौ कीजै कहा उपाय।' (का० नि० . १३), यहाँ मन रक्षार्थ गया था, पर उल्टे डसा गया। पण्डितराजने केवल इष्टकी अप्राप्तिमें भी यह अलकार माना है, कुछ आचार्य इष्टके प्राप्तिपूर्वक अनिष्टकी प्राप्तिमें भी इस अलकारकी अवस्थिति मानते हैं। मम्मटने कारणके गुणसे कार्यके गुणके और कारणकी क्रियासे कार्यकी क्रियाके विरोधमें विषमके जो तृतीय और चतुर्थ प्रकार माने हैं, वस्तुत ये तृतीय विषमके ही प्रपच हैं। —ध० ब्र० शा०

विषयपरक (काव्य)–दे०—'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

विषयप्रधान (काव्य)–दे०—'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

विषयिप्रधान (काव्य)–दे० —'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)

विषाद १–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी भाव। मनको दु ख होनेका दूसरा नाम विषाद है। इसके विभाव एव अनुभाव भरतने निम्नलिखित प्रकारसे दिये हैं—आरब्ध कार्यमें असफलता, दैवयोग-दुर्घटनासे यह भाव उत्पन्न होता है। उत्तम वर्गके व्यक्ति सहायकोंकी खोज एव सफलताके साधनोंकी चिन्तासे और मध्यम वर्गके व्यक्ति उत्साहभग, अनुताप तथा विश्वास द्वारा इसकी अभिव्यक्ति करते हैं। पर अधम व्यक्ति पुरुषार्थहीन एवं निष्क्रिय हो जाते हैं, उनका मुख सूखने लगता है और वे पश्चात्ताप करते रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त निद्रा, दीर्घश्वास एव विचारमग्न रहनेसे इस भावकी अभिव्यक्ति करते हैं (ना० शा० . ७ ६८ ग)। साराश यह कि व्यक्तिका वल एव सत्त्व मन्द पड़ जाता है या नष्ट हो जाता है, इस 'सत्त्वसक्षय'का नाम ही विषाद है (द०रू० ४ ३१)।

नाट्यशास्त्रके गद्यके साथ जो आर्या है उसमें 'दैवव्यापत्ति' समस्त पदकी व्याख्या ही प्रतीत होती है। उसमें बताया है कि या तो चोरी हो जानेसे अथवा राज्यमें आपत्ति आनेसे भी यह भाव उत्पन्न होता है। विश्वनाथने 'उपायके अभाव'से 'सत्त्वसक्षय'को 'विषाद' सचारी माना है (सा० द० . ३ ६७)। हिन्दीके आचार्योंने इसीकी छाया अपने लक्षणमें ग्रहण की है–'फुरै न कछु उद्योग जहँ, उपजै अति ही सोच। ताहि विषाद बखानहीं ।' (जगद्वि० ४९७), देवने इसीको 'दुख' कहा है।

पद्माकरका उदाहरण है–'सोच न हमारे कछु त्याग मनमोहनके, तनको न सोच जो पै यों ही जरि जाइहै। कहै पद्माकर न सोच अब एहू यह, आइहै तो आइहै न आइहै न आइहै।' (वही ४९८)। इसमें गोपियोंके विषादका वर्णन है। इसी प्रकार तुलसीदासकी पक्तियोंमें–'का सुनाइ विधि काह सुनावा। का दिखाइ चह काह दिखावा।' (रा०च०मा० . २ ४८)।

विषादकी अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे व्यक्तियोंके तीन वर्गोंमें विभाजनका अनुकरण, 'दशरूपक'के लेखक धनजय (अतएव विश्वनाथ)को छोड़कर, भरत मुनिका अनुसरण करनेवाले सभी काव्यशास्त्रियोंने किया है, जिनमें 'नाट्यदर्पण'के लेखक रामचन्द्र गुणचन्द्र, 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'के रचयिता विद्यानाथ (अतएव नंजराजयशोभूषणके लेखक) एव 'भावप्रकाश'के लेखक शारदातनय प्रमुख हैं। यद्यपि 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' एव 'मन्दारमरन्दचम्पू'में सामान्यत 'दशरूपक'की कारिकाओंको ही उद्धृत किया है, तथापि भरतके 'त्रिविध अनुभावों'का भी उल्लेख है। हिन्दी काव्यशास्त्रके लेखक कदाचित् दशरूपककारका अनुसरण कर विषादका सामान्य लक्षण एवं उदाहरण देते हैं। देवने उत्तम, मध्य तथा नीचका क्रम माना है और उनके अनुसार लघु चिन्ता, अप्रसाद तथा महाशोक भेद स्वीकार किये हैं (भाव० सचारी)। परिस्थितियाँ प्रतिकूल होनेपर भिन्न प्रकारके व्यक्तियोंपर उनका विभिन्न प्रभाव ही होता है, अत भरत द्वारा प्रतिपादित त्रिविध अनुभाव उचित और लौकिकानुभवानुकूल ही हैं। इस त्रिविध वर्गमें 'स्थितप्रज्ञ'का स्थान इसलिए नहीं है कि वह इस प्रकारके भौतिक प्रभावोंसे परे है, ये सचारी भाव केवल रसिक-हृदयके ही हैं। वास्तवमें विषाद शोकमूल है, चाहे वह व्यक्त हो अथवा अव्यक्त। अत यह दु खात्मक मनोभाव है। —ज० कि० व०

विषाद (विषादन) २–अर्थालकार, यह गौण अलकार प्रहर्षण अलंकारका प्रतिद्वन्द्वी है। यह अलंकार जयदेवके द्वारा विवेचित है–'इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु।' (चन्द्रालोक ५ ५०), अर्थात् जहाँ इच्छितके विरुद्ध अर्थकी प्राप्ति हो। हिन्दीके आचार्योंने प्राय जयदेव तथा 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसे अपनाया है। मतिराम, भूषण, दास, पद्माकर आदिने इसकी परिभाषा लगभग समान दी है–'जहँ चित चाहे काजते उपजत काज विरुद्ध।' (शि० भू० २१७) अथवा–'चित चाहते उलटो कछु ह्वै जाय।' (का० नि० १५)। उदा०–'वैर कियो सरजा सिवसों यह नौरँगके न भयो मन भायो। फौज पठायी हुती गढ लेनको गाँठहुके गढ कोट गँवायो।'(शि० भू० २१८)। बिहारीका दोहा भी विषादनका सुन्दर उदाहरण है–'रात दिवस हौंसें रहित, मान न ठिकु ठहराय। जेतो औगुन ढूँढ़िये, गुनै हाथ परि जाय।' (बि० स० ४५३)। यहाँ प्रेमगर्विता नायिका मान तो करना चाहती है, किन्तु कर नहीं पाती है, क्योंकि नायकमें जितना ही वह अवगुण ढूँढती है उतना ही उसके गुण उसे हाथ लगते हैं। —ध० ब्र० शा०

विष्कंभ, विष्कंभक–यह **अर्थोपक्षेपक**का एक भेद है। दशरूपककारने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है—'वृत्तवर्तिष्यमाणाना कथाशाना निदर्शक । सक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजित ।' (द०रू० : १५९), अर्थात् रूपकमें विष्कम्भ भूत और भविष्यकी घटनाओंका सूचक होता है। इसमें मध्यम पात्रों द्वारा सक्षेपमें कथाओंकी सूचना दी जाती है। यह अकके आदिमें रहता है।

विष्कम्भ दो प्रकारका होता है—**शुद्ध** और **सकीर्ण**। एक या दो मध्यम पात्रोंवाला विष्कम्भ **शुद्ध** और मध्यम तथा अधम श्रेणीके पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भ **सकीर्ण** या मिश्र कहा जाता है।

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि विष्कम्भमें मध्यम श्रेणीके पात्रोंका होना अत्यन्त आवश्यक है। **संकीर्ण** या मिश्र विष्कम्भमें यदि दोनों पात्र अधम कोटिके होंगे तो

प्रवेशक अर्थोपक्षेपक हो जायगा। संकीर्ण विष्कम्भमें कमसे कम एक पात्र तो मध्यम श्रेणीका होना ही चाहिये। (दे०—'प्रवेशक'।)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकी 'चन्द्रावली नाटिका'के प्रथम अंकके आदिमें विष्कम्भ है। इसमें शुकदेव और नारद नक्षेपमें कथानकी सूचना देते हैं। —व० सिं०

विस्मय (आश्चर्य)–अद्भुत रसका स्थायी भाव विस्मय या आश्चर्य है। भरतका कथन है कि विस्मय माया, इन्द्रजाल, असाधारण कर्म, उत्कृष्ट चित्रों तथा अन्य कलाकृतियों आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है (ना०शा० . ७ २५ग)। भानुदत्तने 'रसतरंगिणी'में उन विभावों अथवा कारणोंको चमत्कार शब्दमें समाहित कर दिया है। उनके अनुसार चमत्कारके दर्शन, स्पर्शन अथवा श्रवणसे उत्पन्न मनोविकार विस्मय है। साहित्यदर्पणकारने कुछ अधिक व्यवस्थित ढंगसे यह कहा है–'विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु। विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृत ।' (३ . १८०), अर्थात् लोककी सीमासे अतिक्रान्त, अलौकिक सामर्थ्यसे युक्त किसी वस्तुके दर्शन आदिसे उत्पन्न चित्तके विस्तारको विस्मय कहते हैं।

विस्मयके मूलमें मनोविज्ञानियोंने जिज्ञासाकी प्रवृत्ति मानी है। अतएव इसका समावेश बौद्धिक भावनाओंमें होता है, क्योंकि इसमें अनुभूतिके साथ साथ बुद्धिकी विचारणा भी जागरित होती है। दार्शनिक एवं विज्ञानवेत्ता इसीके माध्यमसे जीवन एवं जगत्के रहस्योंके उन्मीलनमें प्रवृत्त होते हैं। किन्तु साहित्यके आचार्योंने अनुभूतिको ही प्रधानता दी है, क्योंकि वही चर्वणीय है, उसीका आस्वादन हो सकता है। लोकोत्तर वस्तु अथवा व्यापारके साक्षात्कारसे चित्त चमत्कृत होता है, अर्थात् साधारणता अथवा सामान्यतासे विपरीत कोई निराली वस्तु हमारे अन्त करणको अभिभावित करती है और हमें अपने निरालेपनसे हैरानीमें डाल देती है। इससे चित्तका प्रसादन ही होता है, क्योंकि दु खदायी अद्भुत विषय चित्तको उसकी लौकिकता-अलौकिकताकी ओर टिकने नहीं देगा। अतएव विस्मय सुखात्मक भाव है। हासको उत्पन्न करनेवाले वैपरीत्य अथवा निरालेपनमें फिर भी एक प्रकारकी साधारणता रहती है, जो विनोदका भाजन बनती है, लेकिन विस्मयका निरालापन सर्वथा लोकोत्तर होता है, जो चित्तको हलके विनोदमें आलोड़ित करनेकी अपेक्षा उसे चकित या हैरान ही अधिक करता है। जड़ता, दैन्य, चिन्ता, वितर्क, हर्ष, चपलता इत्यादि विस्मयके साथ सहचार करनेवाले व्यभिचारी है। उदा०—'तव देखी मुद्रिका मनोहर, राम नाम अंकित अति सुन्दर। चकित चितय मुदरी पहिचानी। हर्ष विषाद हृदय अकुलानी।' (रा० च० मा० . ५ १३) यहाँ विस्मय भावमात्रकी व्यंजना है, स्थायीकी पुष्टि नहीं हो सकी है। —र० ति०

विहंगम-मार्ग–दे०—'पिपीलिका-मार्ग'।

विहसित–दे०–'हास्य रस'।

विहृत–दे०–'स्वभावज अलंकार', दसवाँ।

वीणा–योग-साधनामें इस समस्त कायाको वीणाकी उपमा दी जाती है। सिद्धोंने इसे 'हेरुक वीणा' कहा है, जिसमें सूर्य और चन्द्र (ललना-रसना-रूपी) दो तूँबे लगे है (चर्यापद)। गोरखवानीमें ज्ञान और गुरुको दो तूँबे माना गया है, जिसमें चैतन्यकी डण्डी लगी है। इसी रूपकको कबीरने ग्रहण किया है–'जोगिया तनकौ तन्त्र बजाऊ। चन्द्र सूर दोउ तूँबा करिड चित चेतनकी दाँडी। सुषमन तन्ती बाजन लागी इह विधि तृष्णा खाँडी।' (क०ग्र०)। —ध० वी० भा०

वीथी–वीथीका अर्थ है पंक्ति। इस रूपकके नामकरणका कारण यह प्रतीत होता है कि इसमें उद्घात्यकसे मार्दवतक तेरह अंग पंक्तिबद्ध होकर आते हैं। भरत मुनिका मत है कि इसका अभिनय दो अथवा एक पात्रके द्वारा होता है। वे पात्र उत्तम, मध्यम अथवा अधम कोटिके होते हैं। इसमें एक अंक होता है और कोई भी रस आ सकता है। धनंजय और विश्वनाथका मत है कि शृंगारकी अधिकताके कारण इसमें कैशिकी वृत्ति होती है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं और अर्थप्रकृतियाँ सभी विद्यमान होती हैं (सा० द० . ६ . ५५३–५६)। सागरनन्दीका मत है कि यह रूपक तीन पात्रोंसे अभिनीत होता है। उन्होंने उदाहरणके लिए 'बकुल-वीथी'का नामोल्लेख किया है। वीथीके सम्बन्धमें प्राय सभी आचार्य एक बातपर बल देते हैं कि इसमें तेरह वीथ्यंगोंको अवश्य नियोजित करना चाहिये। उन्होंने तेरह वीथ्यंगोंका क्रम बताते हुए कहा है कि उद्घात्यक और अवगलित तो प्रस्तावनाके प्रकरणमें आते हैं और शेष इसके उपरान्त। अवशिष्ट वीथ्यंगोंका क्रम इस प्रकार है—प्रपंच, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, प्रहेलिका, असत्यप्रलाप, व्याहार, मृदव।

कोहल नामक आचार्य ऐसे हुए हैं, जिनका मत यह है कि इन तेरह लास्यांगोंका होना अनिवार्य नहीं। शारदातनय उनके मतका उल्लेख करते हुए कहते हैं 'भवेयुर्वा न वेत्यस्या लास्यांगान्याह कोहल ' (भा० प्र० ८ . पृ० २५१)। नाट्यदर्पणकारने शंकुकका मत देते हुए लिखा है कि उनके मतके अनुसार वीथीका नायक अधम कोटिका नहीं हो सकता। अन्यथा प्रहसन, भाण आदि हास्य रसप्रधान रूपकोंमें विटादि अधम नायकोंकी क्या उपादेयता रहेगी? दो पात्रोंकी उक्ति-प्रत्युक्तिमें जब वैचित्र्य आ जाता है तो वीथी रूपक बनता है और एक पात्र जब आकाशभाषितके द्वारा कथोपकथन करता है तो वीथी रूपककी रचना होती है (ना० द० . पृ० १३३)। —द० ओ०

वीप्सा–एक शब्दालंकार, आदर, घृणा, हर्ष, शोक, विस्मयादिबोधक भावोंको प्रभावशाली रूपमें व्यक्त करनेके लिए शब्दोंकी पुन -पुन आवृत्ति। सर्वप्रथम भिखारीदासके 'काव्यनिर्णय'में यह 'वीप्सानुप्रास'के रूपमें मिलता है–'एक शब्द बहु बार जहँ, हरषादिकनि होइ' (१९)। आधुनिक विवेचकोंमें केडिया, भगवानदीन तथा रामदहिन मिश्रने इसपर विचार किया है।

देवका यह सुन्दर उदाहरण है–'रीझि रीझि रहसि-रहसि हँसि-हँसि उठै, साँसै भरि आँसू भरि कहत दई-दई। मोहि-मोहि मोहनको मन भयो राधामय, राधा मन

मोहि-मोहि मोहन भयी-भयी।' भाषामें गति लानेके लिए इस अलकारका प्रयोग प्राय कवियोंने किया है, किन्तु रीतिकालीन कवियोंमें 'देव'को यह अलकार विशेष रूपसे प्रिय रहा है। —वि० स्ना०

वीर १–वज्रयानी सिद्धोंने नायकके लिए 'वीर' शब्दका प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या 'दोहाकोष'में इस प्रकार मिलती है कि चित्त वज्र-प्रज्ञोपाय योगसे जो महाराग द्वारा विरागका दमन करता है उसे वीर कहते हैं, वह मकरन्द पान करता है और महासुख-चक्रमें रमणी **महामुद्रा नैरात्मा** रूपी नायिकाका उत्साहपूर्वक उपभोग करता है। —ध० वी० भा०

वीर २–मात्रिक समछन्दका एक भेद, जिसका आल्हछन्द नाम भी प्रसिद्ध है। इस छन्दकी लयका विकास लोक-वीर-गीतियोंसे सम्बद्ध होना चाहिये, यही कारण है कि जगनिकके 'आल्हखण्ड'का लोकमें इतना प्रचार हो सका। इसके प्रत्येक चरणमें १६, १५की यतिसे ३१ मात्रा और अन्तमें ग-ल (SI) रहता है (भानु छ० प्र० पृ० ७२)। यह मात्रिक सवैयाका भेद माना जाता है, अत इसका नाम वीर सवैया भी है। प्राय वीर रसमें प्रयुक्त होनेके कारण सम्भवत इसे वीर नाम दिया गया है। यह छन्द वर्णनात्मक है और सभी प्रकारके वर्णनोंमें प्रयुक्त हुआ है। पर वीर रसके ओजस्वी वर्णन इसमें अधिक उभरते हैं–'बीस कदमके तहँ अन्तरमें, गोला चलै दनाकन्दनाक। गोला लागै जेहि हाथीके, मानो चोर सँधि मा जाय' (आल्ह० पथरीगढ़० पृ० ३०५)।

यह उल्लेखनीय बात है कि अन्य वीरकाव्योंमें इस छन्दका प्राय अभाव है। इससे भी यह कल्पना दृढ होती है कि इस छन्दकी लय लोकगीतोंके निकट है। सुन्दरदासने 'सुन्दरविलास'के एक अग(विपर्यय शब्दके अग)में इसका प्रयोग किया है–'अन्धा तीन लोकको देखै, बहिरा सुनै बहुत विधि नाद'। इसी प्रकारकी लय कबीरके कुछ पदोंमें है और ये एक प्रकारसे आध्यात्मिक वीरतासे सम्बद्ध हैं। पद-शैलीके अन्तर्गत इसका प्रयोग प्रचलित रहा है, क्योंकि तुलसी, सूर, मीराँके पदोंमें व्यापक रूपसे प्रयोग मिलता है। इस छन्दकी गति चरणके प्रारम्भमें उठती जान पड़ती है, पर अन्ततक पहुँचते-पहुँचते एकाएक गिर जाती है। इसी कारण पदकी गेयताके साथ इसमें लम्बे वर्णन तथा भावोंकी व्यंजना सफलतापूर्वक की जा सकती है–'वेद कमल मुख परसति जननी, अक लिये सुत रतिकर स्याम।' (सू० सा० · सभा पृ० ७७५)। आधुनिक कालमें लोकप्रियताके कारण इस छन्दको रामायणकी कथाके लिए राधेश्याम कथावाचकने अपनाया है। श्यामनारायण पाण्डेयके वीरकाव्योंमें इसकी लय अपनायी गयी है तथा अन्य प्रबन्धकारोंने भी इसका प्रयोग किया है।

वीरकाव्य–'वीर' शब्द मूलत शूर अथवा योद्धाके लिए प्रयुक्त होता है। अत वीरकाव्यके अन्तर्गत उन समस्त काव्योंको सम्मिलित किया जा सकता है, जिनका आधार ऐतिहासिक घटनाएँ हैं या जिनमें आश्रयदाताओंकी कीर्ति, युद्धसज्जा, गर्वोक्तियाँ, युद्ध एव वीरतापूर्ण कार्य कलापोंका चित्रण किया गया हो। हिन्दी वीरकाव्यका निर्माण चारणों, भाटोंके अतिरिक्त अन्य जातियोंके कवियोंने भी किया है। इसकी रचना पिंगल और डिंगल—हिन्दीके दोनों साहित्यिक रूपोंमें हुई है।

वीरकाव्य-धाराका निकास एवं विकास भारतकी विचित्र राजनीतिक परिस्थितियोंमें हुआ है। हर्षकी मृत्यु(६४७ ई०)के उपरान्त उत्तरी भारतमे राजनीतिक अव्यवस्था एवं विघटनका काल आरम्भ हुआ। देश छोटे-छोटे राज्योंमें विभाजित हो गया, जो एकता अथवा पारस्परिक सम्पर्कके किसी भी सिद्धान्तसे सूत्रबद्ध नहीं थे। कश्मीर, कन्नौज, अजमेर, दिल्ली, महोबा, मालवा, गुजरात, जोधपुर, मेवाड़, बीकानेर, जयपुर, ओड़छा, पन्ना आदि प्रमुख राज्य थे, जिनमें विभिन्न राज्यपरिवार शासन करते थे। उधर ७१२ ई० में मुसलमानोंके आक्रमण भारतपर प्रारम्भ हो गये थे। महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरीके विविध अभियानोंने कतिपय देशी राज्योंका अन्त कर दिया था। १२०६ ई० में मुसलमानी शासनकी दिल्लीमें नींव पड़ गयी। अलाउद्दीन आदि कई शक्तिशाली सुलतानोंने हिन्दू राज्योंसे लोहा लिया। १५२६ ई० में बाबरने मुगल साम्राज्य स्थापित किया। अकबरके शासनकाल(१५५६-१६०५ ई०)में भयकर युद्धोंके बाद राणाप्रताप आदिको छोडकर शेष राज्योंने मुगल साम्राज्यकी अधीनता स्वीकार कर ली। इन राज्योंके हिन्दू राजा मुगल सेनामें रहकर अन्य हिन्दू राज्योंका अन्त करनेमें लग गये। औरगजेबकी कट्टर और हिन्दू विरोधी नीतिके कारण राजस्थान, बुन्देलखण्ड, महाराष्ट्र, पंजाब आदिने मुसलमानी सत्ताके विरुद्ध विद्रोह आरम्भ कर दिया। इस प्रकार भारतके हिन्दू राज्य परस्पर लड़ते थे, मुसलमानोंसे लोहा लेते थे तथा उनकी सेवामें रहकर साम्राज्यके शत्रुओंके विरुद्ध वीरता प्रदर्शित करते थे। इस प्रकार इनके युद्ध पड़ोसी राज्योंका अन्त करने, स्वतन्त्रताको समाप्त करने, राज्य-विस्तार एव सुन्दरियोंके अपहरणके लिए हुआ करते थे। इनके आश्रित कवि इन युद्धोंमें दिखलायी गयी वीरताका चित्रण करते थे।

हिन्दी साहित्यके आरम्भके समय देशमें सिद्ध, नाथ आदि विभिन्न धार्मिक पन्थ वर्तमान थे। बौद्ध धर्मका ह्रास हो चुका था। जैन धर्म सीमित घेरेके अन्दर सन्तुष्ट था। ब्राह्मणमत पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था। रामानुज, मध्व, रामानन्द, वल्लभ आदि आचार्योंने शनै-शनै सगुण भक्तिका समस्त देशमें प्रसार कर दिया था। नामदेव, कबीर, दादू आदिने हिन्दू और मुसलिम भावनाओंसे समन्वित विचारधाराको अपना लिया था। फलस्वरूप भक्तिकालमें वीरकाव्य-धारा कुछ मन्द पड़ गयी थी। वीरकाव्यके ग्रन्थोंपर इस धर्म-भावनाका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अधिकाश कवियोंने अपने नायकोंको ईश्वरावतार, गो ब्राह्मण पालक, हिन्दू धर्म-रक्षक आदिके रूपमें चित्रित करके धर्म दया-दानवीरके रूपमें पाठकोंके समक्ष रखा है।

तत्कालीन समाजव्यवस्था सामन्तशाही पद्धतिपर आधारित थी। दरबार वैभव एव सामन्तकालीन सस्कृतिके केन्द्र थे। आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत किया जाता था। मदिराका प्रचार था। मास-भक्षणका प्रचलन था।

अन्त पुरमें स्त्रियोंकी संख्या अधिक होती थी। द्यूत क्रीडा, मृगया, संगीत एवं नृत्य मनोरंजनके प्रमुख साधन थे। अधिक नौकर रखनेकी प्रथा थी। दासता वर्तमान थी। उत्कोच स्वीकार किया जाता था। मध्यम श्रेणीके लोग सुखी थे। निम्नवर्गका जीवन दु खी और कष्टमय था। हिन्दुओंमें सती, बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा प्रचलित थी। इस धाराके कवियोंने अपने ग्रन्थोंमें यथास्थान इन सामाजिक परिस्थितियोंका चित्रण किया है।

वीरकाव्यके आरम्भिक कालमें अपभ्रंश भाषामें सिद्ध एवं नाथ साहित्य निर्मित हो रहा था तथा प्राकृतमें जैन रचनाएँ लिखी जा रही थीं। लोकभाषाओंमें भी काव्य-सर्जन आरम्भ हो गया था। ये लोक-भाषा-ग्रन्थ अपभ्रंश, प्राकृत आदिकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंसे प्रभावित रहते थे। वीरके अतिरिक्त शृंगार, नीति आदि विविध विषयोंकी रचनाएँ भी हुआ करती थीं। उस युगमें एक ओर संसार-त्यागी कवि थे, जो प्रमुखत धार्मिक साहित्य-साधनाको ही अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य बनाये हुए थे, दूसरी ओर राज्याश्रित कवि विभिन्न विषयपरक साहित्यसर्जन कर रहे थे। भक्तिकालमें वीरकाव्य-धारा मन्थर गतिसे बहती हुई रीतिकालमें प्रबल वेगसे उसके समानान्तर प्रवाहित होती रही। आधुनिक कालके प्रारम्भमें भी नवीन विचार-समन्वित वीरकाव्य लिखनेका प्रयास किया गया था। वैसे वीरकाव्यकी परम्परा आदि तथा मध्यकालमें ही विशेष रूपसे विकसित हुई है।

वीरकाव्यके अधिकांश ग्रन्थ 'रासो' (दे०) कहलाते हैं। रासो 'रास' शब्दसे बना है, जिसका अर्थ ग्वालोंकी क्रीडा तथा भाषामें शृंखलाबद्ध रचना है। अतएव रासो उस ग्रन्थको कहते हैं, जिसमें किसी राजाकी कीर्ति, विनय, युद्धवीरता आदिका विस्तृत वर्णन मिलता है। कुछ ग्रन्थोंके नाम छन्दोंपर भी रखे गये हैं, यथा, 'पाबूजीरा दूहा'।

इन कृतियोंकी रचनाएँ महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा मुक्तक-रूपमें मिलती हैं। आश्रयदाताओंकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशसाने इनके कथानकोंको अधिक अस्वाभाविक बना दिया है। कुछ ग्रन्थोंमें विविध विषयोंकी लम्बी सूचियाँ वर्तमान हैं, जिनके मूलमें पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्ति है। ऐतिहासिक कथानकमें पौराणिक एवं काल्पनिक घटनाओंके सम्मिश्रणसे रोचकता और सजीवताका समावेश हो गया है। धार्मिक उपदेश, प्रकृति-वर्णन, दैवी शक्ति, शकुनापशकुन, मृगया आदिके चित्रणोंसे जीवनके विभिन्न अंगोंकी झाँकी देखनेको मिलती है। कुछ कवियोंने ऐतिहासिक तथ्योंकी पूर्णरूपेण रक्षा की है।

पात्रोंमें कुछ विशिष्ट गुण ही प्रदर्शित किये गये हैं। नायक मृगया, अस्त्र-शस्त्र-पटुता, सैन्य-संचालन-दक्षता आदि गुणोंसे युक्त हैं। कतिपय पात्र सच्ची वीरता, अदम्य उत्साह, असीम अध्यवसाय एवं वीरताकी प्रतिमूर्ति हैं। छल-कपट, विश्वासघात एवं धूर्तताका प्रतिनिधित्व करनेवाले पात्र भी द्रष्टव्य हैं। सूदन, मान आदि कवियोंने विपक्षियोंके चित्रणमें पर्याप्त सहानुभूति दिखलायी है। नारीके दो रूप मिलते हैं। एक रूप शृंगारिक भावनाका प्रतीक, उद्दीपक, साधनामें बाधक और कर्तव्यविमुख करनेवाला है। दूसरा रूप अत्यन्त उज्ज्वल और महान् है। वह इस रूपमें सच्ची क्षत्राणी, सती, साध्वी, माता और पत्नीके रूपमें अंकित की गयी है।

इन ग्रन्थोंमें वीर रसके चारों प्रकार—युद्ध, दान, दया और धर्मका सफल चित्रण हुआ है, पर प्रधानता युद्ध और दानवीरकी है। चन्द, भूषण और सूर्यमलको वीर रस-चित्रणमें अधिक सफलता मिली है। वीरके साथ शृंगारका भी वर्णन किया गया है। कहीं-कहींपर शृंगार औचित्यकी सीमाका उल्लंघन कर गया है, पर अधिकांशत वह मर्यादित ही रहा है। बीभत्स, रौद्र तथा भयानक रसोंका भी अच्छा परिपाक हुआ है। यत्र-तत्र अन्य रसोंके भी उदाहरण मिल जाते हैं।

'शिवराजभूषण' आदि कुछ ग्रन्थ आचार्यत्वकी प्रेरणासे लिखे गये हैं। शेष ग्रन्थोंमें कुछ विशिष्ट अलंकारोंका ही प्रयोग हुआ है। अनुप्रास, श्लेष, यमक, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, वयण-सगाई आदि प्रमुख अलकार हैं।

छन्दोंकी विविधता एवं परिवर्तनशीलताके लिए चन्द, सूदन और सूर्यमल विशेष उल्लेखनीय हैं। दूहा (दोहा), कवित्त (छप्पय), चौपाई, गीतिका, सवैया, त्रोटक, तोमर आदिका अधिक प्रयोग हुआ है। छन्दोंके नामों एवं लक्षणोंमें परिवर्तन करने तथा नव-छन्द-निर्माणकी प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी आदिके छन्दोंका प्रचुरतासे प्रयोग किया गया है। छन्दोंकी संख्या एवं मौलिकताकी दृष्टिसे हिन्दीकी अन्य कोई धारा इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी वीरकाव्य-परम्परा।

उद्दीपनकी दृष्टिसे षट्ऋतु वर्णन हुआ है, जिसमें प्रकृतिके उत्तापक और उत्तेजक रूप मिलते हैं। इस प्रसंगमें ऐश्वर्य एवं विलासमय कार्य-कलापोंकी योजना की गयी है। प्रकृतिके स्वस्थ और संयत रूपके भी यत्र तत्र दर्शन होते हैं।

इनकी रचना-शैलीमें वर्णनात्मक पद्धतिकी प्रधानता है। संवादोंके प्रयोगमें नाटकीय त्वरा और सरसताका समावेश हो गया है।

पिंगल भाषाकी रचनाओंमें अपभ्रंश, राजस्थानी, उर्दू, फारसी, बुन्देलखण्डी, मराठी, बैसवाड़ी आदिके प्रचलित शब्दोंका स्वतन्त्रतासे प्रयोग हुआ है। इन भाषाओंके व्याकरणकी छाप भी वर्तमान है। शब्दोंकी तडक-भड़क एवं तोड-मोड़ भी देखनेमें आता है। कुछ कृतियोंमें शैली और भाषाका निखरा हुआ, परिमार्जित और सजीव रूप मिलता है। कतिपय कवियोंने पिंगल और डिंगलपर असाधारण अधिकारका परिचय दिया है।

नीचे इस धाराके पिंगल और डिंगलके कुछ प्रतिनिधि कवियोंके जीवन एवं ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा जा रहा है—

पिंगलके कवि—चन्दवरदायी (११६८-११९२ ई० ?)—कहा जाता है कि ये अजमेर और दिल्लीके पृथ्वीराज चौहान(मृत्यु ११९२ ई०)के आश्रित थे। इन्होंने 'पृथ्वीराजरासो'की रचना की है, जिसमें ६९ समय और एक लाख छन्द हैं। इसमें पृथ्वीराज द्वारा हिन्दू राजाओं तथा मुहम्मद गोरीसे लड़े गये विविध युद्धोंका वर्णन किया

गया है। कुछ विद्वान् इसे ऐतिहासिक दृष्टिसे अप्रामाणिक बतलाते हैं। सवतों, घटनाओं आदिकी अशुद्धताके कारण वे इसे १६वीं शताब्दीकी रचना मानते हैं। वास्तवमें यह साहित्यिक कृति है। अनैतिहासिक होनेसे इसका साहित्यिक महत्त्व कम नहीं हो जाता। इसकी भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है, जिसपर प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, फारसीका भी पर्याप्त रग चढा हुआ है। साटक, दोहा, पद्धरिया, गाहा, तोमर, भुजंगी आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं, पर कवित्त, छप्पयकी सख्या सबसे अधिक है। वीर रसकी प्रधानता है। शेष रस गौण हैं। राजपूतोंके शौर्य, उनकी डावाँडोल स्थिति, पतनादि, मुसलमानोंकी धर्मान्धता एव वर्वरताका जैसा वर्णन रासोमें मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

जगनिक (११५३ ई०)—ये महोवेके राजा चन्देलेके आश्रित बतलाये जाते है। इनका बनाया हुआ वीर रस-प्रधान 'आल्ह-खण्ड' नामक गीतिकाव्य विख्यात है। इसकी कोई प्रामाणिक प्रति प्राप्त नहीं है। यह रचना बड़ी लोकप्रिय है। इसका साहित्यिक मूल्य इतना ही है, जितना कि जनसाधारणकी रुचिके अनुसार वर्णनका है। भावोंके विकासके साथ इसकी भाषामें भी अन्तर हो गया है।

केशव (१५५५-१६१७)—हिन्दीके प्रथम आचार्य केशव ओडछा दरबारमें रहते थे। इन्होंने वीर रसके तीन ग्रन्थ लिखे हैं—१ 'रतवावनी'में ५२ छन्दोंमें रत्न सिंह-की वीरताका अच्छा परिपाक हुआ है। २ 'वीरसिंहदेव-चरित'(१६०८ ई०)में वीरसिंहदेवके अकवरके विरुद्ध युद्धों और स्वातन्त्र्य-संग्रामका चित्रण है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों एवं वर्णनात्मक शैलीका प्राधान्य है। ३ 'जहाँगीर-जसचन्द्रिका'(१६१२ ई०)में जहाँगीरकी प्रशंसा की गयी है।

भूषण—ये तिकवाँपुर, कानपुर-निवासी रत्नाकर त्रिपाठीके पुत्र थे। चित्रकूटके रुद्र सोलंकीने इन्हें भूषणकी उपाधिसे विभूषित किया था। शिवाजी (१६२७-८० ई०) तथा छत्रसाल बुन्देला (१६४९-१७३१ ई०) इनके आश्रय-दाता थे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे हैं—१ 'शिवराज-भूषण'(र० २९ अप्रैल, १६७३ ई०)में ३८४ छन्द हैं। यह अलंकार-ग्रन्थ है। दोहोंमें अलंकारोंकी परिभाषा दी गयी है। कवित्त और सवैयोंमें उदाहरण हैं, जिनमें शिवाजीके वीरतापूर्ण कार्य कलापोंका चित्रण है। २ 'शिवावावनी'में ५२ छन्दोंमें शिवाजीका यशोगान है। ३ 'छत्रसालदशक'के दस छन्दोंमें छत्रसाल बुन्देलाका गुणगान है। ४ फुटकर छन्द विविध व्यक्तिविषयक हैं।

भूषणकी कविता वीर रस प्रधान है। कवित्त और सवैये इनके अत्यन्त प्रिय छन्द हैं। इन्होंने वर्णनात्मक शैलीका बहुत कम आश्रय लिया है। इनकी शैली विवेचनात्मक एव संश्लिष्ट है। ब्रजभाषामें रचना की है। विदेशी शब्दों-का प्रयोग मुसलमानोंके प्रसगमें अधिक पाया जाता है। दरबारके प्रसगमें भाषाके खड़े रूपके भी दर्शन होते हैं।

मान—ये जैन यति और मेवाड़के महाराणा राज सिंह-(१६२९-८० ई०)के आश्रित थे। इन्होंने 'राजविलास' (र० १६७७ ८० ई०) लिखा है। इसके १८ विलासोंमें मेवाड़-राजवशके आरम्भसे राजसिंहकी मृत्युतकका इतिहास वर्णित है। मानने कल्पना और अतिशयोक्तिसे अधिक काम लिया है। इसकी रचनामें वीर एव शृंगारकी प्रधानता है। 'राज-विलास'में राजस्थानीके छन्दोंका अधिक प्रयोग हुआ है। वर्णनात्मक शैलीकी अधिकता है। इसकी भाषा ब्रज है, जिसपर राजस्थानीका पूर्ण प्रभाव है।

लालकवि-गोरेलाल—ये छत्रसाल बुन्देलाके दरबारी कवि थे। इन्होंने 'छत्रप्रकाश'(र० १७१० ई०)में छत्रसालके पूर्वजोंसे प्रारम्भ करके उनके १७१० ई० तकके वृत्तका वर्णन किया है। दोहा, चौपाई छन्दोंमें वीर रसका सुन्दर परिपाक हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी ब्रजभाषापर बुन्देलीका प्रभाव है।

सूदन—ये मथुरावासी चौबे वसन्तके पुत्र थे। भरत-पुरके सुजान सिंह, 'सूरजमल' इनके आश्रयदाता थे। सूदनके 'सुजानचरित'में सात जग हैं, जिनमें सूरजमलके १७४५ ई० से १७५३ तकके युद्धोंका वर्णन है। आरम्भमें पूर्ववर्ती एव समकालीन १७५ कवियोंका उल्लेख किया गया है। विभिन्न विषयोंका विस्तृत वर्णन देखकर कविकी असाधारण योग्यताका आभास मिल जाता है। यथास्थान सभी रसोंका प्रयोग हुआ है, पर वीर रस और तद्विषयक उपकरणोंकी ही प्रधानता है। सस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत, राजस्थानी, हिन्दी आदिके १०३ प्रकारके छन्दोंका सफल प्रयोग किया गया है। इनकी भाषा ब्रज है, जिसपर पजाबी, डिंगल, मारवाड़ी आदिका यथेष्ट प्रभाव है। कवित्त और सवैयोंमें भाषाका अधिक निखरा हुआ रूप दिखलाई देता है।

पद्माकर(१७५३-१८३३ ई०)—इनका जन्म सागरमें हुआ था। सागर, जैतपुर, दतिया, सतारा, जयपुर, उदयपुर, आदि राजदरबारोंमें इन्हें अच्छा सम्मान मिला था। १. 'जगद्विनोद'—नायिका-भेदका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके आरम्भमें महाराजा जगत् सिंहका यशोगान किया गया है। इन पद्योंकी गणना वीरकाव्य-धारामें की जा सकती है। २ हिम्मत बहादुर विरुदावली(र० १७९२ ई०)में हिम्मत बहादुर और अर्जुन सिंह नोनेके युद्धका आँखों देखा वर्णन है। ३ 'प्रतापविरुदावली'में महाराजा प्रताप सिंह 'ब्रजनिधि'-का यशोगान है। पद्माकरकी शैली वर्णनात्मक अधिक है। इन्होंने वाह्याडम्बरोंका अधिक आश्रय लिया है। भाषाकी दृष्टिसे ये अधिक सफल हुए हैं।

जोधराज—ये नीमराणा(अलवर)के राजा चन्द्रभानके आश्रित थे। इनके पिताका नाम बालकृष्ण था। जोधराजने 'हम्मीररासो'(र० का० १८२८ ई०)में रणथम्भोरके हम्मीर और अलाउद्दीनके युद्धोंका वर्णन किया है। इसपर आदिसे अन्ततक 'पृथ्वीराजरासो'का प्रभाव वर्तमान है। कविने यथावसर मौलिकताका भी परिचय दिया है। भावानुरूप शैली-परिवर्तनसे सजीवताका सम्मिश्रण हो गया है। वीर और शृगार रसोंका सुन्दर चित्रण हुआ है। इसकी भाषा ब्रज है, जिसपर राजस्थानी, फारसी आदिकी स्पष्ट छाप है। तुलसीके रामचरितमानसकी भाषाका भी कविने पूर्ण अनुकरण किया है।

डिंगलके कवि—पृथ्वीराज (१५४९-१६०० ई०)—ये बीकानेरके राव कल्याणमलके बेटे थे। इन्होंने भक्ति और

शृंगारपरक 'वेलि क्रिसन रुक्मिणीरी'की रचना की है। इनके वीर रसात्मक गीत प्रसिद्ध हैं। ये उच्च कोटिके कवि और योद्धा थे। पिंगल और डिंगल, दोनोंमें रचना करते थे। डिंगल भाषाके कवियोंमें इनका बहुत ऊँचा स्थान है

दुरसाजी (१५३५-१६५८ ई०)—बगड़ी, जोधपुरके ठाकुर प्रताप सिंहने इन्हें पाला था। यह अच्छे योद्धा और कवि थे। दुरसाजी राजस्थानके अत्यन्त यशस्वी और लोक-प्रिय कवि हैं। इनकी प्रमुख रचना 'विरुदछहत्तरी' है। इसके अतिरिक्त इनके लिखे फुटकर गीत और कवित्त राजस्थानमें बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा विशुद्ध डिंगलका उत्कृष्ट उदाहरण है। कविता बहुत सरल एवं दर्पपूर्ण है तथा हिन्दू धर्मकी महिमासे उद्भासित है। इनकी रचनामें वही बल, वैसी ही गति और उतनी ही प्रचण्डता पायी जाती है जितनी राठौर पृथ्वीराजकी कवितामें।

वीरभाण (१६८८-१७३५ ई०)—ये जोधपुरके महाराजा अभय सिंहके आश्रित थे। इन्होंने 'राजरूपक'में अभय सिंह और गुजरातके शेर बिलन्द खाँके अहमदाबादके युद्ध(१७३० ई०)का वर्णन किया है। यह ४६ प्रकाशोंमें विभक्त है। इतिहासके लिए यह एक अत्यन्त उपयोगी रचना है। इसकी भाषा उत्कृष्ट डिंगल है।

बाँकीदास (१७७१-१८३३ ई०)—ये जोधपुरके महाराजा मान सिंहके आश्रित थे। बाँकीदास संस्कृत, फारसी, डिंगल तथा ब्रजके अच्छे जानकार थे। इन्होंने विविध विषयोंके २७ ग्रन्थ, बहुतसे फुटकर गीत तथा इतिहास-विषयक लगभग २८०० वार्ताएँ, कहानियाँ लिखी हैं। वीर रस सम्बन्धी इनके ग्रन्थ ये हैं—१ 'सुरजाल भूषण'—इसमें चित्तौड़गढ़की प्रशंसा, जयमल और पत्ताकी कीर्तिका वर्णन है। २ 'जेहल जस-जड़ाव'में कच्छभुजके प्रसिद्ध दानवीर राजा जेहल(जैमल=जेहा)का यशोगान है। ३ 'सिन्धराव छत्तीसी'में गुजरातके राजा सिद्धराजकी वीरता, दान आदिका वर्णन है। ४ 'सूर छत्तीसी'में वीरोंकी प्रशंसा, वीरता, धैर्य आदिका चित्रण है। ५ 'वीरविनोद'में वीरोंके कार्य-कलापों, युद्ध आदिका उल्लेख है। बाँकीदासकी गणना डिंगल भाषाके प्रथम श्रेणीके कवियोंमें की जाती है। इनकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सरस है, वर्णन-शैली सजग और स्वाभाविक है।

सूरजमल (सूर्यमल्ल १८१५-१८६३ ई०)—ये बूँदीके राजकवि थे। सूरजमल पिंगल और डिंगल, दोनोंमें रचना करते थे। इनके वीर रसात्मक ग्रन्थ ये हैं—१ 'वंश-भास्कर'-में बूँदी राज्यका पद्यात्मक इतिहास पिंगल भाषामें लिखा गया है। २ 'बलवन्त-विलास'में रतलामके महाराजा बलवन्त सिंहका चरित्र ब्रजभाषामें चित्रित है। ३ 'वीर-सतसई' अपूर्ण है। यह डिंगल भाषामें वीर रसका प्रधान ग्रन्थ है।

इनकी रचनाओंमें काव्यपक्ष और कलापक्षका सफल निर्वाह हुआ है। इन्होंने वीर-वीरांगनाओंकी मनोदशाओं-का भावप्रधान वर्णन भी किया है और उनके युद्ध, पराक्रम, आतंक आदिका कलात्मक चित्रण भी, विशेषकर रणभूमिकी विकरालता, युद्धकी भयंकरता आदिका मार्मिक, सजीव और स्वाभाविक वर्णन किया है।

उक्त कवियोंके अतिरिक्त निम्नलिखित कवियोंकी रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं—

पिंगलके कवि—श्रीधर (१४०० ई०) 'रणमल-छन्द'; दलपत मिश्र (दौलत मिश्र—१६७३-१७०३ ई० ?)—'खुमाणरासो', जटमल (१६२३ ई०)—'गोराबादलकी कथा', डूँगरसी (१६५३ ई०)—'शत्रुसालरासो', कुम्भकर्ण (१६७५ ई०)—'रतनरासो', दयाल (१६८०-९८ ई०)—'राणारासो', श्रीधर (मुरलीधर, १७१३ ई०)—'जंगनामा', नन्ददास (१७४५)—'जगविलास', सोमनाथ (१७३३-५३ ई०)—'सुजान विलास', किशनजी (१८०० ई०)—'भीमविलास'।

डिंगलके कवि—शिवदास (१४२८ ई०)—'अचलदास खीचीरी वचनिका'; सूजाजी (१५३१-४१ ई०)'—राव जैतसीरो छन्द', केशवदास (१६२४ ई०)—'गुणरूपक', करणीदान (१७४३ ई०)—'सूरजप्रकाश', 'विड़द सिणगार', मुरारिदान (१८३८-१९०७ ई०)—'वंशभास्कर', 'वंश-समुच्चय', मुरारिदान (१८८३ ई०)—'जसवन्तजसोभूषण', 'जसवन्त-भूषण' अन्तिम दोनों कवियोंने पिंगल और डिंगल, दोनों भाषाओंमें रचना की है।

वीरकाव्यके उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दीके शैशवकालसे ही वीरकाव्यात्मक रचनाएँ लिखी जाती रही हैं। भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं धार्मिक भावनाओंकी अमर निधि इस काव्यधारामें सुरक्षित है। हिन्दू जातिके स्वातन्त्र्य-संग्राम, आत्म-बलिदान और त्यागके चरमोत्कर्षका ऐसा भव्य रूप हिन्दी साहित्य-की अन्य धारामें मिलना दुष्कर है। साथ ही भारतके इतिहासके पुनर्निर्माणमें भी वीरकाव्यसे पर्याप्त योगदान मिल सकता है। (दे०—'लोकगाथा', 'साहित्यिक गाथा'।)

[सहायक ग्रन्थ—(१) राजस्थानी भाषा और साहित्य मोतीलाल मेनारिया, (२) हिन्दी वीरकाव्य (१६००-१८०० ई०) : टीकम सिंह तोमर।] —टी० सिं० तो०

वीरगाथा—दे०—'लोकगाथा', 'साहित्यिक गाथा'।

वीरगीत—दे०—'लोकगाथा', 'साहित्यिक गाथा'।

वीरपूजा—वीरपूजा मनुष्यकी एक नैसर्गिक आदिम भावना मानी जाती है, जो वर्तमान व्यावसायिक युगमें भी विभिन्न रूपोंमें प्रकट होती है। वीरपूजाकी मूलगत भावना आदर और भयके सम्मिश्रणसे बनी है। इन भावनाओंका एक बाह्य प्रतीक होना है, जिसे वीर अथवा हीरो कहते हैं। उसीके प्रति सम्मान और श्रेयका प्रदर्शन वीरपूजा है। (दे०—फासिज्म', 'अधिनायकवाद') —रा० म० त्रि०

वीर रस—शृंगारके साथ स्पर्धा करनेवाला वीर रस है। शृंगार, रौद्र तथा वीभत्सके साथ वीरको भी भरत मुनिने मूल रसोंमें परिगणित किया है। वीर रससे ही अद्भुत रसकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। वीर रसका वर्ण स्वर्ण अथवा गौर तथा देवता इन्द्र कहे गये हैं। यह उत्तम प्रकृतिवालोंसे सम्बद्ध है तथा इसका स्थायी भाव 'उत्साह' है—'अथ वीरो नाम उत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मक।' (ना०शा० : ६ ६६ग)। भानुदत्तके अनुसार, पूर्णतया परिस्फुट 'उत्साह'

अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंका प्रहर्ष या उत्फुल्लता वीर रस है, 'परिपूर्ण उत्साह सर्वेन्द्रियाणा प्रहर्षो वा वीर ।' (र०त०)। हिन्दीके आचार्य सोमनाथने वीररसकी परिभाषा की है— 'जव कवित्तमें सुनत ही व्यग होय उत्साह । तहाँ बीर रस समझियो चौविधिके कविनाह ।' (र०पी०नि०) ।

सामान्यतया रौद्र एव वीर रसोंकी पहचानमें कठिनाई होती है । इसका कारण यह है कि दोनोंके उपादान वहुधा एक दूसरेसे मिलते-जुलते हैं । दोनोंके आलम्वन शत्रु तथा उद्दीपन उनकी चेष्टाएँ है । दोनोंके व्यभिचारियों तथा अनुभावोंमे भी साहश्य है । कभी कभी रौद्रतामें वीरत्व तथा वीरतामें रौद्रत्वका आभास मिलता है । इन कारणोंसे कुछ विद्वान् रौद्रका अन्तर्भाव वीरमें और कुछ वीरका अन्तर्भाव रौद्रमें करनेके अनुमोदक हैं, लेकिन रौद्र रसके स्थायी भाव क्रोध तथा वीर रसके स्थायी भाव उत्साहमें अन्तर स्पष्ट है । भोजराजके अनुसार प्रतिकूल व्यक्तियोंमें तीक्ष्णताका प्रवोध क्रोध है तथा कार्यारम्भमें स्थिरता और उत्कट आवेश उत्साह है—'प्रतिकूलेपु तैक्ष्ण्यस्य प्रवोध क्रोध उच्यते। कार्यारम्भेपु सरम्भ स्थेयानुत्साह इष्यते ।' (स०क० ५ १४०) ।

क्रोधमें 'प्रमोदप्रातिकूल्य' अर्थात् प्रमाताके आनन्दको विच्छिन्न करनेकी शक्ति होती है, जव कि उत्साहमें एक प्रकारका उल्लास या प्रफुल्लता वर्तमान रहती है । क्रोधमें शत्रु-विनाश एव प्रतिशोधकी भावना होती है, जव कि उत्साहमें धैर्य एव उदारता विद्यमान रहती है । क्रोधाविष्ट मनुष्य उछल-कूद अधिक करता है, लेकिन उत्साहप्रेरित व्यक्ति उमग सहित कार्यमें अनवरत अग्रसर होता है । क्रोध प्राय अन्धा होता है, जव कि उत्साह परिस्थितियोंको समझते हुए उनपर विजय-लाभ करनेकी कामनासे अनुप्राणित रहता है । क्रोध वहुधा वर्तमानसे सम्बन्ध रखता हैं, जव कि उत्साह भविष्यसे ।

क्रोध एव उत्साहके उपर्युक्त भेदोंको ध्यानमें रखनेपर रौद्र रस एव वीर रसके भेदको समझा जा सकता है । यों तो रौद्रमें भी उत्साह सचारी रूपमें आ सकता है, क्योंकि उत्साह विस्मयके साथ सभी रसोंमें सक्रमण कर सकता है, 'उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ ।' (र०त०) । वीर रसमें भी क्रोध समाविष्ट हो सकता है, तथापि रौद्रमें यह उत्साह अत्यन्त क्षीण होकर दव जाता है और क्रोध ही आस्वाद्य रहता है तथा वीरमें आनेवाला क्रोध केवल 'अमर्ष' व्यभिचारी होता है और उत्साह स्थायी ही उत्कटतापूर्वक आस्वादित होता है । अतएव रौद्र एव वीर, दोनोंकी पृथक् पृथक् सत्ता है और एकमें दूसरेको अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता ।

लेकिन उत्साहको आधुनिक मनोविज्ञानियोंने प्रधान भावोंमें गृहीत नहीं किया है, क्योंकि उत्साहसे आलम्बन एव लक्ष्य स्फुट एव स्थिर नहीं रहते । यद्यपि साहित्यशास्त्रियोंने प्रतिमल्ल, दानपात्र एव दयापात्रको उत्साहका आलम्वन वताया है, तो भी भावके अनुभूति कालमें इन व्यक्तियोंकी ओर वैसा ध्यान नहीं रहता है जैसा अन्य भावोंके प्रतीतिकालमें उनके आलम्बनभूत व्यक्तियोंकी ओर रहता है। फिर, जैसा ऊपर कहा गया है, उत्साह सभी रसोंमें सचार करता है। रतिमें भी उत्साह हो सकता है और भयमें भी। अभिनवगुप्तने तो उत्साहको शान्त रसका भी स्थायी माना है। इन कारणोंसे कुछ लोग उत्साहको वीर रसका स्थायी भाव नहीं मानते हैं । रौद्रके साथ वीरको समाहृत करनेके प्रयत्नमें वे 'अमर्ष'को वीरका स्थायी मान लेते हैं। निन्दा, आक्षेप, अपमान इत्यादिके कारण उत्पन्न चित्तका अभिनिवेश अर्थात् स्वाभिमानका उद्बोध अमर्ष है। लेकिन वीर रसके कतिपय स्वरूपोंमें (युद्धवीरके अतिरिक्त अन्य रूपोंमें) अमर्षका लवलेश भी दृष्टिगत नहीं होता ।' उदाहरणत कर्मवीर, पाण्डित्यवीर, सत्यवीर इत्यादिमें अमर्ष खोजनेपर नहीं मिलेगा। अतएव अमर्ष वीर रसका स्थायी नहीं माना जा सकता। इधर कुछ लोगोंने 'साहस'को वीरका स्थायी भाव उत्पन्न करनेका उद्योग किया है। वास्तवमें उत्साहमें साहस गृहीत हो सकता है, क्योंकि साहसमें एक निर्भीक वीरता पायी जाती है, जो उत्साहका भी महत्त्वपूर्ण अंग है। लेकिन उत्साहको साहससे पृथक् करनेवाला तत्त्व उमग या उल्लास है, जो साहसमें सदैव वर्तमान नहीं रह सकता है। इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए रामचन्द्र शुक्लने ठीक ही कहा है कि 'आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठामें ही उत्साहका दर्शन हो सकता है, केवल कष्ट सहनेके निश्चेष्ट साहसमें नहीं ।' वीर रसकी निष्पत्तिके लिए वस्तुत आचार्योंने आश्रयमें प्रहर्ष अथवा उत्फुल्लताकी उपस्थिति आवश्यक मानी है। अतएव उत्साहको ही इसका स्थायी मानना युक्तिसगत सिद्ध होता है। यह ठीक है कि उत्साह मूल भावोंमें गृहीत नहीं किया जा सकता, लेकिन रामचन्द्र शुक्लके शब्दोंमें—'आश्रय या पात्रमें उसकी व्यजना द्वारा श्रोता या दर्शकको ऐसा विविक्त रसानुभव होता है जो और रसोंके समकक्ष है ।' अतएव रस प्रयोजकताके विचारसे उत्साह उपेक्षणीय नही हो सकता ।

यह उत्साह वास्तवमें विभिन्न वस्तुओंके प्रति, जीवनके विभिन्न गुणों अथवा व्यवसायोंके प्रति विकसित हो सकता है और इस दृष्टिसे वीर रसके कई भेद हो सकते हैं। आद्याचार्य भरतने वीर रसके तीन प्रकार वताये हैं— दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर । भोजराजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में धर्मवीरको न मानकर उसके वदले दयावीरका निरूपण किया है । भानुदत्तने भी 'धर्मवीर'को न मानकर युद्धवीर, दानवीर और दयावीर—ये ही तीन भेद वताये हैं। वादमें विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में धर्मवीरको भी मिलाकर वीर रसको चतुर्विध निरूपित किया है— 'स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ।' (३ २३४) । पण्डितराजने 'रसगगाधर'में इन चार भेदोंको माना है, किन्तु पाण्डित्यवीर, सत्यवीर, वलवीर, क्षमावीर इत्यादि भेदोंकी सम्भाव्यताका भी निर्देश किया है । हिन्दीके आचार्योंमें देवने युद्धवीर, दयावीर तथा दानवीर—ये तीन ही भेद स्वीकृत किये हैं। अन्य आचार्योंने प्राय 'साहित्यदर्पण'के चार प्रकारोंको स्वीकृत किया है। हरिऔधने 'रसकलस'में कर्मवीर नामक पाँचवाँ भेद भी उपपादित किया है। इस प्रकार यदि उत्साह अथवा वीरत्वके व्यापकत्वका विचार किया जाय,

तो वीर रस शृंगारके समकक्ष ठहरता है। आस्वादनीयताको दृष्टिमें रखते हुए 'साहित्यदर्पण'के चार प्रकार ही सर्वमान्य हैं, यद्यपि कतिपय विद्वान् 'युद्धवीर रस'में ही सच्चे उत्साह अथवा शौर्यका प्रस्फुटन सम्भव मानते हैं तथा 'धर्मवीर', 'दानवीर' इत्यादिको शान्त, भक्ति प्रभृति रसोंमें अन्तर्भूत करते हैं। वीर रसके उपादानोंको समन्वित रूपसे विश्वनाथने निर्दिष्ट किया है—'विजित किये जाने योग्य इत्यादि व्यक्ति आलम्बन विभाव तथा उनकी चेष्टाएँ इत्यादि उद्दीपन-विभाव हैं। युद्ध इत्यादिमें सहायक आदिका अन्वेषणादि इसके अनुभाव हैं। धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमांचादि इसके संचारी भाव हैं' (सा० द० ३ . २३३, ४)।

हिन्दीके आचार्य कुलपतिने 'रसरहस्य' नामक ग्रन्थमें वीर रसका जो वर्णन किया है वह सरल एवं सुबोध है—'मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारिनकी भीर। व्यंग कियो उत्साह जहँ सोई रस है वीर। युद्ध दान अरु दया पुनि, धर्म सु चारि प्रकार। अरि दल समर विभाव यह, युद्धवीर विस्तार। वचन अरुणता वदनकी, अरु फूलै सब अंग। यह अनुभाव बखानिये, सब वीरनके संग।'

१ युद्धवीरका आलम्बन शत्रु, उद्दीपन शत्रुके पराक्रम इत्यादि, अनुभाव गर्वसूचक उक्तियाँ, रोमांच इत्यादि तथा संचारी धृति, स्मृति, गर्व, तर्क इत्यादि होते हैं। उदाहरण—'निकसत म्यान तें मयूखें प्रलै भानु कैसी, फारे तमतोमसे गयन्दनके जालको। लागति लपटि कण्ठ वैरिनके नागिन-सी, रुद्रहिं रिझावै दै दै मुण्डनिके मालको। लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली, कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवालको। प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि, कालिका-सी किलक कलेऊ देति कालको।' (भूषण)। यहाँ शत्रु आलम्बन, शत्रुके कार्य उद्दीपन, तलवारके कार्य अनुभाव तथा गर्व, आवेग, उत्सुकता इत्यादि व्यभिचारी हैं। इनसे परिपोष प्राप्त कर उत्साह स्थायी आस्वादित होता है, जिससे युद्धवीर रसकी निष्पत्ति हुई है। इस सम्बन्धमें यह स्मरणीय है कि युद्धवीर वहाँ होता है, जहाँ पसीना, मुख या नेत्रकी रक्तिमा इत्यादि अनुभाव न हों, क्योंकि ये क्रोधके अनुभाव हैं और इनकी उपस्थितिमें रौद्र रस होगा, वीर नहीं।

२ दानवीरके आलम्बन तीर्थ, याचक, पर्व, दानपात्र इत्यादि तथा उद्दीपन अन्य दाताओंके दान, दानपात्र द्वारा की गयी प्रशंसा इत्यादि होते हैं। याचकका आदर-सत्कार, अपनी दातव्य-शक्तिकी प्रशंसा इत्यादि अनुभाव और हर्ष, गर्व, मति इत्यादि संचारी हैं। उदा०—'जो सम्पति सिव रावनहिं दीन दिये दस माथ। सो सम्पदा विभीखनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ।' (रा० च० मा० ५ · ४९ख)। यहाँ विभीषण, आलम्बन शिवके दानका स्मरण उद्दीपन, रामका दान देना तथा उसमें अपने गौरवके अनुकूल तुच्छताका अनुभव करना और इसलिए संकोच होना अनुभाव हैं। धृति, स्मृति, गर्व, औत्सुक्य इत्यादि व्यभिचारी हैं। इनसे पुष्ट होकर उत्साह स्थायी दानवीर रसमें परिणित हो गया है।

३ दयावीरके आलम्बन दयाके पात्र, उद्दीपन उनकी दीन, दयनीय दशा, अनुभाव दयापात्रसे सान्त्वनाके वाक्य कहना और व्यभिचारी धृति, हर्ष, मति इत्यादि होते हैं। उदा०—'पापी अजामिल पार कियो जेहि नाम लियो सुत ही को नरायन। त्यों पद्माकर लात लगेपर विप्रहुके पग चौगुने चायन। को अस दीनदयाल भयो दसरत्थके लालसे सूधे सुभायन। दौरे गयन्द उबारिबेको प्रभु बाहन छाडि उपाहने पायन।' (पद्माकर)। यहाँ गयन्द (हाथी) आलम्बन, गजकी दशा उद्दीपन, गजके उद्धारके लिए दौड पड़ना अनुभाव तथा धृति, आवेग, हर्ष इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं, इनसे पुष्ट होकर उत्साह स्थायी दयावीर रसमें परिणत हो गया है।

४ धर्मवीरमें वेदशास्त्रके वचनों एवं सिद्धान्तोंपर श्रद्धा तथा विश्वास आलम्बन, उनके उपदेशों और शिक्षाओंका श्रवण-मनन इत्यादि उद्दीपन, तदनुकूल आचरण अनुभाव तथा धृति, क्षमा आदि धर्मके दस लक्षण संचारी भाव होते हैं। धर्मधारण एवं धर्माचरणके उत्साहकी पुष्टि इस रसमें होती है। उदा०—'रहते हुए तुम-सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं। इससे मुझे है जान पड़ता भाग्यबल ही सब कहीं। जलकर अनलमें दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी। अच्युत युधिष्ठिर आदिका अब भार है तुमपर सभी।' (मैथिलीशरण गुप्त : ज०व०)। यहाँ अर्जुनका शास्त्रोक्त भाग्यफल इत्यादिपर विश्वास आलम्बन, प्रणका पूर्ण न होना उद्दीपन, अर्जुनका प्रण-पालनार्थ उद्यत होना अनुभाव और धृति, मति इत्यादि संचारी हैं। इनसे पुष्ट होकर धर्माचरणका उत्साह धर्मवीर रसमें परिपक्व हो गया है।

वीर रस(युद्धवीर)का शृंगार रसके साथ संयोग कवियोंको विशेष प्रिय रहा है। केशवदासके उद्धृत कवित्तमें इसीका चित्र है—'गति गजराज साजि देहकी दिपति वाजि, हाव रथ भाव पति राजि चल चाल सों। लाज साज कुलकानि शोच पोच भय मानि, भौहें धनु तानि बान लोचन विसाल सों। केशोदास मन्द हास असि कुच भट भिरे, भेंट भये प्रतिभट भाले नख जाल सों। प्रेमको कवच कसि साहस सहायक लै, जीति रति रण आजु मदनगुपाल सों।' (र०प्रि०)।

'साहित्यदर्पण'में वीरको शृंगार रसका विरोधी माना गया है, किन्तु 'रसगंगाधर'में इसे शृंगारका अविरोधी कहा गया है। विश्वनाथने भयानक और शान्तके साथ वीरका विरोध ठहराया है, किन्तु पण्डितराजने केवल भयानकके साथ। वे वीरके साथ रौद्र रसका अविरोध मानते हैं। वस्तुत वीर एवं शान्तमें विरोध तथा वीर एवं रौद्रमें मैत्रीभाव मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

हिन्दी साहित्यमें रासो ग्रन्थोंका वीरकाव्यकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व स्वीकार किया गया है। इनमें कुछ मुक्तकीय वीरगीतके रूपमें उपलब्ध हैं और कुछ प्रबन्धकाव्यके रूपमें। 'बीसलदेवरासो' तथा 'आल्हा-खण्ड' प्रथम कोटिकी और 'खुमानरासो' तथा 'पृथ्वीराजरासो' द्वितीय श्रेणीकी रचनाएँ हैं। इनमें 'आल्हा-खण्ड' तो प्रारम्भसे ही जनप्रिय काव्य रहा है तथा उत्तरभारतकी ग्रामीण जनतामें इसके श्रवणके लिए पर्याप्त अनुराग है। भक्तिकाल एवं रीतिकालमें

परिस्थितियोंके परिवर्तनके कारण वीर रसकी धारा सूखती-सी प्रतीत होती है। तथापि, केशवका 'वीरसिंहदेवचरित', मानका 'राजविलास', भूषणका 'शिवराजभूषण', लालका 'छत्रप्रकाश' इत्यादि ग्रन्थोंमें वीर रसका प्रवाह प्रवहमान है। 'रामचरितमानस' यों तो शान्त रस-प्रधान रचना है तो भी राम रावण-युद्धके प्रसगमें प्रचुर वीर रसकी निष्पत्ति हुई है। भारतमें ब्रिटिश सत्ताकी स्थापनाके अनन्तर जो राष्ट्रीयताकी लहर जनसमुदायमें दौड गयी, उसके फलस्वरूप एक बार पुन हिन्दी काव्यमें वीर रसकी धारा नव-जीवन सहित बही है। मैथिलीशरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', माखनलाल चतुर्वेदी, 'निराला', 'नवीन', सुभद्रा-कुमारी चौहान, अनूप शर्मा, 'दिनकर', रूपनारायण पाण्डेय इत्यादिने अपनी रचनाओंमें वीर रसका अजस्र प्रवाह प्रवाहित किया है, जिसमें नव-जाग्रत् राष्ट्रकी सकल आकाक्षाएँ मूर्तिमती एवं मुखर हो उठी हैं। —र० ति०

वृंदावन-लीला—दे०—'लीला'।

वृत्तसुरतगोपना—दे०—'गुप्ता', (नायिका)।

वृत्ति १—[वृत्+क्तिन्] (क) साधारण अर्थ—१ सत्ता, भाव, वर्तमानता, २ स्वभाव, ३ दशा, अवस्था, ४ व्यवहार, आचरण, ५ जीविका, जीवनोपाय (वर्तते अनयेति करणे क्तिन्), ६ भृति, पारिश्रमिक, ७ घूमना, चक्कर, ८ पहिये या वृत्त(गोले)की परिधि। (ख) विशेष अर्थ-१ किसी मौलिक ग्रन्थ, विशेषत सूत्रग्रन्थकी सूक्ष्म-संक्षिप्त विवृति या टीका, जैसे, 'अष्टाध्यायी'पर जयादित्य और वामन द्वारा रचित 'काशिका वृत्ति' अथवा यास्ककृत 'निरुक्त'पर दुर्गाचार्यकृत 'ऋज्वर्था' नामक वृत्ति। वृत्ति सामान्यत वार्तिक और भाष्य, दोनोंकी अपेक्षा सक्षिप्त होती है। पर आगे चलकर जब यह शब्द व्याख्यामात्रका वाचक बन गया, तब ग्रन्थकार या लेखक स्वेच्छानुसार अपने व्याख्यान-ग्रन्थोंका नाम वृत्ति, टीका, टिप्पणी आदि रखने लगे और यह शब्द सूत्रोंतक ही सीमित न रह गया। भाष्यकार शकराचार्यने 'कठ' और 'बृहदारण्यक' उपनिषदोंके व्याख्यानोंको 'वृत्ति' ही कहा है, पर आगे वे ही 'भाष्य' नामसे बोधित हुए। पर भाष्यकारके शब्दोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'वृत्ति' मूलमें थी सक्षिप्त ही—'अथ कठकोपनिषद्वल्लीना सुखप्रबोधनार्थमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते।' 'उषा वा अश्वस्य इत्येवमाद्या वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषत्। तस्या इयमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते।' (बृहदा० शा० भा०)। २ (व्याकरण-शास्त्रमें) एक अर्थके भीतर दूसरे नये अर्थको प्रकट करनेवाली गूढ शब्दरचना—'परार्थाभिधान वृत्ति'। यह वृत्ति पाँच प्रकारकी होती है—कृत, तद्धित, समास, एकशेष जैसे, 'माता च पिता चेति पितरौ', एव सन् इत्यादि प्रत्ययोंसे बने हुए धातु रूप, जैसे, गम् धातुसे जिगमिष् (जानेकी इच्छा करना), पा धातु (पीना)से पिपास (पीनेकी इच्छा करना) आदि। इन वृत्तियोंका गूढ अर्थ समझानेके लिए इनका विग्रह या खण्ड करना पड़ता है। ३ (साहित्य तथा व्याकरणशास्त्रमें) शब्दका वह व्यापार या शक्ति, जिसमे शब्दोंका अर्थ प्रकट होता है। यह वृत्ति त्रिविध होती है—अभिधा, लक्षणा और व्यजना। कुछ लोग 'तात्पर्य' नामक चौथी वृत्ति भी मानते हैं। ४ (केवल साहित्यशास्त्रमें) एक प्रकारका अनुप्रास नामक शब्दालकार, जिसमें एक वर्णकी कई बार आवृत्ति होती है। ५ (नाट्यशास्त्रमें) रचना शैली। यह चतुर्विध होती है। भरत मुनिके शब्दोंमें चारों ये हैं—'भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा। चतस्रो वृत्तयश्चैता यासु नाट्य प्रतिष्ठितम्।' ६ (वेदान्तशास्त्रमें) अन्त करणका परिणाम, यथा, 'बुद्धिवृत्तिचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्। तत्राज्ञान धिया नश्येदाभासेन घट स्फुरेत्।' (बृहदा०भा०वा०)। (ग) हिन्दीमें यह शब्द जीविका, वृत्त्यनुप्रास तथा स्वभाव-(चित्तवृत्ति)के अर्थमें प्रयुक्त होता है। —आ० प्र० मि०

वृत्ति २—भरत(४ श० ई०)ने वृत्ति और प्रवृत्ति(दे०)में अन्तर माना है। उन्होंने वृत्तिको काव्यकी माता माना है—'सर्वेषामेव काव्याना वृत्तयो मातृका स्मृता।' वृत्तिको व्यवहार या पुरुषार्थ-साधक व्यापार कहा गया है। व्यवहारके सूचक क्रिया कलाप और चेष्टाएँ वृत्तिके अन्तर्गत हैं। वृत्ति और रीतिमें साम्यके कारण प्राय भ्रमकी स्थिति रही है। वृत्तियाँ दो प्रकारकी मानी गयी हैं। भरतकी नाट्यवृत्तियोंके अन्तर्गत कायिक और मानसिक चेष्टाएँ स्वीकृत हैं, परन्तु आगे चलकर आनन्दवर्धन (९ श० ई० उत्त०) तथा अभिनव(१० ११ श० ई०)ने नाट्यवृत्तियोंको अर्थवृत्तियाँ माना और अन्य प्रचलित उपनागरिका, परुषा, कोमलाको काव्यवृत्तियाँ। वस्तुत वृत्तियोंमे इन्हींका बोध होता है।

इन वृत्तियोंकी उद्भावना उद्भट(८ श० ई० उत्त०)ने 'काव्यालकारसारसग्रह'में की है। उन्होंने इन्हें अनुप्रास-जाति माना है। इनमें वर्ण-व्यवहारकी प्रधानता होती है, इनमें पद-सघटनाका विचार नहीं होता। परन्तु रुद्रट(९ श० ई० उत्त०)ने 'काव्यालकार'में वृत्तिको समासका आश्रित माना है। आनन्दवर्धनके अनुसार—'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते', अर्थात् रसानुगुण अर्थ व्यवहार नाट्यवृत्ति तथा रसानुगुण शब्दव्यवहार काव्यवृत्ति है। अभिनवने पुरुषार्थ साधक व्यापारका नाम ही वृत्ति माना है। परन्तु मम्मट(११ श० ई० उत्त०)ने 'काव्यप्रकाश'में उद्भटके अनुसरणपर वर्ण-व्यवहारपर आश्रित मानकर इन्हें रीतिके अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है।

नगेन्द्रने 'भारतीय काव्यशास्त्रकी भूमिका'में वृत्ति तथा रीतिके सम्बन्धकी तीन स्थितियाँ मानी हैं। कुछ आचार्योंने वृत्तिको स्वतन्त्र माना है। उद्भटने वर्ण व्यवहारके रूपमें, रुद्रटने समासको आधार मानते हुए तथा आनन्दवर्धन और अभिनवने पृथक् वर्णन करके वृत्तिको रीतिसे अलग माना है। आनन्दवर्धनने शब्द-व्यवहार मानकर इसकी रीतिमे एकता स्वीकार अवश्य की है। मम्मट तथा जगन्नाथ (१७-१८ श० ई०) आदि बादके आचार्योंने इन्हें एक ही माना है। मम्मटने वृत्तियोंकी विवेचना करनेके बाद कह दिया है कि इन्हें ही रीतियाँ माना जाता है। जगन्नाथने दोनोंका पाचाली आदिके लिए प्रयोग किया है। अन्य आचार्य वृत्तिको रीतिका अग मानते हैं। वामनके वृत्ति-विवेचनसे (काव्य-वृत्तियाँ भी नहीं है) स्पष्ट है कि वे इन्हें रीतिका अग मानते हैं। विश्वनाथ(१४ श० ई० पूर्वा०)ने वर्ण-योजनाको रीतिका अग माना है।

हिन्दीके आचार्योंमें चिन्तामणिने 'कविकुलकल्पतरु'-(१६५० ई०)में मम्मटके अनुसार वृत्तियोंका वर्णन वृत्त्यनुप्रासके अन्तर्गत किया है और यह भी स्वीकार किया है कि ये वृत्तियाँ ही वैदर्भी आदि रीतियाँ हैं। प्रारम्भमें उन्होंने रीति और वृत्तिका भेद माना है (दे०—'रीति')। वस्तुतः यह भ्रम इनके सूक्ष्म अन्तरके कारण ही है। कुलपतिने 'रस-रहस्य'(१६७० ई०)में वृत्तियोंपर विचार रीतिके पर्याय-रूपमें किया है। देवने केशवके समान नाट्यवृत्तियोंका ही विवेचन किया है। दासने पुनः मम्मटके आधारपर अपने 'काव्यनिर्णय'(१७४६ ई०)में रीतियोंका वर्णन कर वृत्तियोंका विवेचन किया है। आधुनिक विवेचकोंने संस्कृत काव्यशास्त्रके आधारपर इनकी विवेचना की है, इनमें प्रमुख कन्हैयालाल पोद्दार (र०मं०), अर्जुनदास केडिया (भा०भू०) तथा रामदहिन मिश्र (का०द०) आदि हैं। पोद्दारके आधार मम्मट हैं, केडियाने वृत्तियोंका वर्णन शब्दालंकारके अन्तर्गत किया है और रामदहिन मिश्रने रीति तथा वृत्तिका स्वतन्त्र विवेचन किया है।

१. **उपनागरिका वृत्ति**—उपनागरिका काव्य-वृत्ति है। यह वृत्ति नाटककी चार वृत्तियोंसे भिन्न है। इनका सम्बन्ध शब्दालंकारसे है। शब्दालंकारके अनुप्रास-भेदके प्रकारोंमें वृत्तिके आधारपर वृत्त्यनुप्रास होता है। यह शब्द-वृत्ति है। भामहने इसे उपनागरिका अनुप्रास कहा है, परन्तु उपनागरिकाको वृत्तिके रूपमें सबसे पहले उद्भटने प्रकट किया है और इसे वृत्त्यनुप्रासके प्रसंगमें वर्णित किया है। इस शब्द-वृत्तिके अन्तर्गत टवर्गको छोड़कर अन्य वर्गोंमेंसे प्रत्येकके पंचम वर्णके साथ अन्य वर्णोंका संयोग तथा पंचम वर्णोंके प्रयोगका बाहुल्य रहता है। यह नामकरण नगरकी चतुर और विदग्ध वनिताओंकी सुकुमार शब्दावलीके समकक्ष होनेसे हुआ है। यह प्रतिहारेन्दुराजका मत है—'एषा खलु नागरिकया वैदग्ध्यजुषा वनितया उपमीयते तत् उपनागरिका नागरिका उपमिता उपनागरिकेति'। नागरिकाकी उपमा होनेके कारण यह उपनागरिका कहलाती है। इसका प्रयोग शृंगारादि रसोंके वर्णनके लिए किया जाता है। इसकी शब्दावली श्रुतिमधुर और संगीतमय रहती है।

२. **परुषा वृत्ति**—परुषा वृत्ति कठोर शब्द-वृत्ति है। इसकी उद्भावना उद्भटने की थी। इस शब्द-वृत्तिके अन्तर्गत र, श, ष, टवर्ग, रेफयुक्त तथा संयुक्त वर्णोंके प्रयोगका बाहुल्य रहता है। परुषा वृत्तिमें कर्णकटु, कठोर शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। परुषा वृत्तिमें कठोर वर्णोंका विन्यास वीर, रौद्र, भयानक आदि रसों और उग्र भावोंके प्रकाशनके लिए प्रयुक्त किया जाता है। युद्ध आदिके वर्णन, वीरोंके वार्तालाप, रोषपूर्ण उक्तियोंमें इस वृत्तिका आश्रय ग्रहण किया जाता है। इसका दूसरा नाम **दीप्ता वृत्ति** भी है। यह चित्तवृत्तिको दीप्त करती है। यह ओज गुणको प्रकट करनेवाली रचना है।

३. **कोमला वृत्ति**—उद्भटने इस कोमला वृत्तिको ग्राम्य वृत्ति कहा है, क्योंकि यह ग्रामीण नारियोंकी स्वाभाविक शब्दावलीके अनुरूप होती है। इस वृत्तिमें कोमल शब्दावलीका प्रयोग होता है। इस दृष्टिसे ल, व, स तथा वर्गोंके तृतीय वर्णों, जैसे, ग, द आदिका प्रयोगबाहुल्य इस वृत्तिकी विशेषता है। इस सुकुमार शब्दावलीका उपयोग शृंगार, शान्त, करुण, अद्भुत आदि रसों तथा कोमल सुकुमार भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए किया जाता है। यह हृदयकी कोमलताको मस्कार बनाती है।

उद्भटकी वृत्तियाँ—(क) उद्भटने भरत द्वारा निरूपित सात्वती आदि वृत्तियोंसे भिन्न वृत्तिकी कल्पना की। उनके मतानुसार चित्तकी अवस्था ही वृत्ति है। यह अवस्था दो प्रकारकी हो सकती है—चेष्टा-युक्त और चेष्टा रहित। चेष्टाके भी दो भेद किये जा सकते हैं—एक न्याय और दूसरी अन्याय। अतः जिस चेष्टामें उचित व्यापारोंका समावेश हो वह न्यायवृत्तिकी द्योतक है। इस प्रकार उचित व्यापारोंवाली चेष्टा जिस वृत्तिमें हो, वह वृत्ति **न्यायवृत्ति** है। (ख) **अन्यायवृत्ति**—चेष्टायुक्त अवस्थाके न्याय और अन्याय-व्यापारके भेदसे, जहाँ अनुचित व्यापारोंसे युक्त चेष्टा हो, वहाँ अन्याय-वृत्ति होती है। यह उद्भटका मत है। अन्यायवृत्ति चित्तकी उस चेष्टा-युक्त दशाका द्योतक है, जिसमें अनुचित या मर्यादापूर्ण व्यापारोंका समावेश रहता है। (ग) **फल-संवित्ति**—उद्भटने चित्तकी एक चेष्टारहित अवस्था मानी है और दूसरी चेष्टायुक्त। चेष्टायुक्त अवस्थासे सम्बन्धित न्याय और अन्यायवृत्तियाँ हैं, परन्तु चेष्टारहित अवस्थामें व्यापारका सर्वथा अभाव रहता है। इस स्थितिमें पात्र अपनी चेष्टाओंके फलका भोग करता है। यही वृत्ति फल-संवित्तिकी है। फल संवित्तिका अर्थ होता है फलकी उपलब्धि। अतः जिस चेष्टारहित चित्तकी अवस्थामें फलकी प्राप्ति या भोगकी विद्यमानता हो, वह फल संवित्ति वृत्ति है। उद्भटकी इस वृत्तिका लोल्लटने खण्डन किया है। लोल्लटका मत है कि वृत्ति व्यापाररूप है, अतः व्यापार-राहित्यकी कल्पना वृत्तिके लिए उचित नहीं। उनका मत है कि जीवनकी कोई भी स्थिति व्यापार-शून्य नहीं, अतः यह चेष्टा-राहित्यकी अवस्था अयथार्थ है।

रुद्रटकी वृत्तियाँ—रुद्रटाचार्यने काव्यवृत्तियोंको नवीन दृष्टिसे देखनेका प्रयत्न किया। उनकी दृष्टिसे समास-युक्त पद-संघटन वृत्तिका आधार है। रुद्रटकी इस प्रकारकी व्याख्याका आधार बाणभट्टका यह कथन—'असमस्तपदवृत्तिमिव अद्वन्द्वाम्' जान पड़ता है। इस प्रकार उन्होंने वृत्तियोंके दो वर्ग किये—प्रथम **समस्ता**, जिसमें समासयुक्त पदोंका प्रचुर प्रयोग हो और द्वितीय **असमस्ता**, जिसमें समासरहित पदोंका प्रयोग हो। यह आधार वास्तवमें रीति-वर्णनका आधार है, क्योंकि वैदर्भी रीतिकी व्याख्या इसी रूपमें की गयी है। अतः असमस्ता हुई वैदर्भी तथा समस्ता वृत्तिके तीन भेद हुए—१ पांचाली, २ लाटीया, ३ गौडीया। पांचालीमें दो-तीन, लाटीमें पाँच-छः और गौडीयामें बहुत समासोंका प्रयोग होता है। रुद्रटका यह वर्णन रीतिके समान ही है। उनकी वृत्ति-सम्बन्धी यह व्याख्या वास्तवमें रीतिकी है, जिसमें वर्गीकरणकी विशेषता है।

वृत्तियोंका वास्तविक वर्णन उन्होंने अनुप्रास-जातियोंके रूपमें किया है। उपनागरिका, कोमला और परुषा, तीन

वृत्तियोंके स्थानपर उन्होंने १ मधुरा, २ प्रौढा, ३ परुषा, ४ ललिता, ५ भद्रा, इन पाँच वृत्तियोंका उल्लेख किया है। इनके नामसे ही इनके लक्षण स्पष्ट है। रुद्रटका कथन है—'मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तय पच। वर्णाना नानात्वात् अस्येति यथार्थनामफला।' (का० ल० २ १९)। इनमें मधुरा उपनागरिका, परुषा परुषा और ललिता कोमलासे साम्य रखती है, प्रौढा अर्थ-गाम्भीर्य-युक्त और भद्रा सर्व-ग्राह्य हो सकती है।

भोजकी वृत्तियाँ—भोजने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'-में १२ प्रकारकी अनुप्रास जातियोंसे भिन्न वृत्तियोंका वर्णन किया है, जो वर्णोंकी आवृत्तिपर निर्भर न होकर स्पर्शादि वर्णोंके परस्पर सम्बन्ध और असम्बन्धसे युक्त रचना-सघटनपर निर्भर करती है। वृत्तिकी परिभाषा भोजने इस प्रकार दी है—'काव्यव्यापी च सन्दर्भो वृत्तिरित्यभिधीयते।' ये १२ वृत्तियाँ है—गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता, अमिता। **गम्भीरा** वृत्तिमें प्राय तवर्ग और पवर्गके तृतीय और चतुर्थ वर्णोंमें प और फका सयोग होता है। **ओजस्विनी** वृत्तिमें प्राय मूर्धन्योंमें प्रथम, चतुर्थ और पचम वर्णोंकी दो-तीन बार आवृत्ति होती है। **प्रौढ़ामें** प्राय मूर्धन्यके अन्त्य वर्णोंके साथ सयोगमें पूर्व वर्ण दीर्घ होते हैं। **मधुरा** प्राय स्पर्श वर्णोके सानुस्वार प्रयोगसे उत्पन्न होती है। **निष्ठुरा** प्राय बार बार सयुक्त वर्णोंके प्रयोगसे आती है। व्यजनोंके असयुक्त प्रयोगसे प्राय *श्लथा* वृत्ति बनती है। **कठोरा** प्राय कण्ठ्य और रेफादिके सयोगसे उत्पन्न होती है। **कोमला** वृत्ति प्राय रेफ, णकार और कोमल वर्णोंके संयोगसे प्राप्त होती है। **मिश्रा**—यह प्राय कठोर वर्णोंमें ओष्ठ्य, कण्ठ्य और मूर्धन्य वर्णोंके मिश्रणसे बनती है। **परुषा** ऊष्म और अन्तस्थके सयोगसे निर्मित होती है। **ललिता** प्राय दन्त्य, ओष्ठ्य, तालव्य वर्णोंके साथ अन्तस्थ वर्णोंके सयोगसे उत्पन्न होती है। **अमिता** यह वृत्ति अमित रूपसे ककार, लकार, वकार आदिके सघटनसे निष्पन्न होती है। —भ० मि०

वृत्तिवैचित्र्यवक्रता—दे० 'पदपूर्वार्धवक्रता' चौथा प्रकार।

वृत्त्यनुप्रास—अनुप्रासका एक भेद। जहाँ वृत्तिके अनुसार एक या अनेक वर्णोंकी अनेक बार आवृत्ति होती है, वहाँ 'वृत्त्यनुप्रास' अलकार होता है। विभिन्न रसोंके वर्णनमें तदनुकूल भिन्न भिन्न वर्णरचनाको 'वृत्ति' कहते है। अत वृत्तिके अनुकूल वर्णोंकी प्रकृष्ट योजना अथवा आवृत्तिको 'वृत्त्यनुप्रास' कहते हैं। वाणीके कोमल, कठोर और मृदु गुणोंके अनुसार वृत्तियाँ तीन प्रकारकी होती है—उपनागरिका, परुषा और कोमला। आचार्य वामन आदिने इन वृत्तियोंको क्रमश वैदर्भी, गौडी और पाचालीके नामसे लिखा है। उद्भटके 'काव्यालकारसार'(८०० ई०)में प्राय सर्वप्रथम विवेचन हुआ है। मम्मटके अनुसार 'एकस्याप्यसकृत्पर' (का० प्र० ९ ७९) अर्थात् एक अथवा एकसे अधिक व्यजनोंका एकसे अधिक बार सादृश्य। तदनन्तर उन्होंने तीनों वृत्तियोंपर विचार किया है। विश्वनाथ तथा जयदेवने इस सन्दर्भमें वृत्तियोंकी चर्चा नहीं की है और हिन्दीमें सर्व-प्रथम इसपर विचार करनेवाले जसवन्तसिंहने अपने ग्रन्थ-(१६४३ ई०)में मम्मटके आधारपर तीनों वृत्तियोंकी चर्चा की है। अन्य प्रसिद्ध आचार्योंमें कुलपति मिश्र तथा भिखारी-दासने इसपर विचार किया है। दासने भी आदि और अन्तमें एक और अनेक बार, वर्णके आनेसे इसके चार प्रकार मानकर, उदाहरण दिये है और वृत्तियोंके अनुसार भी माना है।

उपनागरिका वृत्ति—टवर्गविहीन, माधुर्य गुणव्यजक तथा सानुनासिक एव अनुस्वारयुक्त वर्णयोजनाको 'उपनागरिका वृत्ति' कहते है। इसका प्रयोग विशेष रूपसे शृगार, हास्य और करुण रसोंमें होता है। दासका एक उदा०—'मजुल वंजुल कुजन गुजत कुजन भृंग विहग अयानी। चम्पक चन्दन वन्दन सग सुरग लवगलता लपटानी।' (का० नि० १९)। आधुनिक छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्तकी इन पक्तियोंमें इसका सुन्दर प्रयोग है—'तरणिके ही सग सरल तरल तरगसे, तरणि डूबी थी हमारी तालमें।' इस वृत्तिका प्रयोग भक्तिकालके कवियोंमें और रीतिकालकी शृगारी कविताओंमें व्यापक रूपसे हुआ है।

परुषा वृत्ति—ओज गुणव्यजक, द्वित्ववर्णबहुला तथा सयुक्त वर्णप्रधान रचनाको 'परुषा वृत्ति' कहते हैं। इसमें टवर्ग वर्णोंका प्राचुर्य होता है। इसका प्रयोग वीर, रौद्र और भयानक रसोंमें होता है। मतिरामने शब्दालकारोंकी चर्चा न करके भी इनका अच्छा प्रयोग किया है—'अगनि उतग जग जैतवार जोर जिन्हें, खिक्करत दिक्करि हलत कलकत है' (ल० ल० १२२)। भूषणने वृत्त्यनुप्रासकी चर्चा न करके इनका रसानुकूल सुन्दर प्रयोग किया है—'क्रुद्ध फिरत अति जुद्ध जुरत नहिं रुद्ध मुरत भट। खग्ग बजत अति वग्ग तजत सिर पग्ग सजत चट' (शि० भू० ३६१)। वीरकाव्यके कवियोंमें चन्द, जोधराज, सूदन, पद्माकर आदिने इसका प्रयोग किया है। आधुनिक कवियोंमें मैथिलीशरण गुप्त, श्यामनारायण पाण्डे आदिने प्रबन्ध-काव्यमे वीर, रौद्र आदि रसोंके प्रसगमें इसका निर्वाह किया है।

कोमला वृत्ति—जहाँ माधुर्य और ओज गुणव्यजक वर्णोंसे भिन्न प्रसाद गुणविशिष्ट वर्णरचना होती है वहाँ कोमला वृत्ति होती है। इसका प्रयोग शान्त, शृगार और अद्भुत रसोंमें होता है। मतिरामका शृगार रसका उदा०—'जेठी पठायी गयी दुलही हँसि हेरि हिये मतिराम बुलायी। कान्हके बोलपै कान न दीन्हीं सुगेहकी देहरीपै धरि आयी।' (र०रा० २८)। छायावादी कवियोंमें इसका निर्वाह मिलता है, पन्तकी इन पक्तियोंमें इसीका प्रयोग है—'नव-नव सुमनोंसे चुन-चुनकर, धूलि सुरभि मधुरस हिमकण, मेरे उरकी मृदु कलिकामें, भर दे कर दे विकसित मग।' (का०द०मे)। —वि० स्ना०

वेग-निरसन—हमारे नैत्यिक, व्यावहारिक जगत्में सुख उपादेय तथा दु ख हेय होता है। समाज तथा व्यक्तिके सारे प्रयत्न सुख-प्राप्ति तथा दु ख निरोधके लिए ही होते हैं। दु खमें आनन्द लेनेकी बात हमें अस्वाभाविक (abnormal) लगती है। जो अन्योंके दु खमें रमण करते हैं उन्हें हम सादनकामी (sadists) तथा जो अपनेको दु ख देनेमें रस लेते है उन्हें मर्षणकामी (masochists) कहकर उन्हें रुग्ण घोषित करते है। किन्तु भाव-जगतकी

कथा न्यारी है। इस कारण इनमें भी उतना ही रस लेते हैं जितना हास्य, श्रृंगार आदिमें, सुख-सम्पत्तिका चित्रण जितना आनन्ददायक होता है उतना ही दुःख-सम्पत्तिका भी। विचित्र होते हुए भी यह एक सत्य घटना है। सौन्दर्यास्वादन-कालमें प्रत्येक भाव-जगत्का प्राणी और दृश्य भाव-जगत्की घटना बन जाता है। उस समय भीषण, भयकर और दुःखपूर्ण दृश्य भी रस अथवा आनन्द-की सृष्टिमें सहायक कैसे बन जाते हैं, इस विषयपर अरस्तू-के समयसे लेकर अबतक अनेक प्रकारके ऊहापोह किये गये हैं। अरस्तूका कहना है कि भीषण, भयकर और दुःखपूर्ण दृश्य प्रेक्षकके चित्तमें करुणा और भयका उद्बोधन करते हैं, जिनसे चित्त एक प्रकारका लाघव प्राप्त करता है और उनमें आवेगोंके वेगसे उत्पन्न तनाव शिथिल पड़ जाता है। तनावके शिथिल हो जानेसे ऐसा लगता है, मानो चित्त-का भार कम हो गया हो। ऐसी अवस्थामें एक विचित्र प्रकारके मनःप्रसादका अनुभव होता है, इस प्रक्रियाको अरस्तूने वेग-निरसन अथवा **विरेचन** (catharsis) नाम दिया है। —ह० ना०

वेदांत—वेदान्तके निम्नलिखित अर्थ हैं—(१) उपनिषद्, वेदान्तका शाब्दिक अर्थ है वेदका अन्त अर्थात् अन्तिम भाग। वेदोंके अन्तिम भाग उपनिषद् नामक ग्रन्थ हैं, अतः उनको वेदान्त कहा जाता है। (२) पर उपनिषद्का स्वयं अर्थ क्या है? कुछ लोग कहते हैं कि जो विद्या गुरुके पास बैठकर प्राप्त की जाय वह उपनिषद् है। शंकराचार्यका कहना है कि जो बन्धनको काटे वही ज्ञान उपनिषद् है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानके अर्थमें उपनिषद् शब्दका प्रयोग होने लगा। तब वेदान्त भी इसी तत्त्वज्ञानका समानार्थक हो गया और उसका अर्थ किया गया—वह विद्या या शास्त्र जो वेद या लौकिक ज्ञानके अन्तमें, अर्थात परे हो। यहाँ वेदान्त शब्द अंग्रेजीके 'मेटाफिजिक्स' अर्थात् फिजिक्स-(भौतिकविज्ञान)के परेवाला ज्ञान हो गया। (३) उपनिषदों-के ज्ञानको एकत्र समन्वित करनेवाले बादरायणने 'ब्रह्मसूत्र' या 'वेदान्तसूत्र' लिखा। प्रायः इनके दर्शनको वेदान्तदर्शन कहा जाता है। (४) उपनिषदों या वेदोंके तत्त्वज्ञानको ही समन्वित करनेवाली 'भगवद्गीता' है। कुछ लोगोंके मतसे वह स्वयं उपनिषद् है। अतः उनके दर्शनको भी वेदान्त-दर्शन कहा जाता है। (५) उपनिषद्, 'ब्रह्मसूत्र' और 'गीता', इन तीनोंको या इनमेंसे किसीको प्रधान मानकर चलनेवाले दार्शनिकोंके दर्शनको भी वेदान्त कहा जाता है। आजकल वेदान्त शब्दका प्रयोग साधारणतः इसी अर्थमें होता है। शंकर, भास्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, श्रीकंठ, श्रीपति, वल्लभ, विज्ञानभिक्षु, बलदेव और रामानन्द 'ब्रह्मसूत्र'के प्रसिद्ध भाष्यकार हुए हैं। इनके दर्शनोंको भी वेदान्त कहना युक्तियुक्त ही है। इन सभी भाष्यकारोंने 'वेदान्तसूत्र' या 'ब्रह्मसूत्र'की अपने-अपने अनुसार व्याख्या की है। अतः यह समस्या उत्पन्न हो गयी कि बादरायणका सच्चा वेदान्तदर्शन क्या है और कौन भाष्यकार उनके अनुसार चलता है? पर वेदान्तसूत्रोंको बिना किसी भाष्यके समझना कठिन है। अतः इस समस्याका अन्तिम उत्तर देना सम्भव नहीं। इसीलिए कुछ लोगोंने शंकरको, तो कुछ-ने निम्बार्कको, कुछने रामानुजको तो कुछने वल्लभ आदिको बादरायणके दर्शनका असली व्याख्याता सिद्ध किया है। इन भाष्यकारोंमें शंकराचार्य सबसे प्राचीन हैं। अतः प्रायः उनके दर्शनको ही बादरायणका सच्चा दर्शन माना जाता है। (६) वेदान्त प्रायः शंकराचार्यके दर्शनके अर्थमें रूढ़ हो चला है। सामान्यतः पाश्चात्य देशोंमें और अपने देशमें भी लोग शंकरके दर्शनको ही वेदान्त समझते हैं, यद्यपि वह अद्वैतवेदान्त ही है। अन्य वेदान्त या तो वैष्णव वेदान्तके नामसे या शैव वेदान्तके नामसे प्रसिद्ध हैं।

'ब्रह्मसूत्र'के सभी भाष्यकारोंमें इस बातका मतैक्य है कि वेदान्तका मुख्य सिद्धान्त ब्रह्मवाद (दे०) है और इसकी सुन्दर तथा पर्याप्त अभिव्यक्ति 'ब्रह्मसूत्रके' प्रथम चार सूत्रों या चतुःसूत्रीमें हो गयी है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा', 'जन्माद्यस्य यतः', 'शास्त्रयोनित्वात्' और 'तत्तु समन्वयात्', ये ही चार सूत्र हैं। इनके अर्थ हैं—(१) वेदान्त समझनेके लिए ब्रह्मजिज्ञासा होनी चाहिये' यह स्वतन्त्र शास्त्र है। (२) ब्रह्म वह है जो जगत्का मूल स्रोत, आधार तथा लक्ष्य है। जगत् उसीसे निकला है, उसीमें है और उसीमें इसका लय भी होगा। (३) ब्रह्मको शास्त्रसे ही अर्थात् वेद-उपनिषद्से ही जाना जा सकता है, अन्य प्रमाणसे नहीं। (४) वेद-उपनिषद्का समन्वय वेदान्तकी शिक्षामें होता है, अन्य दर्शनकी शिक्षामें नहीं।

ब्रह्म और जगत्का सम्बन्ध, ब्रह्म और जीवका सम्बन्ध, केवल ज्ञानसे मुक्ति या भक्तिकर्मसमुच्चित ज्ञानसे मुक्ति, जीवन्मुक्ति या विदेहमुक्ति, क्रममुक्ति या सद्योमुक्ति आदि वेदान्तियोंके मतभेदके मुख्य विषय हैं। ब्रह्म और जीव तथा जगत्के सम्बन्धकी पारिभाषिकी संज्ञा शंकराचार्यके दर्शनमें माया है। क्या यह माया भ्रम है, मिथ्या है या सत् है? क्या यह ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न? आदि अनेक प्रश्न हैं, जिनके उत्तर वेदान्तियोंने भिन्न-भिन्न दिये हैं। तार्किक दृष्टिसे शंकरका उत्तर सर्वश्रेष्ठ है, तो धार्मिक दृष्टिसे अन्य आचार्योंका।

हिन्दीमें शंकरके अद्वैतवेदान्त, चारों वैष्णव वेदान्त, अर्थात् रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क और मध्वका विशेष प्रभाव पड़ा है। चैतन्य भी वेदान्ती थे, पर वे मध्वमतके माने गये हैं। उनको पृथक कर देनेसे उनके मतका भी प्रभाव हिन्दी-में मानना पड़ेगा। निर्गुणोपासक सन्तोंमें अद्वैतवेदान्तका ही अधिक प्रभाव पड़ा है। स्वामी रामानन्द भी वेदान्ती थे। वे रामानुजके मतके थे। उन्होंने स्वयं 'वेदान्तसूत्र'पर भाष्य लिखा। वे हिन्दीके सन्तोंके आदि गुरु समझे जाते हैं। नाभादास तथा राघोदासने अपने-अपने 'भक्तमाल'में शंकर तथा वैष्णव वेदान्तियोंके बारेमें काफी लिखा है और उनकी शिक्षाओंको साररूपमें रखनेका प्रयास किया है।

'तत्त्वमसि', 'सोऽहमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', वेदान्तके ये वाक्य हिन्दीके सन्तोंको ज्ञात थे और उन्होंने रचनाओंमें बहुधा इनका प्रयोग किया है। 'नेतिनेति'का सिद्धान्त भी इनको ज्ञात था।

शंकराचार्यके अद्वैतवेदान्तपर हिन्दीमें दादूपन्थके साधु निश्चलदासने 'विचारसागर' नामक एक उच्च कोटिके ग्रन्थकी रचना की है। वल्लभाचार्यके वेदान्तकी तो हिन्दीमें

परम्परा ही चल पड़ी और उनके मान्य ग्रन्थ 'भागवत'के आधारपर कृष्णका गुणगान हिन्दीके पुष्टीमार्गी सन्तोंने अपने ढगसे किया। शकराचार्यका प्रभाव देशव्यापी था। चैतन्यका प्रभाव बगाल तथा वृन्दावनमें ही अधिक था। वल्लभका प्रभाव वृन्दावन, राजस्थान तथा गुजरातमें था। वृन्दावन, अयोध्या, काशी जैसे स्थान वैष्णव वेदान्तके अनुयायी सन्तोंके केन्द्र वन गये।

वेदान्तमें आत्माका विचार बहुत अधिक और सर्वश्रेष्ठ है, यह बात हिन्दीके सभी सन्तों और दार्शनिकोंको ज्ञात है।

मायाका तिरस्कार, शाकाहार, भूतदया, अहिंसा, ज्ञानवार्ता—ये प्राय वेदान्तके कारण ही देशकी जनताके प्रधान गुण वन गये हैं।

वेदान्तमें हिन्दीके सन्तोंकी प्रधान देन यह है कि उन्होंने सभी प्रकारके वेदान्तोंको समन्वित करनेका सफल प्रयास किया है। यह समन्वय ज्ञान-भक्तिका समन्वय, मायावाद-लीलावादका समन्वय, सगुण-निर्गुण-समन्वयके रूपमें है। शकरको ईश्वरका अवतार तथा अन्य वेदान्ताचार्योंको ईश्वरका व्यूह मानकर उन्होंने सबका समन्वय किया। अवतारवादका सिद्धान्त सचमुच दार्शनिक क्षेत्रमें समन्वयका सिद्धान्त है। हिन्दीके दार्शनिकों या सन्तोंकी यह अप्रतिम विशेषता रही है कि जब सस्कृतज्ञ वेदान्ती जन आपसमें खण्डन-मण्डन कर रहे थे, तब वे सभी वेदान्तोंके समन्वय द्वारा राष्ट्रीयताका प्रचार तथा देशके मौलिक चिन्तनको अग्रसर कर रहे थे। आज भारतमें जो सभी वेदान्तों तथा अन्य दर्शनोंका समन्वयात्मक दृष्टिकोण घर कर गया है, उसका अधिकाश श्रेय हिन्दीके इन्हीं दार्शनिक कवियोंको है।

[सहायक ग्रन्थ (१) वेदान्तदर्शन गीता प्रेस, गोरखपुर, (२) स्टडीज इन वेदान्त घाटे, (३) विचार-सागर निश्चलदास, (४) शाकर वेदान्त गंगानाथ झा।] —स० ला० पा०

वैणिक—दे०—'गीतिकाव्य'।

वैताली—वैताली संस्कृतका मात्रावृत्त है। इसमें चार चरण होते हैं। पहिले और तीसरे चरणोंमें १४ मात्राएँ और दूसरे और चौथे चरणमें १६, १६ मात्राएँ होती है। विषम चरणोंमें ६ मात्राओंके पश्चात् एक रगण (SIS) और लघु-गुरु (IS) होते हैं। सम चरणोंमें आठ मात्राओंके पश्चात् रगण, लघु-गुरु होते हैं। वैतालीके चरणोंमें मात्रिक भिन्नताके अनुसार छन्द-ग्रन्थोंमें निम्नलिखित छ भेदोंका उल्लेख मिलता है। **उदीच्य वृत्ति**—वैताली छन्दके विषम पादोंमें पहली मात्राके पश्चात् जब एक गुरु वर्णका प्रयोग होता है। **प्राच्य वृत्ति**—वैताली छन्दके सम पादोंमें तीसरी मात्राके पश्चात् जब एक गुरु वर्णका प्रयोग होता है। **प्रवृत्तक**—वैताली छन्दमें जब उदीच्य वृत्ति और प्राच्य वृत्ति, दोनोंकी विशेषताएँ मिलती हैं। **आपातलिका**—वैतालीके विषम चरणोंमें ६ और सम चरणोंमें ८ मात्राओंके उपरान्त एक भगण (SII) और दो गुरु (SS) रहनेसे यह भेद होता है। **अपरान्तिका**—वैताली छन्दके सम चरणोंके समान जब चारों पाद हों और चौथी और पाँचवीं मात्रा मिलकर एक दीर्घाक्षर हो। **चारुहासिनी**—वैतालीके विषम चरणोंके समान जब चारों पाद हों, परन्तु दूसरी और तीसरी मात्रा मिलकर एक दीर्घाक्षर हो।

हिन्दी कवियोंने बहुत कम इस छन्दका प्रयोग किया है। छन्द-ग्रन्थोंमें केवल परम्परा-पालनके लिए इसका उल्लेख मिलता है। —रा० सिं० तो०

वैतालीय—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। अर्द्धसम वृत्त, जिसका उल्लेख 'पिंगलछन्दसूत्र'(४ ३२)में है। इसके प्रथम-तृतीय चरणोंमें स, स, ज, ग (IIS, IIS, ISI, S) और द्वितीय-चतुर्थ चरणोंमें स, भ, र, लग (IIS, SII, SIS, IS) होते हैं। कालिदासने अजविलाप (र०व०, सर्ग ८)-में इसका प्रयोग किया है। मैथिलीशरण गुप्तने 'साकेत'के दशम सर्गमें आद्योपान्त इस छन्दका विशद प्रयोग किया है। मल्लिनाथने इसका वैतालीय नाम दिया है, 'वृत्तरत्नाकर', 'छन्दोरचना', 'छन्दप्रभाकर'में इस नामके भिन्न लक्षणके छन्द दिये गये हैं। इस छन्दको हेमचन्द्रने प्रबोधिता (छन्दो० ३ १४) और जयकीर्तिने वियोधिता (छन्दो० ३ १५) सज्ञा दी है। 'मन्दारमरन्दचम्पू'में वियोगिनी (२१ १६), 'छन्दकौस्तुभ' (३ १२) और 'छन्दोमजरी'(३ ६)में सुदरी नाम दिया गया है। उदा०—'वरमाल्यपराग छोड़के, उनके ऊपर सैन्य जोड़के। नृप नेत्र मिलिन्द जो जुड़े, सजनी चामरसे परे उड़े।' (साकेत सर्ग १०)। —पु० शु०

वैदर्भी रीति—दे०—'रीति', पहली।

वैदिक (छांदस)—सस्कृतकी लौकिकसे भिन्न शाखाका यह नाम है। इसके द्वारा वैदिक सहिताओं(ऋक्, यजु, साम और अथर्व)की भाषाका बोध होता है। भारतीय परम्पराके अनुसार ये सहिताएँ अपौरुषेय हैं और प्राय छन्दोंमें निर्मित हैं। इसीलिए इस भाषाको छान्दस्य अथवा वैदिक कहते हैं। लौकिक भाषामें छन्दका प्रयोग भारतीय परम्पराके अनुसार महर्षि वाल्मीकिने अपने ग्रन्थ 'रामायण'में किया। इसीलिए इस ग्रन्थको आदिकाव्यकी सज्ञा दी गयी है। वैदिक भाषामे शब्द रूप परिनिष्ठित नहीं मिलता। वैदिक भाषाके तीन स्पष्ट उपरूप मिलते हैं। कुछ रूप और प्रक्रियाएँ केवल वैदिक भाषामें ही मिलती हैं। दे०—'सस्कृत'। —बा० रा० स०

वैदिक छंद—वैदिक छन्दोंकी कल्पना वैदिक देववादके अनुरूप हुई है। छन्दोंके विशेष महत्त्वके कारण छन्दासि शब्द ही वेदोंका बोधक हो गया। ऋक्, यजु और सामके समान विश्वमें छन्दोंकी उत्पत्ति स्वायत्त रूपमें मानी गयी है—'तसाद् यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे। छन्दासि जज्ञिरे तस्माधजुस्तसादजायत।' (ऋग्वेद, १० ९ ९)। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ् (अनुष्टुप्), बृहती, पक्ति, त्रिष्टुभ् (त्रिष्टुप्) और जगती, ये सात वैदिक छन्दोंके प्रमुख भेद हैं, जिनके आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची और ब्राह्मी नामक आठ प्रकार तथा पादान्तरसे अनेकानेक प्रभेद-उपभेद होते हैं। वर्णसख्याके न्यूनाधिक होनेपर निवृत्त, विराट्, भूरिक् और स्वराट्, ये चार अतिरिक्त उपभेद भी किये गये हैं। विशेष विवरणके लिए 'छन्द प्रभाकर' (पृ० २९२-९५) द्रष्टव्य है।

गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती इन तीन छन्दोंका स्थान वेदोंमें सर्वप्रमुख माना गया है। उत्तरवैदिक युगमें अनुष्टुभ्ने पर्याप्त प्रधानता प्राप्त कर ली थी। पवित्रता और महत्त्वकी दृष्टिसे सम्पूर्ण वैदिक साहित्यमें गायत्री छन्दका स्थान सर्वोपरि है।

वैदिक छन्द वैदिक देवताओंकी तरह उपास्य, वन्दनीय तथा अलौकिक शक्तिसम्पन्न भी माने गये है। 'छन्दांसि वै देविका' अथवा 'छन्दांसि देव्य:' जैसी अनेक उक्तियाँ वैदिक साहित्यमें उपलब्ध होती है। सोमपानके प्रसगमें गायत्रीको अग्निके लिए, त्रिष्टुभ्को इन्द्रके लिए और जगतीको शेष सभी देवताओंके लिए सम्बोधित किया गया है। छन्दोंके देवता ही नहीं, गोत्र, वर्ण और स्वरका भी विधान मिलता है, उदाहरणार्थ, गायत्रीके देवताका नाम अग्नि, वश आग्नि, वर्ण सित और स्वर षड्ज है। एक स्थानपर यह भी कहा गया है कि प्रजापति स्वय छन्द-रूप हो गये। यथा—'प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत्'। 'विष्णुपुराण'के प्रथम अशमें छठे अध्यायके अन्तर्गत इसका स्पष्टीकरण मिलता है। उसमे लिखा है कि ब्रह्माके पूर्वमुखसे गायत्री, दक्षिण-मुखसे त्रैष्टुभ्, पश्चिममुखसे जगती और उत्तरमुखसे अनुष्टुभ छन्दकी सृष्टि हुई (श्लो० सं० ५४-५७)। पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि लोकों, ग्रीष्म, वसन्त आदि ऋतुओं तथा यज्ञ-भाग और यजन कर्मसे भी छन्दोंका सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। छन्दोंकी भावनामें कल्पना-वैभवका विचित्र योग मिलता है। कभी गोवत्सके रूपमें, कभी माताके रूपमें, कभी इसी प्रकारके अन्यान्य सजीव रूपोंमें छन्दोंको परिकल्पित किया गया है।

वैदिक छन्दोंके रूपविधानमें तत्कालीन वातावरणकी स्वच्छन्दता और अविजडित धारणाशक्तिका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मिलता है। वैदिक युगकी सामाजिक तथा आध्यात्मिक चेतनाके वे समर्थ वाहक है और उन्हींसे अनुप्राणित होकर उनका विकास हुआ है। परिणामस्वरूप वैदिक छन्द परवर्ती संस्कृत साहित्यिक छन्दोंकी तुलनामें अधिक स्वच्छन्द और अधिक मुक्त प्रतीत होते है। उनमें न वर्णोंके गुरु लघु क्रमका निश्चित नियोजन मिलता है और न चरणों या पादोंकी व्यवस्थित संख्या। केवल वर्णोंकी संख्या निर्धारित रहती है। इस प्रकार एक छन्दमें अनेक पाद और पादोंमें भिन्न-वर्ण-संख्या वैदिक छन्दोंमें बराबर मिलती है। उनके बहुतसे उपभेदोंका आधार यह वैविध्य ही है। छन्दोंके मिश्रणसे भी अनेक छन्दोंकी सृष्टि हुई। त्रैष्टुभ् प्रकारके छन्द मिश्रित छन्दोंमें सबसे अधिक मिलते हैं। त्रिपाद गायत्रीका ही एक चतुष्पाद-विकसित रूप अनुष्टुभ् है। स्वराघातके साथ गेयता वैदिक छन्दोंकी एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। सामवेद छन्दोबद्ध वैदिक मन्त्रोंके गानके लिए सुविख्यात है। वैदिक कालके अनन्तर आनेवाले आख्यानकालके अन्तर्गत रचे गये 'रामायण', 'महाभारत' आदि ग्रन्थोंमें इसका विशेष रूपसे व्यवहार हुआ है। उपनिषदोंमें प्रयुक्त छन्द ऋग्वेदके छन्दोंकी तुलनामें कुछ अधिक व्यवस्थित एव नियोजित प्रतीत होते है। आगे यही प्रवृत्ति संस्कृतके साहित्यिक छन्दोंके विकासका मूल आधार बनी। —ज० गु०

वैदिक साहित्य—संस्कृत भाषा और साहित्यके दो प्रमुख रूप मिलते है—१ वैदिक भाषा और साहित्य तथा २. लौकिक संस्कृत और साहित्य।

वैदिक भाषा और साहित्यकी परम्परा २००० ई० पू० से भी पहले प्रारम्भ होकर लगभग ५०० ई० पू० तक चलती रही। इनको तीन वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) त्रयी संहिता साहित्य तथा ब्राह्मण-ग्रन्थ, (२) अथर्व संहिता तथा गृह्य-धर्मसूत्रोंका साहित्य और (३) इतिहास-पुराण-साहित्य।

ऋक्, यजु और साम इन तीन संहिताओंमें विस्तार तथा महत्त्वकी दृष्टिसे प्रधान ऋक् संहिता है। ऋग्वेदके १०१७ सूक्त प्राय यज्ञोंके अवसरोंपर पढ़नेके लिए देवताओंकी स्तुतियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले गीतात्मक काव्य है। ये १० मण्डलोंमें विभक्त है। मन्त्रसंख्या १०५८० है। सामवेदका अधिकांश ऋग्वेदके ऐसे मन्त्रोंका संकलनमात्र है, जो सोमयागोंमें वीणा आदिके साथ गाये जाते थे। सामवेदमे केवल ७५ मन्त्र मौलिक है। यजुर्वेद यज्ञोंमें कर्मकाण्डके सम्बन्धमें पढे जानेवाले गद्य तथा पद्य मन्त्रोंका संग्रह है। इनका अन्तिम चालीसवाँ अध्याय प्रसिद्ध 'ईशोपनिषद' है।

ब्राह्मण ग्रन्थोंमें श्रौत यज्ञोंके कर्मकाण्डकी विधि विस्तार-पूर्वक दी गयी है। प्रत्येक संहिताके कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखनेवाले एक या अधिक ब्राह्मण-ग्रन्थ है, जैसे, ऋक्संहिता-का मुख्य ब्राह्मण 'ऐतरेय' है। यजुर्वेदका 'शतपथ' और सामवेदका 'पंचविंश' या 'ताण्ड्य'। इनमें 'शतपथ' ब्राह्मण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंके समान प्रत्येक संहिताके श्रौतसूत्र भी पृथक् पृथक् है। इनमें मुख्य 'आश्वलायन', 'शांखायन', 'लाट्यायन', 'द्राह्यायण', 'बौधायन', 'आपस्तम्ब' तथा 'कात्यायन' है। श्रौतसूत्रोंके परिशिष्टस्वरूप 'शुल्बसूत्र' है, जिनमे 'बौधायन', 'आपस्तम्ब' तथा 'कात्यायन'के शुल्बसूत्र मुख्य है।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंके अन्तिम भाग उपनिषदोंके नामसे प्रसिद्ध हुए। इनमें निम्नलिखित १० उपनिषद् मुख्य माने जाते है। 'ईश', 'बृहदारण्यक', 'ऐतरेय', 'कौषीतकी', 'केन', 'छान्दोग्य', 'तैत्तरीय', 'कठ', 'मुण्डक' और 'माण्डूक्य'। उपनिषदोंमें आध्यात्मिक विचारावली प्रारम्भिक बनती हुई अवस्थामें मिलती है। इनके आधारपर आगे चलकर दर्शन-सूत्रोंमें निश्चित सिद्धान्त बन गये थे। प्रसिद्ध छ दर्शनशास्त्र निम्नलिखित है—वैशेषिक, योग, न्याय, सांख्य, मीमांसा तथा वेदान्त।

अथर्ववेद-संहिताका सम्बन्ध श्रौत यज्ञोंसे न होकर गृह्य तथा अन्य सामाजिक कृत्योंसे है। इसी संहिताकी परम्परामें गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र आते हैं। गृह्यसूत्रोंमें मुख्य निम्न-लिखित है—आश्वलायन, शांखायन, खादिर, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन् तथा पारस्कर। धर्मसूत्रोंमें प्रधान वसिष्ठ, गौतम, आपस्तम्ब और बौधायन है।

इतिहास और पुराण-साहित्यकी परम्परामें मुख्य 'वाल्मीकीय रामायण' तथा व्यासकृत 'महाभारत' है। इनके मूल रूप तो वैदिक कालके हैं, किन्तु बहुत बादतक इनमें अनुश्रुति मिश्रित होती रही है। पुराणोंके वर्तमान रूपोंका

सकलन निश्चित रूपमे वैदिक कालके बाद हुआ। अत पुराणोंको छोड़कर उपर्युक्त शेष साहित्यको हम साधारणतया वैदिक अथवा आर्ष साहित्यके नामसे पुकार सकते हैं।

वैदिक साहित्यके अध्ययनके सुभीतेके लिए छ वेदागोंकी भी रचना हुई थी, जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषके नाममे प्रसिद्ध है। इनमें यास्कका निरुक्त तथा पाणिनिका व्याकरण विशेष महत्त्व रखता है। —धी० व०

वैधी भक्ति–विधि द्वारा साध्य भक्तिका नाम वैधी भक्ति है। इसमें शास्त्रानुमोदित विधि साधना आवश्यक है। 'शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्ति रुच्यते' (श्रीरूपगोस्वामी भ०र०सि० १ २ ६२)। इसीको मर्यादा मार्ग भी कहा गया है (वही २ ६०)। सूर-तुलसी आदि वैष्णव भक्तोंकी भक्ति भावनामें वैध मर्यादा-मार्गके भी दर्शन होते हैं। श्रवण, स्मरण, कीर्तन, पाद-सेवन, वन्दन, अर्चन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन वैधी भक्तिके प्रकार हैं। (दे०—'नवधा-भक्ति')। —वि० मो० श०

वैयक्तिक (काव्य)–दे०—'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

वैरोचन द्वार–दे०—'हठयोग'।

वैवर्ण्य–दे०—'सात्त्विक अनुभाव', छठा।

वैशिक नायक–दे०—'नायक' (शृगार)।

वैशेपिक–'वैशेषिक' शब्द विशेषसे बना है। 'विशेष' नामक पदार्थकी विशिष्ट कल्पनाके करनेके कारण इस दर्शनको वैशेपिक कहा जाता है। चीनी विद्वान् भिस्तान तथा कहेइचीके मतसे इस दर्शनका नाम वैशेपिक इसलिए पड़ा कि यह अन्य दर्शनोंसे, विशेषत साख्यमे, विशेष या अधिक युक्तियुक्त था।

वैशेपिक ग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन कणाद, कणभुक् या उलूकका लिखा वैशेपिक सूत्र है, जो न्यायसूत्रसे प्राचीन माना जाता है। कुछ लोगोंका मत है कि प्राचीन साख्यकी भाँति वैशेपिक भी बुद्ध-पूर्व रचना है। इन सूत्रोंपर सबमे प्राचीन भाष्य 'रावण-भाष्य' है, जो अनुपलब्ध है। उपलब्ध भाष्योंमे प्राचीनतर 'प्रशस्तपादभाष्य' या 'पदार्थधर्मसग्रह' है, जिसका चीनी अनुवाद ६४८ ई०में हुएनत्साग द्वारा हुआ था। वैशेपिक दर्शनके अन्य आचार्योंमें उदयनाचार्य, श्रीधर, शकर मिश्र, विश्वनाथ और अन्नम्भट्ट मुख्य है। अन्तिम दोकी कृतियाँ क्रमश 'भाषापरिच्छेद' और 'तर्कसग्रह' हैं, जिनका आज भी पण्डितसमाजमें विपुल प्रचार और सम्मान है।

तत्त्ववादमें वैशेपिक परमाणुवादी है। इसमें चार प्रकारके परमाणु—पृथ्वी, अप, तेज और वायुके माने जाते हैं। प्रत्येक प्रकारके परमाणु सख्यामें अनन्त है। उनमें अपना 'विशेष' तत्त्व भी रहता है। इन्हींके विभिन्नसघात द्वारा जगत्की उत्पत्ति होती है। कार्य कारणमें पहलेसे विद्यमान नहीं रहता है। वह नया होता है। कार्य कारणसे भिन्न नयी वस्तुका आरम्भ करता है। इसलिए इसे आरम्भवाद कहते है, जो साख्यके प्रकृतिवाद या प्रकृतिपरिणामवाद या सत्कार्यवादसे भिन्न है।

कुल पदार्थ ६ हैं–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। द्रव्य पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन नौ हैं। गुण चौबीस हैं। ६ द्रव्योंसे भिन्न कालान्तरमें अभावको भी द्रव्य माना गया है और वह प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव—चार प्रकारका माना गया। पहलेके ६ पदार्थ भावात्मक माने गये। वैशेपिक अभावको मान्यता बौद्धोंके प्रभावके कारण है।

वैशेपिक दर्शन ही भारतीय दर्शनोंमें भौतिकशास्त्रका निरूपण सर्वाधिक करता है। वस्तुत यह प्राचीन भौतिकशास्त्रका दर्शन था। पर इससे यह न समझना चाहिये कि वह मोक्षदर्शन नहीं है। इसका भी प्रयोजन मीमासाकी भाँति धर्मकी व्याख्या करना और मोक्षकी प्राप्तिका साधन बताना है। धर्मको यहाँ परिभाषा है–'यतोऽभ्युदयनि श्रेयस् सिद्धि स धर्म' अर्थात् जिससे अभ्युदय और नि श्रेयस्की प्राप्ति होती है वह धर्म है। यह परिभाषा मीमासाकी परिभाषा(वेदोंकी प्रवर्तना धर्म है)से अधिक समीचीन जान पड़ती है, क्योंकि यह बौद्धिक और नैतिक है। ज्ञानमार्ग द्वारा मोक्ष-प्राप्तिका विधान करना वैशेपिकका मुख्य उद्देश्य है।

कुछ लोग कणादको निरीश्वरवादी मानते हैं, तो कुछ ईश्वरवादी। यहाँ मतभेदकी गुजाइश है। पर कालान्तरमें वैशेपिक दर्शन ईश्वरवादी हो गया। ये लोग पशुपतिके अनुयायी होनेके कारण पाशुपत कहे जाते है, जैसे, नैयायिक शिवके अनुयायी होनेके कारण शैव कहे जाते हैं। प्राचीन कालमें वैशेपिक दर्शनका साहचर्य बौद्ध दर्शनके साथ विशेष घनिष्ठ प्रतीत होता है। शब्दको स्वतन्त्र प्रमाण न माननेसे, उत्पत्तिके पूर्व पदार्थके गुणोंको नष्ट माननेसे, इसके अनुयायियोंको 'अर्धवैनाशिक' अर्थात् अर्द्ध-बौद्ध कहा गया, पर बादको तो न्यायके साथ वैशेपिकने भी बौद्ध-दर्शनके खण्डनमें हाथ बँटाया।

आरम्भमें प्रत्यक्ष और अनुमान, दो ही प्रमाण वैशेपिकको मान्य थे। बादको उसे शब्द और उपमान भी मान्य हो गये।

न्यायकी भाँति वैशेपिकका भी प्रभाव हिन्दी साहित्यपर विशेष नहीं रहा है। अधिकतर प्राचीन कवियोंने नैयायिकों और वैशेपिकोंकी निन्दा ही की, इनको कोरा तार्किक ठहराया और वास्तविक तत्त्वज्ञानसे दूर कहा। निश्चलदास सरीखे लोगोंने न्याय-वैशेपिकको केवल अद्वैतवादके सहायक साधनके रूपमें स्वीकार किया है।

[सहायक ग्रन्थ– भारतीय दर्शन . बलदेव उपाध्याय] —म० ला० पा०

वैषयिक (काव्य)–दे०—'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

वैष्णव धर्म (मत)–दे०—'भागवत धर्म'।

वैष्णव संप्रदाय–दे०–'भागवत धर्म'।

व्यंग्यगीति–अँग्रेजीके सेटायरके आधारपर निर्मित शब्द, यद्यपि इस प्रकारकी रचनाओंका अभाव कभी नहीं रहा। वि+अग=व्यगसे व्यग्यकी व्युत्पत्ति है। सेटायर द्वारा किये गये चुहल और परिहासका सम्बन्ध गीतिसे बादमें हो गया। सैटायर गीतिका भेद नहीं है बल्कि कुछ गीत व्यग्यात्मक होते हैं। ऐसे तो व्यंग्यात्मक आवेश वेदोंमें मिल सकते हैं, किन्तु नाट्यशास्त्रमें व्यग्यात्मकताके स्पष्ट

सकेत हैं। सिद्ध-साहित्यमें पूजापाठ करनेवाले पण्डितों, गंगा-स्नानादिको पुण्यकर्म माननेवाले पौराणिक धर्मावलम्बियोंपर व्यग्य किये गये हैं।

सिद्धोंकी साहित्यिक सम्पदासे पुरस्कृत सन्त-साहित्यमें ऐसी अनेक रचनाएँ मिलती हैं। तुलसीदासकी 'कृष्ण-गीतावली'में व्यग्यगीत है और सूरकी गोपियोंने तो वेचारे ऊधोकी ज्ञान-गरिमाकी असीम खिल्ली उड़ायी है। स्वतन्त्र रूपसे व्यग्यात्मक रचना लिखनेवाले है अली मुहिब खाँ, 'खटमल-बाईसी'के रचयिता। किन्तु यह गीतात्मक नहीं, छन्दात्मक है। वेनी कविने अच्छे 'भड़ौवे' लिखे है, जिनमें खिल्लियाँ उड़ायी गयी हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके समयसे व्यग्यकाव्यके कई रूप प्रचलित हुए। एक प्रकार है 'स्यापा', यह उर्दू-फ़ारसीका विधान है, जिसका व्यग्यात्मक उपयोग भारतेन्दुने किया। 'बनारस अखबार' और 'अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट'में यह समाचार प्रकाशित हुआ कि 'उर्दू मारी गयी', तो उर्दूका व्यग्यात्मक स्यापा भारतेन्दुने लिखा–'है-है उर्दू हाय-हाय, कहाँ सिधारी हाय हाय'। भारतेन्दुने मदिरा पीनेवालों, खुशामदियों, हिंसाको धर्म माननेवालों, जैन-बौद्ध धर्मावलम्बियोंपर कटाक्ष और व्यग्य किये है। आलसियोंपर व्यग्य करते हुए उन्होंने लिखा है–'धोती भी पहिने जब कि कोई और पिन्हा दे, उमराको हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा।' राष्ट्रीयताकी चैतन्यधाराके कारण व्यग्यगीतियोंके रूपमें अन्तर आता रहा है और प्रगतिवादी आन्दोलनके कारण पूँजीपतियों और जमींदारोंपर व्यग्यात्मक गीतियाँ लिखी गयी हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्यका इतिहास विविध विवादोंका इतिहास है, अत प्रत्येक विवादने व्यग्यात्मक गीतियोंको प्रेरित किया है। छायावादी आन्दोलनने भी ऐसी गीतियोंकी रचना करायी जिसमें 'उग्र' लिखित कुछ अच्छी रचनाएँ हैं।

व्यग्यगीतियोंमें मानव-चरित्रकी दुर्बलताओंकी आक्षेपात्मक आलोचना की जाती है, अत इसका उद्देश्य है सुधार। सुधारवादी आन्दोलनोंके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। भारतेन्दुकी रचनाएँ इसी कोटिमें आती हैं। इसका एक रूप है **पैरोडी**, इसका नामकरण भारतेन्दुने **आभास** किया था, किन्तु यह प्रचलित नहीं हुआ। भारतेन्दुने 'बन्दर सभा'में लिखा था–'इन्दर सभा उर्दूमें एक प्रकारका नाटक है एव नाटकाभास है और यह बन्दर सभा उसका भी आभास है।' इस 'बन्दर सभा'के गीत 'इन्दर सभा'के गीतोंकी विडम्बनाएँ हैं। **विडम्बनागीत** नामकरण प्रिंसिपल मनोरजनप्रसाद सिंहने किया और कई गीतोंकी सफल विडम्बनाएँ लिखी हैं। **परिहासात्मक व्यंग्यगीति**में न तो किसीकी विडम्बना रहती है और न सुधारका आवेश, बल्कि शुद्ध मनोविनोदकी ओर लक्ष्य रहता है। व्यग्यात्मक गीतियोंकी कोटिका एक गीतिरूप **गाली** है। विवाहके अवसरपर जेवनारके समय स्त्रियाँ गाली गाती है जो अरुचिकर, अश्लील, असद्रोचित और भोंडी होती हैं। केशवकृत 'रामचन्द्रिका'में एक सुरुचिपूर्ण गाली है, जो सम्भवत केशवकी प्रवीण शिष्या प्रवीण रायकी लिखी है। 'रमकलेवा'में भी सुरुचिपूर्ण गालियाँ हैं। भारतेन्दुने 'समधिन मधुमास'में ऐसी ही गाली दी है। प्रत्येक चरणके पूर्वार्द्धमें अश्लील अर्थका भान होता है, पर पूरे चरणमें अश्लीलता नहीं रहती–'यथाशक्ति कीन्हों सुवहीने समधिनको उपचार, समधिनजूने बहुत करायो आदर शिष्टाचार।' आक्षेपक व्यग्यगीतियोंमें दूसरोंके सिद्धान्तोंपर व्यग्य और आक्षेप रहता है। कबीरका पद है–'पाण्डे कौन कुमति तोहि लागि।' —रा० खे० पा०

व्यजक शब्द–काव्यमें व्यवहृत होनेवाले वाचक तथा लक्षक शब्दोंके अतिरिक्त तीसरा शब्द, जो ध्वन्याचार्यों द्वारा प्रथम दोकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। व्यजक शब्द अपना कार्य व्यजना-शक्ति द्वारा सम्पन्न करता है और उसके द्वारा द्योतित अर्थको 'व्यग्यार्थ' कहते हैं। —उ० शं० शु०

व्यंजना-शक्ति–'अजन' शब्दमें 'वि' उपसर्ग लगानेसे 'व्यजन' शब्द निर्मित होता है, अत. व्यजनका अर्थ हुआ 'विशेष प्रकारका अजन'। आँखमें लगा हुआ अंजन जिस प्रकार दृष्टिदोषको दूर कर उसे निर्मल बना देता है, उसी प्रकार व्यजना-शक्ति शब्दके मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थको पीछे छोड़ती हुई उसके मूलमें छिपे हुए अकथित अर्थको द्योतित कराती है। अभिधा तथा लक्षणा अपने अर्थका बोध कराकर जब विरत हो जाती है, तब जिस शब्दशक्ति द्वारा व्यग्यार्थ ज्ञात होता है उसे व्यजना-शक्ति अथवा व्यापार कहते हैं। व्यग्यार्थके लिए ध्वन्यार्थ, सूच्यार्थ, आक्षेपार्थ, प्रतीयमानार्थ आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। अभिधा शब्दका साक्षात् सकेतिक अर्थ बतलाती है और लक्षणा मुख्यार्थके अनुपपन्न अथवा असिद्ध होनेपर रूढिके कारण अथवा किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिए मुख्यार्थसे सम्बन्धित किसी अन्य अर्थको लक्षित कराती है, किन्तु जब अभिधा और लक्षणा कविके अभीष्ट अर्थको द्योतित करानेमें असमर्थ रहती है तो व्यजना-शक्तिका ही सहारा लेना पड़ता है। अभिधेयार्थ स्पष्टतया कहा जाता है, लक्ष्यार्थ सूचित कराया जाता है, किन्तु व्यग्यार्थका ध्वनन ही सम्भव हुआ करता है, कथित अथवा लक्षित न होनेपर भी वह सहृदय जनों द्वारा समझ लिया जाता है। अभिधा और लक्षणाका सम्बन्ध केवल शब्दसे ही होता है, किन्तु व्यजना शब्दपर ही नहीं, वरन् अर्थपर भी आधारित रहती है, अर्थात् वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यग्यार्थ भी व्यजना कराया करते हैं–वे भी व्यजक बन जाते हैं। यही नहीं, एक व्यग्यार्थ दूसरे व्यग्यार्थकी तथा दूसरा पुन तीसरे व्यग्यार्थकी व्यजना भी करा सकता है। व्यजना-व्यापारकी इसी विशेषताको देखते हुए उसके दो प्रधान भेद किये गये हैं–
१ शाब्दी व्यजना, २ आर्थी व्यजना।

शब्दपर आधारित व्यजना **अभिधामूला** तथा **लक्षणामूला** होती है–

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना–'काव्यप्रकाश'के अनुसार जब सयोग आदिके द्वारा शब्दका वाच्यार्थ नियन्त्रित (निर्धारित) हो जाता है, तब व्यजना ऐसे अर्थका द्योतन कर दिया करती है, जिसे कभी भी वाच्यार्थ नहीं कहा जा सकता है–'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते। सयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरजनम् ॥' (का० प्र० २ १०)। अनेकार्थी शब्दोंके एक अर्थमें नियन्त्रित हो

जानेके बाद, जिस शक्ति द्वारा उन शब्दोंसे दूसरा अर्थ ध्वनित होता है उसे अभिधामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। अनेकार्थी शब्दोंको एक अर्थमें नियन्त्रित करनेके १४ कारण बतलाये गये हैं—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर (दे०—'अभिधा शक्ति')। 'मालिनि आज कहै न क्यों, वा रसालको हाल' (दास)। रसाल शब्द अनेकार्थी है और आम तथा प्रिय व्यक्तिका अर्थ देता है। 'मालिन'के साहचर्यसे उसका वाच्यार्थ 'आम' निर्धारित हुआ। पर 'रसाल' प्रिय व्यक्तिके लिए भी प्रयुक्त होता है, अत: पंक्तिसे यह व्यंग्यार्थ ज्ञात हुआ कि 'हे सखी, मेरे प्रियका समाचार क्यों नहीं देती ?' वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थ ज्ञात होनेके कारण इस उदाहरणमें अभिधामूला व्यंजना है और शाब्दी इसलिए है कि रसालके स्थानपर आम रख देनेसे व्यंजना समाप्त हो जाती है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना तथा श्लेषमें यह अन्तर है कि श्लेषालंकारके सभी अर्थ प्रसंगानुमोदित होनेके कारण वाच्यार्थ होते हैं, किन्तु अभिधामूला शाब्दी व्यंजनामें अभिधाके विरत हो जानेपर ही व्यंग्यार्थकी ध्वनि निकलती है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि श्लेषमें विशेष्य पद ही अनेकार्थी होते हैं, पर शाब्दी व्यंजनामें विशेष्य तथा विशेषण, दोनों ही अनेकार्थी होते हैं।

लक्षणामूला शाब्दी-व्यंजना—लक्षणामें शब्दका मुख्यार्थ बाधित रहता है। यह अर्थ-बाधा किसी विशेष प्रयोजनकी सिद्धिके लिए वक्ता द्वारा जान-बूझकर उपस्थित की जाती है। जब कोई व्यक्ति किसीसे कह उठता है—'क्यों सिर खाते हो ?' तब वह भले प्रकार जानता है कि सिर कोई खानेकी चीज नहीं है। वह वस्तुत: अपनी झुँझलाहट अथवा खीझ प्रकट करनेकी दृष्टिसे ही इस प्रकारका असंगत प्रयोग करता है। 'गंगापर गाँव स्थित है' जैसे कथनोंमें भी वक्ता लक्ष्यार्थ—'गंगाके समीप गाँव है' द्वारा उस गाँवकी पवित्रता तथा शीतल जलकी सुविधा आदि सूचित करनेके प्रयोजनसे ही कथन कर देता है। मम्मटका मत है कि न तो अभिधेयार्थ और न लक्ष्यार्थ ही इस प्रयोजनका अर्थ-बोध करानेमें समर्थ होते हैं (का०प्र० : २ १४)। अत: जिस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए लक्षणाका अवलम्ब लिया जाता है उस प्रयोजनकी व्यंजना करानेवाली शक्तिको लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। स्पष्ट ही लक्षणाके दो प्रमुख भेदों (रूढा, प्रयोजनवती)में केवल प्रयोजनवती लक्षणा ही इस व्यंजनाका आधार बन सकती है। रूढ प्रयोगोंमें जो प्रयोजनरूप व्यंग्य रहता भी है वह निरन्तर प्रयोगके कारण नहींके बराबर ही हो जाता है। 'काव्यप्रकाश'के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणाके छ प्रमुख भेद हैं तथा कुल मिलाकर १२ भेद माने गये हैं। 'साहित्यदर्पण'में इसके ८ प्रमुख भेद तथा सब मिलाकर ६४ भेद माने गये हैं। वे सभी भेद लक्षणामूला शाब्दी व्यंजनाके उदाहरण हैं (दे०—'प्रयोजनवती लक्षणा')।

वक्तृ, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, तथा चेष्टा आदिकी विलक्षणताके कारण आर्थी व्यंजनाके दस भेद किये गये हैं। वाच्यसम्भवा, लक्ष्यसम्भवा तथा व्यंग्यसम्भवा भी आर्थी व्यंजनाके तीन प्रकार स्वीकृत हैं, क्योंकि 'अर्थ'के तीन भेद होते हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। उक्त दस भेदोंके साथ इन तीन भेदोंको मिला देनेसे आर्थी व्यंजनाके कुल मिलाकर तीस भेदोंका निर्देश प्राचीन शास्त्रकारोंने किया है। वस्तुत व्यंजनाकी सम्भावनाएँ अनन्त हैं—कब, कहाँ तथा किस बातके कारण व्यंजना होने लगती है इसकी कोई निश्चित्त व्यवस्था नहीं दी जा सकती है। शास्त्रकारोंने जिन भेदोंका निर्देश किया है उन्हें तो केवल बानगी ही समझा जा सकता है। व्यंजना-व्यापारकी अनन्तताके अतिरिक्त अर्थ-परम्पराकी जो क्रमबद्ध शृंखला प्रस्तुत करनेकी अद्‌भुत क्षमता इस शब्द-शक्तिमें स्वभावत विद्यमान है वह अन्यत्र दुर्लभ है। तभी तो ध्वनिके मेधावी आचार्योंने व्यंग्यार्थके चमत्कारको ही काव्यकी एकमात्र कसौटी माना है। —उ० श० शु०

व्यक्तित्वप्रदर्शनवादी आलोचना—१८वीं शतीके अन्तिम चरणमें इसका संकेतमात्र हुआ था, किन्तु रोमांसकालके आरम्भसे इसकी ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस प्रणालीके अनुसार जिस रचनामें उसके लेखकका यथार्थ और निष्कपट चित्र मिलता है, उसीको श्रेष्ठ कहा जायगा। यथार्थता और निष्कपटताकी इस माँगके कारण रचनामें नितान्त मौलिकताकी भी माँग की जाती है। ये आलोचक उसी रचनाको सुन्दर कहेंगे जो दूसरोंसे भिन्न हो, क्योंकि भिन्नता ही सौन्दर्यका मापदण्ड है। इनके अनुसार रोमांचक तथा उत्तेजित करनेवाली रचनाको श्रेष्ठ रचना मानना चाहिये। इस प्रणालीकी यही त्रुटि भी है कि यह निष्कपट व्यक्तित्व-प्रकाशन तथा मौलिकतापर बल देती है, क्योंकि किसी भी लेखकसे इन दोनों बातोंकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। न तो कोई अपना निष्कपट जीवन ही किसीके सामने प्रस्तुत करता है या कर सकता है और न नितान्त मौलिक कोई ऐसी रचना हो सकती है, जिसमें एकदम नयापन हो। —आ० प्र० दी०

व्यक्तित्ववाद—अँग्रेजीमें 'इण्डिविजुअलिज्म' और 'पर्सनलिज्म', दो भिन्न अर्थवाले शब्द हैं। हिन्दीमें 'इण्डिविजुअलिज्म' के लिए व्यक्तिवाद और 'पर्सनलिज्म'के लिए व्यक्तित्ववाद या कभी-कभी वैयक्तिकतावादका भी प्रयोग होता है। व्यक्तित्ववाद एक विशिष्ट चिन्तन-सम्प्रदाय न होकर बहुत-सी ऐसी विचारधाराओंका बोध कराता है जिनमेंसे कुछ आस्तिक हैं कुछ नास्तिक। कुछ धर्मको स्वीकार करती हैं, कुछ अस्वीकार करती हैं, किन्तु वे सभी यह स्वीकार करती हैं कि जीवनमें मूल्योंका सम्बन्ध व्यक्तित्वसे होता है और व्यक्तित्व मनुष्यकी वह क्षमता है जो मूल्योंकी खोज करती है और उन्हें आत्मसात् करती है।

पश्चिममें निकोलस बर्दैव जैसे रहस्यवादी चिन्तक, मैरीटेन जैसे कैथोलिक चिन्तक तथा किर्केगार्ट, यास्पर्स और गैब्रील मार्सल जैसे अस्तित्ववादी चिन्तक समान रूपसे मानवीय व्यक्तित्वकी इस महत्ताको स्वीकार करते रहे हैं। यन्त्रोंका उदय, समूह-मानवका विकास, शासनसत्ताकी बढती हुई निरंकुशता और इसी प्रकारकी अन्य परिस्थितियोंने मानव व्यक्तित्वमें जो विघटन प्रस्तुत कर दिया है, उसके निराकरणके लिए विभिन्न क्षेत्रोंसे विभिन्न प्रणालियोंके द्वारा मानवकी पुन प्रतिष्ठाके जितने भी प्रयास हुए, उन सबको

व्यक्तिवादकी संज्ञा दी जा सकती है। यद्यपि मानव-व्यक्तित्व की पुन प्रतिष्ठामें व्यक्तित्ववादी बहुत-सी वर्तमान मान्यताओंका निषेध करते हैं और मनुष्यके लिए स्वतन्त्रताकी माँग करते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनका दर्शन निषेधात्मक है। अधिनायकवाद और यान्त्रिकताके उदयने जो संकट उपस्थित कर दिया है उसके निराकरणके लिए वे एक रचनात्मक दृष्टिकोणकी खोज कर रहे हैं। उस खोजमें विभिन्न विचारधाराओंके सह-अस्तित्वको वे स्वीकार करते हैं— यदि वे विचारधाराएँ विभिन्न मार्गोंसे मानव व्यक्तित्वकी महत्ताको स्वीकार करती हों। इसीलिए इसके प्रमुख प्रवक्ता ऐमानुएल मूनियरने स्पष्ट कहा है कि व्यक्तित्ववाद वस्तुत वाद न होकर एक वृत्ति है—एक परिप्रेक्ष्य है, जिसमें निरन्तर बदलती और विकसित होती हुई ऐतिहासिक वस्तुस्थितिको समझनेका प्रयास किया जाता है। इसमें यह माना जाता है कि मनुष्यमें स्वातन्त्र्य और आत्मनिर्माणकी क्षमता है और वह भौतिक अवास्तविकताओंसे पलायन न कर उनका सामना कर अपनी आन्तरिक क्षमताओंका उपयोग कर अपनी वर्तमान अवस्थाका अतिक्रमण कर सकता है। इसमें यह भी माना जाता है कि मानव-व्यक्तित्वकी वास्तविक गति मानवमात्रके कल्याणकी दिशासे पृथक् नहीं जाती। व्यक्तित्ववादियोंने जहाँ एक ओर नाजी और स्टालिनवादी तानाशाहीकी निन्दा की है वहीं दूसरी ओर यह भी माना है कि मार्क्सने अपने समयमें मानव-व्यक्तित्वकी पुन प्रतिष्ठा करनेका प्रयास किया था। वर्ग-वैषम्यसे युक्त समाजमें व्यक्तिकी स्वाधीनताका कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि उसमें पूंजीपति शोषण करनेके लिए स्वतन्त्र है और मजदूर शोषित होनेके लिए मजबूर। अत जबतक सबकी आर्थिक स्थिति समान नहीं होती तबतक स्वातन्त्र्य एक बुर्जुवा भ्रान्ति है। किन्तु बोलशेविक क्रान्तिके बाद 'प्रोलेतेरियतकी तानाशाही'के नामपर कतिपय महत्त्वाकांक्षी शासकोंने मानव-व्यक्तित्वकी पवित्रता और स्वातन्त्र्यका समूल उच्छेद करनेका जो प्रयास किया उससे व्यक्तित्ववादी सहमत नहीं। —ध० वी० भा०

व्यक्तिपूजा—समाज-निर्माणमें जनशक्तिको महत्त्वपूर्ण न मानकर किसी विशेष व्यक्तिको महत्त्व देना। अधिनायकवादमें डिक्टेटर वीर-पूजाकी भावनाको अपने प्रति प्रेरित कराकर व्यक्तिपूजाका विकास कराता है। सोवियट रूसके स्टालिनोत्तर नेता स्टालिनको व्यक्तिपूजाका उन्नायक मानते हैं और इस प्रवृत्तिको सच्ची समाजवादी व्यवस्थाके विकासमें बाधक मानते हैं। —ध० वी० भा०

व्यक्तिप्रधान (काव्य)—दे०—'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

व्यक्तिवाद—यह शब्द अँग्रेजीके 'इण्डिविजुअलिज्म'का पर्याय है, जिसका सर्वप्रथम प्रयोग 'ऑक्सफोर्ड शब्दकोश'-के अनुसार हेनरी रीव्स द्वारा अँग्रेजीमें अनूदित टी टाक्वलीकी एक पुस्तकमें मिलता है। वैसे तो यह शब्द मूलत फ्रेंच भाषाका ही है, किन्तु हेनरी रीव्सने कई कारणोंसे इसका अँग्रेजीमें प्रयोग किया है। हेनरी रीव्सने इस प्रयोगके जितने भी कारण बताये हैं, उनसे केवल उस प्रयोगके औचित्यका ही ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत इस शब्दकी मानगत विशेषताओंका भी पता चलता है। इस शब्दके पहले अँग्रेजीमें 'इगोटिज्म' शब्द प्रयुक्त होता था, किन्तु वह शब्द जिस मानसिक दृष्टिकोण और जिन नैतिक प्रतिमानोंका प्रतीक था, 'इण्डिविजुअलिज्म' शब्द उनसे कहीं अधिक संयत मानसिक दृष्टिकोण और कहीं अधिक विस्तृत नैतिक मानदण्डोंका द्योतक है। 'इगोटिज्म'के अनुसार हर एक व्यक्ति अपने प्रत्येक कार्यका लक्ष्य है। उसका सम्पूर्ण स्नेह, समूचा लगाव अहम्‌के जीवित सम्पर्कमें ही है। अति स्वार्थमयी प्रवृत्तियाँ ही उसकी प्रेरणाशक्ति हैं। परन्तु 'इण्डिविजुअलिज्म' उस मानसिक दृष्टिकोणका सूचक है, जिसके अनुसार व्यक्ति समष्टिसे पार्थक्य तो कर लेता है, किन्तु वह घोर स्वार्थवादी मनोवृत्तियोंके आवेशमें अपने अहम्‌के प्रति सम्पूर्ण स्नेह और लगाव नहीं रखता। कुछ अंशोंमें व्यक्तिवादका भावनात्मक आधार जनतान्त्रिक सिद्धान्त है।

व्यक्तिवाद समाजके प्रति नकारात्मक दृष्टिकोणकी स्थापना है। समाज सावयविक अस्तित्व नहीं है, प्रत्युत स्वतन्त्र व्यक्तियोंका योग है। अत॰ समष्टिशक्तिको व्यक्तिपर, उसके अधिकारों और स्वतन्त्रताओंपर बलप्रयोगका नैतिक अधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों और स्वार्थोंको जितना अच्छी तरहसे समझ सकता है उतना समाज कदापि नहीं। अत तर्ककी दृष्टिसे सामाजिक बन्धन और परम्पराएँ, रीति और रिवाज, सामूहिक संस्थाएँ और मान्यताएँ निरंकुशताके साथ व्यक्तिपर शासन नहीं कर सकतीं। व्यष्टिमूलक व्यापारोंका साध्य व्यक्तिका हित है और उसका एकमात्र ज्ञाता व्यक्ति।

आधुनिक व्यक्तिवादके विकासकी एक लम्बी पृष्ठभूमि है। थूसीटायडीज (४६०-४०० ई०पू०) द्वारा वर्णित पेरीक्लीज(४९०-४२९ ई०पू०)के एक भाषणमें हमें सर्वप्रथम व्यक्तिवादकी ग्रीक उत्पत्तिका पता चलता है। तदुपरान्त पाँच शती ईसापूर्वके लगभग जब ग्रीक समाज विघटित हो रहा था तो उस समय ग्रीक विचारकोंने व्यक्तिवादी मान्यताओंकी प्रतिष्ठा की। उस प्रतिष्ठाकी विशेषताएँ इस प्रकारसे थीं—समाजव्यवस्था और परम्पराके टूटकर भी व्यक्ति अपने अस्तित्वका भली भाँति निर्वाह कर सकता है। उसकी आत्म-निर्भरता निसर्गसिद्ध है। इन्हीं विचारोंको आधार मानकर ग्रीक सोफिस्टोंने अपने व्यक्तिवादकी स्थापना की। उनके अनुसार राज्य कृत्रिम है और मानवजन्य परम्पराका प्रतीक। अत राज्यकी परम्पराशक्तिका व्यक्तिके नैसर्गिक स्वार्थोंसे मौलिक विरोध है। राज्य और व्यक्तिका यह अन्तर निसर्ग और परम्पराके मौलिक अन्तरोंकी पृष्ठभूमिमें चित्रित किया गया था।

यह प्रच्छन्न व्यक्तिवाद बादमें चलकर परिष्कृत और परिवर्धित किया गया। समाजको सत्य और यथार्थ मानकर, उसकी उत्पत्तिके कारण व्यष्टिमूलक स्वार्थोंकी ही पूर्तिमें ढूँढे गये और समाज तथा राज्यको उन्हीं स्वार्थोंकी प्राप्तिका एकमात्र साधन बनाया गया। इस दृष्टिकोणका उद्देश प्लेटोके 'रिपब्लिक'में मिलता है। विधि और व्यक्तिगत स्वार्थोंकी यह एकरूपता बहुत दिनोंतक नहीं चल सकी। विधियाँ शक्तिके आधारपर व्यक्तित्वपर प्रहार करती हैं और उसकी नैसर्गिक सरलताको नष्ट कर देती हैं। शनै-

शने इस दृष्टिकोणको दार्शनिक दृढ़ता प्रदान की गयी। भौतिक विज्ञानके समानान्तर समाजको स्वसीमित अणुओंका समूह माना गया। इपीक्यूरस(३४१-२७० ई० पू०)का दर्शन इसी भावनाकी स्थापना करता है। उसके दर्शनमें आधुनिक व्यक्तिवादके दो प्रधान तत्त्व स्पष्ट रूपसे दीख पड़ते हैं—प्रथम, प्रत्येक मनुष्यका एकमात्र लक्ष्य सुख है और द्वितीय, समाज और राज्य आवश्यक दोष हैं।

आधुनिक व्यक्तिवादके चार प्रधान रूप हैं—धार्मिक, वैज्ञानिक, आर्थिक और राजनीतिक। इनमेंसे राजनीतिक व्यक्तिवादका अनिवार्य सम्बन्ध काल क्रमानुसार अन्य तीन प्रकारोंसे सदैव होता रहा है। मध्ययुग और आधुनिक सुधार-आन्दोलनोंतक राजनीतिक व्यक्तिवाद धार्मिक व्यक्तिवादके रूपमें अपनी स्थापना करता रहा है। धार्मिक व्यक्तिवादका स्रोत ईसाई धर्म है, जो स्वय दो विरोधी तत्त्वोंके सम्पर्कसे निर्मित हुआ है। पहला तत्त्व यह है कि सारे ईसाई एक सघटित ईसाई समाजके सदस्य हैं, जिनका एक ही बड़ा चर्च रोमन कैथोलिक चर्च है। दूसरा तत्त्व यह है कि हर एक व्यक्तिको यह स्वतन्त्रता है कि वह अपनी आत्माके सजग विश्वाससे जिस किसी भी धर्म अथवा पूजाको चाहे, ग्रहण करे। ईसाई धर्म व्यक्तिको ऊँचे प्रतिमानोंसे देखता है और उसकी धार्मिक चेतनापर शक्ति-प्रयोगका आदेश नहीं देता। परन्तु मध्ययुगमें जब ईसाई धर्म-सघटनकी समस्याएँ जटिल थीं तो रोमन कैथोलिक चर्चने पहले समष्टिवादी तत्त्वको कार्यरूपमें परिणत किया और दूसरे व्यक्तिवादी धारणाको सिद्धान्तरूपमें स्वीकार किया। धार्मिक सुधारकी शताब्दियोंमें जब रोमन कैथोलिक चर्चके विरुद्ध यूरोपीय राष्ट्रोंमें प्रतिक्रियाएँ हुईं तो धार्मिक सुधारकोंने अपनी दृष्टि ईसाई धर्मके दूसरे व्यक्तिवादी तत्त्व-पर केन्द्रित की। फलस्वरूप स्वतन्त्र धर्मोंकी योजनाका प्रस्ताव होने लगा। कई राष्ट्रोंने रोमन कैथोलिक चर्चसे सम्बन्धविच्छेद कर राष्ट्रीय चर्चोंका निर्माण किया।

धार्मिक व्यक्तिवाद धीरे-धीरे वैज्ञानिक व्यक्तिवादमें परिवर्तित होने लगा। आधुनिक विज्ञानने इस व्यापक सृष्टिको छोटे-छोटे कणोंमें विभक्त कर दिया। इसीका सहारा लेकर मनोविज्ञानने व्यक्तिकी मानसिक एकताको सवेदनाओंमें विघटित किया और सामाजिक विज्ञानने सामाजिक सघटनोंको स्वतन्त्र व्यक्तियोंके अस्तित्वमें तोड़ दिया। सृष्टिमें, मस्तिष्कमें, समाजमें हर एक जगह एकता-का, एकरूपताका सिद्धान्त टूट रहा था और उसके स्थानपर अनेकता और बहुरूपताके सिद्धान्तोंकी स्थापना हो रही थी। विज्ञानके क्षेत्रमें न्यूटन(१६४२-१७२७ ई०)-का और मनोविज्ञान और राजनीतिशास्त्रके क्षेत्रमें हॉब्स-(१५८८-१६७९ ई०)का नाम उल्लेखनीय है। हॉब्ससे लेकर लॉक(१६३२-१७०४ ई०)ने और लॉकसे प्रभावित होकर बुद्धिवादी युगके कुछ फ्रेंच विचारकोंने और उनसे प्रेरणा प्राप्त कर बेन्थम(१७४८-१८३२ ई०)ने जिस सामाजिक व्यक्तिवादकी प्रतिष्ठा की वह सोलहवीं और उन्नीसवीं शताब्दीको एक लम्बी तर्कशृखलामें जोड़ देता है। हॉब्स प्रकाश केन्द्र है और उसके परवर्ती विचारक उस प्रकाशकी रेखाएँ।

पूँजीवाद(दे०)के विस्तारसे आर्थिक क्षेत्रमें भी व्यक्तिवाद फैलने लगा। क्लैसिकल ऐकानॉमीके जन्मदाता ऐडम स्मिथ(१७२३-१७९० ई०)ने विनिमयके व्यक्तिवादी सिद्धान्तकी स्थापना की। उसके अनुसार किसी भी आर्थिक व्यापारमें राज्यका हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसमें स्वतन्त्र विनिमयमें व्यवधान होगा। हर एक व्यक्ति स्वार्थोंका समूह है और निसर्ग उन स्वार्थोंका सम्मिलन इस 'अदृश्य शक्ति'से करती है जिससे कि इन स्वार्थरत व्यक्तियोंमें आपसी सघर्ष कदापि नहीं हो सकता। स्वार्थोंका यह आश्चर्यजनक समन्वय निसर्ग द्वारा ही सम्भव है। अत राज्य और समाज जैसी कृत्रिम सस्थाओंको इस प्रसगमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इस दृष्टिकोणको एक सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया गया, जिसे 'हितोंकी नैसर्गिक एकरूपता' अथवा अँग्रेजीमें 'नेचुरल आइडेण्टिटी ऑफ इण्टरेस्ट' कहते हैं। इस सिद्धान्तका जन्म पूँजीवादके विकासशील युगमें हुआ था। परन्तु उन्नीसवीं शतीके उत्तरार्धमें पूँजीवादी सघटनोंने जब समाजके सम्मुख जटिल आर्थिक समस्याएँ उपस्थित कर दीं तो हितोंकी नैसर्गिक एकरूपता मात्र कल्पना ही रह गयी। श्रमिकोंके सघटन बने। आर्थिक अधिकारोंकी माँग की गयी। राज्यने आर्थिक व्यापारोंमें हस्तक्षेप प्रारम्भ किया। इस दृष्टिकोणके सर्जनका प्रधान ध्येय समाजवादी विचारधाराको प्राप्त है।

आर्थिक व्यक्तिवादके दिनोंमें ही राजनीतिक व्यक्तिवाद-का स्वरूप उतना प्रच्छन्न नहीं था, जितना आर्थिक व्यक्तिवादका, क्योंकि उस समय भी व्यक्तिवादी विचारक यह मानते थे कि जिस प्रकार आर्थिक क्षेत्रमें स्वार्थोंमें सघर्ष सम्भव नहीं है उसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्रमें वह सघर्ष सम्भव नहीं है। आर्थिक गत्यात्मकताके सिद्धान्त राजनीतिक गत्यात्मकतापर घटित नहीं होते। राजनीतिक क्षेत्रमें स्वार्थोंकी विषमरूपता सघर्षको जन्म दे सकती है। अत स्वार्थोंकी एकरूपता लानेके लिए निसर्गसे सहायता मिलना असम्भव है। इसके लिए तो मनुष्यको स्वत प्रयास करना पड़ेगा। इसी नाते इन व्यक्तिवादी विचारकोंने राजनीतिक क्षेत्रमें 'हितोंकी नैसर्गिक एकरूपता'के स्थानपर 'हितोंकी कृत्रिम एकरूपता' अथवा अँग्रेजीमें 'आर्टिफिशियल आइडेण्टिफिकेशन ऑफ इण्टरेस्टस' नामक सिद्धान्तको स्वीकार किया। इस सिद्धान्तके आधारपर विधिनिर्माताका उत्तरदायित्व है कि वह समाजके सदस्योंके विभिन्न स्वार्थोंमें समन्वय स्थापित करे। किन्तु स्वार्थ विभिन्न हैं, इसलिए सब स्वार्थोंमें समन्वय स्थापित करना सम्भव भी नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें विधिनिर्माताका केवल एक लक्ष्य है—'अधिकसे अधिक लोगोंका हित-साधन' अथवा अँग्रेजीमें 'ग्रेटेस्ट गुड ऑफ द ग्रेटेस्ट नम्बर' ही किया जाय। इस लक्ष्यने एक सिद्धान्तका रूप ग्रहण किया और उस सिद्धान्तने एक विशेष राजनीतिक दर्शनका सर्जन किया। वह दर्शन उपयोगितावाद (दे०) अथवा 'यूटिलिटैरियनिज्म'के नामसे अभिहित है। किन्तु जब उन्नीसवीं शतीके उत्तरार्धमें आर्थिक व्यक्तिवादकी परम्पराएँ टूटने लगीं तो राजनीतिक व्यक्तिवाद भी प्रतिक्रियाहीन न रहा। जॉन स्टुअर्ट मिल-(१८०६-१८७३ ई०)ने उस राजनीतिक चेतनाका

प्रतिनिधित्व किया, जिसमें राज्यको व्यक्तिगत जीवनमें हस्तक्षेप करनेके लिए पहलेसे अधिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु मिल संक्रान्तिकालका विचारक था, जो स्वभावत गत्यात्मक है। इस गत्यात्मकताको स्थायित्व उस राजनीतिक आदर्शवाद अथवा पोलिटिकल आइडिलिज्ममें मिला, जिसका सूत्रपात्र इग्लैण्डमें थामस हिलग्रीन(१८३६-१८८२ ई०)के दर्शनसे होता है।

व्यक्तिवाद अपने लम्बे इतिहासमें अपनी सफलताओंके नाते ही नहीं, प्रत्युत अपनी असफलताओंके नाते भी महत्त्वपूर्ण है। उसकी सफलता इस बातमें है कि जब कभी इतिहासमें निरकुशताने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अधिकारोंको छीननेका प्रयास किया है तो व्यक्तिवादने उसकी सफल सामाजिक प्रतिक्रिया की है। पहले विचारोंके क्षेत्रमें, फिर राजनीतिक पदार्थकी सतहपर उतरकर उसने समाजको स्वतन्त्र बनानेका प्रयास किया है। किन्तु विषयके स्थायित्वके बाद इसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है और तब वह ध्वसोन्मुख समाजकी पलायनवादी मनोवृत्तियोंका प्रतीक बन जाता है। इसके सिद्धान्त सामाजिक प्रगतिके द्वार अवरुद्ध करते हैं और तब समष्टिवाद इस प्रच्छन्न व्यक्तिवादकी प्रतिक्रिया बन जाता है। राजनीतिक विचारोंका इतिहास मूलत समष्टिवाद और व्यष्टिवादके आपसी सघर्षोंकी कहानी है। आदर्श सामाजिक व्यवस्था किसी एकागी परिस्थितिपर टिक नहीं सकती, चाहे वह समष्टिवाद हो अथवा व्यक्तिवाद। दोनों एक-दूसरेके पूरक हैं। समाज और व्यक्तिका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। पृथक् होकर दोनों ही अकेले हैं, नितान्त एकागी, नि सग, अन नि सार, अर्थहीन।

हिन्दी साहित्यमें व्यक्तिवाद मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाका स्वरूप है उस सामाजिक परिस्थितिके विरुद्ध जो व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकासका हनन करती है। हिन्दीका बहुत-कुछ आधुनिक साहित्य साम्राज्यवादी युगमें ही लिखा गया है। फलस्वरूप व्यक्तिको विकसित होनेके उचित साधन प्राप्त नहीं हुए। इस कारणसे व्यक्तित्वकी कर्मजिज्ञासा बुझ गयी और वह अन्तर्मुखी हो बैठा। बाह्य ससारसे दृष्टि खींचकर उसने अन्तर्मुखी मनपर दृष्टि डाली। उसका अहम् ही समाज और परिस्थितिका सत्य हो गया। उसीके विविध रूपोंमें ही उसने अपनी कल्पनाके रग भरे। किन्तु यह आत्म-दर्शन नहीं था। यह था शुद्ध आत्म-पलायन। यही आत्म-पलायन अधिकाश छायावादी कविताओंका आधार है। यह आत्म पलायन समाजकी अस्वीकृति है, जो 'अज्ञेय' (१९११-ई०) लिखित 'शेखर: एक जीवनी'की रीढ है। साहित्यके विविध अगोंमें इस व्यक्तिवादने समस्याओंका समाधान नहीं किया है, केवल उनकी जटिलताओंका निदर्शन ही उसका लक्ष्य रहा है। कहीं-कहीं यह नितान्त नि सगता आत्म-बलिदानके रूपमें उद्धृत की गयी है। जैनेन्द्र(१९०५ ई०)का 'त्यागपत्र' और 'सुनीता', 'विवर्त' और 'व्यतीत' इस दृष्टिसे उल्लेखनीय हैं। साहित्यमें दु खवाद (दे०) इसी पलायनवादी व्यक्तिवादका प्रतिरूप है। वैष्णव सम्प्रदायोंकी एकान्त भक्ति-साधना और आधुनिक छायावादी कवियोंकी नि सग दु ख-साधनामें महान् अन्तर है। पहला व्यक्तिवादी है, किन्तु अपने सम्प्रदायका अभिन्न अंग बनकर। दूसरा पलायनवादी है, सामूहिक परम्परासे टूटकर। स्वतन्त्र भारतमें इस पलायनवादी व्यक्तिवादकी कोई भी परम्परा अब शेष नहीं है। आजका हिन्दी कलाकार नये तथा रचनात्मक प्रतिमानोंकी खोजमें व्यस्त है।

[सहायक ग्रन्थ—मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी सी० ई० एम० जोड]। —रा० कृ० त्रि०

व्यक्तिवादी आलोचना-प्रणाली—व्यक्तिवादी आलोचना-प्रणाली द्वारा यह माना जाता है कि किसी भी कृतिकारके व्यक्तित्वको उसकी कृति द्वारा जाना जा सकता है, जैसे, **जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-प्रणाली**में जीवनवृत्तान्त द्वारा कृतिको समझनेकी चेष्टा की जाती है उसी प्रकार व्यक्तिवादी आलोचना-प्रणालीमें कृतित्वसे कृतिकारके व्यक्तित्वको आँककर कृतिके गुण-दोषकी विवेचनाके साथ-साथ कृतिकार के व्यक्तित्वको भी उसका अनिवार्य अग माना जाता है। आधुनिक कालमें बहुधा इस प्रकारका प्रयास किया जाता है कि कृतिकारकी कृतिके माध्यमसे कृतिकारके जीवन और उसके विभिन्न भावस्तरोंके माध्यमसे किसी भी कृतिकी साहित्यिक विवेचना की जाय। इस विचारधाराके अनुसार कृतिकारकी कृतिको उसके व्यक्तित्वको प्रसारित करनेवाली वस्तु माना जाता है। कृतिको व्यक्तित्वका अंश मानकर उसके माध्यमसे कविके व्यक्तित्वकी ऊँचाई, बड़ाई, उदात्त एव महान् तत्त्वोंको परिलक्षित करनेका प्रयास इस विचारधाराका अंश है।

इस प्रवृत्तिकी मूल स्थापनाएँ ये हैं कि कृतिकारकी कृति उसीका जीवनवृत्तान्त है। उसके सतत सघर्षों और उत्कर्षोंके बीचसे ही उसकी रचना कृतित्वबोध एव उसकी अनुभूति अभिव्यक्ति पाती है। किसी सीमाबद्ध कृतिकारके इन सघर्षोंका रूप उसकी सीमा, उसके व्यक्तित्वमें प्रतिबिम्बित होती है। कहीं-कहीं इस विचार-प्रणालीके लोग यह भी मानते हैं कि कृतिकारका कृतित्व कृतिकारके जीवनकी असफलताओं, विफलताओं और कटु अनुभवोंको व्यक्त करता है और इस प्रकार वह उसके समूचे जीवनका क्षतिपूरक (compensatory) भी होता है। व्यक्तिवादी आलोचना-प्रणाली यह स्वीकार करती है कि कृतिकारका जीवन जिन कल्पनाओं और जिन विचारोंकी कल्पनामें बीतता है अथवा जिन मूल्योंके लिए वह सघर्ष करता है, उस सघर्षका वास्तविक मूल्याकन एव प्रतिबिम्ब रचनामें स्वत अवतरित होता है। यह अवतरण कृतिकारके व्यक्तित्वका, उसके अभावों और पूर्णताओंके साथ साहित्यमें सचारित होकर व्यक्त होता है। अस्तु, इसीकी दृष्टिमें कृतिकारकी आत्मपरक अनुभूतियोंका विशेष महत्त्व माना है और इस विचारधाराके लोगोंका मत है कि यदि कृतिकार और उसकी कृतिको सम्बद्ध करके नहीं देखा जायगा तो कृतिकारकी मूल भावनाको ग्रहण करना कठिन होगा।

इस मूल प्रवृत्तिकी विवेचनाएँ इस आधारपर विकसित होती हैं कि कृतिकार आत्मवेदना एव आत्मपीड़ाके साथ साथ आत्ममुक्त क्षणोंको प्रस्तुत करता है। यदि उस क्षणका अकन उसकी कृति है तो फिर उसका वहन करने-

वाला अथवा उसको आत्मसात् करनेवाला भी उस सन्दर्भ-विशेषमें महत्त्वपूर्ण है। जीवन और कृतित्वकी यह अबाध समरसता कलाकी मूल चेतना है।

इस व्यक्तिवादी दृष्टिकी मूल विवेचन-पद्धतिमें जो विचार काम करते हैं उनमें यह निहित है कि किसी भी रचनाको मात्र वस्तुपरक दृष्टिसे बिना कृतिकारके व्यक्तित्वको उचित महत्त्व दिये समझना कठिन है। जिस भावधाराके प्रवाहमें कृतिकार जीता-जागता है, उस समस्त वातावरण-की गूँज उसकी कृतिमें होती है, इसलिए उसकी प्रत्येक कृति किसी-न-किसी रूपमें उसकी संवेदनकी अनुभूतिके साथ-साथ उसके व्यक्तित्वका भी प्रतिनिधित्व करती है। तुलसीदासकी समस्त रचनामें या रसखानकी समस्त रचनामें जिस वृत्ति-को अभिव्यक्ति मिली है वह उस कविके समस्त सर्जनशील व्यक्तित्वमे इतनी बँधी है कि बिना उस वृत्ति और उस जीवनको ध्यानमें रखे उसका पूर्ण रसबोध होना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार आलम और सुजानकी रचनाओं-में हमें विशेष रस उसी समय मिल पाता है जब उनकी वृत्तियों(attitudes)के साथ-साथ उनके व्यक्तित्वका भी बोध हमें हो।

इस प्रणालीके मुख्य गुण ये हैं कि यह ऐसी सुविधाएँ देती है जिससे पाठक कृतिकारकी मानसिक स्थिति और उसकी निजी सीमाओं और सम्भावनाओंके साथ उसके कृतित्वबोधकी मूलगत प्रवृत्तिको समझ सके। कभी कभी बिना व्यक्तित्वको ध्यानमें रखे जो आलोचना प्रस्तुत की जाती है वह या तो एकांगी होती है या उन बहुतसे तत्त्वों-को, जो उसके व्यक्तित्वकी सीमाएँ निर्धारित करते हैं, न जाननेके कारण कृतियोंपर सम्पूर्ण अभिव्यंजनात्मक दृष्टि नहीं प्रस्तुत कर पाती। व्यक्तित्वके परिचयमें दो चीजें सम्मिलित हैं—एक तो उसकी निजी आस्थाएँ और दूसरी उसकी वैयक्तिक दृष्टियोंसे सलग्न उसकी निजी मर्यादाएँ। कला एवं साहित्यके क्षेत्रमें इस प्रकारकी विचारधाराको प्रश्रय देना अथवा उन सम्भावनाओंकी ओर अग्रसर होना, जो व्यक्तित्वके साथ कृतिके सन्देशको वहन कर सकनेमें समर्थ हो, कुछ सीमाओंतक आवश्यक है।

किन्तु इस प्रणालीके मुख्य दोष इन्हीं सुविधाओंमें ही निहित हैं। प्रत्येक कलाकृतिके लिए स्वतन्त्र और वस्तुपरक दृष्टि अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। कलाकी प्रेषणीयता इतनी होनी चाहिये कि वह पाठकमें समुचित रसोद्रेक पैदा करनेके बाद उसमें उस निजी तत्त्वको प्रेषित करे जो नितान्त निजी है, व्यक्तिगत है। कृतिका प्रेषणीय होना व्यक्तित्वकी सीमामें नहीं निहित है, वरन् वह स्वत काव्य-के रूप, शिल्प और विषय-वस्तुका अंश है। यदि इन सीमाओं और इनके औचित्यपर ध्यान नहीं दिया जायगा तो समस्त साहित्य केवल कुण्ठाओं और विकृतियोंका पुज बनकर रह जायगा। इसके साथ ही इस आलोचना-प्रणालीमें एक मुख्य दोष यह भी है कि इसका आग्रह साहित्यिक एवं व्यापक मानवीय मूल्योंपर न होकर वैयक्तिक मूल्योंपर है, जिसका परिणाम यह भी हो सकता है कि समस्त साहित्यिक अभिरुचिमें ऐसी अराजकता प्रश्रय पाये जिसमें अनुशासनहीनता और मर्यादाओंकी विभिन्नता अपनी चरम सीमापर पहुँचकर उन समस्त मूल्योंको विघटित कर दे और जो व्यक्तिसे भी बड़ी और व्यक्तित्वकी सीमाओंके बावजूद साहित्यमें होती और प्रश्रय पाती है। —ल० का० व०

व्यक्तिस्वातंत्र्य—स्वातन्त्र्य मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार माना गया है। स्वातन्त्र्यको राजनीति, समाजनीति जैसे लौकिक क्षेत्रोंमें ही नहीं, अपितु धर्म, दर्शन जैसे पारमार्थिक क्षेत्रोंमें भी पूरा महत्त्व दिया गया है। सभी धर्म इस लोक-को बन्धन और स्वर्गको बन्धनोंमे मुक्तिके रूपमें मानते हैं। 'मनुस्मृति' एवं न्यायशास्त्रके अनुसार प्रतिकूलवेद-नीयता, बन्धन, परवशता अथवा पारतन्त्र्य ही दुःख तथा अनुकूलवेदनीयता, विमोक्ष, आत्मवशता अथवा स्वातन्त्र्य ही सुख है। भारतीय प्रतिभा सदासे स्वतन्त्रताकाङ्क्षिणी रही है, यहाँतक कि उसकी दृष्टिमें मोक्ष अथवा सर्वविध बन्धनोंसे आत्यन्तिक स्वातन्त्र्य ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। यूरोपीय तत्त्वज्ञोंका एक बड़ा समुदाय भी स्वातन्त्र्यको सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रियाकी चरम गति माननेके पक्षमें है। हीगेलके अनुसार इतिहास विश्वात्मा द्वारा स्वातन्त्र्यकी उत्तरोत्तर उपलब्धिकी कहानी है। 'डास कैपिटल'के तृतीय खण्डमें स्वातन्त्र्यको मनुष्यकी सम्पूर्ण श्रम-साधना एव समस्त भौतिक उत्पादनप्रक्रियाका चरम साध्य बतलाते हुए कार्ल मार्क्सने लिखा है कि वह (स्वातन्त्र्य) स्वय ही अपना साध्य है।

किन्तु हीगेल एव भारतीय चिन्तकोंको व्यक्तिस्वातन्त्र्य-की स्पष्ट कल्पना नहीं है। हीगेल जैसोंकी स्वातन्त्र्य सम्बन्धी धारणाओंके सम्बन्धमें एक आलोचकने लिखा है कि वे ऐसे वायवीय (हवाई) सिद्धान्त हैं, जो स्वातन्त्र्यको इतना पवित्र बना देते हैं कि वह इस लोकके कामका ही नहीं रहता। व्यक्तिको साध्य मानकर चलनेकी प्रवृत्ति हमें ईसाई परम्परामें देखनेको मिलती है। किन्तु व्यक्तिस्वातन्त्र्य-वादके प्रचार एव प्रसारका वास्तविक श्रेय यूरोपकी उदार-वादी (लिबरल), मानववादी, वैयक्तिकवादी (परसनलिस्ट) और जनतन्त्रीय परम्पराओंको ही प्राप्त है। अराजकवादियों-ने तो इसे पराकाष्ठातक पहुँचा दिया है। व्यक्तिस्वातन्त्र्य-वादका सर्वश्रेष्ठ निरूपण हमें जे० एस० मिलकी पुस्तक 'आन लिबर्टी' तथा बर्ट्रेण्ड रसेलकी रचनाओंमें मिलता है। बर्ट्रेण्ड रसेल व्यक्तिस्वातन्त्र्यको राजनीतिका सर्वश्रेष्ठ आदर्श माननेके पक्षमें हैं।

व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादी व्यक्तिस्वातन्त्र्यको सांस्कृतिक जीवन-की पहली शर्त मानते हैं। मानव-अस्तित्वका बुनियादी प्रतिमान, अन्य सभी प्रतिमानोंका स्रोत, उसका स्वातन्त्र्य है। जिस अनुपातमें मनुष्य सीमाओं और विवशताओंमें बँधा रहता है उसी अनुपातमें वह अपूर्ण है। मनुष्यके विकासकी सम्भावनाएँ असीम हैं और ये सम्भावनाएँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके अभावमें फूल फल नहीं सकतीं। मनुष्यकी सारी व्यवस्थाएँ, सारी संस्थाएँ—यहाँतक कि सामाजिक संघटन भी व्यक्ति-व्यक्तिकी असीम सम्भावनाओंको साकार करनेके लिए हैं, न कि व्यक्ति उनके लिए हैं। अत व्यक्ति समाजके लिए नहीं अपितु समाज व्यक्तिके लिए है, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादियोंको ऐसा करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

व्यक्तिस्वातन्त्र्यका विरोधी अधिनायकवादी व्यक्तिको समाजके हितमें बलि भी दे सकता है और समाजका हित वही होगा जो वह समझता है।

व्यक्तिके स्वातन्त्र्यका परिसीमन अन्य व्यक्तियोंके समान व्यक्तिस्वातन्त्र्य ही कर सकता है, अन्यथा वह असीम, अमर्यादित, अखण्ड एवं निरपेक्ष है। व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादी कहते हैं कि मानवीय इतिहास वस्तुतः व्यक्तिस्वातन्त्र्यके क्रमिक विकासका इतिहास है। आदिमयुगीन वनौकस यूथकी अवस्थामें मानव-व्यक्तित्व अपृथक्कृत निर्विशेष (अनडिफरेंशियेटेड इनडिटर्मिनेट) था। उस समय जातिमें व्यक्तित्वमूलक पृथक्करण(इण्डिविजुएशन)की प्रक्रिया आरम्भ नहीं हुई थी। कहना चाहिये कि व्यक्तिमें एक स्वतन्त्र आत्मा, स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित ही नहीं हुआ था, व्यक्तियोंके सारे कार्य एक विकीर्ण सत्रात्मा अथवा सामुदायिक आत्मा (ग्रुपसोल) द्वारा परिचालित होते थे। स्पष्ट ही उस समय व्यक्ति स्वतन्त्र न होकर सर्वथा यूथतन्त्र था। व्यक्तित्व चेतनाके अभावमें वह सभ्यता एवं संस्कृतिकी दृष्टिसे पशु ही था। पशुके ही समान स्वतन्त्र चेतनाके बदले सहज प्रवृत्तियों(इन्स्टिंक्ट्स)से परिचालित होता था। उसके बाद व्यक्तित्वके पृथक्करण-व्यक्तित्व-चेतनाके विकासकका युग आता है। चन्द लोग यूथसे स्वतन्त्र हो यूथके शासक बन बैठे और अन्य यूथोंपर अपनी उच्छृंखलताके वशीभूत हो आक्रमण करने लगे। इस प्रकार उनकी स्वतन्त्रता दायित्वहीन सिद्ध हुई। उनके हाथों उनके यूथों तथा अन्य यूथोंमें भी अशान्ति रहने लगी। इस स्थितिका विकसित रूप हमें स्वेच्छाचारी राजतन्त्र तथा दायित्वहीन व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादमें दिखाई देता है। लेकिन वास्तविक व्यक्तिस्वातन्त्र्यवाद दायित्वहीनताको प्रश्रय नहीं देता। अब व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी भावना चन्द व्यक्तियोंकी सम्पत्ति नहीं, वह अब सर्वसाधारणमें भी जग रही है। वर्तमान युग वस्तुतः सर्वसाधारणके होश सँभालने, सचेत होने, युवा होने तथा स्वतन्त्रताकी माँग करनेका युग है, जब कि दासता-युगसे लेकर सामन्त-युगतक केवल पुरोहित एवं राजन्य वर्गमें ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी भावना देखनेको मिलती है—विशाल जनसमूह तो इनकी आज्ञाकारिताको ही अपनी इतिकर्तव्यता समझ बैठा था, जैसे उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही न हो।

साम्यवाद और उसके साहित्यिक रूप **प्रगतिवाद** तथा फासिज्मपर व्यक्तिस्वातन्त्र्यका विरोधी होनेका आरोप अनेक दिशाओंसे और अनेक रूपोंमें किया गया है। साम्यवादी, प्रगतिवादी और फासिस्ट अपने इन आलोचकोंपर सामाजिक दायित्वकी भावनाके अभावका प्रत्यारोप करते रहे हैं। किन्तु व्यक्तिस्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्वके गहन प्रश्नपर सुदीर्घ कालतक जो वाद-विवाद होते रहे हैं, उनमें प्रकाशकी अपेक्षा गर्मी ही अधिक उत्पन्न हुई है। हिन्दी साहित्यसंसारमें पहली बार प्रयागकी 'परिमल' नामक संस्थाने इस समस्यापर सुनियोजित रूपसे विचार-विमर्शका उपक्रम किया था। १३-१४ अप्रैल, सन् १९५५को प्रयागमें 'परिमल'के तत्त्वावधानमें आयोजित नयी और पुरानी पीढ़ीके तथा सभी विचारधाराओंके कवियों, कथाकारों, समीक्षकों तथा चिन्तकोंके वृहत् सम्मेलनमें 'साहित्यकारका वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व' शीर्षकसे एक आलेख विचारार्थ प्रस्तुत किया गया था और उसपर लिखित सम्मितियाँ भी मँगायी गयी थीं। लगभग ६० सम्मतियोंमेंसे १९ सम्मतियाँ 'आलोचना'के अंक १५ और १६में प्रकाशित हुई हैं। पुनः यह प्रश्न दिल्लीमें आयोजित एशियाई लेखक सम्मेलन(दिसम्बर)में उठाया गया था।

व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी रक्षा करते हुए सामाजिक दायित्वका निर्वाह ही सन्तुलित विचार जान पड़ता है। लेकिन साहित्यके सन्दर्भमें यह प्रश्न एक दूसरा रूप धारण कर लेता है। छायावाद, स्वच्छन्दतावाद, प्रयोगवाद और प्रकृतिवादपर सामाजिक चेतना, सामाजिक दायित्वकी भावना और सामाजिक यथार्थवादके अभावका आरोप लगाया जाता है। छायावादी, स्वच्छन्दतावादी और अनेक प्रयोगवादी अपने अहम्‌में ही उलझे रहते हैं, समाजकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता और प्रकृतिवाद तो किसी प्रकारके दायित्व—सामाजिक अथवा वैयक्तिक—में विश्वास ही नहीं करता। सामाजिक दायित्वकी उत्कृष्ट चेतना हमें प्रगतिवादियोंमें दिखाई देती है लेकिन उनपर यह आरोप है कि वे प्रायः व्यक्तिकी स्वातन्त्र्य चेतनाकी उपेक्षा करते हैं। अब धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर जैसे कवियोंकी रचनाओंमें प्रयोगवादका रूपान्तर हुआ जान पड़ता है। उनमें रोमानियतके साथ-साथ सामाजिक यथार्थकी तीव्र चेतनाके दर्शन होते हैं। यह प्रवृत्ति व्यक्तित्व-चेतना और सामाजिक चेतनाके समन्वयका प्रतिनिधित्व करती है। —ह० ना०

व्यतिरेक—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका भेदप्रधान अर्थालंकार। इसका अर्थ है आधिक्य या उत्कर्ष। इस अलंकारको प्राचीनोंसे मान्यता प्राप्त रही है। भामहके अनुसार इसमें उपमानकी अपेक्षा उपमेयमें विशेष अपादन अपेक्षित है (काव्यालं० २ ७५)। दण्डीने उपमेयका स्पष्ट उत्कर्ष और उपमानका यत्किंचित् अपकर्ष, दोनोंको अभिप्रेत माना है (का० द० २ १८०)। उद्भटने व्यतिरेकमें स्पष्टतया उपमान और उपमेय, दोनोंके विशेषापादनका उल्लेख किया है (का० सा० सं० २ ६)। रुद्रटकी दृष्टिसे इसमें उपमेय तथा उपमान, दोनोंका यथासम्भव आधिक्यवर्णन अभीष्ट है (काव्यालं० . ७ . ८६)। रुय्यकका दृष्टिकोण रुद्रटसे मिलता है। मम्मटने अवश्य इस प्राचीन विचार-पद्धतिके स्थानपर नया मत रखा है—'उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।' (का० प्र० १० . १०५), अर्थात् इसमें उपमानकी अपेक्षा उपमेयका गुणविशेषके कारण उत्कर्ष बताया जाय। मम्मटने इन्हींकी विविध सम्भावनाओं अर्थात् उपमेयके उत्कर्ष और अपकर्षके निमित्तोंके उपादान और अनुपादानके विश्लेषणके आधारपर २४ भेद बतलाये हैं। विश्वनाथने पुनः उपमेयके उपमानसे आधिक्य तथा न्यूनता, दोनोंमें व्यतिरेक माना है (सा० द० १० . ५२) और इसी कारण मम्मट द्वारा उल्लिखित २४ भेदोंको ४८ माना है। जयदेव तथा अप्पय दीक्षितने इसके लक्षणके विषयमें मम्मटका अनुसरण किया

है, पर भेदविस्तार नहीं किया है।

हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंमें चिन्तामणि और कुलपति जैसे कतिपयने ही मम्मटका अनुसरण किया है, परन्तु अन्योंने प्राय जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके अनुसरणपर इसका लक्षण स्वीकार किया है, और भेद या तो स्वीकार नहीं किये या केवल सीमित सख्यामें। मतिरामके अनुसार—'जहाँ होत उपमानते उपमेयमै बिसेख।' (ल० ल० १५५) अथवा दासके अनुसार—'पोषन करि उपमेइकौ दोपन करि उपमान।' (का० नि० १०); इनपर मम्मटका प्रभाव लगता है। परन्तु भूषणके लक्षण—'सम छबिवान दुहुनमै, जहँ बरनत बढि एक।' (शि० भू० १४६) अथवा पद्माकरके लक्षण—'जहँ अवर्न्य अरु वर्न्यमें कछु विसेष।' पर जयदेवका स्पष्ट प्रभाव है। भेदकी दृष्टिसे चिन्तामणिने २४ भेदोंका विवरण दिया है, जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण आदिने भेदोका उल्लेख नहीं किया है। दासने—'पोखन दूखन' दोनोंका कथन, 'पोखन' कथन, 'दूखन' कथन तथा 'सब्द सक्ति'से कथनके चार भेद गिनाये हैं। पद्माकरने अधिक, न्यून तथा सम इन तीन भेदोंको माना है। आधुनिक विवेचकोंमें कन्हैयालाल पोद्दारने मम्मटके चौबीस भेदोंको इस रूपमें रखा है—प्रथम चार भेद, १ उपमेयके उत्कर्ष और उपमानके कारणका कथन, २ उपमेयके उत्कर्ष और उपमानके अपकर्षके कारणका न कहा जाना, ३ केवल उपमानके अपकर्षके कारणका कथन, ४ केवल उपमेयके उत्कर्षके कारणका कथन। इसके तीन भेद—(क) शाब्दी उपमा द्वारा, (ख) आर्थी उपमा द्वारा, (ग) आक्षिप्तोपमा द्वारा। पुन बारहोंके दो भेद—(अ) श्लेष द्वारा, (आ) श्लेषरहित। रामदहिन मिश्रने प्रथम चारको स्वीकार कर अन्योंका उल्लेख कर दिया है।

प्रथम—उपमेयका उत्कर्ष तथा उपमानका अपकर्ष। उदा०—'मृदुल अधर सम होंइ क्यों, विद्रुम निपट कठोर।' (का० नि० १०), इसमें 'सम' शब्द होनेके कारण आर्थी उपमा है और अधर उपमेयका उत्कर्ष तथा विद्रुम उपमान-का अपकर्ष-कथन है। इसी प्रकार—'राधा मुखको चन्द्र-सा कहते हैं मतिरक। निष्कलक है वह सदा समिमें प्रगट कलक।' (अ० म० २९२), इसमें 'सा' शब्दके कारण शाब्दी उपमा है। अथवा 'सम सुबरन सुखमाकर, सुखद न थोर। सीय अग लखि कोमल कनक कठोर।' (तुलसी का० द०से), यहाँ शाब्दी अथवा आर्थी वाचक शब्दोंके न होनेसे उपमाका आक्षेप द्वारा बोध होता है। द्वितीय—उपमेयके उत्कर्ष ओर उपमानके अपकर्षके कारणका न कहा जाना—'यह पार्थनन्दन पार्थसे भी धीर वीर प्रशस्त है।' (मै० श० गु० का० द०से), यहाँ अभिमन्यु 'उपमेय'का आधिक्य कहा गया है, पर उत्कर्ष-अपकर्षका कारण उल्लिखित नहीं है। तृतीय—केवल उपमानके अपकर्षके कारणका कथन—'घटै-बढै सकलक लखि, जग सब कहै ससक। बाल बदन सम है नहीं, रक मयक इकक।' (का० नि० १०), यहाँ उपमान मयकके अपकर्षका कथन है, पर मुखके उत्कर्षका नहीं। चतुर्थ—केवल उपमेयके उत्कर्षके कारणका कथन—'खजनसे दृग लसत पै, धरे विसेप विलास।' (पद्मा० ९४), यहाँ उपमेय दृगका उत्कर्षकथनमात्र है।

सौन्दर्यकथनके चमत्कारकी सन्निहित भावनाके कारण इस अलकारका प्रयोग साहित्यमें व्यापक रूपसे मिलता है। भक्ति-साहित्यमें आराध्यके गुण, शील, सौन्दर्यके, वीरकाव्य-में नायककी वीरता आदिके तथा रीतिकाव्यमें नायिकाके सौन्दर्य आदिके वर्णनोंमें इसका विशेष प्रयोग हुआ है। आधुनिक कथाकाव्योंमें तथा छायावादी सौन्दर्यवर्णनमें भी यत्र-तत्र इसका उपयोग हुआ है। —र०

व्यपेत यमक—दे०—'यमक'।

व्यर्थपद—दे०—'शब्द-दोष', पाँचवाँ 'वाक्य-दोप'।

व्यसन—जब भक्तको भगवान्के प्रेमके अतिरिक्त और किसी भावका भान ही नहीं रहता तब उसकी यह प्रवृत्ति **भक्ति-व्यसन**में परिणत हो जाती है। यही अवस्था **प्रेम-लक्षणा भक्तिका** परम साध्य है। निर्गुण और सगुण सन्त अथवा भक्त प्रेम-लक्षणा भक्तिके आकाक्षी रहे हैं। इसीको परा भक्ति भी कहते हैं। (विस्तारके लिए दे०—'परा भक्ति'।) —वि० मो० श०

व्याघात—विरोधमूलक अर्थालकार, भामह, दण्डी, उद्भट तथा वामन(प्राचीनों)ने इसे स्वीकार नहीं किया है। रुद्रटने सम्भवत इसका प्रथम विवेचन किया है, पर मम्मटके लक्षणका आधार रुय्यक हो सकते हैं—'जिस उपायसे कोई कार्य किसी व्यक्ति द्वारा सिद्ध किया जाय उसी उपायसे उसे कोई दूसरा व्यक्ति असिद्ध अथवा विफल करे तो वहाँ व्याघात अलकार होता है' (का० प्र० १०, १३८)। विश्वनाथने इसे प्रथम व्याघात मानकर उसका एक अन्य भेद भी दिया है—'जहाँ किसी कार्यके विरुद्ध दूसरेके द्वारा उसी उपायसे सरलतापूर्वक सिद्ध किया जाय' (सा० द० १० ७६)। हिन्दीके आचार्योंने प्राय विश्वनाथके भेदोंको स्वीकार किया और लक्षणमें भी जयदेवका अनुसरण नहीं किया है। **प्रथम भेद**—'जो जैसे करतार सो विरुद्धकारी जहाँ।' (ल० ल० २५१), अथवा—'जाहि तथाकारी गनें करे अन्यथा सोइ।' (का० नि० १३), उसी उपायसे अन्यथा किया जाना—'तेरो करवाल भयो जगतको ढाल अब, सोइ हाल म्लेच्छनके कालको करत है।' (शि० भू० २३१), अथवा—'जिस दृष्टि-निक्षेपके द्वारा शिवने कामका दहन किया, उसी दृष्टि-निक्षेपसे रमणियाँ कामदेवको जिलाती हैं।' (का० प्र० से)। **द्वितीय भेद**—'जहाँ क्रियाकी सुकरता बरनत काज विरोध।' (ल० ल० २५३)। उदा०—'छल किया भाग्यने मुझे अयश देनेका। बल दिया उसीने मूल मान लेनेका।' (साकेत), अथवा—'लोभी धन सचय करै दारिदको डर मानि। दास यहै डर मानिके दान देत हैं दानि।' (का० नि० १५), यहाँ लोभी जिस दारिद्र्यके डरसे धनका सचय करता है, उसी दारिद्र्यके भयसे दानी उसके विपरीत आचरण—धन-दान करता है। —ध० व्र० शा०

व्याजनिंदा—व्याजस्तुतिसे सम्बद्ध अर्थालकार। अप्पय दीक्षितने इसका लक्षण दिया है—'निन्दाया निन्दया' (कुवल० ७२), अर्थात् किसीकी निन्दासे अन्य किसी-की निन्दाका कथन। हिन्दीके आचार्योंने इसीके आधारपर

अपने लक्षण दिये हैं—'निन्दामों जहँ औरकी निन्दा प्रगटित होय।' (ल० ल० · १८५), अथवा—'जहँ एकको निन्दा किये, निन्द्य और हू होत।' (पद्मा० १३०)। उदा०—'प्रगट कुटिलता जो करी, हमपर स्याम सरोम। मधुप जोग विष उगलिये, कछु न तिहारो दोष।' (ल० ल० · १८६), यहाँ उद्धवकी निन्दाके कथनमें कृष्णकी निन्दाकी प्रतीति होती है। —शि० प्र० सिं०

व्याजस्तुति–सादृश्यमूलक गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार। प्रारम्भिक आचार्योंमें भामह तथा उद्भटने केवल एक निन्दाके व्याज-स्तुति-परक अर्थको मुख्य माना है—'शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते। वस्तुतस्तु स्तुति श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता।' (का० सा० स०), अर्थात् जिसमें शब्दोंकी अभिधा-शक्ति निन्दाका बोध कराये, पर जो वाच्यार्थ निकले वह स्तुतिपरक हो। आगे चलकर मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने दो भेद स्वीकार किये हैं—'इस अलंकारमें किसी वस्तुकी प्रारम्भमें निन्दा या स्तुति और अन्ततः स्तुति या निन्दाकी प्रतीति होती है।' (का० प्र० १० · ११२)। हिन्दीके आचार्योंने इन दोनों भेदोंको प्रायः 'कुवलयानन्द'के आधारपर ग्रहण किया है—'निन्दामें स्तुति पाइये, स्तुति-में निन्दा होय।' (शि० भू० १८२)। किसी किसीने एक तीसरा भेद माना है—'अन्य स्तुतिमें अन्यकी स्तुति' (पद्मा० · १०५), अर्थात् अन्यकी स्तुति करके अन्यकी स्तुति करना। इसीका विपरीत व्याजनिन्दा नामक अलंकार माना गया है। कुछने एककी निन्दासे दूसरेकी स्तुति तथा एककी स्तुतिसे दूसरेकी निन्दा सम्बन्धी भेद और माने हैं, पर संस्कृतमें इन्हें 'व्यंग्यकाव्य' माना गया है।

प्रथम, निन्दामें स्तुति—'भसम लपेटे विष अहि सहित, गंग कियो तैं मोहि। भोगीतें जोगी कियो कहा कहौं अब तोहि।' (पद्मा० १०७), यहाँ शंकरकी निन्दाके बहाने प्रशंसा की गयी है। स्तुतिमें निन्दा—'राज भोगसे तृप्त न होकर मानों वे इस बार। हाथ पसार रहे हैं जाकर जिसके तिसके द्वार। छोड़कर निज कुल और समाज।' (यशोधरा का० द०से), यहाँ यशोधराके कथनमें बुद्धकी निन्दा है, पर भाव प्रशंसाका है। स्तुतिसे दूसरेकी स्तुति—'अमल कमलकी है प्रभा, बाल वदनकी ठौर। ताकौ नित चुम्बन करै, धन्य भाग तुव भौंर।' (का० नि० १०), यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसाके साथ व्याजस्तुति है। निन्दासे दूसरेकी निन्दा—'दई निरदईमों भई, दाम बड़ीयै भूल। कमलमुखीकौ जिन कियौ, हियौ कठिनई मूल।' (वही)। —शि० प्र० सिं०

व्याजोक्ति–गूढार्थप्रतीतिमूल अलंकार। व्याजका अर्थ है कपट अथवा छल। प्राचीनोंमें भामह, दण्डी, उद्भटने इसे स्वीकार किया है। उद्भटने इसे अपह्नुतिके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया है। वामनके अनुसार 'व्याजस्य सत्य-सारूप्य,' असत्यके बहाने सत्यका सादृश्य प्रतिपादित करना, व्याजोक्ति है। मम्मट और विश्वनाथने किंचित् भिन्न प्रकारसे कहा है—'किसी वस्तुका व्याजसे गोपन, यद्यपि वह स्पष्ट-तया प्रकट भी हो गयी है' (का० प्र० · १० · ११८। सा० द० १० ००)। वस्तुतः इसमें प्रथम कोई वस्तु छिपी रहती है, फिर वह किसी प्रकार प्रकट हो जाती है और उसीका अन्य कारण बताकर गोपन किया जाता है। हिन्दीके जसवन्त सिंहसे लेकर पद्माकरतकके लक्षण प्रायः 'कुवलयानन्द'पर आधारित हैं, जिसमें आकार-गोपनकी बात प्रधान है—'और हेतु वचननि जहाँ, आकृत गोपन होय' (ल० ल० ३५८), अथवा—'आकार जहाँ दुरे, हेतु करि आन।' (पद्मा० २५१)। दासकी परिभाषा मम्मटके आधारपर है—'वचन चातुरीसो जहाँ, कीजै काज-दुराइ।' (का० नि० १६)।

व्याजोक्तिमें किसी गुप्त रहस्यके प्रकट हो जानेपर छल अथवा बहानेसे छिपाया जाता है। उदा०—'कारे बरन डरावने कत आवत यहि गेह। कइ वा लख्यो सखी लखै लगे थरहरी देह।' (वि० स० ५१५), यहाँ नायिका कहती है कि यह काले शरीरवाला (कृष्ण) इस घरमें क्यों आता है, इसे देखकर मेरा शरीर काँपने लगता है। वस्तुतः उसका कम्प शृंगारजनित सात्त्विक है, किन्तु उसे वह छलसे भय-जनित बतलाती है। अपह्नुति और व्याजोक्तिमें यह अन्तर है कि अपह्नुतिमें जो बात छिपायी जाती है, उसे पहले कहकर तब फिर उसका निषेध किया जाता है, किन्तु व्याजोक्तिमें वह पहले कही नहीं जाती। 'कुवलया-नन्द'में चेष्टा आदि द्वारा सात्त्विक भावोंको छिपानेमें भी व्याजोक्ति अलंकार माना गया है। ऐसी स्थितिमें कोई-कोई युक्ति अलंकार भी मानते हैं। —ध० व्र० शा०

व्याधि–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। भरतने शारीरिक स्वास्थ्याभावको 'नाट्यशास्त्र'में व्याधि कहा है और वात, पित्त, कफके सन्निपातसे उत्पन्न बताया है। इसका प्रमुख स्वरूप ज्वर है और सशीत एवं सदाह ज्वरके दो भाग बताकर उनके अनुभावोंका वर्णन किया है। 'अन्य व्याधियों'का भी जो उल्लेख है वे शारीरिक अवस्थासे ही सम्बन्ध रखती हैं। धनंजयने कदाचित् इसी कारण भरतका आदर कर 'नाट्यशास्त्र'के अनुसार व्याधिकी संचारी भावमें गणना तो कर ली, पर साथमें यह भी कह दिया कि इसका विस्तार अन्यत्र है (तेषामन्यत्र विस्तर)। निश्चय ही यहाँ आयुर्वेदकी ओर संकेत है। पर धनिकने उदाहरण उचित दिया है, जिसमें वियोगमें नायिकाके मनस्तापका वर्णन है। उधर, विश्वनाथने लक्षण तो दिया, पर 'स्पष्टमुदाहरणम्' कहकर पाठकको सन्तोष दिलाया। यदि 'नाट्य दर्पण'(३ १३५)में व्याधिको 'अगमन'-क्लेश', अग्निपुराण(३३९ ३३)में 'मन एव शारीरकी अस्वस्थता', 'वाग्भटकाव्यानुशासन' (पृ० ५७), 'प्रताप-रुद्रयशोभूषण' (४ ४८) और 'नाटकलक्षणरत्नकोष'-(पं० २०७९)में इसको 'मनस्ताप' न कहा होता तो इसकी गणना संचारी भावमें करना कठिन हो जाता। इसी कारण व्याधि न केवल शारीरिक अवस्था है, परन्तु वियोग या रोगसे उत्पन्न मन क्लेश भी है। इसमें स्वेद, ताप, कम्पन इत्यादि अनुभाव होते हैं।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः इसको शारीरिक तथा मानसिक, दोनों अवस्थाओंसे सम्बद्ध किया है। देवके अनुसार—'धातु कोप प्रीतम विरह, अन्तर उपजै आधि। जुर विकार बहु अंगमैं, नाही बरनैं व्याधि।' (भाव०

सचारी०)। पर पद्माकरने 'विरह विवम कामादितें, तन सन्तापित होइ' (जगत० ५४३) कहकर मनस्तापको विशेष स्वीकृति दी है।

मैथिलीशरण गुप्त द्वारा अंकित उर्मिलाकी व्याधिका उदा०—'मानस मन्दिरमें सती पतिकी प्रतिमा थाप। जलती-सी उस विरहमें वनी आरती आप' (साकेत)। इसके उदाहरणोंमें रीतिकालीन नायिकाके विरह-तापके ऊहात्मक तथा अतिरंजित वर्णन हैं—'कवकी अजव अजार में, परी वाम तन छाम। तित कोऊ मत लीजिये, चन्द्रोदयको नाम।' (जगद्वि० ५४५)। विहारीके ऐसे अनेक चित्र हैं। —ज० कि० व०

व्यायोग–व्यायोग शब्दका अर्थ है विविध व्यक्तिसे युक्त। कदाचित् भरत मुनिने इस नाट्यप्रकारमें 'वहवस्तत्र च पुरुषा' अनेक पुरुष पात्रोंके कारण इसका नाम व्यायोग रखा था। अभिनवगुप्तका मत है कि युद्धमें पुरुषोंके नियुद्ध होनेके कारण इसे व्यायोग कहा जाता है—'व्यायामे युद्धप्राये नियुद्धन्ते पुरुषा यत्रेति व्यायोग इत्यर्थ।'

भरत मुनिका मत है कि इसमें प्रख्यात नायक होता है और इतिवृत्त भी प्रख्यात होता है। स्त्री पात्रोंकी सख्या अल्प होनी चाहिये। आचार्य हेमचन्द्रका मत है कि इसमें स्त्री-पात्र नहीं होने चाहिये। (काव्यानु० पृ० ३२३)। इसकी घटना एक दिनकी अवधिकी हो, अक एक हो, इसका नायक देवता नहीं, प्रत्युत कोई राजर्षि हो, इसमें युद्ध, व्यक्तिगत सघर्ष एव रोषपूर्ण युद्ध पाया जाता है। व्यायोगका मूल स्रोत दीप्त काव्यरस है।

धनंजयने भरत मुनिके लक्षणोंका आश्रय लेते हुए इतना और स्पष्ट किया है कि इसमें **गर्भ** और **विमर्श** सन्धियाँ नहीं होतीं। इसमें सग्राम स्त्रीके निमित्त नहीं होता (अस्त्रीनिमित्तसग्रामो) और इसका अभिनय अनेक पात्रोंके द्वारा होता है। शारदातनयने इस वातपर वल दिया है कि युद्ध स्त्रीके निमित्त न हो और पात्रसख्या दससे अधिक न हो–'अस्त्रीनिमित्तसग्रामो व्यायोग कथितो बुधे। नायकास्त्रिचतुष्पच भवेयुर्न दशाधिका।' (भा० प्र० ८ पृ० २४८)। सागरनन्दीने व्यायोगको ऋषिकन्यापरिणययुक्त, सम्भोगयुक्त, दीप्त वीर एव रौद्र रस सहित, करुण और शृंगारकी अतिशयतासे रहित, **मुख-निर्वहण** सन्धिसयुक्त, सस्फोट (युद्ध) सहित माना है।

अभिनवगुप्तका मत है कि व्यायोगका नायक देवता, नृपति अथवा ऋषि नहीं होना चाहिये। विश्वनाथ अभिनवगुप्तके मतसे सहमत नहीं हैं। उन्होंने इसका नायक प्रख्यात धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष माना है। उन्होंने 'सौगन्धिकाहरण'को व्यायोग माना है (सा० द० ६ २३१, ३३)। संस्कृत नाटकोंमें 'परशुराम-विजय', 'धनजयविजय', 'वीरविक्रम' इत्यादि व्यायोग प्रसिद्ध हैं। भासका 'मध्यम व्यायोग' इसका उत्तम उदाहरण है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने व्यायोगका सक्षेपमें इस प्रकार लक्षण दिया है—'युद्धका निदर्शन, स्त्री-पात्ररहित और एक ही दिनकी कथाका होता है। नायक कोई अवतार वा वीर होना चाहिये। ग्रन्थ नाटककी अपेक्षा छोटा। उदाहरण—'धनजयविजय'।'

गुलाव रायका मत है कि 'इसमें एक ही अक होता है। स्त्री पात्रोंका अभाव-सा रहता है, वीर रसका प्राधान्य होता है, मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियाँ रहती हैं।' —द० ओ०

व्याहत–दे०—'अर्थ दोष', तीसरा।

व्युत्पत्ति–दे०—'काव्य-हेतु', दूसरा।

व्रीडा–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी, भरतके अनुसार इसके मूलमें कोई अनुचित कार्य रहता है। गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लघन, उनके अनादर तथा प्रतिज्ञा न पूरी करनेसे उत्पन्न पश्चात्ताप और अपमान इसके विभाव हैं और मुख छिपाना, मुख नीचा करके सोचना, भूमिपर रेखा वनाना, वस्त्रोंको अथवा अँगूठीको छूना, नाखून काटना आदि इसके अनुभाव है (ना०शा० ७ ५८)। धनजयने इसका लक्षण दिया है—'दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्टर्याभावस्तमुन्नयेत्। साचीकृतागावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभि।' (द० रू० ४ २४)। दुराचार आदिसे व्रीड़ा उत्पन्न होती है। धाष्टर्याभाव (धृष्टताका अभाव) व्रीड़ाको पैदा करता है। टेढा मुँह करके अगोंको छिपाना, चेहरेका रग फीका पड़ जाना, नीचा मुँह कर लेना आदि इसके अनुभाव हैं। विश्वनाथने सक्षेपमें केवल इसे 'धाष्टर्याभाव' कहा है (सा० द० ३ १३५)। हिन्दी रीतिकालके आचार्योंने इसे 'लाज' नाम भी दिया है—'दुराचार अरु प्रथम रत, उपजै जिय सकोचु' (भाव० सचारी०)। इसमें 'प्रथम रत' महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसको यहाँ महत्त्व अन्य परम्परासे मिला है। अन्य कई आचार्योंने 'जहाँ कौन हूँ हेततें, उर उपजति अति लाज' (जगद्वि० ५३५) जैसा सामान्य लक्षण दिया है।

मैकड़गलने इसे प्रधान सवेगों(प्राइमरी इमोशन)में माना है। उसके अनुसार यह निषेधात्मक आत्मानुभूति (निगेटिव सेल्फ फीलिंग) है। यह मास-पेशियोंके सकोच, गतिमें शैथिल्य, सिर नीचा करना तथा तिरछे दृष्टिपातमें अभिव्यक्त होता है (सोशल साइकोलोजी पृ० ५५)। काव्यशास्त्र तथा मनोवैज्ञानिक ग्रन्थोंमें वर्णित अनुभावोंकी सख्याके अतिरिक्त काव्यग्रन्थोंमें कुछ और अनुभाव भी देखे जाते हैं। कपोलोंकी लाली, आँखोंकी ललाई, कर्णमूलोंका लाल होना आदि भी इसीके अनुभाव है।

रामचन्द्र शुक्लने व्रीड़ाको स्वतन्त्र विषयवाले भावोंमें माना है। लेकिन यह भी सचारी तभी हो सकता है जव किसी स्थायी भावके पोषकके रूपमें अभिव्यक्त हो। पद्माकरका व्रीड़ा सचारीका उदा०—'ये दिन योवनके तौ इतै सुन लाज इती तु करैगी कहा लै। नेक तौ देखन दै मुखचन्द सो चन्दमुखी मति घूँघट घालै।' (जगद्वि० ५३६)। सीताके रति स्थायीके व्रीड़ा सचारीका एक सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित है—'सुनि सुन्दर वैन सुधा रस साने सयानी है जानकी जान भली। तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुझाय कछू मुसकाय चली। तुलसी तिहिं औसर सोहैं सवै अवलोकत लोचन लाहु अली। अनुराग तड़ागमें भानु उदै विकसी मनो मजुल कज कली।' (कवितावली २)। —व० सिं०

शंका–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी भाव। भरतके अनुसार चोरी, राजाके प्रति अपराध आदि इसके कारण हैं और एक टक देखना, शंकित चाल, ओठ चाटना, मुँहका रंग बदलना, कम्पन, स्वरभंग आदि अनुभाव हैं (ना०शा० ७ : ३३)। विश्वनाथने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है—'परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शङ्कानर्थस्य तर्कणम्। वैवर्ण्य-कम्पवैस्वर्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत्।' (सा०द० ३ : १६१) अर्थात् दूसरेकी क्रूरता तथा अपने दोष आदिसे जहाँ अनर्थकी आशंका हो उसे शंका कहते हैं। वैवर्ण्य, कम्प, शोष (मुँह सूखना), स्वरभंग, टरकर इधर-उधर देखना आदि इसके अनुभाव हैं। हिन्दी रीतिकालमें इसीके आधारपर लक्षण दिया गया है। देवके अनुसार—'अपराधादि अनीति करि कर्पै करै छिपाय।' (भाव० सचारी०)। अन्योंकी परिभाषामें इसके दोनों भेद भी आ गये हैं—'के अपनी दुर्नीति कै दुवन क्रूरता मानि। आवै उरमें सोच अति' (जगद्वि० : ४७८)।

शंकाको रामचन्द्र शुक्लने सामान्यतः मनका वेग न मानकर वेदपाठियों, तार्किकों, मीमांसकों आदिकी धारणा, बुद्धि आदिका व्यापार माना है। पर उन्होंने काव्यमें इसका ग्रहण वहींतक स्वीकार किया है जहाँतक वह प्रत्यक्ष रूपसे भावोंके द्वारा प्रेरित प्रतीत हो। उन्होंने इसका और भी स्पष्टीकरण करते हुए लिखा—'शंका तो भयका ही वितर्कप्रधान रूप है, जो आलम्बनके दूरस्थ होनेपर प्रकट होता है। इसमें वेग नहीं होता और न आलम्बन उतना स्फुट होता है। इसका प्रादुर्भाव या तो स्वतन्त्र रूपसे होता है अथवा भयकी स्थायी दशामें; भावदशामें नहीं होता जब कि अनिष्टकारी या अनिष्ट बिलकुल पास आया रहता है।' (र० मी० पृ० २१४)। भूषणके इस वर्णनमें–'चौंकि चौंकि चकत्ता कहत चहूँधा ते यारो, लेत रहौ खबरि कहाँ लौं सिवराज है।' (शि०बा० ३४) शंकाका चित्रण है। इसी प्रकार पद्माकरका उदाहरण है—'लगै न कहुँ ब्रज गलिनमें, आवत जात कलंक। निरखि चौथको चाँद यह, सोचति ससुखि ससंक।' (जगद्वि० : ४८०)।

—व० मि०

शक्ति–यह अनन्तरूपा और अनन्त सामर्थ्यसम्पन्ना है। जगत् इसी शक्तिका परिणाम है, यही शक्ति जगद्-रूपमें परिणत होती है। शक्ति प्रलयकालमें छत्तीस तत्त्वात्मक जगत्को कवलीकृत करके अर्थात् अपने-आपमें स्थापित करके अव्यक्त रूपमें स्थित रहती है। वस्तुतः जगत् उसकी व्यवस्थाका ही नाम है। शक्तिकी सहायतासे ही परमशिव सृष्टि-व्यापारके सँभालनेमें समर्थ होते हैं। शक्तिसे रहित होनेपर शिव कुछ भी करनेमें असमर्थ हैं। (विस्तारके लिए दे०—'योगमाया', 'महामुद्रा', 'बौद्ध मार्गाएँ,' 'त्रिक दर्शन')।

शठ नायक–दे०—'नायक' (शृंगार)।

शतक–दे०—'मुक्तक-काव्य'।

शबर–वज्रयानी साधनामें नैरात्माकी प्रतीक शबरीके प्रति उन्मुख होनेके कारण साधकको शबर कहा जाता है।

—ध० वी० भा०

शबरी–दे०—'महामुद्रा'।

शब्द-दोष–वाक्यार्थके बोध होनेमें जो प्रथम दोष प्रतीत होते हैं वे शब्द-दोष हैं। शब्दके दोष १ पदांशगत, २ पदगत और वाक्यगत होते हैं। मम्मटने दोष-भेदका निरूपण परम्परया अपकर्षक दोष भेद अर्थात् पद-दोषसे प्रारम्भ किया है। पद-दोष त्रिविध शब्द-दोषों अर्थात् पद-पदैकदेश और वाक्य-दोषोंमेंसे प्रथम दोष है। मम्मटने कारिकामें पद-दोषके नाम और लक्षण दोनों एक साथ ही दिये हैं। प्राचीन आलंकारिकोंने इन दोषोंके नाम और लक्षण पृथक्-पृथक् दिये हैं, जैसे, भामहने पहले तो पद-दोषोंके नाम गिनाये हैं और तब उनके लक्षण दिये हैं। यही बात वामनकी भी है। मम्मटने पद-दोषके अन्तर्गत समासगत और असमासगत पद दोषकी भी मीमांसा की है। यह इनकी निजी विशेषता है। प्राचीन अलंकार-शास्त्रमें इस प्रकारकी मीमांसा नहीं की गयी है।

भामहने तीन प्रकारके दोष—१ सामान्य-दोष, २ वाणी-दोष तथा ३ अन्य दोष माने हैं। उनके इन तीन दोष-वर्गोंका पार्थक्यकारी आधार अधिक स्पष्ट नहीं है। वाणीके दोषोंसे उनका अभिप्राय सम्भवतः शब्द-दोषोंसे है। वामनने दोषके शब्दगत और अर्थगत भेद किये हैं। वामनकृत भेद तो चार हैं—पद-दोष, पदार्थ दोष, वाक्य-दोष और वाक्यार्थ-दोष, परन्तु उनका आधार मूलतः शब्द और अर्थ ही है। 'चन्द्रालोक'के टीकाकारने पद, पदांश, वाक्य, वाक्यांश, अर्थ, प्रबन्ध और रसमें रहनेके कारण दोष ७ प्रकारके बतलाये हैं। मम्मटने पदगत (शब्द) दोष १६ प्रकारके और वाक्य-दोष २१ प्रकारके माने हैं।

हिन्दीके आचार्योंमें केशव आदिने काव्य दोषोंकी विवेचना तो की है, पर शब्द-दोषकी परिभाषा नहीं दी है। इनमें काव्यसरोजकार श्रीपतिने शब्द और अर्थके दोषोंका अधिक सजगता और जागरूकतासे विभाजन किया है। भिखारीदास आदि जिन हिन्दी आचार्योंने 'काव्यप्रकाश'-को आधार माना है उनके विवेचन अधिक वैज्ञानिक और क्रमबद्ध हैं।

'शब्द-दोष' प्रत्यक्ष रूपसे 'शब्द' या पदसे सम्बन्ध रखते हैं, पर अप्रत्यक्ष रूपसे अर्थकी प्रतीति और रसकी अभिव्यक्तिसे ही उनका सम्बन्ध होता है। अतः वे रसके अपकारक ही होते हैं। विभिन्न आचार्य इन्हें वाणी दोष, शब्द-दोष आदि नामोंसे पुकारते हैं। इन दोषोंके नामोंके परिवर्तन करनेकी प्रवृत्ति भी इन लेखकों द्वारा अपनायी गयी है। कुछ आचार्योंकी परिभाषाएँ एवं उदाहरण स्पष्ट नहीं हैं।

वस्तुतः दोषोंका शब्द और अर्थके आधारपर विभाजन ही बहुत अधिक स्पष्ट नहीं हो सकता है। काव्यमें शब्द और अर्थ जिस अभिन्न रूपमें प्रयुक्त होते हैं उसमें इस प्रकार विभेद करना सरल नहीं है। फिर भी सापेक्षित दृष्टिसे शब्द और अर्थ-सम्बन्धी भेदको स्वीकार किया गया है। जहाँ दोष शब्दपर आश्रित हो, अर्थात् शब्दके पर्याय द्वारा दोषको दूर किया जा सके वहाँ शब्द-दोष होता है और जहाँ शब्दके पर्यायसे भी दोष बना रहे वहाँ अर्थ-दोष होता है। यह व्याख्या भी सदा ठीक नहीं उतरती,

फिर भी एक सीमातक मान्य है। मम्मट, विश्वनाथ आदिका विवेचन इसीपर आधारित है और हिन्दीके कुलपति, भिखारीदासने भी यही माना है। शब्दके अन्तर्गत पद-दोष और वाक्य-दोषका विभाजन भी मम्मट तथा उनके अनुवर्ती संस्कृत तथा हिन्दीके आचार्योंने किया है।

इस प्रकार शब्द-दोषके अन्तर्गत पद-दोष प्राय १६ माने गये हैं—१ श्रुतिकटु, २ च्युतसंस्कार (क) लिंग-दोष, (ख) वचन-दोष, (ग) कारक-दोष, (घ) सन्धि-दोष, (ङ) प्रत्यय-दोष, ३ अप्रयुक्त, ४ असमर्थ, ५ निहितार्थ, ६ अनुचितार्थ, ७ निरर्थक, ८ अवाचक, ९ अश्लील, १० ग्राम्य, ११ नेयार्थ, १२ क्लिष्ट, १३ सन्दिग्ध, १४ अप्रतीति, १५ अविमृष्ट विधेयांश, १६ विरुद्धमतिक्रम। इनके साथ ही वाक्य-दोष २१ माने गये हैं—१ प्रतिकूल वर्ण, २ हतवृत्त, ३ न्यून पद, ४ अधिक पद, ५ व्यर्थ-पदता, ६ कथित पद, ७ पतत्प्रकर्ष, ८ समाप्तपुनरुक्ति, ९ अर्द्धान्तान्तरैकवाचक, १० अभवन्मत सम्बन्ध, ११ अनभिहित सम्बन्ध, १२ अस्थानपदता, १३ संकीर्ण, १४ गर्भित, १५ प्रसिद्धित्याग, १६ भग्नप्रक्रम, १७ अक्रम, १८ अमतपरार्थता, १९ अन्वयदोष, २० क्रिया-दोष, २१ मुहावरा दोष। संस्कृत और हिन्दीकी प्रकृतिके अन्तरके कारण कुछ वाक्य दोष भिन्न हो गये हैं, जैसे, उपहतविसर्गहत, लुप्तविसर्ग आदि दोष हिन्दीमें नहीं हो सकते, उनके स्थानपर क्रिया, मुहावरा आदिका विशेष महत्त्व हो गया है।

पद-दोष—१ श्रुतिकटु—वामनने इस दोषको पद-दोष मानकर कष्ट अर्थात् श्रुतिविरस अथवा कर्णकटु नाम दिया है। भामहने इसे श्रुति कष्ट नामक वाणी-दोष माना है। 'साहित्यदर्पण'में दु श्रवता (दु श्रवत्वम्) नाम आया है। केशवने इसे कर्ण-कटु नाम दिया है। सुरति मिश्र, आचार्य श्रीपति तथा भिखारीदासने इसे 'श्रुतिकटुत्व' अथवा 'श्रुतिकटु' नामसे पुकारा है। यह पद-दोष मम्मटके अनुसार परुषवर्णता (का० प्र० ७ ५१ वृ०)का दोष है, अर्थात् जहाँ कानोंको खटकनेवाले शब्दोंका प्रयोग किया जाता है वहाँ श्रुतिकटु दोष होता है, यथा—'त्रिया अलक च्चच्छुस्रवा, डमै परत ही दृष्टि।' (का० नि० २३)। 'चच्छुस्रवा' और 'दृष्टि' दोनों ही शब्द दुष्ट हैं। 'श्रुति' शब्द सकारके समाससे दुष्ट हुआ है और 'त्रिया' शब्दका रकार दुष्ट है। यहाँपर तीनों भाँतिका श्रुतिकटु दिखलाया गया है। यह दोष शृंगार आदि कोमल रसोंमें ही होता है। वीर, रौद्र आदि रसोंमें यह गुण है। 'यमक' आदि अलंकारोंमें भी यह दोष नहीं होता है।

२ च्युतिसंस्कार—भरतका मत है कि जहाँपर अशब्द (व्याकरण-अशुद्ध शब्दका प्रयोग) हो उसे शब्दहीन कहते है (ना०शा० १७ ९४)। भामहके मतमें जहाँ व्याकरण-अशुद्ध तथा शिष्ट-जन द्वारा अस्वीकृत शब्दका प्रयोग हो वहाँ यह दोष होता है। दण्डी भी इसे स्वीकार करते हैं। भरत, भामह तथा दण्डी इसे शब्द-हीन नामसे पुकारते हैं। वामन इसे 'असाधु' नाम देते हैं। आचार्य श्रीपतिने इसे 'भाषाच्युत' कहा है। भिखारीदासने 'भाषाहीन' नाम दिया है। मम्मट और साहित्यदर्पणकार इसे च्युत-संस्कार और च्युतसंस्कृति नामसे पुकारते हैं। यह वह शब्द-दोष है, जिसमें किसी पदका व्याकरणके नियमके विरुद्ध रहना कहा जाता है (का० प्र० ७ ५१ वृ)। अभिप्राय यह है कि जहाँ वाक्यरचना व्याकरणके नियमोंके अनुकूल न हो वहाँ यह दोष होता है—'वा दिन वैसन्दर चहूँ वनमें लगी अचान। जीवत क्यों व्रज बाँचतो जौ न पीवतो कान।' (का० नि० २३)। यहाँपर वैस्वानरकौ बदलकर 'वैसन्दर' कहना, 'चहूँ दिशि'को घटाकर 'चहूँ' कहना तथा पीना शब्द जलके लिए न कहकर कानके लिए कहना रीति विरुद्ध होनेके कारण च्युतसंस्कार दोष माना गया है। यह कई प्रकारका होना है।

(क) **लिंग-दोष**—यह च्युतसंस्कार दोष उस स्थानपर होता है जहाँ लिंगप्रयोग सम्बन्धी अशुद्धियाँ पायी जाती हैं, यथा—'पीछे मघवा मोहिं साप दई।' 'अगद रक्षा रघुपति कीन्हों।' केशवके उक्त उदाहरणोंमें 'मघवा' तथा 'रक्षा' क्रमश पुंलिंग और स्त्रीलिंग हैं अत 'साप दयो' और 'रक्षा कीन्हीं' प्रयोग होने चाहिये थे। (ख) **वचन दोष**—यह उस समय होता है जब एक वचनके स्थानपर बहुवचन और बहुवचनके स्थानपर एकवचन पदका प्रयोग किया जाता है, यथा—'कह न सके कुछ बात प्राण था जैसे छुटता।' इस अवतरणमें 'छुटता था'के स्थानपर 'छुटते थे'का प्रयोग होना चाहिये था। (ग) **कारक दोष**—यह दोष वहाँ होता है, जहाँ कारक-प्रयोगकी त्रुटि पायी जाती है, जैसे—'करौं साधना एक परलोक ही कौ।' या 'रह्यौ रीझिकै वाटिकाकी प्रभाकौ।' केशवके इन अवतरणोंमें क्रमश 'प्रभा'के साथ तृतीया विभक्तिका चिह्न होना चाहिये था तथा 'साधना'के लिंगके अनुसार 'कौ'के स्थानपर 'की' प्रयोग ठीक होता। (घ) **सन्धि-दोष**-भरत, भामह और दण्डी इसे **विसन्धि** नामसे पुकारते हैं। वामन भी इसे स्वीकार करते हैं। वे इसे वाक्य-दोषके अन्तर्गत रखते हैं। सन्धि-दोष उस समय माना जाता है जिस समय सन्धि सम्बन्धी व्याकरण-नियमोंके विरुद्ध सन्धियाँ की जाती हैं, यथा—'मन लेहु मिलेव गहैं हम गैलो।' या केशवदास 'दुख दीबे लायक भयेव तुम।' उक्त पदोंमें क्रमश मिलेव=मिलै+अव तथा भयेव=भये+अवका प्रयोग किया गया है जो सन्धि-नियमोंके अपवाद हैं। यहाँ मिलैव तथा भयैव होना चाहिये था। (ङ) **प्रत्यय-दोष**—जहाँ अशुद्ध प्रत्ययका प्रयोग किया जाता है, वहाँ यह दोष होता है, यथा—'प्रेम शक्तिसे चिर निरस्त्र हो जावेगी पाशवता'। यहाँ पाशवताके स्थानपर 'पशुता' या 'पाशव'का प्रयोग होना चाहिये था। च्युतिसंस्कार सम्बन्धी दोषोंकी केशव तथा आधुनिक युगमें 'प्रसाद' और पन्तकी कवितामें भरमार है।

३ अप्रयुक्ति—वामनने इसे अप्रयुक्त दोष माना है। श्रीपतिने भी इसे अप्रयुक्त नाम दिया है। मम्मटके अनुसार वह दोष है जिसे किसी पदका, उसके कोश-व्याकरण आदि-से सिद्ध होनेपर भी कवियों द्वारा अप्रयुक्त होना कहा जाता है (का० प्र० ७ ५१ वृ०)। भिखारीदासके

अनुसार यह वहाँ होता है जहाँ यद्यपि शब्द तो सत्य (अथवा ठीक) प्रयुक्त हुआ हो, परन्तु कवियोंने उसका उल्लेख न किया हो, यथा—'करै न बैयर हर हि भी, कन्दरपके सर घाउ।' (का० नि० . २३)। यहाँ बैयर=सखी, भी=यह, कन्दर्प=कामको कहते हैं। ये पद व्रजभाषा और संस्कृत, दोनोंसे शुद्ध हैं, पर किसी कविने इनका प्रयोग नहीं किया है। इसमें अप्रयुक्ति दोष है। अथवा—'पुत्र जन्म उत्सव समय स्पर्श कीन्ह बहु गाय।' यहाँ दानके अर्थमें 'स्पर्श' पद प्रयुक्त हुआ है। स्पर्शका अर्थ दान भी है, पर दानके अर्थमें इसका प्रयोग काव्योंमें देखा नहीं जाता।

४ असमर्थ—सुरति मिश्र तथा श्रीपतिने असमर्थ-दोषका उल्लेख किया है। मम्मटके अनुसार वह दोष है, जिसे किसी पदका, उनके एक किसी अर्थमें (कोशादिमें) परिपठित होनेपर भी उस अर्थके प्रत्यायनमें असामर्थ्य कहा करते हैं (का० प्र० ७।५१ वृ०), अर्थात् यह दोष वहाँ होता है जहाँ यद्यपि शब्दका अर्थ तो होता है, परन्तु उस अर्थके बोध करानेकी शक्ति उस शब्दमें नहीं होती। यथा—'कान्ह कृपा फल भोगको करि जान्यो मतिवाम। असुरनाखि सुरपुर कियो, सुसुरसाखि निजधाम।' (का० नि० : २३)। 'सुरसाखि' कल्पतरुको कहते हैं। 'अकार'से यह अर्थ प्रकट किया गया है कि बिना कल्पतरुका सुरलोक कर दिया। सत्यभामाने कल्पतरु समेत अपना घर किया, वह कृष्णचन्द्रकी कृपाका फल है, पर यह अर्थ प्रकट न होना असमर्थ-दोष है। यह स्मरणीय है कि एकार्थवाची शब्दोंमें अप्रयुक्त-दोष होता है और अनेकार्थवाची शब्दोंमें असमर्थ-दोष। पहलेमें अर्थ किसी प्रकार दबता नहीं और दूसरेमें अभिप्रेतार्थ दब जाता है।

५ निहितार्थ—वामनने इसे गूढार्थ नाम दिया है। मम्मटके अनुसार यह उस स्थानपर होता है जहाँ किसी पदका अपने प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध, दोनों अर्थोंके बोधनमें समर्थ होनेपर भी, अप्रसिद्ध (अविवक्षित) अर्थमें ही प्रयुक्त होना कहा करते हैं (का० प्र० : ७ ५१ वृ०), अर्थात् जहाँ कविने किसी शब्दका प्रयोग अप्रसिद्ध अर्थमें किया हो, पर उससे प्रसिद्ध अर्थका ही बोध होता हो, वहाँ यह दोष होता है, यथा—'रे रे सठ नीरद भयो, चपला विधु चित लाउ। भव मकरध्वज तरनको, नाहिं न और उपाउ।' (का० नि० २३)। उक्त पद्यमें नीरद=बिना दाँत, चपला=लक्ष्मी, विधु=विष्णु तथा मकरध्वज=सागरके अप्रसिद्ध अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं, पर इन पदोंसे इनके प्रसिद्ध अर्थ बादल, चन्द्रमा, बिजली और कामदेवका अर्थ प्रकट होता है, अत यहाँ निहितार्थ-दोष है। अथवा—'विषमय यह गोदावरी, अमृतनके फल देति। केसव जीवनहारके, दुख अशेष हरि लेत।' केशवके इस वर्णनमें 'विष' तथा 'जीवन' शब्दका अर्थ पानी होता तो अवश्य है, पर यह अर्थ बहुत प्रसिद्ध नहीं है। अतएव यहाँपर निहितार्थ-दोष है। अप्रयुक्त विरल प्रयोगके कारण दूषित होता है। असमर्थ-दोषमें अर्थकी प्रतीति नहीं होती है और निहितार्थमें देरसे प्रतीति होती है। श्लेष और यमकादि अलंकारोंमें ये दोनों दोष नहीं माने जाते।

६. अनुचितार्थ—मम्मटके अनुसार यह वह दोष है जिसे किसी पदकी, अपने विवक्षित (प्रसिद्ध) अर्थमें ही, किसी प्रकारकी तिरस्कारबोधकता कहा करते हैं (का० प्र० ७ . ५१ वृ)। जयदेवका मत है कि जहाँ पद अनुचित अर्थका बोध कराये वहाँ अनुचितार्थ-दोष होता है। भिखारीदासके मतमें जहाँ उचित शब्दका प्रयोग न किया गया हो वहाँ यह दोष होता है, जैसे—'जेहि जावक अँखियाँ रँगे, दई नखक्षत गात। रे पिय हठ क्यों सठ करै, वाही पै किन जात॥' (का० नि० · २३), यहाँ 'रँगे'के स्थानपर 'दयो' न होने और साथ ही 'पिय'के साथ 'सठ'का प्रयोग करनेके कारण अनुचितार्थ दोष है।

७ निरर्थक—वामनने इस दोषको पद-दोषके अन्तर्गत **अनर्थक** नाम दिया है। मम्मट और विश्वनाथने इसे निरर्थक नामसे पुकारा है। यह वह दोष है, जिसे किसी पदका, जैसे कि च, हि, तु आदिका, केवल पादपूर्तिके लिए ही प्रयुक्त होना कहा जाता है (का० प्र० · ७ ५१ वृ०), अर्थात् जहाँ किसी छन्दको पूरा करनेके लिए कुछ शब्दोंका प्रयोग किया जाये, परन्तु वस्तुत उनका अर्थ कुछ भी न हो। यथा—'अरी हनत दृग तीरसों, तोहि पई रन ईर।' (का० नि० २३)। यहाँ 'ईर' शब्द निरर्थक होनेके कारण यह दोष है।

८ अवाचक—भामहने इसे अवाचक और वामनने **अन्यार्थ** नामसे पुकारा है। दण्डीने भी इसका उल्लेख किया है। 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' तथा 'काव्यनिर्णय'में भी इसका उल्लेख आया है। यह वह दोष है जिसे किसी पदका, उसकी विशिष्ट वाचकतासे (अर्थात् उसके विवक्षित धर्मरूप अर्थकी वाचकतासे अथवा धर्मिरूप अर्थकी वाचकतासे अथवा धर्मधर्मिरूप अर्थकी वाचकतासे) रहित होना कहा करते हैं (का० प्र० . ७ ५१ वृ०)। जयदेवके मतानुसार अवाचक-दोष उपसर्गके होने-न होनेपर निर्भर करता है। उनका मत है कि जिस उपसर्गके साहचर्यमें जिस धातुका जो अर्थ हो उस उपसर्गके बिना ही उस अर्थमें उसी धातुके प्रयोगको अवाचक-दोष कहा जाता है। भिखारीदासका कहना है कि अवाचक-दोषपूर्ण शब्द वह होता है, जिसका रीति-प्रतिकूल कुछ विशेष अर्थ मान लिया जाय, परन्तु उससे उस अर्थका बोध न होता हो। इन अर्थोंको कवि भी नहीं मानते। यथा—'प्रगट भयो लखि विषम हय, विष्णु धाम मानन्दि। सहसपान निद्रा तज्यो, खुलो पीत मुख वन्दि।' (का० नि० · २३)। यहाँ शरद्के लिए 'सप्तहय' न कहकर 'विषमहय' तथा 'कमल'के लिए 'सहस्रपत्र' न कहकर 'सहसपान' कहना अवाचक-दोष है। साथ ही 'पीतमुख' 'भ्रमर'के लिए तथा 'विष्णु धाम' 'आकाश'के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इनका प्रयोग किसीने नहीं किया है, अत ये अवाचक-दोष हैं। फूलनेके लिए 'निद्रा तज्यो' तथा आनन्दित होनेके लिए 'मानन्दि' कहना भी अवाचक-दोष है।

९ अश्लील—वामनने अश्लीलको **पदार्थ** नामक दोषके अन्तर्गत रखा है। भामह अश्लीलके घृणा अंगको श्रुतिदुष्ट तथा व्रीडाव्यंजकको अर्थदुष्टके अन्तर्गत मानते हैं। उन्होंने अश्लीलके अमंगलवाचक रूपको 'कल्पना-

दुष्ट' नाम दिया है। वामनने भी भामहके उक्त भेदोंको स्वीकार किया है। सूरति मिश्रके जुगुप्सा, व्रीडा और अमंगलका समाहार भी अश्लीलके अन्तर्गत हो जाता है। श्रीपतिने अश्लीलका विस्तारसे वर्णन किया है। मम्मट और विश्वनाथने अश्लील तीन प्रकारका माना है। यह वह दोष है जिसे किसी पदकी (अपनी अर्थबोधकताके अतिरिक्त) व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगलके भावोंकी व्यंजकताका दोष कहते हैं (का० प्र० ७ ५१ वृ०, सा० द० ७ ४ वृ०)। (क) व्रीडाव्यञ्जक—'धिक मैथुन आहार यन्त्र' अथवा 'खींचती उवहनी वह वरवस चोलीसे उभर-उभर कसमस, खिंचते सँग युग रस-भरे कलश।' (पन्त)। (ख) जुगुप्साव्यञ्जक—'केसनि ओरनि सीकर रमै, ऋक्षन कौ तमई जनु वमै।' (केशव)। यहाँ 'वमै' शब्दमें कुछ घृणा-सी हो जाती है। (ग) अमंगलत्व—'दुख देख्यौ ज्यों कालि, त्यों आजहु देखौ' (केशव), यहाँपर अमंगलत्वका भाव आ गया है। (घ) भिखारीदासने एक ही पद्यमें तीनों प्रकारके लक्षण देकर अपनी प्रतिभाका परिचय दिया है, यथा—'जीमूतन दिन पितृगृह, तियपग यह गुदरान।' (का० नि० २३)। इसमें 'जीमूत' वादलको कहते हैं। 'मूत' शब्द घृणास्पद है। पितृगृह पितृलोकको कहते हैं इससे अशुभ है। 'गुद' तथा 'रान' मार्ग (गुह्याग) और 'जघा'को कहते हैं इससे लज्जास्पद है। ये तीनों अश्लील-दोष हैं।

१० ग्राम्य—भरत द्वारा प्रतिपादित भिन्नार्थके दो रूपों (अ) असभ्य अथवा ग्राम्य अर्थका वाचक, (आ) अभीष्ट अर्थकी दूसरेमें परिणति हो जानेमेंसे प्रथम ग्राम्य दोषके अन्तर्गत आता है (ना०शा० १७ ९०)। वामनने भी ग्राम्य दोषका उल्लेख किया है। केशवका 'वधिर-दोष' ग्राम्यके अन्तर्गत आ जाता है। सूरति मिश्र और श्रीपतिने भी इस दोषका उल्लेख किया है। मम्मट और विश्वनाथके मतानुसार यह वह दोष है जिसे किसी पदकी, केवल पामर जन प्रसिद्ध अर्थकी वाचकता कहा करते हैं (का० प्र० ७ ५१, सा० द० ७ ४), अर्थात् जहाँ केवल लोकप्रसिद्ध शब्दोंका ही काव्यमें प्रयोग हो वहाँ यह दोष होता है, जैसे—'धनु है यह गौरमदाइन नाहीं।' (केशव)। 'गौरमदाइन' (इन्द्रधनुष) केवल आधे बुन्देल-खण्डमें ही प्रचलित है, अत यह ग्राम्य दोष है अथवा—'क्या झल्लै टुक गल्ल सुनि, भल्लर भाइ।' (का० नि० . २३), यहाँ 'झल्लै', 'टुक', 'गल्ल', 'भल्लर' और 'भाइ' शब्द लोकमें ही प्रसिद्ध हैं, काव्यमें नहीं। अत यह ग्रामीण दोष है। जब कोई ग्रामीण व्यक्ति अपनी भणित-भंगिमासे अपनी मनोवृत्ति प्रकट करता है तब ग्राम्य दोष गुण हो जाता है।

११ नेयार्थ—भामहने इसे सामान्य दोषके अन्तर्गत माना है। वामनने इसे पदार्थ दोषके अन्तर्गत स्वीकार किया है। भरतके गूढार्थका एक अश नेयार्थके अन्तर्गत आ जाता है (ना०शा० १७ ८९)। मम्मट और विश्वनाथ इस दोषकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि जो किसी निषिद्ध लाक्षणिक शब्दके प्रयोगमें दिखलाई दिया करता है, क्योंकि बहुतसे ऐसे पद हैं जो रूढि या प्रयोजनके अभावमें लाक्षणिक रूपसे प्रयोग योग्य नहीं हैं (का० प्र० ७ ५१ वृ०; सा० द० ७ . ४ वृ०)। कुछ ऐसे भी पद हुआ करते हैं जो किसी रूढि या किसी प्रयोजनके सर्वथा अभावमें कभी भी लाक्षणिक नहीं बनाये जा सकते, अर्थात् निषिद्ध लाक्षणिक पद कहे जाते हैं (जैसे कि 'रूपो घट'में 'रूप' पद 'रूपवान्' अर्थमें कभी भी लाक्षणिक नहीं कहा जा सकता)। इन रूढि और प्रयोजनवती लक्षणाओंको छोड़कर शक्तिहीन होनेसे और लक्षणाएँ स्वीकार नहीं की जाती हैं। इस प्रकार जो रूढि और प्रयोजनवती लक्षणासे निम्न लाक्षणिक शब्द हैं उन्हींकी सज्ञा नेयार्थ है, जैसे—'चन्द्र चारि कौड़ी लहै, तव आनन छवि देखि' (का० नि० २३), अर्थात् तुम्हारे मुखके सौन्दर्यको देखकर चन्द्रमा चार कौड़ीका हो जाता है। यहाँ अभिप्राय यह है कि चन्द्रमा तेरे मुखकी समता नहीं कर सकता।

अबतक जो दोष गिनाये गये हैं वे तो 'समास' तथा 'असमास', दोनों अवस्थाओंमें पदके दोष हैं, किन्तु आगे क्लिष्टसे 'विरुद्धमतिकृत'तक जो दोष हैं वे 'समास'में पदके दोष समझे जाने चाहिये।

१२ क्लिष्ट—क्लिष्टको भरतने **गूढार्थ** नाम दिया है (नाट्य० १७ ८९), जिसका एक अंश नेयार्थमें आता है। दण्डीने इसका उल्लेख नहीं किया है। भामहने क्लिष्ट नामसे ही पुकारा है। भामहका गूढ शब्द भी क्रमश क्लिष्ट एव नेयार्थके अन्तर्गत आता है। वामन, मम्मट, विश्वनाथ, सूरति मिश्र आदि लेखकोंने भी इस दोषको स्वीकार किया है। क्लिष्ट वह दोष है, जिसे किसी पदका विलम्बसे अपने अर्थका प्रत्यायन करना कहा जाता है (का० प्र० ७ ५१ वृ०, सा० द० ७ ४ वृ०), अर्थात् प्रतीतिमें बाधा होनेके कारण कष्ट हो तथा जहाँ अर्थ विलम्बसे ध्यानमें चढे। भिखारीदास द्वारा दिया हुआ लक्षण अपेक्षाकृत शिथिल है। उदा०—'वेद नखत ग्रह जोरि अरध करि, सोइ बनत अब खात।' (सूर)। यहाँपर वेद ४+नखत २७ (नक्षत्र)+ग्रह ९=४० का अर्ध (अर्द्ध) =२० (बीस) = विष। इसके अर्थको समझनेमें कठिनाई होती है अत यहाँपर क्लिष्ट दोष है। अथवा 'खग पति पति तिय पितु वधू, जल समान तुव बैन।' (का० नि० २३), यहाँ खगपति (गरुड)के स्वामी (विष्णु)की पत्नी (लक्ष्मी)-के पिता (सागर)की पत्नी (गगा)के जलके समान बैन कहकर क्लिष्ट रीतिसे गगा-जल कहा गया है, अत क्लिष्ट-दोष है।

१३ सन्दिग्ध—भामह और दण्डीने इसका नामकरण **संशय** किया है। उनके मतमें यह वहाँ होता है जहाँ स्पष्टीकरणके लिए प्रयुक्त वचन सशय उत्पन्न करते ह। भामह इसे अन्य दोषके अन्तर्गत मानते हैं। भरतके भिन्नार्थ नामक दोषके दो रूप हैं—१ जहाँ ग्राम्य अर्थका वाचक प्रयोग हो, २ जहाँ अभीष्टार्थकी दूसरेमें परिणति हो जाय। इसका दूसरा अश सन्दिग्धके अन्तर्गत आ जाता है (ना० शा० १७ . ९०)। वामनने सन्दिग्ध दोषको वाक्यार्थ-दोष-के अन्तर्गत रखा है। सूरति मिश्र और आचार्य श्रीपतिने इसे स्वीकार किया है। सन्दिग्ध दोष शब्दके अतिरिक्त अर्थगत भी होता है। अत इन आचार्यों द्वारा निरूपित सन्दिग्ध

दोष अर्थगत सन्दिग्धके भी अन्तर्गत आ जाता है। मम्मटके मतसे यह वह दोष है, जिसे किसी पदका ऐसे दो अर्थोंका उपस्थापक होना कहा जाता है, जिनमें सन्देह बना रहता है कि दोनोंमेंसे कौन वस्तुतः तात्पर्यभूत अर्थ है (का० प्र० . ७ : ५१ वृ०)। जयदेवका कथन है कि जहाँ एक पदसे दो अर्थोंका बोध हो वहाँ सन्दिग्ध-दोष होता है (चन्द्रालोक : पृ० ३१)। भिखारीदासने इन्हींके अनुकरणपर माना है कि जिस शब्दके अर्थके विषयमें सन्देह बना रहे वहाँ सन्दिग्ध दोष होता है, यथा—'वन्द्या तेरी लक्ष्मी, करै वन्दना तासु' (का० नि० . २३)। 'वन्द्या'के 'वन्दी' तथा 'वन्दनीया' अर्थ होते हैं। लक्ष्मीकी वन्दना कहना उचित है अतः वन्दनीयाके स्थानपर 'वन्द्या' कहनेसे सन्दिग्ध-दोष है। अथवा—'या गिरिपर सुग्रीव नृप, ता नग मन्त्री चारि। वानर लई छँड़ाय तिय, दीन्हों वालि निकारि।' (केशव)। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी वानरने स्त्रीको छीन लिया तथा बेचारे बालिको निकाल दिया। अतः सन्दिग्ध दोष है। व्याज-स्तुति अलंकार आदिमें वाच्यार्थके महत्त्वसे सन्दिग्ध-दोष नहीं रह जाता।

१४ अप्रतीत (अप्रतीति)—वामनने इसे अप्रतीत नाम देकर कहा है कि जहाँ अप्रचलित पारिभाषिक शब्दका प्रयोग किया जाता है वहाँ यह दोष होता है (का० सू० : २ . १ . ८)। मम्मटके अनुसार जिसे किसी पदकी, केवल किसी शास्त्रप्रसिद्ध (पारिभाषिक) अर्थकी बोधकता कहा करते हैं (न कि लोकप्रसिद्ध सामान्य अर्थकी) (का० प्र० . ७ . ५१ वृ०), अर्थात् अप्रतीत पद वह है जो केवल एक ही शास्त्रमें प्रसिद्ध हो, यथा—'जगजीव जतीनकी छूटी तटी।' (केशव)। 'तटी' हठयोगका पारिभाषिक शब्द है, जिसका प्रयोग त्राटक मुद्राके अर्थमें होता है, अतः इसका प्रयोग दोष है। अथवा—'रे शठ कारे चोरके, चरननसों चित लाउ।' (का० नि० २३)। 'कारे चोर' (श्रीकृष्ण) कालिदासके ही काव्यमें सुना है, अन्यत्र नहीं, वह भी शृंगारमें, अतः यहाँ यह दोष है। अप्रयुक्तमें ज्ञाता, अज्ञाता, दोनोंको अर्थप्रतीति नहीं होती, पर अप्रतीतमें ज्ञाताको अर्थकी प्रतीति हो जाती है। यदि वक्ता और श्रोता दोनों शास्त्रज्ञ हुए तो वहाँ यह दोष नहीं माना जाता।

१५ अविमृष्टविधेयांश—मम्मट, विश्वनाथ, भिखारीदास आदिने इस दोषका उल्लेख किया है। यह वह दोष है जिसे किसी विधेयांशके प्रत्यायक भी पदका समासमें पड़े रहनेके कारण प्रधानतया विधेयांशका निर्देशक न होना कहा जाता है (का० प्र० : ७ . ५१ वृ०)। मम्मटका उक्त कथनसे अभिप्राय यह है कि जिस पदमें विधेयरूप अंश प्रधानतया अनुक्त ही रहकर छूट जाय (अर्थात् जहाँपर विधेय समासके अन्तर्गत होकर छिप जाय या अप्रधान बन जाय)। जयदेवके अनुसार जहाँ दूसरे पदके साथ समास करनेसे प्रधान पदकी प्रतीति स्फुट न हो। यथा—'क्यों मुख हरिलखिचमृगी, रहिहै मनमें मान।' (का० नि० २३), यहाँ हरिमुख मृगी विधेय है। इसमें उक्त दोष है। वाक्यके दो अंश होते हैं—१ उद्देश्यभूत अंश और २ विधेयभूत अंश। इनमें मीमांसा दर्शनकी दृष्टिसे विधेयभूत अंश अथवा साध्यांशकी प्रधानता रहा करती है। जहाँ यह अंश दब जाता है वहाँ यह दोष होता है।

१६ विरुद्धमतिकृत—मम्मटके अनुसार इसमें अर्थकी प्रतीति वर्णित विषयके विरुद्ध होती है (का०प्र० ७ ५४ वृ०)। जयदेवके मतानुसार जहाँ अपराधीन (जो पराधीन न हों) जैसे शब्दोंसे इस अर्थके साथ ही साथ अपर-अधीन (दूसरोंके अधीन) जैसे अर्थोंका बोध हो, अर्थात् जो वर्णित विषयके विरुद्ध अर्थकी प्रतीति करावें वे इस दोषके अन्तर्गत आते हैं। यथा—'भाल अम्बिकारमनके, बाल सुधाकर देख।' (का० नि० : २३)। यहाँ 'अम्बिकारमन'का अर्थ महादेवके अतिरिक्त एक विरुद्ध अर्थ 'माताके साथ रमण करनेवाला व्यक्ति' भी भासित होता है। साथ ही अम्बिका माताको कहकर नीचे सुधाकर ब्राह्मणको कहना विरुद्ध-मतिकृत हुआ। अथवा—'काम गरीबनके करैं, जे अकाजके मित्र। जो माँगिय सो पाइये, ते धनि पुरुष विचित्र।' (वही)। इसमें जो-जो बातें स्तुतिकी कही गयी हैं उन सबमें निन्दा प्रकट है।

वाक्य-दोष—१ प्रतिकूलवर्ण—श्रीपतिने इसका उल्लेख किया है। साहित्यदर्पणकारने इसका नाम प्रतिकूलत्व माना है। यह वाक्यगत शब्द-दोष है। प्रतिकूल-वर्णत्व कहते हैं रसाभिव्यंजक वर्णोंके विपरीत (अर्थात् रसास्वादके उद्बोधके प्रतिबन्धक) वर्णोंके सद्भावको (जिनसे रसात्मक भी वाक्य खटकने लगता है)। मम्मटका भाव है कि किसी रसका वर्णन करनेमें जो-जो वर्ण गुणप्रद तथा अपेक्षित होते हैं उनसे भिन्न वर्ण, जो किसी रसके बाधक होते हैं, प्रतिकूल वर्ण कहे जाते हैं (का० प्र० : ७ ५४ वृ०)। भिखारीदासने इसे प्रतिकूलाक्षर नामसे पुकारा है।—'पिय तिय लुट्टत हैं सुरस, ठट्टि लपट्टि लपट्टि' (का० नि० . २३). इसमें लुट्टत, ठट्टि, लपट्टि शब्दोंका प्रयोग शृंगारके प्रसंगमें उचित नहीं है। यदि इस प्रकारकी टवर्ग-प्रधान शैलीका प्रयोग रौद्र आदि रसोंमें किया जायगा तो वह गुण होगा।

२ हतवृत्त शब्द—भरतने इस दोषको विषम नामसे पुकारा है (ना०शा० . १७ ९४)। भामह, दण्डी तथा वामन इसे भिन्नवृत्त कहते हैं। इन्होंने यतिभ्रष्ट नामक जिस दोषकी कल्पना की है वह भी एक प्रकारसे भिन्नवृत्तके अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। केशवके 'पंगु,' 'यति भंग', छन्दोभंग-दोषोंका इसमें सम्मिश्रण हो जाता है। सूरति मिश्र तथा श्रीपति द्वारा उल्लिखित यति-भंगका समावेश हतवृत्तमें होता है। मम्मटके अनुसार 'हतवृत्तता'-का अभिप्राय ऐसी छन्दोरचनासे है जो कि छन्द-शास्त्रमें प्रतिपादित वृत्तलक्षणके अनुसार ठीक होनेपर भी या तो 'अश्रव्य' हो (सुननेमें खटका करे) या 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु' हो (जिसके पादान्तमें ऐसा लघु हो जो गुरु, जैसा कि उसे चाहिये, न हो रहा हो) या तो 'रसाननुगुण' प्रकृत रसके प्रतिकूल हो (का० प्र० . ७ ५४ वृ०)। चन्द्रालोककारने यह दोष वहाँ बतलाया है जहाँ सुननेमात्रसे ही छन्दका दोष प्रतीत हो जाय। 'काव्यनिर्णय'में जहाँ छन्दोभंगकी प्रतीति हो अथवा जहाँ रीत्यनुसार 'सुमिल' (यथावत्)

पदोंका अभाव हो वहाँ हतवृत्त दोष माना गया है। यथा—'लाल कमल जीत्यो सुभ्रूप, भानुललीके चर्न।' (का० नि० २३)। इस उदाहरणमें 'वृषभानु'के दो अक्षर पूर्वचरणमें और दो उत्तरचरणमें है तथा 'दग रजन जघन कदलि, रदन मुक्त लिय जीति।' (वही)। इसमें दग और दाँत कहकर तब जघ कहना चाहिये था, अत यह हतवृत्त-दोष है। स्वच्छन्द छन्द योजनाके आधुनिक समयमें यह दोप दोष नहीं रह गया है।

३ न्यूनपद (न्यूनपदत्व)—हिन्दी आचार्योंमें सूरति मिश्र, भिखारीदास आदिने इसका वर्णन किया है। मम्मट यह दोष वहाँ मानते है जहाँ अभिप्रेत अर्थके वाचक किसी पदका प्रयोग न किया जाय (का०प्र० ७ ५४ वृ०)। यथा—'पानी पावक पवन प्रभु, ज्यों असाधु त्यों साधु।' (केशव)। यहाँ अर्थ तो यह है कि पानी, पावक, पवन और प्रभु साधु और असाधु दोनोंके प्रति एक-सा व्यवहार करते हैं, परन्तु वाक्यमें पर्याप्त शब्दोंकी न्यूनतासे ऐसा अर्थ सरलतासे नहीं निकल पाता। अथवा—'राजे तिहारे खङ्गतें, प्रगट भयो जस फूल।' (का० नि० २३)। यहाँ कवि खड्गलता कहकर यशको फूल कहना चाहता था, यह न्यून पद-दोष है। तथा—'उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि। प्रीति परिच्छा तिहुनकी वैर वितिक्रम जानि।' इसमें 'पाहन', 'सिकता', 'पानि'के आगे रेखा शब्द छूट गया है। इसका अध्याहार किये विना अर्थ नहीं बैठता।

४ अधिकपद (अधिकपदता)—सूरति मिश्र और भिखारी-दासने इस दोषका उल्लेख किया है। मम्मट, जयदेव और विश्वनाथने भी इसका वर्णन किया है। यह दोष वहाँ होता है जहाँ वाक्यमें किसी ऐसे पदका प्रयोग हो जो अविवक्षितार्थ हो, अर्थात् अनावश्यक पदका प्रयोग किया गया हो (का०प्र० ७ ५४ वृ०, सा० द० ७ ५ वृ०)। यथा—'बहु ऋक्ष कगूरन लागि गये। तब स्वर्न लक महँ सोम भई। जनु अग्नि ज्वाल महँ धूम मई।' यहाँ 'मई' शब्द व्यर्थ है। अथवा 'है तिहारे शत्रुको; खड्गलता अहिराज।' (का० नि० २३)। यहाँ लता शब्द अधिक है। अधिकपद कहीं-कहीं अर्थविचारसे गुण भी हो जाता है।

५ व्यर्थपदता—भरतका अर्थहीन और भामह तथा दण्डीका व्यर्थ-दोप व्यर्थपदतामें खप जाते हैं। सूरति मिश्रका निरर्थक और श्रीपतिका अनर्थक-दोप भी व्यर्थ-पदताके अन्य नाम हैं। यह वाक्य-दोष उस स्थानपर होता है जहाँ व्यर्थ पद ठूँस दिये जाते है। यथा—'व्यथित रानी उड़ गयी सब स्नेह सौरभ स्फूर्ति।' इसमें 'स्फूर्ति' शब्द व्यर्थ है। अधिकपदता तथा व्यर्थपदतामें अन्तर यह है कि प्रथम दोष सम्बद्ध होनेसे खटकते नहीं हैं जितना कि असम्बद्ध होनेसे दूसरा दोष खटकता है।

६ कथितपद (कथितपदता)—भरतने इसे एकार्थ नाम दिया है। जहाँ एक अर्थके लिए अनेक अनावश्यक शब्दोंका प्रयोग हो वहाँ यह दोष होता है (ना० शा० १७ ९०)। भामह तथा दण्डीने भी भरत द्वारा दिये हुए लक्षण स्वीकार किये है। साथ ही उन्होंने कहा है कि जहाँ पूर्वकथनकी विना किसी वैचित्र्यके शब्द अथवा अर्थमें आवृत्ति हो वहाँ यह दोष होता है। वामनने इस दोपको वाक्यार्थके अन्तर्गत माना है। केशवने शब्दगत और अर्थगत पुनरुक्तका उल्लेख किया है। सूरति मिश्र और श्रीपतिने भी इस दोषको स्वीकार किया है। भिखारीदासने इसका उल्लेख किया है। इसका दूसरा नाम 'पुनरुक्ति'-दोष है। साहित्यदर्पणकारने यही नाम स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार कथितपदता उस समय होती है जब किसी वाक्यमें विना किसी प्रयोजनके समानार्थक अथवा एक समान वर्णोंकी बार-बार आवृत्ति की जाय (का० प्र० ७ ५४ वृ०)। साराश यह है कि एक ही शब्द बार-बार आये, तब यह दोष होता है, यथा—'जो तिय मो मन लै गयी, कहाँ गयी वह तीय' (का० नि० २३)। यहाँ 'तिय' शब्द दो बार आनेसे कथितपद दोष है। अथवा—'जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना। जहाँ कुमति तहँ विपति निधाना।' (तुलसी), इसमें प्रथम पंक्तिसे ही दूसरीका भी अर्थ निकल आता है, अत यहाँ कथितपद दोष है। 'पुनरुक्तवदाभास','लाटानुप्रास' अलकारों तथा 'अर्थांतरसंक्रमितवाच्य' ध्वनिमें कथित दोप नहीं होता है, वरन् गुण हो जाता है।

७ पतत्प्रकर्ष (पतत्प्रकर्षता)—'काव्यप्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' तथा इसके आधारपर रचे गये हिन्दी काव्य-ग्रन्थोंमें इस दोषका विवेचन मिलता है। इस दोषका तात्पर्य है वाक्यमें प्रकर्षके, चाहे वह अलकार सम्बन्धी हो अथवा बन्ध-विन्यास सम्बन्धी, उत्तरोत्तर शिथिल हो जानेका (का० प्र० ७ ५४ वृ०)। जयदेवका कथन है कि जहाँ पूर्व भागमें आरम्भ किये गये अनुप्रासादिका उत्तरभागमें अभाव हो, यथा—'कान्ह कृष्ण केसव कृपा, सागर राजिवनैन।' (का० नि० २३), यहाँ 'क'से आरम्भ होनेवाले शब्दोंका अनुप्रास रूपमें अन्ततक निर्वाह नहीं हो सका है। यह पतत्प्रकर्ष दोष है। एक ही पद्यमें विषयान्तर होनेसे पतत्प्रकर्ष दोष नहीं रह जाता है।

८ समाप्तपुनरुक्ति (समाप्तपुनराप्त)—मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव, भिखारीदास आदि आचार्योंने इसके विभिन्न नाम दिये हैं, यथा 'समाप्तपुनराप्त', 'समाप्तपुनराप्तता' आदि। यह वह दोप है जिसे किसी वाक्यमें, उसके क्रिया-कारक आदिसे समन्वित रहनेपर भी, बिना किसी विशेष विवक्षाके, पुन उससे समन्वयकी आकाक्षा रखनेवाले पदोंका उपादान कहा जाता है (का० प्र० ७ ५४ वृ०), अर्थात् जहाँ किसी विषयको समाप्त करके फिर उसे आगे बढाया जाय—'ब्रह्मादि देव जब विनय कीन्ह, तट क्षीर सिन्धुके परम दीन' (केशव)। 'तट क्षीर सिन्धुके' यहाँपर वाक्य समाप्त हो गया है। 'परमदीन'के द्वारा यह वाक्य फिर उठाया गया है, अत यह उक्त दोप है। यथा—'डाभ बराये पग धरौ, ओढौ पट अति घाम। सियहि सिखायो निरखतै, दग जल भरि मग बाम।' (का० नि० २३)। कवि यहाँ निरखकर शिक्षा देना कहना चाहता था, यह समाप्तपुनराप्त दोष है।

९ अर्द्धान्तरैकवाचक (अर्द्धान्तरैकवाचकत्व)—मम्मट, विश्वनाथ आदिने इसका विवेचन किया है। इनके अनुसार इस दोपका अभिप्राय है किसी वाक्यके प्रथमार्धका ऐसा

होना जो कि द्वितीयार्धगत किसी पदके द्वारा पूर्ण हुआ करे (का० प्र० ७ : ५४ वृ०)। यह अर्द्धान्तरैकवाचकत्व दो दृष्टियोंसे देखा जा सकता है। प्रथम, जिनमें प्रथमार्ध वाक्य ऐसा लगे जो द्वितीयार्धगत किसी वाचक पदकी आकाक्षा करता प्रतीत हो और दूसरा जिसमें द्वितीयार्ध वाक्य ऐसा प्रतीत हो जिसे प्रथमार्धगत किसी वाचक पदकी आवश्यकता रहा करे। भिखारीदासने इस दोषको चरणान्तर्गत नाम देकर बताया है कि जहाँ कोई शब्द दो चरणोंके बीच पड गया हो। यथा—'गेयन लीन्हें आज मे, कान्है देख्यों साँझ।' (का० नि० २३)। यहाँ 'कान्है देख्यों आज मे, गैयन लीन्हे साँझ' होना चाहिये। अत उक्त पदमें यह दोष है। अतुकान्त एव स्वच्छन्द छन्दमें अधिकतर ऐसे ही वाक्य प्रयुक्त होते हैं, अत वहाँ यह दोष नहीं होता।

१० अभवन्मतसंबंध (अभवन्मतयोग)—मम्मटके अनुसार इसका अर्थ है किसी वाक्यमें पदार्थोंके परस्पर अभीष्ट सम्बन्धका अविद्यमान रहना (का० प्र० ७ ५४ वृ०)। इस दोषकी सम्भावना इन कारणोंसे होती है—विभक्तिभेद, न्यूनता, आकाक्षा, विरह, वाच्य और व्यग्य अर्थोंमें विवक्षित सम्बन्धका अभाव, समासमें किसी पदकी उपस्थितिमें अन्य पदके साथ उसके अभीष्ट सम्बन्धका विरह और व्युत्पत्ति विरोध। चन्द्रालोककारका कथन है कि अभवन्मतयोग वहाँ होता है जहाँ पदोका वह सम्बन्ध न हो जो कविको अभिप्रेत हो। यथा—'प्रान प्रानपति विनु रह्यो अब लौं धिग ब्रजलोग।' (का० नि० : २३), यहाँ प्राणको धिक् कहना था, पर ब्रजलोगको कहा है, अत यह दोष है। अथवा—'बसन जोन्ह मुकता उडुक, तियनिसिके मुखचन्द। झिल्लीगन मजीररव, उरज सरोरुह वन्द।' (वही)।

११ अनभिहितवाच्य—मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव, भिखारीदास आदिने इसका विवेचन किया है। यह दोष वहाँ होता है जहाँ वाक्यमें आवश्यक रूपसे प्रयोग योग्य (उद्देश्यविधेयभावादिद्योतक विभक्ति अथवा निपात आदि रूप) अप्रयुक्त रह जाये (का० प्र० ७ ५४ वृ०)। भिखारीदासने इसका नाम अकथित-कथनीय रखते हुए कहा है कि जहाँ अवश्य कहनेवाली बात हो, किन्तु उसका उल्लेख न किया जाय, यथा—'प्रीतम पाइ लग्यो नहीं, मान छोडती तीय' (का० नि० २३)। यहाँ मान छोडना तो कहा है, पर पाँव लगना नहीं, अत यह अकथित-कथनीय दोष है, अथवा—'सिरण सोहै पीतपट, चन्दनको रँग भाल। पान लीक अधरन लगी, लई नयी छवि लाल।' (वही)। नयी छवि कहकर नीलपट, जावकका रग, श्याम लीक न कहना अनभिहितवाच्य-दोष है। न्यूनपद-दोषमें वाचक पदकी और अनभिहितवाच्यमें द्योतक पदकी आवश्यकता होती है।

१२ अस्थानपदता—मम्मट और विश्वनाथने इसका 'अपदस्थपदता' तथा 'अपदस्थत्व' नाम दिया है। यह दोष वहा होता है जहाँ वाक्यमें किसी पदका अपने उचित स्थानके अतिरिक्त अन्यत्र प्रयोग किया जाय (का० प्र० ७ : ५४ वृ०, सा० द० ७ ८)। यथा—'है यों कुटिल गही अली, अलकै मो मन मांहि।' (का० नि० २३)। इस पद्यमें कुटिल शब्द अलकके पास न रहनेसे अस्थानपदता दोष है।

१३ संकीर्ण—मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार इसका अर्थ है किसी वाक्यके पदोंका किसी दूसरे वाक्यमें प्रविष्ट होते प्रतीत होना (का० प्र० . ७ : ५४ वृ०)। अर्थात् किसी वाक्यकी ऐसी रचना, जिसके पदका किसी दूसरे वाक्यके पदसे व्यवधान दिखाई दिया करे। भिखारीदासके मतमें यह दोष वहाँ होता है जहाँ दूरस्थ शब्दोंसे ज्यों त्यों करके अभिप्रेत अर्थकी प्रतीति हो जाय। यथा—'तजि प्रीतम पाँइन पर्यो, अजहूँ लखि तिय मान।' (का० नि० : २३)। उक्त अवतरणका अर्थ है 'प्रीतम पाँय परो लखकर मान तज।' अत 'लखि प्रीतम पाँयन पर्यो, अजहूँ तजु तिय मान' होना चाहिये, अन्यथा सकीर्ण पद दोष है।

१४ गर्भित (गर्भितत्व)—मम्मट और विश्वनाथके अनुसार इसका अभिप्राय है किसी वाक्यकी ऐसी रचना जिसके बीचमें कोई दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो रहा हो (का० प्र० ७ ५४ वृ, सा० द० ७ ८)। अर्थात् जहाँ किसी वाक्यके बीचमें अन्य वाक्य देकर वाक्यरचना की जाय। यथा—'साधु सग औ हरि भजन, विषतरु यह ससारु। सकल भाँति दुखसों भर्यो, द्वै अमृत फल चारु।' (का० नि० २३)। इसमें गर्भित दोष है। इसका शुद्ध उदाहरण इस प्रकार होना चाहिये—'सकल भाँति दुखसों भर्यो, विषतरु यह ससारु। साधु सग औ हरि भजन, द्वै अमृत फल चारु।'

१५. प्रसिद्धित्याग—मम्मटने इसे 'प्रसिद्धिहतत्व' कहा है, पर विश्वनाथने यही माना है। केशवने इसका नाम 'अन्ध-दोष' रखा है। मम्मटका मत है कि कवि प्रसिद्धिका अभिप्राय है कविजनके प्रयोगनियमका और इस प्रयोग-नियमका उल्लघन है 'प्रसिद्धिहतत्व' (का० प्र० ७ ५४ वृ०)। भिखारीदासके अनुसार इसका नाम है प्रसिद्धिहत। यह दोष वहाँ होता है जहाँ प्रसिद्ध मत (अर्थात् वह मत जो काव्य तथा लोकमें मान्य है)का परित्याग कर दिया जाय। यथा—'कूजि उठे गोकरभ सब, जसुमति सावक देखि' (का० नि० २३)। कूजना पक्षियोंका प्रसिद्ध है, गोकरभ गायके बछड़ेसे तात्पर्य है, किन्तु करभ हाथीके बच्चेको कहते हैं। सावक (शावक) मृगादिके बच्चेको कहते हैं, मनुष्यके बालकको नहीं। इन्हीं कारणोंसे उक्त पद्यमें यह दोष है। अप्रयुक्त-दोष सर्वथा अप्रचलित शब्दोंके प्रयोगमें होता है और जहा प्रसिद्धित्यागसे चमत्कारका अभाव हो जाता है वहाँ प्रसिद्धित्याग दोष होता है।

१६ भग्नप्रक्रम—मम्मट तथा विश्वनाथ द्वारा निर्दिष्ट इस भेदको भिखारीदासने 'प्रकरणभग' माना है। मम्मटके अनुसार भग्नप्रक्रमताका अभिप्राय है वाक्यके प्रक्रम अर्थात् प्रस्तावके भग हो जानेका, क्योंकि वाक्यरचनाके नियम (जिस रूपसे वाक्यका शाब्द अथवा आर्थ उपक्रम हो उसी रूपसे उसका शाब्द अथवा आर्थ उपसहार हो)का यदि पालन न हो तो वहाँ प्रक्रमभंग-दोष होता है। भिखारीदासने यह दोष वहाँ माना है जहाँ विधिवत् बात न कही जाय। साथ ही उन्होंने यह दोष वहाँ भी माना है जहाँ किसी बातका समान रूपसे कथन न हो। यथा—'नहीं नैनि जाने

सकल, ताही पै किन जात।' (का०नि० २३)। 'जापै निशि जागै सकल' कहना चाहिये था, वह न कहनेसे प्रकरण-भग-दोष है; या—'रमा उमा बानी सदा, विधि हरि हरके मग।' (वही); यहाँ 'हरि, हर, विधिके सग' कहना चाहिये था, अत सदोष है। अथवा—'तू हरिकी अँखियाँ वसी, कान्ह वसे तुव नैन।' (वही), यहाँ ममान रूपसे कथन नहीं हुआ है, अतः प्रकरणभग-दोष है। वस्तुत होना चाहिये था—'कान्ह नैनमें तू वसी, कान्ह वसे तुव नैन।' यह दोष सर्वनाम, प्रत्यय, पर्याय, वचन, कारक, क्रिया, कर्म आदिमें भी होता है।

१७ अक्रम (अक्रमता)—भामह, दण्डी और केशव-कथित अपार्थ नामक दोषका इस दोषमें समन्वय हो जाता है। भामह, दण्डी और वामनके अपक्रमका एक अंश अक्रममें आ जाता है और शेष दुष्क्रमके अन्तर्गत समन्वित हो जाता है। केशवने इसे 'क्रमहीन' और सूरति मिश्रने कर्महीन नाम दिया है। श्रीपतिने इसे 'अपक्रम' नामसे पुकारा है। मम्मटके अनुमार अक्रमताका अर्थ है वाक्यमें जिस पदके पश्चात् जिम पदका रखना उचित हो उसे वहाँ न रखकर अन्यत्र रखना (का० प्र० ७ ५४ वृ०)। अभिप्राय यह है कि अक्रमता वह दोष है जिसके रहनेसे पदमन्निवेशरूप रचना प्रस्तुत अर्थकी प्रतीति नहीं करा पाती।

'अक्रमता' और 'अस्थानस्थपदता'में भेद है। 'अस्थान-स्थपदता'में प्रस्तुत अर्थकी प्रतीति तो होती है, किन्तु पदनिवेश अनुचित लगा करता है। 'अक्रमता' और 'दुष्क्रमत्व' भी एक नहीं है, 'दुष्क्रमत्व'में अर्थक्रमका अनौचित्य खटका करता है, न कि पदनिवेशका। 'अक्रमता' दोष निपातविषयक है और निपातप्रयोगके नियमोंके उल्लघनमें स्वभावत झलक उठता है। यथा—'अमानुषी भूमि अवानरी करों' (केशव)। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि अमानुषी तो पहलेसे ही है, अब उसे वन्दरोंसे रहित करना ही शेष है, अथवा—'सीता जू रघुनाथको, अमल कमलकी माल। पहिरायी जनु सवनकी हृदयावलि भूपाल।' (वही) यहाँपर 'भूपाल' पदको 'सवन'के साथ रहना चाहिये था। पागल आदिके प्रलापमें क्रमहीन पदोंका प्रयोग गुण हो जायगा।

१८ अमतपरार्थता—मम्मट, विश्वनाथ तथा हिन्दीमें भिखारीदास आदिने स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार वाक्यमें प्रकृतिविरुद्ध अर्थात् प्राकरणिक रसके विरुद्ध रसका अभिव्यजित होना यह दोष है (का० प्र० ७ ५४ वृ०)। भिखारीदासने इसे माना है। यथा—'राम काम सायक लगें विकल भई अकुलाइ। क्यों न सदन परपुरुषके तुरत तारिका जाइ।' (का० नि० २३), यहाँ शृंगार तथा शान्तकी एक साथ प्रतीति हो रही है, जो एक दूसरेके विरुद्ध हैं, अत यह दोष है।

१९ अन्वय-दोष—भरतका अभिलुप्तार्थ इसके अन्तर्गत आ जाता है। उनके अनुसार यह वहाँ होता है जहाँ प्रत्येक चरणमें अर्थ पूरा हो जाय और विभिन्न अर्थोंमें कोई अन्विति न हो (ना०शा० १७ ९०)। भामह और दण्डी सस्कृतके आचार्यों तथा हिन्दीके आचार्य केशवने इस दोषको अपार्थ सज्ञा दी है। यह दोष वहाँ होता है जहाँ अन्वय करते समय अड़चन पड़ती है। यथा—'थे दगमे झरते अग्निखण्ड लोहित थे ज्यों हिंसा प्रचण्ड।' इसमें 'लोहित' दगका विशेषण है अथवा अग्निखण्डका, यह निश्चय नहीं है। दोनों ही लाल है। 'अभवन्मत'-दोषमें सम्बन्ध ठीक नहीं वैठता और 'अन्वय'-दोषमें अन्वयकी गडबड़ी रहती है।

२० क्रिया-दोष—आधुनिक विवेचकों द्वारा जोड़ा गया एक भेद। जहाँ अनुचित क्रियाका प्रयोग किया जाता है वहाँ क्रिया-दोष माना जाता है। यथा—'नि श्वासोंका पवन प्रचारी, वरसाती अमृत भरी दृष्टि।', 'झलका हास कुसुम अधरोंपर हिल मोतीका-सा दाना।', 'खिलने लगा नवल किसलय वह।' (पन्त)। उक्त उदाहरणोंमें क्रियाओंका अनुचित प्रयोग किया गया है, अत ये क्रिया-दोषसे दूषित हैं। केशव तथा सुमित्रानन्दन पन्तकी रच-नाओंमें इस प्रकारके क्रिया सम्वन्धी दोष स्थल-स्थलपर परिलक्षित होते हैं।

२१. मुहावरा-दोष—आधुनिक विवेचकों द्वारा जोड़ा गया एक भेद। यह दोष वहाँ होता है जहाँ मुहावरोंका अशुद्ध प्रयोग किया जाता है। क्रिया-दोषके लिए ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें मुहावरोंका भी अशुद्ध प्रयोग किया गया है। अत वे उदाहरण मुहावरा-दोषके अन्तर्गत भी लिये जा सकते हैं। 'वारि पीकर पूछता है घर सदा' (पन्त), यहा 'पानी पीकर घर पूछना'का रूपान्तर करके प्रयोग किया गया है। यह दोष है। अथवा—'रणरक्त सिन्धुमें उमड़ा प्रक्षालन कर अपवाद अपग।' यहाँपर आपादमस्तक मुहावरा है, पर अनुप्रामके लिए विगाड दिया गया है। यह दोष है। केशव, सेनापति तथा पन्तकी रचनाओंमें मुहावरा-दोषके अधिक उदाहरण देखे जा सकते हैं। —टी० सिं० तो०

शब्दब्रह्म—दे०—'नाद', 'बीजाक्षर'।

शब्द शक्ति—शब्दकी शक्ति उसके अन्तर्निहित अर्थको व्यक्त करनेका व्यापार है। कारण जिसके द्वारा कार्य-सम्पादन करता है उसे व्यापार कहा जाता है। जिम प्रकार घडा वनानेके लिए मिट्टी, चाक, दण्ड तथा कुम्हार आदि कारण हैं और चाकका घूमना वह व्यापार है जिससे घड़ा वनता है, इसी तरह अर्थका वोध करानेमें 'शब्द' कारण है और अर्थका वोध करानेवाले व्यापार अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना हैं। आचार्योंने इन्हींको 'शक्ति' तथा 'वृत्ति' नाम दिया है। मम्मटने व्यापार शब्दका प्रयोग किया है तो विश्वनाथने 'शक्ति'का। 'शक्ति'में ईश्वरेच्छाके रूपमें शब्दोंके निश्चित अर्थके संकेतको माना गया है। यह प्राचीन तर्क शास्त्रियोंका मत रहा है। वादमें 'इच्छामात्र शक्ति' माना गया, अर्थात् मनुष्यकी इच्छासे भी शब्दोंके अर्थसकेतकी परम्पराको स्वीकार किया गया। इसी विवादको वचानेके लिए 'तर्क-दीपिका'में शक्तिको शब्द-अर्थके उस सम्बन्धके रूपमें स्वीकार किया गया, जो मानसमें अर्थको व्यक्त करता है (जव कभी शब्दका उच्चारण किया जाता है)। ये शब्द-शक्तियाँ अथवा व्यापार तीन माने गये हैं—अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना (विस्तार इन शब्दोंके अन्तर्गत द्रष्टव्य)। —सं०

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि–सलक्ष्य ध्वनिका पहला भेद जिसमें वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीति किसी विशिष्ट शब्द-की शक्तिके कारण ही सम्भव होती है—उस शब्दके स्थानपर उसका पर्यायवाची शब्द रख देनेसे ध्वनि समाप्त हो जाती है। वस्तु अथवा अलंकारकी व्यजना करनेके कारण इसके दो उपभेद है—(१) शब्दशक्त्युद्भव वस्तु-ध्वनि—'चिरजीवो जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर। को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधरके वीर।' यहाँ 'वृषभानु' तथा 'हलधर' दोनों श्लिष्ट शब्द है, वाच्यार्थके रूपमें 'राजा वृषभानुकी बेटी' और 'बलराम'का अर्थ देते है तथा व्यग्यार्थरूपमें 'बैलकी बहिन' और 'बैलके भाई'का चोतन करते हैं और दोनोंके मान-मोचनमें सलग्न सखीकी खीझको ध्वनित करते हैं। यहाँ यदि वृषभानु और हलधर-के पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग किया जाय तो ध्वनि समाप्त हो जायगी। व्यग्यार्थ इस बात(वस्तु)की व्यजना करता है कि दोनों ही पशुओंके समान हठी ह। (२) शब्दशक्त्युद्भव अलकारध्वनि—'जहाँ वारुनीकी करी, रचक रुचि द्विजराज। तहाँ कियो भगवन्त विन, सम्पति सोभा साज।' यहाँ 'वारुनी' (पश्चिम दिशा, मदिरा), और 'द्विजराज' (चन्द्रमा, ब्राह्मण) और 'भगवन्त' (सूर्य, भगवान्) शब्दके श्लिष्ट होनेके अतिरिक्त दोहेके दोनों क्रियापद भी दो अर्थ देते हैं। चन्द्र-विषयक अर्थ प्रस्तुत है, ब्राह्मण विषयक अर्थ अप्रस्तुत है। वाच्यार्थ द्वारा दीपक अल्कार ध्वनित होता है, क्योंकि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुतमें समान धर्मकी व्यजना हो रही है।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनिकी व्यंजना पद तथा वाक्य द्वारा हो सकती है, इसीलिए वस्तु और अलकारध्वनिकी दृष्टिसे इसके कुल ४ भेद हे। उपर्युक्त दो उदाहरणोंमेंसे पहला पदगत तथा दूसरा वाक्यगत शब्दशक्त्युद्भव ध्वनिका उदाहरण है। —उ० श० शु०

शब्द-हरण–दे०—'काव्य-हरण'।

शब्दार्थ-उभय शक्त्युद्भव ध्वनि–सलक्ष्यक्रमध्वनिका तीसरा भेद। यह ध्वनि वहाँ होती है जहाँ कुछ पदोंके अपरिवर्तित रहनेपर तथा कुछके परिवर्तित होनेपर भी व्यग्यार्थकी प्रतीति होती रहे। इसके उदाहरणमें जिस स्थल-पर शब्द परिवर्तन नहीं सह सकता वहाँ शब्दशक्ति-मूलक तथा जहाँ शब्द-परिवर्तनके बाद भी ध्वनि सुरक्षित रहे, वहाँ अर्थशक्तिमूलक ध्वनि मानी जायगी। इसका वाक्यगत भेद ही होता है—पदगत भेद इसलिए नहीं हो सकता कि एक पदमें दो विरोधी धर्मों(परिवर्तन सह सकना और परिवर्तन न सह सकना)की स्थिति सम्भव नहीं है। 'काव्य-प्रकाश'के इस उदाहरणमें—'अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपित-मन्मथा। तारकातरला श्यामा सानन्द न करोति कम्।' (का० प्र० ४ ७२)(दे० अनुवादका कल्प पृ० ३०७–अनुपम चन्द्राभरन जुत, मनमथ प्रबल बढ़ातु। तरल तारका कलित यह, श्यामा ललित सुहातु), चन्द्र, तारका, तरल और श्यामा शब्द अपरिवर्तनीय होनेके कारण शब्दशक्त्युद्भव ध्वनिके उदाहरण है, किन्तु अतन्द्र, आभरण, समुद्दीपित आदि शब्दोंके परिवर्तित हो जानेपर भी ध्वनि सुरक्षित रहती है, क्योंकि इनका चमत्कार अर्थशक्तिपर आधारित है। चन्द्र, तरल और श्यामा आदि श्लिष्ट शब्दोंके कारण उद्धृत छन्दके स्त्री तथा रात्रिके प्रशंसासूचक, दो अर्थ ज्ञात होते हैं और वे दोनों ही वाच्यार्थ हैं। इनसे यह व्यग्यार्थ ध्वनित होता है कि चाँदनी रात रमणीकी भाँति अथवा रमणी चाँदनी रातके समान किसे आनन्द नहीं देती है? अत इस उदाहरणमें उपमा अलकारकी ध्वनि है।—उ० श० शु०

शब्दालंकार–शब्दके मुख्य दो रूप हैं—ध्वनि और अर्थ। ध्वनिके आधारपर शब्दालकारोंकी सृष्टि होती है। यह काव्यका सगीतधर्म है। अर्थके आधारपर अर्थालकारों-की सृष्टि होती है। यह काव्यका चित्रधर्म है। इसी ध्वनि और अर्थके आधारपर अलकारोंके दो भेद हो सकते हैं—शब्दालकार और अर्थालकार। किन्तु कहीं शब्द और अर्थ दोनोंको चमत्कृत करनेके कारण उभयालकार भी होता है।

अलकारोंका यह शब्दगत और अर्थगत विभाग अन्वय और व्यतिरेकपर निर्भर है, अर्थात् जिसकी स्थितिमें जो रहे, वह अन्वय है—जैसे, धुएँकी स्थितिमें आगकी स्थिति सहज सम्भव है। जिसके अभावमें जिसका अभाव बना रहे, वह व्यतिरेक है—जैसे, आगके अभावमें धुएँका भी अभाव रहता है। इस आधारपर जो अलकार जिस किसी विशेष शब्दकी स्थितिमें ही रहे और उसके स्थानपर कोई पर्यायवाची रख देनेसे उसका अस्तित्व न रहे, वह शब्दा-लकार है। दूसरे शब्दोंमें, वर्ण-निर्भर अर्थनिरपेक्ष अलकार शब्दालकार कहलाते हैं। ये अलकार शब्दाश्रित होकर शाब्दिक चमत्कारका ही विशेष सवर्द्धन करते हैं। इस प्रवृत्तिके आधारपर इन्हें शब्दालकार कहा गया है। शब्दा-लकार कुछ वर्णगत, कुछ शब्दगत और कुछ वाक्यगत होते हैं। अनुप्रास, यमक आदि अलकार वर्णगत और शब्दगत तथा लाटानुप्रास आदि वाक्यगत होते हैं। उनके प्रमुख भेद इस प्रकार हैं—अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति, पुनरुक्त-वदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति और श्लेष। (सभी भेदोंको इन शब्दोंके अन्तर्गत देखिये।) —वि० स्ना०

भरत(४ श० ई०)ने शब्दालकार यमकपर विचार किया है 'शब्दाभ्यास' (ना० शा० १६ ६२) और उसके विस्तारमें अनुप्रासको भी ले लिया है। 'शब्दार्थ' सहित काव्यकी परिभाषा करनेवाले भामह(६ श० ई०)ने अनुप्रास और यमक शब्दालकारको माना है। उद्भट (८ श० ई०)ने शब्दालकारोंमें विस्तार किया है—पुनरुक्त-वदाभास, छेक, वृत्ति, लाट अनुप्रास। सर्वप्रथम वामन (८५० ई०)ने शब्दालकारोंको अर्थालकारोंसे अलग किया है—'तत्र शब्दालकारौ द्वौ यमकानुप्रासौ' (काव्या० सू० ४ . १ १)। रुद्रट(९ श० ई०)के 'काव्यालंकार'में (२ से ५ तक) शब्दालंकारोंका पूरा विकास देखा जा सकता है—वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), अनुप्रास (वृत्त्यनुप्रास), यमक (अनेक भेद), श्लेष (८ भेद) तथा चित्र (अनन्त भेद)। अनुप्रासके अन्य भेद अवश्य नहीं दिये गये हैं। भोजके 'सरस्वतीकण्ठाभरण'(१०३०–५० ई०)के दूसरे परिच्छेदमें 'शब्दालकारनिर्णय' है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश' (११०० ई०) नवम प्रकाशमें शब्दालकारोंका विस्तार दिया है—वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), अनुप्रास (छेक तथा वृत्ति), लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्त-

वदाभास। ये पुराने ही अलंकार हैं। रुय्यकके 'अलंकार-सर्वस्व'(११३५–५५ ई०)में शब्दालंकार स्वभाव-चित्र-काव्यके ३ प्रकार बताये गये हैं—शब्दपौनरुक्त्य, अर्थ-पौनरुक्त्य तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य और इन्हींके अन्तर्गत प्रचलित भेदोंको स्वीकार किया है। वाग्भट प्रथम(१२ शती ई०)ने 'वाग्भटालंकार'में 'ध्वन्यलंक्रियाएँ' चार मानी हैं—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक। जयदेव पीयूषवर्षके 'चन्द्रालोक'(१३ श० ई०)के ८ शब्दालंकारोंमें ३ नाम नये हैं–स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास तथा पुनरुक्तप्रतीकाश। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'(१४ श० ई०)में भाषासम तथा प्रहेलिकापर विचार और किया है। उल्लेखनीय बात है कि अप्पय दीक्षितके 'कुवलयानन्द'में 'शब्दालंकार'पर विचार नहीं है।

हिन्दीमें केशवदासकी 'कविप्रिया'(१६०० ई०)में यमक (१५) तथा चित्र (१६)का विवेचनमात्र किया गया है। जसवन्त सिंहने अपने 'भाषाभूषण'(१६४३ ई०)में अनुप्रासके ६ भेदोंकी चर्चामात्र की है। सम्भवत यह उपेक्षा 'कुवलयानन्द'के प्रभावसे है। मतिरामने 'ललितललाम'(१६४१-४३ ई०)में शब्दालंकारपर विचार नहीं किया है। भूषणके 'शिवराजभूषण'(१६७३ ई०)में अन्तमें यह विषय लिया गया है—अनुप्रास (छेक तथा लाट), यमक, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र। कुलपति मिश्रने 'रसरहस्य'(१६७० ई०)में शब्दालंकारके विवेचनको प्रथम लिया गया है–'प्रथम शब्द यातैं कहे प्रथम शब्दके साज।' छ अलंकारोंकी विवेचना की गयी है। देवने 'काव्य-रसायन'(१७०३)में ४ शब्दालंकार स्वीकार किये हैं, जिनमें सिंहावलोकन भी है। भिखारीदासके 'काव्यनिर्णय'(१७४६ ई०)के २०वें उल्लासमें इनका वर्णन है। पद्माकरने चर्चा नहीं की। आधुनिक आचार्योंने सम्पूर्ण विस्तार स्वीकार किया है।

शब्दालंकारोंके शास्त्रीय विवेचनके अतिरिक्त काव्यमें इनके प्रयोगका विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। आदिकालकी वीरकाव्योंकी परम्परामें रस तथा गुणोंके अनुरूप इन अलंकारोंके प्रयोगकी विशिष्ट परम्परा रही है। भक्तिकालके तुलसी, सूर तथा जायसी जैसे कवियोंमें सहज काव्यात्मक प्रकृतिके साथ ये अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। इनमें चमत्कार अथवा वैचित्र्यकी भावना बिलकुल नहीं है। रीतिकाल और उसकी आधुनिक कालतक फैली हुई परम्परामें इन अलंकारोंका प्रयोग कौशलपूर्वक हुआ है, जो कहीं तो काव्यात्मक बन पड़ा है, पर अनेक स्थलोंपर केवल चमत्कारके लिए ही जान पड़ता है। शब्दालंकारका प्रयोग छायावादी कवि 'प्रसाद', 'निराला', पन्त तथा महादेवीतकमें देखा जा सकता है। शब्दालंकार वस्तुत अनेक बार काव्य-अर्थको अधिक सुन्दर शैलीमें व्यक्त करनेमें सहायक होते हैं, इसी कारण इनका प्रयोग काव्यमें निरन्तर चलता आया है। —सं०

शराब–सूफी काव्यमें शराब शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें किया गया है। साधारणत आध्यात्मिक प्रेमके अर्थमें ही इसका प्रयोग हुआ है। परम-प्रियतमके दर्शनसे भावाविष्टावस्था उत्पन्न होनेके अर्थमें भी इसका प्रयोग किया गया है, जब प्रेमी तर्क आदिके संकुचित दायरेसे बाहर हो जाता है। (दे०—'अमृत', 'अमियरस') —रा० पू० ति०

शरीअत–कुरानके वचनों और हदीसों द्वारा अनुमोदित नियम-कानून, जिनका पालन करना इसलाम-धर्मके अनुयायी आवश्यक मानते हैं। सांसारिक जीवन और उपासना, दोनोंका मार्ग-निर्धारण इन नियमोंके द्वारा होता है। (दे०–'सूफीमार्ग') —रा० पू० ति०

शरीरवाद–यथार्थवादका प्रभाव जहाँ अनावश्यक आवरण और रहस्यवादका खण्डन करनेमें समर्थ हुआ वहीं उसने इतनी अधिक मुक्त अभिव्यक्तिका समर्थन किया कि कहीं-कहीं भावाभिव्यक्तिमें वह उन सीमाओंको भी लाँघ गया जो मात्र 'शील' अथवा 'संकोच'के कारण अभिव्यक्ति नहीं पाती थीं। वस्तुत आजका जीवन और उसका समस्त वैज्ञानिक परिवेश इस 'शील'-परम्पराको कुण्ठाके रूपमें पालना नहीं चाहता। वह अधिक स्पष्टतासे जीवनके विभिन्न पक्षोंको ग्रहण करता है और उनके सन्दर्भमें उसकी प्रकृति और विकृतिको स्वीकार करता है। यथार्थवाद(दे०)-का यह पक्ष मात्र आधुनिक बोधका वह रूप प्रदर्शित करता है, जिसमें भावाभिव्यजनाके साथ साथ जीवनके क्रियाशील आधारोंको 'आत्मा'की सूक्ष्मताके साथ मांसल स्थूलत्वका भावोन्मेष अरुचिपूर्ण नहीं लगता। फ्रांसके पतनोन्मुख साहित्य युगमें जोला तथा फ्लोबेयर जैसे उपन्यासकारोंने इस भावधाराको अपने कृतित्वमें प्रश्रय दिया था।

शरीरवाद प्रस्तुत सन्दर्भमें शरीरके भोग और उसके यथार्थ संवेदन एवं संवहन-शक्तिको वर्जनाके रूपमें नहीं लेता। शरीर भी सत्य है और उसके अवयवमें व्याप्त सूक्ष्म भावोंकी अभिव्यक्ति भी एक चेतन यथार्थ है। अस्तु, जब यथार्थमें भोगनेकी क्षमता निहित है, वहन करनेकी क्षमता निहित है, तो फिर उसको उसकी रसस्निग्धतासे और उसके सहभोगी होनेके पक्षको त्याज्य या वर्जना युक्त माननेका प्रश्न ही नहीं उठता। अस्तु, प्रस्तुत तर्कके आधारपर शरीरवाद आत्म-रस-ग्राह्यताके साथ शारीरिक रस भोगनेको भी उतना ही महत्त्वपूर्ण समझता है। प्रस्तुत दृष्टिकोणके अन्तर्गत वे सभी भावाभिव्यजनाएँ आती हैं, जो विशेष मन स्थिति अथवा भावावेशमें किसी निश्चित क्रिया द्वारा शारीरिक और मानसिक क्रियाशीलताको व्यक्त करती हैं।

यथार्थवादी विचारधाराके विकासके साथ कुछ लेखकों और कवियोंने इस प्रवृत्तिको विशेष रूपसे अपनाया है। मन्तव्य केवल शरीरकी उपलब्धिकी स्वीकृति है। हिन्दीमें 'अज्ञेय'के 'शेखर एक जीवनी' तथा 'नदीके द्वीप'में ऐसे स्थल काफी हैं, जिनमें भावोन्मेषके साथ-साथ स्थूल शारीरिक ग्राह्यताका भी वर्णन किया गया है। जैनेन्द्रके उपन्यासोंमें भी, विशेषकर 'सुनीता'में यह प्रवृत्ति अप्रत्यक्ष रूपमें मिलती है। देवराजने 'पथकी खोज'में इसका आश्रय लिया है। 'अज्ञेय'की कविताओंमें तो कहीं-कहीं इस प्रवृत्तिका बड़ा प्रभावपूर्ण वर्णन है। ये वर्णन मात्र चमत्कार या चौंकानेके लिए न होकर, इससे भी अधिक इस बातकी स्वीकृति देते हैं कि आजकी आधुनिक चेतनामें वे सब माननीय संवेदनाके अंश हैं, जिन्हें आजतक अश्रु, स्वेद, रक्त और स्थूलत्वके नामपर त्याज्य समझा जाता था, क्योंकि शरीरका सुख दु ख भी आत्माके सुख दु खका माध्यम है।

इन दोनोंको पृथक नहीं किया जा सकता। बच्चनकी 'मिलन-यामिनी' और 'सतरंगिनी'की अधिकांश कविताएँ इस प्रवृत्तिका समर्थन करती हैं।

यद्यपि कुछ अर्थोंमें यह कहा जा सकता है कि इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे साहित्यमें एक विशेष प्रकारकी अश्लीलता प्रश्रय पाती है, किन्तु अश्लीलताकी सीमा निर्धारित करनेके पहले यह मान लेना आवश्यक है कि आजका भाव-बोध जिस तीव्रताके साथ यथार्थ अभिव्यक्ति पानेको उत्सुक है और जिस तेज गतिसे हमारा समस्त जीवन प्रत्यक्षानुभूतिको स्वीकार करनेके लिए प्रस्तुत है, उसमें यह वर्जना अधिक दूरतक साथ नहीं दे सकती। साहित्यिक स्तरपर और सम्पूर्ण जीवनके परिवेशमें वस्तुसत्यके प्रति हमारी दृष्टि दिन-प्रति-दिन अधिक जागरूक हो रही है। फिर भी इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रस्तुत शैलीका निर्वाह केवल एक कुशल और प्रौढ लेखक द्वारा ही सम्भव है। अन्य लेखक जिनमें यह प्रौढता और शक्ति नहीं है, वह शैलीके साथ-साथ समस्त वस्तुस्थितिको अपने अधकचरेपनके कारण असाहित्यिक और अरुचिपूर्ण वीभत्सम भी बदल सकते हैं। —ल० का० व०

शशिवदना (मालती)-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद इस वृत्तका चरण नगण और यगणके योगसे बनता है (III, ISS)। केशवने 'रामचन्द्रिका के दूसरे प्रकाशमें इसका नाम मालती—'आदि नगण पुनि यगण दै, रचहु मालती छन्द' और तीसरे प्रकाशमें शशिवदना नाम दिया है। भानु और श्रुतबोधकारने इसका शशिवदना नाम दिया। उदा०—तँह दरबारी, सब सुखकारी। कृत युग कैसे, जनु जन वैसे' (रा० च० . ३ . ७)। —पु० शु०

शांत रस-शान्त रस साहित्यमें प्रसिद्ध नौ रसोंमें अन्तिम रस माना जाता है—'शान्तोऽपि नवमो रस' (मम्मट . का० प्र० ४ ३५)। इसका कारण यह है कि भरतके 'नाट्यशास्त्र'(३ श० ई०)में, जो रस विवेचन-का आदि स्रोत है, नाट्यरसोंके रूपमें केवल आठ रसोंका ही वर्णन मिलता है। शान्तको उस रूपमें भरतने मान्यता प्रदान नहीं की जिस रूपमें शृंगार, वीर आदि रसोंको की, और न उनके विभाव, अनुभाव और संचारी भावोंका ही वैसा स्पष्ट निरूपण किया। अष्टनाट्यरसोंका स्वरूप निरूपित करनेके पश्चात् 'नाट्यशास्त्र'में शान्त रसकी सम्भावनाका निर्देश निम्नलिखित शब्दोंमें किया गया है और 'नवरस' शब्दका भी उल्लेख सर्वप्रथम यहीं हुआ है—'अत शान्तो नाम । मोक्षाध्यात्मसमुत्थ शान्तरसो नाम सम्भवति। एवं नव रसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विता' (पृ० ३२४-३३ गा० स०), अर्थात् मोक्ष और अध्यात्मकी भावनासे जिस रसकी उत्पत्ति होती है उसको शान्त रस नाम देना सम्भाव्य है (कन्हैयालाल पोद्दार : सं० सा० इ० द्वि० भा०)। नाट्यज्ञ लोगोंकी दृष्टिमें इस प्रकार विविध लक्षणोंसे युक्त नौ रस होते हैं। उक्त अंशके अतिरिक्त 'नाट्यशास्त्र'में ही एक स्थानपर यह भी प्रतिपादित किया गया है कि शान्त रससे ही रति आदि आठ स्थायी भावोंकी उत्पत्ति होती है और शान्तमें ही उनका विलय हो जाता है—'स्व स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भाव प्रवर्तते। पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते' (६ १०८)।

इस प्रतिपत्तिसे शान्त रसका महत्त्व अन्य रसोंका तुलनामें सर्वोपरि सिद्ध होता है। कुछ विचारकोंने इसी आधारपर कि शान्त भावशून्य स्थितिका द्योतक है, उसकी अनभिनेयता सिद्ध की और उसका खण्डन किया, जिसका विरोध 'अभिनवभारती' और 'रसगंगाधर' आदि अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। इनमें कहा गया है कि 'भाव शून्यता' शान्तको रस माननेमें बाधक नहीं हो सकती, क्योंकि किसी रसके अभिनयमें अभिनेता भाव-लिप्त नहीं माना गया है। अभिनवगुप्तने शान्त रस और उसके स्थायी भावकी समस्या-पर गम्भीरतापूर्वक अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया और अपने पूर्वके सभी मतोंका खण्डन करते हुए स्वतंत्र मतकी स्थापना की। जिन मतोंका उल्लेख 'अभिनवभारती'में हुआ है उनमेंसे एक शमको स्थायी, तपस्या तथा योगियोंके सम्पर्कको विभाव, काम, क्रोध आदिके अभावको अनुभाव और धृति, मति आदिको संचारी मानता हुआ शान्त रसकी कल्पना सम्पूर्ण रसांगोंके साथ करता है। परन्तु दूसरा मत शम और शान्तको पर्यायवाची बताकर अन्य अनेक तर्कों द्वारा शान्त रसकी पृथक् सत्ताका निषेध करता है। कुछके अनुसार निर्वेद शान्त रसका स्थायी भाव है, पर कुछ अन्य विचारक पानक-रसकी तरह रति, उत्साह आदि आठों स्थायियोंको सम्मिलित रूपसे शान्तका स्थायी माननेके पक्षमें हैं। अभिनवगुप्तने उक्त सभी मतोंका खण्डन पाण्डित्यपूर्ण रीतिसे करते हुए अन्तमें 'तत्त्वज्ञान'को शान्त रसका स्थायी भाव माना। उनके मतसे जिस प्रकार 'काम' रति आदिसे अभिहित होकर कवि और नट द्वारा रसरूपमें आस्वाद्य होकर प्रकट होता है, उसी प्रकार 'मोक्ष' नामक पुरुषार्थ अपने योग्य भी विशेष चित्तवृत्तिके योगसे रस-अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। शान्त रस यही है। निर्वेद-को आचार्यने शोकके प्रवाहको फैलानेवाली विशेष चित्तवृत्ति माना, जिसकी उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है। एक तो दारिद्र्य आदिसे, दूसरे, तत्त्वज्ञानसे। तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न निर्वेद अन्य सब स्थायियोंको दबा देनेवाला है और उनकी अपेक्षा अधिक स्थायित्ववाला भी है। पर यदि इस निर्वेदको शान्त रसका स्थायी भाव माना जायगा तो तत्त्वज्ञानको विभाव मानना पडेगा, क्योंकि उसीसे यह उत्पन्न होता है। परन्तु इसे उचित नहीं माना गया। वास्तवमें तत्त्वज्ञानसे निर्वेद उत्पन्न नहीं होता, तत्त्वज्ञान ही निर्वेद या वैराग्यसे उपजता है। शम और निर्वेदको समान स्वीकार करके शम और शान्तमें हास और हास्यकी तरह सिद्ध और साध्य, साधारण और असाधारणका भेद भी उन्होंने बताया। इस प्रकार बहुत तर्क-वितर्कके बाद तत्त्वज्ञानको ही अन्तिम मान्यता प्रदान की।

आगेके शास्त्रकारोंने शान्त रसके स्थायी भावविषयक उनके मतको स्वीकार नहीं किया। इसके मूलमें कदाचित् दो कारण मुख्य थे। एक तो यह कि 'तत्त्वज्ञान'को स्थायी भाव कहना ज्ञानको भावका स्थान देना है, जो सहज ग्राह्य नहीं हो सका और न वह उचित ही प्रतीत होता है। दूसरे, जब शम और शान्तमें वही भेद है, जो हास और हास्यमें, तो फिर जिस प्रकार हास्यका स्थायी हास

हो सकता है उसी प्रकार शान्तका स्थायी भी शम हो सकता है। इसपर आपत्ति करना समीचीन नहीं है, क्योंकि भरतने ही उसे निर्धारित किया है।

शान्त रसके स्थायी भाव सम्बन्धी वाद-विवादका यहीं अन्त नहीं हुआ, साहित्यमें और भी मत व्यक्त किये गये हैं। 'अग्निपुराण'(९ : १० श० ई०)में 'रति'के अभावसे शान्त रसकी उत्पत्ति मानी गयी है। रुद्रट-(९ श० ई० म०)ने 'सम्यक्-ज्ञान'को, आनन्दवर्धन(९ श० ई० उत्त०)ने 'तृष्णाक्षयसुख'को तथा आगे कुछ अन्य विद्वानोंने 'सर्वचित्तवृत्तिप्रशम', 'निर्विशेषचित्तवृत्ति', 'धृति', 'उत्साह' आदिको भी शान्त रसका स्थायी निधारित किया। शृंगारादिकी तरह शान्त रसके भेद-प्रभेद करनेकी ओर आचार्योंका ध्यान प्राय नहीं गया है। केवल 'रस-कलिका'में रुद्रभट्ट द्वारा चार भेद किये गये हैं–१ वैराग्य, २ दोषनिग्रह, ३ सन्तोष, ४ तत्त्व-साक्षात्कार, जो मान्य नहीं हुए।

शान्तके समानान्तर कुछ नये रसोंकी कल्पना भी की गयी, जिनमें 'संगीतसुधाकर'के रचयिता हरिपाल द्वारा कल्पित ब्राह्मरस (स्थायी भाव आनन्द) तथा 'रसमंजरी'के प्रणेता भानुदत्त (१३ श० ई०) द्वारा कल्पित कार्पण्य रस (स्थायी भाव स्पृहा) विशेष उल्लेखनीय है। जैन 'अनुयोग-द्वारसूत्र'में 'प्रशान्त' नामक रसकी चर्चा मिलती है। भोज(११ श० ई० पूर्वा०)के 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में धीरोदात्त आदि चतुर्विध नायकोंके आधारपर कुछ रसोंकी सिद्धि मानी गयी है, जिनमें धीरप्रशान्तके अनुरूप 'प्रशान्त' या 'शान्त' रस(स्थायी भाव धृति)की स्थिति सिद्ध होती है। (दे०—आ० प्र० दीक्षित काव्यमें रस अप्र० पृ० ४६६ ६९)

धनजय (१० श० ई०), मम्मट (१२ श० ई० पूर्वा०) और विश्वनाथ (१० श० ई० पूर्वा०) प्रभृति संस्कृतके प्रसिद्ध परवर्ती आचार्योंने शान्त रसका लक्षण निम्नलिखित रूपमें दिया है—धनजय–'शमप्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता' (दश० ४ ४५), अर्थात् शान्त रस अनिर्वाच्य और शमका प्रकर्ष है तथा मोद उसका स्वरूप है। इसपर व्याख्याकार धानिकका कथन है—'मुनिराजोंने उस रसको शान्त कहा है, जिसमें सुख, दु ख, चिन्ता, द्वेष, राग, इच्छादि कुछ नहीं रहते और जिसमें सब भावोंका शम प्रधान रहता है।' मम्मट—'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस ' (का० प्र० ४ ३५), निर्वेद स्थायीवाला शान्त रस नवाँ रस होता है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इस प्रकारकी व्याख्या की है—'शान्त रसकी प्रकृति उत्तम, स्थायी भाव शम, कुन्देन्दु वर्ण तथा देवता श्री नारायण हैं। संसारकी अनित्यता, वस्तुजगत्की निस्सारता और परमात्माके स्वरूपका ज्ञान इसके आलम्बन हैं। भगवान्के पवित्र आश्रय, तीर्थस्थान, रम्य एकान्त वन तथा महापुरुषोंका सत्सग उद्दीपन है। अनुभाव रोमाचादि और सचारियोंमें निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, उन्माद तथा प्राणियोंपर दया आदिकी गणना की जा सकती है (३ २४५, ४६, ४७, ४९)। संस्कृत साहित्यमें, विशेषकर धनजय द्वारा निर्वेदको स्थायी माननेका विरोध किया गया है, पर कुछ रीतिकालीन हिन्दी काव्याचार्योंने मम्मटका मत मानते हुए 'शम'के स्थानपर 'निर्वेद'को ही शान्त रसका स्थायी भाव बताया है। कुलपति मिश्र—'तत्त्व ज्ञानते कवितमें, जहँ प्रगटै निर्वेद। कहै सान्त रस जासुको, सो यह नौमो भेद' (र० र० पृ० २८)। नन्दराम—'जाको थाई भाव सुकवि निरवेद बखानत' (शृ० द० पृ० १४८)। पद्माकर—'सुरस सान्त निर्वेद है जाको थाई भाव' (जगद्वि० ७२०)। कुलपति मिश्र(१७ श० ई० उत्त०)-के उपर्युक्त लक्षणपर अभिनवगुप्तके मतकी छाया है। अन्य प्रमुख काव्याचार्योंमें चिन्तामणि (१७ श० ई० पूर्वा०), भिखारीदास (१८ श० ई० पूर्वा०) और केशवदास-(१७ श० ई० पूर्वा०)ने 'शम'को ही मान्यता प्रदान की। बेनी प्रवीन(१९ श० ई० पूर्वा०)ने 'नवरसतरंग'में 'थाई जासु विराग' लिखकर विरागको और 'साहित्यसागर'के रचयिता बिहारीलाल भट्टने 'शान्ति स्थायी भाव है' लिखकर शान्तिको शान्त रसका स्थायी माना है। चिन्तामणिने भी 'सम कहियत वैराग्यतें'के द्वारा शम और वैराग्यको समानार्थी माना है। केशवदासने तो 'शम'-के कारण शान्त रसको ही 'शम रस' नाम दे दिया है—'सबते होय उदास मन बसै एक ही ठौर। ताहीसों सम रस कहत केसव कवि सिरमौर' (रसिक० १४ . ३७)। पण्डितराज जगन्नाथ(१७ श० ई० पूर्वा०)ने महाभारतादि प्रबन्धोंमें शान्त रसकी प्रधानता बतायी है और उसे 'अखिल लोकानुभवसिद्ध' भी घोषित किया है। जैन कवि बनारसीदासने अपने 'समयसार' नाटकमें शान्त रसको रसराज मानते हुए लिखा है—'नवमो सान्त रसनिको नायक।' संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओंका ज्ञान-भक्तिपरक सम्पूर्ण साहित्य मूलत शान्त रसके अन्तर्गत आता है, यद्यपि उसमें शेष आठ रसोंका पर्याप्त परिविस्तार मिलता है।

वैराग्य भारतीय विचारधाराका महत्त्वपूर्ण तथा शक्तिशालिनी प्रवृत्ति रहा है और उसका प्रभाव भारतीय साहित्यपर निरन्तर बना रहा है। हिन्दी साहित्यके भक्तिकालमें शान्त रसको महत्त्व प्राप्त हुआ है। विनय-सम्बन्धी भक्तिभावनामें इसी रसका प्रसार है। सूरके विनयके पदोंमें तथा तुलसीकी 'विनयपत्रिका'में इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। सन्त कवियोंमें निर्वेद, शम, वैराग्यकी व्यापक भावना पायी जाती है। प्रेममार्गी सूफी कवियोंके प्रबन्ध-काव्योंमें यत्र-तत्र इसकी अवतारणा है। —ज० गु०

शाक्तमत–शक्तिकी उपासना करनेवालोंको शाक्त और उनके धर्म या मतको शाक्तमत कहा जाता है। इस मतमें परमेश्वरकी कल्पना स्त्री-रूपमें की जाती है और उसे शक्तिके नामसे अभिहित किया जाता है। शक्तिको ही आनन्दभैरवी, महाभैरवी, त्रिपुरसुन्दरी, ललिता आदि नामोंसे पुकारा जाता है। शक्तिकी उपासना प्राय तीन पद्धतियोंसे होती है—(क) सामान्य शिष्ट-पद्धति, जिसमें अहिंसात्मक ढंगसे अन्य देवोंकी तरह ही शक्तिकी पूजा होती है, (ख) भयकर पद्धति, जिसमें शक्तिका सम्बन्ध कापालिकों और कालमुखोंके मतोंसे है और जिसमें पशुओं तथा मनुष्योंका बलिदान विहित है और (ग) भावात्मक

पद्धति, जिसमें उपासक अपने उपास्य देवताके साथ तादात्म्य स्थापित करता हुआ पूजा करता है। प्रायः अन्तिम पद्धति करनेवालोंको ही शाक्तकी संज्ञा दी जाती है, प्रथम और द्वितीय पद्धतिवालोंको क्रमशः स्मार्त तथा शैव कहा जाता है।

शाक्तमत अद्वैतवादका साधनमार्ग है। शाक्तोंकी प्रत्येक साधनामें अद्वैतवाद ओतप्रोत रहता है। शाक्त मतके दो सम्प्रदाय हैं, कौल सम्प्रदाय और समयाचार मत या सम्प्रदाय। इन दोनोंके भी अवान्तर सम्प्रदाय हैं।

कौल वही है जो शक्तिका शिवके साथ मिलन करानेमें समर्थ होता है। 'कुल'का अर्थ है शक्ति या कुण्डलिनी और अकुलका अर्थ है शिव। जो योगक्रियामें कुण्डलिनी-का अभ्युत्थान कर सहस्रारस्थित शिवके साथ सम्मेलन कराता है वही कौल है। कौलाचार ही कुलाचार या वामाचार है। यह आचार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन, इन पाँच मकारों या तत्त्वोंके सहयोगसे अनुष्ठित होता है। इन पाँच मकारोंका रहस्य नितान्त गूढ़ है। जो कोई इन्हें बाह्य तथा भौतिक अर्थमें प्रयोग करता है, वह यथार्थसे बहुत दूर है। मद्य बाहरी शराब नहीं, किन्तु ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित सहस्रदल कमलसे क्षरित सुधा है। जो पुरुष पुण्य और पापरूपी पशुओंको ज्ञानरूपी खड्गसे मारता है और अपने मनको ब्रह्ममें लीन करता है वही मांसाहारी है। मत्स्य शरीरस्थ इड़ा तथा पिंगला अर्थात् गंगा और यमुना नामक नाड़ियोंमें प्रवाहित श्वास और प्रश्वास हैं। मत्स्यभक्षी वह है जो प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वासको बन्द करके प्राणवायुको सुषुम्ना नाडीके भीतर सञ्चालित करता है। असत् संगके त्यागका नाम मुद्रा है। यह सत्संगका द्योतक है। सहस्रारमें स्थित शिव तथा कुण्डलिनीका अथवा सुषुम्ना तथा प्राणका सहवास या मिलाना मैथुन है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पंच मकारोंका सम्बन्ध अन्तर्योगसे है। पर कालान्तरमें शाक्तोंने आन्तरिक साधनाको छोड़कर बहि साधनाको ही अपना लिया। फिर वे इन पंच मकारोंके भौतिक अर्थ लेने लगे और इनका सेवन करने लगे। यही कारण है कि शाक्त निन्दनीय समझे जाते हैं। कबीर, तुलसी आदि सन्तोंने भी वाम-मार्गियोंकी कटु आलोचना की है और उन्हें पथभ्रष्ट समझा है, जो ठीक ही है।

समयमार्गमें अन्तर्योगका भी प्राधान्य है। 'समय'का अर्थ है हृदयाकाशमें चक्रकी भावना कर पूजाका विधान या शक्तिके साथ अधिष्ठान, अनुष्ठान, अवस्थान, नाम तथा रूपभेदसे पंच प्रकारके साम्य धारण करनेवाले शिव (शिवशक्तिका सामरस्य)। समयाचारमें मूलाधारमें सुप्त कुण्डलिनीको जाग्रत् कर स्वाधिष्ठानादि चक्रोंसे होकर सहस्रार चक्रमें विराजमान सदाशिवके साथ संयोग करा देना प्रधान आचार है। समयाचारी लक्ष्मीधर(१०६८-१३७९ ई०)ने कौलमार्गकी कड़ी निन्दा की है, परन्तु साधनाके रहस्योंके ज्ञाताओंकी सम्मतिमें आरम्भमें दोनों मार्गोंमें अन्तर होनेपर भी अन्ततः दोनोंमें नितान्त घनिष्ठता है। जो परम कौल है, वही सच्चा समयी है।

तत्त्व छत्तीस हैं, जिन्हें तीन विभागोंमें विभक्त किया जाता है—शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्व। शिवतत्त्व दो तत्त्वोंका विभाग है—शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व। विद्यातत्त्वमें सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या, ये तीन तत्त्व गृहीत हैं। आत्मतत्त्वमें ३१ तत्त्व हैं—माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) तथा पाँच महाभूत (आकाश, वायु, वह्नि, जल और पृथ्वी)।

परा शक्तिके हृदयमें विश्वसृष्टिकी इच्छा उत्पन्न होते ही इनके दो रूप हो जाते हैं—शिवरूप तथा शक्तिरूप। शिव प्रकाशरूप हैं और शक्ति विमर्शरूपिणी है। विमर्शका अर्थ है पूर्ण अकृत्रिम अहंकी स्फूर्ति। इसीको चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता आदि कहते हैं। प्रकाश और विमर्श सर्वदा युगपत् रहते हैं। प्रकाश या शिवको ही संवित् कहा जाता है और विमर्शको युक्ति या मनन। इसी शिवशक्तिके आन्तर निमेषको सदाशिव तथा बाह्य उन्मेषको ईश्वर कहते हैं। परा संवित्का शिवशक्त्यात्मक रूप सर्गात्मक होता है। शिवतत्त्वमें 'अहं' विमर्श होता है, सदाशिवतत्त्वमें 'अहमिदम्' विमर्श और ईश्वरतत्त्वमें 'इदमिदम्' विमर्श होता है। इनमेंसे प्रत्येकमें प्रथम पदकी प्रधानता रहती है। शुद्ध विद्यातत्त्वमें 'अहं' और 'इदं', दोनोंकी समान प्रधानता रहती है। इसके अनन्तर मायातत्त्वका कार्य आरम्भ होता है जो 'अहं' और 'इदं'को पृथक् पृथक् कर देती है। अहमंश हो जाता है पुरुष और इदमंश प्रकृति। परन्तु शिवको पुरुषरूपमें लानेके लिए माया पाँच उपाधियों—कला, विद्या, राग, काल और नियतिकी सृष्टि करती है, जिनका पारिभाषिक नाम 'कञ्चुक' या आवरण है। इतना विजृम्भण हो जानेपर फिर सांख्य दर्शनकी भाँति आगे विकास होता है। आविर्भावके विपरीत क्रमसे तिरोभाव होता है। आविर्भाव सृष्टिविज्ञानकी व्याख्या करता है, तो तिरोभाव साधनाकी।

शैवोंके एकदेशी(त्रिकदर्शन)को भी उपर्युक्त तत्त्ववाद मान्य है। उनमें और शाक्तोंमें थोड़ा अन्तर है। शैवोंका कहना है कि शिवतत्त्वमें शक्तिभाव गौण और शिवभाव प्रधान है जब कि शाक्तोंका दावा है कि शक्तितत्त्वमें शिवभाव गौण और शक्तिभाव प्रधान है। दोनों मानते हैं कि तत्त्वातीत दशामें न शिवकी प्रधानता है, न शक्तिकी, प्रत्युत दोनोंकी साम्यावस्था है। यही शिव शक्तिका सामरस्य है। इस सामरस्यको शैव लोग परमशिवके नामसे पुकारते हैं, तो शाक्त लोग पराशक्तिके नामसे। यह पराशक्ति (या शैव मतमें परमशिव) विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण, दोनों है। शाक्तमतमें शिव पराशक्तिसे उत्पन्न होकर जगत्का उन्मीलन करते हैं।

शाक्तमतका इतिहास बहुत प्राचीन है। इसको तीन युगोंमें बाँटा जाता है—(क) बुद्धपूर्वयुग या प्राचीन युग, जो प्रागैतिहासिक युगतक जाता है, (ख) मध्ययुग या बुद्धोत्तरयुग जो १२०० ई० तक विस्तृत है और (ग) आधुनिक युग, जो १२०० ई० से लेकर अद्यावधि है। इतने लम्बे कालमें शाक्त मतके विपुल ग्रन्थ रचे गये हैं, जिनमेंसे अधिकांश अप्रकाशित हैं। इनके मूल ग्रन्थोंको शाक्त आगम कहते

है। शाक्त मतकी कुछ उपनिषदें इधर कलकत्तामे प्रकाशित हुई हैं। शाक्त सस्कृतिके दो सम्प्रदाय है—श्रीकुल और कालीकुल। श्रीकुलके अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें अगस्त्यके 'शक्तिसूत्र' और 'शक्तिमहिम्नस्तोत्र', सुमेधाका 'त्रिपुरा-रहस्य', गौडपादका 'श्रीविद्यारत्नसूत्र', शकराचार्यके 'सौन्दर्यलहरी' और 'प्रपचसार' और अभिनवगुप्तका 'तन्त्रालोक' मुख्य हैं। कालीकुलके मुख्य ग्रन्थ 'कालज्ञान', 'कालोत्तर', 'महाकालसहिता' आदि है।

हिन्दी साहित्यके आरम्भिक युगमें शाक्त मतका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। 'कौलज्ञाननिर्णय'(कौलमतका एक ग्रन्थ)की पुष्पिकासे प्रसिद्ध चौरासी सिद्धोंमें अन्यतम मत्स्येन्द्रनाथका सम्बन्ध योगिनीकौल(कौल मतका एकदेशी)-से जान पडता है। नाथ-सम्प्रदाय(दे०)का सम्बन्ध कौल मतमे नि सन्दिग्ध रूपसे सिद्ध है। सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य तथा सन्त-साहित्य(दे०)में शक्तिसाधनाका स्पष्ट प्रभाव है। नाद, विन्दु, पंच मकार, प्रतीक भाषा आदिका प्रयोग शाक्तोंके प्रभावका सूचक है। शाक्त आगम शूद्रों तथा स्त्रीजनोंके लिए भी सदासे उन्मुक्त रहे हैं। शाक्त परम्परामें जाति-पाँतिका भेदभाव नहीं रहता। इसका भी प्रभाव प्राचीन हिन्दी साहित्यपर पड़ा है। पर जहाँ इतने अच्छे प्रभाव पडे हैं वहाँ प्राचीन हिन्दी साहित्यमें शाक्तोंकी कटु निन्दा भी मिलती है। इससे लगता है कि उस समय शाक्त मत अपने असली रूपसे विकृत हो गया था और उसमें बहुत-सी कुरीतियाँ आ गयी थीं। पर यह न समझना चाहिये कि शाक्त परम्परा बिलकुल लुप्त हो गयी है, यद्यपि शाक्तों, शैवों और वैष्णवोंका अन्तर्भाव शंकराचार्यके स्मार्त मतमें हो जानेके कारण अब शाक्त मतका उतना प्रभाव नहीं रह गया जितना कि प्राचीन तथा मध्यकालीन युगमें था। शाक्त साहित्यकी बड़ी राशि अप्रकाशित है। शाक्त स्वय अपने साहित्यका प्रकाशन नहीं होने देते। इस भावनाके कारण उनका साहित्य अभी अन्धकारमें पड़ा है। हिन्दीमें तो उनके किसी प्रामाणिक ग्रन्थका प्रकाशन ही नहीं हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—(१) गोपीनाथ कविराजका लेख—शक्तिदर्शन, हिस्ट्री आफ फिलॉसफी—ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, प्रथम भागमें, राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित, (२) वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ट माइनर रिलीजन्स - रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, (३) भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय।] —स० ला० पा०

शार्दूलविक्रीडित–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ ९१, ९२), 'पिंगलछन्द सूत्र' (७ २२) और 'प्राकृतपैंगलम्'में (सादूदूल सट्टा, २ १८७ नामसे) इसका लक्षण दिया गया है। म, स, ज, स, त, गके योगसे यह वृत्त बनता है (SSS, IIS, ISI, IIS, SSI, S) और १२, ७ वर्णोंपर यति आती है। केशव (रा० च० ३ १३), तुलसीदास (बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर तथा लका काण्डका आरम्भ), हरिऔध (प्रि० प्र० ४ ९), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली पृ० ३२) और अनूप शर्मा(सिद्धार्थ सर्ग १, ३, ९, १०, १७, १८ एव वर्द्धमान पृ० ५८५)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'कैसा प्रेम विशुद्ध बुद्ध प्रति था, स्वर्गीय आनन्द था। भोगा जा सकता कभी अवनिमें जो इन्द्रियोंसे नहीं।' (सिद्धार्थ निर्वाण स० १८)। —पु० शु०

शालिनी–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरतने 'नाट्यशास्त्र'(१६ ३०)में लक्षण और उदाहरण दिया है। मगण, दो तगण और दो गुरुओंके योगसे (SSS, SSI, SSI, SS) यह वृत्त बनता है और ४, ७ वर्णोंपर यति होती है। सस्कृतके इस प्रसिद्ध छन्दका प्रयोग साकेत(स० ९)में हुआ है—'क्या क्या होगा साथ मैं क्या बताऊँ। है ही क्या, हा आज जो मैं जताऊँ। तो भी तूली पुस्तिका और वीणा। चौथी मै हूँ पाँचवीं तू प्रवीणा।' —पु० शु०

शिक्षा–दे०—'सखीकर्म'।

शिखरिणी–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ ७९) तथा 'पिंगलछन्द सूत्र'(७ १०)के अनुसार य, म, न, स, भ, ल, गके योगसे शिखरिणी वृत्त बनता है (ISS, SSS, III, IIS, SII, IS)। पुष्पदन्तके 'महिम्नस्तोत्र' और शकराचार्यकी 'सौन्दर्यलहरी'में इस छन्दका प्रयोग है 'तनो तु क्षेम नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी।' हरिऔध (प्रि०प्र० स० ९), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रा० ८ ११) और अनूप शर्मा(सिद्धार्थ स० ४, ८, १२)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। अनूप शर्माने इस छन्दका सर्वाधिक प्रयोग किया है। उदा०—'उषालोकारम्या दिवसमुखमें राग भरके, हँसी ज्यों ही भू पै प्रकट नभमें भास्कर हुआ।' (सि० अनु० पृ० ५३)। —पु०शु०

शिल्पक–इसमें चार अक होते हैं। चारों वृत्तियोंका प्रयोग, शान्त, हास्यके अतिरिक्त अन्य सभी रसोंका प्राधान्य होता है। नायक ब्राह्मण तथा उपनायक कोई हीन पुरुष होता है। श्मशान, शव आदिका वर्णन इसमें रहता है। इसके ये सत्ताइस अग होते हैं—१ आशसा, २ तर्क, ३ सन्देह, ४ ताप, ५ उद्वेग, ६ प्रसक्ति, ७ प्रयत्न, ८ ग्रथन, ९ उत्कण्ठा, १० अवहित्था, ११ प्रतिपत्ति, १२ विलास, १३ आलस्य, १४ वमन, १५ प्रहर्ष (विशाल हर्ष), १६ अश्लील (लज्जा, जुगुप्सा, अमगलसूचक बात), १७ मूढ़ता, १८. साधनानुगमन, १९ उच्छ्वास, २० विस्मय, २१. प्राप्ति, २२ लाभ, २३ विस्मृति, २४ सम्फेट, २५ वैशारद्य, २६ प्रबोधक, २७ चमत्कृत। उदा०—'कनकावतीमाधव।' शेष बातोंमें नाटकसे समानता है। —वि० रा०

शिष्य–काव्यशास्त्रमें कविशिक्षा(दे०)के अन्तर्गत 'शिष्य'-का अर्थ है इस शास्त्रका अधिकारी व्यक्ति। वामनने कवियोंके दो भेद किये हैं—अरोचकी, अर्थात् विवेकी तथा सतृणाभ्यवहारी, अर्थात् अविवेकी। अरोचकीको ही शिष्यत्वके योग्य बताया है (काव्या०सू० १ २ १-२)। राजशेखरने शिष्योंके दो भेद किये हैं—बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि और जो इन दोनों श्रेणियोंमें नहीं आते वे दुर्बुद्धि हैं (का० मी० ४)।

बुद्धिमान् वे शिष्य होते हैं, जिनकी बुद्धि स्वभावत शास्त्रोंमें प्रवृत्त होती है। ऐसे शिष्य किसी विषयको तत्काल समझ लेते हैं। इन्हें केवल काव्यपद्धतिसे परिचय प्राप्त करनेके लिए गुरुकुलमें जाना चाहिये (का० मी० ४)। आहार्यबुद्धि वे शिष्य होते हैं, जिनकी बुद्धि

शास्त्राभ्यासकी अपेक्षा रखती है। इन्हें शास्त्राभ्यासके लिए आचार्योंकी सेवा करनी चाहिये (वही)। दुर्बुद्धिका सर्वत्र मतिविपर्यास होता है। शास्त्र उसका उपकार नहीं कर सकते (वही)।

क्षेमेन्द्रने भी शिष्योंके तीन भेद किये हैं—अल्पप्रयत्न-साध्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य। असाध्य वह है जो स्वभावसे जडबुद्धि हो, व्याकरण अथवा तर्कने जिसकी सहृदयताको नष्ट कर दिया हो और जिसके कानोंमें सुकवियोंकी रचनाएँ न पड़ी हों (क०क० : १ २२)। —म० प्र० ला०

शुंडुनी–सहज-रस या **अमियरस** रूपी वारुणीका हठयोग-परक अर्थ लेकर सिद्धों और सन्तोंने बराबर शुंडुनी या कलाली या **मदिरा** बेचनेवालीका रूपक प्रस्तुत किया है। 'चर्यापद'में विरूपाने विस्तारसे शुंडुनीका रूपक दिया है। **परिशुद्धावधूती** वास्तवमें कलाली है, ललना, रसना दो घड़े हैं, नवित्तिचित्त वल्कलचूर्ण है, शुक्रनाड़ी नली है और गेधिचित्त ग्राहक। कबीरने सहज शक्तिको कलाली माना है, ब्रह्मरन्ध्रको भट्ठी, सन्तोंको ग्राहक। (दे० सन्त कबीर परिशिष्ट–रामकुमार वर्मा) —ध० वी० भा०

शुक्लाभिसारिका–दे०—'अभिसारिका' (नायिका)।

शुद्धतावाद–'प्यूरिज्म', 'प्यूरिटैनिज्म'से भिन्न है। परन्तु हिन्दीमें यह शब्द दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। भाषाके मामलेमें शुद्धिवादी किसी अन्य भाषाका मिश्रण नहीं सहन करते। आचरणके सन्दर्भमें शुद्धतावादी आदमीको एकदम लाँड्रीसे धुले, साफ, धीरोदात्त, परमगुण-सम्पन्न, निष्पाप बना देना चाहते हैं। परन्तु कलाके क्षेत्रमें शुद्धतावादका अर्थ है कला-निर्मिति और समीक्षा, दोनोंके क्षेत्रमें कलासे इतर या भिन्न किसी भी अन्य हेतुओं या मान-दण्डोंका प्रयोग न करना। एक प्रकारसे यह 'कलाके लिए कला'वाद भी है। —प्र० मा०

शुद्ध पुष्ट–दे०—'पुष्टिजीव', 'पुष्टिमार्ग'।

शुद्धाद्वैतवाद–शंकराचार्यके अद्वैतवादमें ब्रह्म माया-शबल है। इसके विरोधमें वल्लभाचार्यने शुद्धाद्वैतवादकी स्थापना की। इसमें ब्रह्म माया-सम्बन्धसे रहित होनेके कारण शुद्ध है। कारणरूप और कार्यरूप, दोनों प्रकारसे ब्रह्म शुद्ध है, मायिक नहीं। मायारहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है। सारा जगत्प्रपंच उसीकी लीलाका विलास है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' सब कुछ ब्रह्म ही है, इस सिद्धान्तको इस मतमें अक्षरशः माना जाता है।

'पद्मपुराण'के वर्णनानुसार रुद्रसम्प्रदायके प्रवर्तक विष्णु गोस्वामी थे। नाभादासके 'भक्तमाल'से ज्ञात होता है कि विष्णु गोस्वामीके सम्प्रदायमें ही ज्ञानदेव(१२७५-१२९६ई०), नामदेव, त्रिलोचन आदि सन्त थे तथा वल्लभाचार्य(जन्म १४७९ ई०)ने इसी मार्गका अनुसरण कर शुद्धाद्वैतवाद और इसका भक्ति-सम्प्रदाय पुष्टिमार्ग (दे०) चलाया। इस मतके प्रमुख आचार्य और प्रवर्तक वल्लभ ही हैं। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके जीवनकी घटनाएँ काशी, अरैल (जिला इलाहाबाद) और वृन्दावनसे सम्बन्धित हैं। इनके लिखे हुए ग्रन्थ 'अणुभाष्य' (ब्रह्मसूत्रका भाष्य), जैमिनिके पूर्वमीमांसासूत्रपर भाष्य, 'सुबोधिनी' (भागवत पुराणपर भाष्य), 'तत्त्वदीपनिबन्ध' और १६ अन्य लघुकाय प्रकरण-ग्रन्थ हैं। वल्लभके द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथ (१५१६-१५८६ ई०) थे। ये गोसाईंजीके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्होंने 'विद्वन्मण्डल' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी रचना की और 'अणुभाष्य'को, जो अपूर्ण रह गया था, पूरा किया तथा सुबोधिनीकी टीका की। इनसे वल्लभ मतका विशेष प्रचार हुआ। इनके सात पुत्र थे, जिन्होंने अलग-अलग गद्दियोंकी स्थापना कर इस मतका विपुल प्रचार किया। इन्हींमेंसे एक गोकुलनाथ थे, जिन्होंने 'चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता' नामक पुस्तक लिखी। पुरुषोत्तम तथा व्रजनाथ भट्ट परवर्ती कालमें इस मतके विद्वान् व्याख्याता हुए।

पर इस मतके सबसे जाज्वल्यमान् नक्षत्र सूरदास हैं। ये वल्लभके शिष्य थे और उन्हींके आदेशसे भगवान्‌की विनयको छोड़कर उनकी लीलाका ही वर्णन करते थे। इनकी प्रसिद्ध कृति 'सूरसागर' है, जो हिन्दी साहित्यका अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें वल्लभमतकी काव्यमयी व्याख्या हुई। गोसाईं विट्ठलनाथने अपने अनुयायी व्रजके आठ कवियोंको लेकर 'अष्टछाप'(दे०)की स्थापना की, जिसमें सूरदास सर्वश्रेष्ठ थे और उनके बाद नन्ददासका नम्बर था। इन आठ कवियोंने कृष्णका इतना लीलागान किया कि व्रजभाषाका काव्य सदाके लिए कृष्णकाव्य बन गया। रासलीला, भ्रमरगीत, बालवर्णन, माखनचोरी आदि अनेक इस मतके वर्ण्य विषय हैं। साधनाकी दृष्टिसे रासलीलाका महत्त्व है। ज्ञानकी दृष्टिसे भ्रमरगीतका सर्वाधिक गौरव है। सूरदासने भ्रमरगीतसे भक्तिको ज्ञान तथा योगसे पुष्टीमार्गीय ढंगसे श्रेष्ठ दिखलाया है। गोपियोंकी भक्तिके सामने उद्धवकी ज्ञाननिष्ठा विजित हो जाती है और वे निरुत्तर हो जाते हैं। नन्ददासने कुछ तार्किक ढंगसे गोपियों और उद्धवका संवाद कराया है और अन्तमें भक्तिकी ज्ञानपर विजय दिखलायी है। भ्रमरगीतको लेकर आगे चलकर अनेक काव्य लिखे गये। इस प्रकारकी अन्तिम रचना जगन्नाथदास 'रत्नाकर'का 'उद्धवशतक' है। भ्रमर-गीत जैसा ही महत्त्वपूर्ण विषय रासलीला है, जिसको लेकर काव्योंकी रचना की गयी।

वल्लभने 'ब्रह्मविद्या'में श्रुति-स्मृतिको ही एकमात्र प्रमाण माना। वेद (उपनिषत्सहित), गीता, ब्रह्मसूत्र तथा भागवत पुराणको इन्होंने ज्ञानका उत्स माना। इनके मतसे युक्ति या अनुमानसे ब्रह्मका निरूपण या लाभ नहीं हो सकता है। युक्तिका सहारा लेनेवाले शंकराचार्यकी इन्होंने खूब खबर ली है और उनको वेदविरोधी तथा प्रच्छन्न बौद्धतक कह डाला है। कभी-कभी ये उस सिद्धान्तका भी समर्थन करते हैं जो युक्तिसे देखनेपर व्याघातक प्रतीत होता है। यौगिक व्याघातकी ये चिन्ता नहीं करते। यदि शंकर तार्किक हैं तो वल्लभ विशुद्ध धार्मिक हैं। शब्द-प्रमाणको ही सर्वस्व माननेके कारण शुद्धाद्वैतवाद स्पष्ट दार्शनिक सिद्धान्त न होकर केवल धर्मशास्त्रीय वाद रह गया है

श्रुति और स्मृतिसे सिद्ध है कि सब कुछ ब्रह्म ही है। वह एक और अद्वितीय सत् है। उपनिषदोंने उसको ब्रह्म कहा, गीताने पुरुषोत्तम और भागवतने परमात्मा या कृष्ण।

कृष्ण ही ब्रह्म, ईश्वर या परमात्मा हैं। वे सविशेष है, पर निर्विशेष भी हैं; सगुण हैं, पर निर्गुण भी हैं, अणु हैं, पर महान् भी हैं, चल हैं, पर कूटस्थ या अचल भी हैं, गम्य हैं, पर अगम्य भी है। वे विरुद्ध धर्मों या गुणोंके आश्रय हैं। वे सत्, चित् और आनन्द हैं। उनके सभी गुण उनमे स्वभावत अभिन्न हैं, वे उनकी शक्ति या माया नहीं है। उनके स्वरूपसे ही (शक्ति या मायासे नही) समस्त जगत् आविर्भूत होता है और ऐसा होनेपर भी वह अविकृत रहता है। इस मतको स्वरूप-परिणामवाद कहा जाता है। जगत् कार्यरूपसे ब्रह्म ही है। जगत्की उत्पत्ति तथा नाश नहीं होता, प्रत्युत आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अनुभवयोग्य होनेपर जगत्का आविर्भाव होता है और अनुभवयोग्य न होनेपर तिरोभाव। इस मतमें जगत् तथा ससारमें एक विलक्षण भेद किया जाता है। ईश्वरकी इच्छाके विलाससे सदंशमे प्रादुर्भूत पदार्थको जगत् कहते हैं और अविद्या या अज्ञानके द्वारा जीवसे कल्पित ममता-अहन्तारूप पदार्थको ससार कहते हैं। ससारकी सत्ता अविद्याके कारण है। ज्ञानोदयसे ससारका नाश होता है, पर जगत् ब्रह्मरूप होनेसे सदा अविनाशी और नित्य रहता है।

इस ब्रह्मके तीन रूप हैं—परब्रह्म या पुरुषोत्तम, अन्तर्यामी और अक्षर ब्रह्म। पहला ब्रह्मका आधिदैविक और तीसरा आध्यात्मिक रूप कहा जाता है। अन्तर्यामी सर्वत्र आत्माओंमें निवास करता है। परब्रह्म आनन्दघन है और और अन्तर्यामी तथा अक्षर ब्रह्म आनन्दलेश (सीमित आनन्द) है।

अक्षर ब्रह्मकी कल्पना वल्लभमतकी विशेषता है। जैसे अग्निमे स्फुलिंग निकलते हैं वैसे अक्षर ब्रह्मसे अनेक जीवन और जगत् निकलते हैं। अक्षर ब्रह्म चार रूप धारण करता है—अक्षर, काल, कर्म और स्वभाव। अक्षररूप पुरुष तथा प्रकृतिके रूपमें प्रकट होता है और यही प्रत्येक वस्तुका उपादान और निमित्त कारण बनता है। पुरुष या जीव अनन्त है। परिमाणमें प्रत्येक अणु है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। वह सत्, चित् और आनन्द भी है। पर जब ईश्वर लीला करनेके लिए इच्छा करता है तो जीवको अपने आनन्दका अनुभव नहीं होता। इस कारण उसे दु ख मिलता है। इस दु खके कारण वह बन्धनमें पड़ जाता है। ईश्वरकी कृपा होनेपर वह इससे मुक्त होता है। मुक्तावस्थामें जीव और ईश्वरका वास्तविक ऐक्य हो जाता है।

शकराचार्यके अनुयायी इस तत्त्ववादको शुद्धाद्वैतवाद न कहकर शुद्ध द्वैतवाद कहते हैं, क्योंकि इसमें अनेक जीव, जगत्, कर्म, स्वभाव, काल, अक्षर ब्रह्म तथा परब्रह्मका भेद नित्य और सनातन रहता है। तार्किक दृष्टिसे देखनेपर यह मत सचमुच शुद्ध द्वैतवाद सिद्ध होता है। एकता (अद्वैत) और अनेकता(द्वैत)में यह जो सम्बन्ध मानता है, उसमें बड़ा बाध है। धार्मिक दृष्टिसे यह मत कदाचित् सर्वश्रेष्ठ होगा, क्योंकि इसमें विशुद्ध ब्रह्मका ही सब लीलाविलास है और उसके अनुग्रहपर विशेष बल दिया गया है।

इस मतका साधनमार्ग पुष्टिमार्गके नामसे प्रसिद्ध है। पुष्टिका अर्थ कुछ लोग 'मोटा-ताजा' या 'खाओ, पियो, मौज उड़ाओ' करते है। पर यह अशुद्ध है। 'भागवत पुराण' के द्वितीय स्कन्धके १०वें अध्यायके चतुर्थ श्लोकमें पुष्टि या पोषणका अर्थ भगवान्का अनुग्रह बतलाया गया है—'पोषण तदनुग्रह।' इस श्लोकाशके आधारपर वल्लभने अपने मतको पुष्टिके नामसे पुकारा। उनके मतसे ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग कठिन हैं। इस युगमें उनकी पूर्ण व्यवस्था नहीं हो सकती है, क्योंकि उपदेशक और सामग्रीका अभाव है। अब बचता है भक्तिमार्ग। इसमें किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं है। यह सर्वसुलभ है। अत इसीकी वल्लभने शिक्षा दी।

वल्लभने जीवोंकी तीन कोटियाँ बतलायीं हैं—पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह। जो जीव निरुद्देश्य जीवन बिताते हैं और कभी ईश्वरका चिन्तन नहीं करते वे प्रवाहजीव हैं। जो वेदोंका अध्ययन करते हैं, सत्को समझते हैं और वेद-विहित मार्गसे ईश्वरकी पूजा करते हैं, वे मर्यादाजीव हैं। जिन जीवोंपर ईश्वर कृपा करता है, जिनको अपनी शरणमें लेता है और जो ईश्वरसे अनन्य प्रेम करते हैं, वे पुष्टि-जीव हैं। प्रवाहजीव जन्म-मरणके चक्रमें सदैव पडे रहते हैं। मर्यादाजीवोंको कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गसे क्रममुक्ति मिलती है। वे क्रमश पितृयान, देवयान और कैवल्यको प्राप्त करते हैं। भक्तिमार्गका अवलम्बन करके वे नवधा भक्ति करते है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। इनकी भक्ति मर्यादा-भक्ति (अन्य वेदान्तियोंके मतमे वैधी भक्ति) है। इससे सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। श्रुतियों और स्मृतियोंमें ये त्रिविध मार्ग (कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग) बतलाये गये हैं, फिर भी उनमें कहा गया है कि ब्रह्मकी प्राप्ति बिना ब्रह्मकी कृपाके दुर्लभ है। 'कठोपनिषद्'में कहा गया कि आत्माका ज्ञान प्रवचन तथा स्वाध्यायसे नहीं हो सकता, जिसपर ब्रह्म कृपा करता है, उसीको यह ज्ञान होता है। गीतामें भी इसी सिद्धान्तकी पुनरुक्ति हुई है। इस प्रकार श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग तथा इस ब्रह्मकृपावादमें विरोध दीख पड़ता है। वल्लभने इसको मर्यादाभक्ति तथा पुष्टि-भक्तिके विवेक द्वारा दूर किया। इनके मतसे मर्यादाभक्ति (कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और उपासनामार्ग) उन जीवोंके लिए है जो स्वय अपने कर्मों द्वारा मुक्त होना चाहते हैं और पुष्टिभक्ति उन लोगोंके लिए है जो दीन और असहाय हैं, जिनके पास कोई साधन नहीं है। पुष्टि मर्यादासे पृथक् तथा भिन्न है। मर्यादाभक्ति ईश्वरप्रेममें नवधा भक्तिका फल होता है। पुष्टिभक्तिमें—ईश्वर-प्रेम ही सकल आध्यात्मिक कार्य-कलाओंका अथ और हेतु है। पुष्टिभक्ति भी चार प्रकारकी है—प्रवाहपुष्टिभक्ति, मर्यादा-पुष्टिभक्ति, पुष्टिपुष्टिभक्ति और शुद्धपुष्टिभक्ति। प्रवाह-पुष्टिभक्ति उन लोगोंकी भक्ति है जो ससारमें रहते हुए, गृहस्थजीवन बिताते हुए, भगवान्की भक्ति करते है। मर्यादापुष्टिभक्ति उन लोगोंकी भक्ति है जो भोग-विलाससे विमुख होकर, विरक्त होकर, ईश्वरका गुणगान, चिन्तन, कीर्तन आदि करते हैं। पुष्टिपुष्टिभक्ति उन लोगोंकी भक्ति है जो पहले ईश्वरकी कृपा पाकर भक्त बनते हैं और फिर दुबारा ईश्वरकी कृपाका लाभ करके ज्ञानके अधिकारी

बनते हैं और ब्रह्मके विषयमें सभी ज्ञातव्य बातोंको अपने प्रयत्नसे जानते हैं। शुद्धपुष्टिभक्ति उन लोगोंकी भक्ति है जो भगवान्से 'अमित प्रेम' करनेके अतिरिक्त कुछ नहीं करते। यह भगवान्के द्वारा भक्तमें स्थापित की जाती है और भक्तका सर्वस्व है। इसके भी तीन सोपान हैं—प्रेम, आसक्ति और व्यसन। ये न्यूनाधिक्यके विचारसे किये गये हैं। शुद्धपुष्टिभक्तिका उदाहरण गोपियोंकी भक्ति है। ऐसे भक्त सायुज्य मुक्तिको भी तज देते हैं और भगवान्की रासलीलामें भाग लेनेको ही परम मुक्ति मानते हैं। कृष्ण रस, आनन्द, सुन्दर हैं। वे सभी रसोंको, पर विशेषत शृंगार रसको प्रकाशित करते हैं। संयोग और विप्रलम्भके भेदसे शृंगार द्विविध है। अपने भक्तोंके सम्बन्धमें कृष्ण दोनोंकी अभिव्यक्ति करते हैं। इन्हींपर ध्यान करना पुष्टिमार्गीका लक्ष्य है। यही कारण है कि 'भागवत'के दशम स्कन्ध(जिसमें ये लीलाएँ हैं)को लेकर महाकवि सूरदासने वृहत् 'सूरसागर' रच डाला। रासलीला, बाललीला, गोकुलवर्णन, यशोदाका वात्सल्य, गोपियोंके साथ कृष्णकी नाना लीलाओं, भ्रमरगीत (भक्ति और ज्ञानपर गोपियों और उद्धवके संवाद) आदिका वर्णन करके ब्रजभाषाके अधिकांश कवियोंने अपनेको पुष्टिभक्त सिद्ध किया है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर मीराँ और रसखान भी पुष्टिभक्त प्रतीत होते हैं। पुष्टिभक्ति सबके लिए खुली हुई है। प्रपत्तिसे या भगवान्की शरणमें जानेसे करुणावात्सल भगवान् आपसे आप पुष्टि दे देता है। पुष्टिमार्ग प्रपत्तिमार्गसे भिन्न है। प्रपत्तिसे ही पुष्टिका उदय होता है।

वल्लभने बालकृष्ण और उनकी सखी राधाकी उपासनाका विधान बनाया, क्योंकि रासलीला भगवान्के इसी रूपमें विशेष है।

[सहायक ग्रन्थ—(१) भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, (२) अणुभाष्य : वल्लभ, (३) वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स : रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर]। —म० ला० पा०

शुद्धापह्नुति–दे०—'अपह्नुति', पहला भेद।

शुद्धा लक्षणा–प्रयोजनवती लक्षणाका एक प्रमुख भेद, इसमें लक्ष्यार्थका ग्रहण सादृश्य-सम्बन्धके बिना किसी अन्य सम्बन्धके आधारपर किया जाता है। मम्मट तथा विश्वनाथने इसके भेदोंके ही विचार करना प्रारम्भ किया है—उपादान तथा लक्षणलक्षणा आदि। 'गंगापर घर'में सादृश्य-सम्बन्धसे तटका ग्रहण न होकर सामीप्य सम्बन्धसे है। यज्ञ-क्रियाके स्तम्भको इन्द्रका स्थानापन्न मान लिया जाता है और इन्द्र कहा जाता है। इस तादर्थ्य-सम्बन्धसे लक्ष्यार्थकी सिद्धि हुई है। इसी प्रकार 'अपने कर गुही'में अँगुलियोंके लिए हाथका प्रयोग अंगांगिभाव-सम्बन्ध है और बढ़ईका काम करनेवाले ब्राह्मणको बढ़ई कहना तात्कर्म्य-सम्बन्ध है। ये समस्त सम्बन्ध सादृश्यके बिना स्थापित किये गये हैं, अतएव शुद्धा लक्षणाके उदाहरण हैं। —सं०

शून्य–शून्य शब्दका अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक है। यह जितना ही प्रचलित हुआ उतने ही प्रकारके इसके अर्थ किये गये। दूसरी तथा तीसरी शताब्दीके मध्यमें आचार्य नागार्जुनके वादसे ही शून्यकी कल्पना बौद्ध प्रभावके कारण अत्यन्त व्यापक हो गयी। यों वस्तुत पहलेसे शून्य अबौद्ध परम्पराओंमें भी परम तत्त्वकी एक संज्ञाके रूपमें परिकल्पित कर लिया गया था। 'महाभारत'में भीष्मने विष्णुके सहस्र नामोंका उपदेश देते हुए उनका एक नाम 'शून्य' भी बताया है और उस नामकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्यने कहा था–'सर्वविशेषरहितत्वात् शून्यवत् शून्य', अर्थात् समस्त विशेषणों, गुणों तथा प्रकृतियोंसे रहित होनेके कारण वे शून्यवत् हैं।

हिन्दू दार्शनिक इस शून्यका अर्थ 'सत्ताका अभाव' लेते हैं, जो भ्रमपूर्ण है। नागार्जुनने शून्यकी व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों (शून्य और अशून्य) भी नहीं कह सकते। इसी भावकी प्रज्ञप्तिके लिए 'शून्य' शब्दका व्यवहार होता है। नागार्जुनने 'माध्यमिक' शास्त्रमें उत्पत्ति, गति, दुःख, बन्धन, मोक्ष आदिकी तर्कसहित परीक्षा कर यह सिद्ध किया कि सभीमें विरोधी धर्मोंकी उपस्थिति है, अत सभी शून्य हैं। (दे०—'शून्यवाद')

सिद्धोंने शून्यको शून्यवादसे भी विस्तृत अर्थमें लिया। बौद्ध सिद्धोंने अपनी **प्रज्ञोपाय**-प्रणालीमें इसी शून्यको **नैरात्मा** बालिका **प्रज्ञा** या **महामुद्रा** रूपमें ग्रहण किया और साथ ही **महासुखचक्र**में इस शून्यताकी स्थिति मानी। सिद्धोंने शून्यको द्वयकी कल्पनाओंसे मुक्त अद्वय तत्त्व माना था और अभाव तथा भाव, दोनोंका ही परित्याग कर मध्यम तत्त्वके रूपमें स्वीकार किया था। 'लंकावतारसूत्र'में कहा गया है कि शून्य तो वस्तुओंके कर्मका स्वभाव है, दृश्यमान जगत् चाहे शून्यस्वभाव हो, किन्तु चित्तका तो अस्तित्व है ही, अत निर्वाणमें भवका विनाश होनेपर भी चित्तमात्रकी व्यवस्थाका अभाव नहीं होता। इस प्रकार सिद्धोंका तत्त्व-दर्शन विज्ञानवादसे प्रभावित चित्त परक है—**तथता**के सिद्धान्तसे मान्य। किन्तु वे भव और निर्वाणका विवेचन करते समय सबको शून्यस्वभाव बताते हैं। आगे चलकर परवर्ती सम्प्रदायोंमें शून्य बौद्ध शून्यकी भाँति **प्रतीत्य-समुत्पाद**की तर्क-प्रणाली द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान न रहकर परम तत्त्वके अन्य नामोंकी भाँति यह भी एक नाममात्र था, जिसकी व्याख्या और विवेचन प्रत्येक सम्प्रदायके चिन्तक अपने-अपने ढंगसे करते थे।

मूलत शून्यका उल्लेख तत्त्वरूपसे भी किया गया है, जो अगोचर है, अगम है। इस शून्य तत्त्वको भादेपाने सर्वशून्य कहा है, तिलोपा इसे उत्पादविहीन, आदिरहित एवं अन्तर्हित अद्वय कहते हैं। शून्य तत्त्व वर्णहीन है, आकृतिविहीन है, उसका अपना कोई आकार नहीं, वह शून्यतारूपमें समस्त आकृतियोंमें व्याप्त है। न वह महान् है, न ह्रस्व है, न लघु है, न दीर्घ है, न वह लाल है, न हरा, न मजीठ, न पीला और न काला ही है। वह वर्णविहीन है, सभी वर्णों और आकारोंमें व्याप्त है। यही तत्त्व चित्तमें जगतमें, त्रिभुवनमें व्याप्त है। भव उस परम तत्त्वका केवल तरंग-प्रवाह है जो उसीमें विलीन हो जाता है। इसका स्वरूप इतना गुह्य है कि कुछ स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। इस शून्यज्ञानकी तीन विधायें हैं—(१) परिनिष्पन्न ज्ञान—जिसके लक्षण ये भाव और अभावमें समानता। नैरात्म्यज्ञान,

जो द्विविध है, धर्म-नैरात्म्यज्ञान अर्थात् सांसारिक वस्तुओंका नैरात्म्य या शून्यता और पुद्गलनैरात्म्य अर्थात् आत्मा जैसी किसी शाश्वत सत्ताके अभावका ज्ञान। (२) समज्ञान—समस्त वस्तुओंके उत्पादसे सब कुछ आदिरहित है, अन्तरहित है, अत यही अद्वयज्ञान है। (३) भावाभाव—चित्त, अचित्त, भव-निर्माण, शून्याशून्य, इन सभी द्वयिताओं-का निषेध कर चित्तमें उदित होनेवाले शून्यज्ञानकी साधना अत्यन्त सूक्ष्म है।

यही ज्ञान जब साधकका स्वभाव हो जाता है तो वह **शून्य स्वभाव**का हो जाता है, सम स्वभावका हो जाता है, अद्वय स्वभावका हो जाता है। ऐसे साधकको शून्यज्ञ कहते हैं, क्योंकि वह भाव, अभाव और प्रकृति अर्थात् स्वभावकी शून्यताको जान लेता है। वह **अमनसिकार** हो जाता है और भवका भजन कर देता है। सिद्धोंने शून्य स्वभावको परम कल्याणकारी कहा है। मैं ही जगत हूँ, तीनों भुवन मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, सभी दृश्यमान जगत्‌में मैं ही व्याप्त हूँ, ऐसा जाननेवाला योगी शून्य स्वभावका हो जाता है और निश्चय ही सिद्ध हो जाता है। (दे०—'दोहाकोष' : प्र० च० बागची)।

शून्यता ज्ञानके अतिरिक्त एक तत्त्व और था, जिसको सिद्धोंने विशेष महत्त्व दिया। वह तत्त्व था **करुणा**। महायानके अन्तर्गत **करुणा**को अत्यन्त महत्त्व दिया गया था। करुणाके अभावमें ही प्रत्येकयान और श्रावकयानको बोधिसत्त्वयानसे निम्न स्तरका (हीनयान) माना गया था। उसी करुणाको **वज्ररूप**में प्रतिष्ठित किया गया, सिद्धोंने उसे **मणि, कुलिश** तथा उपायरूपमें स्वीकार किया, किन्तु उसकी शून्यताके साथ समरसतापर, अद्वयपर विशेष बल दिया। सहजस्वरूपसे सिद्धोंका तात्पर्य उसी नैरात्म्यसे है, जिसमें शून्यता तथा करुणा अद्वयरूपमें स्थित हैं। शून्य-दर्शनके बिना करुणा लक्ष्यभ्रष्ट होता है और करुणाके बिना शून्यताज्ञान भी निष्फल होता है। यही शून्य तथा करुणाका ऐक्य समस्त ब्रह्माण्डका मूल धर्म है। सारा विस्तार इन्हीं दोनों तत्त्वोंका है। जो इन्हें समरसतारूपमें ग्रहण करता है वह भवसे मुक्त हो जाता है। बादको इसी करुणातत्त्वकी कल्पना भक्तिमें बदल गयी।

साधनापद्धतिमें शून्यके चार स्वरूपोंको स्वीकार किया गया था। 'पंचक्रम'में चतुर्विध शून्यका रूप इस प्रकार समझाया गया है। शून्य चार हैं—**शून्य, अतिशून्य, महाशून्य** तथा **सर्वशून्य**। इनका भेद कार्य-कारण-शृंखलापर आधारित है। पहला शून्य आलोक-ज्ञान प्रज्ञा है। चित्त इसमें संकल्पाभिभूत रहता है और यह स्वभावसे परतन्त्र है। इस अवस्थामें यह चित्तगत ३३ दोषोंसे आच्छादित रहता है। इसकी समस्त मायाओंमें सर्वश्रेष्ठ माया स्त्री है, जो इस शून्य प्रज्ञाकी अभिव्यक्ति है। इसीको बीजाक्षर भी कहते हैं। द्वितीय अतिशून्य आलोकका आभास है, इसका स्वभाव पारकल्पित है, वह उपाय, दीक्षा, सूर्यमण्डल, वज्रपुरुष और मनकी २४ प्रवृत्तियोंसे आवेष्टित है। तृतीय महाशून्य आलोक तथा आलोकाभासके युगनद्ध-में उदित होता है, किन्तु यह भी अविद्यारूप है, इसमें भी दोष रहते हैं। तीनों क्रमोंमें दोषोंकी संख्या १०६ है। उन दोषोंसे युक्त होनेपर प्रज्ञोपाय अद्वैतका सर्वशून्य उदित होता है। यही सर्वशून्य परमतत्त्व है, जो आदि-अन्तसे विहीन, गुण दोषरहित, भाव-अभावसे रहित तथा भावाभावसे भी रहित है।

नाथ-सम्प्रदायमें शून्यको परमतत्त्वके रूपमें स्वीकृत किया गया, किन्तु उसकी व्याख्यामें नाथ परम्पराने संशोधन कर दिया—'बसती न सुन्यम् सुन्यम् न बस्ती अगम अगोचर ऐसा। गगन सिखर मँह बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा।' (गोरखबानी)। शून्यको 'गगन शिपर मँह बालक बोलै', इस रूपमें किसी पूर्ववर्ती सम्प्रदायने स्वीकृत नहीं किया। इस संशोधनके पीछे हठयोगी परम्पराकी दार्शनिक चिन्तना है। यहाँ शून्यका सम्बन्ध नादतत्त्वसे जोड़ दिया गया है—इसीकी अभिव्यक्तिके लिए नाथ सिंगी धारण करते थे। नाद सृष्टिका मूल कारण तथा परमतत्त्व, परम-ज्ञान, परमस्वभाव था, अत शून्यका वर्णन भी इसी रूपमें नाथ-सम्प्रदायमें किया गया है। संक्षेपमें नाथ साहित्यमें शून्यप्रयोग तीन रूपोंमें हुआ है—१ परमतत्त्व नाद, परमज्ञान, परमस्वभाव, २ ब्रह्मरन्ध्र, दशम द्वार अथवा मध्य पथ तथा सहस्रार चक्र, गगनमण्डल, ३ शिवलोक।

सन्त कवि शून्यज्ञानके सम्बन्धमें प्रतीत्यसमुत्पादसे परिचित नहीं थे और शून्यताज्ञान उन्हें अद्वैतज्ञानके रूपमें प्राप्त हुआ था, क्योंकि सन्तोंतक आनेके पूर्व वह शैव सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत किया जा चुका था। शैव हठयोग-परम्परामें कायामें ही मण्डलके रूपमें शून्यकी स्थिति मान ली गयी थी। इस दृष्टिसे कई स्थान शून्यसे विशेषत सम्बद्ध माने गये थे, एक तो भ्रूमध्य त्रिकुटीमें शून्यका स्थान माना गया था। इला-पिंगलाके मध्य शून्यस्थानको महल, मण्डप, शिखर, नगर, हाट आदि रूपमें भी वर्णित किया है। सिद्धों एव नाथोंके सम्मुख शून्य-मण्डलकी स्थिति स्पष्ट है, किन्तु सन्तोंने इस शून्य-गुफा, शून्य-मण्डल और त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र तथा सहस्रदल कमलकी कल्पनाओंको इतना घुला-मिला दिया है कि ऐसा लगता है कि वे इसकी वास्तविक स्थितियोंको भूल गये हैं और केवल परम्परानिर्वाहके लिए शून्य-मण्डल, शून्य-गुफा आदिका उल्लेखमात्र कर देते हैं।

महल, गुफा, सरोवर, शिखर, कमल, दीपक, ज्योति, नीर, मेघ आदि उपमानोंसे शून्यको सम्बोधित किया गया है। इन सभीका अपना विशेष अर्थ है। महल, गुफा, शिखर, सरोवरका रूपक 'दोहाकोष'में स्पष्ट मिलता है। ज्योतिके रूपकमें शून्यकी ज्योति तथा चण्डाग्निकी ज्योति भी सिद्धोंके चर्यापदोंमें बराबर वर्णित है। इसके अतिरिक्त परवर्ती सन्त-साहित्यमें शून्यको बाघम्बर, ध्वजा, थाल आदि उपमानोंसे भी चित्रित किया गया है, जहाँ उसका अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है।

वज्रयानी साहित्यमें चार शून्य माने गये। चार शून्योंकी कल्पना 'हठयोगप्रदीपिका'में भी ग्रहण की गयी थी। पर उसे **नाद**की चार अवस्थाओंसे जोड़ दिया गया था। दादूने इन चारों शून्योंको एक नये रूपमें स्वीकृत किया। इन्होंने कायाशून्य, आत्मशून्य, परमशून्य तथा सहज-शून्य, इन चारों शून्योंका वर्णन किया है, जिनमेंसे पहले तीन सगुण तथा साकार हैं और अन्तिम शून्य निर्गुण तथा

निराकार है। (दे०—'शून्यवाद') बादमें कबीर-पन्थके साम्प्रदायिक साहित्यमें शून्यकी संख्यामें कल्पनातीत वृद्धि हुई। 'कबीरबानी'में पहले सातकी संख्याको महत्त्व दिया गया—'सात सून्यका सकल पसारा, सात सुन्यते कोई न न्यारा।' किन्तु इन सात शून्योंका कोई लक्षण नहीं बताया गया। इस वृद्धिके पीछे कोई संकेत न होकर संख्या-प्रेम ही ज्ञात होता है, क्योंकि वैकुण्ठके विस्तारमें १८ करोड़ शून्योंकी शृंखलाका वर्णन मिलता है और उसके भी आगे अनहद ज्योतिका वास बताया गया। वहाँ असंख्य शून्य परिकल्पित किये गये। इन्हीं शून्योंकी तुलनामें वैशून्य भी परिकल्पित किये गये, फिर इन सबको सातकी संख्यामें समाहित करनेका प्रयास किया गया। उसकी गणना इस प्रकार बनायी—असंख्य शून्य चार+वैशून्य दो+शून्य एक बराबर सात शून्य। ये सात शून्य सूर्यकी किरणोंके सात रंगोंसे समन्वित कर दिये गये और आखिरी सृष्टि इन्हीं रंगोंका विस्तार मान ली गयी। इस प्रकार धीरे-धीरे शून्यके ज्ञानका परम और तात्त्विक अर्थ भुला दिया गया, वह केवल एक निरर्थक पौराणिक कल्पनामात्र बनकर रह गया। —ध० वी० मा०

शून्यचक्र–दे०—'हठयोग'।

शून्यवाद–महायानको सामान्यतया दो दार्शनिक सम्प्रदायोंमें विभाजित किया जाता है—माध्यमिक (शून्यवाद), विज्ञानवाद (योगाचार)। शून्यवादके सबसे प्रबल प्रतिपादक आचार्य नागार्जुन थे, जिन्होंने लगभग दूसरी ईसवी शतीके अन्तिम चरणमें अपना प्रख्यात ग्रन्थ 'माध्यमिकशास्त्र' लिखकर शून्यवादको प्रतिष्ठित किया। उन कारिकाओंमें उन्होंने उत्पत्ति, गति, दुःख, बन्धन, मोक्ष आदि सभी धारणाओंकी तर्क सहित परीक्षा कर यह सिद्ध किया है कि सभीमें विरोधी धर्मोंकी उपस्थिति है अतः सभी शून्य हैं। इसके लिए उन्होंने प्रख्यात अष्ट निषेधोंका विधान किया था, जिनमें उन्होंने प्रत्येक वस्तुको अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थी, अनानार्थी, अनागमी और अनिर्गमी बताया था। प्रथम अध्यायकी प्रथम कारिकामें ही इन आठ निषेधात्मक स्वभावोंका उल्लेख करते हुए उन्होंने यह कहा था कि जो इन आठ निषेधोंसे परिचित हो जाता है वह कभी भी अतिवादोंका आश्रय नहीं ग्रहण करता और सदा मध्यम पथपर चलता है।

वस्तुतः इस शून्यका अर्थ हिन्दू दार्शनिकोंने अक्सर 'सत्ताका अभाव' किया है। शून्यवादी आचार्य इसे इस अर्थमें नहीं ग्रहण करते। वस्तुएँ आकाशकुसुमकी भाँति सत्ता-शून्य नहीं होतीं, पर वे नितान्त तात्त्विक भी नहीं होतीं, क्योंकि वे कारणोंपर निर्भर होती हैं और अनित्य होती हैं। संसारमें कोई वस्तु नहीं जो कारणोंपर आधारित न हो और कोई धर्म नहीं जो हेतुओंपर आधारित न हो, अतः कोई वस्तु या धर्म स्वतन्त्र या निरपेक्ष नहीं, इसलिए उनका अपना कोई स्वभाव नहीं। यह दिखानेके बाद आचार्य नागार्जुन कार्य-कारणका भी अन्तर्विरोध दिखाते हैं। वे कहते हैं कि यदि कार्य और कारण भिन्न हैं तो इनका अर्थ यह है कि कारणके बिना भी कार्य सम्भव था। यदि उनमें भिन्नता नहीं तो एक ही वस्तुके कार्य और कारण दो नाम देना उचित नहीं। फिर कोई वस्तु दूसरेसे उत्पन्न भी नहीं हो सकती, क्योंकि जब उस वस्तुका कोई धर्म नहीं तो वह दूसरी वस्तुको क्या उत्पन्न करेगी। इसी प्रकार शून्यवाद उत्पत्ति, गति, स्वभाव, धर्मका निषेध कर समस्त सृष्टिको अनन्त शून्यताकी चिर प्रवहमान् धारामात्र सिद्ध कर देता है।

प्रश्न यह है कि जब सभी शून्य है तो **निर्वाण** क्या है? क्यों प्राप्त किया जाय? कैसे प्राप्त किया जाय? नागार्जुनका कहना है कि न तो निर्वाण संसारसे परे कोई वस्तु है और न संसार निर्वाणसे परे; वस्तुतः भाव और अभावके परामर्शके क्षयको ही निर्वाण कहते हैं। वह तो शून्यमें उलझी हुई गाँठ है, जो शून्यमें ही खुल जाती है। (विस्तारके लिए दे० बौद्धधर्म दर्शन आचार्य नरेन्द्र देव। शून्य शब्दके परवर्ती विकासके लिए दे०—'शून्य') —ध० वी० भा०

शृंगारकाल–हिन्दी साहित्यका रीतिकाल (दे०) ही शृंगारकाल कहलाता है। उत्तर-मध्यकालमें काव्यकी प्रधान प्रवृत्ति शृंगारकी है। लगभग सभी काव्यधाराओंमें शृंगारके दर्शन होते हैं। कवियोंके वर्णन शृंगारसे ओत प्रोत होनेके कारण इस युगको शृंगारकालकी संज्ञा दी गयी है। काव्यमें भावकी प्रधानताकी दृष्टिसे जो हिन्दी साहित्यका काल-विभाजन है, उसमें वीर, भक्ति और शृंगार ही अधिक उपयुक्त नाम कुछ विद्वानोंको मान्य है। शृंगारिक काव्यके विविध अंगोंका विस्तार इस कालके साहित्यमें देखा जाता है। साहित्यमें शृंगार-वर्णनकी प्रमुख प्रवृत्ति, इस नामकी यथार्थता सिद्ध करती है। —भ० मि०

शृंगार रस–शब्दार्थकी दृष्टिसे शृंगार 'कामोद्रेक' अथवा 'कामवृद्धिकी प्राप्ति'का द्योतक है। शृंगारमें दो शब्द मिले हैं—शृंग तथा आर। 'शृंग'का अर्थ है कामोद्रेक अथवा कामकी वृद्धि। 'आर' गत्यर्थ 'ऋ' धातुसे बना है, जिसका अर्थ यहाँ है प्राप्ति। अतएव, शृंगारका अर्थ हुआ 'कामवृद्धिकी प्राप्ति' (र० म०, पृ० १७९)। अतएव जो रचना मानव-हृदयकी मधुरतम भूख, कामको उज्जीवित एवं परितृप्त करेगी, वह शृंगार रसकी रचना कही जायगी। विश्व साहित्यका एक अत्यन्त विस्तृत परिमाण इस हृदयावर्जक रसकी मन्दाकिनीसे ओत-प्रोत है। भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'के छठे अध्यायमें कहा है—'शृंगार रस रति स्थायी भावसे उद्भूत होता है। उसका वेश उज्ज्वल है। संसारमें जो कुछ पवित्र, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह शृंगारसे उपमित होता है। उज्ज्वल वेशवाला शृंगारवान् कहा जाता है। जैसे पुरुषोंके नाम गोत्र, कुल तथा आचारसे उत्पन्न एवं आप्तोपदेशसे सिद्ध हुआ करते हैं, वैसे ही इन रसों, भावों तथा नाट्याश्रित पदार्थोंके नाम भी आप्तोपदेशसे सिद्ध तथा आचारसे बनते हैं इसी प्रकार मनोहर तथा उज्ज्वल वेश होनेसे इस रसका नाम शृंगार पड़ा है। यह स्त्री-पुरुषके माध्यमसे उत्पन्न होता है तथा उत्तम यौवनकी प्रकृतिके अनुकूल है। 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथने शृंगारकी परिभाषा दी है—'शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः। उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते।' (३ १८३), अर्थात् कामके अंकुरित होनेको शृंग कहते

है। उसकी उत्पत्तिका कारण, अधिकाश उत्तम प्रकृतिसे युक्त, रस शृगार कहलाता है।

उपर्युक्त उद्धरणोंसे शृगार रसका सम्यक् स्वरूप उन्मीलित हो जाता है। आचार्योंने शृगारको मनुष्यकी सबसे प्रिय भूख 'काम'से सम्बद्ध करके उसकी प्रकृतिको पवित्र, उज्ज्वल एव दर्शनीय कथित किया है। 'शतपथ-ब्राह्मण'में कहा गया है कि विश्वकर्मा प्रजापति आरम्भमें एक था, किन्तु उसका अकेले मन नहीं लगा, अतएव उसने अपनेको ही स्त्री एवं पुरुषके रूपमें विभक्त कर दिया। वास्तवमें यह कथन कामके सर्वातिशायी महत्त्वको आलोकित करता है। भारतीय साहित्याचार्योंने काव्यगत रसोंमें शृगारको मूर्धन्य स्थानपर प्रतिष्ठित कर यथार्थवादी भूमिका ग्रहण करनेका अमोघ साहस प्रदर्शित किया है। विश्वनाथने 'उत्तम प्रकृति'से संयुक्त बताकर शृगार अथवा काम चित्रणको कोरी विलासगर्भित कामुकतासे बचा लिया है। प्रकृतिवादी शृगारको आद्य रस मानते हैं और भोजराजने 'शृगारप्रकाश'में शृगारको आस्वादनीयताकी दृष्टिसे एकमात्र रस स्वीकार किया है—'शृंगारमेव रसनाद्रसमामनाम।' शृगारके देवता विष्णु माने गये हैं जो अपनी अनन्तशक्ति रमाके साथ रमण करते हुए लोकका पालन करते हैं और इसीलिए उसका वर्ण श्याम कहा गया है।

शृंगारका स्थायी भाव 'रति' है। भोजराजके अनुसार—'मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदन रति', अर्थात् मनके अनुकूल विषयोंमें सुखका अनुभव करना 'रति' है। विश्वनाथने भी रतिसे यही अर्थ ग्रहण किया है—'रतिर्मनोनुकूलऽर्थे मनस प्रवणायितम्'। लेकिन अन्य आचार्योंने 'रति'को शृगार रसके सन्दर्भमें, स्त्री-पुरुषके एक-दूसरेके प्रति नैसर्गिकी आसक्तिके रूपमें ही ग्रहण किया है। अत स्त्री-पुरुष जब एक दूसरेके मनोनुकूल हों, परिपूर्ण आनन्दका उपभोग करें या उनका रतिभाव पूर्णतया प्रस्फुट हो जाय, तब वह शृगार रस कहलायेगा—'यूनो परस्पर परिपूर्ण प्रमोद सम्यक्सम्पूर्णरतिभावो वा शृगार.।' (र०त० ६)। विशेष व्याख्याके लिए दे०—'रति'।

नायक-नायिकाका एक-दूसरेमें अनुरक्त रहना आदर्श शृगारके लिए स्पृहणीय है। यदि उनमेंसे एकको रति या प्रमोद अधिक हो या न्यून हो या एकमें बिलकुल हो ही नहीं, तो परिपूर्णताका अभाव होनेसे वहाँ रस नहीं माना जायगा, प्रत्युत वह रसाभास होगा—'यूनोरेकत्र प्रमोदस्य रतेर्वाधिक्ये न्यूनताया व्यतिरेके वा परिपूर्तेरभावात् रसाभासत्वमिति।' (वही वही)।

रसमें अनौचित्य होनेपर 'रसाभास' माना जाता है। उपनायक अर्थात् अन्य पुरुषमें अथवा अनेक पुरुषोंमें नायिकाकी रति होना, नदी आदि निरिन्द्रियोंमें सम्भोगका आरोप करना, पशु-पक्षियोंके प्रेमका वर्णन करना, गुरुपत्नी आदिमें अनुराग, नायक-नायिकामें अनुभयनिष्ठ रति, नीच व्यक्तिमें प्रेम होना इत्यादि शृगार रसके रसाभास कहे जाते हैं।

विभावादिकों द्वारा रतिभावके पूर्णतया इस प्रकार रस्यमान होनेपर कि मन उसमें विश्राम कर सके, शृंगार रसकी निष्पत्ति होती है—'भावविभावानुभावव्यभिचारिभावैर्मनो विश्रामो यत्र क्रियते स वा रस' (र०त० ६)।

'साहित्यदर्पण'के अनुसार, पराई स्त्री तथा अनुरागशून्य वेश्याको छोड़कर अन्य नायिकाएँ तथा 'दक्षिण' इत्यादि नायक शृंगारके आलम्बन-विभाव है, चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर इत्यादि उद्दीपन-विभाव हैं, अथ च उग्रता, आलस्य एव जुगुप्साको छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके व्यभिचारी भाव हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि भीमराज जैसे कतिपय आचार्योंका अभिमत है कि ये व र्जित सचारी भाव भी शृगारमें सन्निविष्ट हो सकते हैं। प्रेमपूर्ण आलाप, स्नेहसिक्त चेष्टाएँ, चुम्बन, परिरम्भण, स्वेद, कम्प, रोमाच इत्यादि अनेक अनुभाव है, जो रतिके उद्बोधकी व्यजना करते हैं।

साहित्यमें इस रतिके दो रूप चित्रित किये गये दृष्टिगोचर होते है। पहला और अधिक लोकप्रिय स्वरूप वह है जो पार्थिव नर नारियोंकी प्रणयलीलाओंके चित्रणसे परिपूर्ण है। इस कोटिका शृगार 'लौकिक' कहलाता है, क्योंकि इसके आलम्बन सामान्य स्त्री पुरुष होते हैं। दूसरा स्वरूप वह है जिसमें अनुरागका आलम्बन कोई पार्थिव प्राणी न होकर, कोई इष्टदेव, भगवान् या परमात्मा हुआ करता है। कबीर, दादू आदि निर्गुणोपासक सन्तोंने 'रामभरतार'के लिए जो मिलन-विरहके गीत गाये हैं, वह इसी जातिका शृगार है। इसे 'अलौकिक' अथवा 'आध्यात्मिक' शृगार कहते हैं। आधुनिक कालमें कवीन्द्र रवीन्द्र तथा महादेवी वर्मा प्रभृति कवियोंने अलौकिक शृगारकी रचनाएँ की हैं। सूर आदि कृष्णोपासक कवियोंने जिस शृगारका वर्णन किया है, वह दिव्य शृंगार कहा जाता है तथा आचार्योंने वहाँ उज्ज्वल-रस माना है। कृष्ण-लीलाओंका आध्यात्मिक अर्थ लगाया गया है और इस दृष्टिसे उनका चित्रण अलौकिक किंवा आध्यात्मिक शृगारकी श्रेणीमें समाविष्ट हो सकता है।

मनुष्यकी कामभावनाको दुलरानेवाला शृगार रस मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व रखता है। आधुनिक मन शास्त्रियोंने कामको जीवनकी मूलभूत संचालिका वृत्ति माना है। फ्रायडके अनुसार काम-वासना (लिबिडो) मनुष्यमें जन्म-जात है और सभ्यता, संस्कृति इत्यादिमें उसीकी परिमार्जित अभिव्यक्ति होती है। विल ड्युरण्ट जैसे मनस्तत्त्वविदोंका कथन है कि संयोगेच्छा मानवकी मौलिक प्रवृत्ति है तथा वह सदा पूर्णत्वप्राप्तिकी कामनामें अपने अर्द्धांशकी खोज किया करता है। ऋग्वेदमें भी कामको मनका प्राथमिक विकार कहा गया है—'कामस्तदग्रे समवर्त्ततोधि मनसो रेत प्रथम तदासीत।' शृगार जीवनकी इसी नियामिका वृत्तिपर शासन करता है और उसकी मानसिक तुष्टिका विधान कर मनुष्यको अनाचार दुराचारसे बचानेकी अदृश्य योजना करता है। प्रसिद्ध समीक्षाशास्त्री रिचर्ड्सका कथन है कि जिस मनोवेगकी तुष्टिसे अधिकाधिक अन्य मनोवेगोंको भी सन्तोष लाभ होता है, वही मूल्यवान् है तथा उसीका चित्रण काव्यमें ग्राह्य है। इस दृष्टिसे शृगार रसका मानसिक सन्तुलन या सामनस्यके हेतु अतीव महत्त्व है, क्योंकि इसका सम्बन्ध उस प्रबल भाव-प्रणालीसे है, जो अनेक अन्य वेगोंको अपनेमें समाहित

किये हुए है।

ह्यना, व्यापकता आदिके कारण शृंगारको 'रसराज' कहा गया है। आनन्दवर्धनने 'ध्वन्यालोक'में कहा है कि शृंगार रस समस्त संसारी प्राणियोंके अनुभवका विषय होनेके कारण कमनीयताकी दृष्टिसे प्रधान है तथा इसके वर्णनमें कविको अत्यन्त सावधान एवं प्रयत्नवान् होना चाहिये। हिन्दीके आचार्य देवका तो कहना है कि नौ रसोंका कथन करना प्रमाद है, क्योंकि शृंगार ही सकल रसोंका मूल है। शृंगारके साथ हास्य, वीर एवं अद्भुत रसोंका मैत्रीभाव माना गया है तथा बीभत्स, करुण, रौद्र, भयानक तथा शान्त इसके विरोधी रस समझे जाते हैं, यद्यपि आचार्योंने विरोध-परिहारकी व्यवस्था की है।

शृंगार रसके दो भेद—सम्भोग-शृंगार अथवा संयोग-शृंगार और विप्रलम्भ-शृंगार अथवा वियोग-शृंगार होते हैं (दे०)।

हिन्दी साहित्यमें प्रारम्भसे ही शृंगारकी सरस धारा प्रवाहित रही है। यों तो रासोग्रन्थोंमें शृंगारी चित्रण उपलब्ध होते हैं, पर शृंगारका उन्मुक्त प्रवाह विद्यापतिकी पदावलीमें ही सबसे पहले प्रवाहित हुआ है। सौन्दर्य एवं प्रेमके विलासपूर्ण चित्रोंसे पदावली ओत-प्रोत है। नख सिख, वय सन्धि इत्यादिके वर्णनमें परम्परा-मुक्त उपमानोंका प्रचुर प्रयोग होनेपर भी, कविका स्वतन्त्र निरीक्षण तथा उसकी रसलिप्सु चेतनाके असन्दिग्ध दर्शन होते हैं। सम्भोगचित्रोंमें विलासिताकी स्पष्ट गन्ध आती है, तथापि प्रेमविह्वलता, लालसा, अतृप्ति, सम्मिलन-सुखकी तल्लीनता एवं आत्म-विस्मृति इत्यादिकी जैसी मर्मस्पर्शी विवृति पदावलीमें मिलती है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है। विप्रलम्भ-वर्णनमें विद्यापतिने स्थूल ऐन्द्रियताका परित्याग कर नायिकाओंके प्राणोंकी भीतरी सिहरनको उन्मीलित किया है। काव्यशास्त्र तथा कामशास्त्रका प्रभूत प्रभाव पदावलीमें लक्षित होता है। 'गीतगोविन्द'का-सा गहरा माधुर्य यदि हिन्दी साहित्यमें कहीं उपलब्ध है, तो वह विद्यापतिमें ही। कबीर, दादू इत्यादि सन्तोंकी रचनाओंमें शृंगार पार्थिवतासे विमुख होकर आध्यात्मिकताकी ओर उन्मुख हो गया है। जायसीका शृंगार निराले ढंगका है, क्योंकि 'पद्मावत'में एक लौकिक प्रेमकथाको आध्यात्मिक प्रेमके विकास एवं परिणतिपर घटानेका उद्योग किया गया है। लौकिक धरातलपर बहता हुआ भी 'पद्मावत'का प्रेम प्रवाह अलौकिक संकेतोंसे परिपूर्ण है। अथ च रतनसेन और पद्मावतीके सम्भोग-वर्णनमें जो मादक विलासिता समाविष्ट हो गयी है, उसमें भी जायसीकी स्पष्ट सोद्देश्यता यथेष्ट रसचर्वणामें बाधा पहुँचाती प्रतीत होती है। 'पद्मावत'के शृंगार-वर्णनमें नागमतीका वियोग अवश्य विशुद्ध लौकिक रसका परिपोषण करता है, तथापि जायसी मूलत साधक हैं, शृंगारी नहीं। सूर इत्यादि भक्त कवियोंने अपने उपास्य कृष्णकी प्रेम लीलाओंका गान किया है। जहाँ विद्यापति एवं जायसी नायिकाओंके नखसिख वर्णनमें ही सम्पूर्ण कौशल नियोजित कर देते हैं, वहाँ सूर कृष्णके सौन्दर्यको बार-बार चित्रित करनेमें अपनेको कृतकाम मानते हैं। वस्तुत गोपियोंकी सम्पूर्ण आसक्ति कृष्णके रूपपर ही केन्द्रित है तथा कवि अपूर्व तन्मयतापूर्वक उस रूप-सुषमाका गान करता है। सम्भोग-सुखका जैसा मादक एवं विलासमय चित्रण सूरने किया है, उतना ही मर्मस्पर्शी चित्रण वियोगका किया है। कामशास्त्रीय प्रभाव भी लक्षित होता है, तथापि प्रेमविद्ध हृदयकी जितनी अगणित वृत्तियोंका अंकन सूरने किया है, स्वाभाविकताके साथ सुरसताका जैसा मंजुल मिश्रण किया है, वह हिन्दी साहित्यमें अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। अनुराग लीलाओंकी अलौकिकताका बार-बार निर्देश कर सूरने सम्पूर्ण शृंगार-वर्णनको सचमुच उज्ज्वल रसमें परिणत कर दिया है।

रीतिकालीन कवियोंके शृंगार-वर्णनपर युगकी विलासिता तथा संस्कृतके काव्यशास्त्रका प्रभाव पड़ा है तथा जो शृंगार भक्तियुगमें भावनाके मधुर सौरभसे ओत-प्रोत था, वह कामुक विलासिताका प्रशस्तिगान करने लग गया। यद्यपि राधाकृष्ण अब भी आलम्बनरूपमें गृहीत रहे, पर परकीयाओं तथा खण्डिताओंकी बाढ़-सी आ गयी और स्वाभाविकताका स्थान कृत्रिमताने ले लिया। तथापि, सौन्दर्य एवं प्रेमके मार्मिक चित्र भी इन कवियोंने अंकित किये हैं। नायिका-भेद-कथनके व्याजसे केशव, मतिराम, देव तथा अन्य परिवर्ती आचार्य कवियोंने अत्यन्त सरस पद्योंकी रचना की है, जिसमें सम्भोग एवं विप्रलम्भ-शृंगारकी ललित एवं हृदयस्पर्शी धारा प्रवाहित हुई है। बिहारीकी सतसई समस्त शृंगार-साहित्यका भूषण है तथा हावों एवं अनुभावोंकी जैसी रमणीय योजना उसमें हुई है, उससे बिहारीकी रसिकता एवं अवेक्षण, दोनोंका उन्मीलन होता है। घनानन्द, बोधा इत्यादि रीतिमुक्त कवियोंने प्रेमकी पीरकी बड़ी अनुभूतिपूर्ण व्यंजना की है। कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि रीतियुगीन शृंगार आमुष्मिकतासे विद्रोह कर धरतीपर आ गया है और पार्थिव प्रेमकी सम्पूर्ण श्यामलता एवं उज्ज्वलता, विलासिता एवं नैसर्गिकता, कुरूपता एवं कमनीयता उसमें एक साथ प्रतिफलित हुई है। छायावादी युगमें शृंगार पुन स्थूल धरातलसे उठकर सूक्ष्म हो गया है और सौन्दर्य एवं प्रेमकी वायवी, कोमल एवं सम्भ्रममयी मूर्तियाँ अंकित हुई हैं। परवर्ती साहित्य फ्रायडके कामवादसे स्पष्ट प्रभावित दीखता है, परन्तु वर्तमान युगके साहित्यमें मानव मनकी सूक्ष्म तथा सघन अभिव्यक्ति प्रभावशील रूपमें की जा रही है, अत॰ शृंगारिक भावना भी अधिक विषम तथा विविध रूपमें व्यंजित हो रही है। —र॰ति॰

शृगाल-उलटबाँसियोंमें निरन्तर सिंहको वासनायुक्त मनका और शृगालको ज्ञानवान् मनका प्रतीक मानकर शृगाल द्वारा सिंहका भक्षण दिखाया गया है—'निति निति सिआला सिंह सम जुझन' (चर्यापद ३३)। 'निति उठि स्याल स्यंघ सम जूझै' (क॰ ग्र॰)। —ध॰ वी॰ भा॰

शेर—उर्दू कवितामें कोई एक छन्द शेर कहलाता है। इसमें दो मिसरे (चरण) होते हैं, जो एक ही वजन(माप)के होते हैं और उनका विषय भी आपसमें सम्बन्धित होता है। प्राय यह शेर अर्थकी दृष्टिसे अपनेमें पूर्ण होता है और एक प्रकारसे मुक्तक कहा जा सकता है, क्योंकि इसके लिए पूर्वापर प्रसंगकी अनिवार्य अपेक्षा नहीं होती। —मम्मी॰

शैतान-इसलाम धर्ममें शैतानको भ्रममें डालनेवाला, बहकानेवाला कहा गया है, जो आत्माको परमात्मासे विमुख करता है। जायसीने 'अखरावट'में लिखा है-'पुनि इबलीस सचारेउ, डरत रहैं सब कोइ।' यह इबलीस ही शैतान है। सूफी साधक जीलीने बताया है कि यह सभी बुराइयोंकी उत्पत्तिका कारण है। सूफी साधक इसकी आवश्यकताको स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि यह इबलीस उनका तो विनाश करता है, जो सतर्क नहीं रहते, लेकिन परमात्मामें प्रेम करनेवालोंका वह मुक्तिदाता है, क्योंकि बुराइयोंसे युक्त वह उनके साथ अगर नहीं रहता तो वे अपनी पवित्रताके गर्व और अहंकारसे भर जाते।' जायसीके 'पद्मावत'में 'राघवदूत सोई सैतानू' कहा गया है। यद्यपि कुछ विद्वानोंके मतमें 'पद्मावत'का यह अंश प्रक्षिप्त है, फिर भी इससे यह तो पता चल ही जाता है कि शैतानको सूफी 'राघव-चेतन'की तरह बहकानेवाला मानते हैं। —रा० पू० ति०

शैली-शैली अँग्रेजी 'स्टाइल'का अनुवाद है और अँग्रेजी साहित्यके प्रभावसे हिन्दीमें आया है। प्राचीन साहित्यशास्त्रमें शैलीसे मिलते जुलते अर्थको देनेवाला एक शब्द प्रयुक्त हुआ है—रीति। 'काव्यालंकारसूत्र'के लेखक आचार्य वामनने रीतिको 'विशिष्टपद रचना' कहकर परिभाषित किया है। इस परिभाषामें 'विशिष्ट' शब्दका अर्थ है गुण युक्त। आचार्य वामन रीतिको काव्यकी आत्मा मानते हैं। उनके अनुसार रीतियोंके तीन रूप हैं—वैदर्भी, गौडीया और पांचाली। वैदर्भी रीतिमें, वामनके अनुसार, ओज, प्रसाद आदि समस्त गुण रहते हैं। गौडी रीतिके प्रधान गुण ओज और कान्ति हैं और पांचालीके मधुरता और सुकुमारता। वामनके मतमें वैदर्भी रीति ही सर्वथा ग्राह्य है। दूसरे आचार्योंने उक्त रीतियोंके दूसरे प्रकारके वर्णन दिये हैं। कुछ आचार्योंने यह भी निर्देश करनेकी कोशिश की है कि किस प्रकारके वर्णों आदिके प्रयोगसे विशेष रीति अस्तित्वमें आती है। रीतियोंके ये व्याख्यान यह संकेत देते हैं मानों रीतितत्त्वका प्रमुख आधार विशिष्ट पदयोजना हो। यहाँ एक बात और लक्षित करनेकी है—वामन आदिके मतमें रीति अच्छे लेखनका ही धर्म है। इसका मतलब यह हुआ कि घटिया रचनामें रीतिकी उपस्थिति नहीं होती।

क्या इसी प्रकार यह माना जाना चाहिये कि शैली नामक तत्त्व अच्छी रचनाओंमें ही उपस्थित रहता है? क्या खराब लेखकोंमें शैलीका अभाव रहता है? यदि यह माना जाय कि शैली एक स्पृहणीय गुण है, तो कहना होगा कि अच्छे लेखक ही अच्छे शैलीकार भी होते हैं। प्रसिद्ध यूनानी विचारक अफलातून या प्लेटोका यही मत है—'जब विचारको तात्त्विक रूपाकार दे दिया जाता है तो शैलीका उदय होता है।' प्रसिद्ध फ्रान्सीसी उपन्यासकार स्तान्धालने भी शैलीको अच्छी रचनाका गुण मानते हुए उसका विवेचन किया है। उसके विचारमें 'शैलीका अस्तित्व इसमें निहित है कि दिये हुए विचारके साथ उन सब परिस्थितियोंको जोड दिया जाय जो कि उस विचारके अभिमत प्रभावको सम्पूर्णतामें उत्पन्न करनेवाली हैं।' इससे मिलता-जुलता ही बर्नार्ड शॉका यह विचार है कि 'प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति ही शैलीका अथ और इति है।'

यहाँ प्रश्न उठता है—यह हम कैसे जान सकते हैं कि कोई रचना सम्पूर्ण अभीष्ट प्रभावको उत्पन्न कर रही है या नहीं? इस प्रश्नपर गम्भीरतासे विचार करनेपर जान पडता है कि किसी रचनाकी शैलीको उस रचनासे पृथक् करके मूल्यांकनका विषय नहीं बनाया जा सकता। हमारी समझमें, शैलीको एक गुण मानते हुए, उसकी परिभाषा इस प्रकार करनी चाहिये—'शैली अनुभूत विषयवस्तुको सजानेके उन तरीकोंका नाम है जो उस विषयवस्तुकी अभिव्यक्तिको सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं।' इस दृष्टिसे देखनेपर यह जान पडेगा कि शैली न तो केवल अनुभूत विषयवस्तुका धर्म है और न कहनेके तरीकेका ही। शैलीकी आत्मा मुख्यतः वे सम्बन्ध हैं, जिनके ढाँचेमें अनुभूत विषयवस्तुको समाहित या व्यवस्थित किया जाता है। विषयवस्तुमें उक्त सम्बन्धकी स्थापना रसकी उत्पत्तिके लिए की जाती है। काव्य-साहित्यकी रसात्मकताको उसके प्रभावसे अलग नहीं किया जा सकता। जिस विभावात्मक विषयवस्तुको साहित्यकार सँजोकर पाठकोंके सामने रखता है उसमें प्रभाव या रसके उत्पादनकी क्षमता निहित रहती है। किन्तु यह क्षमता सम्बद्ध विषयवस्तुका ही धर्म है। साहित्यकार अनुभूत विषयवस्तुको नये सम्बन्धोंमें ग्रथित करके उसमें नये प्रभाव उत्पन्न करनेकी क्षमता स्थापित कर देता है। इस प्रकारकी क्षमता उत्पन्न करनेके उपादान ही शैलीके मूल तत्त्व होते हैं।

विभिन्न रचनाएँ जिन प्रभावोंको उत्पन्न करती हैं वे भिन्न-भिन्न कोटियोंके होते हैं, फलतः शैलियाँ भी भिन्न होती हैं। एक प्रकारकी शैली हमारे मनपर कोमल स्नेह अथवा नाजुक सौन्दर्यकी छाप छोडती है, तो दूसरी उदात्त गरिमाकी। कभी-कभी शैलीकारका उद्देश्य केवल चित्र खडे करना होता है, जिनके अनुचिन्तनमें कोई तीखा या गहरा रागात्मक आलोडन न रहते हुए भी बुद्धि चमत्कृत हो जाती है। ऐसे काव्यके उदाहरण बिहारीकी 'सतसई' तथा उर्दू काव्यमें बहुतसे मिल सकेंगे। कालिदास जैसे महाकविकी रचनाओंमें अनेक शैलियाँ भी पायी जाती हैं। 'रघुवंश'के प्रथम सर्गकी शैली एक है और रघुकी दिग्विजयका वर्णन करनेवाले चौथे सर्गकी दूसरी। —दे० रा०

शैवमत-शिवको ही परमेश्वर माननेवालोंको शैव कहा जाता है और उनके धर्मको शैवमत। शिवका अर्थ है शुभ या कल्याण।

पुरा कालमें प्रकृतिके भयावह और ध्वंसकारी दृश्योंको देखकर मनुष्यने भयंकर रव करनेवाले अर्थात् रुद्रमें विश्वास किया और उसको विश्वव्याप्त माना। उसने उसके गुणों या रुद्रों या रुद्रीयोंकी भी कल्पना की, जो कम रव करनेवाले थे। पर मनुष्य विश्वव्यापिनी शक्तिको मात्र भयंकर न मान सका। भयंकर दृश्य उसको उस शक्तिके कोपमात्र लगे। अतः उसने शिव या कल्याणकारी परमेश्वरकी कल्पना की। प्राचीन भारतमें इस प्रकार रुद्र या शिवको ईश्वर माना गया। शिवके ही अर्थमें शंकर और शम्भु शब्द हैं। यजुर्वेदका शतरुद्रीय अध्याय, तैत्तिरीय आरण्यक और

'श्वेताश्वतरोपनिषद्'में रुद्र या शिवको परमेश्वर माना गया है। पर पशुपतिका स्वरूप इनमें निर्दिष्ट नहीं है। 'अथर्वशिरस्' उपनिषद्में सर्वप्रथम पाशुव्रत, पशु, पाश आदि पारिभाषिक शब्दोंका उल्लेख मिलता है। 'महाभारत'में माहेश्वरोंके चार मत बतलाये गये हैं—शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक। यामुनाचार्यने कालदमनको कालामुख कहा है। इन चार सम्प्रदायोंके मूल ग्रन्थोंको **शैवागम** कहते हैं, जिनमें कुछ वैदिक हैं और कुछ अवैदिक। वर्तमान खोजोंके अनुसार हरप्पा और मोहेनजोदड़ोकी सभ्यता शैव ही थी। इससे अवैदिक शैव मतकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

उपर्युक्त चार मतोंमें कापालिक और कालामुख रुद्र रूपमें ही परमेश्वरको लेते हैं। ये वाममार्गी हैं और इनकी साधनाएँ अत्यन्त वीभत्स हैं। पांचरात्रका विकास हो जानेपर पाशुपत मतका विकास हुआ। इसका संस्थापक लकुलीश था। उसने लकुलीश अर्थात् लकुटधारीके रूपमें परमेश्वरको माना। इन मतोंमें रुद्र रूपकी ही प्रधानता है। इनकी प्रतिक्रियाके फलस्वरूप और शंकराचार्यके अद्वैतवादसे प्रभावित होकर नवीं शती ईसवीमें काश्मीर शैव मतका आविर्भाव हुआ जिसमें शिव रूपको प्रधानता दी गयी और सत्य, शिव तथा सुन्दरका एकमेक हो गया। ११वीं शतीमें इस अद्वैतवादके विरोधमें भी लिंगायत या वीर शैवमतका उद्भव हुआ, जिसका दर्शन **शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद**के नामसे प्रसिद्ध है।

कापालिक ६ मुद्रिकाओंको जानता है और उनका प्रयोग करता है। ६ मुद्रिकाएँ ये हैं—कण्ठहार, आभूषण, कर्णाभूषण, चूड़ामणि, भस्म तथा यज्ञोपवीत। कालामुखोंका कहना है कि लौकिक और पारलौकिक सभी कामनाओंको तृप्त करनेका साधन है—कपालमें भोजन करना, शवकी राखको शरीरपर मलना, उन राखोंको खाना, लाठी रखना, शराबका कोई बर्तन रखना और उसपर बैठे हुए ईश्वरको पूजना। स्पष्ट है कि इन वाममार्गोंको सच्चा शैवमत नहीं कहा जा सकता।

शैवमतके प्रधानतया चार सम्प्रदाय माने जाते हैं—पाशुपत, शैवसिद्धान्त, काश्मीर शैवमत और वीर शैवमत। पहलेका केन्द्र गुजरात और राजपूताना, दूसरेका तमिल देश, तीसरेका कश्मीर और चौथेका कर्नाटक है।

पाशुपतका मूल सूत्रग्रन्थ महेश्वररचित 'पाशुपतसूत्र' है, जिसपर कौण्डिन्यकृत पचार्थी भाष्य है। इसके अनुसार पाँच पदार्थ हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। जीव और जड़को कार्य कहते हैं। परमात्माको कारण कहा जाता है। इसकी शास्त्रीय संज्ञा पति है, जैसे जीवकी पशु है और जड़की पाश है। चित्त द्वारा पशु और पतिके संयोगको योग कहते हैं। पतिको प्राप्त करानेवाले मार्गको विधि कहते हैं। साधकको पतिकी पूजाके समय हँसना, गाना, नाचना, जीभ और तालुके संयोगसे बैलकी आवाजके समान हुड़ हुड़ शब्द करना, नमस्कार आदि करना विधि है। दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति दुःखान्त या मोक्ष है। स्पष्ट है कि पाशुपतमत भी कापालिकों और कालामुखोंके सदृश काफी अतिमार्गी है।

शैवसिद्धान्तके मान्य ग्रन्थ तमिलमें हैं। इसमें पति, पशु और पाश, इन तीन परम तत्त्वोंको माना गया है। पति ईश्वर है। जीव पशु है, वह अज्ञ और अणु है। पाश चार प्रकारके हैं—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। पशु पतिके शक्तिपातसे, अर्थात् अनुग्रहसे, पाशरहित होता है। यही उसकी मुक्तावस्था है।

काश्मीर शैवमत अद्वैतवाद है। इसमें और अद्वैतवेदान्तमें इतना अन्तर है कि अद्वैतवादके ब्रह्ममें कर्तृत्व नहीं है, जब कि काश्मीर शैवमतके परमेश्वरमें है। अद्वैतवाद ज्ञानमार्ग है, उसमें भक्तिका समन्वय ज्ञानसे नहीं होता है। काश्मीर शैवमतमें ज्ञान और भक्तिका समन्वय है। काश्मीर शैवमत विवर्तवाद और परिणामवाद न मानकर स्वातन्त्र्यवाद या आभासवाद मानता है, जिसके अनुसार परमेश्वरकी स्वातन्त्र्यशक्तिके कारण बिना बिम्बके ही जगद्रूपका प्रतिबिम्ब स्वतः उत्पन्न होता है।

काश्मीर शैवमतकी दो शाखाएँ हैं—स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। पहलेके मुख्य ग्रन्थ वसुगुप्तके 'शिवसूत्र' और 'स्पन्दकारिका' हैं, दूसरेके सोमानन्दकृत 'शिवदृष्टि', उत्पलाचार्यकृत 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' और अभिनवगुप्तरचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिकाविमर्शिणी' और 'तन्त्रालोक' हैं। दोनों शाखाओंका तत्त्ववाद एक ही है, जो शाक्त तत्त्ववादसे बिलकुल मिलता-जुलता है। दोनोंमें अन्तर यह है कि स्पन्दमतमें ईश्वराद्वयकी अनुभूतिका मार्ग ईश्वर-दर्शन और तद्द्वारा मलनिवारण है, जब कि प्रत्यभिज्ञामतमें वह मार्ग ईश्वरके रूपमें अपनी ही प्रत्यभिज्ञा है। दोनोंके दर्शनको त्रिकदर्शन या ईश्वराद्वयवाद भी कहते हैं।

वीर शैवमतका संस्थापक बसव है। इस मतके मान्य ग्रन्थ ब्रह्मसूत्रपर 'श्रीकरभाष्य' और 'सिद्धान्तशिखामणि' हैं। इसकी दार्शनिक दृष्टि **विशिष्टाद्वैतवाद** (दे०) है। इसमें स्थूलचिदचिच्छक्ति विशिष्टजीव और सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शिवका अद्वैत है। परम तत्त्व शिव पूर्णाहन्तारूप या पूर्णस्वातन्त्र्यरूप है। उनकी पारिभाषिकी संज्ञा 'स्थल' है। इस मतको लिंगायत भी कहते हैं, क्योंकि इसके अनुयायी शिवलिंग पूजते हैं और पहने भी रहते हैं।

शैवों और वैष्णवोंमें हिन्दीके उद्भवके समयमें बड़ा द्वन्द्व युद्ध चलता था। हिन्दी साहित्यको इस बातका श्रेय है कि उसने इनके द्वन्द्वको समाप्त कर दिया और शिव तथा विष्णुको अनन्य ठहराया। गोस्वामी तुलसीदासने इस कार्यको बड़े दायित्वपूर्ण ढंगसे निभाया। सभी शैव सम्प्रदायोंमें काश्मीर शैवमतका ही अधिक प्रभाव हिन्दीपर लक्षित होता है। ज्ञान और भक्ति तथा कर्मके समन्वयका सिद्धान्त हिन्दीके सगुण-सन्तोंको ही नहीं, वरन् आजतकके अधिकांश हिन्दीके भक्तोंको मान्य है, इसका बहुत-कुछ कारण काश्मीर शैवमत है। वर्तमान युगमें अभिनवगुप्तके ध्वनिवादका हिन्दीके आलोचना-साहित्यपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। स्वदेशी सौन्दर्यशास्त्र अभी अभिनवगुप्तके सिद्धान्तसे आगे नहीं बढ़ा है, यह कहनेमें जरा-सी भी अतिशयोक्ति नहीं जान पड़ती। इस सौन्दर्यशास्त्रकी दार्शनिक पृष्ठभूमि काश्मीर शैवमत ही है। दे०—'शाक्तमत'।

[सहायक ग्रन्थ—(१) वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड

माइनर रिलीजन्स रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर। (२) राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, प्रथम भाग। (३) भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय।] —सं० ला० पा०

शैवागम–शैवमतके प्रतिपादक शास्त्र। उपागमोंको लेकर इनकी सख्या २०० तक पहुँचती है। इनकी रचना सातवीं शती ईसाके पूर्व हो चुकी थी। इन्हींका कालान्तरमें तमिल शैव, वीर शैव और काश्मीर शैवमतोंमें विकास हुआ। अनुश्रुतिके अनुसार इनका महत्त्व निगम अर्थश्रुतिसे कम नहीं है, पर कुछ लोगोंका यह भी मत है कि ये मोहशास्त्र हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि शैव उपासना प्राचीनतम उपासनाओंमें है और भारतीय जीवनपर इसका बहुत ही व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा है। कहा जाता है, ये ग्रन्थ शिव और दुर्वासाको स्फुरित कराये गये हैं। इनमें मुख्य हैं–'मालनीविश्वास', 'स्वच्छन्द', 'विज्ञान-भैरव', 'उच्छुष्म-भैरव', 'आनन्द-भैरव', 'मृगेन्द्र', 'मातग', 'नेत्र', 'नै श्वास', 'स्वयम्भू', 'रुद्रयामल' और 'कामिका'। मूलत ये द्वैत-प्रतिपादक हैं, किन्तु बादमें उन्हींकी अद्वैतवादी व्याख्या वसुगुप्त और उनके परवर्ती कश्मीरके दार्शनिकोंने प्रस्तुत की। इन आगमशास्त्रोंका भारतीय साहित्य और कलापर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। कालिदासके तीनों नाटकोंके मगलश्लोक स्पष्टतया शैवागमसे प्रेरणा ग्रहण करके लिखे गये हैं। नाटक, नृत्य, शिल्प, वास्तु, चित्र, सगीत, शब्द-शास्त्र, योग-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, साख्य वैशेषिकके सभी क्षेत्रोंमें आरम्भमें शैवागमोंका गहरा प्रभाव था। इसका कारण लोकविश्वासके साथ शैवागमोंकी समरसता थी। इसीलिए धीरे-धीरे इनकी गणना वेदोंके समकक्ष होने लगी और मध्ययुगके उत्तरार्द्धतक पहुँचते-पहुँचते तो निगम और आगम एक-से, स्वत प्रामाण्ययुक्त हो गये। इन आगम-ग्रन्थोंके अनुसार ३६ तत्त्व होते हैं। २४ तत्त्व तो साख्यके ही ज्योंके त्यों हैं, इनके अलावा ७ मिश्र तत्त्व—काल, नियति, कला, विद्या, राग, अशुद्धमाया और प्रकृति-माया तथा ५ शुद्ध तत्त्व—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या—ये कुल ३६ तत्त्व गिनाये गये हैं। —वि० नि० मि०

शोक–करुण रसका स्थायी भाव शोक है। भरतका कथन है कि—'शोको नाम इष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धन-दु खानुभवनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।' (ना०शा० ७ १०ग),अर्थात् इष्ट जनका वियोग, विभवका नाश, किसी प्रिय व्यक्तिके वध अथवा कारावासजन्य दु ख इत्यादि कारणोंसे शोक उत्पन्न होता है। साहित्यदर्पणकारने इसीसे मिलती-जुलती परिभाषा दी है—'इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्य शोकशब्दभाक्' (३ १७७), अर्थात् प्रिय वस्तुके नाश इत्यादिके कारण उत्पन्न चित्तकी विकलताको शोक कहते हैं। 'इष्ट जनवियोग'में वियोगकी बात समझ लेनी चाहिये। स्त्री-पुरुषके वियोगमें, जबतक प्रेमपात्रके जीवित होनेका ज्ञान हो तबतक व्याकुलतासे पुष्ट किये हुए रतिकी ही प्रधानता होती है। अतएव वहाँ 'विप्रलम्भ' शृगार होता है और उस समयकी विकलता 'व्यभिचारी' भावमात्र ही है। ऐसे प्रसगोंमें शोक स्थायी नहीं माना जाता। लेकिन यदि प्रेमपात्रके मरनेका ज्ञान हो जाय, तो वह व्याकुलता शोक ही होगी और वहाँ करुण रस ही माना जायगा इस दृष्टिसे 'रसतरगिणी'की यह परिभाषा उपादेय है—'इष्ट विश्लेषजनितो रत्यनालिंगित परिमितो मनोविकार शोक।' यहाँ एक बातकी ओर ध्यान आकृष्ट होना वाछनीय है। आधुनिक मनोविज्ञानियोंने शोक एव आनन्द, दोनोंको मूल भाव माना है। लेकिन हमारे आचार्योंने शोकको स्थायी भावोंमें गृहीत किया है और आनन्दको नहीं। इसका सुन्दर समाधान रामचन्द्र शुक्लने किया है—'जिस भावकी व्यजनासे श्रोता या दर्शकके चित्तमें भी आलम्बनके प्रति वही भाव साधारण्याभिमानसे उपस्थित हो सकता है, उसीको रसका प्रवर्तक मानकर आचार्योंने प्रधान भावकी कोटिमें रखा है', अर्थात् शोकका आलम्बन ऐसा होता है कि वह मनुष्यमात्रको क्षुब्ध कर सकता है, लेकिन किसीके आनन्दोत्सवमें उन्हींका हृदय पूर्ण योग देता है, जिनसे उनका लगाव या प्रेम होता है। इसीसे आनन्दको रसका प्रवर्तक भाव (स्थायी) न मानकर, हर्षको केवल व्यभिचारी भावोंमें गृहीत किया गया है। सर्वजन-सुलभ आस्वाद्यता ही वस्तुत स्थायी भावकी कसौटी है। व्याधि, ग्लानि, मोह, स्मृति, दैन्य, चिन्ता, उन्माद इत्यादि शोक स्थायीके सचारी भाव हैं। उदा०—'दुखकी दीवारोंका बन्दी निरख सका न सुखी जीवन। सुखके मादक स्वप्नों-तकसे बनी रही मेरी अनबन' (हरिकृष्ण प्रेमी), यहाँ शोक-भावकी व्यजना है, स्थायी(करुण रस)का प्रस्फुटन नहीं हो सका है। —र० ति०

शोभा–दे०—'अयत्नज अलकार', पहला प्रकार तथा 'सात्त्विक गुण' (नायक)।

श्रम–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी भाव। भरतके आधारपर विश्वनाथने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'खेदो रत्यध्वगत्यादे श्वासनिद्रादिकृच्छ्रम।' (सा० द० ३ १४६), अर्थात् रति और मार्ग चलने आदिसे उत्पन्न खेदका नाम श्रम है। श्वासका चढना, निद्रा आदि इसके अनुभाव हैं। इसी परम्परामें हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने श्रमका लक्षण दिया है—'अति रति अति गतिते जहाँ उपजै अति तन खेद।' (भाव० सचारी०)। रामचन्द्र शुक्लने श्रमके दो अर्थ माने हैं—एक तो व्यापाराधिक्य या किसी क्रियाका निरन्तर साधन, दूसरा, उससे उत्पन्न अगग्लानि या थकावट। दूसरा अर्थ ही विश्वनाथने ग्रहण किया है। रामचन्द्र शुक्लने अपने अर्थपर जोर देते हुए कहा है—'किसीके प्रेममें यदि कोई दौड़-धूप करे, विद्याकी प्राप्तिके लिए रात दिन बैठकर पढता रहे, गड़ा हुआ खजाना पानेके लिए दिनभर मिट्टी खोदता रहे तो उसका यह दौड़ना-धूपना, रात रातभर बैठना या दिनभर मिट्टी खोदना क्रमश व्यक्ति, विद्या या धनके प्रति रति भावका सचारी कहा जा सकता है। पर इस दौड़-धूपके कारण यदि कोई थककर बैठ जाय या रातभर मेहनत करनेमें शिथिल हो जाय तो यह थकान या शिथिल होना रति भावसे दूर पड़ जानेके कारण सचारी नहीं कहा जा सकता।' (र० मी० पृ० २३०)।

किसी प्रकारकी थकावटको भी सचारीके अन्तर्गत

नभी माना जायगा जब वह सीधे किसी भावसे सम्बद्ध हो। स्थायी भावकी दशामें जो श्रमजन्य थकावट उत्पन्न होगी वह संचारीके अन्तर्गत नहीं रखी जा सकती। स्वतन्त्र रूपमें जब श्रमका वर्णन होता है तब भी वह सोकुमार्य आदिका द्योतक होनेके कारण अत्यन्त प्रभावशाली होता है। रामचन्द्र शुक्लने इस प्रकारके भावरूप श्रमका बहुत ही मनोरम उदाहरण उपस्थित किया है—'जलको गये लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढे। पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढे। तुलसी रघुवीर प्रिया-श्रम जानिकै बैठि बिलम्ब लौं कंटक काटे। जानकी नाहको नेह लख्यो पुलको तन वारि विलोचन बाढे।' (कविता० २ · १२)। रति भावमें सम्बद्ध श्रम संचारीका उदाहरण—'बिन्दु रचे मेंहदीके लसें कर तापर यों रह्यो आनन आइकै। इन्दु मनो अरविन्द पै राजत इन्द्र वधूनके वृन्द बिछाइ कै।' (नगद्वि०: ४८८) —व० मि०

श्रव्य काव्य—दे०—'साहित्यरूप'।

श्रव्य नाटक—दे०—'रेडियो नाटक'।

श्रावकमान—बौद्ध साहित्यके अनुशीलनसे प्रकट होता है कि **हीनयान**(दे०)को तुच्छ मार्ग मानने थे और दुर्वचनके अवसरपर इस शब्दका प्रयोग करते थे। परन्तु हीनयानमें निहित कुत्सित भावनाको छोड़कर शिष्ट या विनीत भावसे इसे 'श्रावकयान' नामसे पुकारते थे। हीनयानका शिष्टाचार-युक्त दूसरा नाम ही श्रावकयान है। प्राचीन साहित्यमें वर्णन आता है कि बुद्धके वे उपासक, जो संघमें आ जाते, श्रावक कहे जाते थे। इसका अर्थ शिष्य या धर्मोपदेशक अथवा आर्य श्रावकसे था। श्रावकयानमें यह माना जाता था कि बुद्धके पुराने प्रवचन निर्वाणके लिए साधक मार्ग थे। तीसरी शतीके समीप रचित ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीक'में सबसे पहले श्रावकयान नाम मिलता है, जिसके बाद **प्रत्येकबुद्धयान** तथा **महायान** शब्द प्रयुक्त हैं। हीनयानका नामोल्लेख नहीं है। इस कारण बुद्धधर्मके विचारक यह मानते हैं कि श्रावक तथा प्रत्येकबुद्धयान हीनयानका अभिन्न अंग था। दोनोंकी विचारधारामें कोई अन्तर नहीं है। प्रत्येकबुद्धमार्गका व्यक्ति श्रावकसे एक-दो अधिक गुण रखता है। परन्तु दोनोंका अन्तिम ध्येय एक ही है। दोनों शब्दोंके सूक्ष्म विश्लेषणसे पता चलता है कि श्रावक नीच-वृत्ति तथा प्रत्येकबुद्ध मध्यम कहे जाते हैं। बुद्धधर्मका प्रसार होनेपर श्रावक भगवान्‌के उपदेशोंसे लाभ उठाते हैं। लेकिन प्रत्येकबुद्ध चमत्कार द्वारा जनताको दीक्षित करते हैं। श्रावक लोग बुद्धको तीनों धातुओंसे पृथक् मानते हैं। उनके मनमें निर्वाण आराम करनेका एक स्थान है। निर्वाणके बाद श्रावक बुद्धत्वप्राप्तिके लिए शिक्षा ग्रहण करते हैं।

महायान(दे०) ग्रन्थोंमें उपर्युक्त दोनों शब्द हीनयानके स्थानपर उल्लिखित हैं। पुग्गलपञ्ञत्ति 'हीनाधिमत्ति' शब्दका प्रयोग नाशवान् व्यक्तिके लिए किया गया है, जो बुरे कार्यमें लगा रहता है। हीनयान-अनुयायी भी श्रावक शब्दको पकतिसावक, अग्गसावक, सावकसंघ या साविकाके रूपमें प्रयोग करते रहे। 'सूत्रालंकार'में श्रावकको 'हीनाधियुक्त' कहा गया है, जो गुण निम्नस्तरके होते थे। श्रावक अपने परिश्रमके अनुपातमें श्रावकबोधि प्राप्त करते थे। अतएव यह सिद्ध होता है कि महायानवाले श्रावक शब्दको हीन भावनाके साथ (हीनयान शब्दकी तरह) उच्चारण करते थे, क्योंकि श्रावकयानमें सभी आत्मपरिनिर्वाणके इच्छुक थे।

पूर्वमध्ययुगके विचारकोंने यहाँतक कहा है कि श्रावकयानके अनुयायी कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। उनका निर्वाण वास्तविक मोक्ष नहीं है। मृत्युके पश्चात् उनका पुनर्जन्म होता है, क्योंकि उन्हें परिनिर्वाण प्राप्त करना शेष रह जाता है।

हीनयानके लिए श्रावकयानका प्रयोग प्राचीन युगसे तेरहवीं शतीतक होता रहा। तिब्बती यात्री धर्मस्वामी १२३४ ई०में बोधगया आया था। वह लिखता है कि बोधगयामें वज्रासन श्रावकयानवालोंकी देखरेखमें था। वास्तवमें हीनयानके स्थानपर ही उसने श्रावकयानका प्रयोग किया है। —वा० उ०

श्रीगदित—इसमें एक अंक, धीरोदात्त नायक और प्रसिद्ध कथाका कार्य होता है। इसमें भारती वृत्तिका आधिक्य, गर्भ, विमर्श सन्धियोंका निर्वाह रहता है। कुछ पश्चिमी विद्वानोंका मत है कि नायिका नटी लक्ष्मीका स्वरूप बनाकर आती है और कुछ गाना गाती है या कुछ बोलती है। इसीसे इसका नाम श्रीगदित पड़ा है, उदा०—'क्रीडारसातल'। शेष सब बातोंमें इसमें नाटकसे समानता है। —दि० रा०

श्री छंद—मात्रिक समवृत्तका एक भेद- 'प्राकृतपैंगलम्'में इसकी परिभाषा दी गयी है (प० २ १)। इस छन्दके चारों चरणोंमें एक गुरु होता है। केवल केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—'सी, धी। री, धी' (रा० च० · १ ८)। —पु० शु०

श्रुत अद्‌भुत—दे०—'अद्‌भुत रस'।

श्रुतिकटु—दे०—'शब्द-दोष' पहला 'पद दोष'।

श्रुत्यनुप्रास—एक शब्दालंकार, अनुप्रासका भेद। कण्ठ, तालु आदि किसी एक ही स्थानसे उच्चरित होनेवाले वर्णोंकी आवृत्ति। वर्णका उच्चारण मुखके जिस अवयवसे होता है, उसे उसका 'स्थान' कहते हैं। यह अलंकार सर्वप्रथम जयदेवके 'चन्द्रालोक'में 'स्फुटानुप्रास' नामसे आया है (५ ५)। 'साहित्यदर्पण'में प्रस्तुत नामके अलंकारकी विवेचना की गयी है। हिन्दीमें रीतिकालके प्रमुख आचार्योंने इसे स्वीकार नहीं किया। गिरिधरदास तथा लेखराज जैसे अप्रसिद्ध १९वीं शतीके आचार्योंमें यह भेद मिलता है, पर आधुनिक विवेचकोंमें भानुकवि, भगवानदीन तथा रामदहिन मिश्र आदिने स्वीकार किया है।

पद्माकरकी कवितामें श्रुत्यनुप्रासका माधुर्य अधिक है—'आरस सों आरत, सँभारत न सीस पट, गजब गुजारति गरीबनकी धारपर। कहै पद्माकर सुगन्ध सरसावै सुचि, बिथुरि बिराजै बार हीरनके हारपर।' (जगद्वि० १२२)। रत्नाकरके काव्यमें भी इसके सुन्दर प्रयोग हैं। —वि० स्ना०

श्रेणी-साहित्य—श्रेणी साहित्य भी एक तरहसे पक्षधर-साहित्य है। श्रेणी साहित्यका भी सम्बन्ध समाजकी इकाईसे

न होकर समाजके एक भागसे होता है। (दे०—'पक्षधर-साहित्य')। —रा० कु० त्रि०

श्रौती–दे०—'उपमा', दूसरा प्रकार।

श्लेष–'श्लेष' शब्द 'श्लिष्' धातुसे बना है। श्लिष्टका अर्थ है चिपकना, मिलना अथवा संयोग। इसमें एक शब्दके साथ अनेक अर्थोंका सयोग रहता है, अर्थात् एक शब्दके साथ अनेक अर्थ लगे रहते हैं। जिस शब्दके एकसे अधिक अर्थ होते हैं उसे श्लिष्ट कहते हैं। जहाँ ऐसे शब्दोंका प्रयोग होता है वहाँ 'श्लेष'की स्थिति मानी जाती है। इस अलंकारके दो भेद हैं–(१) शब्दश्लेष और (२) अर्थश्लेष। जहाँ श्लेष मूलत शब्दाश्रित रहता है, वहाँ 'शब्दश्लेष' होता है। 'शब्दश्लेष'में यदि श्लिष्ट पदोंके स्थानमें अन्य समानार्थक पद रख दिये जायँ, तो वहाँ शब्दश्लेषकी अलङ्कारिता नष्ट हो जाती है, अर्थात् जहाँ शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व नहीं रहता वहाँ शब्द-श्लेष होता है। इसके विपरीत 'अर्थश्लेष'में श्लिष्ट शब्दोंके स्थानमें यदि उनके पर्याय शब्द रख दिये जायँ, तब भी श्लेष अलकार ज्योंका त्यों बना रहता है। इसका विशेष सम्बन्ध अर्थके साथ ही रहता है, शब्दके साथ नहीं। 'शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व' ही अर्थश्लेषकी पहचान समझना चाहिये। इस प्रकार जहाँ अभिधाके द्वारा एक शब्दसे अनेक अर्थोंकी प्रतीति हो, वहाँ 'श्लेष' अलकार होता है। अभग और सभग नामसे इसके दो भेद हैं। जहाँ सम्पूर्ण शब्दके दो अर्थ हों वहाँ अभगश्लेष होता है और जहाँ पूरे शब्दका अर्थ तो भिन्न हो, परन्तु शब्दके 'विच्छेद' करनेपर भिन्न अर्थ हो, वहा सभगश्लेष होता है। 'अभगश्लेष'में शब्दोंका अग भग नहीं करना पड़ता, किन्तु 'सभगश्लेष'में शब्दोंका अग भग करके भिन्नार्थकी प्रतीति होती है।

दण्डीने 'काव्यादर्श'में श्लेषको सभी अलकारोंका शोभाकारक माना है और कहा है कि अन्यान्य अलकारों-को माना जाय तो इस नामका कोई अलकार नहीं हो सकता। मम्मट शुद्ध श्लेष और अन्य अलकारोंसे मिश्रित श्लेष, दोनों मानते हैं। इनके मतको हेमचन्द्र तथा विश्वनाथने माना है। मम्मटने रुद्रटके अनुसरणपर श्लेष-का लक्षण दिया है—'वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृश।' (का० प्र० ९ ८४), अर्थात्, अर्थ-भेदके कारण परस्पर-भिन्न भी शब्दोंका उच्चारण सारूप्यके कारण एकरूप प्रतीत होना। रुद्रटके समान ही मम्मटने वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति तथा वचन, आठ भेद किये हैं।

हिन्दीमें केशवदासने 'कविप्रिया'में 'श्लेष'की परिभाषा निम्नलिखित प्रकारसे की है—'दोय तीनि अरु भाँति बहु, आनत जामें अर्थ। श्लेष नाम तासों कहत, जिनकी बुद्धि समर्थ। तिनमें एक अभिन्न पद, अपर भिन्न पद जानि।' (क०प्रि० ११ २९,३४)। कुलपतिने 'रसरहस्य'में लक्षण तथा भेद मम्मटके आधारपर दिये हैं। जसवन्त सिंहने अप्पय दीक्षितका अनुसरण किया है। इन्हींके समान भूषण, मतिराम आदिने भी 'श्लेष'को अर्थालंकारके अन्तर्गत स्वीकार किया है—'एक वचनमें होत जहँ, बहु अर्थनको ज्ञान।' (शि० भू० १६४)। दासने इसके विषयमें कहा है—'जदपि अर्थ भूषन सकल, सब्द सक्तिमें होइ।' (का० नि० २०), अर्थात्, वे इसको दोनोंसे युक्त मानते हैं।

'सभगश्लेष'का उदा०—(क) 'नाहीं नाहीं करै थोरो माँगै सब दैन कहैं, मगनकौ देखि पट देत बार-बार हैं। भोगी है रहत बिलसत अवनीके मध्य कन कन जोरै दान पाठ परिवार है।' (सेनापति क० र०), इसमें 'नाहीं नाहीं', 'सब दैन' तथा 'कन कन'में पदको भग करनेसे अर्थ बदलता है।

आधुनिक कवियोंने भी 'श्लेष'का सुन्दर प्रयोग किया है–(ख) 'करुणे क्यों रोती है, 'उत्तर'में और अधिक तू रोई, मेरी विभूति है जो उसको भवभूति क्यों कहे कोई?' (मै० श० गुप्त साकेत) इसमें 'भवभूति'में पद-भग करके दो अर्थ निकलते हैं। (ग) 'दूरि भजत प्रभु पीठि दे, गुन विस्तारन काल। प्रगटत निर्गुन निकट ही, चंग रग गोपाल।' (बि०र० ४२८)। (घ) 'जलनेको ही स्नेह बना, उठनेको ही वाष्प बना।' (मै० श० गु० यशोधरा)। इन दोनों उदाहरणोंमें गुन, निर्गुण, चग, रंग, स्नेह, वाष्प शब्दो के दो-दो अर्थ हैं।

सस्कृत साहित्यमें इस अलकारकी अधिक प्रतिष्ठा है और इसका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। 'राघवपाण्डवीय' नामक एक महाकाव्य ही इस अलकारमें लिखा गया है। हिन्दी साहित्यमें भी इस अलंकारका यथेष्ट प्रयोग हुआ है। शब्दचमत्कारप्रधान होनेपर भी प्राचीन और अर्वाचीन प्राय सभी कवियोंने इसको अपनाया है। रीतिकालीन आचार्योंमें केशवदासने तथा सेनापतिने इसका अत्यधिक प्रयोग किया है। सेनापतिकी भाँति इस अलकारकी स्वाभाविकताकी रक्षा कोई अन्य कवि नहीं कर सका है। उनके 'सभग' और 'अभग' दोनों प्रकारके श्लेषका चमत्कार-पूर्ण प्रयोग वस्तुत सराहनीय है।

केशवदासने 'श्लेष'के 'अभग' और सभग', इन दो भेदोंके अतिरिक्त पाँच भेद और भी बतलाये हैं। परन्तु अर्वाचीन आचार्य इन भेदोंसे सहमत नहीं है। उन्हींके शब्दोंमें वे पाँच भेद इस प्रकार हैं—'बहुर्‍यो एक अभिन्न क्रिय और भिन्न क्रिय जान। पुनि विरुद्धकर्मा अपर, नियम विरोधी मान।' (क० प्रि० ११ ३९), (१) अभिन्नक्रियाश्लेष, (२) क्रियाश्लेष, (३) विरुद्धकर्माश्लेष, (४) नियमश्लेष, (५) विरोधीश्लेष। परन्तु इनकी परिभाषाएँ नहीं दी गयी हैं। प्रत्येक भेदके लिए जो-जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये है, उनके अनुसार भगवानदीनने 'कविप्रिया'की टीकामें परिभाषाएँ बनाकर उद्धृत की हैं।

यह अलकार शब्दालकार है अथवा अर्थालकार, इस विषयमें संस्कृतके आचार्योंमें भारी मतभेद रहा है। उद्भटने अर्थालकार माना है और 'अर्थश्लेष' तथा 'शब्दश्लेष' इसके दो भेद किये हैं। मम्मटके अनुसार उद्भटका 'अर्थश्लेष' वास्तवमें शब्दश्लेष है और एक बार इसको अर्थालकार मानकर पुन दो भेद करना स्वत विरोधी बात कहना है। मम्मटने इसे शब्दालकार माना है और कहा है कि इतना अर्थका आधार कई शब्दालंकारोंमें रहता है। रुद्रटने

उद्भटके समान इसे अर्थालंकार माना है और तीन भेद करके 'उभयश्लेष' और जोड़ा है। विश्वनाथने उद्भटकी आलोचनामें मम्मटका साथ देकर भी अलग 'अर्थश्लेष' भी लिया है—'शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्' (सा० द० : १० : ५८), अर्थात् जहाँ स्वभावतः एक ही अर्थवाले शब्द अनेक अर्थोंको एक साथ प्रकट करें, जहाँ शब्द बदल देनेपर भी कई अर्थ बने रहें। हिन्दीमें कुलपति मिश्रके अतिरिक्त प्रायः रीतिकालके आचार्योंने इसे 'अर्थालंकार'-के अन्तर्गत रखा है, पर आधुनिक विवेचकोंने इसे दोनों रूपोंमें स्वीकार किया है। भगवानदीनने शब्दश्लेषका और अर्थश्लेषका भेद इस आधारपर किया है—'जहाँ कविका तात्पर्य एक ही अर्थसे होता है, उसकी गणना शब्दालंकारमें होती है, जहाँ कविका तात्पर्य दोनों या तीनों अर्थोंमें होता है, उसकी गणना अर्थालंकारमें होती है।' (अ०म०)। परन्तु जब एक ही अर्थमें कविका तात्पर्य होगा, तब वहाँ श्लेष अलंकारकी स्थिति ही कहाँ रह सकती है, क्योंकि श्लेष अलंकारकी स्थिति वहाँ होती है, जहाँ श्लिष्ट (दो अर्थवाले) शब्दों या पदोंके प्रयोग द्वारा अनेक अर्थ कहे जाते हैं। 'साहित्यदर्पण'में कहा गया है—'श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष उच्यते।' (१०: १२)।

श्लेष और ध्वनिमें अन्तर है। श्लेष अलंकारमें एकसे अधिक जितने अर्थोंकी प्रतीति होती है, वे सभी अभिधा शक्ति द्वारा वाच्यार्थ होते हैं। अभिधा शक्तिसे अभिधेय होनेके कारण श्लेषमें एकसे अधिक सभी अर्थोंका बोध एक साथ ही हो जाता है। परन्तु ध्वनिमें एकसे अधिक अर्थोंकी प्रतीति एक साथ ही नहीं होती। पहले अभिधाके द्वारा एक अर्थका बोध हो जाता है, फिर प्रकरण आदिके कारण अभिधार्थका बाध होता है (र०गा० : पृ० ३९६)। श्लेष तथा समासोक्तिमें भी पर्याप्त अन्तर है। श्लेषमें विशेषण तथा विशेष्य, दोनों श्लिष्ट होते हैं और दोनों ही प्रकृत या अप्रकृत हो सकते हैं, पर समासोक्तिमें विशेषण ही श्लिष्ट होता है और एक प्रकृत तथा दूसरा अप्रस्तुत रहता है (उद्योत : पृ० ७०)। —वि० स्ना०

श्लेषगुण–दे०—'गुण', चौथा प्रकार।

श्लेषवक्रोक्ति–दे०—'वक्रोक्ति'।

श्लोक–[श्लोक्यते ग्रथ्यते इति श्लोकः=श्लोक् (भ्वादि) संघाते (ग्रथने)+घञ् भावे] (क) साधारण अर्थ–१ ख्याति, यश, यथा, 'पुण्यश्लोको नलो राजा' इत्यादि श्लोकमें २. संस्कृतका कोई पद्य या छन्द। ३ प्रशंसा। (ख) विशेष अर्थ–१ अनुष्टुभ छन्द। इसमें चार पाद और ३२ मात्राएँ होती हैं। यह मात्रिक छन्द(जाति)का एक भेद है, वर्णिक छन्द या वृत्तका नहीं। इसके प्रत्येक पाद या चरणमें आठ-आठ मात्राएँ होती हैं। छठी तथा सातवीं मात्राएँ दीर्घ होनी चाहिये अथवा यदि छठी मात्रा लघु हो तो सातवीं दीर्घ होनी चाहिये। श्लोकछन्दमें केवल कुछको छोड़कर शेष मात्राओंके विषयमें स्वतन्त्रता होती है। इसका प्रथम प्रयोग वाल्मीकिने किया था। प्रथम श्लोक यह है 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥' (ग) हिन्दीमें यह शब्द प्रायः संस्कृतके समस्त पद्यों या छन्दोंके लिए प्रयुक्त होता है। —आ० प्र० मि०

षट्चक्र–दे०—'हठयोग'।

षडंगयोग–दे०—'हठयोग'।

षड्दर्शन–'षट्दर्शन'का यौगिक अर्थ है छः दर्शन-सम्प्रदाय, पर यह बहुत समयसे न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्ममीमांसा या पूर्वमीमांसा या मीमांसा और ब्रह्ममीमांसा या उत्तरमीमांसा या वेदान्त, इन छः हिन्दू दर्शनोंके अर्थमें रूढ़ हो गया है। ये सभी वैदिक दर्शन हैं, अर्थात् वेदसे निकले हुए हैं। इनको आस्तिक दर्शन कहा जाता है। आस्तिकका अर्थ है वेदको माननेवाला। छः आस्तिक दर्शनोंके विरोधमें छः नास्तिक दर्शन माने गये हैं। यहाँ नास्तिकका अर्थ है मनुके शब्दोंमें वेदनिन्दक, अर्थात् वेदको प्रमाणभूत न माननेवाला। छः नास्तिक दर्शन हैं : चार्वाक, जैन, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार या विज्ञानवाद और माध्यमिक या शून्यवाद : अन्तिम चार वास्तवमें बौद्ध-दर्शनके सम्प्रदाय हैं। अतः नास्तिक दर्शन वस्तुतः तीन ही हैं। उनकी संख्या छः इसलिए कर दी गयी कि आस्तिक दर्शनोंकी भाँति नास्तिक दर्शनोंको भी षट्दर्शनका नाम देना था। यह नामकरण 'सर्वदर्शनसंग्रह'के रचयिता माधवाचार्यने किया है। लगता है, उस समय षड्दर्शन हिन्दू छः दर्शनोंके अर्थमें रूढ़ नहीं हो गया था। यह कब हुआ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए महामहोपाध्याय गंगानाथ झाने कहा है कि यद्यपि षट्दर्शन शब्द प्राचीन है, तथापि यह १४वीं शती ईसवीतक हिन्दू छः दर्शनोंके अर्थमें रूढ़ नहीं हुआ था। षट्दर्शनीवल्लभ वाचस्पति मिश्र(नवीं शती)ने भी षट्दर्शनसे न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्तका अभिधान नहीं किया। जैन दार्शनिक हरिभद्र सूरि(नवीं शती)ने एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम है 'षट्दर्शनसमुच्चय'। इसमें षट्दर्शनका अभिप्राय बौद्धदर्शन, न्यायदर्शन, सांख्यदर्शन, जैनदर्शन वैशेषिकदर्शन और जैमिनीय दर्शन या मीमांसा है। स्पष्टतः यहाँ योग और वेदान्तका नाम षड्दर्शनोंमें नहीं लिया गया है और उनके स्थानपर बौद्ध तथा जैनदर्शनोंको रखा गया है। गंगानाथ झाका मत है कि वास्तवमें ६ हिन्दू दर्शनोंको बिलकुल भिन्न ६ दर्शन माननेमें कोई प्रमाण नहीं है, केवल तीन ही दर्शन हैं, ६ नहीं। ये तीन दर्शन न्यायवैशेषिक, सांख्ययोग और मीमांसावेदान्त हैं—छः दर्शनोंकी तीन जोड़ियाँ हैं। आज सचमुच न्याय-वैशेषिकको एक दर्शन समझा जाता है, इसी तरह सांख्य-योग या मीमांसा-वेदान्तको भी एक ही दर्शन माना जाता है। अतः ६ दर्शनोंके विभाजनको यदि हम सूक्ष्मतासे देखें तो हमें तीनका ही विभाजन मिलेगा। फिर भी षट्दर्शन शब्द काफी रूढ़ और व्यापक हो चला है और देश तथा विदेशमें इसका अर्थ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त यही लगाया जा रहा है।

इन ६ दर्शनोंको बहुतसे लोग एक-दूसरेका विरोधी मानते हैं। पर यह भ्रान्त दृष्टि है। इन सबमें गाढ़ा सम्बन्ध है। प्रत्येकका अपना क्षेत्र है और उसमें वह अन्य द्वारा मान्य है। यद्यपि प्रत्येक दर्शन अपने क्षेत्रका निरूपण करते हुए गौण रूपसे दूसरे दर्शनोंके क्षेत्रपर भी कुछ प्रकाश

डालता है, पर यह गौण वर्णन उनका प्रधान कार्य नहीं है। इस प्रकार निश्चय है कि न्याय प्रमाणोंकी, वैशेषिक वस्तुओंके 'विशेष'की, साख्य चेतन और अचेतनके भेद तथा विकासकी, योग साधनाकी, मीमासा कर्मकी और वेदान्त ब्रह्म या आत्माकी विवेचना करना है। वेदान्त षट्दर्शनका चूड़ामणि है। अन्य दर्शन उसके साधन हैं या यों कहना चाहिये कि वेदान्त सभी दर्शनोंके साध्यका ही निरूपण है। अन्य दर्शन इस साध्यके ही निरूपणमें अपनेको निरत नहीं करते, वे उसके साधनोंकी विवेचनामें विशेष ध्यान देते हैं। वेदान्त केवल साध्यकी ही गवेषणा करता है।

इन छ दर्शनोंके निन्दक और प्रशसक, दोनों इस देशमें सदासे रहे हैं। नास्तिक दर्शनोंके माननेवालोंने प्राय इनकी निन्दा की है। इनके अनुयायियोंने इनकी प्रशंसा की है। हिन्दीके सन्तों और दार्शनिकोंको भी हम इन दो दलोंमें विभक्त देखते हैं। कबीरने 'वर्णाश्रमषड्दर्शनीकी कानि' नहीं रखी, ऐसा नाभादासने अपने 'भक्तमाल'में कहा है। रैदासने रखी है, यह भी उनका ही मत है। स्वय कबीर कहते हैं, 'अरु भूले षटदरसन भाई। पाषण्ड-भेष रहे लपटाई॥'

सामान्यत सगुणोपासक सन्तोंने षड्दर्शनकी मर्यादा निर्गुणोपासक सन्तोंसे अधिक रखी है। वैसे उन्हीं 'निरगुनियों'ने इसकी मर्यादाका खण्डन किया है, जिनको इसका ज्ञान न था और जो इसके विद्वानोंके बुरे आचरणको देखकर इसके प्रति भी दूषित धारणा बना चुके थे। तुलसीदासको भी इसीलिए कहना पड़ा कि 'पाखण्ड विवादतें लुप्त भये सद ग्रन्थ।' जिन निर्गुणोपासक सन्तोंने षट्दर्शनोंका अध्ययन किया था, वे इनकी मान्यताको स्वीकार करते हैं। दादूकी परम्पराके विद्वान् सन्तोंने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया है जिनमें राघोदास, सुन्दरदास और निश्चलदास मुख्य हैं।

इन षट्दर्शनोंमें वेदान्तको ही हिन्दीमें विशेष महत्त्व मिला है। हिन्दीके दार्शनिकोंने जितना योगदान वेदान्तमें किया है, उतना अन्य दर्शनोंमें नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि शकराचार्य और उनके पश्चात् आनेवाले वेदान्तियोंने वेदान्तको ही भारतीय दर्शनका चूड़ामणि ठहराया और इसका देशव्यापी प्रचार किया। हिन्दीके दार्शनिकोंका युग वेदान्तके इस स्वर्णयुगका अनुवर्ती ही है, अत उसे वेदान्तका ही सच्चा ज्ञान विरासतमें मिला। निश्चलदासने ठीक ही कहा है, 'साख्य न्यायमें श्रम कियो, पढ़ि व्याकरण अशेष। पढ़े ग्रन्थ अद्वैतके, रहे न एकहु शेष॥'

आधुनिक हिन्दी साहित्य तथा समग्र भारतीय साहित्यपर भी वेदान्तका ही विशेष प्रभाव पड़ा है। रहस्यवाद और छायावादकी मूल प्रेरणाएँ अद्वैतवेदान्तमें ही हैं। उपनिषद् वेदान्तके मूल ग्रन्थ हैं।

षट्दर्शनोंके ६ सूत्रकार आचार्य हैं। कपिलने 'साख्य-सूत्र' लिखा, जो आज उपलब्ध नहीं है। पतजलिने योगसूत्रोंकी, गौतमने न्यायसूत्रोंकी, कणादने वैशेषिक सूत्रोंकी, जैमिनिने मीमामासूत्रोंकी और बादरायणने ब्रह्मसूत्रों या वेदान्तसूत्रोंकी क्रमश रचना की। इन्हींसे षट्दर्शनोंका सूत्रपात हुआ। अर्वाचीन तथा प्राचीन विद्वानोंने सिद्ध किया है कि इन सूत्रकारोंने अपने-अपने विषयको उपनिषदोंसे ही मूलत· लेकर विकसित किया है। —मं० ला० पा०

षोडशोपचार–भगवान्की प्रतीक(प्रतिमा)पूजाके सोलह विधान या अग ही षोडशोपचार हैं, यथा—(१) आसन, (२) स्वागत, (३) अर्घ्य, (४) आचमन, (५) मधुपर्क, (६) स्नान, (७) वस्त्राभरण, (८) यज्ञोपवीत, (९) चन्दन, (१०) पुष्प, (११) धूप, (१२) दीप, (१३) नैवेद्य, (१४) ताम्बूल, (१५) परिक्रमा, (१६) वन्दना। वैष्णव साधकोंमें अर्चनोपचारोंकी बड़ी महिमा है। वैष्णव कवियों, विशेषकर सूरदासमें अर्चन-भक्ति परक अनेक पद हैं।—वि०मो० श०

संकटकाल–'क्राइसिस' या ऐसा समय जब मनुष्यका सचित धैर्य और साहस सहसा चुनौती पा उठता है। साहित्य-समीक्षाके क्षेत्रमें पूँजीवादी ह्रासोन्मुख कालमें सस्कृतिके सभी मूल्य सकटग्रस्त हैं, ऐसा काडवेल आदि मार्क्सीय आलोचक मानते हैं। व्यक्तिजीवनमें नीति-अनीति, जीवन-मरणके बीच चुननेका जो बिन्दु है, वही सामाजिक या समष्टिगत अपेक्षासे सकटकाल कहा जा सकता है। —प्र० भा०

संकर–सकर शब्दसे अभिप्राय है अत्यन्त मिला हुआ। काव्यशास्त्रमें यह एक प्रकारका मिश्रालकार है। जब एक ही छन्दमें अनेक अलकारोंका सम्मेलन नीर-क्षीरन्यायसे, अर्थात् परस्पर सापेक्ष रूपसे हो, वहाँ सकर होता है। सकर अलकारमें नीर-क्षीर-न्यायके अनुसार एक छन्दमें अनेक अलंकारोंका सम्मेलन होता है। जिस प्रकार एक ही पात्रमें रखे हुए दूध और जलमें परस्पर अभेदसम्बन्ध हो जाता है, उसी प्रकार 'सकर' अलकारमें प्रयुक्त अनेक अलकार परस्पर सापेक्ष होते हैं। इस अलकारका उल्लेख उद्भटके 'काव्यालङ्कारसारसग्रह'में हुआ है। मम्मटके अनुसार सकर अलकारका लक्षण इस प्रकार है—'अविश्रान्तिजुषामात्मन्यगाङ्गित्वं तु सकर।' (का०प्र०. १० १४०), अर्थात् विभिन्न अलंकारोंकी अंग-अंगीरूपसे अवस्थिति। 'साहित्यदर्पण'कारने इसके तीन रूपोंका उल्लेख किया है—'अगागित्वेऽलकृतीना तद्वदेकाश्रयस्थितौ। सन्दिग्धत्वे च भवति सकरस्त्रिविध· पुन।' (१० ९९), अर्थात् अलकार अग-अगीरूपसे स्थित हों, एक ही आश्रयमें स्थित हों अथवा उनके सम्बन्धमें सन्देह हो, इन तीन रूपोंमें सकर होता है। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्य भिखारीदासके मतानुसार भी संकर तीन प्रकारका होता है—'द्वै कि तीनि भूषन मिलें, छीर-नीरके न्याइ। अलंकार संकर कहैं, तेहि प्रवीन कबिराइ। एक-एकको अग कहुँ, कहुँ सम होहिं प्रधान। कहूँ रहत सन्देहमें, सकर तीनि प्रमान।' (का० नि० ३)। हिन्दीमें चिन्तामणि, भूषण, सोमनाथ, पद्माकर आदि कुछ आचार्योंने इसपर विचार किया है। भूषण अस्पष्ट हैं—'भूषन होत अनेक' (शि० भू० ३७१), सोमनाथने 'पोष्यपोषकभाव'से कई अलंकारोंके प्रयोगको माना है, भेदोंका उल्लेख नहीं किया है।

स्पष्टत संकर तीन प्रकारका है—१ अगागिभावसकर, २ एकवाचकानुप्रवेशसकर, ३ सन्देहसकर। एकवाचकानुप्रवेशसंकरको दास तथा पद्माकरने 'सम-प्रधान'के नामसे अभिहित किया है।

१ **अंगांगिभावसंकर**—एक ही छन्दमें अनेक अलंकारोंकी परस्पर अंगांगिभाव अथवा पोष्य-पोषकभावसे स्थिति। इसमें एक अलंकार दूसरेका उपकारक होता है। एकके अभावमें दूसरेकी स्थिति सम्भव नहीं होती। उदा०—'छल बढ़ई बल करि थके, कटे न कुबत कुठार। आलबाल उरझालरी, खरी प्रेम तरु डार।' (वि० स० ४४४), इनमें रूपकसे विशेषोक्तिकी सम्भावना हुई है। देवके इस प्रसिद्ध छन्दमें—'पूरित पराग सों उतारो करै राई नोन, कंज कली नायिका लतानि सिर सारी दै। मदन महीपजूको बालक बसन्त ताहि, प्रात हिये लावत गुलाब चुटकारी दै।' इसमें रूपक गम्योत्प्रेक्षाका अंग है। इसी प्रकार आधुनिक कवि पन्तकी पंक्तियोंमें—'नयन नीलिमाके लघु नभमें, अलि किस सुषमाका संसार। विरल इन्द्रधनुषी बादल-सा बदल रहा निज रूप अपार' (बादल)। इसमें उपमा 'बादल-सा' रूपक अलंकारका अंग है। उपमाके अभावमें रूपककी और रूपकके अभावमें उपमाकी स्थिति अपूर्ण एवं अशोभन-सी प्रतीत होती है।

२ **एकवाचकानुप्रवेशसंकर**—एक ही आश्रयमें अनेक अलंकारोंकी स्थिति। एक आश्रयसे अभिप्राय यहाँ एक पदसे है। मम्मटके अनुसार इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनोंकी एक पदमें स्थिति होती है। किन्तु रुय्यक केवल कई शब्दालंकारों या कई अर्थालंकारोंके एक ही पदमें सम्मेलन होनेको मानते हैं। उदा०—'टर न टरै नींद न परै,-हरै न काल विपाक। छिन छाके उछकै न फिरि, खरो विषम छवि छाक।' (वि० स० ३१८), यहाँ 'छवि छाके'में वर्णकी आवृत्ति होनेसे अनुप्रास है और छविरूप मदिरामें रूपक अर्थालंकार है, अतः संकर है। अप्पय दीक्षित रुय्यकके समान इसे अनेक अर्थालंकारोंका संकर मानते हैं।

३. **सन्देहसंकर**—अनेक अलंकारोंकी सन्दिग्ध स्थिति, दूसरे शब्दोंमें जहाँ एक ही छन्दमें दो या दोसे अधिक अलंकारोंकी स्थितिमें निश्चय नहीं हो सकता, अर्थात् सन्देहकी स्थिति रहती है कि यह अलंकार है या वह। उदा०—'काली आँखोंमें कितनी, यौवनके मदकी लाली। मानिक मदिरासे भर दी, किसने नीलमकी प्याली।' ('प्रसाद' 'आँसू'), यहाँ नीलमकी प्यालीको काली आँखोंका और मानिक मदिराको मदकी लालीका रूपक माननेसे रूपक अलंकार है, किन्तु यदि इसका अन्वय इस प्रकार किया जाय कि रक्तिमापूर्ण काली आँखें मानिक मदिरासे भरी नीलमकी प्याली-सी सुन्दर हैं, तो लुप्तोपमा है। अतः यहाँ रूपक और उपमाका सन्देहसंकर है।

द्विवेदीयुगीन मैथिलीशरण गुप्त तथा छायावादी काव्यके प्रवर्तक एवं प्रतिनिधि कवि 'प्रसाद', पन्त, 'निराला', महादेवी आदिके काव्योंमें इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है। अलंकारोंका 'संकर' प्रयोग भक्ति-कालके कवियोंमें सौन्दर्य-वर्णनकी परिस्थितियोंमें हुआ है। रीतिकालके कवियोंने वैचित्र्यकी दृष्टिसे किया है, विशेषकर बिहारीमें इसका उक्तिपूर्ण निर्वाह हुआ है। —वि० स्ना०

संकीर्ण—दे०—'शब्द-दोष', तेरहवाँ 'वाक्य-दोष'।

संकीर्ण राष्ट्रवाद—अँग्रेजीके 'जिंगोइज्म' अथवा फ्रेन्चके 'शाविनिज्म'के लिए हिन्दीमें यह शब्द प्रयुक्त होने लगा है। नेपोलियनकी सेनामें निकोलस शाविन नामका व्यक्ति था, जो नेपोलियन-भक्तिके लिए प्रसिद्ध था। उसकी नेपोलियन-भक्तिके लिए शाविनिज्मका प्रयोग किया जाने लगा। धीरे-धीरे इसका प्रयोग स्वराष्ट्रके प्रति अन्धे संकीर्ण अभिनिवेशके लिए होने लगा है। संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने राष्ट्रको सर्वोपरि मानता है। इस प्रकार यह राष्ट्र राष्ट्रमें प्रेम मात्रकी वृद्धि न कर घृणा और द्वेषकी ही वृद्धि कर सका है। नाजी विचारधारासे यह कई अंशोंमें मेल खाता है। —ह० ना०

संकीर्तित अद्भुत—दे०—'अद्भुत रस'।

संक्रमण—साधारण परिवर्तन, हेर फेर, अदल-बदलसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया। एक विचार व्यवस्थासे दूसरीमें—उदाहरणार्थ, पुरानी परम्पराओंमेंसे नये प्रयोगोंमें —जब साहित्य परिणत होता है, तब पुराना सब कुछ मिट नहीं जाता, नया उसपर आरोपित नहीं होता या थोपा नहीं जाता, बल्कि पुरानेमें जो सजीव तत्त्व रहते हैं वे आगे गुणात्मक परिवर्तन पाते हैं, जैसे प्राणिशास्त्रीय परिभाषामें बच्चेमें पिता-माताके 'क्रोमोजोम्स'। यह संक्रमण व्यक्तिगत जीवनमें भी घटित होते हैं, सामाजिक जीवनमें भी—और दोनोंका परिणाम एक दूसरेपर घटित होता रहता है। —प्र० मा०

संक्षिप्त महाकाव्य—महाकाव्यकी पुरानी मान्यताके अनुसार कोई पर्याप्त लम्बा कथात्मक काव्य ही महाकाव्य हो सकता है। संस्कृतके आलंकारिक विश्वनाथ कविराजके अनुसार न बहुत बड़े, न बहुत छोटे, आठसे अधिक सर्गोंवाले प्रबन्धकाव्यको ही महाकाव्य मानना चाहिये—'नाति स्वल्पा नाति दीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह।' अरस्तूके अनुसार भी महाकाव्यको बड़े आकारका ही होना चाहिये। पर आधुनिक युगमें काव्यके नये-नये रूप विकसित हो चुके हैं और महाकाव्यके स्वरूपमें भी बहुत परिवर्तन हो चुका है। अतः साहित्यशास्त्रियोंको महाकाव्य सम्बन्धी मान्यतामें भी परिवर्तन करना पड़ा है। फलस्वरूप **प्रगीतात्मक महाकाव्य, नाट्य महाकाव्य, रूपकथात्मक महाकाव्य, संक्षिप्त महाकाव्य** आदि अनेक प्रकारके महाकाव्यरूपोंको आलोचकोंने मान्यता दी है। इनमें संक्षिप्त महाकाव्य तो वस्तुतः महाकाव्यके गुणोंसे युक्त लघुकाव्य ही होता है। ऐसे काव्यको महाकाव्यकी पुरानी कसौटीपर कसनेका प्रश्न नहीं उपस्थित होता, क्योंकि न तो वह सर्गबद्ध होता है, न उसमें नाटकीय सन्धियोंका विधान होता है और न विविध वस्तु-व्यापारोंका विस्तृत वर्णन ही होता है। फिर भी वह महाकाव्यात्मक गुणोंवाला इसलिए माना जाता है कि उसमें उद्देश्यकी महानता, शैलीकी उदात्तता और काव्यगत गुरुता और गम्भीरता महाकाव्य जैसी होती है। वस्तुतः किसी महाकाव्यका महाकाव्यत्व उसके कथानक, वस्तुवर्णन या चरित्रचित्रणमें उतना नहीं होता, जितना उसमें व्यक्त जीवनमूल्योंकी असाधारणता तथा कविकी महती काव्यप्रतिभासे उद्भूत व्यापक अथवा गहरी महाकाव्यात्मक अवधारणा(एपिक इण्टेंशन)में होता है। इस कसौटीपर कसनेपर बहुत बड़े-बड़े प्रबन्धकाव्य भी महाकाव्य नहीं माने जा सकते और कई

छोटे किन्तु उपर्युक्त लक्षणोंवाले लघु या संक्षिप्त काव्योंको महाकाव्यात्मकता (एपिक क्वालिटी) से युक्त महाकाव्य–संक्षिप्त महाकाव्य—कहा जा सकता है। इसी नयी मान्यताके अनुसार अनेक आलोचक अँग्रेजीके आधुनिक कवि टी०एस० ईलियटके काव्य 'वेस्टलैण्ड'को संक्षिप्त महाकाव्य कहते हैं। उसी तरह हिन्दीमें 'निराला'की कविताओं, 'तुलसीदास' और 'रामकी शक्तिपूजा'को अनेक विद्वानोंने संक्षिप्त महाकाव्य कहा है। —श० ना० सिं

संख्यावैचित्र्यवक्रता–दे०—'पदपरार्धवक्रता', पहला प्रकार।

संख्यासंकेत–छन्द शास्त्रमें मात्रासंख्या और वर्णसंख्याकी सूचना देने तथा यतियोंके निश्चित निर्धारणको व्यक्त करनेके लिए कुछ विशिष्ट शब्दोंका प्रयोग किया जाता रहा है। अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हुए भी इस प्रकार प्रयुक्त शब्द विशेष सन्दर्भमें केवल संख्यावाची मान लिये जाते हैं, जैसे, भू, नेत्र, वेद, अहि, गिरि इत्यादि। इन संख्याशब्दोंसे तिथि, संवत्, वर्ष आदिकी सूचना भी दी जाती रही है। छन्दोबद्ध करनेमें अंकोंके नामोंकी तुलनामें ये शब्द अधिक उपयुक्त सिद्ध हुए हैं, क्योंकि इनके पर्याय भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं। कई शब्द अनेक संख्याओंके बोधक भी होते हैं जैसे, 'रस' षट्रसके अर्थमें ६ का, नवरसके अर्थमें ९ का अर्थ देता है। ऐसे शब्दोंको संख्यासंकेत कहा जा सकता है, क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य संख्याओंका बोध कराना ही है। नीचे कुछ पर्यायोंके साथ कतिपय प्रमुख संख्यासंकेत दिये जाते हैं—०—शून्य, नभ, बिन्दु आदि। १–शशि, भू, धरा, गणपतिरदन, ईश्वर आदि। २–भुज, नेत्र, पक्ष, अहिजिह्वा, नदीतट, भ्रू, कर्ण आदि। ३–गुण, राम, अग्नि, ताप, काल, पुरारिनेत्र, लोक आदि। ४–वेद, वर्ण, फल, पाद, आश्रम, विधिमुख, धाम, हरिबाहु आदि। ५–बाण, मदनशर, पाण्डव, कन्या, शिवमुख, प्राण, इन्द्रिय, तत्त्व, भूत, यज्ञ, गव्य आदि। ६–शास्त्र, ऋतु, रस, राग, वेदांग, अलिपद, ईति, शिवसुतमुख आदि। ७–तुरग, रविवाहन, ऋषि, सिन्धु, गिरि, स्वर, वार, पुरी, पाताल आदि। ८–सिद्धि, वसु, अग, अहि, दिग्गज, याम, प्रहर, विधिनेत्र आदि। ९–निधि, ग्रह, भक्ति, अंक, छिद्र, नाड़ी, भूखण्ड आदि। १०–दिशा, दिग्पाल, अवतार, दोष, दशा, रामरिपुमुख आदि। ११–रुद्र, शिव आदि। १२–आदित्य, सूर्य, राशि, मास, भूषण आदि। १३–नदी, परमभागवत आदि। १४–मनु, विद्या, रत्न, भुवन आदि। १५–तिथि। १६–शृंगार, कला, संस्कार आदि। १८–पुराण, स्मृति आदि। २०–नख, रावणबाहु आदि। २५–प्रकृति। २७–नक्षत्र। ३०–मासदिवस। ३२–लक्षण, दन्त आदि। ३३–देवता, विबुध आदि। ३६–रागिनी। ४९–पवन, मरुत् आदि। ५६–भोग। ६४–कला। ८४–योनि। १०००–इन्द्रनेत्र, कमलदल, सूर्यकिरण, शेषफन, पृथुकर्ण आदि। —ज० गु०

संगति (harmony)–विरोधका अभाव, व्यवस्था, समन्वय आदि संगतिके विशेष तत्त्व हैं। कला विश्वसनीय और आनन्ददायक तभी होगी, जब कि उसके सम्मिलित प्रभावसे मनमें सामंजस्य और उपयुक्तताका भाव पैदा हो। हर्बर्ट रीडके अनुसार 'संगति हमारे सौन्दर्य बोधकी तृप्ति (मीनिंग ऑफ आर्ट) है।' किसी कृतिमें कलाके विभिन्न तत्त्वोंका इस प्रकार मिलना या संघटित होना कि चित्त एक स्वाभाविक प्रसन्नता और सन्तोषका अनुभव करे। सौन्दर्यानुभूति वास्तवमें आत्माकी वह सन्तुष्ट स्थिति है जब वह किसी सुन्दर वस्तुमें संगति, पूर्णता और रसका अनुभव करती हुई अविरोध रमण करती है। —कु० ना०

संगम–दे०—'हठयोग'।

संगीतरूपक–संगीतरूपक **रेडियोनाटक**का एक प्रकार है। इसमें गीतोंकी प्रधानता होती है, जो **नैरेशन** द्वारा सम्बद्ध कर दिये जाते हैं। नैरेशन गद्य या पद्य, दोनोंमें होते हैं। कुछ संगीतरूपक कल्पित कहानियोंपर आधारित होते हैं, कुछ पर्व-त्योहारोंके उपलक्ष्यमें लिखे जाते हैं, कुछमें प्राकृतिक दृश्योंका अंकन होता है। इस प्रकार विषयकी दृष्टिसे संगीतरूपक अनेक प्रकारके होते हैं। संगीतरूपकको संगीत, काव्य एवं नाटककी त्रिवेणी कहा जा सकता है। (दे०—'रेडियोनाटक')। —सि० कु०

संघटन–दे०—'दूतीकर्म'।

संघर्ष–पाश्चात्य धारणाके अनुसार नाटककी वह स्थिति, जिसमें विरोधी शक्तियाँ अन्तिम बार परस्पर संघर्ष करती हैं तथा जो **कथावस्तु**को निर्णयात्मक क्षण प्रदान करती हैं, संघर्ष कहलाती है। इस क्षणसे ही एक विरोधी शक्ति बलवती एवं दूसरी निरुपाय होने लगती है। संघर्षमें केवल दो विरोधी शक्तियाँ होती हैं, अधिक नहीं, क्योंकि प्रेक्षककी सहानुभूति केवल एक ही शक्तिके साथ होती है तथा अन्य समस्त शक्तियाँ या तो उसकी सहायता करती हैं या विरोध। इन परस्पर विरोधी शक्तियोंके कई रूप हो सकते हैं, जैसे—१ दो व्यक्ति, उदाहरणत नायक एवं खलनायक, २. एक व्यक्ति एवं समाज, ३ व्यक्तिके मनमें होनेवाला अन्तर्द्वन्द्व, जैसे, प्रेम और कर्तव्यका, आस्था एवं अनास्थाका। संघर्षके लिए नाटकीय हेतु अथवा चरम लक्ष्यका होना आवश्यक है। संघर्षकी घटनाएँ कार्यव्यापारके ही अंश हैं। नाटकका वह स्थल जहाँ विरोधी शक्तियोंकी हार-जीतका अन्तिम निर्णय होता है, संघर्ष कहलाता है।

यद्यपि बहुत-से आधुनिक नाटककारोंकी प्रवृत्ति संघर्षको बहुत बादमें रखनेकी है, किन्तु प्राचीन नाटककार संघर्षको सम्पूर्ण नाटकीय कार्य व्यापारके मध्यमें या उसके ठीक बाद रखते थे। शेक्सपीयरने अपने नाटकोंमें संघर्षको सदैव या तो तीसरे अंकमें या चौथे अंकके प्रारम्भिक भागमें स्थान दिया है। उदाहरणके लिए 'मैकबेथ'में संघर्ष तीसरे अंकमें मिलता है, जहाँ फ्लेएन्सके बच निकलने तथा बैंकोकी आत्माके प्रकट होनेके साथ ही मैकबेथके भाग्यका परिवर्तन हो जाता है। 'प्रसाद'के 'अजातशत्रु'में संघर्ष द्वितीय अंकमें मिलता है जब कि सब विरोधी दल एकमें मिलकर शक्तिशाली एवं उद्योगशील बन जाते हैं और विरुद्धक एक ओर एवं प्रसेनजित और उदयन दूसरी ओर संघटित होकर दृढ चित्तसे अपनी-अपनी सेना सजाकर युद्धके लिए तत्पर होते हैं। इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त'में संघर्ष हमें चौथे अंकमें मिलता है, जब कि स्कन्दगुप्त अपनी पराजयके बाद फिरसे उद्योग करता है तथा पर्णदत्तकी साधनासे साम्राज्य-

के सभी बचे हुए स्वामिभक्त योद्धा एकत्र होकर, सेना संघटित कर स्कन्दगुप्तकी छत्रच्छायामें एक बार पुन आर्यावर्तकी रक्षाका उद्योग करते हैं। इस प्रकार स्कन्दगुप्त-की हूणोंके साथ जो दूसरी लड़ाई होती है, वह नाटकीय फलकी निर्णायक है। अत यहींपर नाटकीय संघर्ष माना जायगा। —श्या० मो० श्री०

संचारियोंका अंतर्भाव–भरतने सचारियोंके वर्गीकरण-के चार सिद्धान्त माने हैं—(१) देश, काल एव अवस्था। (२) इनमेंसे कुछ उत्तम, तो अन्य मध्यम एवं अधम प्रवृत्तिके लोगोंमें होते हैं। (३) यद्यपि ये भाव प्रधानत आश्रयगत ही हैं, तथापि कुछ प्रकृतिगत और कुछ अन्य व्यक्तियोंकी उत्तेजनाके कारण और कुछ वातावरणके प्रभावसे होते हैं। (४) कुछ प्रधानतया स्त्रियों और पुरुषोंमें होते हैं। भावोंके अन्तर्भाव एव भावशवलताके कारण भरतने इन सिद्धान्तोंका विशदीकरण पूर्णतया नहीं किया। केवल यह बताया है कि निर्वेद, शंका और आलस्य स्त्री जाति एव नीच प्रकृतिके व्यक्तियोंमें होते हैं। भरतके सिद्धान्तके अनुसार 'गर्व' आत्मगत, और 'अमर्ष' परगतका उदाहरण हो सकता है। 'आवेग' एव 'त्रास' कालानुसार होते हैं।

यदि सचरणशील अथवा स्थायी मनोविकारोंको या चित्तवृत्तियोंको व्यभिचारी अथवा सचारी भाव कहा जाता है तो उनकी सख्या ३३ ही क्यों है? सम्भवत इसलिए कि हिन्दू धर्ममें देवताओंकी सख्या भी एक गणनाके अनुसार ३३ ही है (ब्रह्मा एव इन्द्र, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य)। वैसे यह सख्या नित्य नहीं है, क्योंकि धनिकने कहा है–(धनंजय द्वारा निर्दिष्ट व्यभिचारी भावोंके अतिरिक्त अन्य चित्तवृत्तियाँ भी (लोकव्यवहारमें देखनेमें आती) हैं, पर वे सब इन(तेंतीस)के अन्तर्गत होकर विभाव या अनुभावके रूपमें प्रविष्ट होती हैं, अत उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया' (दशरूपकावलोक ४ · ३३)।

'शृंगारप्रकाश'में भोज(११ श० ई० उत्त०)ने भरतके अपस्मार और मरणके स्थानपर ईर्ष्या एव शमका उल्लेख किया है, पर 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में स्नेह और धृतिको माना है। हेमचन्द्र(१२ श० ई० उत्त०)ने कहा है कि तेंतीस संचारी भावोंके अतिरिक्त 'दम्भ', 'उद्वेग' एव 'क्षुत्तृष्णादि' क्रमश अवहित्था, निर्वेद और ग्लानिके अन्तर्गत हैं। (काव्यानु० पृ० १०४)। 'अग्निपुराण'(९ श० ई०)में निद्रा, सुप्त एव मरणका उल्लेख नहीं है; शमको सचारी बताया गया है और कुल इकत्तीसकी गणना की गयी है। (३३९ २२ ३४)। सागरनन्दीने त्रास और भयको पर्यायवाची मानकर त्रासको भयानकका स्थायी भाव माना है (ना० ल० र० को० पृ० २४३) और 'निद्रा' एव 'सुप्त'मेंसे केवल 'निद्रा'को स्वीकृत कर, एक नये व्यभिचारी 'शौच'का उल्लेख किया है (वही पृ० २०९८–२०९०)।

भोज द्वारा प्रस्तावित 'ईर्ष्या' और 'स्नेह'को शिंगभूपाल नहीं मानते। उनके अनुसार तेंतीसके अतिरिक्त सचारी भाव अन्य भी हो सकते हैं, पर 'उद्वेग', 'स्नेह' भरतके दिये 'दम्भ' और 'ईर्ष्या' व्यभिचारियोंके अन्तर्गत हैं।

रामचन्द्र गुणचन्द्र (१२ श० ई० उत्त०) (ना० द० पृ० १८६)ने उचित ही कहा है कि इनमें कई सचारी भाव परस्पर एक-दूसरेके उत्पादक विभाव भी हो सकते हैं। जैसे 'व्याधि'से 'निर्वेद', 'चिन्ता' या 'विबोध'से 'स्मृति' और 'श्रम'से 'आलस्य'। वास्तवमें ऐसे कई व्यभिचारियोंका ज्ञान भरतके विभावोंको पढ़नेसे होता है। यह अनिवार्य ही प्रतीत होता है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक भी भावनिरूपण-के प्रसगमें मानते हैं कि प्रत्येक भावके साथ शेष भावोंका सम्बन्ध अव्यक्त रूपमें रहता ही है।

भानुदत्त(१४ श० ई० म०)ने इनकी सख्यामें वृद्धि की है, उन्होंने एक और व्यभिचारी 'छल' बताया है (र० त० ५)। उनके अनुसार स्त्रियोंके दस स्वभावज अलकारोंमेंसे 'मोट्टायित', 'कुट्टमित', 'विब्बोक' एवं 'विहृत' 'आन्तर विकार' होनेसे और 'किलकिंचित' उभयात्मक, अर्थात् शारीर भी होनेसे व्यभिचारी भाव हैं। वास्तवमें दसों अलकारोंका वर्णन उनके विभाव एव अनुभाव देकर किया गया है। (वही ६ : पृ० १३१ इत्यादि)। उन्होंने बताया है कि तीन कामावस्थाओंको, अर्थात् अभिलाषा, गुणकथा, प्रलापको व्यभिचारियोंके अन्तर्गत नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे क्रमश औत्सुक्य, स्मृति एव उन्मादके अन्तर्भूत हैं (वही ५ · पृ० १०९)।

रूपगोस्वामी(१५-१६ श० ई०)ने तेंतीसके अतिरिक्त तेरह अन्य व्यभिचारियोंकी चर्चा की है, पर वे तेंतीस प्रधानके अन्तर्भूत ही हैं। भानुदत्त (र० त० ५) एवं विश्वनाथ (१४ श० ई० पूर्वा० सा० द० ३ · १७२) और अन्य ग्रन्थकारोंके अनुसार स्थायी भाव भी सचारी हो जाते हैं, जैसे, हास शृंगारमें, रति शान्त, करुण एव हास्यमें, भय करुणमें, शोक शृंगारमें, क्रोध वीरमें, जुगुप्सा भयानकमें और उत्साह एव विस्मय प्राय सभी रसोंमें। यदि इस सिद्धान्तका अनुकरण किया जाय तो अमर्ष, त्रास एव विषाद सचारी भाव क्रमश क्रोध, भय एव शोक स्थायी भावोंके अपरिपक्व रूप हैं।

भरत द्वारा प्रस्तावित तेंतीस व्यभिचारियोंका सूक्ष्मतया अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट है कि उनमेंसे कोई भी शारीरिक अवस्था नहीं है (मिलाइये, शुक्ल र० मी० पृ० २०६, वाटवे र० वि० · मराठी पृ० १२८)। भरतने नाटकप्रयोगकी दृष्टिसे तेंतीस व्यभिचारी भावोंका उल्लेख किया है, उनके उद्बुद्ध होनेके परिस्थितित्यनुकूल कारण भी दिये हैं और फिर सभीके आगे 'आदि' शब्दका प्रयोग कर यह बतलाया है कि 'नाट्यशास्त्र'में उन्होंने सारी ही परिस्थितियोंकी कल्पना अन्तिम रूपसे नहीं की है। अत यदि भरत द्वारा विभावोंका परीक्षण किया जाय तो ज्ञात होगा कि उनके व्यवस्थाचक्रके अनुसार एक प्रधान कारण-से कई प्रकारके व्यभिचारी भाव उद्बुद्ध हो सकते हैं और उसके अनुसार भावोंके अन्तर्भावकी निम्नलिखित तालिका बनायी जा सकती है—

१ निर्वेदके अन्तर्भूत श्रम एव धृति। २ ग्लानिके अन्तर्भूत मद, श्रम, आलस्य, निद्रा। ३ असूयाके अन्तर्भूत ईर्ष्या, चपलता। ४ दैन्यके अन्तर्भूत चिन्ता, शंका, विषाद। ५ त्रासके अन्तर्भूत मोह, आवेग। ६ व्याधिके अन्तर्भूत उन्माद, अपस्मार, मरण। ७. व्रीडाके अन्तर्भूत अवहित्था, छल। ८ गर्वके अन्तर्भूत अमर्ष, उग्रता। ९ वितर्कके

अन्तर्भूत मति।

इनके अतिरिक्त 'औत्सुक्य','स्मृति','सुप्त','विबोध','हर्ष' एव 'जड़ता'को भी पृथक्-पृथक् व्यभिचारी भाव मानना अनिवार्य है। अब रहा प्रश्न स्त्रियोंके स्वभावज अलकारोंका, तो विब्बोक एव मोट्टायित तो गर्वके अन्तर्भूत आयेंगे, क्योंकि 'गर्वाभिमानसम्भूतो नादरात्मा विब्बोकः' और 'निभृतभूयोदर्शनस्पृहा मोट्टायितम्।' (र० त० पृ० १३५, १३६)। 'कुट्टमित' तो कोई सचारी भाव नहीं, क्योंकि वह 'सुखे दु खचेष्टा' मात्र है। 'विहृत' अर्थात् 'अ भलाषापरिपूर्ति' औत्सुक्यके अन्तर्भूत है और 'किलकिंचित्' तो है ही व्यभिचारियोंका सम्मिश्रण 'श्रमाभिलाषगर्वस्मितहर्षभयक्रुधा सकर।' (र० त० पृ० १३४)।

अत हम देखते हैं कि व्यभिचारियोंकी सख्या जहाँ बढ सकती है वहाँ कम भी हो सकती है। वास्तवमें मानव भावोंका वर्गीकरण प्रधानतया रतिप्रधान, विरतिप्रधान, तर्कप्रधान, स्मरणप्रधान, उत्सुकताप्रधान एव समालोचनात्मक भावोंकी व्यापक दृष्टिसे हो सकता है।—ज० कि० व०

संचारी भाव (व्यभिचारी भाव)–भरतके 'नाट्यशास्त्र'-(३ श० ई०)में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इस शब्दमें 'स'(अथवा 'वि','अभि') उपसर्ग है तथा चर धातु है, अत अर्थ हुआ—रसके सम्बन्धमें जो अन्य वस्तुओंकी ओर सचरण करें (७ २७)। इसी आधारपर धनजय(१०-११ श०ई०)ने व्यभिचारी भावोंकी परिभाषा की है–'विशेषादभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण। स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना कल्लोला इव वारिधौ।'(द० रू० ४ ७), अर्थात् जो भाव विशेष रूपसे स्थायी भावकी पुष्टिके लिए तत्पर या अभिमुख रहते हैं और स्थायी भावके अन्तर्गत आविर्भूत और तिरोहित होते दिखाई देते हैं, वे सचारी भाव कहलाते हैं। जैसे लहरें समुद्रमें पैदा होती हैं और उसीमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही रत्यादि स्थायी भावोंमें निर्वेदादि सचारी भाव उन्मग्न तथा निमग्न होते रहते हैं। इस तरह सचारी भाव मुख्य रूपसे स्थायी भावमें ही उठते-गिरते हैं। लहरोंके उठने और गिरनेमें समुद्रका समुद्रत्व और भी पुष्ट होता है, ठीक उसी तरह 'संचारी भाव' स्थायी भावोंके पोषक होते हैं। स्थायी भाव स्थिर हैं तो सचारी सचरणशील और अस्थिर।

पाश्चात्य विचारक शैण्टने प्रत्येक भावको एक तरहका व्यवस्थाचक्र माना है। उसके मतानुसार क्रोध, भय, शोक आदि मूल भावोंमेंसे प्रत्येक अन्य भावोंसे सम्बद्ध है। मूल भाव अपने द्वारा प्रवर्तित अन्य भावोंके आविर्भावके समय अपना रूप त्याग देता है। मान लीजिये कि एक व्यक्तिका किसीके प्रति प्रेम है। उसे पीड़ा पहुँचानेवालेके प्रति जब उसके मनमें क्रोध उत्पन्न होगा, तब रति भावका लोप हो जायगा। किन्तु साहित्यमें रतिके सहायक सचारी भावोंके उदय होनेपर रतिका प्राधान्य बना रहेगा, अर्थात् उसके प्रतीतित्वमें कोई विक्षेप नहीं होगा। नायिकाका प्रणयमान या ईर्ष्यामान रति भावको अपदस्थ नहीं कर सकता, बल्कि उलटे सचारी स्थायी भावको पुष्ट करता है। लेकिन सचारी भाव सर्वथा सहायकके रूपमें नहीं आते, स्वतन्त्र रूपमें भी उनकी अभिव्यक्ति होती है। वैसी स्थितिमें उन्हें केवल भावकी सज्ञा दी जाती है। दे०–'भाव'।

आचार्योंने सचारी भावोंकी सख्या निश्चित कर दी है। भरतने जिन ३३ सचारियोंका उल्लेख किया है वे प्राय सर्वमान्य हो गये हैं। उनके नाम हैं–१ निर्वेद, २ आवेग, ३ दैन्य, ४ श्रम, ५ मद, ६. जडता, ७ औग्र्य, ८ मोह, ९ विबोध, १० स्वप्न, ११ अपस्मार, १२ गर्व, १३ मरण, १४ अलसता, १५. अमर्ष, १६ निद्रा, १७ अवहित्था, १८ औत्सुक्य, १९ उन्माद, २० शका, २१ स्मृति, २२ मति, २३ व्याधि, २४ सन्त्रास, २५ लज्जा, २६ हर्ष, २७ असूया, २८,विषाद, २९ धृति, ३० चपलता, ३१ ग्लानि, ३२. चिन्ता और ३३ वितर्क।

संचारियोंकी सख्या शास्त्रचर्चाकी सुविधाके कारण ही परिमित की गयी है। यदि आठ स्थायी भावोंको, जो सचारी भी होते हैं, उनमें जोड़ दिया जाय तो इनकी परिमित संख्याको बढाना पडेगा। पर आठ स्थायी भावोंके उनमें जोड़ दिये जानेपर कुछ सचारी अपने-आप व्यर्थ हो जायँगे। शोकके सचारी होनेपर विषाद, भयके सचारी होनेपर त्रास, क्रोधके संचारी होनेपर अमर्षको ३३ सचारियोंमेंसे पृथक् करना पडेगा। राघवन्‌के मतानुसार ग्लानि और श्रममेंसे केवल एकको ही ग्रहण किया जाना चाहिये, क्योंकि उनकी व्याख्याकी परीक्षा करनेपर वे समान प्रतीत होते हैं।

समय-समयपर आचार्योंने इस ३३की सख्याको बढ़ानेका बराबर प्रयत्न किया है। अनुभाव, नायिकाओंके २० अलकार, भाव, हाव आदि, सात्त्विक भाव, आलाप आदि, दस कामावस्थाएँ, सभीको संचारीके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है (राघवन् दी नम्बर ऑफ रसाज. पृ० १५९)। भोज (११ श० ई०) सात्त्विक भावोंको स्पष्ट रूपसे बाह्य-व्यभिचारीकी सज्ञा देते हे—'तत्र आभ्यन्तरा व्यभिचारिषु चिन्तौत्सुक्यावेगवितर्कादय बाह्या स्वेदरोमाचाश्रुवैवर्ण्यादय' (शृं० प्र० ११)। भानुदत्त(१३ श० ई०)ने अपनी 'रसतरंगिणी'में १० मदनावस्थाओंको व्यभिचारियोंमें ही सन्निविष्ट किया है (र० त० पृ० ३०)। भोजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में सचारियोंकी सख्या ३३ ही मानी है। यद्यपि भरतके कुछ सचारियोंके स्थानपर नये सचारियोंका नामोल्लेख किया है। शिंगभूपाल(१४ श० ई०)ने उद्वेग, स्नेह, दम्भ, ईर्ष्याको सचारियोंमें गृहीत करनेका प्रश्न उठाया है, पर इन्हें ३३ सचारियोंमें सम्मिलित नहीं किया है। भानुदत्तने 'छल' नामक नये सचारीका उल्लेख किया है, जिसका वर्णन देवने भी किया है। इसे भरतके 'अवहित्था'के अन्तर्गत ही समझना चाहिये। रूप गोस्वामी(१५-१६ श० ई०)ने मधुर रसके प्रसगमें परम्पराप्राप्त ३३ सचारियोंको ही स्वीकार किया है, पर शृगार रसके अनुकूल न होनेके कारण औग्र्य और आलस्यके उदाहरण नहीं प्रस्तुत किये हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने १३ अन्य सचारियोंका भी उल्लेख किया है, जो भरतके ३३ सचारियोंमें ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। विशेष रसोंके प्रसगमें उन्होंने कुछ और विशिष्ट सचारियोंकी गणना की है।

देव(१६ १७ श० ई०)ने हिन्दी आचार्योंकी परिपाटीमे

पृथक् होकर नयापन ले आनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने संचारियोंके दो भेद किये हैं—शारीरिक और आन्तरिक। स्तम्भ आदिको शारीरिक और निर्वेद आदिको आन्तरिक कहते हुए उन्होंने लिखा है—'ते सारीरऽरु आन्तर द्विविध कहत भरतादि। स्तम्भादिक सारीर अरु आन्तर निरवेदादि।' (भा० वि० संचारी०)। पर भोजके 'शृंगारप्रकाश'में इस वर्गीकरणका स्पष्ट उल्लेख हुआ है, जिसके सम्बन्धमें पहले कहा जा चुका है। भानुदत्तने अपनी 'रसतरंगिणी'में इनका संकेत किया है, किन्तु देवने इस वर्गीकरणको अपना न कहकर भरतादिका मान लिया है। ३४वें संचारीके रूपमें जिस छलका उल्लेख देवने किया है वह 'शब्दरसायन'में लुप्त हो गया है। वहाँ उन्होंने ३३ संचारियोंकी ही गणना की है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि देव वर्गीकरणके प्रेमी थे। उन्होंने कुछ संचारियोंके अवान्तर भेद किये हैं, जैसे, वितर्कके चार भेद—विप्रतिपत्ति, विचार, संशय और अध्यवसाय; पर इस भेदका उल्लेख भी भानुदत्तने किया है—'वितर्कश्चतुर्विध विचारात्मा संशयात्माऽनध्यवसायात्मा विप्रतिपत्त्यात्मा चेति' (र० त० . ५)।

रामचन्द्र शुक्लने संचारियोंकी परिमित संख्याके सम्बन्धमें कहा है कि जो ३३ संचारी कहे गये हैं, वे उपलक्षणमात्र हैं, संचारी और भी हो सकते हैं। जिस प्रकार स्मृति है उसी प्रकार विस्मृति भी रखी जा सकती है (र० मी० पृ० २१५-१६)। पर मुख्य रूपसे उन्होंने भी ३३ संचारियोंका ही विवेचन किया है। विरोध-अवरोधकी दृष्टिसे रामचन्द्र शुक्लने संचारियोंके चार भेद किये हैं—सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन। सुखात्मक—गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, सन्तोष, चपलता, मृदुलता, धैर्य। दुःखात्मक—लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिन्ता, नैराश्य, उग्रता, मोह, अलसता, उन्माद, असन्तोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण, व्याधि। उभयात्मक—आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता, स्वप्न, चित्तकी चंचलता। उदासीन—वितर्क, मति, श्रम, निद्रा, विबोध।

'सुखात्मक भावोंके साथ सुखात्मक संचारी और दुःखात्मक भावोंके साथ दुःखात्मक संचारी परस्पर अविरुद्ध होंगे। इसी प्रकार सुखात्मक भावके साथ दुःखात्मक संचारी और दुःखात्मकके साथ सुखात्मक संचारी विरुद्ध होंगे। उभयात्मक संचारी सुखात्मक भी हो सकते हैं और दुःखात्मक भी, जैसे, आवेग हर्षमें भी हो सकता है और भय आदिमें भी। भावके साथ जो विरोध ऊपर कहा गया है वह जातिगत है, अर्थात् सजातीय विजातीयका विरोध है। इसके अतिरिक्त आश्रयगत और विषयगत विरोध जिस भाव या वेगमें होगा वह संचारी हो ही नहीं सकता। जैसे, क्रोधके बीच-बीचमें आलम्बनके प्रति यदि शंका, त्रास या दया आदि मनोविकार प्रकट होते हुए कहे जायँ तो उनसे क्रोधकी पुष्टि न होगी। यही बात युद्धोत्साहके बीच त्रास आदिके होनेसे होगी। अतः ये मनोविकार क्रोध और उत्साहके संचारी नहीं हो सकते। सारांश यह है कि किसी भावको पुष्ट करनेवाला मनोविकार वही होगा जो भावके लक्ष्य और प्रवृत्तिसे हटानेवाला न होगा।' (र० मी०: पृ० २१६)।

भरतने भावोंके तीन भेद माने हैं—स्थायी, सात्त्विक और व्यभिचारी। ऊपर इस बातका संकेत किया जा चुका है कि सात्त्विक भाव व्यभिचारी भावके अन्तर्गत आ जाते हैं। संचारीके प्रतीतिकालमें अनुभवोंका उदय होता है। इन्हींके बाह्य संकेत अनुभाव हैं। आश्रय या रचयिताके भावों अथवा भावानुभूतियोंके साथ जब सामाजिकका पूर्ण तादात्म्य होता है, तब कोई भाव रस अवस्थातक पहुँचता है। रसकी अवस्थातक पहुँचनेवाला भाव ही स्थायी भाव होता है—'रसावस्थापर भाव स्थायिता प्रतिपद्यते।' (सा० द० ३ १७२ वृ०)। पर जब आश्रयकी शंका, लज्जा, ईर्ष्या आदिकी अभिव्यक्ति होगी तब पाठक या सामाजिक इन भावोंसे अपना तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाता। तादात्म्य-स्थापना ही वह रेखा है जो स्थायी और संचारी भावोंको विभाजित करती है। लेकिन कोई भाव रसकी अवस्थातक विभाव, अनुभाव और संचारीके संयोगसे ही पहुँचता है। किसी स्थायी भावको रसकी अवस्थातक पहुँचानेमें संचारीका योग अनिवार्य है। लेकिन जब संचारी स्वतन्त्र रूपसे वर्ण्य विषय होता है, तब भी विभाव, अनुभाव और संचारी(संचारीका संचारी)-का योग दिखाई पड़ सकता है। पर आश्रयके इस संचारी (स्वतन्त्र रूपसे आनेपर) भावमें पाठकों या सामाजिकोंका तादात्म्य नहीं हो पाता। ऐसी स्थितिमें इसे केवल भाव (दे०) कहा जाता है—स्थायी भाव नहीं। इस तादात्म्यकी स्थितिको आधार मानकर आचार्योंने कुछ भावोंको स्थायी और कुछको संचारीकी कोटिमें रखा है।

यहीं यह भी विचारणीय है कि जब भावोंका सम्बन्ध मनसे है तब संचारी भाव भी मनोविकारकी कोटिमें आ जायगे। किन्तु कुछ विद्वानोंने मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करते हुए इसपर आपत्ति उठायी है। मराठी 'रसविमर्श'के लेखकने संचारियोंके सम्बन्धमें कहा है कि तैंतीसों संचारियोंकी जाँच पड़तालसे ज्ञात होता है कि वे सदोष हैं। उनमें सभी भाव भावनास्वरूप नहीं हैं। उनमें कुछ शारीरिक अवस्थाएँ हैं, कुछ भावनाओंके भीतर तीव्रताप्रदर्शकके प्रकार हैं, कुछ प्राथमिक भावनाएँ हैं, कुछ संमिश्र भावनाएँ हैं और कुछ ज्ञानान्तर अवस्थाएँ हैं।' (र० वि० पृ० १२८)।

रामचन्द्र शुक्लने संचारियोंके सम्बन्धमें जो विचार प्रकट किये हैं वे भी बहुत-कुछ संस्कृत आचार्योंके मतोंसे भिन्न तथा रस-विमर्शके विचारोंके मेलमें हैं। उनका कहना है—'गिनाये हुए संचारियोंकी सूचीसे ही पता चल जाता है कि उनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संचारीके अन्तर्गत भावके पासतक पहुँचनेवाले, अर्थात् स्वतन्त्र विषययुक्त और लक्ष्ययुक्त मनोविकार और मनके क्षणिक वेग ही नहीं, बल्कि शारीरिक और मानसिक अवस्थाएँ तथा स्मरण, वितर्क आदि अन्तःकरणकी और वृत्तियाँ भी आ गयी हैं।' (र० मी० . पृ० २०५)। इस तरह उन्होंने संचारी भावोंकी पाँच कोटियाँ स्थिर की हैं—१ स्वतन्त्र विषययुक्त भाव, २ मनके वेग, ३ अन्य अन्तःकरण-वृत्ति, ४

मानसिक अवस्था और ५ शारीरिक अवस्था।

रामदहिन मिश्रने उपर्युक्त स्वतन्त्र विचारकोंका ध्यान रखते हुए प्रत्येक सचारीको भाव सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है वह मनोवैज्ञानिक न होकर उनके पूर्वाग्रहका द्योतक है। भारतीय काव्यशास्त्रके लेखकों एव पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकोंका एक मत है कि सचारी भावके दो पक्ष हैं, एक चित्तविकार और दूसरा भावनिरूपण (psychic affection and organic change)। —व्र० सिं०

संतकाव्य–सन्तकाव्यके अन्तर्गत रखी जानेवाली रचनाओंको भावप्रधान कहा जा सकता है, क्योंकि उनके रचयिताओंका ध्यान जितना भावसौन्दर्यकी ओर जाता दीख पड़ता है उतना उनके शब्द एव शैलीमें चमत्कार लानेकी ओर दिया गया नहीं जान पड़ता। उच्चसे उच्च एव गम्भीरसे गम्भीर भावको भी वे सदा सर्वसाधारणकी ही भाषामें व्यक्त करते हैं और उन्हींके मुहावरोंमें उसका स्पष्टीकरण भी किया करते हैं। उनका उद्देश्य जितना अपनी कृतियों द्वारा 'सहृदय जनों'का मनोरंजन करना नहीं रहता उतना सासारिक प्रपचोंमें पड़े हुए लोगोंको अपने मतानुसार, सच्चे मार्गका परिचय कराना रहता है। वे उतना दूसरोंके चरित या जीवनगाथाका वर्णन उचित नहीं समझते, जितना अपनी ही अनुभूतिकी अभिव्यक्ति करते हैं। स्वानुभूतिका व्यक्तीकरण करते समय वे बहुधा पूर्ण रूपसे सफल नहीं हो पाते, जिसके कारण उनकी वर्णन-शैली स्वभावत सदोष बन जाती है। या तो वे किसी एक ही भावको बार-बार प्रकट करते हुए दीख पड़ते हैं अथवा उपयुक्त शब्दोंके अभावमें उसे अधिक रहस्यात्मक भी बना देते हैं।

सन्तकाव्यका वर्ण्य विषय अधिकतर धार्मिक एव दार्शनिक ही कहा जा सकता है। उसमें परमात्मतत्त्वकी चर्चा आती है, जिसमें उसके वस्तुत अज्ञेय तथा अनिर्वचनीय स्वरूपका यथासाध्य परिचय कराया गया रहता है और उसके साथ जगत् एव जीवके वास्तविक सम्बन्धका वर्णन भी रहा करता है। सन्त लोग अपनी रचनाओंमें उस अव्यक्त सत्ताको एक विलक्षण व्यक्तित्व प्रदान करते जान पड़ते हैं और वे उस 'निर्गुण'को सगुण भगवान्की भाँति इष्टदेवके रूपमें स्वीकार कर उसके प्रति भक्ति और प्रेमका भाव प्रदर्शित करते भी प्रतीत होते हैं। वे उसकी महिमाका गान करते नहीं अघाते और उसे प्राप्त करनेकी विविध चेष्टाओंके साधनस्वरूप अनेक साधनाओंका उल्लेख भी करते रहते हैं। उनके ऐसे कथनोंसे कभी कभी ऐसा लगता है कि उन्होंने स्वय भी उस तत्त्वको उपलब्ध कर लिया है और इसीलिए, उनके बहुतसे उद्गार स्वानुभूतिकी तीव्रता और तज्जन्य आनन्दसे प्रेरित रहा करते हैं और इसीके साथ उन्हें अन्य बातोंके परित्यागका उपदेश भी देते हैं। वे प्रसगवश अन्य मतोंकी कड़ी आलोचना भी करते दीख पड़ते हैं और उन्हें मूल बातको छोड़कर बाह्य विस्तारमें पड़नेवाला भी ठहराया करते हैं। वे किसी भी एक धर्मको, चाहे वह हिन्दू धर्म हो, इसलाम हो, जैन धर्म हो अथवा बौद्ध, शाक्त या शैव हो, अपने लिए आदर्श मानते नहीं जान पड़ते और इन सभीमें उन्हे प्राय एक समान साम्प्रदायिक सकीर्णताकी गन्ध आती प्रतीत होती है। अपने व्यक्तिगत उद्गारोंमें वे साधारणत अपनी एकान्तनिष्ठाका परिचय देते हैं, किन्तु ऐसा करते समय भी वे एक व्यापक जीवनकी ओर सकेत करते हैं, जिसमें सारे विश्वका कल्याण समाहित हो।

सन्त कवि इस प्रकारके विषयोंको विशेषकर अपनी साखियों तथा 'शब्दों', अर्थात् पदोंके माध्यम द्वारा प्रकट या प्रतिपादित करते हैं। 'साखी' शब्द सस्कृतके 'साक्षी' शब्दका रूपान्तर है; जिसका अर्थ किसी बातको अपनी आँखों देख चुकनेवाला और इसी कारण उसके सम्बन्धमें किसी प्रश्नको उठनेपर, प्रमाणस्वरूप भी समझा जानेवाला व्यक्ति हुआ करता है तथा कदाचित् इसीलिए 'कबीर बीजक'में इस काव्यप्रकारका परिचय 'ज्ञानकी आँखें' कहकर भी दिया गया है। इन साखियोंमें प्रधानत ऐसे विषय ही आते दीख पड़ते हैं, जिन्हें सन्तोंने अपने दैनिक जीवनमें भली भाँति समझकर प्रमाणित कर लिया है अथवा जिन्हें वे अपनी निजकी कसौटीपर पहलेसे कस चुकनेके कारण साधिकार व्यक्त करनेकी क्षमता रखते हैं। ये रचनाएं प्राय 'दोहा' नामक छन्दमें पायी जाती हैं और कभी-कभी इन्हें 'सोरठा'में भी व्यक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त सन्तोंकी साखियोंके अन्तर्गत बीच-बीचमें सार, हरिपद, चौपाई, चौपई, दोही, सरसी, गीता, मुक्तामणि, श्याम उल्लास या छप्पय जैसे छन्द भी आ जाया करते हैं, जिनका 'दोहा'के साथ अधिक सम्बन्ध नहीं है। इन सखियोंका एक पर्याय 'सलोक' भी समझा जाता है, जिसके उदाहरण सिखोंके 'आदिग्रन्थ'में मिलते हैं। परन्तु साखियोंको जहाँ 'अंग' जैसे शीर्षकोंके नीचे विभिन्न वर्गोंमें विभाजित किया गया देखा जाता है, वहाँ 'सलोकों'के विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता। सन्तोंकी भाँति सूफी कवियोंने भी इस प्रकारके छन्दोंका प्रयोग किया है, किन्तु उनके यहाँ इसे फुटकर रूपोंमें प्राय 'दोहरा' नाम दिया गया मिलता है, जो प्रत्यक्षत 'दोहा' शब्दका ही एक रूपान्तर है। दोहा एव चौपाई छन्दोंका एक साथ प्रयोग सूफी कवियोंने अपनी प्रेमगाथाओंमें किया है, जिसका एक रूप कतिपय सन्तोंकी 'रमैनियों'में भी दीख पड़ता है। इन छन्दोंके प्रयोगवाला एक दूसरा काव्य-प्रकार 'ग्रन्थ-बावनी' नामसे मिलता है, जिसकी द्विपदियोंका आरम्भ क्रमश नागरी लिपिके बावन अक्षरोंसे होता है और जिसकी पद्धतिपर निर्मित 'अखरावती', 'चौंतीसा', 'ककहरा' आदि तथा फारसी लिपिके अक्षरानुसार लिखे जानेवाले 'अलिफनामा', सीहर्फी' आदि पाये जाते हैं।

सन्तोंकी 'सबद' (शब्द) अथवा पद नामक रचनाएँ अधिकतर गेय हुआ करती हैं और इनमें उनके आत्म-निवेदन-जैसे व्यक्तिगत उद्गारोंकी ही प्रधानता रहती है। आकारकी दृष्टिसे ये पद छोटे या बड़े, सभी प्रकारके हो सकते हैं, किन्तु इनकी कोई न-कोई पक्ति ऐसी भी होती है जो 'टेक' या 'रहाउ'के रूपमें दोहरायी जाती है। इन पदोंको ही सन्तोंकी 'बानी' कहनेकी भी प्रथा है, यद्यपि इस शब्दका प्रयोग उनकी सभी प्रकारकी रचनाओंके लिए भी किया गया मिलता है। पदों एव साखियोंकी

रचना केवल फुटकर पद्योंके रूपमें की गयी दीख पड़ती है, किन्तु रमैनियोंके विषयमें हम ऐसा नहीं कह सकते। इनकी दोहा-चौपाइयाँ एक साथ क्रमिक रूपमें आकर किसी विषयके विवरणात्मक वर्णनके लिए अधिक उपयुक्त ठहरती हैं। फिर भी, सन्तोंने इनके माध्यमसे, किसी प्रबन्धकाव्यकी रचनाका प्रयास नहीं किया और न केवल दो-चारको छोड़कर सूफी कवियोंकी भाँति प्रेमगाथाओंका ही निर्माण किया। इसी प्रकार सूफी कवियोंने जहाँ अपनी 'बारहमासा' नामक रचनाओं द्वारा प्रेमिकाओंका विरहवर्णन कर अपनी एक विशेषताका परिचय दिया है, वहाँ सन्त कवियोंने इस नामवाले अपने पद्योंका उपयोग अधिकतर उपदेश देनेमें ही किया है। सन्तोंकी रचनाओंमें इसी प्रकार कुछ ऐसे पद्य एवं पद्यसमूह भी मिलते हैं, जिनमें साम्प्रदायिक बातोंके उल्लेख तथा पौराणिक वर्णनोंके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं पाया जाता। ऐसी कृतियोंके नाम प्राय गोष्ठी, पुष्टी, सवाद, बोध जैसे शब्दोंको अन्तमें जोड़कर रखे गये दीख पड़ते हैं। इनमें तथा 'माहात्म्यों', सहस्रनामों' आदिमें भी हमें काव्यकी सरसताका सर्वथा अभाव मिलता है, जो वारों, तिथियों, ग्रहों, योगों आदिके व्याजसे अथवा पहाड़के अकोंके अनुसार निर्मित की गयी मिलती हैं।

परन्तु सन्तकाव्यके अन्तर्गत गिनी जानेवाली कुछ ऐसी भी रचनाएँ मिलती हैं, जिनका लोकगीतोंके अवशिष्ट रूपमें अपना एक पृथक् महत्त्व है। ऐसी रचनाओंमें हम चाँचर, बसन्त, फाग, हिंडोला, वेलि, ककहरा, बणजारा, ब्याहलो, बिरहुली आदिके नाम गिना सकते हैं। इनमें प्रथम तीनका सम्बन्ध वसन्त ऋतुके उल्लासपूर्ण उत्सवोंके अवसरपर गाने योग्य गीतोंके साथ जोड़ा जा सकता है और इन दोनोंकी रचनाशैलीमें भी बहुत कुछ सादृश्य है। सन्तोंने अपनी रचनाओंमें अपने विषयोंका ही वर्णन किया है, किन्तु इन विशिष्ट वर्णन शैलियोंका लाभ उठाकर उन्हें बहुत-कुछ रोचक भी बना दिया है। इसी प्रकार ककहरा और हिंडोलाके साथ क्रमश कहरवा एव हिंडोलका नाम-साम्य देखकर हमें इन नामोंसे प्रचलित गीत-पद्धतियोंका भी स्मरण हो आता है और हमें यहाँ भी यह अनुमान करते देर नहीं लगती कि सन्त कवियोंने उनकी लोकप्रियतासे अपना काम निकालनेकी चेष्टा की होगी। वेलि, ब्याहलो और बणजारा भी ऐसे लोकगीतोंके प्रकार जान पड़ते हैं, जो सर्वसाधारणमें गाये जाते होंगे तथा जिनके आधारपर किसी रूपकका निर्माण सरल बन जाता होता होगा। 'कबीर बीजक'में तो 'बिरहुली' तथा 'विप्रमतीसी' शीर्षकोंसे भी दो रचनाएँ मिलती हैं, जो कदाचित् किन्हीं पूर्वप्रचलित लोकगीतोंका ही अवशिष्ट रूप प्रकट करती हैं, किन्तु जिनका उपयोग वहाँ अपने वर्ण्यविषयके समर्थनमें ही किया गया है। बहुतसे सन्तोंकी रचनाओंमें हमें कवित्त सवैया, कुण्डलिया जैसे छन्दों तथा गजल, रेख़ता जैसे फारसी बहरोंके भी उदाहरण मिलते हैं तथा इसी प्रकार ठुमरी, तिल्लाना जैसे गाने भी पाये जाते हैं। उनके पदोंकी रचना तो अधिकतर संगीतके क्षेत्रमें प्रयुक्त होनेवाले गूजरी, मारू, बिलास गौड़, बिलावल जैसे नामके रागोंके अनुसार की गयी भी समझी जाती है। वास्तवमें सन्तकाव्यकी रचना ठेठ साहित्यिक निर्माण-पद्धतिका उतना अनुसरण नहीं करती जितना विशेष प्रचलित काव्य-प्रकारोंका अनुगमन करती है।

सन्तकाव्यकी रचनाका आरम्भ, ईसवी सन्‌की बारहवीं शताब्दीमें ही हो गया होगा। अभीतक इस बातको स्वीकार कर लेनेमें कोई विशेष आपत्ति नहीं की जाती कि सन्तपरम्पराके सर्वप्रथम पथप्रदर्शक प्रसिद्ध भक्त कवि जयदेव थे, जिन्होंने 'आदिग्रन्थ'में सगृहीत पदोंकी भी रचना की थी। उनके समयसे लेकर सोलहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धतक वह युग था, जिसमें सन्त सधना, वेणी, त्रिलोचन, नामदेव, रामानन्द सेना नाई, कबीर, पीपा, रैदास, कमाल एव धन्ना भगत नामक बहुतसे सन्तकवि हुए, जिनमेंसे सभीकी सम्पूर्ण रचनाएँ अभीतक उपलब्ध नहीं हो पायी हैं। इस प्रारम्भिक युगके प्रथम दो सौ वर्षोंतकके केवल कुछ ही सन्तोंका पता चलता है और उनकी भी रचनाएँ हमें नहीं मिलतीं। शेष डेढ़ सौ वर्षोंमें ही अनेक ऐसे सन्त मिलते हैं, जिन्होंने न केवल बादमें आनेवालोंके लिए पथप्रदर्शनका काम किया, अपितु जिनमेंसे कुछकी रचनाओंका स्तर साहित्यिक दृष्टिसे भी अधिक नीचे नहीं रहा। इनमें कमसे कम नामदेव, कबीर साहब एव रैदास तीन ऐसे हैं, जिनकी रचनाएँ प्रचुर मात्रामें मिलती हैं तथा जिनमें प्रतिभाकी भी कमी नहीं जान पड़ती। नामदेवकी रचनाएँ तो मराठी भाषामें भी उपलब्ध हैं और वहाँ भी उनकी गणना ज्ञानेश्वर, तुकाराम, समर्थ रामदास और एकनाथके साथ की जाती है। इसी प्रकार सन्त रैदासकी अबतक प्राप्त रचनाओंके संख्यामें अधिक न होनेपर भी, उनमें उनके गहरे भगवत्प्रेम, सरल-हृदयता आदिकी सफल अभिव्यक्तिके प्रमाणित करनेके लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाती है और हम उनकी सीधी सादी एव सर्वथा व्याजविहीन कथनशैली द्वारा प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। जहाँतक सन्त कबीर साहबकी उपलब्ध रचनाओंका प्रश्न है, उनका एक बहुत बड़ा अंश ऐसा है, जो वस्तुत किसी भी श्रेष्ठ कृतिकी कोटिमें रखा जा सकता है। उनकी पक्तियोंमें हमें प्राय उन सभी गुणोंका समावेश दीखता है, जो किसी प्रतिभाशाली कविकी अकृत्रिम रचनाओंमें पाये जाते हैं। कबीर साहबकी रचनाएँ उनके अनन्तर आनेवाले सन्तकवियोंके लिए आदर्शरूप सिद्ध हुईं और उनकी एक परम्परा ही चल निकली।

परन्तु कबीर साहबके समयतक सन्तोंकी कोई सुव्यवस्थित कार्यपद्धति नहीं दीख पड़ी और जितने भी ऐसे लोग हुए उन्होंने व्यक्तिगत रूपमें ही काम किया। गुरुनानक और दादूदयालके प्रयत्नोंसे जब साम्प्रदायिक संघटनोंकी नींव पड़ने लगी, उनकी एक पृथक् परम्परा भी आ गयी और तदनुसार उनकी जितनी भी रचनाएँ प्रस्तुत हुईं उन्हें संगृहीत करने तथा अपने प्रचारकार्यके लिए सुरक्षित रखनेकी एक प्रणाली चल निकली। यह समय सन्तसाहित्यके इतिहासका मध्ययुग था, जिसमें साम्प्रदायिक संघटनोंका कार्य बड़े उत्साहके साथ किया गया और उसी प्रकार उनके साहित्यका प्रचार भी हुआ। इस युगतक सन्तोंका कार्यक्षेत्र भी बहुत विस्तृत हो चुका था, जिनके

कारण सन्तसाहित्यके अन्तर्गत न केवल अवधी और भोजपुरी, अपितु पंजाबी, राजस्थानी और निमाड़ीतककी रचनाएँ सम्मिलित होने लगा और इनमेंसे कुछ महत्त्वपूर्ण सग्रहोंकी धर्मग्रन्थों जैसी प्रतिष्ठा भी आरम्भ हो गयी।

सन्तकाव्यकी रचनाका मध्ययुग ईसवी सन्‌की सोलहवीं शताब्दीसे लेकर उसकी अठारहवींके अन्ततक चलता है, जबतक पन्थों और सम्प्रदायोंकी सख्या निरन्तर बढ़ती चली गयी और लगभग उसी मात्रामें वैसे साहित्यके निर्माणकी ओर भी प्रयत्न होता चला गया तथा इसके परिणामस्वरूप एक विशाल ग्रन्थराशि अस्तित्वमें आ गयी। यह युग हिन्दी साहित्यके इतिहासका मध्यकाल ही समझा जाता है और इसके पूर्वार्द्धको 'भक्तिकाल' तथा उत्तरार्द्धको 'रीतिकाल' कहनेकी परिपाटी चली आती है। सन्तकाव्यकी रचनाकी दृष्टिसे 'रीतिकाल'की विशेषता उस समयकी निर्माण शैलीमें लक्षित हुई। नये-नये छन्दोंका प्रयोग होने लगा, कभी कभी रचना-शैलीको सुधारने और सँवारनेतककी ओर ध्यान दिया जाने लगा तथा कतिपय सन्तोंने प्रबन्धरचनाकी भी चेष्टा की। अतएव जहाँतक सन्तकाव्योंकी सख्यावृद्धि और उनके रूपवैविध्यका प्रश्न है, इसमें बहुत बड़ी उन्नति हुई, किन्तु उनके उच्च स्तरके विचारसे यह काल उतना उल्लेखनीय नहीं कहा जा सकता। बहुत-से सन्त कवियोंने तो अपने पूर्ववर्ती प्रचारकोंका केवल अन्धानुसरणमात्र किया और उनकी अधिकाश रचनाएँ कोरी परम्परानिर्वाहका उदाहरण बनकर ही रह गयीं।

सन्तकाव्यके इतिहासका आधुनिक युग उन्नीसवीं शताब्दीसे आरम्भ होता है, जबसे उसकी रचनाओंके अन्तर्गत परम्परागत बातोंके अधिक स्पष्टीकरण तथा उनके आलोचनात्मक परिचयकी प्रवृत्ति जाग्रत् होती दीख पड़ती है, जबसे सन्त कवियोंका ध्यान अपने वर्ण्य विषयके मूल रूपकी ओर भी जाना जान पड़ता है। इधरके सन्त अपनी वर्णन शैलीको उतना भी महत्त्व देते नहीं प्रतीत होते जितना आदिकालीन सन्त कवियोंकी बानियोंके आधारपर सिद्ध किया जा सकता है। इनकी रचनाओंमें हमें न न तो अलकारोंके वे प्रयोग मिलते हैं, जो उनमेंसे कुछकी एक विशेषता-सी बन गये थे और न वैसे शब्दचित्रण ही उपलब्ध होते हैं। इस ओर इन्हें उनके उत्तराधिकारमें केवल भाषा, व्याकरण, पिंगल, आदिके प्रति उपेक्षामात्र ही मिली है। ये उन उलटबाँसियोंका भी सफल प्रयोग नहीं कर पाते जो सन्त कबीर, सुन्दरदास, पलटू साहब आदिकी रचनाओंमें विशेष रूपसे पायी जाती हैं और जिनमें लक्षित होनेवाली अपूर्व उक्तिचातुरीका एक अपना पृथक् महत्त्व है। उलटबाँसियोंकी रचना-शैलीका आरम्भ कभी गम्भीरसे गम्भीर विषयोंकी भी ओर सर्वसाधारणका ध्यान आकृष्ट कर उनके प्रति उनकी उत्सुकता जाग्रत् करनेके उद्देश्यसे हुआ था और कबीर साहबने भी इनका प्रयोग अपने गूढ़तम रहस्योंका उद्घाटन करते समय किया था, परन्तु पीछे इसमें जान-बूझकर विविध गुत्थियोंका समावेश किया जाने लगा, जिस कारण इस सुन्दर शैलीमें भी बहुत-कुछ कृत्रिमता आ गयी। फिर भी जहाँतक सन्तमतकी विशिष्ट बातोंके वर्ण्य विषय होनेका सम्बन्ध है, सन्तकाव्यका अधिकाश प्रधानत उन बातोंसे ही भरा दीख पड़ता है, जिन्हें पूर्वकालीन सन्तोंने भी अपनी रचनाओंमें स्थान दिया था। सन्तकाव्यकी प्रमुख विशेषता उसमें निहित उदात्त भावोंकी प्रधानता है, जिनका न केवल विशुद्ध जीवनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, अपितु जिनकी अभिव्यक्ति भी प्रधानत ऐसे व्यक्तियों द्वारा ही की गयी है जिन्होंने स्वानुभूतिकी प्रयोगशालामें उनका मूल्याकन कर लिया है।

[सहायक ग्रन्थ— सन्तकाव्य परशुराम चतुर्वेदी।] —प० च०

संतमत–'सन्त' शब्दका प्रयोग साधारत किसी भी पवित्रात्मा और सदाचारी पुरुषके लिए किया जाता है और कभी-कभी यह 'साधु' एव 'महात्मा' शब्दोंका पर्याय भी समझ लिया जाता है, किन्तु 'संतमत' शब्दमें आ जानेपर इसका एक पारिभाषिक अर्थ भी हो सकता है, जिसके अनुसार यह उस व्यक्तिका बोध कराता है, जिसने सत्-रूपी परमतत्त्वका अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्वसे ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। अतएव विशिष्ट लक्षणोंके अनुसार 'मत' शब्दका व्यवहार केवल उन आदर्श महापुरुषोंके ही लिए किया जा सकता है, जो पूर्णत आत्मनिष्ठ होनेके अतिरिक्त समाजमें रहते हुए, नि स्वार्थभावसे विश्वकल्याणमें प्रवृत्त रहा करते हैं। इसके सिवा यह शब्द अपने रूढ़िगत अर्थमें उन ज्ञानेश्वर आदि निर्गुण भक्तोंके लिए भी प्रयुक्त होता आया है, जो दक्षिणके विट्ठल या वारकरी सम्प्रदायके प्रचारक थे और कदाचित् अनेक बातोंमें उन्हींके समान होनेके कारण उत्तरी भारतके कबीर आदिके लिए भी इसका प्रयोग होने लगा है। तदनुसार 'सन्तमत'से अभिप्राय प्रधानत कबीर आदि सन्तोंकी उन स्वीकृतियोंका हो सकता है, जिनका प्रचार लगभग पाँच-छ सौ वर्ष पहले हुआ था, किन्तु जिनकी एक परम्परा बराबर एक समान अविच्छिन्न रूपमें प्रचलित चली आयी है। जान पड़ता है कि 'सन्तमत'की जगह पहले इसके एक पर्याय 'निर्गुणमत'का प्रयोग होता रहा है और इसे प्रसिद्ध वेदान्तसे अभिन्न भी समझा जाता रहा (दे०—'निरगुन मत सोई वेदको अन्ता' सन्त गुलाल अठारहवी शताब्दी), किन्तु सन्त तुलसी साहब(उन्नीसवीं शताब्दी)के समयसे इसका प्रयोग अपने वर्तमान रूपमें भी होने लगा (घटरामायन पृ० १४३)। सन्त तुलसी साहबका कथन है कि 'सन्तमत' अत्यन्त गूढ़ मत है और इसके वास्तविक रहस्यका परिचय 'ब्रह्मावेद' और 'विराट् भगवान्'तकको नहीं है। 'सन्तमत'को ही कभी कभी 'निर्गुण सन्तमत' भी कह देते हैं और उसमें लक्षित होनेवाले दार्शनिक सिद्धान्तको 'सगुणवाद'के साथ विरोध प्रदर्शित करनेके लिए 'निर्गुणवाद'का नाम दे देते हैं।

'सन्तमत' स्वभावत किसी सम्प्रदायविशेषके मूल प्रवर्तक द्वारा प्रचलित किये गये सिद्धान्तोंका सग्रहमात्र नहीं है और न यह किसी ऐसे पद्धतिविशेषका ही परिचायक समझा जा सकता है, जिसे विभिन्न सन्तोंके उपदेशोंके आधारपर निर्मित किया गया हो। इसमें

आस्था रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह इसकी बातोंको अपने निजी अनुभवों द्वारा प्रमाणित कर ले। यह न दूसरोंके कहने-सुननेपर विश्वास कर लेनेपर निर्भर है और न इसे हम तर्क-वितर्क द्वारा सिद्ध करके ही समझ सकते अथवा हृदयंगम कर सकते हैं। सन्त कबीर साहबने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि इसके मूल तत्त्व 'राम नामकी चर्चा सभी किया करते हैं, किन्तु इसके रहस्यका परिचय किसीको भी नहीं हो पाता। बाहरसे इसका कथन कर देना मुझे पसन्द नहीं। मेरी धारणा तो यह है कि वह वस्तु अकथनीय है, जिस कारण उसका मर्म केवल सहानुभूतिपर ही आधारित है' (क०ग्रं० पृ० २१८)। इसीलिए उन्होंने स्वयं अपने विषयमें भी बतलाया है कि 'सतगुरने उस तत्त्वके विषयमें मुझसे विचार करके कहा था, किन्तु मैं उसे केवल अपने अनुभवके अनुसार ही जान सका' (वही · पृ० ३८६), जिसका तात्पर्य यह है कि शुद्ध स्वानुभूति ही उनके मतकी आधारशिला है और उनके ज्ञानको भी इसी कारण 'सहजज्ञान'का नाम दे सकते हैं। सन्त कबीर साहब क्या, किसी अन्य सन्तको भी हम विशुद्ध दार्शनिक नहीं कह सकते, अपितु अधिकसे अधिक उसे एक साधक ही ठहरा सकते हैं और उसके मत-को भी इसीलिए हम किसी प्रकारके तत्त्वज्ञानकी कोटिमें न रखकर उसे एक प्रकारके जीवन-दर्शनकी ही संज्ञा दे सकते हैं। फिर भी सन्तोंकी रचनाओंके आधारपर हमें उनकी मूल धारणाओंका पता चलता है और यह भी स्पष्ट हो जाते देर नहीं लगती कि उनके सिद्धान्तों एवं साधनाओंकी प्रमुख बातें क्या रही होंगी।

सन्तोंने अपनी रचनाओंमें, परमतत्त्वके विषयमें कथन करते समय, उसे अनेक नाम दिये हैं, जिनमेंसे कुछ तो व्यक्तिगत हैं और अन्य केवल भाववाचक संज्ञा जैसे लगते हैं और इन दोनोंके उदाहरणमें हम क्रमश 'राम' एवं 'सत्'की चर्चा कर सकते हैं। 'सत्' उसे इसलिए कहा जाता है कि उसके विषयमें हम विशुद्ध अस्तित्वसे अधिक कुछ भी नहीं कह सकते और वह 'राम' भी केवल इसलिए कहा जा सकता है कि वह सारी वृत्तियोंके रमण करनेका परमोत्कृष्ट क्षेत्र भी है। उसका तात्त्विक स्वरूप कैसा है, यह पूर्ण रूपसे किसीको भी विदित नहीं हो सकता, किन्तु ऐसे कथनको हम 'अद्वैतवाद' कह सकते हैं और यदि उस 'अद्वैत'तत्त्वको किसी ईश्वरके रूपमें भी स्वीकार किया जाय तो इसे 'एकेश्वरवाद'का नाम भी दे सकते हैं। सन्तोंने उसका वर्णन कभी-कभी इस रूपमें किया है, जैसे वह सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी हो, किन्तु इसके साथ ही वे उसे सबसे परे या 'परात्पर' भी ठहराने लगते हैं। इस प्रकार वे उसे एक अत्यन्त विलक्षण रूप देते जान पड़ते हैं और इसी कारण वे उसे न तो 'सगुण' कहते हैं और न उसे 'निर्गुण' कहकर ही सन्तोष करते हैं। ऐसी दशामें उसके किसी व्यक्तित्वकी कल्पना भी करना कभी सम्भव नहीं हो सकता और न वह भक्तोंके लिए इष्टदेव ही बन सकता है। परन्तु सन्तोंने उसे न केवल ऐसे नाम दिये हैं जो व्यक्तित्वके वाचक हैं, प्रत्युत उसके प्रति भक्तिभावका प्रदर्शन भी किया। उनका 'राम', यद्यपि वह प्रसिद्ध दाशरथी रामसे नितान्त भिन्न कहा जा सकता है, अपने आरोपित गुणोंके अनुसार उससे सर्वथा विलक्षण नहीं है। वह भक्तोंके ऊपर दया कर सकता है और उन्हें अपना भी सकता है। प्रमुख अन्तर यह है कि सन्त लोग उसे वस्तुत अपनेसे पृथक् भी नहीं स्वीकार करते और उसकी उपलब्धिका होना अपने भीतरके 'सहजज्ञान'पर ही निर्भर समझते हैं।

इस प्रकार सन्तोंकी दृष्टिमें परमात्मतत्त्व एवं जीवतत्त्वमें मूलत कोई भी अन्तर नहीं है और वे इन दोनोंको एक और अभिन्नतक ठहरा सकते हैं। जीव उस परमात्माको तभीतक अपनेसे पृथक् मानता है जबतक उसे उसका बोध नहीं होता। वस्तुस्थितिका परिचय पाते ही वह उसके साथ जलमें जलकी भाँति मिलकर एक और अभिन्न बन जाता है और फलत एक ऐसी स्थितिमें आ जाता है, जिसमें उसे पूर्ण शान्ति एवं परमानन्दका अनुभव होने लगता है। उस दशामें ऐसे साधकको उस परमात्म-तत्त्व और अपने आत्मतत्त्वसे पृथक् किसी जगत्तत्त्वका भी ज्ञान नहीं रह जाता। वह सब कहीं केवल उसी अभिन्न रूपको व्याप्त पाता है। वह जगत्‌के प्रत्येक पदार्थमें परमात्मतत्त्वका साक्षात् करता है और इसी कारण उसे अपनेसे भी कभी भिन्न नहीं समझता। ऐसी मनोदशाके हो जानेपर उसका न तो कोई अपना निजी आत्मीय रह जाता है और न कोई ऐसा ही प्राणी मिलता है जिसके प्रति वह द्वेषभाव प्रकट कर सके। सन्तोंके 'निर्वैर धर्म'के लिए यही मनोवृत्ति आधारका काम करती है और वे इसीके अनुसार विश्व-कल्याणकी भावना भी प्रकट करते दीख पड़ते हैं। सन्तोंके यहाँ कोरी दार्शनिकताका कोई महत्त्व नहीं है, जिससे वहाँ परम तत्त्व जीव एवं जगत्‌के वास्तविक स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धादिपर विस्तृत विचार किया गया पाया जाय। उन्होंने ऐसी सारी बातोंकी चर्चा केवल प्रासंगिक रूपमें ही की है और उनका वर्णन या तो उन्होंने प्राचीन भारतीय दर्शनोंकी पद्धतिपर ही कर दिया है अथवा उन्हें प्राय ऐसे रूपोंमें चित्रित किया है, जो सर्वत्र स्पष्ट नहीं होते।

सन्तमतमें सिद्धान्तोंकी अपेक्षा साधनाओंका परिचय करानेकी ओर कहीं अधिक ध्यान दिया गया है। सन्त लोगोंकी धारणा है कि परम तत्त्वको अपने अनुभवमें लानेके लिए हमारा अपनी वृत्तिका बहिर्मुखसे अन्तर्मुख कर लेना अत्यन्त आवश्यक है, परमात्मा कहीं बाहर नहीं है, जिससे उसके लिए बाह्य पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा, वेशधारण अथवा वेदादिके अध्ययनतकका प्रयत्न किया जाय। वह जैसे सर्वत्र व्यापक है वैसे हमारे भीतर भी है और जो कुछ हमारे बाहर ब्रह्माण्डमें दीख पड़ता है उसका कोई भी ऐसा अंश नहीं, जिसे हम अपने भीतर न पा सकें। अतएव हमें चाहिये कि सबसे पहले अपनी अन्तर्दृष्टिसे काम लें और ऐसी साधना करें जिससे हमारे लिए सारा भेद खुल जाय। अन्तर्दृष्टिकी दशामें हमारी सभी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ सिमट कर केवल मनमें केन्द्रित हो जाती हैं और इस प्रकार उनमें एकोन्मुखता भी आ जाती है। तदनुसार ऐसे मनका फिर क्रमश स्थूलसे सूक्ष्म एवं सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर विषयोंमें

प्रवेश होता चला जाता है और अन्तमें एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब हम आत्मनिष्ठताके आनन्दका अनुभव करने लग जाते हैं। सन्तोंके कथनानुसार हमारा मन यहाँ आकर नितान्त विशुद्ध बन जाता है और यहीं उसे परमात्मतत्त्वके साथ तद्रूपता और तदाकारता भी उपलब्ध हो जाती है। अन्तर्दृष्टियोंको इस प्रकार फेरने तथा उसे मनोदशाकी इस स्थितितक लानेके लिए हम योगसाधनाको काममें ला सकते हैं, जिसका बार-बार उल्लेख किया जाता है। परन्तु सन्तोंकी योग-साधनामें 'कायासाधन'की अपेक्षा 'मनोमारण'की ही ओर अधिक ध्यान दिया गया दीख पड़ता है।

सन्तमतकी साधना 'सहज साधना' कहलाती है, क्योंकि उसमें न तो किसी मार्गविशेषको ग्रहण करनेका आग्रह है और न वहाँ यही व्यवस्था दी गयी मिलती है कि या तो अपने सांसारिक बन्धनोंका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय अथवा अपनेको प्रपंचोंमें आचूड़ मग्न कर दिया जाय। उसमें तपस्वियोंके आत्मपीडन अथवा वाममार्गियोंके मुद्रादि साधनकी भी अतिमात्रा नहीं दीख पड़ती। उसका अपना मार्ग विशुद्ध 'मध्यम' मार्ग है, जिसके अनुसार समाजमें रहते हुए तथा किसी भी एक उपयुक्त साधनाको अपनाते हुए आत्मोपलब्धिकी दशातक पहुँच सकते हैं। सन्तोंकी इस साधनामें किसी ऐसी 'समाधि'को भी स्थान नहीं, जो किसी अवधिविशेषतक ही कायम रह सके। सन्तमतकी आदर्श समाधि वह अपूर्व स्थिति है जो साधकोंके जीवनभर एकरस बनी रहे और उसमें किसी क्षणिक परिवर्तनकी आशंका भी न आने पाये। इसीलिए उसे 'सहज समाधि'का भी नाम दिया गया है। सन्तोंका कहना है कि हमारी साधनाका पूर्णतः सिद्ध हो जाना तभी सार्थक है जब हमारे जीवनमें पूरा कायापलट आ जाय, जब हमारी सारी वृत्तियोंकी रुझान पूर्ववत् न रहकर सर्वथा नवीन रूप ग्रहण कर ले और हमारे लिए पुनर्जन्म-की जैसी स्थिति भी आ जाय। सन्तोंने इसीलिए, इस दशाको 'जीवन मृतक' भी कहा है और बतलाया है कि इसमें पहुँचकर साधक जहाँ अपने पहले जीवनकी दृष्टिसे, 'मृतक' बन जाता है वहाँ इस नवीन दृष्टिसे अमरत्व भी पा लेता है। 'जीवन मृतक' वह जीवन्मुक्त पुरुष है जो सदा किसी ब्राह्मी स्थितिमें लीन रहा करता है तथा उसमें रहते हुए भी कभी समाजके प्रति उपेक्षाका भाव नहीं प्रदर्शित करता।

परन्तु सन्तोंकी 'सहज समाधि'का इस प्रकार निरन्तर बना रहना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य कहा जा सकता है। दैनिक जीवनमें बहुधा ऐसी समस्याओं-का सामना करना पड़ जाता है, जो हमारे किसी भी दृष्टिकोणको सन्तुलित रहने नहीं देतीं। अनेक प्रलोभन आते हैं जिनकी ओर हमारी वृत्तियाँ स्वभावतः खिंचने लग जाती हैं और बहुत-से ऐसे प्रतिकूल प्रसंग भी आ जाते हैं, जिनके कारण पलायनकी प्रवृत्ति बल ग्रहण करने लगती है। राग-द्वेष एवं हर्ष-शोकके भाव जागरित करनेवाले अवसर प्रायः प्रत्येक क्षणमें आ जाया करते हैं और हमारे चित्तको विचलित कर देते हैं। सन्तोंने इसी कारण इस प्रश्नपर बड़ी गम्भीरताके साथ विचार किया है और इसे सुलझानेके लिए कुछ उपाय भी निर्दिष्ट किये हैं। उनका सर्वप्रथम उपदेश यह है कि हम अपने मनको सदा 'नाम-स्मरण'में लगाये रहें और उससे एक पलके लिए भी विरत न हों। जिस प्रकार कोई माता अपने दैनिक कार्योंमें व्यस्त रहते हुए भी अपने बच्चेकी सुधि नहीं भूलती, कोई गाय, चरागाहमें चरते हुई भी, अपने बछड़ेका स्मरण करती रहती है तथा जिस प्रकार कोई पनिहारिन अपनी सखियों-के साथ हँसते खेलते जाती हुई भी, अपने सिरपर रखे घड़ेकी ओरसे ध्यान नहीं हटाती उसी प्रकार हम 'सुमिरन'-का स्वभाव डालकर भी कभी परमात्मतत्त्वसे विलग नहीं रह सकते और इस प्रकार यदि उसमें हमारी स्थिति सदा बनी रह गयी तो फिर हमारा सन्तुलन भी नहीं बिगड़ सकता। सन्तों द्वारा निर्दिष्ट की गयी इस 'नाम-स्मरण' या 'सुमिरन'की साधनाको, उनके पारिभाषिक शब्दोंमें, 'सुरतशब्द योग'का भी नाम दिया गया मिलता है। 'सुरत' हमारी मूल वृत्ति है, जो 'शब्द' अर्थात् हमारे शरीरमें उठनेवाले अनाहत नादसे बराबर जुड़ी रहा करती है और इस प्रकार उसके साथ तदाकारता ग्रहण किये रहनेके कारण, इसके ऊपर किसी दूसरे रंगके चढ़नेका कभी कोई संयोग ही नहीं आ पाता।

सन्तोंने हमारी 'सुरत'को 'शब्द'की ओर सर्वप्रथम उन्मुख करनेके लिए किसी 'सत्गुरु'के माध्यमकी भी आवश्यकता बतलायी है। ऐसा गुरु कोई विस्तृत रूपसे शिक्षा देनेवाला साधारण उपदेशक नहीं हुआ करता, प्रत्युत वह एक मार्गप्रदर्शकमात्र ही रहा करता है। वह केवल संकेत कर देता है और उसके शब्दोंमें निहित विलक्षण 'जुगुति'के सहारे साधक अपनी साधना आपसे आप ठीक कर लेता है। इसके सिवाय, ऐसे साधकके लिए 'सन्तमत'में सत्संगके वातावरणमें रहना भी अत्यन्त आवश्यक ठहराया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि उसका काम केवल अपनी साधनामें सिद्धि लाभ कर लेनेसे ही नहीं चल सकता, प्रत्युत वह तबतक पूरा नहीं होता जबतक उसे अपने सिद्धान्तको व्यवहारमें परिणत कर देनेकी क्षमता नहीं हो जाती। पहुँचे हुए साधु सन्तोंके बीच रहकर ही वह अपनी अनेक रहस्यमयी गुत्थियोंतकको सुलझा पाता है और उनके आचरण एवं व्यवहारको निकटसे देखकर ही वह भली भाँति समझ सकता है कि जिस आदर्शकी उपलब्धिके लिए वह प्रयत्नशील है, उसका वास्तविक रूप क्या हो सकता है। 'सन्तमत'में किसी ऐसे महापुरुषको अत्यन्त उच्च कोटिका समझा गया है और उसे स्वयं परमात्माका स्वरूपतक स्वीकार कर लिया गया है। सन्तोंकी धारणाके अनुसार ये ही वे महात्मा हैं, जिनसे किसी समाजकी सर्वांगीण उन्नति हो सकती है और इन्हींके प्रयत्नों द्वारा स्वर्गको भूतलपर ला देनातक असम्भव नहीं रह जाता। अतएव सन्तमतका दर्शन जीवनदर्शन है, उसकी साधना सर्वांगसाधना है और उसमें संकीर्ण साम्प्रदायिकताका कहीं स्थान नहीं रह सकता।

परन्तु सन्तमतके इतिहासपर दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि इसका रूप सदा एक ही समान नहीं रहा। इसके सर्वप्रधान प्रतिष्ठापक और प्रचारक सन्त कबीर साहबने

इसके आदर्शरूपका दिग्दर्शन कराकर इसे सब किसीके लिए उपयोगी ठहरानेका प्रयत्न किया। उन्होंने इसी उद्देश्यसे अपनी 'बानियों'की रचना की तथा इसके प्रमुख सिद्धान्तोंको स्वय अपने जीवनमे उतारकर उन्हे व्यावहारिक रूप देनेकी भी आजीवन चेष्टा की। उनके समकालीन सन्त रविदास जैसे महात्माओं तथा उनके अनन्तर आनेवाले गुरु नानकदेव, सन्त दादूदयाल जैसे महापुरुषोंने भी बराबर उसी उत्साहसे काम किया और उनके कारण इस मतका प्रचार बडे विस्तृत क्षेत्रतकमें होने लग गया। किन्तु जिस महान् उद्देश्यको लेकर उन्होंने इस कार्यके लिए अपने-अपने सगठन किये अथवा विभिन्न कार्यक्रमोंकी व्यवस्था दी, वह समय पाकर बहुत-कुछ विस्मृत-सा होने लग गया। उनके चलाये हुए 'पन्थों'में क्रमश सकीर्णताका प्रवेश होने लगा और उनके अनुयायियोंमें साम्प्रदायिक मनोवृत्ति भी दीख पड़ने लगी। अतएव जिस विचारधाराके लिए कभी समझा गया था कि वह सम्पूर्ण विश्व द्वारा एक समान अपनायी जा सकती है, उसके अनुयायियोंके भिन्न-भिन्न वर्ग बनने जान पड़े। जिसके प्रचारकोंने कभी बाह्याडम्बरोंको हेय ठहराकर स्वानुभूति एव सदाचरणको ही प्रश्रय दिया था, उसमें बाहरी विधान एव वेशभूषाको महत्त्व दिया जाने लगा और जिसके दार्शनिक सिद्धान्त कभी किसी अनिर्वचनीय परम तत्त्वसे सम्बन्ध रखते थे, उसमें मूर्तिपूजनतक स्वीकार कर लिया गया। पीछे इस बातकी आलोचना स्वय प्रमुख सन्तोंने ही की, किन्तु जितनी साम्प्रदायिकताका प्रवेश 'सन्तमत'में हो चुका था वह सर्वथा निर्मूल भी नहीं की जा सकी।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा परशुराम चतुर्वेदी।] —प० च०

संतुलन (balance)—किसी कृतिके विभिन्न अवयवोंमें ऐसा सम्मिश्रण और प्रबन्ध कि वह मनपर स्थिरताका प्रभाव डाले तथा उसका प्रत्येक अग सम्पूर्णसे विच्छिन्न न लगकर सहायक लगे। 'भावनाके रूपमें अनेकों अगोंका विन्यास, सहकारी भावनाओंका समावेश तथा अन्य तत्त्वोंकी योजना जिस नियमके अनुसार की जाती है, उसे हम सन्तुलन कहते हैं—रूपोंमें अगोंके सन्तुलनसे एक विशेष चमत्कार उत्पन्न होता है और इसके अभावमें व्यस्तता, एकागीपन तथा कुछ मानसिक हिंसाका अनुभव होता है। ध्वनिकार आनन्दवर्धनके अनुसार, सन्तुलनका सार प्रधान-गुण-भावका सिद्धान्त है, जिसके अनुसार रूपकी योजनामें भाग लेनेवाला प्रत्येक अंग अपने अगी अथवा प्रधान भावनाके अधीन रहकर उसकी रक्षा और सवर्द्धन करता है।' (सौ०शा० · हरद्वारीलाल शर्मा)।

सन्तुलन शब्द, कलाम कुछ अनिश्चित अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है—सामान्यत उस अवस्थाकी ओर सकेत करता है, जो किसी कृतिमें उसके विभिन्न अगोंके समुचित सगठनसे व्यक्त होती है—जिसके मतलब है कि कृति-विशेषके विभिन्न तत्त्वोंपर आवश्यक ध्यान दिया गया है और वे इस प्रकार साथ लाये गये हैं कि परस्पर विरोधी न होकर सहयोगी मालूम पड़ें। (डि०—'सगति'।)

साहित्यालोचनामें उस कृतिको सन्तुलित माना जायगा, जिसके हर पक्षको बराबरसे सँभाला गया हो, असन्तुलित उसे, जिसके कुछ अशोंपर गलत जोर दिया गया हो। सन्तुलन बिगडनेका कारण विषय भी हो सकता है तथा अर्थ, रूप और उनसे सम्बन्धित अन्य अवयवोंके तारतम्य और पारस्परिक सम्बन्धोंका उचित निर्वाह न होना भी।

वास्तु-कलाको लेकर आरम्भमें सन्तुलन शब्द समताके अर्थमें प्रयुक्त हुआ, क्योंकि सम आकार (सिमेट्रिकल फिगर) सहज ही मनपर सन्तुलनका प्रभाव डालता है, धीरे-धीरे और विशिष्ट अर्थोंमें भी; जैसे, उदाहरणके लिए, इमारतोंमें वास्तविक शक्ति विभाजनको लेकर यह अनुमान लगाना कि किसी खम्भेकी अपने ऊपर डाले गये बोझको सँभालनेकी क्या क्षमता है या कोई मेहराब अपने दोनों ओर बराबर दबाव डालती है या नहीं, आदि। —कु० ना०

संतुलनबिंदु (punctum balance)—किसी इमारतका वह मूल बिन्दु, जिसे केन्द्र मानकर भवनके विभिन्न अवयवोंका निरीक्षण करनेपर दृष्टि सन्तुलन और सापेक्षताका अनुभव करती है। —कु० ना०

संदर्भ साहित्य—किसी विषयकी विशेष जानकारी देनेवाली सामग्रीको सन्दर्भ सामग्री कहते हैं। इस सामग्रीका उपयोग सामान्य पठन पाठनके लिए नहीं किया जाता। सन्दर्भ-साहित्यको पाठ्य साहित्य सम्बन्धी विशेष सूचनाएँ पानेके लिए देखा जाता है। इस नाते सन्दर्भ-साहित्य पाठ्य साहित्यसे भिन्न भी है। उदाहरणके लिए, पुस्तकरूपमें प्रकाशित उपन्यास यदि ललित पाठ्य साहित्य है तो उस उपन्यासकी (लेखकके हाथसे लिखी) पाण्डुलिपि सन्दर्भ-साहित्यके अन्तर्गत मानी जा सकती है। ऐसा भी कह सकते हैं कि सन्दर्भ-ग्रन्थ वह पुस्तक है, जिसमें किसी दूसरी पुस्तकमें आयी हुई किसी गूढ बातका स्पष्टीकरण हो।

ज्ञान-विज्ञानके अनन्त प्रसारवाले इस युगमें सन्दर्भ-ग्रन्थोंका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। सन्दर्भ-ग्रन्थ सामग्रीकी अपरिमित राशिकी छानबीन करके उसके सारभूत अंशको उन सबके लिए सुलभ करते हैं, जो उसे पढ़ेंगे। ऐसा करनेमें सन्दर्भ ग्रन्थोंका प्रथम दायित्व है प्रामाणिक सामग्रीका प्रामाणिक संचय करना। इसे सम्पन्न करनेके बाद सन्दर्भ-ग्रन्थको निरन्तर उपयोगी बनाये रखनेके लिए आवश्यक होता है कि उसमें नवीन सामग्रीका समावेश होता रहे। 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'का सूत्रपात १७६८ ई०में हुआ था। १७७१ ई०में उसके केवल ३ खण्ड थे। १९५६तक आते-आते उसके २४ खण्ड हो गये हैं और सामग्रीको आधुनिकतम बनाये रखनेके लिए मूल पाठमें निरन्तर संशोधन-परिवर्धन करते रहनेके अतिरिक्त वार्षिक पुस्तक तथा पुस्तकालय शोधसेवाकी योजना भी 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'के अन्तर्गत चलती रहती है।

अस्तु, विविध प्रकारके कोशों, थीसिसों, साहित्यके इतिहासों, परिचयग्रन्थों आदिको सन्दर्भ-साहित्य माना जा सकता है। हिन्दीमें यह कार्य प्रचार-सस्थाओंके मुखपत्रों, विश्वविद्यालयोंके हिन्दी विभागों तथा अनेक विद्वानों द्वारा होता रहा है।

[साहित्य—हिन्दी सेवी संसार · स० कालिदास कपूर,

प्रेमनारायण टण्डन (१९४४)। हिन्दी पुस्तक साहित्य स० माताप्रसाद गुप्त (१९४५)। हिन्दी विश्वभारती स० कृष्णवल्लभ द्विवेदी। नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सम्मेलन पत्रिका, हिन्दुस्तानी, हिन्दी अनुशीलन पत्रिकाओंकी फाइलें। नागरीप्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित खोज रिपोर्ट। शिप्ले और कैसेल द्वारा सम्पादित ज्ञानकोश (अँग्रेजी)। सुलभ विश्वकोश, महाराष्ट्र शब्दकोश (मराठी)।] —अ० कु०

संदिग्ध—दे०—'अर्थ-दोष', सातवाँ तथा 'शब्द-दोष', तेरहवाँ 'पद-दोष'।

संदिग्धप्राधान्यव्यंग्य—गुणीभूतव्यग्यका एक भेद, जिसमें व्यग्यार्थ तथा तथा वाच्यार्थकी सापेक्षिक उत्कृष्टताका निर्णय नहीं हो पाता है। 'थके नयन रघुपति छवि देखी, पलकन हू परिहरी निमेखी। अधिक सनेह देह भइ भोरी, सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी।' (रा० च० मा० का० कल्प० पृ० ३२४), यहाँ 'देह भइ भोरी' द्वारा जड़ता सचारीकी व्यजना हो रही है। इस व्यग्यार्थमें तथा 'सीताजी रामको देखकर वैसे ही प्रेम-विभोर हो गयीं, जैसे चकोरी शरत्कालके चन्द्रमाको देखकर विह्वल हो जाती है, इस वाच्यार्थमें कौन अर्थ अधिक उत्कृष्ट है इसका निर्णय करना कठिन है, व्यग्यार्थका निर्विवाद रीतिसे उत्कृष्ट न होना ही उसे गुणीभूतव्यग्य बना देता है।—उ० श० शु०

संदेशकाव्य—वियोगियोंके सन्देशके रूपमें विरह-भावनाके चित्रणकी प्रणाली अत्यन्त प्राचीन और विश्व-जनीन है। सस्कृत साहित्यमें इसकी परम्परा कालिदासके 'मेघदूत'से प्रारम्भ होती है। कुबेरके शाप द्वारा अलकापुरी-से निर्वासित यक्ष मेघ द्वारा अपनी प्रेयसीके पास प्रणय-सन्देश भेजता है। इसी सन्देशके बहाने कालिदासने मानव-मनकी गम्भीर विरहानुभूतिका मार्मिक चित्रण किया है। पूर्वमेघमें रामगिरिसे अलकापुरीकी मेघयात्राके वर्णनमें कालिदासने नदी, पर्वत, वन-प्रान्त आदि बाह्य प्रकृतिको सजीव रूप प्रदान करते हुए विरह व्यथित हृदयों-के साथ उसका मनोहर सामजस्य स्थापित किया है। उत्तरमेघमें अलकापुरी स्थित यक्षके भवन और उसमें एकाकी जीवन बितानेवाली विरहिणी यक्षिणीकी मर्मानु-भूतियोंका अभिराम चित्रण है।

'मेघदूत'में कालिदासकी तीव्र और गम्भीर भावानुभूति आत्मीय तल्लीनताके साथ व्यक्त हुई है। इसके साथ मन्दाक्रान्ता छन्दकी मधुर लय, कोमल पदावली तथा गहन संवेदना-जन्य ध्वन्यात्मक संगीततत्त्वसे उसमें **गीतिकाव्य**(दे०)की विशेषताएँ आ गयी हैं।

'मेघदूत'की सफलताका यह प्रमाण है कि सस्कृतमें उसके अनुकरणपर रचे गये सन्देशकाव्योंकी एक लम्बी परम्परा मिलती है। 'घटकर्पर'में, जो ४०० ई० के आसपासके इसी नामके कविकी रचना कहा जाता है, 'मेघदूत'के क्रमको उलटकर विरहिणी प्रेमिकाकी ओरसे सन्देश भेजा गया है। बगालके राजा लक्ष्मणसेन(बारहवीं शती)के आश्रित धोयी कविने मलयाचलकी कुवलयवती नामक गन्धर्वकन्याकी ओरसे राजा लक्ष्मणसेनके लिए 'पवनदूत' नामसे प्रणयसन्देश लिखा। इसमें भी 'मेघदूत'के ही छन्दका प्रयोग किया गया है। इस अनुकरणकी प्रवृत्तिमें हस, चातक, कोकिल आदिको दूत बनाकर काव्योंकी तो रचना की ही गयी, शान्त रसका एक मनोदूत भी रच दिया गया। वेदान्तदेशिकने 'हसदूत'में सीताके पास रामका सन्देश भिजवाया है, तो रूपगोस्वामीका 'हस-दूत' राधाका प्रणयसन्देश कृष्णके पास ले गया है। वामन भट्ट बाण(१५वीं शती)ने भी एक 'हंसदूत' लिखा है।

दूतकाव्योंमें विप्रलम्भ-शृगारकी ही प्रधानता है और बगाल तथा केरलके भावुक कवियोंने इस काव्यरूपमें प्रचुर योगदान किया है। परन्तु 'मेघदूत'के माधुर्य और लालित्यने केवल वैष्णव कवियोंको ही दूतकाव्योंके रूपमें मधुर भावकी विरहासक्ति व्यक्त करनेको प्रेरित नहीं किया, प्रत्युत कुछ जैन कवियोंने भी धार्मिक रचनाओंमें उसकी शैलीका अनुकरण किया है। जिनसेन नामक कविने 'पार्श्वाभ्युदय'में 'मेघदूत'के सभी छन्दोंके चरणोंकी समस्या-पूर्ति-जैसी की है। इसी प्रकारकी रचना विक्रम कविकी 'नेमिदूत' नामक है, जिसमें 'मेघदूत'के छन्दोंके चतुर्थ चरणोंकी पूर्ति की गयी है।

सस्कृत साहित्यके इन सन्देश काव्योंके पीछे लोक-साहित्यके तद्विषयक गीतोंकी एक जीवित परम्परा रही होगी। इसका प्रमाण वर्तमान लोकभाषाओंमें प्रचलित लोकगीतोंमे मिलता है। हस, शुक, कोकिल, चातक, पपीहा, कौआ, नि श्वास, पवन, मेघ, नदी आदि उडनशील और प्रवाहशील चेतन और जड पदार्थोंको असंख्य लोकगीतोंमें प्रणय सन्देश सौंपकर विरही जन अपने हृदयोंको हलका करते हुए देखे जाते हैं। इस अत्यन्त स्वाभाविक और मार्मिक कल्पनाका उपयोग अनेक कवियोंने दूतकाव्योंके रूपमें ही नहीं, अन्यथा भी किया है। मलिक मुहम्मद जायसीके 'पद्मावत'में पद्मिनीके लिए रतनसेनका प्रणयसन्देश शुकके द्वारा भेजा जाता है। विरहिणी नागमती हस और कौएसे प्रियके पास सन्देश ले जानेकी प्रार्थना करती है।

रामकथा सम्बन्धी काव्योंमें राम हनुमान् द्वारा सीताके लिए प्रेम-विरह, सान्त्वना और आशाका सन्देश भेजते हैं तथा उसके उत्तरमें सीता अपनी मर्म-व्यथा रामतक पहुँचाती हैं। सूरदासने अपने रामकथा सम्बन्धी पदोंमें इस प्रसगका अत्यन्त हृदयाकर्षक चित्रण किया है। तुलसीदासने तो मानस तथा दूसरी रचनाओंमें इस सन्देश-प्रसगको अपनी भक्ति-समन्वित सवेदना प्रदान की ही है।

कृष्ण-भक्ति काव्यमें सन्देश भेजनेके कई प्रसग मिलते हैं। इनमें कृष्णका गोपियोंके लिए भेजा गया सन्देश, जिसे उनके परम मित्र उद्धव ले जाते हैं, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'श्रीमद्भागवत'(दशम स्कन्ध, पूर्वार्ध, अध्याय, ४६, ४७)से कथासूत्र लेकर सूरदासने इस प्रसगको एक सर्वथा मौलिक रूप दिया और हिन्दी काव्यमें एक ऐसी परम्परा (दे०—'भ्रमरगीत') डाली जिसका कृष्णकाव्यपर रचना करनेवाले अनेक कवियोंने अनुसरण किया और एक विशेष प्रकारके सन्देशकाव्यको समृद्ध बनाया। रीतिकालीन कवियोंने भी इस मार्मिक प्रसगका अपने ढगसे उपयोग किया और आधुनिक कालमें भी अनेक व्रजभाषाके कवियोंने भक्ति और रीतिकालीन परम्पराके इस विशिष्ट

रूपको अपनाया है। परन्तु उद्धव सन्देश सम्बन्धी ये रचनाएँ अधिकतर मुक्तक पद्यों—कवित्त-सवैयाके रूपमें हैं, सन्देश नामसे बहुत थोड़ी रचनाएँ होंगी। आधुनिक कालमें ब्रजभाषाके सबसे समर्थ कवि जगन्नाथदास रत्नाकरका 'उद्धवशतक' भी इसी परम्पराका सन्देशकाव्य है। मुक्तक और प्रबन्धका उसमें सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है।

कृष्ण और कृष्णकथा सम्बन्धी आधुनिक कालकी रचनाओंमें जो नवीन दृष्टिकोण अपनाया गया है, उसका उदाहरण सन्देशकाव्यमें भी मिलता है। सत्यनारायण कविरत्नने अपने 'भ्रमरदूत'में यशोदाकी ओरसे कृष्णको जो सन्देश भेजा है, उसमें समसामयिक देश-दशाके साथ-साथ देशभक्ति, समाज-सुधार और समाज-सेवाकी भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'ने अपने खड़ीबोलीके प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ 'प्रिय-प्रवास'में पवनको दूत बनाकर जो सन्देश भिजवाया है उसमें ब्रजकी वियोगदशाका समसामयिक सन्दर्भमें वर्णन किया गया है और सन्देशमें देश-भक्ति और समाज-सेवाकी भावनाएँ ही प्रमुख रूपमें व्यक्त की गयी हैं।

हिन्दीमें 'मेघदूत'के भी अनेक अनुवाद हुए हैं। राजा लक्ष्मण सिंह, ठाकुर जगमोहन सिंह, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और लाला सीताराम 'भूप'ने मधुर ब्रजभाषामें इस अमर काव्यके अनुवाद किये। पूर्णजीने अनुवादका सानुप्रास नाम 'धाराधरधावन' रखा। इनके अतिरिक्त आधुनिक कालमें लक्ष्मीधर वाजपेयी, कन्हैयालाल पोद्दार और केशवप्रसाद मिश्रने भी इसके अनुवाद किये हैं। खड़ी बोलीमें सन्देशकाव्यकी प्रवृत्ति निरन्तर चलती रही, परन्तु सन्देशकाव्य नामसे रचनाएँ अधिक नहीं हुई। यह प्रवृत्ति खण्डकाव्यों (उदाहरणार्थ, 'मिलन' रामनरेश त्रिपाठी) और गीति रचनाओं, दोनोंमें प्रकट हुई है। 'पत्रगीति' (दे०) या 'पत्रकाव्य'के रूपमें सन्देशकाव्यकी परम्परा युगके अधिक अनुरूप है, क्योंकि अब सन्देश भेजनेका यही युक्तियुक्त स्वीकृत माध्यम है। मैथिलीशरण गुप्तकी 'पत्रावली' तथा 'निराला'का 'छत्रपति शिवाजीका पत्र' इसके अच्छे उदाहरण हैं। दे०–'उपालम्भ काव्य','पत्रगीति'। —ब्र० व०

संदेह–सादृश्यगर्भ अभेदप्रधानके आरोपमूलक अर्थालंकारोंका एक भेद। भामहने इसे ससन्देह कहा है और दण्डीने उपमाके अन्तर्गत स्वीकार किया है—'अनन्वयससन्देहावुपमास्वेव दर्शितौ' (काव्यादर्श २)। इनका अनुसरण उद्भट और मम्मटने किया है। रुय्यक, वामन, विद्याधर तथा विश्वनाथने यही नाम स्वीकार किया है। रुद्रटने संशय नाम दिया है और उनकी परिभाषा स्पष्ट है—'जहाँ किसी वस्तुके सम्बन्धमें अनेक वस्तुओंका सन्देह हो और सादृश्यके कारण अनिश्चय बना रहे, वहाँ संशय अलंकार होता है।' (काव्याल० ८ : ५९)। वामनने इसे उपमा-प्रपंचके अन्तर्गत रखा है और उसी आधारपर लक्षण दिया है—'उपमानोपमेयसंशय सन्देह' (का० सू० वृ० ४ ३ ११), अर्थात् उपमान और उपमेयका संशय सन्देह है। मम्मटने संशयमूल इस अलंकारके 'भेदोक्ति' तथा 'भेदानुक्ति', दो भेद माने हैं, एकमें उपमेय तथा उपमेयमें भेदका स्पष्ट कथन होता है और दूसरेमें ऐसा नहीं होता। इनके अतिरिक्त निश्चयान्तका भी एक प्रकार माना है। विश्वनाथने इस उपमेयके सम्बन्धमें अन्य वस्तु-(उपमान)के सन्देहको कविप्रतिभासे उत्पन्न माना है (सा० द० १० . ३५)। वास्तवमें सादृश्य और काव्यात्मकता इस अलंकारकी अनिवार्य शर्त है। उन्होंने इसके तीन भेद माने हैं–शुद्ध, निश्चयगर्भ, निश्चयान्त। प्रथममें सन्देहकी स्थिति स्पष्ट रूपसे रहती है, दूसरेमें निश्चयका भाव भी अन्तर्निहित रहता है और तीसरेमें अन्तत निश्चय हो जाता है।

हिन्दीके आचार्योंमें जसवन्त सिंह, मतिराम, पद्माकर आदिने जयदेवके आधारपर नामसे ही लक्षण स्पष्ट माना है। भूषणके लक्षणपर मम्मट आदिका प्रभाव है—'कै यह कै वह यों जहाँ, होत आनि सन्देह।' (शि० भू० : ७८)। यह और वहका अर्थ उपमेय तथा उपमान है। इन आचार्योंने इसके भेदोंपर विचार नहीं किया है। आधुनिक कालमें कन्हैयालाल पोद्दारने मम्मटके आधारपर भेद स्वीकार किये हैं—१ भेदकी उक्तिमें संशय, क निश्चयगर्भ, ख निश्चयान्त। २ भेदकी अनुक्तिमें संशय, यही विश्वनाथका शुद्ध है। उदा०—भेदकी उक्तिमें निश्चयगर्भ—'कैधौं उजागर ये प्रभाकर स्वरूप राजे जाकर सदैव मग्न अश्व नहि याके है।' (पोद्दार छाया का० प्र० से) अथवा—'कहूँ मानवी यदि मैं तुमको तो वैसा संकोच कहाँ? कहूँ दानवी तो उसमें है यह लावण्यकी लोच कहाँ।' (पंचवटी), इनमें 'मग्न अश्व नहिं', 'संकोच कहाँ' आदिके द्वारा निश्चय होकर भी सन्देह बना रहता है। २ निश्चयान्त—'च्युतघन है क्या चपला? चम्पक लतिका परिम्लान किंवा है। लखकर स्याम चपलता, जाना कपि, विकल जानकी अम्बा है।' (पोद्दार अ०मं० पृ० १७०)। इसमें अन्तत जानकीका निश्चय वर्णित है। ३ भेदकी अनुक्ति या शुद्ध—हिन्दीके आचार्यों द्वारा प्रस्तुत उदाहरण प्राय इसी कोटिमें आते हैं, क्योंकि उन्होंने भेद स्वीकार नहीं किये हैं—'परचि परै नहि अरुन रँग अमल दल माँझ। कैधौं फूली दुपहरी, कैधौं फूली साँझ।' (ल० ल० ८५) या—'निद्राके उस अलसित वनमें वह क्या भावीकी छाया। दृग पलकोंमें विचर रही या वन्य देवियोंकी माया' (पन्त छाया का० द० से)। इस अलंकारका प्रयोग सभी युगोंके काव्यमें समान रूपसे मिलता है। —र०

सन्देहवाद–इस धारणाके अनुसार कोई भी वस्तु नहीं जानी जा सकती, किसी भी प्रकारका विश्वसनीय ज्ञान असम्भव है। सन्देहवादीको बुद्धिकी क्षमतामें विश्वास नहीं रह जाता। सन्देहवादकी कई श्रेणियाँ हो सकती हैं। किसी भी विषयमें अन्तिम निर्णय न देना (जैसे सुकरात), यह मानना कि ज्ञान केवल अनुभूति या गोचर प्रपंचका होता है, मनुष्यकी बुद्धि प्रपंचके अधिष्ठानका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती (काण्ट), अथवा यह कि ज्ञान असम्भव है और ज्ञानकी खोज व्यर्थ है। वस्तुत सन्देहवादका कोई-न-कोई रूप किसी भी दार्शनिक जिज्ञासाके लिए अनिवार्य है। बिना सन्देह किये, बिना शंका उठाये सत्यज्ञानकी प्राप्ति नहीं होगी। लेकिन जब सन्देहवादका उत्कट रूप व्यक्ति और समाजका जीवनदर्शन बन जाता है, तब जैसे वह अपनी

जड़ें काट देता है। जीवनके मूल्योंमें उसका विश्वास नहीं रह जाता। किन्तु परस्पर विरोधी दर्शनों, धर्मों और मत-मतान्तरोंके मध्य बौद्धिक प्राणीके लिए सन्देहवादी हो जाना अत्यन्त सरल है। उमर खैयामकी रुबाइयोंमें ऐसे ही बौद्धिक सन्देहवादसे प्रेरित काव्यका उत्कृष्ट रूप हमें मिलता है। सन्देहवादी पश्चिमी दार्शनिकोंमें यूनानी गार्जिआस और पीरो तथा डेविड ह्यूम प्रसिद्ध हैं। —आ०

संधा भाषा–तान्त्रिक युगमें तन्त्रोंमें भाषा-शैलीका एक अलौकिक रहस्यात्मक स्वभाव विकसित हो रहा था जिससे सारी भाषा मन्त्रस्वभावकी होती जा रही थी। बौद्धोंने अपनी इस प्रतीकात्मक शैलीको सन्धा-भाषा या 'सन्धा-वचन' कहा।

प्रारम्भमें कुछ विद्वानोंमें इस बातको लेकर काफी विवाद रहा कि यह सन्धा-भाषा है या सन्ध्या-भाषा। हरप्रसाद शास्त्री और विनयतोष भट्टाचार्य इसे 'सन्ध्या-भाषा' मानकर इसका अर्थ 'आलो आँधारी भाषा' करते रहे, किन्तु विधुशेखर शास्त्री और प्रबोधचन्द्र बागचीने प्रमाण देकर यह सिद्ध किया कि वास्तविक शब्द सन्धा है, जिसका अर्थ है अभिसन्धियुक्त, अभिप्राययुक्त भाषा। विरूपाकी चर्यामें स्पष्टत अभिसन्धका उल्लेख भी है (दे०—बौद्धगान ओ दोहा हरप्रसाद शास्त्री)। इस मन्त्रणास्वभाववाली, गुह्य प्रकृतिवाली भाषामें प्रतीकोंके माध्यमसे सिद्धगण अपनी अनुभूतियोंका अकन करते थे। अक्सर ग्रन्थोंमें इनमेंसे बहुतसे प्रतीकोंका अर्थ अलगसे दिया हुआ रहता था, जो केवल सम्प्रदायमें दीक्षित साधकोंको ही ज्ञात होता था। इन प्रतीकोंका उद्गम और विकास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वज्रयानके विकासके पहलेसे इन प्रतीकोंका अस्तित्व मिलता है और सन्तोंके साहित्यतक इन प्रतीकोंका व्यवहार होता गया है। किन्तु इतनी लम्बी अवधिमें इन प्रतीकोंका अर्थ बराबर बदलता गया है। वज्रयानी सिद्धोंने अपने पदों और दोहोंमें व्यवहृत प्रतीकोंको कई स्रोतोंसे ग्रहण किया था। कुछ उन्होंने विज्ञानवादी ग्रन्थोंसे लिये थे और कुछ योगाचारकी साधनाओंसे। कुछ अन्य समकालीन तान्त्रिक पद्धतियोंसे लिये, जिन्हें उन्होंने प्रज्ञोपायात्मिक अर्थ दे दिये थे, कुछ प्रतीक अर्थ-साम्य और कुछ साधर्म्यमूलक थे। कुछ चर्यागत थे। इन प्रतीकोंकी दो प्रकारकी योजनाएँ थीं। औपम्यमूलक और विरोधमूलक। औपम्यमूलक प्रतीक-योजनासे विभिन्न रूपक प्रस्तुत किये जाते थे और विरोधमूलकसे उलटबाँसी-शैलीका विकास हुआ है। (दे०—'सिद्ध साहित्य' धर्मवीर भारती) —ध० वी० भा०

सन्धि–रूपककी **प्रकृति** तथा **अवस्थाओं**के सम्मिश्रणसे सन्धियोंका आविर्भाव होता है। **बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी** तथा **कार्य**, ये पाँच **अर्थप्रकृतियाँ** जब क्रमश **आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति** और **फलागम अवस्थाओं**से मिलती हैं तब **मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श** और **उपसंहृति** (निर्वहण) सन्धियोंका आविर्भाव होता है– 'अर्थप्रकृतय पच पंचावस्थासमन्विता । यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्या पचसन्धय ।' (द० रू० १ २२)। इन सन्धियोंके अंगको **सन्ध्यंग** कहते हैं। वे संख्यामें ६४ होते हैं। मुखसन्धिके १२ अग हैं—**उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोमन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, करण** और **भेद**।

प्रतिमुख सन्धिके १३ अग होते हैं—**विलास, परिसर्प, विधुत, तपन, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, विरोध, पर्युपासन, पुष्प, वज्र, उपन्यास** और **वर्णसंहार**।

गर्भ सन्धिके भी १३ अग होते हैं—**अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, प्रार्थना, क्षिप्ति, त्रोटक, अधिबल, उद्वेग** और **विद्रव**।

विमर्शके भी १३ ही अग होते हैं—**अपवाद, सम्फेट, व्यवसाय, द्रव, द्युति, शक्ति, प्रसंग, खेद, प्रतिषेध, विरोधन, प्ररोचना, आदान** और **छादन**।

निर्वहण सन्धिके अगोंकी सख्या १४ है—**सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, कृति, प्रसार, आनन्द, समय, उपगूहन, भाषण, पूर्ववाक्य, काव्यसंहार** तथा **प्रशस्ति** (सा० द० ६ ८१ १०९)।

सन्ध्यगोंके इस विस्तारको अनेक विद्वान् अनावश्यक मानते हैं। कीथने अपने 'संस्कृत ड्रामा'में सन्ध्यगोंके दुरूह विभाजनको व्यर्थ माना है (पृ० २९९)। रुद्रटने 'नियम एव' कहकर इनके यथास्थान नियत होनेकी बात कही है, परन्तु बहुतसे लोग रुद्रटके मतसे सहमत नहीं हैं। यद्यपि भट्टनारायणके 'वेणीसंहार'में इन सन्ध्यगोंको यथास्थान नियोजित करनेका प्रयत्न किया गया है, फिर भी वह पूर्णत सफल नहीं कहा जा सकता। इस ठूस-ठाँसका परिणाम यह हुआ है कि नाटककी गतिशीलता अवरुद्ध हो गयी है।

कीथने नाटकीय कथावस्तुके विभाजनपर और भी आपत्तियाँ उठायी हैं। वे नाटकीय संघर्षसे सम्बद्ध होनेके कारण सन्धियोंकी उपयोगिता तो स्वीकार करते हैं, पर **अर्थप्रकृतियों**के विभाजनको व्यर्थ मानते हैं।

वस्तुत **कथावस्तु**के ये सब विभाजन नाटकको इतना अधिक पगु बना देते हैं कि उसकी स्वाभाविक गति मारी जाती है। इस भूल-भूलैयामें पड़कर नाटककार अपना स्वाभाविक मार्ग खो बैठे तो कोई आश्चर्य नहीं। स्वय संस्कृतके नाटककार भी इनके चक्करमें नहीं पड़े हैं, जो पड़े हैं उनकी रचनाएँ कभी भी प्रथम श्रेणीकी रचनाओंमें स्थान नहीं पा सकीं। —व० सिं०

सन्ध्यगविनिवेशवक्रता–दे०—'प्रकरणवक्रता', नवाँ नियामक।

सन्ध्यतर–कुछ शास्त्रकारोंके मतानुसार नाटककी सन्धियोंके अन्तर्गत **अन्त सन्धियाँ, उपसन्धियाँ** या **सन्ध्यन्तर** भी होते हैं। अन्य सन्धियोंकी भाँति इनका उद्देश्य भी नाटकीय **कथावस्तु**में गति लाना ही माना गया है। ये सख्यामें इक्कीस मानी गयी हैं—१ साम—अपनी अनुवृत्तिको व्यक्त करनेवाला प्रिय वाक्य, २ दान—अपने प्रतिनिधिस्वरूप भूषणादिका समर्पण, ३ दण्ड—अविनयको देखसुनकर डाटना फटकारना, ४ भेद—कपट वचनों द्वारा मित्रोंमें भेद डालना, ५ प्रत्युत्पन्नमतित्व, ६ वध—दुष्टका दमन, ७ गोत्रस्खलित—नामका व्यतिक्रम, ८ ओजस्वितासूचक वचन, ९ धी—इष्टके सिद्ध न होनेतक चिन्ता, १०

क्रोध, ११ साहस, १२ भय, १३ माया, १४ मवृत्ति–अपने कथनको छिपाना, १५ भ्रान्ति, १६ दौत्य, १७ हेत्ववधारण–किसी प्रयोजनसे कोई निश्चय, १८ स्वप्न, १९ लेख, २० मद, २१ चित्र। इनमेंसे चित्र, स्वप्न और लेखका उपयोग प्राय देखा जाता है। —व० सिं०

सवधातिशयोक्ति–दे०–'अतिशयोक्ति', तीसरा भेद।

संबोध(न)गीति–यह 'ओड'का हिन्दी रूपान्तर है। यह नामकरण सर्वप्रथम रामखेलावन पाण्डेयके 'गीतिकाव्य' नामक ग्रन्थ(ज्ञानमण्डल, काशी)में आया। प्रारम्भमें 'ओड' मुख्यतया गेय रचना थी, जिसे वाद्य यन्त्रोंकी सहायता अपेक्षित थी। लयात्मकता उस स्थितिमें वाद्यसे अधिक आभ्यन्तर थी। ग्रीसमें मुक्तक रचनाओंने दो रूप लिये। एकका विकास गीतिकाव्य(लिरिक)के रूपमें हुआ और दूसरेका सम्बोधित गीतिके रूपमें और इसके विधानका आधार रूपक रहा, क्योंकि नाटकोंमें कथोपकथनके रूपमें पारस्परिक सम्बोधनकी अपेक्षा होती थी। पिण्डार इस विधानका अग्रणी हुआ। आधुनिक कालमें पियर रोजार्टने पहले पहले पिण्डारिक विधानके मूल्यका अनुभव किया और फ्रेंच काव्यविधानके माध्यमसे समृद्ध करनेका प्रयास किया। सन् १५८४ ई० में टाम्स सुथार्नने पेण्टोर नामक रचनामें इस विधानका अंग्रेजीमें उपयोग किया। इसके कई विधान और रूप हैं। इसकी विविधता और भिन्नरूपताको लक्षित करते हुए एल० विनयाननने कहा है कि ओड सम्बोधक या सम्बोधित गीत है, जो किसी सार्वभौम अभिरुचिको जागरित करनेवाले विषयके सम्बन्धमें हो। किसी विषय अथवा घटनासे सम्बद्ध आत्मभावप्रकाशक गीति इस रूपमें आये हैं। अपर प्रत्यक्षका इसमें रूप व्यक्त होता है। स्तवनगीतिमें व्यक्तिकी उसके समक्ष प्रशंसा की जाती है, किन्तु इसमें इस प्रकारके लाभका रहस्य नहीं रहता। अँग्रेजी साहित्यके सम्पर्कमें आनेपर इस विधानका विकास हुआ। भारतेन्दुकृत 'विजयिनी विजय वैजयन्ती'में सम्बोधित गीतिका प्रारम्भिक रूप है, जिसमें सम्बोधनके साथ उद्‌बोधनके भी स्पष्ट रूप हैं–'अरे बीर इक बेर उठहु सब फिर कित सोवे।' प्रतापनारायण मिश्रकृत 'बुढापा' भी ओडकी कोटिमें आ सकता है, जिसमें परिहासका स्फुट रंग है। रोमासिक भावधाराके कारण ओडकी भावात्मक परिणति मिलती है और इन रचनाओंमें 'निराला'-कृत 'यमुनाके प्रति' और 'बादल', पन्तकृत 'भावी पत्नीके प्रति' विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। राजनीतिक चेतनाके जागरणसे भारत, तिलक और गान्धीके सम्बन्धमें रचनाएँ हुई। दिनकरका 'हिमालय' राष्ट्रीय चेतनाको अभिव्यक्त करनेवाली सम्बोधनात्मक रचना है और 'नाचो हे नाचो नटवर'में इसी पद्धतिके साथ लय गीतिकाव्यात्मक है। —रा० खे० पा०

संभोग चक्र–दे०–'हठयोग'।

संभोग शृंगार–धनजयका कथन है कि 'जहाँ अनुकूल विलासी एक-दूसरेके दर्शन स्पर्शन इत्यादिका सेवन करते हैं, वह आनन्दसे युक्त सम्भोग-शृंगार कहलाता है।' (द० रू० ४ . ६९)। भानुदत्त कहते हैं–'दर्शन, स्पर्शन, संलाप इत्यादिसे अनुभूयमान सुख अथवा परस्पर सयोगसे अर्थात् बहिरिन्द्रिय-सम्बन्धसे उत्पद्यमान आनन्द सम्भोग (सयोग) है'। (र० त० ६) विश्वनाथका कथन है–'जहाँ एक दूसरेके प्रेममें अनुरक्त नायक और नायिका दर्शन, स्पर्शन इत्यादिका सेवन करते हैं, वह सम्भोग-शृंगार कहलाता है।' (सा० द० . ३ २१०)।

उपर्युक्त परिभाषाओंमें 'सम्भोग'-शृंगारकी निष्पत्तिके लिए नायक-नायिकाका एकत्र रहकर एक-दूसरेके प्रति प्रदर्शन तथा तज्जन्य आनन्दोपभोग आवश्यक बताया गया है। सयोगके समय प्रेमानुभूति अपेक्षित है। पण्डितराजने इस तथ्यको स्पष्ट किया है, वे कहते हैं कि 'सयोग'का अर्थ 'स्त्री-पुरुषका एक स्थानपर रहना' नहीं है, क्योंकि एक पलगपर सोते रहनेपर भी, यदि ईर्ष्या आदि हो तो वह विप्रलम्भ या वियोग रस ही माना जायेगा। उनके अनुसार 'सयोग' इस मानसिक ज्ञान किंवा चित्तवृत्तिका पर्याय है कि 'मैं मिला हुआ हूँ' और वियोग यह ज्ञान है कि 'मैं बिछुडा हुआ हूँ'। अतएव स्त्री-पुरुषके सयोगके समयमें प्रेम रहे, तो वह 'सयोग' अथवा 'सभोग'-शृंगार कहलायेगा। हिन्दीमें चिन्तामणिकी यह परिभाषा अत्यन्त सटीक है–'जहाँ दम्पती प्रीतिसों विलसत रचन विहार। चिन्तामनि कवि कहत यों तहँ सँयोग सिंगार।' (क० क० त०)।

'सभोग' एव 'सयोग' शब्द प्रस्तुत प्रकरणमें प्राय समानार्थी हैं। लेकिन कुछ पण्डितोंका कथन है कि सयोगकी एक वह अवस्था भी है, जिसमें नायक-नायिकाकी परस्पर रति तो होती है, पर सम्भोग-सुखकी प्राप्ति नहीं होती, अतएव इसको सम्भोगमें सम्मिलित करना उचित नहीं है।

परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन प्रभृति नायक-नायिकाके पारस्परिक व्यवहारभेदसे सम्भोग-शृंगारके अगणित भेद होते हैं, लेकिन आचार्योंने उनका अन्तर्भाव इसी एक 'सम्भोग'-शृंगारमें कर दिया है।

हिन्दीके आचार्योंमें केशव और देवने सयोग (सम्भोग) एव वियोग (विप्रलम्भ) शृंगारमेंसे प्रत्येकके दो-दो भेद–'प्रच्छन्न' एव 'प्रकाश' किये हैं। लेकिन जैसा भगीरथ मिश्रने बताया है, प्रच्छन्न शृंगारको तो रसकी सज्ञा प्राप्त ही नहीं होनी चाहिये, क्योंकि विभाव, अनुभाव एव सचारी भावोंसे परिपुष्ट होकर जब स्थायी भाव व्यक्त होता है, तभी रसदशा प्राप्त होती है।

किन्तु पूर्वानुराग, मान, प्रवास एव करुण विप्रलम्भके आनन्तर्यसे सम्भोग शृंगारके भी चार प्रकार भोजदेवने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में निर्दिष्ट किये हैं तथा कारण यह कहा है कि विप्रलम्भके विना सम्भोग पुष्ट नहीं होता। विश्वनाथने भी 'साहित्यदर्पण'में भोजका मत उद्‌धृत किया है तथा पूर्वरागानन्तर एव प्रवासानन्तर सम्भोगके उदाहरण भी दिये हैं। हिन्दीके आचार्य देवने भी 'भवानीविलास'में इस प्रसगको उठाया है और यह बताया है कि सयोग वियोगके बीचमें आता है–'ते वियोग स्योगतें मान प्रवास ससोग। यहि विधि मध्य वियोगके होत सिंगार सँयोग।' स्पष्ट है कि देवका यह क्रम और वर्गीकरण नवीन नहीं कहा जायगा, क्योंकि इस विवेचनके लिए वे भोज एवं विश्वनाथ, दोनोंके ऋणी हैं। सम्भोग-शृंगारका यह विभाजन मनोवैज्ञानिक भूमिकापर प्रतिष्ठित है।

भरतने इसके विभावों एव अनुभावोंके सम्बन्धमें यह कहा है—'सम्भोग ऋतुरमणीयता, माल्य, अनुलेपन, अलकार, इष्टजनोंका ससर्ग, इन्द्रियोंके विषय, रम्य भवन, उपवन गमन, प्रियके वचनोंका श्रवण, उसका दर्शन, उसके साथ क्रीडा लीला इत्यादि विभावोंसे उत्पन्न होता है, अथ च नयनचातुर्य, भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष, ललित एव मधुर अगचेष्टा, आकर्षक वचन इत्यादि अनुभावोंसे व्यजित होता है।' सूर्य-चन्द्रमा, उदय-अस्त, जलविहार, प्रभात, मधपान, रात्रिक्रीड़ा इत्यादि असख्य वस्तुओंका वर्णन सम्भोगमें हो सकता है। विश्वनाथका भरतके प्रमाणपर यह कहना है कि जो कुछ शुचि एव मेध्य पदार्थ दिखाई पड़ता है, वह सभी इसमें ग्राह्य है।

लीला, विलास, विच्छित्ति प्रभृति दस 'हाव' भी सम्भोगवर्णनमें सन्निविष्ट होते हैं। त्रास, आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा एव मरणको छोड़कर अन्य सभी व्यभिचारी आ सकते हैं। जहाँ नायिकाके मनमें नायकको देखकर प्रेम जाग्रत् होता है, वहाँ नायिकारब्ध सम्भोग तथा जहाँ नायिकाको देखकर नायकके मनमें रतिभाव उद्भूत होता है, वहाँ नायकारब्ध सम्भोग-श्रृगार माना जाता है। —र० ति०

संयुक्ता–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, सगण, नगण, तगण और गुरुके योगसे चरण बनता है (॥ऽ,॥।, ऽऽ।,ऽ),यह छन्द प्रियाका दूना और गीतिकाका आधा होता है। 'प्राकृतपैंगलम्'(२ ९०)में इस छन्दका विवरण है। 'मन्दारमरन्दचम्पू'(१३ · १०)में इसका कमला नाम दिया है। आधुनिक गीतोंमें इस छन्दका मात्रिक प्रयोग हुआ है—'मेरा मरण तुमको खला'–(यशोधरा पृ० १०९)। केशवका प्रयोग—'वृत वाण रावणको सुन्यो। सिर राजमण्डलमें धुन्यो। जगदीश अब रक्षा करो। विपरीत बात सबै हरो।' (रा० च० · ४ १७)। —पु० शु०

सयोग–दे०—'रसनिष्पत्ति', आरोपवादके अन्तर्गत।

सयोग-श्रृगार–सयोग-श्रृगार सम्भोग श्रृगारका ही पर्याय है। लेकिन कुछ विद्वानोंकी राय है कि जहाँ नायक-नायिकाकी संयोगावस्थामें परस्पर रति होती है, पर सम्भोग-सुख प्राप्त नहीं होता, वहाँ सयोग श्रृगार मानना चाहिये, सम्भोग नहीं। रामदहिन मिश्रने 'काव्यदर्पण'में सुमित्रानन्दन पन्तकी निम्नलिखित पक्तियाँ उदाहरणरूपमें प्रस्तुत की है–'एक पल मेरे पियाके दृग, पलक, ये उठे ऊपर सहज नीचे गिरे। चपलताने इस विकम्पित पुलकसे, दृढ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।' इनकी टिप्पणी यह है, 'इसमें आलम्बन नायिका, नायिकाका सौन्दर्य उद्दीपन, नायिकका निरीक्षण अनुभाव, लज्जा आदि सचारी तथा रति स्थायी है। यहाँ सयोग-सुखकी प्राप्ति है, सम्भोग सुखकी, नहीं, क्योंकि प्रियकी प्रियाकी प्राप्ति नहीं हुई।' वस्तुत दर्शन-अवलोकन भी आचार्यों द्वारा सम्भोग-श्रृगारमें गृहीत किया गया है। सम्भोगका स्थूल अर्थ ग्रहण कर ही उसे 'सयोग'से पृथक् किया जा सकता है। 'सयोग'को अलग माननेका कोई प्रबल आधार नहीं, विशेषके लिए दे०–'सम्भोग-श्रृगार'।—र०ति०

संयोगात्मक आलोचना प्रणाली–अँग्रेजीका 'सिनथेटिकल' 'सिनथेसिस'का विशेषण है, जिसका अर्थ है 'साइलेपिक', 'सश्लिष्ट', 'सयोगात्मक', 'समन्वयात्मक'। विद्वानोंने इसीलिए इसे अन्य नामोंसे भी पुकारा है, जैसे, 'सामजस्यात्मक' आदि।

आलोचनाकी यह पद्धति दो विरोधों, दो भेदों तथा दो मतवादोंका समन्वय अपना लक्ष्य मानती है। इसीलिए इस पद्धतिकी आलोचनाको स्पष्टत दो भागोंमें विभाजित किया जा सकेगा—सैद्धान्तिक सयोगात्मक आलोचना तथा व्यावहारिक सयोगात्मक आलोचना। सैद्धान्तिक स्तरपर यह पद्धति दो सिद्धान्तों तथा दो भिन्न चिन्तनोंका समन्वय करती है और व्यावहारिक स्तरपर शैलीगत विभिन्नताओंका समन्वय करती है।

साहित्यका क्षेत्र अतिवादी विभिन्न मतवादोंसे भरा है। 'कला कलाके लिए', 'कला जीवनके लिए', 'अतिवस्तुवादी' 'आदर्शवादी', 'कलावादी', 'कल्पनावादी', 'अभिव्यजनावादी', अस्तित्ववादी' आदि अनेक-अनेक चिन्तनोंके बीच समाप्त न होनेवाली सीमारेखाएँ है। इसी प्रकार देश, राष्ट्र, जलवायु तथा अनेक कारणोंसे हमारे चिन्तनमें विभिन्नता है। फलत प्रस्तुत आलोचना-पद्धति विभिन्नताओंके बीच समन्वय स्थापित करना चाहती है—सिद्धान्तोंका समीकरण, विभिन्नत्व या अनेकत्वमें एकत्वस्थापन इसका प्रमुख उद्देश्य है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्रमें वे आलोचक इसके जन्मदाता हैं, जो सौन्दर्यवादी तथा शास्त्रीय, दोनोंके बीच समन्वय स्थापित करते हैं। वैसे तो यूनानी आलोचकोंसे लेकर आधुनिकतम पाश्चात्य आलोचकोंतकमें अनेक नाम गिनाये जा सकते हैं, परन्तु टी० एस० ईलियट अग्रणी माने जायँगे। इन्होंने न केवल परम्परा और स्वच्छन्दता, रूढ़ि और मौलिकता तथा यथार्थवाद और आदर्शवादका समन्वय किया है, बल्कि पूर्वी और पश्चिमी सिद्धान्तोंका भी समन्वय किया।

सस्कृत साहित्यशास्त्रमें इस समीक्षाको सहज ही लक्ष्य किया जा सकेगा। आचार्य मम्मटका 'कान्तासम्मित उपदेश' जैसी उक्तियाँ पर्याप्त प्रमाण हैं। राजशेखरका सम्पूर्ण कृतित्व ही इस सिद्धान्तके आधारपर टिका है। सम्पूर्ण सस्कृत साहित्यशास्त्रमें बाह्य और आभ्यन्तर, लौकिक और अलौकिक, रीति, वक्रोक्ति, अलकार, नीति, उद्देश्य और रस तथा रमणीयता-जन्य आह्लादका समन्वय प्रत्येक स्थलपर देखा जा सकता है।

कहना नहीं होगा कि हिन्दी आलोचनाका मूलाधार यही सिद्धान्त है। संस्कृत और पाश्चात्य साहित्यशास्त्रके बीच समन्वय ही हिन्दीके श्रेष्ठ आलोचकोंका मुख्य लक्ष्य रहा है। रामचन्द्र शुक्ल यहाँ भी अकेले ठहरते हैं। वैसे समन्वयकी चेष्टा श्यामसुन्दर दास और गुलाब रायमें लक्ष्य की जा सकती है, परन्तु इनका समन्वय संकलन हो गया है, क्योंकि इस पद्धतिकी सीमाएँ भी एकदम स्पष्ट हैं। दो विभिन्न अतिवादियोंके समन्वयके पीछे आलोचक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो देता है, फलत उसकी नीर-क्षीरकी दृष्टि नहीं रह जाती। इसीलिए कभी-कभी राम-रावणका-सा सामजस्य होता है, कभी ज्वलन्त समस्याएँ उपेक्षित रह जाती हैं और कभी कृत्रिम सीमाओंके बीच रचनाकी आत्मा दबी रह जाती है। इसलिए इस

आलोचना-पद्धतिके लिए अत्यन्त मेधावी, गहन-गम्भीर, अधीत तथा मौलिक प्रतिभासम्पन्न व्यक्तिकी अपेक्षा है, जैसे, टी० एस० इलियट या रामचन्द्र शुक्ल । —रा० कु० स०

संयोजन (organisation)–किसी कला-कृतिके विभिन्न अंगोंका इस प्रकार संघटित होना कि उसकी आम योजना मनपर व्यवस्था, सार्थकता और एकत्वका प्रभाव डाले । —कु० ना०

संलक्ष्यक्रमध्वनि–अभिधामूला विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनिका दूसरा भेद जिसमें वाच्यार्थ अपना बोध कराकर व्यंग्यार्थकी पुष्टि करता है। इस ध्वनिमें वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीतिके पूर्वापरका क्रम स्पष्ट रीतिसे लक्षित होता है, इसीसे इसे संलक्ष्यक्रमध्वनि कहते हैं। इसे 'अनुरणनध्वनि' भी कहते हैं। 'अनुरणन'का अभिप्राय है 'पीछे होनेवाली गूँज'। जिस प्रकार घण्टेपर चोट करनेसे पहले कर्कश ध्वनि, पुनः उसकी झनकार निकलती है, जो उत्तरोत्तर सूक्ष्मतम गूँजमें परिणत हो जाती है, उसी प्रकार इस ध्वनिमें प्रथम टकारके समान पहले वाच्यार्थका बोध होता है, पुनः सूक्ष्मतम गूँजके रूपवाला व्यंग्यार्थ ज्ञान होता है। असंलक्ष्यध्वनिमें रस, भाव, रसाभास आदिकी व्यंजना होती है, किन्तु इस ध्वनिमें वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनिकी व्यंजनाएँ होती हैं। जिस प्रकार हारादि आभूषण मनुष्यके शरीरको अलंकृत करते हैं, उसी प्रकार काव्यालंकार शब्द और अर्थको चमत्कृत करते हैं। उपमादि अलंकार कभी तो वाच्यरूपमें काव्यकी शोभावृद्धि करते हैं, कभी व्यंग्यरूपमें। व्यंग्यरूपमें उनका शब्द द्वारा स्पष्ट कथन नहीं होता है, केवल व्यंजना द्वारा उनकी स्थिति जानी जा सकती है। इस प्रकारकी व्यंजना कभी तो किसी वस्तु द्वारा होती है, कभी किसी अन्य अलंकार द्वारा। दोनों स्थितियोंकी अलंकार-व्यंजनाको अलंकार-ध्वनि कहते हैं। ध्वनिरूपमें उपस्थित होनेके कारण अलंकार भी अलंकार्य (जिसे शोभित किया जाय) बन जाते हैं—सेवक सामान्यतः अपने स्वामीकी सेवा करता है, अपने ब्याहके समय वह भी सेव्य बन जाता है। जहाँ अलंकार रहित किसी वस्तुकी व्यंजना होती है, उसे वस्तु-ध्वनि कहते हैं। 'वस्तु'का अभिप्राय किसी बातके कथनमात्रसे है। व्यंग्यरूपमें कही हुई किसी बातमें अथवा व्यंजनाके आधारपर की गयी किसी अलंकार-योजनामें एक विलक्षण अर्थ-चमत्कृतिका होना अवश्यम्भावी है। यह अर्थ-चमत्कृति स्वरूपतः रसात्मकतासे बहुत भिन्न नहीं हो सकती—रसात्मकतासे उसका थोड़ा-बहुत सम्बन्ध रहता ही है। अभिनवगुप्तकी तो यह स्थापना है कि वस्तु तथा अलंकारकी ध्वनियाँ अन्ततोगत्वा रस-ध्वनिमें ही परिणत हो जाती हैं–'रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकार-ध्वनिस्तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्यते' (संस्कृत पोएटिक्स, भाग २ पाद-टिप्पणी पृ० २११)।

संलक्ष्यध्वनिके शब्दशक्ति, अर्थशक्ति तथा शब्दार्थ-उभयशक्तिसे उद्भूत होनेके कारण तीन प्रधान भेद होते हैं। पुनः शब्दशक्तिके ४, अर्थशक्तिके ३६ तथा शब्दार्थ-शक्तिका १—और सब मिलकर ४१ भेद किये गये हैं। (दे०—'ध्वनि-सिद्धान्त')। —उ० श० शु०

संलाप–दे०—'कथोपकथन'।

संलापक–तीन या चार अंकोंका उपरूपक है। इसमें शृंगार-करुण रसका अभाव, भारती और कैशिकी वृत्तियोंका प्राधान्य होता है तथा इसका नायक पाषण्डी होता है। नगरके घेरा, विद्रव (झगड़ा), संग्रामका वर्णन किया जाता है। शेष सब बातोंमें नाटकसे समानता है, उदाहरण—'मायाकापालिक'। —वि० रा०

संवृत्तिवक्रता–दे०—'पदपूर्वार्धवक्रता' तीसरा प्रकार।

संवेदना–साधारणतः संवेदना शब्दका प्रयोग सहानुभूतिके अर्थमें होने लगा है। मूलतः वेदना या संवेदनाका अर्थ ज्ञान या ज्ञानेन्द्रियोंका अनुभव है। मनोविज्ञानमें इसका यही अर्थ ग्रहण किया जाता है। उसके अनुसार संवेदना उत्तेजनाके सम्बन्धमें देह-रचनाकी सर्वप्रथम सचेतन प्रतिक्रिया है, जिससे हमें वातावरणकी ज्ञानोपलब्धि होती है। उदाहरण—हरी वस्तु, हरे रंगको देखनेकी संवेदनाकी उत्तेजनामात्र है। उत्तेजनाका हमारे मनपर मस्तिष्क तथा नाड़ीतन्तुओं द्वारा प्रभाव पड़नेपर ही हमें उसकी संवेदना होती है। संवेदना हमारे मनकी चेतनाकी वह कूटस्थ अवस्था है, जिसमें हमें विश्वकी वस्तुविशेषका बोध न होकर उसके गुणोंका बोध होता है। प्रौढ़ व्यक्तियोंमें यह संवेदना प्रायः असम्भव हो जाती है। यद्यपि साधारणतः अँग्रेजीमें इसे 'सिम्पैथी' या 'फेलो फीलिंग' कह सकते हैं, किन्तु मनोविज्ञानमें 'सेन्सेशन'के रूपमें ही इसका विशिष्ट प्रयोग होता है। यह हमारी इच्छापर निर्भर नहीं है। उदाहरणार्थ—मनोहारी संगीत सुनते ही हम अपना आकर्षण नहीं रोक सकते। संवेदनाके लिए उत्तेजककी आवश्यकता है, जिससे सम्बन्धित गुण ही हममें संवेदना उत्पन्न करता है। इसे तीन वर्गोंमें विभाजित किया गया है—१ विशिष्ट संवेदना, २ अन्तरावयव संवेदना, ३ स्नायविक संवेदना। इसमें विशिष्ट ज्ञानेन्द्रिय तथा बाहरी उत्तेजनाके द्वारा होनेवाली संवेदनाको विशिष्ट संवेदना अथवा 'इन्द्रियसंवेदना' कहते हैं। इस संवेदनाकी विशेषता यह है कि यह विशेष अवयवसे सम्बन्ध रखती है और प्रत्येक ऐसी संवेदना दूसरी इन्द्रिय संवेदनासे पृथक् की जा सकती है। इसके कई भेद हैं, यथा—घ्राण, रस, त्वचा, दृष्टि तथा श्रोत्र संवेदना। इन भेदोंमें भी मात्राभेद होता है। इन्हीं संवेदनाओंके द्वारा हमें विश्वके विभिन्न पदार्थोंका ज्ञान होता है। इसी प्रकार प्राणीके शरीरकी आन्तरिक अवस्थाके कारण उत्पन्न होनेवाली पाचन-क्रिया, रक्त संचार और श्वास-प्रश्वास आदिके अवयवोंसे सम्बन्धित संवेदनाएँ अन्तरावयव संवेदना कहलाती हैं। यह प्रायः तीन भागोंमें विभाजित की जा सकती है—१ जिसे हम शरीरके किसी भागमें निश्चित कर सकें, जैसे, आघात, जलन आदि, २ जिसे हम संशयात्मक रूपमें निश्चित कर सकें, यह पेट आदि अवयव विशेषकी साधारण क्रियासे उत्पन्न होती है, ३ प्राणीकी सामान्यावस्थामें होनेवाली वे संवेदनाएँ, जिन्हें कहीं भी निश्चित न कर सकें, जैसे, भूख, प्यास। स्नायविक संवेदनाएँ ग्रन्थि तथा पेशी आदिके संचालनसे उत्पन्न होती हैं। —आ० प्र० दी०

संशयवाद–पाश्चात्य दर्शनमें संशयसे आधुनिक ज्ञान-

मीमासा आरम्भ होती है (दिकार्ते)। शब्दप्रामाण्य अथवा अन्धश्रद्धाके प्रति सन्देह विवेकवाद अथवा प्रज्ञावाद(रेशनैलिज्म)की ओर बढनेकी पहली सीढी है। सप्रश्न जिज्ञासु धीरे-धीरे वैज्ञानिक साधनोंकी अपूर्णतातक पहुँचता है और उसे लगता है कि जो कुछ ज्ञात है, उससे अज्ञेय और भी बहुत-कुछ है। 'ईश्वर है या नहीं' इस प्रश्नका उत्तर ऐसे ही 'शायद हों', 'शायद न हों'वाले स्याद्वादी (एग्नौस्टिक) ढगसे दिया जाता है। साहित्यकी समीक्षामें इस प्रकारके संशयवादसे बद्धमूल धारणाओं, पूर्वग्रहों और 'बाबावाक्य प्रमाणम्'पर आघात पहुँचा। कला या साहित्यका एकमात्र उद्देश्य नैतिक शिक्षा या उपदेश हो, इस मध्ययुगीन धारणाको सशयवादने बडे धक्के दिये। परिणाम यह हुआ कि वाल्तेयर या बर्नार्ड शॉ जैसे साहित्यिकोंको अपने समयमें बहुत जन विरोध सहना पडा।

सशयवादी मनोवृत्ति जब एक स्वय बद्धमूल मनोवृत्ति बन जाती है तो वह 'सिनिसिज्म' कहलाती है। ऐसे लोगोंमें सभी उच्चतम मूल्योंके प्रति एक प्रकारका तुच्छताबोधक अनादरभाव जागता है। उन्हे 'सिनिक' कहते हैं। इससे उलटे 'स्केप्टिक' वह है, जो प्रश्न-भरी मनोवृत्तिवाला व्यक्ति है, जो सहजविश्वासी नहीं है। बीसवीं शतीमें विज्ञानके आविष्कारोंने हमारी कई भोली (मिथ्या) धारणाओंको स्वप्नोंकी तरह चकनाचूर कर दिया है। विशेषत गत दो महायुद्धोंके बाद तो मनुष्यकी अनेक श्रद्धाएँ जड-मूलसे हिल चुकी है। इस मनोदशाको दर्शन तथा साहित्य-समीक्षाके क्षेत्रमें 'स्केप्टिकल' या सन्देहवादी कहा जाता है। हमारे यहाँ नास्तिक-दर्शनोंसे यह प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी, बादमें सन्तों और सुधारकोंने इस वृत्तिको प्रोत्साहन दिया, परन्तु मानवतामात्रमें अनास्था जाग गयी हो, ऐसी स्थिति नहीं पैदा हुई। उलटे रवीन्द्रनाथ, गान्धी या अरविन्द—सभी अन्तत श्रद्धावादी चिन्तक हैं और उनका प्रभाव भारतीय साहित्य और समीक्षापद्धतिपर अधिक है। —प्र० मा०

संश्लेषण (synthesis)–दे०—'विश्लेषण'।

संसृष्टि–अलकारशास्त्रमें एक प्रकारका सम्मिलित अलकार, एक छन्द अथवा वाक्यसमूहमें दो या दोसे अधिक शब्दालकारों या अर्थालकारोंका सम्मेलन जब 'तिलतण्डुल न्याय'से, अर्थात् परस्पर निरपेक्ष रूपसे होता है, उसे ससृष्टि कहते हैं। जिस प्रकार एक पात्रमें रखे हुए तिल और चावल साथ रहते हुए भी परस्पर पृथक् रहते हैं, उसी प्रकार ससृष्टिमें एक पद्य या वाक्यसमूहमें अनेक अलकारोंका सम्मेलन परस्पर असम्बद्ध अथवा निरपेक्ष भावसे होता है। भामहके 'काव्यालकार'से यह अलंकार मिलता है–'वरा विभूषा ससृष्टिर्बहुलकारयोगत' (३ ४९), बहुत अलंकारोंके योगसे विभूषित अलकार। वामनने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति'में भिन्न भाव व्यक्त किया है—'अलकारस्यालंकारयोनित्व संसृष्टि' (४ ३ ३०), अर्थात् अलंकारका दूसरे अलंकारके साथ कार्यकारणभावसम्बन्ध। मम्मटने प्राचीनोंकी धारणाकी अपेक्षा रुय्यककी विवेचनाका अनुमोदन किया है—'सेष्टा संसृष्टिरेताषा भेदेन यदिह स्थिति।' (का०प्र० १० १३९), पूर्वप्रतिपादित अलकारोंकी परस्पर निरपेक्षतामें भी एक अवस्थितिका चमत्कार। विश्वनाथने निरपेक्ष स्थितिपर ही बल दिया है। हिन्दीके आचार्योंमें इस अलकारके प्रमुख विवेचक चिन्तामणि, सोमनाथ तथा भिखारीदास हैं। दासने भी शब्दभेदसे मम्मटके लक्षणका निरूपण किया है—'एक छन्दमें जहँ परे, अलकार बहु दृष्टि। तिल तन्दुलसे हैं मिले, ताहि कहैं ससृष्टि।' (का० नि० ३)।

ससृष्टिके तीन भेद किये गये ह—१. शब्दालकार ससृष्टि, जिसमें दो या दोसे अधिक केवल शब्दालकारोंकी निरपेक्ष स्थिति हो, २ अर्थालकार संसृष्टि, जिसमें केवल अर्थालंकारोंकी परस्पर निरपेक्ष स्थिति हो, ३ उभयालकार ससृष्टि, शब्दालकार और अर्थालकारकी परस्पर निरपेक्ष स्थिति। क शब्दालंकार ससृष्टिका उदा०—'कुण्डल जिय रक्षा करन, कवच करन जय वार। करन दान आहव करन, करन करन बलिहार। (अ० म० ६४१), इसमें लाटानुप्रास, यमककी ससृष्टि है। ख देवका अर्थालकार ससृष्टिका उदा०—'विद्रुम और मधूक जपा गुललाला गुलाबकी आभा लजावति। टेवजू कज खिले टटके हटके भटके खटके गिरा गावति। पाँव धरे अलि ठौर जहाँ तेहि ओरतें रगकी धार-सी आवति। मानो मजीठकी माट ढुरी इक ओरतें चाँदनी बोरति जावति।', यहाँ पूर्वार्द्धके दोनों पदोंमें विद्रुम आदि प्रसिद्ध उपमानोंका अपकर्ष वर्णित है, अत प्रतीप अलकार है। उत्तरार्द्धमें 'उक्त विषय' उत्प्रेक्षा है। स्पष्टत दोनों अर्थालकारोंकी ससृष्टि है। इसी प्रकार 'निराला'की पक्ति है—'सखी नीरवताके कन्धेपर डाले बाँह, छाँह-सी अम्बर-पथसे चली।' इसमें रूपक और उपमा अर्थालकारोंकी ससृष्टि है। ग उभयालकार संसृष्टिके उदाहरणरूप 'निराला'की पक्तियाँ—'जीवन प्रात समीरण-सा लघुविचरण निरत करो, तरु तोरण तृण-तृणकी कविता, छवि मधु सुरभि भरो।' यहाँ पूर्वार्द्धमें उपमा, उत्तरार्द्धमें त, र, णकी आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रास और 'छवि मधु'में रूपक अलकारोंकी परस्पर निरपेक्ष रूपसे स्थिति है। शब्दालकार और अर्थालंकारकी निरपेक्ष एकत्र स्थिति होनेसे, यहाँ उभयालकार ससृष्टि है।

हिन्दी रीति-साहित्यमें इस अलकारका कलात्मक प्रयोग हुआ है, पर आधुनिक काव्यमें भी मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, 'प्रसाद', पन्त, महादेवी, 'निराला' आदिके काव्योंमें भी इसका काव्यात्मक प्रयोग मिलता है। —वि० स्ना०

संस्कृत (भाषा)–इस शब्दसे आर्य परिवारकी हिन्द-ईरानी शाखाके भारतीय अंशके प्राचीन स्वरूपका बोध होता है। सस्कृत शब्दका अर्थ सस्कार की हुई, माँजी हुई, परिष्कृत समझना चाहिये। इसका विपम अर्थबोधक शब्द प्राकृत है। प्राकृतसे सामान्य जनकी भाषाका और सस्कृतसे शिष्ट जनकी भाषाका बोध होता है। यह स्थिति भारतवर्षके इतिहासमें प्राचीन कालमें किसी समय रही होगी। सस्कृतको देववाणी भी कहते हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि यह देवोंकी भाषा है। इसीमें वेद मिलते हैं, जिनको भारतीय परम्पराकी दृष्टिसे अपौरुषेय और चतुर्मुख ब्रह्माके मुखोंसे प्रकटित समझा जाता है। संस्कृतको आकृतिके आधारपर

श्लिष्ट योगात्मक माना जाता है। इस भाषाके अस्तित्वका सर्वप्रथम प्रमाण ऋग्वेद है। संस्कृत किसी समय भारतीय आर्योंके शिष्ट समाजकी बोली थी। वर्तमान समयमें संस्कृत भाषाको मातृभाषाके रूपमें बोलनेवालोंकी संख्या कोई ५०० है। अनुमान यही है कि इस जनसमुदायने श्रद्धाके कारण संस्कृतको जनसंख्याकी गणनाके अवसरपर मातृभाषा लिखा दिया है। वस्तुतः इसकी भी मातृभाषा वर्तमान भारतीय भाषाओंमेंसे कोई होगी।

संस्कृत भाषाके दो स्वरूप स्पष्ट प्रतीत होते हैं। एक वैदिक अथवा छान्दस और दूसरा लौकिक। पाणिनिने 'अष्टाध्यायी'में इस वैदिक अथवा छान्दस भाषाके विशिष्ट नियम दिये हैं, जिनसे लौकिक भाषाका भेद स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदकी ही भाषा वैदिक या छान्दस कहलाती है। इन संहिताओंके उत्तर-कालके ग्रन्थोंकी भाषाको लौकिकी संज्ञा दी गयी है। पाणिनिके व्याकरण 'अष्टाध्यायी'के सम्मत पदोंको ही शुद्ध माना जाता है और यदि ऋषियों द्वारा निर्मित किसी ग्रन्थ-(रामायण, महाभारत आदि)में अपाणिनीय प्रयोग मिलता है तो उसे अशुद्ध न कहकर आर्ष प्रयोग माना जाता है। अन्यत्र अपाणिनीय प्रयोग अशुद्ध ही समझे जाते हैं। संस्कृत भाषामें शब्दोंमें कई व्यंजनोंकी स्थिति साथ-साथ रह सकती थी, किन्तु एकाधिक स्वर साथ-साथ नहीं रह सकते थे। यह स्थिति आगे चलकर प्राकृतोंमें बिलकुल उलट गयी और उनमें दोसे अधिक व्यंजन एक साथ नहीं रह सकते थे, किन्तु एकाधिक स्वर साथ-साथ प्रयोगमें आते थे। पद-रचनाकी दृष्टिसे संस्कृत एक जटिल भाषाका स्वरूप रखती है। इसमें आठ विभक्तियाँ, ६ कारक, १० धातुगण, परस्मैपद और आत्मनेपद, तीन वचन, तीन वाच्य आदि यथेष्ट व्याकरणात्मक धाराएँ हैं। पाणिनिने अपने व्याकरणके द्वारा इस भाषाका एक परिनिष्ठित स्वरूप उपस्थित किया। वही सर्वसम्मत और शुद्ध स्वरूप अभीतक माना जाता है। —वा० रा० स०

संस्कृत (साहित्य)—संस्कृत साहित्यके दो विभाग किये जाते हैं—वैदिक और लौकिक। वैदिकके अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नामकी संहिताएँ, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद् आते हैं। ऋग्वेद दस मण्डलोंमें विभाजित है और इसमें कुल १०२८ सूक्त हैं। सूक्तोंमें ऋचाएँ हैं जो अनुष्टुभ्, गायत्री आदि वैदिक छन्दोंमें हैं। इन मन्त्रोंमें देवोंकी प्रार्थना, उपासना और स्तुति सर्वत्र व्याप्त है। यजुर्वेदकी दो शाखाएँ हैं—शुक्लयजुर्वेद और कृष्णयजुर्वेद। शुक्लयजुर्वेदमें ४० अध्याय हैं, कृष्णयजुर्वेदकी चार शाखाएँ हैं। यजुर्वेदमें ऋग्वेदके बहुत-से मन्त्र हैं। अधिकांश इस वेदका पद्यमें है और थोड़ा-सा कहीं कहीं गद्यमें। यजुर्वेदके मन्त्रोंका विनियोग सर्वथा यज्ञके लिए है। सामवेदके केवल ७५ मन्त्र अपने हैं और शेष सब ऋग्वेदसे उद्धृत हैं। इस वेदमें मन्त्रोंका संग्रह गानकी दृष्टिसे किया गया है। अथर्ववेदकी दो शाखाएँ प्राप्त हैं—शौनक और पैप्पलाद। शौनक अधिक प्रचलित है। उसमें २१ काण्ड और दस सूक्त हैं। इस वेदका प्रायः छठा भाग गद्यमें है, शेष सभी पद्यमें। अथर्ववेद विषयकी दृष्टिसे शेष तीन वेदोंसे काफी भिन्न है। इसमें जादू, टोना, वशीकरण आदि विषयोंके मन्त्र भी सम्मिलित हैं। साथ ही राष्ट्र-प्रेमके सूक्त भी पाये जाते हैं। विद्वानोंका मत है कि अथर्ववेद एक भिन्न स्तरकी रचना है और काल तथा संस्कृतिकी दृष्टिसे ऋग्वेदसे यथेष्ट दूर है। यह निर्विवाद है कि इन चारों वैदिक संहिताओंमें ऋग्वेद संहिता सबसे पुरानी है। ऋग्वेदमें भी प्रथम और दशम दो मण्डल बादके मालूम होते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें कर्मकाण्डके मुख्य प्रश्नोंपर समाधान और विचार संकलित हैं। इन ग्रन्थोंमें ही किस यज्ञमें किस मन्त्रका विनियोग है, इस बातका पता चलता है। इनमें जहाँ-तहाँ छोटी-छोटी कथाएँ भी संगृहीत हैं, जो उल्लिखित विचारोंकी पोषक हैं। प्रत्येक वेदके ब्राह्मण अलग-अलग हैं। ऋग्वेदके दो ब्राह्मण हैं 'ऐतरेय' और 'कौषीतकी'। शुक्लयजुर्वेदका 'शतपथ ब्राह्मण' है। आरण्यक भी प्रत्येक वेदके अलग-अलग हैं और इनमें ब्राह्मणग्रन्थोंमें आये हुए विषयोंका विस्तार है। वेद, ब्राह्मण और आरण्यक, इन तीन भागोंमें मुख्य रूपसे कर्मकाण्डका विषय है और उसकी दृष्टिसे इनको मन्त्रपरक, विधिपरक और अर्थवादपरक कह सकते हैं। आर्यधर्मके कुछ सम्प्रदाय (यथा आर्यसमाज) केवल वैदिक संहिताओंको अपौरुषेय मानते हैं। शेष संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक, तीनों भागोंको अपौरुषेय समझते हैं।

उपनिषद् ग्रन्थ आरण्यकोंसे सम्बद्ध हैं, किन्तु विषयकी दृष्टिसे ये उनसे सर्वथा भिन्न हैं। इनमें कर्मकाण्डका लेशमात्र भी नहीं है। इनका विषय है ईश्वर और प्रकृति और उनका परस्पर सम्बन्ध। कर्मकाण्डके सम्यक् पालनसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, किन्तु ईश्वर, जीव और प्रकृतिका ठीक-ठीक स्वरूप और सम्बन्ध जान लेनेसे मुक्ति मिलती है, जिसमें शाश्वत आनन्द है। इसी ज्ञानको ब्रह्मविद्या कहते हैं। उपनिषदोंमें-से कोई-कोई, यथा—'ईश', वैदिक संहिताओंके भाग हैं। सब मिलाकर १०८ उपनिषद् हैं। जिनमेंसे 'ईश', 'कठ', 'केन', 'प्रश्न', 'श्वेताश्वतर', 'मुण्डक', 'माण्डूक्य', 'बृहदारण्यक', 'छान्दोग्य', 'ऐतरेय', 'तैत्तिरीय', 'मैत्रायण' और 'कौषीतकी' प्राचीन हैं, शेष अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। इनमें 'अल्लोपनिषद्' भी है, जो स्पष्ट ही मुसलमानोंके समयमें भारतीय इतिहासके मध्यकालमें बना होगा। उपनिषदोंके भाष्य विभिन्न सम्प्रदायोंके अनुसार मिलते हैं और उनके तत्त्वोंके विषयमें बहुत वाद-विवाद है, तथापि विषयकी दृष्टिसे और मनुष्यकी आध्यात्मिक आकांक्षाके विचारसे इस साहित्यके समान उत्कृष्ट वाङ्मय संसारमें अन्यत्र दुर्लभ है।

प्राचीन कालमें अध्ययनका एक ही विषय था और वह था वेद। ब्राह्मणका मुख्य कर्तव्य था वेदाध्ययन। यह अध्ययन भी निष्कारण और निष्प्रयोजन करना होता था। वेदके साथ वेदांगोंका भी अध्ययन आवश्यक था। वेदांग ६ हैं—शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। शिक्षामें वेदमें आयी हुई ध्वनियोंका विवेचन है। व्याकरणमें पदोंका विश्लेषण और सम्यक् ज्ञान है। छन्दमें वैदिक मन्त्रोंके पद-विभाजन आदिकी विवेचना है। निरुक्तमें वैदिक शब्दोंके अर्थोंकी व्याख्या है।

ज्योतिषमें काल-सम्बन्धी मीमासा और कल्पमे कर्मकाण्डका विवरण मिलता है। इन वेदागोंका बीज हमें ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें ही प्राप्त हो जाता है। शिक्षा और व्याकरणका प्रारम्भिक ज्ञान हमें प्रातिशाख्योंमे मिलता है। प्रत्येक वेदके अलग-अलग प्रातिशाख्य हैं। व्याकरणका सबसे प्राचीन ग्रन्थ पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी' है। पाणिनिने स्वय अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणोंका उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट है कि उनके समय(प्राय चौथी शताब्दी ईसापूर्व)के पहले भारतमें व्याकरणके अध्ययनकी विशेष परम्परा थी। निदानसूत्रोंमें वैदिक छन्दोंके नाम और लक्षण दिये हुए है। इसके अतिरिक्त पिंगलका 'छन्द सूत्र' भी प्राचीन ग्रन्थ है, पर उसमें वैदिक छन्दोंका वर्णन नहीं है। प्राय ई० पू० ८०० के आस-पास रचित 'निरुक्त' यास्क मुनिकी कृति है। यास्कने पूर्ववर्ती बहुतसे नैरुक्तोंका उल्लेख किया है, किन्तु उनके ग्रन्थ नहीं मिलते है। यास्कके सामने निघण्टु (वैदिक शब्दकोश) था। इसीकी उन्होंने व्याख्या की है। प्रत्येक यज्ञकी पूर्तिके लिए समयका ठीक ज्ञान आवश्यक था और समय सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों और नक्षत्रोंकी गतिसे ही मालूम किया जा सकता है। जिस ग्रन्थमें ये बातें सगृहीत हों उसीको ज्योतिष कहेंगे। दुर्भाग्यसे ज्योतिषका कोई पुराना ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ है। कल्प अर्थात् विधिका व्याख्यानात्मक वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थोंमे मिलता है। इसी विषयको कल्प-सूत्रोंमें सग्रह किया गया है। कल्प-सूत्र चार भागोंमें विभक्त है—श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्व। श्रौत सूत्रोंमें वैदिक यज्ञोंकी विधि है, गृह्यमें जातकर्म आदि सस्कार, धर्म-सूत्रोंमें नीति, धर्म, रीति-रवाज और वर्णाश्रमोंके कर्तव्य तथा शुल्वमें यज्ञवेदीके निर्माणकी विधि दी हुई है।

वैदिक संहिताओंके निर्माणकालके विषयमें कई मत है। भारतीय परम्पराके अनुसार ये संहिताएँ अपौरुषेय हैं और प्रत्येक कल्पके प्रारम्भमें मानसी सृष्टिके उपरान्त प्रकट होती हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे इनका समय विभिन्न विद्वानोंने ३०० ई०पू०से लेकर १००० ई०पू०तक माना है और अपने अपने मतके पोषणमें विविध तर्क दिये हैं। जिस सस्कृतिका रूप इनमें, विशेषकर ऋग्वेदसहितामें मिलता है, वह ई०पू० १५००के लगभग अवश्य वर्तमान था। ब्राह्मणग्रन्थों, पुराने उपनिषदों और सूत्रग्रन्थोंका समय ई०पू० १०००से लेकर २०० ई०पू०तक माना जाता है।

वैदिक साहित्यके बाद ही इतिहासका महत्त्व है और संस्कृतमें 'महाभारत' तथा 'रामायण' ये दो ग्रन्थ इस श्रेणीमें प्रसिद्ध हैं। भाषा और शैलीकी दृष्टिसे 'महाभारत' 'रामायण'-से पुराना है। यद्यपि 'रामायण'का विषय रामचरित त्रेतायुगका है और 'महाभारत'का विषय कौरव-पाण्डव युद्ध द्वापरयुगका है। 'महाभारत'में कई बार परिवर्धन हुआ और इसका अन्तिम रूप ई०पू० तीसरी-चौथी शताब्दीमें निश्चित हो गया होगा। इसमें भी कई अश प्रक्षिप्त है, जो सम्भव है कि ईसवी सन्‌के बाद जोडे गये है। महाभारतमें १८ पर्व है और इन पर्वोमें बहुत-से आख्यान भरे पडे हैं। ज्ञान-विज्ञानकी दृष्टिसे यह ऐसा भण्डार है कि इसमें मनुष्यकी जिज्ञासाको तृप्त करनेके लिए प्राय सारी सामग्री मिल जाती है। इसीलिए इसको पाँचवाँ वेद भी कहते है। इसी ग्रन्थका एक अश 'भगवद्‌गीता' है, जिसमें १८ अध्याय है। निश्चय ही यह १८ अध्यायोंकी गीता युद्ध-भूमिमें नहीं सुनायी जा सकी होगी। कृष्ण द्वारा अर्जुनको दिये गये उपदेशको सारभूत मानकर महाभारतकारकी यह रचना है। नलोपाख्यान, शकुन्तलोपाख्यान, सावित्रीकथा आदि सहस्रों विषय महाभारतमें मिलते है, जिनके आधारपर उत्तरकालके ललित साहित्यकी रचना हुई।

'रामायण'को आदिकाव्यकी सज्ञा दी गयी है और ऋषि वाल्मीकि इसके रचयिता है। भारतीय परम्पराके अनुसार वेदसे बाहर छन्दकी रचना सर्वप्रथम इन्होंने की। 'रामायण'में सात काण्ड हैं। कुछ पश्चिमी आलोचकोंकी दृष्टिमें प्रथम अर्थात् बालकाण्ड और अन्तिम अर्थात् उत्तर-काण्ड बादके जोडे हुए अश हैं। 'रामायण' भी 'महाभारत'-की तरह आख्यानग्रन्थ है और इसके आधारपर उत्तरकालके ललित साहित्यमें बहुतेरी रचनाएँ है।

सस्कृतके ललित साहित्यको कई वर्गोंमें विभाजित करते है—महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाट्यसाहित्य, गद्यकाव्य, चम्पू, कथासाहित्य आदि।

महाकाव्यका प्रारम्भ 'रामायण'से ही होता है। इसके नायक धीरोदात्त राम हैं और सातों काण्डोंमें बहुतसे सर्ग है। प्रकृति और मानवका विशद वर्णन है। उत्तम काव्य प्राप्त है। इसके उपरान्त अश्वघोषके दो महाकाव्य 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरनन्द' आते हैं और तत्पश्चात् कालिदास-के दो ग्रन्थ 'कुमारसम्भव' और 'रघुवश'। भारविका 'किरातार्जुनीय', माघका 'शिशुपालवध' और श्रीहर्षका 'नैषधीयचरित' इस श्रेणीके उत्तम ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त बहुत-से महाकाव्योंकी रचना हुई है। इन्हींमें द्व्यर्थक (यथा—राघवपाण्डवीय) काव्य भी आते है। संस्कृतके महाकाव्योंके आदर्शपर प्राकृतमें भी महाकाव्योंकी रचना हुई। इनमें प्रवरसेनका 'सेतुबन्ध' और वाक्पतिका 'गौडवध' अधिक प्रसिद्ध है।

खण्डकाव्यमें नायकके सम्पूर्ण चरित्रका चित्रण नहीं होता। वह महाकाव्यका विषय है। इसमें नायकके जीवनसे सम्बद्ध कोई अश ही लिया जाता है। खण्डकाव्योंमें सर्व-प्रथम ग्रन्थ कालिदासका 'मेघदूत' है, जिसमें शापग्रस्त एक यक्षने अलकास्थित अपनी प्रेयसी पत्नीके पास मेघ द्वारा सन्देश भेजा था। कालिदासकी अभूतपूर्व कल्पना है। इसमें मन्दाक्रान्ता छन्दमें उत्तम प्रकृति-वर्णन और मानवीय भावोंका चित्र है। सम्पूर्ण ग्रन्थमें प्राय सवा सौ पद्य हैं, किन्तु इस सक्षिप्त रूपमें कालिदासने इतना काव्य सौन्दर्य भर दिया है कि यदि उनकी अन्य कोई कृति न भी उपलब्ध होती तो भी उनकी गिनती ससारके श्रेष्ठ कवियोंमें की जाती। 'मेघदूत'के ही आदर्शपर अन्य दूतकाव्य, यथा धोयी कविका 'पवनदूत' और वेदान्तदेशिकका 'हंससन्देश' आदि बने। दूतकाव्योंके अतिरिक्त अन्य खण्डकाव्य भी हैं। इनमें 'शृंगारतिलक', 'घटकर्परकाव्य', 'अमरुकशतक', 'भर्तृहरि-शतक', 'योगिनीविलास' 'आर्यासप्तशती', 'गीतगोविन्द' आदिकी गणना होती है।

भारतीय परम्पराके अनुसार नाट्यके प्रथम रचयिता भरत मुनि हैं, जिन्होंने जनसाधारणके उपकारार्थ नाट्य-वेद बनाया। इन्हींके नामसे प्रसिद्ध 'नाट्यशास्त्र' नामका ग्रन्थ प्राप्त है, जो भाषा और शैली आदिकी दृष्टिसे ईसवी तीसरी शताब्दीके पूर्वका नहीं माना जाता। नाट्यके किसी-न-किसी रूपके सर्जनका प्रथम उल्लेख हमें पतञ्जलि-के 'महाभाष्य'में मिलता है और उपलब्ध नाट्यसाहित्यमें अश्वघोषका 'शारद्वती पुत्र-प्रकरण' (सारिपुत्त पकरण) और कालिदासकी कृतियाँ (अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोवर्शीय, मालविकाग्निमित्र) सर्वप्रथम आती हैं। कालिदास न केवल भारतके सर्वश्रेष्ठ कवि हैं बल्कि सर्वश्रेष्ठ नाट्यरचयिता भी हैं। इनके स्थितिकालके विषयमें मतभेद है, किन्तु अधिकांश विद्वान् उन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय(चतुर्थ शताब्दी ईसवीके उत्तरार्ध और पंचमके पूर्वार्द्ध)के समयका मानते हैं। कालिदासने भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि नाट्य-कारोंका उल्लेख किया है, इनमेंसे भासके 'स्वप्नवासवदत्ता'का एक संस्करण 'स्वप्ननाटक'के नामसे गणपति शास्त्रीको प्राप्त हुआ था। इसके साथ 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'चारुदत्त' आदि १२ अन्य नाट्यग्रन्थ भी मिले थे। शास्त्रीजी इन सबको भासकृत मानते थे। सम्भव है, इनमेंसे कुछ अपने मूल रूपमें भासकृत रहे हों। शैलीकी दृष्टिसे 'मृच्छकटिक' भी पुराना रूपक है और इसकी रचनाका समय कालिदासके कुछ ही बाद माना जाता है। श्रीहर्षका एक नाटक 'नागानन्द' और नाटिकाएँ 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' प्रसिद्ध हैं। ये श्रीहर्ष महाराज हर्षवर्धन ही हैं। इनके उपरान्त भवभूति आते हैं, जिनका स्थान नाटककारकी दृष्टिसे कालिदासके बाद आता है। इनके दो नाटक 'महावीर-चरित' और 'उत्तररामचरित' तथा एक प्रकरण 'मालती-माधव' उपलब्ध हैं। ये यशोवर्माके समकालीन थे। इनके अतिरिक्त भट्टनारायणका 'वेणीसंहार', 'विशाखदत्त'का 'मुद्राराक्षस', मुरारिका 'अनर्घराघव', जयदेवका 'प्रसन्नराघव' आदि अन्य प्रसिद्ध नाटक हैं। नाटकोंके अतिरिक्त संस्कृत-में 'प्रबोधचन्द्रोदय' आदि रूपकात्मक नाटक और 'धर्मशर्मा-भ्युदय' आदि छायानाटक भी हैं। 'हनुमन्नाटक' भी एक लोकप्रसिद्ध ग्रन्थ है, यद्यपि वह नाटक नहीं है। संस्कृतके आदर्शपर प्राकृतमें भी नाट्यसाहित्य बना। इसमें सर्व-प्रसिद्ध रचना राजशेखरकी 'कर्पूरमंजरी' है।

संस्कृतमें गद्यका सबसे प्राचीन आविर्भाव हमें यजुर्वेद-संहितामें मिलता है। इसके उपरान्त ब्राह्मण-ग्रन्थों, आख्यानकों और उपनिषदोंमें सरल, सुबोध गद्यकी प्रचुर मात्रा है। आगे चलकर आचार्योंने गद्यकी विशेषताएँ ओज गुण और समासप्रचुर शैली बतायीं। इस दृष्टिसे सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता', दण्डीका 'दशकुमारचरित' और बाण भट्टका 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' रीतिबद्ध ललित साहित्यकी उत्तम रचनाएँ हैं। इनमें भी 'कादम्बरी'का मुख्य स्थान है।

गद्य और पद्यमिश्रित रीतिबद्ध रचनाको चम्पू कहते हैं। इस विशेष श्रेणीका सबसे प्राचीन ग्रन्थ त्रिविक्रम भट्ट-रचित 'नलचम्पू' अथवा 'दमयन्तीकथा' है और इसका समय दसवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध है। इसीके आदर्शपर 'यशस्तिलक', 'रामायणचम्पू', 'भागवतचम्पू' आदि ग्रन्थ हैं।

संस्कृतका कथा-साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक संहिताओंमें भी जहाँ-तहाँ कथाएँ मिलती हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यकोंमें इनकी मात्रा और अधिक हो गयी। इस श्रेणीके साहित्यमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'बृहत्कथा' है। इसकी रचना पैशाची प्राकृतमें गुणाढ्यने की थी। इस ग्रन्थका मूल रूप अप्राप्य है, किन्तु इसके दो संक्षिप्त संस्करण 'बृहत्कथामंजरी' और 'कथासरित्सागर' प्राप्त हैं। 'बृहत्-कथामंजरी'के लेखक क्षेमेन्द्र और 'कथासरित्सागर'के लेखक सोमदेव ११वीं शताब्दी ईसवीमें हुए। इन दो प्रसिद्ध ग्रन्थोंके अतिरिक्त 'बृहत्कथा'पर आधारित बुद्धस्वामीका श्लोकसंग्रह है, जिसमें क्षेमेन्द्र और सोमदेवकी कथा समेद है। इनके अतिरिक्त 'अवदानशतक' और आर्य सूर-कृत 'जातकमाला', बौद्ध धर्मप्रचारक बोधिसत्त्वके चरितोंके कथा-संग्रह, 'वेतालपञ्चविंशतिका', 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका', 'शुकसप्तति' और 'भोजप्रबन्ध' अन्य कथा-संग्रह हैं, जिनमें कल्पना और अतिमानवचरित मुख्य रूपसे दृष्टिगोचर होते हैं।

भारतवर्षकी कथाओंमें पशु, पक्षी, देव, मनुष्य, असुर—सभी ऐसी भाषा बोलते हैं, जिसे एक-दूसरे समझ सकते हैं। इसी दृष्टिसे नीतिकथा-ग्रन्थोंकी रचना हुई है। इस श्रेणीका प्रतिनिधि ग्रन्थ 'पंचतन्त्र' है, जिसमें पशु पक्षियोंकी कथाओं द्वारा मनुष्यको शिक्षा दी गयी है। 'पंचतन्त्र'का अनुवाद फारसके बादशाह नौशेरवाँने पहलवी भाषामें कराया। इसका अनुवाद सीरियाकी भाषामें ५७० ई० में हुआ। फिर इसका अनुवाद हिब्रू, लैटिन, जर्मन, इटालियन, ग्रीक आदि संसारकी सभी प्रसिद्ध भाषाओंमें हुआ। मूल 'पंचतन्त्र' अब अप्राप्य है। प्रचलित 'पंचतन्त्र'से पहलवी अनुवाद काफी भिन्न है। इनके अतिरिक्त 'तन्त्राख्यायिका' मिली है, जो 'पंचतन्त्र'के सीरियाई अनुवादसे अधिक मेल खाती है। 'हितोपदेश' 'पंचतन्त्र'का ही एक उत्तर-कालीन संस्करण है।

नीतिकथाके प्रचुर ग्रन्थ जैन और बौद्ध साहित्यमें मिलते हैं। कथाओंके द्वारा हर एक सम्प्रदायने अपने सिद्धान्तोंका प्रचार जनसमाजमें किया और इसके सूक्ष्म अध्ययनसे पता चलता है कि प्रत्येक सम्प्रदायने बहुधा एक ही कथाको अपने-अपने सम्प्रदायकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न रूप दे दिया है।

आरम्भमें काव्य अलंकारपर आश्रित था और यदि वाक्यमें उपमा, अतिशयोक्ति आदि कोई अलंकार प्राप्त हो तो उसे ही काव्यकी संज्ञा दी जाती थी। धीरे-धीरे काव्य-शास्त्रपर ग्रन्थ रचे गये। आरम्भमें उन्हें अलंकारशास्त्र कहते थे। काव्यके दो प्रमुख अंग हैं—श्रव्य और दृश्य। दृश्य काव्यका सबसे पुराना शास्त्र भरत मुनिका 'नाट्यशास्त्र' है। इसके उपरान्त धनंजयका 'दशरूपक' आता है। सम्पूर्ण काव्यके सिद्धान्तोंका विवेचन हमें दण्डीके 'काव्यादर्श', वामनके 'काव्यालंकारसूत्र', आनन्दवर्धनके 'ध्वन्यालोक', मम्मटके 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण' और पण्डितराज जगन्नाथके 'रसगंगाधर'में मिलता है। काव्यके सिद्धान्तों और रसानुभूतिके विषयमें जैसा विवेचन और

विश्लेषण संस्कृतमें है, वैसा अन्यत्र अप्राप्य है।

संस्कृत वाङ्मयमें इतिहासके अतिरिक्त पुराण नामसे १८ ग्रन्थ सम्मिलित हैं। पुराणका लक्षण है—'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्।' इस लक्षणके अनुसार पुराणोंमें सृष्टिकी उत्पत्ति, उसका संहार, वंशावली, मन्वन्तरोंका वर्णन और प्रसिद्ध राजवंश(सूर्यवंश और चन्द्रवंश)के राजाओंका उल्लेख और उनके चरित्रका वर्णन पाया जाता है। इसके अतिरिक्त उनमें अनेक कथाएँ, भारतवर्षके मौर्य, गुप्त आदि राजवंशोंका वर्णन आदि बहुत सी सामग्री मिलती है। कई पुराणोंमें ज्योतिष, शरीरविज्ञान, अलंकारशास्त्र, व्याकरण आदि विषय भी पाये जाते हैं। इनकी शैली वर्णनात्मक है, किन्तु 'भागवत' आदि कुछ पुराणोंमें यत्र तत्र उत्तम काव्यकी शैली भी मिलती है।

इन पुराणोंकी रचना भिन्न-भिन्न समयमें हुई होगी। इनकी कुछ सामग्री काफी पुरानी है। पुराणोंका निर्माण-काल ईसवी सन् दूसरी तीसरी शताब्दीसे लेकर आठवीं-नवीं शताब्दीतक समझा जाता है। पुराणोंके कर्ता व्यास माने जाते हैं। सम्भव है, इनकी देख रेखमें प्राचीन पुराणोंका संकलन हुआ हो और बादके पुराण भी इन्हींके नामसे प्रचलित हो गये हों। १८ पुराणोंके अतिरिक्त १८ उपपुराण भी हैं। इनके भी कर्ता व्यास ही माने जाते हैं। पुराण-साहित्यका महत्त्व उसकी सामग्रीके कारण है, जिसका उपयोग भारतवर्षके इतिहास, भूगोल, पुरातत्त्व, सभ्यता और संस्कृति आदिके अध्ययनके लिए किया जा सकता है, किन्तु इसकी सामग्री ऐसे रूपमें है जिसमें भ्रम हो जानेकी अधिक सम्भावना है।

दर्शनके मूल तत्त्वोंका बीज हमें वैदिक संहिताओंमें ही मिल जाता है। उत्तरकालीन वैदिक साहित्यमें इसका विशेष स्थान है। सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त, ये ६ दर्शन आस्तिक-दर्शन माने जाते हैं। इनके सूत्रग्रन्थ उपलब्ध हैं और इनके भाष्य, टीकाएँ और व्याख्याएँ प्रचुर मात्रामें वर्तमान हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृतमें जैन-दर्शन, बौद्ध-दर्शनपर भी यथेष्ट ग्रन्थ हैं। भारतमें चार्वाक दर्शन प्रसिद्ध रहा है। बहुत कुछ इन्हीं दर्शनोंके अनुसार भारतमें भिन्न-भिन्न धर्मों और सम्प्रदायोंका अस्तित्व है।

ऊपर वैदिक ग्रन्थोंके धर्मसूत्रोंका उल्लेख हो चुका है। धर्मसूत्रोंके अतिरिक्त स्मृतियाँ हैं। इनमें सबसे प्राचीन 'मनुस्मृति' है। अनुमान है कि यह किसी धर्मसूत्र-(मानवधर्मसूत्र)का बृहत् संस्करण है। इसका निर्माणकाल ईसाकी दूसरी तीसरी शताब्दी समझा जाता है। इसके अतिरिक्त 'याज्ञवल्क्यस्मृति,' 'नारदस्मृति' और 'पाराशर-स्मृति' भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

वेदों और वेदांगोंके अतिरिक्त चार उपवेद हैं। इनके नाम हैं आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद और अर्थवेद। आयुर्वेदके सबसे पुराने ग्रन्थ 'चरकसंहिता' और 'सुश्रुत-संहिता' हैं। 'सुश्रुतसंहिता'में शल्यचिकित्साका विशेष महत्त्व है। आयुर्वेदका अध्ययन भारतवर्षमें बहुत पुराना है और 'चरकसंहिता'का समय ईसापूर्व दूसरी शताब्दी समझा जाता है। गान्धर्ववेदका बीज सामवेद में ही है। भरतके 'नाट्यशास्त्र'में इसका विशेष विवरण मिलता है। धनुर्वेदका कोई पुराना ग्रन्थ नहीं मिलता। अर्थवेदपर सबसे प्राचीन ग्रन्थ कौटिल्यका 'अर्थशास्त्र' है। विश्वास है कि कौटिल्य और चाणक्य एक ही व्यक्तिके नाम हैं। अर्थशास्त्रमें राज्यप्रबन्ध, राजनीति, समाजका आर्थिक संघटन आदि सभी विषय सम्मलित हैं।

वैदिक शब्दोंका कोश निघण्टु था और उसकी व्याख्या निरुक्त। इसी परम्परामें लौकिक भाषाके भी कोश बने। प्राप्त कोशग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन अमर सिंहका 'अमरकोश' है। इसका निर्माण-काल ईसवी सन्‌की चौथी-पाँचवीं शताब्दी समझा जाता है। इसके उपरान्त और बहुत-से कोश बने।

संस्कृत वाङ्मयपर एक विहंगम दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि इसमें मानव-जातिसे सम्बद्ध प्रत्येक विषयकी सामग्री है। यह वाङ्मय अत्यन्त समृद्ध और उपादेय है। वर्तमान भारतके साहित्यका स्रोत सर्वथा संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध है। मनुष्यको उन्नत करनेके लिए जो सामग्री संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आध्यात्मिक दृष्टिसे संस्कृतका साहित्य संसारकी सभी भाषाओंमें सर्वोच्च है।

[सहायक ग्रन्थ—संस्कृत साहित्यका इतिहास : बलदेव उपाध्याय।] —बा० रा० स०

संस्कृति—संस्कृति शब्द सम् उपसर्गके साथ संस्कृतकी (डु) कृ (ञ्) धातुसे बनता है, जिसका मूल अर्थ साफ या परिष्कृत करना है। आजकी हिन्दीमें यह अँग्रेजी शब्द 'कल्चर'का पर्याय माना जाता है। संस्कृति शब्दका प्रयोग कमसे कम दो अर्थोंमें होता है, एक व्यापक और एक संकीर्ण अर्थमें। व्यापक अर्थमें उक्त शब्दका प्रयोग नर-विज्ञानमें किया जाता है। उक्त विज्ञानके अनुसार संस्कृति समस्त सीखे हुए व्यवहार अथवा उस व्यवहारका नाम है, जो सामाजिक परम्परासे प्राप्त होता है। इस अर्थमें संस्कृतिको 'सामाजिक प्रथा'(कस्टम)का पर्याय भी कहा जाता है। संकीर्ण अर्थमें संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है और संस्कृत व्यक्ति एक श्लाघ्य व्यक्ति समझा जाता है। इस अर्थमें संस्कृति प्रायः उन गुणोंका समुदाय समझी जाती है जो व्यक्तित्वको परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं। नर-विज्ञानियोंके अनुसार 'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्द पर्यायवाची हैं।

हमारी समझमें संस्कृति और सभ्यतामें अन्तर किया जाना चाहिये। सभ्यतासे तात्पर्य उन आविष्कारों, उत्पादनके साधनों एवं सामाजिक राजनीतिक संस्थाओंसे समझना चाहिये, जिनके द्वारा मनुष्यकी जीवन-यात्रा सरल एवं स्वतन्त्रताका मार्ग प्रशस्त होता है। इसके विपरीत संस्कृतिका अर्थ चिन्तन तथा कलात्मक सर्जनकी वे क्रियाएँ समझनी चाहिये, जो मानव व्यक्तित्व और जीवनके लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए उसे समृद्ध बनानेवाली हैं। इस दृष्टिसे हम विभिन्न शास्त्रों, दर्शन आदिमें होनेवाले चिन्तन, साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परहित-साधन आदि नैतिक आदर्शों तथा व्यापारोंको संस्कृतिकी

नहा देते। मोक्षधर्म अथवा पूर्णत्वकी खोज भी सस्कृतिका अंग मानी जायगी। थोड़े शब्दोंमें और व्यापक अर्थमें किसी देशकी सस्कृतिसे हम मानव-जीवन तथा व्यक्तित्वके उन रूपोंको समझ सकते हैं, जिन्हें देश-विशेषके लिए महत्त्वपूर्ण अर्थात् मूल्योंका अधिष्ठान समझा जाता है। उदाहरणके लिए, भारतीय सस्कृतिमें 'मातृत्व' और 'स्थितिप्रज्ञता'की स्थितियोंको महत्त्वपूर्ण समझा जाता है, यह स्थितियाँ जीवन अथवा व्यक्तित्वकी स्थितियाँ हैं और इस प्रकार भारतीय सस्कृतिका अग हैं। —दे०

संस्कृति, पाश्चात्य–पाश्चात्य सस्कृतिकी चर्चा प्राय इसे एशियाई अथवा भारतीय सस्कृतिसे पृथक् करनेके प्रसगमें आती है। पाश्चात्य सस्कृति मुख्यत प्राचीन यूनान एव आधुनिक यूरोप तथा अमेरिकाकी सस्कृति है। मध्ययुगीन यूरोपकी सस्कृति भारतीय मध्ययुगकी भाँति धर्म तथा परलोकप्रधान थी। प्राचीन यूनानी वैदिक आर्योंकी भाँति उतने परलोक परायण नहीं थे। प्राचीन यूनानसे लेकर अवतक यदि हम यूरोपीय दर्शनकी तुलना भारतीय दर्शनसे करें तो एक बड़ा अन्तर दिखाई देता है। भारतीय दर्शनमें मुख्यत अपनी आत्माके ज्ञानपर जोर दिया गया है, वेदान्तका ब्रह्म भी आत्मा ही है। भारतीय चिन्तामें मोक्ष नामक तत्त्वका भी बहुत महत्त्व है। मोक्ष आत्माका चरम गन्तव्य है। इसके विपरीत यूरोपीय दर्शनमें बाह्य अर्थात् भौतिक जगत्की व्याख्या तथा ज्ञानपर अधिक बल दिया गया है। दूसरे शब्दोंमें कहा जाता है कि भारत तथा अन्य एशियाई देशोंकी अपेक्षा यूरोपकी अभिरुचि विज्ञानकी ओर अधिक रही है। इस तथ्यका एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन यह भी है कि यूरोपके अधिकाश बड़े दार्शनिक गणितशास्त्रके पण्डित और उनमेंसे कुछ वैज्ञानिक भी थे, जैसे, अफलातून (प्लेटो), देकार्ट, लाइबनीज, काण्ट, रसेल, ह्वाइटहेड आदि। यह लक्ष्य करनेकी बात है कि भारतवर्ष और सम्भवत चीनका भी कोई दार्शनिक गणित शास्त्री अथवा प्राणिशास्त्रका ज्ञाता नहीं था।

पाश्चात्य दार्शनिकोंने राजनीति, आचारशास्त्र आदिके सम्बन्धमें भी व्यवस्थित चिन्तन किया है, जब कि भारतीय दार्शनिक प्राय इन चीजोंके प्रति उदासीन रहे हैं। सम्भवत इसी कारण यूरोपमें अनेक शासन व्यवस्थाओंका जन्म एव विकास हुआ, वहाँ अनेक राज्य-क्रान्तियाँ भी हुईं। निष्कर्ष यह है कि यूरोपीय विचारकोंकी, हमारे भारतवर्षकी तुलनामें, सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्थामें अधिक अभिरुचि रही है। वहाँके अध्यात्मवादी या प्रत्ययवादी विचारक प्राय विश्वको परब्रह्मकी अभिव्यक्ति कहते रहे हैं, मायिक नहीं। भारतकी अपेक्षा यूरोपके निवासियोंमें राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रताकी आकाक्षा अधिक बलवती रही है। आधुनिक यूरोप तथा अमेरिकाकी वैज्ञानिक मनोवृत्ति उनकी सस्कृतिकी स्थायी विशेषता बन गयी है। इस मनोवृत्तिके कारण पश्चिमके देश सहज ही समृद्धिशाली और शक्तिमान् बन सके हैं।

कतिपय यूरोपीय पण्डितोंके अनुसार राज्यके कानूनके प्रति आदर-भावना यूरोपीय सस्कृतिका एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कानूनकी रक्षाके लिए शक्तिका प्रयोग उक्त सस्कृतिमें वैध और आवश्यक समझा जाता है। इसलिए इस दृष्टिसे (नार्थ्रापके अनुसार) यूरोपीय मनोवृत्ति भारतके प्राचीन आर्योंकी मनोवृत्तिके निकट और विशुद्ध एशियाई शान्तिवाद एव अहिंसावादसे भिन्न है। —दे०

संस्कृति, भारतीय–भारतीय सस्कृतिकी परिभाषा देना अथवा थोड़े शब्दोंमें उसका वर्णन करना नितान्त कठिन है। कारण यह है कि भारतके लम्बे इतिहासमें इसकी सस्कृतिपर अनेक प्रभाव पड़ते रहे हैं, जिसके फलस्वरूप उसका रूप न्यूनाधिक परिवर्तित होता रहा है। भारतवर्ष अनेक जातियों, धर्मों तथा (नर-विज्ञानके अर्थमें) 'सस्कृतियों'का सगमस्थल बनता रहा है। स्वय हिन्दू-धर्मके प्राचीन वैदिक रूप, कालिदासके समयके 'क्लासिकल' रूप तथा बादके पौराणिक रूपमें काफी अन्तर है। इसके अतिरिक्त इस देशमें समय-समयपर, विभिन्न प्रदेशोंमें, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई धर्म आदिका प्रभाव भी पड़ता रहा है। यही बात भारतीय शासन-व्यवस्था, सामाजिक सगठन, दर्शन, साहित्य, कला आदिपर भी लागू है।

इस सबके बावजूद भारतीय सस्कृतिकी कुछ विशेषताएँ हैं, जो उसे दूसरे देशोंकी सस्कृतियोंसे जुदा करती हैं। भारतीय सस्कृतिकी एक विशेषता है, उसकी समन्वय-भावना। भारतवर्ष अनेक देवी-देवताओंका देश रहा है, जहाँ धार्मिक पूजा एव उपासनाके अनेक रूप साथ साथ प्रचलित रहे हैं। स्वय हिन्दू धर्मके अन्तर्गत अनेक दार्शनिक सिद्धान्त, अनेक उपास्य देवता एव मोक्ष या निर्वाण-प्राप्तिके लिए अनेक मार्ग (जैसे, ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग) स्वीकृत किये गये हैं। सामान्यत हिन्दू मस्तिष्क इन विविध सिद्धान्तों तथा मार्गोंके प्रति सहिष्णु रहा है। यह सहिष्णुता एव समन्वय-भावना हिन्दू सस्कृति अथवा भारतीय सस्कृतिकी एक प्रमुख विशेषता है। कहा गया है कि जिस प्रकार समस्त नदी-नदोंका जल समुद्रकी ओर जाता है, उसी प्रकार विभिन्न मार्गोंसे चलते हुए मनुष्य एक ही गन्तव्यकी ओर अग्रसर होते हैं।

भारतीय संस्कृतिकी दूसरी विशेषता उसके दर्शनोंके इस मन्तव्यमें प्रतिफलित है कि जीवनका लक्ष्य (मोक्ष या निर्वाण) इस व्यावहारिक जीवन और जगत्का अतिक्रमण करनेवाली स्थिति है। इस जीवन और जगत्के मूल्य चरम नहीं हैं। इसके साथ ही भारतीय सस्कृति यह मानती है कि अच्छे-बुरे कर्मोंका फल अवश्य मिलता है और इस जीवनमें समुचित प्रयत्न करके हम परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्षको प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय आश्रम-व्यवस्था इस बातपर जोर देती है कि जीवन-यात्राके मध्यबिन्दुतक पहुँचकर मनुष्यको सासारिक भोगैश्वर्योंके प्रति उदासीन हो जाना चाहिये। यही शिक्षा कर्मयोग अथवा निष्काम-कर्मके सिद्धान्तमें भी निहित है। सक्षेपमें यह अनासक्तिकी शिक्षा भारतीय धर्म और सस्कृतिका आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अंग है। उक्त अर्थमें अनासक्त रहते हुए मनुष्य ससारमें रहे और जीवनके वर्णाश्रमानुसारी कर्तव्योंका पालन करे, यह हिन्दूधर्म और सस्कृतिकी व्यापक शिक्षा है। विशुद्ध रूपमें भारतीय अन्य सम्प्रदायों तथा धर्मोंकी शिक्षा भी इसके अनुकूल ही है। हिन्दू तथा भारतीय

संस्कृतिका सबसे उदात्त रूप संस्कृत महाकाव्यों तथा बौद्ध धर्मकी शिक्षाओंमें प्रतिफलित हुआ है। —दे०

संस्कृति, यूनानी–यूनानी संस्कृति यूरोपकी प्रथम महत्त्वपूर्ण संस्कृति है, जिसने आधुनिक यूरोपीय संस्कृतिको प्रेरणा दी है। यूनानी लोग बहुदेववादी थे, किन्तु वे किसी अपौरुषेय ग्रन्थके विश्वासी न थे। उनकी मनोवृत्तिमें धार्मिककी अपेक्षा वैज्ञानिक तत्त्व प्रधान थे। यूनानियोंने गणित, विशेषत ज्यामितिके क्षेत्रमें विशेष उन्नति की। अधिकाश यूनानी विचारक बुद्धिवादी थे। प्लेटो-(अफलातून)के अनुसार चरम तत्त्व बुद्धिगम्य है। उसके तथा अरस्तूके मतमें बौद्धिक चिन्तनका जीवन आदर्श जीवन है। यों अरस्तूकी यह भी मान्यता है कि धर्मका मार्ग अतियोंको बचाकर चलनेवाला मध्यमार्ग है।

यूनानी सौन्दर्यशास्त्र अनुपात तथा सीमाभाव(लिमिट)-पर गौरव देता है। अनन्त या भूमाकी धारणा यूनानियोंको प्रिय नहीं है।

यूनानी साहित्यमें महाकाव्य एव नाटकोंका विशेष विकास हुआ। यूनानी साहित्यशास्त्रमें कविता, नाटक तथा वक्तृत्व-कलापर विशद चिन्तन हुआ है। यूनानी नाटकमें तीन एकताओंके निर्वाहपर बल दिया गया है। —दे०

संस्मरण–व्यापक रूपसे संस्मरण आत्मचरितके अन्तर्गत आ जाता है, परन्तु इन दोनोंके दृष्टिकोणमें मौलिक अन्तर है। आत्मचरितके लेखकका मुख्य उद्देश्य अपनी जीवन-कथाका वर्णन करना रहता है। उसमें कथाका प्रमुख पात्र स्वय लेखक होता है और अन्य इतिहासकी घटनाओं और परिस्थितियोंका केवल वही रूप उसमें आता है, जो उसके जीवन-क्रमको प्रभावित, सचालित या नियन्त्रित करता है अथवा जो उससे प्रभावित होता है। इसके विपरीत ससरणका दृष्टिकोण अलग है। इसमें लेखक अपने समयके इतिहासको लिखना चाहता है। परन्तु इतिहासकारके वस्तुपरक रूपसे वह बिलकुल अलग है। ससरण-लेखक जो स्वय देखता है, जिसका वह स्वयं अनुभव करता है, उसीका वर्णन करता है। उसके वर्णनमें उसकी अपनी अनुभूतियाँ, सवेदनाएँ भी रहती हैं। इस दृष्टिसे शैलीमें वह निवन्धकार-के समीप है। वह वास्तवमें अपने चतुर्दिक्‌के जीवनका सर्जन करता है, सम्पूर्ण भावना और जीवनके साथ। इतिहासकारके समान वह विवरण प्रस्तुत करनेवाला नहीं हैं। पश्चिमके साहित्यमें साहित्यकारोंके साथ साथ बड़े-बडे राजनीतिक नेताओं, सेनापतियों आदिने ससरण लिखे हैं, जिनका साहित्यिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। ससरण लेखक यदि अपने सम्बन्धमें लिखे तो उसकी रचना आत्मकथाके निकट होगी, यदि अन्य व्यक्तियोंके विषयमें लिखे तो जीवनीके निकट। इन दो प्रकारके संस्मरणोंको अँग्रेजीमें क्रमश 'रेमिनिसेंसेज' और 'मेम्वायर्स' कहते हैं। इस दृष्टिसे स्मृतिके आधारपर किसी विषय या व्यक्तिके सम्बन्धमें लिखित लेख या ग्रन्थको संस्मरण कह सकते हैं। **यात्रासाहित्य** (दे०) भी एक प्रकारसे ससरण-साहित्य ही है।

हिन्दीमें इस साहित्यरूपका प्रचलन आधुनिक कालमें पश्चिमी प्रभाव और उसके वातावरणमें हुआ है। परन्तु ससरण-लेखनके क्षेत्रमें प्रौढ तथा सफल रचनाएँ मिलती हैं। हिन्दीके प्रारम्भिक संस्मरण-लेखकोंमें पद्मसिंह शर्मा प्रमुख हैं। बनारसीदास चतुर्वेदीकी 'संस्मरण' तथा 'हमारे अपराध' कृतियोंमें उनके जीवनके विविध संस्मरण आकर्षक शैलीमें प्रस्तुत किये गये हैं। इनके बाद हिन्दीके कई प्रसिद्ध लेखकोंने ससरण लिखे हैं। महादेवीके 'अतीतके चलचित्र' तथा 'स्मृतिकी रेखाएँ' और रामवृक्ष बेनीपुरीकी 'माटीकी मूरतें'में जीवनमें आनेवाले विभिन्न साधारण पात्रोंका कोमल तथा सजीव चित्रण है। देवेन्द्र सत्यार्थीने लोकगीतोंके सग्रहकार्यके लिए विभिन्न क्षेत्रोंमें यात्रा की है और वहाँके संस्मरणोंको भावुक शैलीमें अकित किया है—'क्या गोरी, क्या साँवरी', 'रेखाएँ बोल उठीं'। भदन्त आनन्द कौसल्यायनने अपने यात्रा-जीवनकी विविध घटनाओं और परिस्थितियोंको उनके पात्रोंके साथ अपने ससरणोंमें स्थान दिया है–'जो न भूल सका', 'जो लिखना पडा'। शान्तिप्रिय द्विवेदीके 'पथचिह्न' तथा 'परिव्राजककी प्रजा' संस्मरणात्मक शैलीमें लिखे गये हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकरके 'भूले हुए चेहरे'में स्मृतिमें आये हुए अतीतके विभिन्न पात्रोंके संस्मरण भावानुभूतिके साथ अकित हैं। वस्तुत ससरण-साहित्यका बहुत अश अभीतक पत्र पत्रिकाओंमें बिखरा पड़ा है।

कभी कभी संस्मरणको **निबन्ध**की एक प्रवृत्ति माना जाता है। ऐसी रचनाओंको ससरणात्मक निबन्ध कहा जा सकता है। 'मेरी असफलताएँ' गुलाब रायके संस्मरणात्मक निबन्धोंका सग्रह है। —र०, अ० कु०

सकाम भक्ति–दे०—'निष्काम भक्ति'।

सखी–दे०—'गोपी'।

सखी (नायिका)–शृगार रसके उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत सखी आती है। भरतने सखीको दूतीके अन्तर्गत एक भेदके रूपमें स्वीकार किया है। यद्यपि रुद्रभट्टके 'शृगारतिलक'में सखियोंका विभाजन है, पर उसके अन्तर्गत कर्मकी दृष्टिसे दूतीभाव प्रधान है। परन्तु अधिकाश संस्कृत आचार्यों(भरत, धनजय, शारदातनय, वाग्भट, विश्वनाथ)ने दूती अथवा नायिकासहायाके रूपमें विभाजन किया है और उसके अन्तर्गत सखी भी आयी है। परन्तु भानुदत्त-ने सखी और दूतीका विभेद स्पष्टत स्वीकार किया है—'विश्वासविश्रामकारिणी पार्श्वचारिणी सखी। (र० म० पृ० १५६), अर्थात् जो नायिकाके साथ सहचरी रूपमें रहे ओर उसको विश्वास तथा विश्राम प्रदान करे, उसे सखी कहा है। हिन्दीमें प्राय कवियोंने ऐसा ही किया है। मतिरामके अनुसार सखीकी ऐसी ही परिभाषा है–'जा तिय-सो नहिं नायिका कछु छिपावे बात। तासो वरनत कह सखी कवि मति अति अवदात।' (र०रा० पृ० २८८)। अधि-काश हिन्दी लेखकोंने इसका विभाजन नहीं किया है, जैसे, कृपाराम, रहीम, सुन्दर, मतिराम, देव, पद्माकर, बेनीप्रवीन, नन्दराम, लछिराम, प्रतापनारायण, बिहारीलाल भट्ट।

परन्तु जिन्होंने विभाजन किया है उनकी संख्या भी कम नहीं है—केशव, तोष, रसलीन, दास, चन्द्रशेखर, भानु, हरिऔध तथा गुलाब राय। केशवकी तेरह सखियोंकी

सूची है—'धाइ जनी नाइन नटी, प्रगट परोसिन नारि। मालिन बरइन सिल्पिनी, चुरिहेरिनी सुनारि। रामजनी सन्यासिनी, पटु पटुवीकी बाल। केसव नायक-नायिका, सखी करहिं सब काल।' (र०प्रि० १२ · १-२)। यह सूची अपनी प्रकृतिमें भरतकी इस सूचीसे भिन्न नहीं है—प्रतिवेश्या (पड़ोसिन), सखी, दासी, कुमारी, दारुशिल्पिका, धात्री, पाखण्डिनी, ईक्षणिका, वाधनी, लिंगिनी तथा रंगोपजीवना। संस्कृतके कई लेखकोंका विभाजन भरतपर आधारित है, जैसे, रुद्रभट्टके भेद—कारु, दासी, नटी, धात्री, प्रतिवेश्या, शिल्पिनी, बाला तथा प्रव्रजिता।

तोषके अनुसार सखीके चार भेद हैं। **हितकारिणी**—जो सदा नायिकाका हित अपने ध्यानमें रखती है। **अन्तर्वर्तिनी**—जो नायिकाकी पूर्ण विश्वासपात्री होती है और उसके हृदयके रहस्यसे परिचित होती है। **विदग्धा**—चतुर सखी, जो अपने वचनचातुर्यसे नायिकाका कार्य सम्पादन करती है। **सहचरी**—जो सदा नायिकाके साथ रहती है। रसलीनने इस विभाजनको अपनाया है, केवल प्रथमको छोड़कर अन्योंके लिए क्रमशः विज्ञान-विदग्धा, अन्तरंगिनी तथा बहिरंगिनी शब्दोंका प्रयोग किया है। दासने सखीके तीन भेद दिये हैं **साधारन**—सामान्य सखी है, **नायिकाहित**—जो नायिकाके हितमें संलग्न रहती है, **नायकहित**—जो नायकके हितका चिन्तन करती है। चन्द्रशेखरने दो सखियाँ बतायी हैं, बहिरंग तथा अन्तरंग, जो रसलीनके विभाजनमें सम्मिलित हैं। भानु, हरिऔध तथा गुलाब रायने रसलीनके वर्गीकरणको अपनाया है, केवल विज्ञानके स्थानपर व्यंग्यविदग्धा कर दिया है।

सखी-कर्म—उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत प्रयुक्त सखीके कर्तव्योंपर जो विचार किया गया है उसे सखी कर्मके नामसे पुकारा गया है। सर्वप्रथम सखीके कार्योंका विचार भानुदत्तने संस्कृतमें किया है—'अस्या मण्डनोपालम्भशिक्षापरिहासप्रभृतीनि कर्माणि।' (र०म० पृ० १५६), इसके मण्डन, उपालम्भ, शिक्षा तथा परिहास आदि कर्म हैं। इस विषयपर विचार करनेवाले लेखकोंने प्रायः इन भेदोंको स्वीकार किया है। मतिरामने भानुदत्तकी बात कह दी है—'मण्डन अरु शिक्षा करन उपालम्भ परिहास।' (र०रा० पृ० २८९)। **मण्डन**—नायिकाका शृंगार किया जाना मण्डन है। पद्माकरने 'तियहि सिंगारिबौ' कह कर उदाहरण दिया है—'कहा करौं जो आँगुरिन अनी घनी चुभि जाय। अनियारे चख लखि सखी कजरा देत डराय।' (जगद्वि० भा० २ · २१)। **शिक्षा**को पद्माकर 'विनयविलास' कहते हैं और भानुने 'सखि विलास सिख देन' कहा है। सखी नायकाको शालीनता तथा विनयकी शिक्षा देती है—'बहत लाल बूड़त सुमन भ्रमन नैन तेहि ठाँव। नेह नदीकी धारमें तू न दीजियो पाँव।' (वही वही २२)। **उपालम्भ**—सखी द्वारा उलाहना दिया जाना—'वाको मनु लीने लला बोलो बोल रसाल। झुकन ललक ही बातमें ललित बेलि बर बाल।' (मतिराम र०रा० · २९५)। **परिहास**—ऐसे कृत्य करना जिससे हासकी सृष्टि हो, भानुके अनुसार—'मोद हृदय परिहास निय जासों होय निहाल।' (र० र० पृ० ६५)। पद्माकरने उदाहरण इस प्रकार दिया है—'को तेरो यह साँवरो यों बूझ्यो सखि आय। मुखतें कह्यो न बात कछु रही सुमुखि मुख नाय।' (जगद्वि० भा० २ २८)।

कृपाराम, केशव, देव तथा दासने इस वर्गीकरणका कुछ विस्तार किया है। कृपारामका एक भेद **निरीक्षण** है, जिसका अर्थ है कि नायिका-नायकके मिलनके अवसरपर देख भाल रखना। केशवने विनय, 'मनाइबो', 'मिलैबो' तथा 'झुकिबो'को सखीजनकर्म माना है। केशवने परिहास छोड़ भी दिया है। देवने 'रसविलास'में सखीके दस कर्म और 'भावविलास'में आठ कर्म गिनाये हैं, जिनमेंसे पहलेमें गुणकथन, 'रसउपजइबो', 'परस्पर दिखावन' 'विरह निवेदन' तथा 'सन्देसकथन' और दूसरेमें पार्श्वचारिता, सघटन तथा विरहाश्वासन नये भेद हैं। दासने सखियोंके काममें 'सन्दरसन' अर्थात् एक दूसरेको दिखलाना, 'मानप्रवर्जना' (मनाना), पत्रिकादान, स्तुति, विनय तथा यद्रक्षा अधिक माने हैं। परन्तु यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि इन कवियोंमें सखी और दूतीका अन्तर्भाव भी हुआ है।

सखी-भाव—दे०—'गोपी'।

सखी-संप्रदाय—सखी सम्प्रदाय निम्बार्क-मतकी एक अवान्तर शाखा है। इस सम्प्रदायके संस्थापक स्वामी हरिदास थे। हरिदासजी पहले निम्बार्क-मतके अनुयायी थे, परन्तु कालान्तरमें भगवद्भक्तिके लिए गोपीभावको उन्नत और उपयुक्त साधन मानकर उन्होंने इस स्वतन्त्र सम्प्रदायकी स्थापना की। हरिदासका जन्मसमय भाद्रपद शुक्ल अष्टमी, सं० १४४१ है। ये स्वभावतः विरक्त और भावुक थे।

सखी-सम्प्रदायके अन्तर्गत वेदान्तके किसी विशेष वाद या विचारधाराका प्रतिपादन नहीं हुआ, वरन् सगुण कृष्णकी सखी-भावनासे उपासना करना ही उनकी साधनाका एकमात्र ध्येय और लक्ष्य है। इसे भक्ति-सम्प्रदायका एक साधन-मार्ग कहना अधिक उपयुक्त होगा। नाभादासजीने अपने 'भक्तमाल'में कहा है कि सखी-सम्प्रदायमें राधा-कृष्णकी उपासना और आराधनाकी लीलाओंका अवलोकन साधक सखी-भावसे करता है। सखी-सम्प्रदायमें प्रेमकी गम्भीरता और निर्मलता दर्शनीय है। हरिदासके पदोंमें भी प्रेमको ही प्रधानता दी गयी है। हरिदास तथा सखी सम्प्रदायके अन्य कवियोंकी रचनाओंमें प्रेमकी उत्कृष्टता और महत्ताको सिद्ध करनेके लिए भाँति-भाँतिसे ज्ञानकी व्यर्थता और अनुपादेयता प्रकाशित की गयी है। इनके मतसे प्रेमसागर पार करनेके लिए ज्ञानकी सार्थकता नहीं है। ज्ञानमें भवसागरसे पार उतारनेकी क्षमता नहीं है। श्रीकृष्णकी प्रेमानुगा भक्तिमें दिव्य शक्ति है। उन्हींके चरणोंमें अपनेको न्योछावर कर देना अपेक्षित है। सखी-सम्प्रदायमें उपासना-माधुर्य, प्रेमकी गम्भीरता और मधुर रसकी विशेषता है।

हरिदासके प्रधान शिष्य विट्ठल विपुल, विहारनिदेव, सरसदेव, नरहरिदेव, रसिकदेव, ललितकिशोरीजी, ललितमोहिनीजी, चतुरदास, ठाकुरदास, राधिकादास, सखीशरण, राधाप्रसाद, भगवानदास हैं। इनमेंसे प्रायः सभी अच्छे कवि हुए हैं। इनकी रचनाओंमें ब्रजभाषाका सुन्दर और परिमार्जित रूप व्यक्त हुआ है। हरिदासकी विहार-

विषयक पदावली 'केलिमाला'के नामसे प्रसिद्ध है। इनकी रस-पेशल वाणीमें माधुर्य और हृदयके उदात्त भाव, प्रेमका भव्य रूप दर्शनीय है। भगवत् रसिककी पाँच रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—'अनन्यनिश्चयात्मक', 'श्रीनित्य-विहारी युगल ध्यान', 'अनन्यरसिकाभरण', 'निश्चयात्मक ग्रन्थ उत्तरार्ध' तथा 'निर्बोध मनरंजन'। भगवत् रसिककी बानीके नामसे इनका काव्यसंग्रह प्रकाशित हुआ है। सहचरिशरण और सखिशरणकी फुटकर रचनाओंके अतिरिक्त दो और पुस्तकें हैं—'ललितप्रकाश' तथा 'सरस मंजावली'। ये ग्रन्थ सम्प्रदायके इतिहास और साधनापक्षपर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

[सहायक ग्रन्थ— 'ब्रजमाधुरीसार' वियोगी हरि] —त्रि० ना० दी०

सगुणधारा—हिन्दी साहित्यके इतिहासके अन्तर्गत भक्तिकाल(दे०)की एक विशेष शाखा। दे०—'सगुण-सम्प्रदाय', 'रामभक्ति-शाखा' (हिन्दी राम-साहित्य), 'कृष्ण-भक्ति-शाखा'।

सगुण-संप्रदाय—पांचरात्र या भागवत मतके अनुसार ब्रह्म अद्वैत, अनादि, अनन्त, निर्विकार, निरवद्य, अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, असीम आनन्द स्वरूप है। वह प्राकृत गुण—सत्त्व, रज और तमसे हीन है, आकार, देश और कालसे रहित, पूर्ण, नित्य और व्यापक है। परन्तु उसमें अप्राकृत गुण माने गये हैं। षट्गुणयुक्त होनेके कारण वही परब्रह्म 'भगवान्' कहा जाता है। सब द्वन्द्वोंसे विनिर्मुक्त, सब उपाधियोंसे विवर्जित, सब कारणोंका कारण, षट्गुणरूप परब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। अप्राकृत गुणोंसे हीन होनेके कारण वह निर्गुण है तथा षट्गुणयुक्त होनेके कारण सगुण है। छ गुण हैं—ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज। 'ज्ञान' अजड, स्वप्रकाश, नित्य और सर्वस्वका अवगाहन करनेवाला गुण है। 'शक्ति' जगत्का उपादान कारण है। 'ऐश्वर्य' जगत्के कर्तृत्वमें स्वतन्त्रताके गुणका नाम है। जगत्के निर्माणमें श्रमके अभावको ही 'बल' कहते हैं। जगत्का उपादान कारण होनेपर भी विकार-रहित होनेका गुण ही 'वीर्य' है। जगत्की सृष्टिमें किसी सहकारीकी अनावश्यकता ही 'तेज' है।

जगत्के कल्याणके लिए भगवान् अपने-आप ही व्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अन्तर्यामी—चार रूपोंकी सृष्टि करते हैं। व्यूह चार हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। षट्गुणयुक्त भगवान् ही समस्त भूतवासी होनेके कारण वासुदेव कहलाते हैं। परन्तु शेष तीन व्यूहोंमें दो दो गुणोंकी विद्यमानता होती है। विभवका अर्थ है अवतार, जो मुख्य और गौण, दो प्रकारके होते हैं। 'अर्चावतार' भगवान्की प्रस्तरीय मूर्तियाँ हैं, जो अवतारके रूपमें पूजाके उपयोगमें आती हैं। सब प्राणियोंके हृदयोंमें निवास करने-वाले भगवान् 'अन्तर्यामी' कहे जाते हैं।

शंकराचार्यने पांचरात्रके उपर्युक्त मतका खण्डन किया है और इसे अवैदिक बताया है। परन्तु रामानुजाचार्यने उसे वेद-विहित सिद्ध कर बादरायणके ब्रह्मसूत्रोंकी व्याख्या 'श्रीभाष्य'में उसे प्रामाणिक कहा है। इसी मतके आधार-पर मध्ययुगमें वैष्णव भक्तिमार्गका प्रचार और भगवान्के विभवावतारोंकी लीलाओंका वर्णन-कीर्तन किया गया है। भक्तिके अनेक सम्प्रदाय स्थापित हुए, जिनमें भगवान्के सगुण रूपपर ही बल दिया गया, क्योंकि वही पूजा, उपासना, आराधना और ध्यानका सहज विषय हो सकता है। इसके विपरीत मध्ययुगमें ही निर्गुण उपासनाके प्रचारक सन्त भक्त भी हुए हैं। कबीर, रैदास, दादू आदि निर्गुण उपासक सन्तोंने ब्रह्मकी सगुणता तथा उसके व्यूह, अवतार तथा मूर्तियोंका खण्डन किया है। कभी-कभी इस निर्गुणोपासनाको तत्कालीन विदेशी प्रभावका परिणाम कह दिया जाता है और सगुणोपासनाको ही शुद्ध भारतीय भक्ति-पद्धति घोषित किया जाता है। परन्तु वास्तवमें निर्गुणवाद उपनिषद्के ब्रह्मवादसे भिन्न नहीं है। भारतीय उपासना-पद्धतिमें निर्गुणवाद ही कदाचित् प्राचीनतर है। जो हो, निर्गुण और सगुणमें साधारणतया जो विरोध समझ लिया जाता है, वह दोनोंके उपर्युक्त सूक्ष्म अन्तरसे भिन्न है। तत्त्वत निर्गुण और सगुणके विरोध या भेदको मिटानेके प्रयत्न प्राचीन कालसे होते आये हैं। सगुणोपासना सुगम तथा निर्गुणोपासना कठिन बतायी गयी है। गीतामें भगवान् कृष्णने स्वय अव्यक्तासक्त चित्तवालोंकी साधनाको अधिक क्लेशकर बताया है तथा आत्म समर्पणयुक्त सगुण भक्तोंकी प्रेममयी साधनाको ससार-सागरसे शीघ्र ही तारनेवाला कहा है (गीता, १२ ५–७)। भक्तिकालीन सगुणोपासक कवियोंने भी निर्गुणकी अस्वीकृति नहीं की, प्रत्युत भक्ति-साधनाके लिए उसकी अव्यावहारिकता प्रमाणित की है। ठीक गीताकी तरह सूरदासने 'सूरसागरके' प्रारम्भमें ही अव्यक्तकी गतिको अनिर्वचनीय कहकर यह निश्चय प्रकट किया है कि रूप रेखा गुण जाति-युक्तिसे रहित अव्यक्तका स्वाद गूँगेके गुड़के समान है, अत मैं सगुणलीलाके पद गा रहा हूँ (सू०सा० प० २)। तुलसीदासने निर्गुण और सगुणमें बराबर अभेदका सिद्धान्त स्वीकार किया है, परन्तु उन्हें अन्तर्यामी रामकी अपेक्षा बहिर्गामी राम ही अधिक अच्छे लगते हैं, क्योंकि उन्हींकी कृपाका वे प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। सगुण रूप सुगम है, क्योंकि वह इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है। परन्तु विचार करनेपर सगुण रूप ही समझना अधिक कठिन प्रतीत होता है। रामको सीताके वियोगमें विलाप करते देख सतीको आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपने पतिसे शका की कि ये कैसे परब्रह्म परमात्मा हैं जो अज्ञकी तरह रुदन करते हैं। सतीका मोह दूर करनेके लिए शिवजीको बहुत बड़ा त्याग करना पड़ा। उस जन्ममें उनका भ्रम दूर नहीं हो सका। इसीलिए तुलसीदासने कहा है कि निर्गुण रूप सुगम है, सगुण ही दुर्गम है। किस प्रकार अनादि, अनन्त, निराकार ब्रह्म देश-कालकी सीमामें शरीर धारण कर नरचरित्र कर सकते हैं, इस प्रश्नका समाधान अत्यन्त कठिन है। केवल भक्तगण ही इसे समझ सकते हैं। निर्गुण ब्रह्ममें सगुणताका आरोप स्पष्टत अन्तर्विरोधपूर्ण है। वल्लभाचार्यने ब्रह्मका 'विरुद्धधर्माश्रयत्व' कहकर इसका समाधान किया है। सच तो यह है कि भक्त जब ब्रह्मको भगवान्के रूपमें कल्पित करता है तभी, चाहे वह उसे विभवावतार या

धर्मावतारके रूपमें न भी माने, उसमें उसे किसी न-किसी मात्रामें सगुणताका आरोप करना ही पड़ता है उसे वह करुणामय, दीनबन्धु, रक्षक, न्यायी आदि कहकर श्रेष्ठ गुणोंसे ही विभूषित करता है। सूक्ष्मतासे देखनेपर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्रह्मके अवतार या उसकी अन्यथा साकारताका प्रत्याख्यान करनेवाले निर्गुणोपासक उसमें नामके साथ रूपका भी किसी न-किसी अंशमें आरोप कर ही लेते हैं। प्राय रूपका यह आरोप रूपक और प्रतीकोंके रूपमें होता है, परन्तु इन्द्रियगम्य बनानेके लिए इतनी सगुणता दुर्निवार है। इस प्रकार भक्तिमात्र सगुणतामूलक है, अन्तर केवल अवतार और मूर्तिपूजाके सम्बन्धमें पैदा होता है। जो निर्गुणवादी है, वे भगवान्‌के अवतार, विशेष रूपमें पुराणोंमें वर्णित अवतारों तथा उनके विग्रहोंकी पूजाका खण्डन करते हैं और सगुणवादी किसी अवतारविशेष, विग्रह विशेषके प्रति अनन्यभावकी भक्ति आवश्यक मानते हैं।

मध्ययुगमें राम और कृष्ण, दो अवतारोंके आधारपर सगुण सम्प्रदाय सघटित हुए। रामभक्तिका सघटित प्रचार रामानन्दके श्रीवैष्णव सम्प्रदाय द्वारा किया गया। कहा जाता है कि तुलसीदास इसीके अनुयायी थे। परन्तु तुलसीदासमें साम्प्रदायिक आग्रह नहीं पाया जाता है। कृष्णभक्तिके सम्प्रदायोंमें नियमों और आचारोंकी कठोरता अधिक है। मध्ययुगमें निम्बार्क और मध्वके सनकादि और ब्रह्म नामक प्राचीन सम्प्रदायोंके अतिरिक्त पुष्टिमार्ग या वल्लभ-सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय, सखी-सम्प्रदाय और गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय अधिक प्रभावशाली थे। इन्हीं सम्प्रदायोंने कृष्ण या राधा-कृष्णको इष्टदेव मानकर उनकी लीलाओंका गान करते हुए सगुण भक्तिका प्रचार किया।

[सहायक ग्रन्थ—(१) हिन्दी साहित्यका इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, (२) भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय]। —ब्र० व०

सट्टक–वह उपरूपक जिसमें प्राकृत भाषाका प्रयोग होता है। इसमें प्रवेशक, विष्कम्भकका अभाव और अद्भुत रसका प्राधान्य रहता है। इसके अंकोंको जवनिका कहते हैं। कुछ विद्वानोंने इसे नाटिकाका भेद माना है, क्योंकि शेष सब बातें नाटिकाके समान होती हैं। उदाहरण—राजशेखरकी 'कर्पूरमंजरी'। —वि० रा०

सतनामी संप्रदाय–सत अथवा सत्त शब्द सत्यके विकृत रूप हैं। सत्य ब्रह्मका पर्याय और नाम है। नामी शब्दका अर्थ नामधारी है। सत्यनामी या सतनामीसे अभिप्राय है सत्यनाम सर्वात्मा ब्रह्म, जो संसारका हेतु एवं आधार है। सतनामी सम्प्रदायमें प्रत्येक कार्यको प्रारम्भ करनेके पूर्व सत्तनाम लिया जाता है। इस सत्तनामको लेनेका अभिप्राय है ब्रह्मके नामके आधारपर कार्य सुखान्त बनानेका प्रयत्न। सतनामी सम्प्रदायके मूल प्रवर्तकका नाम अभीतक निश्चित नहीं हो पाया है। पीताम्बरदत्त बड़थ्वालके मतसे दादूपन्थी जगजीवनदास इस सम्प्रदायके मूल प्रवर्तक थे। कुछ विद्वानोंका मत है कि साध सम्प्रदायके बीरभानने इसकी स्थापना की और कुछ लोगोंका मत है कि उदोदासने सतनामी सम्प्रदायकी स्थापना की। इनके अतिरिक्त एक मत और है कि जोगीदासने इस सम्प्रदायको जन्म दिया था। सतनामीकी तीन शाखाएँ हैं—नारनौल शाखा, कोटवा शाखा तथा छत्तीसगढ़ी शाखा। नारनौल-शाखाके अनुयायियोंने सं० १७१५ में औरंगजेबके विरुद्ध विद्रोह किया था और औरंगजेबने प्रतिकारभावनासे उनका इतना दमन किया था कि वे फिर पनप न पाये। कोटवा-शाखाकी स्थापना बाराबंकी जिलेके सरदहा गाँवके जगजीवन साहब द्वारा हुई। इनका जन्मसमय सन् १६७० ई० माना गया है। कोटवा शाखामें समय समयपर अच्छे साधक हुए, जिनमें दूलनदास, देवीदास, गोसाईंदास, खेमदास, केवलदास, सिद्धदास तथा पहलवानदास उल्लेखनीय हैं। इस शाखाके वर्तमान महन्त जगन्नाथ-बख्शदास हैं। तीसरी शाखा छत्तीसगढ़ीके संस्थापक बिलासपुर जिलेके घासीदास थे। इस शाखाकी संस्थापना सं० १८७५ और १८८७ के बीचमें हुई।

सतनामी सम्प्रदायमें सत्तनामके अमृतरसपानपर अधिक बल दिया गया है। सत्य वचन, परोपकार, अहिंसा एवं नैतिक आदर्शोंके अनुसार संयत जीवननिर्वाह करना बहुत आवश्यक है। विशुद्ध महापुरुष ब्रह्म सर्वत्र रमा हुआ है। वह निर्लिप्त है। वह जन्म और मरणातीत है। वह वासना और गुणसे परे है। वह निर्गुण, निराकार है। सत्यसे पृथक् सब माया है। क्षमा, दया तथा त्याग जीवनको सुखी बनानेके आधार हैं।

सतनामी सम्प्रदायमें निम्न श्रेणीवाले लोगोंकी अधिकता है। छत्तीसगढ़ी शाखामें तो निम्न जातिवालोंकी संख्या ९० प्रतिशत है। सामाजिक सुधारोंकी प्रमुखताके कारण छत्तीसगढ़ी शाखाने चमारोंकी एक उपजातिका रूप धारण कर लिया है। इनके सामाजिक नियम भी चमारोंसे मिलते-जुलते हैं। ये धोबियों, मेहतरों, घसियारोंसे भेदभाव रखते हैं। छत्तीसगढ़ीवालोंके सात मुख्य आदेश हैं, जिनमें मद्य, मांस, मसूर, लालमिर्च, तम्बाकू, टमाटर तथा बैंगन खानेका निषेध है। इनमें वर्ण-व्यवस्थाका पालन भी निषिद्ध है। ये चारपाईपर नहीं सोते तथा तम्बाकू और मद्य-सेवनके विरोधी हैं। अब सतनामी सम्प्रदायकी तीनों शाखाओंमें हिन्दू धर्मसे पृथक् करनेवाली प्राय सभी विशेषताएँ समाप्त होती जा रही हैं। इस सम्प्रदायके शिष्योंमें अधिकतर मजदूर-किसान तथा अन्य श्रमजीवी हैं। कोटवाकी शाखामें ब्राह्मण, क्षत्रिय और कायस्थ आदि भी शिष्य हुए हैं।

सतनामी सम्प्रदायकी तीनों शाखाओंमें कोटवावाली शाखाका साधना एवं साहित्यरचनाकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व है। नारनौल तथा छत्तीसगढ़ीके अनुयायियोंकी कोई रचना नहीं मिलती। परन्तु कोटवामें अनेक अच्छे कवि हुए हैं। जगजीवन साहबने सात ग्रन्थोंकी रचना की, उनके नाम हैं—'शब्दसागर', 'ज्ञानप्रकाश', 'प्रथम ग्रन्थ', 'आगमपद्धति', 'महाप्रलय', 'प्रेमग्रन्थ' तथा 'अघ-विनाश'। जगजीवन साहबका 'शब्दसागर' तथा उनकी बानियोंका संग्रह दो भागोंमें बेलवीडियर प्रेससे प्रकाशित हो चुका है। जगजीवन साहबके शिष्योंमें कई एक अच्छे

कवि हुए। वोधेदासने 'सन्तप्रचई'में जगजीवनकी जीवनी अंकित की है। दूलनदास(सं० १७१७)की रचनाओंमें 'भ्रमविनाश', 'दोहावली', 'मंगलगीत', 'शब्दावली', प्रसिद्ध हैं। देवीदास(सं० १७३५)ने 'सुखसनाथ', 'चरनध्यान', 'गुरुचरन', 'विनोदमगल', 'भ्रमरगीत', 'ज्ञान-सेवा', 'नारदज्ञान', 'भक्तिमगल', 'वैराग्यखान' आदि ग्रन्थोंकी रचना की। गोसाईंदास(सं० १७२७)ने 'ककहरा', 'दोहावली' और 'शब्दावली'की रचना की। खेमदासके नामपर मिलनेवाली रचनाएँ हैं—'काशी-खण्ड', 'तत्त्वसार', 'दोहावली' तथा शब्दावली'। ये चारों शिष्य कोटवावाली शाखाके 'चार पावा' नामसे प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धदासने 'साखी', 'कवित्त', 'शब्दावली' और 'विरहसत्य'की रचना की। पहलवानदासको अक्षर-ज्ञान नहीं था, फिर भी 'उपखानविवेक', 'विरहसार', 'मुक्तायन', 'अरिल' तथा 'गुरुमहात्म' आदि रचनाओंसे उनकी काव्यप्रतिभा प्रतिभासित होती है। सतनामी सम्प्रदायके इन कवियोंकी भाषामें फारसी शब्दोंका प्रचुरता-के साथ प्रयोग हुआ है।

जगजीवन साहबके प्रमुख शिष्य दूलनदासकी रच-नाओंमें दशरथ नन्दन श्रीरघुवीर और उनके प्रसिद्ध भक्त एव दास हनुमान्‌का स्मरण बड़ी श्रद्धाके साथ किया गया है। दूसरी ओर 'सुरति शब्द योग'के वर्णनमें उनकी चित्तवृत्ति विशेष रमी है।

सतनामी गार्हस्थ्य जीवनमें रहते हुए भी साधना और आध्यात्मिक पथपर अग्रसर होनेके पक्षमें रहे हैं। उनके यहाँ वेश-भूषाके सम्बन्धमें कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं है, वाह्याडम्बरोंकी निन्दा सतनामियोंने खूब की है।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा परशुराम चतुर्वेदी] —त्रि० ना० दी०

सतसई–सतसई सप्तशती शब्दका तद्भव रूप है। संख्यामूलक काव्यसकलनोंमें सात सौ छन्दोंका सकलन एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रूढि बन गयी है। प्राकृतकी 'गाथासप्तसती' इस रूढ़िका आदि स्रोत है। तबसे लेकर अबतक अनेक 'सप्तशतियाँ' और 'सतसइयाँ' लिखी गयीं। प्राकृतकी 'गाथासप्तशती'के अनुकरणपर संस्कृतमें गोवर्धन कविने 'आर्यासप्तशती' लिखी। इन सप्तशतियोंमें मुख्यतया विशुद्ध ऐहिक जीवनके शृगारमूलक पक्षोंका सरस चित्रण हुआ है। अपभ्रशमें प्राकृत व्याकरणमें दोहोंके सकलनकी पद्धतिको देखकर यह लगता है कि अपभ्रशमें भी दोहोंका संख्यामूलक संकलन हुआ होगा। हिन्दीमें कई 'सतसइयाँ' लिखी गयीं। ये सभी दोहा छन्दमें हैं, पर उनमें कहीं कहीं 'सोरठा' भी मिलता है। वस्तुत: जिस प्रकार सस्कृतमें 'अनुष्टुप्', प्राकृतमें 'गाथा' और अपभ्रशमें 'दोहा' अत्यधिक लोकप्रिय छन्द हैं, उसी तरह हिन्दीमें भी अपभ्रशके उत्तराधिकारके रूपमें 'दोहा'को ही सर्वाधिक अपनाया गया और सूक्ति या सुभाषितके लिए यह सर्वाधिक उपयुक्त छन्द सिद्ध हुआ, क्योंकि इसमें चार चरणोंमें बड़ीसे बड़ी बात कह देनेपर भी कसावट बनी रहती है।

श्यामसुन्दर दासने 'सतसईसप्तक' नामक एक सकलन हिन्दुस्तानी एकेडमीसे सन् १९३१ में प्रकाशित करवाया था। इसमें तुलसीके नामपर चलनेवाली 'तुलसी सतसई', 'बिहारी सतसई', 'मतिराम सतसई', 'वृन्द सतसई', रामसहाय द्वारा लिखित 'राम सतसई', विक्रम कवि द्वारा लिखित 'विक्रम सतसई' तथा 'रसनिधि सतसई'-का सकलन हुआ है। रसनिधिने 'रतनहजारा' लिखा था, लेकिन श्यामसुन्दर दासने उसे सतसईका प्रचलित रूप देकर उसमें रसनिधिके उक्त दोहोंको स्थान दिया था। आधुनिक युगमें भी वियोगी हरिने 'वीर सतसई' लिखी है। इन सभी सतसइयोंमें बिहारी, मतिराम, रसनिधि, विक्रम आदिकी सतसइयाँ मुख्यत शृंगारिक हैं, यद्यपि उनमें नीति और धर्मके दोहे पर्याप्त हैं। तुलसीकी भक्ति और उपदेशपरक तथा वृन्दकी नीतिमूलक, वियोगी हरिकी वीररसपरक सतसइयाँ हैं। (दे०—गाथा २)। —श० ना० सिं०

सतृणाभ्यवहारी–दे०—'भावक'।

सत्याग्रह–गान्धीवाद युद्धके स्थानपर सत्याग्रहके अवलम्बनकी सिफारिश करता है। सत्यका आग्रह ही सत्याग्रह है। लेकिन यह आग्रह विरोधीके नाश अथवा उसकी किसी प्रकारकी हानि करनेकी प्रवृत्तिको प्रश्रय नहीं देता। गान्धीवाद सत्याग्रह द्वारा विरोधीके हृदय परिवर्तनमें विश्वास करता है। उसकी मान्यता है कि मानव-स्वभाव तत्त्वत शुभ है और परिस्थितिकी प्रतिकूलताके ही कारण वह अशुभ हो जाता है। अत यदि धैर्य और सद्भावनासे काम लिया जाय तो उन्मार्गगामीका हृदय-परिवर्तन और सुधार किया जा सकता है। गान्धीजीने ब्रिटिश साम्राज्यके मुकाबलेमें सत्याग्रहके अनेक प्रयोग किये थे। उन सबमें जो बात समान रूपसे पायी जाती है वह है सत्यके आग्रह-में विरोधी द्वारा पहुँचायी गयी प्रत्येक प्रकारकी पीड़ाका सहन और उसके उद्धारकी सच्चे दिलसे प्रार्थना।–ह०ना०

सप्तधा भक्ति–नवधा भक्तिमें अर्चन और पाद-सेवन, इन दो प्रकारोंको पृथक् कर देनेसे जो प्रकार शेष रह जाते हैं, उन्हें ही सप्तधा भक्ति अथवा भक्तिके सात प्रकार कहते हैं। निर्गुण भक्तिके साधक इन सात प्रकारोंका अवलम्बन करते हैं। सगुण भक्त नौ प्रकारोंका आश्रय लेते हैं। साधना-मार्गमें यह आवश्यक नहीं है कि साधक भक्तिके सभी प्रकारोंका पालन करे, वह किसी भी एक प्रकार द्वारा भगवान्‌की उपासना कर सकता है। —वि० मो० श०

सबद (शब्द)–'सबद' 'शब्द'का रूपान्तर है। वेद शब्द-परक हैं और वेदका अर्थ हुआ ज्ञान। अत शब्दका भी अर्थ हुआ ज्ञान। वैदिक शब्द अपौरुषेय माने गये हैं और सन्त तथा नाथ सम्प्रदायमें गुरुकी प्रतिष्ठा ब्रह्मके समान ही है, अत गुरुकी वाणीका नामकरण शब्द > सबद > सबदी है। वैदिक वाणी ही सर्वकर्मोंकी अधिष्ठातृ और सर्वतोभावेन पालनीय है, उसी प्रकार गुरु-वाणी सर्वज्ञानसम्पन्ना, सर्वकर्माधिष्ठात्री और अतर्क्य भावसे ग्राह्य है। इस परम्पराके कारण कबीरकी वाणीको ही वेद-वाणीके रूपमें स्वीकृत किया गया है, क्योंकि 'वाणी हमारी पूरबकी'की टीका करते हुए टीकाकारों-ने लिखा है कि 'पूर्व'का अर्थ आदि, अत पूर्वकी वाणीका अर्थ हुआ आदिकालीन वाणी अर्थात् वेद। 'गोरखबानी'-(सबदी पृ० ३०)में सबदीका प्रयोग उपदेशके अर्थमें हुआ

है—'सवद एक पूछिवा कहो गुरुदयाल, विरिधि यै क्यूँ करि होइवा वाल ॥' सामान्य रूपसे पद रचनाएँ राग रागनियोंमें बँधी होती हैं, शब्दोंके लिए यह विधान नहीं है। उपदेशात्मक और सिद्धान्तनिरूपक गेय पदोंको **सबदी** कहते हैं। 'गोरखबानी'की प्रथम सबदी है–'वसती न सुन्य सुन्य न वसती अगम अगोचर ऐसा। गगन सिखर महि वालक बोले ताका नाँव धरहुगे कैसा।' अनहद नादकी चर्चा करनेवाली गीतियोंके अर्थमें भी सबदका प्रयोग है, क्योंकि 'गोरखबानी'(पृ० १९६)के अनुसार 'सबद अनाहत' ही सबदी है। 'शब्दस्तोत्रमाला'के अनुसार–'सबद अखण्डित रूप, सबदु नहिं पण्डित होई। जैसा सबद अगाध, सकल घट रह्यो समोई। सबदु करै आचार सबद सबनि रोये अरु गावै। निर्गुन सर्गुन बरनि सबद सब निर्न गावै ॥' —रा० ऐ० पा०

सम–विरोधमूलक अर्थालंकार। इस अलंकारको प्राचीनोंने नहीं स्वीकार किया है। सर्वप्रथम रुय्यक तथा मम्मटके द्वारा इसका विवेचन हुआ है। रुद्रट तथा भोजने साम्य नामक अलंकार माना है। रुय्यकके समान ही मम्मटका लक्षण है—'जिसमें किन्हीं वस्तुओंके ऐसे सम्बन्धका प्रतिपादन हो, जो सर्वसम्मतिसे सर्वथा उचित प्रतीत हो।' (का० प्र० १० १२५)। इसे काव्यप्रकाशकारने दो प्रकारका माना है, सद् वस्तुओंका और असद् वस्तुओंका। हिन्दीके आचार्योंने प्राय 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसके तीन भेद स्वीकार किये हैं। यह विषमका प्रतिद्वन्द्वी है। विषममें दो वस्तुओंकी अननुरूपता होती है और सममें अनुरूपता। मतिरामने इसके तीन प्रकार निर्देशित किये हैं—१ 'जहाँ दुहूँ अनुरूपको, कवि जन करत वखान।', २. 'जहाँ हेतु ते काजको, वरनत उचित सरूप'।, ३ 'ताकी सिद्धि अनिष्ट विन, उद्यम जाके अर्थ'। (ल० ल० ३२८, ३३०, ३३२)।

प्रथम सम—दोनोंका यथायोग्य होना—'मोहिं तुम्हैं बाढी बहस, को जीते यदुराज। अपने-अपने विरदकी दुहुँन निवाहन लाज।' (वि० स० ४७७)। भक्त कहता है कि उसमें और विष्णु भगवान्‌में प्रतिस्पर्द्धा हो गयी है। देखना है कि वह जीतता है (पाप करनेमें) कि वे जीतते हैं (पापियोंको तारनेमें)। अथवा—'नैन सलोने अधर मधु, कहु रहीम घटि कौन। मीठो भावै लोनपे, मीठे ऊपर लौन'। **द्वितीय सम**—हेतु और कार्यकी समता—'ज्यों ह्वैहौं त्यों होहुँगे, हौं हरि अपनी चाल। हठ न करौ अति कठिन है, मो तारिवो गोपाल।' (वि० स० ७०१)। भक्त कहता है कि उसका उद्धार करना श्रीकृष्णके लिए कठिन है, क्योंकि उसने जैसी करनी की है वैसा फल उसे भुगतना ही होगा। यहाँ कारण और कार्यमें साम्य प्रदर्शित किया गया है। **तृतीय सम**—उद्यमकी सहज सिद्धि—'सोवन दीजै न दीजै सहादुख यों ही कहा रसवाद बढायो। मान रह्यौई नहीं मनमोहन मानिनी होय सो मानै मनायो।' (ल०ल० २३३)। समका तात्पर्य है यथायोग्य सम्बन्ध। सम्बन्ध सद्-योग तथा असद् योग, दोनों ही अवस्थामें सम्भव है। —ध० म० शा०

समचेतन–मानसिक रोगोंमें प्राय अन्तर्द्वन्द्वके कारण चेतनामें वियोजन हो जाता है और एक ही व्यक्तिकी कई चेतनाएँ हो जाती हैं, अर्थात् मानसके कई अंश हो जाते हैं। इन अंशोंको मार्टन प्रिंस समचेतन कहते हैं। समचेतन अंश अदल-बदलकर व्यक्त होते हैं और प्राय' एक अंशको दूसरे अंशका कोई ज्ञान नहीं होता। इन समचेतन अंशोंमें भी कोई प्रमुख होता है, कोई गौण। मार्टन प्रिंस इन्हें प्रमुख चेतना और गौण चेतना कहते हैं। अन्य मनोवैज्ञानिकोंने 'समचेतन' शब्दका प्रयोग कम किया है, फ्रायड इसी अर्थमें 'अचेतन'का प्रयोग करते हैं, 'अज्ञात चेतन' भी समानार्थक है। (दे०—'मानस', 'अचेतन', 'खंडित व्यक्तित्व')। —प्री० अ०

समता (symmetry)–प्रतिसाम्य, सममिति, किसी कृतिमें संगतिका होना, अर्थात् वह सापेक्षता जो उसके विभिन्न अंगोंमें आपसमें हो या सम्पूर्ण कृति और उसके किसी अंग विशेषमें हो। एफ० एम० जेगरके शब्दोंमें—'रूपों और आकृतियोंमें समता किसी ज्यामितिक तरतीब या परस्पर सापेक्ष खण्डोंकी पुनरावृत्तिके कारण होती है।' (प्रिन्सिपल आफ सिमेट्री, एच० आस्बार्न द्वारा 'थियरी आफ ब्यूटी'में उद्धृत)। संक्षेपमें उनकी परिभाषा इस प्रकार है, सम आकृतियाँ वे हैं जो कई तरह अपने या अपने प्रतिबिम्बोंके सदृश हों। मानव-शरीर उसका उपयुक्त उदाहरण है।

सौन्दर्यशास्त्रमें वह आकृति सम मानी जायगी जो किसी मध्यरेखाके दोनों ओर एक-सी हो, यानी उस रेखाके किसी तरफके आकारका प्रतिरूप हो। समता वास्तुकलामें विशेष महत्त्व रखती है। बिना समताके सिद्धान्तोंका पालन किये किसी मन्दिरके निर्माणकी कल्पना करना ही कठिन है। अधिकांश इमारतें, प्राचीन तो लगभग सभी, ऐसी मिलेंगी, जिनमें समता किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान है—प्राचीन मिस्री इमारतें और जापानी कला विशेष रूपसे। अक्सर तो यह समता एक खब्तकी सीमातक पहुँचा दी जाती है जो सौन्दर्यसे ज्यादा मनमें ऊब पैदा करती है। इसीलिए बहुत-से कलाकारोंने श्रेष्ठतर सौन्दर्यानुभूतिके लिए थोड़ी असाजलताको आवश्यक माना है। शायद इसीसे मशीनों द्वारा बनायी गयी बिलकुल निर्दोष कला-वस्तुएँ उतनी सुन्दर नहीं लगतीं, जितना हाथकी बनी हुई चीजोंका कहीं-कहीं चूकता हुआ सौन्दर्य जो जीवनके अधिक निकट मालूम पड़ता है।

अरस्तूने सौन्दर्यके तीन आवश्यक गुण माने हैं—व्यवस्था, समता और स्पष्टता। प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्रमें समता कुछ भिन्न अर्थोंमें ली गयी है। 'नाट्यशास्त्र'के रचयिता भरत मुनिने समताको काव्यके दस गुणोंमेंसे एक माना है। समता इस प्रकार परिभाषित है—'अलंकारगुणाश्चैव समासात् समता यथा', अर्थात् जहाँ अलंकार और गुण समभावसे विद्यमान होकर एक-दूसरेके सदृश तथा शोभावर्धक हों वहाँ समता नामक गुण होता है। आगे चलकर दण्डीने भी अपने 'काव्यादर्श'में समताको काव्यका एक गुण माना—'यया कयाचिद्धृत्या यत् समानमनुभूयते। तद्रूपा हि पदासत्ति मानुप्रासा रसावहा।' अर्थात् जिस किसी शब्द-समूहके उच्चारण द्वारा उसमें जो समताका

अनुभव होता है, वह ही अनुभवगम्य पद-स्थिति अनुप्रास-युक्त होकर रसोत्पत्ति करती है। स्पष्ट है कि प्राचीनोंने 'ममता'को सामान्यत ऋजु और प्राजलके अर्थमें लिया है। —कु० ना०

समता गुण—दे०—'गुण', पाँचवाँ प्रकार।

समदाउनि—बेटीकी विदाईके अवसरका गीत मिथिला जनपदमें विशेष रूपसे प्रचलित। विवाहके बाद जब कन्या ससुराल जाने लगती है—विछोह, वेदना और करुणाका स्रोत इन गीतोंके माध्यमसे फूट पड़ता है। ये गीत अत्यन्त सरस और स्वाभाविक होते हे। —र० भ्र०

समरस—समरस (समान आस्वादनवाले) शब्दका सर्वप्रथम शास्त्रीय प्रयोग- शैवागममें ही हुआ है, जिसमें शिव और शक्तिके परस्पर तादात्म्यसवेद्यको सामरस्य या समरसता कहा गया है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि दोनों भेदाभेद संवेद्यसे आस्वादनकी भूमिकामें समान रूपमें अधिष्ठित है, अर्थात् आनन्दबोधके समय दोनों समान हैं। यह समरसता ही भारतीय कलाकी आधारपीठिका है, विषय और विषयीमें, दृश्य, दृष्टि और द्रष्टामें, ग्राह्य और ग्राहकमें तथा भावक, भावना और भाव्यमें इसीकी पूर्णता पाना भारतीय कला या कविताका मूल उद्देश्य बना। कला या काव्यका आस्वादन सवित्की वह स्थिति है जब वह बाह्य विकल्पोंसे एकदम विरहित होता है और नामरूपात्मक जगत् उसमें प्रकाशमान रहता है। यही समरसताकी या तन्मयी भावकी स्थिति है। इसमें पहुँचे विना न तो कलाकी सृष्टि हो सकती है और न कलाकी परख ही। जयशकर 'प्रसाद'ने 'कामायनी'में समरसताकी स्थितिको ही चरम उपलब्धिकी भूमिकाके रूपमें मान्यता दी है। —वि० नि० मि०

समवकार—अवकीर्णका अर्थ है फैला हुआ। इस रूपकमें कई नायकोंके प्रयोजन समवकीर्ण अथवा संगृहीत किये जाते हे, अत इसका नाम समवकार रखा गया है। शारदातनयने १२ नायकोंका पृथक्-पृथक् प्रयोजन माना है। 'पृथक्प्रयोजनास्तत्र नायका द्वादश स्मृता' (भा० प्र० पृ० २४८)।

इस रूपकके लक्षणके सम्बन्धमें प्राय सभी आचार्य एकमत हैं। सबने भरत मुनिके मतका समर्थन किया है। सभी आचार्योंका मत है कि देवता और असुरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली इतिहास-पुराणादिमें प्रसिद्ध कथा इसमें निबद्ध की जाती है। इसमें विमर्शके अतिरिक्त शेष चारों सन्धियाँ एव तीन अक होने हैं। प्रथम अंकमें दो सन्धियाँ और शेषमें एक एक सन्धि होती है। **कैशिकी**को छोड़कर अन्य सभी वृत्तियाँ होती हैं। **विन्दु** और **प्रवेशक** नहीं होते, किन्तु तेरह **वीथ्यंग** पाये जाते हैं। इसमें **गायत्री**, **उष्णिक्** आदि अनेक प्रकारके छन्द होते हैं।

नायकके सम्बन्धमें आचार्योंका कहीं कहीं मतैक्य नहीं है। नायकोंकी सख्या तो सभी बारह स्वीकार करते हैं, किन्तु विश्वनाथका मत नायकोंकी जातिके सम्बन्धमें अन्य आचार्योंसे भिन्न है। धनजय (द०रू० . ३ ६३), शारदातनय (भा०प्र० पृ० २४८), रामचन्द्र(ना०द० पृ० १२४)का मत है कि इसके नायक उदात्त चरित्रवाले देवता और दानव होते हैं, किन्तु विश्वनाथने धीरोदात्त नायक देवता और मनुष्य माना है (सा० द० ६ २३५)। गम्भीरतासे विचार करनेपर विश्वनाथका मत मान्य नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि विश्वनाथ प्रारम्भमें इस मतसे सहमत हैं कि समवकारका इतिवृत्त देव दानवसे सम्बन्ध रखता है। ऐसी अवस्थामें दानवके स्थानपर मानवपात्र किस प्रकार नियोजित किये जा सकते हैं?

इस रूपकके रसके सम्बन्धमें 'नाट्यशास्त्र'में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है और सभी आचार्योंने उसीका अनुसरण किया है। इसमें तीन प्रकारके शृगार होते ह—(१) धर्मशृगार, (२) अर्थशृगार, (३) कामशृंगार। एक अंकमें एक प्रकारका शृगार अवश्य आना चाहिये। कामशृगार प्रथम अकमें ही आता है। धनजयका मत है कि वीर रसकी अधिकता सभी पात्रोंमें अपेक्षित है। उन्होंने 'समुद्रमन्थन' समवकारका उदाहरण देकर अपने मतकी पुष्टि की है। (द०रू० ३ ६४)। नाट्यदर्पणकारने वीरके साथ रौद्र रसका भी उल्लेख किया है। (ना०द० पृ० १२४)। रामचन्द्रने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि देव-दैत्योंके उद्धतत्वके कारण शृगारकी छायामात्र ही सम्भव है। 'दैवदैत्यानामुद्धतत्वेन शृगारस्य छायामात्रत्वेन निवन्धादिति' (ना० द० पृ० १२४)।

तीन अंक और तीन शृगारके साथ-साथ इसमें तीन कपट एव तीन विद्रव भी आवश्यक माने गये हैं। तीन कपट हैं—(१) वस्तुस्वभावकृत, (२) देवकृत और (३) अरिकृत। तीन विद्रव हैं—(१) नगरोपरोधकृत, (२) युद्धकृत और (३) वाताग्निकृत।

इस रूपकमें कथाकालकी अवधि भी नियत की गयी है। प्रथम अककी कथा ऐसी होनी चाहिये जो बारह नाड़ियोंमें सम्पादित हुई हो (एक नाड़ी दो घड़ी, अर्थात् ९० मिनटकी होती है), दूसरे अककी कथा चार नाडीमें और तीसरेकी दो नाडीमें समाप्त होनी चाहिये।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने इसमें तीन अक, १२तक नायक, कथा दैवी, छन्द वैदिक तथा युद्ध, आश्चर्य एव माया इत्यादिका होना माना है। उनका कथन है कि भाषामें इसका कोई उदाहरण नहीं।

गुलाब रायने इसमें १२ नायकोंके पृथक्-पृथक् फल, देव-दानवोंकी कथा, तीन अक, **विमर्श** सन्धि एव **विन्दु** नामक **अर्थप्रकृति**का अभाव और युद्धकी अनिवार्यता मानी है। 'अमृतमन्थन' एव भासकृत 'पचरात्र' इसके उदाहरण दिये गये हैं। —द० ओ०

समवेत गीत—दे०—'गीत', 'गीतिकाव्य', 'समूहगीत'।

समष्टिवाद—अँग्रेजी शब्द 'कलैक्टिविज्म'का हिन्दी रूपान्तर समष्टिवाद है। यह शब्द एक व्यापक सामाजिक दृष्टिकोणका प्रतीक है, जिसके अनुसार सामूहिक जीवन, चाहे वह राज्यका हो अथवा अन्य किसी समूह या सघटनका, हर एक व्यक्तिके लिए अनिवार्य है। इस सामूहिक जीवनके अभावमें व्यक्ति अपनी नैतिक आत्माभिव्यक्ति नहीं पा सकता। व्यक्तित्वके विकासके लिए कुछ परिस्थितियाँ अनिवार्य है, जिनकी उपलब्धि ऐकान्तिक और नि सग जीवनमें असम्भव है। समूहोंकी सदस्यताके बाद

ही ऐसी परिस्थितियोंका सर्जन हो सकता है, जिनमें मनुष्य विकास करे। सामूहिक जीवनकी यह अनिवार्यता समूहोंके अधिकार और महत्त्वकी स्थापना करती है। इसी नाते समष्टिवाद समष्टिकी शक्ति तथा उसके अधिकारोंको वैयक्तिक शक्ति और अधिकारोंसे कहीं बड़ा मानता है। इस विचारधाराका फल व्यावहारिक क्षेत्रमें सामूहिक निरंकुशता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके अपहरणसे है। इसी दृष्टिसे व्यक्तिवाद (दे०) समष्टिवादका प्रतिवादी दर्शन कहा जाता है।

समष्टिवादकी ऐतिहासिक उत्पत्ति बताना कठिन है। समाजके जन्मके साथ ही साथ समष्टिवादी दर्शनका भी जन्म हुआ होगा। जब कभी मनुष्यने सामूहिक संघटन और सामाजिक उपादेयताकी श्रेष्ठताकी स्थापना की होगी, मूलतः तभीसे उसका दृष्टिकोण समष्टिवादी रहा होगा। इस कारण यह बताना कठिन है कि वह पहला मनुष्य कौन था अथवा वह कौन-सी ऐतिहासिक अवस्था थी, जिसमें समष्टिवादी प्रतिमानोंकी सर्जना की गयी। चिन्तनके आरम्भसे ही मनुष्य या तो व्यक्तिवादी था अथवा समष्टिवादी। विचारधाराका प्रथम शृंखलित निदर्शन प्लेटो(४२८-३४८ ई० पू०)के दर्शनमें प्राप्त होता है और प्लेटोके वादकी चिन्तन-परम्पराने कितने ही रूपोंमें समष्टिवादको ग्रहण किया है। आधुनिक समष्टिवादके विभिन्न रूप हैं। इन रूपोंमें अन्य सैद्धान्तिक भिन्नताएँ होते हुए भी इतनी एकरूपता अवश्य पायी जाती है कि ये सब व्यक्तिके अधिकार और उसकी शक्तिपर प्रतिबन्ध लगाते हैं और सामाजिक और सामूहिक नियन्त्रणको माननीय विकासके लिए अनिवार्य सिद्ध करते हैं। आधुनिक समष्टिवाद किसी-न-किसी रूपमें व्यक्तिपर सामाजिक नियन्त्रणकी स्थापना करता है और व्यक्ति उस नियन्त्रणकी अवहेलना नहीं कर सकता। मार्क्सवाद (दे०) समूहवाद, संघ-समाजवाद, आदर्शवाद और यहाँतक कि फासिस्टवाद और नात्सीवाद भी समष्टिवादी दृष्टिकोणकी ही विभिन्न दिशाएँ हैं। इन सब व्यवस्थाओंमें व्यक्तिवादके लिए कोई स्थान नहीं है।

आधुनिक जीवन इतना संश्लिष्ट है कि मनुष्यने अपने व्यवहारके लिए असीमित संघटनोंकी योजनाएँ प्रस्तुत कर ली हैं। यदि इन संघटनोंका सैद्धान्तिक आधार न भी हो, तो भी इन संघटनोंका जन्म और विकास हमारी व्यावसायिक सभ्यताकी सापेक्षतामें स्वाभाविक ही है। बड़े-बड़े व्यवसाय-संघोंका उत्तरोत्तर विकास, मिलों और फैक्टरियोंपर सामूहिक नियन्त्रण निश्चित रूपसे हमारी व्यवसायिक संस्कृतिके समष्टिवादी रूपकी ही ओर संकेत करते हैं। इस प्रकारका समष्टिवाद व्यावहारिक अनिवार्यताकी दृष्टिसे ही अपेक्षित माना गया है। इसीलिए इसको 'इम्पीरिकल कलेक्टिविज्म' कहते हैं।

समष्टिवाद बहुतसे दर्शनोंकी तरह एकांगी है, क्योंकि यह केवल एक पक्ष—समाजपक्ष—पर ही जोर देता है। इसीलिए यह व्यापक जीवनका दर्शन नहीं बन सकता। इसके लिए तो इसे व्यक्तिका मूल्य और महत्त्व आँकना ही पड़ेगा।

[सहायक ग्रन्थ—मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी : सी० ई० एम० जोड]। —रा० कृ० त्रि०

समस्तरसकोविदा–दे०—'प्रौढ़ा' (नायिका)।

समस्त-वस्तु-विषय रूपक–दे०—'रूपक', चौथा प्रकार।

समाजगीत–दे०—'समूहगीत', 'गीतिकाव्य'।

समाजवाद–अपने मूल रूपमें इस शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग १८२७ ई०में 'ओवेनाइट कोआपरेटिव मैगजीन'में किया गया था। किन्तु इस शब्दसे जिस मूलभूत सामाजिक दृष्टिकोणका पता चलता है, उसका इतिहास इस शब्दकी उत्पत्तिसे बहुत पहले ही प्रारम्भ हो चुका था। अपने लम्बे इतिहासमें इस शब्दने विभिन्न अर्थोंमें विभिन्न प्रकारकी सामाजिक प्रणालियोंका प्रतिनिधित्व किया है। किन्तु इन अर्थोंमें भी एक मौलिक एकता है। सबके सब किसी-न-किसी रूपमें सहकारी भावनाको प्रेरित करते हैं। निःसंग और नितान्त एकांगी जीवन असम्भव है। इसी नाते सब यह मानते हैं कि कोई समष्टिशक्ति अवश्य होनी चाहिये। इस दृष्टिसे समाजवाद एक समष्टिवादी विचारधारा है और इस रूपमें यह शब्द स्वतः समष्टिवाद(दे०)से अधिक प्रयुक्त होता है। व्यक्तिवाद(दे०)की स्वाभाविक प्रतिक्रिया समाजवाद है।

आधुनिक समाजवादके विभिन्न रूप हैं, किन्तु मौलिक एकता कुछ निश्चित आधारोंपर टिकी हुई है। पहला आधार यह है कि समाजका वर्तमान ढाँचा जर्जर है और इसमें परिवर्तनकी आवश्यकता है। दूसरा आधार है कि यदि केवल परिवर्तन ही लक्ष्य हो तो समाजमें परिवर्तनके बाद अराजकता फैल जायगी। इसलिए परिवर्तनके पश्चात् समाजको नये आदर्शोंके अनुसार संघटित करना चाहिये और इसके लिए सामाजिक स्वरूप बदलनेके पहले नये आदर्श और प्रतिमानोंकी प्रतिष्ठा आवश्यक है। तीसरा आधार है कि ये आदर्श नितान्त सैद्धान्तिक नहीं हैं और इनकी उत्पत्ति सामाजिक यथार्थके सम्पर्कसे टूटकर नहीं हो सकती। ये सहज प्राप्य और व्यावहारिक हैं। चौथा आधार है कि जिस किसी भी वैषम्यका जन्म मनुष्यने किया है, उसका समाजवाद सम्पूर्ण उन्मूलन करेगा, क्योंकि सामाजिक न्यायको अधिष्ठित करनेके लिए विषमताके हर एक स्वरूपको नष्ट करना आवश्यक है। पाँचवाँ आधार है कि आदर्शोंकी व्यावहारिकता सिद्ध करनेके लिए कर्मकी सक्रियता और निश्चयकी दृढ़ता अपेक्षित है। छठा आधार है कि समाजवाद केवल व्यवस्थाविशेष ही नहीं है, प्रत्युत वह एक सम्पूर्ण जीवन-प्रणाली और व्यापक जीवनदर्शन है।

समाजवादके प्रारम्भिक स्वरूप प्रागैतिहासिक कालकी आदिम साम्यवादी संस्थाओंमें दीख पड़ते हैं, जिनका प्रचलन निसर्गसम्मत था। इसीलिए कुछ विचारक इसे समाजवादकी कोटिमें नहीं रखते। प्लेटो(४२८-३४८ ई०पू०)की 'रिपब्लिक'में साम्यवादी व्यवस्थाकी एक योजना प्रस्तुत की गयी है, जिसकी स्मृति आज केवल राजनीतिक आदर्शके ही रूपमें शेष रह गयी है। आरम्भिक ईसाई समाजमें भी एक प्रकारका साम्यवाद प्रचलित था, परन्तु वह केवल धार्मिक संघटन था, जिसका व्यापक लक्ष्य सामाजिक वस्तुस्थितिका आमूल परिवर्तन नहीं, प्रत्युत वह संकीर्ण आर्थिक लक्ष्य था, जिसका सम्बन्ध केवल सबको उपभोगके उपादान सुगमतासे प्राप्त करानेसे था। लेकिन

इतना सत्य है कि ईसाई धर्मने मूल रूपसे मानव-बन्धुत्वकी भावनाको प्रसारित किया था। यह भावना यथार्थवादी सामाजिक सिद्धान्तोंपर आधारित नहीं थी, इसीलिए इसको सजग, जीवित विश्वास बननेमें कई शताब्दियाँ बाकी थीं।

आधुनिक युगमें मार्क्स(१८१८-१८८३ ई०)के कुछ पूर्ववर्ती विचारकोंने समाजवादी लक्ष्यको आधार मानकर समाज-सुधारकी योजनाएँ प्रस्तुत की थीं। किन्तु उनके विचारोंमें केवल संकल्पकी पवित्रता ही है, इसलिए उनका समाजवाद मूलत अवैज्ञानिक हैं। एंगेल्स(१८२०-१८९५ ई०)ने अपनी पुस्तिका 'सोशलिज्म, यूटोपियन ऐण्ड साइण्टिफिक'में इस प्रकारके समाजवादको स्वप्निल माना है। उसके अनुसार मार्क्सवादी समाजवादको ही वैज्ञानिक समाजवाद मानना चाहिये। वैज्ञानिक समाजवाद एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है।

लेनिन(१८७०-१९२४ ई०)ने मार्क्सवादके तीन प्रधान तत्त्व माने है, परन्तु प्लेखेनोव मार्क्सवादके चौथे अगके रूपमें ग्रीक भौतिकवादको भी स्वीकार करता है। इस प्रकार मार्क्सवादके चार दार्शनिक स्रोत हैं—(१) ग्रीक भौतिकवाद, (२) क्लैसिकल जर्मन दर्शन, (३) मार्क्सका पूर्ववर्ती फ्रान्सीसी समाजवाद, (४) क्लैसिकल ब्रिटिश अर्थशास्त्र।

ग्रीक भौतिकवादी विचारक डेमोक्रेटस् (४६०-३६१ ई०पू०) और हेरेक्लिटस(५४०-४७५ ई०पू०)से मार्क्सने यह ग्रहण किया है कि वास्तविकता भौतिकवादी है और इसकी यथार्थ स्थिति निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। आयोनियन विचारकोंने भी भौतिकवादी प्रकृतिका निरन्तर परिवर्तित होता रहना स्वीकार किया था, परन्तु हेरेक्लिटसने इस सत्यकी ओर सकेत किया कि यह समूचा परिवर्तन विरोधी तत्त्वोंके सघर्षसे होता है, अत परिवर्तन ही सत्य है और संघर्ष ही वह प्रणाली है जिसपर परिवर्तन होता है। क्लैसिकल जर्मन दर्शनसे मार्क्सने दो विचार-पद्धतियाँ ग्रहण की थीं। एक थी हीगेल(१७७०-१८३१ ई०)की द्वन्द्वात्मक परिवर्तन-प्रणाली। हीगेल एक तत्त्ववादी विचारक था, किन्तु उसने यह स्वीकार किया था कि सृष्टिका सारा परिवर्तन विरोधी तत्त्वोंके सघर्षसे होता है। हर एक परिस्थितिमें ऐसे उपकरण होते हैं, जो इस परिस्थितिको नष्ट करनेका प्रयास करते है। ये उपकरण उस परिस्थितिके प्रतिवाद है। वाद और प्रतिवादमें नैसर्गिक सघर्ष होता है, जिसके फलस्वरूप एक तीसरी परिस्थितिका जन्म होता है, जो वाद और प्रतिवादके कुछ अंशोंको समन्वित करके निर्मित होती है।

इस तीसरी परिस्थितिको संवाद कहते हैं। कालान्तरमें यह सवाद भी वादका रूप ग्रहण करता है और फलस्वरूप इसके प्रतिवादकी सृष्टि होती है। इस वाद और प्रतिवादमें फिर सघर्ष होता है, और तब फिर उस नयी परिस्थितिका जन्म होता है जिसे सवाद कहते हैं। इसी प्रकार परिवर्तनकी प्रणाली चलती रहती है। इसको परिवर्तन-त्रयी अथवा द्वन्द्वात्मक परिवर्तन-प्रणाली कहते हैं। इस प्रणालीके अनुसार सत्यका कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता। परिवर्तन-मात्र ही सत्य है। कार्ल मार्क्सने हीगेलसे इस सत्यको ग्रहण किया। किन्तु जहाँ हीगल विचारोंके क्षेत्रमें इस प्रणालीकी प्रतिष्ठा करता है, वहाँ कार्ल मार्क्स भौतिक और सामाजिक यथार्थकी परिधिमें ही इसकी व्यावहारिकता स्वीकार करता है। मार्क्सने हीगेलकी परिवर्तन-प्रणालीको भौतिकवाद(दे०)से सयुक्त किया है। जिस जर्मन दार्शनिकने मार्क्सको भौतिकवादकी ओर उन्मुख किया, उसका नाम है फायरबाख (१८०४-१८७२ ई०)। फायरबाख जड़ पदार्थको ही सत्य मानता है। इसी आधारपर मार्क्सने यह स्वीकार किया कि जड़ पदार्थ सत्य है और विचार उसकी छाया है। हीगेल और फायरबाखके इस अभिनव समन्वयने मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (दे०) अथवा 'डाइलेक्टिकल मैटरियलिज्म'को जन्म दिया है।

फ्रांसीसी समाजवादसे मार्क्सने समाजवादी आदर्शोंको ग्रहण किया। समाजवादी क्रान्ति किस प्रकारसे हो, किन वर्गोंको किस प्रकारसे क्रान्तिके लिए प्रस्तुत किया जाय, ये सब बातें मार्क्सने फ्रासीसी समाजवादियोंसे ग्रहण कीं। क्लैसिकल ब्रिटिश अर्थशास्त्रकी प्रेरणासे मार्क्सने श्रमिकोंको सामाजिक महत्त्व प्रदान किया। ब्रिटिश अर्थशास्त्रियोंके अनुसार किसी पदार्थको मूल्य अर्थात् 'वैल्यू' प्रदान करनेकी क्षमता केवल श्रममें है। मार्क्सने इस विचारसे इस सिद्धान्तका निर्माण किया कि हर एक पदार्थका मूल्य श्रम द्वारा निर्मित होता है, किन्तु पूँजीपति मजदूरको उसके श्रमका उचित मूल्य न देकर उसे केवल उसके जीविकानिर्वाहके लिए जितना आवश्यक होता है, उतना ही देता है। इस प्रकार वह अतिरिक्त श्रम द्वारा निर्मित मूल्यकी कीमत मुनाफेके रूपमें अपने पास रख लेता है। स्पष्ट है कि पूँजीपति इस प्रकार श्रमिकोंका शोषण करता है। मार्क्सने इसे 'सरप्लस वैल्यूका सिद्धान्त' कहा है।

मार्क्सवाद (दे०) उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धका दर्शन है। इसको विकासकी प्रेरणा तात्कालिक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियोंसे मिली थी। मार्क्सके समयमें व्यावसायिक क्रान्तिने यूरोपमें और विशेषत इग्लैण्डमें जटिल आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न कर दी थीं। 'लेसेफेयर' सिद्धान्तके अनुसार राज्य इन समस्याओंमें हस्तक्षेप नहीं करता था, फलस्वरूप श्रमिकोंकी स्थिति गिरती जा रही थी। इस प्रकार पूँजीपति और श्रमिकोंके बीच वर्गसंघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस सघर्षमें मार्क्सने श्रमिकोंका साथ दिया। इन परिस्थितियोंकी प्रतिक्रिया पहले-पहल मार्क्समें भावनात्मक ही थी, किन्तु बादमें मार्क्सने इसको सैद्धान्तिक रूप देनेके लिए तर्क और वैज्ञानिक अनुसन्धानका सहारा लिया। फलस्वरूप उसने अपनी दृष्टि समाजके विगत इतिहासकी ओर दौड़ायी और सामाजिक प्रगतिका विश्लेषण किया, जिसे ऐतिहासिक भौतिकवाद (दे०) कहते हैं।

मार्क्सके समाजवादी दर्शनके दो पहलू हैं—पहला विश्लेषणात्मक और दूसरा क्रियात्मक। ऐतिहासिक भौतिकवादका सम्बन्ध विश्लेषणात्मक पहलूसे है। इसके अनुसार (१) समाजका विकास सघर्षोंसे होता है। (२) संघर्ष वर्गोंके बीच होते है, जिनका विभाजन आर्थिक आधारपर होता है। (३) वर्गसंघर्षोंसे उत्पादन-प्रणालियाँ निर्मित होती हैं

और जब समाजमें परिवर्तन होता है तो उत्पादन-प्रणाली भी परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार नयी आर्थिक व्यवस्थाका सूत्रपात होता है। (४) साहित्य, दर्शन, कला और विज्ञान समाजके तत्कालीन आर्थिक ढाँचेकी प्रतिकृतियाँ हैं और समाजमें जब कोई नया आर्थिक परिवर्तन होता है तो उसके फलस्वरूप उसका साहित्य, कला, दर्शन और विज्ञान भी परिवर्तित हो जाता है। (५) नयी आर्थिक प्रणाली पहलेसे विकसित होती है, किन्तु धीरे-धीरे वह प्रतिक्रियावादी हो जाती है और सामाजिक विकासको अवरुद्ध करती है। अब उस आर्थिक प्रणालीमें भी धीरे-धीरे परिवर्तन होना प्रारम्भ हो जाता है। ये परिवर्तन पहले तो मात्रात्मक होते हैं, परन्तु बादमें चलकर गुणात्मक रूप धारण कर लेते हैं। नयी आर्थिक प्रणाली गुणात्मक परिवर्तनोंके बाद ही आती है। (६) मात्रात्मक परिवर्तन आमूल परिवर्तनकी शृंखलामें एक कड़ी है। केवल गुणात्मक परिवर्तन ही आमूल परिवर्तन हो सकता है। लेनिन और स्टालिनने क्रान्तिको गुणात्मक परिवर्तनका साधन माना है। (७) वर्तमान समाज पूँजीवादी समाज है। मजदूरोंके संघटन ही इस समाजमें गुणात्मक परिवर्तन कर सकते हैं। इसके फलस्वरूप जो सामाजिक व्यवस्था आयेगी उसे साम्यवाद (द्र०) कहते हैं।

मार्क्सवाद, अपने क्रियात्मक पक्षमें, पूँजीवादी ढाँचेको किस प्रकार बदलना चाहिये, इसपर विचार करता है। मार्क्सने अपनी 'थीसिसेज आन फायरबाख'मे अन्तिम थीसिसमें लिखा है कि 'दार्शनिकोंने अबतक केवल संसारका विश्लेषण किया है। अब वह समय आ गया है कि हम इसका परिवर्तन कर दें।' परिवर्तन कर्म है, इसीलिए मार्क्सवादको लोग कर्मवादी दर्शन भी मानते हैं। मार्क्सने क्रान्तिको परिवर्तनका साधन माना है और जो वर्ग क्रान्ति कर सकता है वह मार्क्सके अनुसार सर्वहारा वर्ग (द्र०) है। इसीलिए मार्क्सने इस नारेको जन्म दिया 'संसारके श्रमिको, एक हो जाओ, क्योंकि तुम्हें अपनी गुलामी छोड़कर और कुछ नहीं खोना है।' सर्वहारा-वर्ग क्रान्तिसे सर्वप्रथम सर्वहारा अधिनायकवादकी रचना करेगा, जिसमें सर्वहारा-वर्गका राज्य होगा। किन्तु धीरे धीरे समाज वर्गविहीन हो जायगा, राज्य पूर्णतया नष्ट हो जायगा और साम्यवादी समाजकी रचना होगी। समाजवाद इस साम्यवादी समाजकी भूमिका है। समाजवादका सिद्धान्त है 'हर एकसे उसकी योग्यताके अनुसार काम लेना चाहिये और उसको उसके कामके अनुसार देना चाहिये।' किन्तु साम्यवादका सिद्धान्त इससे भिन्न है। इसके अनुसार 'हर एकसे उसकी योग्यताके अनुसार काम लेना चाहिये और उसको उसकी आवश्यकताके अनुसार देना चाहिये।'

मार्क्सवादी दर्शनमें हमें एकांगी सत्यके दर्शन होते हैं। सारा मनुष्यसमाज आर्थिक संघर्षोंसे ही प्रेरित होकर विकसित होता है, यह केवल आंशिक रूपसे ही सत्य है। मार्क्सका श्रमिकवर्गोंसे भावनात्मक सम्बन्ध था। इसी सम्बन्धको उसने तार्किक रूप देनेका प्रयास किया है। सिडनी हुकके इस कथनमें बहुत कुछ सत्य है कि 'मार्क्सने इतिहासके तर्क और भावनाके काव्यको समन्वित करनेका प्रयास किया है'।

समाजवादके मार्क्सवादी रूपके अतिरिक्त और भी रूप हैं, जैसे, श्रेणीमूलक समाजवाद अथवा 'गिल्ड सोशलिज्म', संघ-समाजवाद अथवा 'सिण्डिकैलिज्म' और राज्य-समाजवाद अथवा 'स्टेट सोशलिज्म' या 'फेबियन सोशलिज्म'। संघ-समाजवाद फ्रांसीसी आन्दोलन है, जिसके अनुसार सारे समाजको आर्थिक संघोंमें बाँटनेका प्रयास किया गया है। मजदूरोंकी हड़तालें ही उसका साधन हैं। राज्य-समाजवाद अँग्रेजी आन्दोलन है, जिसका उत्तराधिकार इंग्लैण्डकी लेबर पार्टीको प्राप्त है। राज्य-समाजवाद ब्रिटिश व्यक्तिवाद और मार्क्सवादके बीच समझौता करनेका प्रयास करता है। यह मार्क्सवादकी भाँति उत्पादनके साधनोंपर सामूहिक नियन्त्रण चाहता है, किन्तु ब्रिटिश व्यक्तिवादसे सम्बन्धित होनेके नाते यह संसदीय शासन प्रणाली और राज्यकी उपयोगिताको भी स्वीकार करता है, अतः इसका लक्ष्य कम्युनिस्टोंकी भाँति क्रान्ति नहीं है, वरन् विधानवादी तरीकोंसे चुनाव लड़कर पार्लियामेण्टमें समाजवादी बहुमत बनाकर समाजवादकी रचना करना है। मूल रूपसे इसकी प्रकृति उदारवादी है।

समाजवादका प्रभाव अनिवार्य रूपसे विश्वके प्रत्येक साहित्यपर पड़ा है, क्योंकि उसने कलाकारकी सजग चेतनाको नयी दिशाओंका संकेत दिया है। हिन्दी साहित्यमें समाजवादी कविताएँ दो भागोंमें बाँटी जा सकती हैं। पहले भागमें वे कवि और कविताएँ हैं, जिनका सम्बन्ध समाजवादी आदर्शोंसे है, किन्तु जिन्होंने अपनेको किसी पार्टी मेनिफेस्टोमें बाँधनेका प्रयास नहीं किया है। इस रूपमें इन कवियों और इन कविताओंने सामान्य वर्ण और रंगोंसे जीवनके सामान्य स्तरको चित्रित करनेका प्रयास किया है। इनके कृतित्वमें छायावादकी अस्पष्टता और स्वप्निलता नहीं है। जीवित यथार्थके सम्पर्कमें ही इनका काव्य-सत्य जन्म लेता है, किन्तु कहीं-कहीं इस यथार्थका साक्षात्कार भावनात्मक स्तरपर न होकर बौद्धिक स्तरपर हुआ है (सुमित्रानन्दन पंतकी 'ग्राम्या'की भूमिका देखिये)। अधिकतर इन कविताओंमें उन्मेष और सामाजिक न्यायकी प्रतिध्वनियाँ मिलती हैं। भगवतीचरण वर्माकी 'भैंसागाड़ी' इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है। 'निराला'ने भी ऐसी कविताएँ लिखी हैं, जिनमें पथपर पछताते आते हुए भिखारी और सड़कोंपर पत्थर तोड़नेवाली स्त्रियोंका चित्रण है। ऐसी कविताएँ मूल रूपसे न्यायप्रिय कलाकारकी नैसर्गिक प्रतिक्रियाएँ मात्र हैं।

दूसरे वर्गमें वे कवि उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने समाजवादी राजनीतिक आन्दोलनके साहित्यिक संस्करण प्रस्तुत किये हैं। हिन्दी साहित्यमें इस साहित्यिक आन्दोलनको एक विशेष संज्ञा प्रदान की गयी है, जिसे प्रगतिवाद (द्र०) कहते हैं। प्रगतिवादने साहित्यिक गुटबन्दीका भी निर्माण किया है, जो विभिन्न लेखकसंघोंके रूपमें व्यक्त हुआ है। इन लेखकसंघोंके अनुसार समाज और राजनीतिका सत्य ही कलाका चरम मापदण्ड है। कलात्मक सत्य यदि प्रगतिशील सामाजिक वर्गोंका साथ नहीं देता तो उसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है। सामाजिक वस्तु-स्थितिसे

कलाका यह यान्त्रिक लगाव केवल कलाके विघटनकी ही सूचना नहीं देता, वरन् कलाके स्थानपर उस साहित्यका सर्जन करता है, जो कालान्तरमें ऐतिहासिक महत्त्वका ही रह जायगा। जब कलाका सम्बन्ध सामाजिक वस्तु-स्थितिसे न होकर किसी पार्टीके मेनिफेस्टोसे हो जाता है तो वह स्थिति अत्यन्त शोचनीय होती है। बहुत-कुछ मात्रामें प्रगतिशील लेखकोंने पार्टी मेनिफेस्टोके आधारपर ही कलाका निर्माण किया है। इस परिस्थितिमें कलामें सामाजिक वस्तु-स्थितिका चित्रण न होकर उस यथार्थका चित्रण है जो और कुछ भी क्यों न हो, 'यथार्थ' तो है ही नहीं।

'प्रगतिशील' साहित्यका सर्जनात्मक पक्ष ही नहीं, प्रत्युत समीक्षात्मक पक्ष भी दुर्बल है। इसका समीक्षाका मानदण्ड पार्टी मेनिफेस्टोके अनुसार प्राय बदलता रहता है। प्रगतिशील साहित्यमें सर्वत्र यान्त्रिकता ही व्याप्त है। मात्राकी दृष्टिसे तो इस साहित्यने कुछ कार्य किया भी है, किन्तु साहित्यिक गुणोंकी इसमें न्यूनता है। कहीं-कहीं इस साहित्यमें पतनोन्मुख मध्यवर्गीय मनोवृत्तिका अच्छा चित्र मिलता है, जैसे, यशपालके 'मनुष्यके रूप' नामक उपन्यासमें। अधिकतर तो इसमें पार्टी सिद्धान्तोंकी ही भरमार है। यथार्थवादी रोमासके लेखक रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी'-की कहानियाँ और उपन्यास, यशपालका 'देशद्रोही' और 'दादा कामरेट', नागार्जुनकी व्यग्य कविताएँ और उपन्यास, अमृत रायकी कहानियाँ और उनका 'बीज' नामक उपन्यास प्रगतिशील साहित्यकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

ऐसा नहीं कि प्रगतिशील साहित्यका भारतीय सामाजिक चेतनाके विकासमें कोई स्थान ही नहीं है। कमसे कम प्रगतिशील लेखकोंने अपनी कृतियों द्वारा समाजकी जनवादी और उदारवादी परम्पराको सुरक्षित रखनेका प्रयास किया है। उनमें साहित्यिक न्यूनता है, किन्तु भविष्यमें हो सकता है कि जीवनके प्रगतिशील मानदण्ड और कलात्मक वैभवमें समन्वय स्थापित हो सके। प्रत्येक युगमें कला और सामाजिक उपयोगिताके प्रश्नोंको उठाया गया है। ठीक वही प्रश्न इतिहासकी इस वर्तमान स्थितिमें हमारे सामने भी है। लोकसग्रह और कलाका समन्वय ही इस प्रश्नका समाधान है।

[सहायक ग्रन्थ—'राष्ट्रीयता और समाजवाद' नरेन्द्रदेव]। —रा० कृ० त्रि०

समाजवादी यथार्थवाद–दे०–'सामाजिक यथार्थवाद'।

समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद sociological relativism)—यह एक मानी हुई बात है कि जीवन उतना ही और वैसा ही है, जितना और जैसा समाज विशेष अथवा युग-विशेष द्वारा जाना गया है। प्रत्येक समाज अथवा युग उसके पक्ष-विशेषका ही साक्षात्कार कर पाता है, यद्यपि प्राय सभी समाज अथवा युग अपनेको पूर्ण जीवनदृष्टि सम्पन्न तथा अन्य समाजों अथवा युगोंको भ्रान्तजीवनदृष्टि सम्पन्न सिद्ध करनेका दावा करते पाये जाते हैं। समाजदर्शन इन विभिन्न जीवनदृष्टियोंको सापेक्ष सत्य सिद्ध करता है। इसके अनुसार दर्शन और धर्म, साहित्य और कला, कानून और नीति-नियम, राजनीति और अर्थनीति प्रभृति विविध सामाजिक, सास्कृतिक सस्थाएँ एव प्रवृत्तियाँ, नित्य, सार्वजनीन और सार्वकालिक न होकर समाजानुसारी अथवा युगानुसारी होती हैं। वे भिन्न समाजों अथवा युगोंमें भिन्न हो जानेको बाध्य हैं। किन्हीं दो समाजों अथवा युगोंमें ये सस्थाएँ और प्रवृत्तियाँ एक सी नहीं होतीं। स्पेंग्लरके अनुसार तो सस्कृति-सस्कृतिकी आत्मामें इतना भारी भेद है कि उनके बीच परस्पर आदान-प्रदान सम्भव ही नहीं। एक सस्कृतिकी चिन्ताधाराको अन्य सस्कृति विकृत करके ही समझ सकती है। यूनानके अरस्तूको यूनानियोंने ही ठीक-ठीक समझा था, अरबों और गाथोंने तो उसे अपने-अपने ढगपर गलत रूपमें ही ग्रहण किया था। सचमुच किसीको 'तीन अरस्तुओं'–यूनानी, अरबी और गाथीय—का इतिहास लिख डालना चाहिये था, जिनके बीच एक भी धारणा अथवा विचारकी समानता नहीं पायी जाती। स्पेंग्लर स्पष्ट कहता है कि सत्य किसी विशिष्ट मानवताकी अपेक्षामें ही सत्य हुआ करता है, कोई सत्य सार्वजनीन और सार्वकालिक नहीं।

यह तो सभी मानेंगे कि प्रत्येक समाज अथवा युगके सत्य-असत्य, नीति-अनीति, औचित्य-अनौचित्य, शुभ-अशुभ सम्बन्धी अपने प्रतिमान और मानदण्ड होते हैं और उन्हींके आधारपर उस समाज अथवा युगके विषयमें निर्णय देना चाहिये। किसी अन्य समाज अथवा युगके मानदण्डसे नापनेपर हम भ्रामक निष्कर्षपर ही पहुँचेंगे। यह सत्यों, मूल्यों एवं प्रतिमानोंकी सापेक्षताका सिद्धान्त समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद नामसे अभिहित किया जाता है।

इसी शतीमें 'ज्ञानका समाजशास्त्र' (सोशियालॉजी आफ नालेज) नामसे एक नयी उपविद्याकी प्राण प्रतिष्ठा हुई है जो मानवीय सत्योंकी समाजशास्त्रीय व्याख्याका प्रयत्न करती है। इसका समाजशास्त्रीय सापेक्षवादसे घना सम्बन्ध है। —ह० ना०

समाधि–(समाहित) वाक्य-न्यायमूल अर्थालकार, जिसमें 'काकतालीयन्याय'के अनुसार अकस्मात् किसी कारण अथवा अन्य कर्ताकी उपस्थितिसे प्रधान कर्ताके कार्यकी अनायास सिद्धि होती है। कौएके तालवृक्षपर बैठनेसे तालफलके अकस्मात् पतन जैसी अचानक घटनाको काकतालीयन्याय कहते हैं। इस प्रकार, जहाँ आकस्मिक कारणोंके योगसे कर्ताके कार्यकी अनायास सिद्धिका वर्णन हो, वहाँ समाधि अलकार होता है। यह प्राचीनोंसे चला आनेवाला अलंकार है। मम्मटके अनुसार 'समाधि सुकर कार्यं कारणान्तर-योगत' (का० प्र० १० १२५), अर्थात् जहाँ कतिपय अन्य कारणोके योगसे कार्य सुगम हो जाय। दण्डी तथा भोजने इस अलंकारका उल्लेख 'समाहित' नामसे किया है। दण्डीका लक्षण इस प्रकार है—'किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुन। तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहु समाहितम्।' (काव्यादर्श २ २९८), अर्थात् किसी आरम्भ किये हुए कार्यके सम्पादनके साधनका दैववशात् जुटना। विश्वनाथने कार्यके अनायास होनेके लिए आकस्मिक कारणको स्वीकार किया है।

हिन्दीमें प्रारम्भसे ही इसको स्वीकृति मिली है।

मतिराम, भूषण, चिन्तामणि तथा पद्माकर आदिने 'काव्य-प्रकाश'की परिभाषाको 'चन्द्रालोक' आदिके आधारपर स्वीकार किया है—'दूजे कारनके मिले काजु जु हस्वर होइ' (चिन्तामणि) अथवा—'और हेतुके मिलेते सुकर होत जहँ काज' (भूषण १० २८९)। भिखारीदास द्वारा निरूपित लक्षण अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं पूर्ण है—'क्यों हूँ कारजको जतन, निपट सुगम ह्वै जाय। तासों कहत समाधि लखि, काक तालके न्याय' (का० नि० १५)।

'कविकल्पतरु'में चिन्तामणिका प्रस्तुत उदाहरण—'हरि चाह्यो पगपरनको, मानवती लखि बाम। भई तडित घनस्याममें, निरखि नडित घनस्याम।' इसी प्रकार नायिका प्रसंगका उदाहरण सोमनाथने भी दिया है—'निरखनकों निय वदन छवि, पठई डीठि मुरारि। उत ह्याँ चपल समीरने, घूँघट दियो उघारि' (र०पी०नि०) समीरके झोंकेसे अवगुण्ठनके खुल जानेके कारण मुखकी छवि देखनेका कार्य अनायास ही सिद्ध हो गया है। रीतिकालके कवियोंने अभिसारके वर्णनोंमें इसका सुन्दर निर्वाह किया है।

संस्कृतमें भोजने 'समाधि'की अलग परिभाषा की है—अन्यके धर्मोंका अन्यत्र आरोपण करना—'समाधिमन्य-धर्माणामन्यत्रारोपण विदु' (स०क० ४ . ३०)। हिन्दीके प्रमुख आचार्य केशवदासने भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है—'होत न क्यों हू होत जहँ दैवजोगतें काज।' (क०प्रि० . १३ १), यहाँ कार्य न होनेवाला है, परन्तु केशवने उदाहरण दण्डीका ही दिया है। दे०—'काव्यहेतु', चौथा हेतु। दे०—'हठयोग'। —म०

समाधि गुण—दे०—'गुण', दसवाँ प्रकार।

समानिका—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; इस छन्दको 'वाग्वल्लभ'में चामर, 'वाणीभूषण' और 'प्राकृत-पगलम्'में समानिका नाम दिया है। रगण, जगण और गुरुके योगसे इस छन्दका चरण बनता है (SIS, ISI, S)। केशवने प्रयोग किया है—'राज मण्डली लसै, देवलोकको हसै' (रा० चं० ७ ४)। —पु० शु०

समापनवक्रता—दे०—'प्रबधवक्रता', दूसरा नियामक।

समासपुनरुक्ति—दे०—'शब्द-दोष', आठवाँ 'वाक्य-दोष'।

समालोचना—'समालोचना'का शब्दार्थ है सम्यक् रूपसे देखना—सम+लुच+टाप्। साहित्यिक रचनाका भली भाँति परीक्षण, विश्लेषण आदि कर तत्सम्बन्धी स्वसम्मति या निर्णय देना ही समालोचना है। परन्तु आलोचना और समालोचनाका एक ही अर्थमें प्रयोग होता है। दे०—'आलोचना'। —ल० सा० वा०

समासोक्ति—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका विशेषण-वैचित्र्यमूल प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार। शब्दार्थ है थोड़ेमें बहुत कहना। भामह तथा उद्भटके अनुसार—'समान विशेषणकी सामर्थ्यसे प्रकृतपरक वाक्य द्वारा अप्रकृत अर्थका अभिधान' समासोक्ति है (का० सा० स २ १०)। रुय्यक तथा मम्मटकी व्याख्या समान है—'इसमें प्रस्तुतार्थबोधक वाक्यके द्वारा किसी दूसरे अप्रस्तुत अर्थका बोध होता है और यह प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों अर्थोंका प्रतिपादन प्रयुक्त विशेष्यवाचक पदकी सामर्थ्यसे न होकर, विशेषणवाचक श्लिष्ट पदोंके महत्त्वसे सम्भव होता है' (का० प्र० १० ९७ वृ०)। विश्वनाथ इसी भावको इस रूपमें प्रस्तुत करते है—'समान कार्य, लिंग तथा विशेषणोंसे अप्रस्तुत वस्तुका व्यवहार प्रस्तुत वस्तुओंपर आरोपित किया जाना' (सा० द० १० ५६-५७)। जयदेव तथा अप्पय दीक्षितने सूक्ष्म रूपसे केवल यह लक्षण दिया है—'परिस्फूर्ति प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य' (चन्द्रालोक ५ ६२), अर्थात् प्रस्तुतमें अप्रस्तुतका स्फुरण होना।

हिन्दीके आचार्योंने प्राय इन्हींका अनुसरण किया है—'अप्रस्तुत जु फुरै सु प्रस्तुत माँझ' (भा० भू० . ९४) अथवा—'जहँ प्रस्तुतमें होत है अप्रस्तुतको ज्ञान।' (ल० ल० १६०)। प्राय भेदोंका उल्लेख नहीं किया गया है। दास वाचक तथा श्लेष, दो भेदोंका कथन करते हैं (का० नि० . १२)। आधुनिक विवेचकोंमें कन्हैयालाल पोद्दारने विश्वनाथके भेदोंको स्वीकार किया है—विशेषण, लिंग तथा कार्यकी समानता और इन तीनोंमें श्लिष्ट तथा साधारणके भेद। उदा०—'विकसित मुख प्राची निरखि रविकरसौ अनुरक्त। प्राचेतस दिसि जात ससि, ह्वै दुति मलिन विरक्त।' (अ० म० ३१७), यहाँ प्रभातके प्रस्तुत वर्णनमें श्लिष्ट विशेषणोंके द्वारा विलासी पुरुषरूप अप्रस्तुतकी प्रतीति भी होती है। अथवा—'सहज सुगन्ध मदन्ध अलि, करत चहूँ दिसि गान। देखि उदित रवि कमलिनी, लगी मुदित मुसकान।' (अ० म० . ३२१), यहाँ प्रस्तुत कमलिनीके वर्णनमें श्लेषरहित विशेषणोंसे अप्रस्तुत नायिकाके व्यवहारकी प्रतीति होती है। अथवा—'पीली पड निर्बल कोमल देहलता कुम्हलायी। विवसना लाजमें लपटी साँसोंमें शून्य समायी।' (सु० न० प० का०द०से), यहाँ लिंगकी समता अप्रस्तुत रुग्णा बालाके वर्णनका स्फुरण है। रीतिकालीन आचार्योंके द्वारा प्रस्तुत समासोक्तिके उदाहरण प्राय अस्पष्ट हैं। इस अलकारका प्रयोग प्रेमाख्यानक काव्यमें नायिकाके सौन्दर्यवर्णनमें तथा छायावादी काव्यमें प्रकृतिपर मानवीय मधु क्रीड़ाओंके आरोपमें विशेष रूपसे मिलता है।

आचार्योंने श्लेषके समान समासोक्तिके विषयको दुरूह माना है, क्योंकि यह प्राय श्लेष तथा एकदेशविवर्तित रूपकके साथ घुल-मिल जाता है। प्रकृत आश्रित या अप्रकृत आश्रित श्लेषमें विशेष्यवाचक पद श्लिष्ट होते हैं। प्रकृत-अप्रकृत उभय आश्रित श्लेषमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों विशेष्योंका भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा कथन किया जाता है। समासोक्तिमें दोनों विशेष्योंका भिन्न भिन्न शब्दोंसे कथन नहीं होता, केवल प्रस्तुत विशेष्यका ही शब्द द्वारा कथन होता है—समान विशेषणों द्वारा ही अप्रस्तुतका बोध हो जाता है। एकदेशविवर्त रूपकमें प्रस्तुतमें अप्रस्तुतका आरोप किया जाता है, उपमान अपने रूपसे उपमेयको आच्छादित कर लेता है, परन्तु समासोक्तिमें उस रूपका आच्छादन नहीं होता, वरन् प्रस्तुत व्यवहारके द्वारा अप्रस्तुतके व्यवहारकी प्रतीति भर होती है। —र०

समाहारवाद—समाहारका अर्थ होता है समन्वय। परस्पर विरोधी तत्त्वोंको या चीजोंको मिलाना।

'एकलेक्टिसिज्म' या सब जगहसे थोड़ा-थोड़ा मधुकरी वृत्तिसे संग्रह करना, इस हिकारतभरे अर्थमें पश्चिमी आलोचनामें यह शब्द प्रयुक्त होता है। समन्वय या सश्लेषण स्वाभाविक हो तो उचित, वर्ना यह केवल बाह्य रूपसे अनमेलको मिलाना अधिक दिन नहीं चलता। तर्ककी अवस्थामें ऐसे समाहार सम्भवनीय होते हैं, परन्तु व्यावहारिक या प्रत्यक्ष धरातलपर समाहारवाद एक विचित्र गँठजोड़वाली (काम्प्रोमाइजिंग) स्थितिमें हमें डाल देता है। अच्छे अर्थोंमें हमारे यहाँ शैव-वैष्णव, शैव बौद्ध और हिन्दू-मुसलिम पद्धतियोंका समाहार भी प्राप्त होता है। —प्र० मा०

समाहित—दे०—'रसवत्' आदि।

समीक्षा—समीक्षा अर्थात् अच्छी तरह देखना, जाँच करना—सम्यक् ईक्षा या ईक्षणम्। किसी वस्तु, रचना या विषयके सम्बन्धमें सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना, प्रत्येक तत्त्वका विवेचन करना समीक्षा है। जब साहित्यके सम्बन्धमें उसकी उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उसके विविध अंगों, गुण दोष आदि विभिन्न तत्त्वों और पक्षोंके सम्बन्धमें सम्यक् विवेचन किया जाता है तो उसे 'साहित्यिक समीक्षा कहते' हैं। साहित्यके विविध तत्त्वों और रूपोंका स्वयं दर्शन कर दूसरोंके लिए उसे द्रष्टव्य बनाना ही समीक्षकका कर्म है। भारतवर्षमें राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'में साहित्य-समीक्षाका सूत्रपात किया था और औचित्यवादियोंने उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया। यूरोपमें ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दीसे इस प्रणालीका प्रचार माना जाता है। शास्त्रमें समीक्षाका अर्थ है भाष्यके बीच प्रकृत विषयको छोड़कर दूसरे विषयपर विचार करना। यद्यपि कुछ विद्वान् 'चारों ओरसे देखना', 'आलोचना' और 'सम्यक् दृष्टिसे ज्ञान प्राप्त करना-(समीक्षा)में अन्तर उपस्थित करते हैं और 'समीक्षा'-को अधिक व्यापक रूप प्रदान करते हैं, तो भी व्यावहारिक रूपमें 'आलोचना' और 'समीक्षा'का प्रयोग लगभग एक ही अर्थमें होता है। 'आलोचना'के अन्तर्गत उन सब बातोंपर विचार किया जाता है जिनपर 'समीक्षा'के अन्तर्गत किया जाता है। दे०—'आलोचना'। —ल० सा० वा०

समुच्चय—वाक्यन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें किसी कार्यकी सिद्धिके हेतु तुल्य बलवाले अनेक पदार्थोंका समुच्चय होता है। समुच्चयका अर्थ है 'एक साथ इकट्ठा होना।' प्रस्तुत अलंकारकी प्रवृत्ति 'विकल्प'के सर्वथा विपरीत है। उसमें दो तुल्य बलवाले पदार्थोंमें एक ही काल और स्थितिमें विरोध होता है, किन्तु इसमें तुल्य बलवालोंकी एक कालमें एकत्र स्थिति होती है। रुद्रट तथा रुय्यकसे इस अलंकारकी विवेचना निरन्तर होती रही है। रुद्रटने समुच्चयको त्रिविध सत्, असत् तथा सदसत्‌के योगके अनुसार माना है (काव्याल० ७ १९), अर्थात् कार्यके उत्तम साधनोंका योग, असत् साधनोंका योग तथा सत्, असत् दोनोंका योग। मम्मटके अनुसार—'तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत्' (का० प्र० १० ११६), अर्थात् किसी प्रस्तुत कार्यकी सिद्धिके वर्णनमें एक कारणके रहते अन्य कारणका समावेश किया जाना। मम्मटने रुद्रटके विभाजनको अपने लक्षणके अन्तर्गत घटित बतलाया है और गुण क्रियाके योगसे तीन भेदोंका प्रतिपादन किया है—गुणका योग, क्रियाका योग तथा गुण क्रियाका योग 'सत्वन्यो युगपत् या गुण-क्रिया' (वही)। 'साहित्यदर्पण'के लेखक विश्वनाथने इस मतको स्वीकार किया है।

हिन्दीके आचार्योंने इस अलंकारकी विवेचनामें जयदेव तथा अप्पय दीक्षितसे प्रेरणा प्राप्त की है। पर ये अपने दृष्टिकोणमें बहुत स्पष्ट नहीं हैं। संस्कृतके आचार्योंने प्रमुखतः समुच्चयके दो भेद किये हैं। **प्रथम समुच्चय**—किसी कार्यकी सिद्धिके लिए एक साधनके होनेपर भी अन्य साधनोंका उसी कार्यकी सिद्धिके सहायक तत्त्वके रूपमें कथन किया जाना। हिन्दीके आचार्योंने प्रथम समुच्चयके लक्षण 'बहुत भये एक बारगी तिनको गुम्फ जो होय' (ल० ल० २७७), 'एक बार ही जहँ भयो बहु काजनको बंध' (शि० भू० २५४) आदि दिये हैं। चिन्तामणिके 'कविकल्पतरु'में 'एकसिद्धकर संग मिलि औरौ साधक होय' और दासके 'काव्यनिर्णय'में 'एकै करता सिद्धिके औरौं होंइ सहाइ' अधिक स्पष्ट लक्षण हैं। इसके विस्तारकी ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया गया। इसी प्रकार **द्वितीय समुच्चय**—गुण या क्रियाका अथवा गुण और क्रिया दोनोंका एक ही कालमें वर्णन अथवा इनकी स्थिति। पर हिन्दीके आचार्योंके लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं हैं—'बहसि बरन बहु हेत जँह एक काजकी सिद्धि' (ल० ल० २७९) अथवा—'वस्तु अनेकनको जहाँ बरनत एकै ठौर' (शि० भू० २५६) आदि। कन्हैयालाल पोद्दार तथा रामदहिन मिश्र आदि आधुनिक आचार्योंने इस विभाजनको प्रस्तुत किया है।

प्रथम समुच्चयके तीन प्रकार किये गये हैं—(क) **सद्योग**, उत्तम कारणोंके योगका समुच्चय—'तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ। मोकहँ दरस तुम्हार प्रभु, सब मम पुन्य प्रभाउ' (रा० च० मा० २), इसमें पिता दशरथकी आज्ञा राम-वन-गमनके लिए साधन-रूपमें पर्याप्त थी, किन्तु उसकी सिद्धिके लिए कैकेयीकी स्पृहा, भरतकी राज्यप्राप्ति एवं मुनिजनोंके दर्शन-रूप उत्तम साधनोंका समुच्चय किया गया है। (ख) **असद्योग**, असत् साधनोंके योगका समुच्चय—'धन जोबन बल अग्यता, मोह मूल इक एक। दास मिलें चारयों तहाँ, पैसे कहाँ विवेक' (का० नि० १५) यहाँ धन और यौवन आदि चारोंमें एककी प्राप्ति ही उचित-अनुचितके विवेक-नाशके लिए पर्याप्त है, किन्तु यहाँ चारों असत् साधनोंका समुच्चय किया गया है। (ग) **सदसद्योग**, सत् तथा असत् कारणोंके योगका समुच्चय—'दिनको दुति मंद सुचंद सरोवरको अरविन्द विहीन लखावै। खल राजसभागत सातहु ये लखि ककट लौ हियमें चुभि जावै।' (रुय्यकसे अनु० कन्हैयालाल पोद्दार), इसमें सत् तथा असत् दोनों प्रकारके साधनोंका समुच्चय है।

द्वितीय समुच्चयके तीन प्रकार हैं—(क) **गुण**, एकसे अधिक गुण(निर्मलता, मधुरता आदि)का समुच्चय—'सुन्दरता, गुरुता, प्रभुता भनि भूषन होत है आदर जामें' (शि० भू० २५७)। (ख) **क्रिया**, अनेक क्रियाओंका समुच्चय—'तब ही ते देव देखो देवता सी हसति सी, खीझति सी रीझति सी रूसति रिसानी सी (भा० वि०)।

(ग) गुणक्रिया, अर्थात् दोनोंका एक साथ समुच्चय—'आला तू ही बता दे इस विजन बिना म कहाँ आज जाऊँ! दीना हीना अधीना ठहरकर जहाँ शान्ति दूँ और पाऊँ' (सा० ९), यहाँ दीना, हीना, अधीना आदि गुणों तथा 'दूँ' और 'पाऊँ' आदि क्रियाओंकी एक ही कालमें स्थिति है। —वि० स्ना०

समूहगीत—लोकजीवन प्रारम्भमें सामूहिक रहा है, अत उत्सव, उल्लास, कार्य-व्यापारमें सामूहिकता सदासे स्पष्ट रही है। साम-गान समूहपरक था। स्तुतियाँ सामूहिक थीं। जिस संस्कृतिकालमें व्यक्ति एक अलग इकाई न होकर समाजका अविच्छिन्न अंग और अंशमात्र था उस समय ही समूहगीतका उद्भव और विकास हुआ। संस्कारोंके अवसर सामूहिक जीवनकी चेतनाको ही स्पष्ट करते हैं। जन्म, विवाह आदिके अवसरोंपर ऐसे गीत गाये जाते हैं। सामाजिक जीवनकी विच्छिन्नताके कारण इन गीतोंकी प्रथा क्रमश कम होती जा रही है। कर्मकरोंका समूह अपने श्रमको भुलावा देनेके लिए सामूहिक रूपमें गायन करता है, जैसे, रोपनीके गीत, बजारोंके गीत, नाविकोंके गीत। इन गीतोंमेंसे कुछमें **वर्गगीत** भी आ जाते हैं, क्योंकि वर्गगत भावनाओं और धारणाओंकी अभिव्यक्ति रहती है। **समूहगीतमें** सामूहिक गायन अर्थात् गायन-पद्धतिपर विचार किया जाता है और **वर्गगीतमें** अभिव्यक्ति और विचारधारापर। सामूहिक रूपमें गाये जानेवाले गीत वर्ग भावनासे मुक्त रह सकते हैं और वर्गगीतका गायक अकेला व्यक्ति भी हो सकता है। लोकगीतोंकी परम्पराको सीमित साहित्यिक रूप देनेका प्रयास प्रगतिवादियोंने किया, क्योंकि मार्क्सके अनुसार दर्शनका प्रयोजन जीवन-पद्धतिका परिवर्तन है। अत इन कवियोंने वर्गगीतोंकी रचनाके द्वारा भारतीय जनताकी वर्गचेतनाको उभारनेकी चेष्टा की। इस दृष्टिसे **वर्गगीतके** दो वर्ग हैं—वर्गविशेषकी धारणाको व्यक्त करनेवाले गीत और वर्गचेतनाको उभारनेके लिए लिखे गये गीत। प्रथम कोटिके गीत अनायास और अचेतन भावसे धारणा और भावनाको अभिव्यक्त करते हैं और दूसरे प्रकारके गीत सायास एवं बौद्धिकतामूलक सिद्धान्तवादी हैं। प्रथम प्रकारके गीतोंके रचयिता अज्ञात-कुल-शील व्यक्ति थे और दूसरे प्रकारके गीतकार मार्क्सवाद और वर्गसिद्धान्तके सचेष्ट उपदेशक और व्याख्याता हैं। **चर्चरीका** अर्थ चौराहा है, अत चौराहोंपर गाये जानेवाले सामूहिक गीतका नाम **चर्चरी** हुआ। होली फाग आदि उत्सव सम्बन्धी गीत भी समवेत रूपमें गाये जाते हैं और वे **समूहगीत** हैं।

समाजगीत भी सामूहिक गीतका एक अंश है। समूहमें सामूहिक गायनकी पद्धतिपर बल है तो समाजगीतमें समूहकी सामाजिक परिणतिकी साकांक्ष अभिव्यक्ति। भारतीय समाज विभिन्न स्तरों, जातियों और सम्प्रदायोंमें विभक्त है। प्रभाती, वैवाहिक गीत आदि शुद्ध सामूहिक गीत हैं, किन्तु कृषि सम्बन्धी गीतोंमें अधिक समाजगीत हैं, क्योंकि इनमें कृषक समाजकी समस्याओं, आशाओं, निराशाओंकी अभिव्यंजना रहती है। विभिन्न जातियोंके मध्य प्रचलित गीत भी समाजगीतके अन्तर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त एक प्रकारके समाजगीत हैं जो विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायोंमें प्रचलित हैं। **निर्गुन** नामक गीत इसी परम्पराका द्योतक है। **जोगीड़ा** इसी प्रकारका एक गीत-भेद है जो बादमें चलकर विकृत हो गया। **समूहगीतोंका** एक विभेद **उत्सवगीत** हैं जिनका सम्बन्ध विशेष उत्सवों और पर्वोंसे है। सामूहिक जीवन और लोकमानसका परिचय इनके द्वारा मिलता है। **होली** इसका अन्यतम उदाहरण है जिसे **फाग** भी कहते हैं। सन्त साहित्यमें इसका नाम **वसन्त** भी है। कबीरने अपनी होलीमें आत्मा-परमात्माकी मिलनोत्कण्ठा और आनन्दका वर्णन किया है। —रा० खे० पा०

समूहवाद—समूहवाद एक प्रकारकी समष्टिवादी विचार-धाराका प्रतीक है। इस विचार-पद्धतिमें व्यक्तिगत जीवनपर सामूहिक नियन्त्रणकी सार्थकता स्वीकार की जाती है। सामूहिक नियन्त्रण कई प्रकारका होता है, क्योंकि व्यक्तिके जीवनका सम्पर्क समाज और समाज-स्थित विभिन्न समूहोंसे होता है। सम्पर्कके इन्हीं माध्यमोंसे सामूहिक नियन्त्रणोंकी स्थापना होती है, और इन सम्पर्कोंके मूलमें मनुष्यकी सामाजिक भावना निहित है। समूहवाद मनुष्यकी अन्त -प्रवृत्तियों और इन्हीं अन्त प्रवृत्तियों द्वारा प्रभावित बौद्धिक संकल्पको ही सामाजिकताका कारण मानता है। अत समूहवादी सामाजिक और सामूहिक संघटनोंका विश्लेषण करनेके लिए मनुष्यके मनोवैज्ञानिक गठनका भी परीक्षण करते हैं। इसीलिए समूहवादका दार्शनिक आधार समाज-शास्त्रीय मनोविज्ञान अर्थात् 'सोशल साइकॉलोजी' है।

उपर्युक्त रूपमें समूहवाद बीसवीं शतीका दार्शनिक आन्दोलन है। किन्तु मध्य युगकी समूह व्यवस्था भी एक प्रकारकी समूहवादी स्थिति ही थी। यह दूसरी बात है कि मध्ययुगीन समूह व्यवस्थाका सैद्धान्तिक आधार मनोविज्ञान न होकर सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियोंकी अनिवार्यताएँ थीं। मध्य युगमें यूरोपमें समाजवाद सर्वत्र व्याप्त था और इस नाते यूरोपीय संस्कृतिका समूचा रूप ही संघात्मक हो गया। आधुनिक युगमें जब समूहोंकी महत्ताका विश्लेषण प्रारम्भ हुआ तो बहुत-से आधुनिक विचारकोंने अपनी दृष्टि मध्ययुगकी ओर डाली। इस दृष्टिसे आधुनिक युगमें राजनीतिक आन्दोलन भी चलाये गये और इन आन्दोलनोंका ध्येय राज्यकी सम्प्रभुताको विभिन्न धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक समुदायोंमें बाँटनेका था। अत यह कहना भी सत्य है कि समूहवाद राज्यकी निरंकुशताकी प्रतिक्रिया है।

आधुनिक युगमें समूहवादको मनोवैज्ञानिक आधारपर प्रतिष्ठित करनेका प्रयास किया गया है। मनोवैज्ञानिकोंने समाज और उसके विभिन्न समूहोंके जीवनका परीक्षण आरम्भ किया और इस निष्कर्षपर पहुँचे कि मनुष्यकी विकसित समाजभावनाकी उत्पत्ति सुदूर अतीतमें ही आदिम मानवकी जाति, गोत्र और समूहभावनासे हो गयी थी और प्रागैतिहासिक कालके आदिम मानवोंसे हमारी परम्पराने संस्कारके रूपमें इसे ग्रहण किया है। समयका अन्तराल पाकर ये संस्कार हमारे आन्तरिक जीवनके उस स्तरपर उतर आते हैं जहाँ वह महत्, नैसर्गिक

अन्त प्रवृत्तियोंका रूप धारण कर लेते हैं। हमारी समाज-भावना इन्हीं आन्तरिक प्रवृत्तियोंसे प्रस्फुटित होती है।

समूहवादने मनुष्यकी अन्तर्हित सामाजिकताका अध्ययन दो दृष्टिकोणोंसे किया है। पहला दृष्टिकोण तो यह है कि समूहवादी मनुष्यके मनोवैज्ञानिक संघटनपर विचार करता है। तत्पश्चात् वह इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि समाज-भावना उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति है जिसे उसने आदिम मनुष्यका वंशज होनेके नाते प्राप्त किया है। इस प्रकारके दृष्टिकोणकी रेखाएँ व्यक्तिकी सीमित मनोवैज्ञानिक परिधिमें ही घूमती रहती हैं। आधुनिक युगमें ट्राटर, ग्रैहम वैलेस और मैक्डूगलने इस दृष्टिकोणको अपनाकर समूहोंकी व्याख्याका प्रयास किया है। ट्राटरके अनुसार मनुष्यमें आत्मरक्षा, प्रजनन और अपने अहम्‌से स्नेहकी प्रकृति-प्रदत्त भावनाएँ छिपी हैं। ये भावनाएँ मानवको पूर्णतया स्वसीमित बना देतीं यदि उसके भीतर सामाजिकताकी भावना साथ ही साथ न होती। अत समाजकी उत्पत्तिका कारण मनुष्यका बौद्धिक संकल्प न होकर उसकी नैसर्गिक अन्त-प्रवृत्तियाँ हैं। ग्रैहम वैलेस भी ट्राटरके समान समाजकी उत्पत्तिका तर्क मानवकी अन्तर्निहित प्रवृत्तियोंमें पाता है, किन्तु वह ट्राटरसे एक पग आगे जाकर इन अन्त प्रवृत्तियों-पर समाज द्वारा बौद्धिक नियन्त्रणकी मांग प्रस्तुत करता है। मैक्डूगलकी समाज-व्याख्यामें ट्राटर और वैलेससे कहीं अधिक मनोवैज्ञानिकताका अंश है। उसके अनुसार मनुष्य-के भीतर ग्यारह अन्त प्रवृत्तियाँ हैं और इन्हींमेंसे कुछ ऐसी भी हैं जिनसे समाज और समूहोंका जन्म होता है। ट्राटर, ग्रैहम वैलेस और मैक्डूगलकी व्याख्याएँ व्यष्टिगत मनोविज्ञानके आधारभूत तत्त्वोंका प्रक्षेपण समाजमें करती हैं।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि समूहवादी सर्वप्रथम समूहोंकी स्थिति और संघटनपर विचार करता है। तत्पश्चात् वह इनकी अनिवार्यता सिद्ध करता है। अमेरिकामें आधुनिक कालमें इस विचारधाराका यथेष्ट प्रचलन हुआ है। रासका नाम इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है। रास समूहोंके नियन्त्रणको आवश्यक मानता है, किन्तु इस नियन्त्रणकी कल्पना बौद्धिक है।

इस प्रकारसे समूहवाद मनोविज्ञानके क्षेत्रमें नये मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणकी सर्जना करता है, जिसे समूह-मनोविज्ञान अथवा 'ग्रूप साइकॉलोजी' कहते हैं।

समूहवादने एक निश्चित प्रकारकी समाजवादी परम्पराको भी प्रभावित किया है जिसे श्रेणी-संघ-समाजवाद अथवा 'गिल्ड सोशलिज्म' कहते हैं। श्रेणी-संघ-समाजवाद समाजवाद और मध्ययुगीन समूह-व्यवस्थासे प्रभावित हुआ है। समाजवादसे प्रभावित होनेके नाते यह उत्पादनके साधनोंपर सामूहिक नियन्त्रणकी माँग करता है और समाजको आर्थिक वर्गोंमें न विभाजित कर समूहोंमें विभाजित करता है। इस दृष्टिसे मध्ययुगकी समूह व्यवस्थाने श्रेणी-संघ-समाजवादको प्रभावित किया है। जीवनमें नाना प्रकारके कर्म हैं और इन्हीं कर्मोंको लेकर समाजमें विभिन्न समुदायोंकी रचना की गयी है। श्रेणी-संघ समाजवाद समाजकी सम्पूर्ण सत्ता राज्यके हाथोंसे छीनकर इन्हीं धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समुदायोंको हस्तान्तरित करता है। बीसवीं शतीके प्रारम्भमें यह समाजवाद इंगलैण्डमें राजनीतिक आन्दोलनके रूपमें विकसित हुआ, परन्तु राजनीतिक परिस्थितियोंकी कठोरताने बहुत ही अल्प कालमें इसकी क्षमता क्षीण कर दी। इस आन्दोलनके प्रतिनिधियोंके रूपमें जी० डी० एच० कोल और हॉब्सन्‌के नाम उल्लेखनीय हैं।

समूहवाद अपने विभिन्न रूपोंमें समष्टिकी अनिवार्यतापर इतना अधिक बल देता है कि उसकी पद्धतिमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको सामाजिक जीवनमें कोई स्थान प्राप्त नहीं होता। राज्यकी निरंकुशतापर जब कहीं भी इसने कठोर प्रहार किया है तो उसके स्थानपर इसने समूहकी निरंकुशताको स्थापित करनेका प्रयास किया है। ऐसी स्थितिमें समूहवाद जीवनका एकांगी दर्शन है। समग्र जीवनका सफल दर्शन प्रस्तुत करनेके लिए समूहवादको व्यष्टि और समष्टिके सम्बन्धोंको नये प्रतिमानोंकी शृंखलामें जोड़नेका प्रयास करना पड़ेगा, इस ऐतिहासिक सत्यमें कमसे कम आज कोई सन्देह नहीं।

[सहायक ग्रन्थ—मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी सी० ई० एम० जोड]। — रा० कृ० त्रि०

सरमायादार—इसका फ्रेंच पर्याय बूर्जुआ है। हर एक धनी व्यक्ति सरमायादार नहीं हो सकता। केवल वही व्यक्ति सरमायादार है जो अपने धनको पूँजीमें परिणत कर व्यापारमें लगाता है। —रा० कृ० त्रि०

सरस साहित्य—सरस साहित्य सामान्यत ललित साहित्यका पर्यायवाची है और कथा, नाटक, काव्य आदिके लिए ही उसका प्रयोग होता है। परन्तु अन्तर यह है कि उसमें काव्यकी आत्मा 'रस'की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है, भाषालालित्यकी ओर उतना नहीं। जिन रचनाओंमें बौद्धिक उत्कर्ष या विचारोंका ऊहापोह है, उन्हें प्राय सरस साहित्य नहीं कहा जाता। इस प्रकार 'सरस साहित्य'की सीमा 'ललित साहित्य'की सीमासे कम हो जाती है। परन्तु यहाँ 'सरस' शब्दमें जिस 'रस' शब्दकी प्रतिष्ठा है वह शास्त्रीय अथवा लोकोत्तर संवेदनासे कुछ भिन्न स्तरकी वस्तु है। इसलिए मनोरंजन अथवा सहृदयतापूर्ण रचनाओंको भी सरस कहा जाता है। प्रेमके उभय पक्षोंके चित्रणसे लोकप्रिय प्रेम-रोमांसकी सृष्टि होती है जो 'सरस साहित्य'के अन्तर्गत आती है। वास्तवमें साहित्यकी परिपूर्णता उसकी सरसतामें है, और शब्दार्थके जिस सहभावकी कल्पना साहित्यमें है, उसमें रमणीयता और सरसताका समावेश अनिवार्य है। पश्चिमी वैज्ञानिक विवेचन-शास्त्रको तर्कबद्ध और प्रमाणशुद्ध ही मानता है। अत पश्चिमी दृष्टि काव्य और शास्त्र अथवा सरस और गम्भीर (अत 'उपयोगी') साहित्यको दो विरोधी सरणियाँ मानकर चलती है।

वास्तवमें सरस साहित्य और उपयोगी साहित्यमें मुख्य अन्तर अभिव्यंजनाका है। शास्त्रज्ञ और तत्त्वज्ञका आग्रह विशुद्ध सत्यके प्रति है, अत वह तथ्यको ही प्रधानता देता है। कहीं कहीं अपने तथ्यको सुस्पष्ट और प्रभावशाली बनानेके लिए वह उदाहरण, उपमा आदि अलंकारोंसे भी

काम अवश्य ले लेता है, परन्तु अलंकृतिकी ओर उसकी दृष्टि नहीं होती। वह सोलह आने सत्यका उपासक है। परन्तु उपन्यासकार, नाटककार और काव्यप्रणेता किसी भी निरपेक्ष सत्यका दावा नहीं करते। वे अपनी अनुभूतिको वाचकोंतक पहुँचाना चाहते हैं। अनुभूति स्वयं रसात्मक वस्तु है और उसे प्रस्तुत करते समय मानसके कोमल उपकरणोंसे भी सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। फलस्वरूप, वाचक तथ्यसे कुछ अधिक प्राप्त करता है। वह रसिक बन जाता है और रसग्रहणके द्वारा लेखककी अन्यतम संवेदनासे तादात्म्य स्थापित करता है। कल्पना और भावोद्रेक द्वारा स्वप्नलोकका निर्माण सरस साहित्यकी विशेषता है। (दे०—'ललित साहित्य') —रा० भ०

सरसी—मात्रिक सम छन्दोंका एक भेद। भिखारीदासने इस २७ मात्राके चरणवाले छन्दको हरिपद कहा है। उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरणमें चरणके अन्तमें ग ल (ऽ।) भी है—'अजों न कछू नसान्यो मूरख, कह्यो हमारी मानि'—(छन्दो० पृ० ३०)। भानु द्वारा इसका यही लक्षण प्रस्तुत किया गया है १६, ११, अन्तमें ऽ। (छ० प्र० पृ० ६६)। हिन्दीकी पदशैलीका यह सर्वप्रचलित छन्द माना जा सकता है। इसका प्रयोग सूर, तुलसी, मीराँ तथा नन्ददास आदिने पदशैलीके अन्तर्गत किया है। केशव आदि कुछ अन्य कवियोंने मुक्त रूपमें भी प्रयुक्त किया है। सूरने 'सूरसागर'में और तुलसीने 'विनयपत्रिका', 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली'में गम्भीर भावाभिव्यक्तिके क्षणोंमें इस छन्दके पदोंका प्रयोग किया है। इसके साथ निकटता और समानताके कारण विष्णुपद तथा सार छन्दों-को मिला दिया गया है—'सुनु कपि अपने प्रानको पहरो, कब लगि देति रहौं? ये अति चपल चल्यो चाहत हैं, करत न कछू विचार'—(सू० सा० . स० स० पद ५३६)। इसके प्रथम चरणके अन्तमें ल-ग (।ऽ) होनेसे सरसी है। शुद्ध सरसीका प्रयोग भी व्यापक रूपमें इन कवियोंमें मिलता है—'इत राधिका सहित चन्द्रावली, ललिता घोष अपार'—(सू० सा० - वें० प्रे० . पृ० ४४५) तथा—'विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं, होत कबहुँ पल एक'—(वि० प० पद १०२)। भानुके अनुसार होलीके अवसरपर कबीरकी बानीके उलटे अर्थवाले जो कबीर कहे जाते हैं वे प्रायः इसी शैलीमें होते हैं।

सरस्वती—दे०—'हठयोग'।

सर्पिणी—दे०—'हठयोग'।

सर्वशून्य—दे०—'शून्य'।

सर्वश्राव्य—रंगमंचपर अभिनय करनेवाले पात्रोंके संवाद-के विचारसे 'कथावस्तु'के तीन भेद किये गये हैं—'सर्वश्राव्य', 'नियतश्राव्य' और 'अश्राव्य'। किसी पात्रके वार्तालापको यदि रंगमंचपर उपस्थित सभी पात्र सुन सकें तो वह 'सर्वश्राव्य' (सबके सुनने लायक) है। सर्वश्राव्यको 'प्रकाश' भी कहते हैं। —व० सिं०

सर्वात्मवाद—हिन्दीमें सर्वात्मवादका प्रयोग निम्नलिखित तीन अर्थोंमें होता है—(क) कुछ लोग सर्वेश्वरवाद-(pantheism)के अर्थमें सर्वात्मवादका प्रयोग करते हैं, जैसे रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुन्दर दासने क्रमशः जायसी और कबीरके प्रसंगमें किया है। यह सर्वात्मवादका सर्वथा दूषित प्रयोग है। ईश्वर और आत्माके प्रत्ययोंमें महान् अन्तर है। ईश्वर ईशन या शासन करता है, आत्मासे यह अर्थ कथमपि नहीं लिया जा सकता। अँग्रेजी शब्द 'पैन्थीज्म'के लिए सर्वेश्वरवाद (दे०) उपयुक्त शब्द है, सर्वात्मवाद नहीं। (ख) भारतीय दर्शनमें शंकराचार्यके अद्वैतवाद(दे०)के अर्थमें भी सर्वात्मवादका प्रयोग होता है, क्योंकि उनके अनुसार 'आत्मैवेदं सर्वम्' आत्मा ही यह सब कुछ है। बिना आत्माके किसी वस्तुका ग्रहण नहीं हो सकता है, अतः आत्मा ही सब कुछ है, 'आत्म-व्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मैवसर्वम्।' यहाँ आत्मा ही एक और अद्वितीय सत् है, अन्य कुछ जो आत्मासे भिन्न है, वस्तुतः मिथ्या है। आत्मपूर्वक सब कुछको समझनेपर 'सब कुछ' आत्मा ही प्रतीत होगा। अतः यह सर्व और आत्माका तत्त्ववादके अनुसार अभिन्न अर्थ है। यह सर्वात्मवादका भारतीय अर्थ है। यह गढ़ा हुआ शब्द नहीं है। हिन्दी साहित्यमें सर्वात्मवादका यह अर्थ प्रायः नहीं किया जाता। (ग) हिन्दीमें सर्वात्मवाद एक नया तथा गढ़ा हुआ शब्द समझा जाता है। इसका वही अर्थ लिया जाता है जो अँग्रेजी शब्द पैनसाइकिज्म (panpsychism)का है। 'पैनसाइकिज्म'के अनुसार समस्त विश्व चेतनप्राणियोंसे ही बना है। सभी चेतनप्राणी मनुष्य जैसे ही हैं। अचेतन कोई वस्तु नहीं है। तथाकथित जड वस्तुतः चैतन्यवान् प्राणी है, पर उसकी चेतनता सुप्तावस्थामें है। यूरोपमें लाइबनीजका दर्शन इस वादका प्रमुख उदाहरण है। भारतमें ऐसा दर्शन कभी विकसित नहीं हुआ।

भारतीय दर्शनके सर्वात्मवादसे लाइबनीजके दर्शनको पृथक् रखनेके लिए दूसरेको सर्वात्मवाद न कहकर सर्व-जीववाद या सर्वचेतनवाद कहना अधिक उपयुक्त है।

सर्वजीववाद और सर्वात्मवादका अन्तर समझ लेना आवश्यक है। पहलेमें जड वस्तु मिथ्या नहीं है, दूसरेमें है। पहलेमें जड वस्तु सुप्त जीव या चेतनप्राणी है, दूसरेमें वह मिथ्या है। पहलेमें चेतनप्राणी या जीव अनेक हैं, दूसरेमें आत्मा एक और अद्वितीय है। इस प्रकार सर्व-जीववाद वैपुल्यवाद है तो सर्वात्मवाद अद्वैतवाद। सर्वात्मवादकी आत्माका प्रत्ययन भी सर्वजीववादके जीव या चेतन प्राणीकी चेतनतासे भिन्न है। पहलेमें आत्मा 'नेति-नेति' या 'सत् चित् आनन्द' है, तो दूसरेमें चेतनता केवल ज्ञान, भाव और इच्छा प्राप्त करनेवाली है। आत्मा ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता नहीं है, सर्वजीववाद या जीव ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है।

हिन्दीके सन्त-साहित्यमें शंकराचार्यके दर्शनके अर्थमें सर्वात्मवादका प्रचुर प्रयोग है, पर उसमें सर्वेश्वरवाद और सर्वात्मवादको पृथक् करना कठिन है। विशुद्ध सर्वात्मवाद प्रौढ़ दार्शनिकोंकी ही कृतियोंमें पाया जाता है। हिन्दी दर्शनके सम्राट् निश्चलदासके 'विचार सागर' और 'वृत्ति-प्रभाकर'में सर्वात्मवाद उसी अर्थमें सिद्ध किया गया है, जिस अर्थमें वह अद्वैतवेदान्तके ग्रन्थोंमें है। —सं० ला० पा०

सर्वेश्वरवाद—'सब कुछ जो है ईश्वर है, और ईश्वर सब

कुछ है' इस सिद्धान्तको सर्वेश्वरवाद कहते है। सक्षेपमें सबका अर्थ जगत् है। इसलिए सर्वेश्वरवादका अर्थ हुआ कि जगत् ईश्वर है और ईश्वर जगत् है। ईश्वर और जगत्में अभेद है।

जगत् ईश्वरमें है या जगत् ईश्वरमे उत्पन्न है, इन सिद्धान्तोंको सर्वेश्वरवाद नही कहा जा सकता। जगत् ईश्वरमें है, इसे सर्वोर्ध्वेश्वरवाद कहा जाता है, क्योंकि इसमें ईश्वर जगत् या सर्वसे परे अर्थात् ऊर्ध्व है। जगत् ईश्वरसे उत्पन्न है, इस सिद्धान्तको ईश्वरवाद या ईश्वरसृष्टिवाद कहा जाता है। सर्वेश्वरवादके अनुसार जगत् ईश्वरकी सृष्टि नहीं है, जगत् स्वयमेव साक्षात् ईश्वर है। सर्वेश्वरवाद अनिवार्यत असृष्टिवाद है। गौडपादाचार्यकी भाषामें यह अजातिवाद है। सूफीमतमें सर्वेश्वरवादको 'हम्मा ओस्त' अर्थात् 'सब ईश्वर है' कहते हैं, और ईश्वरसृष्टिवाद या ईश्वरवादको 'सब ईश्वरसे है', 'हम्मा अज ओस्त' कहते हैं।

सर्वेश्वरवाद अद्वैतवाद है, न कि द्वैतवाद या वैपुल्य-वाद। इसके अनुसार ईश्वर ही एक और अद्वितीय तत्त्व है और अन्य जो कुछ है वह ईश्वरका आभास या पक्ष या क्षण है। ईश्वर भी अकेला ही है, बहुतसे ईश्वर नहीं हैं। सर्वेश्वरवाद सर्वात्मवाद(दे०)से भिन्न है। सर्वात्मवादका अर्थ है कि जो कुछ सत् है वह आत्मा है, और ऐसी आत्माएँ अनन्त हैं, जगत्का अन्तर्भाव इन्हीं आत्माओंमें होता है। यूरोपमें लाइबनीज सर्वात्मवादका प्रधान समर्थक था। भारतमें सर्वात्मवादका समर्थन मुख्यत-किसी दार्शनिकने नहीं किया है, शुद्धाद्वैतवाद (दे०) यद्यपि बहुत कुछ सर्वात्मवादके समीप है।

सर्वेश्वरवाद एकेश्वरवाद और बहुदेववाद, दोनोंसे भिन्न है। एकेश्वरवादमें ईश्वरको शरीरी या सगुण माना जाता है तो सर्वेश्वरवादमें अशरीरी और निर्गुण। एकेश्वरवादमें प्रार्थना और उपासनाका विधान होता है, सर्वेश्वरवादमें इसकी आवश्यकता नहीं। बहुदेववादमें बहुतसे देवी-देवताओंकी मान्यता रहती है तो सर्वेश्वरवादमें सिर्फ एक ही ईश्वरकी। पर यह ईश्वर अन्य सभीमें विद्यमान रहता है, इसलिए कहा जाता है कि सर्वेश्वरवाद बहुदेववादका औचित्य स्थापित करता है। जब सभी चीजें ईश्वर हैं, प्रस्तर, काष्ठ, जीव-जन्तु आदि, तो सर्वेश्वरवादमें बहुदेववाद-की कुछ मान्यता हो जाती है। वस्तुत सर्वेश्वरवाद एकेश्वरवाद और बहुदेववाद, इन दोनों वाद-प्रतिवादका समन्वय करता है, यह दोनोंका समन्वय या संवाद है। पर दोनोंसे भिन्न भी है, क्योंकि यहाँ 'सर्व'का अर्थ बहुदेववादके बहुत्वका अर्थ नहीं है और न यहाँ ईश्वरका ही अर्थ एकेश्वरवादका ईश्वर है।

सर्वेश्वरवादियोंको प्राय निरीश्वरवादी कहा जाता है, यद्यपि यह कथन सावद्य है। पर चूँकि सर्वेश्वरवादी किसी धर्मविशेषके ईश्वरको नहीं मानता और उसका ईश्वर जगत् है, इसलिए निरीश्वरवादी कहनेमें कुछ सार्थकता भी है। यह स्पष्ट कर देता है कि सर्वेश्वरवादी ईश्वरवादी नहीं है।

यदि जगत्को देखकर उसके ईश्वरत्वका अभिधान किया जाय तो वह एक प्रकारका सर्वेश्वरवाद होगा। और यदि ईश्वरको देखकर उसके जगत् होनेका अभिधान किया जाय तो यह दूसरे प्रकारका सर्वेश्वरवाद होगा। प्रथम प्रकार वैज्ञानिक है, इसमें प्रस्थान-बिन्दु जगत्का वैज्ञानिक अध्ययन, उसकी अनन्तता और विचित्रता है, और साध्य जागतिक वस्तुओंकी एकता है, जिसे ईश्वरका नाम दिया जाता है। यहाँ ईश्वर अमूर्त प्रत्यय है, न कि कोई सत्। इस प्रकारके सर्वेश्वरवादका पर्यवसान भौतिकवादमें हो सकता है जैसा कि यूरोपके दार्शनिक हैकलने किया है। दूसरा प्रकार धार्मिक है, उसका प्रस्थान-बिन्दु ईश्वर है, साधन कोई दार्शनिक या धार्मिक साधन है, व्यक्तिगत अनुभूति है और साध्य सब कुछ जो दृश्यमान है उसमें ईश्वरका रूप देखना है। यहाँ ईश्वर ही एक सत् है और सब चीजें उसके रूप हैं, नाम हैं। सामान्यत इसी दूसरे प्रकारको सर्वेश्वरवाद कहा जाता है। यूरोपमें स्पिनोजा, अरब देशोंमें इब्नुल-अरबी और भारतमें शाण्डिल्य, शंकराचार्य, वल्लभाचार्य आदि इसके प्रमुख नेता हैं।

सर्वेश्वरवादकी उत्पत्तिकी मुख्यत निम्नलिखित परिस्थितियाँ हैं—

(क) बहुदेववादकी अधिकता सर्वेश्वरवादको जन्म देती है। यदि यावत् वस्तुओंको देव मान लिया जाय, तो परमात्मा या ईश्वर कहाँ नहीं है, यह कहना असम्भव है। भारतमें बहुदेववादके पश्चात् ही सर्वेश्वरवादका विचार हुआ।

(ख) विभिन्न धर्मोंके घात प्रतिघातके फलस्वरूप सर्वेश्वरवादका विचार होना आवश्यक है, क्योंकि इससे पता चलता है कि सभी धर्मोंका ईश्वर एक ही है और वह जगद्-व्यापी है। प्राचीन मिस्र, मध्ययुगीन ईरान और स्पेन तथा भारतमें विभिन्न धर्मोंके सघातके कारण सर्वेश्वरवादका बहुत उत्थान हुआ। धर्मोंकी ज्यादतियाँ तथा उनके अनुयायियोंके दुराचार भी सर्वेश्वरवादकी पुष्टि करते हैं और एकेश्वरवादका परिहार करते हैं।

(ग) ईश्वरवादका खण्डन करनेपर सर्वेश्वरवाद ईश्वर-वादियोंकी ओरसे निरीश्वरवादियोंके प्रति उत्तर है। जगद्-बाह्य ईश्वरका खण्डन सम्भव है। पर यदि जगत् है, उसमें गति तथा वैचित्र्य है, तो उसमें व्याप्त कोई ऐसा तत्त्व है जो इसका नियामक है। इसे चाहे प्रकृति कहिये चाहे ईश्वर, कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि यह मान लिया जाय कि यह सर्वव्यापी अद्वितीय तत्त्व है और जगत्पर शासन या नियन्त्रण करनेवाला है, तो ईश्वरका अर्थ ही शासन या नियन्त्रण करनेवाला है। बौद्ध धर्मके प्रचारसे ईश्वरवादका खण्डन बढ़ा। फिर इसके विपरीत शंकराचार्यने सर्वेश्वरवाद-की मर्यादा स्थापित की।

(घ) रहस्यवादी अपनी साधना द्वारा क्रमश विभिन्न सोपानोंको पार करते हुए अन्ततोगत्वा सर्वेश्वरवादकी स्थितितक पहुँचते हैं। यह व्यक्तिगत अनुभव सर्वेश्वरवादकी स्थापना करता है।

(ङ) कवि और दार्शनिक जगत्की महानता, विचित्रता, गतिशीलता, अनन्तता, सुन्दरता, सोद्देश्यता, कल्याणकारिता आदि देखकर कल्पना करते हैं कि जगत्, जो साक्षात् जड है, वस्तुत किसी परम तत्त्वसे व्याप्त है, जो जड नहीं है। वे कल्पनासे जगत्को इस परम तत्त्व या ईश्वरका गुणमात्र समझ लेते हैं। काव्यशक्ति जहाँ अधिक होती है वहाँ सर्वेश्वरवादकी भी कल्पना अवश्य आ जायगी। वेदोंमें

हिन्दी साहित्यमें तथा जर्मन साहित्यमें इसकी पर्याप्त पुष्टि होती है।

(च) वैज्ञानिक अध्ययनसे सिद्ध होता है कि जगत् अनन्त परमाणुओंसे बना है, जो जड नहीं हो सकते। इन परमाणुओंको समन्वित ढगसे समझनेके लिए इनके अन्तर्यामी ईश्वरकी कल्पना की जाती है, जो इनको प्रेरित करता है और एक मालामें पिरोता है। वर्तमान युगमें कुछ वैज्ञानिकोंने इसी ढगसे सर्वेश्वरकी कल्पना की है।

यहाँ ईश्वरका अर्थ एक सर्वव्यापी तत्त्व है, जो न चेतन कहा जा सकता है, न जड, क्योंकि ये दोनों उसके नाम-रूपमात्र हैं। इसको ब्रह्म भी कहा जाता है। शाण्डिल्यने 'छान्दोग्योपनिषद्'में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—यह सब निश्चय ही ब्रह्म है, कहकर ब्रह्मसे सर्वेश्वरवादके ईश्वरको ही मान्यता दी है। शंकराचार्यने आत्माको ही सब कुछ माननेके कारण, क्योंकि उसीके द्वारा सब कुछ ग्राह्य होता है और जिसके द्वारा जो ग्राह्य होता है, वह ग्राहक या बोधक उस ग्राह्यका प्रधान तत्त्व समझा जाता है, आत्मा शब्दसे सर्वेश्वरवादके ईश्वरका ही संकेत किया। कुछ सन्तोंने इसे सत्तामात्र कहा और अपनी सत्तासे इसका तादात्म्य किया। 'सोऽहमस्मि' और 'अनलहक' इसके सिद्धान्त-वाक्य है। कुछ सन्तोंने इसे अनाम कहा, तो कुछने नाम। कुछने इसे अबोल, अनिर्वचनीय, एक, अद्वितीय कहकर ही मौन धारण किया। इन सबसे स्पष्ट है कि सर्वेश्वरवादमें ईश्वरकी कल्पना ईश्वरकी सामान्य कल्पनासे भिन्न है। यहाँ ईश्वर ईश्वर, ब्रह्म, आत्मा, एक, कुछ अस-जस तैसा, अबोल, अनाम, नाम आदि पदोंसे अभिहित होता है। पर सबका तात्पर्य है परम सत् जो निरपेक्ष है। इस प्रकार ब्रह्मवाद (दे०) सर्वेश्वरवादका दार्शनिक आधार है।

(१) जीव ईश्वरसे भिन्न है। (२) जीव परस्पर भिन्न है। (३) जड वस्तुएँ जीवसे भिन्न हैं। (४) जड वस्तुएँ परस्पर भिन्न हैं। (५) जड वस्तुएँ ईश्वरसे भिन्न हैं। इन पाँचों भेदोंको दूरकर अभेद स्थापित करना सर्वेश्वर-वादका मुख्य प्रयोजन है। यहाँ पचधा अभेद कैसे सिद्ध होता है?

कुछ सर्वेश्वरवादी मायाके द्वारा इसको सिद्ध करते है। पाँचों भेद वस्तुत माया या मिथ्या हैं। वे ब्रह्म या ईश्वरके आभासमात्र हैं। ईश्वरके नाम-रूप हैं। इस दृष्टिसे ईश्वर सर्वत्र सम रूपसे विद्यमान है, 'ईशावास्यमिदम् सर्वं यत् किञ्चिज्जगत्या जगत्।'

कुछ सर्वेश्वरवादी जगत्को मिथ्या या माया नहीं मानते। वे इसको ब्रह्म या ईश्वरका परिणाम मानते हैं। स्पिनोजा और वल्लभाचार्य इन लोगोंमेसे मुख्य है। पर जगत्को ईश्वरका वास्तविक परिणाम मान लेनेपर जगत्को ईश्वरका परिणाम कहा जाता है, न कि ईश्वरको अत यह सिद्धान्त वस्तुत सर्वेश्वरवादका स्वयं खण्डन कर देता है। इस दोषसे बचनेके लिए वल्लभाचार्यने अविकृत परिणामवाद और स्पिनोजाने अपने अनन्त धर्म-समन्वित द्रव्यका सिद्धान्त निकाला।

पर यहाँ जगत् या सर्वका मतलब दृश्यमान वस्तुएँ नहीं है। दृश्यमान वस्तुएँ तो प्रत्यक्षीकृत है। इनके अन्तरालमें इनका सच्चा स्वरूप मिलता है। इनका अन्तर्यामी जो है, वही सब-कुछ है। इसलिए सर्वेश्वरवादमें जगत् या सर्वका मतलब मौलिक वस्तुजात नहीं है वरन् उनके आभ्यन्तरमें विद्यमान रहनेवाला ईश्वर है। 'सब' और 'ईश्वर' दो वस्तुएँ नहीं है, जिनका वादमें भेद स्थापित किया जाता है। 'सब' और 'ईश्वर' सदा एक ही वस्तु है, उनका द्विविध ढगसे अभिधान केवल समझने और समझानेके लिए है। ईश्वरको प्रकृति या जगत्तक उतारा नहीं जाता है, वरन् प्रकृति या जगत्को ईश्वरतक उठाया जाता है। इससे सर्वेश्वरवाद भौतिकवादसे कोसों दूर रहता है।

सर्वेश्वरवादका अनिवार्य सम्बन्ध रहस्यवादसे नहीं है। स्पिनोजा, हीगेल और शकराचार्यके दर्शन इसके प्रमाण है। इन लोगोंने सर्वेश्वरवादको बौद्धिक ठहराया है, पर सर्वेश्वरवाद रहस्यवाद भी हो सकता है, जैसे, इब्नुल अरबी तथा अन्य सूफियोंमें है। पर यह कोई नियम नहीं है कि हर प्रकारका रहस्यवाद सर्वेश्वरवाद होगा। रहस्यवाद ईश्वरवाद या एकेश्वरवादके माध्यमसे भी हो सकता है। इससे सिद्ध है कि ईश्वरवादको रहस्यवादसे भिन्न समझना चाहिये।

निर्गुणोपासक सन्तोंमें कबीरसे लेकर स्वामी रामतीर्थ-तक जो निर्गुणसन्तोंकी परम्परा चली, उसमें सर्वेश्वरवादका पूर्ण निरूपण मिलता है। कबीरने सर्वेश्वरवादकी स्थापना करते हुए कहा, 'खालिक खलक खलकमें खालिक सब घट रह्यो समायी।' परमेश्वर ही सर्वत्र है। वही सर्वत्र खेल रहा है, 'इसमें आप आप सबहिनमें आप आपसूँ खेलै। नाना भाँति घडे सब भाँडे रूप धरे धरि मेलै॥' (कबीर)

इस सर्वेश्वरका खण्डन असम्भव है। इसका प्रतिपादन रैदासने अच्छे शब्दोंमें किया, 'अवरन वरन कहै जनि कोई। घट-घट व्यापि रह्यो हरि सोई॥'

फिर सर्वेश्वर कैसे शिव-अशिव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण, भव-नाश, ज्ञेय-ज्ञान, दृष्टि-अदृष्टि, सेवक-स्वामी आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त है? इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति रैदासने की, 'है सब आतम सुख परकास साँचो। आदि मध्य औसान एक रस, तार बन्यो हो भाई। थावर जगम कीट पतगा, दूरि हयो हरिराई॥ सर्वेश्वर सर्वांगी सब गति, करता हरता सोई। सिव न असिव न साध अरु सेवक, उनै भाव नहीं होई। धरम अधरम मोच्छ नहिं बन्धन, जरा मरन भव नासा। दृष्टि-अदृष्टि गेय अरु ज्ञाता, एकमेक रैदासा॥'

परमात्माकी ऐसी सर्वव्यापकता होनेके कारण ही निर्गुणियोंने मन्दिर मस्जिद-गमन, बाह्य पूजन, षोडशोपचार पूजन, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा आदिको व्यर्थ बतलाया और मानस पूजापर अधिक बल दिया। इसीके कारण उन्होंने जाति-पाँतिकी व्यवस्थाकी निन्दा की, विश्वबन्धुत्वके सिद्धान्तको मान्यता दी और हिन्दू-मुसलिम एकतापर जोर दिया। सर्वत्र परमात्मा है, सत्ता केवल उसीकी है—'जहँ देखौं तहँ एक दीदार' (कबीर)। नानकने भी इसीका समर्थन किया—'गुरु परसादी दुरमति खोयी, जहँ देखा

तहँ एको सोई।'

दादूने बड़े सुन्दर ढगसे कहा कि परमात्माने कोई ऐसा पात्र नहीं बनाया है, जिसमें सारा समुद्र भर जाय और पात्र खाली ही रह जाय—'चिड़ी चोंचभर ले गयी नीर निपट न जाइ। ऐसा बासण ना किया सब दरिया माँहि समाइ।'

प्रत्येक वस्तु पूर्ण रूपसे ईश्वरमें व्याप्त है। एक वस्तुमें ईश्वरकी व्याप्ति होना दूसरी वस्तुमें उसकी व्याप्तिको कम नहीं करता। ईश्वर सर्वत्र, सबमें पूर्णतया एकरस व्याप्त है।

यह सर्वेश्वर उस अर्थमें 'है' नहीं, जिस अर्थमें भौतिक-पदार्थ हैं और जिस अर्थमें यह 'है', उस अर्थमें भौतिक-पदार्थ नहीं हैं। इसीलिए सुन्दरदास कहते हैं कि परमात्मा है भी और नहीं भी है। बल्कि उसको 'है' और 'नहीं', इन दोनोंके बीच देखना चाहिये, 'नाहीं नाहीं कर कहै है है कहै बखानि, नाहीं हैके मध्य है, सो अनुभव करि जानि॥' इसी समस्याको हल करनेके लिए सहजोबाईने उसे भाव और अभाव, है और नहीं, इस द्वन्द्वसे भी मुक्त किया है 'नाहीं हूँ रहित है, सहजो यों भगवन्त।'

पर वस्तुत सर्वेश्वरको ही सत् मान लेनेपर अन्य सब-कुछको नास्ति मानना पड़ता है। सर्वेश्वरका अस्तित्व है तो सही, पर बड़ा विचित्र है, वर्णनातीत है। इसीलिए सुन्दरदासने कहा, 'जोई कहूँ सोइ, है नहिं सुन्दर, है तो सही पर जैसेको तैसो।' उसको एक भी नहीं कहा जा सकता। वह एक-अनेकके द्वन्द्वसे भी रहित है। कबीरने ठीक ही कहा—'एक कहूँ तो है नहीं कोय, दोय कहूँ तो गारि। है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर विचारि॥' फिर भी उसीको एकमात्र सत् मान लेनेपर उसको एक कहना पड़ता है। भीखा इसीलिए 'एक'से उसे व्यक्त करते हैं, 'भीखा केवल एक है, किरतिम भया अनन्त। एकै आतम सकल घट, यह गति जानहिं सन्त।' दादूने सर्वत्र इसीको देखा—'दादू देखौं दयालकौं, बाहरि भीतरि सोइ। सब दिसि देखौं पीवकौं, दूसर नाहीं होइ।'

जबतक 'मैं', 'ममता', 'आपा', अपना व्यक्तित्व है, तबतक इस सर्वेश्वरका ज्ञान दूर है। उसके ज्ञानपर अपना व्यक्तित्व क्षीण हो जाता है। इस सम्बन्धको व्यक्त करनेवाले अनेक पद निर्गुणियोंने कहे हैं, जिससे प्रकट है कि व्यक्तित्वसे सर्वेश्वरवादका विरोध है अथवा व्यक्तित्व केवल एक ईश्वरका ही है, और सब उस सर्वांगीके अगमात्र हैं। इसीको अंशांशिभाव या अगागिभाव कहा जाता है। पर प्राय अधिकांश निर्गुणियोंने इस सम्बन्धको अगागिभाव न मानकर प्रत्येक वस्तुका परमात्माके साथ अद्वैतभाव माना है। इस दृष्टिसे इन सन्तोंमें दो प्रकारका सर्वेश्वरवाद मिलता है—एक अद्वैत सर्वेश्वरवाद और दूसरा, सर्वांगी सर्वेश्वरवाद। कबीर, दादू और उनके अनुयायियोंका मत प्रथम है। नानक और शिवदयाल तथा उनके अनुयायियोंका मत दूसरा है।

सर्वेश्वरपर दृष्टि रहनेसे इन सन्तोंने जगत् और जीवको 'माया', 'अनित्य', 'क्षणभंगुर' आदि भी कहा है। यह मायावाद सर्वेश्वरवादका पूरक सिद्धान्त है।

सगुणसन्तोंमें ईश्वरको परात्पर या सर्वातीत मानते हुए उसे सर्वव्यापी या विश्वरूप कहना निर्गुणियोंका मुख्य विषय है। सगुणियोंका मुख्य सिद्धान्त ईश्वरको सर्वव्यापी दिखलाते हुए उसे परात्परसे अधिक अन्तर्यामी कहना है। दोनों सर्वेश्वरवाद हैं, एकमें बहिर्यामीका विशेष वर्णन रहता है, तो दूसरेमें अन्तर्यामीका। बहिर्यामी होता हुआ भी निर्गुणियोंका ईश्वर सर्वव्यापी इसलिए है कि वस्तुत वही एक है और जिनसे वह अतीत है, वे सभी 'नहीं' हैं।

ईश्वरको अन्तर्यामी ही अधिक माननेसे तुलसीदासने कहा, 'व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना।' वस्तुत सभी जीव और वस्तुएँ ईश्वरका अवतार हैं। पर प्रधानत अवतार हम उन्हींको कह देते हैं, जिनके जीवनमें ईश्वरत्वकी अधिक अभिव्यक्ति जागरूक हो जाती है, वैसे यह सर्वत्र जागरूक नहीं है। इस दृष्टिसे जहाँ निर्गुणियोंने सर्वेश्वरवादसे अवतारवादका विरोध देखा, वहाँ सगुणियोंने अवतारवादका मेल सर्वेश्वरवादसे बैठा दिया। सबको सीताराममय देखकर तुलसीदास सबकी वन्दना भी करते हैं—'सीयराममय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।'

फिर जब तुलसीदास अगुण और सगुणसे ऊपर नामको स्थापित करते हैं और इसे सगुण अधिक ठहराते हैं तो वे सर्वेश्वरवादका ही सकेत करते हैं। सर्वेश्वरवादमें ईश्वरका शरीर सब-कुछ है, यद्यपि वह निराकार है। पर यदि सब वस्तुएँ न रहें, तो वह सर्वेश्वर कैसे हो सकता है? इससे साकारत्व और निराकारत्व, दोनोंका समन्वय सर्वेश्वरवादके अगागिभाववाले भेदमें करते हुए नामके सिद्धान्तकी स्थापना होती है।

मीराँ तो प्रह्लादकी तरह सब जगह ईश्वरको विद्यमान मानते हुए विश्वास भी करती हैं कि साकार होकर भगवान् भक्तकी मदद करता है। यह जीता-जागता सर्वेश्वरवाद मीराँको स्वयं अनुभूत हुआ था, ऐसा उनकी पदावलियोंसे ज्ञात होता है। विषके प्यालेका अमृत हो जाना वस्तुओंके ईश्वरीय रूपका ही प्रतीक है। इसलिए मीराँ कहती हैं—'जहँ जहँ देखूँ म्हारो राम, तहँ सेवा करूँ।'

ऐसे सर्वेश्वरवादसे अभय और सेवाभाव जागरित होते हैं। जब सब-कुछ ईश्वर ही है, तो फिर किसकी सेवा न की जाय? फिर किससे डरा जाय? पर ऐसी दृष्टि सबकी नहीं हो सकती। यह ब्रह्मदृष्टि है और लौकिक दृष्टिसे, नानात्वकी दृष्टिसे भिन्न है।

मीराँकी भाँति सूरदासकी गोपियाँ हैं, जो सदा भगवान् श्यामके ही रंगमें रँगी हैं, सर्वत्र उन्हें कृष्णका ही दर्शन होता है। नारदको भी जब आश्चर्य हुआ कि कृष्ण कैसे सब गोपियोंके सग रहते हैं, तो उन्होंने इसकी परीक्षा ली। जहाँ जहाँ नारद जाते हैं, वहाँ वहाँ कृष्ण किसी-न-किसी गोपीके सग लीला करते हुए मिलते हैं। इससे नारदकी शका मिट जाती है और वे कृष्णको सर्वेश्वर स्वीकार कर लेते हैं। 'सूरसागर'में इस सर्वेश्वरवादकी सुन्दर अभिव्यक्ति है। यहाँ भी सर्वेश्वरवाद और अवतारवादका समन्वय है। सर्वेश्वरवादी गोपियाँ कृष्णके रूपको देखनेके लिए ही उद्धवसे तर्क-वितर्क करती हैं।

सूफी कवियोंमें पैगम्बरी एकेश्वरवादके स्थानपर हिन्दीके मुसलमान सूफी कवियोंने भी सर्वेश्वरवादको स्वीकार किया। इनके सर्वेश्वरवादमें कविकी भावुकता और रहस्यवादीकी अनुभूति, दोनोंका सम्मिश्रण है। इन लोगोंने ईश्वरदृष्टिसे विमुख होनेवालोंकी दशाका नाम वियोग दिया और जिनकी सदा ईश्वरदृष्टि सर्वत्र रहती है, उनकी दशाको संयोग कहा है। इन कवियोंने प्रेमको ही ईश्वर-प्राप्तिका उपाय बताया है। यह प्रेम किसी धर्म-साधनासे सम्बन्धित नहीं है। शरीअत या वैधी भक्तिसे भिन्न यह तरीकात या सहज प्रेम है। सांसारिक वस्तुओं और जीवोंके प्रति प्रेम रखना इसी प्रेमका प्रतीक है। पर यदि ईश्वरप्रेम नहीं है, तो फिर अन्य प्रेममें अस्थिरताकी सम्भावना रहती है।

सूफियोंने ईश्वरको ही सर्वत्र जड तथा चेतनमें देखा। जायसीने अपनी ईश्वरदृष्टिका 'पद्मावत'में इस प्रकार वर्णन किया है–'आपुहि आपु जो देखै चहा। आपुनि प्रभुत आपु न कहा॥ सर्वं जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन, आपुहि देखा॥ आपुहि बन औ आपु पखेरू। आपुहि सौजा आपु अहेरू॥ आपुहि पुहुप फूलि बन फूलै। आपुहि भँवर बास रस भूलै॥ आपुहि घट घट महँ मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै।' जायसीने जगतको दर्पण मानकर उसमें ईश्वरकी परछाईं ही सर्वत्र देखी, ईश्वर ही जगत् है, वही दर्पण है, वही अपनेमें अपना प्रतिबिम्ब देखता है, 'आपुहि दरपन, आपुहि देखा'से यह स्पष्ट है।

सूफियोंका सर्वेश्वरवाद दार्शनिक न होकर भावात्मक और रहस्यात्मक है। इस कारण जहाँ एक ओर उन्होंने सर्वेश्वरवादका प्रतिपादन किया, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने सृष्टिवादका आख्यान किया। यह विरोध है जो सिद्ध करता है कि उनका सर्वेश्वरवाद रहस्यवाद या या कल्पनाजगत्‌की भावनामात्र था। काल्पनिक और भावात्मक होनेके कारण उसमें काव्यत्व और रहस्यात्मक होनेके कारण उसमें साधनाके विविध सोपान हैं। लगता है कि सूफियोंने सर्वेश्वरवादको अपनी साधनाके अन्तिम सोपानमें ही माना था, जिसमें नासूत और लाहूतकी अद्वैतभावनाकी अनुभूति होती है।

सर्वेश्वरवादके प्रति अनेक आपत्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं–(क) इसमें व्यक्तिवादका कुछ भी स्थान नहीं है। मानव-व्यक्तित्व वस्तुतः असत् है। सिर्फ एक ईश्वर ही सर्वत्र रहता है, सभी जीव असत् हैं। यह अनुभवके विपरीत है। (ख) जगतका भी इसमें कुछ अस्तित्व नहीं है। इसमें जगत्‌को माया या मिथ्या कहा जाता है। यह जगत्‌की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं है। जगत्‌की वैज्ञानिक, विकासवादी व्याख्याका सर्वेश्वरवादसे विरोध है। (ग) नीतिकी दृष्टिसे सर्वेश्वरवाद नैतिकता, मानव-स्वतन्त्रता, कर्मविपाक, सबका अपलाप करता है। इसमें धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ, कर्म-अकर्म, सब बराबर हैं। ईश्वर, जो अकेला ही है, इन सबसे परे है।

इन तीन आपत्तियोंको सर्वेश्वरवादियोंने सुलझानेका प्रयास किया है। पहलीके प्रति उनका उत्तर है कि सर्वेश्वरवादमें व्यक्तित्व और मानव-स्वतन्त्रताका अपलाप न होकर उनका गहरा अर्थ है। नासूत लाहूत है, व्यक्ति ईश्वर है, इससे उसका व्यक्तित्व और गहरा हो जाता है। वह अपनेमें ही सब-कुछ पाता है। दूसरीके प्रति उनका उत्तर है कि जगत् भी तो ब्रह्म या ईश्वर है। अतः जगत्‌को मिथ्या कहना ही ठीक नहीं है, जगत्‌का वह रूप जो अल्प चिन्तन या अल्प भावुकतापर निर्भर है, वह अवश्य मिथ्या है, पर उसका जो रूप अनन्त चिन्तन और अनन्त भावुकतापर अवलम्बित है, वह साक्षात् ब्रह्म है।

तीसरी आपत्तिके प्रति सर्वेश्वरवादियोंका कहना है कि सर्वेश्वरवाद अनैतिक, असामाजिक और अव्यावहारिक नहीं है, क्योंकि यदि हम सर्वत्र ईश्वरको ही देखें और मानें तो हम अनुचित नहीं है। ईश्वरको सर्वविद्यमान मानकर कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है, सेवा करनेका पाठ मिलता है और सभीसे प्रेम करनेकी इच्छा होती है। ईश्वरको यदि नीति, समाज और व्यवहारका हेतु बनाया जाय तो निःसन्देह इनका महत्त्व बढेगा। जब ईश्वर शुभाशुभ, कर्माकर्म और धर्माधर्मसे परे कहा जाता है, तो उसका यह अर्थ नहीं है कि अनैतिकता और अव्यावहारिकताका पाठ या प्रचार होना चाहिये। सर्वेश्वरवादको ठीक न समझनेके कारण सर्वेश्वरवादियोंके अनुयायियोंने सचमुच अनैतिकता, भ्रष्टाचार, असामाजिकता और अव्यावहारिकताको बढाया था। तन्त्र, वज्रयान, नाथपन्थ और सूफीमत इसके उदाहरण हैं, जिनमें कालान्तरमें सर्वेश्वरवाद अनैतिक हो चला था। पर इससे सर्वेश्वरवादका दोष नहीं सिद्ध होता।

[सहायक ग्रन्थ—(१) हिन्दी काव्यमें निर्गुण-सम्प्रदाय पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल। (२) जायसी ग्रन्थावली रामचन्द्र शुक्ल। (३) फिलासफी ऑफ मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी अफीफी।] —म० ला० पा०

सर्वोदय–साम्यवाद वर्ग-संघर्षमें विश्वास करता है। उसके अनुसार समाजस्थ वर्ग प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूपमें, जानते या न जानते, सदैव परस्पर संघर्षरत रहते हैं। इस संघर्षमें जो बलवान् पड़ता है वह निर्बल वर्गका शोषण करता है। साम्यवाद शोषणका अन्त करनेके लिए वर्गोंका अन्त आवश्यक समझता है और वह वर्गोंका अन्त शोषक, पूँजीपति-वर्गपर शोषित, सर्वहारा-वर्गकी विजय कराकर करना चाहता है। गान्धीवादका सर्वोदय-सिद्धान्त इस वर्गसंघर्षवादको नहीं मानता। वह सभी वर्गोंको सहयोगके लिए आह्वान करता है। वह सबकी उन्नतिकी कामना करता है। अतः इस सिद्धान्तको सर्वोदय (सबका उदय) नाम दिया गया है।

गान्धीवादकी आदर्श समाज-व्यवस्था सर्वोदय समाज-व्यवस्था कही जाती है। गान्धी इसे रामराज्य भी कहा करते थे। सर्वोदय-समाजमें स्वशासित, अर्थ-व्यवस्थाकी दृष्टिसे आत्मनिर्भर और छोटे-मोटे उद्योग-धन्धोंसे परिपूर्ण ग्रामोंका ही बाहुल्य होगा। नगरोंकी संख्या नगण्य होगी। उस समाजमें आर्थिक और राजनीतिक, दोनों प्रकारकी शक्तियाँ विकेन्द्रित होंगी। गान्धीवाद व्यक्तिके जीवनमें राज्यके कमसे कम हस्तक्षेपका समर्थक है। उसकी दृष्टिमें राज्य-शक्ति वस्तुतः हिंसाका घनीभूत रूप है। वह सेना

और पुलिसको भी उतना आवश्यक नहीं समझता जितना कि अन्य लोग समझते हैं। सर्वोदय समाजमें पहले तो धनका असमान वितरण अपने-आप समाप्तप्राय हो जायगा और यदि कुछ धनी-मानी व्यक्ति होंगे भी तो वे अपने धनको समाजकी सम्पत्ति और अपनेको ट्रस्टी मानकर चलेंगे। —ह० ना०

सलज्जरति–दे०—'विश्रब्धनवोढा'।

सवैया–वर्णिक वृत्तोंमें २२ से २६ अक्षरके चरणवाले जाति-छन्दोंको सामूहिक रूपसे हिन्दीमें सवैया कहनेकी परम्परा है। इस प्रकार सामान्य जाति-वृत्तोंसे बड़े और वर्णिक दण्डकोंसे छोटे छन्दको सवैया समझा जा सकता है। कवित्त घनाक्षरीके समान ही हिन्दी रीतिकालमें विभिन्न प्रकारके सवैया प्रचलित रहे हैं। संस्कृतमें ये समस्त भेद वृत्तात्मक हैं। परन्तु कुछ विद्वान् हिन्दीके सवैयाको मुक्तक वर्णिकके रूपमें समझते हैं। जानकीनाथ सिंहने अपने खोज-निबन्ध 'दि कण्ट्रीब्यूशन ऑफ हिन्दी पोयट्स टु प्राजेडी'के चौथे प्रकरणमें इस विषयपर विस्तारसे विचार किया है, और उनका मत है कि कवियोंने सवैयाको वर्णिक सम-वृत्त रूपमें लिया है। उसमें लयके साथ गुरु मात्राका जो लघु उच्चारण किया जाता है, वह हिन्दीकी सामान्य प्रवृत्ति है। इसके ह्रस्व 'ए' और 'ओ'के उच्चारणके लिए लिपिचिह्नका अभाव भी है (अप्र० नि०से)। परन्तु हिन्दीमें मात्रिक छन्दोंके व्यापक प्रयोगके बीच प्रयुक्त इस वर्णिक छन्दपर उनका प्रभाव अवश्य पड़ा है। जिस प्रकार कवित्त एक विशेष लयपर चलता है उसी प्रकार सवैया भी लय-मूलक ही है।

रीतिकालकी मुक्तक शैलीमें कवित्त और सवैयाका महत्त्वपूर्ण योग है। वैसे भक्तिकालमें ही इन दोनों छन्दोंकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी और तुलसी जैसे प्रमुख कविने अपनी 'कवितावली'की रचना इन्हीं दो छन्दोंमें प्रधानत की है। भगणात्मक, जगणात्मक तथा सगणात्मक सवैयेकी लय क्षिप्र गतिसे चलती है और यगण, तगण तथा रगणात्मक सवैयेकी लय मन्द गति होती है। इनकी लयके साथ वस्तुस्थिति तथा भावस्थितिके चित्र बहुत सफलतापूर्वक अंकित होते हैं। यह छन्द मुक्तक प्रकृतिके बहुत अनुकूल है। यह छन्द श्रृंगार रस तथा भक्ति-भावनाकी अभिव्यक्तिके लिए बहुत उत्कृष्ट रूपमें प्रयुक्त हुआ है। रीतिकालीन कवियोंने श्रृंगार रसके विभिन्न अंगों, विभाव, अनुभाव, आलम्बन, उद्दीपन, संचारी, नायक-नायिका-भेद आदिके लिए इनका चित्रात्मक तथा भावात्मक प्रयोग किया है। रसखान, घनानन्द, आलम जैसे प्रेमी-भक्त कवियोंने भक्ति भावनाके उद्वेग तथा आवेगकी सफल अभिव्यक्ति सवैयामें की है। भूषणने वीर रसके लिए इस छन्दका प्रयोग किया है, पर वीर रस इसकी प्रकृतिके बहुत अनुकूल नहीं है। आधुनिक कवियोंमें हरिश्चन्द्र, लक्ष्मण सिंह, नाथूराम 'शंकर' आदिने इनका सुन्दर प्रयोग किया है। जगदीश गुप्तने इस छन्दमें आधुनिक लक्षणा शक्तिका समावेश किया है।

१ उपजाति सवैया–इसका प्रचलन रहा है। सम्भवत उपजाति सवैया तुलसीकी प्रतिभाका परिणाम है। सर्वप्रथम तुलसीने 'कवितावली'में इसका प्रयोग किया है। उपजातिका अर्थ है जिसमें दो भिन्न सवैया एक साथ प्रयुक्त हुए हों। केशवदासने भी इस दिशामें प्रयोग किये हैं।

२ मत्तगयन्द सुन्दरी–ये दोनों सवैया कई प्रकारसे एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। तुलसीने इसका सबसे अधिक प्रयोग किया है। केशव तथा रसखानने उनका अनुसरण किया है। प्रथम पद मत्तगयन्दका (७ भ+ग ग)—'या लकुटी अरु कामरियापर राज तिहूँ पुरको तजि डारौं।', तीसरा पद सुन्दरी (८ स+ग)—'रसखानि कबौं इन आँखिनते, ब्रजके बन बाग तड़ाग निहारौं।' (रसखान)।

मदिरा-दुर्मिल—तुलसीने एक पद मदिराका रखकर शेष दुर्मिलके पद रखे हैं। केशवने भी इसका अनुसरण किया है। पहला मदिराका पद (७ भ+ग)—'ठाढे हैं नौ द्रुम डार गहे, धनु काँधे धरे कर सायक लै।' तथा दूसरा दुर्मिलका पद (८ स)—'बिकटी भृकुटी बड़री अँखियाँ, अनमोल कपोलनकी छवि है।' (कविता० २)।

इनके अतिरिक्त मत्तगयन्द-वाम और वाम सुन्दरीके विभिन्न उपजाति तुलसीकी 'कवितावली'में तथा केशवकी 'रसिकप्रिया'में मिलते हैं। वस्तुत इस प्रकारके प्रयोग कवियोंने भाव-चित्रणमें अधिक सौन्दर्य तथा चमत्कार उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे किया है (जानकीनाथ सिंह क० हि० पो० प्रो० अप्र० थी०)।

१ मदिरा सवैया–७ भगण (ऽ।।)+गुरुसे यह छन्द बनता है, १०, १२ वर्णोंपर यति होती है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। 'सिन्धु तर्यो उनको बनरा, तुम पै धनु-रेख गयी न तरी।' (रा० च० १६ १२)। 'ठाढे हैं नौ द्रुम डार गहे, धनु काँधे धरे, कर सायक लै।' (कविता० २ १३)।

२ मत्तगयन्द सवैया–२३ वर्णोंका छन्द है, जिसमें सात भगण (ऽ।।) और दो गुरुओंका योग होता है। नरोत्तमदास, तुलसी, केशव, भूषण, मतिराम, घनानन्द, भारतेन्दु, हितैषी, सनेही, अनूप आदिने इसका प्रयोग किया है। 'केसव गाधिके नन्द हमें वह ज्योति सो मूरतिवन्त दिखायी।' (रा० च० ६ १८)। 'कोदौ सवाँ जुरतो भर पेट न चाहत हौं दधि दूध मिठौती।' (सु०च० नरोत्तमदास)। 'धूलिमें लोटना था जिनको उनको सुख-सम्पति लूटते देखा।' (कुणाल अनूप)।

३ सुमुखि सवैया—सात जगण और लघु-गुरुसे यह छन्द बनता है, ११, १२ वर्णोंपर यति होती है। मदिरा सवैयाके आदिमें लघु वर्ण जोड़नेसे यह छन्द बनता है। 'सखीन सों देत उराहनो नित्य, सो चित्त सँकोच सने लहिये।' (देव श०र० प्र० १० पृ० १५७)। 'अनन्य हिमांशु, सदा तरुणीजनकी परिरम्भण शीतलता।' (चन्द्राकर)।

४ दुर्मिल सवैया—इसमें २४ वर्ण होते हैं, जो आठ सगणों(।।ऽ)से बनते हैं और १२, १२ वर्णोंपर यति होती है, अन्त सम तुकान्त ललितान्त्यानुप्रास होता है। यह छन्द तोटक वृत्तका दुगुना है। इसका प्रयोग केशव (रा०च०), तुलसी(कविता०)से लेकर रीतिकाल तथा आधुनिक कवियोंतकने किया है। 'जल हू थल हू परिपूरण श्री निमिके कुल अद्भुत जोति जगे।' (रा०च० ५

२२) । 'अवधेसके द्वारे सकारे गयी सुत गोदमें भूपति लै निकसे ।' (कविता० · १) । 'सखि, नील नभस्सरमें उतरा, यह हंस अहा तिरता-तिरता ।' (साकेत · ९) ।

५ किरीट सवैया—आठ भगणोंसे यह छन्द बनता है । तुलसी, केशव, देव और दासने इस छन्दका प्रयोग किया है । इसमें १२, १२ वर्णोंपर यति होती है । 'जानकी-जीवनको जन ह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाँचत औरहि ।' (कविता० · ७ · २६) । 'तोरयो सरासन संकरको जेहि सोऽब कहा तुव लंक न तोरहि ।' (रा० च० · १५ · ७) । 'अंसवली जनन्यौ जदुवंस, सुजान्यौ जसोमति बंस-कथा सुनि ।' (देव श०र० ५ वीर-अद्भुत) ।

६ गंगोदक या लक्ष्मी सवैया—आठ रगणोंसे यह छन्द बनता है । केशव, दास, द्विजदत्त द्विजेन्द्रने इसका प्रयोग किया है । दासने इसका नाम लक्ष्मी दिया है, केशवने 'मत्तमातंगलीलाकर ।' 'दास ह्वौ कान्ह दासी बिना मोल की, छाँड़ि दीन्ह्यौ सबै बस बनावरी ।' (भिखारीदास ग्र० पृ० २४४) । 'राम राजानके राज आये यहाँ, धाम तेरे महाभाग जागे अबै ।' (रा०च० १६ ९) । 'हा गिरी, री अरी, हा मरी, री अरी, बोलि लागीं गले राधिका श्यामके ।' (द्विजदत्त द्विजेन्द्र) ।

७ मुक्तहरा सवैया—इसमें ८ जगण होते ह । मत्तगयन्दके आदि-अन्तमें एक एक लघुवर्ण जोड़नेसे यह छन्द बनता है, ११, १३ वर्णोंपर यति होती है । देव, दास तथा सत्यनारायणने इसका प्रयोग किया है । 'बिना इस जीवन जीवन री, मरिये पचि होइ, जुपै मरिबे न ।' (देव · श० र० प्र० ४ शान्त) । 'सुलच्छन राजनके सो सुहाई अनोखि अकृत्रिम सुन्दरताई ।' (सत्यनारायण) ।

८ वाम सवैया—मंजरी, माधवी या मकरन्द इसके अन्य नाम हैं । यह २४ वर्णोंका छन्द है, जो सात जगणों और एक यगणके योगसे बनता है । मत्तगयन्दके आदिमें लघु वर्ण जोड़नेसे यह छन्द बन जाता है । केशव और दासने इसका प्रयोग किया है । केशवने मकरन्द, देवने माधवी, दासने मंजरी और भानुने वाम नाम दिया है । 'नवै नव ग्रीव थके गति केशव बालक ते सँग ही सँग खेली ।' (रा०च० २४ ११) । 'कहे किन आजु कहा भयो तोहि, कहा कहि कान्ह कहा कहि तोसो ।' (देव श०र० पृ० १७२) । 'बसन्तमें आज बने ब्रजराज सपल्लव लाल छरी बर हाथे ।' (भिखारीदास ग्र० पृ० २४६) ।

९ अरसात सवैया—यह २४ वर्णोंका छन्द ७ भगणों और रगणके योगसे बनता है । देव और दासने इस छन्दका प्रयोग किया है । 'राधिकाकी रसरंगकी दीपति, संग सहेली हँसी हहराइकै ।' (देव श०र० पृ० ३८, हास्य) । 'बात घरीहुँ नहीं बिलगात, लजात ओ बात गुनें मुसकात हैं ।' (भिखारीदास ग्र० पृ० २४७) ।

१० सुन्दरी सवैया—यह छन्द २५ वर्णोंका है । इसमें आठ सगणों और गुरुका योग होता है । इसका दूसरा नाम माधवी है । केशवने इसे सुन्दरी और दासने माधवी नाम दिया है । केशव (रा०च०), तुलसी (कविता०), अनूप (कुणाल), दिनकर(कुरुक्षेत्र)ने इस छन्दका प्रयोग किया है । 'बरु मारिये मोहिं बिना पग धोये हौं नाथ न नाव चढाइहौं जू ।' (कविता० २ · ६) । 'सब भूतल भूधर हाले अचानक आइ भरत्थके दुन्दुभि बाजे ।' (रा०च० १० · १४) । 'पलकै अरुनै, झलकें अरु नैन छुटी अलकैं, छलकैं उर मोती ।' (देव श०र० · १०) । 'बिनु पण्डित ग्रन्थ प्रकाश नहीं, बिन ग्रन्थ न पावत पण्डित भा है ।' (भिखारीदास ग्र० · पृ० २४६) ।—'मनुके यह पुत्र निराश न हों, नव धर्म-प्रदीप अवश्य जलेगा ।' (दिनकर कुरुक्षेत्र) ।

११ अरविन्द सवैया—आठ सगण और लघुके योगसे यह छन्द बनता है । १२, १३ वर्णोंपर यति होती है और चारों चरणोंमें ललितान्त्यानुप्रास होता है । 'अधिरात अँध्यारको मेघ छटा, घुमड़ी छुटि बिज्जु छटा चहुँ ओर ।' (देव · श०र० · पृ० १०, १५४) । 'कुछ और नहीं युग लोचनोंमें, प्रतिबिम्बित है अनुराग अमन्द ।' (चन्द्राकर) ।

१२ मानिनी सवैया—यह २३ वर्णोंका छन्द है । ७ जगणों और लघु-गुरुके योगसे छन्द बनता है । वाम सवैयाका अन्तिम वर्ण न्यून करनेसे या दुर्मिलका प्रथम लघु वर्ण न्यून करनेसे यह छन्द बनता है । तुलसी और दासने इसका प्रयोग किया है । 'प्रफुल्लित दाम वसन्त कि फौज सिलीमुख भीर देखावति है ।' (भिखारीदास ग्र० पृ० २४४) । 'कहा भव भीर पडी तेहि धौं, बिचरै धरनी तिनसों तिन तोरे ।' (कविता० · ६ · ४९) ।

१३ महाभुजंगप्रयात सवैया—यह २४ वर्णोंका छन्द है, जो आठ यगणोंसे बनता है । यह भुजगप्रयातका दुगुना छन्द है । इसमें १२, १२ वर्णोंपर यति होती है । 'रहे बैठि न्यारी घटा देखि कारी, बिहारी बिहारी बिहारी ररै जू ।' (भिखारीदास ग्र० पृ० २४४) ।

१४ सुखी सवैया—यह नवीन सवैया ८ सगण+लघु-गुरुसे बनता है, १२, १४ वर्णोंपर यति होती है । सुख सवैया ८स+२ लके अन्तिम वर्णोंको दीर्घ करनेसे यह छन्द बनता है । 'कुछके अपमानके साथ पितामह, विश्व विनाशक युद्धको तोलिये ।' (दिनकर कुरुक्षेत्र) । —पु० शु०

सहचरभिन्न—दे०—'अर्थ-दोष', चौदहवाँ ।

सहज—सिद्धों, नाथों तथा सन्तोंमें समान रूपसे सहज शब्दका महत्त्व है, यद्यपि इसको एक ही अर्थमें सबीने प्रयुक्त नहीं किया है । सिद्धोंने सहज शब्दको जितना महत्त्व दिया है उसके कारण यह धारणा होती है कि सम्भवतः **वज्रयान**से पृथक् इनका मत सहजयान है, जो अनुष्ठानों और गुह्य साधनाओंसे रहित है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है (दे०—'वज्रयान') ।

इस सहजकी कल्पनाका मूल उद्गम क्या है, इसके विषयमें एक अत्यन्त रोचक, किन्तु विचारणीय मत प्रबोधचन्द्र बागचीका है । वे इसे 'ताओ'का अनुवाद मानते हैं, जो प्राचीन चीनी धर्मका मूल सिद्धान्त है । ताओ-साधनाकी बहुत सी पद्धतियाँ, शब्दावली और सिद्धियाँ बौद्ध तन्त्रोंमें बहुत मिलती-जुलती हैं । कुछ दक्षिणभारतीय अनुश्रुतियाँ यह मानती हैं कि ईसासे पहले ही कोई 'भोग' नामक चीनी आचार्य दक्षिणभारतमें आया और तिनेवेलीके

सिद्धकूट पर्वतपर रहने लगा। वह भी कायाकी अमरताका उपदेश देता था और गुह्य साधनाएँ करता था। किन्तु इन किम्वदन्तियोंके आधारपर किसी भी प्रामाणिक निर्णयपर नहीं पहुँचा जा सकता था। 'विष्णुपुराण'(लगभग ४०० ई०)में अवश्य सहजा-सिद्धिका उल्लेख है जिसे स्वाभाविक सिद्धि भी कहा गया है। वल्लभदेवके एक कामरूपवाले शिलालेखमें भी इसी अर्थमें सहजका उल्लेख है। यह शिलालेख १२वीं शताब्दीका है। इससे इतना तो अवश्य अनुमान होता है कि बौद्धोंके अतिरिक्त भी कोई चिन्तन-परम्परा चली आ रही थी, जो सहज जीवनपद्धतिपर बल देती थी, जिसका सम्भवत वैष्णवोंसे अधिक निकटका सम्बन्ध था। बौद्धोंने जब इस शब्दको स्वीकार किया तो इसके प्रज्ञोपाय-युगनद्ध-परक अर्थ लिये। सहज वह परम तत्त्व है, जो प्रज्ञा और उपायके सहगमनसे उत्पन्न होता है, उसीके आधारपर सहज-काया, **सहज-सुन्दरी**, सहज-नौका, **सहजानन्द** आदिकी कल्पना की गयी। किन्तु यह केवल बौद्धोंने नहीं किया था। लगता है, कई तान्त्रिक पद्धतियोंने 'सहज' शब्दको स्वीकार कर उसे नये गुह्य अर्थ दे दिये थे। मत्स्येन्द्रनाथके 'योगिनी-कौल मार्ग'में भी सहजसे स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक मार्गके अतिरिक्त ऐसी साधनाका अर्थ लिया जाने लगा, जिसमें स्त्रीतत्त्व और पुरुषतत्त्वका मिलन सम्पन्न हो। 'योगिनी-कौल-मार्ग'का नाथ-पन्थसे काफी निकटसे सम्बन्ध रहा है। नाथ-पन्थमें भी शक्ति और शिवका मिलन **नाद** और **विन्दु**के मिलनके रूपमें माना जाता रहा है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सिद्धोंके पूर्व बौद्ध-परम्परामें सहज शब्दका प्रयोग नहीं मिलता है।

सम्भवत इसका एक कारण यह भी है कि **शून्य** और **करुणा,** ये दोनों एक-दूसरेके अभावमें साम्यको एकागी बना देते थे। दोनोंके ऐक्यका द्योतक 'सहज' शब्द वस्तुत अधिक गहरा अर्थ दे सकनेमें समर्थ था। **प्रज्ञा और उपाय,** शून्य और करुणाका सहगमन ही प्रमुख प्रणाली है और वही सहज तत्त्व है।

नाथपन्थी साहित्यमें भी सहजको परम तत्त्वके रूपमें ग्रहण किया गया है। 'ए ही पाँचों तत वाबू सहज समान ' (गोरखवानी)। दुविधा मिटाकर सहज स्वभावमें रहनेका उपदेश है। गोरखनाथ सहज तत्त्वके व्यापारी बताये गये हैं। सहजको परम पद निर्वान बताया गया है और 'ठवकि न चलवा, हवकि न बोलिवा, धीरे धरिवा पाँव, गरव न करिवा। सहजे रहिवा 'को साधकका आदर्श आचरण माना गया।

यह 'सहज रहिवा' या **सहज रहनि** वस्तुत सन्तोंमें बहुत प्रमुख हो गयी। वैसे सन्तोंसे भी **परम तत्त्वके** रूपमें, **स्वभावके** रूपमें, **समाधिके** रूपमें सहजका निरन्तर उल्लेख मिलता है, किन्तु उसके तान्त्रिक अर्थको सन्तोंने कहीं भी नहीं स्वीकार किया, वे उसे पूर्णत· भूल चुके थे। वैसे तो सिद्धोंमें भी साधनाकी एक अवस्था ऐसी आती थी जब वे कहते थे कि 'एकु न विजुइ सन्तण मन्त, निअ घरिणी लइ केलि करन्त।' या वे मानते थे—'भणइ भअवा, खसम सभवइ, दिवा रात्ति सहज राहिअइ।' (दोहाकोष—तिलोपा)। किन्तु यह महामुद्राकी साधना कर लेनेके बादकी वह स्थिति है जब साधकको आचारकी समस्त स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है। सन्तोंमें **सहज रहनि**का और भी निर्मल और भावात्मक स्वरूप है। वे उसे उस वैष्णव अर्थमें ग्रहण करते हैं जहाँ सभी कर्मोंको कृष्णार्पण कर सहज जीवननिर्वाह किया जाता है। कवीरने जब कहा है कि 'सन्तों सहज समाधि भली', तब उन्होंने **सहज समाधि**से न प्रज्ञा और उपायके समागमका सकेत किया है, न नाद और विन्दुके मिलनका, उन्होंने केवल समस्त वाह्य आडम्बरोंसे रहित, सरल, भावपूर्ण जीवन-निर्वाहके अर्थमें प्रयोग किया है। वैसे तो नाथोंमें भी सहज-रहनीका उल्लेख है, पर कवीरमें सहज रहनीका प्रमुख आधार है हरिभक्ति और प्रभुके प्रति भावात्मक अर्पण। नाथपन्थी धारणामें इसका अभाव है।

किन्तु परवर्ती कवीरपन्थी साहित्यमें इस सहजकी कल्पनाका प्रचुर दुरुपयोग हुआ है। उसमें सहजको ब्रह्म बताया गया है, जिससे पाँच ब्रह्म उत्पन्न हुए हे। फिर सहज श्रुति, सहजाकुर, सहज द्वीप आदिकी कल्पनाएँ की गयीं। अन्तमें सहजका ह्रास भी मिलता है, जब सहजको घटाकर मायाशवलित निरजन मान लिया गया और अन्तमें धर्म-सम्प्रदायका कर्मकाण्ड ही मान लिया गया। (विस्तारके लिए दे०—सिद्ध साहित्य धर्मवीर भारती।) —ध०वी०भा०

सहजयान—दे०—'वज्रयान'।

सहज-रहनी—दे०—'सहज'।

सहज शून्य—दे०—'शून्य'।

सहज समाधि—दे०—'सहज'।

सहज सिद्धि—दे०—'सहज'।

सहज सुंदरी—दे०—'महामुद्रा'।

सहज स्वभाव—दे०—'सहज'।

सहजानद—दे०—'चार आनन्द'।

सहजिया—सहजयानी साधनाओंसे प्रभावित कई छोटी-छोटी धर्म-साधनाएँ पूर्वी भारतमें विद्यमान हैं, जो सहजिया कहलाती हैं, किन्तु प्रमुख सहजिया धारा समस्त बौद्ध प्रभावोंको ग्रहण करके अब वैष्णवताको स्वीकार कर चुकी है। यह संक्रमण कब हुआ और किस प्रकार हुआ, यह तो अभी खोजका विषय है, किन्तु कई विद्वानोंका मत है कि किसी-न-किसी रूपमें तान्त्रिक पद्धतिका व्यापक प्रभाव वैष्णव धर्मके उस रूपपर पड़ा है जो पूर्वी भारतमें प्रचारित हुआ। सहजिया सम्प्रदायवालोंका तो यह कथन है कि जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास आदि वैष्णव, विमर्श और रूपसनातन, स्वरूप, दामोदर, जीवगोस्वामी आदि वैष्णव आचार्य सभी किसी-न-किसी रूपमें **मुद्रा-मैथुन**-युक्त **सहज-साधना**में प्रवृत्त हो चुके हैं। सहजियोंके पदोंका अध्ययन करनेसे प्रतीत होता है कि इनपर बौद्ध और हिन्दू तान्त्रिकोंका स्पष्ट प्रभाव है, किन्तु धीरे धीरे इनके पदोंमें प्रगीत प्रेमतत्त्व अधिक भावात्मक होता गया है, गुह्य तान्त्रिक अनुष्ठानोंसे मुक्त होता हुआ हृदयकी सहज वृत्तियोंके स्फुरणको अधिक महत्त्व देने लगा है। किन्तु साथ ही यह भी स्मरणीय है कि स्वत सहजयानी सिद्धोंमें यह प्रवृत्ति पायी जाती थी और सन्तोंके साहित्यमें तो इसका पूर्ण विकास मिलता है। किन्तु इनके और

सन्तोंके साहित्यमें अन्तर यह है कि ये कृष्णको अपना उपास्य मानते हैं, लीलामें विश्वास करते हैं और परकीया प्रेमको अधिक महत्त्व देते हैं।

लीलाके सम्बन्धमें चैतन्य महाप्रभुने राधा-भावको अधिक महत्त्व दिया था जब कि उनके पूर्ववर्ती और समकालीन अन्य भक्त-कवि और साधक सखी-भावको स्वीकार करते थे। जहाँतक सहजिया साधकोंका प्रश्न है, वे न केवल सखी-भावसे राधा और कृष्णकी प्रेम-लीलाओंका गायन करते हैं वरन् यह भी विश्वास करते हैं कि लौकिक पुरुष और नारीकी प्रेम-लीलामें भी राधा कृष्णके अलौकिक प्रेमकी अभिव्यक्ति होती है। इसके लिए वे रूप-लीला और स्वरूप-लीलाके सिद्धान्तका आधार लेते हैं। उनका कहना यह है कि प्रत्येक मनुष्यके अन्दर कृष्ण विद्यमान है और प्रत्येक नारीमें राधा। लौकिक नाम और आचरणवाला उसका व्यक्तित्व 'रूप' है और कृष्णकी स्वत जो प्राकृत लीला थी, वह उनकी रूप-लीला थी और अप्राकृत लीला स्वरूप लीला थी। इसी दृष्टिसे वे वृन्दावनके तीन रूप मानते थे—वन-वृन्दावन, मन वृन्दावन, नित्य वृन्दावन। नित्य-वृन्दावनमें कृष्ण और राधा, पुरुष और प्रकृति या रस और रतिके रूपमें नित्य विहार करते हैं।

वैष्णव सहजिया साधनाकी मुख्य प्रक्रिया है 'आरोप'। इसमें 'रूप'पर 'स्वरूप'का आरोप कर भाव-साधना की जाती है, किन्तु इसमें रूपका निषेध नहीं होता बल्कि रूपके बिना स्वरूपका साक्षात्कार ही नहीं हो सकता। इसीलिए वे लौकिक और अलौकिक प्रेममें कोई विभाजक रेखा नहीं खींचते। (दि०—'पोस्टचैतन्य सहजिया कल्ट' मणीन्द्रमोहन बसु। आब्स्क्योर रेलीजस कल्ट्स : शशिभूषणदास गुप्त)। —ध० वी० भा०

सहजिया संप्रदाय—'सहजिया'में दीख पडनेवाले 'सहज' शब्दका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ('सह जायते इति सहज'के आधारपर) जन्मके साथ साथ उत्पन्न होनेवाला तथा इसी कारण किसी भी पदार्थका अपना नैसर्गिक रूप हुआ करता है, किन्तु पारिभाषिक दृष्टिसे इसका प्रयोग उस अनिर्वचनीय स्थितिके लिए किया गया मिलता है, जिसे 'निर्वाण'की संज्ञा दी जाती है और इसी प्रकार यह परम तत्त्वके स्वरूपका बोधक भी समझा जाता है। अतएव 'सहजिया' शब्दसे अभिप्राय उन लोगोंका है, जो ऐसे 'सहज'में आस्था रखते हैं और तदनुसार 'सहजिया सम्प्रदाय' भी ऐसे व्यक्तियोंके किसी समुदायविशेषको ही कह सकते हैं। 'निर्वाण'की दशा, जिसे गौतम बुद्धने मानवजीवनके लिए चरम लक्ष्य निर्धारित किया था, समय पाकर विभिन्न नामों द्वारा अभिहित होती आयी। कभी इसे उनके अनुयायियोंने 'तथता' कहा, तो कभी 'शून्य'का नाम दिया और फिर इसे ही उन्होंने क्रमश 'विज्ञप्तिमात्रता', 'महासुख' तथा 'वज्रधातु' एव 'वज्रसत्त्व' भी ठहराया। इसे 'वज्र' नाम देनेवाले लोगोंके समुदायको 'वज्रयान' कहा गया और फिर उसीको 'सहज'के रूपमें कल्पित करनेवालोंके वर्गको 'सहजयान' बतलाया गया। इस 'सहज'को बौद्ध सिद्धोंने 'सहजानन्द' अथवा 'सहजसुख' शब्दों द्वारा भी व्यक्त किया है और इसकी स्थितिको 'प्रज्ञा' एव 'उपाय'की समरसतामें निहित समझा है। इनका कहना था कि जो कुछ ब्रह्माण्डमें है, वह सभी पिण्ड या शरीरमें भी है और इसीलिए जिस प्रकार शैव तान्त्रिकोंने मानव-शरीरके अन्तर्गत शीर्षस्थ 'सहस्रार'में 'शिव'की तथा 'मूलाधार'में 'शक्ति'की कल्पना की थी, उसी प्रकार उन्होंने भी क्रमश 'प्रज्ञा' एव 'उपाय'को स्थान दिया। परन्तु शैव तान्त्रिकोंने जहाँ 'शक्ति' एव 'शिव'के मिलनकी अनुभूतिको अन्त -साधना द्वारा ही साध्य माना था, वहाँ इन बौद्ध तान्त्रिकोंने 'उपाय' तथा 'प्रज्ञा'की समरसताके लिए एक ऐसी बाह्य-साधनाकी भी आवश्यकता बतलायी, जिसमें साधक अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए किसी 'मुद्रा'के साथ यौन सम्बन्ध भी स्थापित कर सकता था। 'मुद्राएँ' प्राय. नीच कुलोत्पन्न स्त्रियाँ हुआ करती थीं और उनके प्रति सहज प्रेमकी अभिवृद्धिके समानान्तर 'प्रज्ञा' एव 'उपाय'का उत्तरोत्तर मिलता जाना भी सम्भव समझा जाता था, परन्तु वज्रयानियों एव सहजयानियोंने पीछे अन्त साधनाके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की और उनकी साधना बाह्य मुद्रा-साधना-तक ही सीमित रहने लगी।

ऐसे साधकोंका प्रमुख कार्यक्षेत्र बंगाल, विहार एव उडीसाके प्रान्तोंमें था, जहाँ बौद्ध धर्मका अस्तित्व ग्यारहवीं शताब्दीतक बना रहा और बौद्ध सिद्धों द्वारा अधिकतर सर्वसाधारणमें ही प्रचार किये जानेके कारण ऐसी भावना-का प्रभाव वहाँके समाजपर भी बिना पडे नहीं रह सका। फलत बौद्ध धर्मके वहाँसे अपने रूपोंमें प्राय लुप्त हो जानेपर भी उससे निर्मित हो गये वातावरणमें अधिक परिवर्तन नहीं लाया जा सका और उस कालतक प्रचलित वैष्णव-सम्प्रदायके कतिपय अनुयायियोंकी रचनाओंमें उक्त 'प्रज्ञा' एव 'उपाय'के मिलनका ही एक रूपान्तर उनकी राधा एव कृष्णके अलौकिक प्रेमभावकी अभिव्यक्तिमें भी दीख पड़ा। किन्तु बौद्ध सिद्ध जहाँ 'प्रज्ञा' एव 'उपाय'के मिलनकी समरसताका स्वय भी अनुभव करते जान पडते थे, वहाँ वैष्णवोंने राधा एव कृष्णकी 'केलि'को केवल दूरसे प्रत्यक्ष कर आनन्दित होना अभीष्ट माना और उसे अपने सुन्दर काव्योंका विषय भी बनाया। 'गीतगोविन्द'के रचयिता प्रसिद्ध कवि जयदेव तथा मैथिल कवि विद्यापतिने अपनी कविताओंमें इसी नियमका अनुसरण किया और इन्होंने सिद्धोंके 'सहज'को भी कोई महत्त्व नहीं दिया। 'सहज'की चर्चा एव व्याख्या करनेवाले बँगला कवि चण्डीदास हुए, जिन्हें इसी कारण एक प्रमुख 'वैष्णव सहजिया'के रूपमें भी स्वीकार किया जाता है। इन्होंने न केवल राधा एवं कृष्णकी केलिको कुछ भिन्न दृष्टिसे देखा, अपितु इन्होंने अपने जीवनतकको बौद्ध सहजयानियोंके ही आदर्शानुसार ढाल दिया। इन्होंने किसी 'रामी' नामकी रजकी(धोबिन)को प्रेमपात्रीके रूपमें स्वीकार कर उसे सहजयानियोंकी जैसी 'मुद्रा' बना डाला। उनका न्यूनाधिक अनुसरण करनेवाले लोगोंकी संख्यामें क्रमश इतनी वृद्धि होती चली गयी कि बौद्ध सिद्धोंके 'सहजयान'की भाँति वैष्णव धर्मके अनुयायियोंका भी एक 'सहजिया सम्प्रदाय' चल निकला और उसे कवि जयदेव तथा विद्यापतिके शुद्ध वैष्णव सम्प्रदायसे पृथक् समझा जाने लगा।

इन वैष्णव 'सहजिया' लोगोंकी बहुत-सी बातें बौद्ध सहजयानियोंसे मिलती-जुलती थीं, किन्तु इनकी कुछ अपनी विशेषताएँ भी थीं। इनका 'सहज' सहजयानियोंके ही जैसा अनिर्वचनीय था, किन्तु उसकी व्याख्या करते समय ये उसे विशुद्ध प्रेम जैसा रूप दे दिया करते थे। इनका कहना था कि श्रीकृष्णका, परम तत्त्व होते हुए भी, बिना अपने नैसर्गिक प्रेमकी अमित शक्तिस्वरूपिणी राधाके रहना असम्भव है। राधा उनमें स्वभावत निहित रहा करती है जिस कारण उन दोनोंके क्षणिक वियोगकी कल्पना भी उनकी नित्यलीलाकी ही दृष्टिसे की जा सकती है, जिस कारण उसमें उनका 'स्वरूप' आध्यात्मिक तत्त्वके रूपमें वर्तमान है और इसी प्रकार उसमें भौतिक तत्त्वको भी स्थान प्राप्त है, जिसे 'रूप'का नाम दिया जा सकता है तथा इसीलिए रूपके ऊपर 'स्वरूप'का 'आरोप' करना ही अपने पार्थिव प्रेमको अपार्थिवता प्रदान कर देना है। इनके अनुसार किसी भगवान्‌के प्रति आध्यात्मिक प्रेमका प्रदर्शन आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर ही कर लेनेमें समर्थ है। मानव-जीवन इस विश्वमें सबसे बडी देन है और 'मानुप'(मनुष्य)का स्थान यहाँ सभी पदार्थोंसे कहीं ऊँचा है। सहजिया वैष्णव प्रेमभावमें उत्कर्ष लानेके लिए किसी साधकका परकीयाके संसर्गमें रहना अत्यन्त आवश्यक मानते हैं, परन्तु परकीयाके भी 'मुख्य' एव 'मजरी' नामक दो भेद करते दीख पड़ते हैं। वास्तवमें इनकी 'मजरी' ही सहजयानियोंकी 'मुद्रा' है, जिसका सविधि पूजन करके साधक अपनी सुषुम्ना नाडीको क्रमश जागरित कर, दिव्य शक्ति उपलब्ध कर सकता है। 'मुख्य' परकीया वह 'अन्तरग' शक्ति है, जिसकी साधनामें परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर उसके प्रति पूर्ण समर्पण कर देना पड़ता है।

प्रेमभावकी शुद्धता एव गम्भीरताकी दृष्टिसे वैष्णव सहजिया लोगोंकी तुलना सूफियोंके साथ की जा सकती है। सूफी लोग भी इन सहजिया वैष्णवोंकी भाँति ईश्वरीय प्रेम-(इश्क हकीकी)की प्राप्तिके लिए पार्थिव प्रेम(इश्क मजाजी)-की साधना आवश्यक समझते थे और इस बातको प्रेम-गाथाओं द्वारा उदाहृत भी किया करते थे, जिसका इनके यहाँ कोई महत्त्व नहीं था, क्योंकि पार्थिव प्रेमकी साधना ये लोग स्वय परकीयाके साथ कर लेते थे। सूफियोंकी प्रेम-साधनाका यह ढग वस्तुत व्याख्यात्मकमात्र ही था, जहाँ सहजिया वैष्णव उसे तान्त्रिकोंकी भाँति स्वयं पूरा भी कर लेते थे। इसके सिवाय सूफियोंका प्रेम जहाँ सीधे ईश्वरके प्रति प्रदर्शित समझा जा सकता था, वहाँ सहजिया वैष्णवोंकी साधना-प्रणालीमें ऐसी कोई बात नहीं थी। ये लोग श्रीकृष्ण एवं राधाके अलौकिक प्रेमको ही विशेष महत्त्व देते थे तथा उसे अपनी मजरी-साधना द्वारा निजी अनुभवमें लानेके लिए प्रयत्नशील भी रहा करते थे। इस बातमें ये लोग उन बाउलोंसे भिन्न थे, जो अधिकतर बगाल प्रान्तके निवासी थे तथा जो सूफियोंकी भाँति ही अपनी प्रेम-साधनामें सदा मस्त रहा करते थे। सहजिया वैष्णवोंका प्रेम जहाँ श्रीकृष्ण एव राधारूपी दो व्यक्तियोंके स्वरूपाश्रित प्रेमकी अपेक्षा करता था, वहाँ बाउलोंका प्रेम सब किसीके हृदयमें वर्तमान किसी 'मनेर मानुप'के प्रति उन्मुख था और उसे इस प्रकार आत्मसाधनाका ही एक रूप ठहराया जा सकता था। सहजिया वैष्णवोंके प्रेममें द्वैतभावनाका बना रहना आवश्यक था और उसे प्रेमलक्षणा भक्ति-तकका नाम दे सकते थे, जहाँ बाउलोंकी प्रेमसाधना तत्त्वत अद्वैतभावनापर ही आश्रित थी।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा परशुराम चतुर्वेदी] —प० च०

सहस्रदलकमल–दे०—'हठयोग'।

सहस्रार–दे०—'हठयोग'।

सहोक्ति–सादृश्यमूलक गम्यौपम्याश्रय वर्गका भेद-प्रधान, प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अलकार। अर्थ है सहभावकी उक्ति। इसमें एक अन्वित अर्थवाले पदकी, 'सह' शब्दकी अर्थसामर्थ्यसे, दो अन्वित अर्थकी बोधकता होती है (का० प्र० १० ११२)। सामान्यत इसके सम्बन्धमें यही धारणा चलती रही है—'दो वस्तुओंकी तुल्यकालीन दो क्रियाओंका एक ही पदसे कथन करना (सहार्थक शब्दकी सामर्थ्यसे)।' (का० सू० वृ० ४ · ३ · २८)। इस प्रकार साधारण कथनमें यह अलकार नहीं माना गया है—'राम लक्ष्मण और सीताके साथ वन गये'। सहोक्तिमें अतिशयोक्तिका होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है—'मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत्।' (सा० द० १० ५५)। जयदेवका 'जनरजन' कहना भी इसी बातका सकेत है।

हिन्दीके आचार्योंमें कुछने 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'के आधारपर लक्षण दिये हैं—'वस्तुनको भासत जहाँ, जनरजन सह भाव।' (शि० भू० १४९), अथवा 'बहु सग भनै, जनरजनके काज।' (पद्मा० ९६) जो बहुत स्पष्ट नहीं है। केशवका लक्षण दण्डीके आधारपर है और अपूर्ण है—'हानि वृद्धि सुभ असुभ कछु कहिये गूढ प्रकास। होइ सहोक्ति सो साथ ही बरनत केसवदास।' (क० प्रि० १२ २०)। पर उदाहरण उपयुक्त है—'सिसुता समेत भई मन्द मन्दगति लोचननि, गुननसों वलित ललित गति पायी है।' (वही २१)। मतिराम, कुलपति तथा दास आदिने मम्मट-विश्वनाथके आधारपर लक्षण दिये हे—'काज हेतुकौं छोड़ि जहँ औरनिके सहभाव।' (ल० ल० १५७)। उदा०—'नैननतें नीर धीर छूट्यो एक सग छूट्यो, सुख रुचि मुख रुचि त्यों ही बिन रग ही।' (शि० भू० १३०), अथवा—'फूलनके सँग फूलिहैं रोम परागनके सँग लाज उडाइहै। पल्लव पुजन सँग अली हियरा अनुरागके रग रँगाइहै।' (का० नि० १५)। इसका एक भेद श्लेषमिश्रित माना गया है—'मन सँग रक्ताधर भये, सैसव सगति मन्द।' (अ० म० ३०९), यहाँ 'रक्त' पदमें श्लेष है, अधरके पक्षमें लाल रग और मनके पक्षमें अनुराग। —शि० प्र० सिं०

सांख्य–सांख्य दर्शनकी एक पद्धति है, जिसके आदि प्रवर्तक कपिल हैं। इस दर्शनको सांख्य क्यों कहते हैं? इस प्रश्नके विविध उत्तर हैं। (क) कपिल-दर्शनमें संख्या अर्थात् सम्यक् ज्ञानकी प्रधानता है। सख्याका अर्थ है सम्यक् ख्यातिका ज्ञान। यह विशुद्ध ज्ञानमार्ग है। प्रत्यक्ष और

अनुमान ही इसके मुख्य प्रमाण हैं। यद्यपि कालान्तरमें श्रुतिप्रमाण या वेदोंका प्रमाण भी इसमें मान्य समझा गया, तथापि प्राथमिकता तर्क या ज्ञानकी ही रही है। गीतामें सांख्यको ज्ञानमार्गका ही पर्याय कहा गया है। शंकराचार्य भी सांख्यको तार्किक कहते हैं। संख्या या ज्ञानकी प्रधानताके कारण इस दर्शनको सांख्य कहा जाता है। (ख) कुछ लोगोंका मत है कि सांख्य दर्शनका यह नाम इसलिए पड़ा कि इसमें तत्त्वोंकी संख्या या गिनती की गयी है। मौलिक तत्त्व कितने हैं, इनका जो शास्त्र विचार करता है, उसको सांख्य कहते हैं। पर आज भी जो दर्शन इन तत्त्वोंकी गिनतीका विचार करते हैं, उनको हम सांख्य नहीं कह सकते। सांख्य भारतका पहला दर्शन है, जिसमें मौलिक तत्त्वोंकी संख्या की गयी। उपनिषदोंका पहला समन्वय करनेवाला दर्शन यही सांख्य है। इसमें उपनिषदोंके मौलिक तत्त्वोंको विकास क्रममें सँजोया गया।

सांख्य शास्त्रके प्रथम आचार्य कपिल हैं। इन्होंने 'सांख्य-सूत्रों'की रचना की थी, पर वह उपलब्ध नहीं है। इस नामसे जो उपलब्ध है, वह पूर्ण क्षेपक ही नहीं वरन् जाली रचना है, जो बहुत पीछे लिखी गयी। सांख्यका प्रयोग जैन परम्परा तथा महाभारत और गीतामें आता है। कपिलका नाम 'श्वेताश्वतर' उपनिषदमें भी आया है। कपिलके समयको कुछ लोग ७०० ई०पू० ठहराते हैं। कुछ भी हो, पर यह निश्चय किया गया है कि कपिल बुद्ध-पूर्व थे। जिस समय प्राचीन उपनिषदोंकी रचना हो चुकी थी, उनके ज्ञानमार्गकी प्रधानता थी, उसी समय यह आवश्यकता पड़ी कि उस ज्ञानमार्गको सुश्रृंखलित रूपमें प्रस्तुत किया जाय। कपिलने, जो बहुत बड़े सिद्ध थे, इस कार्यको किया।

सांख्य दर्शनका प्राचीनतम ग्रन्थ जो उपलब्ध है, ईश्वर-कृष्ण(लगभग १०० ई०)की 'सांख्यकारिका' है। इसके अनुसार चार प्रकारके तत्त्व हैं—प्रकृति, विकृति, प्रकृति विकृति दोनों या उभय और न प्रकृति न विकृति, अर्थात् अनुभय। प्रकृति कहते हैं मूल कारणको। यह अचेतन है, सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोंकी साम्यावस्था है। यह प्रसववर्त्ती है, अर्थात् इससे कुछ वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, जिनको हम विकृति कहते हैं। इससे पहले महत् उत्पन्न होता है, महत्से अहंकार, अहंकारसे युगपत् तीन प्रकारके तत्त्व प्रकट होते हैं—१ मन, २ इन्द्रियाँ और ५ तन्मात्राएँ। इन्द्रियाँ ५ कर्मेन्द्रियाँ हैं अर्थात् हस्त, पाद, मुख, पायु और उपस्थ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ क्रमश शब्दतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा हैं। इनमें ऊपरसे पूर्व विद्यमान रहती हैं। फिर इन्हीं ५ तन्मात्राओंमेंसे क्रमश आकाश, वायु, तेज, अप् और पृथ्वी, इन पाँच महाभूतोंका विकास होता है। महत्, अहंकार और ५ तन्मात्राएँ इन सात तत्त्वोंको प्रकृति और विकृति, दोनों कहते हैं, क्योंकि एक ओर ये उत्पादक हैं, तो दूसरी ओर उत्पन्न। मन, १० इन्द्रियाँ और ५ महाभूत इन १६ तत्त्वोंको केवल विकृति कहते हैं, क्योंकि ये केवल कार्य या उत्पन्न हैं, कारण या उत्पादक नहीं। इस प्रकार १ प्रकृति, ७ प्रकृति-विकृति और १६ विकृति, इन २४ तत्त्वोंसे पृथक् २५वाँ तत्त्व पुरुष है जो न प्रकृति है, न विकृति है। इस तरह कुल २५ तत्त्व हैं। मूलत पुरुष और प्रकृति ये ही दो तत्त्व हैं। पुरुषके सान्निध्यसे प्रकृतिकी साम्यावस्था भंग होती है और तब उसमें गति आती है, जिसके फलस्वरूप महदादिक्रमसे सभी अन्य तत्त्वोंका विकास होता है। पाँच महाभूतों तथा मन और इन्द्रियोंके ही विभिन्न संघातोंसे 'नाना जीवो येन जगत्' बनता है। पुरुष प्रकृतिसे मूलत अनासक्त है। पर जगत्में वह प्रकृतिके कार्यकलापमें बँधा प्रतीत होता है। ज्ञानसे इस बन्धनको दूर करके पुरुषका अपने अस्तित्वका अनुभव करना मोक्ष है।

विकास-क्रमका व्यतिक्रम या विपरीत-क्रम तिरोभाव या प्रलय है। विकासक्रममें सांख्य सत्कार्यवाद या प्रकृति-परिणामवादके सिद्धान्तको मानता है, जिसके अनुसार कार्य कारणमें सदा पूर्वसे ही विद्यमान रहता है। कार्य कारणावस्थाका व्यक्त रूप ही है।

ईश्वरकृष्णके उपर्युक्त सांख्यमें ईश्वरकी मान्यता नहीं है, अत वह निरीश्वरवादी दर्शन है, कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वरकृष्ण वस्तुत निरीश्वरवादी नहीं, बल्कि अज्ञेयवादी हैं, इसलिए वे ईश्वरके विषयमें मौन हैं। उनकी अनुक्तिका अर्थ अभाव न लगाना चाहिये। कुछ भी हो, इस सांख्यकी पारिभाषिक संज्ञा निरीश्वर सांख्य है। इससे पृथक् सेश्वर सांख्य है, जिसमें २५ तत्त्वोंसे पृथक् ईश्वर तत्त्वको भी माना जाता है और इस तरह उसमें २६ तत्त्व हो जाते हैं। विज्ञानभिक्षु जिन्होंने 'सांख्यप्रवचनसूत्रभाष्य' लिखा है, इसी सेश्वर सांख्यके अनुयायी हैं। 'चरकसंहिता'में सांख्यका मत मिलता है, पर उसमें २५ या २६ तत्त्वोंके बजाय केवल २४ तत्त्व ही हैं। वहाँ प्रकृति और पुरुष दोनोंको अपृथक् कर दिया गया है, क्योंकि वे दोनों ही अव्यक्त हैं। 'चरकसंहिता'(७८ ई०)में निरूपित सांख्य ईश्वरकृष्ण और विज्ञानभिक्षुके सांख्यसे प्राचीन है। चरकके पूर्व महाभारतका काल है। उसमें भी चरक जैसा ही सांख्यका निरूपण है। इससे यह समस्या उत्पन्न हो गयी है कि मौलिक सांख्य सेश्वरवादी है या निरीश्वरवादी ? कपिलका सांख्य क्या है ? इसके विविध ढंगसे उत्तर दिये गये और कुछ लोगोंने कपिलको निरीश्वरवादी, कुछने सेश्वरवादी तो कुछने अज्ञेयवादी माना।

'षट्दर्शनसमुच्चय'के भाष्यकार गुणरत्न(१४वीं शती)ने सांख्यके दो सम्प्रदायोंका उल्लेख किया है—मौलिक सांख्य और उत्तरसांख्य। मौलिक सांख्यमें जैसे पुरुष अनेक हैं वैसे प्रकृति भी अनेक है, एक नहीं। उत्तरसांख्यमें पुरुष अनेक और प्रकृति एक मानी गयी।

सेश्वरसांख्य और योगके तत्त्ववादमें कोई अन्तर नहीं है। योग सांख्यका साधनापक्ष है, तो सांख्य योगका सिद्धान्तपक्ष या दर्शनपक्ष है।

पुराणोंने सर्वदर्शन समन्वय करते हुए अवतारवादके सिद्धान्तको निकाला और सामान्यत॰ प्रत्येक दर्शनके संस्थापकको ईश्वरावतार या उसके व्यूहका अवतार माना। कपिलको ईश्वरका अवतार समझा गया। वे सिद्धोंमें भी सिद्ध माने गये। हिन्दीके सन्तों और दार्शनिकोंने भी कपिलको ईश्वरावतार या महासिद्ध माना। उन्होंने उनसे आत्मज्ञानका उपदेश कराया (सू० सा० · ३)

और उनका समग्र विकासवाद मान लिया। साख्यकी प्रकृतिको माया कहा गया और तिरगुनी माया या त्रिगुणात्मिका प्रकृति उसका लक्षण माना गया। सूरदासने साख्यके इस विकास क्रमका बड़ा सुन्दर निरूपण किया है—'माया कौ त्रिगुनात्मक जानौ। सत रज तम ताके गुन मानौ। तिन प्रथमहिं महतत्त्व उपजायौ। तातैं अहकार प्रकटायौ। अहकार कियौ तीनि प्रकार। सततैं मन सुर सात रु चार। रजगुन तै इन्द्रिय बिस्तारी। तमगुन तैं तन्मात्रा सारी। तिनतैं पच तत्त्व उपजायौ। इन सबको इक अण्ड बनायौ। अण्ड सो जड चेतन नहिं होई। तब हरिपद छायामन पोई।' (सू०सा० २)।

यहाँ स्पष्ट है कि सेश्वर साख्यको ही सूर जैसे सगुणवादियोंसे अधिक महत्त्व मिला। पौराणिकोंकी भाँति हिन्दीके इन ज्ञानियोंने भी साख्यके विकासवादको स्मृतियोंके सृष्टिवादसे समन्वित किया, जिसमें अण्डसे सृष्टि प्राय मानी जाती है।

पर निरीश्वरवादी तथा अज्ञेयवादी साख्यको हिन्दीमें अमान्यता नहीं मिली। हिन्दीके सन्तमतकी परम्परामें साख्यके अनेकानेक सिद्धान्त मिलते है। लगता है कि यह सारी परम्परा साख्य तथा बौद्ध दर्शनोंके घात-प्रतिघातसे बनी है और अन्तमें कहीं अद्वैतपरक हो गयी है तो कहीं द्वैतपरक। जहाँ वह द्वैतपरक है, वहाँ वह साख्यके अधिक समीप है।

विज्ञानभिक्षुके 'साख्यप्रवचनसूत्रभाष्य'के साख्यप्रवचन सूत्रोंके ६ अध्यायका साराश दादू-पन्थी निश्चलदास-(१९वीं शती)ने 'विचारसागर में यों दिया है—'साख्यशास्त्र षट्अध्यायरूप कपिलने किया है ताके प्रथम अध्याय मै विषयनिरूपण किये है। द्वितीय अध्यायमें महत्तत्त्व अहकारादिक प्रधानके कार्य कहे हैं। तृतीय अध्यायमें विषयनतें वैराग्य कह्या है। चौथे अध्यायमें परपक्षका खण्डन कह्या है। छठे अध्यायमें सारे अर्थका सक्षेपसे सग्रह किया है। प्रकृति पुरुषके विवेकतें पुरुषका असगज्ञान साख्यशास्त्र का प्रयोजन है ताका भी त्वम्पदके लक्ष्य अर्थ शोधन द्वारा महावाक्यजन्य ज्ञानमें उपयोगी होनेमे मोक्ष ही फल है।'

निश्चलदासने प्रचलित परम्परावश इन सूत्रोंको कपिलकृत माना जो वस्तुत ठीक नहीं है। पर उन्होंने साख्यके महत्त्वका अच्छा प्रज्ञापन किया है कि यह तत्त्वमसि जैसे वाक्यमें त्वम् पदके अर्थमें सहायता देता है। इसलिए प्राय साख्यको वेदान्तका उपयोगी शास्त्र माना जाता है।

राधाकृष्णन्का मत है कि रामानुज तथा अन्य वैष्णव तथा शैव-वेदान्तियोंने साख्यके ही आधारपर मध्ययुगमें दर्शन तथा धर्मके सम्प्रदायोंकी स्थापना की। वर्तमान समयके पाश्चात्य विद्वानोंने जिन्होंने भारतीय विद्याओंपर कुछ काम किया है, साख्यको विशेष महत्त्व दिया है। इस दृष्टिसे यद्यपि साख्यदर्शनकी वैसी परम्परा नहीं है जैसी वेदान्तकी है, तथापि उसका प्रभाव भारतीय दर्शनोंपर विशेष रहा है।

[सहायक ग्रन्थ–(१) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, प्रथम भाग दासगुप्त। (२) इण्डियन फिलासफी, द्वितीय भाग राधाकृष्णन्। (३) विचारसागर निश्चलदास]। —मं० ला० पा०

सांग रूपक–दे०—'रूपक', तीसरा प्रकार।

सांगीत–दे०—'नौटकी'।

साँझी–साँझी अथवा सझया, 'सजा', या 'साँजुली' उत्तरप्रदेश, मालवा, राजस्थान और निमाडकी कुमारी कन्याओंका एक आनुष्ठानिक व्रत एव बालगीतोंका एक प्रकारविशेष, जो उक्त व्रतके सन्दर्भमें गाये जाते हैं। व्रज भी साँझी व्रत और उसके गीतोंसे परिचित है। महाराष्ट्रमें 'गुलबाई', बुन्देलखण्डमें 'मामुलिया' और कागड़ा जिलेमें 'रली'का त्यौहार इसके अनुरूप हैं। आश्विन मासकी प्रतिपदासे कुँवारी कन्याए साँझीका व्रत आरम्भ करती है। दीवारपर गोबरसे आकृतियाँ उकेरकर उन्हें फूलकी पखुडियों और अन्य प्राकृतिक उपादानोंसे सजाती है। इन्हीं आकृतियोंके सम्मुख साँझीके गीत मिलकर गाये जाते हैं। साँझीका आकृतिपक्ष आनुष्ठानिक महत्त्व रखता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे ब्रह्माकी कन्या सन्ध्याका साँझीसे किसी तरह भी सम्बन्ध नहीं है। गीतोंके आधारपर साँझीका पीहर साँगानेरमें था और उसका विवाह अजमेरमें हुआ था। साँगानेरके कल्याणजी उसे विवाहके पश्चात् ससुराल ले जानेका आग्रह करते हैं। व्रजके गीतोंमें 'सजलदे' नाम प्रचलित है। यह बात पुष्ट आधारोंसे प्रकट है कि साँझीका राजस्थानसे मूल सम्बन्ध रहा है। मालवाके गीतोंमें साँझीके भाई सूरजनारायण बताये गये हैं। वह भरे-पूरे परिवारकी लाडली कन्या थी, दीवारपर बनायी जानेवाली साँझी उसकी प्रतीकवत् आकृति है। यह क्रम सोलह दिनतक चलता है। अन्तिम दिन साँझी सिरायी जाती है और विदाके गीतोंसे कन्याएँ अपनी-अपनी साँझीको ससुराल भेजती है। साँझीके गीतोंमें सामूहिक लय, लघु चरण एव द्रुत गति, सवादात्मकता तथा लघु कथासूत्र समाविष्ट हैं। गीतोंका मूल स्वभाव कुतूहल, विनोद और बाल-प्रवृत्तियोंसे प्रभावित है। —श्या० प०

सांस्कृतिक चक्रवाद (cyclic theory of culture)–ऐतिहासिक सास्कृतिक विकासके दिशा निर्देशके प्रयत्नोंके दो रूप देखनेको मिलते हैं—रेखावाद और चक्रवाद। रेखावाद मानवजातिकी एक नियत गन्तव्यकी प्राप्तिकी चेष्टामें उत्तरोत्तर सफलताकी कल्पना करता है। चक्रवादके अनुसार मानवता एक ही अथवा समान अवस्था अथवा अवस्थाओंको पुन पुन प्राप्त हुआ करती है। एक वैदिक ऋचामें इस बातकी ओर सकेत है कि वर्तमान सृष्टि पूर्वसृष्टियोंके अनुरूप है। हिन्दुओंके युगचक्र प्रसिद्ध ही हैं। इससे मिलती-जुलती कल्पनाएँ अनेक अन्य प्राचीन सस्कृतियोंमें भी पायी जाती है। जर्मन इतिहास-दार्शनिक ओस्वाल्डस्पेंग्लर(१८८०-१९३६)के अनुसार प्रत्येक सस्कृति एक सजीव प्राणीके समान जन्म लेती, बढती, परिपक्व होती और मृत्युको प्राप्त होती है। उसके बाद एक नयी सस्कृतिका उदय होता है और वह भी उसी मार्गका अनुसरण करती है। अमेरिका-प्रवासी रूसी इतिहास-दार्शनिक पितिरिम ए० सोरोकिनके अनुसार मानवसमाजमें प्रत्यक्षवाद, परोक्षवाद और अध्यात्मवाद, इन तीन

महासस्थानों तथा तदनुसार सास्कृतिक विशेषताओंका चक्र चला करता है।

स्पेंग्लर जैसे चक्रवादी विकास-चक्रको पूर्ण और सोरोकिन जैसे अपूर्ण माननेके पक्षमें है। पूर्वके अनुसार सभी विकास-चक्र पूर्ण सादृश्य रखते हैं, जब कि अपरके अनुसार आंशिकमात्र। स्पेंग्लर कहता है कि यूनानी-रोमीय सभ्यता जिन सोपानों अथवा अवस्थाओंसे पार हुई है उन्हींसे प्रत्येक सभ्यताको पार होना पड़ता है, जब कि सोरोकिनके अनुसार केवल मुख्य सोपानों अथवा अवस्थाओंमें ही सादृश्य आवश्यक है।

विकास-क्षेत्रकी व्यापकता अथवा विकास धाराओंकी सख्याकी दृष्टिसे चक्रवादके दो रूप हो जाते हैं—एक-चक्रवाद और बहुचक्रवाद। एकचक्रवादके अनुसार सम्पूर्ण मानव-जातिमें एक ही विकास-चक्र प्रवर्तित है। शायद अफलातूनके चक्रवादको छोड़कर प्राय अन्य समस्त प्राचीन चक्रवादी धारणाएँ इसी कोटिमें आती हैं। बहुचक्रवादके अनुसार मानव-जाति वस्तुत एक जाति न होकर अनेक जातियों, संस्कृतियों अथवा सभ्यताओंका एक महासघ है। समूची मानवताका कोई एक विकास मार्ग नहीं है। आधुनिक चक्रवादी प्राय बहुचक्रवादी ही हैं। —ह० ना०

साकांक्ष–दे०—'अर्थ-दोष', बारहवाँ।

साकांक्षता–रूपगोस्वामीने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में कहा है कि अंग-प्रत्यगका यथोचित सन्निवेश ही सौन्दर्य है (भवेत्सौन्दर्यमगाना सन्निवेशो यथोचितम्)। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रमें प्रयुक्त समता, सगति, सामजस्य, सन्तुलन, समानुपात आदि शब्द सन्निवेशकी कल्पनाको ही विविध प्रकारसे ध्वनित करते हैं। हरिद्वारीलाल शर्माने अपने सौन्दर्यशास्त्रमें इसी समानुपातके बदले सापेक्षता तथा साकाक्षता शब्द प्रयुक्त किये हैं। आकाक्षाका अर्थ है अपेक्षा, अत साकाक्षताका अर्थ हुआ सापेक्षता।

साकाक्षतासे तात्पर्य है किसी वस्तुके अवयवोंका परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध होना कि प्रत्येक एक 'समग्र' रूपमें अपना उचित स्थान प्राप्त कर ले। आप ऐसा व्यक्ति देखते हैं जिसके दाँत मुँहसे एक-एक अगुल बाहर निकले हुए हैं, नाक अत्यन्त चपटी-मानो है ही नहीं, एक आँख बहुत बड़ी और दूसरी बहुत छोटी, पीठपर आठ कूबड इत्यादि। ऐसा अष्टावक्र किसीको भी सुन्दर अथवा सुरूप नहीं लगेगा, क्योंकि उसके अंग प्रत्यंग परस्पर निराकाक्ष, निरपेक्ष हैं। प्रत्येकका रूप अन्योंके रूपोंके साथ समग्रीभूत, समन्वित एव सुग्रथित हो एक रूपवान् अग-यष्टिकी उद्भावना नहीं करता। अवयवोंके समुच्चय मात्रसे सुरूपताकी सृष्टि नहीं हो जाती। इसी प्रकार ध्वनियोंके ग्राममात्रको हम सगीत नहीं कह सकते। सगीतको सम्भव करनेके लिए ध्वनियोंको अपना पृथक्त्व, अपनी निरपेक्षता, खोकर एक नियमसे समन्वित होना पडेगा, परस्पर सापेक्ष अथवा साकाक्ष बनना होगा। इसी प्रकार शब्दोंके समूहमात्रको नहीं बल्कि उनके एक नियमसे उपेक्षतापादनको ही कविता कह सकते हैं। —ह० ना०

साकी–इसका अर्थ शराब पिलानेवाली या पिलानेवाला है। सूफी काव्यमें इस शब्दका प्रयोग भी कई अर्थोंमें किया गया है। मुर्शिद(गुरु)के लिए इसका प्रयोग मिलता है। इसका प्रयोग सत्यके लिए भी किया गया है। यहाँ 'सत्य'से मतलब परम सत्य(परमात्मा)से है। यह 'सत्य' ऐसा है जो अपनेको सभी व्यक्त रूपोंमें अभिव्यक्त करना पसन्द करता है। —रा० पृ० सि०

सागा–दे०—'कथाकाव्य'।

सात्वती वृत्ति–दे०—'नाट्यवृत्ति', दूसरी।

सात्त्विक अनुभाव–भरत(३, ४ श० ई०)ने सचारी भावोंके बाद इनका विवेचन भी किया है। इनके अनुसार ये अनुभाव 'सात्त्विक' इस कारण हैं कि इनका अभिनय विशेष मनोवेगसे ही सम्भव है और चित्त-विक्षेपके साथ कोई व्यक्ति इनका अभिनय नहीं कर सकता (ना०शा० ६ ९३)। अन्त करणके विशेष धर्म 'सत्त्व'से उत्पन्न ऐसे अग-विकारको सात्त्विक अनुभाव कहते हैं, जिससे हृदयगत रस या भावका पता चलता है। सत्त्वको मन प्रभव कहा जाता है। 'साहित्यदर्पण'(१४ श० ई०)के अनुसार सत्त्व 'स्वात्मविश्राम' अर्थात् रसको प्रकाशित करनेवाला आन्तर धर्म है। इससे सम्बन्ध रखनेके कारण ही इन अनुभावोंको सात्त्विक भाव भी कह दिया जाता है (३ १३३, ३४)। वस्तुत ये रसके प्रकाशकके रूपमें अनुभावमात्र ही हैं, केवल 'गोवलीवर्दन्याय'से इनका पृथक् वर्णन किया जाता है। व्यभिचारी भावों तथा इन अनुभावोंमें हेमचन्द्र(१२ श० ई०)ने केवल यही अन्तर स्वीकार किया है कि व्यभिचारियोंमें ग्लानि, आलस्य तथा श्रम जैसे कुछ बाह्य कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले भाव भी हैं, किन्तु सात्त्विक अनुभाव, जिन्हें सात्त्विक भाव भी कहा जाता है, इसीलिए उनसे पृथक् हैं कि वे पूर्णतया मानस-जन्य हैं। हेमचन्द्रके अनुसार 'सत्त्व'का अर्थ है 'प्राण'। स्थायी भाव ही प्राणतक पहुँचकर सात्त्विकका रूप धारण कर लेते हैं। प्राणमें पृथ्वीका भाव प्रधान हो जानेपर स्तम्भ, जलप्रधान हो जानेपर अश्रु, तेजकी प्रधानता होनेपर स्वेद, तेजके तीव्रता-शून्य होकर प्रधान होनेपर वैवर्ण्य, आकाशका भाग प्रधान होनेपर प्रलय, वायुके मन्द, मध्य तथा उत्कृष्ट आवेशसे रोमाच, कम्प तथा स्वरभग होता है। शरीर-धर्म बाह्य स्तम्भादि ही इन आन्तरिक स्तम्भादिकी व्यजना करते हैं।

हिन्दीके रीतिकालमें प्राय सस्कृतके आधारपर इनका लक्षण प्रस्तुत किया गया है। अनेक बार ये स्पष्ट भी नहीं हैं और अधिकाशने सख्या गिनकर उनके अलग लक्षण दिये हैं। आधुनिक विज्ञानके प्रकाशमें गुलाब राय(२० श० ई०)ने रुधिरकी गति तथा स्नायविक शक्तियोंके एक स्थान-विशेषपर केन्द्रित हो जानेसे स्तम्भ, स्नायविक उत्तेजनाके कारण स्वेद ग्रथियाँ फैल जानेसे स्वेद, स्नायविक उत्तेजनासे रुधिरकी तीव्र गतिके कारण रोमाच, मनोवेगोंके कारण रक्त-प्रवाह तथा श्वासक्रियामें अन्तर पडनेपर स्वर-तन्तुओंके खिंचावके कारण स्वर-भग, मास पेशियोंकी शिथिलताके कारण कम्प, स्नायुओंकी उत्तेजनाके कारण रक्त-प्रवाहकी मात्रामें न्यूनाधिक्यसे वैवर्ण्य, उत्तेजनाके कारण मस्तिष्ककी क्रियामें अन्तर पड़ जानेसे प्रलय आदिका जन्म बताया है (दे०—'नवरस')। स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय नामसे इनके आठ भेद हैं।

भानुदत्त (१३ श० ई०)ने 'रसतरंगिणी'में 'जम्भा' नामक एक अन्य भेदका भी वर्णन किया है। हिन्दीमें भी देव, पद्माकर आदिने इसे स्वीकार किया है। हिन्दी कवियोंमें भक्तिकालमें कृष्णभक्त कवियों तथा तुलसीने, रीतिकालमें विशेषत बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर तथा घनानन्दने एवं आधुनिक कालमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सत्यनारायण कविरत्न, जगन्नाथ दास रत्नाकर, मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पन्त आदिने इनका विशेष निर्वाह किया है।

१ स्तम्भ—हर्ष, भय, रोग, विस्मय, विषाद, लज्जा, मादकता तथा रोष आदिसे शरीरांगोंका अकस्मात् सचालन रुक जाना 'स्तम्भ' सात्त्विक कहलाता है (भरत नाट्यशा० ६ ९६)। विश्वनाथके अनुसार—'स्तम्भश्चेष्टा प्रतीघातो भयहर्षामयादिभि'(सा० द० ३ १३६)में यही भाव है। हिन्दीके आचार्योंने भी इसीको स्वीकार किया है—'लज्जा हर्षादिकनतें अचल होत जहँ अग' (ल० ल० ३१५)। देवने 'रिस विस्मय भय राग सुख दुखतें होय, गति निरोध जो गातमें' (भा०वि० सात्त्विक०) माना है, जो अधिक व्यापक लक्षण है। पद्माकरकी इस पक्तिमें इस अनुभावकी सुघर व्यंजना हुई है—'जैसीकी तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि रगसों बोरी। गोरिनके रँग भीजिगो साँवरो साँवरेके रँग भीजी सुगोरी।' (जगद्वि० ३९७)। देवके इस अकनमें 'स्तम्भ'का चित्र है—'मोहि कटाछनु मोहि चितौति चितौनहिं मोहन मोहि लयी है। व्याध हनी हरिनी लों वधू वह वा घर लौं मिहरात गयी है।' (भा०वि० सात्त्विक०)

२ स्वेद—क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दु ख, श्रम, रोग, ताप, चोट, क्लान्ति, समाचार आदिसे उत्पन्न पसीनेको स्वेद सात्त्विक अनुभाव कहते हैं (भरत ना०शा० ६ ९५)। विश्वनाथने सक्षेपमें कहा है—'वपुर्जलोद्गम स्वेदो रतिधर्मश्रमादिभि।' (सा० द० ३ १३७)। इसी भावको लेकर हिन्दीके आचार्योंने लक्षण दिया है—'क्रोध हर्ष सन्ताप श्रम घातादिक भय लाज। इनतें सजल शरीर सो स्वेद कहत कविराज।' (देव भा०वि० सात्त्विक०)। मतिराम पद्माकर आदिके लक्षण समान हैं। तुलसीका निम्नलिखित सवैया इसका उत्कृष्ट उदाहरण है—'पुरतें निकसी रघुबीर वधू धरि धीर दये मगमें डग द्वै। झलकीं भरि भाल कनीं जलकीं अरु सूखि गये मधुराधर वै। फिरि बूझति हैं चलनो अब केतिक पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै। तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।' (कविता० २)। बिहारीका निम्नलिखित दोहा भी बड़ा रजक है—'रहौ गुही बेनी लख्यौ गुहिबे कैं त्यौनार। लागे नीर चुवान जे नीठि सुखाये बार।' (रत्नाकर ४८०)।

३ रोमाच—स्पर्श, श्रम, शीत, हर्ष, क्रोध, रोग तथा भय आदिके कारण शरीरके रोंगटे खड़े हो जाना रोमाच सात्त्विक कहलाता है (भरत ना०शा० ६ ९८)। विश्वनाथके अनुसार—'हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाचो रोमविक्रिया।' (सा० द० ३ १३७), हर्ष, आश्चर्य तथा भय आदिसे रोयोंका खड़ा हो जाना। मतिरामने 'हरष भयादि तें' (ल० ल० ३२१), देवने 'आलिंगन भय हर्ष अरु सीत कोपतें' (भा०वि० सात्त्विक०) रोमाच माना है। अन्योंके लक्षण इसी प्रकार हैं। नन्दराम इसे 'पुलकता' कहते हैं। पद्माकर स्नान करती हुई नायिकाके रोमाचका वर्णन करते हैं—'पुलकित गात अन्हाय यों अरी खरी छवि देत। उठे अंकुरे प्रेमके मनहु हेमके खेत।' (जगद्वि० ४०४)। आधुनिक कवि सुमित्रानन्दन पन्तकी पक्तियोंमें इसका चित्रण है—'अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात, विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात। सशकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप, जड़ित पद नमित पलक दृगपात।'

४ स्वरभग—भय, हर्ष, क्रोध, मद, वृद्धावस्था और रोगादिके कारण स्वरका गद्गद हो जाना स्वरभंग कहलाता है (भरत ना०शा० ६ ९९)। विश्वनाथके अनुसार—'मदसम्मदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गद विदुः' (सा० द० ३ १३८), मद, उद्वेग, पीड़ा आदिसे वाणीका गद्गद हो जाना वैश्वर्य है। हिन्दीमें इसीका अनुसरण हुआ है—'मोह कोह भय आदितें' (मतिराम ल० ल० ३३०) तथा 'हरष भीत मद क्रोधतें' (पद्माकर जगद्वि० ४०५), वचनोंका और प्रकारका हो जाना कहा गया है। देवने अवश्य 'निकसे गदगद बानि' माना है (भा०वि० सात्त्विक०)। देवकी नायिका कुछ कह सकनेमें असमर्थ है—'अँसुवा ठहरात गरौ घहरात मरूकरि आधिक बात कही'(भा०वि० सात्त्विक०)। रत्नाकर अनुभावोंकी योजनामें अधिक सफल हुए हैं—'गहवरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यों, प्रेम परयौ चपल चुचाइ पुतरीनसौं। नैकु कही बैननि अनेक कही नैननि सौं, रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनसौं।' (उ०श०)।

५ वेपथु अथवा कंप—शीत, भय, क्रोध, श्रम, हर्ष, स्पर्श तथा वृद्धावस्थाके कारण शरीरका काँपने लगना 'वेपथु' सात्त्विक कहलाता है (भरत ना० शा० ६ ९८)। विश्वनाथके अनुसार—'रागद्वेषश्रमादिभ्य॰ कम्पो गात्रस्य वेपथु' (सा० द० ३ १३८)। रागद्वेष तथा श्रम आदिसे शरीरमें कम्प होना। हिन्दीके आचार्योंने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—'क्रोध हर्ष भय आदितें थरथराति जो देह' (मतिराम ल० ल० ३२७)। मैथिलीशरण गुप्तने उर्मिलाके द्वारा चित्राकनके समय निम्नलिखित पंक्तियोंमें कम्प तथा स्वेद सात्त्विकोंका निर्वाह किया है—'अवयवोंकी गठन दिखलाकर नयी, अमल जलपर कमल-से फूले कई। साथ ही सात्त्विक-सुमन खिलने लगे, लेखिकाके हाथ कुछ हिलने लगे। झलक आया स्वेद भी मकरन्द-सा, पूर्ण भी पाटव हुआ कुछ मन्द सा।' (साकेत १)।

६ वैवर्ण्य—शीत, क्रोध, भय, हर्ष, विषाद, मोह, लज्जा तथा रोग आदिके कारण मुँहका रग उड़ जाना 'वैवर्ण्य' सात्त्विक कहा जाता है (भरत ना०शा० ६ ९६)। विश्वनाथ सक्षेपमें लक्षण देते हैं—'विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्व विवर्णता' (सा० द० ३ १३९), विषाद, मद, रोष आदिसे 'रगका बदल जाना'। हिन्दीके आचार्योंने इन्हींका अनुकरण किया है—'मोह कोह भय आदित वर्ण और विधि होय' (ल० ल० ३३०)। देव इनके साथ 'लाज सीत अरु घाम'से भी 'मुख दुति और देखिये' (भा०वि० सात्त्विक०) कहते हैं। देवने उदाहरण दिया है—'आलिनको मुख देखत हीं मुख भावतीको भयो भोरको

चन्द्र सौं' (वही) तथा अयोध्यासिंह उपाध्यायके 'प्रिय-प्रवास'का यह चित्र है–'नव उमगमयी सब बालिका, मलिन और सशंकित हो गयीं। अति प्रफुल्लित बालक-वृन्दका, वदन मण्डल भी कुम्हला गया।'

७ अश्रु—आनन्द, अमर्ष, धूम, भय, शोक अथवा अनिमेष देखनेसे आनेवाले आँसुओंको ही अश्रु सात्त्विक कहते हैं (भरत ना०शा० ६ ९७)। विश्वनाथके अनुसार 'अश्रु नेत्रोद्भव वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम्' (सा० द० ३ १३९), क्रोध, दुःख तथा हर्ष आदिके कारण नेत्रोंसे उत्पन्न जल। देवने भरतके समान लक्षण दिया है—'विपुल विलोकन धूम भय हर्ष अमर्ष विषाद। नैनन नीर निहारिये' (भा०वि० सात्त्विक०)। अन्योंने कुछ कम या अधिक इन्हीं बातोंका उल्लेख किया है। अश्रु सौन्दर्यका विवर्धक होकर भी आया करता है। सुन्दरीके आँसुओंमें ही बहुतेरोंको सुन्दरता दीख पड़ी है। देवका यह प्रसिद्ध चित्र इसका सुन्दर उदाहरण है—'बडे बडे नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि, गोरो गोरो मुख आज ओरोसो बिलानो जात।' और पद्माकरका उदाहरण व्यंजक है—'उमडि उमडि वहै बरसै सु आँखिन है, घटमें बसी जो घटा पीत पटवारेकी' (जगद्वि० ४१५)।

८ प्रलय—श्रम, मूर्च्छा, भय, निद्रा, हर्ष, अभिघात और मोहके कारण उत्पन्न निश्चेष्टता, निष्कम्पता तथा श्वासावरोध आदिसे युक्त अवस्थाको प्रलय सात्त्विक कहते हैं (भरत ना० शा० ६ ९९)। विश्वनाथने केवल 'सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृति' (सा० द० ३ १३०), अर्थात् सुख तथा दुःखमे निश्चेष्ट तथा नष्टज्ञानहीन हो जाना माना है। मतिराम तथा देव आदिने 'ईहा' अर्थात् चेष्टाके सम्पूर्ण 'निरोध' तथा 'गात'के 'अचलगति' होनेसे 'प्रलय' माना है और इसके कारणरूपमें 'हर्ष, दुःख, भय' मतिरामने (ल० ल० ३३९) और 'प्रिय दर्शन सुमिरन श्रवन' (भा०वि० सात्त्विक०) देवने माना है। नन्दरामने इसे लीनता कहा है। प्रलय तथा स्तम्भमें यही अन्तर है कि स्तम्भमें प्राणोंकी सत्ता और उसकी चेतना बनी रहती है, किन्तु प्रलयमें प्राणहीनता दीख पडती है। स्तम्भ चेतना रहनेपर भी अचेतनवत स्थितिका नाम है, जड़ता सुख-दुःखादिके अविवेककी स्थिति है और प्रलय चेतनाहीन चेष्टा-निरोध है। प्रलयको नाटकमें अप्रदर्शनीय मानकर कुछ आचार्य उसके स्थानपर मूर्च्छाको रखना उचित मानते हैं। प्रलयका उदाहरण मतिरामका चित्रमय है—'चन्द्रमुखी न हलै न चलै निरवात निवासमें दीप सिखा सी' (ल० ल० ३३७)। देवका उदाहरण भी नायिकाकी भावस्थितिका अंकन करता है—'देव सुठौर ही ठाडी चितौति लिखी मनु चित्र विचित्र चितेरे' (भा०वि० सात्त्विक०)।

९ जृम्भा—'रसतरंगिणी'के लेखक भानुदत्तने संस्कृत आचार्योंमें पहली बार 'जृम्भा' नामक एक नवीन सात्त्विकका उल्लेख किया है। रूप गोस्वामीने अनुभावोंके क्रमशः अलंकार, उद्भास्वर तथा वाचिक नामसे भेद प्रस्तुत करते हुए इसका उल्लेख उद्भास्वर अनुभावोंके अन्तर्गत किया है। हिन्दीमें मतिराम, देव, पद्माकर आदि कई प्रमुख आचार्योंने इसे सात्त्विक स्वीकार किया है। मतिराम और देवने इसका कारण 'उपजै आलस आदिते' (ल० ल० ३३९) कहा है। पद्माकरने 'प्रिय बिछोह सम्मोह के आलस ही अवगाहि' (जगद्वि० ४२०) माना है। इसका विरोध दो कारणोंसे किया जा सकता है—१ यह कारणके साथ ही अन्य सात्त्विकोंके समान प्रकट नहीं होता, २. सात्त्विकोंको व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक दबा नहीं सकता, किन्तु जृम्भाको दबाया जा सकता है। इसे प्रायः केवल आलस्यसे उत्पन्न माना गया है, किन्तु वियोग, मोह तथा भयके कारण भी जब मुँह खोलकर श्वास-निःश्वास लिया जाता है, तब भी 'जृम्भा' सात्त्विक माना जाता है। पद्माकरकी पंक्तियोंमें 'जृम्भा'का उदाहरण है—'आरससौं रमसौं पद्माकर चौंकि परे चख चुम्बनके किये। रातिकी जागी प्रभात उठी अँगिरात जम्हात लजात लगी हिये।' (वही ४२१)।

—आ० प्र० दी०

सात्त्विक अलंकार—भरत(३-४ श० ई०)ने 'नाट्य-शास्त्र'में २० सात्त्विक अलंकारोंकी चर्चा की है। नायिकाके इन अलंकारोंका विभाजन अंगज, भाव, हाव, हेला, अयत्नज, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य तथा धैर्य, स्वभावज, लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित तथा विहृतमें किया गया है। धनंजयके 'दशरूपक'(१० श० ई०)में 'नाट्यशास्त्र'के विभाजनको यथावत् स्वीकार कर लिया गया है। भोजने सात अयत्नज अलंकारोंको छोड़ दिया है, तीन अंगजोंमेंसे दोको स्वीकार किया है और उन्हें स्त्री पुरुष, दोनोंमें समान रूपसे माना है, दस स्वाभावजोंमें क्रीडित तथा केलिको जोडा गया है। हेमचन्द्र, रामचन्द्र गुणचन्द्र, शारदातनयने 'नाट्यशास्त्र'के विभाजनको माना है। शारदातनयने इन सबको सात्त्विक कहनेमें आपत्ति की है। इनके अनुसार तीन अंगज और सात अयत्नज ही केवल मानस अथवा सात्त्विक कहे जा सकते हैं और दस स्वभावजोंको शरीर कहना उचित है। इन्होंने क्रीडित तथा केलिका उल्लेख भी किया है। भानुदत्तने भरतके केवल दस स्वभावज अलंकारोंको 'हाव'के नामसे ग्रहण किया है और इनके तीन विभाजन किये हैं, शारीर—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम तथा ललित, आन्तर (मानसिक)–मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक तथा विहृत, उभय (सकीर्ण)–किलकिंचित्। विद्यानाथने सभी अलंकारोंको शृंगारचेष्टा कहा है, इनका विभाजन न करके कुतूहल, चकित, हासको जोड़ा है तथा शोभा, कान्ति, दीप्ति, औदार्य तथा प्रगल्भताको अस्वीकार किया है। शिंगभूपालने शारदातनयके अनुसार बीस अलंकारोंको चित्तज तथा गात्रजमें विभाजित किया है। विश्वनाथने 'नाट्यशास्त्र'की संख्या तथा विभाजनको स्वीकार करके भी स्वभावजमें आठ और जोड़े हैं–मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इनमेसे चार केलि (भोज द्वारा), कुतूहल, चकित, हास(विद्यानाथ द्वारा)-का उल्लेख हो चुका है। रूपगोस्वामीने भरतके क्रमको स्वीकार किया है, केवल विहृतके स्थानपर विकृतको किंचित भिन्न परिभाषाके साथ लिया है और मौग्ध्य तथा चकितका उल्लेखमात्र किया है। केशव मिश्रने 'हाव'के रूपमें केवल

१६ का उल्लेख किया है जो विश्वनाथसे लिये गये हैं और 'विहृत'के स्थानपर 'विकृत' रूप गोस्वामीसे लिया है।

इन अनुभाव अलकारोंको स्त्रियोंकी भावाभिव्यक्तिमे सम्बद्ध माना गया है। पर कुछ आचार्योंने कुछ अलकारोंको पुरुषोंसे भी सम्बद्ध माना है। भोजने 'हेला' और 'हाव'को दोनोंमें स्वीकार किया है, भानुदत्तके अनुसार विब्बोक, विलास, विच्छित्ति तथा विभ्रम पुरुषोंके भी अलकार माने जा सकते हैं, विश्वनाथके अनुसार अगज तथा अयत्नज, दोनोंमें समान रूपमे होते हैं और हेमचन्द्रके अनुसार बीसों अलकार स्त्री-पुरुष, दोनोंके हो सकते है।

हिन्दीमें प्राय इनको 'हाव'की सज्ञा दी गयी है। नन्ददासने 'रासमजरी'(१५६६ ई०)में केवल तीन अगज अलकारोंपर विचार किया है और उसमें चौथा (रतिको) जोडा है, पर अन्य किसीने बादमें इसे स्वीकार नहीं किया। केशवने 'रसिकप्रिया'(१५९२ ई०)में 'हाव'के अन्तर्गत १० स्वभावज अलकारोंके साथ तीन—हेला, मद, बोधको और माना है। इन १३ हावोंको नायक-नायिका, दोनोंके अलंकार कहा गया है और उनके उदाहरण भी दिये गये हैं। भानुदत्तके द्वारा उल्लिखित केवल १० स्वभावज अलकारोंको हिन्दीमें जसवन्त सिंह, मतिराम, देव, ब्रह्मदत्त, वेनी प्रबीनने स्वीकार किया है। विहारीलाल भट्टने इनको बहिरग और अन्तरगमें विभाजित किया है। इनके अनुसार विच्छित्ति, ललित, विभ्रम और लीला बहिरग हैं और शेष अन्तरग। हावोंका सख्या विस्तार करनेमें इन लेखकोंने सहयोग दिया है, प्रतापनारायण सिंह तथा गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीने केवल हेलाको और माना है। पद्माकर, स्कन्द गिरि, नन्दराम, दौलतराम और भानुने बोधकको भी सम्मिलित किया है। लछिराम तथा बाबूराम वित्तरियाने उपर्युक्त दोनोंके साथ मद और आहार्यको भी माना है। सुन्दरने हाव, हेला, मद, तपन, मौग्ध्य और विक्षेपको लेकर सख्या १६ मानी है। भावोंको स्वतन्त्र माना है। तोपने विश्वनाथके १८ स्वभावज अल्कारोंमेंसे कुतूहल-को हटाकर बोधक, उद्दीपन तथा हेलाको जोड २० सख्या पूरी की है। इनके अतिरिक्त उदारता, माधुर्य, प्रगल्भता और धीरताको नायिकाके चार भूषण और माने हैं। ये भरत आदि-के अयत्नज अलकार ही है। दास(र० सा०)ने भी संख्या २० ही दी है, विश्वनाथके १८ स्वभावज अलकारोंमेंसे मौग्ध्यको निकालकर बोधक, उद्दीपन तथा हेलाको जोड़ा है। कुमारमणि, श्यामसुन्दर दास, कन्हैयालाल पोद्दारने विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत १८ अलकारोंको स्वीकार किया है। हरिऔधने बोधक और रसलीनने बोधक और उद्दीपक विश्वनाथके स्वभावजोंमें जोड़ दिये हैं और रसलीनने मनोभवको अंगजोंमें कम कर दिया है। सब मिलाकर हिन्दीके आचार्योंने रति, बोधक, उद्दीपक तथा अहर्य (आहार्य) चार हाव विकसित किये है। उपर्युक्त लेखकोंकी तत्सम्बन्धी कृतियों तथा उनके कालक्रमके लिए देखिये—'नायक नायिकाभेद' (शास्त्र)।

इन अलकारोंका कई नामोंसे विवेचन किया गया है। भोजने इनकी चर्चा 'वरस्त्रीणा विलासा'के रूपमें की है, अर्थात वे इन्हे 'विलास' मानते है। भानुदत्तने 'हाव'के रूपमें स्वीकार किया है और वस्तुत हिन्दीमें इसका प्रचलन इन्हींके प्रभावसे माना जा सकता है। विश्वनाथने 'शृंगार-चेष्टाएँ' माना है। शिंगभूपालने 'भाव' कहा है। केशव मिश्रने भी 'हाव' संज्ञा दी है। हिन्दीमें प्राय सर्वस्वीकृत शब्द 'हाव' रहा है। कुमारमणिने 'भाव' नाम दिया है तथा कुछ आधुनिक विवेचकोंने संस्कृतके आधारपर 'अलंकार' ही कहा है। वस्तुत 'अलकार'का सामान्य अर्थ यही है कि नायिकाके सौन्दर्यको बढानेवाले भूषण, और यहाँ सौन्दर्य रूपात्मक और भावात्मक, दोनों अर्थोंमें समझना चाहिये। इसी प्रकार 'हाव'का अर्थ 'शृंगारचेष्टा' है अर्थात नायिकाकी स्वभावज अथवा अयत्नज सुन्दर भगिमाएँ, जो नायकके प्रेमको उद्दीप्त करनेके लिए होती हैं। उपर्युक्त सम्पूर्ण अलकारों तथा हावोंको चार भागोंमें विभाजित किया जा सकता है—१ शारीर अलकार जो रूपात्मक सौन्दर्यका सकेत देते हैं, शोभा, कान्ति, दीप्ति तथा माधुर्य। २ मानस अलकारसे चरित्रसौन्दर्यकी व्यजना होती है, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य। ३ स्वभावज हावके अन्तर्गत नायिकाकी स्वाभाविक चेष्टाएँ आती है, लीला, विच्छित्ति, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, मौग्ध्य, विक्षेप और व्याजप्रदर्शन। ४ अयत्नज हाव नायिकाकी सहज चेष्टाओं-को कह सकते हैं, हेला, विलास, विभ्रम, किलकिंचित, विहृत, हसित और चकित। आचार्यो द्वारा उल्लिखित भाव, मोट्टायित, मदन, तपन, कुतूहल, क्रीडित, रति, बोध, उद्दीपन नामक अलकारों तथा हावोंको उपर्युक्त विभाजनके अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये न नायिकाके रूप अथवा चरित्रके गुण हैं और न नायिका विषयक चेष्टाएँ ही।

इन 'अलकारों' तथा 'हावों'को अनुभावोंके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, परन्तु आलम्बन-रूपमें नायिकाके सम्बन्धमें इन्हें उद्दीपन-विभाव ही कहा जा सकता है। परन्तु हाव नायकको आकर्षित करनेके साथ ही नायिकाके मनोभावको व्यक्त भी करते हैं, अतएव इन्हें उद्दीपन-विभाव तथा अनुभाव, दोनों माना जा सकता है। जब नायिका आलम्बन-विभाव होगी तब उसके 'हाव' उद्दीपन-विभाव होंगे और जब नायक आलम्बन-विभाव होगा तब ये नायिकाके अनुभाव कहे जायँगे।

हिन्दीमें विद्यापति, अष्टछापके कवि, रीतिकालीन कवि तथा आचार्य देव, बिहारी, मतिराम, घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि तथा आधुनिक कालमें हरिश्चन्द्रतक इनका विशेष निर्वाह हुआ है। किन्तु इधर मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद' तथा पन्त आदिमें इनमेंसे अगज और अयत्नज अलकारोंका निर्वाह दिखाई देता है। अब इस ओर कवियोंकी प्रवृत्ति नहीं है, विशेषकर मुक्तकोंमें इनकी योजना नहीं की जाती। —रा० गु०

सात्त्विक गुण (नायक)—नायकके इन गुणोंकी चर्चा भरतने की है। परन्तु इन गुणोंका सम्बन्ध नाटकके नायक-से है, शृंगार रसके आलम्बन रूप नायकसे नहीं। संस्कृत काव्यशास्त्रमें इन गुणोंकी चर्चा की गयी है, पर हिन्दी आचार्योंने इनपर विचार नहीं किया है, केवल आधुनिक आचार्योंमें श्यामसुन्दर दास तथा हरिऔधने इनका उल्लेख

किया है। इसका प्रमुख कारण यही है कि इन गुणोंका विशेष सम्बन्ध नाटकके पात्रसे है और हिन्दीमें नाट्यशास्त्रका अभाव रहा है। ये गुण प्रारम्भसे ही आठ स्वीकृत रहे हैं और इनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। धनंजयके अनुसार ये गुण इस प्रकार हैं—'शोभाविलासमाधुर्यगाम्भीर्यधैर्यतेजसी। ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः।' (द० रू०, २ १०)।

शोभा—धनंजयके अनुसार—'नीचे घृणाऽधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते।' अर्थात् शोभा गुणमें नीचके प्रति घृणा, अपनेसे बड़ोंकी दक्षता तथा वीरताके प्रति स्पर्धाका भाव रहता है। **विलास**—धनंजयके अनुसार—'गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः।' (द० रू० २ ११), अर्थात् विलास गुणमें दृढ गति, निश्चयकी दृष्टि तथा सहास कथन रहता है। **माधुर्य**—धनंजयके अनुसार—'श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं संक्षोभे सुमहत्यपि।' (द०रू० २ १२), अर्थात् अत्यधिक संक्षोभके अवसरपर भी, माधुर्य गुणके अन्तर्गत, मुद्रामें हल्का तथा कोमल परिवर्तन उपस्थित होता है। **गाम्भीर्य**—धनंजयके अनुसार—'गाम्भीर्यं यत्प्रभावेण विकारो नोपलक्ष्यते।' (द० रू० २ १२), अर्थात् इस गुणके अन्तर्गत भारी संक्षोभके क्षणोंमें भी मुद्रामें किंचित् विकार नहीं जान पड़ता। **स्थैर्य**—धनंजयके अनुसार—'व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि।' (द० रू० २ १३), अर्थात् अनेक विघ्नोंके आनेपर भी कार्यसे विचलित न होना स्थैर्य गुण है। **तेज**—धनंजयके अनुसार—'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि।' (द० रू० . २ १३), इस गुणसे युक्त व्यक्ति प्राणोंको छोड़कर भी अपना अपमान नहीं होने देता। **ललित**—धनंजयके अनुसार—'शृंगाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु।' (द० रू० . २ १४), अर्थात् इस गुणमें शृंगारके अनुरूप आकारकी अभिव्यक्ति ललित तथा कोमल होती है। **औदार्य**—धनंजयके अनुसार—'प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः।' (द० रू० २ १४), अर्थात् औदार्य गुणमें व्यक्ति प्रिय वचनोंसे जीवनतक देनेके लिए तत्पर हो जाता है और सज्जनोंकी सहायता करता है।

इन गुणोंको हिन्दीके कथाकाव्योंके नायकोंमें देखा जा सकता है। 'रामचरितमानस'के राममें इन समस्त गुणोंका संयोग है। प्रेम-काव्यके नायकोंमें इन गुणोंमेंसे अधिकांश मिलते हैं। आधुनिक महाकाव्योंमें पुनः इन नायकके गुणोंको देखा जा सकता है, 'प्रियप्रवास', 'साकेत' तथा 'कुरुक्षेत्र' आदिमें। परन्तु आधुनिक युगमें नायककी सारी कल्पना मध्ययुगीन भावनासे नितान्त भिन्न हो चुकी है, अतएव नाटकोंमें उस प्रकारके न नायक हैं और न इस प्रकार उनके गुण ही। —सं०

सात्त्विकी भक्ति–दे०—'गौणी भक्ति'।

सादृश्य–अलंकारशास्त्रमें 'उपमा' अर्थालंकारके चार आवश्यक अंगोंमेंसे एक अंग, उपमेय और उपमानकी समताको व्यंजित करनेवाले शब्द 'सादृश्य'-वाचक कहलाते हैं। समान, सादृश्य, सा, से, सी, ज्यों, जैसे, जैसा, जिमि, लौं, तुल्य, तूल, सम आदि शब्द सादृश्यवाचक हैं। इन्हें वाचक शब्द तथा उपमावाचक शब्द भी कहते हैं, जैसे—'हरिपद कोमल कमल-से'—इसमें 'से' शब्द सादृश्य-वाचक है।

सादृश्य दो प्रकारका माना गया है—एक वह, जिसमें आकार-प्रकारका साम्य रहता है और दूसरा साम्य वह है, जिसमें गुण एवं क्रियाका साम्य रहता है। इसमें प्रभाव-साम्य भी प्रच्छन्न अथवा गौण रूपसे रहता है। उदा०—१ आकार-प्रकारसाम्य—'उसी तपस्वी-से लम्बे थे, देवदारु दो-चार खड़े' ('प्रसाद' कामायनी)। इसमें देवदारुओंकी लम्बाईसे तुलना की गयी है। अत. यहाँ केवल आकार-प्रकारका सादृश्य है। 'से' सादृश्यवाचक शब्द है, जो उपमेय देवदारु और उपमान तपस्वीके आकार-प्रकारके सादृश्यको सूचित करता है। २ गुण या क्रियाका साम्य—'उस हलाहल-सी कुटिल द्रोहाग्निको, जो कि जलती आ रही चिरकालसे, स्वार्थलोलुप सभ्यताके अग्रणी, नायकोंके पेटमें जठराग्नि-सी' (दिनकर ' कुरुक्षेत्र)। इसमें 'द्रोहाग्नि'की समता 'जठराग्नि'से की गयी है। इसके द्वारा जठराग्निके जलनेकी क्रियाका रूप हमारे सामने उपस्थित होता है। द्रोहाग्नि भी जठराग्निके सदृश भीतर ही भीतर जलती है और क्षार कर देती है। ३ प्रभाव-साम्य—'लाजकी मादक सुरा-सी लालिमा, फैल गालोंमें नवीन गुलाब-से, छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्यकी, अधखुले सस्मित दृगोंसे सीप-से' (पन्त)। कविकी प्रस्तुत कल्पना द्वारा मुखके सौन्दर्यका प्रभाव पाठक एवं श्रोतापर द्विगुणित रूपमें पड़ता है।

आचार्योंका कथन है कि उपमाका सादृश्य चमत्कारपूर्ण होना चाहिये। चारुत्व, चमत्कार और रसार्द्रता सादृश्यके तत्त्व हैं। काव्यमें सादृश्यकी सार्थकता इन्हींपर अवलम्बित है। इसीसे आलंकारिकोंने 'मनोज्ञ साधर्म्यकथन'को ही उपमा कहा है। —वि० स्ना०

साधन परा (गोपी)–दे०—'गोपी'।

साधना (वज्रयान)–वज्रयानमें साधकोंकी चित्तवृत्तिके अनुरूप, उनके मानसिक विकासके अनुरूप साधनाओंका विधान था। अनेक साधनाएँ होते हुए भी किसी एक विशेष साधनाको महत्त्वपूर्ण मानकर अन्य उसके समक्ष उसकी तुलनामें हेय समझी जाती थीं। वास्तवमें ये साधनाएँ एक-दूसरेकी विरोधिनी न होकर पूरक मानी जाती थीं। आयु, चित्तवृत्ति, मानसिक स्तरकी दृष्टिसे आचार्य एक विशेष देवताकी प्रतिष्ठापना कराते, फिर उसकी पूजा, उसके न्यास-विन्यास, उसकी मन्त्र-यन्त्र आदिसे साधनाके पूरे विधान बताते और दूसरी साधनापद्धतियोंको हेय बताते, जिसका तात्पर्य यह नहीं कि वे कोई अलग सम्प्रदाय मानते थे, वरन् इस भावनाके अन्तर्गत साधकका स्तर दृष्टिगत रखा जाता था। सभी अनुष्ठानोंसे ऊपर उठकर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधिकी साधना थी, जिसका विकास सहज पद्धतिमें हुआ। (विस्तारके लिए दे० साधनमाला विनयतोष भट्टाचार्य)। —य० बी० भा०

साधारण (गोपी)–दे०—'गोपी'।

साधारण धर्म–उपमा अर्थालंकारके चार आवश्यक उपादानोंमेंसे एक उपादान, उपमेय और उपमान, दोनोंमें जिस धर्मकी समानता बतायी जाती है, उसे साधारण धर्म

अथवा समान धर्म कहते है। किन्हीं भी दो वस्तुओंमें बिना किसी समान धर्मके सादृश्य सम्भव नहीं होता। धर्मकी समानताके कारण ही एक वस्तुको दूसरी वस्तुके समान कहा जाता है। साधारण धर्म गुण और क्रिया, दोनों प्रकारका सम्भव है, यहाँ गुणमें रूप-रंग आदि सभी समाविष्ट हैं। उदा०—साधारण धर्म गुणरूपमें—'अधिकार न सीमामें रहते। पावस-निर्झर-से वे बहते।' ('प्रसाद' कामायनी), इसमें सीमामें न रहना साधारण धर्म है। अधिकाररूप उपमेय और 'पावस निर्झर'-रूप उपमान, दोनोंमें इस धर्मकी स्थिति बतायी गयी है। क्रियारूपमें—'पागल-सी प्रभुके साथ सभा चिल्लायी। सौ बार धन्य वह एक लालकी माई।' (मै०श०गुप्त साकेत), इसमें 'चिल्लायी' क्रियारूप धर्मकी समानता उपमेय और उपमान, दोनोंमें बतायी गयी है। —वि० स्ना०

साधारणीकरण—इस शब्दका सम्बन्ध भारतीय रस-सिद्धान्तसे चला आ रहा है। इसका प्रयोग सर्वप्रथम भट्टनायक(१० श० ई० पूर्वा०)ने रसनिष्पत्ति (दे०) सम्बन्धी भरतके सूत्रकी व्याख्याके अन्तर्गत किया है। भट्टनायकने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंकी व्याख्याके दोषोंको दूर करनेके लिए इसका प्रयोग किया है। उनके अनुसार आरोपवाद तथा अनुमितिवाद(दे०)की स्थापनाओंमें जो ताटस्थ्य और आत्मगतत्व दोष आ जाते हैं, उनके परिहारके लिए साधारणीकरणकी स्वीकृति आवश्यक है। जब पाठक अथवा दर्शक काव्य अथवा नाटकके अभिधार्थको ग्रहण कर लेता है, उसके हृदयमें भावकत्व (दे०) शक्तिके द्वारा सत्त्वकी प्रधानता होती है। इस स्थितिमें उसके हृदयमें 'मैं' और 'पर'का द्वैध दूर हो जाता है। वह प्रदर्शित अथवा वर्णित घटना या पात्रको उसके स्थितिविशेषमें नहीं ग्रहण करता। वह उनको अपने व्यक्तित्वसे सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध भी नहीं समझता और इसी स्थितिका फल है कि सहृदय भोजकत्व शक्ति(दे०)के द्वारा उद्बुद्ध भावोंका रसास्वादन करता है। वस्तुत यह परिस्थितिविशेष जिस व्यापारसे सम्भव होती है उसीको साधारणीकरण माना गया है। इस व्याख्यासे यह स्पष्ट हो जाता है कि रसनिष्पत्तिके लिए भट्टनायकके अनुसार साधारणीकरण आवश्यक शर्त है।

आगेके कई विचारकोंने साधारणीकरणको सामान्यीकरण ही माना है। वामन झलकीकर तथा गोविन्द ठक्कुर-(१५ श० ई०)ने विभावादि रूप सीता तथा रामादि सम्बन्धी रतिके 'सीतात्व'-'रामत्व'के सम्बन्धके स्थानपर सामान्यत कामिनी रूपमें अथवा रतिसामान्य रूपमें उपस्थित होनेको साधारणीकरण माना है। 'काव्यप्रदीप'के अनुसार नायिकाविशेषका सामान्यत कामिनीभावरूपमें उपस्थित हो जाना साधारणीकरण है (पृ० ६६)। इसके अनुसार 'यह केवल अमुकका ही है' ऐसी प्रतीतिके स्थानपर 'ये अमुकके हैं' ऐसी अनुभूति हो जाती है, अर्थात् वे दूसरेके भाव भी हो सकते हैं।

भट्टनायकके बाद अभिनवगुप्त(१० ११ श० ई०)ने उनकी भावकत्व तथा भोजकत्व शक्तियोंको अस्वीकार करके भी साधारणीकरणको स्वीकार किया है। अभिनवगुप्तकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिने काव्यके वास्तविक सौन्दर्य तत्त्वको ग्रहण कर लिया था, अतएव उनकी रस सम्बन्धी व्याख्याएँ गहन और पूर्ण हैं। अभिनवगुप्तके अनुसार साधारणीकरणके दो स्तर हैं। एक स्तरपर विभावादिका व्यक्ति-विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाता है और दूसरे स्तरपर सामाजिकका व्यक्तित्व-बन्धन नष्ट हो जाता है, अर्थात् विभावादिकके साथ स्थायी भावका साधारणीकरण होता है और साथ ही सामाजिककी अनुभूतिका साधारणीकरण होता है। यह साधारणीकरण सामाजिकोंके वासनारूपमें स्थित स्थायी भावोंके आधारपर सम्भव होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्तने भट्टनायकसे इस सिद्धान्तको स्वीकार करके भी अपना मौलिक योग प्रदान किया है। इन्होंने वासनाको स्वीकृति दी है और साथ ही स्थायी भावका साधारणीकरण माना है।

विश्वनाथ(१४ श०ई०)के मतको नगेन्द्रने अभिनवगुप्त-के मतसे भिन्न माना है। उनके अनुसार प्रमाताका आश्रयके साथ अभेद स्थापित हो जाता है (सा० द० ३ १०)। इसके साथ ही उन्होंने कहा है—'साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते। परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।' (वही ३ १२), अर्थात् साधारणीकृत स्थितिमें रत्यादि स्थायी भाव उसी रूपमें अनुभव होने लगता है और इस रसानुभूतिके समय 'यह मेरा है', 'यह मेरा नहीं है', 'यह दूसरेका है', 'यह दूसरेका नहीं है' इस प्रकार भेद नहीं किया जाता। आनन्दप्रकाश दीक्षितने इसके आधारपर विश्वनाथके मतको तादात्म्यरूपमें लिया है—'यह तादात्म्य, उनके विचारमे, साधारणीकरणके परिणामस्वरूप घटित होता है। तादात्म्यकी यह अनुभूति रसके लिए होती है' और अन्तत अभिनवगुप्तके मतके अनुसार माना है। विश्वनाथका मत व्याख्याके अभावमें बहुत स्पष्ट नहीं है। परन्तु तादात्म्यरूपमें उसे माना जायगा तो रसास्वादनको आश्रयकी भावनात्मक प्रक्रियाके रूपमें स्वीकार कर लेनेकी सम्भावना अधिक है।

जगन्नाथ(१७-१८ श० ई०)ने साधारणीकरणके स्थानपर दोषदर्शन(दे०—'रसनिष्पत्ति')की स्थापना की है। यह सिद्धान्त किसी अन्य आचार्यके द्वारा स्वीकृत नहीं हो सका। वस्तुत रसास्वादको दोषकी भावनाके आधारपर स्वीकार करना काव्यको अत्यन्त हीन स्तरपर स्थापित करने जैसा है। दोष किसी ज्ञान-अज्ञानमें किये गये मर्यादाहीन कार्यमें होता है और यह दोषका ज्ञान किसी प्रकार रसास्वादसे सम्बद्ध नहीं हो सकता। अभिनवगुप्तके अनुसार सामाजिक किसीसे रति नहीं करता, वरन् केवल 'रति'का अनुभव करता है, सामान्य अथवा साधारणीकरणरूपमें।

आधुनिक विचारकोंमें रामचन्द्र शुक्लने सबसे अधिक विस्तारसे साधारणीकरण सिद्धान्तकी व्याख्या की है और आनन्दप्रकाश दीक्षितने अपने प्रबन्ध 'काव्यमें रस'में प्राय उन्हींके मतकी स्थापना की है। रामचन्द्र शुक्लके अनुसार—'जबतक किसी भावका कोई विशेष इस रूपमें नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत सबके उसी भावका आलम्बन हो सके, तबतक उसमें रसोद्बोधनकी पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूपमें लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोताके मनमें जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आता है, वह जैसे

काव्यमें वर्णित आश्रयके भावका आलम्बन हो जाता है।

साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्मका होता है तात्पर्य यह है कि आलम्बनरूपमें प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाववाले कुछ धर्मोंके कारण सबके भावोंका आलम्बन हो जाता है' (चि० म० भा० १ पृ० ३०८.१२-१३)। इस प्रकार रामचन्द्र शुक्लके अनुसार साधारणीकरणका भाव है—१ वर्णित अथवा प्रदर्शित आलम्बनको सबके भावका आलम्बन बनाना, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तिविशेष अथवा वस्तुविशेषके स्थानपर केवल वस्तु अथवा व्यक्तिमात्रका बोध रह जाता है। २ आश्रयके समान आलम्बनके प्रति पाठक अथवा दर्शकका भाव हो जाना। आनन्दप्रकाश दीक्षितने स्वीकार किया है कि 'शुक्लजीने आलम्बनका विचार आश्रयसापेक्षरूपमें लिया है। उनका मत है कि आश्रयके भावका आलम्बन ही सहृदयका भी आलम्बन हो सकता है या उसे होना चाहिये' (का० र० पृ० २८०)। इस प्रकार उनके अनुसार यह कहना भी अनुचित है कि 'शुक्लजीने विभावादिका साधारणीकरण न मानकर उसे आलम्बनतक सीमित कर दिया है। आश्रयसापेक्षतामें अनुभावादि स्वभावत साधारणीकृत अवस्थामें प्रस्तुत होंगे।' (वही पृ० २८१)।

रामचन्द्र शुक्लने साधारणीकरणकी व्याख्याके अन्तर्गत आश्रयके साथ तादात्म्य या सहानुभूतिकी अनिवार्यता भी प्रतिपादित की है, जिसकी स्थितियोंके अनुसार उन्होंने रसकोटियोंकी कल्पना की है। १ पूर्ण तादात्म्यकी स्थितिमें उत्तम कोटिकी रसात्मकता होगी। २ जहाँ यह तादात्म्य न हो सकेगा और दर्शक अथवा पाठक प्रदर्शित अथवा वर्णित पात्रका मात्र शीलद्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टाके रूपमें प्रभाव ग्रहण करेगा, मध्यम कोटिकी रसात्मकता मानी जायगी। इस स्थितिमें स्वत पात्र पाठक या दर्शकके भावोंका सीधा आलम्बन हो जाता है। यह साधारणीकरण अथवा तादात्म्य कविके उस अव्यक्त भावका होता है, जिससे पात्रविशेषकी उद्भावना हुई है (चि० म० भा० १. पृ० ३१४, १५)। ३ रसकी एक ऐसी भी अधम कोटि मानी जा सकती है जिसमें पाठक या दर्शक आश्रयकी भावव्यंजनासे कुछ भी तादात्म्य नहीं कर पाता, केवल शीलवैचित्र्यके रूपमें उसे ग्रहण करता है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने रामचन्द्र शुक्लकी इन कोटियोंको प्राचीन आचार्योंके रसाभास, भावाभासके रूपमें सिद्ध करते हुए यथार्थ माना है।

रामचन्द्र शुक्लके मतकी कई आधुनिक विचारकोंने आलोचना की है। रामदहिन मिश्रने 'काव्यदर्पण'में विभावादिके साधारणीकरणको केवल आलम्बनत्व धर्ममें सीमित किये जानेपर आपत्ति की है। उन्होंने रसकोटियोंके विभाजनको रसकी प्रकृतिके विपरीत कहा है और साधारणीकरण तथा तादात्म्यका एक ही अर्थमें प्रयोग भ्रामक माना है (का० द० . पृ० १३१, ३३)। श्यामसुन्दर दासके अनुसार रामचन्द्र शुक्लने साधारणीकरणसे यह अर्थ लिया है कि विभावानुभावका साधारणरूप करके लाया जाता। पर साधारणीकरण तो कवि या भावककी चित्तवृत्तिसे सम्बन्ध रखता है। चित्तके साधारणीकृत होनेपर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। अत यह मत भी ठीक नहीं है' (साहित्या० पृ० २३८)। नगेन्द्रने आश्रयके साथ तादात्म्यको अस्वीकार किया है। उनके अनुसार यह अत्यन्त कठिन है कि पाठक अथवा दर्शक प्रत्येक प्रकारके चरित्रके साथ तादात्म्य स्थापित कर सके। नगेन्द्रके अनुसार वास्तवमें पाठकका तादात्म्य कविके भावके साथ होता है और इस प्रकार आश्रयगत भावोंके औचित्यके प्रश्नका समाधान भी हो जाता है। उनका कथन है 'आश्रयरूप रावण यदि कहीं रामकी भर्त्सना करता है, तो क्या हुआ? हमारी सहानुभूतिमें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि हमारे अन्तरमें तो वही अनुभूति जागेगी जो कविने प्रतीक द्वारा व्यक्त की है' (री० का० भू० . पृ० ४९, ५१)। प्रगतिवादी आलोचकोंने साधारणीकरणका अर्थ परम्परासे भिन्न सामान्य प्रेषणीयताके अर्थमें लिया है। इसीके आधारपर इसे बोधगम्यताके रूपमें कहा गया है। परन्तु स्पष्ट इस मतमें कोई सार नहीं है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने इन सबके मतोंका प्रत्याख्यान करके रामचन्द्र शुक्लके मतको ही स्वीकार किया है। आलम्बनके साथ आश्रयकी स्वीकृतिका उल्लेख पहले किया गया है। रसकोटियाँ भी उनको स्वीकार्य हैं। साधारणीकरण तथा तादात्म्यको एक साथ प्रयुक्त करनेमें भी उनको कोई बाधा नहीं जान पड़ती। 'इसी रूपमें लाया जाना'की व्याख्या करके उन्होंने यह सिद्ध किया है कि रामचन्द्र शुक्लके मतमें कविकी स्वीकृति भी है, अन्यथा 'लाया जाना'का क्या अर्थ हो सकता है। अन्तमें नगेन्द्रके मतपर आपत्ति करते हुए उन्होंने लिखा है—'यहाँ कविकर्मके सम्मुख प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित प्रेक्षक अथवा सहृदयमात्रके संस्कारोंको दृष्टिसे ओझल कर दिया गया है। कविने कथाके संयोजनमें इतनी स्वतन्त्रतासे काम लिया कि वह सहृदयके संस्कारोंके विरुद्ध जा पड़ी, तो सहृदयको रसास्वाद तो न होगा, कुतूहल भले ही हो।' (का० र० . पृ० २८८)। उन्होंने अपना मत इस प्रकार रखा है—'यदि सहृदयके संस्कारोंका ध्यान रखते हुए कविकर्मकी प्रतिष्ठा की जाय, तो आलम्बनका औचित्य वर्तित होनेसे अपने आप आश्रयका औचित्य सिद्ध हो जाता है और परिणामस्वरूप पाठकके भावसे आश्रयके भावका तादात्म्य हो जाता है। अत शुक्लजीका मत ही समीचीन है' (वही : पृ० २८९)।

परन्तु रामचन्द्र शुक्लके साधारणीकरण-सिद्धान्तमें मौलिक भूल है और इसीके कारण वे अभिनवगुप्तके मतसे भटक गये हैं। उन्होंने अपनी व्याख्यामें आधुनिक मनोविज्ञान तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रका आधार ग्रहण करनेका भी प्रयत्न किया है। इस दृष्टिसे उनकी व्याख्यामें व्यापकता अवश्य है, पर भ्रमका समावेश भी हो गया है। जिस आलम्बनत्वके साधारणीकरण तथा आश्रयसे तादात्म्यको रामचन्द्र शुक्लने इतना महत्त्व दिया है वह प्रारम्भिक आचार्योंके आरोपवाद तथा अनुमतिवादसे कुछ ही आगेकी स्थिति है। भट्टनायकने विभावादिके साधारणीकरणके रूपमें सम्पूर्ण नाटकीय अथवा काव्यात्मक भावनात्मक परिस्थितिका सत्त्वोद्रेकके प्रभावमें संविद्विश्रान्ति रूप हो जाना माना है। यह बहुत ही स्पष्ट है कि भट्टनायक काव्यास्वादको सामान्य भावनात्मक प्रक्रियासे नितान्त

भिन्न मन स्थिति स्वीकार करते हैं, जब कि रामचन्द्र शुक्लके मतमें इस बातकी स्पष्ट ध्वनि है कि पाठक अथवा दर्शकके मनमें आश्रयके भावोंसे तादात्म्य होता है, अर्थात् उन्हींके भावोंका वे अनुभव करते हैं। यह बात दूसरी है कि साधारणीकृत स्थितिमें तथा सात्त्विकताके फलस्वरूप पाठक अथवा दर्शकको आनन्दानुभूति होती है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस प्रकार साधारणीकरणके सम्बन्धमें आचार्योंसे उनका भाव भिन्न है उसी प्रकार आचार्योंके सत्त्वोद्रेक तथा रामचन्द्र शुक्लके सात्त्विकभावमें अन्तर है। सत्त्वोद्रेक प्रकृतिगत है और सात्त्विक भाव आदर्श मर्यादा-सूचक है। वस्तुत आश्रयके किसी प्रकारके भावतादात्म्यमे काव्यानन्द नहीं प्राप्त हो सकता, सुखकी तीव्र अनुभूति अथवा दुःखकी अनुभूति भ्रामक होनेके कारण सुखानुभूति अवश्य लग सकती है। काव्यास्वादमें निर्वयक्तिकता अथवा सविद्विश्रान्तिकी स्थिति अनिवार्य है।

वस्तुत काव्यकी अनुभूति, यदि वह वास्तवमें काव्य है, तो सौन्दर्यमूलक है। रसानुभूति तथा सौन्दर्यानुभूतिमें मौलिक अन्तर नहीं माना जा सकता। मनुष्यने सैकड़ों वर्षोंके इतिहासमें अपनी सौन्दर्यानुभूतिको विकसित और विषम बनाया है, नाना रूप-आकारों तथा भावनाओंने इसके विकासमें योगदान किया है। मनुष्यका कोई ऐसा भाव नहीं है जो इसके अन्तर्गत नहीं आ सकता, पर निश्चय ही उसका सन्दर्भ, उसकी अभिव्यक्ति इस क्षेत्रमे नवीन दिशा ग्रहण करती है। रससिद्धान्त इसी काव्यात्मक सौन्दर्यकी मानवके भावोंके आधारपर व्याख्या करनेका प्रयत्न है (रघुवश काव्यमें प्रकृति 'हिन्दी' प्र० भा०)। साधारणीकरण भी इस व्याख्याका अनिवार्य अग है। मनोवैज्ञानिक आधारपर कहा गया है (दे०—'रसनिष्पत्ति') कि कल्पनाके आधारपर प्रेक्षक या पाठक कथावस्तुको ग्रहण करते हैं। यहाँ साधारणीकरणका यह अर्थ नहीं है कि प्रेक्षक विशेष वस्तु और पात्रको साधारण वस्तु और पात्रके रूपमें स्वीकार कर लेता है, वरन् उसका अर्थ मनोवैज्ञानिक कल्पनाके तत्त्वोंमे सिद्ध होता है। हम प्रत्येक वस्तुस्थिति, पात्र-चरित्रको साधारण सहज स्थितिमें ग्रहण कर सकते हैं। इनकी कल्पनाका आधार अनुभवजन्य ऐन्द्रिय बोध, प्रत्यक्ष बोधकी स्मृतिका स्वतन्त्र सयोग है। भट्टनायकतक कल्पनाके स्वतन्त्र सयोगोंका व्यापार साधारणीकरण माना गया है। परन्तु कल्पनाका स्वतन्त्र सयोग साधारण जीवनमें भी होता है। अभिनवगुप्तके अनुसार साधारणीकरणकी प्रक्रिया कथावस्तुको कल्पनामें ग्रहण करानेमें ही सहायक नहीं होती, वरन् प्रेक्षक-पाठक भावनात्मक स्थितिको अपने स्थायी भावोंकी साधारणीकृत स्थितिमें ही ग्रहण करता है। उन्होंने साधारणीकरणको दोनों पक्षोंमें लगाकर स्थितिको अधिक स्पष्ट किया है। एक ओर उससे कल्पनाके लिए मुक्त आधार मिलता है तो दूसरी ओर पाठकके मनमें भावानात्मक स्थिति वासनारूपमें स्थित स्थायी भावके साधारणीकृत रूपकी ओर सकेत करती है, अर्थात् इस अभिव्यक्त भावनात्मक स्थितिका ग्रहण पूर्वसचित स्थायी भावोंके व्यापक आधारपर ही सम्भव है। इस प्रकार काव्य-(नाटक)के अर्थग्रहणके साथ पाठक(प्रेक्षक)के मनमें कल्पनाके सहारे भावनात्मक स्थिति व्याप्त हो जाती है (जिसका आधार उसके अपनी वासनामें अन्तर्निहित भाव है), जो काव्यकी अभिव्यक्तिके सौन्दर्य तथा चमत्कारके साथ (निरपेक्ष होनेके कारण) आनन्दानुभूतिसे सम्बद्ध हो जाती है (रघुवश रससिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान अनुशीलन ३ २)।

[सहायक ग्रन्थ—(१)एस० के० दे० हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोएटिक्स। (२) आनन्दप्रकाश दीक्षित काव्यमें रस (अप्र०प्र०)। (३) रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि। (४)नगेन्द्र रीतिकालकी भूमिका विचार और अध्ययन। —र०

साध्यवसाना लक्षणा—लक्षणाका एक प्रकार, इसमें आरोप-विषय अपने बोधक पदके रूपमें निर्दिष्ट नहीं रहता है, क्योंकि आरोप्यमाण(जिसका आरोप किया जाय)के द्वारा वह निगीर्ण (निगला) रहा करता है, विलीन रहा करता है (विषयान्त कृतेऽन्यस्मिन् सा। का० प्र० २ ११)। विश्वनाथके अनुसार विषयीके द्वारा निगीर्ण की गयी विषयवस्तुकी उसीमे सादृश्यप्रतीति साध्यवसाना है (सा० द० २ ९)। इस प्रकार साध्यवसानामें आरोपके विषयका शब्द द्वारा कथन नहीं किया जाता, केवल आरोप्यमाणके कथनसे लक्ष्यार्थ व्यक्त होता है। इसके दो भेद हैं—गौण तथा शुद्ध। गौण साध्यवसानाका उदा०—किसी मूर्खको देखकर कहा जाय—'बैल है'। आरोपके विषय(मूर्ख)का कथन न किये जानेसे केवल विषयी(बैल)का कथन है, अत साध्यवसाना है और सादृश्य-सम्बन्धपर ही लक्ष्यार्थके आधारित होनेसे गौणी लक्षणा भी है। रूपकातिशयोक्ति (दे०) अलकारमें यह लक्षणा अन्तर्भूत रहती है। शुद्ध साध्यवसाना(उपादान)का उदा०—'कुन्त आ रहे हैं।' यहाँ भाले धारण करनेवालोंका कथन न किये जानेसे साध्यवसाना, लक्ष्यार्थ मुख्यार्थका साथ लगे होनेसे उपादान तथा धार्य धारक-सम्बन्ध रहनेसे शुद्धा लक्षणा है। शुद्धा साध्यावसाना(लक्षणा)का उदा०—घीको दिखाकर कहना—'यही आयु है'। यहाँ आरोपके विषय 'घी'का निगीर्ण है, अत साध्यवसाना, कार्य-कारण सम्बन्ध होनेसे शुद्धा तथा 'आयु' शब्दके अपने मुख्यार्थको सर्वथा त्याग न करनेसे लक्षण लक्षणा है। —स०

सॉनेट—हिन्दीमें सॉनेटको चतुर्दशपदी भी कहते हैं। यह यूरोपका १४ पदोंका एक प्रसिद्ध काव्यरूप है। इसका प्रचार यूरोपकी प्राय सभी प्रसिद्ध भाषाओंमें रहा है। छन्दकी दृष्टिसे इटलीमें ११ अक्षर (सिलेबिल्स), फ्रासमें १२ तथा इग्लैण्डमें १० अक्षरोंके चरणका प्रचलन रहा है। परन्तु सॉनेटमें अधिक महत्त्व उसमें प्रयुक्त चरणान्त अन्त्यानुप्रासके क्रमका है। इनमें सबप्रचलित सॉनेट इटलीका पेट्रार्कन सॉनेट रहा है, जिसका प्रयोग समस्त रोमान्स-साहित्यों तथा जर्मन और इगलिश साहित्यमें मिलता है। इसमें प्रारम्भमें एक अष्टपदीमें अ ब ब अ, अ ब ब अ तथा षट्पदीमें स द स, द स द अथवा स द इ, स द इ रहता है। इटलीमें षट्पदी(सिक्सेट)के अन्त्यानुप्रासका क्रम प्रमुख कवियोंके द्वारा बदला भी गया है—स द द, स द स अथवा स स द, इ द इ। इगलिशमें शेक्सपीयरके सॉनेटकी अपनी विशेपता है, उसमें पहले तीन चतुष्पदी

और अन्तमें द्विपदी रहती है—अ ब अ ब, स द स द, इ फ इ फ, ज ज। कुछ कवियोंने इन दोनों रूपोंको सफलतापूर्वक मिलाया है।

इतिहासकी दृष्टिसे १३वीं श० ई० में इटलीके सिसली स्कूलके कवियोंने इसका आविष्कार किया। इसका प्रयोग दाँतेने भी किया है। पेट्रार्कने इसे निश्चित और कलात्मक रूप प्रदान किया। १६वीं श० ई० तक इटलीमें ही इसका प्रयोग सीमित रहा है। अँग्रेजीमें सर थामस वायटसे इसका प्रयोग आरम्भ हुआ। यहाँ शेक्सपीयर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, ब्राउनिंगने इस काव्यरूपका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। अँग्रेजी शेक्सपीयरके सॉनेट तथा रोमान्तिक कवियोंके सॉनेटके आधारपर हिन्दीमें इसको छायावादी युगके कवियोंने अपनाया है। नरेन्द्र शर्मा तथा सुमित्रानन्दन पन्तने सम्भवतः इसका प्रथम सफल प्रयोग किया है। बादमें दिनकर, बालकृष्ण राव, प्रभाकर माचवे, त्रिलोचन शास्त्री आदि कई कवियोंने इसका सफल प्रयोग किया। अन्त्यानुप्रासकी विभिन्न पश्चिमी विधियोंका प्रयोग मिलता है और अष्टपदीके बाद षटपदीके प्रयोगके साथ तीन चतुष्पदियोंके बाद द्विपदीका प्रयोग भी मिलता है। एक साधारण रूप और प्रचलित है, जिसमें सात द्विपदियाँ ही रहती हैं।

वस्तुतः सॉनेट एक विशिष्ट काव्यरूप है, जिसमें कवि अपने व्यक्तिगत प्रेम, आन्तरिक अनुभूतियों, संवेदनाओं, पारिवारिक प्रेम-सहानुभूति, सूक्ष्म मनोभावों, अपनी गहन स्मृतियोंको अभिव्यक्त करता है। साथ ही सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन तथा व्यंग्यात्मक परिस्थितियोंको भी इनके द्वारा व्यक्त करता है। प्रायः हिन्दीके कवियोंने भी सॉनेटका प्रयोग इन्हीं उद्देश्योंसे किया है। —र०

सापह्नवातिशयोक्ति–दे०—'अतिशयोक्ति', आठवाँ भेद।

सापेक्षता (proportion)–सापेक्षता एक प्रकारका सम्बन्ध है—दो परिणामोंकी तुलना या वह अंक जो इस तुलनाको व्यक्त करे। क्योंकि सापेक्षता दो या दोसे अधिक परिणामोंका फल है, अतः उसके निर्धारणमें कमसे कम तीन पद (टर्म्स) अवश्य होंगे (अ : ब : ब : स)।

चिरकालसे ही किसी ऐसी बुनियादी सापेक्षताकी खोज होती रही है, जो आदर्श सौन्दर्यका आधार हो। 'अलौकिक सापेक्षता' (डिवाइन प्रपोर्शन या गोल्डेन सेक्शन) ऐसी ही रहस्यमय सापेक्षता है, जो शतियोंसे कलाकारोंको आकर्षित करती रही है। किसी रेखाको लेकर सामान्य तरीका यों है—एक सरल रेखाको दो छोटे-बड़े हिस्सोंमें इस प्रकार बाँटना कि छोटेवाले हिस्सेका बड़े हिस्सेसे वही अनुपात हो, जो बड़ेवालेका सम्पूर्ण रेखासे हो। जो हिस्से होंगे वे ५ : ८ या ८ : १३, १३ : २१ के अनुपातमें होंगे। १९वीं शताब्दीसे इसपर वैज्ञानिक ढंगसे शोध हुआ है—इस सम्बन्धमें जाइसिंग और फेचनरके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

सौन्दर्यविश्लेषणमें सापेक्षताका सिद्धान्त प्राथमिक महत्त्व रखता है। कलाकी दृष्टिसे सापेक्षताकी साधारण व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—किसी कृतिके तत्त्वों और पक्षोंका इस प्रकार संघटन कि उसका प्रत्येक खण्ड दूसरे खण्डसे निरपेक्ष या असम्बद्ध न होकर सम्बद्ध और साक्षेप हो तथा सम्पूर्ण कृतिमें स्थैर्य स्थान विस्तार, चटकीलापन आदि इस प्रकार बँटे हों कि देखनेमें वस्तु सुडौल और सन्तुलित मालूम दे। —कु० ना०

सापेक्षतावाद (theory of relativity)–भौतिक-विज्ञानके क्षेत्रमें १९०५ ई० में एल्बर्ट आइन्स्टाइनने पहली बार सापेक्षतावादका सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसके अनुसार हमारी सहज बुद्धिसे प्राप्त दिक् और कालकी धारणाएँ मिथ्या हैं। सहज बुद्धिके अधीन हम किसी वस्तुकी स्थितिकी कल्पना केवल दिक्में कर सकते हैं और उसके परिवर्तनोंकी केवल कालमें। इस प्रकार हम निरपेक्ष दिक् और निरपेक्ष कालकी पृथक्ता और वास्तविकतामें विश्वास करने लगते हैं। इस विश्वासके प्रति हमारे मनमें कोई शंका नहीं उठती, क्योंकि इन्द्रिय-ग्राह्य विश्वकी व्याख्या करनेमें ये धारणाएँ पूर्णतः सफल पायी जाती हैं। पर विज्ञानकी प्रगतिके साथ कुछ ऐसे प्रयोग हुए जिन्हें इस सहज बुद्धिके सहारे नहीं समझा जा सकता। प्रयोग सही थे और आसानीसे दुहराये जा सकते थे। अतः आइन्स्टाइनने कहा कि हमारी दिक् और कालकी धारणामें ही कहीं त्रुटि है। दिक् और काल पृथक् इकाइयाँ नहीं हैं, वरन् एक-दूसरेसे उनका गहरा सम्बन्ध है। सापेक्षतावादके सिद्धान्तमें निरपेक्ष दिक् और कालको मस्तिष्ककी कल्पना और दिक्-कालनिरन्तरताको वास्तविक माना जाता है। इस नियमको अपना लेनेपर नये प्रयोग आसानीसे समझे जा सकते हैं और साथ ही साथ वे सब प्रयोग भी, जो अबतक निरपेक्ष दिक् और कालके धारणानुसार समझे जाते थे।

सापेक्षतावादके अन्तर्गत दो सिद्धान्त आते हैं। पहला, जो आइन्स्टाइनने १९०५ ई० में प्रतिष्ठित किया, **विशेष सापेक्षतावादका सिद्धान्त** कहलाता है। इसमें सम वेगसे चलनेवाले पिण्डकी निरपेक्ष गति एक अर्थहीन धारणा है, उसकी सापेक्ष गति ही वास्तविक है। इसी प्रकार साधारण निरपेक्ष अचलता भी अर्थहीन है। एक पिण्ड दूसरे पिण्डकी अपेक्षामें ही स्थिर या गतिमय हो सकता है। इसके अलावा एक क्रियाका कोई निरपेक्ष काल नहीं होता। दो क्रियाएँ एक साथ हुईं या अलग-अलग, यह देखनेवालेकी सापेक्ष स्थितिपर निर्भर होता है। इस प्रकार दिक् और काल एक-दूसरेमें लय हो जाते हैं और अपनी निरपेक्ष पृथक्ता खो बैठते हैं। इस सिद्धान्तके कुछ निष्कर्ष बहुत असाधारण हैं। उदाहरणार्थ, एक पिण्डकी जड़त्व-मात्रा (inertial mass) हमेशा एक-सी नहीं रहती, जैसा इस सिद्धान्तके पूर्व समझा जाता था, बल्कि पिण्डकी गतिके साथ वह बदलती रहती है। जितनी अधिक गति होती होगी, उसके अनुसार एक विशेष अनुपातमें मात्राकी वृद्धि हो जायगी। क्योंकि साधारण प्रयोगोंमें यह मात्रा-वृद्धि बहुत कम होनेके कारण नापी नहीं जा सकती, अतः हम अभीतक उसे पहिचान नहीं पाये थे। सापेक्षतावादके सिद्धान्तने प्रकृतिका यह गूढ़ रहस्य हमारे सामने व्यक्त कर दिया। सापेक्षतावादके सिद्धान्तके अनुसार शक्ति और मात्रामें भी गहरा सम्बन्ध है, वास्तवमें वे एक ही हैं। इस प्रकारके सम्बन्धकी कल्पना भी हम पहले नहीं कर सकते थे।

सापेक्षतावादका दूसरा सिद्धान्त आइन्स्टाइनने १९१५

ई०में दिया, जो **सामान्य सापेक्षतावादका सिद्धान्त** कहलाता है। इसमें प्रवेगसे चलनेवाले पिण्डका अध्ययन किया जाता है। ग्रह, नक्षत्र आदि ऐसे ही पिण्ड हैं। इन आकाशीय पिण्डोंकी गतिका वर्णन आरम्भमें निरपेक्ष दिक् और कालकी सहायतासे किया जाता था। बादमें बुधग्रहका परिक्रमा-पथ, जो अण्डाकार माना जाता था, कुछ सर्पिल पाया गया। बुधग्रहकी सर्पिल गति पुरानी धारणाओंपर नहीं समझी जा सकी। आइन्सटाइनने गुरुत्वाकर्पण-बलके पुराने सिद्धान्तको निर्मूल सावित करके नये सापेक्षतावादके सिद्धान्त द्वारा बुधग्रहकी गतिकी व्याख्या दी। सामान्य सापेक्षतावादके सिद्धान्तकी यह बहुत बडी सफलता थी। इसके बाद अन्य प्रयोगोंने भी इस सिद्धान्तकी पुष्टि की। इस सिद्धान्तके अनुसार दो पिण्डोंके बीच गुरुत्वाकर्पण-बलकी साधारण धारणा गलत और निरर्थक है। यह बलकी धारणा केवल हमारे मस्तिष्ककी उपज है, वास्तविक नहीं, क्योंकि प्रवेगकी सहायतासे इस बलके प्रभावको नष्ट किया जा सकता है। नये सिद्धान्तके अनुसार केवल दिक्काल-निरन्तरताकी वक्रता ही वास्तविक है और इसके आधारपर आकाशीय पिण्डोंकी गतिको समझा जा सकता है।

इस प्रकार सापेक्षतावादके सिद्धान्तोंने हमारी पुरानी सहज बुद्धिकी धारणाओंको नये प्रयोगोंकी पृष्ठभूमिमें निरर्थक प्रमाणित कर दिया और हमें सर्वथा नयी दृष्टि प्रदान की। निरपेक्ष और अव्यावहारिक धारणाओंके स्थानपर सापेक्ष, अत व्यावहारिक दिक और काल-धारणाओंकी स्थापना की। यह नया कदम उठानेके लिए हमें प्रयोगोंने वाध्य किया। इसलिए हम कह सकते हैं कि केवल अध्यात्मवादसे विश्वकी व्याख्या नहीं की जा सकती। दूसरी ओर, सापेक्षतावादके अनुसार प्रयोग एक विशेष अवलोकन-विन्दुके लिए ही सत्य है। वह सर्वमान्य नहीं है। अत आइन्सटाइनकी पद्धतिके अनुसार केवल प्रयोग-वाद भी विश्वकी व्याख्या करनेमें असमर्थ है। इस तरह सापेक्षतावादके सिद्धान्तने हमारे दार्शनिक और साधारण बुद्धि-चिन्तनपर बहुत गहरा प्रभाव डाला है, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। —वि० कु० अ०

सामजस्य (concord or integration)—विविध अनुभवों और प्रभावोंका इस प्रकार उपयुक्त एव अनुकूल अर्थोंमें समन्वित होना कि उनमें विषमता और विरोधका आभास न हो। भारतीय इतिहास तथा जीवन-दर्शनमें सामजस्यकी भावना विशेष महत्त्वपूर्ण रही है। (दे०—'सगति'।) —कु० ना०

सामतवाद—किसान, कृषि और स्वतन्त्र उद्योगोंसे ग्युक्त होकर ही साम्यवादी कृषि-प्रणालीकी सृष्टि हुई थी। गाँवमें किसान उत्तराधिकारके आधारपर भूमि जोतता था, किन्तु बौद्धिक दृष्टिसे भूमिका मालिक जमींदार ही था। इसके अतिरिक्त वह घरेलू उद्योगसे भी धन कमाने-का प्रयास करता था। खेती और उद्योगमें उत्पादनके साधनोंपर कृपकका पूर्ण नियन्त्रण था। उत्पादनका लक्ष्य उपभोग और सीमित विनिमयके लिए था। किन्तु वह वेगारका भी काम करता था और जमींदारको लगान दिया करता था। वेगारका काम एक प्रकारसे अतिरिक्त मूल्यके सिद्धान्तको चरितार्थ करता था। शने-शने इस व्यवस्थामें भी सघर्ष उत्पन्न हुए और किसान और जमींदारके बीच तनाव पैदा हुआ, जिसके फलस्वरूप पूँजीवादी अर्थात् बुर्जुआ व्यवस्थाका उदय हुआ। —रा० म० त्रि०

सामगान—प्रगीतात्मक ऋचाओंका सग्रह सामवेदमें हुआ है, यद्यपि उपलब्ध सामवेद और ऋग्वेदकी प्रगीतात्मक ऋचाओंमें अन्तर मिलता है और सामवेदकी ऋचाएँ ऋग्वेदमें नहीं मिलती। सामगान वस्तुत स्तोत्रपाठका गेय रूप था और सोमस्तवनमें सामगानकी पद्धति अपनायी जाती थी। ऋचाएँ केवल गेय नहीं बल्कि छन्दात्मक हैं और इनमें विभिन्न छन्दोंका उपयोग हुआ है, जिनमें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—गायत्री, बृहती, जगती, त्रिष्टुभ्, अनुष्टुभ्, उष्णिक्, पंक्ति आदि। गीतके भेदोंमें वैदिक और लौकिक परिगणित है। 'छान्दोग्योपनिषद्'में कहा गया है कि 'चराचर प्राणियोंका रस पृथ्वी है। पृथ्वीका रस जल है, जलका रस ओपधियाँ हैं, ओषधियोंका रस पुरुष है, पुरुषका रस वाक है, वाक्का रस ऋक् है, ऋक्का रस साम है और सामका रस उद्गीथ है। (छा० १ १ २)। साम शब्दकी व्याख्या करते हुए 'छान्दोग्य'ने कहा है, यह पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है। वह अग्नि-सज्ञक साम ऋक्में अधिष्ठित है। अत ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है। यह पृथ्वी ही 'सा' है और अग्नि 'अम' है, इस प्रकार ये दोनों मिलकर साम हैं (छा० १ ६ १)। सामगानके समय वर्णोच्चारणका विशेष नियम था—'सम्पूर्ण स्वर घोषयुक्त और बलयुक्त उच्चारण किये जाने चाहिये एव समस्त स्पर्शवर्णोंका उच्चारण एक-दूसरेसे तनिक भी मिलाये विना होना चाहिये (छा० २ २२ ५)। साम-गानके कई रूप प्रचलित थे। सामकी पचविध और सप्तविध उपासनाओंका विवरण मिलता है। विभिन्न देवताओंके लिए किये गये सामगानमें अन्तर था। 'छान्दोग्य'का कथन है कि प्रजापतिका उद्गीथ अनिरुक्त, सोमका निरुक्त, वायुका मृदुल और श्लक्ष्ण, इन्द्रका श्लक्ष्ण और बलवान्, बृहस्पति-का क्रौंचसमान और वरुणका अपध्वान्त है (२ २२ १)। सामका 'विनर्दि' नामक गान पशुओंके लिए हितकर माना गया है। सामगानके दो स्पष्ट वर्ग थे-'रथन्तर' और 'बृहत्' (दे०—ऐतरेय ब्राह्मण, आठवीं पचिका, पहला अध्याय)। सामवेदके एक लक्षणग्रन्थका नाम 'उक्थ' था, जिसमें उद्गाता गेय सामोंका सग्रह करता था। उक्थोंका निश्चय सामवेदीय चरणोंकी परिषदोंके द्वारा होता था और उनमें गेयता सम्बन्धी नियमोंका निर्धारण होता था। सात्यमुग्नि और राणायनीय चरणोंकी परिषदोंने अपने प्रातिशाख्योंमें अर्ध एकार और अर्ध ओकारके उच्चारणको स्वीकृत किया था (दे०—प्रत्याहारसूत्र ३ ४, वा० ४ पर भाष्य)। —रा० खे० पा०

सामाजिक दायित्व—व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका अर्थ दायित्व-हीन उच्छृखलता नहीं, बल्कि व्यक्ति-व्यक्तिकी असीम सम्भावनाओंको फलने फूलनेका अवसर देनेकी स्थिति है। वैयक्तिक स्वातन्त्र्यके विरोधियोंने व्यक्तिस्वातन्त्र्य और

सामाजिक दायित्वको दो अलग-अलग ही नहीं अपितु परस्पर विरोधी प्रतिमानोंका ढोंग खड़ा कर रखा है। किन्तु वास्तविक व्यक्ति-स्वातन्त्र्यमें सामाजिक दायित्वका पूरा अन्तर्भाव है। यदि समाजके सभी सदस्य सामाजिक दायित्वकी चिन्ता छोड़कर स्वच्छन्द हो जायँ तो समाजकी अवस्थिति ही असम्भव हो जायगी और अन्ततोगत्वा उनका स्वातन्त्र्य भी खतरेमें पड़ जायगा। अतः व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी रक्षाका मूल मन्त्र है सामाजिक दायित्वकी चिन्ता। अतएव व्यक्तिस्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व परस्पर विरोधी न होकर सर्वथा सुसंगत और पूरक हैं।

'होली फैमिली' नामक ग्रन्थमें मार्क्स और एंजिल्सने इस तथ्यकी ओर संकेत किया है कि मनुष्यमें दो (आपातत विरोधी) प्रवृत्तियाँ हैं। एक ओर तो उसमें स्वातन्त्र्यकी भूख है और दूसरी ओर वह सार्वभौमिकताकी प्राप्तिके लिए सचेष्ट है। बर्ट्रेण्ड रसेल इस युग्म–स्वतन्त्रता और सार्वभौमिकता–के बदले स्वतन्त्रता और सम्बद्धताका प्रयोग करते हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन दोनों प्रवृत्तियोंमें सामंजस्य स्थापनकी इस युगकी सबसे बड़ी समस्या है। उच्छृंखल, असम्बद्ध व्यक्तिवादका सारा जोर दायित्वहीन स्वातन्त्र्यपर है, जब कि अधिनायकवादका सम्बद्धतापर। लोकतान्त्रिक समाजवादकी स्थिति इन दोनोंसे भिन्न है। वह दायित्वमूलक व्यक्तिस्वातन्त्र्यमें आस्था रखता है। मार्क्स लिखता है कि पूँजीवादी अधिकार-शास्त्रको प्रश्रय देकर प्रत्येक व्यक्ति अन्योंमें अपनी स्वतन्त्रताकी सिद्धि नहीं बल्कि सीमाका अनुभव करता है। लेकिन समाजवादी समाजरचनामें प्रत्येक व्यक्ति अन्योंमें अपनी स्वतन्त्रताकी सिद्धिका ही अनुभव करेगा। इस समाजमें प्रत्येकका स्वतन्त्र विकास सभीके स्वतन्त्र विकासकी शर्त होगा। —ह० ना०

सामाजिक मूल्य–दे०—'मूल्य'।

सामाजिक यथार्थ–सामाजिक यथार्थ दार्शनिक दृष्टिसे प्रत्यक्ष जगत्से बिल्कुल भिन्न है। प्रत्यय मानव मस्तिष्कसे सम्बन्धित हैं, किन्तु सामाजिक यथार्थके भीतर वे शक्तियाँ आती हैं, जो मानव मस्तिष्कके बाहर हैं। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियोंका समुच्चय ही सामाजिक यथार्थ है। ये शक्तियाँ मिलकर उस सामाजिक वातावरणका निर्माण करती हैं जिनमें हमारे संस्कारोंकी सर्जना होती है। (दे० 'सामाजिक यथार्थवाद') —रा० कु० त्रि०

सामाजिक यथार्थवाद–आदर्शवाद (दे०) काव्य और कलाको मनुष्यके शेष व्यापारों, उसकी जीवनप्रक्रियासे विच्छिन्न एक असाधारण, अलौकिक अथवा आध्यात्मिक सर्जनक्रियाका परिणाम मानता है। इसके विपरीत यथार्थवाद (दे०) काव्य और कलाको जीवनसे निःसृत और उसका अभिव्यंजक मानता है। प्रेमचन्दने आदर्शोन्मुख (दे०) नामसे इन दोनों वादोंका समन्वय करनेकी चेष्टा की है।

यथार्थवादको प्रश्रय देनेवाली रचना जीवनकी वास्तविकताओंका चित्रण करती है। यथार्थवादी चित्रणमें आत्मनिष्ठ पूर्वग्रह, आदर्शवाद अथवा रोमांचकताको कोई स्थान नहीं। आदर्शवाद तथा रोमांचकवाद (दे०) असाधारणके प्रति मोहपर प्रतिष्ठित हैं। यथार्थवाद साधारणमें साधारण घटनाके चित्रणमें रम लेता है। वह वास्तविकताका प्रेमी है।

आदर्शवाद तथा रोमांचकवाद दर्शनकी आदर्शवादी, प्रत्ययवादी अथवा अध्यात्मवादी प्रवृत्तियोंसे प्रेरणा लेते हैं, जब कि यथार्थवादका प्रेरणास्रोत है दर्शनकी भौतिकवादी और यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ तथा आधुनिक फ्रायड-युग-ऐडलरका अन्तश्चेतनावाद।

यथार्थवादके दो रूप देखनेको मिलते हैं। प्रथमको प्रकृतवाद, प्राकृतवाद (दे०), प्रकृतिवाद, नाट्यवाद, नग्नतावाद, यथातथ्यवाद आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। अँग्रेजीमें इसके लिए 'नेचुरलिज्म' शब्द व्यवहृत होता है। द्वितीय रूपको या तो केवल 'यथार्थवाद' (realism) और 'सामाजिक यथार्थवाद' अथवा 'समाजवादी यथार्थवाद'की संज्ञा दी जाती है। प्रकृतिवाद नियतिमें पूर्ण विश्वास करके चलता है। उसके अनुसार मनुष्य एक ओर अपनी सहज प्रवृत्तियों (instincts) तथा वासनाओं (passions) और दूसरी ओर सामाजिक आर्थिक परिसर (milieu अथवा invironment) से पूर्णत नियन्त्रित और अनुशासित है। मनुष्यमें इच्छा स्वातन्त्र्यकी प्रतीति भ्रममात्र है। अत प्रकृतिवादी साहित्यकार नीतिमत्ता सम्बन्धी निर्णयोंसे गुरेज करता है। वह नियतिवादी होनेके कारण व्यक्ति अथवा समाजमें सुधार आदिको असाध्य मानता है। इस प्रकार प्रकृतिवाद अन्तत निराशावाद (दे०) एवं रुग्णताको प्रश्रय देता हुआ पाया जाता है। इसके विपरीत सामाजिक यथार्थवाद न तो नियतिवादी है, न निराशावादी और न नैतिकता-निरपेक्ष ही।

सामाजिक यथार्थवाद एक भिन्न स्तरपर अवश्यम्भावित्व (inevitability) की स्थापना करता है। कहते हैं कि कथा-साहित्यका विकास असम्भव (the impossible) से दुर्घट (the improbable), उससे सम्भव (the probable) और अन्तत अवश्यम्भावी (the inevitable) की ओर हुआ है। यहाँ अवश्यम्भावित्वका क्या अर्थ है? प्रत्येक स्थितिको दूसरी स्थितिका अवश्यम्भावी परिणाम होना चाहिये, वह उसीसे निःसृत होनी चाहिये। चरित्र वही करे, जो उसकी स्थितिके तर्कसे अवश्यम्भावी हो। जिस कथा-साहित्यमें इस नियमकी उपेक्षा होती है, जिसमें चरित्रोंसे ऐसा काम कराया जाता है, जो उनकी स्थितिका अवश्यम्भावी परिणाम न हो, वह हमें आज अपील नहीं कर सकता।

प्रकृतिवादी साहित्य व्यक्तिका नहीं, अपितु औसतका चित्रण करता है। लेकिन सामाजिक यथार्थवादी न तो यही मानता है कि साहित्यमें केवल निर्जीव औसतका चित्रण होना चाहिये और न समाजसे सर्वथा विसदृश 'व्यक्ति'का। वह समाजके अभिन्न अंगभूत व्यक्ति (typical individual) का चित्रण करता है। वह वस्तुत व्यक्तिगत पक्षके साथ-साथ सामाजिक पक्षका उद्घाटन करनेमें विश्वास करता है। वह व्यक्तित्वको उसकी समग्रतामें देखना चाहता है। सामाजिक यथार्थवाद वस्तुत

प्रतिनिधि व्यक्तित्व अथवा चरित्रको सहज स्वाभाविक रूपमें प्रस्तुत करता है। इस प्रकार चरित्र वर्ग विशेषका प्रतिनिधित्व करते हुए भी अपनी विशेषता अक्षुण्ण रखता है।

यूरोपीय साहित्यमें जोला, मोपासाँ, जेम्स ज्वायस, एजरा पाउण्ट, ई० ई० कमिंग्ज, फ्लावेयर आदि प्रकृतिवादके प्रतिनिधि साहित्यकार हैं। डी० एच० लॉरेंसको भी बहुत-कुछ इसी कोटिका समझा जाता है। वाल्जाक, टॉल्स्टाय, गोर्की आदि सामाजिक यथार्थवादके प्रतिनिधि लेखक हैं। सामाजिक यथार्थवादके विकासमें मार्क्सवाद-(दे०)का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हिन्दीमें, 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशीपर फ्रॉयडका प्रभाव अधिक होनेसे उन्हें अक्सर प्रकृतिवादी मान लिया जाता है। यशपालकी रचनाओंमें भी प्रकृतिवादकी झलक देखी गयी है। सामाजिक यथार्थवादके प्रतिनिधि लेखकोंमें प्रेमचन्द, यशपाल, नागार्जुन, रागेय राघव, 'दिनकर' आदिका नाम उल्लेख्य योग्य है। 'निराला' और सुमित्रानन्दन पन्तमें भी एक समय सामाजिक यथार्थवादकी जोरदार प्रवृत्ति दिखाई दी थी। हिन्दीमें सर्वप्रथम 'हंस'में प्रकाशित रचनाओंके माध्यमसे मार्क्सवादका प्रवेश हुआ था। पहले तो तत्कालीन लेखकोंका झुकाव यौन स्वच्छन्दता अथवा प्रकृतिवादकी ओर हुआ, लेकिन कालक्रमसे सामाजिक यथार्थवादका रूप निखरा और वह हिन्दी साहित्यकी एक अत्यन्त बलवती प्रवृत्ति बन गया।

सुमित्रानन्दन पन्तकी 'ग्राम्या' हिन्दीमें सामाजिक यथार्थवादसे अनुप्राणित प्रथम काव्यग्रन्थ है। 'निराला'में सामाजिक यथार्थकी अनुभूति तीव्रतर दिखाई देती है। उनकी 'कुत्ता भोंकने लगा', 'नये पत्ते' आदि कविताएँ श्रमिक और कृषकवर्गकी विवशताका सफल चित्रण करती हैं। सन् १९४३ ई० में 'अज्ञेय' द्वारा संगृहीत 'तारसप्तक'के सात कवियोंमेंसे कमसे कम चार कवियों—रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल तथा गजानन माधव 'मुक्तिबोध'—की कविताओंमें सामाजिक यथार्थकी ओर स्पष्ट प्रवृत्ति दिखाई देती है। यद्यपि 'दूसरा सप्तक'में, जो सन् १९५१ ई० में प्रकाशित हुआ, केवल धर्मवीर भारतीमें सामाजिक यथार्थकी प्रवृत्ति दिखाई देती है, तथापि नयी पीढी अब इस ओर अधिकाधिक उन्मुख हो रही है।

सामाजिक यथार्थवादका सबसे अधिक प्रयोग उपन्यासोंमें हुआ है। यशपालने अपने 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' और 'पार्टी कामरेड'में आधुनिक समाजकी समस्याओंका अच्छा चित्रण किया है। रागेय राघवके 'विषाद मठ' और 'हुजूर'में आधुनिक समाजके दुःख-दैन्यका मर्मस्पर्शी चित्र देखनेको मिलता है। 'विषाद मठ'की विषय-वस्तु बंगालका अकाल है। नागार्जुनके 'रतिनाथकी चाची', 'बलचनमा', 'नई पौध' और 'बाबा बटेसरनाथ' ग्राम्य जीवनके संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—(१) स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म : जॉर्ज लुकाक्स। (२) आर्ट एण्ड सोशल लाइफ : प्लेखनॉव। (३) इल्यूजन एण्ड रियलिटी : क्रिस्टोफर कॉडवेल।]

—ह० ना०

सामाजिक समष्टि—सामाजिक समष्टि अँग्रेजीके 'सोशल-एग्रीगेट' या 'सोशल होल'का पर्याय है। समाजके स्वरूपके विषयमें समाजदार्शनिकोंके बीच गहरा मतभेद पाया जाता है। एतत्सम्बन्धी विभिन्न मतोंको हम मोटे तौरपर निम्नलिखित तीन वर्गोंमें बाँट सकते हैं—१–समुदायवाद। यह इस सन्दर्भमें प्रयुक्त अँग्रेजी शब्द 'नामिनलिज्म' अथवा 'एटमिज्म'से अधिक उपयुक्त लगता है। इसके अनुसार समाज व्यक्तियोंका समुदायमात्र है, उनकी अपनी कोई सत्ता नहीं। यह मत बहुत कम प्रचलित है। २–विराट्-पुरुषवाद अथवा महाव्यक्तिवाद अथवा शरीरवाद (आर्गनिसिज्म)। इसके अनुसार समाज एक सजीव शरीर, अंगी, अवयवी अथवा एकीभूत समष्टि है और विभिन्न व्यक्ति उसके अंग या अवयवस्वरूप हैं। व्यक्ति और समाजमें शाब्दिक अर्थोंमें अंगांगिभावका सम्बन्ध है। यह मत सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रसिद्ध है। ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें चारों वर्ण विराट् पुरुषके विभिन्न अंग बताये गये हैं। चीनी, यूनानी और रोमीय विचारधारामें भी समाज-पुरुषकी कल्पना मिल जाती है। मेकियावेली, पास्कल, हॉब्स आदिने भी इस धारणाको प्रश्रय दिया है। हर्बर्ट स्पेन्सर भी इस मतका एक सीमातक समर्थक था। उसके अनुसार समाज-शरीर और अन्य प्राणियोंके शरीरोंके बीच निम्नलिखित समानताएँ हैं—दोनों बढते हैं, बढते समय दोनों गठन और चेष्टाओंमें विशेषीकरण (डिफरेन्शियेशन) प्रदर्शित करते हैं, दोनोंमें अंग-प्रत्यंगका परस्पर सहकारित्व एवं अन्योन्याश्रयत्व देखनेको मिलता है, दोनों इकाइयों-(जीवाणुओं तथा व्यक्तियों)से निर्मित होते हैं, इन इकाइयोंके अक्षत रहते भी दोनोंका नाश सम्भव है, दोनोंका अपना-अपना पोषक-संस्थान (भोजनकी नली), विभाजक-संस्थान (शरीरमें रक्त-संस्थान तथा समाजमें व्यवसाय-व्यापारकी धमनियाँ) और व्यवस्थासंस्थान (शरीरमें स्नायु-संस्थान और समाजमें शासन संस्थान) हैं। स्पेंगलरके अनुसार प्रत्येक संस्कृति एक सजीव प्राणीके समान जन्म लेती, बढती, परिपक्व होती और मृत्युको प्राप्त होती है। उसके अनुसार संस्कृति-संस्कृतिके व्यक्तित्व एवं आत्मामें इतना भारी भेद होता है कि उनमें परस्पर बौद्धिक, कलात्मक, साहित्यिक आदान-प्रदान सम्भव ही नहीं है। प्रत्येक संस्कृतिका अपना विचार, अपना आवेग, अपना जीवन, अपनी इच्छा-शक्ति और अपनी मृत्यु होती है। इस मतका विरोध भी जोरोंसे हुआ है। हर्बर्ट स्पेन्सरने समाज एवं शरीरमें यदि साम्यके दर्शन किये हैं, तो उनका वैषम्य भी उससे छिपा नहीं है। वह कहता है कि शरीरके अवयव सन्निविष्ट, संश्लिष्ट अथवा सुसंघटित होते हैं, जब कि समाजके असन्निविष्ट, असंश्लिष्ट तथा असंघटित। अतः समाज शरीरकी अपेक्षा कम समग्रीभूत अथवा एकीभूत होता है। इसके अतिरिक्त मनुष्यका शरीर चेतना द्वारा नियन्त्रित एवं परिचालित होता है, जब कि समाज-शरीरमें कोई केन्द्रीय चेतना है ही नहीं। समाजकी प्रत्येक इकाई(व्यक्ति)में तो चेतना है और समाजके संचालनमें उन चेतनाओंका बहुत बड़ा हाथ होता है, किन्तु व्यक्तिगत चेतनाएँ किसी केन्द्रीय चेतनाके शासनमें नहीं हैं। इस दृष्टिसे समाजकी तुलना वनस्पति-शरीरसे की जा

सकती है। वनस्पतिमें भी अनेक जीवाणु तो होते हैं, किन्तु कोई केन्द्रीय चेतना नहीं होती। ३–व्यापारात्मक समष्टिवाद (फक्शनलिज्म)। इसके अनुसार समाज न तो पृथक् पृथक् वर्तमान व्यक्तियोंका समुदायमात्र है और न कोई पूर्णत एकीभूत सजीव शरीर। वह अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार विभिन्न अन्योन्याश्रित चेष्टाओं, व्यापारोंमें संलग्न परस्पर सम्बद्ध व्यक्तियोंका एक संस्थान है। इस प्रकार यह मत पूर्वोक्त दोनों मतोंका समन्वय है। इस मतके समर्थक सोरोकिनका कहना है कि समाज विविध सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थानों एवं उनसे असम्बद्ध अथवा तटस्थ समुदायोंका सहभाव है। सोरोकिन समाजकी विभिन्न संस्थाओं अथवा वस्तुओंके पारस्परिक सम्बन्धोंको निम्नलिखित चार कोटियोंमें विभाजित करता है—(क) दैशिक अथवा यान्त्रिक सन्निकर्ष अथवा समुदाय। इसका अर्थ यह है कि अनेक संस्थाओं अथवा वस्तुओंके बीच सिवाय इसके कि वे परस्पर समीप हैं, और कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। (ख) कारण-कार्यभावका असाक्षात् सम्बन्ध अथवा अन्यपदार्थमूलक सहास्तित्व, शीतकालमें कोयले, रुई और ऊनकी माँग बढ़ जाती है, यहाँ कोयले, रुई और ऊनका हर घरमें सहास्तित्व उनके किसी पारस्परिक सम्बन्धके कारण नहीं, बल्कि शीतकाल—एक अन्य वस्तुके कारण है। (ग) कारण-कार्यभावका साक्षात् सम्बन्ध अर्थात् वस्तुओं अथवा संस्थाओंके बीच कारण-कार्यभावका सम्बन्ध। (घ) आन्तरिक अथवा हेतुक साध्यसाधनमूलक एकता, किसी मूल्य, आदर्शकी व्यंजक अथवा वाहक सारी संस्थाओं अथवा वस्तुओंमें एक प्रकारका एकीभाव हो जाता है। शासन-यन्त्र और उसके क्रिया-कलापमें जो एकता है वह इसी कोटिकी है। कार्ल मार्क्सके अनुसार समाजके विभिन्न विभाग एवं संस्थाएँ एक विशाल सम्बन्ध सूत्रमें पिरोयी हुई होती हैं, समाज उनका संघटनमात्र न होकर एक न्यूनाधिक समग्रीभूत समष्टि है। समसामयिक समाज दर्शनमें व्यापारात्मक समष्टिवादका सबसे अधिक मान है। —ह० ना०

सामान्य–लोकन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें अत्यक्त निज गुणवाले प्रस्तुत और अप्रस्तुतमें सदृश गुणके कारण एकरूपताका वर्णन होता है। इस अलंकारमें अत्यक्त गुणवाले उपमेयकी उपमानके साथ एकात्मता वर्णित की जाती है। सामान्यका अर्थ समानका भाव है। सर्व प्रथम प्रयोग मम्मट तथा रुय्यक द्वारा ही किया गया है। मम्मटकी परिभाषा इस प्रकार है—'प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्य-विवक्षया। ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम्।' (का० प्र० १० १३४), अर्थात् जिसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थके योगमें, दोनोंके गुणसाम्यप्रतिपादनके लिए, दोनोंकी एकरूपता सिद्ध की जाय। मम्मटने 'विवक्षा' द्वारा यह व्यक्त किया है कि वस्तुत समानता न होनेपर भी समानताका प्रतिपादन करना। परन्तु विश्वनाथका लक्षण है–'सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः।' (सा० द० १० ९०), अर्थात् प्रस्तुतकी अप्रस्तुतसे सदृश गुणके कारण एकरूपताका कथन। इसमें मात्र सादृश्यका उल्लेख है।

हिन्दीमें इस अलंकारकी विवेचना जसवन्त सिंहके 'भाषाभूषण'से प्रारम्भ हुई है, जिसमें 'कुवलयानन्द'के आधारपर लक्षण दिया गया है। वस्तुत हिन्दीमें इसीके आधारपर सादृश्यसे कुछ भेद प्रतीत न होनेकी बातको अधिक स्वीकार किया गया है। भूषणके अनुसार—'भिन्न-रूप जहँ सदृसतें भेद न जान्यो जाय' (शि० भू० ३०५)। मतिराम तथा पद्माकरने इसी बातको 'पै कछु न विसेष' अथवा 'समुझि विसेष परै न'(ल० ल० ३४०। पद्मा० २८३)के रूपमें कहा है। भिखारीदासने प्रस्तुत-अप्रस्तुतकी एकरूपताका वर्णन 'हीरा फटिक स्वभाव'से किया है (का० नि० १४)।

रीतिकालके कवियोंने नायिकाओंके (विशेषकर अभिसारिकाके) वर्णनमें इस अलंकारका उक्तिपूर्ण प्रयोग किया है। मतिरामकी अभिसारिका–'ग्रीषम दुपहरीमें हरिकों मिलन चली, जानी जाति नारि न दवारिजुत बनमें।' (ल० ल० ३४४)। पर सोमनाथकी इस शुक्लाभिसारिकाके वर्णनमें प्रयोग सुन्दर बन पड़ा है—'लखिये पिय निसिमें नवल कौतुक सुख सरसातु। हिमकर अरु तिय वदनम अन्तर लख्यो न जात।' (र०पी०नि०)। रघुनाथने 'रसिकमोहन'में इसका प्रयोग नारीसौन्दर्यको व्यक्त करनेके लिए किया है—'चित्रनसों मिलि भई चित्र हाथमें न आई, हारौ हेरि प्यारौ, रही प्यारी चित्रसारिमें।' इसमें उक्तिवैचित्र्यका सौन्दर्य है।

मीलित, तद्गुण और सामान्य, तीनों ही अलंकार लोकन्यायमूल अर्थालंकार हैं। इनमें अन्तर यह है कि मीलित अलंकारमें प्रधान धर्म-सम्पन्न वस्तुमें निम्न गुणवाली वस्तुका तिरोधान हो जाता है और 'सामान्य'में दोनों वस्तुओं(प्रस्तुत और अप्रस्तुत)का स्वरूप पृथक् होनेपर भी किसी गुणकी समानतासे दोनोंमें अभेद स्थापित किया जाता है। 'अत्यक्त गुणवाली वस्तु' इस कथन द्वारा तद्गुण और सामान्य इन दोनों अलंकारोंमें व्यावर्तक रेखा खींची गयी है। 'तद्गुण'में स्वधर्मका परित्याग करके एक वस्तु अपने निकटवर्ती दूसरी वस्तुका गुण ग्रहण करती है, किन्तु 'सामान्य'में निज गुणका त्याग नहीं होता। —वि० स्ना०

सामान्य-निबंधना–दे०—'अप्रस्तुत प्रशंसा', चौथा भेद।

सामान्यपरिवृत्त–दे०—'अर्थ दोष', इक्कीसवाँ।

सामान्या (गोपी)–दे०—'गोपी'।

सामान्या (नायिका)–जो स्त्री सर्वसाधारणके लिए सुलभ हो, इसे वेश्या (भरत), साधारण स्त्री (धनंजय, शारदातनय), गणिका (तोष, पद्माकर) आदि नामोंसे भी पुकारा जाता है। यह नायिका केवल धनके लिए परपुरुषसे प्रेम करनेका ढोंग करती है—'करै औरसों रति रमनि इक धनहीके हेत।' (पद्माकर जगद्वि० भा० १ १२७) साथ ही इसमें इसके अनुरूप कलाप्रवीणता भी होती है—'कलाप्रागल्भ्यधार्ष्ट्ययुक्' (शिंगभूपाल रसार्णव ११०)। इस भेदकी स्वीकृति नाटकीय पात्रके रूपमें हुई, पर बादमें काव्यशास्त्रके अन्तर्गत नायिकाओंके विभाजनमें भी इसे स्वीकार किया गया है। राकेश गुप्तने इसे वास्तविक नायिकाके रूपमें स्वीकृति नहीं दी—'शृंगारमें प्रेमभावनाका अंकन होता है और सामान्यामें यह भाव रहता ही नहीं है, ऐसी स्थितिमें उसे नायिका मानना कहाँतक

न्यायसगत है। वस्तुत इसको बहुत कम महत्त्वका भेद लेखकोंने माना भी है, अधिकाशने बहुत सक्षेपमें इसका उल्लेख किया है।' (स्ट० इ० नाय०ना०भे० भा० ३ अ० २)। रूपगोस्वामी तथा सूरदासने वैष्णव प्रभावके कारण इसे स्वीकार नहीं किया, शारदातनय तथा कुमारमणिने केवल रसाभासका आलम्बन माना है। दासने स्पष्टत सामान्याको नहीं लिया है, उनकी साधारण नायिका भिन्न है—'जामे स्वकीया परकीया रीति न जानी जाय' (शृ०नि० २८)। केशवने विभाजनमें उल्लेख करके ही छोड़ दिया है। जिन कवियोंने इसका उदाहरण दिया है, उन्होंने भी इसकी धनलोलुपता तथा स्वार्थपरताका ही विशेष उल्लेख किया है—'नायक नवल क्यों न देय धन मन ऐसे? सुतनुकौ सुतनु अतनु धन पाइकै।' (मतिराम र०रा० ९५), अथवा—'चीकनो चितौनी चारु चेरे करि चतुरनि, वितु लियो चाहै चितु लियो है चुराइकै।' (देव भा०वि० नायिका०)। साथमें उसकी भगिमाओंका वर्णन भी हुआ है—'छाजति छबीली छिति छहरि छराकी छोर, भोर उठि आई केलि मन्दिरके द्वारपर। एक पग भीतर सु एक देहरीपै धरै, एक कर कज एक कर है किवारपर।' (पद्माकर जगद्वि० भा० १ १२३) रहीमने गणिकाकी सुन्दर भावाभिव्यक्ति अकित की है—'तव लगि मिटहि न मितवा, तनकी पीर। जौ लगि पहिरि न हरवा, जटित सुहीर।' (व० नायिका० ७०)। भेद विस्तारके लिए दे०—'नायिका-भेद'। —र०

सामूहिक चेतना (collective psyche)—यह आधुनिक मनोविज्ञानके लाक्षणिक पद 'कलेक्टिव साइके'का पर्याय है। सी० जी० युग नामके वतमान शतीके प्रसिद्ध जर्मन विश्लेषणात्मक मनोवैज्ञानिकने इसे खूब प्रसिद्धि दी है। उसने लिखा है कि वह सारी चेतना जो व्यक्तिविशेषकी न होकर एक ही कालमें अनेकानेक व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समुदाय—समाज, राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण मानव जाति—की सम्पत्ति हो, सामूहिक चेतना है। राज्य, धर्म, विज्ञान आदि सम्बन्धी व्यापक धारणाएँ भी सामूहिक चेतनाके अन्तर्गत हैं। ईसामसीहको शूली देनेके अयशके भागी केवल वे चन्द व्यक्ति नहीं, जिन्होंने प्रत्यक्षत इस काण्डमें भाग लिया था। इस कुकृत्यका मूल तत्कालीन सामूहिक चेतनामें ढूँढना चाहिये जो परम्पराकी एकता और अपरिवर्तनशीलताके भावसे भावित थी तथा तद्विरोधी सभी बातोंको पापमूलक समझती थी। नये मूल्योंकी स्थापनाके सारे प्रयत्नोंको सामूहिक चेतनासे लोहा लेना पडता है।

एक बात और है। प्राय देखा जाता है कि समाज-विशेषकी दार्शनिक, राजनीतिक, साहित्यक मान्यताओंमें तो परिवर्तन आ जाता है, किन्तु सामूहिक चेतना अक्षुण्ण रहती है। परिणाम यह होता है कि काल-क्रमसे या तो नयी मान्यताएँ अत्यन्त निर्बल अथवा नष्ट हो जाती हैं या उनके क्रान्तिकारी रूपका लोप हो जाता है और वे सामूहिक चेतना द्वारा ग्राह्य रूपमें परिणत हो जाती हैं। शायद बौद्ध धर्म इस नियमका एक अच्छा निदर्शन है। उसका अधिकाश रूप तो सामूहिक चेतनाको अग्राह्य होनेसे नष्ट हो गया, कुछ अश शाकर और प्राक शाकर वेदान्त द्वारा आत्मसात् कर लिया गया और शेष विकृत होकर तन्त्र-परम्पराका अग बन गया। —ह० ना०

सामूहिक मनोदशा—केवल कल्पनाएँ, धारणाएँ और दृष्टिकोण ही सामूहिक नहीं हो सकते, भावना और आवेग भी होते हैं। लेवी ब्रुहलके अनुसार तो आदिम जातियोंके लिए सामूहिक प्रत्यय या विचार भी सामूहिक भावनाओंका ही प्रतिनिधित्व करते हैं। सभ्य मनुष्यमें भी केवल सामूहिक विचार ही नहीं पाये जाते, सामूहिक भावनाएँ भी पायी जाती हैं। सभ्य समाजके बडे भागके लिए ईश्वरकी सत्तामें विश्वास चिन्तन-जन्य न होकर प्राय भावनाजन्य ही होता है। इसी प्रकार मातृभूमिकी कल्पना तत्त्वत भावनात्मक ही है। सामूहिक भावना, आवेग आदिके लिए ही सामूहिक मनोदशा (कलेक्टिव एटीच्यूड) पदका प्रयोग होता है। —ह० ना०

सामूहिक मानस (group mind)—चेतना मानसकी क्रिया है, और मानस वैयक्तिक होता है, अत चेतना भी वैयक्तिक ही होती है, परन्तु मनोविज्ञान और सामान्य अनुभव यह प्रमाणित करता है कि समूहमें एकत्र विभिन्न व्यक्तियोंकी चिन्तना और कार्य-प्रणाली एक व्यक्तिकी चिन्तना और कार्यप्रणालीसे भिन्न होती है। मनुष्य एक समाजका सदस्य है और बहुतसे काम उसे सामूहिक रूपमें करने पड़ते हैं। उदाहरणके लिए, तमाशा देखनेको एकत्र भीड़की सामूहिक प्रवृत्ति उत्तरदायित्वहीन, चचल, अत्यधिक सवेगशील होती है। उस भीड़में बहुतसे उत्तरदायित्वका अनुभव करनेवाले, विचारशील व्यक्ति होंगे, परन्तु समूहमें आकर उनकी मनोवृत्ति भी समूह-जैसी हो जाती है। अत मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि सामूहिक मानस (group mind) समूहको बनानेवाले व्यक्तिगत मानसोंसे भिन्न होता है। यद्यपि उसका निर्माण इन विभिन्न व्यक्तिगत चेतनाओंसे ही होता है, पर सामूहिक होनेके कारण उसमें कुछ विशेष गुण आ जाते हैं। सामूहिक मानसकी चेतना ही सामूहिक चेतना होती है। समूह भी कई प्रकारके हो सकते है—गगास्नानको जानेवाले स्नानार्थियोंकी भीड़की सामूहिक चेतना धर्म और आस्थाप्रधान होगी, सिनेमा-घरके सामनेवाली भीड़की सामूहिक चेतना दूसरे प्रकारकी होगी और विद्यालयके फाटकपर हड़ताल करनेको एकत्र भीड़की सामूहिक चेतना अन्य प्रकारकी। समूह विचार-शील भी होते हैं, सभाओं और समितियोंमें सामूहिक चेतना उत्तरदायित्व और विवेचनसे युक्त होती है। परन्तु सामूहिक मानस चाहे किसी समूहका हो, प्राय अस्थिर और अन्ध होता है। —प्रे० अ०

साम्यवाद—'साम्यवाद' शब्द अँग्रेजीके 'कम्युनिज्म'-(communism)का पर्याय है जो लैटिनके 'कम्युनिस'-(communis)से व्युत्पन्न है और सन् १८३४–१८३९ ई० में पेरिसके गुप्त क्रान्तिकारी सघटनों द्वारा गढा गया था। कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एग्लिसने इस शब्दका बहुधा प्रयोग किया है, यहाँतक कि उनकी विचारधाराके लिए यह शब्द रूढ हो गया है, यद्यपि उनकी कृतियोंमें 'कम्युनिज्म' और 'सोशलिज्म' (समाजवाद) प्राय पर्याय-रूपेण ही प्रयुक्त हुए है। उनकी विचारधारासे प्रभावित

श्रमिक दल अपनेको समाजवादी। या सामाजिक लोकतन्त्रवादी (social democrat) कहकर पुकारने रहे, किन्तु लेनिनने अपने क्रान्तिकारी आन्दोलनको सन् १९१८ ई० में समाजवादी आन्दोलनसे विच्छिन्न कर अपने दलको साम्यवादी कहना आरम्भ किया। तबसे साम्यवाद शब्दका व्यापक प्रयोग होने लगा है।

वैयक्तिकके बदले सामूहिक अथवा सार्वजनिक उत्पादन, प्रबन्ध और उपभोगके सिद्धान्तपर आधारित समाज-व्यवस्था साम्यवादी समाज-व्यवस्थाके नामसे प्रसिद्ध है। समाजवाद(दे०)मे प्राय केवल उत्पादनके साधनोंका सामाजीकरण होता है। समाजवाद प्राय शान्तिमय तथा लोकतान्त्रिक उपायोंसे क्रान्ति करनेके पक्षमें है, जब कि साम्यवाद एतदर्थ बलके प्रयोगमें अधिक विश्वास करता रहा है। आजकल साम्यवादी प्राय समाजवादको क्रान्तिका प्रथम सोपान तथा साम्यवादको अन्तिम सोपान मानते है।

अफलातूनने अपने आदर्श समाज(republic)में केवल शासक वर्गके लिए साम्यवादी ढंगकी व्यवस्थाका विधान किया था। तबसे लेकर आधुनिक युगतक अनेक धर्माचार्यो, सुधारकों और विचारकोंने पूरे समाजके लिए अपने अपने ढंगके साम्यवादका विधान किया है। लेकिन परिवारों तथा विशेष प्रकारके आश्रमों और मठोंको छोडकर साम्यवादका स्वप्न अन्यत्र सत्य नहीं हो सका है। रूस और चीन जैसे देशोंमें भी, जहाँ साम्यवादी सफल क्रान्ति करनेमें पूर्णतया सफल रहे हैं, स्वय उन्हींके कथनानुसार अभी साम्यवादी व्यवस्थाकी प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकी है। रूस अभी समाजवादके सोपानसे गुजर रहा है। हाँ, कुछ नृतत्त्वशास्त्रियोंने यह कल्पना अवश्य की है कि साम्यवाद ही, जिसे प्रकृत रूपमें 'आदिम साम्यवाद' (primitive communism) कहा जाता है—मानव समाजका आदिम रूप था, किन्तु अन्योंके अनुसार आदिम मानव-समाज सहकारिता(cooperation)पर आधारित था, न कि साम्यवादपर।

साम्यवादी विचारधाराका चरम विकास मार्क्सवाद(दे०)में देखनेको मिलता है। मार्क्सका दर्शन 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद'(दे०)के नामसे प्रसिद्ध है।

साम्यवाद समाजमें शोषक और शोषित, बुर्जुआ और सर्वहारा, पूँजीपति और श्रमिक, इन परस्पर संघर्षरत दो वर्गोंकी सत्ता मानता है। साम्यवादकी स्थापना शोषित वर्गके हाथों शोषक वर्गके ध्वसपर होगी। अत क्रान्तिकी गति तीव्र करनेके लिए हर सम्भव उपायसे शोषित वर्गके हाथ मजबूत करने चाहिये। इस कार्यमें सहयोग देनेवाला क्रियाकलाप प्रगतिशील और अन्य क्रियाकलाप प्रतिक्रियावादी है। साहित्यपर भी यही नियम लागू है।

साम्यवादका साहित्यिक रूप प्रगतिवाद(दे०)के नामसे प्रसिद्ध है। प्रगतिवादको मुख्यत रूसके समाजवादी साहित्यकारों, विशेषत कथाकारोंसे प्रेरणा मिली है। साम्यवादी साहित्य-दर्शनका प्रथम व्याख्याता गोर्कीको समझना चाहिये। मार्क्स और एंगिल्सने फ्रान्सीसी उपन्यासकार बालजाककी भूरि भूरि प्रशंसा की है। अत साम्यवादियोंने बालजाकसे भी पर्याप्त प्रेरणा ली है। प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थवाद(दे०)में विश्वास करता है और साम्यवादी क्रान्तिका पथ प्रशस्त करनेके लिए साहित्यको एक औजारके तौरपर इस्तेमाल करता है।

हिन्दीमे सर्वप्रथम 'हस'में प्रकाशित रचनाओं द्वारा साम्यवादका प्रवेश हुआ। फिर धीरे-धीरे कहानी, कविता, उपन्यासके क्षेत्रोंमें अनेक नयी प्रतिभाओंका उदय हुआ, जिन्होंने साम्यवाद अथवा प्रगतिवादको हिन्दीकी एक सशक्त प्रवृत्ति बना दिया। सन् १९३६ ई०में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ'की स्थापना हुई, जिसका स्वागत प्रेमचन्द और जोश मलीहाबादीके साथ साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुरने भी किया और उसमें सक्रिय भाग भी लिया। सन् १९३५-४० ई०के बीच छायावादी कवितामें ह्रासोन्मुखताके लक्षण दिखाई देने लगे थे, फलत प्रगतिवादकी ओर लोगोंका ध्यान गया और हिन्दी कविताकी ह्रासोन्मुखताका युग समाप्त हुआ। सुमित्रानन्दन पन्त, 'दिनकर', 'नवीन' और 'निराला' जैसे कवियोंपर भी इस नये आन्दोलनने जादूका असर किया और उनसे साम्यवादी आदर्शोंका यशोगान कराया। प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र जैन, गजानन माधव 'मुक्तिबोध', भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर जैसे व्यक्तिकेन्द्रक-प्रवृत्तिके कवि भी प्रगतिवादसे अप्रभावित न रह सके। अनेक छायावादी ढंगके तरुण कवि भी प्रगतिवादके झण्डेके नीचे आये, जैसे, शम्भुनाथ सिंह, 'रसिक', विद्यावती 'कोकिल' आदि। नरेन्द्र शर्मा, शिवमगल सिंह 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, नागार्जुन, रागेय राघव और रामदयाल पाण्डेय प्रगतिवादी कवियोंमें अग्रगण्य हैं। प्रगतिवादने अनेक श्रेष्ठ उपन्यासकार भी हिन्दी साहित्यको दिये, जिनमें राहुल साकृत्यायन, यशपाल, रागेय राघव, नागार्जुन प्रभृतिके नाम उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्दके 'गोदान'-को भी प्रगतिवादी प्रवृत्तिका ही माना जाता है।

साम्यवाद अथवा प्रगतिवादका जो सबसे व्यापक प्रभाव हिन्दी साहित्यपर पड़ा है, वह है साहित्यकी सामाजिक परिणति (social orintation) अर्थात् प्रगतिवादके कारण हिन्दी साहित्यमें सामाजिक आयामोंका विकास हुआ है, यथार्थवाद पनपा है, जीवनवादको तरजीह मिली है, मानववादका प्रचार हुआ है, रूढि, शोषण, अत्याचारका विरोध हुआ है और शोषितको सहानुभूति मिली है। यदि प्रगतिवाद प्रत्यक्ष विदेशी प्रभावसे मुक्त होता तो सम्भवत हिन्दी साहित्यमें उसका जीवन-काल और लम्बा होता।

प्रगतिवादने हिन्दीमें एक नयी समीक्षा पद्धति भी विकसित की है। प्रगतिवादी समीक्षकोंमें शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, रागेय राघव, अमृतराय और प्रकाशचन्द्र गुप्तके नाम प्रसिद्ध है।

[सहायक ग्रन्थ—(१) हिस्टरी ऑफ सोशलिस्ट थॉट जी० डी० एच० कोल। (२) कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो मार्क्स तथा एंगिल्स। (३) आर्ट एण्ड सोशल लाइफ प्लेखनॉव।]

—ह० ना०

सारगा सदाव्रिज—उत्तरभारतका यह कथागीत गुजरातमें 'सदेवत (सदयवत्स) सावलिंगा', छत्तीसगढके गोंडोंमें 'सदाविरन सारगा' तथा मालवा और राजस्थानमें

'सुदवुद सारगा' नामसे प्रचलित है। जायसीने इस प्रेम-कथाका उल्लेख किया है। 'सन्देशरासक'(अब्दुल रहमान-रचित)में इस कथाका उल्लेख आया है। छत्तीसगढ़ीमें प्रचलित कथा उत्तरभारतीय रूपसे तनिक भिन्न है। उसमें सारगाका नवलखा हार कहीं खो जाता है। सदा-विरज अनेक कठिनाइयोंका सामना कर उसे खोज लाता है और सारगाको प्रदान करता है। वस्तुत कहानी बहुत पुरानी है। राजस्थानी और मालवीमें इसके आधारपर अनेक 'ख्याल' और 'माच'(लोकनाट्य)की रचना हुई है। —श्या० प०

सार १–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भानुके अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें २८ मात्रा १६, १२ की यतिसे और अन्तमें २ग (SS) रहते हैं। अन्तमें दो गुरुका नियम कर्ण-मधुरताकी दृष्टिसे रखा गया है, अन्यथा ग तथा र ल भी हो सकता है (छ० प्र० पृ० ६६)। सरसी(दे०)के समान इस छन्दका प्रयोग भी प्राय पदशैलीके अन्तर्गत हुआ है। सूर, तुलसी, नन्ददास तथा मीराँने इसका महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया है। छन्दके रूपमें प्रयोग करनेवालोंमें केशव (रा० च०) तथा रघुराज (रा० स्व०) आदि हैं। सूरने 'सूरसागर'में और तुलसीने 'विनयपत्रिका', 'गीतावली' तथा 'कृष्ण-गीतावली'में सारका प्रयोग सरसी छन्दसे अधिक किया है। विशेषकर टेकवाले पदोंमें इसका प्रयोग किया गया है। यह छन्द पदशैलीके अधिक अनुकूल है, प्रमुखत जहाँ घटनामें अथवा भावाभिव्यक्तिमें द्रुत गति होती है। सूरने मानलीला-प्रसगमें इसका सुन्दर प्रयोग किया है, उदा०—'पायी पायी है रे मैया, कुज कुजमें ढाली।' (सू०सा० सभा स० पद ११२१) तथा—'जस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोष कहा दिरमानी' (वि० प० : प० १२२)। —स०

सार २–जन्मोत्सवका गीत, छठीके दिन गाये जानेवाले जचाके विभिन्न गीतोंमेंसे एक, जचा या बच्चेकी सार, तेल-उबटन आदिसे सम्बद्ध, सार नामका २८ मात्राओंका एक छन्द भी होता है और एक वर्ण-वृत्त भी जिसे ग्वाल कहते हैं। —र० अ०

सार (उदार)–एक शृखलामूलक अर्थालकार, जिसमें सुशृंखलित रूपमें आये हुए पदार्थोंमें पूर्व-पूर्ववर्णित पदार्थोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तरकथित पदार्थोंमें उत्कर्ष एव अपकर्षका वर्णन होता है। रुद्रट द्वारा स्वीकृत (काव्याल० ७ · ९६) इस अलकारका लक्षण सम्मटके अनुसार—'उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सार परावधि' (का० प्र० १० १२३)है, अर्थात् उत्तरोत्तर पराकाष्ठाको पहुँचा हुआ उत्कर्ष-वर्णन। विश्वनाथने 'परावधि'को छोड़कर इसीको स्वीकार कर लिया है (सा० द० १० ७९)। जगन्नाथने उत्कर्षके साथ उत्तरोत्तर अपकर्षके वर्णनमें तथा एक ही वस्तुके उत्कर्ष वर्णनमें भी (सार) अलकार माना है (र० ग० · पृ० ४६५)। रुय्यकने 'अलकारसर्वस्व'में इसे 'उदार' नामसे लिया है।

हिन्दी साहित्यमें 'कुवलयानन्द'के अनुसार'भाषाभूषण'-में इसका लक्षण है और रीतिकालीन आचार्योंने 'उत्तर उत्तर उतकरष' (मतिराम तथा भूषण) अधिकतर माना है। कुलपति मिश्रने अपने 'रसरहस्य'में इस अलकारकी परिभाषा सम्मटके अनुसार दी है—'अधिक बड़ाई अन्त-तक, आगे आगे होय। पिछलेते जहँ सार करि, सार बखानें सोय।'

सोमनाथने अपने 'रसपीयूषनिधि'में इसका उदाहरण दिया है—'हीरनि हूतें विमल अति सरद जोन्ह कहि लेत। ताहूसो परताप सुनि तेरो कीरति सेत।' इसमें पूर्व-वर्णित वस्तुकी अपेक्षा उत्तरोत्तरकथित वस्तुका उत्कर्ष दिखाया गया है। अपकर्षका उत्तरोत्तरवर्णन रहीमके इस प्रसिद्ध दोहेमें है—'रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जायँ। उनते पहिले वे मुये, जिन मुख निकसत नाहिं।'

इस अलकारके 'उदार' तथा 'उत्तरोत्तर' नाम और दिये गये हैं। चिन्तामणिने 'चन्द्रालोक'के आधारपर—'जहाँ कौन हूँ बातमें कछु वरनिये सार। सो उत्तर उतकर्ष यों'को सार मानकर उदारको पृथक् अलकार माना है। पद्माकरने 'गुन ही सों कै दोषसों कै दुहूँनों' उत्कर्षको मानकर इसके तीन भेद किये हैं। गुण तथा दोष, दोनों रूपोंमें उत्कर्षवर्णनका उदाहरण यह दिया है—'कठिन काठते अति कठिन या जगमें पाषान। पाषान हु ते कठिन ये, तेरे उरज सुजान।' (पद्मा० १८२)। इस अलकार-के प्रयोगमें उक्ति वैचित्र्यका सहज आकर्षण है। रीतिकालके अन्य कवियोंमें रहीम, रसलीन, विहारी तथा नन्दराम आदिने इसका सुन्दर प्रयोग किया है।

कारणमाला, एकावली और सार, इन तीन अलकारोंमें यद्यपि शृखलाविधानकी समानता होती है, किन्तु इनमें सूक्ष्म अन्तर है। कारणमालामे 'कार्य-कारण'का, एकावलीमें 'विशेष्य-विशेषण'का और सारमे 'उत्कर्षापकर्ष'का सम्बन्ध होता है। —वि० स्ना०

सारछंद–वर्णिक समवृत्तका एक भेद, 'प्राकृतपैंगलम्'में सारवती नामका छन्द है जिसकी—'दीह लहू जुअ दीह लहू' परिभाषा दी है। यह मात्रिक सारछन्द १६, १२ अन्त गुरुसे भिन्न है, इसके प्रत्येक चरणमें एक गुरु और एक लघु होता है।' केशवने प्रयोग किया है—'राम, नाम, सत्य, धाम' (रा० च० १ ९)। —पु० शु०

सारवती–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, तीन भगणों और गुरुके योगसे यह छन्द बनता है (SII, SII, SII, S)। 'प्राकृतपैंगलम्' (२ ९४)में यही नाम है, पर जयकीर्ति (छन्दो० २ ८९) और हेमचन्द्र (छन्दो० २ ११३)ने चित्रगीत नाम दिया है। केशवदासने इस छन्दका प्रयोग किया है—'मोंहि चलौ वन सग लिये। पुत्र तुम्हैं हम देखि जिये। औधपुरी मह गाज परै। कै अब राज भरत्थ करै' (रा० च० ९ १०)। —पु० शु०

सारूप्य-निबंधना–दे०—'अप्रस्तुतप्रशसा', पाँचवाँ भेद।

सारोपा लक्षणा–लक्षणाका एक प्रकार, इसमें विषयी अर्थात् आरोप्यमाण (जिसका आरोप किया जाय) और विषय अथवा आरोपका विषय, दोनोंका शब्दश प्रतिपादन किया जाता है—'सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।' (का० प्र० २ ११)। विश्वनाथके अनुसार विषय तथा विषयीकी इस प्रकारकी सादृश्यप्रतीति, जिसमें विषयवस्तु आरोपित की जानेवाली वस्तुसे निगीर्ण (निगली) न की

जाय (सा० द० : २ . ८)। वस्तुत इस लक्षणामें विषयी और विषय, दोनोंका शब्द द्वारा कथन किया जाता है। पृथक् शब्दों द्वारा कही गयी दो वस्तुओंकी, एक वस्तुके स्वरूपकी दूसरी वस्तुमें तादात्म्यप्रतीतिको आरोप समझना चाहिये। इसके दो भेद हैं—गौण सारोपा तथा शुद्ध सारोपा। गौण सारोपाका उदाहरण है—'वाहीक बैल है।' यहाँ वाहीक(गँवार)में बैलका आरोप है। यहाँ 'वाहीक' आरोपका विषय है और 'बैल' आरोप्यमाणका। दोनोंका स्पष्ट शब्द द्वारा कथन है, अत सारोपा लक्षणा है और सादृश्य-सम्बन्धसे लक्षणार्थके ग्रहण किये जानेसे गौणी भी है। वाहीकमें मूर्खता आदिका सूचन करना प्रयोजन होनेसे प्रयोजनवती लक्षणा भी है। रूपक अलकारमें यही लक्षणा अन्तर्भूत रहती है। शुद्ध सारोपा (उपादान)का उदा०—'वे भाले आ रहे हैं।' यहाँ भाले 'विषयी' तथा भालेवाले पुरुष 'विषय' हैं। दोनोंका शब्द द्वारा कथन है, 'वे' सर्वनामसे पुरुषोंका कथन है। अत सारोपा है। लक्ष्यार्थ-मुख्यार्थ एक साथ लगे होनेसे उपादान तथा धार्यधारक सम्बन्ध रहनेसे शुद्धा लक्षणा है। शुद्ध सारोपा(लक्षणा)का उदा०—'घी आयु है (आयुर्घृतम्)। 'घी' आरोपका विषय तथा 'आयु' आरोप्यमाण है। कार्य कारण-सम्बन्ध होनेसे शुद्धा है, 'आयु' शब्दने अपना अर्थ छोड़ दिया है, इस कारण लक्षण लक्षणा है। 'आयु' तथा 'घी'में अभेद-आरोप होनेसे सारोपा लक्षणा है। 'आयु' शब्दने अपना मुख्यार्थ पूर्णत छोड़ा नहीं है, इसलिए लक्षण-लक्षणा भी है।—स०

सावन हिंडोला—प्राय- उन सभी गीतोंके लिए प्रयुक्त शब्द है, जो सावनमें स्त्रियों द्वारा झूलेपर बैठकर गाये जाते हैं। 'बारहमासी' अथवा 'चौमासा' गीत भी इनके अन्तर्गत आते हैं। व्रजमें इन गीतोंकी बहार है। शृंगारपरक भावनाओंसे भरे हुए ये गीत कहीं सयोगकी अभिव्यक्तिसे सिक्त हैं, तो कहीं वियोगकी व्यथासे भरे हुए।—श्या०प०

सास—नाथों और सन्तोंके साहित्यमें कई अर्थोंमें इस शब्दका प्रयोग हुआ है। सिद्धोंमें तो परिशुद्धावधूती-(दे०—'हठयोग')को वधू माना जाता था। श्वासनिरोधकी साधनासे अर्थ लिया जाता था सासको मारनेका और ननद और साली आदि वासना तथा संसारजालकी प्रतीक थीं। कण्हपा अपनी 'कापालिकचर्या'में (दे०—चर्यापद प्रबोध-चन्द्र बागची) सास, ननद, साली आदिके मारनेका उपदेश देते हैं। नाथपन्थी बानियोंमें कुम्भक समाधि द्वारा मणि-पूर चक्रमें स्थित प्राण और अपान वायुको सास और ससुर माना है। कहीं-कहीं सासके अर्थ सुरति और ससुरके अर्थ शब्द भी है (दे०—गोरखबानी : पीताम्बरदत्त बडथ्वाल)। सन्तोंके साहित्यमें भी सास-ननदका अर्थ माया और वासना है। पलटू लिखते हैं कि 'सास ननदको मार अदल मैं दिहा चलाई' (प० सा० बा०)। मीराँके एक पदमें सुषुम्नाको भी सास कहा गया है—'सासु हमारी सुषुमना रे, ससुरी प्रेम सन्तोष रे।' (मीराँ बृ० प० स०)। —ध० वी० भा०

साहित्य—साहित्य=सहित+यत् प्रत्यय, 'साहित्य'-का अर्थ है शब्द और अर्थका यथावत सहभाव, अर्थात् 'साथ होना'। इस प्रकार सार्थक शब्दमात्रका नाम 'साहित्य' है। साहित्यकी यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है और इसम मनुष्यकी सारी बोधन और भावन-चेष्टा समाविष्ट हो जाती है तथा समस्त ग्रन्थसमूह 'साहित्य'के अन्तर्गत आ जाते हैं। साहित्य मनुष्यके भावों और विचारोंकी समष्टि है।

प्राचीन प्रयोगोंसे यह स्पष्ट है कि 'साहित्य' शब्द मूल रूपमें 'शास्त्र'के अर्थमें प्रयुक्त होता था, परन्तु बादमें 'काव्य'के लिए भी इस शब्दका प्रयोग होने लगा। भर्तृहरिने 'साहित्य, सगीत, कला'की त्रयीमें 'साहित्य'को काव्यका समानार्थक माना है। भर्तृहरिका समय ६५० ई०के लगभग माना जाता है। अत ईसाकी सातवीं शताब्दीमें 'साहित्य' शब्द काव्यके लिए प्रयुक्त होने लगा था। इसी समयके लगभग भामहने 'काव्यालकार'में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (१ . २६) लिखकर इस प्रयोगकी पुष्टि की। राजशेखर-(१०वीं शताब्दी)ने 'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या' (का०मी० पृ० ५) कहकर इस परिभाषाको और भी विस्तृति दी है। अन्य शास्त्रोंमें जहाँ शब्द विषय-प्रतिपादकमात्र होता है, वहाँ काव्यमें शब्द और अर्थका परस्पर सहितभाव (साहित्य), विलक्षण, आह्लादक और कवि द्वारा विवक्षित अर्थात् ईप्सित होता है। कुन्तकने 'वक्रोक्तिजीवित'(१ . १७)में इस प्रसगमें कहा है—'साहित्य-मनयो शोभाशालिता प्रति काप्यसौ। अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति ॥' अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ, दोनोंकी अन्यूनानतिरिक्त, परस्पर स्पर्द्धापूर्वक मनोहारिणी, श्लाघनीय स्थिति हो वह साहित्य है। इस प्रकार शब्द और अर्थका तुल्यकक्ष सहभाव काव्यमें ही होता है और इसलिए उसीमें साहित्य शब्दकी सार्थकता प्राप्त होती है। इसी सन्दर्भमें 'साहित्यशास्त्र'से काव्यशास्त्रका ही बोध होता है।

ऊपरकी विवेचनामें साहित्यकी अभिव्यंजनामूलक व्याख्या ही प्रस्तुत होती है, साहित्यके आभ्यन्तर और उसके हेतुपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। भारतीय साहित्य-विवेचनमें साहित्यकी रसमूलकताका आग्रह है और उसे लोकोत्तर आनन्दका विषय कहा गया है, परन्तु समाज, साहित्य और साहित्यकारके व्यक्तित्वसे उसका अन्तरावलम्बन स्थापित नहीं किया गया है। पश्चिमी साहित्यमें इन पक्षोंपर विचारकी एक लम्बी परम्परा है, जो प्लेटोसे कॉडवेलतक चलती है। साहित्यको समाजधर्मी बनाकर पश्चिमने रस-बोधकी व्यक्तिगत एव मनोनिष्ठ प्रक्रियाको समष्टिमूलकता दी है। 'स्वान्त सुखाय' और 'स्वान्तस्तम शान्तये' कहकर तुलसीने 'मानस'में साहित्यके व्यक्तित्व-परिष्कार और रस-बोधके तत्त्वोंको ही प्रधानता दी है तथा 'सुरसरि सम सबकर हित होई'में साहित्यकी सामाजिकता भी उन्हें स्वीकृत है। अत साहित्यकी विवेचना केवल अभि-व्यंजनापक्ष, शब्दार्थका सहभाव अथवा आभ्यन्तर रसपक्षको लेकर नहीं की जा सकती, उसकी सामाजिक प्रेरणा और सामाजिक उपयोगितापर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है।

साहित्य और समाजके पारस्परिक सम्बन्धको लेकर प्राथमिक विवेचना हमें ग्रीक इतिहासकार हेरोडोतसमें मिलती है। समाजपद्धतिका मानव-चेतना और मनुष्यके

लोकव्यवहारपर क्या प्रभाव पड़ता है, इसके सम्बन्धमें उसने विस्तारपूर्वक विचार किया है, परन्तु इस विषयमें विस्तृत साहित्यका सर्जन १९वीं शताब्दीमें टेनकी रचनाओंमें होता है, क्योंकि साहित्य और समाजकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाका उपयोग समीक्षककी अपेक्षा इतिहासकारके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्नीसवीं शताब्दीमें ही साहित्यके इतिहासलेखनको वैज्ञानिकता मिली और साहित्य समाजके अन्तरावलम्बनको लेकर विशद विवेचन सामने आया। टेनका कहना है कि किसी भी युगकी सास्कृतिक अन्वितिका अध्ययन 'जाति-धर्म, युग धर्म और सामयिक प्रवृत्तियों'(ल रेस, ल मिलियो एत ले मोमेन्त)के समीकृत अध्ययनमे हो सकता है। परन्तु इस सम्बन्धमें सबसे महत्त्वपूर्ण शास्त्र क्रिस्टोफर काडवेलका ग्रन्थ 'इल्यूजन एण्ड रियलिटी ए स्टडी ऑफ द सोर्सेज ऑफ पोइट्री' (१९३७) है, जिसमें साहित्यके समाजगत और मनोविज्ञानगत स्रोतोंकी शोध हुई है। काडवेलका मूल विषय काव्य-विकासके स्रोतों तथा काव्यकी प्रकृति और उसके विकासकी सरणियोंका उद्घाटन है, परन्तु उसने इतिहासकारके दृष्टिकोणको अपनाकर इन विषयोंपर विस्तृत सूचनाएँ प्रस्तुत की हैं, जो इस विकासके क्रमागत स्वरूप-निर्माणके साथ स्थान-स्थानपर तत्सम्बन्धी धारणाओंका भी निर्माण करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यके सामाजिक मूल्योंके अध्ययनसे हम किसी भी साहित्य सम्पत्तिको सम्पूर्णत विश्लेषित नहीं कर सकते, परन्तु साहित्य और सामाजिक आन्दोलनों एव सस्थाओंके सम्बन्धोंके विषयमें निश्चय ही हमारे ज्ञानकी वृद्धि होती है। 'रेल्फ फाक्स'के ग्रन्थ 'द नावेल एण्ड दी पीपुल' (१९३७) और एलिजवेथ मनरोकी रचना 'द नावेल एण्ड सोसाइटी'(१९४१)में इस प्रसगपर नवीन प्रकाश डाला गया है।

वास्तवमें पृष्ठभूमिके रूपमें सामाजिक अवस्थाका निरूपण सभी इतिहासोंमें रहता है और विशिष्ट प्रकारके साहित्य अथवा वर्गीय साहित्यमें सामाजिक प्रभावको वरावर प्रतिफलित किया जाता है, जैसे, तुलसी-साहित्यकी पृष्ठभूमिमें तुलसीके युगका विवेचन अनिवार्य समझा जाता है। कथासाहित्यकी विवेचनामें सामाजिक परिवेश कुछ अधिक महत्त्व ग्रहण कर लेता है। यदि समाज और साहित्यमें अनन्य सम्बन्ध है, तो यह आवश्यक है कि उनके निरन्तर प्रवाहका विवेचन हो और परस्पर सघात एव अन्तरावलम्बनके सूक्ष्म सिद्धान्तोंका स्पष्टीकरण हो। कुछ विशिष्ट शताब्दियों अथवा युगोंके साहित्य-समाजका अन्तरावलम्बित अध्ययन अवश्य प्रस्तुत हुआ है, परन्तु न तो यह अध्ययन इतना विशद है, न इतना तलस्पर्शी कि हम उसके आधारपर अकाट्य सत्योंकी स्थापना कर सकें।

समाजधर्मी साहित्यिक अध्ययनके दो पक्ष हो सकते हैं—रचनापर समाजका प्रभाव और समाजपर रचनाके प्रभावका मूल्याकन। साहित्यके ऊपर सामाजिक सन्दर्भको स्थापित करना कठिन कार्य है, क्योंकि इसके लिए जिन ऑकड़ोंकी आवश्यकता होगी वे सूक्ष्म, अनिश्चित और परिश्रमसाध्य हैं, परन्तु किसी भी उत्कृष्ट रचनापर समाजगत प्रभावका मूल्यांकन अपेक्षाकृत सरल है। साहित्यिक कृतिमें समसामयिक सामाजिक स्थितिकी प्रतिच्छाया अनिवार्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस प्रतिच्छायाका स्वरूप क्या है और उससे किन सामान्य सिद्धान्तोंकी स्थापना हो सकती है? परन्तु स्वय समाजमें अनेक इकाइयों और वर्गोंकी सहति है, जिनमेंसे प्रत्येक सम्पूर्ण समाजकी स्थिति ओर प्रकृतिसे निश्चित रूपसे सम्बन्धित है। इसलिए यह कहीं अच्छा है कि समाजके सम्बन्धमें वात करते समय वर्गविशेष या जातिविशेषका उल्लेख किया जाय। यद्यपि इतिहासकार युग धर्मकी वात उठाते हैं, परन्तु साहित्यके विवेचकोंके लिए युग धर्म अति सामान्य तत्त्व है और वे युगके भीतर चलते हुए अनेक दृष्टिकोणों और प्रवृत्तियोंको युग-धर्मके भीतर समेटकर इस जीवनकी विविधता और अनेकरूपताका दर्शन करते हैं। तुलसी, सूर और केशव एक ही युग-धर्मकी उपज होते हुए भी क्यों भिन्न हैं, यह उसी समय वतलाया जा सकता है जव हम कुछ वर्गीय दृष्टिकोणोंके तारतम्यकी परख करें तथा तत्कालीन युग-धर्म(भक्ति)के भीतर चलती हुई अन्य गौण प्रवृत्तियोंके सघातकी ओर ध्यान दें। किसी विशेष युगके समाज या साहित्यकी अन्तर्वर्तिनी धाराओं और अभिव्यजना-शैलियोंको अलग-अलग लेकर चलना आवश्यक हो जाता है। साहित्यिक कृति गद्य है या पद्य, महाकाव्य है, गीति है या नाटक, उसका शिल्प सरल है अथवा सामासिक, इन श्रेणियोंके विभिन्न भेदाभेद सम्भव हैं। फिर, रचना आत्मपरक भी हो सकती है और परव्यजक भी। लेखक जीवनके प्रति पलायनशील है अथवा जीवनकी विभीषिकाओंसे चुनौती लेता है। चरित्र वर्गीय हैं या व्यक्तिनिष्ठ, जिस समाज या वर्गका कृतिमें अंकन है उसके प्रति उसकी निष्ठा किस प्रकारकी है, उसके मूलमें स्वीकृति है या विरोध आदि अनेक प्रश्नोंपर विचार किया जाता है। इतनी उलझनोंके वाद एक महान् सत्य यह है कि प्रत्येक उत्कृष्ट रचनामें अनेकानेक आकाक्षाएँ, भावनाएँ, परम्पराएँ और निष्ठाएँ समन्वित रहती हैं और इस तरह असख्य योगायोग वन सकते हैं। फलत सामाजिक परिपार्श्वको तीन वर्गोंमें रखा जा सकता है—(१) कला-कौशल, (२) सामाजिक जीवनचर्या, (३) आत्मप्रकाशमयी और आत्मनिष्ठारिमका प्रवृत्तियाँ। साहित्यके इतिहासकारके लिए इन तीनों वर्गोंके अन्तर्गत साहित्यका अध्ययन आवश्यक हो जाता है। पलायन, स्वीकृति या विरोधके तीन सूत्रोंसे प्रत्येक साहित्य अपने युगसे वँधा है। कला-कौशलका साहित्यपर सीधा प्रभाव नहीं पड़ता, वरन् उसकी अभिव्यक्ति सामाजिक सघटनके माध्यमसे होती है, जो कला कौशलके विकास द्वारा नियोजित होता है। अलवत्ता, कलाकृतियोंके प्रकाशन और प्रसारकी सुविधाएँ भी साहित्यको प्रभावित करती हैं, परन्तु यह प्रश्न प्रस्तुत विषयसे भिन्न है।

समाजकी स्वस्थ और ह्रासमूलक स्थितिका प्रभाव साहित्यपर पड़ता है। परन्तु इसी एक आधारपर साहित्यिक कृतिकी कला समीक्षा असम्भव है, क्योंकि ह्रासोन्मुख फ्रान्सीसी समाजने प्रस्तकी सिम महान् रचनाको जन्म दिया

वह कला-संकेतों एवं अभिव्यंजनामें सब प्रकार पुष्ट एवं उत्कृष्ट है। वास्तवमें साहित्य और समाजके सूक्ष्म सूत्रोंकी अन्त प्रक्रियाको सम्यक् रूपमें उपस्थित करना कठिन है और किन्हीं निर्भ्रान्त मूल्योंकी स्थापना अभीतक नहीं हो सकी है। फिर भी कृतिकी कुछ त्रुटियों, अतिवादों और विकृतियोंको समाजके सन्दर्भमें समझा जा सकता है। लेखक और श्रोतावर्गके बीचमें यदि असन्तुलन है, यदि श्रोतावर्ग कुण्ठाग्रस्त और संकीर्णमना है, यदि उसमें कुछ मूलभूत सामाजिक निरोध हैं, तो रचनामें स्वस्थ दृष्टिकोणका अभाव होगा और उसके प्रतीक जीवनसंकीर्णक होंगे जीवनप्रसारक नहीं। परन्तु साहित्य और समाजका स्वास्थ्य क्या चीज है और उसके उपकरण क्या हैं, इन मान्यताओंका निर्भ्रान्त निर्माण किये बिना हम इस प्रसंगको परिणति नहीं दे सकते। —रा० र० भ०

साहित्यरूप—१ तात्त्विक दृष्टिसे रूपकी स्थिति मानसिक या भावनात्मक है। किसी भी वस्तुका मानसिक अनुभव अनेक तत्त्वोंका एक संघटित आकार होता है। वास्तवमें वही रूप है। दार्शनिकोंने वस्तुजगत्‌में रूपकी नश्वरता, अत अनित्यताको स्वीकार करते हुए भी रूपकी भावनाको नित्य और परम माना है। प्लेटो तो मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुओंके रूपको भी नित्य मानता है (रिपब्लिक, १०)। कला-कृतियोंके रूपका आदि स्रोत भी इस प्रकार मानव-मन ही है।

परन्तु रूप क्या है? इस प्रश्नपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे आज भी अरस्तूकी यह धारणा सत्य प्रतीत होती है कि रूप किसी वस्तुके अस्तित्वका वह आभ्यन्तर कारण है, जिसके द्वारा उस वस्तुके उपादान (मैटेरियल)को आकार प्राप्त होता है (मेटाफिजिक्स)। इस सिद्धान्तके अनुसार कला-कृतिमें भी रूपका तात्पर्य उन समस्त तत्त्वोंसे समन्वित, संघटित आकार है, जिनसे उस कृतिके विशिष्ट गुणोंका निश्चय होता है। इन तत्त्वोंमें अर्थ और अभिव्यंजनाके साथ वह उपादान भी सम्मिलित है, जिसे अर्थ और आकार दिया जाता है।

साहित्यकार अपने उपादान—भाषाको जो रूप प्रदान करता है वह पहले उसके मनमें उठा हुआ अस्पष्ट, रूपहीन विचाराभास होता है। इसी विचाराभाससे कृतिकारको रचनाकी प्रेरणा मिलती है और जब विचाराभास स्पष्ट अनुभव या विचार बन जाता है तभी कहा जा सकता है कि उसे रूप प्राप्त हो गया है। इस तात्त्विक अर्थमें रूप अभिव्यंजनासे भिन्न है, क्योंकि रूप तो वह सिद्धान्त है, जिसके द्वारा उपादानको आकार मिलता है और इस कारण रूप और उपादानका सामंजस्य पृथक्करणकी सम्भावनासे परे है, परन्तु अभिव्यंजना चाहे कितनी भी पूर्ण क्यों न हो, उसके आधार और आधेयमें इतनी एक-रूपता नहीं आ सकती। इसका यह तात्पर्य नहीं कि साहित्यमें अभिव्यंजनाका स्थान निम्न है। अभिव्यंजना-वादियोंकी बात छोड़ दें तब भी साहित्यमें अभिव्यक्तिका तत्त्व अत्यन्त मूल्यवान् है, क्योंकि उसीके आधारसे उपादान-पर आरोपित रूपका अनुभव प्राप्त होता है।

इसी प्रकार रूप और शैलीमें भी अन्तर है। शैली वह प्रक्रिया है, जिसमें हम किसी वस्तुको समाविष्ट देखते हैं। रूपका सम्बन्ध वस्तुसे होता है, प्रक्रियासे नहीं। शैली बदली जा सकती है। किसी साहित्यिक कृतिकी शैलीको हम तभी पहचान सकते हैं, जब यह जान लें कि वह प्रक्रियाओंको मूर्त करनेका एक तत्त्वमात्र है तथा इस वृत्तिको दूसरे ढंगसे, दूसरी शैलीमें भी प्रस्तुत किया जा सकता है। फिर भी प्रक्रियाको समझ लेने तथा कृतिको उसमें प्रतिष्ठित कर लेनेके बाद रूपात्मक तत्त्व और शैलीतत्त्वमें अन्तर नहीं रह जाता। वस्तुको वस्तुके रूपमें देखकर जिसे हम रूपतत्त्व कहते हैं, वही वस्तुको समाविष्ट करनेवाली प्रक्रियाकी दृष्टिसे देखनेपर शैलीतत्त्व कहलाता है।

साहित्यमें रूप और उपादानकी अभिन्न परिणतिकी व्याख्या करते हुए कुछ आलोचकोंने उसके अंगीय (ऑर-गेनिक) या नैसर्गिक होनेपर जोर दिया है। टी० एस० इलियटने उन साहित्यरूपोंको जो स्वभावत किसी रचनाके सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होते हैं, भाषा-विशेष, काल-विशेष और कवि विशेषसे सम्बद्ध किया है। जो रूप एक भाषाके लिए स्वाभाविक है, वही दूसरीके लिए यान्त्रिक और कृत्रिम लगता है, जो रूप किसी काल-विशेषमें उपयुक्त होता है, वही कालान्तरमें अपनी उपयुक्तता खो बैठता है। इसी प्रकार एक प्रतिभाशाली कवि जिस रूपको अपनी रचनाके उपयुक्त बना लेनेमें समर्थ होता है, दूसरा कवि, जो केवल बने-बनाये साँचेमें अपने भाव उँड़ेलनेमात्रकी योग्यता रखता है, उसी रूपको निरर्थक बना डालता है। अत साहित्यमें रूपकी समस्या वस्तुत अर्थ और आकारगत तत्त्वोंको इस प्रकार स्वाभाविक ढंगसे मिला देनेकी समस्या है कि दोनोंमें सम्पूर्ण संगति और समरूपता दिखाई दे।

२ रूपकी इस तात्त्विक विवेचनाके उपरान्त रूपके व्यावहारिक पक्षका उल्लेख भी आवश्यक है, जिनमें रूप **प्रकार, विधा** या **भेद**के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टिसे साहित्य अनेक रूपोंमें हमारे सम्मुख आता है। इन रूपोंको कई प्रकारसे वर्गीकृत करनेके प्रयत्न किये गये हैं।

साहित्यको वर्गीकृत करनेका विचार मनमें आते ही प्रश्न उठता है कि साहित्य शब्दकी अर्थव्याप्ति क्या है? व्यापक अर्थमें साहित्यको **वाङ्मय**की संज्ञा दी गयी है (दे०—'वाङ्मय')। प्राचीनतम कालमें कदाचित् समस्त साहित्यिक कृतित्व मौखिक रूपमें ही चलता था। परन्तु अब हम साहित्यका पहला वर्गीकरण मौखिक और लिखित, इन दो रूपोंमें कर सकते हैं। इस वर्गीकरणका कोई गम्भीर और तात्त्विक आधार नहीं है, क्योंकि मौखिक और लिखित साहित्यमें परस्पर गहरा साम्य और एकरूपता सम्भव है। इसी प्रकारका दूसरा स्थूल वर्गीकरण भाषाकी लय ताल सम्बन्धी शब्द-योजनाके आधारपर **गद्य** और **पद्य**के रूपमें किया जाता है। इस आधारपर एक तीसरा भेद गद्य पद्य या **चम्पू** नामका भी बताया गया है, जिसमें गद्य और पद्यका सम्मिलित प्रयोग होता है। भाषामें बद्ध मनुष्यके सम्पूर्ण कृतित्वको, चाहे वह मौखिक हो या लिखित, यदि हम वर्गीकृत करना चाहें, तो सबसे पहले दो स्थूल भेद लक्षित होते हैं—एक वह, जिसका लक्ष्य हमारी हार्दिक वृत्ति

होती है और जो प्रधान रूपसे हमारा रजन करता है और दूसरा वह, जिसका लक्ष्य हमारी वोधवृत्ति होती है और जो प्रधान रूपसे हमारा ज्ञान-वर्धन करता है। परन्तु इन दोनों प्रकारके साहित्योंके बीच विभाजक रेखा खींचना प्राय कठिन हो जाता है, क्योंकि हार्दिक वृत्ति और वोधवृत्तिमें स्वाभाविक अन्त सम्बन्ध है (दे०–'उपयोगी साहित्य')। फिर भी इस दृष्टिसे साहित्य या वाङ्मयके जो भेद कि गये हैं, वे क्रमश **ललित** या **सरस साहित्य** और **उपयोगी साहित्य**के नामसे अभिहित हैं। **उपयोगी साहित्य** पुन दो प्रधान भेदोंमें विभक्त हो सकता है। एक **कल्पनाश्रित** या **विचार-प्रधान** साहित्य है, जैसे दर्शन, और दूसरा **प्रयोगाश्रित**, जो पुन दो प्रकारका होता है—अनुमान-ज्ञानपर आधारित **शास्त्र** तथा निश्चय-ज्ञानपर आधारित **विज्ञान**। राजशेखरने 'काव्यमीमासा'में काव्यसे भिन्न शास्त्रका विवरण दिया है, जो **उपयोगी साहित्य**का ही समानार्थी है। शास्त्रके उन्होंने विषयानुसार अनेक भेद गिनाये हैं (दे०–'काव्यमीमासा', अध्याय २, ८, १०)। **उपयोगी साहित्यको जिज्ञासात्मक साहित्य** भी कह सकते हैं। सरस या ललित साहित्य भी दो प्रधान भेदोंमें विभक्त किया गया है—एक **अनुभवात्मक** या **इन्द्रियाश्रित** और दूसरा **कल्पनात्मक** या **हार्दिक**। अनुभवात्मक या इन्द्रियाश्रित साहित्यके **कथात्मक**(नैरेटिव) और **वर्णनात्मक** (डिस्क्रिप्टिव), दो मुख्य भेद हैं तथा हार्दिक साहित्यके भेदोंमें पद्यबद्ध रचनाओंके अनेक रूप हैं।

सस्कृत-काव्यशास्त्रियोंमें सबसे प्रथम भामह(पाँचवीं शती)ने अपने 'काव्यालकार'(१६ ३६)में काव्यके पहले गद्य और पद्य, दो भेद किये, फिर भाषाके आधारपर सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश—तीन भेद देकर विषयकी दृष्टिसे (१)इतिहासपर आधारित चरितकाव्य, (२) उत्पाद्य(कल्पित) वस्तुवाले काव्य, (३)कला-प्रधान काव्य और (४)शास्त्रप्रधान काव्य—ये चार भेद किये हैं। इसके उपरान्त उन्होंने (१) सर्गवन्ध (**महाकाव्य**), (२) अभिनेयार्थ (**नाटकादि**), (३) **आख्यायिका** और (४) **कथा**, ये चार प्रकारके **प्रवन्ध काव्य** तथा (५) अनिवद्ध (**मुक्तक**), कुल पॉच भेद किये हैं। दण्डी(सातवीं शती)ने गद्य, पद्य और मिश्र अर्थात् चम्पू—काव्यके त्रिविध भेद देकर मुक्तक, कुलक, कोष, सघात, इसी प्रकारके अन्य तथा सर्गवन्ध महाकाव्यके रूपमें पद्यकाव्यके भेद किये हैं (काव्यादर्श १ ११ १४) तथा गद्य-काव्यके कथा और आख्यायिका नामक दो भेद बताये गये हैं (वही २३) एव मिश्रके नाटकादि और श्रव्य-मिश्र चम्पूका उल्लेख किया है (वही ३१)। वामनने काव्यके गद्य और पद्य, द्विविध भेदोंके अनिवद्ध (मुक्तकादि) और वद्ध (खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि), दो रूपोंका उल्लेख करके केवल निवद्धकाव्यके अवान्तर भेदोंका वर्णन किया है। **निवद्ध (प्रवन्ध)** काव्यको उन्होंने **सन्दर्भकाव्य** भी कहा है और दशरूपक(नाटकादि)को उत्तम बताया है। काव्यके अन्य भेदों कथा, आख्यायिका, महाकाव्य आदिको दशरूपकका ही विस्तार कहा गया है (काव्याल० सू० वृ० १ ३ २६ ३०)। राजशेखर(दशवीं शती)ने मुक्तक और प्रवन्ध, द्विविध काव्यके पाँच पाँच भेद और बताये हैं। ये हैं—शुद्ध, चित्र (सप्रपच), कथोत्थ (ऐतिहासिक इतिवृत्त), संविधानकाव्य (सम्भावित इतिवृत्त), आख्यानकवान् (परिकल्पित इतिवृत्त), (का० मी० अ० ८)। 'ध्वन्यालोक'-(३ ७)में प्रसंगवश काव्यके जिन भेदोंका उल्लेख किया गया है, उनमें भी मुक्तक और प्रवन्ध—ये ही दो प्रधान भेद हैं। मुक्तक एक श्लोककी रचना होती है, परन्तु **सन्दानितक** (दो श्लोकोंमें अन्वित), **विशेषक** (तीन श्लोकोंमें), **कलापक** (चार श्लोकोंमें) और **कुलक** (पाँच श्लोकोंमें) भी मुक्तकके ही भेद कहे जा सकते हैं। **पर्यायवन्ध** वर्णनात्मक प्रवन्ध होता है, जिसमें वसन्तादिका वर्णन किया जाता है। **परिकथा** (किसी एक पुरुषार्थके उद्देश्यवाली अनेक कथाओंसे समन्वित कथा), **खण्डकथा** (वड़ी कथाके एक अशका वर्णन करनेवाली), **सकलकथा** (फलसहित सम्पूर्ण इतिवृत्त), सर्गवन्ध (**महाकाव्य**), अभिनेयार्थ (**नाटकादि**), **आख्यायिका** और **कथा** कथात्मक प्रवन्धोंके भेद हैं (दे०–'कथाकाव्य')।

विश्वनाथ कविराज(तेरहवीं शती)ने उक्त पूर्ववर्ती आचार्योंके आधारपर इस विषयमें कुछ अधिक विस्तार किया है। 'साहित्यदर्पण'के छठे परिच्छेदमें नाटकादिका वर्णन करनेके उपक्रममें एक नवीन आधारपर काव्यके **दृश्य** और **श्रव्य**, दो भेद किये गये हैं। दृश्य काव्यको **रूपक** (दे०) भी कहते हैं और उसके दस भेद हैं। दस रूपकोंके अतिरिक्त अठारह **उपरूपक** (दे०) भी होते हैं। दृश्य काव्यके विस्तृत निरूपणके वाद **श्रव्य काव्य**का वर्गीकरण किया गया है (सा० द० ६ ३१३-३३७)। श्रव्य काव्य तीन प्रकारका होता है—पद्य, गद्य और गद्यपद्य (चम्पू)। पद्यके पुन दो प्रधान भेद होते हैं—मुक्तक और प्रवन्ध। एक श्लोक या छन्दके मुक्तक काव्यके अतिरिक्त उपर्युक्त **सन्दानितक** आदिका भी उल्लेख किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ 'ध्वन्यालोककारने' दो श्लोकोंमें अन्वित काव्यको सन्दानितक कहा है, वहाँ विश्वनाथ कविराज उसे **युग्मक** कहते हैं तथा विशेषक और सन्दानितकको एक ही मानते हैं।

प्रवन्ध काव्यके विश्वनाथने केवल तीन भेद गिनाये हैं। पच सन्धियों तथा अन्य विशिष्ट गुणोंसे युक्त एक कथाके निरूपक पद्यमय काव्यको **महाकाव्य** (दे०) कहते हैं, जिस सर्गमय एक कथाके निरूपक काव्यमें सब सन्धियाँ न हों उसे **काव्य**की सज्ञा दी जाती है तथा काव्यके एक अशका अनुकरण करनेवाले, 'एकदेशानुसारी' काव्यको **खण्डकाव्य** (दे०) कहते हैं। वामनके अनुसार गद्य-शैलियोंका निरूपण करनेके उपरान्त विश्वनाथने गद्यके केवल दो मुख्य भेद गिनाये हैं—**कथा** और **आख्यायिका**। **कथा**में कहीं कहीं छन्दोंका प्रयोग किया जाता है। प्रारम्भमें पद्यमय नमस्कार तथा खलादिक-वृत्तकीर्तन होता है। 'कादम्बरी' इसका उदाहरण है। आख्यायिका कथाके ही समान होती है, परन्तु उसमें कवि वश-वर्णन तथा अन्य कवियोंका वृत्तान्त भी दिया जाता है। इसमें भी कहीं-कहीं पद्यका प्रयोग होता है। इसमें कथाभाग **आश्वास** कहलाते हैं तथा प्रत्येक आश्वासके आरम्भमें अगली कथाका सकेत किया जाता है। 'हर्षचरित' इसका

उदाहरण है। **आख्यान** आदि कथा और आख्यायिकामें ही अन्तर्भूत होते हैं। आर्ष काव्य, जैसे, 'महाभारत'में सर्गके नामको भी आख्यान कहते हैं। कथा और आख्यायिकामें भामहके अनुसार यह अन्तर है कि जहाँ **आख्यायिका** उच्छ्वासोंमें विभक्त होती है तथा उसमें वक्ता-प्रतिवक्ताके रूपमें नायक स्वयं अपने वृत्तान्तका वर्णन करता है, वहाँ **कथा** वक्ता, प्रतिवक्ता तथा उच्छ्वास आदि विभागोंसे रहित होती है। उसमें कन्या-हरण, उसके कारण संग्राम, उसके वियोग और पुनः प्राप्तिका वर्णन होता है, कथानक कल्पित होता है तथा उसका नायक अपने चरित्रका वर्णन नहीं करता, अन्य लोग अपना और नायकका वर्णन करते हैं। इस सम्बन्धमें विश्वनाथने दण्डी-का उद्धरण दिया है कि आख्यायिकाका केवल नायक द्वारा वर्णित होना कोई नियम नहीं है, उसमें कथाकी तरह अन्य लोगोंके वचन होते हैं।

गद्य पद्यमय काव्यका, जिसे **चम्पू** कहते हैं, विश्वनाथने एक विशिष्ट रूप **विरुद** बताया है। इसमें राजस्तुति की जाती है। अन्तमें उन्होंने काव्यके एक और नवीन भेद **करम्भक**का उल्लेख किया है, जो विविध भाषामें लिखा जाता है।

संस्कृत आचार्यों द्वारा दिये गये उपर्युक्त काव्य-भेदोंमेंसे दृश्य और श्रव्यका भेद तो अत्यन्त स्पष्ट है। **दृश्य**(दे०)के अन्तर्गत नाटकादि अभिनेय काव्यरूप आते हैं। ये सदैव ही गद्य-पद्यमय रहे हैं, परन्तु इन्हें चम्पू नहीं कहा गया। संस्कृत नाटकोंमें पद्यकी प्रधानता रहती थी, परन्तु आधुनिक नाटक सर्वथा गद्यमय होते हैं, प्रसङ्गवश आये हुए गीतोंमें ही पद्यका प्रयोग किया जाता है। श्रव्यके अन्तर्गत श्रवणीय (कथा-कहानी, रेडियो नाटकादि), वाचनीय, अध्ययनीय और मननीय—सभी प्रकारका गद्य या पद्यमें रचित कथा, प्रबन्ध, निबन्ध आदिका साहित्य आ सकता है। यद्यपि नाटकादि अभिनेय होनेके साथ साथ पठनीय भी होते हैं, परन्तु वर्गीकरणके परस्पर सङ्क्रमणको बचानेके लिए हम श्रव्यकी व्यापक परिभाषाके अन्तर्गत वह समस्त साहित्य ले सकते हैं जो **दृश्य** न हो।

श्रव्य काव्य या साहित्यके प्रथमतः चार प्रधान भेद हो सकते हैं—**मुक्तक, प्रबन्ध-निबन्धात्मक, कथात्मक** और **गीत्यात्मक**। यद्यपि 'ध्वन्यालोक'में ऐसा उल्लेख नहीं है, परन्तु व्यवहारमें यह अपवादरहित जान पड़ता है कि मुक्तक पद्यमें ही होता है। प्राचीन परिभाषाओंमें एक श्लोककी प्रबन्ध-निरपेक्ष रचनाको मुक्तक कहा गया है। एकसे अधिक श्लोक होनेपर कदाचित् वर्ण्य विषय एक होनेपर भी, रचनाको मुक्तक नाम न देकर श्लोकोंकी संख्याके आधारपर सन्दानितक, कलापक, कुलक आदि नाम दिये गये हैं। पद्यकी इन रचनाओंको यदि **पद्य-निबन्ध** (दे०) कहा जाय तो अनुचित न होगा, क्योंकि इनमें किसी एक विषयको ही सीमित विस्तारमें काव्य बद्ध किया जाता है। परन्तु एकसे अधिक श्लोकोंवाली इन रचनाओंके व्यावहारिक उदाहरणोंके अभावमें निश्चयात्मक रूपसे अधिक नहीं कहा जा सकता। फिर भी मुक्तकके अन्तर्गत आधुनिक कालमें अनेक छन्दोंवाली उन रचनाओंको तो सम्मिलित किया ही गया है, जिन्हें **गीतिकाव्य**(दे०)-की सामान्य संज्ञा दी गयी है। संस्कृतके साहित्यशास्त्रमें गीतिकाव्यका कोई उल्लेख नहीं है, गीतिको कदाचित् साहित्यकी गरिमासे हीन समझकर ही उसकी उपेक्षा हुई है। प्राचीन पाश्चात्य साहित्यशास्त्रमें काव्यके **एपिक (वीराख्यान काव्य या महाकाव्य)** और **ड्रामा (नाटक)**के साथ **लिरिक** (गीति) भी एक प्रधान काव्यरूप माना गया है। परन्तु वहाँ भी लिरिकको इतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना **एपिक** और **ड्रामा**को। आधुनिक कालमें गीतिको जो महत्ता मिली है, उसीसे प्रभावित होकर संस्कृत साहित्यके नये समीक्षकोंने संस्कृत काव्यशास्त्रके मुक्तकमें ही गीतिको अन्तर्भूत मान लिया है। हिन्दीके कुछ समीक्षकोंने इसी भावसे मुक्तकके दो भेद किये हैं—**मुक्तक या सूक्ति मुक्तक** और **प्रगीत मुक्तक**। परन्तु वास्तवमें **गीतिकाव्य** एक स्वतन्त्र वर्ग है। मुक्तक काव्यके विषय और संग्रहकी दृष्टिसे अनेक रूप हो सकते हैं, जैसे, विषयकी दृष्टिसे कबीर आदि सन्तोंकी सूक्तियाँ **साखी** (दे०) कही जाती हैं, वृन्द, गिरिधर आदि कवियोंकी रचनाएँ **नीतिकाव्य** (दे०) नामसे प्रसिद्ध हैं। संस्कृतमें इन्हें **सुभाषित** कहते थे। मुक्तकोंके अनेक संख्याओंके संग्रह प्राप्त हैं। हिन्दीमें पाँच पद्योंके संग्रह **पंचक**से लेकर, जिसे संस्कृतका **कुलक** कह सकते हैं, **सप्तक, अष्टक, दशक, बाईसी, पचीसी, छब्बीसी, बत्तीसी, पचासा, बावनी, साठी, बहत्तरी, शतक, सतसई** (सप्तशती) और **हजारा**तक अनेक प्रकारके संग्रह हैं।

इन संग्रहोंमें प्रायः सभी पद्य मुक्तक अर्थात् पूर्वापर-प्रसङ्ग-निरपेक्ष होते हैं। जिन छोटे-छोटे संग्रहों, जैसे, 'हनुमानपंचक' (सुमान बन्दीजन), 'रामाष्टक' (गिरिधरदास), 'छत्रसाल दशक' (भूषण), 'खटमल बाईसी' (अलीमुहिब खाँ), 'हनुमतपचीसी' (गणेश, भगवन्तराय खीची) 'हनुमत-छब्बीसी' (मनियार सिंह), 'शिवाबावनी' (भूषण), 'सूरसाठी' (सूरदास), 'लक्ष्मणशतक' (सुमान बन्दीजन), 'वीरसतसई'-(वियोगी हरि)में न्यूनाधिक मात्रामें विषयकी एकता है, उनमें भी प्रत्येक पद्य अपनी स्वच्छन्द सत्ता रखता है। इन रचनाओंको मुक्तकता और निबन्धात्मकताका समन्वय कहा जा सकता है। कुछ तो निश्चित रूपसे पद्य-निबन्ध ही हैं। किसी एक विषयपर अनेक छन्दोंकी रचना भी, जिसमें किसी दृश्यादिका वर्णन हो या सम्बद्ध विचार प्रकट किये गये हों, **पद्य-निबन्ध** या **पद्य-प्रबन्ध** नामसे अभिहित की जा सकती है (दे०—'पद्य प्रबन्ध')। प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट **पर्याय-निबन्ध** वस्तुतः **पद्य-निबन्ध** ही हैं। ये निबन्धात्मक रचनाएँ अनेक रूप और आकारकी हो सकती हैं, परन्तु उनका कोई वर्गीकरण नहीं किया गया है। वर्गीकरण केवल **गीतिप्रधान** अर्थात् आत्मनिष्ठताप्रधान कविताओंका हुआ है, विषयप्रधान वर्णनात्मक पद्योंको तो मात्र **कविता** (दे०) नामसे ही अभिहित किया जा सकता है।

पद्यात्मक निबन्धोंके अतिरिक्त अनेक प्रकारके गद्यात्मक निबन्धोंकी रचनाएँ होती हैं, यथा, निबन्ध, लेख,

प्रबन्ध, थीसिस, संस्मरण, यात्रा, रिपोर्ताज आदि। इनमें कुछ आत्मनिष्ठताप्रधान होती हैं और कुछमें निरपेक्ष दृष्टिसे वैज्ञानिक विषय-प्रतिपादन किया जाता है। पुन कुछ आकारमें अत्यन्त लघु और कुछ बहुत बडी होती है।

संस्कृतके आचार्योंने यद्यपि समस्त कथात्मक साहित्यको, जिसमें अभिनेय साहित्य भी सम्मिलित है, प्रबन्धकी सज्ञा दी है, परन्तु क्योंकि आधुनिक कालमें प्रबन्ध शब्द गद्यकी विषय-प्रधान विचारात्मक रचनाओंके लिए प्रचलित हो गया है तथा विषय-प्रधान कविताओंको भी **पद्य प्रबन्धका** नाम दिया गया है, अत उन प्रबन्धोंका जिनमें किसी कथाके आधारपर रचना की गयी हो, **कथात्मक साहित्यके** नामसे एक भिन्न वर्ग बनाया जा सकता है। कथात्मक साहित्य पद्य और गद्य, दोनोंमें हो सकता है। पद्यमय कथात्मक साहित्यके लिए **प्रबन्धकाव्य** नाम भी प्रचलित है और उसके अन्तर्गत **महाकाव्य** और **खण्डकाव्य** तथा उनके भिन्न भिन्न विशेषताओंवाले अनेक रूप आते हैं। **आख्यानक गीत(साहित्यिक लोकगाथा** या **बैलेड)**में कथात्मकता और गीतितत्त्वोंका समन्वय पाया जाता है और वह **गीति** और **कथा-प्रबन्धके** बीचका रूप है। गद्यात्मक कथासाहित्यमें **कथा, कहानी, लघुकथा, उपन्यास, लघु उपन्यास (उपन्यासिका), आत्मकथा** आदि अनेक नवीन साहित्यरूपोंका विकास हुआ है। प्राचीन **कथा, आख्यायिका, आख्यान, परिकथा, सकल कथा** आदि रूप अब लुप्त हो गये हैं।

गीत्यात्मक साहित्यको मुक्तकमें अन्तर्भुक्त न मानकर एक स्वतन्त्र वर्गमें रखनेका केवल यही कारण नहीं है कि इस प्रकारकी रचनाएँ आधुनिक भाषाओंमें अपेक्षाकृत अधिक हुई हैं तथा उनमें स्वत विविध लक्षणोंवाले विविध प्रकार-भेद पाये जाते हैं, बल्कि इनके भिन्न वर्गमें रखनेका औचित्य यह भी है कि इनकी प्रकृति ही विशेष प्रकारकी होती है। इनके रचयिताकी आत्माभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष, सघन और तीव्र होती है तथा ये कहीं अधिक भावावेश और भाव-संहितिसे युक्त होती हैं। आधुनिक समीक्षामें गीति-काव्यको क्या महत्ता मिली है, यह इस बातसे प्रमाणित होता है कि समस्त साहित्यके एक वर्गीकरणका आधार रचयिताका आत्मपरक दृष्टिकोण भी है। इस आधारपर साहित्यका एक वर्ग **बाह्यार्थनिरूपक** (शुक्ल), **बाह्यार्थ-व्यंजक, बाह्यार्थमूलक, बाह्यवादी, वस्तुपरक** (–मूलक या –प्रधान) अथवा **विषयपरक** (–मूलक या –प्रधान) कहा जाता है और दूसरा **स्वानुभूतिमूलक** (शुक्ल), **स्वानुभूति-व्यंजक** (–निरूपक, –परक, –प्रधान), **अध्यान्तरिक** (श्रीकृष्णलाल), **अन्तर्वादी, आत्माभिव्यंजक, स्वात्म-परक** (-मूलक, -निरूपक -प्रधान, -व्यंजक), **स्वात्मनिष्ठ, आत्मनिष्ठ, व्यक्ति-प्रधान** (-परक, -मूलक, -व्यंजक), **विषयिप्रधान** (-मूलक, व्यंजक, -परक) अथवा भाव-प्रधान या भावात्मक कहलाता है। पहलेमें रचयिताका दृष्टिकोण निरपेक्ष या तटस्थ (ऑब्जेक्टिव) होता है, वह अपनी व्यक्तिगत भावना, रुचि और प्रवृत्तिको सीधे तौरपर व्यक्त नहीं करता। परन्तु स्वात्मनिष्ठ या अध्यान्तरिक (सब्जेक्टिव) रचनाओंमें हम रचयिताके व्यक्तित्वका सीधा और घनिष्ठ परिचय पाते हैं। दृष्टिकोणकी इस विशेषताके ही कारण इस प्रकारके काव्यमें लेखककी सवेदनामें प्रेरणा और सद्य स्फूर्तिका अश कहीं अधिक होता है तथा उसकी कृति भावानुभूतिकी दृष्टिसे अधिक प्रभावोत्पादक और मार्मिकतापूर्ण होती है।

गीतिकाव्य(दे०)के विभिन्न लक्षणोंकी न्यूनता-अधिकता-के आधारपर उसके अनेक भेद किये गये ह। हिन्दीके पुराने साहित्यमें भक्त कवियोंके **पद** गीतिकाव्यके एक विशेष रूपके उदाहरण हैं। एक दूसरा प्रकार स्तोत्रों या **स्तुति-गीतोंका** है। **गीत** (पाश्चात्य साहित्यका लिरिक या सांग) जिन्हें **लोकगीतोंका** एक विशिष्ट वर्ग कहा जा सकता है, **गीतिकाव्यका** सबसे प्राचीन रूप है। अनेक अवसरोंके समवेत गीत (पाश्चात्य साहित्यका कोरिक लिरिक), जिन्हें **समूहगीत, वर्गगीत** या **समाजगीत** कह सकते हैं, **गीतकी** ही भाँति प्राचीन हैं। **भावगीति** आधुनिक गीतिकाव्यका सबसे अधिक प्रकृत रूप कहा जा सकता है। इसके भी अनेक रूप और प्रकार हो सकते हैं। प्रेमकी भावना ही इसका प्रधान विषय होता है, अत इसका एक विशेष वर्ग **प्रेमगीति** या **प्रणयगीति** नामसे अभिहित किया जा सकता है। एक प्रमुख भेद **सम्बोधगीति** (ओड) नामक भी है। करुणगीति या **शोकगीति** (एलिजी) भी गीति-कवियोंका एक सर्वप्रिय गीतिरूप है। इनके अतिरिक्त **राष्ट्रगीत, राष्ट्रगान, राष्ट्रीय गीत, व्यंग्यगीति** (सैटायर), **पत्रगीति** (एपिसिल्स) और **सॉनेट** भी गीतिकाव्यके अन्य रूप हैं। पद्यके अतिरिक्त गद्यमें भी गीतिरचना होती है जिसे **गद्यगीत** या **गद्यकाव्यकी** सज्ञा दी जाती है।

साहित्यके इन सभी वर्गों—अभिनयात्मक, मुक्तक, प्रबन्ध-निबन्धात्मक, कथात्मक तथा गीत्यात्मककी रचना गद्य, पद्य या गद्य-पद्यकी सम्मिलित शैलियोंमें होती है। परन्तु सस्कृत साहित्यमें गद्य पद्यके मिले-जुले रूपका **चम्पू** नाम दिया गया है। इस नामका आधुनिक भाषाओं-में प्रयोग नहीं होता।

इन सभी वर्गोंके विभिन्न प्रकारके साहित्य-रूपोंपर पृथक् टिप्पणियाँ द्रष्टव्य हैं। —ब्र० व०

साहित्य विधा–दे०—'साहित्यरूप'।

साहित्यिक लोकगाथा–लोकगाथाके रोमासिक तत्त्वों, सहज भावावेग और सीधी-सादी शैलीसे प्रभावित होकर दरबारी या शिक्षित वर्गके कवि भी जब उसी शैलीमें ऐति-हासिक या निजन्धरी (लिजेण्ड्री) विषयोंपर रोमानिक, धार्मिक या वीरभावनापूर्ण कथाकाव्यकी रचना करते हैं, तो ऐसे काव्योंको साहित्यिक लोकगाथा कहा जाता है। विशिष्ट कवियों द्वारा रचित इस प्रकारके लोकगाथात्मक काव्योंको अँग्रेजीमें साहित्यिक लोकगाथा (लिटरेरी बैलेट) या दरबारी लोकगाथा (कोर्ट बैलेट) कहा जाता है। अँग्रेजीके सुप्रसिद्ध कवि कॉलरिजके काव्य 'एन्शेण्ट मेरिनर' और 'क्रिस्टाबेल'को इसी प्रकारकी साहित्यिक लोकगाथा माना जाता है। सर वाल्टर स्काटने स्काटलैण्डके चारणोंके बीच फैली बहुत सी लोकगाथाओंका सग्रह किया था और स्वय भी स्काटलैण्डकी ऐतिहासिक और निजन्धरी कथाओं और घटनाओंको लेकर अनेक छोटे-बडे कथात्मक काव्योंकी

रचना की थी, जैसे 'ले ऑफ द लास्ट मिन्स्ट्रेल', 'द लेडी ऑफ द लेक', 'हैराल्ड द डौण्टलेस' आदि। इन काव्योंको भी अँग्रेजी साहित्यमें साहित्यिक बैलेड ही माना जाता है। वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज लोकगाथाके स्वच्छन्दतावादी तत्त्वोंसे इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अपने नवीन स्वच्छन्द शैलीके प्रगीत मुक्तकोंके संग्रहको प्रगीतात्मक लोकगाथा (लिरिकल बैलेड) की संज्ञा दी थी, यद्यपि वे कविताएँ गीति या प्रगीत मुक्तक ही हैं, लोकगाथा नहीं।

साहित्यिक लोकगाथाएँ मुख्यतः तीन प्रकारकी होती हैं—१ मध्यकालीन राजाश्रित चारण भाटों द्वारा रचित, २ मध्यकालीन लोकाश्रित या धर्माश्रित कवियों द्वारा लिखित, ३ स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) के प्रारम्भके बाद आधुनिक कवियों द्वारा लिखित। मध्यकालीन दरबारी कवि (चारण-भाट) अपने आश्रयदाता या उनके पूर्वजोंके सम्बन्धमें लोक-प्रचलित गाथाओंकी शैलीमें काव्य रचा करते थे। उन काव्योंको जब लोकप्रियता प्राप्त हो जाती थी, तो वे भी जनताकी सम्पत्ति बन जाते थे और इस तरह व्यक्तिविशेष द्वारा रचित होनेपर भी लोकमें प्रचलित और विकसित होनेके कारण वे वास्तविक लोकगाथाका रूप धारण कर लेते थे। हिन्दीमें 'आल्हखण्ड' सम्भवतः परमर्दिदेवके दरबारी भाट जगनिक द्वारा रचा गया था, जो बादमें जनता द्वारा अपनाया जाकर लोकगाथा बन गया। दरबारी कवियों द्वारा रचित लोकगाथात्मक काव्य जनता द्वारा नहीं, बल्कि पेशेवर गायक कवि-जातियों—चारण, भाट, ढाढी, पँवरिया आदिके द्वारा अपना लिये जाते हैं और उन्हींकी वंशपरम्परामें कण्ठानुकण्ठ या लिखित रूपमें उनका संरक्षण और विकास होता रहता है। हिन्दीके आख्यानक काव्य 'ढोला मारूरा दोहा' और 'बीसलदेवरास' इसी प्रकारके दरबारी कवियों द्वारा रचित और पेशेवर जातियों द्वारा संरक्षित और विकसित साहित्यिक लोकगाथाएँ हैं। रामचन्द्र शुक्लने 'बीसलदेवरास'-को वीरगीत कहा है, पर वीरगीतसे उनका तात्पर्य लोकगाथा (बैलेड) से ही है (हि० सा० का इतिहास ५ सं० पृ० ३४)।

किसी विशेष धर्म या सम्प्रदायके आश्रयमें रहनेवाले कवि भी कभी-कभी लोकगाथाकी शैली अपनाकर काव्य रचना करते हैं। उनके काव्य भी कभी-कभी लोकगाथाका रूप धारण कर लेते हैं। पंजाबीमें सूफी कवि वारिस शाहका 'हीर-राँझा' काव्य ऐसी ही लोकगाथा है, जिसका लिखित रूप भी है और जो लोकगाथा-रूपमें प्रचलित भी है। हिन्दीमें मुल्ला दाऊदका सूफी प्रेमाख्यानक काव्य 'लोरिकचन्दा' लोरिकायन नामक लोकगाथाका साहित्यिक रूपान्तर है, अतः उसे भी साहित्यिक लोकगाथा माना जा सकता है, यद्यपि उसमें लोकगाथाकी कुछ विशेषताएँ नहीं मिलतीं। आधुनिक युगमें हिन्दीके स्वच्छन्दतावादी काव्यधाराके कवियोंमें श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहानकी 'झाँसीकी रानी' शीर्षक कविता सच्चे अर्थमें साहित्यिक लोकगाथा मानी जा सकती है, क्योंकि उसकी आत्मा और शैली दोनों ही लोकगाथाकी हैं और उसका प्रचार भी बहुत अधिक हुआ है। श्यामनारायण पाण्डेयके प्रबन्धकाव्य 'हल्दीघाटी' में भी लोकगाथाके तत्त्व कुछ सीमातक मिलते हैं, अतः उसे भी साहित्यिक लोकगाथा माना जा सकता है। —श० ना० सिं०

अँग्रेजी साहित्यमें लोकगाथाके दो भेद किये गये हैं—प्रामाणिक (ऑथेण्टिक) लोकगाथा और साहित्यिक लोकगाथा। प्रामाणिक लोकगाथा मौखिक परम्परासे प्राप्त लोकगाथाओंका लिखित रूप है, जिसके लक्षण और कतिपय उदाहरण अन्यत्र दिये गये हैं (दे०—'लोकगाथा')। महाकाव्यकी तरह लोकगाथाका भी एक विकसनशील रूप रहा है। मौखिक परम्परामें चलते रहनेके कारण प्रायः आने आनेवाली पीढ़ियोंके प्रतिभाशाली गाथा गायक उनमें परिवर्तन करते रहे हैं। हमारे देशमें रासो या रास नामसे जिस नृत्यगीतका चलन अत्यन्त प्राचीन कालसे रहा है, वह वस्तुतः पाश्चात्य साहित्यके बैलेडका ही समकक्ष है। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दीमें विकसित फ्रान्सीसी गीतिपद्यात्मक बैलेडकी भाँति भारतीय रास भी कदाचित् प्रारम्भमें कथा तत्त्वसे रहित कलात्मक नृत्यगीत ही था, कुछ जातियों—गुर्जर, आभीर आदि—में प्रचलित इस नृत्यगीतको धार्मिक प्रचारके लिए भी प्रयुक्त किया जाने लगा। 'श्रीमद्भागवत'का रासनृत्य इसी प्रवृत्तिका एक उदाहरण कहा जा सकता है। धीरे-धीरे इस नृत्यगीतके साथ कथागीतोंका प्रयोग होने लगा और लोक-कवियोंकी प्रतिभा इस लोकप्रिय मनोरंजनके माध्यमसे अभिव्यक्ति पाने लगी। अपभ्रंशमें रचे गये अनेक रास या रासो मिलते हैं, जिनमें अधिकांश जैन-धर्मके प्रचारार्थ रचे गये थे। काव्य रूपमें प्रयुक्त होनेपर रास या रासोकी अपभ्रंशमें ही दो परम्पराएँ विकसित हो गयीं। इनमें एक वह है, जिसमें सम्पूर्ण रचना एक ही छन्दमें की जाती है और छन्दकी कुछ पंक्तियोंके बाद एक ही प्रकारके शब्दोंकी टेकके रूपमें पुनरावृत्ति होती है। हिन्दीका 'बीसलदेवरास' इसी परम्पराका काव्य है और उसे हम साहित्यिक लोकगाथा (बैलेड) का पहला प्रतिनिधि मान सकते हैं। यद्यपि वह एक कवि, नरपति नाल्हकी रचना है, परन्तु मौखिक रूपमें चलते रहनेके कारण उसमें निश्चय ही परिवर्धन हुए हैं, 'आल्हा' या 'आल्हखण्ड' भी, जिसका मूल लेखक जगनिक कहा जाता है, प्रारम्भमें लोकगाथा (बैलेड) के ही रूपमें रचा गया होगा, परन्तु परिवर्धन होते-होते उसका आकार इतना बृहत् हो गया है कि उसे लोक महाकाव्य कहा जा सकता है। फिर भी उसके समस्त प्रकरण या अध्याय, जो प्रायः विवाह या गौनेकी लड़ाइयोंके नामसे प्रसिद्ध हैं, एक-दूसरेसे इतने पृथक् और स्वतन्त्र हैं कि उन्हें अलग-अलग लोकगाथाएँ कह सकते हैं। यह विलक्षण लोकगाथा १९वीं शताब्दीमें लिपिबद्ध होनेके बाद भी वृद्धि पाती रही है और २८ लड़ाइयोंके स्थानपर अब इसमें ५२ लड़ाइयोंके वर्णन हैं। ये सभी लड़ाइयाँ पृथक् रूपमें ही अधिक प्रचलित हैं।

लोकगाथाकी लोकप्रियता और रोमांसिक आकर्षणके ही कारण वह काव्य-रचनाका एक अत्यन्त प्रभावशाली माध्यम बन गया। परन्तु साहित्यिक रूपमें प्रयुक्त होनेपर उसकी अनेक प्रारम्भिक विशेषताएँ नष्ट हो गयीं। वास्तवमें उसका लोकगाथा नाम भी इस ढंगकी साहित्यिक रचनाओंके लिए उपयुक्त नहीं जान पड़ता, क्योंकि उसमें लोकतत्त्वका अभाव हो गया है। नृत्यके साथ तो साहित्यिक

लोकगाथाका कोई सम्बन्ध है ही नहीं। परन्तु कथा और गीतिके तत्त्व उसमें निरन्तर पाये जाते हैं, अत यदि उसके साहित्यिक रूपको **गाथागीत** या **आख्यानक गीत** कहा जाय तो अनुचित न होगा। लोकपरम्पराकी लोकगाथाका विषय जातिसे सम्बन्धित होता है, किसी व्यक्तिविशेषसे उसका सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु साहित्यिक गाथागीत व्यक्तिविशेषसे सम्बन्धित हो सकता है। उसकी शैलीमें भी अधिक परिमार्जन और साहित्यिक सौष्ठव होता है, उसमें रूढ विशेषणोंके साथ साहित्यिक विशेषणोंसे युक्त भाषाका प्रयोग किया जाता है। साहित्यिक गाथागीतोंमें नैतिक तथा उच्च मानवीय आदर्शोंकी अभिव्यक्ति प्राय अनिवार्य रूपमे पायी जाती है। परम्परागत लोककथाओंमें प्रेम, द्वेष, घृणा, आकाक्षा, ममता, करुणा, उत्साह, विस्मय आदि सरल मानवीय भावोंका चित्रण होता है, परन्तु उनके साहित्यिक रूपमें नवीन सामाजिक परिवेशमें उत्पन्न नवीन भावों—देशप्रेम, आत्मबलिदान, विश्वमैत्री आदिका भी चित्रण और काल्पनिक कथाओंके साथ समसामयिक घटनाओंका वर्णन भी अत्यन्त प्रभावशाली रूपमें किया जा सकता है। परन्तु साहित्यिक गाथागीतमें भी कथा-वर्णन और भाव-चित्रणकी सरलता, स्वच्छन्दता और स्वाभाविकता अत्यन्त आवश्यक है। उसमें भी वर्णन विना किसी भूमिकाके आकस्मिक ढंगसे अथवा सक्षिप्त मगलाचरणके बाद तुरन्त आरम्भ कर दिया जाता है। चार, पाँच या छ पक्तियोंके बाद टेकके रूपमें एक या दो चरणोंकी पुनरावृत्ति इसमें भी प्राय मिलती है। हिन्दीमें इन गाथागीतोंकी रचना लम्बे मात्रिक छन्दों—प्राय चौपाई, चौबोला, वीर, हरिगीतिका आदि अथवा उन्हींके अनेकानेक रूपान्तरोंमें हुई है। 'वीरपचरत्न' (भगवानदीन), 'रगमें भंग' (मैथिलीशरण गुप्त) और 'झाँसीकी रानी' (सुभद्राकुमारी चौहान) इसके सुन्दर उदाहरण हैं। सियारामशरण गुप्त, दिनकर, जानकीवल्लभ शास्त्री तथा कुछ छायावादी कवियोंकी रचनाओंमें भी इसके उदाहरण मिल सकते हैं। —व्र० व०

सिंहलगढ़–सिंहलगढ़का जो वर्णन जायसीने 'पद्मावत'में किया है वह हठयोगके आधारपर शरीरका वर्णन है। काम-साधनाके लिए हठयोगी शरीरस्थ चक्रों तथा कुण्डलिनीकी बातें करते हैं। उसे जायसीने ग्रहण किया है। सिंहलगढका वर्णन करते हुए जायसीने स्पष्ट ही कहा है—'गढ तस बाँक जैसि तोरि काया।' इस गढके नौ द्वार कहे गये हैं। इन नवों द्वारोंको पार करनेके लिए सूफी-साधनाके सूफी मार्गको अपनानेकी बात कही है—'चारि बसेरे सों चढै।' अन्तिम द्वार, **दसवाँ द्वार** है, जहाँसे होकर सुषुम्ना ब्रह्माण्डमें प्रवेश करती है। इसी द्वारसे होकर **सहस्रारसे अमृत** झरता रहता है। इस साधनाके लिए गुरुकी आवश्यकता होती है, दसवें द्वारतक पहुँचना तभी सम्भव हो सकता है। —रा० पू० ति०

सिंहविक्रीड–साधारण दण्टकका एक भेद। यह भी प्राकृतकालीन छन्द है। संस्कृतके कवियोंमें इस वृत्तका प्रयोग नहीं मिलता। क्षेमचन्द्रने इसका लक्षण दिया है 'या सिंहविक्रीड' (छन्दोऽनु० अ० २ ३०२) अर्थात् यथेष्ट यगण। भानुने यगण ९ या अधिकका लक्षण इसलिए दिया है कि ९से कम यगणका दण्डक सम्भव नहीं है और पहलेसे ही यह छन्द दण्डकके अन्तर्गत माना जाता रहा है इसलिए यह ९से अधिक यगणका तो होगा ही। सस्कृत छन्द शास्त्रोंमें केदारभट्टके 'वृत्तरत्नाकर', जयकीर्तिके 'छन्दोऽनुशासन'में 'सिंहविक्रीडित' नामसे एक वर्णिक छन्दका उल्लेख है, किन्तु वह दण्डक नहीं है, उसका लक्षण भी न न र र र र है। इस लक्षणके छन्दके सिंहविक्रीडितके अतिरिक्त नाराच या महानाराच, नाराचक, वरदा अथवा निशा नामोंका उल्लेख है (जयदामन पृ० १३९)। स्पष्ट है कि सिंहविक्रीड दण्टक, सिंहविक्रीडित छन्दसे भिन्न है। इसमें सिंहके क्रीड़ा करनेका ध्वनिचित्र है, सम्भवत इसलिए इसका नाम 'सिंहविक्रीड' पडा है। इसमें भगणकी अनेक आवृत्तियाँ हैं इसलिए इसकी उत्पत्तिके मूलमें केशा अथवा धृ (हेमचन्द्र छन्दोऽनु० २-१०, वृ० र० ३-४) अथवा धृति अथवा वन (जयकीर्ति छन्दोनु० २-९) परिवारकी होगी। प्रचलित होनेपर भी किसी कविने इसमें कौशल दिखलानेका प्रयत्न नहीं किया है। 'भुजगप्रयात'का विकसित और विस्तृत रूप दण्टक हो जानेपर 'सिंहविक्रीड' हो जायगा—'नहीं शोक मोही पिता मृत्यु केरो, लहे पुत्र चारो किये यज्ञ केनो।' —ह० मो०

सिंहावलोकन यमक–दे०—'यमक'।

सिद्ध–साधनामें निष्णात, अलौकिक सिद्धियोंसे सम्पन्न, चमत्कारपूर्ण अतिप्राकृतिक शक्तियोंसे युक्त व्यक्ति सिद्ध कहलाते थे। भारतीय अनुश्रुतियोंमें सिद्ध परम्परा बहुत प्रख्यात रही है। ये सिद्ध अजर और अमर माने जाते थे। देवों, यक्षों, डकिनियों आदिके स्वामी माने जाते थे। तान्त्रिक युगमें लगभग प्रत्येक सम्प्रदायमें सिद्धोंकी सूचियाँ मिलती हैं, किन्तु हिन्दी साहित्यमें सिद्ध शब्द बौद्ध सिद्धाचार्योंके लिए प्रयुक्त होने लगा है, जो पूर्वी भारतमें तान्त्रिक साधनाएँ करते थे और प्रज्ञोपायात्मक युगनद्ध द्वारा सिद्धि प्राप्त करते थे। इन सिद्धोंकी सख्या ८४ बतायी जाती है, किन्तु यह इतिहाससम्मत सख्या न होकर तान्त्रिक अर्थोंको व्यजित करती है। बारह राशि और सात नक्षत्रोंका गुणनफल चौरासी है। इन चौरासी सिद्धोंकी कई सूचियाँ मिली हैं, किन्तु उनमेंसे कोई भी आधिकारिक नहीं मानी जा सकती। कुछ सिद्ध ऐसे अवश्य हैं जो सभी सूचियोंमें मिल जाते हैं (दे०—'नाथ')। इन सिद्धोंके विषयमें बहुतसे ऐतिहासिक सकेत भी मिलते हैं, किन्तु किसी निश्चित सामग्रीके अभावमें इनके कालक्रम, जीवन-वृत्त आदिके विषयमें बहुत-कुछ अस्पष्ट है। पदकर्ताओं और दोहाकारोंके नाम इस प्रकार ह— आर्यदेव, ककणपा, कम्बलाम्बरपा, काण्हपा, कुक्कुरीपा, गुण्डुरीपा, चाटिलपा, जयनन्दीपा, डोम्बीपा, ढेंढणपा, तन्त्रीपा, ताटकपा, दारिकपा, धामपा, विरुपा, वीणापा, भद्रपा, भुसुकुपा, महीधरपा, लुईपा, शबरपा, शान्तिपा, सरहपा, तिलोपा, जालन्धरपा, मीनपा। इनमेंसे कई नाम ऐसे हैं जो किसी भी सम्प्रदायकी सूचीमें नहीं पाये जाते। इनका अस्तित्व ८०० ई० से ११०० ई० तक अनुमानित किया गया है। आदि सिद्ध कौन था, इस विषयमें भी दो मत हैं। कुछ परम्पराओंमें लुईपा और

कुछमें सरहपा आदि सिद्ध माना जाता था। इन सभी सिद्धोंका मुख्य आवास पूर्वी भारतमें था, पर इनके साधना-केन्द्र सारे देशमें बिखरे हुए थे; उन्हें सिद्धपीठ कहा जाता था। ओटियान, कामरूप, जालन्धर, पूर्णगिरि, अर्बुद तथा श्रीहट्ट इनके प्रमुख साधनाकेन्द्र थे। इनके अतिरिक्त नालन्दा तथा विक्रमशिलाके विद्यापीठोंमें भी ये सिद्ध निवास करते थे। इन्हें पाल-राजवंशका विशेष आश्रय और संरक्षण प्राप्त था। —ध० वी० भा०

सिद्ध-साहित्य–सिद्ध साहित्यसे तात्पर्य से वज्रयानी परम्पराके सिद्धाचार्योंके साहित्यसे है, जो अपभ्रंश दोहा तथा चर्यापदोंके रूपमें उपलब्ध है और जिनमें बौद्ध तान्त्रिक सिद्धान्तोंको मान्यता दी गयी है। यद्यपि उन्हींके समकालीन शैव नाथ योगियोंको भी सिद्ध कहा जाता था, किन्तु कतिपय कारणोंसे हिन्दी तथा अन्य कई प्रान्तीय भाषाओंमें शैव योगियोंके लिए 'नाथ' तथा बौद्ध तान्त्रिकोंके लिए 'सिद्ध' शब्द प्रचलित हो गया, उसी प्रसंगमें 'सिद्ध-साहित्य' बौद्ध सिद्धाचार्योंके साहित्यका वाचक हो गया है।

सिद्धोंकी रचनाएँ प्रमुखतः दो काव्यरूपोंमें उपलब्ध हैं—'दोहाकोष' तथा 'चर्यापद'। 'दोहाकोष' दोहोंसे युक्त चतुष्पदियोंकी कडवक शैलीमें मिलते हैं। काण्हपा, तिलोपा तथा सरहपाके सम्पूर्ण 'दोहाकोष' तथा सरहपाके दो 'खण्डित दोहाकोष' मिलते हैं। कुछ दोहे टीकाओंमें उद्धृत हैं और कुछ दोहा-गीतियाँ बौद्ध तन्त्रों तथा साधनाओंमें मिली हैं। चर्यापद बौद्ध तान्त्रिक चर्याके समय गाये जानेवाले पद हैं, जो विभिन्न सिद्धाचार्यों द्वारा लिखे गये हैं, किन्तु एक साथ संगृहीत कर दिये गये हैं।

सिद्ध-साहित्यकी खोजकी कथा काफी मनोरंजक है। सन् १९०७ में हरप्रसाद शास्त्रीको नेपालमें सिद्धोंके ५० पदोंका एक संग्रह मिला, जिसकी प्रतिलिपि कराकर उन्होंने लगभग १० वर्ष बाद बंगीय साहित्य-परिषद्से 'बौद्ध गान ओ दोहा'के नामसे प्रकाशित कराया, जिसमें चर्यापदोंके अतिरिक्त 'सहजाम्नाय-पंजिका' तथा काण्हपाका 'दोहाकोष' (मेखला टीकासहित) भी संगृहीत थे। शास्त्री महोदयका कहना है कि वह पाण्डुलिपि १२वीं शतीकी थी, किन्तु राखालदास बनर्जीने 'श्रीकृष्ण संकीर्तन' नामक प्राचीन बँगलाके एक ग्रन्थका सम्पादन करते समय भूमिकामें शास्त्री महोदय द्वारा प्रकाशित चर्यापदोंकी भाषाका परीक्षण कर यह मत स्थिर किया कि इन पदोंका प्रस्तुत रूप १४वीं शतीसे पूर्वका नहीं हो सकता। अतः शास्त्री महोदयने जिस पाण्डुलिपिको अपने संस्करणका आधार बनाया था वह अधिकसे अधिक १४वीं शतीकी होगी। अब वह पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं है।

किन्तु चर्यापदोंके पाठ-निर्धारणके सम्बन्धमें विद्वानोंने यथेष्ट कार्य किया है। उन्होंने चर्यापदोंका तिब्बती रूपान्तर ढूँढा और उसके आधारपर शास्त्री महोदय द्वारा प्रस्तुत पाठमें यथेष्ट संशोधन किये हैं। इस दिशामें प्रबोधचन्द्र बागचीका कार्य महत्त्वपूर्ण है।

शास्त्री महोदयके संस्करणमें इस पद-संग्रहका नाम 'चर्याचर्यविनिश्चय' था। विधुशेखर शास्त्रीने इस नामसे अपनी असहमति प्रकट करते हुए इसका सही नाम 'आश्चर्यचर्याचय' अनुमानित किया था। इनका आधार सम्भवतः मुनिदत्तकी टीकाके प्रथम श्लोककी तृतीय पंक्ति थी—'श्रीलूयीचरणादिसिद्धरचितेऽप्याश्चर्यचर्याचये।' प्रबोधचन्द्र बागचीने जिस तिब्बती रूपान्तरका आधार ग्रहण किया है उसमें 'आश्चर्य-चर्या' नाम न होकर केवल इन चर्याओंका विशेषणमात्र प्रतीत होता है। तिब्बती रूपान्तरमें इस पद-संग्रहका नाम 'चर्यागीतिकोष' है। बागची महोदयने भी इसका यही नाम स्वीकार किया है और सम्भवतः इसी कारण सुकुमार सेनने अपने 'ओल्ड वज्रयानी टेक्स्ट्स' में इन्हें पद न कहकर चर्यागीति कहा है।

तिब्बती अनुवादसे यह भी ज्ञात होता है कि मुनिदत्तने ही इन चर्यापदोंका प्रस्तुत रूपमें संकलन किया था और इसपर संस्कृत टीका लिखी थी। कीर्तिचन्द्रने नेपालके यम्बु नगरमें इनका तिब्बती अनुवाद किया था। मुनिदत्तकी टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अर्थनिर्णयकी दृष्टिसे तो उसका महत्त्व है ही, किन्तु मुनिदत्तने इन पदोंके अर्थ स्पष्ट करनेके लिए स्थान-स्थानपर सरहपा तथा अन्य आचार्योंके अपभ्रंश तथा संस्कृत छन्द उद्धृत किये हैं।

मुनिदत्तने ५० चर्यापदोंका संग्रह किया था, किन्तु शास्त्री महोदयका कहना है कि पाण्डुलिपिमेंसे ५ ताडपत्र खो गये थे, अतः २३वें चर्यापदकी केवल ६ पंक्तियाँ मिलती हैं और २४वें तथा २५वें चर्यापद अनुपलब्ध हैं। बागची महोदयने उसका तिब्बती रूपान्तर तथा संस्कृत छाया दी है। दे०–'सिद्ध'।

[सहायक ग्रन्थ—(१) सिद्ध-साहित्य : धर्मवीर भारती। (२) दोहाकोष : प्र० च० बागची। (३) ओल्ड वज्रयानी टेक्स्ट्स : सुकुमार सेन। (४) चर्यापद—म० म० दत्त)। —ध० वी० भा०

सिद्धियाँ–योग और तन्त्रसे प्रभावित लगभग सभी धर्म-साधनाओंमें साधनाके उपरान्त साधकको सिद्धियोंकी उपलब्धि बतायी जाती थी। इन सिद्धियोंको उपलब्ध करनेवालेको ही सिद्ध पुरुष कहते थे। इन सिद्ध पुरुषोंमें असाधारण अतिमानवीय शक्तियाँ होती थीं। अथर्ववेदमें ही इन सिद्धियों और उन्हें उपलब्ध करनेके उपायस्वरूप अभिचारों और अनुष्ठानोंका उल्लेख मिलता है। योगशास्त्रमें जल, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि इन पाँचोंसे उपलब्ध सिद्धियोंका उल्लेख है। इनमेंसे समाधिजा सिद्धिका वर्णन करते हुए कहा गया है कि जैसे वर्षाकी नदीकी सभी दिशाएँ अवरुद्ध कर उसकी एक ही दिशा उद्घाटित कर दी जाय तो उसमें अपरमित बल आ जाता है, उसी प्रकार सभी ओरसे चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेसे साधकमें अदम्य शक्ति आ जाती है। सिद्धियाँ अधम, मध्यम तथा उत्तम, तीन प्रकारकी बतायी जाती हैं। बौद्ध परम्परामें दो ही प्रकार हैं—सामान्य तथा उत्तम। अन्तर्धान आदि सामान्य सिद्धियाँ हैं और प्रज्ञोपाय-समाधिसे उपलब्ध सिद्धियाँ उत्तम हैं। सिद्धियोंकी संख्याके विषयमें कई मत मिलते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण'में सर्वज्ञत्व, दूरश्रवण आदि चौंतीस सिद्धियाँ बतायी गयी हैं, किन्तु हठयोग-साधनामें आठ प्रमुख सिद्धियाँ हैं—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, कामावसायित्व। बौद्ध तन्त्रोंमें भी अष्ट-

महासिद्धिका उल्लेख है। उनके नाम हैं—खड्ग, अंजन, पादलेप, अन्तर्धान, रसरसायन, खेचर, भूचर, पाताल। किन्तु ये सभी लौकिक सिद्धियाँ थीं। इनसे भी श्रेष्ठ थीं लोकोत्तर सिद्धियाँ, जिन्हें अनुत्तर सिद्धि, महामुद्रा सिद्धि या महासुख सिद्धि कहा जाता था। नाथ-योगियोंने बौद्ध परम्पराकी अष्ट सिद्धियाँ न मानकर हिन्दू परम्पराकी आठ महासिद्धियाँ मानी हैं। गोरखबानीमें एक स्थलपर सिद्धियोंकी संख्या २४ बतायी गयी है, पर यह भी संकेत किया गया है कि ये सिद्धियाँ ज्ञानमार्गमें सहायक न होकर बाधक ही सिद्ध होती हैं। सन्तोंने भक्तिके आगे 'अष्टसिद्धि-नवनिधि'-का तिरस्कार कर दिया, यद्यपि उनके अनुयायियोंने सन्तोंके विषयमें अतिप्राकृतिक चमत्कारोंकी गाथाएँ प्रचलित कर रखी हैं। —ध० वी० भा०

सिनिसिज्म–दे०—'संशयवाद'।

सुंदरी–वर्णिक समवृत्त। दे०—'मोदक'।

सुंदरी सवैया–दे०—'सवैया', दसवाँ प्रकार।

सुकुमारता गुण–दे०—'गुण', छठा प्रकार।

सुकुमार मार्ग–दे०—'त्रिमार्ग-सिद्धान्त', पहला प्रकार।

सुखकरुण–दे०—'करुण रस'।

सुम्मन–दे०—'हठयोग'।

सुखवाद–अनुकूल भावना सुख है और प्रतिकूल भावना दुःख। इसीलिए मनुने स्ववशता (स्वाधीनता, स्वतन्त्रता)को सुखका लक्षण माना और परवशता (पराधीनता, परतन्त्रता)को दुःख कहा। 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' कहकर तुलसीदासने भी इसी लक्षणका समर्थन किया। कुछ लोग कामनाओंकी पूर्तिको सुख और अपूर्तिको दुःख मानते हैं। इस प्रकारसे माननेपर भी सुख और दुःखका भावना होना ही सिद्ध होता है। नैयायिकोंने सुख-दुःखको आत्माका गुण माना, तो सांख्योंने चित्तका और अन्य लोगोंने इन्हें बुद्धिका परिणाम या विकार कहा। नीतिज्ञोंने सुख और दुःखका सम्बन्ध क्रमशः धर्म और अधर्मसे स्थापित किया। कुछने धर्म-अधर्मको कारण और सुख-दुःखको कार्य माना। धर्म सुख और अधर्म दुःखमें कारण-कार्य (हेतु-फल)का सम्बन्ध बैठाया गया। इस मतके विपरीत कुछ अन्य नीतिज्ञोंने सुख-दुःखको ही क्रमशः धर्म-अधर्मका कारण माना। उन्होंने पहले मतको उलट दिया। इसी दूसरे मतको सुखवाद कहा जाता है। इसके अनुसार धर्म और अधर्म मूल गुण नहीं हैं। जो सुखद है वही धर्म है, जो दुःखद है वही अधर्म है। धर्म और अधर्मको मौलिक, स्वतन्त्र और वास्तविक न माननेसे यह मत नीतिकी सार्वभौमतापर प्रहार करता है। इसके विपरीत धर्मवाद है, जिसमें धर्म स्वतंत्र, मौलिक और वास्तविक माना जाता है और सुख उसके फल समझे जाते हैं। भारतमें चार्वाक दार्शनिक, यूनानमें एरिस्टियस और उसके अनुयायी तथा एपीक्यूरस और उसके अनुयायी एवं इंग्लैण्डमें बेन्थम तथा जान स्टुअर्ट मिल विख्यात सुखवादी हो गये हैं।

जीवनमें सुख-दुःख घुले-मिले हैं। दोनोंकी सम मात्रा मान लेना सन्तुलित दृष्टिकोण है। पर सुखवादी जीवनमें सुख अधिक मानते हैं और दुःखवादी दुःख। एक दूसरेके वादका खण्डन करता है। सब सुख है (सुखवाद) ऐसा माननेपर दुःखकी अनुभूतिकी व्याख्या सम्भव नहीं है। सब दुःख है (दुःखवाद) ऐसा माननेपर सुखकी अनुभूतिकी व्याख्या अनुपपन्न होती है। सुखको दुःखका अभाव कहना अथवा दुःखको सुखका अभाव कहना, इस कारण न्यायसंगत नहीं है। कभी-कभी चिर दुःख सुख हो जाता है और चिर सुख दुःख। अतः दोनों भावनाओंकी विधायक तथा प्रतिषेधक वास्तविकता है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

सुखवादी आशावादी है और दुःखवादी निराशावादी। सुखवादी मानव-जीवनका प्रयोजन सुखभोग मानता है और दुःखवादी दुःखवेदनाको ही जीवनका सर्वस्व समझता है। साहित्यमें सुखवाद शृंगार रसकी प्रधानताके रूपमें और दुःखवाद करुण रसकी प्रधानताके रूपमें अवतरित होता है। तत्त्वदर्शनमें सुखवाद भावात्मक (विधायक) दृष्टिकोणको जन्म देता है। व्यवहारमें सुखवाद प्रवृत्तिमार्गका और दुःखवाद निवृत्तिमार्गका जनक है। सुखवाद जीवनपर जोर देता है और दुःखवाद मृत्युपर। एक भोगवाद है, तो दूसरा पलायनवाद।

सुखवाद समृद्ध समाजकी उपज है और दुःखवाद पतनोन्मुख समाजकी। सुखवादके उद्भवके पीछे जन-जीवनका उल्लास, ऐश्वर्य तथा पराक्रम है। दुःखवादकी भूमिका निराशा, पराजय, दीनता, हाहाकार आदि है।

सुख एकजातीय है। उसमें प्रकार-भेद नहीं है। वह भौतिक या दैहिक है। बौद्धिक और आध्यात्मिक सुख भी वास्तवमें दैहिक सुखकी पराकाष्ठा है। बेन्थमने सुखके सात नाम बतलाये हैं–सान्द्रता, ध्रुवता, दीर्घता, शुद्धता, उत्पादकता, वेग और विस्तार। लोगोंने उसके दर्शनको 'शूकर-दर्शन' कहा है, क्योंकि उसमें मनुष्य शूकर-कूकरकी भाँति अपने दैहिक सुखोंमें व्यस्त रहता है। मिलने इस दोषको दूर किया। उसने सुखोंमें कई प्रकार या जातियाँ मानी हैं। बौद्धिक तथा आध्यात्मिक सुखको उसने दैहिक सुखसे जातिगत भिन्न बतलाया है। आध्यात्मिक सुख त्यागमें है, दैहिक सुख भोगमें है। पर यह विवेक सुखकी अनुभूति या भावनासे नहीं होता। यह स्थिर प्रज्ञासे होता है। अतः यह सुखवाद न होकर प्रज्ञावाद हो जाता है।

सुख दुःख अनित्य और परिवर्तनशील हैं। अतः वे आत्मा या बुद्धिके नित्य गुण नहीं हैं। आत्मा या बुद्धिका नित्य गुण आनन्द है। अतः कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्तिको सुखके स्थानपर आनन्दकी प्राप्तिको ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिये (दे०—'आनन्दवाद')।

सुखवादके अनुसार केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ हैं। उसमें धर्म तथा मोक्षको व्यर्थ बतलाया गया है। चार्वाकका निम्नलिखित श्लोक सुखवादका प्रचलित आदर्श प्रकट करता है—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥' जबतक जीना है सुखपूर्वक जीना चाहिये, कर्ज लेकर भी घी पीना चाहिये। शरीरके जल जानेपर (मृत्युके बाद) कहीं जीव फिर आता है?

इसका यही अभिप्राय है कि जिस तरहसे भी हो सके, मौज उडाना चाहिये। इस मतमें सुखका तनिक भी सम्बन्ध धर्म या गुणसे नहीं प्रतीत होता है। कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-

अधर्म, गुण दोषको ऐसे सुखवादी मानते ही नहीं हैं। वे अपने स्वार्थमें ही रत रहते हैं। उनका सुखवाद घोर स्वार्थवाद है। थोड़ा स्वार्थ सभी प्रकारके सुखवादका आधार है। स्वार्थवश सुखवादी समाजके नियमोंका उल्लघन करता है और अन्य व्यक्तियोंके अधिकारों अथवा सुखोंकी उपेक्षा करता है। यदि वह पुरानी मर्यादाके स्थानपर नयी मर्यादा स्थापित करे तो उचित है, पर सुखवादमें मर्यादाका मेल ही नहा हो सकता। मर्यादा लानेमे तो धर्म-अधर्मको सुखमे अधिक महत्त्व देना पडेगा। समाजके लिए, परार्थवादके लिए, स्वार्थवादके दोषोंको दूर करनेके लिए किसी न किसी मर्यादा या धर्म प्रतिष्ठाको मानना पडेगा। सुखवादसे अराजकता फैलती है। सुखवाद दया, सहानुभूति, परोपकार आदि भावनाओंके प्रतिकूल है। इन कारणोंसे सुखवाद कोई अच्छा, उपयोगी, सिद्धान्त नहीं प्रतीत होता।

हिन्दी साहित्यमें रीतिकालीन कविताओंपर सुखवादका बहुत गहरा प्रभाव है। भोग विलासका वर्णन, नायक-नायिकाओंके हावों भावोंका चित्रण, आध्यात्मिक सुखको भी भौतिक सुखोंका बाना पहिनाना, स्वय सुखवादी सिद्धान्तोंके आधारपर जीवन बिताना आदि इस कालके अधिकाश कवियोंके कर्तव्य कर्म है। आधुनिक युगमें भौतिकवादके प्रचारके साथ सुखवादका भी प्रसार हुआ, पर साम्यवादके प्रभावने उसको स्वार्थमूलक होनेसे रोक लिया, निदान, वह परार्थमूलक हो गया। परार्थमूलक सुखवाद वस्तुत सुखवाद न होकर धर्मवाद या मर्यादावाद है, इसको आधुनिक युगके सभी नीतिज्ञोंने स्वीकार किया है। मर्यादाके साथ वे कुछ आवश्यक सुख-भोगके भी हामी हैं, जो अनुचित नहीं है। आधुनिक साहित्यमें हालावाद-(दे०)का मूलस्रोत सुखवाद ही है। —स० ला० पा०

सुखी सवैया–दे०—'सवैया', चौदहवाँ प्रकार।

सुगीत–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। ज, भ, र, स, ज, ज के योगसे यह वृत्त बनता है (ISI, SII, SIS, IIS, ISI, ISI)। केशवने इस नवीन छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'सनाढ्य जाति गुनाढ्य हैं जगसिद्ध शुद्ध स्वभाव। सुकृष्णदत्त प्रसिद्ध हैं महि मिश्र पण्डित राव।' (रा० च० १ ४)। —पु० शु०

सुत्त–[सस्कृत 'सूक्त'का पाली रूप, कुछ लोग इसे सस्कृत 'सूत्र'का पाली रूप समझते हैं] (क) साधारण अर्थ—सद्वचन। (ख) विशेष अर्थ—यह शब्द विशेषत भगवान् बुद्धके सद् वचनों, सदुपदेशोंके लिए ही प्रयुक्त हुआ है। धर्मके विभिन्न अगों या स्वरूपोंके सम्बन्धमें किये गये विविध प्रश्नोंके उत्तरमें ये सूक्त भगवान् बुद्ध द्वारा कहे गये थे, ऐसा बौद्ध सम्प्रदाय का मत है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि इन सुत्तोंमें बौद्ध धर्मके मौलिक स्वरूप, उसके मौलिक सिद्धान्तोंका विवेचन है। इनका सग्रह 'सुत्तपिटक' और विशेषकर उसके 'खुद्दकनिकाय'के 'सुत्त-निपात'में है। —आ० प्र० मि०

सुधासार भक्ति–प्रेमा भक्तिको सुधासार भक्ति भी करते हैं। पुष्टिमार्गमें गोपी-भावसे भगवान् श्रीकृष्णके अधरामृतका पान अभीष्ट होता है। सम्भवत इसीलिए इसे सुधासार भी कहा जाने लगा। 'सूरसागर'में इसका उल्लेख है—'जो मुख सदा सुधा अँचवत है ते विष क्यों अधिकारी।', 'राम रसिक गोपाल मिलि मधु अधर करती पान। सूर ऐसे रूप बिनु कोउ कहा रक्षक आन?' (भ्र० गी० सा० पृ० ३१) —दि० मो० श०

सुपर ईगो–इड और अहम्(दे०—'अहम्')के सघर्षमें एक तीसरा सदस्य और आ जाता है, जिसके कारण यह सघर्ष और भी जटिल हो जाता है। यह है सुपर ईगो (आदर्श अहम्)। सुपर ईगोको हम सामान्य भाषामें प्रयुक्त अन्तर्बोध या अन्तरात्माका फ्रायडीय नाम मान सकते हैं। बचपनमें व्यक्तित्वका एक अंश पितासे प्रेम करता है और दूसरा अश पितासे घृणा और ईर्ष्या। इन विरोधी भावनाओंके संघर्षको शिशु पिताके व्यक्तित्वसे एकीकरण करके सुलझाता है। इस प्रकार एक ओर तो बच्चेकी स्वाभाविक वासनाएँ होती हैं और दूसरी ओर व्यक्तित्वका वह अश, जो पिताका प्रतिनिधि और अनुशासनका प्रतीक है। उचित-अनुचितकी नैतिक मान्यताएँ इसी अंश द्वारा निर्मित होती हैं। इसे अहम्का ही एक विकसित अंग मान सकते हैं, अहम्के समान ही यह भी मनोवैज्ञानिक रूपसे सघटित होता है। यह सुपर ईगो अहम् और इदम्, दोनोंको नियत्रणमें रखता है। अहम्को इदम् और सुपर ईगो, दोनोंके सन्तोषका ध्यान रखना पडता है। कभी-कभी जब सुपर ईगोकी माँग बहुत ऊँची होती है तो ईगोको बहुत शक्तिका व्यय करके इडका दमन करना पडता है। किन्तु इससे वह स्नायविक रोगोंको जन्म देता है।

सुपर ईगो माता पिताका प्रतिनिधि होनेके कारण कुछ अशोंमें वंशगत होता है, परन्तु आगे चलकर जो व्यक्ति माता पिताके अनुशासनके प्रतीक बनते हैं, जैसे, शिक्षक, उनके व्यक्तित्वका प्रभाव भी सुपर ईगोके विकासपर पड़ता है।

इड ईगो और **सुपर ईगोके** सघर्ष तथा उसके विश्लेषणका साहित्यमें बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस विश्लेषणकी सहायतासे अधिकाश आधुनिक साहित्यिक अपने पात्रोंका चरित्रनिर्माण और चरित्रदोषोंका स्पष्टीकरण करते हैं। पुराने कलाकारोंकी भाँति केवल सामाजिक तथ्योंको प्रस्तुत करना ही उनका लक्ष्य नहीं रहता, वे उन तथ्योंका मूल कारण घटनाओंके पात्रोंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके स्पष्ट करते हैं। आधुनिक कथासाहित्यका अधिकाश इस अन्तर्द्वन्द्वके विश्लेषणको प्रधानता देता है। कुछ विशेष कथाकारोंके नायक ऐसे ही व्यक्ति हैं जो स्नायविक रोगी हैं या अन्तर्द्वन्द्वके कारण अर्धविक्षिप्त से हैं। इन कथाकारोंका उद्देश्य अपने नायकके गूढ मानसिक द्वन्द्वको स्पष्ट करके, उसके व्यक्तित्वपर सामाजिक और नैतिक विशेषताओं, समाजकी विषम परिस्थितियोंके प्रभावको महत्त्व देना है। इस प्रकारके कथाकारोंमें इलाचन्द्र जोशी उल्लेखनीय हैं। —प्री० अ०

सुप्रिया–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। चार नगण और सगणके योगसे यह वृत्त बनता है (III, III, III, III, IIS)। जयकीर्तिने इसका रुचिरा (२ १८७) एवं शशिकला (२ १८४) नाम दिया है। केशवने इस वृत्तका प्रयोग

किया है—'कहुँ द्विजगण मिलि सुख श्रुति पढ़हीं। कहुँ हरि हरि, हर हर रट रटहीं'—(रा० च० ३ २)।—पु० शु०

सुभाषित—दे०—'सूक्तिकाव्य'।

सुमुखी—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्'(२ १०३)में इसका लक्षण है, इसका चरण नगण, दो जगण और लघु-गुरुके योगमे बनता है (।।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ)। हेमचन्द्रके 'छन्दोऽनुशासन'(२ १६)में इस नामका भिन्न छन्द है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। इसका मात्रिक रूप हाकलि छन्द (१४ मात्रा) है। उदा०—'सब नगरी बहु शोभ रये। जहँ तहँ मगलचार ठये। बरनत है कविराज बने। तन मन बुद्धि विवेक सने।' (रा० च० ८ १)। —पु० शु०

सुमुखी सवैया—दे०—'सवैया', तीसरा प्रकार।

सुरति—सुरति और निरति, इन दो शब्दोंका ,सन्तोंके साहित्यमें अत्यधिक महत्त्व है, किन्तु उनके उद्भव और अर्थपर विशेप प्रकाश नहीं पड़ा है। कुछ विद्वानोंने सुरतिका अर्थ स्रोत या चित्तप्रवाह लिया है। चित्तप्रवाह **विज्ञानवाद**की याद दिलाता है, किन्तु इस अर्थमें सिद्ध, नाथ या सन्त, किसीने भी इस शब्दका प्रयोग नहीं किया है। हिन्दीमें सुरतिके कई अर्थ हो सकते हैं—प्रेम क्रीड़ा, स्मृति, श्रुति।

सिद्धोंके दोहोंमें जहाँ सुरति शब्दका प्रयोग है, वहाँ इसके अर्थमें कोई अस्पष्टता या दुरूहता नहीं है। सरहपा इसे कमल-कुलिश योगके अर्थमें—मैथुन क्रीडाका द्योतक मानते हैं, 'कमल कुलिश वेवि मज्झठिअ जो सो सुरअ विलास' (दोहाकोप), किन्तु नाथ-सम्प्रदायमें इसका अर्थ बदल गया। ज्ञात यह होता है कि गोरखने इसके मैथुनपरक अर्थका बहिष्कार कर इसको श्रुति (नाद या शब्द)के अर्थमें ग्रहण किया। नाथ साधनाका एक बहुत पुराना नाम शब्द-सुरति-योग भी बताया जाता है। 'गोरखबानी'में एक स्थानपर गोरख मछीन्द्र-संवादमें बताया गया है कि सुरति शब्दकी वह अवस्था है जब वह चित्तमें स्थित रहता है, शब्द अनाहद नाद है, ब्रह्माण्डव्यापी। निरति इन दोनोंसे परे निरालम्ब स्थिति है, जिसे सहज स्थिति भी कह सकते हैं।

सन्तोंमें सुरति शब्दका प्रयोग सिद्धोंके मैथुनपरक अर्थोंमें न होकर नाथोंके श्रुतिके अर्थमें हुआ है—'सुरति समानी निरतिमें अजपा माहै जाप' (क० ग्र०)। साथ ही वैष्णव प्रभावसे वे उसे प्रभुके स्मरणके अर्थमें भी प्रयुक्त करते प्रतीत होते हैं। गुलाल, पलटू आदि इसे विविध अर्थोंमें प्रयुक्त करते हैं और परवर्ती कबीरपन्थी साहित्यमें तो पाँच प्रकारकी सुरति और आठ प्रकारकी सुरतिका वर्णन है। 'श्वास-गुजार'में शब्द पुरुषकी दो शक्तियोंके रूपमें सुरति-निरतिका उल्लेख है। 'ज्ञानस्थिति-बोध'में सर्वोच्च चक्रको सुरति कमल कहा गया है। —ध० वी० भा०

सुषुम्ना—दे०—'हठयोग'।

सुहरवर्दी—दे०—'सूफी-सम्प्रदाय'।

सूक्तिकाव्य—वह काव्य, जिसमें कविके जीवन-अनुभवोंका सार चेतावनीके रूपमें अभिव्यक्त होता है। सूक्तिकाव्यकारका लक्ष्य पाठकका मनोरजन करना नहीं, बल्कि उसमें इहलौकिक और पारलौकिक जीवनका परिमार्जन और परिशोधन करना होता है। वह मानव-प्रकृतिको उसके विभिन्न सामाजिक और आध्यात्मिक सम्बन्धोंमें समझता-बूझता है। जब उसके मानसमें किसी सम्बन्धका एक विशेप कोण सामने आता है तो उसे वह बहुत-कुछ निष्कर्षात्मक रूपमें सामने रखता है। इतना तो प्रथम चरण रहा जिसे हम सूक्ति कहेंगे, किन्तु इस सूक्तिको सूक्तिकाव्य बननेमें काव्योपादानोंसे संयुक्त होना पड़ता है। ये काव्योपादान प्राय चित्रमूलक अलकार होते हैं। सूक्तिकाव्य मुक्तकरूपमें तो लिखे ही जाते हैं, प्रबन्धोंमें भी कहीं-कहीं आ जाते हैं। इनमें जो बहुत ही सुन्दर या नैतिकतापूर्ण सूक्तियाँ होती हैं, उन्हें सुभाषित कहा जाता है।

सस्कृतमें सूक्तिसाहित्य बहुत लिखा गया है। चाणक्य, भोजराज, वररुचि, वेतालभट्ट, भर्तृहरि आदि सस्कृतके अनेक रचनाकारोंने स्वतन्त्र सूक्तिकाव्योंकी रचना की। अपभ्रंशमें हेमचन्द्रके 'प्राकृतव्याकरण' और 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' आदिमें भी पर्याप्त सख्यामें सूक्तिकाव्यका सन्निवेश हुआ है। हिन्दीमें रहीम, तुलसी, वृन्द, दीनदयालगिरि, गिरिधर आदि अनेक प्रौढ़ सूक्तिकार हुए हैं। भक्तिकाव्य और शृंगारकाव्यके लेखक भी कभी-कभी अपने क्षेत्रसे हटकर सूक्तियोंकी रचना कर जाते हैं। उदाहरणके लिए कबीरकी रचनाएँ और बिहारीके नीतिपरक तथा तत्त्वात्मक दोहे लिये जा सकते हैं। —शं० ना० सिं०

सूक्ष्म—गूढार्थप्रतीतिमूल अर्थालंकार। इस अलकारका प्रचलन भामहके पूर्वसे रहा है, पर अर्थवैचित्र्यके अभावमें उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। दण्डीने सूक्ष्मको स्वतन्त्र रूपमें स्वीकार किया है। मम्मट आदि रुद्रटकी अपेक्षा इसके निरूपणमें दण्डी तथा रुय्यकके अधिक निकट हैं। मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—'आकृति तथा इगितके द्वारा प्रतीत अर्थ भी किसी चातुर्यपूर्ण सकेतसे जहाँ सहृदयके लिए सम्बद्ध बनाया जाय।' (का० प्र० १० १२२। सा० द० १० ९१)। हिन्दीके आचार्योंने प्राय 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसके लक्षण दिये हैं—'जानि पराये चित्तकी, ईहा जो आकृत।' (ल० ल० ३५४) अथवा—चतुर चतुर बातें करे, सग्या कछु ठहराइ।' (का० नि० १५), अर्थात् किसी इगित या आकारसे जाने हुए सूक्ष्म अर्थको किसी युक्तिसे सूचित करना सूक्ष्म अलकार है। चेष्टा द्वारा लक्षित तथा आकार द्वारा लक्षित सूक्ष्मके ये दो भेद कहे गये हैं। उदा०—'लखि गुरुजन विच कमलसौं, सीसु छुवायो स्याम। हरि सम्मुख करि आरसी, हियैं लगाई वाम' (वि० स० ३४)। यहाँ कृष्णने कमलसे अपना सिर छुआया तथा राधिकाने अपनी आरसी हृदयसे लगा ली और इस प्रकार चेष्टा द्वारा अपना भाव व्यक्त किया है। इसी प्रकार 'पर तिय दोषु पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि। कसु करि राखी मिश्र हूँ मुख आयी मुसकानि।' (वि०र० २६४), यहाँ आकार (मुस्कान) द्वारा सूक्ष्म रहस्यकी व्यजना की गयी है। —ध० ग्र० शा०

सूच्य–रूपकमें वे वस्तुएँ जो रसहीन, अनैतिकतापूर्ण, रसोद्रेकक्षमतामें च्युत होती हैं वे **रंगमंच**पर नहीं दिखायी जातीं। उन्हें सूच्य या **संसूच्य** कहते हैं। इनकी सूचना **अर्थोपक्षेपकों** (दे०) द्वारा दी जाती है। —व० सिं०

सूत्र–[सूत्र (चुरादि उभयपदी) ग्रन्थने वेष्टने च+अच्—सूत्र्यते इति सूत्रम्, अथवा षिवु तन्तुसन्ताने (सीना)+ष्ट्रन्—सीव्यते अनेन (भानुजी दीक्षितकृत अमरकोषटीका रामाश्रमी)] (क) साधारण अर्थ–१ सूत, धागा, २ विसतन्तु, यथा—'सुरागना कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्र मृणालादिव राजहंसी' (विक्रमोर्वशीय १ १९), ३ तार, ४ यज्ञोपवीत। ५ कठपुतलियोंमें बँधी हुई डोरी। (ख) विशेष अर्थ—१ सरलतासे स्मरण रखनेके लिए रचे गये अत्यन्त छोटे वाक्य जिनमें अत्यधिक सार या गम्भीर अर्थ अनुबद्ध कर दिया गया हो। इसका लक्षण प्राचीन ग्रन्थोंमें इस प्रकार मिलता है—'स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।' २ इस शैलीमें लिखे गये ग्रन्थ, जैसे,'मानवकल्पसूत्र', 'गौतमधर्मसूत्र', 'आपस्तम्बसूत्र', 'ब्रह्मसूत्र', 'पूर्वमीमांसासूत्र', 'योगसूत्र' इत्यादि। धर्मसूत्रोंमें आये हुए श्लोक भी सूत्र ही कहलाते हैं, अतः सूत्र प्रायेण गद्यात्मक होते हुए भी पद्यात्मक भी होते हैं। ३ नियम, व्यवस्था, विधान। ४ बौद्ध साहित्यमें यह शब्द 'मूल ग्रन्थ'के अर्थमें आता है और इस प्रकार 'विभाषा' अर्थात् व्याख्यानग्रन्थ या टीकाग्रन्थसे भिन्न अर्थमें गृहीत होता है (मोनियर विलियम्स)। इसीलिए भगवान् बुद्धके मूल उपदेशोंपर चलनेका दावा करनेवाला सम्प्रदाय 'सौत्रान्तिक' तथा विभाषा अर्थात् परवर्ती आचार्यों (भगवान् बुद्धके शिष्य-प्रशिष्यों)के व्याख्यानोंका भी प्रामाण्य माननेवाला सम्प्रदाय 'वैभाषिक' कहलाया। ५ जैनोंमें सूत्र दृष्टिवादका अंग माना जाता है। (ग) हिन्दीमें इसके अर्थमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। (घ) पर्याय ऊपर दिये गये साधारण अर्थोंमें द्रष्टव्य। —आ० प्र० मि०

सूत्रधार–सूत्रधार नाट्यशालाका विधायक होता है। वह नाटकादि रूपकके आरम्भमें मंगलाचरण, देवता स्तवनादि जैसी औपचारिक क्रियाएँ सम्पन्न करता है। पश्चात् संस्कृतभाषागत अपने वाग्व्यापार द्वारा चार प्रकारसे काव्यार्थ या नाटकीय पात्रकी सूचना देता है। **प्ररोचना**में वह नाटककार और नाटकके अर्थकी प्रशंसा करके रंगस्थ सामाजिकोंको उनकी ओर आकृष्ट करता है, **कथोद्घात**, **प्रवृत्तक** और **प्रयोगातिशय**—तीन प्रकारके **आमुख** (प्रस्तावना) और प्रहसन द्वारा नटी, मार्ष (पारिपार्श्वक) अथवा विदूषकके साथ बात करते हुए अपने कार्यका विवरण प्रस्तुत करता है, **उद्घात्यक**, **अवलगित**, **प्रपंच**, **त्रिगत**, **छल**, **वाक्केलि**, **अधिवल**, **गण्ड**, **अवस्यन्दित**, **नालिका**, **असत्प्रलाप**, **व्याहार** और **मृदव** जैसे तेरह **वीथ्यंगों** द्वारा पात्रोंकी सूचना देता है। इस प्रकार इनमेंसे किसी भी रीतिसे नाटकार्थका आक्षेप और परिचय दे चुकनेपर वह रंगमंचसे निष्क्रान्त हो जाता है और कथाको प्रपंचित करता है।

नाट्यविकासके प्राचीन इतिहासमें सूत्रधारका सम्बन्ध कठपुतलियोंके धागेको पकड़कर नचानेवाले व्यक्तिसे जोड़ा गया है। कालान्तरमें सूत्रधार और **स्थापक**की योजनासे नट नृत्य, गीत तथा संवादका कार्य करने लगे। जब रंगमंचपर सप्राण नटोंकी प्रतिष्ठा हो गयी तो स्थापककी आवश्यकता न रही, सूत्रधार रह गया और कठपुतलियोंके स्थानपर नर्तकों और गायकोंका प्रवेश हो गया। —वि० रा०

सूफी–इस्लामके रहस्यवादी 'सूफी' नामसे प्रख्यात हैं। सूफियोंके दर्शनको **तसव्वुफ** कहा गया है। सूफी ऐसे साधक थे जो विरक्त, संसार-त्यागी, परमात्माके प्रेममें बेसुध रहते थे। उनके लिए न इस लोकके प्रलोभनोंका कोई अर्थ था और न स्वर्गकी ही उन्हें चिन्ता थी। उनकी चिन्ताका एकमात्र विषय परमात्मा था। उसे पानेके लिए उनके साथ 'एकमेक' होनेके लिए ये साधक सभी प्रकारकी साधनाके लिए प्रस्तुत रहते थे। वैसे, प्रेमको इन्होंने सर्वोच्च स्थान दिया है।

'सूफी' शब्दकी व्युत्पत्ति नाना प्रकारसे की गयी है। अधिकांश लोग 'सूफ' शब्दसे इसका बनना मानते हैं। 'सूफ'का अर्थ ऊन है। ईसवी सन्‌की आठवीं-नवीं शताब्दीमें ऊनका व्यवहार करनेवाले संसार-त्यागी साधकोंका पता इसलामी देशोंमें चलता है। 'सूफी' शब्दकी व्युत्पत्तिपर अन्य प्रकारसे भी विचार किया गया है। सफा, अहल सुफ्फाह, सफ्फे अव्वल, सोफिस्ता आदिसे भी 'सूफी' शब्दके बननेकी बात कही जाती है, लेकिन वे अधिकांश लोगोंको मान्य नहीं हैं।

यह शब्द पहले-पहल संन्यासी जीवन बितानेवाले रहस्यवादी साधकोंके नामसे जुड़ा हुआ मिलता है। कुछ लोगोंका कहना है कि सर्वप्रथम 'सूफी' शब्दका प्रयोग करनेवाला अबू हाशिम सुफियान (सन् ७७७ ई० के लगभग) था। लुई मासिंजोने इस सम्बन्धमें अबू हाशिमके समकालीन जाबिर इब्न हैयानका भी नाम लिया है। मासिंजोने माना है कि इसका प्रयोग अब्दक अल् सूफीने (जिसकी मृत्यु सन् ८२५ ई० में हुई) किया है। पहले किसी व्यक्तिके नामके साथ यह शब्द जुड़ा हुआ मिलता है, लेकिन बादमें चलकर व्यापक भावसे रहस्यवादी साधकोंके लिए इसका प्रयोग होने लगा। आज भी इसी अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है। —रा० पू० ति०

सूफी आख्यान काव्य–सूफी आख्यान काव्य साधारणतः लोकप्रचलित कहानियोंके आधारपर लिखे गये हैं। ये 'आख्यान' प्रेममूलक हैं। प्रेमकी कहानियोंका सूफी साधकोंने आश्रय लिया और उनके आधारपर प्रेमकाव्योंकी रचना की। हिन्दी साहित्यमें इन प्रेमाख्यानोंका अपना एक विशेष स्थान है। इन प्रेमकाव्योंके द्वारा सूफी कवियोंने अपने हृदयके प्रेमको व्यक्त किया है। ये कहानियाँ कल्पित या अर्द्ध-कल्पित हैं। लौकिक प्रेमकी इन कहानियोंके सहारे सूफियोंने उस अलौकिक प्रेमका आभास दिया है, जो सूफी साधनाके मूलमें है। सूफी साधनाका प्रारम्भ प्रेमसे होता है और उसकी परिणति भी प्रेममें होती है। परमात्मा इन सूफी साधकोंके लिए परम प्रियतम है। उसका प्रेम प्राप्त करनेके लिए साधक सभी प्रकारकी कठिनाइयोंका स्वागत करता है और अपने प्रेमके द्वारा सभी विघ्न-बाधाओंको पार करता है।

हिन्दीके प्रेमाख्यानक काव्योंमें ऐतिहासिकताकी ओर

अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। इन काव्योंमें प्राय भारतीय कथानक रूढियों(motifs)का व्यवहार किया गया है, वैसे ईरानी कथानक रूढियोंका भी बादमें प्रयोग हुआ है। पशु-पक्षियों द्वारा नायिकाके रूपका वर्णन, मन्दिर, चित्रशाला आदिमें नायिकाका दर्शन, चित्र या स्वप्नमें नायिकाको देखकर प्रेम उत्पन्न होना आदि भारतीय कथानक-रूढियाँ हैं। इसी प्रकारसे परी या देवकी सहायतासे कार्यका सम्पन्न होना या बाधा पहुँचना, राजकुमारियोंका उडना, राजकुमारीका प्रेमीको गिरफ्तार करा लेना ईरानी-कथाओंमें पाया जाता है। इन प्रेमाख्यानोंमें कवि लौकिक प्रेमका वर्णन करता हुआ बीच-बीचमें अलौकिक प्रेमका सकेत कर देता है। नायिकाका वर्णन इन काव्योंमें कुछ इस प्रकारसे हुआ है कि पाठक उसमें उस सर्वव्यापक परम प्रियतमका आभास पाता है, जिसका सौन्दर्य प्रकृतिकी सभी वस्तुओं और व्यापारोंमें परिलक्षित होता है।

सूफी कवियोंने लौकिक कहानियोंको भी अपनानेमें संकोच नहीं किया, इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक प्रेमकी प्राप्तिमें वे लौकिक प्रेमको सहायक मानते हैं। जामीकी एक कवितामे इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। जामीकी एक कवितामें कहा गया है—'इस ससारमें तुम सैकड़ों उपाय कर सकते हो, लेकिन एकमात्र प्रेम ही ऐसा है जो तुम्हारे 'अहम'से भी तुम्हारी रक्षा करेगा। सासारिक-प्रेमसे भी तुम मुख मत मोड़ो, क्योंकि परम सत्यतक पहुँचनेमें वह तुम्हारा सहायक सिद्ध हो सकता है।'

सूफी प्रेमकाव्यमें पहले परमात्मा और पैगम्बरकी स्तुति रहती है। इसके बाद वे अपने गुरु या पीरका परिचय देते हैं तथा रचनाकालका निर्देश करते हैं। सूफी कवियोंने अपने कालके बादशाहका भी उल्लेख किया है। इन कवियोंने अवधी भाषाका प्रयोग किया है। दोहा और चौपाईको उन्होंने अपने काव्यके लिए चुना है। कितनी अर्द्धालियोंपर दोहा या अन्य छन्दका घत्ता देना चाहिये, इसमें व्यतिक्रम अवश्य देखा जाता है। जायसीने सात चौपाइयोंके बाद दोहा दिया है। 'चन्दायन' और 'मृगावती'में पाँच चौपाइयोंके बाद दोहेका क्रम मिलता है। दे०—'सूफी काव्य', 'प्रेमाश्रयी शाखा'। —रा० पू० ति०

सूफी काव्य–सूफी साधक प्रेमके द्वारा परमात्माके पानेकी बात कहते हैं। परमात्मा उनके लिए परम प्रियतम और परम सौन्दर्य है। आत्मा उस प्रियतमको पानेके लिए आकुल रहती है। सूफी कवि आत्मा और परमात्माके इस प्रेमसम्बन्धका वर्णन आत्मविभोर होकर करता है। अपने काव्यके माध्यमसे वह परम प्रियतमके प्रति प्रणयनिवेदन करता है।

इस आध्यात्मिक, अलौकिक प्रेमको व्यक्त करनेके लिए इस जगतकी शब्दावली किसी कामकी नहा, फिर भी उसका सहारा सूफी कवियोंको विवश होकर लेना पड़ता है। यही कारण है कि सूफी साधक अपने प्रेमकी तीव्रता, अपने हृदयकी बेचैनी और आतुरताको अभिव्यक्त करनेके लिए लौकिक प्रेमकी विभिन्न मनोदशाओंका वर्णन करता है। ईरानके सूफी कवियोंने पहलेसे चली आती हुई भाषा और अभिव्यजनाकी शैलीको अपनाया, वैसे, उन शब्दोंका अर्थ उनके लिए और ही था। साकी, शराब, माशूक, जुल्फ आदिका प्रयोग उन कवियोंने किया, लेकिन उनका साकेतिक अर्थ ही उनके समक्ष उपस्थित रहता था। साधारणत विशेष साकेतिक अर्थके साथ ही उन शब्दोंका प्रचलन हुआ, लेकिन ऐसे भी कवि हुए जिन्होंने अलग-अलग अर्थोंमें उन शब्दोंके प्रयोग किये हैं।

फारसीके सूफी कवियोंने भिन्न भिन्न काव्यरूपोंका सहारा लिया है, जैसे, मसनवी, रुबाई तथा गजल। अधिकाश कवियोंने 'मसनवी'को ही अपनाया है। पहले तो इन मसनवियोंमें धार्मिक और आध्यात्मिक विषयोंकी चर्चा होती थी, लेकिन बादमें चलकर प्रेमाख्यानोंने उनपर अपना आधिपत्य जमा लिया। ये मसनवियाँ सर्गबद्ध होती हैं। क्रम कुछ इस प्रकारका होता है—पहले सर्गमें परमात्माका गुणानुवाद, दूसरेमें पैगम्बरका स्मरण, तीसरेमें 'मीराज'की चर्चा, इसके बाद शासक या किसी महान् व्यक्तिकी प्रशसा रहती है जिसे कवि अपनी कृति समर्पित करता है। बादवाले सर्गमें वह बतलाता है कि उस काव्यके लिखनेकी प्रेरणा उसे किस मित्रसे मिली अथवा किस उद्देश्यसे वह लिख रहा है। इसके बाद मूल काव्यग्रन्थका प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्येक सर्गके ऊपर उस सर्गमें वर्णित विषयकी सूचना फारसी गद्यमें दी हुई होती है। फारसी प्रेमाख्यानोंमें बीच-बीचमें गजलें भी दी हुई हैं। इन गजलोंका समावेश ऐसे स्थलोंपर किया गया है जहाँ कहानीका पात्र अपने मनके भारको हलका करना चाहता है।

हिन्दीके सूफी कवियोंने हूबहू इन फारसी मसनवियोंकी नकल नहीं की है। वे भारतीय परम्परा तथा ईरानी परम्परा, दोनोंसे प्रभावित हुए हैं। हिन्दीके सूफी कवियोंने गजलों और रुबाइयों जैसी कोई चीज नहीं लिखी। दे०—'सूफी आख्यान काव्य','सूफी मत','प्रेमाश्रयी शाखा'।—रा०पू०ति०

सूफी-मत–अन्य मतों और सम्प्रदायोंकी भाँति सूफी मतमें भी परमात्मा-आत्मा, जगत् तथा उसके पारस्परिक सम्बन्ध एव चरम लक्ष्यके सम्बन्धमें नाना भावसे विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

सूफी कुरान द्वारा प्रतिपादित परमात्माके स्वरूपको स्वीकार करते हैं। सनातनपन्थी इसलामकी भाँति वे भी **एकेश्वरवाद**में विश्वास करते हैं, लेकिन वे अपने ही ढगसे उसका अर्थ करते हैं। उनके लिए 'एकेश्वरवाद' ठीक वही नहीं है जो सनातनपन्थी इसलाममें स्वीकृत है। सनातनपन्थियोंकी तरह सूफी मानते हैं कि जात (सत्ता), सिफत (गुण) और कर्ममें परमात्मा अद्वितीय और निरपेक्ष है। सनातनपन्थी परमात्माको दृष्टिसे सभी पदार्थोंसे भिन्न मानते हैं, लेकिन सूफी कहते हैं कि इस दृश्यमान जगत्में परिव्याप्त एकमात्र सत्ता परमात्माकी ही है। ऐसा माननेका मतलब यह हो जाता है कि जितनी भी सत्ता प्रतीयमान है, वह सभी परमात्मामें अन्तर्निहित है तथा निखिल विश्व परमात्माके साथ एक है। सूफी परमात्माको परम सत्य माननेके साथ ही उसे परम कल्याण और परम सौन्दर्य भी मानते हैं। परमात्मा सम्बन्धी दो सिद्धान्त कम या बेशी सूफी सम्प्रदायोंका प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दोनों सिद्धान्तोंके आधारपर मोटे तौरपर सूफियोंके दो वर्ग

हो गये हैं—वुजूदिया और शुहूदिया। एक वर्ग 'वहदतुल वुजूद'के सिद्धान्तसे प्रभावित है और दूसरा 'वहदतुश्शुहूद'-के सिद्धान्तसे। 'वहदतुलवुजूद'के सिद्धान्तका प्रवर्तक मुहिउद्दीन इब्नुल अरबी था। इस सिद्धान्तके अनुसार परमात्मा ही एकमात्र सत्ता है। 'हमावुस्त' अर्थात् 'सब कुछ वही है'का सिद्धान्त इसपर आधारित है। इब्नुल अरबी सम्पूर्ण दृश्यमान जगत्‌को उसी परम सत्ताकी अभिव्यक्ति मानता है। जीवको वह सृष्टिकर्ताकी वाह्य अभिव्यक्ति मानता है। मनुष्य परमात्माका चेतन अंश—सिर्र है, लेकिन मनुष्यकी ज्ञानपरिधि सीमित है, इसलिए उस चैतन्यके अंशमात्रको ही वह प्रकट कर सकता है। इस प्रकारसे जीव सत्य तो है, लेकिन परमात्माकी तरह एकमात्र सत्य नहीं है।

'वहदतुश्शुहूद'के सिद्धान्तके प्रवर्तक शेख करीमे जीली हैं। जीलीके अनुसार एक परमात्माकी सत्ता है और दूसरी जीवकी। जीवकी सत्ता शून्य जैसी है, उसे अपने अस्तित्वके लिए परमार्थसत्ताकी अपेक्षा है। जीली जगत्‌प्रपंचको परमात्माकी गुणावलीका समाहार मानता है। परमात्मा अपनी सत्ताको अपने गुणोंमें अभिव्यक्त करता है। जब गुण (सिफ्त) अभिव्यक्त (जाहिर) होते हैं तब उनके नाम दिये जाते हैं, अतएव ये नाम दर्पणके सदृश हैं, जो परम सत्ताके सभी रहस्योंको प्रकट करते हैं। जीलीका कहना है—'उसकी अभिव्यक्ति सम्पूर्ण सत्ताओंमें अन्तर्निहित है और वह सृष्टिके प्रत्येक अणु परमाणुमें अपनी पूर्णताको अभिव्यक्त करता है। वह खण्डोंमें विभक्त नहीं है। सृष्टिके सम्पूर्ण पदार्थ उसकी पूर्णताके कारण हैं, उसके दिये हुए नामसे ही नामवाले हैं। सृष्टि बरफके समान है और तेजस्वरूप परमात्मा जलके समान है, जो बरफका मूल है। उस जमी हुई वस्तुका नामकरण बरफ हुआ है, पर जल ही उसका असली नाम है।'

परमात्मा जो अनन्तसौन्दर्य और अनन्तविभूति है, अपने-आपको जब अभिव्यक्त करना चाहता है तो सृष्टिका आविर्भाव होता है। यह जगत् अंशतः उस सौन्दर्यको प्रकट करनेवाला है। एक हदीसमें कहा गया है कि 'मैं एक छिपा हुआ खजाना था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें, इसलिए मैंने सृष्टि की।' इसे ही सूफी सृष्टिका आदि कारण मानते हैं।

परमात्मा परम सत्ता है और सृष्टि असत्। जैसे अन्धकारके होनेसे प्रकाशका ज्ञान होता है, उसी प्रकार असत्, अवास्तविक जगत् उस सत्ताको समझनेमें सहायक होता है। सूफी कहते हैं कि परम सत्ता जब असत्‌के दर्पणमें प्रतिबिम्बित होती है और उसके फलस्वरूप जो प्रतिबिम्ब हम देखते हैं, वही सृष्टि है। अर्थात् यह दृश्यमान जगत् उस परमात्माका प्रतिबिम्ब है। इसको और भी स्पष्ट रूपसे यों समझ सकते हैं—सूर्यका प्रकाश जलमें पड़ता है और जलमें पड़नेवाले उसके प्रतिबिम्बसे हम सूर्यको देख सकते हैं। प्रतिबिम्बको अपने अस्तित्वके लिए सूर्यकी अपेक्षा है। प्रतिबिम्ब हजारों बार बन-बिगड़ सकता है, इससे सूर्यका कुछ आता-जाता नहीं। यहाँपर सूर्य परम सत्ता जैसा है, जल असत्‌के दर्पण जैसा, प्रतिबिम्ब सृष्टिके जैसा। सत्ता ही वास्तविक है, असत् उसका नकारात्मक रूप है।

इस प्रकार सूफी सृष्टिको असत्‌के दर्पणमें प्रतिबिम्बित होनेवाली परमात्माकी प्रतिच्छविकी आँख जैसा मानते हैं। आँखकी पुतलीमें भी सम्पूर्ण प्रतिच्छवि उतर आती है, अतएव उस मनुष्यरूपी आँखमें भी परमात्माकी प्रतिच्छवि प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रकारसे एक ओर तो मनुष्य सृष्टिका अंग है और दूसरी ओर अपने भीतर परमात्माको भी ग्रहण किये हुए है। उसमें सत् और असत्, दोनों ही विद्यमान हैं। मनुष्यमें जो कुछ भी सत्य है, मंगलमय है, वह परमात्माका है और इसके विपरीत जो कुछ भी उत्सर्ग है, वह असत् है, क्षणभंगुर है तथा मंगलका नकारात्मक रूप है। मनुष्यके भीतर जो ईश्वरीय अंश है, वह उस विशुद्ध सत्ताकी चिनगारीके जैसा है जो इस बातकी चेष्टामें सतत लगी रहती है कि वह अपने उद्गमस्थलपर लौटकर उसके साथ एक हो जाय। लेकिन यह तबतक सम्भव नहीं हो पाता जबतक उसमें असत् तत्त्व वर्तमान रहता है। यह असत् तत्त्व मिथ्या है और भ्रममें डालनेवाला है तथा 'अहम्'में सत्यकी प्रतीति करानेवाला है। 'अहम्' ही सब दुःखोंके मूलमें है, अतएव सूफी साधककी सबसे बड़ी साधना यह होती है कि वह अपने इस 'अहम्'पर विजय प्राप्त करे। इसीके लिए साधक 'सूफी मार्ग'पर चलता है और अपनी साधना पूरी कर परमात्माके साथ एक होता है। दे०—'सूफी काव्य'।

[सहायक ग्रन्थ— सूफी-मत : रामपूजन तिवारी] —रा० पू० ति०

सूफी-मार्ग—सूफियोंके विश्वासके अनुसार परमात्मा और मनुष्यके बीच एक बड़ा व्यवधान है। उनका कहना है कि इस व्यवधानको दूर करनेके लिए साधनाकी आवश्यकता होती है। साधनामें लगा हुआ साधक आध्यात्मिक जीवन बिताता है और परमात्माको पानेकी इच्छा लिये हुए अपने चरम लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता है। सूफी साधक इस साधनामय जीवनको एक यात्रा (सफर) समझते हैं तथा साधनाके पथपर अग्रसर होनेको वे 'सूफी-मार्ग' कहते हैं।

सूफी-मार्ग (अत तरीकत)की कई मंजिलों, अवस्थाओं (अहवालों) और मुकामोंका वर्णन सूफियोंने किया है, वैसे, इनके प्रकार और नामोंके सम्बन्धमें सभी सूफी एकमत नहीं हैं। कितने सूफी परमात्मातक पहुँचनेकी चार मंजिलों और चार अवस्थाओंकी बात कहते हैं और कितने तीन ही मंजिलें मानते हैं। कुछ सूफी बारह मुकामात और अहवाल मानते हैं। बहुत से ऐसे भी साधक हैं, जिन्होंने सूफी-मार्गकी सात मंजिलें बतलायी हैं। लेकिन सभी सूफी इस बातको स्वीकार करते हैं कि साधक अपनी बुराइयों और कलुषोंको मिटाता हुआ, एकके बाद दूसरे गुण प्राप्त करता हुआ एक मंजिलसे दूसरी मंजिलपर पहुँचता है। वे यह भी मानते हैं कि एक मंजिलकी विशिष्टताओं और गुणोंको प्राप्त करके ही साधक दूसरी मंजिलतक पहुँचनेमें समर्थ होता है, वैसे, परमात्माकी कृपा अगर हो तो किसी भी मंजिलमें बादवाली मंजिलका अनुभव साधक कर सकता

है। परमात्माके अनुग्रहसे ही उसे एकके बाद दूसरे गुण प्राप्त हो जाते हैं। यात्राका मतलब यह है कि परम सत्ता अपनी अभिव्यक्त अवस्थासे ऊर्ध्वमुखी होकर अपनी अनभिव्यक्त अवस्थाकी ओर अग्रसर हो रही है।

भारतीय सूफी सूफी मार्गकी चार मंजिलें और चार अवस्थाएँ मानते है। पहली अवस्था मनुष्यकी प्रकृत अवस्था है, उसे सूफी **नासूत** कहते हैं। इस अवस्थामें साधक **शरीअत** अर्थात् कुरान और हदीस आदिमे बताये हुए विधि-निषेधोंका पालन करनेमें लगा रहता है। साधनाका यह सबसे निचला स्तर है। इसे पार कर साधक दूसरी अवस्थाको प्राप्त होता है। यह अवस्था **मलकूत**की है। इसमें साधक भौतिक-जगत्की तुच्छताओंसे ऊपर उठकर पवित्र हो जाता है तथा देवदूतोंके गुण प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। इस अवस्थामें साधक 'तरीका' अर्थात् पवित्रताको अपनाता है और आध्यात्मिक यात्राका अनुसरण करता है। इसके बादवाली तीसरी मंजिल **मारिफत**की है। इसमें साधक शक्तिसम्पन्न हो जाता है और परमात्माके मिलनके मार्गकी उसकी बाधाएं प्राय दूर हो जाती हैं। साधककी इस अवस्थाका नाम **जबरूत** है। अन्तिम मंजिल **हकीकत**की है। 'हकीकत'का मतलब परम सत्य है। इसमें साधकको **लाहूत**की अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्थामें राग-विरागसे अतीत होकर वह विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है। यह साधकके परमात्माके साथ 'एकमेक' होनेकी अवस्था है। साधकको अपने चरम लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाती है। —रा० पू० ति०

सूफी-संप्रदाय—सूफियोंके अनेक सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदाय हैं तथा इनकी भी अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं। ये सम्प्रदाय प्रारम्भमें अल-तरीक (पथ) अथवा खानवाद (परिवार) कहे जाते थे। प्रारम्भमें साधक एक जगहसे दूसरी जगह घूमते रहते थे। ईसाकी सातवीं-आठवीं शताब्दीमें अरब देशोंमें ख्यातिलब्ध साधकोंके साथ अन्य साधकोंका दल रहता तथा उस उस ख्यातिलब्ध साधकके नामपर सम्प्रदायका नामकरण हो जाता था। इस प्रकारसे भिन्न-भिन्न देशोंमें सम्प्रदायोंका आविर्भाव हुआ। बादमें शिष्य-प्रशिष्योंके नामपर और भी सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदाय बने और उनका प्रभाव-विस्तार भिन्न-भिन्न देशोंतक हो गया। इन सम्प्रदायों अथवा उप-सम्प्रदायोंकी अपनी-अपनी अलग-अलग कुछ विशिष्टताएँ होती थीं। आदि प्रवर्तकका कोई विशेष उपदेश, मन्त्र या साधनक्रिया एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीके शिष्योंको प्राप्त हो जाती और वही उस सम्प्रदायकी विशिष्टता मानी जाती थी। उस सम्प्रदाय-में अन्तर्मुक्त साधकको ही वह बतलायी जाती थी।

सूफियोंके सभी सम्प्रदायोंका प्रारम्भ चार पीरोंसे माना जाता है। ये चार पीर हजरत मुर्तजा अली, ख्वाजा हसन बसरी, ख्वाजा हबीब आजमी तथा अब्दुल वाहिद बिन जैद कूफी हैं, वैसे, चार पीरोंके नाममें मतैक्य नहीं है। एक अन्य मतानुसारसे ये चार पीर कमिल, हसन, हुसैन और हसन बसरी थे। और भी अन्य नाम लिये जाते हैं, लेकिन हसन अल बसरीका नाम सभी सूफी-सम्प्रदाय समान रूपसे लेते हैं, वैसे, सभी सूफी-सम्प्रदाय हजरत मुहम्मदसे ही अपने सम्प्रदायका आविर्भाव मानते हैं और उनके बाद ही चौथे खलीफा हजरत अलीका नाम लेते हैं। सूफी-सम्प्रदायोंकी दृष्टिसे प्रथमके चार खलीफाओंमें हजरत अली ही सबसे अधिक महत्त्वके हैं। सैकड़ों सूफी-सम्प्रदाय उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं।

भारतवर्षके चार प्रमुख सूफी-सम्प्रदाय हैं—**चिश्तिया, कादिरिया, सुहरवर्दिया और नक्शबन्दिया**। इनमेंसे प्रथम तीन हसन अल बसरीसे सम्बद्ध हैं और चौथा अबू बक्रसे। इन सम्प्रदायोंमें साधन-मार्ग, सिद्धान्त आदिको लेकर पार्थक्य है। कोई भी इसलामका अनुयायी किसी भी सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त हो सकता है। ब्रह्मचर्यपालनका इन सम्प्रदायोंमे विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

भारतवर्षके चार प्रमुख सम्प्रदायोंमेंसे **चिश्ती** सम्प्रदाय बड़े महत्त्वका है। इस सम्प्रदायके आदि प्रवर्तकके सम्बन्धमें मतभेद है। कुछ लोग ख्वाजा इसहाक शामी चिश्तीको आदि प्रवर्तक मानते हैं और कुछ लोग उनके शिष्य ख्वाजा अबू अब्दाल चिश्तीको, वैसे, भारतवर्षमें इस सम्प्रदायका प्रवेश ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्तीके साथ हुआ। इनका जन्म सन् ११४२ ई० में सिस्तान(अफगानिस्तान)के संजर शहरमें हुआ और मृत्यु सन् १२३६ ई० में अजमेरमें हुई। ये ख्वाजा उस्मान चिश्ती हारूनी या हरवानीके शिष्य थे। अजमेरमें मुईनुद्दीन चिश्तीकी दरगाहपर विभिन्न देशोंसे लाखों मुसलमान तीर्थ करने आते हैं। वहाँकी मस्जिद बादशाह अकबरकी बनवायी हुई है। इस सम्प्रदायके सुप्रसिद्ध सन्तोंमें ख्वाजा कुतुबुद्दीन बाख्तियार काकी, पाकपत्तनके बाबा फरीद (फरीदुद्दीन शकरगंज) तथा निजामुद्दीन औलिया आदि हैं। यह सम्प्रदाय अत्यन्त लोकप्रिय रहा है।

चिश्ती सम्प्रदायमें संगीतको प्रधानता दी गयी है। संगीतके द्वारा साधकको भावाविष्टावस्था(हाल)की प्राप्ति होती है। संगीतकी मजलिसें लगातार कई-कई दिनोंतक चलती ही रहती हैं। इस सम्प्रदायमें साधकको चालीस दिनोंतक मस्जिदमें या किसी एकान्त कमरेमें बिताना पड़ता है, इसे 'चिल्ल' कहते हैं। उस समय साधक कम परिमाणमें भोजन करता है और सब समय परमात्माके ध्यान और प्रार्थनामें निरत रहता है। ये अलीको परमात्मा और मुहम्मदके बराबर मानते हैं। इनके सिरपर बड़े बड़े केश रहते हैं और ये रंगीन वस्त्र धारण करते हैं। निजामी और साबिरी-सम्प्रदाय इसी सम्प्रदायके अन्तर्गत हैं।

कादिरी सम्प्रदायके आदि-प्रवर्तक अब्दुल कादिर अल-जीलानी थे। इनका जन्म सन् १०७८ ई० में हुआ। ये जीलान(फारस)के रहनेवाले थे। इनकी मृत्यु सन् ११६६ ई० में हुई। उनकी मृत्युके तीन सौ वर्षोंके बाद इस सम्प्रदायका प्रवेश भारतवर्षमें हुआ। भारतवर्षमें इस सम्प्रदायके प्रवर्तक मुहम्मद गौस थे। ये आदि प्रवर्तकके वंशज थे। भारतवर्षमें इनके बहुतसे शिष्य हो गये थे। इस सम्प्रदायकी शिष्य-परम्परामें मियाँ मीर थे, जो मुगल बादशाह शाहजहाँके पुत्र दारा शिकोहके आध्यात्मिक गुरु थे। इस सम्प्रदायके अन्तर्गत कई उपसम्प्रदाय हो गये, जैसे, बहलुलशाही, नवशाही, मुकीमशाही, कैमरशाही आदि।

कादिरी सम्प्रदायमें संगीतका स्थान नहीं है, वैसे, इसीके एक उपसम्प्रदाय 'नवशाही'में 'हाल' उत्पन्न करनेके लिए संगीतका सहारा लिया जाता है। इस सम्प्रदायके लोग हरे रंगकी पगड़ी बाँधते हैं। उनके कपड़ोंमें कमसे कम एक अवश्य ही गेरुआ रंगमें रँगा रहता है। इस सम्प्रदायमें **जिक्रे सफी** और **जिक्रे जली**, दोनोंका प्रचलन है। अब्दुल कादिर अल-जीलानीने सात तौर (अतवारे सबा) बतलाये हैं। जिक्रके समय साधक अल्लाहके सात नामोंका उच्चारण करता है। इसमें बतलाया गया है कि कितनी बार नामका उच्चारण होगा और कौन सी प्रार्थना करनी होगी तथा उसका रंग कैसा है।

सुहरवर्दी-सम्प्रदायका स्थान भारतवर्षमें चिश्ती-सम्प्रदायके बाद ही है। भारतवर्षमें इसके प्रवर्तक बहाउद्दीन जकरिया थे। ये मुलतानके रहनेवाले थे। इसके आदि प्रवर्तकके बारेमें लोगोंमें मतभेद है। शिहाबुद्दीन सुहरवर्दीको लोग इस सम्प्रदायका आदि प्रवर्तक मानते हैं। कुछ लोग शेख जियाउद्दीनको और कुछ लोग जियाउद्दीनके पिता अबुल नजीबको। भारतमें इस सम्प्रदायके प्रमुख सन्तोंमें सदरुद्दीन (बहाउद्दीन जकरियाके ज्येष्ठ पुत्र) शेख अहमद माशूक, सैयद जलालुद्दीन मखदूमे जहानिया आदि थे। इसके अन्तर्गत कई उपसम्प्रदायोंका जन्म हुआ, जैसे, जलाली, मखदूमी, मीरनशाही, दौलाशाही आदि।

इस सम्प्रदायमें जो लोग दीक्षित होना चाहते हैं, उन्हें मुर्शिद(गुरु)के आदेशसे सर्वप्रथम अपने छोटे-बडे सभी पापोंका प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसके बाद उससे पाँच कलमे पढ़ने और धर्मपर पूरी तरहसे ईमान लानेके लिए कहा जाता है। इस समय धर्मकी पाबन्दीपर पूरा जोर दिया जाता है। इसे ही वे मुरीद (शिष्य) होना कहते हैं। रोजा, नमाज आदिको इस सम्प्रदायवाले पूरा महत्त्व देते हैं। वे नाना प्रकारके कपड़ोंसे अपनेको ढके रहते हैं, जिसमें उन्हें बराबर याद रहे कि मनुष्य नंगा है और परमात्मा उसको देख रहा है। कपड़ोंसे इस तरह ढके रहनेका अर्थ यह भी लगाया जाता है कि साधकको यह बराबर स्मरण रहे कि जगतके अनेक जीव-जन्तु परमात्माकी सृष्टि हैं। —रा० पू० ति०

सूरजजी–बालकके जन्मके दसवें दिन राजस्थान, मालवा, ब्रज आदि प्रान्तोंमें 'सूरजपूजा'की जाती है। 'सूरजजी' उसी अवसरपर गाये जानेवाले गीत हैं। घरका आँगन लीपनेके पश्चात् बालक सहित प्रसूताको चौकपर बैठाया जाता है। वह कलशका पूजन करती है। नाइन 'घुघरी' (उबाले हुए गेहूँ) वितरित करने जाती है, तभी पड़ोसिनें सूरजके गीत गाती हैं। घुघरी इस अवसरका परम्परागत मालवी गीत है। सूर्यको नवेद्य लगानेके पश्चात् प्रसूताकी छूत निकल जाती है। कुछ ऐसे गीत भी हैं, जिनमें शंकर-पार्वतीके विवाहका उल्लेख करते हुए 'सूरजजी'का भले उदित होना शुभ माना जाता है। —श्या० प०

सूर्य–दे०–'हठयोग', 'पिण्ड'।

सेन्सरशिप–विचार-नियन्त्रण और स्थिति स्थापनके हितमें सेंसरशिपका खूब प्रयोग होता है। सेंसरशिप ऐसे भावों और विचारोंकी सार्वजनिक अभिव्यक्तिपर प्रतिबन्ध लगानेकी नीतिका नाम है, जिनसे शासन-सत्ता अथवा उसके द्वारा परिपोषित या परिरक्षित समाज-व्यवस्था अथवा नीति-नियमोंके खतरेमें पड़ जानेकी आशंका हो। सेंसरशिपका प्रयोग राज्य-सत्ता ही नहीं, अपितु अन्य संस्थाएँ एवं व्यक्ति भी कर सकते हैं। सेंसरशिपके दो रूप होते हैं—एक तो यह कि प्रकाशनीय सामग्रीकी प्रकाशनके पूर्व ही परीक्षा कर ली जाय और यदि वह अस्वीकार्य पायी जाय तो अस्वीकृत कर दी जाय तथा दूसरे यह कि आपत्तिजनक सामग्रीके प्रकाशनके बाद प्रकाशकको दण्ड दिया जाय और प्रकाशित सामग्रीको नष्ट कर दिया जाय। प्रथम रूपको प्रतिबन्धक (प्रिवेण्टिव) और दूसरेको दण्डात्मक (प्युनिटिव) सेंसरशिप कहते हैं।

सेंसरशिपकी प्रथा थोड़ी-बहुत सभी प्रकारके राज्योंमें पायी जाती है, किन्तु फासिस्ट राज्य इसके लिए सबसे अधिक ख्यात हैं। लोकतन्त्र राज्य प्राय अश्लीलता और हिंसा-प्रचारकी रोक-थामके लिए ही सेंसरशिपका अवलम्बन लेते हैं, किन्तु फासिज्म तो प्रत्येक प्रकारके प्रकाशन और प्रदर्शनको सेंसर करनेमें विश्वास करता है। —ह० ना०

सेवा–दुःखनिवृत्तिके लिए योग, यज्ञ, ध्यान, सेवा, सत्संग और ज्ञान आवश्यक माने गये हैं। भक्तिमार्गमें सेवाका महत्त्व असन्दिग्ध है। वल्लभ-सम्प्रदायमें श्रीकृष्णकी सेवा-पद्धतिका सुचिन्त्य और व्यवस्थित विधान है (देखिये श्रीविद्याभवन कांकरोलीसे प्रकाशित 'श्रीद्वारकाधीशकी सेवा-शृंगार-प्रणाली' तथा 'गृहकीर्तन-प्रणालीका सिद्धान्त')। पुष्टिमार्गीय सेवामें कर्मकाण्डकी नहीं, भावनाकी प्रधानता होती है। वल्लभाचार्यके पश्चात् पुष्टिसेवामें भी कर्मकाण्डका प्रवेश होता है। सेवाकी तीन दिशाएँ हैं—(क) गुरु-सेवा, (ख) सन्त सेवा, (ग) प्रभु-सेवा।

(क) **गुरु सेवा**—गुरु-सेवाकी महत्ता उपनिषत्कालमें स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होती है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्'का प्रसिद्ध अन्तिम श्लोक है—'यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ।' सिद्ध और नाथपन्थियों तथा निर्गुण और सगुण-मार्गी सन्त अथवा भक्तोंकी वाणियोंमें भी गुरुस्तुतिका विधान है, यथा—(१) 'गुरु गोविन्द दोनों खडे, काके लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपणे जिन गोविंद दियो बताय॥' (कबीर)। (२) 'अपनपौ आपुन ही में पायौ, शब्दहिं शब्द भयौ उजियारौ सद्‌गुरु भेद बतायौ॥' (सू० सा०)। (३) 'सैयद असरफ पीर पियारा। तिन्ह मोहिं पन्थ दीन्ह उजियारा॥ लेसा हिएँ पेम कर दिया। उठी जोतिमा निरमल हिया॥ मारग हुत अँधियार असूझा। भा अँजोर सब जाना बूझा॥' (जायसी - पद्मावत स्तुति-खण्ड १८)।

(ख) **सन्त-सेवा**–'सन्त'का माहात्म्य पुराणों (दे० गरुड पुराण उत्तरखण्ड, द्वितीयांश धर्मकाण्ड, ४९-५७) और प्रत्येक मतके परमार्थ साधकोंने स्वीकार किया है। 'सूर'के सन्त महिमावाले पदोंमें—'जा दिन सन्त पाहुने आवत। तीरथ कोटि सनान करे फल तैसो दरसन पावत' अधिक प्रसिद्ध है (सू० सा०)।

(ग) **प्रभु-सेवा**—प्रभु-सेवाका आशय कृष्णकी स्वरूप-सेवासे है। स्वरूप-सेवा (१) भावात्मक और (२)

क्रियात्मक होती है। प्रथम मानसी और दूसरी क्रियात्मक है। क्रियात्मक सेवाके दो प्रकार हैं—एक **तनुजा** कहलाती है और दूसरी **वित्तजा**। जो सेवा शरीरसे सम्पन्न होती है उसे तनुजा और जो धनसे उसे वित्तजा। तन और वित्त-सामर्थ्यको भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें अर्पित करनेसे साधकके अहम् और मोहका नाश हो जाता है। इन दोनोंके नष्ट हो जानेके उपरान्त ही भावात्मक अथवा **मनजा** सेवा द्वारा भक्त भगवान्‌के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है। (अ) **तनुजा सेवा**—शरीरसे की जानेवाली सेवा तनुजा सेवा कहलाती है। पुष्टिमार्गीय भक्तिके समर्पण-मन्त्रमें तन, वित्त, गृह आदि सभी समर्पित करनेका विधान है (दे० वल्लभाचार्य-कृत 'सिद्धान्तमुक्तावली', जिसमें तनुजा और वित्तजा सेवाका वर्णन है)। सूर, तुलसी आदि भक्त कवियोंमें तनुजा सेवाके उद्गार मिलते हैं, यथा—'सब तजि तुव सरणागत आयो। निज कर चरण गहेरे।' (सू० सा०)। (आ) **वित्तजा सेवा**—धनसे की जानेवाली सेवा वित्तजा सेवा कहलाती है। (इ) **मानसी सेवा**—मनसे की जानेवाली सेवा मानसी सेवा कहलाती है। यह दो प्रकारकी मानी गयी है—(१) मर्यादा-सेवा और (२) पुष्टि-सेवा। (१) **मर्यादा-सेवा**—इसमें ज्ञान तथा भजन-पूजन, श्रवणादि साधनों द्वारा सायुज्य मुक्तिकी कामना की जाती है। मर्यादामार्गीय साधक ज्ञान द्वारा पहले आत्मज्ञानकी प्राप्ति करता है, तदुपरान्त श्रीकृष्णकी सेवा और आराधनासे अपने अहंकार और ममत्व आदिको नष्ट करता है। मर्यादामार्गको अक्षर-ब्रह्म वाणीसे उद्भूत वैदिक मार्ग कहा गया है। विष्णुस्वामी-सम्प्रदायमें आत्मनिवेदनात्मक भक्तिमें मर्यादामार्गीय भक्ति सन्निहित है। (२) **पुष्टि-सेवा**—पुष्टिका अर्थ 'श्रीमद्भागवत'-(२ १० ४)के अनुसार (भगवान्‌का अनुग्रह) 'पोषणं तदनुग्रह' है। यह साधननिरपेक्ष भक्ति है। (दे०—'पुष्टि')
—वि० मो० श०

सेहरा—यों तो 'सेहरा' सोने-चाँदीके तारों या फूलोंकी बनी हुई वह झालर है जो व्याह-शादीके मौकेपर दूल्हा-दुल्हनके मुखपर सजायी जाती है, परन्तु उर्दू काव्यमें 'सेहरा' उस कविताको कहते हैं, जो विवाहकी बधाईमें लिखी जाय। ज्यादातर सेहरे तो गजलके रूपमें ही लिखे जाते हैं और बहुतेरे सेहरोंमें **रदीफ** भी 'सेहरा' ही रखनेका रवाज है।
—म०

सैटायर—दे०—'व्यंग्यगीति'।

सोंठ—छठी (जन्मोत्सव)का गीत, इसमें जच्चाको सोंठ पिलानेका उल्लेख रहता है।
—र० अ०

सोमरस—प्राचीन कालमें प्रसिद्ध एक लताका रस, जिसे प्राचीन वैदिक ऋषि पान करते थे—अमीरस। तालुमूलमें स्थित चन्द्रसे झरनेवाला सोम (रस), जिसका पान योगी अपनी जिह्वाको उलटकर तालुमूलविवरमें प्रवेश कराके करता है। (दे०—'हठयोग', 'अमीरस')
—उ० श० शा०

सोमराजी—वर्णिक समवृत्तका एक भेद, इस वृत्तके प्रत्येक चरणमें दो यगण होते हैं (ISS, ISS)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। यह छन्द भुजगप्रयातका आधा है। उदा०—'गुनी एक रूपी, सुनो वेद गावैं। महादेव जाको सदा चित्त लावैं' (रा० च० १ १४)।
—पु० शु०

सोरठा—मात्रिक अर्द्धसम छन्द। 'प्राकृतपैंगलम्'में सोरठा अप० सोरट्ठा—एव सौराष्ट्रम्को दोहेका विपरीत कहा है (१ १७०)। इसके विषम पादोंमें ११-११ और सम पादोंमें १३-१३ मात्राएँ होती हैं। दोहेके समान इसके भी भेद हो सकते हैं। सोरठा काफी लोकप्रिय छन्द रहा है। प्राय सभी प्रसिद्ध कवियोंने दोहेके साथ इसका प्रयोग किया है। कथात्मक प्रबन्धोंमें सोरठेके द्वारा कथाके नवीन सूत्रोंकी स्थापनामें सुगमता होती है। तुलसीने 'रामचरित मानस'में सुन्दर प्रयोग किया है—'जेहि सुमिरत सिधि होइ, गणनायक करिवर वदन।'
—रा० सिं० तो०

सोरठी—सोरठीकी लोक गाथाको 'रोमाण्टिक बैलेड' कहा जा सकता है, अन्य लोक-गाथाओंसे इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमें 'रोमास'का पुट प्रचुर परिमाणमें पाया जाता है। सोरठीकी गाथाको सुनकर हृदयमें आश्चर्य एव अद्‌भुत रसका सचार होता है। जादू-टोनेका अलौकिक प्रभाव तथा विमान (उड़नखटोला) द्वारा अमरपुरीकी यात्राके इसमें अनेक दृश्य पाये जाते हैं।

सोरठपुर देशके राजा दक्ष सिंह थे, जिनकी रानीका नाम कमलावती था। इनकी पुत्री सोरठी थी, जो अपने अनुपम सौन्दर्यके कारण लोकप्रसिद्ध थी। जन्म लेते ही सोरठीमें अलौकिक गुण दिखाई पड़ने लगे, परन्तु ज्योतिषियोंने राजाको बतलाया कि इसके जन्मके ग्रह ऐसे बुरे हैं कि आपका राज्य नष्ट हो जायगा। अत राजाने काठके बक्समें सोरठीको रखकर नदीमें प्रवाहित कर दिया। उसके अलौकिक रूपसौन्दर्यको देखकर दर्शक मुग्ध हो जाते थे। कोंका नामक कहारने बक्समें बहती हुई सोरठीको पकड लिया और बडे लाड-प्यारसे उसका पालन किया। सोरठी जब बड़ी हुई तब दक्ष सिंहको इस घटनाका पता चला। वे सोरठीको घर लाये और उसके विवाहके लिए स्वयवर रचाया। इस समय दक्षिण देशमें राजा टोडरमल सिंह राज्य करते थे, जिनकी रानी सुनयना थी। इन्हींका पुत्र बृजभान था, जो बडा ही रूपवान् युवक था। सुप्रसिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ (मछीन्दरनाथ)ने इसे अपना चेला बनाया। हेवन्तपुरके राजाका नाम हेवचल था, जिसकी लडकी हेवन्ती बडी रूपवती थी। जब इसका स्वयवर रचा गया तब बृजभान मोढीका रूप धारणकर वहाँ पहुँचा। हेवन्तीने इसीके गलेमें जयमाल डाल दी। इस प्रकार हेवन्ती और बृजभानका विवाह हो गया। कोहबरमें जाते समय देवकन्या तथा सोरठीने उनसे यह प्रतिज्ञा करा ली कि बृजभान उनके यहाँ अवश्य पधारेंगे।

गुजरातका राजा खेखडमल बृजभानका मामा लगता था। बृजभानने बड़े परिश्रमसे सोरठीका विवाह अपने मामासे कराना चाहा, परन्तु उसके अस्वीकार करनेपर सोरठीको अपनी पत्नी बना लिया। सोरठीको प्राप्त करनेमें बृजभानको बडी तपस्या करनी पड़ी थी तथा अनेक सकटों-को झेलना पड़ा था। एक बार तो इस प्रयासमें सापके काटनेसे उसकी मृत्यु भी हो जाती है, परन्तु फिर वह जी उठता है। अन्तमें वह सोरठीको प्राप्त कर सुखपूर्वक निवास करता है। बृजभान हेवन्ती तथा सोरठीसे विवाह करनेके पश्चात् धवलागिरिपर निवास करनेवाली सुरिया और

सुनेनरी नामक स्त्रियोंके प्रेमजालमें फँस जाता है तथा आनन्दपूर्वक जीवनयापन करता है।

सोरठीकी उपर्युक्त कथा रहस्य-रोमाञ्चसे भरी हुई है। सोरठीको पानेमें बृजभानको अनेक कष्टोंको झेलना पड़ता है जिसके द्वारा लोककविने आत्मा द्वारा परमात्माकी प्राप्तिकी ओर सङ्केत किया है। सोरठीकी गाथा निर्गुन गीतोंकी लयमें गायी गयी है, परन्तु इसमें दूसरा छन्द भी पाया जाता है। दोनोंके नमूने इस प्रकार है—'झुन झुन बाजे चलत झुनकी खड़ऊँवा हो। झूमत झामत कुँवर जात नू रेकी॥ ए कि आहो रामा सुनिलेहु राजा वचन हमार नू रेकी। ८ कि आहो रामा सोरठपुरमें सोरठी कन्या बा रे नू रेकी॥' समस्त गाथामें वाग-प्रवाह-सी गति मिलती है। —कृ० दे० उ०

सोहंग–दे०—'सोहम्'।

सोहनी–आषाढ़में खेतमें बोये गये बीज जब अच्छी तरहसे जम जाते हैं तब इन खेतोंमें उगी हुई घास तथा व्यर्थके पौधोंको 'खुरपी'से काटकर फेंक दिया जाता है। इस कार्यको 'सोहना' कहते हैं। अतः इस समय जो गीत गाये जाते हैं वे 'सोहनी'के नामसे प्रसिद्ध हैं। खेतमें जमे हुए घास-पातके काटनेकी प्रक्रियाको 'निराना' भी कहा जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने 'कृषी निरावहिं चतुर किसाना' लिखकर इसी कार्यकी ओर सकेत किया है। अतः ये लोकगीत 'निरवाही' भी कहे जाते हैं।

सोहनीके गीतोंकी यह विशेषता है कि प्रायः वे किसी कथाको लेकर लिखे गये हैं। अतएव इन्हें 'लोकगाथा'की श्रेणीमें रखा जा सकता है। इन गीतोंमें कहीं तो मुगलोंके अत्याचारका वर्णन है, तो कहीं उनसे युद्ध कर किसी वीर पुरुषके द्वारा किसी अबलाके उद्धार करनेका उल्लेख पाया जाता है। कहीं सास और बहूका शाश्वतिक विरोध दिखलाई पड़ता है, तो कहीं पतिके द्वारा पत्नीके आचरणपर अविश्वास। किसी किसी गीतमें सौतिया-डाहकी भी झाँकी देखनेको मिलती है।

चन्द्रादेवी, कुसुमादेवी और भगवतीदेवीके अमर गीत सोहनीके गीतोंके अन्तर्गत हैं। इन देवियोंने अपने अलौकिक शौर्य द्वारा मुगल दुराचारियोंके हाथोंसे अपने सतीत्वकी किस प्रकार रक्षा की, यह कथा इन गीतोंमें अंकित है। सोहनीकी लय बड़ी मधुर तथा चित्ताकर्षक होती है। —कृ० दे० उ०

सोहनी-महिवाल–पंजाबकी लोकप्रचलित दुःखान्त गीत-कथा। सोहनी चिनाव किनारेके एक गाँवके कुम्हारकी लड़की थी। उसके रूपगुणपर रीझकर महिवाल नामक राजकुमार सोहनीको प्राप्त करनेके लिए चिनावके दूसरे किनारेपर धूनी रमाकर बैठ गया। सोहनी प्रतिदिन पक्के घड़ेकी सहायतासे चिनाव तैरकर राजकुमार महिवालके पास जाया करती थी। एक दिन उसकी ननदने देख लिया। उसने चुपकेसे पक्का घड़ा उठाकर उसके स्थानपर मिट्टीका कच्चा घड़ा रख दिया। सोहनी प्रेमकी भावनामें डूबी हुई कच्चे घड़ेके सहारे ही चिनाव पार करने लगी। बीचमें घड़ा फूट गया और वह लहरोंमें समा गयी। 'महिवाल'का अर्थ है भैंसोंका चरवाहा। कहते हैं, सोहनीको प्राप्त करनेके लिए राजकुमारने भैंसें भी चरायी थीं, इसीलिए कथामें वह महिवाल हो गया। —श्या० प०

सोऽहम्–'वही मैं हूँ' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ'। वेदान्तका सिद्धान्त है कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं, दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। जीव और कुछ नहीं है। इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिए वेदान्ती लोग कहा करते हैं 'सोऽहम्' अर्थात् मैं वही ब्रह्म हूँ। उपनिषदोंमें भी यह बात 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि'के रूपमें कही गयी है। हठयोगियोंके अनुसार दाहिने श्वासको ओहम् और बायें श्वाँसको सोहम् संज्ञा प्राप्त है। 'ओहं सोहं तनु विचारा। बंकनालमें किया पसारा' (ग्रा० गू०)। —उ० ग्रा० ग्रा०

सोहर–जन्मोत्सवका गीत, अत्यन्त लोकप्रिय और प्रायः सभी हिन्दी जनपदोंमें प्रचलित; उपनयन और विवाहके अवसरपर भी गाया जाता है। सोहर शब्दकी व्युत्पत्ति संस्कृतके सूतिकागृह और प्राकृतके सुइहरसे हुई होगी। इस प्रकारके गीतोंमें इसका नाम व्यवहृत होता है—'बाजे लागीं अनँद बधइया, उठन लागे सोहर'। इसे सोहलो या सोहला भी कहते हैं–सं० शोभावत–प्रा० सोहल+क, हिं० सोहला। 'सबका बिलास होइ सोहिला' (जायसी पद्मावत)। वस्तुतः यह मंगलगीत है और इसका एक नाम मंगल भी है—'जो यह मंगल गावइ गाइ सुनावइ, सो बैकुण्ठे जाइ, सुनैया फल पावइ'। 'रामचरितमानस'में यह नाम मिलता है—'गावहिं मंगल मञ्जुल बानी।' हिन्दी साहित्यमें सोहरछन्द और उसके लौकिक काव्यरूपके अनेक उदाहरण मिलते हैं—'जानकी-मंगल', 'पार्वती-मंगल' (तुलसीदास), 'अगधि-मंगल' (कबीरदास)। —र० अ०

सौंदर्य-चेतना–सुन्दर वस्तुके सर्जन अथवा आस्वादनके समय कलाकार और रसिककी आत्माकी विशेष अवस्थाको सौन्दर्य चेतना (aesthetic consciousness) कहा जाता है अथवा सौन्दर्यकी अनुभूतिका नाम सौन्दर्य-चेतना है। इस चेतनाके विशेष लक्षण है—(१) आनन्द अथवा रसका अनुभव, जिसमें चमत्कार विद्यमान रहता है। (२) इसका आधार एक ओर सुन्दर वस्तु होती है, जिसमें गति, सन्तुलन, विन्यास आदि गुण रहते हैं, दूसरी ओर प्रेक्षककी 'सहृदयता', जिससे वह अन्तर्भावनाके बलसे सुन्दरको आत्मसात् करता है। (३) सुन्दर वस्तुके अनुभवके साथ ही इसमें आत्म लय अथवा आत्मानुभूति भी विद्यमान रहती है। (४) इसमें 'सौन्दर्य-चिन्तन' विद्यमान रहता है, 'वस्तु'से 'आत्मा'की ओर केन्द्रमुखी गति (सेण्ट्रीपेटल) तथा आत्मासे वस्तुकी ओर केन्द्रोन्मुखी गति (सेण्ट्रीफ्यूगल) रहती है। इस गतिके कारण यह समाधि-चेतनासे भिन्न होती है। (५) इस अवस्थामें मन रस-प्रवण अथवा केवल रसयिताके रूपमें रहता है, इसमें क्रिया और सकल्पका निरोध रहता है। मन केवल 'रस-चर्वण' करता है। (६) संकल्पात्मक वृत्तियोंके निरोधसे समाधि जैसा सुख अनुभव होता है, यद्यपि समाधि नहीं होती। —ह० ला० श०

सौंदर्यमूलक समाज-दर्शन–कला रूपोंके तारतम्य एवं उत्कर्षापकर्षके आधारपर समाजके अध्ययनकी प्रणालीका नाम है सौन्दर्यमूलक समाज-दर्शन। इस परम्पराके

विचारकोंने एक नये सौन्दर्यवादी इतिहास-दर्शनकी उद्भावना कर डाली है, जो तत्त्वत सांस्कृतिक चक्रवादकी ही एक शाखा प्रतीत होती है। इस परम्पराके अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्याकार लिजेटीके अनुसार संस्कृतिकी बाल्यावस्थामें स्थापत्य कला, परिपक्वावस्थामें मूर्तिकला, एव जीर्णावस्थामें चित्रकलाका साम्राज्य होता है। अतएव यूरोपके मध्यकालमें स्थापत्य कला, नवजागरण कालमें मूर्तिकला तथा आधुनिक कालमें चित्रकलाका प्राधान्य देखनेको मिलता है। इसी प्रकार मिस्र जैसी प्राचीनतम संस्कृतियाँ स्थापत्यकलाप्रधान, यूनान और रोम जैसी परवर्ती संस्कृतियाँ मूर्तिकलाप्रधान तथा यूरोप जैसी आधुनिक संस्कृतियाँ चित्रकलाप्रधान हैं।

सौन्दर्यमूलक समाज-दर्शनके अनुसार कला एव संस्कृतिके अन्य पक्षोंके बीच अन्योन्यसम्बन्ध है। कला संस्कृतिका बैरोमीटर (वायुभारमापक यन्त्र) है। लिजेटीके अनुसार स्थापत्यकलात्मक अवस्थामें संस्कृतिमें एक प्रकारकी ताजगी, सामूहिकताकी ओर झुकाव, कर्मठता, आदर्शवादिता, श्रद्धावादिता, धार्मिकता, कृषि, हस्तकला, आध्यात्मिकता जैसे गुणोंका प्राधान्य होता है, जब कि चित्रकलात्मक अवस्थामें पतनोन्मुखता, स्त्रैणता, व्यक्तिवादिता, इन्द्रिय-परायणता, भोगवादिता, उपयोगितावादिता, बुद्धिवादिता, वैज्ञानिकता, वाणिज्य, मशीन एव भौतिकताका साम्राज्य होता है। मूर्तिकलात्मक अवस्थामें इन द्विविध प्रवृत्तियोंका समन्वय देखनेको मिलता है।

हीगेलके कलासिद्धान्तमें भी सौन्दर्यमूलक समाज-दर्शनका एक रूप दिखाई पड़ता है। उसके अनुसार कलाका विकास महाप्रत्यय अथवा विश्वात्माकी अभिव्यक्ति-का प्रकारविशेष है। इस अभिव्यक्तिप्रक्रियाके तीन सोपान हैं—प्रतीकात्मक, क्लासिकी और रोमानी। प्रतीकात्मक अवस्थामें प्रत्यय चित्, जाड्यसे अभिभूत होता है और उसे पूरा-पूरा इन्द्रियगोचर होनेका कोई मार्ग नहीं सूझता। क्लासिकी अवस्थामें प्रत्यय और जाड्य-में एक प्रकारका सन्तुलन होता है, किसी एकका दूसरेपर आधिपत्य नहीं होता और रोमानी अवस्थामें जाड्यपर प्रत्यय पूर्ण विजयी हो जाता है। प्रतीकात्मक सोपानका प्रतिनिधित्व करती है स्थापत्य कला, क्लासिकीका मूर्तिकला और रोमानीका चित्रकला, संगीत और काव्य। पौरस्त्य कला प्रतीकात्मक है, यूनान और रोमकी क्लासिकी और केवल आधुनिक यूरोपकी कला रोमानी सोपानपर है।

विक्टर ह्यूगो अपने ग्रन्थ 'क्रामवेल'के आमुखमें कहता है कि प्रत्येक जातिका साहित्य तीन क्रमिक अवस्थाओं—प्रगीतात्मक, वीरगाथात्मक और नाटकीय—से गुजरता है और कि प्रत्येक अवस्था एक नियत युगके अनुरूप होती है।

पितरिम ए० सोरोकिनके इतिहास दर्शनमें सौन्दर्यवादी समाज दर्शनको एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। उसके अनुसार तीन प्रकारके महासंस्थान—प्रत्यक्षवाद, परोक्षवाद और अध्यात्मवाद और तदनुसारी तीन प्रकारकी कलाएँ, व्यक्तित्व और संस्कृतियाँ होती हैं। कलागत परिवर्तन सदा सांस्कृतिक परिवर्तनके अनुगामी होते हैं। प्रत्येक प्रकारकी कलाका उद्भव, विकास, परिपाक एव पतन उसकी आधारभूत संस्कृति एव व्यक्तित्वके उद्भव, विकास, परिपाक एव पतनका अनुसरण करता है। —ह० ना०

सौंदर्यानुभूति—सौन्दर्यकी अनुभूतिका सर्वाधिक विचार पाश्चात्य देशोंमें हुआ है। इसे अंग्रेजीमें 'ऐस्थेटिक एक्सपीरिएन्स' कहते हैं। सुन्दर क्या है, इस सम्बन्धमें विभिन्न मत हैं। कोई समानुपात, सुव्यवस्था, विविधता, एकरूपता, औचित्य, जटिलता, संगति, प्रमाणबद्धता, व्यंजना, स्पष्टता, मसृणता कोमलता या वर्णप्रदीप्तिमेंसे किसीको सुन्दरताका कारण बताता है, कोई सुन्दरको वस्तु-निष्ठ और कोई व्यक्तिनिष्ठ मानता है, कोई उसे नैतिकता और मंगलसे सम्बन्धित मानता है तथा कोई उपयोगितामें ही सौन्दर्य मानता है। इटलीके दार्शनिक बेनेदेतो क्रोचे अन्वीक्षामूलक सामान्यावलम्बी ज्ञानके विरुद्ध स्वतःप्रात्मक अनुभूति या 'इण्टबीशन'को ही सौन्दर्यका मूल स्रोत मानकर अभिव्यक्तिमात्रको पूर्ण एवं सुन्दर मानते हैं और विषयवस्तुको गौण या प्राय महत्त्वहीन घोषित करते हैं। जेफ्रे, एलीसन तथा बेनने साहचर्य एवं प्रयोगमें ही सौन्दर्य-की प्रतिष्ठा स्वीकार की है। प्लेटो, प्लाटीनस, टालस्टाय, रस्किन, बर्क शेफ्ट्सबरी, श्लेगेल तथा काण्ट ईश्वरीय मंगलकर्ता, नैतिक तथा विशुद्धिकारक शक्ति या वस्तुमें ही सौन्दर्य मानते हैं और उसे अलौकिक स्वीकार करते हैं। इस सौन्दर्यकी आनन्दमय अनुभूतिको ही सौन्दर्यानुभूति कहते हैं। इसका सम्बन्ध विशेषत कलासे माना गया था, किन्तु यूरोपियोंने काव्यको भी कला मानकर उसमें भी रसानुभूतिके स्थानपर सौन्दर्यानुभूतिका विचार किया है। इसी आधारपर हीगेलने मूर्त-अमूर्त उपकरणोंका सहारा लेकर काव्यको अमूर्त कला माना है और उसे अन्य कलाओंसे श्रेष्ठ घोषित किया है। 'प्रसाद'ने भारतीय दृष्टिसे यह बताते हुए कि रूप ग्रहण करनेकी शक्ति आँखोंमें है और गृहीत रूपकी धारणा हृदय ही कर सकता है, मूत अमूर्त-के भेदको व्यर्थ बताया है। उनका कथन है कि चाक्षुष प्रत्यक्षसे इतर जो वायु और आन्तरिक्ष अमूर्त रूप हैं, उनका भी रूपानुभव हृदय ही करता है। अत इस प्रकार-का भेद निरर्थक है। यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथने रससे रमणीयताका पार्थक्य स्थापित करते हुए बताया था कि ऐसे भी काव्य होते हैं जहा रस तो नहीं होता, तथापि वे अच्छे लगते हैं। ऐसे स्थलपर रमणीयताको ही स्वीकार किया जा सकता है, और इसके आधारपर काव्यका लक्षण 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' होना चाहिये, जो 'रसात्मक वाक्य काव्यम्' या इसी प्रकारके अन्य लक्षणोंसे अधिक व्यापक सिद्ध होगा। रमणीयतासे उनका तात्पर्य ऐसे चमत्कारसे है, जो काव्यपाठके समय हमारे हृदयमें विशेषोंके पुन पुन अनुसन्धानकी भावना जगाता है। इसी भावको मानो 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया' पंक्तिके द्वारा व्यक्त कर दिया गया है। सौन्दर्यकी अनुभूति बड़ी चमत्कारक होती है, जो आनन्द-दायिनी होती है। आचार्य शुक्लने चमत्कारको तुच्छ मानकर रसकी पुन प्रतिष्ठा तो की और क्रोचेके अभि-व्यंजनावादको भारतीय वक्रोक्तिवादका विलायती उत्थान माना, किन्तु वस्तुके दर्शन करनेपर होनेवाली हमारी अन्त -

सत्ताकी तदाकारपरिणतिको सौन्दर्यानुभूति मानकर (त्रि० स० पृ० २२४-२२५) उसे भारतीय रसानुभूतिके ही समकक्ष मान लिया है। वस्तुतः क्रोचे आदिके मतमें गृहीता या सामाजिकका पक्ष छूट गया है, अतः सुन्दरके द्वारा रसानुभूतिकी बराबरी नहीं की जा सकती। भारतीय पक्षकी रमणीयताके अन्तर्गत ग्रहीताका भी विचार करता है और इस प्रकार सौन्दर्यवादसे पृथक् स्थिति रखता है। भारतीय पक्षके अनुसार सुन्दरका सम्बन्ध केवल कलासे माना जा सकता है, जो काव्यसे सर्वथा पृथक् मानी जाती है। सौन्दर्यानुभूतिमें हमें मुग्ध करनेकी शक्ति अवश्य है, परन्तु उसका हृदयपर स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। —आ० प्र० दी०

सौंदर्यानुभूतिसूचक आलोचना-प्रणाली—अँग्रेज़ी, ऐस्थेटिक। हिन्दी, सौष्ठववादी, स्वच्छन्दतावादी।

ईसाकी चौथी शताब्दी पूर्वसे ही यूनानमें इसकी नींव पड़ी, किन्तु १८वीं शताब्दीमें जर्मन तत्त्ववेत्ता अलेक्जेण्डर बामगार्टनने इसका पहली बार साहित्य या कलाके सम्बन्धमें स्पष्ट नामोल्लेख किया। इसके अन्तर्गत कल्पना तथा काव्य एवं कलागत अनुभूतिमय सौन्दर्यका विचार किया जाता है। अभिव्यञ्जनावाद, कला कलाके लिए तथा प्रभाववाद, इन तीनों सिद्धान्तोंका इसमें सम्मिश्रण हो गया है। शास्त्रीय तत्त्वोंके विवेचनकी अपेक्षा पाठकके हृदयको प्रभावित करनेवाले तत्त्वोंका विवेचन, सूक्ष्म अन्तर्निहित सौन्दर्य और सौष्ठवको आँकनेका प्रयत्न करना और काव्यके आभ्यन्तर तत्त्वका अनुभूतिमय चित्र उपस्थित करना ही इस आलोचना प्रणालीका उद्देश्य होता है। ऐसा करके यह आलोचक कवि-हृदयके समीप पहुँचता है, क्योंकि काव्य-कृतिमें कविके भाव, मनोवेग, विचार और कल्पना ही अभिव्यक्त होती है। भारतीय सौष्ठववादी आलोचक जहाँ अनुभूतियोंकी व्यञ्जना तथा रागात्मकता या भावोंकी गूढ़तापर ध्यान देता है, वहाँ उसके साथ शैलीकी लाक्षणिकता तथा प्राञ्जलतापर भी विचार करता है। अनुभूति तथा अभिव्यक्ति, दोनोंका समन्वय उसे प्रिय है। सौन्दर्यवादी आलोचक शिव तथा सत्यसे निरपेक्ष सुन्दर तथा आनन्दको ही काव्यका लक्ष्य मानते हैं किन्तु भारतीय आलोचक उसे निरपेक्ष स्वीकार नहीं करता। ये आलोचक काव्यको कवि-हृदयका सहज उन्मेष मानकर कविमें केवल शक्तिको ही स्वीकार करते हुए अभ्यास और निपुणताको अनावश्यक मानते हैं।

हिन्दीमें इस प्रकारकी आलोचना छायावादी कवि तथा आलोचकोंके बीच मान्य हुई और 'प्रसाद', पन्त, 'निराला', इलाचन्द्र जोशी तथा नन्ददुलारे वाजपेयी इसके विशेष समर्थक रहे। बंगलामें रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसे स्वीकार करके चले। —आ० प्र० दी०

स्कंध–दे०—'जगतानुबोध'।

स्केप्टिसिज्म–दे०—'संशयवाद'।

स्टालिनवाद–स्टालिन निरन्तर क्रान्तिके पक्षमें नहीं था। उसका विचार था कि सोवियत रूसको पहले सुदृढ़ बनाया जाय। इसीलिए वह इस निष्कर्षपर पहुँचा कि पूँजीवादी सभ्यता और साम्यवादी सभ्यता, दोनों साथ-साथ रह सकती हैं। पूँजीवादी सभ्यताका विनाश ऐतिहासिक शक्तियाँ स्वयं कर देंगी। इसी सिद्धान्तको स्टालिनवाद कहते हैं। —रा० कु० त्रि०

स्तंभ–दे०—'सात्त्विक अनुभाव' पहला।

स्तुतिगीत–स्तोत्रका लोकगीतात्मक रूप स्तुतिगीत है। वैदिक साहित्य स्तुति परक है और प्रत्येक प्रधान देवताकी स्तुतियाँ हैं। स्तोत्रमें जहाँ आराध्यविशेषकी प्रशंसा और विरुदावलियाँ रहती हैं वहाँ स्तुतिगीतमें इनके अतिरिक्त साधक-आराधककी दयनीयता, दैन्य और हीनताके प्रदर्शन द्वारा विशेष अनुकम्पाके लिए प्रार्थना रहती है। मध्यकालमें स्तोत्रका यह नव्य विकास सामाजिक-राजनीतिक कारणोंके द्वारा हुआ। विद्यापति-रचित 'नाचारी' शिवोपासना-परक गीतियोंका ही रूप है। सगुणमें इस प्रकारकी स्तुतियाँ विशेष रूपसे मिलती हैं। सूर और तुलसीकी रचनाओंमें ऐसे अनेक पद आये हैं। आधुनिक कालके प्रारम्भमें स्तुतिगीतने नवीन रूप धारण किया क्योंकि कवियोंने भगवान्‌से देशोद्धारकी प्रार्थना प्रारम्भ की। श्रीधर पाठक और 'कविरत्न' सत्यनारायणने हिन्दी कविताको यह मोड़ दिया। **आराधनागीत** और स्तुतिगीतमें यह अन्तर है कि **आराधनागीत**में आराध्यके रूप, गुण और ऐश्वर्यका विस्तृत वर्णन रहता है, आत्मदैन्यका विवरण प्रायः नहीं होता। स्तुतिगीतमें प्रभुके रूप, गुण और ऐश्वर्यके साथ कृतित्व और कर्तृत्वका सविस्तार वर्णन और आत्मदैन्य-कथन रहता है इस प्रकार आराध्यको करुणा-द्रवित करनेकी चेष्टा रहती है। **अर्चनागीत** और **आराधनागीत**में भाव और विवरणका अन्तर होता है। **अर्चनागीत**में भाव-भक्ति-मूलक आवेशका चित्रण अधिकाधिक होता है और **आराधनागीत**में आराध्यकी महिमाका विस्तार। अर्चना हृदयकी एकाग्रता सूचित करती है और आराधनागीत विशेष आराध्यकी आराधनाका हेतु उपस्थित करता है। **प्रार्थनागीत** सामान्य पारिभाषिक शब्द है, जिसमें इस कोटिके गीतोंका समावेश सम्भव है। इस कोटिके गीतोंमें सर्वाधिक लोकप्रसिद्ध रूप है **भजन**। पद-शैलीमें रचित **भजन** गेय और आन्तरिकता व्यक्त करनेवाले होते हैं। आराध्यके प्रति अनन्य निष्ठा और पुनरुक्तिकी सीमातक पहुँचनेवाले भाव और रूप रहते हैं। प्रभातकालमें गाये जानेवाले विशेष पद **प्रभाती**की संज्ञा रखते हैं। **प्रभाती** जागरणकालका गीत है, अतः इसमें आत्माके जागरण और उद्बोधनके सन्देश रहते हैं। इस कोटिमें उन गीतोंको भी सम्मिलित किया जायगा, जिनमें आराध्यके बाल-रूपको जगानेका उपक्रम रहता है। सूरदासका 'जागिये ब्रजराज कुँवर पंछी बन बोले' इसी कोटिका गीत है। आत्मोद्बोधक गीतोंमें सन्तोंके गीत हैं, कबीरका 'इहि तन राम जपहु रे प्रानी, बूझौ अकथ कहाणी, हरि कर भाव होइजा उपरि, जाग्रत रैनि विहाँणी।' द्रष्टव्य है। —रा० खे० पा०

स्तोत्र–यह 'स्तु' धातुसे बना शब्द है। स्तोत्रके लिए कहा गया है—'प्रतिगीतमत्रसाध्य स्तोत्रम्।' किसी देवताका छन्दोबद्ध स्वरूपकथन या गुणकीर्तन अथवा स्तवन स्तोत्र कहलाता है। स्तोत्रके चार भेद हैं—द्रव्यस्तोत्र, कर्मस्तोत्र, विधिस्तोत्र और अभिजनस्तोत्र। ऋग्वेदमें स्तवन-

मूलक मन्त्र आये हैं और इसके भी स्पष्ट संकेत है कि समवेत रूपमें इन ऋचाओंका गान होता था। ऋग्वेद (१ अष्टक, १ मण्डल, २ अध्याय, ? अनुवाक, ५ सूक्त)में लिखा है कि 'हे स्तुतिकर्ता सखा लोग, शीघ्र आओ और बैठो तथा इन्द्रको लक्ष्य कर गाओ' (आत्वेता निषदितेन्द्रमभिप्रगायत। सखाय स्तोमवाहस)। स्तोत्रको यहा स्तोम कहा गया है। सायणाचार्यने स्तोमका अर्थ साममन्त्र किया है, अत इसके सगीतात्मक और गेय होनेमें किसी प्रकारकी शका नहीं। प्रगीत ऋचाओंकी सज्ञा हुई स्तोत्र और इन स्तोत्रिया ऋचाओंके स्तवनकर्ता हुए 'उद्गाता'। 'बृहदारण्यकोपनिषद्'की टीकामें कहा गया है—'स्तोत्रिया नाम ऋक्साम समुदाय', अर्थात् ऋक्साम समुदायकी ऋचाओंका नाम स्तोत्रिया है। इसके तीन भेद होते हैं—पुरोनुवय, याज्या और शस्या। सामवेदके ऋत्विजोंमें उद्गाता(५ . १ २९)का उल्लेख आया है और उसके सहायकको प्रतिहर्ता कहा गया है। प्रारम्भमें स्तवन, गुणकीर्तन, रूपकथन और प्रशसात्मक वर्णनकी प्रधानता थी। उत्तरकालमें स्तुत्य देवताके विरोधियोंकी निन्दा द्वारा भी स्तुति की जाने लगी(अन्यनिन्दान्यस्तुतये)। सस्कृतमें स्तोत्र नामकी कई रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं—'शिवमहिम्नस्तोत्र', 'कालीसहस्रनामस्तोत्र', 'श्यामास्तोत्र', 'दुर्गादिनामस्तोत्र'। 'शिवमहिम्नस्तोत्र'के रचयिता पुष्पदन्ताचार्य हैं, जिनका समय दशवीं शताब्दीके पूर्व है। इस स्तोत्रकी प्रसिद्ध पक्ति है—'असितगिरिसम स्यात् कज्जल सिन्धुपात्रे।' शकराचार्यका 'भजगोविन्दम्' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। गुरुगोविन्द सिंहने 'दुर्गासप्तशती'के अनुवादमें दुर्गास्तोत्रका हिन्दी अनुवाद उपस्थित किया था। 'चण्डीकी वार' चण्डीस्तोत्रका स्वतन्त्र रूपान्तर है। इस पद्धतिपर भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने सर्वोत्तम स्तोत्र, 'प्रात स्मरणस्तोत्र', 'श्रीसीतावल्लभस्तोत्र'की रचना की थी। इस कोटिकी रचनाओंमें चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन'का 'युगलमगलस्तोत्र' अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने स्तोत्रके एक नये रूपका प्रवर्तन किया और वह है 'व्यग्यस्तोत्र', जिसमें परिहासमूलक अथवा व्यग्यात्मक रचनाएँ हुई। 'श्रीवेश्यास्तवनराज', 'स्त्री-सेवापद्धति', 'मदिरास्तवराज', 'फकरस्तोत्र' और 'अँगरेजस्तोत्र' शीर्षक रचनाएँ 'स्तोत्रपंचरत्न'के नामसे खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुरसे सन् १८८२ ई०में प्रकाशित हुई थीं। 'अँगरेजस्तोत्र'के कुछ अश हैं—'चुगी और पुलिस तुम्हारी दोनों भुजा है, अमले तुम्हारे नख हैं। अन्धेर तुम्हारा पृष्ठ है और आमदनी तुम्हारा हृदय है, अतएव हे अँगरेज! हम तुमको प्रणाम करते हैं। खजाना तुम्हारा पेट है, लालच तुम्हारी क्षुधा है, सेना तुम्हारा चरण है, खिताब तुम्हारा प्रसाद है, अतएव हे विराट रूप अँगरेज, हम तुमको प्रणाम करते हैं।'

—रा० खे० पा०

स्थापक—जब पूर्वरगमें मगलाचरणादिका विधान कर लेनेपर मचसे सूत्रधार लौट जाता है, तो उसीकी-सी वैष्णव वेशभूषामें कोई दूसरा नट नाटकादि कथा वस्तुके काव्यार्थकी स्थापना या सूचना करता है। यह नट काव्यार्थकी सूचना या स्थापना करनेके कारण ही स्थापक कहा जाता है। वह काव्यार्थकी यह स्थापना वस्तु सूचना, बीज-सूचना, मुख-सूचना या पात्र सूचनाके द्वारा करता है। 'उदात्तराघव'में वस्तु-सूचना, 'रत्नावली नाटिका'में बीज सूचना, 'अभिज्ञानशाकुन्तल'में पात्र-सूचना तथा एक अज्ञात नाटकमें मुख-सूचनाके प्रयोग प्राप्य हैं। इस भाँति स्थापककी स्थापना पात्र-स्थापना (पात्र सूचना) है।

स्थापकके लिए शास्त्रीय निर्देश है कि वह काव्यार्थके सूचक मधुर श्लोकोंसे प्रेक्षकोंको प्रसन्न करे और किसी ऋतुका वर्णन कर भारती वृत्तिका उपयोग करे। इसके अतिरिक्त मचपर आनेके समयके लिए उसे आदेश है कि वह कथा-वस्तुके अनुरूप ही वेश-भूषा बनाकर प्रवेश करे। यदि वस्तु देवता सम्बन्धिनी है तो वह दिव्य रूपमें प्रवेश करे, यदि मर्त्य सम्बन्धिनी है तो वह नट मर्त्य रूपमें आये, यदि वह दिव्यादिव्य है तो वह दिव्य या मर्त्य किसी भी रूपमें आये। प्रवेशके उपरान्त रूपककी कथा-वस्तु, बीज, अर्थ-प्रकृति तथा प्रमुख पात्रकी सूचना भी दे।

प्राचीन कालके नाटकोंमें जहाँ स्थापक होता था वहाँ सूत्रधार कुछ मगलश्लोक तथा गीत गाकर ही प्रस्थान कर जाता था और नाटक, नाटकार्थ, नाटककारका परिचय स्थापक ही देता था। कालान्तरमें नाटकसे स्थापकका लोप हो गया और सूत्रधार ही उसका कार्य भी करने लगा। स्थापकका सम्बन्ध कठपुतलियोंको व्यवस्थित करने या सजानेवाले व्यक्तिसे भी माना गया है। —वि० रा०

स्थायी भाव—काव्यचित्रित शृगारादि रसोंके मूलभूत कारण 'स्थायी भाव' हैं। 'अमरकोश'में मनके विकारको 'भाव' कहा गया है—'विकारो मानसो भाव।' सस्कृतके साहित्य-शास्त्रियोंने भावकी पृथक स्वतन्त्र व्याख्या नहीं की है, अपितु रसव्यजनाके सन्दर्भमें ही उसकी चर्चा हुई है। 'नाट्यशास्त्र'के सप्तम अध्यायमें कहा गया है कि 'भाव'का अर्थ 'व्याप्ति' होता है और भाव इसलिए 'भाव' कहलाते हैं कि वचन, अगभगी एव 'सात्त्विकों'(स्तम्भ, स्वेद, रोमाच इत्यादि)के अभिनयके द्वारा वे काव्यार्थकी भावना कराते हैं, अर्थात कविके प्रतिपाद्य अभीष्टको सामाजिक(पाठक या श्रोता या नाटकका प्रेक्षक)के अन्तस्में व्याप्त कर देते हैं—'वागगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा', यहाँ भरतने भावको 'कारण' अथवा 'साधन' माना है, अर्थात् कवि अपनी रचनाको सामाजिकके आस्वादनकी वस्तु तभी बना सकता है, जब वह भावगर्भित हो, भावकी अनुपस्थितिमें कवि एवं सामाजिकके बीच कोई मानसिक किंवा अन्त-करणीय सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। लेकिन, भाव स्वय क्या वस्तु है, इसकी व्याख्या भरतने नहीं की है।

'रसतरगिणी'में भानुदत्तने कुछ अधिक स्पष्ट ढगसे भावकी परिभाषा दी है—'रसानुकूलो विकारो भाव। विकारोऽन्यथाभाव।' अर्थात् रसके अनुकूल मनका विकार 'भाव' है तथा अज्ञायमान वस्तुका ज्ञायमान होना ही विकार है। (रसतरगिणीकी जीवनाथ-विरचित भाषा टीका पृष्ठ ७) अतएव, इस कथनके अनुसार जिस वस्तुका ज्ञान रसोन्मीलनमें समर्थ होगा, वह वस्तु भाव कहलायेगी। यहाँ भी भावको वैसा मनोविकार माना गया है, जिसका चेतनामें स्फुरण होनेसे रसरूपमें आस्वादन हो सके। हिन्दीके आचार्य

केशवदासने 'रसिकप्रिया'में भावका लक्षण यह बतलाया है कि जब मुख, नेत्र तथा वचनों द्वारा 'मनकी बात' प्रकट होती है, तब सुकविगण उसे 'भाव' कहते हैं। इस कथनमें भरतकी शब्दावलीका अनुकरण होते हुए भी एक अधिक स्पष्ट तथ्य व्यंजित किया गया है कि भाव 'मनकी बात' है तथा वचन, मुखके रंग और नयनभंगीके द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है। भानुदत्तने अस्थायमान होनेकी जो-जो बातें कही हैं, उसे केशवदासने अधिक स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष ढंगसे व्यक्त किया है।

भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'में भावोंकी संख्या उनचास गिनायी है, जिनमें तैंतीस 'संचारी' या 'व्यभिचारी', आठ 'सात्त्विक' तथा शेष आठ 'स्थायी भाव' बताये गये हैं—'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा। जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा प्रकीर्तिता।' (६ १७)। भरतका कथन है कि ये भाव ही विभावों एवं अनुभावोंके संयोगसे काव्य अथवा नाटकमें रसका अभिर्भाव करते हैं, क्योंकि इनमें 'सामान्यत्व'का गुण वर्तमान होता है—'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।' लेकिन इसी प्रसंगमें भरतने बताया है कि वास्तव में स्थायी भाव ही रसके उपादान कारण हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार अनेक परिजनों, परिचारकों द्वारा घिरे रहनेपर भी राजा ही राजा कहलाता है, उसी प्रकार विभावों, अनुभावों एवं संचारियोंसे संयुक्त होनेपर भी, स्थायी भाव ही रसत्वको प्राप्त होते हैं। भरतने अन्य भावोंकी तुलनामें स्थायी भावोंकी श्रेष्ठता प्रतिपन्न की है। उनका कथन है कि जैसे सामान्य मनुष्योंमें 'नरेन्द्र' श्रेष्ठ है तथा शिष्योंमें 'गुरु' श्रेष्ठ है, वैसे ही स्थायी भाव अन्य भावोंकी अपेक्षा अधिक शक्ति एवं गुरुत्व रखते हैं। भरतके अनुसार स्थायी भाव ही उचित परिस्थितियोंमें इस रूपमें परिणत होते हैं। जब अतिशयतापूर्वक उनका उद्रेक सामाजिकके अन्तःकरणमें हो जाता है जिसकी चर्वणामें वह निमग्न हो उठता है, तब स्थायी भाव रस कहलाने लगते हैं। मम्मटाचार्यने भी यही बात कही है—'विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण। व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।' (का० प्र० ४ २८)।

अन्य आचार्योंने भी स्थायी भावके श्रेष्ठत्व एवं व्यापकत्वका व्याख्यान किया है। धनंजय कहते हैं—जो भाव विरोधी एवं अविरोधी भावोंसे विच्छिन्न नहीं होता, अपितु विपरीत भावोंको अपनेमें शीघ्र मिला लेता है, उसका नाम स्थायी है। उसकी स्थिति लवणाकरके समान है, जो प्राप्त सभी वस्तुओंको लवण बना देता है—'विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः। आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।' (द०रू० ४ ३४)। विश्वनाथ कहते हैं—अविरुद्ध या विरुद्ध भाव जिसे छिपा न सके, वह आस्वादका मूलभूत भाव स्थायी है—'अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमा। आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः।' (सा० द० ४ १७४)। पण्डितराज जगन्नाथका कथन कुछ अधिक स्पष्टता लिये हुए स्थायी भावकी महिमा विज्ञप्त करता है—जिस भावका स्वरूप सजातीय एवं विजातीय भावोंसे तिरस्कृत न हो सके और जबतक रसका आस्वादन हो तबतक जो वर्तमान रहे, वह स्थायी भाव कहलाता है—'सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान्। यावद्रसं वर्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः।' (हिन्दी र० गं० १ पृ० ८३)। पण्डितराजने अपनी परिभाषामें स्थायी संज्ञाका यह आधार निर्दिष्ट किया है कि 'काव्य अथवा नाटकके अनुशीलन अथवा प्रेक्षणकी अवधिमें सामाजिकका चित्त, अनेक अवान्तर प्रसंगोंके बीच भी उस मूलगत भावकी प्रतीतिसे ही चमत्कृत होता रहता है। रामचन्द्र शुक्लने भी संस्कृतके आचार्यों द्वारा निरूपित स्थायी भावके इसी प्रकारके 'स्थायित्व'का सामान्यतया अनुमोदन किया है। (र० मी० पृ० १७२)।

ऊपर स्थायी भावका जो वर्णन किया गया है, उससे उसकी त्रिविध विशेषताएं लक्षित होती हैं—(१)आस्वाद्यत्व—स्थायी भावमें आस्वादनीयता अवश्य होनी चाहिये। भरतने रसको 'चर्व्यमाण', आस्वादित होनेके योग्य कहा है। भरतका कथन है कि रसका मूल कारण 'रसन' अर्थात् आस्वादन ही है। इस आस्वादनमें सहृदय सामाजिक स्थायी भावोंका ही आस्वाद लेते और आनन्द प्राप्त करते हैं—'आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्च गच्छन्ति' (ना० शा०)। मम्मटने स्थायी भावके चर्वणकी अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपन्न विलक्षणताका यों निदर्श किया है—'इसका आस्वाद प्रपानक रसकी तरह होता है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो सामने ही प्रस्फुरित हो रहा है, हृदयके भीतर पैठा जा रहा है, शरीरके सभी भागोंमें सम्मिलित-सा हो रहा है। शेष सभी विषयोंको भुलाकर ब्रह्म ज्ञानानन्द सदृश अनुपम सुखका अनुभव कराकर अलौकिक चमत्कारका जनक होता है। (का० प्र० ४)। प्रतापादिने 'काव्यविलास'में मम्मटके समान स्थायी भावके आस्वाद्यत्वका ही कथन किया है—'हृदै कम्पते उठत जहँ आनँद अंकुर जोय थाई कहियत सोय' अथवा 'माला मधि ज्यों सूत्र त्यों, विभावादिमें आनि। आदि अन्त रस माहि थिर, थाई भाव बखानि।' (र० र०)।

अतएव स्पष्ट है कि आचार्योंने स्थायी भावोंकी आस्वादनीयतापर विशेष बल दिया है। रति, हास, शोक इत्यादि जिन्हें 'स्थायी'की संज्ञा प्राप्त हुई है, व्यावहारिक जीवनमें भी जब उनका अतिशयतापूर्ण उद्रेक होता है, तब वे मनुष्यको आत्मविभोर करते देखे जाते हैं। काव्यमें तो इनकी रसनीयता और भी प्रकट हो जाती है। मानव अन्तःकरणमें तरंगित होनेवाले असंख्य भावोंमेंसे उन्हींको 'स्थायी'की पदवी मिली है, जो मनुष्यकी चेतनामें इतनी सान्द्रताके साथ व्याप्त हो जाते हैं कि वह उनके प्रतीति कालमें आत्मविस्मृत सा होता दिखाई देता है। इस आस्वाद्यत्वको 'रसनीयता' तथा 'अनुरंजकता' भी कहा गया है।

२ उत्कटत्व—स्थायी भावकी दूसरी प्रमुख विशेषता है उसका उत्कटत्व। इससे अभिप्राय है कि स्थायी भावको उत्कट अर्थात् प्रबल एवं सशक्त होना चाहिये क्योंकि तभी मनपर उसका गहरा प्रभाव पड़ सकता है। ऊपर जो विरोधी एवं अविरोधी, सजातीय एवं विजातीय भावोंसे उसके तिरोभूत अथवा तिरस्कृत न होनेका उल्लेख किया गया है, उसका अभिप्राय यही है कि स्थायी भाव सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें

अपने अस्तित्वकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है तथा अन्य आनुषंगिक भावों अथवा तत्त्वोंकी प्रतीतिको दबाकर स्वयं प्रमाताको पूर्णतः अभिभावित कर लेता है। सजातीय भावोंसे विच्छिन्न न होनेका उदाहरण 'बृहत्कथा'में नरवाहनदत्तके मदनमंचुकाके प्रति अनुरागके चित्रणमें उपलब्ध होता है। यद्यपि उसमें अनेक नायिकाओंके प्रेमका भी वर्णन प्राप्त है, तथापि इन अवान्तर प्रेमप्रसंगोंके कारण मदनमंचुकाके प्रति नरवाहनदत्तके अनुरागका विच्छेद नहीं होने पाया है। इसी प्रकार विजातीय भावोंमें स्थायी भावके तिरस्कृत न होनेका उदाहरण 'मालतीमाधव'में प्राप्त है, जहाँ श्मशानांकमें बीभत्स रसके द्वारा मालती-विषयक अनुरागका तिरस्कार नहीं हुआ है। माधवका यह कथन द्रष्टव्य है, 'मेरे अन्तःकरणमें पूर्व अनुभवके आधारपर जिस संस्कारका प्रादुर्भाव हुआ है, उसके निरन्तर जागरूक रखनेसे जिसका विस्तार हो गया है तथा अन्य प्रकारके प्रत्ययोंसे जिसका प्रवाह रोका नहीं जा सकता, प्रियतमाके स्मरणरूप उस प्रत्ययकी उत्पत्तिका विस्तार वृत्तिमात्स्यसे मेरे चैतन्यको मालतीमय बना रहा है। वैसे ही, 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरनन्द'में यद्यपि कई स्थानोंपर शृंगारके सरस चित्र हैं, तथापि पाठकोंको इसकी रंचमात्र भ्रान्ति नहीं होती कि कवि अश्वघोषके काव्यका लक्ष्य 'रतये' नहीं, 'व्युपशान्तये' है—'इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः।' (सौन्दरनन्द १८ ६३)।

३ सर्वजनसुलभत्व—स्थायी भावोंकी तीसरी महत्त्वमयी विशेषता है उनका सर्वजनसुलभ होना, भरतकी अभ्युक्ति कि 'सामान्यगुण'के कारण ही भाव रसोद्रेक कराते हैं, पहले उद्धृत की जा चुकी है। अभिनवगुप्तका कथन है कि कोई भी मनुष्य वासना शून्य नहीं होता—'न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः कश्चित् प्राणी भवति।' कहनेका अभिप्राय है कि रति, हास इत्यादि भाव ऐसे हैं, जो संस्काररूपमें सभी मनुष्योंमें वर्तमान रहते हैं, अर्थात् वे सर्वजनसुलभ हैं। रामचन्द्र शुक्लने भी 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्धमें 'लोकसामान्य-भावभूमि'पर बल दिया है। साधारणीकरणकी सम्पूर्ण कल्पना स्थायी भावोंकी सर्वजनीनतापर भी आधारित है। अरस्तू इत्यादि पाश्चात्य आचार्योंने भी काव्यमें सार्वलौकिकता तत्त्व (युनिवर्सलिटी)-को महत्त्व दिया है।

स्थायी भावोंकी उपर्युल्लिखित तीन विशेषताएँ ही ऐसी हैं जो उनकी प्रकृतिसे निष्पन्न होती हैं, लेकिन काव्यमें चित्रित उनके स्वरूपकी उपादेयतापर विचार कर आचार्योंने उनमें अन्य दो गुण भी आरोपित कर दिये हैं। वे हैं पुरुषार्थोपयोगिता और उचितविषयनिष्ठत्व या औचित्य।

४ पुरुषार्थोपयोगिता—लगभग सभी आचार्योंने यह माना है कि काव्यका प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी, जिन्हें चार पुरुषार्थ कहा गया है, उपलब्धि है। अतएव धार्मिक भावनासे प्रभावित होनेके कारण काव्यके उपजीव्य स्थायी भाव पुरुषार्थोंकी साधनामें उपयोगी समझे गये हैं। अभिनवगुप्तने भी स्थायियोंकी पुरुषार्थोपयोगिताका उल्लेख किया है—'स्थायिभाव एव तथा चर्वणापात्रमात्रपुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद इति।' यद्यपि व्यावहारिक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी रति, क्रोध प्रभृति भावोंकी उपयोगिता उपपन्न की जा सकती है, तथापि काव्यकी रसवादी विवेचनामें यह अस्पृहणीय प्रतीत होता है।

५ उचितविषयनिष्ठत्व या औचित्य—काव्यमें भावोंकी स्थिति उचित विषय अथवा आलम्बनमें होनी चाहिये। यही स्थायी भावोंका औचित्य कहा गया है। वास्तवमें भावोंको तीव्र रूपमें आस्वाद्य बनानेके लिए उचित विषयका ग्रहण आवश्यक है—'स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते।' कुरूप स्त्रीको रूपवती-सी चित्रित करना अथवा किसी दुःशील व्यक्तिके प्रति करुणा अथवा सहानुभूति इत्यादिका संचार करना औचित्यका ह्रास अथवा हनन होगा। क्षेमेन्द्रने तो औचित्यको 'काव्यका स्थिर जीवन' ही बताया है। रसाभास एवं भावाभास औचित्यके तिरस्कारसे ही उत्पन्न होते हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि स्थायी भावोंमें उपर्युक्त गुणोंका एक साथ समाहार वाञ्छनीय है, क्योंकि तभी वे काव्यमें चित्रित होकर सहृदयसंवेद्य हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'लोभ' एक अत्यन्त उत्कट भाव है, लेकिन वह आस्वादनीय नहीं है, इसलिए उसे स्थायी भावोंमें सन्निविष्ट नहीं किया गया है। ऐसे ही संचारी भाव भी सर्वजनसुलभ हैं, क्योंकि वे भी मनुष्यमें वासनारूपमें स्थित हैं, किन्तु उनमें उत्कटत्व नहीं है, क्योंकि, जैसा कि पण्डितराजने कहा है, वे काव्यादिकमें अन्ततक 'बार-बार' अभिव्यक्त नहीं होते, अतएव वे व्यभिचारी ही कहे गये हैं।

उपर्युक्त कसौटीपर कसकर आचार्योंने सर्वसम्मतिसे रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा शम या निर्वेद ये नौ स्थायी भाव स्वीकृत किये हैं। भरतने पहले निर्वेदको स्थायी भावोंमें सन्निविष्ट नहीं किया, क्योंकि वे आठ रसोंको ही नाट्योपयोगी मानते हैं, किन्तु इनके निरूपणके पश्चात् उन्होंने शान्त रसको भी स्वीकार किया है। बादमें भक्ति और वात्सल्य भी स्थायियोंमें गृहीत कर लिये गये हैं, क्योंकि वे भी आस्वाद्यता, उत्कटता इत्यादि गुणोंमें अन्य भावोंसे घटकर नहीं हैं। इस प्रकार स्थायी भावोंकी संख्या ग्यारहतक पहुँच जाती है। इनमेंसे प्रत्येक एक एक रसका स्थायी है। ये भाव अपने नियत रसमें ही स्थायीकी संज्ञा प्राप्त करते हैं, क्योंकि ये अद्योपान्त आस्वादित होते हैं। यदि अपने नियत रसमें अन्यत्र इनमेंसे कोई भाव उत्पन्न होता है तो वहाँ वह स्थायी न रहकर कर व्यभिचारी बन जाता है, इसे दृष्टिमें रखते हुए कन्हैयालाल पोद्दारका कथन है कि 'वास्तविक स्थायी भावके उदाहरण तो रसकी परिपक्व अवस्थामें ही मिल सकते हैं, अन्यत्र नहीं' (र०म० पृ० २५२)।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंने भावोंका गम्भीर विवेचन किया है। मेकडुगलने यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्यकी सहज प्रवृत्तियों (instincts)का क्रियात्मक प्रकाश ही भाव है। उनके अनुसार प्रत्येक प्रधान प्रवृत्ति एक विशिष्ट प्रकारका भावात्मक चापल्य व्यंजित करती है। इस प्रकार मेकडुगलने मनुष्यकी सत्रह अन्तःप्रवृत्तियोंकी स्थापना कर उनके लिए सत्रह भाव निरूपित किये हैं। इन भावोंकी तालिकापर ध्यान देनेसे प्रतीत होता है कि रति, हास, क्रोध, भय, घृणा, औत्सुक्य, वात्सल्य, अहंकार, कार्पण्य एवं

सहानुभूति तथा आश्चर्य, ये दस भाव ही प्रवृत्तिप्रेरित भाव हैं। इनमेंसे प्रथम सात हमारे स्थायी भावोंमें मिल जाते हैं। अहङ्कार एवं उत्साहमें भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। कार्पण्यको भी कुछ आचार्योंने स्थायी भाव माना है, किन्तु अधिकांश इसे केवल भाव ही मानते हैं। हमारे स्थायियोंमें केवल 'शोक' ही बच जाता है, जिसका उल्लेख मैकडुगलके प्रवृत्तिमूलक भावोंमें नहीं मिलता। कुछ मन शास्त्री 'शोक'को भी मूल भाव मानते हैं, लेकिन कार्पण्य एवं सहानुभूतिमें शोकके तत्त्व सन्निहित हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकोंने भावोंको दो श्रेणियों—मौलिक (primary) एवं व्युत्पन्न (derivative)में विभाजित किया है, इनके अनुसार भी स्थायी भावोंमेंसे अनेक मौलिक भावोंके भीतर समाविष्ट हो जाते हैं। विस्मय, उत्साह एवं शोकको ये लोग मौलिक न मानकर उनपर आधारित अथवा उनसे विकसित व्युत्पन्न भाव मानते हैं। ऐसे ही कुछ मन शास्त्री रतिको भी मूल भाव नहीं मानते। रामचन्द्र शुक्लने भी रतिका मूल रूप 'राग' माना है। लेकिन मैकडुगलके अनुसार ये सभी भाव प्रवृत्तिमूलक मूलभूत भाव ही सिद्ध होते हैं। अभिनवगुप्तने स्थायी भावोंको 'वासना', 'संवित्', 'चित्तवृत्ति', इन तीन शब्दोंमें अभिहित किया है। मैकडुगल इत्यादि भावोंको अन्त प्रवृत्तिके, जो अभिनवकी वासना ही है, प्रस्फुटित स्वरूप मानते हैं, जब कि अभिनवने इस रूप-विकासकी व्याख्या नहीं की। अतएव प्रवृत्तिप्रेरित भावों तथा वासनामूलक स्थायी भावोंमें तत्त्वत कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार स्थायी भावोंकी स्थिति वास्तवमें जीवनके उन तीव्र एवं व्यापक मनोविकारोंकी है, जो मानव-स्वभावके मूल अंग हैं तथा जिन्हें पाश्चात्य दर्शनमें साधारणत मौलिक मनोवेग (elemental passions) कहा गया है। —र० ति०

स्थैर्य—दे०—'सात्त्विकगुण' (नायक)।

स्नेह—भक्तके मनमें सर्वप्रथम अपने भगवान्‌के प्रति स्नेह अंकुरित होता है। ऐसी अवस्थामें भगवान्‌के रूप, गुणादिके प्रति ललक जाग्रत होती है। 'सूर ने राधाके हृदयमें स्नेहके अंकुरित होनेकी कितनी मधुर व्यजना की है—'बार-बार तू ह्याँ जनि आवै। मैं कहा करौं सुतहि नहिं बरजति, घरत मोंहि बुलावै। मोसों कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्रान। छोह लगत मोकों सुनि बानी, महरि, तिहारी आन।' (सू० सा०)। —वि० मो० श०

स्पंद—कम्पन, गति। वसुगुप्तके 'शिवसूत्र'पर ही आधारित करके उनके शिष्य भट्टकल्लटने 'स्पन्दकारिका' और 'स्पन्दवृत्ति' लिखी। क्षेमराजने 'स्पन्दनिर्णय' तथा 'स्पन्दसन्दोह', रामकाण्डने 'विवृति' और उत्पलवैष्णवने 'प्रदीपिका'की रचना इसी स्पन्द-शास्त्रकी परम्परामें की। स्पन्द-शास्त्र एक तरहसे शैवागमके नये मोडका सूचक है। इसमें दार्शनिक विश्लेषणका प्रयत्न उतना नहीं किया गया है जितना कि भावनाको दर्शनके साथ जोड़नेका। इसने पहली बार आनन्दको सत्यके धरातलसे ऊपर उठाकर स्पन्द या स्फुरता या लोकोत्तर चमत्कार या आत्मविमर्शके धरातलपर पहुँचाया।

स्पन्द शिवका प्रथम स्फुरण ही है। एक तरहसे शिव जब यह जानते हैं कि मैं ही शिव हूँ तभी इनमें पहला स्पन्दन होता है और वह पहला स्पन्दन ही शिवतत्त्व बनता है। जब आनन्दका बोध होता है तो शक्तितत्त्वकी प्रधानता हो जाती है। सदाशिवमें इसी प्रकार इच्छाशक्तिकी, ईश्वरमें ज्ञानशक्तिकी और शुद्ध विद्यामें क्रियाशक्तिकी प्रधानता हो जाती है। शुद्ध विद्यासे लेकर शिवतत्त्वतक ऊर्ध्वगामी जीवका प्रयत्न वस्तुको आत्मरूपमें गृहीत करनेका होता है। वस्तुका पूर्ण रूपसे आत्मगत होना ही और विषयका विषयीमें तादात्म्य होना विश्व और व्यक्तिमें समरसता होना ही स्पन्द है। —वि० नि० मि०

स्फोट—(खुलना, विस्तार) नादका शाश्वत, अविभाज्य, सर्जनात्मक स्वरूप। विचारका वह वास्तविक माध्यम, जो चित्तमें किसी शब्दके उच्चरित होते ही अर्थके रूपमें उद्भासित होता है। इस शब्दका प्रयोग व्याकरणशास्त्रमें सबसे पहले पतञ्जलिने किया है और इसीको दार्शनिक स्तरपर भर्तृहरिने अपने 'वाक्यपदीय'में उपबृंहित किया है। गंगेश और उनके परवर्ती अप्पय दीक्षित, नागेश भट्ट, गदाधर आदिने शब्दशास्त्रकी दार्शनिक व्याख्यामें शब्दके स्फोट-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्तके अनुसार शब्दोंका अर्थ, जो प्रकट होता है, वह न तो वर्णोंसे होता है और न इन वर्णोंसे बने हुए शब्दोंसे होता है, प्रत्युत इन वर्णोंसे बने हुए शब्दोंमें सन्निहित शक्तिके कारण अभिव्यक्त होता है। इस शक्तिको ही स्फोट संज्ञा दी गयी है। यह शक्ति शुद्ध मायाके प्रथम विवर्तित नादतत्त्वमें रहती है। इसके पीछे तर्क यह है कि यदि प्रत्येक वर्णमें व्यष्टिरूपमें अर्थ-अभिव्यंजनाकी शक्ति रहती तो दूसरे वर्ण अपार्थ हो जाते। यह स्फोटसिद्धान्त वस्तुत शब्द-ब्रह्मवादियोंकी देन है और दर्शन मानकर चलता है कि नादमें ही जगत्‌का बीज है और यह जगत् अर्थरूपमें शब्दसे विवर्तमान होता है। इस सिद्धान्तका उपयोग साहित्यशास्त्रमें व्यंजनाकी स्थापनाके लिए ध्वनिवादियोंने किया है। इन्होंने काव्यमें ध्वनिको स्फोटसे एकाकार कर दिया है और इसीलिए अभिधा और लक्षणाके अलावा तीसरी शब्दशक्ति व्यजनाकी आवश्यकतापर भी बल है। —वि० नि० मि०

स्मरण—सादृश्यगर्भ भेदाभेदप्रधान अलकारोंका एक भेद। यह रुद्रटसे स्वीकृत रहा है। भोजने इसे स्मृति कहा है, अन्य प्राय सभीने यही नाम दिया है। रुय्यकका लक्षण है—'सदृशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृति स्मरणम्' (अ० स० पृ० ३१), अर्थात् सादृश्यके अनुभवसे किसी वस्तुकी अन्तरस्मृतिका जागना स्मरण अलकार है। मम्मटके अनुसार किसी पूर्वानुभूत वस्तुकी, उसके समान किसी दूसरी वस्तुके अनुभवसे स्मृतिका उद्बुद्ध होना (का० प्र० : १० · १३२)। 'काव्यप्रकाश'की इस परिभाषापर रुद्रटकी छाप है और उनका लक्षण बहुत स्पष्ट है—'वस्तुविशेषको देखकर, जो उसके सादृश्यके कारण पूर्वानुभूत वस्तुकी आन्तरिक स्मृति जागती है, वही स्मरण है' (काव्या० ८ · १०९)। विश्वनाथने लक्षण रुय्यकसे लिया है, केवल 'अन्तर' शब्दके न होनेसे भाव पूरा व्यक्त नहीं है। जगन्नाथने 'सादृश्यानुभव' शब्दके प्रयोगपर आपत्ति की है, क्योंकि इस प्रकार संस्कारजन्य

स्मृति इसके अन्तर्गत नहीं आ सकेगी। हम केवल अनुभवसे ही किसी वस्तुका स्मरण नहीं करते वरन् किसी वस्तुकी स्मृतिसे भी समान वस्तुका स्मरण आता है। अत उसके स्थानपर 'सदृशज्ञानात्' शब्दका प्रयोग होना चाहिये (र०गं० २२१-२२)।

हिन्दीके आचार्योंमें जसवन्त सिंह, मतिराम तथा पद्माकर आदिने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके अनुसरणपर इसका लक्षण भ्रम सन्देहके साथ दिया है और प्राय शब्दार्थमें ही निहित माना है। भूषणने रुय्यक, विश्वनाथ आदिके समान—'सम सोभा लखि आनकी, सुधि आवत जेहि ठौर।' (शि० भू० ७४) कहा है। दासके लक्षणमें रुद्रट जैसी स्पष्टता है—'कछु लखि सुनि कछु सुधि कियें, सो सुमरन सुख कन्द।' (का० नि० ९), इसमें 'कछु सुधि कियें' कहकर दासने जगन्नाथकी बातको भी स्वीकार किया है। उदा०—'कहा कहिये पिय बोलि पपिहरा बिथा तन देत जगाइ जगाइ।' (वही) अथवा—'मैं पाता हूँ मधुर ध्वनिमें गूँजनेमें खगोंके। मीठी तानें परमप्रियकी मोहनी वशिकाकी।' (प्रि० प्र०)। —र०

स्मित हास्य–दे०—'हास्य रस'।

स्मृति–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी; भरतने दु ख अथवा सुखकी स्थितिके स्मरणको माना है, जो रोग, अनिद्रा, नतमुख होकर सोचने या देखने आदिसे सम्बद्ध है और जिसके अनुभाव नतमुख होना, नीचे देखना तथा भौंहें चढ़ाना आदि हैं (ना० शा० ७ ५४ ग)। विश्वनाथके मतानुसार स्मृतिकी परिभाषा—'सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत्। स्मृति पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते।' (सा०द० ३ . १६२), सदृश वस्तुके अवलोकन तथा चिन्तन आदिसे पूर्वानुभूत वस्तुके स्मरणको स्मृति कहते हैं। स्मृतिमें हम पहले ज्ञात किसी वस्तुका ज्ञान फिरसे प्राप्त करते हैं। भौंह चढ़ाना आदि इसके अनुभाव हैं। हिन्दी रीतिकालके आचार्योंमें कुछने 'नाट्यशास्त्र'की परम्परामें लक्षण दिया है—'सस्कार सम्पति विपति, अधिक प्रीति अति त्रास। प्रिय अप्रिय सुमिरन सुमृति, इकचित मौन उसाँस॥' (भाव० सचारी०)। इसके विपरीत कुछने 'सुमिरन बीती बातको' (जगद्वि० ५१०) कह दिया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करते हुए मराठी रसविमर्शकारने लिखा है—'प्रोफेसर बाटवेका कहना है कि स्मृति किसी भावनाका विभाव या कारण हो सकती है। स्मृति भूतकालीन प्रसगका सस्कार है। हर्ष, क्रोध आदि भावनाएँ प्रसंगके स्मरणसे उद्दीप्त होती हैं। इस प्रकार भावोद्दीपनका कारण स्मृति है। स्मृति स्वत भावना नहीं है। वह बुद्धिका व्यापार है। (र० वि० पृ० १३०)।

रामचन्द्र शुक्लने इसे अन्त करणकी वृत्ति माना है और इसे बुद्धि, धारणा आदिका व्यापार कहा है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे उचित है। उन्होंने इसे बुद्धि, धारणा आदिका व्यापार कहकर यह प्रश्न उठाया है कि फिर इसका ग्रहण काव्यमें कैसे हुआ? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने स्वय ही कहा है—'काव्यमें इनका ग्रहण वहींतक समझना चाहिये जहाँतक वे प्रत्यक्ष रूपमें भावोंके द्वारा प्रेरित प्रतीत होते हों।' उन्होंने स्मृतिके दो भेद माने हैं—विशुद्ध स्मृति और प्रत्यक्षाश्रित (मिश्रित) अर्थात् स्मृति या प्रत्यभिज्ञान। विशुद्ध स्मृति वह स्मृति है, जिसके कारण भूतकालकी प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओंका, जो आज सामने नहीं हैं, स्मरण किया जाता है, जैसे, अतीत जीवनका स्मरण, बाल्यकालके मित्रकी याद। पर वही स्मृति सचारीकी कोटिमें आ सकती है, जिसका सम्बन्ध किसी स्थायी भावसे हो। स्थायी भावसे सम्बन्ध होनेपर ही स्मृति सचारी रसकोटितक पहुँच सकती है।

'प्रत्यभिज्ञानमें थोडा अश प्रत्यक्ष होता है और बहुत-सा अश उसीके सम्बन्धसे स्मरण द्वारा उपस्थित होता है। किसी व्यक्तिको हमने कहीं देखा और देखनेके साथ ही स्मरण किया कि यह वही है, जो अमुक स्थानपर बहुत-से लोगोंके साथ झगड़ा कर रहा था। वह व्यक्ति हमारे सामने प्रत्यक्ष है। उसके सहारेसे हमारे मनमें झगडेका वह सारा दृश्य उपस्थित हो गया, जिसका वह एक अग था। 'यह वही है'—इन्ही शब्दोंमें प्रत्यभिज्ञानकी व्यजना होती है (र०मी० पृ० २०९)।

प्रत्यभिज्ञानमें रस सचारकी गहरी क्षमता है। अधिकतर काव्यमें प्रत्यभिज्ञान-जन्य स्मृतिकी ही अभिव्यक्ति मिलती है। जहाँतक रतिभावसे सम्बद्ध सचारीका सम्बन्ध है, स्मृति सचारीका आविर्भाव साधारणत दो रूपोंमें दिखाई पड़ता है—एक तो आलम्बनकी प्रिय वस्तुओंको देखकर और दूसरे, उसके भ्रमण, क्रीडा आदिके स्थलोंको देखकर। तुलसीकी 'गीतावली'में पहले प्रकारके कई सचारी मिल जायँगे। कौसल्या रामके धनुष-बाण और घोड़ोंको देखकर रामकी स्मृतिमें अत्यन्त विकल हो जाती हैं। रीतिकालीन काव्योंमें दूसरे प्रकारके स्मृति सचारीका अधिक प्रयोग हुआ है। श्रीकृष्णके गोकुल चले जानेपर जब गोपियाँ यमुनाके कछारों, वनलताके कुजों आदिको देखती हैं तब उनके मनमें सहसा यह बात उठती है कि ये कछार और लताकुज वे ही हैं जहाँ हम सब श्रीकृष्णके साथ विहार करती थीं—'सघन कुज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर। मनु ह्वै जात अजौ वहै उहि जमुनाके तीर।' (बि० र० ६८१)। इसी प्रकारकी रसखान तथा आलम जैसे प्रेमियोंमें भाव-व्यजना है—'जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता काँकरी बैठि चुन्यो करें। नैननिमें जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करें।' (आलमकेलि०)। —व० सिं०

स्मृति-दृश्य–दे०—'फ्लैशबैक'।

स्रग्धरा–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, 'पिंगल-छन्द सूत्र'(७ २०)में इसका लक्षण दिया है। म, र, भ, न, य, य, यके योगसे यह वृत्त बनता है (SSS, SIS, SII, III, ISS, ISS, ISS) और ७, ७, ७ वर्णोंपर यति होती है। बाणने 'चण्डीशतक'में इस छन्दका विशद प्रयोग किया है। हिन्दीमें मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली पृ० ३ . ७, साकेत ९ पृ० १९७) और अनूप शर्मा(सिद्धार्थ पृ० २४२)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'नीचे पद्मासनस्थ स्तिमित दृग किये, दृष्टि अन्तर्हिता थी। ऊँचे नासापुटोंमें अविचल स्वर थे, सूर्यचन्द्राख्य दोनों। (सिद्धार्थ पृ० २४२)। —पु० शु०

स्रग्विणी–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र'(१६ ५७)में पद्मिनी और 'प्राकृतपैंगलम्'-(२ १९८)में लक्ष्मीधर नाम दिया है। अन्य आचार्योंने यही नाम माना है। यह छन्द चार रगणोंसे बनता है(SIS, SIS, SIS, SIS), यह छन्द प्रवाहपूर्ण और प्रबन्धक्षम है। अनूप शर्माने 'विराट् सग्राम'में इसका पद्यान्तरप्रवाही प्रयोग किया है। रीतिकालीन सवैयों(गंगोदक छन्द)में इसका अप्रत्यक्ष प्रयोग हुआ है। केशवका उदाहरण है—'राम आगे चले मध्य सीता चली। बन्धु पाछे भये सोम सोभै भली। देखि देही सबै कोटिधा कै भनो। जीव जीवेशके बीच माया मनो।'-(रा० च० ११ ७)। —पु० शु०

स्रजन–सर्जन अथवा सर्जना। साहित्य अथवा कलाके निर्माणकी प्रक्रिया, जिसके द्वारा कवि अथवा कलाकारका अमूर्त भाव मूर्त बनता है। स्रजनमें आभ्यन्तर प्रेरणाका बोध है, जो कलामय रूपों और प्रतिमानोंमें अनायास ही बँध जाता है। (दे०–'कृति', 'रचना') —रा० भ०

स्वकीया (नायिका)–सामाजिक सम्बन्धोंके आधारपर किये गये नायिकाओंके विभाजनका पहला भेद। इसके दो अन्य नाम भी दिये गये हैं, भरतने कुलजा तथा रुद्रटने आत्मीया या स्वीया। स्वकीयाका प्रयोग सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'में हुआ है। भानुदत्तके अनुसार—'तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता स्वीया।' (र०म० पृ० ५), जो अपने स्वामीमें ही अनुरक्त हो, वह स्वकीया है। स्वामीके प्रति विवाहिता स्त्रीकी मन, वचन तथा कर्मसे पूर्ण अनुरक्ति ही स्वकीया भाव है—'लाजवती निस दिन पगी निज पतिके अनुराग।' (र०रा० १०)। देवने अपनी परिभाषाको अधिक स्पष्ट बनाया है—'जाके तन मन वचन करि, निज नायकसों प्रीति। विमुख सदा परपुरुषसों सो स्वकीयकी रीति।' (भाव० नायिका०।) दासने 'शृंगारनिर्णय'में स्वकीयाके अन्तर्गत 'भोगभामिनी'को अर्थात् राजाओंके अन्त पुरमें रहनेवाली रखेलियोंको भी माना है (६३)। यह नायिका अष्टांगवती नायिका है, क्योंकि इसमें ही आठों गुण पाये जाते हैं—यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव और भूषण। अन्य नायिकाओंमें इन समस्त गुणोंका विकास सम्भव नहीं। देवके उदाहरणमें स्वकीयाका लज्जाशील तथा कोमल चित्रण किया गया है—'कवि देव हरे बिछियानु बजाइ लजाइ रहे पग टोलन पै। गुरु डीठि बचाइ लचाइ कै लोचन सोचनिसों मुख खोलनि पै। हँसि हाँस भरे अनुकूल बिलोकनि लालके लोल कपोलनि पै। बलि हो बलिहारी हौं वार हजारक बालकी कोमल बोलनि पै॥ (भाव० स्वकीया०)। मतिरामने स्वकीयाके शीलका चित्रण किया है—'जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति। गुरुजन जानत लाज है, पीतम जानत पीत।' (र०रा० ८२)। दासने उसकी एकनिष्ठतापर बल दिया है—'पान औ खानतें पीको सुखी लखै आप तबै कछु पीवतिखाति है।' (शृं०नि० ६४)। पद्माकरने अलकृत शैलीमें उसमें गुणका उत्कर्ष दिखाया है—'सोनेमे सुगन्ध न सुगन्ध मैं सुन्यो री सोनो सोनो औ सुगन्ध तो मैं दोनों देखियतु है।' (जगद्वि० १ १८)। इसके प्रमुख भेद—१. मुग्धा, २ मध्या तथा ३ प्रौढ़ाको इन शब्दोंके अन्तर्गत देखिये। —सु०

स्वगत–दे०—'अश्राव्य'।

स्वच्छंदतावाद–दे०—'रोमांटिसिज्म'।

स्वतःचालित लेखन (automatic writing)–दे०—'अतियथार्थवाद'।

स्वत सम्भवी–अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिका पहला भेद। स्वत सम्भवीसे अभिप्राय उस काव्यार्थसे है, जो केवल कवि-कथनमात्रसे ही सिद्ध न हो, वरन् बाह्य ससारमें भी जो उचित रीतिसे सम्भाव्यमान हो—'न केवल भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यौचित्येन सम्भाव्यमान (का० प्र० पृ० ८५), लोक-व्यवहारमें सगत तथा सम्भव काव्यार्थ स्वत सम्भवी है। इस भेदमें वस्तुसे वस्तुकी, वस्तुसे अलकारकी तथा अलकारसे वस्तुकी और अलकारकी व्यजनाएँ होती हैं। फलत इसके चार भेद हैं (१) स्वत सम्भवी वस्तुसे वस्तुकी व्यजना—'कोटि मनोज लजावनहारे, सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे। सुनि सनेहमय मजुल बानी, सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी।' (का०द० पृ० ३११), यहाँ 'सीताका सकुचित होना तथा मनमें पुलकित होना' वाच्यार्थ है। इसके द्वारा यह व्यग्यार्थ ज्ञात होता है कि राम 'सीताके पति हैं'। वाच्यार्थ व्यग्यार्थ, दोनोंमें ही कोई अलकार नहीं है, इसलिए इस उदाहरणमें वस्तुसे वस्तुकी ध्वनि है और मानव-स्वभावगत स्वाभाविक चेष्टावर्णन होनेके कारण स्वत सम्भवी भी है। (२) स्वत सम्भवी वस्तुसे अलकारकी व्यजना—'दाँसन छोड़िके कासन ऊपर, आसन मार्‌यो, पै आस न मारी।' यहाँ वाच्यार्थ द्वारा यह व्यग्यार्थ निकलता है कि आशाको त्यागे बिना मनुष्यका सच्चा कल्याण नहीं हो सकता और इस कथन (वस्तु)में विनोक्ति अलकारकी ध्वनि है (विनोक्ति—एक वस्तुके बिना दूसरी वस्तु अशोभित जान पड़े)। लोकव्यवहारकी दृष्टिसे उक्त कथन सर्वथा सगत है। अत उक्त उदाहरणमें स्वत सम्भवी वस्तुसे अलकारकी ध्वनि है। (३) स्वत सम्भवी अलकारसे वस्तुकी व्यंजना—'बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना, कर बिनु करम करै विधि नाना।' (मानस), यहाँ वाच्यार्थमें विभावना अलकार है और उससे इस तथ्य(वस्तु)की व्यजना होती है कि ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है। ब्रह्मके विषयमें उक्त प्रकारके कथन सर्वथा सगत हैं। अत इस उदाहरणमें स्वत सम्भवी अलकारसे वस्तुकी व्यजना है। (४) स्वत सम्भवी अलकारसे अलकारकी व्यजना—'अलि इन लोयनि सरनिको, खरो विषम सचार। लगे लगाये एकसे दुहुअनि करत सुमार।' (बिहारी)। इस दोहेके वाच्यार्थमें नेत्रों और बाणोंमें रूपक बाँधा गया है, किन्तु व्यंग्यार्थरूपमें उपमान(शर)की अपेक्षा उपमेय(नेत्र)में यह विशेषता है कि अपने लक्ष्यको विद्ध करनेके अतिरिक्त वे चलानेवालेको भी घायल कर देते हैं। नेत्रोंका यह व्यापार लोक दृष्टिसे सगत होनेके कारण उक्त उदाहरणमें स्वत सम्भवी अलकारसे अलंकारकी ध्वनि है। ऊपर चारों उदाहरण वाक्यगत ध्वनिके हैं। पद तथा प्रबन्ध द्वारा इस प्रकारकी व्यजना होनेपर स्वत सम्भवी ध्वनिके चारों भेदोंके तीन-तीन भेद और होते हैं—पदगत, वाक्यगत, प्रबन्धगत। —उ० श० शु०

स्वप्न (सुप्त एवं सुप्ति)–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक सचारी भाव। 'नाट्यशास्त्र'का अनुकरण कर संस्कृत काव्य-शास्त्रियोंने इस सचारी भावको प्राय सुप्त कहकर अभिधान किया है। शारदातनयने इसको 'सुप्ति' कहा है। कालान्तर-में इसका ही नाम यदि परिभाषानुकूल 'स्वप्न' पड गया तो कोई आश्चर्य नहीं। भरतने इसको 'निद्रासमुत्थित' अर्थात् निद्रामे उद्भूत बताया है। उच्छ्वास, नि श्वास, शिथिलगात्र, आँखे बन्द होना, इन्द्रियोंका सम्मोह एव स्वप्नमें बोलना इत्यादि क्रियाओंसे इसकी अभिव्यक्ति होती है। (ना० शा० ७ ७५ ग)। अत निद्राग्रस्त पुरुषके विषयानुभवका नाम स्वप्न है और इस भावको दशरूपक-कार एव अन्य लेखकोंने सुव्यक्त कर दिया है। विश्वनाथने ठीक ही कहा है कि यह कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख एव दु खकारक होता है (सा० द० ३ १५२)। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने इसका चलता हुआ लक्षण दिया है–'सुपन स्वप्नको देखिवो' (जगद्वि० ५१०)।

प्राय इसके उदादाहरणमें वास्तविक स्वप्नके वर्णन दिये गये हैं—'जानति हौं सखि सापनेमें नंदलालको नारि निहारि रही है।' (जगद्वि० ५१११)। रामदहिन मिश्रने पन्तकी स्वप्न-व्यजनाके चित्रको इसके उदाहरणमें प्रस्तुत किया है—'किन जन्मोंकी चिर संचित सुधि बजा सुप्त तन्त्रीके तार, नयन नलिनमें बँधी मधुप-सी करती मर्म मधुर गुजार।' (का० द०)।

वाग्भटने 'काव्यानुशासन'में स्वप्नकी परिभाषा केवल 'सुप्त निद्राया गाढावस्था' कर दी है, जो अपूर्ण है। निद्रामें स्वप्नका होना आवश्यक है। कई बार स्वप्न भी इतने सजीव होते हे कि उनका चित्र हमारे स्मृतिपटलपर अमर रहता है। जाग्रदवस्थामें भी स्वप्नसमान चित्तकी दशा रहनेपर भी यही सचारी हो सकता है (day-dreaming)। स्वप्न वास्तवमें मानसिक अवस्था है। सामान्य निद्रा एव निद्रा सचारी भावसे भी भिन्न है (ना० द० ३ १३९)। —ज० कि० व०

स्वप्नप्रतीक–**मनोविश्लेषणमें** स्वप्नोंके दो पक्ष माने जाते है–प्रकट अन्तर्वस्तु और गुप्त अन्तर्वस्तु। प्रकट अन्तर्वस्तुके अन्तर्गत दृश्य, श्रव्य आदि वे समस्त मानस प्रतिमाएँ या **बिम्बविधान** है, जिनसे हमें दिखाई पड़नेवाले स्वप्नका निर्माण होता है। गुप्त अन्तर्वस्तुमें वे विचार, इच्छाएँ और प्रेरणाएँ होती है, जिनको स्वप्न प्रच्छन्न रूपसे व्यक्त करता है। स्वप्नकी प्रक्रिया द्वारा गुप्त अन्तर्वस्तु प्रकट अन्तर्वस्तुमें परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक स्वप्न इच्छापूर्तिका साधन होता है। स्वप्नप्रक्रिया कुछ नियमोंके अनुसार सम्पन्न होती है, जिनमें प्रतीकीकरण एक है। फ्रायडके अनुसार स्वप्नकी लगभग प्रत्येक प्रतिमा किसी अन्य वस्तुका प्रतीक होती है। समाचारपत्रोंमे निकलनेवाले व्यग्यचित्रोंमें भी प्रतीकका उपयोग इसी प्रकार किया जाता है। स्वप्नोंका अर्थ प्रतीकोंका अर्थ जाने बिना नहीं किया जा सकता।

स्वप्नप्रतीकोंमें कुछ सर्वव्यापी होते हैं और कुछ व्यक्तिगत। राजा और रानी माता-पिताका और छोटे पशु भाई बहिनोंका प्रतिनिधान करते हैं। नग्न हो जाना आरम्भिक स्वमुग्धताका प्रतीक है। किसी स्त्रीका पीछा करते हुए भयावह और विकराल घोडे और साँड जैसे पशु शारीरिक बल और पुस्त्वके प्रतीक ह। इसी प्रकार विधवाएँ और अतृप्तकाम स्त्रियाँ अस्त्रशस्त्रोंसे सुसज्जित चोरों या डाकुओंको अपने ऊपर आक्रमण करते देखती है तो यह चोर और डाकू बलात्कारियोंके प्रतीक होते है। मनोविश्लेषकोंकी यह भी मान्यता है कि स्वप्नोंमें सबसे अधिक प्रतीक पुरुष-जननेन्द्रियके मिलते हैं। सर्प, भाला, कृपाण, मछली, चिड़िया, छड़ी, पेडका तना, खम्भे, मीनार, शिखर, सादृश्ययुक्त फल और तरकारियाँ आदि शिश्नके प्रतीक हैं। इसी प्रकार जूते, बक्स, गुफा, चूल्हे, खिड़कियाँ, दरवाजे, कमरे और उद्यान नारी-जननेन्द्रियके प्रतीक हैं। जल और स्नान भी यौन प्रतीक हैं। जीना या सीढी रतिक्रियाका प्रतीक है और साथीके साथ जीनेके ऊपरतक पहुँच जाना दोनोंकी तृप्तिदायक पूर्ण रतिका। स्वप्नोंके प्रतीक पुरातन पौराणिक गाथाओं और लोक-कथाओंके प्रतीकोंसे बहुत मिलते जुलते हैं। जैसे ऊँचाईसे गिरकर अपनेको जमीनपर सही-सलामत पानेका स्वप्न हमारे कन्दरावासी पूर्वपुरुषके अनुभवका प्रतीक है। गिरना किसी नैतिक आचरणके अतिक्रमणका भी प्रतीक माना जाता है। युगके अनुसार स्वप्नोंमें प्राक्तन भाव-प्रतिमाएँ प्रकट होती हे और स्वप्न किसी प्रस्तुत समस्याको हल करनेका प्रयास होता है।

प्रतीकोंके माध्यमसे अपनी अवचेतन इच्छाओंकी अभि-व्यक्ति स्वप्नोंतक ही नहीं सीमित है, जाग्रत् जीवनमें भी हम बहुत-कुछ वैसा ही करते रहते हे। पश्चिमी देशोंमें नवदम्पतीके ऊपर चावल और जूते फेंकनेकी प्रथा है। जूते सभी देशोंकी लोक कथाओंमें योनिके प्रतीक हैं और चावल (अथवा गेहूँ) पुरुषके उर्वर वीर्यके। इस प्रकार यह प्रथा नये सम्बन्ध—यौन स्वरूप और परिणामका प्रतीक है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। —आ० रा० शा०

स्वप्नसर्जना–इसका अर्थ है निद्राकालमें स्वप्नोंके मध्य कलात्मक सर्जना करना। इस प्रक्रियाके अनेक उदाहरण दैनिक जीवनमें मिलते रहते हैं। मनुष्यका मन निद्रावस्था-में भी निष्क्रिय नहीं होता। जाग्रत् जीवनकी समस्याएँ और चेतन अथवा दमित इच्छाएँ प्रकट या प्रच्छन्न रूपसे अपना समाधान और पूर्ति स्वप्नोंमें किया करती हैं। गणित-शास्त्रियों और वैज्ञानिकोंको अपनी समस्याओंका समाधान प्राय स्वप्नमें मिल जाया करता है। स्वामी रामतीर्थको एक बार गणितकी कोई जटिल समस्या आकुल किये हुए थी। यदि रातभरमें उसे हल नहीं कर पाये तो सवेरे आत्महत्या कर लेनेका निश्चय किया। अन्तमें उन्हें नींद आ गयी और स्वप्नमें उन्हें अपनी समस्याका हल मिल गया। सर्जनात्मक क्षेत्रमें भी ऐसा होता रहता है। सबसे प्रसिद्ध उदाहरण अँग्रेजी कवि कॉलरिजका है, जिसने अपनी प्रख्यात कविता 'एंशिएण्ट मैरिनर्स'की सर्जना स्वप्नमें की थी। मूर्त कलाओंके क्षेत्रमें कलाकारको अपनी कृतिके रूपाकारका प्रत्यक्ष स्वप्नमें हो सकता है। कुछ भारतीय शास्त्रोंमें ऐसे स्वप्न लानेका विधान है, जिनमें

शिल्पीको इष्ट मन्दिर या प्रतिमाका रूप प्रत्यक्ष हो जाता है और फिर वह उसे बना लेता है। —आ० रा० शा०

स्वप्रगतीय आलोचना प्रणाली—स्वप्रगतीय आलोचना-प्रणाली डार्विन द्वारा प्रमाणित क्रमिक विकास और ह्रासके सैद्धान्तिक सत्यपर आधारित है। जैसे ऐतिहासिक प्रणालीमें देशकाल ही मूल साहित्यिक आधार मान लिया गया, उसी प्रकार स्वप्रगतीय आलोचना डार्विनके सैद्धान्तिक निर्णयोंको मूल आधार मानकर साहित्यका मूल्यांकन करना श्रेयस्कर समझने लगी। वे वैज्ञानिक विकासवादको आलोचना-क्षेत्रमें आरोपित करके इस सीमातक अतिवादी निष्कर्षोंके समर्थनमें योग देने लगे कि प्रत्येक साहित्यका वास्तविक मूल्यांकन उस समयतक नहीं किया जा सकता जबतक कि वैज्ञानिक विकासवाद अथवा स्वप्रगतिवाद(self evolution)के नियमके अनुसार साहित्यको भी विभिन्न वर्गों(species)में नहीं बाँट दिया जायगा। इस प्रणालीके अनुसार विभिन्न साहित्यिक रूपोंको रूपप्रधान न मानकर वर्गप्रधान माना जायगा। महाकाव्य साहित्यका रूप न होकर साहित्यका एक वर्ग माना जायगा, नाटक दूसरा वर्ग, कहानी तीसरा वर्ग और इस प्रकारके अन्य वर्गोंमें बँटकर साहित्यका मूल्यांकन हो सकेगा। स्वप्रगतीय आलोचना-प्रणालीके आलोचक इस वर्गीकरणको ठीक उसी प्रकारका सत्य मानते हैं जिस प्रकार डार्विनवादी वर्ग(species)को सत्य मानते हैं। स्वप्रगतीय आलोचक इसीलिए यह मानकर चलता है कि जब साहित्यका एक वर्ग (अर्थात् नाटक, महाकाव्य इत्यादि) अपनी चरम सीमापर पहुँच जाता है तब उसका पतन होने लगता है और उसके पतनसे साहित्यका दूसरा वर्ग (रूप) स्वतः प्रगति करके विकासशील हो जाता है। यदि महाकाव्य किसी युगविशेषमें अपनी चरम सीमातक विकसित हो चुका है, तो निश्चय ही उसके पतनके बाद दूसरा साहित्यिक वर्ग, चाहे वह नाटक हो अथवा गीत, कथा हो अथवा अन्य साहित्यिक रूप, वह स्वयं प्रगति करके आगे आयेगा और अपनी चरम सीमातक सफलता प्राप्त करके पतनोन्मुख हो जायगा। इस सैद्धान्तिक आधारपर इस वर्गके आलोचक समूचे साहित्यकी समवेत समीक्षाको अवैज्ञानिक मानते हैं। उनके मतानुसार एक साहित्य-वर्गका अध्ययन वर्तमान, भविष्य और अतीतके सन्दर्भमें सम्भव हो सकता है। —ल० का० व०

स्वभावज अलंकार—भरत द्वारा 'सात्त्विक अनुभावों'(दे०)-का एक विभाजन, जिसे संस्कृतमें एक सीमातक स्वीकार किया गया, पर हिन्दीमें इनको ही प्रधानता मिली है और 'हाव'की संज्ञा दी गयी है। रीतिकालके अन्तर्गत रसलीन(१८ श० ई०)ने भरत(४ श० ई०)के विभाजनको माना है और आधुनिक विवेचकोंमें हरिऔध, श्यामसुन्दरदास तथा कन्हैयालाल पोद्दारने संस्कृतकी परम्पराको स्वीकार किया है। सुन्दर (१७ श० ई० पूर्वा०), तोष (१७ श० ई० पूर्वा०), कुमारमणि(१८ श० ई० पूर्वा०)ने भी संख्यामें विस्तार स्वीकार किया है। नायिकाओंके मुग्धकारी प्रभावको बढ़ानेवाले वे अलंकार जो संयोगकी विभिन्न अवस्थाओंमें मुख्यतः उसकी आन्तरिक भावनाओंको प्रकाशित करते हैं और स्वाभाविक होते हैं, स्वभावज अलंकार कहलाते हैं। अयत्नज अलंकारोंका अभ्यास नहीं किया जा सकता, किन्तु इन अलंकारोंको अभ्यास द्वारा सहज ही प्रकाशित किया जा सकता है। भरत मुनिने इनकी केवल दस संख्या निर्धारित की थी और लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित तथा विहृत नाम गिनाये थे, किन्तु कालान्तरमें भोज तथा विश्वनाथ आदि आचार्योंने मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, केलि, चकित तथा बोधकको भी जोड़कर इनकी संख्या १९ कर दी। हिन्दीमें ये सभी स्वीकृत होते चले आये हैं।

१ लीला अलंकार—भरतका दृष्टिकोण नाट्यकलापर आधारित है—'आभूषणों, चेष्टाओं तथा उपयुक्त कथनोंसे प्रेमीके व्यवहारका अनुकरण' (ना०शा० . २४ १४)। धनंजयका कथन इसीपर आधारित है—'प्रियानुकरणं लीला मधुराग-विचेष्टितैः' (द०रू० २ ३७)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः ऐसा ही लक्षण दिया है—'प्रिय भूषन बचनादिकी लीला करे जो बाल' (र०रा० . ३५०)। इसमें 'कौतुक'(दे० भा० वि०)का भाव भी सम्मिलित हुआ है, जिसे दासने इस प्रकार व्यक्त किया है—'स्वाँग केलिको करत हैं जहाँ हास्य रसभाव' (शृं०नि० २४८)। हिन्दीके कवियोंने प्रायः इसके उदाहरणमें वेश-परिवर्तनपर बल अपने लक्षणकी सीमाके कारण दिया है। वस्तुतः नायक-नायिकाका परस्पर प्रीतियुक्त होकर एक-दूसरेकी आंगिक चेष्टाओं, क्रिया-कलापों तथा वेशभूषा आदिका अनुकरण करना ही लीला है। प्रियकी मृदुलता या तुतलाहटका, उसकी प्रेममय चेष्टाओंका या उसकी वेशभूषाका यह अनुकरण परस्पर अत्यन्त विनोदमय, कामोद्दीपक तथा अनुरागवर्द्धक होता है। ग्वाल कविके 'रसतरंग'में इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—'स्याम बनी राधे, राधेस्याम ह्वै सकेत आज, मधुर विलास करें सेटें खोज ओजके। मनहूके पलटे न चैन दिन रैन, यातें तनको पलट सुख लूटत मनोजके।' देवने अपने उदाहरणमें इस लीलासे 'कौतुक'का वर्णन किया—'सबकी ओरें उठीं हँसिके तब हेरि हरे हरिजू हमि दीन्हो' (भा० वि० हाव)।

२ विलास अलंकार—भरतका भाव ग्रहण करते हुए धनंजयने इसका लक्षण दिया है—'तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियादिषु' (द० रू० २ ३८), प्रियको देखकर विभिन्न अंगोंकी विशेष चेष्टाएँ। हिन्दीमें इसी भावको केशव प्रकट करते हैं—'खेलत बोलत हँसत अरु चितवत चलत प्रकास' (र० प्रि० . ६ . ३७)। देव प्रियके दर्शन-स्मरण आदिसे इन चेष्टाओंको मानते हैं। पद्माकर नाना भावोंसे पतिको रिझानेको 'विलास' कहते हैं। दास कुछ अधिक स्पष्ट हैं—'बोलनि हँसनि बिलोकिबो और भृकुटिको भाव। क्यों हू चकित सुभाव जहँ' (शृं० नि० २५४)। इस प्रकार संयोगकालमें बैठने, उठने, चलने आदिमें विशेषता तथा मुख, नेत्र आदिकी कटाक्ष आदि चमत्कारपूर्ण विलक्षण चेष्टाको 'विलास' कहते हैं। इसमें विभिन्न चेष्टाओंसे युक्त, स्वेद, रोमांच आदि सात्त्विकोंसे पूर्ण, धैर्यहीन विलक्षण कामकौशल प्रकट होता है। बेनी प्रवीनका

निम्नलिखित छन्द 'विलास'का उदाहरण है—'को बरनै कवि बेनी प्रवीन रही छवि त्यों फवि गोल कपोलनि। पेनी चितौनि रसीले बिलोचन, मन्द हँसी मृदु माधुरी बोलनि।' (न०र० त०से)। इसी प्रकार मतिरामका उदाहरण है—'तेरी चलनि चितौनि मृदु मधुर मन्द मुसकानि। छाय रही लखि लालको सखियन मिस अँखियान' (र० रा० ३५५)।

३ विच्छित्ति अलंकार—भरतके अनुसार—'माला, वस्त्राभूषण-आदिके अस्तव्यस्त धारण करनेमे सौन्दर्य-वृद्धि' (ना० २४ १६), पर धनजय 'कान्ति'के पोषक किंचित् रचना-कलापको 'विच्छित्ति' मानते हैं (द०रू० २ ३८)। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने 'कान्ति'के स्थानपर 'शोभा' अथवा 'छवि'का बढानेवाला माना है—'थोरे ही भूपन-वसन जहँ सोभा सरमाय' (र० रा० ३५६) अथवा 'तनक सिंगारहिमें जहाँ तरुनि महा छवि देत' (जगद्वि० ४३५)। केशव तथा देवने इस शोभामे नायिकामें गर्वकी भावनाको माना है। अत अयत्नज शोभाको किंचित् वेश-विन्यासके द्वारा शृगार सहित बढानेका प्रयत्न 'विच्छित्ति' कहलाता है। 'विच्छित्ति' शोभाको ही किंचित् उभारमें ले आता है, कुरूपतामें सौन्दर्य उत्पन्न नहीं करता। अतएव यह साधनमात्र है। पद्माकरका उदाहरण—'भूषण भार सिंगारनसों सजि सौतिनको जु करे मुख फीको। जोतिको जाल बिसाल महा तिय भालपै लाल गुलालको टीको।' (जगद्वि० ४३६)।

४ विभ्रम अलंकार—भरतके अनुसार शब्द, चेष्टा, वेशभूषा आदिका विपर्यय तथा मद, काम और हर्षसे सत्त्वका उदय इसके अन्तर्गत आता है (ना०शा० २४ १७)। धनंजयने केवल 'त्वरया कलिभूषास्थानविपर्यय.' (द०रू० २ ३९), शीघ्रताके समय आभूषणोंका व्यतिक्रम माना है। विश्वनाथने अधिक विस्तारसे व्याख्या की है—'प्रियके आगमनके कारण उत्पन्न हर्ष, मद या रागके कारण वस्त्राभूषणके उचित स्थानको भूलकर उन्हें अन्य स्थानपर धारण करने लगना 'विभ्रम' अलङ्कार कहलाता है' (सा० द० ३ १०४)। इसमे प्रेम-विह्वलताके कारण अधीरता प्रकट होती है। केशवने इसका लक्षण दिया है—'वास विभूषन प्रेमते जहाँ होइ विपरीत। दरसन-रस तन मन रसित' (र० प्रि० ६ ३०)। इसमें लक्षणका भाव आया है, पर अन्य आचार्योंने या तो उलटे वस्त्राभूषणोंके पहननेका उल्लेख किया है या शीघ्रतामें कुछका कुछ करना कहा है। विहारीका उदाहरण—'रही दहेंडी ढिग धरी, भरी मथनिया वारि। फेरति करि उलटी रई, नयी विलोवनिहारि।' (वि० र० २५५)। केशवकी नायिका—'करि अजन रजित चारु कपोल करी जुत जावक नैन निछाई। सुनि आवत श्री व्रजभूपन भूपन भूषित ही उठि धाई।' (र० प्रि० ६ ३१)।

५ किलकिंचित् अलकार—भरतके अनुसार 'हर्षातिरेकसे मुसकराना, रोना, हँसना, मूर्च्छा, भय आदिकी अवस्थाओंका एक साथ प्रदर्शन' (ना० २४ १८) इसके अन्तर्गत आता है। धनजयने सक्षेपमें केवल—'क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादे सकर' माना है, पर विश्वनाथने अधिक स्पष्ट व्याख्या की है (सा० द० ३ १०१)। हिन्दीके आचार्योंने प्राय इसीको शब्द-भेदसे स्वीकार कर लिया है—'हरप गरब अभिलाप श्रम हास रोष अरु भीति। होत एक ही सग' (मतिराम ल० ल० ३६२)। प्रियसमागमसे उत्पन्न प्रसन्नता एव प्रेमकी अधिकताके कारण विपरीत भावोंका सुखद प्रदर्शन किलकिंचित् कहलाता है। कभी-कभी नायक-नायिकाके बीच किसी बातपर झगडा हो जाता है और क्रोध प्रदर्शित किया जाने लगता है। कभी हँसी, कभी रोना, कभी भय, त्रास या श्रमका प्रदर्शन किया जाता है। ऐसी विरोधी स्थिति एक साथ उपस्थित होनेपर किलकिंचित् कही जाती है। विहारीके इस दोहेमें इसका सुन्दर उदाहरण है—'कहति नटति रीझति खिझति, मिलति खिलति लजियात। भरे भौनमें करत है, नैनन ही सो बात।' (वि० र० ३२)।

६ मोट्टायित अलंकार—भरत इस अलकारको 'प्रियके उल्लेखमे मग्न होकर लीलाविलास आदिके माध्यमसे प्रेमकी अभिव्यक्ति'के रूपमें मानते हैं (ना० शा० २४ १९)। विश्वनाथने धनजयके आधारपर अधिक स्पष्ट शब्दोंमें व्याख्या की है (द० रू० २ ४० तथा सा० द० ३ १०२)। हिन्दीमें केशवका लक्षण 'नाट्यशास्त्र'के निकट है (र०प्रि० ६ ४८)। अधिकाशने 'बातनको विघटन भये पुनि मिलापकी चाह।'(ल० ल० : ३६५)के समान माना है, पर देवने सौतके भय तथा कुल-लज्जासे हार्दिक भावके गोपनको माना है। व्यापक रूपसे प्रियको देखनेकी इच्छा रखते हुए अथवा किसी अन्यसे उसके रूप-गुण आदिकी चर्चा सुनते रहनेके लिए जब नायिका उधर ही कान लगाये रखती है, किन्तु ऐसा भाव दिखाती है कि वह सुन या देख नहीं रही है, उस ओरसे अन्यमनस्क है या उपेक्षा कर रही है, वह क्रिया तब मोट्टायित अलकार कहलाती है। इसका उद्देश्य केवल दूसरोंसे नायिकाका अपने मनका भाव छिपाना ही है। इसमें कान खुजाना, पृथ्वी कुरेदना तथा लज्जाके अन्य अनुभाव काममें आते हैं। पद्माकरका उदाहरण इस प्रकार है—'बसीकरन जबतें सुन्यो स्याम तिहारो नाम। दृगनि मूँदि मोहित भई पुलक पसीजी बाम।' (जगद्वि० ४४९)। केशवका उदाहरण व्यजक है—'धूरि कपूरकी पूरि विलोचन सूँघि सरोरुह ओढ़ि उढोनी।' (र०प्रि० ६ ४९)।

७ कुट्टमित अलंकार—भरतने इसे आन्तरिक हर्षके अवसर पर कृत्रिम रोष प्रकट करना माना है, जो प्रिय द्वारा स्पर्श किये जानेकी प्रसन्नता और घबराहटसे प्रेरित है (ना०शा० २४ २०)। धनजयने इसीको संक्षेपमें कहा है—'सानन्दत कुप्येत केशाधरगृहे।' (द० रू० २ ४०)। विश्वनाथने 'नाट्यशास्त्र'की बात स्पष्ट रूपमें कही है। हिन्दीमें केशवके अनुसार—'केलि-कलहमें सो भये केलि कपट पट रूप।' (र० प्रि० ६ ५१) है, पर सामान्यत केलि कलहमें 'दरसावत झूठ रोष।' (शृ० नि० २६७ तथा जगद्वि० ४५६)के रूपमें माना है। वस्तुत प्रियके द्वारा केश, स्तन आदि अगोंका स्पर्श या मर्दन किये जानेपर हृदयमें प्रसन्न होते हुए भी कृत्रिम रोष अथवा घबराहट अथवा अनिच्छाको प्रकट करते हुए विलक्षण

रीतिसे अंगोंको चलाने अथवा सीत्कार करनेको कुट्टमित अलंकार कहते हैं। यथा केशवका उदाहरण—'पहिले हठि रुठि चली उठि पीठिदै मे चितई नहि नैं न लखी री।' (र०प्रि० ६ ५२)। दासकी नायिकाका 'रुखी ह्वै जैतो पियूष वगारिवो वक विलोकिवो आदरिवो है।' (शृ० नि० २६९)।

८ बिब्बोक अलंकार—भरतके अनुसार नायिकाका प्रेम प्राप्त करनेके बाद गर्व और अभिमानवश अनादर तथा उपेक्षा प्रदर्शित करना (ना० शा० २४ २१)। धनंजयने संक्षेपमें इसी भावको व्यक्त किया है—'गर्वाभिमानादिष्टेऽपि अनादरक्रिया।' (द०रू० २ ४१)। हिन्दीमें केशवका लक्षण है—'रूप प्रेमके गर्वतें कपट अनादर होइ।' (र०प्रि० ६ ४२)। अन्य आचार्योंमें किसीने—'अभिमानतें करे अनादर।' (ल० ल० ३७१) और किसीने—'करत है कपट अनादर।' (शृ० नि० २७९) करना माना है। व्यापक रूपमे मनमें प्रिय या इष्ट वस्तुके प्रति और आकर्षणका पोषण करते हुए भी नायिका द्वारा यौवन, धन अथवा कुलके गर्व अथवा प्रियके अपराधके कारण उसका केवल वाणी द्वारा अनादर या उपेक्षा व्यक्त करना। देवका उदा०—'देवको देखिके दोष भरे तिय पीठि दई उन दीठि बचाइके। ज्यों चितई अरसौंह रिसौंहें सुनौंहें सखीनके भाह नचाइके।' (भा०वि० हाव)। मतिरामकी नायिकाकी उक्ति—'ऐसे ही डोलत छल भये तुम्हें लाज न आवत कामरी ओडे।' (र० रा० : ३७२)।

९ ललित अलंकार—भरतके अनुसार 'नायिकाकी चंचल आंगिक चेष्टाएं।' (ना० शा० २४ २२)। धनंजयने इनमें कोमलता और सुकुमारताका भाव और जोड़ दिया है—'सुकुमारागविन्यासो मसृणो ललित भवेत्।' (द० रू० २ ४१)। हिन्दीमें केशवका लक्षण है—'बोलनि हँसनि विलोकिवो चलनि मनोहर रूप।' (र० प्रि० ६ . २४)। मतिराम, देव तथा दासने आभूषण और शृंगारको 'ललित' कहा है—'मरस सकल आभरन अँग।' (ल० ल० ३७४)। 'सकल अंग रचना ललित।' (भा० वि० हाव), 'तियको सहज सिंगार।' (शृ० नि० . २५१)। पद्माकरने 'बरनत चलन चितौन।' (जगद्वि० ४४४) कहकर चेष्टाको स्वीकार किया है। वस्तुत प्रियको वशमें करनेके लिए नायिकाकी सर्वांगसुन्दरता बढानेवाला शृंगार अथवा उसकी आंगिक क्रियाओंमें सुकुमारता तथा चंचलता आदिको 'ललित' अलंकार कहा गया है। केशवका उदा०—'नूपुरकी धुनि सुनि मोरें कलहसनिके, चाकि-चौंकि परें चारु चेंटुवा मरालके' (र० प्रि० ६ २५)। मैथिलीशरण गुप्त 'साकेत'में सीताके सौन्दर्यका वर्णन इसी रूपमें करते हैं—'क्षोणीपर जो निज छाप छोड़ते चलते, पद-पद्मोंमें मंजीर मराल मचलते। रुकने झुकनेमें ललित लंक लच जाती, पर अपनी छविमें छिपी आप छिप जाती। तनु और केनकी कुसुमकलीका गाभा, थी अग सुरभिके संग तरंगिनि आभा'।

१० विहृत अलंकार—भरतके अनुसार प्रियके वचनोंको सुनकर भी नायिकाका लज्जावश, व्याजसे अथवा सहज रूपमें मौन रहना (ना० शा० २४ २३), पर धनंजयने केवल 'प्राप्तकाले न यद्ब्रूयाद् व्रीडाया विहृत हि तत्', अर्थात् 'मिलन-अवसरपर लज्जावश मौन रहना' इस अलंकारका लक्षण माना है (द०रू० २ . ४२)। केशवने स्वीकार किया है—'बोलनिके समय बोलन देइ न लाज' (र०प्रि० ६ ३३)। मतिरामने केवल 'प्रियके समीप अभिलाषाके न पूरे होनेको' विहित कहा है (ल० ल० . ३७७), पर दास और पद्माकर आदिने साथ ही लज्जावश मौन रहनेका उल्लेख किया है—'हिलिमिलि सकै न लाजबस जिये भरी अभिलाख' (शृ०नि० २५९)। व्यापक रूपमें प्रिय मिलन-के समय नायिकाका लज्जावश कुछ न कह पाना अथवा उसकी अभिलाषाका अपूर्ण रह जाना 'विहृत' अलंकार है। हिन्दी आचार्योंने 'विहित' या 'विहृत' भी लिखा है। मतिरामका उदा०—'रूप साँवरो साँचु है सुधा सिन्धुमें खेल। लखि न सकें अँखियाँ भरी परी लाजकी जेल।' (ल० ल० ३७९)। पद्माकरकी नायिका प्रियके सामने लज्जावश मौन है—'मनके राजमें बोलि सकी न भट्ट ब्रजराजसों लाजके आगे' (जगद्वि० ४'५४)।

११ मद अलंकार—जैसा कहा गया है यह विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत भेद है—'मदो विकार- सौभाग्ययौवनाद्यवलेपज ' (सा० द० . ३ १०५), सौन्दर्य सौभाग्य तथा यौवन आदिके कारण उत्पन्न गर्वरूप नायिकाके मनोविकार-को 'मद' कहते हे। सुन्दरने 'सुन्दर-शृंगार'में ऐसा ही लक्षण दिया है (पृ० ८२)। वस्तुत इसमें नायिकाकी ओरसे विब्बोकके समान प्रियतमके तिरस्कारकी भावना नहीं रहती और न प्रियतमपर रीझकर भी अपने मनोभावको छिपानेकी चेष्टा ही की जाती है। इस भावस्थितिमें नायिका अविचलित रहती है और नायक उसके सौन्दर्यसे अत्यधिक प्रभावित रहता है। उदा०—'ललित वचन अधखुलित दृग, ललित स्वेदकन जोति। अरुन वदन छवि मदनकी, खरी छबीली होति' (वि० र० ३ ३)।

१२ तपन अलंकार—विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत भेद—'तपन प्रियविच्छेदे स्मरावेगोत्थचेष्टितम्' (सा० द० ३ १०६), प्रिय वियोगके कारण कामवेगसे की जानेवाली चेष्टाएँ। हिन्दीमें सुन्दरने 'सुन्दर-शृंगार'में इसका उल्लेख किया है (पृ० ८१)। केवल विरह-ज्वरको ही 'तपन' नहीं माना जायगा, वरन् विरह-जनित अन्य चेष्टाओंको भी इस अलंकारमे स्वीकार किया जाता है। तोषके 'सुधा-निधि'में इसका सुन्दर उदा० है—'ज्यों-ज्यों गरजत घन सन्ताप जाते रैनि, चम्पा बरनाको लखि त्यों-त्यों लरजत हीउ। ज्यों-ज्यों चहुँ ओर घोर सोर मोर दादुरको, पौनको झकोर जोर त्यों-त्यों डरपत जीउ।'

१३ मौग्ध्य अलंकार—विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत भेद—'अज्ञानादिव या पृच्छा प्रतीतस्यापि वस्तुन । वल्लभस्य पुर प्रोक्त मौग्ध्य तत्तत्त्ववेदिभि ' (सा० द० ३ . १०७), जानी तथा समझी हुई वस्तुओंके सम्बन्धमें भी अनजान बनकर प्रियके सामने अथवा स्वय प्रियसे ही उन वस्तुओंके सम्बन्धमें जिज्ञासा प्रकट करना 'मौग्ध्य' कहलाता है। हिन्दीमें सुन्दर तथा तोषने (सु० नि० पृ० ११८-३३) इसका विवेचन किया है। वस्तुत सरलतामें एक अकृत्रिम निसर्गदत्त शोभा होती है, किन्तु मौग्ध्यमें चतुराई मिली

रहती है। बिहारीकी नायिकाका 'मौग्ध्य' आकर्षक है—'ढोरी लाई सुननकी कहि गोरी मुसकात। थोरी थोरी सकुच सों भोरी भोरी बात।' (बि० र० ५२०)।

१४ विक्षेप अलंकार—विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत भेद—'भूषाणामर्धरचना मिथ्या विष्वगवेक्षणम्। रहस्याख्यानमीषच्च विक्षेपो दयितान्तिके।' (सा० द० ३ १०८), वस्त्राभूषणोंकी अस्तव्यस्तता, अकारण इधर-उधर देखना, अकस्मात् प्रियसे रहस्यमय बातको कह जाना आदि नायिकाकी चेष्टाएँ 'विक्षेप' कहलाती हैं। सुन्दर तथा तोषने ऊपरके भेदोंके साथ इसका विवेचन किया है। ये चेष्टाएँ विमुग्ध करनेवाली होती हैं—'इत उत चितै कछू धीरे कहि हँसि देत। पहिरि अधूरे आभरन मन पूरो करि लेत।' (हरिऔध र० क०)।

१५ कुतूहल अलंकार—विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत भेद—'रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम्' (सा० द० ३ १०९), सुन्दर वस्तुके अवलोकनसे उत्पन्न मनकी चंचलता। हिन्दीमें तोषने 'सुधानिधि'में इसका विवेचन किया है (पृ० ११८-२३)। चपलता तथा उत्सुकतापूर्वक जब भोली नायिका किसी नवीन या आश्चर्यजनक वस्तु अथवा पदार्थको देखती है तब उसकी इस भंगिमाको 'कुतूहल' कहते हैं। संसारकी वस्तुओंमें नायिकाकी रुचिकी सूचना देनेके कारण यह प्रियको अच्छा ही लगता है। हरिऔधका 'रसकलस'का उदाहरण इस प्रकार है—'जाकी कलित कथानको तू भाखति कथनीय। सो कित को है कौन है कैसो है कमनीय।'

१६ चकित अलंकार—विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत भेद—'कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसम्भ्रम' (सा० द० ३ ११०), कभी कभी प्रियके सम्मुख नायिकाके अकारण भय-विभ्रम प्रदर्शनमें भी एक शोभा है, जिसे 'चकित' अलंकार कहा जाता है। हिन्दीमें तोषने सर्वप्रथम 'सुधानिधि'में (पृ० ११८-२३) इसका लक्षण दिया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके इस पदमें इसका सुन्दर उदाहरण है—'तू केहि चितवत चकित मृगी सी। केहि ढूँढ़त तेरो कहा खोयो क्यों अकुलात लखात ठगी सी' (चन्द्रा० १)।

१७ केलि अलंकार—भोजराजने 'केलि' तथा 'क्रीडित' दो भिन्न अलंकारोंके नाम लिये हैं। उनके उदाहरणके आधारपर कहा जा सकता है कि 'क्रीडित' बालकाल, कौमार और यौवनके साधारण विहारका नाम है। प्रियतम-विषयक हो जानेपर इसे 'केलि' कहते हैं। विश्वनाथके अनुसार—'विहार सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते', प्रियतमके साथ विहार-क्रीडा 'केलि' कही जाती है (सा० द० ३ ११०)। हिन्दीमें संस्कृतके (विश्वनाथके) विभाजनको माननेवाले आचार्यों तथा विवेचकोंके अतिरिक्त तोषने इसपर विचार किया है (सु० नि० पृ० ११८-२३)। कुट्टमितमें इसका यही अन्तर है कि उसमें सुखका अनुभव करते हुए भी सीत्कार आदि दुःखव्यंजक क्रियाएँ की जाती हैं, पर 'केलि'में विहारमें विशेष सहयोग दिया जाता है। बिहारीका यह अंकन इसका उदाहरण है—'नाक मोरि नाहीं करै नारि निहोरे लेय। छुवत ओठ बिय आँगुरिन बिरी बदन प्यौ देइ' (बि० र० ६३२)।

१८. हसित अलंकार—विश्वनाथने 'हास'को स्वीकार किया था। विश्वनाथके अनुसार—'हसितं तु वृथा हासो यौवनोद्भेदसम्भव' (सा० द० ३ १०९), अर्थात् यौवनके आगमनपर नायिकाका जब तब अकारण हँसना 'हसित' अलंकार कहलाता है। इसको हिन्दीमें तोषने 'हावों'के अन्तर्गत स्वीकार किया है (सु० नि० पृ० ११८-२३)। बिहारीके दोहेमें इसका सहज निर्वाह हुआ है—'नैंकु हँसौहीं बानि तजि, लख्यौ परतु मुहुँ नीठि। चौका चमकनि चौंधिमें परति चौंधि सी डीठि।' (बि० र० १००)।

१९ रति अलंकार—नन्ददास द्वारा स्वीकृत। उनके अनुसार यह प्रेमकी अत्यन्त विकसित स्थिति है, जिसमें नायिका अपने प्रेमीके विचारमें इतनी डूब जाती है कि उसे किसी प्रकारकी बाह्य चेतना नहीं रह जाती—'मनकी गति पियतें इहि ढार, समुद मिली जिमि गंगाधार। तनक बात जौ पियकी पावै, सो बिरियाँ सुनि तृपति न आवै' (र० म० पृ० ३६७-७०)। इसका उल्लेख अन्य किसीने नहीं किया है। हरिश्चन्द्रकी 'चन्द्रावली' नाटिकामें चन्द्रावलीमें इसका मार्मिक अंकन है—'बिछुरे पियके जग सूनो भयो, अबका करिये कहि पेखिये का। जिन आँखिनमें तुव रूप बस्यो, उन आँखिनसो अब देखिये का' (अ० २)।

२० बोधक या बोध हाव—सर्वप्रथम हिन्दीके आचार्य केशवने 'हाव'के अन्तर्गत इसे स्वीकार किया है—'गूढ़ भावको बोध जहँ केसव औरहि दोह' (र०प्रि० ६ ५४)। रसलीन तथा भानुने इसे 'क्रियाविदग्धा'के समान माना है। पद्माकरका लक्षण है—'ठानि क्रिया कछु तिय पुरुष बोधन करै जु भाव' (जगद्वि० ४६२)। इसके अन्तर्गत नायिका अथवा नायक द्वारा सहेटके समय तथा स्थान आदिके शारीरिक अथवा अन्य प्रकारके चातुर्यपूर्ण संकेत आते हैं। केशवके उदाहरणमें यह भाव व्यक्त होता है—'चन्दन चित्र कपोलनि लोपिके अंजन आँजि बिदा करि दीनी' (र० प्रि० ६ ५५), इसमें नायिका द्वारा दूतीको दिया हुआ संकेत छिपा है। इसी प्रकार पद्माकरकी नायिकाने वक्षपर 'नन्दलालको मालती माल दिखाई' (जगद्वि० ४६३) और अपना संकेत भी इस बहाने दे दिया।

२१ उद्दीपन हाव—तोषने 'सुधानिधि'में इस हावको स्वीकार किया है। इसके अनुसार नायिकाओंकी वे चेष्टाएँ, जिनसे नायककी बढ़ी हुई रति और अधिक उद्दीप्त होती है (पृ० ११८-२३)। रसलीन और दासने इसे 'हावों'में सम्मिलित किया है। —आ० प्र० दी०

स्वभाव-विरोध—दे०—'वर्णन दोष', तीसरा।

स्वभावोक्ति—गूढार्थप्रतीतिमूल अर्थालंकार, इसे जाति भी कहते हैं। भामहके पूर्व इसे अलंकारोंमें स्वीकृत माना गया है। पर भामहने उल्लेख करके भी अलंकारोंको वक्रोक्तिमूलक माननेके कारण इसे स्वीकार नहीं किया है। दण्डीने 'आद्या अलंकृति' कहकर इसकी प्रतिष्ठा की है और कहा है—'जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्। शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्।' (काव्या० २ १३), अर्थात् जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्यके स्वभाववर्णनका शास्त्रोंमें साम्राज्य है और काव्यमें भी यही अभीष्ट है। इसके सम्बन्धमें यह चर्चा आगे भी

रही है कि इसे अलंकार माना जाय या नहीं। वामन तथा कुन्तकने इसे अलंकार नहीं माना है। कुन्तकका कहना है कि यदि स्वभावोक्ति अलंकार है तो फिर और क्या रह जाता है। वे काव्यके दो प्रकार ही मानते हैं—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति। अभिनवगुप्तने भी इसी मतका समर्थन किया है। इसके विपरीत रुद्रट आदिने वाच्यका वैचित्र्य स्वीकार कर स्वाभावोक्तिको भी अलंकारके अन्तर्गत स्वीकार किया है। मम्मटने उन्हींके आधारपर लक्षण दिया है—'जिसमें बालक आदि (पदार्थों)की प्रकृतिसिद्ध क्रिया अथवा उनके रूपका वर्णन होता है।' (का० प्र० १०. १११)। विश्वनाथने इसे अलंकार माननेके लिए—'दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्।' (सा० द० १०. ९३) कहा है, अर्थात् पदार्थके रूप और क्रियाका ऐसा वर्णन, जो कविकी सूक्ष्म दृष्टिसे ही देखा जा सकता हो। काव्योत्कर्ष अन्य अलंकारोंके समान इसकी भी शर्त है। हिन्दीके प्रथम आचार्य केशवने दण्डीके आधारपर इसे स्वीकार किया है और इसकी सर्वप्रथम चर्चा की है। दण्डीने यदि रूपके साक्षात् प्रकाशनका उल्लेख किया था तो केशवने गुणको भी सम्मिलित किया है—'जाको जैसो रूप गुण कहिये ताही साज।' (क० प्रि० ९. ८)। हिन्दीके अन्य आचार्योंने प्रायः जयदेवके आधारपर इसका लक्षण दिया है—'साचो तैसो बरनिये, जैसो जाति स्वभाव।' (शि० भू० ३२७) अथवा—'बरनत जहाँ केवल जाति स्वभाव।' (पद्मा० २६२)। उदा०—'भोजन करत चपल चित, इत उत औसर पाइ। भाजि चले किलकात मुख, दधि ओदन लपटाय।' (रा० च० मा० १. २०३) अथवा—'बिहँसति सकुचति सी दियें, कुच आँचर-बिच बाँह। भीजे पट तटको चली, न्हान सरोवर माँह।' (वि० र० ६९३)। स्वाभावोक्ति ऐसा व्यापक अलंकार है जो सभी देशों और युगोंके कवियोंके द्वारा समान रूपसे अपनाया गया है। जो श्रेष्ठ कवि हैं उनकी दृष्टि जीवनके सूक्ष्म पर्यवेक्षणकी ओर अवश्य रहती है और उसीका चित्रमय वर्णन यह अलंकार है। जायसी, सूर तथा तुलसीमें तो इस प्रकारके वर्णन सर्वत्र मिलेंगे ही, रीतिकालीन कवियोंमें भी सूक्ष्म दृष्टिकी कमी नहीं है। आधुनिक युगमें इस प्रकारके वर्णनोंका आग्रह और बढ़ा है। —र०

स्वयंदूतिका—दे०—'दूती'।

स्वयंभू लिंग—दे०—'हठयोग'।

स्वरभंग—दे०—'सात्विक भाव', चौथा।

स्वर्णरस—मध्यकालीन तान्त्रिक सम्प्रदायोंमें किसी ऐसे रस रसायनकी खोजको बहुत महत्त्व दिया जाता था, जो धातुसे छूनेपर उसे सोना कर दे और कायामें स्थित होनेपर साधकको अजर-अमर कर दे। उस रसको सिद्ध कर लेनेवाला ही **सिद्धाचार्य** कहलाता था। बादमें गुह्य साधनाओंमें रस रसायन और स्वर्ण आदिके विभिन्न प्रतीकात्मक अर्थ लिये जाने लगे और **रसेश्वरदर्शन**में (दे० 'रसेश्वरदर्शन', चित्तमारण) इसे और भी नये अर्थ दिये गये। सिद्धोंने स्थान स्थानपर संकेत किया है कि यह रस और कुछ नहीं, **प्रज्ञोपाय** भावना है और सोना वस्तुतः शून्यज्ञानको ही कहते हैं। करुणारूपी नाव उसी शून्यताज्ञानरूपी सोनेसे भरी है—'सोने भरिये करुणा नावी' (चर्यापद)। नाथपन्थमें भी सुनारके रूपकमें इस सोनेका वर्णन किया है। बिन्दुके हथौड़ेसे यह सोना गढ़ा जाता है, विकाररूपी कोयले जलाकर इसका परिशोधन होता है। यह सोना वस्तुतः शून्यावस्था या गगनोपम अवस्था है (गोरखबानी)। सन्तोंने इसका भक्तिपरक अर्थ लिया है और रामके प्रेमको ही वास्तविक रसायन या रस माना है। उन्हींसे 'परचे' होनेपर शरीर स्वर्णकी भाँति हो जाता है। 'अब घरि प्रकट भयो राम राई, सोधि सरीर कनककी नाई। बिन परचे तन काँच कथीरा, परचै कंचन भया कबीरा।' (क० ग्र०) —ध० वी० भा०

स्वशब्दवाच्य—दे०—'रस दोष', पहला।

स्वाँग—स्वाँग लोकनाट्यका अत्यन्त जनप्रिय रूप है। यह प्रायः गाँवोंकी निम्न जातियों—भंगी, धोबी, धानुक, कुर्मी, चमार, पासी, काछी, बारी आदिके द्वारा समूह-नृत्यके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है। इसमें पुरुष-पात्रोंकी बहुलता होती है, किन्तु स्त्री-पात्र भी कम नहीं होते। दो-दोके जोड़ेमें वे नाचते, गाते और हँसी-ठठोलीसे भरे संलाप करते हैं। उनके साथके गाने बजानेवाले लोग उनके किसी मार्मिक स्थलकी पंक्ति या वाक्यको पकड़ लेते हैं और आत्मविभोर होकर ढोलक, मजीरा, विशेषतया फूलका बेला जोर-जोरसे बजाते हैं। स्वाँग करनेवाले उनकी लयोंपर नाच करते रहते हैं और मौन होकर नारी-पुरुषोंकी शृंगारिक चेष्टाओंका चतुर्विध अभिनय करते हैं। स्वाँगियोंके संकेतोंपर जब गाने बजानेवाले थक जाते हैं तो वे फिर स्वाँग करने लगते हैं। इनमें कभी स्त्री पुरुषका वेष धारण कर अभिनय करती है और कभी पुरुष स्त्रीका अभिनय करता है। दोनों हृदय खोलकर लज्जाहीन होकर शृंगार एवं विनोदकी बातें करते हैं और झूम-झूमकर नाचने-गाने लगते हैं। इन स्वाँगोंमें नृत्य, गीत, लय, संवादकी प्रधानता रहती है। अंगी रस हास्य होता है। इनका रंगमंच खुला होता है, किन्तु इनमें रंगमंचीय शिष्टाचार नहीं होते और न दृश्यान्तरोंका ही विधान होता है। बारी-बारीसे स्वाँगिये अपना-अपना स्वाँग दिखाते हैं। सभी दर्शक, कुछ खड़े और कुछ सामने पासमें बैठे रहते हैं। स्वाँगियोंकी विशेष स्वाँग-विशिष्टताओंकी प्रशंसा करते-करते वे भी हर्षमें चिल्ला उठते हैं। स्वाँगिये मांस-मदिराका भी खान-पान करते हैं और रात-रातभर नाचते गाते और बजाते रहते हैं। प्रायः शादी ब्याहों, जन्मोत्सवों, त्योहारों और फसलके कटनेपर स्वाँग-नृत्य हुआ करते हैं। इस प्रकार नाट्यकलाकी दृष्टिसे स्वाँगके इस रूपको भाण, भाणिका, प्रहसन, प्रस्थानक और संलापकके निकट मान सकते हैं। —सं०

स्वागता—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। पिंगल सूत्र' (६. २४) और 'नाट्यशास्त्र (१६. ३७)में इसका लक्षण दिया गया है, र, न, भ, ग गके योगसे यह वृत्त बनता है (SIS, III, SII, SS), ६-५ वर्णोंपर यति होती है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'राजराज दशरत्थ तनै जू। रामचन्द्र भुवचन्द्र बने जू। त्यों विदेह तुम हूँ अरु सीता। ज्यों चकोर तनया शुभ गीता।' (रा० च० ५. ३३)। —पु० शु०

स्वात्मनिष्ठ (काव्य)—अँग्रेजीके 'सब्जेक्टिवके' लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द। हिन्दीमें इसके लिए अन्य अनेक शब्दोंका प्रयोग होता है, जैसे, **अध्यान्तरिक, स्वानुभूतिमूलक** (शुद्ध), स्वानुभूतिव्यजक, स्वानुभूतिपरक, स्वानुभूति निरूपक, स्वात्मपरक, वैयक्तिक, आत्मनिष्ठ, व्यक्तिप्रधान, भावप्रधान और अन्तर्वादी।

यों तो साहित्यमात्र रचयिताकी आत्माभिव्यक्ति होता है, परन्तु स्वात्मनिष्ठ काव्यमें उसकी आत्माभिव्यक्ति सहज और सीधे ढगकी होती है। उसमें कवि अत्यन्त आत्मीयताके साथ, विना किसी संकोचके, पूर्ण स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी स्वानुभूति व्यक्त करता है। वाह्य विषयमे केवल प्रेरणा ग्रहण करके उसका उपयोग वह अपनी निजी प्रतिक्रियाओंको अन्तर्मुखी दृष्टिकोणमे व्यक्त करनेमें करता है। अत ऐसी रचनाओंमें वस्तुका यथातथ्य वर्णन या चित्रण साधारणतया नहीं मिल सकता, उसपर कविकी भावनाका अपेक्षाकृत गहरा आरोप रहता है। वस्तुके साथ कवि तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उसे अपने व्यक्तित्वमे आच्छादित करके प्राय ऐसे रूपमें उपस्थित कर देता है, जो वस्तुके यथार्थ रूपसे सर्वथा भिन्न जान पड़ता है। स्वात्मनिष्ठ काव्यकी दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी तीव्र सवेगात्मकता भी है। गहन भावानुभूति ही स्वात्मनिष्ठ काव्यके रूपमें व्यक्त हो सकती है। अत यह काव्य *गीतिके रूपमें अभिव्यक्ति पाता है।*

परन्तु साहित्यरूपके अतिरिक्त स्वात्मनिष्ठता साहित्यका एक गुण—उसकी एक विशेषता भी है और यह गुण साहित्यके अन्यान्य रूपों, विशेषतया निवन्ध, ससरण, कहानी और लघु उपन्यासमें भी कभी कभी मिल जाता है। गीतिकी स्वात्मनिष्ठतामे अन्य साहित्यरूपोंकी अध्यान्तरिकतामें सवेगात्मक तीव्रता अपेक्षाकृत कम होती है, फलत उनमें गीतिके अन्य गुण, सगीतात्मकता आदिकी मात्रा भी कम होती है।

साहित्यमें स्वात्मनिष्ठताका आदर आधुनिक युगकी विशेषता है, प्राचीनोंके निकट तो साहित्यमें रचयिताकी तटस्थता—व्यक्तिनिरपेक्षता ही श्रेयस्कर थी, क्योंकि उसीके द्वारा उनके विचारसे रचनामें गौरव, गरिमा और उच्च गम्भीरता लायी जा सकती है। इसी कारण गीतिकाव्यको उन्होंने महत्त्व नहीं दिया। दे०—'साहित्यरूप', 'गीतिकाव्य', 'वस्तुनिष्ठ'। —ब्र० व०

स्वात्मपरक (काव्य)—दे०—'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)

स्वाधिष्ठान—दे०—'हठयोग'।

स्वाधीनपतिका (नायिका)—अवस्थानुसार नायिकाके विभाजनका एक भेद, विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भरत द्वारा उल्लिखित। भानुदत्तने उसे 'सदा साऽऽकूताशाकर प्रियतमा' कहा है। (र० म० पृ० २२९), अर्थात् जिसका प्रिय उसके अभिप्रायके अनुरूप आदेशका पालन करे। केशवने उसके लिए 'गुनवँध्यो सदा रहै' कहा है। मतिरामने 'रूप गुन रीझि अधीन' रहनेकी बात कही है। नायिकाकी यह स्थिति स्वकीयाके मुग्धा, मध्या तथा प्रौढा रूपोंमें, परकीया तथा सामान्यामें वर्णित है। मुग्धा स्वाधीनपतिकाके वर्णनमें नायकके मधुर आकर्षण और शृंगार आदिका अकन रहता है—'नहिं पराग नहीं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल। अली कली ही सों बँध्यौ आगे कौन हवाल।' (विहारी।) अथवा—'हों सखी लाजन जाति मरी मतिराम सुभाव कहा कहौं पीके। लोग मिलैं घर घेरु करैं अवही ते ये चेरे भये दुलहीके।' (रसराज १७९)। मध्या स्वाधीनपतिका अपने प्रियके इस भावके प्रति अधिक सजग है और स्वीकार करते हुए लज्जाका अनुभव करती है—'लाज मरों गुरु लोगनमें इनके मनमें सु न आवत है घिन। देव कहा कहा सेवक ह्वै रहे कैसऊ कोउ चवाव करौ किन।' (ब्र०भा०नायिका० २ ३८९)। पद्माकरकी इस नायिकाकी भगिमासे नायक वशवर्ती हो चुका है—'आधे आधे दृगनि रति आधे दृगनि सु लाज। राधे आधे वचन कहि सुवस किये ब्रजराज।' (जगद्वि० १ २२०)। प्रौढा स्वाधीनपतिकाकी अधीनता स्पष्टत नायक स्वीकार करता है और नायिकामें लज्जा और सकोचकी स्थिति कम हो चुकी है—'अग राग औरै अँगन करत कछू वरजी न। पै मेहदी न दिवाइहौ तुमसों पगन प्रवीन।' (वही १ २२२)। सेनापतिने महावर लगानेके प्रसगको लिया है—'चूमि हाथ नाहके लगाइ रही आँखिन सों, एहो प्राननाथ! यह अति अनुचित है।' (ब्र०भा० नायिका० २ ३९९)। परकीया स्वाधीनपतिका नायकको उसके अनुरागके लिए सतर्क करती है—'विषम *लोग ब्रजगामके लाल! विलोको वास। वढ़ि जैहै इन* दृगनके हाँसहि ते उपहास।' (मतिराम रसराज १८६)।

स्वानुभूतिनिरूपक (काव्य)—दे०—'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

स्वानुभूतिपरक (काव्य)—दे०—'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

स्वानुभूतिमूलक (काव्य)—दे०—'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

स्वानुभूतिव्यजक (काव्य)—दे०—'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

स्वेद—दे०—'सात्त्विक अनुभाव', दूसरा।

हंस—दे०—'हठयोग'।

हस छद—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद, 'प्राकृतपैगलम्'में इस छन्दका उल्लेख है (पृ० २ ३७)। यह वृत्त भगण और दो गुरुओंके योगसे वनता है (ऽ।।, ऽऽ)। भानुने इसका नाम पंक्ति दिया है। केशवने प्रयोग किया है—'आवत जाता, राजके लोगा। मूरति धारी, मानहु भोगा।' (रा० च० २ १)। —पु० शु०

हसाल—दे०—'झलना'।

हकीकत—सूफी मार्गकी वह मंजिल है, जिसमें साधकको परमात्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है और उसके साथ वह 'एकमेक' हो पाता है (दे०—'सूफी-मार्ग')। —रा० पू० ति०

हठयोग—'योगदर्शन में योगकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'योग चित्तवृत्तियोंके निरोधको कहते हैं।' चित्तवृत्तियोंके प्रवाहको ससारकी ओर जानेसे रोककर अन्तर्मुखी करनेकी एक प्राचीन भारतीय साधनापद्धति जिसमें प्रसुप्त कुण्डलिनीको जाग्रत् कर नाड़ीमार्गसे ऊपर उठानेका प्रयास किया जाता है और विभिन्न चक्रोंमें स्थित करते हुए उसे शीर्षस्थ सहस्रार चक्रतक ले जाया जाता है। हठयोग साधनाकी मुख्य धारा शैव रही है और मत्स्येन्द्रनाथ

तथा गोरखनाथ उसके प्रमुख आचार्य माने गये हैं। गोरखनाथके अनुयायी प्रमुख रूपसे हठयोगकी साधना करते थे और उन्हें नाथ योगी भी कहा जाता था। किन्तु शैवधाराके अतिरिक्त बौद्धोंने भी हठयोगकी पद्धति अपनायी थी। **विज्ञानवाद**ने चित्तको ही एकमात्र सत्य माना था, अतः उसमें चित्तकी **एकाग्रता**के लिए जिस **झाण (ध्यान)-साधनाका विधान** है वह भी योगकी ही एक प्रक्रिया है। कालान्तरमें योगाचार-सम्प्रदायने पूर्ण रूपसे हठयोगको प्रधानता दी और वज्रयानी सिद्धोंने उसमें प्रज्ञोपायकी गुह्य साधना भी जोड़ दी।

योगदर्शनके अनुसार योगके आठ अंग बताये गये हैं। उन्हीं अंगोंके आधारपर इसे **अष्टांग योग** भी कहा जाता है। वे अंग इस प्रकार हैं—१ 'यम', २ 'नियम', ३ 'आसन', ४ 'प्राणायाम', ५ 'प्रत्याहार', ६ 'धारणा', ७ 'ध्यान', ८ 'समाधि'।

यम प्रमुखतः आचरणके विशोधनकी अवस्था है जिसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका पालन किया जाना चाहिये। **नियम** पाँच हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान। **आसन**में अंगोंकी विभिन्न स्थितियोंमें शरीरको अचल किया जाता है। आसन चौरासी प्रकारके बताये गये हैं। जब योग साधनाओंके साथ गुह्य तान्त्रिक साधनाओंका सम्मिश्रण हुआ तो यही चौरासी आसन मैथुन साधनाके चौरासी आसनोंका बोध कराने लगे। **प्रत्याहार**के द्वारा इन्द्रियाँ अपने विषयसे असम्पृक्त हो जाती हैं और साधक इन्द्रियोंपर एकाधिकार कर आत्मशक्तिको एकत्र करता है। **धारणा**में प्रत्याहारके द्वारा एकत्र शक्तिको एकाग्र कर किसी एक बिन्दुपर केन्द्रित कर दिया जाता है। ज्ञानकी अपरिवर्तित अविचल अवस्थाको **ध्यान** कहते हैं। सांख्य दर्शनमें ध्यानको निर्विषय मनकी संज्ञा दी गयी है। **समाधि** अन्तिम अवस्था है। ध्यानकी अवस्थातक साधकको ध्याता, ध्यान और ध्येयकी चेतना रहती है, पर समाधिमें ध्यान और ध्याता भी ध्येयमें लीन होकर एकात्म हो जाते हैं।

बौद्धोंने अष्टांगयोगके स्थानपर **षडंगयोग**को मान्यता दी। उसके छः अंग इस प्रकार थे—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति तथा समाधि। प्रत्याहारमें बाह्य रूपादिमें अप्रवृत्ति, तथागतके बुद्ध बिम्बका दर्शन, ध्यानमें सर्वधर्म-शून्यतामें चित्तप्रवृत्ति, प्राणायाममें ललना-रसनाका मार्ग निरोध कर मध्यमार्ग अवधूतीमें प्राणवायुका सञ्चालन, धारणामें बिन्दुका प्राणप्रवेश, अनुस्मृतिमें इष्टदेवताका प्रतिबिम्बाकारदर्शन तथा समाधिमें प्रज्ञा और उपायके अद्वयकी सिद्धि बतायी गयी है।

हठयोगकी प्रमुख प्रक्रिया है श्वास निरोधके द्वारा कुण्डलिनीको जगाकर ऊपरकी ओर प्रेरित करना। कुण्डलिनी वास्तवमें मूल शक्ति है जो सर्पिणीके समान मेरुदण्डके निम्नतम बिन्दु जो वायु और उपस्थके मध्य भागमें है और **स्वयम्भू लिंग** कहलाता है उसके त्रिकोणाकार **अग्नि चक्र**में साढ़े तीन कुण्डली मार कर सोती है। इसीलिए इसे बार बार **साँपिन, नागिन** आदि भी कहा गया है। जबतक यह सोती है तबतक सारा तेज नीचेसे क्षरित होता रहता है और प्राणशक्ति क्षीण होती रहती है। पर जब **मूल बन्ध** लगाकर योगी इसे जगा देते हैं तब यह मेरुदण्डके सहारे ऊपर चढ़ने लगती है।

मेरुदण्डमें छः चक्र माने गये हैं, जिन्हें आकारकी समताके कारण **कमल** भी कहा जाता है। गुदाके समीप **मूलाधारचक्र** है जिसमें चार दल हैं। नाभिके पास **स्वाधिष्ठानचक्र** है, जिसमें छः दल हैं। इससे तनिक ऊपर दस दलवाला **मणिपूर** और हृदयके पास बारह दलवाला अनहत चक्र है। कण्ठके पास **विशुद्धाख्य चक्र** है जिसमें १६ दल होते हैं। भ्रूमध्यमें **आज्ञाचक्र** है, जिसमें दो ही दल हैं। इस स्थानको **त्रिकुटी** कहा जाता है और इसकी विशेषता यह है कि इस स्थानपर पहुँचकर दिव्य दृष्टिकी प्राप्ति होती है और फिर साधनामें अवरोहका भय नहीं रहता। इन छः चक्रोंको वेधकर कुण्डलिनी अन्तिम चक्रमें पहुँचती है, जिसमें सहस्रदल है, इसलिए उसे **सहस्रारचक्र** या **सहस्रदल कमल** कहते हैं। इसीको **शून्यचक्र, शून्यमण्डल** या **गगनमण्डल, आकाशमण्डल** आदि भी कहा गया है और शिवका वासस्थान होनेके कारण इसे **कैलास**की संज्ञा भी दी गयी है। कैलासके कारण इसीमें **मानसरोवर**की कल्पना की गयी है, जिसमें निर्लिप्त चित्तरूपी **हंस** निवास करता है।

बौद्ध पद्धतियोंमें छः चक्रोंके स्थानपर पहले पाँच चक्र और बादमें चार चक्र माने गये हैं। योगाचारमें **झाण (ध्यान)-साधना**के द्वारा चित्तमें पाँच महाभूतोंका उदय कराकर उन्हें ऊपरकी ओर प्रवृत्त कराया जाता था। इसके लिए वे पाँच अन्तःस्थ चक्रोंका ध्यान करते थे। हिन्दू योगकी भाँति अन्तिम चक्र मस्तिष्कमें न स्थित होकर हृदयदेशमें माना जाता था। सिद्धाचार्योंने इनमेंसे पञ्च महाभूतोंको अस्वीकार करना स्वीकार किया, किन्तु ध्यानकी **एकाग्रता** (एकाग्रता)को प्रमुख प्रणाली न मानकर प्रज्ञोपायघर्षणको प्रमुख प्रणालीके रूपमें मान्यता दी। अन्तिम चक्रका स्थान भी उन्होंने हिन्दू योगपद्धतिके अनुसार कपालमें रखा, किन्तु चक्रोंकी संख्या उन्होंने चार कर दी। मूलमें **नाभिचक्र** है जिसमें **बोधिचित्त** शुक्रके रूपमें वास करता है। हृदय प्रदेशमें हृत्कमल, कण्ठप्रदेशमें सम्भोग और मस्तकमें उष्णीष कमल है। इन चारों चक्रोंमें बुद्धकी चतुष्कायाका वास है, उष्णीषमें **महासुखकाया**, कण्ठमें **सम्भोगकाया**, हृदयमें **धर्मकाया** और नाभिमें **निर्माणकाया**। इसीके आधारपर इनका नाम **महासुखचक्र, सम्भोगचक्र, धर्मचक्र** और **निर्माणचक्र** भी है। निर्माणचक्र चौंसठ पँखुरियोंवाला है, धर्मचक्रमें बत्तीस पँखुरियाँ, सम्भोगचक्रमें सोलह और उष्णीषमें चार पँखुरियाँ हैं। **चार काया, चार क्षण, चार मुद्रा, चार आनन्द**, इस प्रकार वज्रयानी योगपद्धतिमें चारकी संख्याका विशेष महत्त्व है।

इन चक्रोंके वेधनका मार्ग नाड़ियोंमेंसे होकर है। नामके अतिरिक्त बौद्धोंने नाड़ियोंकी संख्या तथा महत्त्व लगभग वही माना है, जो हिन्दू योगपद्धतिमें माना गया है। 'हठयोगप्रदीपिका'में कहा गया है कि वैसे तो शरीरमें बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, पर उनमेंसे केवल **सुषुम्ना** ही

शक्तिकी वाहिका है, शाम्भवी है। सुषुम्नामेंसे ही कुण्डलिनी ऊपरकी ओर प्रवाहित होती है। सुषुम्ना वस्तुत तीन नाड़ियोंसे वनी है। ऊपर **वज्रा**, उसके अन्दर **चित्रिणी** और उसके अन्दर **ब्रह्मनाडी** है। वस्तुतः ब्रह्मनाडीसे ही कुण्डलिनीका मार्ग है। सुषुम्नाकी वायीं ओर **इडा** और दायीं ओर **पिंगला** है। इसीको परवर्ती सन्त अनुप्रास मिलानेके लिए **इंगला-पिंगला** कहने लगे थे। वाम नासापुटका श्वास-प्रवाह इडामें होता है, दक्षिण नासापुटका श्वास-प्रवाह पिंगलासे। इड़ा शीतल स्वभावकी है, उसमें **चन्द्र**का वास है, उसे **गंगा** माना गया है, उसके अधिष्ठाता ब्रह्मा है। पिंगला उष्ण स्वभावकी है, उसमें **सूर्य**का वास है, उसे **यमुना** माना गया है, उसके अधिष्ठाता विष्णु है। इडाको **चन्द्रनाडी** तथा पिंगलाको **सूर्यनाड़ी** भी कहते हैं। सुषुम्ना दोनोंके मध्यमें है, त्रिगुणमयी है, चन्द्र-सूर्य-अग्नि स्वरूपा है, **सरस्वती** है। इसके अधिष्ठाता शम्भु या शिव हैं। इसे सन्त लोग **सुखमन** भी कहते हैं। इन तीनों नाड़ियोंका **संगम** या **त्रिवेणी** ब्रह्मरन्ध्रमें होता है। यह ब्रह्मरन्ध्र मस्तकके मध्यमें परिकल्पित एक रन्ध्र है। योगियोंके प्राण इसी रन्ध्रको वेधकर निकलते हैं और इसीसे उन्हें ब्रह्मत्वकी प्राप्ति होती है। इसीको **दशमद्वार (दसँव दुआर)** भी कहा गया है, क्योंकि शरीरके अन्य नव द्वार तो सदा खुले रहते हैं। केवल **ब्रह्मरन्ध्र** वन्द रहता है, जिसे साधनाके द्वारा खोलना पड़ता है। इसी ब्रह्मरन्ध्रके खुलते ही सहस्रारचक्रमें **अमृतरस** या कैलास-वासी शिवके मस्तकस्थ चन्द्रमामें **सोमरस** झरने लगता है और योगीको अमरकायाकी उपलब्धि होती है। इसीलिए इस ब्रह्मरन्ध्रको **उलटा कुवाँ** या कूप भी कहा गया है जिसमें सोमरस या अमृततत्त्व भरा हुआ है।

वौद्ध प्रणालीमें नाडियोंका लगभग यही रूप स्वीकार किया गया है, केवल उनके नाम पृथक् हैं। इडाको **ललना**, पिंगलाको **रसना**, सुषुम्नाको **अवधूती** कहा गया है। इन्हींको **तिअड्डा**, **गुड्डरी** या **त्रिनाडी** कहते हैं। ललना वामस्थित है, चन्द्रस्वभावकी है, प्रज्ञारूप है, रात्रि-रूपिणी है। रसना सूर्य है, दिवस है और उपायरूप है। इन दोनोंके मध्यमें **अवधूतिका** है, जो प्रज्ञा और उपायसे परे सहज मार्ग है, **नैरात्मदर्शन**की भाषामें ज्ञेय ज्ञान या ग्राह्य ग्राहक विवर्जित है। वह क्लेशोंको धुननेवाली है अत उसका नाम अवधूती है। इसीको **मध्यमार्ग** भी कहा गया है। **नैरात्मा**, **सहजसुन्दरी**, **जोगिनी** आदि भी अवधूतिकाकी संज्ञाएँ हैं। इसीको **वधू** भी कहा जाता है। यही नाडिका **रोचनद्वार**तक जाती है, जो वौद्ध पद्धतिका दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र है। चर्यापदोंमें अवधूतीके दो रूप वताये गये हैं, परिशुद्धा जिसको **डोम्बी** कहते हैं, जिसमें वोधिचित्त समागम करता है और अपरिशुद्धा जिसे **छिनाली** कहते हैं, क्योंकि उसमें भेदज्ञान वना रहता है। ललना और रसनाके कुछ और भी नाम हैं—**आली-काली**, **धमन चमन**, **रज-शुक्र**, **प्रज्ञा-उपाय**। आलीके अर्थ हैं 'अ'से प्रारम्भ होनेवाली स्वरमाला और कालीके अर्थ हैं 'क'से प्रारम्भ होनेवाली व्यंजनमाला। तन्त्रोंमें स्वर रात्रिसे सम्बद्ध है और व्यंजन दिनसे। अत ललना रात्रि-रूपिणी आली है, रसना दिवसरूपिणी काली। धमन-चमनका अर्थ वहुत स्पष्ट नहीं हो सका है। (दे०—'स्टडीज इन तन्त्राज' पी० सी० वागची)।

हठयोगकी परिणतिमें साधकको **समाधि**की उपलब्धि हिन्दू-पद्धतियोंमें भी मानी गयी है और वौद्ध पद्धतियोंमें भी। नाथपन्थी इस समाधिमें कुण्डलिनीरूपी शक्तिका सहस्रार स्थित शिवसे मिलन स्वीकार करते हैं। वौद्ध-पद्धतिमें इस समाधिमें प्रज्ञा और उपायका मिलन वताया है और सन्त साहित्यमें इस समाधिको आत्मा और परमात्माके मिलन और विवाहके रूपमें परिकल्पित किया गया है। इस समाधिसे दो प्रकारकी उपलब्धियाँ होती थीं। एक तो साधकको ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती थी, साथ ही उसे कुछ अतिप्राकृतिक-शक्तियाँ भी प्राप्त होती थीं। इन्हींको **सिद्धियाँ** कहते थे और इनसे सम्पन्न योगीको **सिद्ध** कहा जाता था। —ब० वी० भा०

हतवृत्त—दे०—'शब्द दोष', दूसरा 'वाक्य-दोष'।

हरिगीतिका—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृत-पगलम्'में इसके प्रत्येक चरणमें १६, १२ की यतिसे २८ मात्रा और अन्तमें ग (ऽ) माना गया है (१ १९१)। भिखारीदासने २८ मात्राके चरणवाले छन्दको गीतिका कहा है—'इहि भाँति न होहु न वावरी वलि, चेत जी मह ल्यावहूँ' (छन्दो० पृ० ३२)। भानुके अनुसार जहाँ-जहाँ चौकल होता है उनमें जगण ।ऽ। अति निषिद्ध है तथा अन्तमें रगण ऽ।ऽ कर्णमधुर होता है (छ० प्र० पृ० ६७)। हिन्दीके कवियोंने इस छन्दके प्रयोगमें कुछ स्वतन्त्रता वरती है। कभी-कभी यति १४, १४ पर लगायी गयी है। सम्भवत कवियोंने 'हरिगीतिका' मात्राके चार वार प्रयोगमें चरण मानकर ऐसा किया है। तुलसीदासने इस प्रकारके प्रयोग अनेक वार किये ह। 'अवतरेउ अपने भगत हित, निजतन्त्र नित रघुकुल मनी' (रा० च० मा० १ ५१)। तुलसीने कहीं-कहीं वरावर १४-१४ पर यतिका प्रयोग किया है, परन्तु आन्तरिक लय का क्रम वना रहा है। सूदनने प्रत्येक जगके हर एक अंकके अन्तमें इस छन्दका प्रयोग किया है, पर यति मध्यमें है—'भूपाल पालव भूमिपति, वदनेस नन्द सुजान हैं' (सु० च०)। पद्माकरने 'हिम्मत वहादुर विरुदावली'में इस छन्दका प्रयोग वहुत किया है, पर अनेक स्थलोंपर जान-वूझकर मध्यमें यति दी है—'वर वरनिये विरुदावली, हिम्मत वहादुर भूपकी'। और इन्होंने दो दो चरणोंके तुकका प्रयोग भी किया है। केशवकी 'रामचन्द्रिका'में भी कहीं यति मध्यमें है—'तव कोपि राघव शत्रुको सिर, वाण तीक्षण उद्धरयौ' (१४ ३४)। रघुराज सिंहके 'राम स्वयम्वर'में भी १४ १४ पर यति मिल जाती है—'यक यकन धनु तोरन कथा, पुनि-पुनि वोलाय सुनावहीं' (प्र० ४३१)। इससे सिद्ध होता है कि हिन्दीमें इस छन्दकी शास्त्रस्वीकृत यतिके अतिरिक्त १४-१४ पर यतिका प्रयोग भी होता आया है।

इस छन्दका प्रयोग सभी रसोंमें समान रूपसे हो सकता है। अपनी मध्यविलम्बित गतिके कारण इसमें कथाका निर्वाह स्थिर क्षणोंपर अच्छा होता है। चन्दके 'पृथ्वीराजरासो'में वीर रस तथा शृंगार रसके स्थलोंपर

इसका प्रयोग हुआ है। तुलसीने सभी रसोंमें इसका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है, उनका यह प्रिय छन्द है। मानसमें यह छन्द वीर, शृंगार, करुण तीनों रसोंमें बहुत सघन भावावेगके क्षणोंमें अथवा बहुत ही सजीव चित्रणके अवसरपर प्रयुक्त हुआ है। पर 'पार्वतीमंगल'में विशिष्ट शैलीके रूपमें इसका उपयोग हुआ है। 'मानस'के लंकाकाण्डमें वीरके साथ भयानक तथा वीभत्स रसकी अवतारणामें भी यह छन्द प्रयुक्त हुआ है। सूदन (सु० च०) तथा पद्माकर (हि० द० विरु०)ने वीर रसमें इसका प्रयोग किया है। सुन्दरदासने अपने 'ज्ञानसमुद्र' तथा 'भजनत्याल अष्टक'में शान्त रसमें इसका उपयोग किया है। भूषणने इस नामसे गीतिका (दे०) छन्दका प्रयोग किया है। आधुनिक कालके कवियोंने भी इसको अपनाया है। मैथिलीशरण गुप्तका बहुत प्रिय छन्द है। उदा०—'कलगान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं, काम कोकिल लाज हीं। मंजीर नूपुर कलित ककन, ताल गति वर बाजहीं' (रा० च० मा० १. ३२२)।

हरिण–यह एक उपमान है जिसे सिद्धों-नाथों तथा सन्तोंने समान रूपसे प्रयुक्त किया है। कहीं कहीं नायकको हरिण नाम दिया गया है। जिस प्रकार हरिण संगीतके प्रति आकृष्ट होता है उसी प्रकार साधक कभी-कभी विषयके प्रति आकृष्ट हो जाता है। कहीं-कहीं हरिणीको माया तथा हरिणको ज्ञान रूपमें ही परिकल्पित किया गया है। (दे०—अहेरी)। —प० वी० मा०

हरिपद–मात्रिक अर्द्धसम छन्द। हरिपदके पहले और तीसरे चरणोंमें १६-१६ मात्राएँ और दूसरे और चौथेमें ११-११ मात्राएँ होती हैं। सूदनने अपने 'सुजानचरित'में इसका प्रयोग किया है। साहित्यमें इसके प्रयोग भी बहुत अधिक नहीं मिलते, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पदोंके मुख्य भागमें इस छन्दका व्यवहार कवियोंने किया है, क्योंकि इसमें स्वाभाविक लय है। जैसे कबीरकी एक पंक्तिमें हरिपद जैसी ध्वनि निकलती है—'तन करि ताँनि धर्म करि डाँडी, सतकी मारि लगाइ। मन करि निहचल आसण निहचल, रसनाँ रस उपजाइ।' इस प्रकार पदोंमें सूर, मीराँ आदिने भी इसका प्रयोग किया है। —रा० सिं० तो०

हरिप्रिया–मात्रिक सम दण्डक छन्दोंका एक भेद, जिसे चर्चरीक भी कहते हैं (भिखारीदास : छन्दो०)। इसके चरणमें १२, १२, १२, १० की यतिसे ४६ मात्रा तथा अन्तमें गुरु (S) होना है (छ० प्र० पृ० ७८)। इसे केशव (रा० च०) तथा सूर और तुलसीने पद-शैलीके अन्तर्गत प्रयुक्त किया है। इसकी मृदु-मन्थर गति अनाकुल भावोंके वर्णनके लिए बहुत उपयुक्त है—'जसुमति दधि मथन करति, बैठी वर धाम अजिर, ठाढे हरि हँसति नान्हि, दतियन छवि छाजे।' (सू०सा०, सभा पृ० ७६४)। प्रभातियोंके वर्णनमें तुलसी तथा सूर दोनोंने इस छन्दके प्रयोगसे विरोध-सौन्दर्य उत्पन्न किया है—'जागिये गोपाल लाल, आँनद निधि नन्दलाल, जसुमति कहै बार-बार, भोर भयो प्यारे।' (वही वही ८२३)।

हरिलीला—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। केशवने तगण, भगण, दो जगण और गुरु-लघुके योगसे नवीन वृत्तका प्रयोग किया है (SSI, SII, ISI, ISI, SI), इसका अन्तिम वर्ण दीर्घ करनेसे वसन्ततिलका छन्द बन जाता है। उदा०—'बैठे विशुद्ध गृह अग्रज अग्र जाय। देखो वसन्त ऋतु सुन्दर मोददाय। बौरे रसाल कुल कोमल केलिकाल। मानों आनन्द ध्वज राजत श्री विशाल' (रा० च० २३ ३०)। —पु० शु०

हर्ष–प्रचलित तैंतीसमें एक संचारी, भरतने इसके विभावोंमें इच्छित वस्तुकी प्राप्ति, प्रिय व्यक्तिसे मिलन, मानसिक सन्तोष, देवताओं, स्वामी तथा राजाकी कृपा आदिको तथा अनुभावोंमें प्रसन्न मुद्रा, मुख नेत्रोंकी चमक, मधुर वचन, आलिंगन, कम्प, अश्रु तथा प्रस्वेद आदिको स्वीकार किया है (ना०शा० ७ ६१ ग)। विश्वनाथके अनुसार इसका लक्षण निम्नलिखित है—'हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकर।' (सा० द० . ३ १६५), इष्टकी प्राप्तिसे उत्पन्न मनकी प्रसन्नताका नाम हर्ष है। आनन्दाश्रु, गद्गद स्वर इसके अनुभाव हैं। हिन्दी रीतिकालके आचार्योंमें अनेकने 'नाट्यशास्त्र'की परम्पराका अनुसरण किया है—'प्रिय दर्शन श्रवनादिते, होय जु हिये प्रसाद। वेग स्वेद आँसू प्रलय, हर्ष लखौ निरवाद।' (भाव० संचारी०)। पर अन्योंने 'जहाँ कौन हू बात तें उर उपजत आनन्द' माना है (जगद्वि० • ५३२)।

एक प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या इष्टकी प्राप्तिसे ही 'हर्ष'का प्रादुर्भाव होता है? इष्टके पानेकी सम्भावनाका सम्वाद पाकर भी तो आनन्दाश्रु दिखाई पड़ते हैं। पर इष्टकी प्राप्तिसे उत्पन्न हर्ष तथा उसके पानेकी सम्भावनाके समाचारसे उत्पन्न हर्षमें मात्राका अन्तर है। दूसरेकी अपेक्षा पहला अधिक गहरा होगा। पहलेको 'हर्ष' तथा दूसरेको 'प्रसन्नता'-की संज्ञा दी जानी चाहिये। एक दूसरा प्रश्न भी हो सकता है कि क्या किसी लक्ष्यकी ओर भी यह प्रेरित करता है? वस्तुत अन्य भावोंकी भाँति यह भी एक विशेष लक्ष्यकी ओर प्रवृत्त होता है। किसी नायिकाको देखकर नायकके मनमें हर्षोल्लास होता है और बादमें वह उसके परिरम्भण आदिकी ओर प्रवृत्त होता है। अत स्पष्ट है कि हर्ष आश्रयको विषयवस्तुकी ओर आकृष्ट करता है।

हर्षकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि जहाँ अमर्ष, चिन्ता, दैन्य, भय आदि वर्तमान स्थितिमें परिवर्तनकी अपेक्षा रखते हैं, वहाँ हर्ष वर्तमान स्थितिको बनाये रखना चाहता है। यों तो हर्ष भी स्वतन्त्र रूपमें आ सकता है, पर प्राय यह किसी अंगी भावके अंगरूपमें ही अभिव्यक्त होता है। देवकी नायिका प्रियकी प्रतीक्षामें हर्षसे उल्लसित है—'आवत सुन्यो है मनभावनको भामिनी, सु नैनन अनन्द आँसू ढरकि ढरकि उठे। देव दृग दोऊ दौरि जाति द्वार देहरीलौं, केहरीसी साँसें खरकि खरकि उठें'। इसी प्रकार पद्माकरकी नायिका प्रिय को पाकर हर्षित है—'पद्माकर त्यों हुलसै पुलकै तनु सिन्धु सुधाके अन्हैयतु है। मन पेरत सो रसके नदमें अति आनँदमें मिलि जैयतु है।' (जगद्वि० ५३३)। —व० सिं०

हल्लीश–एक अंकका उपरूपक है। इसमें सात, आठ या दस स्त्रियाँ होती हैं और एक उदात्त वचन बोलनेवाला पुरुष रहता है। कैशिकी वृत्तिका प्रयोग, मुख प्रतिमुख

सन्धियोंका निर्वाह तथा ताल, लय, गायनका बाहुल्य रहता है। —वि० रा०

हसित—दे०—'स्वभावज अलकार', अठारहवाँ।

हसित हास्य—दे०—'हास्य रस'।

हाकलि—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैगलम्' (१ १७३)के अनुसार इसमें १४ मात्रा प्रति चरणमें होती हैं और पूर्वार्द्धमें ११ अक्षर तथा उत्तरार्द्धमें १० अक्षरके चरण रहते हैं। भानुने तीन चौकलके बाद एक गुरुके प्रयोगको प्रधान लक्षण स्वीकार किया है (छ० प्र० पृ० ४६)। भिखारीदासने इसका नाम हाकलिका दिया है (छदो० पृ० २२)। केशव(वी० च०)ने इसी नामसे प्रयोग किया है। पद्माकरने इस छन्दका व्यापक प्रयोग 'हिम्मत बहादुर विरुदावली'में किया है। इन्होंने अनेक स्थलोंपर स्वतन्त्रता बरती है। किसी चरणमें मात्रा कम कर दी है तथा अन्तमें लघुका प्रयोग किया है—'निज खिलवतनिमें हास है, भय रूप दुरजन पास' (पृ० ३)। युद्ध-यात्रा-वर्णन तथा प्रशसा आदिमें इसका प्रयोग किया गया है। उदा०—'पर तिय गुर तिय तू लगनै। पर धन गरल समान भनै' (भिखारीदास)।

हारमनी—यह अँगरेजी शब्द है और सगीतके क्षेत्रसे लिया गया है। इससे विशेषत सुरोंकी सगीतात्मक सगतिका ही बोध होता है, परन्तु लक्षणासे सामान्यत संगतिमात्रका अर्थ लिया जाने लगा है। साहित्य और कलाके क्षेत्रमें सघटन, सामजस्य और सन्तुलनकी एक विशेष स्थितिको व्यक्त करनेके लिए इसका प्रयोग किया जाता है। अर्थ-विधान, रूप-रचना और वर्ण-विन्यासमें 'हारमनी' प्राय अधिकाधिक अपेक्षित मानी जाती है। —ज० गु०

हाल—'हाल'(भावाविष्टावस्था)से सूफी साधकोंका मतलब उस अवस्थासे है जिसमें साधकके सभी मानवीय गुणों और व्यापारोंका अन्त हो जाता है। इस अवस्थामें उसके समस्त जागतिक प्रपचोंका अवसान हो जाता है। परमात्माके ध्यानादिसे साधकके मनके भीतर एक आलोडन पैदा होता है और धीरे-धीरे वह अपने अहको खो बैठता है। हालकी अवस्थामें साधकके मनमें अल्लाहके सिवा और किसी प्रकार-का ख्याल नहीं आता। परमात्माका प्रेम उसे सम्पूर्ण रूपसे आत्मसात् कर लेता है। साधककी चेष्टाकी यह अन्तिम अवस्था है। इसके बाद परमात्माकी कृपासे ही फना और बकाकी अवस्था उसे प्राप्त होती है। 'हाल'की अवस्था स्थायी नहीं होती। साधककी साधनाके अनुसार यह कभी कुछ क्षणोंके लिए और कभी कई घण्टोंके लिए और कभी कई-कई दिनोंतकके लिए आती है। साधक फिर अपनी प्रकृत अवस्थामें लौट आता है और तब उसके मन और हृदयपर भौतिक जगत्की वस्तुओंका अधिकार हो जाता है।

'हाल'की अवस्था लानेके लिए साधक नाना प्रकारकी ज़िक्रकी क्रियाओंका सहारा लेता है। नामोच्चारण, ध्यान आदि भी इसमें सहायता पहुँचाते हैं। सगीत आदिके द्वारा भी साधकोंको हाल(भावाविष्टावस्था)की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्थामें जैसे साधक परमात्माके सौन्दर्यका साक्षात्कार करता रहता है। —रा० पू० ति०

हालावाद—हालाका शाब्दिक अर्थ है मदिरा। मदिराका गुण है उसका नशा और तज्जन्य बेहोशी। इस बेहोशीमें कुछ कालके लिए अन्य सारी चिन्ताएँ और कष्ट विस्मृत हो जाते हैं और पीनेवाला उतने समयतक एक कल्पित लोकमें सुखी रहता है। साहित्यमें इस क्षणवादी दर्शनको हाला और उससे सम्बद्ध प्रतीकों—मदिरालय, प्याला, सुराही, साकीके माध्यमसे अभिव्यक्ति मिली और इसे हालावादकी सज्ञा प्राप्त हुई। उस प्रवृत्तिके अनुसार इस क्षणभगुर और दु खमय जीवनमें आनन्दके जो क्षण मिल सकें उनका भरपूर उपभोग करना चाहिये। हालावादीके अनुसार 'प्रिये, इतनी मदिरा आज पिला दे जिससे कि भूतके सन्ताप और भविष्यके भय भाग जायें'। (खैयाम)

हालावादका दर्शन अपने मूल स्थान फारसमें एक प्रकारका सूफ़ी-दर्शन है। रूम, उमर खैयाम, हाफिज आदि फारसी सूफी कवियोंने शराब, साकी, प्याला आदिका प्रतीक बना, इनके माध्यमसे परोक्ष सत्ताकी चर्चा की और रोजा, नमाज आदि धर्मके बाह्याचारोंका खण्डन किया। यह बडी महत्त्वपूर्ण बात है कि इस्लाम वैराग्यप्रधान धर्म है, पर उसके भीतरसे एक कलात्मक विद्रोह इन कवियों द्वारा प्रस्फुटित हुआ, जिसके अनुसार कवि जाहिदको गालियाँ देता है, शराब पीनेका निमन्त्रण देता है और बुतपरस्तीपर गर्व करता है। इन सूफी कवियोंने प्रेमकी अतिशय भावुकता और तन्मयताको शराबकी बेहोशीमें प्रतीकरूपसे दिखाया। लौकिक प्रेम(साकीके प्रेम)को अलौकिक प्रेमका आधार और प्रतीक बनाया। ऊपरसे ये कविताएँ वासनात्मक हैं, पर भीतर आत्मा(आशिक)-परमात्मा(माशूक)के विरह, सौन्दर्य और प्रेमकी पीर इनमें व्याप्त है।

सूफी तत्त्वदर्शनका प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी साहित्य-पर पडा था, जब कि सूफी कवियोंके अतिरिक्त कबीर जैसे सन्तोंने भी ज्ञानकी शराब पीनेका दावा किया था। परन्तु आधुनिक कालमें (जिस कालकी उपज 'हालावाद' शब्द है) न तो यह प्रभाव फारससे आया है और न सूफीदर्शन ही इसके पीछे है। अपनी एक विशेष अवसाद और निराशाकी स्थितिमें फिट्जजेराल्डने १९वीं शतीके मध्यमें उमर खैयामकी पचहत्तर रुबाइयोंका अँग्रेजीमें अनुवाद किया, जो पहले-पहल सन् १८५९ ई०में 'रुबाइयात उमर खैयाम'के नामसे प्रकाशित हुई। ये विशिष्ट रुबाइयाँ खिन्नमनकी निराशाजनक अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनमें एक प्रकारके पलायनवाद(दे०)का स्पष्ट स्वर है—खैयामके अनुसार 'तरुशाखाके तले रोटीका एक टुकड़ा, एक सुराही मदिरा, कविताकी पुस्तक और पार्श्वमें गाती हुई 'तुम' हो तो यह जगल ही मेरे लिए स्वर्ग हो जाय।' यह पलायन और निराशा इसलिए है, क्योंकि 'पैरोंके नीचे बालूकी जमीन खिसकती जाती है, न मालूम कितने बडे-बडे नरेश, सत्ताधारी एव विद्वान् आये और चले गये, अत जीवनशराब खत्म जाय इसके पहिले ही उठो और मदिरा पी पीकर भूख बुझा लो।' 'अनागत कल अभी उत्पन्न नहीं हुआ और विगत कल मर चुका है, अत उनका चिन्तन छोड़ 'आज'को आनन्दमय बनाओ।' इस प्रकार फिट्जजेराल्डके अनुवादमें उमर खैयामका दर्शन

क्षणवादी और विषमताओंसे पलायन कर कृत्रिम बेहोशीका आनन्द ग्रहण करनेवाला है। हिन्दीमें यह दर्शन प्रमुखत फिट्जजेराल्टके अनुवादके माध्यमसे ही आया।

यों तो सन् १९२० ई०के लगभग 'सरस्वती'में उमर खैयामकी यदा-कदा चर्चा होनी प्रारम्भ हो गयी थी, पर सन् १९३० ई०के आसपास खयामकी रुबाइयोंके अनुवादोंकी धूम मच गयी। पर ध्यान देने योग्य बात है कि इकबाल वर्मा 'सेहर'को छोड़कर (इन्होंने मूल फारसीसे अनुवाद किया) शेष सारे अनुवाद फिट्जजेराल्टके अनुवादके ही हुए। हालावादके मुख्य प्रयोक्ता-प्रवर्तक बच्चनने इस प्रश्नको उठाते हुए कि ऐसी क्या विशेष सामाजिक स्थिति थी जिसने सारे देशका ध्यान खैयामकी ओर खींचा, कहा है कि वास्तवमें सन् १९२० का समय ऐसा ही था। प्रथम महायुद्धतक भारतीय मध्यवर्ग विकसित हो गया था। शिक्षा, साहित्य, राजनीति आदिमें वह महत्त्वपूर्ण बन चुका था। 'मध्यवर्ग'के जागरणसे सम्बन्धित सार्वभौम प्रवृत्ति 'व्यक्तिवाद' पूरे जोशमें थी। स्वय राष्ट्रीय स्वाधीनता सग्रामका मूल दर्शन व्यक्तिवादका ही रूप है। परन्तु सन् १९२० ई०से लेकर १९३०–३१ ई०तक लगातार सत्याग्रह सग्रामकी असफलताओं, आर्थिक क्षेत्रमें विश्वव्यापक मन्दी और बेकारीने उसे अत्यधिक निराश और विक्षुब्ध कर दिया था। सामाजिक नैतिक मूल्योंके क्षेत्रमें ज्ञान-विज्ञान और पश्चिमी सभ्यताने उसे उन्मुक्त मनवाला कर दिया था, पर प्राचीन मर्यादाएँ इतनी गहरी थीं कि उसकी यह स्वच्छन्दता खुलकर विकासके लिए अवकाश न पाती थी, अत उसके मनकी कुण्ठाएँ बढ़ती जाती थीं। सारे देशमें अवसाद, निराशा और कुण्ठाओंका साम्राज्य था। ऐसे समयमें उमर खैयामकी रुबाइयोंने उपयुक्त भूमि प्राप्त की। 'रुबाइयात मनुष्यकी जीवनके प्रति आसक्ति और जीवनकी मनुष्यके प्रति उपेक्षाका गीत है।' हिन्दीमें मैथिलीशरण गुप्त (मधुप), केशवप्रसाद मिश्र, बच्चन तथा सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा प्रस्तुत खैयामकी रुबाइयातके अनुवाद विशेष रूपसे उल्लेखनीय है।

यथार्थकी निराशा और तरुणाईकी रोमैण्टिक इच्छाओंके सघर्षमें पड़े युवकोंको एक शरणस्थली मिली मदिरालयमें। हाला, बाला, प्यालाके कल्पित लोकमें उसे वर्तमानके गमको गर्क करनेका स्थान मिला। उसने उस नशेमें 'ज्ञान, ध्यान, पूजा, पोथीके स्थूल बन्धनोंको तोड़नेकी पुकार की, क्योंकि जब वासना तीव्रतम थी तब उसे सयमी बनना पड़ा था।' 'उसकी बलवत्तम इच्छाओंको बन्दी बनानेवाला ससार क्रीड़ास्थल नहीं, कारागार था।' 'बच्चन,' 'नवीन,' 'हृदयेश,' पद्मकान्त मालवीय, 'अचल' आदि अनेक कवियोंने इस मादकता और बेहोशीके गीत गाये और इन सभीमें वही प्रतिपल्के परिवर्तनके कारण क्षणवादी दृष्टिकोण है। परिमाण और ख्यातिकी दृष्टिसे इनमें 'बच्चन'का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। सन् १९३३ ई० से १९३६ ई०के बीचमें उनके तीन काव्यसग्रह 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' क्रमश निकले। सन् १९३३ ई० में ही उनका 'खैयामकी मधुशाला' अनुवाद भी आया था। बच्चनको ख्याति और तीखे आक्षेप दोनों मिले। आक्षेपोंका उत्तर देनेका प्रयास उन्होंने 'मधुकलश'में किया है। वासनामय और निराशायुक्त गीत गानेके आरोपका अपने काव्यमें उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि 'चूँकि कवि अपने स्वप्नों, कल्पनाओं, आकाक्षाओंको मुक्त अभिव्यक्ति देता है इसीलिए जग उसके उद्गारोंको वासनामय कहता है, पर यदि वह द्वन्द छिपाता तो ससार उसे साधु समझता'। यों बच्चनने अपनी रचनाओंको एक प्रतीकार्थ भी देना चाहा है, जिसके अनुसार जीवनधाराके तटपर ही कविकी सुन्दर-सी बस्ती है, जिसे दुनिया मधुशाला कहती है। तनकी क्षणभगुर नौकापर चढ़कर यात्री इस सरिता तटपर आकर स्वप्निल छाया प्राप्त करता है। शुष्क सत्य उपयोगी हो सकता है, पर सुखदायक तो सरस स्वप्न ही है। तथा जीवनमें खोना और पाना सब नियतिके आधीन है। पर यह तो दार्शनिकीकरण है, इस वादकी सारी विशेषता बच्चनकी इस एक पक्तिमें है—'मिट्टीका तन, मस्तीका मन, क्षणभर जीवन मेरा परिचय।'

साहित्यिक दृष्टिसे छायावादकी वेदना और घनीभूत होकर निराशामें परिणत हो हालावादका रूप धारण कर लेती है। और जिन ऐतिहासिक परिस्थितियोंने प्रगतिवादको स्थापित किया, उन्होंने ही छायावादकी इस प्रक्षेपित धारा-'हालावाद'को भी सन् १९३६ ई० में ही समाप्त कर दिया।

[सहायक ग्रन्थ—(१) 'खैयामकी मधुशाला'की भूमिका बच्चन। (२) हिन्दी साहित्यके प्रमुख वाद और उनके प्रवर्तक विश्वम्भरनाथ उपाध्याय। (३) हिन्दी साहित्यमें विविध वाद - प्रेमनारायण शुक्ल।] —दे० श० अ०

हाव—दे०—'अगज अलकार'। हिन्दीमें सम्पूर्ण सात्त्विक अलकारोंके लिए प्रयुक्त शब्द।

हास—हास्य रसका स्थायी भाव हास है। 'साहित्यदर्पण'-(३ १७६) में कहा गया है—'वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते', अर्थात् वाणी, रूप आदिके विकारोंको देखकर चित्तका विकसित होना 'हास' कहा जाता है। पण्डितराजका कथन है, जिसकी वाणी एवं अगोंके विकारोंके देखने आदिसे उत्पत्ति होती है और जिसका नाम खिल जाना है, उसे 'हास' कहते हैं।' भरतने कहा है कि दूसरोंकी चेष्टाके अनुकरणसे 'हास' उत्पन्न होता है तथा यह स्मित, हास एव अतिहसितके द्वारा व्यजित होता है 'स्मितहासातिहसितैरभिनेय' (ना० शा० ७ १०)। भरतने त्रिविध हासका जो उल्लेख किया है, उसे 'हास' स्थायीके भेद नहीं समझना चाहिये। केशवदासने चार प्रकारके हासका उल्लेख किया है—मन्दहास, कलहास, अतिहास एव परिहास तथा अन्योंने छ प्रकारका हास बताया है—स्मित और हसित, विहसित और उपहसित, अपहसित और अतिहसित। हरिऔधके अनुसार जब नेत्रों तथा कपोलोंपर कुछ विकास हो तथा अधर आरजित हों तब स्मित होता है, यदि नेत्रों एव कपोलोंके विकासके साथ दाँत भी देख पड़ें तो हसित होता है, नेत्रों और कपोलोंके विकासके साथ दाँत दिखाते हुए जब आरजित मुखसे कुछ मधुर शब्द भी निकले, तब विहसित होता है, विहसितके लक्षणोंके साथ जब सिर और कन्धे कँपने लगे, नाक फूल जाय तथा चितवन तिरछी हो जाय, तब उपहसित होता है। आँसू टपकाते हुए उद्धत हास-

को उपहसित तथा आँसू बहाते हुए ताली देकर ऊँचे स्वरसे ठहाका मारकर हँसनेको 'अतिहसित' कहते हैं। वास्तवमें इन्हें हास स्थायीके भेद मानना युक्तिसंगत नहीं है। जैसा हरिऔधने कहा है, सभी स्थायीभाव वासना रूप हैं, अतएव अन्त करणमें उनका स्थान है, शरीरमें नहीं। सितहसितादि शरीरसे सम्बद्ध व्यापार हैं, अतएव ये हसन क्रियाके ही भेद हैं। अश्रु, हर्ष, कम्प, स्वेद, चपलता इत्यादि 'हास' स्थायीके साथ सहचार करनेवाले व्यभिचारी भाव हैं। उदाहरण—'मैं यह तोहीं मैं लखी भगति अपूरब बाल। लहि प्रसाद माला जु भौ तनु कदम्बकी माल।' (वि० स० ४७०)। प्रेमी द्वारा स्पर्श की हुई मालाके धारण करनेसे नायिकाके रोमाचित हो जानेपर नायिकाके प्रति सखीके इस विनोदमें 'हास' भावकी व्यंजना है, हास स्थायी प्रस्फुटित नहीं है। —र० ति०

हास्य रस—हास्य रस नव रसोंके अन्तर्गत स्वभावत सबसे अधिक सुखात्मक रस प्रतीत होता है, पर भरत(३, ४ श० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'के अनुसार यह चार उपरसोंकी कोटिमें आता है। इसकी उत्पत्ति शृंगार रससे मानी गयी है (६ ३९)। इसको स्पष्ट करते हुए भरतने आगे लिखा है कि वह शृंगारकी अनुकृति है—'शृंगारानुकृतिर्या तु स हास्य इति संज्ञित.' (६ ४०)। यद्यपि हास्य शृंगारसे उत्पन्न कहा गया है, पर उसका वर्ण शृंगार रसके 'श्याम' वर्णके विपरीत 'सित' बताया गया है—'सितो हास्य प्रकीतित ' (६ ४२)। इसी प्रकार हास्यके देवता भी शृंगारके देवता 'विष्णु'से भिन्न शैव 'प्रमथ' अर्थात् शिवगण हैं। यथा–'हास्य प्रमथदैवत ' (६ ४४)।

हास्य रसका स्थायी भाव हास और विभाव आचार, व्यवहार, केशविन्यास, नाम तथा अर्थ आदिकी विकृति है, जिसमें विकृतवेषालंकार, धाष्टर्य, लौल्य, कलह, असत्प्रलाप, व्यंग्यदर्शन, दोषोदाहरण आदिकी गणना की गयी है। ओष्ठ दंशन, नासा-कपोल स्पन्दन, आँखोंके सिकुड़ने, स्वेद, पार्श्वग्रहण आदि अनुभावोंके द्वारा इसके अभिनयका निर्देश किया गया है तथा व्यभिचारी भाव आलस्य, अवहित्थ (अपना भाव छिपाना), तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, असूया (ईर्ष्या, निन्दा-मिश्रित) आदि माने गये हैं।

साहचर्य भावसे हास्य रस शृंगार, वीर और अद्भुत रसका पोषक है। शान्तके भी अननुकूल नहीं है। आधुनिक साहित्यमें हास्यके जो रूप विकसित हुए हैं उनपर बहुत कुछ यूरोपीय चिन्तन और साहित्यका प्रभाव है। वे सब न तो शृंगारसे उद्भूत माने जा सकते हैं और न 'नाट्यशास्त्र'की व्यवस्थाके अनुसार सहचर रसोंके पोषक ही कहे जा सकते हैं।

हास्यकी उत्पत्तिके मूल कारणके सम्बन्धमें भी पर्याप्त मतभेद मिलता है। प्राचीन भारतीय आचार्योंने उसे 'राग'से उत्पन्न माना है, पर फ्रायड आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिक उसके मूलमें 'द्वेष'की भावनाका प्राधान्य मानते हैं। यूरोपीय दार्शनिकोंने अन्य स्वतन्त्र मत व्यक्त किये हैं (काव्यमें रस, अप्र० नि० पृ० ४१४-१५)।

शारदातनय(१३ श० ई०)ने रजोगुणके अभाव और सत्त्व गुणके आविर्भावसे हास्यकी सम्भावना बतायी है और उसे प्रीतिपर आधारित एक चित्त-विकारके रूपमें प्रस्तुत किया है। 'स शृंगार इतीरित । तस्मादेव रजोहीनात्समत्वाद्धास्यसम्भव ।' (भा० प्र० पृ० ४७)। अभिनवगुप्त(१०-११ श० ई०)ने सभी रसोंके आभास-(रसाभास)से हास्यकी उत्पत्ति मानी है—'तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्व सर्वेषु मन्तव्यम् ।' (अ० ना० भा० पृ० २९७)। इस प्रकार करुण, बीभत्स आदि रसोंसे भी विशेष परिस्थितिमें हास्यकी सृष्टि हो सकती है। 'करुणोऽपि हास्य एवेति' कहकर आचार्यने इसे मान्यता भी दी है। विकृतिके साथ-साथ अनौचित्यको भी इसीलिए उत्पादक कारण बताया गया है। अनौचित्य अनेक प्रकारका हो सकता है। अशिष्टता और वैपरीत्य भी उनकी सीमामें आते हैं।

हास्य रसके भेद कई आधारोंसे किये गये हैं। एक आधार है हास्यका आश्रय। जब कोई स्वय हँसे तो वह 'आत्मस्थ' हास्य होगा, पर जब वह दूसरेको हँसाये तो उसे 'परस्थ' हास्य कहा जायगा। कदाचित् 'आत्मसमुत्थ' और 'परसमुत्थ' भी इन्हींको कहा गया है। 'नाट्यशास्त्र'में गद्यभागमें पहले शब्द युग्मका प्रयोग हुआ है और श्लोकमें दूसरेका (६ ४९ तथा ६१)। जगन्नाथ(१७-१८ श० ई०)-ने इन भेदोंको स्वीकार तो किया है, पर व्याख्या स्वतन्त्र रीतिसे की है। उनके अनुसार आत्मस्थ हास्य सीधे विभावोंसे उत्पन्न होता है और परस्थ हास्य हँसते हुए व्यक्ति या व्यक्तियोंको देखनेसे उपजता है। इनके अतिरिक्त भावके विकास क्रम अथवा उसके तारतम्यको भी आधार मानकर हास्यके छ भेद किये गये हैं, जो अधिक विख्यात हैं। इनको प्रकृतिकी दृष्टिसे उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन कोटियोंमें निम्नलिखित क्रमसे रखा गया है—उत्तम—१. स्मित, २ हसित। मध्यम—३ विहसित—४ उपहसित। अधम—५ अपहसित, ६ अतिहसित। 'स्मितमथ हसित विहसितमुपहसित चापहसितमतिहसितम्। द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्यमाधमप्रकृतौ।' (ना० शा० ६ ५३)।

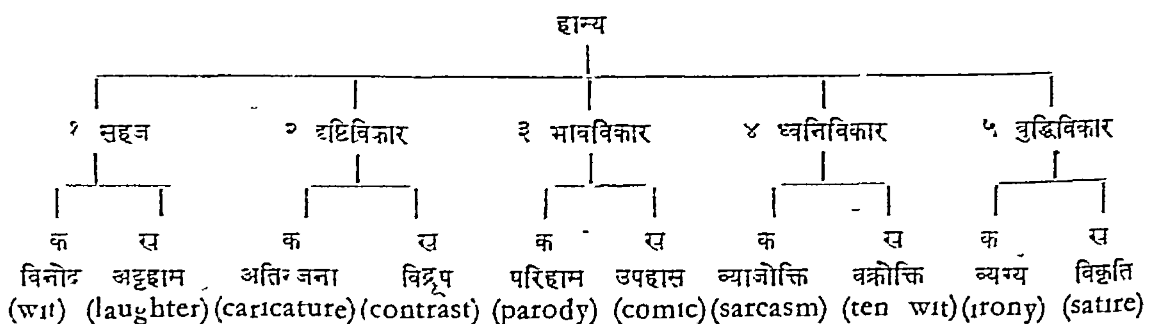
भरतने न केवल यह विभाजन ही प्रस्तुत किया है वरन उसकी सम्यक् व्याख्या भी की है जिससे प्रत्येक भेदकी विशेषताएँ तथा भेदोंका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट हो जाता है। 'नाट्यशास्त्र'(६ ५४ से ६० तक)के अनुसार **स्मित** हास्यमें कपोलोंके निचले भागपर हँसीकी हलकी छाया रहती है, कटाक्ष सौष्ठव समन्वित रहते हैं तथा दाँत नहीं झलकते। **हसित**में मुख नेत्र अधिक उत्फुल्ल हो जाते हैं, कपोलोंपर हास्य प्रकट रहता है तथा दाँत भी कुछ कुछ दीख जाते हैं। आँखों और कपोलोंका आकुंचित होना, मधुर स्वरके साथ समयानुसार मुखपर लालिमाका झलक जाना **विहसित**का लक्षण है। **उपहसित**में नाक फूल जाना, दृष्टिमें कुटिलता आ जाना तथा कन्धे और सिरका सकुचित हो जाना आवश्यक माना गया है। असमयपर हँसना, हँसते हुए आँखोंमें आँसुओंका आ जाना तथा कन्धे और सिरका हिलने लगना **अपहसित**की विशेषता है। नेत्रोंमें तीव्रतासे आँसू आ जाना, उद्धत चिल्लाहटका स्वर होना तथा हाथोंसे बगलको दबा लेना

अन्तिम भेद अतिहसितका लक्षण बनाया गया है। इन भेदोंको मुख्यतया अनुभावोंके आधारपर कल्पित किया गया है, अतएव इन्हें शारीरिक ही अधिक माना गया है, मानसिक कम। यह अवश्य है कि अनुभाव मनोभावोंके अनुरूप ही प्रकट होते हैं और उनसे आन्तरिक मानसिक दशा परिलक्षित हो जाती है। कुछ संस्कृत आचार्योंने इन छ भेदोंमें 'आत्म' और 'पर'का भेद दिखाते हुए पहले तीन भेदोंको 'आत्मसमुत्थ' और अन्तिम तीनोंको 'परसमुत्थ' बताया है पर इस तारतम्य मूलक विभाजनका आधार उत्तरोत्तर विकास ही है, अत इसमें 'आत्म' और 'पर'का अन्तर करना अनुपयुक्त प्रतीत होता है। भानुदत्त(१४ श० ई० मध्य)ने करुण और बीभत्सकी तरह हास्यके भी 'आत्मनिष्ठ' और 'परनिष्ठ' भेद किये हैं, जो स्पष्टतया भरतके आत्मस्थ और परस्थके समानान्तर हैं।

हिन्दीके स्वतन्त्र आचार्योंमें केशवदास (१६-१७ श० ई०)ने हास्यके मन्दहास, कलहास आदि केवल चार स्वतन्त्र भेदोंका उल्लेख किया है जिनपर नाट्यशास्त्रोक्त भेदोंकी गहरी छाया है, पर कुछ अन्तर भी दिखाई देता है। अतएव केशवका विभाजन लक्षण सहित उल्लेखनीय है— 'विकसहिं नयन कपोल कछु दसन-दसनके वास। 'मन्दहास' तासों कह कोविद केसवदास। जहँ सुनिये कल ध्वनि कछू कोमल विमल विलास। केसव तन-मन मोहिये वरनहु कवि 'कलहास'। जहाँ हँसहिं निरसक है प्रगटहि सुख मुख वास। आधे आधे वरव पर उपजि परत 'अतिहास'। जहँ परिजन सब हँसि उठें तजि दम्पतिकी कानि। केसव कौनहुँ बुद्धिबल सो 'परिहास' बखानि।' (र० प्रि० १४ ३, ८, १०, १५)। केशवके पहले तीन भेद तो भरतके भेदोंके समानान्तर और भावके विकास-क्रमपर आधारित है, पर अन्तिम एक परिस्थिति विशेषकी अपेक्षा रखता है, जिसमें नायक-नायिकाकी प्रीति परिजनोंके परिहासका कारण बन जाय। केशवके अतिरिक्त अन्य रीतिकालीन काव्याचार्योंमें हास्य रसका चिन्तामणि(१७ श० ई०)ने सबसे अधिक सागोपाग विवरण प्रस्तुत किया है, जो 'साहित्य-दर्पण'में दिये गये विवरणका पद्यानुवादमात्र है। 'रसनिवास'(१७८२ ई०)के रचयिता राम सिंहने हास्य रसका स्थायी भाव 'हँसना' माना है।

सित, हसित आदि नाट्यशास्त्रमें प्राप्त पूर्वोक्त छ भेद नहीं हो सकते, पर कुछ लोगोंने उन्हें स्थायी भावका भेद भी माना है, जिसका खण्डन करते हुए आधुनिक विवेचक हरिऔधने लिखा है—'किसी-किसीने स्थायी भाव हासके छ भेद माने हैं, यह युक्तिसगत नहीं। सभी स्थायी भाव वासनारूप है, अतएव अन्त करणमें उनका स्थान है, शरीरमें नहीं। सित, हसित, विहसित, अवहसित, उपहसित और अतिहसितके नाम और लक्षण बताते हैं कि उनका निवासस्थान देह है, अतएव ये हसनक्रियाके भेद हैं, (र० क० पृ० २९१)।

अपने 'रिमझिम' नामक हास्य एकाकी संग्रहकी भूमिकामें रामकुमार वर्माने इन छओं भेदोंके साथ 'आत्मस्थ'-'परस्थ'का गुणन करके बारह भेद मान लिये हैं, जिसका आधार 'नाट्यशास्त्र'में ही मिल जाता है (६ ६१)। रामकुमार वर्माने पाश्चात्य साहित्यमें उपलब्ध हास्यके पाँच मुख्य रूप मानते हुए उनकी परिभाषा इस प्रकार दी है— १ 'सैटायर' (विकृति)—आक्रमण करनेकी दृष्टिसे वस्तुस्थितिको विकृत कर उससे हास्य उत्पन्न करना। २ 'कैरीकेचर' (विरूप या अतिरंजना)—किसी भी ज्ञात वस्तु या परिस्थितिको अनुपात-रहित बढ़ाकर या गिराकर हास्य उत्पन्न करना। ३ 'पैरोडी' (परिहास)—उदात्त मनोभावोंको अनुदात्त सन्दर्भसे जोड़कर हास्य उत्पन्न करना। ४ 'आइरनी' (व्यंग्य)—किसी वाक्यको कहकर उसका दूसरा ही अर्थ निकालना। ५ 'विट'(वचन वैदग्ध्य)—शब्दों तथा विचारोंका चमत्कारपूर्ण प्रयोग। फ्रायडने इसे दो प्रकारका माना है—सहज चमत्कार (harmless wit) और प्रवृत्ति चमत्कार (tendency wit)। सहज चमत्कारमें विनोदमात्र रहता है, किन्तु प्रवृत्ति चमत्कारमें ऐन्द्रिय प्रतिकारात्मक भावना रहती है। साहित्यकी आधुनिक प्रवृत्तियोंको दृष्टिमें रखकर उन्होंने अपनी ओरसे पाँच स्वतन्त्र भेदोंकी स्थापना की, जिनमेंसे प्रत्येकमें दो-दो उपभेद करके कुल दस प्रकारोंमें हास्य रसके प्राय समस्त प्रचलित स्वरूपोंको समाविष्ट करनेका प्रयत्न किया है—



इस विभाजन-वर्गीकरणके सम्बन्धमें लेखककी अपनी धारणा है कि—'इस भाँति हास्य सहज विनोदसे चलकर क्रमश दृष्टि, भाव, ध्वनि और बुद्धिमें नाना रूप ग्रहण करता हुआ विकृतिमें समाप्त होता है।' (रिमझिम - पृ० ११)।

हास्य रसको लेकर उसको विभाजित और वर्गीकृत करनेका ऊहापोह स्वतन्त्र विवेचनकी अपेक्षा रखता है। कुछ बातोंपर सरलतासे आपत्ति की जा सकती है, जैसे, विनोद और व्याजोक्ति जो 'विट' के रूप माने गये हैं, उन्हें

बुद्धि-विकारमे अलग मानना और 'सहज' तथा 'ध्वनिविकार' नामक वर्गोंमें रखना। वक्रोक्ति भी काव्यशास्त्रमें दो प्रकारकी मानी गयी है—१ श्लेष, २. काकु। ध्वनिविकारके अन्तर्गत केवल काकुवक्रोक्ति ही आ सकती है, श्लेषवक्रोक्ति नहीं। श्लेष या श्लेषवक्रोक्तिपर आधारित हास्यको भी किसी-न-किसी वर्गमें समाविष्ट किया जाना चाहिये था। इसी प्रकार 'व्याजोक्ति', जो वाच्यार्थका ही एक रूप है, 'ध्वनिविकार'के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकती, क्योंकि ध्वनिगत विकार उसका आधार नहीं है, न उसके लिए अनिवार्य ही है।

हास्य रस उन प्रधान रसोंमेंसे है, जिनके आधारपर नाट्यसाहित्यमें स्वतन्त्र नाट्यरूपोंकी कल्पना हुई। रूपकके दस भेदोंमें भाण और प्रहसन न्यूनाधिक हास्य रससे सम्बद्ध हैं। प्रहसनमें तो हास्य रस ही प्रधान है। भारतेन्दुके 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'विषस्य विषमौषधम्' नामक प्रहसन संस्कृत नाट्यशास्त्रके आदर्शपर ही रचे गये। संस्कृत नाटकोंमें हास्य रसकी सृष्टि करनेके लिए विदूषककी अलगसे योजना मिलती है, जिस परम्पराका निर्वाह 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त' जैसे अनेक हिन्दी नाटकोंतक व्याप्त मिलता है। शेक्सपीयरके सुखान्त नाटकों (comedies)में भी विदूषककी योजना की गयी है। वस्तुत. विदूषककी कल्पना मध्यकालीन सामन्ती जीवन और संस्कारोंकी उपज है। आधुनिक नाट्यसाहित्यमें हास्य और व्यंग्यके लिए ऐसे *किसी स्वतन्त्र भावकी सृष्टि आवश्यक नहीं है।* जीवनके स्वाभाविक क्रममें अन्य मनोभावोंके साथ ही हास्यका भी सहज रूपमें समावेश अपेक्षित माना जाता है।

हिन्दी काव्य-साहित्यमें भी हास्य रसका निरूपण बहुत समयतक संस्कृत साहित्यके आदर्शपर होता रहा। रीतिकालीन कवितामें बहुधा आश्रयदाताओं अथवा दानदाताओंके प्रति कटु व्यंग्योक्तियाँ की गयी हैं, जिन्हें हास्य रसके अन्तर्गत माना जाता है। बेनी कविके 'भड़ौआ' इस क्षेत्रमें विशेष प्रसिद्ध है। ऐसे 'भड़ौओं'का एक संग्रह 'विचित्रोपदेश' नामसे प्रकाशित कराया गया था। इस प्रकारकी रचनाएँ हास्यका उदाहरण ही प्रस्तुत करती हैं। इधर अँग्रेजी 'पैरोडी' (parody) या विडम्बना काव्यकी एक स्वतन्त्र धाराका विकास पाश्चात्य साहित्यके प्रभावसे हुआ है। उर्दू कवि अकबरका प्रभाव हिन्दीके अर्वाचीन काव्यपर विशेष पड़ा है। 'बेढब' बनारसी आदिकी रचनाएँ इसका उदाहरण हैं।

गद्यसाहित्यमें भारतेन्दु-कालसे ही हास्य रसकी रचनाएँ होने लगीं, पर उनका क्षेत्र अधिकतर नाटक ही रहा। द्विवेदी-कालमें व्यंग्यपूर्ण लेखोंकी भारतेन्दु युगीन परम्परा विशेष विकसित हुई। 'दुबेजीका चिट्ठा' आदि इसीके उदाहरण हैं। उपन्यासोंके क्षेत्रमें जी० पी० श्रीवास्तवको विशेष ख्याति प्राप्त हुई, पर 'लतखोरीलाल', 'लम्बी दाढ़ी' आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यासोंमें कृत्रिमताकी मात्रा बहुत अधिक है। अमृतलाल नागर, शिक्षार्थी, अन्नपूर्णानन्द, केशवचन्द्र वर्मा तथा अन्य अनेक नये लेखक शिष्ट हास्यके विकासमें विशेष तत्पर हैं। मुख्यतया हास्य रसको लेकर 'नोंक-झोंक', 'मुसकान' और 'तुरगशृंग' आदि कई पत्रिकाएँ प्रकाशित होती रही हैं। पर यह सत्य है कि हिन्दीका अधिकतर हास्य साहित्य अबतक अपरिपक्व है। —ज० गु०

हिंदवी–दे०—'हिंदी'।

हिंदी (हिंदवी, हिंदुई)–वाच्यार्थकी दृष्टिसे हिन्दी शब्दका प्रयोग हिन्द या भारतसे सम्बन्धित किसी भी व्यक्ति, वस्तु तथा हिन्द या भारतमें बोली जानेवाली किसी भी आर्य, द्रविड़ तथा अन्य कुलकी भारतीय भाषाओंके लिए हो सकता है। किन्तु इस प्राचीन व्यापक अर्थमें इस शब्दका प्रयोग अब प्रचलित नहीं है।

वर्तमान भारतीय साहित्यमें यह शब्द भारतीय संघकी राजभाषा (संघकी राजभाषा देवनागरी लिपिमें हिन्दी होगी—भारतीय संविधान धारा ३४३ १) तथा राष्ट्रभाषाके नामका द्योतक है। उत्तरप्रदेश, बिहार, दिल्ली, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पंजाब (पंजाबी भाषा-क्षेत्रको छोड़कर), हिमाचलप्रदेशकी प्रधान साहित्यिक भाषा और राजभाषाके अर्थमें मुख्यतया तथा इसी भूमिभागकी बोलियों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्राचीन साहित्यिक रूपोंके अर्थमें यह नाम साधारणतया प्रयुक्त होता है (धीरेन्द्र वर्मा हि० भा० इ० पृ० ६०)।

प्राचीन अर्थसे प्रस्तुत अर्थतक आते आते इस शब्दने कई शताब्दियोंकी लम्बी यात्रा की है। ऋग्वेदमें 'सिन्धु' और 'सप्तसिन्धव' शब्द नदी और सात नदियोंके अर्थमें कई बार (*यद् ऋक्षाऽहसो मुचथो वार्यात् सप्तसिन्धुषु*—ऋक् ८ २४ २७) और विशिष्ट प्रदेशके अर्थमें एक बार (ऋक् २ ८ ९६) मिलता है। सम्भवत' याजकोंके साथ इन दोनों शब्दोंने भारतसे ईरानकी यात्रा की। ईरानियोंकी प्राचीनतम धर्मपुस्तक 'आवेस्ता'में पाये जानेवाले 'हेन्दु', 'हिन्दु' तथा 'हफ्तहिन्दव' या 'हफ्तहिन्द्वो' (यस्ना ५७. अनुच्छेद २९ आवेस्ता रीडर फर्स्ट सीरीज, ए वी विलियम्स जैक्सन) इन्हीं दो वैदिक शब्दोंके ईरानी उच्चारणमात्र हैं (भारतीय आर्यभाषाकी स् ध्वनि ईरानीमें ह् उच्चरित होती है)। प्राचीन पहलवीमें 'हिन्द', 'हिन्दुक्' और 'हिन्दुश' शब्द मिलते हैं (पार्सीपोलिस धारयत वसु ४८६ ई० के सारकपर 'हिन्दुश' शब्द अभिलिखित है, दे०—'पहलवी अर्ली इसक्रिप्शन्स')। मध्यकालीन ईरानी कालमें विशेषण प्रत्यय 'ईक्' जोड़कर हिन्द+इक् ='हिन्दीक्' फिर 'हिन्दीग्'शब्द बना। कालान्तरमें अन्तिम व्यंजनका लोप हो गया और 'हिन्दी' शब्द हिन्दके विशेषणके रूपमें प्रचलित हो गया। इस प्रकार 'हिन्दी' शब्दका मूल रूप 'हिन्द' है। कुछ भाषावेज्ञानिकोंने 'हिन्दी'को सिन्धी'का रूपान्तर माना है, किन्तु ईरानमें 'हिन्दी' शब्दका रूपनिर्माण उस समय हो गया था, जिस समय भारतमें भारतीय आर्य भाषाका प्राकृत-अपभ्रंश काल रहा होगा। भारतके प्राचीन साहित्यमें 'सिन्धी' शब्द नहीं मिलता है। भारतमें देवल (कराची) बन्दरगाहसे आनेवाले अरब यात्री अवश्य सिन्धप्रान्तकी भाषाको 'सिन्धी' कहते हैं, किन्तु उनका समय ८वां, ९वी, १०वीं शती है। अरब यात्री बुशारी (३७५ हिजरी) लिखता है, देवलमें सब व्यापारी ही व्यापारी बसते हैं। उनकी भाषा 'अरब' (अरबी)

और 'सिन्धी' है (अरबीमें भारतीय आर्य भाषाकी स् ध्वनि स् ही उच्चरित होती है)।

ईरानसे ही 'हिन्द' और 'हिन्दी' शब्द अरब, मिस्र, सीरिया तथा अन्य देशोंके साहित्यमें प्रविष्ट हुए। अरबवालोंको हिन्द और हिन्दी शब्द ईरानियोंसे ही मिले। अरब यात्री 'हिन्द' और सिन्धको दो अलग प्रदेश मानते हैं, सम्भवत कश्मीरकी तराईसे सिन्ध नदीके किनारेतकको सिन्ध और गुजरातसे लेकर भीतरी देशको 'हिन्द' कहते हैं। (अरब यात्री मसऊद, ३०३ हिजरी, लिखता है, सिन्धमें वहाँकी अपनी भाषा है जो हिन्दकी भाषाओंसे भिन्न है)। इस समय विदेशोंमें 'हिन्दी' शब्द या तो देशबोधक था या हिन्दसे जानेवाली वस्तुका बोधक। (प्राचीन अरबी-साहित्यमें पाये जानेवाले अद हिन्दी (अगर), किस्त हिन्दी (कुट), साज ज हिन्दी (तेजपत्ता), कुरतुम हिन्दी (कुसुम्ब), तमर हिन्दी (इमली, इंगलिश टमेरिंट) आदि शब्दोंमें 'हिन्दी' शब्द देशबोधक है। मिस्री भाषामें 'हिन्दी'का अर्थ है कमीके आवरणके हेतु 'मलमल', कुरानमें 'सुन्दुस'-का अर्थ है 'सुन्दर सूती वस्त्र' और अरबीमें हिन्दीका एक अर्थ है हिन्दुस्तानी फौलादकी तलवार। यहाँ 'हिन्दी' शब्द वस्तुबोधक है।) ईरान आनेवाले प्राचीन ग्रीकोंने 'हिन्द'को 'इण्डया' या 'इण्डिका' कहा है। 'इण्डिया' शब्द उसीका आधुनिक उच्चारण है।

भाषा-प्रसगमें प्राचीन तथा मध्यकालीन फारसी तथा अरबी साहित्यमें 'जबाने हिन्दी' शब्दका प्रयोग सम्भवत हिन्दकी समस्त भाषाओं सस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रशके लिए मिलता है। नौशेरवाँ बादशाह(६ठी शती)का दरबारी कवि पचतन्त्रको 'कलीला व दिमना' नामसे अरबीमें अनुवाद करते समय पचतन्त्रकी भाषाको 'जबाने हिन्दी की सज्ञा देता है। अलबरुनी (१०२५ ई०) हिन्दीकी भाषाओंको 'अल हिन्दय' कहकर सम्बोधित करता है। (फिरदौसीके शाहनामेमें 'कैद हिन्दी' शब्द एक भारतीय राजाके लिए प्रयुक्त हुआ है)। महमूद गजनवीके बेटेका समकालीन अबुल माली नसरुल्ला बिन अब्दुलहमीद भी (१०वीं शती उत्तरार्द्ध) 'कलीला व दिमना'के फारसी अनुवादमें पचतन्त्रकी भाषाको 'जबाने हिन्दी'की सज्ञा देता है। ('सबब इल्लत तरजुमा किताब व नकल आँ अज हिन्दुस्तान व पारस आँ बूद' - पृ० १ आँ किताब रा 'कलीला व दिमन' खानन्द मरदे हुनरमन्द बायद तल्बीद के जबान पारसी व हिन्दी बेदान', कलीला व दिमना पृ० १०)।

- सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश आदि किसी भी प्राचीन भारतीय आर्य भाषामें 'हिन्दी' शब्द नहीं मिलता है। (जैन महाराष्ट्रीमें लिखित कालकाचार्यकी कथामें केवल 'हिन्दुग्' शब्द मिलता है, यथा—सूरिणा भणियम् रामुणो जेण हिन्दुग देसम् वच्चामो' - दे०—जैन महाराष्ट्री जैकोबी भाग ३४ पृ० २६०)। भारतमें रहनेवाले मुसलमान फारसी लेखक हिन्दकी देसी भाषाके लिए 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' (हिन्दव + कि या इक् > हिन्दवी) शब्दका प्रयोग करते हैं।

१३वीं शतीमें भारतके फारसी कवियोंमें औफी (१२२८ ई०) सर्वप्रथम 'हिन्दवी' शब्दका प्रयोग हिन्दकी (सम्भवत मध्यदेशकी) देशी भाषाके लिए करते हैं। स्वर्गीय ममऊदकी काव्यकृतियोंका उल्लेख करते हुए औफी लिखते हैं—'यके बताजी व यके व पारसी व यके बहिन्दवी' (अलालु बाब मुहम्मद औफी, जिल्द दोयम पृ० २४६)। 'सैयद दीवान दर इबारत अरबी, व फारसी व हिन्दवी' (दीबाचा गुर्रतुल कमाल खुसरु)।

१३-१४वीं शतीमें देसी भाषाको 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' या 'हिन्दुई' नाम देनेमें अबुलहसन या अमीर खुसरु-(१२५३ १३२५ ई०)का नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। खुसरु अपने युगके फारसी भाषाके सबसे बडे भारतीय कवि और कलाकार थे। फारसी और अरबीके पूर्ण पण्डित तथा देसी भाषा अर्थात् 'हिन्दी' या 'हिन्दवी'के ज्ञाता थे। अपने देशी भाषाके ज्ञानके लिए वे स्वय कहते हैं—'तुर्क हिन्दुस्तानियम मैं 'हिन्दवी' गोयम ज वाबे।' फारसीके साथ-साथ कुछ 'चन्द नज्म' उन्होंने 'हिन्दी'में भी लिखी है, जिसे वे स्वय स्वीकार करते हैं—'जुज वै चन्द नज्म 'हिन्दी' नीज नज्र देस्तान करदा शुदा अस्त'। खुसरु गयासुद्दीन तुगलकके लडकेके शिक्षक थे, सम्भवत 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' सिखानेके लिए उन्होंने एक फारसी-हिन्दी कोश 'खालिकबारी'की रचना की होगी। 'खालिकबारी'में 'हिन्दवी' शब्द ३० बार और 'हिन्दी' शब्द ५ बार देसी भाषाके लिए प्रयुक्त हुआ है। खुसरुने अपने समयकी भारतीय भाषाओंको निम्नलिखित प्रकारसे विभाजित किया है—'(१) सिन्धी, (२) लाहौरी, (३) कश्मीरी, (४) बंगाली, (५) गौडी, (६) गुजराती, (७) तिलगी, (८) माबरी (कर्नाटकी, कोंकडी), (९) ध्रुव समुन्दरी, (१०) अवधी, (११) देहलवी और इसके इतराफकी जबान।'

इस विभाजनसे ज्ञात होता है कि उस समयतक किसी विशिष्ट भाषाके लिए हिन्दी शब्दका प्रचलन नहीं हुआ था।

१५वीं-१६वीं शतीमें देसी भाषाके समर्थनमें जायसीका कथन है—'तुर्की अरबी हिन्दवी, भाषा जेती आहिं, जामें मारग प्रेमका, सबै सराहैं ताहि।'

जायसीकी कविताकी भाषा अवधी है और खुसरुकी देसी भाषा 'देहलवी और उसके इतराफकी जबान' है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय दिल्लीके आस-पाससे लेकर अवधतकके प्रान्तकी देसी भाषाको हिन्दी या हिन्दवी नाम सामान्य रूपसे दिया जाने लगा था। मुसलमानी परम्पराओंसे सम्बन्धित कवि फारसी और अरबी ऐसी प्राचीन भाषाओंकी तुलनामें देसी भाषाके लिए हिन्दी या हिन्दवी शब्दका प्रयोग व्यापक रूपसे करते हैं। भारतीय परम्परासे सम्बन्धित कवि सस्कृत आदि प्राचीन भाषाओंकी तुलनामें देसी भाषाके लिए केवल 'भाषा' या 'भाखा'का ही प्रयोग करते हैं, 'संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर'(कबीर), 'का भाषा का सस्कृत, प्रेम चाहिये साँच' (तुलसी)। 'मासरुल उमराव' अकबरके दरबारी कवि रहीम खानखानाको 'हिन्दी' कवि कहा गया है (रसायल शिबली)। रहीम खानखाना प्रधानत ब्रजभाषाके कवि हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सामान्यतया 'भाखा', 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' समा-

नार्थक से थे। इसी सदीके 'दक्खिनी हिन्दी'के कवि भी इसी तथ्यकी ओर संकेत करते हैं। 'यों देखत 'हिन्दी' बोल, प्रन माने ह नपतोल। त्यो 'भाका' माटी जानो, जर मानी दिलमें आनो' (शाही मीराजी, १४९६ई०, ९०२ हिज० मृत्यु, शहादुतुल हकीकतमे)। 'नज्म लिखी सब माजू। यों मैं हिन्दवी कर आसान' (शेख अशरफ १५०३ ई० नौसर मखतूतात, पृ० १८) 'हिन्दी बोलों किया बखान। जेकर परसादका मुज ग्यान' (शाह बुरहानुद्दीन जानम बीजापुरी १५८० ई०)। १७वीं शतीमें दक्खिनीके अत्यन्त प्रसिद्ध कवि तथा गद्यलेखक मुल्ला वजही अपने 'सब रस'- (१६२५ ई०)की भूमिकामें 'हिन्दी'का प्रयोग इसी अर्थमें करते हैं, 'हिन्दोस्तानमें 'हिन्दी' जबान सो इस लताफत इस छन्दा सों नज्म और नस्र मिलाकर गुलाकर यों ने बोला'। १६वीं-१७वीं शतीमें उत्तरी भारतमें भक्ति आन्दोलन अपनी चरम सीमापर था। राम-भक्त और कृष्ण-भक्त कवि अवधी और ब्रजमें कविता लिख रहे थे। अवधी नाम तो खुसरूके समयमे ही चल रहा था, किन्तु ब्रजभाषा नाम इस समयतक भी नहीं मिलता। अकबरके समकालीन अबुल फजलने अपने समयकी भारतीय भाषाओंका वर्गीकरण इस प्रकार किया है, (१)देहलवी, (२)बंगाली, (३) मुलतानी, (४) मारवाड़ी, (५) गुजराती, (६) तिलंगी, (७) मरहठी, (८) कर्नाटकी, (९) सिन्धी, (१०) अफगानी (उस समय अफगानिस्तानका बहुत भाग अकबरके राज्यमें था। सिन्ध, काबुल, कन्धहारके बीचका प्रान्त।), (११) बिलोचिस्तानी (१२) काश्मीरी। इसी शतीमें सम्भवत प्रथम बार हमें किसी हिन्दू द्वारा 'हिन्दवी' शब्दका प्रयोग मिलता है। मिर्जा राजा जयसिंहके पुत्र रामसिंहके वैयक्तिक सहायक श्रीपरकासदास द्वारा अम्बेरके दीवान श्रीकल्यानदासको (सन् १६६६, अक्तूबरमें) एक पत्र भेजा गया। उस पत्रमें जयसिंह और रामसिंहके एक पत्रको 'हिन्दवी परवाना' कहा गया है—'सो ऐसी भाँति कागज एक हिन्दवी परवानो श्री महाराज(जयसिंह)जीको श्रीमहाराज कवार जेके ताई आये बणवायो है' (जयपुर रिकर्ड्स)। हिन्दू मुसलमान तथा हिन्दू धर्म और इस्लामकी एकताके बहुत बड़े समर्थक सन्त प्राणनाथने अपनी कुछ 'सनन्धें' (हिन्दवीमें लिखी हुई कुरानकी व्याख्या) औरंगजेबके पास भिजवायी थीं। उन सनन्धोंके प्रति औरंगजेबकी और अन्य मुसलमानोंकी क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका वर्णन करते हुए प्राणनाथके एक शिष्य लिखते हैं, 'कोई कहे 'हिन्दवी' मिने। लिखे ऐ कलाम ॥ स तो बोहोत प्रकार्या। इनों पीठ दई तरफ हक ॥ कोई कलाम हिन्दवीय का। ल्यावतें है दिल सक ॥' (लालदासबीतक, प्रकर्ण ३७ चौ० ४५-४६)। प्राणनाथ और उनके शिष्य लालदासने मिलकर एक पत्र औरंगजेबको अपनी भाषामें ही लिखा, उसे ले जानेके लिए लाल दरवाजेके पास रहनेवाले आगाजीत ठाकुरसे कहा गया, किन्तु औरंगके स्वभावको जानकर ठाकुर उत्तर देता है 'सो पाती हिन्दवी की। क्यों कर सुने कानं। सरियत हे जोरावर। हे पौहोरा मुसलमान।' (लालदासबीतक पृ० ३८ चौ० ३८)। बनारसी दास जैन (१७वीं शती) द्वारा प्रयुक्त 'हिन्दगी' शब्द भी इसी हिन्दवीकी ओर संकेत करता है, 'मूलदास जिनदासके, भये पुत्र परधान। पढ्यो, 'हिन्दगी' फारसी, भाग्यवान-बलवान।' अनुमानत १७वीं शतीतक हिन्दी और हिन्दवी शब्द समानार्थक थे और सामान्यत मध्यदेश-की भाषाके लिए प्रयुक्त होते थे। दक्खिनके बीजापुर और गोलकुण्डा राज्य शासनसे सम्बन्धित लोगोंमें हिन्दी, हिन्दवीकी उसी शैलीका प्रचार था जिसका मूलाधार दिल्ली और उसके आस पासकी भाषा थी। इस प्रकार धीरे-धीरे इन शब्दोंका विशिष्ट शैलीके लिए प्रयोग होने लगा। १७ वीं शतीमें हिन्दुओंने भी इन नामोंको अपनाया। हिन्दी या हिन्दवी दो लिपियोंमें लिखी जाती रही होगी। सम्भव है, हिन्दू अधिकाशत नागरी लिपि और मुसलमान फारसी लिपिमें लिखते रहे होंगे। दक्खिनी भारतमें समग्र साहित्य फारसी लिपिमें लिखा गया, अतएव हिन्दी और हिन्दवी दोनो नामोंका समान रूपसे प्रचार रहा, किन्तु उत्तरी भारतमें सम्भवत लिपिभेदके कारण भाषा अत्यधिक रूपसे एक ही होनेके कारण भी हिन्दुओंमें हिन्दवी नामका और मुसलमानोंमें हिन्दी नामका प्रचार अधिक हुआ। प्रथम ब्रजभाषा व्याकरणके लेखक मिर्जा खा (१६७६ ई०) अपने ग्रन्थ 'तहफतुलहिन्द'में लगभग ३००० हिन्दी शब्दों-की फारसीमें व्याख्या करते हे, उस कोषकी सज्ञा 'लुगात-इ हिन्दी' देते हैं। इसी प्रकार शाह बरकतउल्लाहने 'रिसाला अवारीफे हिन्दी'में हिन्दी प्रान्तमें प्रचलित हिन्दी कहावतोंकी व्याख्या फारसी भाषामें की है। इसमें हिन्दो मुसलमानोंमें प्रचलित कहावतें हैं। प्राय सभी कहावतें मध्यदेशमें प्रचलित कहावतें हे। इसी समयके आसपास शेख अब्दुल असारी(१०७४ हिज०)की 'फिक़ए हिन्दी', शेख महबूब आलमकी 'मसाएल हिन्दी' नामक पुस्तकोंमें हिन्दी शब्द उपर्युक्त अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है।

१८वीं शती भारतीय आर्य भाषाके विकासके लिए अति महत्त्वपूर्ण है। अभीतक तो हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी शब्द सामान्यतया समानार्थक थे, किन्तु इस शतीमें इन शब्दोंमें नये अर्थोंका विकास होता है, साथ ही भाषा-द्योतक कुछ नये शब्द भी प्रचलनमें आते ह। भाखा या भाका शब्द सामान्य रूपसे मध्यदेशी ग्रामीण बोलियोंके लिए, विशिष्ट रूपसे ब्रजभाषाके लिए प्रयुक्त होने लगा। दक्खिनी साहित्य-में प्रयुक्त हिन्दी या हिन्दवीको जब उत्तरी भारतके मुसलमान कवियोंने फारसीके साँचेमें ढालकर अपनाया तो एक नया नाम दिया 'रेखता' (दे०)। इस प्रकार जो शब्द केवल अभी एक विशेष प्रकारके लिए प्रयुक्त हो रहा था, वह अब हिन्दी या हिन्दवीकी उस शैलीके लिए प्रयुक्त होने लगा जो काव्यमें फारसीका जामा पहनकर आयी थी। शाही दरबार-में धीरे-धीरे इसका प्रचलन होने लगा और उस शाही शैलीको १८ वीं शतीके उत्तरार्द्धमें 'जबान उर्दू ए मुअल्लम'-(दे०—'उर्दू')की सज्ञा दी गयी। 'हिन्दवी' शब्दका प्रयोग इसी भाषाकी उस शैलीके लिए होने लगा जो प्रधानत हिन्दुओंमें प्रचलित थी और जिसमें विदेशीपन कम रहता था (फारसी शब्द आते अवश्य थे, किन्तु तद्भवरूपमें) और भाखापन मिला रहता था। हिन्दी शब्द कभी-कभी (हिन्दवीके समान) देसी भाषाके अर्थमें आता है, 'अगरच समी क़ड़ा करकट अस्त बहिन्दी दर हिन्दी जबान लटपट अस्त।'

(मीर जफरअली, १७३० ई०के आसपास), 'लिख देव हिन्दी बोलकर बाँचू मैं दिन रात', 'लिखी किताब इस वास्ते हिन्दी बोली बूझ','हिन्दीकी बोलीके अन्दर बूझा राह यकीन' ('मनायल हिन्दी', मुहम्मदशाह नालीन)। हिन्दी शब्द कभी-कभी फारसीकी तुलनामें उन देसी शैलीके लिए प्रयुक्त होता है जिसे जबान रेखता या आगे चलकर फारसीका अधिक रंग चढ़ जानेपर ज़बान उर्दू ए मुअल्ला कह सकते हैं, 'अबतक तरजुम फारसी बइबारत हिन्दी नजर नहीं हुआ अगर तरजुम इस किताबका बरंगीनी इबारत उसने इस्तारात हिन्दी करीबुल फहम आमय- मोमिनिन' कीजिए' (करबल कथा, दहमजलिस फजली औरंगाबादी, १७३० ई०) । हातिम, नासिख, मीर, सौदा आदि उर्दू कवि इस शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें करते हैं। 'कभी-कभी ज़बान रेख्त के मुकाबलेमें हिन्दी शब्द प्रयुक्त होता है, इसमें जबा- रेख्त नहीं बल्कि हिन्दी मुतारिफ कि अवामको बेतकल्लुफ दरयाफत हो' (शाह अब्दुल कादिर देहलवी तरजुमा कुरान पाक, १७९२ ई०) ।

इसी शतीके अन्तिम चरणमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीके कर्मचारियोंको देसी भाषा सिखानेके प्रयत्न आरम्भ हुए। इस सम्बन्धमें गिलक्राइस्टका नाम बहुत महत्त्वपूर्ण है। गिलक्राइस्टने हिन्दुस्तानकी प्रतिनिधि भाषाके लिए 'हिन्दुस्तानी' नामका समर्थन किया। (हिन्दुस्तानी गिलक्राइस्टका दिया हुआ कोई नया नाम नहीं था, बल्कि हिन्दी या हिन्दवीके समानार्थक रूपमें १७वीं शतीमें ही प्रचलित था। दे०—'हिन्दुस्तानी'।) गिलक्राइस्ट हिन्दीसे 'हिन्दवी' भाषाका व्यापक अर्थ लेते हैं, हिन्दी और हिन्दुस्तानीको समानार्थक समझते हैं, किन्तु हिन्दीमें 'हिन्दू', 'हिन्दवी', 'हिन्दुई'का भ्रम हो सकता है, अतएव 'हिन्दुस्तानी' नामके प्रचलनका ही समर्थन करते हैं। वे जिस भाषाको हिन्दुस्तानी नाम देते हैं, उसके विकासका सिद्धान्त निम्नलिखित देते हैं—हिन्दवी+अरबी+फारसी=हिन्दुस्तानी। इस प्रकार गिलक्राइस्टका हिन्दुस्तानी नाम जबान रेखता, उर्दूए मुअल्लाका समानार्थक है। गिलक्राइस्टके मतका ही समर्थन डब्ल्यू० वी० बेली अपने मसविदेमें करते हैं— 'हिन्दुस्तानी जबान कि जिसका जिक्र मेरे दावेमें है, उसको हिन्दी, उर्दू और रेख्त भी कहते हैं।' (मसविद डब्ल्यू० वी० बेली 'विशाल भारत', १९४०, भाग २५ . पृ० २८ . २४।) गिलक्राइस्टके पूर्व हेलहेड हिन्दवीको शुद्ध हिन्दुस्तानी (pure hindustani) और हिन्दुस्तानीको मिश्रित हिन्दुस्तानी(mixed hindustani)की संज्ञा देते हैं। गिलक्राइस्ट हिन्दुस्तानीकी तीन शैलियाँ मानते हैं—(१) उच्च या दरबारी या फारसी शैली, (२) मध्यम या वास्तविक हिन्दुस्तानी, (३) ग्रामीण या हिन्दवी शैली। इनके अनुसार 'हिन्दवी' नाम उस शैलीके लिए प्रयुक्त होगा जो 'फारेस्टर-कृत' सरकारी शासनप्रबन्धसे सरल अनुवादमें, नागरी लिपिमें लिखे हुए लेखसे तथा निम्न श्रेणीके नौकरोंकी बोलीमें हिन्दुओं और हिन्दुस्तानके किसानोंकी बोलियोंमें मिलती है (दे०—प्राक्कथन, गिलक्राइस्ट डिक्शनरी)।

१८०० ई०में कलकत्तामें फोर्ट विलियम कालेजकी स्थापना होती है, जहाँ प्राच्य भाषाओंकी शिक्षाका विशेष प्रबन्ध होता है। गिलक्राइस्ट 'हिन्दुस्तानी' (गिलक्राइस्टके ही अर्थमें) विभागके अध्यक्ष नियुक्त होते हैं। १९वीं शतीके प्रथम दशाब्दमें कालेजसे सम्बन्धित वातावरणमें हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी, उर्दू आदिका प्रयोग गिलक्राइस्टके अनुसार ही होता है। किन्तु गिलक्राइस्टके अतिरिक्त अन्य लोग हिन्दी और उर्दूको बिलकुल समानार्थक शब्द नहीं मानते, बल्कि उर्दूको हिन्दी(सामान्य अर्थ)की एक विशिष्ट शैली मानते हैं, अतएव उर्दू या रेख्तेकी जबानके अर्थको ठीक प्रकट करनेके लिए 'हिन्दी' शब्दके साथ कोई-न-कोई विशेषणात्मक वाक्यांश भी जोड़ देते हैं। १८०१ ई०में खलीलअली खाँ 'दास्तान अमीर हमजह'की भूमिकामें लिखते हैं—'जबान हिन्दीके इस किस्मेको जबान उर्दूए मुअल्लाकेसे लिखा' (दास्तान अमीर हमजह . १८०१ ई०) । इसी प्रकार सैयद हैदरबख्श 'तोता कहानी'(१८०४ ई०)की भूमिकामें लिखते हैं—'मुहम्मद कादिरीके तूतीनामेंका जबान हिन्दीमें मुवाफिक मुहावरह उर्दूके तरजुम किया।' निहालचन्द लाहौरी (१८०३ ई०) भी 'किस्सा गुलबकावली'-की भूमिकामें इसी आशयकी ओर संकेत करते हैं—'फारसी-से हिन्दी रेख्तेके मुहावरेमें तालीफ कर '। कालेजके वातावरणसे बाहर 'हिन्दवी' शब्द भी बिलकुल ग्रामीण शैलीके लिए प्रयुक्त नहीं होता, बल्कि शिष्ट लोगोंकी उस शैलीके लिए भी होता है, जिसमें 'बाहरकी' भाषाका प्रभाव भी न हो और भाखापन भी न हो। 'कोई कहानी ऐसी कहे जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोलीका पुट न मिले, बाहरकी बोली और गँवारी कुछ उसके बीचमें न हो एक पुराने धाघ यह लाये हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न ठुस जाये भले लोग अच्छोंसे अच्छे आपसमें बोलते चालते हैं यही नहीं होनेका।' (दास्तान रानी केतकी १८०३ ई०) । फारसी अरबी ऐसी बाहरी भाषाओंकी परम्परासे अधिक सम्बन्धित होनेके कारण यद्यपि इंशा इस प्रकारकी शुद्ध हिन्दी या हिन्दवी लिखनेमें विशेष सफल नहीं हुए, किन्तु उनका उद्देश्यकथन शुद्ध हिन्दी या हिन्दवीके आदर्शकी ओर सम्भव था। आगे चलकर लल्लूलालने 'प्रेमसागर' (१८०३ ई०) तथा सदल मिश्रने 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३ ई०) तथा 'रामचरित'-में इसी हिन्दवी शैलीका प्रयोग किया, जिसे खड़ीबोलीकी संज्ञा मिली (दे०—'खड़ीबोली')। ये दोनों लेखक भी पूर्ण रूपसे इस आदर्शमें सफल नहीं हुए, क्योंकि संस्कृत परम्परा हिन्दू परम्परासे विशेष प्रभावित होनेके कारण इन दोनोंकी शैलीमें भाखापन (ब्रजभाषापनका ग्राम्य प्रभाव) दिखाई पड़ता है।

फारसीमें लिखित अपने प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ 'दरयाय लताफत'(१८०८ ई०)में इंशा अल्ला खाँ 'हिन्दी' शब्दका प्रयोग लगभग ४० बार करते हैं। इन प्रयोगोंपर ध्यान देनेसे ज्ञात होता है कि इंशा फारसी, अरबी आदि बाहरी भाषाओंके सन्दर्भमें हिन्दी शब्दका प्रयोग अधिकांशतः सामान्य अर्थमें 'मध्यदेशकी भाषा'के लिए करते हैं। यथा 'जुमला हिन्दीमें बात और अरबीमें कलाम है'(दरियाय लताफत पृ० ३२१ उर्दू अनुवाद)। 'ज़नाब (नआदत यारखाँ रंगीन) फारसी, अरबी और हिन्दी तीन

जवानोंमें शेर कहते हैं' (वही • पृ० ७०), 'और चन्द नवकास जिन्हें हिन्दीमें माँह कहते हैं' (वही पृ० १२२)। किन्तु इसी सन्दर्भमें इस शब्दका प्रयोग विशिष्ट अर्थमें उस भाषाके लिए करते हैं, जो दिल्ली तथा उसके आस-पासकी भाषामें विकसित हुई है और जिसकी दरबारी शैलीको आदर्श उर्दू मानते हैं, यथा—'पस हिन्दी जवानके हरफ अठासी हुए' (वही • पृ० २१), 'हिन्दीमें मसदरकी अलामत 'ना' है' (वही पृ० १२७), 'सर गुजिश्त फारसी और रसभानीमें हिन्दी हुआ' (वही पृ० ३५३)। इस प्रकार विदेशी भाषाओं (फारसी, अरबी)के सन्दर्भमें हिन्दी और उर्दू शब्द समानार्थक-से हैं, किन्तु उर्दूके सन्दर्भमें हिन्दी शब्द सामान्यत मध्य देशी (या गिलक्राइस्टके शब्दोंमें हिन्दुस्तानीकी ग्राम्य शैली)का द्योतक प्रतीत होता है। "भागा' और 'भीगा' तो उर्दू है, लेकिन 'भाजा' और 'भीजा' उर्दू नहीं अगरच यह हिन्दीमें सही है' (वही पृ० २२०)। हिन्दीका यह अर्थ हिन्दवी, हिन्दुई (गिलक्राइस्टके अर्थमें)के बहुत निकट है। सम्भवत यही कारण है कि गिलक्राइस्टने बहुप्रचलित हिन्दी शब्दको छोड़कर हिन्दकी बहुप्रचलित प्रतिनिधि भाषाको हिन्दुस्तानी नाम दिया, जो उनके लिए उर्दूका समानार्थक था। वास्तवमें उस समय हिन्दी शब्द सामान्य रूपसे उर्दू या हिन्दुस्तानी और हिन्दी या हिन्दुई, सबके लिए प्रयुक्त होता था। १८११ ई० में लल्लूलाल द्वारा लिखित 'लतायफै हिन्दी' जिसमें कि फारसी और नागरी, दोनों लिपियोंमें हिन्दुस्तानी तथा हिन्दवी भाषाकी कहानियाँ संगृहीत हैं, नाम इसी आशयकी ओर संकेत करता है।

फोर्ट विलियम कालेजमें गिलक्राइस्टके समयतक हिन्दुस्तानी (उर्दू) और फारसी लिपिको विशेष प्रश्रय मिला, क्योंकि गिलक्राइस्टके अनुसार वही बहुप्रचलित सुसंस्कृत भाषा थी, किन्तु कम्पनीके कर्मचारियोंका सम्बन्ध जैसे-जैसे हिन्दुस्तानियोंसे बढ़ता गया, उन्हें यह भान होता गया कि हिन्दुस्तानी (उर्दू) नहीं बल्कि हिन्दी (हिन्दवी) ही बहु-प्रचलित भाषा थी। १८१२ ई० में कैप्टेन टेलरने कालेजका वार्षिक विवरण प्रस्तुत करते समय हिन्दी शब्दका प्रयोग आधुनिक अर्थमें सम्भवत प्रथम बार किया—'मैं केवल हिन्दुस्तानी या रेखताका जिकर कर रहा हूँ, जो फारसी लिपिमें लिखी जाती है मैं हिन्दीका जिक्र नहीं कर रहा, जिसकी अपनी लिपी है जिसमें अरबी फारसी शब्दोंका प्रयोग नहीं होता और मुसलमानी आक्रमणसे पहले जो भारतवर्षके समस्त उत्तर-पश्चिम प्रान्तकी भाषा थी'-(इम्पीरियल रिकर्ड्स् होम० मि० जिल्द ४ पृ० २७६-७७)। इसके पश्चात् ११ अक्तूबर, १८२४ ई०में विलियम प्राइसने अपनेको सर्वप्रथम हिन्दी प्रोफेसर लिखा और ब्रजभाषा, खड़ीबोली, हिन्दवी, हिन्दुई, ठेठ हिन्दी आदि नामोंके बदले हिन्दी नामको चुना। उनका कथन है—'अत्यधिक प्रचलित होनेके कारण हिन्दीका रूप ही अधिक अपेक्षित है हिन्दीके लगभग सभी शब्द संस्कृतके है और हिन्दुस्तानीके अधिकाश शब्द अरबी और फारसीके।' प्राइस हिन्दी और हिन्दुस्तानीका उदाहरण इस प्रकार देते हैं—हिन्दुस्तानी—'एक बार किसी शहरमें यूँ शुहरत हुई कि उसके नजदीकके पहाड़को जननेका दर्द उठा।' हिन्दी—'एक समय किसी नगरमें चर्चा फैली कि उसके पड़ोसके पहाड़को प्रसूतकी पीर हुई।' (वही पृ० ५०३-५०६)। १८२५ ई०के वार्षिक अधिवेशनमें भाषण करते समय लार्ड ऐमहर्स्टने कहा—'हिन्दी शब्दके सामान्य अर्थके अन्तर्गत वे बोलियाँ आती हैं, जो थोड़ेसे स्थानीय भेदों और परिवर्तनोंके साथ बनारस और बिहार तथा समर्पित तथा विजित प्रान्तोंके अधिकाश हिन्दू जनसमूह द्वारा व्यवहृत होती हैं' 'अब आपको छोटेसे छोटे व्यक्तिके साथ न्याय करना पड़ता है' 'फारसी और उर्दू उनके लिए उतनी ही विदेशी है, जितनी अँग्रेजी' (एशियाटिक जर्नल १८२६ ई०)। आज इसी आधुनिक अर्थमें हिन्दी भारतीय संघकी राजभाषा है।

उपर्युक्तके विवरणके आधारपर कहा जा सकता है कि हिन्दी नामके रूपका विकास भारतीय सीमाके बाहर ही ईरानियों द्वारा ८वीं शतीतक हो गया था। तबसे लेकर आजतक इस शब्दसे ३ अर्थ विकसित हुए-(१) व्यापक अर्थ, (२) सामान्य अर्थ, (३) विशिष्ट अर्थ। जबतक मुसलमान भारतमें नहीं बसे थे तबतक हिन्दी शब्दका प्रयोग व्यापक अर्थमें ही करते रहे। प्राचीन भारतीय भाषाओं तथा आधुनिक भारतीय भाषाओंसे प्रत्यक्ष रूपमें परिचित होनेपर १३वीं शतीके पश्चात् मध्यदेश (पूर्वी पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहारका कुछ भाग, राजस्थान)की बोलीके अर्थमें हिन्दी शब्दका प्रयोग होता रहा। सम्भवत यही अर्थ लेते हुए ग्रियर्सनने हिन्दीकी ८ मुख्य बोलियाँ (dialect) पश्चिमी हिन्दी—खड़ीबोली, बाँगरू, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली, पूर्वी हिन्दी—अवधी, बघेली, छत्तीसगढी मानी है। श्यामसुन्दर दास तथा धीरेन्द्र वर्मा राजस्थानी (मेवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, हाड़ौती) तथा पहाड़ी (कुमाउनी, गढवाली, नेपाली) और बिहारी (मैथिली, मगही, भोजपुरी) तीन उपभाषाएँ और मानते हैं। साहित्यिक सन्दर्भमें आज भी हिन्दीका यही सामान्य अर्थ प्रचलित है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्यके इतिहासके अन्तर्गत मध्यदेशसे सम्बन्धित उपर्युक्त समस्त बोलियोंका साहित्य आता है। मसऊद, औफी और खुसरूसे लेकर आजतक साहित्यिक सन्दर्भमें हिन्दीका प्रयोग इसी सामान्य अर्थमें हुआ है। किन्तु मुसलमानोंने मध्यदेशकी समस्त बोलियोंको अपने प्रयोगके लिए नहीं अपनाया था, बल्कि दिल्ली और मेरठकी बोली (आधुनिक खड़ीबोली, बाँगरू) ही उनकी बोलचालकी भाषा बनी थी। खुसरूकी 'देहलवी', दक्खिनी कवियोंकी 'देहलवी', 'गूजरी', 'दक्खिनी', 'हिन्दी', 'हिन्दवी'से यही विशिष्ट अर्थ अभिप्रेत है। हिन्दीका यह रूप ही मुसलमानों तथा सन्तों द्वारा प्रयुक्त होकर अन्त प्रान्तीय बना। औरंगजेब-कालीन स्वामी प्राणनाथके 'कुलजमस्वरूप'में प्रयुक्त शब्द 'बोली हिन्दुस्तान' तथा २०० वर्ष पुराने खड़ीबोलीके पत्रोंमें प्रयुक्त 'हैन्दुस्तानीय भाषा' और 'लालदासबीतक'में प्रयुक्त 'हिन्दवी' शब्दका विशिष्ट अर्थ दिल्ली और मेरठकी बोली ही है। १९वीं शतीमें गिलक्राइस्ट द्वारा प्रयुक्त हिन्दुस्तानी शब्दका भी विशिष्ट अर्थ यही है। इससे ही दो विशिष्ट साहित्यिक शैलियाँ विकसित हुई, उर्दू और हिन्दी (आधुनिक अर्थमें)।

हिन्दीका यही विशिष्ट रूप भारतीय संघकी राजभाषा तथा राष्ट्रभाषाके लिए प्रयुक्त होता है तथा व्याकरण, भाषा-विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थोंमें हिन्दी शब्दका प्रयोग अधिकांशतः विशिष्ट अर्थमें ही होता है।

हिन्दी भाषाका मूलाधार (स्टैण्डर्ड या देसिक डाइलेक्ट) अथवा मूलोद्गम खड़ीबोली है। किन्तु मात्र खड़ीबोलीपर ही हिन्दीका भवन निर्मित नहीं हुआ है। राजस्थानी, पूर्वी पंजाबी और सबसे अधिक ब्रजका सहयोग भी बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। यह प्रभाव शब्द-सहयोगतक ही सीमित नहीं रहा, किन्तु भाषाके उच्चारण, व्याकरण और वाक्य-संघटनके क्षेत्रमें भी प्रवेश कर गया है। मध्यकालीन हिन्दी अथवा हिन्दवीमें यह प्रभाव स्पष्ट रूपसे दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि शेरानी पंजाबीको ओर स्वर्गीय आजाद (तजकिरह सर्वे आजाद) तथा गिलक्राइस्ट ब्रजभाषाको हिन्दी भाषाका मूलाधार मान लेते हैं। फोर्ट विलियम कालेजके हिन्दी प्रोफेसर प्राइस महोदय ११ अक्तूबर, १८२४ ई० को अपने भाषणमें गिलक्राइस्टकी इसी भूलकी ओर संकेत करते हुए कहते है—'खड़ीबोली ही अबतक हिन्दुस्तानी और उसके व्याकरणका आधार है, न कि ब्रजभाखा'।

भारतीय संघकी राजभाषा और राष्ट्रभाषाके रूपमें समस्त देश ही इसका क्षेत्र है संघके अन्तर्गत अनेक राज्योंकी राजभाषा और साहित्यिक भाषाके रूपमें हिन्दी-भाषा-प्रदेशकी सीमाएँ इस प्रकार होंगी—पश्चिममें पश्चिमी पाकिस्तान (सीमाप्रान्त, प्रसिद्ध नगर जैसलमेर), उत्तर-पश्चिममें अम्बाला, उत्तरमें शिमलासे लेकर नेपालके पूर्वी छोरतकके पहाड़ी प्रदेशका दक्षिणी भाग, पश्चिम पूर्वमें भागलपुर, दक्षिण-पूर्वमें रायपुर तथा दक्षिणमें खण्डवा। इस क्षेत्रकी जनसंख्या १६ करोड़ होगी (डॉ०-धीरेन्द्र वर्मा हि० भा० इ० भूमिका: पृ० ६०)। हिन्दीकी उपभाषाओं-(राजस्थानी, बिहारी और पहाड़ी)के क्षेत्रोंको अलग कर, भाषाशास्त्री सूक्ष्म दृष्टिकोणसे हिन्दीकी सीमाएँ इस प्रकार मानते हैं—'उत्तरमें तराई, पश्चिममें पंजाब और हिसारके जिले, पूर्वमें फैजाबाद, प्रतापगढ़, इलाहाबादके जिले और दक्षिणमें रामपुर-खण्डवा'।

भारतीय संघकी राजभाषाके रूपमें हिन्दी लगभग ४० करोड़ जनसमुदायकी भाषा है। जनसंख्याकी दृष्टिसे और समस्त भूमण्डलमें उसका तृतीय स्थान है (प्रथम इंगलिश, द्वितीय चीनी)।

हिन्दीमें भारतीय आर्य भाषासे विकसित सुनिश्चित ४६ ध्वनियाँ हैं। इनमें ११ स्वर और ३३ व्यंजन हैं। इनके अतिरिक्त अनुस्वार तथा विसर्ग, दो व्यंजन और हैं। (हिन्दी वर्णमालामें तीन और संयुक्त व्यंजन क्ष (क्+ष), त्र (त्+र), ज्ञ (ज्+ञ) मिला दिये जाते हैं।) ब्रज आदि बोलियोंमें प्रयुक्त न्ह, म्ह ध्वनियाँ मिलती हैं। विदेशी भाषाओंके सुदीर्घ सम्बन्धके फलस्वरूप हिन्दीने ६ फारसी तथा २ अरबी ध्वनियाँ भी अपना रखी हैं। अँग्रेजीके शब्दोंके शुद्ध उच्चारणके लिए एक नयी ध्वनि ऑ (जैसे—डॉक्टर) भी उच्चरित होती है। शब्दोंके उच्चारणमें आकारान्त उच्चारणकी प्रवृत्ति विशेष रूपसे लक्षित होती है।

व्याकरणकी दृष्टिसे हिन्दीको का, में, पर, से, हम, उस, जिस, किस तथा ना, ता, था, गा भाषा कहकर पुकार सकते हैं। रूपान्तरकी दृष्टिसे हिन्दी संज्ञाके ४ रूप बनते हैं (२ मूल रूप+२ विकृत रूप)। इनमेंसे भी अनेक संज्ञाएँ ऐसी हैं, जिनके चारों रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। इस दृष्टिसे हिन्दीमें संज्ञा रूपान्तरके ४ नमूने मिलते हैं। हिन्दीमें दो वचन (एकवचन, बहुवचन) और दो लिंग (स्त्रीलिंग, पुलिंग) होते हैं। हिन्दीमें स्वाभाविक स्त्रीलिंग और पुलिंगके अतिरिक्त व्याकरण सम्बन्धी लिंग-भेद भी होता है। हिन्दी आकारान्त विशेषणों (अच्छा-अच्छी) तथा क्रियाओंमें भी लिंग होता है (लड़का आता है—पु०, लड़की आती है—स्त्री०)। हिन्दी सर्वनामोंमें लिंग भेदके कारण परिवर्तन होता है। संस्कृतके ८ कारकरूपोंके स्थानमें हिन्दीमें दो ही रूप (मूल रूप, विकृत रूप) मिलते हैं। विकृत रूपमें कारक-चिह्न लगाकर कारकोंके ८ अर्थ प्रकट किये जाते हैं। शून्य चिह्न कर्ता कारकके अर्थमें तथा ने प्रत्यय कर्ताका अर्थ प्रकट करनेके लिए भूतकालिक कृदन्त कालोंके साथ लगता है। 'ने' पश्चिमी हिन्दी, विशेष रूपसे साहित्यिक हिन्दीकी विशेषता है। इसी प्रकार 'को' चिह्न कर्म कारक, को, के लिए सम्प्रदान कारक, 'से' उपकरण और अपादान कारक, को, के (वि० रूप० में, स्त्रीलिंगकी) सम्बन्ध कारक तथा 'में' और 'पर' अधिकरण कारकके अर्थ प्रकट करते हैं। कहीं कहीं संयुक्त कारक चिह्न (दोहरे चिह्न) भी आते हैं (यथा—उनमेंसे)। हिन्दीमें इन चिह्नोंके अतिरिक्त कुछ सम्बन्धसूचक अव्यय कारकोंके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। विशेष कारक परसर्ग सम्बन्ध कारकीय रूपोंमें लगते हैं, यथा—प्रति, तई (कर्म), द्वारा, जरिये, कारण (करण), हेतु, निमित्त, वास्ते (सम्प्रदान), अपेक्षा, सामने, आगे, साथ (अपादान), मध्य, बीच, अन्दर, ऊपर, पास, नीचे (अधिकरण)।

हिन्दी सर्वनामोंके मुख्य-मुख्य रूप निम्नलिखित हैं। मूल रूप एकवचन तथा बहुवचनमें क्रमशः मैं, हम (हम लोग), तू, तुम, (आप, आदरवाचक), वह, वे (अन्य पुरुष, दूरवर्ती निश्चयवाचक तथा नित्यसम्बन्धी), यह, ये, जो (एकवचन और बहुवचन, सम्बन्धवाचक), कौन (एकवचन, बहुवचन) कोई (अनिश्चय, एकवचन, बहुवचन), आप (आदरार्थ मध्यम पुरुषमें और निजवाचकके अन्तमें)। इनके विकृत रूप क्रमशः इस प्रकार होंगे—मुझ, हम, तू, तुम, उस, उन, इस, इन, जिस, जिन, किस, किन, किसी, किन्हीं तथा आप। इनके अतिरिक्त इतना, उतना, जितना, कितना परिमाणवाचक, ऐसा, वैसा, जैसा, कैसा गुणवाचक सार्वनामिक विशेषणके मुख्य रूप हैं। ये समस्त सर्वनामरूप अधिकांशतः प्राकृत और अपभ्रंश रूपोंसे विकसित हुए हैं।

संस्कृतकी क्रियारचना भाषाकी जटिल संयोगात्मक अवस्थाको प्रकट करती है। संस्कृतमें एक धातुसे ६ (प्रयोग) ×१० (काल)×३ (प्रसंग)×३ (लिंग)=५४० भिन्न रूप बनते हैं। हिन्दी क्रिया रचना भाषाके सरलतम वियोगात्मक रूपको प्रकट करती है। क्रियाके साधारण रूपके अन्तमें 'ना' होता है, यथा, खाना, देखना, चलना। इसीको हटा देनेसे हिन्दी धातु निकल आती है। हिन्दीमें कुल लगभग ५०० धातुएँ हैं। ये धातुएँ कुछ अकर्मक, कुछ सकर्मक होती

है। धातुमें -आ -वा लगकर हिन्दी प्रेरणार्थ धातु बनती है। हिन्दी क्रियामें ३-काल (वर्तमान, भूत, भविष्य), ३ अर्थ (निश्चय, आज्ञा, सम्भावना), ३ अवस्थाएँ (सामान्य, पूर्ण, अपूर्ण), तीन वाच्य (कर्तृ, कर्म, भाव) और तीन प्रयोग (कर्तरि, कर्मणि, भावे) मिलते हैं। काल-रचनामें कृदन्त (भूतकालिक, वर्तमानकालिक, पूर्वकालिक, क्रिया संज्ञा) तथा सहायक क्रिया(होना)से विशेष सहायता ली जाती है और हिन्दी क्रिया-रचनामें भूतकालसे सम्बन्धित एकवचन रूप 'आ'में तथा वर्तमान कालसे सम्बन्धित रूप 'ता'में तथा भविष्यकालसे सम्बन्धित रूप 'गा'में अन्त होता है। हिन्दीमें ६ मूल काल या साधारणकाल (भूत, भविष्य, निश्चयार्थ, चला, चलेगा, वर्तमान, भूत सम्भावनार्थ, चले, चलता, वर्तमान, भविष्य आज्ञार्थ, चले, चलना) तथा १० संयुक्त काल (५ पूर्ण काल भूतकालिक कृदन्त+सहायक क्रिया - वर्तमान, भूत, भविष्य, निश्चय तथा वर्तमान भूत सम्भावनार्थ, ५ अपूर्ण वर्तमानकालिक कृदन्त+सहायक क्रिया, वर्तमान, भूत, भविष्य निश्चयार्थ तथा वर्तमान-भूत सम्भावनार्थ) है। क्रियाओंके सूक्ष्मसे सूक्ष्म अर्थ प्रकट करनेके लिए दो या अधिक प्रधान या सहकारी क्रियाओंके संयोगसे हिन्दीकी संयुक्त क्रियाएँ बनती हैं, जो आ० भा० आ०की प्रमुख विशेषता है। आठ भिन्न-भिन्न रूपोंमें क्रियाएं बनती हैं (क्रियार्थक संज्ञा, वर्तमानकालिक कृदन्त, भूतकालिक कृदन्त, पूर्ण क्रियाद्योतक, अपूर्ण क्रियाद्योतक, संज्ञाविशेषण तथा पुनरुक्त क्रिया)। प्रधान क्रियारूपोंके साथ सहकारी क्रियाएँ (होना, आना, उठना, करना, चाहना, चुकना, जाना, डालना, देना, रहना, लगना, लेना, पाना, सकना, बनना, बैठना, पड़ना) लगती हैं।

हिन्दीमें अव्ययोंके ४ समूह (क्रियाविशेषण, समुच्चय-बोधक, सम्बन्धसूचक, विस्मयादिबोधक) मिलते हैं।

हिन्दी वाक्यमें सामान्यतः कर्ता, कर्म, क्रियाका शब्द-क्रम रहता है। क्रिया सामान्यतः लिंग वचनमें कर्तासे और कभी-कभी कर्मसे अनुशासित होती है। विशेष्यके अनुसार विशेषणका लिंग होता है। हिन्दीमें ३ प्रकारके वाक्य (साधारण, मिश्रित, संयुक्त) होते हैं। विरामादिका विशेष विकास अधिकांशतः आधुनिक युगमें ही हुआ है।

हिन्दी विशेष रूपसे देवनागरी लिपिमें लिखी जाती है, जो ब्राह्मी लिपिका विकसित रूप है। लिपिकी प्रधानताके कारण ही हिन्दीको कभी-कभी नागरी हिन्दी भी कहते हैं। हिन्दी साहित्यके इतिहासके लिए दे०—'आदिकाल', 'भक्तिकाल', 'ज्ञानाश्रयी शाखा', 'प्रेमाश्रयी शाखा', 'रीतिकाल','आधुनिक काल', 'भारतेन्दु-युग', 'द्विवेदी-युग', 'छायावाद युग', 'प्रगति युग' 'प्रयोग-युग'।—मा०व०जा०

हिंदी प्रदेश—गंगाकी घाटीमें भागलपुरतकके भूमिभाग-को साधारणतया हिन्दी प्रदेश कहा जा सकता है। यह वह भाग है, जहाँकी प्रादेशिक भाषा अर्थात् शासन, साहित्य और शिक्षाकी प्रधान भाषा वर्तमान समयमें खड़ी-बोली हिन्दी है।

भारतीय विधानके अनुसार निम्नलिखित राज्य हिन्दी प्रदेशके अन्तर्गत आते हैं—बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा दिल्ली। इनके अतिरिक्त पंजाब तथा हिमाचलप्रदेशके कुछ भाग भी हिन्दीभाषी हैं।

मुसलिम शासनकालमें हिन्दी प्रदेश हिन्दुस्तान कहलाता था तथा उससे पूर्व यही प्रदेश मध्यदेश नामसे प्रसिद्ध था।

भारतवर्षमें प्राचीन आर्य संस्कृतिके प्रधान केन्द्र इसी प्रदेशमें थे। ऐतिहासिक दृष्टिसे अधिकांश वैदिक तथा संस्कृत भाषा और साहित्य, 'रामायण', 'महाभारत', बुद्ध, महावीरस्वामी, अशोक, गुप्तसाम्राज्य, मुगलसाम्राज्य, तुलसीदास, कबीर, गंगा-यमुना, उज्जैन, चित्तौड़, मथुरा, काशी, गया, दिल्ली आदि हिन्दीप्रदेशके ही अन्तर्गत पड़ते हैं। —धी० व०

हिंदी राम-साहित्य—हिन्दी साहित्यके प्रादुर्भावके पूर्व ही राम कथा शताब्दियोंसे भारतीय साहित्यमात्रमें इतनी व्याप्त होती रही थी कि समस्त भारतीय संस्कृति राममय हो चली थी, अतः हिन्दी साहित्यमें राम-कथाकी इस लोक-प्रियताके कारण सन्त कवियोंने भी रामनामका सहारा लेकर अपनी निर्गुण साधनाका प्रचार किया है। सन्त-काव्यपर राम साहित्यका यह प्रभाव नामके प्रयोगतक सीमित न रह सका, रीतिकालमें दरिया साहबने ('ज्ञान-रत्न'में) तथा इसके बाद तुलसी साहबने ('घट रामायण'में) रामायणीय कथाको निर्गुणवादी दृष्टिकोणसे प्रस्तुत करनेका प्रयास किया है।

हिन्दी साहित्यके आदिकालमें रामानन्दने उत्तर-भारतमें जनसाधारणकी भाषामें रामभक्तिका प्रचार किया था (दे०—'रामभक्ति')। इसके फलस्वरूप हिन्दी राम-साहित्य, आधुनिक कालको छोड़कर, प्रायः भक्ति भावनासे ओत-प्रोत है। इस साहित्यकी चार प्रमुखताएँ प्रतीत होती हैं—तुलसीदासका एकाधिपत्य, लोकसंग्रही दास्य भक्तिका प्राधान्य, कृष्णकाव्यका प्रभाव, विविध रचनाशैलियों, छन्दों और साहित्यिक भाषाओंका प्रयोग।

(अ) हिन्दी राम-साहित्यमें गोस्वामी तुलसीदासका एकाधिपत्य हिन्दी राम-साहित्यकी बड़ी विशेषता है। प्रारम्भसे लेकर आधुनिकतम कालतक असंख्य रामकथा-विषयक रचनाओंकी सृष्टि होती रही, लेकिन ये समस्त रचनाएँ राम साहित्यके आकाशमें तारागणमात्र हैं, जो 'रामचरितमानस'के प्रखर प्रकाशमें निष्प्रभ हो जाते हैं, यह एक ऐसा 'नव विधु विमल' सिद्ध हुआ है 'जो उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जगनभ दिन-दिन दूना।' (आ) तुलसीदासने मर्यादापुरुषोत्तम रामकी गुणगाथा गाते हुए रामानन्द द्वारा प्रचारित लोकसंग्रही सगुण दास्य भक्तिका जो रूप प्रतिपादित किया है, उसीको जन साधारणने स्वीकार कर लिया है। वही रूप परम्परागत आदर्शवादी रामकाव्यके अधिक अनुकूल भी है और उसीको रामभक्तिका वास्तविक स्वरूप मानना चाहिये। (इ) तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित दास्य भक्ति इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई कि रामकी मधुरोपासना प्रायः बादका विकारमात्र मानी जाती है। वास्तवमें रामकी माधुर्यभक्ति तुलसीके पूर्व ही विद्यमान थी और कृष्णकाव्यका प्रभाव प्रारम्भसे ही रामकाव्य तथा रामभक्ति, दोनोंपर पड़ा है। यद्यपि तुलसी-की भक्ति दास्य ही है, किन्तु उनके काव्यपर भी कृष्ण-

साहित्यकी छाप स्पष्ट है, 'गीतावली'में राम हिंडोला-विहार करते तथा होली खेलते हुए सामने आते हैं। भक्तिकालमें ही अग्रदासके 'अष्टयाम'में रामकी रामक्रीडाका वर्णन है और उनके शिष्य नाभादासकी भी दो 'अष्टयाम' नामक रचनाओंका उल्लेख मिलता है। कृष्णभक्तिका वह प्रभाव रीतिकालकी शृंगारिकता तथा रसिक अथवा सखी-सम्प्रदायके विकाससे बहुत बढ़ गया है। उस कालकी बहुत-सी रचनाओंमें राम और सीता साधारण नायक-नायिका बनकर शृंगारपूर्ण चेष्टाएँ करते दिखाई देते हैं। (ई) हिन्दी राम-साहित्यकी अन्तिम विशेषता यह है कि इसमें कृष्णकाव्यकी अपेक्षा रचनाशैलियों, छन्दों और साहित्यिक भाषाओंकी अधिक विविधता पायी जाती है। प्रबन्धकाव्यका प्राधान्य रहते हुए भी हिन्दी राम-साहित्यका मुक्तक काव्य नगण्य नहीं है। रामभक्त कवियोंने सभी प्रचलित छन्दोंमें मध्यकालकी प्रमुख भाषाओंमें रामचरितका वर्णन किया है। हिन्दीके प्रारम्भिक नाट्यसाहित्यमें भी रामकथाका स्थान महत्त्वपूर्ण है तथा खड़ीबोली गद्यके निर्माणमें राम-साहित्यपरक रचनाओंका विशेष योग रहा है।

गोस्वामी तुलसीदासके पूर्वका हिन्दी राम साहित्य अधिक विस्तृत नहीं है। रामानन्दके कुछ भक्तिविषयक पद सुरक्षित हैं तथा सूरदासने 'सूरसागर'में रामकथाके मार्मिक स्थलोंपर लगभग १५० पदोंकी रचना की है। (दे०—दशम स्कन्ध, पूर्वार्ध), 'पृथ्वीराजरासो'के द्वितीय समयमें दशावतार-कथाके अन्तर्गत रामकथा-विषयक लगभग १०० छन्द मिलते हैं, जिनमें लंकायुद्ध प्रधान वर्ण्य है। ईश्वरदासकी रचनामें 'रामचरितमानस'का पूर्वाभास मिलता है। भरतमिलापमें अयोध्याकाण्डकी कथावस्तुका अवधी दोहा-चौपाइयोंमें वर्णन है और इसमें भरतको आदर्श दास्यभक्तके रूपमें चित्रित किया गया है। ईश्वरदासकृत 'रामजन्म' तथा 'अंगद पैज'भी सुरक्षित है। ये सब एक ही विस्तृत ग्रन्थके अंश प्रतीत होते हैं।

तुलसीदासके समकालीन कवियोंमेंसे केवल अग्रदास तथा उनके शिष्य नाभादासने रामभक्ति-साहित्यकी सृष्टि की है। स्वामी अग्रदासकी 'पदावली' तथा 'ध्यानमंजरी'में और नाभादासकृत 'रामचरितके पद'में मँजी हुई भाषाके भक्तिपूर्ण पद मिलते हैं, दोनोंने 'अष्टयाम' नामक ग्रन्थोंकी रचना भी की है। तुलसीका समकालीन अन्य राम-साहित्य निम्नलिखित है—मुनिलालका 'रामप्रकाश' (सन् १५८५ ई०), रामकथाके साथ साथ रीतिशास्त्रकी प्रतिपादक केशवदासकृत 'रामचन्द्रिका' (सन् १६०१ ई०), प्रबन्ध-काव्यकी दृष्टिसे इसमें चरित्र-चित्रण तथा कथा-निर्वाहका अभाव है, कई संवाद बड़े अच्छे हैं, सोढ़ी मेहरबानकी 'आदिरामायण' (१७वीं श०ई०का प्रारम्भ) अधिकतर गद्यात्मक, भाषा हिन्दी मिश्रित पंजाबी, प्राणचन्द चौहानका 'रामायण महानाटक' (सन् १६१० ई० वाल्मीकिरामायण या हनुमन्नाटकके आधारपर कथोपकथनकी शैलीमें रामकथा), हृदयरामका 'हनुमन्नाटक' (सन् १६२३ ई०, अंकोंका विभाजन 'हनुमन्नाटक'के अनुसार है, किन्तु यह अधिकांशमें प्रांजल ब्रजपद्यकी मौलिक रचना है), राजस्थान-में रामानन्दका 'लक्ष्मणायन' तथा माधौदासका 'रामरासो'। तुलसीके बाद भक्तिकालकी शेष सामग्री इस प्रकार है, रामलल पाण्डेयका 'हनुमच्चरित्र' (सन् १६२९ ई०), यह सम्भवत ब्रह्मराय मल्कृत हणुवन्त मोयगामी कथा है, जिसमें जैनी रामकथाके अनुसार हनुमान्‌का चरित्र वर्णित है), लालदासका 'अवधविलास' (सन् १६८३ ई०); सेनापतिकृत 'कवित्तरत्नाकर'की चौथी (रामायणवर्णन) तथा पाँचवीं तरंग, 'रामरसायन वर्णन', राजस्थानमें नरहरिदासका 'अवतारचरित', जिसमें ३२० पृष्ठ रामावतारसे सम्बन्ध रखते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास(सन् १५३२-१६२३ ई०)ने चार प्रबन्धकाव्य लिखे हैं—'रामचरितमानस' तथा तीन खण्ड-काव्य अर्थात् 'रामलला नहछू', 'जानकीमंगल', 'पार्वती-मंगल'। चारों अवधीमें हैं और 'पार्वतीमंगल'को छोड़कर शेष रामचरितसे सम्बन्ध रखते हैं। उनके मुक्तक काव्यग्रन्थोंमें तीन अवधीमें अर्थात् 'रामाज्ञाप्रश्न', 'दोहावलीसतसई' तथा 'बरवै रामायण', शेष मुक्तक-संग्रह ब्रजभाषामें है, अर्थात् 'गीतावली', 'विनयपत्रिका', 'कृष्णगीतावली तथा 'कवितावली', 'बाहुक'। 'वैराग्यसन्दीपिनी'की प्रामाणिकता अत्यन्त सन्दिग्ध है। 'दोहावली'में रामगुणगानके अतिरिक्त प्रधानतया नीतिवर्णन है, 'विनयपत्रिका' तथा 'कवितावली' उत्तरकाण्डमें रामभक्तिके विभिन्न भावोंकी अभिव्यक्ति है, 'कृष्णगीतावली'में कृष्णचरितकी स्फुट लीलाओंका वर्णन है, 'बाहुक'में कवि अपनी बाहु-पीडाके लिए हनुमान्‌से निवेदन करते हुए उनकी गुणगाथा भी प्रस्तुत करते हैं। शेष रचनाओंका विषय रामकथा है।

'रामचरितमानस'की अद्वितीय लोकप्रियता तथा चिरस्थायी प्रभावको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरभारतके सांस्कृतिक तथा धार्मिक इतिहासमें विक्रम संवत्‌की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना 'रामचरितमानस'की रचना ही है। इतना तो निश्चित है कि किसी भी देशमें ऐसा कोई भी काव्यग्रन्थ नहीं मिलता जो 'रामचरितमानस'-की भाँति शताब्दियोंतक जनताका जीवन अनुप्राणित करनेमें समर्थ हुआ हो। इस सामर्थ्यका रहस्य यह है कि तुलसीदासकी प्रतिभाने 'रामचरितमानस'में काव्य-सौन्दर्य-भक्ति तथा लोकसंग्रहका अपूर्व समन्वय किया है। मानव-हृदयको मोहित करनेकी शक्ति रामकथामात्रमें पहलेसे ही विद्यमान थी, तुलसीदासने इस कथानकको इस कौशलसे प्रस्तुत किया है कि कथाप्रवाह, मार्मिक स्थलोंकी पहचान, मर्यादित शृंगार, पात्रानुकूल-भाषा, चरित्रचित्रणकी दृष्टिसे 'रामचरितमानस' हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ काव्यग्रन्थ माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसमें दास्य भक्तिका दिव्य रूप प्रतिपादित किया गया है; उपास्य रामका शील, संकोच और सहृदयता मनुष्यमात्रको आकर्षित करनेमें समर्थ हैं, किन्तु तुलसी ऐश्वर्यबोध इस प्रकार बनाये रखते हैं कि भक्तोंमें श्रद्धाका भाव प्रधान ही रह जाता है। साथ साथ लोकसंग्रहका ध्यान रखकर तुलसी समस्त मानवजीवनका आदर्श प्रस्तुत करते हुए पारिवारिक तथा सामाजिक कर्तव्योंका इतना प्रभावशाली चित्रण प्रस्तुत करते हैं कि 'रामचरितमानस' उत्तरभारतका नैतिक मेरुदण्ड सिद्ध हुआ

है। ग्रियर्सनका कहना है कि महात्मा बुद्धके बाद उत्तर-भारतमें सबसे बड़े लोकनायक तुलसी हुए हैं। वास्तवमें उत्तरभारतकी जनताके लिए गोस्वामी तुलसीदास महात्मा बुद्ध तथा वाल्मीकि, दोनोंका सम्मिलित महत्त्व रखते हैं।

रीतिकालका राम साहित्य महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी भक्तिकाल तथा आधुनिक कालकी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है। शृंगारकी व्यापकता, प्रसिद्ध संस्कृत रामकाव्यके पद्यानुवाद, द्वन्द्वमानविषयक रचनाओंका बाहुल्य, प्रारम्भिक नाट्य तथा गद्य साहित्यमें रामकथाका प्राधान्य, ये रीतिकालीन राम साहित्यकी प्रमुख विशेषताएँ हैं।

भूपतिकी 'रामचरित-रामायण'की रचना १७ श० ई०-के उत्तरार्धमें हुई थी। इसमें दोहा-चौपाइयोंमें रामकथा वर्णित है। सिखोंके दसवें गुरु गोविन्द सिंहने सन् १६९८ ई० में रामावतार कथा लिखी थी, जो हालमें 'गोविन्द रामायण'के नामसे प्रकाशित हुई है। इनमें वीर तथा शृंगार रस प्रधान है। सुखदेव मिश्रका 'दशरथ राय', केशव कविका 'बालिचरित', झामदासकी 'श्रीरामायण', पद्माकरका 'रामरसायन', रुद्रप्रताप सिंहका 'सुप्रसिद्धस्तोत्रम्' तथा मैथिल कवि शिवदत्तका 'सीताहरण' उल्लेखनीय है। रीतिकालमें राजस्थानके अधिकांश कवियोंने कृष्णको ही अपना विषय चुना है, फिर भी मुरली, नागरीदास, सुन्दरकुँवरि, उम्मेददास, सोमनाथ, मछाराम तथा किशनजीने रामकाव्यकी सृष्टि की है।

निम्नलिखित रचनाओंमें कृष्णकाव्यकी गहरी छाप है, इनमें राम तथा सीता शृंगारपूर्ण लीलाओंमें संलग्न दिखाई देते हैं—रामप्रियाशरणकी 'सीतायन', विश्वनाथ सिंहकी 'रामायण', जनकराज किशोरीशरणकी विविध रचनाएँ, रामचरणदासकी 'कवितावली रामायण', 'रामरहस्य' और 'कौशलेन्द्ररहस्य', जनकदासका 'सत्योपाख्यान', प्रताप सिंहका 'जुगलनखसिख', रामनाथ प्रधानका 'रामकलेवारहस्य' और 'रामहोरी', भगवतदासका 'श्रीरामरहस्य' तथा 'रामकण्ठाभरण'।

गणेशका 'वाल्मीकिरामायणश्लोकार्थप्रकाश', सरयूराम पण्डितका 'तमितिपुराणभाषा', मधुसूदनदासका 'रामाश्वमेध' (पद्मपुराण), गोकुलनाथका 'सीतारामगुणार्णव' (अध्यात्मरामायण) तथा भगवान्दास खत्रीकी 'महारामायण' (योगवाशिष्ठ), ये पद्यानुवाद विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

विश्वनाथ सिंह, केशव कवि, भगवन्तराय खीची, मनियार सिंह, गणेश और खुमानने हनुमद्भक्तिपरक रचनाओंकी सृष्टि की है।

प्रारम्भिक हिन्दी नाट्य साहित्यमें कृष्णकथाकी अपेक्षा रामकथाको अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। भक्तिकालके अन्तर्गत प्राणचन्द चौहानके 'रामायण महानाटक' तथा 'हनुमन्नाटक'का उल्लेख हो चुका है। सन् १६७५ ई० के लगभग रामकविने 'हनुमन्नाटक'की रचना की थी। विश्वनाथ सिंहका 'आनन्दरघुनन्दन' १८वीं श० ई० का हिन्दीका सर्वप्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। ईश्वरीप्रसादकृत 'रामायण', लक्ष्मणशरण 'मधुकर'का 'रामलीलाविहार' तथा हरिरामका 'जानकीरामचरित' भी उल्लेखनीय है। नेपालमें निम्नलिखित मैथिल राम-नाटकोंका उल्लेख मिलता है—कृष्णदास-कृत 'रामायणनाटक' (१७वीं श० ई०), सुमति जितामित्रमल्लका 'अश्वमेध नाटक' (१७वीं श० ई०) तथा रणजितमल्ल (१८वीं श० ई०)का 'रामायण नाटक' तथा 'रामचरित'।

हिन्दी गद्यके इतिहासमें रामकथाका गौरवपूर्ण स्थान है। 'भक्तमाल'में नाभादासने एक 'अष्टयाम' ब्रजभाषा गद्यमें लिखा था तथा सोढीमेहरवानकी 'आदिरामायण' अधिकतर गद्यात्मक ही है। खड़ीबोली गद्यकी प्राचीनतम प्रौढ़ रचनाओंमेंसे तीन ग्रन्थ रामसाहित्यसे सम्बन्ध रखते हैं—रामप्रसाद निरंजनीका 'भाषायोगवासिष्ठ' (१७४१ ई०), दौलतरामका 'पद्मपुराण' (सन् १७६१ ई०, जैनी रामकथा) तथा सदल मिश्रका 'रामचरित' (सन् १८०७ ई०, अध्यात्म रामायणका अनुवाद)।

हिन्दीके आधुनिक कालको गद्यकाल भी कहा गया है, किन्तु आधुनिक राम साहित्यकी विशेषता यह है कि रामकथाविषयक गद्यकी अपेक्षा रामकाव्य कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुधाकर द्विवेदी-कृत 'रामकहानी', प्रेमचन्दकी 'रामचर्चा', अक्षयकुमार जैनकृत 'युगपुरुष राम' (सन् १९५४ ई०), छेदीका मैथिलीमें रचित 'सीतावनवास' और उनका उपन्यास 'उर्मिला', ब्रजलाल शास्त्रीकी पंजाबी 'रामकथा' आदि इस बातका प्रमाण हैं कि आधुनिक रामकथाविषयक गद्यका अभाव नहीं है, फिर भी इस प्रकारकी रचनाएँ अपेक्षाकृत कम हैं और वे किसी भी प्रकारसे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। आधुनिक रामनाटक-साहित्य अधिक विस्तृत है। संस्कृतके अच्छे रामनाटकोंके अनुवादों तथा असंख्य रामलीलाविषयक रचनाओंके अतिरिक्त भारतेन्दुकालसे लेकर आधुनिक समयतक रामकथाविषयक नाटकोंकी सृष्टि होती रही। उदाहरणार्थ, देवकीनन्दन त्रिपाठीका 'सीताहरण' (सन् १८७६ ई०), ज्वालाप्रसाद मिश्रका 'सीतावनवास' (सन् १८९५ ई०), प्रेमघनका 'प्रयागरामागमन' (सन् १९०४ ई०), सुदर्शनका 'अंजना' (सन् १९२२ ई०), बदरीनाथ भट्टका 'तुलसीदास' (सन् १९२५ ई०), गोविन्ददासका 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध १९३५ ई०), रामवृक्ष बेनीपुरीकृत 'सीताकी माँ', सद्गुरुशरण अवस्थीकृत 'बालिवध' (सन् १९४० ई०), पृथ्वीनाथ शर्मा-कृत 'उर्मिला' (सन् १९५० ई०)। काव्यरचनाओंकी भाँति इधरके नाटकोंपर आधुनिक विचारधाराओंका प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है।

आधुनिककालमें रामकाव्यधारा बहुत समयतक बहुत-कुछ पूर्ववर्ती परम्पराके अनुसार प्रवाहित होती रही। रामभक्ति और विशेषकर रामलीलाविषयक मुक्तक काव्यके अतिरिक्त निम्नलिखित पुरानी धाराके प्रबन्धकाव्य अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण हैं—रसिकविहारीका 'रामरसायन', रघुनाथदासका 'विश्रामसागर' (रामायण खण्ड), बाघेली-कुँवरिजीका 'अवधविलास', बलदेवप्रसाद मिश्रका 'कोशलकिशोर', मैथिलीमें चन्दा झाकी रामायण। सन् १९०० ई० के बाद भी यह पुरानी धारा बन्द नहीं हुई, उदा०—शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'का 'श्रीरामावतार', वंशीधर शुक्लका 'राममड्या' तथा रामनाथ ज्योतिषीका 'श्रीरामचन्द्रोदय' (सन् १९३७)।

सन् १९२० ई० के बादका खड़ीबोलीका रामकाव्य अपेक्षाकृत समृद्ध है। 'रामकी शक्तिपूजा' ('निराला'), 'प्रदक्षिणा' और 'पंचवटी' (मैथिलीशरण गुप्त) आदि छोटी सी रचनाओंके अतिरिक्त निम्नलिखित महाकाव्य साहित्यिक मूल्य रखते हैं—रामचरित उपाध्यायका 'रामचरितचिन्तामणि' (सन् १९२० ई०), मैथिलीशरण गुप्तका 'साकेत' (सन् १९२९ ई०), अयोध्या सिंह उपाध्यायका 'वैदेहीवनवास' (सन् १९३९ ई०), बलदेवप्रसाद मिश्रका 'साकेतसन्त' (१९४६ ई०), केदारनाथ मिश्र'प्रभात'-का 'कैकयी' (१९५० ई०), बालकृष्ण 'नवीन का 'उर्मिला' (अप्र०)। उपर्युक्त महाकाव्योंमें तीन प्रमुख विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं—१ बुद्धिवादी दृष्टिकोणके कारण अवतारवादको कम महत्त्व दिया गया है अथवा राम आदिको पूर्णतया मानवके रूपमें चित्रित किया गया है, २ भक्तिकालकी धार्मिक भावना तथा रीतिकालकी शृंगारिकताके स्थानपर नवीन सामाजिक तथा राजनीतिक आदर्शोंको प्रमुख स्थान मिला है, ३ पूर्ववर्ती रामकाव्यके उपेक्षित पात्रोंको नायक-नायिका बनानेकी प्रवृत्ति, उदाहरणार्थ, 'कैकेयी', 'उर्मिला', 'साकेत' (लक्ष्मण उर्मिला) तथा 'साकेत सन्त' (भरत माण्डवी)। दे०—'रामकथा', 'रामकाव्य', 'रामभक्ति'। —का० बु०

हिंदुई–दे०—'हिन्दी'।

हिंदुस्तानी–हिन्दीकी भाँति व्यापक दृष्टिसे 'हिन्दुस्तानी' शब्दका भी प्रयोग हिन्दुस्तान या भारतकी किसी भी वस्तु, व्यक्ति और किसी भी भाषाके लिए विशेषणके रूपमें हो सकता है। आज भी इस शब्दका इस प्रकारका प्रयोग प्रचलित है। (जब कि 'हिन्दी' पूर्णतया भाषाके लिए रूढि हो गया है)। भाषाके सन्दर्भमें सरल हिन्दी या सरल उर्दूका बोलचालवाला रूप हिन्दुस्तानी कहलाता है, जिसमें न संस्कृत शब्दोंकी और न फारसी शब्दोंकी भरमार रहती है। भाषाका यह व्यावहारिक रूप प्राय समस्त भारतमें समझ लिया जाता है, किन्तु इस व्यावहारिक रूपके लिए अब हिन्दुस्तानीके स्थानमें हिन्दी शब्दका ही प्रयोग बढता जा रहा है।

ग्रियर्सनके अनुसार हिन्दुस्तानी शब्द यूरोपीय लोगों द्वारा निर्मित हुआ है। धीरेन्द्र वर्मा भी यह मानते हैं कि 'हिन्दुस्तानी नाम यूरोपीय लोगोंका दिया हुआ है' (हि० भा०का इ० - भूमिका पृ० ६३)। किन्तु यूरोपीय लोगोंसे बहुत पहले यह नाम खुरासानियों द्वारा निर्मित हुआ था। जिस प्रकार अरब-ईरानके मुसलमानोंने इस देशकी भाषाके लिए 'जबान हिन्दी'का प्रयोग किया उसी प्रकार खुरासानियोंने 'जबान हिन्दुस्तान' या हिन्दुस्तानीका प्रयोग किया। अभीतककी प्राप्त खोजोंके अनुसार भाषाके लिए हिन्दुस्तानी शब्दका प्रयोग सबसे प्रथम बाबरके समयमें उसी भाषाके लिए उसी (सामान्य और क्लिष्ट) अर्थमें हुआ जिस भाषाके लिए, जिस अर्थमें हिन्दी या हिन्दवी शब्दका हुआ था (दे०—'हिन्दी', 'हिन्दवी')। बाबरने अपने आत्मचरित 'तुजुक बाबरी'में लिखा है—'मैंने उसे (दौलत खाँ लोदीको) अपने सामने बिठाया और उसे दृढ विश्वास दिलानेके लिए एक व्यक्तिके द्वारा जो 'हिन्दुस्तानी भाषा' जानता था, एक एक वाक्यका भाव स्पष्ट कराया ('मेम्वायर्स ऑफ बाबर', ल्यूकस, किंग एडिशन - भाग २ पृ० १७०)। शाहजहाँ-काल(१६२७ ई०–१६५७ ई०)में भी 'तारीख फरिश्ता' और 'बादशाहनामा'में यह शब्द मिलता है (नगमये सिरायाने हिन्दोस्तानी जबान), (दे०—'बादशाहनामा')। हिन्दी साहित्यमें सम्भवत. स्वामी प्राणनाथ(सवत् १६३८–१७५१)ने सर्वप्रथम 'भाषा हिन्दुस्तानी' या 'हिन्दुस्तानी'का प्रयोग हिन्दवी या हिन्दी-के समानार्थक रूपमें किया है। 'बिना हिसाबे बोलीआँ ॥ मीने सकल जाँहान॥ सबको सुगम जानके॥ कहूँगी हिन्दुस्तान ॥ बडी भाषा ऐही भली ॥ जो सबमें जाहेरा ॥ करने पाक सबनकों ॥ अन्तर मोहे बाहेर ॥' (कुलजमस्वरूप कुरान सनन्ध चौ० १५-१६)। 'कुलजमस्वरूप'के आदि सम्पादक केसोदासने १६९४ ई० में किताबोंके शीर्षकोंमें भी इस नामका प्रयोग किया है, यथा—'श्री किताब प्रकास हिन्दुस्तानी लिख्यो है। किताब तौरेन श्रीकलस हिन्दुस्तानी लिख्यो है।' ३०० वर्ष पुराने खड़ीबोलीके पत्रोंमें हिन्दुस्थानी नाम प्रयुक्त हुआ है। मध्ययुगमें मुसलमानोंने हिन्दी, हिन्दवीकी अपेक्षा हिन्दुस्तानीका प्रयोग बहुत कम किया है, किन्तु यूरोपीयन यात्रियों, पादरियों आदिने इस शब्दका प्रयोग अत्यधिक रूपसे कहीं हिन्दुओंकी भाषाके लिए, कहीं मुसलमानोंकी भाषाके लिए किया है। पादरी एक्वा वीवा (१५८० ई०), जेरोम जेवियर (१५९८ ई०), टेकाओ (१६१५ ई०) टेरी, (१६१६ ई०), केरी (१६५० ई०),फायर (१६७३ ई०), केटेलियर (१६९४ ई०), हैमिल्टन (१७१६ ई०) आदिने हिन्दुस्तानी शब्दका प्रयोग व्यापक रूपमें हिन्दुस्तानकी भाषा सामान्य रूपसे मध्यदेशकी भाषा तथा विशिष्ट रूपसे खडीबोली शैलीके लिए किया है। फोर्ट विलियम कालेज(१८०० ई०)के पूर्व हिन्दुस्तानी और हिन्दी तथा हिन्दवी समानार्थक थे। गिलक्राइस्ट भारतकी प्रधान भाषाके लिए सामान्य रूपसे 'हिन्दोस्तानी' शब्दका ही प्रयोग करते हैं, जिसके अन्तर्गत इसकी दरबारी शैली (उर्दू), मध्यम शैली (वास्तविक हिन्दुस्तानी) तथा ग्रामीण शैली(हिन्दवी)की गणना करते हैं, किन्तु विशिष्ट अर्थमें हिन्दुस्तानीसे उनका तात्पर्य उर्दूसे ही था और हिन्दुस्तानी विभागमें हिन्दुस्तानी नामसे उर्दू ही पढायी जाती थी। अतएव १८०१ ई०के पश्चात् अँग्रेजों द्वारा हिन्दुस्तानीसे उर्दूका अर्थ ही लिया जाता रहा। किन्तु धीरे-धीरे जब हिन्दी और उर्दू (आधुनिक अर्थ) शब्द अधिक प्रचलित हो गये तो पुन हिन्दुस्तानी शब्दका प्रचार इन दोनोंके मिले-जुले सरल रूपके लिए होने लगा (किन्तु इस रूपका झुकाव भी उर्दूकी ओर अधिक रहता है, यही कारण है कि हिन्दुस्तानी उर्दूका बोलचालवाला रूप प्रतीत होता है)। इण्डियन नेशनल कांग्रेसने पहले तो राष्ट्रभाषाके लिए हिन्दी नाम ही चुना था, किन्तु साम्प्रदायिकताके बढनेपर हिन्दुस्तानी नामको चुना गया। दोनों लिपियोंका प्रसार हुआ, किन्तु हिन्दुस्तानीके बहाने उर्दूका प्रचार होने लगा, अतएव बहुसख्यक लोगोंने इस हिन्दुस्तानीका विरोध किया और अन्तमें भारतीय सघकी राजभाषाके लिए 'हिन्दी' शब्द ही मान्य हुआ, जो सब प्रकारसे उचित था।

यद्यपि कुछ लोग (यथा–हिन्दुस्तानी कल्चर सोसाइटी) अब भी हिन्दुस्तानी नामका ही प्रचार करते हैं, किन्तु धीरे धीरे इस नामका प्रचार कम हो रहा है। उच्चारण तथा व्याकरणकी दृष्टिसे हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। हिन्दीकी लिपि नागरी है और संस्कृत शब्दोंका बाहुल्य रहता है और उर्दू फारसी लिपिमें लिखी जाती है और उसमें फारसी शब्दोंका प्राधान्य रहता है। हिन्दुस्तानी इन्हींका बाजारू रूप है। प्राचीन खड़ीबोली, साहित्यको जिस प्रकार हिन्दी (सामान्य अर्थ) कहा जा सकता है उसी प्रकार उसे हिन्दुस्तानी भी कह सकते हैं। आजकी बाजारू हिन्दुस्तानी केवल कुछ किस्से, गजल, सिनेमाके गीत तथा हिन्दुस्तानीके समर्थक राष्ट्रीय नेताओंके कुछ भाषणोंमें मिल सकती है। 'नया हिन्द'(एक पत्रिका)में हिन्दुस्तानीका ही दोनों लिपियोंमें प्रयोग होता है। —मा० व० जा०

हीड–दीपावलीके उपलक्ष्यमें मालवा, राजस्थान, बुन्देलखण्ड और निमाड़के गूजरोंमें 'हीड' नामक प्रबन्ध गाथा जाता है। अन्य गोपालक जातियाँ भी इसे गाती हैं। 'हीड'का अर्थ है 'ज्योति' अथवा 'प्रकाश'। हीड़के दो प्रकार प्रचलित हैं—१ **धोल्याकी हीड, २ चालर हीड।** 'धोल्या' बैलका सूचक है। गूजरोंके सम्पर्कमें हीड़ने राजस्थान, मालवा और निमाडके किसानोंको बहुत प्रभावित किया। 'धोल्याकी हीड़', वृषभ पूजाका महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध और स्तुतिगान होकर किसानोंमें प्रचलित हो गयी। इसी हीड़का विकृत रूप निमाडके भीलोंमें भी प्रचलित है, जो उसे 'हीडा' या हीरा कहते हैं। 'चालर हीड' बगडावत गूजरोंका लोक-काव्य है। भोजा रावतके वंशमें गूजरोंने देवनारायणको देवपुरुष माना है। देवनारायणकी माता साढ़ू (सेढा) थीं। बगडावतोंके पूर्वज बाघजीके पास असख्य गायें और भैंसें थीं। भोजा रावत और चौबीस बगड़ावत इन्हींके पुत्र थे, जो 'घड़ावत' नामक ग्राम(मेवाड़)के आसपास बस गये थे। भोजा रावत और भिताय ग्रामके राव बाघसिंहमें मित्रता थी। भोजा द्वारा प्रशंसा की जानेपर बुवालगढके ठाकुरने अपनी बेटी जैमतीको राव बाघ सिंहसे ब्याह दिया। जब भोजा और बाघ सिंहमें किसी कारणवश वैर हो गया तो भोजा भितायपर आक्रमण करके जैमतीको अपने यहाँ ले आया। भोजाकी दो और स्त्रियाँ थीं। दूसरी स्त्री सेढा (साढ़ू माता) गूजरी थी। बाघसिंहने कुछ दिनोंके बाद बदला लिया। भोजा काम आ गया। चौबीस बगडावत मौतके घाट उतर गये। सेढा उस समय गर्भवती थी। उससे देवनारायणका जन्म हुआ। मारवाडकी जनगणनाके अनुसार देवजीका जन्म सवत् १३००के लगभग हुआ था। देवनारायणने बडे होकर अपने पिताका बदला लिया। हीड़में यह कथा लोकपरक विश्वासों और अभिप्रायोंसे विकसित हुई है। सम्भवत इसका मूल रूप मारवाड़में ढला और बादमें घुमन्तू गूजरोंके कारण दूर-दूरतक फैल गया। कथामें पशुधनकी महत्ताका भरपूर वर्णन उल्लेखनीय है। दीपावलीके पहलेसे ही इसका सामूहिक गान आरम्भ हो जाता है। 'गयी दिवाली गाये हीड' कहावतके अनुसार इसका गान उपयुक्त अवसरपर ही अभीष्ट माना गया है। —श्या० प०

हीनयान–भारतवर्षमें बौद्ध धर्मकी विभिन्न शाखाओंके लिए पृथक् पृथक् शब्दोंका प्रयोग मिलता है। इसकी प्रारम्भिक शाखा अथवा मार्गको हीनयानकी सज्ञा दी जाती है। व्युत्पत्तिके विचारसे इसको दो शब्दोंमें विभक्त करते हैं—हीन+यान। 'हीन'से नीच तथा 'यान'से मार्ग या प्रगतिका बोध होता है। इसका वास्तविक अर्थ दार्शनिक दृष्टिकोणसे स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत सन्दर्भमें इस शब्दसे उस नीच प्रणालीका बोध होता है, जिसका अवलम्बन मोक्ष(निर्वाण)के निमित्त साधु (भिक्षु) किया करते थे। बुद्धके समयसे लेकर ३५० ईसापूर्वतक पाली-साहित्यमें इसका व्यवहार एक शाखाके रूपमें होता रहा। ईसवी सन्‌की पहली शतीमे बौद्ध दार्शनिकोंमें विवादास्पद बातें खड़ी हो गयीं और पालीके स्थानपर संस्कृतका प्रयोग होने लगा। उसी समयसे संस्कृत लेखकोंने हीनयान शब्दको तिरस्कारके भावमें प्रयोग करना आरम्भ किया। इस शब्दका वास्तविक अर्थ ध्यानमें न रखकर दुर्वचनके समय हीनयान शब्द प्रयुक्त किया जाता था। महायानियों- (दे०—'महायान')ने अपने-आपको श्रेष्ठ बतलाकर प्राचीन मतावलम्बियोंको हीनयानके नामसे अभिहित किया।

'हीनयान'का वास्तविक अर्थ(यानी 'बुद्धधर्मकी शाखा')- में फाहियानने सर्वप्रथम ४१४ ई० में प्रयोग किया था। भारतयात्रा समाप्त कर चीन लौटनेपर फाहियानने बौद्ध देशोंके सम्बन्धमें जो लिखा था, उसी प्रसगमें इस शब्द- (हीनयान)का प्रयोग मिलता है। वह लिखता है कि उत्तर-पश्चिम तिब्बतमें राजा बौद्ध धर्मका अनुयायी था। उस भूभागमें तीन हजार भिक्षु निवास करते थे, जो 'हीनयान'के माननेवाले थे। यह कहना कठिन है कि फाहियानने इस शब्दका प्रयोग किस सूत्रसे लिया। उस शताब्दी(पाँचवीं शती)में हीन, महा तथा मध्यम मार्गके अनुगामी सर्वत्र फैले थे। 'हीनयान' शब्दसे फाहियानका वास्तविक तात्पर्य क्या था अथवा तीनों मार्गोंमेंसे किसे वह वास्तविक हीनयान समझता था, यह स्पष्ट रूपसे कहा नहीं जा सकता। 'सद्धर्मपुण्डरीक' नामक ग्रन्थमें तीन शाखाओं—श्रावक, प्रत्येकबुद्ध तथा महायानका उल्लेख है, परन्तु 'हीनयान' शब्दका प्रयोग नहीं मिलता। लकामें इन मार्गोंका पालन तीसरी शतीमें होता रहा (सम्भवत श्रावकयान (दे०) शब्दका प्रयोग हीनयानके लिए किया गया है)। 'ललितविस्तर'में भी दार्शनिक विवेचनके प्रसगमें मनकी तीन अवस्थाओं(गुणों)का वर्णन किया गया है, जिसमें 'हीनयान'-को कुत्सित या तुच्छ मार्गके रूपमें व्यवहृत किया गया है। सातवीं शतीके चीनी यात्री इत्सिगने 'हीनयान' शब्दका प्रयोग भिन्न अर्थमें किया है। उसने 'हीनयान' उस व्यक्तिके लिए प्रयुक्त किया है, जो देवताओं तथा स्वर्गकी स्थितिपर विश्वास नहीं करते अथवा यों कहा जाय कि 'हीनयान'के अनुयायी 'अष्टांगिक मार्ग'पर आस्था रखते थे। ईसवी पूर्व सदियोंमें बौद्ध धर्मके अठारह प्रकारके मतों या विचारकोंमें हीनयानका भी नाम लिया जाता है।

दार्शनिक दृष्टिकोणसे विचार किया जाय तो 'हीनयान'-से थेरवादका ज्ञान होता है। ईसवी पूर्व ३५० तक यह धारा

प्रवाहित होती रही, परन्तु, ई० पूर्व ३५०-१०० तक एक मिश्रित विचारधारा मिलती है, जिसे 'हीनयान'की संज्ञा देना उचित न होगा। किसी रूपमें भी विचार किया जाय तो यह निश्चित हो जाता है कि ई० पू० १०० के पश्चात् 'हीनयान'(प्रारम्भिक मार्ग)के अनुयायी समाजमें नहींके बराबर थे। थेरवाद या स्थविरवादी भिक्षुओंकी सभा वैशालीमें हुई थी, जिसके बाद (ई० पू० १००) नाना विचारधाराएँ उत्पन्न हो गयीं। ईसापूर्व चौथी शतीसे लेकर दूसरी शताब्दी ई० पू० तक स्थविरवादकी प्रधानता दिखलाई पड़ती है। हीनयान-सिद्धान्तके अनुसार मद्धर्मका रत्न ही मोक्ष है। इस लोकोत्तर मार्गसे संसारमें पूर्वजन्मका अन्त हो जाता है। इनके विचारसे व्यक्तिको जीवन्मुक्त होना आवश्यक है। हीनयानके मतानुसार बुद्ध एक महान् आचार्य (उपदेशक) थे और बोधि प्राप्त करनेसे ही उन्हें निर्वाण (मोक्ष) मिला। अवशेषकी पूजा निरर्थक है। सातवीं शतीमें चीनीयात्री हेन्त्सांगने लिखा है कि उसके सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक दार्शनिक सिद्धान्तोंको हीनयान-से सम्बन्धित माना जाता था। सत्रपर ही इनके विचार अवलम्बित थे। ये संसारको नश्वर तथा प्रत्येक वस्तुको क्षणिक मानते थे।

हीनयानसे महायानी भिक्षुओंका क्या सामाजिक सम्बन्ध रहा यह ठीक तरहसे कहा नहीं जा सकता, परन्तु यह सत्य है कि दोनों एक ही संघमें रहा करते थे। अधिक समयतक दोनों मतावलम्बियोंने एक ही 'विनय'का पालन किया। सातवीं सदीका चीनी यात्री इत्सिंग लिखता है कि हीनयान तथा महायान-मतवाले एक 'विनय' मानते थे और दोनों पाँच महापातकोंको समान रूपसे देखते थे। चार आर्यसत्य दोनोंके लिए एक-से थे। बोधिसत्त्वकी कल्पना हीनयानवालोंको मान्य न थी और उसकी पूजासे वे पृथक् रहने लगे थे। चीन, जापान तथा तिब्बतसे हीनयानको महायानवालोंने निकाल बाहर किया, पर हीनयान आज भी लंका, बर्मा, कम्बोडिया तथा श्याम-(थाईलैण्ड)में फैला है। १९५६ ई० के नवम्बर मासमें काठमाण्डूमें एक बौद्ध संगीति बुलायी गयी थी। उसमें सर्वसम्मतिसे यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया गया कि सामाजिक अथवा धार्मिक क्षेत्रमें हीनयान और महायानका विभेद सर्वदाके लिए समाप्त कर दिया जाय। यह भविष्य बतलावेगा कि इस अत्यन्त प्राचीन विभेदका कहाँतक अन्त हो पाया है।

भारतवर्षमें धर्म तथा कलाका गहरा सम्बन्ध रहा है और प्राय धार्मिक भावनाकी ही अभिव्यक्ति कलाकार करते रहे हैं। प्राचीन समयमें बौद्धकलाका जन्म धर्मको लेकर हुआ। हीनयानमतानुयायी बुद्धको महान् उपदेशक मानते थे, अतएव कलाविदोंने उनके प्रतीकोंको ही अपनाया। लाक्षणिक अर्थमें कलाकी उत्पत्ति हुई। भगवान् बुद्धके जीवनसे सम्बन्धित चार ऐतिहासिक घटनाओंको (जन्म, ज्ञान, उपदेश तथा निर्वाण) चार विभिन्न लक्षणोंसे दर्शाया गया। जन्मको अधिकतर हाथीके द्वारा व्यक्त किया गया है। मायादेवी(गौतमकी माता)ने एक स्वप्न देखा कि सफेद हाथी उनके उदरमें प्रवेश कर रहा है। अतएव उसी पशुको कलाकारोंने लाक्षणिक अर्थमें चित्रित किया। अशोकने अपने स्तम्भके शिखरोंपर सिंहको भी स्थान दिया था, जो गौतमके शाक्य सिंह होनेकी घोषणा करते हैं। भारहुत तथा बोधगयाके अतिरिक्त साँचीमें जन्मको प्रदर्शित करनेके लिए कमलासनपर बैठी देवी तथा दो हाथियोंके लक्षणका नवीन प्रयोग पाया जाता है। हिन्दू मतमें इसे गज लक्ष्मीकी संज्ञा देते है। दक्षिणभारतकी अमरावती-कलामें भी हाथीका प्रयोग किया गया है। बोधगयामें गौतमकी ज्ञानप्राप्तिका प्रदर्शन वृक्ष(पीपल)से करते हैं। वृक्षके नीचे बैठे गौतमने मारपर विजय और सम्बोधि प्राप्त की। उसी समयसे इनका बुद्ध नाम पड़ा। शुंगकालीन कलामें सर्वत्र ही यह लक्षण प्रदर्शित मिलता है। भारहुत, बोधगया, साँची तथा अमरावतीकी वेदिकाओंपर वृक्षके प्रतीकका प्रयोग बड़े ही सुन्दर ढगसे किया गया है। संसारके पशु, पक्षी तथा मनुष्य या देवतागण उस प्रतीककी पूजा करते दिखलाये गये हैं। उपदेश या धर्मचक्रप्रवर्तनकी घटना सारनाथ-(काशी)से सम्बन्धित है। उसी स्थानपर बुद्धने सर्वप्रथम धार्मिक प्रवचन आरम्भ किया था। इसलिए चक्र ही इसका प्रतीक माना जाता है। चूँकि प्रारम्भमें कला हीनयानको लेकर उपस्थित हुई थी, अतएव प्रतीकका प्रदर्शन आवश्यक हो गया। धर्मचक्रको सर्वोपरि स्थान मिला। अशोकने सारनाथमें जो स्तम्भ खड़ा किया उसपर-चार सिंहोंकी पीठपर एक चक्रकी आकृति तैयार करायी। उसका तात्पर्य यही था कि धर्म शक्तिसे परे है। चारों दिशाओंमें धर्मका प्रचार हो चुका था। सिंह शक्ति तथा धर्मचक्रप्रवर्तनका लक्षण माना गया है। चौथा प्रतीक स्तूप समझा जाता है, जिससे बुद्धके निर्वाणका बोध होता है। हीनयानके कला-केन्द्रोंमें इसको प्रमुख स्थान दिया गया है। भाजा, नासिक, अजन्ता तथा कार्लेके चैत्योंमें स्तूप ही दिखलाया गया है। शुंगकालीन कला-केन्द्रोंमें स्तूप बुद्धके स्थानपर आदरका पात्र समझा जाता रहा। सारे भारतकी वेष्टनियों तथा साँचीके तोरणपर स्तूपका प्रतीक प्रधान लक्षणोंमें एक है, जिसे पशु, पक्षी, मनुष्य अथवा देवगण समादर करते थे। इस तरहके प्रतीक लाक्षणिक अर्थमें प्रयुक्त होते रहे और हीनयान सम्बन्धी कलामें (शुंगयुगमें) ही इनकी प्रधानता रही।

जहाँतक हीनयानके साहित्यका सम्बन्ध है, भगवान् बुद्धके प्रवचन कई शतीयोंतक संगृहीत न हो सके, अतएव स्थविरवादी भिक्षुओंने भगवान्के मौखिक उपदेशोंको संग्रह-कर पुस्तकका रूप दिया। वैशालीकी संगीतिके पश्चात उपदेश तथा संघके नियम एकत्र हुए, जिसके लिए पहलेसे ही झगड़ा चला आ रहा था। 'अट्ठकथा' तथा कथावस्तु' 'नामक ग्रन्थ ईसापूर्व तैयार हुए। 'ललितविस्तर' तथा 'दिव्यावदान'की रचना हुई। कथानकोंका संग्रह महावस्तुके नामसे किया गया। भारतीय भाषाओंसे हीन-यानका अधिक साहित्य चीनी तथा तिब्बती भाषाओंमें सुरक्षित है। जापानमें भी इस तरहका (हीनयान सम्बन्धी) साहित्य पर्याप्त मात्रामें मिलता है। इनका नागरी रूपान्तर अभीतक उपलब्ध नहीं है। पाली त्रिपिटक(सुत्र, विनय तथा अभिधम्मपिटक)का सम्बन्ध हीनयानसे ही

स्थापित किया गया है। विषयके विचारसे बुद्धका जीवन, तत्सम्बन्धी कथाएँ तथा विनय सम्बन्धी वार्ताएँ ही इन ग्रन्थोंमें मिलती हैं। —बा० उ०

हीर १–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'के अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें ६,६,११ की यतिसे २३ मात्राएँ होती हैं तथा आदि ग, अन्त रगण (ऽ।ऽ) रहता है (१ १९९)। भानुका लक्षण इसीके अनुसार है। हिन्दीके कवियोंने इसे हीर, हीरा, हीरक नामसे प्रयुक्त किया है। केशव (रा० च०), श्रीधर (जगनामा) तथा सूदन (सु० च०)ने इसका प्रयोग गिया है। केशव और सूदनने आदिमें ग रखनेके नियमका पालन नहीं किया है। सूदनने इसमें वीर रसका अच्छा निर्वाह किया है। उदा०–'पण्डित गण, मण्डित गुण, दण्डित मति देखिये।' (रा० च०)।

हीर २–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भ, स, न, ज, न, र के योगसे यह वृत्त बनता है (ऽ।।, ।।ऽ, ।।।, ।ऽ।, ।।।, ऽ।ऽ), इस छन्दका मात्रिक रूप (३ षट्कल+रगण) कुण्डल छन्दके अन्तिम गुरुके स्थानपर 'ऽ रखनेसे बनेगा। केशवने इस नवीन छन्दका प्रयोग किया है। उदा०–'सुन्दरी सब सुन्दर प्रति मन्दिर पुर यों बनी, मोहन गिरि शृंगनपर मानहु महि मोहिनी।' (रा०च० ८ ८)। —पु०शु०

हीर-राँझा–हीर राँझा पजाबकी लोक-प्रचलित दु खान्त प्रेमकथा है। कथापर आधारित असख्य गीतोंके अतिरिक्त इनके विषयमें अनेक स्वतन्त्र लोकगीतोंकी रचना भी हुई है। शृंगारपरक पजाबी गीतोंमें हीर-राँझाका आदर्श परम्पराकी थाती बनकर उभरा है। हीर-राँझाका जन्म कब हुआ, इसका पता ठीक तरहसे नहीं लग पाया है। अनुमानत यह कहानी बाबरके समयकी है। झंगमें हीर-की समाधि है, जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है। क्षेत्रमें हीरको 'हीरमाई'का गौरव प्राप्त है। यहाँसे कोई अस्सी मील दूर तख्त हजारेमें राँझाका जन्म हुआ था। यह स्थान चनाव अर्थात् 'मुनाँ'के तीरपर है। इसलिए प्रस्तुत कथागीतमें स्थान स्थानपर मुनाँका उल्लेख आया है। दोनों प्रेमियोंका जन्म जाट परिवारोंमें हुआ। राँझाका वास्तविक नाम 'धीदो' है और 'राँझा' जाति थी। हीर 'सयाल' जातिकी थी। लोक-प्रचलित कथा इस प्रकार है—

एक दिन बिना बापके बेटे राँझाको भावजोंने ताना मारा कि रसिया बने फिरते हो, न कोई काम न धाम। फिर काहेका यह बनाव-सिंगार? छैला तो ऐसे बने हो मानो हीरसे विवाह करनेकी तैयारी है। राँझा तानेकी चोटसे घायल होकर रूपवती हीरकी खोजमें पहुँचा। झगमें नदीके किनारे हीरके पिताने एक कुटिया बनवा रखी थी। राँझा जाकर उसमें सो गया और अपने मुँहपर चादर ओढ़ ली। जब हीर आयी तो चादर हटाते ही दोनोंकी आँखें मिलीं और प्रेमकी चिनगारी जल उठी। अपने पितासे कहकर हीरने राँझाको भैंस चरानेके लिए रख लिया। पहले तो हीरके पिताने राँझासे ही अपनी बेटी ब्याहनेका विचार किया था, पर बादमें खेड़ा जातिके युवक सैदासे उसका विवाह रगपुरमें कर दिया। राँझा गोरखपन्थी हो गया और रंगपुरकी ओर गया। हीर अपनी ननँद सहती माँकी सहायतासे राँझातक पहुँची। सहती अपने प्रेमी मुरादके लिए बावली हो रही थी, अत तीनोंने एक-दूसरेको सहायता देनेका वचन दिया। इसलिए एक दिन किसी बहाने सहती हीरको लेकर खेतमें पहुँची। वहाँ हीरने साँप डँस लिये जानेका अभिनय किया। विष उतारनेके लिए राँझा बुलाया गया, हीर अपने सतपर डटी हुई थी। सैदे-ने कहा 'हीर तो अपनी तईं कुँवारी है।' सैदेका पिता राँझा-को लानेमें सफल हुआ। बाहर एक कुटियामें कुँवारी सहतीकी परिचर्यामें हीरको रखा गया। इधर सहतीकी मुरादसे भेंट हो गयी और उधर मौका पाकर राँझा हीरको लेकर चल पड़ा। इस भेदका पता किसी तरह खेड़ाओंको लग गया और उन्होंने पीछा करके दोनोंको पकड़ लिया। राजाके सामने फैसला हुआ। सैदेके पक्षमें फैसला होते ही नगरमें आगकी ज्वालाएँ उठने लगीं। तुरन्त राजाने हीरका हाथ राँझाको सौंप दिया। राँझा अब अपने गाँव लौटनेके बजाय झग पहुँचा। हीरके पिताने कपटसे काम लिया। राँझा जब बरात लेकर आये तभी हीरकी शादी होगी, यह कहकर उसने राँझाको तख्त हजारेकी ओर भेजा। इधर उसकी पीठ फिरी तो हीरको जहर दे दिया गया। यह खबर राँझाको लगी तो उसने भी अपने प्राण त्याग दिये।

इस कथाको किसने पहले सँवारा यह निश्चित रूपसे कहना कठिन है। सूफी कवि बुल्लेशाहकी हीरके अतिरिक्त वारिसशाह लिखित 'हीरवारिसशाह' सारे पजाबमें सबसे अधिक लोकप्रिय कृति है। गुरु गोविन्द सिंहने हीरके समर्थनमें लिखा है—'यारण दा सानूँ सत्थर चगरो, भट्ठखेड़ियाँ दा रहणा।' प्रियके यहाँ दु खमय निवास भी भला है, पर भाड़में जाय 'खेड़ाओं' के रहना।

इस प्रकार सैकड़ों पजाबी लोकगीतोंमें भी हीर-राँझाका उल्लेख प्रणय-प्रसगोंके सन्दर्भमें आया है। वस्तुत यह कथा कृष्ण और राधाकी प्रणय लीलाओंकी तरह पजाबकी भूमिमें लोक-जीवनके शृगार-प्रसगोंपर आरोपित हुई है।

वारिसशाह मुगल बादशाह मोहम्मदशाहके जमानेमें हुआ था। मौल्वी हाफिज गुलामसे प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर उसने मकदूम जहानियाँमें आध्यात्मिक आदर्श पाया। कहते हैं कि वारिसशाह पंजाबीके रहस्यवादी कवि बुल्ले-शाहका समकालीन था। इस दृष्टिसे दोनो मत एक-दूसरेसे पर्याप्त भिन्न सिद्ध होते हैं। तिथियोंका ठीक पता न लग पानेपर भी 'हीर-राँझा'का लोक-प्रचलित एव ऐतिहासिक अस्तित्व किसी भाँति भी सन्देहास्पद नही है। 'हीर-वारिसशाह' इस प्रामाणिकताके अभावमें भी पजाबके कण्ठ-में सहज भावसे बसी हुई प्रेमकथा है।

'हीर-राँझा' किसी भी समय गाया जानेवाला प्रबन्ध है। लोकगीतोंमें आये हुए कथा-प्रसग अवसरकी प्रतीक्षा नहीं करते। —श्या० प०

हृदयवाद–छायावादके उत्तरकालमें जिन व्यक्तिवादी और रोमान्सवादी प्रवृत्तियोंका विकास हुआ उनमें हृदयवाद-का विशेष महत्त्व है। रोमानी तत्त्वोंसे उद्भूत जो काव्य-धारा विकसित हुई उसका मुख्य उद्देश्य रागात्मक तत्त्वोंकी केवल उच्छृखल अनुभूतियोंतक ही सीमित रह गया। उसे न तो पीड़ा और न आत्मवेदनाकी वह परिपक्वता मिली,

जो काव्यको प्रौढ एव जागरूक बनाती है और न वह भाव-बोध ही मिला, जिसके माध्यमसे आदिम मन स्थितियाँ भी परिष्कृत होकर एक उदात्त अथवा व्यापक सह-अनुभूतिकी प्रेरणा देती है। देश-कालके प्रति अपेक्षाकृत अनुत्तरदायित्व पूर्ण छायावादी विचारधाराकी चरम परिणति ऐसी किसी विचारधारामें होनी अनिवार्य थी, जो केवल मौलिक अनुभूतियों(basic instincts)को प्रश्रय देकर केवल अनुरंजनात्मकतामें परिणत हो जाय। वस्तुत उत्तर-छायावादकालसे यही हुआ भी। एक ओर तो समस्त चेतनानुभूति रहस्यपूर्ण उदात्त मानव-चेतनासे बँधनेकी चेष्टा करने लगी और दूसरी ओर उसी चेतनानुभूतिके माध्यमसे वह पलायनवाद(दे०)की अभिव्यक्ति पा रही थी, जो उमर खैयाम जैसे कविसे प्रभावित थी। सुखवादी दार्शनिकोंका प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव पलायनके रूपमें पनपने लगा, जिसकी अभिव्यक्ति छायावाद(दे०)से लेकर हालावाद-(दे०)तकके विभिन्न रूपोंमें हुई थी। ये कवि सम्पूर्ण मानसिक स्थितिमें बात तो बड़ी कहना ही चाहते थे, किन्तु चूँकि वे स्वयम् एक वृहत् परम्पराके छोटे एव टूटे हुए रूप थे, इसलिए उस वृहत् परम्पराकी केवल प्रतिच्छाया लेकर ही वे चल सकते थे। उनमें उसकी सत्यानुभूतिकी पकड नहीं थी, फलस्वरूप वह उदात्तसे गिरते-गिरते केवल दैनिक और निम्न कोटिके भाव-स्तरोंकी सिहरन, सवेदन और अनुरजनतक ही सीमित रह सके, उसके आगे या उसके समान उदात्तके अस्तित्वकी स्वीकृति उनके वशके बाहरकी बात थी।

उत्तरछायावादी काव्यमें हृदयवादका रूप विशेष द्रष्टव्य है। इस वर्गके कवियोंमें बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, अचल, नरेन्द्र शर्मा, नीरज आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। —ल० का० व०

हेतु–एक अर्थालकार। सस्कृत साहित्यशास्त्रके लेखक दण्डी, रुद्रट, विश्वनाथ कवि एव अप्पय दीक्षितने इस अलकारका विवरण दिया है। रुद्रटने वास्तव, औपम्य, अतिशय एव श्लेषमूल तत्त्वोंके आधारपर अलकारोंका वर्गीकरण करते समय हेतुको वास्तव और अतिशय, दोनों वर्गोंमें रखा है। उनके अनुसार इसका लक्षण यह है—'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद्भवेद् यत्र। सोऽलकारो हेतु स्यादन्येभ्य पृथग्भूत।' (का० ल० : ७ ८२), कारणका कार्य(हेतुमत्)के साथ वर्णन करने या कारण और कार्यमें भेद न बतानेमें हेतु अलकार होता है। क्योंकि भामह एव मम्मटने इसको अलकार नहीं माना, इसलिए मानो उनके मतका खण्डन करनेके लिए रुद्रटने कहा है कि यह अलकार अन्य अलकारोंसे विलक्षण है। मम्मट आदिने इसे केवल काव्यलिंग स्वीकार किया है। विश्वनाथके अनुसार हेतुकी हेतुमत्ता(कार्य)के साथ अभेद कहा जाना यह अलकार है (सा० द० १० · ६४)।

हिन्दीके आचार्योंने प्राय 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसके दो भेदोंका वर्णन किया है। प्रथम, 'जहाँ हेतुमत साथ ही, कीजे हेतु बखान।' (ल० ल० ३९१) अथवा 'या कारनकी है यही, कारज थै कहि देत।' (का०नि० · १७)। अर्थात् जहाँ कारणका कार्यके सहित वर्णन किया जाय—'जगत जियावनको नये, ये उनये घनस्याम।' (पद्मा० २७९) अथवा—'दरपन मैं निज रूप लखि नैननि मोद उमग। तिय मुख पिय बस करनको बढ्यो गर्वको रग।' (ल० ल० ३९३), यहाँ 'उनये घनस्याम' तथा 'जगत जियावन', 'मोद उमग'रूप कारणोंका कार्योंके सहित वर्णन है। द्वितीय, 'जहाँ हेतुमत हेतुको, बरनत एक स्वरूप।' (ल० ल० . ३९४) अथवा—'कारज कारन एक ही कहै' (का० नि० · १७), अर्थात् जहाँ हेतु तथा हेतुमत्का एकस्वरूपकथन हो—'नैननिको आनन्द है, जियकी जीवन जानि। प्रगट दरप कन्दर्पको, तेरी मृदु मुनकानि।' (ल० ल० ३९५), यहाँ दोनोंको एकरूप कहा गया है। किसी-किसीने एक तीसरे भेदका उल्लेख भी किया है। —ज० कि० व०

हेतूत्प्रेक्षा–दे०—'उत्प्रेक्षा', दूसरा भेद।

हेत्वापह्नुति–दे०—'अपह्नुति', दूसरा भेद।

हेला–दे०—'अगज अलकार'।

होली–होली हिन्दुओंका एक बड़ा तथा लोकप्रिय उत्सव है। इस अवसरपर जो गीत गाये जाते हैं, उन्हें होली कहते हैं। क्योंकि यह त्यौहार फागुन मासकी अन्तिम तिथिको मनाया जाता है, अत भोजपुरी प्रदेशमें इन गीतोंको फगुआ भी कहा जाता है। ब्रजकी होली बड़ी प्रसिद्ध है। होली और रसियाका चोली-दामनका सम्बन्ध है। होली समवेत स्वर(कोरस)मे गाये जानेवाला गीत है। इस शब्दकी व्युत्पत्ति होलिकासे मानी जाती है, जो प्रह्लादकी बुआ थी। इस गीतके गानेवाले दो मण्डलियोंमें विभक्त होकर बडे तार स्वरमे इसे ढोल तथा झालको बजाते हुए गाते हैं। पहिला दल गीतकी एक कडीको गाता है तो दूसरा दूसरी कडीको। इस प्रकार उस समय एक समाँ बँध जाता है। इन गीतोंमें राधा-कृष्णके होली खेलनेका प्राय' उल्लेख होता है। होलीका गाना माघ शुक्ल पचमी—वसन्तपचमीसे प्रारम्भ हो जाता है तथा पूरे फागुन मासतक चलता रहता है। होलीके दिन एक दूसरे प्रकारका भी गीत गाया जाता है, जिसे कबीर कहते हैं। ये गीत प्रायः अश्लील होते हैं। इन्हें कबीर क्यों कहा जाता है यह कहना कठिन है। सम्भवत कबीरदास तथा उनकी अटपटी बानीकी खिल्ली उड़ानेके लिए ही इन गीतोंकी रचना की गयी हो। कबीरकी प्रत्येक पक्ति इस प्रकार आरम्भ होती है। 'अ र र र र र र र भइया सुन लऽ मोर कबीर।' जहाँ होली कोरसमें गायी जाती है वहाँ कबीरको कोई एक ही व्यक्ति गाता है, जो फाग खेलनेवालोंकी पार्टीका अगुआ होता है। होलीमें शृगारकी प्रधानता होती है और कबीरमें हास्यकी। —कृ० दे० उ०

ह्रासोन्मुखता (decadence)–प्रगति और प्रगतिशीलताकी व्याख्यामें अबतक जितनी रुचि दिखलायी गयी है, उसका शताश भी ह्रासोन्मुखताकी व्याख्यामें नहीं। ह्रासोन्मुखतापर कुल तीन ही स्वतन्त्र ग्रन्थोंके प्रकाशित होनेकी सूचना मिलती है—एक तो मैक्स नार्डोका १८९३ ई० में प्रकाशित ग्रन्थ 'डिजेनरेशन' जिसकी स्थापना है—'प्रतिभा एक प्रकारका उन्माद अथवा विकार है', दूसरा है लार्ड बालफोर द्वारा राजनीतिक ह्रासोन्मुखतापर दिये

गये व्याख्यानोंका सग्रह जो 'डिकैडेन्स' नामसे १९०८ ई० में प्रकाशित हुआ था और तीसरा ग्रन्थ है सी० ई० एम० जोडका, जो इसी नामसे १९४८ ई० में प्रकाशित हुआ है। फिर भी इस शब्द तथा धारणापर स्फुट रूपसे पर्याप्त विचार हुआ है। प्रत्येक आलोचक तथा इतिहासकार—चाहे वह साधारण इतिहासकार हो चाहे साहित्य, दर्शन, राजशास्त्र, विज्ञान, आदिका—हासोन्मुख अथवा हासोन्मुख-युग, सभ्यता, सस्कृति, जाति, धर्म, दर्शन, साहित्यकी चर्चा करता पाया जाता है।

हासोन्मुखताकी व्याख्यामें अत्यधिक मतभेद देखनेको मिलता है। हम नीचे केवल मुख्य परिभाषाओंका निरूपण करेंगे। (क) राष्ट्रकी सैनिक शक्तिका ह्रास हासोन्मुखताका लक्षण है। इस मतके समर्थक चतुर्थ शती ई० पू०के एथेन्सको केवल इस कारण हासोन्मुख कहते है कि उसने सैनिक शक्तिके ह्रासके फलस्वरूप अपना साम्राज्य खो दिया। इसी प्रकार हर्षवर्द्धनके बादका भारत प्राय आक्रमणोंसे अपनी रक्षा न कर सकनेके कारण हासोन्मुख मान लिया जाता है। किन्तु यह परिभाषा अत्यन्त स्थूल जान पड़ती है। आजकल अणु शक्तिके बिना कोई राष्ट्र अपनी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं, तो क्या कोई राष्ट्र केवल इसलिए हासोन्मुख मान लिया जायगा कि उसके वैज्ञानिक अणु तोड़नेकी कलासे अनभिज्ञ हैं? १६वीं शतीमें स्विट्ज़रलैण्ड सस्कृतिके लिए नहीं, अपितु अपने दुर्द्धर्ष लड़ाकोंके लिए प्रसिद्ध था, यहाँतक कि यूरोपकी कोई भी सेना उनके बिना अपूर्ण समझी जाती थी। तो क्या वह देश अब केवल इसलिए हासोन्मुख मान लिया जाय कि वह कहीं अधिक सुसस्कृत, शान्तिप्रेमी, विस्थापितोंका सरक्षक और प्रथम अन्तरराष्ट्रीय शासनका केन्द्र बन गया है? (ख)—जनसख्याका ह्रास हासोन्मुखताका लक्षण है। शायद बलकान और रूसको छोड़कर यूरोपके प्राय सभी देशोंकी जनसख्या पहलेकी अपेक्षा धीमी चालसे बढ रही है और कहीं-कहीं तो घट भी रही है। अत इस परिभाषाके समर्थक यूरोपको हासोन्मुख कहेंगे और भारत जैसे देशोंको, जहाँ सख्या वृद्धि जोरोंपर चल रही है, अहासोन्मुख। इन उदाहरणोंसे ही इस परिभाषाकी अपूर्णता स्पष्ट है। अनेक अन्य इतिहासदार्शनिक पश्चिमी यूरोपको हासोन्मुख और भारतको पुनरुज्जीवित माननेके पक्षमें है। उनके मतमे भविष्यमें पश्चिमी यूरोपकी अपेक्षा भारत अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका ग्रहण करेगा, किन्तु उनकी इस मान्यताका आधार सर्वथा भिन्न है। समसामयिक इतिहास तो यही बतलाता है कि सभ्यताके उच्चतर सोपानपर पहुँचनेपर जनसख्या वृद्धिकी गति प्राय उत्तरोत्तर धीमी पड़ती जाती है। (ग) नैतिकताका ह्रास ही हासोन्मुखता है—यह परिभाषा सर्वाधिक प्रसिद्ध है। जिस समाजमें बेईमानी, शैतानी, धूर्तता, मुकदमेबाजी, घूसखोरी, व्यभिचार, बलात्कार आदि अनैतिक प्रवृत्तियोंका बाजार गर्म हो उठे, वह इस परिभाषाके अनुसार हासोन्मुख माना जायगा। सोरोकिनने अपनी 'द अमेरिकन सेक्स-रेव्योल्यूशन' नामकी पुस्तकमें बतलाया है कि हासोन्मुख यूनान और रोमकी भाँति ही अमेरिका भी काम-सम्बन्धी अराजकताकी ओर बड़े वेगसे अग्रसर है। उसने इसे अमेरिकाकी हासोन्मुखताका स्पष्ट चिह्न घोषित किया है। इस मतके विरोधियोंका कहना है कि स्थिति-स्थापनके समर्थक तो प्रत्येक नये आचार-व्यवहारको अनैतिक, अतएव हासोन्मुखताका लक्षण घोषित करते-फिरते हैं, अत इस परिभाषाको और सीमित एव स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है। जीवनी शक्ति-सम्पन्न समाज नित नये मूल्योंकी उद्भावना और प्रतिष्ठामें आस्था रखता है और यदि सकीर्ण दृष्टिकोणसे काम लिया जाय तो सभी नये मूल्योंके विरोधी होनेसे हासोन्मुखताके ही प्रतीक मान लिये जायँगे। अनेक आलोचकोंका मत है कि अत्याचार, अनाचार, बेईमानी, शैतानी आदि अनैतिक प्रवृत्तियोंका हासोन्मुखताके साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं। प्राय नयी समाजव्यवस्थामें ये प्रवृत्तियाँ पुरानी समाज-व्यवस्थाकी अपेक्षा अधिक पायी जाती हैं। नयी व्यवस्थाके प्रतिष्ठापन और सुरक्षाके सिलसिलेमें अनेक जघन्य कार्य किये गये पाये जाते हैं, जो शान्तिप्रिय और हासोन्मुख समाजके लिए कदापि सहनीय नहीं हो सकते। इस परिभाषाके समर्थक 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' (जिसमें राज-शक्तिको अनेक महत्त्वपूर्ण नीति-नियमोंकी अवहेलनाकी खुली छूट दी गयी है), वात्स्यायनका 'काम-सूत्र,' 'मदाम बोवेरी' जैसे अश्लील साहित्य, अपराध-साहित्य आदिको हासोन्मुख माननेकी सिफारिश करेंगे, यद्यपि सोरोकिन कह सकता है कि ऐसा साहित्य प्राय सस्कृतिकी इन्द्रियलोलुपताका प्रतिनिधित्व करता है, न कि हासोन्मुखताका। (घ) प्राप्त धरातलके अतिक्रमण अथवा परिरक्षणमें असमर्थता ही हासोन्मुखता है। अठारहवीं शतीके अँग्रेजी कवि पोपने हीरोइक नामक छन्दको विकासके जिस धरातलपर छोड़ा था उसतक भी उसका प्रयोग करनेवाले परवर्ती कवियोंमेंसे कोई नहीं पहुँच सका, अत वे कवि हासोन्मुख माने जाते हैं। इसी प्रकार अन्य श्रेष्ठ कवियों, कलाकारों आदिके भी असफल अनुकर्ता हासोन्मुख माने जाने चाहिये। यह अवश्य सही है कि नवीनता एव मौलिकताकी उपासक सर्जनशक्तिसम्पन्न प्रतिभाके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी सर्जनशीलताका परिचय साहित्य जैसे किसी विशेष क्षेत्रमें ही दे, उसके लिए दर्शन, विज्ञान, कला आदिके द्वार सदा खुले रहते हैं, तथापि यदि अन्य क्षेत्रोंमें सशक्त रचना आदि करनेमें सक्षम प्रतिभा भी साहित्यके क्षेत्रमें अनुकरणमात्रोपजीविनी, निर्बल रचना करती है तो उस विशिष्ट क्षेत्रकी दृष्टिसे वह हासोन्मुख ही मानी जायगी। वस्तुत घटिया दर्जेके नये कवि अपनी आदर्शभूत कृतिकी पूर्णतासे अभिभूत हो उसकी नकल करनेमें ही अपना गौरव, अपनी इतिकर्तव्यता समझ लेते है। फलत वे प्राय घटिया दर्जेकी ही रचना प्रस्तुत कर पाते हैं। अत उन्हें हासोन्मुखके सिवा और कहा ही क्या जा सकता है? श्रेष्ठ प्रतिभा कभी अनुकरणमात्रसे सन्तुष्ट नहीं रह सकती, उसकी सर्जन-शक्तिका स्फुरण नये-नये रूपोंकी उद्भावनामें देखनेको मिलता है। इस परिभाषामें पर्याप्त व्यापकता और पूर्णता दिखाई देती है। तथापि जोडने इसकी मशीनके क्षेत्रमें अचरितार्थताकी ओर हमारा

ध्यान आकृष्ट किया है। (ङ) वस्तुकी उपेक्षा और रूपपर आग्रह ही ह्रासोन्मुखता है। कल्पना कीजिये कि किसी विशिष्ट रूपका प्रयोग कर कोई महत्त्वपूर्ण काव्य रचा गया। अब यदि परवर्ती कवि ह्रासोन्मुख होंगे तो उनके पास कोई नयी कथनीय वस्तु तो रहेगी नहीं, अत वे उस रूपका प्रयोग कर घटिया अथवा बासी वस्तु प्रस्तुत करेंगे और यदि इससे भी जी ऊबा तो नये-नये रूपोंकी उद्भावना कर नयी वस्तुके अभावकी पूर्ति करना चाहेंगे। फलत रूप, शिल्प, सज्जा या शैली, जो वस्तुके माध्यममात्र हैं, स्वय वस्तुका स्थान ले लेंगे। इस स्थितिको ह्रासोन्मुखताकी स्थिति कहा जायगा। ओस्वाल्ट स्पेंग्लर कहता है कि मरणोन्मुख अथवा ह्रासोन्मुख संस्कृति अथवा सभ्यता-की कला परिमाणात्मक शिल्पप्रधान और अनुकरण-मात्रोपजीविनी हो जाती है। पाश्चात्य कलाका आज यही हाल है। आजका कलाकार प्राय विविध रूप विधान द्वारा वस्तुके अभावकी पूर्ति करता देखा जाता है। यही कारण है कि ह्रासोन्मुख कविता पहलेकी अपेक्षा अत्यधिक श्रमसाध्य एव कृत्रिम होती है। पाश्चात्य कविता दिनानु-दिन नीरस, शुष्क एव बोझिल होती जा रही है, इस परिभाषाके पोषक उसे ह्रासोन्मुख कहते हैं।

यह परिभाषा भी अत्यन्त सुन्दर है, यद्यपि इससे ह्रासोन्मुख समाजकी पहचान सम्भव नहीं दीखती। जोडने इस सम्बन्धमें एक मजेदार बात कही है। विक्टोरिया-युगमें अनेक वस्तुहीन रूपोंका प्रचलन पाया जाता है। लोग चर्च इसलिए जाते थे कि वे चर्च जाते देखे जायँ और दूसरोंको चर्च जाते देखें, न कि इसलिए कि वे धर्मनिष्ठ थे। इसी प्रकार महिलाएँ परस्पर मिलतीं और चायपान करती थीं, लेकिन यह इसलिए नहीं कि उनमें परस्पर प्रेम-भाव था अथवा वे एक-दूसरेके हितकी बातें करना चाहती थीं, बल्कि इसलिए कि मिलना-जुलना भद्रताका लक्षण माना जाता था। तथापि उस युगको कोई ह्रासोन्मुख नहीं कहता।

संगीतपर भी यह परिभाषा लागू नहीं होती। संगीत में रूप अर्थात् लयका इतना अधिक महत्त्व है और वस्तु अर्थात् स्वरका इतना कम कि एक ही स्वर भिन्न रूप विधान द्वारा भिन्न संगीतकी उद्भावना करना है। (च) विषय-वस्तुके लोपकी स्थिति ही ह्रासोन्मुखता है। यह जोडकी अपनी परिभाषा है। जब विचार और व्यवहारमें सत्य, शिव, सुन्दर जैसे मूल्यों और उनके अधिष्ठानस्वरूप ईश्वर, ब्रह्म जैसी मानवोपरि सत्ताओंको तात्त्विक सत्ता न मानकर उन्हें ज्ञानतन्त्र सत्ता मान लिया जाता है तब समाजको ह्रासोन्मुख समझ लेना चाहिये। इन मूल्यों और सत्ताओंको जोड विषय-वस्तु कहता है। आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र सौन्दर्य-तत्त्वको, आचारशास्त्र शुभ अथवा सत्को-दर्शनशास्त्र वस्तुतत्त्वको और धर्म विज्ञान ईश्वरको प्राय असत्, ज्ञानसत् अथवा ज्ञानतन्त्र माननेके पक्षमें है। अत आधुनिक युग जोडके अनुसार उस सीमातक ह्रासो-न्मुख है। धर्म और आचारशास्त्र, दर्शन और विज्ञान, कला और साहित्य वस्तुसत्य, मूल्यों अथवा मानवोपरि सत्ताओंके प्रति हमारी प्रतिक्रियाओंके व्यवस्थित रूपमात्र है। अह्रासोन्मुख समाजमें ये प्रतिक्रियाएँ मानवीय चेतना-के किसी अपनेसे भिन्न वस्तुके सन्निकर्षसे उत्पन्न मानी जाती हैं, किन्तु ह्रासोन्मुख समाजमें उन्हें मानवीय चेतना-का स्वगत परिणाममात्र समझा जाता है।

यह परिभाषा एक विशिष्ट दर्शनके अनुयायियोंको ही मान्य हो सकती है। जिन्हें ईश्वर और धर्ममें आस्था नहीं, उन्हें नहीं। जोड भूल जाता है कि अनेक स्थलोंपर प्रतीय-मान सत्ताको वास्तविक, वस्तुसत् मान लेना उसकी दृष्टिमें भी अज्ञान या भ्रम ही समझा जायगा। आखिर इन्द्रजाल और भ्रमकी घटनाएँ उसे भी मान्य ही हैं। तो क्या उसका इन स्थलोंमें वस्तुसत्तासे इनकार उसे ह्रासोन्मुख नहीं सिद्ध करेगा? यदि नहीं, तो परिभाषाकी सीमा बाँधनी होगी और यह बतलाना होगा कि क्यों ईश्वर और मूल्योंकी सत्ता ज्ञानसत् न होकर वस्तुसत् ही है। वस्तुत यह बौद्धिक दार्शनिक ऊहापोहका विषय है, न कि विकास और ह्रासका। यदि हम यह सिद्ध कर दें कि ईश्वर और मूल्य वस्तुसत् नहीं तो हम ह्रासोन्मुख क्यों मान लिये जायँगे? बल्कि इतने विवादग्रस्त प्रश्नके विषयमें इतनी दृढतासे एक राय कायम कर लेना और अन्य पक्षवालोंको ह्रासोन्मुख घोषित करनेमें भी कोई सकोच न होना बौद्धिक-दार्शनिक ह्रासोन्मुखताका चिह्न माना जा सकता है।

हमने अबतक सोचने समझनेका प्रयत्न किया है कि ह्रासोन्मुखता क्या है? अब हमें यह भी देख लेना चाहिये कि वह क्या नहीं है। ह्रासोन्मुखताकी सभी प्रकारकी परि-भाषाओंमें एक सीमातक तात्त्विक एकता अवश्य पायी जाती है। शायद ही कोई आलोचक या इतिहासकार यह माननेपर तैयार होगा कि होमर, अफलातून, अरस्तू, चॉसर, डिकेन्स, टाल्स्टाय, कालिदास, भवभूति जैसी विभूतियाँ ह्रासोन्मुखताका प्रतिनिधित्व करती हैं। सभी इनकी कृतियोंको सप्राण, सशक्त, सजीव आदि विशेषणोंसे याद करते हैं। इसके विपरीत सभी भट्टि, केशव आदिकी अनुकरण या श्रममात्रोपजीविनी कृतियोंको निष्प्राण, अशक्त, निर्जीव और ह्रासोन्मुख कहेंगे।

सक्रान्तिकालमें प्राचीनकी ह्रासोन्मुखता नवीनकी विकासोन्मुखताकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट होती है, लेकिन उस स्थितिको ह्रासोन्मुखता नहीं कह सकते। इसी प्रकार कभी-कभी एक सास्कृतिक, सामाजिक रूपकी ह्रासोन्मुखता अन्य रूपकी विकासोन्मुखतासे सहचरित होती है।

ह्रासोन्मुखताको विकारोन्मुखता (डीजेनरेशन)का पर्याय समझ लेना भूल होगी। कोई ह्रासोन्मुख कला विकासोन्मुख कलाकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् हो सकती है। वस्तुत ह्रासोन्मुखताकी धारणा किसी सास्कृतिक रूपकी शक्तिका मूल्याकन करनेका एक साधन है। सन् १९१९से लेकर १९३५ ई० तकका काल ससारभरके देशोंके लिए भयानक सकटका काल था। भारतकी कौन कहे, अमेरिका जैसे समृद्धिशाली देशोंकी अर्थ व्यवस्था डगमगाने लगी थी। विश्वव्यापी मन्दी और आर्थिक गडबडीका ताण्डव-नृत्य हो रहा था। चारों ओर बेकारी फैलने लगी। इस देशमें बी० ए० और एम० ए० बीस-बीस, पचीस पचीस रुपयों-की नौकरीके लिए दर दर ठोकरें खाने लगे थे। उद्योग-व्यवसाय चौपट हो गये। समाजमें घोर निराशा छा गयी

थी। हिन्दी साहित्यपर भी इस भयावह स्थितिका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। फलत काव्यमें घोर मुर्दनी, निराशा, कुण्ठा, रुग्णता, मृत्यु-उपासना और विकृत अहंवादकी कुप्रवृत्तियाँ दिखलाई देने लगीं। छायावादका पूर्ववर्ती स्वस्थ, प्रगतिशील रूप नष्ट हो गया और इस उत्तर-छायावादकालकी कविता 'हासोन्मुख' हो गयी। उस कालके नये कवियोंको तो जाने दीजिये। बच्चन, अचल, नरेन्द्र जैसे श्रेष्ठ कवियोंमें भी उस समय हासोन्मुखता-की प्रवृत्तिके दर्शन होने लगे थे। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'के विद्रोहका स्वर अवसादके स्वरमें बदल गया। 'दिनकर'की (सन् ४५ में प्रकाशित) 'रेणुका'में भी इस अवसाद और हाहाकारका चित्रण है। इस उत्तर-छायावाद-कालकी हासोन्मुखताका अन्त एक नयी प्रवृत्ति प्रगतिवादके हाथों सम्पन्न हो सका।

—ह० ना०

परिशिष्ट

प्रक्षेपण–'प्रोजेक्शन' और 'पर्स्पेक्टिव', दोनोंके लिए हिन्दीमें प्रयुक्त शब्द (मेरठ हिन्दी परिषद्में छपे 'आधुनिक साहित्य' (भाग १)में जे० एल० मेहताका 'साहित्यमें आत्म-प्रक्षेपण' लेख देखें)। वैसे मनोविज्ञानकी भाषामें हर सृष्टि एक प्रकारका प्रक्षेपण ही होती है, परन्तु उसमें कहाँतक स्रष्टाका हाथ होता है और कहाँतक सर्जन प्रक्रियाका, यह समीक्षकोंके लिए विचारणीय प्रश्न है। हमारे यहाँ 'औचित्यविचारचर्चा'में क्षेमेन्द्रने इस प्रश्नको उठाया था। 'पर्स्पेक्टिव' शब्द (जिसके लिए हिन्दीमें परिप्रेक्ष्य भी प्रयुक्त होता है) चित्र-शिल्प तथा स्थापत्यशास्त्रसे साहित्यमें आया। मूलतः दृष्टिकी सीमासे दूरकी चीज छोटी दीखना अथवा समानान्तर रेखाओंका क्षितिजमें मिलन और तदनुसार रेखा-व्यतिक्रम आदि इसमें आते हैं। यह मूल ज्यामितिक शब्द साहित्य-समीक्षाके क्षेत्रमें व्यक्ति और समाजके सम्बन्धोंमें, लेखक और उसके देश-कालके सम्बन्धोंमें, कहानी और उसके परिपार्श्वके विवरण-चुनावके सम्बन्धमें प्रयुक्त होता है। जब शरीरकी अपेक्षा सिर बड़ा हो या सिरकी अपेक्षा अवयव, तो परम्परित चित्रकलाके अनुसार यह दोष था, यह एक व्यंग्यचित्र था। परन्तु आधुनिक चित्रकला यदि 'वर्टेक्स पेंटिंग' हो, यानी चित्रकारका दृष्टिबिन्दु बहुत ऊँचेपर हो या बहुत नीचे हो तो 'फ़ोकस'के अनुसार यह विकृतियाँ जान पड़नेवाली अस्वाभाविकताएँ भी सहज जान पड़ेंगी। आधुनिक प्रयोगवादी चित्र शिल्प आदिमें 'अन-सिमेट्री' और इस प्रकार रूढ़ पर्स्पेक्टिवको तोड़कर लिखना अनौचित्यकी कोटिमें नहीं आता। —प्र० मा०

प्रज्ञापारमिता–दे०—'महायान'।

प्रज्ञोपाय–दे०—'युगनद्ध', 'महाराग', 'महामुद्रा'।

बाह्यवादी आलोचना-प्रणाली–दे०—'बाह्यवादी आलोचना-प्रणाली'।

वृत्तसुरतगोपना–दे०—'गुप्ता' (नायिका)।

सृजन–दे०—'सृजन'।